आर्य्य-साहित्यमण्डल अजमेर
के लिये सर्वाधिकार सुरक्षित.

श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अध्यक्ष के प्रबन्ध से
श्रीदुर्गा प्रिंटिङ्ग प्रेस, धानमण्डी,
अजमेर में मुद्रित.

* ओ३म् *

भाष्यकार की संक्षिप्त भूमिका

अथर्ववेद अर्वाचीन है ?

जगत् प्रसिद्ध चारों वेदों में चतुर्थ वेद अथर्ववेद है। बहुत से विद्वानों को इस अथर्ववेद के वेद होने में संदेह है। उनकी सम्मति में यह वेद तीन के बाद बना है। वे युक्ति देते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में बहुत से स्थानों पर केवल तीन वेदों का वर्णन आया है। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में "त्रयो वेदा अजायन्त।" तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'वेदैरशून्यस्त्रिरेति सूर्यः।' 'यम् ऋषय-स्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि।' इत्यादि। परन्तु उनका इस प्रकार उद्धरणमात्र को युक्ति रूप से देना असंगत है क्योंकि उन्हीं ग्रन्थों में चारों वेदों का उल्लेख भी है। जैसे मुण्डक उपनिषत् में—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो' इत्यादि बृहदारण्यक (शतपथ) में—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।' इति।

तीन और चार संख्या की विषमता का समाधान यही है कि 'वेद-त्रयी' शब्द के प्रयोग के दो अभिप्राय हैं, एक तो यज्ञ का कर्म काण्ड प्रथम तीन वेदों से किया गया और चतुर्थ-वेद के ज्ञाता ब्रह्मा का यज्ञ में कोई कर्म विधान नहीं है। वह केवल साक्षी मात्र मौन होकर रहता है। अतः यज्ञ कर्म के सम्बन्ध में तीन वेदों का ही उल्लेख किया जाता है। तीन वेदों के कहने का दूसरा अभिप्राय यह है कि जैमिनीय मीमांसा के अनु-सार वेद की रचना तीन प्रकार की है, प्रथम 'ऋक्' जिसमें चरणों की व्यव-स्था है। द्वितीय 'साम' अर्थात् गीति या गायन प्रकार और तीसरी 'यजुः'

[illegible] परन्तु [illegible] ऋग्वेद का ज्ञाता होता, यजुर्वेद का ज्ञाता [illegible] और साम का ज्ञाता उद्गाता और अथर्ववेद का ज्ञाता ब्रह्मा चारों ही [illegible] यज्ञ में भाग लेते हैं इसलिये ब्रह्मा सम्बन्धी ब्रह्मवेद या अथर्व-वेद [illegible] गणना में से बाहर नहीं निकाल सकते और न कोई ऐसा [illegible] हैं कि जिसमें बने ग्रन्थ में तीन वेदों का वर्णन हो और चौथे का कहीं उल्लेख न हो। जिन तैत्तिरीय आदि याजुष शाखा के ग्रन्थों में तीन वेदों का उल्लेख है उनमें ही 'अथर्वाङ्गिरोविद्' ब्रह्मा को वरण करने और उसके वेद को भी स्वीकार किया गया है। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ के दो भाग बतलाये हैं एक वाणी और दूसरा मन। वाणी अर्थात् त्रयी विद्या से आधा यज्ञ और मन से शेष आधा यज्ञ ब्रह्मा द्वारा सम्पादित होता है। इसके अतिरिक्त अथर्व-वेद के मन्त्रों में भी जैमिनीय [illegible] ऋक्, साम, यजुः, पादव्यवस्था, गान, और गद्य [illegible] होने से अतः उसकी वेदता में कोई संदेह नहीं है। जिनको फिर भी सन्देह हो उनके निवृत्ति के लिये इतना लिखना पर्याप्त होगा कि चारों वेदों की परमात्मा या 'यज्ञ' प्रजापति से उत्पत्ति हुई है, इसका निदर्शक निम्नलिखित वेद का मन्त्र प्रमाण है—

[illegible] सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
[illegible] तस्मात् यजुस्तस्माद् अजायत॥
[illegible] १० । ९ । ८ ॥ यजु० ३१ । ७ ॥ अथर्व० १७ । ६ । १२ ॥

इसी का अनुवाद करने हारा 'स्कम्भ' ब्रह्म-विषयक मन्त्र यह है—

यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व० १० । ७ । २० ॥

उपरोक्त दोनों मन्त्रों में चारों वेदों का [illegible] प्राप्त होता है। जब वेद के ही भीतर चारों का नाम उल्लेख है तब उनके [illegible] माहात्म्य

ग्रन्थ जो अत्यन्त अर्वाचीन ग्रन्थ हैं उनमें लिखे ' त्रयी ' शब्द से भ्रम में पड़ना ठीक नहीं है । वेद ने अथर्व-वेद का ग्रहण ' छन्दस् ' और 'अथर्वाङ्गिरस' दोनों नामों से किया है । जिन पाश्चात्यों के मत में ' त्रयी ' शब्द से केवल ऋक् , यजु, साम संहितायें ली जाती हैं और अथर्व अर्वाचीन मान लिया गया है वे बहुत ही भ्रम में है । क्योंकि प्राचीन किसी भी ग्रन्थ में वे वैसा नहीं दिखा सकते । और उनको ध्यान में रखना चाहिये कि 'त्रयी' नाम केवल तीन प्रकार की रचना भेद से है । कोई कहते हैं कि पाणिनि ने ' अथर्व ' का नाम नहीं लिया इसलिये ' अथर्ववेद ' अर्वाचीन है । यह भी उनका भ्रम है जिस प्रकार शाकलादि शाखाओं का नाम ऋग्वेद प्रसिद्ध है उसी प्रकार शौनकादि संहिताओं का नाम अथर्ववेद प्रसिद्ध है । पाणिनिने ' शाकलाद्वा ' (पा० ४ । ३ । १२८) और ' शौनकादिभ्यश्छन्दसि ' (पा० ४ । ३ । १०६) दोनों ही सूत्रों में से ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों की शाखाओं का उल्लेख किया है । बल्कि अथर्ववेद पर प्रसिद्ध कौशिक सूत्र का भी पाणिनि को ज्ञान था जैसा ' काश्यपकौशिकाभ्यां णिनिः । ' पा० ४ । ३ । १०३ ॥ सूत्र से विदित होता है । उसको अथर्व-वेद का भी ज्ञान था इसका पता ' आथर्वणिकस्येकलोपश्च । ' पा० ४ । ३ । १३३ ॥ इस सूत्र से पता लगता है । वहां ' आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो आथर्वणः ' ऐसा ' आथर्वण ' शब्द सिद्ध किया है । इससे भी पूर्व निरुक्तकार यास्क तक ने अथर्व-वेद के मन्त्रों के प्रतीक दिये हैं जैसे—' शतं जीव शरदो वर्धमानः ' (निरु० १२ । ४ । ७ ॥) ' एकं पादं नोत्खिदति ' (निरु० १२ । ३ । १०) अथर्व० ११ । ६ । १ ॥ इसी प्रकार अथर्व और अंगिरा ऋषि प्रोक्त अथर्व के अनेक मन्त्र चारों वेदों में स्थल २ पर आये हैं जो पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ में साथ दी तालिकाओं से जान लेंगे ।

वर्त्तमान की चारों वेद संहिताएं यज्ञ कांड के चार मुख्य स्कन्धरूप चार ऋत्विजों के निमित्त संहिताएं हैं, जैसे ऐतरेय ब्रा० (५ । ३३) में लिखा है

'ऋचा एव हौत्रं क्रियते, यजुषा आध्वर्यवं, साम्ना औद्गात्रं, अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्यया इति ब्रूयात्।' अर्थात् होता का कार्य ऋग्वेद से, अध्वर्यु का कार्य यजुर्वेद से, उद्गाता का कार्य सामवेद से और ब्रह्मा का कार्य तीनों से किया जाता है। गोपथ ब्राह्मण में और भी स्पष्ट किया है कि 'अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्' अर्थात् ब्रह्मा का कार्य अथर्वाङ्गिरस वेद से किया जाता है। इस प्रकार चतुष्पाद् यज्ञ का नि[illegible]दन करने के लिये संहिताएं चार प्रकार की प्रतीत होती हैं। इसके अति[illegible] कर्म-काण्डप्रोक्त यज्ञ भी परम पुरुष का कर्ममय स्वरूप है। जब कर्मका[illegible] एक चरण को करने के लिये ब्रह्मा और उसकी संहिता ब्रह्मवेद आवश्यक है तब यह यज्ञ जिस महान् परम पुरुष का प्रतिनिधि है उस का वर्णन [illegible] के लिये भी 'ब्रह्मवेद' की आवश्यकता है। जब परमेश्वर स्वयं-प्रकाश है तो उसका वर्णन करने के लिये भी अपौरुषेय संहिताओं की ही आव[illegible] है। ऋषिगण तो उन संहिताओं के द्रष्टा, प्रयोक्ता और व्याख्याता म[illegible]। और जिन महानुभावों को यह संदेह हो कि परमात्मा का प्रतिनि[illegible] भी अथर्ववेद के बाद की कल्पना होगी उनको ऋग्वेद के नीचे लिखे [illegible] का मनन करना चाहिये।

> इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
> अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम् ॥
>
> अथर्व० ९ । १० । १४ ॥

इस मन्त्र में विशाल यज्ञ का वर्णन यज्ञ को प्रतिनिधि रूप दर्शाते हुए किया है। और ब्रह्मा को समस्त वाणी (वेदवाणी) का 'व्योम'=[illegible] स्थान बतलाया है, इसी प्रकार प्रजापति की महान् महिमा रूप ओदन वर्णन में—

> ऋचा कुम्भी अधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
> ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
>
> अथर्व० ११ । ३ । १४, १५ ।

चारों वेदों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। यहां 'ब्रह्म' शब्द से ब्रह्मवेद का ग्रहण है, ऋक् से ऋग्वेद का, आर्त्विज्य [ऋतु+यज्+य] से यजुर्वेद और साम से सामवेद का ग्रहण है। इसी प्रकार अथर्ववेद का वर्णन आप अथर्व० ११। ६। १३, १४॥ में भी पायेंगे।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के ऋषियों पर दृष्टि डालिये तो वेन भार्गव [ऋ० ६। ८५] भृगु वारुणि [६। ६५] विरूप आंगिरस [ऋ० ८। ४६] च्यवन भार्गव [१०। १६] कवि भार्गव [ऋ० ६। ४७—४६] अष्टादंष्ट्र वैरूप [ऋ० १०। १११] नभःप्रभेदन वैरूप [१०। ११२] मूर्धन्वान् आङ्गिरस [१०। ८८] बृहद्दिव आथर्वण [१०। १२०] गृ आंगिरस [५। १५] प्रभूवसु आंगिरस [ऋ० ५। ३५—३६] अयस्तूप आंगिरस [ऋ० १। १। २१—३५] सव्य आंगिरस [१। ५१—५६] सोमाहुति भार्गव [१। २। ५—६] आंगिरस अङ्ग की पत्नी शश्वती [ऋ० ८। १। ३४] इत्यादि अन्यान्य अथर्वा और अङ्गिरा गोत्रों के विद्वान् ऋग्वेद के ऋषि हुए हैं। यदि योरोपीयन विद्वानों का मत मान लें कि ये ऋषि ऋचाओं के कर्त्ता हैं, 'द्रष्टा' नहीं तब तो अथर्वा और अङ्गिरा और उनके वंशजों के बनाये अथर्ववेद की सत्ता ऋग्वेद के निर्माणकाल में ही सिद्ध हो जाती है। फलतः योरोपीयन लोगों का अथर्ववेद को ऋग्वेद के बाद का मानना उनके अपने मन्तव्य के अनुसार भी ठीक नहीं बैठता। हमारे मन्तव्य के अनुसार तो वे चारों वेद परमेश्वर के ज्ञान हैं और नित्य हैं, उनके मन्त्रों का साक्षात्कार ऋषियों ने किया है और उनके नाम मन्त्रों के साथ आदरार्थ जुड़े हैं।

बहुतसों का यह विचार है कि अथर्ववेद को बाद में अन्यवेदों से संगृहीत इस लिये मान लेते हैं कि उसमें अन्यवेदों के मन्त्र भी आये हैं, यदि संग्रह नहीं तो वे मन्त्र ज्यों के त्यों कैसे हैं। बहुत ठीक। परन्तु प्रश्न यह है कि

क्या भिन्न २ विचारकों के मस्तिष्कों में एक ही ज्ञान या विचार वैसा का वैसा ही आसकता है या नहीं ? यदि आ सकता है। तब तो एक ही ईश्वरीय ज्ञान (मन्त्र) दो मन्त्र द्रष्टाओं (विचारकों) के दिमाग में आगया इसमें विवाद ही नहीं। यदि कहें नहीं आता। तो यह माना नहीं जा सकता। आत्मा और शरीर के विषय में योरोपीयन तत्वज्ञ वर्गसन् और पूर्वी आचार्य वात्स्यायन के विचारों की तुलना करके देखलें। यदि दोनों की भाषाओं में भेद न होता तो प्रायः एक ही वाक्यधारा दोनों के मुख से या लेखनी से निकलती। परन्तु आर्षकाल में वेद की भाषा एक थी इस लिये उसके साक्षात् कर्त्ता ऋषियों ने उसका साक्षात्कार करके जब उपदेश किया तो स्थल २ पर एक समानता आ जाना क्या असम्भव है, अस्तु अब हम पुनः प्रकृत विषय पर आते हैं।

अथर्ववेदसंहिता

हमारे पास जो अथर्ववेद संहिताएं उपलब्ध हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) लीथो की छपी अथर्ववेद मूलसंहिता।

(२) अजमेर वैदिकयन्त्रालय में मुद्रित अथर्ववेदसंहिता।

(३) निर्णयसागर बम्बई में प्रकाशित अथर्ववेदसंहिता जिसका सम्पादन श्री पं० शङ्कर पाण्डुरंग एम. ए. ने सायणभाष्य सहित किया है।

(४) श्री क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी (मेरठ) द्वारा मुद्रित निज भाषाभाष्य सहित। इन संहिताओं के अतिरिक्त अमेरिका की हार्वर्ड यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित पण्डित ह्विटनीकृत अथर्ववेद का आंग्लभाषानुवाद और उस पर पं० लेन्मन कृत विशेष टिप्पणी। एवं पं० ग्रीफ़िथ कृत आंग्लभाषानुवाद और उनकी स्वरचित टिप्पणियों से भी अथर्ववेद के मन्त्रों के नाना पाठभेद ज्ञात हुए हैं जिनका उल्लेख हमने अपने भाष्य की पाद-टिप्पणियों में प्रत्येक मन्त्र पर कर दिया है।

हमें इस संहिता के विषय में भी बहुत सा मतभेद दिखाई देता है। विशेष कर योरोपीयन विद्वानों ने अथर्ववेद संहित्ता के परिमाण पर बड़ी २ उलझी हुई शंकाएं उठाई हैं।

ह्विटनी के अनुवाद के भूमिका लेखक पं० लैन्मन ने लिखा है कि प्रथम १८ काण्ड तो अथर्ववेद संहिता के मूल हैं और १९, २० काण्ड पीछे से मिलाये गये हैं। आपकी युक्ति है कि—

(१) २० वां काण्ड केवल ऋग्वेद से संग्रह किया गया है। और अथर्ववेद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रयोजन अनुमान से कल्पना किया जा सकता है।

(२) १९ वां काण्ड यह तो साफ़ परिशिष्ट है युक्ति यही कि इसका पाठ बहुत बिगड़ा हुआ है और पदपाठ भी इसका नवीन प्रतीत होता है।

(३) १ से १८ कांडों तक तो प्रपाठकों का क्रम मिलता है आगे प्रपाठक क्रम नहीं हैं।

(४) पुरानी अनुक्रमणी १८ काण्ड तक ही मिलती है।

(५) कौशिक सूत्रों में १९ वें और २० वें काण्ड के विनियोग नहीं लिखे।

(६) पञ्चपटलिका और उसके भाष्यकार ने भी अथर्ववेद का वर्णन १ से १८ तक ही किया है।

(७) पैप्पलाद शाखा में १९ वें काण्ड के मन्त्र तो बहुत से उपलब्ध होते हैं परन्तु २० वें काण्ड का कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त पण्डित ग्रीफ़िथ महाशय ने तो ऋग्वेदादि तीनों वेदों का परिशिष्ट अथर्ववेद को माना है। साथ १९, २० दोनों काण्डों को परिशिष्ट या अर्वाचीन कहने में आपने एक और युक्ति दी है। अर्थात्—

(८) अथर्वप्रातिशाख्य में उनका वर्णन नहीं है।

योरोपीयन विद्वानों ने अथर्ववेद के परिमाण पर जो इतना विवाद उठाया है यह विवाद भारतीय विद्वानों ने कभी भी नहीं किया। इन सब के दादागुरु आचार्य सायण ने भी अथर्ववेद की शौनकीय शाखा के भाष्य करने के पूर्व इस प्रकार से १६, २० काण्डों को परिशिष्ट नहीं माना। संक्षेप से हम उपरोक्त युक्तियों पर विचार करते हैं।

(१) १६, २० काण्डों को ऋग्वेद से संग्रह किया गया है और शेष अथर्ववेद से कोई सम्बन्ध नहीं। क्या अच्छी युक्ति है। क्या १८ वें काण्ड के सूक्तों में ऋग्वेद से संग्रह किया नहीं प्रतीत हुआ? और इसी प्रकार पूर्व के काण्डों में भी कितने ही सूक्त संगृहीत कहे जा सकते हैं। तो फिर १८ वें को अथर्ववेद का मानना और १६ वें को पीछे का बनाया मानना हास्यजनक प्रतीत होता है। रही सम्बन्ध की बात, सो ह्विटनि ने हमें पूर्व १८ काण्डों तक में भी किसी एक सूक्त का दूसरे सूक्त से सम्बन्ध तक नहीं दर्शाया। फिर १८ वें पर यह दोष देना एक बाल-बुद्धि का परिचय कराता है।

(२) १६ वें काण्ड के पाठ का बिगड़ा होना दूसरी युक्ति है। यदि पाठ विकृत है तो इस में शाखाभेद होने से पाठभेद होजाना कारण है न कि अथर्ववेद में इन काण्ड का पीछे से आजुड़ना। हस्तलिखित लिपियों में यदि पाठविकृति के नमूने देखने हों तो पैप्पलाद शाखा के पाठों को देखो जहां शुद्ध पाठ का पता ही नहीं चलता। लाचार होकर अशुद्ध पाठ को ही पैप्पलाद का पाठ मानकर उद्धृत कर देना पड़ा है। इससे पैप्पलाद, गत किसी मन्त्र को हम पीछे का नहीं कह सकते। लेखकों के प्रमाद से या व्याख्याता के पद-विपरिणाम से शाखाओं के मन्त्रों में पाठभेद हो जाते हैं इससे इतना ही कहा जा सकता है कि १६ वें काण्ड के पाठ-भेदों में बहुत विकार होगया है न कि उसको परिशिष्ट मान लिया जाय।

(३) प्रपाठकक्रम का न मिलना भी कोई १६, २० काण्डों के

परिशिष्ट होने में कारण नहीं, क्योंकि प्रपाठक क्रम सार्वत्रिक और सर्वसंमत नहीं। अथर्व में तो काण्ड, सूक्त, ऋचा और अनुवाक इतने ही प्रायिक विभाग हैं। किसी पाठशील आचार्य ने प्रपाठक क्रम भी इसी प्रकार बना दिया जैसे सामवेद में अध्याय क्रम पीछे से लगाया गया है। यदि हस्तलिपियों की विस्तृत कथा लिखें तो विदित हो जायगा कि बहुत कम हस्त लिपियां पूर्ण संहिता की प्राप्त हुई हैं। बहुतों में स्वर आदि एक ग्रन्थ के खंड में अंकित हैं दूसरे खण्ड में नहीं। फलतः, अभी तक योरोपीयनों के हाथ में प्रपाठक क्रम से विभक्त १६, २० काण्ड नहीं मिले यह तो ठीक है परन्तु इससे अथर्व-वेद में ये दो काण्ड नहीं है यह सिद्ध नहीं होता।

(४) पुरानी अनुक्रमणी १८ काण्ड की मिलती है यह भी कोई युक्ति नहीं क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणी २० काण्ड की भी मिलती है। यह भी खण्डित ग्रन्थ से ही पं० लैन्मन् को भ्रम हुआ है।

(५) कौशिक सूत्र में विनियोग नहीं लिखे, अतः १६, २० कांड भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकते। कारण, जिनके विनियोग नहीं हैं उनको वह लिखता भी क्यों ? उनका पाठ मात्र ही प्रयोजन है।

(६) पञ्चपटलिका और उसके टीकाकार का केवल १८ काण्डों का उल्लेख भी अथर्ववेद में १६, २० काण्डों को परिशिष्ट नहीं बना सकते क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणी में २० काण्डों का विवरण दिया है। दूसरा १७, १८ काण्डों में पञ्चपटलिका ने आगा पीछा कर दिया है। इससे प्रतीत होता है कि यह पञ्चपटलिका शौनकीय संहिता की नहीं प्रत्युत किसी और १८ काण्डों वाली अथर्वशाखा की है।

(७) पैप्पलाद शाखा में २० वां कांड उपलब्ध नहीं होता अतः भी वह परिशिष्ट सिद्ध नहीं होता क्योंकि पैप्पलाद में १६ वें कांड के बहुत से मन्त्र उपलब्ध होते हैं, तिस पर १६ वें कांड को परिशिष्ट मानने का भ्रम तो पैप्पलाद ने काट दिया। और जब लैन्मन महोदय ने स्वयं देख लिया है

कि पैप्पलाद शाखा में १८ वां कांड नहीं है तो १८ वां कांड भी परिशिष्ट क्यों नहीं माना। पं० लैन्मन ने इस बात को लिख कर भी हलकी भाषा में टालना चाहा है।

(८) पं० ग्रीफ़िथ की दी प्रातिशाख्य वाली युक्ति भी संगत नहीं क्योंकि वह तो व्याकरण का ग्रन्थ है। उसमें कोई उदाहरण १९, २० कांडों में से नहीं आये इसलिये वह परिशिष्ट हैं, यह कितनी असंगत युक्ति है। यदि व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण देते हुए किसी ग्रन्थ भाग में से कोई उदाहरण न आवे तो क्या उसका वह भाग परिशिष्ट हो जायगा? समझ में नहीं आता। क्या प्रातिशाख्य में अथर्ववेद के सभी मन्त्र उदाहरण के रूप में धर दिये हैं? क्या सभी सूक्तों में से मन्त्र प्रतीक आये हैं? नहीं। तो वे मन्त्र और सूक्त परिशिष्ट क्यों नहीं माने जाते?

बस, इस प्रकार से १९, २० काण्डों के सम्बन्ध में योरोपीयन विद्वानों के सभी तर्क संक्षेप से आलोचित कर दिये हैं।

अथर्वसंहिता की हस्तलिखित पुस्तकें

अब हम संक्षेप से अथर्व-वेद के हस्तलिखित पुस्तकों के विषय में कुछ लिखना चाहते हैं।

हस्तलिखित आदर्श पुस्तकों का अच्छा संग्रह और विवरण दो विद्वानों ने अच्छा किया है। एक तो पं० शंकर पाण्डुरंगजी एम० ए० ने, दूसरे पं० विलियम डी० ह्विटनी ने। इस कार्य में हम दोनों महानुभावों के ऋणी हैं। प्रथम ह्विटनी महोदय के निम्न लिखित आदर्श पुस्तक हैं।

पं० ह्विटनी के हस्तलिखित पुस्तक

(१) [B. P.] दो पदपाठ ग्रन्थ १८ कांडों तक। (क) [B. P.ⁿ]
१-१० काण्ड तक सुन्दर शीघ्रता से लिखा गया, अधिक शुद्ध, एक समान

रीति से स्वराङ्कित । १५६३–४ ई० में लिखित किसी दूसरे ग्रन्थ से लिपि किया गया है । (ख) [B. P.^{b}] दूसरा आदर्श पुस्तक १०–१८ काण्ड तक । १८ वें कांड का अन्तिम एक पत्र नहीं है । यह तीन हाथों का लिखा है । पाठ अधिक शुद्ध है ।

(२) [B. P.^{2}] इस वर्ग में हस्तलिखित ग्रन्थ सम्मिलित है । (क) [B. P.^{2a}] एक काण्ड मात्र, सुन्दर, उत्तमता से स्वरांकित, १६३२ ई० में लिखा गया । स्वरचिन्ह बराबर बदलते रहते हैं । (ख) [B. P.^{2b}] ५–६ काण्ड तक । कागज़, आकार और हस्तलेख सर्वत्र समान है । तो भी दो भाग हैं । एक में केवल ५ वां काण्ड और दूसरे में शेष ६–६ काण्डों तक । अति शुद्ध ।

(३) [B. या Bs.]—बर्लिन का आदर्श पुस्तक ६–२० तक । पाठ कुछ अशुद्ध और कीड़ों से खाई हुई । १६११ ई० में लिखित ।

(४) [P. और M.] P. पैरिस पुस्तकालय की पुस्तक है । दो भागों में विभक्त । प्रथम १–१० काण्ड तक । दूसरा ११–२० काण्ड तक । M. का प्रथम भाग १–६ काण्ड तक । दूसरा ६–२० काण्ड तक । दोनों बहुत शुद्ध नहीं । सं० १८१२ वि० । स्वर रेखा से अंकित हैं ।

(५) [W.] आक्सफोर्ड के वोडलीन पुस्तकालय की हस्तलिपि है । इसमें १८ वां काण्ड नहीं है । विलायती कागज़ पर लिखी गयी अर्वाचीन है । यह भी उसी मूल ग्रन्थ से उतारी गयी है जिससे P. और M. उतारी गयी है । क्योंकि इसमें प्रायः उनके समान ही अशुद्ध पाठ है । ६ वें काण्ड के अन्त में काल भी वही लिखा है । यह बहुत अशुद्ध लिखा गया है । १ म काण्ड ऋग्वेदानुसार स्वरांकित किया गया है ।

(६) [E.] लंडनके इन्डियन लाईब्रेरीका ग्रन्थ है । १–२० काण्ड तक

पूर्ण है। उसमें १८ वें काण्ड का पिछला भाग नहीं है। कागज़ मोटा, भद्दा, लेख भद्दा। परन्तु पाठ शुद्ध है। स्वर चिन्ह नाना प्रकार के हैं।

(७) [I] लण्डन के ब्रिटिश म्यूज़ियम का ग्रन्थ है। अथर्ववेद दो भागों में समाप्त। प्रथम भाग में प्रथम १६, २० काण्ड लिख कर फिर १-१० काण्ड लिखे गये हैं। दूसरे भाग में अनुक्रमणी, गोपथ ब्राह्मण और फिर ६-१७ काण्ड। फिर १८ वां काण्ड। प्रत्येक खण्ड के पृथक् पत्रांक पड़े हैं। म० पोलियर के निमित्त ये सब ग्रन्थ लिखे गये प्रतीत होते हैं। इसमें आदि मन्त्र 'शं नो देवीरभिष्टये०' है।

(८) [H.] यह भी इन्डियन आफिस लाइब्रेरी का है। १-६ काण्डों तक। सुन्दर लिपि, पाठ कुछ अशुद्ध।

(९) [O.] म्यूनिच लाइब्रेरी का ग्रन्थ है। १-२० तक पूर्ण। १-६ कांडों तक पदपाठ संहित ५ भागों में। प्रथम विलायती कागज़ पर सूक्ष्माक्षरों में लिखित १-५ तक। शाके १७३७। दूसरा ६-१२ तक वामनजी लिखित सं० १६६०। जीर्ण पत्र। केवल १८ वां कांड बड़ा नियमित हाथ का लिखा है। शाके १७३५। इसके साथ १-३ तक पदपाठ और २० वां कांड। ४ थे खंड के १६ वां कांड प्रथम कांड के साथ। १-५ काण्ड तक की संहिता। ५ वें खंड में २० वां कांड ३ सरे कांड के साथ बंधा हुआ है। शाके १८३७।

(१०) [O. P.] हाग या म्यूनिच लाइब्रेरी की पदपाठ संहिता। इसमें १-४, १८ और २० वां कांड है। शाके १७३७। स्वराङ्कित, संशोधित, बहुत शुद्ध। इन खंडों में १ म खंड में १-३ तक पदपाठ और १८, २० की संहिता, २ य खंड में ४ थे कांड का पदपाठ, शाके १७३६। ३ य खंड में १८ ? का पदपाठ, शाके १७६२। २० वें कांड में अथर्ववेद के कुछ विशेष नहीं हैं।

(११) [R.] ट्यूबिंजन यूनिवर्सिटी में पं० रोथ संगृहीत। दो खंडों में। १ खंड में १-१० तक, दूसरे में ११-२० कांड तक। शाके १७४६। २० वें कांड के अन्त में शाके १६२६। बनारस में एक ब्राह्मण से प्राप्त। लेखक का नाम पटुवर्धन विट्ठल। अति शुद्ध।

(१२) [T.] तंजोर के ग्रन्थ की प्रतिलिपि। १-४ तक स्वरचिन्ह रहित। शेष स्वराङ्कित। १०-२० कांड तक पूर्ण।

(१३) [D.] डेकन कालेज पूना का ग्रन्थ। १८ वां कांड स्वररहित, अशुद्धप्रायः। १७ वें का पदपाठ भी है। २० वें का पदपाठ कुछ भागों को छोड़ कर।

(१४) [L.] बर्लिन लाइब्रेरी का ग्रन्थ, केवल १७ वें कांड तक।

(१५) [K.] बीकानेर पुस्तकालय का ग्रन्थ, पूर्ण, सं० १७३५। १६०० । पत्तन नगर के राजा अनूपवर्धन के अधीन 'अम्बागशेण' द्वारा लिखित। साथ ही पदपाठ संहिता, स्वररहित।

पं० शंकर पाण्डुरंग के हस्तलिखित ग्रन्थ

(१) [A.] अहमदाबाद निवासी जयशंकर हरिशंकर अथर्व-वेदी ब्राह्मण का ग्रन्थ। २००, ४०० वर्ष प्राचीन। स्वरांकित। उदात्त चिन्ह अक्षर के शिर पर लाल बिन्दु। १८ वां काण्ड स्वर रहित। अति शुद्ध। १-१६ काण्ड तक।

(२) [B.] अथर्व-वेदी ब्राह्मण बापूजी जीवनराम बीसानगर, (लूनवाड़ा) का ग्रन्थ। शुद्ध। १६ और २० के २६-३२ सूक्तों को छोड़ कर शेष पूर्ण। गणेशभट्ट दादा संशोधित। ११ वां, १२ काण्ड दूसरे हाथ का लिखा हुआ। सं० १७२०, आश्विन शुक्ल ३।

(३) [B. P.] बापूजी जीवनरामजी वैदिक ब्राह्मण को समग्र वेद कण्ठस्थ था। उसके पाठ के अनुसार शुद्ध किया हुआ ग्रन्थ। वह वैदिक

गणेशभट्टदादा का शिष्य था। १८ वां काण्ड उसे याद नहीं था। वह कांड चिता और अन्त्येष्टि विषयक होने से अनिष्टजनक समझ कर घर में नहीं पढ़ा जाता था। अतः वह काण्ड जंगल में सुनाया गया।

(४) [B.] दो खंडों में। १ में १–१० काण्ड तक । १८ वें को छोड़ कर शेष सब।

(५) [C.] प्राचीन ग्रन्थ ११–२० तक। डेकन कालेज पूना का। २० वां अतिरिक्त पत्राङ्कित। रेखा-स्वराङ्कित। अति शुद्ध।

(६) [D.] डेकन कालेज पूना का। १८ वें को छोड़ शेष सब कांड। १६, २० पृथक्-पत्राङ्कित।

(७) [E.] अति प्राचीन पुस्तक का खंड मात्र, १०–१७ तक और १० वें के पिछले ३$\frac{1}{2}$ मन्त्र और २० वां काण्ड प्रारम्भ के ४ सूक्त, २ मंत्रों को छोड़ कर। १८, १६ दोनों काण्ड नहीं है। १८ के २ मन्त्र हैं। लाल बिन्दु से स्वराङ्कित।

(८) [K.] केशवभट्ट बिनदाजी भट्ट अथर्ववेदी ब्राह्मण। संहिता और पदसंहिता कण्ठस्थ थीं। १८ वें को छोड़ समस्त याद थी।

(९) [K^{m}] केशवभट्ट लिखित ग्रन्थ।

(१०) [R.] जूनागढ़ के सुन्दरजी दुर्गाशंकर का। दो खंडों में। १म में १–१० तक। २ य में ११–२० तक। सं० १६५२।

(११) [S^{m}.] १८ वें को छोड़ शेष सब । १८ वें के बीच के पत्र ग्रन्थ में से निकाल लिये गये थे । जूनागढ़ के सदाशंकर धनशंकर का। प्रारम्भ में—' ओं नमो ब्रह्मवेदाय ॥ ओं शन्नो देवी० '।

(१२) [V.] अथर्व-वेदी वेनकम भट्टजी का। ये उत्तम वेदपाठी और

अग्निहोत्री थे । संहिता, पदपाठ कंठस्थ । वह कौशिक गृ० सूत्र को भी जानता था ।

(१३) [Dc.] १-२० तक पूर्ण ।

(१४) [Cs] पूर्ण, १८ वां नहीं है । शुद्ध । गुजरात से प्राप्त ।

(१५) [S.] सायण भाष्य । जिसके आधार पर निर्णयसागर प्रेस में 'सायण-भाष्य' छापा गया है ।

हस्त लिपियों के संक्षिप्त विवरण से एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी हस्तलिखित ग्रन्थ में १६, २० काण्डों को परिशिष्ट नाम से उल्लेख नहीं किया । दूसरे, पाठकों को विदित हो जायगा कि पुराने विद्वान् ब्राह्मण कितने यत्न से वेदों की रक्षा करते रहे । तीसरे, वेदों की वर्त्तमान में इतनी दुर्दशा हो गयी थी कि पूर्ण ग्रन्थ भी कितना दुष्प्राप्य हो गया था । इससे वर्त्तमान के प्रकाशित अथर्ववेद के संहिता के पुस्तकों पर भी प्रकाश पड़ता है । निर्णयसागर का प्रकाशित अथर्ववेद बहुत शुद्ध है । अजमेर मुद्रित संहिता प्रकाशित संहिताओं में सब से अधिक अशुद्ध है । हमने निर्णय सागर के मुद्रित पाठ को मुख्य मान कर ही अपने ग्रन्थ की संहिता को स्थिर किया है । और पाठान्तरों को देकर संन्दिग्ध पाठों का विवेचन किया है ।

आदि मन्त्र

व्याकरण महाभाष्यकार मुनि पतञ्जलिने परपशान्हिक में * अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शं नो देवी रभिष्टये०' माना है । परन्तु वर्त्तमान उपलब्ध अथर्वसंहिताओं में प्रथम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः०' है । इसका समाधान यह है

* "वैदिकाः खल्वपि 'शन्नोदेवीरभिष्टये' । इषे त्वोर्जेत्वा । अग्निमीळेपुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतये ।" इति पातञ्जल महाभाष्ये ।

कि आदि मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः०' यही है। परन्तु अथर्ववेदियों में मङ्गल के रूप से प्रथम 'शं नो देवी०' मन्त्र का पाठ मात्र कर लिया जाता था। जैसा कि ह्विटनी और पं० शंकरपांडुरंग M. A. संगृहीत हस्त लिपियों में से कई में पाया जाता है। हमने इसी रीति से आदि में 'शं नो देवी०' मन्त्र पढ़ दिया है। दूसरे, पैप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र भी 'शं नो देवी०' मन्त्र है। और शाखाओं के ग्रन्थ सर्वथा ही प्राप्त नहीं हुए।

अथर्ववेद के शाखाभेद।

चरणव्यूह परिशिष्ट में अथर्ववेद का शाखा-भेद इस प्रकार लिखा है—

" तत्र ब्रह्मवेदस्य नव भेदा भवन्ति। तद्यथा पैप्पलादाः। स्तौदाः। मोदाः।
शौनकीयाः। जाजलाः। जलदाः। ब्रह्मवेदाः। देवदर्शाः। चारणवैद्याश्चेति ॥१॥
तेषामध्यायानां ऋचो द्वादशसहस्राणि अशीति त्रिशतानि च।
पर्यायिकं द्विसहस्राण्यन्यांश्चैवार्चिकान् बहून्। इति ॥ २ ॥
एतद् ग्राम्यारण्यकानि षट् सहस्राणि भवन्ति " ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेद के ९ भेद होते हैं—पैप्पलाद, स्तौद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य। उन सब के अध्यायों (=पाठों) की १२३८० ऋचाएं, २००० पर्याय सूक्त और अन्य भी बहुत से आर्चिक (ऋगण) हैं। ये ग्राम्य और आरण्यक मिलकर छः सहस्र होते हैं। विष्णुपुराण में—

अथर्वणामथो वक्ष्ये संहितानां समुच्चयम्। अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः ॥१॥
शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोपि तं द्विधा। कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान् ॥२॥
देवदर्शस्य शिष्यास्तु मेधो[1] ब्रह्मबलिस्तथा। शौल्कायनिः पिप्पलादस्तथाऽन्यो द्विजसत्तम ॥३
पथ्यस्यापि त्रयः शिष्याः कृता यैर्द्विज संहिताः। जाबालिः[2] कुमुदादिश्च तृतीयः शौनको द्विज ॥४ *

* शब्द कल्पद्रुमोद्धृतविष्णुपुराणोद्धरणे। १, 'मेधो ब्रह्म-', २, 'जाजलिः'।

शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकां तु बभ्रवे । द्वितीयां संहितां प्रादात् सैन्धवाय[३] च संज्ञिने । सैन्धवान्[४] मुञ्जिकेशश्च द्वेधा भिन्नास्त्रिधा पुनः ॥ ५ ॥

अथर्ववेद की शाखाओं के विषय में यह लिखा है कि—वेदव्यास के शिष्य सुमन्तु ने कबन्ध को पढ़ाया । उसने पुनः दो संहिताएं करके एक 'देवदर्श' को और दूसरी 'पथ्य' को दी । देवदर्श के चार शिष्य थे, मेध, ब्रह्मबलि, शौल्कायनि, और पिप्पलाद । पथ्य के तीन शिष्य थे, जाबालि, कुमुदादि और शौनक । शौनक ने दो संहिताएं बना कर बभ्रु और सैंधव को दीं, सैंधव ने मुंजिकेश को दी । इस प्रकार यह दो संहिताएं भी तीन भेद में फट गयीं ।

वाचस्पत्य बृहदभिधान में इन नौ शाखाओं का एक और भी रूप लिखा है । "अथर्वस्य नव शाखाः । पैप्पलादा, शौनकी, दामोदा, औप्ता, ब्रह्मदा, पराशौनकी[?], देवदर्शी, चारणविद्याचेति । तेषामध्ययनं द्वादशैव सहस्राणि भवन्ति । कल्पे कल्पे पञ्चशतानि भवन्ति ।"

उक्त कोष में ही अन्यत्र लिखा है—

'अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति । पैप्पलाः, दान्ताः, प्रदान्ताः स्नाताः, स्नौताः, ब्रह्मदावलाः, शौनकी, देवदर्शती चरणविद्याश्च [दाता, प्रदाता, औप्ता, ब्रह्मदीवशी, वेदशी[?], इति भाष्येन मतान्तरम्] तेषामध्ययनं पञ्चकल्पानि भवन्ति । नक्षत्रकल्पो विधानकल्पः संहिताकल्प आंगिरसकल्पः शान्तिकल्पश्चेति ।'

उक्त कोश में ही हेमाद्रिका अवतरण दिया है—

'अथो अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति । पिप्पलादाः वर्त्मदाश्च भूतायनाः कातयस्तथा । जज्वला ब्रह्मवेदाश्च शौनकी कनस्त्री तथा । वेद ऋषिः चौरविद्या तेषामध्ययन शृणु ॥'

---

३. 'सैंधवायन संज्ञिने', ४. सैधवा मुञ्जकेशाश्च भिन्नभेदा द्विधा पुनः' । इति पाठभेदाः ॥

वाचस्पत्यबृहदभिधानोद्धृत विष्णुपुराणोद्धरणे–१ मौद्गो ब्रह्म-, ४ 'सैन्धवमुंजकेशाभ्यां भिन्ना वेदा द्विधा' इति पाठभेदः ।

	अथर्व० परि०	वि० पु०	वाच० 1	वाच० 2	हेमाद्रि
१	पैप्पलादाः,	पिप्पलादः	पैप्पलादा	पैप्पलाः	पिप्पलाद
२	स्तौदाः ?				
३	मोदाः	मेधः, मोदः, मौद्गः ?	दामोदा		
४	शौनकीयाः,	शौनकः	शौनकी	शौनकी	शौनकी
५	जाजलाः	जाबालिः			जज्वला
६	जलदाः				
७	ब्रह्मवदाः	ब्रह्मबलिः	ब्रह्मदा	ब्रह्मदावला ? ब्रह्मदावशी ?	
८	देवदर्शाः	देवदर्शः	देवदर्शी	देवदर्शती, वेदशी ?	वेदऋषि
९	चारणवैद्याः		चारणविद्या	चरणविद्या	चौरविद्या
		कुमुदादिः	श्रौता ?	श्रौता ?	वरमदाः ?
		बभ्रुः		दाता, दांता,	भूतायनाः
		सैंधवः, सैंधवायनः		प्रदाता, प्रदांता	कातयः ?
				स्नौता ?	कनस्वी ?
				स्नाता ?	

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब लेखक तुक लगा कर लिखने वाले हैं। इनमें से एकने भी नव शाखाओं को नहीं देखा। इनमें पैप्पलाद और शौनकीय शाखाएं सर्वत्र समान हैं शेषों के शुद्ध नाम भी

न... मेलते । विष्णुपुराण की 'कुमुदादि' जलद शाखा प्रतीत होती है। वाचस्पत्य प्रोक्त 'श्रौत्र' 'स्तौद' शाखा है हमारी सम्मति में 'श्रौत्र' और स्तौद या तौद तीनों नाम अशुद्ध प्रतीत होते हैं। यही 'स्तौत' 'स्नौत' नामों से भी कहा गया है। कदाचित् यह शुद्ध शब्द 'श्रौत' या 'स्रौत' है। उपरिलिखित वत्संदाः, भूतायनाः, कातयः, कनस्वी, इन ४ का पता ही ... चलता ये क्या हैं।

इन सब का अध्ययन प्रमाण १२००० श्लोक परिमाण बतलाया है। ...व्यूह परिशिष्ट में इनका परिमाण १२३८० बतलाया है। वाचस्पत्य के ...ण में "कल्पे कल्पे पञ्चशतानि भवन्ति" लिख दिया है। इससे पांचों ...पों में १५०० और ९ वीं शाखाओं में १२००० ऋचा का बोध होता है। ...नु ये सब अभी जुबानी बातें हैं। इस प्रकार नपे नपाये ग्रन्थों का अब ...भाव है।

वर्तमान अथर्ववेद में ५९७७ मन्त्र विद्यमान हैं। इस संहिता को पूर्वोक्त पांच कल्पों में संहिता कल्प के नाम से लिखा है। अभी ये ...। बातें अगले खोज करने वालों के लिये हम यहां ही छोड़ते हैं।

पांच उपवेद

अथर्ववेद से उतर कर इसके पांच वेदों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण [१ । १०] में किया है। सर्प वेद, पिशाच वेद, असुर वेद, इतिहास वेद और पुराण वेद ये पांच अथर्ववेद के उपवेद कहे हैं, उन उपवेदों के विषय में शतपथ ब्राह्मण (१३ । ४ । ३ । ६–१३) में लिखा है—(१) वरुण आदित्य राजा की प्रजाएं गन्धर्व हैं। वे येही नवयुवा पुरुष हैं, उनके लिये अथर्वन् वेद है। (२) वैष्णव सोम राजा की प्रजा अप्सरायें हैं। वे सुन्दर स्त्रियां हैं। उनके लिये आंगिरस वेद है। (३) अर्बुद काद्रवेय राजा की प्रजाएं सर्प हैं, वे ये सर्प, और सर्पविद्या के जानने वाले हैं उन

के लिये 'सर्पविद्या वेद' है। (४) कुबेर वैश्रवण राजा की प्रजाएं 'रक्षः' हैं, वे ये सेलग, लोग हैं। उनके लिये 'देवजनविद्या वेद' है। (५) असित धान्व राजा की प्रजा असुर हैं वे ये कुसीदी (सूदखोर) हैं। उनका वेद मायावेद है। (६) मत्स्य सांमद राजा की प्रजा उदकचर हैं। वे ये मत्स्य और मत्स्यघाती जीव हैं उनका इतिहास वेद है। (७) वैप-श्यत राजा की प्रजा 'वयस्' हैं। ये वे वायुविद्या के ज्ञाता हैं उनके वेद पुराण वेद हैं।

इस शतपथ के उद्धरण में इन वेदों को इन २ प्रजाओं का उपदेश करने का विधान भी किया है। अतः उस समय इन वेदों की पृथक् सत्ता प्रतीत होती है। नवयुवकों, स्त्रियों, सर्प चिकित्सकों, पर्वत-निवासियों, व्यापारियों, समुद्रयात्रियों और वायु-विहरण करने हारों के लिये उनके उपयोग के भिन्न २ वेद थे। और वे गोपथ के मत से अथर्ववेद के उप-वेद माने जाते थे।

इसके अतिरिक्त, महर्षि दयानन्द ने 'आयुर्वेद' को अथर्ववेद का उपवेद माना है। चरण व्यूह के मत से अथर्व-वेद के उपवेद 'शस्त्र शास्त्र' माने हैं। हेमाद्रि ने तन्त्रों को अथर्ववेद का उपवेद माना है।

हमारी अपनी सम्मति है कि शस्त्र शास्त्र, तन्त्र आदि का समावेश गोपथ प्रोक्त पांचों वेदों में आ जाता है। इसीलिये उनको पृथक् नहीं कहा गया। उक्त सभी विद्याओं के मूल सूक्त अथर्ववेद में हैं इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। कौनसी विद्या किस स्थान पर कही गयी है इसके लिये पाठक लोग अथर्ववेद की विषयसूची से ही देख सकेंगे और सुगमता से उस विषय को पा सकेंगे। इसी प्रसंग में हम महर्षि दयानन्द के इस सिद्धान्त को दोहराना चाहते हैं कि शाखा ग्रन्थ भी व्याख्या ग्रन्थ हैं। कदाचित् नव शाखा भेद विषय भेद से ही हों। जहां तक हमारा अनुमान है 'चारण-वैद्य' शाखा में शायद चरक-विद्या, या आयुर्वेद का विज्ञान

हो । देवदर्श शाखा में भौतिक विज्ञान हो, 'ब्रह्मवद' शाखा में ब्रह्मज्ञान, 'जलद' शाखा में जल विज्ञान, 'जाजल' या 'जज्वलि' में अग्नि विज्ञान हो । 'शौनक' शाखा में विशेष रूप से व्यापक ब्रह्म की शक्ति को प्रदर्शन किया हो, मोद' या 'मेध' शाखा में आयु और बुद्धि वर्धन के उपाय दर्शाए हों, पैप्पलाद में ब्रह्म और जीव के कर्त्तव्यों का विशेष विधान हो । जब तक इन शाखाओं के व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थ आदि उपलब्ध नहीं होते या प्रचलित कल्प ग्रन्थों से अतिरिक्त कोई रहस्य-ग्रन्थ नहीं प्राप्त होते तब तक हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते । तन्त्रों में विद्युज्जिह्व तन्त्र, रसार्णव तन्त्र आदि बड़े विज्ञानपूर्ण ग्रन्थ हैं । सर्प वेद या विष-विज्ञान (Toxicology=तक्षक-विद्या) भी कोई कम रहस्य का विज्ञान नहीं है । असुर-वेद या माया-वेद अर्थवेद मालूम होता है । समुद्र यात्रियों और वायु-विहारियों के लिये इतिहास और पुराणवेद का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जैसी २ घटनाएं घटें उनसे इनको अपने कार्य के लिये विज्ञान का संग्रह करना चाहिये । शस्त्रास्त्र विद्या धनुर्वेद है ।

अथर्ववेद के भाष्य और अनुवाद

हमारे सामने पं० ह्विटनी और पं० ग्रीफ़िथ के अंग्रेजी अनुवादों के अतिरिक्त शंकरपाण्डुरंग सम्पादित सायण भाष्य और श्री क्षेमकरण त्रिवेदी रचित भाषाभाष्य उपस्थित हैं । ये सभी भाष्यकार हमारे लिये आदर के पात्र हैं । हमने अपने तुच्छ श्रम से अथर्ववेद के रहस्यों को स्पष्ट करने का यत्न किया है । योरोप के अनुवादकों पर तो सायण के विचारों और कौशिक सूत्रों का गहरा रंग है । जिन कांडों पर सायण का भाष्य प्राप्त नहीं है उन स्थलों पर प्रायः कौशिक सूत्र के विनियोग देख कर तदनुसार शब्दों और वाक्यों का अर्थ कर दिया है । इस प्रकार वेदमन्त्रों में से उत्कृष्ट अर्थ निकलता है या हीन अर्थ निकलता है, बुद्धिपूर्वक सत्यार्थ निकलता है या अबुद्धिपूर्वक ऊटपटांग अर्थ निकलता है इसकी सर्वथा परवाह नहीं की गयी । और जहां वाक्य

समझ नहीं आया वहां प्रश्नार्थक चिन्ह [?] और उस पर 'अस्पष्ट' इत्यादि टिप्पणियां लगादी हैं। तो भी शब्दार्थ रचना पूर्ण करने के लिये अर्थ अवश्य कर दिया है। उनके इस तरह के अनुवादों से वेदों का गौरव कम हो गया है और अनुवादों को पढ़ने वालों के चित्त में वेद के उलटे सूधे अर्थ बैठ जाने पर फिर सत्यार्थ की प्रतीति होनी ही असम्भव हो जाती है।

उनसे बढ़ कर सायण-भाष्य है। सायणाचार्य भाष्यकारों में से एक प्रौढ़ भाष्यकार हैं। वे वैदिक साहित्य के अगाध सागर हैं। परन्तु अथर्ववेद का भाष्य करते समय कौशिक सूत्र के विनियोगों ने सायण के हृदय पर भारी शृंखलाएं बांध दी हैं। इसलिये सायण किसी स्थान पर स्वतन्त्र वेद-भाष्य न कर सके। प्रत्युत उत्तम २ सूक्तों का भी ऐसा अनर्थकारी अर्थ कर दिया है जिससे वेद की शिष्टता में भी संदेह होने लग जाता है। और इसी कारण सायण को बहुत से स्थलों पर अन्धविश्वास और अज्ञान-पूर्ण अर्थ करने पड़ गये हैं। जैसे अभीवर्त्त मणि आदि जड़ पदार्थों पर शत्रुनाश, राष्ट्रवृद्धि करने आदि अर्थ के विशेषणों का लगा देना [अथर्व० १। २९ सू०]; स्त्रियों के दुर्भगा करण आदि [अथर्व० १। १४], दुष्टाचारियों के अश्लील कार्यों का मन्त्रों में से अर्थ निकाल देना, ऊटपटांग कार्य से बड़े २ रोगों को दूर भगाने की चेष्टा करने परक अर्थ [अथर्व० १। २२] करना आदि २, कौशिक सूत्रोक्त विनियोगों के वशीभूत होकर सायणाचार्य के किये अनर्थों का अच्छा नमूना है। हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर सायणकृत अर्थों की त्रुटियां दर्शायीं हैं।

इसी प्रकार विनियोगों के चक्र में योरोपीयन अनुवादक भी पड़े हुए हैं।

वर्तमान समय में श्री पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी ने जो अथर्ववेद का भाष्य रचा है वह स्वतन्त्र और अन्यों की अपेक्षा अधिक गम्भीर और युक्ति पूर्ण है। परन्तु लेखनशैली कई स्थानों पर प्रति-शब्दानुवाद करते हुए

इतनी अस्पष्ट हो जाती है कि नीचे लिखे भावार्थ और शब्दों में भारी अन्तर आ जाता है। और बहुत से अस्पष्ट स्थलों पर व्याकरण के बल पर अर्थ कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि वेद के ऊपर पं० क्षेमकरणजी का किया श्रम अवश्य प्रशंसनीय है।

अथर्ववेद में जादू टोना

कौशिक सूत्रों के विनियोगों ने ही योरोपीयन विद्वानों और सबसे प्रथम सायण, तदनुसारी अन्य विद्वानों और सर्व साधारण जनता तक के बीच में यह ज़बर्दस्त भ्रम फैला दिया है कि अथर्ववेद में 'जादू टोना' बहुत अधिक है। परन्तु इस स्थल पर हमें आश्चर्य से कहना पड़ता है कि हमें समस्त अथर्ववेद में किसी स्थान पर भी 'जादू-टोना' प्राप्त नहीं हुआ। भ्रमनिवारण के लिये हम कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

(१) प्रथम कांड के प्रथम सूक्त का विनियोग 'मेधा-जनन' कर्मों में किया गया है। कौशिक ने मेधाजनन कर्म बहुत से गिनाये हैं जैसे गूलर, ढाक, वट आदि की समिधाओं का आधान करना, धान, जौ, तिलों की आहुति देना, खीर, भात आदि पुष्टिप्रद पदार्थ खाना, उपाध्याय को भिक्षा देना, सोते हुए उपाध्याय के कान में सूक्त का जप करना, घी मिले धान्यों का होम करना, तिल धान की आहुति कर शेषों का खाना, तोता मैना आदि की जिह्वा का बन्धन और उनको खिलाना इत्यादि। उन कार्यों को करते हुए 'ये त्रिषप्ताः०' इत्यादि सूक्त को जपना चाहिये। इसी प्रकार उपनयन के दिन विद्यार्थी इस का जप करें। ग्रामसम्पत्ति की इच्छा से इस सूक्त से समिदाधान करें। समस्त सम्पत्ति चाहने वाले इस सूक्त से अपने बायें हाथ से रक्त निकाल उससे दधि, घी, मधु, जल मिलाकर खावें। युद्ध से शत्रु के हाथियों को भगा देने के लिये इसी सूक्त से उचित उपाय करे। पुष्टिकर्म, तेजःप्राप्ति, पुत्र प्राप्ति आदि सभी कार्य इस सूक्त से करने लिखे गये हैं।

परन्तु पाठक देख सकते हैं कि इस सूक्त के चारों मन्त्रों में कहीं भी उक्त कार्यों का उल्लेख नहीं है । सारे सूक्त में १म बल प्रार्थना, २य-ज्ञान प्रार्थना और ३य विद्यावृद्धि की प्रार्थना की गयी है । परन्तु कल्पकार ने बुद्धिवर्धक, बल और वीर्य से सम्बद्ध सभी कार्यों से इस सूक्त का सम्बन्ध कर दिया है । कल्पकार क्योंकि केवल क्रियामात्र का निर्देश करता है और क्रिया का फल से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दर्शाता क्योंकि क्रिया और फल का सम्बन्ध दर्शाना उसका कार्य नहीं, वह रहस्य होने से आचार्य का कर्त्तव्य है, अतः सर्व साधारण के सामने यह एक जादू के समान प्रतीत होता है और लोग इस कर्म को अन्धविश्वास से अदृष्ट द्वारा फलजनक मान लेते हैं और कोई मन्त्र का बल या कोई मन्त्रोक्त देवता का प्रसाद मान लेते हैं । ये विनियोग इस प्रकार से बड़ा अनर्थ फैलाने वाले हुए हैं । कल्पकार कौशिक ने जितने कर्म 'मेधाजनन' या बुद्धि-उत्पादक बतलाये हैं उनमें कितनी सत्यता है यह हमारा यहां विषय न होने से इस प्रसङ्ग में हम कुछ नहीं कहते, तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि कौशिक सूत्रोक्त विधान अपने मूल में एक सत्य रखते हैं । वह सत्य सर्वत्र एकसा नहीं है, प्रत्युत भिन्न २ प्रकार का है । कल्पों का रहस्यों के सहित ज्ञान करने से उन तत्वों का पता लग सकता है । जैसे इसी स्थान पर देखिये । वेद में वाचस्पति और वसोष्पति आचार्य और परमेश्वर से शरीर में बलों की और श्रुत=वेदोपदेश को धारण करने की प्रार्थना की है । प्रथम सूक्त के चार मन्त्रों में विचार या दृढ़ संकल्प किया है । पर उसको प्राप्त कैसे करें यह प्रश्न उठता है । कल्पकार उसका उपाय दर्शाते हैं । जैसे—(१) विद्यार्थी गूलर, वट, ढाक की समिधाएं अग्नि में रखे । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में काष्ठ रखने से शीघ्र जल कर प्रकाशित होता है उसी प्रकार वह भी गुरु रूप अग्नि के संग से ज्ञानवान् हो जाय । (२) धान, जौ तिलों की आहुति, अर्थात् जिस प्रकार ये पदार्थ अग्नि में पड़ कर अधिक गन्ध देते और वायु शुद्ध करते हैं उसी प्रकार आचार्य के संग से तुम भी अधिक गुण प्राप्त

करो, (३) खीर आदि पुष्टिकारक पदार्थ बुद्धि और बल को बढ़ाते ही हैं। (४) तोता मैना आदि की जिह्वा का बन्धन और उनको खिलाना। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन जन्तुओं के अन्य बनैले जीवों के संग न रख कर बार २ एक ही पाठ पढ़ावें और शेष समय उनका मुंह बांधे रखने से वे अच्छा पढ़ जाते हैं इसी प्रकार विद्यार्थी अपनी जिह्वा पर वश करें और व्यर्थवाद न करके वेदाध्ययन का अभ्यास करें तो उनकी बुद्धि और वाणी बढ़ेगी। (५) सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के लिये भी बुद्धि चाहिये, युद्धादि विजय और शत्रुओं के हाथी आदि के लिये बुद्धि और बल के अद्भुत प्रयोगों की आवश्यकता है, उस अवसर पर यदि ईश्वर से बल की प्रार्थना करें तो क्या असम्भव बात है। इस प्रकार कल्प ग्रन्थ सार्थक होता है। परन्तु, कल्पोक्त विनियोग वेद के अर्थों के नियामक हैं ऐसा नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वेदमन्त्र का अपना स्वतन्त्र अर्थ रह कर भी कल्पोक्त क्रिया साधनों को अपने साथ गौण रूप से जोड़े रख सकता है।

(२) प्रथम कांड का ७ वां और ८ वां सूक्त चातन ऋषि दृष्ट हैं। कौशिक ने इन सूक्तों पर लिखा है 'चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्'। चातन सूक्तों का प्रयोग अपनोदन सूक्तों के समान समझना चाहिये। इस पर सायण ने लिखा है—'आविष्टभूतपिशाचाद्युच्चाटनार्थं फलीकरणतुषावतक्षणहोमादीनि इत्यपनोदनसूक्तकर्तव्यानि अपनोदनानि कर्माणि अनेन गणेन कुर्यात्।' पुरुष शरीर में घुसे भूत, पिशाचों के उच्चाटन करने के लिये चातनगण में पढ़े सूक्तों का विनियोग अपनोदन सूक्त के विनियोग के समान जानकर तुष या भूसी को कूटना और होम आदि करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि अन्न की रक्षा करने के लिये जिस प्रकार भूसी को कूट २ कर अलग फटक दिया जाता है उसी प्रकार दुष्टों को कूट २ कर फटक दे अर्थात् प्रजा से बाहर कर दे। या होम कर दे अर्थात् प्रजा के हित के लिये उनको कूड़े कचरे के समान जला दे, या मृत्यु दंड दे। कौशिकोक्त कल्प का यह तात्पर्य है। परन्तु सायण को आविष्ट भूतपिशाचों के उच्चाटन के लिये भूसी को होम करना इष्ट है अतः उसने अभि

की स्तुतिपरक सूक्त की योजना कर दी है। समस्त सूक्त में भूत पिशाच किसी का नाम नहीं है । सायण के पीछे चलने वाले योरोपीयन महा विद्वान् पं० ग्रीफ़िथ ने भी लिख दिया कि यह सूक्त भूत प्रेतों को नाश करने के लिये है, इस सूक्त में भी अग्नि और इन्द्र को स्तुति की गयी है । पं० व्हिटनि ने इस सूक्त का शीर्षक लिखा है ' सोर्सरर्स ' अर्थात् जादूगरों के पता लगाने के लिये अग्नि की प्रार्थना ।

' सोर्सरर्ज़् ' अर्थात् जादू टोने चलाने वालों के पता लगाने के लिये अग्नि से प्रार्थना करना यह व्हिटनी को अभिप्रत है । फलतः ' यातुधान ' शब्द का अर्थ सायण भूत प्रेत समझता है । व्हिटनी के मत में ' यातु-धान '=जादूगर हैं । ग्रीफ़िथ के मत में ' ईवल स्पिरिट्स् ', ' भूत प्रेत ' हैं । परन्तु यह किसी ने बतलाने का यत्न नहीं किया कि सूक्त में आये 'अग्नि' और इन्द्र क्या पदार्थ हैं । यदि इन्द्र और अग्नि का रहस्य खुल जाय तो सूक्त के अर्थ ही निर्विवाद हो जांय । योरोपीयनों के मत में ये दो देवता हैं इन्द्र और अग्नि या जातवेदा नाम से पुकारे जाते हैं । सायण के मत से इस अग्नि में ' हवि ' तुष आदि डाला जाता है । अब मन्त्र को लीजिये ।

' स्तवानमग्ने आवह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्वभूविथ ॥' अथर्व० १ । ७ । १ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! स्तुवान, किमीदी, यातुधान को लाओ । क्योंकि हे देव तू वन्दित होकर दस्यु का हन्ता रहा है ।

दस्यु का अर्थ ग्रीफ़िथ के मत से एक असुर है जो बादलों में वर्षा को रोक लेता है । इन्द्र उसको मारता है । व्हिटनी के मत से दस्यु का अर्थ ' जंगली ' (Barbarian) है । और यातुधान (Sorcerer) टोनेबाज़ और किमीदी=किर्मीदी है । फलतः स्तुति किया हुआ अग्नि टोनेबाज़ और किमीदी (?) को ले आवे, यह अर्थ हुआ । क्योंकि वह ' दस्यु ' ' जंगली ' या असुर (ग्री०) का मारने वाला रहा है ।

सायण के मत में—हे अग्ने ! (स्तवानं) मेरे से दिये हवि को मेरे कर्म में (आवह) ले आ । (किमीदिनम्) ' अब क्या ' २ इस प्रकार विचरते (यातुधानं) घात करने की इच्छा से गुप्त चरने वाले राक्षस को [(अपसारय) दूर कर] अथवा (स्तूयमानं=स्तूयमानः) तू स्तुति किया जाकर किमीदी यातुधान राक्षस को प्रतीकार के लिये इस मनुष्य में घुसा दे या निग्रह के लिये अपने पास ला । या हे अग्ने तेरे पास डर से तेरी स्तुति करते हुए यातुधान को तू ला । और हे (देव) दानादि गुणयुक्त ! तू (वन्दितः) हम से नमस्कार आदि से प्रार्थित होकर (दस्योः) दस्यु विनाशकारी राक्षसादि का (हन्ता) मारने वाला (बभूविथ) होता है ।

अर्थ तो सब ने कर दिया । परन्तु सब के मूलार्थ अस्पष्ट हैं । उन्होंने कोई न कोई शब्द मूल अर्थ में नहीं खोला और लाना आदि सब चेतन के कार्य अग्नि के लिये छोड़ दिये । अग्नि=आग में ये चेतन के गुण साक्षात् नहीं घटते । वह किसी को पकड़ कर नहीं लाता और न दस्यु को मारने जाता है । इसलिये इन वाक्यों में योग्यता नहीं होने से वाक्य दोषयुक्त हैं । परन्तु सायणने अपने भाष्य में सर्वगामी कौशल किया है । आप लिखते हैं कि—" अंगति गच्छति सर्वत्र जाठरवैद्युतादिरूपेण कृत्स्नं जगद् व्याप्नोति इति अग्निः । यद्वा अग्रणीत्वादिगुणयोगादग्निः । " यह अग्नि सर्वव्यापक अग्नि लेना या अग्रणी आदि गुणों के होने से अग्नि लेना । इतना लिखकर भी यह नहीं बतलाया कि वह कौनसा अग्नि है, चेतन है या जड़ आग है ? यह संदेह रहने से सायण ने ' आ वह ' शब्द के व्याख्यान में हवि आदि वहन करने वाला ' आग ' पदार्थ ले लिया । या व्यापक अग्नि को लेकर भूत को आदमी में घुसा देने की प्रार्थना करके अपना सब किया परिश्रम मिट्टी में मिला दिया । वास्तविक बात क्या है ? अग्रणी आदि गुण के होने से अग्नि राजा है उसे आदेश या कर्त्तव्यों का उपदेश है कि वह हिंसक, किमीदी, यातुधान को पकड़े क्योंकि वह सर्व नमस्कृत है और दस्यु का मारने वाला देव राजा है । समस्त संस्कृतसाहित्य में राजा को 'देव' शब्द

से पुकारा जाता रहा है। वह संतापकारी और अग्रणी होने से 'अग्नि' है। पीड़ा या यातना देने वाले जीव 'यातुधान' हैं, वे पाप करके सदा चित्त में 'अब क्या होगा, अब क्या होगा' ऐसी चिन्ता करते या दूसरे के जान माल को 'यह क्या' २ इस प्रकार तुच्छ जान कर नाश कर देते हैं। उनका ही दूसरा रूप 'दस्यु' (=नाशकारी) है। यातुधानों को 'अत्रिणः' [७ । ३] अर्थात् दूसरों का माल खाजाने वाले कहा है।

इसके अतिरिक्त वह अग्नि ही 'इन्द्र' राजा कहागया है। वह 'बाहुमान्' बतलाया गया है। तब अब कोई संदेह नहीं रह जाता कि यह दो हाथों वाला साक्षात् राजा ही है, कोई कल्पित देव नहीं है। योरोपीयन विद्वान् तो बड़े उदार सुने जाते हैं, परन्तु वेद के अर्थ करने के समय इन्होंने बड़ी कृपणता से कार्य किया है। उन्होंने वेदों में से उच्च सभ्यता के चिन्हों को प्रकट होने देने की चेष्टा नहीं की। प्रत्युत जंगली अर्धसभ्य आदि मानकर हमारे पूर्वज ऋषियों को वर्तमान जंगली लोगों के समान भूत प्रेत, जादू टोने आदि मूर्खता और अज्ञान से भरे कार्यों में फंसा मान लिया है। उनको ईसाइयत के प्रभाव से कदाचित् वेद के काल में भी भूत चुड़ेलों के दर्शन हुए या दादागुरु सायण की भ्रमजनक पंक्तियों की ही उन पर भी छाप लगी है। वे वेदों को अधिक सरल करने का यत्न नहीं करना चाहते। ऊपर हमने निदर्शन मात्र के लिये एक मन्त्र को खोलकर बतला दिया है। पाठक ७, ८ दोनों सूक्तों की व्याख्या को प्रस्तुत पुस्तक में देखें और देखें कि किस प्रकार अथर्ववेद एक कर्तव्य-निदर्शक धर्मग्रन्थ है।

(३) 'भगम् अस्या वर्च' [का० १ । सू० १४] इस सूक्त को कौशिक सूक्त ने स्त्री या पुरुष के दौर्भाग्य करने के लिये उनकी भोगी हुई दातुन, गेन्द, माला, केश आदि के गाड़ते हुए पढ़ने का विनियोग लिखा है। यहां कौशिक का भूत आचार्य सायण पर बड़ी प्रबलता से चढ़ गया है। खेंच तान कर सूक्त के चारों मन्त्रों का अर्थ उधर ही लगाया है।

पं० ग्रिफिथ और ह्विटनी भी उधर ही बह गये हैं। इस अवसर पर हमें हर्ष से कहना पड़ता है कि पं० वेबर लडविग और ज़िम्मर आदि महोदयों ने स्वतन्त्र होकर इस सूक्त को विवाहपरक लगाया है। इस सूक्त की वास्तविक शोभा भी विवाहपरक अर्थों में ही है। जो प्रस्तुत पुस्तक में देखने से विदित होगी। वेद जैसे पवित्र धर्मग्रन्थ से स्त्री के दौर्भाग्य करने की घृणित शिक्षा प्राप्त ही नहीं हो सकती। स्थानाभाव से हम यहां वेद के प्रत्येक शब्द पर किये अनर्थों को खोल कर नहीं बतला सकते। इसके लिये एक विशाल ग्रन्थ चाहिये।

(४) 'ये अमावास्यां रात्रिम्' [अथर्व० १। १६] सूक्त को कौशिक ने शत्रु को मारने के लिये सीसे के चूर्ण से मिले अन्न खिला देने के लिये विनियुक्त किया है। इस सूक्त में भी पिशाची के सन्तानों और 'अत्रि', 'यातु' आदि नामों से सायणने रक्षः पिशाच आदि लिये हैं। ग्रीफ़िथ ने भी 'पिशाच' शब्द से भूत, प्रेत (imps and goblins) ले लिये हैं। 'सीस' शब्द से ह्विटनी महोदय ने सीसे का तावीज़ लिया है। पं० ग्रीफिथ ने 'सीसि' शब्द से सीसे का टुकड़ा ले लिया है और मन्त्र के अर्थ कर दिये हैं। यह बतलाने का यत्न नहीं किया कि अग्नि, वरुण इन्द्र आदि देवों का सीसे से क्या सम्बन्ध है, वह सीसा जत्थे २ बनाकर आक्रमण करने वाले यातुधानों को कैसे बेधेगा? कौशिक ने तीन उपाय शत्रु के नाश के बतलाये हैं एक तो शत्रुओं को बान्ध कर सीसे का चूर्ण उनको खिला २ कर मारे, दूसरे उनको लोहे की बेड़ियां पहना दे, तीसरे बांस की छड़ी (बेंत) से ठोके। परन्तु इन तीनों कार्यों का मन्त्र गत वाक्यों से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः देखा जाय तो सीसे की गोलियां बना कर, बारूद देकर अग्नि के बल से दुष्ट शत्रुओं का मुकाबला करने का वेद ने उपदेश किया है।

(५) 'अनुसूर्यमुदयताम्०' [अथर्व० १। २२] इस सूक्त में हृद्रोग और कामला की चिकित्सा का उपदेश किया है। परन्तु कौशिक सूत्रों में

इस सूक्त को पढ़ कर उक्त रोगों के नाश के लिये लाल बैल के रोम से मिले जलपान करने, लाल गोचर्म का ताबीज़ बांधने और हल्दी से रंगे पीले भात रोगी को खिला कर, उसके जूठे भातों से रोगी को लेप लगा कर चारपाई पर बिठला कर, नीचे तोते, खुटबढ़ई और हरी चिड़ियों की बाईं टांग में रसी बांधना आदि लिखा है। उसी को लक्ष्य में रख कर सूक्त के मन्त्रों का अर्थ कर दिया है। और किसी भी पण्डितवर ने उस क्रिया का और तोतों आदि का हरिमा या पण्डुरोग दूर करने के कार्य से सम्बन्ध दर्शाने की चेष्टा नहीं की। इसका कारण यह है कि उन पर कौशिक सूक्तों का प्रभाव रहा है। वे सभी वेद में विद्यमान आयुर्वेद के तत्त्व को नहीं जान सके। कल्पकारने तो कामला रोग की शान्ति के कुछ उपायों का जो उसके समय में किये जाते होंगे संग्रह कर दिया और सूक्त का विनियोग भर दर्शा दिया है पर सूक्त के रहस्य को तो दर्शाया नहीं। परन्तु इन भाष्यकारोंने बादरायण सम्बन्ध से उस में तोतों और खुट बढ़इयों पर रोग चिपटाने का अर्थ निकाल लिया। जो आयुर्वेद का गूढ़ ज्ञान है सो प्रस्तुत पुस्तक में दर्शाने का यत्न किया गया है कि सूर्य की किरणों से और 'शुक' आदि वृक्षौषधियों से किस प्रकार ये रोग नष्ट होते हैं। इसी प्रकार २३, २४ सूक्तों में भी कुछ चिकित्सा का रहस्य दर्शाया गया है। २५ में ज्वर की चिकित्सा और निदान कहा गया है।

(६) 'अमूः पारे पृदाकः०' (अथर्व० १। २७) इस सूक्त से कौशिक ने विजयार्थ आयुधों के देने का विधान किया है। ग्रीफ़िथ महोदय की सम्मति में इस सूक्त से सांप की केंचुली हाथ में लेकर कोई जादू करने का विधान है। ह्विटनी की सम्मति में भी बुरे लोगों के विरोध में मन्त्रपाठ है। यहां भी वही प्रश्न है कि वेदमन्त्र से वह विधान किस प्रकार निकलता है। इस सम्बन्ध में सभी चुप हैं। इसका विवरण आप प्रस्तुत पुस्तक में देखियेगा और योरोपीयन विद्वानों के किये अर्थों का निदर्शन यहां देखिये।

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिपता निर्जरायवः । तासां जरायुभिर्वयमक्ष्यावपि -व्ययामसि अवायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥

सायण के मत में—भूमि के पार नागलोक में जो कि २१ सर्प जातियां निर्जरायु=जरा रहित हैं उनकी केंचुलियों से दुष्ट शत्रु की आंखों को बांध दें जिससे सांप की बड़ी केंचुलियों से आंखे ढक जाने से वे हमें न देख सकें। क्या खूब कहा कि गये युद्ध विजय के लिये और सांपों की केंचुलियों से वे वहां शत्रुओं की आंखें बन्द करेंगे जिससे वे उन्हें देखने न पावें। यदि ऐसा ही करना था तो किसी बिल में छिप जाना था।

ग्रीफ़िथ के मत में-परे तट पर २१ तरह के सांपों ने अपनी केंचुली उतार दी हैं, तो हम उनकी केंचुलियों से दुष्ट चोर की आखें बांध दें। और ढक दें।

ह्विटनि के मत में—' परले तट पर २१ अजगरनी हैं, जो केंचुली छोड़ चुकी हैं। उनकी केंचुलियों से दुष्ट, पापी, डाकू की आंखें बांध दें '।

ये दादागुरु सायण के शिष्यों ने कैसा उत्तम अर्थ किया है। परन्तु यह किसी ने नहीं बतलाया कि जिस डाकू की आंख से छिपना चाहते हैं उसकी आंखें सांप की केंचुलियों से बांधी कैसे जायेंगी? शायद योरोपीयन विद्वान् तो कहदेंगे कि इसका पता दादागुरु जानें, हमें तो शब्दार्थ से मतलब। संगति की हम क्या जानें, ये तो जादू के अगट सगट मन्त्र हैं। हिन्दू शिष्य कह देंगे कि मन्त्र के ज़ोर से आप से आप केंचुलियां आंखों पर आ लिपटेंगी और शत्रु अन्धे हो जायेंगे। पर खेद है कि बुद्धि इन असंगत अर्थों को नहीं मानती। कणाद ने कहा है—" बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। " अर्थात् वेद में वाक्य रचना अगट सगट नहीं है, वह बुद्धि पूर्वक है। और यही मन्तव्य और ऋषियों मुनियों का भी है। तो फिर इस प्रकार के अर्थों पर कब बुद्धि संतोष कर सकती है। क्षेमकरणजी ने यह मन्त्र सेना के दस्तों पर लगाया है। परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धि में शत्रु सेना पर सांप

की केंचुली से उत्पन्न विषैले धूएं के प्रयोग से उनकी आंखें नष्ट कर देने का उपदेश किया है। वेद ने लिखा है (अक्ष्यौ अपिव्ययामसि) आंखों को हम नाश करें, न कि बांधें। वेद ने उपाय बतला दिया। आगे कल्प और रहस्य ग्रन्थ का काम है कि उसकी क्रिया और प्रयोग विधि को बतलावे। यदि वर्त्तमान के उपलब्ध कौशिक सूत्रादि भी उसका क्रियाकलाप नहीं बतला सकते तो वे भी व्यर्थ हैं। प्राचीन काल में वेद के उपवेद उन सब की पूर्ण व्याख्या करते थे। परन्तु अब उपवेदों का लोप हो गया है। हमारी सम्मति में शत्रुविनाश के इस सूक्त के क्रियाकलाप का ज्ञान 'मायावेद' या 'पिशाचवेद' या धनुर्वेद या शस्त्रास्त्रवेद से जानना चाहिये। और पूर्वोक्त चिकित्सा भाग का ज्ञान आयुर्वेद से जानना चाहिये। अंग विद्याएं न जान कर वेदों का अर्थ करने से वास्तव में अर्थों के अनर्थ किये जायेंगे।

प्रस्तुत भाष्य की विशेषताएं दर्शाने के लिये हम ने दृष्टान्त के रूप में ये ६ सूक्त उठाकर रखें हैं वस्तुतः हमारा प्रायिक मतभेद तो सभी सूक्तों के अर्थों में न्यूनाधिक रूप में है। खासकर तब जब कि योरोप के विद्वान् देवता-वाचक शब्दों से केवल देवता भर मानते हैं और मन्त्रों को बुद्धि पूर्वक वाक्य न मान कर आजकल के नजरबन्दी के जादूगरी या शौबदे-बाज़ी के खेल करने वालों और ओझा झाड़ा फूंका करने वालों के अण्ट सण्ट जन्तर मन्तर के समान बैठे हैं।

विनियोग।

तब प्रश्न यह उठता है कि ये विनियोग किस प्रयोजन से हैं। कौशिक सूत्र, वैतान सूत्र, शान्तिकल्प आदि नाना कल्प ग्रन्थों में सूक्तों के पाठ, जप आदि का विनियोग किस प्रयोजन का है? उसका उत्तर यही है कि विद्वानों ने वेदविद्या की रक्षा के लिये वैयक्ति, सामाजिक, और राष्ट्रीय

विशाल कार्यों तक में विनियोगों द्वारा पद्धतियां रची हैं । परन्तु उन विनियोगों के होने से क्या वेदमन्त्र के तत्वार्थ में भेद थोड़े ही आ सकता है ? इसी कारण एक २ सूक्त के बीस २ विनियोग भी हैं जैसा हमने प्रथम सूक्त पर विवाद करते हुए भूमिका में ही दर्शाया है । कौशिकसूत्र या सायण-भाष्य में भी यह बात देखी जा सकती है । परन्तु तो भी वेदमन्त्र का एक ही सत्यार्थ है । कल्पकार कौशिक आदि ने तो अपने काल के लोक प्रचलित विनियोगों को संग्रह कर लिया है। प्राचीन ग्रन्थ लुप्त होजाने पर फिर तो नवीन गढ़न्त भी परम्परा से चल पड़ी । बाद में विनियोगों की तो इतनी अन्धपरम्परा चल पड़ी है कि एक २ शब्द का साम्य देखकर भी मन्त्र विनियुक्त होने लगे । जैसे श्रावणी कर्म में दधि-सत्तू खाने के समय 'दधिक्राव्णोरकारिषम्०' इस मन्त्र का पाठ गृह्य सूत्रों में और कर्मकाण्ड समुच्चयों में चल पड़ा। यदि पौराणिक विनियोगों को लें तो और भी हास्य होता है । पं ह्विटनी आदि ने स्वयं स्थान २ पर लिख दिया है कि यहां विनियोग असंगत, अबुद्धिपूर्वक है ।

इसके अतिरिक्त योरोप के विद्वानों के चित्त में यह कभी बैठता ही नहीं कि सामान्य रूप से या विशेष रूप से अथर्ववेद के मन्त्र किसी प्राचीन आर्षकाल में विशाल लोकसमाज के ज्ञानप्रद गुरु, पथ-दर्शक और कानून और आचार और रहस्य विद्या के मूलसूत्र भी हो सकते हैं। इसी कारण उनको वेद के काल की सभ्यताको परम उच्च सभ्यता स्वीकार करने में भी संकोच होता है । हमारा अपना विचार है कि एक काल में वेद परम मान्य ग्रन्थ, सर्वोपरि कानून और प्रभुग्रन्थ थे । और अपने काल के बादमें भी जनताके हृदयों में और ऋषि मुनियों और बड़े २ दिमागों के आचार्यों पर 'श्रुति' या वेद का प्रभुत्व रहा है । और उसीका यह फल हुआ कि यद्यपि कालक्रम से लोगों के आचार विचार और साधना में भी परिवर्तन होगये तो भी वेद महामान्य ही बने रहे । अब हम

पाठकों के ज्ञापनार्थ संक्षेप से इस खण्ड के अन्तर्गत काण्डों में से ही वेदप्रतिपादित कुछ विषयों का दिग्दर्शन कराते हैं।

कुछ विषयों का दिग्-दर्शन

१. गृहस्थ प्रकरण

वर्तमान के पाश्चात्य प्रभावों में पले दिमागों का यह एक विचार है कि प्राचीन आर्ष काल में विवाह-बन्धन नहीं था। स्त्रियां उच्छृंखल रूप से जिस किसी के साथ हो लेती थीं और कोई समाजहित के लिये विवाह का कानून नहीं था। विवाह का बन्धन बाद में चला है। इसकी पुष्टि में वे प्रायः महाभारत में लिखी उद्दालक की माता की कथा कह दिया करते हैं। परन्तु हमें प्रतीत होता है कि वे कथाएं विवाहबन्धन के अभाव की सूचक नहीं प्रत्युत किसी उच्छृंखल माथे की मनगढ़न्त है। क्योंकि वेद में हमें दृढ़ विवाह-बन्धन, स्वयंवर, उत्तम संतान उत्पत्ति और परस्पर की प्रतिज्ञाएं आदि के वे सब कानून उपलब्ध होते हैं जो एक उत्तम जनसमाज की व्यवस्था के लिये आवश्यक हैं। जैसे—पिता कन्या को उत्तम, संयमी युवा पुरुष के हाथ दान करे जिससे कि वह कुल-पालिका बने। 'एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि [१ । १४ । ३]। यह कन्या तुम्हारी स्त्री बन कर रहे—'एषा ते कन्या राजन् वधूर्निधूव्रतां यम'। [१ । १४ । ३] वह विवाह बन्धन का गठजोड़ा, कन्या के माता पिता या भाई के घर में बंधे। "सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो मातुरथो पितुः। [१ । १४ । २] कन्या पति को स्वयं वरण करे, और पति भी कन्या को वरे, दोनों का परस्पर अभिलाषा से विवाह हो 'आ इयमगन् पतिकामा, जनिकामोहममागम्' [२ । ३० । ५] अर्थात् यह स्त्री पति=अपने रक्षक पतिदेव को प्राप्त करना चाहती है और मैं पुरुष सन्तानोत्पत्ति करने वाली स्त्री को पाना चाहता हुआ यहां यज्ञमण्डप में आता हूं। पत्नी पति को इतना चाहे कि वह पति को छोड़ कर दूसरे पुरुष के पास न जावे और पति भी उससे ऐसा प्रेम करे कि वह दूसरे को मन में न रखे। 'एवा मथ्नामि ते

मनः । यथा मां कामिनी असि । यथा मत् न अपगा असः ' [२ । ३० । १] । पति पत्नी एक दूसरे का वहन करें, अर्थात् विवाह करें, दोनों की धन सम्पत्ति एक हो, धर्म, कर्म, ऐश्वर्य सब एक हों, वे एक होकर रहें और प्रेम से एक दूसरे को चाहते हुए रहें ! सं चेन्नयाथः अश्विनौ, कामिनौ सं च वक्षथः । सं वां भगासः अग्मत । सम् चित्तानि । सम् उ व्रता ॥ [२ । ३० २] विवाह को नियत करने के लिये प्रथम एक विद्वान् ब्राह्मण कन्या के घर आवे वह सब वरों में से उत्तम वर के गुण बतलावे ताकि कन्या उसे अपना पति चुन सके । 'आ नः अग्ने सुमतिं सम्भरुः गमेद् इमां कुमारीं सह नो भगेन ।' [२ । ३६ । १ ।] स्त्री पति को प्राप्त करे, उत्पादन में समर्थ पति (सोम) उसको सफल मनोरथ करे, वह रानी बन कर उत्तम पुत्र जने, स्त्री पति को प्राप्त करके शोभा प्राप्त करे। 'इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट। सोमो हि राजा सुभगां कृणोतु। सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति । गत्वा पतिं सुभगा विराजतु ॥' [२ । ३६ । २] विवाह यदि केवल पति पत्नी के परस्पर प्रेम से रहने भर का आपस का समझौता हो तो वह कोई प्रबल-दमन न होने से टूट भी सकता है । परन्तु नहीं । वेद की दृष्टि में विवाह करना सामाजिक सुव्यवस्था का कार्य है जिस पर राजनियम भी होना आवश्यक है । वेद में राजा का यह कर्त्तव्य बतलाया है कि वह पति पत्नी के बन्धन को दृढ़ करे । 'सं जास्पत्यं सुयममाकृणुष्व ।' [७ । ७३ । १०] । हे राजन् ! दम्पति के सम्बन्ध को तू खूब दृढ़ बना ।

वेद इस गृहस्थ का उत्तम परिणाम पुत्रोत्पत्ति बतलाता है । स्त्री को बराबर चिरंजीवी पुत्रों की माता बनने का उपदेश है—' भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् [३ । २३ । ३] । स्त्री पुत्रों को प्राप्त करे, पुत्र उसको सुखकारी हों और वह पुत्रों को सुखकारी हो । 'विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यः तुभ्यं शम् असत् । शम् उ तस्मै त्वं भव [३ । २ । ३ । ४] । यदि स्त्री बंध्या हो तो उसके बांझपन को दूर करे ।

' येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ' [३ । ३४ । १] ।

यदि गर्भ गिर जाय तो ओषधियों से उसकी रक्षा करे—

ताः त्वा पुत्रविद्याय देवीः प्रावन्तु ओषधीः । [३ । ३९ । २] ।

गृहस्थ वसा कर स्त्री घर का पालन करे वह घर के सब पुरुषों और पशुओं को पालन करे उन्हें और पुष्ट करे । 'शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा'। [३ । २८ । ३] पशून् यमिनि पोषय । [३ । २८ । ४] क्या गृहस्थ के इन नमूनों को देखकर कोई कह सकता है कि ये आदर्श जंगलियों के हैं ? हां, वर्त्तमान सभ्यता के अभिमानी लोग अपने पर जरा आंख डालें तो उनको योरोप में होने वाले घोर व्यभिचार और गर्भ के निरोध के लिये घातक ओषधियों के प्रयोग और विलासिता के लिये शर्म अनुभव करनी चाहिये । हमें गर्व है कि ये पाप वेद के काल में नहीं थे ।

२. कृषि, व्यापर, विज्ञान आदि

सभ्यता का दूसरा दृश्य वेदोपदिष्ट कृषि, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग और वेतन आदि के नियमों में दिखाई देता है । संक्षेप में (१) वणिग् व्यापार में बड़े धनाढ्य लोग प्रवृत्त हों । इन्द्रम् अहं वणिजं चोदयामि । मार्ग के चोर लुटेरों को दमन करके व्यापार को अभय कर दिया जाय । 'नुदन् अरातिं परिपन्थिनं मृगं' [३ । १५ । १] । अपना माल बेच कर दूसरे देशों से धन लावें । 'यथा क्रीत्वा धनम् आहराणि' [३ । १५ । २] । व्यापारियों के लिये राजा रास्तों में पडावों का उत्तम प्रबन्ध करे । 'इमाम् अग्ने शरणिम् मीमृषः नः यम् अध्वानं अगाम दूरम् ।' हम क्रय-विक्रय के ऐसे दर नियत करें जिससे हमें लाभ हो । 'शुनं नो अस्तु प्रपणः विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।' [३ । १५ । ४] सौदा परस्पर की सलाह से पटा लें—'इदं हव्यं संविदानौ जुषेथाम् ।' व्यापार और उससे पाया नफा सब को सुखकर हो, उससे किसी को कष्ट न हो । 'शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ।' जिस धन से हम व्यापार करें वह धन बराबर बढ़े, पूंजी कमती न हो अर्थात् लिमिटेड् कम्पनी हों । येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तन् मे भूयो भवतु मा कनीयः ॥

और राजा घूंसखोर अधिकारियों को व्यापारों में वाधक न होने दे। 'अग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध।' प्रत्युत राजा उनको स्वयं नौकरी दे।

जब समस्त सभ्यताभिमानी योरोप जंगली, होकर केवल मछली और जंगली जानवरों के शिकार पर पशु जीवन बिताता था उससे भी कितने युग पूर्व वेद में कृषि का वैज्ञानिक उपदेश हैं—'सीरा युञ्जन्ति कवयो। युगा वितन्वते पृथक्।' [३ । १७ । १] विद्वान् लोग हलों को चलावें और जोड़े के बैलों को जोतें। युनक्त सीरा वि युगा तनोत। कृते योनौ वपत इह बीजम्', [३ । १७ । २] हल जोतो और जोड़े खोल दे और फिर हल से जुती भूमि में बीज बो दो। 'विराजः श्रुष्टिः सभरा असत्' तब खूब गाढ़ी अन्न की फसल हो और 'नेदीयः इत सृण्यः पक्वमायवन्' पके धान को दरातियों, हंसुओं से काट लो। कृषि से ही सब पदार्थ प्राप्त हैं। 'उदिद् वपतु गामविम्०' [३ । १७ । ३]

मांस भक्षी संसार को सिवाय मांस से अपना पेट भरने के कुछ नहीं आता। परन्तु वेद धान्य और, और पुष्टिकारक ओषधियों के संग्रह का उपदेश करता है। "पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः। अथो पयस्वतीनामा भरेहं सहस्रशः॥" ओषधियां पुष्टि करती हैं, मेरा वचन पुष्टिकारक हैं, मैं हज़ारों पुष्टिकारक ओषधियों का संग्रह करूं। अन्न उत्पन्न करने के लिये राजा हज़ारों श्रमी लगावे और फसलें कटावे तो संसार भर के खाने का अन्न पा सकता है। "शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥" (३ । २४ । ५) लोकोपकार के लिये जंगल के जन्तुओं का पालन करने का भी उपदेश किया है। " सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः सम् उ पुरुषः। " (१ । २६ । ५)

हम गो, दुग्ध, धान्य एकत्र करें; वीरों को उत्पन्न करें, स्त्रियों को घर पर ला कर बसें। आ हरामसि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्। आहुता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्॥ (१ । २६ । ५)।

इन सब उन्नतियों के होते हुए उनको व्यवस्थित करने के लिये प्राचीन आर्ष काल में विज्ञान की उन्नति भी पर्याप्त रूप में थी। उदाहरण के तौर पर वेद ने जलों का 'उदक' नाम इसीलिये बतलाया है कि देव-विद्वान् पुरुष बहते हुए जलों को भी ऊपर उठा लेता है और अपनी इच्छानुसार ऊपर की भूमियों पर पहुंचा देता है। "एको वो देवो अपि अतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।"

जलों के भीतर भी दो गुण हैं अग्नि और सोम। क्या यह तेजाब के बनाने वाली हाइड्रोजन और ओपजन दो तत्वों की सूचना तो नहीं है।

"अग्नीषोमौ बिभ्रत्यापः इत्ताः" (३ । १३ । ५)। जलों को जहां वैज्ञानिक विद्वान् प्रयोग में लाता है वहां वे बलपूर्वक काम करते हैं।

"इह इत्थमेत शक्करीः यत्र इदं वेशयामि वः।" (३ । १३ । ७)

विद्युत् के विषय में वेद ने लिखा है कि विद्वान् लोग बिजली को शत्रुओं के ऊपर शस्त्र के रूप में फेंक कर प्रयोग करते हैं।

'यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वा ना असनाय धृष्णुम्।' (१ । १३ । ४)॥

बन्दूकों के बनाने के विषय में वेद ने लिखा है कि दुष्टों के नाश के लिये सीसे की गोली बना कर अग्नि=बारूद से मारें। 'तं त्वा सीसेन विध्यामः।' (१ । १६ । ४)॥ इसी प्रकार और भी वैज्ञानिक बातों को लिखा है जिनका प्रस्तुत पुस्तक में विस्तार से रहस्य खोला गया है।

३. आयुर्वेद

आयुर्वेद तो अथर्ववेद का उपवेद है, इस सम्बन्ध में वेद में बहुत विज्ञान उपलब्ध होता है। जैसे आरोग्यता प्राप्त करने के लिये शिरोरोग, खांसी और शरीर के नस २ में बैठे क्षय को दूर करने के लिये रोगी जंगलों और पर्वत के वायु का सेवन करे।

'वनस्पतीन् सचतां पर्वतांश्च' (१ । १२ । ३)

शरीर में से रोग बाल्य काल से ही दूर करने चाहियें, खुली वायु वाले रोशनीदार मकान होने चाहियें। (२ । १० । ४, ५) प्रकाश और शुद्ध वायु से राजयक्ष्मा तक का रोग नाश हो जाता है। (२ । १० । ८) रोगकारी जन्तुओं का नाश करने का वेद ने बड़ी स्पष्टता से उपदेश किया है।

तया संपिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव । (२ । ३१ १)

आँतों, पीठ, त्वचा आदि में फैलने वाले रोग-कीटों को भी नाश करे (२ । ३१ । ४)। रोगकारी कीट जल, भोजन, पर्वत, वन और पशुओं में भी पलते हैं। वे हमारे शरीर में घुस जाते हैं, उनको भी नाश करें। (२ । ३१ । ५) इसी प्रकार इन रोगकीटों की पसलियों को जड़ मूल से नाश करे उनके विष के अंगों को नष्ट कर दें (२ । ३२ । २–६)। देहों के सभी अंगों में से यक्ष्मा को भी दूर करे (२ । ३३ । १–७)।

महारोगों के नाश करने वाली ओषधियों को वर्णन करते हुए पृश्नि-पर्णी नामक ओषधि से नाना प्रकार के घृणाजनक रोग दूर करने का उपदेश किया है (२ । २५ । १–५) ज्वर को नाश करने के लिये 'कूठ' ओषधि का वर्णन किया गया है। इसी से शिरो रोग चक्षु रोग का भी उपाय बतलाया है (४ । १० । १–१०), नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधियों का प्रयोग दर्शाया है (४ । ४ । १–८)। विष की चिकित्सा के लिये 'ब्राह्मण' नामक अपूर्व ओषधि का प्रयोग है और भी नाना प्रकार के विषों की चिकित्सा (४ । ७ । १–७) के लिये ' प्रश्नि ' नामक ओषधि का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त ऐसे २ प्रयोग भी दर्शाये हैं जिनमें पूर्ण सर्पविद्या का विधान किया है जैसे आंख की ज्योति से सर्प के विष को रोकने और बीसियों सर्पों के विषों को रोकने वाले प्रबल प्रतिविषों के प्रयोग करने का दिग्दर्शन कराया है (५ । १३ । १–११)। इसके अतिरिक्त प्रसव-विद्या का भी वेद ने उपदेश किया है। (१ । ११ । १–६)

४. राजनीति और राष्ट्रपालन

प्रजा के पालन और उसमें सुख शान्ति के स्थापन के लिये राजा का स्थापन, उत्तम राजा के गुणों का वर्णन, दुष्टों का दमन, दण्डविधान, राजसभा, पर-राष्ट्र-विजय आदि का बराबर उपदेश किया है। उसको हम विस्तार से क्या दिखायें, विषय-सूची से ही इन विषयों को प्रस्तुत पुस्तक में पा सकेंगे। तो भी एक दो बातों पर पाठकों का ध्यान खेंचता हूं (१) वरुण वह राजा है जो प्रजा को दुष्टों से बचाता और जिसको प्रजाएं स्वयं अपना राजा वरण करती हैं। वह राज्य प्रबन्ध के लिये और दुष्टों का पता लगाने के लिये गुप्तचर विभाग रखे। उसके स्पश (स्पाईज़) सर्वत्र विचरें। सत्य-वादी को वे न पकड़ें प्रत्युत असत्यवादियों को पकड़ लें (४। १६। ६, ७)। राजा अपराधी को जब दण्ड दे तो नियमपूर्वक अपराधी के मा, बाप, वंश और कुल का नाम और दण्ड की धारा लिखकर दण्डकर्त्ता अधिकारी के हाथ सौंपे (४। १६। ६)। इस प्रकार की व्यवस्थित शासन प्रणाली का उपदेश वेदने किया है। हत्याकारी पुरुषों के लिये यही विधान किया गया है कि अपने किये का वे वही दण्ड पावें जैसा वे औरों से करते हैं (२। २४। १-८)। अपामार्ग विधान में कण्टक शोधन प्रकरण को बड़ी खूबी से रखा है (४। १७-१६।)। लोगों को गुप्त हिंसाकारी प्रयोगों से मारने वालों का दण्ड विधान करते हुए वेद ने कृत्या-प्रतिहरण सूक्त में दुष्टों का विस्तार से वर्णन किया है। गुप्त हिंसा के प्रयोगों को ही वेद ने 'कृत्या' शब्द से कहा। उनको दण्ड देने के लिये कृत्या का उन पर ही प्रयोग करने का उपदेश किया है, अर्थात् राजा उनको भी उसी दण्ड से दंडित करे। परन्तु भोले लोग उसको टोना या टोटा आदि चलाने की कोई जादू की तदबीर समझ लेते हैं। इसका विवरण कुछ अपामार्ग-विधान में और (४। १६) में और विशेष रूप से (५। ३१। १-१२) में किया है।

५. सदाचार

हम आर्यगण वेद के दर्शाये आचार को आदर्श सभ्यता स्वीकार करते हैं और विकासवाद के प्रबल प्रभाव में पले योरोपीयन लोग अभी उसको प्रारम्भिक जंगली सभ्यता बतलाना चाहते हैं। परन्तु अब हम संक्षेप से बतलाते हैं कि आदर्श वैदिक सदाचार की क्या शिक्षा है। 'मनुष्य सदा अपने को सर्वप्रिय बनाने का यत्न करे और मधुर बचन कहे उसका घर में आना, जाना और बोलना आखों से देखना तक भी मधुर प्रतीत हो (१ । ३४ । ३ । ४)। गृहस्थ में पुरुष ऐसी प्रेममय चक्षु से अपनी पत्नी को देखे कि पत्नि प्रेम की मधुरता के वश होकर दूसरे के पास जाने की इच्छा तक न करे (१ । ३४ । ३ । ५)। परस्पर एक दूसरे के प्रति एकहृदय, एकचित्त, द्वेष रहित होकर रहें, एक दूसरे के प्रति इतना प्रेम करें जैसे गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है। उसी प्रेम से एक दूसरे के पास जाया आया करें। पुत्र सदा पिता की आज्ञा पालन करे, माता सम्मान करे। पति पत्नी एक दूसरे को शान्तिदायक बचन बोलें, भाई भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से प्रेम करे, सब एकचित्त एक कार्य में लगें और कल्याण और सुखदायी बचन बोल करें। जिस वेदज्ञान के अनुकूल चल कर विद्वान् परस्पर नहीं लड़ते और द्वेष नहीं करते ऐसे वेदज्ञान का समस्त पुरुष श्रवण करें। बड़े, छोटे सब एक कार्य में लगकर ऐसे बंधे कि एक दूसरे का साथ न छोड़ें। समस्त प्रजा के लोग आपस में सुन्दर मनोहर बातें बोला करें। सब का पीना, खाना एक हो, समान हो, सब परमेश्वर की मिलकर उपासना करें, सायंकाल प्रातःकाल सब मिलकर अपने चित्त उत्तम कर लिया करें। (३ । ३० । १–७) इस के अतिरिक्त वेद यह भी शिक्षा देता है कि प्रत्येक आदमी अपने को हर प्रकार के पाप के कार्य से मुक्त रखे (३ । ३१ । १–११) इस के लिये मनुष्य अपनी भावना को दृढ करे और पाप न करने का संकल्प करे, साथ ही पाप से मुक्त होने के लिये वह परम उपास्य परमेश्वर

की उपासना करे (४ । २३-२७) । मनुष्य अपनी आत्मशक्ति और सहिष्णुता को इतना प्रबल करे कि यदि उससे दस गुना अपवाद भी हो तो सब को वह दबा सके (५ । १५ । १-११) ।

६. परमेश्वर

मैक्समूलर, मैकडोनल आदि योरोपीयनों का अधिक विचार ऐसा है कि वेद में बहुत से देवताओं की उपासना का विधान है और उन पर विकासवाद का भी प्रभाव है कि एक परम ईश्वर की सत्ता के चरम सत्य को पूर्व ऋषियों ने क्रम से जाना है जो बाद में उपनिषदों में और दर्शनग्रन्थों में विकसित (evolved) हुआ है । परन्तु उनका यह विचार नितान्त असत्य, भ्रममूलक और वेद को न समझने के कारण है । ऋषियों ने वेद मन्त्रों में यह साक्षात् किया है कि 'प्रजापते न त्वदेतानि अन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।' (अथर्व० ७ । ८ । ३) 'हे प्रजा के पालक परमेश्वर ! तुझ से दूसरा कोई भी इन उत्पन्न पदार्थों के ऊपर मालिक नहीं है ।' 'वह परमात्मा की शक्ति सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में भी सदा पूर्ण रहती है, अतः समस्त दिव्य तेजोमय पदार्थ उसके ही आश्रय में रहते हैं' (अथर्व० ७ । ८० । २) । 'परमात्मा तो जीवों के आत्माओं में बसा एक ऐसा परम पूज्य तत्व है जिसको राजा, रङ्क, बलवान् और निर्बल, सभी उसके महान् ऐश्वर्यमय रूप का अनुभव करके चाहते हैं कि हम उसकी उपासना किया करें' (३ । १६ । २) । 'वह परमात्मा सत्यरूप में आराधना करने योग्य होने से 'सत्यराधः' है, ऐश्वर्यवान्, भजन करने योग्य होने से 'भग' है । उसकी हम प्रातः सूर्योदय काल में अवश्य उपासना करें' (३ । १६ । ४) । 'हम उसीके भजन से स्वयं ऐश्वर्यवान् हो सकते हैं, वह हमारे हरेक कार्य में प्रथम उपास्य है' (३ । १६ । ५) । 'वह सब को शरीर देता है, वह दो पाये, चौपाये सब का प्रभु है' (४ । २ । १) । 'वह अपनी महत्ता से समस्त जगत् का राजा है जिसका आश्रय लेना अमृत और परे रहना मृत्यु

है' (४ । २ । २) । 'जो ज़मीन आस्मान को थामे हुए है, जिसके भय से यह पृथ्वी विचलित नहीं होती । वह समस्त लोकों का रचयिता है हम सब उसकी उपासना करें । समस्त उच्च, हिमाच्छादित पर्वत जिसकी महिमा के नमूने हैं, समुद्र में पृथ्वी का खड़ा रहना जिसका आश्चर्यजनक कार्य है । ये दिशाएं जिसकी बाहू के समान फैली हैं, उसकी हम उपासना करें' (४ । २ । ४, ५) ।

उस महान् शक्ति परमेश्वर के विषय में अथर्ववेद में बड़े आश्चर्यजनक वर्णन हैं जिनके एक २ अंश उपनिषदों का रूप धारण कर रहे हैं । केन सूक्त का एकांश केनोपनिषद् है । स्कम्भसूक्त पढ़ कर तो विस्मय होता है । वरुण सर्वव्यापक परमेश्वर का वर्णन देखिए—'वह सबसे महान् परमात्मा सर्वव्यापक होकर इतने पास से देखता है कि उससे कोई चोरी नहीं कर सकता । वह पास बैठ कर बात करने में तीसरा है, छलते, छुपते और हिंसा करते पुरुष पर भी उसकी आंख रहती है । उसकी महान कोख में बड़े समुद्र छिपे हैं तो भी वह महान् इतना सूक्ष्म है कि वह पानी के छोटे से छोटे बूंद में भी छुपा है, यह भूमि, आकाश, और उसमें स्थित दूर पासके सब लोक उसी के शासन में हैं । कोई आकाश लांघ कर भी चला जाय तो परमेश्वर के पास से छूट नहीं सकता । उसने तो मनुष्यों की झपकें तक गिन रखी हैं । उसके फन्दे सत्यवादी को अभय दान करते हैं, और असत्यवादी को जकड़ लेते हैं । वह सब जनों, देशों और विद्वानों के प्रति समान भाव से रह कर भी प्रत्येक व्यक्ति पर भी खास तौर पर शासन करता है' (४ । १५ । १–६) । इसके अतिरिक्त 'वह समस्त संसार को उठाने वाला है । वह जमीन आसमान, अन्तरिक्ष छहों दिशाओं को उठा कर समस्त संसार में व्यापक हैं । वह ऐश्वर्यवान् तीनों लोकों और तीनों कालों का स्वामी है । समस्त 'देव' दिव्य शक्तियों का वस्तुतः वही स्वयं कार्य करता है । जिससे बड़ा कोई दाता नहीं, जिससे बड़ा कोई लेने वाला नहीं, वह सब से बढ़ कर सब का पोषक, सब का कर्त्ता, तेजोमय है । वही अपने रुचिर रूप होने से

इन्द्र, विश्वधारक होने से अग्नि, पालक होने से प्रजापति, सर्वोच्च उच्च होने से परमेष्ठी, है। हे लोगो ! उसी सर्वहितकारी परम पुरुष की शरण में जाओ। उसने सब को थामा है, उसने सब को धारण किया है। जो उस प्रभु की प्रातः सायं और मध्य दिनमें भी उपासना करते हैं, उससे बल प्राप्त करते हैं ' वे कभी नाश को प्राप्त नहीं होते (४ । ११ । १-१२)। इसी प्रभु को वेद ने 'अनड्वान्' कहा है जिससे भ्रम में पड़कर यवनों ने पृथ्वी को बैल के सींगों पर मान रखा है। और अलंकारप्रिय भक्तों ने शिव और बैल की कल्पना की है। शिवपुराणकार ने रहस्य ठीक खोल दिया है।

वृषो धर्म इति प्रोक्तः तमारूस्ततो वृषी ।

धारण शक्ति=धर्म ' वृष ' है उसका स्वामी ' वृषी ' महादेव है।

इन सब विषयों के साथ सदाचार, शिक्षा, आत्मज्ञान, ईश्वरोपासना, आयु 'तेज' बल की प्रार्थना, तपस्या, इन्द्रियजय, पापपरित्याग, मोक्षमार्ग, मुक्तिसाधना आदि के और भी अनेक प्रकरणों को दर्शाया है जिनसे मनुष्य का जीवन उन्नत, ज्ञानमय और सुप्रसन्न हो सकता है और जिनको आधार में रखकर उपनिषदें और दर्शनग्रन्थ प्रवृत्त हुए हैं। योरोपीयन लोग जिनको अर्वाचीन विकास कहना चाहते हैं वे वेद के ही प्राचीन यथार्थ तत्व हैं। दर्शन तो उनकी रक्षा और व्याख्या करने वाले हैं। जिनको हम यहां विस्तारभय से नहीं दर्शाते इन सब प्रकरणों को प्रस्तुत ५ काण्डों में भी पाठक पर्याप्त मात्रा में पावेंगे फिर अगले काण्ड जो अगले खण्डों में आवेंगे उनमें भी इन और अन्यान्य भी बहुत से विषयों का समावेश है। जिनको हम अगले खण्डों की भूमिका में यथास्थान दर्शावेंगे।

ब्राह्मण ग्रन्थ और गृह्य सूत्र

हमें इस वेदभाष्य में सब से अधिक सहायता ब्राह्मण ग्रन्थ और उन के आरण्यक भागों और उपनिषदों से प्राप्त हुई है। हमने प्रायः भाष्य में स्थान २ पर ब्राह्मणों द्वारा प्रदर्शित प्राचीन वैदिक परिभाषाओं को खोजने

का यत्न किया है । और कहीं २ प्राचीन गृह्यसूत्रों में भी कोई मन्त्र किसी सूक्त का आ जाने पर उसके विनियोग से मन्त्रार्थ की दिशा जानने में साहाय्य प्राप्त हुआ है । जिसको हमने स्थान २ पर दर्शाया है । हिरण्य-केशीय मानवगृह्य सूत्र में हमें कुछ स्थल प्राप्त हुए हैं ।

अन्य-संहिताएं

अथर्व-वेदके मन्त्रोंके अन्यसंहिताओंमें आये पाठान्तरोंके देखनेसे अथर्व वेद के मन्त्रों के अर्थों पर बड़ा प्रकाश पड़ता है । और स्पष्ट विदित होता है कि पैप्पलाद आदि शाखाएं किस प्रकार मूल मन्त्र के कठिन पदों को परिवर्त्तित करके रखती हैं । महर्षि-दयानन्द का यह कथन कि शाखा संहिताएं, मूल संहिता की व्याख्याएं हैं, पाठक लोग पाठान्तरों पर ध्यान पूर्वक दृष्टि डाल कर सहज ही जान सकेंगे । पैप्पलाद संहिता के बहुत से स्थल इतने विकृत और व्याकरण के नियमों से विपरीत हैं कि उनको मूल-वेद मानना ही असम्भव है । प्रत्युत उनकी संगति भी मूल-वेद की तुलना से ही लग सकती है ।

उपसंहार

इस प्रकार हम ने भाष्य की दिशा पर्याप्त रूप से दिखा दी है । यद्यपि अथर्व-वेद के सम्बन्ध में अभी बहुत से विषयों पर बहुत सा कथन करना आवश्यक है तो भी उसका इस छोटी सी भूमिका में उल्लेख करना, असम्भव एवं अप्रासंगिक जान पड़ता है । मेरा विचार है कि 'अथर्व-आलोचन' नामक एक पृथक् पुस्तक निर्माण करके अथर्व वेद के सम्बन्ध के सभी विवाद-पूर्ण विषयों को उसमें स्पष्ट किया जाय । अन्तमें मैं पाठकोंसे नम्र निवेदन करता हूं कि अथर्ववेद के बहुत से गम्भीर रहस्यों को कितने ही अंशों में अभी मैं बहुत न्यून समझ सका हूं । प्राचीन ग्रन्थों के सर्वथा अभाव होने से हम लोग अथर्व-वेद के वास्तविक तत्व को जानने में असमर्थ है ।

मैं चाहता हूं कि इस सम्बन्ध में और भी गहरा अनुसन्धान हो। इसके अतिरिक्त भाषा भाषियों के निमित्त इस छोटे से ग्रन्थ में यदि प्रत्येक सूक्त और मन्त्र पर थोड़ी २ टिप्पणी भी लगती तो यह ग्रन्थ मोटा पोथा हो जाता। परन्तु फिर मूल्य अधिक हो जाने से ग्राहकों की सुविधा नष्ट हो जाती और प्रकाशक भी बड़े विशाल ग्रन्थ से भय करते हैं तब अन्य भाष्यकारों के विस्तृत आलोचन का कार्य इतने स्वल्प स्थान में क्योंकर होना सम्भव था। यह सब समस्याएं देखकर हम अधिक कुछ नहीं लिखते केवल इतना ही निवेदन करते हैं कि यदि कोई वेदों के प्रेमी धनसम्पन्न दानवीर जन इस वेद के तत्वालोचन के निमित्त मासिक पत्र की आयोजना करें तो विशाल रूप में यह कार्य निरन्तर खण्ड २ के रूप में प्रकाशित हो सकता है। विद्वान् वाचकों से हमारा यह निवेदन है कि मेरे इस प्रयास में जो त्रुटियां वे पावें मुझे स्वयं जता कर अपनी महानुभावता प्रकट करें। इससे आगामी संस्करणों में उनकी सुझाई त्रुटियों को दूर कर मैं उनके ऋण से उऋण हो सकूंगा।

अन्त में ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें इस पवित्र लोकसेवा, वेदाध्ययन रूप तप और वेदाचिन्तन रूप महायज्ञ में सफल करें।

अजमेर, केसर-गंज.
श्रावण, शुक्लाष्टमी,
१९८९ विक्रमाब्द।

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा,
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ।

ग्रन्थ में प्रयुक्त संकेतों का विवरण

पादटिप्पणी में संक्षेप से दर्शाने के लिये जिन संक्षिप्त संकेतों को प्रयुक्त किया गया है उनका विवरण नीचे लिखे रूप से जानना चाहिये ।

मन्त्र संहिता में जात्यस्वरित के लिये हमने केवल स्वरित का चिन्ह न देकर / यह चिन्ह दिया है ।

जो पाठ भेद जिस सूक्त के जिस मन्त्र के जिस चरण में आया है उस को दर्शाने के लिये सूक्त का अङ्क [ ] ऐसे कोष्ठ के बीच में दिया गया है, मन्त्र का अङ्क — डैश देकर लिखा है, विशेष पद का विवरण भाष्य में लिखे शब्द पर १, २, ३. का अङ्क देकर नीचे १. २. ३. इस प्रकार देकर लिखा गया है । प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम इन पादों को दर्शाने के लिये (प्र०), (द्वि०), (तृ०), (च०), (पं०), (ष०), (स०) इत्यादि संकेत दिया गया है, किसी विद्वान् के सम्मत पाठ को दर्शाने के लिये 'सम्मतः' शब्द से लिखा है और नये विद्वानों के अभिलषित संशोधन को 'कामितः' शब्द से दर्शाया है । आधार पुस्तकों के संकेत इस प्रकार जानने चाहिये ।

अथर्व०=अथर्ववेदे

आश्व० गृ० सू०=आश्वलायनगृह्यसूत्रे

आश्व० श्रौ० सू०=आश्वलायनश्रौतसूत्रे

ऋ०=ऋग्वेदे

उ०=उणादिपाठे

ऐ० ब्रा०=ऐतरेयब्राह्मणे

उप०=उपनिषदि

क०=कठोपनिषदि

कौ०=कौशीतकीब्राह्मणे

कौ० अर्थ०=कौटिलीय अर्थशास्त्रे

गी०=गीतायाम्

गो० पू०=गोपथब्राह्मणे पूर्वार्धे

गो० उ०= ,, ,, उत्तरार्धे

गो० गृ० सू०=गोभिलीयगृह्यसूत्रे

गृ० सू०=गृह्यसूत्रे

छान्दो०=छान्दोग्योपनिषदि

जै० उ० ब्रा०=जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे

तै० सं०=तैत्तिरीयसंहितायाम्

तै० ब्रा०=तैत्तिरीयब्राह्मणे

दया०=दयानन्दः

निरु०=निरुक्तयास्कीये

पा०=पाणिनीयव्याकरणे

पा० गृ० सू०=पारस्करगृह्यसूत्रे

पेट० लाक्ष०=सेंटपीटर्सबर्ग-लैक्सिकन्

पैप्प० सं०=पैप्पलादसंहितायाम्

मनु०=मनुस्मृतौ

मै० सं०=मैत्रायणीसंहितायाम्

ला० श्रौ० सू०=लाट्यायनश्रौतसूत्रे

शं० पा०=शंकरपाण्डरंगः एम० ए० सायणभाष्यसम्पादकः

शां० श्रौ० सू०=शांखायनश्रौतसूत्रे

शां० गृ० सू०= ,, गृह्यसूत्रे

हि० गृ० सू०=हिरण्यकेशीयगृह्यसूत्रे

विषय सूची

प्रथमं काण्डम् (१-१०१)

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
१	वाचस्पति से वलों की प्रार्थना	१
२	वाण, शर और कानून का वर्णन	५
३	शर और शलाका का वर्णन (वस्तिचिकित्सा)	९
४, ६	जलों का वर्णन	४
७	प्रजा के पीड़ाकारियों का दमन	२०
८	प्रजापीड़कों के नाश करने का उपाय	२४
९	ब्रह्मतेज और आयु की प्रार्थना	२६
१०	ईश्वर और राजा	२९
११	सुखपूर्वक प्रसवविद्या	३१
१२	नीरोग रहने के उपाय	३५
१३	विद्युत् शक्ति	३८
१४	कन्यादान, विद्युत् सम्बन्धी रहस्य	४०, ४४
१५	गमनागमन के साधन	४६
१६	दुष्टों के नाश का उपाय	४८
१७	शरीर की नाड़ियों और स्त्रियों का वर्णन	५०
१८	अलक्ष्मी और दुःस्वभाव के दूर करने का उपाय	५३
१९	शत्रुओं का विनाश	५६
२०, २१	राजा के कर्त्तव्य	५८, ६०
२२	हृद्रोग और कामला की चिकित्सा	६२
२३	कुष्ठ और पलित चिकित्सा	६८

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
२४	त्वचादोष का निवारण	७१
२५	ज्वरचिकित्सा	७४
२६	रक्षा, सभ्यता और शान्ति	७६
२७	सेनासञ्चालन	७८
२८	घृणाकारी दुष्टों का नाश	८०
२९	अभीवर्त या रथनेमि के दृष्टान्त से राष्ट्रचक्र का वर्णन	८३
३०	प्रजा का राजा के प्रति कर्त्तव्य	८६
३१	जीवन की सफलता का मार्ग	८९
३२	ब्रह्म का विवेचन	९१
३३	मूलकारण 'आपः' और आप्तजनों का वर्णन	९३
३४	मधुलता के दृष्टान्त से ब्रह्मविद्या और मातृशक्ति का वर्णन	९५
३५	दीर्घ-जीवन का उपाय	९८

द्वितीयं काण्डम् (१०३–२०९)

१	परमात्मदर्शन	१०३
२	गन्धर्व, परमात्मा और उसकी शक्तियां	१०७
३	आस्राव रोग का उपचार	११०
४	जङ्गिड और शण दो प्रकार की सेनाएं	११३
५	राजा को उपदेश	११६
६	विद्वान् राजा का कर्त्तव्य	१२२
७	सहनशीलता का उपदेश	१२६
८	भवरोग नाश और ज्ञानाञ्जन	१२९
९	आत्मज्ञान का उपदेश	१३२
१०	आरोग्य और रोग विनाश	१३५
११	राजा को उपदेश	१३९

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
१२	तपस्या की साधना	१४२
१३	ब्रह्मचर्य व्रत में आयु बल और दृढ़ता की प्रार्थना	१४७
१४	बुरी आदतों और कुस्वभावों के पुरुषों का त्याग	१५१
१५	अभय की भावना	१५५
१६	रक्षा की प्रार्थना	१५६
१७	ओज, सहनशीलता बल आयु और इन्द्रियों की प्रार्थना	१५८
१८	शत्रुओं के नाशक बल की प्रार्थना	१५९
१९–२३	द्वेष करने वालों के लिये प्रार्थना	१६१—१६५
२४	हिंसक स्त्री पुरुषों के लिये दण्डविधान	१६५
२५	पृश्निपर्णी ओषधि का वर्णन	१६८
२६	इन्द्रियों का दमन और पशुओं का पालन	१७१
२७	ओषधि के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन	१७५
२८	दीर्घायु की प्रार्थना	१७८
२९	ब्रह्मचर्य और दीर्घजीवन की प्रार्थना	१८१
३०	प्रेमपूर्वक स्वयंवर विधान	१८५
३१	रोगकारी जन्तुओं के नाश करने का उपाय	१८८
३२	रोगनाशक क्रिमियों के नाश करने का उपदेश	१९१
३३	देह के अंगो से रोग नाश करने का उपदेश	१९५
३४–३५	मोक्षमार्ग का उपदेश	१९९, २०३
३६	कन्या के लिये योग्य पति की प्राप्ति	२०६

तृतीयं काण्डम् (२१०–३५५)

१, २	शत्रु सेनाओं के प्रति सेनापति के कर्त्तव्य	२१०, २१४
३	राजा की पुनः स्थापना	२१७
४	राजा का राज्याभिषेक	२२१

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
५	पर्णमणि के रूप में प्रधान पुरुषों का वर्णन	२२८
६	वीर सैनिकों के कर्त्तव्य	२३६
७	क्षेत्रिय व्याधियों का निवारण	२४०
८	राजा के कर्त्तव्य	२४४
९	प्रवल जन्तुओं और हिंसक पुरुषों के वश करने का उपाय	२४८
१०	अष्टका रूप से नववधू के कर्त्तव्य	२५३
११	आरोग्य और दीर्घायु होने के उपाय	२६१
१२	बड़े २ भवन बनाने के उपदेश	२६३
१३	जलों के नामों के निर्वचन (जलविद्या)	२७१
१४	गौओं और प्रजाओं की वृद्धि का उपदेश	२७७
१५	वणिग्-व्यापार का उपदेश	२८१
१६	नित्य प्रातः ईश्वरस्तुति का उपदेश	२८५
१७	कृषि और अध्यात्म योग का उपदेश	२८९
१८	ब्रह्मविद्या की विरोधिनी अविद्या के नाश का उपदेश	२९७
१९	शत्रुओं पर विजय करने के लिये राष्ट्र की शक्ति बढ़ाने का उपदेश	३०१
२०	ईश्वर से उत्तम ऐश्वर्य और सद्गुणों की प्रार्थना	३०६
२१	लोकोपकारक अग्नियों का वर्णन	३११
२२	तेजस्वी होने की प्रार्थना	३१७
२३	उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की विधि	३२१
२४	उत्तम धान्य और ओषधि संग्रह करने का उपदेश	३२४
२५	कामशास्त्र और स्वयंवर का उपदेश	३२८
२६, २७	प्रवल शक्तिधारी देव के छः रूप	३३१, ३३३
२८	यमिनी राजसभा और गृहणी के कर्त्तव्यों का उपदेश	३३८
२९	राजसभा के सदस्यों के कर्त्तव्य	३४२
३०	परस्पर मिलकर एकचित होकर रहने का उपदेश	३४९

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
३१	पाप से मुक्त होने का उपाय	३५१

चतुर्थ काण्डम् (३५६–५४८)

१	परमेश्वर की उत्पादक और धारकशक्ति का वर्णन	३५६
२	ईश्वर की महिमा	३६१
३	हिंसक जन्तुओं से बचने और उनको वश करने का उपाय	३६६
४	नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधि का प्रयोग	३६८
५	निद्रा-विज्ञान	३७३
६, ७	विषचिकित्सा	३७६, ३८३
८	राज्याभिषेक योग्य राजा का वर्णन	३८७
९	अंजन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन	३९१
१०	शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन	३९७
११	जगदाधार परमेश्वर का वर्णन	४००
१२	कटे फटे अंगों की चिकित्सा	४०९
१३	पतितोद्धार शुद्धि और रोगनाशन	४१२
१४	अज प्रजापति का स्वरूप	४१६
१५	वृष्टि की प्रार्थना	४२२
१६	राजा और ईश्वर का शासन	४३२
१७, १९	अपामार्ग और अपामार्ग-विधान का वर्णन	४३७, ४४२, ४४६
२०	दर्शन शक्ति का वर्णन	४५१
२१	गो कीर्त्तन	४५६
२२	राजा का स्थापन	४६१
२३–२९	पाप मोचन की प्रार्थना	४६४—४९३
३०	परमेश्वरी सर्वशासक शक्ति का वर्णन	४९३
३१	प्रभु, मन्यु से प्रार्थना	४९९

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
३२	प्रभु से प्रार्थना	५०३
३३	पाप नाश करने की प्रार्थना	५०७
३४	विष्टारी ओदन, परम प्रजापति की उपासना से फल	५१०
३५	प्रजापति की उपासना से मृत्यु को तरना	५१७
३६	न्यायविधान और दुष्टों का दमन	५२१
३७	हानिकारक रोग जन्तुओं के नाश का उपदेश	५२६
३८	द्यूतक्रीड़ा के दृष्टान्त से चित्ति शक्ति का वर्णन	५३२
३९	विभूतियों और समृद्धियों को प्राप्त करने की साधना	५३८
४०	आक्रमणकारी शत्रुओं के नाश करने का उपदेश	५४३

पञ्चमं काण्डम् (५४९=७२०)

१, २	जगत्-स्रष्टा का वर्णन	५४७—५५९
३	बल और विजय की प्रार्थना	५६०
४	कोढ़ नाशक कूठ ओषधि का वर्णन	५६७
५	सिलाची लाक्षा ओषधि का वर्णन	५७२
६	जगत्-स्रष्टा का वर्णन	५७६
७	अधीन भृत्यों के वेतन देने की व्यवस्था	५८३
८	सैनिकों और सेनापतियों के कर्त्तव्य	५८७
९	स्वास्थ्य लाभ का उपाय	५९२
१०	मन को दृढ़ करने का उपाय	५९५
११	ईश्वर के साथ २ राजा का वर्णन	५९६
१२	विद्वानों द्वारा आत्मा और ईश्वर के गुणों का वर्णन	६०३
१३	सर्पविष-चिकित्सा	६१०
१४	दुष्टों के विनाश का उपाय	६१६
१५	निन्दकों पर वश प्राप्त करने की साधना	६२२

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
१६	आत्मा की शक्तिवृद्धि करने का उपदेश	६२४
१७	ब्रह्मजाया या ब्रह्म शक्ति का वर्णन	६२५
१८, १६	ब्रह्मगवी का वर्णन	६३५—६४८
१६	दुन्दुभि या युद्धवीर राजा का वर्णन	६४८
२०	युद्धविजयी राजा का वर्णन	६५५
२१	ज्वर का निदान और चिकित्सा	६६०
२३	रोगकारी जन्तुओं के नाश का उपदेश	६६६
२४	परमेश्वर से धर्मकार्य में रक्षा की प्रार्थना	६७२
२५	गर्भाशय में वीर्यस्थापन का उपदेश	६७७
२६	योग साधना	६८२
२७	ब्रह्मोपासना	६८८
२८	दीर्घ जीवन का उपाय और यज्ञोपवीत की व्याख्या	६९४
२६	रोगों का नाश करके आरोग्य होने का उपाय	७०१
३०	आरोग्य और सुख की प्राप्ति का उपदेश	७०८
३१	गुप्तहिंसा के प्रयोग करने वालों का दमन	७१५

अथर्ववेद-विषय-दर्पण

१. **प्रार्थना**—बल (१ । १), ब्रह्मतेज, आयु (१ । २६), (२ । १३), (२ । १७, १८), (३ । २२), रक्षा (२ । १६), अभय (२ । १५), प्रेम, दमन (२ । १९–२३) दीर्घायु (२ । २८, २९) (३ । ११), ऐश्वर्य, सद्गुण (३ । २०), रक्षा (४ । ३१, ३२), (५ । २४) बल विजय (५ । ३) ।

२. **ईश्वर-स्तुति**—ईश्वर (१ । १०), ब्रह्म विवेचन (१ । ३२) ब्रह्मविद्या (१ । ३४), मोक्षमार्ग (२ । ३४–३५), ईश्वर-स्तुति (३ । १६), (४ । १, २, ११, १४, १६, ३०) (५ । १, २, ६, ११, १७), मृत्यु-तरण (४ । ३५) ।

३. **उपासना-योगसाधना**—अध्यात्म योग (३ । १७), अविद्या-नाश (३ । १८), दर्शनशक्ति (४ । २०), विभूति-साधना (४ । ३९) निन्दा-वशीकरण (५ । १५), आत्मशक्ति-वृद्धि (५ । १६), योगसाधना (५ । २६), ब्रह्मोपासना (५ । २७), ज्ञानाञ्जन (२ । ९), आत्म-ज्ञान (२ । ९), मन की दृढ़ता (५ । १०), चितिशक्ति (२ । २७), तपस्या (२ । १२), ब्रह्मचर्य (२ । १३) ।

४. **पापमोचन**—अलक्ष्मी, दुःस्वभाव त्याग (१ । १८), (२ । १४), पापमोचन (३ । ३१), पतितोद्धार-शुद्धि (४ । १३), (४ । २३–२९, ३३) ।

५. **राजधर्म**—प्रजापीड़कों का दमन (१ । ७, ८, १६, २८), (२ । २४), (३ । ९), (५ । १४–३१), शत्रुनाश (१ । १९), (४ । ४०), राजा के कर्त्तव्य (१ । २०, २१ ३०), (२ । ५, ६, ११) (३ । ८), रक्षा, सभ्यता, शान्ति (१ । २६), सेना-सञ्चालन (१ । २७) राजस्थापना (३ । ३, ४), (४ । २२), राष्ट्र-चक्र (१ । २९), प्रधान

पुरुष (३ । ५), प्रजा के कर्त्तव्य (१ । ३०), वीर सैनिक (३ । ६), प्रजा की वृद्धि (३ । १४), शत्रुविजय (३ । १६), (५ । ३), राज्याभिषेक (४ । ८), शासन (४ । १६), न्याय-विधान (४ । ३६), भृत्यवेतन (५ । ७), सेनापति (५ । ८), सेना (२ । ४), दुन्दुभि, युद्धवीर राजा (५ । १६, २०), शस्त्रास्त्र (१ । २), कानून (१ । २) गमनागमन के साधन (१ । १५) ।

६. **विज्ञान**—जलविद्या (१ । ४, ६, ३३). वृष्टि (४ । १५), धान्य-संग्रह (१ । २४), भवन-निर्माण (३ । १२), कृषि (१ । १७) विद्युत् विद्या (१ । १३, १४), पशु-पालन (४ । २१) ।

७. **आयुर्वेद**—वस्ति-चिकित्सा (१ । ३), प्रसवविद्या (१ । ११), हृद्रोग, कामला-चिकित्सा (१ । २२), त्वग्दोष-चिकित्सा (१ । २४), आस्राव-चिकित्सा (२ । ३), प्रत्यंग रोग नाश (२ । ३३), आरोग्य (१ । १२), (५ । २६, ३०), शरीरनाड़ीविज्ञान (१ । १७), कुष्ठ, पलित चिकित्सा (१ । २३). ज्वर-चिकित्सा (१ । २५), (५ । २१), दीर्घजीवन (१ । ३५), (२ । २८), (३ । ११), (५ । २८), क्षेत्रिय चिकित्सा (२ । ७), नपुंसक-चिकित्सा, वृष्ययोग (४ । ४). निद्राविज्ञान (४ । ५), सर्पविष-चिकित्सा (४ । ६, ७), (५ । १३), क्षत-चिकित्सा (४ । १२), सन्तति-प्रजनन (५ । २५), रोगजन्तु-नाश (४ । ३७) (५ । ३३), सिलाची ओषधि (५ । ५), स्वास्थ्य लाभ (५ । ९), पृश्निपर्णी ओषधि (२ । २५), अञ्जन (४ । ९), कुष्ठ-चिकित्सा (५।४)

८. **सामाजिक-बन्धन, गृहस्थप्रकरण**—कन्यादान (१ । १४), स्वयंवर (१ । ३०), (३ । २५), योग्य पति-प्राप्ति (१ । ३६) परस्पर प्रेमपूर्वक रहना (३ । ३०), गर्भाधान (५ । २५) लोकोपकारक पुरुष (३ । २१), उत्तम सन्तानलाभ और उत्पत्ति की विधि (३ । ३३) ।

अथर्ववेदसंहिता

प्रथमं काण्डम्

ओ३म् । शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑ये॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं॒योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ अथर्व० १ । ६ । १ ॥

[१] वाचस्पति से बलों की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । वाचस्पतिर्देवता । १–३ अनुष्टुभः, ४ चतुष्पादुरोविराड्-
बृहती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

ओ३म् । ये त्रि॑ष॒प्ताः प॑रि॒यन्ति॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ बिभ्र॑तः ।
वा॒चस्पति॒र्बला॒ तेषां॑ त॒न्वो॑ अ॒द्य द॑धातु मे ॥१॥

भा०—(ये) जो (त्रिषप्ताः) तीन गुना सात [२१] इक्कीस पदार्थ (विश्वा) समस्त (रूपाणि) चेतन और अचेतन पदार्थों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (परि यन्ति) गति कर रहे हैं । (वाचः) वाणी का (पतिः) पालक (तेषां) उनके (बला) बलों को (अद्य) आज, सदा ही, (मे तन्वः) मेरे शरीर के भीतर (दधातु) धारण करावे ।

---

[१] १–(प्र०) पर्यन्ति, (च०) 'तन्वमध्यादधाति मे' इति पैप्प० सं० ।

प्राणो वाचस्पतिः । श० ६ । ३ । १ । १६ ॥ प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः श० ४ । १ । १ । ६ ॥ वाचस्पतिर्होता दश होतॄणाम् । तै० ३ । १२ । १५ । २ ॥ वाग् इति सर्वे देवाः । तै० १ । ६ । २ ॥ वाग् होता षड्होतॄणाम् । तै० ३ । १२ । ५ । २ ॥ वाग् वै यज्ञः । तै० ५ । २४ ॥ वाग् इति मनः । जै० उ० ४ । २१ । ११ ॥ प्रजापतिर्वा इदमासीत्, तस्य वाग् द्वितीया आसीत् । तां मिथुनं समभवत् । सा गर्भमधत्त, सा अस्मादपक्रामत् । सा इमाः प्रजा असृजत । सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत् । तां० २० । १४ । २ ॥ वाग् अस्य प्रजापतेः स्वो महिमा । श० २ । २ । ४ । ४ ॥ इत्यादि ।

वाचस्पति का अर्थ प्राण, आत्मा और परमात्मा है । वाचस्पति दश होता रूप दश प्राणों का मुख्य 'होता' है । वाणी में सदैव (इन्द्रियगण ओतप्रोत हैं)। ऊपर के छः प्राणों का होता वाक् है । वाणी मन का प्रकट रूप है, वाणी प्रजापति से गर्भ ग्रहण करती है । वह इस समस्त संसार को सृष्टि को उत्पन्न करती है अर्थात् प्रकट करती है, वाणी वेदज्ञान प्रभु की अपनी महिमा है । इत्यादि, उसी समस्त ज्ञानमय प्रभु से सब भौतिक बलों और प्राणमय वाचस्पति, आत्मा से अध्यात्म बलों की प्रार्थना की गयी है ।

त्रिषप्ताः=तीन और सात । पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन लोक, उनके तीन अधिष्ठाता अग्नि, वायु और आदित्य । प्रकृति के तीन गुण, सत्व, रजस् और तमस् । इन तीन गुणों से होने वाले तीन कार्य, सृष्टि, स्थिति और प्रलय । सप्त=सात ग्रह, सात मरुद्गण, सात लोक, सात छन्द, सात ऋषि । यद्वा, त्रिषप्ताः-तीन सत्ते=२१ । प्रसिद्ध सूर्य से अधिष्ठित प्राची दिशा को छोड़कर शेष ७ दिशाएं जिनमें आरोग, भ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान् और विभास ये सात सूर्य की शक्तियां विराजमान हैं। होता आदि सात ऋत्विग्-गण अथवा विवस्वान् को छोड़ कर मित्र, वरुण, धाता अर्यमा अंश, भग और इन्द्र ये ७ सूर्य । जैसा ऋग्वेद में (९ । ११४ । ३)

" सप्तदिशो नानासूर्याः सप्तहोता ऋत्विजः । देवा आदित्या ये सप्त । " अथवा, त्रिषप्ताः—सप्तग्रह, सप्त ऋषि और सप्त मरुद्गण अथवा—१२ मास + ५ ऋतुएँ + ३ लोक और आदित्य इक्कीसवां । अथवा शरीर के घटक पांच महाभूत पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश । पांच प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण । ईश्वर की कृपा से ये मेरे में स्थिर रहें । पं० श्रीपाद दामोदरजी सातवलेकर के मत में वाचस्पति 'वला' नामक ओषधि है, जो वाणीप्रदा होने से वाचस्पति कहाना सम्भव है ।

पुन॒रेहि॑ वाचस्पते दे॒वेन॒ मन॑सा स॒ह ।
वसो॑ष्पते॒ नि र॑मय॒ मय्ये॒वास्तु॒ मयि॑ श्रु॒तम् ॥२॥

भा०—हे (वाचस्पते) वेदरूप वाणी के पालक परमेश्वर ! वा आचार्य ! हे ब्रह्मन् ! (देवेन) प्रकाशयुक्त (मनसा) मननशक्ति, ज्ञान के (सह) साथ (पुनः) बार २ (एहि) मुझे प्राप्त होइये, उपदेश कीजिये । हे (वसोः पते) वसु=प्राणियों के वास=जीवन के सम्पादक पदार्थों के पालक विद्वान् ! ईश्वर ! अथवा (वसोः पते) प्राणके परिपालक आत्मन् ! (निरमय) हमें सर्वथा सुखी करो और नाना पदार्थों से आनन्दित, हर्षित, तृप्त करो । (मयि एव अस्तु) आपके दिये ये सब उत्तम पदार्थ मेरे में ही रहें और (मयि) मुझमें ही (श्रुतम्) गुरुपदेश और वेद का ज्ञान भी रहे ।

इ॒हैवाभि वि त॑नू॒भे आर्त्नी॑ इव॒ ज्यया॑ ।
वा॒चस्पति॒र्नि य॑च्छतु॒ मय्ये॒वास्तु॒ मयि॑ श्रु॒तम् ॥३॥
ऋ० १० । १६६ । ३ ॥

२–(प्र०) 'उपनेह वाचस्पते', (तृ०) 'असोष्पते', इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'उप प्रेहि', (तृ०, च०) वसुपते विरमय मय्येव तन्वं मम' इति मै० सं० ।

३–(प्र०) 'तनू उभे अरत्नी' इति पैप्प० सं० । 'अत्रैवोपि नह्याम्युभे आर्त्नी इव ज्यया । वाचस्पते नियेधे मान्यथा मदधरं वदान्' इति ऋग्वेदे ।

भा०—हे वाचस्पते ! इस साधक पुरुष (मयि) मुझ में (एव) ही (उभे) मेधा और सम्पत्ति, ज्ञान और कर्म दोनों को (वि तनु) विशेष रूप से इस प्रकार विस्तृत कर, बढ़ा, प्रबल कर जिस प्रकार (ज्यया) धनुष् में लगी डोरी से (उभे आर्त्नी इव) धनुष् के दोनों छोर ढीले न रख कर कस दिये जाते हैं और वे बाण को दूर फेंकने में समर्थ होते हैं, उसी प्रकार हम भी अपनी प्रखर तीक्ष्ण बुद्धि और कर्मशक्ति से बलवान् होकर सब विपत्तियों और कार्यों को साध सकें। (वाचस्पतिः) वेदवाणी का पालक ईश्वर और विद्वान् (नियच्छतु) समस्त इष्ट पदार्थों को हमें दे और उनको नियम में रखे। (मयि एव अस्तु मयि श्रुतम्) उसके दिये ये सब पदार्थ मेरे में स्थिर रहें और गुरूपदेश से प्राप्त वेदज्ञान भी मेरे में रहे।

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान् वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् ।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

भा०—(वाचस्पतिः) वेद वाणियों और ज्ञान वाणियों का परिपालक आचार्य और परमेश्वर की (उपहूतः) सेवा, शुश्रूषा और प्रार्थना, उपासना की जाय। (वाचः पति) वाचस्पति (अस्मान्) हमें (उप ह्वयताम्) उत्तम ज्ञानों का उपदेश करे, अनुमति दे, जिससे हम (श्रुतेन) वेदोपदेश, ज्ञानोपदेश से (सं गमेमहि) युक्त हों और (श्रुतेन) वेदशास्त्र के ज्ञान से मैं (मा वि राधिषि) कभी वियुक्त न होऊं।

इस सूक्त में मुख्य वाचस्पति ज्ञानप्रद होने से परमेश्वर है। उससे उतर कर गुरु और शरीर में प्राण और प्राण का सुधारक होने से आरोग्यप्रद विद्वान् वैद्य भी वाचस्पति है। वर्त्तमान में बंगाल में वैद्य के लिये 'कविराज' शब्द का प्रयोग 'वाचस्पति' शब्द का अनुवाद मात्र है।

४—'उपहूतोहं वाचस्पत्यु संश्रुतेन राधसि समृतेन विराधसि' [?] इति पैप्प० सं०।

[२] बाण, शर और कानून का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । अमृतमयः पर्जन्यश्चन्द्रमा देवता । १, २, ४, अनुष्टुप् छन्दः ३, त्रिपदाविराट् गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥१॥

भा०—यह सूक्त संग्राम सम्बन्धी है । ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र, नाड़ीव्रण आदि व्याधियों को शान्त करने के लिये इस में मुञ्ज शरकाण्ड आदि के गुण भी बतलाये हैं ।

(शरस्य) बाण, विनाशक स्वभाव शरकाण्ड के (पितरं) उत्पादक (भूरिधायसं) बहुत प्रकार से पालन पोषण करनेहारे (पर्जन्यं) मेघ के समान समस्त जनों के हितकारी और तृप्त करने हारे (पितरं) परिपालक को (विद्मः) हम जानते हैं । (अस्य) इसके (मातरं) निर्माण करने वाली उत्पादक (भूरिवर्पसं) नाना प्रकार के चर, अचर प्राणियों को धारण करने वाली पृथिवी को भी (सु विद्मः) उत्तम प्रकार से जानें ।

क्षत्रिय पक्ष में शत्रु के विनाशक राजा के सिपाही लोग शर हैं । उसका पिता—परिपालक राजा सब प्रजाओं का हितकारी, समस्त प्रजाओं का पोषक होता है । वही उत्तम सिपाही या सेना को संग्रह कर सकता है । उस सैनिक की माता पृथिवी=वह राष्ट्र स्वयं है, जिसमें नाना स्वभावों के मनुष्यों का निवास है ।

भैषज्यपक्ष में—शरकाण्ड का पिता वह पर्जन्य मेघ है जो खूब ओषधियों को जल से तृप्त करता है और नाना ओषधियों की उत्पादक भूमि ही उत्तम शर को भी उत्पन्न करती है ।

अथवा—(भूरिधायसं पर्जन्यं एव शरस्य पितरं विद्म:) नाना प्रजाओं के पोषक, मेघके समान प्रजाके हितकारी उनको सन्तुष्ट करने हारे राजा को ही (शरस्य) हिंसक सेना वा दण्डव्यवस्था (=कोड[1]) को परिपालक जानते हैं और (भूरिवर्पसं पृथिवीं अस्य मातरं सु विद्म:) नाना प्रकार की प्रजाको धारण करने वाली पृथिवी=राष्ट्र को या प्रजा को इस दण्डव्यवस्था का माता-निर्माता जानते हैं अर्थात् दण्डव्यवस्था का निर्माण करना प्रजाके हाथ में और उसका पालन करना कराना राजा के हाथ में होना उचित है।

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे (ज्याके) धनुष्की डोरी के समान शरका प्रक्षेप करनेहारी राजसभे ! या सेने ! (नः) हमारे लिये (परि णम) उत्तम व्यस्थाओं का सम्पादन कर या सेनापति की आज्ञा का पालन कर हे इन्द्र ! (तन्वं) इस विस्तृत राष्ट्र के शरीर को (अश्मानं) चट्टान के समान दृढ़, अजेय एवं व्यापक (कृधि) बनाओ या अपने विस्तृत व्यूह को अभेद्य करो । हे इन्द्र ! राजन् ! सेनापते ! (वीडुः) सेना के वीर भटों को संस्तम्भन करने हारा तू (अरातीः) कर प्रदान न करने हारे (द्वेषांसि) और हमसे द्वेषभाव रखनेवाले दुष्ट शत्रुओं को (अप आ कृधि) परे हटा । धनुष् की डोरी के दृष्टान्त से सेना और राजसभा के कर्त्तव्य को समझाया है ।

---

[२] १. 'शर' या 'काण्ड' शब्द प्राचीन काल में व्यवस्थापुस्तक, स्मृति अथवा कोड् या क़ानून के लिये भी प्रयोग होते थे । इस का अपभ्रंश 'क़ानून' 'Canon' आदि शब्द हैं और शरह, शरियत आदि शब्द अरबी में इस 'शर' शब्द का अपभ्रंश है । देखो Etymological Dictionary by Keath.

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्।
शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

भा०—(यद्) जब (गावः) गोचर्म की तांत की बनी अथवा वाणों को दूर फेंकने वाली डोरियां, (वृक्षं) धनुष् को (परिषस्वजानाः) आलिङ्गन करती हुई (अनुस्फुरं) तीव्र प्रहार करने हारे (ऋभुम्) तीक्ष्ण, चमचमाते (शरं) वाण को (अर्चन्ति) फेंकती हैं तब हे इन्द्र ! सेनापते ! (दिद्युम्) अतिप्रकाशमान (शरुं) शत्रु के घातक वाण को (अस्मत्) हम से (यावय) परे रख, जिससे वे हमें न सतावें। अथवा—(यद् गावः वृक्षं परिषस्वजानाः) जिस प्रकार ग्रीष्म काल में गौ आदि पशु वृक्ष के आश्रय में आती हैं उसी प्रकार (ऋभुं शरं अनुस्फुरं अर्चन्ति) ज्ञान और शक्ति से विशेष रूप से तेजस्वी शत्रु के हिंसक राजा का आश्रय लेकर प्रजाएं उसकी आज्ञा के अनुकूल चल कर उसका आदर करती हैं और कहती हैं कि—(इन्द्र दिद्युं शरुं अस्मद् यावय) हे इन्द्र ! राजन् ! अपने चमचमाते तेजस्वी, घातक, शत्रु, दुष्टविनाशक, वज्र के समान हिंसक शस्त्र को हम से परे रख, हम प्रजाओं पर उसका प्रयोग न कर।

अध्यात्म पक्ष में गावः—इन्द्रियें। ऋभु, शर और वृक्ष=आत्मा। 'परिष्वज्'=आलिङ्गन करना। इस शब्दप्रयोग के कारण स्त्रीपुरुष—व्यवहार में गावः=कन्याएं। वृक्ष=आश्रय पति। ऋभु=विद्वान्।

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४॥

भा०—जिस प्रकार (द्यां च) द्यौलोक और (पृथिवीं च) पृथिवी लोक के (अन्तः) भीतर (तेजनम्) तेजस्वी सूर्य (तिष्ठति) विराजता है और (रोगं च) देह को तोड़ डालने वाले ज्वर, अतीसार आदि रोग

(आस्रावं च) अङ्ग प्रत्यङ्ग से वहने वाले मूत्र ,अतीसार आदि रोगों को नाश करता है उसी प्रकार शिर और मूलेन्द्रिय अथवा पैर या जंघा के बीच कटि-भाग में धारण किया हुआ (तेजनम्) तीक्ष्ण स्वभाव का या तिक्त गुण का (मुञ्जः) मूंज भी रोग और आस्राव के (अन्तः) बीच में रह कर उन पर वश करता और उनको दूर करता है ।

पूर्व सूक्त में विद्यावान् वाचस्पति वैद्य से शरीर के सुख की कामना की और इस सूक्त में इन्द्र रूप राजा और वैद्य से राष्ट्र-शरीर और इस शरीर के रोगनाशक " शर " ओषधि को प्राप्त कर रोग विनाश करने का उपदेश है ।

शर और मुञ्ज के गुणों के विषय में धन्वन्तरि राजनिघण्टु में इसके ४ भेद लिखे हैं काश, मुञ्ज, मृदुदर्भ, और शर, साधारण भाषा में इसको सरकण्डा, मूंज, दाभ, सर या सींक कहा जाता है ।

काश के गुण—काशः स्वादू रसे तिक्तो विपाके वीर्यतो हिमः ।
तर्पणो बलकृद् वृष्यः श्रमशोषभयापहः ।
काशद्वयं च पित्तास्रकृच्छ्रजिन्मधुरं हिमम् ॥

काश, रस में स्वादु, पकने पर कुछ तीखा, शीतलवीर्य, बलकारी, वृष्य, श्रम और शोष का विनाशक, रक्त पित्त और मूत्र कृच्छ्र को नाश करने वाला होता है ।

मुञ्ज के गुण—मुञ्जोऽनुष्णो विसर्पास्रमूत्रवस्त्यादिरोगनुत् ।
बाणाह्वो मधुरः शीतः पित्तदाहतृषापहः ॥

मूंज स्वभाव में शीतल, विसर्प नामक खुजली, कुष्ठ, वस्ति=मूत्र-स्थली और आंखों के रोगों को दूर करता है । वह रस में मधुर, पित्त, दाह और प्यास को मिटाता है ।

दर्भ के गुण—यज्ञमूलं हिमं रुच्यं मधुरं पित्तनाशनम् ।
रक्तज्वरतृषाश्वासकामलादोषशोषकृत् ॥

दर्भौ द्वौ च गुणे तुल्यौ तथापि च सितोऽधिकः ।
यदि श्वेतकुशाभावस्त्वपरं योजयेद्भिषक् ॥

कुश के दो भेद हैं एक श्वेत दूसरा लाल । इसका स्वभाव शीतल और भोजन में रुचिकर; मधुर, पित्त का नाशक, ज्वर, प्यास, श्वास (दमा), कामला, पाण्डुरोग और शोष तपेदिक का नाशक है । प्रायः दोनों के समान गुण हैं, इनमें भी श्वेत दर्भ अधिक गुणकारी है ।

शर—इसके भी दो भेद हैं । एक पतला दूसरा मोटा ।

शरद्वयं स्यात् मधुरं सतिक्तं कोष्णं कफभ्रान्तिमदापहारि ।
बलं च वीर्यं च करोति नित्यं निषेवितं वातकरं च किञ्चित् ॥

दोनों मधुर, तिक्त, कुछ उष्ण स्वभाव के, कफ, माथे का घूमना, मद (ज़नून) का नाशक बलवीर्य का जनक और कुछ वातकारी है । बाण के द्वारा विजय करना धनुर्वेद और ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र और नाडीव्रणों की चिकित्सा का उपदेश आयुर्वेद के अनुसार जानना चाहिये ।

[३] शर और शलाका का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः पर्जन्यमित्रादयो बहवो देवताः । १—५ पथ्यापंक्तिः, ४—६ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ प॒र्जन्यं॑ श॒तवृ॑ष्ण्यम् । तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बा॒लिति॑ ॥१॥

भा०—(शतवृष्ण्यम्) अपरिमित वीर्य से युक्त, नाना प्रकार के सुखों के वर्षक नाना वनस्पति और पशु मृगादि प्राणियों के जीवनाधार (पर्जन्यं) पर्जन्य, मेघ, प्रजापति एवं प्रजा के हितकारक पुरुष को (शर-

स्य) शर [=सरकण्डे या शलाका] का (पिता) पिता, परिपालक जानते हैं। हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! (तेन) उस शर से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर में (शं) सुखकारी चिकित्सा या शत्रु के आक्रमणभय को शान्त (करं) करता हूं। (ते) तेरा (निषेचनं) मूत्रस्राव (पृथिव्यां) पृथिवी पर (बाल् इति) 'बाल्' इस प्रकार शब्द करता हुआ अथवा बल पूर्वक रोगी के प्राण बचाने के लिये (ते बहिः) तेरे शरीर से बाहर अस्तु आवे।

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् । तेना० ॥२॥

भा०—(शतवृष्ण्यं) सैकड़ों सहस्रों, अपरिमित वीर्यवान् (मित्रं) सब के स्नेही एवं प्रकाशक सूर्य के समान वैद्य को (शरस्य) शलाका का (पितरं) पिता, पालक (विद्म) जानते हैं। (तेन ते तन्वे शं करं) उससे तेरे शरीर के लिये मैं कल्याण करता हूं। (पृथिव्यां ते निषेचनं) तेरा मूत्रास्राव पृथिवी पर (बाल् इति बहिः ते अस्तु) बल पूर्वक बाहर हो कर प्राणरक्षा का कारण हो।

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् । तेना० ॥३॥

भा०—(शतवृष्ण्यं वरुणं शरस्य पितरं विद्म) अपरिमित बल-युक्त, सब दुःखों के निवारक, सब से श्रेष्ठ वरुण को 'शर' का पिता पालक जानते हैं। (तेना०) उससे तेरे शरीर के लिये मैं कल्याण करता हूं मूत्रादि रोगकारी पदार्थ बाहर पृथिवी पर बलपूर्वक आजाय जिससे हे रोगी ! तेरी प्राणरक्षा हो।

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् । तेना० ॥४॥

भा०—(शतवृष्ण्यं चन्द्रं शरस्य पितरं विद्म) नाना बलशाली आह्लाद-जनक या चन्द्र को शर का पालक जानते हैं (तेना०) इत्यादि पूर्ववत्।

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् । तेना ते० ॥५॥

भा०—(शतवृष्ण्यं सूर्यं शरस्य पितरं विद्म) सैकड़ों सामर्थ्यों से युक्त सूर्य को शर का पालक जानते हैं (तेना०) उससे तेरे शरीर का कल्याण करता हूं, रोगकारी मूत्र बल पूर्वक शरीर से बाहर आवे ।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावाधि संश्रुतम् ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

भा०—(यत्) जो मूत्र (आन्त्रेषु) पुरीतत् नामक नाड़ियों, आंतों में और (यत्) जो मूत्र (गवीन्योः) मूत्र को मूत्राशय तक पहुंचाने हारी 'गाविनी' नामक दो मूत्रवाहिनी नाड़ियों में और (यत्) जो (वस्तौ अधि) वस्ति=मूत्राशय के भीतर (संश्रुतं) चू कर आगया है या अटका हुआ है, वह (ते मूत्रं) हे रोगी ! तेरा मूत्र (सर्वकं) सब का सब (एवा) इस प्रकार की चिकित्सा से (बहिः) बाहर (बाल् इति) 'बाल्' इस प्रकार शब्द के साथ (मुच्यतां) छूट कर चला आवे और तू रोग से मुक्त हो जा ।

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । एवा० ॥ ७ ॥

भा०—हे मूत्र व्याधिपीड़ित जन ! (ते) तेरी (मेहनं) मूत्र नाड़ी को मैं चिकित्सक रुके हुए मूत्र को बाहर करने के लिये (भिनद्मि) लोह-शलाका द्वारा उसी प्रकार खोलता हूं जिस प्रकार (वेशन्त्याः) जल से भरे हौज़ के (वत्रं) पानी के निकलने को नाली को खोल दिया जाता है। (एवा ते०) इस प्रकार तेरा सम्पूर्ण मूत्र 'बाल्' शब्द सहित भरभराता हुआ बाहर ही आजावे ।

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव । एवा० ॥ ८ ॥

[३]　६—'वस्तावधि संश्रितम्' इति सायणसम्मतः पाठः । 'संस्तुतम्' इति च क्वाचित्कः पाठः ।

७—'वर्तं' इति सायणाभिमतः पाठः । 'वृत्रं' वेशन्त्या, यन्त्यः' इति पैप्प० सं० ।

८—'समुद्रस्योत [?] धिरेव' इति पैप्प० सं० ।

भा०--हे मूत्ररोग से पीड़ित पुरुष ! (उदधेः समुद्रस्य) ज्वार के साथ उमड़ते हुए सागर का जल जिस प्रकार उठ कर नदियों में बहने लगता है उसी प्रकार (ते) तेरा (वस्ति बिलं) मूत्र कोष्ठ का छिद्र भी (विषितं) खुलकर मूत्र के निकलने योग्य हो जाय और (एवा०) इस प्रकार तेरा समस्त मूत्र ' बाल् ' शब्द के सहित बाहर आजाय ।

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

भा०—(धन्वनः अधि) धनुष से (अवसृष्टा) छूटा हुआ (इषुका) बाण (यथा) जिस प्रकार (परा पतत्) दूर जा पड़ता है (एवा०) इसी प्रकार तेरा मूत्र भी सारा बस्ति भाग से छूट कर 'बाल्' शब्द सहित बाहर आ जाय ।

[४] जलों का वर्णन ।

अपोनप्त्रीयं सूक्तम् । सिन्धुद्वीपः कृतिश्च ऋषिः । सोम आपश्च देवताः ।
१—३ गायत्रं छन्दः । ४, पुरस्ताद् बृहती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥ ऋ० १ । २३ । १६ ॥

भा०—(अध्वरीयताम्) अध्वर—हिंसा रहित सोमयागादि करने हारे ऋत्विजों को (जामयः) भगिनियें, या स्त्रियें, जिस प्रकार (अध्वभिः) वेदि में चत्वाल और उत्कर के भागों के बीच में से जाती हैं और यज्ञ में (मधुना) सोम के मधुर रस के साथ (पयः) जल को (पृञ्चतीः) मिश्रित करती

हैं उसी प्रकार (अम्बयः) इस शरीर को पोषक रक्त-धारायें इस देहरूप वेदि में (अध्वभिः) अपने २ नाड़ी मार्गों से (मधुना) प्राण शक्ति से (पयः) पुष्टिकारक पदार्थ को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयतां) अध्वर—जीवन यज्ञ का सम्पादन करने हारे प्राणों के (जामयः) बल को उत्पादन करती हुईं (यन्ति) शरीर भर में गति करती हैं । इसी से भूमण्डल में वृष्टिरूप जलधाराओं और नदियों का भी वर्णन किया समझना चाहिये ।

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । २३ । १७ ॥ यजुः ६ । २४ ॥

भा०—(अमूः) ये वृष्टि जल (याः) जो (उप सूर्ये) सूर्य के आश्रय, उसकी किरणों द्वारा भूपृष्ठ से उठ कर ऊपर चले जाते हैं और (याभिः वा) जिनके (सह) साथ (सूर्यः) उनका प्रेरक सूर्य विद्यमान है (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरं) हिंसा रहित प्राणियों के जीवनमय यज्ञ को (हिन्वन्ति) तृप्त करते हैं, चला रहे हैं ।

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । २३ । १८ ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (अपः) जलधाराओं को (उपह्वये) अपने समीप बुलाता हूं, उनको प्राप्त करता हूं, (यत्र) जहां, जिनमें से (नः) हमारी (गावः) गौएं और भूमियां (पिबन्ति) रसपान करती हैं, सिंचती हैं, अतः (सिन्धुभ्यः) निरन्तर गतिशील बहने वाली उन जलधाराओं, नहरों के लिये (हविः) उत्तम मार्ग (कर्त्वं) तैयार करना चाहिये ।

अप्स्व॑१न्तरमृतम॒प्सु भे॑ष॒जम् । अ॒पामु॒त प्रश॑स्तिभि-
रश्वा॒ भव॑थ वा॒जिनो॒ गावो॑ भवथ वा॒जिनीः॑ ॥ ४ ॥

ऋ० १ । २३ । १९ ॥ यजु० ९ । ६ ॥

भा०—(अप्सु अन्तरम्) जलों के भीतर (अमृतम्) अमर जीवन शक्ति है, (अप्सु) जलों में (भेषजम्) रोगनाशक सामर्थ्य है (उत) और (अपां) जलों के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से ही (अश्वाः) हे अश्व आदि वेगवान पशुगण ! तुम (वाजिनः) बलयुक्त (भवथ) हो जाते हो, और हे (गावः) गौ आदि दूध देने हारे पशुओ ! तुम भी (वाजिनीः) बलकारी दुग्ध आदि से सम्पन्न, पुष्ट हो जाती हो ।

[५] जलों का वर्णन ।

अपोनप्त्रीयम् । सिन्धुद्वीपः कृतिश्च ऋषिः । ऋग्वेदे त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाऽम्बरीष ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ ऊ॒र्जे द॑धातन ।
म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ॥ १ ॥

यजु० ११ । ५० ॥ ऋ० १० । ९ । १ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! या आप्त पुरुषो ! (मयोभुवः) आप सुख शान्ति के देने वाले (स्थ) हो, (ताः) वे आप (नः) हमें (ऊर्जे) बलकारी प्राण और अन्न के द्वारा (दधातन) धारण पोषण करो । और (महे) बड़े भारी पूज्य (रणाय) रमण करने योग्य निरतिशय ब्रह्मानन्द के (चक्षसे) साक्षात्कार करने के लिये हमें पुष्ट करो । अथवा—(महे

[५] पञ्चमं षष्ठं च सूक्तं शम्भुमयोभूसूक्तमुच्यते ।

रणाय चक्षसे) पूजनीय उत्तम रण=विविध उपभोग्य पदार्थों के उपभोग लाभ और जीवन के अभिमत फल दर्शन के लिये अथवा (रणाय) रमणीय शब्द, वेद, उपनिषद् द्वारा ज्ञानयोग्य परब्रह्म के साक्षात् करने के लिये हमें बल दो ।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यजुः ११ । ५१ ॥ ऋ० १० । ९ । २ ॥

भा०—(उशतीः) पुत्रको निरन्तर चाहने वाली प्रेममयी (मातरः) माताएं जिस प्रकार अपने पुत्रों को मधुर दुग्धरस पान करा कर पालती पोसती हैं उसी प्रकार हे (आपः) आपः (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) अत्यन्त अधिक कल्याणकारी (रसः) सारभूत रस है (तस्य) उससे (नः) हमें (इह) यहां (भाजयत) प्रदान कर पुष्ट करो ।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

यजु० ११ । ५२ ॥ ऋ० १० । ९ । ३ ॥

हे (आपः) हे आपः देवो ! उस अलौकिक अक्षय सुखको प्राप्त करने के लिये (वः) आपको हम (अरं) अच्छी प्रकार से प्राप्त हों (यस्य) जिसके भीतर (क्षयाय) सदा निवास करने वाले आत्मा को आप (जिन्वथ) अत्यन्त तृप्त, सुखी करते हो और आप (नः) हमें और हमारे सन्तानों को (जनयथ च) उत्पन्न करते और बढाते हैं ।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥ ऋ० १० । ९ । ५ ॥

भा०—(वार्याणाम्) वरण करने योग्य समस्त धनों और सबसे श्रेष्ठ वरण करने योग्य प्रिय प्राणों को (ईशानाः) अपने वश करने वाले उनके स्वामी, (चर्षणीनां) दर्शनशील, इन्द्रियों या मनुष्यों को (क्षयन्तीः) निवास कराने हारे (अपः) आपः=जलों से (भेषजम्) रोगनाशक औषध की (याचामि) प्रार्थना करता हूं ॥

सब के प्राप्त करने योग्य होने से 'आपः' परमात्मा का नाम भी है। आपः-जलों के दृष्टान्त से ईश्वर से ही प्रार्थना उचित है। उस परमात्मा को भक्तों ने अपनी भावना के अनुसार नदियों, जलों या तीर्थों के रूप में उपासना की है, उसी का कल्याणतम रस परमानन्द मोक्ष है। उसी के लिये तीसरे मन्त्र में प्रार्थना है उससे ही चतुर्थ मन्त्र में भव रोग का परम भेषज मांगा है।

कौशिक सूत्र में इस सूक्त का विनियोग जलमार्जन, गौओं के रोगशमन पुष्टि, प्रजनन, जलसिञ्चन आदि कार्यों में बतलाया गया है।

[६] जलों का वर्णन ।

अपोनप्त्रीयंसूक्तम् । अथर्वा कृतिः सिन्धुद्वीपश्च ऋषिः । ऋग्वेदे त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपोऽम्बरीष ऋषिः । आपो देवताः । पथ्यापंक्तिश्छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९ । ४ ॥ यजु० ३६ । १२ ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (आपः) जल (नः) हमारे

[६] १-(द्वि०) 'शं नो भवन्तु पीतये' इति सामवेदे ॥

(अभिष्टये)-यज्ञ और अभीष्ट सुख साधन के लिये, और (पीतये) पान करने के लिये (शं) कल्याणकारी हों और (नः) हमारे (शं) प्राप्त रोगों के शमन और (योः) अप्राप्त रोगों को दूर ही से निवारण करने के लिये (अभिस्रवन्तु) सब ओर से बहें, स्रवित हों।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

ऋ० १।२३।२० ॥ ऋ० १०।९।६ ॥

भा०—(सोमः) सौम्यगुणयुक्त, प्रेरक, परमात्मा और सब रोगों के विनाशक सोमरूप परम आयुर्वेद के विद्वान् ने (मे) मुझे (अब्रवीत्) यह उपदेश किया है कि (अप्सु, अन्तः) जलों के भीतर या रसों के भीतर ही (विश्वानि) समस्त (भेषजा) रोगों को दूर करने के सामर्थ्य हैं और उसने ही (अग्निं च) अग्नि को (विश्वशम्भुवम्) समस्त सुखों का मूल उत्पादक उपदेश किया है।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

ऋ० १।२३।२१ ॥ १०।९।७ ॥

हे (आपः) जलो ! आप (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (वरूथं) सब रोगों के निवारक (भेषजं) औषध को (पृणीत) प्रदान करो और (ज्योक् च) चिरकाल तक (सूर्यं) सूर्य को भी (दृशे) देखने में समर्थ होकर हम आरोग्य बने रहें।

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ-
आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

२—'आमश्च विश्वशम्भुवः' इति मै० सं०।

भा०—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) मरुभूमि के उत्पन्न हुए जल भी (शं) कल्याणकारी हों और (अनूप्याः) अनूप=जलमय देश के जल भी (शम् उ) कल्याणकारी ही हों। (खनित्रिमाः) खोदकर कूओं से प्राप्त किये (आपः) जल भी (नः शं) हमें कल्याणकारी हों और (याः) जो जल (कुम्भे) घड़े और मटके में (आभृताः) रखे हों वे भी (शम् उ) कल्याणकारी हों और (वार्षिकीः) वर्षा के जल भी (नः) हमें (शिवाः) कल्याण, सुखकारी (सन्तु) हों॥

वेद के ये दोनों सूक्त ' सलिल गण ' में पठित हैं। उनमें क्रम से पंचम सूक्त के १ म मन्त्र में जलों को 'मयोभूः' और 'उर्ज्' बलकर, दिव्यदृष्टिदायक बतलाया है। संक्षेप से आयुर्वेद के अनुसार नाना जलों के गुण इस प्रकार हैं। सामान्य जल के गुण धन्वन्तरि राजनिघण्टु में:—

साधारणं जलं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु ।
श्रमतृष्णापहं वातकफमेदोघ्नपुष्टिदम् ॥
पानीयं मधुरं हिमं च रुचिदं तृष्णाविशोषापहम्,
मोहभ्रान्तिमपाकरोति कुरुते भुक्तान्नपक्तिं पराम्।
निद्रालस्यनिरासनं विषहरं श्रान्तार्त्तसंतर्पणम्।
नृणां धीबलवीर्यबुद्धिजननं नष्टाङ्गपुष्टिप्रदम् ॥

साधारण जल रुचिकर, पाचन शक्ति का दीपक, हलका, प्यास, थकावट, वात, कफ, मेद के दोषों का नाशक, पुष्टिप्रद, मधुर, शीतल, तृष्णा-शोष का नाशक, मोह, भ्रम को दूर करता, अन्न को पकाने, निद्रा, आलस्य और विष को दूर करनेहारा, विद्या, बुद्धि, बल और वीर्य का वर्धक और क्षीण अङ्ग को पुष्टि करता है!

द्वितीय मन्त्र में 'शिवतम रस', तृतीय में वीर्यजनक और चतुर्थ में औषध

रूप प्राणों का आधार जल को कहा गया है । ये सब गुण नाना जलों में भिन्न २ रूप से पाये जाते हैं । जैसे:—

गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं मृत्सुभाजने ।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षी ततः परम् ॥

आकाश से पड़ा जल तीनों दोषों का नाशक, बलकारी पवित्र रसायन है ।

षष्ठ सूक्त के १ म में 'देवीः आपः'—

दिव्यवाय्वग्निसंयोगात् संहताः खात् पतन्ति याः ।
शिलाप्रकारबद्धास्ताः करका अमृतोपमाः ॥

दिव्य वायु और अग्नि के संयोग से शिलारूप ओला बनकर गिरने वाला जल अमृत के समान है । इसी प्रकार से आकाश से पड़े हिमों से आच्छादित पर्वतों से बहती नदियों के जल भी:—

हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः ।
नद्यः पाषाणसिक्ताश्च वाहिन्यो विमलोदकाः ॥

शरीर के लिये पथ्य, आरोग्यजनक और पवित्र होते हैं ।

द्वितीय मन्त्र में सोम का वचन कि जल में और अग्नि में समस्त ओषधि हैं । इसके लिये राजनिघण्टु का पूर्ण प्रकरण दर्शनीय है ।

तृतीय मन्त्र में—"ज्योक् च सूर्यं दृशे" । राजनिघण्टु में—रात के रखे शीतल जल का प्रातः पान का गुण:—

सोयं सद्यः पतगपतिना स्पर्धते नेत्रशक्त्या ।
स्वर्गाचार्यं प्रहसति धिया द्वेष्टि दस्रौ च तन्वा ॥

उसकी नेत्रशक्ति सूर्य या गरुड़ के समान होजाती है और बुद्धि बृहस्पति के और शरीर अश्विनीकुमार के समान होजाता है ।

४ र्थ मन्त्र में ४ प्रकार के जलों का वर्णन है, 'धन्वन्य', 'अनूप', 'खनित्रिम' और 'कुम्भआभृत' इनके भी भिन्न २ गुण आयुर्वेद में बतलाये गये हैं वहां ही देखें।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि षट्, ऋचश्चैकोनत्रिंशत्]

[७] प्रजा के पीड़ाकारियों का दमन ।

चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । १–४, ६, ७ अनुष्टुभः ५, त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान ! राजन् ! (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! (स्तुवानं) हिंसाशील (यातुधानं) पीड़ादायक, (किमीदिनं) 'अब क्या, अब क्या' इस प्रकार सदा जीवन के संकट में पड़े अथवा यह क्या, यह क्या' इस प्रकार सब क जान माल के स्वत्व को तुच्छ समझने वाले, सब के अपमानकारी पुरुष को तु (आ वह) सब तरफ से और सब तरह से पकड़ ला। क्योंकि (त्वं हि) तू (वन्दितः) सब के नमस्कार करने योग्य एवं (दस्योः) प्रजा के नाशक लोगों का (हन्ता) हनन करने वाला (बभूविथ) है।

यद्यपि 'स्तु' धातु हिंसार्थक नहीं पढ़ा है तो भी यातुधान का विशेषण होने से 'स्तु' धातु 'शस' धातु के समान स्तुति तथा भाषणार्थक होकर हिंसार्थक होना सम्भव है। (अथर्व० १।८।२,३) मन्त्रों में भी हिंसार्थक 'स्तु' धातु का प्रयोग है। सायण ने स्वयं यहां 'स्तु' धातु का अर्थ 'दान' किया है।

---

[७] १–(प्र०) 'स्तुवानस्तानयावह' (द्वि० तृ०) त्वं हि देवांस्तुतो हन्ता तस्योत बभूव्यथ, [?] इति पैप्प० सं० ।

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ॥
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

भा०—हे (परमेष्ठिन्) परम, सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित! हे (जातवेदः) सब उत्पन्न प्रजाओं को जानने हारे! हे (तनूवशिन्) सब के शरीरों पर वश करने हारे अधिकारिन् राजन्! हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! और शत्रुतापक! परंतप! तू (तौलस्य) तुला से परिमित, भारी (आज्यस्य) वज्र को (प्र, अशान) धारण कर और (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले दुष्ट पुरुषों को (विलापय) नाना प्रकार से रुला, उनका विनाश कर।

वज्रो वा आज्यम्। कौ० १३।७। वज्रो वा आज्यम्। तद्वज्रेणैतन्नाष्ट्रा रक्षांसि अवबाधते। श० ३।३।४।१।३४॥ ब्रह्मयज्ञ के समान क्षत्रयज्ञ=राष्ट्रपालन में आज्य=वज्र=तलवार या खड्ग का प्रतिनिधि है। पण्डित ग्रीफिथ और ह्विटनि ने इस मन्त्र में "तौलस्य प्राशान" पाठ को "तैलस्य प्राशान" पाठ पढ़ कर यज्ञ में तैल आहुति करने का अर्थ किया है। सो यह उनका भ्रम है'।

विलपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

भा०—(यातुधानाः) पीड़ा देने वाले (अत्त्रिणः) दूसरों के जान, माल हड़प जाने वाले (ये) जो (किमीदिनः) दूसरों के जान माल को कुछ भी न समझने वाले, नृशंस लोग हैं वे (विलपन्तु) नाना प्रकार से विलाप करें, अपने दुःख झेलें और रोएं, चीखें। (अथ) उसके बाद हे (अग्ने) शत्रुतापन! सेनापते! दण्डाध्यक्ष! आप और (इन्द्रः च) और

२–(तृ. च०) 'तूलस्य प्राशानं यातुधानाद् विलापयः' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'यातुधानात्रिणो,' (तृ०) 'यथेदमग्ने' इति पैप्प० सं०।

इन्द्र, राजा, ऐश्वर्यवान् दोनों (नः) हमारा (हविः) दिया हुआ अन्न या षष्ठांश बलि ग्रहण करने के लिये या हमारे अभिनन्दन की पुकारों को प्राप्त करने के लिये (प्रति हर्यतम्) उद्योग करें।

'अग्नि' राज्य का वह विभाग जो प्रजापीड़कों को खोज २ कर पता लगावे और दण्ड दिलवावे। 'इन्द्र' राज्य का वह विभाग जो प्रजापीड़कों को पकड़े परास्त करे और दण्ड दे।

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

भा०—(पूर्वः) सब से पूर्व (अग्निः) शत्रुतापक, परंतप विभाग (आ रभतां) सब ओर से दुष्ट पुरुषों को प्राप्त करे, पकड़े, पता लगावे। और (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा (बाहुमान्) उनको बांधने-पीड़ा करने के पूरे सामर्थ्य से युक्त होकर (प्र नुदतु) खूब अच्छी तरह से दबावे जिससे (सर्वः) सब (यातुमान्) प्रजापीड़क लोग (एत्य एत्य) राजा के सामने आ आ कर (ब्रवीतु) स्वीकार करें, कहें कि (अयम् अस्मि इति) यह मैं कसूरवार हूं, मैं हाज़िर हूं, मैं आपकी शरण हूं, आपका सेवक हूं।

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

भा०—हे (जातवेदः) अग्ने ! सब प्रजा भर को जानने वाले ! (ते वीर्यं) तेरे वीर्य, बल, सामर्थ्य को हम (पश्याम) देख रहे हैं। हे

४–(प्र०, द्वि०) "अग्निः पुरस्तादायच्छतु प्रथ इन्द्रो नुददस्वाहुम् [?]" (च०) 'अयमस्मिते य' इति पैप्प० सं०।

५–(प्र०) 'वीर्या जातवेदः' (तृ०) 'परितप्तः' (च०) 'आयान्तु' इति पैप्प० सं०।

(नृचक्षः) सब मनुष्यों पर अपनी आंख रखने वाले ! तू ही (नः) हमें (यातुधानान् प्र ब्रूहि) पीड़ा देने वाले दुष्ट गुण्डा लोगों को भली प्रकार शिक्षा दे, और उनको बतलादे। जब वे तेरे तेज से पीड़ित हों तब (ते) वे स्वयं (इदम्) यह (प्रब्रुवाणाः) कहते हुए ही (ते उप आयन्तु) तेरी शरण आवें कि (पुरस्तात्) पहले ही (त्वया) तुझ राजा ने (सर्वे) सब दुष्टों को (परितप्ताः) तपा रखा है, हम भय खाकर तेरी शरण हैं।

आ र॑भस्व जातवेदो॒ऽस्माका॑र्थाय जज्ञिषे।
दू॒तो नो॑ अग्ने भू॒त्वा या॑तु॒धाना॒न् वि ला॑पय ॥ ६ ॥

भा०—हे (अग्ने) ! जातवेदः (अस्माकार्थाय) हमारे राष्ट्र के अर्थ=हित के लिये तू (आरभस्व) अपना कार्य बराबर कर और (नः) हमारा सब का (दूतः) प्रतिनिधि होकर (यातुधानान्) पीड़ादायक प्रजा के घातक, नरपिशाचों को (विलापय) नाना प्रकार से पीड़ा दे और रुला।

त्वम॑ग्ने यातु॒धाना॒नुप॑बद्धाँ इ॒हा व॑ह।
अथै॑षा॒मिन्द्रो॒ वज्रे॒णापि॑ शी॒र्षाणि॑ वृश्चतु ॥ ७ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वम्) तू (यातुधानान्) प्रजा को पीड़ा और त्रास देने वाले लोगों को (उपबद्धान्) बांध २ कर (इह) इस नियत स्थान, जेलखाने में (आवह) लाकर रख। (अथ) और उसके बाद (इन्द्रः) इन्द्र=राजा (एषां) इन के (शीर्षाणि) सिरों को यदि उचित अपराध जाने तो (वज्रेण) तलवार से (अपि वृश्चतु) काट डाले, उनको प्राणदण्ड दे।

६—'आरभस्व ब्रह्मणा जातवेदो हृदि कामाय रन्धय। दूतो नो अग्निरुत तिष्ठ-यातुधानानिहानय।' इति पैप्प० सं०।

७—(च०) 'अप शीर्षा वृश्चतु' इति पैप्प० सं०।

[८] प्रजाके पीड़कों का नाश करने का उपाय ।

चातन ऋषिः । १, २ बृहस्पतिरग्निषोमौ च देवताः । ३, ४ अग्निर्देवता । १—३ अनुष्टुभः । ४, बार्हतगर्भा त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

भा०—(नदी फेनम् इव) जिस प्रकार नदी फेन या झाग को (आ वहत्) बहा ले जाती है उसी प्रकार (इदं हविः) यह अन्नरूप राजकर या प्रजा का अभिनन्दन या प्रजा की राजा के प्रति पुकार ही (यातुधानान् आ वहत्) प्रजा के पीड़क लोगों को बहा देती है । (स्त्री वा पुमान् वा यः इदं अकः) जो भी नर या नारी इस आवाज़ को उठाता है (स) वही (जनः) प्रजा जन (स्तुवतां) अपने पीड़कों का नाश करता है ।

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत ।
बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

भा०—जब (अयं) यह (स्तुवानः) हनन करता हुआ प्रजापीड़क दुष्ट पुरुष (आगमत्) सामने आवे तभी (इमं प्रति हर्यत स्म) इसको शीघ्र पकड़ो । हे (बृहस्पते) बड़े बड़े बलवान् पुरुषों के पालक, उस घातक प्रजापीड़क को (वशे लब्ध्वा) वश में करके, पकड़ कर, कैद करके, हे (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम ! शत्रुतापक और राजन् ! (विविध्यतम्) तुम दोनों उस नीच को वेध डालो , उसको गोलियों का या बाणों का शिकार करो या पीड़ित करो ।

---

[८] १—(तृ०, च०) 'नीदं स्त्री पुमानकर्यशम् भुवतां जनः' [?] इति पैप्प० सं० ।
२—(प्र०, द्वि०) 'स्तुवाना गम त्वं स्मोत प्रति हर्यत' इति पैप्प० सं० ।

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोमप) राजा के पद या राष्ट्र की रक्षा करने वाले अग्ने ! तू (यातुधानस्य) प्रजापीड़क, नीच, डाकू आदि के (प्रजां) सन्तति को भी (जहि) विनाश कर और (नयस्व च) कैद में ले जा, राष्ट्र में मत रहने दे। और (निः स्तुवानस्य) नाना प्रकार से लल्लो पत्तो करते हुए या हत्याकारी हिंसक पुरुष की (परम् अक्षि उत अवरम्) दायीं और बायीं दोनों आंखें (नि पातय) निकाल डाल।

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) परंतप ! हे (जातवेदः) सब के ज्ञाता ! (यत्र) जहां २ (गुहा) गुफा तक में (सतां) विद्यमान (एषां) इन (अत्रिणां) प्रजाभक्षक लोगों के (जनिमानि) अड्डों को, उत्पत्ति या निकासों को (वेत्थ) जान पावे, तू (ब्रह्मणा वावृधानः) ब्रह्म=ब्राह्मण्य बल अथवा वेद की व्यवस्था के बल से शक्तिशाली होकर (एषां शततर्हम्) उनमें से सैकड़ों २ के वध करा २ के (तान्) उन दुष्टों को (जहि) विनाश कर।

राष्ट्र में राजा के पक्ष में एवं शरीरपक्ष में अग्नि=आत्मा, इन्द्र=प्राण यातुधान किमीदी=मानस दुःसंकल्प, जो सदा 'अब क्या' २ इस प्रकार तृष्णा के भाव दर्शाते और सदा यातुमान्=बेचैनी प्रकट करते हैं। इसी प्रकार शरीर के विनाशक रोगों के विनाशक वैद्य आदि के पक्षमें भी लगजाता है।

३–(तृ०) 'न्यस्तुवानस्य पातय' इति पैप्प० सं० ।

[६] ब्रह्मतेज और आयु की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । १, २ वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः । ३, ४ अग्निर्देवता ।
त्रिष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अ॒स्मिन् वसु॒ वस॑वो धारय॒न्त्विन्द्रः॑ पू॒षा वरु॑णो मि॒त्रो अ॒ग्निः ।
इ॒मम॑दि॒त्या उ॒त विश्वे॑ च दे॒वा उत्त॑रस्मि॒ञ्ज्योति॑षि धारयन्तु ॥१॥

भा०—राज्यलक्ष्मी और ब्राह्म तेज और आयु की कामना करने के लिये इस सूक्त में उपदेश है । उपनयन के समय आचार्य ब्रह्मचारी के प्रति, राज्याभिषेक के समय पुरोहित राजा के प्रति कहता है कि—(अस्मिन्) इस राजा और ब्रह्मचारी में (वसवः) आठों वसु, विद्वान् और राजगण (वसु) तेजःस्वरूप ऐश्वर्य को (धारयन्तु) धारण करावें । (इन्द्रः[1]) ऐश्वर्य-शील (वरुणः[2]) सब से श्रेष्ठ, सर्वव्यापक, आदित्य के समान योगीजन (मित्रः) सब का स्नेही, मृत्यु से बचाने हारा (अग्निः) सब का प्रकाशक, सब का अग्रणी (आदित्याः[3]) द्वादश मास, या आदित्यव्रती योगीजन (उत च) और (विश्वेदेवाः) सब विद्वान् पुरुष (इमं) इस ब्रह्मचारी और राजा को (उत्तरस्मिन्) उत्कृष्ट (ज्योतिषि) ब्रह्मरूप, ज्ञानमय प्रकाश एवं उत्कृष्ट राज्य ऐश्वर्य में (धारयन्तु) धारण करें ।

---

[६] १–(द्वि०) 'त्वष्टा वरुणो', (च०) 'उत मे देवा ज्योतिष' इति पैप्प० सं० ।

१. 'न केवलं वसवः अपि तु इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानामधिपतिर्देवः । यद्वा इदं-कारास्पदं विश्वं कारणभूतब्रह्मात्मन अद्राक्षीदिति इन्द्रः ।' इति सायणः ॥

२. अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ (तै० सं० २ । ४ । १०) मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति यास्कः । (निरु० १० । २१)

३. अदितेर्धात्रर्यमादयः पुत्राः प्रसिद्धास्तेऽपि पृथिव्याः धातृन्यायकर्त्रादयो द्वादशैव इति राजनीतिपक्षे समीचीनः । विश्वेदेवानां निर्णयस्तु तदेतन्नरराष्ट्रमिव भवतीति निरुक्तवचनाद् ध्येयम् ।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) देवगणो ! विद्वान् लोगो ! (अस्य) इस राजा के (प्रदिशि) शासन या आज्ञा में (सूर्यः) सर्वप्रकाशक (अग्निः) सब कार्यों का अग्रणी यज्ञनिष्पादक और (हिरण्यम्) सुवर्ण और चन्द्र आदि (ज्योतिः) ज्योतिष्मान् पदार्थ (अस्तु) हों (सपत्नाः) शत्रु लोग (अस्मद् अधरे) हमारे नीचे (भवन्तु) रहें और हे ईश्वर ! (इमं) इस राजा को (उत्तमं) उत्तम (नाकं) सुख सम्पन्न, समृद्ध, ऐश्वर्यमय राजपद या पारलौकिक सुख पर (अधि रोहय) स्थापित करो ।

सूर्यादिक ज्योति इसके राज्यमें प्रकाश, प्रवर्षण आदि करें और सुवर्ण आदि धन भी रहे । स्वर्ग के समान सुखकर इसका राज्य रहे । नाक=कं सुखं, अकं दुःखम् । न विद्यते अकं अस्मिन्निति नाकः स्वर्गः । सुवर्गो वै लोको नाकः, नास्मा अकं भवति (तै० सं० ५ । ३ । ७ । १) ब्रह्मचारी के पक्ष में— (अस्य प्रदिशि हे देवाः ज्योतिरस्तु) इसके वश में ज्ञानमय ज्योति हो, प्राणरूप सूर्य, जाठर अग्नि और आत्मारूप हिरण्य भी इसके शासन में हों । काम क्रोध आदि दुष्ट वृत्तिरूप शत्रु इसके वश रहें और वह सुखमय ब्रह्म पद का लाभ करे ।

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥३॥

२–(प्र०) 'अस्मिन् देवाः प्रदिशा', (तृ०, च०) 'उत्तरेण ब्रह्मणा विभाहि कृण्वानो अन्यान् अधरान् सपत्नान्' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) ' उत्तरेण ब्रह्मणा ', (च०) रायस्पोषं श्रैष्ठ्यमा धेह्यस्मै । इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'समभरन् पयां स्युत्तमेन हविषा जातवेदः । अग्ने त्वमुत वर्धय माम्, सजातानां मध्ये श्रैष्ठ्य आधेहि मा ' इति मै० सं० ।

भा०—हे (जातवेदः) समस्त संसार के उत्पन्न पदार्थों के जानने हारे परमात्मन् ! (येन) जिस (उत्तमेन) उत्कृष्ट (ब्रह्मणा) ब्रह्मतेज से (इन्द्राय) इन्द्ररूप आचार्य के लिये (पयांसि) नाना प्रकार के ज्ञान अथवा उनके प्रतिनिधिरूप अञ्जलिगत जलों को (समभरः) धारण करते हो (तेन) उसही ब्रह्मतेज से हे अग्ने ! (त्वं) तू (इमम्) इसको (वर्धय) बढ़ा, उन्नत कर और (सजातानां) समान रूप से उत्पन्न अन्य मनुष्यवर्ग में से (एनम्) इसको (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद में (आधेहि) स्थापन कर ।

राजा के पक्ष में—(येन उत्तमेन ब्राह्मणा इन्द्राय पयांसि समभरः) जिस उत्तम ब्रह्म वेद-व्यवस्था से इन्द्र महाराज के लिये राष्ट्रपोषक पदार्थों को उपस्थित किया जाता है हे (अग्ने) विद्वन् ! (तेन त्वं वर्धय) उससे तू इस शूर पुरुष को बढ़ा और (सजातानां श्रैष्ठ्ये आधेहि) समान पद के राजाओं में उन्नत पद पर इसको बिठला ।

एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

भा०—(एषां) इन प्रजाजनों के (यज्ञं) राष्ट्रमय यज्ञ या संगति या प्रेम से उपाहृत दान भेट को (उत) और (वर्चः) बल को (आददे) स्वीकार करता हूं । हे अग्ने ! सब के साक्षी परमात्मन् ! इनके (रायस्पोषम्) धन और अन्न आदि पोषक पदार्थों (उत) और (चित्तानि) स्नेहभरे चित्तों को भी आददे स्वीकार करता हूं, अपने वश करता हूं, जिससे (सपत्नाः) शत्रुगण मेरे मुकाबले में खड़े होने वाले प्रजा का पति होने का दावा करने वाले (अस्मत् अधरे) हम से निकृष्ट ही (भवन्तु) रहें और हे परमात्मन् !

४–(च०) ' उत्तमे देवा ज्योतिषि दधातन [?] इति पैप्प० सं० ।

(इमं) इस उत्तम प्रजाप्रिय राजा को (उत्तमं) उत्कृष्ट (नाकं) स्वर्ग समान समृद्ध, राज्यपद पर (अधिरोहय) स्थापित कर।

[१०] ईश्वर और राजा।

अथर्वा ऋषिः। असुरो वरुणो देवता। १, २ त्रिष्टुप्, ३ ककुम्मती अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि॥ १॥

भा०—(अयं) यह राजा (देवानां) विद्वानों के बीच (असुरः) प्राण के समान देव=दिव्यपदार्थों, तेजस्वी पुरुषों के बीच अतिसामर्थ्य सम्पन्न होकर (विराजति) प्रकाशमान, यशस्वी है। (हि) क्योंकि (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ, परम वरणीय, पापों के निवारक (राज्ञः) राजाओं के राजा ईश्वर के ही (सत्या) समस्त सत्य ज्ञान और सत्य गुण (वशा) वश हैं और (ततः परि) उस परमात्मा के अनुग्रह से ही (ब्रह्मणा) वेदज्ञान और तप, ब्रह्मचर्य द्वारा (शाशदानः) तीक्ष्ण बुद्धि और बलवान् तपस्वी होकर मैं (इमं) इस को (उग्रस्य) सर्वशक्तिमान् (मन्योः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के अनुग्रह से (उत् नयामि) उन्नत, राज्यसिंहासन पद को प्राप्त कराता हूं।

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥२॥

---

[१०] १—'विशाय सत्या' इति पैप्प० सं०।

२—(तृ०, च०) 'शतं सहस्रं प्रसुवा मन्यान् अयं नो जीवां शरदो व्यपेय' इति पैप्प० सं०।

भा०—(वरुण) सर्वश्रेष्ठ, पापों के निवारक वरुण ! (राजन्) हे सर्वत्र प्रकाशमान् ! (ते मन्यवे) तेरे ज्ञानसामर्थ्य अथवा ज्ञानस्वरूप तुझे या दुष्कर्मों का फल देने वाले तेरे कोप या दण्डव्यवस्था के लिये (नमः) हम आदर भाव प्रकट करते हैं। हे (उग्र) उद्यतदण्ड ! उग्रस्वभाव ! सर्वोपरि बल ! तू (विश्वं) समस्त (द्रुग्धं) द्रोह करने वाले, हिंसक एवं अपराधी, कर्मव्यवस्था के द्रोही, उन्मार्गगामी पुरुष को (नि चिकेषि) खूब अच्छी प्रकार जानता है। मैं राजपुरोहित सब को (अन्यान्) और (सहस्रं) हजारों पुरुषों को भी (साकं) एक साथ ही (प्र सुवामि) इसी प्रकार बल प्रदान करता और सन्मार्ग पर चलाता हूं। हे प्रभो ! (तव) तेरी कृपा से (अयं) यह राजा, पुरुष (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (जीवाति) जीए।

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (यद् उ) जो भी तू (जिह्वया) जिह्वा, वाणी से (अनृतं) असत्य, अयथार्थ, वेदज्ञान के विपरीत (उवक्थ) बोलता है वह (बहु) बहुत ही बड़ा (वृजिनं) पाप है, उसको त्याग कर देना चाहिये। (अहं) मैं सत्यधर्म का उपदेष्टा (त्वा) तुझ अनृतवादी पुरुष को यथोचित शिक्षा देकर उस (सत्यधर्मणः) सत्यस्वरूप सच्ची धर्मव्यवस्था करने हारे, नियामक (वरुणात्) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर या राजा के आगामी दण्ड से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं।

वृजिनमनृतं दुश्चरितं, ऋजु कर्म सत्यं सुचरितम् ॥
(तै० ब्रा० ३ । ३ । ७ । १०)

३–(प्र०) ‘ यत्त्वमुवक्थानृतम् ’ इति ह्विटनिकाभिमतः पाठः । ‘ उदक्त ’ इति सायणाभिमतः पाठः ।

रोगियों के वैद्य और शिष्यों के प्रति गुरु और अपराधियों के प्रति राजा का समान रूप से वचन है।

मुञ्चामि॑ त्वा वैश्वान॒राद॑र्ण॒वान्म॑ह॒तस्परि॑ ।
स॒जा॒ताँनु॑ग्रे॒हा व॑द॒ ब्रह्म॒ चाप॑ चिकीहि नः ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (वैश्वानरात् महतः अर्णवात् त्वा परिमुंचामि) समस्त प्रजा के बड़े भारी सागर से मैं तुझे मुक्त करता हूं। हे उग्र ! (इह) इस राजपद पर (सजातान् ब्रह्म आवद) अपने समान अन्यों को ज्ञान का उपदेश कर (नः अप चिकीहि) हमें ज्ञानवान कर, दोषों से छुड़ा।

अथवा—हे पुरुष (त्वा) तुझको (महतः) बड़े भारी (वैश्वानरात्) वैश्वानर, सर्वहितकारी जाठर अग्नि के स्थान उदर में लगे हुये (अर्णवात्) जल से, जलोदर रोग से (परि मुञ्चामि) छुड़ाता हूं। रोगी का वचन। हे उग्र ! वैद्य (सजातान्) अपने सहवर्ती सहायक वर्ग को इस सम्बन्ध में (आवद) उपदेश करो और (ब्रह्म च) ज्ञानपूर्वक (अप) रोग को दूर करो और (नः) हमें (चिकीहि) आरोग्य करो।

केवल १ म मन्त्र में 'ब्रह्म' और अन्तिम मन्त्र में 'अर्णव' शब्द देख कर जलोदर रोग पर इस सूक्त को लगाने का यत्न किया जाता है।

[११] सुखपूर्वक प्रसवविद्या।

अथर्वा ऋषिः। पूषा देवता। १ पंक्तिश्छन्दः, २ अनुष्टुप्, ३-४ उष्णिग्गर्भाः ककुम्मत्यः, ४, ६, पथ्यापंक्तिः। षड्टचं सूक्तम्।

वष॑ट् ते पूषन्न॒स्मिन्त्सूता॑वर्य॒मा होता॑ कृणोतु वे॒धाः ।
सिस्र॑तां॒ नार्यृ॒तप्र॑जाता॒ वि पर्वा॑णि जिहतां॒ सूत॒वा उ॑ ॥१॥

४-(प्र०) 'अमुञ्चं त्वा' इति पैप्प० सं०।

भा०—इस सूक्त में गर्भिणी के उपचार अर्थात् सुख से प्रसव कराने और पुत्रजनन-विज्ञान और कर्म का उपदेश किया है। हे पूषन् ! स्त्री आदि के पोषक गृहपते ! (अस्मिन्) इस (सूतौ) बालप्रसव कार्य में (वेधाः) विद्वान् (अर्यमा) श्रेष्ठ, सत्यधर्मा (होता) याज्ञिक गृहपति (ते) तेरे सुख के लिये (वषट् कृणोतु) यज्ञ सम्पादन करे । जिससे नीरोग होकर (नारी) स्त्री (ऋतप्रजाता) ठीक रीति से जीवित बालक को प्रसव करने हारी होकर (सिस्रतां) बालक को जने । और स्त्री के शरीर के (पर्वाणि) सन्धिस्थान (सूतवा) प्रसव करने के लिये सुखपूर्वक (वि जिहतां) विशेषरूप से ढीले होजांय ।

इस मन्त्र से गर्भिणी के शिर को प्रसवकाल में यज्ञ के अवपातित घृत से मिले उष्ण जल से भिगोया जाता था ।

चत॑स्रो दि॒वः प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो भूम्या॑ उ॒त ।
दे॒वा गर्भं॒ सम॑रयन् तं व्यू॑र्णुवन्तु॒ सूत॑वे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार (दिवः) सूर्य के चारों ओर (चतस्रः प्रदिशः) चार दिशाएं उसको घेरे हैं और जिस प्रकार (भूम्याः) भूमि को (चतस्रः) चारों दिशाएं घेरे हैं, उसी प्रकार (गर्भं) गर्भ को भी चारों ओर से घेरा हुआ है । (तम्) उसको (देवाः) पांचों भूत (समैरयन्) गति देते हैं । अथवा उसको (देवाः) प्राण ही गति देते हैं और वेही (सूतवे) उत्पन्न करने के लिये (विऊर्णुवन्तु) उस आवरणकारी गर्भस्थान से बाहर करते हैं ।

सू॒षा व्यू॑र्णोतु॒ वि योनिं॑ हापयामसि ।
श्र॒थया॑ सूषणे॒ त्वमव॒ त्वं बि॑ष्कले सृज ॥ ३ ॥

[११] २—(च०) 'व्यूर्णपन्तु' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) समैरयन्तां इति क्वाचित्कः पाठः ।

३—(प्र०) 'पूषा व्यूर्णोतु गर्भं वियोनिं' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

(३) 'त्वं पुल्कले सृज' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सूषा) सुख से बालक को प्रसव करने वाली स्त्री, (वि ऊर्णोतु) अपने गर्भ को जब बाहर करे तब हम (योनिं) मूल गर्भस्थान को (विहापयामसि) विशेष रूप से विस्तृत करके गर्भ को बाहर आने दें। हे (सूषणे) सुखपूर्वक बालक का प्रसव करने हारी स्त्री ! (त्वं) तू अपने अंगों को (अथयं) ढीला छोड़ दे । हे (विष्कले) गर्भाशयगत अपानबल से प्रसव कराने वाली नाड़ि ! (त्वं) तू बालक को (अवसृज) नीचे को प्रेरित कर ।

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥४॥

भा०—जरायु जिसमें गर्भाशयगत बालक लिपटा होता है (न इव) नाहीं (मांसे) मांस में, (न) न (पीवसि) शरीरगत मेद या चर्बी में और (न इव) न (मज्जसु) मज्जाओं में ही (आहतम्) सटा, चिपका होता है, इस लिये वह (जरायु) जरायु भाग भी (पृश्नि) केवल भीतर के अंग को स्पर्शमात्र करने वाला या श्वेतवर्ण का (शेवलं) जल में उतराने वाले सेवार के समान, असम्बद्ध सा होता है । वह (जरायु) गर्भवेष्टन (शुने अत्तवे) कुत्ते आदि हीन जन्तु का खाद्य, गलित मांस के समान (अव पद्यताम्) नीचे आजावे ।

४–' नेव मांसेन ' इति सायणाभिमतपदच्छेदः पदपाठानुक्रमण्यादिविरुद्धः । नैव स्नावसु न पर्वसु न केथे(शे)पु न नखेपु च । अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवे । नैव पौ (मां) से न पीवसि नैक(व) कस्न्यो (ट्यो) घ्व (श्च) नायुतम् । अव जरायु पद्यताम् । इति पैप्प० सं० । अवैतु पृश्निशेवलं शुने जराय्वत्तवे । नैव मांसेन पीवरि, न कस्मिंश्चिनायुतम् । अव जरायु पद्यताम् । इति पार० गृ० सू० । ' अवैतु पृश्नि केवलमिति ' ह्विटनिकामितः पाठः ।

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥५॥

भा०—हे गर्भिणि ! (ते) तेरे (मेहनं) मूत्रद्वार को (वि भिनद्मि) खोलता हूं और वालक को सुगमता से बाहर आने देने के लिये (योनिं वि) योनिभाग गर्भाशय के मार्ग को भी फाड़ कर चौड़ा करता हूं और (गवीनिके) योनिमार्ग के पासों पर लगी दो नाड़ियाँ जो वालक के मार्ग में वाधक होती हैं उनको भी (वि) विशेप रूप से अलग अलग कर देता हूं । (मातरं वि) जननी को उस पुत्र से और (पुत्रं वि ") पुत्र को गर्भाशय से भी और (कुमारं) शिशु को (जरायुणा) गर्भावेष्टन से (वि) जुदा २ करदेता हूं जिससे वालक सुखपूर्वक वाहर आजाय और सब के अनन्तर (जरायु) वह गर्भवेष्टन (अव पद्यताम्) नीचे आजाय । यहां साक्षात् ईश्वर ही प्रसवकारिणी के प्रति कह रहा है ।

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु पद्यताम् ॥६॥

भा०—गर्भ का बाहर आना स्वाभाविक है, (यथा) जैसे (वातः) वायु या प्राण नासिका से आपसे आप बाहर आते हैं और (यथा मनः) जिस प्रकार मन आपसे आप विषयों के प्रति जाता है और (यथा) जिस प्रकार (पक्षिणः) पक्षिगण अपने घोंसलों से निकल कर उड़ने लगते हैं

५—विते चृतामितगरिं व्योनि विगवेन्यौ । वि मातरं च पुत्रं च निगर्भं च जरायुजः । इति पैप्प० सं० ॥ पैप्पलादसंहितापाठानुसारमेव ' तक्री ', ' गविन्यौ ', ' जरायुत्र ' इति पाठभेदाः । तैत्ति० सं० ।

६—यथा वातो यथा दद्य यथा सशद्रोयजन्त । एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यो बहिर्जरायुणा सह ।

(एवा) उसी प्रकार हे (दशमास्य) दश मास तक गर्भ में रहने हारे गर्भगत बालक! (त्वं) तू (जरायुणा) गर्भकाल के वेष्टनचर्म=जेर के (साकं) साथ ही बाहर आजा और (जरायु) जेर भी (अव पद्यताम्) नीचे बाहर आजाय।

इति द्वितीयोऽनुवाकः।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, पञ्चविंशतिर्ऋचः]

[१२] नीरोग रहने के उपाय।

भृग्वंगिरा ऋषिः। यक्ष्मनाशनो देवता। जागतं छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

ज॒रा॒यु॒जः प्र॑थ॒म उ॒स्रियो॒ वृषा॒ वात॑भ्रजा स्त॒नय॑न्नेति वृ॒ष्ट्या।
स नो॑ मृडाति त॒न्व॑ ऋजु॒गो रु॒जन् य एक॒मोज॑स्त्रे॒धा वि॑चक्र॒मे ॥१॥

भा०—जिस प्रकार (उस्रियः) ऊपर की तरफ़ आता हुआ (वातभ्रजा) वात, प्रचण्ड वायु से प्रेरित (स्तनयन्) ध्वनि या गर्जन करता हुआ मेघ (वृष्ट्या) वृष्टि के साथ आता है उसी प्रकार (प्रथमः) प्रथम प्रथम (जरायुजः) जरायु से उत्पन्न होने वाला अर्थात् जेर में लिपटा बालक (उस्रियः) ऊपर आता है। (वृषा) माता पिता को सुख से पूर्ण करता हुआ अथवा हृष्टपुष्ट (वातभ्रजाः) गर्भस्थ अपान वायु द्वारा कम्पन करता या कुछ २

[१२] १—(द्वि०) 'वातभ्रजः' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'वातभ्रज्जा' इति वेवरकामितः। 'वातभ्रजाः' इति सायणाभिमतः। शं० पा० प्राप्तादर्शग्रन्थयोर्द्वयोरुपलभ्यते च 'वातभ्रजाः' इति। 'वातभ्रंजस्तनयन्' इति पैप्प० सं०। (च०) 'यस्यैकमोज' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

सरकता हुआ (स्तनयन्) स्तनों को उभारता हुआ (वृष्ण्या) योनिमार्ग से जलप्रस्रवणों सहित (एति) बाहर आता है । (सः) वह (ऋजुगः) सरल सीधे मार्ग से निकलता हुआ (नः) हमारे, प्रसवकारिणी माता के (तन्वः) शरीरों को (रुजन्) प्रसवकाल में पीड़ा देकर भी (मृडाति) सुख प्रदान करता है और (यः) जो बालक (एकम्) एक (ओजः) वीर्यस्वरूप होकर भी (त्रेधा) तीन रूपों में माता, पिता और पुत्र अथवा बालक और जरायु तथा जल इन तीन रूपों में (विचक्रमे) प्रकट होता है ।

अङ्गे॑अङ्गे शो॒चिषा॑ शिश्रिया॒णं न॑म॒स्यन्त॑स्त्वा ह॒विषा॑ विधेम ।
अ॒ङ्कान्त्स॑म॒ङ्कान् ह॒विषा॑ विधेम॒ यो अग्र॑भी॒त् पर्वा॑स्या॒ ग्रभी॑ता ॥२॥

भा०—(अङ्गे अङ्गे) अङ्ग २ में (शोचिषा) दीप्ति से (शिश्रियाणं) आश्रय लेकर, व्यापक होकर विराजमान पुत्र को (नमस्यन्तः) जीवन प्रदान करते हुए, उचित उपचार पूर्वक (हविषा) हवि, उत्तम अन्न से उसको (विधेम) पुष्ट करें और (यः) जो (ग्रभीता) पकड़ लेने वाला, वातादि रोग (अस्य) इस पुरुष के (पर्वा) समस्त पर्वों, अस्थिसन्धियों में (अग्रभीत्) जड़ पकड़ गया है उस रोग की निवृत्ति के लिये हम (अङ्कान्) रोग के विशेष चिह्नों और (समङ्कान्) सहवर्त्ती लक्षणों को (हविषा) उत्तम ओषधि से (विधेम) प्रतिकार करेंगे ।

मु॒ञ्च शी॑र्ष॒क्त्या उ॒त का॒स ए॑नं॒ परु॑ष्परुरावि॒वेशा॒ यो अ॑स्य ।
यो अ॑भ्र॒जा वा॑त॒जा यश्च॒ शुष्मो॒ वन॒स्पती॑न्त्सचतां॒ पर्व॑तांश्च ॥३॥

भा० —(अस्य) इस पुरुष के (यः) जो (कासः) खांसी, कासरोग और (शीर्षक्त्याः) शिरःपीड़ा का कारण (परुष्परुः) पर्व २ में (आविवेश) घुस

२–(प्र०, द्वि०) अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणो यो ग्रहीत परस्या ग्रहीती । अंको तमंको हविषा यजामि हृदि श्रितो मनसा यो जजान । इति पैप्प० सं० ।
३–(च०) ' सजतां ' इति पैप्प० सं० ।

गया है वह (एनं) इस पुरुष को (मुञ्च) छोड़ दे और (यः) जो पुरुष (अभ्रजाः) मेघ से उत्पन्न होने वाला और (यश्च) जो (वातजाः) वात से उत्पन्न होने वाला और (शुष्मः) शोष रोग वाला है वह (वनस्पतीन्) उत्तम जंगलों के वृक्षों और (पर्वतांश्च) स्वास्थ्यप्रद पर्वतों को (सचतां) जाकर वहां का वायु सेवन करे।

सायण के मत से रोगी का रोग वनस्पति और वृक्षों को लगजावे और रोगी रोग से मुक्त हो, यह संगति असंगत है। रोग ऐसा भूत या चेतन पदार्थ नहीं जो पक्षी के समान रोगी को छोड़ वृक्ष या पर्वत से चिपट जायगा, इस मन्त्र में जंगलों और पर्वतों के वायु सेवन का उपदेश पांच प्रकार के रोगियों के लिये है १ शिरो रोगी, २ कासरोगी, ३ वर्षाकाल के या मेघ के जल से उत्पन्न कीटाणुओं से हुए श्लेश्मज, तपेदिक के रोगी, ४ वातज रोगी या वातशोषी, ५ शुष्म या पित्तशोषी। इन सब रोगियों के लिये जंगल के वृक्षों की वायु और पर्वतों की हलकी रोगहर वायु स्वतः सिद्ध ओषधि है।

शं मे॒ पर॑स्मै॒ गात्रा॑य॒ शम॒स्त्वव॑राय मे।
शं मे॑ च॒तुर्भ्यो॒ अङ्गे॑भ्यः॒ शम॑स्तु त॒न्वे॒३॑ मम॑ ॥ ४ ॥

यजु० २३ । ४४ ॥

भा०—(मे) मेरे (परस्मै) उत्कृष्ट (गात्राय) शरीर के उत्तम भाग, शिर के लिये (शं) कल्याण और सुख हो। (मे) मेरे (अवराय) नीचे के चरण

४—'शं ते परस्मै गात्राय शमस्तुपरायते। शं ते पृष्टिभ्यो मज्जभ्यश्च शमस्तु तन्वे तव'। इति पैप्प० सं० ॥ 'शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः। शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव।' इति यजु०। (च०) 'शमु ते तनुवे भवत्' इति तै० सं०।

और जघाभाग को भी (शम् अस्तु) सुख ही हो। (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों बाहु, ऊरू, शिर और चरण को भी (शं) सुख हो। (मम) मेरे (तन्वे) समस्त शरीर को भी (शम् अस्तु) कल्याण हो।

समष्टि भाग से चारों वर्णों और अपने शरीर के चारों भागों के कल्याण की प्रार्थना की गई है।

[१३] विद्युत् शक्ति।

भृग्वंगिराः ऋषिः । विद्युत् देवता । १, २ अनुष्टुप् छन्दः । ३ चतुष्पाद् विराड् जगती । ४ त्रिष्टुप् परा बृहतीगर्भा पंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥ १ ॥

प्रथमार्धः, यजु० ३६ । २१ ॥

भा०—हे विद्युत् ! (ते) तेरी या तुझ (विद्युते) विशेष दीप्ति से चमकने वाली विद्युत् का (नमः) हम उपयोग करते हैं और (ते स्तनयित्नवे नमः) तुझ शब्द करने वाले का भी हम उपयोग करते हैं (ते) तेरे (अश्मने) ओले रूप में पड़ने वाले जल का या सर्वत्र शीघ्रता से फैलने वाली तेरा (नमः) हम उपयोग करते हैं। (येन) जिसके कारण से तू (दूडाशे) या विद्युत् शक्ति को समीप के अन्य पदार्थों को न दे देने वाले दुर्वाहक पदार्थों पर अपने को (अस्यसि) फेंकता है। काठ, वृक्ष आदि दुर्वाहक पदार्थों पर अशनिपात होता है।

---

[१३] १-(च०) 'येन दूरान् प्रदिजल्लसि [प्रत्यस्यसि]' इति पैप्प० सं०। 'नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे' इति उत्तरार्धो यजुषि।

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

यजु० ३६ । २१ ॥

भा०—हे (प्रवतः नपात्) भूमि की तरफ़ वेग से गमन करने वाली विद्युत् ! अथवा (प्रवतः नपाद्) वेग से गमन करने हारे वायु से न गिरती हुई या उत्पन्न होने हारे पुत्र के समान ! विद्युत् रूप ! अथवा (प्रवतः) गतिशील जल को न गिराने वाले (ते नमः) तेरा यह सामर्थ्य है कि (यतः) जिससे तू (तपः) इस दीप्यमान तेज को (समूहसि) अपने भीतर एकत्र कर लेती है । तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों के लिये (मृडय) सुखकारी हो (तोकेभ्यः) हमारी सन्तानों के लिये भी (मयः) कल्याण (कृधि) कर ।

मेघों की विजली ही मेघ के वायुमण्डल में अधिक वेग से प्रकट होती है । वही दीप्त हो कर चमकती है । वह शरीर के रोगों को भी नाश करके आरोग्य पैदा करती है ।

प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥

भा०—हे (प्रवतः नपाद्) गतिशील, वेगवान्, बलवान् मेघ से उत्पन्न (तुभ्यं) तेरे लिये (नमः, एव अस्तु) यह वश करने का उपाय है । (तपुषे) सन्तापकारी अग्निस्वरूप (हेतये) आघातकारी इस तेरी शक्ति का (नमः) उपयोग हम (कृण्मः) करते हैं । (गुहा) निगूढ रूप से रहना

२—(च०) 'शं नस्तोकेभ्य' इति पैप्प० सं० ।

३—'प्रवतां नपान्नमोऽस्तु तुभ्यं नमस्ते हेतेतिपुष्यै (?) च कृण्मः । गन्धर्वो नाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितास नाभिः । इति पैप्प० सं० ।

ही (ते) तेरी (परमं) सर्वोत्कृष्ट (धाम) तेजःधारण सामर्थ्य को हम (विद्म) जानते हैं (यत्) कि तू स्वयं ही (समुद्रे) अन्तरिक्ष के (अन्तः) भीतर ही (निहिता) स्थापित (नाभिः) जल और मेघ को एकत्र बांधने वाला नाभिरूप है ।

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवि) दिव्यगुणसम्पन्न विद्युत् ! (यां) जिस (त्वा) तुझको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण (धृष्णुम्) शत्रु का धर्षण या मानभंग करने हारे (इषुं) बाण रूप (कृण्वाना) बनाते हुए शत्रुओं पर (असनाय) फेंकने के लिये (असृजन्त) तैयार करते हैं (सा) वह तू (विदथे) संग्राम और परोपकार के कार्यों में भी (नः) हमें (गृणाना) विद्वान् पुरुषों द्वारा उपदेश की गई (मृड) सुखकारी हो (तस्यै) उस (ते) तेरा (नमः) सदुपयोग (अस्तु) हो ।

[१४] कन्या—दान ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । विद्युत् वरुणो, यमो वा देवता । १, ककुम्मती अनुष्टुप् । २, ४ अनुष्टुभौ । ३, चतुष्पात् विराड् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

४–यं त्वा देवा अजनयन्त विश्वेषां कृण्वाना अशनाय त्रिष्वै । सनो मृड विदथे गृणाना मित्रस्य वरुणस्य प्रसृष्टौ । इति पैप्प० सं० ।

[१४] १–(प्र०) ' अहं ते भगमाददे ', (तृ०) ' महामूल इव पर्वतो ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—इस सूक्त में कन्या को उचित आयु पर उचित पात्र के हाथ में देने का उपदेश है। (वृक्षाद् अधि) जिस प्रकार वृक्ष से (स्रजम् इव) फूलमाला को तोड़ कर अलग कर लिया जाता है उसी प्रकार मैं समावर्त्तन के अनन्तर गुरुगृह से आया विवाहेच्छु ब्रह्मचारी (अस्याः) इस अपने अभिमत कन्या के (भगं) गृहस्थ सेवन करने योग्य (वर्चः) ब्रह्मचर्य को (आदिषि) स्वीकार करता हूं और यह (पितृषु) मेरे मां बाप एवं गुरु आदि के बीच (महाबुध्नः) बड़े मूल वाले (पर्वत इव) पर्वत, चट्टान के समान (आस्ताम्) गृहस्थ धर्म में दृढ़ रहे। सायण ने यह मन्त्र स्त्री के दौर्भाग्य करने अर्थ में लगाया है यह उसका भ्रम है क्योंकि स्त्री का पर्वत के समान स्थिर रहना, गृहस्थ धर्म के प्रारम्भक विवाह संस्कार में प्रतिज्ञा रूप में कराया जाता है। जैसा पारस्कर गृह्यसूत्र (का० १। कं०) में लिखा है—

" आरोहेममश्मानं अश्मे वत्वं स्थिरा भव "

और उसी प्रकार आश्वलायन में—

परिणीय परिणीय अश्मानमारोहयति।
इममश्मानमारोह अश्मेव त्वं स्थिरा भव॥
(आश्व० अ० १। क० ७)

अर्थात् प्रत्येक विवाह में कन्या का शिला पर पैर रखा २ कर पति कहे 'हे स्त्री तू चट्टान की तरह स्थिर होजा!' सायण ने इस मन्त्र में यह अर्थ किया है—'मैं स्त्रीद्वेषी पति इस स्त्री का शरीर अपने वश करता हूं कि यह पिता के घर में पहाड़ की तरह सदा बनी रहे।' यह कितना असंगत अर्थ है। वेद में स्त्रियों से द्वेष निकालने का भाव सर्वथा निरर्गल है। सायण ने इस सूक्त के अगले मन्त्रों में और भी अनर्थ किया है सो आगे लिखेंगे। ह्विटनि आदि ने अविवाहित कन्या को 'यमकन्या' मान कर अविवाहिता को मृतकन्या के समान माना है और फिर भी सायण का अनुसरण किया है सो उपहास योग्य है।

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

भा०—कन्या के पिता का अतिथिरूप ब्रह्मचारी के प्रति वचन । हे यम ! ब्रह्मचारिन् ! हे (राजन्) ज्ञान और ब्रह्मवर्चन तेज से प्रकाशमान वर ! (एषा) यह (कन्या) कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधूरूप होकर (नि धूयतां) गृहस्थ का आनन्द उपभोग करे (सा) वह कन्या (मातुः) माता के (अथो भ्रातुः) अथवा भाई के (अथो पितुः) या पिता के गृह में ही (बध्यताम्) गृहस्थ बन्धन में बंधे अर्थात् मां, बाप और भाई के समक्ष ही इस का विवाह संस्कार हो ।

सायण ने सोमरूप अतिथि को 'यम' शब्द से लेकर भी स्त्री को मां बाप के घर में डाल कर छोड़ देने परक अर्थ किया है, वह असंगत है ।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥३॥

भा०—कन्या के पिता का ब्रह्मचारी के प्रति वचन । हे (राजन्) सौम्य ! प्रथम, स्वयंवर में प्राप्त वर ! (एषा) यह कन्या (ते कुलपा) तेरे कुल का पालन करने हारी हो, इसलिये (ताम् उ) उसको हम (ते) तेरे लिये (परि दद्मसि) सब प्रकार से प्रदान करते हैं । यह कन्या (ज्योक्) अभी चिरकाल (शीर्ष्णः) शिर के बालों के (शम् ओप्यात्) कल्याणकारी संस्कार और लाजाओं के आवपन संस्कार तक ही (पितृषु)

२–(प्र०) 'यत्ते राजन्' इति पैप्प० सं० । अविवाहिता कन्या मृत्योः कन्येव परलोकं गतेवेति ह्विटनिकामितोऽर्थः । रोक्वेल लैन्मन पण्डितस्तु 'निधुवन' लिंगेन परस्पर स्वयंवरतोः प्रेमकेलिपरमेवार्थं ध्वनयति ।

३–(द्वि०) 'इमाम् उ परिदध्मसि', 'समोप्यात्' इति पैप्प० सं० ।

अपने पितृगृहों में (आसाता) रहे और उन दोनों संस्कारों के बाद तुम्हारे घर में चली जायगी ।

'शीर्ष्णः शम्'—शिर का शमन अर्थात् कन्या के केशपाशों को वर एकान्त में खोल कर पुनः सजाता है । केश प्रसाधन के समय पूर्वकाल में कन्या के बालों में ऊन के दो गुच्छे बंधे रहते थे उनको खोला जाता था । ये दोनों वरुण के पाश कहाते थे, वे उसके कन्यात्व के द्योतक थे । इनके विषय में आश्वलायन (१३ । कं० १७)—

उर्णास्तुके केशपक्षयोर्बद्धे भवतः प्र त्वामुञ्चामि वरुणस्य पाशादिति ॥

"ओप्यात्" ओप्य संस्कार क्या है ? इस प्रसंग में आश्वलायन में "ओप्य ओप्य हैके लाजान् परिणयन्ति तथा उत्तमे आहुती न संनिपततः" ये वे लाजावापाहुति हैं जो कन्याञ्जलि से वर की अंजलि में आकर अग्नि में छोड़ी जाती हैं जिनके साथ अग्नि की परिक्रमायें की जाती हैं । सायण ने इस मंत्र में दुर्भगा स्त्री का शिरःपतन अर्थात् मृत्यु तक पिता के घर में पड़े रहने परक अर्थ किया है । सो असंगत है ।

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

भा०—हे नारि ! (जामयः) स्त्रियां जिस प्रकार (अन्तः कोशम् इव) भीतरी गर्भाशय की रक्षा करती हैं उसी प्रकार (असितस्य) असित, निष्पाप, भुक्तभोगी (कश्यपस्य) ज्ञान के पानकर्ता, एवं सूर्य के समान सबका दर्शक और (गयस्य च) प्राण के विषयक (ब्रह्मणा) वेदमन्त्रों द्वारा (ते भगम्) तेरे सौभाग्य को (अपि नह्यामि) अधिक पुष्ट करूंगा,

४–'अन्तः कोशे' इति ह्विटनिकामितः पाठः, 'अन्तः कोशं व' इति अनुक्रमणीगतः पाठः ।

अधिक बढ़ाऊंगा या सौभाग्य की लाज रखूंगा। असित, कश्यप और गय तीनों ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध वेदमन्त्र हैं जैसे असित दृष्ट देखो (ऋ० ६। ५१-२४ सूक्त तक) कश्यप दृष्ट (ऋ० ६। ६१ ६२, ११३ सू०) गयदृष्ट देखो (ऋ० १० । सू० ६३, ६४ ; स्वस्तिवाचन प्रकरण । " येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते " इत्यादि गयदृष्ट हैं । सायण ने इन वेदमन्त्रों को एक नारी भगवन्धन या सौभाग्यनाश के लिये माना है, यह उपहासयोग्य है ।

उक्त सूक्त में विद्युत्-विद्या सम्बन्धी रहस्य ।

" 'नमस्ते अस्तु' 'भगयस्या' इति द्वे सूक्ते वैद्युते द्वे अनुष्टुभे । प्रथमं वैद्युतं परं वारुणं वा उत याम्यं वा। प्रथमेन वैद्युतमस्तौत् द्वितीयेन तदर्थं यमम् ।" इस प्रकार अथर्ववेद सर्वानुक्रमणीकार का लेख है । इसका अभिप्राय यह है कि 'नमस्ते अस्तु' (१ । १३) और 'भगमस्याः' (१ । १४) इन दोनों सूक्तों का देवता विद्युत् है अथवा प्रथम का विद्युत् दूसरे का वरुण या यम है । प्रथम से विद्युत का वर्णन करते हैं और दूसरे से उसी विद्युत् के लिये 'यम' का वर्णन करते हैं । अर्थात् 'भगमस्याः' इस सूक्तमें भी विद्युत् का वर्णन या विद्युत् के लिये यम या वरुण का वर्णन आवश्यक है। विद्युत् पक्ष में इस सूक्त के अर्थ इस प्रकार हैं ।

(१) (अस्याः भगं) इस विद्युत् के सौभाग्यकारी दिव्य सुन्दर नाना कला कौशल चलाने में समर्थ (वर्चः) तेज और बल को (आदिषि) मैं संग्रह करता हूं। (वृक्षात् अधि स्रजामिव) जिस प्रकार माली वृक्ष से फूल चुन कर संग्रह किया करता है। (महाबुध्नः पर्वत इव) जिस प्रकार विशाल आधार वाला पर्वत स्थिर रहता है उसी प्रकार वह विद्युत् चंचल होकर भी उसके बांधने और नियम में रखने और उत्पन्न करने वाले (पितृषु) विद्वान् या विद्युत् के उत्पादक यन्त्रों के बीच (ज्योक्) चिरकाल तक (आ तास्) स्थिरता से रहे और कार्य करे।

(२) हे (यम) विद्युत् का नियमन करने, उसको वश करने वाले ! राजन् ! (एषा) यह (कन्या) अति तीव्रगति वाली विद्युत् (वधूः निधूयताम्) ... नाना कार्यों को करने और यन्त्र, रथ आदि ढोने में समर्थ हो। (सा) वह विद्युत् (मातुः) उसको मापने में कुशल अथवा उत्पन्न करने में चतुर शिल्पी के बनाये (गृहे) घर [पावर हाउस्] में (अथो भ्रातुः अथो पितुः) अथवा उसको भरण पोषण या अधिक प्रबल करने वाले, यन्त्र के बनाने वाले या उसको पालन, सुरक्षित रखने वाले शिल्पी के कोठे में (वध्यताम्) नियमित करके रखा जाय। विद्युत् को पैदा करना, मापना, बढ़ाना और उसका संचय करना यह भिन्न २ यन्त्रों से किया जाय। उन यन्त्रों के स्थापन के लिये भिन्न २ स्थान हों उन पर भिन्न २ अधिष्ठाता हों। उन सबमें विद्युत् को नियमित रख कर व्यर्थ न जाने दिया जाय।

(३) हे (राजन् ! एषा ते कुलपा, ताम् उते परिदद्मसि) राजन् विद्वन् ! शास्त्र के निष्णात, उसके नियामक ! यह विद्युत् तेरे कुल= समस्त कार्यों का पालन करती है, पंखा चलाना, दीपक जलाना आदि सब काम करती है इसीसे घरवाली के समान है। वह विद्युत् (शीर्ष्णः समोप्यात् पितृषु ज्योक् आस्ताम्) सिरे के मिलने तक अपने पालक कारीगरों के पावर हाउस में ही चिरकाल तक रहे। जब तक सिरे नहीं मिलाये जाते तब तक विद्युत् धारा चलती नहीं वह पात्र या पावर हाउस में ही रहती है। परन्तु जब बाहर सब तारें ठीक २ लगादी जायं और सिरे मिला दिये जायं तो वह विद्युत् और के घरों में कार्य करती है।

(४) (असितस्य कश्यपस्य गयस्य च ब्रह्मणा ते भगम् जामयः अन्तः कोशम् इव अपि नह्यामि) जिस प्रकार स्त्रियां या बहनें अपने भीतरी खज़ाने या गर्भाशय रूप कोष को सुरक्षित करके रखती हैं उसी प्रकार मैं विद्युत् विज्ञानवेत्ता तुझ विद्युत् के अलौकिक बल और तेज को खूब बांध कर सुरक्षित रखूं। इसके लिये विद्युत् के तीन प्रकार के ब्रह्म=विज्ञानों का

उपयोग करूं। (१) असित बन्धन रहित, अवश्य या अदृश्य विद्युत् के उच्छृं-खल प्रबल गतिसम्बन्धी विज्ञान, (२) कश्यप=पश्यक, विद्युत् के प्रकाश सम्बन्धी विज्ञान से, और (३) (गयस्य) विद्युत् के शब्द सम्बन्धी विज्ञान से विद्युत् के भग=सेवन करने योग्य बल और सामर्थ्य को बांधता हूं।

विद्युत् सम्बन्धी इन गूढ़ अर्थों को संक्षेप में प्रकट किया गया है। इन का विस्तृत विवरण असित, गय, कश्यप नाम से प्रकट मन्त्रों के सोम प्रकरण के वैज्ञानिक मन्त्रों में देखना चाहिये, अथवा अन्य उपवेदों में इसका विवरण सुलभ हो।

[१५] गमनागमन के साधन ।

अथर्वा ऋषिः। सिन्धुर्देवता । १, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः । भुरिक्पथ्यापंक्तिः ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

भा०—(सिंधवः) नदियें, नहरें (संस्रवन्तु) उत्तम रीति से प्रवाहित हों, (वाताः सम्) वायुएं उत्तम रीति से चलें । (पतत्रिणः) समस्त पक्षी गण, पक्षों वाले अथवा विमानचारी, रथी लोग उत्तम रीति से गमन करें और (प्रदिवः) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानवृद्ध पुरुष (इमं) इस (यज्ञं) राष्ट्रयज्ञ में (जुषन्ताम्) प्रेमपूर्वक आवें और मैं (संस्राव्येण) उत्तम रीति से गमनागमन करने योग्य विमान रथ आदि (हविषा) उत्तम साधनों द्वारा (जुहोमि) सब को प्रदान करता हूं।

[१५] १–(द्वि०) 'सं वाताः दिव्या उत' इति पैप्प० सं० ।

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

भा०—हे देवगण ! विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इह) यहां (मे) मेरे (हवम्) राष्ट्रमय यज्ञ में (आयात) आइये । (इह) यहां (सं स्रावणाः) उत्तम रीति से चलने वाले रथ आदि साधन हैं । (उत) और (गिरः) ज्ञानवाणियाँ भी हैं अतः आप लोग (इमं) इस राष्ट्रपति को (वर्धयत) बढ़ाइये (यः पशुः) जो भी पशु हो वह (सर्वः) सब (इह, एतु) इस राष्ट्र में आवे और (अस्मिन्) इसमें (या रयिः) जो भी धान्य सुवर्ण आदि धन है वह भी (तिष्ठतु) विद्यमान रहे ।

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(नदीनां) नदियों के समान ध्वनिशील (अक्षिताः) अविनाशी (ये) जो अक्षय (उत्सासः) जलमय स्रोत (संस्रवन्ति) वह रहे हैं (तेभिः) उन (मे) मेरे (सर्वैः) समस्त (संस्रावैः) प्रवाहों, गति साधनों द्वारा (धनम्) धन को (संस्रावयामसि) प्रवाहित करते रहें, उनसे व्यापार करें, जहाज चलावें ।

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो प्रवाह (सर्पिषः) सर्पणशील स्नेहरूप घृत के (क्षीरस्य च) और यशोरूप दुग्ध के और (उदकस्य च) और ज्ञानरूप जल के

२—(प्र०) 'इदं हव्यमुपेतनेदं संस्रावणा उत' इति पैप्प० सं० ।
३—'ये नदीभ्यः संस्रवन्त्युच्छाम [त्सासः] सर[द]मक्षिताः' इति पैप्प० सं० ।
४—(प्र०) 'ये संस्रावाः संस्रवन्ति' इति पैप्प० सं० ।

(संस्रवन्ति) सोते वह रहे हैं (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) अपने उन सब प्रवाहों द्वारा हम (धनं संस्रावयामसि) अपने ज्ञान और धन को सर्वत्र बढ़ाते और फैलाते रहें ।

[१६] दुष्टों के नाश का उपाय ।

चातन ऋषिः । अग्नीन्द्रौ, वरुणः, सीसश्च देवताः । १–३ अनुष्टुभः ४ ककुम्मती अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

ये॒/मा॒व॒स्यां॒३ रात्रि॒मु॒दस्थु॑र्व्रा॒जम॒त्रिणः॑ ।
अ॒ग्निस्तु॒रीयो॑ यातु॒हा सो अ॒स्मभ्य॒मधि॑ ब्रवत् ॥ १ ॥

भा०— ये जो दुष्ट पुरुष (अमावास्यां) सूर्य और चन्द्र के प्रकाश से रहित (रात्रिम्) रात्रि, अन्धकार के समय में (अत्रिणः) दूसरों का प्राण और धन चुरा कर खाजाने वाले लोग (व्राजं) गोल बांधकर डाका आदि मारने के लिये (उदस्थुः) उठखड़े हों या बल पकड़ जांय तो (तुरीयः) विनाशकारी, तीव्र (सः) वह (यातुहा) शत्रुनाशक (अग्निः) अग्नि, सेनानायक ही (अस्मभ्यम्) हमें (अधिब्रवत्) इस प्रकार उपदेश करता है ।

सीसा॒याध्या॑ह॒ वरु॑णः॒ सीसा॑याग्निरुपा॑वति ।
सीसं॑ म॒ इन्द्रः॒ प्राय॑च्छ॒त् तद॒ङ्ग या॑तु॒चात॑नम् ॥ २ ॥

[१६] १–' व्राजं ' इति सायणाभिमतः पाठः । 'अग्निस्तुर्यो यातुहा स नः पातु तेभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) 'सीसं मैन्द्रः' प्रायच्छदमीवा यस्तु [यातु] चात [न] म् । इति पैप्प० सं० ।

भा०—(वरुणः) वरुण (सीसाय) सीसे का (अधि आह) उपदेश करता है। (अग्निः) अग्नि भी (सीसाय) सीसे के प्रयोग द्वारा ही प्रजाओं की (उपावति) रक्षा करता है। (इन्द्रः) इन्द्र राजा भी (मे) मुझे (सीसं) सीसा ही (प्र अयच्छत्) रक्षार्थ रखने की आज्ञा देता है (अङ्ग) हे पुरुषो ! (तद्) वह सीसा ही (यातुचातनम्) पीड़ाजनक दुष्ट पुरुषों का विनाशक है।

वरुण=राष्ट्र के कष्टों का वारण करने वाला राज्य का अधिकारी जो समस्त प्रजाओं की रक्षा करता रहे। अग्निः=अग्नि के अस्त्रों का ज्ञाता या सेनापति इन्द्र=राजा ये सीसे के बल पर शत्रुओं का नाश करते हैं। अथवा वारुणास्त्र आग्नेयास्त्र और ऐन्द्रास्त्र तीनों में सीसा की ही गोलियां चलाकर शत्रु का नाश किया जाय। अर्थात् जल के वेग से, अग्नि या बारूद के वेग से और विद्युत् के वेग से सीसे के छर्रे ही चला कर शत्रु का नाश करना उचित है।

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥

भा०—(इदं) यह सीसा ही (विष्कन्धं) विशेष सेना के दस्ते को भी (सहते) मुकाबला करता है (इदं) और यह सीसा ही (अत्रिणः) विनाशक डाकू, लुटेरों, प्रजा का प्राण धन खाजाने वालों को भी (बाधते) पीड़ा करता है (अनेन) इसके बल पर (पिशाच्याः) पिशाची, मांस-भक्षिणी जीव जाति से (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्रकार के क्रिर्मो को (या) जो उपद्रव हैं उन (विश्वा) सबको भी (ससहे) दबा देने में समर्थ होता है।

३–(प्र०) 'इदं विष्कन्दं' इति पैप्प० सं०।

यदि॑ नो॒ गां हंसि॒ यद्यश्वं॒ यदि॒ पूरु॑षम् ।
तं त्वा॒ सीसे॑न विध्यामो॒ यथा॒ नो ऽसो॒ अवी॑रहा ॥ ४ ॥

भा०—(यदि) यदि हे राक्षस ! शत्रु पुरुष ! तू (नः) हमारी (गां) गौ को (हंसि) मारे और (यदि) यदि (अश्वं) अश्व को मारे और (यदि) यदि (पूरुषं) पुरुष, आदमी को मारे (तं त्वा) उस हत्यारे तुझको (सीसेन) सीसे की गोली से ही (विध्यामः) वेध डालें, (यथा) जिससे तू (नः) हमारे (अवीरहा) वीर पुरुषों को न मार (असः) सके ।

[१७] शरीर की नाडियों और स्त्रियों का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । योषितो लोहितवाससो हिरा वा मन्त्रोक्ता देवताः । १ भुरिक् अनुष्टुप् ।
२, ३ अनुष्टुप् । ४ त्रिपदा आर्षी गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अ॒मूर्या यन्ति॑ यो॒षितो॑ हि॒रा लोहि॑तवाससः ।
अ॒भ्रात॑र इव जा॒मय॒स्तिष्ठ॑न्तु हु॒तव॑र्चसः ॥ १ ॥

भा०—(अभ्रातरः) जिस प्रकार विना भाई की (जामयः) कन्याएं (हतवर्चसः) तेज और प्रभाव से रहित, निर्बल होती हैं और जिस प्रकार (लोहितवाससः) लाल वस्त्र धारण करने वाली (योषितः) स्त्रियां विधवा होने के कारण निर्बल होती हैं । और वे दोनों ही अपने घर में बैठी रहती हैं परगृह में नहीं जातीं, उसी प्रकार (अमूः) ये (याः) जो (हिरा)

४–'सीसेन विध्यामस्त्वा' इति पैप्प० सं० ।

[१७] १–अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः । अभ्रातर इव योषित स्तिष्ठन्ति हतवर्चः । इति पैप्प० सं० ।

शरीर की रक्त नाडियां (यन्ति) इधर उधर शरीर में गति कर रही हैं ये भी (तिष्ठन्तु) अपने २ स्थान पर स्थिर रहें।

तिष्ठा॑व॒रे तिष्ठ॑ प॒र उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्यमे।
कनि॒ष्ठिका॑ च॒ तिष्ठ॑ति॒ तिष्ठा॒दिद्ध॒मनि॒र्म॒ही ॥ २ ॥

भा०—हे (अवरे) शरीर के अधोभाग की नाडि ! (तिष्ठ) तू भी अपने स्थान पर स्थिर रह। हे (परे) ऊर्ध्व शरीर की नाडि ! तू भी (तिष्ठ) अपने स्थान पर रह। हे (मध्यमे) शरीर के मध्यभाग की नाडि ! (त्वं तिष्ठ) तू भी अपने स्थान पर रह। (कनिष्ठिका च) और छोटी से छोटी नाडि इसी प्रकार अपने स्थान पर स्थित है। और इसी प्रकार (मही, धमनिः, उत) बड़ी से बड़ी धमनी आदि नाडी भी शरीर में अपने नियत स्थान पर (तिष्ठति) ठहरी हुई है।

श॒तस्य॑ ध॒मनी॑नां स॒हस्र॑स्य हि॒राणा॑म्।
अस्थु॒रिन्म॑ध्य॒मा इ॒माः सा॒कमन्ता॑ अरंसत ॥ ३ ॥

भा०—(धमनीनां) स्थूल नाडियों (शतस्य) सैकड़ों और (हिराणां सहस्रस्य) हजारों सूक्ष्म नाडियों के (मध्यमाः) बीच के परिमाण की और (इमाः) ये (अन्ताः) अति सूक्ष्म नाडियां भी (अस्थुः) इस शरीर में विद्यमान हैं। वे सब (साकं) एक साथ ही (अरंसत) इस शरीर में अपना अपना कार्य कर रही हैं।

परि॑ वः॒ सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑ह॒त्य॑क्रमीत्।
तिष्ठ॑ते॒लय॑ता॒ सु क॑म् ॥ ४ ॥

३–(च०) 'साकमन्त्या' इति ह्विटनिकामितः पाठः। "अस्थु निवद्धामावा [?] साकमन्तारंसत" इति पैप्प० सं० ॥

४–(प्र० द्वि०) परिवः सिकतामयी वनूस्थिरश्चरस्थिदम् [? धनूस्तिरश्चिर्दस्थिरन्] इति पैप्प० सं०।

भा०—हे नाडियो ! (वः परि) तुममें से ही एक (धनूः) धनुषाकार (बृहती) बड़ी (सिकतावती) रजोधर्म की नाड़ी (अक्रमीत्) गति कर रही है । (तिष्ठत) तुम सब अपने २ स्थान पर रहो और (कं) सुख (सु इलयत) प्रदान करो, सुख की वृद्धि करो ।

शस्त्राघात या रजोधर्म से अधिक बहते हुए रुधिर की चिकित्सा के समय इसका विनियोग कौशिक सूत्रों में है । बहते जख़्म पर सूखी मिट्टी की टली रखने आदि का उपदेश है । परन्तु इन मन्त्रों में वेद ने केवल नाड़ियों की शरीर में स्थितिमात्र का उपदेश किया है । जैसे लिखा है किः—

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपञ्चकसम्भवाः ।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरालक्षत्रयात् परम् ।
अर्धलक्षम् इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः ॥

चिकित्सक को चाहिये कि रक्त प्रवाह के अवसर पर इन नाडियों की स्थिति को पहचाने और तब ठीक २ चिकित्सा करे । जो सूक्ष्म और स्थूल नाडियों की स्थिति को नहीं जानता वह चिकित्सा में ही रोगी के प्राण लेलेता है । सायण ने 'स्था' धातु के 'तिष्ठ, तिष्ठति, अस्थुः,' इत्यादि प्रयोगों का अर्थ 'रुधिर बहाने से रुकना' किया है सो असंगत है ।

इस सूक्त का देवता 'योषितः' भी है इसलिये उपमान और उपमेय में समान धर्म होने से इस सूक्त का अर्थ योषित्=स्त्रियों के पक्ष में इस प्रकार है ।

(१) (अमूः) ये (याः) जो (हिराः) छोटी उमर की (लोहितवाससः) रंगे, रंगीले वस्त्र वाली (योषितः) स्त्रियां (यन्ति) जाती हैं वे भी (अभ्रातरः जामयः इव) विना भाई वाली बहनों के समान (हतवर्चसः तिष्ठन्तु) निस्तेज रहती हैं । रक्त वस्त्र पहनने वाली कन्याएं विना भाई की बहिनों के समान निस्तेज रहती हैं ।

(२) (अवरे तिष्ठ, परे तिष्ठ, मध्यमे त्वं तिष्ठ, कनिष्ठका च तिष्ठति, तिष्ठात् इत् मही धमनिः) छोटी, वड़ी, मझली और सब से छोटी और सब से बड़ी, सभी अपने पिता के घर में रहें।

(३) (धमनीनां शतस्य, सिराणां सहस्रस्य, इमाः मध्यमाः अस्थुः, साकम् अन्ताः अरंसत) सैंकड़ों वड़ी, हज़ारों छोटी और भी बहुतसी बीचकी, भी स्त्रियें गृहस्थ में रहें। और (अन्ताः) बाल्य आयु समाप्त कर चुकने पर वे गृहस्थ का सुख भोगें।

(४) (वः सिकतावती, धनुः बृहती अक्रमीत् , तिष्ठत सु ईलयत, कम्) तुममें से जो जो रजस्वला, भारनम्रा होकर बड़ी अवस्था को अतिक्रमण करें वह गृहस्थ बनाकर रहें और सुखपूर्वक गृहस्थ चलावें।

[१८] अलक्ष्मी और दुःस्वभाव के दूर करने का उपाय।

द्रविणोदाः ऋषिः। विनायको देवता। १ उपरिष्टाद् विराड्बृहती, २ निचृज्जगती, ३ विराड् आस्तारपंक्तिः, ४ त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

निर्लक्ष्म्यं निर्ललाम्यं निररातिं सुवामसि।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि॥ १॥

भा०—हम (नः, प्रजायै) अपनी प्रजाओं के (लक्ष्म्यं) चिह्न, मुख या शरीर पर बुरे चिह्नों से युक्त (ललाम्यं) गर्भाशय के और (अराति) मन को न हरने वाले अप्रिय दोष को (निः सुवामसि) दूर करें (अथ) और (या भद्रा) जो कल्याणकारी लक्षण हों उनको अपनी प्रजा को (नयामसि) प्राप्त करावें।

निररणिं सविता साविषत्पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥२॥

भा०—(सविता) उत्पादक पिता और परमेश्वर (वरुणः) वरण करने योग्य, स्त्री का वृत पति, (मित्रः) उसका स्नेही, (अर्यमा) स्वामी (पदोः) चरणों में से (अरणिं) अप्रिय, कुरूपता को (निः साविषत्) दूर करे और (हस्तयोः निरः) हाथों की कुरूपता को भी दूर करे । बच्चों को सुंदर सुरूप उत्पन्न करे । (अनुमतिः) पति के अनुकूल चलने वाली स्त्री (रराणा) अपने सम्बन्धियों में सदा प्रसन्नता से रहती हुई (निर्) अपने प्रजा के दोषों को दूर करे । (देवाः) विद्वान् पुरुष, (इमां) इस स्त्री को (सौभगाय) उत्तम फललाभ, सौभाग्य के लिये (प्र असाविषुः) उत्कृष्ट रीति से प्रसव आदि कार्य करावें । अर्थात् हाथों पैरों के विकृत न होने देने का पति सदा विचार रखे । इसके लिये वह अपनी स्त्री का प्रिय, स्नेही, स्वामी बना रहे उससे सौम्यभाव से रहे । बच्चों के सौन्दर्य के लिये स्त्री स्वयं सदा गर्भकाल में प्रसन्न रहे और घर के विद्वान् लोग भी गर्भ संस्कार और जात-कर्मों द्वारा स्त्री को उत्तम रीति से प्रसव करावें ।

यत्त आत्मनि/ तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
सर्वं तद्वाचापं हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥ ३ ॥

[१८] २—'साविषक्' इति निर्णयसागरीयः पाठः पदपाठानुमतश्च । 'साविषत् इति सायणाभिमतः, अजमेरीयश्च पाठः । 'अरणीम्' इति पदपाठविरुद्धः सायणाभिमतः पाठः । 'यद् आदित्या भवती (?) रराणा पृणसुवा [?] सविता सौभगाय' इति पैप्प० सं० ।

३—(प्र०) ' यत् त आत्मानि तन्वा घोरम्'; (तृ० च०) तत्ते विद्वान् अपबाधयेषां प्र त्वा सुवा सुविता सौभगाय '' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते) तेरे (आत्मनि) अन्तःकरण में और (तन्वा) देह में (यत्) जो (घोरं) पापजनक दोष (अस्ति) है और (यद् वा) जो दोष (केशेषु) केशों में (वा) और (प्रति चक्षणे) आखों में है (तत् सर्वं) उन सब दोषों को (वयं) हम (वाचा) वाणी के उपदेश से (हन्मः) विनाश करते हैं। हे पुत्र (त्वा) तुझको (सविता) उत्पादक (देवः) देव विद्वान् पिता या प्रभु (सूदयतु) सत् मार्ग में प्रेरित करें।

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।
विलीढ्यं ललाम्यं१ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(रिश्यपदीं) मृग की तरह से पैरों का पतला होना (वृषदतीं) बैल के समान दातों का चौड़ा होना, (गोषेधां) गाय के समान चाल, (विधमाम्) विपरीत रूप में सांस लेना, (विलीढ्यं) विपरीत त्याज्य पदार्थों के चाटने की आदत और (ललाम्यं[1]) गर्भ सम्बन्धी दोष इन सबको (अस्मत्) हम लोग (नाशयामसि) अपनी संतानों से दूर करें।

प्रजा को उत्तम निर्दोष सुन्दर रूप में उत्पन्न करना चाहिये। और इनही विचारों, संकल्पों से प्रजा श्रेष्ठ होती है। यदि गर्भगत दोष रह जांय तो उनको उत्तम शिक्षा से दूर करना चाहिये।

४–'ऋष्यपदीम्' इति पाठः सायणाभिमतः।

१. ललाम पुण्ड्रं भवति। पुण्ड्रं बीजांकुरस्थानं गर्भाशयस्य प्रदेशविशेषः इति उव्वटः।

[१६] शत्रुओं का विनाश ।

ब्रह्मा ऋषिः । १ इन्द्रः २, मानुष्येषवः, ३, रुद्रः, ४, सर्वे देवा देवताः । १, अनुष्टुप् २, पुरस्ताद् बृहती, ३, पथ्या पंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या/ अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

भा०—यह सूक्त अपराजितगण में पढ़ा है । इसका संग्राम से संबंध है । (नः) हमें (विव्याधिनः) विशेषरूप से अस्त्रादि से प्रहार करने वाले (मा विदन्) न जानें और न पकड़ सकें और (अभिव्याधिनः) सब ओर से प्रहार कराने वाले शत्रुपक्ष के पुरुष भी (मा उ विदन्) हमें न जानें और न पावें । हे इन्द्र राजन् ! सेनापते ! (विषूचीः) नाना दिशों में जाने वाले या विशेष तीक्ष्ण सूचीमुख (शरव्याः) बाण (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) फेंक ।

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्या/ः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (शरवः) हिंसक बाण (अस्ताः) फेंक दिये और (ये च) जो (आस्याः) फेंकने हैं वे सब (अस्मत्) हम से दूर ही (विश्वञ्चः) सब दिशाओं में (पतंतु) जाकर पड़ें । और (दैवीः) जल, अग्नि और वायु, विद्युत् आदि के बल से और (मनुष्येषवः) मनुष्य के बल से फेंके जाने वाले बाण और अस्त्र (मम) मेरे (अमित्रान्) शत्रुओं को (वि विध्यत) नाना प्रकार से मारें ।

---

[१६] २–(च०)' वि विध्यतु ' इति पाठः सायणाभिमतः । (तृ०) ' दिवा मनुष्या ऋषयो मित्रान् नो वि विध्यतु' इति पैप्प० सं० ।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्य/यैतान् ममामित्रान् विविध्यतु ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १९ । अस्याः पूर्वोधेन समः पूर्वार्धः ।

भा०—(यः) जो (स्वः) अपना सम्बन्धी और (सजातः) सहोदर या समान बलशाली (उत) और (यः निष्ट्यः) हम से निकृष्ट बल होकर भी (अस्मान्) हम को (अरणः) हमारा शत्रु होकर (अभिदासति) नाश करना चाहता है (एतान्) इन (मम, अमित्रान्) मेरे शत्रुओं को (रुद्रः) रोदनकारी, तीक्ष्ण, सेनापति (शरव्यया) शरों, बाणों, घातक हथियारों की पंक्ति से (वि विध्यतु) नाना प्रकार से ताड़ना करे ।

यः सपत्नो यो सपत्नो यश्च द्विषञ् छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १९ । अस्या उत्तरार्धेनोत्तरार्धः समः ॥

भा०—(यः) जो (सपत्नः) शत्रु और (यः च) जो (असपत्नः) शत्रु न होकर भी (नः) हम से (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (शपाति) बुरा भला कहता है । (तं) उसको (सर्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (धूर्वंतु) ताड़ना करें (ब्रह्म) वेदमंत्र का सदुपदेश ही (मम) मेरा (आन्तरम्) भीतर हार्दिक (वर्म) रक्षासाधन हो ।

जो द्वेष वश होकर हमें गाली देता हो, भले आदमी उसकी ताड़ना करें और हम अपने भीतर सद् विचार ही रखें ।

३–‘ यः समानो यो ऽसमानोऽ मित्रो नो जिघांसति रुद्रारश [र] व्या तान् ‘मित्रान् विविधत’ इति पैप्प० सं० ।

४–‘सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो न इन्द्राभिदासति’ इति पैप्प० सं० ।

[२०] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । १ सोमः, २ मरुतः, ३ मित्रावरुणौ, ४ इन्द्रो देवता ।
१ त्रिष्टुप्, २-४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अदा॑रसृद् भवतु देव सोमा॒स्मिन् य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः ।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृ॒जिना॒ द्वेष्या॒ या ॥१॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान (सोम) सब के आह्लादक राजन्! सब के प्रेरक! हमारा शत्रु (अदारसृद्) स्त्रियों का सुख प्राप्त करने वाला न (भवतु) हो। और (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ या संग्राम में (मरुतः) मरुद् गण, प्राण, सुभट और वैश्य गण (नः) हमें (मृडत) सुख, आनंद दें। (अभिभाः) हमारे मुकाबले पर आने वाला शत्रु (नः) हमें (मा विदद्) न पासके। (अशस्तिः) कीर्तिरहित निकृष्ट पुरुष भी (मा उ) हमें न पा सके और (वृजिना) पापी और (या) जो (द्वेष्याणि) द्वेष करने हारे या (द्वेष्याणि वृजिनानि) द्वेष के कारण उत्पन्न पाप भी (नः) हमें (मा विदद्) न प्राप्त हों।

यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धो॒ऽघा॒यू॒नामु॒दीर॑ते ।
यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्या॑वयतं॒ परि॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) राजन् और सेनापते! (अद्य) आज, अब (अघायूनां) पापाचारियों, हिंसकों में से (यः) जो कोई (सेन्यः) सेना

[२०] १-(प्र०) 'अदारसुर्भवतु' (च०) 'मानो प्रापदुच्छुना द्वेष्या वा' इति पैप्प० सं० ।

२-'योऽद्य सैन्यो वधो जिघांसं नम उपायति' इति पैप्प० सं० । 'योद्य- सौम्यः' इति आश्व० श्रौ० सू० । 'उदीरति' इति पंचविंशे ब्रा० ॥

से होने वाला (वधः) वात. षड्यन्त्र या विप्लव (उदीरते) हमारे विपत्ति उठ खड़ा हो (तं) उसको (अस्मत्) हम से (परि यवयतं) दूर करो और नाश करो ।

इतश्च यद॒मुत॑श्च॒ यद् व॒धं व॑रुण यावय ।
वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (वरुण) शत्रुनिवारक राजन् ! (इतः) इधर से या समीप से (अमुतः च) और दूर से (यद् वधं) जो हिंसक हथियार आता हो तो उसको भी (यवय) हम से परे कर और हमें (महत्) बड़ा भारी (शर्म) सुखप्रद शरणस्थान (वि यच्छ) विशेष रूप से प्रदान कर और (वरीयः) बहुत अधिक बड़े भारी (वधं) शत्रु के आघात को (यवय) हम से परे कर ।

शा॒स इ॒त्था म॒हाँ अ॑स्यमित्रसा॒हो अ॑स्तृ॒तः ।
न यस्य॑ ह॒न्यते॒ सखा॒ न जी॒यते॑ क॒दा च॒न ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १५२ । १ ।

भा०—(इत्था) इस प्रकार से हे इन्द्र ! राजन् ! तू (अमित्रसाहः) शत्रुओं का वशकारी (अस्तृतः) स्वयं किसी से भी हिंसित न होने वाला (महान्) बड़ा भारी (शासः) शासक (असि) है, (यस्य) जिसका (सखा) मित्र भी किसी से (न हन्यते) नहीं मारा जा सकता और वह (कदाचन) कभी भी (न जीयते) जीता नहीं जा सकता ।

१–‘(द्वि०) ‘धावयः’ (प्र०) ‘ इतो यदमुतश्च ’ (तृ०) विमहच्छर्म ‘यच्छ नो वरीय’ इति ‘रौकवैल लैन्मन’ कामितः पाठः ।

[२१] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । ऋग्वेदेशासो भारद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ १ ॥

ऋ० १० । १५२ । २ ॥

भा०—(विशाम् पतिः) प्रजाओं का स्वामी (वृत्रहा) राष्ट्रों, नगरों को घेरने हारे शत्रुओं का नाशक (विमृधः) शत्रुओं को कुचल डालने वाला, (वशी) सब प्रजाओं को और काम क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं और इन्द्रियों पर वश करन वाला (वृषा) जलों के वर्षाने वाले मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षक, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, राजा (स्वस्तिदाः) सब कल्याण, और अविनाशी, उत्तम फल का देने हारा होता है । वही (सोमपाः) विद्या-सम्पन्न, शमदमादि साधनयुक्त विद्वानों का और सुख देने वाले सब पदार्थों का पालक (अभयंकरः) सबको अभय का दान करने हारा होकर (नः) हमारे (पुरः) संग्राम में, आगे २ (एतु) चले । इस सूक्त का सांग्रामिक गण में पाठ है ।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

ऋ० १० । १५२ । ४ ॥ यजु० ८ । ४४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (नः) हमारे संग (मृधः) संग्रामकारी शत्रुओं को (वि जहि) विनाश कर और (पृतन्यतः) सेना लेकर चढाई

[२१] १–(प्र०) स्वस्तिदा विशस्पतिः, इति पाठभेदः, ऋ० ।
(द्वि०) 'अस्यमित्रखादो अद्भुतः' इति पाठभेदः, ऋ० ।, पैप्प सं० ॥
२–(तृ०) 'योस्मां अभिदासत्यधरंगमयातमः' इति पाठभेदः, तृतीय चतुर्थ-चरणयो र्विपर्ययश्च ऋ०, यजु० ।

करने वाले, या सेना बटोरना चाहने वाले (नीचा) नीच पुरुषों को (यच्छ) नियम में बांध, वश कर या (नीचा यच्छ) नीचे दबा। (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करता है या दास या गुलाम बनाता है (अधमं) उस नीच पुरुष को (तमः) अति दुःख, शोक पूर्ण अन्धकारमय स्थान, वन्दीगृह या मृत्यु को (गमय) प्राप्त करा।

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥३॥

ऋ० १० । १५२ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (रक्षः) राक्षस, जिससे राष्ट्र को बचाना आवश्यक है ऐसे हानिकारक पुरुष एवं पदार्थ, रोगव्याधि, कुप्रथा आदि को (विजहि) विनाश कर। हे (वृत्रहन्) राष्ट्र के घेरने हारे और विघ्नकारी पुरुष के नाशक! आप (वृत्रस्य) सर्वत्र विघ्नकारी और घेरने हारे उस दुष्ट पुरुष के (हनू) दाढ़ों को या प्रहार के साधन, दोनों बाहुओं को (विरुज) अच्छी प्रकार तोड़ डाल। हे राजन्! (अभिदासतः) हमारे क्षयकारी या हमें गुलाम बनाने की चेष्टा करने वाले (अमित्रस्य) शत्रु के (मन्युं) क्रोध, गर्व और अभिमान को (विरुज) चूर कर दे।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १५२ । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! (द्विषतः) द्वेष करने हारे, हमसे प्रेम से व्यवहार न करने वाले (जिज्यासतः) हमारी सदा हानि चाहने वाले शत्रु के (मनः) मन को या उसके सोचे हुए, गुप्त मन्त्रणारूप षड्यन्त्र को

४–(तृ०) 'विमन्योः शर्म' इति ऋ० ॥

(अप) दूर कर, विफल, नष्ट कर और (वधम्) विनाशक हथियार या आक्रमण को भी (अप) परे हटा। (महत् शर्म यच्छ) हमें बड़ा भारी रक्षास्थान प्रदान कर और (वरीयः) शत्रु के भारी (वधं) आघात को (यवय) दूर कर। राजा विघातक शत्रु के गुप्त षड्यन्त्रों, आक्रमणों को विनाश करे और प्रजा की दुर्गरचना से रक्षा करे।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि पंच, ऋचश्च विंशतिः ।]

[२२] हृद्रोग और कामला की चिकित्सा।

ब्रह्मा ऋषिः। सूर्यो मन्त्रोक्तो हरिमा हृद्रोगश्च देवता। अनुष्टुप् छन्दः।
चतुर्ऋचं सूक्तम्।

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

भा०—हे व्याधित पुरुष! (ते) तेरा (हृद्द्योतः) हृदय का चमकना और (हरिमा च) शरीर के चक्षु, नख आदि में व्याप्त हरा वर्ण (सूर्यम्) सूर्य के (अनु) उदय होने के साथ ही (उदयताम्) उठ जायं, नाश होजांय। (गोः) सूर्य की किरण के (रोहितस्य) लाल रंग की किरण या सूर्य=शाल्मली वृक्ष के (वर्णेन) रोगनाशक गुण या पुष्प, फल, रस से (त्वा) तुझको (परि दध्मसि) पुष्ट करते हैं।

इस मन्त्र में सूर्य की रक्त वर्ण की किरणों को हार्द्दि या पाण्डुरोग के नाश करने के लिये प्रयोग करने का उपदेश है। लाल गौ का दूध पीना

[२२] १-(प्र०) 'अनुसूर्यमुदेतम्', (तृ०) 'यो रोहितस्य गोर्वर्णः'

उसके लाल लोमों से छान कर पानी पीना तथा लाल गौओं का स्पर्श आदि इस रोग में लाभकारी है। इसी प्रकार क्रोमियोलोजी या सूर्य किरण-वर्ण चिकित्सा के अनुसार भी हरित वर्ण या कामला और हृद्रोग के रोगी को सूर्य की किरणों में रखे लाल काच के पात्र में धरे जल को पिलाने आदि का उपदेश है।

परि॑ त्वा रोहि॑तैर्वर्णैर्दी॑र्घायुत्वाय॑ दध्मसि ।
यथा॒यम॑र॒पा अस॒दथो॒ अह॑रितो॒ भुव॑त् ॥ २ ॥

भा०—हे (हारिद्र) पाण्डुरोग पीड़ित पुरुष ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु प्राप्त कराने के लिये (त्वा) तेरे (परि) चारों ओर (रोहितैः) सूर्य की किरणों में लाल, या रोहित नाम वृक्षों के (वर्णैः) प्रकाशयुक्त आवरणों या रसों से (दध्मसि) तुझे रखते, पुष्ट करते हैं। (यथा) जिससे (अयम्) यह तू रोगी (अरपाः) पाप के फलरूप रोग से रहित (असत्) होजाय और जिससे तू (अहरितः) हारिद्र या पाण्डुरोग से भी मुक्त (भुवत्) होजाय।

या रोहि॑णीर्दे॑व॒त्या॒ गावो॒ या उ॒त रोहि॑णीः ।
रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वय॒स्ताभि॑ष्ट्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ ३ ॥

भा०—(याः) जो (देवत्याः) देव=प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रोहिणीः) प्रातःकालिक रक्त वर्ण की (गावः) किरणें हैं और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण की कपिला गौएं हैं या उगने वाली ओषधियां हैं उनके भीतर विद्यमान (रूपं) कान्तिजनक और (रूपं) रुचिजनक दीप्ति को और (वयः) आयुष् जनक (वयः) दुग्ध आदि अन्न को प्राप्त करके (ताभिः)

२—(तृ० च०) 'यथा त्वमरपा वसो अथो हरितो भव' इति पैप्प० सं० ॥
३—(द्वि०) 'गावो या रोहिणीस्त' (च०) 'तेन त्वा' इति पैप्प० सं० ॥

उन द्वारा (त्वा) तुझको (परि दध्मसि) सब प्रकार से परिपुष्ट करते और चिकित्सित करते हैं ।

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥
ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—हे व्याधिपीडित पुरुष ! (सुकेषु) उत्तम सुख देने वाले कर्मों या शुक नाम वृक्षों में और (रोपणाकासु) घात आदि दूर करके व्रण भरने वाली रोहिणी नामक ओषधियों के भीतर ही (ते) तुझ रोगी को (दध्मसि) रखते हैं (अथो) और (ते) तेरे (हरिमाणं) पाण्डु रोग को भी (हारिद्रवेषु) रोगहारी द्रव पदार्थों में (नि दध्मसि) रखते हैं । अथवा (ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि) तेरे बलहारी हरिमा रोग को बलकारी ओषधियों के बल पर हम रोकते हैं, वश करते हैं, और इसी प्रकार (ते हरिमाणं हारिद्रवेषु नि दध्मसि) तेरे रोग को कष्टहारी रसों के बल पर दमन करते हैं ।

सायण ने इस मन्त्र में हारिद्र रोग को तोता, खुट बढ़ई और हारिद्रव नामक पक्षियों में लगा देने का अर्थ किया है वह नितरां असंगत है । सूक्त का तात्विक अभिप्राय इस प्रकार है कि हृद्योत और हरिमा दो रोग हैं उनकी चिकित्सा के लिये सूर्य की रक्तवर्ण की किरणों के प्रयोग का और कुछ ओषधिवर्ग का भी उपदेश है । जिनमें गो, रोहित, रोहिणी, सुक या शुक, रोपणाका, हारिद्रव ये शब्द चिकित्सा कारक ओषधि और उपायों के

४–(द्वि०) ‘ प्रपणाकाश ? दध्मसि ’ पैप्प० सं० ।
‘शुकेषु मे’ इति पाठः ऋ० । कचित् कचिदादर्शपुस्तकेषु च ‘शुकेषु’ इत्येव पाठ उपलभ्यते [शं० पा०]

वाचक हैं । हृद्रोग के विषय में वाग्भट्ट अष्टांगसंग्रह (हृद्रोग निदान अ० ५) में लिखते हैं कि 'पांच प्रकार का हृदय रोग होता है वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज और कृमियों से । इनके भिन्न २ लक्षण प्रकट होते हैं । इसी प्रकार पाण्डुरोग का एक विकृत रूप हलीमक है। उसमें शरीर हरा नीला पीला हो जाता है । उसमें सिर में चक्कर, प्यास, निद्रानाश, अजीर्ण और ज्वर आदि दोष अधिक हो जाते हैं । इनकी चिकित्सा में रोहिणी और हारिद्रव और गोक्षीर का प्रयोग दर्शाया गया है। रोहित, रोहिणी, रोपणाका, यह एक ही वर्ग प्रतीत होता है । हारिद्रव हल्दी और इसके समान अन्य गांठ वाली ओषधियों का ग्रहण है । शुक भी एक वृक्षवर्ग का वाचक है ।

शुक=शिरीष, स्थौणेयक और तालीश पत्र इसी प्रकार गन्धक, चक्रमर्द स्योनाक, जम्बू, अर्क, दाडिम, शिग्रु और क्षीरी वृक्ष शुकवर्ग में आते हैं इन के गुण इस प्रकार हैं (१) शिरीष 'वर्ण्यः, कुष्ठकण्डूघ्नः, त्वग्दोषश्वासकासहा' अर्थात् शरीर की त्वचा के रंग, कोढ़ और खाज और त्वचा के दोष, सांस, कास आदि का नाशक है। (२) स्थौणेयक=कटुतिक्त, पित्त प्रकोपशमन, बलपुष्टिकारक। (३) तालीशपत्र तिक्तोष्ण, कफवातघ्न, कास हिक्का क्षय, श्वास आदि का नाशक है। (४) गन्धक विषघ्न, कुष्ठ, कण्डू, खर्जू, त्वचादोष नाशक, जाठराग्निकृत् है। (५) चक्रमर्द कटूष्णा, वातकफनाशक, कान्ति और सौकुमार्य करती है। (६) स्योनाक पित्त, श्लेश्म, आम, वात, अतिसार, कास, अरुचि का नाशक है । (७) जम्बू-रोहिणी शोषहर कृमिदोष-नाशक, श्रमपित्त, दाह, नाशक श्वासकासहर है, (८) अर्क—तिक्त, उष्ण, परम रक्त शोधक, कण्डु, व्रणहर, जन्तुनाशक, कुष्ठ, प्लीहा, शोथ, विसर्प, उदररोग और व्रण विनाशक हैं। इसके राजार्क, शुक्लार्क श्वेतमन्दार आदि भी भेद हैं। इसे वेद में सूर्य कहा है । (९) दाडिम-कास वात कफ पित्त विनाशी। शिग्रु तिक्त, कटु, उष्ण, कफ, शोफ, वायु नाशक, क्रिमि, आम, विष, मेद नाशक, विद्रधि, प्लीहा और

गुल्म का नाशक है। (११) क्षीरी रुचिकर, वातनाशक, पित्त, हृद्रोग नाशक तर्पक, वृष्य, प्रमेह नाशक हैं। रोहिणी वर्ग में जम्बू-रोहितक, रोहिण या वट, कटुक, काश्मर्य, मंजिष्ठ, मांसी और हरीतिकी ये वृक्ष हैं। सूर्य वर्ग में अर्क, उपविष, क्षीरपर्णी, समस्त नक्षत्र वृक्ष, सुवर्चला, सूर्यकान्त, ऐन्द्री सूर्यादि दाह, आतप आदि हैं इनके गुण ये हैं (१) जम्बू पहले लिख आये, (२) रोहितक=शाल्मली विशेष। यकृत्, प्लीहा, गुल्म, उदरशोप नाशक, कटु और उष्ण, विषवेगनाशक, कृमिदोष, व्रण और नेत्र रोग का नाशक है। (३) कटुका-तिक्त, पित्तदोष नाशक, कटु, कफ, अरोचक, विषमज्वरनाशक, हृदयरोग का नाशक है। (४) काश्मर्य-तिक्त, गुरु, उष्ण, रक्तपित्तनाशक, त्रिदोषनाशक, श्रम, दाह, पीड़ा, ज्वर तृष्णा, विषनाशक, वृष्य, बलकारी, शोफ नाशक। (५) मंजिष्ठ—कषाय, उष्ण, कफ, उग्र व्रण, प्रमेह, रक्त-पित्त, विष, और नेत्र रोगों का नाश करता है। (६) मांसी स्वादु, कषाय, कास पित्त रक्त नाशक, विषनाशक, मारुत हृद्रोग नाशक, बलकारी, त्वचा कान्तिदायक, भूतदाह नाशक, प्रसन्नतोत्पादक। इसीका भेद गन्धमांसी है वह भी रक्त पित्त नाशक, वर्णकारी, विष भूत ज्वर आदि नाशक है। इसी का भेद आकाशमांसी जो शोफ, व्रण, नाड़ीरोग, मकड़ी गर्दभजालादि नाशक है और वर्णकारी है। (७) हरीतकी—आमा, चेतकी, पथ्या, पूतना, हरीतिकी, जया, हैमवती आदि देश भेद से नाना प्रकार की है। जिनमें से हरीतकी, उदररोग, मूत्ररोग, प्रमेह, पथरी, वात पित्त कफ का नाशक है और जया गुल्म रोग प्लीहा, रक्तातिसार, पित्तनाशक है और हैमवती सर्व रोग नाशक, नेत्ररोग नाशक है। यही प्रमेह, कोढ़, व्रण आदि का भी नाश करती है।

(१) सूर्यवर्ग में अर्क के गुण पूर्व लिख दिये हैं (२) उपविष एक वर्ग है जिसमें अङ्कुरु, अर्क, करवीर, कलिकारी, काकादनी, धत्तूर और अतिविषा, शरभ और खद्योत ये ओषधियां गिनी गई हैं।

नक्षत्र वृक्षों में विषमुष्टी, स्यामली, औदुम्बर, जम्बू, अगरु, वेणु, पिप्पल, चम्पका, वट, पलाश, पायरी या प्लक्ष, जाती, विल्व, अर्जुन, बबूल, नागपुष्प, मोच, रालवृक्ष, वेत, निचुल अर्क, शमी, कदम्ब, आम, रिष्ट मोहवृक्ष, इतनी वृक्षोषधियां हैं। क्षीरपर्णी अर्क को कहते हैं। सुवर्चला= आदित्यभक्ता, मण्डूकपर्णी आदित्यलता कहाती है जो कटु, उष्णा, स्फोटक-नाशनी हैं और त्वग्दोष, कण्डू, व्रण, कुष्ठ, भूतग्रह, उग्र शीतज्वर का नाश करती है। इसका एक भेद ब्राह्मी है। वह भी कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, रक्त का नाशक है। इसका एक भेद क्षुद्रपत्र है, वह शोफनाशक है।

सूर्यकान्त के तीन भेद हैं—स्फटिक, सूर्यकान्त और वैक्रान्त (बिल्लौर), इनमें स्फटिक—पित्त, दाह, पीड़ा नाशक है। सूर्यकान्त—उष्ण, निर्मल रसायन है और वातश्लेस्मनाशक है, वैक्रान्त मणि क्षय, कुष्ठ और विष का नाशक, पुष्टिप्रद और रसायन है।

ऐन्द्री वर्ग में देवसर्षप और इलायची है। ऐन्द्री-कृमि, श्लेष्म और व्रण का नाशक है सब उदररोगों को भी नाश करती है। सूर्यादि दाह और आतप कटु स्वभाव, रूक्ष हैं।

इत्यादि समस्त ओषधिवर्ग का हमने संग्रह कर संक्षेप से गुण दर्शा दिये हैं, वे सभी समान स्वभाव, समान गुण और वात, पित्त, कफ, हृद्रोग रक्त, नेत्ररोग, त्वचारोग, कुष्ठ, व्रण आदि के विनाशक हैं वेद ने हृद्रोग और पाण्डुरोग के विनाश के लिये इन ओषधियों का संकेत से वर्णन किया है। इति दिक्।

[२३] कुष्ठ और पलित चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । श्वेतलक्ष्मविनाशनाय ओषधिस्तुतिः ।
अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च ।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! तू (नक्तं) नक्त नामक ओषधि रूप से (जाता) उत्पन्न (असि) है । हे (रामे) रामा नाम ओषधे ! हे (कृष्णे) कृष्णानामक ओषधे ! हे (असिक्नि) असिक्नी नामक ओषधे ! हे (रजनि) रजनीनामक ओषधे ! (इदं) यह (यत्) जो (किलासं) किलास नामक कोढ़ और (पलितं) पलित नामक रोग है उसको (रजय) नाश कर । इसको उत्तम वर्ण का कर दे ।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! (इतः) इस रोगयुक्त देह से (किलासं) किलास नामक कुष्ठ को और (पलितं च) पलित नामक रोग को (निर् नाशय) निर्मूल करके नाश करदे । और (पृषत्) त्वचा से जल बहाने वाले और दर्द करने वाले रोग को भी नाश कर । हे रोगी ! (त्वा) तेरे शरीर को स्वः) अपना (वर्णः) पूर्व नीरोग दशा का रूप (आ, विशतां) प्राप्त हो । और (शुक्लानि) श्वेत कुष्ठ के चिह्नों और बालों को (परा पातय) दूर भगा दे ।

---

[२३] १–'रंजनी' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।
२–(द्वि०) नाशया पृथक् । इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'आनः स्वो' इति तै० ब्रा० ।

आसि॑तं ते प्र॒लय॑नमा॒स्थान॒मसि॑तं॒ तव॑ ।
असि॑क्न्यस्योषधे॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त् ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! (ते) तेरा (प्रलयनं) शरीर में लीन होजाने वाला गुण (आसितं) श्वेत रोग का नाशक है और (तव) तेरा (आस्थानं) चिपकने का गुण (आसितं) सित या श्वेत कुष्ठ का नाशक है । हे ओषधे ! तू (असिक्नी) असिक्नी नाम वाली (असि) है । (इतः) इस शरीर से (पृषत्) पीड़ाकारी, जल छोड़ने वाले, विकृत या पृषत् श्वेत रंग के कुष्ठ को (निर् , नाशय) सर्वथा नाश कर दे ।

अ॒स्थि॒जस्य॑ कि॒लास॑स्य तनू॒जस्य॑ च॒ यत् त्व॒चि ।
दूष्या॑ कृ॒तस्य॒ ब्रह्म॑णा॒ लक्ष्म॑ श्वे॒तम॑नीनशम् ॥ ४ ॥

भा०—(अस्थिजस्य) हड्डियों में उत्पन्न होने वाले (च) और (तनूजस्य) त्वचा और अस्थि के बीच मांस में उत्पन्न होने वाले (किलासस्य) किलास नामक कुष्ठ को और (यत्) जो कुष्ठ रोग (त्वचि) त्वचा में उत्पन्न होगया है और (दूष्या) शरीर के रक्त आदि में विकार उत्पन्न करने वाले दूषी विष द्वारा (कृतस्य) उत्पन्न हुए कुष्ठ रोग को और उसके (लक्ष्म) शरीर की शोभा के नाशक कलंकरूप (श्वेतं) श्वेतकुष्ठ को भी मैं उत्तम वैद्य (ब्रह्मणा) 'ब्रह्म' नामक ओषधि से (अनीनशम्) दूर करता हूं ।

इस सूक्त में नक्त, रामा, कृष्णा, असिक्नी और ब्रह्म ये नाम ओषधि-वाचक हैं । धन्वन्तरि के अनुसार इनका विवेक इस प्रकार है—

(१) नक्त नाम से कालिकारी, गुग्गुलु, उलूक, प्रसहा, करंज, फंजी या भार्गी इन ओषधियों का ग्रहण होता है ।

३–(प्र०) ' निलयनम्' इति तै० ब्रा० । (च०) 'नाशया पृथक्' इति सायणः ।

४–' धूष्या ' इति पैप्प० सं० । ' कृत्या ' इति तै० ब्रा० ।

इनके गुण इस प्रकार हैं—(१) कलिकारी (नक्तेन्दुपुष्पिका) कफ, वात नाशक, सोज, शल्य व्रण नाशक । (२) गुग्गुलु (=नक्तं च) व्रण, मेह, शोफ नाशक । कण गुग्गुलु और भूमि इसके दो भेद हैं । (३) उलूक पक्षी के मांसादि विसर्प कुष्ठ के नाशक हैं । (४) प्रसह वर्ग में काक, गीध, उल्लू चील आदि पक्षिगण । (५) करंज (नक्तमाल) या घृतकरंज व्रण, प्लीहा और कृमिनाशक और सब त्वचा दोषों को दूर करता है । उदकीर्ण और अङ्गारवल्लिका इसी के भेद हैं जिनमें अङ्गारवल्लिका भी कण्डू, विचर्चिका, कुष्ठ, त्वग्दोष, व्रण (नासूर) आदि का नाशक है । (६) फांजी या भार्गी या ब्रह्मसुवर्चला—शोफ, व्रण, कृमि का नाश करती है । इसका दूसरा नाम ब्राह्मणयष्टि भी है ।

(२) रामा नाम से आरामशीतला, गृहकन्या, रोचना, लक्ष्मणा, इनका ग्रहण होता है । जिनमें आरामशीतला दाहदोष, विस्फोट और व्रण का नाशक है और गृहकन्या या घृतकुमारी पित्त, कास, श्वास और कुष्ठ का नाशक है । शेष भी कटु तिक्त होने से रक्तशोधक हैं ।

(३) कृष्णा शब्द से काश्मर्य, कृष्णा तुलसी, कृष्णा मूली, कृष्णा, नीलपुनर्नवा द्राक्षा और पिप्पली इन ओषधियों का ग्रहण है । जिनमें से काश्मर्य (१ । १२) सूक्त में लिखा जाचुका है । इनमें से कृष्णा तुलसी जन्तु, भूत, कृमि आदि का नाशक है । नीलपुनर्नवा हृद्रोग, प्रदर, पाण्डु, सोज, श्वास वात आम आदि का नाशक है । पुनर्नवा और क्रूर ये दो भी इसी जाति के हैं । कृष्णा=काला जीरा कफशोफनाशक है । पिप्पली रक्त शोधक ये सभी कटु और तिक्त, उष्ण हैं ।

(४) ' असिक्नी ' नामक ओषध वर्तमान में कोई प्रसिद्ध नहीं है तथापि असिक्नी यह असिक्नी असिशिम्बी प्रतीत होती है जो व्रण-दोष-नाशक है ।

(५) 'रजनी' शब्द से हरिद्रा, दारुहरिद्रा, उदकीर्य (करंजभेद) रोचना, शिंशपा, वनबीजपूर, यूथिका, मूर्वा ये सभी ओषधियां 'पीता' कहाती हैं और इनका गुण त्वचादोष, कुष्ठ, कण्डू आदि नाश करना है।

(६) 'ब्रह्मन्' भार्गी, फांजी, नामक ओषधी ही ब्रह्मवर्चसा या ब्राह्मण-यष्टि नाम से कही गई है वही यहां ' ब्रह्म ' शब्द से लेनी उचित है। इसका वर्णन पूर्व कर चुके हैं।

[२४] त्वचादोष का निवारण।

ब्रह्मा ऋषिः । आसुरी वनस्पतिर्देवता । १, ३, ४ अनुष्टुभः, २ निचृत् पथ्यापंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥

भा०—(प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ, प्रथम (सुपर्णः) सुपर्ण नामक वनस्पति इस दोष का नाशक (जातः) विद्यमान है। हे उपरोक्त रजनी ओषधे ! (त्वं) तू (पित्तम्) पित्त रस के समान उष्णस्वभाव, बलकारी (आसिथ) है। (आसुरी) आसुरी नामक ओषधि (युधा) कूट २ कर (जिता) अनुकूल बनाई जाकर (वनस्पतीन्) नाना वनस्पतियों को भी (तद्) उस ही (रूपं) सेवन करने योग्य रूप को (चक्रे) बना देती है। इससे रजनी या हरिद्रा= दारुहलदी का 'पित्ता' एक नाम है।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् ।
अनीनशत्किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥ २ ॥

---

[२४] १–(तृ० च०) 'तदासुरी जिवांसिता रूपं चक्रे वनस्पतिः' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) ' अनेनशत् ' (च०) 'सुरूपम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(आसुरी, आसुरी नामक ओषधि 'प्रथमा, सबसे श्रेष्ठ है । उसने ही (इदं) यह (किलासभेषजं) किलासनामक कुष्ठ की चिकित्सा (चक्रे) की । (इदं किलासनाशन) यह स्वयं भी किलास का नाश करने हारी है । वह (किलासं) किलास=कुष्ठरोग को (अनीनशत्) नाश करती और (त्वचं) त्वचा को (सरूपाम्) सर्वत्र शरीर पर एक समान कान्ति वाला (अकरत्) बना देती है ।

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! (ते) तेरी (माता) उत्पत्ति-भूमि (सरूपा) तेरे ही समान रूप गुण वाली सरूपा नामक है और (ते) तेरा (पिता) पालक, सूर्य भी (सरूपो) नाम, 'सरूप' नाम है । हे ओषधे ! त्वं, तू स्वयं (सरूपकृत्) त्वचा का समान रूप बना देने हारी है, इसलिये (इदं) इस दोषयुक्त कुष्ठी शरीर को भी (सरूपं) समान सुन्दर रूप (कृधि) कर ।

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

भा०—(श्यामा) पूर्व मन्त्र में कही औषध ही श्यामा नाम वाली (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि उद्भृता) ऊपर उत्पन्न होती है । वह (सरूपंकरणी) उत्तमरूप और समानत्वचा बना देती है । हे श्यामे ! तू (इदम्) इस कुष्ठी शरीर में (प्र साधय) अपना गुण दर्शा और (पुनः) बार २ (रूपाणि) नये २ रूप, त्वचाएं (कल्पय) उत्पन्न कर ।

३–' यत्तनूजं यदग्निजं चित्रा किलास जज्ञिषे तदस्तु सुकृतस्तन्वोयतस्त्वापि नयामसि ' इति पैप्पलाद संहितायामधिको मन्त्रः ।

४–(द्वि०) 'पृथिव्याभ्याभवम्' [?] (च०) 'सादय' इति पैप्प० सं० ।

इस सूक्त में सुपर्ण, आसुरी, सरूपा और श्यामा ये शब्द ओषधियों के वाचक हैं। जिनमें प्रथम सुपर्ण=सप्तपर्णी है, वह गुल्म, कृमि, कुष्ठ का नाशक है। आसुरी=राई, लाल सरसों। यह कृमि व्रण का नाशक है। सरूपा या सुरूपा शब्द से पित्ता=हल्दी, भार्गी, वार्षिकी, शालिपर्णी और लाक्षा कहाती है जिनमें से भार्गी का वर्णन पहले किया है। लाक्षा=लाख कृमिनाशक और व्रणनाशक है। 'शालिपर्णी' शोफ को नाश करती है, वार्षिकी विष, स्फोट=फुंसियों और कृमिदोष का नाशक है। 'सुपर्णी' शब्द से शालिपर्णी पलाशी और रेणुका ली जाती है। इनमें से शालिपर्णी शोफ-नाशक और रेणुका या हरेणुका, विषकण्डु का नाश करती है। 'श्यामा' शब्द से गुडूची कस्तूरी, नीलपुनर्नवा, नीलनी, पिप्पली, रोचना, वटपत्री, और हरिद्रा ये ओषधियां लीजाती हैं। इनमें से गुडूची=गिलोय त्रिदोष-नाशक, रक्तअर्श और कुष्ठ का नाशक है। कस्तूरी-विषघ्न और किलास, कफ आदि का नाशक है. नील पुनर्नवा का पूर्व वर्णन कर आये हैं। नीलनी विष वात, रक्त और कृमिनाशक है। पिप्पली, रोचना दोनों का वर्णन पूर्व किया गया है। वटपत्री प्रमेह, कृच्छ्र और व्रण नाशक है। वन्दका—व्रण-रोपण और रसायन है, हरिद्रा का पूर्व वर्णन कर आये हैं। इस प्रकार वेद के ओषधि नाम व्यापक गुणों को दर्शाते हैं।

सायण ने कौशिक सूत्र के अनुसार भृङ्गराज, हरिद्रा, इन्द्रवारुणी, और नीलिका इनको पीसकर श्वेत कुष्ठ पर लगाने का संकेत किया है। इनमें भृङ्गराज=भांगरा, हरिद्रा=हल्दी निलिका=नीलिनी और इन्द्रवारुणी, ऐन्द्री भी कृमिदोष, कुष्ठ व्रण और श्लीपद का नाश करती हैं। इन्द्र-वारुणी विशाला को भी कहते हैं जिसका एक भेद श्वेतपुष्पी है इसको नागदन्ती और भटा भी कहते हैं इसमें कुष्ठनाशक गुण विशेष है।

उक्त दोनों सूक्तों में सायण आदि भाष्यकारों ने तत्व को बिना समझे ही अर्थ का अनर्थ किया है।

[२५] ज्वर चिकित्सा ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनोऽग्निर्मन्त्रोक्ता 'रूदु' आदयो देवताः । १ त्रिष्टुप्, २ विराड् गर्भात्रिष्टुप् । पुरोऽनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यदग्निरापो अदहत्प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि ।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१॥

भा०—हे (तक्मन्) शरीर को कष्ट देने वाले ज्वर ! (यत्र) जिसके आश्रय पर (धर्मधृतः) धर्म=आत्मा को धारण करने वाले शरीर धारी वात, पित्त और कफ या सप्त धातु (नमांसि) नाना शरीर के कार्यों को (अकृण्वन्) साधते हैं (तत्र) उसमें ही वे परम विद्वान् वैद्य लोग (ते) तेरा (परमः) सबसे मूलभूत (जनित्रं) उत्पत्तिस्थान (आहुः) बतलाते हैं । और जिस प्रकार (अग्निः) अग्नि (आपः) जलों में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर उसको उष्ण करदेता और तपाता है। उसी प्रकार हे ज्वर ! तू भी (आपः) सर्व शरीर में व्यापक रुधिरों में (प्रविश्य) भीतर घुसकर तू शरीर को (अदहत्) तपाता और उन धर्मभृत्=शरीर के भीतर मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, रुधिर शुक्र आदि धातुओं को जलाता है । उस ज्वरकारी कारण को (विद्वान्) जानने हारा वैद्य तू (सः) वह कुशल होकर (नः सं परि वृङ्ग्धि) उसको हम से दूर कर । अथवा हे तक्मन् ज्वर ! (सः) वह तू उक्त प्रकार से (विद्वान्) जान लिया गया है अतः योग्य चिकित्सा द्वारा (नः) हमें (सं परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ।

यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम् ।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः० ॥ २ ॥

---

[२५] १–(प्र०) 'यदग्निरापोऽदुहत्' (तृ०) 'तत्र ताहुः' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'यद्यार्चिर्यदिवासिधूमः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) हूडु,=हूडु, रूडु, हूडु, हुडु इत्यादयो बहवः पाठाः । 'हुडु' इति पैप्प० सं० । रूडु रीति सायणः । प्रादुर्भावार्थस्य रुहे रौणादिकस्तुन् प्रत्ययः, होढः इति ढत्वम् ।

भा०—हे (तक्मन्) कष्टमय जीवन करने हारे ! (यदि) चाहे तू (अर्चिः) अग्नि की ज्वाला के समान जलन करने वाला (यदि वा) और चाहे शोचिः) ताप जनक है (यदि वा) और चाहे (ते) तेरा (जनित्रम्) प्रादुर्भाव (शकल्यः एषि, शरीर के अङ्ग २ में व्याप्त हो तो भी हे (देव) प्रकाशमान अथवा अग्नि के विकार रूप ज्वर ! तू (हरितस्य) हरित नाम कामला रोग का (ह्रूडुः) ह्रूडु नाम से प्रसिद्ध (नाम) स्वरूप ही (असि) है । (नः) हम में से (सः) वह प्रसिद्ध वैद्य इस रहस्य को (विद्वान्) जानता है उसकी चिकित्सा से तू हमें (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ।

यदि॒ शोको॒ यदि॑ वाभिशो॒को यदि॑ वा॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्यासि॑ पु॒त्रः ।
ह्रू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥३॥

भा०—हे तक्मन् ज्वर ! (यदि शोकः) चाहे तू एकदेश से तापकारी है, (यदि वा) और चाहे (अभिशोकः) तू सब अङ्गों में भीतर बाहर सर्वत्र तापजनक है, (यदि वा) और चाहे तू (वरुणस्य) सबको आवरण करने वाले, सर्वत्र फैलने वाले जलीय अंश का (पुत्रः) रूपान्तर है, तो भी हे (देव) अग्नि या जलांश से उत्पन्न ! (हरितस्य) पाण्डु, कामला या पैत्तिक रोग का (नाम) स्वरूप तू (ह्रूडुः असि) 'ह्रूडु' नाम से प्रसिद्ध है । इस बात को (नः) हममें से (सः) वह जानता है । अतः उसकी योग्य चिकित्सा से तू हमें (परि वृङ्धि) त्याग दे ।

नमः॑ शी॒ताय॑ त॒क्मने॒ नमो॑ रू॒राय॑ शो॒चिषे॑ कृणोमि ।
यो अ॑न्येद्युरु॑भयद्युर॒भ्येति॑ तृ॒तीय॑काय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑ ॥४॥

३—(द्वि०)=रुद्रस्य प्राणो यदिवाल्पोऽसि । इति पैप्प० सं० ।
४—(द्वि० तृ०) 'नमोदूराय कृत्वा वयं ते । यो अन्येद्युरुभयेद्युरश्वहतरू०' इति पैप्प० सं० ॥

भा०—(शीताय) शीत से उत्पन्न या शीत दे कर उत्पन्न होने वाले (तक्मने) कष्टप्रद ज्वर आदि के लिये (नमः) यह उपचार है और (शोचिषे) ताप या गर्मी देकर उत्पन्न होने वाले 'रूर' या 'हूडु' नामक ज्वरव्याधि के लिये मैं (नमः कृणोमि) उसको पक्क करने का उपाय करता हूं। और (यः) जो ज्वर (अन्येद्युः) प्रतिदिन और जो (उभयेद्युः) दो दिनों के अन्तर पर (अभ्येति) प्रकट होता है उस (तक्मने) ज्वर-व्याधि के लिये (नमः, अस्तु) उसका परिपाक करना ही उपाय है।

हाथ जोड़ने आदि से ज्वर नहीं जाता वह परिपक्क होने पर सुगमता से चिकित्सा योग्य होता है अतः सायणकृत अर्थ संगत नहीं है।

शोचिः, अर्चिः और वरुणपुत्र ये तीनों ज्वर के रूप क्रम से वात, पित्त और कफ से उत्पन्न ज्वरों के तीन रूप हैं।

[२६] रक्षा, सभ्यता और शान्ति।

ब्रह्मा ऋषिः। इन्द्रादयो मन्त्रोक्ता बहवो देवताः। १ गायत्री, २ त्रिपदासाम्नी त्रिष्टुप्। ४ पादनिचृत्। २, ४ एकावसाना। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

आरे॒३॒ऽसाव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो अस॒त्।
आरे॑ अश्मा॒ यमस्य॑थ॥ १॥ ऋ० १। १७२। २॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! (असौ) यह (हेतिः) अस्त्र, हथियार (यम्) जिसको तुम (अस्यथ) शत्रुओं पर फेंकते हो वह (अस्मद्) हमसे (आरे अस्तु) दूर रहे और वह (अश्मा) अश्मा=दृढ़शस्त्र जिसको तुम फेंकते हो वह भी (आरे असत्) हमसे दूर ही रहे।

[२६] १–(प्र० द्वि०) 'आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः। इति ऋ०।

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।
सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

भा०—(असौ) वह (रातिः) सबको धन, ऐश्वर्य देने वाला पुरुष, (भगः) ऐश्वर्यों का स्वामी (सविता) सबका प्रेरक और (चित्रराधाः) नाना प्रकार से आराधना और साधना करने योग्य (इन्द्रः) राजा के समान परमेश्वर ही (अस्मभ्यं) हमारा (सखा) एकमात्र मित्र (अस्तु, हो ।

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः ।
शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणो, प्राणो ! या नाना प्रकार की गतियों से बहने हारे वायुगणो ! एवं व्यापार करने हारे वैश्यगणो ! तुम (सूर्य त्वचसः) सब के प्रेरक सूर्य के समान उज्वल त्वचा, स्वच्छ स्वरूप और सौम्यवेश वाले हो और हे (प्रवतः) उत्तम मार्ग से गति करने हारे सदाचारी पुरुषों को (नपात्) बन्धन में न गिराने हारे नगराध्यक्षो ! (यूयं) आप लोग (नः) हमें (सप्रथाः) अतिविस्तृत (शर्म) शरण, नगर और दुर्ग में शरण (यच्छाथ) प्रदान करो ।

सुसूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यः ।
मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (सु सूदत) उत्तम मार्ग में सदा प्रेरणा करो ! (मृडत) सदा स्वतः सुखी रहो (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों

२—सखेव नो रातिरस्तु सखेन्द्रस्सखा सविता । सखा भगः सत्यधर्मा नोऽस्तु इति पैप्प सं० ।

३—(द्वि०) 'यच्छत सप्रथः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

४—'सुमृडता सुषूदता मृडानो अघाभ्यः स्तोकाय तन्वे दा[:]' इति पैप्प० सं० ।

को (मृडय,) सुखी करो और (नः तोकेभ्यः) हमारे अगले सन्तानों के लिये भी (मयः) कल्याण, सुख का (कृधि) सम्पादन करो ।

[२७] सेना—सञ्चालन ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः इन्द्राणी च देवताः । १ पथ्यापंक्तिः, २, ३, ४, अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अमूः पारे पृदाक्व/स्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥१॥

भा०—(अमूः) ये (पारे) दूर दूर के वनों में (त्रिषप्ताः) २१ इक्कीस (पृदाकूः) सर्प-जातियां हैं जो (निर्जरायवः) आपसे आप जरायु=कांचली से बाहर आती हैं । (तासां) उनकी (जरायुभिः) कांचली से (वयम्) हम लोग (अघायोः) पाप करने की चेष्टा में यत्नवान् (परिपन्थिनः) शत्रु के (अक्ष्यौ) आंखों को (अपि वि अयामसि) नष्ट कर डालें ।

शत्रुओं की आंखों में दोष उत्पन्न करने के लिये सर्प की कांचली को जलाकर उसके धूएं का प्रयोग किया जाता है । अर्थशास्त्रकार ने औपनिषदिक अधिकरण के 'परघात-प्रतीकार' प्रकरण में सर्प, प्रचलाक कृकण, पञ्चकुष्ठ इनके चर्म को सुखा, चूर्ण कर उनके धूम करने से नेत्रों का नाश करने का प्रयोग दर्शाया है । अथवा सर्पकार व्यूहों में व्यूहित सेनाओं से शत्रु की आंखों में भ्रम डालें । उस पक्ष में (निर्जरायवः) कभी क्षीण न होने वाली (त्रिषप्ताः) २१ प्रकार की (पृदाकवः) सर्पगति से चलने वाली

[२७] १–(प्र०) 'इमाः पारे' (द्वि०) 'जर्जरायवः' इति पैप्प० सं० । 'निर्जरा इव' इति सायणाभिमतः पाठः ।

सेनायें होती हैं उनकी (जरायुभिः) ऊपर के व्यूहों द्वारा (परिपन्थिनः) शत्रु की आंखों को (अपिव्ययामः) व्यर्थ चक्कर में डालें ।

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

भा०—(विषूची) सूचीव्यूह में चलने हारी या नाना प्रकार के संकेतों वाली सेना (पिनाकमिव) धनुष् के समान आयुध हाथ में (बिभ्रती) लिये हुए अथवा धनुर्व्यूह को धारण करती हुई (एतु) बराबर आवे और व्रह (पुनर्भुवाः) पुनः होने वाले नये रूप से या नाना रूप में व्यूह बना बना कर या (पुनर्भुवाः) नये सेनापति के साथ आयें तो (विष्वक्) सब तरफ़ (अघायवः) पापी पुरुष (मनः) मननशक्ति और ज्ञानशक्ति में (असमृद्धाः) निर्बल; सम्पत्ति और राष्ट्र से रहित रहें ।

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः ।
वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

भा०—(अघायवः) पापशील पुरुष (असमृद्धाः) राष्ट्र, दण्ड, कोश, और बल, अमात्य, प्रजा आदि सब सम्पत्तियों से हीन होने के कारण (बहवः) बहुत से होकर भी (वेणोः) बांस के (अभितः) चारों ओर लगे (अद्गाः इव) जड़ों से फूटने वाले कोमल अंकुरों के समान कभी (न सम् अशकन्) विजय करने और मुक़ाबला करने में समर्थ नहीं होते और वे (अर्भकाः) पापों के कारण थोड़े या छोटे २ क़द के, निर्बल होकर

२—(द्वि०) 'पुनर्भवा' इति सायणसम्मतः पाठः । (द्वि०, तृ०) अपेतः परिपन्थिनोऽघोघायुरपैतु ' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि०) 'दादृशुः' (तृ०) 'वेणोरद्गा इव परितः' इति सायणाभिमतौ पाठौ । 'दाधृषु' रिति प्रातिशाख्यव्याख्याकार । (द्वि०) 'अर्भक अभिधृष्णु-वम्' इति पैप्प० सं० ।

वे (न अभि दाधृषुः) शत्रुओं को परास्त नहीं कर सकते । इसलिये बलवान् समृद्धिशाली और धर्मात्मा होकर विजय करना उचित है ।

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

भा०—(पादौ) चरणों के समान गमन करने में बलवान् शीघ्रकारी दो प्रकार के भटो ! (प्र इतं) आगे बढ़ो (प्रस्फुरतं) और भी अधिक शीघ्र गमन करो और (पृणतः) सबके पालन करने हारे राजाके (गृहान्) महलों की तरफ (वहतं) हमें ले चलो और (इन्द्राणी) इन्द्र राजा की शक्तिरूप महासेना (प्रथमा) सबसे प्रथम श्रेणी की (अजीता) किसी से न हारकर (अमुषिता) किसी से न छली जाकर (पुरः) आगे २ (एतु) बढ़े जाय ।

दो प्रकार के चर एक गुप्तचर जो शत्रुओं का गुप्तरूप से पता लगावें दूसरे सफरमैना जो मार्ग के संकटों को काटकर मार्ग बनावें । ये दोनों आगे आगे जायं और उनके बतलाये और बनाये मार्ग से राजा की सेना आगे आगे बढ़े ।

---

[२८] घृणाकारी दुष्टों का नाश ।

चातन ऋषिः । १ अग्निर्देवता, २, ३, ४ यातुधान्यो देवताः । १, २ अनुष्टुभौ, ३ विराट् पथ्याबृहती , ४ पथ्यापंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

४–प्रेतं पादौ प्रस्फुरतं वहन्तु पृणतो गृहम् । इन्द्राण्येतु प्रथमा जिहित्वा मुक्त्वा पथः । इति पैप्प० सं० । (च०) 'अजिता' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

भा०—(देवः) प्रकाशमान (रक्षोहा) राक्षसों, विघ्नकारी पुरुषों और रोगों का विनाशक (अमीवचातनः) रोगों के कीटाणुओं का समूल उच्चाटन करने वाला (अग्निः) अग्नि के समान प्रकाशमान राजा और आचार्य (उप प्र आगाद्) हमें प्राप्त है । वह (किमीदिनः) 'अब क्या' 'अब क्या' इस प्रकार बेचैन होकर विचरने वाले या दूसरों को योंही लूटने वाले, या सबके छिद्र मर्म को खोजने वाले (यातुधानान्) पीड़ा-जनक (द्वयाविनः) दोनों पक्षों का आश्रय लेकर रहने वाले, उभय वेतन शत्रुप्रयुक्त पुरुषों को या वाणी और कर्म दोनों में क्रूर, या रूप से सीधे और भीतर कुटिल इस प्रकार दुरंगी चाल चलने हारे धूर्तों को (अप दह) दूर से ही जला डाल, विनाश कर, पीड़ित, दण्डित कर ।

प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न् प्रति॑ देव किमी॒दिन॑ः ।
प्र॒तीचीः॑ कृष्णवर्तने॒ सं द॑ह यातु॒धान्य॑ः ॥ २ ॥

भा०—हे (देव) राजन् ! (यातुधानान्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुषों को (प्रति दह) उनके अपराधों के दण्ड में उनको भस्म कर डाल और हे देव ! (किमीदिनः) शत्रुपक्ष से छोड़े हुए हमारे देश के छिद्र पता लगाने वाले क्षुद्रवृत्ति, राजद्रोही शत्रु पुरुषों को भी उनका अपराध पकड़ २ कर उसके लिये उनको (प्रति दह) भस्म कर डाल । हे (कृष्णवर्तने) शत्रु के बलों को कर्षणकारी=विनाशक कर्तव्य को पालन करने वाले राजन् (प्रतीचीः) राष्ट्र के प्रतिकूल जाने वाली सब (यातुधान्यः) पीड़ा बढ़ा देने वाली, प्रजा का आचार नष्ट करने वाली, शत्रुओं से नियुक्त वेश्या आदि दुष्ट स्त्रियां और गुप्त सोसायटियों को भी अग्नि के समान (सं दह) समूल नाश कर ।

[२८] २-(तृ०) 'कृष्णवर्त्मने' इति सायणाभिमतः पाठः । तथाविधस्य च सम्बुद्धि-रूपस्याभावात् 'कृष्णवर्तने' इत्येव साधुः पाठः ।

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुषो ! यातुधानी या पीड़ाजनक स्त्रियों के ये चिह्न हैं (१) (या) जो (शपनेन) निन्दाजनक वचनों से (शशाप) अपने पूज्य सम्बन्धियों को कोसती है और गृह कलह मचवाती है (२) (या) जो स्त्री (मूरं) सब पापों के मूलरूप (अघं) पुत्र, भाई, पिता, पति आदि के घात एवं पाप को (आदधे) करती है अथवा जो (मूरं) नशीले पदार्थ खिला २ कर पुरुषों के साथ (अघं) विश्वासघात कर उनको छलती लूटती और पापाचार करती है (३) (या) जो (रसस्य) विषयों की (हरणाय) प्यास बुझाने के लिये या (रसस्य) विष के (हरणाय) प्रयोग द्वारा (जातं) बच्चों को (आ रेभे) मार डालती है, उसी क्रूर स्वभाव से मनुष्यों को और (तोकम्) अपनी सन्तान को (अत्तु) खाजाती है । (सा) ऐसी क्रूर, विगड़े दिमाग वाली स्त्रियां यातुधानी शब्द से पुकारी जाती हैं ।

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३ वि तृह्यन्तामराय्यः ॥४॥

भा०—(यातुधानीः) पीड़ाजनक स्त्रियें वे होती हैं जो (पुत्रम्) अपने पुत्र को (अत्तु) खाजायँ, उसका नाश कर दें । जो (स्वसारम्) अपनी बहन को खाजायँ, मरवादें और जो (नप्त्यम्) धन के या स्वार्थ के लोभ से अपने नाती को नाश करदें और वे भी राक्षस स्वभाव की स्त्रियां होती हैं जो (विकेश्यः) बाल खोल २ कर (मिथः) आपस में (विघ्नतां) एक दूसरे पर नाना प्रकार से मारकूट करें और जो (अरायः) दानशील, उदार न होकर, धन के लोभ में पड़ कर, दरिद्र होकर (वि तृह्यन्तां)

४–'पुत्रमत्तु यातुधानी', 'अथ मिथो' इति सायणाभिमतौ पाठौ ।

औरों का नाश करती रहें। राजा को चाहिये कि उन पापाचारिणी, कुल, गृह और प्रजा की विनाशक क्रूर स्त्रियों को जीता पकड़ कर जला दे।

इति पञ्चमोऽनुवाकः।

[तत्र सूक्तानि सप्त, ऋचश्च सप्तविंशतिः]

---

[२९] अभीवर्त्त या रथनेमि के दृष्टान्त से राष्ट्रचक्र का वर्णन।

वसिष्ठ ऋषिः। अभीवर्त्तमणिमुद्दिश्य ब्रह्मणस्पतिर्देवता। चन्द्रमसं राजानमभिलक्ष्य, ब्रह्मणस्पतेः स्तुतिः। अनुष्टुप् छन्दः। षड्चं सूक्तम्॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय॥ १॥

ऋ० १०। १७४। १॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के विद्वान् मन्त्रिन्! (येन) जिस (अभीवर्तेन) सब ओर समान वेग से जाने हारे (मणिना) चक्रधारा रूप मणि से (इन्द्रः) राजा (अभिवावृधे) विशाल राष्ट्रसम्पत्ति को प्राप्त करता है (तेन) उसीसे (राष्ट्राय) इस राष्ट्र की उन्नति के लिये (अस्मान्) हमको भी (अभि वर्धय) बढ़ा। इसकी विशेष व्याख्या अगले मन्त्र में है।

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ २॥

ऋ० १०। १७४। २॥

---

[२९] १–(प्र०) 'अभीवर्त्तेन हविषा', (द्वि०) 'अभिवावृते' 'राष्ट्रायवर्तय' इति पाठाः ऋ०। (च०) वर्त्तयः, इति पैप्प सं०।

२–(च०) 'यो नो इरस्यति' इति ऋ०। (च०) दुरस्यतु इति पैप्प० सं०।

भा०—अभीवर्त मणि वह है (या) जो (सपत्नान्) हमारे इष्ट सम्पत्ति के स्वामी होजाने का दावा करने वाले शत्रुओं को (अभि वृत्य) चारों तरफ से घेर कर और (या) जो (नः) हमारे (अरातयः) कर देने से इन्कार करने वाले द्रोही सामन्त राष्ट्रों को घेर कर वश कर लेती है। ऐसी हे राज-चक्र रूप मणे! तू ही (पृतन्यन्तं) सेनाओं से चढ़ाई करने वाले का (अभि तिष्ठ) मुक़ाबला कर और (यः) जो (नः) हमें (दुरस्यति) दुःखकारी दशा में डालना चाहता है उस क्रूर नीच पुरुष को भी (अभितिष्ठ) वश कर । अर्थात् शत्रुओं को घेरने, अधीन राष्ट्रों को वश करने, सेना द्वारा चढ़ाई करने शत्रुओं के, मुक़ावला करने और क्रूरों को विनाश करने की शक्ति को ही अभीवर्त्त' मणि या 'रथनेमि' मणि या 'राष्ट्रचक्रप्रवर्त्तन' मणि कहा जाता है ।

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १७४ । ३ ॥

भा०—हे अभीवर्त्तमणे ! राष्ट्र चक्र ! (देवः) विद्वान् (सविता) सबका प्रेरक पुरोहित (त्वा) तेरी (अभि अवीवृधत्) प्रत्यक्ष वृद्धि करता है (सोमः) सौम्यगुणयुक्त विज्ञानवान् राष्ट्र तेरी (अभि अवीवृधत्) वृद्धि करता है। (यथा) जिस प्रकार, हे राष्ट्रचक्र ! तू सबको बढ़ाने वाला (असासि) होता है उसी प्रकार (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणी भी तुझको ही बढ़ाते हैं।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

भा०—(अभिवर्तः मणिः) राष्ट्रचक्र रूप शक्ति (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाशकारी और (अभिभवः) उनका पराजय करने वाला है।

३–(द्वि०) 'अवीवृतत्' इति ऋ० । 'अभीमृशत' इति पैप्प सं० ।

उसको (मह्यं) मेरे (राष्ट्राय) राष्ट्र की उन्नति के लिये (बध्यतां) उत्तम रूप से व्यवस्था द्वारा दृढ़ कर सुबद्ध करो। जिससे (सपत्नेभ्यः) शत्रुओं का (पराभुवे) पराजय हो।

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः।
यथाहं शत्रुहोसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

ऋ० १०। १५९। १।

भा०—(असौ) वह द्यौलोक में प्रकाशित, सबका द्रष्टा (सूर्यः) सूर्यसमान सबका प्रेरक परमेश्वर (उत्, अगात्) उदय हो रहा है और उसको साक्षिता में (मामकं) मेरा (इदं) यह (वचः) वचन भी (उत्) प्रकट होता है। परमेश्वर मेरे अन्तःकरण का सद्भाव जान कर ऐसा बल दें कि (यथा) जिससे मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का नाशक और (सपत्नहा) मेरे राष्ट्रपर अपने स्वामित्व को चाहने वाले विरोधियों का नाशक होकर (असपत्नः) शत्रुरहित, एकच्छत्र अद्वितीय सम्राट् (असानि) होजाऊं।

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

ऋ० १०। १७४। ५॥

भा०—(सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का विनाश करने वाला (वृषा) सब सुखों का प्रदाता (विषासहिः) नाना प्रकार के शत्रुओं के आक्रमणों, दैवी

५-(प्र०, द्वि०) 'उदसौ सूर्यो आगादुदयं मामकं वचः' इति पैप्प० सं०। 'उदसौ सूर्योऽगादुदयं मामको भगः। अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः' इति ऋ० १०। १५९। १।

६-(प्र०, द्वि०, तृ०) असपत्नः सपत्नहाभिराष्ट्रो विषासहिः। यथा हमेषां भूतानां' इति ऋ०।

विपत्तियों को भी सहने में समर्थ (अहम्) मैं राजा (अभिराष्ट्रः) अपने समस्त राष्ट्र से अभ्युदय को प्राप्त होकर । (यथा) जिस प्रकार (एषां) इन (वीराणां) वीर योद्धाओं के और (जनस्य च) समस्त प्रजाजन के बीच में (विराजानि) विशेष रूप से विराट् या सम्राट् रूप में शोभा पाऊं ।

कौशिक सूत्र के अनुसार इस सूक्त से राजा के गले में एक मणि बांधा जाता था जिसके केन्द्र में सुवर्ण और उस पर क्रम से लोह, सीस, इस्पात, चान्दी और ताम्बे के छल्ले मढ़े होते थे । जैसे अष्टधातु की अंगूठी शरीर के स्पर्श से आरोग्यकारी होती है उसी प्रकार यह छल्ला भी उसी निमित्त बांधा जाता था या इसको बांधना केवल विजय करने वाले राजा का उसी प्रकार मान चिह्न था जिस प्रकार विवाह में ग्रन्थिबन्धन और रक्षा बन्धन आदि । यह रिवाज अभीतक भी वरयात्रा के पूर्व वर की कलाई पर लोह का छल्ला बांधकर किया जाता है । वह वस्तुतः राष्ट्रशक्ति का चिह्न है जिसमें 'पंचधातु' पांचों प्रजाओं का या बीच में राजा और चारों ओर चतुरंगिणी सेना का संकेत है । मणि शब्द से मणिधारी का ग्रहण है । अथवा पदक के समान मणि शब्द पद और अधिकार का सूचक है ।

[३०] प्रजा का राजा के प्रति कर्त्तव्य ।

आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । वस्वादि देवस्तुतिः । १, २, ४ त्रिष्टुभः । ३ शाक्करगर्भा विराड् जगती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

विश्वे॑ देवा॒ वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒मम्ु॒तादि॑त्या जागृ॒त यू॒यम॒स्मिन् ।
मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भि॒र्मेमं प्रा॑प॒त् पौरु॑षेयो व॒धो यः ॥१॥

---

[३०] १–(द्वि०) 'जाग्रत [?] यूयम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वानो ! और हे (वसवः) राष्ट्र में वसने हारो ! आप लोग (इमम्) इस राष्ट्र एवं राष्ट्रपति की (रक्षत) उत्तम रूप से रक्षा करो । (उत) और हे (आदित्याः) आदान प्रतिदान करने हारे, कर और शुल्क संग्राहक पुरुषो ! (यूयम्) तुम लोग (अस्मिन्) इस राष्ट्र में (जागृत) सदा सावधान, जागृत, रहो अथवा सूर्य के समान कभी आलस्य न करने हारे विद्वानों आप सदा जागृत रहो । (इमं) इस राष्ट्रपति को (सनाभिः) कोई इसका सगोत्र सम्बन्धी पुरुष या सहोदर भाई (उत) और (अन्यनाभिः) अन्य वंश का पुरुष इसे मारने के लिये (मा प्रापत्) इस तक न पहुंच सके । और (यः) जो (पौरुषेयः) पुरुषों द्वारा किया गया (वधः) आघातकारी आक्रमण हो वह भी (इमं मा प्रापत्) इस तक न पहुंचे ।

अध्यात्मपक्ष में—वाहवः=प्राणाः, आदित्याः=प्राणाः ।

ये वो॑ दे॒वाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणुते॒दमु॒क्तम् ।
सर्वे॑भ्यो वः॒ परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑/नं ज॒रसे॑ वहाथ ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् राष्ट्रवासिगणो ! आप लोग (सचेतसः) एकचित्त होकर, सावधान होकर (मे) मुझ राष्ट्र पुरोहित का या सभापति का (इदम्) यह (उक्तं) वचन (शृणुत) सुनो कि (ये) जो (वः) आप लोगों के (पितरः) जीवन के परिपालक, मां बाप और वृद्ध गुरु, आचार्य लोग हैं (ये च पुत्राः) और जो पुत्र आपको संकटों से रक्षा करने हारे हैं मैं (वः सर्वेभ्यः) आप सबके (स्वस्ति) हित के लिये (एतं) इस राष्ट्रपति को (परिददामि) सबके ऊपर अधिष्ठातृ रूप से राष्ट्रसेवा के कार्य में समर्पित करता हूं । आप लोग भी (जरसे) वृद्ध अवस्था तक उत्तम प्रकार से (एतं वहथ) आदरपूर्वक इसका शासन धारण करो ।

२–(च०) ' नयाथ ' इति पैप्प० सं० ।

ये दे॒वा दि॒वि ष्ठ ये पृ॑थि॒व्यां ये अ॒न्तरि॑क्ष॒ ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॑१॒॑न्तः।
ते कृ॑णुत ज॒रस॒मायु॑र॒स्मै श॒तम॒न्यान् परि॑ वृणक्तु मृ॒त्यून् ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) प्रकाशमान्, ज्ञानवान् और क्रियावान् दिव्य पदार्थों और पुरुषो! आपमें से (ये) जो (दिवि) ज्ञानमय अवस्था, द्यौलोक और सात्विक उन्नत दशा में (ष्ठ) हो और (ये) जो (पृथिव्यां) पृथिवी में हो और जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में विमान आदि चलाने हारे हो (ओषधीषु) और जो ओषधि वनस्पतियों में उनको उचित रूप से संग्रह और प्रयोग करने में लगे हो और (पशुषु) जो वन्य जीवों एवं पशुओं के पालन, वृद्धि और सदुपयोग में लगे हो और (अप्सु अन्तः) जो जलों के भीतर समुद्रादिक में मुक्ता आदि संग्रह और व्यापार में या कार्यों में लगे हो (ते) वे सब मिलकर (अस्मै) इस राष्ट्रपति के (जरसं) वार्धक्य काल तक (आयुः) जीवन की रक्षा (कृणुत) करें और वे (अन्यान्) और भी (शतं) सैकड़ों (मृत्यून्) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) दूर करें।

सूर्य चन्द्र आदि द्यौलोक में, जल नदी आदि पृथिवी पर और वायु विद्युत् आदि अन्तरिक्ष में दिव्य पदार्थ हैं ओषधियों में रसायन द्रव्य सोम आदि, पशुओं में गौ आदि, जलों में दिव्य जल आदि इनसे पुरुष की आयु रक्षा और कष्टों को दूर करने का भी उपदेश है।

येषां॑ प्रया॒जा उ॒त वा॑नुया॒जा हु॒तभा॑गा अहु॒ताद॑श्च दे॒वाः।
येषां॑ वः॒ पञ्च॑ प्र॒दिशो॒ विभ॑क्ता॒स्तान् वो॑ अ॒स्मै स॑त्र॒सदः॑ कृणोमि ॥४॥

३–(द्वि०) 'येऽन्तरिक्ष ओषधीष्वप्स्वन्तः' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (द्वि०) 'ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्सु' इति पैप्प० सं०। 'परिवृणक्त मृत्युन्' इति सायणाभिमतः पाठः।

४–(च०) 'तान् नोऽस्मै सत्रसदः कृणोमि' इति पैप्प० सं०।

भा०—(येगाः) आप लोगों में से जिनके (प्रयाजाः) उत्कृष्ट मोक्षप्राप्ति के निमित्त निष्काम यज्ञ हैं (उत वा) और जिनके (अनुयाजाः) आशानुरूप कर्मफल प्राप्त करने के निनित्त सकाम कर्म हैं और जो (हुतभागाः) आहुति रूप में अग्नि में डाले गये पदार्थों को अपने भीतर ग्रहण करने वाले हैं और जो (अहुतादः) आहुति न दिये गये केवल भिक्षामात्र से प्राप्त अन्न का भोग करने वाले (देवाः) विद्वान्गण हैं (वः) आप लोगों में से (येषां) जिनके (पञ्च) पांच (प्रदिशः) दिशाएं (विभक्ताः) विभक्त हैं (तान्) उन (वः) आप लोगों को मैं (अस्मै) इस राष्ट्रपति के यज्ञ में (सत्रसदः) सत्रसद् या सभासद् (कृणोमि) बनाता हूं।

[३१] जीवन की सफलता का मार्ग।

ब्रह्मा ऋषिः । आशापालाः वास्तोष्पतयश्च देवताः । १, २ अनुष्टुभौ । ३ विराट् त्रिष्टुप् । ४ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आशा॑नामाशापा॒लेभ्य॑श्च॒तुर्भ्यो॑ अ॒मृते॑भ्यः ।
इ॒दं भू॒तस्याध्य॑क्षेभ्यो वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥

भा०—(आशानां) शुभ इच्छाओं या प्रजाओं के (चतुर्भ्यः) चार सब की कामनाओं को पूर्ण करने वाले (अमृतेभ्यः) परम प्राप्तव्य पुरुषार्थों धर्म अर्थ काम और मोक्ष इनके देने वाले नित्य अमृत (आशापालेभ्यः) आशापालों के लिये और (भूतस्य) इस उत्पन्न संसार के (अध्यक्षेभ्यः) साक्षात् करने वाले चार अध्यक्षरूप वेदों के लिये (इदं) यह इस प्रकार (हविषा) ज्ञान और स्वाध्याय द्वारा (वयम्) हम (विधेम) यज्ञादि अनुष्ठान करें।

[३१] १–(प्र०) " आशानां त्वा आशापालेभ्यः " इति तै० ब्रा० ।

य आशा॑नामाशापा॒लाश्च॒त्वार॒ स्थन॑ दे॒वाः ।
ते नो॒ निर्ऋ॑त्याः पाशे॑भ्यो मु॒ञ्चतांह॑सो अंह॑सः ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (आशानां) आशाओं, प्रजाओं के (आशापालाः) — उत्तम शुभ कामनाओं को पूर्ण करते हैं वे आप (चत्वारः) चार हो (देवाः) देव (स्थन) हैं । (ते) वे आप (नः) हमें (निर्ऋत्याः) दुःखदायिनी पापप्रवृत्ति के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसः) पाप के (अंहसः) परिणाम भूत पाप के पाशों से भी (मुञ्चत) छुड़ावें । ये चार देव भी चार वेद ही हैं ।

अस्रा॑मस्त्वा ह॒विषा॑ यजा॒म्यश्लो॑णस्त्वा घृ॒तेन॑ जुहोमि ।
य आशा॑नामाशापा॒लस्तु॒रीयो॑ दे॒वः स नः॑ सुभू॒तमेह व॑क्षत् ॥३॥

भा०—(यः) जो (आशानां) कर्मफल भोगने हारी जीव प्रजाओं की (आशापालः) आशाओं का पालन करने हारा (तुरीयः देवः) चौथा देव ' ब्रह्मवेद ' है (सः) वह (नः) हमें (सुभूतम्) उत्तम ज्ञान को (इह) इस जन्म में ही (वक्षत्) प्राप्त करादे । हे देव ! (अस्रामः) अखिन्नचित्त होकर मैं (त्वा) तुझको (हविषा) उत्तम ज्ञान द्वारा (यजामि) उपासना करता हूं और (अश्लोणः) व्याधिरहित, अनालस होकर (त्वा) तुझको (घृतेन) प्रकाशमान ज्ञान से (जुहोमि) तेरा अभ्यास करता हूं ।

स्व॒स्ति मा॒त्र उ॒त पि॒त्रे नो॑ अस्तु स्व॒स्ति गोभ्यो॒ जग॑ते पुरु॑षेभ्यः ।
विश्वं॑ सु॒भूतं॑ सुवि॒दत्रं॑ नो अस्तु॒ ज्योगे॒व दृ॑शेम॒ सूर्य॑म् ॥ ४ ॥

२–(द्वि०) 'चत्वारः स्तन देवा' इति सायणाभिमतः पाठः ।

३–(प्र० द्वि०) ' अश्रोणस्ते ', ' हविषा विधेममश्रामस्ते घृतेन जुहोमि ', (तृ०) ' तुर्यः ' इति पैप्प० सं० ।

४–'गोभ्य उत पूरुषेभ्यः,' 'ज्योगेव दृशेव सूर्यम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नः) हमारी (मात्रे) माता को (स्वस्ति) सुख हो, (उत) और (पित्रे) पिता को सुख हो, (गोभ्यः) गौओं और (जगते) जगत् के हितकारी (पुरुषेभ्यः) पुरुषों सब जीवों के लिये (स्वस्ति) सुख और शान्ति प्राप्त हो । (विश्वं) समस्त संसार या उक्त सब मिलकर (नः) हमारे लिये (सुभूतं) सुखयुक्त उत्तम पदार्थों से सम्पन्न (सुविदत्रं) उत्तम ज्ञानों से सम्पन्न हों और हम (ज्योक् एव) चिर काल तक अपनी चक्षुओं से (सूर्यं) सूर्य और ज्ञान के प्रकाशक परमेश्वर का (दृशेम) दर्शन करें ।

[३२] ब्रह्म का विवेचन ।

ब्रह्मा ऋषिः । द्यावापृथिवी देवते । ब्रह्मसूक्तम् । १, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः, २ ककुम्मती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इदं जनासो विदथं महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

भा०—हे (जनासः) उत्पन्न होने वाले जीवो ! आप लोग (इदं) इस समस्त संसार के मूलकारण का (विदथ) ज्ञान करो । इसके (महत्) पूर्ण ज्ञान को (ब्रह्म) वेद ही (वदिष्यति) वर्णन करेगा । (तत्) वह मूलकारण (पृथिव्यां) पृथिवी=भूलोक में भी (न) नहीं है, (दिवि) सूर्यलोक और सूर्य के समान अन्य प्रकाशमय लोक में भी वह (नो) नहीं है । वह, वह पदार्थ है (येन) जिससे (वीरुधः) विविध प्रकार से उत्पन्न होने हारे, लता वनस्पति सस्य आदि के समान ये समस्त जीव (प्राणन्ति) प्राण धारण करते हैं ।

[३२] १–' विदथं ' इति पैप्प० सं० ।

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥ २ ॥

भा०—(श्रान्तसदाम् इव) जीवन मरण के चक्र से थककर विश्राम लेने वाले मानो (आसां) इन जीवरूप चेतन शक्तियों का (स्थाम) स्थिति प्राप्त करने का आराम करने का, विश्राम स्थान (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में है । (अस्य) इस (भूतस्य) उत्पन्न हुए समस्त संसार के (स्थानम्) आश्रयभूत परमशक्ति के (तत्) उस स्वरूप को (वेधसः) ये विद्वान या सृष्टि के रचना करने हारे पञ्चतत्व भी (न वा विदुः) कदाचित् नहीं जानते हैं ।

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

भा०—(समुद्रस्य) समुद्र की ओर जाने वाली (स्रोत्याः, इव) महानदियों के समान (तत्) वह, समस्त संसार का मूलकारण रूप (अद्य) आज के समान (सर्वदा) सब कालों में सदा (आर्द्रं) भरा पूरा रहता है (यत्) जिसमें से (रेजमाने) सदा गतिशील, हे (रोदसी) द्यौलोक और (भूमिश्च) भूमि आप दोनों (निरतक्षतम्) अपनी सत्ता या चेतना का अनन्त भण्डार प्राप्त करती हो ।

२–(प्र०) 'अन्तिरिक्षंस्थाम', (च०) विदुष्कुर् [ष्टर्] शतोदनः [वेधसो नवा] इति पैप्प० सं० । 'आसां स्थाम स्थाम श्रान्त' इति वेबरकामितः पाठः ।

३–(द्वि०) 'नरचक्षतम्' (प्र०) 'यद्रोधसी' (च०) 'विदुरस्सेव क्षतंसि' [?] इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'भूमेश्च' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

विश्वमन्यामभीवारं तदन्यस्यामधिश्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वं) समस्त विश्व को (अभि वारं) सब ओर से आच्छादन करने वाली (अन्यां) उससे अतिरिक्त कए प्रकृति को हम लोग जानते हैं। (तत्) और वह अतिरिक्त सत्ता, भी (अन्यस्या) इससे भी अतिरिक्त ब्रह्मशक्तिमें (अधिश्रितम्) आश्रित हैं। हम (विश्ववेदसे) उस समस्त पदार्थों या ब्रह्माण्ड का ज्ञान कराने हारे (दिवे च) द्यौः प्रकाशमान, (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी, सर्वाश्रय को भी (नमः) नमस्कार (अकरम्) करता हूं।

[३३] मूल कारण 'आपः' और आप्तजनों का वर्णन।

'सर्वकारणमाप' इति ज्ञानवान् शंतातिर्ऋषिः। चन्द्रमा उत आपो देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥१॥

पूर्वार्धः ऋ० ७। ३४९। ३।

भा०—(यासु) जिनमें (सविता) सब का प्रेरक परमात्मा (जातः)

४–(प्र० द्वि० तृ०) विश्वमन्याऽभिवार विश्वमन्यास्यामधिश्रितं। दिवे च विश्वविधसे इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'अभिवारस्तद्' इति सायणाभिमतः पाठः। 'विश्वमन्याऽभिवावृवे' इति आप०। अभिऽइवऽआर=अभिवाऽऽर' इति वेबर कामितः पदच्छेदः (तृ०) 'अभिवार' इति पदपाठः।

३३] १–(द्वि०) 'यासु जातः कश्यपो यास्विन्द्रः।' इति पैप्प० सं०, तै० सं०। दधिरे विरूपास्ताः, इति तै० सं०।

चित् रूप से, जीवनशक्ति द्वारा, समस्त जीव संसार को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ और (यासु) जिनमें (अग्निः) अग्नि विद्युत् या उसके समान ज्ञानी, नेता राजा है, (याः) जो 'आपः' आप्तजन (अग्निं) अग्नि तुल्य राजा को अपने (गर्भं) भीतर, गर्भ में ही (दधिरे) धारण करते हैं (ताः) वे (सुवर्णाः) उत्तम रूप वाली, वरण करने योग्य (हिरण्यवर्णाः) हितकारी और रमणीय, हृदय को प्रिय और (शुचयः) शुद्ध, कान्तिमय (पावकाः) अग्नि के समान स्वयं मलशोधक, पवित्र (आपः) 'आपः' आप्तजन (नः) हमें (शं) कल्याणकारी (स्योनाः) सुखकारी (भवन्तु) हों ।

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
या अग्नि० ॥ २ ॥

भा०—(यासां) जिनके (मध्ये) बीचमें (राजा) सबका अनुरंजन करने वाला या प्रकाशमान (वरुणः) सबसे श्रेष्ठ राजा के समान वरण करने योग्य, प्रभु (जनानां) समस्त प्राणियों के (सत्यानृते) सत्य और असत्य, पारमार्थिक और व्यावहारिक कर्मों को (अव पश्यत्) देखता है और (याः) जो (सुवर्णाः) उत्तम वर्ण वाले (आपः) 'आपः' आप्तजन (गर्भं) अपने को ग्रहण करने में समर्थ (अग्निं) अग्नि को (दधिरे) धारण करते हैं (ताः-आपः) वे आप्तजन (नः) हमें (शं, स्योनाः) कल्याणकारी और सुखकारी (भवन्तु) हों ।

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥३॥

भा०—(यासां) जिनका (भक्षं) भोग खाद्य (देवाः) वायु, मेघ, सूर्य, रश्मि आदि दिव्य पदार्थ (दिवि) अपने प्रकाशमय सामर्थ्य में (कृण्वन्ति)

२—(द्वि०) 'अवपश्यत् जनानाम्' इति सन्धिरहितः पाठः ((श० पा०)
३—'याः पृथिवीं पयसोन्दुन्ति शुक्राः' इति तै० सं० ।

उत्पन्न करते हैं (याः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (बहुधा) बहुत से रूपों में (भवन्ति) प्रकट होती हैं (याः सुवर्णाः, अग्निं गर्भं दधिरे) जो उत्तम वर्ण=सामर्थ्य से युक्त (आपः) अपने ग्रहणकारी सामर्थ्यवान्, अग्नि तेज को भीतर धारण करती है (ताः आपः नः शं स्योनाः भवन्तु) वे 'आपः' हमें कल्याण और सुखकारी हों। अन्तरिक्ष=राष्ट्र, भक्ष=कर।

शिवेन॑ मा चक्षु॑षा पश्यतापः शि॒वया॑ त॒न्वोप॑ स्पृशत त्वच॑ मे ।
घृ॒त॒श्चुत॒ः शुच॑यो॒ याः पा॑व॒कास्ता न॒ आप॒ः शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥४॥

भा०—हे (आपः) 'आपः' प्राप्त करने योग्य आप्तजन ! (मा) मुझको आप लोग (शिवेन) सुख, कल्याण, युक्त (चक्षुषा) चक्षु से (पश्यत) देखो ! और (शिवया) कल्याणकारी (तन्वा) स्वरूप से (मे) मेरी (त्वचं) त्वचा को (उपस्पृशत) स्पर्श करो। (याः) जो आप (शुचयः) कान्तिमय, शुद्ध (घृतश्चुतः) कान्ति, तेज को देने वाले और स्नेह के देने वाले (पावकाः) पवित्रकारी हैं (ताः, आपः) 'आपः' वे आप्तजन (नः) हमें (शं स्योनाः) कल्याण और सुख कारक (भवन्तु) हों।

---

[३४] मधुलता के दृष्टान्त से ब्रह्म विद्या और मातृशक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। मधुवनस्पतिर्देवता। मधुवनस्पतिस्तुतिः। अनुष्टुप् छन्दः।
पञ्चर्चं मधुकमणिसूक्तम्।

इ॒यं वी॒रुन्मधु॑जाता॒ मधु॑ना त्वा खनामसि ।
मधो॒रधि॒ प्रजा॑तासि॒ सा नो॒ मधु॑मतस्कृधि ॥ १ ॥

४—(तृ०) 'घृतश्चतः' [?] इति पैप्प० सं०। शिवेनत्वा चक्षुषा पश्यन्त्वापः' इति आप० म० प०।

भा०—(इयं) यह (वीरुत्) विशेप रूप से निरन्तर बढ़ने वाली या प्रकट होने वाली, ब्रह्मविद्या या लता के समान वीर्य को जन्म देने हारी (मधुजाता) मधु=अमृतमय ब्रह्म से उत्पन्न हुई या प्रेम से प्राप्त हुई है। अतः हे ब्रह्मविद्ये या प्रिये प्रेयसि ! (त्वा) तुझको (मधुना) अमृत रूप जीव द्वारा या प्रेम द्वारा (खनामसि) श्रम से खोद कर प्राप्त करते हैं। क्योंकि तू (मधोः) मधुरूप परमात्मा से या स्नेह से (अधि प्रजातासि) साक्षात् उत्पन्न हुई है अतः वह तू (नः) हमें (मधुमतः) आत्मज्ञान से स्नेह से युक्त, (कृधि) करदे। लतापक्ष में—'मधुलता' को हम मधुररस के निमित्त खोदते हैं। मधुररस से ही वह विशेष उत्तम गुणकारी भी होती है, वह हमें सुखयुक्त करे।

जि॒ह्वाया॒ अग्रे॒ मधु॑ मे जि॒ह्वामू॒ले म॒धूल॑कम् ।
ममेद॒ह क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाया॑सि ॥ २ ॥

भा०—हे लतास्वरूप ब्रह्मविद्ये या वीजजन्मदात्रि प्रिये ! (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) अग्रभाग में (मधु) ब्रह्मज्ञान रहे और (जिह्वामूले) जिह्वा के मूलभाग मानस में भी (मधूलकम्) अति अधिक मधुर मनोहर ज्ञानामय संग्रह हो। हे ब्रह्म विद्ये ! (मम) मेरे (क्रतौ) क्रियावान् कर्ता रूप आत्मा में (इत् अह) अवश्य ही (असः) तू विद्यमान रह। और (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में भी (उपायासि) व्याप्त रह। लता पक्ष में मधुलता मन, शरीर में पुष्टि, आरोग्यता और स्वरमाधुर्य और मानस बल का सम्पादन करे। स्त्रीपक्ष में मधु=स्नेह।

---

[३४] २–'जिह्वायाग्रे मे मधु', (तृ० च०) यथामां कामिन्यसो यंवाचामामन्वायरि इति पैप्प सं०।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥ ३ ॥

पूर्वार्धः, ऋ० १० । २४ । ६ ॥

भा०—(मे) मेरा (निक्रमणं) कार्यों में प्रवृत्त होना या जाना (मधुमत्) मधु के समान मधुर, सुखकर हो । (मे परायणम्) मेरा कार्यों के समाप्ति तक पहुंचना या पुनः आना भी (मधुमत्) सुखकारी हो । (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधु के समान मनोहर, प्रेमयुक्त वचन (वदामि) बोलूं । और मैं सब प्रकार से (मधुसंदृशः) मधु के समान ही देखने और दीखने हारा (भूयासं) होजाऊं अथवा मधुर दृष्टि वाला होऊं ।

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।
मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

भा०—हे जनो ! मैं (मधोः) मधु से भी (मधुतरः) अधिक प्रिय, चित्तहारी (अस्मि) हूं (मधुदुघात्) ज्ञानरूप मधु के संचय करने हारे विद्वान् से भी (मधुमत्तरः) अधिक ज्ञान-मधु का संग्रह करने वाला हूं । हे पुरुष ! जिस प्रकार (मधुमतीं) मधु से युक्त (शाखां) शाखा या लता को रस का इच्छुक प्राणी सेवन करता है उस प्रकार (मामित्) मुझको

३–'विदानि' इति ह्विट्निकामितः पाठः । 'मधुमन्मे परायणं मधुमत्पुनरायणम् । तानो देवा देवता पुनरावहतादिति ' इति ऋ० । (तृ० च०) 'वाचा मधुमद् उभ्यामभक्षो मे मधुसंदृशि ।' इति पैप्प० सं० ।

४–(प्र० द्वि०) मधोरहं मधुतरो मधुमान् मधुमत्तरः' इति पैप्प० सं० । मधुवादिति क्वाचित्कः पाठः ।

ही (किल) निश्चय से (त्वं) तू (वनाः) सेवन कर । गृहपक्ष में पति का स्त्री के प्रति वचन है । मधु=स्नेह ।

परि॑ त्वा परित॒त्नुने॒क्षुणाग॑मा॒मवि॑द्विषे ।
यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑: ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रिये ! पत्नि ! (त्वा) तुझको (परितत्नुना) सब ओर फैलते हुए, विस्तृत (इक्षुणा) गन्ने के समान मधुर या ईक्षण=दर्शन करने वाले नयन, या इच्छाशील चित्त से तेरे सहयोग में मैं (अविद्विषे) तुझसे कभी द्वेष न करने एवं सदा प्रेम व्यवहार करने के लिये ही (परि आगाम्) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं और ऐसा व्यवहार करूं कि (यथा) जिस प्रकार तू (मां) मुझको (कामिनी) कामना करने हारी (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार तू (मत्) मुझसे (अपगा) दूर, पृथक् (न असः) न हो ।

---

[३५] दीर्घ जीवन का उपाय ।

आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः । हिरण्यं देवता । १–३ अनुष्टुभः । ४ अनुष्टुब्गर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यदाब॑ध्नन् दाक्षाय॒णा हिर॑ण्यं श॒तानी॑काय सुमन॒स्यमा॑नाः ।
तत्ते॑ बध्नाम्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑य दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥ १ ॥

यजु० ३४ । ५२ ॥

५–(द्वि०, तृ०) ' यक्षुणा: कामविद्विषे । यथा न विद्मावद्वि न विभाव कदाचन [?] ' इति पैप्प० सं० ।

[३५] १–' तन्म आबध्नामि शत शारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासम् ' इति यजु० ।

भा०—ब्रह्मचर्यसाधना का उपदेश करते हैं। (दाक्षायणाः) दक्ष रूप आत्मा के आश्रय पर रहने वाले योगी लोग (सुमनस्यमानाः) शुभ संकल्प वाले होकर (शतानीकाय) सैकड़ों अनीक, बल, सामर्थ्यो और आयु के शत वर्षों तक जीने हारे देह के लिये (हिरण्यं) हितकारी और अति रमणीय (यत्) जिस वीर्य को (आ बध्नन्) विषयों में नष्ट होने से रोक कर उसकी रक्षा करते हैं (तत्) उसको मैं आचार्य (ते) तुझ शिष्य के (आयुषे) आयु, (वर्चसे) तेज, (बलाय) बल और (शतशारदाय) सौ वर्षों तक के लम्बे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (बध्नामि) अपने अधीन व्रत रूप में नियत या व्यवस्थित करता हूं।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥

यजु० ३४ । ५१ ॥

भा०—(एनं) वीर्य की रक्षा करने हारे ब्रह्मचारी को (रक्षांसि) विघ्नकारी दुष्टभाव और ज्वरादि पीड़ाएं और (पिशाचाः) मांसभोजी पुरुष और दुर्बल करने हारे रोग कभी (न) नहीं (सहन्ते) दबाते, क्योंकि (एतत्) यह वीर्यरूप सुवर्ण, कान्तिकारी मूल पदार्थ (देवानां) समस्त इन्द्रियों में और विद्वानों में (प्रथमजं) सबसे पूर्व और श्रेष्ठ (ओजः) ओज, तेज रूप है। (यः) जो ऊर्ध्वरेता पुरुष (दाक्षायणं) मुख्य प्राण में आश्रित इस (हिरण्यं) हितकारी, रमणीय, पदार्थ शुक्र को (बिभर्त्ति) यत्न पूर्वक धारण, रक्षा करता है (सः) वह (जीवेषु) जीवों में (आयुः)

२—न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति, देवानामोजः प्रथमं ह्येतत्। यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुतेदीर्घमायुः। समनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः।' इति याजुषोमन्त्रपाठः।

अपने आयु, जीवन काल को (दीर्घं) बहुत लम्बा, अधिक (कृणुते) करलेता है ।

" ओजो हि शरीरधारको बलहेतुरष्टमो धातुविशेषः । "

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो
बिभरुद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (इन्द्रियाणि इव) जिस प्रकार इन्द्रियों को बल धारण कराता है उसी प्रकार (अपां) जलों का (तेजः) निर्मलता आदि सामर्थ्य (ज्योतिः) कान्ति, (ओजः) ओज (बलं) बल (च) और (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों या प्राणों के (उत) भी (वीर्याणि) रसादि सामर्थ्यों को हम (अस्मिन्) इस ब्रह्मचारी में (धारयामः) धारण कराते हैं। यह ब्रह्मचारी (दक्षमाणः) बल और शौर्य में बराबर वृद्धि करता हुआ (तत्) उस परम (हिरण्यं) वीर्य को (बिभरत्) धारण करे ।

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

भा०—(वयं) हम आचार्यगण (त्वा) तुझ ब्रह्मचारी को (समानां) बहुत वर्षों और (मासानां) मासों और (संवत्सरस्य) पूर्ण वर्ष के (पयसा) पयस्=पुष्टिकारक सारभूत सामर्थ्य से और (ऋतुभिः) नाना ऋतुओं के बल से (पिपर्मि) तपद्वारा पूर्ण करते हैं। (इन्द्राग्नी) इन्द्र परमेश्वर और अग्नि तुम्हारा मुख्य आचार्य दोनों और (विश्वेदेवाः) समस्त उपस्थित विद्वान्

३–' इन्द्र इवाधिधारयामो ' इति व्यङ्गः पाठः ह्विटनिकामितः ।

४–' ऋतुभिस्त्वाऽहम् संव० ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

पुरुष (अहृणीयमानाः) संकोच रहित होकर (ते) तुझे इस उत्तम कार्य के निमित्त (अनुमन्यन्ताम्) अनुमति दें ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि सप्त, ऋचश्चैकत्रिंशत्]

प्रथमं काण्डं समाप्तम् ।

[पञ्चत्रिंशच्च सूक्तानि त्रिपञ्चाशत् शतं ऋचः]

रामवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे माघे मासि बुधे दिने ।
दर्शेत्वथर्वणः काण्डं प्रथमं पूर्तिमभ्यगात् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये प्रथमं काण्डं समाप्तम् ।

ओ३म्

अथ द्वितीयं काण्डम्

[१] परमात्मदर्शन ।

ब्रह्म, वेनश्च ऋषिः । ब्रह्मात्मा देवता । १, २, ४ त्रिष्टुभः । २, जगती ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्य/नूषत व्राः ॥ १ ॥
यजु० ३२ । ८ ॥

भा०—(यत्) जो (गुहा) गुहा में, हृदय में और समस्त ब्रह्माण्ड रूप गुहा में व्यापक (परमं) सर्वोत्कृष्ट (तत्) उस परमेश्वर के रूप को (वेनः) ज्ञान ज्योतिर्मय विद्वान्, योगी (पश्यत्) साक्षात् करता है (यत्र) जिसमें (विश्वं) समस्त संसार (एकरूपम्) एकरूप, प्रलय काल में एकाकार (भवति) होजाता है, (पृश्निः) जिस प्रकार सूर्य इस लोक का रस आदान कर लेता है उसी प्रकार (पृश्निः) आनन्द-रस को स्पर्श करने हारा आदित्य योगी (इदं) इस समस्त जगत् के विज्ञान को (अदुहत्) रस रूप में प्राप्त कर लेता है । और (जायमानाः) उत्पन्न होते हुए सिद्ध, (व्राः) उसको ध्येय रूप से वरण करने वाले मुक्त जीवगण भी

---

[१] १–'वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । तस्मिन्निन्द्रं संच विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु इति यजु० । तत्र स्वयंभु ब्रह्म-ऋषिः । परमात्मा देवता । (प्र०) 'वेनस्तत् पश्यन् परंपदम्' (द्वि०) भवत्येक नडम्' (तृ०) 'इदं धेनुरदुहद्' (च०) स्वर्विदोऽभ्यनुत्ति.विराट् इति पैप्प० सं० ।

(स्वर्विदः) प्रकाशस्वरूप उस मोक्षसुख को जान कर या प्राप्त करके उसी ब्रह्म को (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

प्र तद् वो॑चेद॒मृत॑स्य वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत् ।
त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुष्पि॒तास॑त् ॥२॥

यजुः ३२ । ९ ॥

भा०—(अमृतस्य) उस अमृतस्वरूप ब्रह्म को (विद्वान्) जानने हारा (गन्धर्वः) रश्मियों को धारण करने हारे सूर्य के समान वेद-वाणियों का धारण करने हारा, वेदज्ञ, आदित्ययोगी, ज्ञान का सूर्य है । वह (तत्) उस परब्रह्म का (प्रवोचेत्) उत्तम रूप से उपदेश करे । (यत्) जो (गुहा) हृदय गुफ़ा या ब्रह्माण्ड गुफ़ा या प्रकृति शक्ति में (परमं) सब से श्रेष्ठ (धाम) धारणशील तेजःस्वरूप है । (अस्य) इस परमेश्वर के (त्रीणि पदानि) तीन स्वरूप, तीन चरण, (गुहा) हृदय गुफ़ा या प्रकृति में (निहिता) व्यक्त रूप से रखे हैं । तीन पाद जैसे—जगत् के सर्ग, स्थिति, प्रलय या तीन वेद या तीन काल या विज्ञानघन, आनन्द, सत्यसंकल्पादि या सत्, चित्, आनन्दरूप या परब्रह्म, अन्तर्यामि और अव्याकृत विज्ञानात्मरूप अथवा विराड्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन या प्रणव के तीन अवयव अ, उ, म् । और इन से गम्यमान विश्व, तैजस, प्राज्ञ और समष्टि रूप से विराट् आदि तीन रूप हैं । (यः) जो परम विद्वान् पुरुष (तानि) उक्त ब्रह्म के तीन लक्षणों को और उसके चतुर्थ अमात्र रूपको भी (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः) पिता का भी (पिता)

२—(प्र०) 'प्रतद्वोचेदमृतंनुविद्वान्' (द्वि०) 'परमं गुहासत्' इति यजु० ।
(प्र०) पृथवग्वोचेदमृतमस्य (तृ०) त्रीणिपदा निहता गुहासु,
(च०) यस्तद्वेदसवितुः पितासत् इति पैप्प० सं० ।

पिता (असत्) है। अर्थात् ज्ञानी को आदर से उसके मूर्ख पिता भी अपने पिता के समान जानते हैं। जैसा मनु में—

"अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥

आङ्गिरस ने अपने पिताओं को ज्ञान के बल से सावित्री के गर्भ में लेकर पढ़ाया और उनको 'पुत्रो' ऐसा पुकारा। वे क्रुद्ध होकर देवों से पूछने गये और देवों ने बालक के सम्बोधन को ही उचित कहा। (मनु० २। १५१, १५२)

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥३॥

ऋ० १०। ८२। ३। यजु० ३२। १०॥

भा०—(सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (पिता) पालक (जनिता) और उत्पादक है (स उत) और वह ही हमारा (बन्धुः) सबको प्रेम में बांधने वाला, सहायक है, जो (विश्वा) समस्त (धामानि)

३—सनो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवाः अमृतमानशानास्तृतीयेधामन्यध्यैरयन्त। इति यजु०। तत्रस्वयम्भुब्रह्म-ऋषिः परमात्मा देवता। (प्र०) 'स नो बन्धुर्जनिता स विधर्ताधर्माणि वेद' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'योनः पिता, जनिता यो विधाता धामानि' (तृ०) देवानां नामधा (च०) भुवनायन्त्यन्या इति ऋ०। ऋग्वेदे विश्वकर्मा भौवन ऋषिर्विश्वकर्मा देवता।

धारण-सामर्थ्यों, स्थानों, नामों और मूलकारणों को और (भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने हारे लोकों, पदार्थों को (वेद) जानता है और जनाता है। (यः) जो स्वयं (देवानां) समस्त देवों, दिव्यगुण वाले पदार्थों के (नामधः) नामों को भी स्वयं ही सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण धारण करने हारा (एक एव) एक अद्वितीय है। (संप्रश्नं) उत्तम रीति से गुरु के समीप शिष्य रूप से प्रश्न कर उसके उपदेश से जानने योग्य (तं) उस परमात्मा को ही (सर्वा) समस्त (भुवना) लोक और समस्त भूतवर्ग (यान्ति) प्राप्त हैं, उसी में ओत प्रोत हैं। जैसा पूर्व मन्त्र के याजुष पाठ में लिखा है "स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु" वह प्रजाओं में सर्वव्यापक होकर उरोया पिरोया हुआ है।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः ॥ ४ ॥

यजु० ३२। ११, १२ इत्यनयोर्व्यत्यस्ता पादाः ॥

भा०—परमेश्वर स्वयं अपना स्वरूप बतलाता है कि मैं (सद्यः) इस संसार के उत्पन्न होने के पूर्व से ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड के (परि) ऊपर अधिष्ठाता रूप (आयम्) सर्वत्र व्यापक हूं और (ऋतस्य) इस सत् स्वरूप व्यक्त जगत् के भी (प्रथमजाम्) प्रथम विद्यमान मूलकारण प्रकृति को भी मैं ही (उप-आ तिष्ठे[1]) अपने वश करता हूं। मैं ही (भुवनेष्ठाः) समस्त संसार में

४—परिविश्वा भुवनान्ययमुपाचष्टे प्रथमजामृतस्य। वाचमिव यत्परिभुवनेष्ठाः धास्नेपण [नन्वे] त्वेवो अग्निः। इति पैप्प० सं०। परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा (यजु० ३२। १२ प्र०) उपस्थाय प्रथमजामृतस्य (यजुः ३२। ११ तृ०)

१. 'उप आऽतिष्ठे', उपऽअतिष्ठे इत्युभयथा पदपाठः। उपातिष्ठे इतिकाचित्कः पाठः।

व्यापक परमात्मा (वक्तरि) वक्ता पुरुष में (वाचं) वाणी के (इव) समान (धास्युः) धारण करता हूं। (ननु) निश्चय से (एषः) वही परमात्मा (अग्निः) सब का प्रकाशक, ज्ञानवान् और सब के आगे विद्यमान सब का आदिकारण है।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

भा०—मैं परमेश्वर (ऋतस्य) सत्स्वरूप इस जगत् के परम कारण रूप (तन्तुं) इसको विस्तार करने वाले या निरन्तर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करके पुनः सर्जन करने हारे (विततं) विशेष रूप से सर्वत्र व्यापक अपने उस (कं) सुखस्वरूप का (दृशे) मानस प्रत्यक्ष कराने के लिये (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों के (परि) ऊपर विराजमान मोक्षाख्य स्थान पर (आयम्) प्राप्त हूं (यत्र) जहां (देवाः) मुक्त विद्वान्गण, और दिव्य सूर्य आदि पदार्थ (अमृतं) मोक्षाख्य अमृत परम ब्रह्मानन्द सुख को (आनशानाः) भोग करते हुए (समाने) समान, एकरस (योनौ) परम कारण, परम आश्रय, ब्रह्म में (अधि-ऐरयन्त) लीन होजाते हैं।

५–'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्' इति (यजुः ३२ । ११ प्र०) ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य (यजुः ३२ । १२ तृ०) (च०) तृतीये धामन्नध्यै० इति यजु० (३२ । १० च०) (च०) समाने धामन्नध्यै इति पैप्प० सं० । (प्र०) परिद्यावापृथिवी सद्यऽऽयम् (तृ०) देवो देवत्वमभिरक्षमाण समान बन्धुमुपारिच्छदेकः इत्यपि पैप्प० सं० ।

[२] गन्धर्व, परमात्मा और उसकी शक्तियां ।

मातृनामा ऋषिः । गन्धर्वाप्सरसो देवताः । १ विराड् जगती, २, ३ त्रिष्टुभौ, ४ त्रिपदा विराड्नाम गायत्री, ५ भूरिग् अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो॑ वि॒क्ष्वीड्यः॑ ।
तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दिव्य देव॒ नम॑स्ते अस्तु दि॒वि ते॑ स॒धस्थ॑म् ॥१॥

भा०—(दिव्यः) सर्वत्र रमणशील, प्रकाशस्वरूप विद्वानों और ध्यान योगियों के रमण करने योग्य (गन्धर्वः) समस्त गतिमान पदार्थ, सूर्य पृथिवी आदि पिण्डों एवं वेदवाणी को धारण करने हारा (यः) जो (भुवनस्य) समस्त जगत् का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) पालक है वह ही (विक्षु) समस्त प्रजाओं में (ईड्यः) स्तुति करने और नमस्कार करने योग्य है । हे (दिव्य) विद्वानों के एकमात्र रमणयोग्य, (देव) सर्व-प्रकाशक परमेश्वर (तं त्वा) उस तुझको (ब्रह्मणा) वेदमय ज्ञान से (यौमि) प्राप्त होता हूं और (दिवि) ज्ञानमय मोक्षरूप परम धाम में (ते) तेरा ही (सधस्थम्) सत्संग (अस्तु) मुझे प्राप्त हो । भगवन् (ते नमः) तुझे मेरा नमस्कार है ।

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो दैव्य॑स्य ।
मृ॒डाद् ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः॑ सु॒शेवाः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (भुवनस्य) समस्त संसार का (एक एव) एक ही (पतिः) पालक है वह (गन्धर्वः) वेदवाणी का पालक (दिवि) मोक्षधाम में (स्पृष्टः) प्राप्त होने योग्य (यजतः) स्तुति, पूजा

[२] १–(तृ०)'देव दिव्य' इति पैप्प० सं० ।
२–'दिवस्पृष्टो' इति पैप्प० सं० ।

करने योग्य (सूर्यत्वग्) सूर्य आदि पदार्थों को भी आच्छादित करने हारा, एवं सूर्य के समान ज्योतिर्मय है । वह (दैव्यस्य) दिव्य पदार्थों के भी (हरसः) तेज को (अवयाता) मात करता है, वही (सुशेवाः) उत्तम सुख-सम्पन्न आनन्दघन (नमस्यः) वन्दना योग्य परमेश्वर हमें (मृडात्) सुखी करे ।

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥३॥

भा०—(अप्सरासु) समस्त लोकों में फैलने वाली शक्तियों में (अपि) भी (गन्धर्वः) वही गन्धर्व, शक्तिधर उनका स्वामी (आसीत्) विद्यमान है । वह (अनवद्याभिः) अनिन्दनीय, निर्दोष, नियम-व्यवस्था से सम्पन्न (आभिः) इन जगन्नियामक शक्तियों के (सम्, जग्मे, उँ) साथ मिलकर तन्मय हो रहा है । (समुद्रः) जो परमात्मा इन सब लोकों का उद्भवस्थान है वही (आसां) इनका (सदनं) आश्रयस्थान भी है । (मे) मुझको वेद द्वारा ऋषिगण इसी प्रकार (आहुः) उपदेश करते हैं कि (यतः) जिससे उत्पन्न होकर ये शक्तियां (आयन्ति च) सर्वत्र फैलती हैं (च) (परायन्ति) वे पुनः उसीमें लीन होजाती हैं । जैसे उपनिषद् में लिखा है-" य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । एक जालवान् अपनी शक्तियों से समस्त लोकों को वश किये हुए है । गन्धर्वों और अप्सराओं का विवेक यजुर्वेद (अ० १८ । मं० ३८-४३) में स्पष्ट किया है ।

गन्धर्व	अप्सराएं
ऋताषाड् ऋतधामा अग्निः	मुदः, ओषधयः

३-(प्र०) समुजग्माभि रप्सराभिरपि', (तृ० च०) 'समुद्रासां सदनमाहुस्ततस्सद्य उपाचरयन्ति' इति पैप्प० सं० ।

संहिता विश्वसामा सूर्यः	आयुवः, मरीचयः
सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमाः	भेकुरयः, नक्षत्राणि
इषिरो विश्वव्यचाः वातः	ऊर्जः, आपः
भुज्युः सुपर्णः यज्ञः	स्तावाः, दक्षिणाः
प्रजापतिः विश्वकर्मा मनः	एष्टयः, ऋक्सामानि

साधारणतः गन्धर्व पुरुष और अप्सरा स्त्री में भी यह मन्त्र संगत है।

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवीः) दिव्य गुण युक्त ! हे (अभ्रिये) अभ्र=मेघ में निवास करने हारी एवं हे (दिद्युत्) निरन्तर प्रकाशमान सूर्यप्रभे ! हे (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में विद्यमान शक्तियो ! आप (याः) जो (विश्वावसुं) समस्त लोकों में व्यापक (गन्धर्वं) ज्ञान और सूर्यों के धारक परमेश्वर के साथ (सचध्वे) संयुक्त हो (ताभ्यः वः) उन आपका (नमः, इत्) आदर (कृणोमि) करता हूं। अथवा आपका सत् उपयोग करता हूं।

याः क्लन्दास्तमिषीचयो॑ऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

भा०—(याः) जो अप्सरायें, स्त्रियें (क्लन्दाः) दुःखदायिनी (तमिषीचयः) ग्लानि कराने वाली, घृणाजनक रूप और कर्मवाली, (अक्षकामाः) इन्द्रिय विषयों को ही चाहने वाली (मनोमुहः) मन को रूप आदि से मोहने वाली हैं (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गान वाद्यप्रिय पुरुषों का पालन करने हारी (अप्सराभ्यः) रूपवती स्त्रियों या शक्तियों को भी (नमः) परित्याग रूप नमस्कार (अकरम्) करता हूं।

५—'तामिषीचयोऽक्षिकामाः' इति पैप्प० सं० ।

इसी प्रकार उन भौतिक शक्तियों को भी मैं (नमः, अकरम्) अपने वश करता हूं (याः रुलन्दाः) जो प्रजा को पीड़ा देकर रुलातीं, (तमिषीचयः) अन्धकार करतीं या चक्षुशक्ति का नाश करतीं, (अक्षकामाः) इन्द्रियों में उत्तेजना उत्पन्न करतीं और (मनोमुहः) मन में भ्रम डालकर उसको तामसिक करती है।

[३] आस्राव रोग का उपचार।

अंगिरा ऋषिः। भैषज्यायुर्धन्वन्तरिर्देवता। १-५ अनुष्टुभः, ६ निपात् स्वराट् उपरिष्टान्महाबृहती। षड्र्चं सूक्तम्॥

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात्।
तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि॥ १॥

भा०—(अदः) वह (यत्) जो (पर्वतात् अधि) पर्वत से नीचे २ (अव धावति) फैलती है और (अवत्कम्) पर्वत की रक्षा सी करती है हे ओषधे! (तत्) उस (ते) तुझको मैं सद्वैद्य (भेषजं) रोग के दूर करने में समर्थ (कृणोमि) इस विधि से बनाता हूं कि (यथा) जिस प्रकार से तू (सुभेषजं) उत्तम रीति से रोग दूर करने में समर्थ (असति) हो जाता है।

आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम्॥ २॥

[३] १-(प्र०) 'यदवधावसि' इति क्वाचित्कः पाठः। (च०) 'यथासति' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

२-(प्र०, द्वि०) 'आदङ्गारशतं यद्भेषजानि ते सहस्रं वा च यानि ते', (च०) 'अनास्रावमरो हरणम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(अङ्ग) हे ओषधे ! (आत्) प्रयोग करने के अनन्तर और (अङ्ग) हे ओषधे ! (कुवित्) नाना प्रकार की (या) जो (ते) तेरी सजातीय (शतं) सैकड़ों (भेषजानि) रोगहारी ओषधियां हैं (तेषां) उनमें से भी (त्वं) तू (अनास्रावं) अतीसार, अतिमूत्र और नाड़ीव्रण आदि का नाशक और (अरोगणम्) शरीर की पीड़ा और देह के टूटने के कष्ट को निवारण करने में (उत्तमम्) सबसे अधिक गुणकारी है। वैद्य इसी प्रकार विचार कर ओषधि का निर्णय करे।

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

भा०—(असुराः) असु=प्राण का दान करने हारे प्राणाचार्य वैद्यगण इस ओषध को (नीचैः) खूब गहरा (खनन्ति) खोद कर लाते हैं। क्योंकि (इदं) यह (महत्) बड़ा ही (अरुस्राणम्) व्रण को शीघ्र पका देता है। (तद्) वही (आस्रावस्य) अतिमूत्र, नाड़ीव्रण और अतिसार आदि रोगवर्ग की (भेषजं) उत्तम चिकित्सा है। (तद् उ) वह ही (रोगं) रोग=पीड़ाकर व्याधि को (अनीनशत्) विनाश कर देता है।

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

भा०—(उपजीकाः) वम्री=दीमक नाम के कीट (समुद्राद्) पृथिवी के भीतर के जलराशि से (भेषजं) औषध को (उद् भरन्ति) ऊपर ले आते हैं (तद्) वह भी (आस्रावस्य) अतीसार आदि की (भेषजं) अच्छी चिकित्सा है। (तद् उ) वह भी (रोगम्) देह की व्याधि को (अशीशमत्) शमन कर देता है।

४–(प्र०) 'उपचीका उद्भरन्ति', (तृ०, च०) 'अरुस्यानमस्य आथर्वणो रोगस्थानमस्याथर्वणम्' इति पैप्प० सं०।

इसी सम्बन्ध में पैप्पलादसंहिता में लिखा हैः—

" यस्य भूम्या उपचीका, गृहं कृण्वते त्मने ।
तस्य ते विश्वधायसो विषदूषणमुद्धरे ॥ "

अर्थात् जिस भूमि में दीमकें अपना घर उठाती हैं वहां से मैं विष के नाशक पदार्थ को प्राप्त करता हूं ।

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्धृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

भा०—(इदं) यह (महत्) बड़ी (अरुस्राणं) व्रण को पकाने वाली ओषध (पृथिव्या अधि) पृथिवी से (उद्भृतम्) खोदकर प्राप्त की है (तद्) वह (आस्रावस्य भेषजं) अतिसार व्रण आदि की ओषध है (तत् उ रोगम् अनीनशत) वह भी देहव्याधि का नाश करती है ।

शं नो भवन्त्वाप ओषधयः शिवाः । इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (आपः) जल (शं) कल्याण, सुखकारी (भवन्तु) हों और (ओषधयः) ओषधियाँ भी (शिवाः) सुखकारी हों । (रक्षसः) सुखसे वञ्चित करने वाले, रोगजनक कीटों को (इन्द्रस्य) सूर्य का (वज्रः) रोगनिवारक तेज (अपहन्तु) विनाश करे । (रक्षसाम्) उन दुःखदायी रोगकीटों पर (आराद्) दूर से (विसृष्टाः) फेंकी गई (इषवः) तीक्ष्ण किरणें (पतन्तु) पड़ें । अथवा—(रक्षसाम् इषवः आरात् पतन्तु) दुःखदायक रोगों के कष्टदायी प्रभाव हमसे सदा दूर ही रहें ।

५–' अरुस्पानमिदं महत् पृथिव्या अभ्युद्धृतम् ' इति पैप्प० सं० ।

६–' शंनो भवन्त्वपः ' इति पाठः शङ्करपाण्डुरंगसम्मतः । 'शंनो भवन्त्वापः' इति सायणाभिमतः ।

[४] जङ्गिड़ और शण दो प्रकार की सेनाएं !

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा जङ्गिडो वा देवता । जङ्गिडमणिस्तुतिः । १ विराट् प्रस्तारपंक्तिः । २–६ अनुष्टुभः । षड्चं सूक्तम् ॥

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जाङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥

भा०—हम (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु और (बृहते) बहुत बड़े (रणाय) आनन्दप्राप्ति या संग्राम के निमित्त (सदैव) सदा ही (दक्षमाणाः) प्रयत्न और ज्ञानशील होते हुए भी (अरिष्यन्तः) किसी की हिंसा न करते हुए (विष्कन्धदूषणं) शत्रुपक्ष के छावनी में हलचल मचा देने वाले, शत्रुपक्ष में फूट डाल देने वाले (जङ्गिडं) शत्रु को निगल जाने वाले (मणिं) मन्त्र=विचार या बनाये व्यूह को (बिभृमः) उत्तमरूप से सुरक्षित बना रखें । अभीवर्तमणि या अभीवर्त व्यूह का वर्णन पूर्व होगया है । सायण ने 'जंगिड' नामक बनारस में प्रसिद्ध किसी वृक्ष विशेष की मणि धारण करने परक अर्थ किया है, वैद्यक शास्त्र में वैसा वृक्ष अप्रसिद्ध है ।

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

भा०—(जाङ्गिडः) जङ्गिड नामक (मणिः) मननपूर्वक बनाया व्यूह (सहस्रवीर्यः) सहस्रों वीरों से युक्त होता है । वह (विश्वतः) सब प्रकार के शत्रु के (जम्भाद्) चारों तरफ डाले घेरे या आगे और पीछे से

[४] १–'रणाय ऋष्यन्तो ऋक्षमाणाः' इति पैप्प० सं० । 'रक्षमाणः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

आये आक्रमण (विशरात्) विशेष आघात और (विःकन्धात्) विशेष स्कन्धावार में स्थित सेना और (अभिशोचनात्) प्रत्यक्ष में आई उत्तेजना से या चारों ओर की पीड़ा से (नः) हमें (परि पातु) सब तरफ से बचावे।

अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्रिणः।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः॥ ३॥

भा०—(अयं) यह जङ्गिड व्यूह (विष्कन्धं) शत्रु के सैन्य को (सहते) परास्त करता है। (अयं) और यह (अत्रिणः) राष्ट्र के विध्वंस करने वाले आक्रामकों को (बाधते) पीड़ा देता है। (अयं) यह (नः) हमारे (विश्वभेषजः) विश्व=राष्ट्र को सुरक्षित दृढ़ करने और उसके दोष दूर करने का उत्तम उपाय है। वह (जङ्गिडः) शत्रु को हड़प कर जाने वाला व्यूह (नः) हमारी (अंहसः) पापाचार और पापाचारियों से (पातु) रक्षा करे।

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे॥ ४॥

भा०—(देवैः) विद्वान् पुरुषों, सेनानायकों द्वारा (दत्तेन) प्रदान किये, उपदेश किये हुए (मयोभुवा) कल्याणजनक (जङ्गिडेन) इस जङ्गिड व्यूह से (विष्कन्धं) शत्रु की सेना के आक्रमणों को और (व्यायामे) स्वयं शत्रु पर आक्रमण करने के उद्योग के अवसर में आने वाले (रक्षांसि) विघ्नकारियों को भी (सहामहे) हम वश कर लेते हैं।

३–'इदं विष्कन्धं सहते' इति क्वचित्कः पाठः। 'इदं विष्कन्धं साते' अयं रक्षोपबाधते। इति पैप्प० सं०।

४–(च०) 'व्यायसे सामहे' इति पैप्प० सं०।

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

भा०—(जङ्गिडश्च) जङ्गिड व्यूह और (शणश्च) शण सेना दोनों (मा) मुझ राष्ट्रपति की (विष्कन्धात्) विरुद्ध पक्ष के सेनाव्यूह से (अभिरक्षताम्) रक्षा करें । इन दोनों में भेद यह है कि (अन्यः) एक 'जङ्गिड' नामक सेनाव्यूह तो (अरण्याद्) जंगल के प्रदेश से (आभृतः) भरती किया जाता है (अन्यः) और दूसरा (कृष्याः) खेती में लगे जनता के (रसेभ्यः) सारवान्, बलवान् पुरुषों में से संग्रह किया जाता है । कृषि और अरण्य शब्द उपचार से वहां के वासी और उपजीवी जनों का वाचक है । अर्थशास्त्रों में भी 'सीता' आदि शब्द किसानों पर लगे कर आदि के वाचक प्रयुक्त होते हैं । शणः='शण, श्रणु दाने' और 'शण गतौ' (भ्वादि०) इन धातुओं से 'पचाद्यच्' करके 'शणः' । जो सेना वेतन देकर रखी जाती है वह 'शण' कही जाती है या जिसको विशेष नियमपूर्वक सेनापति की आज्ञा में चलना पड़े वह 'शण' सेना और दूसरी जांगलिक सेना जो राष्ट्र के समीपवर्ति प्रदेश में शत्रु का गुप्तघात करने में लगी रहे। वह जङ्गिड' नाम से कही जाती है । इस सम्बन्ध में कौटल्यकृत अर्थशास्त्र का आटविक बल सम्बन्धी प्रकरण देखना अभीष्ट है । अगले मन्त्र में इन दोनों प्रकार की सेनाओं के विशेष कार्य बतलाये हैं ।

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वाञ् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

५—' खणश्च त्वा जङ्गिडश्च ' इति पैप्प० सं० । ' अरण्यादन्याभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ।

६—' अथो अरातिदूषणः ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

भा०—(अयं) यह (मणिः) मन्त्रणा (कृत्यादूषिः) अपने साध्य शत्रु की प्रजा में भी फूट डाल देने वाली है और (अरातिदूषिः) कर न देने वाले शत्रु के बल में भी फूट डाल देने वाली है और यह (सहस्वान्) सब को परास्त करने हारा (जङ्गिडः) आटविक बल (नः, हमारे (आयूंषि) जीवनों को या प्रजाजनों को (प्र तारिषत्) उत्तम रूप से बचा लेता है ।

अध्यात्मपक्ष में—'अ जं आत्मानं गिलति आत्मसात् करोति इति जङ्गिडः= प्राणः । अत्र पूर्ववर्णलोपश्छान्दसः । (१) दीर्घायु प्राप्त करने और नाना (विष्कन्ध) रोग बाधाओं को दूर करने के लिये हम प्राण को धारण करें । (२) वही सहस्रवीर्य=सहनशील शक्ति से युक्त होकर शरीर में उत्पन्न जम्भ अर्थात् अङ्गों का अकड़ जाना विशर- अङ्गों का तीव्र पीड़ा से फटना, विष्कन्ध रोगों का नाना रूप से पीड़ा देना और अभिशोचन=प्रदाह इनको दूर करता है । (३) वह शरीर में या आमाशय और फेफड़ों में बैठे शरीर को खाने वाले कीटों का नाश करता है । (४) प्राणके व्यायाम अर्थात् दीर्घ करने अर्थात् विशेष २ प्राणायामों से सब रोगों को और जीवन के विघ्नों को दबाते हैं । (५) शण और जंगिड़ रेचक और कुम्भक दोनों शरीर के रोग से बचावें । दोनों की अभ्यास दशा में शरीर को जंगल के कन्द मूल फल और कृषि से उत्पन्न अन्न रसों से प्राण को पुष्ट किया जाय । (६) विकारों और रोगों दोनों को प्राणायाम शान्त करता है और आयुओं को बढ़ाता है । सम्भव है कि जङ्गिड ओषधि भी शरीर के उक्त रोगों को शान्त करे ।

[५] राजा को उपदेश ।

भृगुराथर्वण ऋषिः । इन्द्रो देवता । आद्यया आह्वानमपराभिश्च स्तुतिः । १, २, ५–७ त्रिष्टुभः, ३ विराड् पथ्याबृहती, ४ जगती पुरो विराट् । सप्तर्चं सूक्तम् ।

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! (प्र वह) उत्कृष्ट राज्य को अपने सामर्थ्यवान् कन्धों पर उठा। हे (शूर) शत्रु के हिंसक वीर ! (हरिभ्याम्) युद्धभूमि में रथ को लेजाने वाले घोड़ों से, या दायें और वायें चलने वाले सेनापक्षों के साथ (याहि) शत्रु पर आक्रमण कर । (मतेः) मनन करने हारे मेधावी मन्त्री के (सुतस्य) उत्तम रूपसे निष्पादित, सुविचारित (मधोः) सारभूत ज्ञान को (पिब) पान कर, ग्रहण कर। और यह सोमरूप ज्ञान (चकानः) पूर्णरूप से तृप्तिकारी (मदाय) सब के आनन्द, हर्ष प्राप्त करने के लिये (चारुः) श्रेष्ठ हैं। अथवा—हे इन्द्र ! तू इस प्रकार (मदाय) प्रजाओं के हर्ष के लिये (चकानः) अति सन्तुष्ट होकर (चारुः) अति हृदयहारी होता है ।

इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । २ ॥

---

[५] १—'इन्द्र जुषस्व याहि शूर पिब सुतश्च मधोश्चकान चारुं मदयः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'मत्त इह' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'मदेह' इति वेवरकामितः पाठः । (च०) मध्वश्चकान इति आ० औ० सू० । अत्रोपसर्गपदानां स्थितिः सामवेदालोकभाष्यटिप्पण्यां द्रष्टव्या । (द्वि०) याहि शूर हरिह' (तृ०) 'पिबा सुतस्य मतिर्न' इति साम० ।

२—'नव्योन' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'नव्यं न' 'सुतस्य स्वार्नोप' 'सुवाचो अस्थुः' इति सा० । 'सुवाचो अस्थुः' इति क्वचिदादर्शेऽपि ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् (नव्यः न) नवीन आगत अतिथि के समान आप अपने (जठरं) उदर के समान कोश को उसी प्रकार (पृणस्व) पूर्ण करो और (दिवः) सूर्य जिस प्रकार (मधोः न) पृथिवी से अपनी रश्मियों द्वारा जल को लेकर और अन्तरिक्ष रूप कोश को भर लेता है उसी प्रकार (अस्य) इस (स्वः न) स्वर्ग के समान (सुतस्य) पुत्र के समान पालन करने योग्य, स्वयं सुरक्षित राष्ट्र के (मधोः) संग्रहीत कर से (पृणस्व) अपने को पूर्ण कर। ऐसा करने से (त्वा) तेरे लिये (मदाः) आनन्द तृप्ति, और कीर्ति की जनक (सुवाचः) उत्तम वाणियां, लोकप्रशस्तियां (अगुः) प्राप्त होंगी।

मदाः—मद तृप्तियोगे (चुरादिः), मदी हर्षग्लेपनयोः, (भ्वादिः) मदी हर्षे (दिवादिः), मद स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इत्येभ्यो धातुभ्यः पचाद्यच्। मधु—धमतिर्गतिकर्मा अन्तर्णीतण्यर्थो निःकालने दृष्टः। निर्धम्यते निःकाल्यते कररूपेण यद् धनं तन्मधु। मधु मेघोदरवर्त्तिसलिलम्। तत्र पुनर्वैद्युतात्मा दह्यमानं सरःस्वर्णेन तद् गतनैव वायुना ध्मायमानं धमति। माद्यन्तिवा तेन पती तेन प्राणिनः। मधुरस्वादुत्वाद्वा इति स्कन्दस्वामिनिर्वचनानुसरणम्। मनेर्वा औणादिरुः, नस्य च धः। मननीयं मधु, इति भट्टभास्करमिश्राः।

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥ ३ ॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) राजा ऐश्वर्यवान् (तुराषाट्) अति शीघ्र ही शत्रु को दबालेने हारा वही (मित्रः) प्रजा का परम मित्र है (यः) जो (यतिः न) जिस प्रकार यमनियम के पालन करने हारा योगी जितेन्द्रिय होकर

३—'इन्द्रस्तुराषाड् जघान वृत्रं ससाह शत्रून् ममच्च वज्रिमदे सोमस्य।' इति पैप्प० सं०। 'विभेद वलं' इति शंकरपाण्डुरङ्गः।

(वृत्रं) अपने नियम में बाधक अज्ञान और काम, क्रोध आदि विघ्न का नाश करता है उसी प्रकार जो अपने (वृत्रं) राष्ट्र को घेर लेने वाले शत्रु को (जघान) नाश करता है और (भृगुः न) जिस प्रकार सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार जो (वलं, शत्रु के बल, सेनाव्यूह को (विभेद) तोड़ फोड़ डालता है और जो (सोमस्य) शान्ति और सुखकारक और हृदय के प्रेरक राष्ट्र के (मदे) उत्साह में आकर (शत्रून्) शत्रुओं को (ससहे) दबा लेता है वही राजा अपने राष्ट्र का (मित्रः) मित्र है ।

आ त्वां विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः ।
श्रुधी हवं गिरों मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (त्वा) तेरे समीप, तेरे राष्ट्र में (सुतासः) समस्त राष्ट्र के उत्पन्न पदार्थ (आ विशन्तु) आकर संगृहीत हों । (कुक्षी) जिस प्रकार मनुष्य भोजन से अपना कोख भर लेता है उसी प्रकार तू अपने दोनों कोश=धान्यकोश और द्रव्यमय कोश (पृणस्व) पूर्ण करले और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि और धारणपोषणशील कर्मों द्वारा हे (शक्र) शक्तिशाली राजन् ! तू (विड्ढि) क़ानून और राजनियम शासनव्यवस्थाओं का विधान कर । और इस प्रकार (नः) हमारे पास (आ, इहि) आ, हम तक पहुंच । तू (हवं) हम प्रजाओं की वाणी, पुकार

४–(प्र० द्वि०) 'आत्वा विशन्तु कविर्न सुतास इन्द्र त्वष्टा न । पृणस्व कुक्षी सोमो न विड्ढि शूर धिया हि या नः ।' इति आश्व० श्रौ० सू० । 'अविड्ढि इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'विड्ढि' इति शं० पा० । 'वृड्ढि' इति सायणः । (तृ०, च०) श्रुधीहवं न इन्द्रो न गिरो जुषस्व वज्री न । इन्द्र सयुग्भिर्दिद्युन्न मत्स्व मदाय महे रणाय । (तृ० च०) श्रुति [धी] हव [वं] मे वि [गि] रोजुषस्य [स्व] इन्द्रस्य [स्व] युभि [युग्भि] र्मत्स [स्व] मदाय महे रणाय । ' इति पैप्प० सं० ।

को (श्रुधि) श्रवण कर, (मे) मेरी, मुझ प्रजा के प्रतिनिधि की (गिरः) वाणियों को (जुपस्व) प्रेम से सेवन कर । हे इन्द्र राजन् ! (स्वयुग्भिः) अपने सहयोगी सेनापति और मन्त्रियों सहित तू (महे) बड़े भारी (रणाय) आनन्दजनक राष्ट्रशासन के लिये और युद्धोद्योग के लिये (मत्स्व) सदा तैयार रह, सदा प्रसन्न रह ।

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
ऋ० १ । ३२ । १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशाली राजा के (वीर्याणि) उन बलयुक्त कार्यों का मैं (प्र वोचं नु) उपदेश करता हूं (यानि) जिन (प्रथमानि) श्रेष्ठ, कीर्तिजनक कामों को (वज्री) वज्र, राजदण्ड को धारण करने वाला राजा (चकार) अवश्य करे । जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से मेघ को ताड़ित करके जलों को बहाता है और जिस प्रकार व्रजवान् विद्युत् पर्वतों के चट्टान तोड़ फोड़ कर जलस्रोत बहाता है उसी प्रकार राजा ((अहिम्) प्रजा के घातक को (अहन्) नाश करे और (अपः) नाना जलधारा या नलों को (अनु ततर्द) काट कर राष्ट्र में बहावे और (पर्वतानां) पर्वतों के (वक्षणा) वक्षस्थलों को (अभिनत्) काट २ कर साफ करे जिससे प्रजाएं सुख से बसें और वृद्धि करें । प्रजा के घातकों का नाश, कृषि के लिये जलविभाग और निवास के लिये पर्वतादि का सम करना ये बड़े २ कार्य राजा को प्रथम हाथ में लेने चाहियें ।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥
ऋ० १ । ३२ । २ ॥

५–इन्द्रस्यनुवीर्याणि प्रवोचं इति ऋ० ।

भा०—(पर्वते) पर्वत पर (शिश्रियाणं) आश्रय लिये हुए (अहिं) मेघ को जिस प्रकार वायु अपने वेग से (अहन्) आघात करता है और (त्वष्टा) सूर्य जो मेघ का स्वयं उत्पादक पिता के तुल्य है तो भी (अस्मै) इस इन्द्र वायु के गर्जन और आघातकारी (स्वर्यं) भयङ्कर शब्द वाले, (वज्रं) आघात के साधन विद्युत् को (ततक्ष) और भी तीक्ष्ण कर देता है उसी प्रकार यह राजा (पर्वते) पर्व २ खण्ड २ करके जुड़े हुए राष्ट्र में (शिश्रियाणं) आश्रय लिये हुए (अहिं) प्रजा के घातक को (अहन्) विनाश करे और (त्वष्टा) शिल्पी लोग (अस्मै) इस राजा के लिये (स्वर्यं) गर्जन और आघातकारी, सुखकारी शासन को स्थापन करने में हितकारी (वज्रं) शस्त्र, खड्ग और तोप आदि को (ततक्ष) गढ़ २ कर तैयार करें और जिस प्रकार (वाश्राः) हंभारती हुई (धेनवः इव) गौवें राष्ट्र में दूध की धाराएं बहाती हों उसी प्रकार (आपः) जलधाराएं, नदियें, नहरें भी (स्यन्दमानाः) बहती हुई (अञ्जः) वे रोक टोक (समुद्रं) समुद्र को (अव जग्मुः) जावें, जिनसे कृषि के कार्य और समुद्रव्यापार सुख से हों ।

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

ऋ० १ । ३२ । ३ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (वृषायमाणः) स्वयं मानों वर्षण करने वाले मेघ के समान (सोमं अवृणीत) सोम=जल को समुद्रों से उठा लेता है और (सुतस्य) वाष्परूप हुए उसको (त्रिकद्रुकेषु) ज्योति, गौ, किरण और आयु, जीवन, वायु इन तीनों रूपों में (अपिबत्) उसका पान कर लेता है उसी प्रकार राजा भी (वृषायमाणः) प्रजाओं में मेघ के समान सुख संपदाओं का वर्षण करनेहारे मेघ पर्जन्य का व्रत धारण कर के (सोमं) राष्ट्रों को (अवृणीत) पालन करे और उसमें से (सुतस्य) प्राप्त हुए कर

को (त्रिकद्रुकेषु) ज्योति=अपना तेज, सेना, पराक्रम, गौः=पशु वृद्धि और आयु=प्रजा के स्वास्थ्य और जीवनोपयोगी कार्य तीनों में (आपिवत्) लगादे। और जिस प्रकार (मघवा) मेघवायु (वज्रं आदत्त) विद्युत् को अपने भीतर धारण करता और (अहीनां) जलों के (प्रथमजां) प्रथम उत्पन्न हुए वाष्परूप मेघ को (अहन्) आघात करता है वर्षा कर देता है उसी प्रकार (मघवा) समस्त धनों का स्वामी राष्ट्रपति (सायकं) शत्रु का अन्त कर देने वाले (वज्रं) वज्र=शत्रु के निवारक शस्त्र को (आदत्त) ग्रहण करता है और (अहीनां) प्रजा के घातक लोगों के (प्रथमजां) सबसे प्रथम, आगे प्रकट होने वाले, उनके मुख्य २ पुरुष का (अहन्) विनाश करता है।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र पञ्चसूक्तानि ऋचश्चैकोनत्रिंशत्]

[६] विद्वान् राजा का कर्तव्य।

सम्पत्कामः शौनक ऋषिः । अग्निर्देवता । अग्निस्तुतिः । १–३ त्रिष्टुभः । ४ चतुष्पदा आर्षी पंक्तिः ५ विराट् । प्रस्तारपंक्तिः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

समा॑स्त्वाग्न ऋ॒तवो॑ वर्धयन्तु संवत्स॒रा ऋष॑यो॒ यानि॑ स॒त्या ।
सं दि॒व्येन॑ दीदिहि रोच॒नेन॒ विश्वा॒ आ भा॑हि प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥१॥

यजु० अ० २७ । १ ॥

[६] १–(च०) 'आभाहि प्रदिशः पृथिव्याः' इति तै० सं० । (द्वि०) संवत्सर ऋषयो यानुसत्या । सं द्युम्नेन दीदिहि इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (मासः) मास (ऋतवः) ऋतुएं और (संवत्सराः) संवत्सर या वर्ष (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण और और प्राण और (यानि) जो (सत्या) सत्य ज्ञानमय वेदमन्त्र हैं वे भी (त्वा) तुझको (वर्धयन्तु) बढ़ाते हैं तेरी ही महिमा का उपदेश करते हैं तू (दिव्येन) दिव्य ज्ञानमय अलौकिक (रोचनेन) सबको प्रकाशित करने हारे सामर्थ्य से (दीदिहि) प्रकाशित है और सूर्य के समान (विश्वाः) समस्त (चतस्रः) चारों दिशाएं और (प्रदिशः) चारों उपदिशाएं भी (आभाहि) प्रकाशित करता है । अथवा विद्वान् के पक्ष में हे (अग्ने) विद्वान् तुझे सब मास, ऋतु, वर्ष, ऋषिगण और सत्य वेद वाणियां बढ़ावें, तू लोकोत्तर ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशित हो और चारों दिशा उपदिशाओं को भी प्रकाशित कर ।

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

यजु० अ० २७ । २ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (च) और (सम् इध्यस्व) हमारे हृदय में उत्तमरीति से प्रकाशित हो, और (इमं च) इस जीव को (प्रवर्धय) खूब शक्ति, बल, विज्ञान से बढ़ा, उन्नत कर और (महते) बड़े भारी (सौभगाय) सौभाग्य समृद्धि के लिये, (उत्तिष्ठ च) सबसे उन्नत होकर विराजमान हो, (ते) तेरे (उपसत्तारः) समीप पहुंचने हारे, तेरे भक्त, योगी, मुमुक्षु जन (मा रिषन्) कभी विनाश और क्लेश को प्राप्त न हों हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक ! (ब्रह्माणः) ब्रह्म=वेद के जानने हारे विद्वान् (ते) तेरे (यशसः) यशःस्वरूप कीर्त्ति से सम्पन्न (सन्तु) हों । (मा

२–(प्र०) 'प्रच वोधयेमम्' इति क्वचित्कः पाठभेदः । 'प्रतिवोधयेनम्' इति पैप्प० सं० ।

अन्ये) और दूसरे अविद्वान् , विलासी लोग यश को प्राप्त न हों। राजा के पक्ष में—हे अग्ने राजन् तू तेज से प्रकाशित हो, इस राष्ट्र को बड़ा और बड़े भारी सौभाग्य और लक्ष्मी के लिये सबसे ऊपर विराजमान हो, तेरे समीप जाने हारे विद्वान्, सभासद् और सेवक विनष्ट पीड़ित न हों और ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मचारी, विद्वान् पुरुष यश प्राप्त करें और मूर्ख, विलासी लोग प्रतिष्ठा न पावें।

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृह्यप्र॑युच्छन् ॥ ३ ॥

यजु० अ० २७ । ३ ॥

भा०—गार्हपत्य अग्नि, परमेश्वर, आत्मा और राजा इन चारों का वर्णन समान रूप से करते हैं। हे अग्ने, परमात्मन्! राजन्! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) ब्रह्म के ज्ञाता, ब्रह्मचारी, विद्वान् ब्राह्मणगण (त्वा) तुझको सबसे श्रेष्ठ करके (वृणते) अपना स्वामी राष्ट्रपति रूप से वरण करते हैं। हे अग्ने! सबके आगे चलने हारे! सबके नेता ज्ञानवन्! (नः) हमारे (संवरणे) रक्षाकार्य में तू (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो। और हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! तू (सपत्नहा) शत्रुओं और भीतरी शत्रु काम-क्रोध आदि का विनाशक और (अभिमातिजिद्) अभिमानी, उद्धत, अहंकार से प्रजा को खाजाने वाले दुष्ट उद्दण्ड पुरुषों को विजय करने हारा (भव) हो। और (स्वे) अपने (गये) प्राण, धन, गृह और राष्ट्र में (अप्रयुच्छन्) विना प्रमाद किये ही (जागृहि) जाग, सदा सावधान रह।

३–(द्वि०) 'शिवोग्ने प्रमृणो नेदिहि' (च०) 'स्वेक्ष दीदिह्यप्रयुच्छन्' इति मैप्प० सं० । 'सपत्नहा नो अभिमातिजिच्च' इति मै० सं० ।

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥

यजु० अ० २७ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! आप (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षात्रबल से, क्षत्रिय-सैन्य-बल से (सं रभस्व) अच्छी प्रकार विजय आरम्भ कर और हे (अग्ने) राजन् ! (मित्रेण) मित्र के साथ मिलकर (मित्रधाः) मित्रशक्तियों अर्थात् मित्रभूत राजाओं को पोषण और धारण करता हुआ (यतस्व) युद्ध विजय करने का यत्न कर। और (सजातानां) समान बल के (राज्ञाम्) राजाओं के बीच में (मध्यमेष्ठाः) मध्यम वृत्ति से रहता हुआ (विहव्यः) विशेष युद्ध करने में श्रन्न, बलसम्पन्न होकर (इह) इस संसार में (दीदिहि) यशस्वी हो, विराजमान रह ।

अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (त्वम्) तू (निहः) समस्त प्रजानाशक, शत्रु के प्रतिभटों को (अतितर) विजय कर और (सृधः[1]) राष्ट्र का

४–(प्र०) क्षत्रेणाग्ने स्वायुः, (द्वि० 'मित्रधेये यतस्व' (तृ०) 'मध्य-मस्था एधि' इति यजु० । 'मित्रधेयं वचस्व' इति पैप्प० सं० ।

५–'अतिनिदो अतिस्रिधो' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'अतिस्रिधो' इति श० पाण्डुरंगस्य कतिचिदादर्शेषु लभ्यते । 'अतिनुहोऽतिनिनृतीरत्यराती रतिद्विषः विश्वाह्यग्ने दुरिताचर इति पैप्प० सं० । (द्वि०) अतिस्रिधो ऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने । विश्वाह्यग्ने दुरितासहस्वाथा स्मभ्य५ सहवीरां५ रयेदाः । इति यजु० ।

१. स्रेधतिः कुत्सितकर्मा इति उव्वटः ।

धन और बल शोषण करने और कुत्सित आचरण करने हारे लोगों को भी (अतितर) वश कर और (अचित्तीः) अपने देश और राजा के प्रति हितचित्त न रखने हारे द्रोही पुरुषों को भी (अतितर) वश कर । (द्विषः अति) प्रेम न करने वाले, द्वेष करने वाले लोगों को भी वश कर । हे अग्ने ! राजन् तू (विश्वा) समस्त (दुरिता) दुष्ट आचरणकारियों को (अतितर) वश कर । (अथ) और (अस्मभ्यं) हमें (सहवीरं) वीरपुत्रों सहित और वीरपुरुषों सहित (रयिं) धन लक्ष्मी को (दाः) दे, प्राप्त करा ।

[७] सहनशीलता का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता, दूर्वास्तुतिः । १ भुरिक् । २, ३ अनुष्टुभौ ।
४ विराडुपरिष्टाद् बृहती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥

भा०—(अघद्विष्टा) पाप से प्रेम न करने हारी, पापी लोगों का विरोध करने वाली (देवजाता) विद्वानों से उत्पन्न होने वाली (शपथयोपनी) निन्दाजनक वचनों का मूल नाश करने वाली (वीरुत्) विरुद्ध भावना या विपरीत भावना (मलम्) मल को जिस प्रकार (आपः इव) जलधाराएं दूर कर देती हैं उस प्रकार (मत्) मुझसे (सर्वान् शपथान्) सब प्रकार के निन्दावचनों को (अधि, प्राणैक्षीत्) सर्वथा नष्ट करदे ।

[७] १–'अथ व्युष्टा देवजाता वीडु शपथजम्भनी । आपो मलमिव प्राणिजन् अस्मत् सुशपथानधि ' इति पैप्प० सं० ।

मानसिक विरुद्ध भावना, प्रतीप–भावना या विपरीत भावना योगशास्त्र के शब्दों में विपक्ष भावना से अपने भीतर बैठी गाली देने की बुरी आदत को दूर करना चाहिये ।

यश्च॑ सा॒पत्नः॑ श॒पथो॑ जा॒म्याः श॒पथ॑श्च॒ यः ।
ब्र॒ह्मा यन्म॑न्यु॒तः शपा॑त् सर्वं॒ तन्नो॑ अध॒स्पद॑म् ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (च) भी (सापत्नः) द्वेष करने हारे पुरुषों का हमारे प्रति (शपथः) निन्दाजनक वचन है और (जाम्याः) स्त्रियों, भगिनियों और समाजबन्धुओं के (यः च) भी जो (शपथः) निन्दावचन गाली आदि हों (मन्युतः) क्रोध के कारण (ब्रह्मा) वेद का जानने हारा विद्वान् भी (यत्) जो कुछ हमें (शपात्) बुरा भला कहता है (तत्) वह (सर्वं) सब कुछ (नः) हमारे (अधः पदम्) चरण के नीचे रहे, हमारे योग्य न हो, हम पर उसका प्रभाव न रहे, हम उसकी उपेक्षा करें, उसको सहन करें ।

दि॒वो मूल॒मव॑ततं पृथि॒व्या अध्युत्त॑तम् ।
तेन॑ स॒हस्र॑काण्डेन॒ परि॑ णः पाहि वि॒श्वतः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(दिवः) जिस प्रकार सूर्य का (मूलम्) किरणसमूह जड़ों के समान नीचे आकर (पृथिव्या अधि उत् ततम्) पृथिवी के ऊपर और अन्तरिक्ष में फैलकर प्रकाशित करता है उसी प्रकार (दिवः) ज्ञानमय प्रकाश का (मूलम्) आदिस्रोत मूलसंहिता मय वेदज्ञान (दिवः) उस प्रकाशमय परमात्मा से (अवततं) प्राप्त हुआ है और (पृथिव्या अधि) पृथिवी के ऊपर (उत् ततम्) उत्कृष्टरूप में सर्वत्र फैला है। हे परमात्मन् ! (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों शाखाओं उपाङ्गों और विज्ञान-शाखाओं से संपन्न ईश्वरीय ज्ञान से (नः) हमें (विश्वतः) सब प्रकार से (परि पाहि) पूर्ण रूप से पालन कर ।

ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान का वर्णन दर्भरूप से अथर्व० १६ । २२ । १-१०) में देखो ।

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (मां) मेरी (परिपाहि) सब प्रकार से रक्षा करो, (नः) हमारी (प्रजां) प्रजा को (परिपाहि) परिपालन करो और (यत्) जो (नः) हमारा (धनं) धन है उसे भी (परि पाहि) परिपालन कर । (नः) हम पर (अरातिः) अदानी, कजूंस शत्रुजन (मा तारीत्) वश न करे । और (अभिमातयः) अभिमानी पुरुष, गर्वी लोग भी (नः) हम पर (मा तारिषुः) वश न करें ।

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

भा०—(शपथः) निन्दाजनक गाली आदि वचन (शप्तारं) निन्दा करने वाले पुरुष के पास ही (एतु) चला जावे । (यः) और जो (सुहार्त्) हमारे प्रति उत्तम हृदय वाला, मित्रभाव से रहता है (तेन सह) उसके साथ (नः) हमारा भी मैत्रीभाव है । और हम (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंखों के इशारों से गुप्त २ सलाहें करने वाले (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष के तो (पृष्टीः) सब स्पर्शकारी, मर्मवेधक, करतूतों को (शृणीमसि) विनाश करें । या (पृष्टीः) पसलियों को भी (शृणीमसि) विनाश करें ।

४-(तृ०) 'अरातिर्णो मा' इति क्वाचित्कः पाठः ।

५-(द्वि०) 'सुहात्तेनः सह' (च०) 'पृष्ठी' इति क्वाचित्कः पाठः ।

[८] भव-रोगनाश और आत्मज्ञान ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनो वनस्पतिर्देवता । मन्त्रोक्तदेवतास्तुतिः । १, २, ५ अनुष्टुभौ, ३ पथ्यापंक्तिः, ४ विराट् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

भा०—(भगवती) लक्ष्मीसम्पन्न, उत्तम शोभा से युक्त (विचृतौ) विचृति=रोगनाशक (नाम) नामवाले (तारके) मूला नाम नक्षत्र (उद् अगातां) जब उदय को प्राप्त होते हैं तब (क्षेत्रियस्य) क्षय, कुष्ठ आदि दूषित वंशागत रोग के (अधमं) नीच घृणित वा शरीर के अधोभाग में उत्पन्न होने वाले और (उत्तमं) उत्तम अर्थात् ऊर्ध्वभाग में उत्पन्न होने वाले (पाशम्) पीड़ाजनक कष्ट जाल को (विमुञ्चताम्) छुड़ावें । अर्थात् उन तारकाओं के उदयकाल में वंशक्रमागत रोगों की चिकित्सा की जाय ।

अध्यात्मपक्ष में—शक्तिसम्पन्न (विचृतौ) विविध रोगों के विनाशक (तारके) गतिकारक प्राण और अपान (उद् अगातां) ऊर्ध्वगति करते हैं तब (क्षेत्रियस्य) क्षेत्र=देह में रहने हारे आत्मा के (अधमं) मनुष्य योनि की अपेक्षा नीच (पाशं) कर्मजाल तिर्यक् आदि योनि में लेजाने वाले पाप, कर्म्म-बन्धन और (उत्तमं पाशं) पुण्यकर्मों के फलरूप देव-लोकादि शुभकर्म बन्धन सबको (विमुंचतां) तोड़ डालें ।

अथवा देवयान और पितृयान नामक दुःखनाशक 'तारक विचृत्' दो सृति, सरणि या दो पन्था हैं, वे दोनों मार्ग अधम तिर्यग् योनि और उत्तम देवयोनियों के पाश से मुक्त करावें । अथवा अविद्या और विद्या दो तारका हैं जिनसे आत्मा अधर्म, कर्मजाल मृत्यु और उत्तम पाश लोकैषणा से भी मुक्त होजाता है । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते । ईशोपनिषद् । इति दिक् ।

अपे॒यं रात्र्यु॑च्छत्वपो॑च्छन्त्वभि॒कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् क्षे॑त्रिय॒नाश॒न्यप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु ॥ २ ॥

भा०—(इयं) यह (रात्री) अन्धकारमय रात्रि, अज्ञान दशा (अप उच्छतु) दूर हट जाय । (अभिकृत्वरीः) चारों ओर प्रकाश करने हारी उपायें, या आत्मा का साक्षात् कराने वाली सात्विक दशाएं (अप उच्छन्तु) आगे आये पर्दों को हटा देवें । (क्षेत्रियनाशनी) देह में निवास करने वाली, आत्मा के देहबन्धन का नाश करने वाली (वीरुत्) सब विरुद्ध बाधाओं की विनाशिका, शुद्ध चितिशक्ति या ब्रह्मविद्यास्वरूप ब्रह्मवल्ली (क्षेत्रियम्) क्षेत्र, देह में बंधे आत्मा को (अप उच्छतु) देहबन्धन से मुक्त करदे । औषधिपक्ष में—वंशागत क्षेत्रिय कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को जिस प्रकार कुष्ठनाशनी लता विनाश करती है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या देह बन्धन को नाश करे ।

ब॒भ्रोरर्जु॑नकाण्डस्य॒ यव॑स्य ते पला॒ल्या तिल॑स्य तिलपि॒ञ्ज्या ।
वी॒रुत्० ॥ ३ ॥

भा०—(बभ्रोः) पीले (यवस्य) जौं के (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेतकाण्ड या डण्डी को जिस प्रकार (पलाल्या) ऊपर के आवरणकारी तुष से अलग करलिया जाता है और जिस प्रकार (तिलस्य) तिल को (तिलपिञ्ज्या) तिलों की फली से मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) देह बन्धन का नाश करने वाली, यह उपनिषद् रूप ब्रह्मवल्ली या चितिशक्ति (क्षेत्रियं) देह में बँधे आत्मा को बन्धन से (अप उच्छतु) मुक्त करे ।

यथा उपनिषद् में—'प्रवृहेत् मुञ्जादिवेषीक धैर्येण ।' जिस प्रकार मूंज से सींक को अलग कर लिया जाता है उसी प्रकार आत्मा को योगी अलग करे । काठक वल्ली में जिसप्रकार ' प्रवृह्यमेतमणुमाप्य ।' इत्यादि ।

२–(द्वि० तृ०) 'सुक्षेत्रियस्य मुञ्चता संग्रन्थ्या हृदयस्य च' इति पैप्प० सं० ।

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत्० ॥ ४ ॥

भा०—हे योगिन् (ते) तेरे (लाङ्गलेभ्यः) जिस प्रकार उत्तम लता के बीज वपन करने के लिये क्षेत्र को सुधारने के लिये हल आवश्यक है उसी प्रकार चित्तभूमि को गोडने के लिये और उसमें विज्ञान रूप ब्रह्मज्ञानमय बीज वपन करने के लिये अपेक्षित जो योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि रूप लाङ्गल अर्थात् हल हैं उनको (नमः) हम आदर की दृष्टि से देखते और उनकी साधना करते हैं और (ईषायुगेभ्यः) हल को खैंचने के लिये जिस प्रकार उसमें 'ईषा' नामक दण्ड और बैलों को जोड़ने के लिये जुआ लगा होता है उसी प्रकार यहां दो प्राण, आत्मा और बुद्धि या आत्मा और परमात्मा दोनों को जोड़ने के लिये ईषा= मानस प्रेरणारूप चितिशक्ति द्वारा योग करने हारे योगी जनों को भी (नमः) नमस्कार है । उनकी शिक्षा से (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) देह-बन्धन को काट डालने वाली ब्रह्मानन्द वल्ली (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) आत्मा को बन्धन से मुक्त करे ।

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः । नमः क्षेत्रस्य पतये ।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

भा०—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) जिनके अक्ष=अर्थात् इंद्रियों के वेग शान्त हो गये हैं ऐसे जितेन्द्रिय, योगाभ्यासी, परम ब्रह्मज्ञानियों को (नमः) नमस्कार है । (संदेश्येभ्यः) जिनके देहरूप देश, भोगायतन जीर्ण होगये हैं या जो आत्मज्ञान का उत्तम रूप से उपदेश करते हैं उनको भी (नमः) नमस्कार है और (क्षेत्रस्य) विनाशशील अथवा आत्मा के निवासयोग्य इस देह और इस ब्रह्माण्ड के स्वामी आत्मा और परमात्मा को भी (नमः) साक्षात् आदरपूर्वक नमस्कार है । (वीरुत् क्षेत्रियनाशनी) यह ब्रह्मानन्द-

वल्ली देहबन्धन को नाश करती है वह (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) जीवात्मा को बन्धन से मुक्त करे ।

[९] आत्मज्ञान का उपदेश ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । वनस्पतिर्यक्ष्मनाशनो देवता । मन्त्रोक्तदेवतास्तुतिः ।
१ विराट् प्रस्तारपंक्तिः । २-५ अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

भा०—हे (दशवृक्ष) दश प्राणों के बन्धनों के काटने हारे परमात्मन् ! (इमं) इस जीव को (रक्षसः) विनाशकारी अज्ञान के (ग्राह्याः) ग्रहण करने वाली, पकड़ने वाली, फाही, भोगतृष्णा से (मुञ्च) मुक्त कर । (या) जो फाही, बांधने वाली रस्सी (एनं) इस जीव को (पर्वसु) पोरू २ पर (जग्राह) जकड़े बैठी है । हे वनस्पते ! समस्त वनों आत्माओं के पते स्वामिन् परमेश्वर ! (एनं) इस (जीवानां) समस्त जीवों के (लोकं) लोक को (उन्नय) आप उठाओ और इस देह के दुःखबन्धन या जन्म मरण के पाश से मुक्त करो ।

" ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । " अथवा "वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पूरुषेण सर्वम्" । "वनमित्युपासीत" इत्यादि उपनिषद् और वेदवाक्यों में ईश्वर को वृक्ष और जीव को वन शब्द से कहा है । रक्षसो ग्राही=तमः पाश । दशवृक्ष=वृक्षो व्रश्चनात् [निरु०] । से काटन 'वृक्ष' कहाता है दशों प्राण-बन्धनों को काटने से ईश्वर 'दश वृक्ष' कहाता है ।

[९] १-(प्र०) 'दशवृक्षो सं [मुं] चेमा महिंस्तो ग्राह्याश्च' इति पैप्प० सं० ।

आ॒गा दुद॑गाद॒यं जी॒वानां॒ व्रात॒मप्य॑गात् ।
अभू॑दु पु॒त्राणां॑ पि॒ता नृ॒णां॑ च॒ भग॑वत्तमः ॥ २ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (अयं) यह (जीवानां) जीवों का (व्रातं) समूह (आगात्) तेरी शरण में आता है और (उद् अगात्) इस दुःख बंधन से ऊपर उठता है और (अपि अगात्) अप्यय या मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। और भगवन् ! आप सब (पुत्राणां) पुत्रस्वरूप जीवों के पिता (अभूत्) हो और (नृणां च) मनुष्यों में (भगवत्तमः) सब से श्रेष्ठ, ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् हो।

अ॒धी॒तीर॒ध्य॑गाद॒यम॒धि जी॑वपु॒रा अ॑गन् ।
श॒तं ह्य॑स्य भि॒षजः॑ स॒हस्र॑मु॒त वी॒रुधः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह जीव (अधीतीः) नाना गतियों, योनियों और अवस्थाओं को (अधि अगात्) प्राप्त होता है और (जीवपुरा) नाना प्राणधारी 'पुर' देहों को भी (अधि अगन्) प्राप्त होता है। (अस्य) इस जीव के (भिषजः) भव-बन्धन की चिकित्सा करने हारे भी (शतं) सैकड़ों गुरु हैं और (वीरुधः) जिस प्रकार दुखी पुरुष के रोग के दूर करने के लिये सैकड़ों वनलताएँ हैं उसी प्रकार जन्म मृत्यु के रोग को नाश करने के लिये ब्रह्मोपदेश करने हारी वाल्लियां (उत) भी (सहस्रम्) सैकड़ों हैं।

दे॒वास्ते॑ ची॒तिम॑विदन् ब्र॒ह्माण॑ उ॒त वी॒रुधः॑ ।
ची॒तिं ते॒ विश्वे॑ दे॒वा अवि॑दन् भूम्या॒मधि॑ ॥ ४ ॥

२–(तृ०) 'अभूता पुत्राणां' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'अधीतमध्यगा' (द्वि०) 'अधिजीवपुरागात्', 'शतं तेऽस्य वीरुध सहस्रमुत भेषजः' इति पैप्प० सं० । 'शतं ह्यस्य भेषजः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । ४–(प्र०) 'चातं ते देवा विदन्' (तृ० च०) 'चातं तेभ्यो तु मामविदम् भूम्यामधि ।' इति पैप्प० सं० । चितिमिति काचित्कः पाठः ।

भा०—हे (जीव) शरीरधारिन् ! (ते) तेरी (चीतिं) शरीर परमाणुओं के संग्रह और उपचय होने की विधि को (देवाः) विद्वान् (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी, वेदवित् (वीरुधः) और ब्रह्मज्ञानी स्त्रियां या पुत्रोत्पादक माताएं या ब्रह्मवल्लियां ही (अविदन्) जानती हैं। (ते चीतिं ; तेरी देह में वृद्धि को प्राप्त होने की विधि (भूम्याम् अधि) इस पृथिवी पर (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुण धारण करने हारे पदार्थ और प्राण और पञ्चभूत आदि (अविदन्) जानते और प्राप्त करते या कराते हैं।

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो परमात्मा इस देह को बनाता है (सः) वही (निष्करत्) पूर्ण रूप से ही इसका निर्माण करता है। उसमें किसी बात की त्रुटि नहीं रहने देता क्योंकि (सः, एव) वह ही (सुभिषक्तमः) सब प्रकार के मानस और शरीरपीड़ाओं का सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक है। हे जीव बन्धनग्रस्त ! आधि-व्याधि-पीड़ित जीव ! (सः एव) वह ही (तुभ्यं) तेरे लिये (भेषजानि) नाना प्रकार के रोगों को दूर करने के साधन (कृणवत्) उत्पन्न करता है और इसी प्रकार तू (भिषजा) उस उत्तम चिकित्सक के द्वारा स्वयं भी (शुचिः) शुद्ध मन और कार्य वाला होकर सुख प्राप्त कर। अथवा तू ही (भिषजा) उस चिकित्सक के संग से (शुचिः) आवरणमल से रहित होकर मुक्त हो जा।

५-(प्र०) 'सुनिष्करत्' (तृ० च०) 'स एव तुभ्यं भेषजे चकार भिषजाति च' इति पैप्प० सं०। 'भिषजां शुचिः' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

[१०] आरोग्य और रोग विनाश ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । निर्ऋतिर्द्यावापृथिव्यादयो नानादेवताः । १ ब्रह्मणा सह द्यावापृथिवी स्तुतिः । २ अद्भिः सह अग्निस्तुतिः । ओषधीभिः सह सोमस्तुतिश्च । ३ वातस्तुतिश्चतुर्दिक्स्तुतिश्च । ४, ६ वातपत्नी सूर्ययक्ष्मनिर्ऋतिप्रभृतिस्तुतिः । १ त्रिष्टुप्, २ सप्तपाद् अष्टिः । ३, ५, ७, ८ सप्तपादो धृतयः । सप्तपाद् अत्यष्टिः । ८ अत्रोत्तरौ द्वौ औष्णिहौ पादौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥

भा०—मैं (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) क्षेत्र=शरीर में उत्पन्न होने वाले अथवा क्षेत्र=माता पिता के देह से प्राप्त होने वाले क्षय आदि रोग से, और (निर्ऋत्यः) ऋति=सम्यक् उपचार, लालन पालन और उत्तम शिक्षा के अभाव से होने वाले कष्ट और (जामिशंसाद्) भगिनी और स्त्रियों या बन्धुओं के वाक्-प्रहारों से और (द्रुहः) द्रोहों, अनिष्ट चिन्ताओं से और (वरुणस्य पाशात्) सबसे श्रेष्ठ परमात्मा के कर्म-कर्मफल रूप बन्धन से (मुञ्चामि). तुझे मुक्त करता हूं और (ब्रह्मणा) वेदज्ञान द्वारा (त्वा) तुझको (अनागसं) आगः=पापों से रहित शुद्ध पवित्र (कृणोमि) करता हूं । (ते) तुझे (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी, पिता और माता, प्राण अपान (उभे) दोनों (शिवे) कल्याण, सुखकारक (स्ताम्) हों ।

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो० ॥ २ ॥

[१०] १-(प्र०) 'क्षेत्रियै त्वा' (तृ०) 'अनागसं ब्रह्मणे त्वा करोमि' (च०) 'उभे इमे' इति हि० गृ० सू० । द्यावापृथिवीह भूतम्' इति पैप्प० सं० ।
२-शं ते अग्निः सहादि्भरस्तु शं द्यावापृथिवी सहौषधीभिः । इति हि० गृ० सू० ।
शं ते अग्निः सह धीभिरस्तु शं गावः सहौषधीभिः, इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! (ते) तुझे (अग्निः) यह अग्नि (अद्भिः) जलों के (सह) साथ (शं अस्तु , कल्याण और सुखकारक हो। (सोमः) सोमलता, सूर्य और चन्द्र (ओषधीभिः सह) अन्य ओषधियों सहित (शं) कल्याणकारी हो। (एवा) इस प्रकार (अहं) मैं (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्, निर्ऋत्या जामिशंसात् द्रुहः०) शरीर के भीतरी उत्पन्न होने हारे मात। पिता सम्बन्धी, लालन पालन सम्बन्धी, तथा पूर्व मन्त्रोक्त अन्य दुःखों से मुक्त करता हूं (अनागसं त्वा ब्रह्मणा कृणोमि०) तुझको वेदज्ञान से पापरहित करता हूं और द्यौ और पृथिवी दोनों तुझे कल्याणकारी हों।

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धात्कछं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। एवाहं०।० ॥ ३ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित पुरुष ! (ते) तुझे (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में बहने वाला (वातः) वायु (शं) कल्याण और सुखकारी हो और (वयः) तेरी आयु को (धात्) पुष्ट करे, बढ़ावे और (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएं (ते) तेरे लिये (शं) कल्याण और सुख को देनेहारी (भवन्तु) होवें। 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत् समान है।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे। एवा०।० ॥ ४ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! तेरे चारों ओर (याः) जो (इमाः) ये (देवीः) प्रकाश वाली और (वातपत्नीः) बहने वाले वायु के संचार को

३–(प्र०) 'शमन्तरिक्षे सह वातेन ते' इति हि० गृ० सू०। 'सह वातमस्तु ते वयो' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'शन्ते प्रदिशश्चतस्रो भवन्तु' इति हि० गृ० सू०, पैप्प० सं०।

४–(प्र०) 'देवीश्चतस्रः प्रदिशः' इति पैप्प० सं०।

पालन करने वाली, उत्तम शुद्ध वायु से युक्त (चतस्रः) चार (प्रदिशः) दिशाएं हैं (सूर्यः) सूर्य, सूर्य का प्रकाश (अभि) उनके ऊपर (विचष्टे) विशेष रूपसे पड़े और उनको प्रकाशित करे। ('एवाहं०') इत्यादि पूर्ववत समान है।

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः।
एवा०।० ॥ ५ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! (त्वा) तुझको मैं वैद्य (जरसि) वृद्धावस्था तक भी (तासु) पूर्वोक्त प्रकार से बतलाये गुण वाली दिशाओं में अर्थात् जिनमें उत्तम वायु और उत्तम सूर्य प्रकाश अच्छी प्रकार से हों उनमें ही (आदधामि) रहने का आदेश करता और तुझे रखता हूं (यक्ष्म) यक्ष्मा, राजयक्ष्मा जो सूक्ष्म जीवकीट या रोगजन्तुओं से उत्पन्न होने वाली व्याधि है वह (प्र एतु) सर्वथा दूर होजाय और (निर्ऋतिः) शरीर की सब क्लेशदशा भी (पराचैः) दूर होजाय। ' एवाहं० ' इत्यादि पूर्ववत्।

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः।
एवा०।० ॥ ६ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! तू (यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा रोग से इस प्रकार (अमुक्थाः) मुक्त होगया है और उसी प्रकार (अवद्याद्) निन्दनीय (दुरिताद्) दुराचार अर्थात् दुष्टप्रवृत्तियों और उनसे उत्पन्न दुःख व्याधि से और (द्रुहः) मानस-अनिष्ट-जनक चिन्ताओं से और (पाशाद्) शरीर को फांसने वाले या जकड़ने वाले अपस्मार आदि रोग से और (ग्राह्याः) ग्रहण कर लेने वाली या शरीर में शिथिलता उत्पन्न करने वाली पीड़ा से

५–'तास्वेवं जरस आदधामि' इति पैप्प० सं०।
६–(प्र०) 'अमोचि यक्ष्माद्' इति पैप्प० सं०।

(च) भी (उद् अमुचथाः) सर्वथा उन्मुक्त होगया है । (एवा०) इत्यादि पूर्ववत् समान है ।

अहा अरांतिमविंदः स्योनमप्यंभूर्भद्रे सुकृतस्यं लोके ।

एवा०।० ॥ ७ ॥

भा०—और हे व्याधिपीड़ित जन ! इस पूर्व उपचार से तू अपने (अरातिम्) जीवन आनन्द के विनाशक शत्रु रोग को (अहाः) विनाश कर और (स्योनं) शरीर के सुख को भी (अविदः) प्राप्त कर । अब तू पुनः कभी कुमार्ग और कुपथ्य में न गिर कर सदा (सुकृतस्य) उत्तम सदाचार और धार्मिक पुण्यकार्य के (भद्रे) कल्याणकारी सुखजनक (लोके) शास्त्रप्रदर्शित मार्ग में (अभूः) रहा कर, नहीं तो पुनः कष्टों में फंस जायगा (एवाहं०) इत्यादि पूर्ववत् समान है ।

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(तमसः) अन्धकार से उत्पन्न होने और (ग्राह्याः) शरीर को आ चिपटने वाली रोगपीड़ा से (देवाः) विद्वान् लोग स्वयं (निरेणसः) निष्पाप धर्मात्मा होकर अन्यों को (मुञ्चन्तः) मुक्त करते हुए (सूर्यं) सबके प्रेरक सूर्यप्रकाश को ही (ऋतं) सब दुःखों के विनाशक और ठीक

७–' अविदस्योनम् ' इति क्वाचित्कः पाठः । ' अभूद्भद्रे ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

८–(प्र०) 'ग्राह्यायथा, देवा मुञ्चन्तु असृजन् परेतसः' इति पैप्प० सं० । ' देवा अमुञ्चन्नसृजन् व्येनसः ' इत्यपि क्वचित् ।

सत्य औषध (आधि असृजन्) बतलाते और प्रयोग करते हैं । 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत् ।

इस सूक्त में नाना प्रकार की शरीर-व्याधियों, मानस-व्याधियों और वंशगत तपेदिक, क्षय, अपस्मार आदि रोगों की स्थिर चिकित्सा के लिये वेद में ब्रह्मचर्य के पालन, मां बाप के सदाचार, अग्नि से पका कर जलों का पान, सोम आदि ओषधियों का सेवन, स्वच्छ वायु का विहार, निरन्तर चलने हारे पवन और प्रकाश से उज्वल स्थानों में रहने का उपदेश है और साथ ही रोगमुक्त होजाने पर भी दुराचार से बचने और सदाचार से ही रहने और अन्धकारमय रोगोत्पादक स्थानों पर न रहने के लिये विशेष बल दिया है । वर्तमान की स्वास्थ्यरक्षा सम्बन्धी शिक्षा का यह आदर्श है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र पञ्चसूक्तानि, अष्टाविंशत्यृचः]

[११] राजा को उपदेश ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । कृत्यापरिहरणसूक्तम् । स्राक्त्यमणेः सर्वरूपस्तुतिः । १ चतुष्पदा विराड् गायत्री । २-५ त्रिपदाः परोष्णिहः । ४ पिपीलिकामध्या निचृत् । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

भा०—हे राजन् ! (दूष्याः) प्रजा में द्रोह करने हारी शत्रुमन्त्रणा को (दूषिः) तू विनाश करने वाला (असि) है । (हेत्याः) हनन करने हारे हथियार का भी (हेतिः) प्रतिहनन करने हारा तू हथियाररूप ही

(असि) है और (मेन्याः) अस्त्र द्वारा फेंके गये घातक साधन का भी तू (मेनिः) निवारक अस्त्र ही (असि) है । जब तू स्वयं इतना बलवान् है और अपने आगे आने वाले सब कष्टों को हटाने में समर्थ है तब (श्रेयांसं) सब से श्रेष्ठ मार्ग और पदार्थ को (आप्नुहि) प्राप्त कर और (समं) अपने समान बलशाली शत्रु को (अति क्राम) लांघ जा अथवा (श्रेयांसं आप्नुहि) कल्याणकारी बलवान् धार्मिक पुरुष का आश्रय ले और अपने समान बल वाले शत्रु को (अति क्राम) विजय करले ।

स्त्रक्त्यो॑ऽसि प्रतिस॒रो॑ऽसि प्रत्यभि॒चर॑णोऽसि ।
आप्नुहि० ॥ २ ॥

भा०—हे राजन् ! तू स्वयं (स्राक्त्यः) गतिशील, आगे बढ़ने हारा (असि) है, तू (प्रतिसरोऽसि) अपने शत्रु के बाधक बल के होते हुए भी उसके मुकाबले पर जाने में समर्थ (असि) है। और तू (प्रति अभिचरणः) अपने विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी को लक्ष्य करके उसपर चढ़ाई करने में समर्थ (असि) है । तब (आप्नुहि श्रेयांसम्) तू श्रेष्ठपद को प्राप्त कर और (समं अतिक्राम) अपने समान प्रतिरोधी को पार कर जा ।

प्रति॒ तम॒भि च॑र॒ यो॒३॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
आप्नुहि० ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुष राजन् ! (तं प्रति) उस पर (अभिचर) चढ़ाई कर (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) प्रेमरहित होकर द्वेष करता है और (यम्) जिसके प्रति (वयम्) हम भी (द्विष्मः) द्वेष करते हैं । इस प्रकार (आप्नुहि श्रेयांसम्) श्रेष्ठ राज्यपद को प्राप्त कर और (समम् अतिक्राम) समान पद के लिये स्पर्द्धा करने हारे प्रतिस्पर्द्धी को कुचल डाल ।

सू॒रिरसि वर्चो॒धा असि तनू॒पानो॑ऽसि ।
आप्नुहि० ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (सूरिः असि[1]) तू विद्वान् धर्मोपदेष्टा या शत्रुतापक है अतएव (वर्चोधा असि) तू वर्चः-तेज का धारण करने हारा है । तू (तनूपानः असि) अपने और समस्त प्रजाओं के शरीरों की भी रक्षा करने हारा है । (श्रेयांसम् आप्नुहि) इसलिये सबसे अधिक श्रेष्टपद को तू ही प्राप्त कर और (समम्) अपने समान प्रतिस्पर्द्धी से (अति क्राम) अधिक आगे बढ़ ।

शुक्रो॑ऽसि भ्राजो॑ऽसि स्व॑रसि ज्योति॑रसि ।
आप्नुहि श्रेयां॑समति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (शुक्रः, असि) तू राजा होने योग्य तेज और कान्ति को धारण करने वाला है । (भ्राजः असि) तू शत्रुओं को भून डालने वाला ग्रीष्म के सूर्य के समान है । (स्वः[2] असि) तू सब का प्रकाशक, उपदेशक, शत्रु का उपतापक या पीड़क है । (ज्योतिः असि) और स्वयं तेजस्वी और यशस्वी है । (श्रेयांसम् आप्नुहि) इसलिये सबसे श्रेष्ट पद को प्राप्त कर और (समम् अतिक्राम) समान बल के प्रतिस्पर्द्धी को पार कर जा ।

इस सूक्त में राजा के चुनने और स्वयं श्रेष्ठ पद को प्राप्त करने के लिये उचित, योग्य गुणों का उपदेश किया गया है ।

---

१. सूरिः, 'स्वृ' शब्दोपतापयोः । शब्दनमुपदेशः तत्कर्त्ता सूरिर्विद्वान् अभिज्ञ, इति सायणः । अथवा उपतापकः शत्रूणां सूरिः ।

२. स्वः तापक इति सायणः । अत्रापि 'स्वृ' शब्दोपतापयोः ।

[१२] तपस्या की साधना ।

भरद्वाजप्रवरस्तं सूक्तम् । भरद्वाज ऋषिः । नाना देवताः । प्रथमया द्यावापृथिव्योः उरुगा-यस्यान्तरिक्षस्य च स्तुतिः । द्वितीयया देवस्तुतिः । तृतीयया इन्द्रस्तुतिः । चतुर्थ्या आदित्यवस्वं गरःपितृणाम् । सौम्यानां पञ्चम्या, महाविराट् तमोऽन्यानां, षष्ठ्या मरुताम् । सप्तम्या यमसदनात् ब्रह्मस्तुति । अष्टम्या अग्निस्तुतिः । २ जगती । १, ३—६ त्रिष्टुभः । ७, ८ अनुष्टुभौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥१॥

भा०—(मयि) मेरे (तप्यमाने) तपस्या करते हुए (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी और उनके समान इस देह में प्राण और अपान और गृह में माता और पिता (उरु) यह विशाल (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष आकाश एवं हृदय देश और गृह के अन्यजन, (क्षेत्रस्य पत्नी) समस्त लोकों के निवास-स्थान तीनों लोकों की पालकशक्ति वह ईश्वरीयशक्ति और इस देह की पालिका चितिशक्ति और घर में अपनी धर्मपत्नी (उरुगायः) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक बड़े २ देव विद्वानों से कीर्त्ति, महायशस्वी, परब्रह्म और देह में यह आत्मा (अद्भुतः) रहस्यमय, आश्चर्यजनक, कभी न उत्पन्न होने वाला, अभूतपूर्व, (उत) और (वातगोपम्) वायु और प्राण से सुरक्षित यह (उरु) विशाल (अन्तरिक्ष) चेतन संसार और देह का इन्द्रियसंसार (ते) वे सब (इह) इस दशा में जब कि (मयि) मैं (तप्यमाने) तपस्या करता हूं (तप्यन्तां) तपस्या करें और तप में सहायक हों ।

---

[१२] १—(च०) 'तेषु तप्यन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥२॥

भा०—तपस्या का प्रकार बतलाते हैं—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! और हे मेरी इन्द्रियो ! आप लोग (ये) जो यज्ञ=धर्म के अनुष्ठान में लगे हुए, एवं प्राणाहुति एवं जीव ब्रह्म की संगतिरूप समाधियज्ञ के योग्य (स्थ) हो (शृणुत) मेरी प्रतिज्ञा को सुनो । (मह्यम्) इस कार्य के लिये मुझे (भरद्वाजः) ज्ञान और अन्न से समस्त संसार का भरण पोषण करने हारा परमात्मा (उक्थानि) वेदमन्त्रों का (शंसति) उपदेश करता है और (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस (मनः) मननशील, आत्मा और चित्त को (हिनस्ति) विनाश करता है (सः) वह काम और क्रोध रूप शत्रु (दुरिते) दुर्दशा, दुःखमय कठिन (पाशे बद्धः) पाश में बँधा २ (नियुज्यताम्) नियुक्त रहे। मनुष्य अपने जीवन को यज्ञरूप पवित्र कार्य समझ कर वेद का स्वाध्याय, श्रवण, मनन करे और मन पर वश करने हारे काम क्रोध आदि शत्रु को अभेद्य नियन्त्रण में रख कर वश करे । इसके साथ ही जो दूसरों के चित्तों का नाश करता हो, दूसरों को गुलाम बनाता हो, उसको पाश में बांध कर दुःखदायी कार्यों में लगाना चहिये जिससे वह परतन्त्रता के कष्ट भोग कर पुनः दूसरों को परतन्त्र न करे ।

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोमप) समस्त संसार रूप सोम का पालन और प्रलय-

२-(प्र०) ' यज्ञियास्तु भरद्वाजो मह्यमुक्त्या[क्था] नि शंसतु ' इति पैप्प० सं० । ' उक्थानि शंसत् ' इति वेबरकामितः पाठः ।
३-(तृ०) 'वृश्चासि तं कुलिशेन' इति पैप्प० सं० ।

काल में आदान करने हारे (इन्द्र) परमेश्वर ! (शोचता) पवित्र होते हुए (हृदा) हृदय, अन्तःकरण से (यत्) जब (त्वा) तुझे (जोहवीमि) स्मरण करता हूं तब तू (इदं) यह बात मेरी (शृणुहि) श्रवण कर कि (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस उत्तम (मनः) मननशील आत्मा का (हिनस्ति) घात करता और पीड़ा देता है उसको (कुलिशेन) वज्ररूप कुठार से (वृक्षं इव) जिस प्रकार वृक्ष को काट दिया जाता है या वज्र-अशनि के पात से वृक्ष फट जाते हैं उस प्रकार उस आत्मा के नाशक भीतरी मोह शत्रु को (वृश्चामि) ज्ञानमय वज्र से समूल काट डालूं, विनष्ट कर डालूं ।

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

भा०—मैं (अमुं) इस अन्तःशत्रु को (दैव्येन) देव=परमेश्वर सम्बन्धी परमात्मा के दिये (हरसा) मन्यु और बल से (आ ददे) अपने वश करता हूं । (नः) हमारे (पितृणाम्) परिपालन करने वाले माता, पिता, गुरु, आचार्य इनका (सामगेभिः) सामवेदी, (आदित्येभिः) आदित्य के समान व्रत आचरण करने हारे पूर्ण बाल-ब्रह्मचारी अथवा यजुर्वेदियों, (वसुभिः) २४ वर्ष तक के ब्रह्मचर्यपालक विद्वानों अथवा ऋग्वेदियों और (अङ्गिरोभिः) रुद्र नैष्ठिक ब्रह्मचारियों या ब्रह्म वेद के ज्ञाताओं, ब्रह्माओं सहित (तिसृभिः) तीन (अशीतिभिः) आस्तियों से अर्थात् ८० त्रिक सूक्तों द्वारा या तीन प्रकार की शक्तियों द्वारा किये गये (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, दान, तप, सत्संग और आपूर्त जनता के हितकारी अन्य उपकारक कार्यों को (नः) हमारी (अवतु) रक्षा करें ।

तीन प्रकार की शक्तियां—मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति और प्रभुशक्ति अर्थात् वाणी, मन और कार्य; इन की शक्तियां अथवा ज्ञान, कर्म और उपासना ।

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

भा०—उक्त तपस्या का फल कहते हैं । (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, माता और पिता, राजा और प्रजा (मा) मेरे (अनु) अनुकूल, मेरे पीछे २ (दीधीथां) यशस्वी हों (विश्वेदेवासः) समस्त विद्वान्‌गण (मा अनु) मेरी आज्ञा और इच्छा के अनुसार ही (रभध्वम्) कार्य आरम्भ करें । हे (आङ्गिरसः) अङ्ग=राष्ट्र रूप देह में बल और ज्ञान रस का संचार करने हारे (सोम्यासः) शान्त और शुभ गुणों से युक्त, उत्तम कार्यों के प्रवर्त्तक (पितरः) राष्ट्र के पालक जनो ! (अपकामस्य) निन्दनीय इच्छा का (कर्त्ता) करने हारा पुरुष (पापम्) पाप के फल को (आ ऋच्छतु) अवश्य प्राप्त हो ।

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । ५२ । २ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान्‌गण वायुओं के समान राष्ट्र में बल धारण करने हारे देवगण नेता पुरुषो ! (यः) जो अपने को (अतीव) बहुत अधिक (मन्यते) मानता है अर्थात् अभिमानी या अहंकारी है और (यः वा) जो (नः) हमारे (क्रियमाणं) किये गये (ब्रह्म) वेदानुकूल ज्ञान, ब्रह्मचर्य और ब्रह्मज्ञान आदि की (निन्दिषत्) निन्दा करता है हमारे (तपूंषि) तप या तपाने हारे आयुध (तस्मै) उसके (वृजिनानि) वर्जन

५–(प्र०) 'मादीध्यतम्' (च०) 'पापसारिच्छेत्वपकामस्य' इति पैप्प० सं० ।

६–(प्र०) 'अति वा यो मरुतो', (द्वि०) ब्रह्म वायो क्रियमाणं निनित्सात्' (च०) 'ब्रह्मद्विषमभि तं शोचतु द्यौः' इति ऋ० । (द्वि०) निदिषत् इति क्वाचित्कः पाठः ।

करने हारे (सन्तु) हों। (ब्रह्मद्विषं) वेद और वेदज्ञों का द्वेष करने हारे पुरुष को यह (द्यौः) सूर्य के समान प्रकाश भी (अभि संतपाति) पीड़ित करता है। अथवा (तस्मै वृजिनानि तप्तानि सन्तु) उसके त्याज्य, निन्दनीय पापकर्म ही उसको सन्तापकारी हों। बल्कि (ब्रह्मद्विषं द्यौः अभिसंतपाति) वेद-ज्ञान के शत्रु को तो सूर्य भी और सूर्य के समान ज्ञान भी पीड़ा देता है।

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

भा०—देहबन्धन को ब्रह्मयोग से विनाश करता है। (सप्त प्राणाः) इस देह में सात तो प्राण हैं जो मूर्धास्थान में रहते हैं और (अष्टौ मन्यः) और आठ धमनियां हैं। उन सब देहबन्धनकारी साधनों को (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (वृश्चामि) काटता हूं। हे बद्धजीव! अब तू (अग्निदूतः) ज्ञानवान् परमात्मा को अपना एकमात्र सहायक प्राप्त करके (अरंकृतः) सुशोभित या पर्याप्त कृतकृत्य होकर (यमस्य) संसार के नियन्ता परमेश्वर के (सादनं) परम आश्रय मोक्षस्थान में (अयाः) चला जा और योगाग्नि से युक्त होकर मोक्ष का सुख भोग।

आ दंधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

भा०—हे आत्मन्! (ते) तेरे (पदं) निज स्वरूप (समिद्धे) अति देदीप्त, उज्ज्वल, तेजोमय (जातवेदसि) सर्वज्ञ, सर्वोत्पादक, परमब्रह्म में

७—यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः इति ऋग्वेदे। (द्वि०) 'अष्टौ मज्ज्ञस्तां' इति क्वाचित्कः पाठः। (तृ०) 'यमस्यगच्छ सादनम्' इति पैप्प० सं०।

८—'आदधामि ते पदं' इति पैप्प० सं०।

(आदधामि) स्थापित करता हूं । और (शरीरं) इस भौतिक शरीर को (अग्निः) यह अग्नि या योगाग्नि (वेवेष्टु) सब प्रकार से व्याप्त करले और (वाक् अपि) यह वाणी भी (असुं) प्राण में (गच्छतु) लीन होजाय । इसी प्रकार सब इन्द्रियगण अपने कारण में लीन होकर आत्मा के बन्धन का कारण न हों और मैं आत्मा विदेह-प्रकृतिलय को प्राप्त होकर मोक्षानन्द को प्राप्त होजाऊं । वेदों का मुख्यप्रतिपाद्य अध्यात्म विषय होने से पूर्वमन्त्र भी उक्त प्रकार से अध्यात्म में ही लगते हैं ।

[१३] ब्रह्मचर्य व्रत में आयु, बल और दृढ़ता की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । १ अग्निर्देवता । २, ३ बृहस्पतिः । ४, ५ विश्वेदेवाः । १ अग्निस्तुतिः ।
२, ३ चन्द्रमसे वासः प्रार्थना । ४, ५ आयुः प्रार्थना । १–३ त्रिष्टुभः ।
४ अनुष्टुप् । ५ विराड् जगती । पंचर्चं सूक्तम् ॥

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥

यजु० ३५ । १७ ॥

---

[१३] १–(प्र०, द्वि०) 'आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि' (च०) 'पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमान् स्वाहा' इति यजु० । (प्र०) 'हविषा जुषाणः,' (च०) 'रक्षतादिमाम्' इति तै० सं० । (प्र०) 'आयुर्दा देव' (तृ०) 'घृतं पिबन्नमृतं चारु' (च०) 'पितेवपुत्रं जरसेम एमम्' इति मै० स० । तत्र (च०) जरसेनयेमम्' इति पैप्प० सं० । तत्रैव (प्र०) 'जरसं गृणानः' इति हि० गृ० सू० । याजुषे पाठे, (प्र०) 'हविषा वृधानः' (च०) 'पितेवपुत्रमभिरक्ष' इति शौ० गृ० सू० ।

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् परमेश्वर ! ज्ञानप्रकाशक गुरो ! आप (आयुर्दाः) आयु, जीवन, प्राण को देने हारे हैं अतः आप (जरसं) वृद्ध अवस्था को (वृणानः) दूर करते हुए (घृतप्रतीकः) दीप्तिस्वरूप सूर्य के समान (घृतपृष्ठः) देदीप्यमान ज्ञानरसों के स्पर्श=प्रदान कराने हारे और समस्त तेजों के आश्रयभूत हैं । हे अग्ने ! परमात्मन् ! जिस प्रकार (पुत्रान्) पुत्रों को (पिता इव) पिता गाय के उत्तम मधुर घी के भोजनों से पुष्ट करता है और उनकी रक्षा करता है उसी प्रकार आप (घृतं) तेजोमय, स्नेहमय आदिस्रोत से निकले हुए (चारु आस्वादन करने योग्य, मनोहर, उत्तम (मधु) मधु के समान मधुर, अमृतस्वरूप या पुनः २ अभ्यास करने योग्य (गव्यं) आत्मा सम्बन्धी, (घृतं) ज्ञान को (पीत्वा) पान करा कर (इमम्) इस नव ब्रह्मचारी की (अभि रक्षतात्) सब प्रकार से रक्षा करें ।

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥

अथर्व० १९ । २४ । ४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (परि धत्त) आप तो अपने पुत्रों को ब्रह्मचारी बना कर उनको उत्तम रीति से परिपुष्ट करें और (वर्चसा) ब्रह्मवर्चस तेज से (नः) हमारे (इमं) इस ब्रह्मचारी को (धत्त) परिपुष्ट करो और इसकी (जरामृत्युं) वृद्धावस्था में ही मृत्यु प्राप्त कराने वाली (दीर्घं) बहुत बड़ी चिर (आयुः) आयु, जीवनकाल (कृणुत) बढ़ाने का यत्न करो । (बृहस्पतिः) वेदवाणी के स्वामी, आचार्य और परमेश्वर ने ही

२–(प्र० द्वि०) 'धत्त वाससैमं शतायुषं कृणुत दीर्घमायुः' इति हि० गृ० सू० । तत्र–'वाससैनाशतायुषीम्' इति मै० ब्रा० । 'परिधत्त वर्चसे' इति द्वित्रिकामितः पाठः ।

(एतत्) यह तेजोमय (वासः) सर्व देवमय देहरूप, आवासयोग्य चोला (राज्ञे) प्रकाशनशील, तेजस्वी (सोमाय) चन्द्र और सूर्य के समान तेजस्वी जीवात्मा को (परिधातवा) निरन्तर धारण करने के लिये (उ) ही (प्रायच्छत्) दिया है । इसी भावना से आचार्य अपने शिष्य को ब्रह्मचारी के योग्य वस्त्र देता है और उसके शिर पर, अग्नि पर घृतालिप्त हस्त तपा २ कर आशीर्वाद देता है ।

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूचीं रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥

भा०—हे बालक ब्रह्मचारिन् पुरुष ! (इदं वासः) इस वस्त्र के समान देहमय चोला को (स्वस्तये) सुख, कल्याण करने और स्वयं सुखी होने के लिये (परि अधिथाः) तुम अपने समस्त शरीर पर धारण करो और (गृष्टीनाम्=कृष्टीनाम्) गौवों के समान इन विषयों और सभी पदार्थों और ज्ञानों तक पहुंचने हारी या विषयों की ओर खैंच लेजाने वाली इन्द्रियों या प्रजाओं को (अभिशस्तिपाः) विनाश से बचाने वाला (उ) ही (अभूः) बन । इस प्रकार (शतं) सौ (शरदः) वर्षों तक (च) और (पुरूचीः) और इससे भी बहुत अधिक (जीव) जी । (रायः च) नाना प्रकार धन सम्पदाओं और (पोषम्) पुष्टिजनक पदार्थों को (उपसंव्ययस्व) प्राप्त कर, संग्रह कर और अपने जीवन के निमित्त उचित रीति से उपयोग कर । इस मन्त्र से पति पत्नी को और गुरु अपने शिष्य को वस्त्र धारण करने और उससे अपने देह की रक्षा करने का उपदेश भी देता है । वेद ने शरीर

३–(द्वि०) 'कृष्टीनामभिशस्तिपा' इति ह्विटनिकामितः पाठः । पारस्करगृह्यसूत्रे च 'जरां गच्छ परिधत्स्ववासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा । शतं च जीव शरदः सुवर्चाः रयिं च पुत्राननु संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।' इति पाठः ।

धारण के साथ वस्त्र धारण करने, गौओं और इन्द्रियों की रक्षा करने और जीवनोपयोगी धन संग्रह करने, चिरकाल तक जीने का उपदेश किया है।

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥

भा०— हे ब्रह्मचर्य पालन करने हारे बालक ! (एहि) गुरु के समीप आ और (अश्मानं) दृढ़ चट्टान के समान नित्य कूटस्थ ब्रह्म का (आ तिष्ठ) आश्रय ले (ते) तेरा (तनूः) शरीर भी (अश्मा भवतु) शिला के समान दृढ़ हो। (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान्गण और दिव्य पदार्थों की दिव्यशक्तियां (ते आयुः) तेरी आयु को (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (कृण्वन्तु) कर दें।

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥५॥

भा०—हे बालक ! ब्रह्मचारिन् ! (यस्य ते) जिस तुझे हम (प्रथम-वास्यं) सबसे प्रथम पहनने योग्य वस्त्र को तुझे (हरामः) पहिनाते हैं (तं त्वा) उस तुझको (विश्वे) समस्त (देवाः) विद्वान्गण (अवन्तु) रक्षा करें। (सुवृधा) उत्तम वृद्धि, उन्नति से (वर्धमानं) उन्नति पथ पर सदा बढ़ते और (सुजातं) उत्तम रूप में विद्यासम्पन्न होते हुए (तं त्वां) उस तेरे (अनु) पीछे पीछे तेरा अनुकरण करते हुए (बहवः) बहुत (भ्रातरः) भाई (जायन्ताम्) और भी हों। वेभी तेरे समान आचार्यकुल में आकर विद्या, सुशिक्षा और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न हों।

—०—

४–' इममश्मानमातिष्ठाश्मेव त्वं स्थिरो भव । प्रमृणीहि दुरस्यत सहस्व पृतनायतः ' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) ' यस्य ते विश्वे, प्रवरस्यं ' इति हि० गृ० सू० ।

[१४] बुरी आदतों और कुस्वभाव के पुरुषों का त्याग !

चातन ऋषिः । शालाग्निर्मन्त्रोक्ताश्च देवताः । अग्निसूतपतीन्द्रादिस्तुतिः । १, ३, ५, ६ अनुष्टुभः । २ भुरिक् । ४ उपरिष्टाद् बृहती । षड्चं सूक्तम् ।

निः सालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्व/म् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो/नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

भा०—(निः सालां) गृहशून्य, अवारागर्द, (धृष्णुं) ढीठ (धिषणं) हठी, (एकवाद्याम्) एक ही बात अर्थात् पैसा २ या भीख २ इत्यादि याचनावाक्य वार २ कहने वाली, (जिघत्स्वम्) और खाऊ होना आदि (सर्वाः) ये सब (चण्डस्य) अति प्रचण्ड क्रोधी के (नप्त्यः) साथ सम्बन्ध रखने वाली आदतें हैं (सदान्वाः) इन रुलाने या कलह कराने वाली पीड़ाओं को (नाशयामः) हम विनाश करें। अथवा-(निः नाशयामः) समूल नाश करें। साला=अवारागर्द ।

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

भा०—हे (मगुन्द्याः दुहितरः) मगुन्दी=ज्ञान को मिथ्या कहने की बुरी आदत से उत्पन्न होने वाली कुवासनाओं अथवा "मघं द्यति इति मगुन्दी दरिद्रता" दरिद्रता की दुहिता कन्या रूप अन्य विपत्तियो ! (वः) तुमको (गोष्ठाद्) गोशाला अथवा गौ=वेदवाणी, ज्ञान कथा और आत्म के निवास-स्थान, हृदयदेश से (निः अजामसि) हम निकाल देते हैं। (अक्षात् निः) और आनन्द विनोद और व्यवहार या इन्द्रियगण से भी निकाल देते हैं (उपानसात्) अनस=यज्ञस्थान या देह से भी (निः) दूर करते हैं।

[१४] १–'चण्डस्य नप्त्यः। इति पैप्प० सं० ।
२–(द्वि०) 'निर्योनिन्नुपा नच', (च०) 'चातयामसि' इति पैप्प० सं० ।

और (गृहेभ्यः निः चातयामहे) अपने घरों से भी हम परे करते हैं। बुरी आदत और बुरी आदत वाले दोनों को उक्त स्थानों से निकाल देने का उपदेश है।

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (गृहः) घर, निवासस्थान (अधराद्) नीचे अन्धकारमय है (तत्र) वहां (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) प्रजा के पीड़ा देने वाली स्त्रियां भी (अराय्यः) लक्ष्मी से रहित होकर (सन्तु) रहें। (तत्र) वहां ही (सेदिः) दुःख और भयकारक पापी जन भी (नि उच्यतु) रहा करें।

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

भा०—(भूतपतिः) समस्त प्राणियों और पञ्चभूतों की शक्तियों का पति, पालन और वश करने वाला और (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, सूर्य के समान असह्य राजा (सदान्वाः) सदा एक दूसरे पर गालियां फेंकने वाली स्त्रियों को (इतः) हमारे इस घर से (निर् अजतु) निकाल दे। या सदा रुलाने वाली पीड़ाओं रोग व्याधियों को दूर करे और जो (गृहस्य) घर के (बुध्ने) आश्रयभूत फर्श और नींव के भाग में (आसीनाः) बैठी हों (ताः) उनको भी (इन्द्रः) राजा (वज्रेण) दूर करने के उपाय या दण्ड से (अधि तिष्ठतु) उन पर काबू करे।

३-(प्र० द्वि० तृ०) 'अनुष्मिन्नधरे गृहे सर्वास्त्वन्तारायः। तत्र पाप्मानियच्छतु' इति पैप्प० सं०।

४-' ता वज्रेणाधि तिष्ठतु ' इति पैप्प० सं०।

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥

भा०—हे दुःखकर पीड़ाओ (यदि) यदि तुम (क्षेत्रियाणां) क्षेत्र= शरीर से शरीर में या मा बाप से पुत्रादि में संक्रमण करने वाले रोगों को मूल (स्थ) हो (यदि वा) या जो (पुरुषेषिताः) शत्रु पुरुषों से प्रेरित हो (यदि) या (दस्युभ्यः) विनाशकारी दुष्ट चौर डाकू आदि पुरुषों के कारण उत्पन्न हुई (स्थ) हो तो भी (सदान्वाः) सदा चिल्लाने, रुलाने और कलह कराने वाली होने के कारण तुम (इतः) यहां से तुम (नश्यत) भाग जाओ ।

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवा सरन् ।
अजैषं सर्वानाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

भा०—हे (सदान्वाः) सदा कलह और शोर गुल मचाने वाली स्त्रियो या आपत्तियो ! (वः) तुम्हारी (सर्वान् सब (आजीन्) आक्रमणों और आगमन के उपायों और प्रतिस्पर्द्धाओं को मैं (अजैषं) जीत चुका हूं इसलिये अब तुम (इतः) यहां से (नश्यत) भाग जाओ । हे पुरुषो ! जिस प्रकार (आशुः) शीघ्रगामी घोड़ा (गाष्ठामिव[1]) अपनी परम अवधि पर पहुंच जाता है उसी प्रकार विद्वान् लोग (आसाम्) इन सब पीड़ा-

५–(प्र०) 'या देवा व क्षेत्रियाद्' (तृ०) यदस्तुदश्विभो [स्युभ्यो] जाता' इति पैप्प० सं० ।

६–'सिवासरम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'आशुर्ल्गाष्ठामिवासरम्' इति सायणाभिमतः पाठः । 'आशुर्गाष्ठामिवासरम्' इति पैप्प० सं० । 'आशुर्काष्ठाम' इति काचित्कः पाठः ।

१. 'ग्लाष्ठागन्तव्योवधिः, आज्यन्तःकाष्ठापर पर्यायः' इति सायणः ।

कारिणी विपत्तियों, मायाविनी स्त्रियों के धामानि) आश्रय-स्थानों तक (परि असरन्) इनका पीछा करें, आक्रमण करें और उन स्थानों से उनको निकाल दें ।

अध्यात्म में - १) देह में रहने वाली चण्ड=क्रोध या काम की नातिनी स्वरूप पांच दुष्ट वृत्तियां हैं, साला=मनकी कुचेष्टा, धृष्णु=ढिठाई, एकवाचा, निन्दाजनक वाणी, जिघत्सु=लोभ । (२) इनको गोष्ठ=यह इन्द्रियों रूप गौओं के बाड़े देह से इन्द्र=आत्मा निकाल दे । अक्ष=चक्षु इन्द्रिय से निकाल दे, नासिका से निकाल दे और (गृहेभ्यः) विषयों के ग्रहणशील इन्द्रियों से भी निकाल दे । ये सब मगुन्दी=मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होने से उसी की प्रवृत्ति हैं । (३) सब बुरी दुष्प्रवृत्तियां अधर-गृह=उपस्थ के साथ सम्बन्ध रहती हैं । और वही सेदि=पाप अर्थात् सब दुःखों का मूल-कारण हैं । (४) भूतपति-मन और इन्द्र आत्मा गृह-शरीर के मूल आश्रय उपस्थ भाग में रहने वाली काम की दुष्प्रवृत्तियों पर ज्ञान और वैराग्य रूप वज्र से शासन करे । (५) इनमें से कुछ तो क्षेत्रिय=देह की चेष्टाओं से उत्पन्न होती हैं और कुछ पुरुष=आत्मा के भीतर बैठी वासनाओं के कारण हैं । और कुछ दुष्कर्मरूप दस्यु या भीतर काम क्रोध लोभमोहादि अन्तः शत्रुओं या इन्द्रियों के कारण उत्पन्न होती हैं । उन सबको हृदय से दूर कर देना चाहिये । (६) आशु=व्यापक या शीघ्रगामी मन बड़ी तीव्रगति से इनके सब स्थानों में परम अवधि तक पहुंच जाता है । और मैं आत्मा सब की परम सीमा तक जाकर उनको जीत कर उनसे बढ़ जाता हूं । हाऊ हाऊ मचाने वाली ये दुष्प्रवृत्तियां आत्मा से दूर हों ।

[१५] अभय की भावना ।

ब्रह्मा ऋषिः । प्राणो देवता । १-६ त्रिपाद् गायत्रम् । षड्चं सूक्तम् ॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

भा०—यथा जिस प्रकार (द्यौः च) द्यौ लोक, सूर्य और (पृथिवी च) पृथिवी (न बिभीतः) भय नहीं करते (न रिष्यतः) कभी नष्ट भी नहीं होते (एवा) इसी प्रकार हे (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! (मा) मत (बिभेः) डर ।

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अहश्च रात्री च) दिन और रात्रि (न बिभीतः) न किसी से भय करते और (न रिष्यतः) न किसी को आप नष्ट करते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार (एवा मे प्राण मा बिभः) हे मेरे प्राण तू भी किसी से भय मत कर ।

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च० ॥ ३ ॥

भा०—(यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च०) और जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र न भय करते और न किसी को नष्ट करते और न नष्ट होते हैं उसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भय मत कर । तूभी नष्ट नहीं होगा ।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च० ॥ ४ ॥

भा०—(यथा ब्रह्म च) और जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान या ब्राह्मण और (क्षत्रं च) और बल या क्षत्रिय दोनों वर्ण नहीं डरते और न नष्ट होते हैं उसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी भय मत कर । तू भी नष्ट नहीं होगा ।

यथा सत्यं चानृतं च० ॥ ५ ॥

[१५] १–' एवं मे प्राण माबिभ एवं प्राण मारिष ' इति मा० गृ० सू० ।

भा०—(यथा सत्यं च) और जिस प्रकार सत्य और (अनृतं च) असत्य अर्थात् व्यावहारिक प्रयोग अथवा सत्यं=परमार्थ और अनृत=ऐहिक अर्थ दोनों (न बिभीतः) भय नहीं करते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे प्राण तू भी भय मत कर और नष्ट मत हो। लोक व्यवहार प्रवाह से अनित्य होने पर भी नष्ट नहीं होता।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

भा०—(यथा भूतं च) और जिस प्रकार भूतकाल और (भव्यं च) भविष्यत् काल दोनों (न बिभीतः) भय न करते और (न रिष्यतः) नष्ट नहीं होते उसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय मत कर।

---

[१६] रक्षा की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्राणापानौ आयुश्च देवताः। १, ३ एकपदा आसुरी त्रिष्टुप्। २ एकपदा आसुरी उष्णिक्। ४, ५ द्विपदा आसुरी गायत्री। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान! तुम दोनों (मा) मुझ को (मृत्योः) शरीर के छूट जाने के भय से (पातं) बचाओ (स्वाहा) इस प्रकार प्रत्येक अपने आत्मा में दृढ़ संकल्प करे और प्राणायाम का अभ्यास करे।

स्वाहा—स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राह इति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (नि० ८। २०) स्वैव ते वाग् 'अब्रवीत् सोऽजुहोत् स्वाहा इति तत् स्वाहाकारस्य जन्म [तै० ब्रा० २। १। २। ३।]

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! (मा) मुझे (उपश्रुत्या) श्रवण शक्ति द्वारा (पातं) पालन करो । (स्वाहा) यह मैं उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे (सूर्य) सब के प्रकाशक सूर्य ! एवं उसके समान सब के प्रकाशक प्रभो ! (मां) मुझको (चक्षुषा) दर्शन इन्द्रिय के द्वारा (पाहि) पालन कर (स्वाहा) इस प्रकार योगी अपने प्रभु को सम्बोधन करके शक्ति प्राप्त करे ।

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) तापकारी ! हे (वैश्वानर) समस्त शरीरों में व्यापक सब के नेता ईश्वर और एवं जाठररूप में या घर २ में विद्यमान वैश्वानर आत्मन् ! (मां) मुझको (विश्वैः) समस्त (देवैः) विद्वानों और दिव्य पदार्थों और इन्द्रियों द्वारा (पाहि) पालन कर । (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है अर्थात् ईश्वर हमारी इन्द्रियों की रक्षा करे ।

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

भा०—हे (विश्वम्भर) हे समस्त संसार के भरण पोषण करने हारे परमात्मन् ! (मा) मुझे (विश्वेन) समस्त (भरसा) पोषण शक्ति से (पाहि) पालन कर (स्वाहा) ऐसी उत्तम प्रार्थना स्वयं करनी चाहिये ।

आयुष्काम पुरुष इस सूक्त का मनन किया करे ।

---

[१६] २–' उपश्रुते ' इति पैप्प० सं० ।

३–' चक्षुषी ' इति पैप्प० सं० ।

[१७] ओज, सहनशीलता, बल, आयु और इन्द्रियों की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । प्राणापानौ वायुश्च देवताः । १—६ एकावसाना आसुर्यस्त्रिष्टुभः । ७ आसुरी उष्णिग् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ओजो॑स्योजो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ १ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—हे परमात्मन् (ओजः) आप ओज कान्ति और तेजस्वरूप हैं । आप (मे) मुझे (ओजः) कान्ति, ओज (दाः) दें । (स्वाहा) यह मेरी उत्तम प्रार्थना है ।

सहो॑सि॒ सहो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ २ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप (सहः असि) सहनशील सब संसार की शक्तियों को सहन करने हारे हैं आप (मे) मुझे (सहः) सहनसामर्थ्य (दाः) प्रदान करें (स्वाहा) ऐसी उत्तम प्रार्थना है ।

बल॑मसि॒ बलं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ३ ॥ यजु० १९ । ९ ॥

भा०—(बलम् असि) हे परमात्मन् ! आप बलस्वरूप हैं आप (मे बलं दाः) मुझे बल दें । (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है ।

आयु॑रस्यायु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (आयुः असि) आप सबको जीवन प्राप्त करने हारे सब के आयुरूप जीवनाधार हैं । (मे आयुः दाः) मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें (स्वाहा) मेरी यह उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

श्रोत्र॑मसि॒ श्रोत्रं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

---

[१७] २—‘ सहोदा अग्नेः सहोमेधाः स्वाहा ’ इति पैप्प० सं० ।

३—‘ बलदा अग्निर्बलं मे धाः स्वाहा ’ इति पैप्प० सं० ।

४—‘ धाः ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे परमात्मन् ! आप (श्रोत्रम् असि) सबकी शुभ प्रार्थनाओं का श्रवण करने हारे और सबको श्रवणशक्ति के दाता हैं (मे श्रोत्रं दाः) मुझे भी श्रवणशक्ति का दान करें (स्वाहा) मैं ऐसी शुभ प्रार्थना करता हूं ।

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—हे समस्त संसार के प्रकाशक, सब के द्रष्टा परमात्मन् ! आप (चक्षुः असि) समस्त संसार के दर्शक, प्रकाशक, चक्षुःस्वरूप हैं (मे चक्षुः दाः) मुझे भी चक्षु प्रदान करो, (स्वाहा) मैं यह उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (परिपाणम् असि) सब संसार के परिपालन करने हारे हो, (मे) मुझे भी (परिपाणं) समस्त इन्द्रियों और प्रजाओं के परिपालन करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो, (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना करता हूं ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सप्त सूक्तानि द्वाचत्वारिंशच्च ऋचः]

[१८] शत्रुओं के नाशक बल की प्रार्थना ।

सम्पत्कामश्चातन ऋषिः । अग्निर्देवता साम्नी बृहती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

[१८] १—‘ भातृव्य क्षीणमसि भातृव्यजम्भनमसि स्वाहा ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे परमात्मन् ! तू (भ्रातृव्यक्षयणम्) भ्रातृत्वभाव के विनाश-कारी शत्रु को भी विनाश करने हारा (असि) है (मे) मुझे भी (भ्रातृव्यचातनं) शत्रु का नाशक बल (दाः) दान कर (स्वाहा) यह मेरी उत्तम प्रार्थना है।

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (सपत्नक्षयणं) हमारे पदार्थों पर अपना स्वामित्व चाहने वाले शत्रु का विनाश करते (असि) हो अतः (मे) मुझे भी (सपत्नचातनं) शत्रु का नाशकारी बल (दाः) प्रदान करें (स्वाहा) यह मेरी शुभ प्रार्थना है।

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (अरायक्षयणम् असि) दान न करने हारे कंजूस, स्वार्थी, अनुदार पुरुषों का नाश करते हो अतः (मे) मुझे भी (अरायचातनं) ऐसे लोलुप पुरुषों के विनाश करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो। (स्वाहा) यह मेरी शुभ प्रार्थना स्वीकार करें।

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (पिशाचक्षयणम् असि) दूसरों के मांस के लोभी हिंसक क्रूर पुरुषों के नाशक हो, अतः (मे) मुझे भी (पिशाच-चातनं) ऐसे मांसाशी, क्रूर पुरुषों का नाश करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (सदान्वाक्षयणम् असि) आप निरन्तर रुलाने और कष्ट देने वाली आपत्तियों के विनाशक हो, अतः (मे) मुझे भी (सदान्वाचातनं) ऐसे परपीड़क आपत्तियों के नाश करने का सामर्थ्य (दाः) दीजिये। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

[१९] द्वेष करने वालों के लिये प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १–४ निचृत् सामगायत्री, ५ भुरिग् विषमा । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॑३॒स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तपाने हारे परमात्मन् ! (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है (यं) और जिस पापी पुरुष को (वयं) हम भी (द्विष्मः) प्रेम नहीं करते (तं) उसको (यत्) जो तेरा (तपः) संतापकारी पापनिवारक बल है (तेन) उससे (प्रति तप) उसे संतापित कर, जिससे वह पश्चात्ताप करके पाप कार्य को छोड़ दे ।

अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॑३॒स्मान्द्वेष्टि॒० ॥ २ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम से द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम प्रेम नहीं करते (यत् ते हरः) जो तेरा पापनिवारक मृत्युरूप बल है (तं) उसको (प्रति हर) पाप कर्मों से और कुपथ से हटा ।

अग्ने॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॑३॒० ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमें द्वेष करता और जिसको हम भी प्रेम नहीं करते (यत् ते अर्चिः) जो तेरी ज्वाला, प्रकाश, ज्ञानमय दीप्ति है (तेन तं प्रति अर्च) उससे उस पापकारी पुरुष को ज्ञान दे और अन्धकारमय तामस मार्ग से परे कर ।

अग्ने॒ यत्ते॒ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॑३॒० ॥ ४ ॥

भा०—(योऽस्मान्०) हे परमात्मन् ! जो हम से द्वेष करता और जिसको हम भी प्रेम नहीं करते (यत् ते शोचिः) जो तेरी दीप्ति है ।

[१९] १–'यो अस्मान्', 'य वयं च' इति पाठभेदः प्रायः सर्वासु ऋक्षु ०० सं० ।

(तेन तं प्रति) उससे उसके प्रति (शोच) प्रकाशित हो और सन्मार्ग दिखा ।

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हम से द्वेष करता है और जिससे हम भी प्रीति नहीं करते (यत् ते तेजः) जो तेरा तेज=तीक्ष्ण स्वभाव है (तेन) उससे (तं) उस पुरुष को (अतेजसं) तीक्ष्ण स्वभाव से रहित सौम्य स्वभाव वाला (कृणु) कर, बना, जिससे वह सज्जन होकर हमारा मित्र हो जाय ।

[२०] द्वेष करने वालों के लिये प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । वायुर्देवता । १–४ निचृद् विषमा गायत्र्यः, ५ भुरिग् विषमा । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३० ॥ १ ॥

भा०—हे (वायो) सर्वव्यापक सबके प्रेरक, सब में सूत्ररूप से विद्यमान होकर सबके धारक ! परमात्मन् (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं (यत् ते तपः तेन तं प्रति तप) जो तेरा पापनिवारक पश्चात्तापरूप बल है उससे उसको संतापित कर ।

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३० ॥ २ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हम से द्वेष करता है (यत् ते हरः तेन तं प्रतिहर) जो आप का पापहारी क्रोध है उससे उसको अपनी शरण में ले जिससे वह द्वेष छोड़कर पुण्यात्मा होजाय ।

५–' यत्ते ज्योतिस्तेन तं प्रतिदह ' इति पैप्प० सं० ।

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३० ॥ ३ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (योऽस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है और इसी कारण जिससे हम भी द्वेष करने लग गये हैं (यत् ते अर्चिः, तेन तं प्रति अर्च) आपकी जो ज्ञानमय दीप्ति, ज्वाला-मय प्रकाश है उससे उस पातकी मूढ को भी ज्ञानवान् कर जिससे वह द्वेष छोड़कर सीधे मार्ग पर आजाय ।

वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३० ॥ ४ ॥

भा०—हे वायो ! परमात्मन् ! (योऽस्मान्०) जो हमसे द्वेष करता है और इसी कारण जिससे हम भी प्रीति नहीं करते (यत् ते शोचिः, तेन तं प्रति शोच) जो आपकी प्रकाशक दीप्ति है उससे उसको भी ज्ञानवान् कर जिससे वह प्रकाशमय मार्ग में आकर द्वेष न करे ।

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (वायो) ज्ञानरूप, सर्वव्यापक, परमात्मन् ! (योऽस्मान्०) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं । (यत् ते तेजः) जो तेरा तीक्ष्ण सामर्थ्य है (तेन तम् अतेजसं कृणु) उससे उसको तीक्ष्ण सामर्थ्य से रहित कर जिससे वह सौम्य होकर द्वेष न करे ।

---

[२१] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना ।

ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् । सूर्यो देवता । पंचर्चं सूक्तम् ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३० ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३० ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३० ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३० ॥ ४ ॥

सूर्य्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके उत्पादक और प्रकाशक और प्रेरक परमात्मन्! शेष सब पूर्ववत् है।

[२२] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना।

ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत्। चन्द्रो देवता। पंचर्चं सूक्तम्॥

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३० ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३० ॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३० ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३० ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (चन्द्र) समस्त जगत् के आह्लादक परमात्मन्! शेष सब पूर्ववत्।

[२३] द्वेष करने हारों के लिये प्रार्थना।

पूर्ववत् ऋषिः। आपो देवता। १-४ समविषमा। ५ स्वराड् विषमा। पंचर्चं सूक्तम्॥

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽ३० ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत योऽ३० ॥ २ ॥
आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत योऽ३० ॥ ३ ॥
आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत योऽ३० ॥ ४ ॥
आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भा०—हे (आपः) सब के आश्रय ! सब के शरण्य ! इत्यादि पूर्ववत् । भौतिकपक्ष में—अग्नि, चन्द्र, सूर्य और आपः उनसे अपने शत्रु को विनाश करने का संकल्प किया है । प्रत्येक में पांच शक्तियां हैं । (१) तपः=पीड़क शक्ति संतापकारी शक्ति, (२) हरः=संहार सामर्थ्य, विनाशकारी या विध्वंसकारी शक्ति, (३) अर्चिः=ज्वाला, भस्म कर देने या निर्मूल करने की शक्ति, (४) शोचिः=पवित्र करने और दुःखित करने की शक्ति और (५) तेजः=तेज, तीक्ष्णता और तीव्रता की शक्ति । इन शक्तियों को अपने वश करके इनका उचित साधनों से प्रयोग करके अपने शत्रु को वश करना चाहिये ।

[२४] हिंसक स्त्री-पुरुषों के लिये दण्ड विधान ।

ब्रह्मा ऋषिः । शेरभकादयो मन्त्रोक्ता देवताः । १, २ पुर उष्णिहौ, ३, ४ पुरोदेवत्ये पाङ्क्ते, १–४ वैराजः, ५–८ पंचपदाः पथ्यापङ्क्तयः, ५, ६ भुरिजौ, ६, ७ निचृदौ, ५ चतुष्पदा बृहती, ६–८ भुरिजः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

शेरभक् शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥

भा०—हे (शेरभक) दूसरों का अन्त करने, मारने का कार्य करने वाले सर्प स्वभाव, उग्र नृशंस ! घातक ! हत्याकारी पुरुष ! (शेरभ) हे हत्यारे पुरुष ! और हे (किमीदिनः) 'यह क्या, यह क्या' इस प्रकार सब पदार्थों पर चोर की सी नज़र रखने वाले दुष्ट पुरुषो ! (यातवः) सब

[२४] १–शरभक शेरभपुनर्नो [वो] यन्ति याद [त] वः पुनर्हतिः किमीदिनः यस्यस्थ द [त] मत्त योव प्राहि तमत्त भा सां सा [मांसास्वा] मन्यत [न्यत्त] इति पैप्प० सं० ।

पीड़ाजनक कार्य (वः) तुमारे पास ही (यन्तु) चले जावें अर्थात् तुम्हारे पीड़ाजनक कार्यों का दण्ड पुनः तुमको ही प्राप्त हो। (पुनः हेतिः) और फिर हथियार भी तुम्हारा तुम्हारे पास ही चला जावे। अर्थात् वह भी तुम को ही पुनः पीड़ाकारी हो। क्योंकि (यस्य स्थ) जिसके तुम संगी होते हो (तम् अत्त) उसको तुम खाजाते हो और (यः) जो (वः) तुमको (प्राहैत्) प्रेरणा करता, उपदेश करता या सीधा मार्ग बतलाता है (तम् अत्त) तुम उसको भी खाजाते हो। और फिर जब तुम्हारे साथ कोई नहीं रहता तब तुम (स्वा मांसानि) अपने ही सम्बन्धी पुत्र पौत्र आदि के शरीरों का घात करके उनके मांसों को (अत्त) खाते हो। दुर्जन पुरुषों का यही स्वभाव होता है कि वे अपने स्वामी, प्रेरक और साथियों का नाश करके पुनः अपनी आदत से लाचार होकर अपना भी नाश कर लेते हैं। इस प्रकार उनको दी हुई पीड़ाएं और उनके शस्त्र उनके अपने हाथों अपने ऊपर नाशकारी होते हैं।

शेवृधक शेवृध पुनर्वो० । ० ॥ २ ॥
म्रोकानुम्रोक पुनर्वो ० । ० ॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो० । ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (शेवृधक) हे हिंसा के कार्य में सबसे आगे बढ़ने वाले घातक ! सर्पस्वभाव ! और हे (म्रोक) धन अपहरण करके छुप जाने वाले चोर ! और हे (अनुम्रोक) चोरों के पीछे उनके ही बुरे काम का अनुसरण करने वाले ! हे (सर्प) कुटिल मार्ग से चलने वाले पुरुष ! और हे (अनुसर्प) कुटिल पुरुष के साथी लोगो ! आप सब लोग (किमीदिनः) किंकर्तव्य-विमूढ़ हो। तुम लोग जब बुरा काम करते हो तो तुम लोगों के दिल (अब

२-४-' शेवृ [ध] क शेवृध ', ' सर्पान् सर्प ' ' म्रोकान् म्रोक् ' इति पैप्प० सं०।

क्या होगा ? अब कैसे ? इत्यादि फिकिरों में धुक २ किया करता है। पर यह याद रखना कि तुम्हारी ये सब (यातवः) पीड़ाएं जो तुम लोगों को देते हो (वः यन्तु) तुम्हें ही प्राप्त होंगी। (पुनः हेतिः) यह शस्त्रप्रहार भी तुमको प्राप्त होगा। अर्थात् पकड़े जाने पर तुम छोड़ नहीं दिये जाओगे, क्योंकि स्वभावतः (यस्य स्थ) जिसके तुम रहते हो (तम् अत्त) उसको खाजाते हो। (यः वः) जो तुम लोगों को (प्राहैत्) प्रेरणा दे (तं अत्त) उसको खाजाते हो और फिर लाचार होकर (स्वा मांसानि अत्त) अपने ही मांसों को भी खाजाते हो।

यद्यपि यहां मन्त्र पाठ में 'यन्तु', 'स्थ', 'अत्त' आदि प्रयोग हैं तो भी यहां अभीष्ट अर्थ में 'लोट' है। दुर्जनों का नाश करने के लिये वेदमन्त्र में उपदेश है कि हिंसाकारी, हिंसा के भावों के वर्धक, चोर, गुप्त घोर, कुटिलाचारी पुरुषों को पकड़ कर उनको वैसी ही पीड़ाएं दी जावें जैसी उन्होंने दूसरों को दीं, वैसे ही शस्त्र से नाश किया जावे जैसे शस्त्र से वे दूसरों का नाश करते हैं। उनसे ही उनके नेता को मरवावें और उनको ऐसे बेकार करें कि वे आपस में एक दूसरे के प्राण के प्यासे होकर एक दूसरे को खाजावें। तब वे आप से आप नष्ट होजाते हैं।

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ०।० ॥ ५ ॥
उपब्दे पुनर्वो ० । ० ॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो ० । ० ॥ ७ ॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

८—'भरूचि' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—हे जूर्णि ! आयु का नाश करने हारी नागिनी की वृत्ति ने अपने और दूसरों के बल नाश करने वाली दुष्ट स्त्रि ! हे (अर्जुनि बदला लेने वाली या पुरुष को संताप देने वाली या अपने कुकर्म से द्रव्य अर्जन करने वाली स्त्रि और हे (उपब्दे) गुप्तरूप से कलह करने वाली और परपुरुष से संग करने हारी ! और (भरूजि) हे कपटकारिणि ! अपने क्षुद्र वचनों से हृदय को पीड़ा देने वाली स्त्रियो ! तुम भी (किमीदिनीः) कर्त्तव्यपथ में मूढ़ हो । तुम भी अपने पापों से शंकित रहती हो, तुम्हारी ही पीड़ाएं तुमको प्राप्त हों. तुम्हारे हथियार भी तुमको ही कष्ट दें । तुम जिस की हो उसको खाती और जो तुमको प्रेरित करे, मार्ग दिखाये, उसको खाजाती और अपने सम्बन्धियों, पुत्रों और भाइयों तक के प्राणों को पीजाती हो ।

इस सूक्त में चार प्रकार के पुरुषों और चार प्रकार की स्त्रियों के स्वभावों का वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त इन मन्त्रों में अध्यात्म पक्ष में भीतरी दुःसंकल्पों और कुप्रवृत्तियों का भी वर्णन किया है ।

जैसे—शेरभक=हिंसा का भाव, शेवृधक=लोभ, म्रोक=काम, सर्प=क्रोध, जूर्णि=चिन्ता, उपब्दि=निन्दा, अर्जुनी=प्रतिहिंसा, बदला की प्रवृत्ति, भरूजि=चुगलखोरी, पिशुनता पीठ पीछे दूसरे का नाश करना, कृतघ्नता ये सब संकल्प और दुष्प्रवृत्तियां ऐसी बुरी होती हैं कि ये जिस पुरुष में रहती हैं उस पुरुष को खाजाती हैं, जिसमें ये रहती हैं उसके प्राणों तक की बलि लेलेती हैं । उनका परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है ।

[२५] पृश्निपर्णी ओषधि का वर्णन ।

चातन ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । पृश्निपर्णीस्तुतिः । १-३ अनुष्टुभः । ४ भुरिक् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

भा०—(पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी नामकी ओषधि (देवी) दिव्यगुण वाली (नः) हमें (शं) कल्याण. सुख करे और (निर्ऋत्याः) निर्ऋति= पाप प्रवृत्ति को (अ-शं) कल्याण या सुख न (अकः) करे । वह (हि) क्योंकि (कण्वजम्भनी) पाप और पाप से उत्पन्न होने हारे कुष्ठ आदि रोगों को नाश करने में (उग्रा) बड़ी तीव्र और बलवती ओषधि है । (तां) उस (सहस्वतीं) रोगशमन करने के बलवाली ओषधि को मैं (अभक्षि) सेवन करता हूं ।

सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत ।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृश्चामि श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥

भा०—(सहमाना) रोग को रोकने में प्रबल (इयं) यह (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ ओषधि (पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी ही (अजायत) सिद्ध हुई है । (तया) उससे (दुर्नाम्नां) बुरे नाम वाले कुष्ठ आदि रोगों के (शिरः) मूल या पूर्व कारणों को भी (शकुनेः) पक्षी के शिर के समान सुगमता से (वृश्चामि) काट डालूं ।

---

[२५] १–(द्वि०) 'निर्ऋतमे करत्' (च०) 'तां त्वाहापं सहस्वतीम्' इति पैप्प० सं० ।
१ चित्रपर्णी इति सायणः । माषपर्णीति कात्यायनश्रौतसूत्रकारभाष्यकृत् । लक्ष्मणेति केचित् याच पुत्रजननी, पुंकन्दा, पुत्रकन्देति नाम्नी अस्ति । इति सायणसम्मतः पाठः ।

२–(प्र०) 'स्यान्वासि प्रथमा' (तृ० च०) 'तया कण्वस्यां शिरश्छिनभि शकुनेरिव' इति पैप्प० सं० ।

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति ।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥

भा०—हे पृश्निपर्णि ! ओषधे ! तू (गर्भादं) गर्भ के विनाशक उस (कण्वं) जीवन को मिटा देने वाले रोग को (नाशय) मिटादे और (सहस्व च) उसके बुरे प्रभाव को रोक जो (अरायम्) देह की पुष्टि, कान्ति और लक्ष्मी का नाशक (असृक्पावानं) रक्त का पीजाने वाला रक्त को विकृत कर देने वाला और (यः च) जो (स्फातिं) शरीर की वृद्धि को (जिहीर्षति) नाश करता है ।

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वांञ् जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवि पृश्निपर्णि) दिव्य गुणों से युक्त पृश्निपर्णि ओषधे ! तू (एनान्) इन (कण्वान्) पापमूलक, जीवन को मिटा देने वाले या उदास कर देने वाले (जीवितयोपनान्) जीवन को संदेह में डालने वाले रोगों को (गिरिं) पर्वतों पर (आवेशय) भेजदे अर्थात् परे करदे । और (त्वं) तू (तां) उनको (अग्निरिव) अग्नि के समान (अनुदहन्) जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो ।

परा च एनान् प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥ ५ ॥

भा०—(एनान्) इन (जीवितयोपनान्) जीवन के संदेह जनक और (कण्वान्) जीवन के विनाशकारी कारणों को (पराचः) दूर (प्रणुद) भगादे । मैं भी (यत्र) जहां (तमांसि) अन्धकार (गच्छन्ति) रहते हैं

३–'जिहीरिषति' इति क्वचित् पाठः । (च०) 'सहस्वति' इति पैप्प० सं० ।

(तत्) वहां (क्रव्यादः) कच्चा मांस खाने वाले हिंसक पशुओं के समान शरीर विनाशक रोगों को भी (अजीगमम्) भेज देता हूं ।

इस सूक्त में पृश्निपर्णी ओषधि के गुण दर्शाये हैं । पृश्निपर्णी के पृष्टि-पर्णी, चित्रपर्णी, श्वपुच्छी, कलशी, धावनी, गुहा, शृगालविन्ना, शृगाल-पुच्छी, सिंहपुच्छी आदि नाम हैं । उसके गुण-कटु, उष्ण, अम्ल, तिक्त, अतिसार, कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, दाह को नाश करती है । अथवा पृश्निपर्णी, सहमाना, सहस्वती ये नाम सहा नामक ओषधि के लिये हैं जिसको 'जीमूतक' भी कहते हैं इसके गुण-तिक्तोष्ण, कटु, पाण्डु, कटु, दुर्नाम, श्वास कास, कामला आदि रोग और मूत्रग्रह का नाशक है ।

[२६] इन्द्रियों और पशुओं का पालन ।

सविता ऋषिः । पशवो देवताः । १, २ त्रिष्टुभौ । ३ उपरिष्टाद् विराड् बृहती ४ । भुरिगनुष्टुप् । ५ अनुष्टुप् । पंचर्चं सूक्तम् ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष ।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

भा०—(सविता) गोपाल जिस प्रकार पशुओं को हांकता है और गोशाला में पुनः लाकर उनको नियम से खूंट में बांध देता है उसी प्रकार सब का प्रेरक और नियन्ता परमेश्वर (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोरूप इन्द्रियों के निवासस्थान देह में (तान्) उन पशु इन्द्रियों को लाकर नियम में रखे । (त्वष्टा) समस्त संसार को अपनी शक्ति से रचने हारा ईश्वर जिनके (रूपधेयानि) रूप (वेद) जानता है और (ये पशवः) जो पशु=दर्शन

[२६] १-(द्वि०) 'सहतारंजु जोष' इति पैप्प० सं० ।

या विषय का ग्रहण और दर्शन करने वाले इन्द्रियगण (परेयुः) बाहर विषयों के ज्ञान के लिये चले जाते हैं (वायुः) वायुरूप सूत्रात्मा प्राण भी (येषां) जिनके (सहचारं) साथ २ गति किया करता है । वे पशुरूप इन्द्रियां (इह) इस देह में (आ यन्तु) पुनः आजावें ।

इन्द्रियों के वर्णन के साथ २ गोशाला से पशुओं को बाहर ले जाना उनको शुद्ध वायु का सेवन कराना और उनको ठीक २ पहचान २ कर नियत २ स्थान पर उचित रूप से बांधने का भी उपदेश वेद ने किया है ।

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

भा०— (इमं गोष्ठं) इस इन्द्रियों के रहने के स्थान देह में (पशवः) विषयों को देखने हारी इन्द्रियरूप पशु (सं स्रवन्तु) उत्तम रीति से रहें और ठीक प्रकार से विषयज्ञान भी करावें । (बृहस्पतिः) बृहती=वाणी का स्वामी आत्मा (प्रजानन्) इन द्वारा समस्त बाह्यज्ञान प्राप्त करता हुआ इनको (आ नयतु) विषयों के प्रति प्रेरण करे और पुनः भीतर करे । (सिनीवाली) समस्त प्राणियों को अपने में बांधने वाली और सबको चेतना रूप से वरण करने वाली प्राणशक्ति (एषां) इनको (अग्रं नयतु) अपने आगे २ प्रेरित करे या सूक्ष्म रूप प्राप्त करावे । और हे कर्म करने और इन्द्रियों से विषय ग्रहण करके उनको पुनः मनन या ज्ञान करने वाली मनःशक्ते ! बुद्धे ! (आजग्मुषः) पुनः विषयों से लौट कर आई ज्ञानेन्द्रिय रूप पशुओं के समान स्वच्छन्द होकर व्यसनों में न जावे । सिनीवाली और अनुमति ये दोनों पुरुषरूप प्रजापति में उसी प्रकार हैं जिस प्रकार मासरूप प्रजापति में सिनीवाली और अनुमति अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा होती हैं । इनमें कृष्ण पक्ष रयि और शुक्ल पक्ष प्राण है । अतः

२–(च०) 'अनुमते नियच्छात' इति पैप्प० सं० ।

शरीर में भी प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भाग हैं दोनों को नियम में रखने वाली दो शक्तियां सिनीवाली और अनुमति हैं। सिनीवाली प्राण-शक्ति है जो अन्न के बल पर सब इन्द्रियों को बांधती है और सब पर वश रखती है। दूसरी अनुमति है जो इन्द्रियों से गृहीत विषय को मनन करती है और आत्मा को ज्ञान कराती है।

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

भा०—(पशवः) पशु (सं सं स्रवन्तु) हमारे पास आवें। (अश्वाः सम्) और अश्व भी हमारे पास आवें। (पूरुषाः सम्) पुरुष भी हमारे पास आवें। (या धान्यस्य स्फातिः) जो धान्य की वृद्धि, सम्पत्ति है वह भी (सं) प्राप्त हो. मैं (संस्राव्येण) उत्तम रीति से इन सब पदार्थों के प्राप्त करने हारे (हविषा) उपाय से (जुहोमि) इन सबको प्राप्त करने का यत्न करता हूं। अध्यात्म पक्ष में पशवः—ज्ञानेन्द्रियगण, अश्वाः=कर्मेन्द्रिय, पुरुषाः=अन्तःकरण या जीव, धान्यं=विषय ज्ञान. संस्राव्यंहविः=इनको प्रेरण और वशीकरण का उपाय, योगाभ्यास।

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

भा०—(गवां क्षीरं) गौओं के दूध के समान मधुर ज्ञान रस को मैं (सं सिंचामि) उत्तम रूप से प्रवाहित करता हूं। और (आज्येन) घृत के

३–(द्वि०) 'समु पौरुषाः' 'धान्यस्यसंस्फातिभिः' इति पैप्प० सं०।

१. प्रसमुपादः पादपूरणे, इति समत्र पादपूरणः।

४–(द्वि०) बलं रसम (तृ०) संसिक्तास्माकं वीरानपि गावश्च गोपतौ' इति पैप्प० सं०। अरिष्टा अस्माकं वीरा मपिगाव सन्तुर्गो पतौ इति भी श्रौ० सू०।

समान पुष्टिकारक तेज के सहित (रसम्) आनन्दजनक हर्ष और (बलं) बलको भी (सं सिंचामि) धारण करते हैं । (अस्माकं वीराः) इस प्रकार हमारे वीर, प्राण एवं पुत्रगण भी बल, हर्ष और आनन्द से (सं सिक्ताः) आप्लावित, परिपूर्ण हों और (मयि) मुझ (गोपतौ) इन्द्रिय रूप गौओं के स्वामी के पास (गावः) इन्द्र रूप गौवें (स्थिराः) स्थिर रूप से रहें ।

इस मन्त्र में दूध, घी, रस और बल के साथ २ ज्ञान, बल और आनन्द को प्रार्थना है और गौओं और प्राणों के साथ पुत्र और पशुओं की भी प्रार्थना है ।

आ ह॑रामि॒ गवां॑ क्षी॒रमाहा॑र्षं धा॒न्यं१॒ रस॑म् ।
आहृ॑ता अ॒स्माकं॑ वी॒रा आ पत्नी॑रि॒दमस्त॑कम् ॥ ५ ॥

भा०—मैं (गवां क्षीरं) गौओं का दूध और इन्द्रियों का ज्ञान (आहरामि) प्राप्त करता हूं । (धान्यं) धान्य और (रसं) अन्न के स्वादु रस और ग्राह्य विषय और उनसे प्राप्त होने वाले सुख को भी (आहार्षम्) प्राप्त करता हूं । (अस्माकं वीराः) हमारे पुत्र, वीर और प्राण भी (आहृताः) हमारे पास हमारे वश हैं (पत्नीः) यह स्त्री और यह बुद्धि भी हमारे पास है (इदम्) यह (अस्तकम्) घर के समान हमारा शरीर भी हमें प्राप्त है ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि नव ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत् ।]

५–(द्वि०) 'क्षीरमहार्षं' (तृ०) अहरिपमस्याकं वीरान् आपत्नीमेदमस्तकम् इति पैप्प० सं० ।

[२७] ओषधि के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन ।

कपिञ्जलऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-४ अनुष्टुभः सप्तर्चं सूक्तम् ।

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

भा०—चितिशक्ति का ओषधि के दृष्टान्त से विवरण करते हैं। हे ओषधे ! ओषधि के समान शरीर के ओष=उष्णता को धारण कराने वाली जीवनशक्ते ! (शत्रुः) शत्रु या तेरे विलोपकारी पदार्थ भी (प्राशं) उत्तम रूप से व्यापक आत्मा को (न इत्) नहीं (जयाति) जीत सकता । क्योंकि तू (सहमाना) सहनशील, शत्रु का नाश करने और उसको (अभिभूः असि) दबा डालने में समर्थ है । (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रबल रूप से हृदय में व्यापने वाले शोक मोह क्रोध आदि भावों को (प्रतिप्राशः) उनके विपरीत भावना द्वारा हृदय में व्याप्त होकर वादी को प्रति वादी के समान (जहि) विनाश कर और उनको (अरसान्) तुच्छ निर्बल (कृणु) कर ।

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं० ॥ २ ॥

भा०—(सुपर्णः) शोभन ज्ञानवान्, विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझको (अनु अविन्दत्) खोज कर प्राप्त कर लेता है । (सूकरः) प्राण रूप वायु या प्राणायाम का उत्तम अभ्यासी । (त्वा) तुझे (नसा) घ्राणेन्द्रिय द्वारा प्राणायाम का अभ्यास करके (अखनत्) गुप्त गुहा से खोद लेता है, तेरा मूल जान लेता है । (प्राशं प्रतिप्राशः) पूर्व वत् ।

---

[२७] १-(प्र०) 'यच्छत्रून् समजयत्', (तृ०) 'साभून्प्रतिप्राशो जय रसाकृण्वोषधे' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं० ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् इन्द्र आत्मा (त्वा) तुझको (असुरेभ्यः) असुर काम क्रोध लोभ मोहमद मात्सर्य आदुष्ट भावों को (स्तरीतुम्) विनाश करने के लिये (बाहौ) अपनी बाहू रूप शक्ति पर (चक्रे) धारण करता है । शेष पूर्ववत् ।

पाटामिन्द्रो व्या॒श्नादसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं० ॥ ४ ॥

भा०—(असुरेभ्यः) असुरों, आसुरी भावों को (स्तरीतवे) विनाश करने के लिये (इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (पाटाम्) दीप्तमती तुझ आत्मशक्ति विज्ञानमयी, विवेक ख्याति रूप प्रत्यक् चेतना शक्ति को (व्याश्नाद्) उपभोग करता है । (प्राशं० इत्यादि) पूर्ववत् ।

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।

प्राशं० ॥ ५ ॥

भा०—(अहं) मैं (इन्द्रः) साक्षाद् आत्मा (तया) उस चेतना शक्ति से (शत्रून्) अपने अन्तःशत्रुओं को (सालावृकान् इव) कुक्कुरों के समान (साक्षे) तिरस्कार करता हूं और (प्राशं प्रतिप्राशं० इत्यादि) पूर्ववत् ।

३–'तरीतवे' इति पदच्छेदः सायणसम्मतः ।

४–'पाठामिन्द्रः' इति पाठः सायणसम्मतः । 'पाय [टा] मिन्द्रो व्यश्नन् हन्तवेसुरेभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

५–'साक्षिये इन्द्रः' इति पैप्प० सं० ।

रुद्र॑ जलाषभेषज् नीलशिखण्ड् कर्मकृत् ।
प्राशं॑ प्रति॒प्राशो॑ जह्यर॒सान् कृण्वोषधे ॥ ६ ॥

भा०—हे (रुद्र) रुद्र! ब्रह्म का उपदेश करने हारे आचार्य! शब्द ब्रह्मरूप से सबके हृदय में व्यापक! या सबको अन्तकाल में रुलाने हारे! या सब पर करुणा से दया करने हारे! या रुत् नाम संसार दुःख को विनाश करने हारे! हे (जलाषभेषज) सुखस्वरूप सबके चिकित्सक! भवरोग-निवारक, हे (नीलशिखण्ड) नीलशिखा युक्त अथवा मनोहर कान्तिमय! हे (कर्मकृत्) सकल कर्म के कर्त्ता आत्मन्! और हे (ओषधे) समस्त भवरोग के नाशक परम चरम उपायभूत! (प्राशं प्रतिप्राशः) व्यापक आत्मा की शक्तियों के विनाशक (अरसान्) आनन्द रस से शून्य, संतापजनक विषयों को (जहि) विनाश कर और उनको (अरसान् कृणु) नीरस बना दे।

तस्य॑ प्राशं॒ त्वं ज॑हि॒ यो न॑ इन्द्राभि॒दास॑ति ।
अधि॑ नो ब्रूहि॒ शक्ति॑भिः प्रा॒शि मामु॑त्त॒रं कृ॑धि ॥ ७ ॥

भा०—हे इन्द्र! (यः) जो (नः) हमें (अभि दासति) विनाश करता है (तस्य) उसके (प्राशं) उत्तम भोग सामर्थ्य को (त्वं जहि) तू नाश कर। और (शक्तिभिः) अपनी ज्ञानशक्तियों से (नः) हमें (अधि ब्रूहि) उत्तम उपदेश कर। (प्राशि) प्रश्न करने हारे के ऊपर (माम्) मुझको (उत्तरं) उत्कृष्ट ज्ञानवान् (कृधि) कर अथवा (प्राशि) हृदय में मोहरूप से व्यापने वाले अज्ञान पर मुझे (उत्तरं कृधि) अधिक शक्ति वाला बना।

सायण के मत से—यह सूक्त 'पाटा' नामक औषध पर लगता है।

६–(तृ० च०) 'पृष्ठ दुरस्यतो जहियोऽस्मान् अभिदासति' इति पैप्प० सं०।

७–'प्राशं मामुत्तरं' इति सायणसम्मतः पाठः। 'तस्य पृष्टं' इति पैप्प० सं०।

उसके मत से प्राश=प्रश्नकर्त्ता। प्रतिप्राश=प्रतिवादी। पाटानाम ओषधि से अपने शत्रु पर या प्रतिवादी पर विजय पाने की प्रार्थना है। परन्तु चतुर्थ मन्त्र में 'पाद्य' शब्द को सायणने 'पाठा' समझ लिया।

[२८] दीर्घायु की प्रार्थना।

शम्भुर्ऋषिः। जरिमायुर्देवता। १ जगती, २—४ त्रिष्टुभः, ५ भुरिक्।
पञ्चर्चं सूक्तम्॥

तुभ्य॑मे॒व ज॑रिमन् वर्धताम॒यं मेमम॒न्ये मृ॒त्यवो॑ हिंसिषुः श॒तं ये।
मा॒तेव॑ पु॒त्रं प्रम॑ना उ॒पस्थे॑ मि॒त्र ए॑नं मित्रि॒यात् पा॒त्वंह॑सः॥ १॥

भा०—हे (जरिमन्) सब को जीर्ण करने हारे वार्धक्यकाल! हे बुढ़ापे! अथवा हे स्तुति योग्य अग्ने! (अयं) यह बालक (तुभ्यम् एव) तेरे तक पहुंचने के लिये ही (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो (अन्ये मृत्यवः) और नाना प्रकार के देह को आत्मा से पृथक् करने वाले कोई भी प्रबल कारण (इमम्) इसको (शतं) सौ बरस तक (मा हिंसिषुः) न मारें, कष्ट न दें। (माता पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता पुत्र को पालन करती है और सब विपत्तियों से बचाती है उसी प्रकार (मित्रः) मृत्यु से रक्षा करने वाला परमात्मा (प्रमनाः) प्रकृष्ट, उत्तम ज्ञानवान् प्रसन्न होकर (उपस्थे) अपनी गोद में धर कर (एनं) इसको (मित्रियात्) मित्रों के किये हुए (अंहसः) द्रोहादि पापाचरण व्यवहार से (पातु) रक्षा करे, बचावे।

मि॒त्र ए॑नं॒ वरु॑णो वा रि॒शादा॑ ज॒राम॑त्युं कृणुतां संविदा॒नौ।
तद॒ग्निर्होता॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान् विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा विवक्ति॥२॥

[२८] १—'हिंसिषुः त्वत्', (च०) 'मित्रेन' इति पैप्प० सं०।
२—(प्र०) मित्रश्त्वा वरुणश्चरिशादौ (च०) 'जनिमानि वक्ति' इति पैप्प० सं०।

भा०—(मित्रः) मृत्यु से त्राण करने वाला प्राण और (वरुण) शरीर के सब कष्टों का वारण करने वाला अपान (रिशादा) दोनों हिंसा या प्राणापहरण करने वाले कारणों के विनाशक होकर (संविदानौ) परस्पर मिल कर एकचित्त होकर, एक दूसरे की शक्ति को प्राप्त होकर इस बालक को (जरामृत्युं) जरा काल में देह त्याग करने हारा (कृणुतां) करें। (होता) अन्नादिका भक्षण करने वाला या प्राण और अपान दोनों की आहुति करने वाला (अग्निः) जाठर-अग्नि या ज्ञानी अभ्यासी (वयुनानि) समस्त ज्ञान करने योग्य ज्ञानों और कर्मों को और लोकों को (विद्वान्) जानता हुआ (देवानां) देवों के, इन्द्रियों के भी (विश्वा) समस्त (जनिमा) जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव होने के रहस्यों, लक्षणों को (विवक्ति) उपदेश करता है या वह अग्नि, परमात्मा समस्त ज्ञानों का स्वामी (विश्वा देवानां) समस्त देवों के (जनिम् आविवक्ति) जीवों के उत्पत्ति के रहस्य का उपदेश करता है।

त्वमी॑शिषे प॒शूनां॒ पार्थि॑वानां॒ ये जा॒ता उ॒त वा॒ ये ज॒नित्राः॑ ।
मेमं प्रा॒णो हा॑सी॒न्मो अ॑पा॒नो मेमं मि॒त्रा व॑धिषु॒र्मो अ॒मित्राः॑ ॥ ३ ॥

भा०—हे परमात्मन्! (त्वं) तू (पार्थिवानां) पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले (पशूनां) जीवों में से (ये जाताः) जो उत्पन्न हुए और (ये जनित्राः) जो उत्पन्न होंगे उन सबका (ईशिषे) स्वामी है। इस कारण परमात्मन्! आप से प्रार्थना है कि (इमं) इस बालक को (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न त्याग करे। और (मित्राः) मित्र लोग (मा वधिषुः) इसके प्राणों का नाश न करें और (अमित्राः उ मा) शत्रु भी इसका वध न करें।

३–'उतवा ये जनित्वाः' इति क्वाचित्कः पाठः। 'उतते जनित्वाः' (तृ०) 'थोपानो', (च०) 'मित्रो मो वधि' इति पैप्प० सं०।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥४॥

भा०—हे बालक ! (द्यौः) द्यौ प्रकाशस्वरूप और रमण करने वाला, उत्पादक सूर्य के समान पिता और (पृथिवी) विशाल हृदय वाली, गर्भ में धारण करने वाली पृथिवी के समान (माता) माता दोनों (संविदाने) एक मति होकर (त्वा) तुझको (जरामृत्युं) वृद्धावस्था में देह छोड़ने में समर्थ (कृणुतां) करें । यह (अदितेः) इस पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्यां) प्राण और अपान दोनों से (गुपितः) रक्षित होकर (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (जीवाः) जीवे ।

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! देव ! (इमम्) इस पुत्र को (आयुषे) दीर्घ आयु और (वर्चसे) तेज और बल के लिये (नय) प्राप्त करा । हे वरुण ! हे मित्र ! हे राजन् ! यह हमारा ही (प्रियं) प्रिय (रेतः) वीर्य है, इसलिये हे (अदिते) अखंडचारित्रा पृथिवी ! आप (माता इव) माता के समान (अस्मा) इसको (शर्म) सुख और शरण (यच्छ) दो । और हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो और दिव्य पदार्थो ! आपके बल पर यह (यथा) जिस प्रकार (जरदष्टिः) जराकाल तक जीवन यापन करने वाला (असत्) हो ।

४-(प्र०) 'द्यौस्ते पिता' (द्वि०) 'कृणुतां दीर्घमायुः' (तृ०) यथा जीवा रित्या (दित्या)' इति पैप्प० सं० ।

५-(द्वि०) 'प्रियो रेतो' 'कृधि प्रियं' तै० स० । 'तिग्मौजाः वरुण' इति मै० स० । 'वरुण सशिशाधि' इति तै० आ० (तृ०) 'शर्म यंसत्' इति शा गृ० सू० ।

[२९] ब्रह्मचर्य और दीर्घ जीवन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । १ अनुष्टुप् । २, ३, ५—७ त्रिष्टुभः । ४, पराबृहती निचृत्प्रस्तारा पंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्य/मस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥ १ ॥

भा०—(अस्मै) इस पुरुष को (देवाः) दिव्यगुण सम्पन्न दिव्य पदार्थ (अग्निः) अग्नि (सूर्यः) सूर्य और (बृहस्पतिः) समस्त बड़े लोकों का पालक और वेद वाणी का पालक परमेश्वर (पार्थिवस्य) पृथिवी से उत्पन्न (भगस्य) सेवन करने योग्य, भोगायतन इस (तन्वः) शरीर के (बले) बलस्वरूप (रसे) सारिष्ठ भाग वीर्य में (आयुष्यम्) दीर्घ आयु के लिये परम आवश्यक (वर्चः) तेज को (आधात्) आधान करते हैं । इसलिये रोग से मुक्त होने के लिये और कुमारों को पुष्ट करने के लिये उनको ब्रह्मचर्य का पालन कराना आवश्यक है ।

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधि निधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक या उनको जानने हारे अग्ने ! परमात्मन् (अस्मै) इस कुमार ब्रह्मचारी को (आयुः) दीर्घ आयु (धेहि) प्रदान करो । हे (त्वष्टः) समस्त शरीरों को रचना करने हारे परमात्मन् ! (अस्मै) इस कुमार के शरीर में (प्रजां) सन्तति उत्पन्न करने का विशेष सामर्थ्य (अधि निधेहि) स्थापित करो । हे (सवितः) सबके उत्पादक और प्रेरक परमात्मन् ! (अस्मै) इसको (रायस्पोषं) धन,

---

[२९] १–(तृ० च०) 'आयुरस्मै सोमो वर्च धाता बृहस्पतिः' इति पैप्प० सं० ।
२–(द्वि०) 'अधिनिधेह्यस्मिन्' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

जीवन और देह का पालन पोषण सामर्थ्य (आ सुव) प्रदान करो। (अयम्) यह कुमार (शतं शरदः) सौ वर्षों तक (जीवाति) जीवे।

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥३॥

भा०—हे माता और पिता! आप दोनों (सचेतसौ) समान चित्त होकर (नः) हमारे (आशीः) आशीर्वाद धारण करो (उत) और (सौ-प्रजास्त्वं) उत्तम प्रजाओं के उत्पादक सामर्थ्य (दक्षं) बल और (द्रविणं) ऐश्वर्य को (धत्तं) धारण करो और (जयं) जय (क्षेत्राणि) और धन धान्य सम्पन्न खेतों को प्राप्त करो। हे इन्द्र! परमात्मन्! (अयम्) यह कुमार नव गृहपति (अन्यान्) और (सपत्नान्) अपने शत्रुओं को (अधरान्) नीचा (कृण्वानः) दिखाता हुआ (जयं) जय को और (क्षेत्राणि) धान्य सम्पन्न क्षेत्रों को भी प्राप्त करे।

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥

भा०—यह पुरुष (इन्द्रेण) इन्द्र ऐश्वर्यशील राजा से (दत्तः) नाना पदार्थ प्राप्त करके (वरुणेन) सबसे श्रेष्ठ आचार्यरूप परम गुरु से (शिष्टः) शिक्षित होकर (मरुद्भिः) विद्वान् पुरुषों देवों, प्राणों और प्रजाओं से (प्रहितः) योग्य कार्य में नियुक्त हुआ (नः) हमारे पास (आगन्) आवे

३–'आशीर्णे' इति वेबरकामितः पाठः। 'आशीर्मे' इति तै० सं०। इन्द्र दधातु द्रविणं सुवर्चसम्' तै० सं०। मै० सं०, (प्र०) 'उत सुप्रजस्त्वं' इति पैप्प० सं०। 'सं जयात् क्षेत्राणि' इति पैप्प० सं०। 'सजयान्' इति मै० सं०, तै० सं०।

४–'वरुणेन सृष्टो', 'द्यावापृथिवी परिददामि. सामातृषत्' इति पैप्प० सं०।

हे (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी माता और पिता जनो ! (वां) आप दोनों के उपस्थे) गोद, रक्षा में रहकर वह कभी (मा क्षुधत्) भूखा न रहे और (मा तृपत्) और कभी प्यास से पीड़ित न हो ।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वेदेवा मरुत ऊर्जमापः ॥५॥

भा०—हे (द्यावा पृथिवी) माता और पिता ! (अस्मै) इस कुमार को आप दोनों (ऊर्जस्वती) अन्न और बल धारण करने वाली होकर (ऊर्जं) बल और अन्न का (धत्तं) दान करो और (पयस्वती) दूध और रस वाली हो कर (पयः) पुष्टिकारक पदार्थ (धत्तम्) प्रदान करो । (अस्मै) इसमें द्यौ और पृथिवी (ऊर्जं) बल और अन्न रस (अधातां) धारण करावें (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और दिव्य पदार्थ और (मरुतः) ज्ञानी पुरुष और व्यवहारविज्ञ व्यापारीगण और (आपः) आप्तजन या समस्त प्रजाएं (ऊर्जम्) पुष्टिकारक बल प्रदान करें ।

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विना रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥

भा०—हे कुमार ! (ते) तेरे (हृदयं) हृदय को (शिवाभिः) कल्याणकारिणी शिक्षाओं से और शरीर को कल्याणकारी जलधारों से (तर्पयामि तृप्त करता हूं । तू (अनमीवः) अमीव=रोग रहित होकर (सुवर्चाः) उत्तम ब्रह्मचर्य से प्राप्त तेज से सम्पन्न हो कर (मोदिषीष्ठाः) अति प्रसन्न रह । हे माता पिताओ, वर वधुओ ! आप दोनों (अश्विनौ) आत्मवान् जितेन्द्रिय, पथ्यकारी, ज्ञानी स्त्री पुरुषों का (रूपं) स्वरूप (मायां और शोभा को (परिधाय) धारण करके (सवासिनौ[1]) एक ही

१. सवासिनौ-समानं वस्त्रं वसानौ एकत्र वसन्तौ वा इति सायणः । आच्छादनार्थस्य निवासार्थस्य वा वसतेर्व्रते णिनिः । व्रतं शास्त्रीयो नियमः । समानस्य च्छन्दसि सभावः ।

व्रत में निष्ठ होकर दोनों समान रूप के वस्त्र धारण करके, या एकत्र रहकर (एतं) इस बलोत्पादक (मन्थम्) सत्तु के बने घोल को (पिबतां) पान करो। जिससे आप दोनों का बल बढ़े और स्वास्थ्य बना रहे। कुमार ब्रह्मचर्य पालन करें और मां बाप सदा पुष्टिकर अन्नों का उपभोग कर; व्रतनिष्ठ रहकर एकसे वस्त्र वहन कर, समान रूप से धर्म-कार्य किया करें।

इन्द्र॑ एतां स॑सृजे विद्धो अग्र॑ ऊर्जां स्वधाम॒जरां॒ सा त॑ एषा।
तया॒ त्वं जी॑व श॒रदः॑ सुवर्चा मा त॒ आ सु॑स्रोद् भि॒षज॑स्ते अक्रन् ॥७॥

भा०—हे कुमार ! (इन्द्र) ज्ञानवान् पुरुष ने (विद्धः) भूख दुर्बलता एवं रोगों से पीड़ित होकर स्वयं (अग्रे) प्रथम ही (अजरां) न जीर्ण होने वाली, अविनश्वर, प्रभावकारिणी (ऊर्जां) बलकारिणी, रसायन रूप (स्वधां) अमृतरूप (एतां) इस अन्न को (ससृजे) उत्पन्न किया है। हे पुरुष ! हे कुमार ! (तया) उस अन्न के बल पर (त्वं) तू (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (शरदः) सौ वर्ष तक (जीव) जीवन का भोग कर (ते) तेरा प्राप्त किया हुआ बलवीर्य (मा आ सुस्रोत्) कभी स्रवित न हो, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था (भिषजः) रोगों को दूर करने हारे विद्वानों ने ही (ते) तेरे लिये (अक्रन्) बनाई है। अन्न खाकर जीवन यापन करने और वीर्य का पालन करने से दीर्घायु होता है यही सब वैद्य डाक्टरों की व्यवस्था है।

७-'अग्रमूर्जं' इति सायणसम्मतः पाठः। 'ससृजे विद्धोअग्रम ऊर्जस्वधामजता [रा] मेतमेपा'। इति पैप्प० सं०।

[३०] प्रेमपूर्वक स्वयंवर-विधान ।

प्रजापतिः ऋषिः । अश्विनौ देवता । १ पथ्यापंक्तिः । ३ भुरिक् । २, ४, ५ अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यथे॒दं भूम्या॒ अधि॒ तृणं॒ वातो॑ मथा॒यति॑ ।
ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑: ॥१॥

भा०—कन्या के प्रति विवाहेच्छु युवक कुमार इस प्रकार विचार करे। (यथा) जिस प्रकार (इदं तृणं) इस तृण को (भूम्या अधि) इस पृथ्वी पर (वातः) वायु का झकोरा (मथायति) उड़ाये फिरता और घुमाता फिराता है (एवा) उसी प्रकार (ते मनः) तेरे मन को मैं (मथ्नामि) अपने साथ २ लिये फिरता हूं। अर्थात् तेरे मन को मैं अपने वश करता हूं। (यथा) जिस प्रकार तू हे मेरे अभिलाषा की पात्र कुमारि ! तू (मां) मुझे ही (कामिनी) चाहने वाली (असः) हो। और (यथा) जिस प्रकार तू (मत्) मुझे छोड़ कर (अपगा) अन्यत्र जाने वाली (न असः) न हो। अर्थात् कुमार विवाह के पूर्व कुमारी के चित्त को इतना अधिक खेंचले कि वह उसी की अभिलाषा करे और उसको त्याग कर अन्य को वरण करने की कभी न सोचे। इतना प्रेमाकर्षण होने पर विवाह होना चाहिये।

सं चेन्नया॑थो अश्विना का॒मिना॒ सं च॒ वक्ष॑थः ।
सं वां॒ भगा॑सो अग्मत॒ सं चि॒त्तानि॒ समु॑ व्र॒ता ॥ २ ॥

---

[३०] १-(प्र०) 'यथेदं भूम्याधिवत [?] स्तृणं' (प०) 'एवा ममत्वायसि' इति पैप्प० सं०।

२-(तृ०) 'सं नौ भगासो' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (प्र०) 'सं चेन्निषितो', (तृ० च०) 'सर्वाङ्गनस्याग्मत सं चक्षूंषि समुव्रता' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (अश्विना) आत्मवान् जितेन्द्रिय कुमार और कुमारी ! तुम दोनों (चेत्) यदि गृहस्थ रथ में अश्वी=आत्मवान् होकर, स्वतः कर्त्ता होकर गृहस्थ के कार्य (नयाथः) उठाने में समर्थ होओ, (च) और (कामिना) एक दूसरे के प्रति प्रेम, अभिलाषा वाले होकर एक दूसरे के भार को (संवक्षथः) मिल कर उठाने में समर्थ होओ, तब (वां) तुम दोनों के (भगासः) समस्त ऐश्वर्य भी (सं अग्मत) समानरूप से तुम्हें प्राप्त हों, (चित्तानि) तुम्हारे हृदय के सब संकल्प (सं) एक होकर रहें (व्रता उ) और सब शास्त्र प्रतिपादित धर्मकार्य, यम नियम आदि व्रत भी (सम्) समानरूप से रहें और तुम दोनों मिल कर गृहस्थ होकर रहो। अन्यथा नहीं। विवाह होने के लिये युवक युवति के आत्मा एक, मनोरथ एक, चित्त और व्रत भी एक होने उचित हैं।

यत्सु॑प॒र्णा वि॑व॒क्षवो॑ अनमी॒वा वि॑व॒क्षवः॑ ।
तत्र॑ मे गच्छता॒द्धवं॑ श॒ल्य इ॑व॒ कुल्म॑लं॒ यथा॑ ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (शल्यः) कांटा, तीक्ष्ण सुई (कुल्मलं) कोमल फूल की कली को वेध जाता है उसी प्रकार (मे) मेरी (हवं) यह हार्दिक पुकार (तत्र) उस दिल पर (गच्छतात्) पड़े (यत्) जिसके विषय में (सुपर्णाः) संदेश लाने वाले उत्तम ज्ञानी पुरुष या पक्षिगण भी (विवक्षवः) मुझे संदेश बतलाना चाहते हैं और (अनमीवाः) नीरोग पुरुष भी (विवक्षवः) मुझे आरोग्यता आदि का संदेश दें।

विवाहेच्छु कुमार विद्वान् संदेशहर और आरोग्यकारी वैद्यों का निर्णय प्राप्त करके अपने भावी गृहस्थ के लिये शुभाङ्गी स्त्री के प्रति अपनी अनुमति दे।

२-(प्र०) 'यः सु [त्सु] पर्णा रक्षाणा [?] वा न वक्षणा [?] वा जातानर्पितं [वा यत्रार्पितं] मनः शल्येवा गुल्मळं यथा। इति पैप्प० सं०।

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।
कन्या/नां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वरूपाणां) सब प्रकार से सब अङ्गों में रूपवती, सुसंगठित, उत्तम, अनवद्य, अनिन्दित शरीरवाली शुभांगी (कन्यानां) कन्याओं के (यद् अन्तरं) जो भीतर चित्त में होता है (तद् बाह्यं) वही उनके बाहर वाणी में भी होता है और (यद् बाह्यं) जो वे बाहर वाणी से प्रकट करती हैं (तद् अन्तरं) वही वे हृदय में चिन्तन किया करती हैं । हे (ओषधे) [1] अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ तू प्रेमपूर्वक खाया जाकर (मनः) कन्या या वरण योग्य कुमारी के चित्त को (गृभाय) ग्रहण कर । अर्थात् विवाह के अवसर पर वर वधू परस्पर अन्न खाकर बाह्य के वचन और भीतरी हृदय को एक करलें और प्रेम से रहें । सर्वाङ्गों में शुभ कन्याएं बड़ी सदाचारिणी और सत्यवादिनी होती हैं । जो दुराचारिणी और असत्यवादिनी होती हैं उनके शरीरों की रचना में बहुत दोष होते हैं यह लक्षणवेत्ताओं का अनुभव है ।

" ओं अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण ग्रन्थिना । बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते । " यह ब्राह्मणमन्त्र विवाह की उत्तर विधि में पढ़ा जाता है, इससे वर अपना खाया अन्न शेष वधू को खिलाता है ।

एयमगन् पतिकामा जनिकामोहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

भा०—दोनों का विवाह होजाने पर या विवाह के अवसर पर वर कहता है- इयम्) यह वधू (पतिकामा) पति की अभिलाषा वाली होकर (आ अगन्) विवाहवेदी पर आवे और (अहम्) मैं (आगमम्) यहां (जनिकामः) पुत्रोत्पादन में समर्थ भार्या की अभिलाषा वाला होकर

४—' यदन्तरं तद् बाह्यं ' इति पैप्प० सं० ।

(आगमम्) यहां आऊं, (यथा अश्वः कनिक्रदद्) जिस प्रकार अश्व घोड़ी को देखकर हिनहिनाता है और प्रसन्न होता और अपनी प्रणयिनी को बुलाता है उसी प्रकार मैं भी (कनिक्रदद्) अपने हृदय और वाणी से प्रियतमा को बुलाता हुआ (भगेन सह) ऐश्वर्य के साथ (आगमम्) युक्त होऊं।

इसी प्रकार स्त्री भी विचार करे कि मैं पतिकामा हूं यह भार्याकाम है मैं इस सौभाग्यशील पति के साथ युक्त होजाऊं।

वेदमन्त्र भी है-' भगस्तेहस्तमग्रभीत्। '

[३१] रोगकारी जन्तुओं के नाश करने का उपदेश।

कण्व ऋषिः। मही चन्द्रो वा देवता। १, अनुष्टुप। २, ४ उपरिष्टाद् विराड् बृहती। ३ आर्षी त्रिष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव॥ १॥

भा०—रोगकारक जन्तुओं के नाश करने का उपदेश करते हैं-(इन्द्रस्य) उस तेजस्वी सूर्य को (या) जो (मही) बड़ी भारी (दृषत्) विदारण करने वाली (विश्वस्य) समस्त (क्रिमेः) फैलने वाले रोग जन्तुओं की (तर्हणी) विनाशकारिणी शक्ति है (तया) उससे (क्रिमीन्) सब रोगकारी क्रिमियों को (सं पिनष्मि) एक साथ ही ऐसा पीसकर विनाश करूं जैसे (दृषदा) चक्की की शिलासे (खल्वान् इव) चनों को पीस डाला जाता है। सूर्य, वायु, प्राण और आत्मा ये इन्द्र शब्द से कहे जाते

[३१] १-(प्र०) ' महीधृषत् ', ' क्रमे ' इति कांचित्कौ पाठौ।

हैं। इनकी शक्ति से रोगजन्तुओं को इस प्रकार नाश करना चाहिये कि रोगजन्तुओं के शरीर इनकी उग्र शक्ति से कट फट जावें।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ् छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥

भा०—मैं (दृष्टम्) जो रोग कीट चक्षु से दीखने वाला है उसको (अतृहम्) नाश करूं और (अदृष्टम्) जो चक्षु से न दीखने वाला है उसको भी नाश करूं। (अथो) और (कुरूरुम्) कुत्सित शब्द करने वाले, चिटचिटाने वाले या बुरी तरह से रुलाने वाले कीट जाति को भी मैं (अतृहम्) विनाश करता हूं और (सर्वान्) सब प्रकार के (अल्गण्डून्) अति अधिक खाज पैदा करने वाले (शलुनान्) शरीर में प्रवेश कर जाने वाले, वेगवान् (क्रिमीन्) रोग कीटों को (वचसा) वाणी द्वारा, अपनी वाक्शक्ति के बल से (जम्भयामसि) उनका बांध देता हूं या उनका विनाश कर देता हूं।

अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥३॥

भा०—(अल्गण्डून्) अति अधिक खाज उत्पन्न करने वाले 'अल्गण्डू' नामक कीटों को (महता वधेन) बड़े विनाशक ओषधि से (हन्मि) विनाश करूं। वे सब कीट ओषधि या तेजाब से (दूनाः) जलभुन कर और (अदूनाः) या विना जले ही सूख कर (अरसाः) विना प्राण के

२–(तृ०) 'अलकाण्डूत' इति क्वाचित्कः पाठः। 'अथो कुरीरमतृहम्' इति सायणाभिमतः पाठः। (च०) 'वर्चसा' इति क्वाचित्कः पाठः। 'शलूनान् वचसा' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (द्वि०) 'कारूर मदृहम्' (च०) 'शललान्' इति पैप्प० सं०।

३–(च०) 'नकिरुच्छिष्यातै' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (द्वि०) 'दूनाद दूना' इति पैप्प० सं०।

(अभूवन्) होजाते हैं । उन जन्तुओं में से मैं (शिष्टान्) शास्त्र में जिनके विशेष लक्षण कहे हैं उनको और (अशिष्टान्) उनके समान हानिकारक अन्यों को भी (वाचा) अपनी वाणी के बल से या वेदवाणी के किये उपदेश से (नितिरामि) इस प्रकार जड़ मूल से विनाश करूं (यथा) जिससे (क्रिमीणां) फैलने वाले रोगकारी कीटों में से (नाकिः) कोई भी न (उच्छिषाते) बच पावें ।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(अन्वान्त्र्यं) आंतों में उत्पन्न होने वाले विपूचिका के कीट, (शीर्षण्यं) शिर देश में उत्पन्न होने वाले दाद, खाज और पीनस रोग के उत्पादक (अथो पार्ष्टेयं) और पृष्ठ देश के मोहरों में या पसलियों में उत्पन्न होने वाले नासूर या राजयक्ष्मा आदि के (क्रिमीन्) रोग कीटों को और इसी प्रकार (अवस्कवं) त्वचा के भीतर घुस जाने वाले दद्रु आदि के कीट, (व्यध्वरं) नाना प्रकार से फैलने वाले, या किसी प्रकार की ओषधियों से न विनाश होने वाले (क्रिमीन्) रोगकीटों को (वचसा) वाणी की शक्ति से या उपदिष्ट शास्त्र प्रयोग से (जम्भयामसि) विनाश करें ।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्व/माविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५॥

४–(द्वि०) 'पार्ष्णेयं' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'व्यद्वरं' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

५–(तृ०) 'ते अस्माकं' इति क्वाचित्कः पाठः सायणाभिमतश्च । 'तत्व आविशु' इति सायाणाभिमतः पाठः । (प्र०) पर्वतेषु ये वनेषु ये ओषधीषु इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) येऽस्माक तन्नो (त्व) स्थामचक्रि [रे] इन्द्रस्तान् हन्तु महतावधेन' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ये क्रिमयः) जो क्रिमि, रोगजनक जन्तु (पर्वतेषु) पर्वतों में (वनेषु) वनों, जंगलों में (ओषधीषु) ओषधि आदि खाने योग्य पदार्थों में (पशुषु) पशुओं में और (अप्सु अन्तः) पान करने योग्य जलों में रहते हों और (ये) जो (अस्माकं) हमारे (तन्वं) शरीर में व्रण मार्ग से या अन्न जल के साथ (आविविशुः) घुस जाते हैं (सर्वं तद्) उन सब (क्रिमीणां) रोग जन्तुओं के (जनिम) जातियों को या उत्पत्ति के मूलकारण को (हन्मि) मैं विनाश करूं ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्चैकोनत्रिंशच्च ऋचः]

[३२] रोगनाशक क्रिमियों के नाश करने का उपदेश ।

कण्व ऋषिः । आदित्यो देवता । १ त्रिपदा भुरिग् गायत्री २–५ अनुष्टुभः ।
चतुष्पदा निचृदुष्णिक् । षड्र्चं सूक्तम् ।

उ॒द्यन्ना॑दि॒त्यः क्रिमी॑न् हन्तु नि॒म्रोच॑न् हन्तु र॒श्मिभिः॑ ।
ये अ॒न्तः क्रिम॑यो॒ गवि॑ ॥ १ ॥

भा०—(उद्यन्) उदित होता हुआ (आदित्यः) सूर्य का तेज (क्रिमीन्) रोगकीटों, फैलने वाले रोग जन्तुओं का (हन्तु) नाश करे और (निम्रोचन्) अस्त होता हुआ सूर्य भी (रश्मिभिः) किरणों से (हन्तु) उनका नाश करे (ये) जो (गवि) पृथिवी के या शरीर की इन्द्रियों के (अन्तः) भीतर (क्रिमयः) रोगजनक जन्तु विद्यमान हैं ।

[३२] १–'उद्यन्सूर्यः क्रिमीन्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (द्वि०) 'सूर्यो निम्रोचन् रश्मिर्हन्तु' इति पैप्प० स० ।

उदित और अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में विशेष घातक गुण हैं इसीसे उस समय सूर्य को देखने का निषेध है । " नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन । " तिरछी पड़ती किरणें ही घरों में, गुफाओं में और वृक्षों के झुरमुटों में भी प्रवेश कर सकती है ।

वि॒श्वरू॑पं चतुर॒क्षं क्रिमिं॑ सा॒रङ्ग॒मर्जु॑नम् ।
शृ॒णाम्य॑स्य पृ॒ष्टीरपि॑ वृ॒श्चामि॒ यच्छिरः॑ ॥ २ ॥

भा०—मैं (विश्वरूपं) नाना आकर के (चतुरक्षं) चार २ आंखों वाले या मकड़ी के समान चारों तरफ देखने वाले (सारङ्गं) श्याम शरीर वाले या सरक कर चलने वाले (अर्जुनम्) श्वेत वर्ण के या कुटिल गति से जाने वाले कीट जाति को भी (शृणामि) विनाश करूं । और (अस्य) इसके (पृष्टीः) पीठ के प्रत्येक मोहरों को भी विनाश करूं और (यत्) जो (शिरः) उसको मुख्य शिर या अगला सिरा है उसको भी (वृश्चामि) काट डालूं । इन रोग कीटों के प्रत्येक अंग अंग का विनाश करना चाहिये क्योंकि उनका प्रत्येक अंग अलग अलग कर देने पर भी वे जीते रहते हैं ।

अ॒त्रि॒वद् वः॑ क्रिमयो हन्मि कण्व॒वज्ज॑मद॒ग्नि॒वत् ।
अ॒गस्त्य॑स्य॒ ब्रह्म॑णा॒ सं पि॑नष्म्य॒हं क्रिमी॑न् ॥ ३ ॥

भा०—(अत्रिवत्) जिस प्रकार हिंसक मांसभक्षी जीव अपने भक्ष्य जीव को विनाश कर देता है उस प्रकार और (कण्ववत्) कण २ करके

२–(प्र० द्वि०) योद्विशीर्षा चतुरक्षः क्रिमिश्शरगोऽर्जुनः ।

३–(प्र०) 'अत्रिवत्त्वा क्रिमे' (तृ०) 'अगस्त्यं ब्रह्मणा', इति पैप्प० सं० । 'अत्रिणा त्वा क्रुमेहन्मि' कण्वेन जमदग्निना विश्वावसो ब्रह्मणा' इत्यादि तै० आ० । 'हतस्ते अत्रिणाकृमिर्हतस्ते जमदग्निना ' इति मै० ब्रा० ।

खाने वाला मुर्गा आदि पक्षि कण २ चुन २ कर समस्त कण खाजाता है और या (जमदग्निवत्) जिस प्रकार प्रज्वलित आग एक ही वार में सव को भस्म कर देता है उस प्रकार हे (क्रिमयः) रोग जन्तुओ ! मैं (वः) तुमको इन नाना विधियों से (हन्मि) विनाश करूं । और (अहं) मैं (क्रिमीन्) इन रोगकारी जन्तुओं को (अगस्त्यस्य) अगस्त्य=अगम्य या वक्र उपायों को खोज निकालने वाले विद्वान् द्वारा उपदिष्ट (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र से (सं पिनष्मि) उत्तम रीति से विनाश करूं । अगस्त्य के नाम से वेदमन्त्र देखो ऋ० मं० १ । सू० १८७, १८८, १८९, १९० ॥ इनमें अग्नि, ओषधि और जल सूर्य अन्यान्य प्रकारों से रोग, विष आदि की चिकित्सा का उपदेश किया गया है ।

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार भूमि पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं के राजा, मन्त्री, माता, भाई, वहिन आदि सब मारडाले जाते हैं और शत्रु को निर्मूल कर दिया जाता है उसी प्रकार रोग-जन्तुओं (क्रिमीणां) चरण विक्षेप करने वाले कीटों का भी जो मुख्य कीट हो उस (राजा) राजा को (हतः) औषध प्रयोग से मारडाला जाय । (उत एषां) और इनके (स्थपतिः) रहने के निवास बनाने वाले जन्तुओं का भी (हतः) नाश किया जाय । और (हतमाता) इनके प्रसव करने वाली रानी कीड़ी को भी मारा जाय । (हतभ्राता) इनके सहवर्गी कीड़ों को भी मारा जाय और (हतस्वसा) इनके

४–(द्वि०) 'स्थपतिर्हतः', (तृ०) 'हतभ्रा[भ्रा]ता', (च०) हतमहता [माता] इति पैप्प० सं० । 'हतः क्रिमीणां राजा अप्येषां स्थपतिर्हतः । 'अथो माता अथो पिता' इति तै० आ० । (प्र० द्वि०) 'हतः क्रिमीणां क्षुद्रको हता माता हतः पिता', इति तै० आ० ।

भगिनी मादा कीड़े को भी माराजाय, तब समझना चाहिये कि (क्रिमिः) फैलने वाले रोग-जन्तु की बला (हतः) नष्ट होगई ।

मधुमक्खी और कीड़ियों के भीतरी प्रबन्धों को देख कर यह अनुमान होता है कि कीटों में भी कुछ कीट उनमें राजा, कुछ उनके मकान बनाने वाले, कुछ भाई, कोई रानी आदि नाना विभाग होते हैं प्रायः ततैया, भूण्ड, भौंरे आदि जाति के कीट, दीमक, कीड़ी, मकोड़ी, मकोड़ा आदि जाति के कीटों में बड़ा संगठन होता है उनका विनाश शत्रु के नाश के समान ही करना उचित है ।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस शत्रु के जिस प्रकार (वेशसः) सेवक और भीतरी अन्तरंग पुरुष और (परिवेशसः) बाहर के रक्षकों को मार दिया जाता है और जिस प्रकार जो (क्षुल्लकाः) उसके और छोटे मोटे सहचर हों उनको भी मार दिया जाता है उसी प्रकार (अस्य) इस विनाश करने योग्य रोग-जन्तु के (वेशसः) भीतरी आश्रय-स्थानों या मुख्य जीवों को और (परिवेशसः) उनसे मिलते जुलते उस वर्ग के अन्य कीटों को भी (हतासः) मारा जाय । (अथो) और (ये) जो (क्षुल्लकाः) अत्यन्त क्षुद्र झिल्ली के रूप में या अण्डों के रूप में उनके बीजभूत (इव) से हैं (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) रोगसंक्रामक जीव (हताः) मार दिये जाँय तभी रोग दूर हो सकता है ।

५–(तृ०) 'क्षुल्लका' इति नेदं पदं 'क्षुद्रक' पदस्य प्राकृतं रूपमपि त्वार्षम् । तैत्तिरीयारण्यकगतं 'क्षुद्रक' पदमस्य व्याख्यानम् ।

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

भा०— विषैले जन्तु का नाश करने का उपदेश करते हैं। (ते) तेरे (शृङ्गे) उन दो कांटों को (शृणामि) नाश करता हूं (याभ्यां) जिनसे (वि तुदायसि) तू नाना प्रकार से काटता और पीड़ा देता है। और (ते) तेरे (कुषुम्भं) उस थैली को (भिनद्मि) फोड़ देता हूं (यः) जो (ते) तेरा (विषधानः) जहर रखने का स्थान है।

---

[३३] देह के अङ्गों से रोग नाश करने का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। यक्ष्मविवर्हणं चन्द्रमा वा देवता। आयुष्यं सूक्तम्। १, २ अनुष्टुभौ, ३ ककुम्मती, ४ चतुष्पदासुरिग् उष्णिक्, ५ उपरिष्टाद् विराट् बृहती, ६ उष्णिग् गर्भा निचृदनुष्टुप्, ७ पथ्या पंक्तिः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं/मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६३ । १ ॥

६-(तृ०) 'कुषूभम्' 'कुषभं' 'कषभं' 'कुशुभं' इति क्वचित्काः पाठाः। 'घुकंभं' इति सायणाभिमतः पाठः। प्र ते श्रृणामि शृंगे याभ्यायत्तन् [?] वितदायसि। 'अथो भिनद्मि तं कुम्भं यस्मिन् ते निह [हि] तं विषम्' इति पैप्प० सं०। (तृ० च०) 'अथैषां भिनकः कुम्भो य एषां विषधानकः।' इति मै० श्रा०।

[३३] १-(द्वि०) 'चुबुकादधि' इति क्वचित्कः पाठः। (द्वि०) 'कर्णाभ्यां नास्यादधि', (च०) 'ललाटाद् विवमेमसि' इति पैप्प० सं०।

भा०—इस सूक्त में समस्त शरीर के भिन्न २ अंगों में बैठे रोगों की चिकित्सा का उपदेश करते हैं । हे पुरुष ! मैं वैद्य आयुर्वेद का जानने हारा विद्वान् (ते) तेरे (अक्षीभ्यां) आंखों में से (नासिकाभ्यां) दोनों नासिकाओं में से और (छुबुकाद् अधि) ठोड़ी में से और (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) शिर के भीतर के भेजे अर्थात् मस्तिष्क भाग में से और (जिह्वाया) जीभ में से भी और (शीर्षण्यं) शिर में बैठे (यक्ष्मं) रोग को (वि वृहामि) दूर करता हूं ।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्या/त् ।
यक्ष्मं दोषण्य१ंमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
ऋ० १० । १६३ । २ ॥

भा०—(ते ग्रीवाभ्यः) तेरी गर्दन की नाड़ियों से (उष्णिहाभ्यः) ऊपर को स्नेहमय रस द्रव्य ले जाती वाली धमनियों से (कीकसाभ्यः) जत्रु और वक्षःस्थल की हड्डियों से और (अनूक्यात्) अस्थियों के मिलाने वाले संधिभाग से और (ते अंसाभ्यां) तेरे कन्धों और (बाहुभ्यां) बाहुओं से (दोषण्यं) और हाथों में होने वाले (यक्ष्मं) रोग को (वि वृहामि) दूर करता हूं ।

'ग्रीवाभ्यः'=ग्रीवाः पञ्चदश । चतुर्दश वा एता कल्कराणि वीर्यं पञ्चदशम् । तस्माद् एताभिरण्वीभिः सतीभिर्गुरुभारं वहति । (श० ब्रा० १२ । २ । ४ । १०) ग्रीवा में १४ कल्कर=सूक्ष्म अवयव, मांसपेशियां हैं जिनके बल पर गर्दन भारी भार भी उठा लेती है ।

उष्णिहा=धमनीः इति सायणः । ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः, रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः । तदुक्तं उष्णिग् उत्स्नाता भवति । स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । अनूक्यम्=अनुक्रमेणोच्यन्ति समवयान्ति अस्थीनि अस्मिन् इति अनूक्यम्

२–' कीकासाभ्योऽनुकाः ' (च०) 'उरस्तो वि वृहामसि' इति पैप्प० सं० ।

तत्संधिः । उच समवाये इत्यतः अनुपूर्वात्ल्यप्यत् । दोपण्यम्=दोष्णोर्भवम् ।

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥

उत्तरार्धम् ऋ० १० । १६३ । ३ ॥

भा०—(ते हृदयात्) तेरे हृदय से, (क्लोम्नः) हृदय के समीप के फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्तोत्पादक अंग से, (पार्श्वाभ्यां मतस्नाभ्यां) दोनों पासों पर लगे गुर्दों से, (प्लीह्नः) पिलही से और (ते यक्नः) तेरे यकृत्=कलेजे से हम (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करते हैं ।

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १६३ । ३ ॥

भा०—(ते आन्त्रेभ्यः) तेरी आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदाओं से, (वनिष्ठोः) स्थूल आंतों से, (उदराद् अधि) और उदर अर्थात् आमाशय से (कुक्षिभ्यां) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) मलाशय से और (नाभ्याः) तेरी नाभी से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करता हूं ।

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १६३ । ४ ॥

३–‘ क्लोम्नस्ते हृदयाभ्यो हलीक्ष्णात् ’ इति पैप्प० सं० । ‘ वनिष्ठोर्हृदयादधि ’, ‘ यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामिते ’ इति पाठभेदौ ।

४–‘ यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद् भंससो विवृहामि ते ’ इत्युत्तरार्धे पाठभेदः । (तृ०) ‘ कुक्षिभ्यां पाण्योः ’ (च०) ‘वृहामसि ’ इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) ‘ यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भसंसो ’ इति ऋ० । ‘ वृहामसि ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते ऊरुभ्यां) तेरी ऊरु=जंघाओं से (अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां) सख़्त हड्डी वाले दोनों गोड़ों और एड़ियों से (प्रपदाभ्यां) पैर के अगले भागों, पंजों से तेरा यक्ष्म=रोग को विनाश करता हूं। और इसी प्रकार (श्रोणिभ्यां) दोनों कूल्हों से और (भसद्यं) कटिदेश में उत्पन्न रोग को दूर करता हूं और (ते भंससः) तेरे गुह्य=मूत्र मार्ग से हो (भासदं) गुह्य प्रदेश में उत्पन्न (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को भी दूर करता हूं।

अस्थिभ्यस्ते मुज्जभ्यः स्नावभ्यो धुमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामुङ्गुलिभ्यो नुखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १६३ । ५ ॥

भा०—(ते अस्थिभ्यः) तेरी हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जा भागों से (स्नायुभ्यः) स्नायुओं से (धमनिभ्यः) धमनी—नसों से (पाणिभ्यां) तेरे हाथों से (अंगुलिभ्यः) अंगुलियों से और (ते नखेभ्यः) तेरे नखों से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करता हूं।

अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचुस्यं/ ते वृयं कुश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

ऋ० १० । १६३ । ६ ॥

भा०—(ते) तेरे (अङ्गे अङ्गे) अंग २ में और (लोम्नि लोम्नि) रोम रोम में और (पर्वणि पर्वणि) पोरु २ में (ते त्वचस्यं) तेरी त्वचा

६-' मेहनाद् वनं करणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः । यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ।' इति ऋग्वेदे । (तृ०) यक्ष्मं पृष्टिभ्योमज्जभ्यो नाड्यां वि वृहामसि ' इति पैप्प० सं० ।

७-' अङ्गादङ्गाल्लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि । यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते । इति ऋ० । (द्वि०) 'तत्र लोम्नो वद्धं' इति पैप्प० सं० ।

के भीतर बैठे (विश्वञ्चं) सब देह में बैठे (यक्ष्मं) रोग को (कश्यपस्य) रोग के मूलकारण और दूर करने के सत् उपायों को देखने हारे, कश्यप ज्ञानी पुरुष के उपदेश किये हुए (वीबर्हेण) नाना प्रकार के रोगविनाशक उपाय से (वि वृहामसि) दूर करते हैं ।

[३४] मोक्षमार्ग का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । पशुपतिर्देवता । पशुभागकरणम् । १-४ त्रिष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

य ईशे॑ पशु॒पतिः॑ पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म् ।
निष्क्री॑तः॒ स य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑तु रा॒यस्पोषा॒ यज॑मानं सचन्ताम् ॥१॥

भा०—मुमुक्षु के लिये उपदेश करते हैं—(यः) जो विभूतियों का अभिलाषी आत्मा (पशूनां) अपनी इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करने हारे (चतुष्पदां) चौपाये और (द्विपदां) दो पाये मनुष्य और पक्षियों पर भी (ईशे) अपना वश करता और उनका स्वामी हो जाता है । वह (पशुपतिः) 'पशुपति' कहाता है । (सः) वह (निष्क्रीतः) सब प्रकार से स्वतन्त्र हो कर (यज्ञियं) यज्ञयोग्य या परमात्मा सम्बन्धी (भागं) भाग ऐश्वर्य को (एतु) प्राप्त हो और (रायस्पोषाः) धनादि की समस्त विभूतियें और सामर्थ्य (यजमानं) उसी महान् यज्ञकर्ता आत्मसाधक को (सचन्तां) प्राप्त होते हैं ।

प्र॒मु॒ञ्चन्तो॒ भुव॑नस्य॒ रेतो॑ गा॒तुं ध॑त्त॒ यज॑मानाय देवाः ।
उपाकृ॑तं शशमा॒नं यदस्था॑त् प्रि॒यं दे॒वाना॒मप्ये॑तु॒ पाथः॑ ॥ २ ॥

---

[३४] १–' येषां पशुपतिः ' इति पैप्प०, तै० सं० । (द्वि०) ' यश्च द्विपदाम् ', ' यजमानस्य सन्तु ' इति तै० सं० ।

२–(प्र०) 'प्रमुञ्चमाना', (च०) 'जीवं देवानां' इति तै० सं० । (प्र०) 'भुवनस्य गोपा' (द्वि०) 'देवा यजमानाय धत्त' (च०) 'अप्येति पाथः' । इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! और पृथिवी आदि लोको ! अथवा प्राकृतिक विकार रूप पञ्चभूतो ! (भुवनस्य) उत्पन्न होने हारे इस देह और विश्व के (रेतः) उत्पन्न होने के मूलकारण कर्मफल को या प्रकृति को (प्रमुञ्चन्तः) सर्वथा परित्याग करते हुए आप लोग (यजमानाय) पुण्यकार्य और ज्ञानयज्ञ के सम्पादक मुमुक्षु आत्मा के लिये (गातुं) ज्ञानमार्ग का (धत्त) आश्रय दो । (यद्) जब वह जीव (देवानां) मुक्त ज्ञानयोगी विद्वानों के (प्रियं पाथः) प्रिय मार्ग, देवयान मार्ग में (अस्थात्) दृढ़रूप से स्थिति करे तब (उपाकृतं) योगसाधनों से संस्कृत, पवित्र हृदय (शशमानं) इस देह-बन्धन को छोड़ कर स्वर्ग या मोक्ष लोक में जाने के लिये उद्यत, निरन्तर शमादि के पालक, इस आत्मा को वह मार्ग भी (एतु) प्राप्त हो । इस मन्त्र को 'बलिपशु' परक लगाना वाममार्ग है ।

ये बुध्यमा॑नमनु॒ दीध्या॑ना अ॒न्वैक्ष॑न्त॒ मन॑सा॒ चक्षु॑षा च ।
अ॒ग्निष्टानग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वो वि॒श्वक॑र्मा प्र॒जया॑ संर॒राणः ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो ध्यानी योगाभ्यासी मुमुक्षु पुरुष (दीध्यानाः) योग-समाधि द्वारा ध्यान करते हुए (बध्यमानम्) देह-बन्धन में फंसे हुए आत्मा को (मनसा) अपनी मननशक्ति और (चक्षुषा) प्रज्ञानेत्र से (अनु ऐक्षन्त) अनुदर्शन करते हैं (अग्निः) सर्वप्रकाशक ज्ञानमय परमेश्वर (देवः) प्रकाशस्वरूप (विश्वकर्मा) समस्त विश्व का कर्त्ता (प्रजया) समस्त जीवों की प्रजा के साथ या प्रकृति के साथ (सं रराणः) उत्तम रीति

२–(प्र०) 'वध्यमानमनुवद्धयमाना अभ्यैक्षन्त' इति तै० सं० । (च०) 'देवः प्रजापतिः' इति तै० सं०, मै० सं० । प्रजया संविदानः' इति तै० सं० । 'प्रमुमुक्त देवः प्रजापतिः प्रजाभिः संविदानम् । इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'ये वध्यमानमनु वध्यमानं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

से रमण करता हुआ जगदीश्वर (अग्रे) प्रथम ही (मुमोक्तु) इस देह के क्लेशमय बन्धन से मुक्त कर देता है, उनको जीवन्मुक्त कर देता है।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो (पशवः) पशु स्वभाव के या देखने हारे जीवात्मागण (ग्राम्याः) ग्राम्यधर्म में लगे हुए (विश्वरूपाः) नाना योनियों में गये हुए (विरूपाः) नाना प्रकार के शरीर धारण करते (सन्तः) हुए भी (बहुधा) बहुत से प्रकारों से (एकरूपाः) एकही जीवात्मा जाति के हैं। (वायुः) सब को सूत्ररूप से बांधने वाला, सर्वव्यापक, सब का प्राणस्वरूप, देव (प्रजापतिः) परमात्मा (प्रजया) अपनी प्रजा, प्रकृष्ट रूप से प्रादुर्भाव होने वाली प्रकृति से (संरराणः) रमण करता हुआ (देवः) परमदेव (तान्) उन जीवों को (अग्रे) उनके साधना में प्रवृत्त होते ही (प्र मुमोक्तु) बार २ मुक्त करो।

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५॥

भा०—जिस प्रकार (पूर्वे) पूर्वकल्प के ऋषिजन अथवा प्रथम २ (प्रजानन्तः) ब्रह्म और आत्मा के तत्व को भली प्रकार जानते हुए (अङ्गेभ्यः)

४–(प्र०) 'ये अरण्याः पशवो', (तृ०) 'वायुस्तान' इति तै० सं०। ये अरण्याः पशवो विश्वरूपा उत ये कुरूपाः०' (तृ०) मुमुक्तेति पूर्वमन्त्रवत् इति पैप्प० सं०।

५–(प्र०) 'प्रतिगृह्णन्तु देवाः' (तृ०) 'ताभ्यां गच्छ प्रति' (च०) 'पथिभिः शिवेभिः' इति पैप्प० सं० (प्र०) 'प्रतिगृह्णन्ति' तृतीय चतुर्थयोः क्रमविपर्ययः। (तृ०) 'ओषधीषु प्रति तै० सं०। (च०) 'इति मै० सं०।

समस्त अङ्गों में (पर्याचरन्तं) सर्वत्र गति करते हुए (प्राणं) प्राण को वश करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षु जन भी योग-साधनों से उस प्राण को (प्रतिगृह्णन्तु) अपने वश करें । हे मुमुक्षु पुरुष ! तू भी (शरीरैः) अपने इन शरीरों द्वारा (प्रति तिष्ठ) आत्मा को प्रतिष्ठित साधनासम्पन्न सामर्थ्यवान् कर और फिर (देवयानैः पथिभिः) विद्वानों द्वारा गमन करने योग्य, मुमुक्षु मार्ग, देवयान नामक ज्ञानमार्गों से (स्वर्गं) उस पुण्यफल, सुकृत, सुखमय लोक को (याहि) प्राप्त कर और (दिवं) उस प्रकाशस्वरूप ब्रह्मपद को भी (गच्छ) प्राप्त कर ।

यह सूक्त सायण ने बलि करने योग्य वध्य पशु पर लगाते हुए कौशिक सूत्रप्रदर्शित विनियोग लेकर महा अनर्थ किया है । यदि कौशिक सूत्र प्रदर्शित दिशा से ही सर्वलोकाधिपत्यकाम ज्ञानी परक यह सूक्त लगाया जाता तो उत्तम था ।

[३५] मोक्षमार्ग का उपदेश ।

अंगिरा ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । १ विराड् गर्भा त्रिष्टुप् । २, ३ त्रिष्टुप् । ४, ५ भुरिग् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

ये भ॒क्षय॑न्तो॒ न वसू॑न्यानृ॒धुर्यान॒ग्नयो॑ अ॒न्वत॑प्यन्त॒ धिष्ण्याः॑ ।
या तेषा॑मव॒या दुरि॑ष्टिः॒ स्वि॑/ष्टिं न॒स्तां कृ॑णवद् वि॒श्वक॑र्मा ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में भोग त्याग करके मोक्षमार्ग में जाने का

[३५] १-(तृ०) 'दुरिष्टेः स्विष्टिं नस्तान् कृण०' इति ह्विटनिकामितः पाठः कचित्कश्च । (प्र०) वसून्या वृधु इति काचित्कः पाठः । वसून्यानशुः इति मै० सं० । (तृ०) 'इयं तेषामवया दुरिष्ट्यै' (च०) 'विश्वकर्मा-कृणोतु' मै० सं० । (तृ०) 'दुरिष्टा स्विष्टं' इति पैप्प० सं० ।

उपदेश है। (ये) जो लोग (भक्षयन्तः) निरन्तर भोग करते हुए भी (वसूनि) देह में बसने हारे प्राणों को (न आनृधुः) समृद्ध, समर्थ, सम्पन्न, वर्चस्वी नहीं होने देते। और (यान्) जिनको (धिष्ण्या) देह के भीतर अपने २ स्थान में विराजमान (अग्नयः) प्राणादि अग्नियां (अनु अतप्यन्त) भोग के अनन्तर संताप देते हैं। (तेषां) उन भोगी पुरुषों का जो (अवयाः) हीन यज्ञ अर्थात् इन्द्रियों में विषयार्थों की आहुति या कुसंगति है और (दुरिष्टिः) दोषयुक्त शास्त्रविधान के प्रतिकूल तामस प्रवृत्ति हैं, (विश्वकर्मा) वह समस्त संसार का स्रष्टा परमेश्वर (नः) हमारे (तां) उस हीन प्रवृत्ति को (स्विष्टिं) उत्तम पुण्यकार्य में (कृणवत्) बदल दे।

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२॥

भा०—(प्रजाः) प्रजाः=पुत्र पौत्र आदि के (अनु) साथ स्वयं (तप्यमानं) कष्ट अनुभव करते हुए, उनकी ममता में बंधे (यज्ञपतिम्) यजमान आत्मा को (ऋषयः) तत्वदर्शी विद्वान् गण (एनसा) मोह में (निर्भक्तं) फंसा हुआ (आहुः) कहते हैं। और (यान्) जिन (मथव्यान्) मथन करने हारे, चित्त को हर्ष देने हारे (स्तोकान्) पदार्थों को (अप रराध) हम से परे रखता है (तेभिः) उन पदार्थों से भी (सः) वह (विश्वकर्मा) जगदीश्वर (नः) हमारे आत्मा को (संसृजतु) युक्त करे।

२-(तृ०) 'मथव्यान्' इति सायणसम्मतः पाठः (प्र०) 'यजमानमृषय' (द्वि०) 'विहाय प्रजामनु तप्यमानाः' (तृ०) 'मथव्यान्त्स्तोकावपताभ्यां तौ रराध' इति मै० सं०। (द्वि०) 'प्रजा निर्भक्ता अनुतप्यमानाः,' इति तै० सं०।

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः ।
यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥

भा०—(धीरः न) धीर, प्रतिभावान् पुरुष के समान (विद्वान्) विद्वान्, विद्यासम्पन्न पुरुष भी (यज्ञस्य) यज्ञ के (समये) समय में=सत्संग के अवसर पर (सोमपान्) ब्रह्मानन्द रस का पान करने हारे अन्तर्ज्ञानी पुरुषों को भी (अदान्यान्) दान दक्षिणा देने के अयोग्य (मन्यमानः) समझता हुआ गर्व में आकर (बद्धः) मोह अविद्या में बद्ध (एष) यह जीव (यद्) जो (एनः) पाप या अनुचित कर्म (चकृवान्) कर देता है हे (विश्वकर्मन्) समस्त संसार के उत्पादक प्रभो ! आप (तं) उस जीव को (स्वस्तये) उसके कल्याण के लिये (प्र मुंच) उस पाप से मुक्त करो ।

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान् ॥४॥

भा०—(ऋषयः) यथार्थ मन्त्रों के द्रष्टा, विद्वान् वस्तुतः (घोराः) घोर तपस्वी होते हैं । (एभ्यः) इनके लिये हमारा सदा (नमः अस्तु) नमस्कार हो । (यद्) क्योंकि (एषां) इनकी (चक्षुः) आंख या यथार्थ दर्शन और (मनसः च) मन का मनन दोनों (सत्यम्) सत्य होते हैं । हे

३–(प्र०) 'अनन्यान्त्सोमपान्' (तृ०) 'एनश्चकृवान्महिबद्ध एषां इति तै० सं० । ' अयज्ञियान् यज्ञियान मन्यमानो ' इति मै० सं० । (द्वि०) 'प्राणस्यविद्वानसमरे' (तृ०) 'एनोमहच्चकृवान् बद्ध' इति मै० सं० ।

४–(द्वि०) 'चक्षुप एषां मनसश्च सन्धौ,' (तृ०) 'माहिपद' (च०) नमोविश्वकर्मणे स उपात्व' इति तै० सं० । (प्र० द्वि०) 'भीमा ऋषयो' नमोस्तु' (द्वि०) ' मनसश्चसंदृक् ' (तृ०) बृहस्पते महिपाय दिवे विश्व' इति पैप्प० सं० ।

(महिष) पूजनीय पद के दातः ! हे विश्वकर्मन् ! सबके उत्पादक ! (ते) तुझ (बृहस्पतये) महान् संसार के परिपालक, प्रभु के लिये (द्युमत्) सब से अधिक (नमः) नमस्कार है (नमः ते) तुझे बार २ नमस्कार है । तूही (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर । सायण-सम्मत पाठ—(महि पत् द्युमत् नमः) प्रभो ! आपका बड़ा भारी प्रकाशमय 'सत्' स्वरूप है ।

अथवा—अध्यात्म पक्ष में—चक्षु आदि ये प्राण ही घोर ऋषि हैं । इनको (नमः) अन्न प्राप्त हो । इन प्राणों और मन के बीच में से चक्षु का देखा ही सत्य है । हे महिप ! आत्मन् ! बृहती वाणी के पति ! इस तुझ आत्मा या आसन्य प्राण के लिये (द्युमत् नमः) तेजोमय, ज्ञानमय सोमरूप अन्न है । हे विश्वकर्मन् प्रभो ! आपको भी नमस्कार है । आप हमारी रक्षा करें ।

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अथर्व० १९ । ५८ । ५ ॥

भा०—(यज्ञस्य) इस पुरुषमय यज्ञस्वरूप आत्मा का (चक्षुः) आंख और (मुखं च) मुख (प्रभृतिः) उसका उत्तम भरण पोषण करने वाला साधन है । एक ज्ञानभरण करता है और दूसरा अन्नभरण करता है । इस यज्ञ में (श्रोत्रेण) श्रोत्र से (वाचा) वाणी से और (मनसा) मन से भी (जुहोमि) ज्ञान की आहुतियां प्रदान करता हूं । (विश्वकर्मणः) जगत् के स्रष्टा परमेश्वर ने इस शरीर में (विततं) विस्तृत किये हुए (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञ को (देवाः) यज्ञ में विद्वान् पुरुषों के समान पंचभूतों की तन्मात्रा स्वरूप ये इन्द्रियगण (आ यन्तु) प्राप्त हों ।

[३६] कन्या के लिये योग्य पति की प्राप्ति ।

पतिवेदन ऋषिः । अग्नीषोमौ मन्त्रोक्ता सोमसूर्येन्द्रभगधनपतिहिरण्यौषधयश्च देवताः । १ भुरिग् । २, ५–७ अनुष्टुभः । ३, ४ त्रिष्टुभौ । ८ निचृत् पुरउष्णिक् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न ।
जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! आचार्य ! पुरोहित ! परमात्मन् ! (सं-भलः[1]) उत्तम रीति से आदान करने हारा योग्य पात्र या उत्तम विद्वान् प्रवक्ता (नः) हमारे पास (आ गमेद्) आवे और (इमां) इस (सुमतिं) उत्तम ज्ञान वाली, उत्तम मति वाली, बुद्धिमती (कुमारीम्) नवयौवना कुमारी कन्या को (भगेन सह) ऐश्वर्यमय धन और सौभाग्य के साथ (आ गमेत्) आकर स्वीकार करे । अथवा भला उत्तम विद्वान्, सत्पात्र इस कुमारी को (संगमेत) प्राप्त हो । और यह कन्या (समनेषु) समान चित्त वाले (वरेषु) वरों में से (पत्या) अपने पालन करने में समर्थ अभिलषित पति के संग (वल्गुः) मधुर वचन आलाप करके पश्चात् (अस्यै) इस कन्या को (ओषं) सह-वासरूप (सौभगं) सौभाग्य (अस्तु) प्राप्त हो ।

सोम॑जुष्टं॒ ब्रह्म॑जुष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म् ।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृणोमि पति॒वेद॑नम् ॥ २ ॥

---

[३६] १–(प्र० द्वि०) सुमतिं स्कन्दलोके इमां कुमार्या मानो भगेन [?] । (तृ० च०) वल्गुरोषं पत्या भवति सुभगेमम्' इति पैप्प० सं० ।

१. सम्भलकः समादाता इति सायणः ।

२–' सोमजुष्टो अर्यम्णा सम्भृतो भगः ' (च०) ' कृणोमि पतिवेदनम् ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सोमजुष्टं) सोम, विद्वान्, प्रथम पति द्वारा प्रेमपूर्वक स्वीकृत, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा अनुमोदित, (अर्यम्णा संभृतं) अर्यमा=विवाहाग्नि द्वारा उत्तम रीति से परिपालित, या राजा द्वारा परिरक्षित (पतिवेदनं) पति-वरणरूप (भगम्) सौभाग्यतम विवाहकृत्य को मैं पति और पत्नी (धातुः) समस्त संसार के पालक और उत्पादक (देवस्य) देव परमात्मा के (सत्येन) साक्षीभूत सत्य व्रत से (कृणोमि) करता हूं और करती हूं । अथवा कन्या का पिता कहता है कि विधाता=प्रजापति के व्रत से प्रेरित होकर मैं कन्या का विवाह करता हूं ।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥

भा०—हे अग्ने ! (इयं नारी) यह नारी (पतिं) पति को (विदेष्ट) प्राप्त हो । (राजा) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त (सोमः) प्रसव करने में समर्थ सोम, प्रथम पति (हि) निश्चय से इसको (सुभगा) सौभाग्यसम्पन्न (कृणोति) करे । यह नारी (पुत्रान्) पुत्रों को (सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी[1]) पूजनीय श्रेष्ठ रानी के समान (भवाति) हो । और (पतिं) पति के पास (गत्वा) जाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि राजतु) नाना प्रकार से और विशेष रूप से शोभा को प्राप्त हो ।

यथाखरो मघवञ्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सम्प्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

३–(प्र०) 'अग्ने नारि' इति क्वाचित्कः पाठः । पतिर्विदेष्ट (द्वि०) 'सुभगं कृणोतु' 'महिनी भवासि गत्वा पति सुभगे विराज' इति पैप्प० सं० ।

१. महिषी महनीया श्रेष्ठा भार्या इति सायणः ।

४–(द्वि०) 'सुपदं बभूव' इति ह्विटनिकामितः पाठः (प्र०) 'मघवान्' (च०) 'पत्याभिराधयन्ती' इति सायणाभिमतौ पाठौ । (प्र०) यथा खरं मघवं-श्चारेपु (तृ० च०) यां वयं जुष्टा भगस्यास्तु सम्प्रिया इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! (यथा) जिस प्रकार (एष) यह (खरः) कमनीय अश्व (मृगाणां) पशुओं में सबसे अधिक (प्रियः) उत्कृष्ट मनोहर और प्रेमपात्र है और इसीलिये (चारुः) उत्तम गतिशील और (सुपदाः) उत्तम सवारी देने हारा (बभूव) है उसी प्रकार (एषः) यह (खरः) कामनावान् अभिलाषायुक्त पुरुष भी (मृगाणां) स्त्रियों के चित्त की खोज लगाने वाले मृगजाति के पुरुषों में से (प्रियः) श्रेष्ठ (चारुः) सुन्दर, गृहस्थ-कार्य-सम्पादन में उत्कृष्ट और (सुपदा) गृहस्थ का उत्तम रीति से स्थिर करने हारा (बभूव) है । (एवं) इसी प्रकार के (भगस्य) सौभाग्यशील पुरुष के संग (जुष्टा) प्रेमपूर्वक संगत होकर (इयम् नारी) यह नारी (पत्या) अपने पति के साथ (अविराधयन्ती) किसी प्रकार का अपराध या बिगाड़ या अनबन न करती हुई उसकी (संप्रिया) अति प्रियतमा (अस्तु) होकर रहे ।

भग॑स्य॒ नाव॒मा रो॑ह पू॒र्णामनु॑पदस्वतीम् ।
तयो॑प॒प्रता॑रय॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्य॑: ॥ ५ ॥

भा०—हे कन्ये (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) तेरी अभिलाषा के योग्य है, तू उस (भगस्य) सौभाग्यशील पति की (पूर्णाम्) पूरी (अनुपदस्वतीम्) विनाशरहित, शरणदायिनी (नावं) भवसागर के पार उतारने वाली नाव के समान शरण में (आरोह) चढ़, जा बैठ, (तया) उससे (उपप्रतारय) अपने उस पति को और अपने को भी भवसागर या ऋण से पार उतार ।

आ क्र॑न्दय धनपते व॒रमाम॑नसं कृणु ।
सर्वं॑ प्रदक्षि॒णं कृ॑णु॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्य॑: ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'नावमारुह पूर्णामनुपदस्वतीम् । त्रयो पूपाहितं यः पतिः पतिकाम्यः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (धनपते) ऐश्वर्यवन् ! या कन्या के पितः ! उस (वरम्) वर को (आक्रन्दय) बुलाओ और उसको (आमनसं) अनुकूल चित्त वाला (कृणु) करो (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) कन्या के अभिलाषा के अनुकूल है। हे वर ! तू (सर्वं) सबको (प्रदक्षिणं कृणु) अपने दायें रख कर प्रदक्षिणा कर अथवा (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) हे वर ! तू सर्व=अग्नि की प्रदक्षिणा कर। 'सर्व'=शर्वः, अग्नि के आठ नामों में से एक नाम है।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

भा०—हे कुमारि ! (इदं) यह (हिरण्यं) स्वर्णमय अंगूठी या स्वर्णमुद्रा, (गुल्गुलु) यह गूगल का सुगन्धित द्रव्य, (अयम् औक्षः[1]) यह प्रोक्षण, अर्घ्य, पाद्य का जल या दूध का बना पदार्थ, (अथो) और (भगः) यह सौभाग्य, या सुभगंकरण द्रव्य, सौभाग्यसूचक कुंकुम आदि द्रव्य (एते) ये सब पदार्थ (पतिभ्यः) पतियों के आगे प्रस्तुत करने के लिये (प्रतिकामाय) तेरे प्रेम के बदले में तुझसे प्रेम दर्शाने हारे अपने प्रियतम को (वेत्तवे) प्राप्त करने के लिये (त्वाम्) तुझको (अदुः) पुरोहित एवं माता और पिता और भाई देते हैं।

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

भा०—(सविता) सब का प्रेरक, उत्पादक परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये हे कन्ये ! पति को (नयतु) प्राप्त करावे। और (यः) जो इस कन्या का

७–(प्र०) 'इदं हिरण्यं गुग्गुल्वय' इति क्वचित् पाठः। (प्र०) 'वयमुक्षो अथो भगः' (तृ०) 'त्वामधुः पतिकामाय' इति पैप्प० सं०।

१. सेचनार्थस्य उक्षते रूपम्, नत्रोक्ष्णो वृषभार्थस्य ताद्धितम्, इति ह्विटनिः।

(प्रतिकाम्यः) इसके प्रेम के एवज में इसको प्रेम से चाहता है वह (पतिः) पति इसको (नयतु) अपनी पत्नी बनाकर ले जावे । हे (ओषधे) पुष्टि-कारक ओषधे (त्वम्) तू (अस्यै) इस कन्या के गर्भ में उत्तम, पुष्ट, स्थापित वीर्य को (धेहि) धारण और पोषण कर ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकत्रिंशत् ।]

इति द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।

तत्रानुवाकाः षट्, त्रिंशत् षट् च सूक्तान्यथो ऋचः ।
सप्ताधिकं च द्विशतं, द्वितीयं काण्डमिष्यते ॥

रामवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे फाल्गुने सितपक्षके ।
पञ्चम्यां मङ्गले काण्डं द्वितीयं पूर्त्तिमैत्, शुभम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणाविरचित
अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।

* ओ३म् *

अथ तृतीयं काण्डम्।

[१] शत्रु सेनाओं के प्रति सेनापति के कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः। अग्निमरुदिन्द्रादयो बहवो देवताः। सेनामोहनम्। १ त्रिष्टुप्। २ विराड्गर्भा भुरिक्। ३, ६ अनुष्टुभौ, विराड् पुरोष्णिक्। षडृचं सूक्तम्॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः॥ १॥

भा०—(अग्निः) आगे २ चलने वाला, सेना का अग्रणी, सेनापति (नः शत्रून्) हमारे शत्रुओं पर (प्रति एतु) चढ़ाई करे और वह (विद्वान्) सब शत्रुओं की माया और युद्ध की विद्याओं को भली प्रकार जानता हुआ (अभिशस्ति) चढ़ाई करने वाले, सब प्रकार से और सब ओरों से हमें घात करने हारे (अरातिम्) दानरहित, लुटेरे, शत्रु को (प्रतिदहन्) अपने आग्नेय अस्त्रों से जलाता, भूनता हुआ (सः) वह सेनापति (परेषां) पराये शत्रुओं की (सेनां) समस्त सेना को (मोहयतु) मोह में डालदे, उनको किंकर्तव्य-विमूढ़ करदे। और वह (जातवेदाः) सब उत्पन्न हुई घटनाओं को जानने हारा शत्रुओं को (निर्हस्तान्) निहत्था, शस्त्ररहित (कृणवत्) कर दे।

---

[१] १–(प्र०) 'अग्निर्नो विद्वान् प्रत्येतु शत्रून्' इति पैप्प० सं०।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥२॥

भा०—सेनापति का सेनाभटों के प्रति उपदेश है (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति से जाने और बल पराक्रम का कार्य करने हारे वीरो! (यूयम्) तुम लोग सदा (उग्राः) अपने हथियारों को उठाये रहो और सदा बल बनाये रहो। (ईदृशे स्थ) अब युद्ध के अवसर में हो कि तुम शत्रु के प्रति (अभि प्रेत) चढ़ाई करो, (मृणत) उनको मारो और (सहध्वं) शत्रु के प्रहारों को सहन करो। (इमे) ये (नाथिताः) शत्रु को उपताप पैदा करने हारे (वसवः) राष्ट्र में वसने हारे प्रजागण ही हैं जो (अमीमृणन्) अपने शत्रुओं का नाश करते हैं। (एषां) इनमें से (दूतः) मुख्य प्रतिनिधि, सबसे अधिक शत्रुसेना का संतापक (अग्निः) अग्निस्वरूप सेनापति है जो (विद्वान्) सब कार्यों को जानने हारा होकर (प्रति एतु) शत्रु के प्रति गमन किया करे।

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥

साम० उ० ९ । ३ । ६ । २ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन्! (अस्मान्) हम से (शत्रूयतीम्) शत्रुता का व्यवहार करती हुई (अमित्रसेनां) शत्रु-सेना को (अभि) लक्ष्य करके चढ़ाई कर। हे इन्द्र! राजन् हे! (वृत्रहन्) राष्ट्र

२–अमीमृडन् वसवो नाथितेभ्यो अग्निर्ह्येषां विद्वान् प्रत्येतु शत्रून्। इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'नाथितानिमे' इति लडविग्कामितः पाठः। (द्वि०) 'मृडयत सहध्वम्। अमीमृडन् वसवो नाथितासो अग्निर्हि शत्रून् प्रत्येति विध्यन्' इति 'ओफ़्रेश्' कामितो मन्त्रपाठः।

३–(तृ०) 'युवंतामिन्द्र' इति साम०, सायणाभिमतश्च।

को घेरने हारे शत्रु के विनाशक ! और हे (अग्ने) सेनापते ! (युवं) आप दोनों (तान्) उन शत्रुओं के (प्रति दहतं) उनके अपराध के दण्ड में भस्म कर डालो, निर्मूल कर दो ।

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४॥

ऋ० ३ । ३० । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् (ते) तेरा (वज्रः) रथ (प्रसूतः) उत्कृष्ट रूप में सारथियों द्वारा चलाया हुआ (हरिभ्यां) वेगवान् घोड़ों से (प्रवता) उत्तम सुरक्षित मार्ग से (प्र एतु) आगे २ बढ़े और साथ ही (वज्रः) विद्युत् के समान खड्ग भी (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणत्) विनाश करता हुआ (प्र एतु) आगे २ बढ़े । और तू (प्रतीचः) सामने से लड़ाई करने वाले, (अनूचः) पीछे से आक्रमण करने वाले और (पराचः) दूर देश से आक्रमण करने वाले सब शत्रुओं को (जहि) विनाश कर और (एषां) इनके (चित्तम्) चित्त को (सत्यं) सचमुच (विष्वक्) अव्यवस्थित (कृणुहि) कर दे । अथवा—(विष्वक्) सब प्रकार से इनके चित्त को (सत्यं कृणुहि) सत्यपथानुगामी बना दे जिससे वे शत्रुभाव छोड़ कर श्रेष्ठ पुरुष हो जांय ।

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (अमित्राणाम्) शत्रुओं को (सेनां) सेना को (मोहय) किंकर्त्तव्यताविमूढ़ कर और (अग्नेः) अग्नि के

४–‘ विश्वं सत्यं कृणुहि विष्टमस्तु ’ इति ऋ० । ‘विश्वं विष्टं कृणुहि सत्यमेषाम्’ इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) ‘ मनोमोहनं कृण्व इन्द्रामित्रेभ्यस्त्वम् ’ इति पैप्प० सं० ।

और (वातस्य) प्रचण्ड वायु के (ध्राज्या[1]) अस्त्र से (तान्) उनको (विषूचः) छिन्न भिन्न करके (विनाशय) नाश कर डाल । राजा शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र और वायवास्त्र का प्रयोग करे ।

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतों घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

भा०—(इन्द्रः) राजा या ऐश्वर्यवान् या बिजुली के समान शस्त्रधारी पुरुष (सेनां) शत्रुसेना को (मोहयतु) व्याकुल विमूढ़ कर दे । (मरुतः) वायु के समान वेगवान् उग्र भट लोग (ओजसा) बड़े बल से (घ्नन्तु) मारें और (अग्निः) तीव्र आग्नेय अस्त्र उनके (चक्षूंषि) आंखों को (आदत्तां) हर ले । इस प्रकार वह शत्रुसेना (पुनः) बाद में (पराजिता) पराजित होकर (एतु) लौट जाय या हमारी शरण में आये ।

[२] शत्रुसेना के प्रति सेनापति के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । सेनासंमोहनम् । अग्न्यादयो बहवो देवताः । १, ५, ६ त्रिष्टुभः । २–४ अनुष्टुभौ । षड्र्चं सूक्तम् ॥

अग्निर्नो॑ दू॒तः प्र॒त्ये॑तु वि॒द्वान् प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम् ।
स चि॒त्तानि॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणवज्जा॒तवे॑दाः ॥ १ ॥

---

१. भ्रज गतौ इत्यस्मादुणादिरिन् सार्वधातुकः । बाहुलकाद्वा इञ् । वसिवपियजिभ्रजि इत्यादिषु सायणेन भ्रजेः पाठः कृतः नतु उणादौ क्वचित् भ्रजेः पाठः उपलभ्यते । क्षेमकरणत्रिवेदिनापि तथैवालेखि इति तच्चिन्त्यम् ।

६–(प्र०) 'इन्द्रसेना' इति क्वचित् पाठः । (तृ०) 'चक्षूंष्यग्निराधत्ताम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

[२] १–(प्र०) 'प्रत्येतु शत्रून्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नः दूतः अग्निः विद्वान् अभिशस्तिम् अरातिम् प्रतिदहन् प्रति एतु) हमारा मुख्य प्रतिनिधि विद्वान् अग्निरूप अग्रणी=सेनापति हम पर चढ़ाई करने वाले शत्रु को संताप देता हुआ शत्रु पर चढ़ाई करे। (सः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह शत्रुओं के चित्तों को विमूढ़ करदे। और (जातवेदाः) स्वयं सब का ज्ञान करता हुआ (निर्हस्तान् कृणवत्) शत्रुओं को निहत्था करदे। (देखो व्याख्या अथर्व० ३। १। १॥)

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः॥ २॥

भा०—हे शत्रुओ! (वः) आप लोगों के (हृदि) हृदय में (यानि) जितने (चित्तानि) चेतना सामर्थ्य हैं (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, सेनापति उनको भी (अमूमुहत्) विनाश करे और (वः) आप लोगों को (ओकसः) अपने मोरचा के स्थान, दुर्ग से भी (वि धमतु) निकाल बाहर करे और (सर्वतः) सब स्थानों में (वः) आप लोगों को (प्र धमतु) पछाड़ दे।

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय॥ ३॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! (चित्तानि) शत्रुओं के चित्तों को (मोहयन्) विमूढ़ करता हुआ (आकूत्या) हमारे अनुकूल सम्मति, सद्-बुद्धि से (अर्वाङ्) हमारे प्रति (चर) आ और (अग्नेः) अग्नि और (वातस्य) प्रचण्ड वायु की (ध्राज्या) गति से (तान्) उन शत्रुओं को (विषूचः) छिन्न भिन्न करके (विनाशय) विनष्ट कर डाल। (देखो अथर्व० ३। १। ५)

२-(तृ०) 'वि वो धमात्योकसः' इति पैप्प० सं०।

३-(द्वि०) 'आकूत्या अधि' इति पैप्प० सं०।

व्या/कूतय एषामितार्थो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदुद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (आकूतयः[1]) सद्-विचारो ! (एषां) इन शत्रुओं से तुम (वि इत) विपरीत हो जाओ (अथो) और इनके (चित्तानि) चित्तों को (मुह्यत) मूढ़ कर दो । (अथो) और (यद्) जो (अद्य) आज (एषां) इनके (हृदि) हृदय में चिन्तित मनोरथ है (तद्) वह भी (एषां) इनका (परि निर्जहि) सब प्रकार से नाश हो जाय ।

' वि आऽकूतयः '—ऐसा पदपाठ होने पर भी 'व्याकूतयः' सायण ने एक पद माना है ।

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसाविध्य शत्रून् ॥ ५ ॥

यजु० १७ । ४४ ॥ ऋ० १० । १०३ । १२ ॥

भा०—हे (अप्वे[1]) व्याधि और भय ! पापवृत्ते ! (अमीषां) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (प्रतिमोहयन्ती) मुग्ध, व्याकुल करती हुई इनके (अंगानि) शरीरों को (गृहाण) जा पकड़ । (पराइहि) हमारे यहां से परे चली जा और (अमित्रान्) शत्रुओं को (अभिप्रेहि) प्राप्त हो और उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) भस्म कर डाल और हमारे (ग्राह्या) अज्ञान की जकड़ से और (तमसा) अन्धकार से (शत्रून्) शत्रुओं को (विध्य) वेध डाल, विनाश कर ।

४–१. 'व्याकूतय' इत्येकं पदम् सा० भा० ।

५–(प्र०) 'अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती' (च०) 'अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्' इति ऋ० ।

१. अपवाययति, अपगमयति सुखं प्राणांश्चेति अप्वा, पापदेवता । भयजनितातीसारादयो व्याधयोऽप्वाः इति वेबरः । यथा चाह व्यासो महाभारते भीष्मपर्वणि–'श्रुत्वातु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः' । भी० प० १ । १८ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १०३ । परि० ॥ साम० उ० ९ । ३ । ४ । ३ ॥ यजु० १७ । ४७ ॥

भा०—(मरुतः) हे सेना के वायु समान 'प्रचण्ड' वेगवान् सुभट पुरुषो ! (या) जो (असौ) यह (परेषां) शत्रुओं की (सेना) सेना (ओजसा) अपने बल से (स्पर्द्धमाना) स्पर्द्धा करती हुई (अस्मान्) हम पर (अभि एति) चढ़ती चली आ रही है (तां) उसको (अपव्रतेन) कार्यव्यापार में शिथिल कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से ऐसा (विध्यत) पीड़ित कर कि (यथा) जिस प्रकार (एषां) इनमें से (अन्यः) एक (अन्यं) दूसरे को भी (न जानात्) न जान पावे ।

---

[२] राजा की पुनः स्थापना ।

अथर्वा ऋषिः । नाना देवाः अग्निर्वा देवता । १, २, ४ त्रिष्टुभः । ३ चतुष्पदा भुरिक्पंक्तिः । ५, ६ अनुष्टुभौ । षड्चं सूक्तम् ॥

आचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥१॥

ऋ० ६ । ११ । ४ ॥

६–(द्वि०) 'अस्मानभ्येति नः' यजु०, साम० । (तृ०) 'तां गूहत' इति सा० । (च०) 'अमीषां' ऋ० प० । 'एतेषां' साम० । 'च जानन्' यजु० ।

[२] १–अदिद्युतत् स्वपाको विभावाऽग्ने यजस्व रोदसी उरूची । आयुं नय नमसा रातहव्या अञ्जन्ति सुप्रयसं पंचजनाः । इति मै० सं० । (प्र०) भवदग्ने (तृ० च०) ' अमुं नय नमसा रातहव्यो युजन्ति सुप्रजसं पंचजनाः ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—राजा राष्ट्र को प्राप्त करे इस का उपदेश करते हैं- हे अग्ने ! सेनापते ! (स्वपाः) निज प्रजा का उत्तम रूप से पालने वाला राजा (अचिक्रदत्) सर्वत्र अपनी शासन-घोषणाएं करता हुआ और राष्ट्र के अधिकारियों को बुलाता हुआ (इह भुवद्) इस राष्ट्र में शासन करने में समर्थ है । हे (अग्ने) सब के अग्रणी नेता ! तू (उरूची) बड़े सर्वव्यापक (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के समान राजवर्ग=शासकवर्ग और प्रजा=शास्य वर्ग दोनों को (व्यचस्व) अपने वश कर । (विश्ववेदसः) समस्त विद्याओं, देशों और पदार्थों को जानने हारे (मरुतः) विद्वान् गण (त्वा) तेरे साथ (युञ्जन्तु) सहयोग करें (रातहव्यम्) अपनी प्रजा से हव्य अपना षष्ठांश रूप कर प्राप्त करने हारे (अमुं) इस राष्ट्रपति राजा को (नमसा) बड़े भारी आदर सत्कार पूर्वक (आ नय) राष्ट्र पर आरूढ कर । एक वार राष्ट्र हाथ से निकल जाने पर भी पुनः सेनापति को चाहिये कि वह अपने हाथ से गये राष्ट्र पर अपने राजा को आरूढ करे और राष्ट्र से उसको कर दिलवादे और विद्वानों को अपने साथ मिलाये रक्खे ।

ब्रह्मपक्ष में हे अग्ने ! (इह) तू इस संसार में 'सु-अपाः' उत्तम कर्म ज्ञान सम्पन्न, (भुवद्) है । (उरूची रोदसी व्यचस्व) तू विशाल पृथिवी और द्यौ को व्याप्त करता या फैलाता है । (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युंजन्तु) ज्ञानी विद्वान् तुझे योग से साक्षात् करते हैं । हे पुरुष (अमुं) उस (रातहव्यं) अन्न और ज्ञान सुखप्रद परमेश्वर को (नमसा नयः) भक्ति से प्राप्त कर । प्राप्त्यर्थोऽत्र णीः ।

अध्यात्मपक्ष में — यह आत्मा इस देहरूप राष्ट्र में सब इन्द्रियों का पालक शुभकर्मकर्त्ता दोनों प्राण और अपान पर वश करता है सब मरुत्= प्राण उसके साथ सहयोग करें । परमात्मा उस जीवात्मा को अन्न और ज्ञान द्वारा पुष्ट करके सन्मार्ग पर ले जावे ।

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

भा०—(अरुषासः) रोषरहित, प्रेमयुक्त प्रजाएं एवं ज्ञानसम्पन्न विद्वान् पुरुष (दूरे चित्) दूर देश में (सन्तं) विद्यमान होते हुए भी (विप्रम्) बुद्धिमान् ' इन्द्रम् , ऐश्वर्यवान् प्रभु और राजा को (सख्याय) अपने सख्य=सौहार्द के कारण (आच्यावयन्तु) बुलाते हैं । (यत्) और तब (गायत्रीम्) गायत्री, ब्रह्मबल और (बृहती) बृहती छन्द, क्षत्रबल स्वरूप (अर्क) सूर्य के समान पूजनीय (अस्मै) इस राजा को (देवाः) विद्वान् पुरुष (सौत्रामण्या) सौत्रामणी याग से (दधृषन्त) पुनः पुनः पुष्ट करते हैं ।

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥३॥

भा०—युद्धकाल में विपत्तिग्रस्त राष्ट्र के राजा के तीन ही आश्रय-स्थल होते हैं—१ समुद्र या जलीय प्रदेश; २ पर्वत प्रदेश, ३ अपनी प्रजाएं । इन तीनों स्थलों से भी राजा को बुला कर राष्ट्र पर आरूढ़ करे । (अद्भ्यः) जलमय प्रदेशों से (वरुणः) सब से श्रेष्ठ, सब से बड़ा (राजा) राजा (त्वा) तुझ राजा को (ह्वयतु) बुला कर, प्रेरित करके उस राज्य रहित राष्ट्र पर भेजे । इसी प्रकार (पर्वतेभ्यः) यदि वह पर्वतमय प्रदेशों में हो तो वहां से (सोमः) ओषधियों का राजा या ब्राह्मण विद्वान्, (त्वा)

२–(च०) 'दध्शन्त' इति पैप्प० सं० । 'ददृहन्त' इति ह्विटनि-कामितः पाठः ।

३–(प्र० द्वि०) 'वरुणो जुहाव सोमस्त्वा यं ह्वयति०' (तृ०) इन्द्र-स्त्वा यं ह्वयति' इति पैप्प० सं० ।

तुझ राजा को (ह्वयतु) बुला कर राष्ट्र पर शासन करने की आज्ञा दे। (इन्द्रः) प्रजाओं का ऐश्वर्यशील मुख्य भाग भी (त्वा) तुझ को बुला-ले। हे राजन् ! (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (श्येनः) ज्ञानवान् और पक्षियों में बाज़ के समान शत्रु पर आक्रमणकारी बलवान् या श्येन व्यूहा-कार होकर (इमाः) इन (विशः) प्रजाओं में (आपत) आ और प्रवेश कर।

श्येनो ह॒व्यं न॑यत्वा पर॑स्माद॒न्यक्षे॑त्रे॒ अप॑रुद्धं॒ चर॑न्तम् ।
अ॒श्विना॒ पन्थां॑ कृणुतां सु॒गं त॑ इ॒मं सं॑जाता अ॒भि॒सं॑विंशध्वम् ॥४॥

भा०—(अन्यक्षेत्रे) दूसरे के राष्ट्र में या आहाते में (चरन्तं) विचरते हुए (अपरुद्धं) शत्रुओं से घिरे हुए या कारागार में रुद्ध (हव्यं) अपनी प्रजाओं से बुलाये जाने योग्य (त्वा) तुझ उत्तम राजा को (परस्मात्) दूसरे के राष्ट्र से (श्येनः) ज्ञानवान् चतुर दूसरे के राष्ट्र से वेगपूर्वक हर ले जाने वाला पुरुष (आनयतु) निकाल लावे । और (अश्विनौ) दो प्रकार के गुप्तचर एक नगर में रहने वाले दूसरे अरण्य में रहने वाले दोनों हे राजन् ! (ते) तेरे (पन्थां) मार्ग को (सुगं) सुख-पूर्वक जाने योग्य (कृणुतां) करें और हे (सजाताः) उस राजवंश के अन्य सगोत्र भाइयो ! (इमं) पुनः राष्ट्र में आये हुए इस राजा को आप लोग (अभि-सं विशध्वम्) प्राप्त कर उससे मिल कर अपना राष्ट्र बसा-ओ और पालन करो ।

ह्वय॑न्तु त्वा प्रति॒ज॒नाः प्रति॑ मि॒त्रा अ॑वृषत ।
इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्ते॑ वि॒शि क्षेम॑मदीधरन् ॥ ५ ॥

४—(प्र०) 'श्येनो हविः' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अवरुद्धं चरन्तं' इति क्वचित्कः ।

५—(प्र०) 'वयन्तु' इति क्वचित्, सायणाभिमतश्च पाठः । 'ह्वयन्तिस्त्वा पञ्चजनाः' (द्वि०) 'वर्षत' (च०) 'क्षेममदीधरः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे राजन्! (प्रतिजनाः) तेरे प्रतिकूल लोग भी (त्वा ह्वयन्तु) तेरे अनुकूल होकर तुझे बुलावें और (मित्राः) मित्रजन भी (त्वा प्रति) तेरे प्रति (अवृषत) अपना सर्वस्व अर्पण करें। (इन्द्राग्नी) इन्द्र, विद्युत् और अग्नि और (विश्वेदेवाः) समस्त राष्ट्र के विद्वान्गण या दिव्य पदार्थ (ते विशि) तेरी प्रजा में (क्षेमम्) कल्याण सुख और सम्पत्तियों का (अदीधरन्) धारण करावें।

यस्ते हवं वि वदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन्! (यः) जो (सजातः) चाहे तेरे अपने गोत्र का या समान बल हो या चाहे (निष्ट्यः) तुझ से नीच वर्ण का या निर्बल हो, जो कोई भी (ते) तेरे (हवं) प्रजाओं की तरफ से पुनः राज्य सिंहासन पर आरूढ होने के प्रस्ताव का या तेरे शासन का (वि वदत्) विरोध करे हे इन्द्र! राजन्! (तं) उसको (अपाञ्चं कृत्वा) देश से बाहर या सभा भवन से बाहर करके और (इमं) उसको (इह) इस राष्ट्र में दण्डित रूप से (अव गमय) विदित करादे।

[४] राजा का राज्याभिषेक।

अथर्वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। १ जगती। ५, ६ भुरिजौ। २, ३, ४, ७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥

[४] १-(प्र०) 'आ त्वा अगत्' इति ह्विटनिकामितः पदच्छेदः। (द्वि०) 'प्राक्विशां' इति पैप्प० सं०, सायणाभिमतश्च।

भा०—राजा को राजसिंहासन पर स्थापित करने का उपदेश करते हैं—हे (राजन्) राजन् ! सबसे अधिक गुणों में प्रकाशमान और सब प्रजाओं के चित्तों को अनुरंजन करने हारे पुरुष ! (त्वा) तुझको (राष्ट्रं) यह राष्ट्र (आगन्) प्राप्त होता है—तेरे हाथों सौंपा जाता है । तू (वर्चसा) अपने पराक्रम और वर्चः-तेज के साथ सूर्य के समान (उद् इहि) ऊपर उठ, उन्नति कर । तू (प्राङ्) सबसे आगे चलने हारा, नेता होने के कारण (विशां) समस्त प्रजाओं का (पतिः) पालक है । (त्वं) तू (एकराट्) एकमात्र सर्वोपरि अधिकारी होकर (विराज) शोभा दे—विराजमान हो । हे राजन् ! (त्वा) तुझको (सर्वाः) समस्त (प्रदिशः[1]) दिशा प्रदिशाओं के वासी अर्थात् उत्तम मार्ग दर्शाने वाली समितिएं (ह्वयन्तु) आदरपूर्वक बुलावें और तेरा स्वागत करें (इह) इस राष्ट्र में तू सब का (उपसद्यः) प्राप्त करने योग्य, शरण योग्य और (नमस्यः) आदर करने योग्य (भव) हो ।

जिसको समस्त राष्ट्र चुने जो नेता हो, वही सबसे मुख्य राज-पद पर स्थापित किया जाय । सब अधीन देश उसको अपना राजा स्वीकार करें । सब व्यक्ति अपने कष्टों को उससे कहें और सब उसका आदर करें ।

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पञ्च॑ दे॒वीः ।
वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि ॥२॥

---

१. प्रपूर्वाद् दिशतेरिव प्रादेशिको गुरुः । प्रकृष्टं दिशन्ति इति प्रदिशः विद्वत् सभाः ।

२–(द्वि०) ' त्वां हवन्त मरुतः स्वर्काः ?' (प्र०) 'गावोऽवृणन्राज्याय' (तृ०) ' क्षत्रस्य ककुभि शिश्रियाणः ' इति तै० सं० । तत्रैव (द्वि०) ' त्वां वर्धन्ति ' (तृ०) ' क्षत्रस्य ककुभिः ' इति मै० सं० । ' राष्ट्रस्य ककुधि ' (प्र०) ' वृणुताम् ' (च०) ' अतो वसूनि वि भजास्युग्रः ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—राजा को समस्त प्रजाएं स्वयं चुनें और चुना हुआ राजा समस्त राष्ट्र की सम्पत्तियों को प्रजा में बांटें इसका उपदेश करते हैं। हे राजन्! (विशः) समस्त देश में बसने हारी प्रजाएं (राज्याय) राज्य अर्थात् अपने ऊपर शासन करने के लिये (त्वां) तुझको (वृणतां) स्वयं चुनें। (इमाः) ये (देवीः) विद्वानों की बनी हुईं (पंच) पांच (प्रदिशः) उत्तम मार्ग दर्शाने वाली विद्वत्समितियां भी वरण करें। (राष्ट्रस्य) समस्त राष्ट्र के (वर्ष्मन्) शरीर में, समस्त अहाते में से (ककुदि) सबसे उत्तम स्थान सिंहासन एवं श्रेष्ठ सम-प्रदेश राजधानी में (श्रयस्व) तू आश्रय ले, अपना राजमहल बनाकर निवास कर या राजसिंहासन पर विराजमान हो (ततः) उसके बाद (उग्रः) सदा राजदण्ड का बल उठाये रखकर (नः) हम प्रजाओं में यथोचित रीति से (वसूनि) राष्ट्र के बसने योग्य जीवनोपयोगी धनों को (वि भज) न्यायपूर्वक विभाग कर।

अच्छ त्वा यन्तु हुविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चराते।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥३॥

भा०—(सजाताः) तेरे समान उच्चवंश में उत्पन्न हुए कुलीन एवं तेरे समान बल, प्रभाव एवं उत्तम गुणों में सम्पन्न पुरुष हो (हविनः) हव=आज्ञाकारी शासक होकर (त्वा) तेरे अनुकूल (अच्छ) भली प्रकार (यन्तु) चलें। (अजिरः) न जीर्ण होने वाला या वेगवान् तुझ से प्रेरित हुआ (अग्निः[1]) विद्वान् राष्ट्र का अग्रणी या अग्नि के समान असह्य होकर सुखस्वरूप (दूतः) तेरा प्रतिनिधि पुरुष (सं चराते) सर्वत्र समानभाव से विचरण करे। (जायाः) स्त्रियां और (पुत्राः) पुत्र

३–'यन्तु भुवनस्य जातोऽग्निर्दूतोवजरसे दधाति' (तृ०) 'आयासपुत्राः' इति पैप्प० सं०।

१. त्वयाप्रेरितो गमनशीलो।

(सुमनसः) उत्तम मनवाले (भवन्तु) हों । और तू (उग्रः) न्यायव्यवस्था को बनाये रखता हुआ (बहुं) बहुत प्रकार के (बलिं) करों को (प्रति पश्यासे) स्वीकार कर या उनकी नियोजना कर ।

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥४॥

भा०—हे राजन्! (त्वा) तुझ को (अग्रे) सब से प्रथम (अश्विना) दोनों अश्विगण-सेनापति और सभापति और (मित्रा वरुणा) मित्र और वरुण मित्र=पुलिस विभाग का अध्यक्ष और गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष ये दोनों और (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण और (मरुतः) समस्त सैनिक लोग या समस्त वैश्यगण भी (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु) अपना राजा स्वीकार करें । (अध) और तू भी (मनः) अपना संकल्प (वसुदेयाय) उत्तम धनों को प्रजा के प्रति निछावर करने के लिये ही (कृणुष्व) बनाये रख । (ततः) तदनुसार ही (नः) हमें (उग्रः) उद्यत दण्ड हो (वसूनि) समस्त सम्पदाएं (वि भज) विविध प्रकारों से विभाग कर ।

जैसा कालिदास ने लिखा है:—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

राजा दिलीप प्रजाओं की लक्ष्मी-वृद्धि के लिये प्रजाओं से बलि=कर लिया करता था । सूर्य भी तो पृथिवी से रस इसीलिये ऊपर को खींच लेता है कि पुनः वह उसे सहस्र गुणा लाभकारी बना कर बरसा दे ।

४-(तृ० च०) 'सजातानां मध्यमेष्ठाहमस्यस्मेक्षेत्रो सविते विराज' इति पैप्प० सं० ।

अथवा-(अश्विनौ) सूर्य और पृथिवी (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण मेघ और समुद्र और विश्व देव और (मरुतः) वायु सब उस राजा को (ह्वयन्तु) उपदेश करें अर्थात् उसको अपना २ गुण सिखावें। अर्थात् राजा सूर्य के समान प्रजा से बलि ले, पृथिवी के समान सब का आश्रय हो, पर्जन्य-मेघ के समान सब पर समान भाव से सुखों, अन्नों और कृपा का वर्षक हो, समुद्र के समान गम्भीर गुणरत्नों का आकार हो, इसी प्रकार समस्त दिव्य पदार्थों के गुण उसमें हों वह वायु के समान उग्रकर्मा हो।

जैसा कि मनु भगवान् ने लिखा है:—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ (मनु० अ० ७)

इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि और वरुण, चन्द्र कुबेर इन सब के गुणांशों को एकत्र कर राजा बनाया जाता है। इस कारण समस्त प्राणियों को अपने तेज से दबा लेता है। वह सूर्य के समान सब के चित्तों और मनों को तपाता है, उसकी तरफ़ कोई आंख उठा कर भी नहीं देख सकता, वह अपने प्रभाव से ही साक्षात् अग्नि है, वायु है, सूर्य है, सोम है, धर्मराज है, कुबेर है, वरुण है और वही महेन्द्र है।

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् स उपेदमेहि ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (परमस्या परावतः) अत्यन्त दूर देशों तक भी तू (आ प्र द्रव) जाया कर और वहां से पुनः अपनी राजधानी में आ जाया कर । इस दौरे के कार्य में (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) नर और नारी, राजा और प्रजावर्ग, द्यौ और पृथिवी (ते) तेरे लिये (शिवे) मंगलकारी (स्ताम्) होवें (तत्) तभी (अयं) यह (राजा) राजा (सः) वह (वरुणः) वरुणस्वरूप है, परमात्मा का प्रतिनिधि शासक है । (सः) वह ही (त्वा) तुझ को (अयम्) यह ईश्वर (अह्वत्) उपदेश करता है कि (स इदं उप एहि) वह ही तू योग्य पुरुष इस पद को प्राप्त हो ।

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥६॥

(इन्द्र, इन्द्र) हे ऐश्वर्यशील 'इन्द्र' नाम से पुकारने योग्य, साक्षात् इन्द्ररूप राजन् ! (मनुष्याः=मनुष्यान्) समस्त मानवों को (परेहि) लांघ कर उनसे परे रह, उनको अपने वशकर और (वरुणैः) शासकविभाग में नियुक्त अधिकारियों, या वरण करने वाले प्रजा के प्रतिनिधियों, उसको घेर कर बैठने वाले अमात्यों द्वारा (संविदानः) समस्त राष्ट्र की बातों पर विचार और सहमति कर (हि) निश्चय से तू सब कुछ (सं अज्ञास्थाः)

५–(द्वि०) 'उभे बभूतम्' (च०) 'अह्वत् स्वेनमेहि' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'आप्रेहि परमस्याः परावतः' इति मै० सं० ।

६–'इन्द्र इव मनुष्यः परेहि संह्यशास्था वर्णैः संविदानः' इति ह्विटनिकाभिमतः पाठः । 'इन्द्रो इदं मनुष्य प्रेहि संयशियास्त्वा वरुणेन संविदानः [?]' इति पैप्प० सं० ।

ठीक २ प्रकार से निश्चय कर लिया कर । (सः अयम्) वह यह मनुष्य-लोक ही (त्वा) तुझ को (स्वे) अपने (सधस्थे) सभास्थान समाज और गृहों पर (अह्वत्) आदरपूर्वक बुलाता है । (सः) वह तू राजा ही (देवान्) विद्वान् पुरुषों को (यक्षत्) स्थान पर नियुक्त करता है । (सः उ) वह राजा ही (विशः) समस्त प्रजाओं को (कल्पयात्) सुव्यवस्थित करता है उनको उनके व्यापारों में लगाता है। अथवा—(स अयम्) हे प्रजाजनो ! वह राजा ही राष्ट्र प्रजा को (स्वे सधस्थे) अपने राजभवन में (अह्वत्) बुलाकर एकत्र करता है । (स देवान् यक्षत्) विद्वानों को सादर एकत्र करता और (सः उ विशः कल्पयात्) वह ही प्रजाओं को उनके कार्यों में व्यवस्थित करता है ।

पथ्या॑ रे॒वती॑र्बहु॒धा विरू॑पाः॒ सर्वाः॑ स॒ङ्गत्य॒ वरी॑यस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा॒ सर्वाः॑ संविदा॒ना ह्व॑यन्तु दश॒मीमु॒ग्रः सु॒मना॑ वशे॒ह ॥ ७ ॥

भा०—(पथ्याः) धर्ममार्ग को न त्यागने हारी, (रेवतीः) धनसम्पन्न, (विरूपाः) नाना प्रकार की (सर्वाः) सब प्रजाएं (बहुधा) प्रायः (ते) तेरे (वरीयः) वरण करने योग्य निर्वाचन किये गये राजपद को (अक्रन्) नियत करती हैं । इसलिये (ताः सर्वाः) वे सब प्रजाएं (संविदानाः) अपना ऐकमत्य करके (त्वा ह्वयन्तु) तेरे प्रति अपना मत, अभिप्राय प्रकट करें । और उस अवस्था के (उग्रः) उग्र, राजदण्ड को अपने हाथ में लेकर तेजस्वी होकर भी (सुमनाः) शुभ चित्त से युक्त होकर (इह) इस राष्ट्र मे (दशमीम्) दशावरा परिषद् को (वश) अपने वश किया कर, उसमें सभापति होकर विराजमान हो ।

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥ मनु० १२।१११॥

७–' वसेह ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

सायणने ६० वर्ष से ऊपर के १० वर्षों को 'दशमी' दशमी शब्द से लिया है ।

[५] 'पर्णमणि' के रूप में प्रधान पुरुषों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । पुरोनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, विराड् उरोबृहती । २–७ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥

भा०—(अयं) यह (पर्णमणिः) उत्तम ज्ञानवान्, पालन करने हारा शिरोमणि पुरुष राष्ट्र में (आ अगन्) आता है जो (बली) बलवान् होकर (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) विनाश करता है। वही (देवानां) समस्त दिव्य शक्तियों या राष्ट्र के देवों के (ओजः) तेज और बल का साक्षात् रूप है और (ओषधीनां) समस्त ओषधियों का (पयः) रस जिस प्रकार सब रोगों को दूर करता है उसी प्रकार वह राष्ट्र की सब त्रुटियों को दूर करता है । वही (अप्रयावन्) विना प्रयाण किये अथवा विना प्रमाद के (मा) मुझे, राष्ट्र के कार्य करने हारे पुरुष को (वर्चसा) अपने तेजःसामर्थ्य से (जिन्वतु) ठीक २ मार्ग में प्रेरित करे ।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

---

[५] १–(च०) 'मयि राष्ट्रं जिन्वत्वप्रयुच्छन्'

२–(द्वि०, तृ०) 'अहं क्षत्रस्याभीवर्गे यजा भूयासमुत्तरा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पर्णमणे ! पालन करने और भरण पोषण करने हारे पुरुष-रत्न ! तुम (मयि) मुझे (क्षत्रं) क्षत्र-क्षात्र बल और (रयिम्) धन धान्य पदार्थ (धारयताद्) धारण करा। जिसके आधार पर (अहं) मैं (राष्ट्रस्य) इस राष्ट्र के (अभीवर्गे) शासक वर्ग में (निजः) उनका निज, आत्मीय बन्धु होकर भी (उत्तमः) सबसे उत्कृष्ट होकर (भूयासम्) रहूं ।

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

भा०—(यं) जिस (प्रियं) प्रिय (गुह्यं) सुगुप्त (मणिम्) बहुमूल्य मणि को (देवाः) देवों, विद्वानों ने (वनस्पतौ) वनस्पति=वृक्ष के समान-राष्ट्र के पालक रूप में (निदधुः) गुप्तरूप से रखा है। हे (देवाः) देवगण ! विद्वान् पुरुष (तं) उस (मणिं) सारवान् बहुमूल्य नरशिरोमणि को (अस्मभ्यं) हम प्रजा के (भर्तवे) भरण पोषण करने एवं धारण करने के लिये (आयुषा सह) आयु-दीर्घजीवन के सहित प्रदान करें ।

(वनस्पतौ) वृक्ष जिस प्रकार गुप्त रूप से ईश्वर की दिव्य शक्तियों से बहुत उत्तम मणिरूप सारभूत पदार्थ को कितने ही आवरणों के भीतर रख लेता है जिन को यथावत् उपयोग करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है उसी प्रकार राष्ट्ररूप वृक्ष में उसके मणिभूत नेता विद्यमान हैं जो सदा सुगुप्त रहते हैं। प्रजाजन को चाहिये, राज्य की दीर्घायु के लिये और अपनी यथासुख आयु भोग करने के लिये उस मुख्य शिरोमणि पुरुष को प्राप्त करें और विद्वानों से उसको राष्ट्रपति बनाने का आग्रह करें ।

३-(द्वि०, तृ०, च०) 'वाजिं देवाः प्रियं निधिम्, ते मा इन्द्रः सहायुषा ददातु भर्तवे' इति पैप्प० सं० ।

सोम॑स्य प॒र्णः सह॑ उ॒ग्रमाग॒न्निन्द्रे॑ण द॒त्तो वरु॑णेन शि॒ष्टः ।
तं प्रि॑या॒सं ब॒हु रोच॑मानो दी॒र्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥ ४ ॥

भा०—(सोमस्य) सोमरूप राष्ट्र का (पर्णः) पालन करने हारा विद्वद्गण (इन्द्रेण) राजा की शक्ति के साथ मिल कर (उग्रम्) बल को (आगन्) प्राप्त होता है । वह विद्वद्गण भी (इन्द्रेण दत्तः) राजाशक्ति से बहुत ऐश्वर्य आदि पाकर (वरुणेन) राष्ट्र के कष्टनिवारक या सर्वश्रेष्ठ वरण करने योग्य शासक द्वारा (शिष्टः) अनुशासित होता है । मैं राजा भी (शतशारदाय) सौ वर्षों के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिये उस विद्वद्गण सहित (बहु रोचमानः) प्रजा का बहुत प्रिय एवं सुशोभित और संमानित होता हुआ (तं) उस विद्वत्समूह को (प्रियासं) पालन पोषण करूं ।

आ मा॑रुक्षत् प॒र्णम॒णिर्म॒ह्या अ॑रि॒ष्टता॑तये ।
यथा॒हमु॑त्त॒रोऽसा॑न्यर्य॒म्ण उ॒त सं॒विदः॑ ॥ ५ ॥

भा०—राजा भी इस बात का विचार रखे कि (पर्णमणिः) प्रजा की रक्षा एवं पालन और पोषण करने हारा, शिरोमणि पुरुष अमात्य या मन्त्री के समान होकर (मह्या) बड़े भारी कल्याण अर्थात् (अरिष्टतातये) राष्ट्र को नाश होने से बचाने के लिये (मा आरुक्षत्) मेरे पास, मुझ से भी ऊपर विराजमान हो । (यथा) जिससे (अहम्) मैं उस (अर्यम्णः) शत्रुओं के नियामक (संविदः) उत्तम ज्ञानसम्पन्न, विचार

४–(तृ०) ' तं भ्रियासं ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'तमहं बिभर्मि' इति (द्वि०) 'वरुणेन सख्यः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'बहुरोचमानं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

५–(द्वि०) ' मह्यारिष्ट ' (च०) ' मनुष्या अधिसंशतः ['म्मतः] ' इति पैप्प० सं० ।

में सहायक पुरुष के साथ (उत्तरः) उसके अधीन होकर (असानि) रहूं अर्थात् राजा भी अपने से ऊपर एक विद्वान्, ज्ञानी, न्यायकारी, पुरोहित को नियुक्त करे जिससे सब राजकार्यों में सहमति लिया करे।

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॒रा ये म॑नी॒षिणः॑।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥६॥

भा०—हे (पर्ण) राष्ट्र के पालक मन्त्रिन्! (त्वं) तू (मह्यं) मुझ राजा के लिये इस राष्ट्र में निवास करने हारे (ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान्, कलाकौशल में चतुर (रथकाराः) शीघ्र गमन करने वाले रथों के बनाने वाले शिल्पी, (कर्माराः) लोहे, सुवर्ण आदि धातु के कारीगर और (ये) जो (मनीषिणः) मननशील अध्यात्मवेदी विद्वान् हैं उन सब (जनान्) पुरुषों को मेरे (अभितः) चारों ओर (उपस्तीन्) उपस्थित (कृणुहि) कर। वह मन्त्री ऐसा प्रबन्ध करे जिससे सब शिल्पी और विद्वान्‌गण राष्ट्र के लिये नियुक्त होकर राजकार्य में सहायक हों। सरकार की तरफ़ से कारखानों, गाड़ियों और विद्यालयों का प्रबन्ध हो।

ये राजा॑नो राज॒कृतः॑ सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑श्च॒ ये।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ७ ॥

भा०—राजमन्त्री का एक कार्य और बतलाते हैं—हे (पर्ण) राष्ट्र-पालक मन्त्रिन्! (ये) जो (राजानः) अन्य राजा सामन्तगण और (राजकृतः) राजाओं को बनाने हारे, उनके पुरोहितगण, मन्त्रिगण हैं और (ये) जो (सूताः) रथों के उत्तम संचालक और (ग्रामण्यः) ग्राम

६—(प्र०) 'यत् तक्षाणो रथ' (तृ० च०) 'सर्वांस्त्वानृण [?] रन्धयोपस्तिं कृणु मेदिनम्' इति पैप्प० सं०।

७—(तृ० च०) 'उपास्तिरस्तु वैश्य उत शूद्र उतार्य' इति पैप्प० सं०।

के प्रधान नेता पुरुष हों उन (सर्वान्) सब (जनान्) उत्तम पुरुषों को (मह्यं) मेरे (उपस्तीन्) समीप उपस्थित (कृणु) कर ।

पुर्णो॑ऽसि तनूपानः सयो॑निर्वी॒रो वी॒रेण॒ मया॑ ।
सं॒वत्स॒रस्य॒ तेज॑सा॒ तेन॑ बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

भा०—हे (पर्ण) पालक ! तू (तनूपानः) हमारे शरीर की रक्षा करने हारा होने के कारण ही (पर्णः) पर्ण=पालक (असि) है । (मया) मुझ (वीरेण) वीर पुरुष के साथ तू भी (वीरः) वीर (असि) है । हे (मणे) मननशील, राष्ट्र-स्तंभनशील ! हे शोभाप्रद ! (तेन) उस (तेजसा) तेज, बल के कारण ही (त्वा) तुझ को (संवत्सरस्य) एक वर्ष के लिये (बध्नामि) उचित कार्य में नियुक्त करता हूं ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत् ।]

पर्ण शब्द पर विचार ।

' पर्ण ' का शब्दार्थ है ' पलाश '=ढाक या पत्र । इसके विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—तस्य सोमस्य पर्णमच्छिद्यत । तत्पर्णोऽभवत् । तत्पर्णस्य पर्णत्वम् । (तै० १ । १ । ३ । १०) ' तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् तं गायत्री आहरत् तस्य पर्णमाच्छिद्यत् । तत्पर्णोऽभवत् ॥' शतपथ में लिखा है—तत्र वै गायत्री सोममच्छापतत् तद् अस्या आहरन्त्या अपाद् अस्ता अभ्यापत्य पर्णं प्रचिच्छेद । गायत्र्यैवा सोमस्य वा राज्ञः तत्पतित्वा पर्णोऽभवत् । श० १ । ७ । १ । १ ॥ अन्यत्र तैत्तिरीय ब्रा० में—गायत्रो वै पर्णः ॥ तै० ३ । २ । १ । १ ॥ शत० में—सोमो वै पर्णः ॥ श० ६ । ५ । १ ॥ देवा वै ब्रह्मन् अवदन्त तत्पर्ण उपाशृणोत् ॥ सुश्रवा वै नाम ॥ तै० १ ।

१ । ३ । ११ ॥ देवानां ब्रह्मवादे वदतां यत् उपाशृणोः सुश्रवा वै श्रुतोऽसि ततो मामाविशतु ब्रह्मवर्चसम् ॥ तै० १ । २ । १ । ६ ॥

अर्थात् (१) सोम का पर्ण=पत्ता टूट गया वही पर्ण हो गया । (२) तीसरे द्यौलोक में सोम था उस को गायत्री ला रही थी उसका पर्ण टूट पड़ा । वह पर्ण हो गया । (३) गायत्री सोम को लेने गयी जब ला रही थी तो एक विना चरण के लंगड़े धनुर्धर ने बाण प्रहार करके उसका पर्ण=पंख काट डाला गायत्री का या राजा सोम का वह पर्ण [पंख या पत्र] गिरकर पर्ण [पलाश] हो गया ।

इसके अतिरिक्त इस सूक्त की व्याख्या करते हुए सायण ने यह सूक्त पलाश मणि पर लगाया है । इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में 'सोमस्य पर्ण' इस प्रकार लिखा है । फलतः शतपथ के संदेह का निवारण यहां होता है वह पत्र 'सोम' का है जो गायत्री के लाते हुए टूट कर गिरा । गायत्री किस प्रकार लाई इसके लिये शतपथ में ही लिखा है । 'तद्वै कनिष्ठं छन्दः सद् गायत्री प्रथमाच्छन्दसो युज्यते तदु तद्वीर्येण यच्छ्येना भूत्वा दिवः सोममाहरत् ।' गायत्री छन्द 'श्येन' होकर द्यौलोक से सोम को लाया । फलतः श्येन को किसी निशानेबाज ने बाण मारा । तो उस श्येन का पंख झड़ा और सोम की डाली का पत्ता गिरा ।

गायत्री क्या पदार्थ है ।

(१) गायत्री=गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयाः, तत्प्राणांस्तत्रे ॥ श० १४ । ८ । १५ । ७ ॥ (२) सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमानाऽगायद् यदगायत् तस्मादियं (पृथिवी) गायत्री ॥ श० ६ । १ । ५ । १५ ॥ (३) या वै गायत्री आसीदियं वै सा पृथिवी ॥ श० ॥ १ । ४ । १ । ३४ ॥ (४) पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा । श० १ । ६ । ३ । १० । (५) गायत्रोऽयं भूलोकः ॥ तां० ७ । ३ । ६ । कौ० ८ । ६ ॥ (६) प्राणो गायत्री

प्रजननम् ॥ ता० १६ । १४ । ५ । १६ ॥ प्राणो वै गायत्री ॥ श० ६ । ४ । २ । ५ ॥ (७) अग्निर्वै गायत्री ॥ श० ३ । ४ । १ । १९ ॥ (८) ब्रह्म हि गायत्री । ता० ११ । ११ । ९ ॥ (९) गायत्री ब्रह्मवर्चसम् ॥ तै० २ । ७ । ३ । ३ ॥ ज्योतिर्वै गायत्री ॥ कौ० १६ । ६ ॥ (१०) वीर्यं वै गायत्री ॥ ता० ७ । ३ । १३ ॥ यज्ञो वै गायत्री ॥ श० ४ । २ । ४ । २० ॥ (११) एषा वै गायत्री पक्षिणी चक्षुष्मती ज्योतिष्मती भास्वती यद् द्वाद-शाहस्तस्य यावतिरात्रौ यावन्तराग्निष्टोमौ ते चक्षुषी ये अष्टौ मध्य उक्थ्याः स आत्मा ॥ ऐ० ४ । २३ ॥ (१२) यद् गायत्री श्येना भूत्वा दिवः सोम-माहरत् तेन सा श्येनः ॥ श० ३ । ४ । १ । १२ ॥ (१३) या द्यौः साऽनुमतिः सा उ एव गायत्री ॥ ऐ० ३ । ४८ ॥

फलतः, गायत्री शब्द से प्राणों की रक्षा करने वाली चितिशक्ति, पृथिवी, प्रजनन शक्ति, प्राण, ब्रह्म, अग्नि, ब्रह्मवर्चस् , तेज, वीर्य, ज्योति, आत्मा की उभयपक्षा शक्ति, श्येन (आत्मा) ये ही अर्थ है ।

सोम क्या पदार्थ है ।

(१) स्वा वै मे एषा (तनूः) श० ३ । ९ । ४ । २२ ॥ (२) श्रीर्वै सोमः ॥ श० ४ । १ । ३ । ९ ॥ (३) राजा वै सोमः । श० १४ । १ । ३ । १२ ॥ (४) सोमो वै पर्णः ॥ कौ० २ । २ ॥ (५) सोमो वैष्णवो राजा—तस्याप्सरसो विशः ॥ श० १३ । ४ । ३ । ८ ॥ सोमः पवमानः ॥ श० २ । २ । ३ । २२ ॥ प्रजापतिः ॥ श० ५ । १ । ३ । ७ ॥ संवत्सरः ॥ तै० १ । ६ । ८ । २ ॥ यदाह श्येनोऽसि इति सोमं वा एतदाह । एष वै अग्निर्भूत्वा अस्मिंल्लोके संश्यायति ॥ गो० पू० ५ । १२ ॥ वृत्रः । श० ३ । ४ । ३ । १३ ॥ क्षत्रम् । श० ३ । ४ । १ । १० ॥ यश० ॥ श० ४ । २ । ४ । ९ ॥ अन्नम् । श० ३ । ९ । १ । ८ ॥ प्राणः ॥ श० ७ । ३ । १ । ४५ ॥ इन उद्धरणों से सोम भी नाना पदार्थों का वाचक है ।
अब पर्णमणि पर विचार कीजिये ।

पर्ण—सोम का वह अंश है जिसको इन्द्र ने दिया और वरुण ने दिया उग्र के साथ आया। अर्थात्, क्षात्रवृत्ति के साथ २ जो तेज प्राप्त होता है जो राजा के तेज या बल से प्राप्त होता है वही 'पर्ण' मणि है। वह कई प्रकार का है। इस सूक्त में प्रत्येक मन्त्र में उस पर्णमणि या पालक क्षात्र-बल का भिन्न २ रूप दर्शाया है। फलतः, वह पर्णमणि वह अधिकार या अधिकारसूचक पद या उसका चिह्नभूत पदार्थ है जिसको धारण कर लेने पर राजा को सूक्त में वर्णित अधिकार प्राप्त होते हैं। यह वह एक पदक या पदसूचक चिह्नमात्र है। इस पदक से निम्नलिखित अधिकार प्राप्त होते हैं—(१) राजा अपने उन शत्रुओं पर जो उसके राष्ट्र पर बराबरी की हकदारी जमाना चाहें उनका नाश करे। (२) यह पद उससे कभी न लिया जाय। उसको ऊंचा स्थान प्राप्त हो। (३) वह प्रजा का पालन पोषण करे और प्रजा के स्वास्थ्य का बन्दोबस्त करे। (४) सेनाविभाग और पुलिस के विभाग को नियत करे। (५) पुरोहित या प्रधान मन्त्री (चेम्बर लेन) को नियत करे। (६) शिल्पियों, कारीगरों और विद्वान् अध्यापकों को नियत करे। (७) राजाओं, राजकृत्, पुरोहितों रथवाहकों, ग्रामाधिपतियों को नियुक्त करे। (८) अपने शरीर की रक्षा के लिये अंगरक्षक (Body guard) नियत करे। इन अधिकारों को प्राप्त करना और उनके अनुकूल समर्थ पुरुषों को नियत करना दोनों ही बातें मन्त्रों में सूचित की गई हैं।

सोम=यश, गायत्री=पृथिवी या वीर्य। वीर्य यश या पृथिवी का विजय करता है। सोम का एक पत्ता—अंश—प्रमाणपत्र यह पर्ण है जो इतने अधि-कार प्रजा पर उसको दिलाता है।

यह अलंकार अध्यात्मपक्ष में आत्मा पर लगता है। प्राण=स्वयं वह श्येन है, आत्मा=सोम है। आत्मा का एक पक्ष आनन्दरूप पर्ण है जो

शरीर को सब शक्तियों पर वश कराता है। इत्यादि अलंकार अधिक विचार की अपेक्षा रखते हैं।

[६] वीर सैनिकों के कर्त्तव्य ।

जगद्-वीजं पुरुष ऋषिः । वनस्पतिरश्वत्थो देवता । अरिक्षयाय अश्वत्थदेवस्तुतिः । १–८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥

भा०—जिस प्रकार (खादिराद् अधि) खादिर नामक वृक्ष पर (परि जातः) उत्पन्न हुआ (अश्वत्थः) पीपल का वृक्ष गुणों में अति अधिक हो जाता है उसी प्रकार (पुंसः) वीर्यवान् पुरुष से उत्पन्न हुआ (पुमान्) वीर्यवान् पुरुष भी बड़ा गुणी, बलवान् और निर्भय होता है। राजा ऐसे पुरुषों से यह आशा करे कि (सः) वह वीर पिता के वीर्य से उत्पन्न वीर पुरुष (अश्वत्थः) अश्व पर आरूढ़ होकर (मामकान्) मेरे उन (शत्रून्) शत्रुओं को (हन्तु) विनाश करे (यान्) जिनको (अहं) मैं (द्वेष्मि) प्रेमभाव से नहीं देखता और साथ ही (ये च) और जो (माम्) मुझ से भी द्वेष करते हैं।

जिस प्रकार वैद्य तीक्ष्णवीर्य ओषधि को प्राप्त करने की इच्छा से ऐसे पीपल को खोजता है जो तीक्ष्णवीर्य खदिर पर उत्पन्न हुआ हो उसी प्रकार राजा भी युद्ध में शत्रु के विजय के लिये ऐसे पुरुषों को अपनी सेना में ले जिनके पूर्व पुरुषा, मां बाप बलशाली, वीर्यवान् हों। उनके संस्कार साहस के कार्यों में प्रबल होते हैं। ऐसे पुरुषों को अश्वत्थ से उपमा देने के कारण

[६] १–' (प्रं०) परिजातो अश्वत्थः ' (च०) ' योंश्चाहं ' इति पैप्प० सं० ।

उनको उसी प्रकार का जो चिह्न धारण कराया जावे, उसका ही नाम 'अश्वत्थमणि' समझना उचित है ।

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

भा—हे (अश्वत्थ) अश्व के ऊपर तीक्ष्ण हो कर विराजने वाले वीर घुड़सवार बहुयुद्धविजयी पुरुष ! तू (वृत्रघ्ना) विघ्नकारी शत्रुओं को नाश करने हारे (इन्द्रेण) राजा के साथ और (मित्रेण) सब के साथ स्नेह करने हारे प्रजा को मृत्यु से बचाने हारे, या मित्र राजा और (वरुणेन च) वरुण–पुलिस और गुप्तचर के विभाग के साथ (मेदी) मित्रभाव से उनको पुष्ट करता हुआ । (वैबाधदोधतः) राष्ट्रवासियों को नाना पीड़ाओं से कंपाने हारे या स्वयं कांपने वाले (शत्रून्) राष्ट्रशत्रुओं को (निःशृणीहि) सर्वथा, सब प्रकारों से विनाश कर ।

अर्थात् घुड़सवार वीर पुरुषों को राजा अपने संग और राष्ट्र के रक्षक पुलिस विभाग और गुप्तचर विभागों में भी नियुक्त करे ।

यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्य/र्णवे ।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) हे घुड़सवार वीर पुरुष ! और हे अश्व के समान युद्ध में निष्प्रकम्प पुरुष ! (यथा) जिस प्रकार से (महति) बड़े भारी

२–ह्विटनिसायणयोर्मतेन वैबाध । 'दोधतः' इति पदद्वयम् पदपाठानुसारेण चैकं पदम् । (द्वि०) 'शत्रून् मयि बाधदोधतः' इति पैप्प० सं० । 'यथाश्वत्थ निष्णामिपूर्वान् जातानुत परान् । एवा पृतन्यतस्त्वमभितिष्ठ सहस्वता' इति चाधिकः पाठः । पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'निरभिनः' इति सायणाभिमतः पाठः । 'निर्भिन्न' इति ह्विटनिकामितः, काश्चित्कश्च । (तृ०) 'निर्भिङ्ग्धिः' इति कश्चित् ।

(अर्णवे) समुद्रसेना के समुद्र में (अन्तः) भीतर प्रवेश करके (निरमनः) शत्रुओं का मर्दन करते हो उसी रीति से (यान् अहं द्वेष्मि) जिन को मैं द्वेष करता हूं और (ये च माम्) जो मुझ को द्वेष करते हैं (तान् सर्वान्) उन सब को भी (भङ्ग्धि) विनाश कर डाल ।

यः सहमानुश्चरसि सासहान इव ऋषुभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) वीर अश्वारोहिन् (यः) जो तू (ऋषभ इव) ऋषभ=महावृषभ, बड़े सांड या दर्शनशील दूरदर्शी पुरुष के समान (सहमानः) सब संकटों को धीरता से सहन करता और (सासहानः) अपने विरोधियों को बार २ पराजित करता हुआ (चरसि) विचरण करने में समर्थ है (तेन) इस कारण (त्वया) तुझ वीर पुरुष से हम राजागण (सपत्नान्) अपने विरोधियों को (सहिषीमहि) पराजित करते हैं।

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानुहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वारोहिन् ! (मामकान् शत्रून्) मेरे उन शत्रुओं को (यान् अहं द्वेष्मि) जिनको मैं द्वेष करता हूं और (ये च माम्) जो मुझ को द्वेष करते हैं (निर्ऋतिः) अश्वारोहियों की घोर सेना (एनान्) इन शत्रुओं को (मृत्योः) मृत्यु के (अमोक्यैः) कभी न छूटने हारे (पाशैः) जालों से (सिनातु) बांध दे । अर्थात् अश्वारोहियों की सेना ही शत्रुओं को ऐसा घेरे कि शत्रु लोग बच के न जाने पावें।

४-(प्र०) 'चरति' इति सायणाभिमतः, पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सा सहानैव' (च०) 'सं विषीमहि' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'इवर्षभः' इति क्वचित् ।
५-(द्वि०) 'पाशैरनिमोक्यैः' (च०) 'यांश्चाह' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'सिमात्वेमान्' इति क्वचित् ।

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्धि सहस्व च ॥ ६ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वारोहिन् वीर पुरुष ! (यथा) जिस प्रकार पीपल का वृक्ष जिसको 'अश्वत्थ' कहा जाता है वह (वानस्पत्यान्) अन्य बड़े २ वृक्षों पर (आरोहन्) अपना मूल जमा कर और बड़ा होकर उन का सब रस स्वयं खा जाता है और उनको जीते रहने देकर भी अपने आप ही प्रधान हो जाता है (एवा) उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (कृणुषे) कर दे और (मे) मेरे (शत्रोः) शत्रु के (मूर्धानं) शिर को या मुख्यता को (विष्वग्) सब प्रकार से (भिन्धि) तोड़ डाल और (सहस्व च) उनको पराजित भी कर । इस सूक्त में अश्वत्थ के दृष्टान्त से वीर पुरुष को किस प्रकार वर्णित किया जाय इसकी व्याख्या इसी मन्त्र में स्पष्ट है ।

ते/ऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

अथर्व० ९ । २ । १२ ॥

भा०—(ते) वे मेरे शत्रुगण (अधराञ्चः) नीचे गिरे हुए (बन्धनात्) बांधने हारी रज्जु के बंधन से (छिन्ना) कटी हुई (नौः इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) भंवर में पड़ कर बह जांय और डूब जांय । (वैबाधप्रणुत्तानां) नाना प्रकार की पीड़ाओं से विनष्ट हुए उच्छिन्न शत्रुओं का (पुनः) फिर (निवर्त्तनम्) लौट कर आना (न अस्ति) सम्भव नहीं ।

प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

७—'नसायकप्रणुत्तानां' इति अथर्व० [९ । २ । १२]

८—(प्र०) प्रैनान् नुदामि (च०) नुदामसि (द्वि०) प्रश्वत्थेन ब्रह्मणा । इति पैप्प० सं० ।

भा०—मैं (एनान्) इन शत्रुओं को (मनसा) अपने राष्ट्र के मानस बल, मन्त्रशक्ति से भी (प्र नुदे) अच्छी प्रकार पराजित करता हूं। (प्र चित्तेन) अपने राष्ट्र के चित्त=विज्ञान द्वारा भी विनाश करूं और (उत ब्रह्मणा) ब्रह्म—ब्राह्मणों के बल से भी विनाश करूं। और (एनान्) इन शत्रुओं को (अश्वत्थस्य) पीपल की (शाखया) शाखा से जिस प्रकार उसका आधार वृक्ष विनाश को प्राप्त हो जाता है उस प्रकार बलशाली अश्वारोही क्षत्रियवर्ग के (शाखया[1]) व्यापक शक्ति या सेना के दण्ड-बल से (प्र नुदामहे) उनका विनाश करता हूं।

[७] क्षेत्रिय व्याधियों का निवारण।

भृग्वंगिरा ऋषिः। यक्ष्मनाशनो देवता। १-५, ७ अनुष्टुभः। ६ भुरिक्। सप्तर्चं सूक्तम्॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्॥ १॥

भा०—क्षेत्रिय व्याधि क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि के निवारण का उपाय बतलाते हैं—(रघुष्यदः) अति वेग से दौड़ने वाले (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) सिर के ऊपर जो सींग हैं वह (भेषजम्) रोगों को दूर करने वाला पदार्थ है। (सः) वह विद्वान् चिकित्सक (विषाणया) सींग के द्वारा ही (विषूचीनम्) नाना प्रकार के कष्ट देने वाले रोगों को (अनीनशत्) विनाश करता है।

१. 'शाखृ व्याप्तौ' (भ्वादिः)।

[७] १-'हरिणस्यरघुष्यतो' इति आप० श्रौ० सू०।

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

भा०—हे (विषाणे) रोगनाशक सींग (त्वा अनु) तेरे उत्पन्न हो जाने के अनन्तर (वृषा हरिणः) नर हरिण (चतुर्भिः) चार (पद्भिः) चरणों से (अक्रमीत्) चौकड़ी भरने लगता है । (अस्य) इस रोगी के (हृदि) हृदय में (गुष्पितं) छिपे हुए (क्षेत्रियं) क्षय आदि रोग को तू (वि ष्य) नाना प्रकार से नाश कर ।

हरिण के सींग के स्पर्श से त्वचा का दोष और प्रलेप से व्रण और भस्म से क्षय, कास, श्वास और अपस्मार की व्याधि दूर होती है ।

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(अदः) यह (यद्) जो (चतुष्पक्षम्) चार पक्षों से (छदिः) शरीर को आच्छादन करने वाली मृगच्छाला (अव रोचते) शोभा देती है (तेन) उससे हे रोगी ! (ते) तेरे (अंगेभ्यः) सब अंगों से (सर्वं क्षेत्रियम्) सब प्रकार की वात, रक्त आदि व्याधियों को (नाशयामसि) हम दूर करते हैं ।

मृगच्छाला के प्रयोग से रक्तपित्त वात आदि का नाश होता है । उस पर बैठने, ओढ़ने आदि से ववासीर, कण्डू, खाज आदि रोग दूर होते हैं ।

२–'यदि किंचित् क्षेत्रियं हृदि' इति पैप्प० सं० । 'अनु त्वा हरिणो मृगः पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् । विषाणे विष्य तं ग्रन्थिं यदस्य गुपितं हृदि' इति आप० श्रौ० सू० ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अथर्व० २ । ८ । १ ॥

भा०—(दिवि) द्यौलोक, आकाश में (ये) जो (सुभगे) सौभाग्य शील (विचृतौ नाम तारके) विचृति, मूलनक्षत्र नामक तारे हैं वे दोनों (क्षेत्रियस्य) इस क्षेत्र या शरीर में होने वाले (अधमं) नीच, नाभि से नीचे के देह में लगे और (उत्तमम्) नाभि से ऊपर के देहभाग में लगे (पाशं) व्याधि, अपस्मार आदि के रोगपाश को (वि मुञ्चताम्) विशेष रूप से मुक्त कर दें ।

प्रातःकाल के अवसर पर मूलनक्षत्र का जब उदय होता है तब प्रातः—स्नान से शरीर के कुष्ठ आदि रोग शान्त होते हैं ।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १३७ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ९१ । १ । ३ ॥

भा०—आरोग्य के लिये जो स्नान का काल पहले मन्त्र में दर्शाया है उस काल की प्रधानता है। उसके अतिरिक्त स्नान के योग्य जल की प्रधानता भी दर्शाते हैं । (आपः इद् वा उ) अथवा, आपः=जल ही (भेषजीः) स्वयं रोगहारक उत्तम औषध हैं । क्योंकि (आपः) आपः=जल ही (अमीव-चातनीः) रोग-जन्तुओं का नाश करने में समर्थ हैं । (आपः विश्वस्य

४–(प्र०) 'उद् अगातां भगवती' अथर्व० २ । ८ । १ ॥ (तृ०) विक्षेत्रियं त्वा अभ्यानशे इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) 'आपः सर्वस्य' इति ऋ० (च०) 'तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्' इति ऋ०, अथर्व० ६ । ९१ । ३ ॥

भेषजीः) जलों से ही समस्त रोगों की चिकित्सा हो जाती है । (ताः त्वा) वे जल ही तुझे (क्षेत्रियात्) शरीरगत, परम्परा-प्राप्त पैतृक रोगों से भी (मुञ्चन्तु) छुड़ा दे सकते हैं ।

जल चिकित्सा का विस्तृत रहस्य अंगविद्या आयुर्वेद से जानना चाहिये, जल के द्वारा नेति, धोती, वस्ति, क्रिया एवं धारास्नान, मार्जन, तर्पण, स्वेदन आदि विविध उपचारों से कुष्ठ एवं त्वचा के समस्त रोग और ज्वर और रक्तविकार और हृदयरोग, मस्तिष्क रोग और वीर्यदोष शान्त किये जाते हैं ।

यदा॑सुतेः क्रि॒यमा॑णायाः क्षेत्रि॒यं त्वा॑ व्या॒नशे॑ ।
वे॒दाहं तस्य॑ भेष॒जं क्षे॑त्रि॒यं ना॑शया॒मि त्वत् ॥ ६ ॥

भा०—हे रोगिन् ! (क्रियमाणायाः) की जाती हुई (आसुतेः[1]) वीर्य की आधान क्रिया या प्रसव क्रिया से लेकर ही (यद्) जो (क्षेत्रियं) क्षेत्रगत रोग (त्वा) तेरे शरीर में (व्यानशे) फैला हुआ है (तस्य) उस की भी मैं (भेषजं वेद) चिकित्सा जानता हूं । इसलिये (त्वत्) तेरे (क्षेत्रियं) शरीरगत ऐसे रोग को भी (नाशयामि) विनाश कर दूं ।

अ॒प॒वा॒से नक्ष॑त्राणामपवा॒स उ॒षसा॑मु॒त ।
अ॒पास्मत् सर्वं॑ दुर्भू॒तमप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु ॥ ७ ॥

भा०—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) अस्त होजाने (उत) और (उपसाम्) उषाकाल, प्रभात वेला के भी (अपवासे) व्यतीत हो जाने पर जो स्नान आदि क्रिया एवं औषध प्रयोग है उससे (अस्मत्) हमारे शरीरों से (दुर्भूतं) बुरे व्यवहारों से या विषम अन्न आदि भोजनों और

---

१. 'आसुतिः द्रवीभूतमन्नम्' इति सायणः, पानमिति संशयितो ह्विट्निः ।

७–'अपास्मात्' इति वेवरकामितः पाठः । (द्वि०) 'अपवास ततोपसम्'. (तृ०) 'सर्वमाभयत्' इति पैप्प० सं० ।

विपम उपचारों से उत्पन्न हुआ (सर्वं) सब प्रकार का (क्षेत्रियं) शरीरगत रोग (अप उच्छतु) दूर हो जाय ।

प्रातःकाल के आतप में स्वेदन, स्नान और प्रभास्नान से शरीर के रोग नाश होते हैं ।

[८] राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । मित्रो विश्वेदेवा वा देवताः । २, ६ जगत्यौ । ४ चतुष्पदा विराड् बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । ५ अनुष्टुप् । १, ३ त्रिष्टुभौ । षड्चं सूक्तम् ॥

**आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥**

भा०—(मित्रः) सूर्य जिस प्रकार (ऋतुभिः) छहों ऋतुओं द्वारा नाना प्रकार के सामर्थ्यों को प्रकट करता हुआ (उस्रियाभिः) अपनी किरणों द्वारा (पृथिवीं) पृथिवी को (संवेशयन्) आच्छादित करता हुआ समस्त प्राणिगणों से बसा देता है। और समस्त देश को (वरुणः) जल, (वायुः) वायु और (अग्निः) अग्नि भी प्राणियों को बसाते हैं उसी प्रकार राजा (मित्रः) प्रजा को विनष्ट होने से बचाने वाला और अपनों के प्रति सदा स्नेहवान् होकर (ऋतुभिः) सत्य धर्मों, कर्मों और शिल्पों से (कल्पमानः) स्वयं समर्थ होकर (पृथिवीं) इस पृथिवी -राष्ट्र को (उस्रियाभिः) उन्नतिशील प्रजाओं से (संवेशयन्) बसाता हुआ स्वयं (अथ) और (वरुणः) राष्ट्र का रक्षक, राष्ट्र में सब से श्रेष्ठ प्रजा के स्वयं वरण करने योग्य, (वायुः) सब का प्रेरक, (अग्निः) सबका नेता होकर (बृहत्) बड़े भारी (अस्मभ्यं) हम प्रजागण के (संवेश्यं) बसने योग्य (राष्ट्रं) राष्ट्र को सुसम्पन्न सुव्यवस्थित बना कर (दधातु) पालन करे ।

धाता रातिः सविता इदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

भा०—राजा पूर्वोक्त प्रकार की प्रजा की प्रार्थना सुन कर निम्नलिखित प्रकार से अधिकारी गण नियुक्त करें। (इदं) इस राष्ट्र को (धाता) सन्निधाता नामक अधिकारी (रातिः[1]) दानशील दानाध्यक्ष, (सविता) समाहर्त्ता ये तीनों अधिकारी राष्ट्र को (जुषन्तां) बसावें और सम्पन्न करें। और (इन्द्रः) सेनापति (त्वष्टा) सब कारीगरों का मुख्य शिल्पाध्यक्ष ये सब (मे) मेरे (वचः) वाणी, आज्ञा के (प्रति हर्यन्तु) अनुकूल रह कर कार्य करें। और (शूरपुत्रां) शूरवीर पुत्रों को उत्पन्न करने हारी (देवी) दिव्यगुण युक्त, (अदितिं) अदीन, स्वतः सब से मुख्य, आदरणीय पृथिवी, मातृशक्ति को (हुवे) मैं संबोधित करता हूं कि वह वीर पुत्रों को मेरे संग करे कि मैं (सजातानां) समान बल वाले अन्य राजाओं के बीच में (यथा) जिस प्रकार (मध्यमेष्ठाः) मध्यस्थ, सब के बलों को समान रूप से तुला रखने वाला (असानि) रहूं। राष्ट्र को इतना प्रबल बना कर रहना चाहिये शत्रुपक्ष और मित्रपक्ष दोनों को तुला रख सके।

धाता=सन्निधाता, दानाध्यक्ष, समाहर्त्ता आदि अधिकारी गणों का विवरण देखिये अथर्ववेद उपवेद (अर्थशास्त्र कौटिल्य का 'अध्यक्ष-प्रचार' नामक अधिकरण)

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

भा०—(अहम्) मैं (सोमं) सब के प्रेरक विद्वान् शान्त, पुरुष को (सवितारं) सविता, समाहर्ता पद पर (हुवे) नियत करता हूं। और

1. रातिर्दानशीलोऽर्यमा इति सायणः । (द्वि०) 'प्रतिगृह्णन्तु' इति पैप्प० सं० । (च०) 'यथा स्याम्', 'आरम्' इति वा ह्विटनिकामितः पाठः ।

(उत्तरत्वे) और उसके आधीन (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदिति रूप राष्ट्र माता के पुत्रों को (नमोभिः) आदर योग्य पदों से विभूषित करता हूं । (अयम्) यह (अग्निः) सब का नेता होकर (सजातैः) समान रूप से बलवान् हुए (अप्रतिब्रुवद्भिः) अपना विरोध न करने हारे इन आदित्य पुरुषों द्वारा (इद्धः) खूब प्रज्वलित, प्रभाववान् होकर (दीर्घम् एव) चिरकाल तक (दीदयद्[1]) शोभा दे ।

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

भा०—राजा अपने अधिकारीगण और प्रजाओं को उपदेश करता है कि-'हे प्रजाओ ! (इह इत्) यहां ही इसी राष्ट्र में ही (असाथ) सुख पूर्वक निवास करो । (परः) दूर (न) मत (गमाथ) जाओ । इसी प्रकार का उपदेश राजा अपनी सेनाओं के प्रति भी करता है । (ईर्यः) तुमको सन्मार्ग पर चलाने हारा आज्ञापक (गोपाः) गौओं को पालन करने हारे गोपति के समान तुम प्रजाओं और सेनाओं का पालक, (पुष्टपतिः) तुम्हारे पुष्टिकारक-पदार्थों का भी परिपालक (वः) तुमको (आजत्) ठीक मार्ग पर चला रहा है । आप लोग (अस्मै) इसके (कामाय) अभिलाषा के अनुकूल ही (कामिनीः) अपनी अभिलाषा उसी प्रकार बनाये रक्खो जिस प्रकार अभिलाषा वाली स्त्रियां अपने प्रियपतियों के प्रति रहती हैं ।

---

१. दीदायद् इति सांहितिको दीर्घः । पदपाठस्तु 'दीदयत' इत्येव । (द्वि०) 'विश्वान् देवान्' इति पैप्प० सं० ।

४–(च०) 'उपसंनयन्तु' (तृ०) उपकामिनीस्त, उपकामिनीरित इति वा ह्विटनिकामितः पाठः । (तृ० च०) अस्मै वः कामा उपकामिनी विश्वे देवा उपसत्यामिह इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'नपुरः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

तभी (वः) तुमको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्‌गण भी (उप संयन्तु) प्राप्त हों, तुम्हारे आज्ञावर्ती और सहायक हों ।

राजा सब विभागों पर अध्यक्ष नियत करे, उसके अनुसार सब चलें, तभी सब राष्ट्र विद्वान्‌गण भी उनकी सहायता करें ।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । १ ॥

भा०—अधिकारियों का प्रजाओं के प्रति उपदेश । हम लोग (वः) आप प्रजागण के (मनांसि) चित्तों को (सं नमामसि) अपने अकूल करते हैं । (व्रता सम्) आप लोगों के कर्मों को अपनी व्यवस्था के अनुकूल करते हैं (आकूतीः सम्) आपके विचारों को भी हम अपने अनुकूल करते हैं । और (ये) जो (अमी) ये पुरुष (विव्रताः) नियमों के प्रतिकूल कार्य करने हारे (स्थन) हों (तान्) उनको (वः) आपके सामने ही (सं नमयामसि) पुनः व्यवस्था के अनुकूल झुकावें, उनको दबावें, दण्ड दें ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । २ ॥

५-(तृ०) 'विव्रतास्थ' च 'संमनंसत' इति मै० सं० । (तृ०) विव्रतास्तन' इति सायणाभिमतः पाठः । 'सं वो मनांसि संव्रता समुचिजान्याकरम्' यजु० [१२ । ५८ (प्र० द्वि०)] सं वो मनांसि जानतां संव्रता आकूतिः । असौ यो विमनाजनस्तं समावर्त्तयामसि इति ऋ० १० । १९१ । खिलो मन्त्रः ।

६-(प्र०) 'गृह्णामि' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(अहं) मैं राजा, शासक (मनांसि) अपनी प्रजा के मनों को (मनसा) अपने मन से (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं, वश करता हूं। हे प्रजाजनो! एवं मेरे अधीन शासकवर्गो ! (चित्तेभिः) अपने चित्तों से (मम चित्तम् अनु) मेरे चित्त के अनुकूल ही (एत) होकर रहो । (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदयों को मैं (मम) अपने (वशेषु) अधीन के कार्यों में (कृणोमि) नियुक्त करता हूं । आप लोग (अनुवर्त्मानः) मेरे अनुकूल मार्ग पर चलने हारे होकर (मम यातम्) मेरे चले रास्ते पर ही (एत) गमन करो । अर्थात् मेरे विधान किये मार्ग से विपरीत विरुद्ध मार्ग पर पैर मत रक्खो ।

उसी सूक्त से आचार्य माणवक के हृदय और नाभिदेश को स्पर्श करके उसको अपने अनुकूल बनाने का उपदेश करता है । राजा का प्रजा से, पिता का पुत्रों से, पति का अपने परिवार से एवं गुरु का शिष्य से जो सम्बन्ध है वह एक प्रकार का शास्य-शासक का सा ही है । उनकी भी अपनी २ सरकार सी है, फलतः इस सत्ता की उन पक्षों में भी योजना कर लेनी चाहिये ।

[६] प्रबल जन्तुओं और हिंसक पुरुषों के वश करने के उपाय ।

वामदेव ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ उत विश्वेदेवा देवताः । १, ३, ५ अनुष्टुभः, ४ चतुष्पदा निचृद् बृहती, ६ भुरिक् । षड्टचं सूक्तम् ॥

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथापं कृणुता पुनः ॥ १ ॥

[६] १–(प्र०) 'कर्षभस्य विषभस्य', (च०) 'तथापि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(कर्शफस्य[1]) कर्शफ=करशफ अथवा कृशशफ, जिन पशुओं के शफ=खुर निर्बल हैं या पंजे के समान हैं जैसे व्याघ्र आदि और (विशफस्य) या जिन के शफ खुर नहीं हैं, विना चरण के हैं जैसे सर्प आदि उन सब जन्तुओं का भी (द्यौः) वह दिव्य गुण वाला सब को प्रकाशक प्रभु ही (पिता) पालक है और (पृथिवी) यह पृथिवी सब का आश्रय ही (माता) माता है । इस कारण (देवाः) विद्वान् लोग (यथा अभि चक्र) जिस प्रकार इनके प्रति व्यवहार करते आये और इनका निवारण करने का उपदेश करें (पुनः) फिर भी हे पुरुषो ! तुम (तथा अप कृणुत) वैसा ही इनका निवारण करो । अर्थात् उनका द्वेषबुद्धि द्वारा विनाश करना उचित नहीं, उनका वश करना उचित है ।

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

भा०—विद्वान् पुरुष अपने ऊपर आक्रमणकारी जन्तुओं को किस प्रकार वश करें उसका उपदेश करते हैं । (अश्रेष्माणः[1]) दूसरे को पीड़ा न पहुंचाने वाले, दयालु या उनसे बहुत ममता न करने वाले, अनासक्त पुरुष उन सब जन्तुओं को (अधारयन्) पालन पोषण ही करते हैं (तथा) और उसी प्रकार (मनुना) मननशील पुरुष भी (तत्) वही (कृतम्[2])

---

१. कर्शफ-विशफ शब्दयोर्व्याकृतितन्वानः क्षेमकरणत्रिवेदी यत्कृशालिवालिगर्दिभ्योऽभचंत् ऋषिवृषिभ्यां कित् इत्येते सूत्रे उदाजहार तदसमञ्जसम् ताभ्यां शरभवृषभशब्दयोः सिद्धिर्नतु कर्शफविशफयोः ।

२–'अश्रेष्माणोऽधा' इति पैप्प० सं० ।

१. श्रिषुश्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे । भ्वादिः । श्लिष श्लेषणे । चुरादिः । श्लिष आलिंगने दिवादिः । इत्येतेभ्यो धातुभ्यः सर्वधातुभ्य औणादिको मनिन् ।

२. कृतमित्यत्र: तव्यार्थे क्तः ।

करता है । हे पुरुषो ! (विष्कन्धं) विशेष रूप से जिनके स्कन्ध उठे हुए हों ऐसी जन्तुजाति को भी मैं (वध्रि) वश करने योग्य ही (कृणोमि) बनाता हूं । जिस प्रकार (गवाम् इव) बैलों को वश करने के लिये उनके (मुष्काबर्हः) अण्डकोशों को तोड़ दिया जाता है और इससे ये जन्तु वश हो जाते हैं उनका क्रूरस्वभाव टूट कर सौम्य हो जाते हैं उसी प्रकार और भी प्रबल कन्धे वाले बलवान जानवरों को वश करने का उपाय है ।

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
अवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

भा०—हिंसक जन्तुओं को वश करने के उपाय । (वेधसः) विद्वान् लोग, उपाय करने हारे पुरुष (तदा) पशुओं को वश करने के अवसर पर (खृगलं) गेंडे जैसे मोटे खाल वाले अथवा कठोर गले वाले सांड के समान जन्तु को भी (पिशङ्गे) दृढ, खूब बटे हुए (सूत्रे) सूत डोरी या रस्से में (बध्नन्ति) बांध लेते हैं । और (बन्धुरः) बांधने हारा पुरुष (काबवं) हिंसक, मरखने प्राणी को प्रथम (अवस्युं) अन्न, भोजन के अभिलाषी बना कर (शुष्मं) उपवास आदि द्वारा शुष्क करके (वध्रिं) बांधने लायक, (कृण्वन्तु) कर लिया करें । अर्थात् हिंसक पशुओं को पहले कुछ दिन भूखा रखकर फिर भोजन चारा दिखाना चाहिये तब वे आप से आप वश हो जाते हैं ।

येना॑ श्रवस्यव॒श्चर॑थ दे॒वा इ॑वासुरमा॒यया॑ ।
शुनां॑ क॒पिरि॑व॒ दूष॑णो बन्धु॒रा का॑बव॒स्य॑ च ॥ ४ ॥

३–(प्र०) 'सूत्रे पिशङ्गे खृगिलिम्' (द्वि०) 'यदा' (तृ०) 'अवस्यंशुष्म कावत्रम् [कावर्ध ?] इति पैप्प० सं० । अवस्यमिति सायणाभिमतः पाठः ।

४–(तृ० च०) 'दूषणं बन्धरा काभवस्य च' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुषो ! आप लोग भी (येन) जिस प्रकार से (असुरमायया) वैश्य व्यापारियों की बुद्धि से प्रेरित होकर (अवस्यवः) अपनी पेटपूजा के निमित्त अन्न को प्राप्त करने की इच्छा करते हुए (देवा इव) विद्वान् सदाचारी पुरुषों के समान ही (चरथ) इस लोक में विचरो और एक दूसरे से लड़ना झगड़ना छोड़ कर परस्पर मिलकर रहते हो उसी प्रकार इन जन्तुओं को भी अपने सद्व्यवहार से उनको अन्नादि देने के एवज़ में सधा कर भोला बना कर रक्खो, उनको तुम अन्न दो और उन से काम लो। क्योंकि यदि उनको बांध कर रक्खोगे और उनको दण्ड ही दण्ड दोगे तो वह भी उनके स्वभाव को विगाड़ देता है क्योंकि जिस प्रकार (शुनां) कुकुर=कुत्तों के बीच में (कपिरिव) बन्दर के आ जाने से बन्दर को क्रोध आ जाता है और आपस में एक दूसरे को फाड़ खाने की चेष्टा करते हैं, इसी प्रकार (काबवस्य) हिंसाशील जन्तु को भी (बन्धुरः) निरन्तर बांधे रहना (दूषणः) उनके स्वभाव को और भी विगाड़ देता है वे भी अपने बांधने वाले के प्राण के प्यासे हो जाते हैं। इसलिये उनको भी पेट भर अन्न देकर उन से कार्य लेना चाहिये।

दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम्।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

भा०—यदि (काबवं) हिंसक जन्तु को किसी कारण से (दूषयिष्यामि) क्रुद्ध भी कर दूं तो भी उस (त्वा) तुझ हिंसक जन्तु को (दुष्ट्यै) विगड़े स्वभाव के कारण ही (भत्स्यामि) बांध कर रक्खूंगा। और इस प्रकार बांध कर रखने से भी (आशवः[1]) शीघ्रकारी (रथाः) रथों के

५-(प्र०) 'भत्स्यामि' इति ह्विट्निसंस्करणगतः पाठः। 'भन्त्स्यामि' इति ह्विट्निकामितः। 'जुष्टि त्वा कांच्छाभिजोषयित्वा भव' इति पैप्प० सं०। (च०) 'करिष्यथ' इति सायणाभिमतः पाठः।

१. 'उदाशवः' इति सायणमत एकं पदम्।

समान; रथ में लगे घोड़ों के समान (शपथेभिः) तीक्ष्ण वचनों से या विश्वास्य वचनों से प्रेरित होकर ही तुम (सरिष्यथ) सन्मार्गों पर चलोगे।

अर्थात् जब पशु को उसकी दुष्टता पर मारा जाय तो वह और भी बिगड़ जाता है तो भी उसको पुचकार कर या कठोर वचन कह कर सीधे रास्ते पर ले आना चाहिये और समय २ पर हन्टर भी लगाना चाहिये।

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

भा०—(विष्कन्धानि) प्रबल स्कन्ध वाले हिंसक जन्तुओं की (एक-शतं) एक सौ एक या सैकड़ों जातियां (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर विचरती हैं। (तेषामग्रे) उनके भी प्रथम (त्वां) तुझ को (मणिम्) उनका शिरोमणि, रूप से उन पर वश करने हारा (उत्—जहरुः) अधिष्ठाता रूप से स्थापित किया है । तू स्वयं (विष्कन्धदूषणम्) उन प्रबल जन्तुओं को वश करने में समर्थ है।

इस अन्तिम मन्त्र में विष्कन्ध और दूषण ये दो शब्द प्रबल हिंसक जीव और उनके वश करने के उपायों के अतिरिक्त सेनानिवेश और उनके वश करने के उपाय पर भी प्रकाश डालते हैं। जिस प्रकार पशुओं को वश करने का उपाय कहा गया इसी प्रकार हिंसक पुरुषों की छावनी को भी उन में परस्पर फोड़ कर उनको वश कर लेना चाहिये। संक्षेप से शत्रु वश करने के लिये इतनी नीतियों का उपदेश किया है (१) बैलों के समान उनका मदकारी अंश निकाल देने से शत्रु वश में हो जाएंगे, (२) गैंडे के समान या मोटे कन्धे वाले पशु के समान दृढ़ रज्जू से बांधलो, (३) जिस शत्रु के पास अन्न न रहे उसको भूखा मार कर फिर अन्न दो और

६–(तृ०) 'उज्जहुः' । इति ह्विटनिसायणयोरभिमतः पाठः । (तृ० च०) 'तेषां च सर्वेषां इदमस्ति विष्कन्धदूषणम्' इति पैप्प० सं०।

वश करो, (४) सदा किसी पर बन्धन मत रक्खो, नहीं तो वानर और कुत्तों की सी चीर फाड़ होती रहेगी। इसलिये उनको अन्नादि पदार्थ देकर उनसे बदले में काम ले और व्यापार विनियम द्वारा उनको बांधे रहे, (५) यदि उत्पात करे तब उन पर तर्जना करे और बन्धन लगादे।

[१०] अष्टका रूप से नववधू के कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः। अष्टका देवता। ४, ५, ६, १२ त्रिष्टुभः। ७ अवसाना अष्टपदा विराड्गर्भा जगती। १, ३, ८-११, १३ अनुष्टुभः। त्रयोदशर्चं सूक्तम्॥

प्र॒थ॒मा ह॒ व्यु॑वास॒ सा धे॒नुर॑भवद् य॒मे।
सा नः॒ पय॑स्वती दुहा॒मुत्त॑रामुत्तरां॒ समा॑म्॥ १॥

भा०—अष्टका रूप से पत्नी के स्वरूप का वर्णन करते हैं-हे (यमे) ब्रह्मचर्य आदि को पालन करने हारी! ब्रह्मचारिणी! (प्रथमा) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ कुमारी रूप से जो स्त्री अपने पति के गृह में (ह) निश्चय से (वि उवास) विशेष रूप से वास करती है (सा) वही उसके घर की (धेनुः) गौ के समान समस्त कार्यों में सुख के देने हारी (अभवत्) होती है। (नः) हमारे घरों में भी उसी प्रकार (सा) वह पत्नी (पयस्वती) वर्धनशील सुखों के देने हारी होकर (उत्तरां उत्तरां समाम्) ज्यों २ वर्ष पर वर्ष बीतते जांय त्यों त्यों (दुहाम्[1]) घर को सुखों से भरती जाय।

---

[१०] १-(प्र०) 'या प्रथमा व्यौच्छत' (तृ०) 'धुक्ष्व' इति तै० सं० 'दुहे' इति मै० सं०। 'दुहा' इति मै० ब्रा०। (च०) 'समान्' इति सायणाभिमतः पाठः।

१. दुह प्रपूरणे। अदादिः।

यां देवाः प्रति नन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

भा०—गृहपत्नी नववधू को रात्रि और गौ से उपमा दे कर उसका वर्णन करते हैं—(यां) जिस (रात्रिं) रमण करने योग्य सब को प्रसन्न करने एवं सुख देने हारी रात्रि के समान और (उप आयतीम्) स्वामी के पास प्रेम से स्वयं आने हारी (धेनुं) नाना सुखों को उत्पन्न करने हारी गौ के समान गार्हस्थ्य सुख को प्राप्त कराने हारी वधू को (देवाः) विद्वान् पुरुष (प्रतिनन्दन्ति) देख कर बहुत प्रसन्न होते हैं (या) जो (संवत्सरस्य) उत्तम रीति से वत्स=बालकों को अन्नादि से पुष्ट करने हारे अपने स्वामी के गृह की पत्नी अर्थात् स्वामिनी होकर रहती है वह (नः) हमारे समाज के लिये (सुमङ्गली) उत्तम शुभ मङ्गल करने हारी हो।

नवोढ़ा को आशीर्वाद दिया जाता है ' सुमङ्गलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत । ' अथवा अन्यत्र भी " सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।" (अथर्व० १० । २ । २६)

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥

भा०—हे (रात्रि) रमण करने योग्य सब को सुख देने हारी रात्रि के समान पति को सुख देने हारी पत्नि ! (यां) जिस (त्वां) तुझ को हम (संवत्सरस्य) संवत्सर, यजमान, गृहपति, प्रजापति का (प्रतिमां) दूसरा

२—(प्र०) 'यां जनाः', (द्वि०) 'इनायतीम्' इति मै० ब्रा० । (द्वि०) 'धेनुरात्रिमुपा' (च०) सुमंगला' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि०) 'ये त्वा रात्रिमुपासते' (तृ०) 'तेषामायु' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) ' रात्रि यजामहे ' इति मै० ब्रा० । ' संवत्सरस्य प्रतिमा या तां रात्रिमुपास्महे ' इति पा० गृ० सू० ।

स्वरूप या दूसरी मूर्त्ति—अर्धांगिनी के समान (उपास्महे) जानते हैं (सा) वह तू (नः) हमारी (आयुष्मतीं) दीर्घायु (प्रजां) प्रजा को (रायस्पोषेण) धन धान्य आदि पुष्टिकारक पदार्थों द्वारा (संसृज) युक्त कर ।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४॥

अथर्व० ८ । ९ । ११ ॥

भा०—(इयम् एव) यह ही वधू (सा) वह है (या) जो (प्रथमा) गुणों में सब से श्रेष्ठ होने के कारण (इतरासु) अन्य घर की (आसु) स्त्रियों के बीच में (व्यौच्छत्) अपने गुणों का विशेष प्रकाश करती हुई (प्रविष्टा) उनके हृदयों में प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है, रहती है (अस्यां) इस नवोढा स्त्री में ही (महान्तः) बड़े भारी (महिमानः) महत्वपूर्ण यश हैं । वह (वधूः) नववधू (अन्तः) अन्तःपुर में (नव-गत्) नव २, नये २ रूप को धारण करने हारी या अपने नव पति से संगत होकर (जनित्री) प्रजा को उत्पन्न करती हुई (जिगाय) सब से उत्कृष्ट होकर रहे ।

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

४-(द्वि०) 'अन्तरस्यां चरति' इति शा० गृ० सू० । 'सा अप्स्वन्तश्चर०' नै० सं० 'सेयमप्स्वन्त' इति मै० ब्रा० । (तृ०) त्रयएनां महिमानः सचन्ते' इति तै० सं० । तत्रैव 'त्रितएनां' इति पैप्प० सं० । विश्वे ह्यस्यां महिमानोऽन्तः । इति मै० ब्रा० । (च०) वधूर्जजान' तै० सं० । 'वधूर्मिमाय' इति पैप्प० सं० । 'वधूर्मिमाय नवकृत्' इति शा० गृ० । 'नवगज्जनित्रीम्' इति पैप्प० सं० ।

५-(तृ०) 'एकाष्टकायै हविषा विधेम' इति पैप्प० सं० । 'सुप्रजासः'

भा०—गृहपत्नी को गृह के कार्यों का उपदेश करते हैं। (वानस्पत्याः) वनस्पति या काठ के बने हुए (ग्रावाणः) कूटने के साधन ऊखल मूसल, (हविः) यज्ञ के योग्य सामग्री धान्य आदि (कृण्वन्तः) उत्पन्न करते हुए (परिवत्सरीणम्) प्रत्येक वर्ष (घोषम्) उत्तम शब्द (अक्रत) करें। हे (एकाष्टके) एकमात्र गृह की आठों प्रहर सुध लेने हारी गृहणी ! तेरे कारण हम (सुवीराः) उत्तम बलसम्पन्न, वीर्यवान् पुत्रों से युक्त (सुप्रजसः) और उत्तम सन्तानों से युक्त (रयीणां) और पशु एवं धन समृद्धियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥६॥

भा०—(इडायाः) गौ का (सरीसृपं) निरन्तर गमन करने वाला (पदं) स्वरूप या चरण (घृतवत्) घृतादि पुष्टिकारक पदार्थ से युक्त होता है। हे (जातवेदः) अग्ने ! परमेश्वर ! (प्रति) प्रतिदिन (हव्या) हवन करने योग्य पदार्थों और प्रेमपूर्वक पढ़ी गयी स्तुतियों को (गृभाय) स्वीकार करो। (ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में पालन करने योग्य, पुरुषों के संघ में रहने के स्वभाव वाले (विश्वरूपाः) नाना प्रकार के (पशवः) पशु हैं (तेषां) उन सब (सप्तानां) सातों प्रकारों के पशुओं की (रन्तिः)

इति क्वचित्पाठः। (प्र०) 'उलूखलाग्रावा' (द्वि०) 'वत्सरीणाम्' (तृ०) 'सुप्रजा वीरवन्तः' इति हि० गृ० सू०। (प्र०) 'औलूखलाः सम्प्रवदन्ति ग्रावाणः' (च०) 'ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते' इति मै० ब्रा०।

६–'घृतवत् चराचर' (द्वि०). 'जातवेदो हविरिदं जुषस्व' इति मै० ब्रा०। (च०) 'सप्तानां इह रन्तिरस्तु' इति तै० आ०। (च०) 'पुष्टिरस्तु' आ० श्रौ० सू०।

आनन्द वहार (मयि) मेरे पास (अस्तु) हो। गृहस्थी पुरुष गोपालन करे, उससे दूध, दही, मक्खन प्राप्त करे प्रतिदिन यज्ञ करे, उपासना करे। गो-पालन, पशु-पालन करे और उनसे सुख और जीवन का आनन्द प्राप्त करे। गौ, बकरी, भेड़, हाथी, गधा, अश्व और ऊंट ये सात पशु हैं।

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥

यजु० ३ । ४९ ॥

भा०—हे (रात्रि) रमणसाधनसम्पन्न गृहपत्नि! तू मुझ गृहस्थ के (पुष्टे) अति अधिक पुष्टि देने योग्य, बढ़े हुए धन में और (पोषे च) बालकों के पालन पोषण कार्य में सहायक हो। हम सब (देवानां) विद्वान् पुरुषों की (सुमतौ) शुभ मति में ही (स्याम) रहें। यज्ञ का उपदेश करते हैं—हे (दर्वे) घृतपूर्ण चमस! तू (पूर्णा) पूर्ण होकर (परापत) अग्नि-होत्र की अग्नि में पड़ और (सुपूर्णा) उत्तम रीति से पूर्ण होकर (पुनः आ पत) वार २ आहुति डाल। तू (सर्वान्) समस्त (यज्ञान्) पुण्य-कार्यों को (संभुञ्जती) पालन करती हुई (ऊर्जं) रस और बल पुष्टि-कारक (इषम्) अन्न को (नः) हमें (आ भर) प्राप्त करा। दर्वि की उपमा से यह मन्त्र गृहपत्नी का कर्त्तव्य भी कहता है कि—हे (दर्वे) सब दुःखों को दलन करने हारी तू (पूर्णा) शरीर में पूर्ण होकर (परा पत) घर के कार्यों में लग और (सुपूर्णा) खूब हृष्ट पुष्ट होकर (पुनः आ पत) वार २ हमारे प्रति आ, अथवा प्रसन्न चित्त से तू माता पिता के पास जा और भी अधिक प्रसन्नता से पुनः अपने पतिगृह में लौट कर आ और सब पुण्य कर्मों का पालन करती हुई हमारे लिये पुष्टिकर पदार्थों को प्राप्त करा।

७-' पूर्णा दर्वि ' इति यजु० । (प्र०) ' सम्भुञ्जती ' इति पैप्प० सं० ।

आयमंगन्त्संवत्सुरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥

भा०—हे (एका-अष्टके) एकमात्र घर को आठों प्रहर सुधारने वाली गृहपत्नि अथवा समस्त सुखों का एकमात्र स्वयं भोग देने हारी ! तेरा (पतिः) स्वामी (अयम्) यह (संवत्सरः) संवत्सरस्वरूप, यज्ञरूप, पुरुष है जो सम्=भली प्रकार वत्सरः=पुत्रों का दान करने एवं लालन पालन करने में समर्थ है । (सा) वह तू (आयुष्मती प्रजां) दीर्घ आयु वाली प्रजा को (रायस्पोषेण) धनादि पोषणकारी पदार्थों से (संसृज) युक्त कर ।

ऋतून् यंज ऋतुपतींनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥ ६ ॥

अथर्व० ११ । ६ । १७ ॥

भा०—मैं गृहपति (ऋतून् यजे) सब ऋतुओं में उन ऋतुओं के अनुकूल यज्ञ करूं और (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के परिपालक अग्नि, वायु आदि देवशब्दवाच्य पदार्थों को भी (यजे) उचित रीति से संगत करके अपने अनुकूल करूं । (आर्तवान्) ऋतुओं के पक्ष मास आदि विशेष २ भागों को भी (यजे) यज्ञ द्वारा सुखकारी बनाऊं । (उत) और (हायनान्) सब वर्षों या सब दिनों में (यजे) यज्ञ करूं । और (समाः) सब (संवत्सरान्) संवत्सरों, वर्षों और (मासान्) सब मासों में भी यज्ञ करूं और सब कालों में मैं (भूतस्य पतये) समस्त प्राणियों के पालक परमात्मा की (यजे) उपासना करूं ।

८–(तृ० च०) 'तस्मै जुहोमि । हविषा घृतेन शौनः शर्म यच्छतु' इति पैप्प० सं० ।

इस मन्त्र में ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ का उपदेश करके ऋतुयज्ञ, मासयज्ञ, पाक्षिकयज्ञ, वार्षिकयज्ञ और दैनिकयज्ञ करने का भी उपदेश किया है ।

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥

अथर्व० १९ । ३७ । ४ ॥

भा०—हे पत्नि ! अष्टके ! (त्वा) तुझे भी (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये (आर्तवेभ्यः) ऋतुभागों के लिये (माद्भ्यः) मासों और (संवत्सरेभ्यः) वर्षों के लिये (धात्रे) सब के पालक पोषक (विधात्रे) सब के उत्पादक, (समृधे) सब को समृद्ध करने हारे, (भूतस्य पतये) सब प्राणियों के परिपालक परमात्मा के लिये (यजे) अपने संग पत्नी बनाकर रखूं और तेरे संग ही सब यज्ञ आदि पवित्र कार्यों को करूं ।

इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥

भा०—गृहस्थ पुरुषों को सदाचार का उपदेश करते हैं । (इडया) अन्न और भूमि से उत्पन्न हुए पवित्र पदार्थों को (जुह्वतः) दान प्रतिदान और अग्नि में आहुति देते हुए (वयं) हम (देवान्) देवगण अग्नि, वायु, जल आदि पदार्थों और विद्वान् पुरुषों को (घृतवता) घृत आदि पोषण-कारी पदार्थों से (यजे) उनको संगत कर पुष्टकारक करूं और उनका आदर करूं और (वयं) हम सब (गोमतः) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (गृहान्) गृहों में (अलुभ्यतः) एक दूसरे के पदार्थों का लोभ न

१०-(प्र० द्वि०) ' यजुर्ऋत्विग्भ्य आर्तवेभ्यः माभ्यः, संवत्सराय च ' इति पैप्प० सं० ।

११-(च०) 'द्युपदे स्वपगोमते' इति पैप्प० सं० ।

करते हुए, निर्लोभ होकर (उप सं विशेम) परस्पर मिल कर एक दूसरे के समीप रहें।

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्य/सहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

भा०—(एकाष्टका) एकमात्र गृहिणी (तपसा) गृहस्थ के पालन रूप तप और ब्रह्मचर्य से (तप्यमाना) व्रत पालन करती हुई (महिमानम्) महत्वपूर्ण (इन्द्रं) ऐश्वर्ययुक्त, गुणगौरवयुक्त आत्मा को (गर्भं) अपने गर्भरूप में (जजान) धारण करके उत्पन्न करती है। (तेन) उस उत्तम पुत्र से (देवाः) विद्वान् गण भी (शत्रून्) अपने शत्रुओं को (व्यसहन्त) पराजित करते हैं। और वही बड़ा होकर (शचीपतिः) शक्ति सेना का स्वामी हो कर (दस्यूनाम्) राष्ट्र के नाशकारी पुरुषों को (हन्ता अभवत्) विनाशकारी होता है। स्त्रियों की तपस्या ही बड़े २ राजर्षियों को उत्पन्न करती है।

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

भा०—हे अष्टके पत्नि ! हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुत्र वाली ! और हे (सोमपुत्रे) सौम्यगुण सम्पन्न चन्द्र के समान आह्लादकारी पुत्र प्रसव करनेहारी स्त्रि ! तू (प्रजापतेः) प्रजा के पति गृहस्थ की (दुहिता) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारी (असि) है। इसलिये तू (अस्माकं) हमारे (कामान्) समस्त अभिलाषाओं को (पूरय) पूर्ण कर और (नः) हमारा (हविः) पुष्टिकारक पदार्थ, अन्न और उत्तम ज्ञानोपदेश एवं आदान करने योग्य वीर्यांश को भी (प्रतिगृह्णाहि) स्वीकार कर, धारण कर।

१२–(तृ० च०) 'तेन दस्यून् व्यसहन्त देवा हन्तासुरानाभवच्छचीभिः' इति पैप्प० सं०।

इस सूक्त में अष्टका देवता है सायण ने 'अष्टका' शब्द से माघ की कृष्णाष्टमी का ग्रहण किया है। और समस्त सूक्त उसी पर ही लगाया है। परन्तु हमें वैसा करना अभीष्ट नहीं जचा क्योंकि शतपथ ने अष्टका और एकाष्टका दोनों की व्याख्या दूसरी ही की है। "अष्टका-यामुखां सम्भरति। प्राजापत्यमेतदहर्यदष्टका। प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा। प्राजापत्य एव तदहन् प्राजापत्यं कर्म करोति। यद्वेवाष्टकायाम्। पर्व एतत्संवत्सरस्य यदष्टका पर्वैतदग्नेर्यदुखा पर्वण्येव तत्पर्व करोति। यद्वेवाष्टकायाम्। अष्टका वा उखा।" (शत० ६। २। २। २३-२५ ॥ प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा। योनिर्वा उखा ॥ शत० ७। ५। १३८ ॥ अष्टका काल में उखा संभरण किया जाता है। यह अष्टका का दिन प्रजापति का दिवस है। और उखा का सम्भरण भी प्रजापति का कार्य है। अष्टका के दिन प्रजापति का कार्य करना संगत ही है। यह एक पर्व भी है। अष्टका ही उखा है। उखा का अर्थ योनि है। इस प्रकार से अष्टका वास्तव में ऋतुमती स्त्री का प्रतिनिधि है। उसी के कर्त्तव्यों को लक्ष्य करके 'उखा-सम्भरण' और अष्टका कर्म हैं जिन में ये मन्त्र ये.नि-सम्भरण=गृहस्थ के कार्यों का उपदेश करने वाले मन्त्रों से वह पर्व मनाया जाता है। इनका मुख्यार्थ गृहस्थकर्मपरक ही है।

इति द्वितीयोऽनुवाकः।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च चत्वारिंशत्।]

[११] आरोग्य और दीर्घायु होने के उपाय।

ब्रह्मा भृग्वङ्गिराश्च ऋषी। ऐन्द्राग्न्युपसो यक्ष्मनाशनो वा देवता। ४ शक्वरीगर्भा जगती, ५, ६ अनुष्टुभौ, ७ उष्णिग् बृहतीगर्भा, पथ्यापंक्तिः; ८ त्र्यवसाना षट्पदा बृहतीगर्भा जगती, १-३ त्रिष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

मु॒ञ्चामि॑ त्वा ह॒विषा॒ जीव॑नाय॒ कम॑ज्ञातयक्ष्मादु॒त रा॑जयक्ष्मात् ।
ग्राहि॑र्ज॒ग्राह॒ यद्ये॒तदे॑नं॒ तस्या॑ इन्द्राग्नी॒ प्र मु॑मुक्तमेनम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६१ । १ ।

भा०—बालकों और घर के रोगग्रस्त पुरुषों के आरोग्य रखने और दीर्घायु होने के उपायों का उपदेश करते हैं । हे बालक ! (त्वा) तुझ को मैं गृहपति (जीवनाय) सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कराने के लिये (हविषा) सुगन्धित पुष्टिकारक चरु द्वारा (अज्ञातयक्ष्माद्) अज्ञात स्वरूप वाले संग दोष से लगने वाले रोग से और (उत राजयक्ष्मात्) तपेदिक जैसे भयंकर, शोषक रोग से भी (मुञ्चामि) बचाये रखूं । (यदि) यदि (एनं) इस बालक को (ग्राहिः) सब अंगों को पकड़ लेने वाला, मसाने का रोग या शीत-वात रोग भी (जग्राह) पकड़ले तो भी (इन्द्राग्नी) इन्द्रः=शुद्ध वायु या सूर्य का आतप और अग्निः=होमाग्नि दोनों (एनं) इस बालक को (तस्याः) उस रोग से (प्र मुमुक्तम्) मुक्त करें ।

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नी॒त ए॒व ।
तमा ह॑रामि॒ निरृ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्शमेनं श॒तशा॑रदाय ॥ २ ॥

ऋ० १० । १६१ । २ ॥

भा०—(यदि) यदि यह बालक (क्षितायुः) रोग से अपनी जीवन शक्ति को खो भी चुका हो (यदि वा) और चाहे यह बालक (परेतः)

[११] ऋग्वेदे यक्ष्मनाशनः प्राजापत्य ऋषिः । यक्ष्मनाशघ्नं देवता । १-(तृ०) 'यदि वैतदेनं' इति ऋ० । 'ग्राह्यागृहीतो यद्येष यातस्तत इन्द्रा' इति पैप्प० सं० ।

२-(च०) 'अस्पार्शम्' इति शं० पा० । (प्र०) 'यदु खराद्युर्यदि [?]' इति पैप्प० सं० ।

और भी परली, निराशाजनक दशा को पहुंच गया हो यदि (मृत्योः) शरीर के प्राण से छूट जाने की दशा के (अन्तिकं) समीप तक भी (नीत एव) पहुंच ही गया हो । तो भी (तं) उस बालक को मैं उपायज्ञ पुरुष (निर्ऋतेः) मृत्यु के या रोगकारी कारणों के (उपस्थात्) चंगुल से पुनः (आहरामि) फिर लौटा लेता हूं । (एनं) और इस बालक को (शतशारदाय) सौ वर्ष का जीवन बिताने के लिये (अस्पार्षम्) पुनः बलवान् कर देता हूं ।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३॥

ऋ० १० । १६१ । ३ ॥

भा०—मैं (सहस्राक्षेण) हज़ारों पुष्परूप चक्षु से युक्त या सहस्राक्ष नामक (शतवीर्येण) सैकड़ों वीर्य वाले (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने वाले (हविषा) ओषधि से (एनम्) इस आशातीत बालक को भी मैं पुनः जीवन के लिये (आहार्षम्) मौत के पंजे से छुड़ा कर ले आऊं । (यथा) जिससे (इन्द्रः) परमात्मा (एनं) इस जीव को (शरदः) सौ वर्षों तक (विश्वस्य) समस्त (दुरितस्य) दुष्ट, पाप कर्म के दुष्फल के (पारं) पार (अति नयाति) कर दे ।

शतवीर्या ओषधि दूर्वा का एक भेद है जो सहस्रवीर्या और मत्स्याक्षी भी कहाती है जो बालक को पुष्टि के लिये दी जाती है ।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषा-
हार्षमेनम् ॥ ४ ॥　　　　ऋ० ११६ । ४ ॥

३–(प्र०) ' सहस्राक्षेण शतशारदेन ' (द्वि०) ' हार्षमिमम् ' (तृ०) ' शतं यथैनं शरदो नयातीन्द्रो वि- ' इति ऋ० ।

४–(तृ०) ' शतं त इन्द्राग्नी सविता ', (च०) ' हविषेमान् पुनर्दुः ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने में समर्थ (हविषा) हवि-रूप ओषधि से मैं (एनं) इस बालक को (आहार्षम्) मौत के मुंह से लौटा ले आया हूं। विद्वान् लोग बालक को आशीर्वाद दें हे बालक तू (वर्धमानः) बराबर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (शतं शरदः) सौ शरत् कालों तक (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त कालों तक और (शतम् उ वसन्तान्) सौ वसन्तों तक (जीव) जी, प्राण धारण कर और (इन्द्रः) परमेश्वर (अग्निः) ज्ञानवान् (सविता) सब का प्रकाशक और उत्पादक (बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा (ते) तुझे (शतं) सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहा॑विव व्रजम् ।
व्य१न्ये य॑न्तु मृत्यवो यानाहुरितरा॑ञ्छतम् ॥ ५ ॥

अथर्व० ८ । १ । २० ॥

भा०—(अनड्वाहौ) जिस प्रकार रथ के दोनों बैल अपने (व्रजम्) निवास स्थान वृषशाला में प्रविष्ट होते हैं उसी प्रकार हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान, भीतर जाने और भीतर से बाहर आने वाले श्वास प्रश्वास तुम दोनों (प्रविशतं) इस बालक में सुखपूर्वक उत्तम रीति से प्रवेश करो (अन्ये) और जो (मृत्यवः) आत्मा से देह के छूट जाने के नाना कारण हैं (यान्) जिन (इतरान्) औरों को भी (शतम्[1]) सौ (आहुः) गिनाया जाता है वे भी (वि यन्तु) दूर हो जांय।

इ॒हैव स्तं प्राणापानौ माप॑ गातमि॒तो यु॒वम् ।
शरी॑रम॒स्याङ्गा॑नि ज॒रसे॑ वहतं॒ पुनः॑ ॥ ६ ॥

---

१. 'मृत्यून् एक शतं ब्रूमः' इति अथर्व० ११ । ६ । १६ ॥ 'शतमन्यान् परिवृणक्तु मृत्यून्' अथर्व० १ । ३० । ३ ॥ 'ये मृत्यवः एकशतम्' अथर्व० १ । २ । २७ ॥

६–(द्वि०) 'गामितो जवम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (इह एव) इस देह में ही (स्तं) रहो (युवम्) तुम दोनों (इतः) इस देह को छोड़ कर (मा अपगातम्) मत जाओ । (अस्य) इस बालक के (शरीरम्) शरीर को और (अंगानि) अंगों को भी (पुनः) बराबर (जरसे) वृद्धावस्था तक (वहतं) धारण करो ।

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरांछतम् ॥७॥

भा०—हे बालक ! (त्वा) तुझको (जरायै) वृद्ध होने की दशा तक (परि ददामि) सब प्रकार से रक्षा करता हूं और उस बुढ़ापे तक तुझे पहुंचाता हूं । (त्वा जरायै) तुझको जराकाल तक (नि धुवामि) सब प्रकार से व्यवहार योग्य बनाये रखता हूं । (त्वा) तुझको (जरा) वार्धक दशा भी (भद्रा) कल्याण, सुखों को (नेष्ट) प्राप्त कराये अर्थात् बुढ़ापे में भी शरीर को वात आदि रोग न सतावें । और (अन्ये मृत्यवः) और मृत्यु के कारण भी (यान् इतरान् शतम् आहुः) जिनको लोग सौ गिनाया करते हैं वे भी (वि यन्तु) दूर हों ।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

भा०—हे बालक (त्वा) तुझको (जरिमा) बुढ़ापे ने भी (अहित) इस प्रकार बांध लिया है जैसे (रज्ज्वा) रस्सी से (उक्षणम् गाम् इव) वृषभ, बैल को बांध लिया जाता है । अर्थात् अब तेरे जीते रहने पर भी तुझे जीवन के अन्त में बुढ़ापा तो अवश्य ही आवेगा । शेष रही बाल्यकाल की मृत्यु ! (यः मृत्युः) जिस अकालमृत्यु ने (जायमानं त्वा) उत्पन्न होते ही तुझको (सुपाशया) दृढ़ फांसे से (अभि अधत्त) फांस

लिया है (तं) उसको (बृहस्पतिः) विश्व के पति परमात्मा या वाचस्पति वैद्य (ते) तुझे (सत्यस्य हस्ताभ्याम्) सत्य के हाथों से अर्थात् वास्तविक सत्य औषध-प्रयोग और तेरे आत्मा के शेष पुण्य इनके आधार पर (उद् अमुञ्चद्) बचा लें ।

[१२] बड़े २ भवन बनाने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पतीयम् शालासूक्तम् । वास्तोष्पतिः शाला च देवते । १, ४, ५ त्रिष्टुभः, २ विराड् जगती, ३ बृहती, ६ शक्करीगर्भा जगती, ७ आर्षी अनुष्टुप्, ८ भुरिग्, ९ अनुष्टुप् । नवर्चं सूक्तम् ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप संचरेम ॥ १ ॥

भा०—निवास योग्य भवन, हवेली, शाला, गृह आदि बनाने का उपदेश करते हैं—(इह एव) इस उत्तम भूमि प्रदेश में ही (ध्रुवां शालां) ध्रुव, दृढ़ शाला को (नि मिनोमि) बनाता हूं । (क्षेमे) इस सुरक्षित प्रदेश में यह शाला, बनी हुई हवेली (घृतम्) सूर्य के प्रकाश को और शुद्ध वायु को (उक्षमाणा) अपने भीतर रहने वाले जनों को उत्तम रीति से देती हुई (तिष्ठाति) स्थिर रूप से खड़ी रहे । हे (शाले) हवेली ! (तां त्वा) उस तुझ में हम (सर्ववीराः) सब प्रकार के छोटे बड़े पुत्रों सहित, (सुवीराः) उत्तम बल वीर्य सम्पन्न होकर (अरिष्टवीराः) आरोग्यता युक्त सामर्थ्यवान् होकर (उप संचरेम) रहें, विचरें ।

---

[१२] १-(च०) ' अभि संचरेम ' इति पैप्प० सं० ।

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

भा०—विशाल भवन बनाने का उपदेश करते हैं । हे (शाले) विशाल भवन ! (इहैव) इसी आधार नींव पर तू (ध्रुवा) खूब मज़बूत दृढ़ होकर (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित रह, जमी रह और (अश्वावती) घोड़ों (गोमती) गौओं और (सूनृतावती) शुभ वेदवाणियों और (ऊर्जस्वती) अन्न और (घृतवती) प्रकाश, वायु एवं घृत और (पयस्वती) गौ भैसों के दूध और उत्तम जल आदि पदार्थों से सम्पन्न होकर (महते सौभगाय) मेरे बड़े भारी सौभाग्य को बनाये रखने के लिये (उच्छ्रयस्व) खूब ऊंची उठ कर खड़ी हो जा ।

बड़े २ भवन बनाओ जिसमें घोड़े बँध सकें, गायें पाल सकें, वेदपाठी ब्राह्मण वेदपाठ करें, अन्नागार हों, घी दूध के कोठे हों और बड़ी समृद्धि रखी जा सके, जिसके कारण सब यश गावें ।

धरुण्य/सि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥३॥

भा०—हे (शाले) विशाल भवन ! तू (धरुणी) विशाल स्तंभों से युक्त (बृहत् छन्दाः) बड़ी लम्बी चौड़ी छतों से ढकी, (पूतिधान्या)

२–(प्र०) 'इहेव स्थूणे प्रतितिष्ठ ध्रुवा' (द्वि०) 'गोमती शील मावती' (तृ०) ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना' इति पा० गृ० सू० ।

३–(द्वि०) 'बृहच्छंदिः पूतधान्या' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'साय-मास्यन्दमानाः' इति सायणाभिमतः पाठः । 'स्पन्दमाना' इति शं० प० । 'एनां शिशुः क्रन्दत्याकुमार आस्पन्दन्तां धेनवो नित्यवत्साः' शां० गृ० सू० । 'आ त्वा शिशुराक्रन्द त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः' इति पा० गृ० सू० ।

पवित्र धन-धान्यों से परिपूर्ण हो । (त्वा) तुझमें (वत्सः) बच्चे और (कुमारः[1]) कुमार=बालक (आगमेत्) आवें, खेलें और रौनक रहें, (धेनवः) गौएं भी (सायं) सायङ्काल के समय (आस्पन्दमानाः) शनैः २ चलती हुई (आ) आकर प्रवेश करें । अर्थात् तू आबाद रह, उजड़ मत ।

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

भा०—(इमां शालां) इस शाला को (सविता) सूर्य (इन्द्रः) विद्युत्, (वायुः) वायु, (बृहस्पतिः) और वेदप्रवक्ता विद्वान् ये सब (प्रजानन्) उत्कृष्ट रूप में प्रकट होकर (नि मिनोतु) इसको उत्तम रूप से बनावें । (मरुतः) वायुएं और वायुविद्या को जानने हारे शिल्पी एवं सम्पन्न व्यापारीगण और प्रजाएं भी (घृतेन , सेचनसमर्थ (उद्ना) जल से (उक्षन्तु) उसका सेचन करें और (नः) हमारा (भगः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शोभा सम्पादन करने हारे शिल्पी (कृषिं) नाना प्रकार के विलेखन आदि चित्रकार्यों को (नि तनोतु) करें । अथवा भाविनी संज्ञा को ध्यान में रख कर कहा है कि हमारा (भगः राजा) भाग्यवान् राजा, मुख्य पुरुष ही (कृषिं नि तनोतु) शाला बनवाने के लिये नींव आदि खुदवावे या खेती वाड़ी करे ।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

---

१. जात्याख्यायामेकवचनम् ।

४–(प्र०, द्वि०) 'वायुरग्निस्त्वष्टा होता नि०' (च०) 'भगो नः सोमो', 'उक्षन्तून्ना' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'उक्षन्तून्ना' इति शं० पा० । 'उक्षन्तु उस्रा' इति क्वचित् । 'उक्षन्तून्ना' इत्यपि बहुत्र ।

५–(तृ० च०) 'ऊर्जं वसना सुमना यशस्त्वं रयिं नोऽधि सुभगे सुवीरम्' इति पैप्प० सं० । मानः सपत्नः शरणः स्योना देवो देवेभिर्विमितास्यग्रे तृणं वसाना: सुमना असि त्वम् । इति हि० गृ० सू० ।

भा०—शाला या गृह और गृहणी दोनों को समान रूप से दर्शाते हैं। हे (मानस्य पत्नि) मान, प्रतिष्ठा का पालन करने हारी धर्मपत्नी के समान शाले! तू (शरणा) सब को शरण देने वाली (स्योना) सुख-कारिणी (देवी) दिव्यगुणशालिनी सुखदा है। तुझे (देवेभिः) देव, विद्वान् शिल्पियों ने (अग्रे) पूर्व कल्पों में भी बराबर (निर्मिता असि) इसी प्रकार का बनाया है। (त्वं) तू तृण-वल्कल-धारिणी ब्रह्मचारिणी के समान अब भी (तृणं वसाना) फूस के सुन्दर आवरण और काठ आदि की सुन्दर छत को धारण करती हुई (सुमनाः) शुभ चित्त वाली मनोनुकूल (असः) हो, (अथ) और (अस्मभ्यं) हमें (सहवीरं) पुत्रों के साथ (रयिं) यश, वीर्य, धन धान्य को (दाः) प्रदान कर।

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः॥६॥

भा०—वंश को ध्वजा के समान ऊंचा रखने का उपदेश करते हैं। हे (वंश) ध्वजादण्ड के समान वंश! तू जिस प्रकार ध्वजादण्ड अपने बल से विशाल शाला के स्थूल स्तम्भ के आगे चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार (उग्रः) बलवान् होकर (ऋतेन) सत्य के बल से (स्थूणा) दृढ़ आधारस्तम्भ पर (अधि रोह) खड़ा रह और (विराजन्) विशेष प्रकार से शोभा देकर (शत्रून्) शत्रुओं का (वृङ्क्ष्व) निवारण कर। हे शक्ति! (ते) तेरे भीतर (गृहाणां उपसत्तारः) गृहों को बसाने वाले या गृहों, कमरों में बैठने वाले (मा रिषन्) क्लेश को प्राप्त न हों और हम (सर्ववीराः) सब पुत्रों सहित (शतं जीवेम) सौ वर्षों तक जीवन व्यतीत करें।

६–(प्र०) 'स्थूणऽधि', (तृ० च०) सत्तारोन विराजां जीवान् शरदश्शतानि' इति पैप्प० सं०। 'उपसत्तारः शाले—सुवीराः' इति ह्विटनिसम्मितः पाठः। 'मा ते ऋषन्' इति सायणसम्मतः पाठः।

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

भा०—(इमां) इस शाला में (कुमारः आ) कुमार बालक (तरुणः) युवा पुरुष (वत्सः) बच्चे (जगता सह) अन्य भी जीवों के साथ (आ अगुः) आवें और (इमां) इसमें (परिस्रुतः) स्रवण करने हारे पदार्थ घी, दूध, मक्खन, शहद और (कुम्भः) घड़े (दध्नः) दही के (कलशैः) भरे कलसों सहित (आ अगुः) आवें ।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

भा०—गृहपत्नी के कर्तव्य का उपदेश करते हैं । हे (नारि) गृहपत्नि ! (एतं) इन (कुम्भ) घड़ों और मटकों को (पूर्णं) पूर्ण भरकर (प्रभर) अपने घर में लेजा । और (अमृतेन) अमृत अन्न और जल से (संभृता) सम्पन्न (घृतस्य धाराम्) घी दूध की धारा को भी घर में लेजा । (इमां) इस (पात्रीम्) थाली को (अमृतेन) उत्तम अन्न रस से (आ समङ्ग्धि) सुशोभित कर और (एनां) इस शाला को (इष्टापूर्तं) यज्ञ

७-(प्र०) 'आत्वा कुमार' (तृ०) 'आत्वा परिश्रितः,' (च०) 'कलशश्च या' इति पैप्प० सं० । एमां, परिश्रुतः इति क्वचित् । 'परिस्रुतः कुम्भाः', (च०) 'कलशीरगुः' इति सायणाभिमतः पाठः । (द्वि०) 'जगदैः सह' इति पा० गृ० सू० । 'जगता सह' इति आ० गृ० सू० । वत्सो भुवनाः परि इति शां० गृ० सू० ।

८-(तृ०) 'इमां पात्रीममृतेना समिन्धि इति सायणसम्मतः पाठः सुसंगततरः । 'पातॄनमृतेन' इति शं० पा०, प्रायिकश्च पाठः । 'पूर्णा नाभिरिप्रहराभि-कुम्भमपारमन्तोषधीनान् घृतस्य । इमा प्रात्रेरमृतस्य०' इत्यादि पैप्प० सं० ।

दान और कूप बागीचा और बावड़ी आदि (अभि) चारों तरफ से (रक्षति) रक्षा करे ।

अथवा पाठान्तर—हे नारि ! (इमां पातॄन्) इस शाला की रक्षा करने वालों को (अमृतेन) अन्नादि जीवनयुक्त पदार्थों से (आ समङ्ग्धि) हृष्ट पुष्ट कर ।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अथर्व० ९ । ३ । २३ ॥

भा०—गृह में किस प्रकार के पदार्थ लावे इसका उपदेश करते हैं । (इमाः) इन (यक्ष्मनाशिनीः) रोगनाशक स्वच्छ (आपः) जलों को मैं (अयक्ष्मा) नीरोग रह कर (प्रभरामि) अपने घर में भरूं । और (अमृतेन) अन्न के साथ २ (ऋतेन) शुद्ध ज्ञानमय (अग्निना) अग्नि के समान तेजस्वी प्रकाशक विद्वान के सहित (गृहान् उप) अपने गृहों में (प्र सीदामि) प्रसन्न होकर रहूं ।

[१३] जलों के नामों के निर्वचन ।

भृगुर्ऋषिः । वरुणः सिन्धुर्वा देवता । १ निचृत् । ५ विराड् जगती । ६ निचृत् त्रिष्टुप् । २–४, ७ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यददः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥

भा०—एक पदार्थ के भिन्न २ नाम रखने के विज्ञान का उपदेश करते हैं । उदाहरण के लिये जल के नामों की व्याख्या करते हैं । हे (आपः) जलो ! (यद् अदः अहौ) इस मेघ के (हते) विद्युत् और वायु द्वारा ताड़ित

होने पर (संयतीः) एकत्र होकर बहते हुए (अनदत) ध्वनि करते हो, समृद्धि को प्राप्त होते हो, इसलिये तुम (नद्यः नाम) नदी नाम से (आस्थ) पुकारे जाते हो (तस्मात्) इसी कारण हे (सिन्धवः) प्रस्रवणशील, बहने वाले जलो (वः) तुम्हारे (ताः) वे नाना प्रकार के (नामानि) नाम भी हैं।

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जब (वरुणेन) पृथ्वी पर आवरण करने हारे मेघ द्वारा (प्रेषिताः) प्रेरित होकर (शीभं) शीघ्र ही (समवल्गत) गति करते हो (तत्) तब (वः यतीः) गति करते हुए तुम में (इन्द्रः) वायु (आप्नोत्) व्याप्त हो जाता है (तस्मात्) इसलिये तुम (आपः) 'आपः' (अनु स्तन) इस नाम से पुकारे जाते हो।

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥

भा०—'वार' नाम जलों का क्यों है? (अपकामं) नीचे जाने की वासना=वेग से युक्त होकर (स्यन्दमानाः) बहते हुए (इन्द्रः) इन्द्र विद्युत् ने या विद्युत् या शक्ति के उत्पादन के कला के विज्ञ विद्वान् ने (वः शक्तिभिः) तुम्हारी ही शक्ति=वेग, सामर्थ्यों के कारण (वः) तुमको (अवीवरत्) वरण किया, तुमने आश्रय लिया अर्थात् उसने अपने यन्त्रों को घुमाने के लिये जलधाराओं को वरण किया, चुना नालिका रूप से रोक कर प्रयोग किया। (तस्मात्) इस कारण (वः) तुम्हारा नाम (वार् हितम्) 'वार्' ऐसा धर दिया।

२-(प्र०) 'सम्प्रच्युता वरुणेन यद्' इति मै० सं०।
३-(तृ०) 'इन्द्रो वः सक्तासिंदेवैः' इति पैप्प० सं०।

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! (एकः देवः) एक विद्वान् पुरुष (यथावशम्) स्वच्छन्द रूप से (स्यन्दमानाः) बहते हुए (वः) तुम जलों पर भी (अपि अतिष्ठत्[1]) वश प्राप्त करता और (महीः) पृथिवी के ऊपर (उद् आनिषुः) ऊंचे स्थानों पर भी चढ़ा देता है (तस्मात्) इस कारण से जल को (उदकम्) उदक (उच्यते) कहा जाता है । अर्थात् जलों में ऊपर उठने का भी गुण है । नल के बल से जल समुद्र पृष्ठ से ३२ फीट ऊपर उठ सकता है । अथवा (एको देवः वः स्यन्दमानाः यथावशम् अपि अतिष्ठत्) एक विद्वान् तुम जलों पर भी अपनी शक्ति और कामना के अनुकूल वश करता (महीः उदानिषुः) और बड़े २ पदार्थों को ऊपर उठा देता है (तस्मात् उदकमुच्यते) इस कारण जल को उदक कहा जाता है । अर्थात् जल के ऊपर उठाने के गुण से बड़े २ पदार्थों को ऊपर उठाने का कार्य लिया जाता है। जैसे 'ब्रामा प्रेस' में जल का यह गुण कार्य में लाया जाता है कि जितना बल एक तरफ़ लगाया जाय उतना ही वे दूसरी तरफ़ पहुंचा देते हैं । अथवा बहती हुई जलधाराओं को विद्वान् अपने वश करके जहां चाहे ऊपर से या वह ऊपर की भूमि में उठा कर ले जाता है। उनको यन्त्र के बल से ऊपर उठा लेता है जैसे वाटर वर्क्स में पर्वतों के शिखर पर भी जल को उठा दिया जाता है इसी से इसका नाम 'उदक' है । अथवा देव=सूर्य किरणों द्वारा समुद्र से जलों को मेघ रूप में आकाश के प्रति उठा लेता है । इत्यादि ।

४–'एको न देवः उपातिष्ठत् स्यन्दमाना उपेत्य' इति पैप्प० सं० ।

१. अपि शब्द अभ्यर्थ इति सायणः ।

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥५॥

भा०—(भद्राः) कल्याणकारिणी, सुखदायिनी (आपः) आपः=जल ही (घृतम् इत्) घृत-तेज=कान्ति देने हारी, पौष्टिक पदार्थ (आसन्) हैं । (ताः इत्) वे ही (आपः) आपः=जल (अग्निषोमौ) अग्नि और सोम दोनों को (बिभ्रति) धारण करती हैं । (मधुपृचाम्) जीवन, अमृत से युक्त तुम जलों का (तीव्रः रसः) तीव्र रस (अरंगमः) खूब उत्तम रीति से मिल जाने वाला (प्राणेन वर्चसा सह) मेरे प्राण और वर्चस्–तेज के साथ (मा आगमेत्) मुझे भी प्राप्त हो । जलों का अग्नि स्वरूप अंश=उद्जन (Hydrozen) जो स्वयं ज्वलनशील है और जो तेजाव बनाने में आवश्यक अंग है जल का दूसरा अंश सोमस्वरूप ओक्सीजन (Oxizen) है जो 'ओष' उत्पन्न करता है अर्थात् ज्वलन में सहायक है वह स्वयं नहीं जलता । वह ओषधियों में 'ओष' उत्पन्न करने से सोमात्मक है । जिन में से उद्जन स्वतः ज्वलनशील होने से घृतरूप है । और ऑक्सीजन भी पुष्टिदायक होने से 'घृतस्वरूप' है । यह इसकी वैज्ञानिक व्याख्या है ।

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'मिदाप आसुरग्नी' (च०) 'वर्चसागन्' तै० सं० । (प्र०) 'आपोदेवीर्घृतमिन्वा उ आपः' मै० सं० । 'आपो देवीर्घृतमितामाहुरग्नी' (द्वि०) 'इत्याः' (तृ०) 'गमामाप्रा' इति पैप्प० सं० ।

६–'वाग्मासान्' इति सायण सम्मतः पाठः । (द्वि०) 'वाङ् न आसां' इति तै० सं० ।

भा०—(आत्) इसके अनन्तर (आसाम्) इनके बीच में से मैं (पश्यामि) आरपार भी देख लेता हूं (उत वा) और (आसाम्) इनके बीच में से (शृणोमि) श्रवण भी कर सकता हूं। (घोषः) शब्द भी (आसाम्) इन जलों के बीच में से (मा) मुझ तक (आगच्छति) आ जाता है और (आसाम्) इन में से (वाक्) वाणी भी (मा) मुझ तक गुजर आती है। हे जलो! हे (हिरण्यवर्णाः) अमृतस्वरूप या शब्द और प्रकाश को हरण करने वाले परमाणुओं के बने जलो! (यदा) जब (वः) तुम को (अतृपम्) प्राप्त करता हूं (तर्हि) तब मैं अपने को (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) सेवन करता हुआ (मन्ये) मानता हूं।

जल के तीन गुण दर्शाये (१) ये पारदर्शक हैं अर्थात् किरणें इन में प्रवेश कर सकती हैं। चक्षु इनके भीतर देख सकती हैं। दूसरे ये शब्दवाही हैं अर्थात् शब्द को भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचा देते हैं, तीसरे आरोग्यदायक होने से तृप्तिकारक और पुष्टिकारक हैं।

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः॥ ७॥

भा०—हे (आपः) जलो! (वः) तुम्हारी (इदं) यह जीवन-शक्ति (हृदयम्) हृदय, सारभूत पदार्थ है! हे (ऋतावरीः) ऋत=चेतना-शक्ति को अपने भीतर गुप्त रखने वाले जलो! (अयं) यह मण्डूक आदि जलजन्तु तुम्हारे (वत्सः) बच्चों के समान हैं। हे (शक्वरीः) शक्तिसम्पन्न जलो! आप (इह) इस भूतल पर (इत्थम्) इस प्रकार मेरे बनाये यन्त्र-मार्गों से (एत) गति करो (यत्र) जहां २ (इदम्) इस प्रकार से (वः) आपको (वेशयामि) प्रवेश कराऊं। तभी तुम मेरे बहुतसे यन्त्रों को शक्ति से चला सकोगे।

विज्ञानों का विशेष विवरण वैज्ञानिक ग्रन्थों से जानना चाहिये।

'आपः' शब्द से प्रजाओं का भी ग्रहण होता है उस पक्ष में भी यह सूक्त स्पष्ट है । जैसे—

(१) हे प्रजाओ ! 'अहि' स्वरूप कभी न मरने हारे आत्मा के समान राजा पर आघात होने पर आप लोग विचलित होकर नाद करती हो इस कारण आपका नाम 'नदी' है । और राजा के विचलित हो जाने पर प्रजाएं भी भाग जाती हैं इसलिये प्रजाओं का एक नाम 'सिन्धु' है ।

(२) वरुण रक्षक राजा से प्रेरित होकर शीघ्र उन्नति करती हो । तुम्हें इन्द्र प्राप्त होता है इसलिये तुम 'आपः' कहाती हो ।

(३) यथेच्छ उच्छृंखल चलती हुई तुम को इन्द्र राजा ने व्यवस्था से रोक दिया इससे तुम्हारा नाम ' वार् ' है ।

(४) एक देव=राजा तुम पर अधिष्ठाता होकर रहता है वह तुम सब को उन्नत करता है इसलिये तुम्हारा एक नाम 'उदक' है ।

(५) हे उत्तम प्रजाओ ! तुम ही राजा के पोषक पदार्थ हो, तुम अग्नि=सेनापति और सोम=राजा और विद्वान् दोनों को पोषण करती हो तुम्हारा तीव्र रस=क्षात्रबल मुझ राजा के प्राण और तेज, जीवन-विक्रम के साथ २ मुझे प्राप्त हो ।

(६) मैं राजा देखता हूं और सुनता भी हूं कि मेरी घोषणा भी प्रजा में प्रचारित होती है और मेरी वाणी का हुक्म भी माना जाता है । जब इन सम्पन्न प्रजाओं को मैं अपने सुप्रबन्ध से प्रसन्न कर देता हूं तब मुझे भी अमृत=स्वर्ग के भोग के समान अपने को समझता हूं । अर्थात् प्रजा के प्रसन्न कर देने पर ही राजा को भी परम सुख है ।

इसी प्रकार यह सूक्त अध्यात्म पक्ष में इन्द्रियों पर लगता है ।

[१४] गौओं और प्रजाओं की वृद्धि का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । नाना देवताः उत गोष्ठो देवता । १, ५ अनुष्टुभः, ६ आर्षी त्रिष्टुप् । षडृचं सूक्तम् ॥

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सु॒भूत्या॑ ।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ व॒ः सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥

भा०—गौओं और गोपति के दृष्टान्त से राजा को प्रजाओं की और गोपति को गौओं की वृद्धि का उपदेश है । हम लोग हे गौओ ! (वः) तुम को (सुषदा गोष्ठेन) सुख से बैठने, जमने, जम कर रहने योग्य 'गोष्ठ', गोशाला में रख कर (सं सृजामसि) सुख प्राप्त करावें. पालें, (रय्या सं) पुष्टिकारक पदार्थों से और (सुभूत्या) उत्तम भूति, सन्तान और धन आदि सम्पत्ति से तुम को (सं) सजावें । और (यत्) जो (अहर्जातस्य) प्रतिदिन का जो (नाम) परिचय है (तेन) उससे भी (वः) तुम को (सं सृजामसि) पालन करें ।

इसी प्रकार राजा प्रजा के लिये उत्तम नगर, पुष्टिदायक अन्न, उत्तम सम्पत्ति और दैनिक परिचय और इनाम और पदवियों से सुशोभित करे ।

सं व॑ः सृज॒त्वर्य॒मा सं पू॒षा सं बृह॒स्पति॑ः ।
समिन्द्रो॒ यो ध॑नंज॒यो मयि॑ पुष्यत॒ यद् वसु॑ ॥ २ ॥

भा०—हे प्रजाओ और गौओ ! (वः) तुम को (अर्यमा) न्यायाधीश स्वामी (सं सृजतु) पालन करे, बढ़ावे (पूषा) भागधुक्=कर-संग्राहक

[१४] १-(द्वि०) 'रय्या सं सपुष्ट्या' इति पैप्प० सं० ।
२-(च०) 'मयि पुष्यतु' इति ह्विटनीकामितः पाठः । 'इह पुष्यति' इति पैप्प० सं० ।

नामक अधिकारी और (बृहस्पतिः) विद्वान् पुरोहित और (इन्द्रः) इन्द्र सेनापति (यः धनंजयः) जो शत्रुओं से धन को विजय करके लावे वह भी (सं, शं, सं, सम्) तुम्हें पालन करे तुम लोग (मयि) मुझ राजा के (यद् वसु) तुम्हारे सब प्रकार के धन धान्य सामर्थ्य को (सं पुष्यत) पुष्ट करो ।

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

भा०—हे गौवो ! आप (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) गौओं के रहने की शाला में (अबिभ्युषीः) निर्भय होकर (संजग्मानाः) परस्पर एकत्र होकर (करीषिणीः) गोबर और मूत्र आदि करती हुई और (सोम्यं) शुभ उत्तम गुणयुक्त (मधु) मधुर दुग्ध (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (अनमीवाः) रोगरहित होकर (उपेतन) आकर रहो । इसी प्रकार हे प्रजाओ ! तुम भी इस राष्ट्र में (करीषिणीः) ऐश्वर्यसम्पन्न होकर, निर्भय होकर एकत्र परस्पर संगठित होकर रहो । और (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शुभ मधुर गुण और जीवन धारण करती हुई नीरोग होकर रहो ।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥

भा०—हे (गावः) गौओ ! (इह एव) यहां, इस गोशाला में ही (एतन) आओ । (इह उ) और यहां ही (शका इव) मक्खियों के समान

३–(प्र० द्वि०) 'सं जग्माना अविह्रुता अस्मिन् गोष्ठे पुरीषणीः' (च०) 'स्वावेशा न आगत ' इति मै० सं । (प्र०) ' सं जानाना विहृतं ', (तृ०) 'सोम्यं हविः' (च०) 'स्वावेशास एतन' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) 'शका इव' इति पैप्प० सं० ।

(पुष्यत) पुष्ट होओ, वृद्धि को प्राप्त होओ । (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वं) खूब प्रजा, पुत्रादि सन्तानों को उत्पन्न करो, और (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) पूर्ण परिचय हो । तुम अपने प्रतिपालक को खूब पहिचानो । हे प्रजाओ ! आप लोग इस राष्ट्र में आओ और यहां ही पुष्ट होओ और यहां ही प्रजा पुत्रादि से सम्पन्न होओ और तुम प्रजाओं का अपने राजा के प्रति पूर्ण परिचय रहे ।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

भा०—हे गौवो ! (वः) तुम्हारे लिये (गोष्ठः) यह गोशाला (शिवः) कल्याणकारी (भवतु) होवे । और तुम (शारिशाका इव) मधुमक्षियों के समान (पुष्यत) वृद्धि को प्राप्त होओ । (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वं) प्रजा आदि उत्पन्न करो । (वः) आपको मैं (मया) अपने से (सं सृजामसि) और भी सम्बद्ध करता हूं । राजा का प्रजा के प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥

भा०—(मया गोपतिना) मुझ गोपाल के साथ हे (गावः) गौओ (सचध्वं) प्रेम से मिलकर रहो । (अयं वः गोष्ठः) यह तुम्हारे रहने की शाला है । (इह) यहां ही यह (पोषयिष्णुः) उत्तम रीति से पोषण

५–(द्वि०) 'शारिशाका इव' इति पैप्प० सं० । 'शारिः शाका इव' इति रोथकामितः पाठः ।

६–'बहुता भवन्तः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'गावो गोपत्या' इति पैप्प० सं० । (च०) 'उपवः सदाम' इति रोकवेललैन्मेनकामितः पाठः ।

करने हारा स्वामी रहता है । हम (जीवाः) जीवनसम्पन्न होकर (वः) तुम को (रायस्पोषेण) धन, सम्पत्ति और पुष्टि से (बहुलाः भवन्तीः) बहुत संख्या में बढ़ती हुई (जीवन्तीः) सुखपूर्वक जीवन बिताती हुई तुम गौओं को (उपसदेम) प्राप्त हों ।

इसी प्रकार राजा अपनी प्रजाओं के प्रति कहे ।

[१५] वणिग्-व्यापार का उपदेश ।

पण्यकामोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवाः उत इन्द्राग्नी देवताः । १ भुरिग्, ४ त्र्यवसाना बृहतीगर्भा विराड् अत्यष्टिः, ५ विराड् जगती, ७ अनुष्टुप्, ८ निचृत्, २, ३, ६ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रमहं वृणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

भा०—व्यापार करने का उपदेश करते हैं । (अहं) मैं व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि चाहने वाला पुरुष (इन्द्रं) ऐश्वर्यशाली धनी, (वणिजं) व्यवहार-व्यापार में कुशल पुरुष को (चोदयामि) प्रेरणा करता हूं कि (सः नः एतु) वह हमारे पास आवे और (नः पुरः-एता अस्तु) हमारे आगे २ चलने हारा मुख्य पुरुष होकर रहे । वह (अरातिं) दान न करने या कर न देने हारे शत्रु को (परिपन्थिनं) व्यापार के मार्ग और व्यवस्था के उल्लंघन करने वाले या व्यापार के मार्ग में लूट और चोरी करने वाले (मृगं) चोर पुरुष को (नुदत्) पीड़ित, दण्डित करता हुआ (सः ईशानः) वह सब का स्वामी होकर (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन का देने वाला (अस्तु) हो ।

[१५] १–'इन्द्र वयं वणिजं हवामहे स नस्त्राता पुर एतु प्रजानन्' इति पैप्प० सं० ।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ५५ । १ प्र० द्वि० ॥

भा०—(ये) जो (बहवः) बहुतसे (पन्थानः) मार्ग (देवयानाः) विद्वानों के जाने के योग्य (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्यौ=आकाश और पृथिवी के बीच में जल स्थल और आकाश में रथ, जहाज और विमान द्वारा जाने के लिये बने हुए (संचरन्ति) नाना स्थानों पर जाते हैं । (ते) वे (मां) मुझे भी (पयसा) जल और (घृतेन) घी आदि पुष्टिकारक पदार्थों के साथ २ (जुषन्तां) प्राप्त हों (यथा) जिनसे मैं दूर देश में जाकर (क्रीत्वा) बहुत से पदार्थ खरीद कर (धनम्) बहुत सा धन अपने देश में (आ-हराणि) ले आऊं ।

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

ऋ० ३ । १८ । ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! जिस प्रकार (इच्छमानः) तुम को चाहने वाला या तुझ द्वारा यज्ञ करने का अभिलाषी मैं (घृतेन) घृत के साथ (हव्यं) आहवनीय पदार्थ को (इध्मेन) काष्ठ के संग (तरसे बलाय) दुःखों से पार होजाने और बल प्राप्त करने के लिये (जुहोमि) आहुति देता हूं (यावद् ईशे) और जितना मैं कर सकता हूं उतना (ब्रह्मणा वन्दमानः)

२—' इहैव पन्थाः बहवो देवयानंमनुद्यावापृथिवी सुप्रणीतिः । तेषामहनाम् वर्चस्या दधामि यथा क्रीत्वा धनमाहवानि ।' इति पैप्प० सं० । (तृ०) ' ते मे ' इति वेबरकामितः पाठः ।

३—ऋग्वेदे कतो वैश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता ।

वेदमन्त्रों से स्तुति करता हुआ यज्ञ करता हूं (इमां) इस (देवीम्) दिव्यगुणयुक्त उत्तम शुभ (धियं) धारणावती बुद्धि को भी पुष्ट करता हूं कि मुझे (शतसेयाय) अपरिमित सैकड़ों धन प्राप्त हों। अर्थात् संसार के सागर से पार करने और इसमें दृढ़ता से चित्त को बल देने के लिये यज्ञ होम और वेदमन्त्रों से ईश्वर का भजन आवश्यक है वहां साथ ही व्यापार करने के लिये सैकड़ों धन प्राप्त करने के लिये दृढ़ धारणा भी आवश्यक है।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४॥

पूर्वार्धः ऋ० १ । ३१ । १६ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् या साक्षिन्! जामिन! दोनों के बीच के मध्यस्थ पुरुष! (इमाम्) इस (नः) हमारी (शरणिम्) पीड़ा, थकान को (मीमृषः) क्षमा कर। (यम्) जिस (अध्वानं) मार्ग को हम (दूरम्) दूर तक (अगाम) चले जावें और (नः) हमारा (प्रपणः) अपने पदार्थ को दूसरे के हाथ बेचने के लिये उसका भाव=दर नियत करना और (विक्रयश्च) उसको दूसरे के हाथ बेचदेना और (प्रतिपणः) दूसरे के पदार्थ का स्वयं प्राप्त करने के लिये दर नियत करना ये सब व्यवहार (नः) हमारे लिये (शुनं) शुभ, सुखकारी या अतिशीघ्र (अस्तु) हो जांय। यह सब व्यवहार (मां) मुझ को (फलिनं) बहुत फल लाभ प्राप्त करने में समर्थ (कृणोतु) करे। मध्यस्थ कहता है कि—हे व्यवहार, व्यापार

४–(द्वि०) 'न इममध्वानं यमगामदूरात्' इति ऋ०। (तृ०) 'पणोनो अस्तु' (च०) 'गोधनिः नः कृणोतु' (प्र०) 'संरराणा हविरिदं जुषन्तां' इति पैप्प० सं०।

करने वाले व्यापारियो ! तुम दोनों (इदं हव्यं) इस लेन देन के पदार्थ को (संविदानौ) खूब अच्छी प्रकार से परस्पर सलाह करके (जुषेथां) प्राप्त करो जिससे (नः) हमारा (चरितम्) यह किया हुआ व्यापार या चलान किया गया माल और (उत्थितं च) उठाया हुआ नफा भी (नः शुनं अस्तु) हमें सुखकारी हो ।

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः ।
तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒यो ऽग्ने॑ सातु॒घ्नो दे॒वान् ह॒विषा॒ नि षे॑ध ॥५॥

भा०—मैं व्यापारी (धनेन) धन से (धनम्) धन को (इच्छमानः) चाहता हुआ (देवाः) हे विद्वान् उत्तम पुरुषो ! (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणं चरामि) व्यापार, विनियम, लेन देन का व्यवहार करता हूं (तत्) वह (मे) मेरा (भूयो भवतु) बहुत अधिक हो जाय । (मा कनीयः) वह कमती न हो । हे (अग्ने) साक्षिन् ! मध्यस्थ या राजन् ! (सातघ्नः) लाभ लेन देन में प्रतिबन्धक (देवान्) देव अधिष्ठातारूप शासक राजपुरुषों को भी (हविषा) उनकी हविः=शुल्क देकर के (निषेध) उनको बाधा डालने से रोक दो ।

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः ।
तस्मि॑न् म॒ इन्द्रो॑ रु॒चिमा द॑धातु प्र॒जाप॑तिः सवि॒ता सोमो॑ अ॒ग्निः ॥६॥

भा०—हे (देवाः) अधिकारिवर्गो ! शासको एवं विद्वान् पुरुषो ! (धनेन धनम् इच्छमानः) धन से और अधिक धन को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणं चरामि)

५–' धनेन देवान् ' इति लैन्मेनकामितः पाठः ।

६–(प्र०) ' यत् पणेन प्रतिपणं चरामि ' (तृ०) ' इन्द्रो मेतस्मिन्नृचमा दधातु बृहस्प० ' इति पैप्प० सं० (तृ०) 'सचिमा' हि० गृ० सू० ।

व्यापार करता हूं (तस्मिन्) उसमें (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमेश्वर या वह राजा (मे) मेरी (रुचिम्) इच्छा और उत्साह को (आ दधातु) और बढ़ावे जो (प्रजापतिः) समस्त प्रजाओं का स्वामी (सविता) सबको उन्नति मार्ग पर प्रेरणा करने वाला (सोमः) सोम=वेद का विद्वान् (सविता) सब का प्रेरक (अग्निः) नेता है।

उपं त्वा नमंसा व॒यं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।
स नंः प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषुं प्रा॒णेषु जागृहि ॥ ७ ॥

भा०—हे (होतः) दान प्रतिदान करने वाले और हे (वैश्वानर) समस्त पुरुषों में व्यापक परमेश्वर ! (त्वा) तेरी (नमसा) बड़े आदर से (उप स्तुमः) स्तुति करते हैं। (सः) वह तू (नः प्रजासु) हमारी प्रजाओं में, (आत्मसु) हमारे आत्माओं में, (गोषु) हमारी ज्ञान-इन्द्रियों और उनकी चेष्टाओं में और (प्राणेषु) कर्म-इन्द्रियों में (जागृहि) तू सदा जागृत रहता है, तुझे साक्षी करके हम सब व्यवहार करें।

वि॒श्वाहा॑ ते॒ सद॒मिद्भ॑रे॒माश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥ ८ ॥

यजु० ११ । ७२ ॥ अथर्व० १९ । ५५ । १ ॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् या विद्वन् ! जिस प्रकार (तिष्ठते) खड़े हुए (अश्वाय इव) घोड़े के लिये घास दाना बराबर दिया ही जाता है इसी प्रकार (ते) तेरे नाम से भी (सदम् इत्) सदा ही (विश्वाहा) सब दिनों हम धर्मादा रूप से (भरेम) दान करें। और हम (रायस्पोषेण) धनों और पुष्टिकारी पदार्थों से और (इषा) अन्नों से (सम् मदन्तः) खूब हृष्ट पुष्ट होते हुए हे (अग्ने) परमात्मन् या विद्वन् ! (ते

७-(च०) 'अग्ने माते', ' अहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ' इति यजु० । ' रात्रिं रात्रिमप्रयातं ' इति अथर्व० १९ । ५५ । १० ॥

प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी बनकर, सदा समीपतम रह कर ही (मा रिषाम) कभी क्लेशित न हों।

अर्थात् परमात्मा के नाम से या विद्वानों के निमित्त नित्य अपने आप में से कुछ देना चाहिये और उनके समीप रहकर प्रसन्न रहें।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चाष्टात्रिंशत् ।]

[१६] नित्य प्रातः ईश्वर स्तुति का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । बृहस्पत्यादयो नाना देवताः । १ आर्षी जगती, ४ भुरिक् पंक्तिः, २, ३, ५—७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

प्रातर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑ ।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रं ह॑वामहे ॥ १ ॥

यजु० ३४ । ३४ ॥ ऋ० ७ । ४१ । १ ।

भा०—नित्य प्रातःकाल ईश्वर स्तुति करने का उपदेश करते हैं। हम लोग (प्रातः) प्रभातवेला में (अग्निं) उस प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को (प्रातः) और प्रभातवेला में ही उस (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान्, परमेश्वर को और (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में ही (मित्रावरुणा) प्राण और उदान इन दोनों के समान सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को और (प्रातः) प्रभातकाल में ही (अश्विना) गुरु और उपदेशक माता और पिता दोनों को (हवामहे) उपासना करते, आदर करते और व्यवस्थित करते और

[१६] १—ऋग्वेदे वसिष्ठ ऋषिः । लिङ्गोक्ता देवताः । 'रुद्रं हुवेम' इति पाठभेदः, ऋ०, पैप्प० सं० । 'भगमुग्रं हुवेम' इति पाठभेदः ऋ०, पैप्प० सं० ।

नमस्कार करते हैं । (प्रातः) प्रभातकाल में ही (भगं) भजन करने योग्य, (पूषणम्) सब के पोषक, (ब्रह्मणस्पतिं) वेद और ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु को और (प्रातः) प्रभातकाल में ही उस (सोमं) अन्तर्यामी प्रेरक (उत रुद्रं) और पापियों को रुलाने हारे, सर्वरोगनाशक जगदीश्वर को (हवामहे) उपासना करते हैं ।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

यजु० ३४ । ३५ ॥ ऋ० ७ । ४१ । २ ॥

भा०—(प्रातः) प्रातः पांच घड़ी रात्रि रहे तब (जितं) सदा जयशील अथवा (प्रातर्जितं) प्रभातकाल में सब के हृदयों पर वश करने वाले (भगं) सब के सेवन करने योग्य (उग्रं) तेजस्वी, बलशाली (अदितेः पुत्रं) इस आदित्य को भी गिरने से बचाने हारे, परमात्मा को हम (हवामहे) उपासना करते हैं (यः) जो (अदितेः) सूर्य आदि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा है और (आध्रः चित्) दरिद्र पुरुष भी और (तुरः चित्) बलशाली, वेगवान् पुरुष भी और (राजाचित्) समृद्ध राजा पुरुष भी (यं भगं) जिस सेवन, भजन करने योग्य ईश्वर को (मन्यमानः) अपना इष्टदेव स्वीकार करता हुआ (भक्षि इति आह) मैं भजन उपासना करूं इस प्रकार कहा करता है ।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

ऋ० ७ । ४१ । ३ ॥ यजु० ३४ । ३६ ॥

२–'प्रातर्जितम्' इति पदपाठानुसार्येकम्पदम् । दयानन्दमते तु प्रातरित्येकम्पदं जितमित्येकम् ।

भा०—हे (भग) सेवनीय, भजन करने योग्य ! हे (प्रणेतः) प्रण-यन करन हारे, हे सब के रचने हारे सर्वोत्पादक ! हे (सत्यराधः) सत्य ज्ञानवन् ! सत्यधन ! हे भग ! परमेश्वर ! (धियं ददद्) धारणावती बुद्धि को प्रदान करते हुए आप (नः) हमें (उद् अव) उन्नति के मार्ग पर ले चलो । हे भग ! ऐश्वर्यसम्पन्न ! (नः) हमें (गोभिः) गौओं, ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वैः) अश्वों और कर्मेन्द्रियों से (प्र जनय) और भी अधिक उन्नत कर । हे (भग) सकल ऐश्वर्य के स्वामिन् ! हम (नृभिः) बहुत से नेता पुरुषों द्वारा (नृवन्तः) सम्पन्न, वीर जनता से युक्त होकर (स्याम) रहें ।

उ॒तेदानीं॒ भग॑वन्तः स्यामो॒त प्र॑पि॒त्व उ॒त मध्ये॒ अह्ना॑म् ।
उ॒तोदि॑ता मघव॒न्त्सूर्य॑स्य व॒यं दे॒वानां॑ सुम॒तौ स्या॑म ॥ ४ ॥

यजु० ३४ । ३७ ॥ ऋ० ७ । ४१ । ४ ॥

भा०—हे (मघवन्) धन और ज्ञान सम्पन्न ईश्वर (उत) और (इदानीं) इस समय (भगवन्तः) सौभाग्यसम्पन्न (स्याम) हों (उत) और (प्रपित्वे) सायंकाल के समय (उत) और (अह्नाम्) दिनों के (मध्ये) मध्यकाल में (उत) और (सूर्यस्य उदितौ) सूर्य के उदय-काल में भी (वयं) हम (देवानां) देव, विद्वान् जनों के (सुमतौ) शुभ मति, सद्विचारों में उनके अनुकूल (स्याम) रहें ।

भग॑ ए॒व भग॑वाँ अस्तु दे॒वस्तेना॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
तं त्वा॑ भग॒ सर्व॒ इज्जो॑हवीमि॒ स नो॑ भग पुरए॒ता भ॑वे॒ह ॥ ५ ॥

यजु० ३४ । ३८ ॥ ऋ० ७ । ४१ । ५ ॥

४—'उतोदिता मघवन्' इति पाठभेदः, ऋ० । 'तेन वयं' इति पाठभेदः ऋ० ॥ सर्व इज्जोहवीति ऋग्वेदीयः पाठः । तिङंतिङो भवन्तीति तिपः स्थाने मिबिति सायणकृतं समाधानम् ।

५–(प्र०) 'देवाः' इति यजुः०, ऋ० ।

भा०—हे (भग) सकल ऐश्वर्यसम्पन्न ! (तं) उस (त्वां) आप को (जोहवीमि) जिस प्रकार मैं उपासना करता हूं उसी प्रकार (सर्व इत्) सब प्राणी ही उपासना करते हैं । (सः) वह आप हे (भग) ईश्वर ! (इह पुरः-एता) हमारे इन सब कार्मों में प्रथम स्मरण करने योग्य (भव) हो । हे ईश्वर ! आप (भगः) 'भग' ऐश्वर्यस्वरूप इसीलिये हो क्योंकि आप (भगवान्) भगवान् अर्थात् समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न (देवः अस्तु) देव हो । (तेन) उस आपकी कृपा से (वयं) हम भी (भगवन्तः) ऐश्वर्य से सम्पन्न (स्याम) हो जांय ।

सम॑ध्वरायो॒षसो॑ नमन्त दधि॒क्रावे॑व॒ शुच॑ये प॒दाय॑ ।
अ॒र्वा॒ची॒नं व॑सु॒विदं॒ भग॑ मे॒ रथ॑मि॒वाश्वा॑ वा॒जिन॒ आ व॑हन्तु ॥६॥

ऋ० ७ । ४१ । ६ ॥

भा०—उषो देवता । (उषसः) विशोका प्रज्ञाएं प्रातःकाल की उषाओं के समान (अध्वराय) ब्रह्मयज्ञ के लिये उसी प्रकार (सम् नमन्त) प्रकट होती हैं जिस प्रकार (दधिक्रावा) निरन्तर ध्यान धारणा करने हारा योगाभ्यासी (शुचये पदाय) शुद्ध ज्योतिर्मय परम पद ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये कटिबद्ध होता है । (रथमिव वाजिनः अश्वाः) जिस प्रकार वेग-वान् अश्व रथ को ऐसे देश में ले जाते हैं जहां बहुत धन आदि प्राप्त हों ठीक उसी प्रकार (वाजिनः) ज्ञानसम्पन्न उषाएं—पापदाहिका ज्योतिष्मती प्रज्ञाएं (मे) मेरे अणिमादि योगशक्तियों से सम्पन्न (रथं) ईश्वर में रत आत्मा को (अर्वाचीनं) साक्षात् (वसुविदं) आवासयोग्य, शरण के देने हारे (भगं) परमब्रह्म के प्रति (आवहन्तु) ले जांय ।

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः॒ सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः ।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥७॥

ऋ० ७ । ४१ । ७ ॥

६–(तृ०) 'भग नो' इति पाठभेदः ऋ०, पैप्प० सं० ।
७–(तृ०) 'प्रपीना' इति तै० ब्रा० । 'प्रवीणाः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—उषो देवता । हे (उषासः) पूर्व में प्रभात-प्रकाश के समान ज्योतिष्मती या दहन करने हारी उषारूप प्रज्ञाओ ! आप (अश्वावतीः) अश्व=आत्मा के बल से सम्पन्न एवं (गोमतीः) इन्द्रियों या प्राणों के बल से सम्पन्न [उषापक्ष में] या अश्व-सूर्य से सम्पन्न और गो=किरणों से सम्पन्न (वीरवतीः) वीर=प्राणों से सम्पन्न (भद्राः) कल्याण, सुख-कारिणी होकर (सदन्) मेरे हृदय-प्रदेश को (उच्छन्तु) प्रकाशित करो। (घृतं) प्रकाशमय रूप आत्मा, सत्यज्ञान या आनन्द, अमृतरस को (दुहानाः) परिपूर्ण करती हुई, प्रकट करती हुई (विश्वतः) सब प्रकार से (प्रपीनाः) परिपुष्ट होकर (यूयं) आप (नः) हमें (सदा) निरन्तर सब कालों में (पात) रक्षा करो ।

[१७] कृषि और अध्यात्म योग का उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । सीता देवता । १ आर्षी गायत्री, २, ५, ९ त्रिष्टुभः, ३ पथ्या-पंक्तिः, ७ विराट्पुरोष्णिक्, ८, निचृत्, ३, ४, ६ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥

ऋ० १० । १० । १४ ॥ यजु० १२ । ६७ ॥

भा०—कृषिविद्या के उपदेश के साथ २ योगद्वारा ब्रह्मप्राप्ति का उपदेश करते हैं । (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (सुम्नयौ) सुख के प्राप्त करने वाले आत्मा रूप क्षेत्र में (कवयः) विद्वान् दूरदर्शी लोग (सीराः)

[१७] १–(तृ०) 'सुम्नया' इति ऋ०, यजु० । ऋग्वेदे (१, २) अनयोर्बुधः सौम्य ऋषिः । विश्वेदेवा ऋत्विजो वा देवताः । तत्रैव (३–९) एतासां वामदेव ऋषिः । शुनः शुनासीरौ सीता च देवताः ।

प्राणरूप हलों को (युञ्जन्ति) युक्त करते हैं, और (धीराः) धीर बुद्धिमान् पुरुष (युगा) योग के अङ्गोंरूप जुओं को (पृथक्) पृथक् २ (वितन्वत) प्राणरूप बैलों के कन्धों पर रखते हैं अर्थात् उनका पृथक् २ अभ्यास करते हैं। उसी प्रकार हे पुरुषो ! तुम भी करो।

महर्षि दयानन्द ने योग समाधिपक्ष में इस प्रकार लगाया है—(कवयः) विद्वान्, क्रान्तदर्शी, क्रान्तप्रज्ञ और (धीराः) ध्यान वाले योगी जन (पृथक्) अलग २ (सीराः) योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म की उपासना करने के लिये सीरा=नाड़ियों में अपने चित्त को लगाते हैं अर्थात् परमात्मा का ज्ञान करने का यत्न करते हैं। और जो (युगा) योगयुक्त कर्मों को (वितन्वते) करते हैं वे (देवेषु) विद्वान् जनों में (सुम्नया) सुख से रह कर परमानन्द को प्राप्त करते हैं। (देखो ऋग्वेदादिभाष्य। उपासनाविषय)

अथवा—जिस प्रकार किसान सीर—हलों को जोतते और पृथक् २ बैलों पर जुआ लगाते हैं, धीर लोग सीराः=प्राणों को योगाभ्यास से वश करते हैं और पृथक् उन पर योग की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। और वे धीर=ध्यानी जन (देवेषु) इन्द्रिय गणों पर सुम्नयु=सुख को प्राप्त कराने वाली सुषुम्ना नाड़ी में भी योगाभ्यास करते हैं।

शतपथ में इन मन्त्रों की अध्यात्मव्याख्या करते हुए यह विशेष लिखा है—" स वा आत्मानमेव विकृषति।......एतद्वा अस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तात्प्राणान् अदधुः तथैवास्मिन्नयमेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात्प्राणान् दधाति। लेखा भवन्ति लेखासु हि इमे प्राणाः।" फलतः—आत्मा ही क्षेत्र है उसमें प्राण ही लेखा है जो उनकी नाना वृत्तियों द्वारा उसमें पृथक् २ वर्त्तमान है। वे जोड़े हैं दो नाक, दो कान, दो आंख, प्राण–अपान, व्यान, उदान। इन सब देवों में सुम्नयु=सुख के संचारक रूप आत्मा में ही धीर पुरुष अपनी समस्त चित्तवृत्ति का निरोध=योग करते हैं।

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥२॥

यजु० १२ । ६८ ॥ ऋ० १० । १०१ । ३ ॥

भा०—कृषि कर्म का उपदेश करते हैं (सीरा युनक्त) हलों को जोत लो, (युगा) बैल के जोड़ों को (वितनोत) हल के जुओं में लगाओ और हल चलाओ । और (योनौ) बीज-उत्पत्ति के स्थान क्षेत्र के (कृते) योग्य हो जाने पर उसमें (बीजम्) बीज को (वपत) बोओ । (विराजः) और जब अन्न की (श्नुष्टिः) सीट्टा या बालें (सभराः) अन्न से पूर्ण (असत्) हो जांय तब (नेदीय इत्) उसके कुछ काल बाद ही (पक्वं) पका अन्न (सृण्यः) दरांती, काटने के हथियार हसुओं से काट कर (आयवन्) प्राप्त करो ।

अन्नं वै विराट् तै० ३ । ८ । १० । ४ ॥ यदा वा अन्नं पच्यतेऽथ ते सृण्या उपचरन्ति श० ७ । २ । २ । ५ ॥

महर्षि दयानन्द अध्यात्म पक्ष में—हे योगिगण ! (युनक्त) योगाभ्यास द्वारा परमात्मा के साथ अपने आत्मा को मिलाओ और आनन्द को प्राप्त करो । (वि तनुध्वम्) मोक्ष सुख को सदा विस्तारित करो । और युग=उपासना युक्त कर्मों को और (सीराः) प्राण रूप आदि से युक्त नाड़ियों को (युनक्त) उपासना कर्म में लगाओ । इस प्रकार (कृते योनौ) अन्तः करण

२–' गिरा च श्नुष्टिः ' इति पाठभेदः, यजुः० । (द्वि०) ' तनुध्वं ' इति ऋ०, यजु० । ' कृते क्षेत्रे ' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'स्नुष्टि' इति कचित् । 'श्लुष्टिः, त्नुष्टिः, स्तुष्टिः' इति चान्ये पाठाः । 'स्नुष्टिः' (च०) ' पक्वमायुवन् ' इति पैप्प० सं० । ' पक्वमेयात् ' इति ऋ०, यजु० । ' पक्वमायात ' तै० सं०, मै० सं० । ' इत्सृण्याः ' तै० सं० । 'इच्छ्रिण्याः' इति कचित् ।

के शुद्ध कर लेने पर उसमें योगोपासना से विज्ञान के बीज को बोश्रो और (गिरा च) और परमविद्या वेदवाणी से (युनक्त) युक्त होवो और (श्रुष्टिः) शीघ्र ही योग का फल (नः नेदीयः) हमारे अत्यन्त समीप (असत्) हो, परमेश्वर के अनुग्रह से (पक्वं) शुद्धानन्द स्वरूप सिद्ध परिपक्व फल (एयात्) हमें सब ओर से प्राप्त हो (इत् सृण्यः) और उपासना युक्त योगवृत्तियां 'सृणी' अर्थात् हंसुओं के समान हैं जो सब क्लेशों को काट डालती हैं। ये वृत्तियां (सभराः) शान्ति और पुष्टि गुणों से सम्पन्न हों, इन वृत्तियों से परमात्म-योग को करो।

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्य/म् ॥३॥

यजु० १२ । ७१ ॥

भा०—कृषि से कितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसका उपदेश करते हैं। (पवीरवत्) सीता या फाली से युक्त या समृद्धि से युक्त (लाङ्गलम्) हल, (सुशीमम्) उत्तम सुख का उत्पादक और (सोमसत्-सरु) सोम= बीज रूप अन्न के स्थापन करने के लिये जो हल चलाया जाता है वह अर्थात् कृषि ही (गाम्) गौओं को, (अविम्) भेड़ों को और (प्रस्थावद्) दूर देश में प्रस्थान करने में समर्थ (रथ वाहनम्) रथों और बैलों और

३–(प्र०) 'पवीरवत् लाङ्गलं', 'सुशेवं सोमपित्सलम्' इति पैप्प० सं०। 'पवीरवं' इति तै० सं०। 'सुशेवं सोमपित्सरु' इति यजु०। 'ददत्कृपते' इति पैप्प० सं०। 'सुमतित्सरु' इति तै० सं०। (तृ०) 'तदुद्वपति' इति यजु०। 'तदित्कृषति, प्रफर्व्यां' इति तै० सं०। लाङ्गलं पवीरवत् सुशेवं सोमपित्सरु। तदुद्वपतिगामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं, प्रस्थावद्रथवाहणम्' इति पाठभेदः, यजु०। 'सोमसत्सरु' इति सायणसम्मतः पाठः।

घोड़ों को और (पीवरीम् च) हृष्ट पुष्ट शरीर वाली (प्रफर्व्यम्) स्त्रियों को भी (उद् वपतु इत्) उन्नत किया करता है।

'सोमसत् त्सरु' इति सायण सम्मतः पाठः। आर्षे पदपाठस्तु 'सोम-सत्-सरु'। याजुषः पाठः 'सोमपित्सरु'। पद पाठस्तु 'सोम पि-त्सरु'। उभयत्र उव्वट सायण महीधरैर्व्याकृतिबला=द् व्याचक्षाणैः यद्वेति' संदेहा-स्पदी कृतम्। शतपथे 'सोमपित्सरु' इत्यन्नं वै सोमः। श० ७। २। २। ११॥

अध्यात्म पक्ष में पवी-चेतना या ध्यानवृत्ति से युक्त जो लाङ्गल=हल= प्राण है वही सुख का उत्पादक और 'सोमसत् ब्रह्मास्वाद रस के आश्रयस्थान ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाला है। वही (गाम्) ज्ञानेन्द्रिय (अविं) आत्मा को और (प्रस्थावद्) गति करने हारे, विनाशी, (रथवाहनं) इन्द्रियों सहित शरीर को (पीवरीं) हृष्ट पुष्ट (प्रफर्व्यम्) चेतना शक्ति को भी (उद्वपति) उत्कृष्ट बनाता और उन्नत करता है।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

ऋ० ४। ५७। ७॥

भा०—आध्यात्म कृषि का उपदेश करते हैं। (इन्द्रः) राजा जिस प्रकार (सीतां) कृषि से उत्पन्न हुए कर को स्वयं अपने लिये ग्रहण करता है और (तां पूषा अभिरक्षतु) और 'पूषा=भागदुह्' नामक अधिकारी उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार यह (इन्द्रः) आत्मा (सीतां) शरीर मन आत्मा तीनों को एक सूत्र में बांधने वाली प्राण शक्ति चेतना को (निगृह्णातु) व्यवस्थित करे। (पूषा) पोषण स्वभाव वाला प्राण (तां रक्षतु) उसकी रक्षा करे। (सा) वह (पयस्वती) आनन्द रस की वर्षा करने हारी

४-(द्वि०) 'पूषा अनुयच्छतु' इति ऋ०। 'पूषा मंह्य' इति पैप्प० सं०।

ऋतम्भरा कामधेनु (उत्तरां उत्तरास् समान्) प्रति वर्ष, उत्तरोत्तर अधिक फल देने वाली कृषि के समान (दुहाम्) ब्रह्मानन्द, योग-समाधिजन्य रस को अधिकाधिक उत्पन्न करे ।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥५॥

पूर्वार्धः पूर्वोर्धेनसमः ॥ ऋ० ४ । ५७ । ८ ॥ यजु० १२ । ६९ ॥

भा०—अध्यात्म योग के तत्व को पुनः कृषि कर्म के दृष्टान्त से उपदेश करते हैं । (सुफालाः) उत्तम, तीक्ष्ण फालिएं, हल के नीचे लगी लोहे की तीक्ष्ण हलिएं (शुनं) खूब तेज़ी से सुख पूर्वक (भूमिं) भूमि को (वितुदन्तु) खोदें । और (कीनाशाः) किसान लोग (शुनं) सुख पूर्वक (वाहान्) अपने हल को वाहने वाले बैलों के पीछे २ (अनु यन्तु) चलें । हे (शुनासीरा) हे शुन और सीर ! वायु और सूर्य तुम दोनों (हविषा[1]) पृथिवीस्थ जल से (तोशमाना[2]) पृथवी को ही सिंञ्चन करते हुए (अस्मै) इस आत्मा के लिये या इस संसार के लिये या हमारे लिये (सुपिप्पलीः) उत्तम फलों से सम्पन्न (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (कर्त्तम्) उत्पन्न करो ।

५-(प्र०) 'शुनं नः फाला' इति ऋ० । 'वि कृषन्तु' ऋ०, यजु० । (द्वि०) 'कीनाशो अभ्येतु वाहैः' इति मै० सं० । 'कीनाशा अभियन्तु वाहैः इति ऋ० ।

१. हविषा जलेनेत्युव्वटमहीधरौ ।

२. 'तोषमाणा' इति सायणसम्मतः पाठः । 'शुनं केनाशो अन्वेतु वाहं शुनंफालो विनदन्नयतु भूमिम् । शुनासीरा हविषा यो यजत्रै ! सुपिप्पला ओषधयः सन्तु तस्मै ।' इति पैप्प० सं० ।

अध्यात्म पक्ष में—उत्तम फालियां प्राण ही इस भूमि, क्षेत्र या अन्तःकरण को या अविद्या रूप क्षेत्र को विनाश करें (कीनाशाः) सब अज्ञानों को नाश करने हारे विद्वान् उन प्राणों का अनुयमन करें। या प्राणगण इन्द्रियों के द्वारों में ठीक रीति से गमन करें। शुन=प्राण वायु और सीर अपान वायु दोनों=हविः अर्थात् कर्म योग से वशीभूत होकर इस आत्मा को उत्तम फलसम्पन्न, पापनाशक ज्ञान-ध्यान-वृत्तियों को उत्पन्न करें।

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ४ ॥

भा०—(वाहाः) वाहन, बैल और घोड़े, (शुनं) सुख पूर्वक हल को खेंचें, (नरः) नेता, हांकने वाले किसान लोग (शुनं) सुख पूर्वक हल चलावें, और (लाङ्गलम्) हल भी (शुनं कृषतु) सुख पूर्व उत्तम रूप से खेत को खोदे। (वरत्राः) रस्सियां भी (शुनं) सुख पूर्वक, मज़बूती से (बध्यन्ताम्) बांधी जांय और (शुनं) खूब उत्तम (अष्ट्राम्) अष्ट्रा=चाबुक को (उद् इङ्गय) ऊपर उठा २ कर चलाओ।

अध्यात्म पक्ष में—(वाहाः) इन्द्रियगण-(नरः) प्राणगण (लाङ्गलं) आत्मा या मुख्य प्राण (वरत्रा) सब से श्रेष्ठ वरण करने योग्य आत्मा के स्वरूप को त्राण करने हारी बुद्धियां, या मनोवृत्तियां, (अष्ट्रा) देह में व्यापक चिति शक्ति।

६-(प्र०) 'शुनं नाराः' तै० आ०। (च०) 'शुनमुष्ट्राम्' इति क्वचित्। 'वृत्रमायच्छ शुनमष्ट्रामुदिङ्गयः। शुनं तु तप्यतां फालः शुनं वहतु लाङ्गलम्' इति पैप्प० सं०।

शुनासीरेह स्मं मे जुषेथाम् ।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ५ ॥

भा०—(इह) इस देह रूप क्षेत्र में हे (शुनासीरा) वायु और आदित्य के समान प्राण और उदान ! (मे) मुझ आत्म-साधक योगी के (जुषेथाम्) अनुकूल, वशीभूत होकर रहो। (दिवि) द्यौलोक में स्थित (यत् पयः) जिस जलको जिस प्रकार सूर्य और वायु इस पृथ्वी पर बरसा देते हैं उसी प्रकार तुम दोनों भी (यत्) जो (दिवि) मूर्धा स्थान में ब्रह्मरन्ध्र में समाहित हो जाने के कारण होने वाला समाधि जन्य (पयः) आनन्द रस है (तेन इमाम्) उससे इस चितभूमि को (उप सिञ्चतम्) आप्लावित कर दो ।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ६ ॥

भा०—हे (सीते) हल के अग्रभाग के समान समस्त देहरूप क्षेत्र को खनन करने (एवं उपयोगी बनाने वाली चिति शक्ति ! (त्वा) तुझ को (वन्दामहे) हम नमस्कार करते हैं, तेरे यथार्थ रूप की वर्णन करते हैं । हे (सुभगे) उत्तम पुष्टि कारक तू (अर्वाची) साक्षात् हमें प्रत्यक्ष (भव) हो (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे लिये तू (सुमनाः) शोभन मनन,

७–(प्र०) शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः । ते नेमामुपसिञ्चतम् ।' इति ऋ० ।

८–' प्रथमद्वितीयपादयोर्व्यत्ययः ' इति ऋ०, (द्वि०) ' यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ' इति ऋ० ।

ज्ञान वाली (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे लिये (सुफला) उत्तम मोक्ष सुख रूप फल से युक्त (भुवः) हो ।

जिस प्रकार हल की फाली से सब समृद्धि प्राप्त होती है और फसल भी उत्कृष्ट होती है उस प्रकार चिति शक्ति के साक्षात्कार से योगी को परम आनन्द प्राप्त होता है ।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्यावंवृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥९॥

यजु० १२ । ७० ॥

भा०—(सीता) हलमें लगी फाली (घृतेन) घृत और (मधुना) मधु से (समक्ता) चुपड़ी गयी और (मरुद्भिः) विद्वान् वैश्यगण और (विश्वैः देवैः) सभी विद्वत् जनों से (अनुमता) उपयोगी रूप से स्वीकृत है । हे सीते ! (सा) वह तू (ऊर्जस्वती) पुष्टिकारक अन्न देनेहारी और (घृतवत्) घी दूध आदि पदार्थों से (पिन्वमाना) सब को तृप्त करती हुई (पयसा) पुष्टिकारक अन्न और जल के सहित (नः अभि-आ-ववृत्स्व) हमारे पास विद्यमान रह ।

---

[१८] ब्रह्म-विद्या की विरोधिनी अविद्या के नाश का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–३, ५, अनुष्टुभः, ४ चतुष्पदा अनुष्टुब्-गर्भा उष्णिग् , ६ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः । षडृचं सूक्तम् ॥

९–(प्र०) 'समज्यताम्', (तृ०) 'अस्मान्' इति यजु० । (च०) 'ऊर्जो भागं मधुमत्पिन्वमाना' इति मै० सं० ।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४५ । २ ॥

भा०—इन्द्राणी ऋषिका । उपनिषत्सपत्नीबाधनं देवता । उपनिषद् ब्रह्म विद्या की सपत्नी अविद्या है उसको बाधन=विनाश करने का उपदेश व्यवहारिक सपत्नी के विरोध के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं । (इमां) इस (औषधिं) पाप दहन करने के सामर्थ्य वाली (वरुधां) नाना प्रकार से या विशेष सामर्थ्य से अज्ञान की विरोधिनी, स्वतः उत्पन्न होनेहारी (बलवत्तमाम्) अति वीर्यवती औषधि के समान इस ऋतम्भरा प्रज्ञा को (खनामि) खोदता हूं, योगसाधनों से प्राप्त करता हूं, (यया) जिससे (सपत्नी) अपने पति हृदयेश्वर आत्मा पर अपना अधिकार जमाने वाली अविद्या को (बाधते) विनाश किया जाता है और (यया) जिसके बल पर (पतिं) उस पालक प्रभु परमेश्वर, को (सं-विन्दते) प्राप्त किया जाता है ।

दृष्टान्त में सर्वांगसाम्य आवश्यक नहीं है । यहां केवल जिस प्रकार सौतको सौत परे हटाती है उसी प्रकार अविद्या को विद्या परे हटावे, यही साम्य है औषधि के प्रयोगांश में समानता नहीं, प्रत्युत बाधनांश में समानता है ।

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

ऋ० १० । १४५ । २ ॥

[१८] ऋग्वेदे इन्द्राणी ऋषिः । उपनिषत्सपत्नीबाधनं देवता । १–' वीरुधं ' इति पाठभेदः ऋ० । (च०) ' कृणुते केवलं पतिम् ' इति पैप्प० सं० । २–' सपत्नीं मे पराधम पतिं मे केवलं कुरु ' इति पाठभेदः ऋ० । 'उत्तान-पर्णां सुभगां सह मानां सहस्वतीम् ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (उत्तानपर्णे) उत्तानपर्णा नामक (सुभगे) सौभाग्य देने हारी (देवजूते) विद्वानों से सेवित (सहस्वति) बलदायिके! (मे) मेरी ब्रह्म-विद्या की सपत्नी अविद्या को (परा णुद) दूर भगा दे और (केवलं) केवल स्वरूप ब्रह्म को ही (मे) मेरा (पतिं) पति, पालक (कृधि) बना दे।

उत्तानपर्णा=उच्च हृदयों में विस्तृत रूप से ब्रह्म-विद्या के पर्ण=प्रज्ञान, रहस्य खुलते हैं इसलिये उस ब्रह्म-विद्या को 'उत्तान-पर्णा' कहा गया है। देवयान से जाने हारे मुमुक्षु उसका सेवन करते हैं इससे वह 'देवजूता' है सहः=बल स्वरूप प्रभु उसके आश्रय हैं इससे वह ' सहस्वती ' है। ' के ' आनन्दे बलनं स्वरूपावगतिर्यस्य स केवलः। वह आनन्द मात्र प्रतीत होने हारा 'केवल' ब्रह्म है।

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४५ । ४ ॥

भा०—हे सपत्नि ! अविद्ये ! (ते नाम) तेरे नाम और स्वरूप को मैं ब्रह्म-विद्या (नहि जग्राह) कभी नहीं ग्रहण करती। और तू (अस्मिन् पतौ) इस परिपालक ब्रह्म में कभी (नो रमसे) रमण भी नहीं करती। और हम विद्यावान् पुरुष भी (सपत्नीम्) तुझ अविद्या को (पराम् एव परावतम्) दूर ही दूर (गमयामसि) हटाया करते हैं।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १४५ । ३ ॥

३–(प्र०) ' नह्यस्या नाम गृभ्णामि नोऽस्मिन् रमते जने ' इति ऋ० ।

४–(तृ०) ' अथा सपत्नी ' इति ऋ० । ' उत्तराहमुत्तराभ्य उत्तरेदधरेभ्यः । अधः सपत्नि सामध्यधरेदधरेभ्यः ' इति पैप्प० सं० । ' उत्तराहामुत्तरे ' इति रोथकामितः पाठः ।

भा०—हे उत्तरे ! उर्ध्व लोक में तराने वाली कर्म-विद्ये ! (अहम् उत्तरा) मैं तुझ से भी अधिक उत्कृष्ट लोक में पुरुष को तराती हूं। (उत्तराभ्यः) ऊर्ध्वगति प्राप्त कराने हारी सभी विद्याओं, कर्म पद्धतियों की अपेक्षा में ब्रह्म-विद्या (उत्तरा इत्) उत्कृष्ट ही हूं। और (मम या सपत्नी) मेरी जो विरोधिनी अविद्या अज्ञानरूपिणी मुझ से (अधः) नीचे है (सा अधराभ्यः अधरा) नीचे लेजाने वाली कर्मगतियों से भी नीचे गिराने वाली है।

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १४५ । ५ ॥ अथर्व० १९ । ३२ । ५ ॥

भा०—हे कर्मविद्ये ! (अहम्) मैं ब्रह्म-विद्या (सहमाना) सब काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करती हूं (अथो) और (त्वम् सासहिः असि) तू भी हे निरन्तर सब आलस्य आदि पर वश करती है। (उभे) हम दोनों (सहस्वती) सहनशील और विजयशील होकर एक हो जांय तो (मे सपत्नी) मेरी विरोधिनी अविद्या को हम दोनों (सहावहै) जीत लें।

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम्।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १४५ । ६ ॥

भा०—हे अविद्ये ! (ते) तुझे दूर करने के लिये (सहमानां) तुझ अविद्या को विनाश करने वाली इस ब्रह्म-विद्या को (अभि अधाम्)

५–(तृ०) 'भूत्वी' इति पाठभेदः ऋ०।

६–(प्र०) 'उप तेधां', (द्वि०) 'उपत्वाधां सहीयसा' इति ऋ०।

सब प्रकार से धारण कर लिया है। और (ते) तुझे (सहीयसीम्) पराजित करने हारी इस कर्म-विद्या को भी (उप अधाम्) गुरुओं के समीप जाकर अभ्यास किया है। हे शिष्य! (ते मनः) तेरा मन अब अविचल भाव से (वत्सं गौः इव) गाय जिस प्रकार अपने बच्छड़े के पास आ जाती है और (पथा वाः इव) जिस प्रकार खोद कर बनाई गयी नहर के मार्ग से जल धारा दौड़ती है उसी प्रकार (ते मनः) तेरा मन (माम्-अनु) मुझ ब्रह्मवित् पुरुष के अधीन होकर (धावतु) खिंचा आवे।

[१६] शत्रुओं पर विजय करने के लिये अपने राष्ट्र की शक्ति बढ़ाने का उपदेश।

वसिष्ठ ऋषिः। विश्वेदेवा उत चन्द्रमा उतेन्द्रो देवता। १ पथ्याबृहती, २ भुरिग् बृहती, त्र्यवसाना पट्पदा त्रिष्टुप्ककुम्मतीगर्भातिजगती, ७ विराडास्तारपंक्ति, ८ पथ्यापंक्तिः, ३, ४, ५ अनुष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम्॥

संशि॑तं म इ॒दं ब्रह्म॒ संशि॑तं वी॒र्यं१॒ बल॑म्।
संशि॑तं क्ष॒त्रम॒जर॑मस्तु जि॒ष्णुर्येषा॒मस्मि॑ पु॒रोहि॑तः॥ १॥

यजु० ११। १॥

भा०—पर राष्ट्र की सेना के विजय करने के उपदेश के साथ २ भीतरी अन्तः करण के योग-विघातक अन्तराय, काम क्रोधादि के विजय का उपदेश करते हैं। राष्ट्र के पुरोहित के कर्त्तव्य बतलाते हैं। (मे) मुझ राष्ट्र के पुरोहित का (इदं) यह (ब्रह्म) वेद विज्ञान, ब्रह्मचर्य और

[१६] १—यजुर्वेदे नाभानेदिष्ठ ऋषिः। 'जिष्णुः' इति लेखकप्रमादवशाद्बहुत्र पाठः। 'जिष्णु' इति पञ्चम्यामपि ऋचि पठ्यते। (तृ०) 'जिष्णु' इति सायणाभिमतः पाठः। 'संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः' इति यजु०। (तृ०) 'क्षत्रं मे जिष्णु' इति पैप्प० सं०।

ब्राह्मणत्व, (संशितम् अस्तु) भली प्रकार बलवान् और सामर्थ्यवान् रहे, और (वीर्यं बलम्) मेरे राष्ट्र का वीर्य=वीरों के योग्य बल भी (संशितम् अस्तु) खूब प्रबल, तीक्ष्ण और असह्य हो । और (येषां) जिन राष्ट्रवासी राजवंशों का मैं (पुरोहितः) ऐहिक और पारलौकिक कार्यों में पुरोहित आचार्य (अस्मि) हूं उन क्षत्रियों का (क्षत्रम्) क्षात्र बल सेना बल और तेज भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण, उग्र (जिष्णुः) सदा विजय शील और (अजरम् अस्तु) कभी नष्ट न होने वाला रहे ।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ४२ । २ ॥

भा०—(एषां) इन क्षत्रियों के (राष्ट्रम्) राज्य भर को (सं स्यामि=श्यामि) खूब सामर्थ्य युक्त, तीक्ष्ण और प्रबल करता हूं और (ओजः) ओज=जिस बल से शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा निवास करते हैं और विघ्न बाधा आने पर भी उस शरीर या राष्ट्र में रह कर विघ्न बाधा का मुकाबला किया जाता है उस बल को और (वीर्यं) वीर्य, सामर्थ्य, और (बलम्) बल, सेना-बल को भी (सं स्यामि) खूब तीक्ष्ण करता हूं और (अनेन हविषा) इस प्रकार के पुष्टिकारक हवि=अन्न से जिससे राष्ट्रवासी सेना-बल देश के निमित्त अपना प्राण देने पर तैयार रहें उस हविः=उपाय से (शत्रूणां) शत्रु, राष्ट्र के विनाशक पुरुषों के (बाहून्) बाधा डालने वाले साधनों को (अहम्) मैं (वृश्चामि) काट डालता हूं ।

२–(प्र०) 'स्यामि' इति सायणाभिमतः, ह्विटनिकामितश्च । 'पश्यामि' इति पैप्प० सं० । (द्वि० तृ०) 'वृश्चामि शत्रूणां बाहू समश्वानवानहम्' इति पैप्प० सं० ।

सेना और राष्ट्र सेवकों का उचित वेतन, पुरस्कार, अन्न, और कृपा आदि सब सन्तुष्टि कारक पदार्थ और अन्यान्य उपाय सब 'हविः' शब्द से कहे गये हैं।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

उत्तरार्धः यजु० ११ । ८२ तृ० च० ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (सूरिं) ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग के उपदेशक, आज्ञापक पुरुष और (मघवानं) धनसम्पन्न पुरुष राजा को (पृतन्यान्) विनाश करने के लिये बड़ी सेनाओं की योजना करें वे (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) जा गिरें और वे (अधरे भवन्तु) हमारे नीचे अधीन होकर रहें (अहम्) मैं पुरोहित या राजा स्वयं (ब्रह्मणा) वेद के विज्ञान और ब्राह्मणों की सत् मन्त्रणा के बल से (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि) विनाश करूं और (स्वान्) अपने पक्ष के पुरुषों को (अहम् उत्-नयामि) मैं उन्नति शील बनाऊं।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

भा०—वे क्षत्रिय लोग (येषाम् पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं पुरोहित हूं (परशोः तीक्ष्णीयांसः) फरसे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण स्वभाव वाले, शत्रुविनाशक और (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण, तेजस्वी और शत्रु को भस्म करने वाले, उग्र हों और (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्र के वज्र=विद्युत् से भी अधिक तीक्ष्ण, प्रबल प्रहार करने हारे हों।

३—(प्र०) 'अवः पद्यन्ताम्' (द्वि०) 'नः इन्द्रम्' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'क्षिणोमि' इति सायणाभिमतः, यजु०।

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

भा०—जिनका मैं पुरोहित हूं (एषाम् आयुधा) उन राष्ट्रवासी वीरों के हथियारों को (संस्यामि) खूब तीक्ष्ण, प्रबल सामर्थ्यवान् बनाऊं। (एषाम्) इनके (सुवीरम् राष्ट्रम्) उत्तम वीरों से परिपूर्ण राष्ट्र को (वर्धयामि) खूब उन्नत, परिपुष्ट करूं। जिससे (एषां क्षत्रम् अजरम्) इनका क्षात्र बल अजर, अविनाशी और (जिष्णु अस्तु) सदा विजयशील हो और (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब विद्वान् विचार शील पुरुष और अधिकारी गण (एषां) इनके (चितम्) चित्त, हृदय को (अवन्तु) रक्षा करें, इनके दिल न टूटने दें। सदा सद्-विचारों और उत्साह वृद्धि द्वारा उनके चित्तों को उत्साही, धीर, और दृढ़ बना कर कभी निराश न होने दें।

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १० । ३ । १० ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्य सम्पन्न ! राजन् ! (वाजिनानि) वेगवान् घोड़े (उद हर्षन्ताम्) खूब हृष्ट होकर हिन-हिनावें (जयतां) विजयशील (वीराणां) वीर पुरुषों का (घोषः) सिंहनाद (उद् एतु)

५-(प्र०) 'श्यामि' सायणाभिमतः, पैप्प० सं० । (द्वि०) 'वर्धयस्व' (च०) 'उग्रम् एषां चित्तं वहुधा विश्वरूपा' इति पैप्प० सं० ।

६-ऋग्वेदे अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । 'उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि । उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ।' इति ऋ० ॥ उद्धर्षन्तावाजिनां वाजिनान्युद् वैराणां जयतामेतु घोषः पृथग्घोष उलुलय केतुमन्त उदीरताम् इति पैप्प० सं० ।

ऊपर उठे, आकाश को गुंजावे। (केतुमन्तः) विजय सूचक झण्डों सहित (उलुलयः घोषाः) विजय नाद प्रदर्शक नाना प्रकार की हर्षध्वनियां (पृथक्) अलग २ समस्त राष्ट्र में (उद् ईरताम्) उठें। (इन्द्र-ज्येष्ठाः देवाः) इन्द्र=राजा को सब से मुख्य रखने वाले राष्ट्र के अधिकारी गण (मरुतः) और सेना के अध्यक्ष या वायु के समान तीव्रगति, शत्रुमारक सैनिक (सेनया) अपनी सेना सहित (यन्तु) मैदान में आवें।

प्रेता जयंता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।

तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

पूर्वार्धः ऋ० । १० । १०३ । १३ (प्र० तृ०) ॥ यजु० १७ । ४६ ॥

भा०—हे (नरः) नेता लोगो! (प्र इत) आगे बढ़ो (जयत) विजय करो (वः) तुम्हारी (बाहवः) बाहुएं (उग्राः सन्तु) खूब बलशाली और शत्रुओं को विनाश करने में भयंकर हो उठें। और आप लोग (तीक्ष्ण-इषवः उग्र-आयुधः) तीक्ष्ण धनुष बाण और भयंकर २ हथियार धारण कर (उग्र-बाहवः) प्रचण्ड-बाहु होकर (अबल-धन्वनः) कच्चे निर्बल धनुष वाले, अबलान्, निर्बल शत्रुओं को (हत) विनाश करो।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।

जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

ऋ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० २७ । ४५ ॥

७–ऋग्वेदे, अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः (द्वि०) 'इन्द्रो वः शर्मयच्छतु' (च०) 'अनाधृष्या यथासथ' इति ऋ० यजु० (प्र०) 'उपप्रेता जयताना स्थिरा वः' इति तै० सं०। 'प्रयता जयता नर उग्रा वः सन्तुवाहवः। इन्द्रोवः शर्मयच्छतु अनाधृष्या यथासथ' इति पैप्प० सं०।

८–ऋग्वेदे पायुर्भारद्वाज ऋषिः। इषवो देवता। (तृ०) 'गच्छामित्रान्' (च०) 'मामीषां कञ्चनोच्छिषः' इति ऋ०, यजु०। 'अवसृष्टः परापत शरो ब्रह्मसंशितः।' आ० श्रौ० सू०।

भा०—हे (ब्रह्म-संशिते शरव्ये) ब्रह्म=वेद ज्ञान और विचार के अनुसार तीक्ष्ण, प्रबल और उग्र बनाये हुए बाण, (अवसृष्टा) धनुष से छूट कर (परापत) दूर जा अर्थात्=हे क्षत्रिय धनुर्धारी तू ब्राह्मण गुरुओं से खूब शिक्षित होकर शत्रु पर जा पड़। और (अमित्रान् जय) शत्रुओं पर विजय कर, (प्र पद्यस्व) उनमें घुस जा, (एषाम् वरम्-वरम्) इनमें से उत्तम उत्तम, प्रधान २ पुरुष को (जहि) विनाश कर, (अमीषां कः चन मा मोचि) इनमें से किसी को मत छोड़, किसी को बचा न रहने दे।

[२०] ईश्वर से उत्तम ऐश्वर्य और सद्-गुणों की प्रार्थना।

वसिष्ठ ऋषिः। अग्निर्वा मन्त्रोक्ता नाना देवताः। १–५ ७, ९, १० अनुष्टुभः, ६ पथ्या पंक्तिः, ८ विराड्जगती। दशर्चं सूक्तम्॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम्॥ १॥

ऋ० ३। २९। १०॥ यजु० ३। १४॥

भा०—ऋग्वेदे विश्वामित्र ऋषिः। अग्नि देवता। हे (अग्ने) आत्मन्! (ते) तेरा (अयं) यह (ऋत्वियः) ऋतु के अनुसार, गर्भ ग्रहण काल में ही उत्पन्न हुआ (योनिः) उत्पत्ति स्थान है (यतः जातः) जहां से उत्पन्न होकर तू (अरोचथाः) खूब प्रदीप्त होता है। हे अग्ने! (तं) उस परमात्मा का ज्ञान करके ही (आरोह) तू उन्नति के मार्ग पर चढ़ (अध) और (नः) हम इन्द्रियगण के (रयिम्) पुष्टिकारक प्राण और देह भाग को (वर्धय) पुष्ट करो।

[२०] १-(द्वि०) 'असीदथाः' (च० 'दर्धया गिरः' ऋ० यजु०।

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १४१ । १ ॥ यजु० ९ । २८ ॥

भा०—अग्निस्तापस ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । हे (अग्ने) परमात्मन् या विद्वन् ! (इह) इस संसार में (नः) हमें (अच्छा) उत्तम रीति से (वद) उपदेश करो और (नः) हमारे (प्रत्यङ्) प्रति आकर (सु-मनाः) शुभ-संकल्प होकर (भव) रहो । हे (विशां-पते) समस्त प्रजाओं के पालक परमात्मन् ! (त्वं) आप (नः धनदा असि) हमें सब प्रकार का धन देने हारे हो, अतः (नः प्रयच्छ) हमें वह सब ऐश्वर्य प्रदान करो ।

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४१ । २ ॥ यजु० ९ । २९ ॥

भा०—(अर्यमा) प्रजाओं का नियन्ता न्यायकारी (नः रयिं प्र यच्छतु) हमें नियमन दल और समृद्धि दे । (भगः) सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वर (प्र यच्छतु) हमें धन दे । (बृहस्पतिः) ज्ञानों का स्वामी या वेद वाणी का पति प्रभु हमें (प्रयच्छतु) हमें वेद का विज्ञान दे । (देवीः) दिव्यगुणों वाली प्रभु की शक्तियां हमें (प्र यच्छन्तु) दिव्य शक्तियों का प्रदान करें । और (सूनृता देवी) शुभ ऋत-सत्य वेदवाणी स्वयं (मे) हम में सत्य ज्ञान (दधातु) धारण करावे ।

२–(तृ०) ‘प्र नो यच्छ विशस्पते’ इति ऋ० । ‘भुवस्पते’ इति तै० सं० । ‘सहस्रजित्’ इति यजु० । (च०) ‘त्वंहि धनदा असि’ इति यजु० । (द्वि०) ‘प्रतिनः’ इति यजु० ।

३–(च०) ‘रायो देवी ददातु नः’ इति ऋ० । (द्वि०तृ० च०) प्र पूषा बृहस्पतिः । प्र वाग् देवी ददातु नः स्वाहा इति यजु० ।

सोम॑ं राजा॑नमव॑सेऽग्निं गी॒र्भिर्ह॑वामहे ।
आ॒दि॒त्यं विष्णुं॒ सूर्यं॑ ब्र॒ह्माणं॑ च॒ बृह॒स्पति॑म् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १४१ । ३ ॥ यजु० ९ । २६ ॥ साम० १ । ९१ ॥

भा०—(अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) ज्ञान के प्रकाशक (सोमं) संसार के उत्पादक और प्रेरक (राजानम्) सब से अधिक प्रकाशमान् एवं सब पर राजा के समान शासक (आदित्यम्) सूर्य के समान सब को रस देने और सब के आकर्षण करने हारे (विष्णुम्) सर्व व्यापक (ब्रह्माणम् च) और सब से बड़े (बृहस्पतिम्) और समस्त ब्रह्माण्ड और वेदादि विज्ञान के स्वामी प्रभु को (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (हवामहे) हम वर्णन करते और स्तुति करते हैं ।

त्वं नो॑ अग्ने अ॒ग्निभि॒र्ब्रह्म॑ य॒ज्ञं च॑ वर्धय ।
त्वं नो॑ दे॒व दात॑वे र॒यिं दाना॑य चोदय ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १४१ । ६ ॥ यजु० ९ । २६ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् (त्वं) आप (नः) हमें और हमारे (ब्रह्म) वेद के जानने हारे विद्वान् ब्राह्मणों और (यज्ञं च) वैदिक उत्तम यज्ञ कर्म को (अग्निभिः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (वर्धय) बढ़ाओ । हे (देव) परमात्मन् (नः) हमारे में से (दातवे) दानशील पुरुषों को भी (दानाय) और अधिक दान करने के लिये (रयिं) धनादि ऐश्वर्य का (चोदय) प्रदान करो ।

४–(तृ०) 'आदित्यान्' इति ऋ० । (प्र०) 'वरुणमग्ने' इति साम० । (द्वि०) 'अन्वारभामहे' इति यजु० ॥

५–(तृ०) 'देवतातये रायो' इति ऋ० । पैप्प० सं० । 'देवदानवे' इति सायणाभिमतः पाठः ।

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ६

यजु० ३३ । ८६ ॥ ऋ० १० । १४१ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र-वायू) सूर्य और वायो ! (उभौ) आप दोनों (इह) इस लोक में (सु-हवा) उत्तम रीति से अपनी शक्ति से दूसरे को जीवन और प्राणों का दान करते हो, अतः हम आप दोनों के (इह) इस कार्य में (हवामहे) गुणों का कीर्त्तन करते हैं (यथा) जिससे (नः) हम में (सर्व इत् जनः) सभी लोग (सं-गत्याम्) परस्पर के मेलजोल में (सुमनाः) उत्तम चित्त वाले हों और (नः) हममें सब लोग (दानकामः च) दान देने की इच्छा वाले (भुवत्) हों।

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

ऋ० १० । १४१ । ५ ॥ यजु० ९ । २७ ।

भा०—हे परमात्मन् ! आप (अर्यमणम्) न्यायकारी प्रजा के नियन्ता को (बृहस्पतिम्) वेद के पारिपालक विद्वान् को और (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील राजा को (दानाय) हमारे इष्ट धनादि सामर्थ्य दान करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर । इसी प्रकार (वातम्) सब के प्रेरक प्राण रूप वायु (विष्णुम्) सर्व व्यापक आकाश (सरस्वतीम्) सर्व रसमय, ज्ञानमय वेद वाणी और (वाजिनम्) बल ज्ञान और अन्न के दाता (सवितारम्) सूर्य को भी प्रेरित करे कि वे हमें अपनी शक्तियों से बलवान करें ।

६–(प्र०) 'इन्द्रवायू बृहस्पति' इति ऋ० 'इन्द्रवायू सुसंदृशा (च०) 'नोदय' इति यजु० । (च०) 'सर्वइज्ज नः अनमीवाः संगमे' इति यजु० । 'यथानः सर्वमिज्जगत् अयक्ष्मं सुमना असत्' तै० सं० ।

७–(तृ०) 'वाचं विष्णु' । इति यजु० ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥८॥

यजु० ९ । २५ । २४ ॥

भा०—हम (वाजस्य प्रसवे) ज्ञान और बल के उत्पन्न करने में (सम् बभूविम) उत्तम रूप से समर्थ हों और (इमा च विश्वा भुवनानि) और ये समस्त भुवन भी (अन्तः) उसी समस्त ज्ञान-बलोत्पादक परमात्मा के भीतर ही उत्पन्न होकर समर्थ होते हैं । (उत) और हे परमात्मन् आप (प्रजानन्) सर्वज्ञ, सब कुछ जानते हुए (अदित्सन्तम्) न दान करने वाले पुरुष से भी (दापयतु) दान कराया करें । और (नः) हमें (सर्ववीरं) सब प्रकार के वीर, श्रेष्ठ, बलवान् पुत्रों से युक्त धन सम्पत्ति को (नि यच्छ) प्रदान करें ।

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथा बलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

भा०—(पञ्च प्रदिशः) पांचों मुख्य दिशाएं अथवा पांचों गुरु पितृ स्थानीय, पांचों शिक्षक माता, पिता, गुरु, आचार्य, सुहृद् और बन्धु इस प्रकार का (बलम्) ज्ञान, बल प्रदान करें और (उर्वीः) छहों उर्वी, द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और औषधि ये छहों महान् दिव्य शक्तियां (बलम् दुह्राम्) मुझे बल से परिपूर्ण करें (यथा) जिससे मैं (मनसा) अपने ज्ञान सामर्थ्य, मनन संकल्पों द्वारा (हृदयेन च) और हृदय से (सर्वाः) सब प्रकार की (आकूतीः) शुभ मतियों, ज्ञानों को (प्र आपेयम्) प्राप्त होऊं ।

८–(तृ०) 'दापयति' (च०) 'सनो रयिं सर्व' इति यजु० । 'सर्व वीराम्' इति तै० सं० ।

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

भा०—मैं (गोसनिं) गौ=वाणी, ज्ञान, आत्मा और परमेश्वर और वेद वाणी को भजन करने हारी (वाचम्) वाणी का (उदेयं) उच्चारण करूं । हे परमात्मन् (मा वर्चसा) मुझ को ब्रह्म तेज से (अभि उत्-इहि) और भी उन्नत कर । (सर्वतः) सब प्रकार (वायुः) सब का विधारक परमात्मा (मे) मुझे (आ रुन्धाम्) सब बुरे मार्गों में जाने से बचावे । (त्वष्टा) सब पदार्थों का उत्पादक परमात्मा (मे) मेरा (पोषं दधातु) पोषण करे ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च चत्वारिंशत् ।]

[२१] लोकोपकारक अग्नियों का वर्णन ।

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । १ पुरोऽनुष्टुप्, २, ३, ८ भुरिजः, ५ जगती ६ उपरिष्टाद्-विराड् बृहती, ७ विराड्गर्भा, ९ निचृदनुष्टुप्, १० अनुष्टुप् । दशर्चं सूक्तम् ॥

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥१॥

भा०—ये (अग्नयः) जो अग्नियां (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर समुद्र में वाड़वाग्नि रूप में और जलों में उद्रजन के रूप में हैं और (ये

१०–(तृ०) 'आरुधाम्' इति क्वचित् ।

[२१] १–यो अप्स्वन्त यो वृत्रेऽन्तर्यः पुरुषे योश्मनि । यो विवेश ओषधी०, इति पैप्प० सं० । 'आविवेशौषधी' इति मै० सं० ।

वृत्रे) जो अग्नियां वृत्र-आवरण कारी मेघ में विद्युत् रूप से हैं और (ये) जो (पुरुषे) पुरुषों में ज्ञान रूप से, उत्साह, बल पराक्रम और जठराग्नि रूप से या विद्वान् आत्मा और इन्द्रिय रूप से वर्त्तमान हैं (ये अश्मसु) और प्रस्तरों में और (ये) जो (ओषधीः) रोग नाशक वनस्पतियों में रस रूप से और (यः) जो (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में (आ-विवेश) प्रविष्ट है (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) सब अग्नियों के लिये (एतम्) यह इस प्रकार (हुतम्) उचित प्रयोग (अस्तु) हो।

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥२

भा०—(यः) जो अग्नि (सोमे अन्तः) सोम के भीतर हर्षोत्पादक रस शक्ति रूप, (यः गोषु) जो गौओं में दुग्धरूप से (यः वयःसु) और जो पक्षियों में कालोत्पात प्रदर्शक (यः मृगेषु) सहन, बल और साहस रूप से (यः) जो (द्वि-पदः) मनुष्यों और (चतुः-पदः) चौपायों के भीतर वैश्वानर आत्मा, जीवन, और चैतन्य रूप से (आ-विवेश) आविष्ट है। (तेभ्यः सर्वेभ्यः एतत् हुतम् अस्तु) उन सब के लिये मेरा यह इस प्रकार का उचित दान या प्रयोग हो।

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (वैश्वानरः) समस्त नरों में निवास करने वाला

२–(द्वि०) 'वयांसि य आविवेश,' इति मै० सं०। 'यो विष्टो वयसि' पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'येनेन्द्रस्य रथं सम्बभूवुः' इति काठक०। 'येनेन्द्रण सरथं संबभूवे' (द्वि०) 'उत विश्वदेव्यः' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'उत विश्वदेव्यः' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

जीवात्मा (देवः) देव (इन्द्रेण) इन्द्र-प्राण या परमात्मा के साथ (सरथं) एक ही रूप देह में याति उसके साथ मिलता है (उत) और वही (विश्वदाव्यः) समस्त जगत् में, बन में, अग्नि के समान चेतना रूप से, कर्म-धन्धन के दाहक रूप में विद्यमान है अथवा (यः देवः वैश्वानरः) जो सर्वव्यापक परमात्म देव (इन्द्रेण सरथं याति) इन्द्र=इस आत्मा के साथ इस देह या विश्व में विद्यमान है (उत विश्व-दाव्यः) और समस्त संसार को बन में लगी आग के समान प्रलयकाल में भस्म करने हारा कालाग्नि स्वरूप है, (यं सासहिं) जिस सहनशील, सबके वशकर्त्ता ईश्वर को (पृतनासु) समस्त जीवों में (जोहवीमि) हम स्मरण करते हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन सब तेज स्वरूप आत्माओं को यह मेरा त्याग किया हवि पदार्थ उपकार कहो ।

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो० ॥ ४ ॥

भा०—(यः देवः) जो देव (विश्वाद्) समस्त संसार को प्रलयकाल में ग्रास कर जाता है । (यं उ कामम् आहुः) और जिसको समस्त संसार में व्यापक समष्टि इच्छा शक्ति का प्रति रूप, 'काम' स्वरूप विद्वान् बतलाते हैं (यं दातारं) और जिसको सबको सब पदार्थों का दाता होते हुए भी (प्रतिगृह्णन्तम् आहुः) सबका दिया भक्ति उपहार अथवा प्रलयकाल में सर्व संसार को अपने भीतर स्वीकार करता हुआ बतलाते हैं । और (शक्रः) शक्ति सम्पन्न (धीरः) धारणा और ध्यान से सम्पन्न एवं सब का पालक पोषक और (अदाभ्यः) किसी से पराजित एवं हिंसित न होने

४—(प्र०) 'विश्वादमग्निं यमु' इति मै० सं०, 'हुतादमग्निं यमु' इति काठः । (द्वि०) 'प्रतिग्रहीतारमाहुः' मै० सं० । काठ० । (तृ०) 'धीरोयः' इति मै० सं० । (प्र०) 'यमु काममाह' इति पैप्प० सं० ।

वाला अद्वितीय (परिभूः) सब पर वशकर्त्ता और सर्वव्यापक है (तेभ्यो-अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) इन सब गुण विशिष्ट अग्नि=परमात्मा की शक्तियों को मेरा स्मरण और त्याग प्राप्त हो । देखो कामसूक्त [अथर्व० का० ६ सू० २ ॥]

विश्वात्—अत्ता चराचरग्रहणात् । वेदान्तसूत्रम् । परमात्माका नाम 'अत्ता' है वह चराचर संसार को प्रलयकाल में खा जाता है । "कामोऽस्मि भरतर्षभ" और "प्रजनश्चास्मि कंदर्पः" इत्यादि गीता ।

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

भा०—हे परमात्मन् ! (यं होतारं त्वा) सब विश्व को ग्रहण करने एवं प्रलयाग्नि या अपने ही कालाग्नि स्वरूप में आहुतिरूप से डाल देने हारे तुझको विद्वान् लोग (मनसा अभि) अपनी मनः शक्ति, मानस योग से (अभि सं विदुः) साक्षात् ज्ञान करते हैं । (त्रयोदश भौवनाः) तेरह भौवन संवत्सर के अवयव १३ मास और (पञ्च मानवाः) पांच मनु की कलियत वसन्त आदि पांच ऋतुएं जिस प्रकार संवत्सर को अपने में व्यापक एक रूप करके तन्मय हुए रहते हैं उसी प्रकार विश्वकर्मा आदि १३ भौवन=सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की विशेष शक्तियां और पांच मानव अर्थात् शरीरगत् प्राणों के समान समष्टि में पांच तत्व जिसको अपने में व्यापक पाते हैं उस (वर्चोधसे) तेज, प्रकाश को धारण करने हारे (यशसे) महान यशः स्वरूप महामहिम, (सूनृतावते) वेद वाणी के स्वामी उस प्रभु के लिये (तेभ्यः अग्निभ्यः मम एतत् हुतम् अस्तु) और उसकी अग्निरूप अन्य शक्तियों को मेरा यह त्यक्त, आहुत पदार्थ उपकारक हो ।

५-(द्वि०) 'भुवनाः पञ्च' इति पैप्प० सं० ।

उत्तान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥
पूर्वार्धः ऋ० ८ । ४३ । ११ (प्र० द्वि०) ॥

भा०—हे वैश्वानर ! (उक्ष-अन्नाय) उक्षा=शरीर को एवं समष्टि रूप से समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले आत्मा को अपना अन्न=प्राप्य विषय बनाने वाले भक्त योगीजन, (वशा-अन्नाय) वशा=सब संसार को समष्टि, व्यष्टिरूप से वश करने वाली जीव=चेतना शक्ति को अपना अन्न=मानस भोजन बनाने हारे और (वेधसे) संसार के पदार्थों को रचना करने वाले (सोम-पृष्ठाय) आनन्द स्वरूप आनन्द का आस्वादन करने वाले (वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः) और वैश्वानर समस्त लोकों में व्यापक ब्रह्म जिन में सब से श्रेष्ठ है (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन जीवन मुक्त, ज्येष्ठ ज्ञानी आत्माओं के लिये मेरा यह समस्त त्याग–आहुति स्वीकार हो ।

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्वन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥७॥

भा०—और (ये दिवं) जो द्यौ लोक में, आदित्य और दिव्य विज्ञान के पीछे और (पृथिवीम्) पृथिवी और पार्थिव लोक रचना सम्बन्धी विज्ञान के पीछे और जो (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष, वायु विद्या के पीछे और (ये विद्युतम्) जो विद्युत् विद्या के पीछे २ (अनु सं चरन्ति) ज्ञान मार्ग से उनका अनुसरण करते, ज्ञान खोजते और उनका प्रयोग करते हैं और (ये दिक्षु अन्तः) जो दिशाओं के और (ये वाते) जो वात=प्रचण्ड वायु के ज्ञान में ही संलग्न हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन ज्ञानमय विद्वान् रूप अग्नियों के लिये हमारी त्याग रूप आहुति हो ।

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥८॥

भा०—(हिरण्य पाणिं) सुवर्ण को हाथ में लिये, धनाढ्य (सवितारं) किरणों से सम्पन्न, सूर्य के समान सब के प्रेरक (बृहस्पतिं) वेद विद्या के विद्वान्, (वरुणं) सबसे श्रेष्ठ, या पापियों के निवारक, (मित्रम्) जनता को मृत्यु से बचाने वाले, (अग्निम्) आगे २ मार्ग दिखाने वाले विद्वान् और (आंगिरसः) अंग २ विद्याओं में पारंगत या अंग=शरीर के भीतर व्यापक रसों के विज्ञान को जानने हारे आयुर्वेद के ज्ञाता (विश्वान् देवान्) समस्त विद्वानों को (हवामहे) हम एकत्र करके उनसे प्रार्थना करते हैं कि (इमम्) इस (क्रव्य-अदम् अग्निम्) क्रव्याद=नर देह को खाजाने वाली मृत्यु या श्मशानाग्नि एवं जनता में फैली हुई मृत्युकारी विपत्ति को (शमयन्तु) शान्त करें, राष्ट्र का ऐसा सुप्रबन्ध करें कि राष्ट्र में मौतें घट जांय। और लोक सुखी और चिरायु रहें।

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमत् ॥ ९ ॥

भा०—उपरोक्त इतना उपाय कर लेने पर (क्रव्यात् अग्निः शान्तः) मृत मनुष्यों के शरीरों को खाकर भस्म कर डालने वाली अग्नि अर्थात् मृत्यु का रौद्र संहार जो (पुरुष-रेषणः) पुरुषों का विनाश करने हारा है वह (शान्तः) शान्त हो जाता है (अथो) और जो (विश्व-दाव्यः) विश्व को वन वन्हि के समान जलाने वाला क्रव्याद् अग्नि है उसको हम (अशीशमन्) अपने प्रयत्न से शान्त कर दें।

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

९-(द्वि०) 'पुरुषरेविणः', (तृ०) 'विश्वदव्य' इति पैप्प० सं० ।
१०-(च०) 'अशीशमम्' इति क्वचित् ।

भा०—जन मारक महाव्याधि के और अकालिक विनाश करने के उपायों को संक्षेप से दिखाते हैं—(ये पर्वताः) जो पर्वत (सोम-पृष्ठाः) सोम जैसी बहुवीर्य ओषधियों को अपनी पृष्ठ पर उत्पन्न करते हैं और जो (आपः) जल (उत्तान-शीवरीः) सर्वदा सूर्य चन्द्र और नक्षत्र, इन ज्योतियों में खुले रहते हैं वे हंसोदक अथवा 'उत्तान'=ऊंचे गण्ड-शैलों में स्थित हैं जिनमें रोगनाशक गुण हैं और (वातः) प्रचण्ड वायु जो अपने झकोरों से ही हैज़े आदि रोगों को उड़ा ले जाते हैं और (पर्जन्यः) मेघ जिसके बरसने से अकाल दूर हो जाता है और (अग्निः) अग्नि जिससे यज्ञ और प्रज्वालन से गृह शुद्ध और नीरोग हो जाते हैं (ते) ये वे उपाय हैं जो (क्रव्य-अदम्) क्रव्य=मानव के अपरिपक्व शरीरों को खाने वाले मृत्यु एवं श्मशानाग्नि को (अशीशमन्) शान्त करते हैं ।

[२२] तेजस्वी होने की प्रार्थना ।

वसिष्ठ ऋषिः । वर्चो देवता । बृहस्पतिरुतविश्वेदेवाः । १ विराट् त्रिष्टुप्, ३ त्रिपदा परानुष्टुब् विराड्जगती, ४ अवसाना षट्पदा जगती, २, ५, ६, अनुष्टुभः । षड्र्चं सूक्तम् ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

भा०—(हस्ति-वर्चसं) हस्त=मारने के साधन हथियारों से सम्पन्न अथवा हस्ती के समान बलवान्, शस्त्र-योद्धा, राजा और बलशाली सेनापति का 'वर्चः' तेज, या हाथी के समान सर्वोपमर्दक बल या हाथियों की सेना

[२२] १–(द्वि०) 'आदित्यायम्' इति क्वचित् । (तृ०) 'विश्वेदेवासः' इति पैप्प० सं० ।

का वैभव और (बृहत् यशः) बड़ा भारी यश (यत्) जो (अदितेः) न खण्डित होने वाली अखण्ड और अदीन, स्वतन्त्र राष्ट्र प्रजा के (तन्वः) शरीर से (संबभूव) उत्पन्न हो वह (प्रथताम्) समस्त संसार में फैले। (सर्वे) सब ही (तत्) उस लोकयश और ख्याति के (मह्यं) मुझ राष्ट्र पालक को (सम् अदुः) प्रदान करते हैं। और (विश्वेदेवाः) सर्व राष्ट्र के शासक गण और (अदितिः) स्वतन्त, अखण्डित अधिकार वाली राष्ट्र प्रजा भी (स-जोषाः) सप्रेम मुझे उस यश और मान को प्रदान करते हैं। राजा किस प्रकार अपना यश प्राप्त करे इसके उत्तर में वेद कहता है कि स्वतन्त्र स्वायत्त शासन और अधिकार प्राप्त प्रजा ही राजा के मान का कारण है। पराधीन पंगु प्रजा राजा के मान की वृद्धि नहीं कर सकता।

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥

साम० पू० २ । ६ । १० ॥

भा०—(मित्रः) मित्र, न्यायाधीश, (वरुणः) वरुण, पोलिस विभाग और गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष और (इन्द्रः)=सेनापति और (रुद्रः) दुष्टों का रुलाने वाला दण्ड-विभाग का अध्यक्ष इनमें से प्रत्येक (चेततु) सदा सावधान रहें। (विश्व-धायसः देवासः) समस्त राष्ट्र के पालक पोषक अधिकारीगण विद्वान् होकर (मा वर्चसा अञ्जन्तु) मुझको अपने बल और तेज से सम्पन्न करें। सभी सावधान होकर जब कार्य करते हैं तब उनका बल भी राजा का बल कहाता है और उसकी प्रतिष्ठा का कारण होता है।

२–(द्वि०) 'चेततुः' इति बहुत्र, पैप्प० सं०। (च०) 'सोमः पूषा च चेततुः' इति साम०।

येन॑ ह॒स्ती वर्च॑सा संब॒भूव॒ येन॒ राजा॑ मनु॒ष्ये॑ष्व॒प्स्व॒ऽन्तः ।
येन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॒ आय॒न् तेन॒ माम॒द्य वर्च॒साग्ने॑ वर्च॒स्विनं॑ कृणु ॥३॥

भा०—(येन वर्चसा) जिस तेज से और बल पराक्रम से (हस्ती) हस्ती जैसा महाकाय जन्तु (सं बभूव) सामर्थ्यवान् हो जाता है और (मनुष्येषु अप्सु) राष्ट्र में व्यापक मानुष प्रजाओं में (येन) जिस बल पराक्रम से (राजा संबभूव) राजा सामर्थ्यवान् होता है । (येन) और जिस बल पराक्रम से (देवाः) विद्वान् पुरुष या पृथिवी, अप्, तेज, वायु आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन आदि दिव्य पदार्थ (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ में (देवताम्) देवभाव को, सृष्टि-उत्पादक विशेष सामर्थ्य को प्राप्त हुए, हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (अद्य) इस जीवन में (माम्) मुझ को (वर्चस्विनं) वर्चस्वी, तेजस्वी (कृणु) बनाओ ।

यत् ते॒ वर्चो॑ जातवेदो बृ॒हद् भव॒त्याहु॑तेः ।
याव॒त् सूर्य॑स्य॒ वर्च॑ आसु॒रस्य॑ च ह॒स्तिनः॑ ।
ताव॒न्मे अ॒श्विना॒ वर्च॒ आ ध॑त्तां॒ पुष्क॑रस्रजा ॥ ४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक प्रभो ! जिस प्रकार अग्नि में (आहुतेः) आहुति गिरने से उसका प्रकाश और ताप प्रचण्ड

३–(तृ०) 'अग्र आयम्' इति क्वचित् । (द्वि०) 'मनुष्येष्वन्तः' (तृ० च०) 'येनदेवा ज्योतिषा द्यामुदायन् तेन माग्ने वर्चसासंसृजेह' इति पैप्प० सं०

४–(द्वि०)–'आहुते' इति सायणः । 'आहुतम्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'कृणुतां पुष्क०' (तृ०) 'यावद् वर्चः सूर्यस्य' इति पैप्प० सं० ।

हो जाता है उसी प्रकार कालाग्नि स्वरूप आप में समस्त विश्व की महान् आहुति पड़ने से भी (यत् ते बृहद् वर्चः) आपका जो महान् तेज प्रकट होता है और इसके अंश रूप साक्षात् (सूर्यस्य) सूर्य का (यावत्-वर्चः) जो तेज और (आसुरस्य) असु प्राणों में रमण करने वाले (हस्तिनः) सबको आघात करने या व्यापने वाले प्राण का जो तेज है हे (अश्विना) द्यौ और पृथिवी और अध्यात्म में प्राण और अपान और राजा और प्रजा तुम दोनों (पुष्कर-स्रजा) नक्षत्र रूप या लोकरूप पुष्करों की माला पहने या देहरूप पुरियों को माला रूप से धारण करने वाले या पुष्टि करनेहारे, शासक, मुख्य पुरुषों के निर्माता या अपने में उनको माला रूप से धारने वाले होकर (तावत् वर्चः) उतना बल (मे आधत्ताम्) मेरे में धारण करावें।

पुष्कर=देखो परिशिष्ट सामवेद विशेषपद-दर्पण ।

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

भा०—(यावत् चतस्रः प्रदिशः) जितनी भर चारों दिशाएं हैं और यावत् चक्षुः (समश्नुते) और जितनी दूर तक हमारी चक्षु फैल सकती हैं (तावत्) उतना (मयि) मुझ में (हस्तिं-वर्चसम्) हस्ति के समान या सूर्य के समान (इन्द्रियं) मेरे आत्मा का सामर्थ्य (सम् आ एतु) मुझ में समा जाय । मैं अनन्त तेजस्वी हो जाऊं ।

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

भा०—(मृगाणां) पशुओं में से (हस्ती) हाथी (सुपदाम्) उत्तम सवारियों में से (अति-ष्ठावान्) अति अधिक स्थिर, निश्चल और सब से

५–(तृ०) 'समेतु' इति सायणः ।

बढ़ कर युद्ध में निर्भय, टिकाऊ और प्रतिष्ठादायी (बभूव ह) है इसी प्रकार आकाश-मण्डल में (सुपदां) सुस्थिर (मृगाणां) नक्षत्रों में से (हस्ती) सूर्य जिस प्रकार (ओत-छावान्) अति अधिक तेजस्वी है उसके (भगेन) लक्ष्मी, सौभाग्य (वर्चसा) और तेज से (अहम्) मैं स्वयं अपने आपको अपने राजपद के योग्य बनावें ।

[२३] उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की विधि ।

ब्रह्मा ऋषिः । चन्द्रमा उत योनिर्देवता, ५ उपरिष्टाद्-भुरिग्-बृहती, ६ स्कन्धोग्रीवी बृहती, १-४ अनुष्टुभः । षड्टुचं सूक्तम् ।

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ।
इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥ १ ॥

भा०—हे नारि ! (येन) जिस कारण से (वेहद्) तू बांझ या पुत्र को उत्पन्न करने में असमर्थ (बभूविथ) है (तत्) उस कारण को (त्वत्) तुझ से (नाशयामसि) हम दूर करते हैं । (इदं) इस (तद्) उस अप्रत्यक्ष कारण को (त्वद् अन्यत्र) तुझ से (दूरे) दूर (अप नि दध्मसि) परे कर देते हैं ।

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

भा०—वन्ध्यापन के कारण को दूर कर देने पर (ते योनिं) हे स्त्रि ! तेरे बालक उत्पन्न करने के स्थान, गर्भाशय भाग में (गर्भः) वीर्य कण से गर्भित हुआ (पुमान्) रजो डिम्ब अर्थात् पुमान् गर्भ (इषु-धिम्)

[२३] २-(प्र०) 'गर्भो योनिम् एतु', 'आवीरो जा०' इति आ० गृ० सू० ।

तर्कस में सुरक्षित (बाण-इव) बाण के समान (एतु) प्राप्त हो । और फिर (अत्र) इस गर्भ में (वीरः) पूर्ण वीर्यवान् (पुत्रः) पुत्र (दश-मास्यः) दश मासों तक पुष्टि को प्राप्त होकर (जायतां) उत्पन्न हो ।

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥ ३ ॥

भा०—हे नारि ! तू (पुमांसम् पुत्रम् जनय) पुमान्, पुत्र को उत्पन्न कर और (तम् अनु पुमान् जायताम्) उसके बाद भी पुनः पुमान् पुत्र ही उत्पन्न हो । और (यान् जनयाः) जिन २ पुत्रों को तू उत्पन्न करे उन (जातानाम्) उत्तम रीति से उत्पन्न हुए उन सब (पुत्राणाम्) पुत्रों की (माता भवासि) तू माता बनी रहे । अर्थात् तेरे सब पुत्र चिरकाल तक जीवित रहें ।

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

भा०—(ऋषभाः) वीर्य सेचन में समर्थ, उत्तम पुरुष (यानि) जिन (भद्राणि) कल्याणकारी (बीजानि) बीजों को (जनयन्ति) अपने

३–(च०) ‘ जनयाश्चयाम् ’ इति बहुत्र । (द्वि०) ‘ त्वं पुमान् ’ इति सायणः, पैप्प० सं० । ‘ पुमाननुजनयामित्र ’ इति पैप्प० सं० । (च०) ‘ जातानां विन्दस्वयान् ’ मै० ब्रा० । ‘ तेषां माता भविष्यसि जातानां जनयासि च ’ इति गो० गृ० सू० ।

४–(द्वि०) ‘पुरुषा जनयन्ति नः’ (तृ०) तेभिस्त्वं पुत्रं जनय सुप्रसूर्धेनुका भव ’ इति गो० गृ० सू० । ‘ यानि प्रभूणि वीर्याणि ऋषभाः जनयन्तु नः । तैस्त्वं गर्भिणि भव सा जायतां वीरतमा स्वानाम्० । सा प्रसूर्धेनुगा भव’ इति हि० गृ० सू० । ‘ तानि भद्राणि बीजानि ऋषभा जनयन्ति नौ ’ इति मन्त्रपाठे ।

शरीर में उत्पन्न करें एवं गर्भ में आहित करें (तैः) उन अमोघ बीजों से (त्वं) तू (पुत्रं विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर (सा) वह तू (प्रसूः) उत्तम रीति से पुत्रों को उत्पन्न करके (धेनुका भव) दूध पिलाने वाली सच्ची माता बन ।

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥

भा०—हे नारि ! (ते) तेरे लिये मैं (प्राजापत्यम्) प्रजापति का कार्य अर्थात् पुत्रोत्पत्ति या बीजवपन का कार्य (कृणोमि) करता हूं । (योनिम्) योनि स्थान में (गर्भः) गर्भ, गर्भित डिम्ब (आ एतु) आवे । हे नारि ! (त्वम् पुत्रम् विन्दस्व) तू ऐसे पुत्र को प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यं) तुझे (शम् असत्) कल्याण और सुख का देने हारा हो और हे नारि ! (तस्मै) उस पुत्र के लिये (त्वं उ शम् भव) तू भी शान्तिदायक, कल्याणकारिणी और सुखकारी माता हो । पुत्र माता को शान्ति दें, रोग का कारण न हों, जीवन में दुःख न दें, इसी प्रकार पुत्रों को माता कष्ट न दें, रोग न दें और शान्ति दें ।

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० ८ । ७ । २ तृ० च० ॥

भा०—(यासां) जिन (वीरुधाम्) लताओं का (पिता) परिपालक

५–(प्र०) 'करोमि ते' हि० गृ० सू० (द्वि०) 'आगर्भो योनिमेतु ते' इति पैप्प० सं० ।

६–(प्र०) 'द्यौष्पिता' इति क्वचित् । (प्र० द्वि०) 'यासां पिता पर्जन्यो भूमिर्माता बभूव'

(द्यौः) सूर्य और (माता पृथिवी) माता पृथिवी और (समुद्रः) जल धाराओं का बरसाने वाला मेघ (मूलं) मूल (बभूव) है (ताः) वे (देवीः) दिव्य ओषधियां हे नारि ! (ओषधयः) रस वीर्य विपाक को धारण करने वाली होकर (त्वा) तेरी और तेरे गर्भ को (पुत्र-विद्याय) पुत्र लाभ के लिये (प्र अवन्तु) रक्षा करें ।

[२४] उत्तम धान्य और ओषधियों के संग्रह का उपदेश ।

भृगुर्ऋषिः । वनस्पतिरुत प्रजापतिर्देवता । १, ३-७ अनुष्टुभः, २ निचृत्पथ्यापंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः ।
अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ३६ ॥ पूर्वार्धः ऋ० १० । १७ । १४ प्र० द्वि० ॥

भा०—गर्भ पालन के निमित्त धान्य और ओषधियों के संग्रह करने का उपदेश करते हैं । (ओषधयः) धान्य आदि ओषधियां (पयस्वतीः) शरीर को पुष्ट करने में समर्थ, सार भाग से युक्त हों, और (मामकं वचः) मेरा वचन भी (पयस्वत्) सार और रस से पूर्ण हो, (अथो) और (अहं) मैं (सहस्रशः) हजारों (पयस्वतीनाम्) अन्नादि सारभूत पुष्टिकारक पदार्थों से युक्त वनस्पतियों को (आ भरे) अपने घर पर नित्य लाऊं ।

[२४] १-(तृ० च०) 'अपां पयस्वदित्पयस्तेन मासह शुन्धत' इति ऋ० । (च०) 'भरेयम्' इति सायणः । 'अथो पयस्वतीं पय आहरामि सहस्रशः' इति पैप्प० सं० ।

वेदाहं पयस्वन्तं चकारं धान्यं/बहु ।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥२॥

भा०—(अहं) मैं उस (पयस्वन्तं) सब से अधिक सारभूत पदार्थों से सम्पन्न, सब में पुष्टिकारक पदार्थों के प्रदाता रस-सागर मेघ को (वेद) भली प्रकार जानता हूं जो (बहु धान्यं चकार) बड़ी भारी धान्य उत्पन्न करता है। (यः) जो (देवः) देव (सम्भृत्वा नाम) सब स्थानों से रस को संग्रह करने हारा है। और (यःयः) जो २ (अयज्वनः) यज्ञ न करने हारे, अदानशील पुरुष के घर में भी बराबर संग्रह करता है (तं वयं हवामहे) उसकी हम स्तुति करते हैं, उसका हम यथार्थ वर्णन करते हैं।

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

भा०—(इमाः याः) ये जो (पञ्च प्र-दिशः) पांच उत्तम रीति से ज्ञान का उपदेश करने और उन्नति पथ को दिखाने हारे पञ्च गुरु या पांचों दिशाओं के वासी (पञ्च मानवीः कृष्टयः) पांच मननशील ऐसी प्रजाएं हैं जो कृषि करके अपना अन्न उत्पन्न करती हैं वे (इह) इस लोक में (वृष्टेः नदी शापम् इव) वृष्टि से जल गिरने पर जैसे नदियां प्रभूत जल-पूर लाती हैं उसी प्रकार अन्नों से ये पांचों प्रजाएं भी (स्फातिम्) प्रतिष्ठा और समृद्धि को (सम्-आवहान्) प्राप्त करें।

२—(प्र०) 'अहं वेद यथा पयः' (तृ०) 'यो वेदस्त्वं यजामहे सर्वस्य यश्च नो गृहे' इति पैप्प० सं०।

३—(द्वि०) 'मानवैः पञ्च गृष्टयः' (तृ० च०) 'सर्वाः शम्भूर्मयोभुवो वृषे शापं नदीरिव' इति पैप्प० सं०।

उत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं/सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (उत्सम्) जल का स्रोत (शत-धारम्) सैकड़ों धाराओं और (सहस्र-धारम्) हजारों धाराओं वाला (अक्षितम्) अक्षय होता है, (एवा) इसी प्रकार (अस्माकम् इदं) हमारी यह (धान्यं) धान्य की फसल भी (सहस्रधारम्) सहस्रों धाराओं से युक्त होकर (अक्षितम्) अक्षय खजाना बना रहे ।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्य/स्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥

भा०—हे (शत-हस्त) सैकड़ों हाथों—श्रमीजनों को स्वामिन् ! और हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों—श्रमीजनों के स्वामिन् ! (सं किर) खेत में एक ही समय सर्वत्र बीज बखेर दो । और (कृतस्य) अपने किये (कार्यस्य) कृषि कार्य की (इह) इस उपजाऊ क्षेत्र में (स्फातिं) भारी फसल को (सम् आवह) प्राप्त करो ।

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥

भा०—फसल को तैयार करने के लिये (गन्धर्वाणां) गौ पृथिवी को धारण करने वाले ज़मींदार कृषकों और जल वायु और सूर्य इनकी (तिस्रः मात्राः) तीन मात्राएं हैं, तीन अंश हैं । (गृह-पत्न्याः) गृह की

४–' यथा रूपः शतधारः सहस्रधारो अक्षितः । एवा मे अस्तु धान्यं सहस्रधारमक्षतम् ' इति पैप्प० सं० ।

५–(द्वि० तृ०) 'सहस्रैव संगिरः यथेयं स्फातिरायसि' इति पैप्प० सं० ।

६–(च०) ' मर्शामसि ' इति पैप्प० सं० ।

पत्नी पृथिवी और घर की मालकिन की भी (चतस्रः मात्रा) चार मात्राएं हैं। चार अंश हैं। (तासां) उन सब विधियों में से जो (स्फातिमत्-तमा) सब से अधिक अन्न को समृद्ध करने वाली है (तया) उस शैली से (त्वा अभि मृशामसि) तुझे बढ़ावें और उन्नत करें। वायु, जल और सूर्य इन तीन गन्धर्वों की तीन मात्राएं हैं, रस-दान, प्राणानुप्राणन, और तेजो भाग का देना। पृथिवी उनकी गृहपत्नी है इसलिये उसके चार अंश हैं। पार्थिव अंश से आश्रय देना, मूलारोपण, स्थापन, अभिवर्धन और बीजोद्गमन। इसी प्रकार अन्न को प्राप्त करने में कृपाण पुरुषों का कार्य है हल-कर्षण, बीजवपन और सेवन, स्त्रियों के कार्य हैं धान्य रक्षा, काटना झाड़ना पिछोरना और संग्रह करना। इत्यादि।

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

भा० —हे प्रजापते ! प्रजा के स्वामिन् ! (उपोहः च) उपोह और (समूहः च) समूह ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे क्षत्ता=मन्त्री हैं (ते) वे दोनों (इह) इस लोक में (बहुम्) संख्या में अधिक और (भूमानम्) परिमाण में भी अधिक (अक्षितं) अक्षय (स्फातिम्) अन्न समृद्धि को (वहतां) प्राप्त करावें। धान्य फसल को खेत में प्राप्त कराने और पुनः उसका उत्तम रीतिसे संग्रह करने वाली शक्तियां व उपोह और समूह, दो शब्दों से बतलाई गई हैं। राजा के पास दो शक्तियां हैं (१) धान्य को फटक २ कर साफ करना (२) सब खेतों से उसको एकत्र संग्रह करना।

७–(तृ०) 'वहतम्' इति क्वचित्।

[२५] काम-शास्त्र और स्वयंवर का उपदेश ।

जयकामो भृगुर्ऋषिः । मैत्रावरुणौ कामेषुश्च देवता । १—६ अनुष्टुभः । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

उत्तुदस्त्वोत् तुंदतु मा धृंथाः शयंने स्वे ।
इषुः कामंस्य या भीमा तयां विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

भा०—वास्तविक काम शक्ति के रहस्य का उपदेश करते हैं—हे स्त्री और पुरुषो ! (उत्-तुदः) जब उत्तम रूप से व्यथा देने या प्रेरणा करने वाला उत्तेजक काम (त्वा उत्-तुदतु) तुझे भली प्रकार व्यथा देता है तब (शयने स्वे) अपने सेज पर भी अपने सुख चैन से तुम (मा धृथाः) नहीं सो सकते । (कामस्य) पुत्रोत्पादन करने, आभ्यन्तर पुत्रैषणा रूप काम को (या भीमा इषुः) जो भयंकर कामना है (तया त्वा हृदि) उससे मैं पुरुष तुझ स्त्री के और स्त्री पुरुष के हृदय में (विध्यामि) मारता हूं ।

आधीपंर्णां कामंशल्यामिषुं सङ्कल्पकुंल्मलाम् ।
तां सुसंन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

भा०—काम बाण से होने वाली पीड़ा का वर्णन करते हैं । इस दशा में स्त्री-पुरुष की मानसिक दशा को अलंकार से दर्शाते हैं । हे मेरे प्रियतम! और हे मेरी प्रियतमे ! (कामः) कामदेव (त्वा हृदि) तेरे हृदय में (तां इषुम्) उस बाण को (आधीपर्णां) व्यथा रूप पखों से सजाकर (कामशल्याम्) काम=परस्पर अभिलाषा या दृढ़ रूप से एक दूसरे के प्रति चाह का शल्य=फला लगा कर उनको (संकल्पकुल्मलाम्) नाना संकल्प विकल्पों की लेस से चिपका कर और (तां सुसन्नतां कृत्वा) उसको खूब

[२५] १–(द्वि०) 'मा दृथाः' इति सायणसम्मतः पाठः ।
२–(तृ०) 'ता सुप्र०.' इति क्वचित ।

उत्तम रीति से झुकाकर (कामः) स्मर देव (त्वा हृदि) तेरे हृदय में (विध्यतु) ताड़े कि तू मुझे ही एक मात्र चाहे ।

या प्लीहानं शोपयति कामस्येपुः सुसंनता ।
प्राचीनंपक्षा व्योपा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

भा०—(या) जो (कामस्य) कामदेव का (इपुः) इच्छा रूप बाण (सु-संनता) मानो खूब कमान झुकाकर छोड़ा जाता है अर्थात् जिसमें प्रेमी के प्रति हृदय अति प्रवण हो जाता है, प्रबल रूप से हृदय में लगजाता है वह (प्लीहानं) प्लीहा-पिलही तक को (शोपयति) सुखा डालता है । वही (प्राचीनपक्षा) सरल पक्षों से युक्त होकर भी (व्योपा) नाना प्रकार से हृदय को तड़पाता है । उस काम के हृदय में पीड़ा पहुंचाने वाले संकल्प-मय बाण से हे प्रियतम ! प्रेम पात्र व्यक्ति में (त्वा हृदि विध्यामि) तेरे हृदय में प्रहार करूं ।

शुचा विद्धा व्योपया शुष्कास्याभि सर्प मा ।
मृदुर्निर्मन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

भा०—इस प्रकार परस्पर प्रेम भाव बंध जाने पर प्रथम वर अपनी पतिंवरा कन्या के प्रति यह भाव प्रकट करे कि हे प्रियतमे! तू (व्योपया) नाना प्रकार से या विशेष रूप से दहन करने या तपाने वाले (शुचा) शोक से (विद्धा) संतापित, पीड़ित होकर (शुष्क-आस्या) विरह वेदना में अन्न और जल छोड़ देने के कारण सूखे कण्ठ वाली होकर भी (केवली) एक मात्र तू ही (प्रिय-वादिनी) प्रिय वचनों को बोलती हुई सुमधुर-भाषिणी और (अनुव्रता) मेरे मनोनुकूल सब गृह कार्य और गृहस्थव्रतों का पालन करती हुई (मृदुः) अति कोमल शरीर वाली, मृद्वङ्गी, शिरीष-कुसुम-कोमलाङ्गी (नि-मन्युः) हार्दिक क्रोध को परित्याग करके (मा अभि सर्प) मेरे समक्ष, मुझे वरने के लिये सभा में उपस्थित हो ।

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

उत्तरार्धं अथर्व० ६ । ९ । २ ॥ १ । ३४ । २ ॥

भा०—(अजन्या त्वा) कुमारी स्वरूप तुझ अपनी प्रियतमा के संग में (मातुः परि आ) तुम्हारी माता के समक्ष (अथो पितुः आजामि) और पिता के समक्ष विवाहित होने के निमित्त आऊं (यथा) जिससे तू (मम क्रतौ असः) मेरे संकल्प और गृहस्थ कार्य में सहायक हो और मेरे संकल्प के अनुसार रहे और (मम चितम् उपायसि) मेरे चित्त को प्राप्त हो ।

व्य/स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

भा०—कन्या के माता पिता से वर की प्रार्थना । हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! शोडष वर्ष तक संतान के प्राप्त हो जाने पर पुत्र के प्रति मित्र भाव से रहने वाले कन्या के पिता ! और हे सब में श्रेष्ठ रूप माता ! (अस्यै) इस कन्या के (हृदः) हृदय में से (चित्तानि) औरों के चित्तों को (वि अस्यतम्) विशेष रूप से दूर कर दो । अर्थात् अन्य सब प्रस्तुत वरों के प्रति उठे इसके विविध विचारों को दूर कर दो । और (एनाम्) इसको (अक्रतुम्) अन्य सब संकल्पों से रहित, निश्चिन्त (कृत्वा) करके (मम एव वशे) मेरे ही वश में (कृणुतम्) कर दो ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च पञ्चत्रिंशत् ।]

[२६] प्रबल शक्तिधारी देव के छः रूप ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रः अग्न्यादयोवा बहवो देवताः । १–६ पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा त्रिष्टुप, १ त्रिष्टुप्, २, ५, ६ जगती, ३, ४ भुरिग् । षड्‌चं सूक्तम् ॥

**ये॒ऽस्यां स्थ प्राच्यां॑ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥१॥**

भा०—इस सूक्त में ६ प्रकार के प्रबल शक्तिधारी देवों का प्रतिपादन करते हैं । हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! आप लोगों में से (ये) जो (अस्यां) इस (प्राच्यां) सन्मुख वाली मुख्य दिशा में आप (हेतयः नाम स्थ) उपद्रवकारी लोगों को शान्त करने हारे होने के कारण 'हेति' नाम वाले हो (तेषां वः) उनमें से आप लोगों का (अग्निः इषवः) अग्नि के समान ज्ञान नाशक एवं पापी पुरुषों को भस्म कर देने हारा ज्ञान मय इषु अस्त्र है (ते) वे आप लोग (नः मृडत) हमें सुखी रखें । (ते नः अधि ब्रूत) वे आप हम लोगों को उपदेश करें । (तेभ्यो वः नमः) उन आपके लिये हमारा सदा सादर नमस्कार है । (तेभ्यो वः स्वाहा) आप के लिये हमारी सदा शुभागमन की शुभवाणियां हैं ।

**ये॒ऽस्यां स्थ दक्षि॑णायां दि॒श्य॑वि॒ष्यवो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वः॒ काम॒ इष॑वः ।
ते नो॑० ॥ २ ॥**

भा०—(ये देवाः) जो देव विद्वान्‌गण (अस्याम् दक्षिणायाम् दिशि) इस दक्षिण=बलसाध्य कार्य की दिशा में आप लोग हैं वे (अविष्यवः) समस्त संसार की रक्षा करने की इच्छा वाले हैं । इस लिये आपका नाम

[२६] १–(प्र०) 'रक्षः पेऽस्यां' इति प्रतिस्नन् इति पैप्प० सं० ।
२–(द्वि०) 'अवस्यवो' इति सायणः ।

'अविष्यु' या 'अवस्यु' है (तेषां वः काम इषवः) उन आप लोगों का (कामः) प्रबल संकल्प ही इषु=बाण है । (तेनो अवन्तु०) वे आप हमें सुखी करें, हमें उपदेश करें, आपको हमारा सादर नमस्कार और स्वागत है ।

ये॒३॑स्यां स्थ प्रतीच्यां॑ दि॒शि वैरा॒जा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ आप॒ इष॑वः । ते नो॑० ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याम् प्रतीच्याम्) इस पश्चिम या अपने से पीठ पीछे की दिशा में (ये देवाः) जो देव हैं वे (वैराजाः नाम) 'वैराज' विशेष प्रकार से प्रकाशमान, विद्वान् हैं (तेषां वः आपः इषवः) उन आपकी (आपः) व्यापक प्रजाएं या ये जल, रस ही (इषवः) आघातकारी साधन हैं । वे आप हमें सुखी करें और हमें उपदेश करें, आप को हमारा सादर नमस्कार है और आपका स्वागत है ।

ये॒३॑स्यां स्थोदी॑च्यां दि॒शि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः । ते नो॑० ॥ ४ ॥

भा०—और (ये देवाः) जो देव (अस्याम् उदीच्याम् दिशि) इस उत्तर दिशा में बायीं ओर हैं वे (प्रविध्यन्तः नाम) प्रबलता से ताड़ने वाले हैं (तेषां वः) उन आपका (वातः इषवः) वात, प्रचण्ड वायु के झकोरें और प्राण ही बाण हैं । वे आप हमें सुखी करें और हमें उपदेश करें आपका हम आदर करते और स्वागत करते हैं ।

ये॒३॑स्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दि॒शि नि॑लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः । ते नो॑० ॥ ५ ॥

३–(द्वि०) 'विराजाः' इति पैप्प० सं० ।

५–'निलिम्पा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—और (ये देवाः) जो देव गण (अस्यां ध्रुवायां दिशि) इस ध्रुवा, अविचल पृथिवी की ओर नीचे की तरफ (देवा) देव गण हैं वे (ते निलिम्पा नाम) निलिम्प=चिपटने हारे हैं । वे अपने मूल छोड़ कर पृथिवी के साथ चिपट जाते हैं, (तेषां वः ओषधी इषवः) उन आप लोगों के (ओषधिगण) ही इषु हैं, आप उनसे रोगादि दूर करके हमें सुखी करें, हमें उपदेश करें और आप को हम नमस्कार करते और स्वागत करते हैं ।

ये॒३॑स्यां स्थो॒र्ध्वायां॑ दि॒श्यव॑स्वन्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ बृह॒स्पति॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नो॑ऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

भा०—हे (देवाः) देव गण ! (ये देवाः) तुम जो देवगण (अस्यां ऊर्ध्वायां स्थ) इस ऊर्ध्व दिशा में हो ये (अवस्वन्तः) बडे भारी पालक हो । आप लोगों के (इषवः) प्रहार साधन भी (बृहस्पतिः) महान ब्रह्माण्ड का पालक है । वे आप हमारी रक्षा करें । हमें उपदेश करें और हमारा आप को नमस्कार है और आप का हम स्वागत करते हैं । इस सूक्त का रहस्य अगले सूक्त में स्पष्ट करेंगे ।

[२७] शक्तिधारी देव के छः रूप ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र अग्न्यादयश्च बहवो देवताः । १–६ पञ्चपदा ककुम्मतीगर्भा अष्टिः । २ अत्यष्टिः, ५ भुरिक् । षट्टृचं सूक्तम् ॥

प्राची॒ दिग॒ग्निरधि॑पतिरसि॒तो र॑क्षि॒तादि॒त्या इष॑वः ।
तेभ्यो॒ नमो॑ऽधिपतिभ्यो॒ नमो॑ रक्षि॒तृभ्यो॒ नम॒ इषु॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यो अस्तु ।
यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ १ ॥

६–अन्ते 'इति रक्षामन्त्रम्' इति पैप्प० सं० ।

[२७] १–' ऋषिभ्यो नम एभ्यो ' अन्ते ' तमु प्राणो जहातु ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(प्राची दिक्) प्राची दिशा, उस में (अग्निः अधिपतिः) अग्नि अधिपति है । (असितः रक्षिता) असित, रक्षा करने हारा है और उसके (आदित्याः इषवः) आदित्य इषु=बाणों के समान है । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः नमः) उन इस और अगले मन्त्र में कहे गये अधिपतियों को नमस्कार हो (रक्षितृभ्यो: नमः) उन रक्षा करने वालों को नमस्कार हो (इषुभ्यः नमः) आदित्य आदि बाणों को नमस्कार हो (एभ्यो: नमः अस्तु) इन सब को नमस्कार हो । (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमें द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम द्वेष करते है (तं वः जम्भे दध्मः) उसको हम आप लोगों के वश में रखते हैं ।

दक्षि॑णा॒ दिगिन्द्रो॒ऽधि॑पति॒स्तिर॑श्चिराजी र॒क्षि॒ता पि॒तर॒ इष॑वः ।
तेभ्यो॒ ० । ० ॥ २ ॥

भा०—(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा का (इन्द्रः अधिपतिः) इन्द्र अधिपति और (तिरश्चिराजी रक्षिता) समस्त तिर्यक्जन्तुओं में विराजमान प्रभु रक्षक है । (पितरः) पालक पितृ गण उसके इषु=बाण रूप हैं । (तेभ्यो नमः इत्यादि पूर्व मन्त्र में देखो)

प्र॒तीची॒ दिग् वरु॑णो॒ऽधि॑पतिः पृदा॑कू र॒क्षि॒तान्न॒मिष॑वः ।
तेभ्यो॒० । ० ॥ ३ ॥

भा०—(प्रतीची दिक्) प्रतीची, पश्चिम दिशा में (वरुणः अधिपतिः) सब पापों से रक्षक, सर्व श्रेष्ठ अधिपति=पालक है (पृदाकू रक्षिता) पृत्=समस्त मनुष्यों में वाणी का संञ्चार करने वाला प्रभु रक्षिता है और (अन्नम् इषवः) अन्न उसके बाण है । तेभ्यो नमः इत्यादि पूर्ववत् ॥

२–'तिरश्चीनराजी रक्षिता' इति मै० सं० । 'वसव इषवः' इति पैप्प० सं० ।
३–'सोमोऽधिपति' इति तै० सं०, मै० सं० ।

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(उदीची दिक्) उदीची=उत्तर की दिशा में (सोमोऽधिपतिः) सोम सब का प्रेरक और (उत्पादक) प्रभु अधिपति है (स्वजः) स्वतः उत्पन्न, स्वयंभू, परमात्मा (रक्षिता) रक्षक है और (अशनिः इषवः) अशनि वज्र ही उसके बाण हैं (तेभ्यो नमः०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कुल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो० । ० ॥ ५ ॥

भा०—(ध्रुवा दिक्) ध्रुवा, नीचे की, पृथ्वीतल की दिशा में (विष्णु) अधिपतिः) व्यापक प्रभु अधिपति है और (कल्माषग्रीवः) हरे लाल नाना रंगों से सुशोभित वृक्ष लता आदि से चित्रित वनस्पति संसार जिस के ग्रीवा के समान हैं ऐसा प्रभु रक्षक है और (वीरुधः इषवः) लताएं उस के बाण हैं (तेभ्यो नमः०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

भा०—(ऊर्ध्वा दिक्) ऊर्ध्व, ऊपर, द्यौ लोक की दिशा में (बृहस्पतिः अधिपतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड एवं वेदवाणि का स्वामी अधिपति-स्वामी है

४—'वरुणोऽधिपतिः', तै० सं०, मै० सं० ।

५—'कुल्माषग्रीवो' इति पैप्प० सं० । 'यमोऽधिपतिः' इति तै० सं० ।

६—'अशनिरिषवः' इति पैप्प० सं० । 'चित्रो रक्षिता' इति क्वचित् । 'बृहती-दिक्' इति तै० सं० ।

(श्वित्रः रक्षिता) प्रकाशस्वरूप प्रभु, रक्षक है और (वर्षम् इषवः) वर्षाएं उसके बाण हैं । तेभ्यो नमः० इत्यादि पूर्ववत् ।

दिशा	देव	अधिपति	रक्षिता	इषु
प्राची	हेतयः	अग्निः	असितः	अग्निः, आदित्याः
दक्षिणा	अविष्यवः	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	कामः, पितरः
प्रतीची	वैराजाः	वरुणः	पृदाकूः	आपः, अन्नम्
उदीची	विध्यन्तः	सोमः	स्वजः	वातः, अशनिः
ध्रुवा	निलिम्पाः	विष्णुः	कल्माषग्रीवाः	ओषधीः, वीरुधः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः	श्वित्रः	बृहस्पतिः, वर्षम्

इस नक्शे पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रथम और द्वितीय दोनों सूक्तों की तुलना से प्रथम सूक्त के इषु दूसरे सूक्त के अधिपति हैं । और दूसरे सूक्त के इषुओं के गुण और कर्म प्रथम सूक्त के 'देव' हैं । 'रक्षिता' अधिपति का स्वरूप है । जैसे (१) प्राची दिशा का अधिपति अग्नि=सूर्य है उसका स्वरूप असित=बन्धन रहित है, उसके किरणों की गति कहीं सीमित नहीं है । इसके बाण अर्थात् वह शक्ति जिससे वह सब का स्वामी है 'आदित्य' अर्थात् स्वतः किरणों का पुञ्ज सूर्य और उसकी किरण हैं । वे किरण ही उस प्रभु की इषु=वह शक्ति है जिससे वह जीवन के विघातक रोग और अन्धकार का नाशक है । उन इषुओं का गुणवाचक

ओर क्रियाप्रदर्शक नाम 'हेति' हैं। अर्थात् रोगजन्तु के नाशक और दूरगामी हैं। वे सूर्य से मानो फेंके जाते हैं। (२) दूसरी दिशा दक्षिण में 'पितर' इषु हैं। जीवों के पिता माता जीवों को उनके घातकों से बचाते हैं उनकी पुत्रेषणा='काम' है। उसका दूसरा रूप 'इन्द्र' है। समस्त कामनाओं का एकमात्र आश्रय आत्मा है। सब तिर्यग् जन्तुओं में रक्षक रूप होकर, सर्वत्र माता पिता बन कर वह सब जीव जन्तुओं की रक्षा कर रहा है। उनका कर्म है 'अविष्यु' अर्थात् बचा लेने की इच्छा ही उनका विशेष गुण है। (३) तीसरी दिशा प्रतीची के इषु=अर्थात् जीवों को मृत्यु से बचाने वाले साधन 'अन्न' और 'आपः' हैं। अन्नों का अधिपति मूलपालक वरुण है जो स्वतः जल है। 'वैराजाः' अर्थात् अन्न से उत्पन्न प्राण उस दिशा के देव हैं। समस्त प्राणी उसकी पुकार करते हैं 'अन्न, अन्न' इसलिये अन्नदाता 'पृदाकू' है। (४) उत्तर दिशा में 'अशनि'=विद्युत् ही इषु हैं। सोम=प्रेरक या उसका उत्पादक सोम=वात अधिपति है। क्योंकि वायु की रगड़ से या देह में प्राणबल (Metobolism) से विद्युत् शक्ति या (Personal Magnatism) उत्पन्न होता है। उसका गुण है प्रवेध-प्रबल आघात करना। उसका स्वरूप है 'स्वजः' स्वयं गति करना और आप से आप बहना या उत्पन्न होना। (५) 'ध्रुवा' नीची पृथ्वी की दिशा में ओषधियां, लताएं ही जीव को मृत्यु से बचाती हैं, वे इषु हैं। वे पृथ्वी में सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु उनका अधिपति है, नाना वर्ण के पुष्प पत्रादि होने से 'कल्माषग्रीव' उनका रक्षक है, उनके लेपन आदि करने से भूतलवासी सर्प आदि विषैले जन्तुओं का नाश होता है अतः उसके देव वैद्य 'निलिम्प' हैं, या यह गुण स्वतः देव हैं। (६) ऊर्ध्वा दिशा में वहां से आने वाले वर्षा-जल मृत्यु से बचाने वाले इषु हैं। बृहस्पति=मेघ अधिपति है। श्वित्र=सूर्य रक्षक है। जीवों के प्राणों की रक्षा करना ये दिव्य गुण हैं। इत्यादि विचारों की योजना करना उचित है इति दिक्।

[२८] 'यमिनी' राजसभा और गृहणी के कर्तव्यों का उपदेश ।

पशुपोषणकामो ब्रह्मा ऋषिः । यमिनी देवता । १ अतिशाक्करगर्भा चतुष्पदा अतिजगती, ४ यवमध्या विराट्-ककुप्, ५ त्रिष्टुप्, ६ विराड्गर्भाप्रस्तारपंक्तिः । २, ३ अनुष्टुभौ । षड्चं सूक्तम् ॥

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बंभूव यत्र गा असृंजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।
यत्रं विजायंते यमिन्यंपुर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशंती ॥१॥

भा०—(एकैकया) एक एक ही (सृष्ट्या) सृष्टि=सर्जन व्यवस्था रचना के नियम (Organisation) से (एषा) यह जगत् की रचना (सं बभूव) एकत्र होकर बनी है । यत्र जिसमें (भूतकृतः) प्राणियों को उत्पन्न करने वाली (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (गाः) गतियां, आश्रयरूप भूमियां, शक्तियां (असृजन्त) बनी हैं । (यत्र) और जहां (यमिनीः) वह नियमकारिणी अथवा नियामक परमेश्वरी शक्ति, तत्स्थानीय राजशक्ति (अपर्तुः) विना नियत ऋतु अर्थात् उचित काल के (विजायते) विपरीत, एक दूसरे की विरोधी रूप में होने लगती हैं (सा) वह अव्यवस्था (पशून्) पशुओं को, जीवों को (रिफती) विनाश करती हुई, (रुशती) और मारती हुई, कष्ट देती हुई (क्षिणाति) उनका विध्वंस कर देती है । अथवा जिस प्रकार विना ऋतु के, बेमौसम (यमिनी) जोड़ा जनने वाली गाय विपरीत नियम से जोड़े बच्चे पैदा करती है वह पशुओं के विनाशसूचक होती है उसी प्रकार एक ही व्यवस्था जीवों को सुख देती, विरुद्ध=विपरीत अनवसर-व्यवस्था जीवों का नाश करती है ।

अथवा—एक परमात्मा से संगत एक प्रकृतिरूप (सृष्टि) सर्जन

[२८] १–' रुपती ', ' रुष्यती ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) ' एकैकयेषां ', ' सृष्ट्वा ' इति क्वचित् ।

शक्ति='प्रधान' जब (सं बभूव) उचित रीति से व्यक्त रूप में प्रकट हुई तब (विश्वरूपाः) नानारूप धारण करने वाली (भूतकृतः) पञ्च भूतों को पैदा करने वाली (गाः असृजन्त) नाना विकृतियां (असृजन्त) बनीं (यत्र) जब (यमिनी) प्रकृति (अपर्तुः) ऋतु=सत्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान या सत्यमय स्वभाव से शून्य होकर (विजायते) विपरीत—रजः तमःरूप में विकृत होती है तब (सा) वह (रिफती रुशती) राजस और तामस भावों से गर्भस्थ बालकों का नाश करती हुई (पशून् क्षिणोति) जीवों के विनाश का कारण होती है ।

अथवा—(एकाऽएकया एषा सृष्ट्या सं बभूव) यह समस्त लोक प्रजा वर्ग एक पुरुष, एक नर, इस प्रकार एक के साथ एक सृष्टि=सर्जन शक्ति के संयोग से उत्पन्न हुआ-हुआ । (यत्र) जिस लोक में (विश्वरूपा भूतकृताः गाः असृजन्त) नाना प्रकार की गौएं, भूमियां, योनियां, माताएं, स्त्रियें, जीव गर्भ-धारक क्षेत्र बनाये गये हैं । (सा यमिनी) यदि जोड़ा बनी अपने नरशक्ति से संगत माद्दा प्रकृति नारी, वह (अपर्तुः) ऋतुकाल के विना ही (यमिनी) दूसरी उत्पादक नरशक्ति पुरुष से संगत होकर (विजायते) विरुद्ध प्रजा उत्पन्न करे तो (सा) वह स्त्री (रिफती रुशती) हिंसाशील, क्रोधपरायण होकर (पशून क्षिणात्) उन बीजरूप जीवों का नाश करती है ।

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

भा०—(एषा) वह अव्यवस्थापिका सभा, विपरीत जाने हारी शासन-समिति (व्यद्वरी[1]) एक दूसरे को खा जाने वाली होने के कारण (क्रव्याद्) एक दूसरे के शरीर के मांस की लोलुपा (भूत्वा) होकर (पशून्)

१. 'वि-अद्वरी' इति पदपाठः । 'व्यध्वरी' इति सायणः ।

पशुओं का, मूर्ख अनभिज्ञ साधारण प्रजाजनों का (सम् क्षिणोति) खूब परस्पर नाश कराती है । तब क्या उपाय करे (उत) तो फिर (एनां) इस दुर्व्यवस्था की बागडोर (ब्रह्मणे दद्यात्) ब्रह्म=वेद के जानने हारे परम विद्वान् पुरुष, जज्ज, व्यवस्थापक के हाथ में देदे (तथा) तभी वह (स्योना) सुखकारिणी और (शिवा) मंगलजनक (स्यात्) हो जाती है । अथवा—वह तामसी और राजसी प्रकृति एक दूसरे की विनाशिका होने से मनुष्य के शरीर की विनाशक हो जाती है और जीवों को नष्ट करती है इसलिये जीवों को चाहिये कि उस प्रकृति को ब्रह्म—अर्थात् सत्व के अधीन कर दे, जिससे वह भी सुख और कल्याणकारी हो जाय ।

अथवा—यदि वह नारी केवल (व्यद्वरी) भोगप्रिया होकर (क्रव्याद्) कच्चे जीवों का नाशक होकर और बीजभूत जीवों का विनाश करे तो भी उसको (ब्रह्मणे) विद्वान् वैद्य के पास ले जाय जिससे पुनः गृहस्थसुख को देने वाली हो जाय ।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

भा०—हे यमिनि=राजव्यवस्थापिके ! (पुरुषेभ्यः शिवा भव) तू राष्ट्र के पुरुषों के लिये कल्याणकारी हो और (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और अश्व आदि पशुओं के लिये भी कल्याणकारी हो । (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा भव) इस समस्त क्षेत्र=राष्ट्र के लिये कल्याण, सुखकारी हो और (नः) हमें (शिवा इह) कल्याण=सुख की देने हारी होकर यहां (एधि) विराजमान रह ।

नारी के पक्ष में भी स्पष्ट है कि वह ऋतुकाल से अतिरिक्त भोग न करके यमिनी=गृहस्थ व्यवस्था में अपने पति से संगत रह कर, गृह के

पुरुषों और पशुओं के लिये सुखकर हो, अपने क्षेत्र के लिये भी सुखदायिनी हो कर घर में रहे ।

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

भा०—हे (यमिनि) विवाहिता नारि! अथवा हे व्यवस्थापिकासभे! (इह) इस गृह और क्षेत्र में (पुष्टिः) पोषदायक पदार्थों से परिपोषण हो, (इह रसः) यहां जल और रसदायक पदार्थों की वृद्धि हो और तू (इह सहस्रसातमा भव) यहां सहस्रों प्रकार के पदार्थों को देने वाली हो । (पशून् पोषय) तू राष्ट्र-पशुओं और अनभिज्ञ प्रजाजनों को पुष्ट कर इसी प्रकार गृहिणी पशुओं को और बालक जीवों को पुष्ट करे ।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥५॥

पूर्वार्धः अथर्व० ६ । १२० । ३ ॥

भा०—हे (यमिनि) विवाहित नारी अथवा नियमव्यवस्था या ब्रह्मचर्य व्रत की पालिके! (यत्र) जहां (सुहार्दः) उत्तम हृदय वाले (सुकृतः) पुण्यात्मा सदाचारी लोग (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर के (रोगं) रोग को (विहाय) परित्याग करके सदा नीरोग होकर (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न रहते हैं हे (यमिनि) ब्रह्मचारिणि! (तं लोकं) तू उस लोक=देश में जाकर (अभि संबभूव) अपना गृहस्थ बनाकर रह । वह (नः) हमारे (पुरुषान् पशून् च) पुरुषों और पशुओं को (मा हिंसीत्) विनाश न करे । अर्थात् वह दुराचारिणी होकर कलह का कारण न हो ।

व्यवस्थापिका सभा के पक्ष में—जहां उत्तम चित्तवाले, पुण्यात्मा, नीरोग शरीर से प्रसन्न रहते हैं वहां वह समिति अपनी उत्तम व्यवस्था करती है । वहां वह पुरुषों और पशुओं को नाश नहीं होने देती ।

यत्रा॑ सु॒हार्दां॑ सु॒कृता॑मग्निहोत्र॒हुतां॒ यत्र॑ लो॒कः ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सीत् पुरु॑षान् प॒शूंश्च॑ ॥६॥

भा०—हे (यमिनि) ब्रह्मचारिणि ! (यत्र) जिस देश में (सुहार्दां) उत्तम चित्त वाले (सुकृतां) पुण्याचारी, सदाचारी, (अग्निहोत्रहुतां) नित्य यज्ञ हवन का सम्पादन करने वाले पुरुषों का (लोकः) निवास है। (तं लोकं) उस लोक में (अभि संबभूव) तू जाकर विवाहित हो जिससे बुरे लोकों की संगति में पड़कर तू (नः) हमारे (पुरुषान् पशून् च मा-हिंसीत्) पुरुषों और पशुओं को कलह और लोभ के कारण नाश न करे पूर्वोक्त प्रकार से व्यवस्थापिका राजसभा के पक्ष में भी लगा लेना।

[२९] राजसभा के सदस्यों के कर्तव्य।

उद्दालक ऋषिः । शितिपादोऽविर्देवता । ७ कामो देवता । ८ भूमिर्देवता । १, ३ पथ्यापंक्तिः, ७ त्र्यवसाना षट्पदा उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककुम्मतीगर्भा विराड् जगती, ८ उपरिष्टाद् बृहती । २, ४, ६ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यद् राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सदः॑ ।
अवि॒स्तस्मा॒त् प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑ति॒पात् स्व॒धा ॥ १ ॥

भा०—राजसभा के सभासदों के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं— (यमस्य) सब राष्ट्र के नियामक राजा के (अमी) ये (सभासदः) सभा में विराजमान शिष्टों के परिपालन और दुष्टों के दमन में नियुक्त (राजानः) राजा लोग (इष्टापूर्तस्य) परस्पर की संगति से होने वाले नाना शिल्पकार्यों, देवोपासनाओं और यज्ञों के आपूर्त=कूप, आराम,

[२९] १–(द्वि०) 'मुञ्चतु' इति सायणः ।

तडाग, सेतु आदि लोकोपकारक कार्यों के फल के (षोडश) सोलहवें हिस्से को (यद्) जब (विभजन्तः) विभाग करके स्वयं ले लेते हैं। (तस्मात्) इस कारण से (अविः) राजा, सूर्य के समान (शितिपात्) श्वेतचरण, श्वेताश्व या शुक्लस्वरूप, उज्ज्वल रूप तीक्ष्णप्रकृति सेना का पालक होकर (स्वधा) स्वयं राष्ट्र का पालन करता हुआ (दत्तः) उचित रूप से करादि प्राप्त करके (प्रमुञ्चति) राष्ट्र को अन्य बन्धनों से मुक्त कर देता है।

अध्यात्म पक्ष में—यम के सभासद् इस तपस्वी शरीर के भीतर व्यापक प्राण इस शरीर के इष्टापूर्त की सोलहों कला का विभाग किये बैठे हैं। जो इस शरीर का आत्मा वह (दत्तः) स्वयं इनका बल प्राप्त कर के उज्ज्वल ज्ञानी होकर स्वयं सब का धारण करने वाला (प्र मुञ्चति) मुक्त हो जाता है।

१६ कलाएं देखो प्रश्नोपनिषद् में—

"इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्ति ॥ स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं। मनोऽन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च ॥ एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तंगच्छन्ति। भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः। अरा इव रथनाभौ कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः।" इति (प्रश्न उप० प्र० ६)

इसी शरीर में सोलह कलाएं हैं—प्राण, श्रद्धा, खं, वायु, ज्योति, आपः, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम, ये सब उस परिद्रष्टा आत्मा की सोलह कलाएं उसके आश्रय पर हैं। उसी में लीन हो जाती हैं वह मुक्त हो जाता है और बाद को मृत्यु नहीं सताती।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकूतिप्रोविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

भा०—राजपक्ष में—(शितिपाद्) तीक्ष्ण सेना का पालन करने वाला राजा, (अविः) राष्ट्र का पालक (दत्तः) करादि प्राप्त करके (सर्वान् कामान् पूरयति) राष्ट्र की सब अभिलाषाओं, आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है (आभवन्) सब प्रकार से सामर्थ्यवान् (प्रभवन्) प्रभुता सम्पन्न (भवन्) हो कर भी (आकूतिप्रः) प्रजा के समस्त शुभ संकल्पों को पूर्ण करने वाला होकर (न उपदस्यति) राष्ट्र का विनाश नहीं करता।

अध्यात्म पक्ष में—अवि यह आत्मा शितिपाद् ज्ञान या प्रकाश का पालक होकर (दत्तः) ब्रह्म में अर्पित होकर, सर्वाप्तकाम, सर्वसामर्थ्य होकर सर्वकामनाओं को पूर्ण करके फिर विनाश को प्राप्त नहीं होता। इह चेद-वदीदथ सत्यमस्ति न चेहावेदीन् महती विनष्टिः। उपनि०।

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥३॥

भा०—(यः) जो (शितिपादं) ज्ञान स्वरूप (लोकेन संमितं) इहलोक और परलोक या लोक—योनिरूप में समान रूप से जाने गये (अविं) आत्मा को (ददाति) परब्रह्म में अर्पित कर देता है (स नाकम् अभि-आरोहति) वह उस मोक्षाख्य स्वर्ग—सुखमय लोक को प्राप्त होता है (यत्र) जहां (अबलेन) निर्बल, बलहीन पुरुष (बलीयसे) बलवान् पुरुष को (शुल्को न क्रियते) शुल्क, कर नहीं देता। राजपक्ष में जो शितिपाद्-तीक्ष्ण सेना पालक राष्ट्र के समान माननीय राजा को समस्त राष्ट्रभार सौंप देता है वह प्रजाजन स्वर्ग के समान राज्यसुख का भोग करता है जिस से बलवान् निर्बलों पर अन्यायपूर्वक कोई कर नहीं ले सकते।

दुःखेन यन्न संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् । स्फुटम् ॥

दुःख से मिला न हो और बाद में भी कष्ट न हो और इच्छानुसार सुख हो, वही स्वर्ग है ।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

भा०—(पञ्च अपूपम्) पांच अपूप, मालपूओं पांच विषय भोगों से युक्त, भोक्ता (शितिपादम्) ज्ञानस्वरूप चेतन (अविं) अपने अंगों के रक्षक, लोक से लोकान्तर में गति करने वाले, (लोकसंमितम्) लोक के समान जाने गये उस आत्मा को (प्रदाता) परब्रह्म में समर्पित करने हारा (पितृणाम् लोके) पितरों के प्राजापत्य लोक, दक्षिणायन मार्ग में भी (अक्षितम्) अक्षय (जीवति) जीवन का भोग करता है ।

राजपक्ष में जो प्रजाजन ऐसे राष्ट्रपति को राष्ट्र की रक्षा के लिये नियुक्त कर देता है वह अन्य शासकों के रहते हुए भी नहीं होता ।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

भा०—(लोकेन संमितम्) 'लोक' के समान जाना गया (शितिपादम् अविं) ज्ञानवान्, चेतनावान् (पञ्च-अपूपम्) पांचों ज्ञानों के कर्त्ता आत्मा को जो परमेश्वर में (प्रदाता) समर्पित करता है वह (सूर्या मासयोः) सूर्य और चन्द्रमा दोनों लोकों में (अक्षितम् जीवति) अक्षय जीवन प्राप्त करता है।

इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत् ।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

५-(च०) 'सूर्यमासयोरिति' प्रामादिकः पाठः ।

भा०—(इरा इव न उपदस्यति) जिस प्रकार अन्न समस्त प्राणियों से भोग किया जाकर भी नहीं समाप्त होता उसी प्रकार वह आत्मा भी नष्ट या समाप्त नहीं हो (समुद्र इव महत् पयः) और जिस प्रकार समुद्र अथाह होता है और उस में बड़ा भारी जल का भण्डार है उसी प्रकार वह आत्मा भी समुद्र के समान सब वृत्तियों का आश्रय और ज्ञानरस का भण्डार हो जाता है । (सवासिनौ) समान रूप से आत्मा के साथ सदा वर्त्तमान (देवौ इव) दोनों देव सूर्य चन्द्र के समान या द्यौ पृथिवी के समान प्राण और अपान जैसे कभी नष्ट नहीं होते उसी प्रकार यह (शितिपाद्) चेतन आत्मा भी (न उपदस्यति) कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता ।

क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् काम॒: कामा॑यादात् ।
कामो॑ दा॒ता काम॑: प्रतिग्रही॒ता काम॑: समु॒द्रमा वि॑वेश ।
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑ गृह्णामि॒ कामै॒तत् ते॑ ॥ ७ ॥

यजु० ७ । ४८ ॥

भा०—पूर्व मन्त्रों में 'शितिपाद्' का वर्णन किया है । इसमें इस का निर्णय करते हैं कौन किस को क्या देता है । (कः इदं कस्मै अदात्) कौन इस 'अवि' आत्मा को किस के प्रति समर्पित करता है । पूर्वोक्त मन्त्रों में इसका निर्णय नहीं किया उसका रहस्य भी बतलाते हैं । (कामः अदात्) काम—कामना करने हारे जीव ने अपने आत्मा को (कामाय अदात्) सब के अभिलाषा करने योग्य, कमनीय पर ब्रह्म के प्रति अर्पित किया । (कामः दाता कामः प्रति-गृहीता) काम ही दान करता है—काम ही प्रतिग्रह स्वीकार करने वाला है । अर्थात् (कामः) काम=कमना करने

७–'काम समुद्रमाविश' इति तै० आ० । को अदात् कस्मा अदात् । कामोदात् कामायादात् । 'कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते' इति यजु० ।

वाला जीव स्वयं (समुद्रं) उस महान् रस के सागर में (आविवेश) प्रवेश करता है । इसलिये हे जीव ! (त्वा) तुझ को मैं परमात्मा (कामेन) तेरे काम-अभिलाषा से ही तुझको (प्रति गृह्णामि) स्वयं अपने में आश्रय देता हूं (एतत् ते काम) हे काम ! यह तेरा स्वरूप काम=कामनामय ही है । अर्थात् जिस कामना में जीव रहता है वही लोक उसे प्राप्त होता है । इसलिये आत्मा को कामनावश ही (लोकेन संमितः) लोक के समान कहा है ।

इसी परस्पर-अभिलाषा में मग्न स्त्री पुरुष भी परस्पर एक दूसरे को समर्पण करते हुए कहते हैं ।

प्र०—(कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह किसको सौंपा ?

उत्तर—(कामः कामाय अदात्) काम=परस्पर की अभिलाषा ने उस अभिलाषा के निमित्त एक दूसरे को सौंप दिया । अर्थात् (कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता) सौंपने वाला भी अभिलाषुक है और लेने वाला भी उसी प्रकार का इच्छुक है । लेने वाला मैं पति (कामेन त्वा-प्रतिगृह्णामि) अभिलाषा से प्रेरित होकर ही तुझ को स्वीकार करता हूं हे (काम) हे काम ! अभिलाषुक (ते एतत्) यही तेरी अभिलाषा पूर्ण हो ।

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

भा०—दान ग्रहण करने वाला ग्रहण करते हुये सदा विचार करे कि (त्वा भूमिः प्रतिगृह्णातु) हे समर्पित द्रव्य ! तुझे यह भूमि स्वीकार करे और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बड़ा भारी अन्तरिक्ष भी आश्रय दे । (अहं) मैं समर्पक (प्राणेन मा) प्राण से कोई अपराध न करूं (मा आत्मना) आत्मा, चित्त और देह से कोई अपराध न करूं और (प्रति-गृह्य) स्वीकार करके (प्रजया) अपनी प्रजा से भी (मा विराधिषि) कभी अपराध न करूं ।

[३०] परस्पर मिलकर एक चित्त होकर रहने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः सामनस्यञ्च देवता । १–४ अनुष्टुभः । ५ विराड्जगती, ६ प्रस्तार पंक्तिः, ७ त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

भा०—मिल कर एकचित्त होकर परस्पर प्रेम से रहने का उपदेश करते हैं । मैं न्यायाधीश प्रभु (वः) तुम सब प्रजाओं को जो आपस में विवाद करती हैं (सहृदयं) समान हृदय और (सांमनस्यं) समान रूप से उत्तम चित्त वाला (अविद्वेषं) विना द्वेषभाव के रहने का (कृणोमि) उपदेश करता हूं । हे प्रजागण ! (जातं वत्सं अघ्न्या इव) जिस प्रकार उत्पन्न हुए बच्छे के प्रति प्रेम से खिंचकर गाय दौड़ी हुई आती है उस प्रकार (अन्यः अन्यम् अभि हर्यत) एक दूसरे के पास मिलने के लिये प्रेम से खिंचकर जाओ ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

भा०—(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता का (अनुव्रतः) आज्ञाकारी हो और (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) अनुकूल और सद्-हृदय वाला (भवतु) रहे । और (जाया) स्त्री अपने (पत्ये) पति के लिये सदा (मधु-मतीम्) मधुर (शान्तिवाम् वाचम्) शान्तियुक्त, सुखप्रद, कल्याण वाणी को (वदतु) बोले ।

---

[३०] १–' सांमनुष्य '-मिति सायणाः (च०). ' अघ्न्याः ' इति सायणः ।
२–(द्वि०) ' माता भवतु ' इति सायणः ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

भा०—(भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्) भाई भाई से द्वेष न करे (उत) और (स्वसा स्वसारम् मा) बहिन अपनी बहिन से द्वेष न करे । हे प्रजा-जनो ! सब (सम्यञ्चः) एकत्र होकर (स व्रताः) एक दूसरे के अनुकूल एकचित्त और एक ही उद्देश्य में होकर (भद्रया) कल्याण और सुखप्रद वाणी से (वाचं वदत) एक दूसरे की वाणी का उत्तर दो ।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

भा०—(येन) जिस वेद-ज्ञान को प्राप्त करके (देवाः) देवगण, विद्वान् लोग (न वि-यन्ति) एक दूसरे का विरोध नहीं करते और (मिथः नो च विद्वेषते) परस्पर भी द्वेष नहीं करते (पुरुषेभ्यः) समस्त पुरुषों को (सं-ज्ञानं) उत्तम ज्ञान प्राप्त कराने वाले (तत्) उस (ब्रह्म) ब्रह्म=वेदविज्ञान के उपदेश को (वः गृहे) आप लोगों के घर में (कृण्मः) करते हैं ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ।५

भा०—हे मनुष्यो ! आप लोग (ज्यायस्वन्तः) एक दूसरे से बड़े, और श्रेष्ठ गुण सम्पन्न होकर भी (चित्तिनः) समानचित्त होकर (संराधयन्तः) समान कार्य का साधन करते हुए (सधुराः) एक ही प्रकार से

३—भ्रातरं द्विष्यात् (च०) ' वदतु ' इति सायणाः ।

५—(द्वि०) ' सुधीराध- ' इति पैप्प० सं० । (च०) ' समग्रास्थ सभ- ' पैप्प० सं० । (तृ०) ' एत ' इति सायणः ।

भार उठाते हुए अथवा समान रूप से एक ही धुरा=केन्द्र में बद्ध होकर विचरण करते हुए (मा वियौष्ट) कभी एक दूसरे से जुदा मत होओ। और (अन्यः अन्यस्मै) एक दूसरे के प्रति (वल्गु वदन्तः) मनोहर वचनों का प्रयोग करते हुए (एत) एक दूसरे से मिलो और आओ (सध्रीचीनः) समान रूप से एक ही स्थान पर एकत्र हुए (वः) तुम लोगों को मैं (संमनसः) एक ही चित्त और मन वाला (कृणोमि) बनाता हूं। अर्थात् वैसा होने का उपदेश करता हूं।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (समानी प्रपा[1]) आप लोगों की एक ही पानीय-शाला हो जहां से सब समान रूप से जल पी सकें। (वः सह अन्न-भागः[2]) तुम लोगों का परस्पर प्रेम से एक साथ ही अन्न का भोजन हो इसी कारण (वः) तुम लोगों को मैं (समाने योक्त्रे) एक ही बन्धन में (युनज्मि) बांधता हूं, जोड़ता हूं। और (सम्यञ्चः) उत्तम रीति से एक फल को प्राप्त करने की अभिलाषा से एकत्र होकर ही (नाभिम् इव अभितः अराः) नाभि के चारों ओर अरों के समान (अग्निं) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर और विद्वान् गुरु और यज्ञाग्नि होम की (सपर्यत) उपासना करो।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

भा०—(सध्रीचीनान्) एक कार्य में उद्योग करने वाले एवं एक

१. समानी एका प्रपा पानीयशाला, इति सायणः ।

२. परस्परानुरागवशेन एकत्रावस्थितमन्नपानादिकं युष्माभिरुपभुज्यतामित्यर्थः । इति सायणः ।

७–' सध्रीचो वः ' इति क्षैन्मनूकामितः पाठः ।

स्थान पर एकत्र होने वाले (वः सर्वान्) आप सब लोगों को (संवननेन) एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न करके और आप लोगों को समान द्रव्यभाग देकर (एकश्नुष्टीन्) एक जैसे भोजन करने और (संमनसः) समान चित्त वाला होने का (कृणोमि) उपदेश करता हूं । आप सब लोग (अमृतं) अमृत=सत्य आत्मा की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (देवा-इव) इन इन्द्रिय गणों के समान रहो और (वः) आप लोगों का (सायं-प्रातः) सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय (सौमनसः) उत्तमहृदय परस्पर आदर प्रेम युक्त चित्त (अस्तु) रहे ।

[३१] पाप से मुक्त होने का उपाय ।

ब्रह्मा ऋषिः । पाप्महा देवता । १—३, ६—११ अनुष्टुभः, ४ भुरिग् , ५ विराट् प्रस्तार पंक्तिः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

भा०—हे (देवाः) इन्द्रियगणो ! और विद्वान् पुरुषो ! (जरसा वि अवृतन्) शरीर की आयु का नाश करने वाले बुढ़ापे से दूर रहो, हे (अग्ने) विद्वन् या परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अरात्या) कंजूस शत्रु से (वि) हमें दूर रख, (अहम्) और मैं (सर्वेण पाप्मना) सब प्रकार के पाप=मानसिक बुराइयों से (वि...) स्वयं दूर हूं और हे शिष्य तुझे भी दूर रखूं । (यक्ष्मेण वि) रोग से भी तुझे दूर रखूं और स्वयं भी दूर रहूं । और (आयुषा सम्) तुझे आयु से संयुक्त करूं, तेरी आयुवृद्धि करूं और स्वयं भी आयु से सम्पन्न होऊं ।

[३१] १—' जरसासृतन् ' इति सामादिकः क्वचित् ।

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं० ॥ २ ॥

भा०—(पवमानः) सब को पवित्र करने वाला सूर्य और उसके समान परमात्मा और वायु (आर्त्या वि) सब प्रकार की पीड़ा से दूर रखे। और (शक्रः) शक्तिमान् परमात्मा (पापकृत्यया वि) सब पापकर्म, बुरे आचरणों से (वि) परे रखे । (अहं सर्वेण पाप्मना वि०) इत्यादि पूर्ववत् ।

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्या/पस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं० ॥ ३ ॥

भा०—(ग्राम्याः पशवः) ग्राम में रहने वाले गौ भैंस आदि पशु जिस प्रकार (आरण्यैः) जंगल के निवासी व्याघ्र सिंह आदि से भयभीत होकर (वि असरन्) परे भागते हैं और जिस प्रकार (तृष्णया) प्यास से (आपः) जल परे रहते हैं । उसी प्रकार (अहं) मैं (सर्वेण पाप्मना वि) सब पापों से परे रहूं । (यक्ष्मणा वि) और मैं सब रोगों से मुक्त और (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न रहूं ।

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये दोनों आकाश और पृथिवी पृथक् २ हुए हुए हैं, और जिस प्रकार (पन्थानः) बहुत से मार्ग (दिशं-दिशम् वि यन्ति) भिन्न २ दिशाओं में चले जाते हैं उस प्रकार (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं स्वयं सब पापों से परे रहूं और (यक्ष्मा वि) सब रोगों से मुक्त और (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न रहूं और हे शिष्य तुझे भी ऐसा ही करूं ।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।
व्यहं० ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार (त्वष्टा) पिता (दुहित्रे) अपनी कन्या के लिये (वहतुं) विदाई के अवसर पर उसको जामाता के घर भेजने के लिये रथ को (युनक्ति) जोड़ता और उस पर बैठा कर दूर भेज देता है और जिस प्रकार (इदं विश्वं भुवनं) यह समस्त ब्रह्माण्ड (वि याति) एक एक से अलग २ रहता है उसी प्रकार इच्छापूर्वक (अहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण वि, आयुषा सम्) मैं स्वयं अपने आपको सब पापों से दूर रखूं, सब रोगों से दूर रखूं और सम्पन्न रहूं।

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः।
व्यहं० ॥ ६ ॥

भा०—जिस प्रकार (अग्निः) जाठर अग्नि—अन्न का खाने वाला (प्राणान्) सब शरीर के प्राणों को (सं दधाति) उत्तम रूप से पालन पोषण करता है और (चन्द्रः) अन्न स्वयं (प्राणेन संहितः) प्राण के साथ या मन के साथ मिल कर शरीर को पुष्ट करता है उसी प्रकार (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सं) सब पापों और रोगों से मुक्त रह कर आयु से सम्पन्न होऊं।

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्।
व्यहं० ॥ ७ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग जिस प्रकार (विश्वतः-वीर्यम्) सब प्रकार के वीर्य=सामर्थ्य से युक्त सूर्य को (प्राणेन) प्राणों के साथ (समैरयन्) संगत करते हैं और जिस प्रकार देव=इन्द्रियगण अपने प्राण के साथ सर्व शक्तिमान सब के प्रेरक आत्मा को संगत करके रखते हैं उसी प्रकार हे पुरुषो! तुम भी अपने प्राण के साथ उस सर्व शक्तिमान् प्रभु को मिलाये

रखो। और मैं भी (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सं) सब पापों और रोगों से परे रह कर आयु से सम्पन्न होऊं।

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः।
व्य१हं० ॥ ८ ॥

भा०—हे जीव ! (आयुष्मताम्) दीर्घ आयु वाले और (आयुष्कृताम्) दीर्घ आयु को बनाने वाले देवों विद्वानों और दिव्य गुण वाले पदार्थों के (प्राणेन) ज्ञान रूप और शक्ति रूप सामर्थ्य से तू (मा मृथाः) मृत्यु का ग्रास मत बन। (वि अहं०) इत्यादि पूर्ववत्।

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः।
व्य१हं० ॥ ९ ॥

भा०—हे जीव ! हे प्राण ! (प्राणतां) प्राण लेने वाले प्राणियों के (प्राणेन) प्राण धारण करने के सामर्थ्य से ही तू भी (प्राण) यहां प्राण ले और (इह एव भव) यहां ही विद्यमान रह और (मा मृथाः) देह त्याग करके मृत्यु का ग्रास मत बन। जिस प्रकार और प्राणी प्राण लेते और रहते हैं उसी प्रकार तू भी जी और उद्योग कर (अहं सर्वेण०) इत्यादि पूर्ववत्।

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।
व्य१हं० ॥ १० ॥

भा०—(आयुषा) दीर्घ आयु से हम (उत् अस्थाम) उन्नत दशा को प्राप्त कर मृत्यु से दूर रहें। (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न होकर इस लोक में विराजमान रहें और यदि रोग आवे तो (ओषधीनां रसेन) ओषधियों के रसों से (उद्) मृत्यु को दबा कर हम बने रहें। (वि अहं सर्वेण पाप्मना०) इत्यादि पूर्ववत्।

१०–'स्वायुषो दो॰' इति तै०. सं०।

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

भा०—(वयम्) हम (पर्जन्यस्य वृष्ट्या) मेघ की वर्षा से (आ उद् अस्थाम) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जांय, मृत्यु को प्राप्त न हों (वि अहं० इत्यादि पूर्ववत्)

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि षट्, चतुश्चात्वारिंशद् ऋचः ।]

इति तृतीयं काण्डं समाप्तम् ।

तत्रानुवाकाः षट् चैकत्रिंशत् सूक्तान्यथो ऋचाम् ।
त्रिंशत् शतद्वयञ्चैतत् तृतीयं काण्डमिष्यते ॥

रामवस्वङ्कचन्द्राब्दे चैत्रशुक्लचतुर्दशे ।
शनावथर्वणः काण्डं तृतीयमपि पूर्यते ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते-ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये तृतीयं काण्डं समाप्तम् ।

११–(प्र०) 'उत्पर्जन्यस्य' इति बहुत्र । 'शुष्मेणोदस्था' इति तै० सं० । 'पर्जन्यस्य धामभिः' इति यजु० । 'उदस्थाममममृतानु' इति बहुत्र ॥

* ओ३म् *

अथ चतुर्थ काण्डम् ।

[१] परमेश्वर की उत्पादक और धारक शक्ति का वर्णन ।

वेन ऋषिः । बृहस्पतिरुत आदित्यो देवता । १, ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुभः । २, ५ भुरिजौ । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

यजु० १३ । ३ ॥ साम० १ । ६२१ ॥ अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(प्रथमं) सब से श्रेष्ठ (ब्रह्म) परमात्मा की महान् शक्ति (पुरस्तात्) सब से पूर्व (जज्ञानं) उत्पन्न हुई कि (वेनः) प्रकाशमान तेजस्वरूप उस महान् परमेश्वर ने (सीमतः) इन समस्त लोकों के बीच में व्यापक होकर (सुरुचः) सब प्रकाशमान लोकों को (आवः) इस प्रकार प्रकाशित किया जिस प्रकार सूर्य ग्रह मण्डल में रह कर उनको प्रकाशित करता है । और (सः) उस परमेश्वर ने (अस्य) इस संसार के (बुध्न्याः) आधार भूत आकाश में उत्पन्न होने वाली (विष्ठाः) सब लोकों के विशेष रूप से स्थिति देने वाली (उपमाः) सबकी रचना की कारण भूत प्रकृति से उत्पन्न विकृति रूप महत्तत्व सूक्ष्म और स्थूल भूत आदि उन सामग्रियों को भी (वि वः) विशेष रूप से उत्पन्न किया और साथ ही उस परमेश्वर ने (सतः च) इस सत् व्यक्त जगत् के मूल कारण

[१] १–' अवत्सारऋषिर्यजुर्वेदे ' ।

और (असतः च योनिम्) असत्=अव्यक्त, प्रादुर्भूत जगत् के मूल कारण को भी (वि वः) प्रकट किया।

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥२॥

भा०—प्रवर्ग्येष्टि के दृष्टान्त से जगत् की उत्पत्ति के रहस्य प्रकट करते हैं। (इयं) यह (पित्र्या) सब के परिपालक प्रभु से प्रकट हुई (राष्ट्री) सब की प्रकाशक पूर्वोक्त ज्ञानशक्ति से (भुवनेष्ठाः) समस्त भुवन=ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर (प्रथमाय जनुषे) सब से प्रथम सृष्टि को उत्पन्न करने के लिये (अग्रे) सब से पूर्व (एतु) होनी आवश्यक है। (तस्मा) उसी परम शक्ति से (प्रथमाय) प्रथम उत्पन्न सृष्टि के (धास्यवे) धारण पोषण करने की उचित सामग्री अन्न और पृथिवी आदि को उत्पन्न करने के लिये (एतम्) इस (सुरुचम्) अति दीप्तिमान् (ह्वारम्) गोल या क्रान्ति वृत में घूमने वाले (अह्यं) दिनों के बनाने वाले, (घर्मं) प्रकाशमान सूर्य को (श्रीणन्तु) पूर्वोक्त उत्पादक सामग्री ये उसी प्रकार तपाती हैं जिस प्रकार प्रवर्ग्येष्टि में यज्ञकर्ता घर्म रस को तपाते हैं।

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥३॥

२–(प्र०) 'पित्रे राष्ट्र्येति' गो० ब्रा०। 'इयं वैपि' इति ऐ० ब्रा०। (द्वि०) 'भुमनेष्ठाः' इति आ० श्रौ० सू०। 'भूमिनष्टौ' इति पैप्प० सं०। (च०) 'श्रीणन्ति प्रथमस्य धासेः' आ० श्रौ० सू०। 'प्रथमस्त्रधास्युः' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०, द्वि०) 'अस्यवन्धुं विश्वानि देवो जनमा' (च०) 'नीचादुच्चा स्वधयाभि' इति तै० सं०। (प्र० द्वि०) 'बन्धुं विश्वाम् देवा जन', (च०) 'नीचादुच्चास्त्रधयाति' इति पैप्प० सं०। 'प्रयो यज्ञे' इति च बहुत्र।

भा०—(यः) जो (अस्य) इस संसार का या आदित्य का (बन्धुः) बांधने, स्थिर करने हारा इसका प्रतिष्ठापक है वह (विद्वान् प्रजज्ञे) समस्त संसार के तत्वों को उत्पन्न करता और जानता है । वही (देवानां) समस्त देवों के प्रकृति के विकारभूत महत् आदि २२ देवों के (जनिम्) उत्पत्ति के प्रकारों को (आ विवक्ति) वेद द्वारा उपदेश करता है । अथवा (जनिमा विवक्ति) उत्पत्ति रहस्यों का उपदेश करता है । इसीलिये (ब्रह्मणः) उस महान् जगदुत्पादक पर ब्रह्म से (ब्रह्म) यह सत्य ज्ञानमय वेद (उत् जभार) उत्पन्न होता है । अथवा उस महान् सच्चिदानन्द ब्रह्म से यह ब्रह्माण्ड मय त्रिविध ब्रह्म उत्पन्न हुआ और इसी कारण (स्वधाः) वह स्वयं ही अपने को धारण किये हुए (नीचैः उच्चैः) नीचे और ऊंचे (अभि प्र तस्थौ) सर्वत्र स्थित है ।

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः ॥४॥

भा०—(हि) निश्चय से (सः) वह (दिवः) द्यौ लोक, समस्त प्रकाशमान आदित्य के (ऋतस्थाः) सत् कारण में आधार भूत से बैठा है । और वही (पृथिव्याः) पृथिवी के भी (ऋतस्थाः) सत्य कारण रूप है । वही (मही रोदसी) इन दोनों बड़ी भारी द्यौः और पृथिवी को (क्षेमं) इनकी रक्षा और कुशल बनाये रखते हुए सुखपूर्वक (अस्कभायत्) थामे हुए है । वह स्वयं (महान्) सब से बड़ा है इसलिये उसने (मही) इन दोनों विशाल पदार्थों को भी (अस्कभायत्) थाम लिया है और स्वयं ही (वि-जातः) नाना शक्तियों से प्रादुर्भूत है । इस कारण (पार्थिवं) सब प्राणियों के आश्रय इस पार्थिव लोक को और (रजः) उन प्रकाशमान सूर्य

४-(द्वि० तृ०) 'अस्तभायत्', (च०) 'द्यां पिता सद्म' इति तै० सं० ।

लोकों और (द्यां) द्यौ लोक को भी (सद्म) स्तम्भ जिस प्रकार मकान को थामे रहते हैं उस प्रकार इस ब्रह्माण्ड को थामता है।

स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥५॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर ही (देवता) सब का प्रकाशक और प्रकाश स्वरूप (तस्य) उस जगत का (सम्राट्) स्वतः प्रकाशक, सब से बड़ा अधिष्ठता, महाराज है। वही (जनुषः) उत्पन्न होने हारे इस सृष्टि के (बुध्न्याद्) मूल से लेकर (अभि अग्रम्) चोटी तक (आष्ट्र) व्यापक है। देखो, (यत्) जब (ज्योतिषः) प्रकाशमान सूर्य के प्रकाश से (अहः) दिन भी (शुक्रं) प्रकाशमान (जनिष्ट) उत्पन्न हुआ (अथ) तभी विप्राः) मेधावी बुद्धिमान लोग और ये इन्द्रिय और समस्त लोक भी (द्युमन्तः) प्रकाश युक्त, चेतना युक्त और ज्ञानवान होकर (वि वसन्तु) रह रहे हैं। अगर उसका प्रकाश न होता तो सब अन्धकारमय हो जाता।

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु ॥ ६ ॥

भा०—(काव्यः) उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु का बनाया यह काव्य= वेदमय ज्ञानसागर और उसका प्राकृत रूप यह संसार (नूनं) निश्चय

५–(प्र०) 'सबुध्नादाष्ट जनुषाभ्यग्रम्' इति क्वचित्। (द्वि०) 'देवता यस्य' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'बुध्नाद्' इति बहुत्र। 'आष्ट' इति सायणाभिमतः।

६–(च०) 'पूर्वादरादविदूरश्च सहुः' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'पूर्वस्य' (च०) 'ससम् नु' इति सायणाभिमतः। 'ससन्न उ' इति ह्विटनिकामितः। 'ससन् नु' इति पदपाठः।

से (अस्य) इस (पूर्व्यस्य) सब से पूर्व विद्यमान, कारण रूप (देवस्य) देव के (महः धाम) बड़े भारी यश का (हिनोति) वर्णन करता है। (एषः) यह सूर्य या ब्रह्माण्ड भी (बहुभिः) बहुत से और सूर्यों और *ब्रह्माण्डों के (साकं) साथ (जज्ञे) उत्पन्न हुआ है। और यह (पूर्वे)* पहले (विषिते अर्धे) अप्रबद्ध रूप में (नु) ही (ससन्) था।

अर्थात् यह सूर्य और ब्रह्माण्ड पहले भी अपने 'विषित रूप' अर्थात् उस रूप में थे जिसमें यह पृथक् २ पिण्ड और लोकों में नहीं बंटे थे। उस समय उसका ' केयास ' (Chaos) का रूप था। उसी को वेद ने ' विषित अर्ध ' कहा है।

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान्॥७॥

भा०—(यः) जो (अथर्वाणम्) अथर्वा, अहिंसक सब के परिपालक (पितरम्) सब के उत्पादक, पालक, (देवबन्धुम्) समस्त दिव्य लोकों को बांधन हारे (बृहस्पतिम्) बड़े २ लोकों के स्वामी, प्रभु को (नमसा) आदर भक्ति से या सब के अन्न, आश्रय भूत प्राणों के प्राण रूप से (अव गच्छात्) जान लेता है और समझ लेता है कि (त्वं) तू ही हे प्रभो ! (विश्वेषां) सब लोकों का (जनिता) उत्पादक (असः) है, वही स्वधा, अमृत को प्राप्त कर (स्वधावान्) स्वयं सब को पोषण करने हारा (कविः) सर्वज्ञ सब के हृदय का जानने वाला, (देवः) स्वयं विद्वान् होकर आप कभी (न दभायत्) विनष्ट नहीं होता। परम सुख को प्राप्त होता है।

७–(च०) ' दभाय ' इति ह्विटनिकामितः। (द्वि०) ' बृहस्पतिर्नमसा ' इति सायणाभिमतः। 'यथावाथर्वा पितरं विश्वदेवं बृहस्पतिर्मनसावोदतस्व' इति पैप्प० सं०।

[२] ईश्वर की महिमा ।

वेन ऋषिः । आत्मा देवता । १–५ त्रिष्टुभः, १ पुरोऽनुष्टुप्, ८ उपरिष्टाज्ज्योतिः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । २ ॥
उत्तरार्धः १० । १२१ । ३ ॥ यजु० २५ । १३ । ११ ॥

भा०—उसी प्रभु का वर्णन करते हैं—(यः) जो (आत्मदा) सब शरीरों में जीवों को प्राण देने वाला (बलदा) और बल का देने वाला है, (यस्य) जिसके (प्रशिषम्) सर्वोच्च शासन आज्ञा की (विश्वे) समस्त लोग (उपासते) उपासना करते हैं और जिसके शासन को (देवाः) देव, प्रकाशमान सूर्य आदि ३३ देव भी पालन करते हैं (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दो चरण वाले मनुष्य संसार और (यः) जो इस (चतुष्पदः) पशु संसार का भी (ईशे) प्रभु है, उस (कस्मै) सुख स्वरूप प्रजापति, (देवाय) परम देव के लिये हम (हविषा) नित्य की प्रार्थना उपासना से (विधेम) पूजा अर्चना करें । अथवा (कस्मै) सब के प्रश्न द्वारा ज्ञान करने योग्य 'सं-प्रश्न' स्वरूप परमेश्वर की हम उपासना करें ।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

पूर्वार्धः १० । १२१ । ३ ॥ उत्तरार्धः १० । १२१ । २ ॥
यजुषि च ऋग्वेदवत् पाठः । यजु० अ० २५ । ११ । १३ ॥

---

[२] १–' य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः ' इति पाठभेदः ऋ०, यजु० ।
२–' यः प्राणतो निमिषतश्च राजापति र्विश्वस्य जगतो बभूव ' इति मै० सं० ।
'यः प्राणतो निमिषतो विधर्त्ता पति र्विश्वस्य जगतो बभूव' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः) जो (प्राणतः) प्राण लेने वाले चेतन और (निमिषतः) चक्षु आदि इन्द्रियों को मूंदने वाले अचेतन–स्थावर, अथवा इन्द्रियों के व्यापार से शून्य केवल प्राण लेने वाले स्थावर और इन्द्रियों का व्यापार=निमेष उन्मेष करने वाले पर दोनों प्रकार के (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपनी महिमा, बड़े भारी शक्ति और ऐश्वर्य के कारण ही (राजा बभूव) एक मात्र अधिपति, राजा है। (यस्य) जिसकी (छाया) आश्रय ग्रहण करना ही (अमृतं) मोक्ष है और (यस्य) जिससे परे होना (मृत्यु) मृत्यु, विनाश है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुख स्वरूप आनन्दघन प्रजापति को हम भक्ति भाव से स्मरण करके उपासना करें।

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै० ॥ ३ ॥

पूर्वार्धः यजु० ३२ । ६ । ऋ० १० । १२१ । ६ ॥

उत्तरार्धः यजु० ३२ । ६ । ऋ० १० । १२१ । २ ॥

भा०—(यं) जिसको आश्रय पाकर उसके (अवतः) रक्षणसामर्थ्य से (क्रन्दसी) समस्त प्राणियों के सुख दुःख के कारणभूत द्यौ और पृथिवी (चस्कभाने) एक दूसरे का आश्रय लिये खड़ी हैं और (यं) जिसको (रोदसी) समस्त द्यौ और पृथिवी=जहान (भियसाने) भय से कम्पमान होकर (अह्वयेथाम्) अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं। और (यस्य) जिसके आश्रय पर (असौ) वह परम दूर (पन्थाः) आकाशमार्ग है।

३–' यं क्रन्दसी अवतस्तस्तभाने अभ्यैक्षतं मनसारेजमाने ' इति ऋ०, यजु०। ' अन्तरिक्षेरजसो विमानः ' इति ऋ०, यजु० । (च०) ' अह्वयेताम् ' इति ह्विटनिकामितः, (प्र० द्वि०) ' य इमे द्यावा पृथिवीतस्तभाना अथा यद् रोदसीरेजमाने । यस्मिन्नधि विततएति सूरः ' इति पैप्प० सं० ।

और जो (रजसः) समस्त नक्षत्र आदि लोकों का (विमानः) विशेष रूप से उत्पादक है उस (कस्मै) सुखरूप प्रजापति (देवाय हविषा विधेम) देव की हम भक्ति से उपासना करें।

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मुही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम्।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै० ॥ ४ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । ५ ॥ यजु० ३२ । ६ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १२१ । ६ । यजु० ३२ । ७ ॥

भा०—(यस्य महित्वा) जिस प्रभु की महिमा, विशाल शक्ति से (उर्वी द्यौः) विशाल द्यौ लोक, आकाश और (मही पृथिवी) बड़ी भारी यह पृथिवी, और (यस्य) जिसकी विशाल शक्ति से (उरु अन्तरिक्षम्) यह विशाल अन्तरिक्ष, द्यौ और पृथिवी का मध्य भाग, आकाश, पोल (विततः) विस्तृतरूप में फैला हुआ, स्थिर है और (यस्य महित्वा) जिस की विशाल शक्ति से (असौ सूरः विततः) वह सूर्य भी विशेष रूप से व्यवस्थित है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस परमानन्द रूप, प्रजापति परमदेव की हम भक्ति से उपासना करें।

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्यं रसामिदाहुः।
इमाश्च प्रदिशो यस्यं बाहू कस्मै देवायं हविषां विधेम ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १२१ । ४ ॥ यजु० २५ । १२ ॥

४–' येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वःस्तभितं येन नाकः ' इति ऋ०, यजु० । (तृ०) 'यस्याधि सूर उदितो विभाति' इति ऋ०. यजु० ।

५–' यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहा हुः । यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू ' इति ऋ०, यजु० । ' इमेविश्वे गिरयो महि ' इति मै० सं० ।

भा०—(यस्य महित्वा) जिसकी विशाल महिमा=शक्ति से (विश्वे) समस्त (हिमवन्तः) हिमावृत पर्वत स्थिर खड़े हैं और विद्वान् लोग (यस्य) जिसकी महिमा से (समुद्रे) विशाल समुद्र में (रसाम्) नदी को जाता बतलाते हैं अथवा जिसकी शक्ति से (समुद्रे) समुद्र में या आकाश में घिरी (रसाम्) जलमय पृथिवी को स्थित हुआ बतलाते हैं। और (इमाः च प्रदिशः) ये लम्बी चौड़ी दिशाएं और उप दिशाएं (यस्य बाहू) जिसकी भुजाओं के समान सर्वत्र व्यापक हैं और सब को थामे खड़ी हैं (कस्मै० इत्यादि) उस प्रभु की हम उपासना भक्ति से करें।

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः।
यासु देवीष्वधि देव आसीत् कस्मै० ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । ८ ॥ यजु० २७ । २५ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १२१ । ८ ॥ यजु० २७ । २६ ॥

भा०—(अमृताः आपः) जीवन स्वरूप 'आपः' जो (ऋतज्ञाः) इस ऋत=समस्त विश्व चराचर के उत्पत्तिस्थान हैं वे ही (गर्भं दधानाः) समस्त जीवन के बीजों को अपने भीतर धारण करते हुए (अग्रे) सृष्टि के पूर्व में अर्थात् प्रलय काल में भी (विश्वम्) इस समस्त चराचर संसार को (आवन्) अपने भीतर सुरक्षित रखते हैं। और (यासु देवीषु) जिन 'आपः' रूप दिव्य शक्ति या प्रकृति के सात्विक विकृतियों पर भी (देवः) वह परम प्रभु देव ही (अधि आसीत्) अधिष्ठाता रूप से विराजमान था (कस्मै०) इत्यादि पूर्ववत्।

६—'आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना: जनयन्तीरग्निम्।' 'यो देवे ष्वधिदेवएक आसीत् कस्मै०' इति यजु०, ऋ०। 'आपो यस्य विश्व-मायुर्दधाना गर्भं जनयन्त मातरा। तत्र देवानामधिदेव आस्थ एकस्थूणे-विमते दृढे अग्रे' इति पैप्प० सं०।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै० ॥ ७ ॥

ऋ० १०।१२१।१॥ यजु० २५।१०॥ अथर्व २३।१॥

भा०—(हिरण्यगर्भः) सब गतिमान एवं प्रकाशमान स्वर्ण के समान जाज्वल्यमान सूर्यों और आत्माओं को अपने भीतर आश्रय देने वाला (भूतस्य) इस उत्पन्न विश्व के (अग्रे) आगे (सम् अवर्तत) विद्यमान रहा। वही उसका (एकः पतिः) एक मात्र परिपालक, स्वामी (जातः) था (आसीत्) रहा और रहेगा। और (सः) वही (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत) और (द्यां दाधार) द्यौ लोक को भी धारण करता है (कस्मै०) उस सुख रूप, परमानन्द प्रभु की भक्ति से हम उपासना करें।

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्।
तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥ ऋ० १०।१२७।७॥ यजु० २७।२५॥

भा०—ये पूर्वोक्त (आपः) जगत् की परम मूल भूत तेजोमय 'आपः' व्यापक धूम के समान विरल प्रकृति के विकार (वत्सं) हिरण्यगर्भ रूप, महान् तेजोमय अण्ड को (जनयन्तीः) उत्पादन करती, बनाती हुई (अग्रे) इस व्यवस्थित सृष्टि के प्रकट होने के पूर्व (गर्भ) उस महान हिरण्यगर्भ जिसमें समस्त प्रकृति के विकार गृहीत थे उसको (सम् ऐरयन्) उत्तम रीति से गति देने लगीं अर्थात् उनमें विक्षोभ उत्पन्न हुआ। (उत) और (तस्य जायमानस्य) जब वह हिरण्यगर्भ बन रहा था तब ही उसका

७–'आपो हयद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना: जनयन्तीरग्निम्। ततो देवानां समवर्तता सुरेक: कस्मै देवायहविषा विधेम।' इति यजु०, ऋ०, ॥
(प्र०) 'आपो गर्भं जनयन्तीर्वत्समग्रे समीरयन्' इति पैप्प० सं०।

(उल्वः) बाहरी आवरण, उसका घेरनेवाला पदार्थ भी (हिरण्ययः) तेजोमय पदार्थ का ही था । यह सब उस प्रभु की महिमा है । (कस्मै०) उस आनन्दघन परम प्रभु की हम भक्ति से उपासना करें ।

[३] हिंसक जन्तुओं से बचने और उनको वश करने का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत व्याघ्रो देवता । १ पथ्यापंक्ति, २, ४—६ अनुष्टुभः, ३ गायत्री, ७ ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद् बृहती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।
हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग् देवो वनस्पतिर्हिरुङ् नमन्तु शत्रवः ॥१

भा०—व्याघ्र, चोर, सर्प और गोह आदि हिंसक पुरुषों और पशु और जानवरों से बचने और उनको वश करने का उपदेश करते हैं । (इतः) हमारे निवासस्थान और मार्ग से (त्रयः) ये तीनों (व्याघ्रः) व्याघ्र सिंह आदि हिंसक मांस भक्षी जीव, (पुरुषः) हिंसक, चोर पुरुष और (वृकः) भेड़िया के समान छुप कर आक्रमण करने वाला हिंसक जन्तु ये तीनों (उत् अक्रमन्) परे भाग जांय । (सिन्धवः) नदियें जो ग्रामों को बहा ले जाती हैं वे भी (हिरुक् हि यन्ति) शान्त रूप में प्रवाहित हों, वे उमड़ कर घरों मकानों और खेतों को न तोड़ें, (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) पीपल आदि का वृक्ष (हिरुक्) भी भूमि के नीचे ही अपनी जड़ें छोड़ें, वह घर, मन्दिर आदि को विनाश न करे । (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) और शत्रु गण भी हम से छुपकर, दबकर शान्त स्वभाव से रहें ।

[३] १–' उद्रित्यक्रमंस्त्रयो व्याघ्रः ' (तृ० च०) ' हृग्देवः सूर्य हृग्देवो ' इति पैप्प० सं० ।

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० १९ । ४७ । ८ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(वृकः परेण पथा एतु) छुपकर घात करने वाला, भेड़िया होसके तो, परले दूर के मार्ग से चला जाय । और (तस्करः) चोर आदमी (परमेण एतु) उससे भी परे के मार्ग से जावे । (दत्वती रज्जुः परेण) दांतों वाला रस्सी के समान जीव सर्प भी परे ही से जावे और (अघायुः) पापी पुरुष जो हम पर अपना पाप कार्य करना चाहता है ऐसा नृशंस डाकू भी (परेण पथा अर्षतु) दूर के दूसरे मार्ग से ही जावे । अर्थात् इन से बचने का उपाय ही है कि ये अपने मार्ग से न जाएं उनका मार्ग दूसरा ही रहे ।

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

भा०—व्याघ्र मुकाबले पर ही आजाय तो उसको कैसे नाश करें । हे (व्याघ्र) व्याघ्र! (ते च अक्ष्यौ) तेरी आखों को और (ते च मुखम्) तेरे मुखको (जम्भयासि) विनाश करें और (आत्) उसके अनन्तर (सर्वान् विंशतिम् नखान्) सब बीसों नखों को भी विनाश करें । अर्थात् पहले व्याघ्र की आंख पर बाण मार कर नाश करे, फिर मुंह काबू करे और इसके बाद उस के नखों को काट डालें । या उस के आंखों पर और मुंह पर चमड़े का खोपा लगा कर उसके नखों को भी बांध रखे या काट दें । इस प्रकार व्याघ्र वश में रह सकता है ।

२—'परमेण पथावृकः परेणस्तेनोरशतुर । ततो व्याघ्रः परमा' इति पैप्प० सं० ।

३—(प्र०) ' अक्षौ ' इति बहुत्र ।

व्याघ्रं दृत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥

भा०—(दत्वतां प्रथमं) दांतों के हथियारों से युक्त पशुओं में सब से प्रथम=प्रबल (व्याघ्रं) सिंह या बाघ को (जम्भयामसि) हम वश करें (आत्) और उसके बाद फिर उससे उतर कर (यातुधानम्) पीड़ा-दायक (अहिं) सर्प को (अथो) और (वृकम्) भेड़ियों को भी वश करें ।

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।
पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥

प्रथमार्धः अथर्व० १९ । ४९ । ९ । प्र० १० । च० ॥

भा०—(अद्य) आज (यः) जो (स्तेनः) चोर रूप से (आयति) आता है (सः) वह (सं पिष्टः) खूब दण्डित कर दिया जाय तो (अप आयति) वह अपने बुरे मार्ग से हट जाता है । अर्थात् जब कोई चोर पकड़ा जाय तो उसे खूब कड़ा दण्ड देना चाहिये । यदि वह (पथाम्) मार्गों में जो (अपध्वंसेन) बुरे पुराने टूटे खण्डहर होते हैं उनमें (एतु[1]) जाये तो वहां भी (इन्द्रः) राजा (तम्) उस चोर को पकड २ कर (हन्तु) विनाश करे । पदपाठ में ' अपध्वंसेन ' एक पद होने पर भी ध्वंसेन अप 'एतु', ऐसा छेद किया है सो असंगत है ।

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिंशीर्णा उ पृष्टयः ।
निम्रुक् ते गोधा भवतु नीचा यच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥

भा०—(मृगस्य) हिंसक जीव के (दन्ताः) दांत (मूर्णाः भवन्तु) तोड़ डाले जांय, या मुंह पर पट्टी बांध कर कस दिये जांय और (पृष्टयः) पसलियां भी (अपि शीर्णाः) खूब कच्ची कर डालनी चाहियें या हे पुरुष

१. सम्भावनायां लोट् ।

तेरे आगे (गोधा) गोह भी (निम्रुक्) नीचे ही नीचे २ (भवतु) सरके और (शशयुः) शशकों को पकडने वाले, या सोते हुए (मृगः) मृग को (नीचा यच्छ) नीचे ही बांध लो, दमन करो ।

यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

भा०—(यत् संयमः) जिसको एक वार अच्छी प्रकार बांध लिया जाय तो (न वियमः) फिर उसे छोडा न जाय और (यत् वियमः) यदि वह छूट गया तो (न संयमः) तो फिर उसको बांधा ही क्या ! यह संयम तथा बांधने का प्रकार दो प्रकार का है एक तो (इन्द्रजाः) इन्द्र से उत्पन्न अर्थात् शक्ति पूर्वक किसी को वश कर लेना और दूसरा (सोमजा) सोम=अन्न के आधार पर उसको वश करलेना । इनमें से (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्र को वश करने का यह प्रकार ऐसा है कि (आथर्वणम् असि) इस में जीव का घात नहीं किया जाता है, प्रत्युत उस के बल को तोड़ा जाता है ।

---

[४] नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधि का प्रयोग ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–३, ८ अनुष्टुभः, ४ परोष्णिक्, ६, ७ भुरिजौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

भा०—वृष्य ओषधि के प्रयोग का उपदेश करते हैं । हे ओषधे ! (यां त्वा) जिस तुझ ओषधि को (गन्धर्वः) विद्यावान्, वाचस्पति, कविराज, वैद्य (मृतभ्रजे) नष्टवीर्य, नष्टतेजस (वरुणाय) श्रेष्ठ पुरुष के लिये

(अखनद्) खोद कर प्राप्त करता है (तां त्वा) उस तुझ (शेपहर्षणीं) प्रजनन इन्द्रिय में पुष्टि उत्पन्न करने वाली (ओषधिम्) ओषधि को (वयम्) हम (खनामसि) खोद कर प्राप्त करें । अध्यात्म में-शेप=ज्ञानवान आत्मा । वरुण=आत्मा । गन्धर्वः=ब्रह्मवित् ।

उदु॒षा उदु॒ सूर्य॒ उदि॒दं मा॑म॒कं वचः॑ ।
उदे॑जतु प्र॒जाप॑ति॒र्वृषा॒ शुष्मे॑ण वा॒जिना॑ ॥ २ ॥

भा०—(उषाः) प्रातकाल (उद् एजतु) शरीर के अंगों में उत्तेजना उत्पन्न करता है । (सूर्य उत्) सूर्य भी शरीर में वीर्य की वृद्धि करता है (इदं) यह (मामकं वचः) मेरा बल पूर्वक कहा गया वचन भी शरीर में उत्तेजना उत्पन्न करता है, (प्रजापतिः) प्रजा की पालन करने वाली (वृषा) वीर्य सेवन में समर्थ, ओषधि विशेष (वाजिना) बलकारक (शुष्मेण) अपने रस से (उद् एजतु) शरीर में वीर्य की उत्तेजना को उत्पन्न करे । 'वृषा' शब्द से वृषमेधा, मुस्ता, ऋषभ, एन्द्री, दधिपुष्पी, वासा, मूसा कानी या आखुपर्णी, धान्यमाष, विदारिका, बलिका, तामलकी आदि ओषधियां ली जाती हैं । ये सब वृष्य वीर्योत्पादक ओषधियां हैं ।

यथा॑ स्म ते वि॒रोह॑तो॒ऽभित॑प्तमि॒वान॑ति ।
तत॑स्ते॒ शुष्म॑वत्तरमि॒यं कृ॑णो॒त्वोष॑धिः ॥ ३ ॥

भा०—(विरोहतः ते) विशेष प्रकार से पुष्ट शरीर होने वाले तेरे

[४] २–(द्वि०) 'उच्छुष्मा ओषधीनाम्', (च०) 'वाजिनाम्' इति पैप्प० सं० । 'वृ-णस्ते खनतारो वृषा त्वा पश्योषधे वृषासि वृष्ण्यावति वृषणे त्वा खनामसि' इति पैप्प० सं० अधिक पाठः ।
३–'विरोहित' इति सायणसम्मतः पाठः । 'ऊर्ध्वं स्त्राणीमिदं कृधि यथा' इति पूर्वमधिकः पाठः पैप्प० सं० ।

शरीर में (यथा) जिस प्रकार (अभितप्तम् इव) काम प्रवृत्ति से अभितप्त के समान (अनति स्म) चेष्टा करने लग जाय (ततः) तभी (इयं ओषधिः) यह ओषधि (ते) तेरे शरीर को (शुष्मवत्-तरम्) और भी अधिक बल युक्त करेगी । अर्थात् प्रथम औषधि सेवन से शरीर केवल वीर्य के उत्पन्न हो जाने पर उसे नष्ट न करें प्रत्युत और अधिक ओषधि सेवन से और अधिक पुष्ट करे ।

उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम् ।
सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

भा०—(ऋषभाणाम्) ऋषभ आदि वृष्यगण की (ओषधीनां) औषधियों में से यह (शुष्मा) बलकारी औषध बला, (सारा) सब से अधिक सार वाली एवं बलप्रदा है । हे इन्द्र ! वैद्य ! अथवा हे (तनू-वशिन्) शरीर को अपने वश करने हारे आत्मन् ! (अस्मिन्) इस निर्वीर्य पुरुषों में भी (पुंसां वृष्ण्यम्) पुमान्, वीर्यवान पुरुषों का सा बल (सं धेहि) धारण करा ।

अर्थात् औषध की चिकित्सा के साथ २ आत्मिक बल को भी प्राप्त करना आवश्यक है, नहीं तो प्राप्त हुआ बल सब व्यर्थ नष्ट हो जाता है ।

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् ।
उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

४–(तृ०) 'सं पूनामिन्द्र', (च०) 'तनूवशम्' इति सायणसम्मतौ पाठौ । 'उच्छुष्मा ओषधीनां उत सारा ऋषभाणाम्' इति पैप्प० सं० ।

५–'आर्षमसि' इति सायणसम्मतः पाठः । (प्र०) 'अपां रसौषधीनां' (च०) 'आरिष्यमसि' इति पैप्प० सं० । 'आर्ष्यन्' इति ह्विट्नि-शोधितस्तत्कामितः पाठः ।

भा०—हे ओषधे ! तू (अपां) जलों का, "अपः" नामक तेजस्वी मूल कारण भूत व्यापक तत्वों का (प्रथमजः रसः) सब से श्रेष्ठ रस है (अथो) और तू (वनस्पतीनां) वनस्पतियों का सार है। (उत) और (सोमस्य) शरीर में उत्पन्न होने वाले वीर्य का (भ्राता) पोषक है (उत) और (आर्शम्) शूरता के उत्पादक और (वृष्ण्यम्) बलकारी वीर्य सेचन के सामर्थ्य का उत्पादक है।

अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति ।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

अथर्व का० ६ । १०१ । ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (सवितः) सूर्य ! हे (सरस्वति देवि) विद्ये ! हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के विद्वान् पुरुष या परमात्मन् ! (अद्य) आज, अब (अस्य) इस निर्वीर्य पुरुष के नाना प्रकार के औषध उपचार करने पर (पसः) प्रजननाङ्ग को (धनुः इव) दृढ़ लक्ष्यभेदकारी धनुष के समान शारीरिक बल के द्वारा (आ तनय) तान दो जिस से यह भी पुत्रपौत्र आदि प्राप्त करने में समर्थ हो।

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

भा०—(अहं) मैं, सद्वैद्य (ते पसम्) तेरे प्रजनन अङ्ग को उचित औषधि के उपचार से (धन्वनि अधि ज्याम् इव) धनुष पर तनी

६–(तृ०) 'अद्य मे ब्रह्म' इति पैप्प० सं० ।

७–' क्रम, स्वर्षः, इव ' इति पदपाठश्चिन्त्यः । ' क्रमस्व ऋष्यः इव ' इति ह्विटनिकामितः पदपाठः । 'क्रमस्व, ऋषः, इव' इति सायणः । (च०) ' अनुवल्गुयता ' इति सायणसम्मतः पाठः ।

डोरी के समान (आ तनोमि) प्रबल, कार्य करने, एवं वीर्य सेचन में समर्थ करता हूं (ऋशः-इव) जिस प्रकार धनुर्धर हिंसक, शिकारी, निःशंक होकर (रोहितम्) रोहित नामक मृग पर प्रसन्न होकर वेग से शिकार के लिये जा पड़ता है उसी प्रकार हे वीर्यसम्पन्न पुरुष ! तू भी (सदा) निरन्तर (अनवग्लावता) ग्लानि रहित, प्रसन्नचित्त शरीर से (क्रमस्व) अपने गृहस्थ में सन्तानोत्पत्ति, गर्भ-धारण आदि कार्य में लग जा ।

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च ।

अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

भा०—हे (तनू-वशिन्) शरीर को वश करने में समर्थ ! सद्वैद्य ! (अश्वस्य) अश्व के (अश्वतरस्य) खच्चर के, (अजस्य) बकरे के, (पेत्वस्य च) और मेढ़े के (अथ ऋषभस्य) और बैल के (ये) जो (वाजा) वीर्य हैं (तान्) उनको (अस्मिन्) इस निर्वीर्य पुरुष में (धेहि) धारण कराओ । अथवा अश्व, अश्वतर, अज, पेत्व=मेष, ऋषभ आदि ओषधियों का बल इस में प्रवेश कराओ ।

[५] निद्रा विज्ञान ।

ब्रह्मा ऋषिः । स्वपनः ऋषभो वा देवता । १, ३—६ अनुष्टुभः, २ भुरिक्, ७ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।

तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ १ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ७ ॥

८—(च०) 'वाजास्तस्मिन' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (च०) 'तनूवशम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

[५] १—'हिरण्यशृङ्ग' इति पैप्प० सं० ।

भा०—आत्मा और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध और सोने जागने के रहस्य को लौकिक दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं । (यः) जो (सहस्र-शृङ्गः) सहस्रों, अनन्त किरणों वाला (वृषभः) जीवन शक्ति का, या वर्षा का हेतु सूर्य (समुद्राद्) समुद्र से, समुद्र तल से (उद् आचरत्) ऊपर को उठता हुआ प्रतीत होता है वह उसी प्रकार पुनः समुद्र में ही अस्त होता प्रतीत होता है । (तेन) उस (सहस्येन) शक्तिमय पिण्ड के दृष्टान्त से हम भी (जनान्) मनुष्यों को (नि स्वापयामसि) ठीक उसी प्रकार से जागता और सोता पाते हैं । अर्थात् जिस प्रकार प्रति-दिन प्रातः सूर्य उगता है सायंकाल अस्त होता है उसी प्रकार मनुष्य प्रातः उठते हैं रात्रि को सो जाते हैं और जिस प्रकार प्रातः सूर्य में से किरणें सर्वत्र फैलती प्रतीत होती हैं और सायं समय अस्त होते हुए सूर्य के बिम्ब में ही सब किरणें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार आत्मा में से ये इन्द्रियगण प्रादुर्भूत होती हैं और सोते समय पुनः उस में ही लीन हो जाती और सो जाती हैं । इसका स्पष्टीकरण देखो छान्दोग्य उपनिषद् में 'प्राण-प्रकरण' ।

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन ।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥

भा०—सोने के लिये अनुकूल स्थिति का उपदेश करते हैं । (वातः भूमिं न अति वाति) प्रचण्ड वायु भूमि पर प्रबल वेग से बह कर घर में वेग से प्रवेश न करे और (कः चन) कोई पुरुष (न अति पश्यति) खिड़कियों से न झांके । ऐसे स्थान पर हे इन्द्र ! गृह के और राष्ट्र के स्वा-

२–(द्वि०) 'पश्यति सूर्यः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'स्वापयः' इति बहुत्र ।

मिन् राजन् (सर्वाः स्त्रियः) सब स्त्रियों को (स्वापय) सुलाओ और (शुनः च) कुत्तों को भी बाहर सुला दो जिस से घर की रक्षा हो और (इन्द्रसखा) राजा का मित्र बराबर (चरन्) पहरा देता हुआ विचरण करे।

अध्यात्म पक्ष में—इन्द्रसखा=आत्मा का मित्र प्राण (चरन्) बराबर विचरण करता रहता है और सब (स्त्रियः) ज्ञानेन्द्रियों और (शुनः) सब कर्मेन्द्रियों को सुला देता है। (वातः) वह प्राण भी (भूमिं) सुषुप्ति दशा को नहीं तोड़ता और कोई भी इन्द्रिय उस समय देख नहीं सकती।

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारी॒र्या व॑ह्यशीवरीः।
स्त्रियो॒ याः पु॒ण्यग॑न्धय॒स्ताः सर्वाः॑ स्वापयामसि ॥ ३ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ८ ॥

भा०—शयन काल में हम अपनी इन्द्रियों कैसे सुला देते हैं। जो स्त्रियां (प्रोष्ठे-शयाः) झूले में सोने की अभ्यासी हैं, जो (तल्पेशयाः) सेज पर सोने वाली है, और (याः नारीः) जो स्त्रियां (वह्य-शेवरीः) वहन, दूर गमन के साधन रथ आदि में सोने वाली है और (याः स्त्रियः) जो स्त्रियां (पुण्य-गन्धयः) पुण्य, पवित्र गन्ध वाली हैं (ताः सर्वाः) उन सब को (स्वापयामसि) रात्रि के काल में सुला दे।

अध्यात्म पक्ष में—इन्द्रियों के ही ४ प्रकार के भेद किये हैं। १ प्रोष्ठेशया, नाड़ी अर्थात् मुख भाग में रहने वाली वाणी, २ तल्पेशया नाड़ी, जो सोते समय विस्तर से सट जाती हैं जैसे त्वचा पीठ आदि, ३ वह्यशेवरी, जो पैरों में विद्यमान चरणेन्द्रिय है, ४ पुण्यगन्धि=ज्ञानेन्द्रियें ये सब उस आत्मा के बल पर उसी में आश्रित होकर सो जाती हैं। अथवा नारी=नाड़ियां हैं।

३–' प्रोष्ठेशयाः=पुष्टिशयाः नारीर्या तल्पशीवरीः ' (तृ०) ' पुण्यगन्धास्ता ' इति ऋ०, पैप्प० सं०।

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् ।
अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥

भा०—स्वापकाल में आत्मा क्या करता है ? (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरे) शर्वर=पूर्व भाग के गुजर जाने पर इन्द्र रूप आत्मा मैं-स्वयं (एजत्-एजत्) इस शरीर में जो जो भाग भी गतिमान है उस सब को (अजग्रभम्) ग्रस लेता हूं अर्थात् मैं उसकी शक्ति को अपने में लीन करके सुला देता हूं। (चक्षुः) चक्षु इन्द्रिय को और (प्राणम्) प्राण को भी मैं (अजग्रभम्) अपने वश किये रहता हूं। कहने का तात्पर्य यह है कि (सर्वा अंगानि) समस्त अंगों को ही मैं (अजग्रभम्) ग्रहण किये रहता हूं।

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति ।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥
ऋ० ७ । ५५ । ६ ॥

भा०—सोने के समय इस शरीर की दशा एक महल के समान होती है। (यथा इदं) जिस प्रकार यह शरीर है (तथा हर्म्यं) उसी प्रकार हर्म्य=महल होता है। अर्थात् (य आस्ते) जो बैठा है (यः चरति) जो चलता है (यः च तिष्ठन्) और जो खड़ा है या (वि-पश्यति) नाना ओर से देखता है (तेषां अक्षीणि) उन सब की आंखों को (सं दध्मः) सोने के समय हम लगा हुआ पाते हैं अर्थात् वे सब सो ही रहे होते हैं उसी प्रकार इस शरीर में जो बैठा है जैसे कान, जो चलता है जैसे मन, हाथ पैर, जो खड़ा है, जैसे जिह्वा, नाक आदि जो देखता है जैसे आंख, उन सब की (अक्षीणि) ज्ञान, क्रिया शक्तियों (सं दध्मः) एक प्राण में ही एकत्र धारण करते हैं।

४-(च०) 'रात्रीणामुतशर्वरे' इति पैप्प० सं० ।

५-'यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः । तेषां सहन्मो अक्षाणि' इति ऋ० ।

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ५ ॥

भा०—चिति शक्ति, चेतना या चितिकला की इस देह में क्या दशा होती है सो बतलाते हैं । जिस प्रकार गृहिणी के चेतन रहने पर भी उसकी माता, पिता, घर का कुत्ता, गृहपति और अन्य सम्बन्धी और अड़ोस पड़ोस के सभी सो जाते हैं और वह अपने पति सेवा में रत रह कर भी जागती है उसी प्रकार यह चेतना भी जागती रहती है इसकी (माता) ज्ञान करने के साधन इन्द्रियगण (स्वप्तु) सो जांय, (पिता) इस का पालक भी (स्वप्तु) सो जाय, (श्वा स्वप्तु) इसका कुत्ता कर्मेन्द्रिय मन भी (स्वप्तु) सो जय और (विश्पतिः) सब प्रजाओं का स्वामी मुख्य आत्मा भी (स्वप्तु) आनन्द दशा में मग्न होजाय । (अस्यै ज्ञातयः) इस के ज्ञाति=जानने हारे, अपनाने हारे भीतरी प्राण भी (स्वपन्तु) नि-श्चेष्ट होकर सो जांय और (अभितः जनः स्वप्तु) इसके अड़ोस पड़ोस के शेष अंग भी सो जांय तो भी यह मुख्य चेतना=श्वास प्रश्वास करती हुई चेती रहती है ।

स्वप्नं स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम् ।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥७॥

६—'सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः ससन्तु सर्वे ज्ञातयः स स्त्वयमभितो जनः ।' इति पाठभेदः ऋ० ।

७—(प्र०) 'स्वप्नः स्वप्न' इति बहुत्र । 'स्वप्नस्वप्नाधिकरणेन' इति सायणाभिमतः, पैप्प० सं० च । (प्र०) 'स्वप्नः स्वप्नाधिकरणे सर्वं' (तृ०) 'आसूर्यं' (च०) 'व्युषं जागृयादहम्' इति ऋ० ८ । ५५ । इत्यत्रखिलेषु ।

भा०—कब तक सोवें ? हे (स्वप्न) हे निद्रावृत्ते ! (स्वप्नाभिकरणेन) निद्रा वृत्ति को अभिमुख करके (सर्वं जनम्) समस्त अन्य उत्पन्न होने वाले जनों या इन्द्रिय वृत्तियों को (नि स्वापय) सर्वथा सुला दो । और (स्वापय) तब तक सुलाओ (आत् उ सूर्यम्) जब तक सूर्य उदित न होजाय और (आ वि-उषम्) और जब तक उषाकाल फट न जाय और तब (अहं) मैं आत्मा (इन्द्रः इव) इन्द्र=ऐश्वर्य शील राजा के समान (अक्षितः) अविनाशी (अरिष्टः) किसी से भी पीडित न हो कर (जागृताद) जागूं ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्तत्रिंशत् ।]

[६] विष चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । १–८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥

भा०—विषचिकित्सा का उपदेश करते हैं । (ब्राह्मणः) 'ब्राह्मण' नामक ओषधि (प्रथमः) सब ओषधियों में सब से श्रेष्ठ (जज्ञे) प्रकट हुआ जो (दश-शीर्षः) दश प्रकार के रोगों का नाशक (दश-आस्यः) दश अंगों की पीडा को बाहर फैंक देने वाला है । क्योंकि (सः) वह (प्रथमः) सब से श्रेष्ठ होने के कारण (सोमं) सोम रस, अमृत की रक्षा करता है (सः) वह (विषं) विष को भी (अरसं) अरस, वीर्यरहित (चकार) कर देता है ।

ब्राह्मण कन्द 'गृष्टि' नामक ओषधि है जिसका गुण 'विषपित्त-कफापहा' लिखा है। इसके ही विश्वक्सेना, वाराही, कौमारी, ब्रह्मपत्री, त्रिनेत्रा अमृत, आदि नाम हैं। इसके गुण हैं—

वाराही तिक्तकटुका विषपित्तकफापहा।
कुष्ठमेहकृमिहरा वृष्या बल्यारसायनी ॥ राजनिघण्टु ॥

इसके अतिरिक्त सोम नाम से कही जाने वाली सोमवल्ली, वाकुची ब्राह्मी, गुडूची, रीठाकरञ्ज, सौम्या, शढ़ी, भार्गी, आदि ओषधियां भी नाना प्रकार के विषनाशक हैं जिनमें रीठाकरञ्ज और वाकुची विशेष रूप से त्वग्दोष, विष, कण्डू और खर्जू का नाशक है।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत् सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥

प्रथमार्धः यजु० ३८ । २६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—वाणी द्वारा विष के प्रभाव को दूर करने का उपदेश (द्यावा-पृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और जमीन (वरिम्णा) अपने विस्तार से (यावती) जितनी बड़ी हैं और (सप्त सिन्धवः) सातों समुद्र (यावत्) जितनी दूर तक (वि-तस्थिरे) फैले हैं उतने विस्तार तक (विषस्य दूषणीम्) विष के विनाश करने वाली, प्रबल (तां वाचं) उस वाणी को (इतः) इस मुख से (निर् अवादिषम्) मैं बोलूं।

[६] २–(च०) 'तावतीं निरवादिषम्' इति कैन्मनकामितः पाठः। (प्र०) 'यावती द्यावापृथिवी यावत् च' इति यजु०। 'यावती द्यावापृथिवी महित्वा यावत् च' इति तै० सं०। (द्वि०) 'तस्थिरे' इति यजु०। 'तस्थुः' इति तै० सं०।

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विष प्रथममावयत् ।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

भा०—(गरुत्मान्) पक्षी (सुपर्णः) सुपर्ण=गरुड़ (त्वा) तुझको हे विष ! (प्रथमम्) सब से पूर्व (आवयत्) खा लेता है । हे विष ! (न अमीमदः) तू उसको नशा और मूर्छा भी उत्पन्न नहीं करता (न अरूरुपः) और न उसकी चेतना को लोप करता है (उत) बल्कि (अस्मा) इसके लिये (पितुः) अन्न ही (अभवः) हो जाता है । इसी प्रकार जो पुरुष प्रथम से विषको अपना अन्न का भाग बना लेते हैं उन पर बाद विष का असर नहीं होता, प्रत्युत विष ही उनका पोषक होजाता है ।

यस्त आस्यत् पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः ।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥

भा०—विष से बुझे शस्त्र के घाव की चिकित्सा का उपदेश करते हैं । हे पुरुष यदि (पञ्चांगुरिः) पांचों अंगुलियां जोड कर मारने वाले किसी शिकारी या बधिक ने भी (वक्रात् धन्वनः) खूब तान कर गोल किये धनुष से भी (ते) शरीर में (विषम्) विष को (आस्यत्) प्रवेश करा दिया है तोभी (अपस्कम्भस्य शल्यात्) 'अपस्कम्भ' नामक ओषधि वर्ग 'क्रमुक' नामक ओषधि के (शल्यात्) पत्र से उस विष को (अहं) मैं (निर अवोचम्) सर्वथा निर्बल करने का उपदेश करता हूं ।

३–(द्वि०) 'विपः' इति बहुत्र । 'प्रथममादयत्' (तृ० च०) 'नरोपयो नमादयो तस्माभवन् पितुः' इति पैप्प० सं० ।

४–(तृ०) 'अपस्कम्भस्य बाह्वोः' इति पैप्प० सं० । 'अपस्कन्धस्यं बाह्वोर्निर' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'अपस्तम्बे' इति क्वचित् । (प्र०) 'पञ्चाङ्गुलि' इति पैप्प० सं० ।

'अपस्कम्भ' ओषधि को क्रमुक या लोध्र कहा जाता है। इसको भिल्ल-तरु, शाबर, लोध्र रोध्र, आदि नाम हैं इसके गुण—

लोध्रः शीतः कषायश्च हन्ति तृष्णामरोचकम् ।
विषविध्वंसनः शोफो रूक्षो ग्राही कफापहः ॥ (ध० रा०)

इसी का एक भेद 'क्रमुक' है वह भी गुणों में "चक्षुष्यं विषहृत्" कहा गया है।

शल्याद् विषं निरंवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरंवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

भा०—विष के दूर करने के उपाय दर्शाते हैं—(शल्याद्) शल्य=पत्र से या सेहे के कांटेसे ही मैं (विषं निरवोचम्) विष को दूर कर देता हूं। और या (पर्णधेः) पर्णधि नामक वृक्ष=लोध्र के ही (प्र-अञ्जनात्) प्रलेप से (उत) भी विष को दूर कर सकता हूं। या (अपाष्ठात् शृंगात्) दूर देश से लाये 'शृंग' अजशृंगी नामक, ओषधि से या (कुल्मलात्) 'कुल्मल' नामक पद्म ओषधि से (अहं) मैं (विषम्) विष को (निर्-अवोचम्) दूर करता हूं।

अथवा—(शल्यात्) बाण से या (अपष्ठात् शृंगात्) टूटे हुए सींग से या (कुल्मलात्) प्राणी के मल से उत्पन्न (पर्णधेः) विषैले सर कण्डे से और (प्राजनात्) या विषैले लेप से उत्पन्न हुए विष को भी मैं दूर करता हूं। यह सायण सम्मत अर्थ है।

अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम् ।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

५—'निर्वोचं', आञ्जनात् पर्णवे रुत' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (इषो) बाण ! (ते शल्यः) तेरा बाण (अरसः) विष रहित हो और (ते विषम्) तेरा विष भी (अरसम्) विष रहित रहे (उत) और हे (अरस) निर्विष पदार्थ ! (अरसस्य) निर्विष वृक्ष का (ते धनुः) तेरा धनुष भी (अरसम्) निर्विष ही होना उचित है।

मनुष्यों को चाहिये अपने बाणों के फले और धनुष निर्विष वृक्ष के बनावें।

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

भा०—(ये) जो (अपीषन्) विष के पदार्थों को पीसें (ये अदिहन्) जो संग्रह करे (य आस्यन्) जो विषमय पदार्थ फेंके (ये अवासृजन्) जो विषैले पदार्थ उत्पन्न करें। (सर्वे ते) वे सब (वध्रयः कृताः) राजशासन द्वारा दण्ड के योग्य हों और (विषगिरिः) विष की खानें, संखियां की खाने भी (वध्रिः) राजशासन में प्रबद्ध रूप से (रिजर्वड) (कृतः) किया जाय। इन सब कार्यों को राजा अपने प्रबन्ध में रखे और स्वतन्त्र किसी को न करने दे।

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते खनितारः वध्रयः) वे विषैले पदार्थों को खोदने वाले पुरुष भी विना राजाज्ञा के दण्ड के योग्य हों और हे (ओषधे) त्वम् वध्रिः असि) विष की ओषधियों तुम भी बन्द सुरक्षित स्थान पर रहो। (सः पर्वतः) वह पहाड़ का भाग (यतः) जिससे (इदं विषं) यह विष (जातम्) उत्पन्न होता है वह भी (वध्रिः) राज्य की कड़ी निगरानी, या पहरे में रहे।

[७] विष-चिकित्सा का उपदेश ।

गरुत्मान् ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-३, ५-७ अनुष्टुभः, ४ स्वराट् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वारि॒दं वा॑रयातै वर॒णाव॑त्या॒मधि॑ ।
त॒त्रा॒मृत॒स्यासि॑क्तं॒ तेना॑ ते वारये वि॒षम् ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में भी विष चिकित्सा का उपदेश करते हैं। (वरणावत्याम् अधि) वरणा नामवाली ओषधि से युक्त धारा में बहने वाला (इदं वाः) यह जल है। (तत्र) इस में (अमृतस्य) अमृत, विष के विनाशक बल का रस (आसिक्तं) खिचा हुआ है। (तेन) उस से (ते विषम् वारयामि) तेरे विष को दूर करता हूं।

वरणा नामक ओषधि ध० राजनिघण्टु के अनुसार 'वरा' ओषधि है इस नाम वाली पाठा, वन्ध्या कर्कोटकी, विडङ्ग, हरिद्रा, काकमाची और उसके दोनों भेद काकजंघा और चूड़ामणि, और अरणी ये ओषधियां 'वरा' कहाती हैं। ये सब विष नाशक बतलायी गयी हैं। इनके अंश से युक्त जल से विष का नाश करना चाहिये। इसके अतिरिक्त पृथिवी 'वरा' कहाती है मिट्टी के प्रलेप से भी सर्प, वृश्चिक, ततैया आदि के विष दूर करने का प्रकार प्रसिद्ध है।

अ॒र॒सं प्रा॒च्यं॑ वि॒षम॑र॒सं यदु॑दी॒च्य॑म् ।
अथे॒दम॑ध॒राच्यं॑ कर॒म्भेण॒ वि क॑ल्पते ॥ २ ॥

[७] १-(द्वि०) 'वरणादाभृतम्' (च०) 'चकाररसं विषम्' इति पैप्प० सं० ।
२-(प्र०) 'विषमरसं प्राच्यं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(प्राच्यं विषम्) प्राची दिशा के देशों के जन्तु और ओषधियों के नाना प्रकार के विष और (यद् उदीच्यं) जो उत्तर दिशा के विष हैं वे भी (अरसं) निर्बल हो जाते हैं (अथ) और (इदम्) यह (अधराच्यम्) नीचे भूमि में सरकने वाले कीट पतंगों का विष भी (अरसं) निर्बल हो जाता है परन्तु यह सब (करम्भेण विकल्पते) उस विष को शान्त करने के लिये जो ओषधि का लेप, और मिश्रण और पान करने योग्य द्रव्य बनाया जाता है उसकी मात्रा और बलाबल के भेद से भिन्न २ बल का विष शान्त होता है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् भिन्न २ विष की मात्रा के लिये ओषधि की मात्रा भिन्न २ समझना उचित है। अथवा शरीर में आड़े फैलने वाला विष जो उसी स्थान पर सूजन कर दे 'प्राच्य' है और ऊपर सिर की ओर फैलने वाला विष 'उदीच्य' और पैरों की ओर नीचे जाने वाला विष 'अधराच्य' है। अथवा 'प्राच्य' बहुत तीव्र 'उदीच्य' मध्यम 'और' अधराच्य न्यून बल है अथवा वातोल्वण विष 'प्राच्य' और पित्तोल्वण 'उदीच्य' और कफोल्वण 'अधराच्य' है।

क॒र॒म्भं कृ॒त्वा ति॒र्यं॑/पीवस्फा॒कमु॑दा॒रथि॑म् ।
क्षु॒धा किल॑ त्वा दुष्टनो जक्षि॒वान्त्स न रू॑रुपः ॥ ३ ॥

३–(च०) 'जक्षिवांसं' इति ह्विटनिकामितः । 'मारूरुपः' इति ह्विटनिकामितः । 'नु रूरुपः' इति पैप्प० सं० । 'रुरुपः' इति प्रातिशाख्यम् । (प्र०) 'तिर्यं तिल्य' मिति ह्विटनिः, 'तिरोभव' मिति सायणः । 'तुरीयं' इति पैप्प० सं० । 'तिरियं' मासत्रयेणपच्यमानोधान्यविशेषः । 'तिर्यम्=अतिरियम्' इति ग्रिलः । (द्वि०) 'पीवस्फाकम्' इति क्वचित्, प्रातिशाख्ये च । 'उदाहृतम्' इति पैप्प० सं० । 'पिवत्साकम्' इति पैप्प० सं० । वर्णाकृतिलेखसाम्यात् 'तिर्पं' इति पैप्प० सं०, इति लैन्मनः ।

भा०—हे (दुःतनो) बुरी तरह से शरीर में फैलने वाले या शरीर को दुःख देने वाले विष ! यदि (पीवः पाकम्) मेद तक को पका डालने वाले और (उद्-आरथिम्) शरीर को सुजा डालने वाले या बहुत अधिक पीड़ा के जनक (त्वा) तुझ विष को कोई पुरुष (क्षुधा) भूख से प्रेरित होकर, पेट भर कर भी खा जाय तो भी (तिर्यं) धान या चावलों का (करम्भम्) मिश्रण (कृत्वा) करके (जक्षिवान्) खाले तो (सः न रूरुपः) वह मूर्छित न हो ।

' करम्भ ओषधे भव पीवोवृक्क उदारथिः । वातापे पीव इद्भव ' इति ऋग्वेदे ।

अथवा पैप्पलादशाखा के पाठ के अनुसार—" करम्भं कृत्वा निर्यं पीवस्पाकमुदाहृतम् ।" ' निरप ' नामक धान्य का चावल बना हुआ ' पीवस्पाक ' मेद बढ़ाने वाला पुष्टिकर कहा है । (दुष्टनो क्षुधा किल त्वा जक्षिवान्) हे दुस्तनो धान्य ! तुझको जो भूख से खालेता है (सः न रूरुपः) वह विष से दूषित नहीं होता । ' निरप ' नामक शालि के गुण ' निरपो मधुरः स्निग्धः शीतलो दाहपित्तजित् । त्रिदोषशमनो हृद्यः पथ्यः सर्वामयापनुत् ।

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।
प्र त्वां चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

भा०—मदकारिणी ओषधियों के विषों का उपचार बतलाते हैं । हे (मदावति) मदकारी ओषधे ! (ते मदम्) तेरे मद को (शरम् इव) बाण के समान (पातयामः) दूर फेंक देते हैं और हे विष ! (चरुम् इव) दूत

४—' शरुमिव ' (तृ०) ' जेपन्तं ' इति सायणाभिमतः । (तृ०) ' परित्वावर्मि वेशन्तं ' इति पैप्प० सं० ।

गुप्तचर के समान (येपन्तम्) अङ्ग २ में फैलने वाले (त्वा) तुझको (वचसा) वाणी से (प्र स्थापयामः) दूर भेज देते हैं। अर्थात् जैसे डोरी की टनकार से बाण दूर चला जाता है और जिस प्रकार स्वामी की आज्ञा सुनकर गुप्त-चर दूर देश में चला जाता है उसी प्रकार हमारी वाणी के प्रयोग से मद उतर जाय। अथवा—(येपन्तं चरुम् इव) जिस प्रकार उबलती हुई हण्डिया को शीतल पानी में डाल कर या आग से उतार कर रख देने से वह उबलना बन्द कर देती है उसी प्रकार शरीर में तीव्रता से उफनते हुए विष को हम अपने तीव्र वचन प्रयोग से (प्र स्थापयामसि) थाम लें।

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

भा०—(ग्रामम् परि) ग्राम भर में (आचितं) फैले हुए अराजकता या दंगे को जिस प्रकार राजा अपने हुकुम से एक ही वार रोक देता है उसी प्रकार हम विषवैद्य तुझ विष को (वचसा स्थापयामसि) अपनी प्रभावजनक वाणी द्वारा स्थिर कर दें, शरीर में फैले हुए विष को घातक प्रभाव करने से रोकें। हे पुरुष ! तू (अभ्रि-खाते) कुद्दाले से खोदे हुए (स्थाम्नि) थांव ले या गढ़े में (वृक्ष इव) दरख्त के समान (तिष्ठ) गड़ कर खड़ा हो जा, (न रूरुपः) इससे तू मूर्छित न होगा। शब्द का प्रभाव विष उतारने, उसको रोकने आदि में प्रायः देखा गया है पृथिवी में गढ़ा खोद कर उसमें गले तक गाड़ देने से भी पृथिवी विष चूस जाती है। देखो डा० जुस्ट की मिट्टी चिकित्सा।

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिरजिनैरुत ।
प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

भा०—हे (अभ्रिखाते) कुदाल से खोदी गई ओषधी (त्वा) तुझ को (पवस्तैः) वस्त्रों या छाजों और (दूर्शेभिः) ऋक्ष या व्याघ्रच्छालाओं

(उत) और (अजिनैः) मृगच्छालाओं के बदले में (पर्यक्रीणन्) परस्पर बेचते ख़रीदते हैं । इसलिये तेरा नाम (प्रक्रीः) भी है । तेरे प्रयोग से भी (न रूरुपः) विषार्त रोगी मूर्च्छा को प्राप्त नहीं होता ।

'प्रक्री' ओषधि धन्वन्तरि राजनिघण्टु में प्रकीर्य नाम से आया है । जिसके पांच भेद हैं करञ्ज, उदकीर्य, अंगारवल्ली, गुच्छकरंज, रीठाकरंज । ये भी विषनाशक एवं कुष्ठ, कण्डू और स्फोट त्वचादोष के नाशक बतलाये गये हैं ।

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे ॥ ७ ॥

अथर्व० ५ । ६ । २ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (ये) जो (वः) तुम लोगों में से (अनाप्ताः[1]) अनाप्त अर्थात् आप्त या विद्या-पारंगत नहीं हैं वे (यानि) जो (प्रथमा) प्रथम २ (कर्माणि) कर्म (चक्रिरे) करते हैं वे (अत्र) इस कार्य में (नः) हमारे (वीरान्) वीरों, पुत्रों को (मा दभन्) कष्ट न पहुंचावें ।

[८] राज्याभिषेक योग्य राजा का वर्णन ।

अथर्वाङ्गिराः ऋषिः । राज्याभिषेकम् । चन्द्रमाः आपो वा देवताः । १, ८ भुरिक्-त्रिष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः, २, ४, ६ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७-(प्र०) 'अनाप्ता' इति बहुत्र ।

१. 'अनाप्ता अननुकूला शत्रवः' इति सायणः । 'न उत्तमा येभ्यः' इति क्षेमकरणः, तदुभयं चिन्त्यम् ।

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥

भा०—राजसूय यज्ञ द्वारा राज्य को शासन करने का उपदेश करते हैं। (भूतः) स्वयं सामर्थ्यवान् होकर पुरुष (भूतेषु) अन्य समृद्ध-समर्थ पुरुषों पर भी (पयः) अपना वीर्य, पराक्रम (आ दधाति) स्थापन करता है (सः) वह ही (भूतानाम्) प्राणियों का (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) हो जाता है। (तस्य) उसके (राज-सूयं) राजसूय, राजाओं पर जमने वाले शासन, यज्ञ या प्रभुत्व को (मृत्युः) मृत्यु दण्ड देने का सामर्थ्य ही स्वयं (चरति) सम्पन्न करता है (सः) वह (राजा) राजा सब के मनों का अनुरंजक होकर (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यताम्) स्वीकार करे।

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा ।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥

अथर्व० २ । ७ । १६ ॥

भा०—हे राजन् ! (अभि प्रेहि) तू सब के समक्ष अग्रासन पर आ। (मा अप वेनः) कभी अपने को तुच्छता में रख कर अपनी शोभा कम मत कर, अपनी शान मत विगाड़। तू स्वयं (उग्रः) सदा उद्यत दण्ड होकर (चेत्ता) राष्ट्र कार्यों के समस्त विभागों को जानने हारा, विद्वान् बन कर (सपत्न-हा) अपने शत्रुओं को जीतकर, हे (मित्र-वर्धन) अपने मित्र राजाओं को ऊंचे पदों पर वृद्धि देने हारे राजन् ! (आ तिष्ठ) सिंहासन

[८] १–(प्र०) भूतो भूतेषु चरति प्रविष्टः (तृ०) 'तस्य मृत्यौ' इति तै० ब्रा० । 'स ते मृत्युं' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'अभि प्रे वी उपस्व' इति पैप्प० सं० ॥

पर विराजमान हो। (तुभ्यं) तेरे लिये (देवाः) विद्वान् लोग (अधि ब्रुवन्) उत्तम राजनैतिक उपदेश करें, उत्तम मन्त्रणा दें।

आ तिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ् छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥३॥

ऋ० ३ । ३८ । ४ ॥ यजु० ३३ । २२ ॥

भा०—हे राजन्! (आ-तिष्ठन्तं) राज्य सिंहासन पर बैठे हुए तुझ को (विश्वे) समस्त विद्वान् प्रजागण (परि अभूषन्) चारों ओर से घेर कर सभा में विराजमान हों और तू (स्व-रोचिः) स्वयंप्रकाश सूर्य के समान (श्रियं वसानः) राजलक्ष्मी को धारण करता हुआ (चरति) सर्वत्र विचरण कर या राज्य का भोग कर। (वृष्णः) प्रजा पर नाना सुखों के वर्षक और (असुरस्य) शत्रुओं के नाशक राजा का ही (तत् महत् नाम) वह बड़ा भारी यश है कि (विश्व-रूपः) राष्ट्र के समग्र अधिकारियों में नानारूप होकर वह (अमृतानि) अमर नामों, पदों और यशों को (तस्थौ) प्राप्त करता है।

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन्! (वैयाघ्रे) व्याघ्र के स्वभाव वाले पुरुष पर (व्याघ्रः) बाघ बन कर तू (वि-क्रमस्व) उस पर चढ़ाई कर और इसी प्रकार (महीः दिशः) विशाल दिशाओं में अपना चतुर्दिगन्त (वि क्रमस्व) विजय कर। (त्वा) तुझे (सर्वाः विशः) समस्त प्रजाएं जो नगर में आकर बसी हैं

३–(द्वि०) 'श्रियो वसानः' इति ऋ०।
४–व्याघ्रो वैयाघ्रेऽधि श्रयस्व (च०) 'मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्' इति तै० ब्रा० (तृ०) 'सर्वायन्त्यापः' इति पैप्प० सं०।

(पयस्वतीः) अन्न और पशु, दुग्ध और अमृत को प्राप्त करने वाली, हृष्ट पुष्ट (दिव्याः आपः) और द्यौलोक से आने वाली वर्षा के समान उपकारी आप्त प्रजाएं भी तुझे ही अपना राजा स्वीकार करें अर्थात् मेघ तेरे राज्य में वृष्टि करे अकाल, दुर्भिक्ष न हों, प्रजाएं हृष्ट पुष्ट हों।

या आपो॑ दि॒व्याः पय॑सा॒ मद॑न्त्य॒न्तरि॑क्ष उ॒त वा॑ पृथि॒व्याम्।
तासां॑ त्वा॒ सर्वा॑सामु॒पाम॒भि षि॑ञ्चामि॒ वर्च॑सा ॥ ५ ॥

भा०—(याः) जो (दिव्याः) दिव्यगुण वाली (आपः) जलधाराएं या आप्त प्रजाएं (पयसा) अपने पुष्टि-आरोग्यकारक जल और बल से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उत वा) अथवा (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मदन्ति) प्राणियों को हृष्ट पुष्ट करते और स्वयं प्रसन्न रहते हैं (तासां सर्वासां) उन सब के (वर्चसा) तेज से (त्वा) तुझे (अभि षिञ्चामि) राज्य सिंहासन पर अभिषेक करता हूं। सब तीर्थों के और सब प्रकार के जलों से राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को स्नान कराया जाता है।

अ॒भि त्वा॒ वर्च॑सासिच॒न्नापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः।
यथासो॑ मित्र॒वर्ध॑न॒स्तथा॑ त्वा सवि॒ता क॑रत् ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन्! (त्वा) तुझे (पयस्वतीः) पुष्टिदायक सार पदार्थ से युक्त (दिव्याः आपः) दिव्य-गुणसम्पन्न (आपः) जलों और आप्तजनों ने (वर्चसा) अपने तेज से जो (अभि असिचन्) सब प्रकार से या सब के समक्ष स्नान कराया है इसका तात्पर्य यही है कि तू (यथा) जिस प्रकार से हो सके (मित्रवर्धनः असः) अपने स्नेह करने वाले राजा और प्रजा,

---

५–(प्र० द्वि०) 'या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुः या अन्तरिक्षे उत पार्थिवीर्याः' इति तै० ब्रा०।

६–(प्र०) ' वर्चसाऽसृजन् ' इति पैप्प० सं०, सायणाभिमतश्च।

सामन्तों और अधिकारियों की वृद्धि कर और (सविता) सर्वप्रेरक, सर्वो-त्पादक पिता परमात्मा (तथा) उस प्रकार का (त्वा करत्) तुझे बनावे।

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व१न्तः ॥७॥

भा०—(एनाः) ये समस्त प्रजाएं जिनकी प्रतिनिधि-भूत ये समस्त दिव्य जल-धाराएं या 'आपः' हैं वे (व्याघ्रम्) बाघ के समान पराक्रमी और (सिंहम्) सिंह के समान शूरवीर राजा को (परि-सस्वजानाः) आश्रय करती हुई (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, राज्य सिंहासन पर बैठ कर शासन कार्य के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करती या उसको कर प्रदान करके परिपुष्ट करती हैं। जिस प्रकार (तस्थिवांसम्) स्थिर गम्भीर (समुद्रम्) समुद्र को समस्त नदी आदि जल से पूर्ण करते हैं उसी प्रकार (सु-भुवः) उत्तम भूमियां (द्वीपिनं) शार्दूल के समान पराक्रमी और (अप्सु अन्तः तस्थिवांसं) जलों के समान उत्तम प्रजाओं के बीच खड़े हुए राजा को (मर्मृज्यन्ते) अङ्ग प्रत्यङ्ग में स्नान कराती हैं और छत्र चामर आदि से सुशोभित करती हैं।

[९] अञ्जन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन ।

भृगुर्ऋषिः । त्रैककुदमञ्जनं देवता । १, ४–१० अनुष्टुभः, कुम्मती, ३ पथ्यापंक्तिः । दशर्चं सूक्तम् ॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् ।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

७–(द्वि०) 'सिंहं मृजन्ति महते धनाय' (तृ०) 'महिषं नः सुभ्वम्' इति मै० सं० 'महिषं न सुभवः' इति पैप्प० सं०। 'समुद्रे न सुभ्वम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

[९] १–(द्वि०) 'अक्ष्यम्' 'अक्षरं' वा इति ग्रिल्कामितः ।

भा०—अञ्जन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार अञ्जन (अस्य पर्वतस्य) इस पर्वत का विकार होकर (अच्यम्) चक्षुओं के लिये हितकारक है और जीवन की रक्षा में सहायक है उसी प्रकार हे सद् विवेकरूप ज्ञानाञ्जन तू (जीवं त्रायमाणं) इस जीव की, आत्मा की या प्राणियों की रक्षा करता हुआ (अस्य) इस (पर्वतस्य) परम पूर्ण सब के परिपालक परमात्मा से प्राप्त होकर जीव के लिये (अच्यम् असि) इस अन्धकार मय संसार में चक्षु के लिये प्रकाश के समान हितकर है। और (विश्वेभिः) समस्त (देवैः) विद्वानों ने (दत्तं) तेरा जीवों के लिये उपदेश किया है और वस्तुतः (जीवनाय) जीवन भर के लिये (परिधिः) परकोट के समान प्राण-रक्षक है।

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

भा०—हे ज्ञानरूप अञ्जन ! सब पदार्थों के प्रकाशक ! तू (पुरुषाणां) मनुष्यों का रक्षक और (गवाम्) गौओं, पशुओं, ज्ञान-इन्द्रियों का भी (परिपाणम्) सब प्रकार से रक्षक (असि) है। और (अर्वतां) इधर उधर चलने फिरने हारे अश्वों और उनके सदृश प्राणेन्द्रियों के भी (परिपाणाय) सब प्रकार से रक्षा करने के लिये तू सदा (तस्थिषे) उद्यत रहता है।

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्था थो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥३॥

भा०—हे (आञ्जन) अञ्जन के समान चक्षु को अज्ञान रूप तामस रोग से विनिवृत्त करने हारे सर्व-प्रकाशक ज्ञानाञ्जन ! (उत) और भी

३-(प्र०) 'उतेवासि', (तृ० च०) 'उतामृतत्वस्येशिषा उतासः पितृ भोजनम्' इति पैप्प० सं०।

अधिक यह कि (यातु-जम्भनम्) समस्त मानस और शरीर पीड़ाओं को रोक कर उन से (परिपाणम्) रक्षा करने हारा (असि) है। (उत) और (त्वं) तू (अमृतस्य वेत्ता असि) मोक्ष सुख का ज्ञापक, ज्ञाता वा प्राप्त कराने वाला है। और सत्य बात तो यह है कि (जीव-भोजनम्) जीवों के लिये भोजन के समान पुष्टिकारक, प्राणाधार और आत्मा का आभ्यन्तर मानस-भोजन समस्त भोगप्रद (अथो) भी (असि) है। (अथो) और तूही (हरित-भेषजम्) नये २ लाये ताजे रस वाले ओषधि के समान वल्ली, ज्ञानलता होकर उसके सब भवरोगों की चिकित्सा कर देता है।

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ९७ । १२ ॥ यजु० १२ । ८६ ॥

भा०—अज्ञान-नाशक ज्ञानाञ्जन ! स्वयं-प्रकाश ! (यस्य) जिसके (अङ्गम् अङ्गम्) अंग २ में और (परुः-परुः) पोरू २ में तू (प्र-सर्पसि) व्याप जाता है वहां २ से (यक्ष्मं वि बाधसे) पीड़ाजनक रोग को नष्ट कर देता है। तू सचमुच (मध्यमशीः-इव) अन्तरिक्ष में व्यापक वायु एवं शरीर में व्यापक प्राण के समान अथवा मध्यम राजा के समान (उग्रः) बड़ा ही बलवान् है। इसी कारण जीवन के प्रत्येक भाग में से भव-बन्धनों को काट डालता है और सब प्रकार से सुखी कर देता है।

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

४–' यस्यौषधी प्रसर्पथ ' इति ऋ० । (तृ०) ' विबाधध्वे ' इति ऋ० । ' बाधते ' इति सायणाभिमतः । ' तस्माद् यक्ष्म ' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) ' तं प्राप्नोति ' (तृ०) ' नैनं निष्कन्धं ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! प्रकाशस्वरूप ! (यः त्वा बिभर्त्ति) जो तुझे धारण करता है (एनं शपथो न प्राप्नोति) उसको किसी का दुर्वचन भी नहीं लगता (न कृत्या) उसको किसी की बुरी चाल भी नहीं सताती । (न अभि-शोचनम्) उसको किसी का कोसना भी नहीं लगता । (एनं वि-स्कन्धं न अश्नुते) उसको किसी का षड्यन्त्र या सेनाबल भी पीड़ा नहीं देता ।

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत ।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! तू (नः) हमें (असत्-मन्त्रात्) दुष्ट पुरुषों की दुष्ट सलाहों और कुचोदनाओं एवं दुर्विचारों और दुर्मन्त्रणाओं से (दुः-स्वप्न्याद्) बुरे २ विचारों से उत्पन्न होने वाले बुरे २ स्वप्नों से (दुष्कृतात्) दुर्विचारों से उत्पन्न होने वाले दुराचारों से (उत) और (शमलाद्) पाप कर्म से और (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष की (घोरात्) पापमय, भयंकर (चक्षुषः) आँखों से भी (पाहि) बचा, हमारी रक्षा कर ।

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । ९७ । ४ (प्र० द्वि०) ॥
यजु० १२ । ९८ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (आ-अञ्जन) अञ्जन के समान भीतरी आंख खोल देने वाले प्रकाशस्वरूप ज्ञान ! (इदं विद्वान्) इस सब बात को जानता हुआ मैं

६–(द्वि०) 'क्षेत्रियाच्छपथादुत' इति पैप्प० सं० ।

७–'पूरुषः' इति सायणसम्मतः पाठः । (च०) 'गांवासः' इति यजु० । 'गां वास आञ्जन तव पौरुषः' इति पैप्प० सं० ।

(सत्यं वक्ष्यामि) सत्य ही बोलूं, (न अनृतम्) झूठ न बोलूं । हे (पूरुष) ज्ञानमय आत्मन् (तव) तेरे लिये (अश्वं गाम्) अश्व और गौ और (आत्मानं) अपने को भी (अहं) मैं (सनेयम्) दान कर दूं, त्याग कर दूं, पर तेरी अवश्य रक्षा करूं ।

त्रयो॑ द॒सा आञ्ज॑नस्य त॒क्मा ब॒लास॒ आदहिः॑ ।
वर्षि॑ष्ठः॒ पर्व॑तानां त्रिक॒कुन्नाम॑ ते पि॒ता ॥ ८ ॥

भा०—(आ-अञ्जनस्य) इस ज्ञानरूप अञ्जन के (त्रयः दासाः) तीन दास अर्थात् विनाश करने योग्य पदार्थ हैं प्रथम (तक्मा) कृच्छ्र जीवन और दुःखमय जीवन, (बलासः) आत्मा का बलनाशक निराशावाद, और (आत् अहिः) उससे उतर कर सर्प के समान तप और यशः शरीर पर आघात करने वाला, विषय-वासनामय काम इन तीनों का ज्ञानरूप वज्र विनाशक है । लोक में अञ्जन के बल पर ज्वर, अतीसार और विष-विकार नष्ट होते हैं । हे ज्ञानरूप अञ्जन ! (ते पिता) तेरा पिता पालक (पर्वतानां) पर्वतों में से, पालना करने में समर्थों में से वह (वर्षिष्ठः) ज्ञान जल का वर्षाने वाला, सब से अधिक वृद्ध और सब से अधिक समर्थ परमेश्वर है जिसका (नाम) रूप और महिमा (त्रि-ककुद्) त्रिककुत्, तीनों लोकों में श्रेष्ठ, वेदत्रयी रूप, त्रिनेत्र, त्रि-अम्बक और 'भूः भुवः स्वः' स्वरूप प्रभु है । वेदत्रयी त्रिनेत्राणि त्रिगुणं त्रिपुरं वपुः । शि० पु० ।

यदाञ्ज॑नं त्रैककु॒दं जा॒तं हि॒मव॑त॒स्परि॑ ।
या॒तूंश्च॒ सर्वा॑ञ्ज॒म्भय॒त्सर्वा॑श्च यातुधा॒न्यः᳡ ॥ ९ ॥

भा०—जिस प्रकार हिमावृत पर्वतों से परे त्रिककुद् नामक विशाल पर्वतों से अञ्जन उत्पन्न होकर सब शरीर की पीड़ाओं और सब पीड़ाकारी विघ्न बाधाओं को दूर करता है उसी प्रकार यह ज्ञानरूप अञ्जन भी (हिमवतः परि) हिम के समान शुक्लकर्मा, शुद्धाचारी मुक्त पुरुष से ऊपर

(त्रैककुदं) वेदत्रय रूप परब्रह्म से (जातं) उत्पन्न (यद्) जो (आञ्जनं) ज्ञानमय अञ्जन है वह (सर्वान्) सब (यातून्) पीड़ादायक विषयों और (सर्वाश्च यातुधान्यः) सब योग-विघ्न कारिणी दुर्वृत्तियों को (जम्भयाति) विनाश कर देता है।

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! (यदि वा त्रैककुदम् असि) चाहे तेरा नाम 'त्रैककुद' तीनों वेदों के भण्डार परमेश्वर से उत्पन्न वेदत्रय ज्ञान है। (यदि वा यामुनम् उच्यसे) और चाहे तू 'यामुन' यम नियम साधना से योगजरूप में उत्पन्न होकर 'यामुन' कहाता है (ते) तेरे (ते) वे दोनों (भद्रे) कल्याण और सुखकर उत्तम (नाम्नी) स्वरूप हैं (ताभ्यां) उन दोनों से (नः) हमें (पाहि) पालन कर। यहां लोक में प्रसिद्ध दो प्रकार के अञ्जनों की सत्ता का भी उपदेश कर दिया।

[१०] शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। शंखमणिशुक्तयो देवताः। १–५ अनुष्टुभः, ६ पथ्यापंक्तिः,
७ पञ्चपदा परानुष्टुप् शकरी। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि ।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं। (वातात् जातः) प्राणवायु से शरीर में प्रकट हुआ (अन्तरिक्षात् जातः) अन्तरिक्ष=हृदया

[१०] १-(तृ०) 'हिरण्यदाः' इति पैप्प० सं०।

काश में प्रकट, (विद्युतः ज्योतिषः परि) विद्युत् की ज्योति के स्वरूप में योगाभ्यास द्वारा साक्षात् किया गया, वह (कृशनः) मुक्ता के समान अति सूक्ष्म, उज्ज्वल, सब दुखों का विनाशक, (हिरण्यजाः) अभिरम्य, सब से रमण करने योग्य अपने आत्मा रूप में प्रकट हुआ (शंखः) कल्याण मार्ग को स्वयं खोजने और प्राप्त करने वाला हमारा आत्मा ही (नः) हमें (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे ।

यो अंग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार समुद्र से शंख उत्पन्न होता है और उसका नाद बजा कर योद्धा राक्षसों और चोरों को विजय करता है उसी प्रकार (यः) जो (रोचनानां) सब कान्तिमान इन्द्रियों के (अग्रतः) पूर्व, सर्वश्रेष्ठ (समुद्राद्) सब आनन्द रसों के सागर सर्वशक्तिमान् ब्रह्म परमात्मा से ही (अधि जज्ञिषे) ज्ञान प्राप्त करता है उस (शंखेन) आत्मा रूप शंख से (रक्षांसि) विघ्नों को या व्युत्थानकारी मानस विक्षोभों को और (अत्रिणः) आत्मा की विभूतियों के विनाशक विषयों को या विषयभोगी इन्द्रियों को (वि सहामहे) नाना प्रकार से वश करते हैं । आत्मा के ज्ञानमय अनाहत शंखनाद से विषय वासना नष्ट होती और अन्तर्वृत्ति होकर इन्द्रियां वश में होती हैं ।

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः ।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

भा०—(शंखेन) शंख=सुख के अभिलाषी या आनन्दमय और कल्याणस्वरूप उस आत्मा के स्वरूप ज्ञान से हम (अमीवाम्) सब

३–(प्र०) 'वामवधम्' इति पैप्प० सं० ।

रोगों को और (अमतिं) अज्ञान को और उसी (शंखेन) कल्याण सब सुख रूप आत्मा से (सदान्वाः) सदा का कष्टदायिनी दुष्ट पीड़ाओं को भी वश कर लेते हैं। वही (शंखः) शंख, आत्मा (नः) हमारा (विश्व-भेषजः) सब रोग पीड़ाओं की एकमात्र ओषधि है। वह (कृशनः) सब दुखों का नाशक सूक्ष्मतम आत्मा (नः) हमें (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे।

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

भा०—वह आत्मा (समुद्र-जः) उस परब्रह्म रूप आनन्दसागर से अपना आनन्दांश लेने वाला (सिन्धुतः परि आ-भृतः) उस दया, आनन्द, चेतना और ज्ञान के सिन्धु से सब प्रकार से पालित पोषित (हिरण्य-जाः) अभिराम उस परम सीमा के आश्रय पर जीवित वह (शंखः) कल्याण रूप आत्मा (मणिः) ज्ञानवान् होकर मणि के समान स्वयं-प्रकाश होकर (आयुः-प्रतरणः) इस आयु या जीवन में पार उतार देता है, भव सागर से तरा देता है।

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

भा०—वह शंख रूप आत्मा (मणिः) प्रकाशस्वरूप होकर भी (समुद्रात्) समुद्र से उत्पन्न मणि के समान उस ज्ञान और ज्योति के परम सागर से (जातः) ज्ञान और ज्योति को प्राप्त करता है। और (वृत्रात् जातः दिवाकरः) जिस प्रकार मेघ के आवरण से मुक्त होकर सूर्य अपने तापकारी किरणों से चमकने लगता है उसी प्रकार अज्ञान के आव-

४–(प्र०) समुद्रतः, (तृ०) 'हिरण्यदाः' इति पैप्प० सं०।

रण से मुक्त होकर आदित्य रूप होकर वह आत्मा चमकने लगता है। वह आदित्य रूप ज्ञानवान् आत्मा (देवासुरेभ्यः) देवों ज्ञान-इन्द्रियगण और असुर=प्राणेन्द्रियों से हमें अपने (हेत्या) विषय वासनाओं को मार गिराने वाले ज्ञानवज्र से (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे।

हिरण्यानामेकोसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे।

रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

भा०—हे (दर्शत) दर्शनीय ! योग समाधिद्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य एकमात्र दर्शनीय रूप आत्मन् ! तू (हिरण्यानाम्) अभिराम, रमणीय, एवं कान्तिमान या चेतनावान् इन्द्रियगणों में, ताराओं में सूर्य के समान उनका भी प्रकाशक (एकः, असि) एक ही है। और (सोमात्) सब के उत्पादक एवं प्रेरक ज्ञानमय, चेतनामय और आनन्दमय परब्रह्म से (अधि जज्ञिषे) आनन्द प्राप्त करके आनन्दमय हो जाता है। (रथे) इस देह मय रथ में विराजमान होकर (दर्शतः त्वम् असि) तू और भी दर्शनीय है और (इषु-धौ) इषु=मनः कामनाओं के धारण करने हारे मन पर भी वश करके (रोचनः) उससे अधिक कान्तिमान होकर (त्वं) तू (नः आयूंषि) हमारे आयुओं, जीवनों को (तारिषत्) तरा देता है, सफल कर देता है।

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः।

तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय।

शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

६–(द्वि०) 'सहोपाद्वधि', (तृ०) 'रथेषु दर्शतं' इति पैप्प० सं०।

७–(च०) 'बलाय च कार्षिणस्त्वाभिरक्षतु' इति पैप्प० सं०। 'कर्श-नस्त्वा' इति बहुत्र।

भा०—हे शिष्य ! वह आत्मा (कृशनं) अति सूक्ष्म होकर भी (देवानाम् अस्थि) देव—इन्द्रियगणों का प्रेरक (बभूव) है । (तत्) वही आत्मा (आत्मन्वति) अपने अधीन इस देह में और (अन्तः, अप्सु) सर्व विचारों में और क्रियाओं में (चरति) विचरा करता है । उस आत्म-रूप मणि को मैं आचार्य हे शिष्य (ते) तेरे (आयुषे) दीर्घ जीवन, (वर्चसे) ब्रह्मचर्य और (बलाय) बल सम्पादन के लिये और (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्ष के दीर्घ जीवन के लिये (बध्नामि) बांधता हूं । उपनयन के समय उसका तुझे उपदेश करता हूं । वह (कर्शनः) सूक्ष्माति सूक्ष्म सब कष्टों का विनाशक आत्मा (त्वा अभिरक्षतु) तेरी सब प्रकार से रक्षा करे ।

आत्म-रूप से परमात्मा का भी साथ २ वर्णन हो गया है । जैसे आत्मा का यह देह वैसे ही ब्रह्म का ब्रह्माण्ड देह है इस देह के देव इन्द्रिय गण और उसके लोक लोकान्तर इत्यादि विराट् रूपक जानना चाहिये । आत्म-ज्ञान के साथ २ परमात्मा का दर्शन भी होता है अतः मर्मज्ञ ऋषियों की वाणी में आत्मा परमात्मा का समान वर्णन होता है ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्चसूक्तानि, एकोनचत्वारिंशदृचः ।]

[११] जगदाधार परमेश्वर का वर्णन ।

भृग्वंगिराः ऋषिः । अनड्वान् देवता । १, ४ जगत्यौ, २ भुरिग्, ७ त्र्यवसाना षट्पदानुष्टुब्गर्भो परिष्टाज्जागता निचृच्छक्करी, ८–१२ अनुष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ।

अनड्वान् दांधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दांधारोर्वन्तरिक्षम् ।
अनड्वान् दांधार प्रदिशः षड़ुर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥१॥

भा०—विश्व के धारक परमेश्वर का वर्णन करते हैं। (अनड्वान्) अनः—ब्रह्माण्डरूप यज्ञ को धारण करने वाला या विश्वमय शकट को उठाने वाला वह परमेश्वर (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत) और (द्याम्) द्यौलोक को (दाधार) धारण करता है और वही (अनड्वान्) ब्रह्माण्ड रूप शकट को धारण करने वाला (उरु) महान्, विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षम् को भी (दाधार) धारण कर रहा है। (अनड्वान्) वह सर्व शक्तिमान्, ब्रह्माण्ड का स्वामी (षट्) छहों (उर्वीः) विशाल (प्र-दिशः) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे और ऊपर की प्रधान दिशाओं को भी (दाधार) धारण कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि (अनड्वान्) वही विश्वधारक प्रभु (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) इस उत्पन्न जगत् में (आ विवेश) व्यापक है।

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रो वि मिमीते अध्वनः ।
भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

भा०—पूर्वोक्त 'अनड्वान्' को इन्द्र रूप से वर्णन करते हैं। वह (अनड्वान्) विश्व के धारण करने हारा (इन्द्रः) सकल ऐश्वर्यसम्पन्न होकर सूर्य और स्वयंप्रकाश होकर (पशुभ्यः) समस्त जीवों के हित के लिये (विचष्टे) प्रकाशित होता है। वही (शक्रः) सर्व शक्तिमान् होकर (त्रयान् अध्वनः[3]) तीनों लोकों को अविच्छिन्न रूप से जीवों के कर्म फल

[११] १–(प्र०) 'पृथिवीं द्यामुतेमां' इति पैप्प० सं०।

२–'विचष्टे स्तियाञ्छक्रो' इति सायणसम्मतः पाठः।

१. अदेर्धच (उणादिः १। ११६) (प्र०) 'अनड्वान् इन्द्रस्य', (तृ०) 'सम्भूतं भुवतं' इति पैप्प० सं०।

भोगने के सात्विक तामस और राजस मार्गों को (वि मिमीते) निर्माण करता है। और वही (भूतं) भूत काल और (भविष्यत्) भविष्यद् काल में उत्पन्न होने वाले (भुवना) समस्त लोकों को (दुहानः) पूर्ण करता हुआ (देवानां) देवों के (सर्वा व्रतानि) समस्त कार्यों को स्वयं ही सम्पादित कर रहा है।

इन्द्रो॑ जा॒तो म॑नु॒ष्ये॒/ष्व॒न्तर्घ॒र्मस्त॒प्तश्च॑रति॒ शोशु॑चानः ।
सु॒प्र॒जाः स॒न्त्स उ॒दा॒रे न स॑र्ष॒द् यो ना॒श्नी॒याद॑न॒डुहो॑ विजा॒नन् ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) परमात्मा (मनुष्येषु अन्तः) मननशील, ज्ञानी पुरुषों के भीतर, हृदय में (जातः) प्रकट होता है और वही (तप्तः) संतप्त (घर्मः) प्रकाशमान सूर्य के समान (शोशुचानः) निरन्तर देदीप्यमान होकर (चरति) सर्वत्र व्यापक है। (यः) जो पुरुष (अनडुहः) विश्वधारक परमात्मा का ही यह सब कुछ है (वि-जानन्) ऐसा जानता हुआ इस विश्व में रह कर (न अश्नीयात्) विषयों का भोग नहीं करता वह (सुप्रजाः सन्) उत्तम प्रजा से युक्त होकर (उद्-आरे[1]) देहत्याग के अनन्तर (न) नहीं (सर्षत्) भटकता।

अ॒न॒ड्वान् दु॑हे सु॒कृ॒तस्य॑ लो॒क ऐनं॑ प्याययति॒ पव॑मानः पु॒रस्ता॑त् ।
प॒र्जन्यो॒ धारा॑ म॒रुत॒ ऊधो॑ अ॒स्य य॒ज्ञः पयो॒ दक्षि॑णा॒ दोहो॑ अ॒स्य ॥४॥

भा०—(सु-कृतस्य लोके) पुण्य के लोक में (अनड्वान् दुहे) वह विश्वधारक प्रभु ही सब कामनाएं पूर्ण करता है। वही प्रभु (पवमानः)

१. 'उद्ऽआरे' इति पद पाठः। सायणस्तु 'आरे न उत्सर्पेत' इति योजयति तच्चिन्त्यम्। (प्र०) 'इन्द्र एष' (द्वि०) 'चरति संशिशानः' 'उदारे नः' इति सायणसम्मतः पाठः।

४-(द्वि०) 'प्याययेत्' इति पैप्प० सं०।

सर्वव्यापक, सब का परमपालक (पुरस्तात्) सब से प्रथम (एनं) इस जीव को अपने आनन्द रस से (प्याययति) परिपुष्ट करता है । उस प्रभु की लीला देखो कि वह कैसे इस जीव लोक को पालन पोषण करता है कि (अस्य) उस प्रभु की (पर्जन्यः) मेघ ही साक्षात् (धारा) पोषणकारी, रस बहाने वाली धारा है । (मरुतः) ये वायु जो मेघों को उड़ा कर लाते हैं वह (ऊधः) दूध को उठाने वाले गाय के 'थान' के समान जल को ऊपर उठाये रहते हैं । उस का (पयः) बरसा हुआ जल ही (यज्ञः) लोकोपकार के लिये किया गया कार्य या प्रभु का दान है और (अस्य) इसकी (दक्षिणा) यज्ञ के निमित्त दान दी गई दक्षिणा या अन्न ही (दोहः) साक्षात् दोहन से प्राप्त पुष्टिकारक पदार्थ है । यहां वृष्टि के जल की आहुति का पृथिवी रूप अग्नि में पड़ना यह यज्ञ है और पुनः जीवों के लिये अन्न=दक्षिणा उत्पन्न होना दक्षिणा प्राप्त होना है । "पृथिवी वावगोतमाग्निः..........तस्मिन्नग्नौ देवाः वर्षं जुह्वति । तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति" (छान्दोग्य उप० ५ । ६) ।

यस्य॒ नेशे॑ य॒ज्ञप॑ति॒र्न य॒ज्ञो नास्य॑ दा॒तेशे॒ न प्र॑तिग्र॒ही॒ता ।
यो वि॑श्व॒जिद् वि॑श्व॒भृद् वि॒श्वक॑र्मा घ॒र्मं नो॑ ब्रूत य॒त॒मश्च॑तु॒ष्पात् ॥५॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर पर (यज्ञ-पतिः) यज्ञों का पालक कोई यजमान भी (न ईशे) अपना वश नहीं करता और जिस पर (यज्ञः न ईशे) यज्ञ भी कोई वश नहीं कर सकता, (अस्य) इस पर (दाता न ईशे) कोई दानी महा पुरुष भी प्रभुता नहीं करता, (न प्रति-ग्रहीता) और दान लेने वाला कोई योग्य ब्राह्मण भी उस पर वश नहीं कर सकता । (यः) जो प्रभु स्वयं (विश्व-जित्) सब विश्व को विजय करने वाला, (विश्व-भृद्) समस्त विश्व का पालक पोषक, (विश्वकर्मा) सब विश्व का रच-

५-(तृ०) 'यो विश्वदृग् विश्वकृद् विश्व' इति पैप्प० सं० ।

यिता है । हे विद्वान् पुरुषो उस सब रसों के बरसाने वाले और तेजःस्वरूप प्रभु का (नः ब्रूत) हमें उपदेश करो । (यतमः) जो (चतुष्पाद्) चार पाद वाला है । ब्रह्म के चतुष्पादों का वर्णन देखो 'छान्दोग्य उपनिषद्' उपकोसल का जाबाल सत्यकाम को उपदेश ।

येन॑ दे॒वाः स्व॒/रारु॒रु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म् ।
तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥

भा०—(येन) जिस परम प्रभु की उपासना से (देवाः) विद्वान् गण (अमृतस्य) अमृत स्वरूप, आत्मा को (नाभिम्) बांधने वाले (शरीरम्) इस शरीर को (हित्वा) परित्याग करके (स्वः) सुखमय मोक्ष लोक को (आ रुरुहुः) प्राप्त होते हैं । हम भी (तपसा) तप से (यशस्यवः) यशः=यशःस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करने हारे होकर (घर्मस्य) तेजोमय आदित्य के (व्रतेन) व्रत को धारण करके (तेन) उस प्रभु के द्वारा ही (सुकृतस्य लोकं) पुण्य के लोक, मोक्ष को (गेष्म) प्राप्त करें ।

इन्द्रो॑ रू॒पेणा॒ग्निर्वहे॑न प्र॒जाप॑तिः पर॒मेष्ठी वि॒राट् ।
विश्वान॑रे अक्रमत वैश्वान॒रे अ॑क्रमतान॒डुह्य॑क्रमत ।
सो॒/दृंहयत॒ सो॒/धारयत ॥ ७ ॥

भा०—वह विश्वधारक अनड्वान् प्रभु (रूपेण) उज्ज्वल रूप में, स्वयं (इन्द्रः) साक्षात् इन्द्र स्वरूप, समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न है और (वहेन)

६–(तृ०) 'तेन जेष्म' इति सायणसम्मतः पाठः । (द्वि०) 'अमृतस्य धाम' इति पैप्प० सं० ।

७–'इन्द्रो बलेनास्यपरमेष्ठी व्रतेनैन गौस्तेन वैश्वदेवाः । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः तस्य प्राणानसवहे तस्य प्राणान् विवहः' इति पैप्प० सं० ।

सब पदार्थों को धारण करने और स्थान से स्थानान्तर में भेजने, गति कराने की शक्ति से (अग्निः) अग्नि है । वही विश्व का प्रभु स्वयं (प्रजापतिः) समस्त स्थावर जंगम प्रजा का पालक (परमेष्ठी) परम मोक्षधाम, सत्य लोक, आनन्दमय रूप में विराजमान (विराट्) सब से अधिक एवं विविध प्रकार से प्रकाशमान, एवं स्थूलप्रपञ्च का कर्त्ता है । वही परमात्मा (विश्वानरे अक्रमत) समस्त नर, आत्माओं में प्रविष्ट है। वही (वैश्वानरे) सब शरीरों में विद्यमान जाठर अग्नि और भौतिक अग्नि के भीतर भी विद्यमान है और वही (अनुडुहि अक्रमत) समस्त संसार रूप अनस्=महान यज्ञ के धारक रूप में भी व्यापक है । (सः) वही परमेश्वर (अदृंहयत) इस संसार को स्थूलरूप देकर विराट् , तेजो-वाष्पमय रूप से इस दृढ़ रूप में बनाता है और फिर भी इस गुरु, भारवान् पृथिवी आदि पिण्डों से भरे हुए संसार को (सः अधारयत) वही धारण करता है उनको टकरने और गिरने न देकर थाम रहा है । पांच कार्य हैं (१) रूप=तेजोमय प्रकाश, (२) वहन= गति देना, (३) प्रजापालन, (४) परम आनन्दस्वरूपता, (५) विशालता, इन पांच कार्यों से उसके पांच नाम हैं—इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् । इन पांच रूपों से वह पांच विशाल सर्गों में प्रविष्ट है । वह विश्वानर जीवात्मा में इन्द्र, वैश्वानर में अग्नि, अनुडुह् रूप में प्रजापति, दृंहण रूप में परमेष्ठी और धारण रूप में विराट् है ।

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः ।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥

भा०—समस्त विश्व को धारण करने हारे (अनुडुहः) अनडुह् रूप प्रभु का (एतत्) यह (मध्यम्) मध्य भाग है (यत्र) जहां (एषः) यह (वहः) 'वह' रूप विश्वभार (आहितः) स्थापित है । (एतावत्) इतना ही (अस्य) इसका (प्राचीनम्) अगला भाग है (यावान्) जितना (प्रत्यङ्) कि पिछला भाग (समाहितः) है । अर्थात् जिस प्रकार बैल के

पीठ पर भार रक्खा जाता है तब पीठ का जितना अगला भाग है उतना ही पीठ का पिछला भाग भी है उसी प्रकार इस विश्व का भार परमात्मा के वहन करने हारी शक्ति पर है । उसका अगला विश्व की उत्पत्ति शक्ति का जितना भाग है उतना ही उसकी संहार शक्ति का भाग भी है । जितना उसका भूत है उतना भविष्यत् भी है ।

यो वेदा॑न॒डुहो॒ दोहा॑न् स॒प्तानु॑पदस्वतः ।
प्र॒जां च॑ लो॒कं चा॑प्नोति॒ तथा॑ सप्तऋ॒षयो॑ वि॒दुः ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो विद्वान् पुरुष (अनुडुहः) उस विश्वधारक ईश्वर के दिये (अनुपदस्वतः) कभी विनाश को प्राप्त न होने हारे (सप्त) सात (दोहान्) शरीर और उदर पूर्त्ति करने हारे अन्नों को वेद जानता है अथवा (सप्त) सर्पण स्वभाव वाले गतिमान् (दोहान्) अन्नप्रदाता जीवन के पूरक सूर्य, पर्जन्य, पृथिवी, अन्न, वायु आदि को जानता है वह (प्रजाम् च) उत्तम प्रजा को और (लोकं च) उत्तम लोक को (प्राप्नोति) प्राप्त करता है (सप्त ऋषयः) सातों ऋषि गण भी (तथा) उसी प्रकार उस अनुडुह् रूप विश्वधारक आत्मा को (विदुः) जानते हैं ।

विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गोतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप ये सात ऋषि हैं । ये सातों ऋषि अध्यात्म में शिरोभाग में विद्यमान हैं दो कान दोनों भरद्वाज हैं, दोनों आंखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, दोनों नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं वाक् अत्रि है । (बृहदारण्यक उप० अ० २ । २) । सात अन्न निम्नलिखित हैं—१ अन्न, हुत और प्रहुत, दुग्ध, मन वाणी और प्राण । 'अन्न' साधारण है, 'हुत' 'प्रहुत' दोनों देवों के लिये और 'दुग्ध' पशु और मनुष्यों के लिये, 'मन' 'वाणी' और 'प्राण' ये तीनों आ-

---

१–' सप्तानपदस्वतः ' इति पैप्प० सं० ।

रक्षा के लिये हैं (बृहदा० उप० अ १ । ब्रा० ५) । अथवा उक्त सातों द्वारों के ग्राह्य विषय सात अन्न समझने चाहियें ।

पुद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

भा०—वह प्रजापतिरूप अनड्वान्—परमात्मा भी एक चतुष्पाद् बैल के समान है । वह (पद्भिः) अपने चरणों से (सेदिं) क्षेत्र, भूमि को (अवक्रामत्) पार करता हुआ और (जंघाभिः) अपनी जंघाओं से (इरां) अन्न को (उत्खिदन्) उत्पन्न करता हुआ (श्रमेण) श्रम से (कीलालं) अन्न को उत्पन्न करता हुआ वह (अनड्वान्) विश्वक शकट का वाहक जगदाधार और (कीनाशः च) कीनाश=यह जीवात्मा अपने कर्म फलों का काटने हारा दोनों (अभि गच्छतः) एक दूसरे के पीछे २ चलते हैं ।

'सेदि' यह लोक है । 'इरा' वह अमृतमय मोक्ष है । 'कीलाल' ब्रह्मानन्द रस है, 'कीनाश' जीव है ।

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनडुहो व्रतम् ॥ ११ ॥

भा०—(प्रजापतेः) प्रजापति की (एताः) ये (द्वादश) बारह (व्रत्याः रात्रीः आहुः) व्रत करने योग्य, उत्तम कर्म करने योग्य रात्रियां कही गई हैं । (तत्र) उन में (यः) जो (ब्रह्म) प्रजापति रूप ब्रह्म और वेद का (वेद) ज्ञान कर लेता है (तद् वा अनडुहो व्रतम्) वही उस (अनडुह्) विश्व-धारक प्रभु का व्रत है । द्वादश रात्रि, द्वादशाह कर्म है

१०–' इरान् । जङ्घाभिः ' इति पदपाठो बहुत्र ।
११–(तृ०) ' तद् वापि ब्रह्म ' इति पैप्प० सं० ।

जो १२ मास और १२ वर्ष का प्रतिनिधि है । उस १२ वर्ष में एक वेद का स्वाध्याय करे । १२ वर्ष ब्रह्मचर्य करे, एक वर्ष तक प्रजापति-व्रत करे ।

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

भा०—उक्त प्रजापतिरूप वृषभ की उपासना का फल बतलाते हैं । मैं (सायं दुहे) सायंकाल में उसका आनन्द रस प्राप्त करता हूं । (प्रातः दुहें) प्रातकाल भी उसी का आनन्दरस योग-समाधि द्वारा प्राप्त करता हूं और (मध्यंदिनं परि दुहे) मध्य दिवस, मध्याह्न काल में भी उस ही का ध्यान करता हूं । (ये) जो पुरुष (अस्य) इस प्रभु के (दोहा) इन रसों को (सं यन्ति) फलरूप से प्राप्त करते हैं हम (तान्) उनको (अनुपदस्वतः) अविनाशी अमर हुआ (विद्म) जानते हैं । तीन सवन होते हैं प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन और सायं सवन । जीवन में भी तीन भाग हैं ब्रह्मचर्य काल, २४ वर्ष तक, ४४ वर्ष तक और ४८ वर्ष तक । जो तीनों का पालन करते हैं वे अमृत को प्राप्त करते हैं । देखो छान्दोग्य उपनिषद् (अ० ३ । ६) देखो सत्यार्थप्रकाश (समु० ३) ।

इस अलंकारिक अनड्वान् को देख कर मुसलमानों की यह कल्पना है कि बैल के सींग पर पृथ्वी खड़ी है । इसी प्रजापति व्रत के उपलक्ष्य में उस का प्रतिनिधि बड़ा सांड छोड़ा जाता है । इसी अनड्वान का वर्णन अध्यात्म-प्रकरण में लगता है ।

१२–‘ दुहे वा नड्वान् सायं दुहे प्रातर्दुहे दिवाः ’ (च०) ‘ अनपदस्यतः ’ इति पैप्प० सं० ।

[१२] कटे फटे अंगों की चिकित्सा ।

ऋभुर्ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १ त्रिपदा गायत्री, ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री, ७ भुरिक्, २, ५ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी ।
रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

भा०—कटे फटे और टूटे फूटे अंगों की चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे (रोहणि) रोहणी नामक ओषधे ! तू (अस्नः) हड्डी की भी (रोहणी असि) रोप देने वाली है और (छिन्नस्य) कटे क्षत घाव को भी (रोहणी) पूर देने, चंगा कर देने वाली है। हे (अरुन्धति) अरुष्=घाव को पूरने वाली ओषधे ! तू (इदम्) इस घाव को (रोहय) भरदे, पूरदे, अच्छा करदे ।

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि ।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥ २ ॥

भा०—हे चोट खाये हुए पुरुष ! (यत्) जो तेरा अंग (रिष्टम्) चोट खाये हुए है, (यत् ते द्युत्तम् अस्ति) और जो तेरा अंग जल गया हो और (ते आत्मनि) तेरे देह में जो भाग (पेष्ट्रं) पिस गया हो (धाता) पोषक वैद्य (तत्) उस अंग को (भद्रया) अति कल्याणकारी

---

[१२] १-प्रायः ' रोहिणी ' इति पैप्प० सं० । ' रोहण्यसि रोहिणी ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । रोहिण्यसि रोहिण्यस्थ्नःशीर्णस्य रोहिणी । रोहिण्यामर्ह आतासि रोहिण्यास्योषधे ' इति पैप्प० सं० । (प्र०) ' रोहिण्यस्थ्नश्छिन्नस्य ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२-(प्र०) ' यत् ते शीर्णं ' (द्वि०) 'तात्मनः' (तृ० च०) ' तत्सर्वं कल्पयात् संदधत् ' इति पैप्प० सं० ।

सुखकारी रीति से (परुषा परुः) पोरु से पोरु मिला कर (सं दधत्) जोड़ दे ।

सं ते॑ म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परुः॑ ।
सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ सम॒स्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मज्जा) तेरी मज्जा की धातु (मज्ज्ञा) मज्जा के साथ मिल कर (सं रोहतु) वृद्धि को प्राप्त हो, (परुषा परुः सं रोहतु) पोरु से पोरु मिलकर अच्छा हो जाय । (मांसस्य) और मांस का (विस्रस्तं) विनाश को प्राप्त हुआ भाग भी (सं रोहतु) उचित रीति से रुप कर ठीक हो जाय और (अस्थि अपि) हड्डी भी टूटी हुई हो तो वह भी (सं रोहतु) ठीक २ मिलकर जुड़ जावे ।

म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा सं धी॑यतां॒ चर्म॑णा॒ चर्म॑ रोहतु ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु मां॒सं मां॒सेन॑ रोहतु ॥ ४ ॥

भा०—(मज्ज्ञा मज्जा) मज्जा धातु के साथ मज्जा को (सं धीयताम्) मिला दिया जाय । और (चर्मणा चर्म) चर्म से चर्म को मिला दिया जाय तब घाव शीघ्र ही (रोहतु) भर आना सम्भव है । इसी प्रकार (असृक्) रुधिर भी रुधिर की नाड़ियों से जोड़ कर मिला देने से जुड़ जाती है और (अस्थि) हड्डी को हड्डी से मिला दें तो वह भी (रोहतु) जुड़ कर ठीक

३–(प्र०) 'सं मज्जा' (च०) 'सस्रावमसु पर्वते' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'विश्रस्तं' इति क्वचित् । सर्वत्र 'शं' इति सायणाभिमतः ।

४–(तृ०) 'अस्थ्ना ते अस्थि' अथवा 'असृक् ते अस्ना' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (द्वि० च०) 'अस्नाऽस्थि विरोहतु स्नावाते सं दध्मः स्नान्ना चर्मणा चर्म रोहतु' इति पैप्प० सं० ।

हो जाती है । इसी प्रकार (मांसं मांसेन रोहतु) मांस को मांस के साथ मिला देने से वह भी मिल कर एक होकर पुष्ट हो ।

लोम॒ लोम्ना॒ सं क॑ल्पया त्व॒चा सं क॑ल्पया॒ त्वच॑म् ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु छि॒न्नं सं धे॑ह्योषधे ॥ ५ ॥

भा०—हे वैद्य ! (लोम लोम्ना) लोमों को लोमों से (सं कल्पय) ठीक प्रकार से जोड़कर मिला दो और (त्वचा त्वचम्) त्वचा, खाल से खाल को (सं कल्पय) मिला कर रखदो, इसी प्रकार हे रोगिन् ! (अस्थि) हड्डी और (ते असृक्) तेरा रुधिर (रोहतु) वृद्धि को प्राप्त हो । हे ओषधे ! तू इस प्रकार लोम, त्वचा, मांस आदि के ठीक ठीक बैठा देने पर ऊपर लग कर (छिन्नं) कटे फटे स्थान को (सं धेहि) मिला कर एक करदे ।

स उत् ति॑ष्ठ॒ प्रेहि॒ प्र द्र॑व॒ रथ॑: सुच॒क्रः सु॑प॒विः सु॒नाभि॑: ।
प्रति॑ तिष्ठो॒र्ध्वः ॥ ६ ॥

भा०—इस प्रकार रोगी का घाव अच्छा हो जाने पर वैद्य उसको आज्ञा दे कि (सः) वह तू (उत्-तिष्ठ) उठ खड़ा हो, (प्रेहि) चल, आजा (प्र द्रव) फिर अच्छी प्रकार भाग, अब तेरा शरीर (सुचक्रः) उत्तम चक्रों से युक्त (सुपविः) उत्तम हाल, लोह-पट्टी से जड़ा हुआ (सुनाभिः) सुन्दर उत्तम धुरा वाले (रथः) रथ के समान ठीक हो गया है (प्रति तिष्ठ ऊर्ध्वः) ऊपर उठ खड़े हो और जाओ रोगिशाला को छोड़ कर अपने काम में लग जाओ ।

५–(प्र०) 'लोम लोम्ना संधीयताम्' इति पैप्प० सं० ।

६–' उत्तिष्ठ प्रेहि समुधाहि ते परुः । सं ते धाता दधातु तन्वोविरिष्टं रथस्य-चक्रप्युपवर्ग्यथैयथैति सुखस्य नाभिः प्रतितिष्ठ एवम् ' इति पैप्प० सं० ।

यदि॑ कृ॒र्तं प॒ति॒त्वा सं॑श॒श्रे यदि॒ वाश्मा॒ प्रहृ॑तो ज॒घान॑ ।
ऋ॒भू रथ॑स्ये॒वाङ्गा॑नि॒ सं द॑ध॒त् परु॑षा॒ परुः॑ ॥ ७ ॥

भा०—उपसंहार में इस क्षतचिकित्सा का गुण दिखाते हैं । (यदि) यदि शरीर पर (कर्तम्) काटने वाला गंडासा या तलवार भी (पतित्वा) गिर कर (संशश्रे) शरीर में घाव कर जाय (यदि वा) या (अश्मा) शिला (प्रहृतः) फेंका हुआ आकर (जघान) शरीर पर आघात करे तोभी वैद्य (परुषः परुः) पोरु से पोरु मिला कर इस प्रकार (सं दधत्) जोड़ दे कि जैसे (ऋभू[1]) विद्वान् शिल्पी (रथस्य) रथ के (अङ्गानि इव) टुकड़ों २ को जोड़कर खड़ा कर देता है ।

[१३] पतितोद्धार, शुद्धि और रोगनाशन ।

शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा उत विश्वेदेवा देवताः । १–७ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उ॒त दे॑वा॒ अव॑हितं॒ देवा॒ उन्न॑यथा॒ पुनः॑ ।
उ॒तागश्च॒क्रुषं॑ देवा॒ देवा॑ जी॒वय॑था॒ पुनः॑ ॥ १ ॥

ऋ० १० । १३७ । १ ॥

भा०—(उत) और हे (देवाः) विद्वान्, दिव्यगुणयुक्त पुरुषो ! इस पुरुष को या बालक को (अवहितं) सावधान, प्रमादरहित करो ।

७–(प्र०) 'यदि कर्तुं' इति बहुत्र । 'यदि वज्रो विसृष्टा स्थारकजातु पतित्रा यदि वा च रिष्टम् । वृक्षाद्वा यदि वा विभ्यसि शीर्षं ऋभुरिति स एवं संधामि ते परुः ।' इति पैप्प० सं० ।

१. ऋभुः मेधाविनाम (निघं० ३ । १५) उरुभाति, भवति वा ।

[१३] १–(द्वि०) 'उद्धरता पुनः' (तृ०, च०) 'ततो मनुष्यं तं देवा देवाः कृणुत जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

और हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (पुनः) पुनः २ अपराध करने एवं नीच भावों में जा पड़ने पर भी उसे उत्तम उपदेशों और सद्व्रतों के आचरणों द्वारा (उत् नयथा) वार २ उन्नत करो। (उत) और (आगःचक्रुषं) पापाचरण करने पर भी इस पुरुष या बालक को (देवाः पुनः उन्नयथाः) वार २ उन्नत करो। हे (देवाः) देव समान सदाचार युक्त पुरुषो! यदि इस का आत्मा पापाचरण द्वारा सर्वथा मर भी चुका हो और उसे पाप पुण्य और भले बुरे का ज्ञान भी न रह गया हो तो भी (पुनः) वार वार (जीवयथाः) उसे जीवित करो, उसके आत्मा की चेतना को पुनः जगाओ जिससे वह पाप को पाप और धर्म को धर्म समझे।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद् रपः॥ २॥

ऋ० १०। १३७। २॥

भा०—जिस प्रकार पृथ्वी पर ये दो वायुएं बहती हैं जो सिन्धु से चल कर दूर दूर तक के स्थानों तक पहुंच जाती हैं, उन में एक तो जल बरसा कर प्रजा के लिये अन्न उत्पन्न करती है और दूसरी हानिकारक रोग और ग्राम के मलिन वस्तुओं को आंधी बन कर उड़ा ले जाती है, इसी प्रकार हे पुरुष तेरे शरीर में भी (इमौ) ये (द्वौ वातौ) दो वायु हैं प्राण और अपान, ये दोनों (आ सिन्धोः) सिन्धु देश रुधिर के एकत्र होने का हृदय और फुफ्कुसों का वह प्रदेश जहां से नाड़ियों द्वारा रक्त बह कर सारे शरीर में फैलता और सारे शरीर से नीला मलिन रक्त बह कर हृदय में पुनः आ जाता है उस सिन्धु रूप हृदय और फुफ्फुस प्रदेश से (आ परावतः) शरीर के दूर से दूर स्थान तक (वातः) गति करते हैं, पहुंचते हैं।

२-(च०) 'परान्यो' इति ऋ०।

(अन्यः) इन में से एक (ते) तेरे लिये (दक्षं) बल को (आ वातु) प्राप्त कराने में समर्थ है और (अन्यः) दूसरा (यद् रपः) जो मलिन अंश है उसको (वि वातु) बाहर करे । शरीर में दो ही प्राण की गति हैं भीतर से वायु को बाहर फेंकना और बाहर से भीतर लेना । शरीर में भी दो क्रिया हैं । एक रक्त का शुद्ध स्वच्छ वायु पाकर शुद्ध हो जाना और शरीर का पुनः हरा भरा हो जाना दूसरा मलिन अंश का रक्त से पृथक् होकर मूत्र और प्रस्वेद के मार्ग से बाहर हो जाना । प्राण और अपान में प्राण रक्त को स्वच्छ करता और अपान रक्त के मलिन अंश को प्रस्वेद और मल मूत्र द्वारा शरीर से बाहर कर देता है । उसी का उपदेश किया है ।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः ।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १३७ । ३ ॥

भा०—हे (वात) प्राणवायो ! (भेषजं) रोगविनाशक रस को (आवाहि) समस्त शरीर में, चारों ओर फैला । हे (वात) अपान वायो ! (यद् रपः) जो मलिन, व्याधिजनक कष्टदायी, पापयुक्त अंश है उसको (वि वाहि) दूर कर । हे (विश्वभेषज) समस्त प्राणियों के समस्त रोगों को एकमात्र चिकित्सा करने हारे ! (त्वं) तू (हि) निश्चय से (देवानां) देव=विद्वानों के एवं इन्द्रियों के लिये (दूतः) दूत के समान निरन्तर सर्वत्र गति करने वाले या उनको उपताप देकर नीरोग करने वाला होकर (ईयसे[1]) उन में विचरण करता है ।

३–(तृ०) 'विश्वभेषजो' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

१. 'ईङ् गतौ (दिवादिः)' ।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

ऋ० १०।१३७।५॥

भा०—(इमं) इस पुरुष को (देवाः) देव, विद्वान्‌गण और दिव्य-गुण युक्त पदार्थ (त्रायन्ताम्) बचावें और (मरुतां गणाः) वायुओं के नाना रूप, नाना प्रकार की वायुएं, शरीर के नाना प्राण और प्रजागण (त्रायन्ताम्) इसकी रक्षा करें। (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणिगण और पांचों महाभूत भी (त्रायन्तां) इसकी रक्षा करें (यथा) जिससे (अयम्) यह (अरपाः) पाप और रोगों से रहित (असत्) हो जाय।

आ त्वांगमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

भा०—मैं आचार्य और वैद्य, विद्वान् व्यक्ति (शन्तातिभिः) कल्याण और शान्ति के देने वाले (अथो) और (अरिष्टतातिभिः) आरोग्यकारी ज्ञान और कर्म और उपायों से (त्वा) तेरे समीप में (आ गमम्) आया हूं। (ते) तेरे शरीर में (उग्रं) उग्र, अधिक बल युक्त (दक्षं) बल और अन्न को (आभारिषं) लाया हूं। और उससे (ते) तेरे (यक्ष्मं) रोगजनक कारण को (परा सुवामि) दूर करता हूं।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥

ऋ० १०।६०।१२॥

४–(प्र०) 'त्रायन्तामिह' (द्वि०) 'त्रायतां गणः' इति ऋ०। 'मरुतो गणैः' (च०) 'अगदो सति' इति पैप्प० सं०।

५–(तृ०) 'दक्षं ते भद्रमाभार्षं' इति ऋ०। (तृ० च०) 'दक्षं ते भद्रमारिषं परासुवाम्यानुयत्' इति पैप्प० सं०।

भा०—अमृतपाणि वैद्य की भावना। हे रोगी! तू उचित रूप से यह जान ले कि (अयं मे हस्तः) यह मेरा हाथ (भगवान्) बड़े भारी ऐश्वर्य से युक्त है। और (अयं मे भगवत्-तरः) यह दूसरा हाथ उससे भी अधिक विभूतिमान एवं चमत्कार करने वाला है। इन में विशेष गुण यह है कि (अयं मे) यह मेरा हाथ (विश्व-भेषजः) सब प्रकार के रोगों की चिकित्सा करता है। (अयम्) और इसका (शिव-अभिमर्शनः) स्पर्श करना भी शान्ति और आनन्ददायक एवं हितकारी है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥ ७॥

भा०—मानस और स्पर्श-चिकित्सा का उपदेश करते हैं। (दशशाखाभ्यां) दश अंगुली रूप शाखाओं से युक्त इन (हस्ताभ्यां) हाथों के साथ (जिह्वा) यह जीभ (वाचः) वाणी को (पुरोगवी) प्रथम उच्चारण करने हारी होती है। (अनामयित्नुभ्यां) आमय=रोग से रहित इन (हस्ताभ्यां) हाथों से (त्वा) तुझे, तेरे शरीर को हम वैद्य लोग और बालक के आचार्य लोग (अभि मृशामसि) स्पर्श करते हैं। नीरोग, रोगजन्तुओं से रहित स्वच्छ हाथों से वैद्य रोगी के शरीर का स्पर्श करे और मानस बल द्वारा चिकित्सा करने के लिये हाथों की अंगुलीयां को फैला कर वाणी के शब्दोच्चारण सहित उसकी चिकित्सा कर दिया करे।

---

[१४] 'अज' प्रजापति का स्वरूपवर्णन।

भृगुर्ऋषिः। आज्यमग्निर्वा देवता। १, ५, ६ त्रिष्टुभः, २, ४ अनुष्टुभौ, ३ प्रस्तार पंक्तिः, ७, ९ जगत्यौ, ८ पञ्चपदा अति शक्वरी। नवर्चं सूक्तम्॥

७-(तृ० च०) 'अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोपस्पृशामसि' इति ऋ०।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्रं आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

यजु० १३ । ५१ ॥

भा०—'अजौदन सव' के दृष्टान्त से अध्यात्म योगमार्ग का उपदेश करते हैं। (अजः) यह न उत्पन्न होने वाला आत्मा, जीव (अग्नेः) सब के प्रकाशक, सब के नेता ज्ञानस्वरूप परमात्मा के (शोकात्) ज्ञानमय तेज से (अजनिष्ट) ज्ञानसम्पन्न, स्वतः भूतिमान् हुआ। और (सः) वह आत्मा (अग्रे) सब से पूर्व (जनितारम्) उत्पादक प्रभु को (अपश्यत्) देखता है। (तेन) उस आत्मा के द्वारा ही (देवाः) देवयान से गति करने वाले विद्वान् अध्यात्म में इन्द्रिय गण (अग्रे) पहले (देवताम्) देवभाव को (आयन्) प्राप्त होते और (तेन) उससे ही (मेध्यासः) अत्यन्त मेध्य, मेधायुक्त, पवित्र, ज्ञानसम्पन्न, मेधावी होकर (रोहान्) उच्च लोकों को, उच्च पदों को (रुरुहुः) प्राप्त होते हैं।

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठं स्व/र्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥

यजु० १७ । ६५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (अग्निना) ज्ञानस्वरूप आत्मा वा परम-आत्मा के प्रदर्शित प्रकाश से युक्त होकर (हस्तेषु) अपने हाथों में (उख्यान्) उखा—आत्मा के हितकारी ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय

[१४] १–(तृ० च०) 'देवतामग्रमायन् स तेन रोहमायन्नुपमेध्यासः' इति तै० सं०, मै० सं०।
२–(द्वि०) 'उख्यम्' इति यजु०। (प्र०) 'अग्निभिः' 'नाकमेक्षाम्' इति पैप्प० सं०।

साधनों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए, उनको अपने वश करते हुए (दिवस्पृष्ठम्) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के परम उन्नत भाग मोक्षपद, (स्वः) उस परम ज्योति को (गत्वा) पहुंच कर (देवेभिः) मुक्त जीवों के सहित (मिश्राः) मिल कर (आध्वम्) आनन्दमग्न होकर रहो ।

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ ३ ॥

यजु० १७ । ६७ ॥

भा०—(पृथिव्याः पृष्ठात्) पृथिवी की पीठ से (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक को (आरुहम्) चढ़ जाऊं और (अन्तरिक्षाद्) दिवम् अन्तरिक्ष लोक से (दिवम्) द्यौलोक को (आरुहम्) चढ़ जाऊं (दिवः) प्रकाशस्वरूप (नाकस्य) उस सुखमय लोक के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्) मैं (स्वः ज्योतिः) सुख, प्रकाश, आनन्दमय उस ज्योति=परम प्रकाश को (अगाम्) प्राप्त हो जाऊं ।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव और स्वः ये चार योग की उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भूमियां हैं । विक्षिप्त चित्त भूमि पृथिवी है, सम्प्रज्ञात, अन्तरिक्ष, असम्प्रज्ञात दिव् और कैवल्यपद स्वः है ।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥

यजु० १७ । ६८ ॥

भा०—(स्वः यन्तः) 'स्वः' सुख धाम मोक्ष को जाते हुए मुक्त जन, (न अपेक्षन्त) इस लोक के सुख की कुछ भी परवाह नहीं करते (रोदसी) इन द्यौ और पृथिवी दोनों लोकों को पार करके (आ द्यां) जब तक वह प्रकाश-

३–' पृथिव्या अहमुदन्त ' इति यजु० ।

४–(द्वि०) ' रोहन्तु राधसः ' इति पैप्प० सं० ।

मय लोक के प्राप्त न होजाय तब तक (रोहन्ति) बराबर चढ़ते ही जाते, उन्नति ही करते जाते हैं। (ये) जो मुमुक्षुजन (सु-विद्वांसः) विद्वान् होकर (विश्वतः-धारं) सब प्रकार से धारण करने में समर्थ एवं सब प्रकार से आनन्द धारा का वर्षण करने वाले (यज्ञं) यज्ञ=आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को (वितेनिरे) प्राप्त हो जाते हैं, उस का ज्ञान करलेते हैं।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्व/र्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

यजु० १७ । ६९ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! आप (देवतानां) समस्त दिव्य गुण वाले महत् आदि विशाल वैकारिक पदार्थों और समस्त विद्वानों से (प्रथमः) पूर्व विद्यमान, सब से श्रेष्ठ हैं। आप (प्रेहि) हमारे हृदय में प्रकट होइये। आप (देवनाम्) देवों और विद्वानों के (उत) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों के (चक्षुः) यथार्थ प्रकाशक हैं। (यजमानाः) यज्ञ करने हारे पुण्यात्मा लोग (भृगुभिः) पापों को भून डालने वाले या परिपक्व ज्ञान सम्पन्न, वेद के विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) यज्ञों का सम्पादन करते हुए (सजोषाः) परस्पर सामान भाव से प्रीति पूर्वक रहते हुए (स्वस्ति) अपने कल्याण के लिये (स्वः यन्तु) स्वर्ग लोक में जांय और सुख का भोग करें।

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥६॥

५–(द्वि०) 'उत मर्त्यानाम्' (प्र०) 'देवयताम्' इति यजु०, पैप्प० सं० ।

६–' अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तं । तेन वयं पतेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वरुहाणा अधि नाक उत्तमे इति तै० सं० । तत्रैव (द्वि०) ' दिव्यं समुद्रं ' इति पैप्प० सं० । ' वयसां बृहन्तं ' इति मै० सं० । (च०) ' ससहन्तोधि ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—मैं (दिव्यं) दिव्य (सुपर्णं) उत्तम पालन, और प्रज्ञानों से युक्त (बृहन्तम्) महान् (पयसं) सब के परिपोषक (अजं) उस अज-आत्मा, परम प्रभु को (पयसा) ज्ञान और (घृतेन) दिव्य तेज से (अनज्मि) साक्षात् करता हूं । (तेन) उसी के बल से हम (उत्तमम् नाकम्) उत्तम सुखमय (स्वः) स्वर्गधाम को (आ-रोहन्तः) जाते हुए (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकं) लोक को भी (गेष्म) प्राप्त हों ।

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् ।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

भा०—यज्ञ क्रिया के दृष्टान्त से आध्यात्मिक यज्ञ का रहस्य खोलते हैं । हे योग, तप द्वारा आत्मा को परितप्त करने हारे तपस्विन् ! योगयाजिन् ! तू (पञ्चौदनं) पांच ओदन=भात, पञ्चज्ञान विषयों या पंच भूतों को वश करने हारे इस महान् आत्मा को (पञ्चभिः) पांचों (अंगुलिभिः) अंग में लगी इन्द्रियों से, या पांच महाशक्तियों से (दर्व्या) विषयों के पहुंचने हारी विवेक शक्ति से (एतम्) इस (ओदनं) अत्ता, भोक्ता को (पंचधा) पांच भागों में (उद्धर) उठा २ कर रख, बांट दे । अर्थात् इस महान् आत्मा को विभक्त कर । विभाग का प्रकार दर्शाते हैं । (प्राच्यां दिशि) प्राची दिशा में (अस्य शिरः) इस अज आत्मा के शिर भाग को (धेहि) रख और (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशा में (दक्षिणं पार्श्वं) दायां पार्श्व (धेहि) रख ।

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥

भा०—(प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशा में (अस्य) इसके (भसदं) गुह्य भाग को (धेहि) स्थापन कर और (उत्तरस्यां दिशि) उत्तर की दिशा में (उत्तरं पार्श्वं धेहि) इसका उत्तर अर्थात् वांया भाग रख। (ऊर्ध्वायां दिशि) ऊपर की दिशा में (अजस्य) इस अज आत्मा के (अनूकं) पीठ के भाग को (धेहि) रख, (ध्रुवायां दिशि) नीचे पृथिवी की ओर इस आत्मा का (पाजस्यं धेहि) पाजस्य=चरण भाग को (धेहि) स्थापित कर और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (अस्य) इस अज आत्मा के (मध्यतः मध्यम्) बीच के भाग, धड़ के मध्य भाग को (धेहि) स्थापित कर इस प्रकार प्रजापति रूप अज परमात्मा के विराट्रूप का ध्यान कर।

इस प्रजापति रूप 'अज' का अंग विभाग बृहदारण्यक में बतलाये प्रजापति रूप अश्व के समान ही जानना उचित है। वहां मेध्य यज्ञ के अश्व का आलंकारिक रूप इस प्रकार वर्णन किया है।

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा वाश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे, अवान्तरदिशः पर्शवः ऋतवोङ्गानि, मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि, अहोरात्राणि प्रतिष्ठा, नक्षत्राणि अस्थीनि, नभो मांसानि, ऊवध्यं सिकताः, सिन्धवो गुदाः, यकृच्च क्लोमानश्च पर्वताः, ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि, उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचन् जघनार्धः, तद्विजृम्भते यद् विद्योतते, यद्विधूनते तत्स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति, वागेवास्य वाक्। (बृहदारण्यक उप० १। १)

उस अश्वरूप प्रजापति के उषा शिर है, सूर्य चक्षु, वायु प्राण, वैश्वानर अग्नि मुख, संवत्सर आत्मा, द्यौः पीठ, अन्तरिक्ष पेट है, पृथिवी पैर हैं। दिशाएं पार्श्व भाग हैं इत्यादि। भेद केवल इतना है कि वहां अश्व नाम से प्रजापति के शरीर की कल्पना है यहां अज नाम से है, अलंकार उभयत्र समान है। 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सूत्र लगा कर आत्मा परमात्मा दोनों पर यह अलंकार घट जाता है।

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम् ।
स उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥६॥

भा०—(शृतं) इस प्रकार परिपक्व, अर्थात् पुनः योगाभ्यास और ध्यानाभ्यास से दृढ़ीकृत (अजं) इस महान् आत्मा को (शृतया) उसी प्रकार की दृढ़ीकृत (त्वचा) त्वचा=संवरण करने वाली शक्ति से (प्र-ऊर्णुहि) आच्छादित कर । वह महान् आत्मा पूर्वोक्त प्रकार से (सर्वैः अंगैः) समस्त अंगों द्वारा (विश्वरूपम्) विश्व, ब्रह्माण्ड के विराट् रूप में (सं भृतम्) एकत्र विराजमान है । (सः उत) वह ही तू अर्थात् उसी रूप का तू यह आत्मा भी (इतः) इस लोक से (उत्तमं) उस ऊर्ध्वतम, सर्वश्रेष्ठ (नाकम्) सुखमय आनन्दमय मोक्षधाम को (अभि उत् तिष्ठ) लक्ष्य करके उठ खड़ा हो और (चतुर्भिः) चारों (पदैः) पदों, रूपों से (दिक्षु) दिशाओं में (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो ।

उस महान् आत्मा के पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन और चतुर्थ तुरीय पद है । इस आत्मा के चार आश्रम चार पद हैं । सायण ने यह सूक्त अज-बलिपरक यज्ञ में लगाया है सो असंगत है ।

[१५] वृष्टि की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मरुतः पर्जन्यश्च देवताः । १, २, ५ विराड् जगत्यः, ४ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ७, ८, १३, १४ अनुष्टुभः, ९ पथ्यापंक्तिः, १० भुरिजः, १२ पञ्चपदा अनुष्टुब् गर्भा भुरिक्, १५ शङ्कुमती अनुष्टुप्, ३, ६, ११, १६ त्रिष्टुभः । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

९-(प्र०) 'श्रथया' इति सायणाभिमतः ।

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥१॥

भा०—वर्षा के रहस्य का उपदेश करते हैं । (नभस्वतीः[1]) मेघों से घिरीं (प्रादिशः) महादिशाएं (सम्-उत्-पतन्तु) उमड़ आवें, चारों दिशाओं में मेघ ही मेघ घिर जावें और (वातजूतानि) वायु से प्रेरित (अभ्राणि) सजल जलद (सं यन्तु) खूब आवें, तब (महा ऋषभस्य) महान् जल-वर्षक (नदतः) गर्जना करते हुए (नभस्वतः) वायु से प्रेरित मेघ की (वाश्राः) छम छम करती हुई (आपः) जलधाराएं (पृथिवीम् तर्पयन्तु) इस पृथिवी को परितृप्त करें ।

अध्यात्मवादी लोग इस वर्षण सुख को तब लेते हैं जब अपनी ऋतं-भरा प्रज्ञा के उदय हो जाने पर धर्ममेध समाधि में अपने हृदयाकाश में अन्तरात्मा की चमकती हुई ज्योतियों की विद्युत् लताओं से घिरे महान् आत्मारूप पर्ज्जन्य से बरसती आनन्द-धाराओं को चित्त भूमि में बरसता पाते हैं । इति दिक् ।

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥२॥

भा०—(तविषाः) महान् (सुदानवः) उत्तम जलों का दान करने वाले मेघ (समीक्षयन्तु) हमें उत्तम रीति से जल धाराओं के दर्शन करावें या बरस कर दिखावें । और (अपां रसाः) जलों की धराएं (ओष-

[१५] १–' वाश्रापः ' इति पैप्प० सं० ।

१. 'नभो मांसानी'ति बृहदारण्यकवचनव्याख्याने भगवत्पादः श्रीमच्छंकराचार्यः । 'नभः नभस्था मेघाः । नभस्वता वायुना युक्ताः ' इति सायणः ।

२–' समुक्षयन्तु ' इति ह्विटनिकामितः ।

धीभिः) अन्नादि ओषधियों को (सचन्ताम्) प्राप्त हों । (वर्षस्य सर्गाः) वर्षाकाल की नाना वनस्पति और जीवसृष्टियां या जल-धाराएं (भूमिं) इस भूमि को (महयन्तु) सुशोभित करें । और (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (ओषधयः) ओषधियां (पृथक्) नाना स्थानों पर नाना जातियों में (जायन्ताम्) उत्पन्न हों ।

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद् विजन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥३॥

भा०—हे मरुद्गण ! आप लोग (गायतः) आनन्द में गान करते हुए प्रजा जनों को (नभांसि) मेघों का (समीक्षयस्व) दर्शन कराओ । (अपां वेगासः) जलों के वेगवान् प्रवाह (पृथक्) नाना स्थानों पर (उद् विजन्ताम्) उत्तरंग हो २ कर उमड़ आवें । (वर्षस्य सर्गाः) वर्षा की नाना सृष्टियां या जलधाराएं (भूमिं महयन्तु) भूमि को सुशोभित करें । (विश्वरूपाः वीरुधः) नाना प्रकार की लताएं (पृथक् जायन्तां) नाना स्थानों पर उत्पन्न हों ।

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥

भा०—हे (पर्जन्य) रसों के प्रदाता पर्जन्य देव ! (घोषिणः) वेद का घोष करने हारे विद्वान् पुरुषों के समान (मारुताः गणाः) वायुएं (त्वा उपगायन्तु) तेरी स्तुति करें । (वर्षतः) वर्षते हुए (वर्षस्य) मेघ की (सर्गाः) धाराएं (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (वर्षन्तु) वर्षा करें ।

३–(प्र०) ‘ समिक्षाद् विश्वग् वातो नपांस्यापां वेगासः पृथगुत्पतन्तु ’ इति पैप्प० सं० ।

४–(च०) ‘ सृजन्तु पृ० ’ इति पैप्प० सं० ।

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥५॥

भा०—हे (मरुतः) वायुओ ! (समुद्रतः) समुद्र के मध्य से (उद्-ईरयत) ऊपर उठ २ कर आओ और मेघों को उड़ा लाओ (अथ) और (त्वेषः) विद्युत् की कान्ति (अर्कः) सूर्य या जल और (नभः) मेघ को (उत्-पातय) ऊपर उठा लाओ। (नदतः) गर्जते हुए (नभस्वतः) वायु से प्रेरित (महा ऋषभस्य) बड़े वर्षक, मेघ के (वाश्राः) छम छम करतीं (आपः) जलधाराएं (पृथिवीम् तर्पयन्तु) वर्ष २ कर पृथिवी को तृप्त कर दें।

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥

भा०—हे (पर्जन्य) मेघ ! (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) बिजली कड़का, (उदधिं) जल को धरने वाले अपने स्वरूप को (अर्दय) पीड़ित कर, जिससे खूब जल वर्षे और (पयसा) अपने जल से (भूमिं समङ्ग्धि) भूमि को सींच डाल। (त्वया सृष्टं वर्षं) तेरे से बरसाया गया जल (बहुलं) बहुत सारा (एतु) नीचे आवे। (आशारैषी) आशार=चारों तरफ़ से जल प्रपात की इच्छा करने वाला (कृशगुः) कृश—दुबले बैलों वाला, अथवा गौ=भूमि को कर्षण=हल वाहने वाला किसान अपनी भूमि को हल वाह कर (अस्तं एतु) अपने घर पर आ जाय। सायण—(आशारैषी कृशगुः) धारा संपात चाहने वाला सदा अस्त रहे, कभी न दीखे। यह अर्थ असंगत है, क्योंकि सूर्य में धारा-संपात की इच्छा होना असम्भव है।

५-(तृ० च०) 'प्रतिवर्षयन्ति तमिषाणुदानवोऽपां राशीरोषधीः सचन्ताम्' इति पैप्प० सं०।

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोगों को (सुदानवः) कल्याण-तम जल का प्रदान करने वाले (उत अजगराः) और अजगर के समान स्थूल अथवा अज—सूर्य को निगल जाने वाले (उत्साः) जल के महा स्रोत जल-धाराएं (वः) आप लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें । और (मरुद्भिः) वायुओं द्वारा (प्र-च्युताः) प्रेरित (मेघाः) मेघगण (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (वर्षन्तु) वर्षा करें ।

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥ ८ ॥

भा०—(आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा में (विद्योततां) बिजुलियां चमकें, (दिशः-दिशः) दिशा दिशा में (वाताः वान्तु) वायुएं बहें । (मरुद्भिः) वायुओं से (प्र-च्युताः) प्रेरित (मेघाः) मेघ गण (पृथिवीम् अनु) पृथिवी की ओर (सं यन्तु) उत्तम रीति से जावें ।

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥ ९ ॥

भा०—(आपः) जल, (विद्युत्) बिजुली, (वर्ष) वर्षा और (अजगराः) अजगर के समान स्थूल आकार में लोटने वाले (उत्साः) जलों

७–'समवन्तु सदानवोत्सा जगरा उत' 'वातावर्षस्य वर्षतुः प्रवहन्तु पृथिवीमनु' इति पैप्प० सं० ।

९–(प्र०) 'वातोविद्यु–' (तृ० च०) 'प्र प्यायस्व प्र पितृस्व सं स-भूमिं पयसासृज' इति पैप्प० सं० ।

के सोते (उत) भी (वः) तुम प्रजाओं की (सं अवन्तु) उत्तम रीति से रक्षा करें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीम् अनु प्र-अवन्तु) वायुओं से प्रेरित मेघ पृथिवी की ओर खूब जोर से उमड़ कर आवें ।

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव ।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥१०॥

भा०—(अपाम्) मेघ में स्थित जलों की (अग्निः) प्रकाशस्वरूप विद्युत् (तनूभिः) जलों के शरीरभूत मेघों से (सं विदानः) एकत्र मिल कर रहती हैं । (यः) जो (ओषधीनां) वनस्पतियों का (अधिपा) स्वामी, पालक (बभूव) होता है । (स जातवेदाः) वह समस्त पदार्थों में व्यापक अग्नि (नः) हमारे लिये (वर्षं) वृष्टि को और (दिवः परि) आकाश से (अमृतं) बरसते अमृत रूप जल को (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओं के लिये प्राणरूप (वनुतां) बना दे । वायु के संघर्ष से मेघों में बिजली उत्पन्न होती है वह ऋण और धन या पोज़िटिव और नेगिटिव रूप में प्रकट हो कर पुनः परस्पर मिलती है और कड़कती है । उससे जलों में विशेष प्राण-शक्ति और मेघ के जलों की वृद्धि भी होती है । ओषधियां अधिक जल पातीं और प्रजाएं सुखी होती हैं ।

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥

उत्तरार्धः ५ । ८३ । ६ । द्वि० तृ० ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक परमेश्वर सूर्य द्वारा (सलिलात् समुद्रात्) जलमय समुद्र से (आपः) व्यापनशील वाष्परूप जलों

११–' दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्रपिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः । अर्वाङ्-एतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ।' इति ऋ० । (तृ०) ' प्याप्यायतां ' इति पैप्प० सं० ।

को (आ ईरयन्) सर्वत्र वातावरण में फैलाता हुआ (उदधिः) ऊपर उठने वाले जल को धारण करने वाले वातावरण को (अर्दयति) पुनः अपनी किरणों से पीड़ित करता है, विक्षुब्ध करता है। इससे क्या होता है? कि (वृष्णः) वर्षा करने वाले (अश्वस्य) व्यापक मेघ का (रेतः) नीचे आने वाला जल (प्रप्यायताम्) खूब अधिक बढ़ जाता है और (एतेन) इस (स्तनयित्नुना) ध्वनि करने वाले विद्युत् के साथ ही हे पर्जन्य ! तू (अर्वाङ्) नीचे की ओर भी आजाता है।

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव-
नीचीरपः सृज । वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥

भा०—(असुरः) सब जन्तुओं को प्राण देने हारा सूर्य (अपः) जलों को (निषिञ्चन्) निरन्तर सींचा करता है वास्तव में इसलिये वही (नः) हम समस्त जीवों का (पिता) पालक है। हे वरुण ! सर्वश्रेष्ठ ! परमात्मन् ! (अपां गर्गराः) जलों के निगल जाने वाले, अजगर के समान पृथिवी पर लोटने वाले, या गड़ २ शब्द करने वाले मेघ अथवा भूमि के बरसाती नाले (श्वसन्तु) पुनः श्वास लें या भर २ कर बहें या जल के आधार पर जीने वाले अजगर वर्षा से पुनः प्रसन्न होकर लम्बे २ सांस खींचें। हे प्रभो ! (अपः) जलों को (नीचीः) नीचे की ओर (अवसृज) प्रवाहित कर, मेघों को बरसा, जिससे (पृश्निबाहवः) पीले चितकबरे रंग की बाहुओं वाले (इरिणा अनु) बिना घास की भूमियों में आकर (वदन्तु) खूब बोलें।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥

ऋ० ७ । १०३ । १ ॥

१३–(तृ०) 'वातं पर्जन्य' इति क्वचित् । (च०) 'माण्डूकाः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—वर्षा काल का वर्णन करते हुए विद्वान् ब्राह्मणों की उपमा से मण्डूकों का भी वर्णन करते हैं—(व्रतचारिणः) व्रत का आचरण करने वाले (ब्राह्मणाः) विद्वान वेदज्ञ ब्राह्मण लोग जिस प्रकार वेद का पाठ करते और ऋतु को मनोहर बनाते हैं उसी प्रकार (संवत्सरं) एक वर्ष तक (शशयानाः) बिलों में सोते हुए (मण्डूकाः) मेंडक (पर्जन्यजिन्वितां) मानों मेघ स्तुति करने वाली (वाचं) वाणी को (प्र अवादिषुः) उत्तम रीति से बोलते हैं।

दादुरध्वनि चंहु ओर सुहाई। वेद पढ़त जिमि बटु समुदाई ॥—तुलसी०।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के पक्ष में—(मण्डूका) ब्रह्मानन्द रस में मग्न होने वाले (व्रतचारिणः) ब्रह्मचर्य के पालक (ब्राह्मणाः) वेद के विद्वान् (संवत्सरं) एक वर्ष को (शशयानाः) बिता कर (प्रजेन्यजिन्वितां) उस आनन्द-रस-प्रदाता प्रभु को प्रसन्न करने वाली (वाचं) वेदवाणी का (अवादिषुः) उच्चारण करते हैं।

उप॒प्रव॑द मण्डूकि व॒र्षमा व॑द तादुरि ।
मध्ये॑ ह्रद॒स्य॑ प्लवस्व वि॒गृह्य॑ च॒तुरः॑ प॒दः ॥ १४ ॥

भा०—हे (मण्डूकि) मेंढकी ! हे (तादुरि !) तदुर=मेंढक की बच्ची ! तू (वर्षम् उप प्र-वद आ वद) वर्षा को देख कर खूब बोल और सब तरफ बोल और (चतुरः पदः) चारों पैर (विगृह्य) फैला कर (ह्रदस्य मध्ये) तालाब के बीच में (प्लवस्व) तैर।

अध्यात्म में—उस आनन्दघन 'धर्ममेघ' के वर्षण को लक्ष्य कर के उसका वर्णन करते हैं। हे (मण्डूकि) आनन्दरस में निमग्न चित्तवृत्ते ! (तादुरि) तद्-उर=उस परब्रह्म की तरफ जाने वाले, उस में लीन आत्मा

१४–(प्र०) 'माण्डूकि' (द्वि०) 'तांधुरि' इति पैप्प० सं०।

की पुत्री स्वरूप तू (आ वद) उसी का सर्वत्र गान कर और (चतुरः पदः) अन्तःकरण चतुष्टय रूप चारों चरणों को फैला कर (हृदस्य) उस आह्लाद जनक हृदयरूप मानस-सरोवर में (प्लवस्व) आनन्द से तर, सब दुःखों को पार करजा ।

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥

भा०—हे (खण्वखे) खण्वखा और हे (खैमखे) खेमखा और हे (तदुरि) तदुरी नामक तीनों प्रकार के मण्डूक जातियो ! आप (मध्ये) तालाब के बीच में (वर्षं) वर्षा का (वनुध्वं) आनन्द प्राप्त करो। हे (पितरः) पालन करने हारे प्रजा पालको जनो ! आप लोग (मरुतां) बहने वाले वायुओं का (मनः) वास्तविक मनन करने योग्य ज्ञान (इच्छत) प्राप्त करने का यत्न करो ।

अध्यात्म में–हे (खण्वखे) इड़ा नाड़ि ! हे (खैमखे[१]) पिङ्गला नाड़ि ! और हे (तदुरि) ब्रह्म तक पहुंचने वाली (मध्ये) मध्य में वर्तमान सुषुम्ना नाड़ि ! तुम तीनों (वर्षं वनुध्वं) आनन्द रस के प्रवाह का भोग करो और हे (पितरः) इन्द्रियगणो तुम लोग (मरुतां) इन भीतरी प्राणों के (मनः) मानस बल को (इच्छत) प्राप्त करने का यत्न करो । अर्थात् उस समय ये इन्द्रिय प्राणों सहित मन में विलीन हो जाती हैं ।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

१५–(द्वि०) ' मध्ये प्लवस्व तादुरि ' अथवा ' मध्ये हृदस्य तादुरि ' इति ह्विट्निकामितः पाठः ।

१. ' पैमखाई ' इति सायणसम्मतः पाठः ।

'खण्वखा'—कण्वं-आत्मानं खनति इति कण्वखाः छान्दसः खकारः। आत्मा को खोद लेने वाली, अथवा-खण्वे छिद्रे खज्जति गच्छतिसा खण्वखा ब्रह्मरन्ध्रगामिनी।

'खैमखा'—खैस्थैर्ये, खदने (भ्वादिः) हिंसायांचेति शब्द कल्पद्रुमः। ततो मन् प्रत्ययः। खैम स्थैर्यं खनाति पुनः २ स्थिरी करोति इति खैमखा पिङ्गला 'तदुरि'—तत् ब्रह्म इयर्ति इति तदुरि सुषुम्ना सा च मध्ये इड़ापिङ्गलयोर्वर्त्तमाना भवति।

म॒हान्त॒ कोश॒मुद॑चा॒भि षि॑ञ्च सवि॒द्युतं॑ भवतु॒ वातु॒ वातः॑।
त॒न्वतां॑ य॒ज्ञं ब॑हु॒धा विसृ॑ष्टा आ॒न॒न्दि॒नी॒रोष॑धयो भवन्तु ॥१६॥

भा०—हे परमात्मन्! (महान्तं) बड़े भारी (कोशं) जल के खजाने रूप मेघ को (उद् अच) ऊपर उठा और (अभिषिञ्च) समस्त संसार में जल का सेचन कराओ और वह (सविद्युतं) विद्युत् के साथ भी (भवतु) हो और (वातः) पवन (वातु) बहे। (यज्ञं तन्वतां) हे पुरुषो! तुम लोग पुण्य कार्य यज्ञ को करो और (बहुधा विसृष्टाः) नाना प्रकार से विविध रूपों में वर्षा हुई धाराएं (यज्ञं) इस महान् जीवन यज्ञ को (तन्वतां) सम्पादन करें और (आनन्दिनीः) आनन्ददायक (ओषधयः) ओषधियां (भवन्तु) उत्पन्न हों, अथवा ओषधियां आनन्ददायक हों।

इति तृतीयोऽनुवाकः।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकपञ्चाशत्।]

१६-(प्र०) 'महन्तं' (तृ०) 'विसृष्टं' इति पैप्प० सं०।

[१६] राजा और ईश्वर का शासन ।

ब्रह्मा ऋषिः । सत्यानृतान्वीक्षणसूक्तम् । वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, ५ भुरिक्, ७ जगती, ८ त्रिपदामहाबृहती, ९ विराट् नाम त्रिपाद् गायत्री, २, ४, ६ त्रिष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

भा०—राजा के गुप्तचर विभाग का वर्णन करते हुए परमेश्वर के राज्य का उपदेश करते हैं । (एषां) इन देवों का (अधिष्ठाता) अधिपति शासक स्वयं (बृहन्) बहुत बड़ा है, जो सब को (अन्तिकात् इव) ऐसे देख रहा मानों उनके पास ही खड़ा है । (यः) जो पुरुष (स्तायत्) अपने को गुप्त रूप से छुपकर (चरन्) विचारता हुआ, (मन्यते) जानता है । (इदं) यह सब बात (देवाः) देव राष्ट्र के अधिकारीगण जिस प्रकार अपने राजा के इस सामर्थ्य को जानते हैं उसी प्रकार समस्त विद्वान्गण एवं दिव्य लोक भी (इदं सर्वं) इस सब सत्य को (विदुः) जानते हैं ।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥

भा०—वरुण राजा की गुप्त विज्ञता और सर्व व्यापकता को दर्शाते हैं । (यः) जो (तिष्ठति) खड़ा है (यः च चरति) और जो चलता है (यः च वञ्चति) और जो दूसरे को ठगता है (यः निलायं चरति) जो छुप २

[१६] २–(प्र०) ' यस्तिष्ठति मनसा यश्च ', (द्वि०) 'यः प्रलायम्' (तृ०) ' द्वौ यद्वदतः संनिपद्य ' इति पैप्प० सं० ।

कर कहीं जाता है (यः प्रतङ्कं चरति) जो दूसरे को भारी पीड़ा देने आदि अत्याचारों को करता है और (यत्) जो कुछ (द्वौ) दो पुरुष भी (संनिषद्य) एक साथ मिल कर, बैठ कर (मन्त्रयेते) गुप्त विचार करते हैं (राजा वरुण) सब का शासक वरुण भी (तृतीयः) उन दोनों के साथ तीसरा होकर (वेद) उनकी गुप्त बातों को जानता है। राजा भी अपने गुप्त चर विभाग को ऐसा ही स्थापित करे कि प्रजा और शत्रु के कार्यों को भलीभांति जाने।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥

भा०—(उत) और तो और, (इयं भूमिः) यह भूमि (राज्ञः वरुणस्य) राजा वरुण, सब के परिपालक, रक्षक, उस प्रभु की है (उत) और (दूरे-अन्ता) दूर और समीप, सर्वत्र व्यापक, (बृहती) इतना विशाल (द्यौः) द्यौः=आकाश उसी प्रभु के वश में है। (उत उ) और भी यह कि (समुद्रौ) पूर्व और पश्चिम समुद्र अथवा जलसमुद्र और आकाश समुद्र दोनों (अस्य) इस राजा वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं। (उत) और सब से आश्चर्य यह कि, वही वरुण (अस्मिन् अल्पे उदके) इस छोटे से पानी के बूंद में भी (नि-लीनः) गुप्त रूप से व्यापक है। इसी प्रकार राजा को अपने और पराये राष्ट्र का तिल तिल भी जानना चाहिये।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥४॥

३-(प्र०, द्वि०) 'उतेममस्यपृथिवी समीची द्यौर्बृहतीरन्तरिक्षम्' (प्र०)
१. 'उदकेन मक्तः' इति पैप्प० सं०।

४-(द्वि०) 'इह स्पशः प्र चरन्तीमस्य' इति पैप्प० सं०।

भा०—राजा वरुण का दुष्टदमन करने का सामर्थ्य बतलाते हैं। (यः उत) जो भी कोई जीव (द्याम् अति) द्यौ लोक, महान् आकाश को भी पार करके (परस्तात् सर्पात्) और भी दूर चला जाय (सः) वह भी (वरुणस्य राज्ञः) राजा वरुण, परमात्मा के शासन से (न मुच्याते) मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि (दिवः) प्रकाशमान (अस्य) उस वरुण के (स्पशः) गुप्तचर, स्पाई (Spy) लोग (इदं) इस संसार में (प्रचरन्ति) खूब घूम रहे हैं जो (सहस्र-अक्षाः) हजारों आखों वाले चौकन्ना होकर (भूमिम्) इस भूमि को (अति पश्यन्ति) खूब देखते हैं। राजा को अपने गुप्त चर सिपाही भी इसी प्रकार के नियुक्त करने चाहियें। उनकी हज़ारों आंखों से ही वह भी सहस्राक्ष है। इसी प्रकार सभा में कार्याकार्य-विवेचन के लिये रखे आलोचक सभासद् भी राजा की ही आंखों के समान है उन से भी वह 'सहस्राक्ष' इन्द्र के समान ही है। मन्त्राधिकार में कौटल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है—

"इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रम्।
तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्व्यक्षमपि सहस्राक्षमाहुः॥"

इन्द्र की मन्त्रिसभा में हज़ार ऋषि थे। वे उसकी आंख थे। इसलिये उसकी दो आंख होते हुए भी उसको सहस्राक्ष कहा जाता है।

सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि॥५॥

भा०—राजा वरुण की सर्वदर्शिता को बतलाते हैं। (राजा वरुणः) राजा, सब का शासक परमात्मा (तत् सर्वम्) वह सब (यत् रोदसी अन्तरा)

५—'संख्याता। अस्य' इति पदच्छेदः सायणसम्मतः। 'स्वघ्नी' इति सायणसम्मतः। 'श्वघ्नीति' निरुक्तकारः (च०) 'अक्षान् न श्वघ्नी भुवना मिमीते' इति पैप्प० सं०।

जो इन दोनों लोकों के बीच में और (यत् परस्तात्) जो इन से परे भी है वह सब कुछ (विचष्टे) नाना प्रकार और विशेष रूप से देखता है । (अस्य) इसने (जनानां) मनुष्यों और प्राणियों के (निमिषः) पलकों की झपकों तक को (सं-ख्याताः) गिन रखा है । क्योंकि (श्वघ्नी) जुआरी जिस प्रकार अपने (अक्षान्) पासों को (निमिनोति) खूब नाप जोख कर रखता है उसी प्रकार वह भी इन सब लोकों को नाप २ कर रखता और जोखता और रचता रहता है ।

ये ते पाशा॑ वरुण स॒प्तस॑प्त त्रे॒धा तिष्ठ॑न्ति॒ विषि॑ता॒ रुश॑न्तः ।
छि॒नन्तु॒ सर्वे॒ अनृ॑तं॒ वद॑न्तं॒ यः स॑त्यवा॒द्यति॒ तं सृ॑जन्तु ॥ ६ ॥

भा०—वरुण के पाश दर्शाते हैं । हे वरुण ! परमात्मन् ! (ये ते) आपके (ये) जो (पाशाः) पाश (सप्त सप्त त्रेधा) सात २ कर के तीन प्रकार से (विषिताः) बंधे हैं । वे पाश (सर्वे) सब (अनृतं वदन्तं) झूठ बोलनेवाले पुरुष को (रुशन्तः) मारते, पीड़ा देते हुए, (छिनन्तु) काट २ डालें और (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी है (तं) उसको (अति सृजन्तु) मुक्त कर दें । राजा भी इसी प्रकार दण्ड-व्यवस्थाएं और जेल आदि का प्रबन्ध करे जिससे असत्यवादी पकड़े जायँ और सत्यवादी उनसे मुक्त रहें ।

श॒तेन॒ पाशै॑र॒भि धे॑हि वरुणैनं॒ मा ते॑ मो॒च्यनृ॑त॒वाङ् नृ॑चक्षः ।
आस्तां॑ जा॒ल्म उ॒दरं॑ श्रंसयि॒त्वा कोश॑ इवाब॒न्धः प॑रि॒कृत्यमा॑नः ॥ ७ ॥

६–'रुशन्तः' इति सायणसम्मतः पाठः । (तृ०) 'सिनन्तु' इति हिटनि-कामितः पाठः । 'शिनन्तु' इति क्वचित् । (प्र०) 'सप्तसप्ती' (द्वि०) 'रुपतारुशन्तः' (तृ०) 'छिनत्त', (च०) 'सत्यवागति तं सृजामि' इति पैप्प० सं० ।

७–(प्र०) 'शतेन पाशैर्वरुणाभि', (द्वि०) 'अनृतवाग् नृ-' इति पैप्प० सं० । (च०) 'इवाबन्धः' इति बहुत्र ।

भा०—व्यवस्थापक लोग असत्यवादी के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था करते हैं। हे वरुण राजन् ! हे (नृचक्षः) सब मनुष्यों को व्यवहार-चक्षु से देखने वाले ! (अनृतवाक) जो असत्य बोलता है वह (मा ते मोचि) तेरी दण्ड-व्यवस्था से छूट न जाय। (एनं) इसको तो (शतेन पाशैः) सौ पाशों से (अभि-धेहि) सब के सन्मुख बांध ! और (जाल्मः) ज़ालिम, अत्याचारी, आततायी पुरुष (उदरं) अपने पेट, मध्य भाग को (स्रंशयित्वा) भूमि पर गिरा कर (अबन्धः) विना बंधे (कोश इव) मियान या फूल के समान (परिकृत्यमानः आस्तां) टुकड़े २ काटा या तड़पाया जाता रहे।

यः स॑मा॒म्यो॒३॒॑ वरु॑णो॒ यो व्या॒म्यो॒३॒॑ यः सं॑दे॒श्यो॒३॒॑ वरु॑णो॒ यो वि॑दे॒श्यः॑ ।
यो दै॒वो वरु॑णो॒ यश्च॒ मानु॑षः ॥ ८ ॥

भा०—(वरुणः) वह वरुण है (यः) जो (समाम्यः) सब के प्रति समान भाव से रहता है। (वरुणः) वरुण ही ऐसा है (यः व्याम्यः) जो प्रत्येक के प्रति विशेष रूप से भी रहता है। वह वरुण ही है (यः संदेश्यः) सब देश में सर्वत्र समान भाव से रहता है और (यः विदेश्यः) जो सब देश में विशेष रूप से भी रहता है। (वरुणः) वह वरुण ही है (यः दैवः) जो देव, विद्वानों में और (यः च मानुषः) जो मनुष्यों में भी समान रूप से रहता है। अर्थात् वरुण—राजा का और प्रभु का सब से समान रूप से और विशेष रूप से भी सम्बन्ध रहता है।

तैस्त्वा॒ सर्वै॑र॒भि ष्या॑मि॒ पाशै॑रसावामुष्याय॒णामु॑ष्याः पुत्र ।
ताँनु॑ ते॒ सर्वा॑ननु॒संदि॑शामि ॥ ९ ॥

८—त्रिधा पठितोयं 'वरुणः' शब्दोऽत्र उपसृष्टः। तं विहाय गायत्रीयम्। (प्र०) 'यः समान्यो' (द्वि०) 'यश्श्यं [?] देश्यो' (तृ०) 'यो दैव्यो वरुणो यश्चमानुषस्स त्वांस्त्वेतानि प्रतिमुञ्चाम्यत्र' इति पैप्प० सं०॥

भा०—राजा दण्ड देने के समय अपराधी का नाम, माता और पिता के नाम सहित लिख कर दण्ड दे और दण्ड की आज्ञा इस प्रकार दे— हे (अमुष्याः पुत्र) अमुक माता के पुत्र ! और हे (आमुष्यायण) अमुक गोत्र और वंश के उत्पन्न पुरुष ! (त्वां) तुझ को तेरे अपराध के निमित्त (तैः) उन २ (सर्वैः) सब (पाशैः) दण्डों, बन्धन-व्यवस्थाओं अर्थात् धाराओं से (अभि-ष्यामि) सब के समक्ष दण्डित करता हूं और (तान्) उन (सर्वान्) सब अधिकारियों या दण्डधरों को (अनु सं-दिशामि) तदनुकूल दण्ड देने की मैं आज्ञा देता हूं ।

अर्थात् अपराधी की दण्डाज्ञा पर अपराधी के माता पिता का नाम, बाप दादों की वंश या गोत्र का नाम और दण्ड धाराओं का उल्लेख हो और जिन अफसरों को वह दण्डार्थ सौंपा जाय उनका भी उल्लेख होना उचित है ।

[१७] अपामार्ग और अपामार्ग-विधान का वर्णन ।

शुक्र ऋषिः । अपामार्गो वनस्पतिर्देवता । १–८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ईशा॑नां त्वा भेष॒जाना॒मुज्जे॑ष॒ आ र॑भामहे ।
च॒क्रे स॒हस्र॑वीर्यं॒ सर्व॑स्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

भा०—ओषधि को सहस्रगुण वीर्यवान् करने का उपदेश करते हैं । हे ओषधे ! (त्वा) तुझ को (सर्वस्मै) सब प्रकार रोगों के लिये मैं (सहस्र-वीर्यं) सहस्रगुणा शक्तिवाला करता हूं । और (भेषजानाम्) सब रोगहारक

---

[१७] १–(द्वि०) 'निजेषागृणीमहे' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'सहस्रवीर्यम्' इति बहुत्र ।

औषधों में से (इशानां) सब से अधिक सामर्थ्य वाली (त्वा) तुझ को (उत्-जेपे) रोग पीड़ाओं पर विजय और वश करने के लिये (आरभामहे) हम तुझे प्राप्त करते हैं । ओषधि के सहस्रगुण करने के लिये उस वनस्पति को 'ओषधि' बना लेना चाहिये । ओष-धि=टिंक्चर, उसके सहस्रवीर्य करने का उपाय 'होमियोपैथी' चिकित्सा में बतलाया जाता है ।

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् ।
सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

भा०—मैं (सत्यजितं) अपने यथार्थ बल से रोग पर वश करने वाली (शपथयावनीम्[1]) शपथ=[अं]शपथ=अंशों के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम इस प्रकार की पथ सूक्ष्मगति या प्रक्षेप द्वारा शरीर में प्रवेश कर मिलने अथवा रोगी के आक्रोश, कष्ट, चीत्कारों को दूर करने, (सहमानाम्) और रोग का अधिकाधिक नाश करने वाली, (पुनः सराम्) बार २ रोगी के मल मूत्र को अधिक मात्र में बाहर करने वाली अर्थात् विरेचक या बार २ शरीर में प्रवेश करने वाली, मात्रा में कईवार दी जाने योग्य को मैं प्रयोग करूं । और इसी प्रकार (सर्वाः ओषधीः) सब ओषधियों को मैं (समह्वि) एकत्र करूं, जिससे वे (इतः) इन रोगों से (नः) हमें (पारयात्) मुक्त करें ।

२-(द्वि०) 'पुनश्चराम्' (च०) 'अतो नः पारयानिति' इति पैप्प० सं० ।

१. 'शपथयोपर्नी', 'समभ्योषधीरितो' इति च सायणाभिमतौ पाठौ । 'शपथयावनीं' इत्यत्रपूर्ववर्णलोपश्छान्दसः । 'अंशानां पथैः प्रक्षेपैः गतिविशेषैर्वा यावयति मिश्रयति हिनस्ति रोगान् साशा [अं] शपथयावनी । अथवा सत्यप्रभावेण रोगिणां शपथान् आक्रोशवचनान् आर्त्तिचीत्कारान् यावयति दूरीकरोति इति शपथयावनी ।

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मू॒रमा॑द॒धे ।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु॒ सा ॥ ३ ॥

अथर्व० १ । २८ । ३ ॥

भा०—विषम व्याधि का स्वरूप बतलाते हैं । (या) जो व्याधि (शपनेन) कुवचनों से (शशाप) रोगी को अधिक कुवचन कहलाती है और (या) जो (मूरं) मूर्छाकारी (अघं) न दबने वाले विकार को (आदधे) धारण करती है । (या) जो (रसस्य हरणाय) शरीर का बल नाश करने के लिये (जातम् आरेभे) उत्पन्न बालक को पकड़ लेती है, सम्भव है (सा) वह (तोकम्) तोक=बच्चे को (अत्तु) खा जाय ।

यां ते॑ च॒क्रुरा॒मे पात्रे॒ यां च॒क्रुर्नी॑ललो॒हि॑ते ।
आ॒मे मां॒से कृ॒त्यां यां च॒क्रुस्तया॑ कृत्या॒कृतो॑ जहि ॥ ४ ॥

अथर्व० ५ । ३१ । १ ॥

भा०—रसवती ओषधि के घातक-प्रयोग करने का दण्ड बतलाते हैं— हे राजन् ! (यां) जिस विषम औषध-प्रयोग को (ते) वे औषध तैयार करने वाले लोग (आमे पात्रे) कच्चे मिट्टी के वर्तन में (चक्रुः) तैयार करते हैं और (यां) या जिसको (नीललोहिते) नीले और लाल अर्थात् अधपके पात्र में बनाते हैं और (यां कृत्यां) जिस घातक-प्रयोग को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस अर्थात् ओषधि के गुद्द में या रोगी के उस कच्चे मांस में जिसमें ओषधि का वीर्य सहन करने की सामर्थ्य न हो उसमें (चक्रुः) प्रयोग करते हैं । हे राजन् ! (तया) उस रीति से (तू) उन (कृत्याकृतः) विघातक ओषधि प्रयोग करने वालों को (जहि[1]) मार, उनको दण्ड दे । पारद

३–(तृ० च०) 'यावा रथस्य प्रसारे ह्नतोयमत्वसः' इति पैप्प० सं० ।
४–(द्वि०) 'या सूत्रे नीललोहिते' इति पैप्प० सं० ।

१. शक्यार्थे लोट् ।

आदि रस भस्मों के तैयार करने के लिये कच्चा, अधकचा पात्र नहीं चाहिये पक्का पात्र होना उचित है नहीं तो पुट आदि देने के समय उसका टूट फूट कर हानि पहुंचाना सम्भव है। इसी प्रकार ओषधि तैयार करने के लिये ओषधि का परिपक्व भाग लेना चाहिये। मांस, शब्द से गूदा कहा गया है। कच्चा ओषधि का गूदा ओषधि का नीरस एवं पूर्णवीर्य न होने से अनर्थकारी हो सकता है। या रोगी का वह मांस जो ओषधि का बल न सहसके उस में पिचकारी द्वारा प्रवेश कराने से रोगी की मृत्यु होना सम्भव है।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥

अथर्व० ७ । २३ । १ ॥

भा०—उक्त प्रकार से रस ओषधि तैयार करने से निम्न लिखित प्रकार की व्याधियां दूर हो सकती हैं। हे पुरुष ! (दौः ष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों के आने (दौर्जीवित्यम्) दुःख से जीने, फेंफड़ों में सांस लेने के समय पीड़ा होने आदि रोग को (रक्षः) विघ्नकारी (अभ्वम्) निर्बलताकारी (अराय्यः) देह की कान्ति के विनाशक (दुर्नाम्नीः) बुरे रूप, रंग वाली व्याधियों को और (दुर्वाचः) बदनाम करने वाली पाप व्याधियों को (अस्मत्) हम (नाशयामसि) दूर करें।

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'दुःस्वप्नंदुर्जीवितं' (तृ० च०) 'दुर्वाचः सर्वं दुर्गतमितो नाशयामसि, इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'अभूमराय्य' इति क्वचित्। 'दौर्जीवत्यम्' (च०) 'अस्मिन्' इति सायणाभिमतः।

६–(द्वि०) 'अनपद्यताम्' इति ह्विटनिकामितः। 'अनप-त्यताम्' इति पदच्छेदश्चिन्त्यः।

भा०—उक्त प्रकार की महाव्याधिनाशक ओषधियों के गुणों को दर्शाते हैं—(क्षुधामारम्) भूख के कारण मारने वाला मृत्यु=भस्मकरोग को (तृष्णा-मारम्) तृष्णा के कारण मारने वाले रोग पित्तदाह को (अगोताम्) गौ=इन्द्रियों के भीतर शिथिलता प्राप्त कराने वाले और (अनपत्यताम्) बालक आदि का जन्म न होने देने वाले वन्ध्यात्व, नपुंसकत्व आदि (सर्वं तद्) समस्त रोगों को हे (अपामार्ग) रोग विनाशक ओषधे ! (त्वया) तेरे बल से (वयं अपमृज्महे) हम दूर करते हैं। नाना रोगहारी ओषधियों का 'अपामार्ग' यह पारिभाषिक नाम प्रतीत होता है। 'अपमृज्यते रोगो येन सोऽपामार्गः, अथवा अपमार्जयति इति अपामार्गः।"

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥

भा०—उसी बात को पुनः दृढ़ करते हैं—हे (अपामार्ग) रोगों को दूर करने वाली ओषधे ! (त्वया) तेरे बल से (वयं) हम (तृष्णा-मारं) पियास के रोग को (क्षुधा-मारं) भूख के रोग को और (अक्ष-पराजयम्) इन्द्रिय नाशक रोग को तथा (तत् सर्वं) उसी प्रकार अन्य सब रोगों को (अप मृज्महे) विनाश करते हैं।

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

भा०—अपामार्गः रोगनिवारक ओषधि (सर्वासां ओषधीनाम्) सब ओषधियों में से (एक इत्) एक ही सब से अधिक (वशी) रोगों पर वश करने हारी है (तेन) उससे हे रोगिन् ! (ते) तेरे (आस्थितं)

८–(द्वि०) 'विश्वासामेक इत्पतिः' (तृ०) 'मृज्मास्थित' (च०) 'चरः' इति पैप्प० सं०।

शरीर में बैठे रोग को (मृज्मः) दूर करें और (त्वम् अगदः चर) तू नीरोग होकर विचर, जीवन यापन कर ।

[१८] 'अपामार्ग' विधान का वर्णन ।

शुक्र ऋषिः । अपामार्गो वनस्पतिर्देवता । १–५, ७, ८ अनुष्टुभः, ६ बृहतीगर्भा अनुष्टुप् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती ।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥

भा०—आयुर्वेद दिन रात के समान एक सत्य विद्या है । (सूर्येण समं ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश सूर्य के साथ रहता है । और (रात्रिः) रात्रि भी (अह्ना) दिन के (सम्-वती) साथ ही ज्योतिष्मती रहती है । जिस प्रकार यह सत्य है उसी प्रकार के (सत्यं) सत्य को मैं (ऊतये) प्राणियों की रक्षा के लिये (कृणोमि) किया करता हूं जिससे (कृत्वरीः) सब विनाशकारी विधियां (अरसाः सन्तु) विषैली, घातक न हों, वे निर्बल हो जायँ । सूर्य के प्रकाश की सत्य के साथ उपमा प्रसिद्ध है ।

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥ २ ॥

भा०—वैद्यों के लिये राज नियम का उपदेश करते हैं । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो पुरुष (कृत्या कृत्वा) अपने ओषधि के विषम प्रयोग करके (अविदुषः) अनजान पुरुष के (गृहम्) घर, देह को (हरात्) हर

[१८] १–(प्र०) 'समाभूमिः सूर्येण' (तृ०) 'कृणोमि सभ्यमूतये'
२–(द्वि०) 'कृत्वा आराद् अविदुषो' इति सायणाभिमतः ।

ले, विनाश कर दे तो जिस प्रकार (धारुः वसः) दूध पीने वाला बालक (मातरम् इव) अपनी माता के पास पहुंच जाता है उसी प्रकार उस विषम ओषधि का प्रयोग भी (प्रत्यक्) फिर से लौट कर (तं उपपद्यताम्) उसको ही प्राप्त हो। अर्थात् जो भोले लोगों की जान विषैली ओषधियें धोखे से दे देकर लेले उसको राजा उसी तरह के विष खिलाकर मरवावे।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
अश्मानस्तस्यां दुग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो कोई पुरुष (पाप्मानं कृत्वा) पाप, घातक या विस्फोटक प्रयोग (अमा) किसी के साथ करके, या कच्चे पात्र में करके (तेन) उस से ही (अन्यं) दूसरे पुरुष को (जिघांसति) मार देना चाहता है (तस्यां, उस घातक प्रयोग के (दग्धायां) नष्ट या ज्वलित हो जाने पर (बहुलाः अश्मानः) बहुत से (फट् करिक्रति) पत्थर फट कर उसका स्वयं विनाश करते हैं। अर्थात् पाप कर्मों दूसरों की जान लेने वालों को पत्थरों से मार मार कर प्राण दण्ड हो। अथवा (बहुलाः अश्मानः) बहुत से शिला के समान कठोर जल्लाद उसको बराबर (फट् करिक्रति) ताड़ना किया करें। वेद में 'संगसार' करने का दण्ड अपने पाप कर्म से अन्यों के हिंसा करने वालों के लिये विधान किया गया है।

पं०' ग्रिल ' के मत में—(अमा कृत्वा पाप्मानं) कच्चे मट्टी के बर्तन में 'पाप्मा' विस्फोटक पदार्थ रखकर (यः तेन अन्यं जिघांसति) जो उससे अन्य को मारना चाहता है (तस्यां दग्धायां अश्मानः बहुला. फट्करिक्रति) उसके जलाने पर बहुत से पत्थर के टुकड़े 'फट्' आवाज़ करके फूटते हैं। इस प्रकार विस्फोटक 'बाम्ब' या डिनामाइट् रचने की विधि प्रतीत होती है।

३–(प्र०) ' अमायाम् ' इति ग्रिलकामितः ।

वास्तव में यह प्रति दृष्टान्त है । अर्थात् जिस प्रकार कोई कच्चे बर्त्तन में बारूद रखकर दूसरे पर चलाना चाहे तो वह बारूद आग लगते ही स्वयं फट कर उसको लगती है उसी प्रकार विना दृढ़ यत्न किये दूसरे के ऊपर घातक प्रयोग करने वाले को उसका पाप स्वयं फूटकर उस पर दण्डकारी होता है ।

सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवाञ् छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥

भा०—हे (सहस्र-धामन्) सहस्रों अनन्त कीर्त्ते । राजन् ! (त्वं) तू (वि-शिखान्) विषम-प्रयोगों को करने वाले पुरुषों को (वि-ग्रीवान्) ग्रीवा रहित करके (शायय) सुला दे, शान्त कर दे । और (कृत्यां) जो विषम प्रयोग को (प्रति चक्रुषे) बदला लेने के भाव से करे (प्रियावते प्रिया इव) प्रियतम जैसे प्रियतमा के पास पहुंच जाय । उसी प्रकार उसकी वह अनर्थकारी हरकत उस के पास ही (हर) पहुंचा । उसी से उस को दण्डित कर ।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

भा०—(अनया) इस प्रकार की इस (ओषध्या) दुष्टों की दुष्टता को जलाने वाली रीति से मैं (सर्वाः कृत्याः) सब प्रकार की उन अनर्थकारी घातक क्रियाओं को (अदूदुषम्) विनाश करूं । (यां) जिनको लोग (क्षेत्रे) खेतों में (गोषु) गौओं में (यां वा ते) या जिन को तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) दुष्ट लोग प्रयोग करते हैं ।

४–(प्र०) 'विशिखाम्' (द्वि०) 'क्षामय' इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ० च०) 'गोभ्यः' 'पुरुषेभ्यः' इति पैप्प० सं० । 'यां, वाते' इति सायणाभिमतः ।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

अथर्व० ५ । ३१ । ११ ॥

भा०—(यः चकार) जो बुरा काम करने का यत्न करता है परन्तु (न. कर्तुं शशाक) कर न सके (अंगुरिम्, पादं) अपने ही अंगुलियों, या हाथ पैर को (शश्रे) तोड़ लेता है । इस प्रकार वह (अस्मभ्यं) हमारे लिये तो (भद्रं चकार) ठीक ही करता है कि कर न सका पर तो भी (सः) वह (आत्मने) अपने लिये (तपनं चकार) पीड़ा प्राप्त करने का या पछताने का ही कार्य करता है ।

अपामार्गोऽप मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः ।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (क्षेत्रियं) माता पिता के देह से उत्पन्न या राष्ट्र में उत्पन्न होने वाली व्याधि और चोर भय को और (यः च) जो (शपथः) परस्पर निन्दा कलह को (अपमार्ष्टु) दूर कर दे वही उपाय (अपामार्गः) 'अपामार्ग' नाम से कहा जाता है क्योंकि वह (सर्वाः) सब प्रकार के (यातुधानीः) पीड़ाकारिणी और (अराय्यः) राष्ट्र की लक्ष्मी की नाशक चालों, प्रगतियों (Movements) को (अपाह) दूर कर देता है ।

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

६—(प्र० द्वि०) 'यश्चकार न शशाक शशिरे पादमङ्गुलिम्' (तृ०) 'यांचकार' इति पैप्प० सं० ।

७—(तृ०) 'यातुधान्यः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अपामार्ग) राष्ट्र के संकटदायक, कण्टकस्वरूप, विघ्नकारियों को दूर करने हारे अपामार्ग नामक विभाग ! (त्वया) तुझ से (वयं) हम (सर्वं तद्) वह सब कुछ (अप मृज्महे) दूर करते हैं। और (यातुधानान्) पीड़ाकारी पुरुषों को (अपमृज्य) दूर करें और (सर्वाः अराय्यः) सब प्रकार की अलक्ष्मी या इल्लतों, बलाओं, राष्ट्र के साथ चिपटी कलङ्क रीतियों को (अप) अपामार्ग विधि से दूर करें।

वेद का यह अपामार्ग विधान अर्थशास्त्र के 'कण्टकशोधन' प्रकरण के समान समझना चाहिये।

---

[१९] अपामार्ग-विधान का वर्णन।

शुक्र ऋषिः। अपामार्गो वनस्पतिर्देवता। २ पथ्यापंक्तिः, १, ३–८ अनुष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

उतो अ॒स्यब॑न्धु॒कृदु॒तो अ॑सि॒ नु जा॑मि॒कृत्।
उतो कृ॑त्या॒कृत॑: प्र॒जां न॒डमि॒वा च्छि॑न्धि॒ वार्षि॑कम् ॥ १ ॥

भा०—अपामार्ग विधान को और भी स्पष्ट करते हैं। हे अपामार्ग ! राष्ट्र के अपकारियों के नाशकारी विधान ! (उत) चाहे तू (अबन्धु-कृत्) उन दुष्ट पुरुषों को राजा का अबन्धु=शत्रु बनाने वाला है और (उतो नु जामि-कृत् असि) चाहे उनको राजा का मित्र बना देता है अथवा (उतो अबन्धु-कृत् असि) हे अपामार्ग विधान ! तू शत्रुओं का नाशक है और (उतो नु जामि-कृत् असि) तू सहज शत्रुओं का भी विनाशक है। (उतो) और तो भी (कृत्या-कृतः) गुप्त पर घात करने हारे पुरुषों की

---

[१९] १–'उतेतास्य' इति पैप्प० सं०।

(प्र-जाम्) आगे आने वाली सन्तति को (वार्षिकम् नडम्-इव) वर्षा-कालमें पैदा हुए नड=तृण के समान (आ च्छिन्धि) काट ही डालता है। कण्टक शोधन के विधान करने पर बहुत से राजा के शत्रु हो जाते हैं और बहुत से मित्र हो जाते हैं तो भी उसके प्रयोग से और अधिक अनर्थकारी लोगों के षड्यन्त्र होने बन्द हो जाते हैं।

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥२॥

भा०—अपामार्ग विधान की उत्पत्ति को स्पष्ट करते हैं। हे अपामार्ग विधानस्वरूप ओषधे! अनर्थकारियों के संतापकारक उपाय! (नार्षदेन= नार-सदेन) नर नेता लोगों की परिषद् में बैठने वाले (कण्वेन) विद्वान् मेधावी (ब्राह्मणेन) ब्रह्मवेत्ता पुरुष ने (परि-उक्ता[1] असि) तेरा सब प्रकारों से विवेचन करके परिवचन या प्रयोग किया है। इसलिये तू (त्विषि-मती) बलवती, कान्तिमती, चमचमाती उत्तम रूप वाली (सेना-इव) सेना के समान (एषि) राष्ट्र में आती है। और (यत्र प्र-आप्नोषि) जहां प्राप्त हो जाती है (तत्र भयम् न अस्ति) वहां भय नहीं रहता।

यह वह शस्त्र हथियार-बन्द पुलिस का विभाग है जो दंगों को, बलवैयों और लुटेरों-चोरों-डाकुओं को नाश करने के लिये नियत किया जाता है। उस विधान को राजसभा के विद्वान् लोग सब प्रकार के पहलुओं से विचार करके प्रयोग और व्यवस्था करें। वनस्पति के पक्ष में अपमार्ग का प्रयोग, ब्राह्मण, यष्टि, कण्व और नार्षद नामक औषध के साथ मिला कर प्रयोग करने से गुणकारी होता है।

२—(प्र०) 'परियुक्तोऽसि' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'त्विषी। मते' इति सायणाभिमतः पदपाठः।

१. 'प्रयुक्ता' इति ह्विटनिकामितानुमितः।

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् ।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥ ३ ॥

भा०—हे अपामार्ग नामक विधान ! (ज्योतिषा) तेज से (अभिदीपयन्) प्रकाशमान सूर्य जिस प्रकार सब तेजस्वी पिण्डों में सबसे अधिक तेजस्वी है उसी प्रकार यह विधान भी तेजस्वी, प्रकट होने से सब (ओषधीनां) तापदायक, उपायों में (अग्रम्) सब से प्रथम, श्रेष्ठ (एषि) होता है। (उत) और (पाकस्य [1] त्रातासि) पाक-परिपक्व करने योग्य निर्बलों की रक्षा करने और (रक्षसः) विघ्न करने वाले का (हन्ता असि) विनाश करने वाला है। ओषधि पक्ष में—ओषधि जठर में अपक्व अन्न को पचाता और पाचन अग्नि की रक्षा करता और बलनाशक रोगों का नाशक है।

यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत ।
ततस्त्वमध्योषध्यपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अदः) उस उत्तम राष्ट्र में (देवाः) विद्वान् पुरुष (अग्रे) पूर्वकाल में (त्वया) हे अपामार्ग विधान ! तेरे बल से ही (असुरान्) असुर लोगों को (निः-अकुर्वत) पराजित कर सके (ततः) इस कारण ही हे ओषधे ! हे तापकारिन् (त्वम्) तू (अपामार्गः) 'अपामार्ग' नाम से (अधि अजायथाः) प्रसिद्ध है।

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।
प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥ ५ ॥

३—'उतपाकस्य त्रातासि'।

१. पक्तव्यप्रशस्य दुर्बलस्येति सायणः ।

४—(द्वि०) 'निर कृण्वत' (तृ०) 'तस्माद्वित्वमोषधे अपा' इति पैप्प० सं० ।

५—'प्रत्यग् भिन्धा' इति सायणाभिमतः ।

भा०—शत्रु के नाश के लिये 'अपामार्ग-विधान' में 'भेद' उपाय का निरूपण करते हैं—हे अपामार्ग नाम विधान! तू (शतशाखा) सैकड़ों शाखा वाला होकर (विभिन्दती) शत्रुओं में फोड़ डाला करता है इसलिये (ते पिता) तेरा परिपालक राजा स्वयं (विभिन्दन्) शत्रु पक्ष में फूट डालने हारा होने से 'भेद'कारी है। अतः (त्वं) तू भी (ते) उसको (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) दास बनाना या प्रत्यक्ष रूप से या विरोध से विनाश करना चाहता है उसको (प्रत्यक्) प्रबलता से (विभिन्धि) नाना प्रकार से फोड़ डाल।

असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥

भा०—(असत्) दुष्ट कार्य (भूम्याः समभवत्) भूमि से भी (समभवत्) उत्पन्न हो (महद् व्यचः) और वह बड़े भारी रूप में फैल कर (तद् द्याम् एति) चाहे आकाश तक ऊंचा हो जाये (तत् वै) तो भी वह निश्चय से (ततः) वहां से (कर्त्तारम् विधूपायत्) करने वाले कर्त्ता को ही नाना प्रकार से संताप देता हुआ (प्रत्यक् ऋच्छतु) फिर उसी पर आ पड़ता है। अर्थात् कोई बुरा काम कहीं से उठे वह एक न एक समय पुनः राज-दण्ड या ईश्वरीय दण्ड द्वारा पुनः उसी पर दण्ड के रूप में आता है।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ मनु० ॥

प्रत्यङ् हि सम्बभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम्।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥ ७ ॥

अथर्व० ७। ६५। १ ॥

६–'तत्। याम्' इति पदपाठश्चिन्त्यः। 'तत्। द्याम्' इति साधुः।
७–(तृ० च०) 'प्रतिच्छ्या अमूं कृत्या कृतं जहि' इति पैप्प० सं०।

भा०—'अपामार्ग-विधान' की 'अपामार्ग' ओषधि से तुलना करते हैं। जिस प्रकार अपामार्ग के फल उसकी दण्डी पर उलटे लगे रहते हैं उसी प्रकार हे अपामार्ग विधान ! (त्वं प्रतीचीनफलः) तू प्रतीचीन=उलटे फलों वाला है अर्थात् प्रथमः दुःख-कर और फिर फल में सुख-कर ही होता है। अतः क्योंकि तू (प्रत्यङ् सम्बभूविथ) जिन पर अपामार्ग विधान का प्रयोग किया जाता है उनके प्रति प्रत्यङ्=प्रतिकूल होकर प्रयुक्त होता है इस कारण (सर्वान्) सब (मत् शपथान्) मेरे प्रति उठने वाले निन्दात्मक वचनों को (यवय) विनाश कर और (वरीयः) अधिक से अधिक उठने वाले (वधम्) हथियारों को भी (अधि यवय) दबा कर नष्ट करदे। अपामार्ग-विधान से राजा अपने निन्दकों और हत्याकारी प्राण विरोधियों को भी दबावे। बल्कि प्रथम विरोध और निन्दा उठने पर भी सत्फलों को देख कर लोग पुनः राजा का गुणानुवाद ही करते हैं।

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा।
इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥ ८ ॥

भा०—हे (वीरुधां पते) नाना प्रकार से शत्रुओं को रोकने वाली सेनाओं और दण्डधाराओं के परिपालक पूर्वोक्त 'अपामार्ग' कण्टक शोधन करने में समर्थ दण्ड-विधान तू (उग्रः) उग्रस्वभाव होकर (ते) तेरे (ओज्मानम्) ओजः, तेज, रोब, प्रजाओं पर विशेष दबदबे को (इन्द्रः) राजा (आदधत्) धारण करे और तू (मां) मुझ राष्ट्र को (शतेन) सौ प्रकार से, सैकड़ों प्रकारों से (परि पाहि) परिपालन कर और (सहस्रेण) सहस्रों उपायों से (मा अभिरक्ष) मुझे सुरक्षित रख। प्रजा के भीतरी प्रमाद और और निर्बलताओं से और बाहर के आक्रमणों और दुर्घटनाओं से राजा अपने कानूनी बल से समर्थ होकर राष्ट्र की रक्षा करे।

८-(च०) 'भद्रोज्मानमादधुः' इति पैप्प० सं०।

[२०] दर्शन शक्ति का वर्णन ।

मातृनामा ऋषिः । मातृनामा देवता । १ स्वराट्, २–८ अनुष्टुभः, ९ भुरिक् । नवर्चं सूक्तम् ॥

आ पंश्यति प्रति पश्यति परां पश्यति पश्यति ।
दिवमन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद् देवि पश्यति ॥ १ ॥

भा०—दृक् शक्ति का वर्णन करते हैं । हे देवि ! हे दृक् शक्ते ! तेरे सामर्थ्य से (आ पश्यति) यह पुरुष सब ओर देखता है (प्रति पश्यति) और प्रत्येक पदार्थ को देखता है (परा पश्यति) दूर के पदार्थों को भी देखता है । (दिवम्) द्यौः, सूर्य (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायुस्थान, और (आत्) और उससे उतर कर (भूमिम्) इस भूमि, स्थूल पदार्थ (तत् सर्वं) उस सब को (पश्यति) दर्शन करता है । अध्यात्म ज्ञानी दृक् शक्ति के द्वारा सब ओर, समीप और दूर के सब पदार्थों को देख कर प्रथम तृण से लेके पृथिवी, वायु, आकाश और पांचों तत्वों को जान कर पुनः ब्रह्म का भी ज्ञान कर लेता है ।

इस दृक्शक्ति रूप आत्मा का वर्णन देखो योग-दर्शन अ० २ । सू० २७ ।

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथंक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥

भा०—(तिस्रः दिवः) तीन द्यौः, प्रकाशमय ऊर्ध्वगति रूप दिव्य लोकों को, और (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियों को—भूमियों को और

[२०] १–' पश्यसि ' इति सर्वत्र, पैप्प० सं० ।
२–' प्रदिशो महीः ' (तृ० च०) ' तथाहं सर्वा पातृणा पश्यामि देव्योषधे ' इति पैप्प० सं० ।

(षट् च) छः (इमाः प्र-दिशः) इन प्रदिशाओं को और (सर्वा भूतानि) समस्त प्राणियों को हे देवि ! हे ओषधे ! तेज को धारण करने हारी तेजस्विनि ! (त्वया) तेरे सामर्थ्य से (अहं) मैं (पश्यानि) देखूं ।

दिव्यस्य॑ सुप॒र्णस्य॒ तस्य॑ हासि क॒नीनि॑का ।
सा भूमि॒मा रु॑रोहिथ व॒ह्यं श्रा॒न्ता व॒धूरि॑व ॥ ३ ॥

भा०—दृक्शक्ति की इस शरीर और अन्तःकरण में स्थिति का उपदेश करते हैं । हे देवि ! दृक्शक्ते ! आत्मन् चिते ! (दिव्यस्य सु-पर्णस्य कनीनिका) आकाशगामी बाज की पुतली या आंख जिस प्रकार दूर से भूमि पर ही पड़ती है उसी प्रकार (तस्य) उस (दिव्यस्य) प्रकाशस्वरूप, दिव्य गुणों से युक्त ज्ञानी (सुपर्णस्य) उत्तम पालन, एवं ज्ञानों से युक्त आत्मा की (कनीनिका) कन्या, छोटी पुत्री के समान उसी की स्वल्प आकृति तू (ह असि) निश्चय से है (सा) वह दृक्शक्ति ही तू (भूमिम्) उस अन्तःकरण की विक्षिप्त आदि अवस्था-भूमि पर (रुरोहिथ) इस प्रकार चढ़ती या आरोहण करती है जिस प्रकार (वधूः-इव) नववधू (श्रान्ता) थक कर (वह्यं) यान करने के साधन रथ पर चढ़ बैठती है । आत्मपक्ष में वह्य=चित्त ।

तां मे॑ स॒हस्रा॒क्षो दे॒वो दक्षि॑णे॒ हस्त॒ आ द॑धत् ।
तया॒हं सर्वं॑ पश्यामि॒ यश्च॑ शू॒द्र उ॒तार्यः॑ ॥ ४ ॥

भा०—(सहस्र-अक्षः) सहस्र चक्षुओं वाले (देवः) परमात्मा, सर्वज्ञ सर्वप्रकाशक, सर्वद्रष्टा ने (तां) उस दृक्-शक्ति चेतना को (मे) मेरे (दक्षिणे हस्ते) दायें हाथ में (आदधत्) स्थापन किया है । (तया) उस के सामर्थ्य से (अहं) मैं (सर्वं) सब को (पश्यामि) देखता हूं (यः च)

४–(तृ० च०) 'ततोहं सर्वं पश्याम्यद्भुतं यच्च भव्यम्' इति पैप्प० सं० ।

चाहे जो (शूद्रः) शूद्र हो (उत आर्यः) और चाहे जो आर्य, श्रेष्ठ पुरुष हो । यह वह विवेक शक्ति है जो प्रत्येक पुरुष में दक्षिण हाथ=अर्थात् सत्पक्ष में रहती है जिससे वह आर्य और शूद्र का उत्तम, मध्यम पुण्य और पाप का विवेक करता है ।

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥

भा०—हे देवि ! दृक्-शक्ते ! चेतने ! तू (रूपाणि) नाना प्रकार के रूपों को, (आविष्कृणुष्व) प्रकट कर (आत्मानम्) अपने को (मा अप-गूहथाः) हम से मत छिपा । (अथो) और हे (सहस्रचक्षो !) सहस्र शक्ति-रूप नयनों से युक्त (त्वं) तू (किमीदिनः) अब क्या, अब क्या इस प्रकार भूखी प्यासी विषय लोलुप इन्द्रियों और मन, वासनाओं को भी (प्रति पश्याः) देखती है ।

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

भा०—हे देवि ! दृक्-शक्ते ! ओषधे ! (मा) मुझ को (यातु-धानान् दर्शय) अन्तरात्मा में पीड़ा पहुंचाने वाले क्रोध, काम, लोभ आदि दुष्ट भावों का दर्शन करा । और (यातु-धान्यः) पीड़ादायक मानस दुःप्रवृत्तियों का भी (दर्शय) साक्षात् करा । और (सर्वान् पिशाचान्) सब मांस=विषय, भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने वाले विषय लोलुप इन्द्रियों का साक्षात् (दर्शय) दर्शन करा (इति) इसी प्रयोजन से हे (ओषधे) दुःख, पापों के दाह

५–(तृ०) 'एवा सहस्र' (च०) 'पश्याम्यायत' इति पैप्प० सं० ।
६–(तृ० च०) 'अपस्पृगेव तिष्ठन्तं दर्शय मां किमीदिनम्' इति पैप्प० सं० ।

करने वाले ज्ञान को धारण करने वाली विवेक-ख्याते ! (त्वा) तेरी (रभे) में उपासना करके तुझे ही साक्षात् प्राप्त करता हूं ।

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

भा०—हे देवि ! दृक् शक्ते ! (कश्यपस्य) कश्य—ज्ञान का पान करने हारे तत्वद्रष्टा ज्ञानी योगी की तू (चक्षुः असि) आंख है । (च, और (चतुः-अक्ष्याः) चार आंख वाली-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द इन चार प्रमाणों या चार वेदों से दर्शन करने वाली (शुन्याः) शुनी, प्रमा या वेद वाणी या चित्तिशक्ति की भी तू आंख है । (वीध्रे) आकाश में (सर्पन्तं) गति करते हुए (सूर्यम्-इव) सूर्य को जिस प्रकार कोई नहीं छिपा सकता उसी प्रकार (वीध्रे [1] सर्पन्तं) स्वभावतः शुद्ध अपने रूप में या ब्रह्म में गति करने हारे (पिशाचं) भोग्य विषयों के भोगने वाले या देह को प्राप्त, रूप में छिपे इस आत्मा को (मा तिरः करः) मत छिपने दे । अज्ञान से आवृत मत होने दे ।

उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम् ।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥

भा०—(किमीदिनं) अब क्या भोग करूं, अब क्या भोग करूं इस प्रकार विषयलोलुप (यातुधानं) परिणाम में विषम फल, कष्ट पीड़ा उत्पन्न करने हारे विषयाभिलाषी चित्त को मैं (परि-पानाद्) चारों ओर की रक्षा से अथवा चारों ओर के विषय रसों के ग्रहण करने से (उद्-अग्रभम्)

७–(प्र० द्वि०) 'कश्यपस्य चतुरक्षः श्यन्त्याश्चतुरक्षा' ।

१. वा विन्धेरित्यौणादिकोरक् (उणा० २ । २६) विशेषेणेन्धते दीप्यते तद्वीध्रम् । स्वभावशुद्धः । इति दयानन्दः औणादिव्याख्यायाम् । विविधम् इन्धते ।

८–(प्र० द्वि०) 'परिपाणं यातुधानात् किमीदिनः' इति पैप्प० सं० ।

ऊपर ही थामलूं, उसको विषयों में जाने से रोक लूं । तब (तेन) उस संयत, विषयों से निरुद्ध, एकाग्र चित्त से (सर्वं) समस्त (आर्यं) श्रेष्ठ, स्वामि गुणों से युक्त सब के स्वामी, आत्मा (उत) और (शूद्रम्) उसके सेवा करने वाले इन्द्रिय गण को (पश्यामि) साक्षात् करूं । विषयों से हटाकर, चित्त को एकाग्र करके इन्द्रिय और स्वामी आत्मा का पृथक् २ ज्ञान कर लेना चाहिये ।

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (अन्तरिक्षेण) मध्य आकाश में वायु रूप से और शरीर के मध्य में प्राणरूप से (पतति) गति करता है और (यः च) जो (दिवम्) द्यौः=नक्षत्रादि परिभ्रमण करने के स्थान, बृहत् आकाश में और शरीर में मूर्धा भाग में (अति-सर्पति) समस्त लोकों और इन्द्रियों को पार कर के विराजमान है और (यः) जो (भूमिं) इस पृथिवी का और शरीर में चित्त और देह-भूमि का अपने आपको (नाथं) स्वामी (मन्यते) मानता है (तं) उस (पिशाचं) पिश-भोग्य पदार्थ, दृश्य संसार को अपने भीतर लेने, उसमें व्याप्त होने वाले परमात्मा और इस देहरूप मांसपिण्ड में व्यापक एवं भोग्य पदार्थों के भोक्ता जीव का (प्रदर्शय) हे देवि दृक्-शक्ते ! तू हमें दर्शन करा । "द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।" योगसूत्र २ । २० । "तदर्थ एव दृश्यस्य आत्मा" । यो० सू० २ । २१ । इन पर व्यासभाष्य देखने से यह विषय स्पष्ट हो जाता है ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, ऋचश्च द्वाचत्वारिंशत् ।]

९–'यश्चाधिसर्पति' इति सायणसम्मतः । (द्वि०) 'भोमिश्चोपसर्पति' (तृ०) 'दिवं यो' इति पैप्प० सं० ।

[२१] गो-कीर्त्तन ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौर्देवता । २-४ जगत्यः, १, ५-७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ।

आ गावो॑ अग्मन्नुत भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ १ ॥

ऋ० ७ । २८ । १ ॥

भा०—गौओं और इन्द्र के दृष्टान्त से आत्मा इन्द्रियों के रहस्य का उपदेश करते हैं । (गावः) गौएं जिस प्रकार आती हैं, सुख देती हैं, गोशाला में रहती हैं, प्रजाएं उत्पन्न करती हैं और स्वामी के लिये प्रति दिन प्रातःकाल दूध देती हैं उसी प्रकार (गावः) ये ज्ञान करने हारी इन्द्रियां (अग्मन्) ज्ञान योग्य विषयों के प्रति जाकर पुनः आत्मा के प्रति लौट आवें (उत) और (भद्रम्) सुख को (अक्रन्) उत्पन्न करें । वे (गोष्ठे) गोशाला के समान इन्द्रियों के निवासस्थान इस देह में (सीदन्तु) विराजमान हों और (अस्मे) हमें (रणयन्तु) आनन्दित करें । जिस प्रकार (प्रजा-वतीः) बछड़ों आदि प्रजाओं से सहित (पुरुरूपाः) नाना प्रकार की गौएं गोशाला में वृद्धि पाती हैं उसी प्रकार ये (पुरु-रूपाः) और ज्ञान को पालन पूरण करने वाली इन्द्रियां (प्रजावतीः) प्रकृष्ट ज्ञान युक्त होकर अथवा उत्तम ज्ञानोत्पादक होकर (इह) इस देह में (पूर्वीः उषस) पूर्व २ उषा कालों में तो (इन्द्राय) इस स्वामि रूप समृद्ध ऐश्वर्यशील आत्मा के लिये (दुहानाः) ज्ञान रस का दोहन करने वाली (स्युः) रहें ।

इन्द्रो॒ यज्व॑ने गृण॒ते च॑ शिक्षत॒ उपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥२॥

ऋ० ६ । २८ । २ ॥

[२१] १–ऋग्वेदे भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः । गावो देवताः ।

२–(प्र०) ' पृणते च शिक्षति '

भा०—(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशील परमात्मा (यज्वने) यज्ञ याग करने एवं देवार्चना करने और (गृणते) देव की यथार्थ स्तुति करने और ज्ञानोपदेश करने वाले पुरुष को (शिक्षते) उत्तम २ ज्ञानों का उपदेश करता है । और (उप ददाति इत्) उस के समीप आकर बहुत कुछ दान करता है (स्वं) और उस के निज 'स्व' धन या स्वरूप को भी (न मुषायति) नहीं अपहरण करता । प्रत्युत (अस्य) इस आत्मा के (रयिम्) वीर्य, बल सामर्थ्य को (भूयः-भूयः) बराबर अधिकाधिक (वर्धयन् इत्) बढ़ाता हुआ ही उस (देव-युम्) देव परमेश्वर की कामना करने हारे, ईश्वर भक्त, मग्न पुरुष के (अभिन्ने) अपने से अभिन्न (खिल्ये) रूप, आनन्द रस जहां काम क्रोध से आत्मा को पीड़ा न पहुंच सके ऐसे अभय रूप में (नि दधाति) उसे सुरक्षित रखता है । "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (यो० सू० १ । ३)

न ता न॑शन्ति॒ न द॑भाति॒ तस्क॑रो॒ नासा॑मामि॒त्रो व्यथि॒रा द॑धर्षति ।
दे॒वाँश्च॒ याभि॒र्यज॑ते॒ ददा॑ति च॒ ज्योगित् ताभिः॑ सचते॒ गोप॑तिः स॒ह ॥३॥

ऋ० ७ । २८ । ३ ॥

भा०—योगी के दीर्घ जीवन का उपदेश करते हैं । (ताः) उस योगी की गोरूप इन्द्रियां (न नशन्ति) नहीं नष्ट होतीं, (तस्करः) अपहरण करने वाला चोर मृत्यु भी (न दभाति) उन योगज बल से युक्त गौ=इन्द्रिय सामर्थ्यों को पीड़ित नहीं करता । (आसाम् अमित्रः) इनको पीड़ा देने वाला शत्रु रूप (व्यथिः) व्यथादायी रोग भी (न आदधर्षति) उन पर अपना ज़ोर नहीं दिखाता । (याभिः) जिन इन्द्रियों के सामर्थ्यों से (देवान्) देवों इन इन्द्रियों के दिव्य सामर्थ्यों की (यजते) साधना करता या

३–'नैना अमित्रो' इति तै० ब्रा० । (प्र०) 'न ता नशन् ता न दभाति' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

संगति करता और (ददाति च) सत्पात्र में दान करता है वह (गोपतिः) गो=इन्द्रियों का परिपालक जितेन्द्रिय पुरुष (ताभिः सह) उनके साथ ही (सचते) सदा बना रहता है । अर्थात् जिन इन्द्रियों से योगी साधना करता है वे मोक्ष में बराबर बनी रहती हैं उन का नाश नहीं होता वहां जरा, मृत्यु भी नहीं और न रोग है ।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वा अशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥
(क० उप० १ । १२)

न ता अर्वा रेणुककाटोश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥४॥

ऋ० ७ । २८ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (ताः) उन गौवों को (अर्वा) हिंसक (रेणुककाटः) पैरों से धूल उछालने वाला, हिंसक जीव लकड़बग्धा या कसाई (न अश्नुते) खा नहीं सकता और (ताः अभि) वे (संस्कृतत्रम् न उप अभियन्ति) मांस पाचक पुरुष के पास भी नहीं पहुंचती । प्रत्युत (यज्वनः मर्तस्य) यज्ञशील मनुष्य के (उरुगायम्) विशाल (अभयम् अनु निचरन्ति) निर्भय शरण में विचरती हैं । उसी प्रकार (यज्वनः मर्तस्य तस्य) प्राणापानमय यज्ञ करने हारे साधक पुरुष के (ताः) उन शक्तियों पर (रेणुककाटः) समस्त संसार को तोड़ फोड़ कर रजो रूप में बदल देने वाला प्रलयकारी यम भी (न अश्नुत) उन तक नहीं पहुंचता, उसका विनाश नहीं करता । और (ताः) वे शक्तियाँ (संस्कृतत्रम् उप) इस रचना संस्कार को प्राप्त, संसार को पालन करने वाले या सब संसार को परिपाक करने वाले दण्डधर यम

४-(प्र०) 'रेणुककाटो अश्नुते' इति ऋ० । 'अश्नुते' (तृ०) 'मर्त्यस्य' इति च क्वचित् ।

के समीप भी (न उपयन्ति) नहीं जाती, प्रत्युत (तस्य) उस परम परमेश्वर के (उरु गायम्) समस्त, विश्वव्यापी. महान् (अभयम् अनु) निर्भय शरण में प्राप्त होकर (वि चरन्ति) कामनानुसार विचरण करती हैं। यह जीवनमुक्त दशा का वर्णन है।

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥५॥

ऋ० ७ । ५८ । ५ ॥

भा०—गौओं के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार लोक में गौएं ही ऐश्वर्य हैं उसी प्रकार (गावः) ये विषयों तक पहुंचने वाली इन्द्रियां ही (भगः) उस आत्मा की ऐश्वर्य हैं (इन्द्रः) उस ऐश्वर्यशील प्रभु परमात्मा ने (मे) मेरे लिये भी (इच्छाद्) देने योग्य पदार्थ देना चाहा। वह (गावः) ये गौवों के गोरस जिस प्रकार सोम में मिलाने लायक द्रव्य हैं उसी प्रकार ये इन्द्रियों के रस ही (प्रथमस्य सोमस्य) श्रेष्ठ सोम=शमदम आदि गुणसम्पन्न आत्मा के (भक्षः) भोग्य पदार्थ हैं। हे (जनासः) मनुष्यो ! (इमाः याः गावः) ये जो गौएं हैं, ये जो इन्द्रियों के सामर्थ्य रूप हैं (सः इन्द्रः) वही इन्द्र=आत्मा है। (हृदा) हृदय से और (मनसा) मननशील बुद्धि से भी उसी (इन्द्रम् चित्) पूज्य इन्द्र=आत्मा को मैं (इच्छामि) प्राप्त करना चाहता हूं।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥

भा०—गौओं के दूध के गुणों का उपदेश करते हैं। हे (गावः) गौओ (यूयं) तुम (कृशं) कृश निर्बल, दुबले पतले आदमी को (मेदयथा)

५–(द्वि०) 'इन्द्रो मे अच्छान्' 'इच्छामीहृदा' इति ऋ० ।
६–(द्वि०) 'कृशं चिदश्रीलम्' इति तै० मा० ।

मोटा कर देती हो। और (अश्रीरं चित्) कुरूप, शोभा रहित पुरुष को (सुप्रतीकं) सुन्दर, दर्शनीय (कृणुथाः) कर देती हो। हे (भद्रवाचः) कल्याण और सुखदायी वाणी को बोलने वाली गौओ! तुम लोग (गृहं) घर को भी (भद्रं कृणुत) सुखकारी बनाती हो। (वः) तुम्हारी (वयः) क्षीर, दधि आदि अन्न—भोज्य पदार्थ की प्रशंसा (सभासु) सभाओं में (उच्यते) की जाती है। उसी प्रकार ये इन्द्रियां सूक्ष्म अणु आत्मा को स्थूल करती हैं, अरूप को सरूप करतीं और भद्रवाणियां उच्चारण करती हुई इस गृहरूप देह को सुखकारी बनातीं और इनके ग्राह्य विषयों को सभाओं में नाना प्रकार से वर्णन किया जाता है।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ ७ ॥

भा०—(सुयवसे) उत्तम तृण आदि चारा से युक्त देश में (रुशन्तीः) शोभा देती हुई, तृणादि खाती हुई (प्रजा-वतीः) प्रजा सन्तति से युक्त (सु-प्रपाणे) उत्तम जल पान करने के स्थान में (शुद्धाः अपः) शुद्ध जलों का (पिबन्तीः) पान करती हुई (वः) तुम गौओं को (स्तेनः) चोर (मा ईशत) न चुरा ले और (अघ-शंसः) पापकर्मा, पापी पुरुष भी तुम पर वश न करे। (वः) तुम्हारी (रुद्रस्य हेतिः) रुद्र परमेश्वर का या पशुपालक का (हेतिः) आयुध, वज्र सदा (परि वृणक्तु) सब ओर से रक्षा करे और चोरों और कसाइयों का वारण करे। या विद्युत् आदि दैवी पीड़ाएं उनको न सतावें।

अध्यात्म पक्ष में—सुयवस=भोग्य विषय में विचरती एवं आनन्द स्थलों में शुद्ध रसों को प्राप्त करती हुई, इन सन्तान युक्त इन्द्रियों पर स्तेन=

७–' सुयवसं रिपन्ती ' (च०) ' हेती रुद्रस्य वृज्याः ' इति ऋ० ।

चोर काम, अघशंस=क्रोध वश न करें। रुद्ररूप परमेश्वर की दण्ड-व्यवस्था से भय खाकर वे पाप वृत्तियों से सदा दूर रहें।

[२२] राजा का स्थापन।

वसिष्ठोऽथर्वा वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। १—७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु॥१॥

भा०—राजधर्मों का उपदेश करते हैं। हे (इन्द्र) सेनापते! या (मे) मेरे (इमम्) इस (क्षत्रियम्) क्षत्रिय धर्म से युक्त पुरुष को (वर्धय) और अधिक बढ़ा, पुष्ट कर और (इमं) इसको (विशाम्) प्रजाओं में (एक-वृषं) एकमात्र सब से श्रेष्ठ सभापति रूप में (त्वं) तू (कृणु) बनाले। और (अस्य) इसके (सर्वान्) समस्त (अमित्रान्) शत्रुओं को (निर्-अक्ष्णुहि) सर्वथा विनष्ट कर दे। और (तान् सर्वान्) उन सब को (अहम्-उत्तरेषु[1] अस्मै रन्धय) मैं बड़ा २ इस प्रकार के परस्पर के संघर्षों में इसके अधीन कर।

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै॥२॥

[२२] १—(द्वि०) 'वृषामेकवृषं' इति सायणाभिमतः (प्र०) 'क्षत्रियाणाम्' इति तै० ब्रा०।

१. 'अहम्-उत्तरेषु' इत्येकपदं पदपाठे। सायणमते तु, 'अहम्। उत्तरेषु' इति पदद्वयम्।

२—(तृ०) 'वर्ष्मन् क्षत्राणां' (प्र०) 'इमाम् आभज' (द्वि०) 'निरमुं भज' इति पैप्प० सं०। (च०) 'शत्रून् रन्धय' इति क्वचित्।

भा०—हे इन्द ! (इमं) इस राजा होने योग्य क्षत्रिय को (ग्रामे) ग्रामों में, जनसमूहों में (आ भज) सब का प्रिय बना दे । और (अश्वेषु गोषु) अश्वों में और गौओं में अर्थात् घुड़सवारों और गोपालकों में भी प्रिय बना, (यः, अस्य अमित्रः) जो इसका शत्रु है (तं निर्भज) उसको ग्राम आदि पदार्थों से पृथक् कर दे । (क्षत्राणाम्) क्षत्रियों और राष्ट्रों के (वर्ष्मे) देह–साम्राज्य में (अयम्) यह (राजा अस्तु) सब का राजा, सब के चित्त का अनुरंजन करने वाला हो । और (अस्मै) इसके (सर्वं) सब (शत्रुं) शत्रुओं को (रन्धय) इसके अधीन कर ।

अ॒यम॑स्तु॒ धन॑पति॒र्धना॑नाम॒यं वि॒शां वि॒श्पति॑रस्तु॒ राजा॑ ।
अ॒स्मिन्नि॑न्द्र॒ महि॒ वर्चां॑सि धेह्यव॒र्चसं॑ कृणुहि॒ शत्रु॑मस्य ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह क्षत्रिय (धनानाम्) नाना प्रकार के सुवर्ण, रजत, मुक्ता, मणि, प्रवाल, धनों का (धन-पति !) कुबेर के समान स्वामी (अस्तु) हो । और (अयम् राजा) यह सब का अनुरंजन करने हारा सब में अधिक प्रकाशमान होकर (विशाम्) सब प्रजाओं का (विश्पतिः) प्रजापति, स्वामी (अस्तु) हो । हे (इन्द्र) सेनापते ! बलपते ! ऐश्वर्यवन् ! (अस्मिन्) इस में (महि वर्चांसि) बड़े २ तेज, शत्रुओं को विजय करने में समर्थ बल पराक्रमों का (धेहि) आधान, स्थापन कर । और (अस्य शत्रुम्) इसके शत्रु को (अवर्चसम्) निस्तेज, निर्बल (कृणुहि) कर ।

अ॒स्मै द्या॑वापृथि॒वी भूरि॑ वा॒मं दु॑हाथां घर्म॒दुघे॑ इव धे॒नू ।
अ॒यं राजा॑ प्रि॒य इन्द्र॑स्य भूयात् प्रि॒यो गवा॒मोष॑धीनां पशू॒नाम् ॥४॥

३–(तृ०) 'अस्मदिन्द्र' इति तै० ब्रा० ।

४–(द्वि०) 'दुघेव', (तृ०) 'भूयाः' (च०) 'ओषधीनामुतापाम्' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'अस्मे' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(घर्मदुघे) रस, गोरस प्रदान करने वाली (धेनू इव) काम-धेनु गौओं के समान (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि दोनों अपनी २ सम्पत्तियों से वर्षाओं और अन्न जलों से (भूरि वामं) बहुत सी धन सम्पत्ति को (दुहाथाम्) उत्पन्न करें, प्रदान करें। (अयं राजा) यह राजा (इन्द्रस्य) सेनापति का और परमात्मा का भी (प्रियः) प्यारा (भूयात्) हो और (गवाम्) गौओं का और (ओषधीनां) ओष-धियों या प्रजाओं और (पशूनां) पशुओं का भी (प्रियः) प्यारा हो।

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥५॥

भा०—सेनापति और राजा को परस्पर मित्र रहने का उपदेश करते हैं। हे राजन् ! (ते) तुझ से (उत्तर-वन्तम्) अधिक सामर्थ्य से युक्त, बलवान् इस (इन्द्रं) सेनापति को (युनज्मि) तेरे अधीन, तेरे कार्य में नियुक्त करता हूं (येन) जिस के सामर्थ्य और आज्ञा से प्रेरित होकर सेना के वीर पुरुष (जयन्ति) शत्रु पर विजय पाते हैं (न परा-जयन्ते) और कभी पराजित नहीं होते हैं। और (यः) जो सेनापति (त्वा) तुझ राजा को (जनानाम्) समस्त जनों में (एक-वृषं) एकमात्र सब से श्रेष्ठ और (मानवानां) मनुष्यों, (राज्ञाम्) और राजाओं में से भी सब से (उत्-तमम्) उत्तम (करत्) बना देता है।

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ् छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥

५-(प्र०) 'तमुत्तरावन्तमिन्द्र' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'जयासि न पराजयासै' इति तै० ब्रा० । (तृ० च०) सत्वाकरेकवृषभं स्वाना मधोराजन्नुत्तमं' इति तै० ब्रा० ।

६-(प्र०) 'अधरे सन्त्वन्ये' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (राजन्) प्रजा को अनुरञ्जन करने हारे राजन् ! (त्वम् उत्तरः) तू अपने शत्रुओं से सदा ऊंचा होकर रह और (ते सपत्नाः) तेरे बराबरी का दावा करने वाले (प्रतिशत्रवः) तेरे प्रति शत्रुता दर्शाने वाले (ये के च) जो कोई भी हों वे (ते अधरे) तेरे से नीचे ही रहें । तू (एकवृषः) एकमात्र सब से श्रेष्ठ (इन्द्रसखा) सेनापति का मित्र हो-कर (शत्रूयतां जिगीवान्) शत्रुओं पर विजय करता हुआ (भोजनानि आभर) अपने राष्ट्र के लिये खाद्य पदार्थों को प्राप्त कर।

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोवं बाधस्व शत्रून् ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (सिंहप्रतीकः) सिंह के समान शूरवीर होकर (सर्वाः) समस्त (विशः) प्रजाओं और राष्ट्रों का (अद्धि) भोग कर । और (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्र के समान बलवान् होकर (शत्रून्) सब शत्रुओं को (अवबाधस्व) पीड़ित कर अपने नीचे दबा (एकवृष इन्द्रसखा) तू एकमात्र सबसे श्रेष्ठ सेनापति का मित्र होकर (शत्रूयताम् आजिगीवान्) शत्रुओं का विजय करता हुआ (भोजनानि आखिद) उनके खाद्य पदार्थों को छीन कर लेआ ।

[२३] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । इतः परं सप्त मृगारसंज्ञानि सूक्तानि तत्र नाना देवताः । ३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती, ४ अनुष्टुप्, ६ प्रस्तार पंक्तिः, १-२, ७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७–(च०) 'शत्रूयतामभितिष्ठा महांसि' । इति पैप्प० सं० ।

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चंजन्यस्य बहुधा यमिन्धते ।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर से पाप मोचन करने की प्रार्थना—(यम्) जिसको (बहुधा) ज्ञानी लोग बहुत प्रकारों से और बहुत वार (इन्धते) हृदय-वेदि में एवं तदनुरूप यज्ञवेदि में भी प्रदीप्त करते हैं उस (पान्च-जन्यस्य) पाचों जन, पाचों इन्द्रिय, पाचों भूतोंमें समान रूपसे उपासनीय (प्र-चेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् (प्रथमस्य) सब के आदिभूत, सर्वश्रेष्ठ (अग्नेः) सब के प्रकाशक परमेश्वर का (मन्वे) मैं मनन करता हूं । और (विशः-विशः) समस्त प्रजाओं में (प्रविशि-वांसम्) उत्तम रूप से या प्रेरक रूप से सर्व-व्यापक होने के कारण अन्तः प्रविष्ट हुए उससे ही हम (ईमहे) यह याचना करते हैं कि (सः) वह (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे नीचे की स्थिति के निषाद, मानव समाज के ये पांच विभाग पञ्चजन कहाते हैं ।

यथा हुव्यं वहसि जातवेदो यथा युज्ञं कुल्पयसि प्रजानन् ।
एवा देवेभ्यः सुमतिं नु आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक और सब पदार्थों के ज्ञाता प्रभो ! (यथा) जिस प्रकार से तू (हव्यं वहसि) देने और स्वीकार करने योग्य पदार्थ को नाना जीवों और पञ्चभूतों में एक दूसरे के पास ले जाता और समर्पित करता है । और (प्र-जानन्) खूब अच्छी प्रकार सब विधि नियम आदि जानता हुआ (यथा) जिस २ प्रकार से (यज्ञं) इस परस्पर संगत, संसक्त, सृष्टि रूप यज्ञ को (कल्पयसि)

[२३] १-(द्वि०) 'पाञ्चयज्ञस्य' इति पाठः सायणसम्मतः । 'पञ्चजनस्य' इति पैप्प० सं० । 'यं पञ्चजन्यं बहवः समिन्धते' (तृ०) विश्वस्यां विशि प्रविविशिवांसमीमहे इति मै० सं० ।

रचता है, बनाता है, (एवा) उसी प्रकार (नः) हमारे (देवेभ्यः) विद्वानों और ज्ञानी पुरुषों, इन्द्रियों और दिव्य पदार्थों में भी (नः) हमारे लिये (सु-मतिम्) उत्तम शुभ मति को (आ वह) प्राप्त कर। (सः) वह प्रभु (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे।

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम् ।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो० ॥३॥

भा०—जिस प्रकार प्रतिदिन यज्ञ और भोजनपाक आदि के अवसर में अग्नि का उपयोग किया जाता है, वही भारी २ गाड़ियों को ढो ले जाता है, हरेक काम में उसका आश्रय लेना पड़ता है उससे शत्रु का विनाश किया जाता है सब यज्ञों को बढ़ाया जाता और घृत की आहुति दी जाती है उसी प्रकार या उससे भी अधिक (यामन् यामन्) प्रत्येक याम=दिन (उपयुक्तं) समीपतम होकर समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य (वहिष्ठं) समस्त संसार को वहन करने में सब से बड़ी शक्ति, (कर्मन् कर्मन्) प्रत्येक काम में (आभगम्) सब प्रकार से सेवा करने योग्य (रक्षोहणं) विघ्नों और विघ्नकर्ताओं के विनाशक (यज्ञवृधं) देवपूजा, दान संगतिकरण आदि शुभ कार्यों के प्रवर्तक (घृताहुतं) घृत=तेज=दीप्ति से सर्वत्र प्रकाशित उस (अग्नि) अग्नि की (ईडे) स्तुति करता हूं (सः नः मुञ्चतु अंहसः) वह ईश्वर हमें पाप से मुक्त करे।

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् ।
हव्यवाहं हवामहे स० ॥ ४ ॥

भा०—(सु-जातं) सब पदार्थों में उत्तम रूप, शोभन रूप में प्रकट होने वाले (जातवेदसं) सब पदार्थों में व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वस्वामी,

३–' अग्निमीडे ' इत्यन्ता पादसमाप्तिरिति केचित् । ' आभगम् ' इत्यन्तेति प्रायः सर्वत्र ।

(विभुम्) सर्वव्यापक, अनन्त (वैश्वानरं) समस्त प्राणियों में प्रवर्तक रूप से विद्यमान (हव्यवाहं) सब को अन्न प्राप्त कराने हारे उस (अग्निं) अग्नि को (हवामहे) हम स्तुति और उपासना करते हैं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स० ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार इस अग्नि की सहायता से बल या शक्ति को पदार्थ-विज्ञानवेत्ता उत्पन्न करलेते और नाना प्रकार के बल सामर्थ्य के अद्भुत चमत्कारी कार्य करते हैं और दुष्टों का विनाश करते हैं उसी प्रकार (येन) जिस परमात्मा के (युजा) सहायक होने से (ऋषयः) विज्ञान के सत्य तत्वों को गहराई पर भी देख लेने वाले (बलम्) अपने परम आत्मसामर्थ्य को (अद्योतयन्) प्रकाशित करते हैं । और (येन) जिसकी सहायता से (असुराणाम्) प्राणों में रमण करने वाली इन्द्रियों की (मायाः) ज्ञान और कर्म वृत्तियों को (अयुवन्त) पृथक् २ कर के उनको वश करते हैं । अथवा असुर बलवान् प्राणों के वेगों को वश करते हैं । और (येन) जिस (अग्निना) अग्नि के बल पर (इन्द्रः) जीव (पणीन्) व्यवहार करने वाले इन्द्रियों को (जिगाय) वश करता है । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

येन देवा अमृतमन्वविन्दन् येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन् ।
येन देवाः स्वराभरन्त्स० ॥ ६ ॥

भा०—(येन) जिस परमेश्वर की सहायता से (देवाः) विद्वान् लोग (अमृतम्) मोक्षसुख को (अनु-अविन्दन्) प्राप्त करते हैं और

५-(प्र०) 'येनर्षयो बलमियोतयन' इति पैप्प० सं० ।

(येन) जिस से (ओषधीः) ओषधियों को और मानस वृत्तियों को (मधुमतीः) मधुर रस से युक्त और आनन्दप्रद (अकृण्वन्) बना लेते हैं और (देवाः) विद्वान् ज्ञानी गण (येन) जिस से (स्वः) उस सुख मय लोक को (आभरन्) प्राप्त करते हैं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जनितव्यं/च केवलम् ।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ।। ७ ।।

भा०—(इदं) यह समस्त जगत् (यद् विरोचते) जो नाना प्रकार से शोभा दे रहा है (यत् जातं) जो उत्पन्न हुआ और (जनितव्यं च) जो उत्पन्न होगा वह सब (केवलम्) विना किसी अन्य की अपेक्षा किये एक मात्र, (यस्य प्रदिशि) जिसके उत्कृष्ट शासन में है । (नाथितः) पापों के फल रूप दुःखों से संतप्त होकर मैं जीव उस (अग्निं) अग्नि स्वरूप पाप प्रदाहक तेजोमय देव की (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) वार २ पुकार करता हूं । (सः नः अंहसः मुञ्चतु), वह हमें हमारे पापों से मुक्त करे ।

[२४] पापमोचन की प्रार्थना ।

द्वितीयं मृगारसूक्तम् । १ शाकरगर्भा पुरःशकरी । २—७ त्रिष्टुभः ।
सप्तर्चं सूक्तम् ।।

७–(प्र० द्वि०) 'यस्येदं प्राणन्निमिषद् यदेजति यस्य जातं जनमानं च केवलम्' इति मै० सं० ।

इन्द्र॑स्य मन्महे॒ शश्व॒दिद॑स्य मन्महे वृत्र॒घ्न स्तोमा॒ उप॑ मे॒म आ॒गुः।
यो दा॒शुषः॑ सु॒कृतो॒ हव॒मेति॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील परमेश्वर का (मन्महे) हम मनन करते हैं। (अस्य इद्) इस परमेश्वर का ही हम (शश्वत्) अनादिकाल से बराबर (मन्महे) विचार करते चले आये हैं। (वृत्र-घ्नः) सब विघ्नों और तामस आवरणों को विनाश करने वाले उस ज्योतिःस्वरूप की (स्तोमाः) स्तुतियां या यथार्थ गुण वर्णन ही (इमे) ये सब (मा) मुझे (उप आगुः) प्राप्त होते हैं, प्रकट होते, सत्य प्रतीत होते हैं। (यः) जो परमेश्वर (दाशुषः) दानशील, आत्मसमर्पक (सु-कृतः) शुभ कर्म कर्त्ता पुरुष की (हवम्) पुकार को सुन कर (एति) उसका सहायक हो कर उसको प्राप्त होता है (सः नः) वह हमें (अंहसः) पाप से (मुंचतु) छुड़ावे।

य उ॒ग्रीणा॑मु॒ग्रबा॑हुर्य॒युर्यो दा॑न॒वानां॒ बल॑मारु॒रोज॑ ।
येन॑ जि॒ताः सिन्ध॑वो॒ येन॒ गावः॒ स० ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (उग्र-बाहुः) बलशाली भुजा वाला, सर्व शक्तिमान् होकर (उग्रीणां) उग्र शक्तियों का (ययुः) परस्पर संगत करके एक साथ चलाने वाला है और (यः) जो (दानवानां) छेदन भेदन करने वाले या परस्पर को एक दूसरे में समर्पित कर देने वाले दानव=

[२४] १–(प्र०) 'इन्द्रस्य मन्वे शश्वद् यस्य मन्विरे' इति पैप्प० सं० ; 'इन्द्रस्य-मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः' (द्वि०) 'उप मामुपागुः' (तृ०) 'हव-मुपगन्ता' इति मै० सं० ।

२–(प्र०) 'योग्राणामुग्रवाहुर्योदा-' (द्वि०) 'बलमाससाद' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'युयुर्यो' इति सायणाभिमतः ।

पञ्चभूतों के (वलं) बल सामर्थ्यों को शत्रुओं की सेना बल के समान (आ-रुरोज) शिथिल करता, तोड़ डालता है। और (येन) जिस ने (सिन्धवः) बहने वाली नदियों को भी (जिताः) वश कर लिया है और (येन) जिसने (गावः) गौओं, पृथिवियों, सूर्यों एवं गतिमान पिण्डों को भी वश में किया है (सः नः) वह परमेश्वर हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (चर्षणि-प्रः) मनुष्यों को पूर्ण करने वाला, (वृषभः) सब सुखों का वर्षक, (स्वः-विद्) सुख, आनन्द, मोक्ष, प्रकाश का प्राप्त कराने वाला है। (यस्मै) जिसके (ग्रावाणः) ज्ञानी, स्तुतिकर्त्ता, विद्वान् लोग (नृम्णम्) ऐश्वर्य का (प्र-वदन्ति) वर्णन किया करते हैं। (यस्य) जिसके (अध्वरः) कभी नष्ट न होने वाला संसारमय यज्ञ (सप्त-होता) सात होताओं द्वारा सम्पादित होता है। (सः) वह (मदिष्ठ) सब से अधिक आनन्द देने हारा परमेश्वर (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे।

यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे।
यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स० ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार यज्ञ में गौएं, बैल और यूपशकल और मन्त्रों से संस्कृत सोम उस प्रजापति की अर्चना के निमित्त हैं उसी प्रकार

३–(प्र०) 'प्रश्चर्षणिः' (तृ०) 'यस्याध्वर्युः सप्तहोतामुदिच्युत्' इति पैप्प० सं०।

४–(तृ०) 'यस्मिन् शुक्रः प्रवर्त्तते' इति पैप्प० सं०।

(यस्य) जिसके निमित्त (वशासः) मोटे तथा उनके समान शरीर में वशीकृत इन्द्रियां और ब्रह्माण्ड और उसके वश में चलने वाली शक्तियां, (उक्षाणः) वीर्य सेचन और जल सेचन में समर्थ बैल और मेघ (ऋषभासः) और ऋषभ, श्रेष्ठ पुरुष हैं और (यस्मै) जिस (स्वः-विदे) स्वः= विशाल प्रकाश, या तेजोमय लोक में व्यापक परमात्मा की शक्ति से (स्वरवः) समस्त सूर्य (मीयन्ते) गतिकर रहे हैं । और यस्मै जिसकी व्यवस्था में (ब्रह्म-शुम्भितः) ब्रह्म=प्रकृति या वेदमय ज्ञान से शुम्भितः भासमान होता हुआ (शुक्रः) यह तेजोमय रूप में (पवते) प्रकाशित होता है ।

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स० ॥ ५ ॥

भा०—(सोमिनः) आत्मवान्, ज्ञानी, सोम रस का आस्वादन करने वाले विद्वान् (यस्य) जिसके (जुष्टिं) प्रेम, कृपा की (कामयन्ते) आकांक्षा करते हैं (यं) जिस (इषुमन्तं) सर्व कामनामय या सर्व शक्तिमान् परमेश्वर को (गविष्टौ) गो—वेद वाणियों को प्राप्त करने या ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करने पर (हवन्ते) स्तुति करते हैं । (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) तेजःस्वरूप महान् सूर्य (शिश्रिये) आश्रय लेता है और जिस में (ओजः) सब बल और कान्ति विद्यमान है, (सः नः) वह हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे ।

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स० ॥ ६ ॥

५–(द्वि०) 'इषुवन्तं' इति पैप्प० सं० ।

६–'यज्ञे' इति क्वचित् ।

भा०—(यः) जो इन्द्र परमेश्वर (प्रथमः) सब से प्रथम, श्रेष्ठ (कर्म-कृत्याय) इस संसार की रचना करने के लिये (जज्ञे) सब से प्रथम प्रादुर्भूत एवं मूलकारण रूप में विद्यमान था। और (यस्य) जिस (प्रथमस्य) आदिकारण का (वीर्यं) बल, शक्ति, सामर्थ्य (अनु-बुद्धम्) संसार को देख लेने के बाद विद्वानों ने जाना। (येन उद्यतः) जिससे उठाया गया (वज्रः) प्रेरक बल (अहिं) अहिंस्य, अनादिकालसिद्ध प्रकृति तत्व को (अभि-आयत) सब प्रकार से वश करता है। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

यः संग्रामान् नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (वशी) सब पर वश करने हारा, स्वतः, स्वतन्त्र होकर सेनाओं को सेनापति के समान (सम्-ग्रामान्) जनसमूहों को (युधे) युद्ध करने के लिये (सं नयति) उचित मार्ग से ले जाता है अर्थात् जो ईश्वर सेनापति के समान अपने जीवनसंग्राम में आगे बढ़ने का रास्ता सब प्राणियों को दिखाता है और (यः) जो (द्वयानि) दो दो के जोड़ों को (पुष्टानि) हृष्ट पुष्ट करके सन्तानोत्पन्न करने के लिये (सं-सृजति) तैयार करता है। उस (इन्द्रं) परमेश्वर को मैं (नाथितः) दुःखों से पीड़ित होकर (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूं (सः नः) वह हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

७–(द्वि०) 'पुष्ट्या नः' इति पैप्प० सं०।

[२५] पापमोचन की प्रार्थना ।

तृतीयं मृगारसूक्तम् । ३ अतिशाक्वरगर्भा जगती, ७ पथ्याबृहती, १, २, ४-६ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः ।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर की वायु और सविता रूप से स्तुति करते हैं । (वायोः) वायु के समान जगत् के आधार भूत, जगत् के प्राण, प्रेरक (सवितुः) और सूर्य के समान उत्पादक परमेश्वर के (विदथानि[1]) ज्ञान करने योग्य परमात्माके ज्ञापक गुणोंको (मन्महे) हम मनन करते हैं । (यौ) जो परमात्मा के ये दोनों उत्पादक और प्रेरक रूप (आत्मान्वद्) आत्मा से युक्त चेतन तुम दोनों (जगत्) जंगम जगत् में (विशथः) प्राण रूप होकर और वीर्य रूप होकर प्रविष्ट रहते हो (च) और (रक्षथः) उनको विनष्ट होने से रक्षा करते एवं बचाते हो । हे दोनों गुणो ! तुम दोनों (विश्वस्य) समस्त विश्व के (परिभू) सर्वत्र व्यापक (बभूवथुः) होकर रहते हो (तौ नः मुञ्चतम् अंहसः) वे तुम दोनों हमें अंहः=पाप से मुक्त करो । परमात्मा सब का उत्पादक और प्रेरक है वह प्राण और वीर्य रूप में समस्त चेतन शरीरों में विद्यमान है, यह विचार कर मनुष्य अपने प्राणों के समान अन्य के प्राणों पर अत्याचार न करे और अपने वीर्य को दिव्यांश जानकर कामांगों से पाप न करे ।

---

[२५] १-(द्वि०) ' विश्रतो यौ च रक्षतः ' इति मै० सं० ।

१. विदथानि वेदनानि गुणविषयज्ञानानि । यद्वा विदथानि वेदितव्यानि श्रुतिविहितकर्माणि ' इति सायणः ।

यत्रोः सङ्ख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे ।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ० ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार वायु और सूर्य पृथिवी पर होने वाले बड़े कार्यों को कर दिखाते हैं और जिस प्रकार दोनों मिलकर अन्तरिक्ष रजः=वर्षा-जलों और धूलिपटलों को ऊपर उठा लेते हैं और इनकी उच्चगति को कोई अन्य पदार्थ नहीं प्राप्त कर सकता उसी प्रकार ईश्वर की भी ये दो शक्तियां हैं वात और सविता । (ययोः) जिनके (पार्थिवानि) पृथिवी पर होने वाले (वरिमानि) बड़े २ कामों को (सं-ख्याता) गिना जाता है । (याभ्यां) जिन दोनों शक्तियों के द्वारा (अन्तरिक्षे) इस पोल रूप आकाश भाग में (रजः) जलमय मेघ, ज्योतिमय सूर्यादि लोक और निहारिका रूप आकाश-गंगा आदि पदार्थ (युपितम्) निःशंक खड़े हैं । और (ययोः) जिन से (प्रायं) ऊंचे प्रदेश में (कश्चन) और कोई भी (न) नहीं (अनु-आनशे) जासकता (तौ) वे दोनों ईश्वरीय सामर्थ्य (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें ।

तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो ।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ० ॥ ३ ॥

भा०—हे (चित्रभानो) विचित्र प्रभा से युक्त, सूर्य के समान दीप्तिमान् परमेश्वर ! (तव व्रते) तेरे व्रत, नियमव्यवस्था में रहकर (जनासः) समस्तजन (नि विशन्ते) नियम से व्यवस्थित होकर रहते हैं । और (त्वयि उदिते) तेरे हृदय में उदय होने पर ज्ञान से प्रकाशित होने पर (प्रेरते) उत्कृष्ट पथ में गति करते हैं । हे (वायो) सब के प्रेरक ! सर्वाधार !

२–(प्र०) 'वरिमाणि पार्थिवा', (द्वि०) 'रजो गुस्थितमन्तरिक्षे' (तृ०) 'ययोः प्रयाम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(तृ०) 'यच्छतः' इति पैप्प० सं० ।

तू और हे सर्वोत्पादक ! तू दोनों रूपों से (भुवनानि रक्षथः) समस्त लोकों की रक्षा करता है । (तौ) वे दोनों ईश्वरीय शक्तियां (नः) हमें (अंहसः मुञ्चताम्) पाप से मुक्त करें ।

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम् ।
सं ह्यू१र्जया सृजथः सं बलेन तौ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (वायो) सर्व प्रेरक परमेश्वर ! और (सविता च) सर्वोत्पादक परमेश्वरीय शक्ते ! तुम दोनों (दुःष्कृतम् अपेतः) बुरे किये कर्मों को उसी प्रकार दूर कर देते हो जैसे वायु प्रबल वेग से मल और रोगकारी वायुओं और कूड़ों को दूर कर देता है और जैसे सूर्य अपनी तीव्र किरणों से मल आदि पदार्थों को शुष्क करके हर लेता है । और ये दोनों शक्तियां (रक्षांसि) सब विघ्नों और (शिमिदाम् च) पीड़ा को (अप सेधतम्) दूर करते हो और तुम दोनों (ऊर्जया) अन्न रस से पूर्ण पुष्टि और प्राण सामर्थ्य से (सं सृजथः) युक्त करते हो, जीवन देते और (बलेन संसृजथः) बल से भी सम्पन्न करते हो । (तौ) वे दोनों ईश्वरीय रूप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करे ।

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ० ॥ ५ ॥

भा०—(सविता) सूर्य (उत वायुः) और वायु=जिस प्रकार (मे) मेरे शरीर में (रयिं) वीर्य को और (पोषं) पुष्टि को प्रदान करते हैं और वे दोनों जिस प्रकार (मे तनू) मेरे शरीर में (दक्षं) बल को उत्पन्न करते हैं और (अयक्ष्मतातिं) यक्ष्म=रोग जन्तु से उत्पन्न राज रोगों से मुक्त करने वाले तेज को धारण कराते हैं उसी प्रकार ईश्वर के उक्त दोनों सामर्थ्य (मे

४–(तृ०) 'सृजथ सं' इति बहुत्र । (द्वि०) 'समिदाम्' इति क्वचित् ।

तनू रयिं पोषं) मेरे शरीर में वीर्य और पुष्टि का प्रदान करें और (सु-शेवं) उत्तम सुख रूप में सेवन करने योग्य (दक्षं) बल और ज्ञान को (आ सुवतां) उत्पन्न करें। और (इह) यहां इस लोक में (अयक्ष्मतातिम् महः) रोग रहित तेज वा कान्ति को प्रदान करें (तौ) वे दोनों ईश्वरीय शक्तियां प्रादुर्भूत होकर (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से भी मुक्त करें।

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः।
अर्वाग् वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ० ॥ ६ ॥

भा०—हे सवितः! हे वायो! आप दोनों ईश्वरीय शक्तियां (ऊतये) हमारी रक्षा के निमित्त (सु-मतिं) उत्तम बुद्धि, शक्ति को (प्रयच्छतं) उत्तम रीति से प्रदान करें। आप दोनों (महस्वन्तं) तेज से युक्त (मत्सरं) आनन्ददायक आत्मा को (मादयाथः) परितृप्त करते हो। (प्र-वतः) प्रकर्ष गति से जाने हारे (वामस्य) इस सुन्दर जीव को (अर्वाक्) साक्षात् सब उत्कृष्ट सुखों को (नियच्छतं) प्रदान करो। (तौ) वे दोनों आप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें।

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन्।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

भा०—(नः) हमारी (श्रेष्ठाः आ-शिषः) उत्कृष्ट ये शुभ प्रार्थनाएं (देवयोः) उक्त दोनों दिव्य, दानशील देवों के (धामन्) धारण करने हारे परम तेजःस्वरूप परमेश्वर में ही (उप अस्थिरन्) पहुंचती हैं।

६–(द्वि०) 'मादयेताम्' (तृ०) 'प्रवता नियच्छतः' इति पैप्प० सं०।
७–(प्र०) 'नाशिषो' इति पैप्प० सं०। 'आशिरः' इति मै० सं०। (द्वि०) 'धर्मा अस्थिरन्' मै० सं०। (तृ०) 'स्तौमि वायुं सवितारं नाथितो जोहवीमि' इति पैप्प० सं०, मै० सं०।

(सवितारं) सविता=सब के उत्पादक स्वरूप परमात्मा और (वायुं च देवं) सब के प्रेरक देव प्रभु को ही स्तुति करता हूं । (तौ) वे दोनों रूप ही (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें ।

इस सूक्त में सूर्य और वायु के भी गुण स्पष्ट किये हैं । दृष्टान्त देकर दार्ष्टान्त में ईश्वर के गुण भी स्पष्ट कहे हैं । इससे प्रजापति के सूर्य और वायु के समान, अन्य युगल रूपों का भी वर्णन हुआ जानना चाहिये ।

[२६] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । तृतीयं मृगारसूक्तम् । १ पुरोष्टिर्जगती, शक्करगर्भातिमध्येज्योतिः, २-७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता-योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकार से ही द्यौ और पृथिवी या सूर्य और पृथिवी इनका भी वर्णन करते हैं । हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, माता और पिता, नर और नारी के समान (वां) तुम दोनों का मैं (मन्वे) मनन करता हूं । आप (सु-भोजसौ) उत्तम रीतिसे समस्त संसार के प्राणियों को नाना भोग देने हारे (स-चेतसौ) समान चित्त हुए हुए हो । (ये) जो तुम दोनों (अमिता) अपरिमित (योजनानि) योजनों, दूरी तक (अप्रथेथाम्) विस्तृत हो । तुम दोनों (वसूनां) वास करने वाले प्राणियों और सूर्य आदि लोकों की (प्रतिस्थे) प्रतिष्ठा, आश्रय (हि अभवतम्) ही रहते हो । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त

[२६] १-' अप्रथेताम् ' इति क्वचित् ।

करो । ईश्वर ने मा बाप के समान द्यौ और पृथिवी अपरिमित विस्तृत और अन्नदाता बनाया, यह जान कर मनुष्य-हत्या आदि पापों में न पड़े ।

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते० ॥ २ ॥

भा०—हे द्यौ और पृथिवी आप दोनों (वसूनां प्रतिस्थे हि अभवतम्) वास करने वाले लोकों और प्राणियों के आश्रय स्थान हो । क्योंकि आप दोनों (प्रवृद्धे) बड़े विशाल (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त (उरूची) ऊरु=विशाल प्रकृति में व्यापक हैं । हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी तुम दोनों मेरे लिये (स्योने) सुखकारी (भवतं) हो और (ते) वे दोनों (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें । द्यौ और पृथिवी=माता पिता, राजा और प्रजा ।

असन्तापे सुतपसौ हुवेहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये । द्यावा० ॥ ३ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी आप दोनो ! (असम्-तापे) स्वयं संताप रहित (सु-तपसौ) उत्तम तप से युक्त (उर्वी) विशाल (गम्भीरे) गम्भीर और (कविभिः) विद्वानों क्रान्त-दर्शी तत्त्वज्ञानियों द्वारा (नमस्येऽ) आदर से देखे जाने योग्य हो । (मे स्योने भवतम्) आप दोनों मेरे लिये सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

२–(प्र०) 'प्रतिष्ठे हि बभूवथुः' (द्वि०) 'प्रविद्धे' इति सायणः । (तृ०) 'भवतं स्योने' इति सायणः ।

३–(प्र०) ' हुवे वाम् ' इति पैप्प० सं० ।

ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान् ।
द्या० ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो द्यौ और पृथिवी (अमृतं) अमृत, जीवन को धारण करते हैं (ये स्रोत्या) जो नदी आदि के प्रवाहों को धारण करते हैं और (ये मनुष्यान्) जो मनुष्यों को पालन पोषण करते हैं वे (द्यावा पृथिवी मे स्योने भवतं) द्यौ और पृथिवी मेरे लिये सुखकारी हों । (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे हमें पाप से मुक्त करें । समाज में माता और पिता देह में प्राण और अपान, राष्ट्र में राजा, प्रजा, सूर्य और पृथिवी द्यौ और पृथिवी के नाम से कहे जाते हैं ।

ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः ।
द्या० ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो तुम दोनों द्यौ और पृथिवी (उस्रियाः बिभृथः) गौओं को पालन करती हो, (ये वनस्पतीन्) जो तुम दोनों सब वृक्ष वनस्पतियों को पालन करती हो, (ययोः अन्तः) जिन दोनों के बीच में (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन विद्यमान हैं वे द्यौ और पृथिवी (मे स्योने भवतम्) मुझे सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे द्यौ और पृथिवी ! तुम (ये) जो दोनों (कीलालेन) अन्न से समस्त संसार को (तर्पयथः) तृप्त करती हैं (ये घृतेन) और जो दोनों घृत=तेज से समस्त विश्व को पूरित करती हैं । (याभ्याम् ऋते) जिन के बिना (किंचन न) कुछ भी नहीं (शक्नुवन्ति[1]) कर सकते । (मे स्योने

१. 'शक्नुऽवन्ति भृति' क्वचित्पदपाठः । (प्र०) 'मेकीलालैः' इति पैप्प० सं० ।

भवतं) तुम दोनों मुझे सुखकारी हों (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यन्मेदमभि शोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात् ।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—(यत्) जो (मा) मुझ को (इदम्) यह मेरा किया कर्म (अभि-शोचति) हर तरफ से सन्ताप देता है और (येन येन वा) जिस जिस कारण से प्रेरित होकर (कृतम्) किया हुआ कर्म मुझे सताता है जो कर्म (पौरुषेयात्) पुरुष=आत्मा या पुरुषों के किये संकल्प से उत्पन्न जो कर्म मुझे सन्ताप देता है जो (न दैवात्) देव—ईश्वरीय काम नहीं है । उनसे (नाथितः) पीड़ित होकर मैं (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी इन के सामान परिपालक गुण वाले ईश्वरीय शक्तियों की मैं (स्तौमि) स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उनको पुकारता हूं कि (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

[२७] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । नाना देवताः । पञ्चमं मृगार सूक्तम् । १–७ त्रिष्टुभः ।
सप्तर्चं सूक्तम् ॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

७–(द्वि०) ‘ पौरुषयं न दैव्यम् ’ इति पैप्प० सं० ।

[२७] १–(द्वि०) ‘ वाजसाताऽवन्तु ’ इति पैप्प० सं० । (तृ०) ‘ सुयमानह्व इति क्वचित् । (प्र०) ‘ अंशूनिव ’ इति सायणाभिमतः ।

भा०—पाप से मुक्त होने के लिये विद्वानों, रक्षकों और प्राणरूप मरुतों का वर्णन करते हैं । (मरुतां) मरुतों, वायुओं और उन विद्वानों के विषय में मैं (मन्वे) मनन करता हूं कि वे (मे अधिब्रवन्तु) मुझ पर शासन करें और उपदेश करें और (वाजसाते) ज्ञानप्रदान काल में या संग्राम में (इमम् वाजम्) इस ज्ञान और बल को अन्न के साथ (प्र अवन्तु) अच्छी प्रकार सुरक्षित रखें । मैं ऐसे विद्वानों को (सुयमान् आशून् इव) उत्तम रीति से वश करने योग्य वेगवान् घोड़ों के समान (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्वे) बुलाता हूं, स्मरण करता हूं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप से मुक्त करें । 'मरुतः=प्राणाः, भटः, विद्वांसः' ।

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते० ॥ २ ॥

भा०—मैं (पृश्नि-मातॄन्) पृश्नि=वाणी माता सरस्वती या ज्ञान-सूर्य या पृथिवी माता की गोद से उत्पन्न हुए (मरुतः) वायुओं के समान सर्वोपकारक विद्वानों को (पुरः) साक्षात् (दधे) आदर से हृदय में धारता हूं, उनको साक्षी पुरोहित करता हूं । (ये) जो विद्वान् गण (अक्षितं) अविनाशी (उत्सं) ज्ञान प्रवाह को (वि-अचन्ति) विस्तारित करते हैं और (सदा) निरन्तर (ये) जो लोग (ओषधीषु) ओषधियों में से (रसं) रस निकाल कर (आ-सिञ्चन्ति) जनों को पिलाते हैं अथवा ओषधियों में ही नाना रसों को प्रवेश कराते हैं (तेनः०) वे हमें पाप से मुक्त करें । वायुओं के पक्ष में—जो वायुएं मेघ से अक्षय (उत्सं) जल कोष को फैलाते हैं और वनस्पतियों में रसों को बरसाते हैं ऐसे (पृश्निमातॄन्) मध्यमिका वाक्=विद्युत् माता से उत्पन्न या आकाश में व्यापक इन तत्वों को मैं साक्षात् अपने वश करता हूं । दोनों पक्षों में विशेषणों का श्लेष स्पष्ट है ।

२–(तृ०) 'पृश्निमातृस्ते' इति क्वचित् ।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते० ॥ ३ ॥

भा०—वे (मरुतः) मरुद्गण (शग्माः) शक्तिमान् होकर (नः) हमारे लिये (स्योनाः) सुखकारी हों । जो (धेनूनां) गौओं के (पयः) दूध को (ओषधीनां रसम्) ओषधियों के रस को, और (अर्वताम्) घोड़ों के (जवम्) वेग को (कवयः) क्रान्तदर्शी, तत्वज्ञानी होकर (इन्वथ) स्वयं प्राप्त करते, वश करते, एवं उपयोग करते हैं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पापों और कष्ट से बचावें । वायु पक्ष में—जो वायुएं (धेनूनां पयः) गौओं और सूर्य-रश्मियों में दूध और जल को लातीं, (ओषधीनां रसम्) ओषधियों में रस उत्पन्न करती, (अर्वतां जवम्) अश्व आदि पशुओं में वेग और स्वस्थता को उत्पन्न करतीं हैं वे हमें सुखकारी हों, वे हमें कष्ट से बचावें । अध्यात्म में—धेनू=ज्ञानेन्द्रिय ओषधि=केशलोम, अर्वन्तः=कर्मेन्द्रियें और मरुतः=प्राण ।

अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते० ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार मरुत्गण (समुद्राद्) समुद्र से (अपः) जलों को (दिवम्) आकाश में (उद् वहन्ति) उठा ले जाते हैं और 'मानसून' या वर्षाओं से भरे बादलों द्वारा (दिवः) द्यौलोक आकाश से (पृथिवीम्) इस पृथिवी पर (ये) जो (अपः अभि सृजन्ति) जलों को बरसाते हैं । और (अद्भिः ईशानाः) जलों के द्वारा सामर्थ्यवान् होकर (चरन्ति) गति करती हैं उसी प्रकार (ये) जो विद्वान् गण, ज्ञान के समुद्र से ज्ञानों को प्राप्त कर के मोक्ष तक पहुंचते हैं मोक्ष से पुनः पृथिवी पर आकर ज्ञानोंका

३–(द्वि०) 'य इन्वन्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'शकमा' इति सायणसम्मतः पाठः ।

उपदेश करते और उन ज्ञान सामर्थ्यों से ऐश्वर्यवान् होकर सर्वत्र विचरते हैं वे जीवन-मुक्त पुरुष हैं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप या दुःख के कारणों से बचावें ।

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते० ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो मरुद्गण (कीलालेन) अन्न से (तर्पयन्ति) प्राणियों को तृप्त करते हैं (ये घृतेन) जो घृत, जल से पृथिवी को तृप्त करते हैं (ये) और जो (मेदसा) पुष्टिकारक पदार्थ से (वा) ही (वयः) दीर्घ आयु को (सं-सृजन्ति) उत्पन्न करते हैं और (ये मरुतः) जो मरुद्गण (अद्भिः) जलों से (ईशानाः) शक्तिसम्पन्न होकर (वर्षयन्ति) जलों की वर्षा करते हैं (तेनः०) वे हमें सुखी करें और कष्टों से मुक्त करें ।

विद्वानों के पक्ष में—जो विद्वान् कीलाल=अमृतरस से, (घृतेन) तेजोमय ज्ञान से और पुष्टिकारक पदार्थों से सब को तृप्त करते और पुष्ट करते और दीर्घायु होने का उपदेश करते हैं जो (अद्भिः) ज्ञानों और कामों से (ईशानाः वर्षयन्ति) शक्त होकर सुखों की वर्षा करते हैं वे हमें पाप से मुक्त करें । प्राणों के पक्ष में स्पष्ट है ।

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृते स्ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणो विद्वानो ! (यदि) यदि (इदं) यह पापमय कष्ट (मारुतेन) वायुओं द्वारा या हमारे प्राणों के उपद्रवों से उत्पन्न है और हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! (ईदृग्) ऐसा कष्टमय पाप यदि

५–(प्र०) 'कीलालैः' (तृ०) 'ये ईशानाः' इति पैप्प० सं० ।
६–(द्वि०) 'ईदृगु स आरिष्यति' इति मै० सं० ।

(दैव्येन) देव ईश्वर की ओर से आधिदैविक रूप में (आर[1]) हमें प्राप्त हुआ है तो भी हे (वसवः) सबों को सुखपूर्वक बसाने हारे सब के प्राणरक्षको ! (तस्य निः-कृतेः) उसके दूर करने में (यूयम्) तुम लोग ही (ईशिध्वे) समर्थ हो । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे आप लोग हमें पापमय दुःख से मुक्त करें ।

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥७॥

भा०—(मारुतम्) मरुत्गण का (अनीकम्) सैनिकबल (तिग्मम्) तीक्ष्ण और (सहस्वत्) सहनशील, विजयकारी (विदितम्) सबों को ज्ञात है । इसी प्रकार (पृतनासु) सेनाओं में (मारुतम्) मरुत्गणों का (उग्रम् शर्धः) भयंकर बल भी सर्वविदित है । इस कारण (नाथितः) मैं दुःखी पुरुष, मरुद्गण के (स्तौमि) गुणों की स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उनका स्मरण करता हूं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप, कष्ट से मुक्त करें ।

[२८] पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । षष्ठं मृगारसूक्तम् । नाना देवताः । १ द्व्यतिजागतगर्भा भुरिक् ॥ २–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

---

१. ' आ । आर ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः ।

७–(प्र०) ' तिग्मामायुधं वीडितम् ' इति क्वचित् । ' तिग्मामायुधं वीडितं सहस्व दिव्यं शर्धः पृतनासु जिष्णु । स्तौमि मरुतः ' ' देवान् नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वेनसः ' इति बहुत्र ।

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर के दो स्वरूप एक भव=जगत् का उत्पादक और दूसरा शर्व=समस्त जगत् का संहारक। ईश्वर के इन दो स्वरूपों का वर्णन करते हैं। हे (भवाशर्वौ) सर्व जगत् उत्पादक शक्ते ! और सर्वसंहारक शक्ते ! (वां) तुम दोनों शक्तियों के विषय में (मन्वे) विचार करता हूं। (यद् इदं विरोचते) जो यह संसार नाना प्रकार से दिखाई देता है वह (ययोः वाम्) जिन आप दोनों शक्तियों के (प्र-दिशि) शासन में है। (यौ) और जो तुम दोनों शक्तियां (अस्य) इस संसार पर (ईशाथे) वश कर रहे हो, और (यौ) जो तुम दोनों (द्वि-पदः) दोपाये, मनुष्यों और (चतुः-पदः) पशुओं पर भी वश कर रहे हो (तौ) वे तुम दोनों (नः अंहसः) हमें पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो।

ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ ।
याव० ॥ २ ॥

भा०—(अभि-अध्वे) समीप के पदार्थ (उत) और (यद् दूरे) जो दूर के पदार्थ सब (ययोः) जिनके शासन में हैं। और (यौ चिद्) जो दोनों (इषु-भृताम्) इषु=बाण, प्रेरक शक्ति को धारण करने वालों में (असिष्ठौ) सब से अधिक वेगवान् समस्त लोक लोकान्तरों के प्रेरक, उनको इधर उधर फेंकने वाले हैं। (यौ अस्य०) जिनका वश इन सब मनुष्यों और पशुओं पर भी है वे दोनों शक्तियां हमें पाप से मुक्त करें।

---

[२८] १–(द्वि०) 'ययोर्वा यदिदं वितिष्ठते' इति पैप्प० सं०।

२–(द्वि०) 'यौ विततौ', (तृ०) 'भवाशर्वौ भवतं मे स्योनौ' इति पैप्प० सं०।

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
यात्र० ॥ ३ ॥

भा०—(अहं) मैं (सहस्र-अक्षौ) सहस्रों चक्षुओं वाले, सर्वद्रष्टा, (वृत्र-हना) विघ्नों के विनाशक (दूर-गव्यूती) गौ - इन्द्रियों के संचार या पहुंच से परे भी वर्त्तमान उन दोनों उत्पादक और संहारक शक्तियों को मैं (उग्रौ) उग्र बड़े बलवान्, भयकारी रूप में (स्तुवन्) उनके गुणों का यथार्थ वर्णन करता हुआ उन तक (एमि) पहुंचता हूं । (यौ अस्य ईशाथे०) जो इस संसार पर, सब मनुष्यों और पशुओं पर वश किये हुए हैं वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिभां जनेषु ।
यात्र० ॥ ४ ॥

भा०—हे भव और शर्व दोनों शक्तियो ! आप दोनों ने (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ काल में (बहु) बहुत से पदार्थ समूहों को (साकं) एक साथ ही (आ-रेभाथे) उत्पन्न, प्रकट कर दिया था । (च) और (जनेषु) जनों में, उत्पन्न होने वाले पदार्थों में (अभि-भाम्) सब तरफ फैलने वाली चमकने वाली कान्ति दीप्ति, तेज प्रकाश को (प्र अस्राष्टम्) पूर्व ही उत्पन्न किया था । और इस प्रकार संयोग विभाग से समस्त संसार को रच कर तुम दोनों शक्तियां (यौ ईशाथे०) समस्त संसार पर और समस्त मनुष्यों पर वश करती हैं । वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

३–(द्वि०) 'स्तुवन् । नेमी' इति सायणकृतः पदच्छेदश्चिन्त्यः । एवमेव 'स्तुवन्नेमी' इति कल्पनाकृतमपि न विचारसहम् । (प्र० द्व०) 'हुवे वा दूरहूती सुनेमी उग्रौ' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) 'अस्राष्ट्रम्' इति बहुत्र । 'अस्राष्टम्' इति सायणः ।

यर्योर्व॒धान्नाप॒पद्य॑ते॒ कश्च॒नान्तर्दे॒वेषू॒त मानु॑षेषु ।
याव॒० ॥ ५ ॥

भा०—(ययोः) जिन दोनों की (वधात्) आघात करने की शक्ति या मार अर्थात् जन्म, मृत्यु, सृष्टि-संहार, रूप वज्र से (देवेषु) देवों और (मानुषेषु) मनुष्यों में से (कः चन) कोई भी (न अप-पद्यते) नहीं बच पाता, जो (यौ अस्य ईशाथे) दोनों इस संसार पर और सब मनुष्यों और पशुओं पर वश करती हैं। वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

यः कृ॑त्याकृन् मू॑लकृद् या॑तु॒धानो॒ नि तस्मि॑न् धत्तं॒ वज्र॑मुग्रौ ।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ० ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (कृत्या-कृत्) अपनी घातक क्रिया करे और (यः) जो (यातु-धानः) पीड़ा देने वाला (मूल-कृत्) मूल काटने वाला है (तस्मिन्) उस पर आप दोनों भव और शर्व (उग्रौ) भयंकर रूप से बलवान् होकर (वज्रम् निधत्तम्) उसको दुष्ट कार्यों से रोकने वाले शस्त्र या दण्ड का प्रयोग करो । (यौ अस्य ईशाथे०) जो दोनों इस संसार और मनुष्यों और चौपायों पर वश करते हैं वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

अधि॑ नो ब्रूतं॒ पृत॑नासू॒ग्रौ सं वज्रे॑ण सृजतं॒ यः कि॑मी॒दी ।
स्तौमि॑ भवाश॒र्वौ ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥७॥

भा०—हे (उग्रौ) उग्रस्वरूप बलवान् भव और शर्व ! आप दोनों (नः) हमें (अधिब्रूतं) उत्तम रीति से उपदेश करो और (पृतनासु) मनुष्यों में (यः) जो (किमीदी) संशयात्मा, अस्थिर चित्त या प्रत्येक

५–(द्वि०) 'किंचनान्तर्देवेषु उत' इति पैप्प० सं० ।
६–(द्वि०) 'धत्ताम्' इति बहुत्र ।
७–(प्र०) 'अधि मे ब्रूतं पृतनासु उग्रौ' इति पैप्प० सं० ।

पदार्थ और जीव को तुच्छ देख कर उसे नष्ट कर डालने वाला, अत्याचारी, क्षुद्रवृत्ति है उसको (वज्रेण) तुच्छ कार्य से रोकने वाले आयुध से (सं-सृजतम्) दण्डित करो। हे (भवाशर्वौ) भव और शर्व में (नाथितः) संतापित होकर (स्तौमि) आप के गुण वर्णन करता हूं और (जोहवीमि) पुकारता हूं कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे आप दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

[२९] पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। सप्तमं मृगार सूक्तम्। नाना देवताः। १–६ त्रिष्टुभः। ७ शक्वरीगर्भा जगती। सप्तर्चं सूक्तम्॥

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

भा०—मित्र और वरुण इन दोनों का व्याख्यान करते हैं। हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (वां मन्वे) मैं आप दोनों के विषय में मनन करता हूं। आप दोनों (ऋता-वृधौ) ऋत=सत्य, वेदज्ञान एवं इस प्राकृतिक जगत् को बढ़ाने वाले, (स-चेतसौ) समान चित्त हैं (यौ) जो (द्रुह्वणः) द्रोह करने वालों को (नुदेथे) ताड़ना करते हैं। और (सत्यवानम्) सत्य के पक्षपाती पुरुष को (भरेषु) संग्रामों, विवादस्थलों में (प्र-अवथः) अच्छी प्रकार रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे आप दोनों हम राष्ट्रवासियों को पाप से मुक्त करें।

---

[२९] १–(द्वि०) 'सत्यौजसौ दृह्वाणि यो निरेते' (तृ०) 'सौ सत्या-' '···वथो हवेषु' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'वरुणा तस्य वित्तम्' (द्वि०) 'सत्यौजसा दृह्वाना [दुर्हणा] यं नुदेथे' इति तै० सं०, मै० सं०। (तृ० च०) 'या राजानं स रथं यथाउग्रा'''मुञ्चतमागसः' इति मै० सं०।

ईश्वर के दो रूप हैं एक सत्य-वादियों से प्रेम करने वाला और दूसरा पापियों का दमन करने वाला। इसी प्रकार राज्य व्यवस्था में दो पद हैं एक सब पर मित्र दृष्टि से रहने वाला न्यायाधीश जो सत्य का पक्षपाती है, दूसरा दण्डाधीश जो पापी पुरुष को दण्ड देता है। वे दोनों भी क्रम से मित्र और वरुण दो नाम से वेद में कहे गये हैं। यह पहले भी दर्शाया जा चुका है। 'अध्यात्म पक्ष में—मित्र, वरुण=प्राण, अपान लेने चाहिये'। सत्यावान्=आत्मा। द्रुह्वणः=काम क्रोधादि।

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ० ॥ २ ॥

भा०—आप दोनों (स-चेतसौ) समान चित्त होकर, समान रूप से ज्ञानवान् होकर (यौ) जो (द्रुह्वणः) सत्य और राज्य शासन के द्रोहकारी पुरुषों को (नुदेथे) ताड़ना करते हो और (भरेषु) संग्रामों, यज्ञों और विवादस्थलों, व्यवहारों में (सत्य-वानं प्र अवथः) सत्यवादी पुरुष की रक्षा करते हो और (नृ-चक्षसौ) सब मनुष्यों को समान रूप से देखते हुए (यौ) जो आप दोनों (बभ्रुणा) पालन पोषण करने हारे राष्ट्र के पोषक राजा के द्वारा (सुतं) बनाये हुए राष्ट्र या पुत्र समान प्रजा के पास (गच्छथः) आते हो। अथवा (बभ्रुणा सुतं गच्छथः) बभ्रु=पुष्ट प्रमाण से सुत=निष्कर्ष किये, अन्तिम निर्णय पर पहुंचते हो। वे दोनों आप (नः अंहसः मुञ्चतम्) हम राष्ट्रवासियों को पाप कर्म से मुक्त करो।

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम्।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ० ॥ ३ ॥

२—'सत्यौजसौ द्रुह्वाणि यो निरेवे,' 'एवेषु इति पैप्प० सं०।

३—'यावगस्त्यम्' इति सायणाभिमतः।

भा०—(यौ) जो तुम दोनों (अङ्गिरसम् अवथः) अंगिराः ज्ञानवान्, राष्ट्र के अंग २ में रस रूप से विराजमान विद्वान् की रक्षा करते हो, (यौ अगस्तिं) और जो अगस्ति=पाप नाशक, धर्मोपदेशक आचार्य पुरुष की रक्षा करते हो, हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (जमदग्निम्) जो प्रज्वलिताग्नि, तपस्वी, आहिताग्नि गृहस्थ की रक्षा करते हो और (अत्रिम्) जो अत्रि सर्वत्र निवास करने वाले अन्नभोजी, अज्ञान नाशक पुरुष की रक्षा करते हो (यौ कश्यपं अवथः) जो कश्यप=ज्ञान का पान करने वाले शिष्य, विद्यार्थिगण की रक्षा करते हो और (यौ वसिष्ठं) जो वसिष्ठ—आश्रमवासी जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दो आगे दोनों हम राष्ट्रवासियों को पाप कर्म से मुक्त करें।

अध्यात्मपक्ष को सातवें मन्त्र में स्पष्ट करेंगे।

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण (यौ) जो आप दोनों (श्याव-अश्वम् अवथः) ज्ञान में सिद्ध अश्व=इन्द्रियों वाले, कुशल पुरुष की रक्षा करते हो और (वध्रि-अश्वं) जितेन्द्रिय की रक्षा करते हो (पुरु-मीढम्) बहुत धन सम्पन्न धनाढ्य वैश्यों की रक्षा करते हो और (अत्रिणम्) धन का उपभोग करने वाले वेतनभोगी पदाधिकारी की रक्षा करते हो। (यौ वि-मदम् अवथः) और जो तुम दोनों मद रहित अप्रमादी पुरुष की रक्षा करते हो और (सप्त-वध्रिम्) सप्त=सर्पणशील है अश्व जिसके ऐसे योद्धा, रथी पुरुष की या सात घोड़े=इन्द्रियों के वशी, अविकलांग, स्वस्थ, नीरोग पुरुष की रक्षा करते हो वे आप दोनों हमारे राष्ट्रवासी लोगों को (अंहसः) पाप और पाप से होने वाले कष्ट से मुक्त करें।

४–(प्र०) 'अवथो गविष्ठिरम्' इति तै० ब्रा०।

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ० ॥ ५ ॥

भा०—हे वरुण ! और हे मित्र ! आप जो (भरत्-वाजम् अवथः) अन्न का संग्रह करने हारे उत्तम वैश्य की रक्षा करते हो, (यौ गविष्ठिरम्) और जो आप दोनों गौओं पर स्थिर रहने वाले या भूमि पर स्थिर रहने वाले कृषक, गोपालक और वनस्पतियों की रक्षा करते हो, और (विश्वामित्रं कुत्सम्) सब के मित्र उपदेशक और कुत्स=संशय काटने वाले, और सब को मिलाये रखने वाले सज्जन नेता पुरुष की रक्षा करते हो, (कक्षीवान्तं अवथः) जो तुम दोनों कक्षीवान्=शासनशील, सदा कसे हुए, स्थिर सैनिक, सेनापदाधिकारी पुरुष की रक्षा करते हो (उत) और (कण्वं प्र अवथः) मेधावी, उपदेशक, गुरु अथवा कण कण से आहार करके अपना जीवन पालने वाले, उञ्छ, शिल वृत्ति करने वाले तपस्वी, व्रतधारी, ज्ञानी पुरुष की रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे दोनों हमें पाप कर्म से मुक्त करें ।

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ० ॥ ६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण ! (यौ) जो दोनों आप (मेध-अतिथिम् अवथः) मेधातिथि मेधा=धारणावती बुद्धि से युक्त तीव्र ज्ञानी पुरुषों की रक्षा करते हो, (यौ त्रि-शोकम्) जो तुम तीनों शोक=कान्तियों से युक्त ज्ञान, वचन, कर्मवान् या कायिक, मानस और वाचिक पापों को ज्ञानाग्नि से भस्म करने वाले शुद्ध पवित्र योगी की रक्षा करते हो,

५–(प्र०) 'यौ वध्र्यूश्वम्' इति पैप्प० सं० ।

६–'उशनम्', (तृ०) 'यौ मुद्गलमवथो गोतमं च' इति पैप्प० सं० ।

(यौ उशनां काव्यं) कवि क्रान्तदर्शी विद्वानों के संग से उत्पन्न ज्ञान के इच्छुक जिज्ञासु की रक्षा करते हो, (यौ गोतमम् अवथः) जो तुम दोनों गोतम=आत्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा करते हो (उत मुद्गलं प्र अवथः) और मुद्गल=आनन्दमय दशा में लीन होने वाले जीवनमुक्त पुरुष की रक्षा करते हो वे आप दोनों हमें पाप कर्म से मुक्त करो, बचाओ।

यया॒ रथः॑ स॒त्यव॑र्त्म॒र्जुर॑श्मिर्मिथु॒या चर॑न्तम॒भि॒याति॑ दू॒षय॑न् ।
स्तौमि॑ मि॒त्रावरु॑णौ नाथि॒तो जो॑हवीमि॒ तौ नो॑ मुञ्च॒तमंह॑सः ॥७॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (ययोः) जिन आप दोनों का (सत्य-वर्त्मा) सत्य मार्ग पर जाने वाला (ऋजुरश्मिः) सरल रश्मियों वाला या सरल आचाररूप रस्सियों से बंधा, (रथः) स्वरूप या गतिशील व्यवहार है वह (मिथुया चरन्तम्) मिथ्या आचरण करने वाले पुरुष को (दूषयन्) अपराध में पकड़ता हुआ (अभियाति) उस पर आक्रमण करता है। मैं (नाथितः) संतापित होकर (स्तौमि) आपके गुणों का यथार्थ वर्णन करता हूं और (जोहवीमि) और पुकारता या प्रार्थना करता हूं कि (तौ) वे दोनों आप(नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें।

राष्ट्र पक्ष में स्पष्ट है। अध्यात्मपक्ष में—प्राण और अपान योगी की निरन्तर रक्षा करते हैं। आंगरिस, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, श्यावाश्व आदि सब आत्मा के अधीन प्राण शक्ति हैं जिनके कार्य और गुण भेद से ये नाम हैं जैसे बृहदारण्यक में कहा—" प्राणानेतदाह—तस्या सप्त ऋषयः सप्ततीरे इति प्राणा वै ऋषयः। इमावेव गोतमभारद्वाजौ (कर्णौ) इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी (चक्षुषी) इमौ वसिष्ठ काश्यपौ (नासिके) वागेवात्रिरित्यादि बृहदारण्यक उप० २। २। ३–४॥ दायां बायां

७–'यो वांरथ ऋजुरश्मिः सत्यधर्मा मिथुश्चरन्त मुपयाति दूषयन्' इति मै० सं०।

कान गोतम और भारद्वाज हैं, दायीं बायीं आंख विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। दायीं बायीं नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं, वाणी अत्रि है। इसी प्रकार, श्यावाश्व=मन, वध्यूश्व आत्मा, पुरुमीढ, अति सम्पत्तिमान् भोक्ता, आत्मा, विमद प्रज्ञानघन रूप आत्मा, सप्तवध्रि सप्तप्राण आत्मा, भारद्वाज ज्ञानमय अन्नाद आत्मा, गविष्ठिर=इन्द्रियाधिष्ठित आत्मा, कुत्स=ब्रह्मयोगी आत्मा, कक्षीवान् प्राणाभ्यासी, कण्व=ज्ञानवान्, मेधातिथि=ऋतम्भरा प्रज्ञासिद्ध आत्मा, त्रिशोक=तापत्रय का नाशकारी विदेह मुक्त आत्मा, काव्य उशना=वाक्सिद्ध आप्तकाम योगी, गोतम=आत्मसाक्षात्कारी, मुद्गल आनन्दघन योगी, इत्यादि जितने ये नाम हैं सब योग की विशेष दशा में पहुंचे हुए योगीजनों के ही हैं।

---

[३०] परमेश्वरी सर्व शासक शक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। वाग्देवत्यम्, १-५, ७, ८ त्रिष्टुभः, । ६ जगती। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

ऋ० १० । १२५ । १ ॥

भा०—ऋग्वेदे राष्ट्री देवता। वागम्भृणी ऋषिः। वागम्भृणी देवता। परमेश्वरी शक्ति स्वयं अपना वर्णन करती है। (अहं[1]) मैं (रुद्रेभिः) रुद्रों और (वसुभिः) वसुओं द्वारा सर्वत्र विश्वरूप राष्ट्र में और (विश्वेदेवैः) विश्वेदेव, समस्त विद्वानों सहित (चरामि) सर्वत्र व्याप्त हूं। (अहम्)

[३०] १-१. 'विशुद्धसत्वपरिणामरूपस्य अन्तःकरणस्य वृत्तिविशेष अभिमानात्मकोऽहंकारः। तदुपलक्षितानवच्छिन्नात्मका 'अहम्' इति सायणः।

(मित्रा वरुणा) मित्र और वरुण (उभा) दोनों को (बिभर्मि) धारण करती हूं, (अहम् इन्द्राग्नी) मैं इन्द्र और अग्नि को और (अहम् उभा अश्विना) मैं ही दोनों अश्वियों को भी धारण पोषण करती हूं ।

विशुद्ध सत्व गुण के परिणाम रूप अन्तःकरण की वृत्ति, अभिमान स्वरूप 'अहं' कहाती है । उससे युक्त आत्मा की शक्ति का वर्णन है । विराट्रूप—'प्रकृते महान् महतोऽहंकारः' । उस वैकारिक सात्विक अहकार की अधिष्ठात्री भी ईश्वरी शक्ति 'अहम्' है । उसका प्रतिनिधि शरीर में 'अहम्' है । रुद्र, वसु, आदित्य ये सब प्राणों के नाम हैं ।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
ता मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

ऋ० १० । १२५ । ३ ॥

भा०—(अहं) मैं (राष्ट्री [१]) सब संसार पर राज्य करने वाली ईश्वरी शक्ति हूं । मैं (वसूनां) सब वास कराने हारे लोकों को विद्वानों को, (सं-गमनी) प्राप्त कराने वाली, (चिकितुषी) सब का ज्ञान करने वाली और सब को ज्ञान कराने वाली, (यज्ञियानां प्रथमा) सब यज्ञयोग्य देवों में सब से प्रथम, सब से उत्कृष्ट हूं । (तां) उस (भूरि-स्थात्रां) नाना स्वरूप से, जगत् के प्रपञ्चरूप विराजमान (मां) मेरा (देवाः) विद्वान् लोग (भूरि) नाना प्रकार से (आवेशयन्तः) कल्पना करते हुए (वि-अदधुः) उपदेश करते हैं ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १२५ । ५ ॥

२–' भूर्यावेशयन्तीम् ' इति ऋ० ।

१. ' ईश्वरनामैतत् ' इति सायणः ।

३–(द्वि० ' जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ' इति ऋ० ।

भा०—(अहम्) मैं परमेश्वर (एव) ही (देवानां जुष्टं) देव-विद्वानों के हितकर उन से सेवन करने एवं प्रिय लगने योग्य (उत) और (मानुषाणां) मनुष्यों, मननशील जीवों के हितकारी (इदं) इस अनुभव योग्य, साक्षात् आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान का (स्वयं) स्वयं अपने आप (वदामि) उपदेश करता हूं । और (यं कामये) जिस २ को मैं उचित समझता हूं (तं तं) उस २ को (उग्रं) सब से अधिक बलवान् एवं ऐश्वर्यवान् (कृणोमि) करता हूं और जिस २ को चाहता हूं (तं) उस २ को (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा, (तं ऋषिं) उस २ को ऋषि और (तं) उस २ को (सुमेधाम्) उत्तम धारणावती बुद्धि से सम्पन्न करता हूं ।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥४॥

ऋ० १० । १२५ । ४ ॥

भा०—शरीर में स्थित 'अहं' शक्ति या आत्म शक्ति का निरूपण करते हैं । (सः) वह पुरुष शरीर (मया अन्नम् अत्ति) मेरी शक्ति से ही अन्न को खाता है, (यः विपश्यति) जो देखता है वह भी मेरी शक्ति से देखता है, (याः प्राणति) जो प्राण लेता है वह भी मेरी आत्म शक्ति से ही प्राण लेता है । (यः ईम् उक्तं शृणोति) और जो कहा हुआ वचन भी सुनता है वह भी मेरी शक्ति से ही सुनता है । (मां अमन्तवः) मुझको न मानने और जानने वाले (ते) वे बहुत से लोग (उप क्षियन्ति) विनाश को प्राप्त होजाते हैं हे (श्रुत) गुरूपदेश को श्रवण करने हारे विद्वन् ! (श्रुधि) मैं अन्तरात्मा भीतर से जो कहती हूं उस को श्रवण कर । मैं (ते) तेरे लिये (श्रद्धेयं) सत्यरूप से धारण करने योग्य, श्रद्धायोग्य उपदेश (वदामि) कहता हूं ।

४-(प्र०) 'सोअन्न-' (द्वि०) 'प्राणिति' (च०) 'श्रद्धिवम्' इति ऋ० ।

परमात्म पक्ष में—समस्त संसार का भोजन, दर्शन, प्राणन, श्रवण आदि उसी प्रभु के दिये शक्ति से होता है जो उस भगवान् के इस सामर्थ्य के नहीं मानते वे अज्ञान में नष्ट होजाते हैं । वही ईश्वर सब के हित का उपदेश करता है ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उं ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १२५ । ६ ॥

भा०—(ब्रह्म-द्विषे) ब्रह्म=वेद-ज्ञान को द्वेष करने वाले, ब्रह्मघाती, (शरवे) हिंसक को (हन्तवा) मारने के लिये (उ) भी (अहम्) मैं ही ईश्वर (रुद्राय) दुष्टों को रुलाने वाले क्षत्रिय के (धनुः) धनुष् को (आतनोमि) तानता हूं । (अहं) मैं ईश्वर ही (जनाय) जन्तुओं के (समदं) संग्राम या प्रमोद को (कृणोमि) करता हूं । (अहं) मैं ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों में (आविवेश) आविष्ट, व्यापक हूं ।

अहं सोमंमाहुनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्याः यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १२५ । २ ॥

भा०—(अहं) मैं (आहनसं) आघातकारी, शत्रु के विनाशक (सोमं) सोम राजा को (बिभर्मि) धारण करता हूं और मैं ही (त्वष्टारं) सूर्य को और (पूषणं) सब के पोषक और (भगं) ऐश्वर्यवान् को भी धारण करता हूं । (अहं) मैं (हविष्मते) हवि द्वारा यज्ञ करने वाले, (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (यजमानाय) यजमान को (सुप्र-अव्या) सुखप्रद (द्रविणा) धनों का (प्रदधामि) प्रदान करता हूं ।

६–(तृ०) ‘ द्रविणं ’ इति ऋ० । (च०) ‘ सुप्राव्ये ’ इति सायणसम्मतः पाठः ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥

ऋ० १० । १२५ । ७ ॥

भा०—(अहं) मैं ईश्वरी शक्ति (अस्य) इस दीखनेयोग्य संसार के भी (मूर्धन्) प्रारम्भ में या ऊपर (पितरम्) इसके पिता, परिपालक हिरण्यगर्भ को (सुवे) उत्पन्न करती हूं । (समुद्रे[1]) समस्त भूत, प्राणियों के उद्गम स्थान परमात्मा के (अन्तः) भीतर विराजमान (अप्सु) समस्त जगत् प्रपञ्च में व्यापक महत्-रूप मूल कारण परमाणुओं में (मम) मुझ ईश्वरी शक्ति का (योनिः) कारण रूप से आवासस्थान है । (ततः) उसी मेरे आवासस्थान से जहां मैंने मूल कारण प्रकृति में संसार प्रपंच का वीज वपन किया, वहां से ही (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वि तिष्ठे) व्यवस्थित करती हूं, उनकी रचना करती हूं । और (अमूम् द्याम्) उस दूरस्थ आकाश में व्यापक दिव्य लोकमयी सृष्टि को (वर्ष्मणा) प्राकृत आवरण विराड्रूप देह से (उप स्पृशामि) आच्छादित करती हूं । अर्थात् मैंने विशाल आकाश को भी ढका है ।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं वीजप्रदः पिता ॥

गीता । अ० १४ । ३, ४ ॥

७–' भुवानानु विश्वोता ' इति ऋ० ।

१. समुद्रवन्ति अस्माद् भूतजातानि इति समुद्रः परमात्मा । समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः इति वाजसनेयकश्रुत्या समुद्रशब्दवाच्यत्वं परमात्मनो दर्शितम् । इति सायणः ।

अ॒हमे॒व वात॑ इव॒ प्र वा॑म्यारभ॑माणा॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
प॒रो दि॒वा प॒र ए॒ना पृ॑थि॒व्यैताव॑ती महि॒म्ना सं ब॑भूव ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १२५ । ८ ॥

भा०—(अहम् एव) मैं ही (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों और देहों को (आरभमाणा) निर्माण करती हुई (वात-इव) देहों में प्राण के समान और संसार में वायु के समान (प्र वामि) सर्वत्र विशेष रूप से, उत्कृष्ट रूप से व्यापक होकर रहती हूं । और मैं ही (दिवः) सूर्यादि लोकों से (परः) परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथिवी से भी परे अर्थात् इन विकार पदार्थों से भी पूर्व काल में विद्यमान रह कर (महिम्ना) अपनी महिमा, महत्व शक्ति से (एतावती) इतने विशाल रूप में जगत् का रुप बना कर (सं बभूव) पूर्ण रीति से प्रकट हो रही हूं ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥ ४० ॥
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

गीता अ० १० ॥

इसी प्रकार गीता के १० वें और १५ वें अध्याय में इस सूक्त का पूर्ण व्याख्यान प्राप्त होगा । पाठक वहां ही देखें ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च षट्त्रिंशत् ।]

८–' एतावती महिना सं बभूव ' इति ऋ० ।

[३१]

ब्रह्मास्कन्द ऋषिः । मन्युर्देवता । १, ३ त्रिष्टुभौ, २, ४ भुरिजौ, ५—७ जगत्यः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणा हृषि॒तासो॑ मरुत्वन् ।
ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना॒ उप॒ प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः ॥१॥

ऋ० १० । ८४ । १ ॥

भा०—मन्युस्तापस ऋषिः । मन्युर्देवता । हे मन्यो ! ज्ञानस्वरूप प्रकाशमान् आत्मा में ज्ञानपूर्वक अभिमान के उग्रभावरूप ! हे (मरुत्वन्) प्राणस्वरूप आत्मन् ! इन्द्र ! (त्वया) तुझ सहायक के साथ (स-रथम्) रथ सहित शत्रु को (आ-रुजन्तः) पीड़ित एवं भग्न, विनष्ट करते हुए (हर्षमाणाः) हर्ष, आनन्द प्रसन्नता प्रकट करते हुए (हृषितासः) स्वयं हृष्ट प्रसन्न होकर (आयुधा सं-शिशानाः) अपने हथियारों को तीखा करते हुए (तिग्म-इषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले अग्निरूपाः) आग के समान जाज्वल्यमान (नरः) नेता, भट-गण (उप प्र यन्तु) शत्रु तक पहुंच जांय ।

अध्यात्म पक्ष में—हे मन्यो=ज्ञानवान् मरुत्वन्=सर्व प्राणों के स्वामिन् ! इन्द्र ! परमेश्वर तुझ सहायक के होते हुए अग्नि रूप ज्ञानी जीव शमदमादि तीव्र साधनों को करते हुए तीक्ष्ण इषु=कामना, प्रबल इच्छा वाले होकर (हर्षमाणाः हृषितासः) स्वयं प्रसन्न आनन्दमग्न होकर रथ=देह सहित इस बन्धन को तोड़ कर मुक्त होकर तुझे प्राप्त करें । अध्यात्म युद्ध का वर्णन भक्तों की वाणियों में बहुत है जैसे कबीर कहते हैं:—

[३१] १–' हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः ' इति ऋ० । (च०) ' यन्ति ' इति पैप्प० सं० । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वा । (नि० १० । ३)

एक शमशेर, इकसार चलती रहे, खेल कोई सूरमा सन्त झेलै ।
कामदल जीत करि, क्रोध पैमाल करि, परम सुखधाम तहं सुरत मेलै ॥
सील से नेह करि, ज्ञान को खड्ग लै, आप चौगान में खेल खेलै ।
कहे कवीर, सोई संतजन सूरमा, सीस को सौंपकरि करम ठेलै ॥

रेखता २६ ॥

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥२॥

ऋ० १० । ८४ । २ ॥

भा०—हे मन्यो ! तू (अग्निः-इव) अग्नि के समान (त्विषितः) कान्तिमान् होकर (सहस्व) शत्रुओं को पराजित कर । और तू हे (सहुरे) सहनशील ! (हूतः) हम से पुकारा जाकर या हम से आदर पूर्वक आमन्त्रित होकर (नः सेना-नीः) हमारा सेना-नायक (एधि) बन । (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओं को मार कर (वेदः) धन को (विभजस्व) समस्त सैनिकों में बांट दे । और (ओजः) अपने असह्य बल, प्रताप को (मिमानः) बराबर बनाये रख कर (मृधः) शत्रुगण को (वि नुदस्व) नाना प्रकार से परे हटा ।

अध्यात्म पक्ष में—हे मन्यो ज्ञानी योगिन् ! आत्मन् ! अग्नि के समान देदीप्यमान होकर काम क्रोध आदि पर वश कर और हे सहुरे=आत्मन् ! तू पुकारा जाकर हमारा सेना-नायक बन । क्रोध काम आदि का नाश कर, आत्मविभूतियों को अन्य इन्द्रियों में बांट दे और विषयरूप शत्रुओं का विनाश कर ।

२–(तृ०), ' जित्वाय शत्रून ' इति पैप्प० सं० ।

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८४ । ३ ॥

भा०—हे मन्यो ! (अस्मै) इस राजा के (अभिमातिम्) शत्रु को (सहस्व) पराजित कर और (शत्रून्) शत्रुओं को (रुजन्) उनको तोड़ता फोड़ता, (मृणन्, प्र-मृणन्) रोंदता पीसता हुआ उस तक (प्रेहि) जा पहुंच, उस पर चढ़जा । (ननु) क्या वे (ते उग्रं पाजः) तेरे उग्र, प्रचण्ड बल को (आ रुरुध्रे) रोक सकते हैं ? नहीं । क्योंकि तू हे (एक-ज) अद्वितीय ! (त्वम्) तू (वशी) सब पर वश करने हारा होकर उन सब को (वशं नयासै) अपने वश में ले आता है ।

अध्यात्म पक्ष में—योगी अपने आत्मा को कहता है-मन्यो ! ज्ञानवन् ! आत्मन् ! इस आत्मा के अभिमान-अहंकार को वश कर काम क्रोध आदि शत्रुओं के बल को वार २ तोड़, उनको दबा, पीस और आगे बढ़, तेरे प्रचण्ड बल को ये नहीं सह सकते । तू उन पर एकला वश कर लेता है ।

कबीर सोई सूरमा जाके पांचों साथ ।
जाके पांचों बस नहीं तेहि गुरु संग न साथ ॥

—सूरमा का अङ्ग २४ ॥

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ८४ । ४ ॥

३–(प्र०) 'अभिमातिमस्मे' (च०) 'तपस एकजत्वम्' इति ऋ० ।
(तृ०) 'रुरुध्रे' इति सायणाभिमतः ।

४–'मन्यवीडितो विशं विशं युधये कृण्महे' इति ऋ० ।

भा०—हे मन्यो ! ज्ञानवन् ! आत्मन् ! (ईडिता) एकमात्र ज्ञान करने वाला तू इन (बहूनाम्) बहुत से इन्द्रियगण में से (एकः) एक ही है । तू (विशं-विशं) प्रत्येक प्रजा को (युद्धाय) काम क्रोध आदि शत्रुओं के संग युद्ध करने के लिये (सं शिशाधि) उनको वार २ शासन कर, उन पर वश रख कर उनके लड़ने के लिये आज्ञा दे । हे (अकृत्तरुक्) अच्छिन्नकान्ते ! अटूट प्रकाश वाले आत्मन् ! (त्वया युजा) तुझ सहायक के साथ (वयं) हम (द्युमन्तं) दीप्तियुक्त, तेजःसम्पन्न होकर, एवं शानदार (घोषं) सिंहनाद (विजयाय) इस विजय के लिये (कृण्मसि) करते हैं । इस अध्यात्म ब्रह्मविषयक विजय का प्रकरण देखो 'केनोपनिषद्' (खण्ड ३, ४)

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ स्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥
ऋ० १० । ८४ । ५ ॥

भा०—हे मन्यो ! प्रभो ! तू (इन्द्रः-इव) सेनापति या परमेश्वर के समान (विजेषकृत्) विजयशील होता हुआ भी (अ-नव-ब्रवः) अति पुरातन उपदेष्टा है । तू (इह) इस लोक में (अस्माकम्) हमारे (अधि-पाः) राजा (भव) हो । हे (सहुर) सहनशील ! शत्रु का पराजय करनेहारे ! (ते प्रियं नाम) तेरे प्रिय नाम का हम (गृणीमसि) उच्चारण करते हैं । (तम्) उस (उत्सं) आनन्द के उत्तम, परम स्रोत का (विद्म) ज्ञान करें (यतः) जिससे तू भी (आ-बभूथ) आनन्द मय और सामर्थ्यवान् हो सर्वत्र व्यापक है ।

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्य/धि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

६–(द्वि०) 'बिभर्ष्यभिभूत उत्तरम्' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—हे मन्यो ! हे वज्र ! अज्ञान को वर्जन करने हारे, हे (सायक) समस्त कष्टों को अन्त करने हारे ! हे (सहभूते) इन्द्रिय सामर्थ्यों सहित सदा विद्यमान् आत्मन् ! हे (आ-भूत्या) इन्द्रियों पर दमन करने हारे व्यापक सामर्थ्य सहित (सह-जा) सहनशील ! तू (उत्तरं सहः) सब से अधिक विजय सामर्थ्य, बल को (बिभर्षि) धारण करता है । तू (क्रत्वा सह) ज्ञानमय बल के या कर्म के साथ (मेदी) उत्तम फल से प्रेम करने वाला होकर हे (पुरु-हूत) इन्द्रियगण रूप प्रजाओं से पुकारे गये इन्द्ररूप आत्मन् ! राजन् ! तू (महा-धनस्य) महान् धन, मोक्ष की (सं-सृजि) प्राप्ति के शुभ कार्य में (एधि) तत्पर हो, कमर कस ।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥७॥

भा०—(मन्युः) ज्ञानवान् आत्मा और (वरुणश्च) सर्वश्रेष्ठ वरणीय मोक्षरूप परम आत्मा (धनं) ज्ञान और आनन्दरूप (उभयं) दोनों प्रकार के धनों को (सं-सृष्टं) एक बनाकर, मिलाकर (सम्-आकृतम्) एक रस करके बराबर २ (अस्मभ्यं धत्तां) हमें दे । और (हृदयेषु) हृदयों में (भियः) नाना प्रकार के भयों को (दधानाः) उत्पन्न करने हारे (शत्रवः) शत्रुगण, काम क्रोध लोभ आदि (परा-जितासः) पराजित होकर (अप नि लयन्ताम्) सर्वथा दूर भागें, छिपे रहें, विनष्ट हों । ये मन्त्र राजा के पक्ष में स्पष्ट हैं ।

[३२] प्रभु से प्रार्थना ।

ब्रह्मास्कन्द ऋषिः । मन्युर्देवता । १ जगती, २—७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

७–' अस्मभ्यं दत्तां ' (तृ०) ' भियम् ' इति ऋ० । (च०) ' पराजिता यन्तु परमां परावतम् ' इति पैप्प० सं० ।

यस्ते मन्यो विधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥१॥

ऋ० १० । ८३ । १ ॥

भा०—मन्युस्तापस ऋषिः । मन्युर्देवता । हे मन्यो ! हे वज्र ! पापकर्मों से वर्जन करने हारे ! हे (सायक) शत्रुओं को अन्त करने वाले ! (यः) जो (ते) तू (अविधत्) परिचर्या करता है, सेवन करता है वह (विश्वम्) सब प्रकार के (सहः) सहन करने वाले सामर्थ्य (ओजः) कान्ति, प्रभाव (विश्वम्) सब गुणों को (आनुषक्) निरन्तर (पुष्यति) पुष्ट करता है । (सहस्कृतेन) बल को बढ़ाने वाले (सहस्वता) पर-विजयी (त्वया युजा) तुझ सहायक से (दासम्) कर्म, धर्म का विनाश करने वाले नीचवृत्ति पुरुष को और (आर्यं) अपने धर्म कर्मों में श्रेष्ठ पुरुष को (वयं) हम (साह्याम) अपने वश करें ।

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥२॥

ऋ० १० । ८३ । २ ॥

भा०—(मन्युः इन्द्रः) मन्यु ही इन्द्र है, (मन्युः एव) मन्यु ही (देवः) देव (आस) है, (मन्युः होता) मन्यु होता है, (वरुणः) मन्यु ही वरुण है; (जात-वेदाः) मन्यु ही जातवेदा है, (मन्युः) वह मन्यु है जिसको (याः) जो (मानुषीः) मनुष्य मननशील प्रजाएं हैं वे सब

[३२] १–(प्र०) 'यस्ते सद्यो' (च०) 'सहसा सहीयसा' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) 'मन्युं विश' सायणाभिमत, ऋग्वेदमतश्च । (प्र०) 'मन्युर्भगो' (तृ०) 'ईडते देवयन्तीः' (च०) 'तपसा अमेण' इति तै० ब्रा० । 'मानुषीयः' इति पैप्प० सं० ।

(ईडते) स्तुति करते हैं, उपासना करते हैं । हे (मन्यो) मन्यो ! प्रभो ! तू (सजोषाः) सप्रेम (तपसा) तप से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर ।

अभी/हि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८३ । ३ ॥

भा०—हे मन्यो ! ज्ञानवन् प्रभो ! आप (तवसः तवीयन्) महान् से भी महान् हैं । आप (तपसा युजा) अपने सदा साथ वर्तमान तप, सामर्थ्य, बल से (शत्रून्) शत्रुओं को (विजहि) सर्वथा नाश करो । (त्वं) आप (अमित्र-हा) शत्रुओं के नाशक ! (वृत्र-हा) सब विघ्नों के नाशक, (दस्यु-हा) सब डाकू आदि विनाशकारी हिंसकों के विनाश कर होकर (नः) हमें (वसूनि) धनों को (आ भर) प्राप्त करा ।

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयम्भूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

भा०—हे मन्यो ! प्रभो ! (त्वं) आप (अभिभूति-ओजाः) सर्वातिशायी ओजः=बल सम्पन्न. सर्वशक्तिमान् (स्वयं-भूः) बिना दूसरे की सहायता के स्वयं जगत् की उत्पत्ति स्थिति, प्रलय में समर्थ, अथवा स्वयं सत्तावान् किसी से न उत्पन्न होकर भी (भामः) तेजस्वी, स्वयंप्रकाश, (अभिमाति-सहः) अभिमानी शत्रुओं को पराभव करने वाले (विश्व-चर्षणिः) सब के द्रष्टा, (सहुरिः) सहनशील, सर्ववशी, (सहीयान्) बलवान् हो । आप (अस्मासु) हम (पृतनासु) प्रजाओं में (ओजः धेहि) बल का प्रदान करो ।

३–(द्वि०) ‘ जहीह सत्रून् ’ इति पैप्प० सं० ।

४–‘ सहुरिः सहावान् ’ इति ऋ० । (द्वि०) ‘ स्वयं जोभासो ’ (च०) ‘ सहावान् सहूयमानोऽमृताय गच्छत् ’ इति मै० सं० ।

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८३ । ५ ॥

भा०—हे (प्रचेतः) प्रकृष्ट ज्ञानवान् ! हे मन्यो ! (तविषस्य) महान् (तव) तेरे (क्रत्वा) क्रिया सामर्थ्य, बल से (अभागः) रहित (सन्) होकर मैं (अप) दूर (परा-इतः) पराजित (अस्मि) हो जाता हूं । हे मन्यो ! तव (अक्रतुः) निर्बल, अज्ञानी होकर (अहं) मैं (त्वा) तेरी (जिहीड[1]) शरण आता हूं । तेरा (स्वा तनूः) अपना स्वरूप ही (बल-दावा) बलदायक है । अतः तू (नः) हमें (एहि) प्राप्त हो ।

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ८३ । ६ ॥

भा०—मैं (अयं) यह (ते अस्मि) तेरा ही हूं । आप (नः) हम से (प्रतीचीनः) प्रत्यक् तत्व, सदा अदृश्य होकर भी (नः) हमारे (अर्वाङ्) साक्षात् दर्शन (उप एहि) दें । हे (सहुरे) सहनशील, बलशालिन् ! हे (विश्वदावन्) समस्त संसार को सब पदार्थ देने हारे मन्यो ! ज्ञानवन् ! (वज्रिन्) संहारक ! (नः) हमारे (अभि आ ववृत्स्व) सहायक हों । मैं और आप दोनों (दस्यून्) दस्युओं, आत्मशक्ति के नाशक शत्रुओं को (हनाव) विनाश करें, (उत) और (आपेः) मुझ बन्धु को आप (बोधि) अपना समझें, अपनावें या ज्ञान दें ।

५–' स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ' इति ऋ० ।

१. हिडिगत्यनादरयोः भ्वादिः ।

६–(प्र०) ' उपमा ' (तृ०) ' वज्रिन्नभि मामाववृत्स्व ' (द्वि०) ' विश्वधायः ' इति ऋ० ।

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥७॥

ऋ० १० । ८३ । ७ ॥

भा०—हे मन्यो ! आप (अभि प्रेहि) हमें साक्षात् दर्शन दें और (दक्षिणतः भव) हमारे सदा दायें होकर रहें । (अध) और (नः वृत्राणि) हमारे विघ्नों को हम दोनों मिलकर (भूरि) खूब (जंघनाव) विनाश करें । हे मन्यो ! (ते) तेरे (मध्वः) मधु=मधुर आनन्द रस का (अग्रं) सारभूत श्रेष्ठ (धरुणं) ध्रुव, चिरस्थायी स्वरूप को (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं, प्राप्त करता हूं । (उभौ) हम दोनों प्रभु और भक्त मिलकर (उप-अंशु) शान्त, एकान्त में (प्रथमा) सब से पूर्व उस रस का (पिबाव) पान करें ।

[३३] पाप नाश करने की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । पापनाशनोऽग्निर्देवता । १—८ गायत्र्यः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥ ऋ० १ । ९७ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) जाज्वल्यमान तेजःस्वरूप परमात्मन् ! (नः) हमारे (अघम्) पाप को (अप शोशुचत्) दूर करो और (रयिम्) हमारे वीर्य को (शुशुग्धि) खूब प्रज्वलित करो । (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को दूर करो ।

७-(च०) 'पिबेव' इति पैप्प० सं० ! (प्र०) 'मेऽधा' (च०) 'उभा उपांशु' इति ऋ० ।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।
अप० ॥ २ ॥ ऋ० १ । ९७ । २ ॥

भा०—हे प्रभो ! (सुक्षेत्रिया) उत्तम क्षेत्र=देह की प्राप्ति के लिये और (सुगातुया) और उत्तम मार्ग—देवयान को प्राप्त करने की इच्छा से और (वसूया च) उत्तम वसु=आत्मा को या परम आत्मरूप आनन्द मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा से (यजामहे) हम आपकी उपासना करते हैं । आप (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को जला कर नष्ट करें ।

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः ।
अप० ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ९७ । ३ ॥

भा०—(एषां) इन हमारे समस्त विद्वान् कल्याण-कारियों में से (यत्) क्योंकि प्रभो आप ही (भन्दिष्ठः) सब से अधिक सुखकारी और कल्याणकारी है और (अस्माकासः सूरयः च) हमारे विद्वान् भी कल्याण कारी हैं । उनके संग में रख कर (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पापों को दूर करो ।

प्रयत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।
अप० ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ९७ । ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! (यत्) क्योंकि (ते) तुझ से ही (सूरयः प्र) विद्वान् लोग उत्पन्न होते हैं अतः (वयम्) हम भी (ते प्रजायेमहि) तुझ से ही विद्या प्राप्त करके उन्नत हों । (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को आप दूर करें ।

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः ।
अप० ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ९७ । ५ ॥

[३३] ४–' जायेमहे ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यत्) क्योंकि (सहस्वतः) सब को अभिभव करने वाले बल से सम्पन्न (अग्ने) प्रकाशस्वरूप आपके (भानवः) तेजःस्वरूप सहस्रों सूर्य रूप किरणें (विश्वतो यन्ति) चारों तरफ गति कर रहे हैं। अतः आप (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पाप को दूर करें।

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।
अप० ॥ ६ ॥　　　　ऋ० १ । ९७ । ६ ॥

भा०—हे (विश्वतः-मुख) सर्वव्यापक, सब ओर सहस्रों मुखों वाले आप (विश्वतः) सब प्रकार से (परि-भूः असि) सर्वत्र व्यापक और सब पर शक्तिशाली हो, इसलिये आप (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पापों को दूर करें। "सहस्र शीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" इति (यजुर्वेद अ० ३१)।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप० ॥ ७ ॥　　　　ऋ० १ । ९७ । ७ ॥

भा०—हे (विश्वतोमुख) सर्वव्यापक सर्वद्रष्टा ! आप (नावा इव) जिस प्रकार नौका से समुद्रों को पार किया जाता है उसी प्रकार (नः) हमें (द्विषः अति पारय) काम क्रोध आदि अन्तः-शत्रुओं से पार कर। और (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पाप हम से दूर कर।

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥　　　　ऋ० १ । ९७ । ८ ॥

भा०—(सः) वह परम पवित्र आप (नावा) नाव—जहाज़ से (सिन्धुम् इव) समुद्र के समान (नः) हमें हमारे (स्वस्तये) सुख,

८–(प्र०) 'नावया' इति ऋ०, पैप्प० सं०।

परम आनन्दमय कल्याण के लिये (अति पर्ष) इस भवसागर से पार करो और (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को हम से दूर करो।

[३४] विष्टारी ओदन, परम प्रजापति की उपासना और फल।

अथर्वा ऋषिः। ब्रह्मास्यौदनं विष्टारी ओदनं वा देवता। १-३ त्रिष्टुभः, ५ त्र्यवसाना सप्तपदाकृतिः, ६ पञ्चपदातिशक्वरी, ७ भुरिक् शक्वरी, ८ जगती। अष्टर्चं सूक्तम्॥

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः॥१॥

भा०—(यज्ञः) यह यज्ञमय प्रजापति (विष्टारी) सर्वत्र विस्तृत, ब्रह्माण्ड रूप में विराट् देह करके फैला हुआ है। यह (तपसः अधिजातः) उस तपरूप परम परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इसका एक नाम 'ओदन'= प्रजापति या परमेष्ठी है। (अस्य) इस (ओदनस्य) प्रजापतिरूप ओदन का (शीर्षम्) शिरोभाग (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान, वेद या शक्ति है और (अस्य पृष्ठम्) इसकी पीठ (बृहत्) यह विशाल ब्रह्माण्ड है और (उदरं) उदर भाग (वामदेव्यम्) वाम=जीव द्वारा अधिष्ठित संसार स्थावर जंगम है। यज्ञपक्ष में—उस ओदन का शिरोभाग रथंतर साम, पृष्ठभाग बृहत् साम और उदरभाग वामदेव्य साम हैं। वर्णभेद से उसका शिरोभाग ब्राह्मण, पृष्ठभाग बृहत्-क्षत्र और वामदेव्य-वैश्य हैं। इसके (पक्षौ) दोनों पक्ष (छन्दांसि) छन्द हैं। (अस्य मुखम्) इसका मुख सत्य है।

संवत्सर, पुरुष, आत्मा, परमात्मा, समाज, राष्ट्र, यज्ञ आदि प्रजापति

---

[३४] १-(प्र०) 'ब्रह्मास्य शिरः' (च०) 'विष्टा यज्ञस्तपसोधि जातः' इति पैप्प० सं०।

के नाम से कहे जाते हैं सब पद्यों में ब्रह्म बृहत्, वामदेव्य, छन्द आदि शब्दों के अर्थ इस रूप में समझिये ।

(१) यज्ञः=मखः, भागः, देवानां महः । एष वै महान् देवो यद् यज्ञः (गो० पू० २ । १६) यज्ञो वै बृहन् विपश्चित् । श० ३ । ५ । ३ । १२ ॥ यज्ञो विदद् वसुः । श० १४ । ४ । ५ ॥ यज्ञो वै स्वः । श० १ । १ । २ । २१ ॥ देवरथः । ऐ० २ । ३७ ॥ वाग् वै यज्ञः । ऐ० ५ । ५४ ॥ संवत्सरो यज्ञः प्रजापति । शं० २ । २ । २ । ४ ॥ आत्मा वै यज्ञः । श० ६ । २ । १ । ७ ॥ पुरुषो वै यज्ञः । कौ० १७ । ७ ॥

(२) ओदनः=परमेष्ठी वा एष यदोदनः । तै० १ । ७ । १० । ६ ॥ प्रजापतिर्वा ओदनः । श० १३ । ३ । ६ । ७ ॥ रेतो वा ओदनः । श० १३ । १ । १४ । ४ ॥

(३) ब्रह्म=वाग्, वाचः परमं व्योम, सत्वं, चक्षुः, मन्त्रः, वेदः, अग्निः, प्राणः, अहः, ब्राह्मणः इत्येते ब्रह्मवाच्यार्थाः ।

(४) बृहत्—बृहन्मर्याः इदं सः ज्योगभूद् इति बृहतो बृहत्वम् । तां० ७ । ६ । ५ ॥ यद् ह्रस्वं तद् रथन्तरं यद् दीर्घं तद् बृहत् । कौ० ३ । ५ ॥ श्रैष्ठ्यं । ऐ० ८ । २ । यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ, एवं बृहत् प्रजापतेः ॥ तां० ७ । ६ । ६ ॥ ऊर्ध्वमिव हि बृहत् । द्यौः । तां० १६ । १ । ८ ॥ स्वर्गो लोकः । तां १६ । ५ । १५ ॥ आदित्यः, प्राणः, क्षत्रं, मनः । स प्रजापतिः तूष्णीं मनसाऽध्यायत् स यन्मनस्यासीत् तत् बृहत्समभवत् । तां० ७ । ६ । १ ।

(५) वामदेव्यम्=पिता वामदेव्यं, पुत्राः पृष्ठानि । ता० ७ । ८ १ ॥ शान्तिर्वामदेव्यम् तै० १ । १ । ८ । २ ॥ प्रजननं वामदेव्यं । श० ५ । १ । ३ । १२ ॥ प्राणः । श० ६ । १ । २ । ३८ ॥ पशवः । तां० ४ । ८ । १५ ॥

(६) छन्दांसि=दिशः, रसः, इन्द्रियाणि, प्राणाः, पशवः । प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि । ऐ० ८ । १८ ॥ लोमानि । श० ६ । ४ । १ । ६ ॥ छन्दांसि सावित्री । गो० पू० १ । ३३ ॥

(७) सत्यम्=ऋतम्, धर्मः, सुकृतस्य लोकः, व्रतस्य रूपम्, देवाः, ब्रह्म, सत्यं वा एतत् यद्वर्षति । तै० १ । ७ । ५ । ३ ॥ असावादित्यः तै० २ । १ । ११ । १ ॥ विशेषविवरणं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥२॥

भा०—उक्त प्रकार के प्रजापति की उपासना एवं ज्ञान करने वाले विद्वान् पुरुष (अनस्थाः) अस्थि आदि स्थूल पदार्थों के बने शरीर बन्धन से मुक्त होकर (पवनेन शुद्धाः) पवन, सब के परमपावन परमात्मा की ज्योति से शुद्ध हुए हुए, (शुचयः) वाक् मनः, कर्म सब प्रकार से पवित्र एवं कान्तिमान् होकर (शुचिम् लोकम्) शुद्ध पवित्र, ज्योतिर्मय लोक मोक्ष को (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः) समस्त उत्पन्न लोकों को जानने हारा परमात्मा (एषां) इन मुक्त पुरुषों के (शिश्नं[1]) सुख-प्राप्ति के साधन सामर्थ्यों को (न प्र दहति) दग्ध नहीं करता । इसलिये (स्वर्गे लोके) स्वर्ग=सुखमय लोक में भी (एषां) इन मुक्तात्माओं को (बहु स्त्रैणम्) बहुत से भोग्य लोक प्राप्त होते हैं ।

आत्मज्ञानी अपने सुरक्षित सामर्थ्य से मुक्त होकर यथेच्छ होकर सर्व लोकों में जासकते हैं । जैसा उपनिषद् में लिखा है । " स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । " छान्दो० । (१० । २५) इस

२–(प्र०) ' अनस्थाः शुद्धाः पवनेन पूताः ' इति पैप्प० सं० ।
१. ' शिश्नं श्नथतेः ' नि० ४ । ३ । ३ ॥

तत्व को न समझ कर अन्य मजहब वालों ने स्वर्ग में अप्सराओं और हूरों की कल्पना की है। वस्तुतः शिश्न-इन्द्रियों के सामर्थ्य का उपलक्षण है और स्त्रियां भोग्य लोकों का उपलक्षण हैं। क्योंकि समस्त आनन्दों का एकायन 'शिश्न' को माना गया है इसलिये उसी का उपादान किया है और श्लेषवृत्ति से "स्त्रैणम्" शब्द से भोग्य पदार्थ को बतलाया गया है। मुक्तात्माओं के देहादि अवयव न होने से शिश्नादि शब्द की भोग-साधन सामर्थ्य में लक्षणा है। इसकी तुलना इसी सूक्त के ४ र्थ मन्त्र से करो।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो मुक्त पुरुष (विष्टारिणं) विस्तृत, विराड् रूप इस (ओदनं) प्रजापति विषयक ज्ञानरूप 'ओदन' को (पचन्ति) परिपक्व करते हैं। उसका अभ्यास करते, पकाते हैं, अपने हृदय में दृढ़ कर लेते हैं (एनान्) उन पुरुषों को (अवर्त्तिः) किसी पदार्थ का अभाव (कदा चन) कभी भी (न सचते) नहीं रहता। मुक्तात्मा पुरुष (यमे) समस्त विश्व के नियामक परमेश्वर में (आस्ते) आश्रय ले लेता है, और (देवान्) पूर्व मुक्त आत्माओं के भी (उप याति) समीप प्राप्त होता है, और (सोम्येभिः) सोम=ब्रह्मानन्द रस का उपभोग करने हारे उन (गन्धर्वैः) ज्ञानी पुरुषों के साथ ही (मदते) परम हर्ष को प्राप्त करता है।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

भा०—पूर्वोक्त भावों को और अधिक स्पष्ट करते हैं। (ये विष्टारिणं

३–(द्वि०) 'कुतश्चन', (च०) 'सौम्यैः' इति पैप्प० सं०।
४–(तृ०) 'रथयान ईयते' इति पैप्प० सं०।

(६) छन्दांसि=दिशः, रसः, इन्द्रियाणि, प्राणाः, पशवः । प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि । ऐ० ८ । १८ ॥ लोमानि । श० ६ । ४ । १ । ६ ॥ छन्दांसि सावित्री । गो० पू० १ । ३३ ॥

(७) सत्यम्=ऋतम्, धर्मः, सुकृतस्य लोकः, व्रतस्य रूपम्, देवाः, ब्रह्म, सत्यं वा एतत् यद्वर्षति । तै० १ । ७ । ५ । ३ ॥ असावादित्यः तै० २ । १ । ११ । १ ॥ विशेषविवरणं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥२॥

भा०—उक्त प्रकार के प्रजापति की उपासना एवं ज्ञान करने वाले विद्वान् पुरुष (अनस्थाः) अस्थि आदि स्थूल पदार्थों के बने शरीर बन्धन से मुक्त होकर (पवनेन शुद्धाः) पवन, सब के परमपावन परमात्मा की ज्योति से शुद्ध हुए हुए, (शुचयः) वाक् मनः, कर्म सब प्रकार से पवित्र एवं कान्तिमान् होकर (शुचिम् लोकम्) शुद्ध पवित्र, ज्योतिर्मय लोक मोक्ष को (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः) समस्त उत्पन्न लोकों को जानने हारा परमात्मा (एषां) इन मुक्त पुरुषों के (शिश्नं[1]) सुख-प्राप्ति के साधन सामर्थ्यों को (न प्र दहति) दग्ध नहीं करता । इसलिये (स्वर्गे लोके) स्वर्ग=सुखमय लोक में भी (एषां) इन मुक्तात्माओं को (बहु स्त्रैणम्) बहुत से भोग्य लोक प्राप्त होते हैं ।

आत्मज्ञानी अपने सुरक्षित सामर्थ्य से मुक्त होकर यथेच्छ होकर सर्व लोकों में जासकते हैं । जैसा उपनिषद् में लिखा है । " स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । " छान्दो० । (१० । २५) इस

२–(प्र०) ' अनस्थाः शुद्धाः पवनेन पूताः ' इति पैप्प० सं० ।
१. ' शिश्नं श्नथतेः ' नि० ४ । ३ । ३ ॥

तत्व को न समझ कर अन्य मजहब वालों ने स्वर्ग में अप्सराओं और हूरों की कल्पना की है । वस्तुतः शिश्न–इन्द्रियां के सामर्थ्य का उपलक्षण है और स्त्रियां भोग्य लोकों का उपलक्षण हैं । क्योंकि समस्त आनन्दों का एकायन 'शिश्न' को माना गया है इसलिये उसी का उपादान किया है और श्लेषवृत्ति से "स्त्रैणम्" शब्द से भोग्य पदार्थ को बतलाया गया है । मुक्तात्माओं के देहादि अवयय न होने से शिश्नादि शब्द की भोग-साधन सामर्थ्य में लक्षणा है । इसकी तुलना इसी सूक्त के ४ थें मन्त्र से करो ।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कुदा चन ।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो मुक्त पुरुष (विस्तारिणं) विस्तृत, विराड् रूप इस (ओदनं) प्रजापति विषयक ज्ञानरूप 'ओदन' को (पचन्ति) परिपक्व करते हैं । उसका अभ्यास करते, पकाते हैं, अपने हृदय में दृढ़ कर लेते हैं (एनान्) उन पुरुषों को (अवर्त्तिः) किसी पदार्थ का अभाव (कदा चन) कभी भी (न सचते) नहीं रहता । मुक्तात्मा पुरुष (यमे) समस्त विश्व के नियामक परमेश्वर में (आस्ते) आश्रय ले लेता है, और (देवान्) पूर्व मुक्त आत्माओं के भी (उप याति) समीप प्राप्त होता है, और (सोम्येभिः) सोम=ब्रह्मानन्द रस का उपभोग करने हारे उन (गन्धर्वैः) ज्ञानी पुरुषों के साथ ही (मदते) परम हर्ष को प्राप्त करता है ।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः ।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

भा०—पूर्वोक्त भावों को और अधिक स्पष्ट करते हैं । (ये विष्टारिणं

३–(द्वि०) 'कुतश्चन', (च०) 'सौम्यैः' इति पैप्प० सं० ।
४–(तृ०) 'रथायान ईयते' इति पैप्प० सं० ।

ओदनं पचन्ति) जो उस महान् , विश्वव्यापी, प्रजापति के यथार्थ ज्ञान का परिपाक करते हैं (एनान् रेतः) इनके वीर्य=सामर्थ्य को भी (यमः) वह संसार का व्यवस्थापक (न परि मुष्णाति) नहीं हरता। इसलिये वह (रथी ह भूत्वा) रथ में चढ़े राजा के समान, आत्मवान् होकर (रथयाने) केवल आत्मा द्वारा प्राप्त करने योग्य ब्रह्मलोक में (ईयते) प्राप्त होता है। और (पक्षी ह भूत्वा) ज्ञान और कर्म दोनों सामर्थ्यरूप पक्षों से युक्त, शुद्ध आत्मा होकर (अति दिवः) द्यौलोक, तेजोमय लोक को पार करके (सम् एति) उस ब्रह्म में लीन हो जाता है।

ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो येऽविद्वांसस्तेऽपक्षाः ।
त्रिवृत्पञ्चदशावेव स्तोमौ पक्षौ कृत्वा स्वर्गं लोकं प्रयन्ति ।
तां० १४ । १ । १३ ॥

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना ।
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥

भा०—(एषः) यह प्रजापति (यज्ञानां) सब आत्माओं में से (वहिष्ठः) सब से अधिक महान् (विततः) सर्वव्यापक है। उस (विस्तारिणम्) व्यापक परमेश्वर विषयक ज्ञान को (पक्त्वा) परिपक्क कर ज्ञानी पुरुष (दिवम्) तेजोमय स्वर्ग=मोक्ष लोक को (आ विवेश) प्राप्त करता है। जिस प्रकार हंस सुन्दर तालाब में गोल २ अण्डाकृति कमल, कमलनाल, कमलकन्द और मृणाल, शफक आदि पद्मविशेष प्राप्त करता

५—'वहिष्ठः'। इति सायणसम्मतः। (प्र०) 'एष यज्ञो विततो वहिष्ठो विष्टारपंक्त्वो दिव' इति पैप्प० सं०।

है उसी प्रकार वह परमहंस मुक्तात्मा मोक्ष-स्थान में (आण्डीकम्) ब्रह्माण्ड में व्याप्त (कुमुदं) आनन्दमय, (बिसं) सब के प्रेरक, (शालूकं) कमलकन्द के समान आनन्दकन्द, (शफकः) ज्ञानघन, (मुलाली) मूल शक्ति जिस में जगत् अंकुरित और लीन होता है इन सब सुख कर पदार्थों को (तनोति) साक्षात् करता है । (एताः सर्वाः धाराः) हे मुमुक्षो ! ये सब समस्त संसार के धारण करने वाली शक्तियें, (त्वा) तुझे (उपयन्तु) प्राप्त हों । और ये सब (स्वर्गे लोके) उस सुखमय लोक में (मधुमत्) आनन्दमय अमृत को (पिन्वमानाः) उत्पन्न करती हुई (सम् अन्ताः) शुभ परिणाम वाली (पुष्करिणीः) नाना प्रकार से आत्मा को पुष्ट करने वाली शक्तियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तुझे प्राप्त हों ।

इस मन्त्र में 'वहिष्ठ' शब्द आया है । इसका अपभ्रष्ट रूप 'वहिश्त'= स्वर्ग मुसलमान मानते हैं ।

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा० ॥ ६ ॥

भा०—इन धारणशील शक्तिमय रूप धाराओं का स्वरूप दर्शाते हैं । हे मुमुक्षो ! जिस प्रकार जल-धाराएं जल से भरे तालों से युक्त, सुन्दर आनन्दप्रद तटों से सुशोभित, गोदुग्ध आदि से पूर्ण, सुरा के समान मादक द्रव्य से युक्त धारायें और सुन्दर नदियां मनुष्य को आनन्दित करती हैं उसी प्रकार मोक्ष में पूर्वोक्त धारायें (घृतह्रदाः) ज्ञान और तेज के तालावों से भरी, (मधुकूलाः) शहद के समान मधुर रस वाले तटों से सुशोभित, (सुरोदकाः) सुख से रमण करने योग्य परमानन्द रूप जल से भरी, (क्षीरेण पूर्णाः) दुग्ध के समान परम भोग्य रस से परिपूर्ण (उद-

६—' एतास्त्वां तल्पा उपयन्ति विश्वतः स्वर्गे लोके स्वधया मादयन्तीः ' इति पैप्प० सं० ।

केन) ऊर्ध्व गति में प्राप्त करने वाले और (दध्ना) समस्त संसार को धारण करने वाले बल से परिपूर्ण (एताः धाराः सर्वाः त्वा स्वर्गे लोके उपयन्तु) वे सब नाना जगत्-धारक शक्तियां तुझ को सम्पत्ति रूप में प्राप्त हों। और (समन्ताः पुष्करिणीः मधुमत् पिन्वमानाः उप त्वा तिष्ठन्तु) शुभ फलप्रद पुष्टिकारक आत्मशक्तियों की वर्धक शक्तियां भी राजोद्यान में सुन्दर पुखरिनियों के समान आनन्दमय अमृत को उत्पन्न करती हुई तुझे प्राप्त हों।

इसका रहस्य देखो छान्दोग्य उप० में ब्रह्मलोक वर्णन—" ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थे सोमसवनं, तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्।" (छा० ८। ५। ३) इसका स्पष्टीकरण देखो १ म खण्ड सामभाष्य की भूमिका में 'सोमदेवता' (पृ० ४१)। बहिश्त या स्वर्ग में घी दूध की नहरों का भाव यहां से अन्य मतावलम्बियों ने लिया है।

च॒तुर॑: कु॒म्भाँश्च॑तु॒र्धा द॑दामि क्षी॒रेण॑ पू॒र्णाँ उ॑द॒केन॑ द॒ध्ना ।
ए॒तास्त्वा॒ धारा॒ उप॑ यन्तु॒ सर्वा॑: स्व॒र्गे लो॒के मधु॑मत् पिन्व॑माना॒
उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणी॒: सम॑न्ताः ॥ ७ ॥

भा०—प्रजापति के प्रतिनिधि यज्ञ में जिस प्रकार चार कलश दूध जल और दही से भर कर रखे जाते हैं उसी प्रकार उस परम ब्रह्मलोक में हे मुमुक्षो ! (क्षीरेण) परम भोग्य रस (उदकेन) ऊपर को खैंचने वाली शक्ति से और (दध्ना) धारक शक्ति से (पूर्णान्) पूर्ण (चतुरः) चार (कुम्भान्) घटों के समान आश्रयभूत चारों पुरुषार्थों को (चतुर्धा) चार प्रकार से

७–' चतुर्धा दधामि ' इति सायणसम्मतः पाठः। 'चतुष्कुम्भ्यां चतुर्धा ददाति' इति पैप्प० सं०।

(ददामि) मैं परमात्मा सब जीवों को प्रदान करता हूं । (एतास्त्वा धाराः० इत्यादि पूर्ववत्) ये सब आनन्दधारायें तुझे स्वर्गलोक में भी प्राप्त हों । और सब आनन्द-उत्पादक, आत्मा के शक्ति को पुष्ट करने वाली शक्तियां भी मिलें अतः दृढ़ चित्त होकर आत्म-ज्ञान का सम्पादन कर ।

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

भा०—मैं परमेश्वर (इमं) इस (विष्टारिणं) सर्वव्यापक (स्वर्गं) सुखमय मोक्षरूप (लोकजितं) समस्त लोकों पर वश करा देने वाले (ओदनं) प्रजापति को (ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानियों में (निदधे) प्रदान करता हूं, उपदेश करता हूं । (स्वधया पिन्वमानः) अमृत से समस्त मुक्तात्माओं को तृप्त करने वाला वह ओदन, प्रजापति का स्वरूप (मे) मुझ मुमुक्षु के लिये (मा क्षेष्ट) नष्ट न हो प्रत्युत (मे) मुझ मुमुक्षु के लिये वही प्रजापति, परमेष्ठी ब्रह्म (विश्वरूपा धेनुः) सब प्रकार की कामधेनु होकर (कामदुघा) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारी (अस्तु) हो ।

---

[३५] प्रजापति की उपासना से मृत्यु को तरना ।

प्रजापतिर्ऋषिः । मृत्योरतिक्रमणं देवता । ३ भुरिक्, ४ जगती, १, २, ५–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

८–(प्र०) ' इममोदनं पचसि मिश्रधन्वानो ' (द्वि०) ' लोकजितीयं स्वर्गं ' (तृ०) ' क्षेष्ट सदसिष्यमाणा ' इति (च०) ' विश्वरूपा-क्कामदुघा धेनुरस्तु मे ' इति पैप्प० सं० ।

यमोद॒नं प्र॑थम॒जा ऋ॒तस्य॑ प्र॒जाप॑ति॒स्तप॑सा ब्र॒ह्मणेऽप॑चत् ।
यो लो॒काना॒ं विधृ॑ति॒र्नाभि॒रेषा॒त् तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम् ॥१॥

भा०—पूर्व सूक्त में कहे ओदन रूप प्रजापति के विराट् सामर्थ्य का और वर्णन करते हैं । (ऋतस्य) मूल भूत ब्रह्म की शक्ति से प्रेरित प्रकृति के भी (प्रथम-जाः) प्रथम उत्पन्न उसके पूर्व विद्यमान (प्रजापतिः) समस्त प्रजारूप अन्य लोकों के परिपालक ईश्वर ने (ब्रह्मणे) इस विशाल मूल-कारण प्रकृति से (यम् ओदनं) जिस ओदन रूप प्रकृति के विकारकारी सामर्थ्य को (अपचत्) परिपक्क रूप में प्रकट किया और (यः) जो (लोकानां) समस्त लोकों को (विधृतिः) विशेष रूप से धारण करने वाली शक्ति और (नाभिः) उन को बांधने, व्यवस्थित रखने वाली केन्द्र शक्ति या उपादानकारण है । (तेन ओदनेन) उस ओदन रूप परमेष्ठी के ज्ञान से (मृत्युम्) मृत्यु को (अति तराणि) पार करूं ।

येनात॑रन् भूत॒कृतोऽति॑ मृ॒त्युं यम॒न्ववि॑न्द॒न् तप॑सा॒ श्रमे॑ण ।
यं प॒पाच॑ ब्र॒ह्मणे॒ ब्रह्म॒ पूर्वं॒ तेनौ॰ ॥ २ ॥

भा०—उसी महान् जगत्-धारक सामर्थ्य को और स्पष्ट रूप से बतलाते हैं । (येन) जिस सामर्थ्य से (भूत-कृतः) समस्त प्राणियों को रचने वाले विश्वस्रष्टा, विद्वान् लोग (मृत्युं) मौत को (अति तरन्) पार कर जाते हैं । और (यम्) जिसको योगी लोग (तपसा) तप से और (श्रमेण) श्रम से (अनु अविन्दन्) उपलब्ध करते और उसका ज्ञान करते हैं । और (यं) जिसको (पूर्वं ब्रह्म) वह पूर्ण ब्रह्म, परमेश्वर (ब्रह्मणे) मूल प्रधान, प्रकृति के निमित्त (पपाच) परिपाक करता है (तेन ओदनेन) उस परम ज्ञानमय सामर्थ्य से (मृत्युम् अति तराणि) मृत्यु को मैं पार करूं ।

---

[३५] १-(तृ०) 'नाभिरेका' इति सायणसम्मतः पाठः । 'नाभिरेषाम्' इति क्वचित् ।

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन ।
यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेना० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो वह ओदनरूप सामर्थ्य (विश्व-भोजसं) समस्त संसार के परिपालक (पृथिवीं) इस पृथिवीं को (दाधार) धारण किये हुए है और (यः रसेन) जो अपने रस, सार, वल और मेघादि जल से (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष और उस में विद्यमान वायु आदि पदार्थों को (आ पृणाद्) पूर्ण कर देता है । और जो (महिम्ना) बड़े सामर्थ्य से स्वयं (ऊर्ध्वः) सब से उच्च कोटि पर विराजमान होकर भी (दिवम्) इस सूर्य लोक या द्यौलोक को (अस्तभ्नात्) थामे हुए है । (तेन ओदनेन मृत्युम् अति तराणि) उस ओदन रूप, परम ब्रह्म शक्ति से मैं मृत्यु को पार कर जाऊं ।

यस्मिन्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेना० ॥ ४ ॥

भा०—उस ओदन रूप परम शक्ति का काल पर वश बतलाते हैं । (यस्मात्) जिस परम शक्ति से (त्रिंशत्-अराः) तीस दिन रूप अरों सहित (मासाः) मास चक्र (निः-मिताः) बनाये गये अर्थात् जिस शक्ति से प्रति मास ३० वार अपनी कीली पर पृथ्वी को और मास में एक बार पृथ्वी के चारों और चन्द्र को घुमाया जा रहा है । और (यस्मात्) जिस उपादान में से (द्वादशारः संवत्सरः) १२ बारह अरों वाला संवत्सर चक्र (निः-मितः) बनाया गया है अर्थात् पृथ्वी को राशियों से अंकित क्रान्ति वृत्त पर १२ मासों में एक बार नियम से घुमाया जा रहा है और (यं) जिस तक (परि-यन्तः) बराबर गति करते हुए, निरन्तर गुजरते हुए (अहोरात्राः) दिन रात भी

४-(तृ०) 'पर्यन्तः' इति सायणाभिमतः ।

(न आपुः) नहीं पहुंचते अर्थात् जिसको समाप्त नहीं कर सकते मैं (तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि) उस अनन्त, महाकालेश्वर प्रभुरूप ओदन=प्रजापति के बल से मौत को तर जाऊं ।

यः प्रा॑ण॒दः प्रा॑ण॒दवा॑न् ब॒भूव॒ यस्मै॑ लो॒का घृ॒तव॑न्तः॒ क्षर॑न्ति ।
ज्योति॑ष्मतीः प्र॒दिशो॒ यस्य॒ सर्वा॒स्तेनौ॰ ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो वह परम शक्ति (प्राणदः) सब को प्राण, जीवन देने वाला होकर भी (प्राणद-वान्) प्राण देने वाले वायु, सूर्य, जल आदि दिव्य पदार्थों का स्वामी (बभूव) है । (यस्मै) जिसके निमित्त, जिसके बल पर, जिसके शासन से, (घृतवन्तः) तेजस्वी, प्रकाशवान् सूर्य आदि (लोकाः) लोक (क्षरन्ति) जीवन रस को भूमण्डल पर फेंक रहे हैं । और (यस्य) जिसके सामर्थ्य से (सर्वाः प्र-दिशः) समस्त दिशाएं (ज्योतिष्मतीः) ज्योतिर्मय नक्षत्र सूर्यों से जगमगा रही हैं, मैं (तेन, ओदनेन, मृत्युम् अतितराणि) उस परम सामर्थ्यमय, रसरूप शक्ति से मौत को पार करूं ।

यस्मा॑त् प॒क्वाद॒मृतं॑ सम्ब॒भूव॒ यो गा॑य॒त्र्या अधि॑पतिर्ब॒भूव॑ ।
यस्मि॑न् वे॒दा निहि॑ता वि॒श्वरू॑पा॒स्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम् ॥६॥

भा०—(यस्मात्) जिस (पक्वाद्) परिपक्व सामर्थ्य, एवं सुविचारित पुनः २ योग समाधि द्वारा अभ्यास किये गये ब्रह्म से (अमृतम् सम्-बभूव) अमृत, परम मोक्ष रस उत्पन्न होता है । और (यः) जो (गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) वेद की मूलभूत गायत्री=परम शक्ति का अधिपति है । और (यस्मिन्) जिस में (विश्व-रूपाः) समस्त प्रकार के (वेदाः) वेदज्ञान (निहिताः) रखे हैं । (तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि) उस परम ओदन रूप परम बल से मैं मृत्यु को पार करूं ।

५–' प्राणदवां बभूव ' इति सायणसम्मतः पाठः ।

अवं बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु ।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

भा०—मैं (देव-पीयुं) दिव्य गुणों और भावों के विनाशक, एवं मेरे इन्द्रिय सामर्थ्यों के प्रतिघातक, (द्विषन्तं) मुझ से अप्रीति करने वाले एवं मेरे अप्रीति के पात्र विरोधी दुर्भावों और दुष्ट पदार्थों को मैं (अव बाधे) अपने अधीन करके उनकी शक्ति को रोक दूं । और (ये मे स-पत्नाः) जो मेरे सपत्न अर्थात् मेरे द्रव्यों पर अपना हक जमाना चाहते हैं ऐसे (ते) वे आक्रामक शत्रु लोग (अप भवन्तु) मुझ से दूर रहें । मैं (विश्वजितं) समस्त विश्व को विजय करने में समर्थ (ब्रह्म-ओदनं) ब्रह्मरूप शक्ति को (पचामि) परिपक्क करता हूं, उसका अभ्यास करता हूं । उसको अपने हृदय में दृढ़ता से जमाता हूं । (देवाः) समस्त विद्वान् लोग (श्रत्-दधानस्य) सत्य को धारण करने हारे (मे) मेरे इस संकल्प का (शृण्वन्तु) श्रवण करें और मुझे इस कार्य में साहाय्य दें ।

इति सप्तमोऽनुवाकः ।

[तत्र पञ्च सूक्तानि, सप्तत्रिंशद् ऋचः ।]

[३६] न्याय-विधान और दुष्टों का दमन ।

चातन ऋषिः । सत्यौजा अग्निर्देवता । १–८ अनुष्टुभः, ९ भुरिक् । दशर्चं सूक्तम् ॥

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।
यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥

भा०—न्यायविधान और दुष्टों के दमन करने का उपदेश करते हैं । (सत्य-ओजाः) सत्य के बल को धारण करने वाला न्यायाधीश (अग्निः)

ज्ञानी, अग्नि के समान पापियों को दण्ड देने वाला, (वैश्वानरः) समस्त नरों का हितकारी (वृषा) सत्य, सुखों का वर्षक, एवं धर्मात्मा, न्यायकारी पुरुष (तान्) उन २ को (प्रदहतु) उत्तम रीति से समूल भस्म करे, दण्डित करे। १-(यः) जो (नः) हम में से (दुरस्यात्) दुष्टता का व्यवहार करे, हमें अपने भाइयों को दुर्दुरावे, २-(यः दिप्सात्) जो दूसरों को पीड़ित करे या ठगे, ३ (अथो) और (यः) जो (नः) हम से (अराति-यात्) अराति=शत्रु के समान वर्ताव करे, और हमें हमारा अधिकार न दे।

योऽनो दिप्सुदर्दिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

भा०—(नः) हम में से (यः) जो (अदिप्सतः) दूसरे को न ठगने और न हिंसा करने हारे निरपराधी को (दिप्सत्) ठगता और हानि पहुंचाता है और (यः च दिप्सतः) ठगने और मारने वाले को (दिप्सति) ठगता और मारता है (वैश्वानरस्य अग्नेः) सर्व प्रकाशक वैश्वानर=सर्व हितकारी पञ्च, न्यायाध्यक्ष के (दंष्ट्रयोः) दाढ़, दमनकारी हाथों में (तम्) उसको (दधामि) रखूं।

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशे/मावास्ये/ ।
क्रव्यादो अन्यान् दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो लोग (आगरे) घर में, (प्रतिक्रोशे) कलह के अवसरों में और (अमावास्ये) एक स्थान पर एकत्र होने के अवसरों और स्थानों में (मृगयन्ते) प्रतिहिंसा के भाव से दूसरों का घात लगाते हैं

[३६] २-'दिप्सत्', 'दीप्सात्' इति क्वचित्।
३-(तृ०) 'दिप्सन्ति' इति सायणाभिमतः पाठः।

और (अन्यान्) और अपरिचित लोगों को भी (दिप्सतः) हिंसा करने वाले (क्रव्यादः) परमांसभोजी, विना अधिकार के दूसरे का माल चुराने और छीनने वाले हैं (तान् सर्वान्) उन सबों को (सहसा) अपने बल से मैं शासक (सहे) अपने नीचे दबा दूं ।

सहे॑ पिशा॒चान्त्सह॑सै॒षां द्रवि॑णं ददे ।
सर्वा॑न् दुरस्य॒तो ह॑न्मि॒ सं म॒ आकू॑तिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥

भा०—(पिशाचान्) मांसभक्षी पशुओं के समान दूसरों के धनापहरण और प्राण और शरीर पर आक्रमण करने वाले लोगों को (सहे) मैं वश करूं और (एषां) इनका (द्रविणं) सब माल (ददे) मैं इन से ले लूं । (दुरस्यतः) दुष्टता का कार्य करने वाले (सर्वान्) सबों को (हन्मि) मैं मारूं, दण्ड दूं । जिससे (मे) मेरी (आकूतिः) उत्तम संकल्प, शुभ शिक्षा (संऋध्यताम्) खूब अच्छी प्रकार से सफल हो । राजा दुष्टों को इसलिये दमन करे कि प्रजा में सत् शिक्षा का कार्य सफल हो ।

ये दे॒वास्ते॒ न॒ हास॑न्ते॒ सूर्ये॑ण मिमते॒ ज॒वम् ।
न॒दीषु॒ पर्व॑तेषु॒ ये सं तैः प॒शुभि॑र्विदे ॥ ५ ॥

भा०—दुष्ट चोरों का पता कैसे लगावें । (ये देवाः) जो विद्वान् पुरुष, गुणी (तेन) उस दुष्ट पुरुष के साथ (हासन्ते) हंसी, क्रीड़ा, विनोद, करते हैं और तो भी (सूर्येण) सूर्य के समान सर्वप्रकाशक राजा के साथ (जवम्) अपनी गति मति (मिमते) जोड़े रखते हैं और जो (नदीषु)

४–' सहसा आ एषाम् ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः । (च०) ' स नः ' इति सायणाभिमतः ।

५–प्रक्षिप्ता ऋक् इति ग्रिलः, विकृतेति लैन्मनः ।

नदियों के तटों पर तीर्थ स्थानों और घाटों पर और (पर्वतेषु) पर्वतों में में भी तपस्या आदि करते हैं उन (पशुभिः) देखने वाले पशु=गुप्त चरों के द्वारा उस चोर दुष्ट पुरुष को (विदे) पता लगा लूं और पकड़ लूं । राजा भले पुरुषों को सदा दुष्टों के पीछे नदियों पर्वतों में भी लगाये रखे और उन से उस का पता लगा कर पकड़ ले ।

तपनो असि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥

भा०—मैं (पिशाचानां) मांसभक्षी, और डाकू लोगों का (तपनः) संताप करने वाला, (गोमताम्) गोपालकों के लिये (व्याघ्रः इव) बाघ के समान त्रास देने वाला (असि) हूं । (सिंहम्) सिंह को (दृष्ट्वा) देख कर (श्वानः, इव) जिस प्रकार कुत्ते घबरा उठते हैं और चैन नहीं पाते उसी प्रकार वे मुझ दमनकारी पुलिस आफीसर का नाम सुन कर (न्यञ्चनम्) चैन या छुपने के लिये शरण भी (न विन्दते) नहीं पाते बल्कि इधर उधर भागते हैं ।

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

भा०—मैं (पिशाचैः) पिशाच डाकुओं के साथ (न सं शक्नोमि) संधि कर के नहीं रह सकता हूं, (न स्तेनैः) चोरों के साथ भी संधि नहीं कर सकता, (न वनर्गुभिः) अपराध करके जंगल में छिप कर रहने वाले, छापा मारने वाले डाकुओं के साथ भी संधि नहीं कर सकता । इसीलिये (यम् ग्रामं) जिस ग्राम में (अहं) मैं (आ विशे) पहुंच जाता हूं

६–' तेऽनुविन्दते न्यञ्चनम् ' इति सायणसम्मतः पाठः ।

७–(द्वि०) ' नश्यन्तु ' इति सायणाभिमतः ।

(पिशाचाः) वे हत्यारे, परद्रव्य-प्राणापहारी डाकू लोग (तस्मात्) उस वस्ती से ही (नश्यन्ति) भाग जाते हैं ।

यं ग्राम॑मा॒विश॑त इ॒दमु॒ग्रं सहो॒ मम॑ ।
पि॒शा॒चास्तस्मा॑न्नश्यन्ति॒ न पा॒पमुप॑ जानते ॥ ८ ॥

भा०—(मम) मेरा (उग्रं) भयंकर, बलवान् (इदम्) यह (सहः) दमनकारी बल (यं ग्रामम्) जिस ग्राम या बस्ति में भी (आ विशते) पहुंच जाता है (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उस ग्राम से ही डाकू भाग जाते हैं । वहां के लोगों पर वे (पापम्) पाप, दुष्टाचार और लूट पाट (न उपजानते) करना ही नहीं जानते. वहां ये बदमाशी करना भूलजाते हैं, या वहां के लोग बुराई का नाम भी नहीं जानते ।

" न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो नानाहिताग्निर्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः " छान्दोग्य उप० ॥ मेरे राज्य में न चोर, न लुटेरा, न अयाज्ञिक, न व्यभिचारी है, फिर व्यभिचारिणी भी कहां से हो ।

ये मा॑ क्रो॒धय॑न्ति लपि॒ता ह॒स्तिनं॑ म॒शका॑ इव ।
ताना॒हं म॑न्ये दु॒र्हि॑ता॒न् जने॒ अल्प॑शयूनिव ॥ ९ ॥

भा०—(मशकाः) मच्छर जिस प्रकार (हस्तिनम् इव) हाथी को कुपित कर देते हैं उस प्रकार (ये) जो (मां) मुझ दमनकारी, सत्यनिष्ठ राजा को (लपिताः) व्यर्थ झूंठे मूंठे, चुगलखोर, व्यर्थ बक झक करके (क्रोधयन्ति) क्रुद्ध कर देते हैं (तान्) उनको (अहं) मैं (जने) राष्ट्रवासी जनता में (अल्पशयून्) स्वल्पवृत्ति, तुच्छस्वभाव के छिद्रान्वेपी

९–(प्र०) 'ये मां क्रोधयन्ति लिपिताः', (तृ०) ' मन्ये दुर्हतान् ' इति सायणसम्मतौ पाठौ ।

छोटे २ बिलों में रहने वाले, हानिकारक कीड़ों या मूसों के समान (दुर्हितान्) सदा दुःखकारी अनिष्टजनक (मन्ये) समझता हूं ।

राजा खुशामदी लोगों पर कान न दे, वे प्रजा के बड़े अपकारी होते हैं ।

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

भा०—(अश्वाभिधान्या) घोड़े को बांधने वाली रस्सी से जिस प्रकार (अश्वम् इव) अश्व को बांध लिया जाता है उसी प्रकार (निर्ऋतिः) पापों को रोक देने वाली दमनकारिणी शक्ति (तं) उस पापी पुरुष को (अभि धत्ताम्) सब ओर से जकड़ ले । और (यः) जो (मल्वः) मलिन हृदय, दुष्ट-चित्त वाला [मैलिग्नेंट या मैलीशस] (मह्यं) मेरे विरुद्ध (क्रुध्यति) क्रोध प्रकट करता है (स उ) वह कभी (पाशात्) पाश, दमन, क़ैद आदि क़ानूनी दण्ड से (न मुच्यते) छूटने नहीं पाता ।

[३७] हानिकारक रोग-जन्तुओं के नाश का उपदेश ।

बादरायणिर्ऋषिः । अजशृङ्गी अप्सरो देवता । १, २, ४, ६, ८–१० अनुष्टुभौ । ३ त्र्यवसाना षट्पदी त्रिष्टुप् । ५ प्रस्तार पंक्तिः । ७ परोष्णिक् । ११ षट्पदा जगती । १२ निचृत् । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

१०–(च०) ‘ मुच्यसे ’ इति सायणाभिमतः ।

[३७] २–(द्वि०) ‘ चातयामसि ’ इति पैप्प० सं० ।

भा०—जनता को हानि पहुंचाने वाले रोग जन्तुओं को नाश करने का उपदेश करते हैं। हे (ओषधे) ओषधे ! रोग-जन्तु-नाशक औषध ! (त्वया) तेरे द्वारा (अथर्वाणः) अहिंसक, विद्वान् (रक्षांसि) जीवन के सुख में विघ्न करने वाले रोग जन्तुओं को (जघ्नुः) विनाश करते हैं (त्वया) तेरे द्वारा (कश्यपः) सूर्य के समान ज्ञानी, सर्वद्रष्टा विद्वान् (जघान) रोग जन्तुओं का नाश करता है और (कण्वः) वायु के समान कण २ करके ज्ञान प्राप्त करने और खोल कर रहस्य का उपदेश करने वाला विद्वान् भी तेरे बल पर उनका नाश करता है और (अगस्त्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष भी तेरे द्वारा जन्तुओं का नाश करता है।

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे।
अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥ २ ॥

भा०—हे (अजशृङ्गी) अजशृङ्गि=काकड़ासींगी नामक ओषधे ! (त्वया) तुझ से (वयम्) हम (अप्सरसः) जल में फैलने वाले रोगों और (गन्धर्वान्) वायु में फैलने वाले रोगों को भी (चातयामः) विनाश करते हैं। तू अपने रोगनाशक स्वभाव से (सर्वान् रक्षः) सब रोगों को (अज) दूर कर और (गन्धेन विनाशय) गन्ध से परे भगा दे।

अजशृङ्गी के गुण—वातहर, कास, श्वास, राजयक्ष्मा, वमन, तृष्णा, अरुचि, अतिसार, चक्षुर्दोष, हृद्रोग, अर्श, शोष, अतिकुष्ठ आदि का नाश करती है। इसके जलाने से तीक्ष्ण गन्ध होता है। मच्छर आदि भाग जाते हैं।

नदीं यन्त्वप्सरसोपां तारमवश्वसम्।
गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

३–(द्वि०) "अपां तारमिव स्वसम्" (प्र०) 'प्रतिबद्धाः' इति पाठभेदौ सायणसम्मतौ। 'प्रबन्धनी' इति पैप्प० सं०।

भा०—(अप्सरसः) जलों में फैलने वाली व्याधि कीट (अपां तारं) जलों से भरी हुई (अवश्वसम्) नीचे की ओर वेग से बहने वाली (नदीं) नदी में (यन्तु) बहा दिये जांय । उनको अपने स्थान से निकालने के लिये पांच पदार्थ हैं। १-(गुल्गुलूः) गूगल, २-(पीला) पीला, ३-(नलदी) नलदी नामक ओषधि, ४-(औक्षगन्धिः) औक्षगन्धि और, ५-(प्रमन्दनी) प्रमन्दनी । हे (अप्सरसः) जल में फैलने वाले रोगो ! तुम इनकी गन्धों से (प्रतिबुद्धाः) सजग हो कर, चेत कर, व्याकुल (अभूतन) हो जाओ और (तत्) तभी (परा-इत) तुम हमारे नगर ग्राम और घरों को छोड़ कर चले जाओ ।

गुग्गल=सुगन्ध, कृमिनाशक है। पीला=पीलु, विषनाशक, लनदी=मांसी या जटामांसी, इसके तीन भेद हैं १ मांसी, २-गंधमांसी, ३-आकाशमांसी, तीनों विष, भूतदाह और ज्वर के विनाशक और मकड़ी आदि जन्तु नाशक हैं। अक्षौगन्धि मांसी का दूसरा भेद है, जिसको गंधमांसी लिखा है ।

प्रमन्दनी=प्रमोदनी, मल्लिका है जो गन्ध से पूर्ण होती है कुष्ठ, विस्फोट, कण्डू, विष, व्रण का नाशक है। उक्त ओषधियों के बल पर रोगकारी जन्तुओं का नाश करके उनको पुनः जल के नालों द्वारा नदी में बहा देना चाहिये। नगरों में ' ड्रेनिज सिस्टम ' से कार्य लेना चाहिये ।

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

भा०—(यत्र) जहां (अश्वत्थाः) पीपल (न्यग्रोधाः) और वट आदि महावृक्ष और (शिखण्डिनः) मोर या चूड़ामणि या काकमाची के पौधे हैं (तत्) वहां से हे (अप्सरसः) प्रजाओं में फैलने वाली व्याधियो ! (परा-इत) भाग जाओ और (प्रति-बुद्धाः अभूतन) इन वृक्षों से व्याकुल होकर रहो । चूड़ामणि का वीर्योष्णा, विष वैषम्यजन्तुघ्नी, रोगग्रामभयापहा ।

यत्र॑ वः प्रे॒ङ्खा हरि॑ता अर्जु॒ना उ॒त यत्रा॑घा॒टाः क॑र्क॒र्यः॑ सं॒वद॑न्ति ।
तत् परे॑ताप्सरसः॒ प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

भा०—और (यत्र) जहां (वः) तुम्हारे लिये (प्रेङ्खाः) हिलते झुलते (हरिताः) हरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत) और (यत्र) जहां (आघाटाः) बड़े बल से पीटे गये (कर्कर्यः) नगाड़े आदि (संवदन्ति) बजते हैं (तत्) वहां से भी हे (अप्सरसः) प्रजा में फैलने वाली व्याधियो ! तुम (परा-इत) भाग जाओ और (प्रतिबुद्धाः अभूतन) व्याकुल और नष्ट हो जाओ ।

एयम॑ग॒न्नोष॑धीनां वी॒रुधां॑ वी॒र्या॑वती ।
अ॒ज॒शृ॒ङ्ग्य॑रा॒टकी॑ ती॒क्ष्णशृ॒ङ्गी व्यृ॑षतु ॥ ६ ॥

भा०—(वीरुधां) विशेष प्रकार से क्षुपरूप में भूमि पर अंकुरित होने वाली, (ओषधीनां) ओषधियों में से सब से अधिक (वीर्यावती) वीर्यवाली (इयम्) यह (अजशृङ्गी) अजशृङ्गी=काकड़ासिंगी (आ अगन्) हमें प्राप्त हुई है यह गुणों में (अराटकी) रोगनाशक (तीक्ष्ण-शृंगी) तीक्ष्ण स्वभाव होने से रोग जन्तुओं को विनाश करती है । वह (व्यृषतु) रोग जन्तुओं को नाना प्रकार के उपचारों से विनाश करे ।

आ॒नृत्य॑तः शिख॒ण्डिनो॑ गन्ध॒र्वस्या॑प्सराप॒तेः ।
भि॒नद्मि॑ मु॒ष्कावपि॑ यामि॒ शेपः॑ ॥ ७ ॥

भा०—(आ-नृत्यतः) चारों ओर नाचते कूदते (शिखण्डिनः) चोटी वाले (गन्धर्वस्य) गन्ध के पीछे जाने वाले, रोग फैलाने वाले (अप्सरा-

---

५—' यत्र वोखुसा, हरिताऽर्जुना घाटाः कर्करी असंवदन्ति ' इति पैप्प० सं० ।
६—' अपतेतोऽप्सरसो गन्धर्वा यत्र वो गृहाः ' इति अधिकः पाठः पैप्प० सं० ।
७—' इयं वीरुच्छिख- ' इति पैप्प० सं० ।

पतेः) मादा रोगकीट के पति अथवा फैलने वाले रोगों को अपने भीतर पालने वाले जन्तु के (मुष्कौ भिनद्मि) वीर्योत्पादक अण्डकोशों को तोड़ डालूं और (शेपः अपि यामि) प्रजनन अंग का नाश कर दूं। इससे रोग-जनक कीट अपनी सन्तति न बढ़ा सकेंगे, रोग फैलना बन्द हो जायगा। इनको वीर्यहीन, निस्सन्तान करने के लिये ऐसी ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये कि इनके सन्तान-उत्पादक अंग ओषधि के घातक प्रभाव से फट जांय।

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः।
ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ८ ॥

भा०—रोगजनक कीट किस प्रकार जलों में फैलने वाले रोगांशों को उत्पन्न करते हैं और उनका विनाश कैसे करें सो लिखते हैं। (इन्द्रस्य) सूर्य की (शतम्) सैकड़ों (ऋष्टीः) किरणें (भीमाः) उग्र होकर (अयस्मयीः) लोहे की बनी (ऋष्टीः) तेज़ धार वाली किर्चों के समान तीक्ष्ण (हेतयः) नाशकारी हैं। (ताभिः) उनसे (हविरदान्) अन्नों को खाने वाले और (अवकादान्) अवका=जल पर उतराने वाली काई को खा लेने वाले कीड़ों को सूर्य (व्यृषतु) नष्ट करे। इसी प्रकार—

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः।
ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ९ ॥

भा०—(इन्द्रस्य हिरण्ययीः ऋष्टीः) सूर्य की स्वर्ण के समान चमकने वाली तीक्ष्ण किरणें भी (शतम्) सैकड़ों (भीमाः हेतयः) भयानक रूप से रोग नाश करने वाली हैं। (ताभिः हविरदान् अवकादान्) उनकी सहायता से अन्नों पर भोग लगाने वाले और जल पर उतराने वाली काई पर आहार करने वाले (गन्धर्वान्) कीड़ों को सूर्य (व्यृषतु) विनाश करे।

८–(द्वि०) 'शतपृष्टीः', 'ताभिरभिह्वदान्' इति सायणसम्मतः पाठः।

अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान् ।
पिशाचान् सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥

भा०—शरीर-गत रोग जन्तुओं पर ओषधि का प्रयोग बतलाते हैं । हे ओषधे ! (अवकादान्) काई [फंगस] पर आहार करने वाले (अभिशोचान्) सब तरफ देह में दाह उत्पन्न करने वाले (मामकान्) मेरे शरीर में बैठे रोग-कीटों को (अप्सु) शरीर-गत जलों, रुधिर में ही (ज्योतय) विनष्ट कर अथवा हे ओषधे ! (ज्योतय मामकान्) जल में चमचमाने वाले (सर्वान् पिशाचान्) सब पिशाचों, शरीर के रक्त मांस पोषण करने वाले रोग जन्तुओं को (प्र मृणीहि) विनाश कर (सहस्व च) और उनको दबा ।

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्-
तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥

भा०—रोगकीटों के रूपों का वर्णन करते हैं । (एकः श्वा इव) एक गन्धर्व नामक रोगकीट कुत्ते के समान, उस के स्वभाव वाला या उस के आकार वाला है, और (एकः) एक (कपिः, इव) बन्दर के समान है वह (कुमारः) बड़ी कठिनता से प्राण त्याग करता एवं बुरी तरह से अपने शिकार रोगी को मारता है । (सर्वकेशकः) उस के समस्त शरीर पर रोम होते हैं । जिस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर केश बनाये कुमार=नवयुवक, आंखों

१०–' अप्सुद्योतय ' इति सायणसम्मतः पाठः । ' अवकाशमभिशाचो विच्छिः घातयमानकान गन्धर्वान् सर्वान् ओषधे कृणुतस्त्वपरायणः ' इति पैप्प० सं० । ' ज्योतयमामकान् ' इति एकं पदम् इति सर्वत्र । ' न्योतयमानकान् ' इति लैन्मनानुमितः पाठः ।

के आगे दर्शनीय सुन्दर वेश बना कर अपनी कुत्ते की सी कामप्रियता और बन्दर की सी कुरूपता को छिपा कर स्त्रियों में विचरता और उन के मन हरता है उसी प्रकार ये रोगकीट भी (दृशः) चक्षु के (प्रियः इव) प्रिय होकर (स्त्रियः) अपनी मादा जन्तुओं पर (सचते) जाता है उस को (वीर्यावता) वीर्यवाली (ब्रह्मणा) 'ब्रह्म' नामक ओषधि या वेद ज्ञान से (इतः) यहां से इस नगर, ग्राम, गृह, शरीर से (नाशयामसि) हम विनाश करें।

जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो! (यूयम्) तुम लोग (पतयः) पति हो और (अप्सरसः) अप्सराएं (वः) तुम्हारी (जाया इत्) स्त्रियां ही हैं अथवा—(पतयः यूयम् गन्धर्वाः) तुम पति लोग सब गन्धर्व हो और (वः जाया इत् अप्सरसः) तुम्हारी स्त्रियां ही अप्सराएं हैं। इसी प्रकार इन रोग-जन्तुओं में भी (यूयम्) तुम जो (पतयः) नर (गन्धर्वाः) गन्धर्व कहाते हो और (वः जायाः) तुम्हारी सन्ततियों के पैदा करने वाली मातायें (इत्) ही (अप्सरसः) अप्सरस् कहाती हैं। परन्तु तुम (अमर्त्याः) बिना मरे ही (अप धावत) इस शरीर से दूर भाग जाओ, और (मर्त्यान्) तुम्हारे कारण मृत्यु को प्राप्त होने वाले इन मनुष्यों को (मा सचध्वम्) मत पकड़ो।

इस सूक्त का प्रतीयमान वैद्यक विषयक अर्थ कह दिया अब अध्यात्म परक अर्थ की दिशा दर्शाते हैं।

१–कश्यप, कण्व और अगस्त्य आंख, कान, नाक आदि प्राणाङ्ग अथर्वा=इन्द्रियों ने अजशृङ्गी=आत्म शक्ति नामक ओषधि से जीवन के विघ्नों

१२–' अपक्रामत् पुरुषादमर्त्या ' इति पैप्प० सं० ।

को नाश किया । २-उसी आत्म शक्ति से कर्म में लगने वाली अप्सराओं कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रिय गन्धर्वों या इन्द्रियों और प्राणादि गन्धर्वों को वश किया । ३ ये अप्सराएं श्वश्वस=प्राण लेने वाले (अपां तारं) कर्मों के कर्त्ता, शरीर रूप नदी में वहती हैं इन के नाम हैं गुल्गुलू=रसना, पीला=चक्षु, नलदी=कान, औक्षगन्धि=नासिका, प्रमन्दिनी=त्वचा। ये प्रतिबुद्ध होकर (परेत) दूर तक जांय । ४, ५-और नाना विषयों का आलोचन करें । ६ इन सब में अजशृङ्गी=चेतना प्रबल है । ७ नाचते हुए बड़े गन्धर्व मन को वश करो उसको दोनों अण्डकोश राजस और तामस भावों को नष्ट करके उसे शेपः=ज्ञानमय सात्विक भावों को प्राप्त कराओ । ८, ९-हविरद=विषयोपसेवी और अवकाद=रस लोलुप गन्धर्वों को इन्द्र आत्मा परमात्मा की अयस्मयी=प्राणमय हिरण्ययी-ज्ञानमय शक्ति साधनाओं से वश करो । १०-इन इन्द्रियों को और भी ज्योति युक्त बनाओ और इनमें पिशाच=विषय-लोलुपों को उस आत्मा की शक्ति से दबाओ । ११-वह मन कुत्ते के समान कामी और वन्दर की तरह से चञ्चल है । वह कुमार=काबू न आने वाला अदम्य, सर्वगामी होकर इन्द्रियों में विचरता है उस को प्रबल ब्रह्मज्ञान से हम दबावें । १२-ये आत्मा गन्धर्व और अप्सरस, प्राण वृत्तियां और इन्द्रियवृत्तियां अमर्त्य= अविनाशी हैं । ये मर्त्य=शरीर में लिप्त न रहें प्रत्युत अन्तर्लीन होकर आत्मा को सबल करें ।

---

[३८] द्यूत क्रीड़ा के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन ।

बादरायणिर्ऋषिः । अप्सरो ग्लहाश्च देवताः । १, २ अनुष्टुभौ, ३ षट्पदा त्र्यवसाना जगती । ५ भुरिग् जगत्यष्टिः, ६ त्रिष्टुप्, ७ त्र्यवसाना पञ्चपदाऽनुष्टुब् गर्भा परोपरिष्टान् ज्योतिष्मती जगती । सप्तर्च सूक्तम् ॥

उद्भिन्दतीं सञ्जयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥

भा०—चौपड़ खेलने वाली स्त्री के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार शर्तें रख २ कर कोई जूआ खेलने में चतुर स्त्री कृत=जय-चिह्नों को बराबर फेंकती है उसी प्रकार हमारी यह चितिशक्ति भी (उद्-भिन्दतीम्) हृदय ग्रन्थियों को खोलती हुई, (साधु-देविनीम्) उत्तम रूप से प्रकाशमान ज्योतिष्मती प्रज्ञा (सं-जयन्तीम्) सब अन्य मानस वृत्तियों पर वश करती हुई (अप्सराम्) ज्ञानों और कर्मों में शक्ति रूप में व्यापक होकर (ग्लहे) चौपड़ के खेलने के कार्य के समान इस 'ग्रहे' इन्द्रियों के व्यापार में (कृतानि कृण्वानाम्) कृत, त्रेता, द्वापर, कलि आदि के चिह्नों से अंकित अक्षों के समान इन प्राण इन्द्रियों के द्वारा कर्म करती हुई (अप्सरां) रूपवती कन्या के समान (अप्सराम्) कर्म और ज्ञान में शक्ति रूप से व्यापक चितिकला को (इह) इस योगसाधनामय कर्म के अवसर पर (हुवे) स्मरण करता हूं।

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार मुग्ध पुरुष किसी (साधु-देविनीं) खूब जूआ खेलने वाली (विचिन्वतीम् आकिरन्तीम्) पासों को समेट २ कर पुनः फेंकती हुई अप्सरा को (ग्लहे) पासा खेलते समय (कृतानि गृह्णानाम्) कृत त्रेता आदि के बने चिह्नों वाले पासों में से कृत चिह्नाङ्कित को ही फेंकते देखता है और उस पर मुग्ध हो जाता है उसी प्रकार मैं साधक इस देह में भी अक्ष=इन्द्रियों के संग क्रीड़ा करने वाली इस (अप्सराम्) ज्ञानों में व्यापक (साधुदेविनीम्) उत्तम रूप से प्रकाशन करने वाली, स्वयं ज्योतिष्मती होकर इन्द्रियों को बार बार (विचिन्वतीम् आ-किरन्तीम्) चुन २ कर उठाती

उनको अपने में समूहित करती और पुनः बखेरती या बाहर विषयों पर फेंकती और (ग्लहे) इस अक्षक्रीड़ा रूप इन्द्रिय व्यापार में (कृतानि) अपने किये कर्मों या प्राणों को स्वयं (गृह्णानाम्) स्वीकार या वश करती हुई (ताम् अप्सराम्) उस अलौकिक चेतना शक्ति का (इह हुवे) इस योग समाधि के अवसर में (हुवे) स्मरण करता हूं ।

याऽयैः परिनृत्यंत्याददाना कृतं ग्लहात् ।
सा नः कृतानि सीपती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥

भा०—जिस प्रकार कोई रूपवती स्त्री (अयैः) पासों से खेलती हुई (परिनृत्यती) मारे खुशी के नाचती २ (ग्लहात्) चौपड़ के स्थान से (कृतं आददाना) कृत-चिह्न को बराबर लेती जाती है । और (कृतानि सीपती) कृत चिह्नों को लेती लेती ही (मायया) माया से (प्रहाम्) आखिरी बाजी को भी मार लेती है और सब खेलने वाले चाहा करते हैं कि वह स्त्री उनके तरफ़ से खेले जिससे और जूएखोर उनका धन न खेंच ले जांय इसी प्रकार यह चिति शक्ति भी अजब जूआ खेल रही है । (या) जो चिति शक्ति (अयैः) जूआ खेलने के साधन पासों के समान सदा गतिमान इन इन्द्रियों से (ग्लहात्) इस अक्ष व्यापार रूप इन्द्रियों के विषय ग्रहण रूप व्यापार में (परिनृत्यती) बराबर नाचती हुई प्रसन्न होकर (कृतं आददाना) अपने किये कार्य या मुख्य प्राण को अपनाती है वही (नः) हमारे (कृतानि) किये कर्मों को (सीपती) एक शृंखला में बांधती हुई भी (मायया) बुद्धि शक्ति से या ज्ञानमयी मुद्रा से सब कर्मों को नाश करने वाली अन्त में कर्म हानि रूप दशा को भी प्राप्त कर लेती है । (सा) वह

[३८] ३–' कृतानि शेपन्ती ' इति सायणसम्मतः पाठः । ' सा नः पयस्वती'ति चरणतुर्थ्या सह सायणेन व्याख्यातः ।

(पयस्वती) आनन्द-रस वाली (नः एतु) हमें प्राप्त हो जिससे बाह्य विषय (नः) हमारे (इदं धनं) इस आत्म-ज्ञान रूप धन को (मा जैषुः) न हर ले जांय ।

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

भा०—(या) जिसके द्वारा चित्तवृत्तियां (अक्षेषु) पासों के समान चञ्चल, विषयों पर जाने वाली इन्द्रियों में व्याप्त होकर (प्रमोदन्ते) प्रसन्न होती हैं और (शुचं) शोक और (क्रोधं च) क्रोध को भी (बिभ्रती= बिभ्रति) धारण करती हैं । (ताम्) उस (आनन्दिनीं) आनन्द उत्पन्न करने हारी, (प्रमोदिनीं) प्रमोद करने हारी (अप्सरां) सब ज्ञानों, कर्मों में व्यापक चितिशक्ति को (इह हुवे) इस योगाभ्यास काल में स्मरण करता हूं ।

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनु संचरन्ति ।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान् पर्यैति रक्षन् ।
स न ऐतु होममिमं जुषाणो३ऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

भा०—अब सूर्य के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन करते हैं । (याः) जो चित्तवृत्तियां (सूर्यस्य) अन्तरिक्ष में प्रकाशमान सूर्य के समान भीतरी हृदयाकाश में प्रकाशमान प्राणात्मा सूर्य की (रश्मीन्) किरणों के समान इन्द्रियों को बांधने वाली रश्मि=रस्सियों—आत्म शक्तियों के (अनु-सं-चरन्ति) अनुकूल वश होकर भोग्य पदार्थों में विचरती हैं, (वा) और

४–‘ या अक्षेषु प्रमोदते ’ इति सायणसम्मतः पाठः ।

५–‘ सूर्यस्यरश्मीननु ’ इत्यादि प्रथमश्चरणः सायणेन चतुर्थ्या ऋचौ द्वितीय चरणेन सहैकीकृत्य व्याख्यातः ।

(याः) जो सूर्य के समान प्रकाशमान आत्मा के (मरीचीः) प्रभा और सात्विक शक्तियों के (अनु-संचरन्ति) वश होकर गति करती हैं । (यासाम्) जिनका (ऋषभः) आत्मा सूर्य, स्वामी (वाजिनीवान्) उनकी ज्ञान-कर्म-मय वाज=बल को भी रखने वाली शक्ति बुद्धि का भी स्वामी होकर उनसे (दूरतः) दूर अवाङ्-मनस-गोचर है वह (सद्यः) शीघ्र ही उनको (रक्षन्) अपने साथ रखता हुआ भी (सर्वान् लोकान्) समस्त काम्य लोकों को (परि-एति) भ्रमण करता है । वह (वाजिनी-वान्) बुद्धि का स्वामी हमारे (इमं होमम्) इस होम=जीवनमय या प्राणापानाहुति रूप आध्यात्म यज्ञ को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (अन्तरिक्षेण सह) समस्त भीतरी हृदय भूमि के व्यापक परमात्मा के सामर्थ्य के साथ (नः आ एतु) हमें (साक्षात्) प्राप्त हो ।

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥ ६ ॥

भा०—हे (वाजिनीवन्) चिति शक्ति, बुद्धि शक्ति के स्वामिन् ! हे (वाजिन्) ज्ञानवान् ! तू (अन्तरिक्षेण सह) भीतर निवास करने वाले उस प्रभु के साथ मिल कर (कर्कीं वत्साम्) कर्कवर्णा, शुभ्र ज्योतिष्मती, विशोका इस (वत्सा) बछड़ी के समान सुशील एवं देहरूप गृह में बसने वाली चिति शक्ति को (इह) इस समाधि दशा में (रक्ष) स्थिर रख । (इमे) ये (स्तोकाः) स्वल्प आनन्दबिन्दु भी (ते) तेरे लिये (बहुलाः) बहुत आनन्दप्रद हैं । हे आत्मन् (एहि अर्वाक्) आ, साक्षात् दर्शन दे । हे आत्मन् योगिन् ! (इयं) यह प्रत्यक्ष सूर्य के समान चमकने वाली (ते) तेरी (कर्कीं) सूर्या, उषा, दिव्य विशोका

६–' कर्कीन् वत्सान् ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

ज्योतिष्मती ऋतम्भरा या विवेकख्याति है । (ते मनः) तेरी मनन शक्ति, मन (इह अस्तु) इसी में लगा रहे ।

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः ।
यथानाम व ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे (वाजिनीवन्) चितिशक्ति के स्वामिन् आत्मन्! तू (अन्तरिक्षेण सह) उस अन्तर्यामी प्रभु के साथ मिला रह । और हे (वाजिन्) योगिन् ! (इह) उसी में (कर्कीम् वत्साम् रक्ष) अपनी ज्योतिष्मती प्रज्ञा रूप देहवासिनी गौ को लगाये रख । (अयं) यह आनन्दमय प्रभु यही इस विशेषकर प्रज्ञारूप गौ के लिये (घासः) घास या खाद्य, परम उपभोग्य पदार्थ है । (अयं व्रजः) यही इस गौ के लिये परम विश्राम-स्थली है । (इह वत्साम् निबध्नीमः) यहां इस बछड़ी, गाय को बांधते हैं । (वः) तुम समस्त प्राणों पर (यथा-नाम) सुखपूर्वक वश करके (ईश्महे) तुम्हें वश करते हैं और अध्यात्म ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं । (स्वाहा) यह आत्मा परमात्मा में आहुतिरूप में पड़कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

[३९] विभूतियों और समृद्धियों को प्राप्त करने की साधना ।

अंगिरा ऋषिः । संनतिर्देवता । १, ३, ५, ७ त्रिपदा महाबृहत्यः, २, ४, ६, ८ संस्तारपंक्तयः, ९, १० त्रिष्टुभौ । दशर्चं सूक्तम् ॥

७–' वत्सानिह ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

भा०—समस्त संसार की विभूतियों को प्राप्त करने का गोदोहन दृष्टान्त से उपदेश करते हैं । (पृथिव्यां) इस विशाल पृथिवी पर समस्त प्राणी (अग्नये) अग्नि, ज्ञान के समक्ष (समनमन्) सिर झुकाते हैं (स-आर्ध्नोत्) वह अग्नि=प्रकाश ही सब से अधिक समृद्धिपूर्ण है । तो फिर (यथा) जिस प्रकार (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (अग्नये समनमन्) समस्त प्राणि अग्नि=प्रकाश और ज्ञान के आगे झुकते हैं (एवा) उसी प्रकार (मह्यं) मेरे आगे (संनमः) समस्त सम्पदाएं (सं नमन्तु) आकर झुकें, प्राप्त हों ।

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः ।
सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—अग्नि और पृथिवी के रहस्य को खोलते हैं । (पृथिवी धेनुः) यह पृथिवी गाय के समान है (तस्याः अग्निः वत्सः) उस का बछड़ा अग्नि है । (सा) वह पृथिवी रूप गाय (अग्निना वत्सेन) अग्नि रूप बछड़े को देख कर (मे) मेरे लिये (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल आदि (कामं) समस्त उत्तम अभिलाषा योग्य पदार्थों को (दुहाम्) उत्पन्न करे और साथ ही (प्रथमं) प्रथम (आयुः) दीर्घ जीवन, (प्रजां) पुत्रादि सन्तति, (पोषं) पुष्टि, पशु आदि धन और (रयिं) वीर्य और यश को भी प्रदान करें । (स्वाहा) हमारी यही उत्तम प्रार्थना है ।

---

[३९] १–'अग्नये समनमत् पृथिव्यै समनमत् यथाग्निः पृथिव्या समनमद् एवं मह्यं भद्राः संनतयः सं नमन्तु' इति तै० सं० ।

अ॒न्तरि॑क्षे वा॒यवे॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् ।
यथा॒न्तरि॑क्षे वा॒यवे॑ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ सं॒नम॒: सं न॑मन्तु ॥ ३ ॥

भा०—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष—पृथिवी के समीप के आकाश भाग में (वायवे समनमन्) वायु के प्रति समस्त प्राणि सिर झुकाते हैं क्योंकि (सः आर्ध्नोत्) वही सब से बलवान् और समृद्धिमान् है । तब (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) जिस प्रकार अंतरिक्ष में वायु के आगे सब सिर झुकाते हैं (एवा) उसी प्रकार (संनमः) सम्पदाएं और विनीत प्रजाएं मह्यं (सं नमन्तु) मेरे समक्ष झुकें ।

अ॒न्तरि॑क्षं धे॒नुस्तस्यां॑ वा॒युर्व॒त्सः ।
सा मे॑ वा॒युना॑ व॒त्सेने॒षमू॒र्जं० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(अन्तरिक्षम् धेनुः) अन्तरिक्ष एक गाय के समान है (तस्याः वायुः वत्सः) वायु उसका वत्स=बछड़े के समान उस में ही निवास करने वाला है । (सा) वह (वायुना वत्सेन) वायु रूप वत्स के प्रेम से (इषम् ऊर्जं कामं दुहाम्) मेरे कामना के अनुसार अन्न और बलप्रद रस को उत्पन्न करे और (प्रथमं प्रजां पोषं रयिम्) सब से श्रेष्ठ श्रेणि की आयु प्रजा और यश का प्रदान करे (स्वाहा) यह हमारी उत्तम प्रार्थना है । उत्तम वायु बहे, दुःख कटें, सुख हो ।

दि॒व्या॑दि॒त्याय॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् ।
यथा॑दि॒व्या॑दि॒त्याय॑ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ सं॒नम॒: सं न॑मन्तु ॥ ५ ॥

भा०—(दिवि) द्यौलोक, उपरिस्थ आकाश में (आदित्याय समनमन्) आदित्य सूर्य के समक्ष सब ग्रह उपग्रह आदि प्रजाएं झुकती हैं क्योंकि उन में से (सः आर्ध्नोत्) वही सब से अधिक समृद्धिमान् शक्तिशाली

४–(प्र०) 'तस्य' इति सायणाभिमतः पाठः ।

है । (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार द्यौलोक में सब प्रजाएं सूर्य के आगे झुकती हैं (एवा संनमः मह्यं सं नमन्तु) इसी प्रकार सब सम्पत्तियां और सब प्रजाएं मेरे समक्ष भी झुकें ।

द्यौर्धेनुस्तस्यां आदित्यो वत्सः साम आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं०।०॥६॥

भा०—(द्यौ धेनुः) द्यौलोक भी एक गाय है (तस्याः आदित्याः वत्सः) उसका बच्छे के समान उस में निवास करने वाला आदित्य=सूर्य है (सा आदित्येन वत्सेन इषम् ऊर्जम् कामं दुहाम्) वह आदित्यरूप बछड़े के प्रेम से, उसी की शक्ति से प्रेरित होकर मेरे लिये मेरी कामना के अनुसार अन्न और पुष्टिकारक रसों को उत्पन्न करे और (प्रथमं आयुः प्रजाम् पोषं रयिम्) सब से श्रेष्ठ आयु प्रजा और यश, वीर्य को भी प्रदान करे (स्वाहा) यही हमारी उत्तम प्रार्थना है। सूर्य उत्तम प्रकाश दे, रोग नाश हों, मेघ बनें, बरसें, अन्न हो, बल हो, प्रजा, पुष्टि वीर्य यश प्राप्त हो ।

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ७ ॥

भा०—(दिक्षु चन्द्राय समनमन्) दिशाओं में आल्हादकारी चन्द्र के समक्ष सब प्रजाएं झुकती हैं । (सः अर्ध्नोत्) वही सब दिशाओं में समृद्ध है । (यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्) जिस प्रकार सब दिशाओं में आल्हादकारी चन्द्र के आगे झुकते हैं उसके आश्रय पर रहते हैं । (एवा मह्यं संनमः संनमन्तु) उसी प्रकार समस्त प्रजाएं मेरे समक्ष झुकें ।

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः ।
ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ८ ॥

भा०—(दिशः धेनवः) दिशाएं भी गौएं हैं। (तासां चन्द्रः वत्सः) उनका चन्द्र ही उन में निवास करने वाला बछड़े के समान है । (ताः

चन्द्रेण वत्सेन मे कामं इषम् ऊर्जम् दुहाम्) वे दिशाएं चन्द्र वत्स की प्रेरणा से मेरे लिये मेरी कामना के अनुसार खूब अधिक मात्रा में अन्न और उस से उत्पन्न पुष्टिकारक रस को पैदा करें। (प्रथमं आयुः प्रजां पोषं रयिम्) और सब से श्रेष्ठ प्रजा, पुष्टि धन सम्पत्ति और यश वीर्य भी प्रदान करे, (स्वाहा) यही हमारी उत्तम प्रार्थना है। दिशाओं में चन्द्र प्रकाशित हो, ओषधियां बढ़ें। अन्न में बल हो, उत्तम वायु, बल, आयु, प्रजा, सम्पदा, यश प्राप्त हों।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्मभागम् ॥९॥

पूर्वार्धः यजु० ५ । ४ ॥

भा०—(अग्नौ) अग्नि, ज्ञानी में (अग्निः) ज्ञानस्वरूप सर्व प्रकाशक परमात्मा (प्रविष्टः चरति) भीतर अन्तर्यामी होकर व्यापक हैं। और वही (ऋषीणां पुत्रः) समस्त मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को शरीर और मानस दुःखों से बचाने वाला है। वही (अभिशस्तिपा उ) सब पाप और निन्दा से भी रक्षा करता है। हे परमात्मन् (ते) तुझे मैं (नमसा) बड़े आदर से झुक कर (नमस्कारेण) 'नमः' इस प्रकार के आदर भाव के सूचक पद का उच्चारण करके (जुहोमि) अपने को तेरे समर्पण करता हूं। हे पुरुषो ! हम लोग (देवानां भागं) विद्वान् लोगों के सेवन करने योग्य उनके उपदेश

९–'अभि शस्तिपावा' इति यजु० । (द्वि०) 'पुत्रोऽधिराज एषः' (तृ० च०) 'मा देवानां यूयुपाम भागधेयं' इति मै० सं० । (तृ०) 'स्वाहाकृत्या ब्रह्मणा' (च०) मिथुयाकर्भागधेयम्' इति तै० सं० । (प्र०) 'व्याघ्रोऽयमग्नौ चरति' (द्वि०) 'अभिशस्तिपा अयाम्' इति तै० ब्रा० । 'तस्मै जुहोमि हविषा घृतेन मा देवानां मोमुहद् भागधेयम्' इति आ० श्रौ० सू० ।

को (मिथुया) मिथ्या रूप से (मा कर्म) न करें। अर्थात् अनादर या देखावा बना कर उत्तम काम न करें, प्रत्युत सत्य भाव से उत्तम कामों को करें।

हृदा पूतं मन॑सा जातवेदो विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान् ।
स॒प्तास्या॑नि॒ तव॑ जातवेद॒स्तेभ्यो॑ जुहोमि॒ स जु॑षस्व ह॒व्यम् ॥१०॥

भा०—ईश्वरोपासना और सदाचार के बाद आत्मा की उपासना का उपदेश करते हैं। हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों के जानने हारे! हे (देव!) प्रकाशस्वरूप देव! तू (विश्वानि वयुनानि) समस्त ज्ञानों को (विद्वान्) जानने हारा है। तुझे (मनसा) मनन पूर्वक (हृदा) हृदय से (पूतं) पवित्र किये (हव्यं) स्तुति को (जुहोमि) तेरे लिये अर्पित करता हूं। और हे (जातवेदः) ज्ञान को प्राप्त करने हारे ज्ञानी आत्मन् जीव! (तव सप्त आस्यानि) तेरे सात मुख हैं। दो आंख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, (तेभ्यः) इन में भी (मनसा) मनन और (हृदा) हृदय से (पूतं हव्यं) पवित्र किये समाधि योग से प्राप्त ज्ञान और अन्न की (जुहोमि) आहुति देता हूं। अथवा—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचीति चैता लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥

ये आत्मा की सात शक्तियां योग बल से जागृत होती हैं। जो विराट् रूप में भी विद्यमान हैं।

[४०] आक्रमणकारी शत्रुओं के विनाश करने का उपदेश।

शुक्रऋषिः। कृत्याप्रतिहरणाय बहवो देवताः। २ जगती, ८ पुरोतिशक्वरी पादयुक्ता जगती, १, ३–५ त्रिष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥१॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् ! (ये) जो (पुरस्तात्) पूर्व दिशा से (जुह्वति) अपने को आहुति करते हैं और (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा की ओर से (अस्मान् अभि दासन्ति) हमें नष्ट कर रहे हैं (ते) वे (अग्निम् ऋत्वा) अग्नि को प्राप्त होकर (पराञ्चः) पराङ्मुख, पराजित होकर (व्यथन्तां) कष्ट भोगें और (प्रत्यग्) इनके विपरीत (प्रतिसरेण) इनका पीछा करके (एनान् हन्मि) इन का विनाश करूं ।

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभि दासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते० ॥ २ ॥

भा०—(ये दक्षिणतः जुह्वति०) हे जातवेदः परमात्मन् ! जो दक्षिण दिशा से अपने आपको इस कार्य में आहुति कर दें और दक्षिण दिशा से हमें नष्ट करें (ते) वे (यमम्०) उस व्यवस्थापक यम के पास जाकर पराजित होकर कष्ट को प्राप्त करें और (प्रत्यग एनान्०) उनको भी मैं पीछा करके विनाश करूं ।

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वरुणमृत्वा ते० ॥ ३ ॥

भा०—जो (पश्चात्) पीठ पीछे से या पश्चिम दिशा की ओर से (जुह्वति) अपने को आहुति कर दें और उस दिशा से (अस्मान् अभिदासन्ति) हमें विनाश करें वे (वरुणम् ऋत्वा० इत्यादि) वरुण, निवारक शक्ति को प्राप्त होकर परास्त होकर जायं और उनका पीछा करके मैं विनाश करूं ।

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सोममृत्वा ते० ॥ ४ ॥

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तद्रा० ॥ ८ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाले रोग जन्तु (अपां पाने) जलों के पान करने के स्थान, घाट, बावड़ी, प्याऊ आदि में और (यातूनां शयने) पीड़ाओं के बिस्तर में (मां शयानं) पड़े, मुझको असावधान अवस्था में (ददम्भ) विनाश करने का यत्न करता है (तत् आत्मना०) वह स्वयं अपनी सन्तानों सहित नष्ट हो और यह रोगी नीरोग हो ।

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ९ ॥

भा०—(यतमः) जो भी (क्रव्याद्) कच्चे मांस का आहारी मच्छर, मत्कुण आदि रोगकारी जन्तु (दिवा नक्तं) दिन और रात के समय में और (यातूनां शयने) पीड़ा या रोगों के सेज पर (शयानम्) असावधान रूप में पड़े (मा) मुझ को (ददम्भ) पीड़ा देना चाहता है (तद्) वह (आत्मना) स्वयं और उसके सहचारी (पिशाचाः) मांसभोजी रोग कीट भी (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से नष्ट किये जांय और (अयम् अगदः अस्तु) यह रोगी पुरुष नीरोग हो ।

अथवा—सोमचिकित्सा (होमियोपैथी) का उपदेश करते हैं कि (यतमः क्रव्याद् ददम्भ) जो भी रोग कीट या विषाणु रोगी को सताता है (तदात्मना) उसी के सम जाति के (प्रजया) प्रजा, अंश से वे (पिशाचाः) रोगकारी कीटाणु (वि यातयन्तां) विनाश को प्राप्त हों । और

८–' शयने शयानः ' इति ह्विटनिकामितः ।

९–(प्र०) 'दिवा त्वा' (द्वि०) 'क्रव्याद् यातुः शयते पिशाचः । उदग्ने-द्वानुपृथक् । भृणीह्यप्यैनं देहि निर्ऋतेरुपस्थे ' इति पैप्प० सं० ।

इस प्रकार (अयम् अगदः अस्तु) वह रोगी नीरोग हो जाय । इस पद्य में अग्नि जातवेदाः=प्रबल टिंक्चर है जो विशेष शक्ति से युक्त है ।

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥१०॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ अग्ने ! हे जात-वीर्य ! जात-बल (अग्ने) तेजःस्वरूप (क्रव्यादम्) कच्चे मांस के आहारी, (रुधिरम्) रक्त में फैलने वाले, (पिशाचं) मांस में जमे हुए और (मनः-हनं) रोगी के चित्त को या मननशक्ति पर आघात पहुंचाने वाले अपस्मार, उन्माद और मदकारी रोग को (जहि) तू विनाश कर । उस रोग को (इन्द्रः) इन्द्र रोग का विनाशक, (वाजी) बलवान्, शक्तिमान् होकर (वज्रेण) अपने रोग विनाशक बल से (हन्तु) मार दे और (सोमः) सोम या ओषधि का सूक्ष्म अंश (धृष्णुः) व्यस्थित होकर, शरीर में चिरकालिक प्रभाव करके (अस्य) इन रोगकारी मूल कीटों के (शिरः) शिर=हिंसाकारी प्रभाव को (छिनत्तु) काट दे ।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानतु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

अथर्व० ८ । ३ । १८ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! या तेजोरूप ! (सनात्) चिरकाल से, सदा से तू (यातु-धानान्) पीड़ाजनक रोगों को (मृणसि) विनाश करता है । (रक्षांसि) बाधा, विघ्नकारी जन्तु (त्वा) तुझको (पृतनासु) मनुष्यों में या संग्रामों में (न जिग्युः) न जीत पावें ! इसलिये (क्रव्यादः) रोगी का कच्चा मांस खा डालने वाले रोगांशों को (सह-मूरान्) समूल (अनु-दह) जलादे । और (दैव्यायाः) दिव्य गुण युक्त (ते हेत्याः) तेरे आघातकारी शक्तिरूप वज्र से (मा मुक्षत) वे छूट न जांय ।

स॒माह॑र जातवेदो॒ यद्धृ॒तं यत् परा॑भृतम् ।
गात्रा॑ण्यस्य वर्धन्ताम॒ंशुरि॒वाप्याय॑ताम॒यम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (अस्य) इस रोगी पुरुष के शरीर में से (यत्) जो धातु और बल (हृतम्) रोगों ने हर लिया है, और (यत्) जो (परा-भृतम्) विनष्ट कर दिया है उसे (सम्-आ हर) पुनः भली प्रकार प्राप्त करा । (अस्य) इसके (गात्राणि) शरीर के अंग (वर्धन्ताम्) बढ़ें और (अयम्) यह (अंशुः-इव) चन्द्र के समान (आ प्यायताम्) दिनों दिन बढ़े, मोटा ताज़ा हो ।

सोम॑स्येव जातवेदो अ॒ंशुरा प्या॑यताम॒यम् ।
अग्ने॑ विर॒प्शिनं॒ मेध्य॑मय॒क्ष्मं कृ॑णु॒ जीव॑तु ॥ १३ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्र के एक भाग, कला के समान (अयम्) यह कृश पुरुष भी (आ प्यायताम्) पुष्टि को प्राप्त हो । हे (अग्ने) अग्ने ! (विरप्शिनम्) नाना प्रकार की विद्याओं का उपदेश करने वाले महान् विद्वान् (मेध्यं) मेधावी, पवित्राचारी पुरुष को (अयक्ष्मं) रोग, यक्ष्मादि कष्ट से रहित (कृणु) कर जिससे वह (जीवतु) चिरकाल तक जीवित रहे ।

ए॒तास्ते॑ अग्ने स॒मिधः॑ पिशाच॒जम्भ॑नीः ।
तास्त्वं जु॑षस्व॒ प्रति॑ चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) हे अग्ने ! (एताः ते सम्-इधः) ये तेरी उत्तम रीति से प्रकाश करने या चमकने वाली शक्तियां, ज्वालाएं ही (पिशाच-जम्भनीः) मांसशोषक या मांस में फैलने वाले रोगाणुओं की नाशक हैं ।

१२–(प्र०) 'समाभर' (द्वि०) 'यज्जग्धं यत्' इति पैप्प० सं० ।
१३–(च०) 'जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

(ताः) उनको (त्वं) तू (जुषस्व) अपने में धारण कर और (एनाः) इन को (प्रति गृहाण) अपने भीतर रख ।

ताष्टुर्घीरग्ने सुमिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।
जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! आप (तार्ष्ट-अघीः) तृषा रोग को दूर करने वाली इन (सम्-इधः) दीप्तिमय शक्तियों को अपने (आर्चिषा) तेज से (प्रति-गृह्णाहि) अपने में धारण कर । जिससे वह (क्रव्याद्) मांसशोषक रोग अपने (रूपं जहातु) स्वरूप को त्याग दे (यः) जो (अस्य) इस रोगी के (मांसं) मांस को (जिहीर्षति) सुखा डालना चाहता है ।

[३०] आरोग्य और सुख की प्राप्ति का उपदेश ।

आयुष्काम उन्मोचन ऋषिः । आयुर्देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २–८, १०, ११, १३, १५, १६ अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, १२ चतुष्पदा विराड् जगती, १४ विराट् प्रस्तार-पंक्तिः, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः । पितॄन्
असुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते आवतः आवतः) तेरे समीप से समीप और (ते परावतः) तेरे दूर से भी (आवतः) दूर देश से (ते असुं) तेरे प्राण को और आत्मा को (दृढं) खूब बलपूर्वक (बध्नामि) बांधता हूं । तू (इह एव) यहां ही (भव) रह । (मा पूर्वान् अनु-गाः) अपने पूर्व के विनष्ट हुए

[३०] १–(द्वि०) ' परावतस्ते परावतः ' इति पैप्प० सं० ।

पुरुषों के पीछे मत जा। (मा अनु गाः पितॄन्) अपने बूढ़े मां बाप के पीछे भी मत जा, प्रत्युत मुझ आचार्य के पास ब्रह्मचर्य और विद्या का लाभ कर।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥

भा०—(यत्) यदि तेरा (स्वः पुरुषः) अपना कोई सम्बन्धी पुरुष या (यद्) यदि कोई (अरणः) बुरा (जनः) आदमी (अभि-चेरुः) तुझ पर अपना अभिचार या बुरा आक्रमण, हानिकारक पापकार्य करना चाहता है तो मैं आचार्य हे शिष्य ! तुझ को (वाचा) अपनी वाणी से उस जाल से छूटने के लिये (उन्मोचन-प्रमोचने) उन्मोचन और प्रमोचन (उभे) दोनों का अधिकार और शक्ति का (ते) तुझे, (वदामि) उपदेश करता हूं।

उन्मोचन=जाल से ऊपर निकल आना और प्रमोचन=जाल से दूर ही रहना। अर्थात्, फंस जाने पर छूटना और पहले ही न फंसना।

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या।
उन्मो० ॥ ३ ॥

भा०—हे शिष्य ! (यद्) यदि (अचित्या) विना जाने तैने (स्त्रियै) किसी स्त्री से या (पुंसे) पुरुष से (दुद्रोहिथ) द्रोह किया और उस को (शेपिषे) बुरा वचन कहा तो भी (ते उन्मोचन-प्रमोचने वाचा वदामि), मैं उस पाप से परे रहने और छूटने का उपदेश करता हूं।

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

२–(प्र०) 'पुरुषाः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(यद्) यदि (मातृ-कृतात् एनसः) माता के किये दोष से (यत् च) और यदि (पितृ-कृतात् एनसः) पिता के किये दोष से (शेषे) तू आवृत रह कर अज्ञान में सो रहा है तो भी (वाचा) वेद-वाणी से उन दोषों और व्यसनों से (उन्मोचन-प्रमोचने) छूटने और दूर रहने दोनों का (वदामि) तुझे उपदेश करता हूं।

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

भा०—(यत) जिस (भेषजम्) रोग निवारक उपाय या औषध को (ते माता) तेरी माता और (यत् ते पिता) जिस औषध को तेरा पिता और (जामिः भ्राता च) तेरी भगिनी और भाई भी (सर्जतः) तैयार करते हैं उसको (प्रत्यक् भेषजं) साक्षात् दुःखहारी औषध को (सेवस्व) तू सेवन कर। (त्वा) तुझ को मैं (जरदष्टिं कृणोमि) बुढ़ापे तक जीवन बिताने योग्य चिरजीवी रहने का उपदेश करता हूं। अर्थात् ऊटपटांग पदार्थ मत खा। हितकारी पुरुषों के बतलाये ज्ञान और पथ्यों का सेवन कर।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) अपने समस्त मनन शक्ति, चित्त और ज्ञान के साथ (इह) इस गुरु-गृह में (एधि) रह, निवास कर (यमस्य दूतौ) यम के दूत, दुख, उपताप के लाने वाले अशना और पिपासा, भूख और प्यास दोनों के पीछे (मा अनु गा) मत जाओ। (जीव-पुराः) जीव के निवास भूत पुर अर्थात् देह के अंगों पर (अधि इहि) वश करो।

५–(तृ०) 'प्रत्यक् चेवस्य' इति पैप्प० सं०।

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

भा०—देवमार्ग या उत्तरायणमार्ग का उपदेश करते हैं । (अनुहूतः) विद्वानों से अनुशिष्ट, शिक्षित हो २ कर (पुनः) फिर भी (विद्वान्) ज्ञानी होकर हे शिष्य ! तू (उद्-अयनं) ऊपर मोक्ष धाम में, उन्नति की तरफ़ ले जाने वाले (पथः) मार्गों को (एहि) प्राप्त हो । (आ-रोहणं) ऊपर चढ़ना, (आ क्रमणम्) आगे की तरफ़ बढ़ना, यही (जीवतः-जीवतः) प्रत्येक जीवनयुक्त जीव की (अयनम्) वास्तविक गति है ।

मा बिभे न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

भा०—रोगभय से मुक्त होने का उपदेश करते हैं । हे शिष्य (मा बिभेः) भय मत कर, डर मत । (न मरिष्यसि) तू कभी मरेगा नहीं । क्योंकि (त्वां) तुझ को मैं आचार्य, (जरद्-अष्टिं) वृद्धावस्था तक जीवन बिताने में समर्थ (कृणोमि) करता हूं । (तव अङ्गेभ्यः) तेरे अंगों से (यक्ष्मम्) सब प्रकार के रोगजनक अंश और (अङ्ग-ज्वरं) शरीर के भागों में विद्यमान् ज्वर=संताप पीड़ा को (निः अवोचम्) बाहर निकालता हूं ।

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥

भा०—हे शिष्य ! (ते) तेरे (अङ्ग-भेदः) शरीर में होने वाली पीड़ा जिससे देह टूटता हो, (यः च अङ्ग-ज्वरः) और जो अंगज्वर है और (हृदय-आमयः) हृदय-रोग और (यक्ष्मः) यक्ष्मा रोग है वह सब

८–(द्वि०) 'जरदष्टिर्भविष्यसि' इति पैप्प० सं० ।
९–(प्र०) 'शीर्षरोगमङ्गरोगम्', 'श्येनैव' इति पैप्प० सं० ।

(वाचा सादः) मेरी उपदेश या वाणी के बल से पराजित होकर (श्येन इव) बाज़ के समान (परः-तराम्) परे (प्र-अपप्तत्) भाग जाय ।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

भा०—(बोध-प्रतीबोधौ) बोध और प्रतिबोध, ज्ञान करने और उसको स्मरण करने की शक्ति, बुद्धि और मन (यः च) जो (ऋषी) सर्व कार्यों के द्रष्टा हैं, दोनों में एक (अस्वप्नः) कभी नहीं सोता और दूसरा मन या अन्तःकरण है वह भी (जागृविः) सदा जागता रहता है । (तौ) वे दोनों (ते प्राणस्य गोप्तारौ) तुझ जीव के प्राण=जीवन की रक्षा करने वाले (दिवा नक्तं च) दिन और रात सदा (जागृताम्) जागते रहें ।

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥ ११ ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्नि, आत्मा (उप-सद्यः) प्राप्त करने या ज्ञान करने–उपासना करने योग्य है । (इह) इसमें (ते) तेरा (सूर्यः) सब इन्द्रियों का प्रेरक मुख्य प्राण (उद्-एतु) उदित हो । (गम्भीरात्) गम्भीर भयावह (कृष्णात्) काले (तमसः चित्) अन्धकार के समान घोर (मृत्योः) मृत्यु, देह और आत्मा के विच्छेद के भय से भी (परि उद्-एहि) परे, ऊंचा चला जा ।

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

भा०—(नमः यमाय) उस सर्व-नियन्ता को नमस्कार है, हम उसके आगे झुकते हैं । (मृत्यवे नमः अस्तु) और देह को आत्मा से पृथक् करने

१०–(तृ० च०) 'ते ते प्राणस्य गोप्तारो दिवास्वप्नं च जाग्रतु' इति पैप्प० सं० ।

वाले उस कर्मफल दाता प्रभु को भी नमस्कार है, हम उसके भी आगे विनय से झुकते हैं । (उत) और (ये नयन्ति) जो हमको इस शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाते हैं उन (पितृभ्यः) पालक प्राणों को भी (नमः) नमस्कार है या उन पालक पिताओं-माता, पिता, गुरु, आचार्य, प्रभु इन पञ्च पितरों को भी नमस्कार है जो हमें इस लोक में जीवन पथ पर ले जाते हैं । और जो (अस्मै) इस जीव के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (उत्-पारणस्य) इस शरीर के त्याग के अनन्तर इसके पालना, जीवन यात्रा के विषय में जो सब कुछ जानता है (तम् अग्निं) उस अग्नि तेजोमय परमेश्वर को भी मैं (पुरः दधे) सदा अपने आगे रखता हूं । उसका सदा साक्षात् प्रभुत्व मानता हूं । उत्पारणज्ञ विद्वान् का वर्णन देखो अथर्व० ८ । १ । १०-१६ । २ । ६ ॥

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् ।
शरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥

भा०—इन्द्रियां किस प्रकार शरीर में कार्य करती हैं इसका उपदेश करते हैं । इस शरीर में प्रथम (प्राणः आ एतु) प्राण आता है, फिर (मनः आ एतु) मन, मननशक्ति आती है फिर (चक्षुः आ एतु) चक्षु दर्शनशक्ति अर्थात् उपलक्षण से आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों में ज्ञानशक्ति का आगमन होता है । (अथो बलम्) और उसके पश्चात् बल, प्राणेन्द्रिय, हाथ, पांव, पेट आदि की शक्ति आती है । तब (अस्य) इस जीव का (शरीरम्) शरीर (विदां) बुद्धि को (सम्-एतु) प्राप्त होता है । (तत्) तब (पद्भ्यां) पैरों से (प्रति तिष्ठतु) यह शरीर खड़ा होने लगता है ।

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥

१४-(तृ०) 'वेत्थामृतस्यमृतस्य गान्मोसु' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (प्राणेन) प्राणशक्ति और (चक्षुपा) दर्शनशक्ति से (सं सृज) इस जीव को युक्त कर और (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (इमं) इस जीव को (सम्-ईरय) प्रेरित कर। आप प्रभो ! (अमृतस्य वेत्थ) उस अमृत, जीवनशक्ति को जानते हो। आपकी दी जीवनशक्ति से युक्त होकर यह जीव (मा नु गात्) इस देह को छोड़ कर न जावे और (मा नु भूमिगृहः भुवत्) भूमि को अपना घर बना कर, खाक में मिल कर न रहे अर्थात् मर कर मिट्टी में न मिले। प्रत्युत शरीर का दीर्घ जीवन प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करे।

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपि धायि ते।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥

भा०—हे जीव ! (ते प्राणः) तेरा प्राण (मा उप-दसत्) विनाश को प्राप्त न हो। और (ते अपानः) तेरा अपान भी (मा अपि धायि) कभी न रुके। अर्थात् तेरे शरीर में प्राण-अपान=श्वासोच्छ्वास की क्रिया कभी बन्द न हो। (अधि-पतिः) सब का मालिक (सूर्यः) सूर्य, सब का प्रेरक परमात्मा (त्वा) तुझ को (रश्मिभिः[1]) अपनी व्यापक बलकारिणी किरणों से (उद्-आ-यच्छतु) ऊंचा उठाये रखे। तेरे शरीर को और जीवन शक्ति को गिरने न दे।

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥

१५-(द्वि०) 'मा पानो', (च०) 'आयच्छति' इति पैप्प० सं०।
१. अश्नोतरश्च्। उणादि० ४। ४६॥ रश्मिः।

१६-(द्वि० तृ०) 'उग्रजिह्वापनिष्पदा तयारोमं निरायुषः' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'तया' ह्विटनिकामितः। 'त्वया' इति बहुत्र।

भा०—(इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (अन्तः) मुख के भीतर (बद्धा) बंधी हुई । (पनिः-पदा) स्तुति करने और वाग्-व्यापार करने में चतुर, गतिशील होकर (वदति) व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है । हे वाणि ! (त्वया) तेरे बल से (यक्ष्मं) यक्ष्म-रोग को और (तक्मनः) कष्टदायी ज्वर के (शतं रोपीः च) सैकड़ों पीड़ाओं को भी (निः अवोचम्) दूर कर देता हूं ।

अ॒यं लो॒कः प्रि॒यत॑मो दे॒वाना॒मप॑राजितः ।
यस्मै॒ त्वमि॒ह मृ॒त्यवे॑ दि॒ष्टः पु॑रुष जज्ञि॒षे ।
स च॒ त्वानु॑ ह्वयामसि मा पु॒रा ज॒रसो॑ मृथाः ॥ १७ ॥

भा०—(अयं) यह (अपरा-जितः) किसी से न हारने वाला सदा बलवान् (प्रिय-तमः) अत्यन्त प्रिय, रुचिकर (देवानाम्) देवगण इन्द्रियों का (लोकः) शरीर है । हे पुरुष ! हे देहपुरी के वासी जीवात्मन् ! (यस्मै) जिसके कारण (त्वम्) तू (इह) इसमें रह कर (मृत्यवे दिष्टः) मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है । अर्थात् शरीर त्यागने के लिये ही शरीर का ग्रहण करता है । इसलिये (सः च) वह तू इस देह से असंग है । (त्वा अनु-ह्वयामसि) हम विद्वान् मुक्तजन तुझ को बार २ फिर २ चेताते हैं कि (जरसः पुरा) बुढापे से पहले (मा मृथाः) प्राणों को मत छोड़ ।

[३१] गुप्त हिंसा के प्रयोग करने वालों का दमन ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १–१० अनुष्टुभः, ११ बृहती गर्भा, १२ पथ्याबृहती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

१७–(तृ० प्र०) 'तस्मै त्वामिह जज्ञिषे अदृष्टः पुरुष मृत्यवे तस्मै त्वा निह्वयामसि ' इति पैप्प० सं० । (च०) ' पुरुष-जज्ञिषे ' इत्येकपदमिति पदपाठे प्रमादः ।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ १ ॥

भा०—(याम्) जिस आपत्तिजनक कार्य को (ते) वे तेरे शत्रु लोग (आमे पात्रे) कच्चे वर्तनों में (चक्रुः) प्रयोग करते हैं (याम्) और जिस दुष्प्रयोग को (मिश्र-धान्ये) मिलेजुले धान्य, अन्नों में करते हैं और (यां कृत्यां) जिस विपत्तिजनक करतूत को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस में (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसी दुःखदायी प्रयोग को दण्ड के रूप में (पुनः) फिर (प्रति-हरामि) उनको ही भुगतवा दूं । कच्चे पात्र में विपका लेप लगा कर अपने दुश्मनों के घर बेच आना, अनाज में विषैली बूंटी के दाने मिलाकर पर-राष्ट्र में बेच देना, कच्चे मांस में रोगकारी कीटों और विषकी धारा छोड़ देना, इत्यादि जनघातक लीला करने वालों को वैसा ही दण्ड होना चाहिये ।

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।
अव्यां ते कृत्यां यां० ॥ २ ॥

भा०—(यां) जिस कृत्या=घातक प्रयोग को (ते) वे नीच पुरुष (कृकवाकौ) कृकवाकु=तीतर, (अजे) बकरे और (कुरीरिणि) कुरीर=चाल, पर और (यां कृत्यां) जिस करतूत को वे (अव्यां) भेड़ पर करते हैं (तां) उस करतूत से (पुनः प्रति हरामि) फिर उनको दण्डित करूं ।

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां० ॥ ३ ॥

भा०—(यां) जिस हिंसा कार्य को वे (एकशफे) एक खुर वाले पशु पर या (गर्दभे) गधे की जाति के पशु पर (यां) जिस हिंसा को (उभयादति) दोनों जबाड़ों में दांत वाले गाय व भैंस आदि पशुओं पर (चक्रुः) करते हैं वही हत्या का दण्ड उन्हें मैं पुनः दूं ।

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां) जिस हिंसा और (वलगम्) गुप्त पाप को (अमूलायां नराच्यां वा) अमूला और नराची नामक ओषधि के आधार पर (चक्रुः) करते हैं और (यां कृत्यां) जिस करतूत को (ते) वे (क्षेत्रे) खेत में करते हैं, वही दुःखदायी दण्ड मैं पुनः उनको दूं । अमूला और नराची दोनों विषैली ओषधि हैं। खेत में हत्या और गढ़े आदि द्वारा धोखाबाज़ी से परघात करते हैं ।

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।
शालायां कृत्यां यां० ॥ ५ ॥

भा०—(ते) वे (दुः-चितः) दुष्ट चित्त वाले लोग (गार्हपत्ये) स्थिरता से घर में निरन्तर जलने वाली गार्हपत्य नामक (पूर्व-अग्नौ) प्रथमाग्नि में करते हैं । (यां कृत्यां) जिस करतूत को (शालायां) शाला=गृह में लोग किया करते हैं, उसी करतूत को दण्ड के रूप में पुनः उन पर प्रयोग करूं । निरन्तर स्थिर गार्हपत्य में-लोग ज्वलनशील विस्फोटक पदार्थों को चोरी से डाल कर हानि पहुंचाते हैं, मकानों में लोग आग लगाते सेंध लगाते तथा अन्य दुष्कर्म करते हैं ।

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।
अक्षेषु कृत्यां यां० ॥ ६ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस दुष्टाचार को (सभायां चक्रुः) सभा में करते हैं और (यां) जिस नीच कर्म को (अधि-देवने) जूआखोरी में और (अक्षेषु यां कृत्यां चक्रुः०) अक्ष=जूएके पासों में करते हैं उस सब करतूत के बदले में वही अनर्थकारी दण्ड उनको भी दूं। सभा

में दलबन्दी करके परद्रोह करते हैं, जूए में परद्रव्यहरण और नाना दुरा: चार करते हैं ।

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे ।
दुन्दुभौ कृत्यां यां० ॥ ७ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस घातक व्यवहार को (सेनायां) सेना में और (यां इषु-आयुधे) धनुषों और बाणों में (चक्रुः) करते हैं, और (यां कृत्यां) जिस घातक व्यवहार को (दुन्दुभौ) नक्कारे में करते हैं, उसके बदले में उसी अनर्थकारी प्रयोग को मैं उनके प्रति भी करूं । सेना में परद्रोह, धनुष बाण में कूट और विषैले बाणों का प्रयोग, नक्कारों में विष आदि लगा कर सेना वालों को देने से उनसे मृत्यु हो जाती है ।

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः ।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां कृत्यां) जिस हानिकारक प्रयोग को (कूपे) कूए में (अव-दधुः) करते हैं । या जिन बुरे हानिकारक पदार्थों को (श्मशाने वा नि-चख्नुः) श्मशान में गाड़ आते हैं और (सद्मनि) घर में (यां कृत्यां) बुरी २ हत्याओं को (चक्रुः) करते हैं । (ताम्) उसको मैं उनके ऊपर ही दंड के रूप में (प्रति हरामि) डालता हूं । कूए में विष डालने, श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने या विस्फोटक पदार्थ चिता में जलाने या अन्य घोर अनर्थकारी सती दाहादि कार्य करने या घरों में बालक बालिकाओं की हत्या करने के अपराध करने वाले पुरुषों को यथोचित दंड दिया जाय ।

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम् ।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (याम्) जिस कुकृत्य को (पुरुषास्थे) पुरुष की हड्डियों में, और (यां च) जिस कुकृत्य को (सं-कसुके) नरद्रोही

चिता दाहक (अग्नौ) आग में (चक्रुः) करते हैं। ऐसे चोरी, (निर्दाहं) अग्नि से लोगों के घर भस्म करने और (क्रव्यादं) कच्चा मांस खाने वाले घोर पापी को फिर वैसा ही दण्ड प्राप्त कराऊं।

अपंथेना जंभारैणां तां पथेतः प्रहिंण्मसि ।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥

भा०—जो दुष्ट पुरुष (एनां) इस कुकृत्य करतूती को (अपथेन) बुरे मार्ग से (आ जभार) राष्ट्र में लाता है (तां) उस करतूत को हम (इतः पथा) इस प्रकार के सरल मार्ग से (प्र हिण्मसि) राष्ट्र से बाहर निकाल दें। और प्रायः (अधीरः) मूर्ख, बेवक़ूफ़ लोग अपनी (अचित्या) अज्ञानिता या मूर्खता से ऐसे बुरे काम (मर्या धीरेभ्यः) बुद्धिमान् लोगों के लिये (सं जभार) ला पटकते हैं। इसलिये राजा उन दुष्ट कार्यों को कभी न चलने दे।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

अथर्व० ४ । १८ । (प्र० तृ०)

भा०—और (यः) जो (चकार) किसी बुरे काम को कर तो बैठता है और तो भी (कर्तुं) उसको करने में (न शशाक) समर्थ न हो तो वह अपने (पादम्) पैर और (अंगुरिम्) हाथों को भी (शश्रे) तोड़ लेता है। वह (अभगः) मूर्ख ऐसा करके भी (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के लिये तो (भद्रं चकार) भलाई ही करता है। वह बुरे काम में हाथ डाल कर अपना सत्यानाश आप कर लेता है।

१०–' मर्याः । धीरेभ्यः ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः ।

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा, (तं कृत्या-कृतं) उस हिंसाकारी (वलगिनं) नीच कुटिलगामी (मूलिनं) विषैली जड़ों के आधारों पर दूसरों को हत्या करने वाले और (शपथेय्यं) व्यर्थनिन्दक पुरुष को (महता वधेन) बड़े भारी कठोर दण्ड से (हन्तु) मारे और (अग्निः) अग्नि सेनापति अपने (अस्तया) फेंके जाने वाले बाण या गोली से (विध्यतु) वेंध डाले ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्ततिः]

इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकाः पञ्चमे षडेकत्रिंशच्च सूक्तकम् ।
षट्सप्ततिश्च त्रिशती ऋचां च परिगण्यते ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्राब्दे श्रावणे च सिते भृगौ ।
प्रतिपद्यगमत्पूर्त्ति पञ्चमञ्चाप्यथर्वणः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

१२–'इन्द्रस्तु सर्वांस्तान् हन्तु स त्वघ्नेन भवामिवः' इति पैप्प० सं० ।

गौओं के पालन करने वाले गोपाल के समान (नः) हम प्रजाओं को (विश्वतः) सब ओर से (परि पाहि) पालन कर । और हमारे शत्रुगण (दुरस्यवः) दुःखदायी संकटों में हमें डालने वाले पुरुष (अपाञ्चः) परे हटकर (निवताः) नीचे सिर झुका कर (यन्तु) चलें । (अमा) साथ ही (एषां प्रबुधां) इनके बहुत अधिक जानने वाले विद्वानों का (चित्तं) ज्ञान भी (वि नेशत्) नाना प्रकार से नष्ट हो जाय । योगी के पक्ष में स्पष्ट है ।

ममं देवा विंहवे सन्तु सर्व इन्द्रंवन्तो मरुतो विष्णुंरुग्निः ।
ममान्तरिंक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १२८ । २ ॥

भा०—(मरुतः) वायु के समान वेगवान् (विष्णुः) व्यापक (अग्निः) अग्नि, अग्रणी, आत्मा और (देवाः) अर्थों का प्रकाश करने वाले ये (सर्वे) सब इन्द्रिय गण भी (इन्द्र-वन्तः) राजा के समान परमेश्वर को प्रमुख बना कर (मम) मेरे (वि-हवे) शासन में (सन्तु) रहें । (मम) मेरा (अन्तरिक्षम्) अन्तः निवास करने वाला मन, हृदय भी (उरु लोकं अस्तु) विशाल प्रकाश से युक्त हो अथवा यह विशाल लोक अन्तरिक्ष भी मेरे वश हो । और (वातः) यह प्राण वायु और यह वायु (मह्यं) मेरे लिये (अस्मै) इस २ (कामाय) कामना योग्य प्रयोजन के लिये (प्रवताम्) प्रवाहित हो ।

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूंतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभि रंक्षन्तु मेह ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १२८ ॥

३—(च०) 'कामे अस्मिन्' इति-ऋ० । (तृ०) 'उरु गोपं' इति तै० सं० ।
४—(प्र०) ' मह्यं यजन्तु मयातिहव्या ' (च०) ' विश्वेदेवासते अधिवोचता नः' इति ऋ० (च०) ' रक्षन्तु मामिह ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(मम यानि इष्टानि) मेरे जो इष्ट=अभिलषित सुखदायक पदार्थ और यज्ञ कर्म हैं वे (मह्यं) मुझे (यजन्ताम्) प्राप्त हों और मेरे अभिलषित पदार्थ प्राप्त करावें। और (मे मनसः) मेरे मन की (आ-कूतिः) दृढ़ संकल्प (सत्या अस्तु) सत्य हो। (अहं) मैं (कतमत् चन) किसी भी (एनः) पाप को (मा निगाम्) प्राप्त न होऊं। (विश्वे देवाः) समस्त देव गण विद्वान् अधिकारी पुरुष (मा) मुझे (इह) यहां (रक्षन्तु) रक्षा करें।

मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः ।
दैवा॒ होता॑रः सनिषन् न ए॒तदरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॒ सु॒वीराः॑ ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १२८ । ३ ॥

भा०—(मयि) मुझ पर (देवाः) देव-विद्वान् लोग (द्रविणम्) ज्ञान और धन का (आ यजन्ताम्) अनुग्रह करके प्रदान करें (मयि) मुझ पर उन का (आशीः) आशीर्वाद बना रहे। (मयि) और मुझ पर निर्भर कर के (देव-हूतिः) देवगण विद्वानों की बुलाहट लगी रहे। अर्थात् वे सदा मेरे यहां आवें, अथवा (मयि देवहूतिः) मुझे लोग 'देव' शब्द से आदर पूर्वक पुकारा करें। (दैवाः होतारः) देव=राजा सम्बन्धी विद्वान् प्रजागण मेरे यज्ञ में होता बनकर (नः) हमें (एतत्) यह सब योग्य पदार्थ (सनिषन्) प्राप्त करावें, प्रदान करें। हम (तन्वा) अपने शरीर से (अरिष्टाः) सदा आरोग्य, अपीड़ित, सुखी होकर आत्मा से (सु-वीराः) उत्तम वीर (स्याम) बनें। दैव्याः होतारः विशः। श० ३। ७। ३९ ॥ अध्वर्यु, इन्द्रियगण आदि। देखो परिशिष्ट सामवेद भाष्य।

५-(तृ०) 'देव्याहोतारो वनुषन्त पूर्वे' इति ऋ०। 'वनिषन्न' इति तै० सं०। (प्र०) 'मह्यं देवाः' (द्वि०) 'ममदेवहूतिः' इति पैप्प० सं०।

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥६॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२८ । ५ ॥

भा०—हे (षड् उर्वीः) छः विशाल (दैवीः) देवियो ! (नः) हमारे लिये (उरु कृणोत) विशाल प्रदेश प्रदान करो और विशाल ज्ञान और अन्न दो, और हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इह) यहां, मेरे राज्य में (मादयध्वम्) खूब आनन्द से निवास करो । (नः) हमें (अभि-भाः) हमारे साहसों का नाश करने वाली निराशा (मा विदद्) प्राप्त न हो और (अशस्तिः मा) अपकीर्ति भी न प्राप्त हो । और (या) जो (द्वेष्या) द्वेष करनेवाली या द्वेष करने, योग्य अप्रीति का पात्र, (वृजिना) परित्याग करने योग्य पाप बुद्धि है वह भी (मा विदद्) प्राप्त न हो ।

अध्यात्म में—प्राण आदि पांच ज्ञान-वृत्तियां और छठी मनोवृत्ति और साधारण छः दिशाएं ।

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वेयच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥७॥

उत्तरार्धः १० । १२८ । ५ ॥

भा०—(नः) हमें (तिस्रोः देवीः) तीनों देवियां (महि शर्म) बड़ा भारी सुख (यच्छत) प्रदान करें । और (यत् च) जो कुछ (नः

६-(प्र०) ' षडुर्वी ' (द्वि०) ' इह वीरयध्वम् ' इति ऋ० ।

७-(तृ०) ' मा धनेन ' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) ' महि मे '— ' प्रजायै मे ' (तृ० च०) ' मां विशः सम्मनसो जुषन्तां पित्र्यं क्षत्रं घृतजानात्वस्मत् ' इति पैप्प० सं० ।

तन्वे) हमारे शरीर और (प्र-जायै) प्रजा के लिये (पुष्टम्) पुष्टि और बल हो वह भी प्रदान करें। (प्र-जया मा हास्महि) हम अपनी सन्तति से हीन न हों, न हमारी सन्ततियों का नाश हो और न सन्तति का विच्छेद हो। (मा तनूभिः) हम अपने शरीरों को रोग आदि असमय मृत्युओं से न त्याग करें। हे (राजन् सोम) सर्व हृदयों के राजन्! नृपते! और परमात्मन्! हे सोम! सर्वोत्पादक और सर्व प्रेरक! हम (द्विषते) शत्रु से (मा रधाम) पीड़ित न हों। तीन देवी=प्राण, अपान, व्यान और वाक्, मन, और काय।

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन् हवे पुरुहूतः पुरुक्षु।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १२८ । ८ ॥

भा०—(उरुव्यचाः) इस विशाल मूल प्रकृति में या विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक राज-पक्ष में प्रजा में व्यवस्था-रूप से व्यापक (महिषः) महान् परमात्मा (नः) हमें (शर्म) शरण और सुख (यच्छतु) दे। (पुरु-हूतः) समस्त प्रजाओं द्वारा स्मरण किया गया, परमात्मा (अस्मिन्) इस (हवे) यज्ञ में हमें (पुरु-क्षु) बहुत अन्न भी दे। हे (हरि-अश्व) तीव्र व्यापनशील शक्तियों से युक्त तीव्राश्वों से युक्त राजा के समान परमात्मन् (नः प्र-जायै) हमारी प्रजा के लिये (मृड) सुख दो, (नः) हमें (मा रीरिषः) कभी मत मरने दो और (मा परादाः) हमें कभी मत त्याग। राजा, ईश्वर दोनों पक्ष में स्पष्ट है।

८–(प्र०) 'शर्म यंसत्' (द्वि०) 'पुरुक्षुः' (तृ०) 'मृडय' इति ऋ०, पैप्प० सं०।

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥९॥

ऋ० १० । १२८ । ७ ॥

भा०—(धाता) सब का धारण पोषण करने वाला, (वि-धाता) सब का उत्पादक, ही वह (देवः) देव, प्रकाशमान, सब का प्रकाश है (यः) जो (भुवनस्य पतिः) समस्त उत्पन्न हुए विश्व का पालक है । वही (सविता) सब का प्रेरक और सब के (अभिमाति-सहः) अभिमान करने वाले अन्तः-शत्रु काम क्रोध आदि का विनाशक है । (यजमानं) इस देवार्चा करने हारे यजमान=आत्मा को उस देव की दिव्य शक्तियां (निः-ऋथात्) असत्य-मय पाप मार्ग से (पान्तु) बचावें । वे देव ये हैं (आदित्याः) १२ मास (रुद्राः) रुद्र, वायुएं और (उभा अश्विना) दोनों अश्वी, द्यौ और पृथिवी ।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥

यजु० ३४ । ४६ ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (स-पत्नाः) स्वत्व पर समान अधि-कार जमाने वाले भीतरी और बाहरी शत्रु हैं (ते अप भवन्तु) वे दूर हों ।

९–' धाता धातॄणां भु- ' (द्वि०) ' देवं त्रातारमभिमातिषाहम् ' (तृ०) ' इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात् ' इति ऋ० । (तृ०) ' बृहस्पतिरिन्द्राग्नी अश्विनोभा ' इति पैप्प० सं० ।

१०–(द्वि०) ' महे तान् ' (च०) ' अक्रन् ' (तृ०) ' वसवोरुद्रा-आदित्या उपरिस्पृशं मा ' इति क्वचित् पाठः । (प्र०) ' येनः शप-न्त्युपने ' (द्वि०) ' अप बाधाम योनिम् ' (तृ०) ' उपरिस्पृशो-माम् ' (च०) ' अक्रन् ' इति पैप्प० सं० ।

(एनान्) इन सब को (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र और अग्नि से इन्द्र=विद्युत् या सूर्य और अग्नि=आग और ज्ञान या राजा और सेनापति द्वारा अब (बाधामहे) विनष्ट करते हैं । (उपरि-स्पृशः) ऊर्ध्व देश को स्पर्श करने वाले (आदित्याः) सूर्य की किरण और (रुद्राः) वायुएं (चेत्तारं) समस्त संसार को चेतना देने हारे उस (उग्रं) बलवान् प्रभु को (अधि-राजम्) सब का स्वामी (अक्रत) बनाते हैं । राष्ट्र पक्ष में—(आदित्याः) सूर्य के समान ज्ञानी पुरुष और (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने वाले वीर पुरुष सब मिलकर (चेत्तारम्) सब को चेताने वाले (उग्रं) बलवान् पुरुष को (अधिराजम् अक्रत) अपना स्वामी राजा बनाते हैं ।

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १२८ । परि० ॥

भा०—(अमुतः) उस परमात्मा के समान ही हम (अर्वाञ्चं) प्रत्यक्ष दीखने वाले इस लोक के (इन्द्रम्) राजा की (हवामहे) भी स्तुति करते हैं कि (यः) जो (गो-जित्) गौओं आदि पशुओं का विजेता (धन-जित्) धनों का विजेता, और (अश्व-जिद्) अश्वों का विजय करने वाला है । वह (नः) हमारे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (वि-हवे) विशेष स्तुतिकाल और युद्ध काल में भी (शृणोतु) श्रवण करे । हे (हरि-अश्व) हरणशील अश्व=शक्तियों से सम्पन्न परमात्मन् और राजन् ! आप (अस्माकं) हमारे (मेदी) स्नेही (अभूः) हो । राजा और परमात्मा दोनों के पक्षों में समान है । अध्यात्म में—गौ=ज्ञानेन्द्रियां अश्व=कर्मेन्द्रियां धन=ज्ञान और कर्म फल, अमुक=परमात्मा और तदनुसार इस देह में यह इन्द्र=आत्मा ।

११–' विहवे जुषस्वास्य कुर्मो हरिवो मे दिनं त्वा ' इति ऋ० प० । ' विहवे जुषस्वास्माकं कृण्वो ह० मे० त्वा० ' इति पैप्प० सं० ।

[४] कोढ के नाशक कूठ ओषधि का वर्णन ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनः कुष्ठो देवता । १–४, ७, ९ अनुष्टुभः, ५ भुरिक्, ६ गायत्री, १० उष्णिग्गर्भा निचृत् । दशर्चं सूक्तम् ॥

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः ।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥ १ ॥

भा०—हे (कुष्ठ) कूठ नाम का वृक्ष ! तू (यः) जो (गिरिषु) पर्वतों में (अजायथाः) उत्पन्न होता है इस कारण (वीरुधां) लताओं में से (बलवत्-तमः) सब से अधिक बलवान् है । हे (तक्म-नाशन) कुष्ठ आदि रोगों के नाश करने वाला ! तू (इतः) इस देह से (तक्मानम् नाशयन्) कुष्ठ आदि दुःखदायक रोग को नाश करता हुआ (आ इहि) हमें प्राप्त हो ।

कुष्ठ के विषय में राजनिघण्टु—"कफमारुतरक्तजित् त्रिदोषविष-कण्डूश्च कुष्ठरोगांश्च नाशयेत् ।"

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि ।
धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥

भा०—जो पुरुष (तक्म-नाशनं) ज्वर के नाशक इसको (हि विदुः) निश्चय पूर्वक जान लेते हैं वे इसको (हिमवतः परि) हिमालय के ऊपर (सुपर्णसुवने गिरौ) सुपर्ण-गरुड़ों को उत्पन्न करने वाले अति उच्च गिरि-शिखर पर भी (श्रुत्वा) इसका नाम सुन कर (धनैः) अपने नाना द्रव्य व्यय करके (अभि यन्ति) वहां तक पहुंचते हैं और उसको उद्योग से प्राप्त

[४] २–(प्र०) 'सुवर्णसवने' (तृ० च०) 'धनैरभिश्रुतं हत्विकुष्ठे तक्म-नाशनः' इति पैप्प० सं० ।

करते हैं। अथवा (धनैः[1]) उसकी पहिचान करने वालों के साथ (अभियन्ति) वहां पहुंचते हैं।

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ९५ । १ ॥

भा०—(देव-सदनः) दिव्य गुणों का आश्रय (अश्वत्थः) सूर्य, (इतः) यहां से, इस लोक से (तृतीयस्याम् दिवि) तीसरे द्यौलोक में है। (तत्र) वहां ही (अमृतस्य) अमृत रस का वास्तविक (चक्षणं) परिदर्शन होता है। वही (देवाः) दिव्य किरणें (कुष्ठम्) कुष्ठ नामक ओषधि को (अवन्वत) पालित पोषित करती हैं, सेती हैं, पुष्ट करती हैं।

*हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । ७ ॥ अथर्व० ६ । ९५ । ५ ॥

भा०—(हिरण्ययी) तेजोमय (नौः) नाव के समान यह आदित्य (हिरण्य-बन्धना) तेजो-द्रव्य से बंधी हुई (अचरत्) विचरती है। (तत्र) वहां (अमृतस्य पुष्पं) अमृत रस ओषधियों के गुणकारी रस का पुष्प=पोषण सामर्थ्य है। (देवाः) उसकी दिव्य किरणें (कुष्ठम् अवन्वत) कूठ नामक ओषधि को सेवती और पुष्ट करती हैं।

१. धनं धिनोतीति सतः नि० ३ । २ । ३ ॥ धिवि जिवि प्रीणनार्थो भ्वादिः ।

३–(च०) 'ततः कुष्ठोऽनायत' इति अथर्व० १९ । ३९ । ६ ॥

४–(तृ० च०) 'तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठोऽजायत' इति अथर्व० १९ । ३९ । ७ ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्ययां ।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥

भा०—उस सूर्य के (पन्थानः) किरणों के जाने के मार्ग (हिरण्ययाः) ज्योतिर्मय (आसन्) हैं और (अरित्राणि) समुद्र में नाव को खेने के लिये लगे चप्पुओं के समान सूर्य में लगी किरणें भी (हिरण्यया) स्वतः ज्योतिर्मय हैं। और उन ज्योतिर्मय चप्पुओं के आश्रय पर विचरने वाली (नावः) सूर्यमय नौकाएं भी (हिरण्ययीः) ज्योतिर्मय हैं (याभिः) जिनसे (कुष्ठं) कूठ नामक औषध को (निः-आवहन्) खूब पुष्ट करते हैं।

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु ।
तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥

भा०—हे कुष्ठ ! ओषधे (मे) मेरे (इमं) इस (पूरुषं) पुरुष को (आ वह) आरोग्यता को प्राप्त करा, (तं निष्कुरु) उस को रोग से मुक्त कर और (तमु उ मे अगदं कृधि) मेरे इस पुरुष को रोग मुक्त बनाये रख।

देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥

भा०—हे कुष्ठ ! तू (देवेभ्यः) देवगण=किरण-समूहों से (अधिजातः असि) रस प्राप्त कर के उत्पन्न हुआ है। और (सोमस्य) सोमलता का (सखा) मित्र के समान उसी देश में उत्पन्न होने से अथवा (सोमस्य सखा) सोम ओषधि रस के समान होकर उस का सखा (हितः) और गुण में उसी के समान हितकारी है। (सः) वह तू (प्राणाय) शरीर के प्राण और (व्यानाय) शरीर में व्यापक व्यान वायु और (मे अस्मै) मेरे इस (चक्षुषे) चक्षु दोष को भी अच्छा कर के (मृड) सुखी कर।

७-(तृ०) 'प्राणायापानाय' इति पैप्प० सं०।

उदंङ् जातो हिमवंतः स प्राच्यां नीयसे जनंम् ।
तत्र कुष्ठंस्य नामांन्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥

भा०—तू (उदङ्) उत्तर दिशा में (जातः) उत्पन्न होता है और हे कूठ ! तू (हिमवतः) हिमालय से (प्राच्यां) प्राची दिशा में रहने वाले (जनं) जनपदों में (नीयसे) लाया जाता है । (तत्र) वहां उस पूर्व देश में (कुष्ठस्य) कूठ के (उत्तमानि नामानि) उत्तम २ रूपों को (विभेजिरे) पृथक् २ विभक्त कर देते हैं । अर्थात् सब कूठ की जातियों में से उत्तम २ जातियों को छांट लेते हैं ।

उत्तमो नामं कुष्ठास्युत्तमो नामं ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशयं तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥

भा०—हे (कुष्ठ) कूठ (ते नाम उत्-तमः) तेरा नाम उत्तम है । (ते पिता उत्-तमो नाम) तेरा पालक भी उत्तम सूर्य या पर्वत सब से ऊपर विराजमान है, या ऊंचा है । तू (सर्वं यक्ष्मं नाशय) समस्त यक्ष्म रोगों को नाश कर और (तक्मानं च) तक्मा, कोढ़ रोग को (अरसं) निर्बल, विष-रहित (कृधि) कर ।

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः ।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥

भा०—मैं (शीर्ष-आमयम्) सिर के रोग को और (अक्ष्योः तन्वः रपः) आंखों और शरीर के दोष को (उप-हत्याम्) विनाश करूं । (कुष्ठः) कूठ औषध (दैवं वृष्ण्यम्) दिव्य ओषधि के समान प्रभावशाली पुष्टिकरण

८–(द्वि०) 'प्राच्यं'

९–(तृ० च०) 'यतः कुष्ठ प्रजायसे तदेह्यरिष्टतातये' इति पैप्प० सं० ।

१०–(प्र०) 'शीर्षहत्यमुपहत्य' (तृ०) 'कुष्ठो नो विश्वतस्पात्' इति पैप्प० सं० ।

होने के कारण (सम् अह) बड़ी उत्तम रीति से (तत् सर्वं) वह सब कुछ (निष्करत्) कर देता है।

अध्यात्म ब्रह्म-वाद में भी यह सूक्त लगता है। 'अश्वत्थो देवसदनः तृतीयस्यामितो दिवि' यह अलंकार, छान्दोग्य में ब्रह्मप्रकरण में मोक्ष विषयक दिया है। इस लिङ्ग से कुष्ठ=परमेश्वर=गिरिष्ठ, कौ वाचि तिष्ठति इति कुष्ठः इसका अर्थ है वही जो 'गिरिष्ठ' शब्द का है अर्थात् समस्त वेदवाणी में व्यापक है। १-वही सब दुखों का नाशक है। वही आनन्द वल्ली होने से सब लताओं में बलवान् परम भव-भेषज है। २-हिमवान् सुमेरु=मेरु दण्ड के ऊपर सुपर्णसुवन=मस्तक भाग में ज्ञानरूप से एवं योगाभ्यास में ब्रह्म-रन्ध्रस्थल में प्रकाशरूप से प्रकट होता है। ३-उस शरीर के तृतीय लोक मूर्धा में इन्द्रियरूप देवों के एक मात्र आश्रय अश्वत्थ परम-आत्मा है उसी में अमृत का दर्शन होता है। उसी को देव गण 'कुष्ठ' कहते हैं। ४-वहीं एक हिरण्ययी नाव है जो तेजोमय विशोका ज्योतिष्मती, प्रज्ञा या ऋतम्भरा है। ५-उस के सब मार्ग ज्योतिर्मय हैं वह अपने ज्योतिर्मय रश्मियों से उस 'कुष्ठ' आत्मा को धारण करती है,। ६-वही कुष्ठ का दर्शन पुरुष आत्मा को अगद=भव रोग से निवृत्त करता है। वही ब्रह्मानन्द सोम परमामृत रस का अपर-पर्याय है। प्राण व्यान चक्षु सब को बल देता है। ८-वही ऊर्ध्व देश में उत्पन्न ब्रह्मानन्द शरीर के रोग में व्याप जाता है। ९-समस्त देह-दुःख उस को पाकर टूट जाता है। १०-शिर, चक्षु, देह सब निरोग, सबल और प्रफुल्लित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त विशाल विराड् ब्रह्माण्ड में तारामण्डलों में ज्योतिषियों ने एक चित्र कल्पना कर रखा है। इसमें अश्वत्थ, सुपर्ण, हिरण्ययी नौका आदि की कल्पना भी उसी प्रकार है जैसे मृगशिरा, रोहिणी, कर्कट, सिंह आदि की है यह हिरण्यमयी नौका वह तारा मण्डल है जिसको अंग्रेज़ी में 'आर्गो'=अर्णवयानमण्डल कहते हैं।

[५] सिलाची=लाक्षा ओषधि का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । लक्ष्मी देवता । १–९ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः ।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥ १ ॥

भा०—सिलाची नाम ओषधि का उपदेश करते हैं । सिलाची=लाख नामक ओषधि की (माता) माता के समान पालन पोषण और वृद्धि करने वाली (रात्री) रात्रि है । अर्थात् वह रात में बढ़ती है, (नभः) अधिक न चमकने वाला, चन्द्रमा, नक्षत्रमय आकाश उसका (पिता) पालन करने वाला है । वह रात्रि की ओस से बढ़ती है और (ते पितामहः) तेरा पितामह (अर्यमा) सूर्य है । तो भी परम्परा से वह ओषधि सूर्यप्रकाश की अपेक्षा करती है । हे ओषधे तू (सिलाची नाम वा असि) 'सिलाची' नाम वाली है । तू (देवानाम् स्वसा असि) देव विद्वानों की भगिनी के समान रोगियों को सुख देने में सहायक है । अथवा देह में विद्यमान देव इन्द्रियों को स्वयं गति देने में समर्थ है ।

यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥ २ ॥

भा०—उसके गुण बतलाते हैं । हे ओषधे ! (यः त्वा पिबति) जो तुझ को पान करता है । (जीवति) वह दीर्घ जीवन धारण करता है, वह मृत्यु से बच जाता है । क्योंकि (त्वम्) तू (पुरुषं) पुरुष को (त्रायसे) मृत्यु से रक्षा करती है और (हि) क्योंकि तू (शश्वतां) अनादि काल से

[५] १–'शिलाची नाम वासि' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) 'धर्त्री च' इति पैप्प० सं० ।

चले आये (जनानां) मनुष्यों की (भर्त्री हि) भरण पोषण करने वाली (असि) है । और इसीलिये (नि-अञ्चनी) सब रोगों को दबाने वाली अथवा समस्त शरीर में सुगमता से व्याप जाने वाली भी है ।

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥ ३ ॥

भा०—(वृषण्यन्ती) काम से प्रेरित होकर पति की अभिलाषा करने वाली (कन्यला) कन्या नवयुवति जिस प्रकार स्वयंवर काल में पुरुष को देख कर उस का आश्रय लेने का संकल्प करती है उसी प्रकार हे ओषधे ! तू भी (वृक्षं-वृक्षं) प्रत्येक वृक्ष पर (आरोहसि) आश्रय लेती है । और (जयन्ती) उस पर फैल कर उसको पूरी तरह से उसे छा लेती है और पुनः (प्रति-आ-तिष्ठन्ती) उस पर खूब मजबूती से जड़ जमाकर स्थिर हो जाती है । तेरा दूसरा नाम (स्परणी नाम वा असि) 'स्परणी' भी है ।

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ ४ ॥

भा०—इसके गुणों का उपदेश करते हैं । (यद्) जो (अरुः) घाव (दण्डेन) दण्डे की चोट से (यद् इष्वा) और जो घाव बाण के लगने से और (यद् वा अरुः) जो घाव (हरसा कृतम्) किसी रगड़ से या वेगवान् पदार्थ से होगया है (तस्य) उसको (त्वम् निष्कृतिः असि) तू सर्वथा दूर करने में नाचूक औषध है । (सा) ऐसी वह तू ओषधि (इमं पूरुषं निष्कृधि) इस पुरुष को चंगा कर ।

३-(च०) 'संजया नाम वासि' इति पैप्प० सं० ।
४-(तृ० च०) 'त्वमसि भीषजी निष्कृतिर्नाम वासि' इति पैप्प० सं० ।

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥

भा०—इसके उत्पन्न होने के वृक्षों का उपदेश करते हैं। हे ओषधे ! तू (भद्रात्) उत्तम (प्लक्षात्) प्लक्ष-पिलखन के पेड़ से, (अश्वत्थात्) पीपल के पेड़ से और (खदिरात्) खैर के पेड़ से और (धवात्) बबूल के पेड़ से और (भद्रात्) उत्तम (न्यग्रोधात्) वड़ के पेड़ से और (पर्णात्) पर्ण=पलाश=ढाक के पेड़ से (निः तिष्ठसि) निर्यासरूप होकर उस पर आ जमती है । हे (अरुन्धति) अरु=घावों को भर देने वाली ओषधे ! (सा) वह तू (नः एहि) हमें प्राप्त हो ।

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥ ६ ॥

भा०—उसके स्वरूप का उपदेश करते हैं । हे (हिरण्य-वर्णे) स्वर्ण के समान पीत रंग वाली, (सु-भगे) सुन्दर चमक से युक्त (सूर्य-वर्णे) सूर्य के समान लाल पीले, चमकीले रंग वाली (वपुष्टमे) अपने बीजवपन करने और फैलने में सब से अधिक शक्तिशाली ! हे (निष्कृते) रोग को सर्वथा दूर करने वाली ! तू (निष्कृतिः नाम वा असि) 'निष्कृति' नाम वाली ही है । तू सर्वरोगहारिणी है । तू (रुतं) रुत=व्रण पर ही (गच्छासि) प्रयोग की जाती है । अथवा नामानुरूप गुण को प्राप्त करती है ।

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे ।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ॥ ७ ॥

६-(प्र०) 'हिरण्यबाहू' (च०) 'सेमं निष्कृधि पौरुषम्' इति पैप्प० सं० ।

७-(प्र०) 'हिरण्यवर्णे युवते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (हिरण्य-वर्णे) सुवर्ण के वर्णवाली ! हे (सु-भगे) सुन्दर कान्ति, सौभाग्य वाली ! हे (लोमशवक्षणे) पार्श्वों पर सूक्ष्म रोमवाली ! तू (अपाम् स्वसा असि) जलों की भगिनी के समान उन में अपना रस छोड़ देने वाली है । हे (लाक्षे) लाख नाम वाली ओषधे ! (ते आत्मा) तेरा देह (वातः हि बभूव) वस्तुतः, वात स्वरूप है । अर्थात् वायु से तू पुष्ट होती है ।

सिलाची नाम कानीनोजबभ्रु पिता तव ।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥

भा०—(सिलाची नाम कानीना) सिलाची नाम की ओषधि कन्या-स्वरूप है । हे ओषधे ! (तव पिता अजबभ्रु) तेरा पिता उत्पादक 'अजबभ्रु' और (यमस्य) सर्वनियामक परमात्मा का (यः) जो (श्यावः) नित्य-गतिशील (अश्वः) अश्वरूप सूर्य है (तस्य) उसके (अस्ना) रस से (उक्षिता) तू सिंची हुई है ।

'अजबभ्रु' वह वृक्ष हैं जिन पर बकरियां चरायी जाती हैं जैसे–पीपल, बड़, बेरी आदि । ' सिलाची ' इसलिये कहा जाता है अपनी चिपकने वाली लेस से वह शाखाओं पर चिपटी रहती है ।

अश्वस्यास्नः सम्पतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे ।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एहारुन्धति ॥ ९ ॥

भा०—हे ओषधे ! (अश्वस्यः) सूर्य के (अस्नः) लाल रस से (सम्पतिता) संयुक्त होकर (सा) वह ओषधि (वृक्षान् अभि सिष्यदे)

८–'आजबभ्रुः' इति ग्रिलः । (च०) ' आस्ना ' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) ' घृताची नाम कनीनोत बभ्रूः पिता तव ' इति पैप्प० सं० ।

९–(द्वि०) ' सा प्राणमभिशुष्यति ' इति पैप्प० सं० ।

वृक्षों पर से स्रवित होती है । हे (अरुन्धति !) व्रण पूरने वाली ओषधे ! (सरा) बहने वाली या फैलने वाली (सा) वह तू (पतत्रिणी) पत्तों वाली अर्थात् शाखा पर चिपटे छिलकों वाली खूब परिपक्वावस्था में (नः) हमें (एति) प्राप्त हो । लाख को चपड़ा बनाया जाता है तब उसे पिघला कर पत्रों के समान चादरें बिछादी जाती हैं वह बहुत उत्तम और औषध में काम लायी जाती है ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चाष्टचत्वारिंशत् ।]

[६] जगत्-स्रष्टा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । १ सोमरुद्रौ, ब्रह्मादित्यौ, कर्माणि रुद्रगणाः हेतिश्च देवताः । १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती, ४ अनुष्टुब्बुष्णिक् त्रिष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती, ५—७ त्रिपदा विराड् नाम गायत्री, ८ एकावसाना द्विपदाप्यनुष्टुप्, १० प्रस्तार पंक्तिः, ११, १३, पंक्तयः, १४ स्वराट् पंक्तिः । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या/उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥१॥

अथर्व० ४ । १ । १ ॥ साम० पू० प्र० ४ । ३ । ९ ॥

भा०—(वेनः) ज्ञानवान्, तेजस्वी परमात्मा ने (प्रथमं) सब से प्रथम या अतिविस्तीर्ण रूप से (जज्ञानम्) प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (पुरस्तात्) इस समस्त संसार की रचना के पूर्व ही उत्पन्न किया और (सुरुचः) कान्तिमान लोकों को (सीमतः) उसके बीच में से (वि आवः) बना कर प्रकट किया । (सः) उस ही परमात्मा ने (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश

(वि-स्थाः) विशेष रूप से स्थित अन्य ब्रह्माण्ड भी स्थापित किये । अथवा (अस्य) इस जगत् के (उपमाः) बनाने वाले (बुध्न्याः) मूल आधार-भूत (विष्ठा) व्यवस्थाएं भी (वि वः) प्रकट कीं और उसने ही (सतः च) इस सद्रूप जगत् और (असतः च) अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूल-कारण को (वि वः) प्रकट किया है ।

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् वः एतत् पुरो दधे ॥ २ ॥

अथर्व० का० ४ । ७ । ७ ॥

भा०—(ये) जो (वः) तुम लोगों में से हे पुरुषो ! (अनाप्ताः) आप्त अर्थात् पूर्ण ज्ञानी नहीं होकर (यानि कर्माणि) जिन कर्मों को (चक्रिरे) करते हैं, उनके अज्ञान से किये काम (अत्र) इस संसार में (नः वीरान्) हमारे पुत्रों को (मा दभन्) हानिकारक न हों । इस-लिये (तत् एतत्) उस परम ज्ञानमय इस वेद को मैं परमात्मा (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) स्थापित करता हूं ।

सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥३॥

ऋ० ९ । ७३ । ४ ॥

भा०—(दिवः) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशमय परमात्मा के उस (नाके) परम सुखमय (सहस्र-धारे) सहस्रों धारण-शक्तिसम्पन्न लोक में (एव) ही (ते) वे नाना मुक्त जीव (असश्चतः) स्थिर कूटस्थ, निश्चल, शान्त-स्वभाव होकर (मधु-जिह्वाः) मधुर रसना से, ज्ञानमयी मनोहर वाणी से

[६] ३–ऋग्वेदे पवित्र ऋषिः, पवमानः सोमो देवता । 'सहस्रधारेऽवते', 'तस्य-स्पशो', 'सन्ति सेतवः' इति ऋ० । सहस्रमिते सम' इति पैप्प० सं० ।

(सम्-अस्वरन्) ऐसे वेद-ज्ञान का गान कर रहे हैं कि (तस्य) उस परमेश्वर के (भूर्णयः[1]) समस्त संसार के भरण पोषण करने या धर पकड़ने वाले (स्पशः) सब के चरित्रों को देखने वाले दूत (न निमिषन्ति) एक क्षण भी असावधान होकर आंख नहीं झपकते । प्रत्युत अनर्थकारियों को (सेतवे) बांधने के लिये तो वे (पदे-पदे) पद २ पर (पाशिनः) हाथों में पाश-दण्ड या फन्दा लिये हुए (सन्ति) खड़े हैं । वे सज्जनों का पालन और दुष्टों का दमन करते हैं ।

पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि
त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥ ४ ॥ ऋ० ७ । ११० । १ ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! (वाजसातये) ज्ञान, धन, वीर्य या अन्न की प्राप्ति के लिये जब आप (वृत्राणि) सब आवरणकारी विघ्नों को (सक्षणिः) सहनशील होकर (परि उ सु प्र धन्वा) परे मार भगाते हो । आप ही (तत्) तब (अर्णवेन) समुद्र के द्वारा भी (द्विषः) शत्रुओं पर (अधि ईयसे) चढ़ाई करते हो । इसीलिये आपका (सनिस्रसः नाम असि) नाम 'सनिस्रस'=पराक्रमी, 'विक्रम' से शत्रु पर चढ़ाई करने में चतुर है । यह बात ठीक है कि (त्रयोदशो मासः) तेरहवां मास (इन्द्रस्य गृहः) इन्द्र का घर है । अर्थात् जिस प्रकार बारहों मास अतिक्रमण करके इन्द्र=सूर्य तेरहवें

---

१. 'बिभर्त्ति धरति सर्वमिति भूर्णिः' दयानन्दउणादिव्याख्यायाम् । भृ भर्त्सने मरणे चेति, भर्त्सनशीला इति क्षेमकरणः ।

४–ऋग्वेदे अरुणत्रसदस्यू ऋषी । पवमानः सोमो देवता । (तृ०) 'द्विषस्तरध्या ऋणयान ईरसे' इति पाठभेदः साम० । तत्रैव 'द्विष०...... ईयसे' इति ऋ० । (च०) 'सहस्रशो नामा' (तृ०) 'दिवस्तद' इति पैप्प० सं० ।

मास में पैर रख देता है इसी प्रकार वीर भी शत्रु के द्वादश राजमण्डल का विजय करके तेरहवें स्थान पर स्वतः इन्द्र होकर विराजता है ।

न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा ।

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥

उत्तरार्धं भागः ऋ० ७ । ७४ । ४ प्र०, द्वि० ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (एतेन) निश्चय से इस प्रकार के सुगुप्त मन्त्र द्वारा ([अ] नु-अरात्सीः असौ) हे राजन् ! वह तू सिद्धि को प्राप्त हो । (स्वाहा) यह हमारी सद्-भावना है और प्रजा चाहे कि (तिग्मायुधौ) तीक्ष्ण हथियार वाले और (तिग्महेती) तीक्ष्ण अस्त्र वाले (सोमारुद्रौ) राजा और सेनापति दोनों (सुशेवौ) सुखपूर्वक सेवा करने योग्य होकर (इह) इस राष्ट्र में (नः) हमें (सु मृडतम्) सुखी रखें ।

अवै३तेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मा० ॥ ६ ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (एतेन) इस प्रकार के उपाय से (असौ) हे अमुक राजन् ! तू शत्रुओं को (अव अरात्सीः) नीचे दबाने में सफल हो (स्वाहा) यह हमारी सद्-इच्छा है । (तिग्मायुधौ०) तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले राजा और सेनापति दोनों सुखपूर्वक सेवा करने योग्य होकर हमें सुखी बनावें ।

अपै३तेनारात्सीरसौ स्वाहा ।

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥७॥

५–' वीतेना वैतेना मैतेन रात्स्यीरसो स्वाहा [?] ' (द्वि० तृ०) सुशेवाग्निषोमाविह ' इति पैप्प० सं० । (प्र०) ' नैतेन ' इति ह्विटनि-कामितः । ' अनु-एतेन ' इति पेट० लाक्षणिकः । ' वि-एतेन अरात्सीः ' इति पैप्पलादाभिप्रेतः पाठः ।

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (असौ) हे अमुक राजन् ! तू (एतेन) इस अमुक उपाय से (अप अरात्सीः) शत्रुगण को परे भगा देने में समर्थ हो । (तिग्मायुधौ०) तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले राजा और सेनापति दोनों हमें सुखी बनावें ।

मुमुक्तम॒स्मान्दु॑रि॒ताद॑व॒द्याज्जु॒षेथां॑ य॒ज्ञम॒मृत॑म॒स्मासु॑ धत्तम् ॥ ८ ॥

भा०—हे राजन् और सेनापते ! आप दोनों (अस्मान्) हम प्रजाजनों को (अवद्याद्) निन्दनीय (दुरिताद्) दुराचार से (मुमुक्तम्) मुक्त करें । और (यज्ञं) हमारे संगठन को (जुषेथाम्) आप प्रेम से देखें और उसमें योग दें । और (अस्मासु) हम में (अमृतम्) जीवन और ज्ञान और अमृत—मृत्यु और शत्रु से होने वाले भय का पूर्ण प्रतीकार (धत्तम्) करें ।

चक्षु॑षो हेते॒ मन॑सो हेते॒ ब्रह्म॑णो हेते॒ तप॑सश्च हेते ।
मे॒न्या मे॒निर॑स्यमे॒नय॒स्ते स॑न्तु॒ ये॑३॒स्माँ अ॑भ्यघा॒यन्ति॑ ॥ ९ ॥

भा०—हे (चक्षुषः हेते) चक्षु के आयुध ! हे (मनसः हेते) मन के आयुध ! हे (ब्रह्मणः हेते) ब्रह्म=ज्ञान के आयुध ! और (तपसः च हेते) तपः-सामर्थ्य के आयुधरूप राजन् ! तू (मेन्याः मेनिः असि) मेनि= आयुध का भी तू आयुध है । (ये अस्मान्) जो हम पर (अभि-अघायन्ति) सब तरफ़ से पापाचार करना चाहते हैं (ते अमेनयः सन्तु) वे सदा बिना हथियार के रहें । शत्रु पर आंख रख कर उसको दबाना चक्षु का शस्त्र फेंकना है । मानस—मन्त्र-शक्ति से दबाना मन का हथियार चलाना है, विद्वानों के विज्ञान का वार करना ब्रह्म का हथियार चलाना है,

८–(प्र०) 'अस्माद् गृभीथाद्' इति पैप्प० सं० ।

९–'वचो हेते ब्रह्मणो हेते । यो मा अघायुरभिदासति तमग्ने मेन्यामेनिं कृणु' इति तै० ब्रा० ।

इसी प्रकार बल, तपस्या, सहन-शक्ति से शत्रु पर वार करना तप का हथियार चलाना है ।

यो३ऽस्माँश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात् ।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—(यः व अघ-युः) जो जो पापाचारी पुरुष (अस्मान्) हमें (चक्षुषा) अपनी दुर्भावमय आंखों से अपने (मनसा) मन से, (चित्या) अपने ज्ञान से और (आकूत्या) अपने मन्त्र, सलाहों से (अभि-दासात्) हमें नाश करना चाहता है हे अग्ने ! राजन्, सेनापते ! (तान्) उन शत्रुओं को तू अपने (मेन्या) तलवार के ज़ोर से (अमेनीन्) निःशस्त्र (कृणु) कर (स्वाहा) हमारी तुझे यही उत्तम सलाह है ।

इन्द्रस्य गृहोऽसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ ११ ॥

भा०—शरणागतों को उपदेश है कि वे राजा से कहें कि (इन्द्रस्य गृहः असि) इन्द्र=ऐश्वर्यशील उस राज शक्ति का तू गृह=आश्रय-स्थान है । हे राजन् ! (तं त्वा प्रपद्ये) मैं तेरी शरण हो तुझे प्राप्त होता हूं, (तं त्वा प्र विशामि) उस परमशक्तिमान् की सेवा में प्रविष्ट-भर्ती होता हूं । मैं (सर्वगुः) अपनी सब गौओं, इन्द्रियों सहित, (सर्व-पूरुषः) सब पुरुषों सहित (सर्वात्मा) सब मन और (सर्व-तनूः) सब शरीरों और (यत् मे अस्ति तेन) और जो भी मेरा है उसके सहित तेरी शरण होता हूं ।

१०–‘ यो मा चक्षुषा यो मनसा यो वाचा ब्रह्मणाऽघायुरभिदासति तपोग्ने त्वां मेन्यामुममेनिं कृणु ’ इति तै० ब्रा० । ‘ त्वमग्ने त्वं मेन्यामेनिं कृणु ’ इति पैप्प० सं० ।

११–‘ सर्व पौरुषः ’ इति पैप्प० सं० ।

राजा जिनको अपने साथ मिलावे उनसे इस प्रकार का प्रतिज्ञापत्र लिखा कर अपने साथ लेकर उनको अपनी सेना आदि के कार्यों में नियुक्त करे ।

इन्द्रस्य शर्मासि । तं त्वा० ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रस्य शर्म असि) हे राजन् ! तू इन्द्र=ऐश्वर्यशाली शक्ति का आश्रय स्थान है (तं त्वा प्रपद्ये०) तुझे मैं प्राप्त होता हूं, तेरी सेवा में आता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

इन्द्रस्य वर्मासि । तं त्वा० ॥ १३ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य वर्म असि) इन्द्र=ऐश्वर्यशाली पद का कवच के समान रक्षक है । (तं त्वा०) उस तेरी मैं शरण में आता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १४ ॥

भा०—(इन्द्रस्य वरूथम् असि) हे राजन् ! तू उस इन्द्र के समृद्धिशाली पद का वरूथ=स्वीकार करने वाला रक्षक है । (तं त्वा प्रपद्ये) मैं तेरी शरण आता हूं, तेरे कार्य में नियुक्त होता हूं, इत्यादि पूर्ववत् ।

११, १२, १३, १४ इन चार मन्त्रों में राजा के प्रति शरणागतों के कर्त्तव्यों का उपदेश किया है कि वे राजा की शरण में अपनी गौ, पुरुष देह और समस्त भूमि धन आदि सहित शरण में आयें, और ऐसा प्रतिज्ञापत्र भी लिख दें ।

[७] अधीन भृत्यों को वेतन देने की व्यवस्था।

अथर्वा ऋषिः । बहवो देवताः । १-३, ६-१० आदित्या देवताः, ४, ५ सरस्वती, १ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः , ४ पथ्या बृहती, ६ प्रस्तारपंक्तिः, २, ३, ५, ७-१० अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ॥

आ नो॑ भर॒ मा परि॑ ष्ठा अराते॒ मा नो॑ रक्षी॒र्दक्षि॑णां नी॒यमा॑नाम् ।
नमो॑ वी॒र्त्सायो॒ असमृद्धये॒ नमो॑ अ॒स्त्वरा॑तये ॥ १ ॥

भा०—विद्वानों को भरण पोषण और वृत्ति देने के विषय में उपदेश करते हैं। हे (अराते) पर द्रव्य को दूसरों को न देने वाले पुरुष ! (नः आ भर) हमें हमारा उचित पालन पोषण योग्य द्रव्य दे दिया कर। (मा परि-ष्ठाः) उदासीन होकर चिन्ता में मत खड़ा रह । (नः) हमारे लिये (नीयमानां दक्षिणाम्) लायी गयी दक्षिणा=श्रेष्ठ कर्म के लिये आदर पूर्ण पुरस्कार—ऋत्विग् लोगों की भृति को (मा रक्षीः) अपने पास मत रख। (वि-ईर्त्सायै) विशेष ऋद्धि के प्राप्त करने की इच्छा—प्रलोभन या लालसा को भी (नमः) वज्र के समान दूर से त्याग करते हैं और साथ ही (नमः असम्-ऋद्धये) समृद्धि का न होना या दरिद्रता को भी नमस्कार है वह भी नहीं चाहिये । और हे दाता तू भी निष्कपट होकर कह कि (नमः अस्तु अरातये) न देने के भाव=कंजूसी को भी दूर से (नमः) नमस्कार हो, अर्थात् उसे भी धत्ता बता । देने वाला कंजूस न हो, लेने वाले लालची न हों तो ग़रीबी अवश्य दूर हो जाती है।

यम॑राते पुरो॒धत्से॒ पुरु॑षं परिरा॒पिण॑म् ।
नम॑स्ते॒ तस्मै॑ कृण्मो॒ मा व॒निं व्य॑थयी॒र्मम॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (अराते) श्रमी पुरुषों और विद्वान् कार्यकर्त्ताओं को उन का पुरस्कार न देने हारे पुरुष ! तू (यम्) जिस (पुरुषं) पुरुष को

(परि-रापिणं) नाना प्रकार से अपने आगे बुरा भला कहते हुए, अपने आगे अपने वेतन के लिये बड़बड़ाते हुए को (पुरः-धत्से) आगे खड़ा रखता है । (ते) ऐसे तुझ और (तस्मै) ऐसे तेरे उस पुरुष को भी (नमः कृण्मः) नमस्कार करते हैं, अर्थात् ऐसी दशा कभी समाज में नहीं आने देना चाहते । क्योंकि प्रत्येक पुरुष यह चाहता है कि (मम) मेरी (वनिं[1]) वृत्ति को (मा व्यथयीः) हे मेरे मालिक तू मत मार, मुझे हानि मत पहुंचा, नहीं तो तेरे सेवक तेरे सामने तुझे बुरा भला सुनावेंगे और गिड़ गिड़ावेंगे ।

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम् ।
अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥

भा०—(नः वनिः) हमारा भाग, वृत्ति (देवकृता) विद्वान् पुरुषों ने नियत की है । इसलिये वह (दिवा नक्तं च) दिन और रात (प्र कल्पताम्) उत्तम रीति से बराबर बनी रहे । (अरातिम्) न देने हारे कंजूस पुरुष के पास (अनु प्र-इमः) फिर उसके अनुकूल होकर उसके पास आते और कहते हैं कि (नमः अरातये अस्तु) अदानशील को नमस्कार अर्थात् उसको दबाया जाने का उपाय हो । नमः=वज्रम् । (शत०)

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे ।
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ ४ ॥

[७] २–१. वनिरिति भृत्यपरपर्यायः श्रौतसूत्रेषु प्रसिद्धः । तद्यथा वनी वाहनं भृत्यर्थं ऋत्विजां वचनम् । वन सन सम्भक्तौ । वनिः सम्भागः । वन्यते याच्यते इति वनिः इति दयानन्द उणादिव्याख्यायाम् ।

३–(प्र०). ' प्र वो ' इति क्वचित् ।

४–' सरस्वतीमनुमित ' इति क्षेमकरणमुद्रितः पाठः प्रामादिकः ।

भा०—(भगं यन्तः) ऐश्वर्य को प्राप्त होते हुए भी (अनुमतिं) अपने से बड़ों को अनुमति और (सरस्वतीं) वेद की ज्ञानमयी वाणी को (हवामहे) बराबर लेते, याद रखते और पाठ करते हैं । और हम विद्वान् लोग (देवहूतिषु) विद्वानों की एकत्रित सभाओं और यज्ञ कार्यों में (देवानां) देव विद्वानों की (जुष्टां) अति प्रिय (वाचं) वेद वाणी को (अवादिषं) हम बोलें और उसका उपदेश करें ।

यं याचा॑म्य॒हं वा॒चा सर॑स्वत्या मनो॒युजा॑ ।
श्र॒द्धा तम॒द्य वि॑न्दतु द॒त्ता सोमे॑न ब॒भ्रुणा॑ ॥ ५ ॥

भा०—(यं) जिस स्वामी से (अहं) मैं (मनोयुजा) अपने मन से युक्त (सरस्वत्या) सुन्दर अर्थ और सार वाली (वाचा) वाणी से (याचामि) मांगता हूं, (तम्) उस स्वामी को (अद्य) आज (बभ्रुणा) सब के परिपालक (सोमेन) सब का उत्पादक परमात्मा के (दत्ता) दी गयी (श्रद्धा) सत्य धारणा वाली आदर भक्ति (विन्दतु) प्राप्त हो । अर्थात् विद्वान् ब्राह्मण के उपदेश आदि कर चुकने के पश्चात् दक्षिणा प्राप्त करने के अवसर पर जो दाता के हृदय में श्रद्धा है वह परमात्मा की दी हुई है । प्रभु के प्रेम से पुरुष विद्वानों का आदर करता है ।

मा व॒निं मा वाचं॑ नो॒ वीर्त्सी॑रु॒भावि॑न्द्रा॒ग्नी आ भ॑रतां नो॒ वसू॑नि ।
सर्वे॑ नो अ॒द्य दित्स॑न्तोऽरा॑तिं॒ प्रति॑ हर्यत ॥ ६ ॥

भा०—हे स्वामिन् ! (वनिं) किसी के वेतन-वृत्ति आदि को (मा वि-ईर्त्सीः) मत रोक और (मा वाचं) वेद-वाणी के उपदेशों को भी मत रोक । (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् राजा और विद्यावान् ज्ञानी पुरुष (नः) हमें (वसूनि) वास और जीवन योग्य पदार्थों को (नः) हमें (आ भरताम्) बराबर सब प्रकार से प्राप्त कराते रहें । हे (दित्सन्तः) दान करने में उत्सुक पुरुषो ! (नः) हमें (अद्य) आज (अरातिं प्रति) वेतन न प्रदान करने वाले

कंजूस के प्रति आप लोग (प्रति हर्यत) आक्रमण करो । उसका मुकाबला करो जिससे कि वे अन्यों का स्वत्व न मारें ।

परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि ।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥

भा०—हे (असमृद्धे) दरिद्रते (परः अपेहि) दूर हट जा । (ते) तेरे ऊपर (हेतिं) वज्र (वि नयामसि) पात करें । हे (अराते) आदन-शीलते ! दूसरे का स्वत्व दूसरे को न देने की प्रवृत्ते ! (त्वा) तुझको (अहं) मैं (निमीवन्तीं) सर्वथा निर्बल करने वाली अथवा नितान्त धनियों के पैर बढ़ाने वाली और ग़रीबों को (नितुदन्तीम्) सर्व प्रकार से कष्ट पीड़ा देने वाली ही (वेद) जानता हूं ।

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् ।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥

भा०—हे अराते ! अदानशीलते ! तू (पुरुषस्य) पुरुष, उद्यमी जन के (चित्तं) चित्त को (आकूतिं च) और बुद्धि को भी (वि-ईर्त्सन्ती) मन्द करती हुई । (उत) और (नग्ना बोभुवती) नंगी हो होकर (जनम्) मनुष्य के पास (स्वप्नया) आलस्य, बे खबरी से (सचसे) उसके पास आ जाती है । अर्थात् कंजूसी प्रथम चित्त और बुद्धि में खोट पैदा करती है और नग्न होकर अज्ञान दशा में मनुष्य पर सवार हो जाती है और उसके साथ मनुष्य भी लोभ में पड़कर बेशर्म हो जाता है ।

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥

भा०—धन की वृद्धि से पाप की वृद्धि होती है उसका रूप भी देखिये । (या) जो पाप प्रवृत्ति (महती) बड़ी भारी (महोन्माना) बड़ी विशाल

परिणाम में फैली हुई (विश्वाः आशाः व्यानशे) सब दिशाओं में फैलजाती है (तस्यै) उस (हिरण्यकेश्यै) सुवर्ण के केशों वाली अथवा सुवर्ण के कारण लाखों विपत्तियां डालने वाली (निर्ऋत्यैः नमः अकरम्) उस निर्ऋति, पाप प्रवृत्ति को भी नमस्कार अर्थात् उसको भी दबाने का उपाय करूं। लोग दानशील हों, धन किसी का बढ़ना न पावे तो अधिकार किसी के मारे न जावें तो सब रोजी भर पेट पावें तो चोरी, जारी, डाकाजनी न बढ़े।

हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही।
तस्यै हिरण्यद्रापयेरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥

भा०—उस (अरात्यै नमः अकरम्) अराति अदानशीलता को भी 'नमः' वज्र प्रहार करता हूं जो (हिरण्यवर्णा) सुवर्ण के वर्ण की है अर्थात् सदा सोना या धन पर लुब्ध रहती है, (सुभगा) देखने में बड़ी भाग्य, ऐश्वर्यवती, (मही) बड़ी विशाल (हिरण्यकशिपुः) सब सोने के ही वस्त्रों से आच्छादित है (तस्यै) उस (हिरण्यद्रापये) सुवर्ण के कारण कुत्सित गति में प्राप्त कराने वाली, धन के कारण पाप फैलाने वाली 'अराति' कंजूसी को भी नमस्कार है।

[८] सैनिकों और सेना पतियों के कर्त्तव्य !

अथर्वा ऋषिः। १, २ अग्निर्देवता, ३ विश्वेदेवाः, ४–९ इन्द्रः, २ त्र्यवसाना षट् पदा जगती, ३, ४ भुरिक् पथ्या पंक्तिः, ६, प्रस्तार पंक्तिः, द्व्युष्णिक् गर्भा पथ्या-पंक्तिः, ९ त्र्यवसाना षट्पदा द्व्युष्णिग्गर्भा जगती। नवर्चं सूक्तम् ॥

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥

---

[८] १–' इह सादय ', सर्वा यन्तु ' इति पैप्प० सं०।

भा०— हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! शत्रुतापक ! (इध्मेन वैकङ्कतेन) अति तेजस्वी वज्र से (देवेभ्यः) देव विद्वान् पुरुषों के हित के लिये (आज्यम्) वीर्य को (वह) धारण कर (इह) इस राष्ट्र में (तान्) उन सबको मादय प्रसन्न कर वे सब (मे हवम् आयन्तु) मेरे यज्ञ में आवें।

प्रजापतिर्यां प्रथमामाहुतिमजुहोत्स हुत्वायत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत्। श० ६ । ३ । १ । तस्मादेष याज्ञियो वृक्षः यज्ञपात्रीयो वृक्षः ॥ श० २ । २ । ४ । १० । यज्ञो विकङ्कतः । विकङ्कतं भाः आर्च्छत् १ । १ । ३ । १२ ॥ वज्रो वै विकङ्कतः । श० ५ । २ । ४ । १८ ॥

प्रजापति की प्रथम आहुति ईश्वर की शक्ति का प्रकृति में वह प्रथम शक्ति संचार है जिससे हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ है । उसी आहुति से यह विराट् यज्ञ उत्पन्न हुआ जिसमें उस अग्नि के बल से सब वैकारिक भूत संयुक्त होकर प्रपञ्च रच रहे हैं । राष्ट्रपक्ष में अर्थ पूर्व कर दिया है । अध्यात्म में वैकङ्कत इध्म=प्राण, आज्य=अन्न रस प्राण आदि । अग्नि वैश्वानर जाठर अग्नि, राष्ट्र पक्ष में वैकङ्कत-इध्म=वज्रमय अग्नि-युद्ध है उस में अग्नि रूप राजा या सेनापति अपने देव=नियुक्त अधिकारियों को आज्य=वज्र, असि और आज्य=अभिलषित पदार्थ प्रदान करें । युद्ध भी यज्ञ है, देखो महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म-वचन । संवत्सर यज्ञ में कालाग्नि में ऋतुगण ही इध्म और आज्य आदि कल्पित हैं जिनमें वसन्त आज्य है, ग्रीष्म इंधन है, शरत् हवि हैं इत्यादि विद्वान् समझ लें ।

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु ।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे ।
तेभिः शकेम वीर्यं जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥

भा०—सेनापति राजा से कहे—हे इन्द्र ! राजन् ! (मे हवं आ याहि) मेरे यज्ञ में आप आइये । (इदं करिष्यामि) मैं यह विजय कार्य करूंगा ।

(तत् शृणु) वह सुनो। सभापति सैनिकों से कहें-(इमे) ये (ऐन्द्राः) इन्द्र=राजासम्बन्धी (अतिसराः) शीघ्र गामी सैनिक हैं। आप लोग (मे आकूतिम्) मेरी आज्ञा को (सं नमन्तु) आदर पूर्वक सुन कर पालन करो। प्रजागण सेनापति से कहें–हे (जातवेदः) समस्त कार्यों के जानने वाले अग्ने! सेनापते! हे (तनूवशिन्) राष्ट्र के शरीर पर वश करने हारे! (तेभिः) इन विजय के उपायों से (वीर्यं शकेम) बल की वृद्धि कर सकें। सेनापति इस प्रकार राजा से सलाह करे और पुनः सैनिकों को उत्साहित करे और सैनिक इसकी आज्ञा पालन करके अपना वीर्य बढ़ावें।

यदुसावुमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति।
मा तस्याग्निर्हव्यं वांक्षीद्धवं देवा अस्य मोपं गुर्ममैव हवमेतन ॥३॥

भा०—हे (देवाः) देवगण! राजगण! जनो! (असौ) वह अमुक नाम का (अमुतः) अमुक देश से (अदेवः सन्) राजा न होता हुआ भी (यत्) जो युद्ध आदि (चिकीर्षति) करना चाहता है (तस्य) उसकी (हव्यं) आज्ञा को (अग्निः) नेता लोग (मा वाक्षीत्) धारण न करें। और (देवाः) अन्य राजगण (अस्य) उसके (हवं) बुलाने पर उसकी राज सभा में (मा उप गुः) न जावें। प्रत्युत (मम एव हवम् एतन) आप लोग मेरे ही राजसूय आदि यज्ञ में आवें।

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।
अविं वृकं इव मथ्नीत स वो जीवन् मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत॥४॥

भा०—युद्ध की रीति का उपदेश करते हैं—हे (अतिसराः) सुभटो! तेज़ सवारो! (अति धावत) खूब वेग से दौड़ो। (इन्द्रस्य वचसा हत) अपने राजा की आज्ञा के अनुसार शत्रु पर मार करो। (अविं वृक इव) जिस प्रकार भेड़िया भेड़ को झंझोट डालता है, उसी प्रकार (मथ्नीत) शत्रु की सेना को झंझोट डालो, मथ डालो, कुचल डालो, (वः) तुम

लोगों के हाथों से (सः) वह (जीवन्) जीता जी (मा मोचि) न छूट पावे। (अस्य) इसके (प्राणम्) प्राण को, इसके प्राण धारण करने के सब उपायों को भी (अपि नह्यत) बन्द कर डालो। या (अपि) भी (नह्यत) बांध दो, रोक दो।

यम॒मी पु॒रोद॑धि॒रे ब्र॒ह्माण॒मप॑भूतये।
इन्द्र॒ स ते॑ अध॒स्प॒दं तं प्रत्य॑स्यामि मृ॒त्यवे॑ ॥ ५ ॥

भा०—किसको कैद करके लाया जाय। (यम्) जिस (ब्रह्माणम्) चतुर्वेदवित् विद्वान् पुरुष को हे राजन्! तेरे (अपभूतये) विनाश और पराजय करने के लिये (अमी) यह शत्रुगण (पुरो-दधिरे) पुरोहित बना कर रखे हैं। हे (इन्द्र) राजन्! (सः) उसे भी (ते) तेरे (अधः-पदम्) पैरों के नीचे अधिकार के समक्ष ला खड़ा किया गया है। आज्ञा हो तो (तं) उसको भी (मृत्यवे) मौत के आगे (प्रति अस्यामि) डाल दूं।

यदि॑ प्रे॒युर्दे॑वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे।
त॒नूपानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि ॥ ६ ॥

अथर्व० ६ । १० । १७ ॥

भा०—राजा सेनापति को आज्ञा देता है कि—सेनापते! (यदि) यदि (देवपुराः) देव—विद्वान् नगरवासी या विद्वान् ब्राह्मण शरीर, जो अपने (ब्रह्म) वेद ज्ञान की (वर्माणि चक्रिरे) अपना कवच बनाये हुए हैं वे (यदि प्र-ईयुः) यदि आवें तो उनको और जो (तनूपानं) अपनी शरीर की रक्षा के निमित्त कवच धारण करते हुए और (परिपाणं कृण्वानाः) मद्य आदि उत्तेजक पदार्थ का पान करते हुए (यद् उप-ऊचिरे) जो कुछ कहते और डींगें मारते हैं (तत् सर्वं) उस सब को (अरसं कृधि) निर्बल करो, उनका वश मत चलने दो।

यान॒सावति॑स॒रांश्च॒कार॑ कृ॒णव॑च्च॒ यान् ।
त्वं तानि॑न्द्र वृत्रहन् प्र॒तीचः॒ पुन॒रा कृ॑धि॒ यथा॒मुं तृ॒णहा॒ं जन॑म् ॥७॥

भा०—(यान्) जिन पुरुषों को (असौ) वह अमुक शत्रु (अति-सरान्) अपने तीव्र सुभट (चकार) बना चुका और (यान् च कृणवत्) जिन को अभी बना २ कर भेज रहा है । हे इन्द्र ! सेनापते हे वृत्रहन् ! आवरणकारी घेरने वाले पुरुषों को मारने वाले ! (त्वं) तू (तान्) उनको (पुनः) फिर (प्रतीचः आ कृधि) उससे विपरीत कर, उनको विरुद्ध कर दे, (यथा) जिससे (अमुम् जनम्) अमुक शत्रु जन को (मैं तृणहान्) मार लूं । राजा शत्रु की प्रबल सेना में फूट डाल दे और उसे निस्सहाय करके सेनापति द्वारा विजय करे ।

यथेन्द्र॑ उद्वा॒चनं॑ ल॒ब्ध्वा च॒क्रे अ॑ध॒स्प॒दम् ।
कृ॒ण्वे॒३॒॑ऽहम॑ध॒रांस्तथा॒मूञ्छ॑श्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥ ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (यथा) जिस प्रकार (उद्वाचनं) उत्तेजित करने वाली वाणियों को कह कर उकसाने वाले इस पुरोहित को (लब्ध्वा) पकड़ कर (अधः-पदम् चक्रे) मैंने तेरे चरणों में ला (चक्रे) लाखड़ा किया है । इसी प्रकार (अमून्) उन शत्रुओं को भी (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) चिरकाल तक के लिये (अहम्) मैं (अधरान्) नीचे (कृण्वे) कर देता हूं, उनको दवा देता हूं ।

अत्रै॑नानिन्द्र वृत्रहन्नु॒ग्रो मर्म॑णि विध्य ।
अत्रै॒वैना॑न॒भि ति॒ष्ठेन्द्र॑ मे॒द्य॒१॒॑हं तव॑ ।
अनु॑ त्वे॒न्द्रा र॑भाम॒हे स्याम॑ सुम॒तौ तव॑ ॥ ९ ॥

भा०—अपराधकारी क़ैदियों से व्यवहार—हे (वृत्रहन्) विघ्नकारियों के विनाशकारी इन्द्र ! राजन् ! (अत्र) इस संग्राम के अवसर पर (एनान्)

इन्हों के तू (उग्रः) बलवान्, भयकारी होकर (मर्माणि विध्य) मर्म देशों में प्रहार कर । और (अत्र) इसी अवसर पर (एनान्) इन शत्रुओं पर (अभि तिष्ठ) आक्रमण कर । क्योंकि (अहं मेदी तव) मैं तेरा मित्र हूं । हे इन्द्र ! और हम सब (अनु त्वा रभामहे) तेरे आज्ञानुसार कार्य करते हैं, इसलिये (तव सुमतौ स्याम) तेरी शुभ मति के अधीन होकर हम रहें ।

---

[६] स्वास्थ्य लाभ का उपाय ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पतिर्देवता । १, ५ दैवीबृहत्यौ, २, ६ दैवीत्रिष्टुभौ, ३, ४ दैवीजगत्यौ, ७ विराडुष्णिक् बृहती पञ्चपदा जगती, ८ पुराकृतित्रिष्टुब्बृहतीगर्भा-चतुष्पदा त्र्यवसाना जगती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

दि॒वे स्वाहा॑ ॥१॥ पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॑ ॥२॥ अ॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ ॥३॥ अ॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ ॥४॥ दि॒वे स्वाहा॑ ॥५॥ पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॑ ॥६॥

भा०—स्वास्थ्य लाभ करने का उपदेश करते हैं। (दिवे स्वाहा) द्यौ सूर्य के लिये यह उत्तम आहुति समर्पित करता हूं। वह मुझे अपने शुद्ध जीवन प्रद प्रकाश से आरोग्यता प्रदान करे ॥ १ ॥ (पृथिव्यै स्वाहा) पृथिवी के लिये मैं उत्तम पदार्थों को आहुति देता हूं । वह भी मुझे स्वस्थता प्रदान करे ॥२॥ (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्ष, मध्य आकाश, वायु मण्डल की शुद्धि के लिये मैं उत्तम आहुति प्रदान करता हूं । उससे मैं स्वस्थता लाभ करूं ॥३॥ ४-६ पुनः वही तीन आहुतियां उलट कर दी गयी हैं ॥ सूर्य का सेवन पृथिवी पर लोटना, भ्रमण करना, वायु का सेवन करना इस के अतिरिक्त इन पदार्थों का वार २ यथा रीति सेवन करना स्वस्थता प्राप्त करने का उत्तम उपाय है ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो॒ऽन्तरि॑क्षमात्मा पृ॑थि॒वी शरी॑रम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे
द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ७ ॥

भा०—मनुष्य अपने शरीर की प्रजापति के विराट् शरीर से तुलना करता है । (सूर्यः मे चक्षुः) जैसे प्रजापति के शरीर में विशाल तेजःपुञ्ज सूर्य है उसी प्रकार यह मेरे शरीर में चक्षु भी तेजोविकार है वह सब पदार्थों का प्रत्यक्ष करती और सूर्य के अंश से जीवित है । (वातः प्राणः) जिस प्रकार विशाल शरीर में यह वायु अन्तरिक्ष में गति करता है उसी प्रकार यह मेरे देह में उसी का अंश प्राण है । (अन्तरिक्षम् आत्मा) जिस प्रकार विराट् शरीर में अन्तरिक्ष का बड़ा भाग है उसी प्रकार यह मेरा शरीर का मध्य भाग आत्मा=देह है । (पृथिवी शरीरम्) जिस प्रकार विराट् शरीर में पृथिवी है उसी प्रकार यह मेरा अधः शरीर चरण भाग हैं । (अयम्) यह (अहम्) मैं जीवात्मा (अस्तृतः) कभी भी न मरने वाला, अमर हूं उसी प्रकार (सः) वह प्रजापति इस विराट् देह में भी कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता । मानो (गोपीथाय) समस्त संसार की रक्षा के लिये (सः) उसने ही (द्यावापृथिवीभ्यां) द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आसमान दोनों द्वारा (आत्मानं) अपने को विराट् देह में स्थापित किया उसी प्रकार इस शरीर में भी उसने जीवात्मा को नियत किया है ।

उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा ।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

भा०—(आयुः, उत्) आयु को उत्तम करो (बलम् उत) बल को भी उत्कृष्ट बनाओ, (कृतम् उत्) कार्य भी उत्तम करो, (कृत्याम् उत्)

कर्त्तव्य भी उत्कृष्ट बनाओ, (मनीषाम् उत्) बुद्धि को उन्नत करो, (इन्द्रियम् उत्) इन्द्रिय सामर्थ्यों को उन्नत करो। (आयुः-कृत्) आयु के वृद्धि करने वाला यह सूर्य और (आयुः-पत्नी) आयु का पालन करने वाली यह पृथिवी दोनों (स्वधा-वन्तौ) अन्न बल पुष्टि और जीवन से पूर्ण हैं। ये दोनों (मे गोपास्तं) मेरे रक्षक रहें। (मा गोपायतम्) दोनों मेरी रक्षा किया करें। ये दोनों (मे) मेरे (आत्म-सदौ) शरीर में पूर्ण रूप से विराजमान (स्तं) हों। (मा मा हिंसिष्टं) मुझे कभी विनाश न करें।

[१०] मन को दृढ़ करने का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः। वास्तोष्पतिर्देवता। १-६ यवमध्या त्रिपदा गायत्री, ७ यवमध्या ककुप्, पुरोधृतिद्व्यनुष्टुब्गर्भा पराष्टिर्त्र्यवसाना चतुष्पदाति जगती। अष्टर्चं सूक्तम्॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात्॥ १॥

भा०—मन को दृढ करने का उपाय बतलाते हैं—हे मन! तू ही (मे) मेरा (अश्मवर्म) पत्थर का सा दृढ कवच (असि) है (यः) जो (मा) मुझ पर (प्राच्या दिशः) पूर्व सामने की ओर से (अघायुः) पापाचारी, विलासी, भोगी पुरुष (अभि-दासात्) मेरा विनाश करे। (सः) वह (एतत्) यह प्रहार (ऋच्छात्) पावे।

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशो०।० ॥ २॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशो०।० ॥ ३॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशो०।० ॥ ४॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशो०।० ॥ ५ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशो०।० ॥ ६ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशा-मन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात्।

एतत् स ऋच्छात् ॥ ७ ॥

भा०—इसी प्रकार हे मेरे मन तू ही दृढ़ होकर (अश्मवर्म मे असि) मेरा शिलाके बने कवच के समान अभेद्य है (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से या दायें से (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम से या पीछे से, (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से या बायें से, (ध्रुवायाः दिशः) पृथ्वी की ओर से या नीचे से, या (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः) दिशाओं के बीच के भागों से (यः अघायुः अभिदासात्) जो पापाचारी दुष्ट पुरुष मेरा विनाश करने का यत्न करे (एतत् स ऋच्छात्) वह यह प्रबल प्रहार पावे या वह यह प्रहार खाकर पकड़ा जाय।

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ।

सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम्।

सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥

भा०—प्रजापति की विशाल शक्तियों से अपने अंगों में विशेष शक्ति को इस प्रकार प्राप्त करें। मैं (बृहता) उस महान् ब्रह्म या महान् महत्तत्व से अपने (मनः) मनन शक्ति, बुद्धितत्व को (उपह्वये) बलवान् रूप में प्राप्त करूं (मातरिश्वना) इस महान् वायु से अपने (प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों को बलवान् करूं। (सूर्यात् चक्षुः) सूर्य से चक्षु को (अन्तरिक्षात् श्रोत्रम्) अन्तरिक्ष से श्रोत्र को और (पृथिव्याः शरीरम्) पृथिवी से शरीर के स्थूल, अन्नमय भाग को पुष्ट करूं और (मनः-युजा) मन के साथ योग देने वाली बुद्धिपूर्वक समाहित (सरस्वत्या) सरस्वती

वेद-वाणी के साथ (वाचम्) अपनी वाणी को जोड़ कर (उप ह्वयामहे) बलवान् पुष्ट रूप में उपासना करें, प्राप्त करें ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकोनपञ्चाशत् ।]

[११] ईश्वर के साथ २ राजा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । वरुणो देवता । १ भुरिक् अनुष्टुप् , ३ पंक्तिः, ६ पञ्चपदातिशक्करी, ११ त्र्यवसाना षट्पदाऽष्टिः, २, ४, ५, ७-१० अनुष्टुभः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः ।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

भा०—सम्पन्न होने का उपदेश करते हैं—(महे असुराय) बड़े भारी असुर=अन्यों को प्राण देने वाले उस परमात्मा के विषय में (कथं) किस प्रकार तू (अब्रवीः) उपदेश करता है और (त्वेष-नृम्णः) कान्ति, तेज से युक्त धन से सम्पन्न होकर (हरये) समस्त संसार के प्रणेता और सब दुःखों के हरण करने वाले उस (पित्रे) परमपालक पिता के विषय में तू (कथं) किस प्रकार (अब्रवीः) उपदेश करता है । हे (वरुण) सब दुःखों के वारक, परम श्रेष्ठ राजन् ! (पृश्निं) पृथिवी और अन्न की (दक्षिणां) दक्षिणा शक्ति रूप से (ददावान्) दान देता हुआ हे (पुनर्मघ) पुनः २ नाना प्रकार की सम्पत्तियों के स्वामिन् ! (त्वं) आप (मनसा कथम् अचिकित्सीः) अपने चित्त से किस प्रकार विचार करता है ।

वरुणः साम्राज्यम् आदत्त । श० ११ । ४ । ३ । ३ । क्षत्रं वरुणः । कौ० ७ । १० ॥ क्षत्रं राजा वरुणोऽधिराजः । तै० ३ । १ । २ । ७ ॥

[११] १–'कथादिव असुराय मवामह कथा', (तृ०) 'पृश्निः' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्र उ वै वरुणः स उ वै पयो भाजनः । गो० उ० १ । २२ ॥ वरुणोऽन्न-पतिः । श० १२ । ७ । २ । २० ॥ यो राजसूयः स वरुणसवः । तै० २ । ७ । ६ । १ ॥ वरुणः सम्राट्, सम्राट्पतिः । तै० २ । ५ । ७ । ३ ॥ पृश्निः—अन्नं वै देवा पृश्नीति वदन्ति । तां० १२ । १० । २४ ॥ इयं वै पृथिवी पृश्निः । तै० १ । ४ । १ । ५ ॥

न कामे॑न॒ पुन॑र्मघो भवामि॒ सं च॑क्षे॒ कं पृश्नि॑मे॒तामुपा॑जे ।
केन॒ नु त्वम॑थर्व॒न् काव्ये॑न॒ केन॑ जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः ॥ २ ॥

भा०—पूर्व प्रश्न का उत्तर वरुण स्वयं देता है कि—(कामेन) केवल इच्छा मात्र से ही मैं (पुनर्मघः) बहुत धन सम्पत्ति वाला (न भवामि) नहीं हो जाता हूं । प्रत्युत (पृश्निम् सं चक्षे) इस पृश्नी, पृथिवी रूप गौ को मैं खूब देख भाल करता हूं और (एताम् उपाजे [1]) इसके सदा समीप रह कर इसकी सेवा और पालन करता हूं । उत्तरार्ध भाग में विद्वान् वेदज्ञ से प्रश्न करते हैं कि—हे (अथर्वन्) विद्वन् ! अथर्वविद्या-ब्रह्म-विद्या के ज्ञाता ब्राह्मण (केन नु काव्येन) तू किस काव्य=ज्ञानमय ग्रन्थ से और (केन जातेन) किस विधान से (जात-वेदाः, असि) समस्त वेदों को जानने वाला और सब पदार्थों का ज्ञाता होगया है ।

स॒त्यम॒हं ग॑भी॒रः काव्ये॑न स॒त्यं जा॒तेना॑स्मि जा॒तवे॑दाः ।
न मे॑ दा॒सो नार्यो॑ महि॒त्वा व्र॒तं मी॑माय॒ यद॒हं ध॑रि॒ष्ये ॥ ३ ॥

भा०—विद्वान् धनी के प्रति उत्तर देता है—(सत्यम्) यह सत्य स्वरूप (काव्येन) वेद के ज्ञान से (अहम् गभीरः) मैं गभीर, गहरा विद्वान् हूं ।

२-(द्वि०) 'सम्पृच्छिकं' 'उपाजेत्' इति पैप्प० सं० ।

१. अज गतिपालनयोः । भ्वादिः ।

३-(प्र०) 'सत्यस [म] हं' (तृ०) 'महित्वं', (च०) 'हनिष्ये' इति पैप्प० सं० ।

और (सत्यं जातेन) सत्यरूप विधान से ही मैं (जात-वेदाः, अस्मि) समस्त पदार्थों का और वेदों का ज्ञाता होगया हूं (मे व्रतं) मेरे सत्यमय उस व्रत=दृढ संकल्प को (यद्-अहं) जिसको मैं (माहित्वा धरिष्ये) अपने आत्म-सामर्थ्य से धारण कर लेता हूं (आर्यः न मीमाय) कोई श्रेष्ठ पुरुष विनाश नहीं कर सकता और (न दासः) न खल पुरुष ही उसका विनाश कर सकता है।

न त्वद॒न्यः क॒वित॑रो॒ न मे॒धया॒ धीर॑तरो वरुण स्वधावन् ।
त्वं ता विश्वा॒ भुव॑नानि वेत्थ॒ स चि॒न्नु त्वज्जनो॑ मा॒यी बि॑भाय ॥४॥

भा०—हे वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (त्वद् अन्यः) तुझ से दूसरा (कवि-तरः न) तुझ से अधिक बड़ा विज्ञानवान्, मेधावी नहीं है। हे (स्वधा-वन्) स्वयं समस्त संसार को या राष्ट्र को धारण करने वाले अथवा प्रकृति के स्वामिन् ! या जीवों के स्वामिन् ! (मेधया) मेधा=धारणावती शक्ति के कारण (त्वद् अन्यः धीर-तरः न) तुझ से दूसरा अधिक धीर–विद्वान् धैर्यवान्, शक्तिशाली भी नहीं है। (त्वं) तू (ता) उन २ (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वेत्थ) जानता है (स चिन् नु जनः) वह आदमी जो (मायी) माया प्रकृति में फंसा हुआ जीव या माया=कपट करने वाला पुरुष या जो बड़ा बुद्धिमान् भी है (सः) वह भी (त्वद् बिभाय) तुझ से भय कर रहता है। राजा, परमेश्वर दोनों पक्षों में स्पष्ट है।

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा॑ वेत्थ॒ जनि॑मा सुप्रणीते ।
किं रज॑स ए॒ना प॒रो अ॒न्यद॑स्त्येना किं परे॒णाव॑रममुर ॥ ५ ॥

४–(प्र०) 'कवितरो नवेधा अनु' (द्वि०) 'स्वधावः' (तृ० च०) 'त्वमङ्ग विश्वा जनमानि वेत्थमहंनतुज्जनो मां विभायः' इति पैप्प० सं०।
५–(प्र०) 'स्वधावः', (द्वि०) 'जन्याश्रद्धधानीते किं येना रजसः परोऽस्ति किमवरेण अवरम् असूर' इति पैप्प० सं०।

भा०—(अङ्ग वरुण) हे राजन् ! प्रभो परमेश्वर ! हे (स्वधावन्) स्व=स्वरूप से धारण शक्ति से सम्पन्न जीव और प्रकृति के स्वामिन् ! हे (सुप्रणीते) समस्त संसार को उत्तम रीति से बनाने वाले या राजकार्यों में ठीक २ व्यवस्था करने वाले उत्तम नीतिमन् ! (त्वं हि) क्योंकि तू ही (विश्वा जनिमा) समस्त लोकों और जनों को (वेत्थ) जानता है । हे (असुर[1]) सर्वव्यापक असमर्थ ! (एना रजसः) इस रजः=प्रकृति के बने लोकों से या रजोगुण से (परः) सूक्ष्म (अन्यत् किम्) और क्या तत्व पदार्थ है ? और (एना परेण) इस परम सूक्ष्म प्रकृति-पदार्थ से (उत अवरम् किम्) अवर=स्थूल पदार्थ क्या है । रजांसि लोकाः शत० ॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक् ।
तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु
नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

भा०—उक्त तत्व का रहस्य स्पष्ट करते हैं । (एना रजसः परः) इस समस्त लोक समूह से पर=परम सूक्ष्म पदार्थ (अन्यत्) इससे भिन्नरूप का (एकम् अस्ति) एक परब्रह्म है । (एना एकेन परः) और उस एक से भी अतिरिक्त (अर्वाक् चित्) उससे भी उतर कर एक सूक्ष्म तत्व प्रकृति है जो ब्रह्म की अपेक्षा स्थूल है और वह भी (दुर्णशम्) विनाश को प्राप्त नहीं होता । हे वरुण ! (ते) तेरे (तत्) उस स्वरूप को (विद्वान्)

---

१. असेरुरन् इति सूत्रस्थाने, असेरुरन् इति क्षेमकरण वचनं चिन्त्यम् । वस्तुतो मन्दिवाशीति (उ० १ । ३८ ॥) उरन् अनुवृत्तौ मधुराद्यश्चेति निपात्यते ।

६–(तृ०) 'वरुणः' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) 'अधोवर्चसः.' इति लैन्मनकामितः । 'यः एकमेना रजसः परोस्ति परोदेन दूडाह्यं त्यजन्मत् तत्वे अच्छो वचसो दासाया उपसर्पन्तु रिमा ' इति पैप्प० सं० ।

जानता हुआ मैं (प्र ब्रवीमि) कहता हूं कि (पणयः) लोकव्यवहार में पड़े हुए या अन्य स्तोतागण की (अधोवचसः भवन्तु) वाणियां उस परम तत्व से नीचे ही रह जाती हैं अर्थात् वे वाणी के गोचर न होने वाले उस रूप को वर्णन नहीं कर सकते । और सब जीव (दासाः) तेरे उपासक, तेरे सेवक या अज्ञान से अपने ज्ञान का नाश करने वाले लोग (नीचैः भूमिम् उपसर्पन्तु) और भी नीची भूमि=लोक में चले जाते हैं । राजा के पक्ष में स्पष्ट है ।

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि ।
मो षु पणीँर॒भ्ये॑३तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥७॥

भा०—(अङ्ग वरुण) हे राजन् ! (त्वं हि ब्रवीषि) आपका यह उपदेश है कि (पुनः मघेषु) पुनः २ धन प्राप्त करने वाले धनाढ्य पुरुषों में (भूरि) बहुत से (अवद्यानि) निन्दा योग्य दोष होते हैं । हे वरुण ! (एतावतः पणीन्) इतने व्यावहारिक पुरुषों के प्रति (मो सु अभिभूत्) तू कभी अपने सामर्थ्य को न्यून नहीं होने देता है । अर्थात् सब को तूने अपना अक्षय कोष दे रखा है । (जनासः) लोग (त्वा) तुझे (अराधसं) धनहीन, सम्पत्तिहीन (मा वोचन्) कभी नहीं कहे । इसी प्रकार राजा को खूब सम्पत्तिमान और दानशील होना चाहिये । वह धनियों के दोषों से युक्त न हो ।

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि ।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥८॥

भा०—हे पुरुष ! (जनासः) लोग (अराधसं मा मा वोचन्) मुझ को कभी निर्धन, धनहीन, दरिद्री न कहें । इसलिये मैं, हे (जरितः)

७–(तृ०) 'भूर्मा त्वा' इति ह्विटनि-रोथ-म्योरकामितः ।

८–(च०) 'मानुषीपुविक्षु' इति म्योररोथकामितः । (च०) 'आ-याहि जनेषु अन्तर्देवेषु मानुषेषु रिप्रा' इति पैप्प० सं० ।

स्तुतिशील, विद्वन् ! (ते) तुझे (पृश्निं) इस पृथिवीरूप गौ का (ददामि) दान करता हूं, सौंपता हूं । हे (स्तोत्र) स्तुतिशील विद्वन् पुरुष ! (मे) मेरी, (शचीभिः) विशाल शक्तियों से (विश्वासु मानुषीषु) समस्त मनुष्य प्रजाओं में और (दिक्षु) समस्त दिशाओं के (अन्तः) भीतर (विश्वम्) समस्त संसार को (आ याहि) प्राप्त कर और वश कर ।

आ ते॒ स्तोत्रा॑ण्यु॒द्य॑तानि यन्त्व॒न्तर्विश्वा॑सु॒ मानु॑षीषु दि॒क्षु ।
दे॒हि नु मे॒ यन्मे॒ अद॑त्तो असि॒ युज्यो॑ मे स॒प्तप॑दः सखा॑सि ॥ ९ ॥

भा०—याचक जिस प्रकार राजा से याचना करता है उस प्रकार परमात्मा से याचना करे । हे परमात्मन् ! (ते स्तोत्राणि) तेरी महिमा और स्तुतियें (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) समस्त मनुष्य प्रजाओं और समस्त दिशाओं के भीतर (उत्-यतानि आ यन्तु) उच्च स्वर से गायी जावें । हे भगवन् ! (मे यत् अदत्तः) मुझे अभी तक जो कुछ नहीं दिया (देहि नु मे) वह भी मुझे दे दीजिये । आप ही (मे युज्यः) मेरे सदा साथ रहने वाले और (सप्तपदः) सात चरण चल कर बने मित्र के समान सात शीर्षण्य प्राणों रूप ज्ञान साधनों द्वारा ज्ञान करने योग्य सब प्रकार से (सखा असि) मेरे सखा, परम मित्र हैं ।

स॒मा नौ॒ बन्धु॑र्वरुण स॒मा जा वेदा॒हं तद्यन्नावे॒षा स॒मा जा ।
ददा॑मि॒ तद् यत् ते॒ अद॑त्तो॒ अस्मि॒ युज्य॑स्ते स॒प्तप॑दः सखा॑स्मि ॥१०॥

९-(तृ०) 'आदत्तो' इति रोथकामितः । 'देहि तं मह्यं यदित्वमस्ति यद्यो नः सप्तपदः सखासह' इति पैप्प० सं० ।

१०-(प्र०) 'समानो बन्धुः' इति रोथकामितः । 'सयोनौ' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'वद वैतद वयं समाजाः' (तृ०) 'ददामितुभ्यं यदि तत्वमस्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे वरुण राजन् ! (नौ) हम दोनों की (समा बन्धुः) समान ही बन्धुता है । और अपने दोनों की (जा) उत्पत्ति और रूप को मैं (समा वेद) समान ही जानता हूं । (तत् यत् नौ एषा समा जा) तो क्योंकि हम दोनों की समान उत्पत्ति है अतः (यत् ते अदत्तः) अभी तक जो पदार्थ तुझे नहीं दिया (तद् ददामि) वह भी मैं तुझे प्रदान करता हूं । (ते युज्यः सप्तपदः सखा अस्मि) मैं तेरे सदा संग रहने वाला या योग समाधि से गम्य सप्त शीर्षण्य प्राणों के संयम से जानने योग्य सप्तपद सखा हूं ।

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ११॥

भा०—(वयः-धाः देवः) ज्ञान और अधिक आयु को धारण करने वाला, ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध, देव परमात्मा (गृणते) स्तुतिशील (देवाय) इस जीव को और जिस प्रकार (वयोधाः सु-मेधाः विप्रः) वयोवृद्ध उत्तम मेधावान् विद्वान् (स्तुवते) उसकी स्तुति, उपासना करने वाले (विप्राय) दूसरे विद्वान् अल्प ज्ञानी जिज्ञासु को ज्ञान प्रदान करता और शक्ति देता है । हे वरुण ! हे स्वधावन् ! शक्तिमन् ! आप (अथर्वाणं) ब्रह्मज्ञानी पुरुष को (पितरम्) सब का पालक और (देव-बन्धुम्) विद्वानों का बन्धु (अजीजनः) बना देते हो । और (तस्मा उ) उसको ही (सु-प्रशस्तं राधः) सब से उत्तम धन और ज्ञान (कृणुहि) प्रदान करते

११–(प०) 'परमश्च बन्धुः' इति लैन्मनः । (च०) 'विश्वदेवम्' (प्र०) 'उर्वायुः कृणुहि प्रशस्तं' (प०) 'सखा नोऽस्ति वरुणश्च बन्धुः' इति पैप्प० सं० ।

हो आप ही (नः सखा असि) हमारे परम मित्र हो और (परमं च) परम (वन्धुः) बन्धु हो ।

[१२] विद्वानों द्वारा आत्मा और ईश्वर के गुणों का वर्णन ।

अंगिरा ऋषिः । जातवेदा देवता । आप्री सूक्तम् । १, २, ४–११ त्रिष्टुभः, ३ पंक्तिः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः ।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥१॥

ऋ० १० । ११० । १ ॥ यजुः० २६ । २५ ॥

भा०—ऋग्वेदे जमदग्नी रामो वा ऋषिः । आप्रियो देवता । आप्री सूक्तम् । गृह में गार्हपत्य अग्नि और यज्ञ में आहवनीय और घर में गृहपति और शरीर में आत्मा इन सब का समान रूप से वर्णन करते हैं । (अद्य) आज (मनुषः) मनुष्य के (दुरोणे) घर में (समिद्धः) ज्ञान से प्रदीप्त (देवः) सब अर्थों का प्रकाशक होकर हे (जात-वेदः) वेदों का ज्ञान प्राप्त कर, ज्ञानवन् ! तुम (देवान् यजसि) देव-विद्वान् पुरुषों का आदर सत्कार करते हो । आप हे (मित्र-महः) मित्र-सूर्य के समान तेजस्वी ! तू (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होकर (आ वह च) विद्वान् पुरुषों को घर पर लाकर उनकी सेवा शुश्रूषा कर । क्योंकि (त्वं दूतः) तू ही उनका सेवक, (कविः) क्रान्तदर्शी और (प्र-चेताः) उत्तम चित्त वाला है । अध्यात्म में— (मनुषः दुरोणे) मनुष्य के इस देह में यह जातवेदाः आत्मा सदा समिद्ध प्रदीप्त, जीवित रह कर देव-इन्द्रिय आदि प्राणगण को परस्पर संगत करता है और तृप्त करता है वह उन में सूर्य के समान उनका प्रकाशक है, वही उनका संदेशहर, उनका द्रष्टा, उत्कृष्ट ज्ञानवान् है और उनसे प्राप्त ज्ञान को भी जानने वाला होकर उन को स्वतः धारण करता है । इसी प्रकार

ब्रह्माण्ड में परमात्मा प्राकृतिक महत् तत्वादि विकार रूप देवों का वहन करता हुआ उन में परम ज्ञानवान् होकर उनका यज्ञ सम्पादन करता है ।

आप्रियः=तद् यदाप्रीणाति तस्मादाप्रियो नाम । कौ० १० । ३ ॥ प्राणाः वा आप्रियः । कौ० १८ । १२ ॥ यदेतान्याप्रियः आज्यानि भवन्ति आत्मानमेवैतैराप्रीणाति । ता० १५ । ८ । २ ॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

ऋ० १० । ११० । २ ॥ यजु० २८ । २६ ॥

भा०—हे (तनू-नपात्) शरीर को न गिरने देने वाले या इन्द्रियों को न गिरने देने वाले ! उनको विनष्ट होने से बचाने वाले अग्ने ! आत्मन्, योगिन् ! (ऋतस्य) सत्य ज्ञानमय परब्रह्म के (यानान्) जानने के साधन रूप (पथः) मार्गों को (मध्वा) आनन्द रस से (सम्-अञ्जन्) प्रकाशित करता हुआ तू हे (सु-जिह्व) शोभन आनन्द ग्रहण करने में चतुर शक्ति से युक्त ! तू (स्वदय) उस आनन्द रस का उपभोग कर । और (यज्ञम्) इस योगमय यज्ञ को (ऋन्धन्) और भी अधिक गुणों से समृद्ध करता हुआ अथवा (यज्ञम्) यज्ञमय प्रजापति को (ऋन्धन्) अपने में प्रगुणित करता हुआ, उसकी उपासना करता हुआ (धीभिः) धारणावती बुद्धियों से (मन्मानि) मनन करने योग्य ज्ञानों को (उत) भी सम्पादन करता हुआ (देवत्रा) देवों में, प्राणों में या ज्ञान प्रकाश करने वाले गुरुओं के समक्ष (नः) हमारे (अध्वरं) इस अहिंसामय निर्विघ्न यज्ञ को (कृणुहि) सम्पादित कर ।

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ११० । ३ ॥ यजु० २९ । २८ ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् आत्मन् ! (आ-जुह्वानः) नित्य यज्ञ करता हुआ नित्य नये ज्ञानों का सम्पादन करता हुआ । (ईड्यः) स्तुति करने और (वन्द्यश्च) वन्दना करने योग्य है । तू (स-जोषाः) सप्रेम, हमारे प्रति, (वसुभिः) प्राणों सहित (आ याहि) आ, प्रकट हो । (त्वं) तू (देवानाम्) समस्त इन्द्रिय आदि प्राणों का (होता असि) होता, उन में शक्ति का प्रदाता और उनको अपने में धारण करने हारा है । हे (यह्व) सब में महान् ! सब को अपने में धारण करने हारे ! (सः) वह आप (यजीयान्) सब से बड़े यजमान होकर (इषितः) स्वयं इच्छावान् होकर या उनसे प्रार्थित होकर सब को (यक्षि) सुसंगत करते हो । ईश्वर और विद्वान् के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु/प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ११० । ४ ॥ यजु० २९ । २८ ॥

भा०—विद्वान् लोग यज्ञ में वेदी के पूर्व की ओर कुशा बिछाते हैं कि उन पर देवगण आकर बैठें । परन्तु वह कुशा 'बर्हि' है, वह आदित्य का प्रतिनिधि है । विशाल विराड् देह में उसका वर्णन करते हैं । (अह्नाम्) दिनों के (अग्रे) पूर्व भाग, प्रातः समय में (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (प्र-दिशा) प्रकृष्ट तेजसा (वस्तोः) आच्छादन करने के लिये (प्राचीनं बर्हिः) प्राची दिशा में महान् आदित्य (आ वृज्यते) उसी प्रकार आ विराजता है जिस प्रकार यज्ञ में वेदि के पूर्व भाग में कुशा बिछाई जाती हैं । वह आदित्य (वरीयः) अति श्रेष्ठ, अति महान्, (वितरं) अत्यन्त विस्तृत होकर (विप्रथते उ) नाना दिशाओं में और नाना प्रकार से प्रकाश रश्मियों द्वारा फैल जाता है । और वह (अदितये) इस देव माता, अखण्डित,

[१२] ४-(द्वि०) 'वृज्यसे' इति क्वचित् ।

अदनि अदिति पृथिवी के लिये और (देवेभ्यः) चन्द्र, वायु, जल, विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों और विद्वानों के लिये भी (स्योनं) सुखकारी शान्ति-दायक होता है ।

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ११० । ५ ॥ यजु० २९ । ३० ॥

भा०—जमदग्नी रामो वा ऋषिः । द्वारो देवताः । गृह के द्वारों की शरीके द्वारों के साथ तुलना करते हुए उन को कैसा बनावें इसका उपदेश करते हैं । (शुम्भमानाः) सुन्दर सजी हुई आभूषणों से अलंकृत (जनयः) गृहपत्नियां (पतिभ्यो न) जिस प्रकार अपने पतियों के लिये सुखप्रद और उन को प्रसन्न करने वाली होती हैं उसी प्रकार हे (द्वाराः) घर के दरवाजो ! (तुम देवीः) प्रकाशवान् (व्यचस्वतीः) खूब विस्तृत, बड़े बड़े (उर्वियाः) विशाल और (शुम्भमानाः) खूब सजे हुए (विश्रयन्तां) नाना प्रकार से घर में जड़े हो । और वे (बृहतीः) बड़े २ (विश्वम्-इन्वाः) सब को सुन्दर लगने वाले, सब के लिये मनोहर होकर (सु-प्रायनाः) सुख से आने जाने के योग्य (भवत) होवो ।

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ११० । ६ ॥ यजु० २९ । ३१ ॥

भा०—जमदग्नी रामो ऋषिः । अहोरात्रे देवते । (उषासानक्ता) दिन और रात जिस प्रकार परस्पर प्रेम से सदा एकत्र रह कर परस्पर शोभा धारण करते हुए समीप रहते और एकही स्थान सूर्य में आश्रित हैं उसी प्रकार पति और पत्नी दोनों दम्पति (दिव्ये योषणे) दिव्य गुणों से सम्पन्न

परस्पर प्रेम करते हुए, (बृहती) गुणों से महान् होकर, (सु-रुक्मे) सुन्दर कान्तिमान, सुन्दर सुवर्ण के आभूषण धारण करते हुए, (शुक्रपिशं) क्रम से पतिपत्नी अपने शरीरों में वीर्य और रज की पुष्टता की (श्रियं) शोभा को धारण करते हुए (यजते उषाके) परस्पर संगत होकर रहने के स्थान में समीप (आ सुष्वयन्ती) शयन करते हुए जब २ जहां २ मिलें वहां २ परस्पर प्रसन्न मुख से मुस्कराते हुए (योनौ) एक ही गृह में (नि षीदतां) निवास करें। गृहस्थ दम्पति के लिये यह उपदेश है। केवल रात दिन पर 'निषीदतां' आदि क्रियापद संगत नहीं है इसलिये उपमा मुख से दम्पति का ग्रहण करना ही उचित है।

दैव्या॒ होता॑रा प्रथ॒मा सु॒वाचा॒ मिमा॑ना य॒ज्ञं मनु॑षो॒ यज॑ध्यै।
प्र॒चो॒दय॑न्ता वि॒दथे॑षु का॒रू प्रा॒चीनं॒ ज्योतिः॑ प्र॒दिशा॑ दि॒शन्ता॑ ॥७॥

ऋ० १० । ११० । ७ ॥ यजु० २९ । ३२ ॥

भा०—अग्निरादित्यौ देवते। विद्वांसो वा देवताः। (दैव्या होतारा) दिव्य गुणों से युक्त होता, यज्ञ करने वाले, (प्रथमा) श्रेष्ठ (सुवाचा) उत्तम वाणी को बोलने वाले, (यजध्यै) यज्ञ करने, देवार्चना करने के लिये (मनुषः यज्ञं) मनुष्य का यज्ञ (मिमाना) करते हुए (विदथेषु) ज्ञान कार्मों में अन्य यज्ञशील ऋत्विजों को (प्र-चोदयन्ता) प्रेरित करते हुए (कारू) स्वयं भी सब कामों का अनुष्ठान करने वाले (प्र-दिशा) उत्कृष्ट वेद ज्ञान से उपदिष्ट मार्ग से (प्राचीनं ज्योतिः) पूर्व दिशा में उत्पन्न सूर्य के समान तेजोमय, अति प्राचीन या अति विशुद्ध रूप में हृदय में प्रकाशित ब्रह्म ज्योति को (दिशन्तौ) साक्षात् कराते हैं। अध्यात्म पक्ष में—प्राण और उदान दोनों इस शरीर के दैव्य होता हैं। वे विदथ=ज्ञान कर्मों में इन्द्रियों को प्रेरित करते, और योग से ब्रह्म ज्योति का साक्षात् कराते हैं। वे ही मनुष्य के देह में यज्ञ का सम्पादन करते और वाणी को उच्चारण करते हैं।

आ नो॑ यज्ञं भार॑ती तूय॑मे॒त्विडा॑ मनु॒ष्वदि॒ह चे॒तय॑न्ती ।
ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरेदं स्यो॒नं सर॑स्वती॒: स्वप॑स: सदन्ताम् ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ११० । ८ ॥ यजु० २९ । ३३ ॥

भा०—(भारती) भरत=आत्मा की वह कान्ति 'पिंगला' (नः) हमारे (यज्ञ) यज्ञ में (तूयम्) शीघ्र ही (आ एति) आवे । और (इड़ा) ब्रह्म की स्तुति करने हारी इला नामक चेतना, (इह) इस देह में (मनुष्वत्) मनुष्य=आत्मा या मन के समान (चेतयन्ती) समस्त देह को चेतना युक्त करती हुई, या ज्ञान सम्पादन करती हुई इस देह में शीघ्र प्रकट हो । और (सरस्वतीः) अति आनन्द मय सुषुम्ना भी इस में शीघ्र प्रकट हो यह (तिस्रः देवीः) तीनों दिव्य नाड़ि गत प्राणधाराएं (इदं बर्हिः) इस देह में (सु-अपसः) शोभन, कर्म और प्रज्ञान युक्त होकर (स्योनं) सुख से (सदन्ताम्) सुप्रतिष्ठित रहें ।

य इमे द्यावा॑पृथि॒वी जनि॑त्री रू॒पैरपि॑ंशद् भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
तम॒द्य हो॑तरिषि॒तो यजी॑यान् दे॒वं त्वष्टा॑रमि॒ह य॑क्षि वि॒द्वान् ॥९॥

ऋ० १० । ११० । ९ ॥ यजु० २९ । ३४ ॥

भा०—त्वष्टा देवता । (यः) जो (त्वष्टा) समस्त संसार के गढ़ने वाला परमेश्वर (इमे) इन दोनों (जनित्री) सर्व पदार्थों की मातास्वरूप (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को और (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (रूपैः अपिंशद्) रूपों द्वारा सुशोभित करता है, उनको नाना आकारों और नाना रूपों वाला बनाता है । हे (होतः) विद्वान् ! तू (इषितः) प्रार्थना किया हुआ (यजीयान्) शुभ यज्ञशील (विद्वान्)

८–(च०) 'सरस्वती' इति यजु०, ऋ० । 'सरस्वतीः' इति तै० ब्रा० ।

ज्ञानवान् होकर (इह) इस यज्ञ में (अद्य) आज (तं त्वष्टारं देवं) उस सर्व-कर्त्ता परम देव को (यक्षि) उपासना कर ।

अध्यात्म पक्ष में—त्वष्टा आत्मा, द्यौ, पृथिवी=प्राण, अपान, भुवन= इन्द्रिय ।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥

ऋ० १० । ११० । १० ॥ यजु० २९ । ३५ ॥

भा०—वनस्पतिरग्निर्वा देवता । हे होतः आत्मन् ! तू (ऋतु-था) प्रति ऋतु के अनुसार (देवानां पाथः) देवों इन्द्रियों के निमित्त अन्न, भोग्य विषय और (हवींषि च) ज्ञानों को (त्मन्या सम्-अञ्जन्) स्वयं प्रकट करता हुआ (उप-अवसृज) उनको प्रदान कर । (वनस्पतिः) वन-इन्द्रियों का स्वामि, जितेन्द्रिय, (शमिता) शम दमादि से युक्त, (देवः) विद्वान् योगी, (अग्निः) और ज्ञानी पुरुष ये तीनों (घृतेन) तेजोमय, प्रदीप्त ज्योति और (मधुना) मधुर आनन्द रस के साथ (हव्यं) ज्ञान का (स्वदन्तु) आ-स्वाद ग्रहण करें । यज्ञ पक्ष में—होता ऋतुओं के अनुसार सामग्री चरु आदि हवि तैयार करे और उसको अग्नि में, वनस्पति में, जीवों में भी वितरण करे ।

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥११॥

ऋ० १० । ११० । ११ ॥ यजु० २९ । ३६ ॥

भा०—विद्वान् अग्निर्देवता । (अग्निः) ज्ञानमय विद्वान् (सद्यः जातः) शीघ्र ही प्रकट होकर (यज्ञं वि-अमिमीत) यज्ञ का अनुष्ठान करता

११–' अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य ' इति ऋ० ।

है। वही (देवानां पुरः-गाः अभवत्) समस्त विद्वानों का अग्रणी हो जाता है। (ऋतस्य) ब्रह्म ज्ञानमय (अस्य होतुः) इस होता के (प्रशिषि) उत्कृष्ट शासन में रह कर (वाचि) वाणि रूप वाङ्मय में (स्वाहा-कृतं हविः) उत्तम वचनों और सूक्तियों के रूप में प्रकट किये ज्ञान को (देवाः) विद्वान् लोग (अदन्तु) भोग करें।

[१३] सर्प-विष चिकित्सा।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । १ ३, जगत्यौ, २ आस्तार पंक्तिः, ४, ७, ८ अनुष्टुभः, ५ त्रिष्टुप्, ६ पथ्यापंक्तिः, ९ भुरिक्, १०, ११ निचृद् गायत्र्यौ। एकादशर्चं सूक्तम् ॥

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम्॥१॥

भा०—(दिवः कविः) दिव्य पदार्थों और सूर्य के तत्त्व को जानने वाले (वरुणः) दुःख-निवारक विद्वान् ने (हि) निश्चय से (मह्यं ददिः) मुझे यह उपदेश दिया है जिसके अनुसार (उग्रैः) बलपूर्वक कहे गये (वचोभिः) वचनों से (ते विषम्) तेरे विष को (नि रिणामि) दूर करता हूं। (खातम्) चाहे सांपने गहरा दाँत गाड़ के घाव किया हो। या (अखातम्) या घाव न करके दन्तप्रहार मात्र से विष को शरीर में डाल दिया हो, (उत सक्तम्) और चाहे केवल विष का शरीर से सम्पर्क-मात्र ही हुआ हो। उस सब प्रकार के सर्प के काटे को मैंने (अग्रभम्) अपने वश कर लिया है। अब (धन्वन्) मरु भूमि में (इरा इव) जिस प्रकार जल सूख कर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मैं अपने उपचार से

(ते विषम्) शरीर में प्रविष्ट, तेरे विष को हे नाग ! (नि जजास) सर्वथा नष्ट करता हूं ।

यत् ते अपोदकं विषं तत् त एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

भा०—हे तक्षक नाग ! (यत्) जो (ते) तेरा (अप-उदकं) जल से रहित, रुधिर को सुखाने वाला शुद्ध (विषं) विष है (तत् ते) उस तेरे विष को (एतासु) इन नाड़ियों में भी (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है, ऐसा थाम लिया है कि वह शरीर में अधिक नहीं फैले । (ते उत्तमं, मध्यमं उत अवमं रसम्) तेरे प्रबल, तीव्र कोटि के, मध्यम कोटि के और निकृष्ट कोटि के रस=विष को भी (गृह्णामि) मैं वश कर लेता हूं । (आत् उ) इतने पर भी यदि विष का थोड़ा बहुत भी अंश न भी हो तो भी मनुष्य (ते भियसा) तेरे भयमात्र से भी (नेशत्) नष्ट हो जाता है ।

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥

भा०—(नभसा) मेघ से (तन्यतुः) फैलने वाले (वृषा) प्रबल (रवः) शब्द के समान (उग्रेण वचसा) प्रबल वचन से फैलने वाले शक्तिशाली रव=नाद से (ते) तेरे विष और (ते) तुझ को भी (बाधे) दूर करता हूं । (अस्य तं रसं) उसके विष को (नृभिः) कुछ आदमियों की सहायता से उस नाना प्रकार के विष को (अग्र-

---

[१३] २–(प्र०) 'पदक', (द्वि०) 'तत् ताभिः' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'नभसः', 'नभसम्' इति ह्विट्निकामितः । (द्वि०) 'ते वचसा बाधेतु ते' (तृ०) 'अभिरग्रं' (च०) 'ज्योतिषेव तमसो दयतु सार्यः' इति पैप्प० सं० ।

भम्) इस प्रकार वश कर लेता हूं जैसे (ज्योतिः तमसः इव) ज्योति अन्धकार का विनाश करता है और (सूर्यः उदेतु) सूर्य उदित हो जाता है उसी प्रकार विष के विनाश होने पर जीवन-ज्योति पुनः उदित हो जाती है ।

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्ये/तु त्वा विषम् ॥ ४ ॥

भा०—सर्प को वश करने की साधना का उपदेश करते हैं । हे तक्षक नाग ! (चक्षुषा) आंख के बल से (ते चक्षुः हन्मि) तेरे आंख की शक्ति को नाश करती हूं । और (विषेण) विष के बल से (ते विषम् हन्मि) तेरे विष को भी विनष्ट करता हूं । हे (अहे) सर्प ! (म्रियस्व) तू मर जा, (मा जीवीः) अब तू प्राण धारण मत कर, (विषम्) यह विष (प्रत्यग्) फिर लौट कर तेरे पास ही (अभि-एतु) आ जावे । योगज शक्ति और चक्षु के अभ्यास से सांप को वश करके विषैले पदार्थ से उसके विष को नाश करें उस सांप को ही उस विष-प्रयोग से मार दे ।

कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः ।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥५॥

भा०—हे (कैरात पृश्ने उपतृण्य बभ्रो असिताः अलीकाः) कैरात, पृश्नि, उपतृण्य, बभ्रु, असित और अलीक इन नाम वाले सर्पगण ! आप

४–(तृ०) 'अहम्रि-' इति बहुत्र । (प्र०) 'बलेन ते बलं हन्मि' (द्वि०) अस्पष्टम् । (तृ०) 'अरणा हन्मि ते विदम् अहे मरिष्टा मा जिवि । प्रति अन्वेतवाविषम् [?]' इति पैप्प० सं० ।

५–(तृ०) 'स्थामानं', 'स्तामाणं' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) 'उपतृणि बभ्रव' (द्वि०) 'असितलीका' (च०) 'निमिषे' 'रमध्वम्' इति च क्वचित् ।

लोग (मे सख्युः) मेरे मित्र इस मनुष्य के (स्तामानम्) अहाते में (मा अपि-स्थात) मत ठहरो और (आश्रावयन्तः) खटका सुनते हुए (विषे) विषैले स्थान में (नि रमध्वम्) सदा रमण किया करो ।

कैरात=काला नाग या कड़ैत या कीरा नाम का साँप, पृश्नि=चितकबरा, उपतृण्य=घास के रंग का, बभ्रू=पीला गोधूमी, असिताः=काले फनियर, अलीक=बिना-रंग के सर्प ये सब मलिन स्थानों पर रहते हैं । उनको अहातों में नहीं आने देना चाहिये ।

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥६॥

भा०—(असितस्य) असित, (तैमातस्य) तैमात, (बभ्रोः) भूरे, गोधुमें और (अपोदकस्य) अपोदक, सूखे रेगिस्तान के सर्प के विषवर्गों को (विमुञ्चामि) ऐसे दूर करता हूं जैसे (सात्रासाहस्य मन्योः) सेना विजयी राजा के (रथान्) पराक्रमी रथों को परे कर दिया जाय, (धन्वनः ज्यामिव अव) या जिस प्रकार धनुष से डोरी को उतार दिया जाता है ।

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च ।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥

भा०—(आ-लिगी च) सब प्रकार से चिपटने वाली, कानखजूरा (वि-लिगी) विपरीत रूप से चिपटने वाली जोंक और (पिता च माता च) इन जातियों के नर और मादा इन (वः सर्वतः बन्धु) तुम्हारे सब बन्धुओं को (विद्मः) हम खूब अच्छी प्रकार जानते हैं । ये सब

६–(तृ०) 'मन्युमव' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) 'तयिमातस्य' (तृ०) 'उपोदकस्य, मन्युमव' इति पैप्प० सं० ।

७–(प्र० द्वि०) 'आलका च व्यचा लुप्त्वा यस्ते माता' इति पैप्प० सं० ।

(अरसाः) निर्विष हैं इसलिये ये (किं करिष्यथ) मनुष्य का क्या बिगाड़ सकेंगे ।

उ॒रु॒गू॒लाया॑ दुहि॒ता जा॒ता दा॒स्यसि॑क्न्या ।
प्र॒तङ्कं॑ द॒द्रुषी॑णां॒ सर्वा॑सामर॒सं वि॒षम् ॥ ८ ॥

भा०—(उरु-गूलायाः) बड़ी गुदा वाली सर्प जाति से (दुहिता जाता) 'दुहिता' नाम की सर्प जाति उत्पन्न होती है। और (असिक्न्याः) 'असिक्नी' नाम सर्प जाति से (दासी) काटने वाली सर्प जाति उत्पन्न होती है। अर्थात् मोटी गुदा वाली जाति के सांप रक्त चूसते हैं और काली 'असिक्नी' सर्प जाति के सांप एक झपट में काटते हैं। इसी प्रकार (दद्रुषीणां) वे सांप जिनके काटने से त्वचा पर दाद के समान दाफड़ उठ आवें उन सर्प जातियों में से (सर्वासाम्) सर्व सर्प जातियों के (प्रतङ्कं) अति कष्टदायी (विषम्) विष भी (अरसं) निर्बल, निर्विष होजाते हैं।

क॒र्णा श्वा॒वित् तद॑ब्रवीद् गि॒रेर॑वच॒रन्ति॒का ।
याः काश्चे॒माः ख॒नित्रि॑मा॒स्तासा॑मर॒सत॑मं वि॒षम् ॥ ९ ॥

ऋ० १ । १९१ । १६ ॥

भा०—(कर्णा श्वावित्) इसी प्रकार कानों वाली साही (गिरेः) पर्वत से (अव चरन्तिका) नीचे उतरती हुई (तत् अब्रवीत्) यह बात बतलाती है कि (याः काः च इमाः) ये जो कोई जन्तु (खनित्रिमाः) भूमि खोदकर बिल बना कर रहते हैं (तासाम्) उनका भी (विषं) विष (अरसतमं) सर्वथा नीरस, निर्बल, विष-रहित होता है।

८–(द्वि०) 'दास्या असिक्न्याः' इति ह्विटनिकामितः ।

९–'कुपुम्भकस्तदब्रवीत् गिरेः प्रवर्त्तमानकः । वृश्चिकस्यारसं विषम्' इति ऋ० । (प्र०) 'कर्णा श्वावित्' इति पैप्प० सं० ।

तावुवं न तावुवं न घेत् त्वमसि तावुवम् ।
तावुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥

भा०—(तावुवं तावुवं न) तावुवं नामक सर्प बस 'तावुव' नाम ओषधि के समान ही है (त्वम् तावुवं न घ इत् असि) पर तू तावुव भी नहीं है । क्योंकि (तावुवेन) 'तावुव' नामक ओषधि से (ते विषम् अरसम्) तेरा विष भी निर्बल होजाता है । 'तावुव' ओषधि कदाचित् कड़वा तूम्बा है । कौशिक सूत्र में इस मन्त्र से उसका जल पान करना लिखा है ।

तस्तुवं न तस्तुवं न घेत् त्वमसि तस्तुवम् ।
तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥

भा०—(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव=हिंसक औषध के समान 'तस्तुव' नामक सर्प भी अपनी जाति का एक ही है । (न घ इत् त्वम् तस्तुवम् असि) तस्तुव भी तू अब नहीं क्योंकि (तस्तुवेन विषम् अरसम्) तस्तुव नामक औषध से इसका विष भी निर्बल पड़ जाता है ।

अथवा इन विषधरों की चिकित्सा भी इनके विषों से ही होती है ।

१०–'तावुचं न तावुचं न अहेरसिर्क्त तावुचेना रसं विषम्', 'ताथुवं' इति वेबरकामितः ।

११–(प्र० द्वि०) 'तस्तुवं न हरिसिक्तम् तस्तुवम्' इति पैप्प० सं० । 'तस्तुवेषं' इति ह्विटनिकामितः ।

[१४] दुष्टों के विनाश के उपाय ।

शुक्र ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । कृत्याप्रतिहरणं सूक्तम् । १, २, ४, ६, ७, ९ अनुष्टुभः, ३, ५, १२ भुरिजः, ८ त्रिपादा विराट्, १० निचृद् बृहती, ११ त्रिपदा-साम्नी त्रिष्टुप्, १३ स्वराट् । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० २ । २७ । २ प्र० द्वि० ॥

भा०—हिंसक षड्यन्त्रकारी दुष्टों के विनाश के लिये उपायों का प्रयोग दर्शाते हैं । हे ओषधे ! तापकारिन् ! (सु-पर्णः) गरुड़पत्ती (त्वा अनु अविन्दत्) तुझे प्राप्त करता है । और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूकर तुझे अपनी नाक से खोदता है । अर्थात् वह उपाय जिससे बाज झपटता है और या शूकर मूल से नाक के हुलारे से उखाड़ता है ये दोनों ही उपाय रूप ओषधि=संतापकारक उपाय हैं जिन से हे राजन् ! तू (दिप्सन्तं) पर जीव=हिंसक प्राणि को भी (दिप्स) विनाश कर और (कृत्या-कृतं अव जहि) दूसरे पर हत्याकारी प्रयोग करने वाले को भी नाश कर अथवा (सु-पर्णः) ज्ञानी लोग भी तुझे प्राप्त करता है और (सूकरः) सुकृत कर्मकर्ता भी तुझे अपनी कर्म शक्ति से उत्तेजित करता है । तू दुष्टों का विनाश कर ।

अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि ।
अथो यो अस्मान् दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥ २ ॥

भा०—(यातु-धानान्) पीड़ा देने वाले जीवों को (अव जहि) उनकी चेतना गिरा कर मार डाल और (कृत्या-कृतं) पर-प्राणघात करने वाले को भी

[१४] १–' प्रति कृत्याकृतो दह ' इति पैप्प० सं० ।

(अव जहि) विनाश कर । (अथो) और (यः) जो (अस्मान् दिप्सति) हमें विनाश करना चाहता है । (तम् उ) उस जीव को भी हे (ओषधे) ओषधे ! तापकारिन् ! (त्वं जहि) तू विनाश कर ।

रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः ।
कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (रिश्यस्य) जिस प्रकार हिंसक जन्तु के (त्वचः परि) त्वचा के चारों ओर (परिशासं) चारों ओर से उसको चुभने वाली बर्छियां सी (परि कृत्य) लगा कर या (परिशासं) उसको चारों तरफ़ से चोट पहुंचाने वाले छड़ लगाकर वश कर लिया जाता है उसी प्रकार (कृत्या-कृते) दूसरों की जीवहत्या करने वाले पुरुष के चारों ओर भी (कृत्यां परि कृत्य) उसी प्रकार का कष्टदायी उपाय करके उसको (निष्कम्[१] इव) नीचे दबा कर, निश्चेष्टसा करके (अव मुञ्चत) छोड़ो । अर्थात् मारे मृत्यु के और कष्टों की पीड़ा के उसे दबा कर सिर मत उठाने दो ।

पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय ।
समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ४ ॥

भा०—(कृत्या-कृते) पर-प्राणघाती उपाय करने वाले की (कृत्यां) कृत्या, साजिश को (पुनः) बार बार (हस्त-गृह्य) हाथों से पकड़ २ कर अर्थात् उन साजिश करने वालों को अपराध करते २ पकड़ कर (परा नय)

३–' ऋश्यस्येव ' इति क्वचित् ।

१. निष्कम् । नौसदेर्डिच्चेति कन् । निषीदतीति निष्कः । नीचैर्निषण्णः । इति उणादिव्या० दया० ।

४–(द्वि०) ' प्रतिहरणं न हरामसि ' इति पैप्प० सं० ।

उनको समाज से (पृथक्) बन्दी-घर या दूर स्थान पर रख । और (अस्मै) उसके (समक्षम्) आंखों के आगे (आ-धेहि) यह साफ तौर पर ला दिखा कि (यथा) किस प्रकार से (कृत्या-कृतं) साजिश करने वाले पर-प्राण-द्वेषियों को (हनत्) मारा जाता है । अपराधियों को (रेड्-हैण्ड) सापराध पकड़े । और अलग करके उनको वे भय दर्शावें जो साजिशकारियों को दिये जाते हैं ।

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते ।
सुखो रथ इव वर्तताम् कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥

भा०—अपराधकारी को दण्ड किस नियम से दें इसका उपदेश करते हैं । (कृत्या-कृते) दूसरों पर हत्या का षड्यन्त्र रचने वालों को (कृत्याः सन्तु) उसी प्रकार की पीड़ाएं दण्डरूप में हों । (शपथीयते) पर-निन्दाकारी के लिये (शपथः) उसको जनता के समक्ष निन्दाजनक दण्ड ही दिया जाय । (रथ इव सुखः) जिस प्रकार रथ, गाड़ी सब को सुखकारी है उसी प्रकार वह भी दण्ड के भय से (सुखः वर्तताम्) सब को सुखकारी सीधा हो कर रहे । और (पुनः कृत्या) उसे फिर वैसी ही पीड़ा दी जाय ।

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने ।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥

भा०—न्यायपूर्वक स्त्री पुरुष दोनों को दण्ड देना चाहिये । (यदि) चाहे (स्त्री) स्त्री हो (यदि वा पुमान्) चाहे पुरुष हो । यदि वह (पाप्मने) अपने पाप के भाव से (कृत्यां चकार) दूसरे पर हत्या या षड्यन्त्र का करता है । (तस्मै ताम् उ) तो उस पर उसी प्रकार का प्रयोग (नयामसि) दण्ड रूप में हम प्रयोग करें तब जिस प्रकार (अश्व-अभि-धान्या) घोड़े को बांधने की रस्सी से (अश्वम् इव) घोड़े को बांध कर काबू कर लिया जाता है उसी प्रकार वह भी काबू आ जाता है ।

यद्वि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता ।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥

भा०—जीवों पर प्राणसंहारी विपत्ति के प्रतिकार का उपदेश करते हैं। (यदि वा) यदि प्राणसंहारी विपत्ति (देवकृता) आधिदैविक, ईश्वरीय शक्तियों से अपने आप घटित होगई है (यदि वा पुरुषैः कृता) और चाहे वह पुरुषों द्वारा की गई हो अर्थात् उस विपत्ति को ला डालने वाले मनुष्य ही हों तो भी (तां त्वा) हे विपत्ते ! तुझ उसको (वयम्) हम लोग (इन्द्रेण सयुजा) अपने सहायक इन्द्र=राजा के बल पर (पुनः नयामसि) वार वार हटादें।

अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व ।
पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! हे (पृतनाषाट्) सेनाओं प्रजाओं को वश करने वाले ! तू (पृतनाः) समस्त सेनाओं को वश कर। (पुनः) तब (कृत्या-कृते) राष्ट्रवासियों पर विपत्तियों को लाने वाले पर (प्रतिहरेण) प्रतिहरण विधि से (कृत्यां) उस घातक्रिया को हम (हरामसि) उसी पर डालते हैं। अर्थात् यदि सेनापति अपनी सेनाओं को वश करके बाहर की सेनाओं पर वश कर ले तो भीतरी षड्यन्त्रकारियों को पकड़ कर उनको वही दण्ड भुगतावे जो कष्ट वे औरों पर डालना चाहते थे।

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि ।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥

७–' या कृत्ये देवकृता या वा मनुष्यजासि । तां त्वा प्रत्यङ् प्रतिरामसि प्रतीची नयन[?]ब्रह्मणा ' इति पैप्प० सं० ।

८–(तृ०) ' प्रति कृत्यां ' इति पैप्प० सं० ।

९–' वधाय शंसमीमहे ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—कैसे अपराधियों को कैसा दण्ड दिया जाय इसका उपदेश करते हैं। हे (कृतव्यधनि [1]) जिस पुरुष ने किसी को बाण आदि शस्त्र से मारा है उसी को ताड़ने वाली शक्ति ! तू उसको भी (विध्य) उसी प्रकार बेध (यः-चकार) जो जैसा करे (तमित् जहि) और उसको वैसा ही दण्ड देकर नाश कर। हे राजन् ! (त्वाम्) तुझको (अचक्रुषे) अपराध न करने वाले के (वधाय) वध करने के लिये हम (न संशिशीमहि) उत्तेजित नहीं करते।

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥

भा०—हे (कृत्ये) हिंसाकारिणी शक्ति ! (पुत्र इव पितरं गच्छ) जैसे पुत्र पिता के पास जाता है उसी प्रकार तू भी पीड़ा रूप होकर उसको प्राप्त हो, जो तुझे अन्यों के प्रति प्रयोग करता है। (स्वजः इव अभिष्ठितः दश) लिपट कर काटने वाले सांप के समान तू उस अपराधी को वश करके काट, कष्ट दे। और (बन्धम् इव) बन्धन के समान (अवक्रामीः) समस्त प्रजापर फैला रह। परन्तु हे कृत्ये ! (पुनः) पुनः तू (कृत्याकृतं गच्छ) हिंसाकारी अपराधी को ही वार २ पकड़।

उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव।
कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥ ११ ॥

भा०—दण्ड किस निश्चित विधि से दिया जावे इसका उपदेश करते हैं। वही (वारणी कृत्या) अपराधों को रोकने वाली पीड़ा जो अपराधी ने की है (कर्त्तारम् ऋच्छतु) पीड़ाकारी को इस प्रकार प्राप्त हो (अभिस्कन्दं

---

१. ओषधिनामेति ह्विट्निः।

१०–(तृ० च०) 'तन्तुरिवाप्ययं निदे कृत्ये कृत्या कृतं कृतः' इति पैप्प० सं०।

एणी इव उत्) हिरणी जिस प्रकार अपने आक्रमण कारी पर कूद कर झपटती है या (वारणी) सेना या हथिनी जिस प्रकार अपने पर पड़े घेरे पर झपटती है या (मृगी इव) बाघनी जिस प्रकार शिकारी पर टूटती है ।

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावांपृथिवी तं प्रति ।
सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १२ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! राजा और प्रजा ! (इष्वा) बाण के समान (ऋजीयः) अत्यन्त सीधी होकर विना चूके वह (कृत्या) पीड़ा (तं प्रति पततु) उसी करने वाले पर आकर पड़े । और (सा) वह (तं) उस अपराधी को (मृगम् इव) मृग के समान (गृह्णातु) पकड़ ले। अर्थात् ताक कर निशाना लगाने से जिस प्रकार शिकारी का बाण हरिण पर ही जाता है और नहीं चूकता उसी प्रकार राजा का दण्ड भी अपराधी पर वैसे ही विना चूक पड़े । और इस प्रकार (कृत्याकृतं पुनः कृत्या गृह्णातु) पीड़ाकारी पुरुष को वह पीड़ा पुनः पकड़ ले ।

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १३ ॥

भा०—(कृत्या) वही पीड़ा जो अपराधी ने औरों को दी है वह (पुनः कृत्या-कृतम्) फिर उस पीड़ाकारी पर ऐसे प्रतिकूल होकर पड़े जैसे (अग्निः इव प्रतिकूलम्) आग प्राणियों को सदा प्रतिकूल होकर कष्टदायी होता है । और राष्ट्र के लिये (अनुकूलम् उदकम् इव) अनुकूल जल के समान सुखदायी हो (रथ इव सुखः वर्तताम्) अपराधी को अपराध का दण्ड मिलने पर वह सब त्रासकारी पुरुष भी रथ के समान सब के बीच में सुखकारी पुरुष के समान होकर रहे ।

१२—' सा तं मृगमिव विद्दत् कृत्याकृत्याकृतं कृता ' इति पैप्प० सं० ।

[१५] निन्दकों पर वश प्राप्त करने की साधना ।

विश्वामित्र ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-३, ६, १०, ११ अनुष्टुभः, ४ पुरस्ताद् बृहती, ५, ७, ८, ९ भुरिजः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

एका च मे दश च मेपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥

भा०—हे (ऋतजाते) सत्य रूप में उत्पन्न हुई और हे (ऋतावरि) सत्य में सदा वर्तमान रहने वाली (ओषधे) बलकारिणी सत्य वाणि ! तू (मधुला) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली मधुमयी होकर (एका च मे) मेरी अकेली भी (मे मधु करः) मेरे लिये अमृतमय आनन्द ही उत्पन्न कर जब कि (ये) मेरे (अप-वक्तारः) अपवाद करने वाले, विरोधी, निन्दक गण (दश च) दश भी क्यों न हों । अर्थात् मेरे निन्दा करने वाले १० मुख क्यों न हो तो भी मेरी एक सत्यवाणी मुझे पूरा बल और आनन्द दे ।

द्वे च मे विंशतिश्च मे० । ० ॥ २ ॥

भा०—(मे) मेरे (अप-वक्तारः) निन्दाकारी (विंशतिः च) वीस भी क्यों न हों तो भी (द्वे च मे) हे ओषधे ! मेरी तुम दो अर्थात् दुगुणी बल वाली सत्य वाणी होकर मुझे आनन्द प्रदान कर ।

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मे०।० ॥३॥ चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मे०।० ॥४॥
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मे०।० ॥५॥ षट् च मे षष्टिश्च मे०।० ॥६॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मे०।० ॥७॥ अष्ट च मेशीतिश्च मे०।० ॥८॥
नव च मे नवतिश्च मे०।० ॥९॥ दश च मे शतं च मे०।० ॥१०॥

---

[१५] १-' दशचापवं० ' इति सर्वत्र द्वितीयं पदं लुप्यत पैप्प० सं० । (च०) ' मधु त्वा मधुला करत् ' इति पैप्प० सं० ।

शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे ।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥

भा०—(तिस्रश्च मे त्रिंशत् च अप-वक्तारः०) यदि तीस मेरी निन्दा करने वाले हों तो मेरी सत्य वाणी तीन गुणी होकर मुझे बल दे। (चतस्रः च मे, चत्वारिंशत् च०) यदि ४० (चालीस) पुरुष मेरी निन्दा करने वाले हों तो मेरी चार गुणी वाणी मुझे आनन्द और बल दे। (पञ्च च मे पञ्चाशत् च मे) यदि पचास निन्दक हों तो पांच गुणा शक्तिमती होकर मुझे आनन्द दे। (षष्टिः च मे अपवक्तारः षट् च मे) यदि मेरे ६० निन्दक हों तो मेरी वाणी ६ गुणा होकर मुझे बल और आनन्द दे। (सप्ततिः च मे०, सप्त च मे०) यदि मेरे निन्दक ७० होजावें तो मेरी वाणी ७ गुणा होकर मुझे बल दे। (अशीतिः च मे० अष्ट च मे०) यदि मेरे अपवादक ८० हो जांय तो मेरी सत्य वाणी भी ८ गुणा होकर मुझे बल दे। (नवतिः च मे० नव च मे०) मेरे अपवादक नव्वे हो जांय तो मेरी वाणी नव-गुणी होकर मुझे बल दे। (शतं च मे अप०, दश च मे०) यदि मेरे अपवादक सौ हो जांय तो मेरी सत्य वाणी दस गुणा होकर मुझे बल दे। (सहस्रं च मे अप-वक्तारः) यदि मेरे हज़ार अपवादक निन्दक हों तो हे ओषधे! सत्य वाणी! तू (शतं च मे०) सौ गुणा होकर मुझे बल और आनन्द प्रदान कर।

दुष्ट वक्ताओं का मुख बांधने के लिये इस मन्त्र=विचार का मनन करना चाहिये इससे शक्ति बढ़ेगी और साहस उत्पन्न होगा। अध्यात्म में दशों इन्द्रियां प्रलोभन से गिरावें तो एक सत्यमति से उन पर वश करे। यदि दुनियां में प्रलोभन बढ़े तो अपनी शक्ति को और बढ़ावे।

इति तृतीयोऽनुवाकः।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्तपञ्चाशत्।]

[१६] आत्मा की शक्ति-वृद्धि करने का उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । एकवृषो देवता । १, ४, ५, ७–१०, साम्न्युष्णिक्, २, ३, ६ आसुरी अनुष्टुप्, ११ आसुरी गायत्री, एकादशर्चं सूक्तम् ।

यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १ ॥

भा०—आत्मा देवता ! (यदि एकवृषः असि) हे आत्मन् ! यदि तू (एकवृषः) अर्थात् एक ही इन्द्रिय है तो भी (सृज) और उत्पन्न कर नहीं तो (अरसः असि) निर्बल ही रहेगा ।

यदि द्विवृषोऽसि० ॥ २ ॥ यदि त्रिवृषोऽसि० ॥ ३ ॥
यदि चतुर्वृषोऽसि० ॥ ४ ॥ यदि पंचवृषोऽसि० ॥ ५ ॥
यदि षड्वृषोऽसि० ॥ ६ ॥ यदि सप्तवृषोऽसि० ॥ ७ ॥
यद्यष्टवृषोऽसि० ॥ ८ ॥ यदि नववृषोऽसि० ॥ ९ ॥
यदि दशवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १० ॥
यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि ॥ ११ ॥

भा०—(यदि द्विवृषः असि) यदि द्विवृष=दो प्राणों से युक्त है तो भी और शक्ति उत्पन्न कर, अभी भी निर्बल है । (यदि त्रिवृषः असि०) यदि तीन प्राणों से युक्त भी है तो भी और शक्ति पैदा कर अभी भी निर्बल है। (यदि चतुर्वृषः असि०) चार प्राणों से युक्त है तो भी और शक्ति उत्पन्न कर, अभी भी निर्बल है । (यदि पञ्चवृषः असि०) पांच प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर अभी भी निर्बल है । (यदि षड्-वृषः असि०) छः प्राणोंसे युक्त हैं तो भी और पैदा कर अभी भी निर्बल है । (यदि सप्तवृषः असि)

---

[११] १-११–' यदि ' स्थाने सर्वत्र ' यः ' इति पैप्प० सं० ।

यदि सात प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी तू निर्बल है। (यदि अष्ट-वृषः असि०) यदि आठ प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि नव-वृषः असि०) यदि नव प्राणों से युक्त है तो भी अभी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि दश-वृषः असि) यदि दश प्राणों से युक्त है तो भी (सृज, अरसः असि) और अपनी शक्ति को बढा क्योंकि निर्बल है। यदि तू (एक दशः असि) तू उन दश प्राणों के अतिरिक्त स्वयं आत्मा ग्यारहवां है तब (सः) वह (अप उदकः असि) तू आत्मा दुःखों में तड़फने से मुक्त हो सकता है। अथवा तब तू स्वयं (अप-उदकः) असङ्ग है, तू इन्द्रियों के भोग=रस के सङ्ग से परे है। अर्थात् जब तक आत्मा दश इन्द्रियों से कुछ एक को अपना रूप समझता है तब तक भी वह अरस=निर्बल एवं परमानन्दरस से शून्य रहता है और जब दशों इन्द्रियों के संग से रहित होजाता है तब वह इन तृष्णा जल से मुक्त होकर केवली, आनन्दी, मुक्त होजाता है।

[१७] ब्रह्मजाया या ब्रह्मशक्ति का वर्णन।

मयोभूर्ऋषिः । ब्रह्मजाया देवता । १-६ त्रिष्टुभः, ७-१८ अनुष्टुभः । अष्टादशर्चं सूक्तम् ॥

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥ १ ॥

ऋ० १० । १०९ । १ ॥

[१७] १-(तृ०) 'उग्रं' (च०) 'ऋतेन' इति ऋ० ।

भा०—ऋग्वेदे जुहूर्नाम ब्रह्मजाया ब्रह्मवादिनी ऊर्ध्वनामा ब्रह्मपुत्रो वा ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । ब्रह्मजाया वेदवाणी का वर्णन करते हैं । (ते) वे (प्रथमाः) विशाल, सर्वश्रेष्ठ, अतिविस्तृत देवगण (अकूपारः) वह दूर वर्तमान, सूर्य (सलिलः) जल और (मातरिश्वा) वायु ये तीनों देवगण (ब्रह्म-किल्विषे) ब्रह्म परमात्मा की रचना के विषय में (अवदन्) हमें सब रहस्यों का उपदेश करते हैं । और (ऋतस्य) उस सर्वशक्तिमान्, ज्ञानस्वरूप महान् देव से (प्रथम-जाः) प्रथम उत्पन्न हुई (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त तीन शक्तियां हैं जो (वीडु-हराः) अति प्रबल तेजः-सामर्थ्य से सम्पन्न हैं । उनमें से प्रथम अग्नि (तपः उग्रं) अपने तपनगुण से बलवान्, उग्र तेजस्वी है, द्वितीय सोम (मयो-भूः) सुखशान्ति का उत्पादक और जीवन का उत्पादक है । तृतीय (आपः) सर्वव्यापक जल है ।

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥२॥

भा०—(प्रथमः) सब से प्रथम विद्यमान्, आदिगुरु (राजा) सर्वत्र प्रकाशस्वरूप (सोमः) सब के उत्पादक परमात्माने (अहृणीयमानः) विना संकोच और क्रोध के सब पर अनुग्रह करते हुए (पुनः) बार २ सृष्टि के आदि में (ब्रह्म-जायां प्र-अयच्छत्) ब्रह्म=ब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने की प्रकृति शक्ति को प्रदान किया । और (वरुणः) सर्वव्यापक जल (मित्रः) और सर्वस्नेही आदित्य (अनु-अर्तिताः) उसके बाद प्रकट हुए । इस विश्व रचना को (होता) सब को अपने में ले लेने वाले (अग्निः) अग्नि तत्व ने या ज्ञानमय आत्मा ने स्वयं (हस्त-गृह्य) अपने आघातकारी गढ़ने के साधन-शक्ति से वश करके वा जिस प्रकार वर अपनी वधू को हाथ पकड़ कर ले आता है उस प्रकार इस प्रकट रूप में (आ निनाय) ला दिया ।

हस्तेनैव ग्राह्य/आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥३॥

ऋ० १० । १०९ । ३ ॥

भा०—(अस्याः) इस महाप्रकृति का (आधिः) समस्त शरीर जिसमें परमेश्वर ने अपनी शक्ति का आधान किया वह (हस्तेन एव) हाथ, व्यापक शक्ति, गतिदायक शक्ति से ही (ग्राह्यः) व्यास करने योग्य है । (इति चेत्) इसीलिये यह (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म की जाया, पत्नी, शक्तिरूप से विख्यात है । (एषा) वह परम प्रकृति (दूताय) अन्य किसी अवान्तर कारक द्वारा (प्र-हेया न) प्रेरणा करने योग्य नहीं है । सिवाय इस सर्व शक्तिमान् ईश्वर के वह और किसी के लिये अपने आपको समर्पित और प्रकट नहीं करती । जिस प्रकार (राष्ट्रं) राज्यसत्ता (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय= प्रजा को विनाश होने से बचाने वाले राजा के द्वारा ही (गुपितम्) सुरक्षित रहता है (तथा) उस प्रकार यह समस्त प्रकृति की सत्ता भी उसी प्रभु के लिये सुरक्षित है । इस पर और किसी कारक का वश नहीं है ।

राष्ट्रपक्ष में—इस ब्रह्मजाया की सब सम्पत्ति को राजा अपने हाथ में ही रखे । कहने भर को वह ब्रह्मजाया अर्थात् ब्राह्मण की स्त्री के समान भोग्य है, ब्राह्मण के और उसके बीच में तीसरा कोई साधक नहीं तभी क्षत्रिय का राष्ट्र सुरक्षित रह सकता है । अन्यथा सदा लड़ाइयां होती रहेंगी ।

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम् ।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १०९ । ४ ॥

३–(द्वि०) 'ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्' (तृ०) 'प्रेह्य तस्थ एषा' इति ऋ० । (प्र०) 'ग्राह्या' इति क्वचित् । (तृ०) 'न दूत्याय' इति ह्विटनिकामितः । (प्र०) 'ग्राह्य आदिरस्या' इति पैप्प० सं० । ४–(प्र०) 'तारकांविके' (तृ०) 'वितिनोति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—ब्राह्मणों विद्वानों की ब्रह्मशक्ति विद्या वास्तव में उस धूम-केतु के समान है जो राष्ट्र पर उदित होकर उसका विनाश करे या उस उल्का-पात के समान है जो वस्तियों पर बरस जाने पर उनका नाश करे (दुच्छुनाम्) दुःख प्राप्त कराने वाली, दुर्लक्षणा, (ग्रामम् अव पद्यमानाम्) जन समूहों की वस्ती पर गिरने वाली (याम्) जिस धूमकेतुमयी विपत्ति या उल्का को (तारका एषा) यह 'तारका' धूमतारा या उल्का तारा या (विकेशी) विशेष जटा वाली तारा (इति आहुः) के नाम से पुकारते हैं वास्तव में वह इतनी नाशकारी नहीं जितनी यह (ब्रह्मजाया) ब्रह्म-ब्राह्मण, विद्वान् पुरुषों की विद्यारूप विज्ञान शक्ति है, इसलिये वास्तव में राष्ट्र-विध्वंस करने वाली सच्ची उल्का तो (सा ब्रह्मजाया) वह यह ब्रह्मजाया है। (विदुनोति राष्ट्रम्) जो राष्ट्र को नाना प्रकार से कष्ट देने में समर्थ हैं (यत्र) जहां (उल्कुषीमान्) उल्काओं के कोषों से युक्त, सहस्रों उल्काओं को बरसाने वाला (शशः) शश नामक उल्का प्रवाह (प्र-अपादि) आ पड़ता है। उल्का-विज्ञान के अनुसार तारका जिस राष्ट्र पर उदय होजाती हैं वहां की वस्ती विनष्ट होजाती है। उसकी उपमा से ब्रह्मजाया या विद्वानों की विज्ञानशक्ति का वर्णन किया है।

उल्कुषीमान् शश=यह सिंहराशि में स्थित वर्त्तमान में 'सिंहोल्का' है।

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥५॥

ऋ० १०। १०९। ५॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! जो पुरुष (वेविषद्) सर्वत्र व्यापक, सर्वत्र समान भाव से सब के हृदयों में विराजमान, सब का प्रिय होकर (विषः) समस्त प्रवेश करने योग्य, व्याप्त करने योग्य राष्ट्र-प्रजाओं में (ब्रह्मचारी) ब्रह्मज्ञान में विचरणशील होकर (चरति) विचरता है,

(सः) वह (देवानां) राष्ट्र के सब अधिकारियों का भी (एकम् अङ्गम्) एक मुख्य अङ्ग होकर रहता है । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषों (तेन) इसी कारण से (बृहस्पतिः) वह वेदविद्या का स्वामी, (सोमेन नीतां) सोम राजा द्वारा प्राप्त की गई (जायाम्) अपनी स्त्री के समान भोग्यरूप में इस समस्त पृथिवी को (जुह्वं न) ले लेने वाली अग्निज्वाला के समान शक्ति या वीर्य धारण में समर्थ (अनुअविन्दद्) वश में कर लेता है ।

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसा ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ६ ॥

भा०—हे (देवाः) दिव्य गुणों से युक्त, परमप्रकाशस्वरूप या एक दूसरे को अपनी शक्ति देने वाले, संसार के घटक तत्वो ! (एतस्यां) इस ब्रह्म-शक्ति में (ये) जो (पूर्वे सप्त-ऋषयः , पूर्व के प्राणरूप सात ऋषि (तपसा) तप से अपने तपन शक्ति के रूप से (निषेदुः) विराजमान हैं वे उसके विषय में (अवदन्त) इस प्रकार का उपदेश करते हैं, वे उसका परमरहस्य बतलाते हैं कि—(ब्राह्मणस्य) ब्रह्मस्वरूप आदि पुरुष की (भीमा) अति भयंकर अतिशक्तिशालिनी (जाया) उत्पादक शक्ति (अप-नीता) उससे निकल कर (परमे वि-ओमन्) उस परम रक्षा स्थान, परम ब्रह्म में ही (दुः-धाम् दधाति) भारी धारण शक्ति को धारण करती है ।

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते ।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥ ७ ॥

६–(तृ०) 'ब्राह्मणस्योपनीता' (द्वि०) 'तपसे' इति ऋ० । 'ब्राह्मणस्यापनिहिता' इति पैप्प० सं० ।

७–(तृ०) 'नृत्यन्ते' 'तृह्यते' 'नुह्यन्ते' इत्यादि नाना विकल्पाः । (प्र०) 'गर्भाव-' (द्वि०) 'यच्चाभिलुप्यते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—उसी ब्रह्मशक्ति का पुनः वर्णन करते हैं। (ये) जो (गर्भाः) नाना हिरण्य गर्भ-(ब्रह्माण्ड=ब्रह्म, अण्ड=गर्भ) अवपद्यन्ते विनष्ट होते हैं होकर नहीं से होजाते हैं, और (यत् च) जो यह (जगत्) जगत्-समस्त विश्व (अपलुप्यते) एक बार ही प्रलय काल में कहीं लोप को प्राप्त हो जाता है और (ये) जो (वीराः) नाना बलवान्, वेग से आकाश में गति करने वाले सूर्य-मण्डल (मिथः तृह्यन्ते) आपस में टकराकर एक दूसरे का विनाश करते हैं (तान्) उन सब को वह (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म की विशाल शक्ति जिससे जगत् उत्पन्न होता है वही उन को (हिनस्ति) विनाश करती है। राष्ट्रपक्ष में—जो गर्भहत्याएं नाजायज, पापोत्पन्न बालकों की लोग किया करते हैं या प्राणियों का विनाश होता है। और क्षत्रियं लोग घोर संग्राम करते हैं उन सब के विनाश में वह ब्राह्मण की शक्ति ही कारण है। जब वह अपमानित होती है। तब ये सब उत्पात होते हैं।

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥

भा०—(उत) और (यत्) यदि (स्त्रियाः) स्त्री के (पूर्वे) पहले (दश पतयः) दश पालक, पति (अब्राह्मणाः) ब्राह्मण न हों और ऐसी कन्या का (हस्तं) हाथ पाणिग्रहण की विधि से (चेत्) यदि (ब्रह्मा अग्रहीत्) ब्राह्मण ने ही ग्रहण किया हो तो उनमें (सः एव) वह ही (एकधा पतिः) उसका एकमात्र पति है। ब्रह्मपक्ष में—प्रकृति रूप स्त्री के परिपालक इन्द्र आदि दश लोकपाल-दश दिव्य शक्तियां जो ब्रह्म से भिन्न हैं वे उसके पति नहीं, प्रत्युत वह परमात्मा ही उस प्रकृति का मुख्य स्वामी है जिसने उसका हाथ अपने हाथ में लिया है अर्थात् उसकी मुख्य क्रिया-शक्ति को अपनी शक्ति से वश किया है।

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥

भा०—(ब्राह्मणः एव पतिः) स्त्री का पति ब्राह्मण ही है (न राजन्यः न वैश्यः) न क्षत्रिय है और न वैश्य है । (सूर्यः) वह सूर्य, सर्वप्रकाशक परमात्मा (पञ्चभ्यः) पांचों प्रकार के (मानवेभ्यः) मानवों को (तत् प्रब्रुवन् एति) इस प्रकार उपदेश करता है । अर्थात् यदि कोई स्त्री अपने यौवन काल में सब वर्णों में से प्रथम ब्राह्मण को वरती है तो ऐसी दशा में बलपूर्वक हरण करने में या ऐश्वर्य में महान् राजा, धनादि से सम्पन्न वैश्य भी उस स्त्री का पति नहीं हो सकता है ।

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

ऋ० १० । १०९ । ६ ॥

भा०—कन्या के पुनः दान का उपदेश करते हैं । (देवाः) देव विद्वान् लोग कन्या का (पुनः अददुः) पुनः दान कर देते हैं । (मनुष्याः पुनः अददुः) विचारशील मनुष्य भी कन्या का पुनः दान करते हैं । (राजानः) राज्य कर्त्ता व्यवस्थापक लोग भी (सत्यं गृह्णानाः) सत्य, यथार्थ का निर्णय करके (ब्रह्म-जायाम्) ब्राह्मण की पत्नी को भी (पुनः ददुः) पुनः दान करने की आज्ञा देते हैं । यह पुनः दान का विधान पूर्व अयोग्य पति के हो जाने पर है—जैसा कात्यायन ने लिखा है—

स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा ।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥
ऊढापि देया साऽन्यस्मै सहाभरणभूषणा ॥

१०-(प्र०) 'पुनः वै देवा उत पुनर्म' (तृ०) कृण्वानाः इति ऋ० ।

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्विषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १०६ । ७ ॥

भा०—(देवैः) देव लोग (ब्रह्म-जाया) ब्रह्म=कन्या को पुनः (नि-किल्विषम्) निर्दोष, निष्पाप (कृत्वा) करके और उस को योग्यपति के हाथों (पुनःदाय) पुनः दान करके और (पृथिव्याः) पृथिवी—क्षेत्र-भूमि, के (ऊर्जं) बल को (भक्ता) विभाग करके प्रथम स्त्री को क्षेत्र मान कर यदि पुत्रों वाली स्त्री हो तो उसके (ऊर्जं) रस, बल रूप सन्ततियों का पूर्व पतियों में विभाग करके, (उरुगायम् उपासते) उस महान् यशस्वी या वेदवक्ता परमात्मा की उपासना करते हैं, उसी की आज्ञा का पालन करते हैं ।

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमाशये ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १२ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राष्ट्र में (अचित्या) बिना ज्ञान के, मूर्खता से (ब्रह्मजाया) ब्रह्म की विज्ञानमयी कल्पक और उत्पादक शक्ति को (नि-रुध्यते) रोक दिया जाता है उस पर नियन्त्रण रखा जाता है, उस राष्ट्र में (अस्य जाया) मनुष्य की (जाया) स्त्री भी (शत-वाही) सहस्रों कार्य करने में समर्थ (कल्याणी) सुख कल्याण की देने हारी सौभाग्यवती स्त्री (तल्पं) भोग्य स्थान, सेज पर (न आशये) नहीं विराजती है ।

न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते ।
यस्मिन्० ॥ १३ ॥

११–(द्वि०) 'कृत्वी' (च०) 'भावल्वावयोरु' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया नि-रुध्यते) जिस घर में मूर्खता वश ब्रह्म. वेद से प्राप्य ज्ञानशक्ति या ब्राह्मण=ब्रह्म ज्ञानियों की वैदिक विद्या को रोक दिया जाता है (तस्मिन् वेश्मनि) उस घर में (वि-कर्णः पृथु-शिराः) विशेष कर्ण-शक्ति से सम्पन्न श्रुतिशील, विशाल मस्तक वाले विचारवान् पुरुष (न जायते) नहीं उत्पन्न होते । घरों में ब्रह्मजाया अर्थात् ब्राह्मणों की वैदिक वाणी का ज्ञानपूर्वक घोष होना चाहिये । इससे सन्तति बहुश्रुत विचारवान् होगी ।

नास्य॑ क्ष॒त्ता नि॒ष्कग्री॑वः सू॒नाना॑मेत्यग्र॒तः ।
यस्मि॑न्० ॥ १४ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया नि रुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता से ब्रह्म. वेद विद्या के प्रसार को रोक दिया जाय । (अस्य क्षत्ता) इस देश का मन्त्री भी (निष्क-ग्रीवः) स्वर्ण के आभूषण पहन कर (सूनानाम्) ऐश्वर्यवान् राजाओं के (अग्रतः) समक्ष (न एति) आने योग्य नहीं होता । अर्थात् विद्या ही के बल से सचिव राजाओं के समक्ष सदा सलाह देने योग्य होते हैं ।

नास्य॑ श्वे॒तः कृ॑ष्णक॒र्णो धु॒रि यु॒क्तो म॑हीयते ।
यस्मि॑न्० ॥ १५ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया निरुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता से ब्राह्मण विद्वान् पुरुषों की (जाया) शक्ति. विद्या मूर्खतावश कुण्ठित हो जाती है उस राष्ट्र के (अस्य) राजा का (श्वेतः) श्वेत (कृष्ण-कर्णः) श्यामकर्ण घोड़ा (धुरि युक्तः) अपने उचितस्थान पर नियुक्त होकर (न महीयते) महत्व को प्राप्त नहीं होता । अर्थात् उस राष्ट्र में श्यामकर्ण द्वारा अश्वमेध नहीं होता ।

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् ।
यस्मिन्० ॥ १६ ॥

भा०—जिस राष्ट्र में ब्रह्मजाया, ब्रह्म शक्ति ब्राह्मणों के विद्या बल को मूर्खतावश रोक दिया जाता है (अस्य क्षेत्रे) उस राष्ट्र के राजा के क्षेत्र में (पुष्करिणी) पुखरिनी, (आण्डीकं) बड़ा कमल और (बिसम्) भिस आदि कमलकन्द भी (न जायते) उत्पन्न नहीं होते । अर्थात् उस देश में राष्ट्र के शोभाजनक ताल सरोवर भी नहीं बनते ।

नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चित्त्या ॥ १७ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया निरुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता वश विद्वान् ब्राह्मण, वेदज्ञों की विद्या-शक्ति रुक जाती है वहां (अस्मै) इस राष्ट्रपति राजा के राष्ट्र के अधिकारी और प्रजाजन (ये) जो (अस्याः) इस पृथिवीरूप धेनु के (दोहम्) सारवान् अन्न आदि पदार्थों को (उपासते) भोग करते हैं वे (अस्मै) फिर इस राजा के लिये (पृश्निं) इस नाना पदार्थदायी कामधेनु को (न वि दुहन्ति) नाना प्रकार से नहीं दोहते ।

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

भा०—(यत्र) जहां (ब्राह्मणः) विद्वान्, वेदवेत्ता, ब्राह्मण लोग (वि-जानिः) अपनी भार्या के समान सब अर्थों की उत्पादक विद्यारूप शक्ति से रहित होकर (पापया) पापाचार बुद्धि से युक्त होकर (रात्रिं) समस्त

१७-(द्वि०) 'योऽस्या' इति क्वचित् ।
१८-(प्र०) 'न तत्र धेनुर्दोहिन' इति पैप्प० सं० ।

जीवन को रात के समान आलस्य, प्रमाद और निद्रा में (वसति) विताता है (अस्य) उस राष्ट्र की (धेनुः) गाय (कल्याणी न) सुखपूर्वक दूध देने वाली नहीं होती और (अनड्वान्) बैल भी (धुरम् न सहते) गाड़ियों में नहीं जुतते । अर्थात् विद्वानों के अभाव में न पशुओं की वृद्धि होती है, न गो-पालन होता है और न व्यापारार्थ बैल आदि का सत् उपयोग होता है ।

[१८] ब्रह्म गवी का वर्णन ।

मयोभूर्ऋषिः । ब्रह्मगवी देवता । १-३, ६, ७, १०, ११, १४, १५ अनुष्टुभः, ४, ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुभः, ४ भुरिक् । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ १ ॥

भा०—विद्या, प्रजा, पृथ्वी और गौ ये सब ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष की गौ है । उसका मारना, खा लेना आदि किसी को करना उचित नहीं, इसी विषय का इस सूक्त में उपदेश करते हैं—हे (नृपते) समस्त नरों, मनुष्यों के परिपालक राजन् ! (ते देवाः) वे विद्वान् लोग (ते) तुझे राज्याभिषेक करते समय (एताम्) इस ब्राह्मण की गौ=पृथिवी और उस पर रहने वाली प्रजा और उनके गौ आदि पशु सब को (अत्तवे) खा डालने के लिये (न ददुः) नहीं देते हैं । हे (राजन्य) राजन् ! (अनाद्याम्) न खाने योग्य (ब्राह्मणस्य गां) ब्राह्मण की गौ को (मा जिघत्सः) मत खा, मत मार । राजा लोक-प्रजा की रक्षा करे न कि उनका खून चूसे और न उनको मृगों को सिंह के समान मार कर खावे ।

[१८] २-'पापात्ममपराजितः' इति पैप्प० सं० ।

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

भा०—जो राजा अपने विषय-सुखों के लिये प्रजा को कुर्बान कर देता है वह चिरकाल तक नहीं रहता । (अक्ष-द्रुग्धः) इन्द्रियों के लोभ के कारण प्रजा में नाना प्रकार के द्रोह उत्पन्न करने वाला, अथवा जूओं के कारण अपने बहुतसों का शत्रु बना हुआ (राजन्यः) राजा (आत्म-पराजितः) अपने ही व्यसनों से अपने आप पछाड़ खा कर (पापः) पापी होकर यदि (सः) वह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण=वेदवेत्ता की (गाम्) गौ, भूमि, प्रजा तक को (अद्यात्) खा डाले, विनाश करे तो (अद्य जीवानि) वह यह भी समझले कि 'मैं आज भर ही जीता हूं (न श्वः) कल को मेरा जीवन नहीं है । अर्थात् अत्याचारी का राज एक पुश्त से दूसरी पुश्त तक नहीं जा सकता ।

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥

भा०—पूर्वोक्त ब्राह्मण को गौ के खाने का दुष्परिणाम बतलाते हैं—हे (राजन्य) राजन् ! (एषा) यह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गौः) गौ (अनाद्या) खाने योग्य नहीं, यह हजम नहीं होगी क्योंकि (सा) वह तो (तृष्टा) प्यासी, (पृदाकूः इव) नागिन के समान, (अघ-विषा) पाप मय विष से भरी (चर्मणा) कांचुली से (आविष्टिता) ढकी है, इस पर मुंह मत मार । अर्थात् ब्राह्मण प्रजा पर और ब्राह्मणों की सम्पत्ति और उनकी विद्या पर आघात मत कर ।

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् ।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

४-(द्वि०) ' आलब्धः पृतन्नतो राष्ट्रम् ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः) जो (ब्राह्मणं) ब्राह्मण या विद्वान् सदाचारी तपस्वी पुरुष को (अन्नम् एव मन्यते) दाल-भात का गस्सा समझ लेता है, (सः) वह (तैमातस्य) फनियर नाग के (विषस्य) विषकी घूंट (पिबति) पी लेता है। क्योंकि ब्राह्मण के ऊपर आघात करने से ब्रह्मतेज राजा को (वै) निश्चय से (क्षत्रं निः नयति) निर्वीर्य कर देता है, (वर्चः हन्ति) उसके तेज को नष्ट कर देता है, और (आ-रब्धः) राजा के पीछे लग जाय तो (अग्निः इव) आग के समान भड़क कर (सर्वम्) उसके सर्वस्व राज पाट को (विदुनोति) नाना प्रकार से नाश कर डालता है।

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥५॥

भा०—(यः) जो (एनं) इस ब्राह्मण को (मृदुम्) कोमल स्वभाव, निर्बल, दबने वाला (मन्यमानः) मान कर (धन-कामः) धन के लोभ से (देव-पीयुः) इस लोक के देव, विद्वान् ब्राह्मणों का विनाशक होकर (हन्ति) ब्राह्मण को कष्ट देता और उस को मारता है, और (न चित्तात्) नहीं चेतता, अपनी करतूत से बाज नहीं आता, (तस्य) उसके (हृदये) हृदय में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अग्निम्) आग (इन्धे) सुलगा देता है। (उभे) वह सन्ताप और परमेश्वर (उभे) या दोनों राजा प्रजा (नभसि चरन्तम्) अपने ख़याल में, आकाश में निरालम्ब विचरते हुए, गर्वीले (एनं) उस को (द्विष्टः) द्वेष करने लगते हैं।

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्य/स्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'य एनाम्' इति पैप्प० सं०।

६–'अग्नेः प्रियातनूरिवेति' पेद० लक्ष० कामितः। अग्नेः प्रियतमा तनूः' इति पैप्प० सं०।

भा०—(प्रियतनोः अग्निः इव) अपने प्यारे शरीर के समान (ब्राह्मणः अग्निः) ब्राह्मण को जान कर (न हिंसितव्यः) उसका वध न करना चाहिये क्योंकि वह (अग्निः) अग्नि के समान है (सोमः) सब का प्रेरक, एवं सब के आल्हादकारी परमात्मा (अस्य दायादः) इसका मात्र बन्धु है और (इन्द्रः) वही परमेश्वर इसका (अभि-शास्तिपाः) चारों ओर से पड़ने वाले निन्दा, अपवाद एवं शस्त्र-आघातों से बचाने वाला है ।

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (मल्वः) मलिन हृदय वाला, नीच पुरुष, (ब्राह्मणाम्) ब्राह्मणों, वेदवेत्ताओं, ज्ञानी पुरुषों के (अन्नं) अन्न, जीवन, वृत्ति को (स्वादु अद्मि) खूब मजे में खा जाता हूं (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है वह परिणाम में (शत-अपाष्ठाम्) सैकड़ों प्रकार की दुर्गति को (नि-गिरति) प्राप्त होता है और (निःखिदन् तां न शक्नोति) सब प्रकार से ताड़ित होकर उस को पार नहीं कर सकता ।

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

भा०—ब्राह्मण की शक्तियों का वर्णन करते हैं। ब्राह्मण की (जिह्वा) जीभ (ज्या भवति) धनुष की डोरी होजाती है। और (वाग्) वाणी, (कुल्मलं) धनुष का दण्ड होजाता है और (तपसा) तेज, और तपस्या से (अभि-दिग्धा) लिपे हुए, (दन्ताः) दांत (नाड़ीकाः) नालीक नाम के बाण, छर्रे और तीरों के समान होजाते हैं । (ब्रह्मा) ब्रह्मवेद का ज्ञाता विद्वान् तपस्वी, पुरुष (तेभिः) उन (देवजूतैः) विद्वानों से या दिव्य-शक्तियों से युक्त, (हृद्बलैः) हृदय, मन की शक्ति से सम्पन्न (धनुर्भिः) ज्ञानमय

७–(द्वि०) 'निखिदन्' इति क्वचित् ।

धनुषों, अस्त्रों से (देव-पीयून) विद्वानों के शत्रुओं को (विध्यति) प्रहार करता है ।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥

भा०—(ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता, विद्वान्, ब्राह्मण लोग (तीक्ष्ण-इषवः) तीक्ष्ण बाणों से युक्त, एवं तीक्ष्ण इच्छा शक्ति से सम्पन्न और (हेति-मन्तः) अस्त्रों से युक्त होकर (यां शरव्याम्) जिस बाणधारा को (अस्यन्ति) फेंकते हैं (सा) वह (न मृषा) असत्य नहीं है। वे (तपसा) तप और (मन्युना) क्रोध या ज्ञान से (अनु-हाय) शत्रु का पीछा कर के (एवं) इस को (दूरात्) दूर से ही (भिन्दन्ति) भेद डालते हैं ।

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥ १० ॥

भा०—(ये) जो (वैत-हव्याः) दान योग्य हवि पदार्थों को स्वयं खा जाने वाले पुरुष पहले (सहस्रम्) सहस्रों प्रकार के बलों से (अराजन्) वैभव को प्राप्त कर लेते हैं (उत) और चाहे (दश-शताः आसन्) वे दसों, सैकड़ों, हज़ारों भी क्यों न हों तो भी (ते) वे (ब्राह्मणस्य गां) ब्राह्मण की गौ, भूमि, सम्पत्ति, विद्या, देह-वृत्ति आदि को (जग्ध्वा) खाकर, हड़प कर (परा अभवन्) पराजय को ही प्राप्त हो जाते हैं ।

गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।
ये केसरप्रावन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥

९–' भिन्दन्ति ते तया ' इति पैप्प० सं० ।

१०–' तेभ्यः प्र ब्रवीमि त्वा ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(तान् वैत-हव्यान्) उन दान योग्य पदार्थों के स्वयं भोक्ता, असुर लोगों को वह ब्राह्मण की गौ ही (हन्यमाना) मारी जा कर, (अव तिरत्) विनाश कर डालती है क्योंकि (ये) जो वे, (केसरं-प्राबन्धायाः[1]) केसर-प्राबन्धा, मोक्षाभिलाषिणी चिति शक्ति की (चरम-अजाम्) अन्तिम अजा, अमर आत्म शक्ति को भी (अपेचिरन्) विनाश कर डालते हैं ।

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥

भा०—ब्राह्मण की गौ का स्वरूप बतलाते हैं—(ताः जनताः) वे लोग राष्ट्र के कलंकरूप (एक-शतं) एक सौ एक हैं (याः) जिनको (*भूमिः*) *माता भूमि उन्हें स्वयं धुन देती है, कंपा देती है ।* जो (*ब्राह्मणीम्*) विद्वान् ब्राह्मणों की (प्रजां) प्रजा, सन्तति को (हिंसित्वा) मार कर (असम्-भव्यम्) आशातीत रूप से, विना सम्भावना के ही (परा-भवन्) विनाश को प्राप्त होते हैं ।

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥१३॥

भा०—(देव-पीयुः) विद्वान् पुरुषों को सताने वाला पुरुष (मर्त्येषु) मनुष्यों के बीच में (गर-गीर्णः चरति) मानो जहर पिये घूमता है ।

१. केसरप्राबन्धा=के मोक्षसुखे, प्रजापतौ ब्रह्मणि सरः गमनं तत्र प्रबन्धः प्रकृष्ट आग्रहो यस्याः सा केसरप्राबन्धा मोक्षाभिलाषिणी चितिशक्तिः तस्या या चरमा अन्तिमा व्यापिनी वा अजा, न जायते इत्यजा । अमृता उत्पादविनाशरहिता या आत्मशक्तिः तामपि ते वैतहव्याः 'अपेचिरन्' विषयाग्नौ अपाचयन् ।

१२–'एकशतं वै,' 'भूमिर्या' इति पैप्प० सं० ।

१३–(च०) 'सस्थपितृणामप्येतुलोकम्' इति पैप्प० सं० ।

(अस्थिभूयान् भवति) केवल बड़े २ हाड़ उठाये रहता है। (यः) जो (देवबन्धुम्) देव,-विद्वान् और ईश्वर की दिव्य शक्तियों या ईश्वर को मात्र बन्धु मानने वाले (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ, ब्राह्मण को (हिनस्ति) पीड़ा देता है (सः) वह (पितृयाणम् लोकम् अपि) पितृयाण लोक को भी (न एति) प्राप्त नहीं होता। दो यान हैं देवयान और पितृयाण।

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥ १४ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि=ज्ञानवान् ही (नः) हमारा (पद-वायः) मार्गदर्शक है। (सोमः) सोम=शान्तिदायक एवं शुभ मार्ग में प्रेरक ही हमारा (दायादः) समस्त धनों का दाता स्वामी, (उच्यते) कहा जाता है। (इन्द्रः) वह बलशाली, परमैश्वर्यवान् प्रभु (अभिशस्ता हन्ता) आक्षेपों और शस्त्र-प्रहारों से सताने वाले पुरुषों का विनाशक है। (तथा) इसी प्रकार से (वेधसः) विद्वान् लोग (तद्) उस पर-ब्रह्म के विषय में (विदुः) जानते हैं।

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥ १५ ॥

भा०—हे (नृपते) राजन्! (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (सा) वह (घोरा) घोर, भयानक (इषुः) मनःकामना रूप बाण है जो (दिग्धा इषुः,-इव) विष में बुझे तीर और (पृदाकूः,-इव) नागिन के समान है। हे (गोपते!) गो, वाणी, वेद, भूमि के प्रतिपालक राजन्! ब्राह्मण

१४–(तृ० च०) 'जयताभिशस्त इन्द्रस्तत् सत्यं देवसंहितम्' इति पैप्प० सं०। 'अभिशस्तम्' इति ह्विट्नकामितः।

१५–' पुर्दिग्धा ' इति पैप्प० सं०।

(पीयतः) अपने शत्रु हिंसकों को (तया विध्यति) उस घोर बाण से निशाना करता और वेधता है ।

[१६] ब्रह्मगवी का वर्णन ।

मयाभूर्ऋषिः । ब्रह्मगवी देवता । २ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ७ उपरिष्टाद् बृहती, १–३–६, ७–१५ अनुष्टुभः । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥

भा०—ब्राह्मणों को मारने उनको कष्ट पहुंचाने के बुरे परिणामों का निर्देश करते हैं । (सृञ्जयाः) प्रसरणशील, इन्द्रियों को विजय करने वाले, जितेन्द्रिय (वैत-हव्याः) दान योग्य पदार्थों को भी स्वयं खा जाने वाले असुर लोग (न उत् इव) न केवल (अति-मात्रम्) बहुत अधिक (अवर्धन्त) बलशाली, उन्नत हो जाते हैं । प्रत्युत (दिवम्) स्वर्ग-लोक को भी (अस्पृशन्) छू लेते हैं, इतने पर भी वे (भृगुं) समस्त पापों के भून डालने वाले अग्नि-स्वरूप ब्राह्मण को (हिंसित्वा) विनाश करके (परा अभवन्) पराजय को ही प्राप्त हो जाते हैं ।

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः ।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

भा०—(ये जनाः) जो पुरुष (आङ्गिरसम्) अङ्गों में रस के समान बहने वाले, प्राण के समान या प्रज्वलित अंगारों के समान, तेजस्वी, राष्ट्र

[१९] १–' भृगं हिंसित्वा ब्राह्मणीम् सम्भाव्यं पराभवन् ' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ०) ' उभयादन् ' इति ह्विटनिकामितः । अस्पष्टः पैप्पलादपाठः ।

के विद्वान्, (बृहत्-सामानम्) बड़े विशाल, आदित्य ब्रह्मचारी (ब्राह्मणं) ब्राह्मण को (आर्पयन्) विनाश करते हैं (तेषां) उनके (तोकानि) अगली सन्तानों को (अविः) वही सर्वरक्षक (पेत्वः) परिपालक प्रभु ही (उभयादम्) अपने दोनों जबाड़ों के बीच में (आवयत्) चबा डालता है। परमात्मा को दोनों जबाड़े द्यौ और पृथ्वी हैं। इन दोनों तरफ़ से उन दुष्ट पुरुषों पर नाना आपत्तियां पड़ती हैं और वे नष्ट हो जाते हैं।

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो पुरुष (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण की ओर (प्रति अष्ठीवन्) घृणा से थूकते और उसका अपमान करते हैं और (ये वा) जो लोग (अस्मिन्) इस वेदवित् ब्राह्मण पर (शुल्कम् ईषिरे) किसी प्रकार का कर बैठाते हैं (ते) वे गर्वी और लोभी पुरुष (अस्नः) रुधिर की (कुल्यायाः) धारा के (मध्ये) बीच में (केशान्[1] खादन्तः) क्लेशों को भोगते (आसते) रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मण का अपमान करके वे परस्पर की लड़ाइयों से एक दूसरों का गला काटते रहते हैं और नाना क्लेश भोगते हैं।

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह (ब्रह्मगवी) ब्रह्मशक्ति, विद्या और ब्राह्मणों की वाणी या ब्राह्मणरूप स्वयं गौ (पच्यमाना) दुःख पाती हुई (यावत्) जब

३—(द्वि०) 'अस्नै' (च०) 'मासते' इति पैप्प० सं० ।

१. क्लिशेरन्लो लोपश्च केशः । उ० पा० ५ । ३३ ॥ क्लिश्यते येन सकेशः । इति दया० उ० ॥

४—(च०) 'न वीरो जायते पुमान्' इति पैप्प० सं० ।

तक (अभि वि-जंगहे) तड़फती रहती है तब तक वह (राष्ट्रस्य तेजः) राजा के राष्ट्र के तेज को (निर्हन्ति) समूल नाश किया करती है यहांतक कि (वीरः वृषा न जायते) वीर, धार्मिक पुष्ट पुरुष उस राष्ट्र में उत्पन्न होना बन्द हो जाता है राष्ट्र में सच्चे धार्मिक उत्पन्न नहीं होते ।

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते ।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥ ५ ॥

भा०—(अस्याः) इस ब्रह्म-गौ का (आशसनम्) मारना भी (क्रूरं) बड़ा क्रूरता का कार्य है । उसका (पिशितम्) मांस भी (तृष्टं अस्यते=अश्यते) खूब प्यास लगाने वाला होकर भी पेट में डाल लिया जाता है । और (यद्) जो (अस्याः) इस प्रकार पीड़ित हुई गौ का (क्षीरं पीयते) दूध पिया भी जाता है वह (पितृषु) राष्ट्र के पालक शासकों के लिये (किल्बिषम्) भारी पापजनक होता है । अर्थात् ब्राह्मण की भूमि और सम्पत्ति का छीनना बड़ी क्रूरता का कार्य है उसकी उपज लेना केवल लोभ तृष्णा का जनक है, और उससे जो कुछ कर आदि सार पदार्थ ले भी लिया जाता है वह अधिकारियों के लिये पापजनक है ।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (उग्रः राजा) बलशाली राजा (मन्यमानः) अभिमानी होकर (ब्राह्मणं) वेदवित्, विद्वान् ब्राह्मण को (जिघत्सति) खा जाना चाहता है-हड़प जाना चाहता है (तत्) उसका राष्ट्र (परा सिच्यते) सम्पत्ति से शून्य हो जाता है, इसी प्रकार (यत्र) जहां (ब्राह्मणः

५—(द्वि०) 'अश्यते' इति ह्विटनिजिम्मरकामितः ।
६—'यज्जिघत्सति' इति प्रामादिकः क्वचित् पाठः ।

जीयते) ब्राह्मण कष्ट को प्राप्त होता है वह राष्ट्र भी (परा सिच्यते) शत्रु से पराजित होता और निर्धन हो जाता है । उसको शत्रु गण लूट ले जाते हैं ।

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।
द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥७॥

भा०—प्रकुपित ब्राह्मणरूप गौ का स्वरूप दर्शाते हैं । (सा) वह ब्राह्मणरूप गौ (अष्टा-पदी) आठ पैरों, (चतुरक्षी) चार आंखों और (चतुः श्रोत्रा) चार कानों और (चतुर्हनुः) चार दाढ़ों, (द्व्यास्या) दो मुहों और (द्विजिह्वा) दो जीभों वाली (भूत्वा) होकर (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्य=ब्राह्मण के विनाशकारी राजा के (राष्ट्रं) राष्ट्र को (अवधूनुते) धुन डालती है । आठ अमात्य उसके पैर हैं, चार वर्ण उसके चार आंख, चार आश्रम उसके कान हैं, चारों प्रकार की सेना चार हनु हैं, भीतरी और बाह्य शत्रु दो मुख हैं. उभयपक्ष के दूत उसकी दो जिह्वाएं हैं। वे सब उस राष्ट्र को नष्ट कर देते हैं ।

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥

भा०—(यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्राह्मणं) विद्वान् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को (हिंसन्ति) विनाश करते हैं (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र को (दुच्छुना) दुष्ट विपत्ति, आधि व्याधि (हन्ति) विनाश कर डालती है और (भिन्नां इव नावम्) जिस प्रकार टूटी फूटी नाव में (उदकं आ स्रवति) पानी तह

७–' द्विजिह्वा द्विप्राणा भूत्वा ' इति पैप्प० सं० ।

८–(द्वि०) ' भिन्नां नावमि- ' (तृ०) ' ब्राह्मणो यत्र जीयते ' इति पैप्प० सं० ।

फोड़ कर भीतर आ जाता है उसी प्रकार (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र को फोड़ कर शत्रु भी भीतर आ घुसता है और नाश कर डालता है ।

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपंगा इति ।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

भा०—हे (नारद) मनुष्यों को आश्रय देने हारे पालक ! राजन् ! (यः) जो (ब्राह्मणस्य) विद्वान् ब्राह्मण के (सत् धनम्) सत् धन और विद्या और तप को (अभि मन्यते) हथियाना चाहता है (वृक्षाः) वृक्ष या क्षत्रियगण भी (तम् अप सेधन्ति) उसको दुरदुरा देते हैं कि (नः) हमारी (छायां) छाया, शरण में भी (मा उपगाः इति) तू मत आ ।

विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥

भा०—(वरुणः) सब से श्रेष्ठ (राजा) राजा (अब्रवीत्) यह उपदेश करता है कि (एतद्) यह ब्राह्मण का धन (देव-कृतं) विद्वानों के निर्णय के अनुसार (विषम्) विष ही है । (ब्राह्मणस्य) इसलिये ब्राह्मण की (गां) सम्पत्ति, भूमि, गौ, धन, वृत्ति आदि को (जग्ध्वा) हड़प कर (कः-चन) कोई भी (राष्ट्रे) राष्ट्र में (न जागार) कोई जीवित जागृत नहीं रह सकता है । 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते ।' विष विष नहीं, ब्राह्मण का धन विष है । इसको खाकर कोई जी नहीं सकता ।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥

अथर्व० ५ । १८ । १२ ॥

९–(तृ०) 'तद्धनम्' इति पाठाभिलाषा निराधारा केषांचित् ।
१०–' गां दग्ध्वा राष्ट्रे जागर ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नव नवतयः) ६६ निन्यानवें वे पापी पुरुष हैं (याः) जिनको (भूमिः) भूमि स्वयं (वि-अधूनुत) विनाश कर डालती है । वे सब (ब्राह्मणीम्) ब्राह्मण की (प्रजां) प्रजा को (हिंसित्वा) विनाश करके (असम्-भव्यं) बुरी तरह से (परा अभवन्) पराजित होते हैं ।

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥

भा०—(यां) जिस (पदयोपनीं) पैरों को मिटा देने वाली (कूद्यं) झाडू या कांटेदार झाड़ी को (मृताय) मरे हुए शव को (अनुबध्नन्ति) बांधते हैं । हे ब्रह्मज्य ! ब्राह्मण के नाशक ब्रह्मशत्रो ! (देवाः) विद्वान् लोग (तद् वै) उन कांटों वाली डाल को ही (ते उप-स्तरणम्) तेरा सेज बनाने का (अब्रुवन्) उपदेश करते हैं ।

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥

भा०—हे ब्रह्मज्य ! ब्राह्मण के नाश करने वाले ! (यानि) जो (अश्रूणि) आंसू (कृपमाणस्य) कलपते हुए (जीतस्य) दुःखित पुरुष के (वावृतुः) निकलते हैं (देवाः) विद्वान् लोग (तं वै) उसको (ते अपां भागम् अधारयन्) तेरा जलों का हिस्सा बतलाते हैं । ब्रह्मघाती पुरुष को कलपते, रोते लोगों के आंसु ही पीने को मिलते हैं, सुख नहीं ।

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥

भा०—(येन) जिससे (मृतं स्नपयन्ति) मरे मुर्दे को निहलाते हैं और (येन) जिससे मुर्दे की मोंछ दाढ़ी के बाल (उन्दते) गीले किये जाते हैं । हे (ब्रह्मज्य) ब्रह्मघातिन् ! (देवाः) देव विद्वान् लोग (तं)

उस जल को (ते अपां भागं) तेरे लिये जल का भाग (अधारयन्) बतलाते हैं । अर्थात् ब्रह्मघाती को वह पानी दिया जाय जिससे मुर्दा निहलाया जाय और उसके बाल मूंडे जांय ।

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥

भा०—(ब्रह्मज्यं) ब्रह्म हत्यारे के राष्ट्र में (मैत्रावरुणं वर्षं) मित्र और वरुण सूर्य और समुद्र से उठने वाली वर्षाएं (न अभि वर्षति) नहीं बरसतीं । (अस्मै) इस ब्रह्म-द्रोही की (समितिः) राज-सभा भी (न) नहीं (कल्पते) बनती । और (मित्रं) मित्र भी (वशं) उसकी इच्छा के अनुकूल (न नयते) कार्य नहीं करते । अर्थात् ब्रह्म-घाती के फसल नहीं होती, राज-सभा टूट जाती है और मित्र फूट जाते हैं ।

[२०] दुन्दुभि या युद्धवीर राजा का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता । सपत्नसेनापराजयाय. देवसेनाविजयाय च दुन्दिुभिस्तुतिः । १ जगती, २–१२ त्रिष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः ।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥

भा०—नगारे के दृष्टान्त से राजा को विजय करने का उपदेश करते हैं । जिस प्रकार (वानस्पत्यः) वनस्पति काठ का बना हुआ (उच्चैर्घोषः) ऊंचे २ आवाज़ वाला (उस्रियाभिः संभृतः) गाय के चमड़ों से मढ़ा हुआ (दुन्दुभिः) बड़ा नगारा (सत्वना-यन्) बलवान् . शूरवीर के समान गर्जता है और शत्रुओं के दिल दहलाता है. उसी प्रकार हे राजन् ! तू (वानस्पत्यः)

१५–‘ ब्राह्मज्यामभि ’ इति पैप्प० सं० ।

वन=सेवन करनेहारी प्रजाओं के पालकों में से सेनापति पद पर प्राप्त होकर तू (उस्त्रियाभिः) वास करने वाली प्रजाओं से कर आदि द्वारा (संभृतः) परिपुष्ट होकर नगारे के समान (उच्चैः घोषः) ऊंचे २ विजय की घोषणा करता हुआ, (सत्वना-यन्) बलवान शूर-वीर के समान, (वाचं चुणु-वानः) अपनी आज्ञाएं देता हुआ, और (स-पत्नान् दमयन्) शत्रुओं को दमन करता हुआ (सिंह-इव) शेर के समान (जेष्यन्) विजय चाहता हुआ (अभितः स्तनीहि) खूब घोर गर्जना कर ।

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव ।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥ २ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नगारे ! तू (द्रुवयः) काष्ठमय होकर एवं (वि-बद्धः) विविध प्रकार से बंध कर भी (सिंह इव अस्तानीद्) शेर के समान गर्जना करता है, हे राजन् उसी प्रकार तू भी हथियारों से बंध कर शीघ्र (द्रुवयः) वेगवान् होकर सिंह के समान गर्जना कर । जिस प्रकार (वासिताम्) रजो गन्ध से युक्त गौ पर (वृषभ इव) वीर्य सेचन में समर्थ निर्भीक सांड (अभिक्रन्दन्) गहराता हुआ जाता है उसी प्रकार गर्जता हुआ ही (त्वं) तू (वृषाः) बलवान् , सर्वश्रेष्ठ है । (ते सपत्नाः) तेरे सपत्न शत्रुगण तेरे सामने (वध्रयः) वधिया बैलों के समान निर्वीर्य, नपुंसक हैं, (ते शुष्मः) तेरा बल, पराक्रम (अभिमातिषाहः) अभिमान से सिर उठाने वाले शत्रुओं को पराजय करने वाला (ऐन्द्रः) साक्षात् इन्द्र परमेश्वर का या राजा का ही दिया हुआ है ।

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित् ।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥३॥

[२०] २-(प्र०) 'सिंहेवात्तानि भुवया' (च०) 'शुषतामि' इति पैप्प० सं० ।
३-(प्र०) 'वृषं सहस', (च०) 'विद्धि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—नगारा बजाने का प्रयोजन दर्शाते हुए क्षत्रिय के कर्त्तव्य का उपदेश करते हैं। हे नगारे! तू गहराते हुए सांड के समान घोर भयंकर शब्द कर और शत्रुओं के हृदय को बेध डाल, जिससे कि शत्रुगण अपने गांव छोड़ २ कर भाग जांय। उसी प्रकार हे शूरवीर तू (यूथे वृषा इव) गौओं के रेवड़े में बड़े सांड के समान (गव्यन्) गौओं की कामना करता हुआ (सहसा) अपने बल से गहराता है उसी प्रकार तू शूरवीर (संधनाजित्) समस्त धनों को विजय करके (सहसा) अपने प्रबल आघातकारी बल से (विदानः) विजय लक्ष्मी को प्राप्त करता हुआ (अभि रुव) सब तरफ़ गर्जना कर और (परेषां हृदयम्) शत्रुओं के हृदयों को (शुचा) शोक से बेध डाल जिससे (शत्रवः) शत्रु-गण (प्रच्युताः) अपने राज्य सिंहासन से भ्रष्ट होकर (ग्रामान्) अपने ग्रामों को (हित्वा) छोड़ कर (यन्तु) चले जावें।

संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) नक्कारे! उसके समान गर्जना करने वाले राजन्! तू (दैवीं वाचं) देवों की वाणी को (आ गुरस्व) सब तरफ़ आघोषित कर और तू (वेधाः) सब कार्यों को स्वयं करने हारा होकर (शत्रूणाम्) शत्रुओं का (वेदः) धन (उपभरस्व) हमारे समीप ले आ। और तू (ऊर्ध्व-मायुः) उच्च नाद करता हुआ (पृतनाः सं-जयन्) शत्रु सेनाओं का विजय करता हुआ (गृह्या गृह्णानः) ग्रहण करने योग्य सब पदार्थों को ग्रहण करता हुआ (बहुधा वि-चक्ष्व) नाना प्रकार से सब का निरीक्षण कर।

४–(तृ०) 'वेधाः' शब्दो व्यर्थः इति ह्विट्निः।

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्या मित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥

भा०—विजय-दुन्दुभि का क्या प्रभाव है सो बतलाते हैं । हे राजन् ! (दुन्दुभे) विजय घोषणा करने वाली दुन्दुभि की एवं विजयी राजा की, (प्र-यताम्) आगे बढ़ने वाले सेनापतियों को (वदन्तीं) आज्ञा करने वाली, या लड़ाई में उत्साह बचन बोलती हुई (वाचं) वाणी को (आ शृण्वती) सुनती हुई (घोष-बुद्धा) विजय दुन्दुभि के विजय घोष से जग कर (नाथिता) घबराहट और विपत्ति में पड़ी (अमित्री नारी) शत्रुओं की स्त्री (पुत्रं) अपने पुत्र को (हस्त-गृह्य) हाथ में पकड़ कर (समरे वधानाम् भीता) युद्ध काल में होने वाले शस्त्र प्रहारों से भयभीत होकर (धावतु) दौड़े ।

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) विजय के नक्कारे ! (पूर्वः) तू सब युद्ध से पूर्व बजाया जाता है, तू (भूम्याः पृष्ठे) भूमि की पीठ पर (वाचं) वाणी (प्रवदासि) बोलता है, आज्ञाएं देता है । तू (रोचमानः) अति शोभायमान होकर (वद) आज्ञा दे । और हे दुन्दुभे ! तू अपने विजय-घोष से (अमित्र-सेनाम्) शत्रु की सेना को (अभि-जञ्जभानः) तोड़ता फोड़ता हुआ, (द्युमत्) चमत्कारकारी, (सूनृता-वत्) मनोहर वाणियों से युक्त संदेश को (वद) बतला ।

६—'पूर्वो दुन्दुभे विषहस्व शत्रून्', 'भूम्याः पृष्ठे वद बहुरोचमानः' इति पैप्प० सं० ।

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्र तूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! विजय के नक्कारे ! (इमे नभसी अन्तः) इन दोनों द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान के बीच में (ते घोषः अस्तु) तेरा विजय-घोष हो । (ते ध्वनयः) तेरी आवाजें (पृथक्) अलग २ नाना दिशाओं में (शीभम् यन्तु) शीघ्रता से फैल जावें, तू (उत्पिपानः) बढ़ २ कर (श्लोककृत्) यश को बढ़ाने वाला (मित्र तूर्याय) अपने मित्र राजाओं की भेरी के लिये (स्वर्धी) उत्तम रीति से सुसम्पन्न होकर (स्तनय) गर्जना कर और (अभिक्रन्द) खूब आवाज कर ।

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥ ८ ॥

भा०—(धीभिः) धारणामयी बुद्धियों या धारण शक्तियों से (कृतः) सुसम्पादित होकर (वाचम् प्र वदाति) उत्तम २ वाणियें और आज्ञाओं का प्रदान करता है । तू (सत्वनाम्) सत्वशील बलवान् सात्विक पुरुषों के (आयुधानि) हथियारों को (उद्-हर्षय) हर्षित कर, उनमें जान फूंक दें । और तू (इन्द्र-मेदी) राजा के स्नेही होकर (सत्वनः) वीरों को (निह्वयस्व) युद्ध में आ जुटने के लिये निमन्त्रण दे, और (मित्रैः) अपने मित्र राजाओं से (अमित्रान्) शत्रुओं को (अव जंघनीहि) विनाश कर डाल ।

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद् बहुधा ग्रामघोषी ।
श्रेयोवन्वानो वयुनानि विद्वान् कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥९॥

७–(च०) 'तुर्याय श्रद्धी' इति पैप्प० सं० ।

८–(प्र०) 'वदासि' इति ह्विटनिकामितः । 'प्रघरस्व' इति पैप्प० सं० ।

९–(प्र०) 'सं क्रन्दनः प्रस्रवेण' (च०) 'विभजद्विराजे' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सं-क्रन्दनः) गर्जता हुआ, (प्र-वदः) उत्कृष्ट आज्ञाएं बोलता हुआ, (धृष्णु-सेनः) शत्रु का धर्षण करने वाली सेना को साथ लिये, (प्रवेद-कृद्) उत्तम ज्ञान और धनों को प्राप्त करता हुआ (बहुधा) बहुत से प्रकारों में (ग्राम-घोषी) ग्रामों में अपने नाद की घोषणा करता है । तू (वयुनानि) नाना कर्मों और ज्ञानों को स्वयं (विद्वान्) जानता हुआ, (श्रेयः वन्वानः) अति श्रेष्ठ फल प्राप्त करता हुआ, (द्वि-राजे) दो राजाओं के संग्राम में (बहुभ्यः) बहुत से वीरों को (कीर्तिं वि हर) नाना प्रकार से कीर्ति प्राप्त करा ।

श्रेयःकेतो वसुजित् सहीयान्त्संग्रामजित् संशितो ब्रह्मणासि ।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥

भा०—(श्रेयः-केतः) श्रेय, अति श्रेष्ठ पद का ज्ञान कराने वाला, (वसु-जित्) राष्ट्रों और धनों और जनों का विजय करने वाला, (सहीयान्) शत्रुओं का वशकारी होने के कारण (संग्राम-जित्) संग्राम विजयी होता हुआ भी तू (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद और वेद के विद्वान् द्वारा (संशितः असि) अपनी शक्ति में बड़ा तीक्ष्ण है । (ग्रावा) प्रस्तर, लोढा, जिस प्रकार (अधि-सवने) शिला पर (अंशून्) सोमलता के खण्डों को स्वयं (अद्रिः) बिना टूटे कुचल डालता है उसी प्रकार हे (दुन्दुभे) नक्कारे ! या उसके समान गर्जने वाले राजन् ! तू (गव्यन्) विजय करता हुआ, (वेदः) धन पर (अधि नृत्य) वश कर, हमें प्राप्त करा ।

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित् ।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद् वदेह ॥ ११ ॥

१०-(च०) 'अभिः' (द्वि०) 'मित्र दधानस्त्विषितो विपश्चित्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे दुन्दुभे ! हे राजन् ! (शत्रूपाड्) शत्रुओं के विजय कराने द्वारा (नीपाड्) उन्हें सर्वथा पराजित करने वाला, (अभिमाति-सहः) अभिमानी शत्रुओं के अभिमान को चूर करने वाला, (गो-एपणः) शत्रुओं का खोज लगाने वाला, (सहमानः) उनका प्रहार सहने वाला, और (उत्-भित्) उन को उखेड़ डालने वाला है, (वाग्वी-इव) जिस प्रकार विद्वान् वाग्मी पुरुष (मन्त्रं) राजसभा में अपना विचार प्रकट करता है उस प्रकार तू (वाचस्) शुभ वाणी को (प्र-भर) प्रस्तुत कर और (इह) इस संग्राम के अवसर पर (संग्राम-जित्याय) संग्राम के विजय के लिये (इपम्) प्रेरक शक्ति, आज्ञा को (उद् वद) उत्तेजित कर दे ।

अ॒च्यु॒त॒च्यु॒त् स॒मदो॒ गमि॑ष्ठो॒ मृधो॒ जेता॑ पुर॒ए॒ता अ॒योध्यः॑ ।
इन्द्रे॑ण गु॒प्तो वि॒दथा॑ नि॒चिक्य॑द्धृ॒द्द्योत॑नो द्वि॒ष॒तां या॑हि॒ शीभ॑म् ॥१२॥

भा०—हे राजन् ! (अच्युत च्युत्) न चूकने वाले, स्थिर, दृढ शत्रुओं को भी पैर उखाड़ देने, उन को विचलित करने वाला होकर, तू (स-मदः) सहर्ष (गमिष्ठः) यात्रा करने में सब से बढ़ा चढ़ा है । इसलिये तू (मृधो जेता) शत्रुओं को विजयी और (अयोध्यः) दुर्योधन होकर (पुरः एता) सामने मैदान में निकल आता है । तू (इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्र, राजा सेनापति से सुरक्षित (विदथा) समस्त जानने योग्य कर्मों को (नि-चिक्यत्) भली प्रकार जानता हुआ, (द्विषतां हृत्-द्योतनः) शत्रुओं के हृदयों को चौंकाने वाला होकर (शीभम्) शीघ्रता से (याहि) युद्ध यात्रा कर ।

१२–(द्वि०) 'जेता पृतनाषाड्' (तृ०) 'इन्द्रेण क्लृप्त' इति पैप्प० सं० ।

[२१] युद्ध विजयी राजा को उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता । आदित्यादि देवप्रार्थना च । १, ४, ५ पथ्यापंक्तिः, ६ जगती, ११ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, १२ त्रिपदा यवमध्या गायत्री । २, ३, ७–१०, अनुष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान् दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) द्वन्द्व=संग्राम में चमकने वाले राजन् ! तू (अमित्रेषु) शत्रुओं में (वि-हृदयं) विरुद्ध हृदयता और (वैमनस्यम्) विरुद्ध चित्तता, फूट का (वद) उपदेश कर । हम (अमित्रेषु) शत्रुओं के बीच में (वि-द्वेषं) भेद, फूट, (कश्मशं) मनमुटाव और (भयम्) डर को (नि दध्मसि) पैदा करें, डाल दें और तू (एनान्) इन शत्रुओं को (अव जहि) नीचे गिरा कर मार, उनके दिल तोड़ ।

उत्-वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।
धावन्तु बिभ्यतोमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥

भा०—(आज्ये हुते) अग्नि में घी की आहुति पड़ जाने पर अर्थात् युद्ध में, परस्पर की द्वेषाग्नि में एक वार शस्त्र उठ जाने या धावा बोले जाने पर ही (अमित्राः) शत्रु लोग (प्र-त्रासेन) खूब डर के कारण, (बिभ्यतः) भयभीत और (मनसा) मन से (चक्षुषा) आंखों से और (हृदयेन) हृदय से (उद्वेपमानाः) थर थर कांपते हुए (धावन्तु) रण से भाग जांय ।

तेजो वा आज्यम्, तै० ३ । ६ । ४ । ६ ॥ वज्रो वा आज्यम्, श०. ३ । ६ । ४ । १५ ॥ यदाजिमायन् तदाज्यानामाज्यत्वम् । ता० ७ । २ ।

[२१] १–(तृ०) ' कश्मशं कश्मलम् ' इति ह्विटनिः ।

१ । इत्यादि-ब्राह्मण निर्वचनों से आज्य=राजा का तेज, वीर्य । वज्र=तलवार और आजिधावन, अर्थात् रण में शत्रु पर आक्रमण ये आज्य के शब्दार्थ हैं जिनका प्रतिनिधि भूत मुहावरा ' आग में आहुति पड़ना ' मात्र है ।

वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नक्कारे ! तू जिस प्रकार (वानस्पत्यः) लकड़ी का बना हुआ होकर भी (उस्रियाभिः संभृतः) चाम के तस्मों से जकड़ा हुआ (विश्वगोत्र्यः) समस्त जन का बन्धु है । वह (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आज्येन अभि-घारितः) घृत द्वारा अभिषिक्त होकर (प्रत्रासं वद) भय और आतङ्क बतला ।

राजा पक्ष में—हे राजन् ! तू (वानस्पत्यः) अग्निमय है । और (उस्रियाभिः सम्भृतः) अपने में वास करने वाली किरणों के समान अथवा उत्सर्पणशील, उन्नतिशील, प्रजाओं और सेनाओं स पुष्ट होकर ही (विश्वगोत्र्यः) समस्त गोत्रों और वंशों के प्रति एक समान है । तू (आज्येन अभिघारितः) तेज और शस्त्रों से प्रकाशमान होकर (अमित्रेभ्यः प्र-त्रासं वद) शत्रुओं को भयंकर भय दिलाने वाला संदेश सुना ।

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥४॥

भा०—हे दुन्दुभे ! विजय का नाद करने वाले मारू बाजे ! राजन् ! (यथा आरण्याः मृगाः) जिस प्रकार जंगल के मृग (पुरुषाद् अधि) पुरुष से (संविजन्ते) भय से व्याकुल होकर भागते हैं । (एवा) इसी प्रकार (त्वं) तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (अभिक्रन्द) अपनी आवाज़ सुना, (प्र त्रासय) और उनको खूब भय दिला, (अथो) और (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) मोह में डाल दे ।

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः ।
एवा० ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अज-अवयः) भेड़ बकरियां (वृकाद्) भेड़िये से (बहु बिभ्यतीः) खूब भयभीत होकर (धावन्ति) भागती हैं (एवा त्वं दुन्दुभे०) इसी प्रकार हे नक्कारे ! तू शत्रुओं को अपनी आवाज़ सुना, उनको भयभीत कर और उनके चित्तों को मोहित कर दे ।

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।
एवा त्वं दुन्दुभे मित्राँनभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पतत्रिणः) पक्षिगण (श्येनात्) बाज़ से (सं-विजन्ते) भयभीत होकर व्याकुल हो जाते हैं । या (अहः-दिवि) दिनों दिन (यथा) जिस प्रकार पशुगण (सिंहस्य) शेर की (स्तनथोः) दहाड़ से भय व्याकुल होकर जान लेकर भागते हैं । हे (दुन्दुभे) नक्कारे के समान गर्जनशील वीर ! (एवा त्वं मित्रान् अभिक्रन्द) उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं तक अपनी गर्जना सुना । (प्र त्रासय अथो चित्तानि मोहय) उनको खूब भयभीत कर और उनके चित्तों को मूढ़ कर दे ।

पराऽमित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतित्रसन् ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥

भा०—नक्कारा बजाने के प्रकार का उपदेश करते हैं—(ये) जो (संग्रामस्य) संग्राम करने में (ईशते) समर्थ हैं वे (सर्वे देवाः) समस्त देव विद्वान्, दिव्य, संग्राम-क्रीड़ा में चतुर पुरुष (हरिणस्य अजिनेन) हरिण के चर्म के बने (दुन्दुभिना) नक्कारे से (च) ही (अमित्रान् परा अति-त्रसन्) शत्रु लोगों को दूर से डरा भगाते हैं ।

येरिन्द्रः प्र क्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।
तैरमित्रास्त्रसन्तु नोमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) सेनापति, इन्द्र (यैः पत्-घोषैः) चरणों के जिन घोर घोषों से और (छायया) छाया, आच्छादन शक्ति, आवरणकारी साधनों, मोर्चा-बन्दियों से (प्र-क्रीडते) रण-क्रीड़ा करता है (तैः) उनसे (नः, अमित्राः) हमारे शत्रु लोग (ये अनीक-शः यन्ति) जो सेनाओं के दस्ते बना २ कर चलते हैं (त्रसन्तु) वे भी भय खावें । सेना के दस्ते ले २ कर चढ़ाई करने वाले शत्रुओं को राजा नाना प्रकार के चरणाघात के शब्दों से और भ्रमजनक छाया अथवा अपने मोर्चों से भयभीत करे ।

ज्याघोषा दुन्दुभयोभि क्रोशन्तु या दिशः ।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥

भा०—हमारी (ज्या घोषाः) धनुष की डोरियों की आवाजें और (दुन्दुभयः) भेरियां (याः दिशः) जिन दिशाओं में भी (अभि क्रोशन्ति) शत्रुओं को ललकारें उन्हीं दिशाओं में (अमित्राणां) शत्रुओं की (अनीकशः) दस्तों की दस्तें (सेनाः) सेनाएं (यतीः) जाती २ (परा-जिताः) पराजित हो जांय ।

आदित्य चक्षुरादत्स्व मरीचयोनु धावत ।
पत्सङ्गिनीरा संजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

भा०—हे आदित्य ! सूर्य ! तू (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुओं की चक्षुको हर ले, और हे (मरीचयः) किरणो ! या सुभटो ! तुम शत्रुओं के (अनु धावत) पीछे जाओ । और (बहु-वीर्ये वि-गते) जब बाहु का बल टूट जाय तब (पत्सङ्गिनीः) पैरों में पड़ने वाली रस्सियां, शत्रुओं के पैरों में (आ सजन्तु) लिपट जावें ।

शत्रु के आंखों को सूर्य की किरणों से चकाचौंध करदे, और उसकी किरणों का या विद्युत् की धाराओं को या किरणों के समान तीव्र गति वाले सुभटों को भागती सेना पर छोड़े जब उनके बाहु केवल टूट जांय तब उनके पैरों में बेड़ियां बन्धन बांध कर उनकी मुश्कें कस ले।

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
सोमो राजा वरुणो महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० १३।१।३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (उग्रा मरुतः) प्रबल वायुओं के समान मृत्यु के लाने वाले हे (पृश्निमातरः) आदित्य सूर्य समान तेजस्वी सेनापति को अपना मुखिया बनाने वाले वीर पुरुषो, आप लोग (इन्द्रेण) अपने ऐश्वर्यशील सेनापति इन्द्र को (युजा) साथी बना कर (शत्रून् प्रमृणीत) अपने शत्रुओं को खूब कुचल डालो। वह (राजा सोमः) राजा सोम है वही (वरुणः) वरुण है, (महादेवः इन्द्रः उत मृत्युः) वही महादेव इन्द्र और वही साक्षात् मृत्यु है।

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

भा०—(एताः) ये (देव-सेनाः) विद्वान्, क्रीड़ा करने वाले वीर पुरुषों की सेनाएं (स-चेतसः) समान चित्त होकर युद्ध करने वाली (सूर्य-केतवः) सूर्य की ध्वजा वाली, अथवा सूर्य की किरणों के समान तीव्र गति वाली होकर (नः अमित्रान्) हमारे शत्रुओं को (जयन्तु) जीतें (स्वाहा) यही हमारी उत्तम यज्ञाहुति है।

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

[तत्र सूक्तानि षट्, त्र्यशीतिश्चर्चः।]

[२२] ज्वर का निदान और चिकित्सा ।

भृग्वङ्गिरसो ऋषयः । तक्मनाशनो देवता । १, २ त्रिष्टुभौ, (१ भुरिक्), ५ विराट् पथ्याबृहती । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

अ॒ग्निस्त॒क्मान॒मप॑ बाधताम्ति॒तः सोमो॒ ग्रावा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षाः ।
वेदि॑र्ब॒र्हिः स॒मिधः॒ शोशु॑चाना॒ अप॒ द्वेषां॒स्यमु॒या भ॑वन्तु ॥ १ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि, (सोमः) सोम, (ग्रावा) सोम को कूटने वाले प्रस्तर, (वरुणः) वरुण ये सब (पूत-दक्षाः) पवित्र बल वाले हों और (वेदिः) यज्ञमय वेदि, (बर्हिः) धान्य या कुशा, (समिधः) काष्ठ, लकड़ियें (शोशुचानाः) देदीप्यमान होकर (तक्मानम्) ज्वर को (अप बाधताम्) दूर करें, आने से रोकें और हमारे (द्वेषांसि) द्वेष के पात्र जिन को हम अच्छा नहीं समझते वे (अप भवन्तु) दूर रहें ।

अग्नि=उष्ण गुण के पदार्थ, सोमः=शीत गुण के पदार्थ, ग्रावा=वह पदार्थ जो इन दोनों पदार्थों को अपने में घोल लें, वरुणः=जलमय पदार्थ, वेदिः=शरीर स्वतः, बर्हिः=ओषधियां और समिधः=काष्ठ इन सब तेजस्वी पदार्थों के समुचित प्रयोग से ज्वर का विनाश करना चाहिये ।

अ॒यं यो विश्वा॑न् हरि॑तान् कृ॒णोष्यु॑च्छो॒चय॑न्न॒ग्निरि॑वाभिदु॒न्वन् ।
अधा॒ हि त॑क्मन्नर॒सो हि भू॒या अधा॒ न्य॑/ङ्ङध॒राङ् वा परे॑हि ॥२॥

भा०—ज्वर का रूप बतलाते हैं—(अयं) यह ज्वर जो तू (विश्वान्) सब पुरुषों को (हरितान्) पीला (कृणोषि) कर देता है, उन पर चढ़ कर उनकी कान्ति का नाश कर डालता है, और (उत्-शोचयन्) उनको

---

[२२] १–(द्वि०) 'मरुतः पूतदक्षात्' (तृ०) 'सन्नधः संशिशानो अपरक्षांसि' इति पैप्प० सं० ।

तपा २ कर (अग्निः-इव) आग के समान (अभि-दुन्वन्) सब प्रकार से कष्ट देता हुआ सब की कान्ति नष्ट कर देता है। (अधा) इस लिये हे (तक्मन्) ज्वर ! पीड़ादायक (अरसः हि भूयाः) तू रस=बल से हीन ही हो जा (अधा न्यङ् एहि) और नीचे हो जा, (अधराङ्-एहि) उतर जा (वा) और (परा-इहि) दूर ही हो जा। ज्वर अग्नि के समान तपाकर मनुष्यों की कान्ति को नष्ट करता है इसलिये उस ज्वर के जोर का नष्ट करके उसे दबावे और सर्वथा तापांश को नीचा करके दूर करे।

यः परुषः पारुषेयो/वध्वंस इवारुणः ।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ ३ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । १० तृ० च० ॥

भा०—हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकार के वीर्य को धारण करने वाले वैद्य अथवा ओषधे ! तू (तक्मानं) ज्वर को (अधराञ्चं) नीचे (परासुव) करके दूर भगादे। (यः) जो ज्वर (परुषः) पर्व २ में शरीर के पोरु २ में बसा हुआ है। (पारुषेयः) या पर्व २ में बसे कारणों से उत्पन्न होता है (अरुण इव) और अरुण=अग्नि के समान (अव-ध्वंसः) देह को जला कर नष्ट करने वाला है। उसको विश्ववीर्या ओषधि से नाश करो।

विश्वधा वीर्या ओषधि–'विश्वा' है, इस नाम से सूर्य और अतिविषा (अतीस) दोनों का ग्रहण होता है।

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने ।
शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥

३–' तक्मं साक्तिनमिच्छस्व वशी सन् मृडयासि नः । यथेहान्न ते गृहान् यत् पूर्वेषु दमयतु ' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) ' नमः कृत्वाय ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—मैं वैद्य (तक्मने) ज्वर के (नमः कृत्वा) नमाने, नीचे कर देने और दबा देने वाली ओषधि से दबा कर (अधराञ्चं प्र हिणोमि) नीचे ही उतारता हूं। (शकम्-भरस्य) शक्ति को धारण करने वाले बलवान् पुरुष को भी (मुष्टि-हा) मानों मुक्कों से मारने वाला यह ज्वर (महा-वृषान्) बड़े २ वीर्यवान् पुरुषों को (पुनः एतु) वार वार आ जाता है।

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस ज्वर के (ओकः) स्थान (मूज-वन्तः) मूंज वाले प्रदेश हैं और (अस्य) इसके (ओकः) स्थान (महा-वृषाः) अधिक वर्षा के प्रदेश हैं। अथवा (अस्य ओकः मूज-वन्तः [१]) इसके निवास के स्थान कमज़ोर देहधारी भी हैं और (अस्य ओकः महावृषाः) इसके निवास-स्थान बलवान् लोग भी हैं। हे (तक्मन् यावत् जातः) जितना २ तू होता जाता है (तावान्) उतना २ तू (बल्हिकेषु) बली पुरुषों में भी (नि-ओचरः [२] असि) शनैः २ जमता चला जाता है। ऐतिहासिक लोग मूंजवान् पर्वत 'महावृष' बल्हिक इन शब्दों से जनपदों का ग्रहण करते हैं। सो उनकी भूल है।

तक्मन् व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय।
दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥

१. उच समवाये इत्यतः औणादिक अर् प्रत्ययः।

२. मुच्यतेर्मुञ्जो (नि० ९ । १ । ८) देहः, तद्वन्तः प्राणिनो जरामरणवन्तः।

६–(प्र०) 'व्यालवक्द' इति पैप्प० सं०। 'भूर्यावय' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—हे (तक्मन्) दुःखदायक ज्वर ! हे (व्याल) सर्प के समान विष रूप से शरीर में फैलने वाले ! हे (वि-गद) विषम ज्वर ! हे (वि-अङ्ग) शरीर को विकृत करने वाले ज्वर ! (भूरि यवय) तू हम से बहुत दूर रह । तू (निः-तक्रीम्) खूब ज्वर को फैलाने वाली, खूब पीड़ादायक (दासीम्) काटने वाली, मच्छर जाति को (इच्छ) चाहता है और (तां) उसी को (वज्रेण) अपने रोग पीड़ादायक हथियार से (सम्-अर्पय) समृद्ध करता है ।

तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम् ।
शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं तां तक्मन् वीव धूनुहि ॥ ७ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (मूजवतः गच्छ) प्रथम निर्बल, छोटे छोटे प्राणियों को (गच्छ) प्राप्त होता है । अथवा (बल्हिकान्) बलवानों को और (परः-तराम्) उनसे भी अधिक शक्ति वालों को भी प्राप्त होता है । तू (प्र-फर्व्यं) नव युवति (शूद्राम्) काटने वाली कीट जाति को (इच्छ) प्राप्त होकर (तां वि-इव धूनुहि) उसको मानो सदा चञ्चल बनाये रखता है । वह जगह २ उड़ २ कर बैठती, काटती और विष फैलाती रहती है ।

महावृषान् मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य ।
प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥ ८ ॥

भा०—(महा-वृषान्) बड़े बलवान् (मूज-वतः) देहधारियों को (बन्धु) अपना बन्धु बना कर (अद्धि) तू खा डालता है और (परा-इत्य)

७–गिरिं गच्छ गिरिजासि मायुषो गृहाः । दासी ऋत्यच्छ प्रफर्व्यम् तांस्तक्मन्नीव धूनुहि ' इति पैप्प० सं० ।

८–(च०) 'न्यक्षेत्राणि वायसाम्' इति पैप्प० सं० । ' नार्कविन्दां नार्विदालाम् । प्रजानि तक्मने ब्रूमो न्यक्षेत्राणि वायुमान् ' इत्यधिकः पाठः । 'तक्मन्निमं ते क्षेत्रभागं अपाभजं पृथिव्याः पूर्वे अर्धे' इत्यन्यत्र पैप्प० सं० ।

उनसे भी आगे बढ़ कर प्राणियों का नाश करता है । (एतानि) ये तो तक्म ने ज्वर के क्षेत्र हैं ही । इनसे (अन्य-क्षेत्राणि) अन्य स्थान या देह भी (इमा) ये जीव हैं इनको भी ज्वर के क्षेत्र ही (प्र ब्रूमः) हम बतलाते हैं।

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन् मृडयासि नः ।
अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥ ९ ॥

भा०—(अन्य-क्षेत्रे) मनुष्य से अतिरिक्त शरीर में (न रमसे) तू बहुत क्रीड़ा नहीं करता । (वशी सन्) जब तू वश में कर लिया जाता है (नः मृडयासि) तब तू हमें सुख भी देता है । जब तू (तक्मा) कष्टदायी ज्वर (प्र-अर्थः अभूत् उ) प्रबल हो जाता है । तब (सः) वह तू (बल्हिकान्) बल्हिक—बलवान् देहों में भी (गमिष्यति) चला जाता है, प्रवेश कर जाता है ।

यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः ।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः ॥ १० ॥

भा०—(यत्) जब (त्वं शीतः) तू शीत है, सर्दी देकर आता है (अथो रूरः) तब अधिक पीड़ादायक या तापदायक होता है । और (कासा सह) और खांसी के साथ तू शरीर को (अवेपयः) कँपा डालता है । हे (तक्मन्) ज्वर (ते हेतयः) तेरे शस्त्र (भीमाः) बड़े भयानक हैं । (ताभिः) उनसे (नः) हमें (परि वृङ्धि स्म) बचाये रख । अभिर्वै रूरः । तां० ७ । ५ । १० ॥

मास्मै तान्त्सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् ।
मा स्मातोर्वाङैः पुनस्तत् त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥ ११ ॥

१०–' यस्त्वं शीतो अथो ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (बलासं) कफ, (कासम्) खांसी और (उत्-युगम्) क्षयी (एतान्) इन रोगों को (सखीन्) अपना साथी, संगी, मित्र (मा स्म कुरुथाः) मत बना । (अतः अर्वाङ्) अब से आगे (मा स्म ऐः) तू मत आ । हे (तक्मन्) ज्वर ! (तत् त्वा) यह तुझे (पुनः उप ब्रुवे) मैं वार वार कहता हूं ।

तक्मन् भ्रात्रा बुलासेन स्वस्रा कासिकया सह ।
पाप्मा भ्रातृव्येण सुह गच्छामुमरणं जनम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! (भ्रात्रा) तुझे पुष्ट करने वाले (बलासेन) कफ और (स्वस्रा) भगिनी के समान कफ के साथ २ स्वयं आ जाने वाली (कासिकया सह) खांसी के साथ और (भ्रातृव्येन) अपने परिपोषक भाई के समान कफ से उत्पन्न होने वाले अन्य (पाप्मा=पाप्मना पाम्नावा) दुःखकारा, चर्म-रोग के साथ भी (अमुम्) फलाने २, नाना प्रकार के (अरणं) मलिन, गन्दे (जनम्) पुरुष को (गच्छ) प्राप्त होता है ।

नाना व्याधियों के सहित अस्वच्छ आदमी को चिपटता है । उसी को खांसी, कफ और चर्मरोग खुजली भी उत्पन्न करता है ।

तृतीयकं वितृतीयं सदुन्दिमुत शारदम् ।
तुक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥

१२–(तृ० च०) 'अपां भ्रात्रातृव्येन नश्येतो मरणमभि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'पाम्ना' इति कचित्, 'पाप्मा' इत्यपि कचित् । 'पाम्ना' इति ह्विटनिसम्मतः ।

१३–(द्वि०) 'उत हापनम्' (तृ०) 'तक्मानं विश्वशारदम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुष ! तू (तृतीयकम्) तीसरे दिन आने वाले (वितृतीयकम्) दो दिन का अन्तर देकर आने वाले (सदन्दिम्) निरन्तर रहने वाले (उत शारदम्) या शरत् काल में होने वाले, (शीतं) या शीत देकर आने वाले (रूरं) पीड़ा या तीव्र ताप, जलन उत्पन्न करके देह तोड़ने वाले या (ग्रैष्मं) गर्मी से उत्पन्न होने वाले या (वार्षिकम्) वर्षा काल में होने वाले (तक्मानं) ज्वर को (नाशय) विनाश कर ।

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥

भा०—(जनम् प्र-एष्यम् इव) जिस प्रकार एक देश से दूसरे देश को आदमी भेज दिया जाता है या (शेवधिम्) ख़ज़ाना जिस प्रकार एक के पास से दूसरे के पास पहुंच जाता है उसी प्रकार हम लोग (तक्मानं) इस ज्वर को (गन्धारिभ्यः) बदबू वाले (मूजवद्भ्यः) निर्बल शरीरों वाले, (मगधेभ्यः) दोष युक्त कुपथ्यकारियों के पास और (अंगेभ्यः) पराश्रय जीवन बिताने वाले दुर्बलों के पास (परि दद्मसि) दे दिया करते हैं । अर्थात् रोग उक्त प्रकार के लोगों में संक्रमित हो जाता है ।

[२३] रोगकारी जन्तुओं के नाश का उपदेश ।

कण्व ऋषिः । क्रिमिजम्भनाय देवप्रार्थना । इन्द्रो देवता । १-१२ अनुष्टुभः, १३ विराट् । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥ १ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । ३ प्र० द्वि० तृ० ॥

[२३] १–'क्रमिं' इतित्र बहुत्र ।

भा०—रोगकारी कीटों के नाश करने का उपदेश करते हैं—(द्यावा-पृथिवीं) द्यौः=सूर्य और पृथिवी (आ-उते) सब प्रकार परस्पर सम्मिलित होकर और (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) यह वाणी या जलधारा या नदी (आ-उता) संगत होकर और (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र-विद्युत् और अग्नि ये दोनों भी (आ-उतौ) परस्पर मिलकर (क्रिमिं) रोगकारी जन्तुओं का (मे, मे) मेरे लिये (जम्भयताम्) विनाश करें। सूर्य की किरण, मिट्टी, तीव्र वाणी या जल धारा, बिजुली, अग्नि, ये सब परस्पर मिल कर नाना प्रकार से रोग कीटों का नाश करते हैं।

अस्येन्द्र॑ कुमा॒रस्य॒ क्रिमी॑न् धनपते जहि ।
ह॒ता विश्वा॒ अरा॑तय उ॒ग्रेण॑ वच॑सा॒ मम॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (धनपते) समृद्धिसम्पन्न ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) सूर्य ! वायो ! विद्युत् ! (अस्य) इस (कुमारस्य) बालक के (क्रिमीन्) रोगकारी जन्तुओं को (जहि) तू नाश कर। (मम) मेरे (उग्रेण) बलपूर्वक कहे गये (वचसा) उपदेश या वचन बल से (विश्वाः अरातयः) सब दुःखकारी पीड़ाएं (हताः) विनष्ट होती हैं।

यो अक्ष्यौ॑ परि॒सर्प॑ति॒ यो नासे॑ परि॒सर्प॑ति ।
द॒तां यो मध्यं॒ गच्छ॑ति॒ तं क्रिमिं॑ जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो कीट (अक्ष्यौ) आंखों पर (परि-सर्पति) आक्रमण करता है, (यः) और जो (नासे) नाक में (परि-सर्पति) घुस जाता है। (यः) और जो (दतां मध्यं गच्छति) दांतों के बीच में चला जाता है, (तं क्रिमिम्) उस क्रिमि=कीट को (जम्भयामसि) हम विनाश करें।

२–(द्वि०) 'क्रिमिम्' (तृ० च०) 'विश्वारातयोग्रेण वचसामिमा' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'अक्षौ' (द्वि०) 'नासौ' इति पैप्प० सं०।

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥

भा०—कीटों के रूपों की पहचान बतलाते हैं । समान रूपवाले दो, और (विरूपौ द्वौ) भिन्न २ रूप वाले दो, (कृष्णौ द्वौ) काले या काटने वाले दो, (रोहितौ द्वौ) लाल रंग के या बढ़ने वाले दो, (बभ्रुः च) भूरे वर्ण के या पेट भरने वाले (बभ्रु-कर्णः च) और भूरे कान वाले, (गृध्रः) मांस के लोभी और (कोकः च) और भेड़िया के स्वभाव के (ते हताः) ये सब विनाश किये जांय ।

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः ।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो (क्रिमयः) क्रिमि, कीट (शिति-कक्षाः) श्वेत कोंख वाले हैं और (ये कृष्णाः) जो काले हैं, और जो (शिति-बाहवः) सफेद पैरों वाले हैं और (ये के च विश्व-रूपाः) जो कोई नाना रूप हैं । (तान् क्रिमीन्) उन क्रिमियों को हम (जम्भयामसि) विनाश करें ।

उत पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥

ऋ० द्वि० ऋ० १ । १९१ । ८ ॥

४–(च०) 'कोकाश्च' इति पैप्प० सं० ।

५–(प्र०) 'सितवक्षाः', (द्वि०) 'सितबाहवः' इति पैप्प० सं० ।

६–'अदृष्टान्त्सर्वान् जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः' इति ऋ० । ऋग्वेदे अगस्त्यऋषिः, अबोषधिसूर्या देवताः । 'उदसौ सूर्यो अगात्' (द्वि०) 'विश्वदृष्टो अदृहा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—सूर्य चिकित्सा का उपदेश करते हैं। (सूर्यः) सूर्य (उत) भी (पुरस्तात्) ठीक सामने से (एति) आवे और अपना प्रकाश डाले तो वह सूर्य स्वयं (विश्व-दृष्टः) सब के दर्शनगोचर होकर भी (अदृष्ट-हा) न दीखने वाले रोग कीटों को नाश करता है। क्योंकि वह अपनी तीक्ष्ण किरणों से तो (दृष्टान् च) दीखने वाले और (अदृष्टान् च) न दीखने वाले (सर्वान् च) और सब (क्रिमीन्) कीटों को (घ्नन्) विनाश करता और (प्र-मृणन्) उच्छेद करता है।

येवा॑षासः॒ कष्क॑षास एज॒त्काः शि॑पवित्नु॒काः।
दृ॒ष्टश्च॑ हन्यतां॒ क्रिमि॑रु॒तादृष्ट॑श्च हन्यताम् ॥ ७ ॥

भा०—(येवाषासः) येवाष, (कष्कषासः) कष्कष, (एजत्काः) एजत्क, और (शिपवित्नुकाः) शिपवित्नुक, ये नाना प्रकार की रोगकीट जातियां और (दृष्टः च) दिखाई देने वाला (उत) और (अदृष्टः च) न दीखने वाला रोगकीट भी (हन्यताम्) मार दिया जाय।

येवाष=सरक सरक कर चलने वाले, जैसे गिण्डोये, कष्कषासः=देह को घिस २ कर चलने वाले, (एजत्काः) थोड़ा कांपने वाले (शिपवित्नुकाः) मूल भाग, जघन भाग से वस्तु को पकड़ने वाले जैसे मशरूम आदि।

ह॒तो येवा॑षः॒ क्रिमी॑णां ह॒तो न॑दनि॒मोत।
सर्वा॒न् नि म॑ष्मषाक॑रं दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ ८ ॥

भा०—उक्त प्रकार के विषैले जन्तुओं के नाश का उपदेश करते हैं। (क्रिमीणां) रोगकारक क्रिमियों में से (येवाषः) सरक सरक कर

७–(प्र० द्वि०) 'यवाषवाखासष्किरयामोभूक्षामश्च परिवृक्णवः' (तृ०) 'अदृष्टश्चोत हन्यताम्' इति पैप्प० सं०।

८–'हतो यवाखो हतश्च पविहतो पमगणवान् उत हता विश्वा रातय अमेन वचसा मम' इति पैप्प० सं०।

चलने वाला कृमि (हतः) मार दिया जाता है । (उत) और (नदनिमा) शब्द करने वाला, चिर-चिराने वाला जन्तु भी (हतः) मार दिया जाता है । (दृषदा) शिला या चक्की के पाट से (खल्वान् इव) चनों को जिस प्रकार दल दिया जाता है उसी प्रकार मैं रोग जन्तुओं का नाशक वैद्य भी उन रोगकारी (सर्वान्) समस्त कीटों को (मष्मषा करम्) विनष्ट कर डालूं ।

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥

द्वि० तृ० च० अथर्व० २ । ३२ । २ द्वि० च० ॥

भा०—(त्रि-शीर्षाणम्) तीन शिरों वाले (त्रि-ककुदं) तीन कुदान वाले, (सारंगम्) सारग चित्रवर्ण वाले या खाखी रंग के (अर्जुनं) और श्वेत वर्ण के (क्रिमिं) जन्तु को (शृणामि) विनाश करूं और (अस्य) इस प्रकार के रोगकीट की (पृष्टीः अपि) पसुलियों को भी (शृणामि) विनष्ट करूं और (यत् शिरः) इस का जो शिर है उस को भी (वृश्चामि) उस के धड़ से पृथक् काट दूं । ऐसे कीड़े कुचलने और सिर काट देने से नष्ट होते हैं ।

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥

भा०—हे (क्रिमयः) रोग जनक कीड़ो ! (अत्रि-वद्) अत्रि के समान (कण्व-वत्) मेधावी पुरुष के समान (जमदग्नि-वत्) प्रज्वलित अग्नि के समान मैं (वः हन्मि) तुम को विनाश करता हूं और (अगस्त्यस्य) सूर्य के (ब्रह्मणा) विशाल शक्ति या ज्ञान से (क्रिमीन् सं-पिनष्मि) इन क्रिमियों

९–' यो द्विशीर्षश्चतुरक्षः क्रिमिश्शाङ्गो अर्जुनः ' इति पैप्प० सं० ।

को विनष्ट करता हूं । अथवा अत्रि=अग्नि, कण्व=वायु, जमदग्नि आदित्य इनके शक्ति से सम्पन्न होकर रोग जन्तुओं का नाश करूं ।

हतो राजा क्रिमींणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ११ ॥

भा०—(क्रिमीणां राजा) रोगकारक क्रिमियों का (राजा) मुख्य क्रिमि (हतः) विनाश कर दिया जाय, (उत) और (एषां) इन का (स्थ-पतिः) निवासस्थान का पालक और निर्माता भी (हतः) मार दिया जाय, (हत-माता) उत्पादक क्रिमि के मर जाने पर (हत-भ्राता) उन को पोषण करने वाले क्रिमियों के मर जाने पर अथवा उनके सहचर कीटों के मर जाने पर, (हत-स्वसा) मादा कीटों के नष्ट होजाने पर (क्रिमिः हतः) वह समस्त रोग कीटों की नसल नष्ट हो जाती है । शत्रु राजा का विनाश करने के लिये शत्रु राजा को, उस की माता, भाई और बहनों के मारे जाने पर वह शत्रु भी नष्ट हो जाता है ।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ १२ ॥

भा०—(अस्य) इस रोगजनक कीट के (वेशासः) प्रवेश करने के स्थानों को अथवा उसके सेवकों को (हतासः) विनाश कर दिया जाय, और (परिवेशसः) उसके समीपवर्ती अन्य जन्तुओं को भी (हतासः) मार दिया जाय (अथो) और (ये) जो (क्षुल्लका इव) और भी छोटे २ कच्चे बच्चे हों (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) विकार उत्पन्न करने वाले रोग जन्तु (हताः) मार दिये जांय ।

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥

१३–(तृ०) 'भिनद्म्यश्मिना' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सर्वेषां च क्रिमीणाम्) सब नर कीटों और (सर्वासां च क्रिमीणाम्) सब मादा कीटों के (अश्मना भिनद्मि) प्रस्तर या चकमक के बने तीक्ष्ण शस्त्र से (शिरः भिनद्मि) शिर तोड़ डालूं। और (अग्निना) अग्नि से या तेज़ाब से (मुखम् दहामि) उन का मुख जला दूं।

[२४] परमेश्वर से धर्म कार्य में रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः । ब्रह्मकर्मात्मा देवता । १-१७ चतुष्पदा अतिशक्वर्यः । ११ शक्वरी १५-१६ त्रिपदा । १५, १६ भुरिक् अतिजगती । १७ विराड् अतिशक्वरी । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

स॒वि॒ता प्र॑स॒वाना॒मधि॑पतिः॒ स मा॑वतु ।
अ॒स्मिन् ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन् कर्म॑ण्य॒स्यां पु॑रो॒धाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां चि॒त्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भा०—(सविता) सब का उत्पादक परमात्मा (प्रसवानाम् अधिपतिः) सब पदार्थों के उत्पन्न होने के कार्यों का स्वामी है, (सः) वह (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञ में, (अस्मिन् कर्मणि) इस यज्ञ कर्म में, (अस्यां पुरोधायाम्) इस पुरोहित के कार्य में, (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठा में, (अस्यां चित्याम्) इस चितियाग में, इस ज्ञानमय स्थिति में, (अस्यां आकूत्यां) इस आकूति, मन की सद्भावना में (अस्यां आशिषि)

[२४] १-१७-प्रायः गृह्यसूत्रेषु विवाहकर्मणि एतेमन्त्राः आज्याहुतौ विनियुक्ताः । प्रायः सर्वत्र ब्रह्मकर्म-पुरोधा-देवहूति-आकूति-आशिष्-एतेसप्तम्यन्ताः । इति पैप्प० सं० । ब्रह्म-क्षत्राशिष्-पुरोधा-कर्म-देवहूतयः । पा० गृ० सू० । ब्रह्म-पुरोधा-कर्माशिष्-देवहूतयः । मै० सं० । ब्रह्मक्षत्र-कर्माशिष्-प्रतिष्ठादेवहूतयः । शा० श्रौ० सू० ।

इस शुभ आशाजनक कार्य में (अस्यां देवहूत्यां) इस देव परिषद् में जिस में विद्वानों को बुलाया गया है (सः) वह परमात्मा (मा अवतु) मेरी रक्षा करे, (स्वाहा) यही मेरी उत्तम कामना सफल हो ।

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु । ० ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार सब (वनस्पतीनाम् अधि-पतिः) वनस्पतियों का स्वामी (अग्निः) अग्नि है, उनको काष्ठरूप में जलाता और रस रूप से पुष्ट करता है उसी प्रकार वह प्रकाशरूप परमात्मा भी सब (वनस्पतीनाम्) भोग साधन इन्द्रियों के पति जीवात्माओं का (अधि-पतिः) स्वामी परमेश्वर है (सः) वह (माम् अवतु) मेरी (अस्मिन् ब्रह्मणि०) इस वेदाध्ययन ब्रह्मोपसना आदि कार्यों में रक्षा करे यह मेरी शुभ प्रार्थना है ।

द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम् । ० ॥ ३ ॥

भा०—(दातृणां) दानशील पुरुषों के (अधि पत्नी) अधिपति, मुख्य दाता (द्यावापृथिवी) ज़मीन और आसमान या सूर्य और पृथिवी दोनों (माम्) मुझे (अस्मिन् ब्रह्मणि इत्यादि) इस ब्रह्मोपासना, वेदाध्ययन आदि पूर्वोक्त शुभ कार्यों में (अवताम्) रक्षा करें ।

वरुणोपामधिपतिः स मावतु । ० ॥ ४ ॥

भा०—जैसे समस्त जलों का स्वामी (वरुणः) महान् समुद्र है । उसी प्रकार (अपां) व्यापक लोकों का और प्रजाओं का (अधि-पतिः) स्वामी (वरुणः) सर्वव्यापक, सर्वश्रेष्ठ प्रभु है । (सः) वह (अस्मिन् ब्रह्मणि० इत्यादि) इन ब्रह्मोपासना वेदाध्ययन आदि शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे ।

२–' अग्निर्भूतानामधिपतिः ' शा० श्रौ० सू० ।

४–' वरुणो धर्मणामधिपतिः ' शा० श्रौ० सू० ।

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् । ० ॥ ५ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र=सूर्य और वरुण=समुद्र दोनों (वृष्ट्याः) वृष्टि के (अधि-पती) स्वामी हैं, वे दोनों भी (मा) मुझ को उक्त शुभ कार्यों में (अवताम्) रक्षा करें । यही हमारी शुभ प्रार्थना है ।

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु । ० ॥ ६ ॥

भा०—(मरुतः) वायुएं जिस प्रकार (पर्वतानाम्) उच्च शिखरों वाले पर्वतों या मेघों के (अधि-पतयः) अधिपति हैं अपने वेग से उन तक वर्षा के जल पहुंचाने वाले और मेघों को सर्वत्र उड़ा ले जाने वाले हैं उसी प्रकार पर्व=पोरुओं के बने देहों के अधिपति ये प्राण हैं । ये पूर्वोक्त शुभ कार्यों में (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें ।

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु । ० ॥ ७ ॥

भा०—(सोमः) सब का उत्पादक, सौम्यगुण से युक्त ओषधिरस सोमलता, जिस प्रकार सब से श्रेष्ठ होने से (वीरुधाम्) नाना प्रकार से उगने वाली लताओं का (अधि-पतिः) पालक है उसी प्रकार सौम्यगुण युक्त राजा नाना प्रकार से फलने फूलने वाली प्रजाओं का अधिपति है । (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे ।

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स० । ० ॥ ८ ॥

६–' विष्णुः पर्वतानामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । 'मरुतो गणानामधिपतिः' इति तै० सं० ।

७–' सोमः पयसामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । ' ओषधीनामधिपतिः ' इति तै० सं० ।

८–' सूर्यो दिवाधिपतिः ' इति पैप्प० सं० । ' नक्षत्राणामधिपतिः ' शा० श्रौ० सू० ।

भा०—(वायुः) सर्वत्र व्यापक, गतिशील वायु जिस प्रकार (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्ष का (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह प्राण रूप शक्ति देह की अधिपति है। (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे।

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स० । ० ॥ ९ ॥

भा०—(सूर्यः) सबका प्रेरक, प्रकाशमय सूर्य जिस प्रकार अपने तेजो गुण से हमारी (चक्षुषां) आंखों का (अधि-पतिः) स्वामी है। उसी प्रकार वह ज्ञान-तेजोमय सब का प्रकाशक प्रभु हमारी ज्ञान चक्षुओं का भी स्वामी है। (सः०) वह उक्त शुभ कार्यों में मेरी रक्षा करे।

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स० । ० ॥ १० ॥

भा०—रात्रि के समय (चन्द्रमा) सब का आह्लादक चन्द्र (नक्षत्राणां अधिपतिः) नक्षत्रों, तारों का (अधि-पतिः) स्वामी है, सबसे अधिक प्रकाशक है उसी प्रकार राजा या वह प्रभु, प्रजाओं का स्वामी है (सः०) वह उक्त शुभ कार्यों में मेरी रक्षा करे।

इन्द्रो दिवोधिपतिः स० । ० ॥ ११ ॥

भा०—(दिवः) द्यौः ब्रह्माण्ड का जिस प्रकार (इन्द्रः) सूर्य ही (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह सर्वैश्वर्यवान् प्रभु इन प्रकाशमान सूर्यों का भी स्वामी है। वह उक्त शुभ कार्यों में हमारी रक्षा करे।

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स० । ० १२ ॥

भा०—(मरुतां पिता) समस्त वायुओं या विद्वानों का (पिता)

११–‘ इन्द्रः कर्मणामधिपतिः ’ इति पैप्प० सं० । ‘ ज्येष्ठ[illegible] ’ इति शा० श्रौ० सू० ।

१२–‘ रुद्रः पशूनामधिपतिः ’ इति पैप्प० सं० ।

पालन कर्त्ता ही (पशूनाम्) पशुओं का या जीवों का (अधि-पतिः) स्वामी है, उसी प्रकार प्राणों का पालक जीव ही देह में (पशूनाम्) दर्शनकारी इन्द्रियों का स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में हमारी रक्षा करे ।

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स० । ० ॥ १३ ॥

भा०—(मृत्युः) मारण-धर्मा मृत्यु, मौत ही (प्रजानाम्) जिस प्रकार समस्त उत्पन्न होने वाली प्रजाओं का (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह प्रभु सबका अन्तकारी होने से सब का स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कामों में हमारी रक्षा करे ।

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु । ० ॥ १४ ॥

भा०—(यमः) सबका नियन्ता यम=ब्रह्मचारी जिस प्रकार (पितृणाम्) पालक-प्राणों का अधिपति है या नियन्ता राजा अन्य पितृ=शासकों का अधिपति है या नियन्ता जीव पितृ=इन्द्रियों का अधिपति है या यम=सूर्य पितृ=किरणों या ऋतुओं का स्वामी है उसी प्रकार प्रभु सब परिपालन करने वालों का भी स्वामी है । वह मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करे ।

पितरः परे ते मावन्तु । ० ॥ १५ ॥

भा०—(पितरः) पालन करने वाले (परे) वे जो हम से पूर्व विद्यमान हैं या हमसे श्रेष्ठ हैं (ते) वे (मा अवन्तु) मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करें ।

तता अवरे ते० । ० ॥ १६ ॥

१३–' प्रजापतिः प्रजानामधिपतिः ' इति पैप्प० सं० ।

१४–' यमः पृथिव्या अधिपतिः ' इति तै० सं० ।

भा०—(ततः) पूर्व पुरुषों की सन्तानें (अवरे) जो बाद में या उनसे उतर कर हैं (ते) वे भी मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करें ।

ततंस्ततामहास्ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

भा०—(ततः) उनसे उतर कर (ततामहाः) हमारे सन्तानों के भी सन्तान हैं (ते) वे (मा० अवन्तु) मेरी (अस्मिन् ब्रह्मणि०) उक्त वेदाध्ययन, यज्ञ, पुरोहिताई, प्रतिष्ठा, यज्ञ-चयन, सद्विचार, सदाशा, विद्वत्सभा आदि सत्कार्यों में रक्षा करें । यही हमारी शुभ प्रार्थना है ।

[२५] गर्भाशय में वीर्यस्थापन का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । योनिगर्भो देवता । १-१२ अनुष्टुभः, १३ विराट् पुरस्ताद् बृहती ।
त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

१७–' ततस्ततामहा ' इति ह्विटनिकामितः । ' पितरः परे परास्ततास्ततामहा- [illegible] ' इति पैप्प० सं० । ' पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्तता- महा इह मा- ' इति तै० सं० । ' पितरः पितामहाः परेऽवरे ते नः ' इति मै० सं० । ' [illegible] [illegible]०, पितरः [illegible]०, [illegible] [illegible]०, [illegible] [illegible], [illegible] ' इति [illegible] मै० सं० अभिहिताः । [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] ' पैप्प० सं० ।

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम् ।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

भा०—गर्भाधान के अवसर में वीर्यस्थापन का उपदेश करते हैं। (पर्वतात्) मेघ से जिस प्रकार स्थान २ से जल बरसता है या जिस प्रकार पर्वत से रिस कर स्रोत प्रवाहित होता है, (दिवः) कारणभूत सूर्य से जिस प्रकार तेज निकलता है उसी प्रकार (योनेः) शरीर के (अङ्गात् अङ्गात्) प्रत्येक अंग से (सम् आभृतम्) लाकर एकत्र किये गये (शेपः) वीर्य सामर्थ्य को (गर्भस्य) गर्भ का (रेतोधाः) मूलभूत बीज का स्थापन करने वाला पुरुष (आदधत्) गर्भाशय में इस प्रकार आधान करे जैसे (सरौ पर्णम् इव) आकाश में पर्ण=सूर्य को ईश्वर ने स्थापन किया है।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी (भूतानां) समस्त प्राणियों को (गर्भम्) अपने गर्भ में (आदधे) धारण करती है। इसी प्रकार मैं पति (ते) तुझ अपनी धर्मपत्नी के शरीर में (गर्भम्) गर्भ को (दधे) धारण कराता हूं क्योंकि तू ही मानव जीवों को गर्भ में धारण करने हारी भूमि के समान है। (तस्मै) उस गर्भ के (अवसे) रक्षा करने के लिये ही मैं (त्वाम् हुवे) तुझे बुलाता हूं या उपदेश करता हूं।

---

[२५] १-(च०) 'शरौ' इति ह्विटनिकामितः। 'त्सरौ' इति वेबरकामितः।
२-(द्वि०) 'उत्ताना गर्भमादधे' इति ऋ०। 'तिष्ठन्ती गर्भमादधे' इति आपस्त० म० पा०।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १८४ । २ ॥

भा०—हे (सिनीवालि) सिनीवालि ! भूमे, जाये ! (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर । हे (सरस्वति) सुभगे ! (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर । (उभौ) दोनों (पुष्करस्रजा) पुष्कर पुष्टि करने वाले और सर्जन करने वाले मूलकारण को धारण करने वाले (अश्विनौ) परस्पर व्याप्त मातृ-पितृ-अंश दोनों (ते गर्भम् धत्तां) तेरे भीतर गर्भ को धारण करावें ।

पुरुष के वीर्य का अंश और स्त्री के रजोऽश दोनों यहां पुष्करस्रक् 'अश्विन्' हैं । योषा वै सिनीवाली । श० ६ । ५ । १ । १० ॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें (देवः) प्रकाशमान् (बृहस्पतिः) सूर्य (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करे और (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र=वायु और अग्नि भी (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें और (धाता) पोषक परमात्मा भी (ते गर्भं) तेरे गर्भ को (दधातु) पालित पोषित करे ।

३–(तृ०) 'गर्भं तेऽश्विनौ देवाना-' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'धेहि' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'धेहि पृथुष्टुके' इति तै० आ० । (तृ०) 'अश्विनावुभावा ध-' हि० गृ० सू० ।

४–(प्र०) 'गर्भं ते राजा वरुणो' इति पैप्प० सं० ।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १८४ । १ ॥

भा०—(विष्णुः) शरीर में व्यापक रुधिर शक्ति (योनिम्) गर्भ के स्थान को (कल्पयतु) गर्भधारण में समर्थ बनावे और (त्वष्टा) शरीर को विशेष रूपवान् बनाने वाली शक्ति (रूपाणि) गर्भाशय में रूप को, सांचे को या स्त्री-योनि में स्थित विशेष डिम्बों को (पिंशतु) छोटे २ कणों के रूप में उत्पन्न करे । और (प्रजापतिः) प्रजा का पालक पति (आसिञ्चतु) वीर्य का योनि में आ सेचन करे और (धाता) मातृ-शरीर में विद्यमान् पोषक प्राणशक्ति (ते) तेरे उस (गर्भम्) गर्भ को (दधातु) धारण, पोषण, पालन करे । अर्थात् गिरने और विकृत होने से बचावे । पौराणिक पूजाओं में अर्घ-पात्र में लाल फूल और श्वेत फूलों की अर्घा देने में यही मन्त्र मूल है । इसी प्रकार शतपथ में उखा सम्भरण का प्रकरण इसी प्रकरण की रूपान्तर से व्याख्या है ।

यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥

भा०—गर्भपोषक, गर्भविधायक पान करने योग्य ओषधि का उपदेश करते हैं । हे स्त्री ! (यद्) जिसको (राजा वरुणः) राजा वरुण=अपान, व्यान, वायु और क्लोम भाग (वेद) जानता है । (यद् वा) और जिसको (देवी सवस्वती) देवी सरस्वती मान सशक्ति स्वतः स्त्री, (वेद) जानती है । और (यत्) जिसको (वृत्रहा) विघ्नों का नाशक (इन्द्रः) वह ऐश्वर्य-

६-(च०) 'गर्भंकरणं' इति क्वचित् । (द्वि०) 'वेद देवो बृहस्पति' (तृ०) 'इन्द्रो यद् वृत्रहा' इति पैप्प० सं० ।

शील इन्द्र. वीर्य प्राण (वेद) जानता है उस (गर्भकरणं) गर्भ के विधायक, गर्भ के पोषक ओषध को (पिब) पान कर ।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥

यजु० १२ । ३७ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (ओषधीनां गर्भः असि) ओषधियों का भी गर्भ है, उनके भीतर सार रूप से विद्यमान् है । और (वनस्पतीनाम् गर्भम् असि) वनस्पति=विशाल वृक्षों का भी गर्भ है, उनका भी सार है । और तू (विश्वस्य भूतस्य) समस्त उत्पन्न जगत् का भी (गर्भः) गर्भ -ग्रहण करने वाला आश्रय है (सः) वह तू (इह) इस योनि में भी (गर्भं) गर्भ को (धाः) धारण करा ।

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (अधि-स्कन्द) अपने क्षेत्र में जा, (वीरयस्व) विशेष नियम से अंग का प्रवेश कर, और (योन्याम्) योनिभाग में (गर्भम्) गर्भ को (आ धेहि) स्थापन कर । (वृषा असि तू वीर्यसेचन में समर्थ हो । हे (वृष्ण्यावन्) वीर्यसेचन से समर्थ पुरुष ! (प्रजायै) प्रजा के उत्पन्न करने के लिये ही (त्वा) तुझ को हम, स्त्रियां (नयामसि)

७–' अग्ने गर्भो अपामसि ' इति तै० सं०, मै० सं० ।

८–(प्र०) ' अधिस्कन्द ', (तृ०) ' वृषाणां वृष्ण्यावन्त् ' इति पै०प० सं० । (प्र०) ' अभिक्रन्द वीरयस्व ' (द्वि०) ' धेहि योन्याम् ' (तृ०) ' वृषाणां वृषभोसि ' (च०) ' त्वा हवामहे ' इति मै० गृ० सू० ।

प्राप्त करती हैं। अथवा हम अनुभवी पुरुष (त्वा नयामसि) तुझे योग्य पत्नी के पास प्राप्त कराते हैं।

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम्।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम्॥ ९॥

भा०—हे (बार्हत्सामे) बार्हत्सामे! जाये! (वि जिहीष्व) तू भी विशेष रूप से प्रयत्न कर जिससे (गर्भः) वीर्यरूप गर्भ (ते) तेरी (योनिम्) गर्भस्थान के कमलभाग में (आ-शयाम्) अच्छी प्रकार चला जाय। (देवाः) देवगण, (सोम-पाः) वीर्य का पालन करने वाले, (ते) तुझे ऐसा (उभयाविनं) हमारा तुम्हारा दोनों का सम्मिलित (पुत्रं) पुत्र (अदुः) प्रदान करें।

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १०॥

ऋ० १० । १८४ । परि० ॥

भा०—हे (धातः) वीर्य के आधान करने हारे पुरुष! तू (अस्याः नार्याः) इस नारी के (गवीन्योः) गविनी नामक दोनों नाड़ियों के बीच में (श्रेष्ठेन रूपेण) श्रेष्ठ, उत्तम रूप से युक्त सुन्दर (पुमांसं) पुमान् (पुत्रम्) पुत्र का (आ-धेहि) आधान कर जिससे (दशमे मासि) दसवें महीने (सूतवे) उत्पन्न हो।

त्वष्टः श्रेष्ठेन० । ० ॥ ११ ॥

९–(तृ०) 'ददन् ते पुत्रं देवा' इति पैप्प० सं०।

१०–(प्र०) 'विष्णोः श्रे०, अस्यां नार्यां गवीन्याम्' इति ऋ०। (तृ०) 'पुमांसं गर्भं' इति आप० म० पा०। (प्र०) 'विष्णोः श्रेष्ठेन०'

११–(प्र०) 'त्वष्टः' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (त्वष्टः) पुत्र के शरीर के सुघटित, सुरूप करने में समर्थ पुरुष ! तू इस नारी की गविनी नामक नाड़ियों के बीच (श्रेष्ठेन०) श्रेष्ठ रूप से युक्त सुन्दर पुमान् पुत्र को दसवें मास में प्रसव करने के लिये आधान कर ।

सवितः श्रेष्ठेन० । ० ॥ १२ ॥

भा०—हे (सवितः) पुत्रोत्पादक पिता ! तू इस अपनी स्त्री की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच में दसवें मास में प्रसव होने के लिये (श्रेष्ठेन रूपेण०) श्रेष्ठ सुन्दर रूप से सम्पन्न पुमान् पुत्र का आधान कर ।

प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥

भा०—हे (प्रजापते) प्रजा के परिपालक पते ! तू (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस नारी की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच में (दशमे मासि सूतवे) दसवें महीने में प्रसव करने के लिये (पुमांसं पुत्रम्) पुमान् पुत्र को (आ-धेहि) आधान कर ।

[२६] योग साधना ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पत्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । १, ५ विराड्गायत्र्यौ, ३, ४, ६, ७, ८, १०, ११ त्रिपदा प्राजापत्या बृहत्यः, २ त्रिपदा पिपीलिकमध्या पुरोष्णिक्, १—११ एकावसानाः, १२ परातिशाक्वरी चतुष्पदा जगती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥

भा०—(यज्ञे) यज्ञमय ब्रह्म में (यजूंषि) यजुष् रूप (समिधः) समिधा, प्राणों को ही (स्वाहा) उत्तम रूप से आहुति करे. (अग्निः)

१२-(प्र०) 'सं सितुः' इति पैप्प० सं० ।

प्रकाशस्वरूप, ज्ञानी (प्र विद्वान्) उनको जानने हारा (वः) हे प्राणो ! तुम को (युनक्तु) यज्ञमय परमब्रह्म में समाधि द्वारा लगावे। प्राण, मन, अन्न, श्रद्धा, मज्जा ये सब पदार्थ यजु हैं, स मित् प्राण हैं।

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—(सविता देवः) सब का प्रेरक आत्मा (महिषः) महान् (प्र-जानन्) समस्त पदार्थों को भली प्रकार जानता हुआ (अस्मिन् यज्ञे) इस श्रेष्ठतम ब्रह्म में (युनक्तु) समाहित करे (स्वाहा) यही उत्तम आहुति है।

इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी पुरुष (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमय परम आत्मा में (उक्थ-मदानि) ब्रह्म के आनन्दों को (प्र विद्वान्) भलीभांति लाभ करता हुआ (सु-युजः) उत्तम रूप से योग करने वाले योगियों को या इन्द्रियों को (युनक्तु) उसी प्रभु में लगा दे (स्वाहा) यह सब से उत्तम आहुति है।

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥

भा०—(प्रैषाः) प्रेषाएं ही (यज्ञे) यज्ञ में (नि-विदः) 'निवित्' हैं। हे पुरुषो ! यही उत्तम आहुतियां हैं। आप लोग (शिष्टाः) अपने मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर विद्वान् होकर (युक्ताः) समाधि युक्त चित्त होकर (पत्नीभिः) अपनी पत्नियों और पालकशक्तियों सहित (इह) इस ब्रह्मयज्ञ में (वहत) प्राप्त होवो।

---

[२६] २—'प्रजानन् यज्ञे सयुजः स्वाहा' इति पैप्प० सं०।
३—'उक्थमदानि' इति क्वचित्।
४—'प्रेषा निविदा प्रिया यजूंषि' इति पैप्प० सं०।

'प्रैषाः'=प्रकृष्ट, उत्तम मानस इच्छाएं प्रेरणाएं ही (निविदः) सब प्रकार के उत्कृष्ट ज्ञान कराने वाली शक्तियां हैं। उनको (यज्ञे स्वाहा) यज्ञमय प्रभु में आहुति करो, उसी में लगा दो।

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥

भा०—(माता पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता अपने पुत्र को पालन पोषण करती है उस प्रकार आप लोग (युक्ताः) प्रेम से उस परमब्रह्म में समाधि मग्न होकर (पिपृत) प्राणों का पालन करो। (यज्ञे) उस संगम-स्थान, एकमात्र केन्द्र उपास्यदेव में (छन्दांसि) प्राण गण ही (मरुतः) मरुत् रूप हैं, वे भी (स्वाहा) उस यज्ञमय आत्मा में सुख से आहुति हों उसमें लीन हों।

एयमंगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—(इयम्) यह (अदितिः) अखण्ड, चितिशक्ति प्रकाशस्वरूप विवेक ख्याति (प्रोक्षणीभिः) प्रोक्षण-दिव्य जलों द्वारा आनन्दधाराओं और ज्ञानों द्वारा और (बर्हिषा) बढ़ने वाले ब्रह्मज्ञान से (यज्ञं तन्वाना) यज्ञमय देव का साक्षात् कराती हुई (आ अगन्) प्रकट होती है। (स्वाहा) इसमें मग्न होना ही परम आहुति है। दिव्याः आपः प्रोक्षण्यः। तै० २।१।५।१॥ धर्ममेघ समाधि में आत्म भूमि में वर्षने वाला सोमबिन्दु रस ही 'प्रोक्षणी' है।

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम रीति से योग का सम्पादन करने हारे विद्वान् पुरुषो! (अस्मिन् यज्ञे) इस योगमय अध्यात्म यज्ञ में (विष्णुः)

७–'सयुजः' इति पैप्प० सं०।

वह प्रभु परमात्मा (तपांसि) तपस्याओं को (युनक्तु) आप में सफलता पूर्वक लगावे । (स्वाहा) यही सबसे श्रेष्ठ आहुति है ।

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस योग-मय आत्मयज्ञ साक्षात्कार में (त्वष्टा) सब का उत्पादक प्रभु (बहुधा रूपा) नाना प्रकार के रूपों—इन्द्रियों को (युनक्तु) युक्त करे (स्वाहा) यही उत्तम आहुति है ।

भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम योगियो ! (भगः) ऐश्वर्यवान् समस्त विभूतियों का स्वामी, प्रभु, परमात्मा (अस्मै नु) इस योगी या आत्मा की (आशिषः युनक्तु) समस्त उत्तम अभिलाषाओं को पूर्ण करे । और इसी कारण (अस्मिन् यज्ञे) इस ब्रह्ममय यज्ञ में (प्र विद्वान्) उत्तम ज्ञानी पुरुष (युनक्तु) समाधिमग्न हो । (स्वाहा) यही सब से उत्तम आहुति है ।

सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—हे (सु-युजः) सु-योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस ब्रह्ममय अध्यात्म यज्ञ में (सोमः) सब का प्रेरक प्रभु अथवा आनन्द रस का उत्पादक सोम प्रभु (बहुधा) नाना प्रकार के (पयांसि) आनन्द जलों का (युनक्तु) हमारे अन्तःकरण में प्रकट करे । 'ततो धर्ममेघः समाधिः' ।

८–'बहुधा विरूपास्मिन्' इति पैप्प० सं० । 'बहुधाऽनुरूपाः' इति ह्विटनिकामितः ।

९–पूर्ववत् 'सयुजः' इति पैप्प० सं० ।

यो० सू० ॥ तब धर्ममेघ समाधि का उदय होता है 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा'। यो० सू० ॥ वहां सत्यपूर्ण प्रज्ञा का उदय होता है।

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥

भा०—हे (सु-युजः) उत्तम योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमय आत्मा में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सर्व शक्तिमान्, तेजोमय प्रभु (बहुधा) नाना प्रकार से (वीर्याणि) बलों, शक्तियों को (युनक्तु) प्राप्त करावे।

बलेषु हस्तिबलादीनि । यो० सू० ॥

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और उदान तुम दोनो (अर्वाञ्चौ) साक्षात् होकर या शरीर के सब गुह्य स्थानों में प्रविष्ट होते हुए, (वषट्-कारेण) वषट्कार=मुख्य प्राण के बल से (यज्ञं) यज्ञरूप आत्मा की शक्ति को (वर्धयन्तौ) बढ़ाते हुए (ब्रह्मणा) ब्रह्म, परमात्मा के बल से (यातम्) गमन करो। हे (बृहस्पते) बृहती वाणी या ब्रह्मविद्या के पालक योगिन् तूभी (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (अर्वाङ्) साक्षात् आत्मरूप को (याहि) प्राप्त कर। (अयं यज्ञः स्वः) यही आत्मा का 'स्व' स्वरूप साक्षात् स्वः–मोक्ष-धाम है। (इदं) यह साक्षात् ब्रह्म (यजमानाय) देवोपासना करने वाले आत्मा के लिये (स्वाहा) सब से श्रेष्ठ आहुति होने का विषय है।

प्राणो वै वषट्कारः । श० ४ । २ । १ । २६ ॥ एते एव वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च । कौ० ३ । ५ ॥ तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य चत्वारो वषट्काराः यद् वातो वाति, यद्विद्योतते, यत्स्तनयति, यदवस्फूर्ज-यति ॥ श० ११ । ५ । ६ । ६ ॥ त्रयो वै वषट्कारा वज्रो धामच्छद्रिक्तः ।

१२–(च०) 'यज्ञं वयं स्वरितं यजमानाय धेहि स्वाहा' इति पैप्प० सं०।

स यद्देवोभ्यैर्बलं वषट्करोति स वज्रः । अथ यः संततो निर्हाणच्छुत् स धामच्छुत् अथ येनैव वषट् पराध्नोति स रिक्तः । मे० उ० ३ । ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्चैकोनसप्ततिः ।]

[२७] ब्रह्मोपासना ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, २ द्विपदा साम्नां भुरिगनुष्टुप्, ३ द्विपदा आर्ची बृहती, ४ द्विपदा साम्नी भुरिक् बृहती, ५ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्, ६ द्विपदा विराड् नाम गायत्री, ७ द्विपदा साम्नीबृहती, २-७ एकावसानाः, ८ संस्तार पंक्तिः, ९ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा परातीजगती, १०-१२ परोष्णिहः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः ।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ १ ॥

यजु० २७ । ११ ॥

भा०—(अस्य) इस प्रभु परमात्मा रूप अग्नि के (समिधः) उत्तम रीति से देदीप्यमान काष्ठाएं, सूर्यादि लोक (ऊर्ध्वाः भवन्ति) ऊपर विराजमान हैं । (अग्नेः) उस ज्ञान और प्रकाशस्वरूप ईश्वर की (शुक्रा) कान्तिमान (शोचींषि) ज्योतियां (ऊर्ध्वा) सब से ऊपर विराजमान हैं । वह (द्युमत्तमा) सब से अधिक तेजस्वी, (सुप्रतीकः) सब से अधिक सुरूप

[२७] १—'द्युमत्तमाः सुप्रतीकस्यसूनोः' इत्यन्ता ऋक् स माप्यते । यजु० । (प्र०) 'भवन्तूर्ध्वा', 'सुप्रतीकस्य सूनोः' (च०) 'असुरो विश्ववेदाः' इति पैप्प० सं० ।

(ससूनुः) अपने समस्त पुत्ररूप प्रजाओं सहित (तनूनपात्) समस्त ब्रह्माण्ड रूप शरीरों को न गिरने देने हारा, उनका रक्षक (असुरः) प्राणों में भी व्यापक, महा बलवान् (भूरि-पाणिः) असंख्य हाथों से युक्त है, इसी लिये वह सब को संभालता है ।

अपाणिपादो जवनो गृहीतः पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ॥ उप० ॥

विश्वतो बाहुरुतविश्वतस्पात् । अथर्व० ।

दे॒वो दे॒वेषु॑ दे॒वः प॒थो अ॑नक्ति॒ मध्वा॑ घृ॒तेन॑ ॥ २ ॥

यजु० २७ । १२ ॥

भा०—(देवेषु) समस्त दिव्यगुणयुक्त प्रकाशमान् पदार्थों में से (देवः) वह एकमात्र देव सब का प्रकाशक है । वह (देवः) परमदेव (मध्वा) अमृतमय आनन्द और (घृतेन) तेजः-प्रकाश से (पथः) समस्त मार्गों को (अनक्ति) प्रकाशित करता है । देखो० ऋ० १ । १४२ । ३ ॥

मध्वा॑ य॒ज्ञं न॑क्षति प्रैणा॒नो न॒राशंसो॑ अ॒ग्निः

सु॒कृद् दे॒वः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ ३ ॥

भा०—(नराशंसः) समस्त पुरुषों, समस्त नेताओं=विद्वानों से प्रशंसा करने योग्य, सर्वस्तुत्य (अग्निः) प्रकाशस्वरूप (देवः) प्रभु (सविता) सब का प्रेरक और और उत्पादक होने से (विश्व-वारः[1]) समस्त पुरुषों से वरण करने योग्य है । वही (प्रैणानः) सब को प्रेरित या तृप्त करता हुआ (यज्ञं) यज्ञ रूप आत्मा को या समस्त भूतसर्ग को

२–(प्र०) ‘ देवो देवेभ्यो देवयानान् ’ इति पैप्प० सं० । ‘ अनक्तु ’ इति यजु० । ‘ अनक्ति ’ इति तै० सं० ।

३–‘ नक्षसे प्रीणानः ’ इति यजु० ।

१. ‘ सर्वस्य वरणीयः ’ इति उव्वटः ।

(मध्वा) ज्ञान और आनन्द, अमृत से (नक्षति) व्याप्त करता है । इसी अर्थवाली ऋचा देखो ऋ० ६ । १४२ । ३ ॥ 'शुचिः पावको अद्भुतो मध्वा यज्ञं मिमिक्षति । नराशंसस्त्रिदिवो देवो देवेषु यज्ञियः ॥'

अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥

यजु० २७ । १४ ॥ इत्यस्य पूर्वार्धः ॥

भा०—(घृता चित्) प्रकाशमय (शवसा) ज्ञान, बल से (नमसा) और भक्ति से (ईडानः) स्तुति करता हुआ (वह्निः) यज्ञ का निर्वाहक (अयम्) यह अध्वर्यु, अथवा ज्ञान यज्ञ का सम्पादक योगी (अच्छा) भली प्रकार उस प्रकाशमय प्रभु को (एति) प्राप्त होता है । समानार्थ ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । ४ ॥

अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥

यजुः २७ । १४ इत्यस्यान्तिमश्चरणोऽस्याः पूर्वार्धः, स यक्षदादि अग्नेरित्यन्ता ऋग् यजु० २७ । १५ इत्यस्याः प्रथमश्चरणः ॥

भा०—उत्तम रीति से सम्पादित होते हुए, (अध्वरेषु) हिंसा कर्म से रहित यज्ञों में (प्रयक्षु) उस (अग्निः) प्रभु परमात्मा की ही (स्रुचः) ये सब स्तुतियां हैं । (अस्य) इस (अग्नेः) प्रभु ज्ञानमय परमेश्वर की ही (महिमानं) महिमा को (सः) वह पुरुष (यक्षत्) उपासना करे ।

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥ ६ ॥

४–'घृतेन' इति क्वचित् । 'घृतेन ईडे वह्निं नमसा अग्निं स्रुचो-' इति पैप्प० सं० ।

५–' अग्निम् ', ' प्रयत्सु ' इति यजु० ।

६–'सा ईम् मन्द्रा सुप्रयसाः' इति यजुः । ' मन्द्रासु प्रयसः ' इति तै० सं० । ' प्रयसास्तरीमन् । वर्हिषो मित्रमाणाः । वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च । ' इति मै० सं० ।

भा०—(नन्द्यम्) आनन्द उत्पन्न करने हारी (प्रवत्) उत्तम रीति से की गयी योग साधनाओं में—(तरी) वह प्रभु ही समस्त दुःखों से तराने हारा होता है। उसी भवसागर से पार होने के जहाज़ में (वसवः) समस्त लोक और (मनुष्यातरः च) ज्ञान धन को धारण करने वाले ज्ञान योगी भी (अतिष्ठन्) आश्रय लेते और उसमें विराजते हैं।

" न दुराश्रितुरत हुमे सभासते " । ऋ० ॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥

यजु० २७ । १६ ऋग्वेदे: पूर्वार्धे भागः ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुण सम्पन्न, ज्ञानमय (द्वारः) द्वार-रूप इन्द्रियां (अनु अस्य) इस आत्मा की शक्ति के अनुकूल व्यापार करते हैं। और (विश्वे) समस्त लोक और समस्त विद्वान् भी (अस्य) इसके ही (व्रतं) उपदिष्ट कर्त्तव्यों का (विश्वहा) नाना प्रकार से (रक्षन्ति) पालन करते हैं। समानार्थ मन्त्र देखो ऋ० १ । १४२ । ६ ॥

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने ।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥८॥

यजु० २८ । १६ ऋग्वेदे: पूर्वार्धः । २७ । १७ ऋग्वेदे: उत्तरार्धः ॥

भा०—(अग्नेः) उस प्रकाशवान् सूर्य के समान प्रभु के (उरुव्यचसा) विशाल लोकों में व्यापक (धाम्ना) तेज से (पत्यमाने) स्वतः ऐश्वर्यवान् होती हुई (उपाके) समीप २ (यजते) परस्पर संगत होकर (आ सुसु अयन्ती) सुखपूर्वक आती हुई (उषासा-नक्ता) उषा और रात्रि-

७–'द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा' इति यजु०, पैप्प० सं० ।

८–(प्र०) 'उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमानाः' (द्वि०) 'आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः' इति यजु० ।

दोनों देवी (नः) हमारे (अध्वरं) अविनाशी (इमं) इस प्रत्यक्ष (यज्ञं) यज्ञ-आत्मा की (अवताम्) रक्षा करें । समानार्थ ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । ७ ॥

दैव्या होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥९॥
यजु० २७ । १८ । १९ ॥

भा०—हे (दैवा) दिव्यगुणों से युक्त (होतारः) ज्ञान ग्रहण करने वाले विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (अध्वरं) अविनाशी यज्ञ-आत्मा को (ऊर्ध्वं) उन्नत करो । (अग्नेः) उस प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु को (जिह्वया) अपनी मनोहर वाणी से (अभि गृणत) सब प्रकार से स्तुति करो । और (नः) हमारे (स्विष्टये) सुखपूर्वक ईष्ट देव पूजा के लिये या ईश्वर प्राप्ति के लिये (गृणत) हमें भी उपदेश करो । इडा–अन्न, सरस्वती=वाणी और (गृणाना) सब को उपदेश करने वाली (भारती) प्रकाशस्वरूप वेद वाणी, ये (तिस्रः देवीः) तीनों दिव्य शक्तियां (इदं) इस (बर्हिः) यज्ञ को (सदन्तां) सुशोभित करें । उसमें आ विराजमान् हों । समानार्थक ऋचा ऋ० १ । ४२ । १० ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु ।
देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥
ऋ० १ । १४२ । १० ॥ यजु० २७ । २० ॥

९–' दैव्याहोतारा ' ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभिगृणीतम् । कृणुतं नः स्विष्टिम् । तिस्रोदेवीर्बर्हिरेदं सदन्त्विडासरस्वती भारती मही गृणाना । ' इति यजुः० । (च०) ' महाभारती ' इति पैप्प० सं० ।

१०–(द्वि०) ' त्वष्टासुवीर्यम् ' । (तृ०) ' विष्यतु नाभिमस्मे ' इति यजु० । ' पुरुवारं पुरुत्मना ', ' त्वष्टा पोषाय विष्यतु राये नाभानो अस्मयुः ' इति ऋ० ।

भा०—(नः) हमारा (तत्) वह चिर-स्मरणीय (तुरीपम्) अति शीघ्रता से प्राप्त करने योग्य अथवा शीघ्रता से सर्वत्र व्यापक (अद्भुतं) आश्चर्यजनक (पुरुक्षु) इन्द्रियों में स्वयं निवास करने वाला मन है। हे (देव) सर्व प्रकाशक (त्वष्टः) सूक्ष्म कर्तः परमात्मन् ! (अस्य) इस जीव के (रायः-पोषं) ज्ञान, प्राण एवं नाना सामर्थ्यों से पुष्टि को प्राप्त होने वाले (नाभिम्) बन्धन रूप देह या मन को (वि-स्य) खोल दे । हमें, मुक्ति प्रदान कर ।

वनस्पतेऽव सृजा रराणः ।
त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥

यजु० २७ । २१ ॥ ऋ० १ । १४२ । ११ ॥

भा०—आत्मा का निरूपण करते हैं। हे वनस्पते ! इन्द्रियों के परि-पालक ! तू (रराणः) रमण करता हुआ (त्मना) स्वयं (अव सृज) ईश्वर की ओर गति कर। और (शमिता) सब का कल्याणकारी, शान्ति-दायक प्रभु (अग्निः) वह प्रकाशस्वरूप (देवेभ्यः) समस्त ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियों के लिये (हव्यं) उपादेय, भोग्य पदार्थ या मोक्ष सुख का (स्वदयतु) आस्वादन करावे ।

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः ।
इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

यजु० ११ । २२ ॥ ऋ० १ । १४२ । १२ ॥

११–'हव्यं शमिता सूदयाति' इति यजु० । 'अवसृजन्नुप त्मना देवान् यक्षि वनस्पते । अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः' इति ऋ० । (द्वि०) 'सुम्ना देवेभ्यः' (तृ०) 'सूदयाति' इति पैप्प० सं० ।

१२–'इन्द्राय हव्यं' इति यजु० । 'इन्द्राय भागं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (जात-वेदाः) समस्त संसार के पदार्थों को जानने हारे ज्ञानमय ! हे (अग्ने) प्रकाशमय ! (स्वाहा) हमारी यही श्रेष्ठ प्रार्थना है कि आप (इन्द्राय) इस सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये इस (यज्ञं) यज्ञ को (कृणुहि) सम्पादन करें उसके जीवनमय यज्ञ अथवा उसके कर्मफल भोग के लिये इस संसार को बनाओ (विश्वे-देवाः) समस्त देवगण, विद्वान्, इन्द्रियगण अथवा समस्त पञ्चभूत आदि (इदं हविः) इस कर्म-फल भोग या संसार में प्राप्त करने योग्य भोग को (जुषन्ताम्) प्राप्त करें। समानार्थक ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । १२ ॥

[२८] दीर्घ जीवन का उपाय और यज्ञोपवीत की व्याख्या ।

अथर्वा ऋषिः । त्रिवृत् देवता । १–५, ८, ११, त्रिष्टुभः, ६ पञ्चपदा अतिशक्करी, ७, ९, १०, १२, ककुम्मत्यनुष्टुप्, परोष्णिक् । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

नव॑ प्रा॒णान्न॒वभिः॒ सं मि॑मीते दी॒र्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ।
हरि॑ते॒ त्रीणि॑ रज॒ते त्रीण्यय॑सि॒ त्रीणि॒ तप॒सावि॑ष्ठितानि ॥१॥

भा०—(शत-शारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (नव प्राणान्) नव प्राणों को (नवभिः) नव इन्द्रियों से (सं मिमीते) अच्छी प्रकार से मिला कर रखता है । जिनमें से (त्रीणि) तीन इन्द्रियें (तपसा) अपने तपः सामर्थ्य, वीर्य से (हरिते) हरित=सात्विक भाव में (वि-स्थितानि) नाना प्रकार से स्थित हैं और (त्रीणि रजते) तीन इन्द्रियें रजत=राजस भाव में विराजती हैं और (त्रीणि अयसि) तीन अयस्=तामस भाव में रहती हैं । शरीर के तीन भाग हैं, एक ग्रीवा, मुख से ऊपर का

[२८] १–(च०) 'रजसा विष्ठितानि' इति पैप्प० सं० ।

भाग, उसमें कान, आंख, नाक ये तीन प्राण विराजमान हैं । इससे आगे नाभी तक के भाग में तीन प्राण हैं, अन्न-ग्राहक मुख, रसग्राहक जीभ और हाथ । नाभि से चरणों तक या गुदा तक तीन प्राण हैं, लिंग, गुदा, चरण इस प्रकार नव प्राण शरीर के नव भागों में बंटे हुए हैं । इन तीन भागों का नाम हरित=सुवर्ण, रजत=चान्दी और अयस्=लोह हैं येही सात्विक, राजस और तामस तीन विभाग हैं ।

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ २ ॥

भा०—विराड् देह के विराड् प्राणों का वर्णन करते हैं । (अग्निः) अग्नि, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमाः) चन्द्र, (भूमिः) भूमि, (आपः) आप जल, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (प्र-दिशः) दिशाएं और (दिशः) उप-दिशाएं और (आर्तवाः) ऋतुओं के विभाग, ये सब (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सं-विदानाः) सम्मेल खाते हुए (अनेन) इस (त्रिवृता) तीन तरह से बंटे हुए, तेहरे प्राण से (मा) मुझे (पारयन्तु) पार करें ।

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥

भा०—तीन पुष्टियों का वर्णन करते हैं । (त्रि-वृति) त्रिविध प्राण में (त्रयः पोषाः) तीन प्रकार की पुष्टियां (श्रयन्तां) बनी रहें । और (पूषा) सब का पोषक परमात्मा (पयसा) वृद्धि करने वाले (घृतेन) घृत से, तेज से (अनक्तु) हमें चमकाए, पुष्ट करके प्रदीप्त करे, वे पुष्टियां तीन प्रकार की हैं एक तो (अन्नस्य भूमा) अन्न की अधिकता, (पुरुषस्य भूमा)

३–(प्र०) 'त्रिवृतः' (तृ०) 'अन्यस्य' (च०) 'भौमा', 'भौमा' इति पैप्प० सं० ।

पुरुषों की अधिकता, और (पशूनां भूमा) पशुओं की अधिकता, ये तीनों ही पदार्थ अधिक मात्रा में (ते) हे पुरुष ! तुझे (इह) इस लोक में (श्रयन्ताम्) प्राप्त हों । तुझ में बने रहें ।

इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः ।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णुः ॥ ४ ॥

भा०—हे (आदित्याः) आदित्यो ! वर्ष के १२ मासो ! तुम लोग (इयम्) इस पुरुष को (वसुना) वास के हेतु, जीवनीय पदार्थों से (सम् उक्षतम्) सींचो ! हे (अग्ने) अग्ने ! (ववृधानः) तू स्वयं बढ़ता हुआ (इमम्) इस पुरुष को (वर्धय) बढ़ा । हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (इमं) इस पुरुष को (वीर्येण) वीर्य द्वारा (सं सृज) पुष्ट कर । और (अस्मिन्) इस पुरुष में (त्रि-वृत्) तीनों प्रकार का (पोषयिष्णुः) पुष्टिकारक अन्न (श्रयतां) निवास करे ।

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः ।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥

भा०—(भूमिः) भूमि (त्वा) तुझ पुरुष को (हरितेन) सुवर्ण से (पातु) रक्षा करे । और (विश्व-भृत्) सबका पालक पोषक (अग्निः) अग्नि (स-जोषाः) प्रेमपूर्वक (अयसा) अपने अयस्—लोह या तेजोमय सामर्थ्य से (पिपर्तु) पालन करे । और (ते) तेरा (अर्जुनम्) समस्त धन (वीरुद्भिः) लताओं से (सं-विदानं) सम्मिलित होकर (सु-मनस्यमानं) शुभ संकल्प उत्पन्न करता हुआ (दक्षं) बल को (दधातु) प्रदान करे ।

४-(तृ० च०) 'यस्मिन् त्रिवृच्छ्रेतां पूपयिष्णुरिमं' इति पैप्प० सं० । 'पोषयिष्णु' इति क्वचित् ।

५-(तृ०) 'वीरुद्भिस्ते अर्जुनो सं' इति पैप्प० सं० ।

संक्षेप में--भूमि से सुवर्ण प्राप्त करे अग्नि द्वारा लोह को प्राप्त करे और लताओं के रसों से चान्दी आदि धातु को भस्म करके उत्तम बल प्राप्त करे ।

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव
सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥६॥

भा०—(इदं) यह (हिरण्यं) सुवर्ण (जन्मना) अपने जन्म से स्वरूप से ही (त्रेधा जातम्) तीन प्रकार से उत्पन्न हुआ । (एकं) एक तो (अग्नेः) अग्नि का (प्रिय-तमम्) अति अधिक प्रिय पदार्थ (बभूव) है । और (एकं) दूसरा एक (हिंसितस्य सोमस्य) पीड़ित सोम के भीतर से (परा पतत्) बाहर निकलता है । और (एकम्) तीसरा एक (वेधसाम्) सृष्टि उत्पन्न करने हारे (अपाम्) जलों का या जीवों का (रेतः) सर्व जीवों के उत्पादक वीर्य रूप (आहुः) कहते हैं । (तत्) वह (हिरण्यम्) सुवर्ण (त्रि-वृत्) तीन प्रकार का है । वह (ते) तुझ पुरुष के (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिये (अस्तु) हो । १-अग्नि से तप्तसुवर्ण, २-ओषधियों का रस, ३ शरीर का वीर्य ये तीनों हिरण्य कहाते हैं । तीनों ही आयु को बढ़ावें ।

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥

यजु० ३ । ६२ ॥

६—(द्वि०) 'वेधसः' इति ग्रिफिथ-व्हिट्निं कामितः । 'वेधसोरेतआहुः' इति पैप्प० सं० ।

७—'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम् ॥' इति यजुर्वेदः सं० । 'त्रियायुषम्' (च०) 'मः कृणि' इति पैप्प० सं० । त्रियायुषं कश्यपस्य जामदग्नेः त्रियायुषम् । त्रीण्यमृतस्य पुष्पाणि त्रीण्यायूंषि मे कृधिः । इति पै० उ० पी० ।

भा०—(जमदग्नेः) प्रज्वलित है जाठर अग्नि जिसकी ऐसे निरोग पुरुष की (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु होती है । और (कश्यपस्य) कश्य= अमृत विन्दु या ज्ञान या वीर्य का पान या पालन करने वाले परमनिष्ठ ब्रह्मचारी की भी (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु होती है । (अमृतस्य) अमृत स्वरूप वीर्य का (त्रेधा) तीन प्रकार का (चक्षणं) साक्षात्कार होता है उनके बल पर मैं (ते) तुझ साधक के भी (त्रीणि) तीन (आयूंषि) आयुओं को (अकरम्) उत्पन्न करता हूं ।

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः ।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥

भा०—(यद्) जब (शक्राः) शक्तिमान् , (त्रयः) तीन (सुपर्णाः) शुभ ज्ञानवान् आत्मा (त्रिवृता) त्रिगुण प्राण के बल से (एकाक्षरम्) एक मात्र अक्षर 'ओ३म्'पद वाच्या अविनाशी परमब्रह्म को (अभिसंभूय) प्राप्त करके (आयन्) मोक्ष को प्राप्त होते हैं तब वे (अमृतेन) अमृतमय आत्मा के स्वरूप से (विश्वा दुरितानि) समस्त दुष्ट आचरणों को, पापों को (साकं) एक साथ ही (अन्तः दधानाः) भीतर ही रोक कर, नियमित करके (मृत्युम्) मौत को (प्रति-औहन्) वश कर लेते हैं ।

तीन सुपर्ण तीन प्रकार के योगी । ध्यान योगी, कर्म योगी या वसु, रुद्र और आदित्य । अथवा इन्द्रिय मन और आत्मा ।

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयुस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥

भा०—वैदिक परिभाषा में शरीर के तीन भागों का वर्णन करते हैं । (अयम्) यह पुरुष, आत्मा (देव-पुराः) नाना देवों की वसी इन भोग

९-(चे०) 'पुरायम्' इति पैप्प० सं० ।

भूमियों में (प्र अगात्) उत्तम रीति से आता है । (हरितं) सुवर्ण=सात्विक भाव (त्वा) तुझ पुरुष को (दिवः पातु) द्यौः, मूर्धा-भाग या ऊपर के लोकों से रक्षा करें, (अर्जुनम्) अर्जुन, रजत=राजस अंश (त्वा) तुझ को (मध्यात्) बीच के भाग से अन्तरिक्ष-से (पातु) रक्षा करे । (अयस्मयं) लोहमय=तामस अंश तुझ को (भूम्याः पातु) भूमि से रक्षित करे ।

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वां रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥

भा०—हे आत्मन् ! पुरुष ! (इमाः) ये (तिस्रः) तीन. (देव-पुराः) देव—ज्ञानप्रकाशक इन्द्रियों की नगरियां हैं। (ताः) वे ये देहरूप पुरियां (त्वा) तुझको (सर्वतः) सब प्रकार से (रक्षन्तु) रक्षा करें । हे पुरुष ! (त्वं) तू (ताः बिभ्रद्) उनको पालन पोषण और धारण करता हुआ (वर्चस्वी) वर्चस्वी, तेजस्वी होकर (द्विषतां उत्तरः) अपने शत्रु, काम क्रोध आदि भीतरी शत्रुओं पर विजयशील (भव) हो ।

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदावधे मे ॥ ११ ॥

भा०—(देवानां) देवगण, इन्द्रियों महद् आदि २१ विकारों का (पुरं) पालन पोषण एवं निवास का स्थान (अमृतम्) अमृत—शुक्र है । अथवा वह अमर परम पद है इसका दूसरा नाम (हिरण्यम्) 'हिरण्य' या परम ज्योति या आत्मा (यः) जो (प्रथमः) सब से प्रथम, सब से श्रेष्ठ (देवः) जिसने परमप्रकाश स्वरूप, सर्व विजयी (अग्रे) सब से पूर्व (आ-बेधे) सबको नियमों में बांधता है । (तस्मै) उसी परम प्रभु को मैं (दश प्राचीः) दशों दिशाओं में उत्कृष्ट रूप में व्यापक जान कर (नमः कृणोमि)

११–(च०) 'त्रिवृता वधेन' इति पैप्प०सं० ।

नमस्कार करता हूं । वह (त्रिवृत्) त्रि-मात्र ओंकार, त्रिगुण शक्तिमय, प्रभु (अनु मन्यताम्) मेरे विनय को स्वीकार करे, उसी को (मे) मैं अपने लिये (आवधे) यज्ञोपवीत रूप में त्रिसूत्र करके बांधता हूं ।

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥ १२ ॥

भा०—(अर्यमा) समस्त अरि=विघ्नकारियों, काम क्रोध आदि भीतरी दुष्ट भावों को यमन करने वाला, (पूषा) सबका पोषक (बृहस्पतिः) बृहत्-महान् लोकों का या बृहती=वेदवाणी का जो स्वामी है वह (त्वा) तुझ आत्मा को (चृतम्) बांध ले । (अहर्जातस्य) दिन में उत्पन्न होने वाले शुभ पदार्थ सूर्य का (यत् नाम) जो स्वरूप है (तेन) उससे (त्वा) तुझ पुरुष, उपनीत बालक को हम आचार्य गण भी (अति चृतामसि) सब दुष्ट भावों का अतिक्रमण करके इस भगवान् के पापनाशक, शरीरपोषक और ज्ञानवर्धक तीन गुणों से बने त्रिसूत्र से बांधते हैं ।

ऋतुभिष्टार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि ॥ १३ ॥

अथर्व० १९ । ३७ । ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (आर्तवैः) ऋतु के मास रूप भागों से जिस प्रकार यह प्रजापति का विशाल रूप बद्ध है उसी प्रकार इन ऋतुओं और ऋतु भागों से (त्वा) तुझको (आयुषे) दीर्घ जीवन, और (वर्चसे) ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिये (संवत्सरस्य तेजसे) संवत्सर=वर्ष के प्रकाश के सूर्य के समान सुवर्ण रूप तेज से (संहनु) खूब मज़बूत दृढ़ (कृण्मसि) करते हैं ।

१२–' आपूषा आवृह ' इति ह्विटनिकामितः ।

१३–' वर्चसे । संवत्सरस्य धायसा तेमसन्नतु गृह्णासि ' इति ह्वि० गृ० सू० ।

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु ।
भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय ॥१४॥

ऋ० १० । १२८ खि० । अथर्व० १९ । ३३ । २ ॥

भा०—हे पुरुष जीव ! तू (घृतात् उत्-लुप्तं) घृत=प्रकाशमय ज्ञान से आवृत और (मधुना सम्-अक्तम्) मधु, सोममय तप या आत्मानन्द से व्याप्त (भूमि-दृंहम्) भूमि के समान दृढ़ (पारयिष्णु) समस्त विघ्नों को पार करने में समर्थ हो । और (स-पत्नान्) अपने शत्रुओं को (भिन्दत्) छिन्न भिन्न करता और (अधरान् च) उनको नीचे (कृण्वत्) करता हुआ (महते) बड़े भारी (सौभगाय) श्रेष्ठ ऐश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (मा) मुझ आचार्य या ब्रह्म का (आ रोह) आश्रय ले ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः । मनुः ।

[२९] रोगों का नाश करके आरोग्य होने का उपाय ।

चातन ऋषिः । जातवेदा मन्त्रोक्ताश्च देवताः । १-२, ४, ६-११, त्रिष्टुभः, ३ त्रिपदाविराड् नाम गायत्री, ५ पुरोतिजगती विराड्जगती १२-१५ अनुष्टुभ् (१२ भुरिक्, १४, चतुष्पदा पराबृहती ककुम्मती) । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥

१४–(तृ०) 'भिन्दत्सपत्ना–' इति क्वचित् । 'घृतादुल्लुप्तं मधुमत्सुवर्णं धनंजयं धरुणं धारयिष्णु । ऋणक् सपत्नानधरांश्च कृण्वदारोह मां महते सौभगाय ' इति ऋ० खि० ।

[२९] १–'युक्तो वह जातवेदः पुरस्तात्' अग्ने विद्धि कर्म क्रियमाणं यथेदम् (प०) ' गाः अश्वान् पुरुषान् ' इति हि० गृ० सू० ।

भा०—रोगनाशक अग्नि का उपदेश करते हैं। हे (जात-वेदः) समस्त पदार्थों को जानने वाले विद्वन्! अग्ने! तू (पुरस्तात्) सब कार्य के पूर्व ही कार्य में संचालकरूप से (नियुक्तः) नियुक्त होकर (वह) कार्य भार को अपने ऊपर ले। और (यथा) जिस प्रकार से भी (इदं) यह कार्य (क्रियमाणं) किया जाने योग्य है उसकी सब इतिकर्तव्यता को तू स्वयं (विद्धि) जान। तू ही स्वयं (भिषक्) सब रोगों, विघ्नों को दूर करने वाला है क्योंकि तू ही (भेषजस्य) रोग विनाशक औषधों का (कर्ता असि) बनाने वाला है। (त्वया) तुझ से, तेरी सहायता से (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) गौओं, अश्वों और पुरुषों को स्वस्थरूप में (सनेम) प्राप्त करें।

तथा तद॑ग्ने कृणु जातवेदो विश्वे॑भिर्दे॒वैः स॒ह सं॑विदा॒नः ।
यो नो॑ दि॒देव॑ यत॒मो ज॒घास॒ यथा॒ सो अ॒स्य प॑रि॒धिष्पता॑ति ॥२॥

भा०—अग्नि का दूसरा कार्य बतलाते हैं। हे (जात-वेदः) सर्व पदार्थों के ज्ञाता (अग्ने) प्रकाशक अग्ने! विद्वन्! (विश्वेभिः देवैः सह) समस्त प्रकाशक विद्वानों या विजेता, वीर, साहसी पुरुषों के साथ (सं-विदानः) सम्मति करके (तत्) उस २ विजय कार्य को (तथा) उस २ सुचारु रूप से कर (यथा) जिस प्रकार से (नः यः दिदेव) जो हमें पीड़ा देता है (यतमः) जो कोई भी (जघास) हमें खा जाता है, हमारा माल मत्ता, बल वीर्य हर लेता है (सः अस्य) उसका वह (परिधिः) अहाता, मोर्चाबन्दी, सीमा (पताति) टूट कर गिर पड़े। डाक्टर और डाक्टरों के साथ सहमति करके रोगों को दूर करे और वीर पुरुष वीरों के साथ सम्मति करके, वे शत्रु का दुर्ग तोड़ें।

२—'त्वमग्ने' (द्वि० तृ०) 'तेना विदन् हविषा यविष्ठः' पिशाचोस्यत... दिदेव स्स्तमो' इति पैप्प० सं०।

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार भी हो (अस्य) इस शत्रु की भी (परिधिः) हदबन्दी (पताति) टूट कर गिर पड़े । हे (जातवेदः अग्ने) हे विद्वन् सेनापते ! (विश्वेभिः देवैः) समस्त विजयशील पुरुषों से (संविदानः) सहमति करके (तत्) वह कार्य (तथा कृणु) उसी प्रकार ही कर ।

अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥

भा०—शत्रु का नाश किस प्रकार करे । हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते ! तू शत्रु के (अक्ष्यौ) आंखों को (नि विध्य) वेध डाल, (हृदयं निविध्य) हृदय पर भी प्रहार कर । (जिह्वां नि तृन्धि) उसकी जिह्वा को भी काट डाल, (दतः प्र मृणीहि) दांतों को भी तोड़ डाल । (अस्य) इस शत्रु का (यतमः पिशाचः) जो भी क्रूर मांसभक्षी जन्तु उसके मांस, या शरीरसम्पत्ति को (जघास) खा जाता हो (अग्ने) हे अग्ने (यविष्ठ) उसका नाश कर और (तं) उसको (प्रति शृणीहि) भून डाल ।

यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ।

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! (अस्य आत्मनः) इस देह का (पिशाचैः) मांसभक्षी, रोग जन्तु (यद् हृतं) जो मांस, बल आदि चुरा ले गये हैं ।

३—(प्र०) 'यथासोमस्य परिधिष्पतातिस्तथात्वमग्ने' इति पैप्प० सं० ।

४—(प्र) 'मोक्षो नविद्धि हृद्यं नविद्धि' (तृ०) 'पिशाचो अस्याः' इति पैप्प० सं० ।

५—'शरीरे प्राणमसुमेरया सं सृजेम' इति पैप्प० सं० ।

(यत् वि-हृतं) जो छीन ले गये हैं, (यत् परा-भृतम्) जो लूट ले गये हैं और (यतमत्) जो कुछ भी खा गये हैं। (तत् विद्वान्) उस सबको भली प्रकार जानता हुआ (त्वं) तू (पुनः आ भर) पुनः औषध प्रयोग से प्राप्त करा और इस प्रकार हम (शरीरे मांसम् असुम् आ ईरयामः) शरीर में मांस को और प्राण को पुनः स्थापित करें।

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ६ ॥

भा०—(यः पिशाचः) जो पिशाच, मांसभोजी, रोग जन्तु (आमे) कच्चे, (सुपक्वे) पक्के, (शबले) कच्चे पक्के, (विपक्वे) खूब पके (अशने) भोजन में (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुंचाता है। (तद्) वह (आत्मना) स्वयं, (प्र-जया) और अपनी सन्तान सहित विनष्ट हो, और उसी जाति के (पिशाचाः) समस्त पिशाच (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से पीड़ा को प्राप्त हों और शरीर को त्याग कर चले जांय जिससे (अयम्) यह पुरुष (अगदः अस्तु) रोग रहित हो जावे।

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३यः।
तदा० ॥ ७ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई भी रोगकारी पिशाच रूप जन्तु (क्षीरे) दूध में, (मन्थे) मठा में, (अकृष्ट-पच्ये धान्ये) और खेती के विना ही स्वयं पकने वाले धान्य में और (अशने) भोजन में घुस कर (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुंचाता है। (तद् आत्मना०) वह स्वयं नष्ट हो जाय और अन्य जन्तु भी नष्ट हो जांय और यह पुरुष नीरोग हो।

६–(प्र० द्वि०) 'आमे सपक्के शबले विपक्के ओदने मन्थे दिव आलेहे' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'दिदम्भ' इति क्वचित्।

७–(प्र०) 'क्षीरे त्वा मांसे' (द्वि०) 'कृष्टपच्ये' इति पैप्प० सं०।

अपां मा पाने यतमो दुदम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदा० ॥ ८ ॥

भा०—(यतमः) जो कोई (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाले रोग जन्तु (अपां पाने) जलों के पान करने के स्थान, घाट, बावड़ी, प्याऊ आदि में और (यातूनां शयने) पीड़ाओं के बिस्तर में (मां शयानं) पड़े, मुझको असावधान अवस्था में (ददम्भ) विनाश करने का यत्न करता है (तत् आत्मना०) वह स्वयं अपनी सन्तानों सहित नष्ट हो और यह रोगी नीरोग हो ।

दिवा मा नक्तं यतमो दुदम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगुदो३ऽयमस्तु ॥ ९ ॥

भा०—(यतमः) जो भी (क्रव्याद्) कच्चे मांस का आहारी मच्छर, मत्कुण आदि रोगकारी जन्तु (दिवा नक्तं) दिन और रात के समय में और (यातूनां शयने) पीड़ा या रोगों के सेज पर (शयानम्) असावधान रूप में पड़े (मा) मुझ को (ददम्भ) पीड़ा देना चाहता है (तद्) वह (आत्मना) स्वयं और उसके सहचारी (पिशाचाः) मांसभोजी रोग कीट भी (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से नष्ट किये जांय और (अयम् अगदः अस्तु) यह रोगी पुरुष नीरोग हो ।

अथवा—सोमचिकित्सा (होमियोपैथी) का उपदेश करते हैं कि (यतमः क्रव्याद् ददम्भ) जो भी रोग कीट या विषाणु रोगी को सताता है (तदात्मना) उसी के सम जाति के (प्रजया) प्रजा, अंश से वे (पिशाचाः) रोगकारी कीटाणु (वि यातयन्तां) विनाश को प्राप्त हों । और

८—' शयने शयानः ' इति लडविग्कामितः ।

९—(प्र०) 'दिवा त्वा' (द्वि०) 'क्रव्याद् यातुः शयते पिशाचः । उदग्ने-द्वानृथक् । शृणीह्यप्यैनं देहि निर्ऋतेरुपस्थे ' इति पैप्प० सं० ।

इस प्रकार (अयम् अगदः अस्तु) वह रोगी निरोग हो जाय । इस पद्य में अग्नि जातवेदाः=प्रबल टिंक्चर है जो विशेष शक्ति से युक्त है ।

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥१०॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ अग्ने ! हे जात-वीर्य ! जात-बल (अग्ने) तेजःस्वरूप (क्रव्यादम्) कच्चे मांस के आहारी, (रुधिरम्) रक्त में फैलने वाले, (पिशाचं) मांस में जमे हुए और (मनः-हनं) रोगी के चित्त को या मननशक्ति पर आघात पहुंचाने वाले अपस्मार, उन्माद और मदकारी रोग को (जहि) तू विनाश कर । उस रोग को (इन्द्रः) इन्द्र रोग का विनाशक, (वाजी) बलवान्, शक्तिमान् होकर (वज्रेण) अपने रोग विनाशक बल से (हन्तु) मार दे और (सोमः) सोम या ओषधि का सूक्ष्म अंश (धृष्णुः) व्यस्थित होकर, शरीर में चिरकालिक प्रभाव करके (अस्य) इन रोगकारी मूल कीटों के (शिरः) शिर=हिंसाकारी प्रभाव को (छिनत्तु) काट दे ।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानतु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

अथर्व० ८ । ३ । १८ ।

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! या तेजोरूप ! (सनात्) चिरकाल सदा से तू (यातु-धानान्) पीड़ाजनक रोगों को (मृणसि) विनाश है । (रक्षांसि) बाधा, विघ्नकारी जन्तु (त्वा) तुझको (पृतनासु) ध्यों में या संग्रामों में (न जिग्युः) न जीत पावें ! इसलिये (क्रव्या रोगी का कच्चा मांस खा डालने वाले रोगांशों को (सह-मूरान्) स (अनु-दह) जलादे । और (दैव्यायाः) दिव्य गुण युक्त (ते हेत्याः) आघातकारी शक्तिरूप वज्र से (मा मुक्षत) वे छूट न जांय ।

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवाप्यायतामयम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (अस्य) इस रोगी पुरुष के शरीर से (यत्) जो धातु और बल (हृतम्) रोगों ने हर लिया है, और (यत्) जो (परा-भृतम्) विनष्ट कर दिया है उसे (सम्-आ हर) पुनः भली प्रकार प्राप्त करा । (अस्य) इसके (गात्राणि) शरीर के अंग (वर्धन्ताम्) बढ़ें और (अयम्) यह (अंशुः-इव) चन्द्र के समान (आ प्यायताम्) दिनों दिन बढ़े, मोटा ताज़ा हो ।

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् ।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्र के एक भाग, कला के समान (अयम्) यह कृश पुरुष भी (आ प्यायताम्) पुष्टि को प्राप्त हो । हे (अग्ने) अग्ने ! (विरप्शिनम्) नाना प्रकार की विद्याओं का उपदेश करने वाले महान् विद्वान् (मेध्यं) मेधावी, पवित्राचारी पुरुष को (अयक्ष्मं) रोग, यक्ष्मादि कष्ट से रहित (कृणु) कर जिससे वह (जीवतु) चिरकाल तक जीवित रहे ।

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

(य) भा०—हे (जातवेदः) हे अग्ने ! (एताः ते सम्-इधः) ये तेरी उत्तम है (प्रकाश करने या चमकने वाली शक्तियां, ज्वालाएं ही (पिशाच- (पि) जम्भनीः) मांसशोषक या मांस में फैलने वाले रोगाणुओं की नाशक हैं ।

१२-(प्र०) 'समाभर' (द्वि०) 'यज्जरथं यत्' इति पैप्प० सं० ।
१३-(च०) ' जीवसे ' इति पैप्प० सं० ।

(ताः) उनको (त्वं) तू (जुषस्व) अपने में धारण कर और (एनाः) इन को (प्रति गृहाण) अपने भीतर रख ।

तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।
जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! आप (तार्ष्ट-अघीः) तृषा रोग को दूर करने वा. इन (सम्-इधः) दीप्तिमय शक्तियों को अपने (अर्चिषा) तेज से (प्रति गृह्णाहि) अपने में धारण कर । जिससे वह (क्रव्याद्) मांसशोषक रोग अपने (रूपं जहातु) स्वरूप को त्याग दे (यः) जो (अस्य) इस के (मांसं) मांस को (जिहीर्षति) सुखा डालना चाहता है ।

[३०] आरोग्य और सुख की प्राप्ति का उपदेश ।

आयुष्काम उन्मोचन ऋषिः । आयुर्देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २–८, १०, ११, १३, १५, १६ अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, १२ चतुष्पदा विराड् जगती, १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः । पितॄन्
असुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते आवतः आवतः) तेरे समीप से समीप और (ते परावतः) तेरे दूर से भी (आवतः) दूर देश से (ते असुं) तेरे प्राण को और आत्मा को (दृढं) खूब बलपूर्वक (बध्नामि) बांधता हूं । तू (इह एव) यहां ही (भव) रह । (मा पूर्वान् अनु-गाः) अपने पूर्व के विनष्ट हु

[३०] १–(द्वि०) 'परावतस्ते परावतः' इति पैप्प० सं० ।

पुरुषों के पीछे मत जा। (मा अनु गाः पितॄन्) अपने बूढ़े मां बाप के पीछे भी मत जा, प्रत्युत गुरु आचार्य के पास ब्रह्मचर्य और विद्या का लाभ कर।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥

भा०—(यत्) यदि तेरा (स्वः पुरुषः) अपना कोई सम्बन्धी पुरुष और (यद्) यदि कोई (अरणः) बुरा (जनः) आदमी (अभि-चेरुः) तुझ पर अपना अभिचार या बुरा आक्रमण, हानिकारक पापकार्य करना चाहता है तो मैं आचार्य हे शिष्य ! तुझ को (वाचा) अपनी वाणी से उस जाल से छूटने के लिये (उन्मोचन-प्रमोचने) उन्मोचन और प्रमोचन (उभे) दोनों का अधिकार और शक्ति का (ते) तुझे, (वदामि) उपदेश करता हूं।

उन्मोचन=जाल से ऊपर निकल आना और प्रमोचन=जाल से दूर ही रहना। अर्थात्, फंस जाने पर छूटना और पहले ही न फंसना।

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या।
उन्मो० ॥ ३ ॥

भा०—हे शिष्य ! (यद्) यदि (अचित्या) बिना जाने तेने (स्त्रियै) किसी स्त्री से या (पुंसे) पुरुष से (दुद्रोहिथ) द्रोह किया और उस को (शेपिषे) बुरा वचन कहा तो भी (ते उन्मोचन-प्रमोचने वाचा वदामि) मैं उस पाप से परे रहने और छूटने का उपदेश करता हूं।

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

२–(प्र०) 'पुरुषाः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(यद्) यदि (मातृ-कृतात् एनसः) माता के किये दोष से (यत् च) और यदि (पितृ-कृतात् एनसः) पिता के किये दोष (शेपे) तू आवृत रह कर अज्ञान में सो रहा है तो भी (वाचा) वे वाणी से उन दोषों और व्यसनों से (उन्मोचन-प्रमोचने) छूटने और रहने दोनों का (वदामि) तुझे उपदेश करता हूं।

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

भा०—(यत) जिस (भेषजम्) रोग निवारक उपाय या औषध को (ते माता) तेरी माता और (यत् ते पिता) जिस औषध को तेरा पिता और (जामिः भ्राता च) तेरी भगिनी और भाई भी (सर्जतः) तैयार करते हैं उसको (प्रत्यक् भेषजं) साक्षात् दुःखहारी औषध को (सेवस्व) तू सेवन कर। (त्वा) तुझ को मैं (जरदष्टिं कृणोमि) बुढ़ापे तक जीवन विताने योग्य चिरजीवी रहने का उपदेश करता हूं। अर्थात् ऊटपटांग पदार्थ मत खा। हितकारी पुरुषों के बतलाये ज्ञान और पथ्यों का सेवन कर।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) अपने समस्त मनन शक्ति चित्त और ज्ञान के साथ (इह) इस गुरु-गृह में (एधि) रह, निवास कर (यमस्य दूतौ) यम के दूत, दुख, उपताप के लाने वाले अशना और पिपासा, भूख और प्यास दोनों के पीछे (मा अनु गा) मत जाओ। (जीवपुराः) जीव के निवास भूत पुर अर्थात् देह के अंगों पर (अधि इहि) वश करो।

५–(तृ०) 'प्रत्यक् चेवस्य' इति पैप्प० सं०।

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

भा०—देवमार्ग या उत्तरायणमार्ग का उपदेश करते हैं । (अनुहूतः) विद्वानों से अनुशिष्ट, शिक्षित हो २ कर (पुनः) फिर भी (विद्वान्) ज्ञानी होकर हे शिष्य ! तू (उद्-अयनं) ऊपर मोक्ष धाम में, उन्नति की तरफ़ ले जाने वाले (पथः) मार्गों को (एहि) प्राप्त हो । (आ-रोहणं) ऊपर चढ़ना, (आ क्रमणम्) आगे की तरफ़ बढ़ना, यही (जीवतः-जीवतः) प्रत्येक जीवनयुक्त जीव की (अयनम्) वास्तविक गति है ।

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

भा०—रोगभय से मुक्त होने का उपदेश करते हैं । हे शिष्य (मा बिभेः) भय मत कर, डर मत । (न मरिष्यसि) तू कभी मरेगा नहीं । क्योंकि (त्वां) तुझ को मैं आचार्य, (जरद्-अष्टिं) वृद्धावस्था तक जीवन बिताने में समर्थ (कृणोमि) करता हूं । (तव अङ्गेभ्यः) तेरे अंगों से (यक्ष्मम्) सब प्रकार के रोगजनक अंश और (अङ्ग-ज्वरं) शरीर के भागों में विद्यमान् ज्वर=संताप पीड़ा को (निः अवोचम्) बाहर निकालता हूं ।

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥

भा०—हे शिष्य ! (ते) तेरे (अङ्ग-भेदः) शरीर में होने वाली पीड़ा जिससे देह टूटता हो, (यः च अङ्ग-ज्वरः) और जो अंगज्वर है और (हृदय-आमयः) हृदय-रोग और (यक्ष्मः) यक्ष्मा रोग है वह सब

८-(द्वि०) 'जरदष्टिर्भविष्यसि' इति पैप्प० सं० ।
९-(प्र०) 'शीर्षरोगमङ्गरोगम्', 'श्येनैव' इति पैप्प० सं० ।

(वाचा सादः) मेरी उपदेश या वाणी के वल से पराजित होकर (श्येन इव) बाज़ के समान (परः-तराम्) परे (प्र-अपसत्) भाग जाय ।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

भा०—(बोध-प्रतीबोधौ) बोध और प्रतिबोध, ज्ञान करने और उसको स्मरण करने की शक्ति, बुद्धि और मन (यः च) जो (ऋषी) सर्व कार्यों के द्रष्टा हैं, दोनों में एक (अस्वप्नः) कभी नहीं सोता और दूसरा मन या अन्तःकरण है वह भी (जागृविः) सदा जागता रहता है । (तौ) वे दोनों (ते प्राणस्य गोप्तारौ) तुझ जीव के प्राण=जीवन की रक्षा करने वाले (दिवा नक्तं च) दिन और रात सदा (जागृताम्) जागते रहें ।

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥ ११ ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्नि, आत्मा (उप-सद्यः) प्राप्त करने या ज्ञान करने–उपासना करने योग्य है । (इह) इसमें (ते) तेरा (सूर्यः) सब इन्द्रियों का प्रेरक मुख्य प्राण (उद्-एतु) उदित हो । (गम्भीरात्) गम्भीर भयावह (कृष्णात्) काले (तमसः चित्) अन्धकार के समान घोर (मृत्योः) मृत्यु, देह और आत्मा के विच्छेद के भय से भी (परि उद्-एहि) परे, ऊंचा चला जा ।

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

भा०—(नमः यमाय) उस सर्व-नियन्ता को नमस्कार है, हम उसके आगे झुकते हैं । (मृत्यवे नमः अस्तु) और देह को आत्मा से पृथक् करने

१०–(तृ० च०) 'ते ते प्राणस्य गोप्तारो दिवास्वप्नं च जाग्रतु' इति पैप्प० सं० ।

वाले उस कर्मफल दाता प्रभु को भी नमस्कार है, हम उसके भी आगे विनय से झुकते हैं । (उत) और (ये नयन्ति) जो हमको इस शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाते हैं उन (पितृभ्यः) पालक प्राणों को भी (नमः) नमस्कार है या उन पालक पिताओं माता, पिता, गुरु, आचार्य, प्रभु इन पञ्च पितरों को भी नमस्कार है जो हमें इस लोक में जीवन पथ पर ले जाते हैं । और जो (अस्मै) इस जीव के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (उत्-पारणस्य) इस शरीर के त्याग के अनन्तर इसके पालना, जीवन यात्रा के विषय में जो सब कुछ जानता है (तम् अग्निं) उस अग्नि तेजोमय परमेश्वर को भी मैं (पुरः दधे) सदा अपने आगे रखता हूं । उसका सदा साक्षात् प्रभुत्व मानता हूं । उत्पारणज्ञ विद्वान् का वर्णन देखो अथर्व० ८ । १ । १०-१६ । २ । ६ ॥

ऐतुं प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् ।
शरीरमस्य सं विदां तत् पुद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥

भा०—इन्द्रियां किस प्रकार शरीर में कार्य करती हैं इसका उपदेश करते हैं । इस शरीर में प्रथम (प्राणः आ एतु) प्राण आता है, फिर (मनः आ एतु) मन, मननशक्ति आती है फिर (चक्षुः आ एतु) चक्षु दर्शनशक्ति अर्थात् उपलक्षण से आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों में ज्ञानशक्ति का आगमन होता है । (अथो बलम्) और उसके पश्चात् बल, प्राणेन्द्रिय, हाथ, पांव, पेट आदि की शक्ति आती है । तब (अस्य) इस जीव का (शरीरम्) शरीर (विदां) बुद्धि को (सम्-एतु) प्राप्त होता है । (तत्) तब (पद्भ्यां) पैरों से (प्रति तिष्ठतु) यह शरीर खड़ा होने लगता है ।

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥

१४-(तृ०) 'वेत्थामृतस्यमृतस्य गान्मोसु' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (प्राणेन) प्राणशक्ति और (चक्षुषा) दर्शनशक्ति से (सं सृज) इस जीव को युक्त कर और (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (इमं) इस जीव को (सम्-ईरय) प्रेरित कर ! आप प्रभो ! (अमृतस्य वेत्थ) उस अमृत, जीवनशक्ति को जानते हो । आपकी दी जीवनशक्ति से युक्त होकर यह जीव (मा नु गात्) इस देह को छोड़ कर न जावे और (मा नु भूमिगृहः भुवत्) भूमि को अपना घर बना कर, खाक में मिल कर न रहे अर्थात् मर कर मिट्टी में न मिले । प्रत्युत शरीर का दीर्घ जीवन प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करे ।

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपि धायि ते ।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥

भा०—हे जीव ! (ते प्राणः) तेरा प्राण (मा उप-दसत्) विनाश को प्राप्त न हो । और (ते अपानः) तेरा अपान भी (मा अपि धायि) कभी न रुके । अर्थात् तेरे शरीर में प्राण-अपान=श्वासोच्छ्वास की क्रिया कभी बन्द न हो । (अधि-पतिः) सब का मालिक (सूर्यः) सूर्य, सब का प्रेरक परमात्मा (त्वा) तुझ को (रश्मिभिः[1]) अपनी व्यापक बलकारिणी किरणों से (उद्-आ-यच्छतु) ऊंचा उठाये रखे । तेरे शरीर को और जीवन शक्ति को गिरने न दे ।

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा ।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥

१५-(द्वि०) 'मा पानो', (च०) 'आयच्छति' इति पैप्प० सं० ।
१. अश्नोतरशच् । उणादि० ४ । ४६ ॥ रश्मिः ।

१६-(द्वि० तृ०) 'उग्रजिह्वापनिष्पदा तयारोमं निरायुषः' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'तया' ह्विटनिकामितः । 'त्वया' इति बहुत्र ।

भा०—(इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (अन्तः) मुख के भीतर (बद्धा) बंधी हुई । (पनिः-पदा) स्तुति करने और वाग्-व्यापार करने में चतुर, गतिशील होकर (वदति) व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है । हे वाणि ! (त्वया) तेरे बल से (यक्ष्मं) यक्ष्म-रोग को और (तक्मनः) कष्टदायी ज्वर के (-शतं रोपीः च) सैकड़ों पीड़ाओं को भी (निः अवोचम्) दूर कर देता हूं ।

अ॒यं लो॒कः प्रि॒यत॑मो दे॒वाना॒मप॑राजितः ।
यस्मै॒ त्वमि॒ह मृ॒त्यवे॑ दि॒ष्टः पुरु॑ष ज॒ज्ञिषे॑ ।
स च॒ त्वानु॑ ह्वयामसि॒ मा पु॒रा ज॒रसो॑ मृथाः ॥ १७ ॥

भा०—(अयं) यह (अपरा-जितः) किसी से न हारने वाला सदा बलवान् (प्रिय-तमः) अत्यन्त प्रिय, रुचिकर (देवानाम्) देवगण इन्द्रियों का (लोकः) शरीर है । हे पुरुष ! हे देहपुरी के वासी जीवात्मन् ! (यस्मै) जिसके कारण (त्वम्) तू (इह) इसमें रह कर (मृत्यवे दिष्टः) मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है । अर्थात् शरीर त्यागने के लिये ही शरीर का ग्रहण करता है । इसलिये (सः च) वह तू इस देह से असंग है । (त्वा अनु-ह्वयामसि) हम विद्वान् मुक्तजन तुझ को बार २ फिर २ चेताते हैं कि (जरसः पुरा) बुढापे से पहले (मा मृथाः) प्राणों को मत छोड़ ।

[३१] गुप्त हिंसा के प्रयोग करने वालों का दमन ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १–१० अनुष्टुभः, ११ बृहती गर्भा, १२ पथ्याबृहती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

१७–(तृ० प्र०) 'तस्मै त्वामिह जज्ञिषे अदृष्टः पुरुष मृत्यवे तस्मै त्वा निह्वयामसि' इति पैप्प० सं० । (च०) 'पुरुष-जज्ञिषे' इत्येकपदमिति पदपाठे प्रमादः ।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ १ ॥

भा०—(याम्) जिस आपत्तिजनक कार्य को (ते) वे तेरे शत्रु लोग (आमे पात्रे) कच्चे वर्तनों में (चक्रुः) प्रयोग करते हैं (याम्) और जिस दुष्प्रयोग को (मिश्र-धान्ये) मिलेजुले धान्य, अन्नों में करते हैं और (यां कृत्यां) जिस विपत्तिजनक करतूत को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस में (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसी दुःखदायी प्रयोग को दण्ड के रूप में (पुनः) फिर (प्रति-हरामि) उनको ही भुगतवा दूं । कच्चे पात्र में विषका लेप लगा कर अपने दुश्मनों के घर बेच आना, अनाज में विषैली बूटी के दाने मिलाकर पर-राष्ट्र में बेच देना, कच्चे मांस में रोगकारी कीटों और विषकी धारा छोड़ देना, इत्यादि जनघातक लीला करने वालों को वैसा ही दण्ड होना चाहिये ।

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।
अव्यां ते कृत्यां यां० ॥ २ ॥

भा०—(यां) जिस कृत्या=घातक प्रयोग को (ते) वे नीच पुरुष (कृकवाकौ) कृकवाकु=तीतर, (अजे) बकरे और (कुरीरिणि) कुरीर=चोल, पर और (यां कृत्यां) जिस करतूत को वे (अव्यां) भेड़ पर करते हैं (तां) उस करतूत से (पुनः प्रति हरामि) फिर उनको दण्डित करूं ।

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां० ॥ ३ ॥

भा०—(यां) जिस हिंसा कार्य को वे (एकशफे) एक खुर वाले पशु पर या (गर्दभे) गधे की जाति के पशु पर (यां) जिस हिंसा को (उभयादति) दोनों जबाड़ों में दांत वाले गाय व भैंस आदि पशुओं पर (चक्रुः) करते हैं वही हत्या का दण्ड उन्हें मैं पुनः दूं ।

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां) जिस हिंसा और (वलगम्) गुप्त पाप को (अमूलायां नराच्यां वा) अमूला और नराची नामक ओषधि के आधार पर (चक्रुः) करते हैं और (यां कृत्यां) जिस करतूत को (ते) वे (क्षेत्रे) खेत में करते हैं, वही दुःखदायी दण्ड मैं पुनः उनको दूं । अमूला और नराची दोनों विषैली ओषधि हैं। खेत में हत्या और गड्ढे आदि द्वारा धोखाबाज़ी से परघात करते हैं ।

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।
शालायां कृत्यां यां० ॥ ५ ॥

भा०—(ते) वे (दुः-चितः) दुष्ट चित्त वाले लोग (गार्हपत्ये) स्थिरता से घर में निरन्तर जलने वाली गार्हपत्य नामक (पूर्व-अग्नौ) प्रथमाग्नि में करते हैं । (यां कृत्यां) जिस करतूत को (शालायां) शाला=गृह में लोग किया करते हैं, उसी करतूत को दण्ड के रूप में पुनः उन पर प्रयोग करूं । निरन्तर स्थिर गार्हपत्य में-लोग ज्वलनशील विस्फोटक पदार्थों को चोरी से डाल कर हानि पहुंचाते हैं, मकानों में लोग आग लगाते सेंध लगाते तथा अन्य दुष्कर्म करते हैं ।

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।
अक्षेषु कृत्यां यां० ॥ ६ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस दुष्टाचार को (सभायां चक्रुः) सभा में करते हैं और (यां) जिस नीच कर्म को (अधि-देवने) जूआखोरी में और (अक्षेषु यां कृत्यां चक्रुः०) अक्ष=जूएके पासों में करते हैं उस सब करतूत के बदले में वही अनर्थकारी दण्ड उनको भी दूं । सभा

में दलबन्दी करके परद्रोह करते हैं, जूए में परद्रव्यहरण और नाना दुराचार करते हैं।

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे।
दुन्दुभौ कृत्यां यां० ॥ ७ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस घातक व्यवहार को (सेनायां) सेना में और (यां इषु-आयुधे) धनुषों और बाणों में (चक्रुः) करते हैं, और (यां कृत्यां) जिस घातक व्यवहार को (दुन्दुभौ) नक्कारे में करते हैं, उसके बदले में उसी अनर्थकारी प्रयोग को मैं उनके प्रति भी करूं। सेना में परद्रोह, धनुष बाण में कूट और विषैले बाणों का प्रयोग, नक्कारों में विष आदि लगा कर सेना वालों को देने से उनसे मृत्यु हो जाती है।

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां कृत्यां) जिस हानिकारक प्रयोग को (कूपे) कूए में (अव-दधुः) करते हैं। या जिन बुरे हानिकारक पदार्थों को (श्मशाने वा नि-चख्नुः) श्मशान में गाड़ आते हैं और (सद्मनि) घर में (यां कृत्यां) बुरी २ हत्याओं को (चक्रुः) करते हैं। (ताम्) उसको मैं उनके ऊपर ही दंड के रूप में (प्रति हरामि) डालता हूं। कूए में विष डालने, श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने या विस्फोटक पदार्थ चिता में जलाने या अन्य घोर अनर्थकारी सती दाहादि कार्य करने या घरों में बालक बालिकाओं की हत्या करने के अपराध करने वाले पुरुषों को यथोचित दंड दिया जाय।

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (याम्) जिस कुकृत्य को (पुरुषास्थे) पुरुष की हड्डियों में, और (यां च) जिस कुकृत्य को (सं-कसुके) नरद्रोही

चिता दाहक (अग्नौ) आग में (चक्रुः) करते हैं। ऐसे चोरी, (निर्दाहं) अग्नि से लोगों के घर भस्म करने और (क्रव्यादं) कच्चा मांस खाने वाले घोर पापी को फिर वैसा ही दण्ड प्राप्त कराऊं ।

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिंएमसि ।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥

भा०—जो दुष्ट पुरुष (एनां) इस कुकृत्य करतूती को (अपथेन) बुरे मार्ग से (आ जभार) राष्ट्र में लाता है (तां) उस करतूत को हम (इतः पथा) इस प्रकार के सरल मार्ग से (प्र हिण्मसि) राष्ट्र से बाहर निकाल दें । और प्रायः (अधीरः) मूर्ख, वेवकूफ लोग अपनी (अचित्या) अज्ञानिता या मूर्खता से ऐसे बुरे काम (मर्या धीरेभ्यः) बुद्धिमान् लोगों के लिये (सं जभार) ला पटकते हैं । इसलिये राजा उन दुष्ट कार्यों को कभी न चलने दे ।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

अथर्व० ४ । १८ । (प्र० तृ०)

भा०—और (यः) जो (चकार) किसी बुरे काम को कर तो बैठता है और तो भी (कर्तुं) उसको करने में (न शशाक) समर्थ न हो तो वह अपने (पादम्) पैर और (अंगुरिम्) हाथों को भी (शश्रे) तोड़ लेता है । वह (अभगः) मूर्ख ऐसा करके भी (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के लिये तो (भद्रं चकार) भलाई ही करता है । वह बुरे काम में हाथ डाल कर अपना सत्यानाश आप कर लेता है ।

१०–' मर्याः । धीरेभ्यः ' इति पदच्छेदो ह्विटनिकामितः ।

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा, (तं कृत्या-कृतं) उस हिंसाकारी (वलगिनं) नीच कुटिलगामी (मूलिनं) विषैली जड़ों के आधारों पर दूसरों की हत्या करने वाले और (शपथेय्यं) व्यर्थनिन्दक पुरुष को (महता वधेन) बड़े भारी कठोर दण्ड से (हन्तु) मारे और (अग्निः) अग्नि सेनापति अपने (अस्तया) फेंके जाने वाले बाण या गोली से (विध्यतु) वेंध डाले ।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तानि पञ्च, ऋचश्च सप्ततिः]

इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकाः पञ्चमे षडेकत्रिंशच्च सूक्तकम् ।
षट्सप्ततिश्च त्रिशती ऋचां च परिगण्यते ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्राब्दे श्रावणे च सिते भृगौ ।
प्रतिपद्यगमत्पूर्त्तिं पञ्चमञ्चाप्यथर्वणः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ।

१२–' इन्द्रस्तु सर्वांस्तान् हन्तु स त्वघ्नेन भवामिव: ' इति पैप्प० सं० ।

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदसंहिता

भाषा-भाष्य

(द्वितीय खण्ड)

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्म्मा

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ

प्रकाशक

आर्य्य-साहित्य मंडल, अजमेर.

मुद्रक—

सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर.

प्रथमावृत्ति 2000 | सं० 1985 वि० | मूल्य 4) रुपये

आर्य्य-साहित्य मण्डल अजमेर के लिये सर्वाधिकार सुरक्षित.

द्वितीय खण्ड की भूमिका

अथर्ववेद के सम्बन्ध में हमने सामान्यतः प्रथम खण्ड की भूमिका में विवेचन किया है। इस द्वितीय खण्ड की भूमिका में हम कुछ अन्य विवादास्पद विषयों पर अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करना चाहते हैं।

अथर्ववेद में जादू टोना, अभिचार, कृत्या, मणि, वशीकरण, उच्चाटन, मोहन, झाड़ा फूंका आदि नाना तान्त्रिक प्रपञ्चों की बातें कौशिक सूत्र के आधार पर प्रायः मानी जा रही हैं। श्रीसायणाचार्य कृत माधवीय वेदार्थ प्रकाश में प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में विनियोगों को दर्शा कर पुनः भाष्य किया गया है। उससे सर्वसाधारण की यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि ये सब विनियोगों में कही बातें जैसे तैसे अथर्ववेद से ही सम्बद्ध हैं और उसमें विद्यमान हैं।

इस सम्बन्ध में पूर्व खण्ड की भूमिका में हमने 'अथर्ववेद और जादू टोना' इस शीर्षक के नीचे [पृष्ट २३—३४ कुछ दिग्दर्शन कराया है। वहीं हमने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है। उसको हम पुनः न दोहरा कर इस भूमिका में मुख्यतः मणि, कृत्या, अभिचार, भूत पिशाच, ओदन पशु बलि, तथा कुछ घृणित और मूर्खता पूर्ण विधानों पर प्रकाश डालेंगे।

(१) मणि

प्रथम नव काण्डों में से लगभग तीस सूक्तों के विनियोगों में श्री सायणाचार्य और उनके सम्पादक श्री शङ्कर पाण्डुरंग ने मणि बांधने का उल्लेख किया है। यह 'मणि' क्या पदार्थ है और वेद में 'मणि' शब्द से क्या पदार्थ अभिप्रेतहै इसकी आलोचना करते हैं।

मणि शब्द का अर्थ

उणादि सूत्र 'सर्वधातुभ्य इन्' ४ । ११८ ॥ के अनुसार 'मण' शब्दे' (भ्वादि) धातु से 'इन्' प्रत्यय करने से 'मणिः' शब्द सिद्ध किया है । भाष्य में महर्षि दयानन्द 'मणति शब्दयतीति मणिः' यह अर्थ लिखते हैं । अर्थात् जो उपदेश दे वही मणि है । फलतः वह पुरुष जो उपदेश दे, शिक्षा दे, मार्ग दिखावे, नेता, शिरोमणि, उपदेष्टा, गुरु, मार्गदर्शी आदि 'मणि' शब्द से कहे जाने योग्य हैं । इसी प्रकार 'मनु ज्ञाने' (दिवादिः), 'मन स्तम्भे (चुरादिः) 'मनु अवबोधने' (तनादिः) इन तीन धातुओं से 'इन्' प्रत्यय करने और छान्दस णत्व करने से 'मणि' शब्द सिद्ध होता है । इससे मणि शब्द से तीन अर्थों का लाभ होता है जो ज्ञानवान् हो, जो थामे, शत्रुओं का स्तम्भन करे, राज्य आदि का कोई भार अपने ऊपर ले, और जो दूसरों को ज्ञान करावे, चेतावे, बुद्धि देवे, ये सब 'मणि' शब्द से कहे जाने योग्य हैं । लोक में 'मणि' रत्न का वाचक है । इसकी व्युत्पत्ति मडि धातु से करके शोभा जनक रत्नादि का वाचक 'मणि' शब्द बना लेते हैं ।

कौशिक सूत्रों में जहां 'मणि' बांधने आदि का प्रकरण है वहां किसी भी निर्दिष्ट पदार्थ को अभिमन्त्रित करके उसकी गुटिका बना कर या मणका बना कर या तावीज या पुटिका बनाकर बाहु, गले, कटि आदि भागों में पहनने के पदार्थ को ही 'मणि' शब्द से कहा गया है । ओषधि आदि भी धारण रोगों को दूर करने से 'मणि' कहा सकता है । परन्तु वेद में जहां २ मणि शब्द का प्रयोग है वहां क्या पदार्थ लेना चाहिये यह तो मन्त्र में प्रयुक्त मणि शब्द के विशेषणों से ही जानना चाहिये । अन्यथा अनर्थ होगा । उदाहरण के रूप में क्रम से विचार करते हैं ।

(१)—कृष्णलमणि—अथर्ववेद [का० १ सू० ५] 'अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु०' इस सूक्त से दो कृष्णलमणि धारण करने को लिखा है । इस सूक्त में ४ मन्त्र हैं । चारों मन्त्रों में कहीं भी मणि शब्द का

प्रयोग नहीं है। फलतः यह विनियोग मूर्खतायुक्त है। इस सूक्त का प्रयोग राष्ट्रच्युत राजा को पुनः राज्यासन पर बैठाने के लिये भी प्रयुक्त होता है। आयु, बल, वीर्य आदि प्राप्ति के कार्यों में भी इसका विनियोग है। राजा के लिये बल, वीर्य, और ब्रह्मचारी के लिये बल, वीर्य प्राप्त करनेपरक जो उत्तम उपदेश निकलते हैं वही इस सूक्त के समुचित अर्थ हैं। यह भाष्य में देखिये।

(२)—'शुक्ल वीरणोपाका मणि'—उद्विग्न पुरुष के उद्वेग नाश के लिये श्वेत सरकण्डे के सींख की बनी मणि को 'उप प्रागाद् देवः०' [अथर्व० १।२८॥] इस सूक्त से धारण करने के लिये लिखा है। इस सूक्त में भी कहीं मणि शब्द का प्रयोग नहीं है। परन्तु कौशिक ने भी मणि का नाम नहीं लिया। प्रत्युत वीरण की चार सींके लेकर उनको दोनों तरफ से बांधने, और दो जलती लकड़ियों को परस्पर रगड़ने की क्रिया लिखी है। जिसका अभिप्राय यह है कि यदि राजा को भय हो तो उसे आथर्वणिक विद्वान् यह उपदेश करे कि जैसे एक २ सींक कमजोर है, ऐसे अकेला पुरुष निर्बल है। जैसे ४ सींके बंधकर मजबूत हो जाती हैं उसी प्रकार कमजोर पुरुषों का भी संगठन कर लो। दूसरे जिस प्रकार एक जलती अकेली लकड़ी बुझ जाती है और कम जलती है, दो के मिलाने से दोनों अधिक ज्वाला देकर जलती हैं उसी प्रकार अग्नि के समान राष्ट्र के तेजस्वी पुरुषों को मिला कर प्रचण्ड करो और शत्रु से मुकाबला करो, फिर शत्रु से भय नहीं। इसी आशय को वेद मन्त्र में 'अग्नि' शत्रुसंतापक राजा के वर्णन में दर्शाया गया है। वह अग्नि-अर्थात् अग्रणी नेता, सेना नायक, राक्षसों का नाशकारी यातुधानों अर्थात् पीड़ा जनक पुरुषों का नाशक है। वह राष्ट्र में समस्त प्रकार के अनर्थकारी लोगों का दमन करे। इस प्रकरण को पाठक भाष्य में स्पष्ट देखें।

(३)—अभीवर्त्त मणि—रथनेमि मणि या रथचक्रनेमि मणि। अथर्व० का० १। सू० २८॥ अभीवर्त्तेन मणिना इत्यादि सूक्त से शत्रु से पीड़ित

राष्ट्र की वृद्धि के लिये उक्त मणि को धारण किया जाना लिखा है। सायण इसको 'रथचक्रनेमि मणि' नाम देता है। कौशिक रथनेमि मणि बतलाता है। वेद 'अभीवर्त्त' मणि कहता है। तो सन्देह होता है कि यह पदार्थ क्या है। मन्त्र में कौशिक ने तो 'अयःसीसलोहरजतताम्रवेष्टित हेमनाभि,' रथनेमि मणि का स्वरूप बतलाया है अर्थात् बीच में सोने के छल्ले पर क्रम से लोहा, सीसा, चांदी आदि के छल्ले लगे हों वह पहना जाय। परन्तु इससे राष्ट्र की वृद्धि हो यह असम्भव है।

वेद तो कहता है—(येन मणिना इन्द्रः अभि वावृधे) जिस 'मणि' से इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा बढ़ता है, हे (ब्रह्मणस्पते तेन अभीवर्त्तेन राष्ट्राय अस्मान् वर्धय) हे विद्वान् वेदज्ञ ! तू उस अभीवर्त से हम राष्ट्र के वीरों को या प्रजा को शक्ति प्रदान करता और राजा को भी शक्ति प्रदान करता है। अर्थात् शत्रु के बल को रोकने वाला पुरुष जो नगर को चारों ओर से सुरक्षित रखे वह नरमणि, शत्रु-स्तम्भक पुरुष 'अभीवर्त्त मणि' है। इसी की व्याख्या वेद अगले मन्त्र में करता है कि-(यः वः सपत्नान् अभि-वृत्य पृतन्यन्तं अभि तिष्ठ) जो हमारे शत्रु हों उनके मुकाबले पर डट जाय और सेना से चढ़ाई करने वाले का मुकाबला करे और (यः नः दुरस्यति तम् अभितिष्ठ) जो हम पर दुःखदायी शस्त्र फेंके उसका मुकाबला करे। वह पुरुष वीरश्रेष्ठ पुरुष 'मणि' है। इसी प्रकार वह मणि 'सपत्नक्षयण' (म० ४) शत्रुनाशक कहा गया है। उसको शत्रुओं के पराजय के लिये नियुक्त किया जाता है। राजा भी कहता है कि ऐसा नरपुंगव सेनापति ही (मह्यं राष्ट्राय सपत्नेभ्यः पराभुवे बध्यताम्) मेरे राष्ट्र के शत्रुओं के पराजय करने के लिये बांधा जाय, नियुक्त किया जाय।

यहां 'बध्यताम्' का अर्थ बांधा जाय है। केवल तावीज ही नहीं बांधा जाता है प्रत्युत अर्थ या धन द्वारा किसी पुरुष को रक्षा के कार्य पर नियुक्त किये जाने को भी 'बांधा जाना' कहा जाता है। जैसे महाभारत में भीष्म पिता-मह ने कहा है 'बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।' मुझे कौरवों ने धन से बांध रखा है।

भाषा तक में प्रयोग होता है, नौकरी बन्ध गयी, वेतन बंध गया अर्थात् नियत होगया। फलतः यहां भी कोई तावीज नहीं है प्रत्युत 'मणि' शब्द से शिरोमणि नेता, शत्रुस्तम्भक पुरुष ही अभिप्रेत है। उसके मानपद के सूचक चिन्ह को गौण रूप से 'मणि' शब्द से कहा जा सकता है। जैसे विशेष पदाधिकारी लोगों को पदक दिये भी जाते हैं।

(४) हिरण्यमणि—अथर्व० १। ३५॥ सूक्त से पूर्व कहे कृष्णलामणि और हिरण्यमणि दोनों के बांधने का विनियोग है। यद्यपि वेद में 'हिरण्य' शब्द का प्रयोग अवश्य है। परन्तु वर्णन है 'यदाबध्नन् दाक्षायणाः हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।' शुभ संकल्प वाले दाक्षायणों ने शतानीकको को 'हिरण्य' बांधा। इस सूक्त भर में मणि शब्द का प्रयोग नहीं। दूसरे यौगिक अर्थ से स्पष्ट है कि दाक्षायण अर्थात् दक्ष=बल और ज्ञान के एक मात्र स्थानभूत पुरुषों ने सैकड़ों सेनाओं के नायक को 'हिरण्य' बांधा। यहां 'हिरण्य' से सुवर्ण, बल और आत्मसामर्थ्य ही प्रतीत होता है। दूसरे मन्त्र में हिरण्य को 'दाक्षायण हिरण्य' कहा गया है। अर्थात् बल, उत्साह, क्रिया शक्ति को बढ़ाने वाला 'हिरण्य' है। हिरण्य अर्थात् वह पदार्थ जो हित भी हो और रमणीय भी हो। तृतीय मन्त्र में पहनने वाला स्वयं 'दक्षमाणः' अर्थात् बलवान् पुरुष है। वह तेजःस्वरूप 'हिरण्य' को धारण करता है। इसी प्रकार अथर्व० का० ५ में सू० २८ को भी हिरण्य-बंधन में लगाया गया है। उस में अमृत हिरण्य, आत्मा और आत्मिक बल का वाचक है। उसी को 'एकाक्षर' (५।२८।८) कहा है वह सिवाय परब्रह्म के दूसरा नहीं। वही महान् सेनापति के रूप में शत्रुओं के नाशक और उनको गिराने वाला 'भिन्दन् सपत्नानधरांश्च कृण्वत्' बतलाया गया है। इस से केवल हिरण्य शब्द से सुवर्ण धातु निर्मित खण्ड लेना दूरदर्शिता नहीं है।

(५) जङ्गिड़—जंगिड़ का वर्णन अथर्ववेद में दोनों स्थानों पर आया है। एक, का० २।४॥ में दूसरा, का० १९ सू० ३४,३५ में॥ इस मणि के धारण

करने के सायण ने तीन प्रयोजन बतलाये हैं १ कृत्या दूषण, २ आत्म रक्षा, ३ विघ्नशमन। यह किसी वृक्ष की लकड़ी का टुकड़ा समझा जाता है। यह वृक्ष बनारस की तरफ होता है। दारिल के मत में यह अर्जुन वृक्ष है। परन्तु वेद इस जंगिड़ का और ही महत्व बतलाता है। वह मणि 'विष्कन्धदूषण' [२।४।१] है। अर्थात् शत्रु के सेना शिविरों को विध्वंस करता है और उसको (दक्षमाणाः रणाय अरिष्यन्तः सदैव बिभृमः) बल का कार्य करते हुए हम जब युद्ध के लिये जाना चाहें तब के लिये हम उसे बांधें, धारण करें। वह स्वयं (सहस्रवीर्यः २ । ४ । २) हजारों बल वाला है, उस के बल से (व्यायामे सर्वा रक्षांसि सहामहे २ । ४ । ४) युद्धोद्योग काल में समस्त दुष्ट पुरुषों को पराजित करते हैं। वही (कृत्यादूषिः) और (अराति दूषिः २ । ४ । ६) अर्थात् शत्रु के गुप्तघातक प्रयोगों और शत्रुओं को भी नाश करने वाला है । वह मणि, नरशिरोमणि किस प्रकार का सेना नायक हो सकता है यह पाठक स्वयं निर्णयकर सकते हैं। वेद को जंगिड़ शब्द से वही अभिप्रेत है। वृक्ष के नाम और गुण तो उस वर्णन में श्लेष से कह दिये हैं। जिनका विस्तृत वर्णन १७वें काण्ड में किया है जिसको हम चतुर्थ खण्ड में दर्शावेंगे ।

(६) 'यवमणि'—अथर्व० का०२ । सू०७ वें का विनियोग शाप, क्रूर दृष्टि, पिशाच आदि भय निवारण के लिये यवमणि के बांधने को लिखा है। सूक्त भर में 'यवमणि' का नाम नहीं है। यवमणि से शायद पाठक समझें, जौ के दाने तावीज में भरकर बांध लिये जाते हैं। ठीक है, कौशिक, सायण आदि तो यही मान कर सन्तुष्ट हैं। परन्तु वेद ने 'यव' का स्वरूप भी बतलाया है। अथर्व० का० ९ । सूक्त २ । मं० १२ । में

अग्निर्यवः इन्द्रो यवः सोमो यवः । यवयावानो देवाः यावय त्वेनम् ॥

अग्नि अग्रणी पुरुष 'यव' है। 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् राजा 'यव' है। 'सोम' ज्ञानवान आचार्य 'यव' है। समस्त विद्वान, शासक लोग 'यव' को साथ लेकर अपने शत्रु का नाश करें। क्रूर पुरुषों की दृष्टि और दुष्ट

पिशाचों के नाश के लिये कैसा 'यव' चाहिये इस का निर्णय स्वयं करना उचित है। जौं तो भूख की निवृत्ति के लिये है।

(७) दशवृक्षमणि—ढाक, गुलर, जामुन, काम्पोल, स्रक्, वंग, शिरीष, स्रक्ति, वरण, बिल्व, कुरक, गृह्य, गलावल, वेतस, शिम्बल, सिपुन, स्यन्दन, अरणि, अश्मयोक्त, तुन्तु, पूतदारु, इन २१ वृक्षों में से किन्हीं १० वृक्षों की लकड़ी के छोटे २ टुकड़े लेकर मणि बनालें। वह 'दश वृक्षमणि' या शाकल मणि कही जाती है। उसको लाख और सोने में जड़ कर धारण करते हैं। इसका सम्बन्ध दो सूक्तों से है अथर्ववेद २। ७। और ८। ७॥ इन में से (८।७) में तो नाना ओषधियों का वर्णन है उक्त वृक्ष की मणि बना कर पहनने का कोई वर्णन नहीं है और (२।७) में 'दशवृक्ष' से दश प्राण युक्त 'जीव' का वर्णन किया है। मणि बन्धन का कहीं सूक्त भर में वर्णन नहीं है।

(८) स्राक्त्यमणि या तिलकमणि—वह स्रक्ति या तिलक वृक्ष की मणि बनायी जाती है। इसके बांधने के लिये दो सूक्त बतलाये जाते हैं, एक अथर्व० (२।११) दूसरा अथर्व (८।५) प्रथम में 'स्रक्त्योऽसि प्रति सरोऽसि प्रत्याभिचरणोऽसि, (२।११।१) इस शिरोमणि पुरुष को 'स्रक्त्य' कह कर उसका स्वरूप 'प्रत्यभिचरण' अर्थात् शत्रु के प्रति धावा करने वाला बतलाया गया है। उसके लिये आदेश है कि—'प्रति तम् अभिचर यो ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः' जो हम से द्वेष करे और जिससे हम प्रेम नहीं करते तू उस पर धावा करदे। उसी के विशेषण है 'सूरिः' 'विद्वान,' तनू पान' शरीरों का रक्षक। अथर्व (८।५) में भी वह 'वीर' वीर्यवान्, सपत्नहा, सहस्वान्, वाजी, उग्रः, आदि कहा है। कार्य भी बतलाया है—

स्राक्त्येन वै मणिना ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतनाः विमृधो हन्मि रक्षसः॥

इस सर्वद्रष्टा ऋषि के समान बुद्धिमान स्राक्त्य मणि से मैं समस्त सेनाओं को विजय करूं, सब राक्षसों का विनाश करूं। इत्यादि। यहां

भी वीर सेनानायक पुरुषों का ही वर्णन है। गौण रूप में वीरों को प्राप्त होने योग्य विशेष चिन्ह रूप मणि प्रति दृष्टान्त के रूप में भले ही माना जासकता है। हम समझते हैं कि पाठकगण इन नाना मणियों के विवेचन से अवश्य वास्तविक शिरोमणियों का अभिप्राय समझ गये हैं।

शेष 'अस्तृत' आदि मणियों का वर्णन १९ वें काण्ड में होने से उसका स्पष्टी करण वहां ही किया जायगा। विनियोग लेखकों ने (२ । १७) पाठा मूलमणि, (३।५) पर्णमणि, (३।६) अश्वत्थमणि, (३।७) हरिणशृङ्गमणि, (३ । ९) अरलु मणि, (३ । १६) सिंहनाभि लोममणि, (३।२१) पलाशमणि, (३।२२) हस्तिदन्तमणि (३।२३) (३ । ३३) शरमणि, (४ । ९) आञ्जनमणि, (४ । १०) शंखमणि, (४ । २०) त्रिसंध्यामणि, (४ । २०) पुष्पमणि (६ । १५) सर्षप-काण्ड मणि, (६ । ७०) कृष्णचर्म मणि, (६।७०) अर्कमणि (६।८९) लोहमणि, (६।८९) पाषाणमणि, (७ । ७) नौ मणि, (७ । १६) गो-बन्धनरज्जु मणि, (८ । २) द्रुवण मणि, आदि नाना मणियों के बाँधने के लिये नाना सूक्तों को दर्शाया है। परन्तु बहुतों का तो सूक्त में कोई आधार नहीं, केवल प्रथामात्र होने से लिखा है। और दो एक जिनका कहीं नाम भर आ गया है उसका अभिप्राय न समझ कर उसको उसी प्रकार खैंच लिया गया है जैसे पूर्व आठ उदाहरणों में हमने दर्शाया है।

जो औषधियाँ हैं उनके समीप रहने और शरीर के साथ छूने से उतना तो लाभ अवश्य होता है जितना एक तीव्र रोग नाशक औषधि से होना सम्भव है। जिस प्रकार फिनाइल की गोलियों से दुष्ट रोगजन्तु समीप नहीं आते, इसी प्रकार ओषधि की बनी मणियें भी उपयोगी हो सकती हैं परन्तु वेद में जहाँ उन नामों पर भौतिक पदार्थों से अधिक गुण और कार्य-क्षमता का वर्णन है वहाँ उस गुणवाला पुरुष ही लेना चाहिये। केवल एकांश में गुण की समानता देख कर उन नाम का लौकिक प्रयोग बाद में हुआ समझना चाहिये। अन्यत्र भी जहाँ मणि आदि शब्दों का प्रयोग

हुआ है उनका स्पष्ट विवरण यथास्थान भाष्य में देखना चाहिये। इन सूक्तों का विनियोग इन मणियों के बाँधने के अर्थ के अतिरिक्त और भी बहुत से क्रिया काण्डों में है इसलिये इन मणियों का ही तात्पर्य वेद को अभिप्रेत हो यह बात सर्वथा-खण्डित हो जाती है। फलतः वेद का अभिप्राय ऐसा सर्वगामी होना चाहिये जो उन सब विनियोगों को प्रत्यक्ष परोक्ष सम्बन्धों से वश कर सके। अस्तु। अब हम कृत्या और अभिचार की विवेचना करते हैं।

(२) कृत्या

जब तक हम 'कृत्या' शब्द को केवल मन्त्रजपमात्र से होनेवाला टोना समझते रहते हैं तब तक उसका कोई भी स्वरूप निर्णय नहीं किया जा सकता। तन्त्र-ग्रन्थों के अनुसार 'कृत्या' क्या होती है इसका भी बतलाना कठिन वस्तु है। क्योंकि वह रहस्य शास्त्र है। प्रत्यक्ष क्रिया का उसमें सर्वथा उल्लेख नहीं है। वेद 'कृत्या' किसको कहता है इसका अनुशीलन किया जा सकता है।

(१) आचार्य सायण ने अथर्व का० २। सूक्त १२ के चतुर्थ मन्त्र के 'अमुम् ददे हरसा दव्येन' इस चतुर्थ चरण के व्याख्यान में लिखा है— 'अमुम् अपकर्तारममुकनामानं शत्रुं दैव्येन देवसम्बन्धिना। मत्कृताभिचारजनित कृत्यारूपदेवताकृतेन हरसा। क्रोधनामैतत्। क्रोधेन आददे स्वीकरोमि निगृह्णामीत्यर्थः।'

अर्थात्—'अमुं ददे हरसा दैव्येन। उस अमुक नाम के शत्रु को दैव्य क्रोध से अपने वश करता हूँ। दैव्य क्रोध अर्थात् मेरे से किये अभिचार से उत्पन्न जो 'कृत्या' रूप देवता है उस द्वारा किये क्रोध से मैं शत्रु को वश करूँ। यहाँ सायण कृत्या को एक देवता मानता है। जो अभिचार से पैदा होती है।

(२) अथर्व० काण्ड ४। सू० २८। म० ६। 'कृत्याकृन्मूलकृधातुधाना०' इस मन्त्र में 'कृत्याकृत्' पद के भाष्य में सायण लिखते हैं—

क्रियानिर्वृत्तया पिशाच्या छिनत्तीति कृत्याकृत ।" जो पुरुष 'कृत्या' अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हुई पिशाची से छेदे वह 'कृत्याकृत्' है। यहाँ सायण 'कृत्या' शब्द से ऐसी पिशाची लेते हैं जो क्रिया से उत्पन्न हो।

(३) अथर्व० ४ । १८ । २ ॥ 'यो देवाः कृत्यां कृत्वा हराद् अविदुषो गृहम् ।' इसके भाष्य में सायण 'कृत्यां' शब्द की व्याख्या करते हैं 'मन्त्रौषधादिभिः शत्रोः पीड़ाकरीं कृत्याम्' । अर्थात् मन्त्र और ओषधि से शत्रु को पीड़ा देनेवाली कृत्या होती है और आगे लिखते हैं 'कृत्या निखननार्थं गच्छेत्' अर्थात् कोई पुरुष कृत्या को गाड़ने के लिये जाता है। अर्थात् कृत्या गाड़ी जाती है।

(४) अथर्व काण्ड १९। सू० ९। '"शंनोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः। शं नो निखाताः वलगाः शमुल्काः ।" इसके भाष्य में सायण लिखते हैं— "अभिचाराः मारणार्थं शत्रुभिः क्रियमाणानि कर्माणि । कृत्याः अभिचार कर्मभिरुत्पादिताः पिशाच्यः । अभिचारकर्माणि जड़त्वात् स्वयमेव शत्रुसमीपमागत्य न निघ्नन्ति किंतु हिंसिकाः पिशाचीरुत्पादयन्ति ।" अर्थात् मारने या प्राणघात करने के लिए शत्रु जिन कर्मों को करते हैं वे अभिचार हैं और अभिचार कर्मों से पैदा की गयी पिशाचियें 'कृत्या' हैं। वे कर्म तो जड़ होने से स्वयं शत्रु के पास जाकर नहीं मारते किन्तु मारनेवाली पिशाचियों को वे कर्म ही उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रसङ्ग में 'वलगा' शब्द के व्याख्यान में सायण लिखते हैं— 'निखाताः, भूमावप्रकाशनिगूहिता वलगाः । वलगाः पीडार्थं भूमेरधो बाहुप्रदेशे निखन्यमाना अस्थिकेशादिवेष्टिता विषवृक्षादिनिर्मिताः पुत्तल्यो वलगा इत्युच्यन्ते ।' अर्थात् भूमि में एक हाथ भर नीचे खोदकर उनमें हड्डियों और केशों से लिपटी, जहरीले विष वृक्ष आदि की बनी पुतलियां 'वलगा' कहाती हैं।

सायण के इन विवरणों से कुछ २ आभास अवश्य होता है। पर यथार्थ रूप से कृत्याओं का कोई स्वरूप प्रकट नहीं होता। देवता, पिशाची,

कृत्या, वलग आदि शब्द कोई विशेष परिभाषाओं को बतलाते हैं। ये सब पदार्थ शत्रुओं को मारने के लिये किये जाते थे। परन्तु अब हम स्वयं वेद के सूक्तों पर दृष्टि डालते हैं वे 'कृत्या' किसको बतलाते हैं।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेन अन्य जिघांसति।

अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥ अथर्व० ५।१८।३॥

'जो पुरुष दूसरे के लिये 'पाप्मा' को कच्चे वर्तन में करके उससे दूसरे को मारना चाहता है तो उसके जल जाने पर बहुत से पत्थर फट्फट आवाज़ से फूट निकलते हैं।' इससे प्रतीत होता है कि 'पाप्मा' बारूद के समान विस्फोटक पदार्थ का नाम है जिसको कच्चे वर्तन में बन्द करके अग्नि लगा देने से जलते ही भीतर भरे नोकीले पत्थर फूट पड़ते हैं।

ऐसी भयानक 'कृत्या' अर्थात् घातक क्रियाओं को जो करना न जानता हुआ भी करता हो तो उसके लिये वड़ा भय है। स्वयं वेद कहता है—

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्। ४। १८। ६॥

जो कृत्या का प्रयोग तो कर दे, और उसके ठीक प्रयोग न कर सके तो वह अपने ही हाथ पांव तोड़ लेता है। इससे वह—

चकार भद्रमस्मभ्यमात्मन तपनं तु सः।

हमारे लिये तो ठीक ही करता है और स्वयं कष्ट पाता है।

इसी प्रकार काण्ड ५। सूक्त ३१ में शत्रु जिन कृत्याओं का प्रयोग करता है उनका वर्णन है। जैसे (१) कच्चे वर्तन में घातक क्रिया का प्रयोग करना, जैसे पहले हमने दिखलाया। (२) मिश्र धान्य अर्थात् जिसमें कई तरह के धान्य मिले हों उनमें विषैले दाने मिलाकर शत्रु देश में बेच आये, इससे उनको खाने वाले मर जायें। (३) कच्चे मांस से विष की पिचकारी या रोगजनक कीटों का प्रवेश करा दिया, उसको खाकर मर जांय या रोग उत्पन्न हों। (५। ३१। १)

(४) तीतर और चील आदि पक्षियों के साथ उनमें विस्फोटक पदार्थ या ज्वलनशील पदार्थ लगाकर शत्रु की सेना में छोड़ दे। जहां बैठें

वहां मकानों में आग लग जाय (५ । ३१ । २)। कपोतों से ऐसे प्रयोग करने का उपाय अर्थशास्त्रकार कौटिल्य ने भी लिखा है।

(५) गधे, घोड़े, खच्चर आदि पर विषमय प्रयोग करना जिसमे वे मरने लग जांय या बीमार हो जांय। (५ । ३१ । ३)

(६) अमूला और नराची नाम ओषधियों या लताओं के आधारपर या उनमें छिपाकर कोई 'वलग' अर्थात् गढ़ा खोदकर 'घातक' प्रयोग किया जाय या खेत में गढ़े खोदकर उनपर मूल रहित ऐसी जंगली बेलें बिछा दें जिनपर लोग मुग्ध होकर आवें और आते ही वे गढ़े में गिर जांय। इत्यादि (५।३१।४)। इनका प्रयोग भी अर्थ-शास्त्र कौटिल्य में कण्टक शोधन प्रकरण में लिखा है।

(७) गृह में जहां अग्नि के स्थान हों वहां भड़कने वाले पदार्थ रखकर हानि पहुंचाते हैं। (५ । ३१ । ५)

(८) सभा में, जूए खेलने के स्थान में, या जूआ खेलने के मोहरों में विस्फोटक पदार्थ या विषैले पदार्थ का प्रयोग कर दें। (५।३१।६)

(९) सेना में, या धनुषों पर, या नक्कारों पर घातक प्रयोग करें। विषैली गैसें, विषैले लेप लगा दें जिनके स्पर्श और प्रयोग से लोग मर जायें (५ । ३१ । ७)।

इत्यादि प्रयोगों को करने वालों को उन २ घातक प्रयोगों द्वारा ही दण्ड देने की आज्ञा वेद ने दी है।

शतपथ में 'वल-गहन' (यजु० ५।२३) मन्त्र के भाष्य में एक कथा दी है कि असुरों ने देवों के लिये कृत्या का प्रयोग किया और वलगों को गाड़ दिया। देवों ने हाथ भर खोद २ कर उन वलगों को खोद डाला। फलतः कदाचित् ये भूमिमें रखे मगन गोले या बाम्ब ही हों जिनके फूटने पर घोर संहार होना सम्भव हो। गत योरोपीयन महाभारत में, समुद्रों में मगन गोले (mines) बिछाए गये थे जो जहाज़ में टकराते ही फूटते थे। ये सब प्राचीनकाल के 'वलग' थे। आज कल की विषैली गैसें, भोजन आदि में बेक्टीरियां या रोगकारी परमाणुओं का प्रचार, विषैली ओषधियों का

प्रचार, यन्त्र आदि सब घातक प्रयोग वेदकाल में 'कृत्या' कहाती थीं। जिनका एक रूप अथर्व० काण्ड १० सूक्त १ म में भी कुछ वर्णन किया है। जैसे—

(१) सुरूप सुन्दर मूर्त्ति में कृत्या का प्रयोग (१।३) खेतों और गोओं और पुरुषों पर कृत्या का प्रयोग [४], यन्त्र रूप में कृत्या का प्रयोग [८], केवल घोर शब्द मात्र करने वाली कृत्या [१४], प्रबल वायु चलाने वाली कृत्या [१७], गड़े हुए मगन गोले और [१८।१९] अन्धकार में कृत्या का प्रयोग इत्यादि वेद में ऐसे समस्त कृत्याओं के प्रयोग करने वालों को बड़े कठोर दण्ड देने का विधान किया है क्योंकि 'अनागो हत्या वै भीमा कृत्ये० (१० । १ । २९) यह गुप्त हिंसा का प्रयोग निरपराधों की हत्या किया करता है।

इस कृत्या के विवेचन में ही अभिचार का भी प्रत्यक्ष रूप आजाता है। तो भी इतना और समझ लेना चाहिये कि 'अभिचरण' शब्द से शत्रु के नाश के लिये उस पर जा चढ़ना यह भाव वेद में स्थान २ पर पाया जाता है। जैसे अभीवर्त्त मणि के प्रकरण में हम दर्शा आये हैं।

इन कृत्याओं के वेद में चार विभाग किये हैं—

याः कृत्या आंगिरसीर्या कृत्याः आसुरीर्याःकृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः। उभर्यास्ता परायन्तु परावतो नवतिं नाव्या अति। अथर्व० ८ । ५ । ९ ॥

इस मन्त्र में कृत्याओं के ४ प्रकार दर्शाये हैं (१) आंगिरसी (२) आसुरी, (३) स्वयंकृता (४) अन्यों द्वारा आभृता। इन चारों को स्पष्ट करते हुए सायण ने लिखा है कि—

(१) आंगिरसीः अंगिरसा प्रयुक्ताः या प्रसिद्धाः कृत्याः सन्ति। अंगिरसो महर्षेः कृत्याप्रयोगविधातृत्वमांगिरसकल्पाख्यसूत्रनिर्माणादेव प्रसिद्धम्। (२) तथा आसुरीः आसुर्यः। असुरैर्निर्मिता याः कृत्याः सन्ति। (३) एवं स्वयंकृता परार्थप्रयोगे सति केनचिद् वैकल्येन स्वास्मिन्नेव पर्यवसिताः स्वयंकृता इत्युच्यन्ते। (४) या उच अन्यै र्मत्सरिभिः आभृताः आहृताः प्रयुक्ताः कृत्याः सन्ति।'

अर्थात्—(१) आंगिरसी, वे कृत्यायें हैं जिनका अंगिरा ऋषि ने प्रयोग किया। महर्षि अंगिरा के आंगिरस कल्प सूत्र बनाने से ही उनका कृत्या प्रयोग करने का ज्ञान होता है। (२) असुरों द्वारा की गयी कृत्या आसुरी है (३) स्वयं प्रयोग करने पर उलट कर जो किसी भूल चूक से जब अपने पर आटूटें वे कृत्या 'स्वयंकृता' और दूसरों की प्रयुक्त कृत्या अन्याहृत हैं।

परन्तु मन्त्र में 'उभयी' का प्रयोग है फलतः मुख्य दो ही प्रकार की कृत्या हैं एक 'आसुरी' दूसरी 'आंगिरसी'।

इन दोनों प्रकारों की कृत्या किस प्रकार की होती हैं हम कल्पना नहीं कर सकते। क्यों कि इनके विधायक ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। तो भी थोड़ासा इन कृत्याओं का स्वरूप नीचे लिखे मन्त्रों से अनुमान हो सकेगा।

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता।
प्रत्यग् विभिन्धि त्वं त योऽस्माँ अभिदासति। अथर्व० ४।१६।६॥

'तू सौ शाखाओं में फूटती है, तेरा जनक भी 'विभिन्दन्' अर्थात् नाना शाखाओं में फूटने वाला है। तू हम पर आक्रमण करने वाले शत्रु को तोड़ फोड़ डाल।' यह मन्त्र सायण ने सहदेवी ओषधि पर लगाया है। परन्तु इस वर्णन से 'सहदेवी' ओषधि 'अति बलवती अग्नि, दाह धारण करने वाली' विशेष कृत्या या घातक शक्ति प्रतीत होती है। जिनका प्रयोग 'बारूद' के समान विस्फोटक पदार्थ से किया जाता है। और वह सेना में पड़ते ही उनको तोड़ फोड़ देती है। इसी का वर्णन अगले मन्त्र में है।

असद् भूम्याः समभवत् तद् याम् एति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु॥

भूमि से कोई पदार्थ छोटा सा नाचीज या तुच्छ से रूपमें रहता है। वह अकाश में जाते ही फैल जाता है, वहां से नाना प्रकार से प्रज्वलित होता है, तब वह अपने विरोधी तक पहुँचता है।

यह ऐसा गोला प्रतीत होता है जो आकाश में फूटे और वहां से ही शत्रु पर मार करे। आज कल के महायुद्धों में श्रेपनल, बाम्ब आदि के स्वरूप देखने से प्रचीन सहदेवी आदि महा शक्तिओं का अनुमान हो सकता है। इन गोलों में से निकलने वाले चाकू, कील, गोली आदि घातक पदार्थों को सायण ने 'पिशाची' नाम से कहा है। वे शरीर में लगकर खून कर देती हैं। इसी से वे पिशाची हैं। इस प्रकार कृत्या का कुछ विवेचन हमने कर दिया है।

(३) अभिचार

शत्रुओं के आक्रमण को अभिचार कहा जाता है। इसका स्पष्टार्थ मन्त्र में आये प्रयोग से स्पष्ट होता है—प्रति तम् अभिचर योस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। (अथर्व० २।११।३॥) जो हम से द्वेष करता है जिससे हम द्वेष करते हैं उस पर तू चढ़ जा। वेद में अभिचार शब्द का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है जैसे—

(१) परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः। अथर्व० ८।२।२६॥

(२) यस्त्वा अभिचेरुः पुरुषः स्वो यद् अरणो जनः।

उक्त दोनों प्रयोगों से प्रतीत होता है कि 'अभिचार' शब्द द्वेष कृत आक्रमण का नाम है। केवल दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये मन्त्र पाठ करके कोई टोना चला देना 'अभिचार' शब्द से अभिप्रेत नहीं है। लौकिक साहित्य में भी 'अभिचार' शब्द का प्रयोग शत्रु पर आक्रमण करनेके लिये प्रयुक्त होता रहा है जैसा कि कामन्दक ने लिखा है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसा। पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः॥

अर्थात् चाणक्य के अभिचार रूप वज्र से नन्द राजारूप पर्वत मूल से उखड़ कर गिर पड़ा। चाणक्य ने नन्द पर कोई टोना नहीं किया था प्रत्युत राजनीति द्वारा विग्रह किया, उसकी सेनाओं पर आक्रमण कराया और उसका विजय किया था। शत्रु के प्रति समस्त विजयोपयोगी क्रिया कलाप 'अभिचार' शब्द में आ जाता है। वेद में भी अभिचार शब्द से

यही अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त विनियोगकारों ने जिन सूक्तों का अभिचार कर्म में प्रयोग लिखा है उन पर थोड़ा विचार करते हैं।

(१) अथर्व का० २। सू० १२॥ यह सूक्त 'भरद्वाजप्रव्रस्क' नामक सूक्त कहा जाता है उसमें तप की साधना का वर्णन है। उसको अभिचार कर्म के लिये दण्ड काटने के लिये प्रयुक्त किया है।

(२) अथर्व० का० ४। सू० १६॥ वरुण सूक्त है। इसमें सर्वव्यापक परमेश्वर के शासन का वर्णन किया गया गया है। इस सूक्त का विनियोग भी अभिचार कर्म में शत्रु को ललकारने के लिये है।

(३) अथर्व० का ५। सू० ८॥ इसको अभिचार कर्म के होम करने में लगाया गया है। परन्तु इसमें सैनिकों और सेनापतियों के कर्तव्यों का वर्णन है। यह वास्तव में युद्धविद्या की शिक्षा देता है।

'अति धावत अतिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।'

'हे शत्रु को अति क्रमण करके वेग से जानेवाले वीर योद्धाओ! वेग से दौड़ो और इन्द्र अर्थात् सेनापति की आज्ञा पाकर अस्त्र प्रहार करो।' और (अविं वृक इव मथ्नीत) भेड़िया जैसे भेड़ को झंझोटता है ऐसे शत्रु को झंझोट डालो। (स वो जीवन् मा मोचि) वह तुम से बच कर न निकल जाय। (प्राणमस्यापि नह्यत) इसके प्राणों के उपायों को बाँध लो इत्यादि युद्ध के समय शत्रुविजयोपयोगी कार्यों का वर्णन किया है।

(४) अथर्व० का० ५। सू० १७ और १८॥ इसमें ब्रह्म शक्ति का वर्णन है। इन सूक्तों से 'ब्रह्मशक्ति के प्राप्त करने के उपाय प्राप्त होते हैं। परन्तु अभिचार करनेवाले ब्रह्मचारी के लिये इनको जाप करने का लिख दिया है। सरल बात तो शक्ति प्राप्त करने और ब्रह्मचर्य करने की है।

(५) अथर्व का० ७। सू० ७० में दुष्ट पुरुषों के नाश करने की आज्ञा है। उसका प्रयोग अभिचार के लिये तुषों के होमने में किया है।

(६) अथर्व० का० ६। सूक्त ३७॥ यह सूक्त अभिचार से बचने के लिये विनियुक्त है। इस सूक्त में वेद कठोर भाषण करने वाले के प्रति

सहिष्णुता के व्यवहार का उपदेश करता है। फलतः विनियोगकारों के मत में कठोर वचन कहना भी अभिचार में सम्मिलित है।

(७) अथर्व० का० ६। सू० ५४॥ इस सूक्त को अभिचार कर्म में तुष आदि होम में लगाया है वस्तुतः वह सूक्त राजा की नियुक्ति और उसके दुष्टदमन के कर्त्तव्यों का उपदेश करता है।

(८) अथर्व० का० ६। सू० १३३॥ इससे अभिचार कर्म में मेखला बन्धन करने को लिखा है परन्तु वही उपनयन कर्म में मेखला बन्धन के लिये भी है। इस में मेखला बन्धन का सामान्य नियम है। एवं उस से बल प्राप्त करने के सिद्धान्त का निरूपण किया है।

(९) अथर्व० का० ६। सू० १३॥ इससे अभिचार कर्म के निमित्त दण्ड के अभिमन्त्रण का विनियोग है। इस सूक्त में वज्र या खड्ग द्वारा शत्रुओं के नाश करने की आज्ञा है।

(१०) अथर्व० का० ७। सू० ३५,३६,७७ और १०८ (११३)। इन सूक्तों से विजुली से नष्ट वृक्ष की समिधाओं के आधान का उपदेश है। परन्तु इन तीनों सूक्तों में शत्रुओं के पराजय और दुष्ट पुरुष के नाश करने के लिये प्रार्थना की गई है। और राजा को उसके कर्त्तव्य बतलाये गये हैं कि वह हत्याकारी प्रजापीड़क पुरुषों को दण्ड करे और उनका दमन करे।

इस विवेचन से हम स्वयं वेद के मन्त्रों का वास्तविक अर्थ जान कर विनियोगकारों की प्रवृत्ति मात्र देख सकते हैं। परन्तु उनमें टोटके वाले अभिचार का वर्णन नहीं है। इसी स्थान पर यह लिखना भी असंगत नहीं है कि वेद में एक 'कृत्याप्रतिहरण' गण है। इस गण में निम्नलिखित सूक्त हैं—अथर्व० (२। ११), (४। १७), (४। १८), (४। ४०), (४। १९), (५। १४), (५। ३१), (८।५) इन सूक्तों में प्रायः राजा और सेनापति को नाना प्रकार से शत्रु पर जा चढ़ने और भयंकर अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग करने का उपदेश किया है। इसी प्रकार उनमें वीर

शिरोमणि पुरुषों को रखने, सेनासंञ्चालन करने का भी उपदेश है। जो पाठक यथास्थान भाष्य में देखेंगे।

(४) टोटके

विनियोगकारों ने कुछ सूक्तों को ऐसे २ कामों में विनियोग किया है जिनसे प्रयोक्ता की दुरिच्छा पूरी हो। परन्तु दृढ़ विश्वास है कि वेद उन दुष्ट कार्यों का उपदेश नहीं करता। उन सूक्तों को हम संक्षेप से यहाँ विवेचना करते हैं—

(१) स्त्रीदौर्भाग्यकरण—अथर्व का० १ सू० १४ ॥ इस सूक्त को कौशिक ने स्त्री और पुरुष के दौर्भाग्य करने के लिये लिखा है। सायण ने केवल स्त्री को घर से निकाल कर उसके गहने कपड़े छीन कर मां बाप के घर आजीवन छोड़ रखने परक सूक्त का अर्थ किया है। वह बहुत असंगत एवं विरुद्ध है। इसका विवेचन हमने प्रथम खण्ड की भूमिका में कर दिया है। पाठक वहाँ ही देखें। वस्तुतः वह सूक्त १ म कन्या स्वीकार, २ य कन्या दान और, ३ य विवाह द्वारा सौभाग्योत्पादन का प्रतिपादन करता है।

(२) स्त्रीवशीकरण—अथर्व का० २। सू० ३०॥ यह सूक्त स्त्री को वश करने के लिये वृक्ष की छाल, तगर, अंजन, कूठ आदि घिस कर घी में मिला कर स्त्री के शरीर पर लगाने में लगाया हुआ है। वस्तुतः इस सूक्त में एक दूसरे के मन को आकर्षित करके परस्पर वरण करने का उपदेश किया है।

(३) सपत्नीजय—अथर्व का० ३। सू० १८॥ द्वारा सपत्नी या सौत को वश करने के लिये बाणपर्णी ओषधि के पत्तों को लाल बकरी के दूध में पीस, मिला कर उसको सेज पर डालने के लिये लिखा है। परन्तु उस सूक्त में किसी ओषधि का नाम नहीं है।

केवल उत्तानपर्णा, देवजूता, सहस्वती, सासहि, सहमना, सहीयसी आदि शब्दों का प्रयोग किया है। अनुक्रमणिकाकारने इसका 'उपनिषत्सपत्नी बाधन देवता' लिखा है। इसकी ऋषिका इन्द्राणी है। अब पाठक स्वयं

देख सकते हैं कि उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्या की सपत्नी क्या है। अवश्य तामस अविद्या ही उसकी सपत्नी है। इस सूक्त में उसी के बाधन का उपदेश है। ऋग्वेद १० । १४५ ॥ में भी ये मन्त्र आते हैं बहुतों को वहाँ भी वही भ्रम होता है। 'ऋग्वेदालोचन' पुस्तक के कर्त्ता श्री पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६८ में सपत्नी बाधन सूक्त को देकर उससे वेद में बहुपत्नी विधान और एक पुरुष की बहुतसी पत्नियों में परस्पर कलह के कारण एक दूसरे के नाश करने की आज्ञा वेद में है ऐसा स्वीकार सा कर लिया है। हमारी तुच्छ बुद्धि में वेद में यदि बहुपत्नी का विधान हो भी, तो भी कम से कम परस्पर प्रेम से रहने का उपदेश होना सम्भव था, नकि कलह के मार्ग भी वेद दिखाता। घरू बरबादी का कार्य वेद में देखनेवालों को और अधिक सावधान होना चाहिये। यदि देवता पर भी दृष्टि कर ली जाती तो वह कलंक वेद पर न आता। इसका विवरण भाष्य में देखें।

(४) स्त्रीवशीकरण के लिये (अथर्व० ३ । २५) सूक्त का भी प्रयोग किया है। साथ ही सायण ने जैसे लिखा है—'उत्तुदस्त्वा इति सूक्तं जपन् स्त्रीवशीकरणकामः अंगुल्याः स्त्रियं तुदेत्।' अर्थात् इस सूक्त से स्त्री को वश करने के लिये अङ्गुली से स्त्री को छेड़े। या वेरी के २१ कांटे घी से भिगोकर रास्ते में डाल दे। इत्यादि पाँच, चार प्रकार बतलाये हैं। क्या वेद में ऐसी छेड़खानी की बातें भी सम्भव हैं। नहीं। प्रत्युत, वेद ने कामशास्त्र और परस्पर अभिलाषा और प्रेम की वृद्धि का बड़ा मार्मिक उपदेश किया है। जो इस रहस्य को नहीं जानते वे गृहस्थ में कभी सफल नहीं हो सकते। कल्पोक्त क्रियाओं का अभिप्राय और रहस्य अपना अलग है, परन्तु वह नहीं है जो सायण आदि ने लगाना चाहा है।

(५) अथर्व० का० ४ । सू० ३३ को पुरुष और स्त्री के परस्पर अभिरति को दूर करने के लिये बहुत सी कंकरें फंसाने के लिये लगाया है। वस्तुतः यह सूक्त पापनाश करने की प्रार्थना मात्र है। इसके विचार से

हृदय पवित्र होता है। यदि इससे स्त्री पुरुषों के परस्पर कामजनित दुर्विचार भी शान्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु यह कोई टोटका नहीं है। 'अग्नि स्वरूप परमेश्वर से पापों को जला देने की प्रार्थना द्वारा मन से पाप अवश्य दूर हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी मोहनादि के विनियोग लिखे हैं उनको हम अनावश्यक जान कर छोड़ते हैं।

(५) घृणित विनियोग

विनियोगकारों ने कुछ एक बहुत ही घृणित विनियोग भी लिखकर अथर्ववेद को बहुत दूषित रूप देने का यत्न किया है। हम कुछ नमूने उनके भी लिखते हैं—

(१) अथर्व० का० ४। सू० ५ में निद्राविषयक विज्ञान का प्रदर्शन किया है। उसे परदारागमन के निमित्त स्त्री के सम्बधियों को सुलाने में विनियोग किया है।

(२) का० ५ सू० १,२ ॥ दोनों का विनियोग पुष्टि के लिये ऋतुमती स्त्री के रजोरुधिर को तर्जनी और मध्यमा अंगुलि से खाने में भी किया है। ये दोनों सूक्त जगत्स्रष्टा की सर्जन शक्ति का वर्णन करते हैं।

(३) अथर्व० का० ५। सू० ५ में 'गर्भाधान' के रहस्यविद्या का उपदेश किया है। उसका विनियोग पालाश की लकड़ी को चन्दन के समान रगड़ कर उसको गुह्याङ्ग पर लगाने में किया है।

(४) का० ७। सू० १९ ॥ में प्रजापति परमेश्वर से प्रजा, और ऐश्वर्य की याचना की है। उस सूक्त को लाल बकरे का मांस खाने भी किया है।

(५) का० ७। सू० ५२, (५४) में परस्पर मिल कर रहने का उपदेश किया है। परन्तु इस सूक्त से तीन वर्ष की बछड़ी का मांस खाने में विनियोग भी कर डाला गया है।

(६) का० ७। सू० ८३ (८८) इसमें परमेश्वर से बन्धनों की

मुक्ति की प्रार्थना की है। परन्तु कौशिक सूत्र में इस सूक्त से धूमकेतु के दर्शन के प्रायश्चित्त के लिये वरुण के निमित्त पशु काटना लिखा है।

(७) का० ९। सू० ४ में ऋषभ के दृष्टान्त से परमेश्वर की महान् विश्वधारणी शक्ति का प्रतिपादन किया है और इसी प्रकार सू० ५ में अज के नाम से अजन्मा पञ्चौदन आत्मा का वर्णन किया है। परन्तु कौशिक सूत्रानुसारी श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने दोनों का विनियोग क्रम से इन्द्र के निमित्त बैल मारने और पञ्चौदन सव में बकरा मारने में कर दिया है।

इसी प्रकार और भी बहुत से मूर्खता युक्त विनियोग हैं जिन को कौशिक सूत्र, वैतान सूत्र और नक्षत्र कल्प आदि ने दर्शाया है परन्तु गम्भीर दृष्टि से इन तुच्छ बातों का वेद मन्त्रों के सूक्तों में कहीं लेशमात्र भी नहीं दीखता। जिसका स्पष्ट निरूपण भाष्य में देख सकते हैं।

(६) पशुबलि और पशुहोम

कुछ सूक्तों में हम पूर्व दर्शा आये हैं कि पशुओं के मारने का विनियोग दिखाई देता है। इस स्थल पर संक्षेप में हम पशुबलि की मीमांसा करते हैं।

(१) का० २। सू० ३४। 'य ईशे पशुपति०' इत्यादि सूक्त का श्री सायणाचार्य ने पशुमारणपरक अर्थ किया है। इस में उसको बलि कर्म की दिशा दिखाने वाला कौशिक प्रोक्त विनियोग ही है। परन्तु खेद है कि सायण के से विद्वान् ने पशुबलि के अतिरिक्त इसी सूक्त पर लिखे सर्वाधिपत्य की कामना करने वाले के लिये इन्द्र अग्नि के यज्ञपरक विनियोग और ब्राह्मणों को अन्नदान करनेपरक विनियोग को देकर भी उन परक अर्थ नहीं दर्शाया। नहीं तो पशुबलिपरक अर्थों का आप से आप समाधान हो जाता। अब ज़रा सायणकृत अर्थों पर विचार करलें।

प्रथम मन्त्र में सायण को अभिमत है कि पशुपति पशुओंका पालक रुद्र दोपाये, चौपाये सबका नियन्ता है। उससे (निष्क्रीतः) स्वतन्त्र किया हुआ। [वशारूप पशु] यज्ञार्ह भाग को प्राप्त हो। और पशु

सुवर्ण आदि समृद्धियां यजमान को प्राप्त हों। पाठक थोड़ा विचारें कि जो पशुहत्या करेगा पशुपति परमात्मा क्या उसको पशु समृद्धि देगा? कैसी उलटी बात है। यहाँ सायण ने 'वशारूप पशु' यह पद अपनी ओर से गढ़ कर लगाये हैं। 'वशा' तो परमेश्वर की सर्ववशकारिणी ज्ञानमयी शक्ति है। यहाँ तो प्रत्येक जीव को स्वतन्त्र, बन्धन मुक्त होकर ईश्वर के उपास्य रूप को प्राप्त होने की प्रेरणा है। दूसरा मन्त्र लीजिये।

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतः गातु धत्त यजमानाय देवाः।

सायण अर्थ करते हैं, हे (देवाः) मारे जानेवाले पशु के चक्षु आदि प्राणो! तुम लोग (भुवनस्य रेतः) समस्त प्राणियों द्वारा या उत्पत्ति के कारण रूप पुण्य लोकों को जाने का मार्ग (धत्त) बनाओ।

उपाकृतं शशमान यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः॥

उपाकरण संस्कार से युक्त (शशमानम्) मारे जाते हुए और यत् (देवानां प्रियं पाथः) जो देवों के प्रिय अन्न अर्थात् मांस (अस्थात्) है उसको यह पशु (अप्येतु) प्राप्त हो। इस अर्थ में सायण ने मरते तड़पते पशु के प्राणों से यजमान के लिये स्वर्ग के मार्ग बनाने की आशा की है और पशु मांस को देवों का प्रिय बतलाया है। जहाँ तक हम गल्ती नहीं करते, माँस आदि पिशाचों और राक्षसों का भोजन है। देवों का नहीं है। सायण ने यह वाममार्गपरक अर्थ बड़े खेंचतान कर किया है। 'देवाः' से मरते प्राणि के प्राण का ग्रहण करना और 'पाथः' शब्द से मरते 'पशु का माँस' ग्रहण करना खेंचातानी है। वास्तविक अर्थ भाष्य में देखिये। पाँचवें मन्त्र में सायण ने अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। मन्त्र है—

'प्रजानन्तः प्रतिगृह्णन्तु पूर्वे प्राणम् अङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः॥

हे मारे जानेवाले पशु! देव लोग (प्रजानन्तः) तेरा माहात्म्य जानते हुए तेरे अंगों से निकलते प्राण को ले लें और उन से तू अन्तरिक्ष को जा और देवयान मार्गों से स्वर्ग को जा।

बलिदान करनेवालों का ढकोसला सायण ने वेद मन्त्र से निकाल ही दिया कि यज्ञ में मारा जाने वाला पशु देवों के अनुग्रह से देव-यान मार्गों से सीधा स्वर्ग को जाता है। यदि इसी प्रकार पशुओं को देव यान मार्गों से स्वर्ग और मोक्ष मिलने लगा तो संसार भर के सब पशुओं का संहार करके क्यों न स्वर्ग का द्वार खोल दिया जाय। फिर तिर्यग् योनियों के लिये द्वार खुलते ही मनुष्य योनि क्यों तपस्या में समय यापन करे। चार्वाक बृहस्पति ने तो ठीक ही कहा था—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥

यदि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जा सकता है तो यजमान अपने बाप को मार कर क्यों नहीं स्वर्ग पहुँचाता। सायण की बुद्धि को इन ढकोसलों के आगे इतना भी कहने का साहस नहीं रहा कि वह उपनिषद् में बतलाये देवयान मार्गों को वेद में देख कर मोक्ष मार्ग का वर्णन वेद में देखता।

सायण के पीछे कदम रखनेवाले योरोपीयन पण्डितों ने भी कौशिकोक्त वशाशमन को विनियोग देख कर अपने अर्थों का झुकाव पशुबलिपरक ही किया है।

यहाँ तक हमने संक्षेप से एक सूक्त के पशुबलिपरक किये वेद मन्त्रार्थों की विवेचना की है। इनका वास्तविक अर्थ भाष्य में देखने का पाठक गण कष्ट करेंगे।

(२) अथर्व० का० ५। सू० १२ की उत्थानिका में पं० शंकरपाण्डु रंग ने इस सूक्त से वशाशमन कर्म में उसकी वपा अर्थात् चर्बी के चार भाग करके एक भाग को इस सूक्त से होमने को लिखा है। इसी प्रकार (५।२७) सूक्त से द्वितीय भाग को और दोनों से तीसरे भाग को और 'अनुमतये स्वाहा' से चोथे भाग को होमने को लिखा है। इन सूक्तों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। और न इनमें कहीं वशाशमन

अर्थात् वन्ध्या गौ के मारने का वर्णन ही उपलब्ध होता है। वशा का प्रकरण १० वें काण्ड के १० वें सूक्त में विस्तार से आवेगा जिस की विवेचना हम तृतीय खण्ड की भूमिका में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि दोनों सूक्तों में ईश्वर के गुणों का वर्णन और उसकी यथार्थ उपासना करने का भली प्रकार उपदेश किया है। जिसे प्रस्तुत भाष्य में ही देखना उचित है।

(७) अज पञ्चौदन

अथर्व० का० ४। सू० १४ में अज प्रजापके स्वरूप का वर्णन है। परन्तु इस सूक्त में भी सायण भाष्य में वही लीला की है। इस सूक्त के ६ ठे मन्त्र में यजमान को स्वर्ग में ढोकर लेजाने के लिये बलि के मरे बकरे को बड़ा भारी (सुपर्ण) गरुड़ पक्षी बना दिया है जिस पर चढ़कर यजमान सीधा स्वर्ग चला जाय। चार्वाक की युक्ति से तो यदि इस नये अविष्कार से यजमान को ही मार कर गरुड़ बनाया जाता तो बड़ा उत्तम होता। ६ ठे मन्त्र में अजौदन अर्थात् पके बकरे और भात को विचित्र रूप में रखनेपरक अर्थ किया है—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्।

अर्थात् हे पाचक! तू पूर्व में बकरे का शिर रख और दक्षिण में दांया पासा रख।

और—प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि उत्तरस्यां दिशि उत्तरं धेहि पार्श्वम्।
ऊर्ध्वायां दिशि अजस्यानूकं धेहि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य॥

अर्थात् पश्चिम में बकरे का कटि भाग भात सहित रख, और उत्तर में उत्तर का भाग, ऊपर में पीठ का भाग, और नीचे भूमि पर पेट का भाग गाड़ दे। और बीच में मध्य का भाग और आकाश में शरीर के बीच के आकाश को जोड़ दे।

मन्त्र ७—शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठ उतो अभिनाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रतितिष्ठ दिक्षु॥

हे काटने वाले ! तू पके बकरे को पकी चमड़ी से ढक दे। उस के सब अंगों से उसका (विश्वरूपम्) सर्वाकार बना रहे। हे बकरे! इस प्रकार तू सब से ऊंचे (नाकम्) सुखमय लोक को पहुँच और चारों पैरों से चारों दिशाओं से प्रतिष्ठित हो।' इस मन्त्र के सायंण, ग्रीफ़िथ और ह्विटने तीनों ने ऐसे ही अर्थ किये हैं। वाह वेद के कैसे सुन्दर! अर्थ किये गये हैं। सायण जैसे विद्वान् और ह्विटनी जैसे गवेषक विद्वानों ने भी इस सूक्त के अर्थ करने में भारी कृपणता से काम लिया है विकृत पाठों के यथार्थ रूप खोज लेनेके लिये तो ये विद्वान् समस्त संस्कृतसाहित्यके अपार सागर की गहरी तह में से भी उस २ प्रकार की सब रचनाओं के नमूने निकाल कर विवेचना करते हैं, परन्तु इन स्थानों पर उनकी सब शक्ति कुण्ठित हो जाती है। 'विश्वरूप', 'अज' शब्द देखकर भी विराट्रूप परमेश्वर के वर्णन की संगति इन भाष्यकारों के दृष्टि गोचर नहीं होती। यदि ये बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रारम्भ में कहे 'विराट् अश्व' के अलंकार को पढ़ जाते तो कदाचित् 'अज प्रजापति' के विराट् रूप की कल्पना भी संगत कर लेते। यदि दूर नहीं जाते तो अथर्ववेद में ही काण्ड ९। सू० ५ में वर्णित अज का स्वरूप तो देख लेते।

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्य उर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी॥ म० २०॥

अर्थात् सृष्टि के भी पूर्व वह अजन्मा परमेश्वर इस संसार में व्याप्त है जिसकी छाती यह भूमि थी, पीठ द्यौः या आकाश था, अन्तरिक्ष नीचे का भाग था, दिशाएं पार्श्व थे और समुद्र कुक्षि थे। इत्यादि वर्णन की ही योजना उक्त विराट् अज के अंगों की स्थिति समझने के लिये लगानी चाहिये थी। यह सब न करके पूर्व लिखित भ्रष्टार्थ और भ्रष्ट कर्म पद्धति बतला कर भाष्यकारों ने अपनी बुद्धि की मन्दता ही दिखाई है। वेद के वर्णनों को मन्दबुद्धियों के बनाये कर्म काण्डों से लगाने की अपेक्षा वेद के सिद्धान्तप्रदर्शक उपनिषद् जो वेदान्त (वेद-सिद्धान्त) कहाते हैं

उनके अनुसार ही लगाना चाहिये था। जिसका प्रदर्शन पाठकगण भाष्य में स्पष्ट रीति से पावेंगे। भूमिका में तो हमने केवल भाष्य की दिशा का ही बोध कराया है और अन्य भाष्यों के नमूने और उनकी दिशा का प्रदर्शन कराकर तुलना करके वेद के वास्तविक विशुद्ध अर्थों पर चढ़े अनर्थकारी लेपों का पाठकों को परिज्ञान कराने का ही यत्न किया है।

(८) विष्टारी ओदन

अथर्व० का० ४। सू० ३४। में विष्टारी ओदन का वर्णन है। जिस में परम प्रजापति की उपासना और उसका उत्तम मोक्ष फल दर्शाया गया है। परन्तु हमारे बहुश्रुत सायणाचार्य ने एक मन्त्र में ओदन का विराट् प्रजापति रूप स्वीकार कर लिया है परन्तु दूसरे मन्त्र में स्त्रियों से भरे हुए स्वर्ग को ढूंढ लिया है। मन्त्र है—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥

'(अनस्थाः) हड्डि आदि षट् कोषों के बने शरीर से रहित, अमृत मय, पवित्र, शुद्ध तेजस्वी लोग पवित्र लोक को जाते हैं। (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का ज्ञाता अग्नि उनके (शिश्नं न प्रदहति) भोग साधन इन्द्रिय को नहीं नष्ट करता। क्योंकि वहां उनके लिये (बहु स्त्रैणम्) बहुतसी स्त्रियों का जमघट है।' सायण के इस अर्थ के अनुसार तो 'नाक' अर्थात् वेदोक्त स्वर्ग भी हूरों से भरे हुए बहिश्त और विष्णु के गोलोक से क्या कम रहा।

५ वें ६ ठे मन्त्र में तो स्वर्ग में उत्तम नहरें, कमल आदि का वर्णन भी प्राप्त होगया है। फलतः हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वेद के इस प्रकार के अर्थ सर्वथा बुद्धिविरुद्ध एवं आर्ष आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों से संगति नहीं खाते। इस लिये ये अर्थ सर्वथा असंगत हैं। इस समस्या का सच्चा कारण हमने भाष्य में उसी स्थान पर कर दिया है पाठक वहां ही देखें।

(६) द्यूत क्रीड़ा

अथर्व वेद के कुछ सूक्तों को कौशिक ने द्यूत क्रीड़ा आदि में भी लगाया है। सायण ने उसके पीछे चलकर कई मन्त्रों में जूए द्वारा धन प्राप्त करने तक के उपदेश वेद के माथे लगा दिये, उसमें देवों को भी सहायक माना है। इस प्रकार सायण ने जुआड़ी लोगों के बुरे पेशों को वेदानुमोदित कह कर बड़ा अनर्थ किया है। जैसे—

(१) अथर्व० का० ७। सू० ५० (५२) ॥ इस सूक्त से जूए के पासों को अभिमन्त्रित करके फेंकने के लिये लिखा है। परन्तु इस सूक्त में आत्मसंयम का उपदेश किया है। इस सूक्त में 'कितवान् अक्षैर्बध्यासम्' [१] कितवों को अक्षों से मारूँ, 'अन्तर्हितं कृतं मम' [२] कृत को मैंने अपने हाथ में कर लिया। 'मथ्नामिते कृतम्। [४] इत्यादि पदों में सायण 'कृत' शब्द से जूए का एक मोहरा समझते हैं और कितव का अर्थ जुआखोर समझते हैं। इन आधारों से आपने समस्त सूक्त को जूए पर लगा दिया है। परन्तु उनका यह भ्रम मात्र है। क्योंकि मन्त्र ६ में 'कृतम् इव श्वघ्नी' उपमा दी है। अर्थात् श्वघ्नी द्यूतकार तो उपमान है। उपमेय अवश्य इससे भिन्न है। इसका यथार्थ अर्थ भाष्य में देखें।

(२) अथर्व० का० ७। सू० १०९ (१० ४) ॥ इस सूक्त के ४–७ तक चारों मन्त्र द्यूतजयकर्म में विनियुक्त हैं। वस्तुतः इस सूक्त में ब्रह्मचारी को इन्द्रियजय और राजा को अपने चरों पर वशीकरण करने का उपदेश किया है। 'अक्ष' आदि शब्द श्लेष से प्रयोग किये हैं। इसलिये सायण आदि को भ्रम होता है। क्या राजा, रानी और इक्का आदि नाम आने से सभी जगह ताशों की खेल ले लेना उचित है? नहीं। इसी प्रकार कृत, जय, कितव आदि नामों से भी सर्वत्र द्यूत प्रकरण समझना असंगत है। कितव आदि शब्दों के विरुद्ध प्रतिपादित अर्थों को ले लेने से रूढ़ि द्वारा हुए अनर्थ आप से आप दूर हो जाते हैं।

(१०) उपसंहार

इस खण्ड के अन्तर्गत काण्डों में आयी विशेष समस्याओं को यथा साध्य, यथामति सुलझाने का जो यत्न हमारी अल्पमति से हो सका है वह संक्षेप से इस संक्षिप्त एवं अल्प भाष्य में कर दिया गया है। परन्तु विस्तार से प्रतिपक्षियों के पद पद पर किये अनर्थों और आक्षेपों का विस्तार से उत्तर देने और समाधान करने के लिये बहुत विशाल ग्रन्थ की आवश्यकता है। उसके लिये तो पृथक् ही अथर्ववेद के सम्बन्ध के अलोचना-ग्रन्थ लिखे जाने आवश्यक हैं। उन के लिये आयास, तथा आर्थिक व्यय और लेखनार्थ विस्तृत काल भी अपेक्षित है। उस सब को हम भविष्य के लिये रख छोड़ते हैं। और विद्वान् महानुभावों से सप्रेम अनुनय करते हैं कि मेरे श्रम में जहां लक्षों त्रुटियां और न्यूनताएं एवं विचार का अपक्वताएं भी विद्यमान हैं उन पर अवश्य सन्मति का प्रयोग करके मुझे उन से विदित करावेंगे, जिस से मेरे जीवन काल में यदि ग्रन्थ के अन्य संस्करण हों तो उनको यथा-प्रमाण सुधार कर वेद के तत्वजिज्ञासुओं के समक्ष आप महानुभावों के प्रति पूर्ण कृतज्ञतापूर्ण सेवा समुपस्थित कर सकूं। और इस वेदाध्ययन रूप तप और वेदचिन्तन रूप ज्ञानयज्ञ में सफल हो सकूं। अन्त में भट्टकुमारिल के शब्दों में निवेदन है कि—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

अजमेर, केसरगंज
माघ शुक्ला दशमी,
१९८५ विक्रमाब्द।

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार मीमांसा तीर्थ।

( )

विषय सूची

षष्ठं काण्डम् (१-१६८)

सूक्त संख्या — पृष्ठाङ्क

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
१	ईश्वर स्तुति	१
२	समाधि द्वारा ब्रह्मरसपान	३
३,४	रक्षा की प्रार्थना	४,६
५	तेजबल और ऐश्वर्य की प्रार्थना	८
६	दुष्टों के दमन की प्रार्थना	९
७	उत्तम शासन की प्रार्थना	११
८	पतिपत्नी का परस्पर प्रेम प्रतिज्ञा	१२
९	स्त्रीपुरुषों का परस्पर प्रेम करने का कर्त्तव्य	१३
१०	अग्निहोत्र का उपदेश	१५
११	गर्भाधान और प्रजननविद्या	१६
१२	सर्प विष चिकित्सा	१८
१३	मृत्यु और उसके उपाय	२०
१४	कफ रोग निदान और चिकित्सा	२१
१५	सर्वोत्तम होने की साधना	२२
१६	प्रजापति की शक्ति का वर्णन	२४
१७	गर्भधारण और प्रजनन विद्या	२६
१८	ईर्ष्या का निदान और उपाय	२८
१९	पवित्र होने की प्रार्थना	२९
२०	ज्वरका निदान और चिकित्सा	३०
२१	वीर्यवती ओषधियों के संग्रह करने का उपदेश	३२

सूक्त संख्या		पृष्ठ क०
२२	सूर्य रश्मियों द्वारा जलवर्षा के रहस्य का वर्णन	३४
२३	जलधाराओं द्वारा यन्त्र सञ्चालन	३६
२४	हृदय रोग पर जल चिकित्सा	३८
२५	कण्ठमाला रोग का निदान और चिकित्सा	३९
२६	पाप के भावों पर वश करना	४०
२७	राजा और राजदूतों का आदर	४२
२८, २९	राजा और राजदूतों के व्यवहार	४४,४७
३०	राजा के कर्त्तव्य	४९
३१	सूर्यादि लोक परिभ्रमण	५१
३२	दुष्टों के दमन का उपदेश	५३
३३	इन्द्र, परमेश्वर की महिमा	५५
३४,३५,३६	परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना	५७,५९,६०
३७	कठोर भाषण से बचना	६२
३८	तेज की प्रार्थना	६३
३९	यश और बल की प्रार्थना	६५
४०	अभय और कल्याण की प्रार्थना	६७
४१	अध्यात्म शक्तियों की साधना	६८
४२	क्रोध को दूर करके परस्पर मिलकर रहने का उपदेश	७०
४३	क्रोध शान्ति का उपाय	७२
४४	रोग की चिकित्सा में विषाणका नाम ओषधि	७४
४५	मानस पाप को दूर करने के दृढ़ संकल्प की साधना	७६
४६	स्वप्न का रहस्य	७८
४७	दीर्घायु सुखी जीवन और परम सुख की प्रार्थना	८०
४८	तीन सवन, त्रिविध ब्रह्मचर्य	८२
४९	कालाग्नि का वर्णन	८७

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
५०	अन्नरक्षा के लिये हानिकारक जन्तुओं का नाश	८९
५१	पवित्र होकर उन्नत होने की प्रार्थना	९१
५२	तमो विजय और ऊर्ध्व गति	९३
५३	रक्षा की प्रार्थना	९५
५४	राजा की नियुक्ति और कर्त्तव्य	९८
५५	उत्तम मार्गों से जाने और सुख से जीवन व्यतीत करने का उपदेश	९९
५६	सर्प का दमन और सर्प विष चिकित्सा	१०१
५७	व्रणचिकित्सा	१०३
५८	यश की प्रार्थना	१०५
५९	गृहपत्नी के कर्त्तव्य और पशु रक्षा और गोपालन	१०६
६०	कन्यादान और स्वयंवर	१०८
६१	ईश्वर का स्वतः विभूति परिदर्शन	१०९
६२	आभ्यन्तर शुद्धि का उपदेश	१११
६३	अविद्या पाश का छेदन	११३
६४	एकचित्त होने का उपदेश	११६
६५	विजयी दमनकारी राजा का शत्रुओं को निःशस्त्रीकरण	११८
६६	शत्रुओं का निःशस्त्रीकरण	१२०
६७	शत्रुविजय	१२१
६८	केश मुण्डन और नापित कर्म का उपदेश	१२२
६९	यश और तेज की प्रार्थना	१२५
७०	गौओं को सुशील बनाने का उपदेश	१२७
७१	दुष्ट अन्न का त्याग और उत्तम अन्न आदि पदार्थों को ग्रहण करने का उपदेश	१२९
७२	प्रजनन अंगों की पूर्ण वृद्धि	१३३

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
७३, ७४	एक चित्त होने का उपदेश	१३५
७५	शत्रु को मार भगाने का उपदेश	१३७
७६	ब्राह्मण रूप सांतपन अग्नि का वर्णन	१३९
७७	ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना	१४१
७८	स्त्रीपुरुष का परस्पर व्यवहार	१४२
७९	प्रचुर अन्न की प्रार्थना	१४४
८०	कालकञ्ज तारों के दृष्टान्त से प्राणों का वर्णन	१४५
८१	पति पत्नी या पाणिग्रहण, सन्तानोत्पादन कर्तव्यों का उपदेश	१४७
८२	वर वरण का उपदेश	१४९
८३	अपची या गण्डमाला रोग की चिकित्सा	१५१
८४	आपत्ति और कष्टों के पापों से मुक्त होने की प्रार्थना	१५३
८५	यक्ष्मा रोग की चिकित्सा	१५५
८६	सर्व श्रेष्ठ होने का उपदेश	१५७
८७	राजा को स्थायी और दृढ़ शासक होने का उपदेश	१५८
८८	राजा को ध्रुव होने का उपदेश	१६०
८९	पति का कर्तव्य, पत्नी संरक्षण	१६२
९०	रोग पीड़ा को दूर करने के उपायों का उपदेश	१६३
९१	भव रोग विनाश के उपाय	१६५
९२	प्राण रूप अश्व का वर्णन	१६७
९३	सेनाओं से रक्षा	६६९
९४	एकचित्त रहने का उपदेश	१७१
९५	कुछ ओषधि और सर्वव्यापक परमेश्वर का वर्णन	१७२
९६	पापमोचन की प्रार्थना	१७३
९७	विजय प्राप्ति के उपाय	१७५

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
९८	विजयशील राजा का वर्णन	१७७
९९	राष्ट्र रक्षा का उपाय	१७९
१००	विषचिकित्सा	१८०
१०१	दुष्ट प्रजनन अंग होने का उपदेश	१८३
१०२	दाम्पत्य प्रेम का उपदेश	१८५
१०३	राष्ट्र रक्षा और शत्रुदमन	१८७
१०४	शत्रुओं का पराजय और बन्धन	१८८
१०५	'कासा' चितिशक्ति की एकाग्रता का उपदेश	१८९
१०६	गृहों की रक्षा और शोभा	१९१
१०७	विश्वविजयिनी राज शक्ति का वर्णन	१९२
१०८	मेधा का वर्णन	१९५
१०९	पिप्पली ओषधि का वर्णन	१९७
११०	सन्तान की रक्षा और सुशिक्षा	१९९
१११	बद्धजीव की मुक्ति और उन्माद की चिकित्सा	२०१
११२	सन्तान की उत्तमशिक्षा और विनय	२०३
११३	पाप अपराध का विवेचन और दण्ड	२०५
११४	पापत्याग और मुक्ति का उपाय	२०७
११५	पापमोचन और मोक्ष	२०९
११६	पाप से मुक्त होने का उपदेश	२११
११७	ऋण रहित होने का उपदेश	२१४
११८	ऋण के आदान और शोध की व्यवस्था	२१७
११९	ऋण और दोष का स्वीकार करना	२२०
१२०	पापों का त्याग और उत्तम लोक को प्राप्त होना	२२१
१२१	त्रिविध बन्धन से मुक्ति	२२४
१२२	देवयान और पितृयाण और मोक्ष प्राप्ति	२२६

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
१२३	मुक्ति की साधना	२३०
१२४	शौचसाधना	२३३
१२५	युद्ध का उपकरण, रथा और देह	२३५
१२६	युद्धोपकरण दुन्दुभि राजा और परमात्मा	२३७
१२७	कफ से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा	२३९
१२८	राजा का राज्यारोहण	२४१
१२९	राजा का ऐश्वर्यमय रूप	२४३
१३०	स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम और स्मरण	२४४
१३१	प्रेमियों का परस्पर स्मरण और चिन्तन	२४७
१३२	प्रेम को दृढ़ करने का उपदेश	२४८
१३३	मेखला बन्धन का उपाय	२५०
१३४,१३५	वज्र द्वारा शत्रु का नाश	२५४
१३६	केशवर्धनी नितत्नी औषधि	२५६
१३७	केशवर्धन के उपाय	२५७
१३८	नपुंसक करने के उपाय	२५८
१३९	सौभाग्य करण परस्पर वरण	२६१
१४०	दांतों को उत्तम रखने और सात्विक भोजन करने का उपदेश	२६३
१४१	माता पिता का सन्तान के प्रति कर्त्तव्य, नाम करण और कर्णवेध	२६५
१४२	यव, धान्य राष्ट्र और क्षत्रबल की वृद्धि	२६६

सप्तमं काण्डम् (१–२०७)

१,२	ब्रह्मज्ञानी पुरुष	१,३
३,७	अध्यात्म ज्ञान का उपदेश	३—१३

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
८,९	उत्तम मार्गदर्शक, पति और पालक से प्रार्थना	१४,१५
१०,११	सरस्वती की उपासना	१८,१९
१२	सभा समिति बनाने का उपदेश	२१
१३	शत्रु दमन की साधना	२३
१४,१५	ईश्वर की उपासना	२४,२६
१६	सौभाग्य की प्रार्थना	२७
१७	ईश्वर से ऐश्वर्य की प्रार्थना	२८
१८	अन्न की प्रार्थना	३१
१९	पुष्टि की प्रार्थना	३२
२०	अनुमति नाम सभा का वर्णन	३३
२१	प्रभु की उपासना	३८
२२	ज्ञानदाता ईश्वर	३९
२३	बुरे आचार और बुरे विचार का त्याग	४०
२४	सर्वप्रद प्रभु	४१
२५	विष्णु और वरुणरूप परमेश्वर का सबसे पूर्व स्मरण	४१
२६	व्यापक प्रभु की स्तुति	४३
२७	बुद्धिरूप कामधेनु का वर्णन	४७
२८	कुशल की प्रार्थना	४८
२९	अग्नि और विष्णु की स्तुति	४९
३०	ज्ञानाञ्जन	५०
३१	अपनी उन्नति के साथ द्वेषी के क्षय की प्रार्थना	५१
३२,३३	दीर्घायु प्राप्ति की प्रार्थना	५०,५२
३४,३५	शत्रु पराजय की प्रार्थना	५३
३६,३७	पतिपत्नी के परस्पर प्रेम वृद्धि की साधना	५६
३८	स्वयंम्वर विधान	५७

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
३९,४०	रससागर ईश्वर का स्मरण	५९,६०
४१	मुक्ति की प्रार्थना	६१
४२	पापमोचन की प्रार्थना	६२
४३	चार प्रकार की वाणी	६४
४४	इन्द्र और विष्णु	६५
४५	ईर्ष्या को दूर करने का उपाय	६६
४६	सभा पृथिवी और स्त्री का वर्णन	६७
४७	कुहू नामक सभा का वर्णन	७०
४८	राकानाम राजसभा और स्त्री के कर्त्तव्यों का वर्णन	७१
४९	विद्वान् पुरुषों की स्त्रियों के कर्त्तव्य	७४
५०	आत्म-संयम	७५
५१	रक्षा की प्रार्थना	८२
५२	परस्पर मिलकर रहने का उपदेश	८३
५३	दीर्घायु की प्रार्थना	८४
५४	ज्ञान के भण्डार वेद	८८
५५	विष चिकित्सा	९०
५७	सरस्वतीरूप ईश्वर से प्रार्थना	९५
५८	अध्यात्म सोमरस पान	९८
५९	निन्दा का प्रतिवाद	१००
६०	गृह-स्वामी और गृह-बन्धुओं का कर्त्तव्य	१०१
६१	तपस्या का व्रत	१०४
६२	जितेन्द्रिय राजा और आचार्य	१०५
६३	राजा का आमन्त्रण	१०६
६४	पाप से छूटने के दो उपाय	१०७
६५	पाप निवारक अपामार्ग का स्वरूप	१०९

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
६६	ब्रह्मज्ञान के धारण का यत्न	११०
६७	शरीरस्थ अग्नियें	१११
६८	स्त्री के कर्त्तव्य	११२
६९	कल्याण, सुख की प्रार्थना	११४
७०	दुष्ट पुरुषों का वर्णन	११७
७१	दुष्ट पुरुषों के नाश का उपदेश	११७
७२	योग द्वारा आत्मा का तप	११८
७३	ब्रह्मानन्द रस	१२०
७४	गण्डमाला की चिकित्सा	१२०
	ईर्ष्या का उपाय	१२१
	ज्ञानवान की उपासना	१२२
७५	गोपालन	१२३
७६	गण्डमाला की चिकित्सा और सुसाध्य के लक्षण	१२५
७७	राष्ट्रवासियों के कर्त्तव्य	१२९
७८	मुक्ति की साधना	१४१
७९	स्त्री के कर्त्तव्य	१४२
८०	परम पूर्ण ब्रह्मशक्ति	१४५
८१	सूर्य और चन्द्र	१४८
८२	ईश्वर से बलों की याचना	१५२
८३	बन्धनमोचन की प्रार्थना	१५६
८४	राजा के कर्त्तव्य	१५९
८५,८६,८७	ईश्वर का स्मरण	१६१,१६२
८८	सर्पविष की चिकित्सा	१६३
८९	ब्रह्मचर्य पालन	१६४
९०	नीच पुरुषों का दमन	१६७

सूक्त संख्या		पृष्ठाङ्क
९१	राजा के कर्त्तव्य	१६९
९२	उत्तम राष्ट्रपालक राजा	१७०
९३	राजा के पराक्रम से शत्रुओं की विजय	१७१
९४	राजा का कर्त्तव्य, प्रजाओं में प्रेम उत्पन्न करना	१७२
९५	जीव के आत्मा और मन का वर्णन	१७२
९६	जीव की शरीरप्राप्ति का वर्णन	१७५
९७	ऋत्विजों का वरण	१७५
९८	अध्यात्म यज्ञ	१८२
९९	गृहस्थ का उपदेश	१८२
१००, १०१	दुःस्वप्न का नाश करना	१८३, १८४
१०२	विचार पूर्वक उन्नति का संकल्प	१८५
१०३, १०४	प्रजापति ईश्वर का वर्णन	१८६, १८७
१०५	वेद के शासनों पर आचरण करो	१८८
१०६	ज्ञानवान विद्वान और ईश्वर से अपनी भूल चूक पर रक्षा की प्रार्थना	१८९
१०७	सूर्य की किरणों का कार्य	१८९
१०८	हत्याकारी अपराधियों को दण्ड	१९०
१०९	ब्रह्मचारी का इन्द्रिय जय और राजा का अपने चरों पर वशीकरण	१९२
११०	राजा और सेनापति का लक्षण	१९६
१११	वीर्यवान् युवा पुरुष को उपदेश	१९८
११२	पाप से मुक्त होने की प्रार्थना	१९९
११३, ११४	स्त्री पुरुषों में कलह के कारण	२००, २०१
११५	पापी लक्ष्मी को दूर करना	२०२
११६	ज्वर निदान	२०४

सूक्त संख्या | पृष्ठाङ्क

११७ सेनापति का कर्त्तव्य २०५

११८ कवच धारण २०६

अष्टमं काण्ड (१-१४३)

१,२ दीर्घ जीवन विद्या १ १२

३ प्रजापीड़कों का दमन २६

४ दुष्ट प्रजाओं का दमन ४२

५ शत्रुनाशक सेनापति की नियुक्ति ५७

६ कन्या के लिये अयोग्य और वर्जनीय वर और स्त्रियों की रक्षा ६८

७ ओषधि विज्ञान ८३

८ शत्रुनाशक उपाय ९६

९ सर्वोपास्क सर्वाश्रय परम शक्ति विराट १०८

१०(१०) विराट के ६ स्वरूप गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि सभा, समिति और आमन्त्रण १२६

१० (२) विराट् के ४ रूप ऊर्ज, सुधा, सुनृता, इरावती और उसका ४ स्तनों वाली गौ का स्वरूप १२९

१० (३) विराट् के ४ स्वरूप वनस्पति, पितृ, देव और मनुष्यों के बीच में क्रम से रस, वेतन, तेज और अन्न १३१

१० (४) विराट् जैसे माया स्वधा, कृषि, सस्य ब्रह्म और तप का दोहन १३४

१० (५) विराट् रूप गौ से ऊर्जा, पुण्य गन्ध; तिरोधा, और विष का दोहन १३८

१० (६) विष निवारण की साधना १४२

सूक्त संख्या पृष्ठांक

नवमं काण्डम्

१	मधुकशा ब्रह्मशक्ति का वर्णन	१
२	प्रजा परमेश्वर और राजा 'काम' का वर्णन	१३
३	शाला महाभवन का निर्माण और प्रतिष्ठा	२६
	देह रूप शाला का वर्णन	३३
४	ऋषभ के दृष्टान्त से परमात्मा का वर्णन	३३
	ऋषभदान का उपदेश	४८
५	अज के दृष्टान्त से पञ्चौदन आत्मा का वर्णन	५१
	अज के स्वरूप का वर्णन	५६
	अज परमात्मा के विराट् रूप का वर्णन	६३
६ (१,२)	अतिथि यज्ञ और देव यज्ञ की तुलना	७१
(३)	अतिथि यज्ञ न करने से हानियें	८०
(४)	अतिथि यज्ञ का महान् फल	८२
(५)	अतिथि यज्ञ की सामगान से तुलना	८[illegible]
(६)	अतिथि यज्ञ की यज्ञ काण्ड से तुलना	८७
(७)	विराट् गौ का देवमय स्वरूप	९१
८	शरीर के रोगों का निवारण	९७
९	विश्वस्रष्टा परमेश्वर का निरूपण	१०४
१०	आत्मा और परमात्मा का ज्ञान	१२२

॥ इति ॥

नोट—प्रेस सम्बन्धी कुछ असुविधा हो जाने से इस खण्ड में क्रम से पृष्ठ संख्या न देकर प्रत्येक काण्ड की पृष्ठ संख्या हमने पृथक् २ आरम्भ की है।

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदसंहिता

अथ षष्ठं काण्डम्

[१] ईश्वरस्तुति ।

अथर्वा ऋषिः । सविता देवता । १ त्रिपदा पिपीलिकामध्या साम्नी जगती । २–३ पिपीलिका मध्या परोष्णिक् । तृचं सूक्तम् ॥

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि । आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥१॥

भा०—हे (आथर्वण) अथर्ववेद के विद्वान् ! ब्रह्म के उपासक ! (दोषा उ) दिन और रात्रि या प्रातः सायं दोनों कालों में (बृहत्) परमात्मा के सम्बन्ध में बृहत् नामक साम का (गाय) गायन कर । और (द्युमत्) प्रकाशस्वरूप आत्मा का ध्यान कर । और (सवितारम्) सब के उत्पादक, सब के प्रकाशक (देवम्) प्रकाशस्वरूप परम देव के (स्तुहि) गुणों का वर्णन किया कर । प्रजापतिर्वा अथर्वा । अग्निरेव दध्यङ्ङाथर्वणः । तै० सं० ५ । ६ । ६ । ३ ॥ परमात्मा अथर्वा कहाता है । और अग्नि, ज्ञानी पुरुष दध्यङ् अर्थात् योग समाधि द्वारा उस प्रजा-

[१] १–आथर्वणान्ता पादसमाप्तिरिति केचित् । ततो गायत्रीछन्दः । (द्वि०) 'द्युमद्गाय' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'दोष आगाद्' (द्वि०) 'द्युमद गामन्' इति साम० ॥

पति का ध्यान चिन्तन करता है 'दध्यङ् आथर्वण' कहाता है। 'त्वाम् इद्धि हवामहे' इत्यादि [ऋ० ६ । ४६ । १] ऋक् का साम बृहत्साम कहाता है।

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥

भा०—(तम् उ स्तुहि) हे विद्वान् ! ब्रह्मवेत्तः ! तू उसीकी स्तुति कर (यः) जो (अन्तः-सिन्धौ) महा प्रवाह, सागर या मूल प्रकृतिरूप कारण में (सत्यस्य) इस सत्यमय, सारभ्व्यक्त जगत् का (सूनुः) प्रेरक और उसका उत्पादक और (युवानम्) बनाने और प्रलय करनेवाला है जो (अद्रोघ-वाचम्) सदा द्रोहरहित प्रेम की वाणी से स्मरण करने योग्य, एवं प्रेममय वाणी का उपदेष्टा और (सुशेवम्) सुख से सेवन करने योग्य है।

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ४५ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(स घ) वह परमात्मा ही (देवः) एक ऐसा है जो (सविता) सब का उत्पादक है। वही (भूरि) नाना, बहुत से (अमृतानि) अमृतमय मोक्ष के साधनों, दीर्घ जीवन और अन्न (नः साविषत्) हमें देता है (उभे) दोनों प्रकार की (सु-स्तुती) उत्तम स्तुतियां (सुगातवे) उसी के गुणगान के लिये हैं।

२–'तमु स्तुहि अन्तः सिन्धुम् सूनुम् सत्यस्य युवानम् । अद्रोघ–' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'साविषद् वसुपतिर्वसूनि' (च०) 'सुगातुम्' इति पैप्प सं० । (तृ०) 'उभे सुचिती सुधातुः' इति श्रा० श्रौ० सू० । (तृ०) 'उभे श्रुती सुगाता वै' इति पैट० लाञ्छ० । 'सुष्टुती' इति ग्रीफिथादि-सम्मतः ।

दोनों 'सुस्तुति' अर्थात् सामगायन 'स्तुत' और मन्त्रपाठ 'शस्त्र' हैं। प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम्। अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्।

[२] समाधि द्वारा ब्रह्मरस पान।

अथर्वा ऋषिः। सोमो वनस्पतिर्देवता। १-३ परोष्णिहः तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत।
स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥ १ ॥

भा०—हे (ऋत्विजः) हे ऋतु २ में यज्ञ करने हारे अथवा ऋतु=प्राणों का परस्पर यज्ञ=संगति करने वाले समाधि-कुशल योगी पुरुषो! उस (इन्द्राय) इन्द्र अपने आत्मा के लिये (सोमम्) ब्रह्मानन्द रस को (सुनोत) उत्पन्न करो और उसको (आ धावत च) भली प्रकार और भी परिमार्जित और स्वच्छ करो (यः) जो इन्द्र=आत्मा (स्तोतुः वचः) स्तुति करने हारे विद्वान् की वाणी (मे हवं च) और मेरी पुकार को (शृणवत्) सुनता है।

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः।
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

भा०—हे (वि-रप्शिन्) नाना प्रकार से वर्णन किये जाने योग्य महान् आत्मन्! (वृक्षं) वृक्ष पर (वयः न) जिस प्रकार नाना पक्षिगण आश्रय लेते हैं उसी प्रकार (अन्धसः) प्राण, जीवन शक्ति को धारण करने वाले (इन्दवः) परम विभूति-ऐश्वर्य से सम्पन्न ज्योतिर्मय ब्रह्म के

[२] १-(द्वि० तृ०) 'शृणोतना तु धानत। स्तोत्रियं हवं शृणवद् धवं तुनोः।' २-(प्र०) 'आत्वा' इति पैप्प० सं०

रस या मुमुक्षुजन (यं) जिसके भीतर (विशन्ति) प्रवेश करते हैं वह तू (रक्षस्विनीः) विघ्नों से पूर्ण (मृधः) मन से लड़नेवाली मानस दुर्वृत्तियों को (वि जहि) विनाश कर ।

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ३२ । ८ प्र० द्वि० ॥

भा०—(सोम-पाव्ने) सोम=ब्रह्मानन्द-या योगाभ्यास रस का पान करने वाले (वज्रिणे) वज्र=अपवर्ग अर्थात् नानाभव-बन्धन के काटने के साधनरूप ज्ञानखड्ग को धारण करनेवाले (इन्द्राय) इन्द्र परम-आत्मा के लिये (सोमं) सुनोत) सोम का सवन करो, अभ्यास रस को प्राप्त करो । (सः) वही (युवा) सदा शक्तिमान्, अनुपम सुन्दर, अथवा सब विरोधी वर्गों का नाशक (जेता) सब को विजय करनेवाला (पुरु-स्तुतः) नाना प्रजाओं द्वारा स्तुति किया हुआ (ईशानः) सर्वशक्तिमान् प्रभु है । केवल आत्मपक्ष में वज्र=वैराग्य, पुरु=इन्द्रियें ।

[३] रक्षा की प्रार्थना ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । नाना देवताः । १ पथ्याबृहती । २—३ जगत्यौ । तृचं सूक्तम् ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥

भा०—रक्षा की प्रार्थना करते हैं । (नः) हमारी (इन्द्रापूषणा)

३—'सोमपाशे' इति पैप्प० सं० ।

[३] १—(प्र०) 'आश्विनी सुदेससा' (तृ० च०) 'विहर्ती कपस्याचिद्देवो सूवन्दाधिते शर्म यच्छ नः' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्र और पूषा=विद्युत् और वायु (अदितिः) अदिति=पृथिवी या आदित्य और (मरुतः) नाना प्रकार की भिन्न भिन्न वायुएं या रश्मियां या प्रजागण, (अपां नपात्) अपः—समस्त लोकों का धारक, उनको स्थान से विचलित न होने देने वाला, महान् अन्तरिक्ष अथवा अग्नि और (सप्त सिन्धवः) सात गतिशील, प्रवहण आदि लोक संचालक वेग (पान्तु, पातन) रक्षा करें । और (विष्णुः) सर्वव्यापक आकाश और (द्यौः) प्रकाशस्वरूप, तेज ये तत्व भी (नः पातु) हमारी रक्षा करें ।

अध्यात्म पक्ष में—सप्त सिन्धवः=सात ऊर्ध्व-प्राण । इन्द्र=आत्मा, मन, दक्षिण अक्षिगत प्राण, वाक्, और वीर्य । पूषा=पुष्टि, पोषक शक्ति, प्रजनन शक्ति । अदितिः=वायु, मुख्यप्राण, और अन्नग्राहक शक्ति । मरुतः=प्राण-गण । विष्णुः=यज्ञ आत्मा, वीर्य और श्रोत्र । द्यौः=प्राण । अनुमतिः=वाग् ।

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः । पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (अभिष्टये) अभीष्ट फल प्राप्त करने के निमित्त (नः) हमें (अंहसः) पाप से (पाताम्) सुरक्षित रखें । (ग्रावा) विद्वान् पुरुष जो उत्तम ज्ञान का उपदेश करे (अंहसः) पाप से वह हमें (पातु) सुरक्षित रखे । और (सोमः) सोम, सब का प्रेरक, उत्पादक प्रभु (नः) हमें (अंहसः पातु) पाप से बचावे । (सुभगा) सुख सौभाग्यमय (सरस्वती) ज्ञानमयी वेदवाणी (देवी) आनन्द को देनेहारी होकर (नः पातु) हमें पाप से बचावे । और (अग्निः) अग्नि, ज्ञानमय, स्वप्रकाश परमात्मा और (अस्य) इस प्रभु के बनाये (ये) जो और भी (पायवः) पवित्र करनेहारे (शिवाः) कल्याणकारी पदार्थ और विद्वान् हैं वे भी हमें सब पापों से बचावें ।

२-(तृ०) 'सुहवा' इति पैप्प० सं० ।

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् ।
अपां नपादभिह्रुती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥३॥

भा०—(अश्विनौ देवौ) दोनों अश्विदेव, माता पिता, गुरु आचार्य (शुभस्पती) शुभ, उत्तम पुरुषों, प्रकाश युक्त लोकों के पालक (नः पातां) हमें पापों से बचावें । (उत) और (उषासानक्ता) उषा और रात्रि, दिन और रात, दोनों काल (नः) हमें (उरुष्यताम् [1]) पाप से बचावें । हे (अपां न पात्) समस्त प्रजा और लोकों एवं कर्मों और प्रजाओं तथा जगत् के आदि कारणभूत प्रकृति का रक्षक अधिपति प्रभु ! हे देव ! सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, सर्व जगत् में रत ! हे (त्वष्टः) समस्त लोकों के गढ़नेवाले प्रभो ! (गयस्य चिद्) आत्मा के ही सब प्रकार के उत्तम फल प्राप्त करने के लिये (अभि-ह्रुती) सब प्रकार की विषम दशा में (वर्धय) हमें बढ़ा, शक्ति प्रदान कर ।

[४] रक्षा की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । नाना देवताः । १ पथ्याबृहती । २ संस्तार पंक्तिः ।
३ त्रिपदा विराड् गायत्री । तृचं सूक्तम् ॥

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः ॥ १ ॥
साम० पू० २६६ ॥

भा०—(त्वष्टा) त्वष्टा=सब का उत्पादक, (पर्जन्यः) पर्जन्य=मेघ के समान सब पर सुखों का वर्षक, (ब्रह्मणस्पतिः) वेद, सत्यज्ञान

३-(तृ०) 'अभि ह्रुती' इति सायणसम्मतः ।
१. उरुष्यतिः रक्षाकर्मा । निरु० ५ । २३ ॥
[४] १-(च०) 'त्रायणे शवः' इति पैप्प०. सं० ।

और ब्रह्माण्ड एवं प्रकृति का पालक और (अदितिः) अदिति, अखण्ड, एक रस, (दुःन्तरं) जो दुस्तर=अपार अद्वितीय (त्रायमाणम्) रक्षा करने वाला (सहः) परम बल है वह (पुत्रैः भ्रातृभिः) हमारे पुत्रों और भाइयों सहित (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥ २ ॥

भा०—(अंशः) अंश, सब कर्मों और वृत्तियों का प्रजा में विभाजक (भगः) सर्वैश्वर्यवान्, (वरुणः) सब से श्रेष्ठ, (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, (अर्यमा) शत्रुओं का दमन करनेवाला, (अदितिः) अखण्ड शक्ति और (मरुतः) विद्वान् गण और प्राणगण (पान्तु) ये सब हमारी रक्षा करें । (तस्य) उस शत्रु का हमारे प्रति (अभिह्रुतः) कुटिल द्वेष भाव, अप्रीतिभाव (अपगमेत्) दूर हो । और (अन्तितम्) समीप आये हुए (शत्रून्) शत्रु को भी (यावयत्) दूर कर दे । अर्थात् द्वेष भाव नष्ट हो जाने पर शत्रु स्वयं समीप आकर भी हमसे दूर हो जाय ।

धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन् ।
द्यौ३ष्पितर्यावयं दुच्छुना या ॥ ३ ॥ प्र० ऋ० १।११७।२३ द्वि० ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! माता पिताओ ! (धिये) उत्तम आचरण और शुभमति के प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (सं प्र अवतम्) भली प्रकार उत्तम रीति से आगे बढ़ाओ, उत्साहित करो । और हे (उरु-ज्मन्) उरु, समस्त लोकों में व्यापक परमात्मन् ! आप (न प्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करते हुए (नः उरुष्य) हमारी रक्षा करें । हे (द्यौः पितः)

२—(द्वि०) 'अदितिः पात्वंहसः' इति पैप्प० सं० । 'अभिहृतः' इति सायणाभिमतः । 'यावयन्' इति ह्विटनिकामितः । 'अन्तितम्' इति-च्छेदोह्विटनिकामितः सायणाभिमतश्च । 'अन्तिथम्' इति पैप्प० सं० ।

समस्त प्राणियों के पालक ! द्यौः प्रकाशस्वरूप भगवन् ! (या दुच्छुना [1]) जो दुःखदायी फलों को लानेवाली तृष्णा है उसे (यवय) हम से दूर कर।

[५] तेज, बल और ऐश्वर्य की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १-३ अनुष्टुभौ । २ भुरिग् अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उदे॑नमुत्त॒रं न॑याग्ने घृ॒तेना॑हुत ।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥ १ ॥ यजु० ३७ । ५० ॥

भा०—हे (घृतेन आ-हुत अग्ने) घी की आहुति से प्रज्वलित आग के समान घृत=प्रकाशमान लोकों से आहुत=अपने अधिष्ठाता रूप में स्वीकृत अग्ने ! प्रकाशमान् [1] सबके प्रकाशक परमेश्वर ! (एनम्) इस आत्मा को (उत् नय) ऊपर उठा। और (उत्तरं नय) उससे भी अधिक ऊंचा कर। और (एनम्) इसको (वर्चसा) ब्रह्मतेज से (सं-सृज) युक्तकर और (प्रजया च) प्रजा से इस मनुष्य को (बहुम् कृधि) बहुत संख्या में उत्पन्न कर।

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रं कृ॑धि सजा॒ताना॑मसद् व॒शी ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सं सृ॑ज जी॒वात॑वे ज॒रसे॑ नय ॥ २ ॥ यजु० १७ । ५१ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ईश्वर ! (इमम्) इस पुरुषको (सजातानाम्)

२-१. दुष्टं शुनं सुखमस्याम् इति वाश्वेव दुष्टेति वा सायणः।

[५] १-(द्वि०) 'घृतेभिराहुतः' (च०) 'देवानां भागधा' इति पैप्प० सं०। (च०) 'प्रजया च धनेन च' इति तै० सं०।

२-(प्र०) 'प्रतराम् नय' इति यजु०। (च०) 'देवेभ्यो भागधा असत्' इति मै० सं०।

अपने समान अन्य जन्तुओं के (प्रतरम्) पार उतारने वाला, उनसे उत्कृष्ट (कृधि) बना। वह उन पर वश करने वाला हो। इस पुरुष को (रायस्पोषेण सं सृज) धन ऐश्वर्य की पुष्टि से युक्त कर। और (जीवातवे) चिर जीवन के लिये इसे (जरसे नय) बुढ़ापे के काल तक प्राप्त करा। उसे बुढ़ापे के पूर्व मृत्यु के वश न होने दे।

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमंग्ने वर्धया त्वम्।
तस्मै सोमो अधि ब्रवद्यं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

यजु० १७ । ५२ ॥ उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ८७ । ३ ॥

भा०—(यस्य गृहे) जिसके घर में हम (हविः) यज्ञके योग्य चरु और अन्नकी योग्य रूपसे आहुति (कृण्मः) करते हैं हे अग्ने! (तम्) उसको (त्वं) तू (वर्धय) बढ़ा, (तस्मै) उसके प्रति (सोमः) ज्ञानी पुरुष और (अयंच) यह (ब्रह्मणः पतिः) वेद का पालक विद्वान् भी (अधि ब्रवत्) नित्य उपदेश करे।

[६] दुष्टों के दमन की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। ब्रह्मणस्पतिर्देवता सोमश्च। १-३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

यो३ऽस्मान् ब्रह्मणस्पते देवो अभिमन्यते।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्म वेद के स्वामिन्! (यः) जो (अदेवः) स्वतः देव=विद्वान् न होकर (अस्मान्) हमें (अभि मन्यसे)

३-(प्र०) 'कुर्मो गृहे हविः' (तृ०) 'देवा अतिब्रवन्' इति यजु० तै० सं०, मै० सं०।

[६] १-(द्वि०) 'अभिदासति' इति पैप्प० सं०।

अपमानित करता है। (तं सर्वम्) उन सबको (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान देवोपासक के (रन्धयासि) वश कर।

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

भा०—हे सोम ! सौम्य स्वभाव ! राजन् (सुशंसिनः) उत्तम वाणी बोलने वाले, सभ्यः (नः) हम पर (यः) जो पुरुष (दुःशंसः) कुवाक्यवक्ता होकर (आ दिदेशति) हुक्म चलाता है। हे इन्द्र राजन् ! (अस्य) उसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र से (जहि) प्रहार कर। (सः) वह (सं-पिष्टः) अच्छी प्रकार ताड़ित होकर (अप अयति) दूर हट जाय।

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥३॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! (यः) जो (स-नाभिः) हमारा ही सम्बन्धी होकर (नः) हमारा (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करता है और (यः च निष्ट्यः) जो निकृष्ट पुरुष (नः अभि दासति) हमें विनाश करता है। (मही द्यौः वधत्मना इव) जिस प्रकार संहारकारी विद्युत् द्वारा विशाल आकाश वज्रपात करता है उस प्रकार (तस्य बलम्) उसके बल, सेना को (वध-त्मना) संहारकारी अस्त्र से इस प्रकार (अप तिरः)विनाश कर।

२–(प्र०) 'सुसंशिनो' इति प्रायः। 'सुशंसिनः' पैप्प० सं०। (द्वि०)-'दुःशसे अभिदासति' इति पैप्प० सं०।

३–'येन सोमाभिदासतः' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'यो नः इन्द्र' (तृ०) 'अवतस्य' (च०) 'द्यौरधत्मना' इति ऋ०।

[७] उत्तम शासन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता, विश्वेदेवा देवताः । १-३ गायत्र्यः । ३ निचृत् ।

तृचं सूक्तम् ॥

येन॑ सोमादि॑तिः प॒था मि॒त्रा वा॒ यन्त्य॒द्रुहः॑ । तेना॑ नोऽव॒सा ग॑हि॥१॥

भा०— हे (सोम) राजन्! (येन पथा) जिस मार्ग से या उपाय से (अदितिः) अखण्डित शासक राजा और (मित्राः वा) उसके प्रजाधिकारी जो प्रजा को परस्पर के मरने मारने से रक्षा करने हारे हैं वे (अद्रुहः) विना परस्पर द्रोह किये (यन्ति) गमन करते हैं (तेन) उस (अवसा) प्रजारक्षणकारी बल से (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हो और हमें अपना ।

येन॑ सोम साहन्त्यासु॑रान् र॒न्धया॑सि नः । तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत॥२॥

भा०—हे (सोम) राजन्! हे (साहन्त्य) सब को अपने वश में करने वाले! नियामक (येन) जिस बल से (असुरान्) बलवान् पुरुषों को भी (नः) हमारे कल्याण के लिये (रन्धयासि) अपने वश करता है (तेन) उसी उपाय से (नः) हम पर भी (अधि वोचत) शासन कर और हम पर हुकूमत चला ।

येन॑ दे॒वा असु॑राणा॒मोजां॒स्यवृ॑णीध्वम् । तेना॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत ॥३॥

भा०—(देवाः) विद्वान् पुरुष (येन) जिस उपाय से (असुराणाम्) बलवान् शारीरिक बल से बली पुरुषों के (ओजांसि) तेजों को बलों को

---

[७] १-(प्र०) 'येभिः सोम सहन्त्या' (तृ०) ते मन्येऽविता भुवः' इति पैप्प० सं० ।

३-'यानि देवा' (तृ०) 'तेभिः' इति पैप्प० सं० ।

(अवृणीध्वम्) अपने नीचे दवा लेते हैं हे विद्वानो ! (तेन) उसी उपाय से (नः) हमें आप लोग (शर्म) सुख शान्ति (यच्छत) प्रदान करो ।

इस सूक्त में अध्यात्म पक्ष में सोम=आत्मा; आदितिः=अखण्ड, चिति शक्ति या बुद्धि, मित्राः=१२ प्राण, असुराः=प्राण, कर्मेन्द्रिय; देव=ज्ञानेन्द्रिय ।

[८] पति-पत्नी की परस्पर प्रेम प्रतिज्ञा ।

जमदग्निर्ऋषिः । कामात्मा देवता । १–३ पथ्या पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे ।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥

अथर्व० १ । ३४ । ५ ॥ २ । ३० । १ ॥

भा०—गृहस्थ धर्म का उपदेश करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (लिबुजा) लता (वृक्षम्) वृक्ष को (समन्तम्) सब ओर से (परि सस्वजे) चिपट जाती है, उसी का आश्रय लेती है (एवा) इसी प्रकार हे स्त्रि ! (मां) मुझ पति को तू मेरी धर्मपत्नी (परिष्वजस्व) प्रेम से सब प्रकार से आलिङ्गन कर और मेरा आश्रय ले । और ऐसा व्यवहार कर कि तू (यथा) जिस प्रकार भी हो (मां कामिनी असः) मुझे ही अनन्य चित्त से चाहने वाली बनी रह, (यथा) जिससे तू (मत्) मुझे छोड़कर (अपगा) दूर जाने वाली (न असः) न हो । इस प्रकार पति अपनी पत्नी को उपदेश करे और उसे अपने आश्रय पर पालन करे ।

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् ।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सुपर्णः) पक्षी (भूम्याम्) भूमि पर (प्रपतन्) वेग से आता हुआ (पक्षौ निहन्ति) पंखों को शिथिल कर देता है । (एवा) इसी प्रकार (ते मनः) तेरे विचलित हृदय को मैं (निहन्मि) अपने प्रति निश्चल करता हूं । (यथा) जिससे (मां कामिनी असः) तू मुझे सदा चाहती रहे और (मत् अपगा न असः) मुझे छोड़कर जाने का संकल्प न करे ।

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः ।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥३॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (सद्यः) शीघ्र ही उदय होते ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान दोनों में सर्वत्र (परि-एति) व्याप जाता है (एवा) इसी प्रकार मैं (ते मनः) तेरे मन, हृदय में (पर्येमि) एक ही वार, तुरन्त व्याप जाऊं । (यथा) जिससे तू (मां कामिनी असः) मुझे चाहने वाली, मेरी प्रियतमा हो जाय और (यथा) जिससे तू (मत्) मुझे छोड़कर (न अपगा असः) दूर चले जाने का संकल्प न करे ।

[९] स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम करने का कर्त्तव्य ।

जमदग्निर्ऋषिः । कामात्मादेवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वाञ्छ मे तन्वं१ पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छ सक्थ्यौ ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥ १ ॥

३-(द्वि०) 'प्रयाति' इति क्वचित् ।

[९] १-(प्र०) 'पादौ तन्वा' (द्वि०) 'वाञ्छ' (तृ०) 'अक्षो केशा आष्ठौ कामे नाश्यताम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—स्त्री पुरुषों को परस्पर के प्रति प्रेम और अभिलाषा करने का उपदेश करते हैं। हे प्रियतमे ! तू (मे) मेरे (तन्वं) शरीर को (वांछ) मन से चाह। (पादौ वांछ) मेरे पैरों को चाह, (अक्ष्यौ) मेरी आंखों की (वान्छ) चाह कर, (सक्थ्यौ वान्छ) मेरे टांगों की चाह कर। अर्थात् मेरे प्रत्येक अंग पर प्रेम की भरी दृष्टि से देख। (वृषण्यन्त्याः) मेरे प्रति कामना करने हारी तेरी (अक्ष्यौ) आंखें और (केशाः) केश भी (मां) मुझको (कामेन) तेरी प्रबल कामना से (शुष्यन्तु) सुखाया करें अर्थात् पति भी पत्नी के चक्षुओं और केश आदि अंगों को देखकर प्रबलता से कामना करे तब वह भी उसके अंगों पर सप्रेम दृष्टिपात करें और दोनों वर वधू परस्पर को देखने के लिये सदा उत्सुक रहें।

मम॑ त्वा दोषणिश्रिषं॑ कृणोमि॑ हृदयश्रिषम्॑ ।
यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ३ । २५ । ५ तृ० च० ॥ १ । ३४ । २ तृ० च० ॥

भा०—हे प्रियतमे ! मैं (हृदयश्रिषम्) हृदय में लगी, हृदय में बसी (त्वा) तुझको (मम दोषणि श्रिषं कृणोमि) अपनी भुजा पर चिपटाऊँ, तुझे बाहु से आलिंगन करूं (यथा) जिससे तू (मम क्रतौ) मेरे हृदय की इच्छा के भीतर (असः) रहे और (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) आकर बसे।

या॒सां॑ नाभि॑रा॒रेह॑णं॑ हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम् ।
गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒ऽमूं सं वा॑नयन्तु मे ॥ ३ ॥

२–'मैत्वा दूषणि मृगम् कृणोमि हृदयस्पृगम्'। (तृ०) 'नमेदपक्रता' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'मातरोऽमूः' इति सायणाभिमतः।

भा०—(यासां) जिनका (आ-रेहणं) चुम्बन भी (नाभिः) उनको बांधने वाला है और वही मानो (हृदि) हृदय में एक (संवननम्) परस्पर एक दूसरे को स्वीकार करने का उपाय (कृतम्) किया गया है । (घृतस्य) घृत के समान स्नेहमय प्रेम की (मातरः) उत्पन्न करने वाली (मातरः) माताएं ही (गावः) गौवों के समान स्नेहमय चक्षुओं से देखने वाली (अमूः) इस प्रियतमा को (मे) मेरी तरफ़ (सं वानयन्तु) प्रेमपूर्वक प्रेरित करें ।

[१०] अग्निहोत्र का उपदेश ।

शंतातिर्ऋषिः । १ अग्नि । २ वायुः । ३ सूर्यः । १ साम्नी त्रिष्टुप् । २ प्रजापत्या बृहती । ३ साम्नी बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—सम्पत्ति चाहने वाले के लिये अग्निहोत्र का उत्तम उपदेश करते हैं । (पृथिव्यै स्वाहा) इस विशाल पृथिवी के लिये उत्तम हवि की आहुति दूं । (श्रोत्राय स्वाहा) पृथिवी के श्रोत्र रूप दिशाओं के लिये भी उत्तम आहुतिएं का प्रदान करो (वनस्पतिभ्यः स्वाहा) वनस्पतियों के लिये भी पुष्टिकारक घृत की आहुति प्रदान करो । (अधिपतये अग्नये स्वाहा) पृथिवी में स्वामी अग्नि देव उसको भी उत्तम हवि घृत की आहुति प्रदान करो ।

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—(प्राणाय) प्राण रूप वायु (अन्तरिक्षाय) उसके संचार स्थान अन्तरिक्ष, (वयोभ्यः) उसमें विचरनेवाले पक्षियों और (अधिपतये वायवे) उनके सर्वतो मुख्य स्वामी वायु के लिये भी (स्वाहा) उत्तम घृत आदि की आहुति देना चाहिये ।

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—(दिवे) द्यौः या प्रकाश या तेज के लिये (चक्षुषे) उसके ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय चक्षु (नक्षत्रेभ्यः) उस तेज से चमकनेवाले नक्षत्रों और (अधिपतये सूर्याय) उनके स्वामी सूर्य के लिये (स्वाहा) उत्तम आहुति का प्रदान करो ।

अध्यात्म में—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः तीन लोक हैं, श्रोत्र, प्राण=घ्राण और चक्षु तीन इन्द्रिय हैं, वनस्पति, पक्षि और नक्षत्र तीनों लोकों की तीन प्रकार की प्रजाएं हैं। अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन उनके अधिपति हैं । इन लोक-इन्द्रिय और अधिपति इन त्रिकों का परस्पर घनिष्ट, लेनदेन है । वही उनकी उत्तम आहुति है । पृथिवी से वनस्पति उत्पन्न होती है और अग्नि उनको खा जाती है श्रोत्र रूप दिशाओं में फैलती है । अन्तरिक्ष पक्षिगण विहार करते हैं उनका रक्षक वायु है । उसका एकांश सबका प्राण वायु नासिका में विचरता है—द्यौः लोक तेजो लोक की प्रजाएं ये नक्षत्र हैं उनका अधिपति सूर्य है जिनका प्रत्यक्ष नमूना यह सूर्य है । और तेजका ग्राहक चक्षु है । यह ईश्वर की सृष्टि में एक दूसरे का धारक और सामर्थ्यदायक है । यही उनकी उत्तम आहुति है ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि ऋचश्च त्रिंशत् ।]

[११] गर्भाधान और प्रजनन विद्या ।

प्रजापतिर्ऋषिः । रेतो देवता । १–३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम् ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥

[११] १–'पुंसवनं' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'अश्वत्थारूप', (तृ० च०) तदेव तस्य भेषजम् यत् स्त्रीष्वभरान्ति तम् ।'

भा०—(शमीम्) शान्त, उद्वेगरहित, धीर स्त्री—मादा, पर (अश्वत्थः) अश्व के समान शीघ्रगामी, दृढांग रूप से स्थिर पुरुष=नर (आरूढः) गर्भाधान करे (तत्र) वहां (पुंसवनम्) पुमान पुत्र के उत्पन्न होने का विधान (कृतम्) किया जाता है । (तद्) यही विधान (पुत्रस्य) पुमान पुत्र के (वेदनं) प्राप्त करानेवाला है । (तत्) उसी दृढ़ वीर्य को (स्त्रीषु) स्त्रियों में हम पुरुष (आ भरामसि) धारण करावें ।

पुमान् पुत्रों को प्राप्त करने के लिये स्त्री उद्वेग रहित और पुरुष दृढांग होना चाहिये । कइयों के मत से—शमी नामक वृक्ष पर उगा हुआ पीपल पुमान पुत्र उत्पन्न करने की ओषधि है । उसीसे पुत्र लाभ होता है और उस ओषधि से प्राप्त वीर्य को आधान करना चाहिये ।

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥

भा०—अश्वत्थ और शमी की समस्या को स्पष्ट करते हैं । (पुंसि वै) पुरुष में ही (रेतः) वीर्य (भवति) उत्पन्न होता है । (तत्) वही वीर्य (स्त्रियाम्) स्त्री के गर्भ में (अनु=सिच्यते) गर्भाधान द्वारा सेचन किया जाता है । (तद्) वह (वै) ही निश्चय से (पुत्रस्य) पुत्र के (वेदनम्) प्राप्त करने का उपाय है (तत्) यह (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (अब्रवीत्) उपदेश करता है ।

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य/चीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजापति=पुरुष (अनुमतिः) और अनुमति=पति के अभिमत पुत्र का ही चिन्तन करनेवाली (सिनीवाली) सिनीवाली, स्त्री (अचीक्लृपत्) गर्भ धारण और पालन में समर्थ होते हैं । (अन्यत्र)

२–पुंसि वै पुरुषे रेतस्तां स्त्रियामनुषिच्यतु । तथातदब्रवीद्धाता तत्प्रजापतिरब्रवीत् । इति शां० गृ० सू० ।

अन्य दशा में (स्रैसूयम् दधत्) बहुत सम्भव है कन्या को गर्भ में धारण करे। परन्तु (इह) इस उक्त प्रकार के अनुमनन करने से (पुमांसम् उ दधत्) स्त्री पुमान् पुत्र को ही धारण करती है।

अनुमतिः—अनुमननात् इति यास्कः। जो स्त्री पति की अभिलाषा के अनुकूल पुत्र का ही निरन्तर चिन्तन करती है वह स्त्री 'अनुमति' कहाती है। योषा वै सिनी वाली। शं० ६। ५। १। १०॥

[१२] सर्पविष-चिकित्सा।

गरुत्मान् ऋषिः। तक्षको देवता। १-३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम्।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम्॥ १॥

भा०—(रात्रि) प्रलय-कालमय रात्रि जिस प्रकार (जगत्-इव) जगत् को व्याप्त कर लेती है परन्तु (अन्यत् हंसात्) उससे भी परे विद्यमान हंस=परब्रह्म को वह व्याप्त नहीं करती, उसी प्रकार विष से उत्पन्न होने वाली रात्रि तमोमय निद्रा या मूर्छा भी (हंसात् अन्यत्) हंस=आत्मा से अतिरिक्त शरीर को व्याप्त कर लेती है। इसी प्रकार तेरे विष से उत्पन्न (रात्रिः) प्रलयकारिणी कालकला (जगत्) सब जंगम प्राणियों को हर लेती है परन्तु (अन्यत्र हंसात्) हंस या सुपर्ण या गरुड़ पक्षी पर वह नहीं छाती। (तेन) उसी विष निवारक बल से मैं (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) दूर करता हूँ। और (द्याम् सूर्य इव) द्यौलोक आकाश को जिस प्रकार सूर्य व्यापता है और (अहीनाम्) मेघों का (जनिम्) उत्पत्ति करता है उसी प्रकार मैं भी (अहीनां जनिम्) सर्पों की उत्पत्ति और उनके सब स्वरूपों को (आ गमम्) खूब अच्छी प्रकार जानता हूँ।

[१२] १—'रात्री जगदिवां नि ध्वंसादवादीरिमं [?] विषम्' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'जनिमागमम्' इति सायणाभिमतः।

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा ।

यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

भा०—(यद्) जो (ब्रह्मभिः) वेद के विद्वानों और (यद् ऋषिभिः) जो दूरदर्शी ऋषियों और (यद् देवैः) जो देव=विद्वान् पुरुषों ने (विदितं) जाना है । हे (आसन्वत्) मुख से काटनेवाले सर्प ! (यद्) जो तेरा विष (भूत) अभी तक शरीर में चढ़ चुका है और जो (भव्यम्) और भी उसमें चढ़ेगा उस सब (ते विषम्) तेरे विष को मैं (तेन वारये) उस विद्वानों ऋषियों द्वारा जाने गये उपाय से दूर करूं ।

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु ।

मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

भा०—(मध्वा) मधु से मैं (आपृञ्चे) रोगी को जोड़ता हूं । (नद्यः) नदियां, (पर्वताः) पर्वत और (गिरयः) छोटे २ टीले ये सब (मधु) मधु हैं । इनमें सर्प-विषों को दूर करने की ओषधियां प्राप्त होती हैं और (शीपाला) शैवालवाली, शान्त, गम्भीर और (परुष्णी) पर्व पर्व पर बहती हुई जलधारा भी (मधु) उत्तम मधु=अमृत है । इन उपायों से (आस्ने) मुख के लिये (शम्) शान्ति हो और (हृदे शम्) हृदय में भी कल्याण और शान्ति उत्पन्न (अस्तु) हो ।

२–(द्वि०) 'उदितम्' (तृ०) 'असुन्वत्' इति पैप्प० सं० ।

३–'मध्व आपृञ्चे' इति सायणाभिमतः । 'अभिना पृच नद्यः पर्वतैव गिरयो मधु । मधु पृष्णी शीपाला समास्ते स्तु शं हृदय ।' इति पैप्प० सं० ।

[१३] मृत्यु और उसके उपाय ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । मृत्युर्देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः ।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

भा०—(देववधेभ्यः) देव, विद्वान् ब्राह्मणों के, ज्ञात शस्त्रों-वैज्ञानिक शक्तियों का (नमः) हम आदर करते हैं । (राजवधेभ्यः नमः) राजा लोगों के युद्ध के शस्त्रों को भी हम मान की दृष्टि से देखते हैं, (अथो) और (ये) जो (विश्यानां) निवासी प्रजाओं के (वधाः) शस्त्र अस्त्र साधन हैं, हे (मृत्यो) मौत ! (तेभ्यः) उनको भी (नमः अस्तु) नमः, आदर भाव हो, क्योंकि वे सब (ते) तेरे ही उपाय हैं ।

नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः ।
सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः ॥ २ ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! (ते अधि-वाकाय नमः) तेरे विषय में अनुकूल कहे गये ज्ञान को भी हम स्वीकार करते हैं (ते परा-वाकाय नमः) और तेरे प्रतिकूल तुझे दूर करने के विषय में जो उपदेश हैं उनका भी हम (नमः) ज्ञान करें । हे मृत्यो ! (ते सु-मत्यै नमः) तेरी दी सद्-बुद्धि को भी आदर से स्वीकार करते हैं और (ते) तेरे कारण उत्पन्न (दुर्मत्यै) दुष्ट मति को भी (इदम् नमः) यह वश करने का साधन है ।

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः ।
नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

भा०—हे मृत्यो ! (यातुधानेभ्यः नमः) तुझ मौत या देहावसान रूप

[१३] १-(तृ०) 'विश्वानां' इति पैप्प० सं० ।

कष्ट के लानेवाले यातुधान=पीड़ादायक रोगों को (नमः) हम वश करने का उद्योग करते हैं, इसलिये (ते) तेरी (भेषजेभ्यः) पीड़ा हरनेवाली ओषधियों का (नमः) हम संग्रह करते और उपयोग करते हैं। हे मृत्यो ! (ते मूलेभ्यः नमः) तेरे जो मूल कारण हैं उनका अनुसंधान करते हैं। और उनका अनुसंधान करनेवाले (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म=वेद को जाननेवाले विद्वान् पुरुषों का (इदम् नमः) हम इस प्रकार आदर करते हैं।

नमः=आदरभाव, वज्र और सदुपयोग।

[१४] कफ-रोग निदान और चिकित्सा।

बभ्रुपिङ्गल ऋषिः। बलासो देवता। अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम्।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

भा०—(अस्थि-स्रंसं) हड्डियों को तोड़ डालनेवाले, (परु-स्रंसं) पोरुओं को भी तोड़नेवाले, उनमें प्रबल पीड़ा उत्पन्न करनेवाले और (आ-स्थितं) जमे हुए (हृदय-आमयं) हृदय के रोग रूप उस (बलासं) शरीर के बलनाशक श्लेष्म रोग को (यः) जो (अंगे-ष्ठाः) शरीर के अंग २ में व्यापक हो और (यः च पर्वसु) जो पोरु पोरु, जोड़ जोड़ में बैठ गया हो उस सब कफविकार को (नाशय) विनाश कर।

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥ २ ॥

---

[१४] १–(तृ०) 'सर्वं निष्कृधि' इति पैप्प० सं०।
२–(द्वि०) 'कृणोमि पुष्करं यथा'। (च०) 'मूलमुल्वाल्वा यथा' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'पुष्करं यथा' इति सायणाभिमतः।

भा०—(वलासिनः) वल का विनाश करनेवाले कफ के रोगी के (वलासं) वल विनाशक कफरोग को (यथामुष्करं) कमलनाल के समान ऐसे (निः क्षिणोमि) निर्मूल करता हूं । और (अस्य) इस कफ या श्लेष्मा के (वन्धनं) वन्धन को (उर्वार्वाः मूलम् इव) ककड़ी या खरबूजे के मूल के समान (छिनद्मि) तोड़ डालूँ ।

निर्वलासेतः प्र पताशुङ्गः शिंशुको यथा ।
अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

भा०—(वलास) समस्त शरीर के वल को हरण करनेवाले हे कफजनित तपेदिक रोग तू ! (यथा आशुंगः शिशुकः) शीघ्रगामी हिरनौटे के समान (प्र पत) परे भाग जा । (अथो) और (हायनः इट इव) प्रतिवर्ष उगनेवाले घास के समान तू (अवीरहा) हमारे पुत्रों का नाश न करता हुआ ही (अप द्राहि) परे भाग जा, नष्ट हो जा, उड़ जा । सायण के मत में—(इत इव हायनः) गुजरे हुए वर्ष के समान तू भी चला जा ।

[१५] सर्वोत्तम होने की साधना ।

उद्दालक ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सो३स्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ १ ॥
यजु० १२ । १०१ ॥ ऋ० १० । ६७ । २३ ॥

३–(द्वि०) 'शुशुको', 'इत इव सायनः' इति सायणाभिमतः । 'सुपर्णो वसतेरिव' । (तृ० च०) अथेत इवाहनो पद्राह्यवीरह । इति पैप्प० सं० ।

[१५] १–(प्र०) 'त्वमुत्तमास्योषधे' इति ऋ० । 'उपस्तिरस्माकंभूयाद्योऽस्मान्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—ओषधि रूप से ब्रह्म का वर्णन करते हैं। हे प्रजापते! परमात्मन्! आप (ओषधीनां) सब ओषधियों में (उत्तमः) सब से उत्तम भव, रोग के विनाशक ओषधि हैं। (वृक्षाः) देहधारी जीव (तव) तेरे (उपस्तयः) उपासक हैं। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें विनाश करना चाहता है, हम से द्वेष करता है भगवन्! हमें ऐसा बल दें कि (सः) वह भी (अस्माकं) हमारे (उपस्तिः) समीप बैठने वाला, मित्र के समान (अस्तु) हो जाय।

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः॥ २॥

भा०—(स-बन्धुः च) हमारे गोत्र का बन्धु और (अबन्धुः च) वह जो हमारा सम्बन्धी नहीं है, (यः) जो कोई भी (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) विनाश करना चाहते हैं, हमसे द्वेष बुद्धि करता है, (वृक्षाणां सा इव) वृक्षों में से जिस प्रकार ओषधि उत्तम है, और देह-धारियों में जैसे वह ब्रह्मोषधि उत्तम है, उसी प्रकार (तेषां) उन सम्बन्धी और असम्बन्धी लोगों में (अहम्) मैं उत्तम (भूयासम्) हो जाऊं।

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः॥ ३॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सोमः) सोमलता (हविषां) इन्द्रियों के पुष्टिकारक चरु द्रव्यों के निमित्त (ओषधीनां) ओषधियों में सब से (उत्तमः कृतः) उत्तम बतलाया गया है और (वृक्षाणाम्) वृक्षों

२–(प्र०) 'सम्बन्धुश्चा सम्बन्धुश्च' (तृ०) 'सम्बधूत् सर्वास्तान् त्वा' इति पैप्प० सं०।

३–(द्वि० तृ०) उत्तमं हविरुच्यते। यथा त्वमेव वृक्षाणाम्' (तृ०) 'पलाशः' इति सायणाभिमतः।

में से (तलाशा) [1] 'तलाशा' नामक वृक्ष सब से श्रेष्ठ है उसी प्रकार (अहम्) मैं सब देहधारी जीवों में (उत्तमः) उत्कृष्ट (भूयासम्) हो जाऊं ।

[१६] प्रजापति की शक्ति का वर्णन ।

शौनक ऋषिः । मन्त्रोक्ता उत चन्द्रमा देवता, २ हिनो देवता । १ निचृत् त्रिपदा गायत्री, ३ बृहतीगर्भा ककुम्मती अनुष्टुप्, ४ त्रिपदा प्रतिष्ठा, अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आवयो अनावयो रसस्त उग्र आवयो । आ ते करम्भमद्मसि ॥१॥

भा०—प्रजापतिर्देवता आवयु—अन्न ओषधि के नाम से प्रजापति के गुणों का वर्णन करते हैं । हे (आवयो) [1] सर्वव्यापक ! या खाये जाने योग्य अन्न ! हे (अनावयो) कहीं भी इन्द्रियों से उपलब्ध न होने वाले, या कभी न खाये जाने योग्य अथवा हे सर्वप्रकाशक सर्वोत्पादक और हे किसी से भी प्रकाशित और उत्पादित न होनेवाले ! (ते रसः) तेरा रस, आनन्दरस (उग्रः) बड़ा तीव्र है । हे (आवयो) [1] सर्वव्यापक, सर्व प्रकाशक या हे अन्न ! (ते) तेरा ही (करम्भम्) दिया हुआ अन्न या क=सुखमय रम्भ=लम्भ=ज्ञान संवेदना का हम (आ अद्मसि) सर्वत्र उपभोग करते हैं ।

विहह्लो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥

---

[१६] १–(प्र० द्वि०) 'आवयो अनावयो रसस्त उग्र आवयो' इति पैप्प० सं० सायणसम्मतश्च । 'या ते कर्म मशीमहि' इति पैप्प० सं० ।

१. 'सर्षप' इति सायणः ।

२–(तृ०) 'सेवस्त्वमासि' इति पैप्प० सं० । बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च नीला-

भा०—(ते) तेरा (पिता) पालकस्वरूप (वि-हलहः नाम) नाना प्रकार से सर्वत्र व्यापक है। और (ते माता) तेरा उत्पादक (मदावती) हर्ष से सम्पन्न, वह प्रकृति शक्ति है। हे (हिन) सर्व-प्रेरक आत्मन्! (सः त्वम् असि) तू वही है (यः त्वम्) जो तू (आत्मानम् आवयः) अपने आत्मा को सर्वत्र तन्तुओं के समान ओत प्रोत किये हुए हैं। 'आवयः' यह पद ही 'आवयु' इस पद का प्रवृत्ति-निमित्त है।

तौविलिकेवेलयावायमैलब ऐलयीत्।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

भा०—हे तौविलिके! तुविल=सर्वव्यापक परमेश्वर की शक्ति से असत् से सत् रूप में प्रकट होनेवाली प्रकृते! (अयम्) यह (ऐलवः) समस्त प्रकृति संचालक शक्ति का स्वामी (अव ऐलयीत्) समस्त संसार को प्रेरित कर रहा है। उसी की शक्ति से हे प्रकृते! तू भी (अव इलय) इस संसार को चला रही है। हे (निराल) निर्बंध, मुक्त जीव! तू (बभ्रुः) स्वयं सब को धारण पोषण करनेवाला, प्राण रूप और (बभ्रुकर्णः च) प्राणमय साधनों से सम्पन्न होकर (अप-इहि) इस बन्धन से भाग निकल।

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा। नीलागलसाला ॥४॥

कलशालाशवः पश्चा।' इति पैप्प०सं०'सः। हि। नः' इति पदच्छेद सायणाभिमतश्चिन्त्यः। अनेन हिन देवमस्तौदिति सर्वानुक्रमणी। 'विहल्ह' इति सायणः।

३–'तौलिकेत्रेलयावा इमैलवैलै। इह त्वमाहुति जुषाणो मनसा स्वाहा।'' इति पैप्प० सं०।

४–'सलाञ्जाला' इति स[illegible]भिमतः।

भा०—ब्रह्मशक्ति तीन प्रकार की है (पूर्वा) प्रथम जो सृष्टि के पूर्व में या पूर्ण रूप में (अलसाला) अलं=अति अधिक गतिवाली, क्रियावती या (अ-लसाला) अव्यक्त (असि) है। और (उत्तरा) उसके बाद (सिल-अञ्ज्-आला) कण कण, परमाणु २ में व्यापक जगत् को व्यक्त करने में समर्थ हो जाती है। और इसका तीसरा रूप (नीलागलसाला) नील अन्धकारमय, तामस आगल=सबकी संहारक प्रचण्ड वेग वाली होती है।

सायण के मत से—आवयु=सर्षप। उसका रस तेल है। 'विहल्ह' और मदावती का कुछ पता नहीं। करम्भ-तेल में भुना सरसों के पत्तों का शाक। तौविलिका=कोई पिशाची ऐनाक=आंख का रोग। बभ्रु, बभ्रुकर्ण नामक रोग दो कारण। अलसाला, सिलांजाला और नीलागलसाला ये तीन प्रकार के धान्यों के नाम हैं। कौशिक ने 'शलाञ्जाला' नामक धान्य का का उल्लेख किया है। कदाचित् धान्य सामान्य को 'सलाञ्जाला' कहा जाता है। शेष भी इसीके नाम रूपभेद से प्रतीत होते हैं। कौशिक ने अन्नों के दोष शान्ति के निमित्त उर्वराभूमि में तीन धान्य मञ्जरी गाड़ने में इस ऋचा का विनियोग लिखा है। परन्तु ऋचा का रहस्य बहुत गूढ़ और अस्पष्ट है।

[१७] गर्भधारण, प्रजनन-विद्या।

अथर्वा ऋषिः। गर्भदृंहणं देवता। अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥ १॥

भा०—गर्भधारणकी मूल विद्या का उपदेश करते हैं। (यथा) जिस प्रकार (इयम्) यह (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी

[१७] १–(च०) 'अनुसूत्रम्' इति सायणाभिमतः।

(भूतानाम्) समस्त उत्पन्न होनेवाले प्राणियों के (गर्भम्) गर्भ, मूल-भूत बीजों के (आ दधे) धारण करती है। (एवा) इसी प्रकार (ते) हे प्रियतम स्त्रि! तेरे भीतर (गर्भः) गर्भ=मूलबीज (सूतुं) सन्तान के रूप से।(अनु सवितवे) यथाकाल प्रसव करने के लिये (ध्रियताम्) धारण कराया जाय।

यथेयं पृ॒थि॒वी म॒ही दा॒धारे॒मान् व॒नस्पती॑न्। ए॒वा० ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इयम् मही पृथिवी) यह बड़ी विशाल पृथिवी (इमान् वनस्पतीन्) इन वनस्पतियों को (दाधार) अपने में धारण करती और अपने रस से उनको पुष्ट करती है (एवा ते गर्भः ध्रियताम्) हे स्त्रि! इसी प्रकार तेरा यह गर्भ भी धारण किया जाकर पुष्ट हो जिससे (अनु सूतुं सवितवे) बाद में पुत्र की उत्पत्ति हो।

यथेयं पृ॒थि॒वी म॒ही दा॒धार॒ पर्व॑तान् गि॒रीन्। ए॒वा० ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इयम् मही पृथिवी) यह विशाल पृथिवी (गिरीन् पर्वतान् दाधार) अपने ऊपर इन छोटे छोटे और बड़े २ पर्वतों को धारण करती है, उनको डिगने नहीं देती (एवा ते ध्रियताम् गर्भः) उसी प्रकार हे स्त्रि! यह तेरा गर्भ दृढ़ता से जमा रहे (अनु सूतुं सवितवे) जिससे बाद को यथाकाल सन्तान उत्पन्न हो।

यथेयं पृ॒थि॒वी म॒ही दा॒धार॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ ४ ॥

भा०—(यथा इयम् मही पृथिवी) जिस प्रकार यह विशाल पृथिवी (विष्ठितम् जगत् दाधार) नाना प्रकार से विभक्त, व्यवस्थित चर अचर जीवित संसार को (दाधार) पालन पोषण करती है, सब को अन्न देती

२–'यथेयमुर्वी पृथिवी' (तृ० च०) 'गर्भ अनुसवितवे' इति पैप्प० सं०।

और पालती है (एवा ते ध्रियताम् गर्भः) इसी प्रकार हे स्त्रि ! तेरा गर्भ पालित पोषित रहे, मरे न, जिससे (अनु सूतुं सवितवे) बाद में पुत्र सन्तति उत्पन्न हो।

[१८] ईर्ष्या का निदान और उपाय।

अथर्वा ऋषिः। ईर्ष्याविनाशनं देवता। १,४ अनुष्टुभः। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

ई॒र्ष्याया॒ ध्राजिं॑ प्रथ॒मां प्र॑थ॒मस्या॑ उ॒ताप॑राम्।
अ॒ग्निं हृ॑द॒य्यं॑१ शोकं॒ तं ते॒ निर्वा॑पयामसि ॥ १ ॥

भा०—(ईर्ष्यायाः) दूसरे की उन्नति को देख कर हृदय में उत्पन्न होनेवाली ईर्ष्या के (प्रथमाम्) प्रथम (ध्राजिं) तीव्र वेग को (निः—र्वा-पयामसि) हम पहले ही शान्त कर लिया करें। यदि यह न हो सके तो (उत) फिर (प्रथमस्याः) पहले वेग से उत्पन्न दूसरा उससे मन्द वेग होता है उस (अपराम्) दूसरे वेग को ही (निः वापयामसि) हम शान्त कर लें। हे पुरुष ! हम तो (ते) तेरे (तम्) उस पूर्वोक्त प्रकार के (हृदय्यम्) हृदय में सुलगनेवाले (अग्निं) आग रूप (तं शोकम्) उस शोक-विषाद को भी (निः—वापयामः) शान्त करें।

यथा॒ भूमि॑र्मृ॒तम॑ना मृ॒तान्मृ॒तम॑नस्तरा।
यथो॒त म॒म्रुषो॒ मन॑ ए॒वेर्ष्यो॑र्मृ॒तं मनः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (भूमिः मृतमनाः) यह भूमि, मिट्टी मरे दिलवाली, अचेतन है और (मृतात्) यह मरे हुए मुर्दे से भी अधिक (मृतमनः—स्तरा) मुर्दादिल है (उत) और (यथा) जिस प्रकार

(द्वि०) 'मध्यमामधमामुत। सत्यं हृदय्यं' (च०) 'निर्मन्त्रयामहे' इति पैप्प० सं०।

(मम्रुषो मनः) मरे हुए मनुष्य का मन मर चुकता है (एवा) उसी प्रकार (ईर्ष्योः मनः मृतम्) ईर्षालु पुरुष का भी मन, मनन शक्ति मर जाती है । इसलिये ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये ।

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अदः) अमुक ईर्ष्यायुक्त जो (मनस्कं) तुच्छ मन (ते हृदि) तेरे हृदय में (श्रितम्) समाया है वह (पतयिष्णुकम्) तुझे सदा नीचे गिरानेवाला है । (ततः) इस कारण से (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (मुञ्चामि) तुझ से ऐसे छुड़ाता हूँ, जैसे (दृतेः) चाम की बनी धौंकनी से (ऊष्माणम् निर) गर्म वायु की फूंक निकाल दी जाती है ।

[१९] पवित्र होने की प्रार्थना ।

शंतातिर्ऋषिः । नाना देवता उत चन्द्रमा देवता । १,२ गायत्र्यौ, ३ अनुष्टुप् तृचं सूक्तम् ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥

यजु० १९ । ३९ ॥ ऋ० ९ । ६७ । २७ ॥

३–(च०) 'दृतेरिव' इति क्वचित् (प्र०) 'यद् यन्ते हृदिसुकं' (द्वि०) 'प्रथयिष्णुकम्' (तृ०) 'तं त्' अप्यामि मुं– इति पैप्प० सं० ।

[१९] १–(द्वि०) 'पुनन्तु मनसा धियः' (च०) 'जातवेदः पुनीहि मां' इति यजु० । "पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया विश्वेदेवाः पुनीत मा जातवेदः पुनी हिमाम्" इति ऋ० (तृ०) 'विश्वा-भूता मा' इति मै० सं० ।

भा०—पवित्र और शुद्ध होने का उपदेश करते हैं। (मा) मुझ अशुद्ध पुरुष को (देवजनाः) विद्वान् लोग (पुनन्तु) पवित्र कर लें। और (मनवः) मननशील विचारवान् पुरुष मुझे (धिया) ज्ञान और कर्म के बल से (पुनन्तु) मुझे पवित्र कर लें। (विश्वाभूतानि) समस्त प्राणिगण भी मुझे सद्भावना से पवित्र करें और (पवमानः) सब को पवित्र करनेहारा पतितपावन प्रभु मुझे (पुनातु) पवित्र करे।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये ॥२॥

भा०—(पवमानः) सब के पावन प्रभु (मा) मुझे (क्रत्वे) ज्ञान, (दक्षाय) बल, (जीवसे) सम्पूर्ण जीवन, (अथो) और (अरिष्टतातये) क्लेश रहित, सुख कल्याण के लिये (पुनातु) पवित्र करें।

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। अस्मान् पुनीहि चक्षसे॥३॥

भा०— हे (सवितः देव) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वरदेव! (पवित्रेण) अपने पवित्र करनेहारे ज्ञान और (सवेन च) कर्म (उभाभ्यां) दोनों से (चक्षसे) अपने साक्षात् दर्शन के लिये (अस्मान्) हमें (पुनीहि) पवित्र कर।

[२०] ज्वर का निदान और चिकित्सा।

भृग्वंगिरा ऋषिः। यक्ष्मनाशनं देवता। १ अति जगती। २ ककुम्मती प्रस्तार पंक्तिः ३ सतः पंक्तिः। तृचं सूक्तम्।

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति।
अन्यमस्मदिच्छतु कंचिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥ १ ॥

२–'मांपुनीहिविश्वतः' इति पाठभेदः ऋ०। यजु०। पुनातु मानः (तृ०) 'ज्योक्च सूर्यं दृशे' इति पैप्प० सं०।

[२०] १–(प्र०) 'एति शुष्मः' इति ह्विटनिकामितः।

भा०—(शुष्मिणः) प्रबल (अग्नेः इव) आग के समान (दहतः) शरीर को भस्म करते हुए, तपाते हुए इस ज्वर का वेग (एति) आता है और रोगी तब (मत्तः) मत्त, विचारहीन नशेबाज के समान (उत) और (विलपन्) बड़बड़ाता हुआ (अप अयति) उठ कर भागा करता है । ऐसा ज्वर तो (कथंचिद्) किसी प्रकार (अस्मद् अन्यं) हमसे अतिरिक्त किसी दूसरे (अव्रतः) कर्महीन, अनाचारी पुरुष को (इच्छतु) हुआ करे । पर हमें नहीं । (तपुः-वधाय) ताप रूप शस्त्र को धारण करनेवाले (तक्मने) कष्टदायी ज्वर का तो (नमः) शान्ति का उपाय ही हम करें । पापाचारी को रोग सताते हैं पुण्यात्मा, सदाचारी युक्ताहार-विहारवान् व्रतनिष्ठ योगी को नहीं सताते ।

नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते ।
नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः ॥ २ ॥

भा०—(रुद्राय नमः) उस रुलानेवाले ज्वर का उपाय करो कि वह शान्त हो जाय । (तक्मने) कष्टमय जीवन के कारण भूत ज्वर का (नमः) उपाय करो । और (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठ उस (त्विषीमते) कान्तिमान (राज्ञे) राजाधिराज परमात्मा का नमस्कार करो । उसको सदा याद रक्खो और उससे उत्तर कर सुखी जीवन के बनाने के साधन (नमः दिवे) तेजो रूप सूर्य को नमस्कार=सदुपयोग करो और उसमें (ओषधीभ्यः नमः) उत्पन्न रोगहारी ओषधियों का सदुपयोग करो । इससे तुम्हारे जीवन हृष्टपुष्ट; स्वस्थ, नीरोग रहेंगे । रोगों से रहित होने के लिये सूर्य का प्रभा स्नान करो, पृथिवी पर परिभ्रमण करो और ओषधियों का सेवन करो ।

अ॒यं यो अ॑भिशोचयि॒ष्णुर्विश्वा॑ रू॒पाणि॒ हरि॑ता कृ॒णोषि॑ ।
तस्मै॑ तेऽरु॒णाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमः॑ कृणोमि॒ वन्या॑य त॒क्मने॑ ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह (यः) जो (अभिशोचयिष्णुः) सब को सब प्रकार से शोकित और पीड़ित करनेवाला ज्वर है जो (विश्वारूपाणि) सब शरीरों को (हरिता) पीला (कृणोपि) कर देता है। (तस्मै) उस (ते) तुझ (अरुणाय) लाल और (वभ्रवे) भूरे रंग के (वन्याय) जंगल में पैदा हुए (तक्मने) कष्टदायी बुख़ार की (नमः कृणोमि) मैं चिकित्सा करता हूँ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च द्वात्रिंशत्]

---

[२१] वीर्यवती ओपधियों के संग्रह करने का उपदेश ।

शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥

भा०—(इमाः) ये (याः) जो (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) विशाल लोक हैं (तासाम्) उनमें से (ह) निश्चय से (भूमिः) यह भूमि ही (उत्-तमा) सर्वश्रेष्ठ है। (तासाम्) उन तीनों लोकों के (अधि त्वचः) आवरण भाग, ऊपरी पीठ पर उत्पन्न होनेवाले (भेपजम्) रोगापहारी औषध पदार्थों को (अहम्) मैं (सम् जग्रभम् उ) भली प्रकार संग्रह कर लिया करूं।

३—'अयं रूरो' (तृ० च०) 'अरुणाय बभ्रवे तपुर्मघवाय नमोऽस्तु तक्मने।' इति पैप्प० सं०।

[२१] १—(तृ०) 'त्वचोऽहम्' (च०) 'समुजग्रभं भेषजम्' इति पैप्प० सं०

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।
सोमो भर्ग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू ही (भेषजानाम् श्रेष्ठम् असि) सब रोगहारी ओषधों में श्रेष्ठ है और (वीरुधानाम्) नाना प्रकार की उगनेहारी बेल बूटियों में सब से अधिक (वसिष्ठम् असि) उत्तम रस और गुणों और वीर्य से युक्त है । जिस प्रकार (यामेषु सोमः भग इव) दिन और रात के कालों में चन्द्र शान्तिदायक और सूर्य तेजस्वी है उसी प्रकार तू भी सब भेषजों में उत्तम शान्तिदायक और वीर्यवान् है ।और (देवेषु) सब प्रकाशमान पदार्थों में या राजाओं में सब का प्रकाशक (यथा वरुणः) जैसे सर्वश्रेष्ठ वरुण=चुना हुआ राजा या परमात्मा है उसी प्रकार तू भी सर्वश्रेष्ठ है ।

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

भा०—हे (रेवतीः) वीर्यवाली ओषधियो ! आप (अनाधृषः) कभी निर्बल नहीं हो सकतीं । आप सदा (सिषासवः) सब को आरोग्यता देना चाहती हुई (सिषासथ) आरोग्य प्रदान करना ही चाहा करती हो । और आप (केश-दृंहणीः स्थ) केशों को दृढ़ करने या क्लेशों को नाश करनेवाली हो, साथ ही निश्चय से (अथो केशवर्धनीः ह) और केशों की वृद्धि करनेवाली भी हुआ करती है । केशों का दृढ़ होना और बढ़ाना यह आरोग्यतादायक वीर्यवान् ओषधियों का स्वभाव है । निर्बलता में केशों का झड़ना, टूटना आदि घटनाएं होती हैं ।

२–(तृ०) 'यक्षो भग' इति पैप्प० सं० ।

३–'(तृ० च०) 'उतस्थ केशवर्धनीरथो ह केशदृंहणीः ।' इति पैप्प सं० ।

[२२] सूर्य-रश्मियों द्वारा जल-वर्षा के रहस्य का वर्णन।

शंतातिर्ऋषिः । आदित्यरश्मयो मरुतश्च देवताः । १,३ त्रिष्टुभौ ।
२ चतुष्पदा भुरिग् जगती । तृचं सूक्तम् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू/दुः ॥ १ ॥

ऋ० १ । १६४ । ४७ ॥ अथर्व० ६ । १० । २२ । १३ । ३ । ९ ॥

भा०—(कृष्णम्) कर्षणशील, खेंचने में समर्थ (नियानम्) नियमन करने में समर्थ या आकाशमण्डल में गति करते हुए सूर्य को आश्रय लिये (सुपर्णाः) उत्तम रूप से गति करनेवाले (हरयः) जल हरण करनेवाले रश्मियां या उत्तम वायुएं (अपः वसानाः) जलों को अपने भीतर छुपाकर (दिवम्) पुनः अन्तरिक्ष में (उत्पतन्ति) उठती हैं। (ते) वही (ऋतस्य सदनात्) उदक या जल के आश्रयस्थान से (आववृत्रन्) लौटती हैं और (आदित्) अनन्तर पुनः (घृतेन) जल से (पृथिवीं) पृथिवी को (व्यूदुः) बरसाकर गीला कर देती हैं।

अर्थात् सूर्य की तापमय रश्मियां पृथिवी के जल के भागों पर पड़ती हैं और हलका जल ऊपर उठता है। पुनः वह उष्ण भाफ शीत के कारण जम कर पुनः नीचे आता है और जल बरसाता है। हरयः=वायुएं या आदित्य रश्मियां।

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः ॥
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥२॥

[२२] १–(च०) 'पृथिवी व्यूद्यते' इति ऋ० । (प्र०) आसितवर्णाः हरयः' (द्वि०) 'मिहो वसानाः', (तृ०) सदनानि कृत्वा, (च०) 'आदित् पृथिवीं घृतैर्व्यूद्यते' इति तै० स०।

२–(प्र०) 'कृणुत', 'ओषधीर्यदेज'– (तृ०) 'पिन्वथ' इति तै० सं०।

भा०—हे (रुक्म-वक्षसः मरुतः) सुवर्ण के समान कान्तिमान तेजस्वी सूर्य को अपने वक्षस्थल पर करनेवाले, सुवर्ण के आभूषणों को छाती पर पहनने वाले, (मरुतः) मारकाट के व्यसनी भटों के समान तीव्र गति-वाले मरुत् वायुओ ! (यद्) जब तुम लोग (शिवाः) कल्याणकारी शुभ रूप में (एजथ) चला करते हो तब (अपः) पृथिवी पर विराज-मान सब जल के स्थानों और (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (पयस्वतीः कृणुथ) पुष्टिकारक रस से पूर्ण कर देते हो । और हे (नरः) मेघों के ले जानेवाले (मरुतः) वायुगण ! (यत्र) जिस देश में आप लोग (मधु सिञ्चथ) जल का सेचन करते हो, जल देते हो, (तत्र) उस उस देश में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न और (सुमतिं च पिन्वत) प्रजा के भीतर उत्तम मति, शुभ संकल्पों को भी पुष्ट करते हो ।

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥ ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) वायुगणो ! आप लोग (तान्), उन (उद-प्रुतः) जल से पूर्ण मेघों को (इयर्त्त) प्रेरित कर धकेल कर लाओ (या) जिनसे होनेवाली (वृष्टिः) वर्षा (विश्वा निवतः) सब निम्न भागों और नीचे बहनेवाली नदियों को (पृणाति) पूर्ण कर दे । अथवा

(द्वि०) 'यमा यदेजति' (च०) 'सिंचता' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'उदप्लुतः', 'तुदाना' इतिच क्वचित्' 'एजाति गल्हा' 'तुन्नेरुं तुञ्जाना' इति सायण सम्मतौ पाठभेदौ । (द्वि०) 'वृष्टिं मे विश्वे मरुतो जिनन्ति (तृ०) 'क्रोशाति' 'गदो कन्येव तुन्ना पेरुं तुञ्जाना इति तै० सं० । (तृ०) 'गल्हा', (च०) 'तुञ्जाना' इति सायणा-भिमतः । ये जहाति क्रन्हा कन्यव त्रुन्नानं दुन्नमा पत्येव जायाम्' इति भ्रष्टपाठः पैप्प० सं० ।

हे (उद-प्रुतः मरुतः) जल से पूर्ण मानसून वायुओ ! आप लोग (तां=ताम्) उस वृष्टि को (इयर्त) ला बरसाओ (या वृष्टिः) जो वृष्टि (विश्वा निवतः पृणाति) सब नद नालों को भर डालती है। (तुम्रा कन्या इव) जिस प्रकार पीड़ित, दुःखित कन्या अपने पिता को व्यथित, कम्पित करती है और (तुन्दाना जाया पत्या इव) जिस प्रकार भय से व्यथित स्त्री अपने प्राणपति को व्यथित, कम्पित करती है उसी प्रकार (ग्लहा) मध्यमिका वाग् विद्युत् मानो व्यथित-सी होकर (एरुम्) प्रेरक मेघ को भी (एजाति) कंपाती है।

ग्रीफिथ-(तुम्रा कन्या इव ग्लहा एजति, पत्या तुन्दाना जाया इव स्वयं तुम्रा, एरुं तुन्दाना ग्लहा एजति) जिस प्रकार कन्या मनुष्य के आलिङ्गनों से व्यथित होकर छटपटाती है और जिस प्रकार पति से व्यथित स्त्री कांपती है उसी प्रकार स्वयं व्यथित और (एरुम्) गतिशील मेघ को कम्पित करती हुई छटपटाती है। इस अर्थ में उपमा ठीक नहीं बैठती।

[२३] जलधाराओं द्वारा यन्त्र-संचालन ।

शंतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । १ अनुष्टुप्, २ त्रिपदा गायत्री, ३ परोष्णिक् । तृचं सूक्तम् ॥

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः ।
वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये ॥ १ ॥ ऋ० १० । ९ ॥

भा०—(तत्) उस अनादि अनन्त जीवन रस को (सस्रुषीः) निरन्तर बहानेवाली (अपसः) ब्रह्माण्ड निर्मापक शक्तिधाराएं या

[२३] १–(च०) 'आ देवीरवसे हुवे' इति ऋ० खि० । 'अहूयो देवीरुपहुवे' इति पैप्प० सं० ।

जलधाराएं (दिवा नक्तं च) रात और दिन (सस्रुषीः) बहनेवाली जल धाराओं के समान बराबर चलती ही रहती हैं। (वरेण्य-क्रतुः) सब से वरण करने योग्य क्रतु=ज्ञान और कर्म से युक्त (अपः) व्यापक प्रकृति शक्तियों को (उप-ह्वये) अपने समीप ही अपनी हुकूमत में रखता हूँ। अथवा—मैं (वरेण्य-क्रतुः) उत्तम ज्ञान और कर्मवाला पुरुष उन दिव्य शक्ति सम्पन्न (अपः) जलों को (उप-ह्वये) अपने कलायन्त्रादि द्वारा अधीन रखता हूं।

ओता आपः कर्मण्या/मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे॥२॥

भा०—(ओताः) निरन्तर बन्धी धारा से बहनेवाली (आपः) जल धाराएं ही (कर्मण्याः) कर्म, क्रिया शक्ति उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। हे पुरुषो (प्रणीतये) अपने यन्त्रों को उत्तम रीति से चलाने के लिये उन जलधाराओं को (इतः) इस रीति, या इस निर्दिष्ट मार्ग से (मुञ्चन्तु) छोड़ दो कि (एतवे) गति देने के लिये ये (अपः) जलधाराएं भी (सद्यः) शीघ्र ही (कृण्वन्तु) क्रिया करें।

जलधाराओं की शक्ति से यन्त्र चलाने का इसमें उपदेश है। कि निरन्तर बहतो धारा से शक्ति उत्पन्न करो और शीघ्र चलने वाला यन्त्र चलाओ।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

भा०—(सवितुः) सबके प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) प्रकाशमान देव के (सवे) प्रेरणा करते हुए, (मानुषाः) सब मनुष्य (कर्म)

२—'अपः' इति ह्निटनिकामितः। 'ऊताः' इति सायणाभिमतः (तृ०) 'भवन्तु एतवे' इति पैप्प० सं०।

३—(द्वि०) 'कृण्वन्ति' इति पैप्प० सं०।

अपना अपना नियत काम (कृण्वन्तु) करें । (ओषधीः) ताप को धारण करनेवाले (अपः) जल (नः) हमें (शिवाः) सुखकारी और शान्तिदायक हों ।

[२४] हृदय-रोग पर जल-चिकित्सा ।

शंतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । १-३ अनुष्टुभ् । तृचं सूक्तम् ॥

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योतभेषजम् ॥ १ ॥

भा०—(हिमवतः) हिमवाले पर्वतों से जो जलधाराएं (प्रस्रवन्ति) बह कर आती हैं उनका (सिन्धौ) बहनेवाले बड़े प्रवाहों में (समह) एक ही साथ (संगमः) मेल हो जाता है। (तद्) तब (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त (आपः) वे जल (मह्यं) मुझे (हृद्योत भेषजं ददन्) हृदय की पीड़ा के रोग को अच्छा करने का लाभ देती हैं। अर्थात् हिमाचल की बहती जलधाराएं नाना प्रकार के गुणों से एकत्र मिल जाने पर उनमें हृदय के रोग को नाश करने का विशेष गुण होता है।

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत् ।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो रोग (मे) मेरे (अक्ष्योः) आंखों और (पार्ष्ण्योः) एड़ियों और (प्रपदोः च) पैरों के अगले हिस्सों में (आदि

[२४] १–हिमवतः प्रस्रवतस्ताः सिन्धुमुपगच्छतः ।

२–(प्र०) यदक्षिभ्यामाद् (द्वि०) 'पार्ष्णिभ्यां हृदयेन च । (च०) 'त्वष्टारिष्टमिवानसः' इति पैप्प० सं० ।

द्योत्) जलन पैदा करता है (तत् सर्वं) उस सब रोग को (आपः जलधाराएं (निष्किरन्) दूर कर देती हैं, क्योंकि वेही (भिषजां) सब ओषधियों में (सुभिषक्तमाः) उत्तम रोग की चिकित्सा करनेहारी हैं।

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्यश्स्थन ।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

भा०—(सिन्धु-पत्नीः) अपने निरन्तर प्रवाह को पालने वाली, सदा-बहार और (सिन्धु-राज्ञीः) नित्य बहते प्रवाह से शोभा देनेवाली (याः) जितनी विशाल (नद्यः) बड़ी नदियाँ (स्थन) हैं। हे नदियो ! आप सब (नः) हम मनुष्यों को (तस्य) उस पीड़ाकर रोग के (भेषजम्) निवारक ओषधि का (दत्त) प्रदान करो। (तेन) उसके बल पर ही हम (वः) आप सब नदियों का (भुनजामहै) उपभोग करें। नदियों के कारण ही हम स्वस्थ रहकर नदियों का आनन्द लाभ उठाते हैं।

[२५] कण्ठमाला रोग का निदान और चिकित्सा ।

शुनःशेप ऋषिः । मन्याविनाशनं देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम्

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥

भा०—गले की धमनी के चारों ओर (याः) जो (पञ्च च पञ्चाशत् च) पचपन प्रकार की (मन्याः) गले में व्याप्त धमनी नाड़ियां, गण्ड-मालाएं (अभि संयन्ति) गले पर आ जाती हैं। (ताः) वे सब (अप-चिताम्) अप=बुरे माद्दे के संञ्चयों से उत्पन्न (वाकाः इव) पाक=पकी फुन्सियों के समान होती हैं (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) यहाँ से (नश्यन्तु) दूर हो जायं।

३—'सिन्धुराज्ञीः सिन्धुपत्नीः' इति पैप्प० सं० ।

सायण—(अपचितां वाकाः इव) 'पूजनीया स्त्री को प्राप्त होकर जिस प्रकार दोष नष्ट हो जाते हैं उस प्रकार वे गण्डमाला नष्ट हो जांय।' यह क्लिष्ट कल्पना है।

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि। इतस्ताः० ॥ २ ॥

भा०—और (याः) जो (ग्रैव्याः) ली (सप्त च सप्ततिः च) ७७ सतहत्तर नाड़ियां (अभि संयन्ति) ग पर आ जकड़ती हैं (ताः) वे भी (अप चिताम् वाकाः इव) बुरे मादे के सञ्चय से उत्पन्न फोड़ों के समान होती हैं। (ताः सर्वाः इतः नश्यन्तु) वे सब इस गर्दन भाग से नष्ट हो जायं।

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

भा०—(नव च नवतिः च याः) जो निन्यानवे (स्कन्ध्याः) कन्धे की नाड़ियां (अभि संयन्ति) कन्धों को जकड़ती हैं। वे भी (अपचितां वाका इव) बुरे मादे की फोड़ियों के समान हो जाती हैं (ताः सर्वा इतः नश्यन्तु) वे सब भी इस स्कन्ध भाग से नष्ट हो जांय।

डा० वाईज़ 'हिन्दूसिस्टम आफ़ मैडिसन' में लिखते हैं—'जब छोटी २ गोटियां (Tunours) बेर के फल के समान गला, गर्दन, कन्धे और पीठ पर उठती हैं तो वे कफ़ दोष से बढ़ जाती हैं और शनैः २ बढ़ती जाती है। उनको 'अपचि' कहते हैं।'

[२६] पाप के भावों पर वश करना।

ब्रह्मा ऋषिः। पाप्मा देवता। १,३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम् ॥ १ ॥

[२६] १–'आ मा भद्रेषु धामस्वत्ते धेह्य' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (पाप्मन्) पाप के भाव ! (मा अवसृज) मुझसे परे रह । तू (वशी सन्) वश में आकर (नः) हमारे (मृडयासि) सुख का कारण हो । हे पाप्मन् ! पाप के भाव (मां) मुझको (अविहुतम्) सरल, निष्कपट रूपमें (भद्रस्य लोके) सुख, कल्याणमय लोक में (आ धेहि) रहने दे । मनुष्य सदा यही भावना करे कि पाप मुझसे परे रहे और मैं सदा उस पर वश करके रहूं । सरल, निष्कपट रूपसे कल्याणमय लोक में निवास करूं ।

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥

भा०—हे पाप्मन् ! पाप के भाव ! (नः) हमें (यः) जो तू (न जहासि) नहीं छोड़ता तो (तम्) उस (त्वा उ) तुझको ही (वयम्) हम स्वयं (जहिमः) परित्याग करते हैं । (पथाम्) गतिशील इन्द्रियों के (वि-आवर्त्तने) विषयों से लौटा लेने में (पाप्मा) वह पापका प्रलोभन रूप विषय हमारे पास न आकर (अन्यं अनुपद्यताम्) किसी अन्य के पास चला जाय ।

अन्यत्रास्मन्न्यु/च्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।
यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

भा०—(अमर्त्यः) मनुष्यों के अयोग्य, अमानुष पाप (सहस्राक्षः)[१] इन्द्रियों पर बलवान् हो जानेवाला, व्यसन (अस्मत्) हमसे

२-(द्वि०) 'पथोक व्यावर्तने निष्पाप्मा त्वं सुत्रामासि' (प्र०) 'अवन:' इति पैप्प० सं० ।

३-१, सहस्रं सहस्वद् इति (निरु० ३ । २ । ४) सहस्राक्षः, सहस्वद् येन इन्द्रियाणि बलवन्ति भूत्वा प्रवर्त्तन्ते स पाप्मा सहस्राक्षः।

(अन्यत्र) पृथक् (नि-उच्यतु) ही रहे । (यं द्वेषाम) जिसके प्रति हम प्रेम नहीं करते (तम् ऋच्छतु) उसको ही वह प्राप्त हो (यम् उ द्विष्मः) जिसको अप्रीति से वर्त्तते हैं (तम् इत्) उसका ही (जहि) नाश करे ।

जिन दुष्टों का विनाश करना अभीष्ट है वे अपने पाप में लिप्त रहें और उनसे ही वे नष्ट हो जायँ । हम तो अपनी इन्द्रियों में व्यसनों को स्थान न दें । हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद्वि-मुच्यते ॥ भाग० ॥

[२७] राजा और राजदूतों का आदर ।

भृगुर्ऋषिः । यमो निर्ऋतिर्वा देवता । १,२ जगत्यौ, २ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

देवा॑: क॒पोत॑ इषि॒तो यदि॒च्छन् दू॒तो निर्ऋ॑त्या इ॒दमा॑ज॒गाम॑ ।
तस्मा॑ अर्चाम कृ॒णवा॑म॒ निष्कृ॑तिं॒ शं नो॑ अस्तु द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६५ । १ ॥

भा०—विद्वान् राजदूतों के साथ करने योग्य व्यवहार का उपदेश करते हैं । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (निर्ऋत्याः) कष्टदायी विपत्तियों या सेनाओं का (दूतः) ज्ञान कराने या दूर करने वाला (कपोतः)[1] कपोत

इन्द्रः आत्मा अपि सहस्राक्षः एतस्मादेव, अनेन चेतनानि बल-वान्ति भवन्ति ।

[२७] १-(प्र०) 'देवः कपोत' इति पैप्प० सं० ।

१. कवते रोतच् उणादि वेस्यचः पः । उणा० १ । ६२ ॥ वर्णयति दर्शयति इति कपोतः । अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे कपोतो नैर्ऋत ऋषिः कपोतोपहतौ प्रायश्चित्ते वैश्वदेवं देवता । विश्वदेवा देवता इति क्षेमकरणः ।

के समान संदेश हर, विद्वान् पुरुष (यद्) जब (इषितः) किसी से प्रेरित या प्रेषित होकर या (इच्छन्) स्वयं अपनी अभिलाषा से (इदम्) हमारे घर में, हमारे पास (आजगाम) आ जाय (तस्मा अर्चाम) तब उसको हम बड़े आदर से पूजें। उसकी उपेक्षा न करें और उसके (निः स्कृतिम् कृणवाम) श्रम का प्रतिकार करें। जिससे वह (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपायों को (शं) सुख, कल्याणकारी (अस्तु) हो। इसीसे कपोत पक्षी द्वारा दूत का कार्य लेना भी सूचित होता है।

शि॒वः क॒पोत॑ इषि॒तो नो॑ अस्त्वना॒गा दे॑वाः शकु॒नो गृ॒हं नः॑ ।
अ॒ग्निर्हि विप्रो॑ जु॒षतां॑ ह॒विर्नः॒ परि॑ हे॒तिः प॒क्षिणी॑ नो वृणक्तु ॥२॥

भा०—(इषितः) किसी से प्रेषित (कपोतः) विशेष लक्षणों से युक्त संदेशहर विद्वान् (नः) हमें (शिवः) शुभ ही (अस्तु) हो। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (शकुनः) क्योंकि वह शक्तिशाली होकर भी (नः) हमारे (गृहं) घर के प्रति (अनागाः) कोई अपराध या हानि न पहुंचावें। वह (अग्निः) अग्नि–आहवनीय अग्नि (हि) के समान (विप्रः) मेधावी पुरुष (नः) हमारे (हविः) चरु के समान, पवित्र अन्नको (जुषताम्) प्रेम से स्वीकार करे। जिससे (पक्षिणी) पंखों से युक्त (हेतिः) आयुध बाण या सेना (नः) हमसे (परि वृणक्तु) चारों ओर से बचे अर्थात् दूर रहे, हमें न लगे। अर्थात्—पराये राष्ट्र के भेजे राजदूत के साथ आदर से वर्त्ताव करे, उसको अन्न–भोजन का प्रबन्ध कर दें नहीं तो उसके साथ दुर्व्यवहार करके भावी में भयंकर राष्ट्रकलह उत्पन्न होते हैं और भयानक अस्त्रों का प्रहार होता है।

२–(द्वि०) 'शकुनो गृहेषु' इति पैप्प० सं० ।

हे॒तिः प॒क्षिणी॒ न द॑भात्य॒स्माना॒ष्ट्री प॒दं कृ॑णुते अ॒ग्नि॒धाने॑ ।
शि॒वो गोभ्य॑ उ॒त पुरु॑षेभ्यो नो अस्तु॒ मा नो॑ देवा इ॒ह हिं॑सीत्
क॒पोत॑: ॥ ३ ॥ ऋ० १० । १६५ । ३ ॥

भा०—(पक्षिणी) पंखों से युक्त (हेतिः) आयुध बाण या सेना (अस्मान्) हमें (न दभाति) नहीं विनाश करे । (आष्ट्री) शक्तिमान् राजा (अग्निधाने) अग्निशाला में (पदं कृणुते) पैर रक्खे, चला जाय और वहाँ विद्वान् दूत से अग्नि की साक्षी में बात करे (नः) हमारे (गोभ्यः) गौओं और (पुरुषेभ्यः) मनुष्यों के लिये भी (शिवः) कल्याण (अस्तु) हो । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (कपोतः) पूर्वोक्त लक्षणवान् विद्वान् दूत सूचक (इह) यहाँ (नः मा हिंसीत्) हमें विनाश न करे। इस मन्त्र के अनुसार प्राचीन काल में राजा लोग प्रायः अग्निशाला में दूतों की बातें सुना करते थे । देवाः=विद्वान् लोक जो राजसभाओं के सभासद् हैं । निर्ऋतिः=शत्रु का आक्रमण रूप विपत्ति । पक्षिणी हेतिः= सेना जिसके दोनों पक्ष कहाते हैं ।

[२८] राजा और राजदूत के व्यवहार ।

भृगुर्ऋषिः । यमो निर्ऋतिश्च देवते । १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती ।
तृचं सूक्तम् ॥

ऋ॒चा क॒पोतं॑ नुदत प्र॒णोद॒मिषं॒ मद॑न्तः॒ परि॒ गां न॑यामः ।
सं॒लो॒भय॑न्तो दुरि॒ता प॒दानि॑ हि॒त्वा न॒ ऊर्जं॒ प्र प॑दात् पथि॑ष्ठः॥१॥
ऋ० १० । १६५ । ५ ॥

३–'आष्ट्र्यां पदं कृणुते', 'शं नो गोभ्यः पुरुषेभ्यश्चास्तु, मा नः हिंसीदिह देवा कपोताः' इति ऋ० ।

[२८] १–(द्वि०) 'नयध्वम्' । (तृ० च०) 'संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हि

भा०—(ऋचा) उत्तम अर्चना, आदर सत्कार से (प्रणोदम्) शिक्षा प्राप्त, स्तुति योग्य (कपोतं) विशेष लक्षण, या वर्णयुक्त विद्वान् राजदूत को आप लोग भी (नुदत) अपना संदेशहर बना बना कर भेजो । हम भी (इषम्) अपनी अभिलाषा को (मदन्तः) हर्षपूर्वक (गां परिनयामः) इस पृथ्वी में सब ओर पहुँचावें । और (दुरितानि पदानि) दुःखदायी स्थानों का (संलोभयन्तः) विनाश करते हुए वह हमारा (ऊर्जं) बल को (हित्वा) ग्रहण करके स्वयं (पथिष्ठः) मार्ग तय करता हुआ (प्र पद्मात्) बराबर आगे बढ़ता चला जाय ।

राजा अपने दूतों को समस्त पृथिवी में भेजे, अपनी आज्ञाओं को उसके द्वारा सर्वत्र प्रचारित करे । दुर्गम स्थानों को सुगम करके वहाँ से राष्ट्र के हितार्थ ऊर्ज=बल प्राप्त करके और अगले देशों में प्रवेश करे ।

परी॒मे॒ऽ॒ग्निम॑र्षत॒ परी॒मे गाम॑नेषत ।
दे॒वेष्व॑क्रत॒ श्रवः॒ क इ॒माँ आ द॑धर्षति ॥ २ ॥
ऋ० १० । १५५ । ५ ॥

भा०—(इमे) ये विद्वान् लोग (अग्निम् अर्षत) अग्नि के समान प्रकाशमान ज्ञानी, विद्वान को प्राप्त करते हैं (गाम् परि अनेषत) और समस्त पृथिवी का परिभ्रमण या वेदवाणी का अभ्यास करते हैं । (देवेषु) विद्वानों में और राजाओं में भी (श्रवः अक्रत) अपना बल या ज्ञान प्राप्त करते हैं । (इमान्) अब इनको (कः) कौन (आ दधर्षति) परास्त कर सकता है ।

: त्वा न ऊर्जं प्रपतात् पतिष्ठः ।' इति ऋ० । 'प्रपतात् पतिष्ठः' इति सायणसम्मतः पाठः । अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे कपोतो नैर्ऋत ऋषिः- कपोतोपहते वैश्वदेवं प्रायश्चित्तं देवता इति ।

२–(प्र० द्वि०) 'परिमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत' इति ऋ० । 'पर्यग्निं महर्षत' इति पैप्प० सं० । 'अरिषत' इति क्वचित् ।

जो विद्वान् दूतों को रखते समस्त पृथ्वी में पहुँच कर राजाओं में बल प्राप्त कर लें उनको विजय नहीं किया जा सकता ।

यः प्रथमः प्रवतमासुसाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ २ ॥

प्र० द्वि० ऋ० १० । १४ । १ प्र० द्वि० ॥ तृ० च० ऋ० १० । १६५ । ८ तृ० च० ॥ १० । १२१ । ३ तृ० च० ॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ, सबसे प्रथम (बहुभ्यः) और बहुत से लोगों के लिये (पन्थाम्) मार्ग को (अनुपस्पशानः) अपने पीछे दिखता हुआ (प्रवतम्) उच्च पद को प्राप्त किये है और जो (अस्य द्विपदः) इस मानव संसार (चतुष्पदः) और इस पशुसंसार का (ईशे) स्वामी है (यमाय) सर्व नियन्ता (मृत्यवे) सब को बन्धनों से मुक्त करने वाले (तस्मै) उस प्रभु को (नमः अस्तु) नमस्कार है। उक्त दोनों सूक्त अध्यात्म पर भी हैं। अध्यात्म में (१) निर्ऋति=संसार (दूतः) क्लेश पाकर, कपोत=आत्मा किसी गुरु से प्रेरित होकर या स्वयं अपनी अभिलाषा से (इदम्) प्रत्यक्ष परमात्मा को प्राप्त हो जाय तो उस आत्मा का आदर करो वह सबका कल्याणकारी है। (२) वही आत्मा शिव, निष्पाप, शक्तिमान् है और यह हमारा शरीर उसका गृह है। वही विप्र अग्नि है जो इस हवि स्तुति को स्वीकार करता है। (३) पक्षिणी-हेति=पक्षपातवाली तृष्णा हमें न सतावे। वह सर्व भक्षिणी अग्नि=आत्मा के स्थान पर भी आक्रमण कर देती है। हमारे पशु-इन्द्रियों और पुरुषों, प्राणों को कल्याण हो, वह आत्मा हमें आघात न करे।

२—(तृ०) 'योऽस्य दूतः प्रहित एष तत्तस्मै' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानम्' इति ऋ०। (प्र०)-'प्रवतः ससाद' इति पैप्प० सं० ।

(१) स्तुति या वेद ज्ञान के अनुसार आत्मा को प्रेरित करे, हर्ष से अनुभव करते हुए वाणियों का उच्चारण करे। दुष्ट विषयों का विनाश करते हुए और उन का त्याग करे, देवयान मार्ग में गतिशील हमारा आत्मा उस (ऊर्ज) रसरूप ब्रह्म को प्राप्त हो। (२) योगी लोग उस अग्नि देव परमेश्वर को प्राप्त करते, वाणी का उच्चारण करते या अपनी स्तुतियाँ उस तक पहुँचाते हैं और अपने प्राणों में बल धारण करते हैं अब उनका विजय कौन कर सकता है। (३) वह परमात्मा सबसे पूर्व बहुत से अन्य जीवों को मार्ग दिखाता हुआ सबसे उच्च स्थान मोक्ष में विराजता है वह सब पशु मनुष्यों का स्वामी, सर्वनियन्ता और बन्धन-मोचन है, उसको नमस्कार है।

—:—

[२९] राजदूतों के व्यवहार

भृगुर्ऋषिः। यमो निर्ऋतिश्च देवते। १-२ विराड्नामगायत्री, ३ त्र्यवसाना सप्तपदा विराडष्टिः। तृचं सूक्तम्॥

अमून् हेतिः पतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६५ । ४ प्र० द्वि० ॥

भा०—[१] (यत्) जब (उलूकः) उल्लू के समान कुटिल गुप्त दूत (मोघम्) व्यर्थ बात (वदति) बोलता है (यद्वा) या जब (कपोतः)

[२९] १—'यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमोऽस्तु मृत्यवे' इति ऋ०।' कपोतो नैर्ऋतऋषिः। कपोतोपहतौ वैश्वदेवं देवता इति ऋग्वेदे प्रजापतिरिति क्षेमकरणः।

विद्वान् दूत भी (अग्नौ) अग्नि में, अग्नि के समान तेजस्वी राजा पर (पदम् कृणोति) अपना अधिकार जमाना चाहता है तब (पतत्रिणी) पक्षों वाली (हेतिः) घातक सेना (अमून) उन शत्रुओं पर (नि-पतु) जा पड़े।

यौ ते॑ दू॒तौ नि॑र्ऋत इ॒दमे॒तोऽप्र॑हितौ॒ प्रहि॑तौ वा गृ॒हं नः॑।
क॒पो॒तो॒लू॒काभ्या॒मप॑दं॒ तद॑स्तु ॥ २ ॥

भा०—हे (निर्ऋते) विपत्ते ! (ते) तेरे (यौ दूतौ) जो दो प्रकार के दूत (इदम् नः गृहं) इस हमारे घर पर (अप्रहितौ) बिना भेजे या (प्र-हितौ) भेजे हुए (एतः) आते हैं (तत्) तब, उस समय जब कि पूर्वोक्त प्रकार से सेना का आक्रमण हो जाय तब हमारा गृह (कपोत-उलूकाभ्याम्) मूर्ख और बुद्धिमान् दोनों प्रकार के दूत पुरुषों के लिये (अपदम् अस्तु) आश्रय के लिये न हो। अर्थात् उस समय हम शत्रु के भले बुरे किसी भी प्रकार के राजदूत को आश्रय नहीं दें।

अ॒वै॒र॒ह॒त्याये॒दमा प॑पत्यात् सु॒वी॒रता॑या इ॒दमा स॑सद्यात्।
परा॑ङे॒व परा॑ वद॒ परा॑ची॒मनु॑ सं॒वत॑म्।
यथा॑ य॒मस्य॑ त्वा गृ॒हेऽर॒सं प्र॑ति॒चाक॑शाना॒भूकं॑ प्रति॒चाक॑शान् ॥३॥

भा०—युद्ध के समय राजदूतों के साथ किस सावधानी से वर्ताव करे। इसका उपदेश करते हैं। (इदम्) चाहे यह राजदूत (अवैर-हत्याय आपपत्यात्) वैर से हमारे पुरुषों का घात करने का उद्देश्य न लेकर भी आया हो और चाहे (इदम्) वह (सुवीरतायाः आससद्यात्) अपनी अच्छी वीरता का ज़ोर दिखलाने ही आया हो, दोनों दशाओं

३—(प्र०) 'अवीरहत्यायै', 'पपद्यात्', 'परामेव परावतम्' इति सायणाभिमतः।

में (पराङ् एव) दूर रह कर ही (पराचीम् संवतम्) दूर की वेदी या आसन पर खड़ा रह कर (परा वद) दूर से ही अपना संदेश कहे। (यथा) जिससे हे दूत (त्वा) तुझे राजसभा के लोग (यमस्य गृहे) नियन्ता राजा के घर में (अरसम्) निर्बल रूप में (प्रति चाकशान्) देखें और (अभूकं प्रति चाकशान्) सामर्थ्यहीन, नाचीज़ जानें।

[३०] राजा के कर्त्तव्य ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । शमी देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् । ३ चतुष्पदा ककुम्मती अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः ।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥ ऋ० ६१ । २ ॥

भा०—जौ की खेती के दृष्टान्त से राष्ट्र के शासन का वर्णन करते हैं। (देवाः) देव विद्वान् लोग (इमं) इस (यवं) जौ धान्य को जिस प्रकार (सरस्वत्याम्) नदी के तट पर (मणौ) उत्तम भूमि में (अचकृषुः) हल जोत कर बोते हैं और उत्तम फसल प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (देवाः) विद्वान् शासक लोग भी (मधुना) उत्तम धन धान्य समृद्धि से (सं-युतम्) सम्पन्न (यवम्) इस समूहित राष्ट्र को (सरस्वत्यां मणौ) सरस्वती-सत्यवाणी धर्मपुस्तक [कोड्बुक] के आधार पर उत्तम पुरुषों के आश्रय पर (अवचर्कृषुः) चलाते हैं । इस राष्ट्ररूप खेती में (सीरपतिः) हलका स्वामी (इन्द्रः, आसीत्) राजा होता है।

[३०] १–(प्र०) 'संजितं' (द्वि०) –'मन्नाव' इति सायणसम्मतः । (प्र०) 'एतमुत्यंमधु'– (द्वि०) 'सरस्वत्याः अधिमनाव'– इति तै० ब्रा० । 'वनावचर्कृधि' मै० ब्रा० ।

जो (शत-क्रतुः) सैकड़ों यज्ञ और ज्ञान सामर्थ्यों से युक्त होता है । और (सु-दानवः) उत्तम दानशील, उदार (मरुतः) प्रजागण लोग (कीनाशाः) कीनाश किसानों के समान (आसन्) होते हैं ।

यस्ते मदौऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥२॥

भा०—शमी वृक्ष के दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्यों का उपदेश करते हैं। हे शमि ! शत्रुओं को शमन करने हारी शक्ति ! शमी के मद या रसके समान (ते) तेरा (यः) जो (मदः) हर्ष या उन्माद (अव-केशः) वालों को तू चबाने या (वि-केशः) वालों को विकृत कर देने वाला है । जिससे तू (पुरुषं अभिहस्यं कृणोषि) पुरुष को उपहास का पात्र बना देती है हे शमि ! उस मद से (शत-वल्शा) सैकड़ों शाखा वाली होकर (त्वं) तू शमी वृक्ष के समान ही (विरोह) बढ़ । (त्वत् आरात्) तेरे पास से (अन्या वनानि) और वृक्षों के समान उच्छेद करने योग्य विरोधी राजाओं को (वृक्षि) काट डालता हूं ।

राजा का मद अपने अधीन आये शत्रु की चाहे तो इतनी दुर्दशा करे उसके वाल नोंचदे या मूंड दे और उसको सबको उपहासका पात्र बनादे मन्त्री आस पास के और राजाओं का नाश कर उसको मुख्य बनाता है और सब राज्य प्रबन्ध राजा को मूल में रखकर उसके शाखारूप में रख देता है । इससे राज्य की शक्ति बढ़ती है ।

बृहत् पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि ।
मातेव पुत्रेभ्यो मृडकेशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

२—(प्र०) मदो विकेशो यो विकेश्यो (तृ० च०) भूणघ्नो वरिवाणा जनित्वं तस्य ते प्रजयः सुवामि केशम्' इति पैप्प० सं० ।

३—(द्वि०) 'सुभगे ऊर्ध्वस्वप्ने' (च०) 'मृड नः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे शमि ! हे शान्तिकारिणी राजशक्ते ! राजसभे ! हे (बृहत्पलाशे) बड़े ज्ञान सम्पन्न पुरुषों से सम्पन्न हे सुभगे ! ऐश्वर्य सम्पन्न ! हे वर्ष वृद्धे ! सुखादि वर्षण करने में सबसे अधिक बलशालिनि ! हे ऋतावरी ! सब सत्य ज्ञान=विज्ञान एवं कानून की रक्षा करने वाली तू (केशेभ्यः) केशों को, राष्ट्र के सुन्दर मूर्धन्य पुरुषों को (पुत्रेभ्यः माता इव) पुत्रों को माता के समान (मृड) सुखी कर । उनको शमी के वृक्ष के समान विकृत मत कर ।

[३१] सूर्यादि लोक-परिभ्रमण ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । गौर्देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

यजुः ३ । ६ ॥ ऋ० १० । १८९ । १ ॥ साम० पू० ६ । १४ । ४ ॥

भा०—(अयं गौः) यह गतिशील आदित्य आदि लोक (पृश्नीः) समस्त रसों का और ज्योतियों का ग्रहण करने हारा होकर (आ-अक्रमीत्) चारों तरफ घूम रहे हैं । और (मातरं पुरः) और अपने बनाने वाले मूलकारण के सहित २ (स्वः) तेजःस्वरूप (पितरं च) अपने परिपालक विशाल लोक की भी (प्रयन् च) प्रदक्षिणा करते हैं ।

अर्थात् जिस प्रकार बालक माता के सहित पिता के साथ रहता और उसका वशवर्त्ती रहता है । इसी प्रकार चन्द्र पृथिवी के सहित सूर्य की परिक्रमा करता है पृथिवी अपने मूल सूर्य सहित किसी और नियामक लोक की प्रदक्षिणा पथ पर गति करता है । इसका अध्यात्मिक अर्थ—देखो सामवेद भाषाभाष्य पृ० ३३२ ।

[३१] १–(द्वि०) 'असनन् मातरं पुनः' इति तै० सं० । (तृ०) 'प्रयत् स्वः' इति पैप्प०सं० । 'ऋग्वेदे सार्पराज्ञी ऋषिः । सूर्यः सार्पराज्ञी देवता ।

अथवा—(अयं गौः) यह पृथ्वी (पृश्निः पृश्निम्) सूर्य के गिर्द (आ अक्रमीत्) चक्र लगाती है । इत्यादि योजना भी जानना ।

सायण—(गौः) गमनशील (पृश्निः) सूर्य (आ अक्रमीत्) गति करता है । और (मातरं पुरः असदत्) पूर्व दिशा में आकर पृथ्वी पर अपने तेज को फैलाता है और (पितरं) वृष्टिरूप वीर्य के आधाता (स्वः) अन्तरिक्ष में (प्रयत्) गति करता है ।

अध्यात्म में—गौः=यह आत्मा, पृश्निः=ब्रह्म ध्यान के रसों को प्राप्त करके और आगे बढ़ता है (पुरः) अपने (मातरं) मातृरूप प्रभु की गोद में बैठता और (स्वः) सुखमय (पितरं) पालक प्रभु को ही प्राप्त हो जाता है ।

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥२॥

ऋ० १० । १८९ । २ ॥ साम० पू० । ६ । १४ । ५ ॥ यजु० ३ । ७ ॥

भा०—(अस्य) इसके (प्राणात्) प्राण और (अपानतः) अपान से निकली हुई (रोचना) अतिप्रकाशमय, ज्योति (अन्तः) समस्त ब्रह्माण्ड के भीतर (चरति) व्यापक है । उसीसे वह (स्वः) समस्त तेजोमय लोकों को (महिषः) महान् प्रभु (वि-अख्यत्) प्रकाशित करता है ।

त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् ।
प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १८९ । ३ ॥ यजु० ३ । ८ ॥ साम० पू० । ६ । १४ । ६ ॥

२–(द्वि०) 'अस्य प्राणादपानती' (तृ०) 'महिषो दिवम्' इति यजुः, साम०, ऋ० । (प्र०) 'चरत्यर्णवे । (तृ०) 'प्रति वां सूरो अहभिः' इति मै० सं० । (प्र०) 'यस्य प्राणादपानत्यन्तश्चरति रोचनः' (तृ०) 'दिवम्' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'त्रिंशद् धाम' । (तृ०) 'प्रति वस्तोरहद्युभिः' इति सायण-

भा०—(वाक्) ज्ञानमयी प्रभुवाणी (त्रिंशद्-धामा) तीसों लोकों में (विराजति) विशेष रूप से प्रकाशित होती है । (पतङ्गः) पतङ्ग= ज्ञान मार्ग से जाने वाला आत्मा (अहर्द्युभिः) सूर्य की प्रभाओं के साथ (प्रति-वस्तोः) प्रतिदिन, निरन्तर उसका (अशिश्रियत्) आश्रय लेता है । अथवा (वाक्) वाणी (पतङ्गः=पतङ्गं) पतंग=सूर्य रूप उस ईश्वर में आश्रय लेती है जो (त्रिंशद्-धामा) तीसों लोकों में (प्रति वस्तोः अहः) प्रतिदिन, निरन्तर (द्युभिः) अपने तेजों से (वि राजति) विराजमान है ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्येकादश, ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत्]

[३२] दुष्टों के दमन का उपदेश ।

१-२ चातन ऋषिः । ३ अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १-२ त्रिष्टुभौ, ३ प्रस्तार पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒न्त॒र्दा॒वे जु॑हु॒ता स्वे॒३॑तद् या॑तु॒धा॒न॒क्षय॑णं घृ॒तेन॑ ।
आ॒राद् रक्षां॑सि॒ प्रति॑ दह॒ त्वम॑ग्ने॒ न नो॑ गृ॒हाणा॒मुप॑ तीतपासि॥१॥

भा०—विघ्नकारी, पीड़ाकारी दुष्टों के नाश करने का उपदेश करते

सम्मतः पाठः । (द्वि०) 'पतङ्गाय शिश्रिये' इति तै० सं० । 'पतङ्गाय हूयते' मै० सं० । 'पतङ्गाय सुश्रियत्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'प्रत्यस्य वह द्युभिः' इति तै० सं० । (तृ०) 'अहर्दिवि' इति पैप्प० सं० ।

[३२] १-(च०) उपतीतपाति' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'घृतं नः' (च०)- 'मास्माकं वसू पातीतपन्था' [?] इति पैप्प० सं० ।

हैं। हे विद्वान् लोगो ! (घृतेन) जिस प्रकार घृत के साथ अग्नि में चरु आदि पदार्थ भस्म कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार (घृतेन) घृत=जल के साथ (यातुधान-क्षयणं) पीड़ा देने वाले रोगों को नाश करने वाले पदार्थों को (दावे अन्तः) विशाल अग्नियों में (सु-जुहुत) उत्तम रीति से आहुति करदो। और हे अग्ने ! और अग्नि के समान जलाने वाले या शत्रुओं को परिताप देने हारे राजन् (आरात्) तू दूर से भी (रक्षांसि) राष्ट्र की व्यवस्था और जन-समाज के जीवनसुख में विघ्न करने वाले (रक्षांसि) दुष्ट, राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों और रोग । पीड़ाकारी जन्तुओं को (प्रति दह) भस्म कर डाल। हे अग्ने ! (त्वं) तू (नः) हमारे (गृहाणाम्) गृहों को और घर के पुरुषों को (न उप तीतपासि) कभी पीड़ित न करना ।

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्ठीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥

भा०—हे (पिशाचाः) मांस खाने वाले दुष्ट पुरुषों ! एवं मांस खा २ कर जीने वाले परभोजी (Paresites) रोगजन्तुओ ! (वः) तुम्हारी (ग्रीवाः) गर्दनें (रुद्रः) रुद्र तुमको रुलाने वाला राजा और वैद्य (अशरैत्) काट ले। और हे (यातुधानाः) पीड़ादायक जन्तुओं वही रुद्र (वः पृष्ठीः) तुम लोगों की पीठों को (अपि) भी (शृणातु) तोड़ डाले। और (विश्वतो वीर्या) समस्त प्रकार के बलों वाली या सब ओर अपना बल दिखाने वाली (वीरुत्) नाना प्रकार से फैलने वाली ओषधि लता जिस प्रकार रोग जन्तुओं का नाश करती है उसी प्रकार या (विश्वतो वीर्या) सर्व बलवती प्रभु शक्ति (वीरुत्) विशेष प्रकार से

२–(प्र०) 'अशरीत्' इति क्वचित्। शर्वो वो ग्रीवाय शरैः पिशाचा वोपश्रृणात्यग्निः । (च०) 'मृत्युना सम'– इति पैप्प० सं० ॥

रोकने में समर्थ (दः) तुम दुष्ट पुरुषों को (यमेन) व्यवस्थापक के हाथ में (सम्‌ अजीगमत्) पहुंचा दे, जिससे राष्ट्र में पीड़ा न हो ।

अभ॑यं मित्रावरुणाविहास्तु नोर्चिषाऽत्रिणो नुदतं प्रतीचः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप॑ यन्तु मृत्युम् ॥३॥

भा०—दुष्टों का विनाश करने के लिये भेद नीति का उपदेश करते हैं । हे (मित्रावरुणौ) हे मित्र ! हे वरुण ! हे राजन् ! और हे सेनापते ! (इह) इस राष्ट्र में (अभयम् अस्तु) हमें सदा अभय रहे । (नः अत्रिणः) हमें खाजाने वाले दुष्ट पुरुषों को (अर्चिषा) अपने चम चमाते तेजस्वी अस्त्र से (प्रतीचः) पीछे उलटे पैर (नुदतम्) फेर दो । वे लोग (मा ज्ञातारं विदन्त) किसी भी ज्ञानी को अपने नेता होने के लिये प्राप्त न करें प्रत्युत सदा मूर्खता में पड़े रहें । (मा प्रतिष्ठां विदन्त) वे कभी मान, आदर और प्रतिष्ठा, दृढ़स्थिति या कीर्त्ति को प्राप्त न करें । बल्कि (मिथः) परस्पर (वि-घ्नानाः) एक दूसरे को विरोध से मारते हुए स्वयं (मृत्युम् उप यन्तु) मौत को प्राप्त होजायं । वे आपस में लड़कर अपना नाश करलें ।

[३३] इन्द्र, परमेश्वर की महिमा ।

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः । इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥१॥
साम० १ । १ । ३ ॥

भा०—राजा और ईश्वर का वर्णन करते हैं । हे जनाः (यस्य)

३–'वरुणा मरामरस्तवर्चिषा शत्रून् दहतम्प्रतीत्य' (तृ०) 'विन्दन्तु' । (च०) 'मिथो भिन्दानाः' इति पैप्प० सं० ।

[३३] १–'आ रजो युजस्तुजे जने वनं स्वः' इति साम । 'आरजस्तुजोयुजा वलं सहः' इति पै० आ० । अत्र आसजस्तुजोयुजो वलं सहः' इति

जिसका (इदम्) यह (रजः) समस्त अनुरञ्जन करने वाला वैभव (युजः) योगसमाधि में उसके साथ मिलने वाले योगी के (आ तुजे[1]) सब ओर से पालन, रक्षा या बल सम्पादन करने के लिये है और जिसका (वनं स्वः) भंजन करना ही परम सुखकारक है उस (इन्द्रस्य) परमेश्वर का ही (रन्त्यम्) यह रमण करने योग्य धन ऐश्वर्य (बृहत्) बड़ा भारी है।

नाधृ॑ष॒ आ द॑धृषते धृषा॒णो धृ॑षि॒तः शवः॑ ।
पु॒रा यथा॑ व्य॒थिः श्रव॒ इन्द्र॑स्य॒ नाधृ॑षे॒ शवः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पुरा) पहले भी कभी (व्यथिः) कोई पीड़ा देने वाला, अत्याचारी पुरुष (इन्द्रस्य श्रवः) इन्द्र के यश को और (शवः) बल को (न आ-धृषे) कभी दबा नहीं सका उसी प्रकार उसके (शवः) बल को अभीतक भी कोई (धृषितः[1]) बड़ा विजेता भी (न आ-धृषे) दबाने में समर्थ नहीं हुआ है। बल्कि वह स्वयं (धृषाणः) का सब दबानेवाला, सर्व विजयी (धृषितः शवः) सब अभिमानी विजेताओं के बल को (आ दधृषते) दबा लेता है।

शां० श्रौ० सू० । 'तु तेजन स्व' 'इन्द्रस्य नाग्नि केशवः वृषाण धृषदश्शवः यथाधिस्तिनः इन्द्रश्चारन्त्यं महत्' इति पैप्प० सं० ।

१. तुजहिंसायाम् पालनेच । भ्वादिः । तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु चुरादिः । पट पुटि लुट तुजि मिञ्यादयो भाषार्थाः । चुरादिः ॥ इत्येतेभ्यः सम्पदादिभलक्षणो भावे क्विप् ।

२ (प्र० च०) 'आधृषे' । (द्वि०) 'धृषाणं धृषितम्' । (तृ०) 'व्यथि' इति ह्विटनिकामितः । 'नाधृष आदधर्ष दाधृषाणं धृषितं शवः । पुरायदीमातिव्यथिरिन्द्रस्य धृषितं सहः । इति ऐ० आ० । यनाधृष्टं विपन्यया नाधृष आदधर्षया धृषाणं धृषित शवः' शां० श्रौ० सू० ।

१. सुपां सुपो भवन्ति इति षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा । धृषितः कर्तरि क्तः ।

स नो॑ ददातु तां र॒यिमु॒रुं पि॒शङ्ग॑संदृशम् ।
इन्द्रः॒ पति॑स्तु॒विष्ट॑मो॒ जने॒ष्वा ॥ ३ ॥

भा०—(सः) वह इन्द्र, परमेश्वर (नः) हमें (तां) उस (उरुं) महान्, विशाल, सर्वलोकव्यापी (पिशंग-संदृशं) तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाली (रयिम्) शक्ति और धर्म का (ददातु) प्रदान करे । वह (इन्द्रः) परमेश्वर (तुविस्तमः) सर्व शक्तिमान होने के कारण सबका (पतिः) पालक है और (जनेषु आ) समस्त प्राणियों और जनों में व्यापक है ।

[३४] परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना ।

चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । १-५ गायत्र्यः । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

प्राग्नये॒ वाच॑मीरय वृष॒भाय॑ क्षिती॒नाम् । स नः॑ पर्ष॒दति॒ द्विषः॑ ॥ १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष (क्षितीनां) समस्त भूमियों पर जलों की वर्षा करनेहारे मेघ के समान (क्षितीनाम्) समस्त प्रजाओं पर (वृषभाय) सुखों की वर्षा करनेहारे (अग्नये) उस ज्ञानवान्, सबके पथदर्शक, गुरु अग्रणी परमेश्वर की स्तुति के लिये (वाचं प्र ईरय) अपनी वाणी को प्रेरित कर (सः) वही ईश्वर (नः) हमें (द्विषः) भीतरी शत्रु काम आदि प्रबल दुर्भावों के (अति पर्षत्) पार पहुंचा दे ।

३-(प्र०) 'दधातु' इति क्वचित् । 'ददा तुनो' इति पैप्प० सं० । 'तम्' इति क्वचित् । 'रयिं पुरुं' । (च०) 'तविस्तमः' इति ऐ० ब्रा० । तुवित्तमः । (द्वि०) 'सदृशम्' इति सायणाभिमतः ।

[३४] १-ऋग्वेदे अस्य सूक्तस्य वत्स आग्नेय ऋषिः ।

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा । स० ॥ २ ॥
ऋ० १०१ । १८७ । ३ ॥

भा०—(यः) जो (अग्निः) ईश्वर, अग्नि, अग्रणी, नेता होकर अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) प्रताप, तेज से (रक्षांसि) विघ्नकारियों को (निजूर्वति) भून डालता और लुंजा कर देता है । (सः न द्विपः अतिपर्षत्) वह हमें हमारे शत्रुओं से पार कर दे ।

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते । स० ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १८७ । २ ॥

भा०—(यः) जो (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर देश से (धन्व तिरः) द्यौलोक अन्तरिक्ष को पार कर (अतिरोचते) सब से अधिक प्रकाशमान है । (सः नः द्विपः अतिपर्षत्) वह हमें हमारे शत्रुओं से पार करे ।

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स० ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभि विपश्यति) साक्षात् देख रहा है और (सं पश्यति च) खूब अच्छी तरह से देखता है । (सः) वह (नः) हमें (द्विपः अतिपर्षत्) शत्रुओं से पार करे ।

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (शुक्रः) ज्योतिःस्वरूप (अस्य) इस समस्त

२-(द्वि०) 'वृषा शुक्रेण' इति ऋ० ।

३-(तृ०) तिरो विश्वाधिरोचित इति पैप्प० सं० ।

४-(प्र०) 'निपश्यति' इति पैप्प० सं० ।

५-(द्वि०) 'शुक्रं ज्योतिः' इति तै० ब्रा० । 'महच्चित्रं ज्योतिः' इति मै० सं० ।

(रजसः पारे) रजः लोकसमूह के पार या रजोनिमित प्राकृत संसार से परे (अग्निः)[1] ज्ञानमय उसमें लीन होनेवाला (अजायत) विद्यमान है (सः नः) वह हमें (द्विषः) द्वेष=अप्रीति के पदार्थ-कर्मबन्धनों से (अति पर्षत्) पार करे, मुक्त करे ।

[३५] ईश्वर स्तुति, प्रार्थना ।

कौशिक ऋषिः । वैश्वानरो देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ।

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥१॥

यजु १८ । ७२ । १७ । ८ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों का कल्याणकारी, समस्त आत्माओं में व्यापक या सब पदार्थों का नेता प्रभु (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (परावतः) दूर देश से भी (आ प्र यातु) आवे । अर्थात् चाहे जितनी भी दूर हों तब भी वह हमारी रक्षा करे । वही (अग्निः)[२] ज्ञानप्रकाश स्वरूप होकर (नः) हमारी (सु स्तुतीः) उत्तम स्तुतियों को (उप) स्वीकार करे ।

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप । अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त आत्माओं का हितकारी प्रभु (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ में, समाज में या उत्तम श्रेष्ठ कर्म में

---

१. अग्निः अक्नोपनो भवति (निरु०) ।

[३५] १—(तृ०) अग्निरुक्थेन वाहसा इति यजु० १७।८ ॥ (प्र०) 'ऊ त्वा प्रा' (तृ०) 'उपेमं सुष्टुतिर्मम' इति मै० सं० ।

२—'अग्निरुक्थेन वाहसा' आ० श्रौ० सू० । (तृ०) 'अंहःसु' इति ह्विटनिकामितः ।

(सजूः) हमारे ही समान प्रतिप्रेमी होकर (उप आगमत्) आवे । वही (अग्निः) प्रकाशस्वरूप या हमारा अग्रणी होकर (अंहसु) प्राप्त करने योग्य (उक्थेषु) प्रशंसनीय कार्यों में भी (उप) हमारा साथ दे ।

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोमंमुक्थं च चाक्लृपत् ।
ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत् ॥ ३ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त जीवों का कल्याणकारी प्रभु (अंगिरसां) ज्ञानवान्, पुरुषों के (स्तोमम्) स्तुतियों और (उक्थं च) कहे वचन या उच्चारण किये वेदमन्त्र को (च) भी (चाक्लृपत्) समर्थ, सफल या फल-उत्पादन में समर्थ करता है । वही (स्वयम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप और सुखमय प्रभु (एषु) इन ज्ञानियों को (द्युम्नं) प्रकाश धन, और ज्ञान (आ यमत्) प्रदान करता है ।

[३६] ईश्वर की प्रार्थना ।

स्वस्त्ययनकाम अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजस्रं घर्ममीमहे ॥१॥
यजु० २६ । ६ ॥

भा०—(ऋतावानम्) स्वयं ऋत=सत्य ज्ञानवान् (ऋतस्य ज्योतिषः पतिम्) ऋत=जीवनमय ज्योति, चेतना के परिपालक (अजस्रम्) निरन्तर विद्यमान, नित्य (घर्मं) प्रकाशस्वरूप (वैश्वानरम्) परमेश्वर की (ईमहे) हम नित्य प्रार्थना करते हैं ।

३–'चकृवत्' इति सायणसम्मतः पाठः । (प्र०) 'अंगिरोभ्यः' (द्वि०) 'चाकनत्' इति आ० श्रौ० सू० । (प्र०) 'वैश्वानरो वोऽङ्गिरोभिः', 'प्रद्युम्नं' इति पैप्प० सं० । 'स्तोमं जल्तं' शा० श्रौ० सू० ।

[३६] १–(तृ०) 'भानुम्' इति शा० श्रौ० सू० ।

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी ।
यज्ञस्य वयं उत्तिरन् ॥ २ ॥ साम० २ । १०५८ ॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर (विश्वा) समस्त प्राणियों को, समस्त पदार्थों को (प्रति चाक्लृपे) बनाता, उनको प्रेरित करता और शक्ति देता है । वह (वशी) सब पर वश करनेहारा (यज्ञस्य) संवत्सर रूप यज्ञ-पुरुष के (वयः) काल को (उत्तिरन्) विभक्त करता हुआ या (यज्ञस्य वयः उत्तिरन्) यज्ञ=यज्ञाहुति के (वयः) अन्नों को अग्नि के समान सर्वत्र फैलाता हुआ या इस महान् सृष्टिचक्र में होने वाले भूत संघों के परस्पर संगम रूप यज्ञ के (वयः) जीवन को (उत्तिरन्) सर्वत्र प्रकट करता हुआ (ऋतून् उत् सृजते) छहों ऋतुओं का निर्माण करता है ।

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥ साम० २।१०५९ ॥ यजु० १२।११७ ॥

भा०—वही परमात्मा (परेषु धामसु) उत्कृष्ट, सुदूरवर्त्ती प्रकाशवान् लोकों में भी (अग्निः) प्रकाशक अग्नि है । वह (भूतस्य) उत्पन्न पदार्थ और (भव्यस्य) आगे उत्पन्न होनेवाले भविष्य के गर्भ में छिपे पदार्थों का भी (कामः) उत्पादक आरम्भक संकल्प है । वही (एकः सम्राट्) समस्त लोकों का एकमात्र प्रकाशक, स्वयं सब में अकेला प्रकाशमय, सबका एक महेश्वर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है ।

२–'य इदं प्रतिपप्रथे' (तृ०) 'यज्ञस्य स्वः' इति साम० । (प्र०) 'विश्वा' इति शं० पा० । (प्र०) 'विश्वं', 'प्रतिचाक्लृपत्' इति आ० श्रौ० सू० । 'स इदं प्रतिपप्रथे' इति तै० ब्रा० ।

३–(प्र०) 'अग्निः प्रियेषु' इति यजु० । 'प्रत्नेषु' आ० श्रौ० सू० ।

[३७] कठोर भाषण से बचना ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् ।
शप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥ १ ॥

भा०—(सहस्र-अक्षः) हज़ारों आँखों वाला या इन्द्रियों में उत्तेजना पैदा करनेवाला (शपथः) शपथ=कठोर वचन रूप राजा तू (रथम् युक्त्वा) रथ जोड़ कर (उप प्र अगात्) सब तक भली प्रकार पहुँच जाता है। (वृक इव) जिस प्रकार भेड़िया गन्ध के पीछे (अवि-मतः) भेड़ पालनेवाले के घर तक पहुँच जाता है उसी प्रकार वह शपथ रूप राजा भी (मम शप्तारम्) मेरे ऊपर व्यर्थ दोषारोपण करनेवाले को (अनु-इच्छन्) पता लगाता हुआ उस अपराधी को जा पकड़ और दण्ड दे ।

परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन् ।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

भा०—हे (शपथ) शपथ! कठोर वचन रूप राजन् ! (अग्निः इव) जंगल की अग्नि जिस प्रकार (ह्रदम्) तालव को (अदहन्) विना जलाये छोड़ कर चला जाता है उसी प्रकार तू (नः अदहन्) हमें विना जलाये, विना पीड़ा दिये (परि वृङ्ग्धि) दूर से ही छोड़ दे। (अत्र) और इस दशा में भी (दिवः, अशनिः) आकाश से गिरनेवाली बिजली जिस प्रकार (वृक्षम् इव) वृक्ष को मार जाती है और भीतर से जला देती है उसी प्रकार (नः) हमारे प्रति (शप्तारम्) व्यर्थ बुरा भला कहने वाले को (जहि) विनाश कर, उसको भीतर २ जला ।

---

[३७] १–(प्र०) 'अभिप्र' (तृ०) 'मातिवृकेव' इति पैप्प० सं० । 'युक्त्वाय' इति ह्विटनिकामितः ।

२–(प्र०) 'परित्वं' (च०) 'दिव्याः' इति पैप्प० सं० ।

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (अशपतः) गाली या कठोर वचन न कहते हुए भी (नः) हमें (शपात्) कठोर वचन कहता है और (यः च) जो (शपतः नः) कठोर वचन कहते हुए हमें (शपात्) कठोर वचन कहता है (तं) उस पुरुष को (शुनः) कुत्ते के सामने (अवक्षामम्) सूखे (पेष्ट्रम् इव) आटे के बने रोटी के टुकड़े के समान (मृत्यवे) मौत के आगे (प्रत्यस्यामि) डाल दूं ।

कठोर वचन या गाली देते हुए पुरुष के प्रति मनुष्य अपनी प्रबल इच्छा शक्ति का इसी प्रकार प्रयोग करे और विचारे कि कठोर वक्ता के कठोर वचन स्वयं उसी को दण्ड देते हैं, उसके दिल को कष्ट पहुँचाते हैं हम पर उसका ऐसे प्रभाव न पड़े जैसे आग का पानी के तालाव पर । वह अपने कठोर वचनों से बिजली से मरे वृक्ष के समान भीतर भीतर जले । और जो व्यर्थ हम पर जले और बके या हमारे कुछ कठोर कहने पर पागल होकर हम पर बके झके तो उसको तुच्छ सा जान कर अपनी मौत मरने दे । स्वयं उस पर हाथ न चलावे, बल्कि छोड़ दे ।

[३८] तेज की प्रार्थना ।

वर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः । बृहस्पतिरुत त्विषिर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१॥

३–(तृ०) 'पेष्ट्रम्' इति सायणाभिमतः ।

[३८] १–(तृ०) 'ववर्धसा' इति पैप्प० सं० । 'न आगन्' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(या त्विषिः) जो तेज या कान्ति, ज्योति, शक्ति (सिंहे) सिंह में (व्याघ्रे) व्याघ्र में, (उत) और (या) जो तेज (पृदाकौ) महा अजगर में है और (या) जो तेज (अग्नौ) अग्नि में (ब्राह्मणे) ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञानी में और (सूर्ये) सूर्य में है । और (या सु-भगा देवी) सौभाग्यमयी दिव्य कान्ति (इन्द्रम्) पुरुष को इन्द्र=ऐश्वर्यवान् राजा (जजान) बनाती है (सा) वह (नः) हमें (वर्चसा) तेज, ब्रह्मवर्चस से (सं-विदाना) सम्पन्न करती हुई (एतु) प्राप्त हो ।

या हुस्तिनि॑ द्वीपिनि॒ या हिर॑ण्ये॒ त्विषि॑र॒प्सु या गोषु॒ पुरु॑षेषु ।
इन्द्रं॰ ॥ २ ॥

भा०—(या) जो कान्ति (हस्तिनि) हाथी में और (द्वीपिनि) गेंडे में है । और (या) जो कान्ति (हिरण्ये) सुवर्ण में और (अप्सु) जलों में है और (या) जो कान्ति (गोषु) गौओं में और (पुरुषेषु) युवा बलवान् पुरुषों में है और (या देवी सुभगा) जो सौभाग्यमयी लक्ष्मी (इन्द्रम् जजान) राजा को उत्पन्न करती है (सा नः वर्चसा संविदाना एतु) वही लक्ष्मी कान्ति हममें तेज को धारण कराती हुई हमें प्राप्त हो ।

रथे॑ अ॒क्षेष्वृ॑ष॒भस्य॒ वाजे॒ वाते॑ प॒र्जन्ये॒ वरु॑णस्य॒ शुष्मे॑ । इन्द्रं॰ ॥ ३ ॥

भा०—(या सुभगा देवी) जो सौभाग्यकारिणी दिव्य लक्ष्मी, कान्ति (रथे) रथ में (अक्षेषु) अक्षों में, (ऋषभस्य वाजे) बैल के वेग में (वाते पर्जन्ये) प्रचण्ड वात और मेघ में और (वरुणस्य शुष्मे) वरुण=सूर्य के प्रखर ताप में है और वह जो (इन्द्रम् जजान) इन्द्र, राजा को उत्पन्न करती है (सा नः वर्चसा सं-विदाना एतु) वह हम में तेज को धारण कराती हुई हमें प्राप्त हो ।

२–(द्वि०) 'अश्वेषु पुरुषेषु गोषु' इति पैप्प० सं० ।
३–'अक्षेषु वृषभस्य' इति तै० ब्रा० ।

राजन्ये/दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥४॥

भा०—(राजन्ये) राजा में (आयतायाम् दुन्दुभौ) कसे कसाये, नियमपूर्वक बजनेवाले मारू बाजे में; (अश्वस्य वाजे) घोड़े के वेग में और (पुरुषस्य मायौ) वीर पुरुष के उच्च स्वर के नाद में जो शक्ति है और जो (देवी) दिव्य (सुभगा) सौभाग्यकारिणी शक्ति (इन्द्रं जजान) राजा को बनाती है (सः) वह (नः) हमें (वर्चसा सं-विदाना) ब्रह्मतेज से युक्त करती हुई (नः आ-एतु) हमें प्राप्त हो ।

[३९] यश और बल की प्रार्थना ।

वर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । १ जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम् ।
प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये ॥१॥

भा०—हमारा (सहः-कृतम्) बल और सहनशक्ति का बढ़ाने वाला (सुभृतम्) उत्तम रीति से हमें धारण पोषण करनेवाला (सहस्र-वीर्यम्) अनन्त सामर्थ्यों से युक्त (इन्द्र-जूतम्) ईश्वर से प्रदत्त या ईश्वर के

४–'या राजन्ये' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'क्रन्दय पुरुषस्य' इति तै० ब्रा० । (द्वि०) 'त्विषिरश्वयेमायां स्तनयित्नौ गोषुया' इति पैप्प० सं० ।

[३९] १–(द्वि०) 'सहस्रतृष्टिः सुकृतं सहस्वत्' (तृ०) 'जीवसे' (च०) –'ष्मन्तं वर्धय' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सुभृतं' इति सायणाभिमतः ।

निमित्त प्रेरित या राजा के अभिमत, हमारा (यशः) यश और (हविः) अन्न, और बल (प्रसर्त्तणम्) खूब विस्तृत होकर (वर्धताम्) बढ़े । हे इन्द्र ! परमात्मान् ! (अनु) और (फिर (हविष्मन्तं) अन्न समृद्धि से युक्त (मा) मुझ को (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घदर्शी होने और (ज्यैष्ठ्यतातये) और सब से बड़ा हो जाने के लिये (वर्धय) उन्नत कर ।

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम ।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥ २ ॥

भा०—हम लोग (अच्छा) साक्षात् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् उस महान् (यशसम्)[१] यशो रूप, सर्वव्यापक (यशोभिः) अपनी व्यापक शक्तियों से (यशस्विनं) यशस्वी, प्रभु को (नमसानाः) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हुए (विधेम) उसके गुणों को अपने भीतर धारण करें । (सः) वह (नः) हमें (इन्द्र-जूतं) एक बड़े राजा से संचालित (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र का प्रदान कर । हे परमात्मन् (तस्य) उस (ते) महेश्वर जगदीश्वर के (रातौ) दिये राष्ट्र में हम (यशसः) यशस्वी होकर (स्याम) रहें।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः यशाः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् सूर्य यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि सबका नेता ज्ञानी यशस्वी है । (सोमः यशाः अजायत) सोम, प्रेरक आल्हादक चन्द्र भी यशस्वी है । इसी प्रकार (यशाः) यश का अभिलाषी (विश्वस्य भूतस्य) समस्त प्राणियों में (अहम्) मैं (यशस्तमः) सबसे अधिक यशस्वी (अस्मि) होऊं ।

२–(प्र०) 'अच्छानयं' (द्वि०) 'यशस्विनो हविषेन विधेम' (च०) तस्य रात्रे अधिवाके स्याम' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'यशाग्नि' इति पैप्प० सं० ।

[४०] अभय और कल्याण की प्रार्थना ।

१, २ अभयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामश्चाथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवताः ।
१,२ जगत्यौ, ३ ऐन्द्री अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥१॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौः और पृथिवी, आस्मान, और ज़मीन इस संसार में (नः अभयं अस्तु) हमारे लिये भय रहित हों (सोमः) चन्द्र और (सविता) सबका प्रेरक सूर्य, (नः) हमारे लिये रात और दिन दोनों को (अभयं कृणोतु) हमारे लिये भय रहित कर दें। (उरु अन्तरिक्षम् नः अभयम्) यह विशाल अन्तरिक्ष=वातावरण भी हमारे लिये भय रहित रहे। (सप्त-ऋषीणां च हविषा) सप्त ऋषियों सातों प्राणों के बल, और ज्ञान से (अभयं नः अस्तु) हमें सर्वत्र ही अभय रहे।

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु ।
अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभियातु मन्युः ॥ २ ॥

भा०—(नः) हमारे (अस्मै ग्रामाय) इस ग्राम के (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं में (सविता) सविता, धन-धान्य का उत्पादक, एवं नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न और नाना कारखानों के चलाने की प्रेरणा करने वाला अधिकारी शासक अथवा परमात्मा (सु-भूतम्) उत्तम रीति से उत्पन्न होने वाला (ऊर्जम् कृणोतु) अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न कराए और इस प्रकार (नः स्वस्तिः कृणोतु) हमारा कल्याण करे। (इन्द्रः)

[४०] १-(च०) 'सप्तर्षीणां' इति क्वचित् ।
२-(द्वि०) 'सुभूतं सविता दधातु' (तृ०) 'अशत्रुं' (च०) मध्ये च विश्वं सुकृते स्याम' इति पैप्प० सं० ।

राजा (नः) हमारे लिये (अशत्रु अभयं) शत्रुओं से रहित, अभय (कृणोतु) करे और (राज्ञां) राजाओं का (मन्युः) क्रोध और उससे प्रेरित सेनाबल भी (अन्यत्र) और स्थान में, अर्थात् हमारे निवास के नगर से दूसरी जगह चढ़ाई करे।

राजा ग्रामों का ऐसा प्रबन्ध करे कि उनके बाहर की भूमियों में अन्न आदि को उत्पन्न कराने का प्रबन्ध करे और उनकी ऐसी रक्षा करे कि योद्धा राजा की सेनाएं उनके खेतों को खराब न करें और ग्रामों को न उजाड़ें।

अ॒न॒मि॒त्रं नो॑ अध॒राद॑नमि॒त्रं न॑ उत्त॒रात् ।
इन्द्रा॑नमि॒त्रं नः॑ प॒श्चाद॑नमि॒त्रं पु॒रस्कृ॑धि ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमात्मन् अथवा राजन् ! (नः) हमारे (अधरात्) नीचे की ओर (अनमित्रं) कोई शत्रु न रहे, (उत्तरात् नः अनमित्रं) उपर की ओर भी कोई शत्रु न रहे। (पश्चात् नः अनमित्रं) पीछे की भी ओर शत्रु न रहे और (पुरः नः अनमित्रं कृधि) ऐसा कीजिये जिससे आगे की ओर भी हमारा कोई शत्रु न रहे।

[४१] अध्यात्म शक्तियों की साधना।

ब्रह्मा ऋषिः। बहवः उत चन्द्रमा देवता। १ भुरिगनुष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

मन॑से॒ चेत॑से धि॒य आकू॑तय उ॒त चित्त॑ये ।
म॒त्यै श्रु॒ताय॒ चक्ष॑से वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥

भा०—(मनसे) मनः शक्ति (चेतसे) सम्यग् ज्ञान, (धिये) धारणा शक्ति, (आकूतये) प्रतिभा (उत) और (चित्तये) और

३–(प्र०) 'मे अधराग्' (द्वि०) 'उदक् कृधि' इति का० यजु० ।

चेतना शक्ति (मर्त्यै) तत्व विचार करने वाली मनन शक्ति, (श्रुताय) गुरु उपदेश द्वारा प्राप्य वेद ज्ञान या श्रवण शक्ति और (चक्षसे) भीतरी चक्षु, आत्मा की दर्शनशक्ति, इन सब शक्तियों के प्राप्त करने के लिये (वयम्) हम (हविषा) अन्न आदि, पौष्टिक सात्विक पदार्थों द्वारा या आत्मशक्ति या मस्तिष्क शक्ति या मन और वाणि की शक्ति से प्राप्त करने की (विधेम) हम सदा साधना किया करें । हविः=जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम् श० १ । २ । १ । २० । तस्य पुरुषस्य शिर एव हविर्धाने । कौ० १७ । ७ ॥ वाक् च वै मनश्च हविर्धाने । कौ० ९ । ३ ॥ अर्थात्, हवि=आत्मा, जीव, शिर की ज्ञानशक्ति, वाणी और मन इनकी साधना से मनुष्य उपरोक्त सब शक्तियां प्राप्त करे ।

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

भा०—(अपानाय) अपान, (वि-आनाय) व्यान और (भूरि-धाय-से) बहुत बलों को धारण करने वाले (प्राणाय) प्राण और (उरु-व्यचे) विशाल आत्मा में व्यापक या नाना लोकों में व्यापक (सरस्वत्यै) ज्ञान धारा की प्राप्ति के लिये (वयम्) हम (हविषा) हवि जीव, मस्तिष्क शक्ति या मन से (विधेम) उद्योग करें ।

अपान=मुख नासिका से बाहर के वायु को पुनः भीतर लेना । प्राण= भीतर की वायु को नासिका से बाहर फेंकना । व्यान=ऊपर नीचे दोनों ओर की गति न करके प्राण का स्थिर रहना । अथवा कण्ठ से ऊर्ध्वगत शक्ति प्राण, कण्ठ से नाभि तक की शक्ति व्यान, नाभि से गुदा तक की शक्ति अपान है ।

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्व/स्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥३॥

३–'ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वः तपोजाः' इति ऐ० ब्रा० ।

भा०—(दैव्याः ऋषयः) दिव्य गुण सम्पन्न अथवा देव आत्मा से सम्बद्ध अथवा देव, इन्द्रियमय ऋषिगण, ज्ञानसाधन आंख नाक, कान, मुख, त्वचा रसना आदि ज्ञानेन्द्रियें (नः) हमें (मा हासिषुः) जीवन भर त्याग न करें। और (ये) जो (नः) हमारे (तनू-पाः) शरीर के रक्षक प्राण और (तन्वः) शरीर के ही अंग और (तनू-जाः) शरीर से उत्पन्न होने वाले हाथ पांव आदि अंग हैं वे भी हमरा त्याग न करें। ये सब हमारे स्वस्थ बने रहें। हे आत्मा के (अमर्त्याः) न मरने वाले प्राणो ! तुम लोग (नः) हम (मर्त्यान्) मर्त्य पुरुषों को (अभि सचध्वम्) प्राप्त होओ। और (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के लिये (प्रतरं आयुः) बहुत दीर्घ जीवनकाल (धत्त) बनाये रखो।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि, ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत् ।]

[४२] क्रोध को दूर करके परस्पर मिलकर रहने का उपदेश।

परस्परचित्तैककरणे भृग्वङ्गिरा ऋषिः। मन्युर्देवता १, ३ अनुष्टुभः (१,२ भुरिजौ)। तृचं सूक्तम् ॥

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः।
यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑याविव॒ सचा॑वहै ॥ १ ॥

भा०—क्रोध को दूर करके मित्रभाव से रहने का उपदेश करते हैं।

[४२] १—'अवज्यामिव धन्विनश्शुष्मं तनोमि ते हृदः। अथा सम्मनसौ भूत्वा सखिकेव सचावहे'। इति पैप्प० सं०।

मित्र अपने क्रोधी पुरुष के क्रोध उतारने के लिये इस प्रकार कहता है—हे मित्र ! (धन्वनः ज्याम् इव) जिस प्रकार धनुर्धर पुरुष शान्त होकर अपने धनुष से डोरी को उतार लेता है और किसी की हिंसा नहीं करता उसी प्रकार मैं शान्त पुरुष (ते हृदय) तेरे हृदय से (मन्युम्) क्रोध को भी (अव तनोमि) उतारने का यत्न करता हूं । (यथा) जिससे हम दोनों (सं-मनसौ) एक समान चित्त वाले (भूत्वा) होकर (सखायौ-इव) दो मित्रों के समान एक ही होकर (सचावहे) सदा मिले रहें ।

सखा॑याविव सचावहा॒ अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते ।
अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्यामसि॒ यो गु॒रुः ॥ २ ॥

भा०—क्रोध के विरोध का उपदेश करते हैं । हम दोनों (सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहे) मिलकर रहें और यदि इस मित्रता पूर्वक रहते हुए कभी क्रोध भी आ जाय तो प्रत्येक हममें से अपना यही कर्त्तव्य समझे कि (ते मन्युं अव तनोमि) मैं तेरे क्रोध को शान्त करूँ । यदि फिर भी क्रोध उभड़ना चाहे तो यह विचार हो कि (यः गुरु) जो हमारा गुरु, उपदेशक पर्वत के समान गौरवपूर्ण है (अश्मनः अध इव) भारी शिला के समान भारी पदार्थ के नीचे जिस प्रकार उड़ता हुआ पदार्थ दब जाता है फिर नहीं उड़ता उसी प्रकार (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को भी (तम् उपास्यामसि) उस उपदेष्टा गुरु के अधीन कर दें जिसके गौरव से दब कर पुनः क्रोध न उठे । क्रोध आजाने पर गुरु के समीप जाकर कलह के कारण को मिटा लेना चाहिये जिससे फिर क्रोध न सतावे ।

२-(च०) 'अश्मना मन्युं गुरुणापि निदध्मसि' (प्र० द्वि०) 'वि ते-मन्युं नयामसि सखिकेव सचाहवै' इति पैप्प० सं० ।

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पाण्र्या प्रपदेन च ।
यथावशो न वादिपो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

भा०—क्रोध शान्त करने का तीसरा उपाय बतलाते हैं । हे क्रोधी पुरुष (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को (पाण्र्या) अपनी एड़ी से और (प्र-पदेन) अपने पैरों के अगले भाग से (अभि तिष्ठामि) दबा कर उस पर वश करता हूँ। जिस प्रकार आते हुए वेग को अपनी एड़ी और पंजों पर मज़बूती से खड़ा होकर सहा जाता है उसी प्रकार दूसरे के क्रोध के वेग को धीरता और मज़बूती से खड़े रह कर सहना चाहिए । (यथा अवशः) जिससे वशीभूत, लाचार होकर (न वादिपः) फिर तू क्रोध के वचन न बोले और (मम-चित्तम्) मेरे चित्त के (उप आयसि) समीप में आकर मेरा मित्र बन जाय । जिसको मित्र बनाना है उसके क्रोध के उद्वेगों को धीरता से सहन करना चाहिये ।

[४३] क्रोधशान्ति के उपाय ।

परस्परैकचित्तकरणे भृग्वङ्गिरा ऋषिः । मन्युशमनं देवता । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

३–(द्वि०) 'पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्' (तृ० च०) 'परा ते दत्त्वां वधं परा मन्युं सुवामि ते' इति पैप्प० सं० ।

[४३] १–(तृ०) 'विमन्युकश्च' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) 'विमन्युको विमन्युशमनोऽस्तु मे' इति पैप्प० सं० ।

भा०--क्रोध शान्त करने का चौथा उपाय बतलाते हैं । (अयं) यह (दर्भः) दाभ, दमन या कुश घास है वह (स्वाय च) अपने सम्बन्धियों और (अरणाय च) अपने शत्रु के लिये भी (वि-मन्युकः) सर्वथा क्रोध रहित है । इसमें काटा नहीं, सरल सीधा है, हवा के झोंके से भी मुड़ जाता है । पर तो भी बहुतों को रस्सी बँन कर (दर्भः) बाँध लेता है । इसी प्रकार जो पुरुष (स्वाय च अरणाय च) अपने सम्बन्धी और शत्रु दोनों के लिए (वि-मन्युकः) क्रोध रहित शान्त पुरुष है वह (दर्भः) समाज को रस्सी के समान गाँठने वाला होता है । वह (वि-मन्युकस्य) स्वभावतः मन्यु रहित पुरुषों के उठे हुए (मन्योः) क्रोधों का भी अथवा (मन्योः विमन्युकस्य) क्रोधी और क्रोध रहित पुरुषों के बीच में आकर उनके (मन्यु-शमनः) क्रोध या कलह को शान्त करा देनेवाला (उच्यते) कहा जाता है । वह पुरुष उनके कलहों को मिटा सकता है ।

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

भा०—(दर्भः) दर्भ-दाभ जिस प्रकार (भूरि-मूलः) लम्बी गहरी और अधिक मूल वाला (पृथिव्याः उत्थितः) पृथिवी के ऊपर उठा हुआ होकर भी (समुद्रम् अव-तिष्ठति) समुद्र, आकाश के नीचे धीरता से खड़ा रहता है इसी प्रकार (अयम्) यह पुरुष जो (दर्भः) समाज का संगठन करने में समर्थ है वह भी (पृथिव्याः उत्थितः) अपनी विशाल मातृ-समाज से उत्पन्न होकर (भूरि-मूलः) बहुत से मूल रूप आश्रयों पर प्रतिष्ठित होकर (समुद्रम् अव-तिष्ठति) [समुद्र=महान् प्रभु की छत्र छाया में रहता है । वही लोक में सब के (मन्यु-शमनः) क्रोधों

२-(द्वि०) 'पृथिव्यामव' (तृ० च०) 'निष्ठित स्सचेस्तु विमन्युकः' इति पैप्प० सं० ।

का शान्त करने हारा, सब कलहों का मिटाने वाला (उच्यते) कहा जाता है। अथवा दर्भ-या दाभ रस्सी का प्रतिनिधि है। यदि क्रोधी क्रोध करे तो उसको प्रबल पुरुष बंधन में डाले कि उसका सब क्रोध उतर जाय।

वि ते॑ हन॒व्यां॑/शर॒णिं॒ वि ते॒ मुख्यां॑ नयामसि।
यथा॑व॒शो न वा॒दिषो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ३ ॥

तृ० च० अथर्व० ६ । ४२ । ३ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरुष (ते) तेरी (हनव्यां) ठोड़ी में विद्यमान और (ते मुख्यां) तेरे मुख में विद्यमान (शरणिम्) हिंसा और क्रोध के भाव को उत्पन्न करनेवाली वाणीको (वि नयामसि) विनीत शिक्षित कर लें। (यथा) जिससे (अवशः) लाचार होकर (न वादिषः) तू अधिक क्रोध के वचन न बोल सके और (मम चित्तम् उप आयसि) मेरे चित्त के अति समीप, मित्र होकर रहे। अर्थात् परस्पर का क्रोध शान्त करने के लिये वाणी पर वश करना चाहिये। इससे भी दोनों के चित्त परस्पर मिल जायेंगे।

यदीच्छसि वशीकर्त्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

अथवा वाणी को सभ्य शिक्षा देनी चाहिये जिससे गाली आदि मुँह पर न आवे।

[४४] रोग की चिकित्सा में विषाणका नाम ओषधि।

विश्वामित्र ऋषिः। मन्त्रोक्ता उत वनस्पतिर्देवता। १,२ अनुष्टुभौ।
३ त्रिपदा महाबृहती। तृचं सूक्तम् ॥

३–'मुख्यं' इति क्वचित्।

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

भा०—यह (द्यौः) विशाल द्युलोक (अस्थात्) स्थिर है, (पृथिवी) पृथिवी भी (अस्थात्) स्थिर है। (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त जगत् भी स्थिर है। (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः) उत्तान खड़े २ सोने वाले वृक्ष भी स्थिर हैं। इसी प्रकार (अयं तव रोगः) यह तेरा रोग भी (तिष्ठात्) स्थिर हो जाय, आगे अधिक न बढ़े।

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।
श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥ २ ॥

भा०—(यानि ते शतम्) जो तेरी सैकड़ों और (सहस्रम्) हज़ारों (भेषजानि) ओषधियाँ (संगतानि च) प्राप्त भी हो गयी हैं और निदान के अनुकूल भी हैं तो भी उनमें से जो (श्रेष्ठम्) सबसे अधिक गुणकारी और (वसिष्ठम्) मुख्य रूप से देह में वास करनेवाली उसके भीतर प्रवेश करके असर कर जाने वाली (आस्राव-भेषजम्) रक्तस्राव को अच्छा करनेवाली औषध है वह (रोग-नाशनम्) रोग को अवश्य नाश करती है।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः ।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (रुद्रस्य) रुद्र=रोगकारी तीव्र द्रव्य का (मूत्रम्) सार भाग [टिंकचर] (असि) है। (अमृतस्य) परन्तु रोग विनाश करनेवाले अमृत रूप शक्ति का (नाभिः) मूलस्थान है। या (विषाणका नाम वा असि) तेरा नाम 'विषाणका' है।

[४४] १-(प्र०) 'या' (द्वि०) 'संभृतानि' (तृ०) तेषामसि त्वमुत्तमं अनास्रावसरोगणं (च०) 'वसिष्ठ' इति पैप्प० सं० ।

(पितृणां) पालक ओषधियों के मूल में से (उत्थिता) उत्पन्न होती है। और (वातीकृत-नाशनी) वात के द्वारा उत्पन्न रोगों का नाश करती है। चिपाणका या विपाणिका नाम से अजशृङ्गी, आवर्तकी शृङ्गी, वृश्चिकाली, सातला और रोहिणी ओषधियों का ग्रहण है। अजशृंगी और आवर्तकी हृद्रोग, वातरोग और रक्तार्श पर गुणकारी है। उनका टिंचर निकाल कर प्रयोग करने से शीघ्र ही असर करती हैं।

[४५] मानस पाप के दूर करने के दृढ़ संकल्प की साधना।

प्रचेताः अंगिरा यमश्च ऋषिः। दुःस्वप्ननाशनं देवता। १ पथ्यापंक्तिः।
२ भुरिक् त्रिष्टुप्। ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥१॥
ऋ० १०। १६४। १॥

भा०—मानसिक पापों के दूर करने के मूल मन्त्र का उपदेश करते हैं। (मनः-पाप) हे मानसिक पाप, दुर्विचार! (परः अपेहि) परे हट, तू (अशस्तानि) बुरी २ निन्दा योग्य कुचालियां करने की (किम्) क्यों (शंससि) कहता है। (परा इहि) चल परे हो। (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता। हे (मनः) मेरे मन! तू पाप से हट कर (वृक्षान् वनानि सं चर) हरे २ वृक्षों और वनों उपवनों में विहार कर

[४५] १–'अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः' इति ऋ०॥ (प्र०) 'अपेहि मनसस्पते' इति पैप्प० सं०। ऋग्वेदे प्रचेताः ऋषिः। दुःस्वप्नघ्नं देवता। (प्र०) 'शंसति' (च०) 'वृक्षवनानि' इति सायणाभिमतः।

और (गृहेषु गोषु सं चर) अपने गृहों और गौओं में विहार कर। पाप में जब मन जाय तब पाप के संकल्पों को दूर करके हरे वृक्षों, वनों, उत्तम गृहों और सम्बन्धियों और गौ आदि पशुओं के साथ मन को बहलाना चाहिए।

अवशसां निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥
ऋ० १० । १६४ । ३ ॥

भा०—पापों के दूर करने के निमित्त प्रार्थना। (अव-शसा) नीचे गिराने वाले, (निः-शसा) निर्बल करके गिराने वाले और (परा-शसा) सत्कर्मों से दूर ले जाकर आत्मा का नाश करने वाले जिस २ दुष्ट विचार युक्त पाप से हम (जाग्रतः) जागते हुए या (स्वपन्तः) सोते हुए (यत्) जब २ भी (उप-आरिम) हम पीड़ित होते हों (अग्निः) वह सर्व प्रकाशक, पापों को भस्मसात् करने वाला अग्नि, परमेश्वर (विश्वानि) सब (अजुष्टानि) असेवनीय और अवांछनीय, मन के अप्रीतिकर, बुरे (दुः-कृतानि) पाप कर्मों को (अस्मद्) हमसे (आरे) दूर (अप दधातु) कर दे।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १६४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् ! हे (ब्रह्मणस्पते) समस्त ब्रह्मज्ञान के परिपालक ! (यद् अपि) जब २ भी हम (मृषा चरामसि) असत्य

२—'यदा शसा निःशसाभिशसोपारिम' इति ऋ० ।

३—'यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि । प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः' इति ऋ० । (च०) द्विषतः पातु तेभ्यः' इति पैप्प०सं०।

और छल कपट का आचरण करते हैं तू उनको (प्रचेताः) खूब भली प्रकार जानता है। तू (आंगिरसः) प्रकाशस्वरूप, तेजोमय ज्ञानी होकर (नः) हमें (दुरितात्) बुरे निन्दनीय (अंहसः) पाप से (पातु) पालन कर।

[४६] स्वप्न का रहस्य ।

अंगिर ऋषिः। स्वप्नो दुःस्वप्ननाशनं वा देवता। १ ककुम्मती विराट् पंक्तिः, २ त्र्यवसाना शर्करीगर्भा पञ्चपदा जगती, ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि ॥ १ ॥

भा०—स्वप्न का रहस्य बतलाते हैं। हे स्वप्न (यः) जो (न जीवः असि) तू न जीवित, जागृत दशा है और (न मृतः) न मृत=सुषुप्त दशा है तो भी (देवानाम्) इन्द्रिय गण तुझ स्वप्नकाल में (अमृतगर्भः असि) भी अमृत=आत्मा के गर्भ=भीतर में छुपे रहते हैं। उस समय इन्द्रियगण बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं करते। हे स्वप्न ! (ते माता) तुझ स्वप्न की जननी, माता, उत्पादक भी स्वतः (वरुणानी) वरुण की स्त्री आत्मा की शक्ति, चितिशक्ति, चेतना ही है और स्वयं (यमः) सब इन्द्रिय और शरीर का नियामक आत्मा ही स्वप्न का (पिता) पालक या बीजप्रद है। तू (अररुः नाम असि) 'अररु' नाम वाला है। निरन्तर गतिशील, अति तीव्र गति वाला, क्षणावस्थायी है। अथवा शीघ्र ही विस्मृत हो जाता है। लम्बे से लम्बा स्वप्न ५ सेकण्ड में उत्पन्न होकर समाप्त भी हो जाता है। स्वप्नकाल में इन्द्रियां प्राण में, प्राण मनमें, मन आत्मा में लीन होजाता है और सुषुप्ति दशा हो जाती है।

परन्तु स्वप्नकाल में इन्द्रियगण मन सहित आत्मा में रहकर भी केवल मनकी गति से सब पूर्वानुभूत संस्कारों की जागृति होती है। उस समय इन्द्रियें प्राणमय आत्मा में गर्भित रहती हैं।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः
स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥　　अथर्व० १६ । ५ । ६ ॥

भा०—हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्म) हम तेरे स्वरूप और उत्पत्ति के रहस्य को जानते हैं कि तू (देव-जामीनां) देव-इन्द्रियगण की ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म शक्तियां या ज्ञान तन्तु जो मनमस्तिष्क में आश्रित हैं उनका (पुत्रः) पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है। पर तो भी (यमस्य करणः) नियामक प्राणात्मा का तू करण अर्थात् कार्य है। हे स्वप्नमय देव आत्मन् ! तू ही (अन्तकः असि) अन्त करने वाला प्राण-वियोजक और (मृत्युः असि) शरीर को देह-बन्धन से पृथक होने की दशा का स्वरूप है। हे स्वप्न ! (तं) उस तुझको (तथा) जैसा तू है उसी प्रकार (सं विद्मः) हम भली प्रकार जानते हैं (सः) वह तू (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) दुष्ट स्वप्न से जो मन और शरीर को गिराने वाले भय, काम और वीर्यनाश के प्रयोजक हैं उनसे (पाहि) बचा।

यथा कलां यथा शफं यथर्णं सं नयन्ति ।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥ ३ ॥
अथर्व० १६ । ५७ । १ ॥ ऋ० ८ । ४७ । १७ प्र०–च० ॥

२—१. जामिः स्त्री इति सायणः । भगिनी इति ह्विटनिः ।

३—(च०) 'आप्तये सं नया'— इति ऋ० । 'अनेहसोऽवदूतयः सुऊतयो व ऊतयः' इति ऋग्वेदेऽधिकः पाठः । तत्र त्रित आप्त्य ऋषिः । आदित्या उषाश्च देवते ।

भा०—(यथा) जैसे (कलां) कला, १⁄१६ वां भाग कर के या (यथा शफं) १⁄८ वां भाग करके (यथा ऋणं) जिस प्रकार ऋण को (सं नयन्ति) चुका देते हैं। उसी प्रकार (सर्वं दुःष्वप्न्यम्) समस्त प्रकार के दुःस्वप्नों को (द्विपते) अपने अप्रीतिभाजन पुरुष का ऋण सा जानकर (सं नयामसि) सर्वथा त्याग दें। अर्थात् दुःस्वप्न आदि के दुर्विचार नीच घृणित पुरुषों के लिये रहने दें। उनमें सदाचारी आर्य पुरुष अपने को न गिरावें। अर्थात् जिस प्रकार कला=१६ वां सोलहवां हिस्सा करके या पूरा एक आठवां एक आठवां हिस्सा करते २ पूरा ऋण चुका देते हैं उस प्रकार हम बुरे विचारों को भी (द्विपते) शत्रु का ऋण सा ही मानकर, शनैः २ क्रमशः उनको ऐसे छोड़ते जायं मानो हम में बुरे भावरूप अपने शत्रु का कर्जा धारते हैं। उसे शीघ्र चुकाकर मुक्त हो जायं।

[४७] दीर्घायु, सुखी जीवन और परम सुख की प्रार्थना।

अंगिरा ऋषिः। १ अग्निर्देवता २। विश्वेदेवाः। ३ सुधन्वा देवता। १–३ त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

अ॒ग्निः प्रा॒तःस॑व॒ने पा॑त्व॒स्मान् वै॑श्वान॒रो वि॑श्व॒कृद् वि॒श्वशं॑भूः।
स नः॑ पाव॒को द्रवि॑णे दधा॒त्वायु॑ष्मन्तः स॒हभ॑क्षाः स्याम॥ १॥

भा०—(प्रातः स-वने) प्रातकालके सवन=ब्रह्मचर्य के अवसर में

[४७] १–(द्वि०) 'पथिकृा विश्वकृष्टिः' इति पैप्प० सं०। 'महिना विश्वकृष्टिः' इति तै० सं०। 'महीनां' इति कौ० श्रौ० सू०। 'विश्वश्रीः' इति मै० सं०। (तृ०) 'द्रविणं' इति प्रायः। (प्र०) 'प्रातःसवनात्' इति मै० सं०।

(वैश्वानरः) समस्त पुरुषों का हितकारी समस्त पुरुषों में व्यापक विराट् (विश्व-शम्भूः) सबके लिये सुख शान्ति का उत्पत्तिस्थान (विश्व-कृत्) संसार का रचयिता (अग्निः) अग्नि=ज्ञानमय परमात्मा, सबका अग्रणी (पातु) हमारी रक्षा करे। (सः पावकः) वह पावक सबका पवित्र करने वाला (नः) हमें (द्रविणे दधातु) बल और धन समृद्धि में स्थापित करे। और हम सब (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु वाले होकर (सह-भक्षाः) एक साथ भोजन करनेहारे (स्याम) हों।

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥

भा०—(अस्मिन् द्वितीये सवने) इस द्वितीय सवन, सोम-सवन के अवसर पर (इन्द्रः) हमारा राजा, आत्मा और (विश्वेदेवाः) समस्त देव, इन्द्रियगण और विद्वान् पुरुष और (मरुतः) समस्त प्रजाएं और प्राणगण (अस्मान्) हमें (न जह्युः) परित्याग न करें। (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु से सम्पन्न होकर (एषां प्रियं वदन्तः) इन सब के प्रति प्रिय भाषण करते हुए (वयं) हम (देवानां) विद्वान् पुरुषों की (सु-मतौ) शुभ मति में, उत्तम उपदेशों के अनुसार (स्याम) रहें।

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥३॥

भा०—(इदं तृतीयं सवनम्) यह तीसरा सवन (कवीनाम्) क्रान्त-दर्शी, मेधावी, विद्वान् उन पुरुषों का ही है (ये) जो (ऋतेन) सत्य और ब्रह्मज्ञान के बल से (चमसम्) चमस=सोमभक्षण के पात्र को प्रेरित करते हैं। अर्थात् सत्य ज्ञान और तपके बल से अपने मुख्य प्राण

३-(तृ०) 'सौधन्वनामृतानशानाः' (च०) 'नयाथ' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'सुवरा'- (च०) 'वसीयो' इति तै० सं०।

या समस्त जीवन को साधना के बल से प्रेरित करते हैं (ते) वे (सौधन्वनाः) धनुर्धरों के समान उत्तम रूप से ओंकार रूप औपनिषद धनुष को धारण करते हुए (स्वः आनशानाः) मोक्ष सुख या प्रकाशमय ब्रह्म का आनन्द लाभ करते हुए (नः) हमारे (स्विष्टिं) उत्तम ब्रह्मयज्ञ के प्रति (वस्यः) उत्तम श्रेष्ठ फल (अभि नयन्तु) प्राप्त करावें।

अध्यात्म में चमसपात्रों का निर्णय इस प्रकार है। प्राणापानाभ्यामेवोपांश्वन्तर्यामौ निरमिमीत। व्यानादुपांशुसवनं। वाच ऐन्द्रवायवं। पक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणं, श्रोत्रादाश्विनं, चक्षुषः शुक्रामन्थिनौ, आत्मन अग्रायणं, अङ्गेभ्यः उक्थ्यं, आयुषो ध्रुवम्। प्रतिष्ठाया ऋतुपात्रे। तै० १। ५। ०। १। २। यहां चमस=समस्त आयु है। यज्ञ में चमसस्थित पात्र के सोम को चार भागों में विभाग किया जाता है। जिसका अभिप्राय जीवन को चार भागों में बांटना है। इस प्रकार यज्ञपरक अर्थ संगत होता है, तीन सवनों की व्याख्या अध्यात्म साधना में—जीवन के तीन भाग हैं। प्रथम सवन २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य, द्वितीय सवन ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य, और तृतीयसवन ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य। (देखो छान्दो० उप० ३ : १६)

[४८] तीन सवन, त्रिविध ब्रह्मचर्य।

मन्त्रोक्ता ऋषिर्देवता च। उष्णिक्। तृचं सूक्तम्॥

श्येनो॑ऽसि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॒ त्वा र॑भे।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑॥ १॥

भा०—पूर्वोक्त तीनों सवनों और तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य कालों का विशेष वर्णन करते हैं। हे प्रातःसवनरूप प्रथम ब्रह्मचर्य! तू (श्येनाः

१–(तृ०) 'स्वस्ति मा सम्पारय', (प्र०) 'श्येनासि पत्वा' इति शां० श्रौ० सू०।

असि) श्येन, ज्ञान ब्रह्मतेज का संपादन करनेहारे और (गायत्र छन्दाः) गायत्रच्छन्दा=प्राणसाधना, आत्मसाधना, ब्रह्मवृत्ति, ब्रह्मवर्च प्राप्त करना, तेज प्राप्त करना, वीर्य प्राप्त करना और जीवन का प्रारम्भ रूप २४ अक्षरोंवाले गायत्रीछन्द के समान २४ वर्ष तक पालन करने योग्य है। (त्वा) तेरा मैं (अनु रभे) अनुष्ठान करता हूँ, तेरा पालन गुरु के अधीन रह कर करता हूं । (अस्य) इस (यज्ञस्य) जीवनमय यज्ञ के (उद्-ऋचि) अन्तिम ऋचापाठ की समाप्ति तक (मा) मुझे (स्वस्तिं) कल्याणपूर्वक (सं वह) प्राप्त करा । (स्वाहा) यही हमारी अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा है।

ऋभुर॑सि जग॑च्छन्दा अनु॒ त्वा र॑भे । ० ॥ २ ॥

भा०—हे तृतीयसवन ! तृतीय ४८ वर्षतक के ब्रह्मचर्यकाल ! तुम (ऋभुः) ऋभु=अति तेजस्वी, सत्य, ब्रह्मज्ञान सम्पन्न हो, और (जगत्-छन्दाः) तुम जगतीच्छन्द के समान ४८ अक्षरों के प्रतिनिधि ४८ वर्षों तक पालन किये जाने योग्य हो । एवं तुम आदित्यस्वरूप हो। (त्वा अनु रभे) तेरा मैं पालन करता हूँ । (अस्य यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञ की समाप्ति तक (मा) मुझको (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (सं वह) प्राप्त करा (स्वाहा) यह मैं अपने आत्मा से दृढ़ भावना करता हूं ।

वृषा॑सि त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दा अनु॒ त्वा र॑भे ।

स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भा०—हे माध्यन्दिन सवन ! ४४ वर्ष तक के ब्रह्मचर्य ! तू (वृषा असि) वृषा=वीर्य सेचन से समर्थ इन्द्र रूप और (त्रिष्टुप्-छन्दाः) ४४

२-'स्वरसि गयोऽसि' इति गो० ब्रा० ।

३-(प्र०) 'सुपर्णोऽसि' इति शां० श्रौ० सू० । 'सम्राड् असि' इति गो० ब्रा० । 'वर्षकोऽसि' इति तां० ब्रा० ।

अक्षर वाले त्रिष्टुप्छन्द के समान हो। (त्वा अनुरभे) तेरा पालन करूं। (मा) मुझे (यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञ की समाप्ति तक (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक निर्विघ्न (सं-वह) प्राप्त करा (स्वाहा) यह मैं स्वयं अपने प्रति दृढ़ संकल्प एवं प्रार्थना करता हूं।

(१) श्येनः—श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः । निरु० । यद्वाहश्येनोऽसि इति सोमं वा एतद् आह। एष ह वा अग्निर्भूत्वा अस्मिंल्लोके संश्यायति। तद् यत् संश्यायति तस्मात् श्येनः । गो० पू० ५।१२॥ उरस एवास्य हृदयात्त्विषिर स्रवत् स श्येनः अपाछिहाभवत् वयसां राजा । श० १२ । ७ । १ । ६ ॥ श्येनो वयसां क्षेपिष्ठः। प० ३।८॥ एतद्वै वयसां मोजिष्ठं वलिष्ठं यत् श्येनः । श० ३।३।४।१५॥ ज्ञान करनेवाला आत्मा श्येन है। श्येन=सोम है वही अग्नि होकर इस लोक में विचरता है। इन्द्र के हृदय से जो कान्ति प्रवाहित हुई वह श्येन है वही सब इन्द्रियों का पक्षियों के राजा बाज़ के समान है। वही सब में बलवान् है। वही सब इन्द्रियों में ओजस्वी और बलवान् है। फलतः आत्मा और प्राण श्येन है।

(२) गायत्रच्छन्दः—सा हैषा गायत्री गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयाः। तत् प्राणस्तत्रे, तस्माद् गायत्री नाम। श० १४ ।८।१५ । ७ ॥ प्राणो गायत्री प्रजननम्। तां० १६ । १४ । ५ । १६ ॥ अग्निर्वै गायत्री। श० १।८।२ । १३ ॥ ब्रह्म हि गायत्री। तां० ११ । ११ । १९ ॥ गायत्री ब्रह्मवर्चसम् । तै० २ । ७ । ३ । ३ ॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसम् गायत्री। ऐ० १ । ५ । २२ ॥ गायत्र्यो वै भर्गः । गो० पू० ५ । १५ ॥ वीर्यं गायत्री । श० १। ३ । ५ ४ ॥ शिरः गायत्री । प० २ । ३ ॥ मुखमेव गायत्री । कौ० ११ । २ ॥ चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री । ऐ० ३ । ३९ ॥ वसवो गायत्रीं समयरन् । जै०उ० १ । ६८ । १४ ॥ यद् गायत्री श्येनोभूत्वा दिवः सोममाहरत् तेन साश्येवः । श० ३ । ४ । १२ ॥

गय=प्राण=उनकी रक्षा करनेवाली गायत्री है प्राण और प्रजनन

अर्थात् युवावस्था तक का ब्रह्मचर्यकाल गायत्री है । वही अग्नि है । ब्रह्म है, ब्रह्मवर्चस, तेज, वीर्य, भर्ग शिर, मुख है । इसके २४ अक्षर हैं । २४ वर्ष तक अक्षत वीर्य का पालन करनेवाले वसुगण उस गायत्री का धारण करते हैं। वह गायत्री ही श्येन=ज्ञानवान् होकर द्यौः आचार्य से सोम=ज्ञानमय ब्रह्म को प्राप्त करता है ।

ऋभुः—ऋभवः उरुभान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा ऋभवः आदित्यरश्मयः उच्यते । निरु० दैवत० अ० ५ । २ । ५ ॥ प्रजापतिर्वै पिता ऋभून्मर्त्यान् सतोऽमर्त्यान् कृत्वा तृतीयसवन आभजत् । ऐ० ६।१२ ॥ ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम । तां० १४।२५ ॥ अति तेजस्वी, ऋत—ज्ञान से प्रकाशवान्, या ऋत से सामर्थ्यवान् ऋभु कहाते हैं। प्रजापति ने मरणशील ऋभुओं—प्राणों को साधना से अमरकर लिया । तृतीय सवन में विभाग किया । ऋभु इन्द्र के प्रिय तेज हैं ।

जगत् छन्दः—अष्टाचत्वारिंशदक्षरा वै गायत्री । श० ६ । २ । २ । २३ ॥ आदित्याः जगतीं समभरन् । जै० उ० १ । १ । ८ । ६ ॥ जगती आदित्यानां पत्नी । गो० उ० २ । ९ ।

४८ अक्षर का जगती छन्द होता है । ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले विद्वान् आदित्य ब्रह्मचारी जगती का पालन करते हैं। वह ही उनकी शक्ति है ।

त्रिष्टुप्छन्दः—ऐन्द्रं त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम् । गो० उ० ४।४ वीर्यं वै त्रिष्टुप् । ऐ० १ । २१ ॥ आत्मा त्रिष्टुप् । ऐ० ६ । २ । १ । २४ ॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी । गो० उ० २ । ९ ॥ रुद्राः त्रिष्टुभं समभरन् । जै० उ० १।१८ । ५ ॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् । कौ० १६।७॥ त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का है । ४४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले विद्वान् रुद्र त्रिष्टुप् का पालन करते हैं । वही रुद्रों की शक्ति है । उनका आत्मा इन्द्र उसका देवता है ।

[४९] कालाग्नि का वर्णन ।

अभयकामोऽथर्वा ऋषिः । अश्विनौ देवते । विराड् जगती ।

२—३ पथ्या पंक्ती । तृचं सूक्तम् ॥

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (ते तन्वः) तेरे अग्निमय शरीर के (क्रूरम्[1]) छेदन भेदन सामर्थ्य को परमाणु, परमाणु अलग करडालनेवाले विशेष सामर्थ्य को (मर्त्यः) यह मरणधर्मा पुरुष (न आनंश) नहीं प्राप्त कर सकता । तू (कपिः)[2] कपि=अति कम्पनवान् होकर (तेजनं) अग्नि या ताप को अपने भीतर (बभस्ति) ऐसे धारण कर लेता है जैसे (गौः) गौ (स्वं जरायुः) अपनी जेर को खा जाती है ।

ग्रीफिथ—"मनुष्य तेरे शरीर में कभी कोई व्रण नहीं पाता । जैसे गाय जेर खा जाती है उसी प्रकार बन्दर सरकण्डा खा जाता है ।" यह अर्थ बड़ा हास्यास्पद, असंगत और अनर्थक है ।

सायण—हे अग्ने तेरे शरीर की तीक्ष्णता को मनुष्य नहीं पा सकता । तू शरीर शोषक होकर या बानर के समान चपल ज्वालावान् होकर (तेजनं) निःसार शव को जेर को—गायके समान जला देता है । अथवा—(कपिः बभस्ति तेजनं) आदित्य तेजन-अग्नि को अपने

[४९] १—'बिभस्ति' इति सायणसम्मतः । (द्वि०) 'मर्त्यं' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'तनुवै क्रूरंचकार' । (च०) 'पुनर्जन्म' इति तै० आ० ।

१. कृतेश्छः क्रू च । उणादि० पा० २ । २१ ॥ कर्तनसामर्थ्यं छेदन-सामर्थ्यम् ।

२. कम्पतेः सार्वधातुक इन् उणादिः ४।१४।४ यद्वा कम् उदकं शरीरं गतं रसं पिबति इति कपिः । सायणः ॥

भीतर कर लेता है । अथवा—हे अग्ने ! परमात्मन् ! तेरे क्रूर=छेदन भेदन सामर्थ्य को मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता । तू (कविः) सब को कंपाने वाला होकर (तेजनम्)[3] पाप को ऐसे खा जाता है । जला देता है, विनाश कर देता है जैसे गौ जरायु को ।

अथवा—(स्वं जरायु गौरिव) अपनी जीर्ण त्वचा या आवरण को जिस प्रकार सूर्य बार २ लील जाता है उसी प्रकार (कपिः) क=प्रजापति-हिरण्यगर्भ का पालक वह परमात्मा समस्त (तेजनं) ब्रह्माण्ड को (वभस्ति)[1] अपने प्रलयकाल में लील जाता है । इसलिये (मर्त्यः अग्नेः तन्वः क्रूरम् न आनंश) यह मनुष्य उस कालाग्नि परमेश्वर के छेदनभेदन सामर्थ्य तक नहीं पहुँच सकता ।

जरायुः शणाः । श० ६।६।२।१५ ॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा एतस्मात् यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्वमासीत् ते शणाः ॥ जिसमें प्रजापति हिरण्यगर्भ रूप में उस यज्ञरूप परमात्मा से उत्पन्न हुआ वह ऊपर का गर्भावरण=उल्व शण या जरायु नाम से कहा जाता है ।

मेष इ॒व॒ वै सं च॒ वि चो॒र्व॑१च्यसे यदु॑त्त॒रद्रा॒वुप॑रश्च॒ खाद॑तः ।
शी॒र्ष्णा शिरोऽप्स॒साप्सो॑ अ॒र्दय॑न्न॒ंशून् ब॑भस्ति॒ हरि॑तेभिरा॒सभिः॑ ॥२॥

भा०—प्रलयकाल की वह अग्नि किस प्रकार ब्रह्माण्ड को खा जाती

---

३. पाप्मा वै तेजनी । तै० ३ । ८ । १६ । २ ॥

१. बभस्तिरत्तिकर्मा इति यास्कः । निरु० ५ । १२ ॥

२—(प्र०)'त्वेषी वर्मि च इतरोर्वर्णयते' इति पैप्प०सं०। 'यदप्सरद्रूपरस्य खादति' इति का० । 'अप्सर रूपस्य' इति आप० । (तृ०) वच्चसावच्च एजयन् इति आप० 'गिरोप्स' (च०) 'अंशुम्' इति काठ० । 'गभस्ति' इति आप० । 'चोर्व्रच्यस यदुत्तरद्रावपरश्च' इति सायणसम्मतः पाठः ।

उसको स्पष्ट करते हैं। हे अग्ने! प्रलयकालाग्ने! परमात्मन्! तू (मेष इव) मेष=सूर्य के समान (उरु) इस विशाल ब्रह्माण्ड में (सं अच्यसे च वि अच्यसे च) संकुचित होता और विशेष या विविध रूप से फैल जाता है। जिस प्रकार (खादतः) खाते हुए पुरुष के (उत्तरद्रौ) ऊपर के जबाड़े में (उपरः=उपलः) नीचला जबाड़ा लग कर दोनों भोजन को चबाते हैं उसी प्रकार तुम भी इस द्यौ और पृथिवी दोनों पाटों के बीच में समस्त संसार को पीस कर खा जाते हो। और इस ब्रह्माण्ड के (शिरः) ऊपर के भाग को अपने (शीर्ष्णा) ऊपर के भाग से और (अप्ससा अप्सु) अपने समस्त व्यक्ति रूप सामर्थ्य से इस रूपवान् जगत् को (अर्दयन्) पीड़ित करता हुआ—पीसता हुआ (हरितेभिः आसभिः) अपने हरणशील संहारकारी तीव्र प्रलयकारी मुखों=विक्षेपकारी शक्तियों से (अंशून्) इन समस्त लोकों को (बभस्ति) खा जाता है, लील जाता है।

सायण ने यह मन्त्र शव को भस्म करनेवाले अग्नि के वर्णन में लगाया है। वास्तव में अग्नि का शव को भस्म करना, कालाग्नि के ब्रह्माण्ड को भस्म करने में दृष्टान्त रूप हो सकता है।

सौर मण्डल के खण्डप्रलय के समान ही महाप्रलय की कल्पना विद्वान् वैज्ञानिकों ने मानी है। अर्थात् उस समय सूर्य की ज्वालाएं बुझते दीपक के समान कभी बड़ी दूर तक फैलेंगी कभी बुझेंगी और फिर फैलेंगी। वे ज्वालाएं दूर पास के सब ग्रहों को भस्म करेंगी। वेद में उन ज्वालाओं को 'हरित आस' नाम से पुकारा है। यही प्रलय या अप्यय की रीति अध्यात्मक्षेत्र में आत्मा और उसके मन प्राण इन्द्रियों में होती हैं। वहां भी मेष=आत्मा। उत्तरद्रा, उपर=प्राण, अपान। अंशु=इन्द्रियगण, हरित-आस=सूक्ष्मप्राण हैं।

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इपिरा अनर्तिपुः ।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः ॥३॥

ऋ० १० । ९४ । ५ ॥

भा०— हे[1] अग्ने ! कालाग्ने ! (सुपर्णाः) सूर्य की ऊपर उठनेवाली वे ज्वालाएं ही (वाचम् अक्रत) यह वाणी उपदेश करती हैं, इस बात की सूचना देती हैं कि (आखरे) उनके आवासस्थान सूर्य में (कृष्णाः) कृष्ण=समस्त अपने ग्रह उपग्रहों को खेंचने में समर्थ और (इपिराः) गतिमान चिह्न धब्बे (अनर्तिपुः) तभी नाचते हैं । (यत्) जब (उपरस्य) ऊपर आये हुए मेघावरण की (निष्कृतिं) रचना को वे सुपर्ण शीघ्रगामी पतनशील वेग (नि नियन्ति) सर्वथा तोड़ डालती हैं, तब ही वे ज्वालाएं ही (सूर्य-श्रितः) सूर्य में आश्रय लेती हुई ही (पुरु रेतः दधिरे) बड़ा भारी तेज वीर्य प्रचण्ड ताप उत्पन्न करती हैं । इस मन्त्र के गूढ़ाशय को समझने के लिये सूर्यमण्डल में उठनेवाले ज्वालोद्रेक— (Perterbations या Prominences) ज्वाला पटलों की, और सूर्य में दिखाई पड़नेवाले काले धब्बों की वैज्ञानिक तत्वमीमांसा का स्वाध्याय करना चाहिए । देखो एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Art. Sun)

[५०] अन्नरक्षा के लिये हानिकारक जन्तुओं का नाश ।

अभयकामोऽथर्वा ऋषिः । अश्विनौ देवते । १ विराड् जगती । २-३ पथ्या पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

३-(तृ०) 'न्यान्नियन्ति', 'निष्कृतम्', 'सूर्यश्रितः' इति ऋ० ।

१-ऋग्वेदे अर्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिः । ग्रावाणो देवता ।

हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् ।
यवान्नेदद्वानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्या/य ॥ १ ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्विगणो ! धान्य के उत्पादक और रक्षक स्त्री पुरुषो ! (तर्दं) हिंसक जन्तु (समङ्कम्) विल में छिपने वाले मूसाजाति (आखुम्) और भूमि को खन कर रहनेवाले अन्न नाशक जन्तु को (हतं) मारो, (शिरः) उनके शिर को (छिन्तं) मार कर टुकड़े २ कर डालो जिससे उनका प्राण नष्ट हो जाय और वह जीता न रह जाय बल्कि उनकी (पृष्टीः) पीठ की पसुलियां (अपि) भी (शृणीतम्) तोड़ डालो। और हो सके तो (मुखम् अपि नह्यतम्) उसके मुख भी बांधो दो जिससे (यवान्) वे यवों को (न इत्) नहीं (अद्रान्) खा सकें। इस प्रकार (धान्याय) धान्य के लिये (अभयं कृणुत) अभय कर दो।

तर्दहै पतंङ्ग है जभ्य हा उपक्वस ।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनंदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित ॥२॥

भा०—(हे तर्द) हे हिंसक जन्तो ! (हे पतंग) हे टिड्डीदल ! हे (हे जभ्य) हिंसा योग्य या विनाश करने योग्य और (हे उपक्वस) हे टिड्डे आदि कीटो (ब्रह्मा इव) जिस प्रकार ब्रह्मा (असंस्थितम् हविः) असमाप्त या असंस्कृत हवि को नहीं लेता उसी प्रकार तुम लोग भी (असंस्थितं हविः) असंस्थित, अपरिपक्क, अधकची, अरक्षित अन्न को (अनदन्तः) न खाते हुए और (इमान् यवान्) इन जौ धान्यों को (अहिंसन्तः) हानि न पहुँचाते हुए (अप उदित) परे चले जाओ। धान्यरक्षक लोग उक्त कृषि-

[५०] १–'युवान्नेद ददादपि' इति सायणसम्मतः पाठः।

२–अपक्वसः (च०) 'अनुदन्तः' इति सायणसम्मतः। तर्दहेम पतङ्गहेम् अभ्या उपक्वसः अनदन्त इदं धान्य हिंसन्तोपदित [?]

नाशक जन्तुओं से खेती को बचावें और ऐसा प्रबन्ध करें कि वे उनको हानि न पहुँचा सकें ।

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे ।
य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरा-
स्तान्त्सर्वान् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भा०—हे (तर्दापते) हिंसकों के स्वामी ! हे (वघापते) कृषि नाशक जन्तुओं के मुख्य पति ! हे (तृष्टजम्भाः) तीक्ष्ण दाँतों वाले जन्तुओ ! (मे आ शृणोत) मेरा वचन सुनो । (ये आरण्याः) जो जंगली (व्यद्वराः) खास तौर पर खेती को खा जानेवाले, बड़े जानवर और (ये के च) जो कोई भी (व्यद्वराः स्थ) मेरी खेती को खानेवाले जन्तु, जैसे और जहां भी हों (तान् सर्वान्) उन सबों को (जम्भयामसि) हम विनाश कर डालें ।

[५१] पवित्र होकर उन्नत होने की प्रार्थना ।

शंतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । ३ वरुणः । १ गायत्री । २ त्रिष्टुप्
जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥　यजु० १९ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(प्रत्यङ्) भीतरी शुद्ध आत्मा (सोमः) सोम, जीव

३–(च०) व्यद्वराः, व्यध्वरा, व्यद्धुराः इति नाना पाठाः ।

[५१] १–(द्वि०) 'अतिद्रुतः' इति क्वचित् । 'अधिश्रुतः' इति पैप्प० सं० । 'अतिस्रुतः' इति यजु० । (प्र०) 'प्राङ्', 'प्रत्यङ्' इति च तै० ब्रा० ।

(वायोः) सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक प्रभु के (पवित्रेण) परम पावन स्वरूप के ध्यान से (पूतः) पवित्र होकर (अति-द्रुतः) संसार के दुःखों को अतिक्रमण करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। वही तब (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील प्रभु का (युज्यः) योग समाधि में मिलनेवाला (सखा) उसका परम मित्र बन जाता है। कश्चिद् धीरः प्रत्यग् आत्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। इति। क० उप० ४। १॥

आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्व/ः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥२॥

(प्र० द्वि०) यजु० ४। २॥ इत्यस्याः पूर्वार्धः। ऋ० १०। १७। १०॥

भा०—(अस्मान्) हम को (मातरः) समस्त विश्वका निर्माण करनेवाली (आपः) आप्त शक्तियां (सूदयन्तु) प्रेरित करें, सदा समर्थ बनावें। और (घृतप्वः) तेज से पवित्र करनेवाले तेजोमय सूर्य आदि पदार्थ (घृतेन) अपने घृत=प्रकाश से (नः) हमें सदा (पुनन्तु) पवित्र करें, हमारे शरीर मन और वाणी के मलों को शोधन करें। क्योंकि (देवीः) दिव्य शक्तियां ही (विश्वं) समस्त (रिप्रं) मल और पाप भाव को (प्रवहन्ति) नदियों के समान दूर बहा ले जाती हैं और धो डालती हैं। (आभ्यः इत्) इनमें स्नान करते ही मैं (शुचिः) शुद्ध पवित्र होकर (उत्) ऊर्ध्व गति को प्राप्त होकर सात्विक भाव में (आ-पूतः) सर्वथा पवित्र होकर (एमि) उस प्रभु को प्राप्त होऊँ।

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याऽ३श्चरन्ति ।
अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ३ ॥ ऋ० ७। ८९। ५॥

२—'मातरः शुचयन्त' इति पाठभेदः यजु०, ऋ०। (च०) 'पूतयेमि' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (वरुण) राजन् ! हे प्रभो ! (दैव्ये) दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (जने) पुरुष के प्रति (मनुष्याः) मनुष्य लोग (इदं यत् किं च) यह जो कुछ भी (अभिद्रोहं) अभिद्रोह, अनुचित विरोध (चरन्ति) कर बैठते हैं और यदि (अचित्या) विना जाने (तव धर्मा) तेरे बनाये नियमों को हम लोग (युयोपिम चेत्) न पालन करें तो भी हे देव ! (नः) हमें (तस्माद् एनसः) उस अपराध के कारण (मा रीरिषः) कष्ट न दे । इसी मन्त्र के आधार पर अज्ञान में किये गये बड़े बड़े अपराध भी कानूनन दण्ड न देकर क्षमा योग्य होते हैं । ईश्वर भी अज्ञान में किये कार्यों को अपराध नहीं गिनता । इसीसे भोगयोनि में किये हिंसादि कर्म भावी में नया प्रारब्ध नहीं पैदा करते ।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च त्रिंशत्]

[५२] तमोविजय और ऊर्ध्वगति ।

भागलिर्ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥
ऋ० १ । १९१ । ९ ॥

३—'मनुष्याश्चरामसि' 'अचित्यात् तव' इति ऋ० ॥

[५२]–१,२ एतयोर्ऋग्वेदे अगस्त्य ऋषिः । अबोषधिसूर्या देवता ।

१—'उदपप्तदसौ सूर्यः पुरुविश्वा निजूर्वन् । 'आदित्यः पर्वतेभ्यो' इति ऋ० । (द्वि०) 'निजूर्वन्' इति बहुत्र । 'विश्वानि जूर्वन्', (तृ०) 'आदित्यः पर्वतानधि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (दिवः) द्यौलोक, विशाल आकाश में (पुरः रक्षांसि निजूर्वन्) अपने आगे आये सब विघ्नकारी अन्धकारों और मेघों का नाश करता हुआ (उद् एति) उदित होता है उसी प्रकार यह जीव (सूर्यः) सब इन्द्रियों और शरीर का प्रेरक, विज्ञानवान् होकर (पुरः रक्षांसि निजूर्वन्) अपने आगे आये समस्त विघ्नकर तामस भावों, राक्षसी विचार, काम क्रोध आदि उन आचरणों को जो उसे आगे नहीं बढ़ने देते उसको जीर्णशीर्ण, छिन्न-भिन्न करता हुआ (दिवः उत् एति) उस तेजोमय ब्रह्म के प्रति उत्तम पद को चला जाता है। और वही (आदित्यः) सब प्राण शक्तियों को अपने भीतर लेने वाला, वशी, जितेन्द्रिय, ज्ञानी, सूर्य के समान (अदृष्ट-हा) उस अ-प्रत्यक्ष परलोक में भी गति करनेवाला होकर (विश्व-दृष्टः) विश्व=सर्वव्यापक प्रभु के दया दृष्टि से देखा जाकर (पर्वतेभ्यः) आवरणकारी मेघों के समान आवरणों से भी (उत् एति) ऊपर चला जाता है।

सूर्यपक्ष में—(विश्व-दृष्टः अदृष्टहा सूर्यः पर्वतेभ्यः उद् एति) समस्त प्राणियों के प्रत्यक्ष सूर्य अदृष्ट कष्टों का विनाशक होकर मेघों या पर्वतों के पीछे से उदय होता है।

नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत।
न्यू३र्मयो नदीनां न्य१दृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥

भा०—जब योगी का आत्मा आदित्य के समान समस्त तामस आवरणों से ऊपर उठ जाता है तब (गावः) जिस प्रकार शान्त मध्यान्ह में गौएँ विश्राम के लिये (गोष्ठे) गोशाला में (नि-असदन्) आ जाती हैं और विश्राम लेती हैं उसी प्रकार ये प्राण भी उस अपने आश्रयभूत गोष्ठ—आत्मा में ही विश्राम करते हैं। वे बाहर विषयतृष्णा में

२–(तृ०) 'निकेतयेजनानां' इति ऋ०।

नहीं भागती । और (मृगासः) विषयों को खोजनेवाली इन्द्रियें (नि-अविक्षत) सर्वथा भीतर ही निलीन हो जाती हैं । किस तरह से ? जैसे (नदीनां) वायुओं के शान्त हो जाने पर या वेग के शान्त हो जाने पर नदियों की (ऊर्मयः) विशाल तरंगें भी (निः) उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार ये प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियें भी (नि-अदृष्टाः) सर्वथा प्रत्यक्ष न होकर तन्मय, तल्लीन होकर (नि अलिप्सत) उसी आत्मा को प्राप्त करने या खोजने में लग जाती हैं ।

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्या दृष्टान् नि शमयत् ॥ ३ ॥

भा०—मैं (विश्वभेषजीम्) समस्त कष्टों का निवारण करनेवाली, (आयुर्ददं) दीर्घ जीवन को देनेवाली, (विपश्चितम्) ज्ञानमयी (श्रुतां) प्रसिद्ध या गुरुमुख से उपदेश द्वारा श्रुतिवचनों से श्रवण की गई (कण्वस्य) मेधावी पुरुष की उस (वीरुधम्) आत्मज्ञान रूप वल्ली को (आ-भारिषं) प्राप्त करूं । वह (अस्य) इस जीव के (अदृष्टान्) अदृष्ट धर्म और अधर्म से उत्पन्न भव-बन्धनों को (नि शमयत्) सर्वथा शान्त करे ।

[५३] रक्षा की प्रार्थना ।

बृहच्छुक्र ऋषिः । नाना देवताः । २–३ त्रिष्टुभौ । १ जगती । तृचं सूक्तम् ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु ।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥

३–(प्र०) 'आयुर्विदं' (तृ०) 'अहार्षं' इति पैप्प० सं० ।

[५३] १–(प्र०) 'मा इदं' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'त्वां पिपर्तु' (प्र०). 'त्वां इदं' इति तै० ब्रा० ।

भा०—(द्यौः) द्यौ और (पृथिवी च) (प्रचेतसौ) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (मे) मेरे लिये (इदम्) इस उत्तम फल को प्राप्त करावें या इस देह की रक्षा करें । (बृहन् शुक्रः) वह महान् प्रकाशमान प्रभु (दक्षिणया) अपनी ज्ञान और कर्म शक्ति से हमें (पिपर्तु) पालित पोषित करे । (स्वधा) यह स्वयं अपने को धारण करनेवाली चितिशक्ति (अनुचिकिताम्) उस प्रभु के दिये ज्ञान के अनुसार ही सत्य ज्ञान को प्राप्त करे । और (नः) हमें (सोमः) सोम (अग्निः) अग्नि और (सविता) सविता प्रेरक, (भगः च) और ऐश्वर्यवान् परमात्मा (पातु) सदा पालन करता रहे ।

द्यौः-पृथिवी=उत्तरारणि और अधरारणि या सूर्य पृथिवी के समान ऊपर नीचे की दोनों शक्तियाँ प्राण, अपान ।

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥२॥

भा०—(नः) हमारा (प्राणः) प्राण (पुनः) फिर भी (एतु) प्राप्त हो जाता है (आत्मा पुनः एतु) हमारा (आत्मा) जीव हमें (पुनः एतु) पुनः भी प्राप्त हो जाता है । (चक्षुः पुनः) यह आँख और उसके सहयोगी अन्य इन्द्रिय भी फिर २ प्राप्त हो जाती हैं । (नः पुनः एतु) यह प्राण भी हमें पुनः प्राप्त हो जाता है । क्यों ? क्योंकि (नः) हमारा (वैश्वानरः) समस्त नेता प्राणों का स्वामी वैश्वानर, आत्मा (अदब्धः) कभी भी नहीं मरता । प्रत्युत वही (तनूपाः) समस्त शरीर की रक्षा करता है और (विश्वा दुरितानि) समस्त पाप कर्मों को जानता हुआ भी निराश न होकर (अन्तः तिष्ठाति) भीतर धैर्यवान् होकर विराजता है ।

२—'पुनर्मनः पुनरायुर्म आगत्' इति पैप्प० सं० ।

जीवस्य चेन्धनाग्नेश्च सदा नाशो न विद्यते ।
समिधामुपयोगान्ते सन्नेवाग्निर्न दृश्यते ॥
प्राणान् धारयते योऽग्निः स जीव उपधार्यताम् ।
न जीवनाशोऽस्ति हि देहमध्ये मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ॥
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥२७॥

(महाभारते, शान्ति० अ० १८५)

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद् विरिष्टम् ॥३॥

यजु० २ । २४ ॥

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज और ब्रह्मवर्चस से, (पयसा) उत्तम पुष्टिकारक बल से, (तनूभिः) उत्तम शरीरों से और (शिवेन) शुभ (मनसा) मन से (सं, सं, सं अगन्महि) भली प्रकार युक्त रहें। (त्वष्टा) सर्वोत्पादक प्रभु (अत्र) इस लोक में (नः) हमें (वरीयः) सब से उत्तम, वरण करने योग्य धन, ज्ञान, यश (कृणोतु) प्राप्त करावे और (यत्) जो (न तन्वः) हमारे शरीर का (विरिष्टम्) विशेष प्रकार से पीड़ित भाग हो उसको (अनु मार्ष्टु) स्वयं अनुमार्जन करे, अनुकूलता से रोग रहित करे। अर्थात् प्रथम हम अपने अंगों को साफ़ रखें और तब ईश्वर भी हमारे शरीरों को रोग से मुक्त रखे।

३–(द्व० च०) 'त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्' इति यजुः० । 'त्वष्टा सुदत्रा वरिवः कृ'—इति पैप्प० सं० ।

[५४] राजा की नियुक्ति और कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्नीषोमौ देवते । अनुष्टुभः । तृच सूक्तम् ॥

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

भा०—(वृष्टिः तृणम् इव) जिस प्रकार वर्षा तृण=घास को बढ़ाती है उसी प्रकार हे इन्द्र ! राजन् ! (अस्य) इस राष्ट्र के (क्षत्रम्) क्षात्र-बल को और (महीम्) बड़ी भारी (श्रियं) श्री, लक्ष्मी को बढ़ा । (इदम्) इसी प्रयोजन से (तत्) उस उत्तम पद पर (उत्तरम्) अन्य मनुष्यसमाज से उत्कृष्ट (इन्द्रम्) इन्द्र, राजा को (युजे) राज्यकार्य में नियुक्त करता हूँ और (अष्टये) उत्तम फलों को प्राप्त करने और उत्तम रूप से राष्ट्र पर वश करने के लिये (इन्द्रम्) राजा को (शुम्भामि) अलंकृत करता हूँ ।

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।
इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुत युज उत्तरम् ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्नि-सोमौ) अग्नि-सेनापति, और सोम=पुरोहित ब्राह्मण गण (अस्मै) इसी राजा के उपयोग के लिये (रयिम्) अपने ज्ञान और बल को (धारयतम्) धारण करो और (इमम्) इस राजा को (राष्ट्रस्य अभीवर्गे) राष्ट्र की रक्षा के कार्य में (कृणुतम्) समर्थ करो और इसी प्रयोजन के लिए मैं राष्ट्र का पुरोहित उसको (उत्तरम्) अन्यों से उत्कृष्ट जान कर (युजे) इस पद पर नियुक्त करता हूँ ।

---

[५४] १–(प्र०) 'इद तम्' इति ह्विटनिकामितः । 'युज' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'यस्य क्षत्र'–(द्वि०) 'वर्धयन्' (तृ०) 'अहो राष्ट्र' इति पैप्प० सं० ।

सर्वन्धुश्चासंबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

प्र० द्वि० अथर्व० १५ । २ ॥ प्र० द्वि०, ६ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरोहित ! (सबन्धुः च असबन्धुः च) चाहे सगोत्री या कोई असगोत्री (यः अस्मान् अभि-दासति) जो हमको विनाश करना चाहता है तू (मे सुन्वते) मेरे राष्ट्र का संचालन करते हुए (यजमानाय) सबको सुव्यवस्थित करनेवाले राजा के लिये (तं सर्वम्) उस सब को (रन्धयासि) वश कर । इसी प्रकार पुरोहित राजा के प्रति भी ऐसा ही कहे ।

[५५] उत्तम मार्गों से जाने और सुखसे जीवन व्यतीत करने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । १ विश्वेदेवा देवताः, २, ३ रुद्रः । २ त्रिष्टुप् । १, ३ जगत्यौ ।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥१॥

प्र० द्वि० अथर्व० ३ । १५ । २ प्र० द्वि० ॥

भा०—(ये) जो (देवयानाः) विद्वानों के जाने योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थानः) ज्ञानमार्ग (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज्ञान और कर्म, परलोक और इहलोक, ब्रह्म और प्रकृति और राजा प्रजा के

[५५] १–(प्र०) 'ये चत्वारः पथयो' (द्वि०) 'वियन्ति' (तृ०) 'तेषां-प्रज्यानिमाजितिमावहात्' (च०) 'नो देवाः परिदत्तेह' इति तै० सं० । 'दत्तेह' इति सायणः ।

(अन्तरा) बीच में (सं-चरन्ति) चल रहे हैं (तेषां) उनमें से (यतमः) जो भी (अज्यानिं) हानिरहित समृद्धि, आत्म रक्षाको (वहाति) प्राप्त कराता है (तस्मै) उस मार्ग के लिये (सर्वे देवाः) सब विद्वान् लोग (मा) मुझे (इह) संसार में (परि धत्त) पुष्ट करें, बल दें, उस उत्तम मार्ग में चलने को कटिबद्ध करें।

ब्रह्मज्ञान का मार्ग सबसे उत्तम है। "इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः।" इसी शरीर में रह कर आत्मज्ञान कर लिया तो ठीक, नहीं तो बड़ा भारी विनाश हो जाता है ! क० प०।

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

भा०—काल पर विचार करके उससे उपस्थित वि-पत्तियों से बच कर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करने का उपदेश करते हैं। (ग्रीष्मः हेमन्तः शिशिरः वसन्तः शरद् वर्षाः) ग्रीष्म, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और वर्षाकाल ये छः ऋतु हैं। हे छहों ऋतुओ ! आप (नः) हमें (स्विते) सुख से गुजरनेवाले जीवन में ही (दधातु) रखो। कभी कष्ट में न डालो। (नः) और हमारे (गोषु) गवादि पशुओं और (प्रजायां) प्रजा-पुत्र आदि में भी (आ भजत) सुख का वितरण करो। हम सदा (वः निवाते) प्रबल वायु के झंकोरों या उपद्रवों से रहित (शरणे) छहों ऋतुओं के अनुकूल घर में (स्याम) रहें, निवास करें।

२—'हेमन्त उत नो वसन्तः'। (द्वि०) 'सुवितं नो अस्तु'। (तृ० च०) 'तेषां ऋतूनां शतशारदानां निवात एषामभये स्याम'। इति तैं० स०। (द्वि०) 'शिवा वर्षा अभया चरन् नः'। (च०) 'शरणे वसेम' इति पा० गृ० सू०।

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ परिवत्स॒राय॑ संवत्स॒राय॑ कृणुता बृ॒हन्नमः॑ ।
तेषां॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ३ ॥

(तृ० च०) ऋ० ३ । १ । १२ तृ० च० ॥

भा०—(इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय) इदावत्सर, परिवत्सर और संवत्सर के लिये (बृहत् नमः कृणुत) बहुत, प्रचुर अन्न उत्पन्न करो । (तेषां) उन (यज्ञियानां) यज्ञ करने वाले पुरुषों की (सु-मतौ) शुभ कल्याणकारिणी बुद्धि में और (सौमनसे) उत्तम मनः संकल्प से उत्पन्न होनेवाले (भद्रे अपि) कल्याण सुख में (स्याम) सदा रहें ।

प्रभव से आदि लेकर प्रत्येक पंचयुगो के, वर्षों में क्रम से संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर ये पांच संज्ञाएं होती हैं । अथवा— अग्निर्वा संवत्सरः । आदित्यः परिवत्सरः । चन्द्रमा इद्वत्सरः । वायुरनुवत्सरः । तै० ब्रा० १ । ४ । १० । १ ॥ अग्नि, आदित्य और चन्द्रमा इनके लिये हम नमः करते हैं अर्थात् सदा ध्यान रखते हैं । जिससे ठीक ठीक काल का ज्ञान हो और ठीक ठीक समय पर उचित यज्ञों का विधान कर सकें । और विद्वानों की शुभ मति और उत्तम कल्याणकारी सुख में हम सदा रहें ।

[५६] सर्प का दमन और सर्पविष-चिकित्सा ।

शंतातिर्ऋषिः । १ विश्वेदेवाः २, ३ रुद्रो देवता । १३ उष्णिग्-गर्भा २ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

मा नो॑ देवा॒ अहि॑र्वधी॒त् सतो॑कान्त्स॒हपू॑रुषान् ।
संय॑तं॒ न वि ष्प॑रद् व्यात्तं॒ न सं य॑म॒न्नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ १ ॥

३–(प्र०) 'इद्वत्सराय' । (च०) ज्योगजीता अहताः स्याम' इति तै० सं० ।

१–(द्वि०) 'सहपौरुषान्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'विस्फुरत्' इति सायणाभिमतः ।

भा०—हे (देवाः) विष को दूर करनेवाले विद्वान् लोगों ! (अहिः) सांप (स-तोकान्) हमारी सन्तानों और (सह-पूरुषान्) अपने पुरुषों सहित (नः) हमें (मा वधीत्) न मारे, हमें न काटे या हमारी मृत्यु का कारण न हों । (देव-जनेभ्यः नमः) देवजन—विषवैद्य या सर्प विष के निकालनेवाले चतुर पुरुषों के इस शिल्प का बड़ा आदर करते हैं कि जब वेसांप का मुख (संयतं) बन्द करते हैं तब (न विष्परत्) वह उसे खोल नहीं सकता और यदि (व्यात्तं) सांपने मुंह खोल लिया तो फिर वह (न सं-यमत्) बन्द नहीं कर सकता ।

नमो॑स्त्वसि॒ताय॒ नम॒स्तिर॑श्चिराजये ।
स्व॒जाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमो॒ नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ २ ॥

भा०—(असिताय नमः) असित—कालेनाग का भी वश करने का उपाय है। (तिरश्चि-राजये नमः) पीठ पर तिरछी धारियोंवाले सर्प का भी वश करने का उपाय है । (स्वजाय बभ्रवे नमः) स्वज=शरीर से लिपट जानेवाले या स्वयं ही माता के पेट से जीवित शिशु के रूप में निकलने वाले सर्प का भी वश करने का उपाय है । इन विशेष हुनरों के लिये (देवजनेभ्यः नमः) ऐसे उन सर्पों के वशोपाय जानने हारे विद्वानों का हम स्वयं आदर करें ।

सं ते॑ हन्मि द॒ता द॒तः सम्रु॑ ते॒ हन्वा॒ हनू॑ ।
सं ते॑ जि॒ह्वया॑ जि॒ह्वां सम्वा॒स्नाह॑ आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

भा०—सांप को पकड़ने का उपाय बतलाते हैं । हे सर्प ! (ते दता दतः सं हन्मि) तेरे ऊपर के दांतों को नीचे के दांतों से सटा दूं । और

२–'नमोऽहये' इति पैप्प० सं० ।
३–'सं ते ददामि दद्भिर्दतः', (द्वि०) 'सं ते' इति पैप्प० सं० ।

(ते हन्वा हनू सम्) तेरे ठोड़ी को ठोड़ी से सटा दूं । (जिह्वया ते जिह्वाम् सम्) तेरी जीभ से जीभ को सटा दूं, इस प्रकार की रीति से मैं (आस्ना) मुख से (आस्यम्) सांप के मुख को (सम् हन्मि) अच्छी प्रकार भींचूं और इस प्रकार सर्प को वश कर लेता हूं ।

[५७.] व्रणचिकित्सा ।

शंताति ऋषिः । १-२ रुद्रो देवता । १,२ अनुष्टुभौ । ३ पथ्या बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥

भा०—(इदम् इत्) यह ही (वा उ) निश्चय से वह (भेषजम्) ओषधि है, (इदम्) यह (रुद्रस्य भेषजम्) रुद्र=वैद्य की उपदेश की हुई औषध है (येन) जिससे (एक-तेजनम् इषुम्) एक काण्डवाले और (शत-शल्याम्) सैकड़ों फलेवाले (इषुम्) बाण को भी (अप ब्रवत्) बाहर खैंच लिया जाता है ।

अध्यात्म में रुद्र=परमात्मा का उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान ही इस भव रोग की एकमात्र औषध है जिससे एकतेजना—एक काण्डवाले और शतशल्य तीर को दूर किया जा सकता है । यह देह या जीवन ही एक काण्डवाला बाण है । जिसमें सैकड़ों व्याधियां ही शतशल्य हैं अथवा जीवन के सौ वर्ष ही शतशल्य हैं । उस जन्म या भवरोग की ओषधि भगवान् का उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान ही ओषधि है ।

[५७] १–(च०) 'उपब्रवत्' इति सायणाभिमतः ।

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (जालाषेण) जल से (अभि सिञ्चत) स्नान कराओ (जालाषेण उपसिञ्चत) जल से ही व्रण आदि को धोओ । (जलाषम्) जल ही (उग्र-भेषजम्) तीव्र रोगनाशक पदार्थ है । हे परमात्मन् ! (तेन) उस जल के द्वारा ही (जीवसे) सुखमय जीवन के लिये (नः) हमें (मृड) सुखी कर । अध्यात्म में—'ज-लाष' प्राणियों का एकमात्र अभिलाषा का विषय=परम ब्रह्मसुख ।

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत् ।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥३॥

ऋ० १० । ५९ । ८ । प० च० (एपं० पं०) १० पं० पं० ॥

भा०—(नः शं च) हमें शान्ति प्राप्त हो और (मयः च) सुख प्राप्त हो । (नः) हमारा (किं चन) कोई भी अंग (मा आममत्) रोग पीड़ित न हो । (रपः) पाप और पाप का फल दुःख, सब को हम (क्षमा) सहन करने और उसको वश करने में समर्थ हों । (नः) हमारे (विश्वम्) समस्त पदार्थ (भेषजम् अस्तु) दुःखनिवारक हों । (सर्वं नः भेषजम् अस्तु) हमारे सब पदार्थ रोगनाशक हों । अथवा विश्वं=विश्वमय और (सर्वं) सर्वमय (शर्व) परमात्मा सब भव रोगों को शान्त करे ।

२–(तृ० च०) 'जालाशे भद्रं भेषजं तस्यो नो धेहि जीवसे' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'मो षु ते' । द्यौः पृथिवी क्षमा रपा' इति ऋ० ।

[५८] यश की प्रार्थना ।

यशस्कामोऽथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता बृहस्पतिश्च । १ जगती । २ प्रस्तार-पंक्तिः । ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥१॥

भा०—(इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (मघवान्) सब विभूतियों का स्वामी है, वह (मा) मुझे (यशसं कृणोतु) यशस्वी बनावे । (उभे द्यावापृथिवी) दोनों सूर्य और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान (मा यशसं कृणोतु) मुझे यशस्वी बनावें । (देवः सविता) सब का प्रेरक सूर्य देव भी (मा यशसं कृणोतु) मुझे यशस्वी बनावे । और (अहम्) मैं (दक्षिणायाः) दक्षिणा के (दातुः) देनेवाले पुरुष का (प्रियः स्याम) प्रिय होकर रहूँ ।

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) परमेश्वर (द्यावापृथिव्योः) आकाश और पृथिवी के बीच (यशस्वान्) सर्वशक्तिमान है और (यथा) जिस प्रकार (आपः ओषधीषु) जल सब ओषधियों में (यशस्वतीः) बल-शालिनी

(प्र०) 'मे इन्द्रो मघवा' । (द्वि०) यशसं समा वरुणो वायुरग्निः । 'दक्षिणाया स्यामहम्' । (च०) 'धातु' इति सायणाभिमतः । इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ० च०) 'यथा विश्वेषु देवेषु एवं देवेषु यशसः स्याम' इति पैप्प० सं० ।

हैं। (एवा) इसी प्रकार (विश्वेषु देवेषु) समस्त विद्वानों में और (सर्वेषु) सब जीवों में (वयं) हम (यशसः) यशस्वी और बलवान् (स्याम) हों।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अथर्व० ६ । ३६ । ३ ॥

भा०—देखो [का० ६ । सू० ३९ । मं० ३ ।]

[५९] गृह-पत्नी के कर्त्तव्य और पशुरक्षा और गोपालन।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत मन्त्रोक्ता देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ।

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

भा०—हे (अरुन्धति) अरुन्धति ! अरोधनशीले ! सब को मुक्त करनेहारी, सुखकारिणी गृहपत्नि ! (प्रथमम्) पहले (त्वं) तू (अनडुद्भ्यः) बैलों (धेनुभ्यः) गायों और (अधेनवे वयसे) गाय के अतिरिक्त पांच बरसतक के बड़े बछड़ों और (चतुष्पदे) और चौपायों के लिये (शर्म यच्छ) सुख या सुखदायी रहने का घर या शाला बना दे। और उनको पृथक् २ शालाओं में रख। बैलों, गौओं, बड़े बछड़ों और अन्य पशुओं की अलग २ शालाएं बनायें। छोटे बछड़े तो माता के साथ रह सकते हैं।

---

[५६] १–(प्र०) '-भ्यो नः', इति पैप्प० सं०।

शर्म॑ यच्छत्वोष॑धिः स॒ह दे॒वीर॑रुन्ध॒ती ।
कर॑त् पय॑स्वन्तं गो॒ष्ठम॑य॒क्ष्माँ उ॒त पूरु॑षान् ॥ २ ॥

भा०—(अरुन्धती) घर की स्वामिनी (देवीः सह) और घर की सहेली स्त्रियों के साथ मिल कर (ओषधिः) ओषधि=अन्न आदि जड़ी बूटियों के प्रयोग से (शर्म यच्छतु) सब को सुख प्रदान करे। और पशुओं को भी हरा चारा दे। और (गोष्ठम्) गोशाला को (पयस्वन्तं करत्) पुष्टिकारक दूध और जल से सम्पन्न करे। (उत) और सब पदार्थ स्वच्छ रखे जिससे (पूरुषान्) घर के और पुरुषों को भी (अयक्ष्मान् करत्) राजयक्ष्मा से रहित नीरोग करे। अर्थात् घर की स्त्री ही घर के पशुओं और मनुष्यों, बालकों के लिये भोजन आच्छादन और ओषधि आदि का उपचार करे।

वि॒श्वरू॑पां सु॒भगा॑म॒च्छाव॑दामि जीव॒लाम् ।
सा नो॑ रु॒द्रस्या॒स्तां हे॒तिं दू॒रं न॑यतु॒ गोभ्यः॑ ॥ ३ ॥

भा०—हम (विश्व-रूपाम्) नाना प्रकार से समस्त पदार्थों को उत्तम रूप से बनानेवाली वा उनको निरीक्षण करनेवाली (जीवलाम्) सब को जीवन प्रदान करनेवाली (सुभगाम्) सौभाग्यशील, ऐश्वर्यवाली स्त्री को हम लोग (अच्छा वदामसि) बड़ा उत्तम कहते हैं। (सा) वह आनेवाले (रुद्रस्य हेतिम्) रुलानेवाले, रोग आदि कष्टदायक और हिंसक पदार्थों के (हेतिं) शस्त्र, आघातकारी आयुध को (नः (गोभ्यः) हमारी गौओं से (दूरं नयतु) दूर करे।

२—'सहदेवी' इति ह्निटनिकामितः ।

[६०] कन्यादान और स्वयंवर ।

अथर्वा ऋषिः । अर्यमा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒यमा या॑त्यर्य॒मा पु॒रस्ता॒द् विषि॑तस्तुपः ।
अ॒स्या इ॒च्छन्न॒ग्रुवै॒ पति॑मु॒त जा॒याम॒जान॑ये ॥ १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अर्यमा) कन्या का दान करनेवाला पुरुष (पुरस्तात्) अपने समक्ष (विपित-स्तुपः) नाना स्तुति योग्य गुणों को प्रकट करता हुआ (अस्यै) इस अपनी (अग्रुवै) कन्या के लिये (पतिम् इच्छन्) पति के प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ (उत) और (अजानये) विना पत्नी के पुरुष के लिये योग्य (जायाम्) पुत्रोत्पादक भार्या को प्राप्त कराने की इच्छा करता हुआ (आयाति) आता है ।

इस सूक्त में—'अर्यमा इति तम् आहुर्यो ददाति । तै० १ । १ । २ । ४ ॥ दाता या कन्या का प्रदाता पुरुष अर्यमा कहाता है ।

अश्र॑मदि॒यम॑र्यम॒न्नन्या॒सां सम॑नं य॒ती ।
अ॒ङ्गो न्व॑र्यम॒न्नस्या॑ अ॒न्याः सम॑न॒माय॑ति ॥ २ ॥

भा०—हे (अर्यमन्) हे कन्या के दान करने हारे ! उसके पिता भ्राता आदि पुरुष ! (इयम्) यह कन्या (अन्यासां) अन्य अपनी सखी, बहनों आदि के (समनं) सम्मान को (यती) प्राप्त करती हुई (अश्रमत्) विद्या आदि के अभ्यास और ब्रह्मचर्य व्रतपालन में श्रम करती रही है । (अङ्ग उ) हे (अर्यमन्) अर्यमन् ! कन्यादातः ! (अन्या.) और

---

[६०] –१(द्वि०) 'विषितस्तुपः (=विषतस्तुकः) इति पैप्प० सं० । 'तस्तुपः' इति क्वचित् । (तृ०) 'सर्वेच्छायद् (=सर्वेच्छेद्) इति पैप्प० सं० ।
२–'शमन'-इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०)–'न्वस्यार्यमन्' इति पैप्प० सं० ।

अन्य सखियां भी (अस्याः) इसके (समनम्) संमान को (आयति) प्राप्त होती हैं ।

अथवा—(इयम् अन्यासं । समनं यती अभ्रमत्) यह अन्यों के समन=पति संगमन, पति मिलाप के अवसर पर जाती रहीं और अब (अन्याः अस्याः समनम् आयति) और सखियां इसके पति-लाभ के अवसर पर आवें ।

समनं, संमननात् सम्माननाद्वा । (निरु० अ० ७ । ४ । ३ ॥)

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।
धातास्या अग्रुवे पतिं दधातु प्रतिकाम्य/म् ॥ ३ ॥

भा०—(धाता) धारण, पालन करने वाला या उत्पादक परमेश्वर जिस प्रकार (पृथिवीम्) पृथिवी को धारण करता है और (उत धाता) और धाता ही (द्याम् सूर्यम्) प्रकाशमान सूर्य को भी धारण करता है । इसी प्रकार (धाता) परिपालक, संरक्षक पिता (अस्यै अग्रुवै) इस स्वयंवरा कन्या के लिये (प्रति-काम्यम्) इसके प्रति अभिलाषा करनेवाले, इसके प्रिय (पतिम्) पति को (दधातु) प्राप्त करे ।

[६१] ईश्वर का स्वतः विभूति-परिदर्शन ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रोदेवता । त्रिष्टुभः, २-३ भुरिजौ । तृचं सूक्तम् ॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥१॥

३–(तृ०) 'धातास्याग्रुवै पतिं ददातु' इति पैप्प० सं० ।

[६१] १–'मह्यं सूर्योऽभरत् ज्योतिषा गाम्' (तृ०) 'मां देवा अनु विश्वे समोता' (च०) 'व्यचो धात्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(आपः) सब लोक या समस्त प्रजाएं या जल (मह्यम्) मेरे निमित्त (मधुमत्) मधुरता–अमृत युक्त रस को (आ-ईरयन्तां) प्राप्त करावें अथवा (आपः) आप्त पुरुष मेरे निमित्त (मधुमत्) ब्रह्ममय ज्ञान का उपदेश करें। और (सूरः) सबका उत्पादक, प्रेरक सूर्य या परमात्मा और विद्वान् (मह्यम्) मेरे निमित्त (ज्योतिषे) सर्व पदार्थों के प्रकाशित करने के लिये अपनी ज्योति को (अभरत् कम्) निश्चय से धारण करें। (उत) और (विश्वे) समस्त (तपोजाः) तप से उत्पन्न होने वाले तपस्वी, (देवाः) विद्वान् पुरुष और (सविता) सूर्य के समान (देवः) विद्वान् आचार्य (मह्यं) मुझे (व्यचः) सर्वव्यापक, ब्रह्मज्ञान का या विशेष ज्ञातव्य ज्ञान का (धात्) प्रदान करें या धारण करावें।

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥ २ ॥

भा०—(अहम्) मैं ही (पृथिवीम्) इस विशाल पृथिवी को (उत द्याम्) और द्यौलोक को (विवेच) पृथक् २ थामें रखता हूं। और (अहम्) मैं (साकम्) एक साथ ही (सप्त) सात (ऋतून्) गतिशील प्राणों को (अजनयम्) अपने सामर्थ्य से इस शरीर में उत्पन्न करता हूं। (सत्यम् अनृतं यत्) सत्य क्या है और असत्य क्या है, यह जो कुछ भी है उसको (अहं वदामि) मैं ही ठीक २ बतलाता हूँ। और (दैवीम्) ज्ञानमयी, विद्वानों की (वाचं) वाणी को (परि विशः) प्रजा के भीतर भी (अहं) मैं ही बतलाता हूं, उपदेश करता हूं। अर्थात् यह सब परमात्मा ही करता है। वही इन सब सामर्थ्यों का धारक है।

२–(प्र०) 'अहं दाधार' इति पैप्प० सं०। 'अहमस्तम्भाम्' इति का० सं०। (द्वि०)'अहं सिन्धून् ससृजे' इति पैप्प० सं०। (तृ० च०) 'अहं वाचं परि सर्वा बभूव य इन्द्राग्नी असनं सखायौ' इति काठ०।

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

भा०—(अहं) मैं ईश्वर ही (पृथिवीम्) पृथिवी को (जजान) प्रकट करता हूं, उत्पन्न करता हूं। (उत) और (द्याम्) द्यौःलोक को भी (जजान) प्रकट करता हूं। (अहं) मैं ही (ऋतून्) गतिशील (सप्त सिन्धून्) सात प्राण, प्रवाहों को भी (अजनयम्) प्रकट करता हूँ, उत्पन्न करता हूं।[1] और (सत्यम् यद्) सत्य, परमार्थ सत् क्या है ? और (अनृतम्) व्यवहार में असत् एवं विनश्वर, अध्रुव ध्वंसयोग्य असत्य क्या है यह सब भी ठीक २ (अहं वदामि) मैं ही उपदेश करता हूं। और (सखायौ) समानख्यान, समान रूप से ख=इन्द्रियों में अय=गति करने वाले (अग्निषोमौ) अग्नि और सोम, सूर्य और चन्द्र, प्राण और अपान इन दोनों को मैं आत्मा ही (अजुषे) सेवन करता हूं। इस सूक्त की गीता के 'विभूति-योग' नाम अध्याय से तुलना करनी चाहिये ।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च त्रिंशत्]

[६२] आभ्यन्तर शुद्धि का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत मन्त्रोक्ता देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः ।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥ १ ॥

३–'(द्वि०) 'अहं वाचस्पतिः सर्वाभि षिञ्च अह विनाज्म पृथिवामुत द्यां अह ऋतून् सृजे सप्त सावम् । अह वाचं परि सर्वां बभूव योऽग्निषोमा विदुषे सखायुः । इति पैप्प० सं० ।

[६२] १–'रश्मिभिर्मा' इति तै० आ० ।

भा०—(वैश्वानरः) वैश्वानर, सूर्य और अग्नि (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे। और (वातः प्राणेन) वात, वायु या प्राण क्रिया द्वारा हमारे शरीर को पवित्र करे। और (इषिरः) सबका प्रेरक वायु अपने (नभोभिः) अन्तरिक्ष प्रदेशस्थ वायुगत मेघों द्वारा हमें पवित्र करे। और (ऋतावरीः) जल से पूर्ण (पयस्वतीः) पुष्टिकारक रससे पूर्ण (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आस्मान और ज़मीन दोनों (यज्ञिये) यज्ञ=दान क्रिया में या परस्पर संगत होकर उपकार करने में समर्थ होकर (नः) हमें (पुनीताम्) पवित्र करें।

वैश्वानरीं सूनृतामा रंभध्वं यस्या आशांस्तन्वो/ वीतपृष्ठाः।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

यजु० १९ । ४४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! (वैश्वानरीम्) उस ईश्वर विषयक (सूनृताम्) शुभ सत्यमयी वाणी देवी को (आरभध्वम्) प्रारम्भ करो उसका नित्य अभ्यास करो (यस्याः) जिसकी (वीतपृष्ठाः) प्रकाशमय पृष्ठवाली (आशाः) दिशाएं, (तन्वः) उसके शरीर हैं अर्थात् जिनका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है। (तया) उस वेदवाणी से ही (सधमादेषु) एकत्र आनन्द प्राप्त करने के अवसरों में (गृणन्तः) उपदेश करते हुए हो (वयं) हम लोग (रयीणाम्) सर्व सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

२–(प्र०, द्वि०) 'वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद् यस्यामिमा बह्व्यः स्तन्वो वीतपृष्ठाः तया मदन्तः सधमादेषु' इति यजु०। (द्वि०) 'यस्य', 'इमावह्वयस्तन्वो वीत–' इति-तै० ब्रा०। (तृ०) 'मदन्तः' इति तै० सं०। (प्र०) 'वैश्वदेव्यम्' (द्वि०) 'शुन्धा भवन्त शुचयः पावकाः',–'न्त ससद आदयेम' [?] इति पैप्प० सं०।

वैश्वानरीं वर्चस आ रंभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अथर्व० १२ । २ । २८ प्र० द्वि ॥

भा०—(वैश्वानरीं) उस परमात्मा सम्बन्धी वेदवाणी को हे विद्वान् पुरुषो! (शुचयः) मन और शरीर से शुचि=पवित्र होकर (पावकाः) औरों को पवित्र करने में समर्थ होकर (शुद्धा भवन्तः) और शुद्ध होकर (वर्चसे आ रभध्वम्) बल वीर्य प्राप्त करने के लिये अभ्यास किया करो। और (इह) इस संसार में (इडया) अन्न से (सध-मादं मदन्तः) एक ही साथ हर्ष उत्सव का आनन्द लेते हुए हम सब (ज्योक्) चिरकाल तक (उत्-चरन्तम्) ऊपर उठते हुए (सूर्यम्) सूर्य को (पश्येम) देखते रहें। शुद्ध पवित्र होकर वेद का अभ्यास करें परस्पर मिलकर अन्न का भोग करें। और दीर्घजीवन वितावें।

[६३] अविद्या-पाश का छेदन ।

द्रुहण ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । अग्निः । १ अतिजगतीगर्भा, ४ अनुष्टुप्, २-३ जगत्यौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् ।
तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥१॥

यजु० १२ । ६५ ॥

३—'वैश्वदेवीं सूनृतामारभध्वम्' इति यास्क दुर्गा०। (प्र०) 'वैश्वानर्य'— 'वर्चसारभध्वं' (तृ०) 'हेडसध' इति पैप्प० सं० ।

[६३] १—(द्वि०) 'अविचृत्यम्' (च०) 'अनमीवं पितुमद्धि प्रसूतः' इति पैप्प० सं० । (प्र० द्वि०) 'य......पाशं' (द्वि०) 'अविचर्त्यं' (तृ०) 'तं ते', 'आयुषो न मध्यात्—' (च०) 'अथैतं पितुमद्धि प्रसूतः' इति यजु० । '—षो नोमध्ये' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पापी पुरुष ! (ते निर्ऋतिः) निरुद्ध-ऋति अर्थात् सत्यगति या ज्ञानमय आचरण से शून्य, अविद्याने (देवी) तुझे लुभानेवाली होकर (यत् दाम) जिस बन्धन को (ते) तेरी (ग्रीवासु) गर्दनों में (आ बबन्ध) बांध रखा है और (यत्) जो (अ-विमोक्यं) सहज में नहीं छूटता। उसको भी मैं (ते) तेरी (आयुषे) आयु (वर्चसे) तेज और (बलाय) बल वृद्धि के लिये (वि स्यामि) काटकर दूर करता हूं। तू इस प्रकार (प्रसूतः) उत्कृष्ट मार्ग में प्रेरित होकर अथवा उत्कृष्ट विद्यायोनि से उत्पन्न होकर (अदोंमदम्) अमुक-परलोक में हर्ष सुखदायक (अन्नम्) इस ज्ञानमय अन्न, परम सुख का (अद्धि) उपभोग कर।

सायण ने—'अदः । मदम् ।' इस प्रकार छेद किया सो असंगत है। अविद्या के पाशों को काटने के लिये गुरु के पास व्रती होकर विद्याभ्यास करे और ब्रह्म का ज्ञान करे।

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥२॥

(प्र० द्वि०) यजु० १२ । ६३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (निर्ऋते) सत्य विद्या से विपरीत अविद्ये ! (ते नमः अस्तु) तुझे दूर से नमस्कार है। अथवा तेरा नमः—वशीकार किया जायगा। हम तुझे वश करेंगे। किस प्रकार ? हे (तिग्मतेजः) तीक्ष्ण तेज वाले सूर्य समान परमात्मन् ! (अयस्मयान्) लोहे के बने या आवागमन से बने इन (बन्ध-पाशान्) बन्ध के पाशों को (वि चृत) काट डाल। हे निर्ऋते ! अविद्ये ! (यमः) वह सर्वनियन्ता परमात्मा (त्वां) तुझको

२–(प्र०) 'नमःसु' इति यजु० । 'निर्ऋते विश्वरूपे' इति तै० सं० । 'विश्ववारे' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अयस्मयं विचृता बन्धमेतम्' इति यजु० । 'यान् प्र मुमुग्धि पाशान्' इति पैप्प० सं० ।

पुनः इत्) फिर भी (मह्यं) मेरे लिये (ददाति) प्रदान करता है अर्थात् तुझे ईश्वर ने मेरे अधीन कर रक्खा है। अर्थात् जब चाहूं तुझमें फसूं, और जब चाहूं न फसूं। तो भी (तस्मै) उस (मृत्यवे) देहबन्धन से मुक्त करने वाले (यमाय) सर्व नियामक परमेश्वर के लिये (नमः) हम नमस्कार करते हैं।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ३ ॥
यजु० २ । ६३ तृ० च० ॥

भा०—हे अविद्ये! बन्धकारिणि! जब तू (अयस्मये) आवागमनस्वरूप लोहमय (द्रु-पदे) विनाशशील शरीर द्वारा प्राप्य इस वृक्ष के खूंटे के समान कठोर देह के साथ जीवको (बेधिषे) बांध लेती है तब (इह) इस लोक में वह जीव (मृत्युभिः) नाना प्रकार के शरीरनाशक ज्वर आदि कारणों से (ये सहस्रम्) जो सैकड़ों संख्या में हैं (अभि-हितः) बँध जाता है। हे पुरुष! (त्वं) तू (पितृभिः) अपने परिपालक आचार्य आदि गुरुओं और (यमेन) उस अन्तर्यामी परमात्मा से (सं-विदानः) उत्तम रीति से ज्ञान लाभ करता हुआ (उत्तमम्) उत्कृष्ट (इमम्) उस (नाकम्) सुखमय परम ब्रह्मलोक को (अधि रोहय) प्राप्त हो। सायण ने (संविदाना) पाठ मानकर उत्तरार्ध को भी 'निर्ऋति' के पक्ष में लगाया है। पापमय देवता कभी उत्तम लोक को नहीं पहुंचा सकती, इसलिये सायणकृत योजना असंगत है।

३—'पितृभिः संविदाना' इति सायणाभिमतः। 'यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे', 'नाके अधिरोहयेनम्' इति यजु०। 'उत्तमे नाके...... येमम्' इति तै० सं०। 'उत्तमे नाके' इति पैप्प० सं०।

सं स॒मिद् यु॑वसे वृषन्नग्ने विश्वा॑न्य॒र्य आ ।
इ॒डस्प॒दे समि॑ध्यसे स नो॒ वसू॒न्या भ॑र ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १६१ । १ ॥ यजु० १५ । ३० ॥

भा०—हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! आप (अर्यः) सबके प्रेरक हैं । आप (आ) सब तरफ (विश्वानि) सब पदार्थों को (सं सं युवसे इत्) चला रहे हैं और (इडस्पदे) इला=अन्न के आश्रयभूत भूतल पर, अथवा इडा=श्रद्धा के पद, आश्रयस्थान हृदय में अथवा इडा=चेतना मनन शक्ति के पद, आश्रय, आत्मा में (समिध्यसे) प्रकाशित होते हो (सः) वह आप (नः) हमें (वसूनि) नाना जीवनोपयोगी धनों को (आ भर) प्राप्त कराओ ।

'इडस्पदे'—इडा श० ११ । २ । ७ । २० ॥ इडावै मानवी यज्ञानु-काशिनी आसीत् । तै० १ । १ । ४।४॥ सा वै इडा पञ्चावत्ता भवति श० ११ । ८ । १ । १२ ॥ (१) श्रद्धा इडा है । (२) मनु=मननशील के यज्ञ आत्मा या देह में अनुप्रकाश करने वाली चितिशक्ति इडा है । वह इडा पांच विभाग में बांटी जाती है । यही पांच भाग पांच चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय हैं । उस इडा का पद आश्रय, आवास आत्मा है । राजा के पक्ष में इडा पृथिवी और अग्नि राजा है ।

[६४] एकचित्त होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यं देवता । १, २ अनुष्टुभौ । २ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

४—ऋग्वेदेऽस्याः संवनन ऋषिः । अग्निर्देवता ।

सं जा॑नीध्वं॒ सं पृ॑च्यध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम् ।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ संजाना॒ना उ॒पास॑ते ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६१ । २ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे) पूर्व के विद्यमान (देवाः) विद्वान् लोग (संजानानाः) समान रूपसे एकत्र होकर ज्ञान प्राप्त करते हुए (भागं) अपने भजन करने योग्य, फल को (उपासते) प्राप्त करते हैं । उसी प्रकार (सं जानीध्वम्) आप लोग एकत्र होकर समान रूप से सब ज्ञान प्राप्त करो । (सं पृच्यध्वम्) आप सब एकत्र होकर, एक दूसरे से सम्पर्क रक्खो । (वः) आप लोगों के (मनांसि) मन, चित्त (सं जानताम्) प्रत्येक पदार्थ को समान रूप से ही जानें ।

स॒मा॒नो मन्त्रः॒ समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं व्र॒तं स॒ह चि॒त्तमे॑षाम् ।
स॒मा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि समा॒नं चेतो॑ अ॒भि सं वि॑शध्वम् ॥२॥

ऋ० १० । १६१ । ३ ॥

भा०—(एषाम्) इन समस्त लोगों का (मन्त्रः समानः) मन्त्र-मनन भी समान हो, (समितिः समानी) एकत्र होकर बैठने की सभा भी समान, एक ही हो, (समानं व्रतम्) व्रत आचार कर्त्तव्य भी समान=एक ही हो और (चित्तं सह) सबका चित्त भी एक साथ ही हो । हे

---

[६४] १–(प्र०) 'संगच्छध्वं संवदध्वं' इति ऋ० । ऋग्वेदे संवनन ऋषिः । संज्ञानं देवता । (च०) 'उपासते' इति तै० ब्रा० ।

२–(द्वि०) 'समानं मनः' (च०) 'समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः । इति ऋ० । समानः क्रतुमभिमन्त्रयध्वम्' इति मै० सं० । (द्वि०) 'समानं चित्तं सह वो मनांसि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) संज्ञानेन वो हविषा यजामः' (च०) 'केतोऽसि संरभध्वं' इति तै० ब्रा० ।

लोगो ! (वः) तुम सबको (समानेन हविषा) में समान प्रकार के एक ही हवि=मार्ग से (जुहोमि) प्रेरित करता हूं । आप लोग (समानं चेतः) एक चित्त होकर (अभि संविशध्वम्) नगर में निवास करो ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १९१ । ४ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (वः) आप लोगों की (आकूतिम्) संकल्प, कामना भी (समानी) एक समान हो । और (वः) आप लोगों के (हृदयानि) हृदय भी (समा) समान हों । (वः मनः) आप लोगों के मन (समानम्) समान (अस्तु) हों । (यथा) जिससे (वः) आप लोगों के सब कार्य (सह) एक साथ मिलकर (सु असति) उत्तम रूपसे हुआ करें ।

[६५] विजयी, दमनकारी राजा का शत्रुओं को निःशस्त्रीकरण ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रः पराशरो देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २-३ अनुष्टुभौ । तृचं सूक्तम् ॥

अव मन्युरवायताव बाहू मनोयुजा ।
पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि ॥ १ ॥

भा०—हे राजन् ! (मन्युः) तेरा क्रोध (अव) नीचे अर्थात् शान्त रहे (आयता) उठे हुए शस्त्र भी (अव) नीचे होजायं । (मनोयुजा बाहू) मनके संकल्प के साथ उठने वाली बाहुएं भी (अव) नीचे

३–'समाना व आकूतानि' इति मै० सं० ।
[६५] १–(प्र०) 'अर्वाञ्चं रयिम्' इति पैप्प०सं०। 'अथा' इति सायणाभिमतः ।

ही रहें। तिस पर भी हे (पराशर) दूर के शत्रुओं के नाशक इन्द्र ! (त्वं) तू (तेषां) शत्रुओं के (पराञ्चं) दूर से दूर वर्त्तमान (शुष्मम्) बल या सेना विभाग को (अर्दय) विनाश कर। (अध) और (नः) हमें (रयिम्) धन (आ कृधि) प्राप्त करा।

अथवा शत्रुओं को क्रोध, उद्यत शस्त्र और बाहुएं नीची हों और हे इन्द्र ! तू उनके दूरके सेनादल को भी पीड़ित कर, हमें धन प्राप्त करा।

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! शासक पुरुषो ! (निर्हस्तेभ्यः) हस्त=हनन साधन या सामर्थ्य से रहित पुरुषों के लिये (नैर्हस्तं) सदा निहत्थापन रूप (यं शरुम्) जिस शस्त्र को आप (अस्यथ) फेंकते हो-प्रयोग करते हो। (अनेन हविषा) उसी उपाय से (अहम्) मैं देश-विजयी राजा (शत्रूणां बाहून्) शत्रुओं के बाहुओं को=बाधाकारी उपायों को भी (वृश्चामि) काटता हूं निर्मूल करता हूं। अर्थात् निर्बल प्रजाओं को सदा निर्बल बनाये रखने के लिये विद्वान् लोग जिस निःशस्त्रीकरण उपाय का प्रयोग करते हैं राजा उसी उपाय का प्रयोग अपने शत्रु को निर्बल करने का भी करे अर्थात् उनको निःशस्त्र ही करदे।

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा (प्रथमं) सबसे पहले (असुरेभ्यः) असुरों, निर्दय बलवान, शत्रुओं पर (नैर्हस्तम्) निहत्थापन के उपाय को (चकार) करो। तब (मम) मेरे (सत्वानः) वीर्यवान् भट (स्थिरेण) स्थायी (मेदिना) बलशाली (इन्द्रेण) सेनापति राजा के साथ (जयन्तु) विजय करें।

[६६] शत्रुओं का निःशस्त्रीकरण ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रो देवता । १ त्रिष्टुप् । २—३ अनुष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥

भा०—(अभिदासन्) हमें विनाश करने वाला (शत्रुः) शत्रु (निर्हस्तः अस्तु) निहत्था होकर रहे । और (ये) जो (अस्मान्) हम पर (सेनाभिः) सेनाओं सहित (युधम् आयन्ति) युद्ध करने के लिये चढ़ आते हैं उनको हे इन्द्र ! सेनापते ! तू (महता वधेन) बड़े भारी शक्तिशाली हथियार से (समर्पय) उन पर प्रहार कर । जिससे (एषां) उनमें से (अघ-हारः) सबसे प्रबल आघातकारी पुरुष (वि-विद्धः) नाना प्रकार से पीड़ित होकर (द्रातु) भाग जाय ।

आतन्वाना आयच्छन्तोस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोद्य पराशरीत् ॥ २ ॥

भा०—निःशस्त्र किनको किया जाय । (ये) जो शत्रुगण (आ-तन्वानाः) धनुष पर चिल्ला चढ़ाते हैं, (आ-यच्छन्तः) उनको खैंचते हैं । और (अस्यन्तः) बाण फेंकते हैं और (ये च) जो (धावथ) वेग से आक्रमण करते हैं । ऐसे हे (शत्रवः) शत्रु लोगो ! तुम ही (निर्हस्ताः) निहत्थे (स्थन) होकर रहो । नहीं तो (इन्द्रः) हमारा सेनापति राजा (वः) तुमको (अद्य) आज (पराशरीत्) मार डालेगा । आक्रमणकारी, मारने की चेष्टा करने वालों को निहत्था कर दें । नहीं तो सेनापति उनका वध कर दे ।

[६६] २—'पराशरैत्' इति क्वचित् ।

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

भा०—(शत्रवः) शत्रु लोग (निर्हस्ताः सन्तु निहत्थे होकर रहें और हम (एषां अङ्गा) उनके अङ्गों को (म्लापयामसि) लुंजा पुंजा करदें और हे इन्द्र ! (एषां) इनके (वेदांसि) धनों को हम (शतशः) सैकड़ों प्रकार से (विभजामहै) आपस में बांट लिया करें ।

[६७] शत्रु विजय ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र, मुख्य सेनापति और (पूषा च) पुष्टि-कारक अन्न आदि सामग्री का प्राप्त कराने वाला अथवा सहायक सेनापति (सर्वतः) सब प्रकार के (वर्त्मानि) मार्गों में (परि सस्रतुः) प्रयाण करें । जिससे (अमूः) वे (अमित्राणां) शत्रुओं की (सेनाः) सेनाएं परः-स्तराम्) सर्वथा (मुह्यन्तु) निराश होकर पछाड़ खावें और किसी भी रास्ते से आगे न बढ़ सकें ।

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः ।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

भा०—हे (अमित्राः) शत्रुओ ! तुम लोग (मूढाः) मूढ़ कि-

[६७] २–(प्र० द्वि०) 'अन्धा अमित्रा भवता शीर्षाणो हय इव' (तृ०) 'अग्निनुन्नानाम्' इति साम० । 'शीर्षाणा अह–' (तृ०) अग्निदग्धानामग्निमूढानां' इति ऋ० ।

कर्त्तव्यविमूढ़ होकर, विना मार्ग प्राप्त किये, भटकते हुए (अशीर्षाणः) बिना सिर के (अहयः इव) सर्पों के समान अन्धे होकर (चरत) विचरो, (अग्नि-मूढानां) हमारे अग्रणी सेनापति के प्रयाण से मोहित मार्ग छोड़कर भटकते हुए (तेषां वः) उन तुम्हारे में से (इन्द्रः) वीर सेनापति राजा (वरं-वरं हन्तु) अच्छे २ चुने वीर पुरुष को मार डाले।

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि।
पराङ्मित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! (एषु) इन वीर भटों में तू (वृषा) सब सुखों को वर्षक होकर (हरिणस्य) हरिण की (अजिनं) खाल को (आ नह्य) कवचरूप में बंधवा दें। इस प्रकार शत्रु के लिये (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर। (अमित्रः) शत्रु लोग (पराङ्) परे (एषतु) भाग जाय। (गौः) पृथ्वी (अर्वाची) हमारे समीप (उप-एषतु) हमें प्राप्त हो।

[६८] केश-मुण्डन और नापित कर्म का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता। १ पुरोविराडतिशक्वरीगर्भा चतुष्पदा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अति जगतीगर्भा त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥

भा०—विद्वान् पुरुषों को नापित बनकर केश मूंडने का उपदेश करते हैं। यह (सविता) सूर्य जिस प्रकार तीक्ष्ण किरणों से काले अन्धकार

[६८] १–(प्र०) 'अगात्' (द्वि०) 'उदकेनैधि' गो० गृ० सू०। (तृ०) 'वसवः सचेतसः' इति पैप्प० सं०।

को दूर कर देता है उसी प्रकार (अयम्) यह नापित (क्षुरेण) अपने छुरे से काले केशों को भी दूर देता है। वही (अयम् आगन्) यह आता है। और हे (वायो) जिस प्रकार वायु मेघ द्वारा जल लाकर जंगल पर वरसाता है उसी प्रकार हे वायो ! ज्ञानवन् ! तू भी (उष्णेन उदकेन आ-इहि) गरम जल के सहित यहां आ। और जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्य, बारहमास, (रुद्राः) वायुगण, (वसवः) पृथिवी आदि पदार्थ सब जंगलों को हरा भरा कर देते हैं उसी प्रकार आप लोग (सचेतसः) एक चित्त और ज्ञानवान् होकर केशों को (उन्दन्तु) गीला करें और तब (प्रचेतसः) हे उत्कृष्ट ज्ञान वाले पुरुषो ! (राज्ञः सोमस्य) सोम्य गुण वाले राजा के (वपत) केशों को छुरे से मूंड दो। अथवा (राज्ञः सोमस्य) सुन्दर सोमशिष्य बालक के केशो को मूंड दो। उपनिषत् की परिभाषा में सोम राजा=जीव। उसके अज्ञान को दूर करने के लिये सविता आचार्य या परमात्मा तीक्ष्ण ज्ञानरूप क्षुर सहित उसको साक्षात् होता है। वायु प्राण उसको उष्ण जल से आर्द्र करता है मानों तपस्या और योग समाधि का उपदेश करता है, आदित्य, रुद्र, वसु ये विद्वान्गण साधारण जीव को उपदेश करते हैं और इस प्रकार सब विद्वान् उसके अज्ञान का नाश करते हैं।

अदि॑तिः॒ श्मश्रु॑ वप॒त्वाप॑ उन्दन्तु॒ वर्च॑सा ।

चिकि॑त्सतु प्र॒जाप॑तिर्दी॒र्घायु॒त्वाय॒ चक्ष॑से ॥ २ ॥

भा०—(अदितिः) आदित्य=सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को काट डालता है उसी प्रकार अदिति=अखण्ड, तीक्ष्ण छुरे की धार (श्मश्रु) शरीर के बालों को (वपतु) काट दे। और ज्ञानी (आपः) आप्त

२-(तृ० च०) 'धारयतु प्रजापतिः पुनः पुनः सुवपतवे' इति पैप्प० सं० ।
(प्र०) आदितिः केशान्' इति पा० गृ० सू० ।

पुरुष जिस प्रकार (वर्चसा) तेज से हृदय को आर्द्र कर देते हैं उसी प्रकार (आपः) ये जल केशों को गीला कर दें। (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी परमात्मा जिस प्रकार सबको चक्षु देता और दीर्घ-जीवन देता है उसी प्रकार (प्रजापतिः) नाई, राजा भी वैद्य के समान जर्राही द्वारा अथवा फोड़ा फुंसी के रोग से बचाये रखने के लिये (चक्षसे) चक्षु की दर्शनशक्ति की वृद्धि और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घजीवन के लिये (चिकित्सतु) रोग से बचाये रक्खे।

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

भा०—(सविता) सूर्य (येन) जिस प्रकार के (क्षुरेण) ज्योतिर्मय छुरे से (राज्ञः सोमस्य) राजा, प्रकाशमान सोम चन्द्र के अन्धकार को (अवपत्) छिन्न भिन्न करता है और (विद्वान्) विद्यावान् आचार्य (येन क्षुरेण)[१] जिस उपदेशमय क्षुर=उपदेश से और सञ्चय के उपाय

३–'अश्यामो दीयुरयमस्तु वीरः' इति पैप्प० सं०। (च०) 'आयुष्मान् जरदष्टिर्यथासत्' इति पा० गृ० सू०। 'ऊर्जेमं रय्या वर्चसा संसृजाथ' इति तै० ब्रा०। येनावपत् सविताश्मश्रुवग्रे क्षुरेणराज्ञो वरुणस्य विद्वान्। येन धाता बृहस्पतिरिन्द्रस्य चावपन् शिरः तेन ब्रह्मणो वपतेदमद्यायुष्मान् दीर्घायुरयमस्तु वीरः' इति शा० गृ० सू०। येनपूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे इति मै० ब्रा०।

१. क्षुरः—क्षुशब्दे इत्यस्मात् औणादिको रक् निपात्यते (उणा० २। २८॥) अथवा क्षुर विलेखने (अदादिः) क्षुर संचये (भ्वादिः) इत्येताभ्यां पचाद्यच्। क्षुरः उपदेशः विलेखनोपकरणं, लोमशातनोपकरणं छूरा इति प्रसिद्धम्। संचयोपायो वा। इति दया०।

से (वरुणस्य) राजा के अज्ञान को (अवपत्) छिन्न भिन्न करता है (तेन) उसी ज्ञान और ज्योतिर्मय उपदेश और प्रकाश के छुरे से, हे (ब्रह्माणः) ब्राह्मण, विद्वान् पुरुषो ! (अस्य) इस अपने शिष्य के (इदम्) इस अज्ञान अन्धकार को भी (वपत) छिन्न भिन्न करो । उसी के साथ २ छूरे से आरोग्य और दीर्घ जीवन के लिये वालों को भी काटा करो जिससे (अयम्) यह राजा और शिष्य (गोमान्) गो=ज्ञानेन्द्रियों से युक्त और (अश्ववान्) अश्व=प्राणेन्द्रियों से युक्त और (प्रजावान्) उत्तम सन्तान से भी युक्त हो ।

जिस प्रकार सूर्य चन्द्र का अन्धकार दूर करता है और उसमें ज्योतिर्मय धन का वितरण करता है या जिस प्रकार विद्वान् मन्त्री राजा के ऊपर के संकटों को दूर करता है और विशेष उपाय से सावधान होकर उसकी समृद्धि बढ़ाता है उसी प्रकार आचार्य शिष्य के अज्ञान को हटाये छुरे से वालों को दूर करे उसके ज्ञान आरोग्य और दीर्घ जीवन की वृद्धि करे ।

[६९] यश और तेज की प्रार्थना ।

वर्चस्कामो यशस्कामश्चाथर्वा ऋषिः । बृहस्पतिरुताश्विनौ देवता । अनुष्टुप् ।

तृचं सूक्तम् ॥

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥
अथर्व ६ । १ । १८ ॥

भा०—(यद् यशः) जो यश कीर्त्ति और धन (गिरौ) पर्वत में (अरगराटेषु) अरगराट=रथों या यन्त्रों से विचरने वाले शिल्पी लोगों में (हिरण्ये) सुवर्ण में और (गोषु) गाय बैलों में विद्यमान है और जो (मधु)

मधुर रस (सिच्यमानायां) पात्रों में पड़नेवाली (सुरायां) सुरा=जलधारा में और (कीलाले) अन्न में है (तत्) वह यश इस (मयि) मेरे आत्मा में विद्यमान है ।

अरगराट=सायण के मत में (१) अराः रथचक्रावयवाः कीलकाः, तान् गिरति आत्मना संश्लेषयति इति अरगराः रथा । तेन अटन्ति संचरन्तीति अरगराटाः रथिनः । (२) यद्वा अरा अरयः तान् गच्छन्ति इति अरगाः वीराः । तेषांराटाः जयघोषाः । अर्थात् अरगराटाः=रथी या वीरों के जयघोष । क्षेमकरण के मत में—"अरस्य ज्ञानस्य गरेषु विज्ञापकेषु अटन्ति इति ।" अर्थात् गुरुओं के पास जाने वाले शिष्य । इस मतभेद में सायण ने लिखा है "व्युत्पत्त्यनवधारणाद् नावगृह्यते । साफ २ अर्थ नहीं खुलने से इसका अर्थ ठीक तरह से विदित नहीं होता । ग्रीफ़िथ के मत में अरगराट=घाटियां । अथवा—"अरम् अत्यर्थं गर् गर् शब्देन अटन्ति इति अरगराटाः=महानदाः अथवा अरघट्टाः जलयन्त्राणि, धान्यपेषणार्थं जलधारया प्रवर्त्तितं पेषणीयन्त्रं घराट् इति प्रसिद्धं तादृशो वा अन्यो विद्युदादियन्त्रविशेषः ।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥

अथर्व० ६ । १ । १६ ॥

भा०—(शुभस्पतो) शुभ–उत्तम शोभा को पालन करने वाले (अश्विनौ) माता और पिता (सारघेण) मधुमक्षिका के तैयार किये हुए (मधुना) शहद से (मा) मुझे (अङ्क्तम्) आंजें, मुझे खिलावें (यथा) जिससे (जनान् अनु) समस्त लोगों के प्रति मैं बालक बड़ा होकर (भर्गस्वतीम्) दीप्ति, चमत्कार और ओजस्विनी, (वाचम्) वाणी को (आवदानि) बोलूं ।

२–(तृ०) 'वर्चस्वती' इति अथर्व० । (च०) 'आवदामि' इति सायणाभिमतः ।

मां बाप बालकों को शहद खिलाया करें जिससे उनकी वाक्-शक्ति बढ़े और कफ़ आदि का नाश हो ।

मयि वर्चो अथो यशोथो यज्ञस्य यत् पयः ।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥ साम० १ । ६ । ३ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर जिस प्रकार (दिवि-द्याम् इव) द्यौलोक में सूर्य को दृढ़ता से स्थापित करता है उसी प्रकार वह प्रजापति पिता (मयि) मेरे शरीर में (वर्चः) तेज (यशः) बल और (यत्) जो (यज्ञस्य) यज्ञ=आत्मा का (पयः) सारभूत बल ज्ञान है (तत्) उसको (मयि) मेरे में धारण करावे ।

[७०] गौओं को सुशील बनाने का उपदेश ।

कांकायन ऋषिः । अघ्न्या देवता । जगती । तृचं सूक्तम् ॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥

भा०—गायों को सुशील बनाने का उपदेश करते हैं । हे (अघ्न्ये) कभी भी न मारने योग्य गौ ! (यथा) जिस प्रकार (मांसम्) मांस= उत्तम अन्न रस मनुष्यों के मनको लुभा लेता है । और (यथा सुरा) जिस प्रकार सुरा=शराब मनुष्य के मनको खेंच लेती है और (यथा अधि-देवने) जिस प्रकार खेलने के समय (अक्षाः) पासे मनुष्य के मन को हरते हैं । और जिस प्रकार (वृषण्यतः) हृष्ट पुष्ट (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन

३-(तृ०) 'परमेष्ठी प्रजा-' इति साम० ।

(स्त्रियाम्) स्त्री में (नि-हन्यते) रत हो जाता है इसी प्रकार हे (अघ्न्ये) गौ ! (ते) तेरा (मनः) मन (अधि वत्से) अपने बच्छड़े पर (नि-हन्यताम्) लगा रहे ।

अर्थात् गाय को सुशील बनाने के लिये उसका प्रेम उसके बच्चे पर बनाये रखना चाहिये । उसके बच्छे को प्रेम करने से वह भी सुशील हो जायगी । इसी प्रकार मांस-लोभी को मांस द्वारा, शराबी को शराब से, जुएखोर को जुए से, कामी को स्त्री के द्वारा वश करना चाहिए ।

यथा ह॒स्ती ह॑स्ति॒न्याः प॒देन॑ प॒दमु॑द्यु॒जे । यथा॑ पुं॒सो ० । ० ॥२॥

भा०—उसी विषय को और भी स्पष्ट करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (हस्ती) हाथी (हस्तिन्याः) हथिनी के (पदेन) पैर के साथ अपना (पदम्) पांव (उद्-युजे) जोड़कर ऊपर उठता है । और (यथा पुंसः वृषण्यतः मनः स्त्रियां निहन्यते) और जिस प्रकार कामी पुरुष का मन स्त्री पर चलता है । (एवा अघ्न्ये ते मनः वत्से अधि निहन्यताम्) उसी प्रकार हे गौ ! तेरा मन अपने बच्छे के साथ लगा रहे ।

उसी प्रकार के प्रेमबंधन से हम हथिनी के द्वारा हाथी तक को सधा सकते हैं ।

यथा॑ प्र॒धिर्यथो॑प॒धिर्यथा॒ नभ्यं॑ प्र॒धावधि॑ ।
यथा॑ पुं॒सो वृ॑षण्य॒त स्त्रि॒यां नि॑ह॒न्यते॒ मनः॑ ।
ए॒वा ते॑ अघ्न्ये॒ मनोऽधि॑ व॒त्से नि ह॑न्यताम् ॥ ३ ॥

भा०—और भी उसी विषय को स्पष्ट करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (प्रधिः) लोहे का हाल भीतरी लकड़ी के बने चक्र पर रहता है और (यथा) जिस प्रकार (उपधिः) लकड़ी का चक्र अरों द्वारा बीचके धुरे पर रहता है और (यथा) जिस प्रकार (नभ्यं) बीचका धुरा (अधि प्रधौ) क्रम से अरों और लकड़ी के चक्र सहित हाल पर आ जाता

है और (यथा वृषण्यतः पुंसः मनः स्त्रियां निहन्यताम्) जिस प्रकार कामीपुरुष का मन स्त्री पर चलता है उसी प्रकार हे (अघ्न्ये ते मनः अधि वत्से निहन्यताम्) गौ! तेरा मन अपने बच्चे पर जुड़ा रहे।

[७१] दुष्ट अन्न का त्याग और उत्तम अन्न आदि पदार्थों को ग्रहण करने का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । ३ विश्वेदेवाः । १—२ जगत्यौ । ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् ।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ १ ॥

भा०—(बहुधा) प्रायः (यत्) जो (अन्नम्) अन्न मैं (विरूपम्) विद्रूप, गला सड़ा या बुरा (अद्मि) खालूं (हिरण्यम् अश्वम् उत गाम् अजाम् अविम्) और सोना, घोड़ा, गाय, बकरी और भेड़ और (यत् एव किं च) और जो कुछ भी (अहम्) मैं (प्रतिजग्राह) दूसरे से ले लूं (तत्) उसको (होता अग्निः) देने वाला, सर्वप्रद परमेश्वर (सुहुतं कृणोतु) उत्तम आहुति के समान दान देने और स्वीकार करने योग्य बना दे। अर्थात् जो खा लिया जाय उसको जाठर अग्नि पचाले और वह सुहुत हो जाय, जो द्रव्य मैं स्वीकार करूँ उसे अग्नि परमेश्वर उत्तम दान रूप बना दे वह भी हमें हानि न पहुँचावे।

[७१] १–(तृ०) 'किंचित्' (च०) 'अग्निस्तद्विश्वादगदं कृ—' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'विरूपं वासो हिरण्यमुत' (तृ०) यद्देवानां चक्षुष्यागो अस्ति यदेव किंच प्रतिजग्राहम् अग्निर्मा 'तस्मादनृणं करोतु' इति तै० आ०।

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः ।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो (हुतम्) श्रद्धापूर्वक न दिया गया और (पितृभिः) पालक पिता माता गुरु भाई आदि से (दत्तम्) दिया गया था (मनुष्यैः अनुमतम्) मनुष्यों से, मननशील विद्वानों द्वारा अनुमत, स्वीकृत पदार्थ (आ-जगाम) मेरे पास आ गया हो और (यस्मात्) जिससे (मे मनः) मेरा मन (उद् रारजीति इव) ऊपर उठता हुआ प्रसन्न सा होता हो (तत्) उसको (होता अग्निः) सर्व पदार्थों का दाता परमेश्वर (सुहुतं कृणोतु) उत्तम दान अर्थात् स्वीकार करने योग्य पदार्थ बना दे ।

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि ।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥३॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (यद् अन्नम् अद्मि) जो अन्न मैं खाऊँ (उत) और (दास्यन्) जो पदार्थ मैंने दूसरे को देना है पर उसे (अदास्यन्) दे नहीं रहा हूँ (उत) और जिसको मैं (सं गृणामि) स्वीकार करता हूं (महतः वैश्वानरस्य) बड़े भारी, समस्त आत्माओं के अन्तर्यामी महान् परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा से, महान् शक्ति से (अन्नम्) वह अन्न (मह्यं) मेरे लिये (शिवं) कल्याणकारी और (मधुमत्) अमृतमय मधुर रस देने वाला (अस्तु) हो ।

२-(तृ०) 'रारजीत्वग्निः' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'हुतं यदहुतं' (द्वि०) 'यस्मादन्नमतसोद्गारजामि' (तृ०) यद्देवानां चक्षुषा कर्णा-नाग्नि-' इति पैप्प० सं० ।

३-(द्वि०) 'उतव करिष्यन्' इति तै० आ० ।

[७२] प्रजनन अंगों की पूर्ण वृद्धि ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । शेपोऽर्को देवता । १ जगती । २ अनुष्टुप् । ३ भुरिक् ।
तृचं सूक्तम् ॥

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥ १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (असितः) बन्धन रहित आत्मा (असुरस्य) असुर, मन की (मायया) माया=निर्माण-शक्ति या बुद्धि से (वपूंषि कृण्वन्) अपने देहों को रचता हुआ (वशान् अनु) अपने वश हुए अंगों को या प्राणों को देह में (प्रथयते) विस्तृत करता है, फैलाता है, प्रेरित करता है (एवा) उसी प्रकार (अंगेन अङ्गम्) जिस प्रकार एक अंग से दूसरे अंग को समता प्राप्त है (अयम्) यह (अर्कः) आत्मा पुरुष (ते) तेरे (शेपः) ज्ञान सामर्थ्य या प्रजननाङ्ग को (सहसा) बल से (सं-समकम्) ठीक ठीक अनुपात में (कृणोतु) करे ।

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पसः) पुरुष का प्रजननाङ्ग (वातेन) प्राण के बल से (स्थूलभं कृतम्) स्थूलरूप किया जाकर (तायादरम्) सन्तान उत्पादक अंग योनि भाग में प्रवेश योग्य हो जाता है । और (यावत्) जितना (परस्वतः) पूर्णता प्राप्त पुरुष का (पसः) प्रजन-

[७२]-१-(प्र०) 'सित' (च०) 'संसमगं' इति सायणाभिमतः ।
२-'तायोदरं' इति सायणाभिमतः ।

नाङ्ग होना चाहिये (तावत्) उतना हे पुरुष! (ते पसः) तेरा प्रजनाङ्ग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो ।

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

भा०—(यावत् अंङ्गीनं) जितने अंगों वाला शरीर (पारस्वतम्) पूर्ण पुरुष का होता है और (यत्) जितना (हास्तिनं गार्दभं च) हाथी का या गधे का अथवा (वाजिनः अश्वस्य यावत्) वेगवान्, बलवान् अश्व का अंग दृढ़, हृष्ट पुष्ट, अमोघवीर्य होता है (तावत् ते पसः वर्धताम्), हे पुरुष ! उतना ही तेरा भी प्रजननांग पुष्ट हो ।

पं० ग्रीफ़िथ ने इस सूक्त को अश्लील समझ कर छोड़ दिया है । पं० क्षेमकरणजी ने इस सूक्त में शेपः और पसः आदि शब्दों के अर्थ 'राष्ट्र' किया है । पर हमारी सम्मति में शरीर के जिस अंग से मानव-सृष्टि उत्पन्न होती है उसके परिपक्व और पुष्ट होने का उपदेश करना कोई असंगत अश्लील और अनुचित बात नहीं है । कुछ की सम्मति में 'तयादर' और 'परस्वान्' कोई विशेष पशु हैं । सम्भव है । उनके अंग की उपमा भी होना अनुचित नहीं ।

राष्ट्र पक्ष में—(२) (यथा तायादरं पसः) जितना पालने योग्य राष्ट्र (वातेन स्थूलभं कृतम्) यज्ञ द्वारा परस्पर संगति, संगठन द्वारा विशाल बना लिया जाय और (यवत् परस्वतः पसः) और जितना राष्ट्र पालक शक्ति में युक्त राजा का होना चाहिये (तावत्) उतना (ते पसः वर्धताम्) तेरा राष्ट्र भी बढ़े ।

(३) (यावत् अंगीनं) जितने अंगों से युक्त (पारस्वतं) वीर भटों का बना, (हास्तिनं) हाथियों का (गार्दभं) गधों खच्चरों का और (अश्वस्य वाजिनः) वेगवान् अश्वों का बना हुआ (पसः) राष्ट्र-बल होना सम्भव है (तावत् ते वर्धताम्) उतना ही तेरा भी बढ़े ।

राजा के वीर्य का प्रतिनिधि राष्ट्र और सेनाबल है शरीर में यह हृष्ट पुष्ट शरीर और हृष्ट पुष्ट प्रजनेन्द्रिय है इसलिये वेद में दोनों को समान ही परिभाषा शब्दों से वर्णन किया जाता है ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश सूक्तानि, ऋचश्च चतुस्त्रिंशत्]

[७३] एकचित्त होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यमुत मन्त्रोक्ता नाना देवताः । १–३ भुरिजौ, त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तः संमनसः सजाताः ॥१॥

भा०—(इह) इस प्रदेश में या राजसभा के स्थान में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ वरुण, राजा (सोमः) सोम, शान्त स्वभाव (अग्निः) सबका अग्रणी और (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक या बृहत् राष्ट्र का पालक राजा बनकर (आ यातु) आवे और (इह) यहां वह (वसुभिः) आठ वसु, प्रजा के प्रतिनिधि या विद्वान् अमात्यों सहित आवे । हे अमात्यो ! (सर्वे) तुम सब लोग (अस्य श्रियम्) इस राजा की श्री, लक्ष्मी, शोभा को (उप-संयात) तुम भी स्वीकार करो, प्राप्त होओ । क्योंकि (उग्रस्य) उग्र स्वभाव, बलशाली, सदा न्यायपूर्वक दण्ड देने वाले (चेत्तः) सबको चेताने वाले और स्वयं सावधान रहने वाले विवेकी राजा के (सं-मनसः) मनके साथ एक मन होकर रहते हुए (स-जाताः) एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न भाइयों के समान बन्धु होकर रहो ।

[७३] १–(तृ०) 'श्रियमभि' । (च०) 'सुजाताः' इति पैप्प० सं० ।

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥२॥

भा०—राजा अपने सचिवों और अधीन शासकों के प्रति कहे कि-हे सचिवो और मेरे अधीन शासको ! (यः) जो (वः) तुम्हारा (शुष्मः) बल है और (या) जो (वः मनसि) तुम्हारे मन में और (हृदयेषु) हृदयों में (आकूतिः) प्रबल इच्छा या कामना (अन्तः प्रविष्टा) भीतर घर किये बैठी है (तान्) उन सब बलों को और आप लोगों की उन २ इच्छाओं को (घृतेन) अपने स्नेह और तेज और (हविषा) अन्न और आजीविका प्रदान द्वारा (सीवयामि) अपने साथ बांधता हूँ । हे (स-जाताः) बन्धुओ ! (वः) तुम लोगों की (रमतिः) आनन्द विनोद और अनुकूल प्रवृत्ति या पक्षपात (मयि अस्तु) मेरे ऊपर रहे ।

इहैव स्तमाप याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥३॥

भा०—हे अधीन मन्त्रियो ! और शासक लोगो ! (इह एव स्त) आप लोग मेरे इस राष्ट्र में ही रहो । (अस्मत् अधि मा अप यातम्) हम से परे, हमें छोड़कर तुम मत जाओ । (परस्तात्) नहीं तो अन्य स्थानों में (पूषा) राष्ट्र के पोषक मित्र राजा (वः) आपके लिये (अपथं कृणोतु) रास्ता न दे । (वास्तोष्पतिः) राजसभा के भवन का पालक (अनु) मेरे अनुकूल मेरी अनुपस्थिति में (वः) आप लोगों को (जोहवीतु) पुनः पुनः हमारे कार्य के लिये आह्वान करे और आप

२-(तृ०) 'तां सीव-' इति सायणाभिमतः । 'सीवयामि', 'श्रीवयामि' इति क्वचित् । 'श्रवयामि' इति पैप्प० सं० ।

३-(प्र०) 'एह यात माप' । (तृ०) 'अनुयमहुवन्' इति पैप्प० सं० ।

लोगों की सम्मति लिया करे। हे (स-जाताः) बन्धुजनो! हे भाइयो! (वः) आप लोगों की (रमतिः) प्रवृत्ति (मयि अस्तु) मेरे प्रति ही झुकी रहे।

(१) राजा अपने अधीन लोगों को उनकी वृत्ति सदा देता रहे। इस प्रकार उनको सदा अपने साथ गांठे रहे। (२) उनको स्थिर रूप से रखकर अपने को छोड़कर न जाने दे। यदि द्वेषवश छोड़कर जावें तो मित्रवर्गों से उनको परराष्ट्र में जाने का मार्ग न देने दे। राजसभा में प्रथम अपने समक्ष उनसे कार्य ले, अपनी अनुपस्थिति में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करे और वही मन्त्रियों से कार्य ले।

[७४] एकचित्त होकर रहने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यं देवता । १,२ अनुष्टुभौ, ३, त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता ।
सं वोयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

भा०—हे लोगो! (वः) तुम लोगों के (तन्वः) शरीर परस्पर (सं पृच्यन्ताम्) एक दूसरे के प्रेम से मिला करें, आप लोग एक दूसरे का प्रेम से आलिङ्गन किया करो और (मनांसि सं) आपस में मन भी मिला करें। (व्रता उ सम्) कृषि वाणिज्य आदि कर्म भी मिलकर हुआ करें। या एक दूसरे के कर्म व्यवसाय एक दूसरे के व्यवसायों के सहायक हों। (अयम्) यह (ब्रह्मणः पतिः) ब्रह्मवेदवाणी का पालक प्रधान विद्वान् ब्राह्मण वः (सम् अजीगमत्) सदा जोड़े रक्खे। और (भगः) ऐश्वर्यवान् धन सम्पत्ति का स्वामी राजा भी तुमको (सम् अजीगमत्) सदा मिलाये रक्खे।

[७४] १—(च०) 'सोमः संस्पर्शयातु मांम्' इति पैप्प० सं०।

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

भा०—(वः) आप लोगों के (मनसः) चित्त को (सं-ज्ञपनम्) उत्तम रीति से ज्ञान सम्पन्न करता हूं। (अथो) और (हृदः) हृदयों को (सं-ज्ञपनम्) उत्तम ज्ञानवान् करता हूं। (अथो) और (भगस्य) ऐश्वर्यशील राजाका (यत्) जो (श्रान्तम्) परिश्रम है (तेन) उससे भी (वः) आप लोगों को (सं-ज्ञपयामि) अच्छी तरह से परिचित कराता हूं। अर्थात् राजा के प्रतिनिधि गण प्रजा के चित्तों को शिक्षित करें उनको राष्ट्र के हितों को विचारने का अवसर दें, हृदयों में एक दूसरे के प्रति सच्चे भाव उत्पन्न करें और राजा के उत्तम भावों को जानें। इस प्रकार प्रजा शिक्षित, संगठित होकर राजा के अधीन रहे। मूर्ख और फुटैल प्रजा पर असत्य से राजा शासन न करे।

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्य, विद्वान् लोग (वसुभिः) राष्ट्र निवासी प्रजाओं और (मरुद्भिः) वैश्य लोगों के साथ मिलकर (उग्राः) बलवान् होकर (अहृणीयमानाः) किसी से नहीं दबते हैं उसी प्रकार हे (त्रिणामन्=त्रिणामन्) तीन प्रकार की शक्तियों से प्रजा को वश करने वाले राजन्! तू भी (अहृणीयमानः) किसी से

२—(च०) 'संज्ञपयाति माम्' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'यच्छ्रान्तं' इति ह्विटनिकामितः।

३—(प्र०) 'वसुवः' (तृ०च०) '—यमानासिम जना संम्मनसं कृणुत्वं' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) मरुद्भीरुद्राः संजानताभि (तृ० च०) '—यमावा विश्वेदेवा संमनसो भवन्तु' इति तै० सं०।

भी न दबकर ही (इमान् जनान्) इन प्रजाजनों को (इह) इस राष्ट्र में (संमनसः कृधि) अपने अनुकूल एक चित्त वाले बनाये रख । कोई राजा अपनी प्रजाको अपने विपरीत रखकर उन पर शासन नहीं कर सकता ।

त्रिनामन्=तीनों शक्तियों से प्रजाको वश करने वाला । तीन शक्तियां, प्रज्ञा, उत्साह और वीर्य अथवा अमात्य, कोश और दण्ड ।

[७५] शत्रु को मार भगाने का उपदेश ।

सपत्नक्षयकामः कबन्ध ऋषिः । मन्त्रोक्ता इन्द्रश्च देवताः । १-२ अनुष्टुभौ, ३ षट्पदा जगती । तृचं सूक्तम् ॥

निर॒मुं नु॑द॒ ओक॑सः स॒पत्नो॒ यः पृ॑त॒न्यति॑ ।
नै॒र्बा॒ध्ये॑न ह॒विषेन्द्र॑ ए॒नं प॑राश॒रीत् ॥ १ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (यः) जो (सपत्नः) हमारे राष्ट्र पर हमारे बराबर अपना प्रभुत्व दिखाने वाला शत्रु (पृतन्यति) हमपर सेना द्वारा आक्रमण करता है । (अमुम्) उसको (ओकसः) हमारे घर से, देश से (निर्-नुद) निकाल डाल । हे इन्द्र, राजन् ! (एनम्) इस शत्रु को तो (नैर्बाध्येन हविषा) निर्बाध=बाधा से रहित हवि=आज्ञा और उपाय से (पराशरीत्) मार डाल । अर्थात् उक्त प्रकार के शत्रु को मार डालने की ऐसी आज्ञा और उपाय करे जिसमें कोई बाधा न डाल सके ।

प॒र॒मां तं प॑रा॒वत॒मिन्द्रो॑ नुदतु वृत्र॒हा ।
यतो॒ न पुन॒राय॑ति शश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥ २ ॥

[७५] १-(च०) 'पराशरैत्' इति क्वचित् । (तृ०) 'निर्बा'-इति पैप्प० सं० 'एणं' इति तै० ब्रा० ।
२-(प्र०) 'परमां त्वां' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'नयतु' इति तै०

भा०—(वृत्रहा इन्द्रः) वृत्र=नगर को घेरने वाले शत्रु को मारने वाला इन्द्र=राजा सेनापति (तम्) उस शत्रु को (परमां परावतम्) खूब दूर तक (नुदतु) खदेड़ आवे। इतना दूर तक खदेड़ दे कि (यतः) जहां से (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त वर्षों तक (पुनः) फिर (न आयति) लौटकर न आवे।

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति।
एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति।
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० ८ । ३२ । २२ प्र० द्वि० ॥

भा०—हमारे से मार भगाया हुआ शत्रु (तिस्रः परावतः अति एतु) तीन दूरस्थ सीमाओं को पार कर जाय। और (पञ्च जनान् अति एतु) पांचों प्रकार की प्रजाओं को लांघ जाय। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र निषाद इन पांचों प्रकारकी प्रजा में भी स्थान न पा सके। (तिस्रः रोचना अति एतु) तीनों प्रकाशमान ज्योतियों से भी वञ्चित हो अर्थात् वह न सूर्य का प्रकाश पा सके, न दीपक का और न चन्द्र का, प्रत्युत अंधेरी कोठड़ी में मारे भयके छिपा रहे। ऐसी जगह और ऐसी दुरवस्था में रहे कि (यतः) जहां से (पुनः) फिर (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त वर्षों तक (यावत् दिवि सूर्यः) जब तक आकाश में यह सूर्य (असत्) विद्यमान है तब तक (न आयति) वह लौटकर न आवे।

ब्रा० । (द्वि०) 'इन्द्रो देवो अचीक्लृपत्' (तृ०) 'पुनरायसि' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र० द्वि० तृ०) 'इहि' इति तै० ब्रा० । (द्वि०) 'जनां अनु' । (तृ०) 'इह चत्वातु रोचना' इति पैप्प० सं० ।

[७६] ब्राह्मणरूप सांतपन अग्नि का वर्णन ।

कबन्धऋषिः । सांतपनोऽग्निर्देवता । १, २, ४ अनुष्टुभः । ३ ककुम्मती ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।
संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥

भा०—ब्राह्मणरूप अग्नि का वर्णन करते हैं । (ये) जो लोग (एवम्) इस ब्राह्मणरूप सांतपन अग्नि के (परिषीदन्ति) चारों ओर बैठते हैं और उससे उपदेश लेते हैं और (चक्षसे) सम्यग् दर्शन के लिये (सम्-आदधति) उस ब्राह्मण को उत्तम रीति से आधान करते हैं उसकी प्रतिष्ठा करते हैं । साक्षात् (अग्निः) अग्नि=आग जिस प्रकार अपनी ज्वालाओं से प्रकाशित होता है उसी प्रकार वह भी (सं-प्र-इद्धः) उत्तम रीति से उत्कृष्ट ज्ञान से प्रकाशित होकर (हृदयाद् अधि) अपने शुद्ध अन्तःकरण से निकलने वाली (जिह्वाभिः) ज्ञानमय वाणियों से (उत् एतु) उदित हो, प्रकट हो । सबको ज्ञान का उपदेश करे ।

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे ।
अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥

भा०—(सांतपनस्य) उत्तम तपस्याशील (अग्नेः) ज्ञानी ब्राह्मण के (पदम्) ज्ञानस्वरूप को (अहम्) मैं अपनी (आयुषे) आयु-वृद्धि के लिये (आरभे) प्राप्त करने का यत्न करूं । (यस्य) जिसके (आस्यतः) मुख से (उद्-यन्तम्) उठते हुए (धूमम्) धूम के समान निकलते हुए उद्गार को (अद्धातिः) प्रत्यक्षदर्शी विद्वान् स्वयं (पश्यति) साक्षात् करता है ।

---

[७६] १–(प्र०) 'येनेदंपरि' । इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ० च०) धातुर्यस्य पश्यत मम हृद्यन्तःश्रितः' इति पैप्प० सं० ।

"एष ह वै सान्तपनो अग्निर्यद् ब्राह्मणः। यस्य गर्भाधान-पुंसवन सीमन्तोन्नयन-जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमणान्नप्राशन-गोदान-चूड़ाकरणोपनयनाप्लावनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सान्तपनः। गो० पू० २। ३॥ धूमो वा अस्य अग्नेः श्रवो वयः। सहि एनम् श्रावयति। श० ७। ३। १। २॥ अर्थात् गर्भाधान से लेकर व्रतचर्यादित संस्कार शील ब्राह्मण सान्तपन अग्नि कहाता है, उसके ज्ञानोपदेश धूम हैं।

यो अस्य समिधं वेदं क्षत्रियेण समाहिताम्।
नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे॥ ३॥

भा०—(यः) जो विद्वान् (अस्य) इस पूर्वोक्त अग्नि की (क्षत्रियेण) क्षत्रिय द्वारा (सम्-आहितां) प्रतिष्ठित की हुई (समिधम्) समिधा को (वेद) जान लेता है (सः) वह (मृत्यवे) अपने मौत के लिये (अभिह्वारम्) कुटिल मार्ग में (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता।

अर्थात् जो यह जानता है कि ब्राह्मणों की रक्षा और उनका उत्तेजन क्षत्रिय=राजा के द्वारा है वह ब्राह्मण के अपमान आदि अनुचित कार्य में पैर नहीं रखता। वैसा करने से राजा स्वयं ब्रह्मनिन्दक को दण्ड देता है।

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे॥ ४॥

भा०—(एनम्) पूर्वोक्त अग्नि रूप विद्वान्, निष्ठ ब्राह्मण के (पर्यायिणः) समीप आने वाले पुरुष भी (न घ्नन्ति) उसकी हिंसा नहीं करते, क्योंकि वह भी (सन्नान्) समीप बैठों को (न अवगच्छति) कुछ नहीं कहता। (यः क्षत्रियः) जो क्षत्रिय होकर भी (विद्वान्)

३-(प्र०) 'योऽस्य', (तृ०) 'मा विह्वरे' इति पैप्प० सं०। 'अभिह्वरे' इति सायणाभिमतः।
४-(द्वि०) 'एनं गच्छति'। (तृ०) विश्वा नाम' इति पैप्प० सं०।

ज्ञानवान् होकर (अग्नेः नाम) अग्रिणी रूप ब्राह्मण का (नाम गृह्णाति) नाम उच्चारण करता है वह भी (आयुषे) उसके दीर्घ जीवन के लिये होता है। प्रसिद्ध विद्वान् का आश्रय लेकर क्षत्रिय भी चिरकाल तक विनष्ट नहीं होता।

[७७] ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना।

कबन्ध ऋषिः । जातवेदो देवता । १–३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भा०—सर्वनियन्ता ईश्वर की शक्ति से (द्यौः अस्थात्) यह द्यौः आकाश समस्त तारों सहित स्थिर है (पृथिवी अस्थात्) पृथिवी भी अपने स्थान में स्थिर है। (इदम्) यह (विश्वम्) समस्त (जगत्) जगत् भी (अस्थात्) स्थित, व्यवस्थित है। अपने २ (आ-स्थाने) स्थान में (पर्वताः अस्थुः) पर्वत भी स्थिर हैं, इसी प्रकार मैं अपने (अश्वान्) अश्वों के समान गमनशील व्यापक, विषयों तक पहुंचने वाले प्राणों को भी (स्थाम्नि) इस स्थिर देह में (अतिष्ठिपम्) व्यवस्थित करूं।

य उदानंद् परायणं य उदानुण्न्यायनम् ।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० । १६ । ५ ॥ (तृ० च०) ऋ० १० । १६ । ४ तृ०चं० ॥

भा०—(यः) जो महान् आत्मा (परायणम्) परम स्थान, मोक्ष

[७७] १–(तृ० च०) 'तिष्ठ······इमे स्थामन्नश्वा रंसत' इति पप्पै० सं० ।
२–(प्र०) 'यउदानड् व्ययनं' (द्वि०) 'यंउदानट् परायणम्' इति ऋ० । ऋग्वेदे मथितो यामायनो भृगुर्वावारुणिश्च्यवनो वा ऋषिः । आपो गावो वा देवता ।

में (उद् आनट्) व्यापक है । और (यः) जो (न्यायनम्) नीचे अयन तामस लोक को भी (उद्-आनट्) उन्नत करता है और (यः) जो जीव के (आ-वर्त्तनम्) यहां आगमन और (निवर्त्तनम्) यहां से गमन, मुक्ति इन दोनों को वश करता है । ऐसा जो (गोपाः) लोकों का पालक है (तम् अपि हुवे) उसको भी मैं स्मरण करता हूं ।

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः ।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

(द्वि० तृ०) यजु० १२ । ८ । ऋ० १० । १९ । ५ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक ईश्वर ! (ते) तेरे रचे हुए (शतम्) सैकड़ों (आ-वृतः) आवरण, देह, व्यवस्थाएं हैं । तो भी हमें (नि वर्तय) उन सब बंधनों से दूर कर । (ते उप-आ-वृतः सहस्रम्) तेरे बनाए कर्मबन्धन भी असंख्य हैं (ताभिः) उनसे (नः) हमें (पुनः) फिर (आ कृधि) अपने ही साक्षात् करने में समर्थ कर ।

[७८] स्त्री पुरुष का परस्पर व्यवहार ।

अथर्वा ऋषिः । १,२ चन्द्रमा त्वष्टा देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः ।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥

भा०—(तेन) उस (भूतेन) प्रभूत, प्रचुर, परिपक्क (हविषा)

३-(च०) 'ताभिरेनं निवर्त्तय' । इति पैप्प० सं० । 'पुनर्नो नष्टमाकृधि' 'पुनर्नो रयिमाकृधि' इति यजु० ।

[७८] १-(प्र०) 'भूतस्य' (तृ० च०) 'जायां यामस्या विदं सा रसेनाभिवर्धताम्' इति पैप्प० सं० ।

अन्न से (अयम्) यह पति (पुनः) वार २ (आप्यायताम्) पुष्ट हो और (याम्) जिस (जायाम्) स्त्री को (अस्मै) इस पुरुष के साथ (आ-अवाक्षुः) विवाह किया है (तां) उसको भी (रसेन) रस, पोषक पदार्थ से (अभिवर्धताम्) पुष्ट करे। पति अपनी स्त्री को भी वही पुष्टिकारक अन्न खिलावे जिससे वह स्वयं पुष्ट होता है।

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥

भा०—मनुष्य (पयसा) पुष्टिकारक पदार्थ से (अभि वर्धताम्) बढ़े और (राष्ट्रेण) राष्ट्र से भी बढ़े। (इमौ) ये दोनों स्त्री और पुरुष (सहस्रवर्चसा) सहस्रों प्रकार से बल देने वाले (रय्या) धन से (अनुपक्षितौ) कभी दरिद्र न (स्ताम्) हों।

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

भा०—(त्वष्टा) परमात्मा (जायाम्) पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्री को उत्पन्न करता है। और (अस्यै) इस स्त्री के लिये हे पुरुष ! (त्वष्टा) त्वष्टा, परमात्मा ही (त्वाम् पतिम्) तुझ पति को भी उत्पन्न करता है। (त्वष्टा) परमात्मा ही (वाम्) तुम दोनों को (सहस्रम्) हज़ारों (आयूंषि) वर्षों तक की (दीर्घम्-आयुः) दीर्घ जीवन (कृणोतु) करे।

२–(प्र०) 'वर्धतां प्रजया' इति पैप्प० सं०।

३–(द्वि०) 'त्वां पतिम्दधौ', (तृ०) 'सहस्रआयू–' (च०) 'कृणोतु माम्' इति पैप्प० सं०।

[७९] प्रचुर अन्न की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । संस्फानो देवता । १–२ गायत्र्यौ, ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती ।
तृचं सूक्तम् ॥

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु । असमातिं गृहेषु नः ॥१॥

भा०—(अयं) यह ही प्रत्यक्ष सूर्य, मेघ या वायु (सं-स्फानः) अन्न को बढ़ानेवाला (नभसः) अन्तरिक्ष का या वर्ष के प्रथम मास श्रावण का पति, पालक है । वह (नः) हमारी (अभि रक्षतु) सब प्रकार से रक्षा करे । और (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (असमातिम्) इतना अन्न आदि समृद्धि प्रदान करे जो समा भी न सके ।

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

भा०—हे (नभसः पते) नभः, अन्तरिक्ष के स्वामिन् ! (त्वं) तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न को (धारय) भर । और (पुष्टम्) हृष्ट, पुष्ट, (वसु) सम्पन्न धन प्राप्त करा ।

देवं संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व
तस्य नो धेहि भक्तिवांसः स्याम ॥ ३ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (संस्फान) अन्न के वृद्धिकारक ! तू (सहस्र-पोषस्य) हज़ारों जीवों के पोषण करने में समर्थ धनधान्य का

[७९] १–'गृहाणामसमत्यै भव बहवो नो गृहा असन्' इति तै० सं० । (प्र०) नभसः पुरः' इति तै० सं० ।

२–(प्र०) 'स त्वं '। (द्वि०) 'ऊर्जं नो धेहि भद्रया' इति तै० सं० ।

३–(द्वि०) 'सहास्रपोषिषे' 'तस्य नो धेहि तस्य ते भक्षीमहि' इति पैप्प० सं० । (च०) 'भक्तिवानो भूयास्म', 'तस्यास्ते भक्तिवानाः स्याम' इति तै० ब्रा० ।

(ईशिषे) स्वामी है । (तस्य) उसे (नः) हमें भी (रास्व) प्रदान कर और (नः) हमें (तस्य) वही (धेहि) दे । (ते) तेरे (तस्य) उसी अपरिमित धन के हम भी (भक्तिवांसः स्याम) भागी हों ।

[८०] कालकञ्ज नक्षत्रों के दृष्टान्त से प्राणों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा देवता । भुरिक् । अनुष्टुप् १,३ प्रस्तार पंक्तिः तृचं सूक्तम् ॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूताव॒चाकशत् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

(प्र०, द्वि०) ऋ० १० । १३६ । ४ प्र०, द्वि० ॥

भा०—दिव्य श्वा के दृष्टान्त से प्राण का वर्णन करते हैं । जिस प्रकार दिव्य श्वा (अन्तरिक्षेण पतति) अन्तरिक्ष मार्ग से गमन करता है उसी प्रकार यह दिव्य श्वा—देव-इन्द्रियों के लिये हितकारी प्राणमय आत्मा अन्तरिक्ष=देह के भीतरी भाग में गति कर रहा है । और जिस प्रकार वह (विश्वा भूता) समस्त नक्षत्रों में (अव चाकशत्) अधिक प्रकाशमान है उसी प्रकार यह प्राणमय आत्मा (विश्वा भूता) समस्त पञ्चभूत के विकार तन्मात्र इन्द्रियां और समस्त जीवों को प्रकाशित करता है, जीवित चैतन्य बना देता है । उस (दिव्यस्य) दिव्य, क्रीड़नकारी, तेजोमय (शुनः) चेतनामय गतिशील प्राणमय आत्मा का (यत् महः) जो चेतनास्वरूप तेज है, हे अग्ने ! आत्मन् ! (तेन हविषा) उस अन्न जीवन रूप शक्ति से (ते विधेम) तेरी अर्चना करें, तेरा ज्ञान करें ।

[८०] १–(द्वि०) 'विश्वरूपा' । (द्वि० तृ० च०) 'स्वभूता व्यचाकशत्' शुनो दिव्यस्येदं महस्तस्मा, एतेन हविषा जुहोमि, इति पैप्प० सं० ।

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ।
तान्त्सर्वानह्व ऊतयेस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (त्रयः) तीन (कालकञ्जाः) कालकंज नामक तारे, मृगशिरा नक्षत्र मण्डल में (दिवि) द्यौ लोक में (श्रिताः) आश्रय पाये हुए हैं। वे (देवाः, इव) इस मूर्धास्थल शिरोभाग में विद्यमान तीन प्राणों की शक्तियां अर्थात् चक्षु, वाणी और श्रोत्र के समान हैं। इसी प्रकार आत्मा में और भी प्राण गुंथे हुए हैं। वे सब भी कालकाञ्ज अर्थात् कलना, चेतनाशील कञ्ज पद्म=सहस्रकमल रूप मूर्धागत मस्तिष्क शक्ति के पुत्र हैं (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै) इस पुरुषस्वरूप आत्मा के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये और (ऊतये) रक्षा के लिये (अह्वे) पुकारता हूं उनका उपदेश करता हूं।

मृगशिरा नक्षत्र मंडल, कालपुरुष मण्डल भी कहाता है। उसके बीच के तीन तारे कालकञ्ज कहाते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में—"कालकञ्जा वै नामासुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकाय अग्निमचिन्वत" इत्यादि आख्यायिका में लिखा है—स इन्द्रस्य इष्टकामावृहत्। ते अवाकीर्यन्त। ये अवाकीर्यन्त त उर्णनाभयोऽभवन्। द्वावुदपतताम्। तौ दिव्यौश्वानावभवताम्॥ इत्यादि। यह ऐतिह्य सृष्टिक्रम के सिद्धान्त को स्पष्ट करता हुआ अध्यात्म में पंच प्राणों को स्पष्ट करता है। अर्थात् कालपुरुष मण्डल के 'मृगशिरा' भाग में तीनों तारे कालकञ्ज हैं, उनमें से बहुतसे तारे एक नेबुला या मूलमेघ या निहारिका से आवृत हैं। जिनको तैत्तिरीय ब्राह्मण के शब्दों में 'ऊर्णनाभि' शब्द से कहा है। और उनमें दो 'श्वा' एक कैनिस मेजर और दूसरा कैनिस माइनर' सब मिलकर 'कालकाञ्ज' कहलाते हैं उसी प्रकार अध्यात्म में शिरो भाग में या इस काल=चेतनमय देह में कान, आंख, मुख ये तीन 'कालकञ्ज' हैं और इनके साथ दोनों प्राण दो श्वान हैं।

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने! (अप्सु) समस्त संसार के मूल कारणरूप निहारिकाओं में से (ते जन्म) तेरा जन्म हुआ है और (दिवि) द्यौलोक में (ते) तेरी (सधस्थम्) अन्यतेरे जैसे सहस्रों प्रकाशमान पिण्डों के साथ स्थिति है। और तू (समुद्रे अन्तः) इस विशाल आकाश के भीतर है। और (ते महिमा) तेरी महिमा, विशाल कार्यक्षमता (पृथिव्याम्) पृथिवी पर प्रकट होती है। वास्तव में (दिव्यस्य) दिव्य आकाशस्थ (शुनः) श्वा='कैनिस मेजर का (यत् महः) जो नील प्रखर तीव्र प्रकाश है (तेन हविषा) उस रूप से हम (ते विधेम) तेरे रूपको भी जानते हैं।

यह बात वेद ने बड़े महत्व की बतलाई है। यह इस पृथ्वी का सूर्य आकाश के अति-प्रकाशवान् व्याध तारे के समान ही है। उसका भी नीला तेज ही है। वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी तथा सूर्य के निजी वातावरण के कारण सूर्य पीला दीखता है वास्तविक रूप उज्वल नील है।

अध्यात्म में—अग्निस्वरूप आत्मा आपः=प्राणों के भीतर लिपटकर या जलों में जीवन ग्रहण करता है। प्राणों, इन्द्रियों के बीच में रहता है, इस हृदय-समुद्र में व्यापक होकर भी पृथिवी=पार्थिव देह में अपनी चेतनामय महिमा को प्रकट करता है। दिव्य श्वा=मुख्य प्राण की शक्ति अहंकार से हम उस आत्मा की अर्चना करते हैं। इस सूक्त का रहस्य देखो कौषीतकी उपनिषद् (अ० ३)

[८१] पति-पत्नी का पाणि-ग्रहण, सन्तानोत्पादन कर्त्तव्यों का उपदेश।

त्वष्टा ऋषिः। मन्त्रोक्ता उत आदित्यो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

३–'स नो दिव्यस्य' इति पैप्प० सं०।

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥

भा०—इस सूक्त में कंकण या रक्षासूत्र के दृष्टांत से पति के कर्त्तव्यों का जायापति संवाद रूप में उपदेश करते हैं । पत्नी कहती है—हे पते ! (यन्ता असि) तू यन्ता, नियामक, मुझे विवाह बन्धन में बांधने वाला है । इसलिये (हस्तौ) मेरे दोनों हाथों को कङ्कण या रक्षा सूत्र से (यच्छसे) बांधता है । और इस प्रकार (रक्षांसि) हमारे गृहस्थ के विघ्नकारी पुरुषों को (अप सेधसि) दूर करता है । इसी कार्य से (अयम्) यह मेरा पति (परिहस्तः) मेरे हाथों को बांधने या ग्रहण करने वाला होकर ही (प्रजां) मेरी सन्तान और (धनं च) धनको (गृह्णानः) स्वीकार करने का अधिकारी (अभूत्) हो जाता है ।

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥

भा०—हे (परि-हस्त) जाया या पत्नी का हस्त ग्रहण करने वाले पते ! तू (योनिं) पुरुषों के उत्पन्न करने वाली स्त्री को (गर्भाय) गर्भगत सन्तान के (धातवे) धारण कराने और पोषण करने के लिये (विधारय) विशेष रूप से पालन कर । पति अपनी पत्नी को आज्ञा देता है कि हे (मर्यादे) मर्य=पुरुषों को पति रूप में स्वीकार करने हारी पत्नि ! तू (पुत्रम्) पुत्रको (आधेहि) धारण कर । (तम्) और उस पुत्रको (आगमे) मेरे सहवास में (आगमय) उत्पन्न कर अथवा (तं आगमे आगमय) उस पुत्रको आगम=उत्पन्न होने के उचित अवसर पर जब शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न करने की आज्ञा दे तब उत्पन्न करें ।

---

[८१] १—(तृ०-) 'कृण्वानः' इति सायणाभिमतः ।
२, उत्पादयेत्यर्थः इति सायणः ।

यं परि॑हस्तमबि॑भरादि॑तिः पुत्रकाम्या ।
त्वष्टा तम॑स्या आ ब॑ध्नाद् यथा॑ पुत्रं जना॒दिति॑ ॥ ३ ॥

भा०—(अदितिः) अखण्डित, ब्रह्मचारिणी स्त्री (पुत्रकाम्या) पुत्र की अभिलाषा वाली होकर (यम् परिहस्तम्) निज पाणिग्रहण करने वाले जिस पति को (अविभः) धारण करती है । (तम्) उसको (अस्याः) इस पत्नी के संग (त्वष्टा) परमात्मा (इति) इसलिये (आवध्नात्) सब प्रकार से बांधता है कि (यथा) जिससे वह स्त्री (पुत्रं जनात्) पुत्र को उत्पन्न करे ।

पति स्त्री के हाथ में कंकण पहनाता या अपना रक्षासूत्र केवल इस बातको सूचित करने के लिये बांधता है कि वह उसका पति है । वह कंकण ही सधवापन का चिह्न है । वह पति पुत्रको उत्पन्न करता है । केवल कंकणपरक अर्थ करना असंगत है, क्योंकि जड़ कंकण पुत्रको उत्पन्न करने में असमर्थ है ।

[८२] वर-वरण का उपदेश ।

जायाकामो भग ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आ॒गच्छ॑त आग॑तस्य नाम॑ गृह्णाम्याय॒तः ।
इन्द्र॑स्य वृत्र॒घ्नो व॑न्वे वास॒वस्य॑ श॒तक्र॑तोः ॥ १ ॥

भा०—विवाह करने वाले वरका स्वागत करने का उपदेश करते हैं । कन्या के पिता आदि लोग वर-पक्ष के लोगों को या स्वयं वरार्थी पुरुषों

३-(च०) 'सुवादिति' इति पैप्प० सं० ।

[८२] १-'आगच्छता गतस्य' इति पैप्प० सं० । (च०) 'शतक्रतो' इति सायणाभिमतः ।

को कहें। हे विद्वान्, योग्य पुरुषो ! (आगच्छत) आओ और विराजो। मैं (आगतस्य) कन्या को प्राप्त करने के लिये मेरे द्वार पर आये पुरुष के (नाम) नाम को (गृह्णामि) लेता हूँ, स्पष्ट रूप से सबके सामने उच्चारण करता हूं जिससे आप लोग सब जान जायँ कि मैं अपनी कन्या का विवाह कितने उत्तम पुरुष से कर रहा हूं। और (आयतः) आयें हुए (वृत्रघ्नः) विघ्नों के नाशक, (वासवस्य) धन, ऐश्वर्य के स्वामी (शतक्रतोः) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों के साधक विद्वान् क्रियाशील (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा के समान प्रतिष्ठाशील पुरुषको अपनी कन्या के लिये (वन्वे) वरता हूं, स्वीकार करता हूं।

वर या बींद को राजा के। समान सजाकर लेजाने की आज्ञा वेद के आदेश के अनुसार है। परन्तु जो ब्राह्मण हैं उनका इन्द्रत्व विद्या के आचार्य होने से ही जानना चाहिये। जैसा उपनयन एवं वेदारम्भ में लिखा है:—कस्य ब्रह्मचार्यसि। बालकः—भवतः। गुरुः–इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि। अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव।

येन॑ सू॒र्यां सा॑वि॒त्रीम॒श्विनो॒हतुः॑ प॒था।
तेन॒ माम॑ब्रवी॒द् भगो॒ जा॒याम॒ा व॑हता॒दिति॑ ॥ २ ॥

भा०—(अश्विनौ) दिन और रात (येन पथा) जिस मार्ग से, जिस विधि से (सावित्रीं सूर्याम्) प्रकाश उत्पन्न करने वाली प्रभाको (ऊहतुः) बड़े आदर से समस्त विश्व में फैलाते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) वर के माता पिता (सावित्रीम्) पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ नवयुवति, नवोढ़ा कन्या को उसी मान आदर से (ऊहतुः) अपने घर लेजावें। इसलिये वर कहता है कि (भगः) भग=ऐश्वर्यवान् मेरा पिता (माम् इति अब्रवीत्) मुझे यह उपदेश करता है कि (जायाम्) अपनी स्त्री को भी (तेन) उसी आदार से (आवहतात्) बड़े आदर से रथ पर

बैठाकर लेजाओ। इस विवाह प्रकरण का विशेष विव
सू० १५) में देखो। उसका विवरण (ऐ० ब्रा० ४

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन्! (यः) जो (ते) तेरा (अंकुशः) अंकुश, शासन (वसुदानः) बहुत धन वितरण करने वाला (हिरण्ययः) सुवर्णमय (बृहन्) बहुत बड़ा है। हे (शचीपते) समस्त शक्तियों के स्वामिन्! (तेन) उसी अंकुश या शासन से (जनीयते) पुत्रोत्पादन करने योग्य पत्नी की कामना करने वाले (मह्यं) मुझे भी (जायां धेहि) जाया, स्त्री का प्रदान कर।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि ऋचश्चैकत्रिंशत्।]

[८३] अपची या गण्डमाला रोग की चिकित्सा।

अंगिरा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता। १ अनुष्टुप्। ४ एकावसाना द्विपदा निचृद् आर्ची अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु ॥ १ ॥

भा०—गण्डमाला की चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे (अपचितः) गण्डमाला अपची रोग के विना पके फोड़ो! (वसतेः) अपने वास स्थान से (सुपर्ण इव) पक्षी श्येन के समान (प्र पतत) शीघ्र ही विनष्ट हो

३-(च०) 'त्वं धेहि शतक्रतो' इति पैप्प० सं०।

जाओ । (सूर्यः) सूर्य (भेषजम्) चिकित्सा (कृणोत) करे (वा) अथवा (चन्द्रमाः) चन्द्र (अप उच्छतु) इनको दूर करे । सूर्य की किरणों से या चन्द्र की किरणों से गण्डमाला की चिकित्सा करनी चाहिये । नीले रंग की बोतल से रक्तविकार के विस्फोटक दूर होते हैं । यही प्रभाव चन्द्रालोक का भी है । रात्रि के चन्द्रातप में पड़े, जल से प्रातः विस्फोटकों को धोने से उनकी जलन शान्त होती और विषनाश होता है । यह लेखक का निजी अनुभव है ।

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥

भा०—उक्त गण्डमालाओं में से (एका) एक (एनी) हलकी लाल श्वेत रंग की स्फोटमाला होती है और (एका) दूसरी एक (श्येनी) श्वेत फुन्सी वाली होती है । (एका) तीसरी एक (कृष्णा) काली फुन्सियों वाली होती है । और (द्वे) दो प्रकार (रोहिणी) लाल रंग की होती हैं । उनको क्रम से ऐनी, श्येनी, कृष्णा और रोहिणी नाम से कहा जाता है । इस प्रकार (अहम्) मैं (सर्वासाम्) इन सबके (नाम) नाम और लक्षणों का अथवा इनके नमन या दमन या वश करने के उपाय का (अग्रभम्) उपदेश करता हूं । जिससे ये (अवीरघ्नीः) पुरुष का जीवन विनाश किये विना ही (अपेतन) दूर होजाया करें ।

असूतिका रामायण्य/पचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥

भा०—(असूतिका) जो गण्डमाला पीप पैदा नहीं करती वह (रामायणी) रामा=रक्तनाड़ी में ही छिपी रहती है, ऐसी (अपचित्)

३—(च०) 'गलन्तः' इति क्वचित् ।

अपची या गण्डमाला भी पूर्वोक्त उपचार से (प्र पतिष्यति) विनष्ट हो जायगी । (इतः) इस स्थान से (ग्लौः) व्रणकी पीड़ा भी (प्र पतिष्यति) विनष्ट हो जायगी । (सः) वह (गलुन्तः) गलने से, परिपक्व होजाने से (नशिष्यति[1]) विनष्ट हो जायगी ।

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥४॥

भा०—हे पुरुष ! रोगिन् ! तू (स्वाम्) अपनी (आहुतिम्) भोजन सामग्री को (मनसा जुषाणः) अपने मन से प्रेम करते हुए (वीहि) खाया कर । (यद्) जो कुछ भी (इदम्) यह कटु ओषधि भी (जुहोमि) मैं तुझे दूं उसको (मनसा) मन से (स्वाहा) उत्तम जानकर सेवन कर । तभी रोग नष्ट होगा और खाये हुए औषध और अन्न का फल होगा । अथवा अपने (मनसा) मननपूर्वक भोजन करो और जो मैं ईश्वर (जुहोमि) तुम लोगों को देता हूं उसको भी मननपूर्वक (स्वाहा) स्वीकार करो। अविवेक से किसी पदार्थ को न खाओ और न उपयोग में लो।

[८४] आपत्ति और कष्टों के पापों से मुक्त होने की प्रार्थना ।

अङ्गिरा ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता । १ भुरिक् जगती । २ त्रिपदा आर्ची बृहती ३ जगती ४ भुरिक् त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यस्यांस्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम् ।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥ १ ॥   यजु० १२ । ६४ ॥

---

१. 'न, शिष्यासि' इति सायणसम्मतः पदच्छेदः ।

४—'सकलं तेन शुष्यति [शुष्याति]' इति पैप्प० सं० ।

१—(प्र०) 'घोर आसन्' इति यजु० । 'क्रूर आसन्' इति पैप्प० सं०। 'यदघंत आसानि' इति मै० सं० । (द्वि०) 'बन्धनाम्' यजु०, तै०

भा०—हे निर्ऋते ! पापमय, असत्यमय, आलस्यमय प्रवृत्ते ! (यस्याः (ते) जिस तेरे (घोरे आसनि) घोर मुख में (एषाम्) इन (बद्धानाम्) विषयों में बंधी हुई इन्द्रियों के (अव-सर्जनाय) सुख पूर्वक विचरण के लिये (जुहोमि) अपने आपको आहुति करता हूं। उस (त्वा) तुझको (जनाः) प्राणी लोग (भूमिः इति) अपने जीवन का आश्रय, सुख-भूमि रूप से या जीव को जन्मदात्री (अभि-प्रमन्वते) मानते हैं परन्तु (अहं) मैं ज्ञानवान् पुरुष तो (त्वा) तुझको (सर्वतः) सब प्रकार से (निर्ऋतिः) आनन्द रहित, निःसुख, कष्टकारिणी ही (परि वेद) जानता हूं।

दुनियां इन्द्रियों के विषय-सुखों को जीवन का आश्रय समझती है। परन्तु आत्मज्ञानी विषय-सुखों को ही हेय पदार्थ समझता है। निर्ऋतिः निरमणात् (निरु०)।

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु।
मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे भूते ! संभूते ! आत्मा के देह में उत्पन्न होने के कारण-रूप ! तू (हविष्मती भवः) हवि=अन्न=भोग्य पदार्थों से सम्पन्न (भव) हो। (एषः) यही (ते) तेरा (भागः) भाग=सेवन करने योग्य पदार्थ है (यः) जो (अस्मासु) हम प्राणियों में विद्यमान है (इमान्) इन इहलोक के वासी और (अमून्) उन इस लोक में शरीर छोड़कर जाने वाले सब जीवों को (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त कर (स्वाहा) हमारी यही उत्तम प्रार्थना है। प्राणी उत्पन्न हों तो उनको उत्तम

सं० । 'बन्धानां प्रमोचनाय' इति मै० सं० । (तृ० च०) 'यंत्वा-जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वतः' इति यजु० ।
२–(प्र०) 'भूमे हवि–' इति लडविग्कामितः ।

उत्तम अन्न आदि भाग्य पदार्थ प्राप्त हों । और वे सब जीव कुप्रवृत्ति से मुक्त होकर पाप से दूर रहें ।

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वा ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥३॥

अथर्व० ६ । ६३ । २ (द्वि० तृ० च०)

भा०—हे (निर्ऋते) दुष्प्रवृत्ते ! ज्ञानशून्ये ! अविद्ये ! दुःखकारिणि ! (अनेहा) निश्चेष्ट अथवा आघात रहित होकर (एव उ) ही (त्वम्) तू हमारे (अयस्मयान्) आवागमन के बने हुए मानो लोहे से बने (बन्धपाशान्) कर्मबन्धन के फन्दों को (अस्मत्) हमसे (विचृत) खोलदे दूर कर । (यमः) वह सर्वनियन्ता प्रभु (पुनः इत्) फिर भी (त्वा) तुझको (मह्यम्) भोग निमित्त मुझे (ददाति) प्रदान करता है । मैं (तस्मै) उस(यमाय) सर्व नियन्ता को (नमः) नमस्कार करता हूं । (मृत्यवे) जो देह को आत्मा से और आत्मा को बन्धनों से मुक्त करता है ।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । सांख्य । प्रकृति का बना संसार या कर्म अविद्या भोग के लिये है और यही तत्व ज्ञानी के लिये अपवर्ग का कारण होती है ।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

भा०—व्याख्या देखो [६ । ६३ । ३]

[८५] यक्ष्मा रोग की चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । यक्ष्मनाशनकामो । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृच सूक्तम् ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥

अथर्व० १० । ३ । ५ ॥

भा०—यक्ष्मा दोष के नाश का उपदेश करते हैं। (अयं) यह (वरणः) वरण नाम का (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) वृक्ष (वारयतै) बहुतसे दोषों को नाश करता है । (अस्मिन्) इस पुरुष में (यः) जो (यक्ष्मः) रोगकारी कीटाणु (आविष्टः) प्रवेश कर गये हैं (तम् उ) उनको भी (देवाः) विद्वान् लोग (अवीवरन्) वरण नामक औषध के बलसे ही दूर करदें । वरण=वरुण=जीरक, इसके तीन भेद हैं। शुक्ल जीरक, कृष्ण जीरक और बृहत्पाली । जिनमें बृहत्पाली। जीर्ण ज्वर का भी नाशक है। कृमिघ्न तो सभी हैं। वरुण तमाल वृक्ष का भी नाम है। वह सुगन्ध होने से कदाचित् यक्ष्मदोष को दूर करने में सहायक हो।

इन्द्रस्य वर्चसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च ।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥ २ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) सूर्य (मित्रस्य) मरण से त्राण=रक्षा करने वाली शुद्ध वायु और (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ या व्यापक विद्युत् सम्बन्धी (वचसा) उत्तम उपदेशों द्वारा और (सर्वेषां देवानाम्) समस्त देव विद्वानों की वाणी, सत्-शिक्षा से हम (ते यक्ष्मं) तेरे राजरोग को भी (वारयामहे) दूर करें ।

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः ।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वृत्रः) मेघः (विश्वधा यतीः) सब ओर बहने वाले (इमाः, आपः) इन जलों को (तस्तम्भ) अपने भीतर रोक रखता है उसी प्रकार वैद्य रोगी की धातुओं को क्षीण होने से

३–(द्वि०) 'विश्वधायतीः' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'वृत्रैमापः' इति पैप्प० सं० ।

रोके और (एवा) इस प्रकार (वैश्वानरेण) सब मनुष्यों के हितकारी (अग्निना) अग्नि से (ते यक्ष्मम्) तेरे राज-रोग को (वारये) दूर करूं ।

[८६] सर्वश्रेष्ठ होने का उपदेश ।

वृषकामोऽथर्वा ऋषिः । एकवृषो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् ।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

भा०—सब से श्रेष्ठ होने के लिये वेद उपदेश करता है । हे पुरुष ! (इन्द्रस्य) उस परम ऐश्वर्य से तू भी (वृषा) सब काम्यसुखों का वर्षक (भव) हो । (दिवः) द्यौः सूर्य के तेज से जिस प्रकार मेघ पानी बरसाता है उसी प्रकार तू भी तेज से युक्त होकर (वृषा भव) सब पर सुखों की वर्षा करने वाला हो । (अयम्) यह मेघ (पृथिव्याः वृषाः) पृथिवी पर जिस प्रकार सब वृष्टियां करता और अन्न उत्पन्न करता है उसी प्रकार तू भी सब पदार्थ दूसरों पर न्योछावर करके उनके सुखों को उत्पन्न कर । (विश्वस्य भूतस्य वृषा) समस्त चर अचर प्राणियों के लिये सुखों का वर्षक होकर हे पुरुष ! (त्वम्) तू भी (एक-वृषः भव) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ हो ।

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार (स्रवताम्) बहने वाले जलों, नदी नालों पर (समुद्रः) समुद्र ही (ईशे) वश करता है । और जिस प्रकार (पृथिव्याः)

[८६] १–'ऐन्द्रस्य', 'ईश्रस्य' वा इति ह्विटनिकामितः ।
२–(तृ०) 'सूर्यो नक्षत्राणाम्' इति पैप्प० सं० ।

पृथिवी के तल पर उत्पन्न होने वाले सब वनस्पतियों पर (अग्निः) अग्नि उनको भस्म करने वाली होने के कारण (वशी) उन पर वश किये हुए है और जिस प्रकार (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों में से (चन्द्रमाः ईशे) चन्द्र ही अपने तेज से सब के प्रकाशों को दबा लेता है, उसी प्रकार हे पुरुष! तू समस्त प्रजाजनों के बीच में (एकवृषः) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ (भव) हो, होने का यत्न कर।

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम्।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

भा०—हे उत्तम पुरुष! तू (असुराणाम्) बलवान् पुरुषों का भी (सम्राट् असि) सम्राट् है। (मनुष्याणाम्) साधारण मनुष्यों में अथवा मननशील पुरुषों में भी (ककुत्) सबके ऊपर विराजमान है। (देवानाम्) दिव्य शक्तियों के धारण करनेवाले विज्ञानी पुरुषों में (अर्धभाक् असि) श्रेष्ठ पद को पाने वाला है। अतः (त्वम्) तू ही (एकवृषः भव) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ हो।

[८७] राजा को स्थायी और दृढ़ शासक होने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। ध्रुवो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥
ऋ० १० । १७३ । १ ॥

[८७] १–'अन्तरेधि' (द्वि०) 'चावालिः' इति ऋ०। (च०) 'अस्मिन् राष्ट्रमधिश्रय' इति तै० सं०। 'अस्मे राष्ट्राणि धारय' इति तै०सं०। ऋग्वेदे ध्रुव ऋषिः। राज्ञः स्तुतिर्देवता।

भा०—राजा को प्रजा का स्थायी शासक होने का उपदेश करते हैं। हे राजन्! मैं समस्त प्रजाजनों का प्रतिनिधि, पुरोहित (त्वा) तुझको (आहार्षम्) यहां राजसभा के मुख्य पद पर लाता हूं। तू (अन्तः अभूः) हम सब के बीच में शक्तिमान् होकर रह। तू (ध्रुवः) स्थिर (अविचाचलत्) कभी भी प्रलोभन, भय और स्वार्थ के झंकोरों से भी न डिगता हुआ (तिष्ठ) इस आसन, राज्य-सिंहासन पर बैठ। (त्वा) तुझको (सर्वाः विशः) समस्त नगर में बसने वाली प्रजाएं (वाञ्छन्तु) हृदय से चाहें। देख, कहीं किसी तेरे दोष से यह (राष्ट्रम्) तेरा राष्ट्र (त्वत्) तेरे अधिकार से (मा अधिभ्रशत्) न फिसल जाय। अर्थात् जब तक प्रजा तुझको चाहेगी तब तक ही तू इस पद पर राष्ट्र का शासन कर पायेगा और जब यह प्रजाएं न चाहेंगी तो यह राष्ट्र तेरे शासन से निकल जायगा।

इहैवैधि माप॑ च्योष्ठाः पर्व॑त इवावि॑चाचलत् ।
इन्द्र॑ इवेह ध्रुवस्ति॑ष्ठेह राष्ट्रमु॑ धारय ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७३ । २ ॥

भा०—हे राजन्! (इह एव एधि) इस राष्ट्र में तू सत्तावान् होकर रह। (मा अप च्योष्ठाः) तू कभी च्युत मत हो, अपने कर्त्तव्य से मत गिर। और (पर्वत इव) पर्वत के समान (अविचाचलत्) किसी प्रकार विचलित न होता हुआ (इन्द्र इव) सूर्य के समान (ध्रुवः) स्थिर होकर (इह) इस राजपद पर (तिष्ठ) विराज और (राष्ट्रम् उ धारय) राष्ट्र को पालन कर।

२—(द्वि०) 'नाचलिः' इति ऋ०। (प्र०) 'माव्यथिष्ठाः' इति तै० ब्रा०। (च०) 'राष्ट्रम्' इति आप० श्रौ० सू०। 'राष्ट्रं निधा—' इति पैप्प० सं०।

इन्द्रं एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १७३ । ३ ॥

भा०—जिस प्रकार (इन्द्रः) परमेश्वर (एतम्) इस ब्रह्माण्ड को (ध्रुवेण) अपनी स्थिर, सदा वर्त्तमान (हविषा) आदान शक्ति से (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (अदीधरत्) धारण कर रहा है । उसी प्रकार राजा भी इस राष्ट्र को (इन्द्रः) अधिपति होकर अपनी (ध्रुवेण हविषा) स्थिर प्रतिष्ठापक शक्ति से (अदीधरत्) धारण करे । (तस्मै) उस इन्द्ररूप राजा को (सोमः) यह शान्त प्रकृति या सबका प्रेरक धर्माध्यक्ष और (ब्रह्मणस्पतिः च) वेद का विद्वान् आचार्य भी (अधि ब्रवत्) उपदेश करे ।

[८८] राजा को ध्रुव होने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । ध्रुवो देवता । १-२ अनुष्टुभौ । ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (द्यौः ध्रुवा) यह द्यौः लोक ध्रुव स्थिर है । जिस प्रकार (पृथिवी ध्रुवा) पृथिवी भी स्थिर है वह अपने क्रान्ति-मार्ग से विचलित नहीं होती । (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त संसार

३-(प्र०) 'इममिन्द्रो अदी' (तृ०) 'तस्माउ' इति ऋ० । 'तस्मैदेवा अधिब्रुवन्' इति तै० ब्रा० ।

[८८] १-प्र० तृ० द्वि० च० इति पादक्रमः ऋ० । (तृ०) 'ध्रुवा इ–' इति तै० ब्रा० ।

(ध्रुवम्) ध्रुव, अपने नियमों में स्थिर है। जिस प्रकार (इमे पर्वताः ध्रुवासः) ये पर्वत भी ध्रुव हैं। उसी प्रकार (अयम् राजा) यह राजा भी (विशाम्) प्रजाओं में (ध्रुवः) स्थिर हो।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २॥

ऋ० १०। १७३। ५॥

भा०—हे राजन्! (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (राजा वरुणः) सब का राजा, वह सर्वश्रेष्ठ प्रभु (ध्रुवम्) ध्रुव स्थिर करे। (देवः बृहस्पतिः) वही समस्त विशाल लोकों का पालक परम देव तेरे राष्ट्र को (ध्रुवम्) स्थिर करे। (इन्द्रः च) वह ऐश्वर्यशील और (अग्निः च) ज्ञानस्वरूप प्रभु (ते) तेरे राष्ट्र को (ध्रुवं धारयताम्) स्थिर रूप से धारण करे।

अथवा वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि ये राष्ट्र के विशेष शासकों के पद हैं। वरुण—पोलीस विभाग का अध्यक्ष। बृहस्पति–मुख्य सचिव इन्द्र। सेनापति, अग्नि–नायक।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥३॥

भा०—हे राजन्! तू (अच्युतः) अपने कर्त्तव्यों से न चूक कर (ध्रुवः) स्थिर रहता हुआ (शत्रून्) राष्ट्र का नाश करने वाले पुरुषों को (प्र मृणीहि) खूब कुचल डाल। और (शत्रूयतः) शत्रु पुरुषों के समान आचरण करने वाले पुरुषों को (अधरान्) नीचे (पादयस्व) गिरा दे। (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं, सब दिशाओं की निवासी प्रजाएं

३–(द्वि०) 'पातयस्व' इति सायणाभिमतः।

(सध्रीचीः) एक साथ रहती हुईं (सं-मनसः) एक चित्त होकर रहें । (समितिः) प्रजाओं की महासभा (इह) इस राष्ट्र में (ते ध्रुवाय) तेरे स्थिरता के लिये (कल्पताम्) बनी रहें ।

[८९] पति का कर्त्तव्य पत्नीसंरक्षण ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम् ।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जो (इदम्) यह (प्रेण्याः) प्रियतमा पत्नी का (वृष्ण्यम्) बलप्रद (शिरः) शिर—इज्ज़त, कीर्त्ति (सोमेन) सर्व जगत् के प्रेरक परमात्मा ने हे पुरुष! तेरे हाथ में (दत्तम्) दी है। (ततः) उस स्त्री की कीर्त्ति से (प्र-जातेन) उत्पन्न हुए उत्कृष्ट तेरे यश या कर्त्तव्य से (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदय के भावों को (परि शोचयामसि) हम उद्दीप्त करते हैं। मनुष्य स्त्रियों की कीर्त्ति की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझे और उनकी बे-इज्जती होती देखे तो अपने हृदय में मन्यु धारण करे। इसी प्रकार स्त्रियें भी अपने पतियों के यश की रक्षा करें।

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः ।
वातं धूम इव सध्र्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

भा०—हे मित्र ! उसी कर्त्तव्य से (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदय के भावों को हम (शोषयामसि) उद्दीप्त करते हैं। (ते मनः) तेरे मन को (शोचयामः) उद्दीप्त करते हैं। हे स्त्री ! (ते मनः) तेरा संकल्प विकल्प करने वाला मन, अंतःकरण (वातं धूम इव) जिस प्रकार वायु

[८९] १–'परिप्रजातेन' इत्येकं पदमिति सायणः ।
२–(तृ०) 'सध्रि' इति सायणाभिमतः ।

के झकोरे के साथ धूआं उड़ा चला जाता है उसी प्रकार (माम् एव) मेरे ही (सध्र्यङ्) साथ २ (अनु एतु) पीछे २ चले। इसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के प्रति भावना करे।

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती ।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥ ३ ॥

भा०—हे स्त्री! (त्वा) तुझको (मित्रावरुणौ) मित्र=मरण से बचाने वाला और वरुण=सर्वशरीरव्यापी प्राण और अपान (समस्यताम्) मिलाएं। (देवी सरस्वती त्वा मह्यं समस्यताम्) देवी सरस्वती यह वाणी तुझे मेरे साथ मिलाए रक्खे। (भूम्या मध्यम्) भूमि का मध्य भाग जहां हमारा घर बना है और (उभौ अन्तौ) उसके दोनों छोर भी (त्वा मह्यं समस्यताम्) तुझे मेरे साथ जोड़े रक्खें। अर्थात् प्राण अपान, जीवन, और वाणी से हम दोनों स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम करें भूमि के बीच में और देश देशान्तरों में भी एक दूसरे का त्याग न करें।

[९०] रोग पीड़ाओं को दूर करने के उपायों का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। रुद्रो देवता। १-२ अनुष्टुभौ। ३ आसुरी भुरिग् उष्णिक्। तृचं सूक्तम् ॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च ।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष! (रुद्रः) सर्व शरीरस्थ आत्माओं को रुलाने वाले रुद्र (याम्) जिस (इषुम्) बाण को तेरे (अंगेभ्यः) शरीर के अंगों और (हृदयाय च) हृदय के प्रति (आस्यत्) फेंकता है (अद्य) आज,

१–(तृ०) इमां त्वामद्य ते वयं' इति पैप्प० सं०।

अब (ताम्) उस पीड़ाकारी बाण को (त्वत्) तुझसे (विषूची) परे, विपरीत दिशा में (वि वृहामसि) दूर कर देते हैं। हृदय और शरीर में आने वाले पीड़ा और दुःख के कारणों का पहले ही से उपाय करना चाहिये।

यास्ते॑ श॒तं ध॒मन॒योऽङ्गा॒न्यनु॒ विष्ठि॑ताः ।
तासां॑ ते॒ सर्वा॑सां व॒यं निर्वि॒षाणि॑ ह्वयामसि ॥ २ ॥

भा०—(याः) जो (ते) तेरे शरीर की (शतं धमनयः) सैकड़ों नाड़ियां (अङ्गानि) शरीर के अंगों २ में (अनु-विष्ठिताः) व्यापक हो रही हैं (ते) तेरी (तासां सर्वासाम्) उन सबों के (निर्विषाणि) अंगों को विषरहित, शुद्ध करने के उपाय (ह्वयामसि) करें।' शरीर में विष (Poison) बैठ जाने से अंगों में दर्द होता है इसलिये पीड़ा को दूर करने के लिये शरीर के विषों को दूर करना चाहिये। दर्द आप से आप दूर हो जायगा।

नम॑स्ते रुद्रास्य॑ते॒ नमः॑ प्रति॑हितायै ।
नमो॑ विसृ॒ज्यमा॑नायै॒ नमो॑ निप॑तितायै ॥ ३ ॥

भा०—रोगपीड़ा को चारों दिशाओं में चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे रुद्र ! रुलाने वाले कारण ! (ते) तेरे (अस्यते) फेंकते हुए तुझे (नमः) हम वश करें। यदि उस समय तुझे न वश कर सकें तो (प्रति-हितायै नमः) तेरे फेंकने के लिये तैयार बाण या शूलकरी तीक्ष्ण धार को (नमः) हम वश करें। यदि उसे भी न रोक सकें तो (विसृज्यमानायै नमः) जब छोड़ ही दिया हो ऐसे बाण को मध्य में वश करें अथवा (निप-तितायै) जब गिर पड़े तब उसको (नमः) वश करें।

२—(प्र०) 'यास्ते हिरा' (तृ०) 'सर्वासां साकं' इति पैप्प० सं० ।
३—(द्वि०) 'प्रतिहिताभ्यः' (तृ० च०) 'विसृज्यमानाभ्यो नमस्तय ताभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

पीड़ाजनक रोग को बाण से उपमा देकर उसके वश करने का उपदेश किया है। प्रथम रोग कारणों को दूर करें और दूसरे जब रोग के कारणों से रोग उत्पन्न होने को हों तब उनको रोकें और तीसरे जब उत्पन्न हो रहे हों तब रोकें और चौथे जब रोग आ भी जाय तब भी उसको वश करें।

[९१] भवरोग-विनाश के उपाय ।

भृग्वङ्गिराः ऋषिः । यक्ष्मा देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः ।
तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये ॥ १ ॥

भा०—भव-रोग के विनाश का उपाय बतलाते हैं। (इमम्) इस (यवम्) शरीर इन्द्रिय आदि संघात को मिलाये रखने वाले आत्मा को (अष्टायोगैः) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन आठ प्रकार के योगों द्वारा और (षड्-योगैः) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और मुमुक्षत्व इन छः के योग, सम्पत्ति से (अचर्कृषुः) कर्षण करते हैं अर्थात् आत्म-भूमि को शोधन करते हैं। (तेन) इस योगाभ्यास से (ते) तेरे (तन्वः) आत्मा और शरीर का (रपः) पाप और रोग (अपाचीनम्) दूर (अप व्यये) करने का उपदेश करता हूं।

न्य१ग् वातो वाति न्य१क् तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्य१ग् भवतु ते रपः ॥ २ ॥
ऋ० १० । ६० । ११ ॥

[९१] १–(च०) 'प्रतीचीन अपहयता' इति पैप्प० सं० ।
२–(प्र०) 'वातो अववाति' इति ऋ० । तत्र बन्ध्वादयो गौपायना ऋषयः । सुबन्धो जीविताह्वानं देवता ।

भा०—हे पुरुष ! (वातः) प्राण वायु (न्यग्) शरीर के नीचे के मार्ग में भी (वाति) गति करता है । (सूर्यः) साधक का चेतनामय सूर्य (न्यक्) नीचे के मूल भाग में भी (तपति) प्रकाशित होता है । (अघ्न्या) कभी न नाश होने वाली चेतना (नीचीनम्) नीचे के मूल भाग में विशेष रूप में प्रकट होती है, साथ ही (ते रपः) तेरा पाप भी (न्यग् भवतु) स्वयं दब कर दूर हो जाय । अथवा—जिस प्रकार (वातः न्यग् वाति) वायु नीचे की तरफ़ वेग से जाता है (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य जिस प्रकार नीचे भूमि पर तपता है, जैसे (अघ्न्या नीचीनम् दुहे) जैसे गाय नीचे झुक कर दूध देती है उसी प्रकार तेरा (रपः) पाप भी (न्यग्) नीचे (भवतु) हो जाय ।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १३७ । ६ ॥ अथर्व० ३ । ७ । ५ ॥

भा०—अथवा (आपः इत् वा) जल ही (भेषजीः) सब रोगों की चिकित्सा है, क्योंकि (आपः) जल ही (अमीव-चातनीः) रोगों को नाशक हैं । (आपः) जल ही (विश्वस्य) समस्त प्राणियों के (भेषजीः) रोग दूर करती हैं, वही (भेषजम्) रोग को दूर (कृण्वन्तु) करें ।

इस सूक्त में तीन प्रकार से मल और पापों को नाश करने का उपदेश किया है (१) योगाभ्यास से चित्त के पापों को दूर करे । (२) क्रिया-योग से कायिक दोषों को दूर करे और (३) जल-स्नान से शरीर के बाह्य मलों को दूर करे ।

३-(तृ०) 'सर्वस्य भेष-' इति ऋ० । (तृ० च०) 'आपः समुद्रार्थीयतीः परावहतु ते रपः' इति पैप्प०सं० । ऋग्वेदे सप्त ऋषय ऋषयः ।

[९२] प्राणरूप अश्व का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः । वाजी देवता । २, ३ त्रिष्टुभौ । १ जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥१॥

यजु० ९ । ८ ॥

भा०—हे (वाजिन्) वाज, बल, ज्ञान से युक्त प्राण ! (युज्यमानः) तू इस देह में नियुक्त होकर (वात-रंहाः भव) वायु के वेग वाला हो। और (मनोजवाः) मानसिक वेग से गतिमान् होकर तू (इन्द्रस्य) इस आत्मा के (प्रसवे) उत्तम ज्ञान-सम्पादन और इन्द्रियों के और शरीर के संचालन के कार्य में (याहि) गति कर । (त्वा) तुझे (मरुतः) ज्ञानी पुरुष (विश्व-वेदसः) सब धनों को प्राप्त करनेवाले, तपस्वी (युञ्जन्तु) योगाभ्यास द्वारा नियुक्त करें । अथवा इन्द्रियगण सब पदार्थों को ज्ञान करने और प्राप्त करने में अपने भीतर लें (त्वष्टा) स्वयं इन्द्र आत्मा (ते) तेरे (पत्सु) समस्त चरणों में, गमन साधनों में (जवम्) वेग का (दधातु) आधान करे।

इन्द्रो वै त्वष्टा । (ऐ० ६ । १०) शरीर का प्राण; प्राण वायु के वेगसे चलता है । परन्तु मानसिक बल से प्रेरित होकर वह शरीर के सब कार्यों को चलाता है। विद्वान् लोग उन प्राणों को वश करते हैं । वह आत्मा स्वयं उस प्राण में वेग उत्पन्न करता है । अथवा इन्द्रियगण उस प्राण को अपने ज्ञान और कर्म करने में लगाती हैं ।

अश्वपक्ष में—हे (वाजिन् युज्यमान त्वं वात-रंहाः भव) हे वेगवान् अश्व ! गतिमान् यन्त्र-रथ में जुड़ा हुआ तू वायु के वेगवाला हो ।

[९२] १-(द्वि०) 'इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियेधि' इति यजु० । (तृ०) 'मरुतो देव्यस्' इति पैप्प० सं० ।

और (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) राजा की प्रेरणा में आकर तू मन के वेगवाला होकर चल। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) समस्त साधनों के और ज्ञानों के स्वामी मरुत् वेगवान् तीव्रगामी वीरभट तुझे अपने रथों में लगावें। और (त्वष्टा) त्वष्टा, गढ़ने वाला, कारीगर (ते पत्सु जवं दधातु) तेरे पैरों में वेग को उत्पन्न करे।

जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योचरत् परीत्तः।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥ २ ॥

यजु० ६ । ६ प्र० ॥

भा०—हे (अर्वन्) गतिशील प्राण ! (ते) तेरा (जवः) वेग (यः) जो (गुहा) गुहा, भीतरी अन्तःकरण में (निहितः) रक्खा है और (यः) जो (श्येने) श्येन, ज्ञान के कर्त्ता आत्मा में (परीत्तः) सुरक्षित है (उत) और (यः) जो वेग (वाते) वायु में, प्राण वायुमें (परीत्तः) व्याप्त होकर (अचरत्) शरीर भर में फैल जाता और इन्द्रियों में विचरण करता है हे (वाजिन्) बलवन् ! प्राण ! (तेन) उस सब (बलेन) बल से (बलवान्) बलवान् होकर (समने) इस जीवन-संग्राम अथवा समन, इन्द्रिय-देहादि संघात में (पारयिष्णुः) सब बन्धनों को पार करता हुआ सबको वश करता हुआ (आजिम्) चरम पद को (जय) विजय कर, प्राप्त कर।

गौण रूप से अश्व=घोड़े की तरफ भी लगता है—हे अश्व ! जो वेग हृदय में, बाज़ में और वायु में है उससे तू बलवान् होकर समन=संग्राम में सबको पार करता हुआ राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर।

२—(प्र०) 'जवो यस्ते वाजिन्' (द्वि०) श्येने परितो अचरश्च वाते (तृ०) 'तेन नः' (च०) 'वाजजिच्च भव शमने च पार–' इति यजु०। (द्वि०) 'श्येने चरति यश्च वाते' इति पैप्प० सं०।

तनूष्टे वाजिन् तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥३॥

ऋ० १० ५६ । २ ॥

भा०—हे वाजिन् ! प्राणात्मन् ! (ते तनूः) तेरा व्यापार या तेरी गति (तन्वम्) इस देह को (नयन्ती) चलाती हुई (अस्मभ्यम्) हमें (वामम्) उस प्राण आत्मा को (धावतु) प्राप्त करावे या शुद्ध करे और (तुभ्यम्) तुझे (शर्म) सुख, शान्ति, अनुद्वेग प्राप्त करावे । तूही (देवः) प्रकाशात्मक या शरीर के भीतर सब क्रीड़ाएं करने वाला होकर (धरुणाय) इस शरीर के धारण करने के लिये (अह्रुतः) कभी मूर्छित न होने वाला (महः) महान् शक्ति है । (ज्योतिः) जिस प्रकार सूर्य (दिवि) आकाश में स्वयं प्रकाशमान होता है उसी प्रकार (देवः) तू भी स्वतः प्रकाशमान होकर (स्वम्) अपने इस आत्मा को (आमिमीयात्) प्राप्त हो, प्राप्त करा । अश्व पक्ष में स्पष्ट है ।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च द्वात्रिंशत्]

[९३] सेनाओं से रक्षा ।

शंतातिर्ऋषिः । मन्त्रो देवता । १-३ त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥१॥

३–(द्वि०) 'धातु शर्म' (तृ०) 'देवान्' (च०) 'मिमीयाः' इति ऋ० । (तृ०) 'दिवो' इति सायणाभिमतः ।

[९३] १–(द्वि०) 'अस्त्रा' इति प्रायः । 'अस्ता' इति सायणाभिमतः । (द्वि०) 'भवः श–', 'शिखण्डी' । (च०) 'वृञ्जन्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यमः) सब का नियन्ता, व्यवस्था रखनेवाला, (मृत्युः) सबका मारनेवाला, (अघमारः) दुष्टों को पाप अपराधों के कारण दण्ड देनेवाला, (निर्ऋथः) भरसक पीड़ा देने वाला (बभ्रुः) सबका पालक, या पीली वर्दी पहननेवाला (शर्वः) हिंसा करनेवाला, (अस्ता) बाणों का फेंकनेवाला (नील-शिखण्डः) सिर पर नीला तुर्रा लगा कर चलने वाला ये सब (देव-जनाः) देव=राजा के भिन्न भिन्न प्रकार के अधिकारी पुरुष हैं। ये (सेनया) कप्तान सहित सेना बनाकर (उत्-तस्थिवांसः) दूसरे राष्ट्रों पर चढ़ाई करते हुए भी (अस्माकम्) हम प्रजाओं के (वीरान्) वीर पुरुषों को (परि-वृञ्जन्तु) हानि से बचाये रक्खें।

मन॑सा हो॒मैर्हर॑सा घृ॒तेन॑ श॒र्वाया॒स्त्र उ॒त राज्ञे॑ भ॒वाय॑ ।
न॒म॒स्ये॒/भ्यो॒ नम॑ ए॒भ्यः कृ॒णो॒म्य॒न्यत्रा॒स्मद॒घवि॑षा नयन्तु ॥ २ ॥

भा०—(शर्वाय) शत्रुहिंसक, (अस्त्रे) शत्रुओं पर बाणों को फेंकनेवाले और (राज्ञे) राजा और (भवाय) सामर्थ्यवान् सब कार्यों के उत्पादक पुरुषों के लिये (मनसा) अपने चित्त से (होमैः) दानों, धन राशियों से, (हरसा) अपनी शक्ति से (घृतेन) और अपने तेज या स्नेह-मय पुष्टिकारक पदार्थों से हम सहायता करें। (एभ्यः) इन (नमस्येभ्यः) आदर योग्यपुरुषों के लिये (नमः) मैं आदर (कृणोमि) करता हूं। और चाहता हूँ कि ये लोग (अघविषः) पापों के जहर या विष से पूर्ण या पापों से पूर्ण, नीच व्यक्तियों को (अस्मत् अन्यत्र) हम से अलग (नयन्तु) करें, हममें पापियों को न रहने दें।

त्राय॑ध्वं नो अ॒घवि॑षाभ्यो व॒धाद् विश्वे॑ देवा मरुतो विश्ववेदसः ।
अ॒ग्नीषोमा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षा वातापर्ज॒न्ययो॑: सुम॒तौ स्या॑म ॥ ३ ॥

२–(द्वि० तृ०) 'अग्निषोमामरुतः पूतदक्षाः । विश्वदेवा मरुतो वैश्वदेवाः ।' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(विश्वे देवाः) सब शक्तिशाली विद्वान् लोग और (विश्ववेदसः) सब कुछ जाननेवाले (मरुतः) शीघ्रगामी, सेनानायक लोग (नः) हमें (अघ-विषाभ्यः) पाप से पूर्ण हत्याकारी सेनाओं से और (वधात्) हत्याकारी शस्त्रों से (त्रायध्वम्) बचावें । (अग्नीषोमौ) अग्नि=सेनानायक और सोम=प्रेरक राजा, और (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ महाराज होकर हमें पूर्वोक्त पापियों और हत्याकारों से बचावें । और हम (वातापर्जन्योः) वात=तीव्र वायु के समान शत्रु को उड़ा देनेवाले अथवा राष्ट्र के प्राणस्वरूप और राष्ट्र पर सुखों की वर्षा करनेवाले सेनापति और राजा के (सुमतौ) शुभ संकल्प में (स्याम) सदा रहें ।

[६४] एकचित्त रहने का उपदेश ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । सरस्वती देवता । अनुष्टुभौ । २ विराड् जगती ।

तृचं सूक्तम् ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो [३।८।५] ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥२॥
अथर्व० ३ । ८ । ६ ॥

भा०—(अहं) मैं (मनसा) मन से (मनांसि) आप लोगोंके मनों को (गृभ्णामि)ग्रहण करता हूँ, अपने अनुकूल करता हूँ । आप लोग (चित्तेभिः) अपने ज्ञानवान् चित्तों के साथ (मम) मेरे (चित्तम्

एत) चित्त के प्रति आकर्षित होकर आओ । (वः) आप लोगों के (हृद-यानि) हृदयों को मैं (मम वशेषु) अपने वशों में, अपने अभिलाषित कार्यों में (कृणोमि) लगाता हूँ । आप लोग (अनु वर्त्मानः) सब मेरे अनुकूल मार्ग चलते हुए होकर (यातम्) पूर्व आप्त पुरुषों द्वारा चले गये मार्ग पर या (मम यातम्) मेरे चले हुए मार्ग पर, मेरे पीछे (एत) गमन करो ।

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति ॥३॥ अथर्व ५।२३।१॥

भा०—(मे) मेरी शक्ति से (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी लोक (ओते) उरोये पिरोये हुए हैं । (देवी सरस्वती) दिव्य, ज्ञानमयी, वेदवाणी (ओता) ओत-प्रोत है । (मे) मेरे साथ (इन्द्रः च) इन्द्र और (अग्निः च) और अग्नि (ओतौ) ओतप्रोत हैं । हे (सरस्वती !) वेदवाणि ! (इदं) इस प्रकार मैं (ऋध्यासम्) समृद्ध होऊँ ।

प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार विचार करे कि मैं राजा प्रजा, प्राण अपान, स्त्री पुरुष इनमें ओत प्रोत रहूं । ये सब मुझ से प्रेम करें मैं ज्ञान में मग्न रहूं । राजा और सेनापति मेरे अनुकूल रहें । इस प्रकार शिक्षित समुदाय होकर ज्ञान के बल पर हम समृद्ध हों ।

[९५] कुष्ठ ओषधि और सर्वव्यापक परमात्मा का वर्णन ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । वनस्पतिर्मन्त्रोक्ता च देवता । अनुष्टुभः तृचं सूक्तम् ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो [५ । ४ । ३] ।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमबन्वत ॥ २ ॥

भा०—व्याख्या देखो [५।४।४] ।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! तू (ओषधीनां गर्भः) ओष=ताप, परिपाक शक्ति का धारण करनेवाले लोकों का (गर्भः) उत्पत्तिस्थान (उत) और (हिमवताम्) हिमवाले अतिशीत लोकों का भी (गर्भः) उत्पत्ति स्थान है । (विश्वस्य गर्भस्य) और तू तो समस्त उत्पन्न विश्व का (गर्भः) उत्पत्ति स्थान है तू (मे) मेरे (इमम्) इस आत्मा को (अगदम्) गद=रोग, जरा, जन्म, मरण आदि भव-बाधाओं से रहित (कृधि) कर ।

[९६] पापमोचन की प्रार्थना ।

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

(प्र०द्वि०) यजु० १२।९२ प्र०द्वि० ॥ (तृ०च०) यजु० १२।८९ तृ०च० ।
(प्र०द्वि०) ऋ० १०।९७।१८ प्र० द्वि० ॥ (तृ०च०)ऋ० १०।९७।१५ तृ०च० ॥

भा०—(याः) जो (ओषधयः) परिपाक योग्य या उष्णता या सामर्थ्य को धारण करनेवाली ओषधियाँ=प्रजाएँ (सोम-राज्ञीः) सोम=चन्द्र की रानियों के समान सोम=राजा ही से अपना सामर्थ्य ग्रहण करने वाली (बह्वीः) बहुत सी (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों कार्यों के

१–(प्र०) 'या ओषधीः' इति ऋ० ।

सम्पादन में समर्थ, व्यवहार-कुशल प्रजाएँ हैं (बृहस्पति-प्रसूताः) बृहती—वेद-वाणी के पालक विद्वान् द्वारा प्रेरित होकर (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

मुञ्चन्तु मा शपथ्या॒३दथो॑ वरुण्या॒दुत।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शाद् विश्व॑स्माद् दे॒वकिल्बि॒षात् ॥२॥

ऋ० १० ९७ । १६ अथर्व० ७१ । ११२ । २ ॥ यजु० १२ । ९०॥

भा०—वे पापों को सन्तापित और दग्ध करनेवाली प्रजाएँ (मा) मुझको (शपथ्यात्) वाणी द्वारा दूसरे के प्रति दुर्वचन करने से उत्पन्न हुए अपराध (उत) और (वरुण्याद्) झूठ बोलने आदि के दमन करने योग्य अपराध से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। (अथो) और (यमस्य) नियन्ता राजा की (पड्वीशात्) डाली हुई पैरों पड़ी-बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्बिषात्) देव=राजा, विद्वान् और अधिकारीगण के प्रति किये अपराध से मुक्त करें।

यच्चक्षु॑षा॒ मन॑सा॒ यच्च॑ वा॒चोपा॑रि॒म जाग्र॑तो॒ यत् स्व॒पन्तः॑।
सोम॒स्तानि॑ स्व॒धया॑ नः पुनातु ॥ ३ ॥

भा०—(जाग्रतः) जागते हुए हम लोग (यत्) जो कुछ (चक्षुषा) आँख से और (यत् च मनसा) जो कुछ मन से और (वाचा) वाणी से (उपारिम) प्राप्त करें और (यत् स्वपन्तः) जो कुछ सोते हुए भी मन आदि से संकल्प विकल्प करें या वाणी से बात कहें (तानि) उन सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के गृहीत ज्ञानों और किये कामों को

२–(च०) 'सर्वस्मात्' इति ऋ० । पड्वीशात्' इति क्वचित्।
३–(प्र०) 'यन्मनसा' । (तृ०च०) 'सोमा तस्मादेनसः स्वधया पुनाति विद्वान्' इति पैप्प० सं० ।

(नः) हमारा (सोमः) सब का प्रेरक आत्मा या विद्वान पुरुष (स्वधया) अपनी धारणा, मनन, विवेक शक्ति से (पुनातु) पवित्र करे ।

आंख आदि बाह्येन्द्रिय, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और मन, अन्तःकरण इनके किये पर मनुष्य स्वयं अपनी बुद्धि से विवेक करे तो उसके आत्मा पर बुरा पाप संकल्प नहीं रहता । स्वधा शब्द के संग से सायण ने सोम शब्द से पितृ-लोकाधिपति देव-विशेष का ग्रहण किया है । ग्रीफिथ, स्वधा=His godlike nature=दैव-स्वभाव ।

[९७] विजय प्राप्ति का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । १ त्रिष्टुप् । २ जगती । ३ भुरिक् । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒भि॒भूर्य॒ज्ञो अ॒भि॒भूर॒ग्निर॑भि॒भूः सोमो॑ अ॒भि॒भूरिन्द्रः॑ ।
अ॒भ्य१॒॑हं विश्वाः॒ पृत॑ना॒ यथासा॑न्ये॒वा वि॑धेमा॒ग्निहो॑त्रा इ॒दं ह॒विः ॥ १ ॥

भा०—(यज्ञः) एकत्र होकर मिल कर किया हुआ कार्य (अभिभूः) सब का पराजय करता है । (अग्निः) आगे चलने और सेना को ठीक २ मार्ग पर ले जानेवाला विद्वान् पथ-प्रदर्शक (अभि-भूः) विजय दिलाता और संकटों को दूर करता है । (सोमः अभि-भूः) सबका प्रेरक, और कार्य-सम्पादक पुरुष या विद्वान् पुरुष विजय कराता और सब शत्रुओं का दमन करता है । (इन्द्रः अभिभूः) ऐश्वर्य और शक्तिमान राजा शत्रुओं पर दमन करता है । हे पुरुषो ! आप लोग (अग्नि-होत्राः) जिस प्रकार अग्नि में घृताहुति को देकर तीव्र करते हैं उसी प्रकार अपने

[९७] १-(प्र० द्वि०) 'प्रजापतिः च'- (तृ०) वाधेथां द्वेषः । (च०) 'अस्मै क्षत्रं वचाधत्तमोजः । इति पैप्प सं० । (द्वि०) 'वाधस्व' इति तै० सं०, मै० सं० । दूरे इति ऋ० । 'ओर' इति मै० सं० ।

अग्रणी के कार्य में अपनी आहुतियाँ देकर उसकी शक्ति बढ़ानेवाले वीर पुरुषों ! हम सब लोग मिल कर (एवा) इस रीति से (हविः) परस्पर मन्त्रणा करके (विधेम) कार्य करें (यथा) जिससे (अहम्) मैं राजा (विश्वाः पृतनाः) समस्त सेनाओं को या समस्त मनुष्यों को (अभि-असानि) अपने वश करूँ और उनका पराजय करूँ ।

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥२॥

(तृ०च०) ऋ० १ । १४ । ६ तृ० च० ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! मित्र=न्यायाधीश और वरुण–राजन् ! आप दोनों (विपश्चितौ) मेधावी, बुद्धिमान् पुरुष हैं। आपके लिये (स्वधा अस्तु) अन्न, जो आपके अपने ही धारण करने के योग्य आपका षष्ठांश भाग है आपको प्राप्त हो । और (प्रजावत्) उत्तम प्रजा से युक्त (क्षत्रम्) क्षत्रिय बल को (इह) इस राष्ट्र में (मधुना) मधु से अमृत या अन्न या राजबल से (पिन्वतम्) युक्त करो । (निर्ऋतिम्) पाप या संकट डालनेवाली निर्ऋति, शत्रु की सेना या विपत्ति को (दूरे) दूर से ही (पराचैः) परे करते हुए (बाधेथाम्) विनष्ट करो । और (कृतम्) किये हुए (चित्) भी (एनः) हमारे अपराध को (अस्मत्) हमसे (प्र मुमुक्तम्) दूर करो ।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १०३ । ६ ॥ अथर्व० १९ । १३ । ६ ॥ यजु० १८ । ३२ ॥

३–(तृ०) 'गोत्रभिदं जीत्रिदं' इति ऋ० । पूर्वोत्तरयोरर्धयोर्विपर्ययः । (प्र०) 'इमं सजाता अनुवीरयध्वम्' इति ऋ० ।

भा०—हे (सखायः) मित्र लोगो ! आप लोग (उग्रम्) उग्रस्वभाव नित्य दण्ड देनेवाले, बलवान् (वीरम्) वीर्यवान् (ग्राम-जितम्) ग्राम को जीतने वाले (गोजितम्) इन्द्रिय को वश करने वाले (वज्र-बाहुम्) वज्र= खड्ग को बाहु में धारण करने वाले और (ओजसा) अपने बल से ही (अजम) शत्रु के बल को (प्रमृणन्तम्) विध्वंस करने और (जयन्तम्) विजय प्राप्त करने वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील राजा को मुख्य मान कर (अनु सं रभध्वम्) उसकी अनुमति के अनुकूल सब कार्य करो।

अध्यात्म पक्ष में सखायः=इन्द्रियगण, इन्द्र=आत्मा, ग्राम=मानस वोगण, गो=इन्द्रिय, वज्र=ज्ञान, अजन=काम-विकार ।

[९८] विजयशील राजा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । ३,१ त्रिष्टुभौ । २ बृहतीगर्भा पंक्तिः ।

तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै ।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॒ भवेह ॥ १ ॥

भा—(इन्द्रः) वह पुरुष, इन्द्र, है जो (जयाति) विजय करता है; (न पराजयातै) कभी पराजित नहीं होता और (राजसु) जो राजाओं में (अधिराजः) सब के ऊपर महाराज होकर (राजयातै) शोभा देता है। (इह) इस राष्ट्र में हे इन्द्र तू! (चर्कृत्यः) सब अपने विरोधियों के दलों को बराबर काटता है इसी कारण वह (ईड्यः) सब के

[९८] १-(तृ०) 'विश्वा हि भूया पृतना अभिष्टी' इति तै० सं० । विश्वा अभिष्टीः पृतना जयते' । (च०) उपसद्यो नमस्यो यथासत् इति मै० सं० ।

स्तुति योग्य (वन्द्यः) सब के नमस्कार करने योग्य (उप-सद्यः) अपनी दुःख-कथा कहने के लिये प्राप्त करने योग्य और (नमस्यः) झुक कर आदर करने योग्य (भव) होता है । परमात्मा पक्ष में स्पष्ट है ।

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् (त्वम्) तू (अधि-राजः) सब प्रजाओं का अधिराज और (श्रवस्युः) कीर्तिमान है । (त्वं) तू (जनानाम्) सब प्रजाओं का (अभि-भूतिः) वश करनेवाला (भूः) हो । (त्वं) तू (दैवीः) विद्वान् क्रियाशील (इमाः विशः) इन सब प्रजाओं पर (विराज) राजा रूप से विराजमान रह, जिससे (ते) तेरा (क्षत्रम्) क्षात्र बल (आयुष्मत्) दीर्घायु युक्त, (अजरम्) कभी कम न होनेवाला (अस्तु) रहे ।

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहोऽसि ।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! (त्वम्) तू (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशाका और पश्चिम दिशा का भी (राजा असि) राजा है । (उत) और (उदीच्याः दिशः) उत्तर और दक्षिण दिशा का भी राजा है । और हे (वृत्रहन्) सब आवरणकारी राष्ट्र को घेरने वाले शत्रुओं को मारने वाले ! तू ही (शत्रुहः असि) शत्रुओं का नाश करने वाला है । (यत्र) जिस देश में (स्रोत्याः) स्रोत से सदा बहने वाली नदियां (यन्ति) जाती हैं (तत्) वह राष्ट्र (ते) तेरे लिये (जितम्) वश करके रखने योग्य है । तभी (वृषभः) अपनी प्रजापर सब सुखों

३–(प्र०) 'प्राच्यां दिशि', 'उदीच्यां दिशी वृहन् वृत्रहासि' इति ते० सं०, मै० सं० । (च०) 'एधि हव्यः' इति तै० सं० ।

की वर्षा करने वाला (हव्यः) प्रजा से कर संग्रह करने का अधिकारी होकर तू (दक्षिणतः) राष्ट्र के दक्षिण दिशा के भाग से या बड़े कार्य से सदा (एधि) आ ।

[९९] राष्ट्ररक्षा का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । सोमः सविता च देवते । १,२ अनुष्टुभौ । ३ त्रिपदा नाम गायत्री । तृचं सूक्तम् ॥

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे ।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! विद्वन् आचार्य ! (वरिमतः) तेरे महान् होने के कारण ही मैं (त्वा अभि) तेरे समीप रहता हूं और (पुरा अंहूरणात्) किसी घोर पाप या संकट के पूर्व ही (त्वां हुवे) तुझे पुकारता हूं, क्योंकि मैं चाहता हूं कि सदा (उग्रम्) बलवान् (चेत्तारम्) स्वयं ज्ञानी (पुरु नामानम्) बहुत प्रकार के वशीकरण साधनों से सम्पन्न (एकजम्) अकेले, स्वयं सामर्थ्यवान् पुरुषको (ह्वयामि) संकट में बुलाऊं ।

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते ।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (अद्य) अब भी तुरन्त (सेन्यः वधः) सेना का हथियार (नः जिघांसन्) हमें मारने की कामना से (उद् ईरते) उठे (तत्र) वहां ही उसी समय (इन्द्रस्य बाहू) राजा की भुजाएं (समन्तम्) हम अपने चारों तरफ (परि दद्मः) अपनी रक्षार्थ खड़ी पावें ।

२–(च०) 'दध्मः' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'योऽद्य' (च०) 'परिदद्महे' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'जिघांसम्' इति पदपाठः ।

शत्रु के आक्रमण होते ही हमारा राजा अपनी सेनाओं से हमारी रक्षा के लिये तैयार रहे ।

परिं दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।
देवं सवितः सोमं राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥ ३ ॥

भा०—हम प्रजागण (इन्द्रस्य) राजा की (बाहू) शत्रु को रोकने वाली सेनाएं (परि दद्मः) अपने चारों ओर खड़ी पावें । (त्रातुः) देश के पालक राजा की (बाहू) बाधक सेनाएं (नः) हमें (समन्तं) सब ओरों से (त्रायताम्) रक्षा करें । हे (देव) राजन् ! हे (सवितः) सब राष्ट्र के कार्यों के संचालक ! हे (सोम) सब उत्तम कार्यों के प्रवर्त्तक! (राजन्) राजन् ! (मा) मुझे (स्वस्तये) कल्याण के लिये (सुमनसम्) शुभ चित्त वाला (कृणु) बनाये रख ।

[१००] विष-चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

देवा अंदुः सूर्यो अदाद् द्यौरंदात् पृथिव्य/दात् ।
तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥ १ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग या दिव्य-पदार्थ (विष-दूषणम्) विष को निवारण करने का उपाय (सचित्ता) एक चित्त होकर (अदुः) सबको प्रदान करते हैं क्योंकि (सूर्यः) सूर्य अपना प्रकाश (अदात्) देता है और उससे विषैले जन्तु नष्ट होते हैं और विष का नाश होता है ।

३–(प्र०) 'दध्मः' इति क्वचित् । 'दद्मन्' (च०) 'कृणुतम्' इति पैप्प० सं० ।

[१००] १–(प्र०) 'देवाद्दुः' (तृ०) 'सर्वाःस–' इति पैप्प० सं० ।

(द्यौः) यह विशाल आकाश रात्रि काल में ओस (अदात्) प्रदान करती है। वह भी विषका शमन करती है। (पृथिवी अदात्) पृथिवी भी अपनी शक्ति (अदात्) देती है जिससे मिट्टी का लेप भी विष का नाश करता है। और (तिस्रः सरस्वतीः) तीनों सरस्वतियें, तीनों वेदवाणियां भी (अदुः) समानरूप से विष के नाश का उपदेश करती हैं।

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम्।
तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (यत्) जिस (उदकम्) जल को (उपजीकाः) दीमक नाम की श्वेत कीड़ियां (धन्वनि) मरु, जलरहित देश में भी (आ-असिञ्चन्) अपने मुखसे जल उत्पन्न करती हैं वह भी (वः) आप लोगों के बड़ा उपयोगी है। (तेन) उस (देवप्रसूतेन) दिव्य पदार्थों से या ईश्वरप्रदत्त शक्ति से उत्पन्न जल से (विषम्) विषको (दूषयत) निवारण करो। पं० ग्रीफिथ के मत से हे (उपजीकाः) दीमको! (वः) तुमको (देवाः) देव लोगों ने (धन्वनि यद् उदकम् असिञ्चन्) निर्जल देश में भी जो जल दिया है। (तेन देवप्रसूतेन विषम् दूषयत) देवों से उत्पादित उस जल से विषका निवारण करो।

देखो अथर्व का० २। ३। ४।—"उपजीकाः उद्भरन्ति समुद्राद् अधिभेषजम्। तद् आस्रावस्य भेषजम् तदु रोगमशीशमत्।" श्वेत कीड़ियां या दीमकें समुद्र अर्थात् अपने जलोत्पादन सामर्थ्य से ओषधि उत्पन्न करती हैं। वह अतिमूत्र और नाड़ीव्रण की उत्तम औषध है। उससे रोग शान्त हो जाता है। सायण ने इस स्थल पर वल्मीक या

२—(द्वि०) 'उपचीका सिञ्चन्', 'धन्वन्तु' इति पैप्प० सं०।
१—'उपजीकाः, उपदीकाः, उपजिह्विकाः, उपजिह्वकाः' इत्येते सर्वे पर्यायाः वम्रीवाचकाः।

दीमकों की निकाली मिट्टी को उस रोग की औषध कहा है। कौशिक सूत्र में—"देवाः इदुरिति वल्मीकेन बन्धनपायनाचमनप्रदेहनमुदकेन। (कौ० ४।७) इस सूक्त से वल्मीक मृत्तिका को जल से बांधने, पिलाने, आचमन करने और लेप करने का विधान किया है इससे स्थावर और जंगम विषका प्रतिकार होता है। वेद ने वल्मीक कीड़ी के मुख से निकले जल में विष नाश करने के गुण का उपदेश किया है। अत्यन्त शुष्क स्थान में भी दीमक लग जाती है और वहां भी वे अपने मुँह में जल कहाँ से लाती हैं यह एक आश्चर्यजनक बात है। वेद उस जल को 'देव प्रसूत' कहता है। 'देव' का तात्पर्य वह मूलशक्ति है जिससे स्वयं जल बना है। इस सम्बन्ध में डा० लिविंगस्टोन का कथन है कि "सम्भव है कि वे अपनी शक्ति से अपने वानस्पतिक भोजन में विद्यमान उद्जन, ओषजन को मिलाकर जल बना लेती हैं।" इस जल बनने की अद्भुत शक्ति का हमारे प्राचीन आर्यों ने भी अनुभव किया था। शतपथ में लिखा है—आपो वै सर्वमन्नं। ताभिर्हि इदमभिक्नूयमिवाद्न्ति (वम्रयः) श० १४। १। १४॥ यह सब अन्न स्वयं जल है। अन्न में विद्यमान जलों से ही ये दीमकें उसको गीला कर २ के खाती हैं।

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम् ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे! तू (असुराणां) बलशाली प्राणवान् पुरुषों के लिये (दुहिता) बल रस का दोहन करने वाली है, (सा) वह तू (देवानाम्) देव विद्वान् पुरुषों की (स्वसा) उत्तम रूप से गुण

३–(प्र०) 'हितासि देवा'– (तृ०) –'व्याः जज्ञिषे' इति पैप्प० सं०।
(च०) 'चकर्षारसं' इति सायणाभिमतः।

प्रकाश करने वाली है। तू (दिवः) द्यौलोक के जल और (पृथिव्याः) पृथिवी के जल से (सं-भूता) उत्पन्न हुई है (सा) वह तू (विषम्) विषको (अरसं चकर्थ) निर्बल करती है।

ग्रीफ़िथ के मत से यह शिलाची नाम ओषधि है। सायण के मत से यह वल्मीक की मिट्टी है। (अथर्व—५। ५। १) में—"शिलाची नाम वा असि देवानामसि स्वसा।" इसी ओषधि के इस सूक्त में स्परणी, अरुन्धती, निष्कृति, कानी, कन्यला, आदि दिया है। उस प्रसंग में कौशिक ने लाखको दूध में पकाकर शस्त्र-व्रण आदि की चिकित्सार्थ पान करने की विधि लिखी है।

[१०१] पुष्ट प्रजनन अंग होने का उपदेश।

शेपप्रथनकामोथर्वाङ्गिरा ऋषिः। ब्रह्मणस्पतिर्देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च।
यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि॥ १॥

भा०—हे पुरुष तू (वृषायस्व) सब प्रकार से वीर्यसेचन में समर्थ हो। (श्वसिहि) प्राण को ऊपर खैंच और (वर्धस्व) शरीर में खूब पुष्ट हो, (प्रथयस्व च) और अपने अंगों को भी बड़ा कर। इतना हृष्ट पुष्ट हो कि (यथा) जिससे (शेपः, अङ्गम्) कामांग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो। (तेन) उस अंग से (योषितम्) अपनी स्त्री के पास (इत्) भी (जहि) जा, सेचनसमर्थ हो। ऊपर श्वास लेकर अंगों को पुष्ट करो, जब कामांगों को पर्याप्त वृद्धि हो चुके तब युवकों को गृहस्थ धर्म से पुत्रोत्पत्ति करनी चाहिये।

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्या॒तु॑रम् ।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पस॑: ॥ २ ॥

(तृ० च०) अथर्व० ४ । ६ । ४ तृ० च० ॥

भा०--पुष्टांग होने के उपाय का उपदेश करते हैं—(येन) जिस उपाय से (कृश) कृश पुरुष को (वाजयन्ति) बलवान् करते हैं और (येन) जिस उपाय से (आतुरम्) रोगी निर्बल पुरुष को (हिन्वन्ति) समर्थ बनाते हैं, हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्म=अन्नको पालन करने वाले पुरुष! (अस्य) इस निर्वीर्य पुरुष के (पसः) कामांग को भी उसी पौष्टिक उपाय से (धनुः, इव) धनुष के समान (आ तानय) पुष्ट कर। कृशों को और रोगियों को पुष्ट करने की औषधियां ही निर्वीर्य पुरुष को वीर्यवान् बनाने की होती हैं।

आहं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि ।
क्रम॑स्वर्श॑ इ॒व रोहि॑त॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अथर्व का० ४ । ४ । ७) । (अहं ते पसः) मैं सद्-वैद्य तेरे कामांग को (तनोमि) दोष रहित करके सुधारता हूँ (धन्वनि अधिज्याम् इव) जिस प्रकार शिकारी अपने धनुष पर डोरी चढ़ाता है (अर्शः रोहितम् इव) और जिस प्रकार शिकारी प्रसन्नचित्त से मृग पर दौड़ता है उसी प्रकार (अनवग्लायता) सदा ग्लानिरहित चित्त से (क्रमस्व) अपनी पत्नी के पास जाओ। इससे चित्त में ग्लानि न रहकर सम्भोग काल में असफलता नहीं होती। ग्लानि होजाने से अकारण नपुंसकत्व उत्पन्न हो जाता है।

जिस ईश्वर ने समस्त संसार को उत्पन्न किया और जिसने निरन्तर उत्पन्न सृष्टि करने वाले अंगों को भी रचा उसकी दृष्टि में कोई पदार्थ अश्लील

२—'वशं वाजयन्ति' इति सायणसम्मतः पाठः।

नहीं। उसका भी अपना विज्ञान है। उसका वेद में उपदेश होना आवश्यक है। ग्रीफ़िथ ने यह तत्त्व न समझकर इस सूक्त को अश्लील जानकर इसका अनुवाद नहीं किया।

[१०२] दाम्पत्य प्रेम का उपदेश।

अभिसम्मनस्कामो जमदग्निर्ऋषिः । अश्विनौ देवते । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते ।

एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥

भा०—स्त्री पुरुषों में परस्पर प्रेम उत्पन्न करने का उपदेश करते हैं। हे (अश्विनौ) एक दूसरे के हृदयों में व्याप्त स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों एक दूसरे के प्रेमी होकर यह कहो कि (यथा) जिस प्रकार (अयं वाहः) यह अश्व सवारी (अश्विना सम् एति) घुड़सवार के साथ ही साथ जाता है (सं वर्त्तते च) और उसके साथ ही रहता है। (एवा) उसी प्रकार हे प्रियतम ! हे प्रियतमे ! (माम् अभि ते मनः) मेरे प्रति तेरा चित्त (सुसम् आ एतु) आवे (सं वर्त्तताम् च) और सदा साथ ही रहे।

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव ।

रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥

भा०—दोनों स्त्री पुरुष एक दूसरे से यही आशा करें और कहें कि—हे प्रियतम ! हे प्रियतमे ! (अहं) मैं (ते मनः) तेरे चित्तको (आ खिदामि) ऐसे खेंचूं जैसे (पृष्ट्याम् राजाश्व इव) जैसे पीठ पीछे बंधी गाड़ी को घोड़ा खींचता है। और यथा (रेष्म-च्छिन्नं) रेष्मा=प्रचण्ड वायु से टूटा हुआ (तृणं) घास उसी में लिपटकर उसके

साथ ही चला जाता है उसी प्रकार हे प्रियतमे ! (ते मनः) तेरा चित्त (मयि) मुझमें (वेष्टताम्) लिपट जाय । मुझमें आसक्त होकर मेरे साथ ही लगा रहे ।

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च ।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥ ३ ॥

भा०—स्त्री अपने पति को स्वीकार करने के निमित्त पति के हाथों दिये हुए अञ्जन, मुलैठी या अन्य हर्षोत्पादक कूठ और अन्य सुगन्ध पदार्थों को स्वीकार करे । इसी का उपदेश करते हैं । स्त्री उक्त पदार्थों का स्वीकार करती हुई कहती है—मैं (तुरः) शीघ्र ही प्राप्त होनेवाले (भगस्य) सौभाग्यशील पुरुष के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आञ्जनस्य) अंजन (मदुघस्य) मदतृप्ति हर्षोत्पादक पदार्थ, (कुष्ठस्य) कूठ और (नलदस्य) खस आदि पदार्थ के बने (अनुरोधनम्) प्रेम=अभिलाषा और कामना के अनुकूल पदार्थ को (उद्-भरे) स्वीकार करती हूँ ।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि, त्रिंशच्चर्चः]

[१०३] राष्ट्र-रक्षा और शत्रु-दमन ।

उच्छोचन ऋषिः । इन्द्राग्नी उत बहवो देवताः । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत् ।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥ १ ॥

३–(प्र०) 'मधुघस्य' इति सायणसम्मतः । 'मधुगस्य' (च०) 'आभरे' इति पैप्प० सं० ।

[१०३] १–'संदानमिन्द्रश्चाग्निश्च' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति (वः) तुम्हारा (संदानम्) बन्धन (करत्) करे । (सविता संदानं करत्) सविता तुम्हारा बन्धन करे (मित्रः) मित्र भी (संदानम्) तुमारा बन्धन करे। (अर्यमा संदानम्) अर्यमा तुम्हारा बंधन करे (भगः अश्विनौ) भग, और अश्विन् दोनों तुम्हारा बन्धन करें ।

बृहस्पति, सविता, मित्र, अर्यमा, भग, अश्विन् ये सब राष्ट्र के भिन्न अधिकारी लोग हैं। संग्राम छिड़ जाने पर सभी अधिकारी शत्रु के आदमियों पर विशेष बन्धन, रोक टोक रक्खें, उन पर पूरा २ वश रक्खें ।

सं प॒र॒मान्त्सम॑व॒मानथो॒ सं द्या॑मि मध्य॒मान् ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या त्वम् ॥ २ ॥

भा०—मैं राजा अपने शत्रुओं में से (परमान्) ऊँचे श्रेणी के लोगों को (सं द्यामि) बन्धन में रखूं (अवमान् सं द्यामि) नीचे श्रेणी के लोगों को भी बन्धन में रखूँ और (मध्यमान् सं द्यामि) मध्यम श्रेणी के लोगों को भी बन्धन में रखूँ। (इन्द्रः) राजा (तान्) उन सबको (परि अहाः) दूर से ही निवारण करे और हे (अग्ने) अग्ने, सेनापते ! (त्वं) तू (तान्) उनको (दाम्ना) रस्सी या पाश से (सं द्य) अच्छी प्रकार बांधे रख, वश किये रख, आगे मत बढ़ने दे ।

अ॒मी ये युध॑मा॒यन्ति॑ के॒तून् कृ॒त्वानी॑क॒शः ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

भा०—(अमी) वे दूर देश में स्थित शत्रु लोग (ये) जो (अनीकशः) अपनी सेना के प्रत्येक दस्ते या टुकड़ी पर (केतून् कृत्वा) अपने भिन्न २ झण्डे लगा २ कर (युधम् आयन्ति) संग्राम करने के लिये आवें (तान्) उनको (इन्द्रः परि अहाः) राजा या शक्तिशाली

२—'परमां, अवमां, मध्यमाम्' इति सायणाभिमताः ।

पुरुष दूर से ही विनाश करे । हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते (त्वम्) तू उनको भली प्रकार (दाम्ना) रस्सी से या रस्सी के बने पाश से या रस्सी के समान बंटी हुई दुगनी तिगुनी सेना से (सं-द्य) बाँध ले, जकड़ ले ।

[१०४] शत्रुओं को पराजय और बन्धन ।

प्रशोचन ऋषिः । इन्द्राग्नी उत बहवो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि ।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥ १ ॥

भा०—हम वीर लोग (आ-दानेन) शत्रु को पकड़ लेने के उपाय और (सं-दानेन) बाँध लेने के उपाय से (अमित्रान्) शत्रु लोगों को (आ द्यामसि) अपने वश कर लेते हैं । और वीर भट (ये च) जो भी (एषाम्) इनके (अपानाः) अपान और (प्राणाः) प्राण हैं उन सब (असून्) प्राणवृत्तियों को (असुना) मुख्य जीवनशक्ति के द्वारा (समच्छिदन्) काट डालें । अथवा (ये च एषां प्राणाः) जो इन शत्रुओं के प्राणरूप मुख्य नेता लोग और (अपानाः) अपानरूप निम्न पदाधिकारी हैं उन सब को (आ द्यामसि) हम वश कर लें और जिस प्रकार (असुना) मुख्य प्राण से प्राणित (असून्) शेष प्राण इन्द्रियगण को काट कर विनाश कर दिया जाता है उसी प्रकार इन मुख्य लोगों के आश्रय पर जीनेवाले लोगों को भी (सम् अच्छिदन्) काट गिराया जाय । अर्थात् मुख्य २ नेता लोगों को पकड़ कर क़ैद में डाल दिया जाय और शेषों को काट डाला जाय ।

---

[१०४] १-(च०) 'अच्छिदम्' इति ह्विटनिकामितः प्रायिकश्च । (तृ० च०)-'तेषां प्राणान् समासून् असमसुतम् [?]' इत्यादि पैप्प० सं० ।

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।
अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥ २ ॥

भा०—(तपसा) तप द्वारा (इन्द्रेण सं शितम्) और इन्द्र=विद्युत् द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण (इदम्) यह ऐसा (आदानम्) बन्धनपाश मैं शिल्पी (अकरं) बनाऊँ कि जिससे (अत्र) यहाँ इस युद्धभूमिमें (ये नः अमित्राः) जो हमारे शत्रु हैं, हे (अग्ने) सेनापति ! (तान्) उनको (त्वम् आ द्य) तू उस पाश से बाँध ले ।

एनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) राजा और सेनापति (एनान्) उक्त शत्रुओं को (आद्यताम्) बाँध ले । (सोमः राजा च) सोम और राजा दोनों ही (मेदिनौ) इस कार्य के लिये बलवान् हैं । और (इन्द्रः) इन्द्र (मरुत्वान्) मरुत्=वीरभटों के साथ (नः) हमारे (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आदानम्) बन्धन पाश (कृणोतु) तैयार करे ।

[१०५] 'कासा' चित्ति-शक्ति की एकाग्रता का उपदेश ।

उन्मोचन ऋषिः । कासा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोनु प्रवाय्य/म् ॥ १ ॥

२-(द्वि०) 'इन्द्रियेण शंसितम्' (च०) 'मतानादान् द्विषतामय' इति पैप्प० सं० ।

३-(द्वि०) 'राज्ञा सोमेन मेदिना ।' (च०) 'कृणोतु मे' (प्र०) 'एनां घ-' इति क्वचित् ।

भा०—'कासा' नाम चितिशक्ति को एकाग्र करने के क्रियात्मक उपाय बतलाते हैं—(यथा) जिस प्रकार (मनः) संकल्प विकल्प करने वाला मन (आशुमत्) अति वेगवान् होकर (मनस्केतैः) मन द्वारा चिन्तन करने योग्य विषयों के साथ (परा पतति) दूर चला जाता है। (एवा) उसी प्रकार हे (कासे) प्रकाशमान चितिशक्ते! (त्वं) तू भी (मनसः) मनके (प्र-वाय्यम्) चिन्तनीय विषयों के (अनु प्र-पत) साथ ही साथ जा।

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सु-संशितः बाणः) तीक्ष्ण बाण, (आशुमत्) वेगवान् होकर (परा पतति) दूर जा गिरता है हे (कासे) चितिशक्ते! (त्वम्) तू भी (एवा) उसी प्रकार (पृथिव्याः संवतम्) पृथिवी=देह के उत्तम प्रदेश की ओर (अनु प्र पत) गति कर, धारणा द्वारा विशेष देश में स्थिर हो।

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यस्य रश्मयः) सूर्य की किरणें, (आशुमत्) अति वेगवान् होकर (परा पतन्ति) दूर तक फैल जाती हैं उसी प्रकार हे (कासे) प्रकाशमान चितिशक्ते! तू (समुद्रस्य) समुद्ररूप परम आत्मा के (वि-क्षरम् अनु प्रपत) विशेष प्रवाह के अनुकूल होकर गति कर। 'कासे' इस सम्बोधन से कौशिक ने इस सूक्त को कास-रोगनिवृत्ति-परक माना है। सायण भी उसके पीछे चला है, परन्तु कौशिक ने इस सूक्त को सूर्योपस्थान के लिये भी लिखा है। यह वास्तव में आत्म-ध्यान या ब्रह्मोपासना का मन्त्र है। इसका देवता 'पुरुष' है। कासा=चकास्ति इति कासा, प्रकाशमयो ज्योतिष्मती चेतना, चितिशक्तिर्वा।

उस चितिशक्ति की तीन साधनाओं का उपदेश किया है। १. मन की गति के अनुकूल उसको यथाभिमत विषय पर लगावे। २. पृथिवी या मूल भाग में, किसी अधिष्ठान में स्थिर करे। ३. फिर परम आत्मा के विशाल गुणों में लगा दे।

[१०६] गृहों की रक्षा और शोभा।

प्रमोचन ऋषिः। दूर्वाशाला देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥
ऋ० १० । १४२ । ८ ॥

भा०—गृहों की रक्षा, और सुन्दरता के लिये उत्तम उपायों का उपदेश करते हैं। हे शाले! (ते) तेरे (आ-अयने) अंगों के आने के स्थान में और (परा-अयने) पीछे के या दूर के स्थानों में भी (पुष्पिणीः) फूलों वाली (दूर्वाः) दूब और नाना वनस्पतियाँ (रोहन्तु) खूब उगें। और (तत्र) वहाँ (उत्सः वा) कूआ भी (जायताम्) हो। (वा) और (पुण्डरीकवान्) कमलों वाला (ह्रदः) तालाब भी हो। रहने के घर के समीप और दूर तक भी घास से हरा भरा मैदान, फुलवाड़ी, कूँआ और पुखरिया होनी चाहिये। ऐसे घरों में अग्नि आदि का भी भय नहीं रहता।

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २ ॥
(प्र० द्वि०) ऋ० १० । १४२ । ७ प्र० द्वि० ॥ यजु० १७ । ७ प्र० द्वि० ॥

---

[१०६]-(तृ० च०) 'ह्रदा वा पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे' इति ऋ०।
२-(द्वि०) 'अग्ने परि' इति यजु०। (च०) 'ददातु भेषजं' इति ऋ०

भा०—गृहों के बनाने के लिये उचित स्थान के निर्णय करने का उपदेश करते हैं । (इदं अपां न्ययनम्) यह इधर जलों के नीचे वह आने का स्थान हो और (समुद्रस्य निवेशनम्) इधर समुद्र, जल भण्डार का स्थान हो । (ह्रदस्य मध्ये) तालाब के बीच में (नः) हमारे (गृहाः) घर हों । हे अग्ने ! तू अपने (मुखा) मुखों को पराचीना (कृधि) दूर रख । अथवा हे शाले ! तू अपने (मुखा) द्वारों को (पराचीना) दूर तक फैले हुए विशाल बना, अथवा, हे शिल्पिन् द्वारों को बड़ा बना ।

हिमस्य॑ त्वा ज॒रायु॑णा॒ शाले॒ परि॑ व्ययामसि ।
शी॒तह्र॑दा॒ हि नो॒ भुवो॒ऽग्निष्कृ॑णोतु भेष॒जम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४२ खिले ॥ प्र० द्वि० यजु० १७ । ५ द्वि० ॥

भा०—हे शाले ! गृह ! (त्वा) तुझे (हिमस्य) हिम, शीतलजल के (जरायुणा) वेष्टन या आवरण पदार्थ से (परि व्ययामः) चारों ओर से घेर लें जिससे तू (नः) हमारे लिये (शीतह्रदा भुवः) शीतल तालाबों से युक्त हो । इस प्रकार (अग्निः) गृह में स्थित अग्नि भी हमारे पास (भेषजम्) हमारे रोगों और दुःखों के निवारण करने का साधन होकर हमारे रोगों को दूर (कृणोतु) करे ।

गृह को शीतल तालाब आदि से घेर लेना चाहिये जिससे बाहर के जंगलों की आग घर को न सतावे । अग्नि भी उसमें जल के कारण आनेवाले रोगों को दूर करे ।

[१०७] विश्व-विजयिनी राजशक्ति का वर्णन ।

शंतातिर्ऋषिः । विश्वजिद् देवता । अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

खि० । (तृ०) 'ह्रदाहि' (च०) 'ददातु' इति पैप्प० सं० ।

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥१॥

भा०—हे (विश्व-जित्) सब पर विजय करने वाले राजन् या परमेश्वर! (मा) मुझे (त्रायमाणायै) त्रायमाणा=रक्षा करनेवाली अपनी शक्ति के अधीन (परि-देहि) रख। हे (त्रायमाणे) रक्षा करने-वाली शक्ति! (नः) हमारे (चतुष्पात्) चौपाये और (द्विपात् च) दो पाये, मनुष्य पक्षी आदि (यत् च नः) और जो भी हमारा (स्वम्) धन है उसकी (रक्ष) रक्षा कर।

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि। विश्वजिद् द्विपाच्च० ॥ २ ॥

भा०—हे (त्रायमाणे) राजा की रक्षाकारिणी शक्ति! तू (मा) मुझे, मुझ प्रजाको (विश्वजिते परिदेहि) विश्वजित् राजा के अधीन रख और इस नाते हे (विश्वजित्) सर्व विजयी राजन्! तू (नः) हमारे (द्विपात् च) दोपाये, भृत्य आदि और (चतुष्पात्) पशु चौपाये (यत् च नः स्वम्) और जो हमारा धन है उस (सर्वं रक्ष) सबकी रक्षा कर।

विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि। कल्याणि द्विपाच्च० ॥ ३ ॥

भा०—हे (विश्वजित्) सर्वविजयी राजन्! (मा) मुझे (कल्याण्यै परि देहि) देश की कल्याणकारिणी परिषद् के आधीन रख। हे (कल्याणि) कल्याणकारिणि परिषद्! (द्विपात् चतुष्पात् च) दो-पाये और चौपाये (यत् च नः सर्वम् स्वम्) और जो भी हमारा सब धन है उसकी (रक्ष) रक्षा कर।

[१०७]१—(प्र०) 'त्रायमाणे सर्वविद मां' इति पैप्प० सं०।
२—(प्र०) 'त्रायमाणे सर्वविदे' इति पैप्प० सं०।
३—(प्र०) 'सर्वविद् विश्वविद् कल्याण्यै' इति पैप्प० सं०।

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि ।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (कल्याणि) देश के हित, कल्याण, सुख की सामग्री को उपस्थित करने वाली परिषद् ! तू (मा) मुझको (सर्वविदे परिदेहि) सब वस्तुओं को जानने वाले के आधीन कर । हे (सर्वविद्) सर्वज्ञ परिषद् ! तू (नः) हमारे (द्विपात् चतुष्पात् च यत् च नः स्वम् सर्वं रक्ष) दो पाये और चौपाये और भी जो हमारा धन है उस सबकी रक्षा कर । राज्य के चार विभाग होने आवश्यक हैं (१) विश्व-जित्, देशों के विजय करने वाला विभाग, (२) त्रायमाणा, विजित देशों को रक्षा करने वाली, (३) कल्याणी, नगरों और देशों की प्रजा के सुख आराम, जीवन सुधार का प्रबन्ध करने वाली, (४) सर्ववित्, राष्ट्र, परराष्ट्र आदि सबके विषय में ज्ञान प्राप्त करने वाली और तदनुसार अपने अन्य विभागों को उन उनके विषयक बातों की जानकारी रखने वाली । विजय करने वाला विभाग जिस देश को विजय करे उसे रक्षाकारी विभाग के हाथ देदें । और वह रक्षाकारी विभाग भी विजेता विभाग की आज्ञा से ही उसकी रक्षा करे और वह कल्याणी परिषद् को सौंपदे, कल्याणी परिषद् कल्याण करने के लिये सर्ववित् परिषद् के अधीन राष्ट्र को वहां के सब पदार्थों को जांच पड़ताल करने के लिये लगादें । जिससे राष्ट्र के सब प्रकार शिल्प, कारीगरी और व्यापार के उपयोगी पदार्थों का ज्ञान करके राष्ट्र में व्यापार और कारीगरी शुरू करावे ।

४–(प्र०) 'कल्याणि त्रायमाणायै' (तृ०) 'सर्वं रक्षत' इति पैप्प० सं० ।

[१०८] मेधा का वर्णन ।

शौनक ऋषिः । मेधा देवता । ४ अग्निर्देवता । १,४,५ अनुष्टुप् । २ उरोबृहती । ३ पथ्या बृहती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

त्वं नो॑ मेधे प्रथ॒मा गोभि॒रश्वे॑भि॒रा ग॑हि ।
त्वं सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒स्त्वं नो॑ असि य॒ज्ञिया॑ ॥ १ ॥

भा०—हे (मेधे) आत्मा को धारण करने वाली चितिशक्ते ! ज्ञानधारण–समर्थे ! (त्वं) तू (नः) हमें (गोभिः) ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वेभिः) कर्मेन्द्रियों सहित (आ गहि) प्राप्त हो । (त्वं) तू (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा रूप सूर्य की (रश्मिभिः) ज्ञानमय किरणों सहित हमें प्राप्त हो । (त्वं) तू ही (नः) हमारे (यज्ञिया असि) यज्ञ आत्मा की शक्ति है । अथवा तू ही जीवन यज्ञ की सम्पादन करने वाली है ।

मे॒धाम॒हं प्र॑थ॒मां ब्रह्म॑ण्वतीं॒ ब्रह्म॑जूता॒मृषि॑ष्टुताम् ।
प्रपी॑तां ब्रह्मचा॒रिभि॑र्दे॒वाना॒मव॑से हुवे ॥ २ ॥

भा०—(अहं) मैं मेधा चाहने वाला ब्रह्मचारी (प्रथमाम्) श्रेष्ठ सबसे प्रथम, उत्तम गुणवाली, (ब्रह्मण्वतो) वेद ज्ञान से युक्त (ब्रह्म-जूताम्) ब्रह्मज्ञानियों से सेवित, (ऋषि-स्तुताम्) ऋषियों द्वारा प्रशंसा की गई (ब्रह्म-चारिभिः) ब्रह्मचारियों द्वारा (प्र-पीताम्) खूब उत्तम रीति से पान की गई, (मेधाम्) धारणावती चितिशक्ति को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हुवे) ध्यान करता हूं और उसको अपने पास बुलाता हूं, उसकी प्रार्थना करता हूं ।

---

[१०८] २–(द्वि०) 'ब्रह्मण्वतीमृषि–' (तृ०) 'प्रणिहितां ब्रह्म–' (च०) 'अवसा वृणे' इति पैप्प० सं० ।

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि ॥३॥

भा०—(यां) जिस (मेधाम्) मेधा बुद्धि का (ऋभवः विदुः) ऋत सत्य ज्ञान और वेद से प्रकाशित होने वाले विद्वान् और शिल्पी लोग (विदुः) लाभ करते हैं और (यां मेधाम्) जिस मेधा बुद्धि का (असुराः विदुः) प्राण विद्या के जानने वाले, प्राणायाम के अभ्यासी लाभ करते हैं। और (यां मेधाम्) जिस (भद्राम्) कलाणकारिणी, सुखप्रद मेधा बुद्धि को (ऋषयः) मन्त्रार्थ के साक्षात् करने वाले ऋषिगण (विदुः) प्राप्त करते हैं। (ताम्) उसको हम (मयि) अपने आत्मा में (आ वेशयामसि) धारण करें।

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥

(तृ० च०) यजु० ३२ । १४ तृ० च० ॥ ऋ० १०.१५१ खि० ॥

भा०—(याम्) जिस (मेधाम्) मेधा को (भूत-कृतः) उत्पन्न समस्त पदार्थों का उपयोग करने वाले अथवा पञ्चभूतों की साधना करने वाले, उन पर वशीकारसाधना करने वाले, (मेधाविनः) मेधावी, विद्वान्, मतिमान पुरुष (विदुः) प्राप्त करते हैं हे (अग्ने) आचार्यरूप अग्ने ! परमेश्वर ! (तया) उस (मेधया) मेधा से (अद्य) आज, अब (माम् मेधाविनं कृणु) मुझ ब्रह्मचारी को भी मेधावी बनाओ।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

४–(प्र० द्वि०) 'यां मेधां देवगणाःपितरश्च उपासते' (च०) 'कुरु' इति यजु० ।

५–(तृ० च०) 'मेधां सूर्येणोघोतो धीराणा उतस्त्वम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हम लोग (सायम्) सायं, सूर्यास्त के समय में (मेधाम्) मेधा बुद्धि का ध्यान करें (प्रातः मेधाम्) प्रातः, सूर्योदय काल में हम मेधा बुद्धि प्राप्त करने की प्रार्थना करें। (मध्यन्दिनं परि मेधाम्) मध्याह्न काल में भी मेधा बुद्धि को प्राप्त करने की प्रार्थना करें। हम (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य और उसके समान ज्ञानवान् आचार्य और ईश्वर के (वचसा) उपदेश-वचनों से उस मेधा बुद्धि को हम अपने में (आ वेशयामहे) स्थापित करें।

[१०९] पिप्पली ओषधि का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता पिप्पली भेषजं देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी ।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥ १ ॥

भा०—(पिप्पली) पिप्पली नामक ओषधि (क्षिप्त-भेषजी) क्षिप्त रोग की उत्तम ओषधि है (उत) और (अति-विद्ध भेषजी) अतिविद्ध अर्थात् गहरी पीड़ा की भी उत्तम ओषधि है (ताम्) उसको (देवाः) विद्वान् लोग (जीवितवे) जीवन को जीवित रखने के लिये ही (अलम्) पर्याप्त (अकल्पन्) सामर्थ्यवाला बना लेते हैं। जाँघ में तीव्र वेदना के चलने के रोग को 'अतिविद्ध' कहते हैं। वेदना से हाथ पैर पटकने के रोग को 'क्षिप्त' कहते हैं।

सायण के मत से पिप्पली से गजपिप्पली आदि सोंठ, मिरच, पीपली, इस 'त्र्योष' में पठित ओषधि का ग्रहण उचित है। ग्रीफ़िथ के मत में 'पिप्पली' शब्द से पीपल की गुलरी लेना उचित है।

[१०९] १-(प्र०) 'क्षुप्त' (द्वि०) 'उतं च विश्वभे-' (च०) अलं जीवातवायति' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'ऊ १ ता' इति क्वचित् ।

राजनिघण्टु में "अश्वत्थी, लघुपत्री स्यात् पत्रिका ह्रस्वपत्रिका, पिप्पलिका वनस्था च क्षुद्रा चाश्वत्थसंनिभा" इस प्रकार अश्वत्थी पिप्पलिका का उल्लेख किया है जिसके गुण मधुर, कषाय, रक्तपित्तनाशक, विष, दाहनाशक और गर्भिणो के लिये हितकारी है। इसके अतिरिक्त पिप्पली, तृड् ज्वर, उदर रोग, जन्तु, आमरोग, वातरोग, श्वास, कास, श्लेष्मा, क्षय इनका भो नाशक है।' वेद में प्रदर्शित गुण कटुगण की पिप्पली के प्रतीत होते हैं। इसकी मूल पिप्पलीमूल है, वह भी वात नाशक और श्लेष्मा और कृमि का नाशक है। इसके दो भेद हैं श्रेयसी, और गजपिप्पली, वह भी श्लेष्मा और वायु का नाश करती है, माता का दूध बढ़ाती है। इसका एक भेद 'सैहली' है वह कफ, श्वास, पीड़ा का नाश करती है पेट को साफ़ करती है। सामान्यतः पिप्पली सर्वरोग नाशक रसायन कहाती है।

पिप्पल्य१ः समवदन्तायतीर्जननादधि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥

यजु० १२ । ९१ । तृ० च० ॥ (तृ० च०) १० । ९७ । १७ तृ० च० ॥

भा०—(पिप्पल्यः) पिप्पली के पूर्वोक्त सब प्रकार के भेदवाली ओषधियाँ जो पिप्पली नाम से कहाती हैं (आयतीः) आती हुई (सम् आ वदन्त) परस्पर ऐसा कहती हैं कि (जननाद् अधि) जन्म से लेकर हम (यम्) जिस (जीवम्) जीव या प्राणधारी शरीर को (अश्नवामहै) व्याप लेती हैं (सः) वह (पुरुषः) पुरुष (न रिष्याति) कभी वात आदि रोग से पीड़ित नहीं होता।

असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः ।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

१—'पिप्पल्यः' इति क्वचित्।

भा०—हे पिप्पलि! (वातीकृतस्य) तीव्र वात द्वारा पैदा हुए रोग की (भेषजीम्) ओषधि और (क्षिप्तस्य) क्षिप्त-'अलाउठा' नामक रोग की (भेषजीम्) उत्तम औषध (त्वा असुराः नि-अखनन्) तुझको असुरे= प्राण विद्या के जानने वाले वैद्य लोग निरन्तर खोद लेते हैं और (देवाः) विद्वान् लोग (पुनः) वार २ (उद् अवपन्) उखाड़ लेते हैं।

[११०] सन्तान की रक्षा और सुशिक्षा।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। १ पंक्तिः। २-३ त्रिष्टुभौ। तृच सूक्तम्॥

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व॥१॥

ऋ० ८।११।१०॥

भा०—(प्रत्नः) अति पुरातन, पुराण पुरुष (हि कम्) ही निश्चय से (अध्वरेषु) हिंसारहित यज्ञों में, देवपूजा के अवसरों में (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है। हे परमात्मन्! और तू (सनात्) चिरकाल से (च) ही (होता) सब का दाता है (च) और (नव्यः च) सदा नवीन, अजर, अमर अथवा सदा स्तुति करने योग्य होकर (सत्सि) हमारे हृदयों में विराजता है। हे अग्ने! परमेश्वर! आप (स्वाम्) अपने (तन्वम्) विशाल ब्रह्माण्ड को (पिप्राय) पूर्ण कर रहे हो, उसमें व्यापक हो, आप (अस्मभ्यं च) हमारे लिये (सौभगम्) उत्तम समृद्धि (आ यजस्व) प्रदान करें।

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥२॥

भा०—जिस स्त्री के प्रथम बालक उत्पन्न होकर मर जाय उसकी अन्य सन्तति की रक्षा करने का उपदेश करते हैं। (ज्येष्ठघ्न्यां) ज्येष्ठ=

प्रथम बालक को खो चुकनेवाली मृतवत्सा स्त्री में यह बालक (जातः) उत्पन्न हुआ है, अथवा (विचृतोः) विशेष रूप से परस्पर मिले हुए दोनों बालकों में से या (यमस्य) युगल रूप से उत्पन्न हुए (एनम्) इस बालक को (मूल-बर्हणात्) नाभि में लगी नाड़ी के काटने के समय से ही (परि पाहि) रक्षा करो। (विश्वा दुरितानि) सब प्रकार के दुरित, दुष्ट उपचार, जो माँ बाप या धाई की ओर से किये गये हों बालक को दुःख देने वाले पीड़ाकर कार्य्यों से (अति नेषत्) पार कर दो। जिससे वह (शत-शारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ बरस की लम्बी आयु जीवे।

सायण ने 'ज्येष्ठघ्नी' शब्द से ज्येष्ठा नक्षत्र 'विचृत्' से मूल नक्षत्र का ग्रहण किया है और मूल नक्षत्र या ज्येष्ठानक्षत्र में उत्पन्न बालक की रक्षा करने परक अर्थ किया है। सो असंगत है। वेद में फलित आदि असत्य बातों का होना सम्भव नहीं है।

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥३॥

भा०—(व्याघ्रे) व्याघ्र के समान प्रबल, क्रूर (अह्नि) अहन्= न घात किये जाने वाले, कठोर दिन में (वीरः अजनिष्ट) जो पुत्र उत्पन्न हो वह वीर होता है और (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ (सु-वीरः) उत्तम बालक वही है जो (नक्षत्र-जाः) अस्खलित वीर्यवान्, ब्रह्मचारी गृहस्थ से उत्पन्न होता है। (सः) वह पुत्र बड़ा (सु-वीरः) बलवान हो जाता है। (सः) वह (वर्धमानः) बड़ा होकर (पितरं) अपने पालक पिता को (मा वधीत्) कभी न मारे और (मातरं) मान्य (जनित्रीम्) जिसने उसको पैदा किया है उसको भी (मा प्रमिनीत्)

३–'वैयाघ्रे व्याघ्रो' इति वा ह्विटनिकामितः। (च०) 'स मा मातरम्' इति ह्विटनिकामितः।

कष्ट न दे। प्रायः मदोद्धत बलवान् पुत्र सम्पत्ति और बल के गर्व में आकर माँ बाप को भी कष्ट देते हैं इसलिये पुत्रों को माँ बाप की रक्षा का उपदेश वेद करता है।

सायण—(व्याघ्रेऽह्नि) क्रूर दिन में (नक्षत्रजाः) पाप-नक्षत्र में उत्पन्न हुआ।

[१११] बद्ध जीव की मुक्ति और उन्माद की चिकित्सा।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । २–३ अनुष्टुभौ । परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इ॒मं मे॑ अग्ने॒ पुरु॑षं मुमु॒ग्ध्य॒यं यो ब॒द्धः सुय॑तो॒ लाल॑पीति ।
अतोऽधि॑ ते कृणवद् भाग॒धेयं॑ य॒दानु॑न्मदि॒तोऽस॑ति ॥ १ ॥

भा०—बद्ध जीव की मुक्ति के साथ २ पागलपन रोगनिवृत्ति का भी उपाय बतलाते हैं—हे (अग्ने) अग्ने परमात्मन्! या विद्वन्! आचार्य! (यः) जो (बद्धः) बन्धन में बँधा हुआ यह आत्मा (सुयतः) अपने कर्म वासनाओं में खूब फँसा हुआ होने के कारण (लालपीति) बहुत बकता झकता है उस (इमम्) इस (मे) मेरे (पुरुषम्) पुरुष, आत्मा को (मुमुग्धि) बन्धन से मुक्त कर। (अतः) इसी प्रयोजन से हे अग्ने परमात्मन्! विद्वन्! यह जीव (यदा) जिस समय (अनुन्मदितम्) उन्माद=पागलपन, अविवेक से रहित (असति) हो जाय तब (ते) तेरा (भाग-धेयम्) भजन (अधि कृणवत्) करे। कर्म बन्धन में फँसा जीव बौराये हुए पागल के समान भटकता और बकता है। ईश्वर करे वह जीव मुक्त हो और जब उसको कभी अपने चित्त में शान्ति प्राप्त हो वह ईश्वर का अधिक भजन किया करे।

[१११] १–'यथानुऽन्मदितोसति' इति सायणाभिमतः ।

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोससि ॥ २ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे जीव ! (यदि) यदि (ते) तेरा (मनः) मन संकल्प विकल्प और मनन करनेवाला अन्तःकरण (उद्युतम्) उचाट हो जाय, किसी स्थान पर भी न लगे, तब मैं (विद्वान्) ज्ञानवान् आचार्य (ते) तेरी (भेषजम्) ऐसी उत्तम चिकित्सा (कृणोमि) करूँ जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असंसि) हो जाय। तब उस तेरे मन को (अग्निः नि शमयतु) अग्नि, ज्ञानी रूप शान्त करे।

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोसति ॥ ३ ॥

भा०—(देव-एनसात्) देव=विद्वान् पुरुषों या दिव्य पदार्थों के प्रति किये पाप या अनाचार के कारण (उन्मदितम्) हुआ उन्माद हो या (रक्षसः परि उन्मत्तम्) मानस क्रिया को रोकनेवाले कारण या ज्ञान-विघातक रोग से उत्पन्न उन्माद हो, उसकी मैं (विद्वान्) विद्वान् पुरुष (भेषजं कृणोमि) ऐसी चिकित्सा करूँ। (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे पुरुष उन्माद रहित हो जाय।

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोससि ॥ ४ ॥

भा०—(अप्सरसः) उत्तम स्त्रियें या जलधाराएँ (त्वां) तुझे (पुनः) बार २ (दुः) चेतना प्रदान करें। (इन्द्रः) इन्द्र सूर्य या वायु (पुनः) चेतना प्रदान करे। (भगः पुनः) भग, पुष्टिकारक अन्न तुझे पुनः चेतना प्रदान करे। (विश्वे देवाः पुनः त्वा) सब देव, इन्द्रियगण या

२—(द्वि०) 'उद्यतं' इति सायणाभिमतः।

विद्वान् लोग तुझे चेतना दें (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः असति) उन्माद रहित हो जाय ।

[११२] सन्तान की उत्तम शिक्षा और विनय ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥१॥

भा०—(अयम्) यह पुरुष (ज्येष्ठं मा वधीत्) अपने बड़े भाई को न मारे । हे (अग्ने) अग्ने ! परमात्मन् ! अथवा हे राष्ट्रपते ! (एषां) इनके (मूल-बर्हणात्) मूल-विनाश के बुरे कार्य से या मूल नाड़ी के कटने के समय से (एनम्) इस पुरुष को (परिपाहि) रक्षा कर (सः) वह तू हे अग्ने ! (प्रजानन्) भली प्रकार विद्वान् ! तू (ग्राह्याः) पकड़ने वाली क़ैद के (पाशान्) पाशों को (विचृत) खोल दे । तब (देवाः) अन्य विद्वान् पुरुष भी (विश्वे) सब (तुभ्यम्) तुझे इस कार्य की (अनु जानन्तु) अनुमति दें ।

कोई छोटा भाई होकर स्वार्थ या लोभ और कामवश अपने बड़े को न मारे, राजा उस पुरुष को अपना वंश नाश न करने दे, और ऐसे अपराधी को तभी बन्धन या कारागार से मुक्त करे जब कि और विद्वान् लोग उसको छोड़ देने की अनुमति दें अन्यथा उस अपराधी को क़ैद में ही रक्खे ।

---

[११२] १–(तृ०) 'प्रजानः' (च०) 'पिता पुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ।' इति पैप्प० सं० ।

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥२॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! (त्वम्) तू (एषाम्) इनके माता-पिता और भाई के (पाशान्) उन पाशों को (उन्मुञ्च) खोल दे । (येभिः) जिन (त्रिभिः) तीन या सब लोगों से (एषां) बड़े भाई के अधिकारों पर आघात करनेवाले इनमें से (त्रयः) मां, बाप और छोटा भाई तीनों (उत्सिताः) बँधे हुए (आसन्) हों । (सः) वह अग्नि, राजा (प्रजानन्) उत्तम रूप से सब व्यवस्था को जानता हुआ (ग्राह्याः) क़ैद के (पाशान्) पाशों को (वि चृत) खोल दे और (पितापुत्रौ) बाप, बेटे और (मातरं) माता को और इस निमित्त फँसे (सर्वान्) सब को (मुञ्च) छोड़ दे ।

यदि बड़े भाई के अधिकारों पर आघात हो राजा इस दोष में सब को पकड़े और जाँच पड़ताल करके जो निर्दोष हों उनको बन्धन से मुक्त करे । अन्यथा नहीं ।

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥३॥

भा०—(येभिः) जिन (पाशैः) बन्धनों से (परि-वित्तः) अपने ज्येष्ठ भाई का अधिकार हड़पने वाला पुरुष (वि-बद्धः) बाँधा जाय और (अंगे अंगे) अंग २ में (आर्पितः) जकड़ा और (उत्सितः च) बँधा रहे (ते) वे पाश (वि मुच्यन्तां) खोल दिये जायँ (हि) यदि (विमुचः)

२—(द्वि०) 'उत्थितः' इति सायणाभिमतः ।

३—(द्वि०) 'उत्थितः' इति सायणाभिमतः । (प्र०तृ०) एभिः पाशैः मुदुर्यां पतिर्निबद्ध परोपरार्पिता अंगे अंगे । विते चृत्यन्तां विचृतां हि सन्ति' इत्यादि पैप्प० सं० ।

वे खोल देने योग्य ही (सन्ति) हों । तब हे (पूषन्) राजन् (भ्रूणघ्नि) भ्रूणघाती पुरुष पर (दुरितानि) इन अपराधों को (मृक्ष्व) जानो । 'भ्रूण' का अर्थ कोषकार 'गर्भ' करते हैं परन्तु बोधायन ने लिखा है कि— "कल्पप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ।" कल्प प्रवचन सहित साङ्ग वेद का विद्वान् भ्रूण कहाता है । अर्थात् उक्त दोष से सभी तब मुक्त हो सकते हैं यदि उनके कार्य के नीचे किसी और पापी हत्यारे (Outlow) का हाथ हो तब उसको पकड़ कर ही दण्ड दिया जाय ।

[११३] पाप अपराध का विवेचन और दण्ड ।

अथर्वा ऋषिः । पूषा देवता । १–२ त्रिष्टुभौ । पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ १ ॥

भा०—पूर्व ज्येष्ठ भाई की हत्या के पाप की विवेचना करते हैं— (देवाः) विद्वान् व्यवहाराधिकारी शासक लोग (एतद् एनः) उस ज्येष्ठ भ्राता की हत्या के अपराध को (त्रिते अमृजत) प्रथम उक्त तीनों व्यक्तियों—छोटा भाई, पिता और माता इन तीनों पर ही (अमृजत) लगाते हैं । (त्रितः) ये तीनों (एतत्) इस अपराध को (मनुष्येषु) अन्य मनुष्यों पर (ममृजे) लगाने का यत्न करते हैं । तो हे अपराधियो ! (यदि) अगर (त्वा) तुझ पर (ग्राहिः आनशे) इस अपराध के कारण कैद आ जाय तो (तां) उस कैद को (ते देवाः) वे विद्वान् (ब्रह्मणा) ब्रह्म=सत्य व्यवस्था के द्वारा ही (नाशयन्तु) दूर

[११३] १–' तृत ' इति प्रायः । (तृ०) 'ततो मायदि किंचिदानशे' इति तै० ब्रा० ।

करें। अर्थात् वे ही यथार्थ अपराधी का पता लगा कर अपराधी को पकड़ें और निरपराधी लोगों को मुक्त करें।

सायण ने इस प्रसंग पर त्रित आप्त्य की कथा का उल्लेख किया है कि देवों ने पुरोडाश आदि के लेप के पाप को एकत, द्वित, त्रित इन तीन पुरुषों पर लगाया। उन्होंने क्रम से सूर्याभ्युदित पर लगाया, सूर्याभ्युदित ने सूर्याभिम्रुक्त पर, उसने कुनखी पर, उसने अग्रदीधिषु पर, उसने परिवित्त पर, उसने वीरहा पर, उसने ब्रह्मघाती पर। पूर्व मन्त्र में भ्रूणघाती वही प्रतीत होता है जो इस कथा में ब्रह्मघाती है। 'ब्रह्मघाती' में यदि ब्रह्म शब्द से वेद मर्यादा या वैदिक व्यवस्था को लें तो उसके विनाशक (out-law) कानून-भंगकारी को अपराध होना ही उचित है।

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व॥२॥

भा०—हे (पाप्मन्) पाप ! तू (मरीचीः) चाहे सूर्य की किरणों में छिप जा, चाहे (धूमान् प्रविश) धूओं में घुस जा, (अनु) और वहाँ से जाकर चाहे (उदारान्) उससे भी ऊपर उठे हुए मेघों में (गच्छ) चला जा, (उत वा) और चाहे (नीहारान्) उससे भी सूक्ष्म मेघमय वाष्प, कुहरा में विलीन हो जा और या (नदीनां) नदियों की (फेनान्) झागों में घुसकर (तान् अनु-विनश्य) उनके बीच में छुप जा तो भी तू छूट नहीं सकता। क्योंकि हे पूषन् ! सूर्य के समान राजन् ! तू (दुरितानि) बुरे कर्मों को (भ्रूण-घ्नि) भ्रूण=वेदाज्ञा के भंग करने वाले पापी पुरुष में ही (मृक्ष्व) भांप लेता है।

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥३॥

२—(तृ०) 'नश्यन्' इति क्वचित् 'विद्वं' इति सायणाभिमतः।

भा०—(त्रितस्य) मन वाणी और कार्य दोनों में बद्ध पुरुष या जीवात्मा का पाप उससे (अपमृष्टं) दूर रह कर भी (द्वादशधा निहितम्) बारह प्रकार से बंट जाता है। जिनको (मनुष्य-एनसानि) मनुष्य विचारशील पुरुष के एनस=पाप कहा जाता है। (ततः) उन कारणों से भी हे जीव (यदि) अगर (त्वा) तुझे (ग्राहिः) बन्धनमय अविद्या (आनशे) लग जाय (ते) तेरे (तां) उस बन्धन को (ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद के द्वारा (देवाः) विद्वान् पुरुष (नाशयन्तु) दूर करें। पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन और बुद्धि ये १२ स्थान पाप के हो सकते हैं। इसलिये ये पाप मनुष्य-पाप हैं। इनके अनुसार जीव कर्म-बन्धन में फँसता है।

मरीची, धूम, उदार नीहार, नदी फेन और भ्रूणघ्न में नीचयोनियों में जानेवाले जीवों के लिये पितृयाण मार्ग है।

॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश सूक्तानि ऋचश्च सप्तत्रिंशच्च ।]

[११४] पाप त्याग और मुक्ति का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः । विश्वे देवा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् ।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥

यजु० २२ । १४ ॥

१–(तृ०च०) 'अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ।' इति आदित्यास्तस्मान्मा मुञ्चत ऋतेनर्तस्य मा उत' इति वा तै०आ०। 'मा इत' इति तै० आ०।

भा०—पाप त्याग करने का प्रकार बतलाते हैं—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (वयम्) हम (देव-सः) देव स्वतः विद्वान्, इन्द्रिय क्रीड़ा व्यसनी होकर भी (यद्) जो (देव-हेडनं) देव, विद्वानों के अनादर और क्रोधजनक कार्य (चकृम) करें तो (हे आदित्याः) सूर्य के समान तेजस्वी या पापात्माओं को पकड़नेवाले पुरुषो! (तस्मात्) उस पाप के निमित्त (यूयम्) आप लोग (नः) हमें (ऋतस्य) सत्यमय ईश्वर के (ऋतेन) सत्यज्ञान, वेद व्यवस्था के अनुसार (मुञ्चत) हमें मुक्त करो।

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद्यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

भा०—हे (आदित्याः) विद्वान्, ज्ञानी पुरुषो! (यजत्राः) दानशील, यज्ञशील संगतिकारी सभासद् लोगो! आप लोग (नः) हमें (ऋतस्य ऋतेन) सत्यमय परब्रह्म के सत्यज्ञान द्वारा (इह) इस लोक में (मुञ्चत) मुक्त करो, पापों के बन्धन से मुक्त होने का उपदेश करो। हे (यज्ञ-वाहसः) यज्ञ-मय महान् आत्मा परमब्रह्म को अपने अपने हृदय में धारण करने वाले विद्वानो! हम लोग (यद्) जब (यज्ञम् शिक्षन्तः) उस ब्रह्म की शिक्षा प्राप्त करते हुए अथवा (यज्ञं शिक्षन्तः) उस महान् आत्मा को प्राप्त करने में यत्न करते हुए भी (न उपशेकिम) उसको प्राप्त न कर सकें तो भी आप (ऋतस्य ऋतेन नः मुञ्चत) उस सत्यमय ब्रह्म के सत्यज्ञान का उपदेश करके हमें मुक्ति का मार्ग बतलावें।

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

२–(च०) 'शिक्षन्तु उपारिम' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'इह मा', (तृ०) 'यज्ञैर्वः', (च०) 'आशिक्षन्तो नशेकिम' इति तै० ब्रा०।
३–(द्वि०) 'आज्येन' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यजमानाः) ब्रह्म की उपासना करते हुए हम लोग (मेदस्वता) मेद=मेध=आत्मा और शरीर को धारण करनेवाले अन्न से युक्त (स्रुचा) बलप्रदाता प्राण से (आज्यानि) अपने तेजोमय इन्द्रिय रूप प्राणों को (जुह्वतः) आत्मा में लीन करते हुए (अकामाः) निष्काम, कामना रहित होकर और (शिक्षन्तः) ब्रह्म को प्राप्त करने का यत्न करके भी (न उपशेकिम) बन्धन से मुक्त न हो सकें तो हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान पुरुषो ! (वः) तुम लोग हमें ब्रह्म के सत्य ज्ञान के उपदेश द्वारा, कर्म-बन्धन से मुक्त करो ।

सायण ने (मेदस्वता यजमानाः स्रुचा) इसका अर्थ करते हुए पशु-बलिमय यज्ञपरक अर्थ किया है । सो असंगत है ।

शतपथ में—मेदो वै मेधः । श० ३ । ८ । ४ । ६ ॥ मेधाय अन्नाय इत्येतत् । श० ७ । ५ । २ । ३३ ॥ ऐतरेय में—मेधो देवैरनुगतो व्रीहिरभवत् । ए० । ८ ॥—ताविमौ व्रीहियवौ मेधः । श० १ । २ । ३ । ६,७ ॥ व्रीहि, यव आदि धान्य और पुरोडाश का नाम मेधः=मेदः है, अन्न से उत्पन्न प्राण की साधना से भी यत्न करनेवाले अभ्यासी लोग जब कर्मबन्धन से मुक्त न हों तो पहुँचे हुए ज्ञानी पुरुष उनको ब्रह्म का उपदेश करें । ब्रह्म-ज्ञान के उपदेश के लिये ब्रह्मचर्य और अष्टांग-साधना आवश्यक है ।

[११५] पाप-मोचन और मोक्ष ।

ब्रह्मा ऋषिः । विश्वे देवा, देवताः । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

[११५] १–(प्र०) 'यदि वा यद् नक्तं' (द्वि०) 'आकरत्' (च०), 'मुञ्चतः' इति तै० ब्रा० । (प्र०) 'स्वप्ने' (द्वि०) 'एनांसि चकृमा वयम्' इति यजु० ।

भा०—(वयम्) हम (यद्) जब जब (विद्वांसः) ज्ञानवान् होकर या (अविद्वांसः) बिना जाने हुए (एनांसि) अपराध या पाप-कर्म (चकृम) करें हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (स-जोषसः) एक मत होकर, सप्रेम, होकर (तस्मात्) उस पाप से (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त कराओ, छुड़ाओ।

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥

(प्र० द्वि०) यजु० २० । १६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(यदि) मैं (एनस्यः) पापकारी होकर भी (जाग्रद्) जागते हुए (यदि) या (स्वपन्) सोते हुए (एनः) पाप (अकरम्) करूँ तो जिस प्रकार (द्रुपदात् इव) द्रुपद=खूँटे से बँधे पशु को जिस प्रकार छुड़ा कर मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार मेरे साथ लगे (भूतम्) भूतकाल के और (भव्यम् च) भविष्यत् काल के पाप को (तस्मात्) उक्त प्रकार से मुझे (मुञ्चताम्) छुड़ाओ। अथवा (द्रुपदात् इव भव्यं भूतं च मुञ्चताम्) खूँटे के समान मुझसे भूत=इस लोक और भव्य=अमुक लोक दोनों के कर्म-बन्धन को छुड़ाओ।

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

यजु० २० । २० ॥

भा०—(द्रुपदात् मुमचानः, इव) जिस प्रकार पशु खूंटे से मुक्त हो जाता है और (स्विन्नः) पसीने से भीगा पुरुष (स्नात्वा)

३–(द्वि०) 'स्नातो' (च०) 'शुन्धन्तु' इति यजु० । (प्र०) 'द्रुपदादिह' (द्वि०) 'स्नात्वी' (च०) 'मुञ्चन्तु' इति मै० सं० । 'विश्वान् मुञ्चन्तु' (द्वि०) 'सिन्धुःस्ना–' इति पैप्प० सं० ।

नहाकर (मलात् इव) जिस प्रकार मल से रहित होजाता है और जिस प्रकार (पवित्रेण) पवित्र=कुश के बने, अथवा पवित्र अर्थात् कम्बल या छानने के कपड़े से (पूतम्) छान लिया गया (आज्यम्) घृत या जल जिस प्रकार शुद्ध पवित्र होजाता है उसी प्रकार (विश्वे) समस्त विद्वान् पुरुष या (विश्वे देवाः) समस्त दिव्य गुण के पदार्थ जल, भूमि, चन्द्र, वायु आदि (मा) मुझे (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) शुद्ध करें।

उक्त दोनों मन्त्रों में 'द्रुपदात् इव' द्रुपद से छूटने की उपमा आई है। सायण के मत से "पादबन्धनार्थो द्रुमो द्रुपदः [६।११५।२] द्रुपदात् इव काष्ठमयात् पादबन्धनात् इव [६।११५।३]" द्रुपद शब्द का अर्थ लकड़ी का बना पैरों का बन्धन (अर्थात् खूँटा) है। यजुर्वेद भाष्यकार उव्वट और महीधर दोनों ने द्रुपद शब्द का अर्थ 'पादुका' किया है। कदाचित् 'पादुका'=खड़ाऊँ सायण को भी अभिमत हो। ग्रीफ़िथ के मत में द्रुपद्=stake, खूँटा, बल्ला। इसका वास्तविक अर्थ बृहदारण्यक के नीचे लिखे उद्धरण से स्पष्ट होता है—

"अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महा-सुहयः पड्वीश-शङ्कून् संवृहेदेवं ह वै इमान् प्राणान् संववर्ह।" इत्यादि। इसमें 'पड्वीशशङ्कु' वही पदार्थ है जिसे वेद 'द्रुपद' शब्द से कहता है। अथवा ऋग्वेद में—

"शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः" [ऋ० १। २४। १३] शुनःशेप तीन खूंटों में बँधा हुआ आदित्य को पुकारता है।

[११६] पाप से मुक्त होने का उपदेश।

जाटिकायन ऋषिः। विवस्वान् देवता। १-२ जगत्यौ। ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥

भा०—(कार्षीवणाः) कृषि करनेवाले (अन्नविदः, न) अन्न विद्या के ज्ञानी पुरुषों के समान (विद्यया) ज्ञान या कृषिविद्या के अनुसार (अग्रे) पूर्व ही (निखनन्तः) भूमि को खोदते हुए (यत्) जिस (यामन्) राजनियम को स्थिर (चक्रुः) करते हैं (तत्) उसके अनुसार ही मैं अन्नपति, भूमिपति (वैवस्वते राजनि) विवस्वान=विशेष धन या राष्ट्र के पति राजा के पास (जुहोमि) कररूप में दूं। (अथ) और (यज्ञियम्) यज्ञ के योग्य, यज्ञ=राष्ट्र के हितकारी (नः) हमारा (मधुमत्) दुग्ध आदि, बल, वीर्य, रससम्पन्न (अन्नम् अस्तु) अन्न हो।

सायण—यामं=क्रूर कर्म। ग्रीफिथ-यामं=धनं बीजमयं धान्यम्। यमः=राजा, तत्सम्बन्धिकरदानादिसमयो यामं कर्म। यामः कर्म [श० ६ । ३ । २ । ३] याम=नियम, व्यवस्था।

अर्थात् किसानों के खेती करते समय जो राजा का नियत कर है सबसे प्रथम उसको भूपति लोग चुकाया करें। उसके अनन्तर शेष अन्न स्वयं ग्रहण करें।

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥

भा०—(वैवस्वतः) राष्ट्र का स्वामी (भागधेयं कृणवत्) सबके हिस्सों का विभाग करता है। और (मधुभागः) अन्न का भाग ग्रहण करनेवाला राजा ही सबको (मधुना सं सृजाति) अन्न से सम्पन्न करता

[११६] १—(द्वि०) 'न विदो न विद्यया' इति सायणसम्मतः पाठः। 'यदि आमं' इति ब्लूमफील्डकामितः पदच्छेदः।
२—(प्र०) 'कृणवद् भेषजानि' इति पैप्प० सं०।

है। अर्थात् यदि राजा अन्न का भाग न ले तो लोग अन्न उत्पन्न न करें, प्रत्युत, राजा जिस वस्तु को चाहता है वही प्रजा उत्पन्न करती है। राजा को हम राजा का भाग इसलिये दें कि उसको उसका भाग न देने से दो अनर्थ उत्पन्न होते हैं—(१) (यत्) प्रथम तो (मातुः) माता पृथिवी या प्रजा का (इषितम्) अभिलषित पदार्थ अन्न (नः) हमारे पास (एनः) पाप रूप में या अपराध रूप में (आ अगन्) आ जाता है, (२) (च) और दूसरा यह (यद्) कि (पिता) पालन करनेवाला राजा (अपराद्धः) कसूर करने पर (जिहीडे) क्रोध करता है। इसलिये जिसका जो भाग हो वह उसको अवश्य दे देना चाहिये। उसको उसका हिस्सा न देने से जो पाप (एनः) होता है, उसका स्वरूप अगले मन्त्रों में स्पष्ट हो जाता है।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः॥३॥

भा०—(यदि) यदि (इदं एनः) यह पाप, दोष (मातुः) माता के (यदि वा) अथवा (पितुः) पिता के या (नः) हमारे (भ्रातुः) भाई के (चेतसः) चित्त से या (पुत्रात्) पुत्र की तरफ़ से (परि आ-अगन्) हम पर आवें तो (यावन्तः) जितने भी (पितरः) पालक, पिता लोग, पिता, माता, गुरु आचार्य, राजा आदि आदरणीय पुरुष और जो भी (अस्मान्) हम पर (सचन्ते) आश्रित होकर रहते हैं (तेषां सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) क्रोध या चित्त (शिवः अस्तु) हमारे लिये शान्त होकर हमें कल्याणकारी हो।

जिसको भाग नहीं प्राप्त होता वही हम पर अपने भाग को हड़प जाने का दोष लगावेगा और हम पर क्रोध करेगा, वही वेद में 'एनः' कहा गया है। ऐसा 'एनः', दोष इनके चित्त से हम पर आ लगता है। अर्थात् उनका चित्त हम पर दोष आरोपण करता है। तब हिस्सा न

पाकर जब कलह हो तो हमारे बड़े वृद्ध पुरुष ही उसको शान्त करें और हमारा फैसला करा दिया करें ।

[११७] ऋण-रहित होने का उपदेश ।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥१॥

भा०—ऋणपरिशोध का उपदेश करते हैं—(यद्) जिस (अपमित्यम्) अपमान योग्य या प्रदान करने योग्य (अप्रतीत्तं) न चुकाये हुए धनको (अस्मि) लेता हूँ और (यमस्य) नियन्ता राजा के राज्य में (येन) जिस (बलिना) बलि, कर से (चरामि) मैं स्वयं अपना भोजन प्राप्त करूं (इदं तत्) उसको मैं यह । हे (अग्ने) राजन् तेरे समक्ष ही चुका दूं और इस प्रकार उससे मैं (अनृणः) ऋणरहित (भवामि) होजाऊं । हे अग्ने ! राजन् ! (त्वं) तू ही (सर्वान् पाशान्)

[११७] १–(प्र०) 'यदस्मि' इति लडविग्कामितः । 'यत् कुसीदं यदप्रतीतम्' मयेह । (द्वि०) 'येन यमस्य निधिना चरावः' । (तृ०) एतत् जीवन्नेव प्रति हस्ता तृणानि' इति मै० सं० । (तृ०) 'इहैव सन्निरवदये तत्' इति तै० सं० । 'जीवन्नेव प्रति तत्ते दधामि' इति तै० ब्रा० । 'यानपमित्यान्यप्रतीतान्यस्मि यमस्य बलिना चरामि' इति तै० ब्रा० । 'यत्कुसीदमप्रदत्तं मयेह येन यमस्य निधिना चरामि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि जीवन्नेव प्रतिदत्ते ददानि' इति मै० ब्रा० । 'यत् कुसीदमपामित्यमप्रतीतम्' इति गो० ब्रा० । (प्र०) 'अपमृत्युमप्रतीतं यदस्मिन्नस्येन' । (च०) 'जीवन्नेव प्रतिददामि सर्वं' इति पैप्प० सं० ।

सब बन्धनों को (विचृतम्) नाना प्रकार से बांधना और खोलना भी (वेत्थ) जानता है ।

राजा की साक्षी में जिसका ऋण देना हो दो और राजा का कर भी चुकाओ, नहीं तो वह न चुकाने वाले कर्ज़दार को नाना प्रकार के दण्ड देगा ।

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत् ।
अपमित्य धान्यं१ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥ २ ॥

भा०—हम लोग (इह एव) इस लोक में ही (सन्तः) वर्त्तमान रहते २ (एनत्) उस ऋणको (प्रतिदद्मः) चुका दिया करें। और (जीवाः) हम जीते जी (जीवेभ्यः) जीते हुए पुरुषों के (एनत्) इस ऋण को (निहरामः) सर्वथा साफ़ कर दिया करें, बेबाक कर दिया करें । (यत् धान्यम्) जो धान्य आदि ऋण लेकर भी (अहं जघस) मैं खाऊं, उसको भी (अपमित्य) वापिस देकर हे (अग्ने) न्यायाधीश ! (इदं तत्) यह इस प्रकार मैं (अनृणः) ऋण रहित (भवामि) होऊं ।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ ३ ॥

भा०—लौकिक और पारमार्थिक दोनों ऋणों की विवेचना करते हैं— हम लोग (अस्मिन्) इस (लोके) लोक में और (परस्मिन्) परलोक में और (तृतीये लोके) तृतीय लोक में भी (अनृणाः) ऋण रहित

२-(प्र०) 'प्रतितद्यातयाम' इति तै० ब्रा० । 'एतत्' इति पैप्प० सं० । 'अपमृत्यु' 'जघास अग्निर्मा तस्मादनृणं कृणोतु' इति पैप्प० सं० ।
३-(तृ०) 'उत पितृयाणा सर्वान्' इति तै० ब्रा० ।

(स्याम) हो जायँ। (ये देवयानाः) जो देवों, विद्वानों के जीवन-यापन के योग्य देवयान लोक हैं और जो (पितृयाणाः च लोकाः) पितृयाण लोक हैं (सर्वान्) समस्त (पथः) मार्गों में हम (अनृगाः) ऋण रहित होकर ही (आ क्षियेम) रहा करें। इस लोक के दो प्रकार ऋण हैं एक तो जो अधमर्ण होकर उत्तमर्णों से सुवर्ण, रजत धान्य वस्त्रादि लिया जाता है; दूसरा पितृऋण, देवऋण, और ऋषिऋण हैं। जैसे तैत्तिरीय संहिता में लिखा है "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः। तै० सं० ६।३।१०।५]। ऋणं ह वै जायते, योऽस्ति स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। स यदेव यजते तेन देवेभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्यः एतत्करोति यदेनान् यजते यदेभ्यो जुहोति। अथ यदेवानुब्रुवीत तेन ऋषिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति ऋषीणान्निधिगोपा इति ह्यनूचानमाहुः। अथ यदेव प्रजामिच्छेत तेन पितृभ्य ऋणमिच्छते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेषां सन्तताऽव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति। अथ यदेव वासयत तेन मनुष्येभ्यः ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान् वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्मा; तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम्।" शत० का० १।७।२।१–५॥ ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋणों से ऋणवान् होजाता है ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास करके ऋषियों का, यज्ञों से देवों का और प्रजा से पितृ लोगों का ऋण होता है। (तै० सं०) जो भी उत्पन्न होता है उत्पन्न होते ही उस पर देव, ऋषि, पितर और मनुष्य चारों के ऋण हो जाते हैं। यज्ञों से देवों का ऋण उतरता है, अनुप्रवचन, अध्ययन कार्य से ऋषियों का ऋण उतरता है, विद्यावान् पुरुष ऋषियों का 'निधिगोपा' खजानची कहाता है। प्रजाओं से ऋषियों का ऋण उतरता है इससे प्रजातन्तु टूटता नहीं। मनुष्यों के घरों में अतिथि रूप से रहने और भोजन करने से मनुष्यों का ऋण होता है।

घर पर अतिथियों को वास देने और भोजन वस्त्र देने से मनुष्यों का ऋण चुकता है। जो इन सब कार्यों को करता है वह 'कृतकर्मा' है उसको सब प्राप्त होता है वह सब पर विजय प्राप्त करता है।

[११८] ऋण के आदान और शोध की व्यवस्था।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः। अग्निर्देवता त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः॥ १॥

भा०—कुमार्ग में या जूआ आदि व्यसनों में ऋण लेने और देने की व्यवस्था करते हैं—(अक्षाणाम्) अक्ष=जुए के पासों की (गत्नुं) क्रीड़ा को अथवा उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले अर्थलाभों को (उपलिप्समानाः) प्राप्त करने का लाभ करते हुए (हस्ताभ्याम्) हाथों से (यत्) जब (किल्बिषाणि) पाप (चकृम) करें (तत्) तब (अद्य) तत्काल ही (उग्रं-पश्ये) उग्र, उद्यत दण्ड होकर देखने वाली और (उग्र-जितौ) उग्रता से सब को वश करने वाली (अप्सरसौ) दोनों राजा और प्रजा की संस्थाएं (नः) हमारे (ऋणम्) ऋण, अर्थदण्ड को (अनु-दत्ताम्) हम से दिलादें। अर्थात् धनके लोभ से जब २ हम जूआ आदि कामों में हाथ डालें तब २ प्रजा की व्यवस्थापक संस्थाएं हमें पकड़ लें और दण्ड-पूर्वक हमारा ऋण हमसे चुकवावें। प्रजा पर निगरानी करने वाली दो

[११८] १–'गणमुप' इति अजमेरमुद्रितसंहिता पाठः, ग्रीफिथसम्मतश्च, 'गत्युं' 'गत्तुं' 'गन्तुं' इति क्वचित्। (प्र०) 'चक्रर' (द्वि०) 'वग्नुमुपजिघ्नमानः'। इति तै० आ०, मै०सं०। 'अवजिघ्रमाणः'। (तृ०च०) 'दूरेपश्या च राष्ट्रभृच्च तान्यप्सरसमनुदत्तानृणानि' इति तै० आ०। "किल्बिषमक्षमक्षभाविलिप्समानाः इति पैप्प० सं०। (तृ० च०)

संस्थाएं एक उग्रंपश्या दूसरी, उग्रजित्, एक C. I. D. 'क्रिमिनल इनवेस्टिगेटिंग डिपार्टमेंट' पापियों को खोज २ कर पता लगाने वाली दूसरी 'उग्रजित्' पोलिस अपराधियों को खोज २ कर दण्ड देने वाली। ये दोनों संस्थाएं प्रजा में (अप्सरसौ) गुप्त रूपसे विचरें, अपराधियों का पता लगावें और उनको दण्ड दें। यहां सायण, ग्रीफ़िथ और क्षेमकरण तीनों भाष्यकारों के भाष्य अस्पष्ट हैं। इसी विषय का स्पष्टीकरण अगले मन्त्र में देखो।

उग्रंपश्ये राष्ट्रंभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥ २ ॥

भा०—हे (उग्रं-पश्ये) उग्र होकर प्रजा के अपराधियों को देखने वाली संस्थे ! और हे (राष्ट्र-भृत्) राष्ट्र को अपराधी पुरुषों से बचाकर उसका पालन करने वाली संस्थे ! हे पूर्वोक्त दोनों संस्थाओ ! (यद्) जो (अक्ष-वृत्तम्) जुआखोरी में होने वाला पाप और जो २ (किल्बिषाणि) पाप हैं उन सब को (एतत्) इस प्रकार से (अनु-दत्तम्)[१] उनके अनुकूल हमें दण्ड दें और हमें जुआखोरी आदि व्यसनों से कर्ज़दार होने से बचावें जिससे (ऋणात्) ऋणवान् पुरुष से (ऋणम्) अपने दिये ऋण को (न) नहीं (एर्त्समानः=आ ईर्त्समानः) प्राप्त करे

२—'नेत्रर्णान् ऋणवा इत्समाना', '—रज्जुराय' इति तै० ब्रा०। 'नेम्नर्णानृणवानीप्समानो'—'निधिराजराय' इति मै० सं०। (तृ०) ऋणवानोऽनृणवायदायच्छमानो' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'नर्णमेच्छमानः' इति सायणाभिमतः। 'ऋणान् । न'। 'ऋणात् न' इति सायणाभिमतः पदपाठः।

१ 'निवारयतम् इत्यर्थः' इति सायणः (प्र०)'उग्रं पश्येद्राष्ट्रभृतक' इति तै० ब्रा०। राष्ट्रभृतः किल्बिषं 'दत्तं वस्तत्' इति पैप्प० सं०।

तो उत्तमर्ण हम पर (अधि-रज्जुः) रस्सी या हथकड़ी लगाता हुआ (यमस्य लोके) नियन्ता राजा के दर्बार में (नः) हमें (आयत्) ले आवे।

अथवा उग्रंपश्या और राष्ट्रभृत् संस्थाएं हमें जुआखोरी के पाप से बचावें, क्योंकि कहीं ऋणी पुरुष से ऋण चुकाना चाहता हुआ पुरुष हम पर हथकड़ी लगाकर हमें राज दर्बार में न घसीट लावें।

यस्मा॑ ऋ॒णं यस्य॑ जा॒याम॒पैमि॒ यं याच॑मानो अ॒भ्यैमि॑ देवाः ।
ते वाचं॑ वादिषु॒र्मोत्त॑रां म॒द्देव॑पत्नी॒ अप्स॑रसा॒वधी॑तम् ॥ ३ ॥

भा०—(यस्मै) जिसके (ऋणम्) ऋण को मैं धारूँ और (यस्य) जिस पुरुष की (जायाम्) स्त्री को (उप-एमि) अनधिकार से उपभोग करूँ और या (यम्) जिसके पास (याचमानः) धन की या ऋण की याचना करता हुआ (अभि-एमि) पहुँच जाऊँ (हे देवाः) हे देवगण विद्वान् राजपुरुषो ! (ते) वे लोग (मत्) मुझ से (उत्तराम्) उत्कृष्ट, अधिक या दूसरी (वाचम्) वाणी को (मा वादिषुः) न बोलें। हे (देवपत्नी अप्सरसौ) विद्वानों की पालन करने और रखने वाली प्रजा की संस्थाओ ! यह बात (अधीतम्) सदा स्मरण रक्खो। अर्थात् मुद्दई और मुद्दाला दोनों की एक बात होनी चाहिए। अपराधी उस दोष को स्वीकार करे जो दोष उसके ऊपर आरोपक लगाता है यदि मुद्दई मुद्दाला दोनों की बातों में फर्क हो तो विद्वत्-संस्थाएं—पञ्चायतें या ज्यूरियें इस पर विचार करें और साथ ही अन्वेषण करें। वेदमन्त्र में यही बात लिखी है कि अपराधी का जितना दोष हो आरोपक उससे अधिक दोष धर्माधिकारियों के सामने उस पर न लगावें।

३–(द्वि० तृ० च०) 'यं याजमानो अभ्येमहे। वातं वाजिन् वाजिर्मोत्त-राम्मद्दनपत्नी अप्सरसापदीतम्' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'अभ्येमि' इति सायणाभिमतः।

[११९] ऋण और दोष का स्वीकार करना ।

अनृणकामः । कौशिक ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यद्दीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि ।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

भा०—(अहं) मैं (यद्) जो (ऋणम्) ऋण (अदीव्यन्) जूआ खेले विना, या विना व्यसन-क्रीड़ा किये, अपने आप कर लूँ और (उत) और (अदास्यन्) उसको न चुका कर भी (सं-गृणामि) चुका देने की प्रतिज्ञा कर लूँ तो हे (अग्ने) राजन् ! तू (वैश्वानरः) सब पुरुषों का हितकारी (वसिष्ठः) सब में वास करने वाले सब के भीतर समान रूप से आदर प्राप्त; (अधि-पाः) सब का स्वामी, राजा होकर (नः) हमें (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकम्) लोक में (इत्) ही (उत् नयाति) ऊपर उठा ले । अर्थात् यदि कोई ऋण के कारण क़ैद पड़ा हो और वह ऋण जुआखोरी आदि बुरे काम से न हुआ हो तो उसको ऋण दे देने की सत्य प्रतिज्ञा कराके पुनः निरपराध के समान मुक्त कर दिया जाय ।

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु ।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम ॥२॥

---

[११६] १–(प्र०) 'यददीव्यन्नहमृणं' (च०) 'उरुन्नयाति' इति पैप० सं० । (प्र०) 'अहं चकार' इति तै० आ० । (द्वि०) यद्वा दास्यन्त्संजगार जनेभ्यः' इति तै० आ० ।

२–'वेदयामो यदी नृणम्' (तृ०) 'पाशान् प्रमुचं प्रवेद' इति तै० आ० । (तृ०) 'विचृतं वेद सर्वान्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'स नो मुञ्चतु दुरितादवद्यात्' इति तै० आ० ।

भा०—मैं ऋणी या दोषी पुरुष (वैश्वानराय) समस्त पुरुषों के हितकारी जज मजिस्ट्रेट या धर्माध्यक्ष के समक्ष (यद् ऋणम्) जो मेरे ऊपर ऋण है उसको (प्रति-वेदयामि) स्पष्टरूपसे स्वीकार करता हूं। और (देवतासु) देव-विद्वान् पंचों के बीच (यः संगरः) जो मेरी प्रतिज्ञा है उसको भी निवेदन करता हूं। (सः) वह धर्माध्यक्ष ही (एतान् सर्वान् पाशान्) इन सब दण्डव्यवस्थाओं को (विचृतम्) स्पष्टरूप से (वेद) जानता है (अथ) और हम सब प्रजागण (पक्वेन सह) परिपक्व, सुविचारित परिणाम के साथ (सं भवेम) सहमत हों।

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम्।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि॥३॥

भा०—(पविता) सत्य और असत्य दोनों का विवेक करने वाला (वैश्वानरः) सर्वहितकारी धर्माध्यक्ष अपने सत्य विवेक से (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे, मेरे दोष को दूर करे। (यद्) जब मैं (सं-गरम्) सत्य प्रतिज्ञा को (आशाम्) कालान्तर से पूर्ण करने की इच्छा (अभिधावामि) करूँ और (अनाजानन्) विना जाने (मनसा) मन से (याचमानः) दया, क्षमा, याचना करता हुआ भी (तत्र) उस काम में (यत् एनः) जितना या जो अपराध है (तत्) उसको (अप-सुवामि) दूर करूँ।

[१२०] पापों का त्याग कर उत्तम लोक को प्राप्त होना।

कौशिक ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता। १ जगती। २ पंक्तिः। ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

३–(प्र०) 'पवमान् नः पवित्रैः'। (च०) 'अत्रैनो अव तत्' इति तै० आ०। (द्वि०)–'धावान्या' इति सायणाभिमतः।

यदुन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

भा०—(यद्) यदि हम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षगत प्राणियों को (पृथिवीम्) पृथिवी, पृथिवीगत प्राणियों को, (द्याम्) द्यौलोक, द्यौलोक के, विद्वान् प्राणियों को और (यत् मातरम्) जो माता (वा पितरम्) या पिता, अपने परिपालक को (जिहिंसिम) मारें, पीड़ा दें तो (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि, गृहों का स्वामी, नेता या भूलोक का स्वामी राजा या परमेश्वर (नः) हमें (तस्मात्) उस बुरे कार्य से (इत्) अवश्य (उत् नयाति) उन्नत करे और (सुकृतस्य लोकम्) सुकृत, उत्तम पुण्यलोक में प्राप्त करावे ।

पृथिवी, आकाश और उससे भी ऊँचे द्यौः में विचरने वाले या उनका ज्ञान प्राप्त करनेवाले प्राणियों का नाश करना या पृथिवी, अन्तरिक्ष, वायु और द्यौः सूर्य के उपकारक पदार्थों का नाश करना और माता पिता को दुःख देना यह जंगलीपन का जीवन है । घर बसा कर उसमें अग्निस्थापन करना, प्रत्येक घर में ज्ञानाग्नि के स्थापन एवं अपने राजा के स्थापन का प्रतिनिधि है, अर्थात् मनुष्य उस बर्बरता के जीवन से उठ कर गृहपति, सरकार या राजशासन का स्थापन करे और उन्नत जीवन व्यतीत करे ।

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः ।
द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात् ॥ २ ॥

[१२०] १–(तृ० च०) 'अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु' इति पैप्प० सं० ।

२–(प्र०) 'आभिशस्त एनः' । (तृ० च०) भवासि जामिमित्वा मा विविष्टि लोकान् । (द्वि०) 'अभिशस्त्याः । नः' इति सायणाभिमतः

भा०—पूर्व मन्त्र में कही परिभाषाओं को और भी स्पष्ट करते हैं—(भूमिः) भूमि, सब का उत्पत्तिस्थान (अदितिः) अखंण्डित या अदीन होकर (नः) हमारी (माता) माता के समान ही (जनित्रम्) हमें उत्पन्न करने वाली है। और (अन्तरिक्षम्) उसमें विचरने वाला वायु (भ्राता) हमारे भाई के समान हमें भरण पोषण करनेवाला है। और (द्यौः) यह आकाश या सूर्य (नः पिता) हमारा वीर्य सेक्ता पिता के सामान ऊपर से जलवर्षक और प्रकाशप्रद जीवनप्रद है। वे (नः) हमें (अभिशस्त्याः) अपवाद से अथवा अभिशस्ति=चारों तरफ़ से आनेवाली पीड़ाजनक विपत्तियों से दूर करें और उनमें से प्रत्येक (शं भवाति) कल्याण और सुखकारी हो, और मैं (जामिम् ऋत्वा) दोष या रोग को प्राप्त होकर अथवा (पित्र्यात्) पालकों के योग्य (लोकात्) इस लोक से (मा अव पत्सि) न गिरूँ। अथवा—(जामिम्) अपनी भगिनी का (ऋत्वा) संग करके (पित्र्यात् लोकात्) पिता के घरसे, पितृकुल से (मा अव पत्सि) न गिर जाऊँ। अर्थात् मा बाप, भाई हमारा कल्याण करें और हम दोष या, भगिनी आदि निषिद्ध स्त्रियों से संग करके उनके अपवाद के पात्र न हों। प्रत्युत पुण्याचरण से अपने उत्तम कृत्य में प्रतिष्ठित बने रहें।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥३॥
अथर्व० (प्र० द्वि०) ३।२८।५॥

पदच्छेदः। 'जामि। मृत्वा', जामिम्। ऋत्वा' इत्युभयथा पदच्छेदः सायणाभिमतः। (द्वि०) 'भ्रातान्तरि' इति पैप्प० सं० इति भिलः।
३-(प्र०) 'मदन्ते', (द्वि०) 'तन्वां स्वायाम्'। (तृ०) 'अश्लोणाङ्गैरहुताः'। (च०) 'पितरं च पुत्रम्'—इति तै० आ०। (द्वि०) 'तन्वाः' तृ० 'अश्रोणा' इति सायणाभिमतः।

भा०—(यत्र) जहां, (सुहार्दः) उत्तम हृदयवाले (सुकृतः) पुण्याचारी पुरुष (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर के (रोगं विहाय) रोगों से मुक्त होकर, आरोग्य होकर (अंगैः) अंगों से (अश्लोणाः) अविकृत (अह्रुताः) कुटिलता से रहित, सरलस्वभाव होकर (मदन्ति) आनन्द से जीवन व्यतीत करते हैं हम भी (तत्र) वहां उन लोगों के बीच (स्वर्गे) उसी सुखमय, स्वर्गसमान देश में (पितरौ) अपने मां बाप और (पुत्रान् च) पुत्रों को आनन्द प्रसन्नरूप में विचरते हुए (पश्येम) देखें।

[१२१] त्रिविध बन्धन से मुक्ति ।

कौशिक ऋषिः । मन्त्रोक्ता-दैवत्यम् । १-२ त्रिष्टुभौ । ३, ४ अनुष्टुभौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (ये उत्तमाः) जो [illegible], सात्विक, और (अधमाः) जो अधम, नीच तामस (वारुणाः) वरुण, परमात्मा के बनाये हुए पाश हैं उन (पाशान्) पाशों को (अस्मत्) हमसे (विषाणा[1]=वि-साना) मुक्त करता (अधि वि स्य) उन पाशों का अन्त कर दे । और (अस्मद्) हम से (दुस्वःप्न्यं) दुष्ट काम विकारों से उत्पन्न होनेवाले बुरे स्वप्नों और (दुरितम्) बुरी चेष्टाओं को (निः स्व=निः सुव) दूर कर । (अथ) और उसके बाद हम (सु-कृतस्य) उत्तम पुण्य के (लोकम्) लोक=जन्म या अवस्था को (गच्छेम) प्राप्त हों ।

१—सुपां आत्वम् ।

[१२१] १—(तृ०) 'निः ष्व' इति क्वचित् ।

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥२॥

(तृ० च०) अथर्व० ६।१२०।१॥

भा०—हे जीव! (यत् च) जो तू (दारुणि) काष्ठ में (यत् च रज्ज्वां) और जो तू रस्सी में और (यद् भूम्यां) जो तू भूमि में (बध्यसे) बांधा जाता है और (यत् च वाचा) जो तू वाणी से बांधा जाता है (तस्मात्) उस बंधन से (नः गार्हपत्यः) हमारे गृहों का स्वामी (अग्निः) परमेश्वर या राजा (अयम्) यह साक्षात् (इत्) ही (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य, शुभ कर्म से प्राप्त होनेवाले (लोकम्) प्रकाशमय लोक को (उत् नयाति) ले जाता है। दारु=काष्ठ=शरीर, रज्जू=रस्सी, गुणमयी प्रकृति, भूमि=योनि, मनुष्यादि जन्म, वाक्, वाणी, वेदाभ्यास, शिक्षा, उपनयनादि द्वारा वेदादिकृत धर्माधर्म की व्यवस्था, इन सब बन्धनों से जीव को उन्नत लोकों में प्राप्त कराता है। इसी प्रकार राजा के ये दण्ड अपराधी की उन्नति के लिये होने चाहियें।

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम्॥ ३॥

(प्र० द्वि०) अथर्व० २।८।१ प्र० द्वि०।

भा०—(भगवती) ऐश्वर्य, बल से सम्पन्न (विचृतौ) विशेष रूप से परस्पर सम्बद्ध प्राण और अपान नामक (तारके) जीव को शरीर से तराने वाले (उद् अगाताम्) ऊर्ध्व गति करते हैं तब वे दोनों (अमृतस्य) अमृत आत्मा का अमृत स्वरूप (प्रयच्छताम्) प्रदान करें तब (बद्धक-मोचनम्) वह आत्मा बद्ध अवस्था से मुक्त अवस्था को (प्रैतु) प्राप्त करे।

२–(प्र०) 'दारुणा', 'रज्ज्वा' इति पैप्प० सं०।
३–(प्र०) 'अमीये सुभगे दिवे' (च०) 'एतद् बद्धक–' इति तै० आ०

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वां अनु क्षिय ॥ ४ ॥

भा०—हे जीव ! इस बन्धनमय लोक=शरीर को (वि जिहीष्व) विशेष ज्ञानपूर्वक निःसंग होकर परित्याग कर अथवा (वि जिहीष्व) नाना शरीरों में गति कर (लोकं कृणु) और अपने प्राप्त होने योग्य उत्तम लोक को स्वयं अपने कर्मचक्र से सम्पादन कर (बद्धकम्) अपने आप बँधे हुए अपने को ही तू (बन्धात्) बन्धन से (मुञ्चासि) छुड़ा । और (योन्याः) योनि से (प्रच्युतः) पूर्ण रूप से बाहर आए हुए (गर्भः इव) बालक के समान (सर्वान्) सब (पथः) मार्गों में, लोकों में (अनु) अपने इच्छा अनुकूल (क्षिय) निवास कर, उनमें विचर । मुक्तात्मा यथासंकल्प लोकों में विचरते हैं ।

[१२२] देवयान, पितृयाण और मोक्ष प्राप्ति ।

भृगुर्ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । १–३ त्रिष्टुभः, ४-५ जगत्यौ । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य ।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥

भा०—हे विश्वकर्मन् ! हे परमात्मन् ! समस्त विश्व=जगत् के बनाने वाले जगदीश्वर ! तू (ऋतस्य) ऋत=सत्यज्ञान अथवा इस गतिमान् जगत्

४–(प्र०) 'वि जिहीष्व लोकान् कृधि' । (च०) 'अनुस्व' इति तै० आ० (च०) 'अनुगच्छ इति पैप्प० सं० ।

[१२२] १–'अनु संचरेम' इति सायणाभिमतः । 'स प्रजानन् प्रतिगृभ्णीत विद्वान् प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य' इति तै० आ० । 'तं प्रजानन्नित्येका' इति पैप्प० सं० ।

के भी (प्रथमजाः) प्रथम-पूर्व ही तू उसके मूलकारण रूप से विद्यमान रहता है । (विद्वान्) इस प्रकार जानता हुआ मैं मुमुक्षु (एतं भागम्) इस शरीर भाग को भी (परि ददामि) तेरे ही अर्पण करता हूँ । (अस्माभिः) हम लोगों द्वारा (जरसः परस्तात्) जरा=बुढ़ापा के बाद (दत्तम्) तेरे अर्पण किये इस (अच्छिन्नम्) विच्छेद रहित अमर, अविनाशी (तन्तुम्) व्यापक यज्ञरूप प्राणमय आत्मा के (अनु) खोज में ही (संतरेम) भली प्रकार लग कर उसको प्राप्त हों, इस भवसागर को तर जायें । अथवा (जरसः परस्तात् दत्तं=परित्यक्तं अच्छिन्नं तन्तुं अनुसंतरेम) वार्धक्य के बाद त्याग किये, कभी न टूटते हुए सन्तान रूप प्राकृतिक तन्तु=सिलसिले से हम संतरण करें, उसे सदा बनाये रखें ।

मोक्षमय तन्तु संतरण का प्रकार बृहदारण्यक उप०(२।१।२०) में "हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते । ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥ स यथोर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेत् ।" हृदय से पुरीतत् प्रदेश तक ७२ हजार या १०७२ नाड़ियाँ जाती हैं उनसे ऊर्ध्व जाकर पुरीतत्=ब्रह्मरन्ध्र में वह सो जाता है, वहाँ अत्यन्त आनन्द की सीमा में ऐसा निःसग होकर मग्न हो जाता है जैसे मकड़ी अपने जाले की तांत से ही स्वयं निःसंग रह कर उसमें नहीं फँसता। उसको यही उपनिषद् वाक्य है 'सत्यस्य सत्यम्' इति। सत्य अर्थात् प्राणों का भी वही सत्य अर्थात् वास्तविक मूल आत्मा है । यथा क्षुरिकोपनिषद् (९) में—

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता ।
अणुरक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रा विलोहिताः ॥
अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाड़ीं समाश्रयेत् ।
तत्र संचारयेत् प्राणान् ऊर्णनाभीव तन्तुना ॥

अथवा—पाशं छित्वा यथा हंसो निर्विशङ्कः खमुत्पतेत् ।
छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥२३॥
अथवा—प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित् ।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्वा तन्तुं न बध्यते ॥२४॥
अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्स मुच्यते ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्वा तन्तुं न बध्यते ॥२५॥

प्रजातन्तु का संतरण स्पष्ट ही है ।

तृतं तन्तुमन्वेके॑ तरन्ति॒ येषां॑ द॒त्तं पि॒त्र्य॒माय॑नेन ।
अ॒ब॒न्ध्वेके॒ दद॑तः प्र॒यच्छ॑न्तो॒ दातुं॒ चेच्छि॒क्षान्त्स स्व॒र्ग ए॒व ॥ २ ॥

भा०—(येषाम्) जिन्होंने (आयनेन) शरीर में पुनः आगमन द्वारा अथवा (आयनेन) सन्तान की प्राप्ति से (पित्र्यं) पितृऋण को (दत्तम्) दे दिया या चुका दिया है । (एके) वे कुछ लोग (ततं तन्तुम् अनु) इस अविच्छिन्न तन्तु, प्रजा सन्तति को उत्पन्न करके ही (तरन्ति) इस संसार के कर्त्तव्य मार्ग को पार कर जाते हैं । और (एके) दूसरे लोग (अबन्धु) बन्धु अर्थात् सन्तान रहित होकर भी (ददतः) अपने प्रदान करने वाले महाजन को (दातुं शिक्षान्) ऋण देने में समर्थ व्यक्तियों के समान ही (प्रयच्छन्तः) अपनी विद्या, धन आदि का प्रदान करते हुए (चेत्) यदि (ददतः दातुं शिक्षान्) सब के प्रदाता महादानी ईश्वर के ही निमित्त सब कुछ अर्पण करने में समर्थ हो जायँ तो उनके लिये (सः एव स्वर्गः) वही परम त्यागमय निःसंगता ही परम सुखप्रद दशा है ।

२–(प्र०) अनुसंचरन्ति (द्वि०) 'आयन्वत्' (तृ०) 'प्रयच्छात्' (च०) 'शकनुवांसः स्वर्ग एषाम्' इति तै० आ० ।

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥३॥

भा०—पितृयाण से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं—हे (दम्पती) स्त्री पुरुषो! आप दोनों (एतं लोकं अनु आरभेथाम्) इस लोक के अनुकूल अपना गृहस्थ धर्म पालन करो और (श्रत्-दधानाः) इस लोक के लिये कर्म द्वारा प्राप्त फल को भी श्रत्=सत्य रूप से श्रमपूर्वक धारण पोषण करते हुए (अनु संरभेथाम्) तदनुसार उत्तम रीति से सब कार्य सम्पादन करो। और (यत्) जो भी (वाम्) तुम दोनों का (पक्वम्) सुपक्व उत्तम परिणाम, फल पुत्ररूप आदि (अग्नौ परिविष्टम्) अग्नि रूप गृहस्थाश्रम में (परिविष्टम्) प्राप्त हो (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा करने के लिये (सं श्रयेथाम्) परस्पर एक दूसरे का आश्रय लो।

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥४॥

भा०—देवयान मार्ग का उपदेश करते हैं—मैं (तपसा) तपस्या द्वारा (मनसा) मनःशक्ति से (यन्तं) प्राप्त होनेवाले (बृहन्तम्) उस महान् (यज्ञम्) पूजनीय प्राप्य, परम वेद्य, वेदनीय ईश्वर को (सयोनिः) उसके समान ही एक मात्र उसका अनन्य आश्रय लेकर (अनु आरोहामि) उस तक पहुँच जाऊँ। तब हे अग्ने! प्रकाशस्वरूप प्रभो! (जरसः परस्तात्) इस जरा, बुढ़ापे के गुज़रने के बाद दीर्घायु होकर हम लोग (उपहूताः) मानो ईश्वर से बुलाये हुए होकर ही (तृतीये नाके) तृतीय, परम, तीर्णतम, सुखमय लोक में (सधमादम्) सब मुक्त आत्माएँ ब्रह्म के साथ परम आनन्द का अनुभव करते हुए (मदेम) परम सुख का लाभ करें।

३-(प्र०) 'आरभे-' (द्वि०) 'समाण पन्थामवथो घृतेन' (तृ०) 'वां पुत्र', 'यदग्नौ' (च०) 'तस्मै गोत्रायेह जायापती संरभेथाम्' इति तै० आ०। (तृ०) 'वां पुत्रं' इति पैप्प० सं०।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥५॥

अथर्व० ११ । १ २७ ॥ १० ९ २७ ॥

भा०—(इमाः) इन (यज्ञियाः) यज्ञ अर्थात् दान करने योग्य (शुद्धाः पूताः) शुद्ध पवित्र, (योषितः) स्त्रियों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्म ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मणों के (हस्तेषु) हाथों (प्र-पृथक्) पृथक् २ (सादयामि) प्रदान करता हूँ। (अहम्) मैं कन्या का पिता (यत्कामः) जिस मनोरथ से (इदम्) इस प्रकार (वः) स्त्री पुरुषों के जोड़े बने हुए तुम दम्पतियों को (अभिषिञ्चामि) जल से छिड़कता हूं। (सः, इन्द्रः) वह परमात्मा (मरुत्वान्) समस्त शक्तियों का स्वामी (मे) मेरे (तत्) उस प्रयोजन को (ददातु) प्रदान करे, पूर्ण करे।

कन्या के पिता का प्रयोजन योग्य विद्वान के हाथ कन्यादान करने का यही होता है यदि कन्या के पिता की दूसरी पुत्र सन्तान नहीं है तो पुत्र पुत्रिका विधान से पुत्र प्राप्त हो। दूसरा, कन्या यशस्विनी होकर प्रजा उत्पन्न करे, सुख से रहे।

[१२३] मुक्ति की साधना।

भृगुर्ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। १-२ त्रिष्टुभौ, ३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिगनुष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

५-(च०) 'सददाददंमे' इति अथर्व० ११। १। २७॥ (प्र०) अपो देवीर्घृतमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां' (च०) तन्मे सर्वं सम्पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इति अथर्व० १०। ९। २७॥

[१२३]१-(द्वि०) 'सधस्थ' 'ते' (द्वि०) 'आवहान् शेवधिं' (तृ०) 'यज्ञपतिर्वो अत्र' इति यजु०।

एतं संधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥१॥

यजु० १८ । ५९ ॥

भा०—ईश्वर उपदेश करता है हे (सधस्थाः) सदा साथ रहने वाले देवगण ! (वः) तुम लोगों को (एतम्) इस (शेवधिम्) खज़ाने को मैं (परि ददामि) सौंपता हूं (यम्) जिसको (जातवेदाः) सर्वज्ञ जातवेदा, अग्नि, ऋषि (आवहात्) तुम तक पहुँचता है। हे विद्वान् पुरुषो ! (यजमानः) यज्ञ करने वाला पुरुष जो (स्वस्ति) कुशल क्षेम सहित (अनु आगन्ता) इस ज्ञानमय खजाने का अनुसरण करता है (तम्) उसको (परमे व्योमन्) परम उत्कृष्ट, विशेष सुरक्षित, मुक्तिधाम में प्राप्त हुआ (जानीत) जानो ।

जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥

यजु० १८ । ६० ॥

भा०—हे (सधस्थाः देवाः) सदा साथ रहने वाले देवगण ! विद्वान् पुरुषो ! (एनम्) इस यज्ञकर्त्ता पुरुष को भी (परमे व्योमन्) परम उत्कृष्ट रक्षा स्थान में प्राप्त हुआ (जानीत) जानो (अत्र) इसी ही स्थान पर (लोकम्) इसका लोक=स्थान या भोग्य भोग जानो । (यजमानः) दान देने और देवार्चन, ईश्वर-भजन करने वाला पुरुष ही यहां (स्वस्ति) कुशल पूर्वक (अनु आगन्ता) पहुँच सकता है। आप

२—(प्र०) 'एतं जानाथ' (द्वि०) 'विद रूपमस्य' (तृ०) 'यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैः' (च०) 'इष्टापूर्ते कृणुताथ' इति यजु० । (द्वि०) 'वृत्ताः सय–' (च०) कृणुतात्' इति तै० ब्रा० ।

लोग (अस्मै) इस जीव के लिये (इष्टापूर्तम्) इष्ट=यज्ञ आदि ईश्वर पूजा के और आपूर्त=कूपतडागादि उपकार जनक कार्यों का (आविःकृणुत स्म) उसको उपदेश करो। उन कार्यों को करके यह उत्तमगति प्राप्त करे।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष ही (पितरः) मेरे पालनकर्त्ता हैं और (पितरः) पालकगण ही (देवाः) सब गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक देव हैं। और मैं आप लोगों का शिष्य (यः, अस्मि) जो वास्तव में हूँ (सः अस्मि) वही आत्मा हूँ। मुझे यथार्थरूप से उपदेश करो।

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥ ४ ॥

भा०—प्रजापतिर्देवता। (सः) वही आत्मा चैतन्य ज्ञानी मैं (पचामि) कर्म-फलों को परिपाक करता हूँ, (सः) वही मैं (ददामि) दान करता हूं। (सः यजे) वही मैं ईश्वर की आराधना करता हूं। (सः) वही मैं (दत्तात्) अपने दानभाव, त्याग-भाव या आहुतिरूप उत्तम कर्म से (मा यूषम्) पृथक् न होऊँगा।

नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन्! परमेश्वर! (नाके) स्वर्गमय, सुखमय, दुःख-रहित लोक में (प्रतितिष्ठ) तू प्रतिष्ठा को प्राप्त हो (तत्र) वहाँ यह हमारा किया सब कार्य (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो। हे राजन्! परमात्मन्! देव! ईश्वर! (नः) हमारे (पूर्तस्य) आत्मा को पूर्ण बनाने की साधना को (विद्धि) तू जान और (सः) वह आप हमारे प्रति (सुमनाः भव) शुभ संकल्पवान् हों।

[१२४] शौच-साधन।

निर्ऋत्यपसरणकामोऽथर्वाऋषिः। मन्त्रोक्ता उत दिव्या आपो देवताः। त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन॥ १॥

भा०—ईश्वर की स्वल्प शक्ति और कृपा से जीव को बड़ा सुख प्राप्त होता है, मुक्त जीव कहता है। (बृहतः दिवः) विशाल प्रकाशमान द्यौलोक और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से जिस प्रकार जल का छोटा २ विन्दु बरसता है और उससे जीवों को बल, जीवन, ज्ञान और सुख प्राप्त होता है उसी प्रकार (दिवः) प्रकाशमान (बृहतः) महान, सब से बड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तर्यामी परमेश्वर से (अपाम्) समस्त ज्ञान और कर्म शक्ति का (स्तोकः) स्वल्प लवलेश-अंश (रसेन) आनन्द सहित (माम् अभिपप्तत्) मुझ पर बरसता है। और उसी के बल से (अहम्) मैं मुक्त जीव (इन्द्रियेण) इन्द्र=आत्मा के बल से (पयसा) ज्ञानरूप रस से (हे अग्ने) परमात्मन् (छन्दोभिः) वेदमन्त्रों से और (यज्ञैः) नाना प्रकार के शुभ कर्मों से और (सुकृताम्) पुण्य कार्यों के फल से (सम्) युक्त हो जाता हूँ।

यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव।
यत्रास्पृक्षत् तन्वो यच्च वाससः आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः॥२॥

---

[१२४]१-(प्र०) 'मा' (द्वि०) 'अपतच्छिवाय' (तृ० च०) 'मनसाहमागां ब्रह्मणा गुप्तः सुकृता कृतेन' इति हि० गृ० सू०।

२-(प्र०) 'वृक्षाग्रादभ्यपतत्' (द्वि०) 'यदि' 'सा' (तृ०) 'यत्र वृक्षः तनुवै यत्र वासः' (च०) 'बाधन्ताम्' इति हि० गृ० सू०।

भा०—(यदि) यदि (वृक्षात्) वृक्ष से (फलं अभि-अ.सत्) फल गिरे और (यदि अन्तरिक्षात्) यदि अन्तरिक्ष से जल गिरे तो (सः उ वायुरेव) वह भी वायु ही है, वह भी प्राणशक्ति का बढ़ाने वाला जीवनरूप है। (यत्र) जिस (तन्वः) शरीर के भाग पर (अस्पृक्षत्) यदि मल स्पर्श करे और (यत् वाससः) कपड़े के जिस भाग पर वह स्पर्श करे उस स्थान पर से ही (आपः) जल (निर्ऋतिं) घृणाजनक मैल को (पराचैः) दूर (नुदन्तु) हटादें।

अर्थात् वर्षा का जल, वृक्ष का फल दोनों पवित्र पदार्थ हैं। फल से शरीर पुष्ट होता है, और जल से शरीर और वस्त्र स्वच्छ रहते हैं। इसी प्रकार हमारे कर्म-वृक्ष से फल प्राप्त होता है अन्तरिक्ष अन्तर्यामी परमात्मा से जीवन प्राप्त होता है। वे आत्मा और शरीर दोनों के मलों को दूर करें।

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव।
सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः॥३॥

भा०—(अभ्यञ्जनम्) शरीर में तैल आदि का मलना, और आँखों में अञ्जन करना, (सुरभि) सुगन्धित पदार्थ और (हिरण्यम्) सुवर्ण धारण करना और (वर्चः) शरीर में ब्रह्मचर्य तेज (सा) वह सब (समृद्धिः) समृद्धि ही है। और (तद् उ) वह भी (पूत्रिमम्-एव) पवित्र ही है। ये (सर्वा) सब ही (पवित्रा) पवित्र पदार्थ (वितता) इस संसार में नाना प्रकार से फैले हुए हैं। उन में से पवित्र हुए (अधि अस्मत्) हम पर (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी या मलिनता या घृणाजनक गन्दगी (मा तारीत्) न आवे। और (अरातिः मा उ) न मानसिक अनुदारता हम पर आवे।

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

[तत्र एकादश सूक्तानि अष्टात्रिंशदृचः ।]

[१२५] युद्ध का उपकरण रथ और देह ।

अथर्वा ऋषिः वनस्पतिर्देवता । १,३ त्रिष्टुभौ; २ जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒या अ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑ ।
गोभिः॒ संन॑द्धो असि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४६ । २६

भा०—युद्ध के उपकरण रथ का वर्णन करते हैं—हे (वनस्पते) वनस्पति काष्ठ के बने रथ ! तू (वीड्वङ्गः) दृढ़ अंगों वाला (हि) ही (भूयाः) रह । तू (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (सुवीरः) उत्तम बल-शाली वीर्य से युक्त होकर युद्ध में (प्रतरणः) पार पहुँचाने वाला है । तू (गोभिः) गो-चर्म का बनी रस्सियों से (संनद्धः) खूब अच्छी प्रकार जकड़ा हुआ (असि) है तू (वीडयस्व) पर्याप्त रूप से हमें भी दृढ़ कर और (ते आस्थाता) तुझ पर चढ़ने वाला (जेत्वानि) विजय करने योग्य पदार्थों को (जयतु) विजय करे ।

यास्क ने लिखा है—यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभते—तत्संयोगाद् युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमगामी भवति ।' रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य । रममाणोऽस्मिं स्तिष्ठतीति वा । रमतेर्वा रसतेर्वा तस्यैषा भवति 'वनस्पते वीड्वङ्गः' इत्यादि अर्थात्—यज्ञ के संयोग से राजा की स्तुति होती है, राजा के संयोग से युद्ध के उपकरणों की भी स्तुति की जाती है । उन में रथ सब से प्रथम है । रथ शब्द रंह-गति करना, स्थिर-स्थिर रहना, रम-रमना, रप=बोलना, रस-ग्रहण करना आदि धातुओं से बना है । इससे यास्क ने रथ शब्द के बहुत से अर्थों पर प्रकाश डाला है। रथ आत्मा देह और ईश्वर भी कहाता है । जैसे—तं वा एतं रस सन्तं रथ-इत्याचक्षते, रसतमं ह वै तद्रथन्तरं ॥ श० । ९ । २ । ३६॥ वैश्वानरो वै देवतया रथः । तै० २ । २ । ५ ४ ॥ गो० पू० २ । २१ ॥

अध्यात्म पक्ष में—हे (वनस्पते) वन संभजनीय, सेवनीय पदार्थों के स्वामिन् ! पुरुष या देह ! तू (वीड्वङ्गो हि भूयाः) दृढ़ांग हो (अस्मत्-सखा) हम इन्द्रियों का मित्र (सुवीरः) शुभ वीर्यवान्, (प्रतरणः) इस संसारसागर को पार करने वाला है। तू इस संसार में (गोभिः) इन्द्रियों और वेदवाणियों से (संनद्धः) सम्बद्ध है, तू (वीडयस्व) पराक्रम कर (ते आस्थाता) तेरा अधिष्ठाता इन्द्र आत्मा समस्त (जेत्वानि जयतु) जीतने योग्य पदार्थों पर वश करे।

दिवस्पृ॑थि॒व्याः पर्योज॒ उद्भृ॑तं॒ वन॒स्पति॑भ्यः॒ पर्याभृ॑तं॒ सहः॑ ।
अ॒पामो॒ज्मानं॒ परि॒ गोभि॒रावृ॑त॒मिन्द्र॑स्य॒ वज्रं॑ ह॒विषा॒ रथं॑ यज ॥२॥

ऋ० ६ । ४७ । २७ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक से मेघ की वर्षा रूप से और (पृथिव्याः) पृथिवी से अन्नरूप में (ओजः) तेज, बल को (परि उद्भृतम्) सब ओर से प्राप्त कर संगृहीत किया और (वनस्पतिभ्यः) सब वनस्पतियों से (सहः) सहन या आघातकारी को दबा लेने की शक्ति को भी (पर्याभृतम्) सब पदार्थों से संग्रह किया और इससे यह शरीर रचा गया है अतः (अपाम्) सब रसों के (आत्मानम्) बल स्वरूप (गोभिः) इन्द्रिय शक्तियों से (परि आवृतम्) सम्पन्न (इन्द्रस्य) आत्मा के (वज्रं) सब पापों के वर्जनकारी इस (रथम्) देह को (हविषा) अन्न से (यज) सम्पन्न करो। युद्ध रथ के पक्ष में गौण हैं।

इन्द्र॒स्यौजो॑ म॒रुता॒मनी॑कं मि॒त्रस्य॒ गर्भो॒ वरु॑णस्य॒ नाभिः॑ ।
स इ॒मां नो॑ ह॒व्यदा॑तिं जुषा॒णो देव॑ रथ॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ॥३॥

२–(प्र०) 'आभृतं', । (द्वि०) 'परिसम्भृतं' इति पैप्प० सं० ।
३–(प्र०) 'इन्द्रस्य विराजो' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप ! हे (रथ) रथ, रसस्वरूप आनन्दमय ! तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्र, आत्मा का बल है (महताम् अनीकम्) सब प्राणों का अनीक=प्रमुख सेनानायक या समूहित बल है (मित्रस्य गर्भः) मरण से रक्षा करने वाले 'मित्र' प्राण को अपने भीतर ग्रहण करने वाला है; (वरुणस्य नाभिः) सब से श्रेष्ठ वरुण परमात्मा का (नाभिः) बन्धु है। वह तू (इमाम्) इस (नः) हमारी (हव्यदातिम्) स्तुतिरूप भेंट को (जुषाणः) सेवन करता हुआ (हव्या) समस्त हव्य, आदान करने योग्य क्रिया सामर्थ्यों को (प्रतिगृभाय) स्वीकार कर।

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' इस विशेष अनुभव काल में समाधिगत योगी अपने आत्मा के प्रति कहता है।

[१२६] युद्धोपकरण दुन्दुभि, राजा और परमात्मा।

अथर्वा ऋषिः। वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता। १,२ भुरिक् त्रिष्टुभौ, ३ पुरो बृहती विराड्गर्भा त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न्॥ १॥

भा०—हे दुन्दुभे ! तू (पृथिवीम् उप श्वासय) पृथिवी को जीवन, प्राण धारण करा (उत द्याम्) और द्यौलोक को भी प्राण धारण करा। (पुरुत्रा) नाना, बहुत से रूपों में (वि-ष्ठितं) विद्यमान (जगत्) संसार (ते) तेरा (वन्वताम्) आश्रय ले। तू (इन्द्रेण सजूः) इन्द्र आत्मा के साथ सप्रेम होकर और (देवैः) देव-विद्वान्

[१२६] १-(द्वि०) 'मनुताम्' इति ह्विटनिकामितः। 'सनुताम्' इति पैप्प० सं०। 'वनुताम्' इति सायणाभिमतः। (च०) 'आराद् देवी'-इति मै० सं०।

पुरुषों के साथ (सजूः) सहमत होकर (दूराद् दवीयः) दूर से दूर भी विद्यमान शत्रु को (अपसेध) परे कर । जिस प्रकार नकारा या दुन्दुभि उच्च घोष से सब को सुनाई देता और राजा और भटों सहित दूरस्त शत्रु को भी पराजित करता है इसी प्रकार दुन्दुभि रूप परमेश्वर जो अपने नाद से पृथिवी और आकाश को गुंजा रहा है, हमारे आत्मा और विद्वानों पर अनुग्रह कर हमारे दूरस्थ अज्ञात शत्रु काम-क्रोध आदि को भी परे करे ।

आ क्रन्दय बल॒मोजो॑ न॒ आ धा॑ अ॒भि ष्ट॑न दुरि॒ता बाध॑मानः ।
अप॑ सेध दुन्दुभे दु॒च्छुना॑मि॒त इन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒डय॑स्व ॥२॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नकारे ! (बलम् आक्रन्दय) शत्रु की सेना को रुला । (नः) हमारे में (ओजः) बल को (आ धाः) आधान कर और (दुरितानि) दुष्ट चरित्रों को, पापों को (बाधमानः) बाधित करता हुआ (अभि स्तन) सर्वत्र अपना नाद कर । और (दुच्छुनाम्) दुःख देने वाली शत्रु-सेना को (इतः) यहां से (अप सेध) दूर भगादे तू (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा की (मुष्टिः असि) आगे बढ़ कर हृदय दहला देने वाली मुष्टि मुक्के या वज्र के समान है । (वीडयस्व) तू दृढ़ रह । अध्यात्म में—दुच्छुना=दुष्प्रवृत्ति, इन्द्रस्य=आत्मा की, मुष्टिः=सर्व दुःख और अज्ञान को हरने वाली शक्ति है, तू आत्मा को वीर बना ।

प्रामूं ज॑या॒भी३॒मे ज॑यन्तु के॒तुम॑द् दु॒न्दु॒भिर्वा॑वदीतु ।
सम॑श्वप॒र्णाः प॑तन्तु नो॒ नरो॒ऽस्माक॑मिन्द्र र॒थिनो॑ जयन्तु ॥ ३ ॥

२–(द्वि०) 'निःस्तनीहि,' (तृ०) 'अपस्रेध' 'दुच्छुना', इति पैप्प०, मै० सं० । 'दुच्छुनानिति' इति तै० सं० ।

३–(प्र) 'आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः' (द्वि०) 'वावदीति', (तृ०) चरन्तिनो' इत्यन्यत्र । 'चरन्तु' इति मै० सं० । 'पतयन्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे इन्द्र! राजन् (अमूम्) उस दूर देख पड़ने वाली शत्रु सेना को (प्र जय) उत्तम रीति से विजय कर (अभि इमे जयन्तु) और ये हमारे वीर भट विजय करें। यह (दुन्दुभिः) नक्कारा (केतुमत्) झण्डे वाला (वावदीतु) खूब शब्द करे। (नः नरः) हमारे वीर नेता सैनिक (अश्वपर्णाः) घोड़े सहित दौड़ते हुए (संपतन्तु) एक साथ आक्रमण करें। और हे इन्द्र! राजन् (अस्माकम् रथिनः) हमारे रथी सवार लोग (जयन्तु) विजय करें।

अध्यात्म में— हे पुरुष! (अमूम्) उस दुर्वासना को (प्र जय) खूब जीत। (इमे अभि जयन्तु) ये तेरे इन्द्रियगण सब व्यसनों पर विजय प्राप्त करें। (केतुमत् दुन्दुभिर्वावदीतु) ज्ञानवान् गुरु तुझे उपदेश करें (नः नरः, अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे नेता इन्द्रियगण अश्व=प्राण से वेगवान होकर पदार्थों तक पहुँचे और वे ही (रथिनः) देह रूप रथ में चढ़ कर या प्राणरूप रथ में या रसरूप आत्मा में विराज कर विजयी हों। केनोपनिषद् की ब्रह्म विजय की कथा को यहां अवश्य परामर्श कर लेना उचित है।

---

[१२७] कफ से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। वनस्पतिरुत यक्ष्मनाशनं देवता। १-२ अनुष्टुभौ त्रिपदा जगती॥

विद्रधस्य॑ बलास॑स्य लोहि॑तस्य वनस्पते।
विसल्प॑कस्यौषधे मोच्छि॑षः पिशितं चन॥ १॥

भा०—हे (वनस्पते) हे ओषधे! (बलासस्य) कफ और कफ से उत्पन्न (विद्रधस्य) गिल्टियों के फूल जाने और (लोहितस्य) रुधिर विकार से उत्पन्न लाल चकत्तेवाले रोग (विसल्पकस्य) त्वचा पर फैलने

वाले विसर्प नाम कुष्ठ के (पिशितम्) विकृत मांस की (मा चन उच्छिपः) बिलकुल बचा न रहने दे। नहीं तो वह फिर विकार उत्पन्न करके दुःख का कारण होगा।

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ।
वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥ २ ॥

भा०—हे (बलास) कफ से उत्पन्न गिल्टी के रोग! (ते) तेरे से उत्पन्न (यौ मुष्कौ) जो दो गिल्टियां (कक्षे) कांछ या बगल में (अपश्रितौ) बुरी तरह से उठ आती हैं। (तस्य भेषजम्) उसको चंगा करने की ओषधी को (अहम्) मैं जानता हूँ। उसका (अभिचक्षणम्) नाम (चीपुद्रुः) चीपुद्रु या 'चीपु' वृक्ष है। 'चीपुद्रु' या चीपु वृक्ष अज्ञात है। कदाचित् शिफा या जटामांसी यह पदार्थ है।

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः विसल्पकः) जो विसर्पक रोग (अङ्ग्यः) सारे शरीर में फैल गया हो, (यः कर्ण्यः) या जो केवल कान के भीतर हो या (यः, अक्ष्योः) जो आंखों के बीच में हो ऐसे (विसल्पकम्) विसर्पक या (विद्रधम्) गिल्टी के फूल जाने के रोग को और (हृदयामयम्) हृदय की पीड़ा या रोग को (विवृहामः) विशेष रूप से समूल नाश करें। (तम् अज्ञातं यक्ष्मम्) और उस विना जाने, अलक्षित यक्ष्म=रोगकीटों से उत्पन्न रोग को भी (अधराञ्चम्) नीचे ही दबा कर (परा सुवामसि) दूर करदें।

२–'चीपद्रु' इति सायणाभिमतः पाठः। 'अपिश्रितौ' 'उपश्रितौ' इति 'चीपुद्रु' इति ह्विटनिकामितः।

[१२८] राजा का राज्यारोहण ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । नक्षत्राणि राजा चन्द्रः सोमः शकधूमश्च देवताः । १–३ अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥

भा०—(नक्षत्राणि) नक्षत्र जिस प्रकार (राजानम्) चन्द्र को अपने में मुख्य बना लेते हैं उसी प्रकार (नक्षत्राणि) नक्षत्र, निर्वीर्य निर्बल प्रजाएं (शकधूमम्) अपनी शक्ति से सब को कंपाने वाले पुरुष को (राजानं) राजा (अकुर्वत) बना लेते हैं । और (अस्मै) उसको (भद्राहम्) ऐसा कल्याणकारी वह शुभ दिवस (प्रायच्छन्) प्रदान करते हैं जिसमें कि (इदम्) यह (राष्ट्रम्) राष्ट्र उसका ही (असात्) हो जाय (इति) ऐसा घोषित करते हैं । अथवा—(इन्द्रम् राष्ट्रम् अस्मै प्रायच्छन् इति भद्राहम् असात्) वे इस राष्ट्र को उसको सौंप देते हैं इस कारण वह दिन प्रजा के लिये मंगलकारी हो जाता है । अर्थात् प्रजा अपने में शक्तिशाली को राजा बनावे और शुभ दिन में उसका राज्याभिषेक करे । अथवा उसके राज्यारोहण के दिवस को पुण्य माने ।

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः ।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥

---

[१२८] १–'यद् राजानं शकधूमं नक्षत्राण्यकृणुत । भद्राहमस्मै प्रायच्छन्ततो राष्ट्रमजायत' इति पैप्प० सं० ।

२–'भद्राहमस्तु नः स्याम् भद्रा प्रातरस्तु नः । भद्रा अस्मभ्यं त्वां शकधूम सदाकृणु । 'इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नः) हमारा (मध्यन्दिने) मध्याह्नकाल में (भद्राहं अस्तु) सुखकर दिन हो। (नः सायं भद्राहम् अस्तु) हमारा दिन सायंकाल के अवसर में भी सुखकारी हो, (नः अह्नां प्रातः भद्राहम्) हमारे दिनों के प्रातःकाल का भाग कल्याणकारी हो, (नः रात्री भद्राहम् अस्तु) हमारा रात्रिकाल में भी शुभ कल्याणकारी दिन हो।

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्।
भद्राहमस्मभ्यं राजन्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे (शकधूम) अपनी शक्ति से सब शत्रु को कंपाने हारे राजन्! (त्वं) तू (अहोरात्राभ्याम्) दिन, रात (नक्षत्रेभ्यः) समस्त नक्षत्रों और (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं) हमारे लिये (भद्राहम् कृधि) कल्याण और सुखकारी दिन को नियत कर। अर्थात् शुभ अवसर दे जिसमें दिन, रात सूर्य और चाँद भी चमकें, नक्षत्र भी खिलें और प्रजाएं आनन्दित हों।

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

भा०—हे शकधूम! शक्तिशाली राजन्! हे नक्षत्रराज! नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान प्रकाशमान! निर्बलों के राजन्! (यः) जो तू (नः) हम प्रजाओं के लिये (सायम्) सायंकाल, (नक्तम्) रात (अथो दिवा) और दिन सब कालों को (भद्राहम् अकरः) पुण्य, कल्याणकारी बना देता है (तस्मै ते) उस तुझ राजा को (सदा नमः) हम प्रजाएं सदा आदर करती हैं।

४–(प्र०) 'अकरत्', (द्वि०) 'सायं प्रातरथो'।

[१२९] राजा का ऐश्वर्यमय रूप ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । भगो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना ।
कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

भा०—मैं (शांशपेन) 'शंशपा' नामक वृक्ष के अति शीघ्र वृद्धिशाली और शान्तिदायक (भगेन) ऐश्वर्य और (मेदिना इन्द्रेण) सब के स्नेही इन्द्र=राजा के साथ (मा भगिनं कृणोमि) अपने आपको ऐश्वर्यवान् करूं । (अरातयः) मेरे शत्रु और दुःखकारी, अमनोहर दरिद्रताएँ (अप द्रान्तु) दूर हों ।

येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह ।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

भा०—शंशपा वृक्ष (येन) जिस सामर्थ्य से बढ़ कर (वृक्षान् अभिभवः) और वृक्षों से शक्ति, कठोरता, दृढ़ता, बल और ऊँचाई में बढ़ जाता है और उनको दबा लेता है उसी प्रकार हे राजन् ! जिस ऐश्वर्य और तेज से तू परिपुष्ट होकर सब पुरुषों को अपने अधीन कर लेता है उस (भगेन वर्चसा सह) ऐश्वर्य और तेज से (मा भगिनं कृणु) मुझे भी ऐश्वर्यवान् कर और (अप द्रान्तु अरातयः) मेरे शत्रु मुझसे दूर हों।

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः ।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

[१२९] १–'शांशफेन, शांसयेन, शांशयेन' इति क्वचित् पाठः । 'संशपेन' इति पैप्प० सं० । 'संशफेन' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२–'अथा वृक्षान् अयभवत् साकं मिन्द्रेण मेदिना एवामा' इति पैप्प०सं०।

३–(द्वि०) 'आहत' इति निरु० । 'वृक्ष सार्पितः' । (तृ०) 'भगे निरामे-

भा०—(यः) जो (भगः) ऐश्वर्य, बल, वीर्य, यश (अन्धः) जीवन को नित्य धारण करने वाला और (यः पुनः सरः) जो वार २, प्रत्येक ऋतु में और वार २ काट लेने पर भी हरा कर देने वाला वीर्य, (वृक्षेषु) वृक्षों में (आहितः) ईश्वरीय शक्ति से रक्खा गया है हे ईश्वर ! (तेन) उस ऐश्वर्य और वीर्य से (मां भगिनं कृणु) मुझको भी ऐश्वर्यवान् बना। और (अरातयः) शत्रुगण और विपत्तियाँ (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें।

सायण ने यहाँ भग देवको अन्धा और एक ही रास्ते को वार २ चलने और वृक्षों से ठोंकरे खानेवाला मानकर उससे प्रार्थना की है सो हास्यास्पद ।

[१३०] स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम और स्मरण ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । स्मरो देवता । २,३ अनुष्टुभौ । १ विराट् पुरस्ताद् बृहती ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

भा०—(रथजिताम्) रमण साधनों वा वेगों पर वश करनेवाले पुरुषों और (राथजितेयीनाम्) रमण साधनों वा वेगों पर वश करने वाली (अप्सरसाम्) स्त्रियों को (अयं स्मरः) यह स्मर=परस्पर एक दूसरे को स्मरण करानेवाला सहज प्रेम उत्पन्न होता है। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग मेरी अभिलषित स्त्री के हृदय में (स्मरम्

'स्तुशांशपो' इति पैप्प० सं० ।

[१३०] १–'रथजिते यीनाम्' इति सायणाभिमतः । अर्थजितामर्थजितानामिति 'ग्रिल' सम्मतः ।

प्रहिणुत) उसी प्रेमवश स्मरण करने के भावको उत्पन्न करो जिससे वह मेरी प्रियतमा वियोग काल में (माम् अनु शोचतु) मुझे ही याद करके दुःख अनुभव करे । वियुक्त होकर भी स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम-सम्बद्ध होकर एक दूसरे के गुणों को स्मरण करें और त्याग न किया करें । विद्वान् लोग उनको एक दूसरे के प्रति पतिव्रत और पत्नीव्रत रहने का उपदेश किया करें । और यह परस्पर दृढ़ प्रेम उन स्त्री पुरुषों में ही उत्पन्न होता है जो एक दूसरे के वियोग में भी अपने रमण साधन इन्द्रियों और कामवेगों पर वश करते हैं अन्यथा वे काम में वह कर व्यभिचारी हो जाते और प्रेम को स्थिर नहीं रख सकते ।

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति । देवाः० ॥२॥

भा०—(असौ) वह प्रियतमा स्त्री (मे) अपने मुझ प्रियतम पति का (स्मरतात्) स्मरण करे (इति) इस प्रकार पति निरन्तर अपनी स्त्री के विषय में चिन्तन करे और (मे प्रियः) मेरा प्रियतम पति (मे स्मरतात्) मेरा स्मरण करे (इति) इस प्रकार पत्नी निरन्तर अपने पति के विषय में चिन्तन करे । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (स्मरं प्रहिणुत) स्त्री पुरुषों में इस प्रकार के परस्पर स्मरण करानेवाले प्रेम भाव को जागृत करो । जिससे (असौ) वह दूरदेशस्थ प्रेमी (माम्) मुझ प्रेमपात्र को (अनु शोचतु) वियोग में भी स्मरण करे और मेरे दुःख से दुखी हो ।

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (असौ) वह दूर देशस्थ प्रियतम, प्रेमपात्र व्यक्ति (मम स्मरात्) मुझे स्मरण करता है । क्या (अमुष्य) उसका मैं (कदाचन न) कभी स्मरण नहीं करता ? करता ही हूँ । तब हे

(देवाः स्मरम् प्रहिणुत) परस्पर याद दिलाने वाले प्रेम के भावों को जागृत करो जिससे (असौ माम् अनुशोचतु) वह दूरस्थ देश का व्यक्ति मेरे प्रेम में दुखी हो और मुझे याद करे ।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।

अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! उस प्रेमी व्यक्ति को मेरे प्रेमाभिलाप में (उन्मादयत) उन्मत्त कर दो, वह मेरे सिवाय किसी और की याद न रख मेरी स्मृति में ही दीवाना हो जाय । हे (अन्तरिक्ष) अन्तर्यामी आत्मन् ! तू ही उस प्रेमपात्र को (उन्मादय) प्रेम में दीवाना कर दे । हे (अग्ने) परमात्मन् ! (त्वम् उन्मादय) तू प्रेम में पागल कर दे । जिससे (असौ माम् अनुशोचतु) वह मेरे प्रेमवियोग में दुखी हो और मुझे स्मरण करे ।

वेद में प्रेमियों को चिरस्थायी प्रेम में निरत रह कर एक दूसरे की अभिलाषा करने का उपदेश किया है, न कि विषय-लोलुपता में अन्धे होकर दीवाना होने को कहा है । वह स्थायी प्रेम, परस्परानुचिन्तन और परस्पर प्रेम में उत्पन्न होना भी (रथजित् राथजितेयी) कामवेगों को रोकने वाले जितेन्द्रिय स्त्री पुरुषों में ही सम्भव है । इसके अतिरिक्त अध्यात्मपक्ष में रथजित्=आत्मसाधक, जितेन्द्रिय योगी और 'राथजितेयी' अप्सराएँ उनकी ध्यानवृत्तियाँ हैं । वे अपने प्रियतम उपास्यदेव को स्मरण करते हैं और उसी को अपने प्रेम और लगन के लिये द्रवित करना चाहते हैं उसी का स्मरण करते हैं, उसी के ध्यान में दीवाने हो जाते हैं । जैसे कबीर ने लिखा है—

"प्रीत लगी तुव नाम की पल विसरे नाहीं ।
नजर करो अब मिहर की मोहि मिलो गोसाईं ॥

विरह सतावै मोंहि को जिव तड़पै मेरा।
तुम देखन की चाव है प्रभु मिलो सवेरा॥
नैना तरसे दरस को पल पलक न लागै।
दर्द बंद दीदार का निसिबासर जागै॥
जो अबके प्रीतम मिलैं करूँ निमिष न न्यारा।
अब कबीर गुरु पाइयाँ मिला प्राण पियारा॥

[कबीर शब्दावली भा० २, श० ६]

[१३१] प्रेमियों का परस्पर स्मरण और चिन्तन।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। स्मरो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ १॥

भा०—मैं तेरा प्रेमी व्यक्ति (नि शीर्षतः) शिर से लेकर (नि पत्ततः) पैरों तक (ते) तेरे शरीर में (आध्यः) प्रेमोन्माद से उत्पन्न होनेवाली मानसी व्यथाएँ (नि तिरामि) उत्पन्न होने का कारण बनूं। हे (देवाः प्रहिणुत स्मरम् माम् असौ अनुशोचतु) विद्वान् पुरुषो! प्रियतम दूरस्थ व्यक्ति में प्रेमपूर्वक स्मरण करने के भाव को जागृत करो जिससे वह मुझे स्मरण करके मेरे लिये वियोग दुःख अनुभव करे।

अनुमतेन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ २॥

भा०—हे (अनुमते) परस्पर प्रेमपूर्वक पतिपत्नीभाव से रहने के लिये एक दूसरे के प्रति प्राप्त अनुमते! एक दूसरे को स्वीकार करनेवाले भाव! (अनु इदं मन्यस्व) तू ही इस प्रकार परस्पर स्मरण करने और

एक दूसरे के वियोग में दुखी होने के लिये अनुमति देता है । और हे (आकूते) मानस संकल्प ! हार्दिक भाव ! तू भी (इदम्) इसी (नमः) प्रकार के परस्पर के आदर प्रेम के झुकाव को (सं अनुमन्यस्व) स्वीकार करता है । (देवाः प्रहिणुत स्मरम् असौ माम् अनुशोचतु) हे विद्वान् पुरुषो ! मेरे प्रियतम व्यक्ति से प्रेम पूर्वक स्मरण करने के भाव को जागृत करो जिससे वह मुझे स्मरण करके मेरे लिये वियोग दुःखको अनुभव करे।

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम् ।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ २ ॥

भा०—स्थिर दाम्पत्य प्रेम का फल बतलाते हैं । पत्नी कहती है—हे प्रियतम ! (यद् धावसि त्रियोजनं) यदि तू तीन योजन या १२ कोश या (पञ्चयोजनम्) पाँच योजन या २० कोश या (आश्विनं) घोड़े जैसी शीघ्रगामी सवारी से जाने योग्य दूरी पर भी (धावसि) चला जाय तो भी (ततः) उस दूर देश से (त्वं पुनः आ आयसि) तू फिर लौट आ क्योंकि तू ही (नः) हमारे (पुत्राणां) पुत्रों का (पिता असः) पिता पालक और उत्पादक है ।

[१३२] प्रेम को दृढ़ करने का उपदेश ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । स्मरो देवता । १ त्रिपदानुष्टुप् । ३ भुरिग् । २,४,५ त्रिपदा महा बृहत्यः । २,४ विराजौ । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् लोग या ईश्वर की दिव्य शक्तियाँ (आध्या सह) मानसी व्यथा, हृदयवेदना के साथ २ (अप्सु अन्तः)

स्त्रियों या प्रजाओं के हृदय के बीच (यं स्मरम्) परस्पर एक दूसरे के प्रेम स्मरण करने और चाहने के जिस भाव को (असिञ्चन्) भीतर डाल देते हैं हे प्रियतमे! (तम्) उस (ते) तेरे प्रेम, परस्पराभिलाषा के भाव को (वरुणस्य धर्मणा) वरुण-राजा या सर्वश्रेष्ठ परमात्मा के धर्म धारण, व्यवस्था या राजनियम द्वारा भी (तपामि) पकाता हूँ, परिपक्व करता हूँ। अर्थात् पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम को दृढ़ करने के लिये राजनियम भी ऐसा होना चाहिये कि स्त्रीपुरुष एक दूसरे को आजीवन त्याग न करें।

यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः० । ० ॥ २ ॥

भा०—(विश्वे देवाः) समस्त देवगण (यं स्मरम् अप्सु अन्तः असिञ्चन्) जिस परस्पर स्मरण रूप परस्पराभिलाष या कामना को मानस व्यथा के सहित समस्त प्रजाओं के चित्त में डालते हैं उसी भाव को वरुण= राजा की व्यवस्था से भी मैं तेरे हृदय में परिपक्व करता हूँ।

यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः ० । ० ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्राणी०) ईश्वरीय शक्ति जिस परस्पर प्रेमाकर्षण को मानस व्यथा के सहित प्रजाओं के हृदय में डालती है उसी को राज-व्यवस्था से मैं परिपक्व करता हूँ।

यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः ० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी यम् स्मरम् इत्यादि) इन्द्र=परमेश्वर और अग्नि आचार्य जिस परस्पराभिलाषा को मानस पीड़ा के सहित प्रजाओं के हृदयों में उत्पन्न करते हैं और उसको दृढ़ करते हैं उसको मैं वरुण राजा के कानून से और भी दृढ़ करूँ।

यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ५ ॥

भा०—(यं मित्रावरुणौ आध्या शोशुचानम्) मानसी पीड़ा के साथ

उत्पन्न करनेवाले जिस पारस्परिक अभिलाषा को (मित्रावरुणौ) मित्र=प्राण और वरुण=अपान, दोनों एक होकर (अप्सु अन्तः असिञ्चताम्) प्रजाओं के हृदय में सींचते हैं (तम्) उसी परस्पर प्रेम को (वरुणस्य धर्मणा) राजा की व्यवस्था से भी (ते तपामि) तुझमें मैं परिपक्व करता हूँ।

इस सूक्त में वेद ने विवाह बन्धन को और परस्पर के प्रेमाभिलाष को दृढ़ करने के ६ उपाय दर्शाए हैं। १. विद्वानों का उपदेश, (२) सब इष्ट सम्बन्धियों की प्रेरणा, (३) ईश्वरी शक्ति, (४) ईश्वर और आचार्य के समक्ष वार्त्तालाप और उनकी अनुमति, (५) प्राणशक्ति का एक होना, (६) सबके साथ २ राजनियम की सत् व्यवस्था। सायण का इन उक्त तीन सूक्तों का दुष्ट स्त्री के वशीकरण में लगाना वेद के साथ अन्याय है।

[१३३] मेखला बन्धन का विधान।

अगस्त्य ऋषिः। मेखला देवता। १ भुरिक्। २,५ अनुष्टुभौ। ३, त्रिष्टुप्। ४ भुरिक्। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात्॥१॥

भा०—(यः देवः) जो देव विद्वान् ब्राह्मण, ज्ञानदाता या ज्ञान-प्रकाशक आचार्य (इमाम्) इस (मेखलाम्) मेखला को (आबबन्ध) ब्रह्मचारी के शरीर पर बाँधता है और जो (नः) हम ब्रह्मचारियों को (संननाह) ब्रह्म पालन के लिये संनद्ध करता है और (यः उ नः) जो हमें (युयोज) व्रत पालन में लगाता है और (यस्य देवस्य) जिस ज्ञानदाता गुरु के (प्रशिषा) आज्ञापालन में या शासन में (चरामः)

[१३३]१-(तृ०) 'चरामि' इति पैप्प० सं०।

हम रहते हैं (सः) वही हमारे (पारम्) व्रत को पूर्ण पालन करके उसकी समाप्ति भी (इच्छात्) चाहता है। (सः उ) और वही (नः) हमें (विमुञ्चात्) सब विघ्नबाधाओं से मुक्त करे।

आहुतास्युभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥

भा०—हे (मेखले) (आहुता असि) तू चारों ओर पहनी जाती है और (अभिहुता असि) सब ओर से ग्रहण की जाती है और (ऋषीणाम्) मन्त्र द्रष्टा और वेदज्ञानी पुरुषों की (आयुधम् असि) आयुध, पापों के नाश करने का साधन, कामादि शत्रुओं के नाश का हथियार है। अतः वही (व्रतस्य) ब्रह्मचर्य आदि के व्रत के (पूर्वा) पूर्व में ही ब्रह्मचारी शरीर को (प्राश्नती) व्यापती हुई तू (वीरघ्नी भव) वीरपुरुष-गामिनी हो।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अहम्) मैं (मृत्योः) आदित्य के समान प्रकाशवान् ज्ञानी पुरुष का या अज्ञान के बन्धन से मुक्त करने वाले आचार्य का (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी हूँ इसलिये (भूतात्) इस पञ्चभूत के देह से (यमाय) उस परब्रह्म सर्वनियन्ता परमेश्वर की प्राप्ति के लिए (पुरुषम्) देहपुरी के वासी आत्मा को (निर्याचन् अस्मि) मुक्त करने के यत्न में हूँ। हे आचार्य ! ऐसे (तम्) उस (एनम्) इस आत्मा को (अहम्) मैं शिष्य (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदोपदेश से, (तपसा) तपसे, (श्रमेण) श्रम से

२-(प्र०) 'आहुतासि ऋषीणां' (च०) 'अवीरघ्नी' इति पैप्प० सं०।
३-(द्वि०) 'भूतो निर्याचन्' इति पैप्प० सं०। 'निर्याचम्' इति सायणाभिमतः।

और (अनया मेखलाया) इस मेखला से (सिनामि) बाँधता हूँ । स एष आदित्यो मृत्युः । श० १०।५।१।४। अग्निर्मृत्युः ॥ कौ० १३।३॥ योऽग्निर्मृत्युः सः ॥ जै० ३०।१।२५।८॥

अथवा—(अहम्) मैं (ब्रह्मचारी) स्वयं ब्रह्मचारी होकर आचार्य (पुरुषं यमाय भूतात् मृत्योः निर्याचन् अस्मि) इस पुरुष को यमनियम पालन कराने के निमित्त भूत=निश्चित मृत्यु से छुड़ा देता हूँ। इसी निमित्त (ब्रह्मणा तपसा श्रमेण अनया मेखलया च अहं सिनामि) वेद, व्रत, तप, श्रम और इस मेखला से पुरुष को बाँधता हूँ और दीक्षित करता हूँ। इस प्रकरण को देखो। गोपथ पू० २ । १॥ इस विषयक देखो जै० उ० १। २५।८॥ तदनुसार प्रकाशस्वरूप परब्रह्म=समुद्र उसके तीन रूप हैं शुक्ल, कृष्ण और पुरुष शुक्ल रूप=वाणी और अग्नि। कृष्णरूप=आपः, मन या अन्न और यजु। पुरुष=प्राण, साम, ब्रह्म, अमृत।

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च॥४॥

भा०—मेखला का स्वरूप बतलाते हैं—यह मेखला (श्रद्धायाः दुहिता) श्रत्—सत्य के धारण करने वाली बुद्धि की दुहिता=पुत्री अथवा उसको दोहने वाली, देनेवाली है (तपसः अधिजाता) तपरूप ब्रह्म वेद सत्यज्ञान से उत्पन्न हुई है। और (भूत-कृतां) समस्त सत्पदार्थों का उपदेश करने (ऋषीणाम्) वाले ऋषि, मन्त्रद्रष्टाओं की स्वसा= भगिनी, स्वयं उनके पास प्रकट होनेवाली (बभूव) है। हे (मेखले) मेखले (सा) वह तू (नः) हमें (मतिम्) बुद्धि, ज्ञान (आधेहि) प्रदान कर, (अथ नः मेधाम्) और हमें मेधा शक्ति, (तपः) तप और (इन्द्रियं च) इन्द्रियों में बल भी प्रदान कर।

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिवेधिरे।
सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

भा०—हे मेखले ! (यां त्वा) जिस तुझको (पूर्वे) ज्ञान में पूर्ण (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण (परि वेधिरे) बाँधते हैं (सा) वह (त्वं) तू (मां) मुझे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायु प्राप्त कराने के लिए (परिष्वजस्व) ग्रहण कर, मेरे शरीर के साथ आलिंगन कर । शतपथ (का० ३।२।१।१।११) में मेखला के विषय में एक ऐतिह्य लिखा है कि आङ्गिरस ऋषि ने दीक्षित बालकों को निर्बल पाया, वे व्रत से अतिरिक्त नहीं खाते थे। उन्होंने इस मेखला को ऊर्ज—अन्न रस के रूप में देखा, उसको उन्होंने अपने शरीर के बीच में धारण किया, उससे वे अपने कार्य में सफल हुए।

[१३४] वज्र द्वारा शत्रु का नाश।

शुक्र ऋषिः । मन्त्रोक्तो वज्रो देवता । १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् । २ भुरिक् त्रिपदा गायत्री । ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥

भा०—पापनाशक दण्ड का वर्णन करते हैं—(अयं वज्रः) यह वज्र पापों का वर्जन करनेवाला, दण्ड (ऋतस्य तर्पयताम्) सत्य व्यवस्था को पूर्ण करे और (अस्य) इस अत्याचारी, दुष्ट राजा के (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (अप हन्तु) नाश करे और (जीवितम्) जीवन को भी (अव हन्तु)

[१३४] १—'व्रतेनावास्य' इति पैप्प० सं० । 'र्पयताममृतस्य' इति ह्विटनिकामितः । 'र्पयताममृतस्य' इति लडविग्कामितः । 'हन्तु जीवम्' सायणाभिमतः ।

विनाश करे । (शचीपतिः) समस्त शक्तियों का स्वामी सूर्य जिस प्रकार (वृत्रस्य इव) मेघ के आवरण को छिन्न भिन्न कर देता है । उसी प्रकार यह दण्ड दुष्ट पुरुषों के (ग्रीवाः शृणातु) गर्दनों को काट २ डाले और (उष्णिहां प्र शृणातु) धमनियों को भी काट २ डाले ।

अधरोधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।
वज्रेणावहतः शयाम् ॥ २ ॥

भा०—(उत्तरेभ्यः) उत्कृष्ट मनुष्यों से (अधरः अधरः) नीचे ही नीचे रह कर (पृथिव्या गूढः) पृथिवी में या भूगर्भ में छुप कर रहने वाला शत्रु (मा उत्सृपत्) कभी ऊपर न आवे । बल्कि (वज्रेण अवहतः) वज्र से ताड़ित होकर (शयाम्) सदा के लिये लेट जाय ।

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥ ३ ॥

भा०—हे दण्डधर ! (यः जिनाति) जो हानि पहुँचाता है । (तम् इच्छ अनु) उसी का विनाश कर । हे (वज्र) पापवारक दण्डधर (जिनतः) हानि पहुँचाने वाले पुरुष के (सीमन्तम्) शिर, कपाल पर अपने दण्ड से (अन्वञ्चम्) सीधा (अनुपातय) गिरा डाल, फोड़ डाल ।

[१३५] वज्र द्वारा शत्रु नाश ।

शुक्र ऋषिः । मन्त्रोक्तो वज्रो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥

३–(तृ०) 'वज्रसीयकसीम' इति पैप्प० सं० ।
[१३५] १–(द्वि०) 'वज्रमनुपातयति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—मैं (यद् अश्नामि) जो खाऊँ उससे (बलं कुर्वे) अपना बल सम्पादन करूँ। और तब (शचीपतिः) शक्ति का स्वामी सूर्य जिस प्रकार (वृत्रस्य इव) वृत्र, मेघ को छिन्न भिन्न कर देता है या आत्मा अज्ञान का नाश करता है। उसी प्रकार मैं (अमुष्य) उस अमुक शत्रु की (स्कन्धान्) कन्धों को या स्कन्ध अर्थात् सेना-दलों को (शातयन्) विनाश करता हुआ (इत्थं वज्रम् आददे) इस प्रकार वज्र=तलवार या दण्ड को या पापों से मनुष्यों को बचानेवाले शासन-दण्ड को (आददे उठाऊं।

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥ २ ॥

भा०—(यत् पिबामि) जिसको पीऊं (सं पिबामि) अच्छी प्रकार पीऊँ। और ऐसा (संपिबः) पीऊं जैसे (समुद्र इव) समुद्र समस्त नदियों का जल पी जाता है। (वयम्) हम भी (अमुष्य प्राणान्) शत्रु के प्राणों को, जीवन के साधनों को (संपाय) खूब पीकर (अमुं सपिबामः) उसको पी ही जावें, पचा ही जावें अर्थात् शत्रु को मारना ही शत्रु को पी जाना है।

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥ ३ ॥

भा०—(यद् गिरामि संगिरामि जिसको मैं निगलूं उसको अच्छी प्रकार निगलूँ। (संगिरः द्रः इव) ऐसा निगलूँ जैसे समुद्र सब नदियों के जल को निगल जाता है। (अमुष्य प्राणान् संगीर्य)

२-(तृ० च०) 'सम्पिबं सम्पिबाम्यहं पिब' इति पैप्प० सं०।
३-(तृ० च०) 'प्राणमुष्य संगिरं संगिराम्यहं गिरम्' इति पैप्प० सं०।

शत्रु के प्राणों को या जीवन के साधनों को (संगीर्य) स्वयं निगल कर अर्थात् हड़प कर लो (वयं) हम (अमुं) उसको (सं गिरामः) हड़प सकते हैं ।

[१३६] केशवर्धनी नितत्नी ओषधि ।

केशवर्धनकामो वीतहव्योऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता १-२ अनुष्टुभौ ।
२. एकावसाना द्विपदा साम्नी बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे ।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! तू (देवी) दिव्य गुण वाली है और (देव्याम्) दिव्य गुण वाली (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि-जाता) उत्पन्न होती (असि) है । हे (नितत्नि) नीचे २ फैलने वाली ओषधे ! (तां त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः दृंहणाय) केशों के दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये (खनामसि) खोदते हैं ।

दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! (प्रत्नान्) पुराने केशों को (दृंह) दृढ़ कर और (अजातान्) जिस स्थान पर केश उत्पन्न नहीं होता उस स्थान पर नहीं उत्पन्न हुए केशों को भी (जनय) उत्पन्न कर । और (जातान्) उत्पन्न हुए केशों को (वर्षीयसः, कृधि) बड़ा लम्बा या चिरस्थायी कर ।

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते ।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥ ३ ॥

भा०—हे केशरोगिन् ! (यः ते केशः) जो तेरा केश (अवपद्यते) झड़ता है, (यः च समूलः वृश्चते) और जो केश मूल सहित टूट आता है,

(इदं तम्) उन सब केशों को (विश्वभेषज्या वीरुधा) केश के सब रोगों को दूर करने वाली लता के रस से (अभिषिञ्चामि) भिगोता हूँ । इससे सब केश के रोग छूट जायँगे । कौशिक एवं सायण ने केशों के रोग की निवृत्ति के लिए काकमाची जीवन्ती और भृंगराज का प्रयोग लिखा है । राजनिघण्टु के अनुसार 'देवी' ओषधि से मूर्वा, स्पृक्का, सहदेवी, देवद्रोणी, केसर और आदित्यभक्ता, ये छः ओषधि ली जाती हैं । काकमाची से काश्मादनी ओषधि लेनी चाहिये क्योंकि वही राजनिघण्टु के अनुसार 'केश्या' है ।

[१३७] केशवर्धन का उपाय ।

केशवर्धनकामो वीतहव्योऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥

भा०—(जमदग्निः) अग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखने वाला गृहस्थ पुरुष (याम्) जिस (केशवर्धनीम्) केशों को बढ़ाने वाली ओषधि को (दुहित्रे) अपनी कन्या के निमित्त (अखनत्) खोदता है (ताम्) उसको (वीतहव्यः) प्राप्तज्ञान विद्वान्, पुरुष भी (असितस्य) बन्धन रहित प्रभु के (गृहेभ्यः) बनाये नाना स्थानों से (आ भरत्) प्राप्त करता है ।

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ २ ॥

भा०—जो केश प्रथम (अभीशुना) अंगुलि से (मेयाः आसन्) मापे जा सकते हैं वे ओषधि सेवन के बाद (व्यामेन अनुमेयाः) बढ़

कर फैले हाथों से मापे जा सकते हैं । वे (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर के (असिताः) काले २ (केशाः) केश (नडाः इव) नरकुलों के समान (परि वर्धन्तां) खूब बढ़ें ।

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! केशों के (मूलं दृंह) मूल को दृढ़ करो । (अग्रम्) अग्र भाग को (वियच्छ) विशेष प्रकार से यमन कर, बांध या मज़बूत कर, और (मध्यं यमय) बीच के भाग को भी दृढ़ कर जिससे केश न आगे से टूटें न बीच से टूट कर झड़ें और न जड़ से उखड़ें । प्रत्युत (नडाः इव) तालाब के किनारे लगे नरकुलों के समान हे रोगी ! (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर के (असिताः केशाः) काले बाल (परिवर्धन्ताम्) खूब बढ़ें ।

[१३८] नपुंसक करने के उपाय ।

क्लीबकर्तुकामोऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-२ अनुष्टुभौ । ३ पथ्यापंक्तिः । पंचर्चं सूक्तम् ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! (त्वं) तू (वीरुधाम्) सब लताओं में से (श्रेष्ठतमा) सब से अधिक श्रेष्ठ, गुणकारी (अभिश्रुता) प्रसिद्ध है । (अद्य) शीघ्र ही (इमम्) इस (मे) मेरे (पुरुषम्) शत्रु पुरुष को (क्लीबम्) नपुंसक और (ओपशिनम्) स्त्री के योग्य पोशाक से युक्त (कृधि) कर ।

[१३८] १-(तृ०) 'पौरुष' इति पैप्प० सं०

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू इस शत्रु को (क्लीबं कृधि) नपुंसक बना दे । (अथो) और (ओपशिनं) स्त्री के लिबास में, उसके आभरणादि धारण करने वाला कर दे । (अथो कुरीरिणं कृधि) और उसको कुरीर नामक शिर के आभूषण धारण करनेवाला बना दे । (अथ) और (अस्य) इस शत्रु के (उभे) दोनों (आण्ड्यौ) अण्ड कोशों को (इन्द्रः) इन्द्र, राजा (ग्रावभ्यां) पत्थरों से (भिनत्तु) तोड़ दे ।

क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम् ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३ ॥

भा०—हे (क्लीब) नपुंसक नर ! (त्वा) तुझको (क्लीबम् अकरम्) नपुंसक ही कर देता हूँ । और हे (वध्रे) बधिया, तुझे (वध्रिम् अकरम्) मैं बधिया करता हूँ । और हे (अरस) रस=वीर्यरहित ! नर तुझे मैं (अरसं अकरम्) वीर्य-रहित ही करता हूं । बल्कि साथ ही (अस्य शीर्षणि) ऐसे निर्वीर्य मनुष्य के सिर पर (कुरीरं कुम्बं च) कुरीर और कुम्ब नामक आभूषण भी (अधि नि दध्मसि) धर देते हैं । अर्थात् नपुंसक, बधिया और निर्वीर्य लोग स्त्री के वेश में रहना अच्छा समझते हैं । और यही ओषधि या उपचार पशुओं को बधिया या अखता करने का भी है । इसी प्रकार जो उत्पाती कामोपद्रवी हों उनको राजा नपुंसक करने का दण्ड देकर सौम्य स्वभाव का बना सकता है । दूसरे, वैज्ञानिक

२–(प्र०) 'कृत्वा', 'क्लीबं', 'ओपशु' (तृ० च०) 'उपाम्यामस्य ग्रावभ्याभिन्द्रोभिनत्वाः' इति पैप्प० सं० ।

३–(प्र०) 'कुम्भम्' (तृ०) 'अरसं त्वाकरम् अरसारसोसि' इति पैप्प० सं० ।

दृष्टि से यह कोई लज्जाजनक बात नहीं। योरोप के डाक्टर ये सब परीक्षण कीटों, पशुओं पर करते हैं और नर को मादा, मादा को नर आदि बनाते हैं।

ये ते॑ ना॒ड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॒स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म् ।
ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॑या॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥

भा०—(ये नाड्यौ) जो दोनों नाड़ियाँ (देवकृते) विधाता, ईश्वर ने बनाई हैं और (ययोः) जिनमें (वृष्ण्यम्) वीर्य (तिष्ठति) रहता है, हे नरपशो ! (ते) तेरी (ते) उन दोनों (अधिमुष्कयोः) अण्डकोशों के ऊपर की नाड़ियों को (शम्यया) लकड़ी के दण्डे से (भिनद्मि) तोड़ डालूँ।

यथा॑ न॒डं क॑शि॒पुने॒ स्त्रियो॑ भि॒न्दन्त्यश्म॑ना ।
ए॒वा भि॑नद्मि ते॒ शेपो॒ऽमुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (स्त्रियः) स्त्रियाँ (कशिपुने) चटाई बनाने के लिये (अश्मना) पत्थर से (नडं) नरकुल के नड़े को (भिन्दन्ति) कूट कर नर्म कर लेती हैं (एवा) उसी प्रकार (अमुष्य ते) अमुक पशु रूप (ते) तेरे (मुष्कयोः अधि) अण्डकोशों के ऊपर के (शेपः) प्रजनन इन्द्रिय को (भिनद्मि) कुचल डालूँ।

नपुंसकत्व उत्पन्न करने की प्रेरणा करना यहाँ वेद का उद्देश्य नहीं, अपितु ओषधि का गुणमात्र दिखाया गया है कि (१) उसके सेवन से क्लीब हो जाता है; और (२) पुरुष में स्त्रैण भावों का उदय होता है। और उसको आभूषण आदि अच्छे लगने लगते हैं, (३) विना औषध के भी क्लीब उत्पन्न करना हो तो अण्डकोश भेदन का उपाय भी किया जाना सम्भव है। पशुओं को बधिया या अश्वों को अख्ता करके मनुष्यों ने भारी सभ्यता का कार्य किया है।

[१३९] सौभाग्यकरण और परस्परवरण ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । २-३ अनुष्टुभौ । १ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् जगती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम ।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (न्यस्तिका) सब अवगुणों को दूर करनेवाली (मम) मेरा (सुभगंकरणी) सौभाग्य उत्पन्न करनेवाली होकर (रुरोहिथ) उत्पन्न होती है । (तव प्रतानाः) तेरे फैलाव (शतं) सौ और (त्रयस्त्रिंशत् नितानाः) नीचे मूल की तरफ़ की शाखाएँ ३३ हैं। (तया) उस (सहस्रपर्ण्या) हजारों पत्तों वाली ओषधि से (ते हृदयं शोषयामि) हे स्त्रि ! प्रियतमे ! तेरे हृदय को सुखाता हूँ, वियोग से दुःखी करता हूँ ।

यह जीवनरूप लता है जिसके ३३ देव, मानस दिव्यभाव वितान और शत वर्ष शतप्रतान हैं और सहस्रों कर्म, संकल्प विकल्प आदि सहस्र पर्ण हैं । जो दम्पती इस पर विचार करें तो वे इन सब जीवन के वर्षों और हृदय के भावों और दुनिया के सुख दुःखों के लिये अपना साथी चुनें और प्रेम से रह कर जीवन को सुखमय बनावें ।

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् ।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥

भा०—हे प्रियतमे ! (ते हृदयम्) तेरा हृदय (मयि) मेरे में मग्न होकर, मेरे प्रेम में (शुष्यतु) सूखे, कृश हो जाय, (अथो) और (आस्यम् शुष्यतु) मुख भी सूख जाय, मुख पर दुर्बलता के चिह्न प्रकट

हों, (अथो) और (मां कामेन) मेरे प्रति अपनी प्रबल अभिलाषा, से तू (नि शुष्य) सर्वथा कृश होकर (शुष्कास्या) निर्बल, कृशमुखी होकर (चर) रह। इतने पर भी हे प्रियतमे! तू अन्य किसी को हृदय से मत चाह।

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (संवननी) स्त्री पुरुषों के परस्पर वरण कराने वाली (समुष्पला) स्त्री पुरुष दोनों के सहवास की रक्षा करनेवाली, हे (बभ्रु) पोषण करने वाली ! हे (कल्याणि) सुखदायिनी ! (अमूं) उस प्राणप्रिया स्त्री को (सं नुद) मेरे प्रति प्रेरित कर और (मां च) मुझको उसके प्रति (सं नुद) प्रेरित कर जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव से आकृष्ट होकर एक दूसरे का पाणिग्रहण करें और हमारे (हृदयम्) दोनों के हृदय को (समानं कृधि) समान, एक दूसरे के प्रति एक जैसा कर ।

यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्य/म् ।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥

भा०—(यथा उदकम् अपपुषः) जिस प्रकार जल को न पीनेवाले पुरुष का (आस्यम् अप शुष्यति) मुँह सूख जाता है (एवा) उसी प्रकार (मां कामेन) मेरे प्रति प्रबल अभिलाषा की प्यास से (नि शुष्य) तू भी प्यासी होकर (शुष्कास्या चर) सूखे मुँह, प्यार की प्यासी होकर रह। अर्थात् मुझे ही अपने हृदय में बसाये रख।

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (नकुलः) नेवला (अहिम्) सांप

को (विच्छिद्य) काट कर (पुनः संदधाति) फिर जोड़ देता है (एवा) इसी प्रकार हे (वीर्यावति) वीर्यवर्धक ओषधे ! तू भी (कामस्य) परस्पर अभिलाषा के (विच्छिन्नं) टूटे हुए तांते को (पुनः) फिर (सं धेहि) जोड़ और पुष्ट कर । नेवला सांप को काटता है और पुनः ओषधि जड़ी के बल पर उसके घाव भर देता है ऐसा विश्वास है ।

[१४०] दांतों को उत्तम रखने और सात्विक भोजन करने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । मन्त्रोक्तौ दन्तौ च देवते । १ उरो बृहती अनुष्टुप् । उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् । ३ आस्तारपंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

यौ व्याघ्रावव॑रूढौ जिघ॑त्सतः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च ।
तौ दन्तौ॑ ब्रह्मणस्पते शि॒वौ कृ॑णु जातवेदः ॥ १ ॥

भा०—(यौ) जो (व्याघ्रौ) व्याघ्र नामक दोनों दाँत मुख फाड़ कर भोजन ग्रहण करनेवाले हैं (पितरम् मातरम् च) पिता और माता, अर्थात् ऊपर के और नीचे के जबड़ों को मानो (जिघत्सतः) खाने की इच्छा करते हैं (तौ दन्तौ) उन दोनों दांतों को, हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के परिपालक (जातवेदः) जात-उत्पन्न बालक के विज्ञान को जानने वाले विद्वान् ! (शिवौ कृणु) कल्याणकारी, सुखकारी कर ।

बालक के दांतों को निकलने के पूर्व ही सावधानी से निकलने देना चाहिये जिससे वे विकृत होकर मुख में आगे पीछे न जायँ और बाद में बड़े होकर होठों, जबड़ों और जीभ को घायल न करें ।

---

[१४०] १-(च०) 'कृणुहि' इति क्वचित् ।(च०) 'मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च' इति पैप्प० सं० ।

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ २ ॥

भा०—बालक को अन्नप्राशन कराने का उपदेश—हे बालक के प्रथम उत्पन्न दोनों दांतो ! (व्रीहिम् अत्तम्) तुम भात खाओ, (यवम् अत्तम्) जौ खाओ, (अथो माषम्) और माष, उड़द की दाल और तिल खाओ । हे दाँतो ! (वां) तुम्हारा (एषः भागः) यह भाग खाने योग्य पदार्थ (रत्नधेयाय) उत्तम फल प्राप्त करने के लिये (निहितः) नियत किया गया है । हे (दन्तौ) दांतो ! (पितरं मातरं च) पिता और माता को अर्थात् ऊपर के और नीचे के जबाड़े को (मा हिंसिष्टम्) विनाश मत करो । दांत निकल आने पर बालक को कोमल अन्न खाने का अभ्यास कराना चाहिये, नहीं तो दाँतों से जबाड़े घायल हो जायँगे, या वे माता के स्तनों को काटने और पिता के कोमल शरीर पर काटने के आदी हो जायँगे ।

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥३॥

भा०—(सयुजौ) साथ जुड़े हुए (स्योनौ) सुखकर बालक के (दन्तौ) दो दाँत (सुमङ्गलौ) शुभ, मंगलजनक (उपहूतौ) कहाते हैं । (वां) तुम्हारे (तन्वः) शरीर के (घोरम्) घोर, काटने की तीक्ष्ण प्रवृत्ति (अन्यत्र परैतु) दूर हो जाय । हे (दन्तौ) दांतों (पितरम्) पिता और (मातरम्) माता दोनों को (मां हिंसिष्टम्) मत दुःख दो । उनको दांत मत मारो ।

२—(द्वि०) 'माषामत्तम्' (तृ०) 'स' (च०) 'प्रेयं' इति पैप्प० सं० ।
३—'अघोरौ सयुजा संविदानौ' (च०) 'अन्यत्र वां तन्वो घोरमस्तु' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'सुयुजौ' इति ह्विटनिकामितः ।

[१४१] माता पिता का सन्तान के प्रति कर्त्तव्य । नामकरण और कर्णवेध का उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । अश्विनौ देवते । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥ १ ॥

भा०—(वायुः) वायु (एनाः) इन प्रजाओं को (सम् आ-अकरत्) जीवित करे (त्वष्टा) त्वष्टा=अन्न इनकी (पोषाय) पुष्टि के लिये (ध्रियताम्) रक्षा करे, (इन्द्रः) इन्द्र, आचार्य (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (अधिब्रवत्) विशेष हितकारी नियमों का उपदेश करे और (रुद्रः) रुद्र, चिकित्सक इनको (भूम्ने) बड़ी संख्या में बढ़ाने के लिये (चिकित्सतु) विशेष ज्ञानपूर्वक इनके रोगों को निवृत्त करे ।

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (लोहितेन) लाल तपे हुए (स्वधितिना) शलाका से (कर्णयोः) दोनों कानों में (मिथुनम्) छिद्र (कृधि) कर । हे (अश्विना) माता पिता, (लक्ष्म अकर्त्ताम्) ऐसा चिह्न या नाम रक्खो जो (प्रजया) सन्तति के साथ २ (तद् बहु अस्तु) वह बहुत गुणकारी हो । इस मन्त्र में कर्णवेध और नामकरण का उपदेश किया गया है ।

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

---

[१४१] १–'इन्द्राभ्योऽधिब्रुवत्' (च०) 'भूम्नेऽव चिकित्सतु' इति पैप्प० सं० ।
२–(तृ० 'लक्ष्मि' (द्वि०) 'कृतम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यथा) जिस प्रकार (देवाः) विद्वान् ज्ञानी पुरुष और (यथा असुराः) जिस प्रकार बलवान् पुरुष और (उत मनुष्याः) जिस प्रकार मननशील पुरुष (चक्रुः) करते हैं। हे (अश्विनौ) माता पिताओ ! (सहस्रपोषाय) तुम भी सहस्रों प्रकार की पुष्टि के लिये प्रजा का (लक्ष्म कृणुतम्) चिह्न उत्तम नाम (कृणुतम्) करो । अथवा (सहस्रपोषाय) बलवान् आत्मा की पुष्टि के लिये नामकरण करो ।

[१४२] यव धान्य, राष्ट्र और क्षत्र बल की वृद्धि ।

विश्वामित्र ऋषिः । वायुर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

उच्छ्र्यस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥ १ ॥

भा०—हे (यव) जौ, अन्न ! प्रजाओ, राष्ट्र और सेनाबल ! तू (स्वेन महसा) अपने तेज, बल से(उच्छ्र्यस्व) ऊपर उठ, ऊंचा हो और (बहुः भव) बहुत मात्रा में उत्पन्न हो । और (विश्वा पात्राणि) समस्त वर्तनों को बन्धनों को; (मृणीहि) पूर्ण करके बाहर निकल । (त्वा) तुझे (दिव्या अशनिः) आकाश से गिरनेवाली, बिजुली घोर शस्त्र (मा वधीत्) विनाश न करे ।

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि ।
तदुच्छ्र्यस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥

भा०—(आशृणवन्तं देवम्) हमारे कहे मनोरथों को सुनने वाले देवरूप (त्वां यवं) तुझ जौ, राष्ट्र, राजा को हम (यत्र) जहां (अच्छा-

[१४२]. १-'वृणीहि' इति सायणाभिमतः । 'मृणीहि' इति लडविगनुमतः । २-'तत्र त्वाच्छवदा' इति सायणाभिमतः पाठः ।

वदामसि) उत्तम रीति से बोने आदि का उपदेश करें या तेरी बड़ाई करें (तत्) वहां २ तू (द्यौः इव) आकाश के समान (उच्छ्रयस्व) ऊंचा हो और (समुद्र इव) समुद्र के समान (अक्षितः एधि) अक्षय हो ।

आक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

भा०—(ते उपसदः) तेरे ऊपर सदा निगरानी के लिये बैठनेवाले रोतिहर (अक्षिताः) कभी विनाश को प्राप्त न हों और (ते राशयः अक्षिताः सन्तु) तेरे ढेर भी कभी समाप्त न हों, अक्षय हों (पृणन्तः) घरों को तुझसे पूरने वाले गृहस्थ लोग भी (अक्षिताः सन्तु) अक्षय हों और (अत्तारः) तेरा भोजन करने वाले पुरुष भी (अक्षिताः सन्तु) कभी विनष्ट न हों । राष्ट्रं यवः ॥ तै० ३ । ९ । ७ । २ ॥ विड्वै यवः । श०॥१३।२।९।८॥ सैन्यान्यं वा एतदोषधीनां यद्यवाः ॥ गे० ८।१६॥

॥ इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

[तत्राष्टादश सूक्तानि ऋचश्च चतुष्षष्टिः ।]

षष्ठं काण्डम् समाप्तम् ॥

षष्ठे काण्डेऽनुवाकाः स्युस्त्रयोदश, शतोत्तरम् ।
सूक्तानि द्वाचत्वारिंशत्, चतुः पञ्चाशदुत्तरम् ।
ऋचां पञ्चशतं प्रोक्तमाथर्वणविशारदैः ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे वैक्रमेऽश्वयुजः सिते ।
चतुर्थ्यां च भृगोः काण्डं षष्ठमाथर्वणं गतम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जदेवशर्मणा विरचिते
अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये षष्ठं काण्डं समाप्तम् ।

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदसंहिता

सप्तमं काण्डम्

[१] ब्रह्मज्ञानी पुरुष ।

ब्रह्मवर्चसकामोऽथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । १ त्रिष्टुप् । २ विराड्जगती । द्व्यृचं सूक्तम् ।

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥१॥

(प्र०) ऋ० १०।७१।१॥ च० ४।१।१६॥५।४०।६॥

भा०—(ये वा) जो विद्वान् लोग (धीती) ध्यान, धारणा या अध्ययन द्वारा (वाचः) इस वाणी के (अग्रं) अग्र=उत्पत्ति, कारण, निदान उससे भी पूर्व विद्यमान उस के मूल स्वरूप आत्माको (अनयन्) प्राप्त करते हैं (ये वा) और जो (मनसा) अपनी मननशक्ति से (ऋतानि) सत्य ज्ञानों को प्राप्त करके (अवदन्) उपदेश करते हैं वे (तृतीयेन) परम, तीर्णतम (ब्रह्मणा) ब्रह्म=वेदज्ञान, सामगायन या ईश्वर के तीर्णतमरूप से (वावृधानाः) शक्ति और ज्ञान की वृद्धि करते हुए (तुरीयेण) चतुर्थ, वेद या ब्रह्म के

[१] १—(तृ०) 'ब्रह्मणा संविदाना' (च०) 'मन्वता' इति शा० श्रौ० सू० (द्वि०) 'ये वदेय न्नृतेन' (तृ०) 'तुर्येण' इति पैप्प० सं० ।

तुरीय अति सूक्ष्म, आनन्दमय स्वरूप से (धेनोः) उस समस्त विश्व को रसपान कराने वाले आनन्दमय ब्रह्म का (नाम) स्वरूप (अमन्वत) जान लेते हैं।

उपनिषद् में जैसे—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। तभी तुरीय पद की प्राप्ति होती है। आत्मा की चार दशाएं हैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इस का व्याख्यान माण्डूक्य उपनिषद् में देखिये।

स वे॑द पु॒त्रः पि॒तरं॒ स मा॒तरं॒ स सू॒नुर्भु॑व॒त् स भु॑व॒त् पुन॑र्म॒घः ।
स द्यामौ॑र्णो॒द॒न्तरि॑क्षं॒ स्वः१ स इ॒दं विश्व॑मभव॒त् स आभ॑वत् ॥२॥

भा०—(सः) वह आत्मा (पुत्रः) उस परमेश्वर का पुत्र होकर उस परम आत्मा को अपना (पितरं) पालक (मातरं) और माता के समान बीज धारक (वेद) जानता है। (सः) वह इस (सूनुः) देह में उत्पन्न (भुवत्) होता है और (सः) वही (पुनःमघः) बार २ अपने कर्म फल एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न (भुवत्) हो जाता है। और (सः) वह परमात्मा, उत्तम पुरुष जो (द्याम्) द्यौः और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, मध्य आकाश और (स्वः) सुखमय, प्रकाशमय मोक्षपद को भी (और्णोत्) अपने वश किए हुए है (सः) वह (इदं विश्वम्) इस समस्त विश्व को (अभवत्) उत्पन्न करता है और (सः) वही (आभवत्) सब सामर्थ्य रूप से सर्वत्र व्यापक है। इसका विवरण देखो (श्वेताश्वतर उप० अ० ५ । ६ ।)

२—(तृ०) 'और्णोदन्तरिक्षं स सुवः स विश्वा भुवो अभवत्' इति तै० सं०। 'विश्वं भुवो भवत् स्वाभुवत्' इति पैप्प० सं०।

[२] ब्रह्मज्ञानी पुरुष ।

ब्रह्मवर्चसकामोऽथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ १ ॥

भा०—(यः) जो विद्वान् (इमं) इस (यज्ञम्) यज्ञ=आत्मा को (मनसा) अपने मानस विचार द्वारा (अथर्वाणम्) अथर्वा—कूटस्थ, नित्य, (पितरम्) सब इन्द्रियों और प्राण सामर्थ्यों के पालक, (देवबन्धुम्) देव परमेश्वर के बन्धु अथवा देव इन्द्रियों के मूलकारण, (मातुःगर्भम्) माता के पेट में गर्भ रूप से प्रकट होने वाले और (पितुः) उत्पादक, बीजप्रद पिता के जीवन के अंश, (असुम्) प्राणस्वरूप, (युवानं) सदा नव, अजर अमर या देह इन्द्रिय और उसके सामर्थ्यों को मिलाने वाले या गर्भ में जो स्त्री से स्वयं मिथुनित होने वाले जीव का (चिकेत) पूर्ण ज्ञान कर लेता है ऐसा विद्वान् (नः) हमें भी (प्रवोचः) उस आत्मा का उपदेश करे (तम्) उसको (इह इह) इस इस देह में अर्थात् प्रत्येक देह में (ब्रवः) बतलावे ।

इस शरीर के आत्मा के साथ २ ब्रह्माण्ड व्यापी महान् आत्मा का वर्णन भी समझना चाहिए । इस की व्याख्या अथर्ववेदीय शिर-उपनिषत् में देखनी चाहिये ।

[३] अध्यात्म ज्ञान का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।

१—(प्र०) 'पितरं विश्वदेवं' (तृ० च०) 'अयं चिकेत मृतस्य धाम नित्यस्य राजः परिधीरपश्यत्' इति पैप्प० सं०

२—(तृ०) 'स प्रत्येङ् गेत् धरुणे' इति पैप्प० सं०, (च०) 'स्वां यत् तन्वा

स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वयां तन्वा/तन्वं/मैरयत ॥१॥

भा०—(सः) वह आत्मा (वि-स्था) नाना प्रकार से व्यापक (अया) इस प्रकृति के सहयोग से ही निश्चय से (कर्वराणि) नाना प्रकार के जगत् के सर्जन आदि कार्यों को (जनयन्) उत्पन्न करता रहता है। (सः) वही (घृणिः) प्रकाशमान (वराय) वरण करने वाले जीव के लिये (उरुः गातुः) महान् बड़ाभारी, अति श्रेष्ठ गन्तव्य, परम मार्ग है इसलिए (सः) वह जीव इस समस्त (मध्वः) संसार के (अग्रं) सर्व श्रेष्ठ (धरुणं) धारक परमेश्वर के (प्रति-उत्-ऐत्) प्रति गमन करता है जो (स्वया) अपनी (तन्वा) सूक्ष्म शक्ति से उसके (तन्वं) स्वरूप को (ऐरयत) प्रेरित करता है। अपने प्रति आकर्षित करता है।

'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजुः०॥

[४] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। वायुर्देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥१॥

भा०—हे (वायो) देह के प्रेरक, सर्वधारक वायो! आत्मन्! हे (सु-हुते) उत्तम रूप से अपने को देह में अर्पण करने वाले अथवा अपने को योग द्वारा इष्ट देव में समर्पण करने वाले आत्मन्! तू (एकया) एक चिति शक्ति से और (दशभिः) दश प्राणों से इस देह को (वह) धारण कर और इसी प्रकार (द्वाभ्यां) दो प्राण और अपान और (विंशत्या च) उनकी

मैरयत' तै० सं०।

१–(प्र०) 'स्वभूते' (च०) 'नियुद्भि' (द्वि०) 'विंशती' (च०) 'वायविह' इति यजुः 'वियुद्भि' इति पैप्प० सं०।

वीस अर्थात् १० सूक्ष्म, आभ्यन्तर और १० स्थूल, बाह्य शक्तियों से (इष्टये) अपने इष्टि, इच्छापूर्ति के लिये इस देह को धारण करता है और इसी प्रकार (त्रिंशता) तीस और (तिसृभिः) तीन=३३ (वियुग्भिः) विशेषरूप से जुड़ी दिव्य शक्तियों से इस देह को धारण करता है। तू उन सब बन्धनकारिणी प्रवृत्तियों को (इह) इस लोक में (विमुञ्च) त्याग दे, शिथिल कर दे और मुक्त हो।

पञ्चम सूक्त के भी आत्म देवता के होने से मध्य में पठित चतुर्थ भी यह आत्मदेवताक है 'वायु' तो केवल उस प्राणात्मा का बोधक लिंग-मात्र है।

महान् आत्मा के पक्ष में दश दिशाएं, एक महान् प्रकृति, दो आत्मा, या महान् और अहंकार, २० वैकारिक तत्व, पांच स्थूल भूत, पांच सूक्ष्म भूत, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय अथवा ३३ देव, ८ वसु, ११ रुद्र, द्वादश आदित्य इन्द्र और प्रजापति इनका विशेष प्रकार से योग होकर संसार का महान् यज्ञ चल रहा है। प्रलय काल में वही सूत्रात्मा वायु, परमेश्वर उनको नियुक्त करता है।

[५] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। आत्मा देवता। त्रिष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम्।

यज्ञेन॑ यज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑: सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥१॥

५—१ ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। साध्याः देवताः। तत्रैव पुरुषसूक्तपाठे नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। यजुषि नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। पुरुष सूक्तस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवता अनुष्टुप्छन्दः। मोक्षे विनियोगः

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् पुरुष (यज्ञेन) यज्ञ, समाधिरूप आत्मयज्ञ से (यज्ञम्) सब के पूजनीय परम आत्मा को (अयजन्त) उपासना करते हैं। (तानि) वे ही (प्रथमानि) सब से उत्कृष्ट (धर्माणि) मोक्ष प्राप्ति और अभ्युदय के साधन (आसन्) हैं। (ते) वे इन योग समाधि के साधना करने हारे योगिजन (महिमानः) महत्व गुण को प्राप्त करके (नाकम्) दुःखरहित मोक्षाख्य परम पुरुष को (सचन्ते) प्राप्त होते हैं। (यत्र) जहां (पूर्वे) पूर्व मुक्त हुए (साध्याः) साधना सिद्ध (देवाः) ज्योतिर्मय, मुक्त पुरुष (सन्ति) विराजते हैं।

'यज्ञेन'=स्तुतिप्रार्थनोपासनाख्येन पूजनेनेति इति दयानन्दः। अग्निना ज्ञानरूपेण यज्ञेनेति सायणः। ज्योतिष्टोमाख्येन यज्ञेन अथवा यज्ञेन समाधिना इति उव्वटः। मानसेन संकल्पेनेति महीधरः। 'यज्ञम्' होमाधारं आहवनीयमग्निम् विष्णुम् इति वा सायणः। पूजनीयं परमेश्वरं इति दयानन्दः। यज्ञपुरुषं ज्ञानरूपं नारायणाख्यम् इति उव्वटमहीधरौ। 'देवाः'=कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः यजमाना इति सायणः, विद्वांसः इति दयानन्दः। इन्द्रादय योगिनो वेति उव्वटः। प्रजापति-प्राण-रूपा इति महीधरः। 'धर्माणि' अग्निसाधनानि कर्माणि इति सायणः। धर्माणि कर्त्तव्यानि इति दयानन्दः। यजनरूपाणि समाधिरूपाणि इति उव्वटः। जगद्रूपविकाराणां धारकाणीति महीधरः। 'साध्याः'= प्राणाभिमानिनो देवाः इति सायणः। प्राणाः वै साध्या देवा इति शतपथः। छन्दोभिमानिदेवा आदित्या अंगिरसश्चेति ऐतरेयः। पूर्वे सुराः विराड्-उपाधि साधकाः इति महीधरः। साधनवन्तः कृतसाधना

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत्। प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थव्याख्येति सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामासेति उव्वटः। नारायणपुरुषदृष्टा जगद् बीजपुरुषदेवत्या षोडश ऋचः इति महीधरः। नारायण ऋषिः, राजेश्वरो देवता इति अजमेरमुद्रितायां यजुःसंहितायाम्।

विद्वांस इति दयानन्दः । अहंगृहोपासकाः, यद्वा साध्यं ज्ञानेन प्राप्यं वस्तु येषां आत्मत्वेनास्ति इति सायणः ।

'नाकं=दुःखेन यन्न संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ॥
अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम् ।
"यत्र देवाः अमृतमानशानाः" इति श्रुतिः ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥ २ ॥

भा०—(यज्ञः) वह सब का परम पूजनीय परमेश्वर, 'यज्ञ' ही (बभूव) सदा काल से रहा है । (सः आ बभूव) वह सर्वत्र व्यापक और समर्थ है । इसलिये (सः प्र जज्ञे) वह समस्त सृष्टि को उत्पन्न करता है । (स उ) वह ही (पुनः) बार २ (वावृधे) इसका प्रलय कर इसका विनाश करता है । (सः) वह (देवानां) प्रकृति और अहं, महत्, पंच-भूतादि वैकारिक दिव्य पदार्थों का (अधिपतिः) अध्यक्ष, स्वामी, उनका मालिक और पालक (बभूव) है, (सः) वह (अस्मासु) हम में (द्रविणम्) ज्ञान और आत्मसामर्थ्य को (आ दधातु) धारण करावे ।

यद् देवा देवान् हविषा यजन्तामर्त्यान् मनसा मर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योऽमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) देव, ब्रह्म के जिज्ञासु और ज्ञानी पुरुष (यत्) जिस परम पुरुष में निमग्न होकर (मनसा) मनन शक्ति से (अमर्त्यान्) मरण धर्म से रहित, अविनाशी, सदा चेतन, (देवान्) प्रकाशकरूप चेतन प्राणों या इन्द्रियों को (हविषा) मानस संकल्प या आत्म-

२–(द्वि) 'स वावृधे' (च) 'सोऽस्मानधिपति करोतु' तै० सं० इति तत्रैव 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इति अधिक पाठः । (द्वि०) 'स पृथिव्या अधिप तिर्बभूव' इति पैप्प सं० ।

सामर्थ्य से (अयजन्त) पूजा करते हैं, उनको बलवान् करते या अपने में संगत करते उन पर वश करते हैं (तत्र) उस (परमे) परम, उत्कृष्ट (व्योमन्) विशेष रक्षास्थान, अभय, शरणरूप या आकाश के समान महान् और निःसंग परम ब्रह्म में हम (मदेम) आनन्द प्राप्त करें और (सूर्यस्य) सबके प्रेरक और प्रकाशक उस महान् सूर्य के (उदितौ) उदय होने पर (तत्) उस परम प्रकाश को (पश्येम) सदा दर्शन करें। साधक की यह वह दशा है जिसमें वह कहता है:-हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।" इत्यादि। ईश० उप० ॥ सायणने इस मन्त्र को अध्यात्म में भी लगाया है।

यत् पुरुषेण हविषा युज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

यजु० ३१ । १४ । प्र० द्वि० ऋ० १० । ९० । ६ प्र० द्वि०॥

भा०—(यद्) क्योंकि (देवाः) आत्मज्ञान से प्रकाशवान् पुरुष (पुरुषेण) पुरुष, इस देह पुरी में निवास करने वाले आत्मारूप (हविषा) हवि=ज्ञान सामर्थ्य द्वारा (यज्ञं) उस परम पूजनीय परमेश्वर की उपासना (अतन्वत) करते हैं, उसका वर्णन किया करते हैं और (यत्) क्योंकि (विहव्येन) विशेष स्तुति, प्रार्थनोपासना द्वारा या बाह्य चरु आदि से अतिरिक्त केवल समाधि या ज्ञानाभ्यास द्वारा (ईजिरे) उसकी संगति करते हैं (तस्मात्) इसलिए ही यह अध्यात्म यज्ञ (नु) निश्चय से (ओजीयः अस्ति) अधिक ओजस्वी, बलशाली होता है। विद्वान् लोग अपने इस आत्मा के अनुसार विश्वव्यापक प्रभु के विराड् देह की कल्पना करके वर्णन किया करते हैं और ध्यानयोग से उसकी उपासना करते हैं इससे वह उपासना बड़ी फलदायक होती है।

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

भा०—(मुग्धाः) मोह में पड़कर (देवाः) विद्वान् पुरुष भी (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञमय परम पुरुष को (शुना) गतिशील प्राण से (उत) और (गोः, अङ्गैः) गो=चिति शक्ति के अङ्गरूप ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से या (गोः, अङ्गैः) गौ वेदवाणी के अंग-रूप योगादि दार्शनिक उपायों या वेदमन्त्रों से (पुरुधा) नाना प्रकारों से (अयजन्त) उपासना करते हैं, परन्तु (यः) जो पहुँचा हुआ परमज्ञानी (इयं यज्ञं) इस परम पूजनीय प्रभु को (मनसा चिकेत) अपने मनन साधन, आभ्यन्तर साधन से (चिकेत) ज्ञान कर लेता है वह (नः) हमें (प्रवोचः) उस उत्कृष्ट ज्ञान का उपदेश करे और वही विद्वान् (तम्) उस परम पुरुष के विषय में (इह इह) इन इन शंकास्पद स्थलों में या मोह की दशाओं में (ब्रवः) उपदेश करे। सायण और सायण के पीछे चलने वालों के मत में— 'देवताओंने मूढ़ होकर कुत्ता और गाय के टुकड़ों से यज्ञ किया।' इत्यादि अर्थ है सो असंगत है। क्योंकि इस प्रकरण में यज्ञ की उपासना के लिये मन को मुख्य साधन बताया है। इसलिये प्राण और चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा केवल प्राणाभ्यास और त्राटकादि धारणा साधनों को गौण बतलाया है। इससे वही अभिप्रेत है। जब देवता आत्मा है तो इसकी साधना में कुत्ते और गाय के मांस आदि का लेना मूर्खता है।

[६ (७)] आत्मज्ञान का उपदेश ।

अथर्व-ऋषिः । यजुर्वेदे १ प्रजापतिर्ऋषिः, २ वामदेवः । ऋग्वदे गौतमो ।

५. 'मूर्खा देवाः' इति विक्टरहेनरीनामकहरिवर्षीयस्य मतेन पाठभेद इष्टः ।

राहूगण ऋषिः । अदितिर्देवता । त्रिष्टुप् । १ भुरिक् । ३, ४ विराड्-जगत्यौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

ऋ० १।८९।१०॥ यजु० २५।२३॥

भा०–(द्यौः) द्यौलोक (अदितिः) अदिति, अदीन, अखंडित, अविनाशी प्रकृति की बनी है। (अन्तरिक्षम् अदितिः) यह अन्तरिक्ष भी (अदितिः) उसी अविनाशी प्रकृति का बना है। (माता) सब पदार्थों को बनाने वाली उनकी माता यह पृथिवी भी (अदितिः) वह प्रकृति ही है। (सः पिता) इस संसार का पालन करने वाला सूर्य भी (अदितिः) प्राकृतिक है, (सः पुत्रः) वह पुत्र अर्थात् पृथिवी सूर्य से उत्पन्न मेघ आदि भी प्रकृति के बने हैं। (विश्वेदेवाः अदितिः) समस्त दिव्य शक्तियों से युक्त पदार्थ सूर्य चन्द्र आदि अथवा पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि भूत या महत् आदि विकार सब (अदितिः) प्रकृति ही हैं (पंचजनाः अदितिः) पंचजन=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद अथवा देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरस्, सर्प और पितर ये सब जीव भी प्रकृति गुणों के भेद से उत्पन्न होते हैं (जातम्)जो पदार्थ उत्पन्न होने वाला है सब (अदितिः) प्रकृति ही है (जनित्वम्) अर्थात् उत्पत्ति का आधार ही (अदितिः) प्रकृति है। अथवा अविनाशशील परमात्मशक्ति को 'अदिति' कहा गया है। यह द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, पंचभूत, पञ्चजन, संसार इत्यादि सब पदार्थ उसी ब्रह्म की त्रिगुण शक्ति का विलास है।

(६) निर्णयसागरमुद्रिते सायणभाष्ये शंकरपाण्डुरंगेनापि द्व्यृचं सूक्तमेवाभिमतम्। अथर्ववेदीयसर्वानुक्रमणीच 'षष्ठं द्व्यृचं' इति पठति। परम ऊमेरमुद्रितसंहितायां सूक्तमिदं चतुर्ऋचं पठ्यते पञ्चपटलिकानुसारम्।

म॒हीमू॒ षु मा॒तरं॑ सुव्र॒तानां॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हुवामहे ।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥ २ ॥
यजु० २१ । ५ ॥

भा०—ब्रह्म की ज्ञानमयी वेदमयी नौका या भवतारिणी शक्ति का वर्णन करते हैं। (सुव्रतानाम्) उत्तम पुण्यकर्मों की (महीम्) पूजनीय, (मातरम्) उत्पन्न करने वाली, (ऋतस्य पत्नीम्) महत्, यज्ञ, सत्य और ज्ञान का पालन करनेवाली, (तुविक्षत्राम्) बहुत प्रकार से क्षति से बचाने वाली, बहुत धन और बल से युक्त, (सुप्रणीतिम्) उत्तम रूप से व्यवस्था करने और शुभ मार्ग में ले जाने वाली, (सुशर्माणम्) शुभ सुख देनेहारी, (उरूचीम्) विशाल ब्रह्म में व्यापक, (अजरन्तीम्) नित्य, अविनश्वर, (अदितिम्) अदीन, सदा नवीन, अखण्डित सत्यमयी वेदवाणी अदिति को हम अपनी (अवसे) रक्षा के निमित्त (हवामहे) स्मरण करते हैं उसका मनन, निदिध्यासन करते हैं। मनु ने प्रलयकाल में सब जीवों के बीजों की रक्षा के निमित्त जिस वेदमयी नौका का आश्रय लिया था उसका वर्णन मत्स्यपुराण में दर्शनीय है।

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ।
दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्रामना॑गसो॒ अस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥
ऋ० १०।६३।१०॥ यजु० २१।६॥

भा०—उसीका वर्णन और भी करते हैं। (सुत्रामाणम्) उत्तम रीति से सब का पालन करनेवाली, (पृथिवीम्) विशाल (द्याम्) प्रकाश-स्वरूप (अनेहसं) किसी प्रकार का आघात न पहुँचाने वाली, (सुशर्माणम्) सब जीवों को सुखशान्ति, शरण देनेवाली, (सुप्रणीतिम्)

२—'हुवेम' इति यजु० ।
३—ऋग्वेदे गयप्लात ऋषिः ।(तृ०) 'अनागसम्' इति ऋ० ।

उत्तम रूप से विधान की गई या शुभ मार्ग में ले जाने वाली, (दैवीं) देव ईश्वर की बनाई हुई (सु-अरित्राम्) उत्तम पुण्यकर्म रूप पतवारों वाली, (अस्रवन्तीम्) दोषादि छिद्रों से रहित, कभी न डूबने वाली, (नावम्) संसार के पार उतारने में समर्थ वेदमयी या यज्ञमयी ज्ञान-नौका में हम (अनागसः) निष्पाप (स्वस्तये) अपने ही उत्तम कल्याण साधन के लिए (आरुहेम) सदा चढ़ें । अर्थात् अपने जीवनों को सफल करने के लिये वेद का आश्रय लें । उसकी व्यवस्था में चलें ।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥४॥

यजु० ९।५॥

भा०—(वाजस्य) अन्न के (प्रसवे) उत्पन्न करने के कार्य में (महीम्) विशाल (अदितिम्) अखण्डित, समस्थलवाली (महीम्) पृथिवी को (वचसा) वेदोपदेश के अनुसार (नाम) ही (करामहे) तैयार करते हैं । (यस्याः) जिसकी (उपस्थे) गोद में (उरु) यह विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष या मेघ है । (सा) वह (नः) हमें (त्रिवरूथम्) तीन मंजिला (शर्म) गृह (नियच्छात्) बनाने के लिये आज्ञा दे । अध्यात्म में—वाज=ज्ञानबल के उत्पन्न करने में हम उस परम महती अखण्ड ब्रह्मशक्ति की वाणी द्वारा स्तुति करते हैं जिसके आश्रय पर यह विशाल अन्तरिक्ष खड़ा है । वह हमें (त्रिवरूथं) तीनों तापों से बचाने वाला मोक्ष सुख प्रदान करे ।

४-(च०) 'सानो देवी सुहवा शर्म यच्छतु' इति पैप्प० सं० ।

१—'यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ।' इति उत्तरार्धे पाठभेदः यजु० ॥

[७ (८)] आत्मज्ञान का उपदेश

अथर्वा ऋषिः । अदितिर्देवता । आर्षी जगती । एकर्चं सूक्तम् ॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमवं देवानां बृहतामनर्मणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥१॥

भा०—मैं परमात्मा (दितेः) दिति के (पुत्राणाम्) पुत्रों के स्थान को (अदितेः) अखण्डित, अविनाशी चितिशक्ति के पुत्र (बृहताम्) बड़े और (अनर्मणाम्) अव्यथित, अक्षत शरीर, अजर (देवानां) देवों, प्राणरूप इन्द्रिय सामर्थ्यों के (अव अकारिषम्) नीचे, अधीन करता हूँ। क्योंकि (तेषाम्) उनका (धाम) तेज (समुद्रियम्) समुद्र-आत्मा से उत्पन्न होने वाला होने के कारण (गभिषक्) अति गम्भीर है। (एनान्) इनके प्रति (कश्चन) कोई (नमसा) नमन करने वाले अन्न सामर्थ्य से युक्त (परः न) दूसरा नहीं है। अथवा (एनान् पर, नमसा कश्चन न) उस परम आत्मा से बढ़ कर शक्तिशाली कोई नहीं है। कश्यप की दो स्त्रियां दिति और अदिति। दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के पुत्र आदित्य, सुर असुर, देव दानवादि के कथानक आलंकारिक हैं। कश्यप, ईश्वर की दो शक्तियां हैं दिति और अदिति, जड़, प्रकृति और चिति शक्ति। जड़-प्रकृति से अचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं, चिति शक्ति के पुत्र जीव हैं। दिति=प्रकृति के पुत्र जड़ पदार्थ=देहों को परमात्मा ने अदिति-चिति के पुत्र चेतनामय जीवों के अधीन किया। ईश्वर की समष्टि चितिशक्ति समस्त

(द्वि)-अकारिषमुरुशर्मणाम् । येषां नामानि विहितानिधामशश्चित्ते यजन्ति भुवनाय जीवसे ।' इति मै० सं० । 'अकारिषम् महाशर्मणां महतामनृम्णाम् त्वेषा युधामि गार्भणत् समुद्रं नहिषां ये अपस परोस्ति किंचन इति पैप्प० सं०

(च०)'नैनां मनसा' इति ह्विटनिकामितः (प्र०) 'अकार्षम्' इति क्वचित्।

लोकों को प्रेरित करती है । वह सब पदार्थों को गति देती है वही 'फोर्स' परम शक्ति है । उसके अधीन सूर्य, चन्द्र आदि समस्त जड़ पदार्थ हैं उनका धाम=धारण करने वाला बल यह महासमुद्र, महान् आत्मा, परमेश्वर है वह महान् अथवा अनन्त शक्ति का भंडार है उससे परे कोई भी अधिक बलशाली नहीं है ।

[८ (९)] उत्तम मार्गदर्शक ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुर एता ते अस्तु ।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! तू (भद्रात्) शारीरिक और इह लोक के सुख से (अधि) भी ऊपर विद्यमान (श्रेयः) परम कल्याण, श्रेष्ठतम पद को (प्रइहि) प्राप्त हो । (बृहस्पतिः) समस्त महान् लोकों का स्वामी, वेद वाणी का विद्वान् पथदर्शक (ते) तेरे (पुरः एता अस्तु) सामने, आगे २ चलने वाला हो । वह तुझे सदा उत्तम २ मार्ग दर्शावे । (अथ) और (इमम्) इस जीव को (अस्याः) इस (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरे) उत्तम, वरण करने योग्य, श्रेष्ठ, शान्तियुक्त, परम उच्च स्थान पर (सर्व-वीरम्) सब स्थानों में और प्रजाओं में वीर-सामर्थ्यवान् और (आरे-शत्रुम्) शत्रुओं से रहित, निर्भय (कृणुहि) कर ।

एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे च लोका दिशश्च । श० ६ । ५ । २ । २२ ॥
एतावद्वा इदं सर्वं यावद् ब्रह्मक्षत्रं विट् । श० ४ । २ । २ । १४ ॥

[८] १—'भद्रादभि', (तृ० च०) 'अथेमवस्य वर आ पृथिव्या आरे शत्रून् कृणुहि सर्ववीरः ।' तै० सं० ।

[९ (१०)] उत्तम मार्गदर्शक, पति और पालक से प्रार्थना ।

उपरिबभ्रव ऋषिः, ऋग्वेदे देवश्रवा यामायन ऋषिः । पूषा देवता ।
१,२ त्रिष्टुभौ । ३ त्रिपदा आर्षी गायत्री । ४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥१॥

ऋ० १० ॥ १७ ॥ ६ ॥

भा०—(पूषा) समस्त संसार का पोषक परमात्मा सूर्य के समान (पथाम्) समस्त मार्गों या लोकों के (प्रपथे) उत्कृष्ट, उच्चतर मार्ग में और (दिवः प्रपथे) द्यौ=सूर्य के मार्ग में और (पृथिव्याः प्रपथे) पृथिवी के मार्ग में (अजनिष्ट) विद्यमान है (प्रियतमे) अत्यन्त प्रियतम (सधस्थे) एक ही स्थान पर विद्यमान द्यौ और पृथिवी दोनों के (अभि) सन्मुख उन दोनों को (प्रजानन्) जानता हुआ (आ च चरति परा च) उनके पास और दूर सर्वत्र व्यापक है ।

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७ । ५ ॥

भा०—(पूषा) सब का परिपोषण करने वाला परमात्मा (इमाः, सर्वाः, आशाः) इन सब दिशाओं को (अनुवेद) बराबर जानता है । अतः (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) सब से अधिक भय रहित, कल्याणकारी मार्गसे (नेषत्) लेजाय । वह परमात्मा (स्वस्तिदाः)

१—'अरे । शत्रुम् ' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

(द्वि०) 'मेषत्' इति मै० सं० । (त०) 'आघृणीः' (च०) 'प्रविद्वान्' इति तै० आ० ।

सब प्रकार कल्याण मय पदार्थों का देने वाला (आघृणिः) सब प्रकार से प्रकाशमान् (सर्ववीरः) सब स्थानों में और सब से अधिक वीर, वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, (प्रजानन्) सब बातों का जानने हारा, (अप्रयुच्छन्) कभी न प्रमाद करता हुआ (पुरः एतु) हमारे आगे २ मार्गदर्शक हो।

मार्गदर्शक विद्वान् को भी इसी प्रकार का होना चाहिये वह सब दिशाओं के देश जाने, अपने स्वामी का कल्याण करे हृदय में वीर और ज्ञानी और प्रमाद रहित हो।

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ५४ । ९ ॥ यजु० ३४ । ४१ ॥

भा०—हे पूषन्! सब के परिपोषक प्रभो! (वयं) हम (तव व्रते) तेरे उपासना कार्य में (कदा चन) कभी (न) न (रिष्येम) विनष्ट हों। हम (इह) यहां (ते) तेरे सदा (स्तोतारः) सत्य गुणों का वर्णन करते (स्मसि) रहें।

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्।
पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

ऋ०६।५४।१०।

भा०—(पूषा) परिपोषक परमात्मा (परस्तात्) दूर दूर तक (दक्षिणम्) कार्य कुशल दायें हाथ के समान बलवान् (हस्तं) अपना हाथ (परिदधातु) हमें दे। जिससे हम सब ऐश्वर्य प्राप्त करें और (नः) हमारा (नष्टं) विनष्ट पदार्थ (नः) हमें (पुनः) फिर (आजतु) प्राप्त हो। हम (नष्टेन) विनष्ट पदार्थ से पुनः (सं गमेमहि) संगति लाभ करें।

२–(प्र०) 'पुरस्तात्' इति ऋ०।

पूषादेवताक मन्त्रों का अर्थ हमने परमात्म-परक किया है। परन्तु पूषा विशां विट्पतिः । तै० २ । ५ । ७।४ ॥ पूषा वै पथीनामधिपतिः । श० १३ । ४ । १ । १४ ॥ पूषा भगं भगपतिः । श० ११ । ४ । ३ ।१५॥ पथ्या पूष्णः पत्नी । गो० उ० २ । ९ ॥ योषा वै सरस्वती वृषा पूषा । श० २ । ५ । १ । ११ ॥ पूषा भागदुघः अशनं पाणिभ्यामुपनिधाता । श० । ११ । १ । २ । १७ इत्यादि प्रमाणों से राजा, राष्ट्र के सब मार्गों पर चुंगी संग्रह करनेवाला, राष्ट्र का अधिकारी, खज़ानची, अन्नपति, गृहपति और राष्ट्र का कर संग्रहाध्यक्ष ये भी 'पूषा' कहाते हैं। जिनमें गृहपति के पक्ष में यहाँ निम्न-लिखित प्रकार से मन्त्रों के अर्थ जानने चाहियें। स्त्री अपने गृहपति को कहती है—

१—(पूषा पथाम् प्रपथे अजनिष्ट) मेरा पोषक पति सब मार्गों से उत्तम मार्ग में रहे। वह (दिवः प्रपथे, पृथिव्याः प्रपथे) द्यौ और पृथिवी, अमुक लोक और इस लोक दोनों में उत्तम मार्ग में चलें। (उभे प्रियतमे सधस्थे अभि) दोनों सहचारी प्रियतम स्त्री-पुरुष के अभि) सम्बन्ध को (प्रजानन्) अच्छी प्रकार जानता हुआ (आ च परा च चरति) दूर और समीप में विचरे अर्थात् सर्वत्र पति अपनी स्त्री के संग कभी पति-पत्नी के सम्बन्ध को विच्छेद न करे।

२–(पूषा इमाः सर्वा आशाः अनुवेद) मेरा पति मेरी इन सब उत्तम इच्छाओं को अपने अनुकूल जाने है। (सः अस्मान् अभयतमेन नेषत्) वह हमें सब से अधिक भयरहित मार्ग से जीवनपथ पर ले चले। (स्वस्तिदाः आघृणिः सर्ववीरः प्रजानन् अप्रयुच्छन् पुरः एतु) वह कल्याणकारी, तेजस्वी, सर्वत्र वीर, विद्वान्, अप्रमादी होकर मेरे आगे आगे चले।

३—(पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन) हे पते ! तेरे पाति-

अन्य में हम कभी अपराध न करें। हम तेरे ही यथार्थ गुणों का वर्णन करने वाले हों।

४—(पूषा) पति (दक्षिणं हस्तं परिदधातु) मेरा दायां हाथ ग्रहण करे। मेरा दायां अंग बने। (नः नष्टं पुनः आजतु) हमारा खोया हुआ आधा भाग पुनः प्राप्त हो। (नष्टेन सं गमेहि) हम अपने पुनः प्राप्त आधे खोये हुये भाग से मिलकर एक होकर गृहस्थ का पालन करें। प्रजापति ने अपने को दो भागों में किया आधे से स्त्री और आधे से पुरुष, इत्यादि उपाख्यान मनु और शतपथ में कई रूप से आया है।

[१० (११)] सरस्वती की उपासना।

शौनक ऋषिः। ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। सरस्वती देवता। त्रिष्टुप्।
एकर्चं सूक्तम्।

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥

ऋ० १ । ६४ । ४६ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—हे (सरस्वति) मातः ! वाणि अथवा मातः द्यौः ! (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन या शब्द करने वाला गर्जनशील मेघ (शशयुः) अत्यन्त शान्तिदायक, अथवा अतिगूढ रहस्यमय है, (यः मयोभूः) जो सुखका उत्पत्ति स्थान है, (यः सुम्नयुः) जो शुभ मनन=ज्ञानका उत्पादक अथवा सुम्न—सुषुम्ना में योग समाधि का जनक है (यः सुहवः) जो उत्तम रीति से स्मरण करने योग्य और (सुदत्रः) उत्तम दाता है, (येन) जिससे तू (विश्वा वार्याणि) समस्त वरण करने योग्य उत्तम ज्ञानप्रद पदार्थों, अन्नों और ज्ञानियों को, बालकों को, माता के समान (पुष्यसि) पुष्ट करती है। हे सरस्वति ! वेदमातः ! (तम्) उस स्तन

को (इह) इस लोक में या इस गुरुगृह में (धातवे) हमें ज्ञान-रस पान करने के लिये (कः) हमारे प्रति कर । यज्ञ में गायें को दुग्ध इसी मन्त्र से दुहा जाता है ।

[११ (१२)] सरस्वती की उपासना ।

शौनक ऋषिः । सरस्वती देवता । पर्जन्य इति सायणः । त्रिष्टुप् ।

एकर्चं सूक्तम् ।

**यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो देवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम् ।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥१॥**

भा०—हे सरस्वति ! (यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) अति विस्तृत (स्तनयित्नुः) गर्जनशील और जो (ऋष्वः) हिंसा-जनक आघातकारी (देवः) प्रकाशमान (केतुः) ध्वजा के समान विद्युत् और सूर्य (इदम्) इस समस्त (विश्वम्) संसार को (आ-भूषति) सुशोभित करता है, हे देव ! तू उस (विद्युता) विशेष दीप्ति युक्त विद्युत् वज्र से (नः) हमें (मा वधीः) मत मार । (उत) और उससे (सस्यं मा वधीः) हमारे खेत के धान को भी मत मार, और इसी प्रकार (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की तीव्र किरणों से भी हमें न मार और हमारे धान्यों, खेतियों को न मार । पुरुषों को 'सन् स्ट्रोक' न हो और खेती सूख न जाय ।

यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य अग्नेः सारस्वतं रूपम् गो० ३ । ४ ॥ सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् । कौ० १२ । २ ।

[११] १–'रुप्व', इति सायणाभिमतः ।

मेघका गर्जन और विद्युद्विलास यह भी अग्नि का सारस्वत रूप है सरस्वती वज्रका द्वितीय रूप है। राष्ट्र पक्षमें राजा, राजदण्ड, राजव्यवस्था क़ानून आदि सरस्वती वज्र आदि के प्रतिनिधि हैं।

[१२ (१३)] सभा समिति बनाने का उपदेश।

शौनक ऋषिः। सभा देवता। १, २ सरस्वती। ३ इन्द्रः। ४ मन्त्रोक्तं मनो देवता। अनुष्टुप्छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु॥१॥

भा०—(सभा च) सभा जिसमें सब समान हैसियत या पदके होकर विराजें और (समितिः च) और जिसमें समस्त प्रजाएं एकत्र हों अर्थात् एक पदाधिकारियों की सभा दूसरी प्रजाओं के प्रतिनिधियों की समिति ये दोनों (प्रजा-पतेः दुहितरौ) प्रजा के स्वामी राजा की दुहिता कन्या के समान उसकी आज्ञा पालन करने वाली होकर भी अपना हित स्वयं निर्णय करतीं और अपना लाभ सम्पत्ति, भोग यश आदि प्रजापति राजा को ही देती हैं। वे दोनों (सं-विदाने) परस्पर ऐकमत्य करके (मा) मुझ राजा को (अवतां) पालन करें। और हे सभासद् विद्वान् पुरुषो ! मैं (येन) आप लोगों में से जिस किसी से (सम्-गच्छै) मिलकर वार्तालाप करूं या सलाह लूं (सः) वही (मा) मुझको (उप शिक्षात्) मेरे समीप आकर मुझे अपने विभाग का ज्ञान

(तृ० च०) 'येन वदाम उपमा सतिष्ठाऽन्तर्वदामि हृदये जनानाम्।' इति पैप्प सं०। (प्र०) 'चोभे' (द्वि०) 'दुहितरौ सचेतसौ' (तृ० च०) 'या मा न विद्याद् उपमा स तिष्ठेत् सचेतनो भवतु शंसथे जनः।' इति पा० गृ० सू०।

प्राप्त कराये, मुझे सिखावे अथवा मुझे मेरे राज्यकार्य करने में समर्थ करे, मुझे सहायता दे । हे (पितरः) विद्वान् पुरुषो ! राष्ट्र के पालन करने वालो ! आप लोग ही वास्तव में राष्ट्र के पिता हो, आप (संग-तेषु) जब एकत्र हों तो आप लोगों के बीच में (चारु वदानि) मैं उत्तम प्रकार से अपना अभिप्राय प्रकट करूं । आप मित्र भाव से मेरे संग रहें, कुटिल भाव से वर्त्ताव न करें । राजसभा और प्रजा की प्रतिनिधि सभा दोनों के सदस्य राजा को राजकार्य में सहायता करें । उसे राज्य संचालन में समर्थ करें । उसे मार्ग दिखलावें और राजा अपने सब अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रथम सभा के और समितिअधिकारी सभा (State council) और प्रजा-प्रतिनिधि-सभा (Lgislative) के समक्ष रक्खें और उस पर विचार करलें कि राजा के मन्तव्य किस अंश तक प्रजा के लाभकारी और क्रियात्मक हो सकते हैं उनसे क्या हानि सम्भव है । इत्यादि ।

मनु प्रोक्त व्यवरा, परिषत् आदि का मूल यही सभा है । इस स्थल पर मनु की उस व्यवस्था को देख लेना चाहिये । सभाओं और समितियों का वर्णन प्राचीन काल के साहित्य में बहुत है । प्रजाओं के विवाद निर्णयार्थ भी सभा, समिति की रचना आवश्यक है ।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

भा०—(हे सभे) सभास्थ पुरुषो ! आप लोगों की यह सभा है इसके (नाम) नमनशील, दूसरों पर बल डाल कर अपनी बात स्वीकार करा लेने के बल को हम (विद्म) जानें । हे सभे ! सभास्थ पुरुषो ! यह सभा (नरिष्टा नाम वा असि) नरिष्टा या अहिंसिता, कभी भी न दबने वाली है,

२—'वेद वै सभे ते नाम सुभद्रासि सरस्वति अथो ये ते सभासदः सुवाचसः' । इति पैप्प० सं० ।

इस की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता । इसलिए इस सभा के बीच में (ये के च) जो कोई भी—(सभा-सदः) सभासद्, विद्वान् पुरुष विराजमान हैं (ते) वे सब (मे) मुझ, मुख्य सभापति या प्रधान या राजा या राज-प्रतिनिधि के साथ (स-वाचसः) समान वचन, होकर, एक वाणी होकर (सन्तु) रहें । जिससे एक मन होकर बलपूर्वक अपना कार्य करें । सभा एकमत होकर सभापति को अपना वक्तव्य कहे और वह निश्चय बलपूर्वक कार्य में लाया जाय ।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

भा०—(एषाम्) इन (सम्-आसीनानाम्) एकत्र होकर सभा में विराजमान विद्वान् पुरुषों, पदाधिकारियों, एवं प्रजा के प्रतिनिधियों के (वि-ज्ञानम्) विशेष ज्ञान और (वर्चः) बलको (अहम्) मैं उनकी सम्मति लेकर (आ ददे) स्वयं प्राप्त करता हूं । हे (इन्द्र) ऐश्वर्य्यवान् परम राजन् प्रभो! (अस्याः सर्वस्याः) इस समस्त (सं-सदः) सभा के (भगिनम्) ऐश्वर्य का स्वामी (माम्) मुझे (कृणु) बना ।

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

भा०—सभापति या वक्ता सभासदों के प्रति कहे, हे सभासद् महानुभावो ! (वः) आप लोगों का (यद्) जो (मनः) मन (परा-गतम्) कहीं अन्यत्र गया है या (यद्) जो मन (इह वा इह वा) अमुक २ विषय में (बद्धम्) लगा है (वः) आपके (तद्) उस चित्त को मैं (आ वर्तयामसि) पुनः लौटा लेता हूँ, अपनी तरफ खैंचता हूँ, आपका वह (मनः) मन (मयि रमताम्) मेरे ऊपर, मेरी कही बात में लगे । आप मेरे वचनों पर विचार कीजिये ।

[१३ (१४)] शत्रु के दमन की साधना ।

द्विषो वर्चोहर्तुकामोऽथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप् छंदः । द्वृयचं सूक्तम् ।

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्यादुदे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

भा०—शत्रु व्यक्ति चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री वह उनको अपने सामर्थ्य से दबाने के लिए अपनी आत्मा की शक्ति इन विचारों से बढ़ावे। (यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (उद्यन्) उदय होता हुआ (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों, तारों के (तेजांसि) प्रकाशों के (आ ददे) अपने में मिला कर लुप्त कर लेता है। (एवा) उसी प्रकार (द्विषताम्) द्वेष करने-वालों (स्त्रीणाम्) स्त्रियों और द्वेषी (पुंसाम् च) पुरुषों के (वर्चः) तेज को मैं (आ ददे) दबा लूं, अपने में मिलालूं। अपने से अधिक उनको न चमकने देकर स्वयं अधिक उज्ज्वल कीर्त्तिवाला होऊँ।

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

भा०—(स-पत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने आप लोग (मां) मुझ को (आ-यन्तम्) अपने प्रति आते हुए (प्रति-पश्यथ) अपने से प्रतिकूल देख रहे हैं। मैं (सुप्तानां) सोते हुए पुरुषों के तेज को जिस प्रकार (उत्-यन् सूर्यः इव) उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है उसी प्रकार (द्विषतां) द्वेष करने वाले आप लोगों का (वर्चः) तेज, वीर्य, बल, यश प्रताप को (आ ददे) हर लूं। सूर्योदय के बाद तक

[१३] २—'वर्चांसि यवर्तारिव। एवा सपत्नानामहं वर्च इन्द्रियमाददे' इति पैप्प० सं० (द्वि०) 'प्रति पश्यत' इति सायणाभिमतः ।

सोने वाले आलसी पुरुषों का वीर्य, बल, तेज सूर्य ही हर लेता है इसलिये तेजस्वी होने के लिये सूर्योदय के पूर्व ही उठना चाहिये ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र त्रयोदश सूक्तानि ऋचश्चाष्टाविंशतिः ।]

[१४ (१५)] ईश्वर की उपासना ।

अथर्वा ऋषिः । सविता देवता । १, २ अनुष्टुप्छन्दः ३ त्रिष्टुप् ।
चतुॠचं सूक्तम् ।

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

यजु० ४ । ५ । प्र० द्वि० ॥

भा०—मैं (ओण्योः) रक्षा करने वाले माता पिताओं और संसार के रक्षक द्यौः सूर्य और पृथिवी दोनों के (सवितारं) प्रेरक और उत्पादक (कवि-क्रतुम्) क्रान्तदर्शी ज्ञानवाले अथवा क्रान्तदर्शी मेधावी लोगों के परम ज्ञान बलरूप सब की बुद्धियों से पहले सर्वातिशायी ज्ञान से सम्पन्न तथा (सत्य-सवं) सत्य, सत् प्रकृति से उत्पन्न, समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाले (रत्नधाम्) समस्त रमण करने योग्य परम ज्ञान एवं रमणीय जीवन में आनन्दजनक पदार्थों और सूर्य आदि लोकों को धारण पोषण करने वाले (प्रियं) सब के प्रसन्न करने वाले, प्यारे (मतिम्[१]) सब को मानने या मनन करने योग्य (त्यं देवं) उस प्रकाशमय अथवा परम देव की (अभि अर्चामि) सदा उपासना करूं उसे प्राप्त करूं ।

(१४)—"मतिं कविम्" इति यजुः० । (तृ०) 'सत्यसवसं' इति मै० सं० ।

१—सर्वैर्मन्तव्यम् इति सायणः । मननयोग्यमिति महीधरः ।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

यजुः ४ । २५ तृ० च०

भा०—(यस्य) जिस परमदेव की (मतिः) अपरिमित आत्म शक्तिमय (भाः) कान्ति (सवीमनि) उसके चलाये इस जगत् में (ऊर्ध्वा) सब से ऊंची, सब पर अधिष्ठातृ भी होकर (अदिद्युतत्) प्रकाशमान है वह (हिरण्य-पाणिः) सबको प्रकाश देने वाला, या प्रकाशमान पिण्डों, सूर्य आदि लोकों को भी अपने हाथ में रखने वाला (सु-क्रतुः) सब से उत्तम ज्ञानवान्, शिल्पी (कृपात्) अपने सामर्थ्य से ही (स्वः) इस सूर्य स्वरूप नक्षत्र संसार को (अमिमित) बनाता है ।

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै ।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः॥३॥

उत्तरार्धः ऋ० ३ । ५६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (देव) परमात्मन् ! प्रकाशस्वरूप देव ! तू (प्रथमाय) सब से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (पित्रे) पिता, सब के पालक हिरण्यगर्भ अथवा जीवात्मा के लिये ही (सावीः) ये सब पदार्थ उत्पन्न करता है । और (अस्मै) इस जीव के लिये तू ही (वर्ष्माणम्) वर्ण, देह या भोग सामर्थ्य और (अस्मै) इस जीव को तूही (वरिमाणम्) सब पदार्थों से अधिक श्रेष्ठता भी प्रदान करता है । (अथ) इसी प्रकार तू (अस्मभ्यं) हम

२—(च०) 'कृपा स्वः' इति बहुत्र । 'कृपा स्वस्तुपास्त्वंरतिवा' आश्व० श्रौ० सू० ।

३—(प्र०) 'प्रसवाय' (तृ० च०) 'सवितः सर्वताता दिवे दिवे आ' इति तै० ब्रा० । 'विरादेव सवितर्वाणि दिवे दिव आसुव त्रिर्नो अह्नः' इति ऋग्वेदे ।

जीवों के लिये, हे (सवितः) सर्वोत्पादक प्रभो! (वार्याणि) सब अभिलाषा करने योग्य उत्तम पदार्थ और धन और (भूरि) बहुत से (पश्वः) पशुसमूह (दिवः-दिवः) दिनों दिन (आ सुव) प्रदान कर।

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि।
पिबात् सोमं ममदंदेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥४॥

(भा०—(देव) वह प्रकाशमान प्रभु (सविता) सबका प्रेरक और उत्पादक और सर्वैश्वर्यवान्! (वरेण्यः) सब को वरण करने योग्य, सबका प्रिय, (दमूनाः) और सबको उनके अभिलषित पदार्थों को प्रदान करता है। वह ही (पितृभ्यः) देह इन्द्रिय और मन और अपनी प्रजा, गृह आदि के पालन करने वाले जीवों को (रत्नं) उन के रमण करने योग्य कर्म फल, (दक्षं) ज्ञान और (आयूंषि) दीर्घ जीवन (दधात्) प्रदान करता है। (अस्य) इस साक्षात् प्रभु की (धर्मणि) धारण व्यवस्था में रह कर यह जीव (सोमं पिबात्) सोम स्वरूप परमानन्द रसका पान करता है और वह आनन्द रस (एनं) इस जीव को (ममदत्) मत्त कर देता है, अपने में मग्न और मस्त कर लेता है और वह जीव (परि-ज्मा) सर्वत्र गतिमान्, सर्वाप्तकाम सर्वसामर्थ्य हो कर (इष्टं चित्) उस परम पूज्य, इष्ट, उपास्य प्रभु को (क्रमते) प्राप्त करता, उसमें लीन हो जाता है।

[१५ (१६)] ईश्वर की उपासना।

भृगुर्ऋषिः। सविता देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

४—(तृ०) 'सोममममृदक्षेनमिष्टयः' (च०) 'रमते अस्य' (द्वि०) 'दक्ष'—'आयूनि' इति आश्व० श्रौ० सू०।

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥१॥
यजु० १७ । ७४ ॥

भा०—हे (सवितः) सब के उत्पादक, प्रेरक प्रभो! सवितः! (अहम्) मैं (सत्य-सवाम्) सत्यपदार्थों (ज्ञानों) को उत्पन्न करने वाली, (सु-चित्राम्) अति अद्भुत या अति पूजनीय, (विश्व-वाराम्) समस्त संसार की रक्षा करने वाली (तां) उस परम (सु-मतिम्) उत्तम रीति से मनन करने योग्य, दिव्य शक्ति की (आ वृणे) साक्षात् स्तुति करता हूं (अस्य) इसकी (याम्) जिस (सहस्रधाराम्) सहस्रों, लोकों या समस्त विश्व को धारण करने वाली (प्रपीनां) अति पुष्ट गौ के समान आनन्द रस का पान करने वाली, हृष्ट पुष्ट शक्ति को (भगाय) अपने ऐश्वर्यशील आत्म सम्पत् को प्राप्त करने के लिए (महिषः) महा (कण्वः) ज्ञानी पुरुष (अदुहत्) प्राप्त करता है ।

[१६ (१७)] सौभाग्य की प्रार्थना ।

भृगुर्ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।
संशितं चित् सन्तरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥१॥
यजु० २७ । ८ ॥

---

[१५] १—(प्र०) 'तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रम्' (द्वि०) 'विश्वजन्यम्' (च०) 'पयसा महीम् गाम्' इति बहुत्र । (प्र०) 'सत्य सवस्य चित्राम्' (द्वि०) 'वयं देवस्य प्रसवे मनामहे' (तृ०) 'प्रपाणाम्' इति पैप्प० सं० ।

[१६] १—(प्र० द्वि०) 'बोधयैनं' ज्योतैनं इति बहुत्र 'द्योतयेति' सायणाभिमतः (तृ०) 'सन्तराम्' इति यजु० ।

भा०—हे (बृहस्पते) बृहती=वेदवाणी और बृहत्=विशाल लोकों के स्वामिन् ! (सवितः) सर्वोत्पादक परमेश्वर एवं आचार्य (एनं) इस व्रती ब्रह्मचारी पुरुष की आत्मा को (वर्धय) बढ़ा, शक्तिशाली बना, और (एनं) इस आत्मा को (महते) बड़े (सौभगाय) सौभाग्य, आत्मसम्पत्ति और विद्यासम्पत् प्राप्त करने के लिये (ज्योतय) ज्ञान से प्रकाशित कर । और (संशितं) अच्छी प्रकार तपस्या से सम्पन्न इस ब्रह्मचारी तपस्वी पुरुष को (सं-तरं चित) खूब ही अच्छी प्रकार (सं-शिशाधि) शासन कर, शिक्षा दे । जिससे (विश्वे) समस्त (देवाः) ज्ञानी, विद्वान् पुरुष (एनम्) इस विद्वान् ब्रह्मचारी को देख कर (अनु मदन्तु) इसकी सफलता पर प्रसन्न हों । राजा अपने राष्ट्र में विद्वानों को इस प्रकार का आदेश करे । पिता आचार्य पुत्र के लिये प्रार्थना करे । आचार्य अपने शिष्य और यजमान के लिये ईश्वर से इसी प्रकार की प्रार्थना करे । मनु ने लिखा है—'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः ।' इस प्रकार यह मन्त्र उभय-पक्ष में लगता है ।

[१७ (१८)] ईश्वर से ऐश्वर्य की प्रार्थना ।

भृगुर्ऋषिः । धाता सविता देवता । १ त्रिपदा आर्षी गायत्री । २ अनुष्टुप् । ३, ४ त्रिष्टुभौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

धाता द॑धातु नो र॒यिमीशा॑नो॒ जग॑त॒स्पतिः॑ ।
स नः॑ पू॒र्णेन॑ यच्छतु ॥ १ ॥

भा०—(धाता) सब का धारण और पोषण करनेवाला, (जगतः पतिः) समस्त जगत् का पालक, (ईशानः) सब का स्वामी, ईश्वर (नः) हमें (रयिम्) ऐश्वर्य, यश और बल (दधातु) प्रदान करे । और (सः)

[१७] १—(प्र०) 'ददातु' (च०) 'पूर्णेन वावनत्' इति तै० सं० ।

वह (नः) हमें (पूर्णेन) हमारी पूर्ण शक्ति और साधना के अनुसार (यच्छतु) हमें बल और धन प्रदान करे । ईश्वर हमें जितना हम प्राप्त कर सकें, रख सकें, उतना हमें दे ।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

भा०—(धाता) सब का धारणकर्त्ता, पालक, पोषक प्रभु (दाशुषे) अपने को समर्पण करने वाले अथवा सब को दान करनेवाले जीव के लिये (प्राचीम्) अति उत्तम रीति से प्राप्त होनेवाली (अक्षिताम्) अक्षय (जीवातुम्) जीवन शक्ति को (दधातु) दे । (वयं) हम (विश्व-राधसः) समस्त धनों के स्वामी (देवस्य) प्रकाशस्वरूप, प्रभु देव की (सुमतिम्) उत्तम मनन करने योग्य रूप शक्ति का (धीमहि) ध्यान करते हैं ।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥३॥

भा०—(धाता) पोषक पालक प्रभु (प्रजा-कामाय दाशुषे) प्रजा की अभिलाषा करने वाले दानी गृहपति को (दुरोणे) उसके घर में (विश्वा वार्या) समस्त प्राप्त करने योग्य आवश्यक धान धान्य आदि पदार्थों को (दधातु) प्रदान करे । (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और (स-जोषाः) प्रेम से युक्त स्नेही (अदितिः) अखण्ड शक्तिशाली, माता

२—(प्र०) 'धाता ददातु नोरयिम्' तै० सं०, मै० सं० । (द्वि०) 'अदितिम्' गो० गृ० सू० । 'सत्यराधसम्' इति तै० सं० । 'सत्यधर्मणः' इति मै० सं० । 'वाजिनीवतः' आ० श्रौ० सू० ।

३—'धाता ददातु दाशुषे वसूनि' (द्वि०) 'मीढुषे दुरोणे' (तृ०) 'अमृता सं व्ययन्ताम्' (च) 'देवासः' इति तै० सं० मै० सं० (तृ०) तस्मा, प्रजाममृतः संवयन्तु । इति पैप्प० सं० ।

या अदितिः सूर्य ये सब (देवाः) प्रकाशमान लोक (तस्मै) उसके लिये (अमृतं) अमृत, आत्म-शक्ति, जीवन-शक्ति का (सं व्ययन्तु) दान करें।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥
यजु० ८। १७ ॥

भा०—(धाता) सब का स्रष्टा धारक और पालक (रातिः) सब श्रेय कल्याणकारी पदार्थों और ज्ञान और बल का देने वाला और वही (सविता) सब का प्रेरक सब का आज्ञापक है। वही (प्रजा-पतिः) प्रजा का पालक (निधि-पतिः) ज्ञान के निधि, भण्डार और धनों के भण्डारों का स्वामी और (अग्निः) प्रकाशस्वरूप है। उसीके भिन्न २ गुणों और कर्त्तव्यों का पालन करने वाले अधिकारिवर्ग भी राष्ट्र में धाता, राति दानाध्यक्ष, सविता। प्रजापति, निधिपति और अग्नि आदि पदाधिकारी नियत हों, वे अपने को राजा का स्वरूप जानकर (नः) हमारी (इदं) इस प्रजाधन को ईश्वर के समान (जुषन्तां) प्रेम से रक्षा करें, (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर के समान राज्य का कर्त्ता धर्ता (त्वष्टा) राजा (प्र-जया) अपनी प्रजा के साथ (सं-रराणः) आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ (यजमानाय) ईश्वर के उपासक, प्रजा के दाता, और शुभ कर्म के कर्त्ता उत्तम पुरुष को (द्रविणं दधातु) सब प्रकार द्रव्य रखने की शक्ति दे। उसके द्रव्य की रक्षा करे, उसको द्रव्य सौंपे।

इन मन्त्रों के आधार पर राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि स्मृतिकारों ने कहा है। जिस प्रकार ईश्वर के निमित्त त्याग करने और उसकी पूजा

४—(द्वि०) 'निधिपादेवोऽग्निः'। इति यजुः। 'वरुणो मित्रो अग्निः' (तृ०) 'विष्णुस्त्वष्टा' इति मै० सं० (तृ०) 'रराणः' (च०) 'दधात्' इति यजुः।

करने वाला यजमान है इसी प्रकार राजा के निमित्त कर देने वाला उसको अपना राजा मान कर आदर दिखानेवाला प्रत्येक प्रजा का पुरुष यजमान है । राजा उसके धन की रक्षा करे ।

[१८ (१९)] अन्न की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । पृथिवी पर्जन्यश्च देवते । १ चतुष्पाद् भुरिगुष्णिक् । २ त्रिष्टुप् । द्वयृचं सूक्तम् ।

प्र नंभस्व पृथिवी भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः ।
उद्नः दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवी मातः! तू (प्र नभस्व) खूब अच्छी रीति से हल आदि साधनों से खण्डित की जावे । हे (धातः) ईश्वर । (ईशानः) तू सामर्थ्यवान् विद्युत रूप होकर (इदं) इस (दिव्यम्) दिव्य गुणवाले (नभः) मेघ को (भिन्धि) खण्डित कर और (दिव्यस्य) दिव्य (उद्नः) जल के (दृतिम्) भरे बड़े भारी कुप्पे को (वि ष्य) नाना दिशाओं मे काट डाले ।

---

[१८] १-(प्र) 'उन्नमय पृथिवीम्' (च) 'त्रिष्या बिलम्' (तृ) उभो इति पैप्प० सं० । 'भिन्धिद:' इति मै० सं० (तृ०) 'उद्नः' इति मै० सं० तै० सं० । 'देहांशानो' 'विसृजा' इति तै० सं० ।

ऊभो दिव्यस्य इति अजमेरमुद्रितः पाठः । उद्न इति निर्णयसागरीयः पाठः पदपाठसम्मतश्च । सायणाभिमतः 'उद्नः' इति पाठः । 'उत्नो' 'उन्नो', 'ऊत्वो', इति कतिपय हस्तलिपिगताः पाठाः । 'ऊभो' इति ग्रीफिथः ।

'धातः । ईशान ।' इति सायणाभिमतः पदच्छेदस्तदनुसारं च 'धात देहि प्रयच्छेति' अर्थोल्लेखः ।

ईशान यह रुद्र के आठ रूपों में से एक रूप है जिसको 'विद्युत्' कहा जाता है।

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम् ॥२॥

भा०—(घ्रन्) घाम या ग्रीष्मकाल का प्रचण्ड सूर्य, (न ताप) भूमि को जब अधिक न तपा रहा हो और जब (हिमः) हिम, पाला, अति शीत भी (न जघान) पीड़ित न करे तब (पृथिवी) यह पृथिवी क्षेत्रभूमि (जीरदानुः) जीवनप्रद, अन्न का प्रदान करने योग्य होकर (प्रनभताम्) अच्छी रूप से तैयार की जाय और तभी (आपः) जल-धाराएं (चित्) भी (अस्मै) इस भूमिपति या क्षेत्रपाल को (घृतम्) घी या आयु और बलप्रद अन्न ही मानो (क्षरन्ति) बहाते हैं। ठीक भी है क्योंकि (यत्र) जहां (सोमः) सोम, जल वर्षाने वाला मेघ बरसता है (तत्र) वहां (सदम् इत्) सदा ही (भद्रम्) सुख, कल्याण और सुभिक्ष रहा करता है।

[१९ (२०)] प्रजापति से पुष्टि की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः।
सं जानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥१॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक परमेश्वर (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को (जनयति) प्रथम उत्पन्न करता है और फिर (सुमनस्य-

२—(द्वि०) 'प्र सदस्यते' (तृ०) "अस्मै सदम्' इति पैप्प० सं०।

[१९] १—(प्र०) 'आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः'(तृ०) संवत्सर ऋतुभिः संविदानः इति मै० सं०। (तृ०) 'सयोनीः' इति द्वितिकामितः।

मनः) उन सबके प्रति उत्तम कल्याणमय चित्त होकर वही प्रजापति उनका (धाता) धारण और पोषण करने वाला होकर (इमाः) इन प्रजाओं को (दधातु) पुष्ट करता है और (स-योनयः) एक ही मूल-स्थान, योनिस्थान, गर्भाशय में उत्पन्न होने वाली प्रजाएं (सं-जानानः) समान ज्ञान और (स-मनसः) एक ही चित्त वाली होती हैं । (पुष्ट-पतिः) पोषण क्रिया का स्वामी परमेश्वर (मयि) मुझमें (पुष्टं) पुष्टि (दधातु) दे । राष्ट्रपक्ष में—प्रजापति=गृहस्थ प्रजाओं को उत्पन्न करे उनको, धाता पालक दुग्धादि से पोषण करे, और वे प्रजाएं (सयोनयः) एक ही विद्यायोनि, गुरु के पास रहकर समानज्ञान और समानचित्त होकर रहें और (पुष्ट-पतिः) पोषणकर्त्ता अन्नादि पोषण द्रव्यों का अधिष्ठाता (मयि) मुझमें (पुष्टं) पुष्टि (दधातु) प्रदान करे ।

[२० (२१)] 'अनुमति' नाम सभा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । अनुमतिर्देवता । १,२ अनुष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् । ४ भुरिक् । ५,६ अतिशक्करगर्भा अनुष्टुप् । षडर्चं सूक्तम् ॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥

यजु० ३४ । ९ ॥

भा०—(अद्य) अब, वर्त्तमान काल में, सदा (नः) हमारी (अनु-मतिः) एक दूसरे के अनुकूल हित साधना की मति, या सभे ! (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में हमारे (यज्ञं) परस्पर संगति और सत्कर्म अनुष्ठान आदि कार्य की (अनुमन्यताम्) सदा आज्ञा दे । इस प्रकार

[२०] १–(द्वि०) 'मन्यन्ताम्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'भवतं', 'दाशुषेमयः' मै० ब्रा० । 'दाशुषः' इति ह्विटनिकामितः ।

परस्पर के हित चिन्तन करने वाली संस्था और (हव्य-वाहनः) ग्रहण करने योग्य विचारों को हम तक पहुँचाने वाला, (अग्निः च) अग्नि=हमारा अग्रणी, ज्ञानवान् नेता ये दोनों (मम) मेरे (दाशुषे) दानशील समाज-व्यवस्था के अनुकूल अपना भाग देने वाले पुरुष के लिये (भवताम्) उसको उपयोगी, हितकर पदार्थ प्राप्त कराने वाली होवे ।

अन्विदंमनुमते त्वं मंसंसे शं च नस्कृधि ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

यजु० ३४ । ६ ॥

भा०—हे (अनु-मते) अनुज्ञा करनेहारी सभे ! (त्वम्) तू (इदम्) इस सब कार्य-व्यवस्था को (अनु मंससे) समाज की व्यवस्था और हित के अनुकूल विचार करती है । और (नः) हमारे लिये (शं च कृधि) कल्याण और सुखदायि कार्यों को करती है । हे (देवि) विद्वानों से बनी सभे ! (आ-हुतं) हमारे दिये (हव्यम्) धन और अन्न आदि पदार्थ को (जुषस्व) तू प्रेमपूर्वक स्वीकार कर और (नः) हमें (प्रजां) उत्तम सत् प्रजा का (ररास्व) प्रदान कर । इयं वा अनुमतिः, स यत्कर्म शक्नोति कर्त्तुम् यच्चिकीर्षति इयं हास्मै तदनुमन्यते । श० ५ । २ । ३ । ४ ॥ इयं वा अनुमतिः । इयमेवास्मै राज्यमनुमन्यते । तै० १ । ६ । १ । ४—५ ॥

जो आदमी जिस प्रकार का काम करने में समर्थ हो या जो कोई जिस काम को करना चाहता है । यह प्रतिनिधि सभा (पृथिवी) या लोकसभा उसकी अनुमति [अनुज्ञा=मंजूरी] देती है । 'अनुमति'

२—(प्र०) 'त्वंमन्यासै' इति यजु० । (त० च०) ईशस्तोकाय नो दधत् प्रण आयूंषि तारिषत् । इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'मंसिसे' इति सायणाभिमतः । (तृ०) 'क्रत्वे दक्षाय नः कृधि' इति यजु० ।

नामक लोक सभा ही इस राजा को राज्य के अधिकार प्रदान करती है। अनुमती राकेति देवपत्न्यौ इति नैरुक्ताः। अनुमतिरनुमननात्। निरु० दैवत० ५। ३। ८॥ देवों, विद्वानों को अपने में पालन करनेवाली सभा अनुमति और राका कहाती है। इसी निरुक्ति से, स्त्री भी 'अनुमति' और 'राका' कही जाती है। पुरुष अपने सब घर के कार्य अपनी स्त्री की अनुमति से करे। उसके पक्ष में—हे अनुमते स्त्रि! तू हमें इन सब गृह कार्य में अनुमति दे और हमें सुख शान्ति प्रदान कर। हम पुरुषों के प्रदान किये धन अन्न वस्त्र आदि को स्वीकार कर और हे देवि! उत्तम प्रजा को उत्पन्न कर। वेद की दृष्टि में देह, गृह, समाज, और राज्य और समस्त जगत् पांचों की रचना, कार्य और प्रबन्ध समान रूप से होनी उचित है। उन सबकी रचना के सिद्धान्तों का वर्णन भी समान शब्दों में वेद ने किया है।

अनु॑ मन्यतामनु॒मन्य॑मानः प्र॒जाव॑न्तं र॒यिमक्षी॑यमाणम्।
तस्य॑ व॒यं हेड॑सि॒ मापि॑ भूम सुमृडी॒के अ॑स्य सुम॒तौ स्या॑म॥३॥

भा०—जो (अनु-मन्यमानः) सब को अनुमति देने वाला पुरुष अधिकारी है वह हमें (अक्षीयमाणम्) कभी न नष्ट होने वाले, (प्रजा-वन्तम्) प्रजा से युक्त (रयिम्) धन, बल को प्राप्त करने के लिये (अनु=मन्यताम्) सदा अनुमति दिया करे, इस से विपरीत नहीं। (तस्य) उस पुरुष के (हेडसि) क्रोध के पात्र (वयं) हम प्रजा या स्त्रीजन (मा अपिभूम) कभी न हों (अस्य) उस के (सु-मृडीके) सुखकर कार्य और (सु-मतौ) उत्तम मति के अनुकूल (स्याम) रहें। पूर्व मन्त्रों में 'अनुमति

३—(प्र०) "अनुमन्यमाना" (तृ०) 'तस्यै' इति सायणाभिमतः। 'मानाः' 'तस्या' इति पैप्प० सं०। (च०) 'सा नो देवी सुहवा शर्म यच्छतु' इति तै० सं०।

देवि' अर्थात् अनुज्ञापक सभा और स्त्री का वर्णन है इस मन्त्र में अनुज्ञापक अधिष्ठाता सभापति और गृहस्थ के पति पुरुष का वर्णन है। यजुर्वेद (३८ । ८, ९) में इसी पुमान् विद्वान् सभापति का वर्णन किया गया है (देखो महर्षि दयानन्द कृत यजुर्भाष्य) सायण के मत में इस मन्त्र में अनुमति कोई पुंदेवता है। फलतः पति पत्नी के कर्तव्य-निर्देश में स्त्री भी अपने आज्ञाकारी पति से प्रजा के हितकारी धन को प्राप्त करे और उस के क्रोध का पात्र न होकर उस की सुख-कर शुभ आज्ञा में रहा करे।

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥४॥

भा०—उत्तम पत्नी से उत्तम सन्तान प्राप्त करने का उपदेश है। हे (सु-प्रनीते) उत्तम रीति से गृहस्थकार्य में प्रवृत्त (अनु-मते) पति के अनुकूल चित्तवाली स्त्रि ! (यत्) क्योंकि (ते) तेरा (नाम) नाम और रूप (अनु-मतम्) अनुकूल रूप से अभिमत, (सु-दानु) उत्तम भाव प्रदान करनेवाला और (सु-हवम्) शुभ रूप से पुकारने योग्य है अथवा शुभ भाव उत्पन्न करने वाला है। हे (विश्व-वारे) समस्त लोकों से वरण करने योग्य शुभांगि ! (तेन) उस अपने शुभ रूप से (नः) हमारे (यज्ञम्) शुभ, गृहस्थ यज्ञ को (पिपृहि) पूर्ण कर और (नः) हमें, हे (सु-भगे) सौभाग्यवति ! (सु-वीरम्) उत्तम, वीर पुत्र सहित (रयिम्) यश और बल (धेहि) प्रदान कर।

स्त्रियों के शुभ नाम रखने चाहियें, वह गृहस्थ के सब कार्य पूरा करें और उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। राष्ट्रपक्ष में—अनुमति सभा, उत्तम

४-(द्वि०) 'सुदावः' (तृ० च०) तेन त्वं सुमतिं देव्यस्म इषं पिन्व विश्ववारं सुवीरम्' । 'इति पैप्प० सं०' ।

रीति से बनायी जाये, उस के उद्देश्य उत्तम और नाम उत्तम हो, यज्ञ=जिसमें सब एकत्र हो उस के सब कार्यों को पूर्ण करें और वीर विद्वान् और यश को बढ़ावें।

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्।
भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥ ५ ॥

भा०—पुनः पत्नी का ही वर्णन करते हैं। (इमम् यज्ञम्) इस गृहस्थरूप यज्ञ को जिस में पति और पत्नी प्रेम से संगत होते हैं उस को (अनु-मतिः) अनुकूल चित्तवाली स्त्री (सु-क्षेत्रतायै) अपने उत्तम क्षेत्र को सफल करने के लिये और (सु-वीरतायै) उत्तम पुत्र उत्पन्न करने के लिये (आ जगाम) प्राप्त हो। तभी (सु-जातम्) यह यज्ञ उत्तम रीति से सुसम्पन्न होता है। (अस्याः) इस स्त्री की (वह) गृहस्थ के सम्पादन करने का (प्र-मतिः) श्रेष्ठ विचार (हि) निश्चय से (भद्रा बभूव) बड़ा कल्याणकारी होता है। (आ) वह स्त्री अवश्य (इमम्) इस (यज्ञम्) गृहस्थ रूप श्रेष्ठ यज्ञ की (देवगोपा) विद्वानों और राजगणों से सुरक्षित रह कर (अवतु) रक्षा करे। राष्ट्रपक्ष में—सभा और राजा और राष्ट्र के अधिकारी कार्यकर्त्ताओं के लिये क्षेत्र तय्यार करें और उत्तम वीर कार्यकर्त्ता तैयार करे, उत्तम कल्याणकारी विचार और कार्य करने की स्कीम तय्यार करें और यज्ञ=राष्ट्र की रक्षा करे।

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः ॥ ६ ॥

५–(प्र० द्वि०) 'आ नो देव्यनुमतिर्जगम्यात् सुक्षत्रा विरताया सुजाता' (च०) स इमं यज्ञं भवतु नेवजुष्टा [यज्ञमवतु देवजुष्टम्] इति पैप्प० सं० 'सुक्षेत्रसुवीरतायै सु जाता' इति लैन्मनकामितः।
'अनुमतिर्विश्वमिदं जजान' (द्वि०) 'यदेजति चरति यच्च तिष्ठति' इति पैप्प० सं०।

भा०—इस ईश्वरीय विराट् अनुमति का स्वरूप दर्शाते हैं—(यत्) जो (तिष्ठति) स्थिर रूप से विद्यमान है। (चरति) जो चल रहा है, गति कर रहा है, (यद् उ च विश्वम् एजति) और जो भी इस समस्त संसार को चला रहा है, (सर्वम् इदम्) यह सब (अनु-मतिः बभूव) 'अनुमति' ही है। उसी की आज्ञा से चलता है और खड़ा है। हे (देवि) दिव्य प्रकाश और गतिदायक शक्ति ! (तस्याः ते) उस तेरी (सु-मतौ) शुभ, कल्याणकारी उत्तम गति, ज्ञान, में हम (स्याम) रहें। हे (अनुमते) सबकी आज्ञापक ! (नः) हमें भी तू ही (अनु मंससे) सब कार्य करने की आज्ञा देती है।

[२१ (२२)] प्रभु की उपासना।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । शक्वरीविराड्गर्भा जगती । एकर्चं सूक्तम् ॥

स॒मेत॒ विश्वे॒ वच॑सा॒ पतिं॑ दि॒व एको॑ वि॒भूरति॑थि॒र्जना॑नाम् ।
स पू॒र्व्यो नू॒तन॑मा॒विवा॑स॒त् तं व॑र्त॒निरनु॑ वावृत॒ एक॒मित् पु॒रु ॥१॥

भा०—हे लोगो ! (विश्वे) आप सब लोग (दिवः) समस्त प्रकाश और इस महान् द्यौलोक के (पतिं) परिपालक उस प्रभु के पास (वचसा) वाणी द्वारा (सम्-एत) एकत्र होकर शरण में आओ। वह (एकः) एक है, (जनानाम्) समस्त जीवों और प्राणियों में (अतिथिः) व्यापक उनका अतिथि के समान पूजनीय है। (सः) वह सब से (पूर्व्यः) पूर्व विद्यमान, सब का पितामह, उत्पादक पुराण, आदि कारण (नूतनम्) अपने से उत्पन्न कार्यरूप जगत् को (आ-

[२१] १–'समेत विश्वा ओजसा' (द्वि०) 'य एकइद् भूरति–' (तृ०) नूतनम् जीगिषम्' (च०) 'वर्त्तनीर–' । पुरु इति पदं नास्ति साम० ।

विवासत्) प्रकट करता और उसको व्याप्त करता है (तम्) उस (एकम्) एकमात्र आदिकारण को ही (पुरु) नाना प्रकार के (वर्त्तनिः) मार्ग या लोक (अनुवावृते) पहुँचते हैं।

[२२ (२३)] ज्ञानदाता ईश्वर ।

ब्रह्मा ऋषिः । मन्त्रोक्तो ब्रध्नो देवता । १ द्विपदैकावसाना विराड् गायत्री । २ त्रिपाद् अनुष्टुप् । द्वयृचं सूक्तम् ।

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥

साम० १ । ४५८ ॥

भा०—(अयं) यह परमेश्वर (सहस्रम्) सहस्र=बलवान्, सर्व शक्तिमान्, (मतिः) मननयोग्य, मति, विचार=ज्ञानस्वरूप, (विधर्मणि ज्योतिः) नाना प्रकार के या विशेष धर्म=आत्मा में ज्योतिरूप से प्रकाशमान होकर (नः) हमें (कवीनां) क्रान्तदर्शी ऋषियों को (दृशे आ) साक्षात् होता है, उनको ज्ञान प्रदान करता है।

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन् ।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥२॥

भा०—सूर्य जिस प्रकार अपनी प्रातःकालीन स्वच्छ, उत्तम कान्तियुक्त दिन को प्रकाशित करनेवाली उषाओं को प्रतिदिन प्रेरित करता है उसी प्रकार आत्मा भी अपनी दीप्तियुक्त, निष्पाप, ज्ञानमय, दीप्तियुक्त ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं को प्रेरित करता है। जिस प्रकार (ब्रध्नः) सूर्य (अरेपसः) मल, दोष से रहित, (स-चेतसः) ज्ञानसहित, सदृश, मनोहर (स्व-सरे

[२२] १–(प्र०) 'आन्वोदृशः' (च०) 'विधर्म' इति साम० । 'आनोऋषिः कवीनामादीतिह ।' इति पैप्प० सं० ।
२–'मन्युमन्ताश्चितागोः' इति साम० ।

मन्युमत्-तमाः) दिन के समय अति प्रकाशमय (समीचीः) उत्तम,सुहावनी (उपसः) उषाओं को (गोः चिते) जंगम, पृथिवी के पदार्थ दर्शाने के लिये (सम् एरयन्) उत्तमरीति से प्रकट करता है उसी प्रकार (अन्नः) प्राण, इन्द्रिय और मन को एकत्र बांधने वाला ध्यानबद्ध योगी, (गोः चिते) सर्वप्रेरक, परम प्रभु के दर्शन के लिये (स्व-सरे मन्युमत्-तमाः) अपने में व्यापक प्रभु में अति मननशील (अरेपसः) पाप, मल, विक्षेप से रहित (स-चेतसः) ज्ञान और चितिशक्ति से सम्पन्न, (समीची) उत्तम रीति से आत्मा को प्राप्त होनेवाली (उपसः) पाप या तामस आवरण को जला देने वाली, विशोढका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं को (सम् ऐरयन्) उत्तम रीति से प्रेरित करता है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि नव, ऋचश्च द्वाविंशतिः]

[२३ (२४)] बुरे विचार और बुरे आचार का त्याग ।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥१॥

अथर्व० ४ । १७ । ५ ॥

भा०—हम (दौः-स्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों का आना (दौः-जीवित्यं) दुःख से जीवन का बीतना, जीवन में बुरे भाव, बुरे आचार और हीनता का होना, और (रक्षः) धर्म-कार्य में विघ्नों का होना, तथा (अभ्वम्) जीवन काल में सामर्थ्य का न रहना और (अराय्यः) समृद्धि सम्पत्ति, और उत्तम गुणों रहित दुष्टवृत्तियां और (दुः-नाम्नीः) बुरे व निन्दित

नाम वाली और (दुः-वाचः) दुष्ट वाणी बोलने वाली सब हीन मानस वृत्तियों को हम (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) दूर करें ।

इसकी व्याख्या (४।१७।५) में भी कर आये हैं । वहां इस ऋचा का शुक्र ऋषि और अपामार्ग देवता है ।

[२४ (२५)] सर्वप्रद प्रभु ।

ब्रह्मा ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्च सूक्तम् ॥

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥१॥

भा०—(यत्) जो फल, (नः) हमें (इन्द्रः) इन्द्र, राजा, (अग्निः) ज्ञानवान् राजा का भी अग्रणी, पुरोहित आचार्य, (विश्वे देवाः) राष्ट्र के और समस्त शक्तिधारी, विद्वान् अधिकारी (मरुतः) मरुद्गण, वेगवान् सुभट, वीर पुरुष और (सु-अर्काः) उत्तम ज्ञानी, प्रकाशवान् शक्तिमान् वैज्ञानिक लोग (अखनत्) खोद कर गुप्त २ स्थान से ला ला कर हमें देते हैं (तत्) उस वस्तु को वास्तव में हमें (सत्य-धर्मा) सत्य का धारण करने वाला (प्रजा-पतिः) सब प्रजा का परिपालक स्वामी, (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (अनु-मतिः) सब का अनुज्ञापक प्रभु ही (नि यच्छात्) दिया करता है ।

[२५ (२६)] विष्णु और वरुण रूप परमेश्वर का सबसे पूर्व स्मरण ।

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्वरुणश्च देवते । १, २ त्रिष्टुभौ द्वयृचं सूक्तम् ॥

[२४] १—(प्र०) 'असनत्' इति सायणाभिमतः । 'अषनत्' इति क्वचित् ।

यथोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यै/र्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥१॥

यजु० ८ । ५६ ॥

भा०—(यथोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक (स्कभिता) थमे हुए अपने अपने स्थान स्थिर हैं और (यौ) जो दोनों (शविष्ठा) अति बलवान् और (वीर्यैः) नाना बलों से (वीर-तमा) सब में अधिक वीर, वीर्यवान्, सब के प्रेरक हैं, और (यौ) जो दोनों (सहोभिः) अपने दूसरों को दमन करने वाले बलों से (अप्रतीतौ=अप्रति-इतौ) इतने बढ़े हुए हैं कि उनके बराबरी कोई नहीं कर सकता इसीलिये वे ही (पत्येते) समस्त संसार के पालक स्वामी के समान ईश्वर बने हुए हैं उन दोनों (विष्णुम्) विष्णु और (वरुणम्) वरुण को (पूर्वहुतिः अगन्) हमारी सब से प्रथम पुकार स्मरण या नाम कीर्त्तन पहुँचे । अर्थात् सब से प्रथम हम उन दोनों शक्तियों का स्मरण करें ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्रचानति वि च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

भा०—उक्त दोनों शक्तियों को और अधिक स्पष्ट करते हैं । इस विशाल संसार में (यस्य प्र-दिशि) जिसके शासन में (इदं) यह समस्त विश्व (वि-रोचते) नाना प्रकार से शोभा पा रहा है (प्र अनति च) और उत्तम रूप से प्राण धारण करता है, जीवित रहता है और (शचीभिः च विचष्टे) नाना शक्तियों से प्रेरित होकर नाना प्रकार के पदार्थों को

[२५] १–(द्वि०) 'वीरेभिः' (तृ०) 'या', 'अप्रर्तीता' इति मै० सं० । (द्वि०) 'शविष्ठा', 'अप्रतीत्ता' इति तै० ब्रा० । (प्र०) 'स्तभिता' (द्वि०) शचीभिः' इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) 'ययोर्महो ऋतस्य धर्मणा युवाना' । इति पैप्प० सं० ।

देखता, पाता, अनुभव करता है । और जिस (देवस्य) सर्व प्रकाशक, सर्व शक्ति के प्रदाता, प्रभु परमात्मा के (धर्मणा) धारक बल और (सहोभिः) दमनकारी बलों से (पुरा) पूर्व कल्पों में भी यह जगत् उसके शासन में रहा, प्राण लेता रहा, और नाना शक्तियों से नाना फल प्राप्त करता रहा वह शक्ति विष्णु और वरुण हैं ये । दोनों उसी के नाम हैं । उस (विष्णुम् वरुणम्) व्यापक और कष्टनिवारक प्रभु को (पूर्व-हूतिः) सब से प्रथम हमारा स्मरण, नाम ग्रहण (अगन्) प्राप्त हो ।

[२६ (२७)] व्यापक प्रभु की स्तुति ।

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । १ त्रिष्टुप् । २ त्रिपदा विराड् गायत्री । ३ त्र्यवसाना षट्पदा विराट् शक्वरी । ४–७ गायत्र्यः । ८ त्रिष्टुप् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

विष्णोर्नु कं प्रा वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यः पार्थि॑वानि वि॒ममे॒ रजां॑सि ।
यो अस्क॑भाय॒दुत्त॑रं स॒धस्थं॑ विचक्रमा॒णस्त्रे॒धोरु॑गा॒यः ॥१॥

यजु० ५ । १८ ॥ ऋ० १ । १५४ । १ ॥

भा०—(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) बल, शक्ति पूर्वक किये विशाल कार्यों को (नु कम्) शीघ्र ही, यथाशक्ति (प्र वोचम्) उत्तम रूपसे विस्तार से कहूं (यः) जो प्रभु (पार्थिवानि) पृथिवी=तीनों लोकों में विदित या तीनों लोकों के घटक (रजांसि) प्रकृति के रजोगुण से युक्त क्रियावान्, दीप्तिमान् सूर्य आदि गतिमान् लोकों को (वि-ममे) नाना प्रकार से बनाता है और (यः) जो (उत्तरम्) उससे भी उत्कृष्ट या उससे पूर्व विद्यमान (सधस्थम्) उन लोकों के साथ नित्य सम्बन्ध से

[२६] १–यजुषि ऋग्वेदे च औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । (प्र०) 'वीर्याणि प्रवोचं' इति ऋ० ।

रहने वाले, कारणरूप प्रकृति तत्त्व को या द्यौलोक को (त्रेधा) तीन प्रकार के तीन गुणों द्वारा (वि-चक्रमाणः) व्यापक होकर (अस्कभायत्) वश किये हुए है। वही परमात्मा (उरुगायः) सब बड़े २ महात्माओं से गाया जाता है या वही वेद द्वारा बहुत से पदार्थों का ज्ञानोपदेश करता है।

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥२॥ यजु० ५ । २० प्र० द्वि० ॥
ऋ० १ । १५४ । २ प्र० द्वि० ॥

भा०—(तत्) उस अलौकिक परमब्रह्म के ही (वीर्याणि) शक्तिशाली कार्यों को देख कर (विष्णुः) उस व्यापक परमेश्वर की (स्तवते) स्तुति की जाती है। वही (भीमः मृगः न) भयानक सिंह के समान (कुचरः) सर्वव्यापक और (गिरिष्ठः) सब वेदवाणियों में विराजमान है। वह (परस्याः परावतः) दूर से दूर देश में विद्यमान हो कर भी वहां से हमारे हृदयों में (आ जगम्यात्) अति समीप ही विराजता है।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥
(प्र०—च०) यजुः ५ । १६ । ऋ० १ । १५४ । १ ॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर के (उरुषु) विशाल (त्रिषु) तीनों (विक्रमणेषु) विक्रमों में या नाना प्रकार के क्रमों, सर्गों वाले तीनों प्रकार के जगतों में, ईश्वर के पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों प्रकार की रचनाओं में (विश्वा) समस्त (भुवना) लोक (अधि-क्षियन्ति) निवास करते हैं। हे (विष्णो) व्यापक परमेश्वर! आप (उरु) विशाल जगत् में (वि क्रमस्व) नाना प्रकार से व्यापक हो रहे हो, आप (नः)

२-(प्र०) 'वीर्येण' इति ऋ०।

हम जीवों के (क्षयाय) निवास के लिये ही (उरु) इन विशाल लोकों की (कृधि) रचना करते हो। हे (घृत-योने) समस्त क्षरणशील इस संसार के उत्पत्तिस्थान, आश्रय और आदिकारण अथवा घृत=तेजोमय सूर्यादि लोकों के आश्रय आप (घृतम्) इस समस्त तेजोराशि अथवा इस क्षरणशील विश्व संसार को (पिब) पान करते हो, प्रलय काल में ग्रस लेते हो और (यज्ञ-पतिं) यज्ञ=जीवनमय यज्ञ या देह में क्रतुमय इस जीव को (प्र-प्र तिर) पार करो।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा। समूढमस्य पांसुरे ॥४॥

ऋ० १ । २२ । ७ ॥ यजु० ५ । १५ ॥ साम० उ० २ । २ । ५ ॥

भा०—(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (इदम्) यह समस्त जगत् (वि च क्रमे) नाना प्रकार से बनाया और उसमें स्वयं व्याप्त हुआ और (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदा) पदों, ज्ञान साधनों या विशेष शक्तियों को (नि दधे) गूढ़ रूप से धारण किया। और (अस्य) इसका परम शक्तिमय रूप (पांसुरे) लोकों से व्याप्त बल में यह समस्त विश्व (सम्-उढम्) स्थित है। इसकी आध्यात्मिक पक्ष में योजना देखो (साम० भाष्य पृ० ९२४) तथा (साम० भाष्य पृ० ७५९) ।

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

ऋ० १ । २२।१८ यजु० १३।४३॥

भा०—(गोपाः) समस्त गतिशील, लोकों और इन्द्रियों का पालक (अदाभ्यः) अविनाशी, नित्य, (विष्णुः) व्यापक, परमात्मा, (इतः) गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों को (धारयत्) धारण

४–(द्वि०) 'पदम्' इति ऋ० । 'पांसुले' इति सा० ।
५–(तृ०) 'अतः' इति ऋ० । 'ततः' इति तै० ब्रा० ।

करता हुआ (त्रीणि) तीन (पदा) शक्तियों को (वि चक्रमे) सर्वत्र प्रेरित करता है।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

ऋ० १।२२।११॥

भा०—(विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्चर्यजनक कामों को (पश्यत) देखो (यतः) जिनसे जीव लोक (व्रतानि) सब ज्ञानों और कर्त्तव्य कर्मों को (पस्पशे) प्राप्त करता है। वह प्रभु ही (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (युज्यः) सदा साथ देनेवाला (सखा) परम मित्र है।

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

ऋ० १ । २२ । २० यजु । ६ । ५ ॥

भा०—(विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर के (परमम् पदम्) सबसे उत्कृष्ट, परम मोक्ष पद को (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सदा साक्षात् करते हैं वह परम ज्ञानमय मोक्षपद (दिवि) द्यौलोक, अन्तरिक्ष में (चक्षुः इव) सब पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान अथवा (दिवि) प्रकाश में (चक्षुः इव) आँख के समान (आ-ततम्) खुला है । उससे पहुँच कर आत्मा को सब पदार्थों का साक्षात् ज्ञान हो जाता है। निरतिशयं सार्वज्ञवीजम्' । यो० सू० ॥

(त्रेधा नि दधे पदम्) समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इत्यौर्णवाभः । नि० ॥ प्राणा वै गयाः । श० १४।७।१।७॥ प्रजायाः शिर उत्तमो भागो यत् कारणं तद्विष्णुपदं विद्यादि धनानां यच्छिरः फलम् आनन्दः सोऽपि विष्णुपदाख्यः । तीन प्रकार का जगत्—(१) प्रकाश रहित पृथिवीमय

७–(द्वि०) 'शच्या' इति तै० स० ।

स्थूल (२) कारणरूप अदृश्य सूक्ष्म, (३) प्रकाशमय सूर्य आदिक । विष्णोः कर्माणि=जगत् का रचन, पालन और प्रलय आदि कर्म ।

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥८॥
यजु० ५ । १० ॥

भा०—हे (विष्णो) व्यापक परमेश्वर ! आप (दिवः) द्यौलोक से (उत वा) और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से और (महः) बड़े (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से प्राप्त होने योग्य (बहुभिः) बहुत से (वसव्यैः) धनों से (हस्तौ) अपने ज्ञान और कर्म के दोनों हस्तों को (पृणस्व) भर लें और (दक्षिणात्) दायें (उत) और (सव्यात्) बायें, दोनों हाथों से (आ प्रयच्छ) हमें प्रदान करें ।

[२७ (२८)] बुद्धिरूप कामधेनु का वर्णन ।

मेधातिथिर्ऋषिः । इडा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः ।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥१॥

भा०—(इडा) श्रद्धा बुद्धि, सत्य धारण करने वाली बुद्धि रूप कामधेनु (एव) ही (अस्मान्) हमें (व्रतेन) ज्ञान और कर्म से

८–(प्र०) 'दिवोवा विष्ण' (द्वि०) 'महोवा' इति यजु० । (द्वि०) उरोर्वा विष्णो बृहतोऽन्तरिक्षात्' इति मै० सं० । 'उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व' इति यजु० ।

[२७] १–(प्र०) 'अनुघृतेन' (तृ०) 'वैश्वानरी शक्वरी वावृधाना ।' इति आप० श्रौ० सू० ।

(अनु वस्ताम्) आच्छादित करे, सुशोभित करे, (यस्याः) जिसके (पदे) पद अर्थात् चरण, प्राप्ति और ज्ञान में (देवयन्तः) अपने को देव, उत्तम गुण सम्पन्न बनाने की चेष्टा करने वाले अथवा देव, ईश्वर और विद्वानों की उपासना करनेवाले लोग अपने को (पुनते) पवित्र कर लेते हैं। वह (घृतपदी) तेजोमय स्वरूप वाली, ज्ञानमयी, पद पद पर घृत के समान पुष्टिकारक, बुद्धिवर्धक पदार्थ को करनेवाली कामधेनु के समान (शक्करी) सब प्रकार से शक्तिमती, (सोम-पृष्ठा) सोम-आत्मा, और ब्रह्म को अपने पीठ पर धारण करनेवाली, आत्मा और ब्रह्मज्ञान की पोषक होकर (वैश्वदेवी) समस्त विद्वानों को हितकारक और आत्मा के सब इन्द्रियगण के लिये सुखकारी होकर (यज्ञम्) यज्ञ, शुभकर्म या परमात्मा में (अस्थित) स्थित है।

[२८ (२९)] कुशल की प्रार्थना।

मेधातिथिर्ऋषिः। वेदादयो देवताः। त्रिष्टुप् एकर्चं सूक्तम्॥

वे॒दः स्व॒स्तिर्द्रु॑घ॒णः स्व॒स्तिः प॑र॒शुर्वेदिः॑ प॒र॒शुर्नः॑ स्व॒स्ति।
ह॒विष्कृतो॑ य॒ज्ञिया॑ य॒ज्ञका॑मास्ते दे॒वासो॑ य॒ज्ञमि॒मं जु॑षन्ताम्॥१॥

भा०—(वेदः) वेद, पुरुष और दर्भमुष्टि (स्वस्तिः) हमें शुभ कल्याणकारी हो, (द्रुघणः) जिस पर बढ़ई लकड़ी रख कर काटता है वह लकड़ी का मुड़ भी (स्वस्ति) शुभकारी हो। (परशुः) लकड़ी काटने का फरसा और (वेदिः) यज्ञकी वेदी और (परशुः) घास काटने की दात्री ये पदार्थ भी (नः) हमें (स्वस्ति) शुभ और सुखकारी हों। (हविः-कृतः) अन्न हवि को तैयार करने वाले(यज्ञ-कामाः) यज्ञ के

[२८] १-(प्र० द्वि०) 'स्पृयः स्वस्तिर्विघानः स्वरितः परशुर्वेदिः पाशुर्नः स्वास्तिः' इति तै० सं०।

अभिलाषी (यज्ञियाः) यज्ञ करने में कुशल (देवासः) विद्वान् लोग आकर (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञ को प्रेमपूर्वक सेवन करें ।

अध्यात्म में—वेद=पुरुष । द्रुघण=प्राण, परशु=ज्ञानवज्र, वेदि=चिति-शक्ति । यज्ञिय=इन्द्रियें । यज्ञ=आत्मा ।

[२९ (३०)] अग्नि और विष्णु की स्तुति ।

मेधातिथिर्ऋषिः । अग्नाविष्णू देवते । १, २ त्रिष्टुभौ । द्वृचं सूक्तम् ।

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमाचरण्यात् ॥१॥

भा०—हे (अग्नाविष्णू) अग्ने ! और हे विष्णो ! (वां) तुम दोनों का (तद्) वह अपूर्व (महि) बड़ा (महित्वं) यश है कि आप दोनों (गुह्यस्य) गुहा में स्थित, सुगूढ़ (घृतस्य) प्रस्रवण करने वाले, तेजो-मय, सार पदार्थ के (नाम) स्वरूप को (पाथः) पान करते हो, अपने भीतर उसको धारण करते हो । आप दोनों (दमे-दमे) घर २ में (सप्त) सात (रत्ना) रमण करने योग्य शक्तियों को (दधानौ) धारण करते हो । (वां) तुम दोनों की (जिह्वा) जीभ (प्रति घृतम्) प्रत्येक घृत को (आचरण्यात्) आस्वादन करती है ।

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्नाविष्णू) अग्ने और विष्णो ! (वां) आप दोनों का (महि) बड़ा (प्रियम्) मनोहर (धाम) तेज और धारण सामर्थ्य है । और आप दोनों (घृतस्य) ज्योतिर्मय आत्मा के (गुह्या) गुह्य, गूढ़

(द्वि०) 'पातम्' इति शा० श्रौ० सू० । 'महित्वं वीताम्', 'गुह्यानि' (च०) 'चरण्येत्' इति तै० सं० । 'चरण्यत्', 'उपवां' शां० श्रौ० सू० ।

रहस्यमय तत्वों को, ज्ञानमय और कर्ममय रहस्यों को (जुषाणौ) सेवन करते हुए (वीथः) उनको प्राप्त करते हो। (दमे-दमे) प्रत्येक घर या देह में (सु-स्तुत्या) उत्तम स्तुति, ज्ञानशक्ति से (वावृधानौ) वृद्धि को प्राप्त होते रहते हो। (वां) आप दोनों की (जिह्वा) जिह्वा, आदान शक्ति (प्रति घृतम्) प्रत्येक घृत, तेजोमय उल्लास को (उत् चरण्यात्) प्राप्त करे। राष्ट्र में अग्नि-विष्णु=राजा, मन्त्री, राजा सेनापति, गृहस्थ में अग्नि-विष्णु=यजमान और पुरोहित। आधिदैविक में अग्नि-विष्णु=अग्नि और सूर्य।

[३० (३१)] ज्ञानाञ्जन।

भृग्वंगिरा ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ, मित्रो ब्रह्मणस्पतिः, सविता च देवताः। बृहती छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम्।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत्॥ १॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी माता और पिता (मे) मेरी आंखों को (सु-आक्तम्) उत्तम रीति से अञ्जन करें, मुझे सब बातें खोल कर स्पष्ट रूप से बतलावें। (मित्रः) स्नेह करने वाला (अयम्) यह लोक भी (मे सु-आक्तं) मेरे आँखों में ज्ञान का उत्तम अञ्जन लगावें। वे भी मेरे आगे सब बातें स्पष्ट रखें। (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मवेदका परिपालक आचार्य भी (मे सु-आक्तं) मेरे आँखों में ज्ञान का अञ्जन करे, मुझे सब ज्ञान स्पष्ट रीति से उपदेश करे। (सविता) सब का उत्पादक प्रेरक

(द्वि०) 'जुषाणा' इति बहुत्र। (तृ०) 'वावृधाना' इति त० सं०। 'सुष्टुती' इति मै० सं०। 'सुष्टुतीर्वामियाना' इति आ० श्रौ० सू०। (द्वि०) 'पातं घृतस्य गुह्यां जुषाणः' इति पैप्प० सं०। (तृ० च०) 'दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत्।' इति यजु० ८। २४।

परमात्मा भी (मे सु-आक्तं) मेरे हृदय के नेत्रों में अञ्जन लगा कर उनको दीर्घदर्शी करे। इस मन्त्र से ब्रह्मचारी की आँख में अंजन लगाने का विनियोग है।

[३१ (३२)] अपनी उन्नति के साथ द्वेषी के क्षय की प्रार्थना।

भृग्वं गिरा ऋषिः । आयुर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रो॒तिभि॑र्बहु॒लाभि॑र्नो अ॒द्य या॑वच्छ्रे॒ष्ठाभि॑र्मघवञ्छूर जिन्व ।
यो नो॒ द्वेष्ट्यध॑रः॒ सस्प॑दीष्ट॒ यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमु॑ प्रा॒णो ज॑हातु ॥१॥

ऋ० ३ । ५३ । २१ ॥

भा०—हे इन्द्र राजन्! हे (शूर) बलवान् शक्तिमन्! (यावत्-श्रेष्ठाभिः) अति अधिक श्रेष्ठ, समस्त (बहुलाभिः) नाना प्रकार की (ऊतिभिः) रक्षा करने की विधियों से (नः) हमें (अद्य) आज, सदा ही (जिन्व) जीवित रख, हमारे जीवन की रक्षा कर। और (नः) हमसे (यः) जो (द्वेष्टि) द्वेष करे, प्रेम का वर्त्ताव न करे (सः) वह (अधरः) नीचे ही नीचे (पदीष्ट) चलता चला जावे। और (यम् उ) जिसको (द्विष्मः) हम द्वेष करें (तम् उ) उसको (प्राणः जहातु) प्राण छोड़ दे, वह जीवित न रहे।

[३२ (३३)] दीर्घ आयु प्राप्ति की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः । आयुर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

उप॑ प्रि॒यं पनि॑प्नतं॒ युवा॑नमाहुती॒वृध॑म् ।
अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमो॑ दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु मे ॥१॥

ऋ० ६ । ६७ । २ ॥

[३१] १—(द्वि०) 'याच्छ्रेष्ठाभिर्मं' इति ऋ० ।
[३२] १—'दीर्घमायुः कृणोतु मे' इति चतुर्थः पादो ऋग्वेदे नास्ति ।

भा०—हम (प्रियं) अपने को प्रिय लगने वाले (पनिष्नतम्) सदा क्रियाशील, नित्य प्रयोग में आने वाले (युवानम्) सदा तरुण, नित्य नये, प्रबल (आहुती-वृधम्) आहुति पड़ने पर बढ़ने वाले हम लोग (नमः बिभ्रतः) अन्न को धारण करके अग्नि, जाठर अग्नि के (उप अगन्म) समीप प्राप्त हों। इससे वह प्रबल जाठर अग्नि (मे) मेरी (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (कृणोतु) करे। मन्दाग्नि में अन्न का भोजन करना आयुनाशक है। प्रबल जाठर अग्नि के होते हुए भूख लगने पर अन्न खाने से आयुष्य बढ़ता है।

[३३ (३४)] दीर्घायु की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। मरुतः पूषा अग्निश्च मन्त्रोक्ता देवताः। पथ्यापंक्तिश्छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे॥१॥

भा०—(मरुतः) प्राण अपान, व्यान समान, उदान आदि शरीरव्यापी मरुत्गण और शुद्ध वायुएं (पूषा) पुष्टिकारक मन और सूर्य, (बृहस्पतिः) बृहती वाणी का पति आत्मा या परमात्मा और (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि=अग्नि जाठर अग्नि (मां) मुझे (प्र-जया) प्रजा से और (धनेन च) धन से (सं सिञ्चन्तु, सं, सं, सं सिञ्च) अच्छी प्रकार सेचें मुझे प्रदान करें और (मे) मेरी (आयुः) आयु को भी (दीर्घम्) लम्बा (कृणोतु) करें, बढ़ावें।

---

[३३] १–(द्वि०) 'स इन्द्रः' (प्र०) 'सं वः' (तृ०) 'सिञ्च आयुषा च बलेन च' इति तै० आ०।

[३४ (३५)] शत्रु पराजय की प्रार्थना ।

अथर्वा परमेष्ठी च ऋषिः । जातवेदो देवता । जगती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ।

अग्ने॒ जा॒तान् प्र णु॑दा मे स॒पत्ना॒न् प्रत्यजा॑तान् जातवेदो नुदस्व ।
अ॒ध॒स्प॒दं कृ॑णुष्व॒ ये पृ॑त॒न्यवोऽना॑गस॒स्ते व॒यमदि॑तये स्याम ॥१॥

पूर्वार्धः, यजु० १५ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! विद्वन्! राजन्! प्रभो ! तू (मे) मेरे (जातान्) उत्पन्न हुए (स-पत्नान्) शत्रुओं को (प्रणुद) दूर कर । और हे (जात-वेदः) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने हारे विद्वन्! (अजातान्) तू उन को भी जो अभी शत्रु बने नहीं हुए प्रत्युत उनके शत्रु बन जाने के लक्षण दीख रहे हों उन को भी (प्रति नुदस्व) दूर कर । और (ये) जो (पृतन्यवः) पृतना=सेना लेकर मुझ पर चढ़ाई करने के उद्योग में हैं उनको (अधः पदम्) मेरे चरण के नीचे, या मेरे से नीचे स्थान पर, मेरे से कम योग्यता और कम मान, प्रतिष्ठा वाला (कृणुष्व) कर । (ते अदितये) तुझ अखण्डनीय शासन करने वाले राजा के लिये (वयम्) हम प्रजागण सदा (अनागसः) निरपराध (स्याम) रहें ।

[३५ (३६)] शत्रु पराजय की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । जातवेदा देवता । १ जगती छन्दः । २,३ त्रिष्टुभौ ।
तृचं सूक्तम् ॥

---

[३४] १-"प्रणुद नः सपत्नान्", 'नुद जातवेद' इति यजु० । उत्तरार्धस्तु यजुषि 'अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडंस्तवस्याम शर्मस्त्रिवरूथ उद्भौ ।' इति यजु० ।

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः ॥१॥

पूर्वाधः यजु० १५ । २ ॥

भा०—हे अग्निस्वरूप (जात-वेदः) अपने उत्पन्न शत्रु और मित्र सब को भली प्रकार से जानने वाले प्रभो ! राजन् ! तू (अन्यान्) अपने राष्ट्र के प्रजाजनों से भिन्न (स-पत्नान्) तेरे समान तेरे राष्ट्र पर अपना आधिपत्य जनाने का दावा करने वाले शत्रुगण को (सहसा) बलपूर्वक (प्रहस्व) अच्छी प्रकार दबा और (अजातान्) और अप्रकट शत्रुओं को (प्रनुदस्व) दूर कर दे और (सौभगाय) और उत्तम धन धान्य समृद्धि के लिये (राष्ट्रं) इस राष्ट्र को (पिपृहि) पालन कर और सब को सन्तुष्ट कर । जिससे (एनं) इस राजा को (देवाः) समस्त विद्वान् लोग शिल्पी गण, विद्या, शिल्प, धन धान्य से सम्पन्न शक्तिमान् लोग (विश्वे) सब प्रजाएं भी (अनु मदन्तु) इसके उत्तम शासन से प्रसन्न होकर इसे आशीर्वाद दें ।

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥२॥

भा०—(इमाः) ये (या) जो (ते) तेरी (शतं) सौ सैकड़ों (उत) और (सहस्रम्) हजारों (धमनीः) धमनी, स्थूल नाड़ियां हैं (तासां) उन (सर्वासां) सबके (बिलम्) मुख, छिद्र को (अहम्) मैं (अश्मना) पत्थर से, पत्थर के समान कठोर प्रतिबन्ध से (अपि अधाम्) बन्द करता हूं । शरीर की नाड़ियों और धमनियों के समान राजा के शक्ति

[३५] —'सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान्' इति यजु० ॥ (च०) अनु त्वा देवाः सर्वे जुषन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

२–(तृ०) 'सर्वासां साकम्' इति पैप्प० सं० ।

प्राप्ति करने और प्रजा को चूसने के सैकड़ों, छोटे बड़े साधन हैं उनको कठोर प्रतिबन्ध से रोकना चाहिये।

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः।
अस्वं१ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥३॥

भा०—(ते) तेरे (योनेः) पद या स्थान या आश्रय के (परं) उत्कृष्ट, सबसे उन्नत पदको मैं प्रजा का मुख्य प्रतिनिधि (अवरम्) कुछ नीचा (कृणोमि) करता हूं और फिर भी (त्वा) मुझे (प्र-जा) प्रजा (उत) और (सूनुः) तेरा पुत्रः अथवा तेरा प्रेरक मन्त्री आदि भी (मा मा अभि भून्) तेरा तिरस्कार न करे। (त्वां) तुझको मैं (अस्वं) स्व-धनसे रहित और (प्रजसं) प्रजा पुत्र आदि से रहित (कृणोमि) करता हूं। (ते) तेरे (अपि-धानं) चारों तरफ़ का आवरण (अश्मानं) पत्थर का (कृणोमि) बनाता हूं।

राजा की सर्वोत्कृष्ट पदवी पुरोहित से नीचे रहे। प्रजा और मन्त्रि और राजकुमार आदि राजा का अपमान न करें। राजा का अपना कोई धन या जायदाद नहीं। प्रजा और राष्ट्र ही उसकी सार्वजनिक जायदाद है। उसका पुत्र कोई उसका निजी पुत्र नहीं, प्रत्युत वह भी उसकी सामान्य प्रजा के समान है। वह राजा पुत्र होने से राज्य का स्वामी नहीं हो सकता। राजा का पुत्र राजा नहीं इसमें एक पत्थर के समान दृढ़ या अभेद्य है अर्थात् यह नियम खूब कठोर होना चाहिये। २, ३ इन दोनों मन्त्रों को सायण ने प्रद्वेषिणी स्त्री के गर्भ-निरोध-परक लगाया है। ग्रीफ़िथ ने इन दोनों मन्त्रों को अश्लील जानकर अर्थ नहीं किया। परन्तु अथर्व-सर्वानुक्रमणी के अनुसार इन दोनों का देवता पूर्वमन्त्रानुसार जात-वेदाः [राजा] है।

३–'अश्वां त्वा अप्रजसं' इति सायणाभिमतः।

[३६ (३७)] पति पत्नी की परस्पर प्रेम-वृद्धि की साधना ।

अथर्वा ऋषिः । अक्षि देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अक्ष्यौ/नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥१॥

भा०—वर वधू, पति पत्नी परस्पर प्रेम-व्यवहार बढ़ाने के लिए उक्त विचार सदा अपने चित्त में करें। हम पति और पत्नी हैं (नौ) हमारी (अक्ष्यौ) आँखें (मधु-संकाशे) मधुर मधु के समान प्रेममय अमृत से सिंची है। (नौ) हमारा (सम्-अञ्जनं) एक दूसरे के प्रति निःसंकोच व्यवहार और चित्त के भावों का स्पष्ट रूप में प्रकाश करना और परस्पर मिलना भी (अनीकम्) सुखपूर्ण, जीवन-दायक हो। हे प्रियतम ! और प्रियतमे ! (मां) मुझको तू (अन्तः हृदि) भीतर हृदय में (कृणुष्व) रख ले और (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन भी (सह असति) सदा साथ रहे।

[३७ (३८)] पतिपत्नी के परस्पर प्रेम-वृद्धि की साधना ।

अथर्वा ऋषिः । पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥१॥

भा०—हे प्रियतम ! हे मेरी प्रियतमा स्त्री ! (मम) अपने (मनु-जातेन) मनु=मनन, दृढ़ संकल्प से बने, (वाससाः) अपने अच्छादन करने वाले वस्त्र से (त्वा) तुझको (अभि दधामि) बांधती हूं। (यथा) जिस से तू (केवलः) केवल, एकमात्र पति (मम असः) मेरे अतिरिक्त दूसरी स्त्रियों के विषय में (न चन कीर्त्तयाः) कभी बात भी न किया कर।

[३६] (प्र०) 'अक्षौ' इति सायणाभिमतः ।

[३८ (३९)] स्वयंवर-विधान ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १, २, ४, ५ अनुष्टुप् ।
३ चतुष्पादुष्णिक् । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥१॥

भा०—मैं स्त्री (इदं) इस (भेषजं) रोग और अपने दुःख को दूर करने वाली औषध को (खनामि) खोदती हूं । यह औषध ऐसी है कि (मां-पश्यम्) जो पुरुष मुझे देखेगा यह औषधि इसी (अभि-रोरु-दम्[1]) दूर जाने से रोक कर खड़ा कर लेगी और यदि वह दूर भी चला जाय तो (परायतः) दूर के देश से भी (निवर्त्तनम्) उसे लौटा लेगी, (आयतः) और मेरे प्रति आते हुए पुरुष को (प्रति नन्दनम्) प्रसन्न कर देगी । स्वयंवरात कन्या आसुरी नामक दिव्य औषधि को इस कल्प से स्वयं धारण करती है ।

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि ।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेसानि सुप्रिया ॥२॥

भा०—(आसुरी) आसुरी नामक औषधि या प्राणशक्ति (येन) जिस प्रभाव से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के (परि) ऊपर (इन्द्रं) इन्द्र=आत्मा को (नि चक्रे) बलशाली करती है । हे पुरुष ! (तेन) उसी बलसे (अहं) मैं स्वयंवरा कन्या स्वयं (त्वाम्) तुझ को (नि कुर्वे) सर्वथा अपने पर अधिकारी बनाती हूं । (यथा) जिससे (ते) तेरी मैं (सु-प्रिया) बहुत प्यारी (असानि) हो जाऊं ।

---

[३८] १–'साम्पश्यम्' इति क्वचित्, वेबरकामितश्च ।
२–पत्याः अन्यनारी संसर्गमभितोनिरुन्धदिति सायणः ।

प्रतीची सोमम॑सि प्रतीच्युत सूर्यम् ।
प्रतीची विश्वा॑न्देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥३॥

भा०—पुरुष कन्या के प्रति कहते हैं । (सोमं प्रतीची असि) तू सौम्यगुण युक्त पुरुष के प्रति पत्नी भाव से आना चाहती है और तू (सूर्यम् प्रतीची) सूर्य=विद्वान्, या उत्तम सन्तानोत्पन्न करने में समर्थ पुरुष के प्रति जाना जाहती है । और (विश्वान् देवान् प्रतीची) समस्त देव विद्वानों के सन्मुख आना चाहती है । (तां) ऐसी उत्तम चरित्रवती (त्वाम्) तुझको हम (अच्छा वदामः) उत्तम कहते हैं ।

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥४॥

भा०—स्वयंवरा कन्या पुरुष के प्रति कहती है । (अहम्) और (सभायाम्) विद्वानों की सभा में (अहम् वदामि) जब मैं भाषण करूँ तब (न इत् त्वम्) तू भाषण मत कर । (अह) और बाद मेरे बोल चुकने पर (त्वम् वद) तू भी अपनी अभिलाषा, और योग्यता प्रकट कर इस प्रकार दोनों का परस्पर अभिप्राय प्रकट हो जाने के उपरान्त यदि तुम्हारी अभिलाषा गृहस्थ में मेरे संग रहने की दृढ़ हो तो (त्वम्) तू (मम इत्) मेरा ही होकर (असः) रह, (अन्यासाम्) उसके बाद और स्त्रियों के विषय (न चन कीर्तयः) का नाम भी मत लेना ।

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।
इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्धेव न्यानयत् ॥५॥

भा०—हे मेरे अभिलाषी पुरुष ! (यदि वा) चाहे तू (तिरः

४—'अहं वदानि महत्त्वम्' इति पैप्प० सं० ।

५—(प्र०) 'तिरोचनम्' इति सायणाभिमतः । (तृ०) 'इयं त्वा मह्यमोषधिः' इति पैप्प० सं० ।

जनम्) जनों के भीतर, अरण्यों में (यदि वा) और चाहे (नद्यः) नदी के भी (तिरः) पार हो। (इयम्) यह (ओपधिः) ओपधि जिसको मैं स्वयंवरा कन्या धारण करती हूँ वह (त्वाम्) तुझको (मह्यम्) मेरे लिये, मुझे प्राप्त होने के लिए (बद्ध्वा इव) मानों बाँध कर इस जन सभा में (नि आनयत्) अवश्य लायेगी।

सायण ने यह सूक्त पति वशीकरण के लिये आसुरी ओपधि को बाँध कर पत्नी के मुख से कहलाया है। परन्तु चतुर्थ मन्त्र हमें स्वयंवरा-कन्या-परक लगाने की प्रेरणा करता है।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र षोडश सूक्तानि, ऋचश्चैकत्रिंशत्]

[३९ (४०)] रससागर व ईश्वर का स्मरण।

प्रस्कण्व ऋषिः। मन्त्रोक्तः सुपर्णो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥१॥

ऋ० १। १६४। ५२ ॥

भा०—(दिव्यम्) द्यौलोक में या दिव्=मोक्ष में विद्यमान् (सुपर्णम्) शोभन रूप से पतनशील, पालन और ज्ञान से युक्त (पयसम्) ज्ञानमय आत्मबल से युक्त (बृहताम्) महान् (अपाम् गर्भम्) कर्मों

[३६] —'ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। सरस्वान् सूर्यो वा देवता। (प्र०) 'वायसं' (द्वि०) 'दर्शनयोपधानां।' (तृ०) 'तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि' इति ऋ०। (तृ०) 'वृष्टिभिः' इति तै० सं०। (प्र०) 'दिव्यं समुद्रं' (तृ० च०) 'अभीसं रय्या तपन्ति सरस्वन्तं रहिष्ठया (रयिष्ठां) सादये' इति पैप्प० सं०।

और विज्ञानों को ग्रहण करने वाले (ओषधीनाम्) ओषधी वनस्पतियों के प्रति (वृषभम्) जल वृष्टि करके उनको बढ़ाने वाले मेघ या सूर्य के समान ज्ञान-जलों और आनन्द वृष्टि के करनेवाले और (अभीपतः) और अपने शरण में आनेवाले जीवों को (वृष्ट्या) आनन्द और अमृत की वर्षा से (तर्पयन्तम्) तृप्त करते हुए उस परम पुरुष, परमेश्वर को हम स्मरण करें जो (नः) हमारे (गोष्ठे) गौ=इन्द्रियों के निवासस्थान देह में (रयिस्थाम्) रयि=बल=प्राणियों में भी अधिष्ठाता रूप से स्थापित करता है ।

[४० (४१)] रससागर ईश्वर का स्मरण ।

प्रस्कण्व ऋषिः । सरस्वान् देवता । १ भुरिक् । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ।

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑प॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑ ।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्टप॒तिर्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे ॥१॥

भा०—(यस्य) जिसके (व्रतं) किये, कर्म को (सर्वे पशवः) समस्त पशु, बद्ध जीव (यन्ति) अनुगमन करते हैं, अनुकरण करते हैं । (यस्य) जिसके (व्रते) ज्ञान में (आपः) आपः=आप्तकाम, जीवन्मुक्त, कृतार्थ पुरुष (उप-तिष्ठन्ते) उपस्थित हैं, विद्यमान हैं और (यस्य व्रते) जिसके अपने किये कर्म में (पुष्ट-पतिः) उन २ नाना प्रकार के पुष्टिकारक पदार्थों का स्वामी, पूषा, परमेश्वर स्वयं (नि-विष्टः) विराजमान है। (तं) उस (सरस्वन्तं) महान्, समुद्र के समान समस्त ज्ञान और कर्मों के विशाल स्वामी, प्रभु को हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हवामहे) स्मरण करते हैं ।

[४०] १-(द्वि०) 'व्रतं' (तृ०) 'पुष्टिपतिः' (च०) 'हुवेम' इति तै० सं० । (प्र०) 'व्रतं' इति पैप्प० सं० ।

आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥२॥

भा०—(इह) इस संसार में और इस मानव देह में (वसानाः) रहते हुए हम (प्रत्यञ्चः) उस प्रत्यक् आत्मा, भीतर विराजमान देह के अधिष्ठाता, साक्षात् आत्मास्वरूप (दाशुषे) अपने को उसके अधीन समर्पण करने वाले साधक को (दाश्वंसम्) बल, ज्ञान, प्रदान करते हुए (सरस्वन्तं) शक्ति क्रिया और ज्ञान के सागर (पुष्ट-पतिम्) सब पुष्टियों के स्वामी, सबके पोषक, (रयि-स्थाम्) रयि-बल और प्राणों में अधिष्ठाता रूप से स्थित (रायस्पोषं) धनों और प्राणों के पोषक (श्रवस्युम्) देह-धारियों को अन्न प्रदान न करने हारे, (रयीणां सदनं) समस्त ऐश्वर्यों और बलों के आश्रय स्थान उस (प्रत्यञ्चं) प्रत्यक्, समाधि काल में साक्षात् होने वाले विशुद्ध आत्मा को हम सदा (आ हुवेम) स्मरण करें और उस को पुकारें ।

[४१ (४२)] मुक्ति की प्रार्थना ।

प्रस्कण्व ऋषिः । श्येनो देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥१॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य मरुस्थलों में भी जलों की वर्षा करता है और इन्द्र=मेघ के रूप में सर्वत्र कल्याणस्वरूप होकर प्राप्त होता है उसी प्रकार (श्येनः) ज्ञानवान् या सर्व-व्यापक प्रभु (नृ-चक्षाः) सब मनुष्यों

२-(तृ०) 'श्रवस्यं' (द्वि०) 'रयीणाम्' (तृ०) 'वसानां' (प्र०) 'दाश्वासं' इति सायणाभिमतः ।

[४१] १-(द्वि०) 'नृचक्षावसाना' (च०) 'शिवा जगाम' इति पैप्प० सं०

का द्रष्टा (अवसान-दर्शः) अवसान-प्रलयकाल में भी सब पदार्थों और कर्म, कर्मफलों का द्रष्टा होकर (धन्वानि) धन्व – भोगभूमियों को (अति) अतिक्रमण करके (अपः) ज्ञान-जलों को (ततर्द) वर्षाता है। और (विश्वानि) समस्त (अवरा) नीचे के (रजांसि) लोकों को (तरन्) पार करता हुआ (इन्द्रेण सख्या) अपने मित्र जीव के साथ २ (शिवः) स्वयं साक्षात् कल्याण और सुखमय आनन्दमय, तुरीयपद, मोक्षरूप होकर (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है, साक्षात् होता है।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् २

भा०—(श्येनः) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक (नृचक्षः) सब जीवों को द्रष्टा, (दिव्यः) मोक्षधाम का स्वामी, प्रकाशस्वरूप, (सुपर्णः) सुख-पूर्वक उत्तम रीति से सब का पालक, (सहस्रपात्) सहस्रों चरणों वाला सर्वज्ञ, सर्वगति, (शतयोनिः) अपरिमित, सैकड़ों पदार्थों का कारण और आश्रय, (वयोधाः) समस्त अन्न, कर्मफल को स्वतः अपने भीतर धारण करने वाला, (सः) वह परमात्मा (नः) हमें (यत्) जो (पराभृतम्) धन ज्ञान और सुख पर-आत्मा से अतिरिक्त इन्द्रिय मन, शरीर आदि कारणों द्वारा प्राप्त हो सके उस (वसु) जीवनोपयोगी ज्ञान को (नः) हमें (नियच्छात्) पूर्ण रीति से प्रदान करे। और वही सब सुख (अस्माकं) हमारे (पितृषु) पालकों या प्राणों में भी (स्वधावत्) अन्न या ग्राह्य विषय होकर स्वतः (अस्तु) प्राप्त हो।

[४२ (४३)] पापमोचन की प्रार्थना।

प्रस्कण्व ऋषिः। सोमरुद्रौ देवता। १, २ त्रिष्टुभौ। द्व्यृचं सूक्तम्।

२–(द्वि०) 'वयोधान्' इति पैप्प० सं०।

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेशं ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥१॥
ऋ० ६ । ७४ । २ प्र० द्वि० तृ० १ । २४ । ६ तृ० च० ॥

भा०—हे (सोमरुद्रा) सोम और रुद्र, जल और अग्नि (या) जो (अमीवा) रोगकारी पदार्थ (नः) हमारे (गयम्) गय प्राण में, घर में या शरीर में (आविवेश) प्रविष्ट हो गया है उस (विषूचीम्) नाना प्रकार से शरीर में या घर में या देश में फैलनेवाले रोग को (वि वृहतम्) नाना प्रकार के उपायों से नाश करो । और आप दोनों (निः-ऋतिम्) सब अप्रिय पदार्थ और पापमय प्रवृत्ति को (पराचैः) दूर ही (बाधेथाम्) रोको, दूर ही उसका विनाश करो । और (अस्मत्) हमसे (कृतम् चित्) किये हुए भी (एनः) पाप को दूर करो ।

सोम शब्द से—राजा, वायु, चन्द्र, क्षत्रिय, अन्न, प्राण, वीर्य, अमृत, आत्मा, ब्राह्मण आदि का ग्रहण होता है । रुद्र शब्द से अग्नि, घोर, प्रतिहर्त्ता, प्राण आदि लिये जाते हैं। यहाँ रोग निवारण का और पापनाशन का प्रकरण है । रोगनाशन में सोम और रुद्र दो प्रकार के चिकित्सक हैं एक सोम=जलीय शान्त गुण औषधियों से चिकित्सा करने वाले, दूसरे रुद्र= तीक्ष्ण ओषधियों द्वारा चिकित्सा करने वाले । पापनाशन में उपदेशक और दण्डकर्त्ता, आधिदैविक में जल और अग्नि । अध्यात्म में प्राण और अपान, या प्राण और उदान ।

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अवं स्यतं मुञ्चतं यन्नो असंत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥२॥
ऋ० ६ । ७४ । ३ ॥

---

[४२] १–'ऋग्वेदे भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः' (तृ०) 'आरे बाधेथां निर्ऋतिं' (च०) 'मुमुग्ध्यस्मत्' इति ऋ० । 'बाधेथां द्वेषो निर्ऋतिं च' (च०) 'अस्मात्' इति पैप्प० सं० ।

२–(प्र०) 'एतान्यस्मे' (द्वि०) 'यन्नो अस्ति' इति बहुत्र ।

भा०—हे पूर्वोक्त (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र (युवम्) आप दोनों (अस्मत्) हमारे (तनूषु) शरीरों में (विश्वा भेषजानि) सब प्रकार की ओषधियों का (धत्तम्) प्रयोग करो। और (यत्) जो कुछ (नः) हमारे (तनूषु) शरीर में (कृतम् एनः) हमारा ही किया पाप या कुपथ्य (असत्) है उसको (अवस्यतम्) दूर मार भगाओ और (अस्मत्) हम से उसे (अव मुञ्चतम्) छुड़ाओ।

[४३ (४४)] चार प्रकार की वाणी।

प्रस्कण्व ऋषिः। वाग् देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम्॥१॥

भा०—हे पुरुष! (ते) तेरे प्रति (एकाः) एक प्रकार की वाणियां (शिवाः) शिव-कल्याणकारिणी सुखप्रद हैं, और (एकाः) एक प्रकार की दूसरी (ते) तेरी (अशिवाः) अशिव, अमंगलकारी, निन्दामय वाणियाँ हैं। तू उन सब को (सुमनस्यमानः) अपने चित्त को शुभ, सुन्दर, अविकृत भाव से रखते हुए ही (बिभर्षि) धारण कर, सुन। अर्थात् स्तुति और निन्दा दोनों को प्रसन्न चित्त होकर सुना कर, स्तुतियों से प्रसन्न मत हो और निन्दा के वाक्यों से उद्विग्न मत हो। क्योंकि (अस्मिन्) इस पुरुष के (अन्तः) भीतर (तिस्रः वाचः) तीन प्रकार की वाणियाँ (निहिताः) रक्खी हैं। (१) परा जो आत्मा में बीज रूप से विद्यमान् रहती है, (२) पश्यन्ती जो वक्ता के प्रयोग के पूर्व मन में संकल्प रूप से आती हैं। (३) मध्यमा, जो इच्छापूर्वक मानस संकल्पों में रह कर ही शरीर के हर्ष विषाद आदि मुख विकारों को प्रकट करती है, (तासाम्) उनमें से ही (एका) एक और, चौथी वैखरी

(घोषम् अनु) शब्द के स्वरूप में आकर (विपपात) नाना रूप से बाहर आती है । प्रयोक्ता के भीतर ही निन्दात्मक वाणी के भी तीन रूप रहते हैं और केवल एक चतुर्थ भाग ही बाहर आता है । इससे वही अधिक उसके पाप से युक्त है, न कि श्रोता ।

[४४ (४५)] इन्द्र और विष्णु ।

प्रस्कण्व ऋषिः । इन्द्रो विष्णुश्च देवते । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः ।

एकर्चं सूक्तम् ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥१॥

ऋ० ६ । ६९ । ८ ॥

भा०—(उभा) दोनों इन्द्र और विष्णु (जिग्यथुः) विजय करते हैं (न परा जयेथे) कभी शत्रुओं से हारते नहीं हैं । (एनयोः) उन दोनों में से (कतरः चन) कोई एक भी (न परा जिग्ये) नहीं हारता । (इन्द्रः) इन्द्र (च) और हे (विष्णो) विष्णु ! तुम दोनों (यत्) जब भी अपने विरोधी असुरों के साथ (अप स्पृधेथाम्) होड़ करते हो, युद्ध करते हो (तत्) तब २ (सहस्रं) समस्त संसार को (त्रेधा) तीनों प्रकार से (वि ऐरयेथाम्) व्याप्त करते और वश कर लेते, विजय कर लेते और उन में वीर सामर्थ्यवान् होकर शासन करते हो ।

[४४] १–'ऋग्वेदेऽस्याः भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।' (द्वि०) 'कतरश्च नैनोः' इति ऋ० । (च०) 'सहस्रं यदधीरयेथाम्' इति पैप्प० सं० ।

[४५ (४६, ४७)] ईर्ष्या के दूर करने का उपाय ।

प्रस्कण्व ऋषिः । ईर्ष्यापनयनम् भेषजं देवता । १, २ अनुष्टुभौ ।

द्व्यृचं सूक्तम् ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥ १ ॥

भा०—ईर्ष्या, दाह या दूसरे की उन्नति को देखकर जलने के बुरे स्वभाव को दूर करने के उपाय का उपदेश करते हैं। हे ईर्ष्या के उपाय रूप ओषधे ! तू (ईर्ष्यायाः नाम) ईर्ष्या को झुकाने या दबाने का उत्तम साधन है, इसी से उसका (भेषजम्) इलाज या ईर्ष्या नाम के मानस रोग की उत्तम चिकित्सा है। (त्वा) तुझको मानो (दूरात्) दूर से (उद्-भृ-तम्) उखाड़ कर लाया गया (मन्ये) मानता हूं। तुझको (विश्व-जनी-नात्) समस्त जनों के हितकारी (सिन्धुतः) नदी या समुद्र के समान विशाल, उपकारी सबके प्रति उदार (जनात्) मनुष्य से (परि आभृतम्) प्राप्त किया जाता है।

जब हृदय में ईर्षा के भाव उदय हों उन को दबाने के लिये या दूर करने के लिये उन लोकोपकारी महापुरुषों का ध्यान करना चाहिये जो अपनी सर्वस्व सम्पत्ति को नदी के समान परोपकार में बहा देते हैं। और अपने आप उसका भोग नहीं करते। दूसरे के बढ़ते यश और कीर्त्ति से न जल कर स्वयं परोपकार में लगे और स्वयं यशस्वी और सच्चे परोपकारी बने। केवल ईर्ष्या में जलने से कोई बड़ा नहीं हो सकता।

---

[४५]— पञ्चपटलिकायां द्व्यृचं सूक्तम्। अनुक्रमणिकायां एकर्चं सूक्तम्। सायणोल्लिखितेन विनियोगेनापि एकर्चमेव सूक्तम्। ग्रामसंहितासु द्व्यृचमुपलभ्यते। विषयभेदाच्च द्व्यृचमेव ज्ञायते।

(प्र०) 'जनानां वाचामरुवतीनां [मुरुवितानां ?]' इति पैप्प० सं०।

अ॒ग्नेरि॑वास्य॒ दह॑तो दा॒वस्य॒ दह॑तः पृथ॑क् ।
ए॒ताम॒तस्ये॒र्ष्याम्॑मु॒द्नाग्निमि॑व शमय ॥ २ ॥

भा०—(उद्ना) जलसे (अग्निम्-इव) जिस प्रकार जलती आग को शान्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (अग्नेः-इव) आग के समान या (दावस्य) जंगल की भड़कती आग के समान (दहतः) जलते, कुढ़ते हुए या भयानक रूप में भड़कते हुए (एतस्य) इस ईर्षालु, द्रोह वाले चित्त की (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को प्रेम से या दूसरों के सच्चरित्र गुणों से (शमय) शान्त कर ।

[४६ (४८)] सभा, पृथिवी और स्त्री का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । विश्पत्नी देवता । १, २ अनुष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

सिनी॑वालि॒ पृथु॑ष्टुके॒ या दे॒वाना॒मसि॒ स्वसा॑ ।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥
ऋ० २ । ३२ । ६ ॥ यजु० ३४ । १० ॥

भा०—हे देवि ! विश्पत्नि ! दिव्य गुणों वाली प्रजाओं की पालन करने वाली ! हे (सिनीवालि) अन्न का प्रदान करने वाली । अथ प्रेम-

२—'अग्नेरिवास्य' इति मन्त्रोऽनुक्रमणिकानुसारं पृथक् सूक्तमुपचर्यते । अस्य ईर्ष्यापनयनो देवता । (च०) 'उद्ना, उन्ता, उन्ना, उत्ता' इति बहवो वर्णविकाराः । 'तन् संवेगस्य भेषजं तदसुनामं गृभाहितम्' इति पैप्प० सं० ।

[४६] १—ऋग्वेदे गृत्समद ऋषिः स्तुकः केशभारः, स्तुतिः, कामो वा इति महीधरः । पृथुसंयमितकेशभारा इति उव्वटः, २. उपचयार्थस्य वा दिहेर्दिशेतेर्वा लोटि शपः श्लुः ।

बद्धे ! हे स्त्रि ! हे (पृथुस्तुके) बहुत से पुत्रों वाली ! या बहुतों से प्रशंसित ! या विशाल मध्यभाग वाली ! या अतिकामनावति ! या पृथु=द्यौलोक के प्रति सदा खुली रहने वाली ! तू (देवानाम्) देव=वायु, सूर्य, जल, मेघ आदि दिव्य पदार्थों के साथ (स्वसा) स्वयं स्वभावतः नैसर्गिक रूप में संगत है । तू (आ-हुतम्) आहुति किये हुए (हव्यम्) अन्न को या वीर्य को जो बीज रूप से तेरे में बोते हैं उसे (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर और (नः) हमें (प्रजां) प्रजाको उत्कृष्ट रूपसे उत्पन्न हो जाने पर (दिदिड्ढि) प्रदान कर । या (प्रजां दिदिड्ढि) अपने ऊपर रहने वाली जीव प्रजा को और अधिक बढ़ा । महर्षि दयानन्द ने मन्त्र को स्त्री के वर्णन में लगाया है ।

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ २ ॥

ऋ० २ । ३२ । ७ ॥

भा०—पूर्व मन्त्र में कही विश्पत्नी-सार्वजनिक सभा, पृथिवी और स्त्री तीनों का श्लेष से वर्णन करते हैं । (या) जो स्त्री (सुबाहुः) उत्तम बाहुओं वाली, (सु-अङ्गुरिः) उत्तम अंगुलियों वाली, (सु-सूमा) उत्तम उत्पादक अंगों वाली, सुभगा, पृथुजघना, (बहु-सूवरी) बहुत से, अधिक दश पुत्रों को उत्पन्न करने में समर्थ है । (तस्यै) उस (सिनीवाल्यै) स्त्रीरूप पत्नी के लिये (हविः जुहोतन) हवि=अन्न नित्य प्रदान करो । सार्वजनिक सभा के पक्ष में (या सुबाहुः) जो उत्तम वीर भटों द्वारा सब विघ्नों को बांधने वाली, (सु-अङ्गुरिः) सब उत्तम अंगों वाली, (सू-सूमा) उत्तम रीति से प्रसव करने वाली (बहु-सूवरी) बहुत सन्तान उत्पन्न करने वाली है (तस्यै विश्पत्न्यै) सार्वजनिक सभा के लिये सब लोग (हविः जुहोतन) अपना २ भाग प्रदान करें । पृथिवी

२—(प्र०) 'सुमंगलिः सुषूमा' इति पैप्प० सं० ।

भी क्षत्रियों द्वारा, 'सुबाहू' देशवासियों द्वारा, उत्तम देशों द्वारा 'सुअङ्गुरि' नाना पुरुषों, अन्नों वनस्पतियों के उत्पादन से 'सुषूमा' और 'बहुसूवरी' है।

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी ।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥३॥

भा०—हे (देवि) देवि ! पति की कामना करने वाली ! तू अपने (पतिम्) पति को (राधसे) धन और यश प्राप्त करने के लिये (चोदयस्व) प्रेरित कर। उसी प्रकार हे (विष्णोः पत्नि) व्यापक सार्वभौम राजा या तेरे हृदय में व्यापक प्रियतम की (पत्नि) पालिके! राजसभे! (तुभ्यम्) तेरे निमित्त तुझे (हवींषि) पर्याप्त साधन और अधिकार (राता) प्रदान किये गये हैं। यह (विश्पत्नी) पूर्वोक्त प्रजातन्त्र शासन की वह प्रतिनिधि सभा है (या) जो (देवी) विद्वानों की बनी हुई है और (सहस्र-स्तुका) सहस्रों संघों को अपने भीतर मिलाये हुए (अभि-यन्ती) प्रकट होती हुई (इन्द्रं) राजा या पति के भी (प्रतीची) सन्मुख उसके समान शक्ति वाली (असि) है। ऐसी हे (पत्नि) गृहपालिके, राष्ट्रपालिके, जन राजसभे ! तू अपने (पतिं) पति, सभापति या राष्ट्रपति को (राधसे) पुत्र, यश और अर्थ-प्राप्ति के लिये न्यायमार्ग में (चोदयस्व) प्रेरित कर।

'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' इस पुरानी किंवदन्ती का यही मन्त्र मूल है। राजा को वेद 'विष्णु' कहता है। वह 'विश्पत्नी' का पति है। इन्द्र राजा है और विष्णु राष्ट्रसभा का सभापति है। वह पूर्व अमावास्या का वर्णन हुआ। अमावास्या नाम स्त्री का है अमा=सह वसते पत्या इति अमावास्या जो पति के साथ रहे। 'अमा' एक साथ जिसमें सब प्रजाएं 'वास्या' बैठ सकें। जनरल कान्फ्रेंस, महासभा, साधारण सभा।

३—'या विश्वतः' (द्वि०) 'सहस्रस्तुता' (च०) 'राधसा' इति पैप्प० सं०।

[४७ (४९)] कुहू नामक अन्तरंगसभा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । कुहुर्देवी देवता । १ जगती । २ त्रिष्टुप् ।
द्वयृचं सूक्तम् ॥

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्य/म् ॥१॥

भा०—अब उत्तरा अमावस्या का वर्णन करते हैं, जो उस साधारण महासभा की अन्तरंग सभा है। (मैं) (सु-हवा) उत्तम रीति से आह्वान करने में समर्थ उत्तम आज्ञापक, उत्तम मन्त्र देने में समर्थ, सभापति (अस्मिन् यज्ञे) इस राष्ट्रमय यज्ञ में (देवीं) विद्वानों की बनी, (विद्मना-अपसम्) समस्त उचित कर्त्तव्यों को जानने वाली, (सु-कृतं) उत्तम कार्य सम्पादन करने वाली, (कुहूं) कुहू नामक गुप्तसभा, अन्तरंग सभा को (जोहवीमि) आह्वान करता हूं, बुलाता हूं । (सा) वह (नः) हमें हम राष्ट्र के शासकों को (विश्व-वारं) समस्त राष्ट्र के वरण करने योग्य, उनके अभिमत अथवा राष्ट्र की रक्षा करनेवाले (रयिं) धन, यश, उत्तम कर्म का (नियच्छात्) उपदेश करे या उत्तम रयि=व्यवस्था पत्र को प्रदान करें और (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय या वेद के अनुसार (शत-दायं) सैकड़ों सुखों के देने वाले (वीरम्) सामर्थ्यवान् पुरुष को (ददातु) राष्ट्र के कार्य में प्रदान करे, नियुक्त करे ।

राष्ट्रपति या मन्त्री (सुहवा) जिसको अन्तरंग सभा बुलाने का अधिकार हो। वह (विद्मनापसम्) अन्तरंग के सभासदों को पूर्व में

[४७] १-(प्र०) 'कुहूमहम्' इति श्राम:' । 'सुवृत' आ० श्रौ० सू० । 'सुभगा' इति तै० सं० । 'अमृतं' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सुहवं' । (तृ० च०) सा नो ददातु श्रवणं पितृणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम' इति पैप्प० सं० ।

विचारणीय विषय जना देवे और फिर बुलावे। उसमें सर्व हितकारी उत्तम निर्णयों या प्रस्तावों को स्वीकृत करावें और उनको कार्य रूप में लाने के लिये उत्तम शासक को नियत करे।

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥ २ ॥

भा०—(देवानां) देवगण, विद्वानों के बीच में (अमृतस्य पत्नी) कभी न विनाश होने वाली, सत्य सिद्धान्त या नियम का पालन करने वाली (अस्य हविषः) इस हविर्मन्त्र या विचार को (जुषेत) सेवन करे, विचार करे। और (यज्ञं) राष्ट्र के हित को या परस्पर के संग साहाय्य को (उशती) चाहती हुई (शृणोतु) सब सभासदों के मत को भली प्रकार सुने। और (अद्य) अब (चिकितुषी) सब बात यथार्थ रूप से जानती हुई (नः) हमारे राष्ट्र के (रायस्पोषं) धन की सम्पत्ति वृद्धि को (दधातु) करे। कुहू के वर्णन के साथ २ गृहपत्नी के कर्त्तव्यों का भी वर्णन हो गया है। जैसे (१) मैं सुहवा पति (कुहू) जितेन्द्रिय विदुषी पत्नी को यज्ञ में बुलाता हूं। वह हमें सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट पुत्र प्रदान करे। (२) वह अपने अमृत दीर्घायु पति की पत्नी पूजा के योग्य है। वह अपने पति की कामना करती हुई भी हमारे बीच में विदुषी होकर बड़ों की आज्ञा सुने और प्रजाओं को पुष्ट करे।

[४८ (५०)] राका नाम राजसभा और स्त्री के कर्त्तव्यों का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। राका देवता। जगती छन्दः। द्वयृचं सूक्तम् ॥

२-(प्र०) 'पत्नीर्हव्या' (तृ०) 'शृणोतु' इति शां० श्रौ० सू० (तृ०) 'सा दाशुषे किरतु भूरि वामम्' इति मै० सं०। 'सा दाशुषे किरते भूरिपुष्टा' इति पैप्प० सं०। (च०) 'चिकितुषे' सू० इति तै० सं०। 'यजमाने दधातु, इति शा० श्रौ० सू०।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१॥
ऋ० २ । ३२ । ४ ॥

भा०—(अहं) मैं पुरुष (राकाम्) पूर्ण चन्द्रवाली पूर्णिमा के समान शोभना, शोडष कलायुक्त गुणवती स्त्री का (सु-हवा) उत्तम ज्ञान और (सुस्तुती) उत्तम गुण वर्णन युक्त वाणी से (हुवे) वर्णन करता हूं । वह (सुभगा) शुभ सौभाग्य सम्पन्न स्त्री (नः)हमारे उपदेशों को (शृणोतु) श्रवण करे । और (त्मना बोधतु) अपने भीतरी अन्तःकरण से उसको समझे, विचार करे कि वह (अच्छिद्यमानया) कभी न टूटने वाली (सूच्या) सूची से (अपः) सन्तति कर्म को (सीव्यतु) सीये । अर्थात् न टूटते हुए प्रजातन्तु को बनाये रखे । और (शत-दायम्) सैकड़ों दाय धन को प्राप्त करने वाले (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) पुत्र को (ददातु) उत्पन्न करे । अर्थात् सर्वांग गुणसम्पन्ना महिलाएं वीर, उत्तम राजा होने योग्य यशस्वी पुत्रों को उत्पन्न करें ।

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥२॥
ऋ० २ । ३२ । ५ ॥

भा०—हे (राके) सुखप्रदे ! पूर्ण प्रकाशयुक्त स्त्रि ! (याः) जो (ते) तेरी (सु-पेशसः) सुन्दर कान्ति वाली (सु-मतयः) उत्तम बुद्धियां उत्तम विचार हैं (याभिः) जिन्हों से (दाशुषे) अपने सर्वस्व अर्पण करने वाले प्रियतम पति को (वसूनि) नाना प्रकार के जीवन के सुख और नाना धन (ददासि) प्रदान करती है (ताभिः) उन उत्तम विचारों से

[४८] १–(प्र०) 'सुहवाम्' इति पैप्प० सं०, ऋ० ।
२–(च०) 'सहस्रपोषम्' इति ऋ० ।

(सु-मनाः) सदा प्रसन्नचित्त होकर (-नः) हम, प्रजावासियों को हे (सु-भगे) सौभाग्यवति ! (रराणा) नाना प्रकार के आनन्द प्रदान करती हुई या नाना प्रकार से आनन्द प्रसन्न होकर (सहस्र-पोषम्) सब प्रकार के पुष्टि, धन धान्य सम्पत्ति को (उप-आ-गहि) प्राप्त कराओ। उत्तम महिलाएं जिन उत्तम विचारों से अपने पतियों के सुखकारी होती हैं उन विचारों और सत् कर्मों से अपने सम्बन्धी और पड़ोसियों को भी सुखकारी हों।

विश्पत्नी पक्ष में—राका भी उस राजसभा का नाम है जिसमें राजा स्वयं १६ या २० अमात्यों सहित राष्ट्र के कार्यों को विचार करता है। कार्यों की प्रारम्भिक अनुमति प्राप्त करने के लिये 'अनुमति' नामक सभा का वर्णन पूर्व आ चुका है। यह 'उत्तरा' उससे भी उत्कृष्ट राज सभा है जिससे अन्तिम निर्णय प्राप्त करके राजा अपने राष्ट्र में कार्य करे। इस पक्ष में मन्त्रों की योजना निम्नलिखित रूप से जाननी चाहिये।

(१) (राकाम् अहं सुहवां सुस्तुत्या हुवे) राजसभा को मैं स्वयं बुलाता हूं (शृणोतु नः सुभगा) वह श्रीमती राजसभा मेरे निर्णय को सुने। (बोधतु त्मना) स्वयं विचारे। (अछिद्यमानया सूच्या सीव्यतु) न टूटती सूई से जैसे फटे वस्त्रों को सिया जाता है उसी प्रकार वह विचार के योग्य सब अंगों को क्रम से सूक्ष्म बुद्धि से विचार उनको सम्बन्धित करे और (शतदायम्) सैकड़ों लाभप्रद (उक्थ्यं वीरं ददातु) प्रशंस-नीय वीर, कार्यकर्त्ता को नियुक्त करे।

(२) हे (राके याः ते सुपेशसः सुमतयः) राजसभे ! जो तेरी उत्तम सम्मतियें हैं (ताभिः दाशुषे वसूनि ददासि) जिनके द्वारा राजा को नाना धन प्रदान करती हैं (ताभिः नः सुमना: सहस्रं रराणा सुभगे उपागहि) हे श्रीमति ! उनसे ही सुचित्त होकर सहस्रगुण द्रव्य देती हुई प्राप्त हो।

[४९ (५१)] विद्वान् पुरुषों की स्त्रियों के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । देवपत्न्यो देवताः । १ आर्षी जगती । २ चतुष्पदा पंक्तिः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥ ऋ० ५ । ४६ । ७ ॥

भा०—विद्वान् पुरुषों की विद्वान् स्त्रियों को और ऊँचे कर्मों का उपदेश करते हैं—(देवानां पत्नीः) देव=विद्वान् या राज्यशासक अधिकारी लोगों की विद्वान् स्त्रियें भी (उशतीः) सुप्रसन्न, इच्छापूर्वक (नः) हम प्रजा के लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें । और विशेष कर (वाज-सातये) संग्राम यज्ञ और ज्ञानप्राप्ति, शिक्षा के कार्य के लिये और (तुजये)[२] बालकों की रक्षा और राष्ट्र में बल या जोष उत्पन्न करने के लिये वे (नः) हम में (अवन्तु) आदरपूर्वक आवें । और (याः जो पार्थिवासः) राज्य-घराने की उन्नत पदाधिकार पर स्थित रानियां हैं और (याः) जो (अपाम्) प्रजाओं के (व्रते) पालन या शासन के कार्य में या सदाचार शिक्षण में नियुक्त हैं (ताः) वे (देवीः) विदुषी स्त्रियां भी (सु-हवाः) उत्तम उपदेश करने में समर्थ होकर प्रजाओं में (शर्म) सुख शान्ति (यच्छन्तु) प्रदान करें ।

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

भा०—(उत) और (देव-पत्नीः) देव=विद्वान् पुरुषों की स्त्रियां भी (ग्नाः) छन्दोमय वेदवाणियों का (व्यन्तु) अभ्यास किया करें । और

[४९] १–'यच्छत' इति ऋ० । अस्य सूक्तस्य प्रतिक्षत्र आत्रेय ऋषिः । 'यच्छतु' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२–तोकाय अपत्याय इति सायणः; "बलायेति दयानन्दः ।

(इन्द्राणी) इन्द्र, महाराज की स्त्री, (अग्नायी) और सेनापति की स्त्री (अश्विनी). अश्वी, वेगवान् रथ, विद्युत आदि के प्रणेता शिल्पी पुरुषों की और (राट्) राजा की स्त्री, रानी (रोदसी) रुद्र, दुष्टों के रुलाने वाले राष्ट्र के दमनकारी विभाग के अध्यक्ष की स्त्री, (वरुणानी) और वरुण राजनियम विधानकारी न्यायाधीश की स्त्री, ये सब (आश्रृणोतु) कार्य-व्यवहार और स्त्री-संसार के कार्यव्यवहारों को सुना करें। और (जनीनां) प्रजा की स्त्रियों को (यः ऋतुः) जो काल नियत हो उस अवसर में ये (देव्याः) विदुषी स्त्रियां (व्यन्तु) प्राप्त हों । और स्त्रियों की व्यवस्था किया करें ।

स्त्रियों के साक्षी आदि स्त्रिये हों । स्त्रियों के सामाजिक, नैतिक और चिकित्सा आदि कार्य स्त्रियां ही करें और जब २ उत्सव आदि के अवसरों पर भी स्त्रियों के उठने बैठने स्नान तीर्थादि की व्यवस्था उचित हो तब तब स्त्रियां प्रबन्धक हों यह वेद की आज्ञा है ।

[५० (५२)] आत्म-संयम ।

कितववधनकामोंगिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १, २, ५, ८ अनुष्टुप् । ३, ७ त्रिष्टुप् । ४, जगती । ६ भुरिक् त्रिष्टुप् नवर्चं सूक्तम् ।

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥

[५०] —अनुक्रमणिकाहस्तलिपिपुस्तकेषु प्रायः सर्वत्र 'कितवद्वन्धनकामः', 'बन्धनकाम' इति ब्लूमफील्डः, 'द्वन्द्वधन' इति रीडरः, 'वध्यासम्' इतिपदनिर्देशात् 'बाधन' इति व्हिट्निः, वध्यासम्' इति पाठ स्वीकारात् 'वध' इति सायणः । सार्वत्रिकपाठानुसारं 'वध्यासम्' इति सायणसम्मतः पाठः । 'कितववधनकाम' इति पाठः शुद्धः ।

१–(द्वि०) 'विश्वहं' (तृ०) 'एवाहममुं कितवं' इति पैप्प० सं० ।

भा०-(यथा) जिस प्रकार (अशनिः) मेघकी बिजुली (विश्वाहा) सब दिन, सदा ही (अप्रति) विना किसी अन्य को प्रतिनिधि बनाए; स्वयं ही (हन्ति) विनाश करती है (एवा) इस प्रकार ही (अहम्) मैं इन्द्र, आत्मा (अद्य) आज (कितवान्) चतुर जुआड़ी जिस प्रकार जुआड़ियों को स्वयं पासों से मारता है उसी प्रकार इन (कितवान्) जिनके पास कुछ नहीं ऐसे निःस्व, अचेतन जड़ विषयों को (अक्षैः) अपने अक्षों इन्द्रिय गण से (अप्रति) विना अन्य किसी को प्रतिनिधि किये, स्वयं अपने बल से (वध्यासम्) मारूं, या ज्ञान और कर्म का विषय करूं। अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रियों से इन निश्चेतन जड़ पदार्थों का जो जीवन में बाधा उत्पन्न करें उनको दबाकर अपने वश करलूं। अध्यात्म विषय को 'कितव' या जुआरियों की क्रीड़ा के समान 'अक्ष' आदि द्व्यर्थक पदों से श्लेष द्वारा वर्णन किया गया है।

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

भा०—(तुराणां) अति शीघ्रता करने वाली चञ्चल, अविवेकी, (अतुराणाम्) मन्द, जो शीघ्रता न कर सकें, तामस, (अवर्जुषीणाम्) जो अपने दोषों को या प्रकृति सिद्ध स्वभावों को परित्याग नहीं सकतीं ऐसी (विशाम्)[1] प्रजाओं, प्राणेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय रूप अध्यात्म प्रजाओं में से (विश्वतः) जो सब से अधिक (भगः) सम्पत्तिमान, ऐश्वर्यवान् है वह आत्मा (सम्-आ-एतु) मुझे प्राप्त हो। क्योंकि (कृतं) समस्त मेरी क्रिया शक्ति अथवा पुरुषार्थ धर्म, अर्थ काम और मोक्ष कर्म और कर्मफल सब (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) अपने हाथ के भीतर हैं। सायण, ग्रीफ़िथ, ह्विटने आदिने यह मन्त्र जुआरियों पर लगाया है। कि "जुए में, जल्दबाज और मन्दे जो जुए को छोड़ न सकें ऐसे लोगों का सब धन मेरे

२-(च०) "अन्तर्हस्त्यं कृतंमनः" इति पैप्प० सं०।

पास आ जाय क्योंकि कृत (नाम के चार पासे) मेरे हाथ में है ।" ऐसे जुआखोरी परक अर्थ वेदमन्त्र को शोभा नहीं देते क्योंकि अंगिरा ऋषि अथवा वेदप्रवक्ता ईश्वर कभी ऐसा नहीं कह सकता । वह जुआ खोर नहीं हैं । ऋषि 'अंगिराः' अर्थात् वह ऋषि हैं जो अपने को ज्योतिष्मान् आत्मा रूप से अंगों में रस के समान अनुभव कर रहा है और इन्द्र देवता है । इन्द्र आत्मा को कहा जाता है ।

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः ।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥ ३ ॥
ऋ० ५ । ६ । १० ॥

भा०—मैं (अग्निं) प्रकाशस्वरूप (स्व-वसुम्) स्व=अपने देह के या आत्मा के भी भीतर वसने वाले उस प्रभु को (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (ईडे) स्तुति करता हूं । वह (इह) इस लोक में (प्र-सक्तः) अपनी उत्तम शक्ति से सर्वत्र व्यापक रहकर (नः) हमारा (कृतं) किया पुरुषार्थ हमें ही (वि चयत्) नाना प्रकार से प्रदान करता है । संग्राम में (वाजयद्भिः) बल पकड़ते हुए या वेग से जाते हुए (रथैः-इव) रथों से जिस प्रकार नाना देशों को जाता हूं और उन को वश करता हूं उसी प्रकार मैं आत्मा का साधक योगी (प्र-दक्षिणं) स्वयं अति उत्कृष्ट बलशाली (स्तोमं) समूह, इन्द्रियगण को (ऋध्याम्) अपने वश करूँ । और उन की शक्ति को बढ़ाऊँ । विजयशील सेनापति के पक्ष में भी उपमा के बल से लगता है । मन्त्र तैत्तिरीयब्राह्मण, मैत्रायणी संहिता में भी आता है वहां कहीं भी इस मन्त्र का द्यूतक्रीड़ा से सम्बन्ध नहीं है । इसलिये जूए के पक्ष में सायणकृत अर्थ असंगत है ।

३–ऋग्वेदे श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः । (द्वि०) 'इह प्रसत्तो' । 'प्रदक्षिणिन् मरुताम्' इति ऋ० । (प्र०) 'स्ववसम्' इति तै० ब्रा० मै० सं० । 'प्रदक्षिणित्' इति पैप्प० सं० । 'ऋन्ध्याम्' इति क्वचित् ।

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥४॥
ऋ० १ । १०२ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र परमेश्वर ! (त्वया) तुझ (युजा) सहायक की सहायता से (वयं) हम (वृतं) आवरणकारी, घेरने वाले तामस आवरण को (जयेम) विजय करें । जिस प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा की सहायता से उसके सैनिक अपने नगर को घेरने वाले पर विजय प्राप्त करते हैं उसी प्रकार ईश्वर की सहायता से हम साधक गण आत्मा को घेरने वाले तामस आवरण अथवा राजस इन्द्रियगण को अपने वश करें । हे प्रभो ! (भरे-भरे) प्रत्येक संग्राम में (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) व्यापक आत्मा को (उत् अव) उन्नति की तरफ ले जाओ । हे इन्द्र ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वरीयः) सबसे उत्कृष्ट और महान् मोक्षपद को भी (सुगम्) सुखसे प्राप्त करने योग्य (कृधि) कर । और (शत्रूणां) हमारे बल और ज्ञान का नाश, शातन=नाश करने वाले काम क्रोध आदि शत्रुओं के (वृष्ण्या) बलों को (प्ररुज) अच्छी प्रकार तोड़ डाल । इस मन्त्र का भी द्यूतक्रीड़ा से कोई सम्बन्ध नहीं । अतः सायण आदि का द्यूतपरक अर्थ असंगत है ।

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रतिपक्ष ! राजस और तामसभाव (सं-लिखितम्) खूब अच्छी प्रकार शिला पर खुदे हुए लेख के समान हृदय पटल पर अंकित अथवा भूमिमानचित्र के समान आलिखित (उत) और (सं-रुधम्) हरेक उन्नति के कार्य में मुझे आगे बढ़ने से रोकने वाले,

४–(तृ०) 'वरिवः' इति ऋ० । ऋग्वेदे कुत्स आंगिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

विघ्नकारी बाधक को मैंने अपने आत्मा के बल से (अजैषम्) जीत लिया है। और (यथा) जिस प्रकार (अविम्) भेड़ को (वृकः) भेड़िया (मथद्) पकड़ कर झंझोट डालता है उस प्रकार (ते) तेरे (कृतम्) किये दुष्फल को (मन्थामि) मैं भी मथ डालूं। अध्यात्म वेदी के लिये दो ही पदार्थ हैं। एक अस्मद्-विषय आत्मा और दूसरा 'युष्मद्-विषय' संसार। यहां संसार के प्रवर्तक अविद्या कृत आवरण को मथ कर तम या वृत्र पर जिसको पूर्व मन्त्र में 'वृत' कहा है विजय का प्रत्यक्ष रूप दर्शाया है।

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः॥६॥

ऋ० १० । ४२ । ९ ॥

भा०—(उत) और (इन्द्रः) इन्द्र ही ईश्वर या राजा ऐश्वर्यवान् जीव ही समस्त प्राणों में (अति-दीवा) अत्यन्त अधिक तेजस्वी क्रियावान्, व्यवहारवान्, आनन्दी, हर्षवान् होने के कारण (प्र-हाम् जयति) अपने मारने वाले को भी जीत लेता है। (काले) उचित समय पर (श्व-घ्नी) चतुर द्यूतकार जिस प्रकार (कृतम्-इव) अपने जयप्रद 'कृत' नामक अक्ष को खोज लेता है उसी प्रकार वह आत्मा (काले) अपने उचित अवसर में अपने (कृतम्) किये कर्म इष्ट और आपूर्त्त उपकार के कर्मों के (विचिनोति) अपने सुख प्राप्ति के निमित्त चुनता है और करता है। (यः) जो पुरुष (देव-कामः) विद्वान् महात्मा देवतुल्य पुरुषों के निमित्त अपने (धनं) धनको (न रुणद्धि) रोके नहीं रखता प्रत्युत उत्तम सज्जन पुरुषों के उपकार तथा उस की अभिलाषा के अनुकूल व्यय करता है इन्द्र परमेश्वर (तम् इत्) उसको ही (स्वधाभिः) अपने दानशा-

६–(प्र०) "अतिदिव्यो जयाति' इति ऋ०। (प्र०) 'जयाति' (च०) 'स्वधावान्' इति सायणाभिमतौ।

लियों से (रायः) धन, सम्पत्तियां (सं सृजति) प्रदान करता है। ऋग्वेद में यह मन्त्र इन्द्र की स्तुति में है। सायण ने वहां उत्तम अर्थ करके भी इस स्थल पर इस मन्त्र को भारी जुआरिये पर लगा दिया है। 'श्वघ्नी' उपमान होने से उपमेय को भी कितव मानना असंगत है। ह्विटनी आदि सायण के उत्पादित भारी भ्रम में पड़ गये हैं।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ४२ । १० ॥

भा०—हम (दुःएवाम्) दुःख प्राप्त कराने वाली (अमतिम्) दुर्गति या दरिद्रता को (गोभिः) गौ आदि पशुओं को पालन करके (तरेम) पार करें, अर्थात् गोपालन से हम अपनी दरिद्रता को नाश करें। हे (पुरु-हूत) बहुत प्रजाओं से पूजित इन्द्र ! राजन् ! (यवेन) जौ आदि धान्यों से (विश्वे) हम सब (क्षुधम्) भूख को (तरेम) पार करें। अन्न से भूख को शान्त करें और (राजसु) राजाओं के बीच में (प्रथमाः) उत्कृष्ट पद प्राप्त करके (वयं) हम लोग (अरिष्टासः) परस्पर की हिंसा न करते हुए, स्वयं भी सदा सुरक्षित रहकर (वृजनीभिः) बलवती शक्तियों द्वारा (धनानि) नाना प्रकार की धन[1] सम्पत्तियों को (जयेम) जीतें. प्राप्त करें।

सायण ने इस मन्त्र में भी 'वृजनी' शब्द से बलकारिणी पासे की रमल की दण्डियां ली हैं। यदि वे ऋ० १० । ४२ । १० ॥ में अपने ही किये इस मन्त्र का अर्थ देख लेते तो अथर्ववेद में यह अनर्थ न करते।

७–(द्वि०) 'पुरुहूत विश्वाम्' (तृ०) 'वयं राजभिः' (च०) 'धनान्यस्माकेन वृजनेनाजयेम' इति ऋ०। १. वृजनेन बलेन इति सायण ऋग्वेदभाष्ये। बलकारिणीभिरिति अथर्वभाष्ये। अक्षशलाकाभिरिति विशेष्यपदं सायणस्य स्वकपोलकल्पितम्।

अध्यात्म पक्ष में-(गोभिः) वेद वाणियों से दुर्गम (अमतिम्) अविद्या को पार करें, हे पुरुहूत परमात्मन् ! हम सब सात्विक होकर यव आदि अन्नों से भूख को दूर करें। राजमान, विद्वानों में श्रेष्ठ होकर हम परस्पर हिंसा न करके प्रेम से रक्षा करते हुए अपनी (वृजनीभिः) बाधाओं और विषय प्रलोभनों का वर्जन कर देने वाली त्याग-वृत्तियों और वैराग्य साधनाओं से (धनानि) धारणीय बलों को प्राप्त करें।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

भा०—(मे) मेरे (दक्षिणे) दायें (हस्ते) हाथ में (कृतं) मेरा अपना किया हुआ कर्म, पुरुषार्थ है और (मे सव्ये) मेरे बायें हाथ में (जयः) जय, विजय (आ-हितः) रक्खी है। मैं अपने परिश्रम से (गो-जित्) गोधन का विजेता, (अश्व-जित्) अश्वों का विजेता और (धनं-जयः) धनका विजेता और (हिरण्य-जित्) स्वर्ण का विजेता (भूयासम्) होऊं। अध्यात्म में—कृत=साधना या तपस्या एक हाथ में है तो दूसरे हाथ में सब विषयों पर विजय है। तप के बल से गो=इन्द्रियां, अश्व=कर्मेन्द्रिय और मन और धन=अष्ट सिद्धियां और (हिरण्य) आत्मा और नवनिधियों पर भी वश हो जाता है।

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

भा०—हे (अक्षाः) इन्द्रिय गण ! जिस प्रकार धनी पुरुष (क्षीरिणीम्-इव) दूध वाली दुधार (गां) गौ को दान देते हैं उसी प्रकार तुम (फल-वतीं) उत्तम फलवाली (द्युवं) क्रिया को या ज्ञानव्यवहार को (दत्त)

८—(प्र०) 'दिवं' इति पैप्प० सं० ।

प्रदान करो। और (मां) मुझ को (कृतस्य) अपने किये उत्तम कर्म की (धारया) परम्परा से (स्नाव्ना-इव) तांत से (धनुः) धनुष के समान (सं नह्यत) और प्रबल रूप से, भली प्रकार बांध लो।

[५१ (५३)] रक्षा की प्रार्थना।

अंगिरा ऋषिः। इन्द्रबृहस्पती देवते। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु॥१॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति बड़े बड़ों का स्वामी, (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से या पश्चिम दिशा से (उत) और (उत्-तरस्मात्) उत्तर दिशा या ऊपर से, (अधरात्) नीचे से या दक्षिण दिशा से (अघयोः) पापी हत्यारे पुरुष के हाथ से (पातु) बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा, (पुरस्तात्) आगे से या पूर्व दिशा से और (मध्यतः) बीच में से बचावे। और (नः) हमारा सखा परमात्मा या इन्द्र (सखिभ्यः) हम मित्रों के लिये (वरीयः) श्रेष्ठ पदार्थ या उत्तम कार्य (कृणोतु) करे अथवा (सखा सखिभ्यः नः वरीयः कृणोतु) हममें से प्रत्येक मित्र-भाव से अन्यों को मित्र जान कर उनके लिये अपनी शक्ति से उत्तम से उत्तम कार्य करे या आश्रय दे।

इन्द्र और बृहस्पति राष्ट्रपक्ष में राजा के वाचक हैं, अध्यात्म में प्राण के या परमेश्वर के।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः॥

[तत्र सूक्तानि त्रयोदश त्रिंशच्चर्चः]

[५१] १–वरीवः कृणोतु इति पैप्प० सं० ॠ०।

[५२ (५४)] परस्पर मिलकर रहने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। सांमनस्यकारिणावश्विनौ देवते। १ ककुम्मती अनुष्टुप् जगती। द्वृचं सूक्तम्॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥१॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो! स्त्रीपुरुषो! (नः) हमारा (स्वेभिः) अपने बन्धुओं के साथ (सं-ज्ञानं) उत्तम संमति, एकमति, मेलजोल रहे और (अरणेभिः) जो लोग हमें प्रिय नहीं लगते उनके साथ भी (सं-ज्ञानम्) हमारा मेलजोल बना रहे, (इह) इस समाज में (अस्मासु) हमारे बीच में (युवम्) तुम दोनों गृहस्थ में नव प्रविष्ट स्त्री-पुरुष पति-पत्नी होकर आये हो तुम भी हम में (सं-ज्ञानम्) परस्पर मेलजोल (नियच्छतम्) बनाये रक्खो। नये सम्बन्ध होने से, नव-वधुओं के घर में आते ही बहुत से कलह उत्पन्न होते हैं अतः नवप्रविष्ट गृहस्थों को यह उपदेश है।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते॥२॥

भा०—हम लोग (मनसा) चित्त से सदा (सं जानामहै) आपस में मिल कर, सम्मति करके रहा करें, और (सं चिकित्वा) उत्तम रीति से आपस के सब मामलों को समझ बूझ कर (दैव्येन) विद्वानों के

[५२] १—(प्र० द्वि०) 'स्वः संज्ञानमरणैः', 'स्वभ्यः संज्ञानमरणेभ्यः', (च०) 'अस्मास्वनियच्छतु' इति क्वचित् पाठ।

२—(द्वि०) 'मा युत्स्महि' इति ह्विटनि सम्मतः। (च०) 'विनिर्हुतम्' इति सायणाभिमतः।

(मनसा) मननशील चित्त के अनुसार होकर आपस में (मा युष्महि) फूट २ कर, जुदा जुदा न रहें और (बहुले) अन्धकार के (वि-निर्हते) आ जाने पर हमारी बस्तियों में (घोषाः) हाहाकार के शब्द (मा उत्-तस्थुः) न उठा करें और (अहनि आ-गते) दिन के आते ही प्रातःकाल ही (इन्द्रस्य) इन्द्र, ईश्वर का (इषुः) वाण या दैवी विपत्ति (मा पप्तत्) हम पर न आ पड़े । या (इन्द्रस्य इषुः) राजा के वाण, ऐश्वर्य-वानों के वाण गरीबों पर न पड़ें । हम मिल कर रहें, समक्ष बूझ कर, विचार कर आपस में न फूटें, रात्रि में चोरी डाके, हत्या आदि कुकर्म न हों, दिन में दैवी विपत्ति या राजकीय अत्याचार या ऐश्वर्यवान् पुरुषों के गरीबों पर आक्रमण न हों ।

[५३ (५५)] दीर्घायु की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । आयुष्यकारिणो बृहस्पतिरश्विनौ यमश्च देवताः । १ त्रिष्टुप् । ३ भुरिक् । ४. उष्णिग्गर्भा आर्षी पंक्तिः । ५ अनुष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥१॥
यजु० २७ । ९ ॥

भा०—हे (बृहस्पते)[१] बड़े २ लोकों के स्वामिन् ! वा इंद्रियों के पालक ! हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! सर्वप्रकाशक ! (यद्) जब आप मुख्य

[५३] १-(द्वि०) 'बृहस्पति रभिशस्त्यामुञ्चात्' इति पैप्प० सं० । 'प्रतिमर्त्यं महतामश्विना त' इत्यपि क्वचित् । 'बृहस्पते अभिशस्ते' 'मृत्युमस्माद्' (प्र०) अमुत्रभूयादध' इति यजु० ।

१—सम्बुद्धावपि छान्दसः सोर्लोपाभावः इति सायणः ।

प्राण जीव (अमुत्र-भूयात्)[२] परलोक या परकालमें होनेवाले (यमस्य) सर्वनियामक यमस्वरूप प्रभु की दी (अभि-शस्तेः) मरणवेदना से तू अपने को (अमुञ्चः) मुक्त कर लेता है और (अश्विना) अश्विगण प्राण अपान, (देवानां भिषजा) देवगण, इन्द्रियों या विद्वज्जनों के चिकित्सक होकर (शचीभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (अस्मत्) हम से (मृत्युम्) देह और आत्मा के छूट जाने की घटना को (प्रति औहताम्) दूर करें । अथवा (अश्विनौ) शल्यतन्त्र और औषधतन्त्र के ज्ञाता दोनों प्रकार के चिकित्सक लोगोंके मृत्यु के भय कोदूर करें ।

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (सं क्रामतम्) तुम दोनों समान रूपसे बराबर चलते रहो । (शरीरं) शरीर को (मा जहीतम्) कभी मत छोड़ो । हे बालक ! (ते) तेरे प्राण और अपान दोनों (इह) इस शरीर में (स-युजौ) सदा साथ सहयोगी होकर (स्ताम्) रहें । और हे बालक ! तू (वर्धमानः) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (शरदः शतं) सौ बरस (जीव) जीवित रह । (अधि-पाः) सब प्राणों का अधिपति (वसिष्ठः) शरीर में सब से मुख्य रूप में वास करता हुआ श्रेष्ठ वसु (अग्निः) प्राणरूप मुख्य जीव=अग्नि (ते) तेरा सब से उत्तम (गोपाः) रक्षक है ।

प्राणरूप अग्नि का वर्णन आथर्वण प्रश्नोपनिषत् में—'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।' इत्यादि छान्दोग्य उपनिषत् में भी प्राण-अग्निका वर्णन है । वसिष्ठ-प्राण का वर्णन बृहदारण्यक उप० (६ । १ । ७)—"ते तेह इमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः । तद् होचुः-

२–अमुत्र । भूयात् । इति पदच्छेदः इति उव्वटः ।

[५३] २–(तृ०) 'संरभ्य जीव शरदः सुवर्चाग्नि' इति पैप्प० सं० ।

को नो वसिष्ठ इति । तद् होवाच । यस्मिन् वः उत्क्रान्ते इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ।" जिसके उत्क्रमण होने पर यह शरीर शव हो जाता है वही वसिष्ठ अग्नि मुख्य प्राण जीव है । पूर्व मन्त्र में पठित 'अश्विनौ' इस मंत्र में 'प्राणापानौ' कहे गये हैं और पूर्व मंत्र में पठित 'अग्नि' को इस मंत्र में 'अधिपा वसिष्ठः' पद से कहा गया है ।

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥३॥

भा०—हे बालक ! (ते) तेरी (यत्) यदि (आयुः) जीवन-काल (पराचैः) दूर भी (अति-हितं) कर दिया हो तो भी (प्राणः अपानः) प्राण और अपान (तौ) दोनों (पुनः) फिर भी (आइताम्) इस देह में आजावें । (अग्निः) मुख्य प्राण रूप जीवन की अग्नि ही (निर्ऋतेः) अति कष्टमय मृत्यु अथवा अविद्या के (उप-स्थात्) समीप से (तत्) उस आयु को (पुनः) फिर (आहाः) ले आता है । (तत्) उस आयु को (ते) तेरे (आत्मनि) देह में (पुनः) फिर भी (आ-वेशयामि) प्रवेश करा दूं ।

यदि शरीर में से प्राण अपान के रुकजाने से जीवन की आशा दूर भी होजाय तो भी प्राण और अपान, श्वास और उच्छ्वास दोनों की गति ठीक कर देने पर जीवन पुनः अपने को सम्भाल ले सकता है । देह में इस प्रकार योग्य प्राणाचार्य पुनः जीवन प्रवेश करा सकता है ।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्यं एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ ४ ॥

४–(प्र०) 'मा त्वा प्राणोदासीद् यस्मे प्रविष्टो' 'मा त्वाऽपानो वहाय 'परिदद्महे' 'नयन्तु' इति पाठभेदाः । पैप्प० सं० । 'मो आपानो' 'मोव्यानो ऽवहायेति' ह्नरी कामितः पाठः ।

भा०—(इमं) इस बालक के शरीर को (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न छोड़े, और (अपानः उ) अपान वायु भी इसको (अवहाय) छोड़कर (परा) दूर (मा गात्) न जाय। मैं पिता और आचार्य अपने बालक को (सप्तर्षिभ्यः) सात ऋषि, ज्ञान द्रष्टा प्राणों के अधीन (परि ददामि) सौंपता हूं। (ते) वे सातों प्राण (एनं) इस जीव को (जरसे) बुढ़ापे के काल तक (स्वस्ति) सुखपूर्वक (वहन्तु) पहुंचा दें।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥५॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान! तुम दोनों (व्रजम्) पशुशाला में (अनड्वाहौ-इव) दो बैलों के समान इस देह में (प्रविशतम्) प्रवेश करो। (अयं) यह बालक (जरिम्णः) वार्धक कालका भी (शेवधिः) पात्र, खज़ाना, हो, अर्थात् वह बुढ़ापा भी लम्बा भोगे। और (अरिष्टः) विना किसी प्राणबाधा के कुशलपूर्वक (इह) इस लोक में (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥६॥

भा०—हे बालक! (ते) तेरे (प्राणं) प्राण शक्तिको (आ सुवामसि) समस्त शरीर में प्रेरित करें। और (ते) तेरे (यक्ष्मम्) रोग को (परा सुवामसि) दूर करते हैं। (अयम्) यह (अग्निः) मुख्य प्राण ही (नः) हमें (विश्वतः) सब प्रकार से (दधत्) भरण-पोषण करता है और इसी लिये (वरेण्यः) सब से श्रेष्ठ और सबके वरण करने योग्य है।

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥७॥

ऋ० १ । ५० । १० ॥ यजु० २७ । १० । २० । २१ ॥

भा०—(वयं) हम (तमसः) तमस; अन्धकार, अविद्या, अज्ञान, दुःख, इसके मूल पाप से (परि) दूर, ऊपर (उत्) ऊंचे होवें और (उत्-तमम्) सबसे श्रेष्ठ (नाकम्) सुखमय परम पदको (उद्-रोहन्तः) प्राप्त होते हुए (देव-त्रा) प्रकाशमान्, ज्ञानवान् लोकों और पुरुषों के भीतर (सूर्यम्) सूर्य के समान प्रकाशक प्रेरक (उत्-तमं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट परम ज्योतिःस्वरूप (देवम्) उस परम देव प्रभु को (अगन्म) प्राप्त करें ।

इस सूक्तमें दीर्घ जीवन प्राप्त करने और उसमें परम प्रभु को प्राप्त कर मोक्ष पालेने का उपदेश किया गया है । वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

[५४ (५६, ५७–१)] ज्ञान के भण्डार वेद ।

भृगुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥१॥

भा०—हम विद्वान् लोग (ऋचं) ऋग्वेद और (साम) सामवेद मन्त्र पाठ और उनके गायन प्रकार दोनों का (यजामहे) अपने शिष्यों को उपदेश करते हैं । (याभ्यां) जिन दोनों के द्वारा

७–'उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् । इति ऋ० । (च०) 'स्वः पश्यन्त उत्तरम्' । इति यजु० ।

(कर्माणि) समस्त यज्ञ कर्म और लौकिक और पारमार्थिक कर्म (कुर्वते) लोग किया करते हैं । (सदसि) इस संसार में (एते) ये ऋग्वेद और सामवेद दोनों ही (राजतः) प्रकाशमान हैं, आदर से देखे जाते हैं । और ये दोनों और (देवेषु) विद्वानों के भीतर (यज्ञं) यज्ञ को या प्रभु परमात्मा के स्वरूप को (यच्छतः) उपदेश करते हैं । उदरमेवाऽस्य यज्ञस्य सदः । श० ३ । ५ । ३ । ५ । प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत्सदः । तां० ६ । ४ । ११ । तस्मात् सदसि ऋक्सामभ्यां कुर्वन्ति । ऐन्द्रं हि सदः । श० ४ । ६ । ७ । ३ ॥ तस्य पृथिवी सदः । तै० २ । १ । ५ । १ । अर्थात् यज्ञका उदर भाग 'सदः' स्थान होता है । वह प्रजापति का उदर भाग है । वह इन्द्र विषयक है । उसमें ऋग्वेद और साम का पाठ होता है । यह पृथिवी ही 'सदः' है । इसमें प्राणी विराजते हैं ।

ऋचं साम यदप्राक्षं ह॒विरोजो॒ यजु॒र्बल॑म् ।
एष मा तस्मा॒न्मा हिं॑सी॒द् वेदः॑ पृ॒ष्टः श॑चीपते ॥२॥

भा०—मैं (यद्) जब (ऋचम्) ऋग्वेद से (हविः) ज्ञानमय साधन और (साम) साम से (ओजः) आत्मिक बल और (यजुः) यजुर्वेद से बाह्य क्रियामय, शारीरिक बल को (अप्राक्षम्) प्राप्त करने या जानने की इच्छा करूं तब हे (शची-पते) शक्तियों के और वाणी के स्वामी इन्द्र ! आचार्य ! (एषः) यह (वेदः) ज्ञानमय वेद ईश्वरीय ज्ञानभण्डार (पृष्टः) इस प्रकार पूछा गया (तस्मात्) इस कारण से (मा) मुझे (मा हिंसीत्) विनाश न करे । ऋग्वेद से व्यवहार के साधनों का ज्ञान करे, साम से आत्मबल या ब्रह्मबल प्राप्त करे यजुर्वेद से कर्मकाण्ड और क्षात्रबल का सम्पादन करे इस प्रकार वेद या ईश्वरीय ज्ञान किसी के विनाश का कारण नहीं होता ।

[५५ (५७-२)] आनन्द की प्रार्थना ।

भृगुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् परा उष्णिक् । एकर्चं सूक्तम् ॥

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः ।
तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ १ ॥ साम० प्र० २ । ८ । ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (ते) तेरे (ये) जो (पन्थानः) मार्ग या प्रेरक शक्तियां (दिवः) प्रकाशमान सूर्य के समान शक्तिपुञ्ज या द्यौलोक के (अव) अधीन हैं (येभिः) जिन्हों से (विश्वम्) समस्त संसारको (ऐरयः) चला रहा है। (तेभिः) उन शक्तियों से हे (वसो) समस्त संसार को बसाने हारे प्रभो ! (नः) हमें (सुम्न या) सुखकारी दशा में (आधेहि) रख। अध्यात्म में—द्यौ=ब्रह्माण्ड कपाल के नीचे जो प्राणमार्ग हैं जिन से (विश्वम्) समस्त देह प्रेरित, संचलित होता है उन इन्द्रियों या प्राणों सहित हे वसो ! आत्मन् हमें (सुम्नया) सुम्ना=सुमना=सुषुम्ना नाड़ि के द्वारा समाधि दशा में प्राप्त करा। विशेष देखो सामवेद भाष्य पृ० १०२ सं० [१७२]

[५६ (५८)] विषचिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः वृश्चिकादयो देवताः । २ वनस्पतिर्देवता ।
४ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । १-३, ५-८ अनुष्टुप् । ४ विराट्
प्रस्तार पंक्तिः । एकर्चं सूक्तम् ॥

---

[५५] १—'ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः । उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥' इति साम० । तत्र वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

१. 'सुम्ने । आ' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

भा०—(इयं) यह (वीरुत्) लता, ओषधि (तिरश्चि-राजेः) तिरछी धारियों वाले, (असितात्) काले नाग और (पृदाकोः) महानाग से (परि सम्-भृतम्) शरीर में प्रवेश कराये हुए (विषम्) विषको और (कङ्क-पर्वणः) कौवे के समान पोरुओं वाले उड़ने सांप के (विषम्) विष को भी (अनीनशत्) विनाश करती है ।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

भा०—(इयम्) यह (विरुत्) लता ओषधि (मधु-जाता) मधु=पृथिवी से उत्पन्न है (मधु-ला) मधु=मदकारी गुण को प्राप्त कराने वाली; (मधु-श्चुत्) मधुर रस को चुआने वाली (मधूः) मधु ही है वह (वि-ह्रुतस्य) विशेप रूप से कुटिलगामी सर्पों के विषम विषकी भी (भेषजी) उत्तम चिकित्सा है (अथो) और (मशक-जम्भनी) मच्छर आदि विषैले कीटों को भी नाश करती है ।

सायण ने 'मधु' शब्द से मधुक ओषधि ली है वह क्या है इस में संदेह है । क्योंकि वह बहुतों का नाम है । परन्तु हमारी सम्मति में यह स्पष्टतः 'मधु'=शहद है । मधु के गुण राजनिघण्टु में—

'छर्दिहिक्का विषश्वास कासशोषातिसारजित्'

मधु वमन, हिचकी, विषवेग, सांस, दमा, खांसी और तपेदिक अतिसार आदि नाश करता है ।

उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया लघु ।
'उष्णार्त्तरुष्णैरुष्णैर्वा तन्निहन्ति तथा विषम् ।'

---

[५६] १–(तृ०) 'तदङ्गपर्वणो विषम्' इति पैप्प० सं० ।

मधुरुष्ण स्वभाव के पदार्थों से मिलकर हानि उत्पन्न करता है, वह स्वयं विप हो जाता है, इसलिये वह उस समय विप का भी नाश करता है ।

यतो दुष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि ।
अभेस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विपम् ॥३॥

भा०—हे विपार्त्त नाग से काटे हुए पुरुप ! तेरे शरीर में (यतः) जिस स्थान से (दष्टम्) नाग ने या विपैले जीव ने काटा है (यतः) और जिस स्थान से (धीतं) रक्तपान किया है । (ततः) उसी स्थान से हम उसके विप को (निर्ह्वयामसि) वाहर कर दें । इस प्रकार (तृप्र-दंशिनः) भरपेट या अति शीघ्र काट लेने वाले, तेज़ काढ़ने वाले (अर्भस्य) वालक सर्प के और (मशकस्य) मच्छरों का भ (विपं) विप (अरसम्) निर्वल होजाता है ।

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोपि ।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इपीकामिव सं नमः ॥ ४ ॥

भा०—विपों को वश करने की रीति लिखते हैं— हे (ब्रह्मणस्पते) वेदविद्या के विद्वान् ! (यः) जो (अयं) यह (वक्रः) टेढ़ा मेढ़ा (वि-परुः) सन्धिस्थानों में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ । (वि-अङ्गः) अङ्गों में विकार दिखाता हुआ, छटपटाता हुआ, काले नाग से काटा हुआ

३–'यतो दष्टं यतः प्रतं ततस्ते निर्नयामसि । अर्भस्य तृप्तदंश्मनो मशकस्यारसं विषम्' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'निर्वयामसि' (तृ०) 'त्रिप्रदंशिनः' इति पाठौ सायणाभिमतौ । तत्र 'त्रि-प्रदं-शिनः इति च्छेदः ।

४–'अयं यो विकरो विकटो विपर्वा अह मुखानि वृजिना कृणोषि । तानि त्वं देव सवित रिषीकामिव संनमः ।' इति पैप्प० सं० ।

पुरुष (वृजिना) वर्जन करने योग्य या वलपूर्वक, असाध्य रूप से (मुखानि) मुखों को (वक्रा) टेढ़े मेढ़े (कृणोषि) करता है। (तानि) उनको (त्वं) तू (इषीकाम्-इव) सींख के समान (सं नमः) झुका दे, या सीधा कर दे।

अथवा —यह सर्प काटे पुरुष पर न लगकर सर्प भी पर लगता है। (अयं-यः) यह जो सर्प, (विपरुः) नाना पोरुओं वाला, (विअंङ्गः) विचित्र शरीर का (वृजिना) दुःखदायी प्रहार करने वाले (मुखानि) मुखों को (वक्रा) टेढे करता है। फुंफकार २कर मारता है। हे (ब्रह्मणस्पते) विद्वन्! (त्वं) तू (तानि) उसके इन सब कुटिल मुखों को (इषीकामिव सं नमः) सींख के समान झुका देता है। अर्थात् तेरे मन्त्र और ओषधिवल से वह नाग अपने फन को धरती पर झुका लेता है। सायणादि भाष्यकारों ने उक्त मन्त्र की पूर्व रीति से व्याख्या की है। हमें दूसरी सहमत है।

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

भा०—नाग-दमन का उपदेश करके अब उनके विष-संग्रह का उपदेश करते हैं। पूर्वोक्त रीति से (अरसस्य) मन्त्र और औषध के वल से निर्वल हुए और (नीचीनस्य) नीचे पड़े २ (उपसर्पतः) सरकते हुए (अस्य) इस (शर्कोटस्य) शर्कोट या कर्कोट नामक भयंकर महानाग के भी (विषं) विष को मैं विषविद्या का वेत्ता पुरुष (आ-अदिषि) तोड़ डालता हूँ या ले लेता हूँ। उसको पकड़ कर उसके मुख से निकाल सकता हूँ और फिर (एनम्) उस नाग को (अजीजभम्) मार डालूं या पकड़ कर अपने वन्धन में रखलूं।

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥ ६ ॥

भा०—हे वृश्चिक आदि कीट (ते) (तेरी (वाह्वोः) वाहुओं में (वलं न अस्ति) वल नहीं है (न शीर्षे) न सिर में वल है, (उत) और (मध्यतः नः) वीच भाग में भी वल नहीं है । (अथ) तो फिर (अमुया) इस (पापया) पापमय, दूसरे को कष्ट पहुंचाने वाली वृत्ति से (किं) क्या (पुच्छे) पूछ में (अर्भकम्) छोटासा विषैला कांटा या थोड़ा सा विप (विभर्षि) रक्खे हुए है ।

जिनकी पूछ में विप है वे कीट सव उसी जाति के हैं जिनके वाहु, सिर और वीच के भाग में वल नहीं होता, प्रत्युत पापवुद्धि से प्रेरित होकर वे अपने भी पूंछ के थोड़े से विप से भी वहुतसा विनाश किया करते हैं । इसके अतिरिक्त, सर्प के भी शिर, वाहू और वीच में वल नहीं होता प्रत्युत पूंछ में विप होता है । लोग उसके मुंह, पूंछ काट कर पकाकर खा जाते हैं । कदाचित् उस विप-पुच्छ वाले सर्प का ही यह वर्णन है । अगले मन्त्र में 'शर्कोट' का पुनः वर्णन है ।

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥

भा०—हे सर्प ! (त्वा) तुझे (पिपीलिकाः) कीड़ियां (अदन्ति) खा जाती हैं । और (मयूर्यः) मोरनियां, मोरनियों और मुर्गियों को सभी जातें (वि वृश्चन्ति) तुझे नाना प्रकार से काट डालती हैं । हे पिपीलिकाओतु और मोरनियो ! तुम जीव गण जो सर्प को खा जाती और काट फाट डालती हो ! (सर्वे) तुम सव (भल)[1] भली प्रकार (ब्रवाथ) वतलारही हो कि (शार्कोटम्) शर्कोट या कर्कोटक नाग का (विषम्) विष (अरसम्) निर्वल है । अर्थात् उसके विप का प्रवल प्रतिकार भी उपस्थित है ।

१–'भल ब्रवाथ' इत्येकं पदं सहइति योगविभागात् तिङन्तेन समासः इति सायणः । 'भल ब्रवाथ ।' इति पदद्वयमिति पदपाठः।

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्ये/न च ।
आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

भा०—(यः) जो तू (पुच्छेन च) पूंछ से भी और (आस्येन च) मुख से भी (प्रहरसि) प्रहार करता है, काटता है, (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (विषं न) विष नहीं है (किम् उ) तो क्या वह (पुच्छ-धौ) पूंछड़ी में (असत्) है।

(पुच्छधि) 'पुच्छवत् आधीयते इति पुच्छधिः भावे धेः' पुच्छ के समान जिस अंग को धारण किया है वह 'पुच्छधि' कहाता है। हिन्दी में 'पूंछड़ी' है।

[५७ (५९)] सरस्वती रूप ईश्वर से प्रार्थना ।

वामदेव ऋषिः । सरस्वती देवता । जागतं छन्दः । ऋचं सूक्तम् ॥

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो/मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥ १ ॥

भा०—(जनान्) सर्वसाधारण लोगों के (अनु) हित के लिये उनके (मे वदतना) मेरे बोलते हुए (आशसा) उनके घात प्रतिघात, पीड़ाकारी प्रयत्न, हिंसन आदि द्वारा मेरा (यत्) जो मन (वि-चुक्षुभे) विक्षोभ या व्याकुलता को प्राप्त हो, और (जनान् अनु चरतः) लोगों के हित के लिये उनके पास जा २ कर (याचमानस्य) भिक्षा करते हुए (यत् मे विचुक्षुभे) जो मेरा मन विक्षोभ, व्याकुलता या बेचैनी को प्राप्त हो और (मे तन्वः)

८–(तृ०) 'आस्ये च नते विषं' इति पैप्प० सं० ।

[५७] १–यदाशसा मे चरतो जनान् अनु यद्याचमानस्य वदतो विचुक्षुभे । यन्मे तन्वो रजसि प्रविष्टं सरस्वती तदा पृणाद् घृतेन । इति पैप्प० सं० । 'तदात्मनि' इति सायणसम्मतः । 'सरस्वति' इत्यपि क्वचित् ।

शरीर में और (आत्मनि) आत्मा और मनमें (यत् विरिष्टं) जो विशेष रूप से क्षति आयी हो, चोट पहुंची हो (सरस्वती) विद्या देवी, (घृतेन) अपने ज्ञानमय और स्नेहमय घृत=मरहम से (तत्) उस घावको (आ-पृणात्) पूरदे, भरदे, आरोग्य करदे । लोकहित के व्याख्यान देने और लोकहित के कामों में भिक्षा करने में शतशः लोकप्रवाद और दुरपवादों से जो मानस विक्षोभ, आघात और व्यथाएं हृदय की चोटें उत्पन्न हों उनको आन्तरिक विज्ञानमयी हृदय देवता सरस्वती भरदे । वह ज्ञानमय देवी वह परमात्मा ही है ।

वाक् वै सरस्वती । श० ५।५।४।२५॥ योषा वै सरस्वती पूषा वृषा श० ५।५।१।११॥ ऋक् सामे वै सारस्वतावुत्सौ तै० १।४।४।९॥ सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् । कौ० १२।२॥ वाणी सरस्वती है । घर की स्त्री भी सरस्वती है । ज्ञानमय प्रभु की ऋग्वेद सामवेद ये दोनों सरस्वती के दो स्रोत हैं । सरस्वती ज्ञानमय वज्र है, वह पुष्टिकार देवी है जो आत्मा में बल उत्पन्न करती है ।

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि ।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥
ऋ० १० । १३ । ५ ॥

भा०—(मरुत्वते शिशवे) मरुत, सात मरुतों से युक्त, सात शिरोगत प्राणों से युक्त (शिशवे) इस शरीर में शयन करने वाले, अथवा, अपने आत्मबल से शरीरपिण्ड में प्राणों के सातों मार्गों को बनाने वाले शिशु नाम आत्मा के लिये या उसके निमित्त (सप्त) सातों प्राण (क्षरन्ति) गति करते हैं । ठीक ही है । क्योंकि (पित्रे) पिता के लिये (पुत्रासः) उसके लड़के (अपि) भी (ऋतानि) नाना कर्मों को (अवीवृतन्) किया करते हैं । इसी प्रकार वह शिशु आत्मा प्राणों का पालक और उत्पादक होने से पिता है, उस (पित्रे) पिता के लिये ये

उससे उत्पन्न प्राण उसके पुत्र हैं और 'पुरु त्रायते इति पुत्रः' इस निरुक्त वचन के अनुसार आत्मा की नाना प्रकार से रक्षा करने से भी ये पुत्र हैं, इस प्रकार ये (पुत्रासः) प्राण रूप पुत्रगण (ऋतानि) सत्य, यथार्थ ज्ञान प्राप्तिरूप व्यापारों को (अपि) भी (अवीवृतन्) किया करते हैं। और (अस्य) इस आत्मा के (इत्) ही (उभे) ये दोनों प्राण और अपान, हैं और (अस्य) इसके ही बल पर ये (उभे) दोनों (राजतः) सदा प्रकाशमान; जीवित जागृत हैं और अन्य सब प्राणों के ऊपर विराजमान हैं। (अस्य) इसके ही निमित्त (उभे यतेते) दोनों प्रयत्न करते हैं। और (उभे) दोनों ही (अस्य) इसको ही (पुष्यतः) पुष्ट करते हैं, इसको सबल बनाये रखते हैं। अथवा—इस मन्त्र में ३ बार उभे आया है अतः। (अस्य इत् उभे) ये दोनों कान उसी के हैं, (अस्य उभे राजतः) दोनों आँखें उसी की चमकती हैं (उभे अस्य यतेते) दोनो नाकें उसके लिये गति करते हैं (उभे अस्य पुष्यतः) रसना और मुख दोनों उसको पुष्ट करते हैं। सातों शीर्षण्य प्राणों का इस प्रकार वर्णन कर दिया है। पूर्वमन्त्र में इसी आत्मा रूप सरस्वती का वर्णन है। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः।" कठवल्ली २। १। 'अपांशिशुर्मातृतमास्वन्तः'। तै० सं० १८। १२। १॥ "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। ऋ० ८। ६९। १२। 'मरुत्वत्। पद के सामर्थ्य से मरुत्वान् इन्द्र है। "इन्द्रोऽस्मान् अरदद् वज्रबाहुः अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्। (ऋ० ३। ३३। ६) ये सब मन्त्रगण उसी इन्द्र आत्मा के वर्णन करते हैं जो उपनिषद् में प्रजा-

२–सप्त स्रवन्ति शिशवो मरुत्वते पिता पुत्रेभ्यो अप्यवीवत् पद्धतः।
उभये पिप्रते उभयेऽस्य राजहि उभे उभे उभयेऽस्य पिश्यकः।"
इति पैप्प सं०।

(द्वि०)-'अप्यवीवतन्नृतम्' (तृ०) 'उभे इदस्योभयस्य', (च०) 'उभयस्य पुष्यतः' इति ऋ०।

पति रूप होकर अण्ड में ७ प्राणों से सात छिद्र करता हुआ वर्णन किया गया है। 'सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्। तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत मुखाद्वाग्। वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतां अक्षीभ्यां चक्षुपी चक्षुष आदित्य कर्णौ निरभिद्येतामित्यादि समस्त प्रकरण 'शिशुआत्मा' और 'अपांशिशु' का अध्यात्म वर्णन किया है। इसीके लिये वृहदारण्यक में लिखा है। 'अयं वाव शिशुर्योऽयंमध्यमः प्राणः (आत्मा) तमेताः सप्त अक्षितयः उपतिष्ठते।·········तदेष श्लोको भवति। "अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः, सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना। इत्यादि (बृ० उ० २। २। १–४)

[५८ (६०)] अध्यात्म सोमरस-पान।

कौरुपथिर्ऋषिः। मन्त्रोक्ताविन्द्रावरुणौ देवते। १ जगती। २ त्रिष्टुप्।

द्वयृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रा॑वरुणा सुतपा॒विमं सु॒तं सोमं॑ पिबतं॒ मद्यं॑ धृतव्रतौ।
यु॒वो रथो॑ अध्व॒रो दे॑ववी॑तये प्रति॒ स्वस॑र॒मुप॑ यातु पी॒तये॑ ॥१॥

ऋ० ६। ६६। १० ॥

भा०—हे (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण आप दोनों (सुत-पौ) सोम ज्ञान का और आभ्यन्तर आनन्द का पान करने हारे हो। अतः (मद्यं) हर्ष और तृप्ति जनक (सुतं) इस उत्पादित (सोमम्) ज्ञान और आनन्द रस को (धृत-व्रतौ) स्थिर, नियत, कर्मनिष्ठ और समस्त

[५८] १–(द्वि०) 'धृतव्रता'। (तृ०) 'अध्वरं'। (च०) 'याति' इति ऋ०।
अस्य ऋग्द्वयस्य ऋग्वेदे भरद्वाजो वार्हस्पत्य ऋषिः।

कर्मों को धारण करने में समर्थ होकर (पिबतं) पान करो, (युवोः) तुम दोनों के भीतर (रथः) रमण करने वाला (अध्वरः) कभी न हिंसित, सदा जीवित, अमर, यज्ञमय आत्मा (देव-वीतये) देव=इन्द्रियगणों के प्राप्त ज्ञान का भोग करने के लिये और (पीतये) विचार धारण में प्रतिदिन आनन्द रस पान करने के लिये (प्रति स्व-सरम्) प्रति देह-रूप घट में (उप यातु) प्राप्त हो अथवा (प्रति स्व-सरम् उप यातु) देह के प्रत्येक स्वयं सरण करने योग्य इन्द्रियों में व्याप्त हो।

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् ।
इदं वामन्धः परिषिक्तमास्द्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम् ॥ २ ॥
ऋ० ६ । ६६ । ११ ॥

भा०—(इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण, प्राण और अपान तुम (मधुमत्-तमस्य) सब से अधिक आनन्दमय (वृष्णः) वीर्यवान् (सोमस्य) रसों के रस एवं सब प्राणों के प्रेरक आत्मा के आप दोनों (वृषणा) सेचक हो। आप दोनों (वृषेथाम्) भीतर सब प्रकार के सुखों का वर्षण करो। (इदं) यह (वाम्) तुम दोनों के लिये (अन्धः) जीवन धारण करने में समर्थ अन्न आदि भोग्य पदार्थ (परि-सिक्तम्) सब ग्रह या पात्र रूप इन्द्रियों के मुखों में रक्खा है। आप दोनों (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धिशील, उद्यमशील, श्रमयुक्त देहरूप यज्ञ में कुशासन पर विराजमान ब्राह्मणों के समान (आ-सद्य) विराज कर (मादयेथाम्) आनन्दित, हर्षित एवं तृप्त होओ। यज्ञ में ग्रह पात्रों में सोम भर कर इन्द्र वरुण को आह्वान करना प्रतिनिधिवाद से आत्मा की देहमय वेदि और इन्द्रिय रूप यज्ञ पात्रों में ज्ञान कर्ममय सोमरस को भर कर आत्मगत प्राण अपान को तृप्त करने का ही तात्पर्य है।

२–(तृ०) 'परिषिक्तमस्मे आसद्या' इति ऋ० । 'इदं वामस्मे परिषिक्तमन्ध आसद्या' इति पैप्प० सं० ।

तं सोमं अघ्नन्। तस्य यशो व्यगृह्णत। ते ग्रहा अभवन्। तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्। तै० २। २। ८। ६॥ तद्यदेनं पात्रैर्व्यगृहणत तस्माद् ग्रहा नाम। श० ४। १। ३। ५॥ ते देवाः (इन्द्रियमात्राः) सोममन्वविन्दन्। तमघ्नन्। तस्य यथाभिज्ञायं तनूर्व्यगृह्णत ते ग्रहा अभवन्। तद् ग्रहाणां ग्रहत्वन्। श० ४। ६। ५। १॥ अष्टौ ग्रहाः। श० १४। ६। २। १॥ प्राणा वै ग्रहाः। श० ४। २। ४। १३॥

[५९ (६१)] निन्दा का प्रतिवाद।

बादरायणिर्ऋषिः। मन्त्रोक्तोऽरिनाशना देवता। अनुष्टुप् छन्दः।

एकर्चं सूक्तम्॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु॥ १॥

भा०—(यः) जो (अशपतः) निन्दा न करते हुए भी (नः) हमें (शपात्) बुरा भला कहे। और (यः च) जो (शपतः) बुरा भला कहते हुए भी (नः) हमें (शपात्) बुरा भला कहे वह (वि-द्युता हतः) बिजली की मार से मरे हुए (वृक्ष-इव) वृक्ष के समान (आ मूलात्) चोटी से जड़ तक (अनु शुष्यतु) सूख जाय। व्यर्थ का निन्दक और प्रतिनिन्दक दोनों ही असत्य और मानस पाप से सूख जाते हैं।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥

[तत्र सूक्तान्यष्टौ ऋचश्च पञ्चविंशतिः।]

[५९] १–(तृ०) 'वृक्षेव' इति पैप्प० सं०।

[६० (६२)] गृह-स्वामि और गृह-बन्धुओं के कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । रम्या गृहाः वास्तोष्पतयश्च देवताः । पराऽनुष्टुभः ।
सप्तर्च सूक्तम् ॥

ऊर्ज्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥

यजु० ३ । ४१ ॥

भा०—मैं गृहपति जब (गृहान्) अपने घर, स्त्री, पुत्र आदि के पास (एमि) आऊँ तब (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न को (बिभ्रत्) लिये हुए आऊँ । और आकर (वसु-वनिः) आवासयोग्य अन्न, वस्त्र, धन आदि को सब में बांटूं और (सु-मेधाः) उत्तम शुभ बुद्धि से युक्त होकर (अघोरेण) अघोर, सौम्य, प्रसन्न (मित्रियेण) स्नेहपूर्ण (चक्षुषा) दृष्टि से सब को देखूं और (सु-मनाः) शुभ प्रसन्नचित्त होकर सब को (वन्दमानः) नमस्कार करूं । हे गृह के वासियो ! और स्त्रियो ! भाइयो ! (रमध्वं) आप लोग आनन्द प्रसन्न रहो (मत्) मुझसे (मा बिभीत) किसी प्रकार का भय मत करो ।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

भा०—(इमे गृहाः) ये हमारे घर परिवार (मयः-भुवः) सुख

[६०] १–"गृहान् एमि मनसा मोदमानो ऊर्जं बिभ्रद् वसुमतिः सुमेधाऽघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहाणाम् पश्यान् पय उत्तरामि ।" इति पैप्प० सं० ॥

२–"गृहा मा बिभीत, मा वेपध्वमूर्ज बिभ्रत एमसि । ऊर्ज बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः" इति यजु० (तृ०) वामस्य (च०) 'जानन्तु जानतः' इति पैप्प० सं० ।

आनन्द के उत्पादक (ऊर्जस्वन्तः) धन धान्य आदि से पूर्ण (पयस्वन्तः) घी दूध मक्खन से भरपूर (वामेन) धन से (पूर्णाः) भरे पूरे (तिष्ठन्तः) रहकर (ते) वे (आयतः) बाहर से आते हुए (नः) हम लोगों का अभ्युत्थान द्वारा (जानन्तु) जानें, सत्कार करें ।

येषा॑मुध्येति॑ प्रवस॒न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्त्वाय॒तः ॥ ३ ॥

यजु० ३ । ४२ ॥

भा०—(प्र-वसन्) प्रवास में गया हुआ पुरुष (येषाम्) अपने जिन सम्बन्धियों का (अधि एति) नित्य स्मरण किया करता है और (येषु) जिनके प्रति या जिन पर वह (बहुः) बहुत बार, बहुधा, (सौमनसः) उत्तम चित्तवाला, सुप्रसन्न एवं कृपालु या जिनके विषय में वह बहुत बार नाना प्रकार के शुभ संकल्प किया करता है उन (गृहान्) घर परिवार के बन्धुओं को हम सदा (उप ह्वयामहे) याद करें, बुलावें, जिससे (ते) वे (नः) हमें (आ-यतः) पुनः घर पर आते हुवों को (जानन्तु) जानें और हमें प्रेम से मिलें ।

उप॑हूता भूरि॑धनाः सखा॑यः स्वा॒दुसं॑मुदः ।
अ॒क्षु॒ध्या अ॑तृ॒ष्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद् बि॑भीतन ॥ ४ ॥

भा०—(भूरि-धनाः) बहुत धनाढ्य (स्वादु-संमुदः) स्वादु, सुखकारी, मिष्टान्न आदि पदार्थों में एकत्र होकर आनन्द लेने वाले (सखायः) मित्रगण (उप-हूताः) नाना अवसरों पर बुलाये जाया करें । और हे (गृहाः) घर के सम्बन्धी लोगो ! आप लोग (अक्षुध्याः) भूख से

३–(च०) 'जानन्तु जानतः' इति यजु० ।

४–(द्वि०) 'स्वादुसंनरः' 'अरिष्टाः सर्वपूर्णा गृहा नः सन्तु सर्वदा ।' इति पैप्प० सं० ।

पीड़ित न होकर सदा तृप्त रहो, और (अतृष्याः स्त) कभी प्यासे न रह कर सदा तृप्त, भरे पूरे रहो, (अस्मत्) हम से (मा विभीतन) भय मत करो ।

उप॑हूता इह गाव॒ उप॑हूता अजा॒वय॑ः ।
अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ॥ ५ ॥

यजु० ३ । ४३ ॥

भा०—(इह) इस घर में (गावः) गौएं (उप-हूताः,) लाई जावें, (अज-अवयः) बकरियां और भेड़ें भी (उप-हूताः) लाई जावें, (अथो) और (अन्नस्य) अन्न का (कीलालः) सारभूत अंश अर्थात् अन्नों में से भी उत्तम २ बलकारी सारवान् अन्न (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (उप-हूतः) लाया जावे ।

सू॒नृता॑वन्तः सु॒भगा॒ इरा॑वन्तो हसा॒मुदाः॑ ।
अ॒तृ॒ष्या अ॑क्षु॒ध्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद् बि॑भीतन ॥ ६ ॥

भा०—हे (गृहाः) हमारे गृह और परिवार के बन्धुजनो ! आप लोग सदा (सूनृत-वन्तः) सत्यभाषण किया करो, (सु-भगाः) सदा उत्तम भाग्यशाली, सम्पन्न और (इरा-वन्तः) धन धान्य से युक्त रहो । नित्य (हसा-मुदाः) हंसमुख, प्रसन्न रहो । सदा (अतृष्याः) तृष्णा रहित और (अक्षुध्याः) बिना भूख के, सदा तृप्त (स्त) रहो । और (अस्मद्) हमसे मा (विभीतन) भय मत करो ।

इ॒हैव स्त॒ माऽनु॑ गात॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॑ पुष्यत ।
ऐष्या॑मि भ॒द्रेणा॑ स॒ह भूय॑सो भवता॒ मया॑ ॥ ७ ॥

५—(तृ०) 'अथो अन्नस्य यो रसः' इति ला० श्रौ० सू० । (च०) 'गृहेषु णः' इति क्वचित् ।

६—(तृ०) 'अक्षुध्याऽतृष्यास्त' इति पैप्प० सं० । 'अनश्या अतृष्या' इति हि० गृ० सू० ।

भा०—हे गृह के बन्धुजनो ! आप लोग (इह एव) इस गृह में ही (स्त) सुख से रहो (मा अनु गात) जब हम विदेश जायं तो हमारे पीछे २ मत जाओ, यहां ही (विश्वा) समस्त (रूपाणि) धन और गौ आदि पशुओं को (पुष्यत) पुष्ट करो । मैं विदेश से (भद्रेण सह) कल्याण और सुखकारी पदार्थों सहित (आ-एष्यामि) लौट आऊंगा और (मया) मेरे द्वारा ही आप लोग (भूयांसः) खूब सम्पन्न (भवत) होकर रहो । गृह, परिवार, पुत्र भाई, स्त्री बन्धुओं के संग सदा ऐसा ही व्यवहार करते रहें जिससे सब को सुख हो, सम्पत्ति और परस्पर प्रेम बढ़े ।

[६१ (६२)] तपस्या का व्रत ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुभौ । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

यद॑ग्ने॒ तप॑सा॒ तप॑ उपत॒प्याम॑हे॒ तपः॑ ।
प्रि॒याः श्रु॒तस्य॑ भूया॒स्मायु॑ष्मन्तः सु॒मेध॑सः ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमात्मन् और तत्प्रतिनिधे ब्रह्मन् ! आचार्य ! (यत्) जो (तपः) तप (तपसा) ब्रह्मज्ञान द्वारा किया जाता है उसी (तपः) तप को हम भी (उप-तप्यामहे) करना चाहते हैं । (श्रुतस्य) ब्रह्म, वेदज्ञान के (प्रियाः) प्यारे (भूयास्म) हों और (आयुष्मन्तः) आयुष्मान्, दीर्घजीवी और (सु-मेधसः) उत्तम पवित्र धारणावती बुद्धि से युक्त हों ।

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तपः॑ ।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सु॒मेध॑सः ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) ब्रह्मन् ! आचार्य ! ज्ञानमय, ज्ञानप्रकाशक ! हम (तपः) तप (तप्यामहे) करें और (तपः) तपस्वरूप आत्मा और ब्रह्म की ही (उप तप्यामहे) उपासना या ज्ञान करें । हम (श्रुतानि)

[६१]—'प्रेतामहे तपः' इति पैप्प० सं० ।

वेदवाक्यों को (शृण्वन्तः) श्रवण करते हुए (सु-मेधसः) उत्तम बुद्धि सम्पन्न और (आयुष्मन्तः) दीर्घायु होकर रहें ।

'तप पर्यालोचने' इति धातुपाठः । वेद का पर्यालोचन, साक्षात्कार और अनुशीलन करना तप है । ऋतं, सत्य, तप, शम, दम, यज्ञ, मनुष्य-सेवा, प्रजोत्पादन, प्रजारक्षण, प्रजावर्धन और सबके साथ स्वाध्याय और प्रवचन करना यही तप है । राथीतर आचार्य सत्यपालन को तप कहते हैं, पौरुशिष्ट आचार्य 'तप' को ही तप कहते हैं । मौद्गल्य नाक आचार्य स्वाध्याय और प्रवचन को ही तप कहते हैं, वास्तव में ऋत आदि सभी 'तप' हैं । ऋतं तपः, सत्यंतपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपः, दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः । (तैत्तरीय आरण्यक प्रपा १० । अनु० ८) तैत्तिरीयारण्यक में ऋत आदि क्यों तप हैं इसकी विस्तृत व्याख्या देखने योग्य है । 'मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते' । मन और इन्द्रियों का दमन ही तप है ।

[६२ (६४)]

कश्यप मारीच ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्दः । एकर्च सूक्तम् ॥

अयम॒ग्निः सत्प॑तिर्वृ॒द्धवृ॑ष्णो र॒थीव॑ प॒त्तीन॑जयत् पु॒रोहि॑तः ।
नाभा॑ पृथि॒व्यां निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं कृ॑णु॒तां ये पृ॑त॒न्यवः॑ ॥१॥

यजु० १५ । ५१ ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर और आचार्य, राजा, (सत्-पतिः) सज्जन पुरुषों को, स्वामी, पालक, (वृद्ध-वृष्णः)-महा बलशाली, वृद्ध-ज्ञान वृद्ध पुरुषों द्वारा बलवान् (पुरः-हितः) सब के आगे प्रधान पद पर स्थापित होकर (रथी इव) रथी जिस प्रकार (पत्तीन्) पैदल सैनिकों को (अजयत्) जीत कर उनसे अधिक बलशाली रहता है उसी प्रकार यह भी (रथी) रथ=देह रूप रथ में चढ़े

आत्मा (पत्तीन्) ज्ञान करने के साधन जो ग्राह्य विषयों तक गति करते हैं उन इन्द्रियों पर (अजयत्) वश किये हुए है वह जितेन्द्रिय है। (पृथिव्यां) पृथिवी=अन्तरिक्ष स्थान में (निहित) स्थापित सूर्य जिस प्रकार (दविद्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान रहता हुआ उन लोगों को (ये) जो (पृतन्यवः) पृतना=सेना लेकर हम पर चढ़ आवें, (अधः-पदं) निचले पद=स्थान में (कृणुताम्) करें। अर्थात् उनको वश करके हमारे नीचे रक्खें। हम शासन करें और वे हमारे शासित होकर रहें।

[६३ (६५)] राजा का आमन्त्रण।

मरीचिः काश्यप ऋषिः। जातवेदा देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात्।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥१॥

भा०—(पृतना-जितम्) सेनाओं द्वारा संग्राम का विजय करनेवाले (सहमानम्) शत्रु को दबानेवाले (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी परन्तप राजा को उसके (परमात्) परम, सबसे उत्कृष्ट होकर हमारे बीच में (सध-स्थात्) हमारे साथ रहने के कारण अर्थात् हमारे साथ रह कर भी सबसे उत्कृष्ट रहने के कारण (हवामहे) हम उसकी स्तुति करते हैं, उसको अपनी रक्षा और शिक्षा के लिये आदर से बुलाते हैं। क्योंकि (सः) वह (नः) हमें (विश्वा) समस्त (दुःगानि) दुर्गम स्थानों को (अति पर्षत्) पार करा देता है। और वही (देवः) सर्व

[६३] १–(च०) 'विश्वा क्षामाद् देवोऽधि' इति पैप्प० स०। ह्विटनि-ह्विटनि आदयः 'क्षामद्' इत्यस्यस्थाने 'क्षामद्' इति वाञ्छन्ति। तदयुक्तम्। क्वापि तथानुपलम्भात्। 'क्षामद्' इति नाशाकरणार्थस्य क्षियः क्तान्तस्य णिचि रूपम्।

व्यवहार कुशल; राजा (अग्निः) अग्नि के समान समस्त पापों को भस्म करने हारा, दुष्टों का तापकारी, (दुः-इतानि) सब दुष्ट कर्मों को (अति क्षामद्) सर्वथा नाश करे ।

[६४ (६६)] पाप से छूटने के दो उपाय ।

यम ऋषिः । कृष्णः शकुनिर्निर्ऋतिर्वा मन्त्रोक्ता देवता । १ भुरिग् अनुष्टुप्, २ न्यंकुसारिणी बृहती छन्दः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१॥

भा०—(इदं) यह (यत्) जो (कृष्णः) काला, या मनको अपनी तरफ़ आकर्षण करनेवाला (शकुनिः) शक्तिमान् प्रबल पाप या पाप की वासना (अभि निः-पतन्) चारों ओर से बड़े वेग से हमारे आत्मा पर आवरण करता हुआ, मंडराता हुआ, झपटता हुआ (अपीपतत्) हमको गिराता है हमारे ऊपर आक्रमण करके हमें पाप के मार्गों में ढकेलता है । (आपः) परमात्मा की व्यापक शक्तियाँ जो मुझे प्राप्त हैं वही (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (दुः-इतात्) दुष्ट कर्म मय (अंहसः) प्रबल पाप से (पान्तु) बचावें । काले काक के स्पर्श से उत्पन्न पाप से बचने के लिये जलों से प्रार्थना मान कर सायण और तदनुयायी पाश्चात्य पण्डितों ने व्याख्या की है वह असंगत है । उन्होंने यम ऋषि निर्ऋति पाप देवता पर विचार नहीं किया ।

---

[६६] १–यदस्मान् कृष्णशकुनिर्निष्पतन्नानशे आपो मा तस्मादेनसो दुरितात् पातु विश्वतः ।" इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अभिनिपतन्' इति 'ह्विटनि'कामितः ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

भा०—हे (निःऋते) आत्मा को नीचे ले जाने, प्रिय न लगने वाली, निर्ऋते ! पाप प्रवृत्ते ! जन्ममरणकारिणि मृत्युदेवते ! (इदं यत्) यह जो (कृष्णः) काला, तामस, मन को अपहरण करने वाला, (शकुनिः) अतिप्रबल विषय विक्षेप हमें (ते) तेरे (मुखेन) स्वरूप से (अव-अमृक्षन्[१]) नीचे गिरा देता है, या हम से बन्धन रूप में संसक्त हो जाता है, (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (गार्ह-पत्यः) गार्हपत्य, गृहपति आत्माका हितकारी प्राणरूप अग्नि ही (मां) मुझको (प्र मुञ्चतु) भली प्रकार मुक्त करे, प्राणायाम के बल से पाप से छूटने का उद्योग करे। पाप का संकल्प चित्त में आते ही यदि प्राणायाम करें तो प्रबल पापवासना निर्मूल हो जाती है और मृत्यु का भय भी दूर होता है। प्रथम मन्त्र में प्रभु की शक्तियां के स्मरण से और दूसरे मन्त्र में देह रूप गृह के पति आत्मा की मुख्य शक्ति प्राणमय अग्नि की साधना से पाप से मुक्त होने का उपदेश है।

प्रजापतिः गार्हपत्याः । ऐ० ८ । २४ ॥ एष एव (आत्मा) गार्हपत्यो यमो राजा (श० २ । ३ । २ । २)।

२—"यदि वा मृचते कृष्णाशकुनिर्मुखेन निर्ऋते तव अग्निस्तत्सर्वं शुन्धतु हव्यवान् घृतसूदनः" इति पैप्प० सं०। 'यदपामार्त्तच्छकुनि'-इत्यादि आप० श्रौ० सू० 'यत्तु कृष्ण शकुनः' 'अवमृशेत्' इत्यादि तै० सं० ॥

१. मृश अवमर्शने (तुदादिः०) मृच संघाते (भ्वादिः) इत्यनयो रेकतरस्य रूपम् ॥

[६५ (६७)] पाप निवारक 'अपामार्ग' का स्वरूपवर्णन ।

दुरितापमृष्टिप्रार्थी शुक्र ऋषिः । अपामार्गवीरुद् देवता । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

भा०—हे (अपामार्ग) अपामार्ग लते ! (त्वम्) तू जिस प्रकार (प्रतीचीनफलः) अपने फलों को अपने से छूने वाले के प्रति कष्टदायी होकर अपने फलों के उसके वस्त्रों से चिपटा देता है इसलिये 'प्रतीचीन फल' वाला होकर (रुरोहिथ) उगा करता है। इसलिये तेरे पास कोई नहीं जाता । इसी प्रकार हे (अपामार्ग) पाप लेशों को दूर से परे रखने वाले पुरुष ! तू भी (प्रतीचीनफलः) अपने शत्रुओं के लिये विपरीत फल उत्पन्न करने वाले काम करता हुआ (रुरोहिथ) वृद्धि को प्राप्त हो । और (मत्) मुझ से (सर्वान्) समस्त (शपथान्) आक्रोश या निन्दाजनक भावों को (इतः) अभी इसी काल से (वरीयः) सर्वथा (अधि यवय) परे कर । अथवा अमामार्ग शब्द से आत्मा को ही सम्बोधन किया गया है । हे अपामार्ग कर्म-परिशोधक, आत्मन् ! तू (प्रतीचीनफलः) प्रत्यक्, साक्षात् होकर ही फलने हारा या स्वतः फल-रूप होकर (रुरोहिथ) अधिक बलवान् पुष्ट होता है । तू मुझसे (शपथान) सब पाप भावों को (इतः) यहां इस देह से (अधि यवय) दूर कर । देखो अथर्व ४ । १६ । ७ ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया ।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥ २ ॥

भा०—हम (पापया) पापकारिणी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर (यद्) जो (दुष्कृतं) दुष्ट काम और (यत् शमलं) जो मलिन, कलंक-जनक, घृणित कार्य (यद् वा अथवा जो कुछ भी (चेरिम) करते हैं, हे

(अपामार्ग) पापों को दूरने हारे प्राण ! (तत्) उसको (त्वया) तेरे बलसे, हे (विश्वतः-मुख) सर्वतोमुख ! (अप मृज्महे) दूर करते हैं ।

श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) और जो (श्याव-दता) काले दाँत वाले, मलिन मुख, दन्तधावन न करने वाले, व्यसन से मलिन पदार्थ, मांस आदि खाने वाले (कु-नखिना) बुरे नखों वाले, (बण्डेन [१]) और लड़ाके या परस्पर फूट डालने वाले, चुगलखोर के साथ (आसिम) बैठें तो हे (अपामार्ग) पापों को दूर करने हारे (त्वया) तेरे बल पर (तत् सर्वं) उस सब दुष्प्रभाव को (अप मृज्महे) दूर करें ।

[६६ (६८)] ब्रह्मज्ञान के धारण का यत्न ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्राह्मणं ब्रह्म वा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदस्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ १ ॥

भा०—(यदि) जो (उद्यमानम्) अध्ययन के समय में गुरुमुख से बहता हुआ ब्रह्मज्ञान या वेदाध्ययन करते समय उसका तात्विक श्रवण (अन्तरिक्षे) मेघ के होने पर (यदि वातम्) जो प्रचण्ड वायु के चलने

[६५] ३–'बन्डेन' इति सायणाभिमतः ।

१. बण्डेन नपुंसकं नेति सायणः । भग्नाङ्ग इति ह्विटनिः, बडि विभाजने इति धातोः पचाद्यच् । बण्डो विभाजकः ।

[६६] १–"यदन्तरिक्षम् यदि वा रजांसि, तत् वृक्षेषु भयनलपेषु । अजस्रवन पशव" इत्यादि पैप्प० सं० । (तृ०) 'यदस्रवन् पशवः' इति प्रायः । 'अश्रवन्' इति बहुत्र । 'अश्रवन्' इति सायणाभिमतः ।

पर (यदि वृक्षेषु) और जो वृक्षों के भीतर पक्षि आदि के विघ्न करने से (यदि वा उलपेषु) या तृण घास, धान के खेत आदि के बीच में इधर उधर के दृश्यों या कीट पतङ्गों के विघ्नों से और (यत्) जो (पशवः=पशुषु) पशुओं के बीच में उनकी चपलता के कारण (अस्रवन्) मेरे कान में आकर भी निकल गया है—विस्मृत हो गया है (तत्) वह (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञान (पुनः) फिर (अस्मान्) हमें (उपैतु) प्राप्त हो।

हमने जिन विघ्नों का निर्देश किया है उनको ही देख कर आपस्त-म्बमें वेदाध्ययन और अध्यापन का निम्न-लिखित स्थानों और अवसरों पर निषेध किया है। "नाभ्रे न च्छायायां, न पर्यावृत्ते, आदित्ये, न हरितयवान् प्रेक्षमाणो न ग्राम्यस्य पशोरन्ते, नारण्यस्य, नापामन्ते। (आप० १५। २१ ८)

सायण आदि ने अमुक अवसरों पर वेदाध्ययन करना पाप जनक कहा। तृतीय में (यत् पशव उद्यमानं आश्रवन्) जो पशुओं ने सुन लिया है ऐसा अर्थ किया है ' पशुओं के श्रवण में कोई दोष न होने से यह अर्थ निरर्थक है।

[६७ (६८)] शरीरस्थ अग्नियें।

ब्रह्मा ऋषिः। आत्मा देवता। पुरः परोष्णिग् बृहती। एकर्चं सूक्तम् ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयातामिहैव ॥ १ ॥

भा०—(मा) मुझे (इन्द्रियं) इन्द्रियों का सामर्थ्य, बल (पुनः, प्राप्त हो। अथवा मुझे इन्द्र परमेश्वर का बल अथवा चक्षु आदि इन्द्रिय-गण पुनः २ प्राप्त हों। (आत्मा) मन, जीव और देह (द्रविणम्) धन और (ब्राह्मणं च) ब्रह्म-ज्ञान भी पुनः २ प्राप्त हो। (धिष्ण्याः) आधान के स्थान में विहरण करने वाले (अग्नयः) अग्नियां, आहवनीय, गार्ह-पत्य और अन्वाहार्यपचन आदि (यथा-स्थाम) अपने २ स्थानों पर

(इह एव) इस लोक में, देह में, गृह में भी (पुनः) वार २ (कल्पयन्ताम्) प्रज्वलित हों, समर्थ हों। शरीरस्थ अग्नियों का विवरण प्राणाग्नि-होत्र उपनिषद् के अनुसार इस प्रकार है। (१) सूर्य-अग्नि 'एक ऋषि' होकर मूर्धा स्थान पर विराजती है। (२) दर्शनाग्नि आहवनीयाग्नि होकर मुख में बैठती है। (३) शारीर अग्नि, जठर में हवि प्राप्त करती है, वही दक्षिणाग्नि होकर हृदय में बैठती है। (४) कोष्ठाग्नि गार्हपत्य होकर नाभि में रहती है। (५) उससे नीचे प्रायश्चित्ती अग्नियें प्रजननांग में रहती हैं। ये पांचों शरीर धारण करने से 'धिषण,' शरीर में विद्यमान रहने से 'धिष्ण्य' कहाती हैं। अथवा 'धिषणा' बुद्धि द्वारा प्रेरित होने से 'धिष्ण्य' कहाती हैं।

[६८ (७०, ७१)] स्त्री के कर्त्तव्य।

शंतातिर्ऋषिः। सरस्वती देवता। १ अनुष्टुप्। २ त्रिष्टुप्। ३ गायत्री। तृचं सूक्तम्॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥ १॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वती रस-अन्न आदि से गृह भर को पुष्ट करनेहारी स्त्रि! (ते) तेरे कार्यों में और (दिव्येषु) दिव्य, रमण करने योग्य, या व्यवहार करने योग्य (धामसु) तेजों में, सामर्थ्यों में हमारा (आहुतम्) दिया हुआ (हव्यम्) स्वीकार करने योग्य पदार्थ ही (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर और (नः) हम गृहपतियों को हे (देवि) (प्रजां) प्रजा का (ररास्व) प्रदान कर। स्त्रियाँ पतियों के प्रदान किये समस्त पदार्थों को प्रेम से स्वीकार करें और गृह में उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। विद्या को लक्ष्य करके—हे सरस्वति! हम तेरे (व्रतेषु) नियवपूर्वक अध्ययन-अध्यापन, दिव्य सामर्थ्यों में अपना 'आहुत'

मनोयोग प्रदान करते हैं उसे स्वीकार कर, हमें प्रज्ञा का प्रदान कर। दो ही प्रकार के पुत्र हैं एक विद्यासम्बन्ध से, और दूसरे योनिसम्बन्ध से विद्यासम्बन्ध से भी गोत्र चलते हैं और योनिसम्बन्ध से भी।

इदं ते ह॒व्यं घृ॒तव॑त् सरस्वती॒दं पि॑तॄ॒णां ह॒विरा॒स्यं॑ यत्।
इ॒मानि॑ त उदि॒ता शंत॑मानि॒ तेभि॑र्व॒यं मधु॑मन्तः स्याम ॥२॥

भा०—हे (सरस्वती) सरस्वती देवि ! प्रियतमे ! (ते हव्यम्) तेरा भोज्य पदार्थ (इदम्) यह (घृतवत्) घृत आदि पुष्टिकारक, गर्भ-पोषक पदार्थों से युक्त हो। इदम् यही (पितृणां) बालकों के उत्पादक पिता लोगों का भी (हविः) अन्न है (यत्) जो (आस्यम्=आद्यम्) खाने योग्य है। (ते) तेरे (इमानि) ये (उदितानि) उच्चारण किये वाक्य (शं-तमानि) बहुत कल्याणकारी और सुखकारी हों। और (वयम्) हम (तेभिः) उन तेरे मधुर वचनों से ही (मधुमन्तः) हृदय में आनन्द और हर्षयुक्त (स्याम) हो जांय।

विद्यापक्ष में—हे विद्ये ! सरस्वति ! यह तेरा प्राप्त करने योग्य तेजो-मय रूप है जिसको पितृ=पालक गुरु आदि भी प्राप्त करते हैं (यत् आस्यम्) और जो शिष्यों के प्रति देने योग्य है। तेरे समस्त वचन कल्याणकारी हों और उनसे हम मधुमान् या ज्ञानी और आनन्दमय रहें।

शि॒वा नः॒ शंत॑मा भव सुमृडी॒का सर॑स्वति।
मा ते॑ युयोम सं॒दृशः॑ ॥ ३ ॥

भा०—हे (सरस्वति) स्त्रि ! या विद्ये ! तू (नः) हमारे लिये (शिवा) शुभ और (शं-तमा) अति कल्याण और सुखकारिणी

[६८] २-(द्वि०) 'पितृणां हविराज्यं यत्' इति 'रोथ'आदिसम्मतः।
३-(तृ०) 'माते व्योम संदशि' इति तै० आ०।

(सु-मृडीका) अति, आनन्द और हर्षजनक (भव) हो (ते) तेरी (सं-दृशः) प्रेममय दृष्टि से (मा युयोम) कभी वञ्चित न हों। अर्थात् तू सदा हम पर अपनी प्रेम दृष्टि रख, हमसे कभी मुख न फेर ।

[६९ (७२)] कल्याण, सुख की प्रार्थना ।

शंतातिर्ऋषिः। सुखं देवता । पथ्यापंक्तिश्छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा
नो व्युच्छतु ॥ १ ॥ यजु० ३६ । १० । ११ ।

भा०—(वातः) वायु (नः) हमारे लिये (शं) सुखकारी होकर (वातु) वहे । (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिये (शं) सुखकारी होकर (तपतु) तपे । (नः) हमारे (अहानि) दिन (शं) सुखकारी हों। (रात्री) रात्रिमें (शं) सुखकारी (प्रति धीयताम्) रहें । (उषा) प्रातःकाल (नः) हमें (शम्) सुखकारी होकर (व्यच्छतु) प्रकट हो ।

[७० (७३)] दुष्ट पुरुषों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । श्येन उत मन्त्रोक्ता देवता । १ त्रिष्टुप् । अति जगतीगर्भा जगती, ३–५ अनुष्टुभः (३ पुरःककुम्मती) । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

---

[६९] १–(प्र०) "शं मे वातो निवाते शं मे तपति सूर्यः" इति पैप्प० सं०। "शं नो वातः पवतां।" (च०) 'शं रात्रीः' इति यजु० ।

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥१॥

पैप्प लाद० १६ का० ।

भा०—(असौ) यह पुरुष, (मनसा) अपने मन से विचारता है । (यत् किंच) जो कुछ और (यत् च) जो भी (वाचा) अपनी वाणी से बोलता है । और जो कुछ (यजुषा) यजुर्वेद के अनुसार (हविषा) अन्नादि पदार्थों को (यज्ञैः) यज्ञादि कर्मों के द्वारा (जुहोति) त्याग करता है (निः-ऋतिः) पाप प्रवृत्ति (मृत्युना) मौत के साथ (सं-विदाना) एक होकर (सत्यात् पुरा) उसके सत्य अर्थात् कर्म फल के सत् रूप में आने के पूर्व ही (अस्य) इस पुरुष का (आ-हुतिम्) त्याग आदि कर्मों का (हन्तु) विनाश करती है । आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् । तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु । गीता० । १६ । १६,१९ । अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ गीता० १७ । २८ । गर्व, मद-मान (निर्ऋति) से प्रेरित होकर नामयज्ञों से जो दम्भपूर्वक यज्ञ करता है क्रूर अशुभ पापी पुरुषों को ईश्वर आसुरि योनियों में भेजता है । श्रद्धा रहित होकर किये यज्ञ, दान, तप सब दोनों लोकों में असत्, निष्फल होते हैं ।

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् ।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

[७०] १-'यजुषा हविर्भिः' । (तृ०) मृत्युर्निर्ऋत्या संविदानः पुरादिष्टादाहुति-रस्य हन्तु ।" इति तै० सं० । (द्वि०) यजुषा हविर्भिः, (च०) पुरा दृष्टां राज्ञो हन्त्वस्य ।" इति पैप्प० सं० ॥

२-(प्र०) 'यातुधाना' इति सायणाभिमतः ।

भा०—आसुर भाव वाले पुरुषों के कार्यों के विनाश के कारणों का उपदेश करते हैं । (यातुधानाः) पीड़ाकारी लोग, (निःऋतिः) पाप की चाल, (आत् उ) और (रक्षः) बाधक विघ्नकारी लोग ही (अस्य सत्यम्) उसके सत्य, सत्, इष्ट फल को अपने (अनृतेन) असत्य व्यवहार से (घ्नन्तु) नाश करें । और (इन्द्र-इषिताः) इन्द्र परमेश्वर से प्रेरित (देवाः) विद्वान् व्यवहारज्ञ, पुरुष भी (अस्य) उक्त प्रकार के नीच पुरुष के (आज्यम्) सामर्थ्य, बल को (मथ्नन्तु) मथ डालें, और फल यह हो कि (यद्) जो कुछ भी (असौ जुहोति) यह त्याग करता है (तत्) वह (मा सं-पादि) कभी फल न दे ।

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

भा०—दूसरे पर पाप से अत्याचार करने वाले का और क्या हो सो भी बतलाते हैं (नः) हमारे (यः) जो (कः च) कोई भी पुरुष (अभि-अघायति) साक्षात् रूप में हम पर पापकर्म, अत्याचार, क्रूरता और असत्य दम्भ गर्व आदि में आकर अपनी बुरी स्वार्थ भरी चेष्टाएं करना चाहता है उस (पृतन्यतः) सेना बल से हम पर आक्रमण करते हुए उसके युद्ध के सामर्थ्य सेना बल को (अजिर-अधिराजौ) अजिर और अधिराज अर्थात् शत्रुका प्रतिस्पर्द्धी राजा और इससे भी अधिक बलशाली मध्यस्थ राजा, मित्र राजा और पार्ष्णिग्रह दोनों मिलकर (सम्-पातिनौ) झपटते हुए दो (श्येने इव) बाजों के समान (हतां) विनाश करें ।

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्य/म् ।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेवधिषं हविः ॥ ४ ॥

३—'अघायन्ति' इति क्वचित् ।

४—(द्वि०) 'अप नह्यामि' (तृ०च०) 'अग्निर्देवस्य मन्युना सर्वे तेऽवधिषं-कृतम्' इति तै० ब्रा० ।

भा०—शत्रु के बल को नाश करके उसे कैद करें। हे शत्रो! (ते) तेरे (उभौ) दोनों (बाहू) बाहुओं को (अपाञ्ची) नीचे करके (अपि-नह्यामि) बांध दूं जिससे तू फिर हमारे विरुद्ध न उठ सकें। और तेरे (आस्यम्) मुंह को भी बांध दूं, जिससे तू कुवाच्य भी न कहे। (देवस्य) देव महाराज (अग्ने) अग्रगामी, नेता और शत्रुओं को भून डालने वाले परंतप प्रतापी राजा के (मन्युना) क्रोध से (ते) तेरे (हविः) बल वीर्य और अन्न और कर को मैं (अवधिपम्) विनाश करूं।

अपि॑ नह्यामि ते बा॒हू अपि॑ नह्याम्या॒स्य॑म्।
अ॒ग्नेर्घो॒रस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेवधिपं ह॒विः ॥ ५ ॥

भा०—हे शत्रो! (ते बाहू आस्यम् अपि नह्यामि) तेरी बाहुओं और मुखको बांध दूं। और (घोरस्य अग्नेः मन्युना, तेन ते हविः अवधि-पम्) भयंकर अग्निः नेता, राजा के क्रोध से तेरे अन्न, बल का नाश करूं।

[७१ (७४)] दुष्ट पुरुषों के नाश का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुप्छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) हे सहस्य! बल से उत्पन्न राजन्! (वयं) हम लोग (पुरं) सर्व मनोरथों के पूरक (विप्रं) विद्वान् मेधावी, (धृषद्वर्णम्) सब शत्रुओं को पराजय करने में प्रसिद्ध, (भङ्गुरावतः)

[७१] १-(च०) 'भंगुरावतम्' इति ऋ०, यजु०। 'भेत्तारं भंगुरावतः' इति तै० सं०। (द्वि०) 'विप्र सहस्व' इति पैप्प० सं०। ह्विटनेरोथादिभिर्हविर्पाथैः (द्वि०) 'वप्रं', (तृ०) 'दृषद्वर्णं' इति पाठ इष्यते।

राष्ट्र को तोड़ फोड़ डालने वाले लोगों को (हन्तारं) विनाश करने हारे (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन, सदा (धीमहि) अपने राष्ट्र में पुष्ट करके स्थापित किये रहें ।

देहस्वरूप राष्ट्र में आत्मा को, हृदय में और ब्रह्माण्ड में ईश्वर को भी इसी प्रकार हम धारण करें और ध्यान करें ।

[७२ (७५, ७६)] योग द्वारा आत्मा का तप ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्रोदेवता । १ अनुष्टुप्, २,३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७६ । १ ॥

भा०—हे लोगो ! (उत् तिष्ठत) उठो, (अव पश्यत) देखो, (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा का (ऋत्वियम्) ऋतु अनुकूल (भागम्) भाग (यदि श्रातं) यदि परिपक्व होगया है तो (जुहोतन) दे दो (यदि अश्रातं) यदि नहीं पका है तो (ममत्तन) पकाओ ।

अध्यात्म में—हे साधक नेता, उठो इन्द्र आत्मा के (भागं) सेवन करने योग्य (ऋत्वियं) सत्य ज्ञान, ब्रह्ममय, प्राप्तव्य मोक्ष पदको देखो, (यदि श्रातं) उसका परिपाक होगया है तो उसको आत्मा के निमित्त अर्पण करो । यदि नहीं पक हुआ उसको परिपक्व कर लो अथवा (ऋत्वियं,

[७२] —ऋग्वेदे प्रथमस्य शिविरौशीनर ऋषिः । द्वितीयस्य प्रतर्दनः काशिराजः, तृतीयस्य वसुमना रोहिदश्व ऋषिः ।

१—(तृ०) 'यदिश्रातो', (च०) 'यद्यश्रातो' इति ऋ० ।

भाग) ऋतु=प्राण सम्बन्धि भाग अंश इन्द्रिय गणका निरीक्षण करो, यदि वह ज्ञान और तप द्वारा पक्व हैं तो उनको आत्मा में लीन करलो यदि नहीं तो उनको तप से पक्व करलो ।

श्रातं ह॒विरो ष्वि॑न्द्र॒ प्र या॑हि ज॒गाम॒ सूरो॒ अध्व॑नो॒ वि मध्य॑म् ।
परि॑ त्वासते नि॒धिभिः॒ सखा॑यः कुल॒पा न व्रा॒जप॑तिं॒ चर॑न्तम् ॥२॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! प्रभो ! (श्रातं हविः) आदान योग्य वह ब्रह्म समाधि रस परिपक्व हो गया है, (उ प्र याहि) और समक्ष आओ, प्रकट होओ । वही (सूरः) सब का प्रेरक आत्मा (अध्वनः) हृदय आकाश के मध्यभाग में (वि) विशेष रूप से (जगाम) आ गया है । हे आत्मन् ! (त्वा) तेरे (परि) चारों ओर (सखायः) तेरे मित्र प्राण या समाहित मुक्तजन (निधिभिः) नाना प्रकार की सिद्धियों द्वारा प्राप्त ज्ञान, शक्तिरूप रत्नों से भरे खजनों सहित अथवा विशेष धारणाओं सहित (अ-सते) तेरी उपासना उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार (कुल-पाः न) कुलके पालक पुत्र या शिष्य गण (व्राज-पतिं) गृह के स्वामी पिता या आचार्य को (चरन्तं) विचरण करते समय या भोजन करते समय उसके चारों ओर रहते हैं ।

यज्ञपक्ष में—हवि अन्न पक्व गया है, हे इन्द्र ! आगे आओ, सूर्य आकाश के मध्य भाग में आगया है, तेरे मित्र (ऋत्विग्-गण) अपने मन्त्रस्तोमों सहित तेरी उपासना उसी प्रकार करते हैं जैसे पुत्रगण कुल-पिताकी ।

श्रातं म॑न्य॒ ऊध॑नि श्रा॒तम॒ग्नौ सुश्रा॑तं मन्ये॒ तदृ॒तं नवी॑यः ।
माध्य॑न्दिनस्य॒ सव॑नस्य द॒ध्नः पिबे॑न्द्र॒ वज्रि॑न् पुरु॒कृज्जु॑षा॒णः ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! आत्मन् ! (तत्) उस अलौकिक, परम (नवीयः) सबसे अधिक प्रशंसनीय; स्तुति के योग्य, अति नवीन सदा

३–(प्र०) 'सुश्रातं मन्ये तदृतं' (च०) 'पुरुकृत्' इति ऋ० ।

उज्वल (ऋतं) सत्य ज्ञानमय परम ब्रह्मरस को (ऊधनि) ऊर्ध्व, स्वर्गमय परम मोक्षाख्य पद में (श्रातं) सुपरिपक्व रूप से ही (मन्ये) मनन करता हूं, जानता हूं। और (अग्नौ) फिर अग्नि, ज्ञानमय गुरुके समीप वास करने पर भी (श्रातं) तपस्या द्वारा, तपरूप से उसी को पकाया, उसीका अभ्यास किया है। और इस प्रकार अब समाधियोग होने पर उसको (सु-शृतं मन्ये) उत्तम रीति से परिपक्व हुआ जानता हूं। (माध्यन्दिनस्य) दिन के मध्य भाग मध्याह्न काल, ब्रह्म-प्रकाश के हृदयाकाश में अति उज्वलरूप में प्रकाशमान होने के (सवनस्य) सवन काल में उत्पन्न (दध्नः) ध्यानाभ्यास-रसका (पिब) पान कर। हे (वज्रिन्) ज्ञानवज्र के धारण करनेहारे आत्मन्! तू (जुषाणः) उसका सेवन करता हुआ उस रसका प्रेमी होकर (पुरु-कृत्) नाना इन्द्रियगण को अपने वश करके ध्यानाभ्यास रसका पान कर।

[७२ (७७)] ब्रह्मानन्द रस।

अथर्वा ऋषिः। अश्विनौ देवते। घर्मसूक्तम्। १, ४, ६ जगत्यः। २ पथ्या बृहती। शेषा अनुष्टुभः। एकादशर्चं सूक्तम्।

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥१॥

भा०—हे (अश्विना) दोनों अश्वियो ! स्त्री पुरुषो ! (दिवः) द्यौलोक आकाश का (रथी) रथवाला, विजयी, रमणकारी, प्रकाशमान

[७२] १–(प्र०) 'समिद्धो अग्नि रश्विनौ' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'वयं हि वां पुरुतमासः', 'वृषणारातिर्दिव', 'वृषणारथिर्दिवः' इत्यपि आश्व० श्रौ० सू०, शां० श्रौ० सू०॥

(अग्निः) सूर्य (सम्-इद्धः) खूब प्रकाशमान होरहा है । (घर्मः) घर्म, घाम (तप्तः) तप गया है । (वाम्) तुम दोनों के लिये (इषे) अन्न के उपभोग के लिये (मधु) मधुर दुग्ध (दुह्यते) दुहा जाता है । हे (अश्विनौ) दोनों स्त्री पुरुषो ! (पुरु-दमासः) इन्द्रियों को दमन करने हारे अथवा बहुत से घरों वाले धनाढ्य (वयं) हम (कारवः) कार्य करने में समर्थ पुरुष (सध-मादेषु) एक साथ आनन्द हर्ष के अवसरों पर (वयं) तुम दोनों को (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं । जब सूर्य उग आवे, गाय दुही जायं, सम्पन्न लोग विद्वान् स्त्री पुरुषों को अपने यहां आमन्त्रित करें । अध्यात्म में—साधक आत्मज्ञान होने पर साक्षात् करता है, वह (दिवः रथी) मोक्षाख्य प्रकाश का रमण-कर्त्ता आत्मा अग्नि अब चेत गया है । घर्म=तेजोमय रस प्राप्त होगया है । प्राण और अपान दोनों के निमित्त मधुर रसका दोहन किया जाता है । इन्द्रियों के विजेता जितेन्द्रिय जन उन अश्वियों प्राणों को समाधि काल के आनन्द प्राप्ति के कालों में उनका आगमन करते हैं ।

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु ।
दुहन्ति नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥२॥

यजु० २० । ५५ ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! (अग्निः) अग्नि सूर्य या यज्ञ की अग्नि (सम्-इद्धः) प्रदीप्त होगई और (वां) तुम दोनों के लिये (घर्मः) तेजःस्वरूप रस (तप्तः) प्रतप्त परिपक्व होगया । (आगतम्) तुम दोनों प्रकट होओ । हे (वृषणा) सुखों और बलोंके वर्षक तुम दोनों (इह) इस देह और गेह में (धेनवः) रसका पान कराने वाली प्राण

२–(द्वि०) 'तप्तो घर्मो विराट्सुतः' (तृ० च०) 'दुहे धेनुः सरस्वती सोमं शुक्रमिहेन्द्रियम्' इति यजु० ॥ (तृ०) 'दुह्यन्ते गावो', शाखा (च०) 'मदन्ति कारवः' इति शांखा०, आश्व० श्रौ० सू० ।

वृत्तियाँ और गौवें (दुह्रन्ते, दुही जाती हैं। हे (दस्रा) दर्शनीयरूप तुम दोनों ! हे सब दुःखों के विनाशक तुम दोनों के बल पर ही (वेधसः) देह का कार्य करने वाले इन्द्रियगण, गृहका कार्य सम्पादन करने वाले भृत्यगण, यज्ञ का कार्य सम्पादन करने वाले ऋत्विग्गण (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न होते हैं या तुमको प्रसन्न करते हैं। अध्यात्म में आत्मा के प्रकाशित होने पर वही आत्मा का आनन्द उन प्राण और अपान के लिये परम है जो जीवन का वास्तविक आनन्द है। उस समय ये इन्द्रियें भी परमरस-युक्त संवित् ज्ञान प्राप्त करती हैं और (वेधसः) कर्मेन्द्रियें भी स्वयं प्रसन्न रहती और आत्मा को प्रसन्न करती हैं।

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥३॥

भा०—(यज्ञं) यज्ञस्वरूप आत्मस्वरूप (शुचिः) सब तामस आवरणों से रहित होकर (देवेषु) विषयों में क्रीड़ाशील इन्द्रियों, विद्वानों, दिव्य पदार्थों या अन्य प्राणों के भीतर (स्वाहा-कृतः) स्वयम् अपने शक्ति से प्रविष्ट होकर विराजमान हैं। (यः) जो (अश्विनोः) अश्वि=प्राण और अपान दोनों के (चमसः) शक्ति प्राप्त करने के या अन्नरस खाने के चमस रूप हैं वही (देव-पानः) देव इन्द्रियों के रसपान करने का स्थान है। (विश्वे) समस्त (अमृतासः) आत्मा या मुक्तजन (तम् उ) उसका ही (जुषाणाः) सेवन करते हुए (गन्धर्वस्य) गौ वाणी को धारण करने हारे मुख्य प्राण रूप सूर्य के (आस्ना) मुख या प्रेरक शक्ति के द्वारा (प्रति-हन्ति) जिसको प्राप्त होते हैं, जिसका रसास्वादन करते हैं।

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोयं स वामश्विना भाग आ गतम्।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः॥४॥

३-(द्वि०) 'देवेषु घर्मः'। (तृ०) 'तमाप् विश्वे' इति पैप्प० सं०।
४-(च०) 'पिबतं सोम्यं मधु' इति, आश्व० श्रौ० सू० ॥

भा०—(यत्) जो शक्तिरस (उस्रियासु) उत्सर्पणशील इन्द्रिय रूप गौओं में (घृतं) आत्माको तेजोमय चेतनांश (आ-हुतं) प्रदान किया गया है (पयः) वह पुष्टिकारक अंश वास्तव में है (अश्विनौ) प्राण और अपान (सः) वह (वां भागः) तुम दोनों का भाग है। उसको प्राप्त करने के लिये तुम इस देह में, यज्ञमें (आगतम्) आओ, निरन्तर रहो। हे (विदथस्य) इस वेदना चेतनामय जीवनरूप यज्ञके (धर्त्तारौ) धारण करने हारो ! आप (माध्वी) मधुरूप आत्माको धारण करने हारे और (सत्पती) सत्स्वरूप आत्माके पालक हो। आप उस (तप्तम्) तपे हुए, तप, स्वाध्याय, प्रवचन, शम, दम कृत, तितिक्षा, मुमुक्षा आदि साधनों से प्रतप्त, परिपक्व (घर्मम्) तेजोमय आत्मरस को (पिबतम्) पान करो, प्राप्त करो। जो (दिवः) द्यौ मूर्धस्थान के प्रति (रोचने) प्रकाशमान भाग में विराजता है।

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! (वां) तुम्हें (घर्मः) ज्योतिर्मय आत्मानन्दरस (नक्षतु) व्याप्त करे। (स्व-होता) स्वयं तुम्हारा होता=आदान प्रतिदान करने हारा (अध्वर्युः) कभी विनाश न होने वाला आत्मा (वाम्) तुम्हारे बल पर (पयस्वान्) पुष्टिप्रद पदार्थों और ज्ञान और आनन्दरस से युक्त होकर (प्र चरतु) उत्तम, श्रेयोमार्ग में विचरण करे। हे अश्विनौ ! (तनायाः) देह के सब कार्यों का विस्तार करने वाली (उस्रियायाः) उत्सर्पणशील चेतना शक्ति के (मधोः) मधुमय, अमृत

५—(तृ०) 'प्रयस्वान्' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'नक्षति' (द्वि०) 'क्षरति प्रयस्वान्' इति आश्व० शांख० श्रौ० सूत्र । (प्र०) नक्षतुस्म होता, (तृ०) 'तनाय वीतं' इति पैप्प० सं० ।

(दुग्धस्य) दुहे गये, प्राप्त हुए (पयसः) ज्ञान राशिको (वीतं) और प्रकाशित करो । प्राणायाम के बल से आत्मा के आनन्द को प्राप्त करो । चिति शक्ति की ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त करके परमानन्द का सुख उपभोग करो ।

उप॑ द्रव॒ पय॑सा गोधुगो॒षमा घ॒र्मे सि॑ञ्च॒ पय॑ उ॒स्रिया॑याः ।
वि नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योऽनुप्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥६॥

ऋ० द्वि० मृ० ५ । =१ । २ ॥

भा०—हे (गोधुक्) चितिशक्ति रूप कामधेनु को दोहन करने वाले अभ्यासिन् आत्मन् ! (ओषम्) उष=दाहकारी, अन्धकारनाशक तेजको (पयसा) आत्मा के बल-सम्पादक तृप्तिकर आनन्दरस के साथ मिलाकर (उप द्रव) उस रसमय परब्रह्म के अति निकट पहुंचने का यत्न कर । और (उस्रियायाः) ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड मूर्धा भाग की ओर ऊर्ध्व-गामी वीर्य के बल से सर्पण करने वाली क्रम से मूल भाग से प्रारम्भ कर के ऊपर की ओर चेतना होती हुई चिति शक्ति के उस (पयः) आनन्द रसको (घर्मे) उस ज्योतिर्मय साक्षात् रसमें (सिञ्च) मिला । (सविता) सबका प्रेरक, प्रभु स्वतः साक्षात् ज्योतिर्मय, सब पदार्थों का प्रकाशक, (वरेण्यः) सब योगियों का परम वरणीय, श्रेष्ठ, उस दशा में आत्मा में (नाकम्) दुःख से सर्वथा रहित आनन्द ही आनन्दमय स्वरूप को (विख्यत्) विशेष रूप से प्रकाशित करता है । और अभ्यासी की यह

६–'गोधुगोषुम्' (तृ०) 'नाकमख्यद्दमूनान्वरेण्यं' (च०) अनुधावा पृथिवी सुप्रणीतिं' इति च शा० श्रौ० सू० । 'पयसा गोधुमा घर्मे ' इति आश्व० श्रौ सू० ॥ विनाकम ख्यत् सविता वरेण्योऽनुधावा पृथिवी सुप्रणीतिः' इति पैप्प० सं० ॥

(प्र०, द्वि०) 'विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः, प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे' इति प्रथम द्वितीयौ पादौ भिद्येते ॥ ऋ० ॥

दशा आजाने पर (उषसः) तामस आवरण के विनाशक विशोका, ज्योतिष्मती या ऋतम्भरा प्रज्ञाके उदय होने के (अनुप्रयाणं) अनन्तर ही वह ज्योतिर्मय सविता साक्षात् तेजोमय :ब्रह्मका स्वरूप (वि राजति) प्रकाशित होता है ।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥७॥
ऋ० १ । १६४ । २६ ॥ अथर्व० ६ । १० । ४ ॥

भा०—मैं (एताम्) इस (सु-दुघाम्) सुख से दोहन करने योग्य (धेनुम्) आनन्द रस पान कराने वाली, ब्रह्ममयी, चिन्मयी, आनन्दघन कामधेनु को (उप ह्वये) स्मरण करता हूं । (एनाम्) इसको कोई (सु-हस्तः) कुशल (गो-धुक्) गोरूप आत्माका दोहन करने हारा (उत) ही (दोहत्) दुह सकता है । (सविता) सबका प्रेरक प्रभु (नः) हमें (श्रेष्ठं) सबसे अधिक श्रेय कल्याणकारी परम मंगलमय (सवम्) ज्ञान, परम प्रेरणा का (साविषत्) प्रदान करता है और तब (अभीद्धः) सब प्रकारों और सब तरफों से प्रकाशमान तेजोमय (घर्मः) परम रस, आनन्दस्वरूप ब्रह्म साक्षात् होता है । और (तत् उ) उस परमरूप का ही (सु) उपनिषद् आदि ग्रन्थों में ध्यानी ज्ञानी ऋषिगण, उत्तम रीति से (प्र वोचत्) प्रवचन करते हैं, शिष्यों का उसका उपदेश करते हैं ।

आधिभौतिक में वर्षा से सब प्रजाओं को जीवन देने हारी मेघरूप धेनु का मैं उपदेश करता हूं । सुहस्तः दोहनकुशल दोग्धा वायु उसका दोहन करता है । सूर्य उसको प्रेरित करता है । जब (घर्म) घाम खूब तपता है तभी यह वर्षा होती है । अथवा (एतासां सुदुघां अहं धेनुम् उपह्वये) उत्तम पदार्थ उत्पन्न करते हुए इस (गौ, पृथिवी, मेघ धर्ममेघ-सिद्ध, आत्मा) को मैं 'धेनु' कहता हूं । (सुहस्तः गोधुक् एनां दोहत्)

७—'दीर्घतमा ऋषिर्ऋग्वेदे ।' (च०) 'तदु षु प्रवोचम्' इति ऋ० ।

कुशल दोग्धा इसको दुह पाता है। (सविता श्रेष्ठं सवं साविषत्) प्रेरक मय आत्मा, सूर्य, यजमान श्रेष्ठ यज्ञ करता है। (अभीद्धः घर्मः) घाम, रस, श्रेष्ठ; पदार्थ, तेजो युक्त रत्न आदि तपता है, प्रचलित होता है, चमकता है (तद् उ सुप्रवोचत्) उसीका उत्तम रीति से उपदेश किया जाता है।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ८ ॥
ऋ० १ । १६४ । २७ ॥

भा०—जिस प्रकार (वत्सम्) बछड़े को (इच्छन्ती) चाहती हुई गाय (हिंकृण्वती) 'घिं घिं' इस प्रकार शब्द करती हुई, भंभारती हुई बछड़े के पास आजाती है उसी प्रकार (वसुपत्नी) देह में मुख्य रूप से वास करने वाले आत्मारूप वसुकी 'पत्नी' शक्तिस्वरूप चिति शक्ति (वसूनां) अपने पुत्ररूप अन्य प्राणरूप वसुओं के निमित्त (मनसा) मनो बल से (नि-आगन्) उनको प्राप्त करती है। उनतक पहुंचती है। और जिस प्रकार (इयम्) यह (अघ्न्या) कभी न मारने योग्य, सुशीला, गोमाता (अश्विभ्यां) स्त्री पुरुषों, गृह के निवासी जनों को (पयः दुहाम्) दूध प्रदान कराती है, उसी प्रकार यह चिति शक्ति या ब्रह्ममयी धेनु (अश्विभ्यां) प्राण और अपान या आत्मा और अन्तःकरण दोनों के लिये (पयः) पुष्टिकारक और तृप्तिकारक ज्ञान तौर बल रूप रसको (दुहाम्) प्रदान करती है। (सा) इसलिये वह अघ्न्या गौ (महते सौभगाय) बड़े सौभाग्य समृद्धि और सुख के लिये (वर्धताम्) बढ़े। वर्षा के पक्ष में मेघरूप गौ गर्जन करती हुई अन्न आदि वसुका पालन करती है। चर अचर प्राणियों के लिये तृप्तिकारक जल प्रदान करती है। अध्यात्म में धर्म मेघ समाधि की दशा में चितिशक्ति (वसुपत्नी) वसु।

१—'ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः।' (द्वि०) 'मनसाऽभ्यागात्' इति ऋ०॥

इन्द्रियों की पालिका है वह (वत्सम् इच्छन्ती) वत्स मनको चाहती है, और (मनसा अभ्यागत्) मनन शक्ति द्वारा ही उसको प्राप्त करती है। (अश्विभ्यां पयः दुहाम्) प्राण और अपान जीव या अन्तःकरण या सिद्ध और साधक दोनों को रस प्रदान करती हुई, (अघ्न्या) अमर अविनाशी होकर (महते सौभागाय) बड़े भारी परम उत्कृष्ट सेवनीय मोक्ष-धाम के लिये (वर्धताम्) बढ़े, शक्तिशाली हो।

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥६॥

ऋ० ५ । ४ । ५ ॥ ५ । २८ । ३ ॥

भा०—(दमूनाः) जितेन्द्रिय, जितचित्त (अतिथिः) अतिथि के समान पूजायोग्य सर्वत्र व्यापक या निरन्तर गतिशील, ज्ञानवान् (दुरोणे) देहरूप गृह में (जुष्टः) अति प्रसन्न, अपने कर्म फलों को करने हारा आत्मा (नः) हमारे इस इन्द्रियगण के (इमं यज्ञम्) इस यज्ञको, परस्पर संगत हुए प्राणों के परस्पर आदानप्रतिदानमय व्यवस्थित जीवनमय यज्ञ को (उप याहि) प्राप्त हो। हे (अग्ने) सबके अग्रणी सेनापति या राजा जिस प्रकार परन्तप होकर (विश्वाः) समस्त (अभि-युजः) आक्रमणकारी सेनाओं को (विहत्य) विनाश करके (शत्रूयताम्) अपना बल नाश करने वाले, अपने पर आक्रमण-कारी शत्रुओं के (भोजनानि) भोजन सामग्री को छीनकर अपने लोगों का ला देता है, उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू (विश्वाः) समस्त (अभियुजः) प्रत्यक्ष रूपसे इन्द्रियों से योग करने वाले पदार्थों को (विहत्य) प्राप्त कर उनको अपने अधीन करके (शत्रूयताम्) अपने शत्रु के समान 'त्वं' कारास्पद आत्मा से भिन्न पदार्थों के (भोजनानि). भोग्य योग्य फलों को प्राप्त कर, हमें इन्द्रियों के निमित्त प्राप्त करा। इन्द्रियगण का

६–'अस्या ऋग्वेदे वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः ॥

आत्मा के प्रति वचन है । प्रजा या सेनानायक का अपने सेनापति या राजा के प्रति वचन भी स्पष्ट है । आत्मा के अतिथि आदि नाम उपनिषद् में स्पष्ट कहे हैं ।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर्दुरोणसत् ॥

(क० उप० वल्ली ५ । क० २)

अग्ने शर्धं महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥१०॥

ऋ० ५ । २८ । ३ ॥ यजु० ३३ । १२ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! ज्ञानवान् तू (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, उत्तम यश और सुखसंम्पत्ति प्राप्त करने के लिये (शर्ध) [1] उत्साह कर, इस प्रकार के (तव) तेरे (उत्तमानि) उत्तम, उत्कृष्ट कोटिके (द्युम्नानि) यश और धन (सन्तु) हों । हे राजन् ! तू (जास्पत्यं) [2] पति पत्नी के परस्पर के दाम्पत्य सम्बन्ध को (सुयमम्) उत्तम रीति से सुदृढ़ (सम् आकृणुष्व) कर । और (शत्रूयताम्) शत्रु के समान आचरण करनेवाले पुरुषों के (महांसि) सब तेजों, बलों को (अभि तिष्ठ) दबा । राजा अपने पराक्रम से राज्य सम्पत्ति बढ़ावे, राष्ट्र में पतिपत्नी के सम्बन्ध को सुदृढ़ करे । और शत्रु के समान व्यवहार करनेवाले राजद्रोहियों के बलों को दबावे ।

१०—ऋग्यजुषोर्विश्ववारा आत्रेयी ऋषिका ।

१. शर्धद् उत्सहतामिति निरुक्तं (नै० अ० ४ । ख० १६) आर्द्र-हृदयो भवतु इति सायणस्तच्चिन्त्यम् । 'जास्पत्यं' जाया च पतिश्च जास्पती, तयोः कर्म इति सायणः । दाम्पत्यमित्यर्थः ।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥११॥

भा०—पुनः उसी गौ का वर्णन करते हैं । हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य अघ्न्या गौ ! तू (सु-यवस-अद्) उत्तम जौ की भुस खाकर (ही) निश्चय से (भग-वती) दूध आदि सौभाग्यशाली पदार्थों से युक्त (भूयाः) हो । (अथो) और (वयं) हम भी (भग-वन्तः) सुख सम्पत्तिमान् (स्याम) हों । हे (अघ्न्ये) गौ ! तू (विश्व-दानीम्) सदा ही (तृणम्) घास (अद्धि) खा और (आ-चरन्ती) सब तरफ विचरती हुई (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जलका (पिब) पान कर । अध्यात्म पक्ष में—विड् वै यवः । राष्ट्रं यवः । तै० ३ । ९० । ७ । २ । यवस कभी जुदा न होनेवाले प्राण सामर्थ्यों का ही भोग करती हुई आन्तरिक शक्तियों के ही चमत्कारिक विभूतियों का भोग करती हुई चितिशक्ति (भग-वती) ऐश्वर्यवती हो । और इस प्रकार हम साधक भी ऐश्वर्यवान् हों । वह ज्योतिष्मती मुक्तिदायिनी चिति शक्ति या ज्ञानमयी, ब्रह्मगवी, या साधक की ज्ञानमुद्रा (अद्धि तृणम्) उस समय तृण=विनाश योग्य इस शरीर को खा जाती है, देह को अपने में लीन कर लेती है, और साधक विदेहप्रकृतिलय होने की चेष्टा करता है । और चिति शक्ति स्वतः शुद्ध उदक=स्वच्छज्ञान 'ऋत' का पालन करती हुई विचरती है वही ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय है । (तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम् । यो० सू० ॥) उस समय चितिशक्ति की सर्वज्ञशक्ति का उदय होता है ।

राष्ट्र पक्ष में यवस=राष्ट्रकी आय उसको खाकर राज की ईश्वरी शक्ति

११–'अथो वयम्' इति आप०, कात्या० श्रौ० सू० अस्या ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः

सर्वत्र अघ्न्या=अविनाशी होकर रहे, राष्ट्रवासी हम भी प्रभु के समान ऐश्वर्यवान् हों। वह तृण=शत्रु को खाय और शुद्ध उदक 'राष्ट्र का' पालन करे।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि चतुर्दश, ऋचो द्वाचत्वारिंशत् ।]

[७४ (७८)] गण्डमाला की चिकित्सा।

अथर्वा ऋषिः । १, २ अपचित्-नाशनो देवता, ३ त्वष्टा देवता, ४ जातवेदा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥१॥

भा०—(लोहिनीनां) लाल वर्ण की (अप-चिताम्) गण्डमाला की फोड़ियों की (माता) उत्पादक जननी (कृष्णा) कृष्ण वा नीले रंग की नाड़ियां होती हैं। (इति) इस प्रकार (शुश्रुम) हम अपने गुरुओं से सुनते हैं। (अहम्) मैं (ताः सर्वाः) उन सब को (देवस्य) प्रकाशमान (मुनेः) मुनि, तेजस्वी अग्नि के (मूलेन) प्रतिष्ठास्थान, आ -भूत, तीव्र जलन पैदा करनेवाले पदार्थ से (विध्यामि) वेधता हूँ।

कौशिक सूत्र में गण्डमाला के रोग की चिकित्सा के लिये कुछ प्रयोग इस प्रकार लिखे हैं १—तीखी शलाका (शर) से गण्डमालों की फोड़ियों को फोड़कर उनका रक्त निकालना। २—प्रातःकाल गरम जल से धोना। ३—ऊपर काली ऊनको जलाकर उसको घी में मिलाकर मल्लम बनाकर लगाना, ४—कुत्ते से चटाना, ५—गले पर गन्दा खून निकालने के लिये गोह या जोंक लगाना, ६—सैंधा नमक पीस कर उन पर छिड़ककर मिट्टी लगा कर मलना । ७—तांत से गण्डमाला के मस्सों को बांधना।

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् ।
इदं जघन्या/मासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥

भा०—(आसाम्) इन गण्डमालाओं में से (प्रथमाम्) प्रथम हुई आपची को (विध्यामि) तेज़ शलाका से या नस्तर से वेंधता हूँ। (उत्) और (मध्याम्) बीचकी को भी छेदता हूं । (इदम्) और इसी प्रकार से (आसाम्) इनमें से (जघन्याम्) सबसे निकृष्ट कोटि की अपची को भी (स्तुकाम्) फुनसी के समान (आ छिनद्मि) काट डालता हूं । दोष की अधिकता, समता और न्यूनता से अपची के तीन भेद हैं, १ म, जिसमें अधिक मवाद हो, २ य, जिसमें कम, ३ य, जिसमें बहुत सामान्य । तीनों की उत्तम रीति से चिकित्सा करे ।

ईर्ष्या का उपाय ।

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम् ।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥

भा०—पति कहता है । हे पत्नी ! मैं (ते) तेरे हृदय की (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या के भाव या दूसरे की उन्नति और कीर्ति देखकर दिलमें पैदा हुई जलन को (त्वाष्ट्रेण) त्वष्टा इन्द्र परमेश्वर या पति के (वचसा) वचनों से, अर्थात् पति पद पर रहकर उसीके पदके योग्य अपने मधुर वचनों से (वि अमीमदम्)[1] तृप्त करता हूं या दूर करता हूं, शान्त करता हूं । स्त्री कहती है । हे (पते) स्वामिन् ! पालक ! नाथ ! प्राणपते ! (अथ) इसके बाद भी (यः) जो (ते) तेरा (मन्युः) क्रोध मेरे प्रति हो । (तम् उ) उसको भी (शमयामसि) हम शांत करें ।

[७४] ३–१. मद तृप्तियोगे (चुरादिः), मदी हर्षग्लेपनयोः (दिवादिः) मदि मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (भ्वादिः), मदी हर्षे (भ्वादिः) ।

इस ऋचाके पूर्वार्ध में पत्नि के प्रति पतिका वचन और उत्तरार्ध में पति के प्रति पत्नीका वचन है ।

त्वष्टा पशूनां, मिथुनानां रूपकृद्रूपपतिः । तै० २ । ८ । ११ । २ ॥ त्वष्टा वै रेतःसिक्तं विकरोति । कौ० ३ । ९ ॥ रेतः सिक्तिर्वै त्वाष्ट्रः ॥ कौ० ११ । ६ ॥ त्वष्टा, पशुओं का या दम्पति जोड़ों का बनाने वाला रूपपति (सब जातियों का स्वामी) है । वही प्रभु माता के गर्भों में समानरूप से सिक्त वीर्य को नाना प्रकार से परिपक्व करके भिन्न रूपका बनाता है । अथवा रेतःसेचन का कार्य त्वष्टा का है अतः त्वष्टा=प्रजापति और पति ।

ज्ञानवान् की उपासना ।

व्रतेन॒ त्वं व्र॑तपते॒ सम॑क्तो वि॒श्वाहा॑ सु॒मना॑ दीदिही॒ह ।
तं त्वा॑ व॒यं जा॑तवेदः॒ समि॑द्धं प्र॒जाव॑न्त॒ उप॑ सदेम॒ सर्वे॑ ॥४॥

भा०—हे (व्रतपते) व्रतका पालन कराने हारे कर्मों के आचार्य, हे (जातवेदः) जातवेदा ! जातप्रज्ञ विद्वन् ! (त्वं) तू (व्रतेन) अपने महान् व्रत नियत कर्त्तव्य पालन के कार्य से (सम्-अक्तः) भली प्रकार सुशोभित हो (विश्वाहा) सदा ही (सु-मनाः) उत्तम हृदय और सुचित्त, शुभ संकल्प होकर या उत्तम विद्वान्, ज्ञानवान् होकर (इह) इस लोक में प्रकाशित हो और अन्यों को प्रकाशित कर । और हे (जात-वेदः) जातप्रज्ञ, विद्वन् ! (तं) उस प्रसिद्ध (सम्-इद्धम्) प्रकाशवान (त्वाम्) तुझको हम (सर्वे प्रजा-वन्तः) सब प्रजा वाले राजगण और गृहस्थी लोग (उप सदेम) तेरे समीप आवें, तेरी उपासना और सत्संग करें, तेरे ज्ञानोपदेश से लाभ उठाएं ।

[७५ (७९)] गो-पालन ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । अघ्न्या देवता, अघ्न्या स्तुतिः । १ त्रिष्टुप् ।
२ त्र्यवसाना पञ्चपदा, भुरिक् पथ्यापंक्तिः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ १ ॥

ऋ० ६ । २८ । ७ ॥

भा०—हे गौवो ! तुम (प्रजा-वतीः) बछड़ों वाली होकर (सु-यवसे रुशन्तीः) उत्तम तृण आदि भोजन के लिये चरती हुई और (सु-प्रपाने) उत्तम जलपान के स्थान पर (शुद्धाः अपः पिबन्तीः) शुद्ध जलोंका पान करती हुई विचरो । (स्तेनः) चोर (वः) तुम पर (मा ईशत) शासन न करे । (अघ-शंसः) पापी और दूसरों को पाप करने की शिक्षा देने वाले व्यक्ति भी तुम पर (मा ईशत) स्वामी न रहें । बल्कि (रुद्रस्य) दुष्टों के रुलाने वाले राजा का (हेतिः) शस्त्र-बल (वः) तुम्हारी (परि-वृणक्तु) सब ओर से रक्षा करे ।

गौएं शुद्ध जलपान करें, उत्तम घास खावें, राजा उनकी रक्षा का प्रबन्ध करे । और चोर हत्यारों और हत्या करने के लिये दूसरों को प्रेरित करने वालों को अपने पास गौएं रखने का अधिकार न हो ।

अध्यात्म में—(प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः) उत्तम ज्ञान से सम्पन्न होकर उस परमब्रह्म में विचरती हुई (सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम आनन्द रससे भरे ब्रह्मधाम में ही शुद्ध स्वच्छ, निर्मल, अपःअमृत जलों का पान करती हुई विचरें । (स्तेनः अघशंसः मा ईशत) चोर

[७५] १-(प्र०) 'प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः' (च०) 'परि वो रुद्रस्य हेती वृज्याः ।' इति ऋ० ॥ अस्या ऋग्वेदे भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ॥

अतपस्वी और पापी इनको नहीं पावें । और (रुद्रस्य हेतिः वः परि वृणक्तु) रुद्र की आघातकारिणी शक्ति तुम पर आघात न करे । प्रत्युत रक्षा करे ।

पदुज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः ।
उप मा देवीर्देवेभिरेत । इमं गोष्ठमिदं सदो ।
घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥ २ ॥

भा०—हे (रमतयः) सर्वत्र आनन्द प्रसन्न रहने हारी गौओ ! तुम (पद-ज्ञाः स्थ) अपने निवासस्थान को जानने वाली हो । और तुम (विश्व-नाम्नीः) विश्व—बहुत से नामोंवाली (सं-हिताः) एक ही स्थान पर रहती हुई (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त होकर अथवा इधर उधर नित्य क्रीड़ा करती, विचरण करती हुई (देवेभिः) खेलते हुए अपने बछड़ों सहित (मा) मेरे पास (उप एत) आओ । (इमं) इस (गो-स्थम्) गोशाला में निवास करो (इदं सदः) यह घर है । इसमें रहो और (घृतेन) घी दूध मक्खन से (अस्मान्) हमें (सम् उक्षत) अच्छी प्रकार सेचन करो, प्रदान करो ।

गौओं के विश्वनाम—"चित् असि, मनासि, धीरसि रन्तीरमतिः सूनुः सूनरी इत्युच्चैरुपह्वये सप्त मनुष्यगवीः । आप० ४ । १० । ४ ॥ इडेरन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुते इत्येतानि ते अघ्न्ये नामानि । तै० सं० ७ । १ । ८ ॥ इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते ऽदिति सरस्वति महि विश्रुति इति ते अघ्न्ये (देवत्रा) नामानि ॥ श० ४ । ५ । ८ । १० ॥ उक्त आपस्तम्ब और शतपथ के वचनानुसार गौओं के दृष्टान्त से पुरुष देहों की चिति शक्तियों का वर्णन प्रतीत होता है । अध्यात्म में—(रमतयः) सर्वत्र विषयों में अथवा भीतरी आत्मा में ज्योतिष्मती प्रज्ञा रूपसे रमण करने वाली चितिशक्तियो ! तुम (पदज्ञाः स्थ) परमपद, आनन्द धामको जानती हो । तुम (विश्वनाम्नीः) विश्व=परमेश्वर को

प्राप्त होने वाली (सं-हिताः) भली प्रकार उससे संगत हो जाती हो । तुम (देवेभिः) इन्द्रियों में प्रविष्ट प्राणों के साथ स्वतः (देवीः) प्रकाशमान होकर (मा उप आ इत) मुझ साधक को भी प्राप्त होओ । (इमं गोष्ठं इदं सदः) इस गौओं, इन्द्रियों के आश्रयभूत मुझ आत्मा में आओ इस आश्रय स्थान आत्मा में विराजो । और (अस्मान् घृतेन उक्षत) हमें तेजोमय रससे आप्लावित करो ।

[७६ (८०, ८१)] गण्डमाला की चिकित्सा और सुसाध्य के लक्षण ।

अथर्वा ऋषिः । अपचित्-भिषग् देवता । १ विराड् अनुष्टुप् । ३,४ अनुष्टुप् । २ परा उष्णिक् । ५ भुरिग् अनुष्टुप् । ६ त्रिष्टुप् । षडर्चं सूक्तम् ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः ।
सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

भा०—(असतीभ्यः) बुरी से भी (असत्-तराः) बुरी बिगड़ी हुई अपची या गण्डमाला की फ़ोड़ियां यदि (सु-स्रसः) अच्छी प्रकार बह रही हैं तो (आ सु-स्रसः)[1] वे शीघ्र ही सुगम रीति से विनष्ट होजाती हैं । और

---

[७६] १–(प्र०, द्वि०) 'नामन्नसं स्वयंस्रसन्नसतीभ्योऽवसत्तराः ।' इति पैप्प० सं० ॥ 'आसुस्रसः सुस्रस्तराः' इति ह्विट्निकामितः पाठः । 'आऽसुस्रस' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः पदपाठविरुद्धः । 'आसुस्रसो सुस्रस्तरा' इति ब्लूमफील्डकामितः पाठः । 'आसिस्रसः' इति 'हेनरी'कामितः पाठः ।

१. 'मन्त्रौषधिप्रयोगेण निःशेषं स्रवणेन विनश्यन्तु' इति सायणः ॥ इदं सूक्तं चतुर्ऋचं 'विभ्रवे' इत्यादि त्र्यृचं सूक्तमित्यनुक्रमणिका ।

यदि (सेहोः) वे शुष्क पदार्थ से भी अधिक (अरस-तरा) रसहीन, सूखी हैं तो वे (लवणात्) नमक छिड़ककर मलने से (वि-क्लेदीयसीः) विशेष रूप से जल छोड़ने लग जाती हैं ।

नमक का प्रयोग हम पूर्व लिख आये हैं। रस छोड़ती हुई गण्डमालाएं शीघ्र आराम होजाती हैं यह वैद्यक का सिद्धान्त है । 'सु-स्रसः' पदको विदेशियों ने बहुत बदलने की चेष्टा की है, वह मन्त्रका तात्पर्य न समझने के कारण है ।

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः ।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

भा०—(याः) जो (अप-चितः) अपची या गण्डमाला फोड़ियां (ग्रैव्याः) गर्दन पर हों (अथो) और (याः) जो (उप-पक्ष्याः) कन्धों, पीठ और बगलों में हो और (याः) जो (अप-चितः) फोड़ियां (वि-जाम्नि) पेट या नाभि के नीचे पेड़ू पर हों वे भी (स्वयं-स्रसः) अपने आप जल बहाने वाली होकर (आ-सु-स्रसः) शीघ्र ही सुख से दूर हो जाती हैं ।

विजामन्=पेट । अंग्रज़ी में 'विजामन' शब्द अपभ्रष्ट होकर (Ab, domen) 'एब-डोमन्' कहलाता है।

स्त्री भोग से प्राप्त राजयक्ष्मा का उपाय ।

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥३॥

उपलब्धसंहितासु उभयं संभूय षडर्चं पठ्यते । अर्थभेदात् विनियोगभेदाच्च आद्ययोरेकं सूक्तम्, ततस्तिसृणामेकम्, तत एकस्या एकमिति विवेकः ॥

३–(च०) 'कश्चित् ककुधि श्रितः ।' (द्वि०) 'तलीम्य [-द्य] म्' इति

भा०—(यः) जो रोग (कीकसाः) पसुलियों को (प्र-श्रृणाति) तोड़ डालता है। और (तलीद्यम्) समीप के फैफड़ों में जाकर (अव-तिष्ठति) जा बैठता है। और (यः कः च) जो कोई रोग (ककुदि) गर्दन के नीचे कन्धों और पीठ के बीच में भी (श्रितः) जमजाता है (तं सर्वं) उस सब (जायान्यं) स्त्री द्वारा प्राप्त होने वाले राजयक्ष्मा के रोगको (निर्-हाः) शरीर से प्राण के बल से निकाल दो।

'यज्जायान्योऽविन्दत् तज्जायेन्यस्य' इति (तै० सं० २ । ३ । ५ ॥)

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् ।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

भा०—(जायान्यः) स्त्रियों के अतिभोग से प्राप्त होनेवाला क्षय, शोष आदि रोग (पक्षी) पक्षी के समान (पतति) एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार कर जाता है। (सः) वही (पूरुषम्) भोग के समय पुरुष के शरीर में (आ विशति) पहले थोड़ी मात्रा में ही या शनैः प्रवेश कर जाता है। (तत्) वह निम्नलिखित उपचार (अक्षितस्य) १ म अभी जिसने चिरकाल से जड़ न पकड़ा हो और (सु-क्षतस्य=सु-क्षितस्य) २ य, जिसने खूब जड़ पकड़ भी ली हो (उभयोः) दोनों की (भेषजम्) उत्तम चिकित्सा है। अथवा (अक्षतस्य उभयोः भेषजम्) अक्षत—जिसमें छाती

पैप्प सं० ॥ 'निरास्थं' इति लडविग्कामितः पाठः । 'तलाम्यां' इति रोथकामितः पाठः । 'उपतिष्ठति' इत्यपि रोथकामितः पाठः । (प्र०) 'प्रसृणाति' इति सायणाभिमतः पाठः । 'निरास्त', 'निः-अस्तं' इति च क्वचित् पाठः ॥

४–सुक्षितस्येति सायणसम्मतः पाठः । (द्वि०) 'याविशति पौरुषम्' इति पैप्प० सं० ॥ अक्षतस्य...सुक्षतस्येति वा केचित् । 'अक्षतस्येति कौशिक स० ॥

का खून न आता हो, दूसरा जिसमें छाती से कट कट कर खून आने लग गया हो, दोनों की वही चिकित्सा है। अर्थात् शरीर में प्रवेश होनेवाले विषैले कीड़ों का दूर भगा देना ही इस रोग से बचने का उत्तम उपाय है।

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

भा०—हे (जायान्य) क्षय रोग ! (ते जानं) तेरे उत्पन्न होने के विषय में (विद्म वै) हम निश्चय से जानते हैं कि तू हे (जायान्य) क्षय ! (यतः) जहां से (जायसे) उत्पन्न होता है । (त्वं) तू (तत्र) वहां (कथं) किस प्रकार (हनः) हानि कर सकता है (यस्य) जिसके (गृहे) घर में हम विद्वान् लोग (हविः) नाना ओषधियों से या रोग नाशक हवि या चरु को बनाकर उससे (कृण्मः) अग्निहोत्र करते हैं अर्थात् रोग नाशक हवि=चरु या अन्न द्वारा इस क्षय रोग को निकाल डालने पर सब प्रकार से क्षय दूर हो जाते हैं।

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥६॥
ऋ० ६ । ४७ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) बलवान् जीव ! तू (कलशे) अपने देह के कलश भाग अर्थात् ग्रीवा से लेकर नाभि तक के भाग में (धृषत्) बाह्य रोगों को विनाशकारी बल से युक्त होकर (वसूनाम्) देह में बसनेवाले प्राणों के (सम्-अरे) संग्राम में (वृत्र-हा) जीवन के विघ्नभूत रोग

५—(तृ० च०) 'कथं ह तत्र त्वं हन्यात् यत्र कुर्यान्महम् हविः' इति पैप्प० सं० ॥
६—'रयि स्थानो' इति पाठः, ऋ० ॥

के नाशकारी (सोमम्) स्वच्छ वायु रूप अमृत का (पिब) पान कर। और हे (शूर) रोगनाशक जीव! तू (माध्यन्दिने) दिन के मध्य काल के (सवने) सवन में बलिवैश्वदेव अतिथियज्ञ आदिके अवसर पर स्वयं भी (आ-तृपस्व) सब प्रकार अन्न आदि खाकर पुष्ट हो। और (रयि-स्थानः) शरीरके धनस्वरूप रयि=प्राण में स्थिति प्राप्त करके (अस्मासु) हम इन्द्रियगण में भी (रयिम्) उस प्राण को (आ धेहि) प्रदान कर। इससे हम सब बलवान् नीरोग रहेंगे।

—•—।।—•—

[७७ (८२)] राष्ट्रवासियों के कर्त्तव्य।

अंगिराः ऋषिः। मरुतः सांतपना मन्त्रोक्ताः देवताः। १ त्रिपदा गायत्री। २ त्रिष्टुप्। ३ जगती। तृचात्मकं सूक्तम्॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। अस्माकोती रिशादसः॥१॥
ऋ० ७। ५९। ९॥

भा०—हे (सांतपनाः) भली प्रकार तपश्चरण करनेवाले (मरुतः) विद्वान् पुरुषो! अथवा हे शत्रुओं को अच्छी प्रकार तपानेवाले (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति वाले सैनिक भटो! (इदं हविः) तुम लोगों के निमित्त यह अन्न पर्याप्त रूप में विद्यमान है। (तत्) उसको (जुजुष्टन) प्रेम से स्वीकार करो। और हे (रिशादसः) हिंसक शत्रुओं के विनाशक आप लोग (अस्माकम्) हमारी (ऊती) रक्षा के लिये रहो।

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्॥२॥
ऋ० ७। ५९। ८॥

[७७] १–'युष्माकोती रिशादसः' इति ऋ०।
२–(प्र०) 'यो नो मरुतोऽभिदुर्हृणायुः' (तृ०, च०) द्रुहः पाशान् प्रति

भा०—हे (मरुतः) वीर पुरुषो ! वायु के समान तीव्र गतिवाले प्रजागणो ! और हे (वसवः) राष्ट्र के, देह के प्राण रूप या जीवन के हेतु रूप वसुगणो ! देशवासियो ! (नः) हममें से भी (यः) जो (मर्त्तः) अज्ञानी पुरुष (दुः-हृणायुः) दुष्ट, दुःसाध्य क्रोध के वश होकर (तिरः) कुटिलता से (नः) हमारे (चित्तानि) चित्तों को या सत्य मनोरथों या धर्मों को (जिघांसति) आघात पहुँचाना चाहता है (सः) वह (द्रुहः) द्रोही के योग्य (पाशान्) राजदण्ड रूप पाशों को (प्रति मुञ्चतम्) प्राप्त हो, उनमें बांधा जाय और (तम्) उसको (तपिष्ठेन) अति कष्टदायी (तपसा) यन्त्रणा से (हन्तन) मारो ।

सं॒व॒त्स॒री॒णा म॒रुतः॑ स्व॒र्का उ॒रुक्ष॑याः॒ सग॑णा॒ मानु॑षासः ।
ते अ॒स्मत् पाशा॒न् प्र मु॑ञ्च॒न्त्वेन॑सः सांतप॒ना म॑त्स॒रा मा॑दयि॒ष्णवः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(सं-वत्सरीणाः) एक एक वर्ष के लिये नियुक्त हुए (सु-अर्काः) उत्तम ज्ञानवान्, पूज्य, मननशील, श्रेष्ठ (उरु-क्षयाः) बड़े बड़े महलों में या भवनों में निवास करनेवाले (स-गणाः) अपने सहायकारी साथियों सहित (मानुषासः) मननशील विचारवान (मरुतः) जो देश के प्राण स्वरूप विद्वान् धनाढ्य पुरुष हैं (ते) वे (अस्मत्) हमारे (एनसः)

समुचीष्टे', 'तपिष्ठेन हन्मना हन्तना तम्' इति ऋ० ॥ 'यो नो मर्त्तो वसवो दुर्हृणायुस्तिरः सत्यानि मरुतोजिघन्सात् ॥' इति तै० सं० । तस्मिन् तान् पाशान् प्रतिमुञ्चत यूयम् तपिष्ठेन तपसामश्विना शम् । इति पैप्प० सं० ।

(द्वि०) 'सगणा मानुषेषु' (तृ० च०) 'तेऽस्मत्पाशान् प्रमुञ्चन्त्वंहसः सान्तपनाः मदिराः मादयिष्णवः' इति तै० सं० । (तृ०) पाशान् प्रतिमुञ्चन्तु सर्वान्' इति पैप्प० सं० ॥

पाप के (पाशान्) पाशों को (प्र मुञ्चन्तु) उत्तम रीति से दूर करें। वे ही उस पापकारी पुरुष के (सांतपनाः) अच्छी प्रकार तपानेवाले, उसको दण्ड करनेवाले होने से (मत्सराः) स्वयं प्रसन्न होते और (मादयिष्णवः) दूसरों को भी हर्षित किया करते हैं। गर्भाधान से लेकर उपनयन, विवाह अग्निहोत्र, व्रताचार आदि करनेवाले गृहस्थ लोग 'सांतपन अग्नि' कहाते हैं। वे देश में अपनी व्यवस्था उक्त रूप से रखें और प्रतिवर्ष अपनी व्यवस्था को सुधार लिया करें।

[७८ (८३)] मुक्ति-साधना।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। १ परोष्णिग्। २ त्रिष्टुप्। द्व्यृचं सूक्तम् ॥

वि ते॑ मुञ्चामि रश॒नां वि योक्त्रं॒ वि नि॒योज॑नम्।
इ॒हैव त्वमज॑स्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) जीव ज्ञानवन्, आत्मन्! मैं परमात्मा या आचार्य (ते) तेरी (रशनाम्) बन्धन की रस्सी कर्म-परम्परा को (मुञ्चामि) छोड़ता हूँ, तुझे मुक्त करता हूँ। और (योक्त्रम्) तुझे बांधनेवाले देह को भी (वि) तुझ से दूर करता हूँ। और (नि योजनम्) तुझे बांधनेवाले कर्मफल को भी तुझ से (वि) पृथक् करता हूँ। (त्वम्) तू अब (अजस्रः) [1] अहिंसित, अविनाशी स्वरूप होकर (इह एव) इस मुक्त परम पद ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप में ही (एधि) रह।

[1] 'अग्निरजस्रः' (आत्मा पुरुषविधः) श० ६। ७। ४। ३ ॥

[७८] १-'वि ते मुञ्चामि रशनां विरश्मीन् वियोक्त्रा (णि) यानि परिचर्त्तनानि।' इति मै० सं० (तृ०) 'इहैव त्वमजस्रेध्यग्ने' इति पैप्प० सं० ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन ।
दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्राणरूप अग्ने ! (अस्मै) इस आत्मा के निमित्त ही (क्षत्राणि) समस्त वीर्यों को (धारयन्तम्) धारण करते हुए (त्वा) तुझको (दैव्येन) देव, आत्मसम्बन्धी (ब्रह्मणा) ब्रह्म बलसे (युनज्मि) युक्त करता हूँ, उसमें समाहित करता हूँ। तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इह) इस लोक में ही (द्रविणा) नाना ज्ञानों और बलों और विभूतियों को (दीदिहि) प्रदान कर । और (इमम्) इस आत्मा को वह प्राण (देवतासु) इन इंद्रियगणों में (भद्रम्) सुखकारी (हविर्दाम्) अन्न और बलशक्ति तथा उनके भोग्य शक्ति को देने वाला (प्रवोचः) उपदेश किया जाता है । पुरोहित राजा के प्रति भी (अस्मै) इस राष्ट्र के लिये (क्षत्राणि धारयन्तम् हे अग्ने त्वा दैव्येन ब्रह्मणा युनज्मि) क्षत्र बलों को धारण करनेवाले तुझ परंतप राजा को ईश्वरीय वेदज्ञान से युक्त करता हूँ । (इह अस्मभ्यं द्रविणा दीदिहि) इस राष्ट्र में हमें श्रेष्ठ धन प्राप्त करा और (देवतासु इमं भद्रं हविर्दाम् प्रवोचः) विद्वान्, उत्तम देवसदृश पुरुषों में इस पुरुषको सुखकारी उत्तम अन्नदाता होनेका उपदेश कर ।

[७९ (८४)] स्त्री के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता अमावास्या देवता । १ जगती । २,४ त्रिष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

२—'धत्तादस्मासु द्रविणं यच्च भद्रं प्राणो ब्रूताद् भागधान् देवतासु । इति तै० सं० ॥ 'धत्तादस्मभ्यम् द्रविणेह भद्रं' इति तैत्तरीय पाठाद् विशेषः । मै० सं० ॥ प्रथम द्वितीययो पादयोर्विपर्ययः । पैप्प० सं० ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥१॥

भा०—हे (अमा-वास्ये) सहवास करनेहारी स्त्री ! (ते महित्वा) तेरे महत्व या गौरव या आदरभाव के कारण (सं-वसन्तः) एकत्र एक देश में निवास करनेवाले (देवाः) विद्वान् लोग (यत्) जो (भाग-धेयम्) भाग, अधिकार (ते) तेरे निमित्त (अकृण्वन्) नियत कर देते हैं (तेन) उसीसे तू (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञ, गृहस्थ यज्ञ, जो परस्पर-संगत रहने से हो रहा है उसको (पिपृहि) पूर्ण कर, पालन कर । और हे (विश्व-वारे) सबके वरण करने योग्य अनवद्याङ्गि ! पत्नि ! और (सु-भगे) सौभाग्यवति ! तू ही (नः) हमें (सु-वीरं) उत्तम बलवान् पुत्ररूप (रयिम्) धन को (धेहि) प्रदान कर या धारण कर ।

अध्यात्म पक्ष में—(अमावास्ये) एकत्र सबको आवास देनेहारी ब्रह्म शक्ते ! तेरी महिमा से देव-विद्वान् ज्ञानी पुरुषों ने जो तेरा भाग नियत किया है उससे इस यज्ञ आत्मा को पूर्ण कर । हे विश्ववारे ! सर्व वरणीये, सर्वोत्तमे ! तू हममें सुवीर रयि आत्मस्वरूप या ब्रह्म ज्ञान प्रदान कर ।

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥ २ ॥

भा०—स्त्री कहती है-(अहम्) मैं (एव) ही (अमा-वास्या) अमावास्या (अस्मि) हूं । (माम्) मुझे लक्ष्य करके ही (इमे) ये (सु-कृतः) उत्तम पुण्यचरित्र पुरुष (मयि) मेरा आश्रय लेकर ही

[७९] १-(प्र०) 'यत् ते देवा अददुः' (तृ०) 'सा नो यज्ञं ।' इति तै० सं० ॥ (प्र०) 'देवा कृण्वन्' (द्वि०) 'संवदन्तो महित्वा' (तृ०) 'सं इमं यज्ञं' इति पैप्प० सं० ॥

(आ वसन्ति) निवास करते हैं। (इन्द्र-ज्येष्ठाः) इन्द्र ईश्वर को ही सर्वश्रेष्ठ माननेहारे (देवाः) विद्वान्‌गण और (साध्याः) साधना करनेवाले (उभे) ये दोनों ज्ञानी और कर्मवान् दोनों (मयि) मेरे आश्रय पर ही (सर्वे) सब (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते हैं। इससे गृहस्थ आश्रम की ज्येष्ठता दर्शायी गयी है।

अध्यात्म पक्ष में—मैं ब्रह्मशक्ति ही अमावास्या हूँ। मुझको लक्ष्य करके ही सब पुण्यात्म जन मेरे आश्रय पर एकत्र निवास करते हैं (देवाः) मुक्त पुरुष और (साध्याः) मुक्तिपथ के अभ्यासी साधक लोग सब एकत्र होते हैं।

आगन् रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती ।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥ ३ ॥

भा०—(वसूनां) वास करने हारे गृह के प्राणियों को (सं-गमनी) एकत्र मिलाकर रखनेवाली (पुष्टम्) पुष्टिकारक (ऊर्जम्) अन्नरस को और (वसु) धन को और (आ वेशयन्ती) प्रदान करती हुई (रात्री) रमण, आनन्द हर्ष को प्रदान करने वाली गृहपत्नी (आअन्) आती है। उस (अमा-वास्यायै) सहवास करनेहारी गृहपत्नी के निमित्त हम (हविषा) अन्न आदि उत्तम पदार्थों से उसको (विधेम) प्रसन्न करें। वह (ऊर्जं दुहाना) अन्नरस को प्रदान करती हुई (पयसा) दूध के पुष्टिकारक पदार्थों के साथ (नः) हमें (आ गन्) प्राप्त हो।

अध्यात्म पक्षमें—योगियों को रमण करानेवाली (वसूनां संगमनी) मुक्त जीवों को एकत्र वास देनेवाली मुक्तिरूप रात्रि सब (ऊर्जम्) रस रूप धन का प्रदान करती हुई प्राप्त होती है। उस अमावास्या को जिसमें जीव और ब्रह्म एकत्र वास करते हैं अपने ज्ञान हवि से परिचर्या कर (पयसा) ब्रह्मज्ञान के साथ (ऊर्जम्) ब्रह्मरस प्रदान करती हुई प्राप्त होती है।

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥४॥
ऋ० १० । १२१ । १० ॥ यजु० १० । २० ॥

भा०—हे (अमा-वास्ये) सहवासशीले गृहपत्नि ! (त्वद्) तुझसे (अन्यः) दूसरा कोई (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त पुत्र आदि पदार्थों को (परि-भूः) शक्तिमती होकर (न) नहीं (जजान) पैदा करता । (यत्कामा) जो कामना रख कर हम (जुहुमः) वीर्य आदि का त्याग करते हैं । हे परमशक्ते ! (तत् नः) वह पुत्र आदि हमें (अस्तु) प्राप्त हो । और (वयं) हम (रयीणाम्) समस्त धन सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ।

परम ब्रह्मशक्ति के पक्ष में—हे अमावास्ये ! सब के साथ विद्यमान (न त्वद् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान) तेरे से अतिरिक्त कोई भी दूसरी शक्ति सर्वव्यापक हो कर इन समस्त नाना लोकों को उत्पन्न नहीं करती । (यत्कामाः ते जुहुमः तत् नः अस्तु) जिस मोक्ष पद के लाभ की आकांक्षा करके तेरे प्रति हम आत्मत्याग करते हैं वह हमारी अभिलाषा पूर्ण हो । (वयं स्याम पतयो रयीणाम्) हम रयि—वीर्य, बल और धनों के स्वामी हों ।

[८० (८५)] परमपूर्ण ब्रह्मशक्ति ।

अथर्वा ऋषिः । पौर्णमासी प्रजापतिर्देवता । १, ३, ४ त्रिष्टुप् । ४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

४—(प्र०) 'प्रजापते' (द्वि०) 'विश्वा जातानि परिता बभूव' इति ऋ० । 'नहि त्वन् तानि' (तृ०) 'यस्मै कामास्ते' इति मै० सं० ॥ अग्रिमे सूक्ते तृतीयाऽपि 'प्रजापते' इति पदेन विभिद्यते ॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥१॥

भा०—वह ब्रह्मशक्ति (पश्चात्) इस संसार के प्रलय के अनन्तर भी (पूर्णा) पूर्ण ही है और (पुरस्तात्) संसार के बनने के पूर्व भी वह (पूर्णा) पूर्ण ही थी और (मध्यतः) इन दोनों कालों के बीच के संसार के रचना काल में भी वह (पौर्णमासी) पूर्णरूप से समस्त जगत् को अपने भीतर मापने या बनाने वाली, महती शक्ति (उत् जिगाय) सब से अधिक उच्चता पर विराजमान है । (तस्यां) उसमें (देवैः) विद्वान् मुक्तात्माओं सहित (सं-वसन्तः) निवास करते हुए (महित्वा) हम लोग अपनी शक्ति और उसकी महिमा से (नाकस्य) सर्वथा दुःखरहित, परम सुखमय मोक्ष के (पृष्ठे) धाम में (इषा) अपनी इच्छा के अनुसार (सं मदेम) आनन्द का उपभोग करें ।

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥२॥

भा०—(पौर्णमासम्) समस्त संसार के रचयिता (वाजिनम्) सर्व शक्तिमान् (वृषभम्) सब सुखों के वर्षक प्रभु परमेश्वर की (वयं) हम (यजामहे) उपासना करते हैं । (सः) वह (नः) हमें (अनु-पदस्वतीम्) कभी किसी के प्रयत्न से भी न क्षीण होनेवाली और स्वयं भी (अक्षिताम्) अक्षय (रयिम्) शक्ति का (ददातु) प्रदान करे ।

---

[८०] १–(तृ० च०) 'तस्यां देवा अधि संवसन्त उत्तमे नाक अधि मादयन्ताम्।' तै० ब्रा० । (द्वि०) 'पौर्णमासी मध्यतो जिगाय' इति पैप्प० सं० ॥

२–(प्र०) 'ऋषभं'...(द्वि०) 'पूर्णमास' (तृ० च०) 'स नो देहि तां सुवीर्यं रायस्पोषं सहस्रिणम्' इति तै० ब्रा० । (तृ०) 'दधात्वक्षितां' इति सायणाभिमतः पाठः ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

भा०—हे (प्रजापते) समस्त प्रजाओं के परिपालक प्रभो ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरा कोई (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त प्रकाशमान् कान्तिमान् नाना रूपवान् लोकों और पदार्थों को (परि-भूः) सर्वव्यापक सर्वसामर्थ्यवान् होकर (न) नहीं (जजान) उत्पन्न करता, प्रत्युत तू ही सब का पालक, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सबको उत्पन्न करने हारा है। हम लोग (यत्कामाः) जिस कामना से प्रेरित होकर भी (ते) तेरे निमित्त (जुहुमः) आत्म त्याग करते हैं (तत् नः अस्तु) भगवन् ! वह हमें प्राप्त हो। और (वयं) हम (रयीणाम्) सब धनों के (पतयः) पालक (स्याम) हों। इसी मन्त्र-लिंग से पौर्णमासी आदि शब्द परमेश्वर के वाचक हैं, प्रसिद्ध पौर्णमासी या पूनम आदि पदार्थ प्रस्तुत होनेसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार से ब्रह्मका ही वर्णन किया जाता है।

पूर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु ।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

भा०—(पौर्णमासी) पूर्ण ब्रह्म की सर्वव्यापिनी और सबकी उत्पादिका शक्ति (प्रथमा) सबसे पूर्ण और सबसे अधिक श्रेष्ठ (यज्ञिया) यज्ञ परमात्मा की वह शक्ति (आसीत्) है जो (अह्नम्) दिनों और (रात्रीणाम्) रातों के समय में (अतिशर्वरेषु) और शर्वरी=महाप्रलय कालों को भी अति क्रमण करके वर्तमान रहती है। हे (यज्ञिये) यज्ञ में

४-(तृ०) 'अर्दयन्त्यमी' इति सायणाभिमतः पाठः ॥ (द्वि०) 'रात्रीणामुत शर्वरेषु' (च०) 'अमी ते नाकं सुकृतं परेताः' इति पैप्प० सं० ॥

परमेश्वर की उत्पादक शक्ते ! (ये) जो (त्वां) तुझको (यज्ञैः) यज्ञों, प्रजापति के नाना शक्तियों के अनुकरणों द्वारा (अर्धयन्ति) सम्वृद्ध करते, ब्रह्म की ही महिमा को बढ़ाते हैं (ते) वे (सुकृतः) पुण्यात्मा लोग (नाके) परम सुखमय लोक में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होते हैं । ईश्वर के गुणों को अपने भीतर धारण कर अपने आत्मा को उन्नत करके परोपकार के कार्य करनेवाले महात्मा लोग उस उत्पादक प्रभु का साक्षात् करते और मुक्ति लाभ करते हैं ।

[८१ (८६)] सूर्य और चन्द्र ।

अथर्वा ऋषिः । सावित्री सूर्याचन्द्रमसौ च देवताः । १,६ त्रिष्टुप् । २ सम्राट् । ३ अनुष्टुप् । ४,५ आस्तार पंक्तिः । पड्डर्चं सूक्तम् ॥

पूर्वापरं चरतो मायैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ८५ । १८ ॥

भा०—(एतौ) ये दोनों सूर्य और चन्द्र (क्रीडन्तौ) खेलते हुए शिशू दो बालकों के समान (मायया) उस प्रभु की निर्माण शक्ति से प्रेरित होकर (पूर्वापरम्) एक दूसरे के आगे पीछे (चरतः) विचरते हैं और (अर्णवम्) इस महान् अन्तरिक्ष को (परि यातः) पार करते हैं । (अन्यः) उनमें से एक सूर्य (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों को (वि चष्टे) प्रकाशित करता है और हे चन्द्र ! (अन्यः) दूसरा है जो (ऋतून्) ऋतुओं को (विदधत्) उत्पन्न करता हुआ (नवः) नये रूप से (जायसे) प्रकट हुआ करता है ।

[८१] १–(द्वि०) 'यातोऽध्वरम्' (तृ०) 'विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे', 'विदधज्जायते' इति पाठभेदाः ऋ० ॥ 'विदधज्जायते' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'विचष्टे' इति मै० सं० ॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२॥

ऋ० १०। ८५। १९॥

भा०—चन्द्र का वर्णन करते हैं। (जायमानः) प्रकट होता हुआ तू हे चन्द्र! सदा (नवः नवः) नया ही नया (भवसि) हो जाता है। प्रतिदिन कला के घटने या बढ़ने से प्रतिदिन चन्द्र बिम्ब में नवीनपन ही दीखता है। और (अह्नाम्) दिनों का तू (केतुः) ज्ञापक है। चन्द्रमाकी कलाओं के अनुसार दिनों की गणना की जाती है, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया इत्यादि। हे चन्द्र तू (उषसाम्) रात्रियों के समाप्ति और सूर्योदय कालों के (अग्रम्) पूर्व काल में ही (एषि) आया करता है। और (आयन्) आता हुआ ही (देवेभ्यः) देवगण पृथिवी, जल, समुद्र, वायु इनको और इन्द्रियों को (भागम्) इन २ का विशेष भाग (वि दधासि) विशेष रूप से प्रदान करता है। चन्द्रोदय के अवसर पर समुद्र वेला, आदि आना नाना प्रकार के वायु परिवर्त्तन, ओषधियों का पोषण, ओस आदि का पड़ना आदि क्रियाएं होती हैं। और इस प्रकार हे (चन्द्रमः) चन्द्रमः! आल्हादकारी शक्तिवाले! तू (दीर्घम्) लम्बा (आयुः) जीवन (तिरसे) प्रदान करता है।

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

भा०—सूर्य और चन्द्र का वर्णन हो चुका अब चन्द्र की उपमा लेकर राजा और ईश्वर का वर्णन करते हैं। हे (युधां पते) समस्त योद्धा सैनिकों क्षत्रियों के स्वामिन् सेनापते! तथा योगियों के पालक प्रभो! हे (सोमस्य) सबके प्रेरक, आल्हादक, अनुरंजक बल के (अंशो) व्यापक भण्डार तू भी (अनूनः नाम असि) 'अनून' नामवाला है। तू

२—(द्वि०) 'उपसामेष्यग्रे' (च०) 'तिरति दीर्घमायुः' इति क्वचित्।

किसी प्रकार कम नहीं है। हे (दर्शः) दर्शनीय ! अथवा सर्व प्रजा के द्रष्टः ! आप (मा) मुझको (प्रजया) प्रजा और (धनेन) धन से (च) भी (अनूनं) पूर्ण (कृधि) कर।

द॒र्शो॑ऽसि द॒र्श॒तो॑ऽसि॒ सम॑ग्रोसि॒ सम॑न्तः ।
सम॑ग्रः सम॑न्तो भूयासं॒ गोभि॒रश्वैः॑ प्र॒जया॑ प॒शुभि॑र्गृ॒हैर्धने॑न ॥४॥

भा०—पूर्व मन्त्र में 'दर्श' से कहे पदार्थ की व्याख्या करते हैं। हे दर्श ! (दर्शः) तू दर्श है अर्थात् (दर्शतः) तू दर्शत=दर्शनीय है और भक्ति और योग द्वारा साक्षात् करने योग्य है। आप (सम्-अग्रः) सब प्रकार से और सब कामों में सब पदार्थों के आगे, सबके पूर्व विद्यमान, सबके कारणस्वरूप, और सबके अग्रणी नेतास्वरूप (असि) हो। और (सम्-अन्तः) सब प्रकार से समस्त संसार के अन्त अर्थात् प्रलय-काल में सबको अपने भीतर प्रलीन करने हारे हो। हे प्रभो मैं भी (गोभिः) गौओं, (अश्वैः) अश्वों, (प्रजया) प्रजा और (पशुभिः) पशुओं (गृहैः) गृहों, और (धनेन) धन सम्पत्तियों से (सम्-अग्रः) सबका अग्रणी और (सम्-अन्तः) सब से पिछला अर्थात् सब से उत्कृष्ट (भूयासम्) होऊँ। "अहमादिर्हि भूतानां प्रभवः प्रलयस्तथा।" गीता।

यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तस्य॒ त्वं प्रा॒णेना प्या॑यस्व ।
आ व॒यं प्या॑सिषीमहि॒ गोभि॒रश्वैः॑ प्र॒जया॑ प॒शुभि॑र्गृ॒हैर्धने॑न ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रभो ! (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष

५-(तृ०) 'प्याशिषीमहि', 'प्यायिषीमहि' इति च शं० पा०। बहुविधादर्शपुस्तकेषु 'प्याशिषीमहि' इति पाठः। वाजसनेये, तैत्तिरीये, शांखायने श्रौतगृह्यसूत्रयोश्च 'प्यासिषीमहि' इत्येव पाठः। आपस्तम्ब श्रौतसूत्रे च 'प्यायिषीमहि' इति, सायणसम्मतश्च 'प्यासिषीमहि' इति पाठः। स एवास्माभिरादृतः।

करता है, प्रेम का व्यवहार नहीं करता और (यं च:) जिसको (वयं द्विष्मः) हम भी स्नेह से नहीं देखते, (तस्य) उसके (प्राणेन) प्राण= जीवन के साधनों से हमें (प्यायस्व) बढ़ा और (वयं) हम (गोभिः, अश्वैः, प्रजया, पशुभिः, गृहैः धनेन) गौओं, घोड़ों, प्रजाओं, पशुओं, गृहों और धनों से (आ प्यासिषीमहि) सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हों ।

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥६॥

भा०—(यं) जिस (अंशुम्) व्यापक प्रभु की (देवाः) देव गण, तेजोमय सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोक और दिव्य गुणी, विद्वान् लोग (आप्याययन्ति) महिमा को बढ़ाते हैं अथवा (यं अंशुम् [प्राप्य] देवा [आत्मानं] आप्याययन्ति) जिस व्यापक प्रभुकी शरण लेकर विद्वान्, शक्तिमान् लोग अपने आपको पुष्ट करते और बढ़ाते हैं । और (यम्) जिस (अक्षितम्) अविनाशी, रसरूप प्रभुको या उसकी दी हुई समृद्धि को (अक्षितः) अविनाशी जीव (भक्षयन्ति) अन्न, जल वायु और आनन्द रूप में उपभोग करते हैं । (तेन) उस ब्रह्मज्ञान से ही (इन्द्रः) ज्ञानवान्, अज्ञाननाशक, (वरुणः) दुःखों का और पापों का निवारक, (बृहस्पतिः) वेद वाणी का पालक, आचार्य, राजा और अन्य विशाल विद्वान् लोग (भुवनस्य गोपाः) इस संसार के रक्षक होकर (अस्मान्) हमें भी (आप्याययन्तु) पुष्ट करें, बढ़ावें । आचार्य, राजा, पुरोहित आदि सभी लोग परब्रह्म की समस्त उपकारक शक्तियों से प्रजा को पुष्ट करें ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्यष्टौ, ऋचश्चैकत्रिंशत्]

६–(प्र०) 'यमादित्या: अंशु' इति (तै० सं०) ॥ 'यथादित्या' (द्वि०) 'यथाक्षितिम् क्षितयः पिबन्ति' (तृ०) 'एवास्मान्' इति मै० सं० ॥ (तृ०) 'तेन नो राजा वरुणो' इति तै० सं० ॥

[८२ (८७)] ईश्वर से बलों की याचना ।

सम्पत्कामः शौनक ऋषिः । अग्निर्देवता । १, ४, ५, ६ त्रिष्टुप्, २ ककुम्मती बृहती, ३ जगती । षड्चं सूक्तम् ॥

अभ्य/र्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम् ॥ १ ॥

ऋ० ४ । ५८ । १० ॥ यजु० २७ । ६८ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (सु-स्तुतिं) उत्तम स्तुति करने योग्य (गव्यम्) गौ, गतिशील आत्मा, जीवों के लिये हितकारी अथवा इन्द्रियगण के लिये प्राप्त करने योग्य (आजिम्) अन्तिम लक्ष्य, परम आत्म रूप का (अभि अर्चत) साक्षात् करके उसका यथार्थ वर्णन करो । और (अस्मासु) हम मनुष्यों के बीच (भद्रा) सुख और कल्याणकारी (द्रविणानि) ज्ञान और धन सम्पत्तियों को (धत्त) अपने पास रखो अर्थात् उन सम्पत्तियों को अपने जन-समाज में मत रखो जिससे परस्पर हानि, कलह और कष्ट उत्पन्न हो । (नः) हमारे (इयम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ या आत्मा को (देवता) देव भाव को (नयत) प्राप्त कराओ । और सर्वत्र (घृतस्य) तेजोमय, प्रकाशमय ज्ञान या स्नेह की (मधुमत्) आनन्दरस से युक्त या मधुर (धाराः) धरायें, शक्तियें (पवन्ताम्) वहें ।

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

[८२] १-(प्र०) 'अभ्यर्षत सुष्टुति', (च०) 'मधुमत्पवन्ते' इति ऋ०, य० ॥ (तृ०) 'नयत देवताः' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

२-" स्वाहामय्यग्निः " इति पैप्प० सं० ॥ मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं सह प्रजया वर्चसा बलेन । मयि क्षत्रं मयि रायो दधामि स्वामय्यग्निम्' इति पैप्प० स० ॥

भा०—(अग्ने) प्रथम मैं (मयि) अपने आत्मा में (अग्निम्) उस प्रकाशस्वरूप अग्नि, तेजस्वी आत्मा को (क्षत्रेण) वीर्य, (वर्चसा) तेज और (बलेन) बल के धारण करने के (सह) साथ २ (गृह्णामि) धारण करता हूँ। मैं (मयि) अपने में (प्रजां) प्रजाको और (मयि) अपने में (आयुः) और दीर्घ जीवन को (दधामि) धारण करता हूँ। (स्वाहा) सबसे अच्छे रूप में, यों कहना ही उत्तम है कि मैं (मयि) अपने में (अग्निम्) 'अग्नि' को धारण करता हूँ। अर्थात् 'अग्नि' को धारण करने का तात्पर्य वेद के वचनानुसार अपने में क्षत्र=वीर्य, वर्च, तेज और बल=शारीरिक शक्ति को ज्ञान के साथ धारण करना और प्रजाओं के साथ दीर्घ जीवन को धारण करना ही है।

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः।
क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥ ३ ॥

यजु० २७ । ४ ।

भा०—हे (अग्ने) अग्नि या सूर्य या विद्युत् के समान तेजस्वी नेतः ! राजन् ! तू (इह एव) इस राष्ट्र में ही (रयिं) धन सम्पत्ति को (अधिधारय) धारण कर (पूर्व-चित्ताः) पूर्व राजाओं के कार्यों को जानने वाले, (नि-कारिणः) तुझे गद्दी से उतार देने में समर्थ, अथवा तुझसे अपमानित या तिरस्कृत लोग (त्वा) तुझको (मा निक्रन्) तुझे तेरे पद से नीचे न करें या तेरा अपमान न करें। हे (अग्ने) राजन् ! सभापते यह राष्ट्र (तुभ्यम्) तेरे लिये (क्षत्रेण) क्षात्रबल से (सु-यमम्) सुखपूर्वक व्यवस्था करने योग्य (अस्तु) रहे। (उप-सत्ता) तेरी आश्रय लेने वाली प्रजा (अनि-स्तृतः) कभी मारी न जाकर सदा (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

३–द्वि० 'पूर्वचितो निकारिणः' (तृ०) 'क्षत्रमग्नेसुयम' इति यजु०। अत्र यजुर्वेदे अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः।

निकारिणः=ज्ञान कर्म समुच्चय से नाना जन्मों को नीचे करने वाले नितरां यज्ञ करणशील, इत्यादि अर्थ संगत नहीं क्योंकि स्वयं वेद 'मा निक्रन्' इस प्रयोग में 'नि' पूर्वक 'कृ' धातु को पद से नीचे उतार देने अर्थ में प्रयोग करता है। नये पदाधिष्ठित राजा को चाहिये कि वह १. सब रयि (कोष, सम्पत्ति) को अपने वश कर ले जिसे 'निकारी' लोग जो राजा को उसके राजपद से च्युत करने में सशक्त हों और पूर्व राजाओं के राज्य कार्यों से पूर्ण परिचित या पूर्व राजाओं के पक्षकर्त्ता हों और उसके नवीन राज्य के संचालन में बाधा उपस्थित कर सकें, वे भी उसको राज पद से नीचा न कर सकें। २. फिर वह क्षत्र-बल या सेना-बल से राज्य को अपने वश करे। ३. वह अपने आश्रित लोगों की रक्षा करे कि उनको दूसरे विरोधी पक्ष को लोग न मार सकें।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥४॥
यजु० ११ । १७ ॥

भा०—(अग्निः) जो प्रकाशमान, प्रजापति (उषसाम्) उषा-कालों के भी (अग्रम्) पूर्व भाग को (अनु अख्यत्) क्रम से प्रकाशित करता है। और वही (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का ज्ञाता और सर्वज्ञ प्रभु (प्रथमः) सबसे प्रथम, सबका आदि मूल (अनु) पश्चात् भी (अहानि) सब दिनों (अख्यत्) प्रकाश किया करता है। वही (सूर्य अनु) सूर्य को प्रकाशित करता । वही (उषसः अनु) उषा-कालों को प्रकाशित करता और (रश्मीन् अनु) समस्त ज्योतिर्मय प्रकाशमान तारों को प्रकाशित करता है और वही (द्यावा पृथिवी अनु) द्यौ और पृथिवी इन दोनों लोकों में भी (आविवेश) सर्वत्र व्यापक है।

४–पुरोधा ऋषिर्यजुर्वेदे। (तृ० च०) "अनू सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मी-ननुद्यावा पृथिवी आततन्थ" इति यजु० ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥५॥

ऋ० ४ । १३ । १३ त्यत्र प्रथमः पादः ।

भा०—(अग्निः) वही प्रकाशक प्रभु (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के मुख भाग को (प्रति अख्यत्) प्रति बार प्रकाशित करता है । वही (प्रथमः) सब का आदिमूल (जातवेदाः) सर्वज्ञ (अहानि प्रति अख्यत्) सब दिनों को प्रकाशित करता है (सूर्यस्य प्रति) सूर्य की (रश्मीन् च) रश्मियों को भी वही (पुरुधा) नाना प्रकार से (प्रति अख्यत्) प्रकाशित करता है (द्यावापृथिवी प्रति आततान) और वही द्यौ और पृथिवी ज़मीन और आकाश दोनों के प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है ।

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे ।
घृतं ते देवीर्नप्त्य आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! प्रकाशस्वरूप आत्मन् ! (ते) तेरा (घृतम्) परम तेज (दिव्ये) दिव्य तेजोमय या इन्द्रियों के (सधस्थे) सह-स्थान इस शरीर में विद्यमान है । और (मनुः) मननशील मन या मननाभ्यासी साधक (त्वां) तुझको (घृतेन) तेजोरूप से ही (अद्य) सदा, काल (सम्-इन्धे) भली प्रकार प्रकाशित करता है अर्थात् अपने भीतरी आत्मा में तेरे ज्योतिर्मय रूप को ही प्रज्वलित कर उसका साक्षात्कार करता है । (ते) तुझे (देवीः) दिव्यगुणों से सम्पन्न कान्तिमती (नप्त्यः) सम्बन्ध करनेवाली, अर्थगामिनी ज्ञानेन्द्रियाँ (ते) तेरे लिये ही (घृतम्) ज्ञानमय घृत को (आवहन्तु) धारण करें । और हे (अग्ने) आत्मन् ! (गावः) गमनशील इन्द्रियगण (तुभ्यम्) तेरे लिये ही (घृतम्) सुखरूप घृत को (दुहताम्) प्रदान करें । यज्ञाग्नि के पक्ष में स्पष्ट है ।

[८३] बन्धन-मोचन की प्रार्थना ।

शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, २ पथ्यापंक्तिः, ३ त्रिष्टुप्, ४ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ, सब पापों के निवारक, सब के वरण करने योग्य परमात्मन् ! (राजन्) राजा के समान सर्वोपरि (ते) तेरा (गृहः) सबको ग्रहण करनेवाला, सब देहों का शासक धाम, (अप्सु) जीवों में समस्त लोकों में (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान तेजोमय (मिथः=मितः) जाना गया है । (ततः) वहां ही विराजमान (धृत-व्रतः) समस्त ज्ञान और कर्म्मों को धारण करनेहारा (राजा) प्रकाशस्वरूप राजा के समान सब का अनुरंजनकारी तू (सर्वा धामानि=दामानि) बन्धनों को (मुञ्चतु) छुड़ा । वरुण वही परमात्मा ब्रह्म है जिसके "मित हिरण्ययगृह" की तुलना उपनिषद् के तत्वज्ञों को उपनिषत् के निम्नलिखित स्थलों से करनी चाहिये ।

"ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरः । तदश्वत्थः सोमसवनः । तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः । प्रभु विमितं हिरण्मयम् । इति छान्दो०उप०।५।३॥

[८३] १–(द्वि०) 'हिरण्ययो मितः' (च०) 'सर्वथा दामानि' इति क्वाचित्को ह्विटनिकामितश्च । द्वीपे राज्ञो वरुणस्यगृहो मितोहिरण्ययः । सनो धृतव्रतो राजा धाम्नोधाम्ना इहमुञ्चतु इति । आश्व० श्रौ० सू० ॥ (द्वि०) 'हिरण्ययो मितः' (च०) 'धामानिनोमुचे' इति च० पैप्प० सं० ॥

धाम्नो॑ धाम्नो राजन्नि॒तो व॑रुण मुञ्च नः ।
यदापो॒ अघ्न्या इति॒ वरु॒णेति॒ यदू॑चि॒म ततो॑ वरुण मुञ्च नः ॥२॥

भा०—हे (राजन्) राजन् ! हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! आप (धाम्नः धाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (इतः) इस लोक में (नः) हमें (मुञ्च) मुक्त कर । (यद्) जब हम (ऊचिम) कहें कि (आपः) ये जल या आप्त हैं, (अघ्न्या इति) ये गौओं के समान पवित्र, न मारने योग्य हैं, (वरुण इति) यह सर्वश्रेष्ठ राजा है, ये हमारे कार्य के साक्षी है, (ततः) तब हे (वरुण) राजन् हे प्रभो ! हमें (मुञ्च) मुक्त कर । अर्थात् अपराध के निमित्त जल, गौ और ईश्वर का नाम लेकर प्रायश्चित्त करने वाले को राजा दण्ड से मुक्त करे । आप, अघ्न्या और वरुण अर्थात् जल, गौ और ईश्वर इनके नामस्मरण और आराधन से प्रायश्चित्त करने वाले के प्राण नष्ट न हो ।

यही मन्त्र राजा के पक्ष में भी लगता है । इसी मन्त्र के मूल आशय को लेकर अब तक भी गंगाजल, गौ और ईश्वर के नाम पर शपथें लेकर सत्य प्रमाणित करने की रीति प्रचलित है ।

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।
अधा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥३॥

ऋ० १ । २४ । १५ ॥ यजु० १२ । १२ ॥

२–(प्र०) 'धाम्नो धाम्नो' (द्वि० तृ०) 'वरुण नो मुञ्च' इति पैप्प० सं० ॥ (प्र०) 'धाम्नो धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च । यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ॥' इति यजुषि तैत्तिरीये, आश्व०,शां०, लाट्या० श्रौतसूत्रेषु च ॥ यजुर्वेदेऽस्य दीर्घतमा ऋषिः ॥ 'दाम्नो दाम्न' इति ह्विटनिकामितः क्वाचित्कश्च पाठः ॥

३–(तृ०) 'अथा वयमा' इति ऋ० ॥ (च०) 'व्रते वयमना-' इति मै० आ० ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (उत्तमं) उत्तम, उत्कृष्ट, दृढ़ (पाशम्) फांसे को (उत् श्रथाय) मुक्त कर (अधमं पाशम् अव श्रथाय) अधम निकृष्ट वन्धन को भी दूर कर और (मध्यमं वि श्रथाय) दोनों के मध्य के बंधन को भी दूर कर अथवा शरीर, मन, वाणी तीनों प्रकार के कर्मों से प्राप्त तीनों प्रकार के बंधनों से हमें मुक्त कर। अथवा शरीर के ऊपर के भाग के बंधन को, मध्य के बंधन को और अधोभाग के बंधन को भी दूर कर (अधा) और (वयम्) हम हे (आदित्य) सूर्य के समान तेजस्विन् ! (तव) तेरे उपदिष्ट (व्रते) सत्य आचरण आदि वैदिक नियमों में अथवा प्रजाके हितार्थ बनाये राजनियमों में विचरण करते हुए (अदितये) तेरे अखण्ड नियमव्यवस्था के निमित्त, अथवा तेरे अखण्ड सुख प्राप्त करने के लिये हम (अनागसः) निष्पाप, निरपराध (स्याम) रहें।

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथं गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वपापनिवारक प्रभो ! (अस्मत्) हमसे (ये) जो (उत्तमाः) ऊंचे २ बड़े, कठोर २ (अधमाः) नीचे और (ये वारुणाः) जो वरुण परमात्मा के दैवी या राजा के मानुषी बन्धन है उन (सर्वान् पाशान्) समस्त बंधनों को (प्र मुञ्च) भली प्रकार छुड़ा, दूर कर। और (दुरितं) दुष्टाचरण और (दुःस्वप्न्यं) मन के उस दुष्ट संस्कार को जो हमारे स्वप्न काल में बुरे रूप में प्रकट होता हो (अस्मत्) हमसे (निः स्व=निः सुव) दूर कर (अथ) और हम लोग (सु-कृतस्य) पुण्य चरित्र से प्राप्त होने योग्य (लोकम्) लोक या जन्म को (गच्छेम) प्राप्त हों।

'दुरित दुःस्वप्न्य' के दूर होने की प्रार्थना से ऐहिक दुष्टाचरण और शरीर के छोड़ने के अनन्तर आत्मा की दुःखमय स्वप्नावस्था के समान जो

दशा है उससे भी मुक्ति पाने की प्रार्थना की गयी है। 'यथा स्वप्नलोके तथा पितृलोके' इस उपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार शरीर से पृथक् जीव की दशा स्वप्न-कालकी स्थिति के समान होती है।

[८४] राजा के कर्त्तव्य।

भृगुर्ऋषिः । १ जातवेदा अग्निर्देवता । २, ३ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । जगती ।
तृचं सूक्तम् ।

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह ।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥　　यजु० २७ । ७ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी! अग्नि के समान शत्रुओं को पीड़ा करनेहारे राजन्! तू (जातवेदाः) धन सम्पत्ति प्राप्त करके (अनाधृष्यः) किसी से भी पराजित न होकर (अमर्त्यः) अविनाशी, अमरणधर्मा (विराट्) सर्वोपरि राजा और (क्षत्र-भृद्) क्षत्र बलको पुष्ट करके (इह) इस राष्ट्र में (दीदिहीह) प्रकाशित हो। और (विश्वाः) समस्त (अमीवाः) रोगों को प्रजासे (प्र मुञ्चन्) दूर करके (मानुषीभिः) मनुष्यों के हितकारी, (शिवाभिः) कल्याणकारी रक्षा के उपायों से (नः) हमारे (गयम्) गृह और प्राणों की (अद्य) आज सदा काल (परि पाहि) रक्षा कर।

---

[८४] १–(प्र०) 'जातवेदा अनिष्टृतो' (तृ०) 'विश्वा आशा प्रमुञ्चन् मानुषीभिर्यः शिवेभिरद्य परिपाहि नो वृधे।' इति याजुषः। 'तत्रास्या ऋच अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः। (प्र०) 'जातवेदा अनिष्टतः' (च०) 'नो गयैः' (तृ०) 'मनुष्येभ्यः शिवेभिः' इति पैप्प० सं० ॥ (तृ०) 'वि अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषाणाम् शिवेभिः' इति मै० सं० ॥

इन्द्रं क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥ २ ॥
ऋ० १६ । १८० । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यशील राजन ! और (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजा के मनुष्यों में से (वृषभ) सर्वश्रेष्ठ ! नरर्षभ ! तू (क्षत्रम्) समस्त क्षत्रियबल और (वामम्) सुन्दर, दर्शनीय (ओजः अभि) तेज पराक्रम को स्वयं प्राप्त करके (अजायथाः) राजारूप में प्रकट हुआ है । इसलिये अपने पराक्रम और क्षत्रबल से (अमित्रायन्तं) शत्रु के समान आचरण करने वाले (जनम्) लोगों को (अप नुदः) दूर मार भगा । और (उरु) इस विस्तृत (लोकम्) लोक को (देवेभ्यः) विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों के लिये (उ) ही (अकृणोः) रहने योग्य बना ।

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥३॥
ऋ० १० । १८० । २ ॥ यजु० १८ । ७१ ॥

भा०—(भीमः) भयंकर (गिरि-स्थाः) पर्वतनिवासी (भीमः) भयानक (मृगः न) पशु, सिंह जिस प्रकार वीरता से अपने शिकार पर टूटता है उसी प्रकार इन्द्र शत्रुओं पर (परस्याः परावतः) दूरसे भी दूर से (आ जगम्यात्) आ टूटता है । हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! तू अपने (सृकं) दूर तक जाने वाले, प्रसरणशील (पविम्) वज्रको (सं-शाय) खूब तीक्ष्ण करके उस (तिग्मं) तीक्ष्ण शस्त्र से (शत्रून्) शत्रुओं को (वि ताढि) खूब अच्छी तरह मार और (मृधः) संग्रामकारी लोगों को (वि नुदस्व) विनाश कर ।

२–(तृ०) 'जनममित्रयन्तम्' इति ऋ० । तत्रास्या ऋषिर्जयः ।

[८५ (९०)] ईश्वर का स्मरण ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । तार्क्ष्यो देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥

ऋ० १० । १७८ । १ ॥

भा०—(त्यम्) उस ही (वाजिनं) ज्ञान, वेग, बलसे युक्त (देव-जूतम्)[1] विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों से पूजित, सेवित (सहःवानम्) सर्वशक्ति-मान्, (रथानाम्) रथरूप देहों या आत्माओं के रमण-स्थान इन लोकों में (तरुतारम्) व्यापक, प्रेरक (अरिष्ट-नेमिम्) सबको शुभ मार्ग में झुकाने वाले (पृतना-जिम्) समस्त मनुष्य आदि प्रजाओं के भीतर उत्कृष्ट रूपसे विद्यमान, उनके विजेता, उनको अपने वश करने हारे (आशुम्) व्यापक (तार्क्ष्यम्) बलवान् परमात्मा को हम लोग अपने (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आ हुवेम) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।

[८६ (९१)] इन्द्र, ईश्वरका स्मरण ।

स्वस्त्यनकामोऽथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ॥१॥

साम० प्र० ४ । ५ १ ॥ ऋ० ६ । ४७ । ११ ॥ यजु० २० । ५० ॥

---

[८५] १–अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्य ऋषिर्ऋग्वेदे ॥ (द्वि०) 'सहावानं' (तृ०) 'पृतनाजमाशुं' इति ऋ० । 'पृतनाजमाशुं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२–(तृ०) 'ह्वयामि शक्रं' (च०) 'स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः' इति पाठः यजु० ऋ०। वेत्विन्द्रः इति साम० । ऋग्वेदेऽस्या ऋचो गर्ग ऋषिः । यजुर्वेदे च प्रजापतिर्ऋषिः, भरद्वाज इत्यपि क्वचित् ।

भा०—मैं (इन्द्रम्) इन्द्र को (हुवे) बुलाता हूँ। (अवितारम् इन्द्रम्) रक्षाकारी शत्रुओं से बचाने वाले (इन्द्रं) इन्द्र को (हुवे) बुलाता हूं। (हवे-हवे) प्रत्येक यज्ञ में या जब २ बुलाया जाय तब २ (सु-हवं) सुखपूर्व स्मरण करने योग्य, स्वयमेव सहायतार्थ उपस्थित होने वाले (शूरं) शूरवीर (इन्द्रं हुवे) इन्द्र को बुलाता हूं। (नु) और (शक्रं) शक्तिमान् (पुरु-हूतं) इन्द्रियों से पूजित आत्मा और प्रजाओं से सत्कृत राजा (इन्द्रं) इन्द्र को मैं बुलाता हूं। (इन्द्रः) वह इन्द्र (मघवान्) धन ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न होकर (नः) हमारा (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे।

[८७ (९२)] रुद्र, ईश्वर का स्मरण।

अथर्वा ऋषिः। रुद्रो देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

यो अ॒ग्नौ रु॒द्रो यो अ॒प्स्व॑१॒॑न्तर्य ओष॑धीर्वी॒रुध॑ आवि॒वेश॑।
य इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि चाक्लृ॒पे तस्मै॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्त्व॒ग्नये॑॥१॥

भा०—(यः) जो (रुद्रः) रोदनकारी, तीक्ष्ण शक्ति (अग्नौ) अग्नि में प्रविष्ट है और (यः) जो (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर है और (यः) जो (ओषधीः) ओषधियों और (वीरुधः) लताओं में (आ-विवेश) प्रविष्ट है। और (यः) जो (इमाः) इन (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों को (चाक्लृपे) बनाता है। उस (अग्नये) अग्निस्वरूप (रुद्राय) रुद्र के लिये (नमः) हमारा नमस्कार और आदरभाव है। अर्थात् जिस प्रभु की शक्तियां अग्नि में तेजोरूप से जल में

[८७] १–'यो रुद्रो अग्नौ, यो अप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु।' इत्येव तै० सं०। (प्र०) 'यो रुद्रो अग्नौ' (च०) 'नमो अस्त्वग्नये' इति पैप्प० सं०।

स्नेहरूपसे ओषधियों में रस और पुष्टिरूपसे, और लता वनस्पतियों में रोग दूर करने की शक्तिरूपसे विद्यमान है और जो समस्त भुवनों को नाना रूप और सामर्थ्यों से युक्त बनाता है हम उस प्रभु को सदा स्मरण करें ।

[८८ (९३)] सर्पविष की चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । त्र्यवसाना बृहती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि । विषे विषमपृक्था विषमिद् वा अपृक्थाः । अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

भा०—हे सर्प ! तू (अप इहि) दूर चला जा । क्योंकि तू (अरिः असि) शत्रु है । तू सबको कष्ट देता है । (वा) निश्चय से तू (अरिः असि) दुःखकारी शत्रु है। हे पुरुष! यदि सर्प परे न जाय और काट ही ले तो उसकी चिकित्सा के लिये (विषे) विष के ऊपर (विषम्) विष को ही (अपृक्थाः) लगाओ । विष को दूर करने के लिये विष का ही प्रयोग करो (वा) अथवा (विषम् इत्) उसी सर्प के विष को (अपृक्थाः) पुनः ओषधि रूप से प्रयोग करो । अथवा (अहिम्) उसी सांप के पास (एव) ही (अभि-अप-इहि) फिर पहुंचो और (तं जहि) उसको मारो । और उसीका विष लेकर उससे पूर्व विष को शान्त करो ।

प्रसिद्ध भारतीय वैद्य विद्या के विद्वान् वाग्भट ने अष्टांग हृदय में सर्प के काटने पर उसकी चिकित्सा के लिये पुनः उसी सर्प को पकड़ कर काटने का उपदेश किया । इसका यही रहस्य है कि सर्प का विष ही सर्प के विष का उत्तम उपाय है । और तिस पर भी उसी जाति के सर्प का विष सर्प विष की नाचूक दवा है । "डा० वेडल तथा अन्य विद्वानों ने

१–'अरिर्वासि' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'अहिमेवाभ्युपेहि' इति सायणाभिमतः पाठः ।

चिरकाल तक परिश्रम करके यह जाना है कि विषधर सर्प जब किसी को काटता है तो उसका विष ज़ख़्म के भीतर तो जाता ही है परन्तु थोड़ा-सा विष का भाग उस सर्प के पेट में भी जाता है। इससे उस सर्प के शरीर में विष के सहन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। सर्प से कटा आदमी यदि पुनः उस सर्प को दांतों से काट ले तो सर्प की विष-सहिष्णुता शक्ति से उसके शरीर में चढ़ा विष शान्त हो जाता है। अब भी सरकारी हस्पतालों में सर्प-चिकित्सा के लिये ८० प्रति शतक फणधर सर्प के विष के साथ २० प्रतिशत अन्य सर्पों का विष मिला कर सीरम तैयार करते हैं। वेद ने संक्षेप में उसी सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है।

[८९ (९४)] ब्रह्मचर्यपालन।

सिन्धुद्वीप ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

अपो दिव्या अचायिषम् रसेन समपृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा॥ १॥

ऋ० १। २३। २३॥

भा०—मैं (दिव्याः) दिव्य, प्रकाशमय, ज्ञानमय, ईश्वरीय (अपः) कर्म और ज्ञान कणों को (सम् अचायिषम्) संग्रह करूं; और उनके (रसेन) सारभूत बल से अपने को (सम् अपृक्ष्महि) संयुक्त करें। हे (अग्ने) ज्ञानवन् प्रभो! इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञानकर्म से मैं (पयस्वान्) 'पयस्वान', ज्ञानवान् और कर्मवान् होकर (आगमम्) प्राप्त हुआ हूं

[८९] १–'आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगंस्महि। पयस्वानग्न आगहि तं मां संसृज वर्चसा।' इति ऋ०। ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः। (द्वि०) 'रसेन समसृक्ष्महि' (च०) 'वर्चसा प्रजया च धनेन च' इति ऋग्वेदाद्विशिष्टः पाठभेदो यजु०॥

(तम् मा) उस मुझको (वर्चसा) ब्रह्मतेज से (संसृज) युक्त कर। जिस प्रकार मेघ (दिव्यः) दिव्य जलों को संग्रह करके विद्युत् अग्नि से मिल कर प्रकाशवान् भी हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान और कर्म में निष्ठ होकर शरीर में हृष्ट पुष्ट होकर आचार्य और ईश्वर की साक्षिता में ब्रह्मचर्य का पालन करे।

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ २ ॥
अथर्व० ६ । १ १५ ॥ १० । ५ । ४७ ॥ ऋ० १ । २३ । २४ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् गुरो ! (मा) मुझे (वर्चसा) तेज से (सं सृज) युक्त कर (प्रजया सं) प्रजा से युक्त कर (आयुषा सं) दीर्घ आयु से युक्त कर। (अस्य) इस प्रकार के तेज और आयु से सम्पन्न इस (मे) मुझको (देवाः) ज्ञानवान् विद्वान् पुरुष (विद्युः) जानें और (ऋषिभिः) मन्त्र द्रष्टाओं, वेद के विद्वान् योगियों सहित (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु भी (विद्यात्) मुझे वैसा जाने। अर्थात् विद्वानों, अधिकारियों, ऋषियों और ईश्वर के साक्षिता में गुरु के अधीन ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करें।

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ३ ॥
ऋ० १ । २३ । २२ ॥ यजु० ६ । १७ ॥

भा०—जिस प्रकार जलों से मल धोकर बहा दिया जाता है उसी प्रकार हे (आपः) उत्तम ज्ञान और कर्मनिष्ठ आप्तपुरुषो ! आप लोग (इदं) यह (अवद्यम्) निन्दायोग्य मेरे अन्तःकरण के नीच भाव और (मलं च) मैल,

३–'इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि । यद्वाहमभि दुद्रोह यद्वा शेपे उतानृतम्' । इति ऋ० ॥

मलिन विचारों को (प्रवहत) वहा डालो और अन्तःकरण को स्वच्छ कर दो। मेरे मन का अवद्य=निन्दनीय और मलिन कार्य यही है कि (यत्) जो मैं (च) प्रायः (अभि-दुद्रोह) दूसरों के प्रति द्वेष और द्रोह किया करता हूं और (अनृतम्) असत्य भाषण करता हूं और (यत् च) जो कुछ मैं (अभीरुणम्)[1] निर्भय, निरपराधी पुरुष को (शेपे) कठोर वचन कहता हूं अथवा निर्भय होकर मैं स्वयं दूसरों को बुरा भला कहता हूं उस मल को (आपः) आप्त वचन और आप्त पुरुष दूर करें।

एधोस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय।
तेजोसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥ यजु० ३८ । २५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (एधः असि) प्रकाशस्वरूप हो और मैं भी (एधिषीय) प्रकाशित होऊँ। हे परमेश्वर आप (सम्-इत् असि) अच्छी प्रकार दीप्तिमान् तेजस्वी हो और मैं भी (सम् इधिषीय) दीप्तिमान तेजस्वी होऊँ। हे भगवन् (तेजः असि) आप तेजस्वरूप हो आप कृपा करके (मयि) मुझमें (तेजः) तेज को (धेहि) धारण कराइये।

[९० (९५)] नीच पुरुषों का दमन।

अंगिरा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः देवताः । १ गायत्री । २ विराट् पुरस्माद् बृहती । ३ त्र्यवसाना षट्पदाभुरिग् जगती । तृचं सूक्तम् ॥

---

१. 'उत्तमर्णाय देयं वस्तु ऋणमित्युच्यते तद् ऋणमभिप्राप्य' इति सायणः। 'अभीरुण मनपराधिनं, अनपराधी हि न बिभेति। यद्वा अभिलुनाति छिनत्ति कर्माणि, यदुच्चरितं सत् तदभीरुणम्' इति उव्वटः। निर्भयः' इति सन्दिग्धो ह्विटनिः। 'निर्भयः' इति दयानन्दः।

४–'समेधिषीय' इति पदं यजुषि नास्ति। 'एधोऽस्येधिषीमहि' इति यजु० ॥ अस्या ऋचो यजुर्वेदे प्रजापति दीर्घतमाश्च ऋषी।

अपि॑ वृश्च पुरा॒ण॒वद् व्र॒तते॑रिव गुष्पि॒तम् ।
ओजो॑ दा॒सस्य॑ दम्भय ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ४० । ६ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे राजन् अग्ने ! (व्रततेः इव) जिस प्रकार लताओं के (पुराण-वत्) पुराने (गुष्पितं) झाड़ झंकाड़ बने हुए सूखी डालियों को माली खोज २ कर काट डालता है उसी प्रकार तू (दासस्य) सदाचार और सत्पुरुषों और सभी साध्वी स्त्रियों का नाश करने वाले दुष्ट पुरुष के अंग को (अपि वृश्च) काट डाल या उसके (ओजः) बल या वीर्य का (दम्भय) विनाश कर । उसको नपुंसक कर डाल ।

व॒यं तद॑स्य॒ संभृ॑तं॒ वस्विन्द्रे॑ण॒ वि भ॑जामहै ।
म्ला॒पया॑मि भ्र॒जः शि॒भ्रं वरु॑णस्य व्र॒तेन॑ ते ॥ २ ॥

भा०—(वयम्) हम राष्ट्रवासी प्रजाजन (अस्य) इस दुष्ट पुरुष के (सं-भृतम्) इकट्ठे किये (वसु) धन को (इन्द्रेण) राजा के साथ मिल कर (वि भजामहै) विशेष रूप से बांट ले । हे दुष्ट पुरुष ! मैं (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ राजा के (व्रतेन) बनाई शासनव्यवस्था के अनुसार (ते) तेरे (भ्रजः) चमचमाते धन सम्पत्ति के (शिभ्रम्) गर्व को अभी (म्लापयामि) विनष्ट किये देता हूँ । जो दुष्ट पुरुष अपनी धन के गर्व से दूसरों पर अत्याचार करे और औरों के परिवारों की इज्जत ले राजा अपने क़ानून से उसका धन हर ले उसके सम्पत्ति का एक भाग राजा अपने कोप में ले और एक भाग समाज के हितकारी कार्य में लगाये ।

[६०] २–'वस्विन्द्रेण वि भजेमहि नभन्तामन्यके समे' इति विशिष्टः पाठभेदः ऋ० । प्रथमद्वितीययोर्ऋचो ऋग्वेदे ना॰ 6: । काण्व ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ।

यथा शेपो अपायाते स्त्रीषु चासदनावयाः ।
अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः ।
यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥ ३ ॥

भा०—हे राजन् ! (अवस्थस्य) नीचे दर्जे के (क्नदीवतः) गंवारों की तरह बकने और सब को कलह और लड़ाई, दंगा, फ़साद के लिये ललकारने वाले; (शाङ्कुरस्य) कील के समान सब के दिल में चुभनेवाले और (नि-तोदिनः) सब को हर प्रकार से पीड़ा या व्यथा देनेवाले का (यत्) जो धन, मकान आदि सम्पत्ति अथवा बल (आ-ततम्) फैला हो, (तत्) उसको (अव तनु) घटा दो, और (यत् उत्-ततम्) जो पद या मान उन्नत अवस्था तक पहुंचा हो उसको (नि तनु) नीचा कर दे । जिससे उसका (शेपः) काम सम्बन्धी मद, दुराचार करने का बल (अप-अयातै) दूर हो जाय और वह (स्त्रीषु) जनसमाज में रहने वाली स्त्रियों तक (अनावयाः असत्) न पहुंच सके और उनको प्रलोभन में फांस कर या बल, पद या अधिकार से दबाकर स्त्रियों की इज़्ज़त न ले सके । जो पुरुष दुराचारी अपने दुराचार से स्त्रियों पर बलात्कार करे और आचार में हीन, लोगों से कलहकारी होकर और लोगों को अपने दुराचार के कारण कष्ट देता है उसकी धन सम्पत्ति छीन ली जाय, उसका मान, पद, अधिकार घटा दिया जाय और समाज से बाहर कर दिया जाय जिससे उसके हाथों स्त्रियों का मान नष्ट न हो । ग्रीफिथ ने तीसरा मन्त्र अश्लील जानकर छोड़ दिया है । कारण, सायण ने इस सूक्त को कौशिक सूत्र का विनियोग देखकर व्यभिचारी 'जार' के पक्ष में बड़ी निर्लज्जता से लगाया है । ह्विटनी भी उसी प्रवाह में बह गया है । कौशिक ने केवल यह लिखा है कि इस सूक्त से 'बाधकं धनुर्विष्यति आशयेऽश्मानं प्रहरति ।' व्यभिचारी को न आने देने के लिये धनुष से बाण फेंके या उसके संकेत स्थान पर पत्थरों से ठोके । कदाचित् कौशिक का यह अभिप्राय

है कि व्यभिचारी आदमी को वेद के इस मन्त्रकी रुह से धनुष वाण से मारने और पत्थरों से उसको 'संगसार' करने का दण्ड देना चाहिये। यह उचित भी जान पड़ता है। मनु ने स्त्रीसंग्रह प्रकरण में—[मनु० २ । २५२-२७२] दुराचारी स्त्री-व्यसनी पुरुष के कठोर दमन का विधान लिखा है।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि नव, ऋचश्च चतुर्विंशतिः]

[९१ (९६)] राजा के कर्त्तव्य।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः (राजा) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रः॑ सु॒त्रामा॒ स्ववाँ॒ अवो॑भिः सुमृडी॒को भ॑वतु वि॒श्ववे॑दाः ।
बाध॑तां॒ द्वेषो॒ अभ॑यं नः कृणोतु सु॒वीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४७ । १२ ॥ १० । १३१ । ६ ॥ यजु० २० । ५१ ॥

भा०—(सु-त्रामा) प्रजा की उत्तम रीति से रक्षा करने हारा (इन्द्रः) राजा भी (अवोभिः) रक्षा करने के नाना उपायों से ही (सु-अवान्)[1]

इतः परसुधियः प्रमाणम् ॥

[६१] १. 'स्वऽवान्' इति पादपाठः। तत्र स्ववान् धनवानिति सायणादयः 'बहवः स्वे विद्यन्ते यस्य सः' इति दयानन्दः। परन्तु 'सुत्रामा, सुमृडीक, सुवीर्यस्य इति सर्वत्र 'सु' प्रयोगे स्वपात् इत्यत्रापि 'सुऽअवान्' इत्येव सन्धिच्छेदः साधीयान्। तथाच ह्विटनि 'इन्द्रः सुत्रामा स्ववान्'='well saving, well aiding' इत्यादि। 'सु' उपपदादवतेर्बहुशः प्रयोगाः। यथा—'सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्' इति ऋग्वेदे (५ । ८ । २) अग्नेर्विशेषणम्। ईळेऽग्निं स्ववसं नमोभिः' (ऋ० ५ । ६० । १) 'स्वायुधं स्ववसं

प्रजा की उत्तम रीति से रक्षा करने में समर्थ होता है। अथवा (अवोभिः) रक्षा के साधनों से (स्वऽवान्) राजा स्व=धन सम्पत्ति और राष्ट्र से सम्पन्न हो जाता है अथवा रक्षा के उपायों से ही बहुत से जन उसके अपने हो जाते हैं। (विश्व-वेदाः) और वह समस्त प्रकारों के धनसञ्चय कर के राष्ट्र के लिये (सु-मृडीकः) उत्तम रीति से सुखकारी (भवतु) हो। राजा (द्वेषः) आपस में द्वेषकारी, अप्रीति करने या प्रेम का नाश करनेवाले कलहकारी लोगों को (बाधताम्) पीड़ित या दण्डित करे। और (नः) हमें (अभयं) समस्त राष्ट्रों में भय रहित (कृणोतु) कर दे जिससे हम निर्भय विचरते और व्यापार करते हुए भी (सु-वीर्यस्य) उत्तम बल सामर्थ्य के (पतयः) पति, स्वामी, (स्याम) बने रहे। परमात्मपक्ष में स्पष्ट है।

—॥—

[९२ (९७)] उत्तम राष्ट्रपालक राजा।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्रमाः (राजा) देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४७ । १३ ॥ १० । १३१ । ७ ॥ यजु० २० ॥

भा०—(सः) वह (सु-त्रामा) राष्ट्रका उत्तम रक्षक, (सु-अवान्,

सुनीथं' इति (ऋ० १० । ४७ । २ ॥) इन्द्र विशेषणम्। तत्र सूपपदादवतेरसुन्नौणादिकः इति 'स्ववान्' अन्यच्च, 'अवोभिः' स्ववान् इत्यत्र 'सु-अवान्' इत्येव पदच्छेदः सूपयोगः। अस्याः ऋग्वेदे सुकीर्त्तिः काक्षीवत ऋषिः ॥

[९२] १–ऋग्वेदेऽस्याऋचः पूर्वार्धपरार्धयोर्विपर्ययेण पाठः। अस्या ऋग्वेदे सुकीर्त्तिः काक्षीवत ऋषिः ॥

स्व-वान्) उत्तम रक्षा साधनों से सम्पन्न अर्थशक्ति से सम्पन्न या बहुत से सहायकों से युक्त होकर (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, प्रतापी राजा (द्वेषः) हमारे शत्रुओं को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर से (चित्) ही (सनुतः) गुप्त अप्रत्यक्ष, साम, दाम, भेद आदि सुगूढ उपायों द्वारा (युयोत) भेद डाले। (तस्य) ऐसे गुणवान्, बुद्धिमान् (यज्ञियस्य) यज्ञ=पूजा और सत्कार के योग्य राजा के (सु-मतौ) उत्तम शासन या सम्मति में रहते हुए हम (भद्रे) कल्याण और सुखकारी (सौमनसे) शुभ-मनोभाव में (स्याम) रहें अर्थात् उनके प्रति सदा अच्छा मनोभाव बनाये रक्खें। यदि राजा शत्रुओं से प्रजा की रक्षा न करके उनसे प्रजा को नाश करता और निर्धन करता है या प्रजा को व्यर्थ शत्रु से युद्ध कलह करके नाश कराता है तो प्रजा तंग आकर राजा का सत्कार नहीं करती और उसके प्रति दुर्भाव से रहती और द्रोह करती है।

[९३ (९९)] राजा के पराक्रम से शत्रुओं का विजय ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः । घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥१॥

भा०—(मन्युना) ज्ञान दीप्ति और विवेक और असह्य तेज या प्रताप से युक्त मन्युस्वरूप (इन्द्रेण) इन्द्र राजा के साथ (वयम्) हम (पृतन्यतः) सेना से युद्ध करनेहारे शत्रुओं को और (वृत्राणि) सब प्रकार के विघ्नों और उपद्रवों को (अप्रति) सर्वथा, निःशेष रूप से (घ्नन्तः) विनाश करते हुए (अभि ष्याम) जीत लें।

---

[९३] १—'इन्द्रेण युजा वयं सासह्याम' इति तै० सं० । 'मन्युना युजा वयमवबाधे पृतन्यतः घ्नता वृत्राण्यप्रति' इति मै० सं० ॥

[९४ (९८)] राजा का कर्त्तव्य, प्रजाओं में प्रेम उत्पन्न करना ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

ध्रुवं ध्रुवेण॑ ह॒विषाव॒ सोमं॑ नयामसि ।
यथा॑ न॒ इन्द्रः॒ केव॑लीर्विशः॒ संम॑नस॒स्कर॑त् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । ६ यजु० ७ । २५ ॥

भा०—हम लोग (ध्रुवेण) ध्रुव, स्थिर (हविषा) अन्न आदि के अंश से (ध्रुवम्) स्थिर, दृढ़ (सोमम्) प्रजा के सन्मार्ग में प्रेरक शासक को (अव नयामसि) अपने अधीन करते या स्वीकार करते हैं, अपनाते हैं । (यथा) जिससे (नः) हमारा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, दर्शनीय, विघ्न-नाशक राजा (केवलीः) अपनी अनन्य साधारण (विशः) प्रजाओं को (सं-मनसः) अपने साथ मनोयोग देनेवाली, एकचित्त, समानचित्त परस्पर का प्रेमी (करत्) बनावे, उनको संगठित और सुदृढ़ करे ।

[९५ (१००)] जीव के आत्मा और मनका वर्णन ।

कपिञ्जल ऋषिः । गृध्रौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

उद॒स्य श्या॒वौ वि॑थु॒रौ गृध्रौ॒ द्यामि॑व पेततुः ।
उ॒च्छो॒च॒न॒प्र॒शो॒च॒नाव॒स्योच्छोच॑नौ हृ॒दः ॥ १ ॥

भा०—(अस्य) इस जीव के (विथुरौ) व्यथादायी या व्यथित

[९४] १–'ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि । अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनस्करत्' । इति पाठभेदाः, यजु० । (द्वि०) अभिसोमंमृशामसि । 'अथोत इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्' इति पाठः ऋ० । तत्र यजुर्वेदे भरद्वाज ऋषिः । ऋग्वेदेऽस्याः ध्रुव ऋषिः । राज्ञः स्तुतिर्देवता ।

(गृध्रौ) लोकान्तर की आकांक्षा करनेवाले आत्मा और मन अथवा आत्मा और प्राण (श्यावौ गृध्रौ इव) दो श्यामरंग के गीध जिस प्रकार (द्याम्) आकाश में उड़ते हैं उस प्रकार अत्यन्त गतिशील, तीव्र वेगवान् होकर (उत् पेततुः) ऊपर उठते हैं । दोनों उस समय उसके (हृदः) हृदय को अपने तीव्रवेग और ताप से (उत्-शोचनौ) अति अधिक कान्ति देने वाले होते हैं इसलिये उनका नाम भी (उच्छोचन–प्रशोचनौ) उत्शोचन और प्रशोचन हैं । वे दोनों उस समय हृदय के अग्रभाग को प्रदीप्त करते हैं । और शरीर को संतप्त करते हैं ।

"तस्यहैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति । चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति । प्राणमनु उत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति इत्यादि ।" बृहदारण्यकोपनिषत् ४ । ४ । २ ॥

देहावसानकालमें आत्मा की समस्त शक्तियां आत्मा में लीन होकर एक हो जाती हैं । और तब हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है । वह आत्मपुञ्ज हृदय या आंख या ब्रह्माण्ड भाग से निकल जाता है । और आत्मा के साथ इन्द्रिय गण भी शरीर को छोड़ देते हैं । बृहदारण्यक का वह स्थल विशेष दर्शनीय है ।

अ॒हमे॑नावुद॑तिष्ठिपं॒ गावौ॑ श्रान्त॒सदा॑विव ।
कु॒र्कु॒रावि॑व॒ कूज॑न्तावु॒दव॑न्तौ॒ वृका॑विव ॥ २ ॥

भा०—(श्रान्त सदौ गावौ इव) थककर या हारकर बैठे हुए बैलों को जिस प्रकार उनका गाड़ीवान पुनः उनकी पूंछ मरोड़कर फिर उठाता है और जिस प्रकार (कूजन्तौ) गुर्राते हुए (कुर्कुरौ-इव) कुत्ते ऊपर को उछलते हैं और जिस प्रकार (उत्-अवन्तौ) ऊपर को झपटते हुए

(वृकौ-इव) भेड़िये उछलते हैं उसी प्रकार (अहं) मैं परमात्मा शरीर के जीर्ण हो जाने पर (एनौ) इन दोनों जीव और मन को (उत्-अतिष्ठिपम्) ऊपर को खेंच लेता हूं।

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार ॥३॥

भा०—ये दोनों मरण काल में शरीर से निकलते समय इस शरीर में (आ-तोदिनौ) सर्वत्र व्यथा उत्पन्न करते हैं। (नि-तोदिनौ) खूब ही तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं, (सं-तोदिनौ) समस्त अंगों में व्यथा उत्पन्न किया करते हैं। (यः) जो भी जीव (स्त्री) चाहे वह स्त्री हो और (पुमान्) चाहे वह पुरुष हो तो भी (इतः) इस लोक से (जभार[१]) दूसरे लोक में जाता है। मैं मृत्यु रूप व्यवस्थापक ईश्वर (अस्य) इस शरीरधारी प्राणि के (मेढ्रम्) लिंग भाग को (अपि नह्यामि) बांध देता हूं। मरणासन्न जीव को पाखाना तो आ जाता है, पर मूत्र जीवन के अन्तिम दो दिनों में नहीं आता।

'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च। सन्ध्यं तृतीयं स्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने पश्यति' इत्यादि बृहदारण्यक प० ४। ३। ९ ॥ कौशिक सूत्रकारने मण्डूक का शिर काटने में इस मन्त्र का विनियोग किया है। ठीक है। मनोविज्ञान और जीवनविज्ञान के जानने के लिये मेंडक का शिर काट कर नाड़ी और प्राणों की गति के उत्तम निरीक्षण करने की विधि वर्तमान के वैज्ञानिकों के अनुसार प्राचीन काल में थी। जिसको सायणादि ने नहीं समझा।

३–'स्त्रीम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (सच तस्याज्ञानविलासः।)
१. हृगतौ इत्यस्या 'जभार' गच्छामीत्यर्थः ॥

[९६ (१०१)] जीव की शरीरप्राप्तिका वर्णन ।

कपिंजल ऋषिः । वयो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

असंदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः ।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भा०—(गावः) जिस प्रकार गौवें अपने (सदने) घर में (असदन्) आकर बैठती हैं उसी प्रकार (गावः) इन्द्रिय गण (सदने) अपने आयतन, भोगाश्रय शरीर में (असदन्) आकर बैठ जाती हैं । और जिस प्रकार (वयः) पक्षी (वसतिम्) अपने घोंसले में आकर बैठता है उसी प्रकार यह जीवात्मा अपने (वसतिम्) वासस्थान देह को (उपपप्तत्) प्राप्त कर लेता है । और उस देह में (पर्वताः) पोरु वाले अंगों में स्थित हड्डियां भी (आ-स्थाने) ठीक २ स्थान पर (तस्थुः) स्थिर हो जाती हैं और (स्थाम्नि) ठीक २ स्थान पर मैं परमेश्वर जीव के शरीर में (वृक्कौ) गुर्दे आदि अंगों को (अतिष्ठिपम्) स्थापित करता हूँ ।

गर्भाशय में प्रथम इन्द्रियें फिर जीव आता है और फिर हड्डियों और उसके पश्चात् गुर्दे और फेफड़े आदि बनते हैं ।

[९७ (१०२)] ऋत्विजों का वरण ।

यज्ञसम्पूर्णकामोऽथर्वा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १–४ त्रिष्टुभः । ५ त्रिपदार्षी भुरिग् गायत्री । त्रिपात् प्राजापत्या बृहती, ७ त्रिपदा साम्नी भुरिक् जगती । ८ उपरिष्टाद् बृहती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

---

[९६] १–'वृक्कावतिष्ठिपम्' इति सायणाभिमतः पाठः । तत्र सायणकृतोऽर्थो हास्यजनकः ।

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन् होत॑श्चिकित्व॒न्नवृ॑णीम॒हीह ।
ध्रु॒वम॑यो ध्रु॒वमु॒ता श॑विष्ठ प्रवि॒द्वान् य॒ज्ञमुप॑ याहि॒ सोम॑म् ॥१॥

ऋ० ३ । २६ । १६ ॥ यजु० ८ । २० ॥

भा०—हे (चिकित्वन्) ज्ञानवान्, विद्वान्, ब्रह्मन् ! हे (होतः) ज्ञान प्रदान करने हारे देव, विद्वान् पुरुषों को उपदेश करने और उनको अपने उपदेशों के प्रति आकर्पण करने में समर्थ ! (यत्) क्योंकि हम यजमान लोग (इह) इस अवसर पर (अद्य) आज (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ के (प्रयति) प्रारम्भ होने के समय (अवृणीमहि) ऋत्विक् रूप से वरण करते हैं। इसलिये आप (ध्रुवम्) निश्चय पूर्वक (अयः) यज्ञ करें या यज्ञ में आवें (उत) और, हे (शविष्ठ) शक्तिमन् ! आप (प्र-विद्वान्) उत्तम कोटि के विद्वान् होकर (सोमम् यज्ञम्) सोम यज्ञ में (ध्रुवम्) अवश्य (आ उप याहि) आइये, पधारिये। अथवा (हे शविष्ठ ! यज्ञं प्रविद्वान् ध्रुवं सोमम् उपयाहि) हे शक्तिमन् ! आप यज्ञ को भली प्रकार जानते हुए सोम यज्ञ में पधारें। अथवा सोम-रस का पान अवश्य करें।

अध्यात्म पक्ष में; परमात्मा के प्रति सम्बोधन करके लगता है।

समि॑न्द्र नो॒ मन॑सा नेष॒ गोभि॒ः सं सू॒रिभि॑र्हरिव॒न्त्सं स्व॒स्त्या ।
सं ब्रह्म॑णा दे॒वहि॑तं॒ यदस्ति॒ सं दे॒वानां॑ सुम॒तौ य॒ज्ञियाना॑म् ॥ २ ॥

[६७] १–(तृ०) 'ध्रुवमयो ध्रुवमशमिष्ठाः प्रविद्वान्' इति सायणाभिमतः पाठः। (द्वि०, तृ०) 'चिकित्वोऽवृणीमहीह। ध्रवमया ध्रुवमुता शामिष्ठाः' इति ऋग्वेदे पाठभेदः। 'वयं हित्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह। ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्॥' इति याजुषः पाठः। (तृ०) ऋधगयाट्' (च०) विद्वान् प्रजानन्नुपयाहि यज्ञम्। ऋग्वेदेऽस्या विश्वामित्र ऋषिः।

२–(प्र०) 'समिन्द्र णो' (द्वि०) 'सं सूरिभिर्वः सं स्वस्ति' (च०) 'सुमत्या

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! (नः) हमें (मनसा) मननशील चित्त और (गोभिः) इन्द्रियों सहित या वेदवाणियों द्वारा (सं नेष) समान रूप से उत्तम मार्ग में ले चल। हे इन्द्र ! राजन् ! हमें (सूरिभिः) ज्ञानी विद्वानों के साथ (सं नेष) मिला, हे (हरिवन्) दुःखहारी ज्ञान और कर्मनिष्ट विद्वन् ! हमें (स्वस्त्या) कल्याणमय उत्तम फल से (सं नेष) युक्त कर । और (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद, ज्ञान द्वारा (यत्) जो कुछ (देवहितं) विद्वानों और शिल्पज्ञ श्रेष्ठ पुरुषों को हितकारी या देव=दिव्य पदार्थों में स्थित गुण या ज्ञानी पुरुषों में विद्यमान ज्ञान और तप है उसको भी हमें (सं नेष) प्राप्त करा और (यज्ञियानां) यज्ञ के योग्य, यज्ञशील (देवानाम्) देव विद्वान् पुरुषों के (सु-मतौ) शुभ सम्मति में हमें (सं नेष) चला । गौण रूप से धनैश्वर्य्य आदि सम्पन्न विद्वान् सत्तावान् गृहस्थ के प्रति प्रजाओं का यह वचन भी उपयुक्त है ।

यानावह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥३॥
यजु० ८ । १९ ॥

भा०—हे अग्ने ! अग्नि के समान दुष्टों के संतापक (देव) राजन् ! तू (यान्) जिनको (उशतः) नाना पदार्थों धन, गौ, आजीविका दान दक्षिणा आदि के अभिलाषा करने वाले (देवान्) विद्वान् शिल्पी और

यज्ञियानाम्' इति ऋग्वेदीयः पाठभेदः । (प्र०) 'समिन्द्र णो', (द्वि०) संसूरिभिर्मघवन्' (तृ०) 'सं ब्रह्मणा देवकृतं' (च०) 'यज्ञियानां स्वाहा' इति याजुषाः पाठभेदाः ऋग्वेदेऽस्या अत्रिः ऋषिः ॥

३-(प्र०) 'याँ आवह' (द्वि० तृ०) 'पपिवांसश्च विश्वेऽसुंघर्मं स्वरातिष्ठताऽनु' इति यजु० ॥ (द्वि०) 'प्रेरय पुनरग्ने स्वे सधस्थे' इति पैप्प० सं० ॥

गुणी विज्ञ पुरुषों को (आ-अवहः) स्वयं अपने समीप या अपने राज्य में बुलाता है (तान्) उनको (स्वे) अपने २ (सधस्थे) संघों में रहने की (प्रेरय) प्रेरणा कर। हे (वसवः) राष्ट्र में निवास करने हारे विद्वान् शिल्पी गुणी विज्ञ पुरुषो ! तुम लोग इस राजा के राष्ट्र में (जक्षि-वांसः) उत्तम अन्नों को खाते हुए और (मधूनि) मधुर दुग्ध आदि पदार्थों का (पपि-वांसः) पान करते हुए (वसूनि) नाना प्रकार के वासयोग्य धन, रत्न, सुवर्ण और मकान आदि को (धत्त) स्वयं धारण करो और राजा को भी प्रदान करो।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः ।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥४॥
यजु० ८ । १८ ॥

भा०—राजा का विद्वान् गुणज्ञों के प्रति वचन। हे (देवाः) विद्वान् गुणज्ञ पुरुषो ! (वः) आप लोगों के लिये (सुगा) सुख से प्राप्त करने, एवं निवास करने योग्य (सदना) घर (अकर्म) बना देते हैं। (ये) जो आप लोग (जुषाणाः) प्रेम से युक्त होकर (सदने) इस राष्ट्रमय यज्ञ या मेरी प्रेरणा में आप लोग (आ-जग्म) आते हैं वे आप लोग (स्वा) अपने २ योग्य (वसूनि) वास करने के निमित्त उचित वेतन-आदि धनों को (भरमाणाः) लेते हुए (वसु) अपने विज्ञान और शिल्प रूप (घर्मम्) प्रकाशमान (दिवम्) हुनर को (अनु आ रोहत) मेरे राष्ट्र के अनुकूल या आवश्यकतानुकूल प्रादुर्भाव करो। अथवा (वसु घर्मं दिवं आ रोहत अनु) वास योग्य, प्रकाश से युक्त स्वर्ग समान उत्तम पद पर आरूढ़

४—'य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः' (तृ०) 'वहमाना हवींष्यस्मे धत्त-वसवो वसूनि स्वाहा' इति यजु०। (प्र०) 'स्वगा वै देवा सदनं कृणोमि' इति तै० सं०। 'कृणोमि य आचष्टेदं सवनंजुषाणा', 'दुघास्त्वं घर्मं तमु तिष्ठतानु' इति पैप्प० सं० ॥

होओ। तीसरा चौथा दोनों मन्त्र अध्यात्म पक्ष में बड़े स्पष्ट हैं। (१) (यान् उशतः आवह हे देव तान् अग्ने स्वे सधस्थे प्रेरय) हे देव आत्मन्! अग्ने मुख्य प्राण! सबके नेतः! विषयों की अभिलाषा करने वाले जिन इन्द्रियों को तुम धारण करते हो उनको शरीरप्रवेशकाल में अपने २ स्थान में प्रेरित करते हो। (सः वः जक्षिवांसः पपिवांसो मधूनि अस्मै वसूनि धत्त) हे वासकारी प्राणो! तुम इस देह में कर्म फल भोगते और विषय रस का पान करते हुए भी मधुर ज्ञानों को आत्मा को प्रदान करो। (२) (हे देवाः वःसुगा सदनानि अकर्म ये मे सर्वं जुषाणाः आजग्म) हे प्राणगण! देवो! जो आप मुझ आत्मा के जीवनमय यज्ञ में मेरे से प्रीति रखते हुए आ गये हो तो तुम्हारे लिये सुख से गमन करने योग्य इन्द्रिय आयतनों को मैंने बना दिया है। (स्वा वसूनि वहमानाः भरमाणाः वसु घर्मं दिवम् अनु आरोहत) अपने २ प्राणों को धारण करते हुए और ज्ञान को धारण करते हुए पुनः प्रकाशस्वरूप मोक्षानन्द को प्राप्त करो। इसी शैली पर यह वचन ईश्वर का मुक्त और भक्त आत्माओं के प्रति भी जानना चाहिये।

यज्ञं-यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ। स्वां योनिं गच्छ स्वाहा॥ ५॥
यजु० ८। २२॥

भा०—हे (यज्ञ) आत्मन्, समाधि द्वारा ईश्वर के साथ संगति लाभ करनेहारे आत्मन्! तू (यज्ञम्[१]) उस पूज्य यज्ञरूप परमेश्वर को (गच्छ) जा, प्राप्त हो। हे आत्मन्! तू तो उसी (यज्ञ-पतिम्) समस्त यज्ञों, जीवों के पालक प्रभु को (गच्छ) प्राप्त कर। (स्वाहा) यह कितना अच्छा आदेश है कि तू (स्वां) अपने (योनिम्) परम आश्रयस्थान, स्वयोनि, आत्मभू स्वयम्भू, प्रभु को ही (गच्छ) प्राप्त हो। बस यही (स्वाहा) सबसे उत्तम आहुति है कि आत्मा को परमात्मा में समर्पण करे।

५–१ यज्ञं परमात्मानं विष्णुमिति सायणः।

एष ते य॒ज्ञो य॑ज्ञपते स॒हसू॑क्तवाकः । सु॒वीर्यः स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

यजु० ८ । २२ ॥

भा०—हे (यज्ञ-पते) समस्त यज्ञों के स्वामिन्! (एष) यह भी महान् (यज्ञः) ब्रह्माण्ड और यह देह और यह आत्मा जिसमें इन्द्रिय मन प्राण आदि संगत है अथवा यह यज्ञ जो समाधि काल में तेरा संग लाभ हुआ है यह (ते) तेरा ही है । यही स्वतः (सह-सूक्तवाकः) सुन्दर २ स्तुति वचनों, मन्त्रों द्वारा वर्णन किया जाता है और (सु-वीर्यः) यही बड़ा बल आत्मबलशाली दृढ़ आत्मा है । (स्वाहा) बस, इसमें यह आत्मा हे परमात्मन् ! तेरे भीतर अपने को लीन कर देता है ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ गीता ॥

दोनों मन्त्रों का याज्ञिक पक्ष स्पष्ट है ।

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः ।

दे॒वा गा॑तुविदो गा॒तुं वि॒त्त्वा गा॒तुमि॑त ॥ ७ ॥

यजु० २ । २० । अस्या उत्तरार्धः यजु० ८ । २१ । अस्या० पूर्वार्धः ॥

भा०—यज्ञ में (हुतेभ्यः) हवन करने हारे विद्वानों को (वषट्) दान दिया जाय और (अहुतेभ्यः) जो विद्वान् होता न भी बनें उनको भी सत्कारार्थ (वषट्) दान किया जाय । और इसके पश्चात् यजमान कहे—हे (देवाः) विद्वान पुरुषो ! आप लोग (गातुविदः) सब मार्गों को जानते हैं । आप लोग (गातुं) मार्ग को (वित्वा) भली प्रकार

६—'सुवीरः स्वाहा' इति तै० सं० । सुवीरस्तेन सम्भव भ्राजं गच्छ इति मै० सं० । 'सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा' इति यजु० । 'एष ते यज्ञो यजमानः स्वाहा सूक्तनमो वाकः सुवीरः स्वाहा' इति पैप्प सं० ॥

७—५, ६, ७ एषां त्रयाणां मन्त्राणामत्रिर्मनसस्पतिर्वा ऋषिः । यजु० ।

जानकर (गातुम् इत) अपने घरके मार्ग में पधारो । अर्थात् यज्ञ में आये विद्वानों को दान दक्षिणा देकर यजमान आदर पूर्वक उनको उत्तम मार्ग बतलाकर मार्ग की सुविधाएं करके उनको विदा करे ।

अध्यात्म पक्ष में—हुत और अहुत दोनों प्रकार के साधकों के लिये 'वषट्' वही आत्मसमर्पण का मार्ग है । हे (देवाः) विद्वान योगिजनों ! आप लोग (गातुविदः) गन्तव्य परमपद को जानने हारे हो, इसलिये (गातुं वित्वा) उस गन्तव्य मोक्ष पद को जानकर (गातुम् इत) उस परम गन्तव्य मोक्ष पद को प्राप्त करो । अध्वा, मार्ग, गातु, सेतु इत्यादि सब शब्द परम देवमार्ग परायण; मोक्ष ब्रह्मके वाचक हैं ।

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥८॥

यजु० ८ । २१ उत्तरार्धः ॥

भा०—(मनसस्पते) हे मननशील आत्मा और चित्त के स्वामिन् परमात्मन् ! अन्तर्यामिन् ! मैंने (देवेषु) देव इन्द्रियगणों में व्यापक (इमं यज्ञम्) इस यज्ञस्वरूप आत्मा के (दिवि) तेजस्वरूप परम मोक्षपद में (धां) धर दिया, उसी में अर्पित कर दिया । यह उसी (दिवि) परम तेजोमय ब्रह्म में (स्वाहा) अच्छी प्रकार आहुत (स्वाहा) लीन हो जाय (पृथिव्यां स्वाहा) उस सर्वाधार महान् ब्रह्म में यह आत्मा (स्वाहा) स्वयं लीन हो (अन्तरिक्षे) सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक परब्रह्म में (स्वाहा) यह स्वयं लीन हो (वाते) सर्व प्राणरूप सर्वाधार प्रभु में (स्वाहा) यह आत्मा लीन हो ।

८—'मनसस्पते इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः' इति याजुषः पाठः । 'मनसस्पते देवा देवेषु यज्ञं स्वाहा वाचि स्वाहा वातेधाः' इति तै० सं० । 'मनसस्पते सुधात्विमं यज्ञं दिवि देवेषु वातेधाः स्वाहा' इति मै० सं० ॥

[९८ (१०४)] अध्यात्म यज्ञ ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता बर्हिर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः ।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा ॥ १ ॥

यजु० २ । २२ ॥

भा०—(हविषा) ज्ञान और (घृतेन) तेज से (सम् अक्तं) सम्पन्न होगया है, तेजोमय या प्रकाशित होगया है। वह (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् मुख्य (वसुना) प्राण और (मरुद्भिः) अन्य गौण प्राणों से भी (सम् अक्तं) सम्पन्न होगया है। वह (देवैः विश्वदेवेभिः) देव विद्वानों और समस्त दिव्य शक्ति और समस्त कामनाओं से (सम् अक्तम्) सम्पन्न होकर यज्ञ में आहुति के निमित्त (बर्हिः) धान्य के समान बीजभूत मूल एवं शमदम आदि से वृद्धिशील आत्मा (हविः) स्वयं ज्ञानमय हवि होकर (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यमय परमेश्वर को (गच्छतु) प्राप्त हो। (स्वाहा) यह आत्मा स्वयं अपने प्रति इस प्रकार कहता है या यही सबसे उत्तम आहुति है।

[९९ (१०५)] गृहस्थ को उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । जामिभूता वेदिर्मन्त्रोक्ता देवता । उत्तरा भुरिक् त्रिष्टुप् ।
एकर्चं सूक्तम् ॥

[९८] १–(प्र०) 'संबर्हिरङ्क्तां' (द्वि०) 'समादित्यैर्वसुभिः सं:' (तृ०) समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां (च०) दिव्यं नभो गच्छतु स्वाहा'' इति याजुषाः पाठभेदाः ।

परि॑ स्तृणीहि॒ परि॑ धेहि॒ वेदिं॒ मा जा॒मिं मो॑षीरमु॒या शया॑नाम् ।
हो॒तृ॒षद॑नं॒ हरि॑तं हिर॒ण्ययं॒ निष्का॑ ए॒ते यज॑मानस्य लो॒के ॥ १ ॥

भा०—हे यजमान गृहस्थ ! जिस प्रकार यज्ञकी वेदि को कुशाओं से आच्छादित किया जाता है इसी प्रकार (वेदिम्) पुत्र आदि सन्मान प्राप्त करने के साधन स्वरूप इस स्त्री को (परि स्तृणीहि) सब प्रकार से आच्छादित कर और (परि धेहि) सब प्रकार से उसे धारण और पोषण कर। (अमुया[1]) इस (शयानां) सोती हुई (जामिं) सन्तान उत्पन्न करने हारी स्त्री को (मा मोषीः) कभी मत छल, उससे कुछ मत छिपा, उससे चोरी करके कुछ मत कर। (होतृ-सदनं) होता, सब के देने वाले परमेश्वर या प्रजपति का सदन, स्थान (हरितम्) बड़ा मनोहर, हरियाले धान्यों से पूर्ण और (हिरण्ययम्) सुवर्ण से भरपूर है। और (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे, गृहस्थ सम्पादन करने वाले पुरुष के (लोके) स्थान में भी (एते) ये नाना प्रकार के (निष्काः) सुवर्ण के सिक्के हैं। जब सब धन धान्य संपूर्ण और सुवर्ण से भर पूर ईश्वर के खज़ाने हैं और गृहस्थ के घर में भी नाना धन हैं तो उसे चाहिये कि अपनी स्त्री को अच्छे वस्त्र पहनावे और उत्तम भोजन खिलावे, पुष्ट करे।

'योषा वै वेदिः वृषा अग्निः' श० १ । २ । ५ । १२ ॥

[१०० (१०५)] दुःस्वप्न का नाश करना ।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

---

[९९] १-(प्र०) 'अभिस्तृणीहि' (द्वि०) 'जामि' माहिंसीरमुया शयाना' (तृ०) होतृषदना हरितः सुवर्णा निष्काइमे यजमानस्य ब्रध्ने । इति तै० ब्रा० ॥

१. अमुया इत्यत्र द्वितीयायाः स्थाने 'याच्' आदेशः इति सायणः ।

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

भा०—मैं (दुःस्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न से उत्पन्न हुए (पापात्) पाप से (परि आवर्त्ते) परे रहूँ। और (अभूत्याः) अनिष्ट के (स्वप्न्यात्) स्वप्न से उत्पन्न (पापात्) पाप से भी परे रहूँ। (अहम्) मैं (अन्तरं) पाप और अपने बीच में (ब्रह्म) पवित्र ईश्वर के नाम स्मरण या पवित्र मन्त्र को (कृण्वे) पाप का बाधक बना लेता हूँ इससे (स्वप्न-मुखाः) स्वप्न से उत्पन्न होने वाली (शुचः) हृदय की संतापजनक प्रवृत्तियाँ (परा कृण्वे) दूर कर दूं। अथवा उस पवित्र संकल्प द्वारा (स्वप्न-मुखा) स्वप्न के उत्पन्नकारी (शुचः) दुर्विचारों को (परा) दूर कर दूं।

[१०१ (१०६)] दुःस्वप्न को दूर करने का उपाय।

यम ऋषिः । स्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जो कुछ (स्वप्ने) स्वप्न में मैं (अन्नम्) अन्न आदि पदार्थ (अश्नामि) भोग करता हूँ, खाता हूँ वह (प्रातः) सवेरे उठ कर (न अधि-गम्यते) सत्य नहीं पाया जाता। इसलिये मैं संकल्प करता हूँ कि (तत् सर्वं) वह सब जो मैं स्वप्न में भी देखूं या करूँ (मे) मेरे लिये (शिवं) कल्याणकारी (अस्तु) हो, क्योंकि (तत्) वह

[१००] १–(प्र०) 'दुःस्वप्नात्' (च०) 'स्वप्नमुखा सुव' इति पैप्प० सं०। 'पापः स्वप्नादभूत्यै', 'ब्रह्माहमन्तरं करवे पराः स्वप्नमुखा कृधि' इति का० श्रौ० सू० ॥

स्वप्न का देखा या किया (दिवा) जागने पर दिन के समय (नहि दृश्यते) दीखता भी नहीं । इसलिये व्यर्थ स्वप्न के देखे सुने पर शोक न करे, प्रत्युत अपने चित्त को दृढ़ करके और उसे 'असत्' समझे ।

[१०२ (१०७)] विचार पूर्वक उन्नति का संकल्प ।

प्रजापतिर्ऋषिः । द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं मृत्युश्च देवताः । विराट् पुरस्ताद् बृहती । एकर्च सूक्तम् ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्ष्याम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

भा०—(द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यौ और पृथिवी माता और पिता, इनको (नमःस्कृत्य) नमस्कार करके और (अन्तरिक्षाय) अन्तर्यामी परमेश्वर और (मृत्यवे) सब के संहारक परमेश्वर को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (ऊर्ध्वः) ऊँचे, सीधा (तिष्ठन्) खड़ा होकर (मेक्षामि) चलूँ । (ईश्वराः) ये मेरे ईश्वर, मेरे स्वामी (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) विनाश न करें ।

ह्निटनी की सम्मति में—(मेक्ष्यामि ऊर्ध्वः तिष्ठन्) "मैं ऊँचे खड़ा रह कर मूतता हूँ ।" उनके सम्पादक चार्ल्स राकवेल लैन्मन् के विचार में "अभी तक भारतवर्षी खड़े होकर मूतते हैं ।" यह कैसा भद्दा, उलटा और अश्लील अर्थ लिया है । अथवा प्रजापति ऋषि हैं अतः पर्जन्य प्रजापति कहता है—(द्यावापृथिवीभ्यां) द्यौ और पृथिवी इनको (नमःकृत्य) अपने वश करके अथवा इनके अनुकूल होकर (अन्तरिक्षाय) द्यौ अन्तरिक्ष को भी (नमः) अर्थात् उनके भीतर -

[१०२] १–'मेष्यामि' इति सायणसम्मतः पाठः । मेदयामि, मेष्यामि इत्यादि पाठौ क्वचित् । मेदयामि इति ह्निटनिकामितः पाठः ।

स्थित सूर्य्य, पृथिवी और वायु तीनों को अपने में अनुकूल करके (मृत्यवे) प्राणियों को मृत्यु से बचाने के लिए (ऊर्ध्वः) सब से ऊपर (तिष्ठन्) होकर (मेक्ष्यामि) जल सेचन करता हूँ, वर्षा करता हूँ। जिससे (ईश्वराः) सामर्थ्यवान् सूर्य्य; जलवायु; पृथिवी आदि शक्तियाँ (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) विनाश न करें।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वादश सूक्तानि, ऋचश्चैकविंशतिः]

[१०३ (१०८)] प्रजापति ईश्वर का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

को अस्या नो द्रुहो/वद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

भा०—(कः) प्रजापति राजा और परमेश्वर के कौन (क्षत्रियः) क्षत्रिय, बलवान् (वस्यः)[1] उत्तम फल की (इच्छत्) अभिलाषा करता हुआ (नः) हमें (अस्याः) इस अद्भुत (अवद्यवत्याः) निन्दा योग्य, घृणित (द्रुहः) पारस्परिक द्रोह से हमें (उन्नेष्यति) ऊपर उठाएगा। ईश्वर या प्रजापति के सिवाय कौन दूसरा (यज्ञकामः) इस महान् यज्ञ को जिसमें लक्षों जीव परस्पर संगति किये जी रहे हैं चलाने की इच्छा करता है और इस महा प्रभु के सिवाय (कः) कौन दूसरा है जो (पूर्तिकामः) इस समस्त संसाररूप यज्ञ को पूर्ण करने की अभिलाषा रखता है और (कः) प्रजापति ईश्वर के सिवाय और कौन है

[१०३] १–(च०) 'वनते दीर्घमायुः' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'कोनो- ऽस्य द्रुहो' (तृ०) 'कः पूर्तिकामः को यज्ञकाम' इति पैप्प० सं० ॥

१. 'वस्यःवसीयः प्रशस्तं फलम्' इति सायणः।

जो (देवेषु) सूर्य चन्द्र आदि दिव्य तेजोमय पदार्थों में विद्वान् तपस्वी पुरुषों में (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन को (वनुते) प्रदान करता है। इस प्रकार समस्त जीवों में प्रेमभाव उत्पन्न करके परस्पर के घात प्रतिघात को मिटाने वाला, जीव संसार को हिंसा-प्रतिहिंसा से उन्नत करने वाला, संसार को चलाने हारा, पूर्ण करनेहारा और दीर्घ जीवन का दाता विश्व का आत्मा वही प्रभु है। इसी प्रकार प्रजाओं में परस्पर के झगड़े मिटाने वाला, एक दूसरे की प्रतिहिंसा के भाव से उन्नत करनेवाला राष्ट्रयज्ञके चलाने और पूर्ण करने वाला राष्ट्र का आत्मा राजा प्रजापति है। शरीर में वीर्यवान् आत्मा ही वैसा प्रजापति है।

[१०४ (१०९)] प्रजापति ईश्वर ।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं/जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ १ ॥

भा०—(कः) प्रजापति के सिवाय और कौन है जो (पृश्निम्) श्वेत वर्ण, उज्ज्वल अथवा ब्रह्मानन्द के भीतरी रस का आस्वादन करने वाली (वरुणेन) सर्व विघ्ननिवारक परम राजा प्रभु ईश्वर की (अथर्वणे) ज्ञानवान्, अहिंसित नित्य आत्मा को (दत्ताम्) प्रदान की हुई दुधारी सुशील गाय के समान (सु-दुघाम्) आत्म-सुख प्रदान करने और (धेनुम्) रसपान करनेवाली (नित्यवत्सां) नित्य मनोरूप वत्स के साथ जुड़ी हुई अथवा (नित्य-वत्सां) नित्य निवास करनेहारी अविनाशिनी शक्ति को (बृहस्पतिना) बृहती वाणी के पालक प्राण के साथ

[१०४] १-(प्र०) 'कं पृश्निं', 'सुदुघां धेनुमेताम्' (तृ०) 'तां बृहस्पत्या सख्या' इति पाठः पैप्प० सं० ॥

(सख्यम्) मैत्रीभाव को (जुषाणः) रखता हुआ या परस्पर प्रजा के साथ उस शक्ति से प्रेम ममत्व का सम्बन्ध कराता हुआ, (यथा-वशम्) अभिलाषा या इच्छा के अनुसार (तन्वः) इस शरीर के भीतर (कल्पयाति) सामर्थ्यवान् बनाती है। अर्थात् इस शरीर में नित्य चेतनाशक्ति को प्राण के साथ जोड़ कर शरीर के भीतर इच्छानुसार कार्य करने को समर्थ कौन बनाता है ? वह प्रभु ही बनाता है। वरुण देवने अथर्वा को गाय दी इत्यादि कथा प्ररोचनामात्र है।

[१०५ (११०)] वेद के शासनों पर आचरण करो।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वर्चः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

भा०—(पौरुषेयाद्) पुरुषों या सामान्य लोगों की स्तुति और निन्दा की कथाओं से (अपक्रामन्) परे रहते हुए हे ज्ञानवान् साधक तुम (दैव्यं) देव परमेश्वर की (वचः) पवित्र वाणी वेद को (वृणानः) सबसे उत्कृष्ट रूप में स्वीकार कर अपने। (विश्वेभिः) समस्त (सखिभिः) मित्रों सहित (प्रणीतीः) वेद के प्रतिपादित, उत्तम न्यायानुकूल मार्गों और सत् शिक्षाओं पर और वेद के आदेशों पर (अभि-आवर्त्तस्व) आचरण करो। गुरु उपनयन और समावर्त्तन के अवसरों पर अपने शिष्यों का इस मन्त्र का उपदेश किया करते थे।

---

[१०५] १–(द्वि० तृ०, च०) 'वृणोनो दैव्यं सह,' 'प्रणीतिरभ्यावर्त्तस्व देवा देवानां सख्यं जुषाणः' इति पैप्प० सं० ॥

[१०६ (१११)] ज्ञानवान् विद्वान् और ईश्वर से अपनी भूल चूक पर रक्षा की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता अग्निर्जातवेदा वरुणश्च देवते । बृहती गर्भा त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यद॒स्मृ॑ति च॒कृ॒म किं चि॑दग्न उपारि॒म चर॑णे जातवेदः ।
तत॑ः पाहि॒ त्वं न॑ः प्रचेतः शु॒भे सखि॑भ्यो अ॒मृत॒त्वम॑स्तु नः ॥१॥

भा०—हे अग्ने ! ज्ञानवान् ! विद्वन् ! अपराधियों को अग्नि के समान पीड़क राजन् ! हम (यद्) जो कुछ (अस्मृति) विना विचारे, विना जाने भूल चूक से (किंचित्) कुछ भी (चकृम) कर जायं और हे (जात-वेदः) वेदज्ञान के जानने और अन्यों को जनानेहारे विद्वन् ! और राजन् ! और जो कुछ (चरणे) सत् आचरण में (अस्मृति) विना विचारे, भूलचूक से (उपारिम) चूक जायं, सत् आचरण न कर सकें, हे (प्रचेतः) सब से उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न प्रभो विद्वन् ! (त्वं) तू (ततः) उससे होनेवाले अनर्थ से (नः) हमें (पाहि) बचा । और (शुभे) शुभ, कल्याणकारी, मनुष्य को शोभा देनेवाले और परम निश्रेयस पद में प्राप्त होकर (नः) हमें और हमारे (सखिभ्यः) समान अन्य मित्र बन्धुजनों को भी (अमृतत्वम्) हमारे संग अमृत, मोक्षपद, परमानन्द का (अस्तु) लाभ हो ।

[१०७ (११२)] सूर्य की किरणों का कार्य ।

भृगुर्ऋषिः । सूर्य आपश्च देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अव॑ दि॒वस्ता॑रयन्ति स॒प्त सूर्य॑स्य र॒श्मय॑ः ।
आप॑ः समु॒द्रिया॒ धारा॒स्तास्ते॑ श॒ल्यम॑सिस्रसन् ॥ १ ॥

[१०६]–१(तृ०) 'तस्मात् पाहि', (च०) 'सखे सखिभ्यो' इति पैप्प० सं० ॥

भा०—(दिवः) द्योतमान प्रकाशस्वरूप (सूर्यस्य) सूर्य के (सप्त) सात प्रकार के (रश्मयः) किरण (समुद्रियाः) समुद्र के या अन्तरिक्ष या मेघ के (आपः) जलों को (धाराः) धारारूप में (अवतारयन्ति) नीचे भूमि पर लाते हैं। (ताः) वे धाराएं ही, हे पुरुष ! (ते) तेरे (शल्यं) सब कष्टों को (असिस्रसन्) सदा नाश किया करती हैं। समुद्र का जल सूर्य की किरणों से मेघ रूप होकर जल रूप से बरसता है उससे समस्त प्राणी अन्न प्राप्त कर सुखी होते हैं और कष्टों को भुला देते हैं।

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वंज्योतिषांपतिः ॥ ९ ॥
यदा त्वमभिवर्षसि अथेमाः प्राणते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायाऽन्नं भविष्यति ॥१०॥
प्रश्नोप० २ । १० ॥

[१०८ (११३)] हत्याकारी अपराधियों को दण्ड ।

भृगुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । २ त्रिष्टुप् । द्यृचं सूक्तम् ॥

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।
प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥१॥

भा०—(यः) जो (नः) हममें से (तायत्) छुपकर चोर के समान (दिप्सति) दूसरे की हत्या करना चाहता है और (यः) जो (नः) हममें से कोई (आविः) प्रत्यक्ष रूप में दूसरे को मारना चाहता है वह (स्वः) चाहे अपना बन्धु हो या (विद्वान्) ज्ञानवान् भारी पण्डित हो, यदि वह (नः) हममें से, हमारे जनसमुदाय के लिये (अरणः) दुःखदायी है तो (दत्वती) दांतोंवाली (अरणिः) [1] कष्टदायिनी, उसे

[१०८] १—अरणि=आर्तिकारिणी, कष्टदायिनी बेड़ियां। सम्भवतः लोहे की

गा जानेवाली पीड़ा या पीड़ाकर यन्त्रणा (प्रतीची) जो उसके इच्छा के प्रतिकूल हो या (तान्) उनको (एतु) अवश्य प्राप्त हो । हे अग्ने ! शत्रुसंतापक राजन् ! (एषां) ऐसे हत्याकारी षड्यन्त्री घातक लोगों के पास (वास्तु) निवास के लिये अपना स्वतन्त्र घर न हो प्रत्युत वे सरकार की क़ैद में रहें और (मा उ अपत्यम् भूत्) ऐसे नीच हिंसक लोगों का कोई सन्तान भी न हो । यदि ऐसे पुरुषों की सन्तान उनकी ही दायभागिनी समझी जावेगी तो उनका हत्या द्वारा धन प्राप्त करने का पेशा परम्परा से फैलेगा । इसलिये ऐसा हत्याकारी पुरुष सन्तान का पिता के होने का हकदार नहीं । और न वे पुत्र अपने हत्याकारी पिता के हत्या से प्राप्त धन के उत्तराधिकारी बन सकते हैं ।

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः ।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥२॥

भा०—(यः) जो मनुष्य या प्राणी (नः) हमें (सुप्तान्) सोते हुओं को या (जाग्रतः) जागते हुओं को (तिष्ठतः) खड़े हुओं को या (चरतः) चलते हुओं को (अभि-दासात्) विनाश करे या आक्रमण करे तो हे (जात-वेदः) प्रज्ञावान् विद्वान् न्यायाधीश आप (वैश्वानरेण) समस्त प्रजाओं के नेता या उनके हितकारी राजा को (स-युजा) साथ लेकर (स-जोषाः) प्रजा के प्रति प्रेमभाव से उन (प्रतीचः) प्रतिकूल चलने वालों को (निः-दह) सर्वथा अग्नि में भस्म कर डाल, उनका विनाश कर ।

शृंखला को अरणि कहा जाता है और अंग्रेजी का Iron=आयरन शब्द इसी का अपभ्रंश है ।

२–'नः सुप्तम्' इति क्वचित् । 'वैश्वानरेन सयुजा' इति लड्विग्-कामितः ।

[१०९ (११४)] ब्रह्मचारी का इन्द्रियजय और राजा का अपने चरों पर वशीकरण ।

बादरायणिर्ऋषिः । अग्निर्मन्त्रोक्ताश्च देवताः । १ विराट् पुरस्ताद्बृहती अनुष्टुप्, ४, ७ अनुष्टुभौ, २, ३, ५, ६ त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥१॥

भा०—(उग्राय) तीव्र बलवान् (बभ्रवे) बभ्रु, सब के भरण-पोषण करनेवाले ब्रह्मचारी और राजा को (इदं नमः) यह आदर भाव प्राप्त हो (यः) जो कि (अक्षेषु) अपने इन्द्रियों पर और जो राजा अपने चरों पर (तनू-वशी) अपने शरीर में स्थित उन पर वश करने में समर्थ है। मैं ब्रह्मचारी (घृतेन) प्रकाशमय ज्ञान या स्नेहमय घृतसे (कलिं) अपने ज्ञान करनेवाले मन को (शिक्षामि) सधा लेता हूं, और (सः) वह (नः) हमें (ईदृशे) इस रूप में (मृडाति) सुखी करता है। जो राजा स्नेह से अपने लोगों सधाता है वह सुखी रहता है।

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥२॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान् तेजस्विन्! तपस्विन्! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) ज्ञान मार्गों में सरण करनेहारी इन्द्रियों के लिये (घृतम्) घृत पुष्टिकारक घृत और प्रकाशस्वरूप ज्ञान को (वह).

[१०९] १-(द्वि०) 'योऽक्षेषु' (तृ०) 'घृतं न कल्यं' इति पैप्प० सं० ॥
२-(प्र० द्वि०) अप्सरोभ्यो वह त्वमग्ने घृतम् पांसूनक्षेभ्यः' (तृ०) 'यथाभागः हव्यदातिं जुषाणः, 'मदन्तु' इति पैप्प० सं० । 'पांशून्' इति क्वचित् ।

प्राप्त कर और (अक्षेभ्यः)' क्रीड़ाशील कर्मेन्द्रियों के लिये (पांसून्) भूमि प्रदेश, (सिकताः) सेचनद्रव्य या बालू के समान रूक्ष पदार्थ और (अपः च) शोधन पदार्थ, जल को प्राप्त कर । इस प्रकार (देवाः) शरीर में क्रीड़ा करनेहारे, हर्षशील या गतिशील इन्द्रियगण (यथा-भागम्) अपने सेवन शक्ति के अनुसार (हव्यदातिम्) भोग्य अन्न के भाग को (जुषाणाः) प्राप्त करते हुए (उभयानि) वनस्पतियों से उत्पन्न अन्न, और पशुओं से उत्पन्न घृत, दूध आदि दोनों प्रकार के, (हव्या) हव्य=भोग योग्य अन्न पदार्थों को प्राप्त कर (मदन्ति) प्रसन्न रहते हैं । अर्थात् ज्ञानशील पदार्थों को घृत आदि स्निग्ध पदार्थ कर्मेन्द्रियों को भूमि, मिट्टी, रेता और जल स्पर्श से कठोर पुष्ट और शुद्ध द्वन्द्वसहिष्णु बनाना चाहिये ।

राजा के पक्ष में—राजा (अप्सराभ्यः) प्रजाओं को घृत आदि स्निग्ध एवं पुष्टिकारक पदार्थ अनायास प्राप्त करावे । और अक्ष=अपने नर पुरुषों को भूमि के स्थलों में, मरुओं में और जल प्रदेशों में कार्य के लिये भेजे । इस प्रकार समस्त राष्ट्रवासी लोग देवतुल्य रहकर अपने अधिकार के सदृश अपना वेतन भोगते हुए आनन्द प्रसन्न रहें ।

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ॥
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥३॥

भा०—(हविर्धानम्) हविर्धान अन्न का आगार यह लोक (च) और (सूर्यम्) सूर्य इन दोनों के (अन्तरा) बीच में (अप्सरसः) इन्द्रिय (सध-मादं) अपने साथ साथ हर्षित होनेवाले आत्मा को (मदन्ति) हर्षित करती हैं । वे ही (ये) मुझ ब्रह्मचारी के (हस्तौ)

३–(प्र०) 'याप्सरसः सधमादं', (द्वि०) 'अन्तरा हविर्धानं', (तृ०) 'ता नो हस्तौ कृतेन संसृजन्तु', (च०) 'सपत्नः कितवं मे रन्धयन्तु' इति पैप्प० सं० ।

हाथों को, क्रियाशक्ति को (घृतेन) ज्ञान से (सं सृजन्तु) युक्त करें और (मे) मुझ आत्मा के (सपत्नम्) शत्रु, काम, क्रोध आदि (कितवं) जो मुझको (तेरा क्या) २ इस प्रकार तुच्छ करना चाहता है उसको (रन्धयन्तु) विनाश करें ।

राजा पक्ष में—(अप्सरसः) प्रजाएं एकत्र होकर आनन्द उत्सव करें । राजा के हाथों को वे (घृत) पुष्टिकारक कोप और सेना द्वारा पुष्ट करें और राजा के (सपत्नं कितवं) भूमि पर समान अधिकार का दावा करनेवाले, उसको ललकारने वाले शत्रु को विनाश करें ।

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥४॥

भा०—(प्रतिदीव्ने) प्रतिपक्षी होकर मुझे विजय करनेवाले अपने शत्रु के लिये मैं योद्धा ((आदिनवम्) आगे आकर विजय करता हूं और युद्ध करता हूं । हे ब्रह्मन् परमेश्वर ! राजन् ! (अस्मान्) हम वीर भटों को (घृतेन) तेजोमय द्रव्य से (अभिक्षर) युक्त कर और (यः) जो (अस्मान्) हमारे विरुद्ध (प्रतिदीव्यति) प्रतिपक्षी होकर युद्ध करे उसको (अशन्या वृक्षम् इव) जैसे विजली वृक्ष पर पड़ कर उसको मार डालती है उस प्रकार (जहि) विनाश कर ।

यो नो ध्रुवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (नः) हममें से (देवः) देव विद्वान् ब्रह्मचारी (ध्रुवे) दिव्य व्रत, ब्रह्मचर्य के पालक के निमित्त (इदं) इस प्रकार के

४—'आदिऽनवम्' इत्यपि क्वचित् पदपाठः ।

५—यो नो देवा धनमिदं दिदेश योऽक्षाणां ग्रहणं श [शे] षणं च । सनोऽवतु हविरिदं जुषाणो गन्धर्वैः सधमादं मदेम' इति पैप्प० सं० ।

अक्षय (धनं) धन, बल, सामर्थ्य को (चकार) उत्पन्न करता है और (यः) जो (अक्षाणां) इन्द्रियों का (गहनं) ग्रहण और (शेपणं) वशीकरण (च) भी करता है वह (नः) हममें से (देवः) विद्वान् इन्द्रियविजयी पुरुष (इदं हविः) इस उत्तम उपादेय सुख, ज्ञान और अन्न को (जुषाणः) स्वीकार करता है । ऐसे (गन्धर्वेभिः) गौ-वेदवाणी के धारणशील या गौ-इन्द्रियों के वशीकर्त्ता जितेन्द्रियों के सहित (सधमादं) आनन्द प्रसन्न होकर हम (मदेम) अपने जीवन को सुखी करें ।

राजा के पक्ष में—जो हमारे योद्धा को भरणपोषण का धन देता है, और जो चरों और भटों को वश करता है और उनको अन्यों से अतिरिक्त मानपद प्रदान करता है वह हमारा देव=राजा इस हवि मानपद और बलिभूत कर को प्राप्त करे और ऐसे (गन्धर्वों) गौ-पृथिवी के स्वामी राजाओं के संग हम प्रजावासी सुखी रहें ।

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

भा०—हे (अक्षाः) राजा के आंख स्वरूप चर लोगों, सुभटो ! (वः) तुम्हारा (नामधेयम्) नाम (सं-वसवः) 'सं-वसु' है, तुम एकत्र; सेना और संस्था बनाकर, संगठित होकर छावनियों या सेनादलों या संस्थाओं में रहने से 'संवसु' कहाते हो । तुम (राष्ट्र-भृतः) राष्ट्र को धारण करनेवाले राजा के (उग्रं-पश्याः) उग्रतासे शत्रु पर देखनेवाले, या देखने में भयानक (अक्षाः) 'अक्ष' राजा के इन्द्रियरूप हो । हे (इन्दवः) तेजस्वी पुरुषो ! हम (तेभ्यः) उन (वः) आप लोगों का (हविषा) अन्न आदि द्रव्यों से (विधेम) सत्कार करें और आपके राष्ट्ररक्षा के सम्पादन करने के कारण (वयं) हम प्रजागण (रयीणाम्) धनों और बलों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ।

६—(तृ०) 'तस्मै त इन्दो' इति पैप्प० सं ॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥

भा०—(यत्) जो (मैं) राष्ट्रपति (नाथितः) तपस्या करके (देवान्) देव, विद्वान् पुरुषों को (हुवे) अपने समीप बुलाता हूं । और हम सब मिलकर राष्ट्र की रक्षा के लिये (यत्) जो (बभ्रून्) बभ्रु, भूरे-लाल मिले, ख़ाकी रंग की पोशाक पहने (अक्षान्) तीव्र गतिशील योद्धाओं को (आ-हुवे) प्राप्त करता हूं (ते) वे (नः) हम सब राजा प्रजाओं को (ईदृशे) ऐसे विजय लाभ के अवसर पर (मृडन्तु) सुखी करें ।

ब्रह्मचारी के पक्ष में—हम जो तपस्यापूर्वक विद्वानों की सेवा करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और तीव्र वेगवान् इन्द्रियों पर वश करते हैं तब ऐसे मोक्षपद में ये प्राण हमें सुख प्राप्त कराते हैं । अन्यथा ये ही नाना सांसारिक दुःखों का कारण होते हैं ।

[११० (११५)] राजा और सेनापति का लक्षण ।

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति । उभा हि वृत्रहन्तमा ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! और (इन्द्रः च) इन्द्र सेनापति ये दोनों ही (दाशुषे) कर आदि देनेवाले प्रजाजन के लिये (अप्रति) अपने मुकाबले में किसी को न ठहरने देकर (वृत्राणि) कार्य में विघ्न डालने वाले समस्त शत्रुओं को (हतः) विनाश करते हैं । इसलिये (उभा हि) दोनों ही (वृहन्तमा) वृत्रों को नाश करनेवालों में श्रेष्ठ है ।

७–'यद् देवान्नाथितो' इति पैप्प० सं० ।

[११०] १–'हथो वृत्राणि' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) इन्द्रश्चमेदिना' (तृ०) 'युवेहि' इति तै० आ० । 'हथो वृत्राण्यप्रति ।' 'उग्राय वृत्र'–इति पैप्प० सं० । अग्ना 'इन्द्रश्च दाशुषो' इति मै० सं० ।

याभ्यामजयन्त्स्वरग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा ।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेहम् ॥ २ ॥

भा०—(याभ्याम्) जिन दोनों के बल से (अग्रे एव) पहले ही (स्वः) स्वर्गलोक, प्रकाशमय परमपद को (अजयन्) देव=विद्वानों ने प्राप्त किया । और (यौ) जो दोनों (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों और प्राणियों को (आतस्थतुः) अपने वश किये हुए हैं उन (प्र-चर्षणी) उत्कृष्ट द्रष्टा, अतएव उत्कृष्ट कोटि के पुरुषपुंगव (वृषणा) सुखों के वर्षक, बलवान्, (वज्र-बाहू) अपने हाथों में तलवार लिये हुए, (वृत्र-हणौ) राष्ट्र को घेरनेवाले राजा के विघ्नरूप शत्रुओं को नाश करने वाले दोनों को (अग्निम् इन्द्रम्) अग्नि और इंद्र नाम से (अहम्) मैं (हुवे) स्मरण करता हूं । अध्यात्म में अग्नि और इन्द्र ईश्वर और जीव हैं ।

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः ।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (त्वा) तुझको (बृहस्पतिः) वेद ज्ञानका स्वामी अथवा बड़े २ लोकों का पालक (देवः) देव विद्वान् पुरोहित (त्वा) तुझे (चमसेन) चमसरूप से (उप-अग्रभीत्) तेरा आदर करता है, सोमपात्र तुझे प्रदान करता है । तू (सुन्वते)

२–(प्र०) 'याभ्यां स्वरजयनग्न्', (द्वि०) 'भुवनस्य मध्ये' (च०) 'अग्नीन्द्रा वृत्रहणा हुवे वाम्' इति तै० ब्रा० ॥ (प्र०) 'याभ्यां-स्वारेयत्यग्र यावतस्थ', (च०)–'हणा हुवेम' इति पैप्प० सं० ॥ (प्र०) 'आभ्यां स्वरजनन्' मै० सं० ॥

३–(प्र०) 'उपनं देवाः', 'सर्वतं रीरधासि नः' इति पञ्चमः पादोऽधिकः पैप्प० सं० ॥

सोमसवन करनेवाले (यजमानाय) यजमान, तेरी संगति करनेहारे पुरुष के निमित्त (गीर्भिः) स्तुति, वाणियों सहित (नः) हम प्रजाओं के भीतर (आ-विश) आ, प्रवेश कर ।

अध्यात्म में—बृहस्पति प्रभु ने इस आत्मा को शीर्ष कपाल में सोम रस पान करने का सौभाग्य दिया है जो साधक उसकी साधना करे उसके लिये ही वहइन्द्र आत्मा (नः) हम इन्द्रिय रूप प्रजाओं के भीतर अध्यात्म स्तुतियों सहित प्रवेश करे ।

[१११ (११६)] वीर्यवान् युवा पुरुष को उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । वृषभो देवता । पराबृहती त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधानं आत्मा देवानामुत मानुषाणाम् ।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम् ॥१॥

भा०—हे युवा पुरुष ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील, सर्वोत्पादक परमेश्वर का (कुक्षिः) सृष्टि उत्पादन करने का कोष खजाना है । तू (सोम-धानः) सोम, उत्पादक वीर्य को धारण करनेवाला (देवानाम्) देव विद्वान् जनों और (मानुषाणाम्) साधारण मनुष्यों के बीच में (आत्मा) प्रेरक आत्मा के समान है । तू नर श्रेष्ठ हे नरपुंगव ! (इह) इस गृहस्थ आश्रम में रह कर (प्रजाः जनय) प्रजाओं को उत्पन्न कर । (याः) जो प्रजाएं (ते) तेरी (आसु) इन भूमियों में निवास करती हों और (याः) जो (अन्यत्र) अन्य देशों में भी हों (ताः) वे सब (ते) तेरी प्रजाएं (रमन्ताम्) सुखपूर्वक जीवन यापन करें ।

[१११] १–(प्र०) 'सोमधानात्मा' (द्वि०) 'देवानामस्य विश्वरूपः' (च०) 'ग्रास्ते स्वधितो गृणन्तु' ॥

[११२ (११७)] पाप से मुक्त होने की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । आपः वरुणश्च देवताः । १ भुरिक् । २ अनुष्टुप् । द्वृचं सूक्तम्

शुम्भ॑नी॒ द्यावा॑पृथि॒वी अन्ति॑सुम्ने॒ महि॑व्रते ।
आप॑: स॒प्त सु॑स्रुवु॒र्दे॒वीस्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—(शुम्भनी) शोभादायक विराजमान (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, दोनों (महि-व्रते) विशाल कार्य को करनेवाली और (अन्ति-सुम्ने) भीतरी सुख उत्पन्न करती हैं । उनके बीच में (सप्त) सर्पणशील, निरन्तर गति करनेहारे (देवीः) तेजोमय, प्रकाशमय, ज्ञानस्वभाव, (आपः) प्राप्त करने योग्य ज्ञानधारायें जलधाराओं के समान (सुस्रुवुः) स्रवण करती हैं, बहा करती हैं । (ताः) वे ईश्वर की परम दिव्य शक्तियां (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

अध्यात्म में—द्यौ और पृथिवी प्राण और अपान शरीर में महाकार्य करनेवाले सुखप्राप्ति के साधन हैं । उनके आश्रय पर सात (देवीः आपः) ज्ञानधाराएं, सात शीर्षण्य प्राण विचरते हैं वे सन्मार्ग में रह कर हमें पाप से मुक्त करें ।

मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒३॒॑दथो॑ वरु॒ण्या॒दु॒त ।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शाद् वि॒श्वस्मा॑द् देवकिल्बि॒षात् ॥ २ ॥

भा०—व्याख्या देखो (का० ६ सू० ९६ । २ ॥) वे ही पूर्वोक्त दिव्य प्राणधाराएं (मा) मुझको (शपथ्यात्) परनिन्दा से उत्पन्न और (अथो वारुण्यात्) वरुण ईश्वर के प्रति दुर्विचार आदि से उत्पन्न पाप से (मुञ्चन्तु) दूर करें (अथो) और वे ही (यमस्य पड्वीशात्)

[११२] १–'अन्तः स्वप्ने' इति सायणाभिमतः ॥

यम मृत्यु की बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्बि-षात्) विद्वानों के प्रति किये अपराध अथवा इन्द्रियों के बुरे आचरण से उत्पन्न पापसे मुक्त करें ।

[११३ (११८) स्त्री पुरुषों में कलह के कारण ।

भार्गव ऋषिः । तृष्टिका देवता । १ विराट् अनुष्टुप् । शङ्कुमती, चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके ।
यथा कृतद्विष्टासोमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

भा०—हे (तृष्टिके)[1] कामतृष्णा से आतुर स्त्री ! हे (तृष्ट-वन्दने) कामातुर, तृष्णातुर पुरुषों की चाहनेवाली, पुनः हे (तृष्टिके) बुरी धन-तृष्णातुर स्त्रि ! (यथा) जिस प्रकार से (शेप्यावते) भोग साधन युक्त वीर्यवान् अपने (अमुष्मै) अमुक=पति के लिये तू (कृत-द्विष्टा) द्वेष किये (असः) बैठी है । तू अपनी तृष्णा के कारण ही (अमूं) अमुक पति पुरुष को (छिन्धि) विनाश कर रही है । अर्थात् स्त्री पुरुषों में काम तृष्णा और धन तृष्णा से ही परस्पर कलह उत्पन्न होते हैं ।

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि ।
परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

भा०—हे कामातुर तृष्णालु स्त्रि ! तू (तृष्टा) तृष्णावाली हो

[११३] १–(प्र०) 'तृष्टि वन्दने' (तृ०, च०). 'अधाप्रदष्ट यथमस्तमस्मै शेप्यावतः' इति पैप्प० सं० ॥

१. 'कुत्सिता तृष्टा तृष्टिका' इति सायणः ॥

२–'तृष्टासि तृष्टकासि वृषा वृषातकसि' इति पैप्प० सं० ॥

कर ही (तृष्टिका असि) कुत्सित तृष्णावाली हो जाती है। तू (विषा) विषैली वेल के समान ही (विषातकी) अपने हृदय के द्वेष के विष से पति को ऐसी आतंक या दुःख देनेवाली (असि) हो जाती है कि (यथा) जिससे (वशा इव) जिस प्रकार वन्ध्या गौ (वृषभस्य) सन्तानोत्पादक वीर्यवान् महा सांड के भी छोड़ने योग्य होती है उसी प्रकार तू भी (परि-वृक्ता) वीर्यवान् पुत्रोत्पादन में समर्थ पति के भी (परि-वृक्ता) छोड़ने योग्य (असमि) हो जाती है। अर्थात् जो स्त्री काम तृष्णा में फंस जाती है वह तृष्णा के कारण ही वदनाम हो जाती है।

[११४ (११९)]

भार्गव ऋषिः। अग्नीषोमौ देवते। अनुष्टुप् छन्दः। द्व्यृचं सूक्तम्॥

आ ते॑ ददे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒ऽहं हृद॑याद् ददे।
आ ते॒ मुख॑स्य॒ संका॑शात् सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे॥ १॥

भा०—हे द्वेषकारिणि अधम नारि! (ते वक्षणाभ्यः) तेरे कटि और कुक्षि के भागों से (वर्चः) उस परम पातिव्रत्य रूप तेज को (आददे) मैं ले लेता हूं और (अहं) मैं (ते हृदयात्) तेरे हृदय से भी (वर्च आददे) उस तेज को हर लेता हूं। (ते मुखस्य संकाशात्) तेरे मुख से भी उस तेज को हर लेता हूं। (ते सर्वं वर्च आ ददे) तेरा समस्त सौभाग्य, मैं (आ ददे) स्वयं लेता हूं। अर्थात् दुराचारिणी कामातुरा स्त्री का सोम=सौम्य स्वभाव वाला पति उसके शरीर से अपने दिये समस्त सौभाग्य के चिह्न अलंकार आदि उतार ले, यदि वह दुराचार से वाज़ न आवे। इस मन्त्र का पूर्व सूक्त से सम्बन्ध है।

---

[११४] १-(द्वि०) 'आददे हृदयादधि' (तृ०, च०) 'आते मुखस्य यद्वर्च आशं मा अभ्यतृप्सासि' इति पैप्प० सं०॥

प्रेतो यन्तु व्या/ध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

भा०—(व्याध्यः) नाना प्रकार की पीड़ाएं (इतः) इस हमारे घर से (प्र यन्तु) दूर हो जायँ । (प्र अनुध्याः) और उनके पीछे आने वाले दुष्परिणाम भी दूर हों और उनके कारण होनेवाली (अशस्तयः) निन्दायें भी (प्रउ) दूर हों । (अग्निः) अग्नि के स्वभाव का होकर पुरुष (रक्षस्विनीः) कार्य में विघ्न करने वाली दुष्टाचारिणी स्त्रियों का (हन्तु) दमन करे और (सोमः) सौम्यभाव का पुरुष (दुरस्यतीः) और दूसरों का बुरा चाहनेवाली दुष्ट प्रवृत्तियों को भी विनाश करे । अपने घरों में इस प्रकार के बुरे रोग, बुरे विचार, उनसे उत्पन्न होने वाले कुपरिणाम, निन्दाएं, परकार्य में विघ्न डालने और दूसरों का बुरा चाहने की सब बुरी आदतों को पुरुष अग्नि के समान तीक्ष्ण और चन्द्र के समान प्रेममय होकर न आने दे । और बुरी आदतों वालों को भय दिखावे और प्रेम से समझावे ।

[११५ (१२०)] पापी लक्ष्मी को दूर करना ।

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (पापि) पापकारिणि (लक्ष्मि) कलङ्कदायिनि ! दुष्टाचारिणि ! तू (इतः) इस घर से (प्र पत) परे भाग, (इतः) यहां से (नश्य) भाग जा, (अमुतः) उस दूर देश से भी (प्र पत) परे

[११५] १–(प्र०) 'प्रपतेतः पापलक्ष्मि', 'यं द्विष्मस्तस्मिन् त्वा सज्जामः ।' इति पैप्प० सं० ॥

चली जा । (त्वा) तुझ कुलक्षणा को (अयस्मयेन) तपे लोहे के (अङ्केन) दाग़ से दाग़ कर (द्विषते) अपने से द्वेष करने वाले के लिये (सजामसि) छोड़ते हैं । जा शत्रु के पास ही रह ।

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥२॥

भा०—(या) जो (लक्ष्मीः) लक्ष्मी घर की लक्ष्मी होकर भी (पतयालुः) नीचे दुराचार में गिरने वाली (अजुष्टा) प्रेम से रहित होकर (मा) मुझे (अभि-चस्कन्द) ऐसे चिपटे हुई है जैसे (वृक्षम्) वृक्ष को (वन्दनः[1] इव) वन्दन नामक विष वेल चिपट जाती है और उस पर छाकर वृक्षको सुखा डालती है और उसको बढ़ने नहीं देती । हे (सवितः) सबके प्रेरक राजन् ! न्यायकारिन् ! (ताम्) उस ऐसी नागिन के समान लक्ष्मी को भी (इतः अन्यत्र) यहां से दूसरे स्थान पर (अस्मत्) हमसे पृथक् (धाः) रख । और (हिरण्यहस्तः) सुवर्णादि धनों से सम्पन्न तू (नः) हमें (वसु) उत्तम धन (रराणः) प्रदान कर ।

एकंशतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

भा०—(एक-शतं) १०१ एक सौ एक (लक्ष्म्यः) मनुष्य के स्वरूप को दर्शाने वाली मानस वृत्तियां (मर्त्यस्य) इस मरणधर्मा प्राणी के (तन्वा) शरीर के (साकं) साथ (जनुषः अधिः) जन्मते ही (जाताः) उत्पन्न होती है । (तासां) उनमें से (पापिष्ठाः) पाप से

२–१. 'वन्दनःऽइव' इति पदपाठोऽपि बहुश उपलभ्यते, प्रातिशाख्यानुसारी च । सायणस्तु 'वन्दनाइव' इति पदच्छेद चकार तथैव च शंकरपाण्डुरंगः ॥

युक्त प्रवृत्तियों को (इतः) इस मनुष्य से (निः प्र हिण्मः) सर्वथा हम प्रयत्न पूर्वक दूर करें और हे (जातवेदः) विज्ञान सम्पन्न गुरो ! और आदि गुरो परमात्मन या गृहपते ! (शिवाः) कल्याणकारिणी लक्ष्मियों, शुभ मानसवृत्तियों को (अस्मभ्यम्) हमें (नि यच्छ) प्रदान कर । हमें उनकी शिक्षा कर ।

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

भा०—(खिले) वाड़े में (विष्ठिताः) एकत्र बैठी हुई (गाः) गौओं को (इव) जिस प्रकार गवाला अलग २ पहचानता है उसी प्रकार मैं भी (एताः) अपने भीतर बैठी हुई इन २ (एना) नाना प्रकार की मानस वृत्तियों को (वि-आकरम्) पृथक् २ कार्य-कारण रूप से विवेक पूर्वक जाचूं । (याः) जो (पुण्याः) पुण्य पवित्र (लक्ष्मीः) लक्ष्मियां या मेरे स्वभाव को दर्शाने वाली उत्तम प्रवृत्तियां हैं वे मेरे जीवन में (रमन्ताम्) वार २ प्रकट हों और (याः) जो (पापीः) पापजनक, बुरी प्रवृत्तियां हैं (ताः) उनको अपने में से (अनीनशम्) निकाल कर दूर कर दूं ।

[११६ (१२१)] ज्वर निदान ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । चन्द्रमाः देवता । १ परा उष्णिक् । २ एकावसाना-द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् । द्वयृचं सूक्तम् ॥

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे ।
नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥

भा०—(रूराय) रोगी को तड़पाने वाले (च्यवनाय) बल वीर्य

४—'अनीनशम्' इति सायणाभिमतः पाठः ॥

के नाशक, (नोदनाय) धक्का लगाने वाले (धृष्णवे) मनुष्य को निराश करने वाले (पूर्वकाम-कृत्वने) मनुष्य की पूर्व की अभिलाषाओं या पूर्णकार्य, वीर्य, बलको काट डालनेवाले (शीताय) शीतज्वर के (नमः नमः) उपाय करो ।

यो अ॒न्ये॒द्युरु॑भय॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॒॑त्वव्रतः ॥ २ ॥

भा०—और (यः) जो (अन्येद्युः) एक दिन छोड़कर अगले दिन आवे, (उभयेद्युः) दो दिन छोड़कर (अभ्येति) आवे या दो दिन आकर एक दिन छोड़े और (अव्रतः) जो विना किसी नियम के आवे वह सब ज्वर (इमं) मण्डूकम्) इस मेंढक पर (अभि-एति) आता है और निर्बल हो जाता है ।

दल दलकी जगहों में उत्पन्न ज्वर आदि रोगों को सहन करने की क्षमता दल दलकी ओषधियों और जीवों को है । इसलिये उनके शरीर का भीतरी विष अवश्य ज्वर के विष का शमनकारी होगा इस सिद्धान्त से ज्वर के लिये मेंडक का प्रयोग बतलाया गया है । ऐसा ही प्रयोग सर्प काटे का भी पूर्व लिख आये हैं । ज्वर प्रकरण देखो (का० १ सू० २६)

[११७ (१२२)] सेनापति का कर्त्तव्य ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः ।
मा त्वा॒ के चि॒द् वि य॑म॒न् विं न पा॒शिनो॑ऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ इ॑हि ॥१॥

ऋ० ३ । ४५ । १ ॥ साम० पू० सं० २२६ ॥ यजु० २० । ५३ ॥

[११७] १–(तृ०) 'मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनो' इति साम० । तत्र विश्वामित्र ऋषिः ।

भा०—हे (इन्द्र) राजन् सेनापते! (मन्द्रैः) उत्तम (मयूर-रोमभिः) मोर के समान नीले २ वालों वाले (हरिभिः) तेज़ घोड़ों से तू (आयाहि) शत्रु पर चढ़ाई कर। (त्वा) तुझको (केचित्) कोई भी विरोधी लोग (पाशिनः विं न) पक्षीको जालियों के समान (मा वि यमन्) न पकड़ सकें। यदि वे मुकावले पर भी आवें तो भी (धन्व इव) वीर धनुर्धारी के समान (तान्) उनको (अति इहि) अतिक्रमण करके अपने देश को चला आ।

सायण आदि ने इस स्थल पर 'धन्व इव तान् इहि' इसका अर्थ किता है, मरुस्थल के समान उनको पारकर आ। इस अर्थ में कोई प्रासंगिकता और इन्द्र के वल पराक्रम का पोषक भी नहीं है। ईश्वर पक्षमें—देखो सामवेद पूर्वार्ध सं० २२६।

[११८ (१२३)] कवचधारण।

अथर्वाऽङ्गिरा ऋषिः। बहव उत चन्द्रमा देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु॥ १॥

ऋ० ६। ७५। १८॥ यजु० २७। ४९॥

भा०—हे जयाभिलाषिन् राजन्! (ते मर्माणि) तेरे मर्म स्थानों को मैं (वर्मणा) कवच से (छादयामि) ढकता हूं। (सोमः) सबका

१. अतिधन्व इव महेश्वासा इव इति दयानन्दो यजुर्भाष्ये। तत्र पद-पाठः अति धन्वेति अतिऽधन्व इति। धन्व इति शस्त्र विशेषः। इति दयानन्द ऋग्भाष्ये। उपचाराच्च धनुर्धरे धन्वं इति प्रयोगो द्रष्टव्यः।

[११८] १–(प्र०) 'वर्मभिः छादयामि' (तृ०) 'वरोर्वरीयो वरिवसेऽस्तु' इति तै० सं०॥

प्रेरक (राजा) सबका स्वामी (त्वा) तुझे (अमृतेन) अमर शक्ति से (अनु वस्ताम्) आच्छादित करे । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (उरोः) बड़े से भी (वरीयः) बड़ा राज्य और जीवन (कृणोतु) करे और (त्वां) तुझको (जयन्तम्) विजय करते हुए देखकर (देवाः) देव, विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) खूब प्रसन्न हों और तुझे उत्साहित करें ।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि षोडश, ऋचश्च चतुर्विंशतिः]

॥ इति सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

दशानुवाका अष्टौ च दश चैव शतोत्तरम् ।
सूक्तानि सप्तमेऽथर्वः षडशीति शतद्वयम् ।

वेदवस्वङ्कचन्द्रेऽब्दे पौषशुक्ले द्वितीयके ।
वासरेऽथविधौ काण्डं सप्तमं च समाप्यते ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभित श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये सप्तमं काण्डं समाप्तम् ।

ओ३म्

अथर्ववेदसंहिता

अथाष्टमं काण्डम्

[१] दीर्घजीवन-विद्या

ब्रह्मा ऋषिः । आयुर्देवता । १,५,६,१०,११ त्रिष्टुभः । २,३,१७,२१ अनुष्टुभः । ४,६,१५,१६ प्रस्तारपंक्तयः । त्रिपाद् विराड् गायत्री । ८ विराट् पथ्याबृहती । १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती । १३ त्रिपाद् भुरिक् महाबृहती । १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती ।

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् ।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥१॥

भा०—मृत्यु का उपाय बतलाते हैं । (अन्तकाय) शरीर का अन्त करने और (मृत्यवे) देह को आत्मा से जुदा करने वाले कारण को (नमः) दूर करने का उपाय करो । इससे हे पुरुष ! (ते) तेरे (प्राणाः) प्राण और (अपानाः) अपान (इह) इस शरीर में (रमन्ताम्) सुखपूर्वक आवें और जावें । (अयम्) यह (पुरुषः) देहपुरी में बसनेवाला जीव (इह) इस देह में (असुना सह) जीवन के बाधक विघ्नों को परे फेंकने वाले प्राण के साथ (सूर्यस्य) सब के प्रेरक सूर्य के (भागे) सेवनीय अंश भूत (अमृतस्य लोके) अमृत, नित्य, अविनाशी, पूर्ण आयु के जीवन में (अस्तु) विद्यमान रहे ।

---

[१] १–द्वितीयचतुर्थयोः पादयोर्विपर्ययः पैप्पलादसंहितायां विशेषः ।

बाहर आने वाला श्वास प्राण और भीतर जाने वाले उच्छ्वास अपान कहाता है। दक्षिण नासा का प्राण सूर्य और वाम नासा का प्राण अमृत कहाता है अथवा ब्रह्मचर्य से वीर्यरक्षा करना सूर्य का भाग है और, प्रजा का वीर्य द्वारा उत्पन्न करना, गृहस्थ करना यह अमृत का लोक है।

'प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्'। तै० ब्रा० १।५।५।६॥

अथवा (सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोक इह पुरुषः अस्तु) सूर्य, समस्त प्राणों के प्रेरक आत्मा के सेवन करने और अमृत=जीव के लोक=निवास-स्थान इस देह में यह जीव रहे।

अमृतम्=अमृतात् मृत्युर्निवर्त्तते। श० १०।२।६।१७॥ एतद्वै मनुष्य-स्यामृतम् यत् सर्वमायुरेति॥ श० ९।५।१।१०॥ य एवं शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति सहैवैतदमृतमाप्नोति॥श० १०।२।६।८॥एते उ वाव लोकाः यदहोरात्राणि अर्धमासाः मासाः ऋतवः संवत्सरः। १०।२।६।७॥ अमृतम् उ वै प्राणाः॥ श० ९।३।३।१३॥ प्रजापतिर्वा अमृतः। श० ६।३।१।१७॥ ते देवा होचुर्नातो ऽपरः कश्चन इह शरीरेणामृतोऽसद्। यदैव त्वमेतं भागं हरासा अथ व्यावृत्य शरीरेण अमृतोऽसद्। योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा॥

अमृत से मृत्यु दूर होती है। समस्त आयु का भोगना अमृत प्राप्त करना है। १०० वर्ष तक का जीवन प्राप्त करना अमृत है। दिन, रात्र, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष ये अमृत के लोक हैं और सूर्य की परिक्रमा के भाग हैं। प्राण अमृत है। प्रजापति होना अमृत है। देव विद्वानों ने देखा कि शरीर के साथ कोई अमर नहीं, तो भी यह आत्मा अपने शरीर को पलट कर अमृत रहता है। वह नित्य अमृत, विद्या और कर्म से होता है।

उदे॑नं॒ भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अं॒शुमा॑न्।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑॥ २॥

भा०—मनुष्य के जीवन के आधार बतलाते हैं। (एनं) इस पुरुष

को (भगः) भजन या सेवन करने योग्य भक्त=अन्न में (उत् अग्रभीत्) शरीर के रूप में ग्रहण किया है (एनं) और इसको (अंशुमान्) व्यापन शक्ति या रस से युक्त (सोमः) जल ने (उत्) ग्रहण किया है। (एनम्) और इसको (देवाः) गतिशील (मरुतः) प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, कृकल, देवदत्त, नाग, कूर्म, धनंजय नामक वायुरूप जीवन के साधन प्राणों ने इसे (उत्) ग्रहण किया है और (इन्द्राग्नी) इन्द्र मुख्यप्राण और अग्नि–जाठर अग्नि, वैश्वानर इन्होंने इस देहमय पुरुष को (उत्) धारण किया है। क्यों ? (स्वस्तये) जिस से यह जीव शरीर में सुखपूर्वक जीवन सत्ता का उपभोग करे।

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥ ३ ॥

भा०—मृत्यु से दूर होने का उपाय। हे पुरुष ! (इह) इस शरीर में (ते) तेरे (असुः) जीवन के बाधक कारणों को दूर करने की भी शक्ति विद्यमान है और (इह प्राणः) और इसी शरीर में उत्कृष्ट रूप से प्राण लेने की शक्ति भी है और (इह आयुः) इसी में तेरी आयु-दीर्घ जीवन है, (इह ते मनः) और यही तेरा मननशील अन्तःकरण विद्यमान है। तो सब जीवन के साधन यहाँ ही इस शरीर में विद्यमान हैं तो फिर केवल अज्ञान से तू उन साधनों का उपयोग नहीं करता इसलिए (त्वा) तुझ पुरुष को हम विद्वान् लोग (दैव्या वाचा) देव परमेश्वर की ज्ञानमय वाणी से, वेदोपदेश से (निर्ऋत्याः) सर्वथा दुःख देने वाली तामस प्रवृत्ति या मृत्यु या अज्ञान या अविद्या के (पाशेभ्यः) फांसों से (उत् भरामसि) ऊपर उठाते हैं।

उत् क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥ ४ ॥

४–'पड्वीशम्' इति सायणाभिमतः पाठः।

भा०—हे (पुरुष) इस देहरूप पुरी में वास करनेवाले जीव! (अतः) इस अविद्या के पाश से तू (उत्क्राम) ऊपर उठ (मा अवपत्थाः) नीचे मत गिर। (मृत्योः) मृत्यु की (पड्वीशम्) पैरों में बँधी बेड़ियों को (अवमुञ्चमानः) छुड़ाता हुआ भी (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक या जीवन से (मा छित्थाः) सम्बन्ध मत तोड़, जीवन से वियुक्त मत हो और (अग्नेः) अग्नि, आचार्य और (सूर्यस्य चः) सूर्य, सब के प्रेरक परमेश्वर की शक्तियों का (संदृशः) भली प्रकार दर्शन कर।

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे॒ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः॥ ५॥

भा०—हे जीव! (तुभ्यं) तेरे लिये (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में गति करने वाला (वातः) वायु (पवताम्) सदा बहता रहे, तू सदा स्वच्छ वायु का सेवन कर। और (तुभ्यम्) तेरे लिये (आपः) जल (अमृतानि) अमृत, जीवन के प्राणरूप सूक्ष्म अंशों को (वर्षन्तु) बरसावें, प्रदान करें। तू स्वच्छ जीवन की वृद्धि करने वाले जलों का पान कर (ते तन्वम्) तेरे शरीर के लिये (सूर्यः) यह सूर्य सब सौर-जगत् का और प्राणियों का प्रेरक (शम्) कल्याणकारी होकर (तपाति) तपे। और (मृत्युः) मृत्यु शरीर से जीव को पृथक् करने वाली शक्ति भी इस प्रकार (त्वां) तेरी (दयता) रक्षा करे और तू (मा प्र मेष्ठाः) मत मर, चिरजीवन धारण कर।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ ६॥

भा०—हे (पुरुष) जीव! मनुष्य! (ते) तेरी (उद्यानम्) ऊपर

६—'रथमाजिर्विं' इति सायणाभिमतः पाठः। ऋग्वेदेषु 'जिव्रि' शब्द उपलभ्यते। 'ताम्रथो न जिव्रिः' [ऋ० ११८०।५]

की गति हो, तू अपने जीवन में ऊपर को उठ (न अवयानत्) नीचे को मत गिर । (ते) तेरे (जीवातुम्) जीवन को भी मैं (दक्षतातिम्) बल से युक्त करता हूँ । तू (इमम्) इस (अमृतम्) अमृतरूप सौ वर्ष के जीवन से युक्त (रथम्) रमण साधन, भोगों के आयतन रूप इस देह को (सुखम्) सुखपूर्वक (हि) निश्चय से (अरोह) धारण कर और तू (जिर्विः) जीर्ण होकर बुढ़ापे में भी (विदथम्) अपने जीवन के ज्ञानमय अनुभव को (आवदासि) सर्वत्र उपदेश कर ।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन्।
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मनः) तेरा चित्त (तत्र) उस निषिद्ध कर्म में (मा गात्) न जाय । (मा तिरः भूत्) तेरा चित्त तिरछा, कुपथ में भी न हो । (जीवेभ्यः) जीवों के हित के लिए (मा प्रमदः) तू प्रमाद मत कर । (पितॄन्) अपने बूढ़े पालकों के पीछे २ मृत्यु के मुख में (मा अनुगाः) मत जा । प्रत्युत (त्वा) तुझ को (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और हृष्ट पुष्ट इन्द्रियें (इह) यहां, इस शरीर में चिरकाल तक (अभि रक्षन्तु) सब प्रकार से सुरक्षित रखें ।

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (गतानाम्) गये गुजरे, शरीर को छोड़ कर जाने वाले उन लोगों के लिए (मा आदीधीथाः) विलाप मत कर (ये) जो (परावतम्) दूसरे लोक में या दूसरे शरीर में (नयन्ति) पहुँच जाते हैं अथवा तुझ को या तेरी मनोवृत्ति को दूसरे लोक में ले जाते हैं तू

८–(तृ०) 'उदारोहतमसो' । (च०) 'हस्तं रभामहे' इति पैप्प० सं० । 'ज्योतिरेहि ते' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

(तमसः) मृत्यु रूप या पापरूप तम अन्धकार से निकल कर (ज्योतिः) अमृत पुण्यरूप प्रकाश की तरफ (आरोह) चढ़ । हम विद्वान् लोग (ते हस्तौ) तेरे हाथों को (रभामहे) पकड़ते हैं। तू हमारे हाथों का सहारा लेकर अन्धकार के गढ़े से निकल कर ऊपर आजा ।

मृत्युर्वै तमः । गो० ३० । २५ । १ ॥ पाप्मा वै तमः ॥ श० १२ । ९ । २ । ८ ॥ ज्योतिरमृतम् ॥ श० १४ । ४ । १ । ३२ ॥ प्राणो वै ज्योतिः ॥ श० ८ । ३ । २ । १४ ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठ पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

भा०—(श्यामः च) श्याम और (शबलः) शबल, रात और दिन ये दोनों (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के (प्रेषितौ) भेजे हुए (पथिरक्षौ) जीवन मार्ग की या काल की रक्षा करने वाले (श्वानौ) सदा गतिशील हैं । तू (अर्वाङ्) सामने आगे की ओर (एहि) बढ़ (मा विदीध्यः) विलाप और पछतावा मत कर । (अत्र) इस लोक में (पराङ्मनाः) पूर्व के गुज़रे हुए की चिन्ता करते हुए (मा तिष्ठः) मत बैठ । अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः । कौ० २।९॥

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥१०॥

भा०—हे मोहवश अपने मरों के साथ ममता करके उनके साथ मरने की इच्छा करने वाले मूढ़ पुरुष ! (एतम्) इस (पन्थानम्) मार्ग

९–(तृ०) 'मा त्रि दीध्यो' इति पैप्प० सं० । 'शबलश्च यमस्य' इति सायणाभिमतः पाठः । 'प्रेषितो' इति सायणभाष्ये पदं नोपलभ्यते ।

१०–(च०) 'पुरस्ताद्' इति सायणाभिमतः पाठः । (तृ०) 'तम् एतत्' इति पैप्प० सं० ।

का (मा अनुगाः) अनुसरण मत कर । (भीमः, एषः) यह मार्ग बहुत भयपूर्ण है। (येन) जिस मार्ग से (पूर्वम्) नियत समय से पूर्व तुम कभी (न इयथ) नहीं चले (तम्) उस अज्ञात मार्ग के विषय में मैं (ब्रवीमि) तुम्हें उपदेश करता हूँ कि (एतत्) वह मार्ग (तमः) अन्धकारमय मृत्यु है। हे (पुरुष) पुरुष ! उसकी तरफ़ (मा प्र पत्थाः) तू मत जा, क्योंकि (परस्तात्) उसके परे अतीत काल में जाने से (भयम्) भय है कि भटक जाय । (ते) तेरे लिए तो (अर्वाक्) आगे बढ़ना ही (अभयम्) भय रहित है ।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते ।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥११॥

भा०—हे पुरुष ! (ये) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं में या लोकों में रहने वाले (अग्नयः) अग्नि, प्रकाशमान सूर्य चन्द्र, तारे अथवा प्रजाओं में रहने वाले विद्वान् गण हैं (त्वा रक्षन्तु) वे तेरी रक्षा करें। और (यम्) जिसको (मनुष्याः) मननशील पुरुष (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि भी (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे । और (जातवेदाः) सब प्राणियों में व्यापक या सर्वज्ञ (वैश्वानरः) सब का हितकारक, जाठर अग्नि या ईश्वर भी (रक्षतु) तेरी रक्षा करे (दिव्यः) दिव्य आकाश में उत्पन्न होने वाला अग्नि भी (विद्युता सह) विद्युत् के सहित तुझे (मा प्र धाग्) न जलावे।

मा त्वा क्रव्यादुभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर ।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च ।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

११–(च०) 'मा धाग्' इति ह्विटनिप्रकाशितपुस्तकगतः प्रामादिकः पाठः । 'मा प्र दहात्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझ को (क्रव्यात्) कच्चा माँस खाने वाला जन्तु (मा अभिमंस्त) न आ दबोचे । (संकसुकात्) नाश करने वाले, लोभी जीव से तू (आरात्) दूर रह कर (चर) चल । (द्यौः) आकाश (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे । (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी तेरी रक्षा करे । (सूर्यः च चन्द्रमाः च) सूर्य और चन्द्रमा (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें । और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायुमण्डल तेरी (देवहेत्याः) दैवी आघातकारी पदार्थ से (रक्षतु) रक्षा करें ।

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम् ।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥

भा०—(बोधः) तुझे ज्ञान का बोध कराने वाला तेरा गुरु और (प्रतिबोधः) प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान कराने वाला उपदेशक ये दोनों (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें । (अस्वप्नः) न सोने वाला, पहरेदार और (अनवद्राणः) कभी कुत्सित आचरण न करने वाला सदाचारी आचार्य (गोपायन्) तेरा रक्षक, और (जागृविः) तेरी रक्षा में सदा जागरणशील सन्तरी ये सब तेरी रक्षा करें । या तेरे रक्षक लोग ज्ञानी, दूसरों के ज्ञानदाता, अप्रमादी, सदाचारी, रक्षक सदा सावधान होकर तेरी रक्षा करें ।

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा ॥१४॥

भा०—(ते) ऊपर कहे पदार्थ या उपरोक्त गुण के रक्षक पुरुष

१२–(द्वि०) 'संकुसुकाच्चर' इति सायणाभिमतः पाठः । प्रथमद्वितीययो स्तृतीयचतुर्थाभ्यां पादाभ्यां स्थानविपर्ययः पैप्प० सं० ।

१३–(द्वि०) 'त्वा अनवद्राणिश्च' इति पैप्प० सं० । 'अस्वप्नस्त्वानवद्राण' इति राकूवेलसेन्मनकामितः पाठः ।

१४–(द्वि०) गोपायन्तु ते त्वां हसरसायतु तेभ्यो' इति पैप्प० सं० ।

(त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें (ते त्वा गोपायन्तु) वे तेरी पहरेदारी करें (तेभ्यो नमः) उनका आदर करो या उनको अन्न दो और (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर के वचन कहो ।

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः ।
मा त्वां प्राणो बलं हासीदसुं तेनु ह्वयामसि ॥ १५ ॥

भा०—(धाता) पालक, पोषक और (त्रायमाणः) रक्षक और (सविता) उत्पादक (वायुः) सबका प्रेरक या सर्वव्यापक (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्वा) तुझको (जीवेभ्यः) अन्य तेरे आश्रय पर जीने वाले प्राणियों के लिये (समुदे)[1] और सबके साथ आनन्द प्रसन्न रहने के लिये (त्वा दधातु) तेरा पोषण करे । (प्राणः) प्राण और (बलम्) बल (त्वा) तुझे (मा हासीत्) न छोड़े । (ते असुम्) तेरे प्राण बल को हम (अनु) अनुकूल रूप से (ह्वयामसि) बुलाते हैं ।

मा त्वां जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा
जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥

भा०—(त्वा) तुझे (जम्भः) अंगों को जकड़ने वाला, (संहनुः) जबाड़ों को पकड़ने वाला दांत लगने का रोग (मा विदत्) कभी न पकड़े । और (तमः) आँखों के आगे अन्धेरा सा ला देने वाला शिरोरोग या तमक रोग भी तुझे न पकड़े और (जिह्वा) जीभ भी कभी तुझे रोग में न आ पकड़े । तू (बर्हिः) सदा वृद्धिशील रह कर

[१५] १–'सम्ऽउदे' इति पदपाठः

१६–'कथा स्याः' इत्यन्ताः पञ्चदशीऋग् सायणाभिमता । (द्वि०) जिह्वा-बर्हप्रमयुः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'माजिह्वाचर्य प्रमयुः कथा स्थ' इति पैप्प० सं० ।

(कथा) किस प्रकार (प्रमयुः) मरणोन्मुख (स्याः) हो सकता है ? और (त्वा) तुझ को (आदित्याः) ज्ञानयोगी, बाल ब्रह्मचारी, (वसवः) वसु ब्रह्मचारी और (इन्द्राग्नी) राजा और आचार्य ये (स्वस्तये) कल्याण के लिये (त्वा) तुझ को (उद् भरन्तु) मृत्यु से उन्नति के पथ पर ले जावें ।

उत् त्वा द्यौरुत् पृ॑थि॒व्युत् प्र॒जाप॑तिरग्रभीत् ।
उत् त्वां मृ॒त्योरोष॑धयः सोम॑राज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

भा०—(द्यौः) यह महान् आकाश या सूर्य (त्वा) तुझ को (मृत्योः) मृत्यु से (उद् अग्रभीत्) ऊपर उठाये रहे, बचावे । (पृथिवी उत् अग्रभीत्) यह पृथिवी तुझे मृत्यु से बचावे । (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी, परमेश्वर (त्वा उत् अग्रभीत्) तुझ को बचावे । और (ओषधयः) वे ओषधियां (सोमराज्ञीः) जिन का राजा सोम है अर्थात् जिन में सब से अधिक गुणकारी ओषधि सोमलता है ये भी (त्वा मृत्योः) तुझ को मृत्यु से (उत् अपीपरन्) ऊपर उठावें, बचावें ।

अ॒यं दे॑वा इ॒हैवास्त्व॒यं मामुत्र॑ गादि॒तः ।
इ॒मं स॒हस्र॑वीर्येण मृ॒त्योरुत् पा॑रयामसि ॥ १८ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (अयम्) यह पुरुष (इह एव अस्तु) इस देह में ही पूर्ण आयु तक रहे । (इतः) इस देह को छोड़ कर वह (अमुत्र) दूसरे लोक में (मा गात्) शत वर्ष के पूर्व न जावे । हम विद्वान् लोग (सहस्रवीर्येण) हज़ारों उपायों से, अपरिमित सामर्थ्यप्रद विधियों से, (सहस्रवीर्येण) बलयुक्त, सहनशील वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य के उपाय से इस पुरुष को (मृत्योः) मृत्यु से (उत् पारयामसि) ऊंचा उठावें, मृत्यु से बचावें ।

सहस्रं सहस्वद् इति निरुक्तम् ।

उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

भा०—हे पुरुष ! मैं विद्वान् या ईश्वर (मृत्योः) मृत्यु के पाश से (त्वा) तुझ को (उत् अपीपरम्) ऊपर करता हूं । (वयोधसः) अन्न, आयु का धारण और प्रदान करने वाले लोग तुझ को पुष्ट करें । (व्यस्तकेश्यः) स्त्रियें बाल खोल २ कर तेरे लिये (मा रुदन्) न रोया करें और (अघरुदः) बुरी तरह से रोने वाले बन्धुजन भी (त्वा) तेरे लिये (मा रुदन्) न रोवें । अर्थात् तू पूर्ण आयु होकर वृद्ध दशा में शरीर छोड़। इससे किसी के विलाप दुःख का तू कारण न होगा ।

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ २० ॥

ऋ० १० । १६१ । ५ ॥

भा०—हे पुरुष ! जीव ! (अहार्षम्) मैं परमेश्वर तुझ को इस शरीर में प्राप्त कराता हूँ । और (त्वा अविदम्) और तुझ को स्वयं लिये रहता हूँ या तेरी खबर रखता हूं । तू इस शरीर में (पुनः आगाः) बार २ आता है । और (पुनः नवः) पुनः २ नया होता है । हे (सर्वाङ्ग) समस्त अंगों से युक्त पुरुष ! (ते) तेरी (सर्वम्) सब (चक्षुः) देखने या ज्ञान करने की इन्द्रियें और (सर्वम्) समस्त (आयुः च) आयु (ते) तुझे (अविदम्) प्राप्त कराता हूं । ईश्वर हमें इस देह में लाता हमारी खबर रखता है । जीवन के योग्य सब पदार्थ देता है, हम सदा नये होकर उत्पन्न होते हैं और शरीर को भी प्रतिदिन वह नया बनाये रखता है, हमें इन्द्रियें ज्ञान करने के लिये देता है और वह दीर्घ जीवन का प्रदान करता है ।

२०–(द्वि०) 'पुनर्नवं' इति सायणाभिमतः पाठः । (प्र०) 'आहार्ष त्वाविदं त्वा पुनरागाः पुनर्नवः' इति ऋ० ।

व्य१वात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥ (२)

भा०—(ते) तेरे लिये (ज्योतिः) जीवन का प्रकाश प्रति दिन सूर्य रूप से और आत्मा में ज्ञान रूप से (व्यवात्) विशेष रूपसे प्रकट होता हुआ (अभूत्) आता है। और (त्वत्) तुझ से (तमः) अन्धकार और मृत्यु (अप अक्रमीत्) दूर हो जाता है। और हम भी (त्वत्) तुझ से (निर्ऋतिम् मृत्युम्) पाप और पाप से होने वाली निःशेष दुःखकारी मृत्यु को (अप निदध्मसि) दूर करते हैं और (यक्ष्मम्) यक्ष्म नामक तपेदिक रोग को भी (अप नि दध्मसि) दूर करते हैं।

[२] दीर्घ जीवन का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुर्देवता। १,२,७ भुरिजः। ३,२६ आस्तार पंक्तिः, ४। प्रस्तार पंक्तिः, ६-१५ पथ्या पंक्तिः। ८ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती। ९ पञ्चपदा जगती। ११ विष्टारपंक्तिः। १२,२२,२८ पुरस्ताद् बृहत्यः। १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १९ उपरिष्टाद् बृहती, २१ सतः पंक्तिः। ५,१०,१६–१८,२०,२३–२५,२७ अनुष्टुभः। १७ त्रिपाद् ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥१॥

भा०—हे पुरुष! (इमाम्) इस (अमृतस्य) अमृत, पूर्ण १०० वर्ष की के आयु (श्नुष्टिम्)[1]भोग प्राप्त करने का (आरभस्व) उद्योग कर। (ते) तेरी (जरदष्टिः) जरा अवस्था तक की जीवन यात्रा, और

[२] १–'स्नुष्टिरिति' क्वचित् पाठः।

१. श्नुष्टिः, श्नुसु अदने आदाने इत्येके।

जीवन पर्यन्त उपभोग करने के निमित्त अन्न आदि सामग्री सदा (अविच्छि-द्यमाना) विना विच्छेद के निरन्तर जुटी (अस्तु) रहे। (ते) तेरे (असुम्) असु, प्राण को और (आयुः) दीर्घ जीवन को (पुनः) फिर (आभरामि) प्रदान करता हूं। हे पुरुष! तू (रजः तमः) राजस और तामस भोगों और विलासों में (मा उप गाः) मत जा और इस प्रकार (मा प्रमेष्ठाः) तू मृत्यु को प्राप्त न हो। अर्थात् सात्विक वृत्ति से जीवन निर्वाह करने से दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

जी॒व॒तां ज्योति॑र॒भ्येह्य॒र्वाङा त्वा॑ हरामि श॒तशा॑रदाय।
अ॒व॒मु॒ञ्चन् मृ॑त्युपा॒शानश॑स्तिं द्राघी॑य॒ आयुः॑ प्र॒त॒रं ते॑ दधामि ॥२॥

भा०—हे पुरुष! तू (जीवताम्) प्राण धारण करने वाले जीते जागते लोगों की (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश या कान्ति को (अर्वाङ्) साक्षात् (अभि-एहि) प्राप्त कर। (त्वा) तुझको मैं ईश्वर (शत शारदाय) सौ वर्ष की आयु भोगने के लिये इस जीव लोक में (आह-रामि) पुनः लाता हूं। और (मृत्यु-पाशान्) मृत्यु के बन्धनों को और (अशस्तिम्) निन्दाजनक अपकीर्ति या अप्रशंसनीय निन्दनीय गति को (अव-मुञ्चन्) दूर करता हुआ (ते) तुझे (प्र-तरं) उत्कृष्ट, (द्राघीयः) दीर्घ (आयुः) आयु (दधामि) प्रदान करता हूँ।

वाता॑त् ते प्रा॒णम॑विदं॒ सूर्या॒च्चक्षु॑र॒हं तव॑।
यत् ते॒ मन॒स्त्वयि॒ तद् धा॑रयामि॒ सं वि॑त्स्वाङ्गै॒र्वद॑ जि॒ह्वया॒लप॑न् ॥३॥

भा०—(ते) तेरे लिये (प्राणम्) प्राण को हे पुरुष! मैं (वातात्) इस वायु से (अविदम्) उत्पन्न करता हूँ। और (अहम्)

२—'तृतीयचतुर्थचरणयोर्विपर्ययः पैप्पलाद'। 'ज्योतिरभ्याहि लोकम्' इति पैप्प० सं०।

३—(च०) 'विश्वाङ्गैर्वद जिह्वयाऽऽलपन्' इति सायणाभिमतः पाठः।

मैं प्रजापति (तव) तेरी (चक्षुः) दर्शनशक्ति को (सूर्यात्) सूर्य से उत्पन्न करता हूँ। और (यत्) जो (ते) तेरा (मनः) संकल्प-कारी अन्तःकरण है उसको (त्वयि) तेरे भीतर (धारयामि) स्थापित करता हूं। (अंगैः) अपने सब अंगों से या इन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों से (संविस्त्य) भली प्रकार ज्ञान कर और (जिह्वया) जीभ या वाणी से (लपन्) स्पष्ट वाणी का उच्चारण करता हुआ (वद) बोल।

प्राणेन॑ त्वा द्वि॒पदां॒ चतु॑ष्पदाम॒ग्निमि॑व जा॒तम॒भि सं ध॑मामि ।
नम॑स्ते मृत्यो॒ चक्षु॑षे॒ नमः॑ प्रा॒णाय॑ तेऽकरम् ॥ ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! जीवात्मन् ! (अग्निम् इव) जिस प्रकार आग को फूँक लगा कर या वायु द्वारा पंखे से जिया लिया जाता है। उसी प्रकार (द्विपदाम्) दोपाये मनुष्य-शरीर और पक्षि शरीरों में और (चतुष्पदाम्) चौपायों में (जातम्) उत्पन्न होकर शरीर धारण किये हुए तुझको मैं ईश्वर (प्राणेन) प्राण द्वारा (अभि सं धमामि) स्वयं प्रत्यक्षरूप में तुझे चैतन्य किये रहता हूँ। उत्तर में जीव कहता है। हे भगवन् ! (मृत्यो) सब प्राणियों को देह से पृथक् करने वाले मृत्यो ! (ते चक्षुषे) तेरे प्रदान किये चक्षु आदि इन्द्रिय साधनों के लिये (नमः) उनका भोग्य विषय और (ते प्राणाय) तेरे दिये प्राण के लिये भी मैं (नमः) अन्न (अकरम्) उत्पन्न करूँ। अशनाया वै मृत्युः। भूख और अपान मृत्यु है।

अ॒यं जी॑वतु॒ मा मृ॒तेमं समी॑रयामसि ।
कृ॒णोम्य॑स्मै भेष॒जं मृत्यो॒ मा पुरु॑षं वधीः ॥ ५ ॥

भा०—(अयम्) यह पुरुष (जीवतु) जीवे, सदा जीवे, (मा मृत) कभी न मरे। हम विद्वान्गण इसको (सम् ईरयामः) उत्तम रीति से जीवन गति प्रदान करते हैं। मैं (अस्मै) इस पुरुष के लिये (भेषजं

कृणोमि) सब दुःख दूर करने का उपाय करता हूँ । हे (मृत्यो) मौत! तू (पुरुषम्) पुरुष को (मा वधीः) मत मार । उत्तम रूप से प्राण शक्ति को प्रेरित करने से और रोग की तुरन्त चिकित्सा कर लेने से शरीर मृत्यु के भय से बच जाता है ।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

भा०—(अहम्) मैं परमेश्वर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जीवलाम्) जीवनप्रद, प्राणप्रद (नघरिषाम्) कभी प्राण पर आघात न करने वाली (जीवन्तीम्) जीवन्ती नामक, ओषधि को, (त्रायमाणाम्) त्रायमाणा ओषधि को और (सहस्वतीम्) सब रोगों के आक्रमणों को दबाने वाली (सहमानाम्) बलवती, रोगनाशक पापनाशक ओषधि या सहदेवी ओषधि को (अरिष्टतातये) नीरोग होने के लिये (हुवे) जीवों को प्रदान करता हूँ ।

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु ।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥ ७ ॥

भा०—हे मृत्यो ! (अधि ब्रूहि) तू ही इस जीव को जीवन प्राप्त करने का उपदेश कर । (मा रभथाः) इस को मार मत । बल्कि (इमं सृज) इस पुरुष को उत्पन्न कर, रच और आगे बढ़ा । यह पुरुष (तव एव) तेरा ही (सन्) होकर (इह) इस लोक में (सर्वहायाः) समस्त जीवन के शतवर्ष पर्यन्त (अस्तु) रहे । (भवाशर्वौ) हे भव और शर्व ! सर्वोत्पादक और सर्वविनाशक शक्तियो ! तुम दोनों अपने २

६–'नघरुषां' इति सायणाभिमतः पाठः । (प्र०) 'नघारिषं' (च०) 'सहस्वतीमरुन्धतीम् हृये' इति पैप्प० सं० ।

७–'सं । सर्वहाया' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

अवसर पर इस जीव को (मृडतम्) सुखी करो और (शर्म यच्छतम्) सुखमय कल्याण प्रदान करो। इस पुरुष के (दुरितम्) दुष्कर्म, पाप, दुष्ट आचरण को (अपसिध्य) दूर करके (आयुः धत्तम्) दीर्घ जीवन प्रदान करो।

उत्पत्ति काल में जीव में दुश्चेष्टाओं को दूर करने और वार्धक काल में तपस्या करने से भी दीर्घ जीवन प्राप्त होता और जीवन में सुख होता है। नहीं तो बाल्यकाल के कुसंग और वार्धक काल की भोगतृष्णा ही जीवन को रोगमय और जीर्ण कर देती है।

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३ऽयमेतु ।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥८॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! (अस्मै) इस जीव को (अधि-ब्रूहि) तू उपदेश कर ! (इमम्) इस पुरुष को (दयस्व) पालन कर। (उदितः) यह दुःखों से ऊपर उठ कर, अभ्युदय को प्राप्त करके (अयम्) यह पुरुष (एतु) जीवनपथ में आवे। और (अरिष्टः) किसी प्रकार भी पीड़ित न होकर, मंगलमय होकर, (सर्वांगः) सब अंगों से पूर्ण, हृष्ट-पुष्ट (सुश्रुत्) उत्तम श्रवण शक्ति से युक्त रह कर (जरसा) बुढ़ापे में (शतहायनः) सौ वर्ष पूर्ण करके (आत्मना) अपने देह से (भुजम्) अपने भोग्य, कर्म फल को (अश्नुताम्) भोग करे।

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥ ९ ॥

८—(द्वि०) 'दयस्वोदितोहि मे तु' (च०) 'शतहायनात्मना' इति पैप्प० सं० ।

९—'क्रव्यादं निरोहं' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—(देवानाम्) दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु, विद्युत्, वर्षा, उल्का आदि पदार्थों का और राष्ट्र के शासक, विद्वान् और शक्तिशाली अधिकारी पुरुषों का (हेतिः) आघातकारी शस्त्र या दण्ड (त्वा) तुझे (परि-वृणक्तु) आघात न करे, अपने आघात से बचाये रखे। मैं (त्वा) तुझ जीव को (रजसः) रजस् या राजस प्रलोभनों से (पारयामि) पार करता हूँ। (त्वा) तुझको (मृत्योः) मृत्यु से (उत् अपीपरम्) ऊपर उठाता हूँ। (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले पशु को और प्राणनाशक (अग्निम्) अग्नि को अथवा (क्रव्यादम् अग्निम्) नर शरीर के मांस को स्वीकार करने वाले शवाग्नि को (आरात्) दूर (निरूहन्) करता हूँ। और (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिये (परिधिम्) उत्तम सुरक्षा (दधामि) स्थापन करता हूँ।

यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्य॑म्।
पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥ १० ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! आत्मा को शरीर से पृथक् करने हारे तमःस्वरूप मृत्यो ! (यत्) जो (ते) तेरा (अनवधर्ष्यम्) असह्य और अजेय (रजसं=राजसम्) रजो गुण का बना हुआ (नियानम्) नीचे जाने का मार्ग है। (तस्मात्) उस (पथः) मार्ग से (रक्षन्तः) इस जीव की रक्षा करते हुए हम (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान या वेदोपदिष्ट ज्ञान को (अस्मै) इस जीव की रक्षा के लिये (वर्म) आवरणकारी कवच (कृण्मसि) करें। राजस कार्य और विचार मनुष्य को नीचे गिराते हैं। वे मौत की तरफ़ ले जाते हैं, उनसे बचने के लिये सात्विक मार्ग, वेदोपदिष्ट ब्रह्मज्ञान एक भारी कवच है।

१०–(द्वि०) 'अनवधृष्यम्' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'यत् ते नियानं रजसो मृत्योनव' इति पैप्प० सं०।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्॥११॥

भा०—(ते प्राणापानौ) हे पुरुष! तेरे प्राण और अपान, भीतर से बाहर और बाहर से भीतर चलने वाले श्वासों को (कृणोमि) उचित रूप से सुधार देता हूँ। और इस प्रकार (जराम्) बुढ़ापे और (मृत्युम्) मौत दोनों को (अपसेधामि) दूर कर देता हूँ। इस प्रकार (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन (स्वस्ति) तेरे लिये कल्याणकारी सुखजनक और अविनाशी हो। इसी प्राण और अपान की उचित गति से (वैवस्वतेन) विवस्वान सूर्य से उत्पन्न काल के (प्रहितान्) भेजे (चरतः) निरन्तर गतिशील, परिवर्त्तनशील (यम-दूतान्) यम के दूत रूप काल के दण्ड, दिन, मास, पक्ष, ऋतु वर्ष आदि (सर्वान्) सब को (अपसेधामि) जीवन विनाश करने के कार्य से दूर करता हूँ।

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि॥१२॥

भा०—(तमः इव) जिस प्रकार प्रकाश द्वारा अन्धकार को दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार हम (निर्ऋतिम्) अविद्यामय पाप की प्रवृत्ति को, (अरातिम्) दान न देने वाली, कंजूसी, कृपणता को, (ग्राहिम्) हाथ पैर जकड़ देने वाली अथवा सब की सुख संम्पत् चाट जाने वाली लोभवृत्ति को (क्रव्यादः) मांसाहारी जन्तुओं को और (पिशाचान्) घृणित शव मांस के खाने वाले पिशाचों को और (रक्षः) धर्म कार्य से परे हटाये रखने वाले, विघ्नकारी पुरुषों को और (यत्) जो कुछ

११–(द्वि०) 'जरामृत्युं' (च०) 'चरतारान् (द) अप' इति पैप्प० सं०।
१२–(द्वि०) 'पुरोग्राहिं' (च०) 'तम एवाप' इति सायणाभिमतः पाठः। 'तमेवाप' इति पैप्प० सं०।

भी (दुर्भूतम्) दुष्ट या दुःखकारी पदार्थ है (तत्) उस सब को (परः) परे (अरात्) दूर ही (अप हन्मसि) मार भगावें ।

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥ १३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (अग्नेः) प्रकाश-स्वरूप (अमृतात्) अमृतमय, अमर (आयुष्मतः) दीर्घ आयु से सम्पन्न (जातवेदसः) वेद, ज्ञानमय, सर्वज्ञ प्रभु या सूर्य से (वन्वे) ऐसे प्राप्त करता हूँ । (यथा) जिससे तू भी (अमृतः) अमृतमय होकर (न रिष्याः) विनाश को प्राप्त न हो । (सजूः असः) तू उस अमृतमय के साथ प्रेम करता रह । (तत्) उस परमपद का (ते) तेरा ब्रह्मज्ञान तेरे लिये (समृध्यताम्) समृद्धिकारक, सर्वफलप्रद हो ।

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, (अभिश्रियौ) सब तरफ़ से शोभायमान या सब तरफ से आश्रय देनेवाली, (असन्तापे) संताप, क्लेश से रहित, सुखकारी (शिवे) शुभ, कल्याणकारी (स्ताम्) हों । हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (सूर्यः) सूर्य (शम्) कल्याण, सुखकारीरूप में (आ तपतु) तपे, प्रकाशित हो, और पृथ्वी को संतप्त करे । और (ते हृदे) तेरे हृदय के अनुकूल

१३–(तृ०) 'यथा न ऋष्या' इति क्वचित् पाठः । (द्वि०) 'वनेव जातवेदसः' इति पैप्प० सं० ।

१४–(तृ०) 'सूर्या तपतु' (ष०) 'अभि क्षरन्ति', 'त्वा शिवास्ते सन्त्वोषधीः' इति पैप्प० सं० । 'असंतापे अधिश्रियौ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

(वातः) वायु भी (शम्) कल्याण और सुखकारी होकर (वातु) बहे। (शिवाः) शुभ, सुखकारी (दिव्याः) आकाश से उत्पन्न, दिव्य, गुणकारी, (पयस्वतीः) पुष्टिकारक अन्नों से समृद्ध (आपः) वर्षा की जलधाराएँ (त्वा) तेरे देश के प्रति (अभि क्षरन्तु) सब ओर से आवें और भूमि पर पड़ें और भूमियों को सींचे।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ १५ ॥

भा०—(ते) तेरे लिये (ओषधयः) ओषधियाँ (शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) हों। मैं तुझ रोगी एवं अस्वस्थ पुरुष को स्वस्थ और रोग रहित करने के लिये (अधरस्याः) नीची और हीनगुणवाली भूमि से (उत्तरां पृथिवीम् अभि) उत्कृष्ट गुणवाली ऊँची, स्वच्छ वायु से पूर्ण पर्वत की भूमि में (उत् अहार्षम्) ऊपर ले जाऊँ। (तत्र) वहाँ (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा दोनों (आदित्यौ) प्रकाशमय पुञ्ज, अदिति=अखण्ड सामर्थ्यवान् शक्ति के पुञ्ज (उभौ) दोनों ही (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें। तेरे जीवन को दीर्घ करें। ओषधि का सेवन और ऊँचे स्थल पर सूर्य और चन्द्र के प्रकाश का सेवन दीर्घ जीवन का कारण है।

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥१६॥

भा०—हे पुरुष! (यत् ते) जो तेरा (परिधानम्) शरीर को ढाँपने का ऊपरी (वासः) वस्त्र है और (याम्) जिसको तू (नीविम्)

१५–(प्र०) 'उत्त्वा हारिषम्'. (द्वि०) 'पृथिवीमति' (च०) 'चन्द्रमसा उभा' इति पैप्प० सं०।

१६–'अद्रूक्ष्णमस्तुत' इति सायणाभिमतः पाठः। 'अरूक्ष्णम्', 'अद्रूक्ष्ण' 'अदूक्ष्ण' इति क्वचित् दस्पष्टो लेखः।

शरीर के कटिभाग में धोती या पाजामा या लंगोटी (कृणुपे) बना कर तेड़ लगा लेता है (तत्) उस वस्त्र को भी हम (ते तन्वे) तेरे शरीर के लिये (शिवम्) सुखकारी कल्याणकारी (कृण्मः) करें। जिससे वह वस्त्र (ते) तेरे लिये (संस्पर्शे) स्पर्श में (अद्रूक्ष्णम्) रूखा और कठोर, क्लेशकारी न (अस्तु) हो, प्रत्युत सुखकारी, कोमल हो जो शरीर में न चुभे।

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

भा०—हे पुरुषो ! तुम लोग (यत्) चाहे (सुतेजसा) खूब चमकते, तेज़ धार वाले तीक्ष्ण (क्षुरेण) छुरा से (मर्चयत) वालों को साफ़ करा दो, क्षौर कर्म करा दो। हे नापित पुरुष ? तू (वप्ता) केशों को काटनेवाला नाई होकर (केशश्मश्रु) शिर के वालों और मुख पर के मूँछ आदि वालों को भी (वपसि) मूंड़ डाल । हे पुरुष ! (तव) तेरा (मुखम्) मुख (शुभम्) सुन्दर, शोभायुक्त हो। इस अवसर पर हे नापित ! तू (नः) हमारे (आयुः) जीवन को (मा) मत (प्रमोषीः) नाश कर। अर्थात् हे लोगो ! तीक्ष्ण धार वाले छुरे से बाल बनवाओ, सिर के और मुख के बाल साफ़ कराओ, सुन्दर मुख से रहो, परन्तु नाई असावधानी से किसी के प्राण न ले, उस्तरे निर्विष हों और उनको सावधानी से प्रयोग करे।

१७–(प्र०) 'मर्चयन्ता सुतेजसा' (तृ०) 'शुभन् मुखं' इति च ह्विटनेकामितौ पाठौ। (द्वि०) 'केशश्मश्रू' (तृ०) 'मेनमायुः' इति पैप्प० सं०। 'मर्चमता सुपेशसा' श्रा० गृ० सू०, हि० गृ० सू०, आ० गृ० सू०। 'वसर्वपसि' इति हि० गृ० सू० । 'वप्ता वपति केशान्' पा० गृ० सू०। (तृ०) 'शुन्धि शिरोमा' इति पा० गृ० सू०। 'वर्चेमा मुखं' इति हि० गृ० सू०। 'मास्य आयुः' पा० गृ० सू०।

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (व्रीहियवौ) धान्य और जौ दोनों (ते) तेरे लिये (शिवौ) शिव, कल्याणकारी, सुखकारी (स्ताम्) हों । वे दोनों तेरे (अबलासौ) बल के विनाशक या कफकारी न हों और वे दोनों (अदोमधौ) खाने में सुखकारी, मधुर प्रतीत हों । (एतौ) ये दोनों (यक्ष्मम्) राजयक्ष्मा और अन्य रोगों को (वि बाधेते) नाना प्रकार से नाश करें (एतौ) वे दोनों (अंहसः) मानस और शरीर के पाप और पीड़ाओं से भी पुरुष को (मुञ्चतः) छुड़ाते हैं ।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १९ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (यत्) जिस (धान्यम्) धान्य, अन्न को (कृष्याः) कृषि, खेती से उत्पन्न करके (अश्नासि) खाता है और (यत्) जिस (पयः) पुष्टिकारक दूध और जल का (पिबसि) पान करता है और (यत्) जो पदार्थ भी (आद्यम्) खाने योग्य है और (यद् अनाद्यम्) जो पदार्थ खाने योग्य नहीं भी है उस (सर्वम्) सब (अन्नम्) अन्न को (ते) तेरे लिये (अविषं कृणोमि) विष रहित करता हूं ।

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

१८–(द्वि०) 'अदोमधू' इति सायणाभिमतः पाठः । 'अधोमधो' इति पैप्प० सं० ।

१९–(द्वि०) 'धान्यं कृच्छ्रात् पयः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

२०–'परिदद्मसि' इति सायणाभिमतः पाठः । (द्वि०) 'परिदध्मसि' (तृ०) 'रायेभ्यः' (च०) 'इमं नः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझे मैं (अह्ने) दिन के समय और (रात्रये च) और रात्रि के समय (उभाभ्याम्) दोनों के सुखपूर्वक उपभोग के लिये (परि दद्मसि) हम स्वतन्त्रता देते हैं। और हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (मे) मेरे (इमम्) इस शरीर और धन की (अरायेभ्यः) निर्धन और (जिघत्सुभ्यः) भुक्खड़ों से (परि रक्षत) रक्षा करो।

प्रत्येक व्यक्ति को दिन और रात विचरने की स्वतन्त्रता है। और राजकर्मचारी लोग प्रजाजन की 'अराय' अर्थात् निर्धन, बिना सम्पत्ति के जरायमपेशा डाकुओं से और जिघत्सु अर्थात् दूसरों को खा जाने वाले हिंसक जन्तुओं से रक्षा करें।

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरी आयु के (शतं हायनान्) सौ वर्षों को हम बढ़ा कर (अयुतं हायनान्) एक सहस्र वर्ष तक बढ़ावें। और (द्वे युगे) दो युगों के जीवन को (त्रीणि चत्वारि) तीन और चार युगों तक का लम्बा जीवन (कृण्मः) करते हैं। (इन्द्राग्नी) इन्द्र परमेश्वर और अग्नि, ज्ञानी पुरुष और (विश्वे देवाः) समस्त देव विद्वान् लोग (अहृणीयमानाः) बिना संकोच, लज्जा और रोष के (ते) तेरी इतनी लम्बी आयु को (अनु मन्यन्ताम्) स्वीकार करें।

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

भा०—हे पुरुष ! हम (शरदे) शरद् (हेमन्ताय) हेमन्त (वसन्ताय) वसन्त (ग्रीष्माय) और ग्रीष्म ऋतु के उपभोग के लिये

२१–(द्वि०) 'चत्वारि सन्तु', (तृ०) 'विश्वे देवा अनु' इति पैप्प० सं०।
२२–(द्वि०) 'परिदध्मसि' इति पैप्प० सं०।

(त्वा) तुझको (परिदध्मसि) सब प्रकार से स्वतन्त्र करते हैं। और (येषु) जिन कालों में (ओषधीः) ओषधियां (वर्धन्ते) बढ़ती हैं सर्वत्र हरियाली ही हरियाली छा जाती हैं वे (वर्षाणि) वर्षा काल के इदय भी (तुभ्यम्) तेरे लिये (स्योनानि) सुखकारी हों।

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्।

तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥ २३ ॥

भा०—(मृत्युः) मृत्यु (द्विपदाम्) दुपायों पर भी (ईशे) बलशाली है और (मृत्युः) मृत्यु (चतुष्पदाम् ईशे) चौपायों पर भी बलशाली है, उन पर भी वह शासन करता है। इसलिये हे पुरुष! (गोपतेः) पशुओं के और उनके समान भयातुर अज्ञानी प्राणियों के स्वामी (तस्मात्) उस (मृत्योः) मृत्यु के पाश से मैं (त्वा) तुझे (उद्-भरामि) ऊपर उठाता हूँ। (सः) वह तू ज्ञानवान् होकर मृत्यु से (मा बिभेः) मत डर।

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।

न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥

भा०—हे (अरिष्ट) हिंसा से मुक्त अविनाशी आत्मन्! पुरुष! (सः) तू वह, इस शरीर से सर्वथा पृथक्, चैतन्य आत्मा है। तू (न मरिष्यसि) कभी नहीं मरेगा। (न मरिष्यसि) तू निश्चय से कभी न मरेगा। अतः (मा बिभेः) तू भय मत कर। (तत्र) उस परम पद चैतन्य रूप में प्राप्त होकर ज्ञानी मुक्त पुरुष (न वै म्रियन्ते) निश्चय से नहीं मरते (नो) और न (अधमं तमः) अधम, नीचे के अन्धकारमय नरक लोक को ही (यन्ति) जाते हैं।

२३–(च०) 'उद्भरामि स मा मृताः [थाः]' इति पैप्प० सं०।

२४–'न वै प्र म्रियन्ते' इति पैप्प० सं०।

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

भा०—(यत्र) जिस देश और जिस काल में (इदम्) यह (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान (जीवनाय) जीवन की रक्षा के लिये (परिधिः) अपना प्रकोट या दुर्ग के समान (क्रियते) बना लिया जाता है (तत्र) वहां (वै) निश्चय से (गौः अश्वः पुरुषः पशुः) गौ, अश्व, मनुष्य और पशु सब जीव (जीवति) जीते रहते हैं ।

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥ २६ ॥

भा०—हे पुरुष ! पूर्व मन्त्र में कहा हुआ ब्रह्मज्ञानमय दुर्ग (त्वा) तुझको (समानेभ्यः) तेरे समान बल, विद्या और आयु वाले पुरुषों और (सबन्धुभ्यः) साथ रहने वाले बन्धुजनों की ओर से होने वाले (अभिचारात्) आक्रमण से (परि पातु) रक्षा करे । तू (अमम्रिः) कभी न मरनेवाला अविनाशी (अमृतः वा) और अमृत, अमर जीवात्मा है तू (अतिजीवः) अन्य सामान्य जीवों की दशा को अपने ज्ञानबल से पार कर लेता है अतः (ते शरीरम्) तेरे शरीर को (असवः) प्राण (मा हासिषुः) कभी परित्याग न करें ।

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

भा०—(ये) जो (एक-शतम्) एक सौ एक (मृत्यवः) मृत्युएं हैं और (याः) जो (अति-तार्याः) पार करने योग्य (नाष्ट्राः) नाशकारिणी

२६–(द्वि०) सुगन्तुभ्यः' इति पैप्प० सं० ।
२७–(द्वि०) 'नाष्ट्राचा' (तु–) जीव्याः' इति पैप्प० सं० ।

अविद्या ग्रन्थियां हैं (वैश्वानरात्) समस्त जीवों के भीतर व्यापक (अग्नेः) प्रकाशमय प्रभु के (अधि) बल पर या उसकी तरफ से प्रतिनिधि होकर (देवाः) ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुझे (तस्मात्) उनसे (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ।

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥ [५]

भा०—हे ब्रह्मन् ! या हे आत्मन् ! पुरुष ! तू स्वयं (अग्नेः) उस ज्ञानमय आत्मा का (शरीरम् असि) शरीर है । तू स्वयं (पारयिष्णु) इस क्लेशमय संसार के पार करने में समर्थ, (रक्षोहा) समस्त विघ्नों और विघ्नकारी दुष्टों का नाशक और (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (असि) है (अथो) और तू (अमीव-चातनः) समस्त रोगों, क्लेशों का नाशक है। तू ही (पूतुद्रुः) इस शरीर रूप वृक्ष को सदा पवित्र करनेवाला (भेषजम्) सब भव रोगों का परम औषध है ।

ब्रह्म के विषय में—(पूतुद्रुः) इस महान् ब्रह्माण्डमय वृक्ष को पवित्र करने वाला है। अथवा "ऊर्ध्वं मूलो अवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः," इत्यादि प्रतिपादित पवित्र वृक्षस्वरूप ब्रह्म ही भवरोग का परम औषध है ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, एकोनपञ्चाशदृचः]

[३] प्रजा-पीड़कों का दमन ।

चातन ऋषिः । अग्निर्देवता, रक्षोहणम् सूक्तम् । १, ६, ८, १३, १५, १६, १८, २०, २४ जगत्यः, ७, १४, १७, २१, १२ भुरिक्, २५ बृहतीगर्भा जगती । २२, २३ अनुष्टुभौ । २६ गायत्री । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुपयामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु
नक्तम् ॥ १ ॥ ऋ० १० । ८७ । १ ॥

भा०—मैं (वाजिनम्) बलवान् (रक्षोहणम्) राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों के नाशक पुरुष को (आजिघर्मि) और भी अधिक प्रबल करता हूँ । और (प्रथिष्ठम्) उस महान् से भी महान् (मित्रम्) मरण से बचाने वाले प्रजा के पालक, प्रजा के मित्र राजा की (शर्म) शरण को (उपयामि) प्राप्त होता हूँ । वह (अग्निः) अग्नि के समान शत्रु का तापक परंतप, (शिशानः) निरन्तर तीक्ष्ण स्वभाव का होकर (क्रतुभिः) अपने कर्मों द्वारा (समिद्धः) प्रदीप्त, उज्ज्वल, कीर्त्तिमान् होकर (सः) वह (नः) हमें (रिषः) हिंसक पुरुष से (दिवा नक्तम्) दिन और रात (पातु) रक्षा करे ।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥२॥
ऋ० १० । ८७ । २ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त प्रजाजनों के जानने हारे अग्नि के समान राजन् ! तू (समिद्धः) भड़कती आग के समान राज्य आदि ऐश्वर्य और उसके उचित तेज और सामर्थ्य से प्रदीप्त होकर (अयोदंष्ट्रः) अपनी लोहों की दाढ़ों से, शस्त्रों से सुसज्जित होकर (अर्चिषा) अपने तेज से (यातु-धानान्) प्रजा के पीड़क एवं दण्डनीय पुरुषों को (उपस्पृश) छू, उनको ही ज्वाला से जला और (मूरदेवान्) मूढ़ अज्ञानी विषय भोगों

८ [३] १—ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य पायुर्ऋषिः । अग्नी रक्षोहा देवता ।
२—(च०) 'क्रव्यादो वृक्त्व्यपिधत्स्वासन्' इति ऋ०। 'क्रव्यादो धृष्ट्वा' इति सायणाभिमतः पाठः । (च०) 'आपिदत्स्वासन्' इति पैप्प० सं० ।

के व्यसनी लोगों या जुआखोर लोगों को (जिह्वया) पकड़ने वाली शक्ति से या लोभ भरी जीभ के रस से (आरभस्व) उनको फांस, अपने वश कर और (क्रव्यादः) कच्चा मांस खा जाने वाले हिंसक, पुरुषों और पशुओं के (आसनि) मुखों पर (वृष्ट्वा)[1] बांधकर (अपि-धत्स्व) उनको कैदखाने में बन्द करके रख ।

मूरदेवाः—मारकव्यापाराः राक्षसाः इति सायण ऋ० भाष्ये। मूलेन औषधेन दीव्यन्ति परेषां हननाय क्रीडन्ति अथवा मूढाः कार्याकार्यविभाग-बुद्धिशून्याः सन्तो ये दीव्यन्ति इति सायणोऽथर्वभाष्ये। अर्थात् हिंसक राक्षस या विष औषधों से दूसरों को मार के मज़ा लूटने वाले या कार्याकार्य को न जानकर विवेक रहित होकर जूआ खेलने वाले। ग्रीफ़िथ के मत में 'Foolish Gods' adorers' मूर्ख देवों के पूजने वाले। वस्तुतः—'मूरदेवान् क्रव्यादः जिह्वया आरभस्व' और 'आसन् वृष्ट्वा अपिधत्स्व।' अर्थात् मूढ़ होकर व्यसनों में खेलने वाले जीवों को जिह्वा के रस से फांस ले और जब वे मांस पर लपकें तब उनका मुख बांधकर कटघरे में बंद करदे। इसी विधि से शेर आदि, मांसखोर जन्तु पकड़े जाते हैं। इसी विधि से लोभी क्रूर लोगों को वश करना चाहिये। अन्य भाष्यकारों ने जिह्वा और मुख का सम्बन्ध अग्नि से माना है सो असंगत है।

ऋग्वेद में—'वृक्त्वी अपिधत्स्व आसन्' पाठ है अर्थात् उनके मुख में छेद करके उनको बांध ले। जैसे पशुओं को हरा घास दिखाकर नाक छेद लिया जाता या रीछ को काबू किया जाता है।

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८७ । ३ ॥

---

१. वृष शक्तिबन्धने (चुरादिः)।

३–(प्र०) 'उपधेहि दंष्ट्रा' (तृ०) 'परिपाहि राजन्' इति ऋ०। (प्र०)

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! हे (उभयाविन्) अच्छे और बुरे, उत्तम और अधम सबकी प्रजा रूप से रक्षा करनेहारे राजन् ! तू स्वयं (हिंस्रः) दुष्टों का हिंसक होकर (शिशानः) अति तीक्ष्ण स्वभाव होकर उस दुष्ट पुरुष के (वरं परं च) नीचे और ऊपर के (उभा) दोनों (दंष्ट्रौ) दाढ़ों को (उपधेहि) अपने वश कर (उत) और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (परि याहि) विचरण कर और (यातुधानान्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुषों को (जम्भैः) हननकारी, पीड़क या उनको फांस लेने वाले उपायों से (अभि संधेहि) पकड़, अपने वश कर ।

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥४॥
ऋ० १० । ८७ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! शत्रुनाशक राजन् ! तू (यातुधानस्य) प्रजा को पीड़ा देने वाले दुष्ट डाकू पुरुष की (त्वचम्) खाल को (भिन्धि) शरीर से कटवा २ कर छिलवा दे । (हिंस्राशनिः) उसको मार डालने वाली विद्युत् (हरसा) प्राण हरण करने वाले धक्कों से (एनं हन्तु) उसको मार डाले । और उसके (पर्वाणि) पोरु २ को हे (जातवेदः) प्रज्ञावन् राजन् ! (शृणीहि) कटवा डाल । और (क्रविष्णुः) मांस का भूखा (क्रव्यात्) मांसाहारी जन्तु (एनम्) दुष्ट पुरुष को (विचिनोतु) नाना प्रकार से नोच २ कर खा जाय ।

प्रजापीड़कों को राजा विचित्र दण्ड दे जैसे—उसकी खाल छिलवा दे, बिजली के धक्कों से मरवा दे, पोरू २ कटवादे या भूखे शेर चीतों से फड़वा दे । जिससे उसको अपने किये अत्याचारों का प्रतिफल मिले और अपने से पीड़ितों के कष्टों का भी ज्ञान हो ।

'उपदेहि' (च०) 'अपि यातु' इति पैप्प० सं० ।
४–(प्र०) 'विचिनोतु वृक्णम्' इति ऋ० ।

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८७ । ६ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वान् राजन् ! (यत्र इदानीम्) जहाँ कहीं भी और जब कभी भी (तिष्ठन्तम्) खड़े हुए, (चरन्तम्) विचरते हुए (उत) और (अन्तरिक्षे पतन्तम्) अन्तरिक्ष में, आकाश मार्ग से जाते हुए (यातुधानम्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुष को (पश्यसि) देखे. तभी और उसी स्थान पर तू (शिशानः) अतितीक्ष्ण (अस्ता) शरों के फेंकने में सावधान और (शर्वा) हिंसक, घातक अस्त्र, बाण या गोली से (तम्) उसको (विध्य) बेध डाल, मार डाल, यदि किसी प्रकार वश में न आता हो और छिपता फिरता हो तो जहाँ भी मिले वहां ही उसको गोली का शिकार किया जाय । राजा स्वयं तो क्या करेगा ? वह (अस्ता) धनुर्धर बाण फेंकने और गोली चलाने वाले पुरुषों या (शर्वा, शिशानः) तीक्ष्ण हिंसक पुरुषों को लगा कर उनसे मरवा डाले ।

यज्ञैरिषूः संनमंमानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ध्येषाम् ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ८७ । ४ ॥

भा०—यदि दुष्ट पुरुष बहुत से मिल कर गिरोह बना कर प्रजा का पीड़न करें तो हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुपीड़क राजन् ! तू भी (यज्ञैः) संगति करके एकत्र हुए सैनिकों द्वारा (इषूः) बाणों को (संनममानः) उन पर फेंकता हुआ और (वाचा) अपनी वाणी से या

५–(तृ०) 'यद् वान्तरिक्षेपथिभिः पतन्त' इति ऋ० । (च०) 'त्रिद्धिशर्वा' इति पैप्प० सं० ।

६–(द्वि०) 'शल्यम् अश' इति पैप्प० सं० ।

हुक्म से (शल्यान्) तीक्ष्ण शल्य, कांटों, कीलों और लोहे के तीखे टुकड़ों को (अशनिभिः) बिजली के समान बल से फूटने वाले अशनि नाम आग्नेयास्त्र या बारूद के गोलों द्वारा (दिहानः) खूब प्रबल, वेगवान करके (ताभिः) उन से (प्रतीचः) अपने विरुद्ध युद्ध में आये (यातुधानान्) दुष्ट राक्षस पुरुषों को (हृदये विध्य) उनके छाती में वेध डाल। और (एषाम्) उनके (बाहून्) हाथों और बाजुओं को (प्रति भङ्ग्धि) तोड़ डाल।

उतारब्धान्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान्।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥७॥
ऋ० १० । ८७ । ७ ॥

भा०—हे (जातवेदः) अग्ने! प्रजाजनों के जानने हारे विद्वान् राजन्! (उत) और तू (आरब्धान्) पकड़े हुए (उत) और (आरेभाणान्) सर्वत्र कोलाहल करते हुए (यातुधाना) प्रजापीड़क पुरुषों को (ऋष्टिभिः) ऋष्टि नामक तीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों द्वारा, संगीनधारी सिपाहियों की रखवाली में (स्पृणुहि) उनको रख। और हे (अग्ने) अग्नि के समान दुष्टपीड़क! (पूर्वः) सब से श्रेष्ठ तू (शोशुचानः) अपनी दीप्ति से प्रकाशमान होकर उन प्रजापीड़कों को (नि जहि) सर्वथा मार डाल। और आ (आमादः) कच्चा मांस खाने वाली (एनीः) लाल काली (क्ष्विङ्काः) चीलें (एतम्) इसको (अदन्तु) खाजाएं। राजा दुष्टों को संगीनों के पहरे में रक्खे, या उन को तुरन्त ही विनाश करे या चीलों से नुचवा डाले।

७–(प्र०, द्वि०) 'उतालब्धं स्पृणुहि' 'जातवेद आलभानादृष्टिभिर्यातुधानात्' इति ऋग्वेदे ॥ (च०) 'श्वङ्कास्तम्' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) 'उतालब्धान्' (द्वि०) 'जातवेद आरेभाणान्' इति पैप्प० सं०।

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥
ऋ० १० । ८७ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! (यः) जो भी (यातुधानः) प्रजा को पीड़ा पहुँचाने वाला पुरुष (इदम्) इस प्रकार का पीड़ाजनक कार्य (कृणोति) करे तू (इह) इस राष्ट्र में (प्र ब्रूहि) भली प्रकार सब को बतादे कि (यतमः सः) वह अमुक दुष्ट पुरुष है। जिससे लोग उसके बुरे काम को जान कर उससे सावधान रहें और वह लोगों के सामने अपने बुरे काम के लिये लज्जित हो। और (तम्) उसको (आरभस्व) पकड़ ले। (समिधा) और हे बलशालिन्! तू अपने अति प्रदीप्त अग्नि को ज्वाला के समान तेज से और (नृचक्षसः) सब मनुष्यों के ऊपर देखने वाले न्यायशील राजा की (चक्षुषा) दृष्टि से प्रजा पर उसके अत्याचारों को तोल कर प्रजा के हित के लिये (एनम्) उस दुष्ट पुरुष को (रन्धय) विनाश कर, दण्ड दे, जला डाल।

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥
ऋ० १० । ८७ । ९ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! तू अपने (तीक्ष्णेन) तीखी (चक्षुषा) आँख से अपने तीक्ष्ण निरीक्षण से (यज्ञम्) इस यज्ञ को जिसमें लक्षों करोड़ों प्राणी संगठित रूप में रहते हैं उसकी (रक्ष) रक्षा कर, और हे (प्रचेतः) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न राजन्! (वसुभ्यः) इसमें बसनेवाली प्रजाओं के

८—(द्वि०) 'य इदं कृणोषि' (तृ०) 'समिधायविष्ठ' इति सायणाभिमतौ पाठौ। (द्वि०) 'यो यातुधानो' इति ऋ० पैप्प० सं०।
९—(तृ०) 'हिंस्रा रक्षांसि' इति पैप्प० सं०।

लिये (प्राञ्चम्) उत्कृष्ट, उत्तम श्रेणी का राष्ट्र (प्र णय) बना अथवा इस यज्ञमय राष्ट्र को या राज्यव्यवस्था को (प्राञ्चम् प्रणय) उन्नत दशा पर, ज्ञानमय मार्ग पर ले चल । (हिंस्रम्) हिंसक, प्रजा के प्राण घातक पुरुषों और (रक्षांसि) प्रजा के कार्यों में और प्रजाओं को उत्तम फल प्राप्त करने में विघ्नकारी लोगों को (अभि शोशुचानम्) सब प्रकार से संताप देते हुए (त्वा) तुझको हे (नृचक्षः) प्रजा के निरीक्षक ! राजन् ! (यातुधानाः) वे पीड़ाजनक दुष्ट लोग (मा दभन्) विनाश न करें ।

नृचक्षा॑ः रक्षः॒ परि॑ पश्य वि॒क्षु तस्य॒ त्रीणि॒ प्रति॑ शृणी॒ह्यग्रा॑ ।
तस्या॑ग्ने पृ॒ष्टीर्हर॑सा शृणीहि त्रे॒धा मूलं॑ यातु॒धान॑स्य वृश्च ॥१०॥(६)
ऋ० १० । ८७ । १० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! परन्तप ! तू (नृचक्षाः) प्रजा के हित पर निरन्तर दृष्टि रखता हुआ (विक्षु) अपनी प्रजा में विचरते हुए (रक्षः) प्रजा के सुख और उन्नति के कार्य में विघ्न डालने और प्रजा को पीड़ा देनेवाले दुष्ट पुरुष को अवश्य (परि पश्य) देख, उस पर सदा चक्षु रख । और (तस्य त्रीणि अग्रा) उसके तीन अग्रगामी लोगों को (प्रति शृणीहि) विनाश कर । हे (अग्ने) राजन् ! और (तस्याः) उसके पीठ की पृष्टीः पसुलियों को अर्थात् उसके पास के सहयोगी जो सदा उसके पक्ष पोषक हैं उनको (हरसा) अपने हरण सामर्थ्य से अर्थात् कैद में डालनेवाले पोलिस विभाग से भयभीत करके या पकड़ कर (शृणीहि) विनाश कर । और इसी प्रकार (यातुधानस्य) प्रजापीड़क लोगों के (त्रेधा) तीन प्रकार के (मूलम्) मूल को, अड्डे को (त्रेधा) तीन प्रकार से ही (वृश्च) काट डाल ।

पीड़ादायी दुष्ट आदमी के तीन अग्र—शक्ति, धन और जन ।

११—(च०) 'मृणते नितृक्ष्धि' इति ऋ०, सायणाभिमतश्च ।

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।
तमर्चिषा स्फूर्जयन् जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥११॥
ऋ० १० । ८७ । ११ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यः) जो दुष्ट पुरुष (अनृतेन) असत्य से (ऋतम्) सत्य को (हन्ति) मारता है वह (यातुधानः) प्रजा का पीड़क दुष्ट पुरुष 'यातुधान', राक्षस है । वह (ते) तेरे (प्रसितिम्) बन्धन में (त्रिः) तीनों प्रकार से या तीन बार (एतु) आवे यदि फिर भी बाज न आवे तो हे (जातवेदः) अग्ने ज्ञानवान् राजन् ! (तम्) उसको (अर्चिषा) आग से (स्फूर्जयन्) तड़पाता हुआ, (समक्षम्) सबके सामने (एनम्) उसको (गृणते) अपनी पीड़ा प्रकट करनेवाले प्रजाजन के हित के लिये (नि युङ्ग्धि) दण्ड दे, उसका निग्रह कर।

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥१२॥
ऋ० १० । ८७ । १३ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यत् अद्य) जब कभी (मिथुना) दोनों स्त्री पुरुष, गृहस्थ लोग (शपातः) दुःखित होकर किसी को गालियाँ देवें, बुरा भला कहें, रोवें चीखें और (यत्) जब (रेभाः) विद्वान् लोग भी (वाचः) वाणी का (तृष्टम्) कटु रूप (जनयन्त) उत्पन्न करें अर्थात् तीखी हृदयवेधी वाणियें बोलें तब उन गृहस्थों और विद्वान् पुरुषों की दयनीय दुःखवेदना देखकर हे राजन् ! (या) जो (मन्योः) मन्यु रूप तेरे (मनसः) मन से जो (शरव्या) तीव्र बाण के समान क्रोध की ज्वाला (जायते) प्रकट होती है (तया) उससे (यातुधानम्) प्रजा के पीड़क पुरुषों को (विध्य) विनाश कर।

१२–(च०) 'तया विद्धि' इति पैप्प० सं० ।

राज्य में गृहस्थ, नरनारी और विद्वान् पुरुषों के आर्त्तनाद पर राजा ध्यान दे और उनको दुःख देनेवाले दुष्ट लोगों को पकड़ कर मनमाना दण्ड दे।

परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न् परा॑ग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि।
परा॒र्चिषा॒ मूर॑देवान् छृणीहि॒ परा॑सु॒तृपः॒ शोशु॑चतः शृणीहि ॥१३॥
ऋ० १० । ८७ । १४ ॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! (यातुधानान्) प्रजापीड़क पुरुषों को (तपसा) अपने संतापकारी तेज या शस्त्र से (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर और (हरसा) विनाशक बल से (रक्षः) राक्षस, दुष्ट पुरुष को (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर। और (मूर-देवान्) मूढ़ देवों को माननेवाले, प्रतिमापूजक, पाखण्डी, या दूसरों को मारने के व्यसनी अथवा मूढ़ होकर व्यसनों में मजा लेनेवाले लोगों को (अर्चिषा) आग की ज्वाला से (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनाश कर और (असु-तृपः) दूसरों का प्राण लेकर अपना पेट भरनेवाले प्राणघातक डाकुओं को (शोशुचतः) शोक विलाप करते हुए भी (पराशृणीहि) खूब अच्छी प्रकार विनाश कर कि वे फिर अपनी दुष्टता न करें। अथवा 'अर्चिः' 'हरः' और 'तपः' ये तीन प्रकार के शस्त्र, अस्त्र हैं जिनसे दूर से ही प्रहार कर दिया जाता है उन तीनों प्रकार के अस्त्रों से उनको (परा-शृणीहि) इतना अधिक दण्ड दिया जाय कि 'परा' अर्थात् हद हो जाय और वे फिर भी दुष्टता को त्याग कर सन्मार्ग पर लौट आवें।

परा॒द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु सृ॒ष्टाः।
वा॒चास्ते॑नं॒ शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न् विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑॥१४॥
ऋ० १० । ८७ । १५ ॥

१३–(च०) 'परासुतृपो अभिशोशुचानः' इति ऋ०।
१४–'तृष्टाः' इति सायणाभिमतः।

भा०—(अद्य) आज सदा ही (देवाः) विद्वान्, अधिकारीगण या राजा लोग (वृजिनम्) पाप और पापी प्राणघातक और सत्कार्य-विनाशक राक्षस को (परा यन्तु) अच्छी प्रकार मारें। और (तृष्टाः) किये गये अथवा (तृष्टाः) तीखे (शपथाः) निन्दावचन (एनम्) उस दुष्ट (प्रत्यग्) पर ही (यन्तु) जाएँ। और (वाचा स्तेनं) वाणी द्वारा छल कर चोरी करनेवाले को (शरवः) हिंसक वाण (मर्मन्) उस के मर्मस्थानों में (ऋच्छन्तु) लगें, मारे जावें। और (यातुधानः) प्रजापीड़क आदमी (विश्वस्य) सबके (प्रसितिम्) बन्धन को (एतु) प्राप्त हो अर्थात् ऐसे पुरुष को सब कोई बाँध लें।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥१५॥

ऋ० १०। ८७। १६ ॥

भा०—(यः) जो आदमी (पौरुषेयेण) आदमी के (क्रविषा) माँस से (सम् अङ्क्ते) अपने को पुष्ट करता है, और (यः) जो (यातुधान) पीड़ादायक पुरुष (अश्व्येन) घोड़े आदि पशु के माँस से या (पशुना) पशु के माँस से अपने को पुष्ट करता है। और (यः) जो (अघ्न्यायाः) न मारने योग्य गाय के (क्षीरम्) दूध को (भरति) चुरा लेता है ऐसे २ (तेषाम्) उन प्रजापीड़क लोगों के (शीर्षाणि) सिरों को (हरसा) अपने हरणशील शस्त्र या क्रोध से (अपि वृश्च) काट ले।

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥१६॥

ऋ० १०। ८७। १८ ॥

१५–'अघ्न्याया भरत' इति पैप्प० सं०।
१६–'यातुधानाः पिबन्तु' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'वृश्च्यन्ताम्' (तृ०)

भा०—यदि (यातुधानाः) प्रजापीड़क लोग (गवाम्) गौ आदि पशुओं को (विषम्) विष (भरन्ताम्) दें और उनको मार डालें और यदि (दुरेवाः) दुष्ट चालचलन के लोग (अदितये) गाय को (आ वृश्चन्ताम्) काटें तब (देवः) राजा (सविता) सबका प्रेरक (एनान्) इनको (परा ददातु) राज्य से दूर करे या इनका सर्वस्व हर ले और वे (ओषधीनाम्) अन्न आदि और रोगनाशक ओषधियों के (भागम्) भाग जीवनोपयोगी अंश को भी (परा जयन्ताम्) न पा सकें। अर्थात् पशुनाशक लोगों का सर्वस्व लेकर राजा देश से निकाल दे और वे अन्न और औषध न पा सकें और रोगों से मरें।

संवत्सरीणं पर्य उस्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानो नृचक्षः।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥ १७॥

ऋ० १० । ८७ । १७ ॥

भा०—हे (नृचक्षः) समस्त प्रजाओं के ऊपर अपनी कृपादृष्टि से देखने हारे राजन् ! (यातुधानः) प्रजापीड़क आदमी (उस्रियायाः) गाय का (संवत्सरीणम्) वर्ष भर में उत्पन्न होनेवाला जितना (पयः) दूध है (तस्य) उसके किसी अंश को भी (मा आशीत्) वह न खा सके। हे (अग्ने) राजन् ! और (यतमः) दुष्ट पुरुषों में से कोई भी (पीयूषम्) गोदुग्ध रूप अमृत को (तितृप्सात्) भरपेट पावे तो (तम्) उसको (प्रत्यञ्चम्) सबके सामने (अर्चिषा) अग्नि की जलती लपट से (मर्मणि विध्य) उसके मर्मस्थान में मार, उसको तपे लोहे के छड़ों से मर्म स्थानों में मारा जाय।

'परैनान्देवः' इति० ऋ० । (द्वि०) 'मृद्घ्यन्ताम्' इति पैप्प० सं०।

१७—(च०) 'विध्य मर्मन्' इति ऋ० । विधि (द्वि) मर्मन् इति पैप्प० सं०।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानन्नु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥

ऋ० १० । ८७ । १९ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (यातुधानान्) प्रजापीड़कों को (सनात्) सदा से ही (मृणसि) विनाश करता आता है (त्वा) तुझे (रक्षांसि) राक्षस लोग (पृतनासु) संग्रामों में भी (न जिग्युः) न जीत पावें । (क्रव्यादः) मांसखोर (सहमूरान्) मूढ़ लोगों, घातक अज्ञानी लोगों के साथ ही (अनु दह) अपने वश में करके भस्म कर डाल (ते दैव्यायाः) तेरे दिव्य गुणयुक्त और राजकीय (हेत्याः) दण्डकारी शस्त्र से (ते) वे दुष्ट पुरुष (मा मुक्षत) बचने न पावें ।

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ १९ ॥

ऋ० १० । ८७ । २० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (त्वम्) तू (नः) हमें (अधरात्) नीचे से, (उदक्तः) ऊपर से, (पश्चात्) पीछे से (उत्) और (पुरस्तात्) आगे से (रक्ष) रक्षा कर । (ते) तेरे (त्ये) वे नाना प्रकार के (शोशुचतः) अति दीप्त, चमचमाते, प्रकाशमान (अजरासः) कभी क्षीण न होने वाले (तपिष्ठाः) संतापकारी अस्त्र शस्त्र (अघशंसम्) पाप की बात कहने वाले निन्दक, पापप्रचारक पुरुष को (प्रति दहन्तु) जला डालें ।

१८–(तृ०) 'अनुदह सहमूरान्' इति ऋ० ।

१९–(प्र०) 'अधरादुदक्तात्' (तृ०) 'प्रति ते ते' इति ऋ० ।

प॒श्चात् पु॒रस्ता॑दध॒राद॒॑तोत्त॒रात् क॒विः काव्ये॑न॒ परि॑ पाह्यग्ने ।
सखा॒ सखा॑यम॒जरो॑ जरि॒म्णे अग्ने॒ मर्ता॑ँ अम॑र्त्य॒स्त्वं नः ॥२०॥ (७)

ऋ० १० । ८७ । २१ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (काव्येन) विद्वान्, क्रान्तदर्शी पुरुष या परमेश्वर के बताये ज्ञान के व्यवस्थापुस्तक या दण्डविधान के कानून ग्रन्थ से स्वयं (कविः) क्रान्तदर्शी विद्वान् होकर (पश्चात्) पीछे से, (पुरस्तात्) आगे से, (अधरात् उत उत्तरात्) नीचे और ऊपर से (परिपाहि) हमारी रक्षा कर । तू समस्त प्रजा का (सखा) मित्र होकर हे (अग्ने) राजन् ! (जरिम्णे) अति वृद्धावस्था के काल तक (सखायम्) अपने मित्र रूप प्रजाजन को (पाहि) बचा । और (अमर्त्यः) अविनाशी होकर तू (नः) हम (मर्त्तान्) मरणधर्मा मनुष्यों को (परि पाहि) सब प्रकार से परिपालन कर ।

तद॑ग्ने॒ चक्षुः॒ प्रति॑ धेहि रे॒भे श॑फा॒रुजो॒ येन॒ पश्य॑सि यातु॒धाना॑न् ।
अ॒थ॒र्व॒वज्ज्योति॑षा॒ दैव्ये॑न स॒त्यं धूर्व॑न्तम॒चित॒ं न्यो॑ष ॥२१॥

भा०—हे (अग्ने) हे अग्ने ! राजन् ! तू (येन) जिससे (शफारुजः=शपारुजः) प्रजाजन को गालियों और निन्दाजनक वचनों से पीड़ित करनेवाले (यातुधानान्) दुष्ट प्रजापीड़क पुरुषों को (पश्यसि) देखता है । (रेभे) व्यर्थ कोलाहल करनेवाले वकवादी, पागल के समान वकने वाले पुरुष पर भी (तत्) वही (चक्षुः) सूक्ष्मदर्शी आँख (प्रतिधेहि) रख । और तू (अथर्ववत्) अहिंसक रक्षक प्रजापति के समान (दैव्येन ज्योतिषा) दैव्य, दिव्य विद्वानों के ज्ञानमय ज्योति या तेज से (सत्यम्)

२०–(प्र०) 'अधरादुदक्तात्', (द्वि०) 'परिपाहिराजन्' (तृ०) 'सखे सखाय' (च०) 'जरिम्णेऽग्ने' इति ऋ० ।

२१–(द्वि०) शफारुं जयेन' इति ऋ० ।

ठीक २ यथार्थ रूप से (अचितम्) अपुष्ट, निर्बल या मूर्ख, ज्ञानरहित (धूर्वन्तम्) धूर्त्तता करनेवाले, छली, कपटी, असत्यवादी या हिंसक पुरुष को (नि ओष) सब प्रकार से जला, संतप्त कर।

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः ॥ २२ ॥
ऋ० १० । ८७ । २२॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रुसंतापक ! हे (सहस्य) शत्रु को या दुष्टों को दमन करनेवाले बल से उत्पन्न राजन् ! (वयम्) हम लोग (पुरम्) सबके पालक (विप्रम्) मेधावी, ज्ञानवान्, (धृषद्वर्णम्) प्रगल्भ, उन्नत वर्ण या पदपर अधिष्ठित शत्रु के धर्षक, (भंगुरावतः) प्रजा के पीड़क लोगों के (हन्तारम्) विनाशक (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन (परिधीमहि) घेरे रहें, आश्रय करें । [देखो का० ७ । ७१ । १]

वि॒षेण॑ भङ्गु॒राव॑तः॒ प्रति॑ स्म र॒क्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर॒र्चिभिः॑ ॥ २३ ॥
ऋ० १० । ८७ । २३ ॥

भा०—(विषेण) विष से (भंगुरावतः) प्रजा को पीड़न करने वाले (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को, हे (अग्ने) राजन् ! अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) तेज से स्वयं (तपुरग्राभिः) अग्नि से संतप्त अगले फलों वाले, अति भयंकर (अर्चिभिः) दीप्त ज्वालाओं से (प्रति जहि स्म) विनाश कर । (भंगुरावतः विषेण प्रतिजहि स्म) दुष्ट पुरुषों को विषसे मार।

२२–'भंगुरावताम्' इति ऋ०, पैप्प० सं० । विशेषा पाठभेदा अथर्व० ७ । ७१।१ 'अस्याष्टिप्पण्यां द्रष्टव्याः ।

२३–(द्वि०) 'प्रति ष्म रक्षसो दह,–'ग्राभिर्ऋष्टिभिः' इति ऋ० । 'अग्ने शुक्रेण' इति पैप्प० सं० ।

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा ।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्षे ॥ २४ ॥
ऋ० ५ । २ । ९ ॥

भा०—(अग्निः) प्रकाशमान सूर्य जिस प्रकार (बृहता) बड़े विशाल (ज्योतिषा) तेज से (विभाति) विविध रूप से प्रकाशमान होता है और (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (विश्वानि) संसार के समस्त पदार्थों को (आविः कृणुते) प्रकाश से प्रकाशित करता और प्रकट करता है और जिस प्रकार परमेश्वर अपने बड़े भारी तेज से नाना सूर्यों में प्रकाशमान है और सब पदार्थों को अपने सामर्थ्य से प्रकट करता है उसी प्रकार यह (अग्निः) राजा भी अपने (बृहता ज्योतिषा) बड़े भारी तेज से (विभाति) नाना प्रकार से प्रकाशित होता है और (महित्वा) अपने बड़े सामर्थ्य से सब प्रकार के प्रजा के हितकारी कार्यों को (आविः कृणुते) प्रकट करता है । और (अदेवीः) देवों से विपरीत असुरों की (दुरेवाः) दुःखदायिनी या दुःसाध्य (मायाः) मायाओं को (प्रसहते) वश करता है और (रक्षोभ्यः) राक्षसों के (विनिक्षे) विनाश के लिये (शृङ्गे) अपने सींग के समान तीखे हिंसा के साधन शस्त्र और अस्त्रों को (शिशीते) सदा तेज, तीखे बनाये रहता है ।

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो
वि निक्ष्व ॥ २५ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वान् राजन् ! (ये) जो (ते) तेरे (अजरे) अविनाशी (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्म वेद के ज्ञान से तीक्ष्ण हुए

२४–(च०) 'रक्षसे विनिक्षे' इति ऋ० । तत्रास्याः वृषो जार ऋषिः ।
२५–(च०) 'प्रत्यञ्चं यातुधान जातवेदो नृचक्षः ।' इति पैप्प० सं० ।

(तिग्महेती) दो प्रकार के शस्त्र और अस्त्र, तीखे हथियार हैं (ताभ्याम्) उनसे (दुर्हार्दम्) दुष्ट हृदयवाले (किमीदिनम्) दूसरों के जान और माल को तुच्छ समझने वाले (अभिदासन्तम्) विनाशकारी (प्रत्यञ्चम्) अपने से विपरीतकारी पुरुष को (अर्चिषा) तीव्र ज्वाला से हे (जातवेदः) अग्नि के समान प्रतापी राजन्! (वि निक्ष्व) विनाश कर ।

अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः ।
शुचिः॑ पाव॒क ईड्यः॑ ॥ २६ ॥ (८)　　ऋ० ७ । १५ । १० ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान शत्रु का तापक (शुक्रशोचिः) शुद्ध, प्रदीप्त कान्ति से युक्त (अमर्त्यः) अविनाशी, ध्रुव, कभी न मरने वाला, सदा प्रतिष्ठित होकर (रक्षांसि) प्रजापीड़क दुष्ट पुरुषों को (सेधति) निवारण करता है, विनाश करता है । वह (शुचिः) काम, अर्थ और धर्म कार्यों में शुद्ध, हृदय, ईमानदार (पावकः) प्रजा के पापों को दूर कर उनको पवित्र करनेवाला होकर (ईड्यः) स्तुति के योग्य होता है ।

[४] दुष्ट प्रजाओं का दमन ।

चातन ऋषिः । इन्द्रासोमौ देवते । रक्षोहणं सूक्तम् । १–३, ५, ७, ८, २१, २४ विराड् जगती, ८–१७, १९, २२, २४ त्रिष्टुभः २०, २३, भुरिजौ, २५, अनुष्टुप् । पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जत॒ं न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑ ।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्रिणः॑ ॥१॥
ऋ० ७ । १०४ । १ ॥

[४] १–अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे वासिष्ठऋषिः इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ देवते ।

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम ! सेनापते और राजन् ! (रक्षः) राक्षसों को (तपतम्) संतप्त और पीड़ित करो (उब्जतम्) और मारो। हे (वृषणा) शत्रुओं की शक्ति को बांधने में समर्थ आप दोनों (तमोवृधः) अन्धकार में शक्ति से बढ़ने वाले और माया, छल कपट से अपनी शक्ति को बढ़ाने वाले अथवा 'तमः' तामस नीच कार्मों से बढ़ने वाले लोगों को (नि अर्पयतम्) नीचे गिरा दो। और (अचितः) चेतना रहित, चित्त रहित, निर्दय लोगों को (परा शृणीतम्) अच्छी प्रकार विनाश करो, (नि ओषतम्) सर्वथा मूल सहित जला दो, (हतम्) मारो (नुदेथाम्) और परे भगादो। और (अत्रिणः) दूसरों का माल मार खा जाने वालों को (नि शिशीतम्) सर्वथा क्षीण, निर्बल करदो।

इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑स॒मभ्य॒१॒घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॒ग्नि॒मा॑ँ इ॑व ।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑ ॥२॥

ऋ० ७ । १०४ । २ ॥

भा०—(इन्द्रासोमा) हे इन्द्र और सोम ! (अघशंसम्) पाप का उपदेश करने वाले, पाप की कथा कहने वाले (अघम्) पाप का या पापी का (सम् अधि) अच्छी प्रकार मुक़ाबला करो। (अग्निमान् चरुः इव) आग पर चढ़े हुए हाण्डी के समान वह पाप और पापी (तपुः ययस्तु) संताप को प्राप्त हो और पीड़ा अनुभव करे। और (घोरचक्षसे) घोर चक्षुवाले, क्रूर (ब्रह्मद्विषे) ब्रह्म वेद को जानने वाले विद्वान् ब्राह्मणों के द्वेषी (क्रव्यादे) मांसभोजी और (किमीदिने) दूसरों के जान माल को तुच्छ समझने वाले या 'अब क्या, अब क्या'

२–(द्वि०) 'चरुरग्निवाँ इव' इति ऋ० ।

इस प्रकार काल को मूर्खता से व्यसनों में लगाने वाले के (अनवायम्) निरन्तर (द्वेषः धत्तम्) अप्रेम, उपेक्षा करो, उसको कभी मत चाहो।

'परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि' अथर्व० ६।४५।१॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥३॥
ऋ० ७ । १०४ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम वोक्त सेनापते ! और राजन् ! (दुष्कृतान्) दूसरों के लिये दुःखदायी कार्य करने वाले दुष्टाचारियों को (अनारम्भणे) बे सहारे के, अनाश्रय, घोर (तमसि) अन्धकार के (अन्तः) भीतर (वव्रे) बन्द करदो और (प्र विध्यतम्) अच्छी प्रकार उनको ताड़ना कर, उन्हें दण्ड दो। (यतः) जिससे (एषाम्) उन में से (एकः चन) एक भी (न उत् अयत्) फिर ऊपर न उठे। (वाम्) तुम दोनों का (शवः) वह प्रसिद्ध सामर्थ्य, बल (तत् सहसे) उनको दबाने के लिये सदा (मन्युमत्) क्रोध या विवेक से पूर्ण (अस्तु) हो।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।
उत् तक्षतं स्वर्यं १ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ ४ ॥
ऋ० ७ । १०४ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम ! आप दोनों (अघशंसाय) पाप की कथा वार्त्ता कहने वाले पुरुष के लिये (दिवः) द्यौलोक, या आकाश से और (पृथिव्याः) पृथिवी से भी (तर्हणम्) विनाशक (वधम्) शस्त्र को (सं वर्त्तयतम्) चलाओ। और (पर्वतेभ्यः) पर्वत

३-(तृ०) 'यथा नातः पुन' इति ऋ० ।
४-(प्र०) 'इन्द्रा सोमा प्रहरतं दिवो' इति पैप्प० सं० ।

अर्थात् मेघों या पर्वतों से चमकने वाले वज्र के समान (स्वर्यम्) गड़गड़ाते हुए, या अति तीव्र उपतापक विद्युत् दल को तुम दोनों (उत् तक्षतम्) स्वयं उत्पन्न करो। (येन) जिससे (वावृधानं रक्षः) बल और शक्ति से बराबर बढ़ते हुए (रक्षः) प्रजा के पीड़क राक्षसों को (निजूर्वथः) विनाश करो।

इन्द्रा॑सोमा व॒र्तय॑तं दि॒वस्पर्य॑ग्नित॒प्तेभि॑र्यु॒वमश्म॑हन्मभिः ।
तपु॑र्वधेभिर॒जरे॑भिर॒त्रिणो॒ नि पर्शा॑ने विध्यतं॒ यन्तु॑ निस्व॒रम् ॥५॥

ऋ० ७ । १०४ । ५ ॥

भा०— हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! (युवम्) आप दोनों (दिवः) आकाश की ओर से (अग्नितप्तेभिः) आग में तपे हुए, चमचमाते, बिजुली के समान प्रज्वलित (अश्महन्मभिः) अश्मा-लोहसार, फौलाद के आघातकारी गोलियों, फलों से युक्त शस्त्रों से (अत्रिणः) राष्ट्र के प्रजाओं को हड़पने वालों को (परिवर्त्तयतम्) घेर लो। और (अजरेभिः) कभी विनाश न होने वाले, सदा तय्यार (तपुर्वधेभिः) संतापकारी, आग्नेय वाणों से (पर्शाने) उन दुष्टों के पासों पर, कोखों में, ऐसे (विध्यतम्) मारो कि वे (निस्वरम्) बहुत अधिक पीड़ा, वेदना (यन्तु) प्राप्त करें अथवा (निस्वरं यन्तुम्) वे चीखने भी न पायें।

इन्द्रा॑सोमा॒ परि॑ वां भूतु वि॒श्वत॑ इ॒यं म॒तिः क॒क्ष्याश्वे॑व वा॒जिना॑ ।
यां वां॒ होत्रां॑ परिहि॒नोमि॑ मे॒धये॒मा ब्रह्मा॑णि नृ॒पती॑ इव जिन्वतम् ॥६॥

ऋ० ७ । १०४ । ६ ॥

५-(द्वि०) 'तप्तेभिर्दिवो अश्महन्मभिः' इति पैप्प० सं० । (च०) 'निःऽस्वरम्' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

६-(च०) 'नृपतीव जिन्वतम्' इति ऋ०, पैप्प० सं० । 'नृपतीऽइव' इति पदपाठः । (तृ०) 'होत्रां प्रहिणोमि' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! (वाजिना) बलवान् (अश्वा) दोनों घोड़ों को जिस प्रकार (कक्ष्या इव) साज की चमड़े की पट्टियां शोभा देती हैं और उनको नियम में रखती हैं उसी प्रकार (इयम्) यह (मतिः) मनन करने योग्य (वाम्) तुम को (परि भूतु) शोभा दे और राष्ट्र व्यवस्था के कार्य में नियम में रक्खे । मैं राज-पुरोहित या ईश्वर, मुख्य मन्त्री (वाम्) तुम दोनों के लिये (मेधया) परम विवेक बुद्धि से (यां होत्राम्) जिस वाणी को प्रेरित करता हूँ तुम दोनों (ब्रह्माणि) उन वेदवचनों को (नृपती इव) प्रजापालक नरेशों के समान ही (आ जिन्वतम्) प्रेम से स्वीकार करो और पालन करो ।

प्रति॑ स्मरेथां तु॒जय॑द्भि॒रेवै॑र्ह॒तं द्रु॒हो र॒क्षसो॒ भङ्गु॑रावतः ।
इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृते॒ मा सु॒गं भू॑द् यो मा॑ क॒दा चि॑दभि॒दास॑ति द्रु॒हुः ॥७॥

ऋ० ७ । १०४ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! आप दोनों (तुजयद्भिः) बलवान्, तीव्र (एवैः) गति साधनों, रथों से (प्रति-स्मरेथां, दुष्टों के मुकाबले पर आ जाओ । (भङ्गुरावतः) प्रजापीड़क, या तुम्हारी आज्ञा के भंग करने वाले या राष्ट्रव्यवस्था के विनाशक (द्रुहः-रक्षसः) द्रोही प्रजापीड़क लोगों को (हतम्) विनाश करो । (यः) जो कोई भी (कदाचित्) कभी भी (मा द्रुहः) मेरा द्रोह करता है वह (दुष्कृते) अपने इस दुष्ट कार्य के निमित्त (सुगम्) कभी सुख या सुगम उपाय को (मा भूत्) प्राप्त न हो ।

यो मा॒ पाके॑न॒ मन॑सा॒ चर॑न्तमभि॒चष्टे॒ अनृ॑तेभि॒र्वचो॑भिः ।
आप॑ इव का॒शिना॒ संगृ॑भीता॒ अस॑न्न॒स्त्वास॑त इन्द्र व॒क्ता ॥ ८ ॥

ऋ० ७ । १०४ । ८ ॥

७-(च०) 'यो नः कदा', 'द्रुहा' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! (यः) जो (पाकेन) परिपक्क, सत्य (मनसा) मन से (चरन्तम्) आचरण करते हुए (मा) मुझको भी (अनृतैः) असत्य (वचोभिः) वाक्यों से (अभिचष्टे) आक्षेप करता है, (काशिना) मुट्ठी में (संगृभीताः) पकड़े हुए (आपः, इव) जलों के समान वह (असतः) असत्य का (वक्ता) कहने वाला मिथ्यावादी स्वयं (असन् अस्तु) आप से आप मिट जाय, शून्य होजाय । जिस प्रकार मुट्ठी में लिया पानी आप से आप निकल कर गिर जाता है उस प्रकार असत्य-वादी स्वयं नाश को प्राप्त हो ।

ये पा॑कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभिः॑ ।
अह॑ये वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थे॑ ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । १०४ । ६ ॥

भा०—(एवैः) अभिलषित अभिप्रायों से (विहरतः) विचरते हुए (ये) जो लोग (पाकशंसम्) परिपक्क सत्य, यथार्थ बात के उप-देश करने वाले पुरुष को (दूषयन्ति) बदनाम करते या उस पर दोपा-रोप करते हैं और (ये) जो लोग (भद्रम्) अन्यों के कल्याणकारी साधु पुरुष को (स्वधाभिः) अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर (दूषयन्ति) निन्दा करते हैं (सोमः) सौम्यगुण युक्त राजा या शान्तस्वभाव का व्यवस्थापक धर्माधिकारी (तान्) उन असत्य दोपारोपकों को (अहये) सांप के या सांप के समान क्रूर स्वभाव वाले जल्लाद, दण्डकारी को (प्रददातु) सौंप दे । (वा) या (निर्ऋतेः) निर्ऋति (मृत्यु दण्ड-कारी विभाग) के (उप स्थे) वश में (आ दधातु) कर दें ।

यो नो॒ रसं॒ दिप्स॑ति पि॒त्वो अ॑ग्ने॒ अश्वा॑नां॒ गवां॒ यस्त॒नूना॑म् ।
रि॒पु स्ते॒न स्ते॑य॒कृद् द॒भ्रमे॑तु॒ नि ष ही॑यतां त॒न्वा॒ ३ तना॑ च ॥१०॥ (६)

ऋ० ७ । १०४ । १० ।

१०—'यो अश्वानां यो गवां' इति ऋ०, सायणाभिमतश्च । 'ये अश्वानां ये

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रु के तापकारिन् राजन्! (यः) जो पुरुष (नः) हमारे (रसम्) जल को और (पित्वः) अन्न के अंश को (दिप्सति) हम से छीन लेना चाहता है और जो (अश्वानाम्) अश्वों, (गवाम्) गौओं और (तनूनाम्) हमारे शरीरों को हम से काट लेना चाहता है, चुरा या छीन लेना चाहता है (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला (तेन) उपरोक्त दुष्ट कार्य से ही (रिपुः) पापी, अपराधी हो जाता है। वह भी (दभ्रम्) दण्ड को (एतु) प्राप्त हो और (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से और (तना) अपने पुत्र आदि से (निहीयताम्) वियुक्त किया जाय, वञ्चित किया जाय।

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम्॥११॥
ऋ० ७। १०४। ११॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! धर्माधिकारियो या शासनकारो और राजसभासदो! या प्रजाजनो! (यः) जो पुरुष (मा) मुझ प्रजा पुरुष को (दिवा) दिन के समय में और (यः च) जो (नक्तम्) रात के समय में (दिप्सति) मारता है, घात करता है (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से और (तना च) पुत्र से भी (परः अस्तु) वियुक्त किया जाय। वह (विश्वा) समस्त प्रजाओं में (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) पृथिविएँ तीन मंजिलें अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों से नीचे शूद्र रूप में (अधः अस्तु) उस निचले पद पर रहे अथवा तीन मंजिल गहरे तहखाने में क़ैद करके डाला जाय और (अस्य) उसका (यशः) मान और कीर्त्ति (प्रति शुष्यतु) उसके पाप के कारण सूख जाय। उसको नीचे गिरा कर अपमानित किया जाय।

गवां' इत्यपि क्वचित्। (च०) वि प हीयतां इति क्वचित्।

११–(च०) 'यो नो दिवा' इति ऋ०।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासंच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोवति हन्त्यासत् ॥१२॥

ऋ० ७ । १०४ । १२ ॥

भा०—(सु-विज्ञानम्) उत्तम विशेष ज्ञान की (चिकितुषे) मीमांसा या विवेचना करने वाले, विवेकशील (जनाय) पुरुष के लिये (सत् च) सत्, सत्य वचन और (असत्) असत्, असत्य (वचसी) वचन (पस्पृधाते) परस्पर स्वयं स्पर्धा करते हैं आपस में एक दूसरे से कलह करते हैं । विवेकी पुरुष के समक्ष सत्य और असत्य दोनों एक दूसरे का खण्डन करते, एक दूसरे से विवाद करते और एक दूसरे से प्रबल होना चाहते हैं । तो भी (तयोः) उन दोनों में से (यत् सत्यम्) जो सत्य है और (यतरत्) उन दोनों में से जो (ऋजीयः) सरल और श्रेष्ठ, छलहीन है (सोमः) न्यायाधीश (तत् इत्) उसकी ही (अवति) रक्षा करता है वा उसकी ओर झुकता है और (असत्) असत्य को (हन्ति) विनाश करता है ।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥१३॥

ऋ० ७ । १०४ । १३ ॥

भा०— (सोमः) सत्य का परिपालक राजा यथार्थ न्यायकारी (वृजिनम्) त्याग देने योग्य, पाप को या पापी को (नवा उ) कभी भी नहीं (हिनोति) समर्थन करता और (मिथुया) मिथ्या, झूठ के पक्ष को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (क्षत्रियम्) बलवान् पुरुष का भी वह (न हिनोति) पक्ष नहीं करता । प्रत्युत वह (रक्षः) ऐसे दुष्ट

१२–(द्वि०) 'पस्पृशाते' इति पैप्प० सं० ।

राक्षस को (हन्ति) मारता है और ऐसे (असत्) असत्य (वदन्तं) बोलने हारे को भी (हन्ति) मारता है। वे दोनों ही (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) पड़ जाते हैं।

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥१४॥
ऋ० ७। १०४। १४॥

भा०—(यदि वा) यदि मैं (अनृतदेवः) असत्य को अपना इष्ट मानने वाला, असत्य का उपासक होऊं (अपि वा) और यदि (मोघम्) व्यर्थ ही (देवान्) नाना उपासकों की झूठ मूठ (ऊहे) कल्पना करूं तो हे (अग्ने) ज्ञानवन्! या पापियों के संतापक! मैं अवश्य दण्ड का भागी हूँ। परन्तु हम वैसे नहीं हैं। अतः हे (जातवेदः) विद्वन्! (अस्मभ्यम्) हमारे प्रति फिर (किम्) क्यों कर आप (हृणीषे) क्रोध करेंगे। प्रत्युत जो लोग (द्रोघवाचः) आप के शासन के विरुद्ध द्रोह की चर्चा करने वाले, द्रोही लोग हों (ते) वे (निर्ऋथम्) मृत्यु या दण्ड को (सचन्ताम्) प्राप्त हों।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥१५॥
ऋ० ७। १०४। १५॥

भा०—(यदि) यदि मैं (यातुधानः) प्रजा को पीड़ा देने वाला (अस्मि) होऊं और (यदि वा) यदि (पुरुषस्य) किसी पुरुष के (आयुः) जीवन को (ततप) पीड़ा दूँ तो (अद्य) आज ही, शीघ्र ही (मुरीय) मृत्यु का दण्ड भागी होऊँ। (अधा) और (यः) जो (मा) मुझे (मोघम्) व्यर्थ, विना कारण (यातुधान इति आह) प्रजा का

१४–(प्र०) 'देवा आस' इति ऋ०।

पीड़क बतलाये (सः) वह (दशभिः वीरैः) दसों प्राणों से (वि यूयाः) वियुक्त किया जाय । अथवा (दशभिः वीरैः वि यूयाः) दसों पुत्रों से वियुक्त किया जाय ।

प्राणा वै दशवीराः । श० १२।८।१।२२॥

यो मायांतुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥ १६ ॥

ऋ० ७ । १०४ । १६ ॥

भा०—(यः) जो (माम्) मुझ को (अयातुम्) प्रजा पीड़क या अदण्ड्य न होते हुए भी (यातुधान इति आह) प्रजापीड़क दण्डनीय इस प्रकार बतलावे (वा) और (यः) जो (रक्षाः) स्वयं राक्षस प्रजा का पीड़क होकर भी अपने को (शुचिः अस्मि) मैं शुचि-निर्दोष हूँ (इति आह) ऐसा कहे (इन्द्रः) राजा (तम्) उसको (महता) बड़े भारी (वधेन) दण्ड से (हन्तु) दण्डित करे । और वह (विश्वस्य जन्तोः) समस्त प्राणियों से (अधम पदीष्ट) नीचा समझा जाय ।

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं गूहमाना ।
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥१७॥

ऋ० ७ । १०४ । १६ ॥

भा०—अपराधिनी स्त्रियों को दण्ड । (या) जो स्त्री (खर्गला इव) उल्लुनी के समान (नक्तम्) रात को (तन्वम्) अपने शरीर को अन्धकार में (गूहमाना) छिपाती हुई (प्रजिगाति) घूमा करे या (द्रुहुः) अपने सम्बन्धियों से लड़ कर (अप जिगाति) घर छोड़ कर भाग जाय । (सा) वह स्त्री (अनन्तम्) अनन्त काल के लिये (वव्रम्) कैद, आवृत स्थान या गढ़े में (पदीष्ट) प्राप्त हो । और

१७–(द्वि०) 'नक्तमपद्रहातन्वं' (तृ०) 'वव्रॉं अनन्ताँ अव, इति ऋ० ।

यदि स्त्री न होकर पुरुष उपरोक्त दोष करें तो ऐसे (रक्षसः) दुष्टों को (ग्रावाणः) विद्वान् लोग (उपब्दैः) अपने वाक्-प्रहारों से या तीक्ष्ण दण्डाज्ञाओं से (घ्नन्तु) दण्डित करें। अथवा (ग्रावाणः) पत्थर (उपब्दैः) अपने घरघराते शब्दों सहित उन राक्षसों को विनाश करें।

सायण—(ग्रावाणः उपब्दैः घ्नन्तु) सोम कूटने के पत्थर राक्षसों को अपनी सोम कूटने की ध्वनियों से मारें। ग्रीफ़िथ—कूटने वाले पत्थर अपनी ऊँची ध्वनियों सहित राक्षसों को मारें।

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वी१च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥१८॥
ऋ० ७ । १०४ । १८ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! या वेगवान् सिपाहियो ! आप लोग (विक्षु) प्रजाओं में (वि तिष्ठध्वं) विशेष २ रूपों में अधिकारी हो कर शासनपदों पर स्थिर होवो या स्थान २ पर पहरेदार रूप में खड़े रहो और (इच्छत) प्रजाओं का हित करने की इच्छा करो। (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो और उनको (सं पिनष्टन) अच्छी प्रकार पीसदो, पीड़ित करो, दण्डित करो। (ये) जो राक्षस लोग (वयः) तीव्रगति वाले होकर (नक्तभिः) रातों में (पतयन्ति) घूमा करें और जो (देवे) देव=राजा के (अध्वरे) यज्ञ या राष्ट्र के प्रजापालन के कार्य में (रिपः) पाप कर्म, हिंसा आदि कार्य (दधिरे) करते हैं उन (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो और (सं पिनष्टन) खूब दण्ड दो।

१८-(प्र०) 'विदिव१च्छत', (तृ०) 'वयो ये भूत्वी' इति ऋ०। 'विदिव१च्छत', विदवी १च्छत इत्यादयः पाठा अपि। विद्वी। इच्छत इति शं० पा० ॥

प्र वर्त्तय दि॒वोऽश्मा॑नमिन्द्र॒ सोम॑शितं मघव॒न्त्सं शि॑शाधि ।
प्रा॒क्तो अ॑पा॒क्तो अ॑ध॒रादु॑द॒क्तो॒३॒॑ऽभि ज॑हि र॒क्षसः॒ पर्व॑तेन ॥ १९ ॥

ऋ० ७ । १०४ । १९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (दिवः) आकाश से जिस प्रकार विजुली तीव्रता से नीचे आती है उसी प्रकार तू (अश्मानम्) अश्मा, लोहसार या फौलाद के बने तलवार या शस्त्र को (प्रवर्त्तय) भली प्रकार प्रयोग में ला । और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (सोम-शितं) सोम—न्यायाधीश से तीक्ष्ण किये, दण्डनीय रूप से निर्धारित दण्डनीय पुरुष को (सं शिशाधि) अच्छी प्रकार से दण्डित कर । और (पर्वतेन) पोरुओं वाले वज्र से या धनुष् से (प्राक्तः) आगे से (अपाक्तः) पीछे से (अधराक्तः) नीचे और (उदक्तः) ऊपर से भी (रक्षसः) राक्षसों को (अभिजहि) विनाश कर ।

ए॒त उ॒ त्ये प॑तयन्ति॒ श्वया॑तव॒ इन्द्रं॑ दि॒प्सन्ति॑ दि॒प्सवो॒ऽदा॑भ्यम् ।
शिशी॑ते श॒क्रः पिशु॑नेभ्यो व॒धं नू॒नं सृ॑जद॒शनिं॑ यातु॒मद्भ्यः॑ ॥२०॥

ऋ० ७ । १०४ । २० ॥

भा० - (एते उ त्ये) ये वे (श्वयातवः) कुत्ते को साथ लिये या कुत्तों के समान चाल चलने वाले, टुकड़ेखोर, या पागल कुत्तों के समान प्रजा को फाड़ खाने वाले, प्रजा पीड़क या (अश्वयातवः) अश्वों पर चढ़ कर जाने वाले (दिप्सवः) हिंसक लुटेरे लोग (पतयन्ति) जारहे हैं, ये (अदाभ्यम्) अहिंसनीय वलवान् (इन्द्रम्) इन्द्र को (दिप्सन्ति) मारना चाहते हैं । ऐसे (पिशुनेभ्यः) कुक्कुरों के समान क्षुद्राचारी (यातुमद्भ्यः) प्रजा पीड़कों के लिये (शक्रः) शक्तिमान् राजा (नूनम्) निश्चय से (अशनिं)

१९–'दिवो अश्मा', (तृ०) 'प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि' इति ऋ० ।
२०–'दिप्सवो अदाभ्यम्' इति पैप्प० सं० ।

वज्र के समान तीव्र प्रहार करने हारे अशनि नाम महास्त्र को (सृजंत) बनाओ और (शिशीतें) उसको खूब तीव्र सदा काम आने योग्य बनावे। डाकुओं के गिरोहों से बचाने के लिये राजा सदा अशनि नामक अस्त्रों को तैयार रक्खे।

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥२१॥

ऋ० ७ । १०४ । २१ ॥

भा०— (इन्द्रः) इन्द्र, राजा (यातूनाम्) पीड़ाकारियों का और (अभि आविवासताम्) रण में अभिमुख होकर मुकाबले में लड़ने वाले (हविर्मथीनाम्) हविः—राजा की आज्ञा का मथन, विनाश करने वाले (यातूनाम्) प्रजापीड़िकों का (पराशरः) प्रबल विनाशक (अभवत्) है। (वनम्) वन को (यथा) जिस प्रकार (परशुः) कुल्हाड़ा काट डालता है और (पात्रा इव) मट्टी के वर्त्तनों को जिस प्रकार पत्थर फोड़ डालता है उसी प्रकार (सतः) देश पर चढ़ आये (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को (शक्रः) शक्तिमान् राजा (इत्) भी (अभि भिन्दन् एतु) काटता, फाटता हुआ पहुँचे।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ २२ ॥

ऋ० ७ । १०४ । २२ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (दृषदा) जिस प्रकार पत्थर से मिट्टी का वर्त्तन तोड़ डाला जाता है उसी प्रकार तू (उलूकयातुम्)

२१–(च०) 'सत एति' इति ऋ०
२२–'शिशुलूकयातु' इति ऋ० । 'शलूकयातुं' इति पैप्प० सं० ।

उल्लुओं के समान चाल चलनेवाले, रात के समय लोगों पर छापा मारने वाले (शुशुलूकयातुम्) छोटे उल्लू के समान चाल चलने वाले, अप्रत्यक्ष में कर्ण कटु बोलने वाले और जन्तुओं की आँखें निकालने वाले या उनकी आंखों में धूल झोंकने वाले, चुगलखोर, (श्वयातुम्) कुत्तों के समान चाल चलने वाले, कमज़ोरों पर गुर्रा २ कर उनको फाड़ खा जाने वाले (उत) और (कोकयातुम्) भेड़िये के समान चाल चलने वाले, पीछे से आक्रमण करके निर्दयता से लूटने पाटने वाले, (सुपर्णयातुम्) बाज के समान चाल चलनेवाले, अपने से कमज़ोरों पर टूटकर उनके बच्चों और जान माल को लूट खसोटने वाले और (गृध्रयातुम्) गीध के समान चाल चलने वाले, मरते सिसकतों की भी खाल खैंचने या उनपर अत्याचार करके उनका धनापहरण करने वालों को (प्र मृण) अच्छी प्रकार विनाश कर, उनको दण्ड दे और उनका बल तोड़ डाल ।

मा नो रक्षो अभि नंड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥२३॥

ऋ० ७ । १०४ । २३ ॥

भा०—(यातुमावत्) पीड़ादायक (रक्षः) दुष्ट पुरुष (नः) हम तक (मा) कभी न (अभि नट्) पहुँचे । (ये) जो (किमीदिनः) दूसरों के जान माल को कुछ भी न जानने वाले (मिथुना) स्त्री पुरुष हैं वे (अप उच्छन्तु) हमसे दूर रहें । (पार्थिवात् अंहसः) पृथिवी सम्बन्धी कष्ट से (पृथिवी) पृथिवी और (दिव्यात्) आकाश सम्बन्धी (अंहसः) कष्ट से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।

२३—'यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना' इति ऋ० ।

विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥

ऋ० ७ । १०४ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (यातुधानम्) परपीड़ादायी (पुमांसम्) पुरुष को और (मायया) माया, छल कपट से (शाशदानाम्) दूसरों का विनाश करने वाली, अर्थलोलुपा (स्त्रियम्) स्त्री को भी (जहि) विनाश कर, उसको दण्ड दे । (मूरदेवाः) दूसरों के प्राणघात करके अपना विनोद करनेवाले लोग, (विग्रीवासः) गर्दन रहित या झुकी, विकृत गर्दनवाले होकर (ऋदन्तु) नाश को प्राप्त हों, कष्ट पावें कि (ते) वे (उत्-चरन्तम्) ऊपर उठते हुए सूर्य को भी (मा दृशन्) न देख सकें। उक्त प्रकार के दुष्ट स्त्री पुरुषों की गर्दनें मरोड़ कर ऐसी झुका दी जावें कि वे सूर्य को देख भी न सकें ।

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥ (११)

भा०—हे इन्द्र और हे (सोम) सोम ! आप दोनों में से (इन्द्रः) इन्द्र राजा (प्रति चक्ष्व) सदा अपने प्रतिकूल पुरुषों का निरीक्षण करे और हे सोम ! आप (वि चक्ष्व) उनके नाना कार्यों की विवेचना किया करो । दोनों ही अपने २ कार्यों में (जागृतम्) जागृत, सावधान रहो । और (रक्षोभ्यः) राक्षस, दुष्ट पुरुषों के लिये (वधम्) वधकारी दण्ड (अस्यतम्) विधान किया करो और (यातुमद्भ्यः) पीड़ाकारी लोगों के लिये (अशनिम्) विद्युत् के समान घातक अस्त्रों का भी प्रयोग करो।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

२४-(च०) 'मूरदेवा रुजन्तु' इति पैप्प० सं० ।

[५] शत्रुनाशक सेनापति की नियुक्ति ।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूपणमुत मन्त्रोक्ता देवताः । १, ६ उपरिष्टाद् बृहती, २ त्रिपाद् विराड् गायत्री, ३ चतुष्पाद् भुरिग् जगती, ७,८ ककुम्मत्यौ, ५ संस्तारपंक्तिर्भुरिक्, ६ पुरस्कृतिर्जगती, १० त्रिष्टुप्, २१ विराट् त्रिष्टुप्, ११ पथ्या पंक्तिः, १२, १३, १६-१८ अनुष्टुप्, १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १५ पुरस्ताद् बृहती, १६ जगतीगर्भा त्रिष्टुप्, २० विराड्गर्भा आस्तारपंक्तिः, २२ त्र्यवसाना सप्तपदा विराड्गर्भा भुरिक् शक्वरी । द्वात्रिंशर्चं सूक्तम् ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
वीर्य/वान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १ ॥

भा०—(अयं मणिः) [1]यह शिरोमणि या शत्रुओं को स्तम्भन करने वाला अपने समाज का अलंकार भूत पुरुष (प्रतिसरः) शत्रु के प्रति वीरता से आक्रमण करने में कुशल और (वीरः) वीर है। इसी बात को दर्शाने वाला पदक भी उसी नाम से कहा गया कि वह (मणिः) मणि, पदक (वीराय) वीर्यवान् को ही (बध्यते) बाँधा जाता है। उसके लगानेवाले के ये गुण प्रकट होते हैं कि वह (वीर्यवान्) वीर्यवान्, सामर्थ्यवान् , (सपत्नहा) शत्रुओं को मारने वाला, (शूरवीरः) शूरवीर, या शौर्यसम्पन्न वीरों से घिरा हुआ उनका मुखिया, (परिपाणः) सब ओर से सुरक्षित, (सुमंगलः) शोभन राष्ट्र का मंगलकारी है। विशेष वीर सेनापतियों को विशेष पदकों से सुशोभित करना चाहिये जिससे उनके बल, सामर्थ्य, साहसगुण प्रकट हों। तुलना करो (अथर्व० २ । ११ । १-५) 'स्रक्त्योऽसि, प्रतिसरोऽसि, प्रत्यभिचरणोऽसि । अश्नुहि श्रेयांसमतिसमं क्राम ॥' इत्यादि ।

[५] १-पैप्पलादे द्वितीय पादो नास्ति । १. मन स्तम्भे इत्यतः ।

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

भा०—सब अगले मन्त्रों में भी मणि शब्द से मणिवान् या शत्रुस्तम्भन-कारी का बोध होता है। (अयं) यह (मणिः) शूरवीरता के पदक से सुशोभित सेनापति (सपत्नहा) अपने शत्रुओं का नाशक, (सुवीरः) स्वयं उत्तम वीर और उत्तम २ वीर पुरुषों को अपने शासन में रखने वाला, (सह-स्वान्) बलवान्, भारी शत्रु बल को भी थामने वाला, (वाजी) वेग-वान् अश्व के समान बलवान्, (सहमानः) शत्रुओं को दबाता हुआ, (उग्रः) रण में बड़ा भयकारी है। वही (वीरः) वीर (कृत्याः) शत्रुओं के गुप्त घातक प्रयोगों को, शत्रु की चालों को (दूषयन्) बेकार करता हुआ (एति) आता है।

सायण तथा ग्रीफ़िथ आदि विद्वानों ने यह सूक्त समस्त 'स्राक्त्य-मणि' की स्तुति में लगा दिया है। परन्तु मणि या पदक पदार्थ जड होने से वे विशेषण उस में संगत नहीं हैं। प्रत्युत लक्षणा से उसके धारण करने वाले सेनापति में संगत होते हैं।

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी ।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेना जयत् प्रदिशश्चतस्रः ॥३॥

भा०—मणि से सुशोभित पुरुष का इस प्रकार परिचय दिया जाता है—(अनेन) इस (मणिना) पदक से विभूषित या शिरोमणि सेनापति के बल से (इन्द्रः) राजा (वृत्रम् अहन्) राष्ट्र के घेरने वाले शत्रु का नाश करता है (मनीषी) अपने मन्त्र या मनोबल से समस्त राष्ट्र को प्रेरित या संचालित करने वाला राजा (असुरान्) असुर, बलवान्, बल के गर्वी

२-(तृ० 'दूषयन्नेतु' इति पैप्प० सं० ।

३-(तृ०) 'अनेन द्यावापृथिवी उभे अजयत्' इति पैप्प० सं० ।

उपद्रवी लोगों को (परा अभावयत्) पराजित करता है । (अनेन) इस के बल से (इमे) इन (द्यावापृथिवी उभे) द्यौ और पृथिवी, भूमि-पतियों और भूमियों दोनों को (अजयत्) विजय करता है और (अनेन) इस के बल से (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं का (अजयत्) विजय करता है ।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।
ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥ ४ ॥

भा०—(अयम्) वह (मणिः) मणि जिस प्रकार (स्राक्त्यः) स्रक्ति नामक तिलक वृक्ष से बना है, उसी प्रकार यह (मणिः) मणि को धारण करने वाला वीर भी (स्राक्त्यः) समस्त सेना के बीच तिलक के योग्य है । अथवा माला आदि से सुशोभित करने योग्य है । वही (प्रतीवर्त्तः) शत्रुओं के अभिमुख खड़ा होने वाला और (प्रतिसरः) शत्रुओं पर चढ़ाई करने में समर्थ है । वह (ओजस्वान्) ओजस्वी (विमृधः) नाना प्रकार से युद्ध करने में समर्थ (वशी) शत्रुओं पर और अपने सेनासमूह और अपने इन्द्रियगणों पर भी वशकारी होकर (सर्वतः) सब प्रकार से (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि (तत् आह) उसी बात का उपदेश करता है । (तत् उ) और उसी का उपदेश (सोमः आह) सोम न्यायशील राजा, करता है । (बृहस्पतिः) वेद के विद्वान् या सब वेदों के स्वामी (सविता) सब के प्रेरक (इन्द्रः) इन्द्र, महाराज भी वही बात कहता

४–(तृ०) 'विमृधोमणिः' इति पैप्प० सं० ।
५–(च०) 'प्रतिसरेणाजन्तु' इति पैप्प० सं० ।

है इसलिये (मे) मुझ शासक की आज्ञा में विद्यमान (ते) वे (पुरोहिताः) अगले मुख्य स्थान पर नियुक्त सेनानायक लोग अपने (प्रतिसरैः) शत्रु पर तीव्र आक्रमण करने वाले सुभटों द्वारा (कृत्याः) शत्रु से प्रयुक्त दुष्प्रयोगों को (प्रतीचीः) विपरीतगामी, निष्फल (अजन्तु) करदें।

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम्।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥६॥

भा०—चाहे शत्रु का आक्रमणकारी उत्पात (द्यावा पृथिवी अन्तः दधे) आकाश और पृथिवी दोनों को घेरलें (उत अहः, उत सूर्यम्) और चाहे दिन और सूर्य को भी घेरलें। तो भी (मे) मेरे (ते देवाः) वे विद्वान् (पुरोहिताः) मुख्य स्थान पर नियुक्त सेनापति लोग (प्रति-सरैः) शत्रु के प्रतिकूल आगे आगे बढ़ने वाले साहसी वीर भटों के साथ आगे बढ़ते हुए (कृत्याः) शत्रु के कामों को (प्रतीचीः) विपरीत (अजन्तु) करदें।

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते।
सूर्यं इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥७॥

भा०—(ये जनाः) जो लोग (स्राक्त्यं मणिम्) स्राक्त्य मणि-धारी पुरुष को (वर्माणि कृण्वते) अपना कवच, रक्षक बना लेते हैं वे (सूर्य इव) सूर्य जिस प्रकार (दिवम् आरुह्य) आकाश में सर्वोपरि विराजमान है उसी प्रकार वे भी उच्च पद को प्राप्त होकर (वशी) सब राष्ट्र को वश करके (कृत्याः) शत्रुओं की नाना चालों को (विबाधते) नाना प्रकार से नाश करते हैं।

६–(च०) 'प्रतिसरेणाजन्तु' इति पैप्प० सं०।

७–(तृ०) 'सूर्यो दिवमिवमा' इति पैप्प० सं०।

स्राक्त्येन॑ म॒णिन॒ ऋषि॑णेव मनी॒षिणा॑।
अ॒जैषं॒ सर्वाः॒ पृत॑ना॒ वि मृधो॑ हन्मि र॒क्षसः॑ ॥ ८ ॥

भा०— (स्राक्त्येन मणिना) स्राक्त्यमणि के धारण करने वाले (ऋषिणा इव) क्रान्तदर्शी योग्य मन्त्री के समान (मनीषिणा) बुद्धिमान् सुभट द्वारा (सर्वाः पृतनाः) समस्त शत्रु सेनाओं को (अजेषम्) मैं राजा विजय करूँ और (रक्षसः) सब राक्षसों को भी (मृधः) सब युद्धों को भी (अजैषम्) जीतूँ।

याः कृ॒त्या आ॑ङ्गिर॒सीर्याः॑ कृ॒त्या आ॑सु॒रीर्याः॑ कृ॒त्याः
स्व॒यंकृ॑ता॒ या उ॑ चा॒न्येभि॒राभृ॑ताः।
उ॒भयी॒स्ताः परा॑ यन्तु परा॒वतो॑ नव॒तिं ना॒व्या॒३ अति॑ ॥९॥

भा०—(याः) जो (कृत्याः) जन संहारकारी क्रियाएं (आङ्गिरसीः) आङ्गिरस वेद, अथर्ववेद के विद्वान् वैज्ञानिकों द्वारा बतलाई जाती हैं और (याः कृत्याः आसुरीः) जो बलवन्, शक्तिशाली पुरुषों द्वारा संहारकारी क्रियाएं की जाती हैं (याः कृत्याः) जो हिंसाकारी कार्य (स्वयंकृताः) प्रजा अपने आप कर लेती है और (या उ) जो (अन्येभिः) अन्य, शत्रु लोगों द्वारा (आभृताः) लाई जाती हैं। (ताः) वे (उभयीः) दोनों प्रकार की दैवी और मानुषी विपत्तियां (परावतः) दूर (नवतिं नाव्याः अति) ९० नदियों को पार करके (परा यन्तु) दूर चली जावें।

अ॒स्मै म॒णिं वर्म॑ बध्नन्तु दे॒वा इन्द्रो॒ विष्णुः॑ सवि॒ता रु॒द्रो अ॒ग्निः।
प्र॒जाप॑तिः परमे॒ष्ठी वि॒राड् वै॑श्वान॒र ऋष॑यश्च॒ सर्वे॑ ॥१०॥ (१२)

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र (विष्णुः) विष्णु (सविता) सविता (रुद्रः) रुद्र (अग्निः) अग्नि (प्रजापतिः) प्रजापति, (परिमेष्ठी)

९–'या कृत्याङ्गिरसीर्याकृत्यासुरीरुत' (च०) 'नाव्याति' इति पैप्प० सं०।

परमेष्ठी, (विराट्) विराट्, (वैश्वानरः) वैश्वानर ये सब (देवाः) राष्ट्र के बड़े २ अधिकारी लोग और (सर्वे) सब (ऋषयः च) क्रान्तदर्शी ऋषिगण (अस्मै) इस महा शूरवीर पुरुष के शरीर पर (मणिम्) शोभाजनक पदक और (वर्म) कवच को उसकी प्रतिष्ठा के निमित्त (बध्नन्तु) बांधे ।

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू जो मणि को धारण करता है वह (ओषधीनाम्) रोग को नाश करने वाली दवाओं में उत्तम ओषधि के समान उत्तम (जगताम्) गति करने वाले पदार्थों में (अनड्वान् इव) उसको उठा ले चलने वाले वाहक शक्ति के समान मूल आधार और (श्वपदाम्) कुत्ते के से नखों वाले मांसाहारी जन्तुओं में से (व्याघ्र इव) बाघ के समान सब से अधिक वीर है । हम (यम्) जिस अभिलषित पुरुष को (ऐच्छाम) प्राप्त करना चाहें (तम्) उसको और (प्रतिस्पाशनम्) अपने बाधना करने वाले पीड़ाकारी को (अन्तितम्) अन्त हुआ या विनष्ट हुआ ही (अविदाम) देखें, प्राप्त करें ।

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

भा०—(यः) जो (इमम्) इस (मणिम्) मणि, प्रतिष्ठा और वीरता के सूचक चिह्न को (बिभर्त्ति) धारण करता है वह (सः) वह (व्याघ्रो भवति) व्याघ्र के समान शूरवीर (अथो सिंहः) और सिंह के समान पराक्रमी (अथो वृषा) बैल के समान प्रजा के भार को अपने

११–'प्रतिस्पाशिनम्' इति सायणाभिमतः पाठः । 'प्रतिस्पाशनम् ध्रुवम्' इति पैप्प० सं० ।

कन्धों पर उठाने वाला और (अथो सपत्न कर्शनः) अपने शत्रुओं को जीतने वाला होता है। अर्थात् इन गुणों के धारण करने वाले धीर, वीर पराक्रमी आश्रय पुरुष को उस मणि या पदक को धारण करने का अधिकार है।

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥

भा०—(यः) जो (इमं) इस (मणिम्) मणि को (बिभर्त्ति) धारण करता है वह इतना सामर्थ्यवान् होता है कि (एनम्) इस को (न) न (अप्सरसः) स्त्रियें अपने प्रलोभनों से (न गन्धर्वाः) और न भूमि को धारण करने वाले, भूमिपाल अपना कुटिल नीतियों से और (न मर्त्याः) न साधारण मनुष्य ही (घ्नन्ति) मारने में समर्थ होते हैं। बल्कि वह (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में अपने यश और तेज से (विराजति) नाना प्रकार से सुशोभित होता है।

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् ।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणे/जयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

भा०—(कश्यपः) सब प्रजाओं का द्रष्टा प्रजापति (त्वाम्) तुझ को हे वीर पुरुष ! (असृजत) बनाता है, उत्पन्न करता है, और (कश्यपः) सब का द्रष्टा ज्ञानी ही (त्वा) तुझ को (सम् ऐरयत्) भली प्रकार उत्तम मार्ग में प्रेरित करता है। (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा (त्वा) तुझ को (अबिभः) धारण करता है और विशेष रूप से भृति देकर नियुक्त करता है और तुझ को (बिभ्रत्) विशेष रूप से नियुक्त करके ही महाराजा (सं-श्रेषिणे) परस्पर संघात पूर्वक रहने

१४–'वर्म देवा अबध्नत' इति पैप्प० सं०।

वाले राष्ट्र को (अजयत्) जीतता है। ऐसे (सहस्र-वीर्यम्) अपरिमित सामर्थ्यवान् (मणिम्) पदकधारी शिरोमणि पुरुष को ही (देवाः) राष्ट्र के शासक लोग अथवा उच्च कोटि के पुरुष को अपना (वर्म) रक्षक कवच के समान (अकृण्वत) बना लेते हैं।

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (यः) जो पुरुष (त्वा) तुझ को (कृत्याभिः) अपनी दुष्ट चालों से और (यः त्वा दीक्षाभिः) और जो तुझे विशेष व्रत, नियम और नियन्त्रण व्यवस्थाओं से और (यः त्वा यज्ञैः) जो तुझे यज्ञों अर्थात् परस्पर संगठित संघों द्वारा (जिघांसति) मारता या पीड़ा देना चाहता है (त्वम्) तू हे इन्द्र ! (तम्) उसको (शतपर्वणा) सैकड़ों पर्वों वाले अपरिमित बल वाले अथवा सैकड़ों टुकड़ों वाले (वज्रेण) शत्रु बल के निवारक साधन, सेनाबल या वज्र=तलवार से (प्रत्यक् जहि) पीछे मार भगा।

'तलवार से ले लिया' इस मुहावरे से जिस प्रकार तलवार सेना का प्रतिनिधि है उसी प्रकार 'वज्र' शब्द भी तलवार का वाचक होकर 'शतपर्वा वज्र' सैकड़ों शस्त्रों वाली सेना का वाचक है।

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

भा०—(अयम्) यह ही (मणिः) मणि के समान पदक का धारण करने वाला, शिरोमणि पुरुष (प्रतीवर्त्तः) शत्रु का मुख फेर देने में समर्थ (ओजस्वान्) प्रभाव शाली होने के कारण (संजयः) जय लाभ करने में भली प्रकार समर्थ है। वह ही (परिपाणः) राष्ट्र की

१५–(प्र०) 'यस्त्वा' इति पदं ह्विटनि–अनभिमतम्।
१६–'सहस्वान् संजयो मणिः' इति पैप्प० सं०।

सब प्रकार से रक्षा करता हुआ या स्वयं चारों ओर से सुरक्षित रह कर और (सुमंगलः) उत्तम मंगलजनक अभिषेक और राजतिलक आदि राजोचित संस्कारों से सुशोभित होकर (प्रजा धनम् च) प्रजा और धन की (रक्षतु) रक्षा करे ।

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

भा०—हमारे (अधरात्) नीचे से अर्थात् हम से नीचे के लोगों की ओर से (असपत्नम्) हमारे कोई विरोधी न उठें । (नः उत्तरात् असपत्नम्) हमारी अपेक्षा ऊंचे पद के लोगों में से भी हमारे शत्रु न रहें । हे (इन्द्र) राजन् ! (नः) हमारे (पश्चात्) पीछे की ओर से (असपत्नम्) हमारे शत्रु न हों और (पुरः) आगे की ओर से हमारे आगे (ज्योतिः कृधि) प्रकाश, ज्ञान और वेदमय आदेश को रख, जिस से हम अँधेरे में न भटकें और निर्भय होकर जीवन व्यतीत करें ।

यह राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा को सब ओर से निर्भय करके भी प्रजा को अन्धेरे में न रक्खे, प्रत्युत उनको ज्ञानमय उन्नत मार्ग की ओर आगे बढ़ावे, उनको अन्धेरे में या अज्ञानमय दशा में न रक्खे । यह वेद का उपदेश है ।

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

१७–(तृ०) 'इन्द्र पिशाचं नः पश्चात् ज्योतिः' इति पैप्प० सं० ।

१. मणिर्वा इन्द्र शब्देन उच्यते इति सायणवचनात्तन्मते ऽपि मणि शब्देन मणिभिन्नं वस्तु सूक्तेन वर्ण्यते इति मणिव्याजेन मणिधारिणो राज्ञ एव वर्णनमिष्यते ।

१८–'वर्म इन्द्रश्चाग्निश्च' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ, आकाश और पृथिवी (मे वर्म दधातु) मेरे लिये आपत्तियों को वारण करनेवाला कवच या रक्षा-साधन प्रदान करें। (अहः वर्म) दिन का प्रकाशमय काल मुझे आपत्तियों से बचने का उपाय प्रदान करें। (सूर्यः वर्म दधातु) सूर्य, तेजःपुञ्ज अपने प्रखर तेज से मुझे रोगों से बचने का साधन दे। (इन्द्रः च वर्म) इन्द्र, विद्युत् या राजा मुझे वर्म ऐसा साधन दे। और (अग्निः च वर्म) अग्नि और अग्रणी, नेता, सेनापति मुझे रक्षा साधन दे और (धाता वर्म दधातु) सब का पालक पोषक परमात्मा मुझे सब विपत्तियों से बचने का प्रबल साधन प्रदान करे।

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे ।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि ॥ १९ ॥

भा०—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि राजा और सेनापति का प्रदान किया हुआ (बहुलम्) नाना प्रकार का (यत्) जो (उग्रम्) अति भयंकर (वर्म) रक्षा साधन है उसको (विश्वे देवाः) सब देव, विद्वान् गण और अधिकारी लोग और (सर्वे) सब प्रजा के लोग भी (न अति विध्यन्ति) उसका भंग नहीं करते, उसको नहीं तोड़ते। (तत्) वह प्रबल रक्षा साधन (मे तन्वम्) मेरे शरीर को (सर्वतः) सब प्रकार से (त्रायताम्) रक्षा करे (यथा) जिससे मैं (बृहत्) बड़ा शक्तिमान् और (आयुष्मान्) दीर्घायु होकर (जरदष्टिः) निर्विघ्न बुढ़ापे तक जीवन का भोग करने में समर्थ (असानि) रहूँ।

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥ २० ॥

भा०—(देवमणिः) देव विद्वानों के बीच, शिरोमणि के समान

१९–(तृ०) 'तत्रे तन्वं' (च०) 'यथासत्' इति पैप्प० सं० ।

शोभावान् वह राजा (मा) मुझ राष्ट्रवासी जन को (महम्) बड़े भारी (अरिष्टतातये) विनाश से रक्षा करने के लिये (आरुक्षत्) राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होता है। हे प्रजागणो ! (इमम्) इस (मेधिम्) शत्रुओं के विनाशक और दण्डकारी (तनूपानम्) सबके शरीरों की रक्षा करनेवाले (त्रि-वरूथम्) तीन प्रकार के सेनाबलों से सम्पन्न इस राजा को (ओजसे) इसके प्रभाव के कारण (अभि संविशध्वम्) शरण आओ, इसकी छत्रछाया में आओ।

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥ २१ ॥

भा०—(इन्द्रः) सबसे अधिक ऐश्वर्यशील परमात्मा (अस्मिन्) इस राजा में (नृम्णम्) सब मनुष्यों को अभिमत धन, बल, ऐश्वर्य और सुख (विदधातु) स्थापित करे । हे (देवासः) विद्वान्, शक्तियुक्त पुरुषो ! अधिकारियो ! (इमम्) इसके (अभि-संविशध्वम्) चारों ओर आकर विराजमान होओ। (यथा) जिससे यह राजा (शत-शारदाय) सौ वर्ष तक के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु तक (आयुष्मान्) दीर्घजीवी (जरदष्टिः) जरावस्था तक स्थिर (असत्) रहे।

स्वस्तिदा विशांपतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥ (१३)

भा०—हे वीर पुरुष ! (स्वस्तिदाः) स्वस्ति, कल्याण, प्रजा को सुख शान्ति और समृद्धि देने वाला (विशांपतिः) प्रजाओं का राजा होता है। वही (वृत्रहा) प्रजा में से विघ्नकारी दुष्टों का नाश करने

२०–(प्र०) 'आत्वा रुक्षत्' (तृ०) 'इम मन्यम्' इति पैप्प० सं० ।
२२–(प०) 'स त्वा रक्षतु सर्वदा' इति पैप्प० सं० ।

वाला (विमृधः) नाना प्रकार से उनको दण्ड देने वाला होकर समस्त प्रजा को (वशी) वश करने में समर्थ होता है। ऐसा ही तू बन। (इन्द्रः) इन्द्र सर्वैश्वर्यवान्, (जिगीवान्) सर्वत्र विजयशील (अपराजितः) कहीं भी पराजित न होने वाला (सोमपः) सोम, राष्ट्र का पालक (अभयंकरः) प्रजा को अभय-प्रदाता (वृषा) सब सुखों का वर्षण करने वाला या सब की शक्तियों का प्रतिबन्ध करने वाला वह (ते) तेरे शरीर पर (मणिम्) वीरताद्योतक मणि या पदक को (बध्नातु) बांधे। और (सः) वह (सर्वतः) सब प्रकार से (दिवा) दिन और (नक्तं च) रात (विश्वतः) सब से (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे।

[६] कन्या के लिये अयोग्य और वर्जनीय वर और स्त्रियों की रक्षा।

मातृनामा ऋषिः। मातृनामा देवता। उत मन्त्रोक्ता देवताः, १,३,४-६,१३, १८,२६ अनुष्टुभः, २ पुरस्ताद् बृहती, १० त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ११, १२, १४, १६ पथ्यापंक्तयः, १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी, १७ त्र्यवसाना सप्तपदा जगती ॥

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥ १ ॥

भा०—हे वरवर्णिनि ! (जातायाः) विवाहयोग्य, शुभगुणमयी, निर्दोष रूप से गुणवती (ते) तुझ कन्या के लिये (पतिवेदनौ) पति के रूप में प्राप्त होने वाले (यौ) जिनको (माता) तेरी माता (उत्-ममार्ज)[१] पति होने से निषेध करदे, उन में से एक (अलिंशः)[२] अगम्य

[६] १—'अलींश' इति सायणाभिमतः पाठः।

१. 'उन्ममार्ज' परिहृतवती पत्युः परिग्रहाणे विशेष इति सायणः।

२. 'अलिंशः' लिश अल्पीभावे (भ्वादिः) गतौ च (तुदादिः)

अस्पृश्य, त्वचागत संक्रामक दोष से युक्त (दुर्नामा)[3] कुष्ठी पापरोगी और दूसरा (वत्सपः) बच्चों का पालन करने वाला बड़ी उमर का बूढ़ा या संवर्त्त रोग से पीड़ित है। वे दोनों ही (तत्र) कन्या के साथ विवाह करने के लिये (मा गृधत्) कभी अभिलाषा न करें।

> जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च,
> अपजातश्च लोकेऽस्मिन् मन्तव्या शास्त्रवेदिभिः।
> मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः।
> अतिजातोऽधिकस्तस्मात् अपजातोऽधमाधमः।
>
> पञ्च० १।४२६,४२७॥

जात, अनुजात, अतिजात और अपजात चार प्रकार की सन्तान होती हैं। माता के गुणों पर उत्पन्न सन्तान 'जात', पिता के गुणों पर अनुजात, उन दोनों से अधिक अतिजात और हीन 'अधम' कहाती हैं। संस्कृत साहित्य में पुत्र पुत्रियों को 'जात', 'जाता' शब्द से व्यवहार किया जाता है। माता पुत्री के विवाह के समय कुष्ठादि रोगों से पीड़ित और वृद्धों को कन्या पति कभी न वरे प्रत्युत इनकार करदे। और न ऐसे रोगियों और अधेड़ लोगों को विवाह की इच्छा करनी चाहिये।

पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम्।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम्॥ २॥

भा०—कन्या की माता (पलालानुपलालौ) पलाल अर्थात् मांसभक्षी

---

३. 'दुर्नामा'—क्रिमिर्भवति पापनामा। क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति। क्रमतेर्वा स्यात् सरणकर्मणः, क्रामतेर्वा।

२—'पलीचकं' इति सायणाभिमतः पाठः। (प्र०) शुल्कं कोकं मलीमृतं पलीतकं' (तृ०) आश्लेषं, वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनं मुष्कयोरप हन्मसि' इति पैप्प० सं०।

और अनु-पलाल मांसभक्षियों को सन्तानों की या हीन और हीनों के संगी लोगों को और (शकुं) हिंसक स्वभाव (कोकम्) उल्लू या भेड़िये के स्वभाव के छली या निर्दयी (मलीम्लुचम्) मलिन स्वभाव, चोर और (पलीजकम्) श्वेत बालों वाले या पलित रोगी, (अश्रेषम्) शीघ्र चिपट जाने वाले, संक्रामक रोग से पीड़ित अथवा गर्मी, सुजाक आदि दाहकारी रोग से पीड़ित, (वव्रिवाससम्) रूपविनाशक अथवा रूप या ऊपर के दिखावे के ही वस्त्रों से सजे हुए, (ऋक्ष-ग्रीवम्) रीछ के समान मोटी गर्दन वाले अति लोमश और (प्रमीलिनम्) सदा अपनी आँखें मिचमिचाने वाले, चून्धे आदमी को भी (माता उन्ममार्ज) कन्या की माता अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर नकार दे।

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ ६॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षयामयव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥

(मनु० अ० ३। ५,६॥)

दुराचारी, नीच, नपुंसक, वेदरहित, लोमश, बवासीर, क्षयी, मृगी, कोढ़ आदि के रोगी पुरुषों को विवाह के लिये छोड़ देना चाहिये, चाहे ये कुल बड़े सम्मृद्ध भी क्यों न हों। वेद के कथनानुसार मांसाहारी नीच, उनका संगी, हिंसक, चोर, वृक के समान दम्भी, पलितरोगी, सक्रामक रोगी, रीछ के समान लोभवान्, चूंधे आदमी को त्याग देना चाहिये चाहे वे उत्तम रूप वस्त्रादि पहन कर भी क्यों न आये हों। पैप्पलाद-शाखा में इस मन्त्र में 'मुष्कयोरपहन्मसि' अधिक पाठ है। अर्थात् ऐसे पुरुषों की सन्तान रोकने के लिये इनके अण्डकोश काट देने चाहियें जिन से ये सन्तान उत्पन्न ही न कर सकें।

मा संवृतो मोप सृप ऊरू मावं सृपोन्तरा ।
कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥

भा०—हे दुर्नाम ! कुष्ठ रोगी पुरुष या कुष्ठ रोग (मा संवृतः) तू कभी वरण न किया जाय । और यदि भूल से किसी प्रकार कन्या के द्वारा वरण भी किया गया हो तो (ऊरू) कन्या के जंघा भागों के (मा उपसृप) समीप स्पर्श मत कर अर्थात् कन्या के साथ संग मत कर और (अन्तरा मा अवसृप) और मकान के भीतर भी मत रह । (अस्यै) इस कन्या के लिये (दुर्नाम–चातनम्) दुष्ट नाम वाले दुष्ट रोग से पीड़ित पुरुष के दूर करने वाले (बजं) अभिगमनीय, सुन्दर पुरुष को ही (भेषजम्) उत्तम उपाय (कृणोमि) करता हूं ।

दुष्ट रोगी पुरुष न वरे जायं और वे कन्याओं का संग न करें । कन्याएं ऐसे रोगियों के हाथ न जायं इसका सब से उत्तम उपाय उनके समक्ष उत्तम, शालीन वरों को स्थापित करना है ।

दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः ।
अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥४॥

भा०—(दुर्नामा) दुष्ट रोग से बदनाम हुआ घृणित पुरुष और (सुनामा च) उत्तम रूप से युक्त सुन्दर, सुगुण पुरुष (उभा च) दोनों ही (संवृतम्) स्वयंवर के अवसर पर अपने को वरा जाना (इच्छतः) चाहते हैं । हम कन्या के सम्बन्धीगण (अरायान्) उत्तम गुण सम्पत्तियों से रहित निकृष्ट, अधम, कुलक्षणी लोगों को (अप हन्मः) दूर भगादें और (सुनामा) उत्तम गुण, रूप, यशवाला पुरुष (स्त्रैणम्)[१] कन्याओं को या स्त्री के शरीर को (इच्छताम्) प्राप्त करे उसका स्वामी बने ।

३–(च०) 'जवं दुर्णामचातनं' इति पैप्प० सं० ।

४–(द्वि०) 'संवृतमिच्छताम्' इति पैप्प० सं० ।

१–'स्त्रैणं' स्त्रियाः सम्बन्धि अङ्गं स्त्रीसमूहं वा इति सायणः ।

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोऽप हन्मसि ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (कृष्णः) अति काला या काले कर्मों वाला पापाचारी (केशी) लम्बे २ बालों वाला, असभ्य (असुरः) केवल प्राणपोषी, खाऊ पीऊ, उड़ाऊ; (स्तम्बजः) जंगली और (तुण्डिकः) नाक थोथने वाला, कुरूप वानर के मुख वाला पुरुष हो और भी इसी प्रकार (अरायान्) कुलक्षण वाले पुरुषों को हम (अस्याः मुष्काभ्याम्)[1] इस कन्या के भोगप्रद अंग तथा (भंससः) मूल भागों से (अप हन्मसि) परे रक्खें । अर्थात् ऐसे नीच वृत्ति के पुरुषों के दुर्व्यसनों से कन्या को यत्न से बचाना चाहिये कि कोई उस के कौमार व्रत को खण्डित न करे ।

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

भा०—(अनुजिघ्रम्) गन्ध लेकर (प्रमृशन्तम्) अपने विषय को पता लगाने वाले (उत) और (क्रव्यादम्) मांसखोर, (रेरिहम्) चाटने वाले या कुत्तों के समान जीभ से चाटने वाले नीच लोभी पुरुष को और (श्वकिष्किणः) कुत्तों की चाल चलने वाले, दूसरों की सेवा में लगे (अरायान्) निर्धन, दरिद्र कुलक्षणों और कुलक्षणियों को (बजः) उत्तम, गम्य, तेजस्वी (पिङ्गः)[1] वरण करने योग्य, सम्पन्न, भूमि

५–'अरायानस्या मंससो मुष्कयोरप हन्मसि' इति पैप्प० सं० ।

१–'पष्ठयर्थे चतुर्थी ।'

६–'अरायांश्च किष्किणो' इति सायणाभिमतः पाठः । रायश्चकुष्किणम्' इति पैप्प० सं० ।

१. पिजि भाषार्थः, हिंसाबलादाननिकेतनेषु इति चुरादिः, पिजि वर्णे

मकान आदि से सुप्रतिष्ठित और उत्तम वाग्मी पुरुष (अनीनशत्) नाश कर देता है, परास्त कर देता है। अतः उनको त्याग कर उत्तम, सुप्रतिष्ठित एवं विद्वान् को कन्या का वर स्वीकार करना चाहिये।

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च।

व्रजस्तान्त्सहतामितः क्लीवरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

भा०—हे वरवर्णिनि! (यः) जो पुरुष (भ्राता) तेरे भाई (पिता इव च) और पिता का सा रूप बना कर (स्वप्ने) निद्रा के समय (निपद्यते) नीच भाव से तेरे समीप आता है (तान्) उन सब दुष्ट भाव से भरे (क्लीबरूपान्) नपुंसक और (तिरीटिनः) उन्मार्गगामी, टेढ़े रास्ते पर जाने वाले, कुपथगामी पुरुषों को (व्रजः) वह स्वयंवृत उत्तम तेजस्वी पुरुष (सहताम्) पराजित करे और कन्या को सुख से अपने संग विवाह ले।

यस्त्वां स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम्।

छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

भा०—पुरुष हे वरवर्णिनि! (यः) जो दुष्ट पुरुष (त्वा) तुझे स्वपन्तीम्) सोता हुआ जान कर (त्सरति) छल से भेष बदल कर तेरे पति के समान रूप बना कर तेरा सतीत्व नष्ट करना चाहता है और (यः) जो (त्वाम्) तुझ को (जाग्रतीम्) जागती हुई को (दिप्सति) मार पीट कर कष्ट देना चाहता है (छायाम् सूर्य इव) जिस प्रकार सूर्य

(अदादिः) इत्येतेभ्यः पचाद्यच् न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् निपातनात्।

७—(प्र०) 'यस्त्वा सुप्तां निप–' (तृ० च०)' वजस्तान्सहतामितः क्लीवरूपं किरीटिनम्' इति पैप्प० सं०।

८—'यस्त्वां सुप्तां छिन्नयश्च दिप्सति' इति पैप्प० सं०। स्वपन्तीं चरति' इति सायणाभिमतः।

छाया या अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुष्टों का परितापक (परिक्रामन्) चारों तरफ़ पहरा देता हुआ रक्षक राजा (तान्) उनको (अनीनशत्) निरन्तर विनाश करे ।

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

भा०—(यः) जो दुष्ट पुरुष (इमाम्) इस (स्त्रियम्) स्त्री को (मृतवत्साम्) मरे बच्चे वाली और (अवतोकाम्) पतित गर्भ वाली (कृणोति) करे अर्थात् उसके बच्चों को मार दे या गर्भों को गिरा दे हे (ओषधे) दुष्टों के तापदायी राजन्! (त्वम्) तू (अस्याः) इस स्त्री के (तम्) उस (अञ्जिवम्) प्रकट कामी (कमलम्) जार को (नाशय) विनाश कर दण्ड दे ।

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ॥१०॥ (१४)

भा०—(ये) जो (शालाः) आवारागर्द, इधर उधर घूमने वाले या हिंसक (गर्दभनादिनः) गधों के समान खें खें करके हँसने और कोलाहल मचाने वाले (सायं) सायंकाल, रात्रि के प्रारम्भ में (परिनृत्यन्ति) इधर उधर नाचते हैं, अश्लील चेष्टायें करते हैं और (ये) जो

९—'यः कृणोत्यवतोकां मृतवत्सामिमां स्त्रियं' (च०) कमलवस्युवम्' इति पैप्प० सं० ।

१०—'खरुगाःश्रुमाः', 'खरुमाःश्रमाः' इति वा सायणाभिमतः पाठः । कुकुधाः इत्यपि क्वचित् । (च०) 'स्रिमाः' इति क्वचित् पाठः । (तृ० च०) कुशूला यच्च कुच्छुला ककुभा स्वरसा [रमा] रुमा' इति पैप्प० सं० ।

(कुसूलाः) कुत्सित रूप में दूसरों के साथ लगने, बिना मतलब दूसरों के सिर हो जाने वाले (कुक्षिलाः) बड़ी २ कोखों वाले, मोटे ताजे, (ककुभाः) कुत्सित, निन्द्य वस्त्र पहने, बदपोशाक, (करुमाः) कुत्सित शब्दों के प्रयोग करने वाले, गाली गलौच बकने वाले, (स्त्रिमाः) लफंगे, लुक छिपकर भागने वाले हैं हे (ओषधे) दुष्ट तापदायक राजन् ! दण्डकारिन् ! उन (विषीचीनान्) नाना प्रकार की पीड़ाएँ देने वाले दुष्ट पुरुषों को (त्वम्) तू (गन्धेन) अपने तीव्र पीड़ाकर दण्ड द्वारा, तीव्र गन्ध वाली औषध जिस प्रकार अपने गन्ध से कीड़ों को नाश करती है उसी प्रकार (विनाशय) नाना प्रकार से नाश कर ।

'शालाः' शल गतौ इत्य स्मात् ण्यन्तादच् । श्रृणोतेर्वा घञ् छान्दसो लः । 'कुसलाः' कुसश्लेष इत्यतः उणादिरूलच् । 'ककुभाः' कुभि आच्छादने, कुत्सिताच्छादनशीलाः । 'करुमाः' रौतेर्भन् औणादिः । कुत्सितशब्दकारिणः । 'स्त्रिमाः' सरतेर्वामन् । सरणशीलाः । 'गन्धेन' गन्ध अर्दने चुरादिः । अर्दनम् पीड़ाकरणम् दण्डनमिति यावत् ।

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीवा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥११॥

भा०—(ये) जो पुरुष (कुकुन्धाः) कुत्सित २ मांस, हड्डी आदि मलिन पदार्थों को धारण करने वाले (कुकूरभाः) कुत्सित २ पदार्थों को खोजने और गन्दे २ शब्द बोलने वाले और (कृत्तीः) पशुओं की खालों और (दूर्शानि) दुःखदायी जन्तुओं को (बिभ्रति) धारण करते हैं और जो (क्लीवा इव) नपुंसक हीजड़ों और कंजरों के समान (प्रनृत्य-

११—(प्र०) 'ये कुकन्धा कुकूरवाः' (द्वि०) 'कृत्तैर्दूष्याणि बिभ्रति' इति सायणाभिमतः पाठः । 'ये ककुन्धाः करूरमाः कृत्तै दुरिशानि बिभ्रति । क्लीवैव प्रनृत्यन्तो घोषं कुर्वते ,वन' इति पैप्प० सं० ।

न्तः) नाचते कूदते हुए (वने) जंगलों में (घोषम्) शोर (कुर्वते) मचाते हैं या (वने घोषं कुर्वते) वन में अपनी झोपड़ी बना कर रहते हैं। (तान्) उनको (इतः) इस राष्ट्र से (नाशयामसि) परे मार भगावें ।

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान् वस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशया-
मसि ॥ १२ ॥

भा०—(ये) जो (दिवः) आकाश से (आतपन्तम्) सब ओर प्रकाश फेंकते हुए, तपते हुए (सूर्यम्) सूर्य के समान शत्रुओं को परिताप देने वाले (अमुम्) उस राजा के प्रताप को (न तितिक्षन्ते) नहीं सहन करते ऐसे (अरायान्) दरिद्र, नीच (वस्तवासिनः) चाम ओढ़ने वाले (दुर्गन्धीन्) दुर्गन्ध पदार्थों के सेवी (लोहितास्यान्) रुधिर से मुंह लाल किये (मककान्) हीनाचार वाले पुरुषों को हम (नाशयामसि) विनाश करें ।

य आत्मानमतिमात्रमंसं आधाय बिभ्रति ।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

भा०—(ये) जो (अतिमात्रम् आत्मानम्) अपने भारी रूप को (अंसे) अपने कन्धे पर (आधाय बिभ्रति) रक्खे हुए हैं अर्थात् बड़े डील डौल वाले और बनावटी मुँह बना कर अपने कन्धे पर पहने रहते हैं ऐसे छद्मवेशी लोग रात को (स्त्रीणां) स्त्रियों के संग (श्रोणि-प्रतोदिनः) दुर्व्यवहार करने वाले हैं, हे (इन्द्र) राजन्! (रक्षांसि) उन राक्षसों, कूट रूपधारी लोगों को (नाशय) विनाश कर ।

१२–(तृ०) 'रायान् वस्तवासिनो' (पं०) 'मृशकान्' इति पैप्प० सं० ।
१३–'आहंमाधाय बिभ्रति' इति पैप्प० सं० ।

ये पूर्वे वध्वो॒ यन्ति॒ हस्ते॒ शृङ्गा॑णि॒ बिभ्र॑तः ।
आपाकेष्ठाः प्र॑हासिन॑ स्तम्बे ये कुर्व॑ते ज्योति॒स्तानि॒तो ना॑शया-
मसि ॥ १४ ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट, गुण्डे लोग (वध्वः पूर्वे) स्त्री के आगे, स्त्रियों के सामने (हस्ते) हाथ में (शृङ्गाणि) सींगों को या अपने गुह्यांगों को (बिभ्रतः) लिये हुए (यन्ति) आजायें ऐसे बेशर्म नीच गुण्डों को और जो (आपाकेष्ठाः) अकेले, टूटे फूटे, रद्दी भयंकर स्थानों में (प्रहासिनः) अट्टहास करें और (ये) जो ग्राम के लोगों को त्रास देने के लिये (स्तम्बे) झुण्ड में (ज्योतिः) प्रकाश या आग के शोले (कुर्वते) किया करें (तान्) उनको (इतः) यहां से (नाशयामसि) मार भगावें ।

येषां॑ प॒श्चात् प्रप॑दानि पु॒रः पार्ष्णीः॑ पु॒रो मुखा॑ ।
खल॒जाः श॑कधूम॒जा उरु॑ण्डा॒ ये च॑ मट्म॒टाः कु॒म्भमु॑ष्का अया॒शवः॑ ।
ताना॒स्या ब्र॑ह्मणस्पते प्रतीबो॒धेन नाशय ॥ १५ ॥

भा०—(येषाम्) जिन के (प्रपदानि) पंजे (पश्चात्) पीछे की ओर और (पार्ष्णीः) एड़ियां (पुरः आगे को और (मुखा पुरः) मुंह आगे हों ऐसे (खलजाः) गुण्डों के छोकरे, (शकधूमजाः) शक्तिमान्, तामस, बड़बड़ाने वाले (कुम्भमुष्काः) और घड़े के समान स्थूल

१४–(प्र०) 'बध्वो यन्ति' इति क्वचित् ।

१. 'पाक' इति प्रशस्यनाम ततो विपरीतं 'अपाकम्' तदेव 'आपाकम्' तत्र तिष्ठन्ति निवसन्ति इति आपाकेष्ठाः, जीर्णभग्नचिरत्यक्तगृह-कूपादिषु कृतावस्थानाः ।

१५–(तृ०) 'शाकधूमजा' (च०) 'ये च मय्यजाः' (पं०) 'कुम्भमुष्का यांशवः' इति पैप्प० सं० । 'अरुण्डा ये च मुट्मुटाः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

अण्डकोशों वाले, (अयाशवः) भोग करने में सर्वथा असमर्थ, निर्वीर्य आन्त्रवृद्धि के रोग से पीड़ित (तान्) उनको हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के ज्ञानी पुरुष तू (अस्याः) इस स्त्री के (प्रतिबोधेन) ज्ञान बल से (नाशय) नाश कर। अर्थात् पूर्वोक्त विकृत आकृति रूपवाले, दुष्टाचारी, हीन, रोगी, नपुंसक आदि लोगों के हाथ में स्त्रियें न पड़ जावें इसलिये स्त्रियों को उत्तम शिक्षा प्रदान करें जिससे वे उनके फंदों में न फसें। मूर्ख भोली भाली स्त्रियां उपरोक्त कुरंग और बदशकल लोगों को साधु करके पूजती हैं और फंस जाती हैं उनसे सावधान कर दिया जाय।

पर्य॑स्ताक्षा अप्र॑चङ्कशा अस्त्रै॒णाः स॑न्तु॒ पण्ड॑गाः ।
अवं॑ भेषज पादय य इ॒मां सं॒विवृ॑त्स॒त्यप॑तिः स्वप॒तिं स्त्रियम् ॥१६॥

भा०—(पर्यस्ताक्षाः) जिनकी आंखें फिरी हुई हों, जो सीधा न देख सकें, ऐसे टेढ़-अंखे आदमी और (अप्रचङ्कशाः) बिलकुल लंगड़े लूले या आँखों से लाचार (पण्डगाः) चूतड़ों के बल सरकने वाले, चूण्डे या नपुंसक लोग सदा (अस्त्रैणाः) स्त्रियों से रहित (सन्तु) रहें। ऐसे लोगों को कभी स्त्री प्राप्त करने का अधिकार न हो। और (यः) जो भी (इमाम्) इस वरवर्णिनी (स्वपतिम्) स्वयं अपना पति वरण करने हारी (स्त्रियम्) स्त्री को (अपतिः) स्वयं उसका पालन करने में समर्थ न होकर भी (संविवृत्सति) प्राप्त करना चाहता है उसको हे (भेषज) चिकित्सक राजवैद्य ! तू (अवपादय) उसको विवाह के अयोग्य ठहरा।

उ॒द्धर्षि॑णं॒ मुनि॑केशं ज॒म्भय॑न्तं मरीमृ॒शम् ।
उ॒पे॒षन्त॑मुदु॒म्बलं॑ तु॒ण्डेल॑मु॒त शालु॑डम् ।
प॒दा प्र वि॑ध्य॒ पार्ष्ण्या॑ स्था॒लीं गौरि॑व स्पन्द॒ना ॥ १७ ॥

१६–(पं०) 'स्वपतिं स्त्रियम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे स्त्री ! (स्यन्दना) दूध देने वाली (गौः इव) गौ कष्ट पाकर जिस प्रकार (स्थालीम्) दूध दुहने के बर्तन को (पदा) पैर से या (पार्ष्ण्या) एडी से ठुकरा देती है इसी प्रकार हे स्वय अपने पति को वरने वाली स्त्री ! तू भी (उद् हर्षिणम्) अति अधिक कामी, (मुनिकेशम्) मुनि के समान जटा वाले, (जम्भयन्तम्) हिंसक, शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले, (मरीमृशम्) वार २ गुह्यांगों को स्पर्श करने वाले, (टदुम्बलम्) अति अधिक भोगी (तुण्डेलम्) बन्दर के समान आगे को बढ़े हुए मुख वाले या बहुत तोंद वाले (उत) और (शालुडम्) लुच्चे, व्यभिचारी पुरुष को (पदा) पैरों से और (पार्ष्ण्या) एड़ियों से (प्र विध्य) खूब ठोकरें मार, ताड़ । स्त्री ऐसे नीच पुरुष को स्वयं दण्ड दे ।

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।

पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

भा०—हे स्त्रि ! (यः) जो (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (प्रतिमृशात्) विनाश करने की चेष्टा करे या (ते जातं वा) तेरे उत्पन्न हुए बालक को (मारयाति) मारे (तम्) उसको (उग्रधन्वा) प्रबल धनुर्धारी शासक (पिंगः) वृत पति या बली राजा (हृदयाविधम्) हृदय में बाण प्रहार (कृणोतु) करे और मार डाले ।

यदि कोई दुष्ट पुरुष स्त्री को उसके वृत पति से जुदा करके उसके पूर्व धारित गर्भ को नाश करे या बालक को मारे तो ऐसे दुष्ट को हृदय में उसका पति बाण मार कर प्राण ले । राजा ऐसा विधान करे ।

१७–(तृ०) 'उपैषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालडम्' । पदाप्रविध्यप्रास्यात् स्थालीं गौरिवस्यन्दनात् , इति सायणाभिमतः पाठः । 'तुण्डेलमुत-शालूढम् । पदा प्रवृद्धि'. इति पैप्प० सं० ।

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।

स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥ १९ ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट, कामी लोग (अम्नः) एक साथ उत्पन्न या अचेत, अबोध, नन्हे, बेख़बर या मन के प्रतिकूल (जातान्) उत्पन्न हुए बच्चों को (मारयन्ति) मार डालते हैं और जो कामी लोग (सूतिकाः) नवप्रसूता स्त्रियों के साथ (अनुशेरते) संग करते हैं (तान्) उन (स्त्रीभागान्) स्त्रीसेवी व्यभिचारी (गन्धर्वान्) लुच्चों को (पिंगः) बलवान् राजा (वातः अभ्रम् इव) वायु जिस प्रकार बादलों को छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार (अजतु) धुन डाले, कठिन यातनाएं दे देकर उनको धुनवा डाले, उनकी बोटी २ कटवा डाले ।

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं मावं पादि तत् ।

गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥ (१५)

भा०—स्त्री (परिसृष्टम्) सब प्रकार से परिपूर्ण गर्भ को अथवा अपने पति द्वारा गर्भ में आहित वीर्य को (धारयतु) धारण करे और (यत्) जो गर्भ में (हितम्) धारण करले (तत्) वह (मा अवपादि) कभी नीचे न गिरे, कभी गर्भ का पात न किया जाय । हे स्त्रि ! (ते गर्भम्) तेरे गर्भ को (उग्रौ) उग्र बलशाली (नीविभार्यौ) धन और स्त्री के गर्भ की रक्षा करने वाले राजा और पति दोनों (भेषजौ) दो ओषधियों के समान होकर (रक्षताम्) रक्षा करें ।

१९–'येस्ता जातान्' (च०) 'गन्धर्वान् अभ्रे [र्] वाते [र्] वा रा [ए] जतु' इति पैप्प० सं० ।

२०–(प्र०) 'परिशिष्टं' सायणाभिमतः पाठः । (प्र० द्वि०) 'परिशिष्टं धारयतु युज्यतं मावपादि तत्' (च०) 'निवभार्ययौ' इति पैप्प०सं० ।

पुवीनुसात् तंङ्गल्वा३॒च्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥

भा०—हे स्त्री ! (पवीनसात्) पूति गन्ध से युक्त, सड़ी नाक वाले, (तङ्गल्वात्) फूली गालों वाले (छायकात्) मुंह से काटने वाले और (नग्नकात्) नंगे, निर्लज्ज इन (किमीदिनः) सब पदार्थों को तुच्छ देखने वाले, मूर्ख असभ्य गुण्डों से (पिंगः) बलवान् पुरुष (प्रजायै) तेरी प्रजा और (पत्यै) तेरे पति के सुख के लिये (त्वा परि पातु) तेरी रक्षा करे ।

द्व्या/स्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः ।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

भा०—(द्व्यास्यात्) दोमुँहे (चतुरक्षात्) चार आँखों वाले, (पञ्चपादात्) पांच पैरों वाले (अनगुंरेः) बिना अंगुली वाले या (वरीवृतात्) गोल मठोल गांठ के समान उस बालक से जो (वृन्तात्) गर्भाधानी के मूल से (अभि प्रसर्पतः) आगे को उत्पन्न हो रहा है उस से स्त्री को हे वैद्य ! (परि पाहि) सुरक्षित कर । अर्थात् वैद्य उत्तम उपचार द्वारा स्त्री को दुष्ट पिण्ड के प्रसव से बचावे ।

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ २३ ॥

भा०—(ये) जो (आमम्) कच्चा (मांसम्) मांस (अदन्ति)

२१–'सायकादुत' इति सायणाभिमतः पाठः । 'पवैनसा तङ्गल्वा' इति पैप्प० सं० ।

२२–'पञ्चपादादनङ्गुलेः' 'वृन्दादभिप्रसर्पतः' इति पैप्प० सं० ।

२३–'यामं मांसं', 'केशवारया', 'तस्य भसंसो मुष्कयोरपहन्मासि' इति पैप्प० सं० ।

खाते हैं और (ये च) जो (पौरुषेयम्) पुरुष या मनुष्य का (क्रविः) मांस खाते हैं। और (केशवाः) लम्बे केश वाले, मायावी अघोरी जो लोग (गर्भान्) गर्भों को भी (खादन्ति) खा जाते हैं (तान्) उन दुष्ट प्राणियों को (इतः) यहां से (नाशयामसि) विनष्ट करें।

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

भा०—(श्वशुराद् अधि) श्वशुर से (स्नुषा इव) जिस प्रकार पुत्रवधू या बहू लज्जायुक्त होकर छिप जाती है उसी प्रकार (ये) जो दुष्ट प्राणी (सूर्यात्) सूर्य के प्रकाश से परे भाग कर अन्धेरे में जा छिपते हैं (बजः च पिंगः च) गतिशील, पराक्रमी और बली पुरुष या ओषधि (तेषाम्) उनके (हृदये अधि) हृदय मर्म में (नि विध्यताम्) खूब प्रहार करे।

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥ २५ ॥

भा०—हे (पिंग) बलवान् ओषधे तापकारिन् ! (जायमानम्) उत्पन्न होते हुए बालक को (रक्ष) रक्षा कर। (पुमांसम् स्त्रियम्) पुमान् बालक को या स्त्री बालक को भी (मा क्रन्) विक्षिप्त या दुखी न करें। (आण्डादः) स्त्री के या बालक के अण्डकोश भागों को काट कर खाजाने वाला रोगकीट (गर्भान्) गर्भ-गत बालकों को (मा दभन्) विनाश न करे, इसलिये हे वैद्य या ओषधे ! (तान्) उन (किमीदिनः) तुच्छ भुक्खड़ क्षुद्र प्राणियों को (इतः) यहां से (बाधस्व) विनाश कर।

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥ (१५)

२६–कृत्नोऽत्र प्रतिविधानमर्थः । (प्र० द्वि०) 'मार्तवत्सभामाश्रोघमघसा

भा०—(अप्रजास्त्वम्) स्त्रियों को प्रजा न होना, (मार्तवत्सम्) मरा हुआ बालक होना, (आत्) और तिस पर भी बालक के होते समय (आवयम्) उत्पन्न होने वाली पीड़ाओं के कारण (रोदम्) बहुत अधिक पीड़ा से (अघम्) कष्ट या बुरे लक्षण दीखना (तत्) इन सब को (वृक्षात् स्रजम् इव) जिस प्रकार वृक्ष से फल तोड़ लिया जाता है उसी प्रकार सुगमता से स्त्री शरीर से (कृत्वा) दूर करके (अप्रिये) प्रिय न लगने वाले बुरे स्थान में (प्रतिमुञ्च) डाल दे ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत्]

[७] ओषधि-विज्ञान ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः ओषधयो देवता । १,७,६,११,१३,१६,२४,२७ अनुष्टुभः । २ उपरिष्टाद् भुरिग् बृहती, ३ पुर उष्णिक्, ४ पञ्चपदा परा अनुष्टुप् अति जगती, ५,६,१०,२५ पथ्या पङ्क्तयः । १२ पञ्चपदा विराड् अतिशक्वरी । १४ उपरिष्टान्निचृद् बृहती । २६ निचृत् । २२भुरिक् । १५ त्रिष्टुप् । अष्टाविंशर्चं सूक्तम् ॥

या ब॒भ्रवो॒ याश्च॑ शु॒क्रा रोहि॑णीरु॒त पृश्न॑यः ।
असि॑क्नीः कृ॒ष्णा ओष॑धीः स॒र्वा अ॒च्छाव॑दामसि ॥ १ ॥

भा०— (याः) जो ओषधियां (बभ्रवः) पुष्टिकारक, मांस बढ़ाने वाली (याः च) और जो (शुक्राः) शुक्र, वीर्यवर्धक (रोहणीः) रोहणी- अर्थात् क्षत आदि को भरने वाली, उत (पृश्नयः) रस पोषण करने वाली,

---

नयम्' इति पैप्प० सं० । 'सेदमघावयम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।

(असिक्नीः) श्याम रंग की (कृष्णाः) कृष्ण वर्ण की या विलेखन करने वाली (ओषधीः) ओषधियें हैं (सर्वाः) उन सबको हम (अच्छा आवदामसि) भली प्रकार उपदेश करते हैं । अथवा (बभ्रवः) भूरे रंग की (शुक्राः) श्वेत रंग की (रोहणीः) पुष्टिकारी (पृश्नयः) चित्र वर्ण की (असिक्नीः) फलियों वाली (कृष्णाः) काली रंग की इत्यादि ओषधियों का हम उपदेश करते हैं ।

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥२॥

भा०—(यासाम्) जिन (वीरुधाम्) लताओं या वृक्ष वनस्पति आदि ओषधियों का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालक है अर्थात् जिन की धूप लगने से रक्षा होती है, (पृथिवी माता) पृथिवी माता है अर्थात् पृथिवी से रस और पुष्टि प्राप्त करती हैं। और (समुद्रः) मेघ ही (मूलम्) उत्पन्न होने का कारण है अर्थात् वर्षाकाल में वर्षा के जल से उत्पन्न होती हैं वे ओषधियां (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (देवेषितात्) विषय क्रीड़ा द्वारा प्राप्त हुए (यक्ष्मात्) रोग से या देव=मेघ या वर्षा काल में उत्पन्न (यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा के रोग से (त्रायन्ताम्) रक्षा करें ।

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्य१मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

भा०—(अग्रम्) सब से प्रथम और सब से उत्कृष्ट (ओषधयः) ओषधि जो रोग और पाप को नाश करने में समर्थ हैं वे (दिव्याः) दिव्य गुणयुक्त (आपः) आप=जलों के समान पवित्र और अन्यों को

३-(प्र०) 'आपां दिव्या ओषधयः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (तृ०) 'अनीनशम्' इति क्वचित् ।

पवित्र करने वाले आप्त विद्वान् पुरुष हैं। वे शीतल स्वभाव होकर पापों के लिये संतापकारी हैं (ताः) वे (ते) तेरे (एनस्यम्) पाप से उत्पन्न (यक्ष्मम्) राजरोग को (अंगात् अंगात्) शरीर के अंग अंग से (अनीनशन्) विनाश कर देते हैं। जिस प्रकार रोगों को दूर करने में दिव्य जल सब से उत्तम ओषधि हैं और वे विलासादि द्वारा उत्पन्न रोगों को सुलभतया विनाश कर देते हैं उसी प्रकार आप्त पुरुष भी हैं जो ज्ञानोपदेश से पापभावों को दूर करते हैं। समस्त रोग जलों द्वारा दूर करने के उपाय होमियोपैथी चिकित्सा और हाइड्रोपैथी (जल-चिकित्सा) द्वारा जानने चाहिये।

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि ।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

भा०—हे पुरुष! मैं परमेश्वर (ते) तुझे (प्रस्तृणतीः) अच्छी प्रकार फैलने वाली, (स्तम्बिनीः) झुण्डों वाली, (एकशुङ्गाः) एक सरपत वाली (प्रतन्वतीः) खूब बढ़ कर फैलने वाली, नाना प्रकार की ओषधि लताओं का (आवदामि) उपदेश करता हूँ। और (ते) तुझे (अंशुमतीः) बहुत कोपलों वाली या अंशु सोम के गुणों वाली, (काण्डिनीः) काण्ड या पोरुओं वाली और (या) जो (विशाखाः) शाखाओं से रहित या नाना प्रकार की शाखाओं वाली (वीरुधः) लताओं को जो (वैश्वदेवीः) समस्त विद्वान् पुरुषों के उपयोग की, (उग्राः) अपना प्रभाव करने में तीव्र, (पुरुषजीवनीः) पुरुष शरीर को जीवन प्रदान करने या प्राण धारण कराने में समर्थ हैं उनका (ह्वयामि) उपदेश करता हूँ।

४–(प्र० द्वि०) 'एकशृंगा प्रधन्वती' इति पैप्प० सं०।

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥५॥

भा०—हे ओषधियो ! तुम (सहमानाः) रोगों को दूर करने में बलवती हो। (यद्) जो (वः) तुम में (सहः) रोग दूर करने का सामर्थ्य (यत् च) और जो (वः) तुम्हारा (वीर्यम्) पुष्टिकारक रस और (बलम्) बल है। (तेन) उससे (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (अस्माद्) इस (यक्ष्माद्) राजयक्ष्मा आदि रोग से (मुञ्चत) छुड़ाओ। (अथो) और इस प्रकार ओषधियों के बल पर मैं (भेषजम्) रोगों को दूर करने का कार्य (कृणोमि) करता हूँ।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥६॥

भा०—(अस्मै) इस रोगी पुरुष के (अरिष्टतातये) स्वास्थ्यलाभ कराने के लिये (अहम्) मैं वैद्य (जीवलाम्) आयुप्रद, (नघारिषाम्) किसी प्रकार की हानि न पहुँचानेवाली (जीवन्तीम् ओषधिम्) जीवन्ती नामक ओषधि को और (उन्नयन्तीम्) रोगी की दशा को उत्तम रूप में ला देनेवाली, उसकी दशा को सुधारनेवाली (अरुन्धतीम्) अरुन्धती नामक ओषधि को और (मधुमतीम्) मधुर रस वाली (पुष्पाम्) पुष्पा ओषधि को (हुवे) बतलाता हूँ, उसके सेवन का उपदेश करता हूँ, वैद्य रोगी के रोग दूर करने, पुष्ट करने और चित्त प्रसादन के लिये उचित ओषधियों का नुसख़ा बना कर रोगी को दे।

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

५—'मुञ्चतोषधीः' इत्यन्तः पाठः । पैप्प० सं० ।
६—अथर्व० [८ । २ । ६] इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।

भा०—(इह) इस चिकित्सा के अवसर में (मम) मुझ (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् वैद्य के (वचसः) वाणी या उपदेश के अनुसार (मेदिनीः)[1] बुद्धिप्रद, रोगनाशक या स्निग्ध गुणयुक्त पौष्टिक ओषधियां (आ यन्तु) प्राप्त हों (यथा) जिनसे (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरिताद् अधि) दुःखप्रद अवस्था से (पारयामसि) पार कर सकें ।

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥

भा०—(अग्नेः) अग्नि को (घासः) अपने भीतर धारण करनेवाली, (अपां गर्भः) और जलों को अपने भीतर धारण करनेवाली, (याः) जो ओषधियाँ (पुनः नवाः) प्रति वर्ष बार २ नये सिरे से फूट पड़ती हैं ऐसी (ध्रुवाः) सदा स्थितिशील, कभी नाश न होने वाली (सहस्रनाम्नीः) सहस्रों नामवाली अथवा बलप्रद स्वरूप वाली (भेषजीः), रोगहारी ओषधियां (आभृताः) ला लाकर संग्रह की (सन्तु) जावें ।

अवकोल्वा उदकात्मान ओषधयः । व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

भा०—(अवका–उल्वाः) जलमें उतराने वाले सेवार के भीतर उत्पन्न होनेवाली (उदकात्मानः) जलमय देहवाली, जल के विना न जीनेवाली और (तीक्ष्ण-शृङ्ग्यः) तीखे सींग या कांटोंवाली ओषधियाँ भी (दुरितम्) दुःखदायी रोग को (वि ऋषन्तु) विशेष रूप से दूर करें ।

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहायन्त्वोषधीः ॥ १० ॥ (१७)

७–१. 'मद मद्य हिंसनयोः' (भ्वादिः), मिदि स्नेहने (चुरादिः), मिदा स्नेहने (दिवादिः), मिदा स्नेहने भ्वादिः ।

भा०—(उत्-मुञ्चन्तीः) रोग से मुक्त करने हारी (विवरुणाः) विशेष रूप से वरण करने योग्य या (विवरुणाः) वरुण से रहित, निर्जल, (उग्राः) अति बलवाली, (विष-दूषणीः) विषोंको नाशक (अथो) और (बलास-नाशनीः) कफ को या शरीर के बलनाशक रोगों को नाश करनेवाली (कृत्या-दूषणीः च) दुष्ट पुरुषों के दुष्ट अपचारों से उत्पन्न पीड़ाओं को नाश करनेवाली (ओषधीः) ओषधियाँ (याः) जो भी हैं (ताः) वे सब (इह) इस वैद्यशाला में (आ यन्तु) प्राप्त हों।

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥११॥

भा०—(अपक्रीताः) दूर देश से द्रव्य के बदले प्राप्त की गई, मोली गई, (सहीयसः) अतिबलशाली (वीरुधः) लताएँ, (याः) जिनकी (अभिष्टुताः) सब तरफ़ प्रशंसा सुनाई दे रही हो वे भी (अस्मिन्) हमारे इस ग्राम में (गाम्, अश्वम्, पशुम्, पुरुषम्) गौ, घोड़े आदि पशु और पुरुषों को भी (त्रायन्ताम्) रोगों से बचावें।

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव।
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो
घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

भा०—(आसाम्) इन (वीरुधाम्) ओषधियों का (मूलम्) मूल (मधुमत्) मधु के समान मधुर रसयुक्त है (आसां अग्रं मधुमत्) इन ओषधियों का अग्रभाग, कोंपल मधुर रस से युक्त है। (आसां मध्यं मधु-मत्) इन ओषधियों का मध्यभाग मधुर रस से युक्त (बभूव)

१०–(तृ० च०) 'बलासनाशिनी रक्षोनाशिनीः कृत्यादूषणीश्च यत् ता' इति पैप्प० सं०।

१२–(द्वि०) वीरुधां बलेन' इति पैप्प० सं०।

होता है । इसी प्रकार (आसां पर्णं मधुमत्) इन ओषधियों का पत्ता मधुरस से युक्त होता है, (आसां पुष्पं मधुमत्) इनका फूल मधुरस से युक्त होता है, इस कारण से ये सब ओषधियें (मधोः संभक्ताः) मधु, अमृत से सिंची हुई हैं, इनमें मधु का अंश सर्वत्र व्यापक है । इससे ये अमृतमय ओषधियें (अमृतस्य भक्षः) अमृत के बने भोजन के समान दीर्घायुप्रद हैं । हे पुरुषो ये ओषधियां ही (गोपुरोगवम्) खाद्य पदार्थ (घृतम्) घी आदि (अन्नम्) अन्न को (दुहृताम्) पूर्ण करतीं, बढ़ातीं और प्रदान करती हैं, जिन में (गोपुरोगवम्) गाय का दूध सब से मुख्य है । नाना प्रकार की ओषधियां हैं जिन में से किसी की जड़ मधुर, किसी की कोंपल, किसी का पत्ता, किसी का फूल, फलतः इन में मधु मानो नाना प्रकार से प्राप्त है । यही सब अमृत का भोजन है, घी, अन्न और दूध, जिन में दूध सब से मुख्य है । ये ओषधियां ही ये सब भोजन हम को प्राप्त करावें ।

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

भा०—(पृथव्याम्) पृथिवी पर (यावतीः) जितनी (कियतीः च) और कितनी भी (इमाः) ये (ओषधीः) ओषधियां हैं (ताः) वे सब (सहस्र-पर्ण्यः) हजारों प्रकार के पत्तों वाली (मा) मुझे (मृत्योः) मृत्यु के (अंहसः) दुःख से (मुञ्चन्तु) दूर करें, बचावें ।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणो भिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वाधि दूरमस्मत् ॥१४॥

भा०—(वीरुधाम्) ओषधियों के रसों से बनाया हुआ (वैयाघ्रः) नाना प्रकार के गन्ध देने वाला (मणिः) मणि, रोगस्तम्भन गुटिका (त्रायमाणः)

१४–(प्र०) 'व्याघ्रोमाणि', (च०) 'दूरमस्मात्' इति पैप्प० सं० ।

रोगों से रक्षाकारी, (अभिशस्तिपाः) निन्दनीय पापमय रोगों से रक्षा करने वाला होता है। वह (सर्वाः) सब प्रकार के (अमीवाः) रोग-जन्तुओं को और (रक्षांसि) बाधक, जीवन के विघ्नकारी रोगादि पीड़ा के कारणों को (अस्मत् दूरम्) हम से दूर (अप अधि हन्तु) मार भगावे। ओषधियों के रस से तीव्र गन्ध की गोलियों या पुटिकाओं को बनावें जो सदा देह में रहने से रोगों और पीड़ाकारी कारणों को तीव्र गन्ध से नाश करें और रोगों से बचावें।

"विविधं विशेषेण वा आघ्रीयते इति व्याघ्रः स एव वैयाघ्रः।" सवासौ मणिश्चेति। तपेदिक्, सिरदर्द आदि रोगों में निरन्तर सूंघने के लिये विशेष ओषधि रसों की शीशी या फायों का प्रयोग और प्लेग आदि के समय फिनाइल आदि गोलियों को जेब में रखने आदि का प्रयोग किया जाता है। पूर्वकाल में ऐसी रोग-हर ओषधियों को कपड़े में बांध कर गले में या बाजू पर बांध लिया जाता था। और अब भी उनको तावीज़ आदि रूप में रक्खा जाता है।

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या/एतु स्रोत्याः ॥१५॥

भा०—जिस प्रकार पशु (सिंहस्य) शेर के (स्तनथोः) गर्जन से (सं विजन्ते) खूब भयभीत हो जाते हैं और जिस प्रकार पशु (अग्नेः) अग्नि से (विजन्ते) व्याकुल हो जाते हैं उसी प्रकार (आभृताभ्यः) संग्रह की हुई ओषधियों से रोग के कीट भी कांपते हैं और भय व्याकुल हो जाते हैं। और इसीलिये (वीरुद्भिः) ओषधि लताओं से (अतिनुत्तः) पराजित हुआ हुआ (गवाम्) गौ आदि पशुओं और (मनुष्याणाम्) मनुष्यों का (यक्ष्मः) पीड़ाकारी रोग (नाव्याः) नावों से तरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों से भी परे दूर (एतु) चला जाय।

१५–(प्र०) 'स्तनथोः ओषधीनाम्' इति पैप्प० सं०।

"९०, या ९९ बड़ी नदियों पार चला जाना" यह मुहावरा अति दूर चले जाने के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग भाषा में उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे 'सात समुद्रों पार' का प्रयोग होता है। अथवा जीवन के वर्ष को एक २ 'नाव्य नदी' से उपमा दी गई है। '९९ नाव्य नदी' जीवन के ९९ वर्ष हैं। रोगादि हमारे ९९ वर्ष के जीवन से परे रहें।

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि ।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

भा०—हे ओषधि लताओ ! आप (यासां राजा) जिनका (राजा) राजा, रक्षक (वनस्पतिः) वनस्पति, वनपाल या बड़ा वृक्ष है वे (वैश्वानरात्) सर्व पुरुषों के हितकारी (अग्नेः) अग्नि से (मुमुचानाः) दूर सुरक्षित रह कर (भूमिम्) भूमि को (संतन्वतीः) आच्छादित करती हुई (इत) फैलती जाओ। राज्य में वनपाल ओषधियों की रक्षा करे। वन में ओषधियां खूब अधिक मात्रा में उत्पन्न हों। अग्नि से उन को बचाया जाय।

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥ १७ ॥

भा०—(याः) जो (आङ्गिरसीः) अंग या शरीर में रस को उत्पन्न करनेहारी, अंगिरा आयुर्वेद के विद्वानों की परिक्षित ओषधियां (पर्वतेषु) पर्वतों और (समेषु च) समस्थलों में (रोहन्ति) उगती हैं (ताः) वे (पयस्वतीः) पुष्टिकारक, वीर्य रसवाली (शिवाः) कल्याण और सुखकारी (ओषधीः) ओषधियां (नः) हमारे (हृदे) हृदय की (शं) शान्ति करने वाली (सन्तु) हों।

१७—'या रोहन्त्याङ्गिरसीर्विरुधो विश्वभेषजीः' 'ता नो मयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे' इति पैप्प० सं० ।

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥ १८ ॥
सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

भा०—(अहम्) मैं (याः वीरुधः) जिन लताओं को (वेद) जानता हूँ । और (याः च) जिन लताओं को (चक्षुषा पश्यामि) आंख से देखता हूँ और जो (अज्ञाताः) अभी तक नहीं जानी गयी हैं और (याः च जानीमः) जिन को हम सब प्रायः जाना करते हैं और (यासु) जिन में से (संभृतम्) संग्रह किये हुए भाग को (विद्मः) प्राप्त कर लेते हैं (सर्वाः समग्राः) उन सब, समस्त प्रकार की (ओषधीः) ओषधियों को (मम) मुझ आयुर्वेदज्ञ के (वचसः) वचन से (बोधन्तु) सब मनुष्य जानें, (यथा) कि किस प्रकार (इमं पुरुषम्) इस रोगी पुरुष को (दुरितात् अधि) दुखप्रद रोग से (पारयामसि) छुड़ावें, मुक्त करें ।

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥ (१८)

भा०—(अश्वत्थः) पीपल (दर्भः) दाभ, कुशा और (वीरुधाम्) ओषधियों का (राजा) राजा (सोमः) सोमलता और (हविः) अन्न (अमृतम्) अमृत स्वरूप, दीर्घायु प्रदान करने वाला (व्रीहिः यवः च) धान और जौ भी (भेषजौ) रोगों को दूर करने वाले (अमर्त्यौ) कभी विनाश न होने वाले (दिवः पुत्रौ) द्यौलोक से बरसे हुए मेघ के जल और ओस एवं सूर्य की धूप से उत्पन्न होने वाले हैं अथवा (दिवः) द्यौ लोक के रस और सूर्य के प्रकाश के बल से (पुत्रौ) पुत्र अर्थात्, पुरुषों की भी जीवन रक्षा करने में समर्थ हैं ।

२०—(तृ०) 'व्रीहिर्यवस्य भेषजो' इति पैप्प० सं० ।

व्रीहियव अमर्त्य=अर्थात् न मरने वाले किस प्रकार हैं ? क्योंकि धानों से बीज और बीजों से पुनः धान उत्पन्न होते हैं इस कारण वे कभी पृथ्वीतल से विनष्ट नहीं होते । इसी दृष्टान्त से जीव भी कभी नहीं मरता 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ।' कठोप० ।

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

भा०—हे (पृश्नि-मातरः) पृश्नि=रसों को अपने भीतर ले लेने में समर्थ, पृथ्वी माता से उत्पन्न (ओषधीः) ओषधियो ! (यदा) जब (पर्जन्यः) रसों, जलों को प्रदान करने वाला मेघ (स्तनयति) गरजता है; (अभिक्रन्दति) खूब ध्वनि करता है तब तुम (उत् जिहीध्वे) ऊपर उठती हो, प्रसन्न होती हो, पुलकित होती हो, उस समय वह तुम्हें (रेतसा) जल से (वः) तुम्हारी (अवति) रक्षा करता है ।

तस्यामृतस्येमं वलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥२२॥

भा०—(तस्य) उस (अमृतस्य) जल के (इमम्) परिवर्तित रूप इस ओषधि और अन्न के रूप में प्राप्त (वलम्) वल को हम लोग (पुरुषम्) इस पुरुष को (पाययामसि) पिला देते हैं । (अथो) और साथ ही (भेषजम्) रोग की निवृत्ति भी (कृणोमि) करते हैं (यथा) जिससे यह पुरुष (शतहायनः) सौ वर्ष तक जीवित (असत्) रहता है ।

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

भा०—(वराहः) वराह, सूकर (वीरुधम्) नाना प्रकार की (याः)

२२—'पुरुषं पालयामसि' इति पैप्प० सं० ।
२३—'वेद वीरुधाम्' इति क्वचित् ।

जिन खाद्य और रोगहारी लताओं को (वेद) जानता है और (नकुलः) नेवला (भेषजीम्) रोग और विष दूर करने हारी जिन ओषधियों को (वेद) जानता है और (याः) जिन ओषधियों को (सर्पाः) सर्प, पृथिवी पर पेट के बल सरकने वाले प्राणी (विदुः) जानते हैं और (गन्धर्वाः) गन्ध से अपने खाद्य पदार्थों को प्राप्त करने वाले गौ, वानर आदि पशु लोग तथा गौओं को धारण पालन करने वाले पशुपाल लोग और विद्वान् लोग जिन ओषधियों को जानते हैं (ताः) उनको मैं उत्तम वैद्य (अस्मै) इस पुरुष की (अवसे) प्राणरक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करता हूं। पण्डित ग्रीफिथ ने इस मन्त्र पर टिप्पणी में लिखा है कि जंगली सूकर को खाद्य मूल कन्दों को खोजने और खोदने में असाधारण शक्ति होती है।

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥

भा०—(याः) जिन (आंगिरसीः) अंगिरा, शरीर शास्त्र के वेत्ता ऋषि लोगों की उपदेश की हुई ओषधियों को (सुपर्णाः) उत्तम, विशाल पक्ष वाले या बड़ी उड़ान वाले बाज़, शिकरा, गरुड़, गीध आदि (विदुः) जानते हैं और (याः दिव्याः) जिन दिव्य गुणवाली ओषधियां को (रघटः) छोटी उड़ान वाले पक्षी या '[अ] रघट' अति वेग से चलने वाले पक्षी (विदुः) जानते हैं और जिन ओषधियों को (हंसाः) हंस जाति के (वयांसि) पक्षीगण जानते हैं और (सर्वे पतत्रिणः) सब पंखों वाले (याः च) जिन २ ओषधियों को जानते हैं और (याः) जिन (ओषधीः) ओषधियों को (मृगाः) मृग, आरण्य पशु, हस्ति व्याघ्र, गवय, मृग आदि (विदुः) जानते हैं (ताः) उन सबको (अस्मा अवसे) इस पुरुष की रक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करता हूँ, संग्रह करता हूं।

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥

भा०—और (यावतीनाम्) जितनी (ओषधीनाम्) ओषधियों को (अघ्न्याः) कभी भी न मारने योग्य (गावः) गौएं (प्राश्नन्ति) खाती हैं और (यावतीनाम्) जितनी ओषधियों को (अजावयः) भेड़ बकरियें खाती हैं (तावतीः ओषधीः) उतनी सभी ओषधियां (अभृताः) संग्रह की जाकर (तुभ्यम्) तुझे (शर्म यच्छन्तु) सुख प्रदान करें ।

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

भा०—(यावतीषु) जितनी ओषधियों में (भिषजः मनुष्याः) रोग दूर करने का कार्य करने वाले मनुष्य, वैद्य, डाक्टर लोग (भेषजम्) रोग दूर करने के गुण को (विदुः) जानते हैं (तावतीः) उतनी (विश्वभेषजीः) सब रोगहारी ओषधियों को (त्वाम्) तेरे लिये हे पुरुष ! (आ भरामि) ले आता हूं ।

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

भा०—(पुष्पवतीः) फूलों वाली (प्रसूमतीः) नवपल्लव, नयी शाखाओं, नयी जड़ों को उत्पन्न करने वाली (फलिनीः) फलों वाली (उत) और (अफलाः) फलरहित ओषधियों को (मातरः इव) सम्मान पद पर विराजमान माताओं या गौवों के समान (अस्मा) इस पुरुष के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (दुह्राम्) दोह लूँ, प्राप्त करूं ।

२४—'सुपर्णाङ्गिरसीः' इति पैप्प० सं० ।

२५—(तृ० च०) तावतीस्तुभ्यमाभृताः शर्मयच्छन्तोषधः:' इति पैप्प० सं० ।

२६—(च०) 'त्वामिति' इति पैप्प० सं० ।

उत् त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२८॥(१६)

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझको मैं (पञ्चशलात्) तुझे संताप करने वाले शल या शर पीड़ाजनक रोग से अथवा पञ्चप्राणों (अथो उत) और (दशशलात्) तुझे काटने और चुभने एवं क्षीण करने वाले दुःख-दायी रोग अथवा दश इन्द्रियों (अथो) और और (यमस्य) शरीर में बांधने वाले या यातना देने वाले कष्ट की (पड्वीशात्) बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देवकिल्बिषात्) देव, ईश्वर द्वारा पाप कर्मों के फलरूप में प्राप्त कष्टों से (उत् अहार्षम्) ऊपर ले आता हूं, तुझे मुक्त करता हूँ ।

[८] शत्रुनाशक उपाय ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । इन्द्रः बनस्पति सेना हननश्च देवताः । १, ३,५,१३, १८, २,८–१०,२३ । उपरिष्टाद् बृहती । ३ विराट् बृहती । ४ बृहती पुरस्तात् प्रस्तार-पंक्तिः । ६ आस्तारपंक्तिः । ७ विपरीतपादलक्ष्मा चतुष्पदा अतिजगती । ११ पथ्या बृहती । १२ भुरिक् । १६ विराट् पुरस्ताद् बृहती । २० निचृत् पुरस्ताद् बृहती । २१ त्रिष्टुप् । २२ चतुष्पदा शक्वरी । २४ त्र्यवसाना उष्णिग्गर्भा त्रिष्टुप् । शक्वरी पञ्चपदा जगती । चतुर्विंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

२७–१. अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा ।

२८–(प्र०) उत् त्वाहारिषम्' (तृ०) 'उत् त्वा यमस्य', (च०) 'ओषधी-भिरपीपरम्' इति पैप्प० सं० ।

[८] १–ध्मा शब्दाग्नि संयोगयोः (भ्वादिः) २, पूर्या विशरणे दुर्गन्धे च'

भा०—(मन्थिता) शत्रुओं को क्लेश देने और उनकी हिंसा करने में समर्थ होकर (इन्द्रः) राजा और सेनापति (मन्थतु) शत्रुओं को हनन करे। (शक्रः) शक्तिमान् (शूरः) शूरवीर (पुरंदरः) शत्रु के गढ़ को तोड़ने में समर्थ है। (यथा) उस के बल पर हम सुभट लोग (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सहस्रशः) हज़ारों सेनाओं को (हनाम) मारें।

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम्॥ २॥

भा०—(उपध्मानी) अति शब्द करने वाला या आग लगा देने वाला, (पूतिरज्जुः) एक दम विस्फोट उत्पन्न करने वाला पदार्थ (अमुम्) उस (सेनाम्) शत्रु सेना को (पूतिम्) विशीर्ण, तितर बितर (कृणोतु) कर दे। (अमित्राः) शत्रु लोग (धूमम् अग्निम्) धूम और आग को (परा दृश्य) दूर से ही देखकर (हृत्सु) अपने दिलों में (भयं) भय (आदधतां) प्राप्त करें। (पूतिरज्जुः) जीर्ण रस्सी जिस प्रकार (उपध्मानी) आगको जल्दी पकड़ लेती है और स्वयं जल कर खाक हो जाती है इसी प्रकार इन्द्र राजा भी (अमूं सेनां पूतिं कृणोति) इस शत्रुसेना को विशीर्ण करे। और हे राजन्! (अमित्राः धूमम् अग्निम्) शत्रुगण धूम देने या कंपा देनेवाले (अग्निम्) परन्तप अग्नि को (परा दृश्य) दूर से ही देखकर तिनकों के समान अपने आप जलकर खाक हो जाने के भय से (हृत्सु भयं आ दधताम्) चित्तमें भय करें।

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम्।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः॥३॥

(स्वादिः)। रज्जुः सृजतेरसुन्। पूतिं विशरणं सृजति इति पूतिरज्जुः' विस्फोटकपदार्थः।

२—'अग्निधामं परा' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वों पर सवार वीर पुरुषो ! (अमून्) इन शत्रुओं को (निः शृणीहि) सर्वथा विनाश करो । और हे (खदिर) शस्त्र-प्रहार करनेहारे वीर ! (अमून्) उन शत्रुओं पर (अजिरम्) अति शीघ्रता से, निरन्तर (खाद) वल प्रहार कर । शत्रु लोग (ताजद् भङ्ग इव)[1] एरण्ड के समान अथवा सूखे सरकाण्डे के समान (भज्यन्ताम्) टूट फूट जायँ और (वधकः) शस्त्रधारी लोग (एनान्) इन शत्रुओं को (वधैः) नाना शस्त्रों से (हन्तु) मारें, 'अश्वत्थ', 'खदिर' और 'वधक' ये तीनों प्रकार के सैनिक लोग अपने २ युद्ध के उपकरणों से शत्रु का नाश करें ।

परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥

भा०—(परुषाह्वः) परुष नामक या कठोर शस्त्रों या पुरुषों का सामना करने और उनका मुकावला करने में समर्थ वीर (अमून्) उन (परुषान्) अति कठोर शत्रुओं को भी (कृणोतु)[1] मारे । और (वधकः)[2] बाँधने वाले या शस्त्रधारी 'वधक' लोग (एनान्) उनको (वधैः) रस्सों से बाँध २ कर (हन्तु) मारें, दण्ड दें, शत्रु लोग (बृहत् जालेन)[3] बड़े बड़े जालों से (संदिताः) बाँधे जाकर (शर इव) सरकण्डे के समान

३-(द्वि०) 'खदिराचिरम्', 'ताजद्भङ्गैव' (च०) बृहज्जालेन संचिताः' इति पैप्प० सं० । 'वधको वधः' इति क्वचित् ।

१. एरण्डद्रुम इति दारिलःकौशिकसूत्रभाष्यकृत् ।

४-(तृ०) 'शरेव', (च०) जालेन संचिताः' इति पैप्प० सं० ।

१-कृञ् हिंसायाम् (स्वादिः), स्वादिभ्यश्नुः । कृणोति हिनस्ति इत्यर्थः ।

२-वध संयमने (चुरादिः), वध वन्धने (भ्वादिः) हन्तेर्वा वधादेशस्य रूपम् ।

३-जल अपवारणे (चुरादिः), ४ 'जल घातने' (भ्वादिः) ।

(भज्यन्ताम्) टूट फूट जायँ । अथवा (बृहत् जालेन) बड़े भारी आघातकारी अस्त्र से (संदिताः) काटे जाकर (शर इव भज्यन्ताम्) सरों के समान टूट फूट जायँ ।

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

भा०—ईश्वर की परम विजय का अलंकार स्पष्ट करते हैं । (अन्तरिक्षम्) यह अन्तरिक्ष ही (जालम्) जाल (असीत्) है और जाल लगाने के लिये (महीः दिशः) विशाल दिशाएँ ही (जालदण्डाः) जाल तान कर लगाने के दण्डे हैं । वह (शक्रः) सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (तेन) उस महान् (जालेन) अन्तरिक्ष या वायु, प्राण रूप जाल से (अभिधाय) पकड़ कर (दस्यूनाम्) दस्यूओं, पर प्राण विनाशक, पापाचारियों की (सेनाम्) सेना को (अवयत्) काट गिराता है । उसी प्रकार विजिगीषु राजा भी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के समान विस्तृत जाल को चारों दिशाओं में विशाल दण्ड लगा कर उनसे (दस्यूनां सेनाम् अभिधाय) शत्रुओं की सेना को पकड़ कर (अप अवपत्) काट गिरावे ।

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥

भा०—(बृहतः शक्रस्य) बड़े भारी, शक्तिमान् परमेश्वर का जिस प्रकार (बृहत् हि जालम्) विशाल जाल है उसी प्रकार (बृहतः शक्रः) बड़े भारी शक्ति, पराक्रम से युक्त (वाजिनीवतः) बलसम्पन्न, सेनासम्पन्न राजा का भी (बृहत्) बड़ा भारी (जालं हि) जाल शत्रुओं को

५–(तृ० च०) तेनाभिधाय सेनां इन्द्रो दस्यूनपावपत्' इति पैप्प० सं० ।
६–(द्वि०) 'शक्रस्य रोचनावतः' इति पैप्प० स० ।
१. उब्ज आर्जवे (तुदादिः) ।

पकड़ने का साधन है। (तेन) उस जाल से (सर्वान् शत्रून्) समस्त शत्रुओं को (नि उब्ज)[1] अपने अधीन कर, उनको दबा और विनीत कर (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (कतमः चन) कोई भी (न मुच्यातै) छूटना न पावे।

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया॥७॥

भा०—हे (इन्द्र)[1] शत्रुओं के दलन करने, मार कर भगा देने और विनाश करनेहारे प्रभो! राजन्! हे (शूर) शत्रुनाशक शूरवीर (सहस्रार्घस्य) हज़ारों के मुक़ाबला करने में समर्थ (शतवीर्यस्य) सैकड़ों बलों से सम्पन्न (बृहतः) विशाल (ते) तेरा (जालम्) जाल, शत्रुओं को घेरने का साधन भी (बृहत्) बहुत बड़ा है (तेन) उससे (शतम्) सौ, (सहस्रम्) सहस्र, (अर्बुदम्) दस सहस्र (दस्यूनाम्) दस्युओं को भी (सेनया) अपनी सेना की सहायता से (अभिधाय) घेर कर, पकड़ कर (निजघान) मार सकता है।

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान्॥८॥

भा०—(महतः) उस महान् (शक्रस्य) शक्तिमान् परमेश्वर का (अयं लोकः) यह लोक (जालम् आसीत्) जाल है। (अहम्) मैं (तेन) उस ही (इन्द्र-जालेन) इन्द्र के आवरणकारी जाल के समान विस्तृत (तमसा)[1] अन्धकारमय, तृष्णामय मृत्यु रूप जाल से (अमून्) उन शत्रुपक्षी (सर्वान्) सब लोगों को (अभि दधामि) घेरता हूँ।

७-(च०) 'अभिधाय सेनाम्' इति पैप्प० सं०।

१-इन्द्रश्शत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा इति यास्कः। नि० १०।१॥

१-'तमु कांक्षायाम्' (दिवादिः)।

महाभारत में इन्द्रजाल नामक महास्त्र का वर्णन है इसका प्रयोग अर्जुन ने किया है।

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥९॥

भा०—(उग्रा) उग्र तीव्र (सेदिः) थकान (उग्रा व्यृद्धिः) घोर असमर्थता, (उग्रा आर्तिः) ऐसी प्रचण्ड वेदना जिसमें (अनपवाचना) मुँह से गाली या क्रोध के वचन भी न निकल सकें, (श्रमः) थकान (तन्द्रीः च) निद्रा और (मोहः च) मूर्च्छा (तैः) इन नाना प्रकार की अवस्थाओं को उत्पन्न करनेवाले अस्त्रों से (अमून् सर्वान्) इन सब शत्रुओं को (अभि दधामि) बाँधता हूँ, अपने वश करता हूँ।

मृत्यवेमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा ॥१०॥(२०)

भा०—(अमून्) उन शत्रुओं को मैं (मृत्यवे) मृत्यु के (प्रयच्छामि) भेंट करता हूँ। (अमी) ये सब (मृत्युपाशैः) मृत्युकारक, विपाद, दरिद्रता, पीड़ा, थकान, निद्रा और मूर्च्छा आदि पाशों से (सिताः) बँधे हैं। (ये) जो (मृत्योः) मृत्यु के (अघलाः)[1] कष्टों को लाने वाले (दूताः) संतापकारी, पीड़ादायी लोग हैं (तेभ्यः) उन जल्लादों से (एनान्) इन शत्रुओं को (बद्ध्वा) बाँध कर (प्रतिनयामि) ले जाता हूँ। दुष्ट, प्राणदण्ड के योग्य शत्रुओं को मृत्युपाशों से बाँध २ कर राजा अपने हत्याकारी लोगों के हाथ सौंपे, वे उनको प्राणों से वियुक्त करें।

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत।
परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥ ११ ॥

१०–(तृ०) 'मृत्योर्ये खालादूताः' (च०) 'नयामि बद्धान्' इति पैप्प० सं०।
१. अघि गत्याक्षेपयोः (भ्वादिः)।

भा०—हे (मृत्यु-दूताः) मृत्यु अर्थात् प्राणविच्छेद की पीड़ा देने में समर्थ वीर पुरुषो! (अमून्) इन शत्रु लोगों को (नयत) ले जाओ। हे (यम-दूताः) बन्धन करनेवाले या बन्धनों से शत्रुओं को पीड़ा पहुं-चाने वाले नियुक्त पुरुषो! उनको (अप उम्भत)[1] समाप्त करो। (परः सहस्राः) ये हज़ारों (हन्यन्ताम्) मार डाले जायँ। (एनान्) इनको (भवस्य) सामर्थ्यवान् प्रभु राजा का (मत्यम्)[2] शत्रुओं का स्तम्भन-कारी सामर्थ्य दण्ड या वज्र (तृणेढु)[3] मारे या स्तम्भन करे।

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्यं यन्त्योजसा।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥

भा०—उस महान् ईश्वर का जो भारी जाल है, उसके (एकम्) एक (जालदण्डम्) जालदण्ड को (साध्याः) साधनासम्पन्न, 'साध्य' लोग (उद्यत्य) उठा कर (ओजसा) बल से (यन्ति) जाते हैं और (एकं रुद्राः) एक दण्ड को (रुद्राः) रुद्र, नैष्ठिक ब्रह्मचारी या प्राणगण उठाते हैं और (एकं) एक को (वसवः) वसु ब्रह्मचारी या पृथिवी आदि लोक लिये हुए हैं और (एकः) एक दण्ड को (आदित्यैः) आदित्य ब्रह्मचारी, या १२ मास, या योगी लोगों ने (उद्यतः) उठा रक्खा है। परमेश्वर का महान् जाल जिस में जीवगण या दुष्टाचारी जीव बंधे हैं, वह कर्म व्यवस्था है उसके साधक साध्य, वसु, रुद्र और आदित्य हैं। प्रति शरीर में भिन्न २ कार्यों से युक्त प्राण इन्द्रिय और पञ्च भूत आदि ही साध्य आदि नाम से कर्मफल, भोग, भोगा-यतनशरीर और मन आदि को संभाले हुए हैं, अध्यात्म में साध्य=कर्म। वसु=जीव। रुद्र=प्राण। आदित्य=कर्मफल या तत्प्रद ईश्वर। इसी प्रकार राजा भी शत्रुओं और दुष्ट पुरुषों को बांधने के लिये अपने जालके दण्ड

११-(तृ०) 'मृत्युदूताः अमूंनयत' इति पैप्प० सं०।

१. उत्र उम्भ पूरणे (तुदादिः), २. मन स्तम्भे (दिवादिः), ३. तृंहि। हिंसायाम्।

अर्थात् दमन साधनों को साध्य वसु रुद्र और आदित्य इन चार प्रकार के अधिकारियों के हाथ में दे । साध्य साधनसम्पन्न,. वसु=प्रजा, रुद्र=रोदनकारी, तीक्ष्ण पुरुष, आदित्य=ज्ञानवान्, मार्गदर्शक विद्वान् । इन चार प्रकार के पुरुषों के हाथों में तन्त्र को दिया जाय ।

विश्वे॑ देवा उ॒परि॑ष्टादु॒ब्जन्तो॑ य॒न्त्वोज॑सा ।
मध्ये॑न॒ घ्नन्तो॑ यन्तु सेना॒मङ्गि॑रसो म॒हीम् ॥ १३ ॥

भा०—(विश्वे देवाः) 'विश्वे देव' समस्त देव, युद्ध क्रीड़ा के करने वाले सामान्य सैनिक (ओजसा) बल से (उपरिष्टाद्) ऊपर से (उब्जन्तः) दुष्टों का दमन करते हुए (यन्तु) चलें । (मध्येन) बीच में (अंगिरसः) विद्वान्, विशेष शास्त्रों के ज्ञानवान्, तेजस्वी पुरुष (महीम्) बड़ी भारी (सेनाम्) सेना को (घ्नन्तः) मारते हुए (यन्तु) जावें ।

व॒न॒स्पती॑न् वानस्प॒त्यानोष॑धीरु॒त वी॒रुधः॑ ।
द्वि॒पाच्चतु॑ष्पादिष्णामि॒ यथा॒ सेना॑म॒मूं हन॑न् ॥ १४ ॥

भा०—(वनस्पतीन्) वनस्पतियों, वृक्षों और (वानस्पत्यान्) वनस्पतियों या वृक्षों या लकड़ी के बने पदार्थों, (ओषधीः) ओषधियों और (वीरुधः) लताओं को और (चतुष्पात्) चौपायों और (द्विपात्) दोपायों को मैं (इष्णामि) इस रूप से प्रयोग करूं (यथा) जिस प्रकार से (अमूम्) उस दूरस्थ (सेनाम्) सेना को (हनन्) विनाश करें । 'इष्णामि' इषु गतौ (दिवादिः) अत्र विकरणव्यत्ययः ।

ग॒न्ध॒र्वा॒प्स॒रसः॑ स॒र्पान् दे॒वान् पु॑ण्यज॒नान् पि॒तॄन् ।
दृ॒ष्टान॒दृष्टा॑निष्णामि॒ य॒था सेना॑म॒मूं हन॑न् ॥ १५ ॥

१३–'अङ्गिरसो वधैः' इति पैप्प० सं० ।

१४–(च०) अमूं हताम्' इति पैप्प० सं० ।

१५–(प्र०) 'देवान् सर्वान् पुण्यजनान्' (च०) 'अमूं हताम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व अर्थात् पुरुषों को अप्सरस् अर्थात् स्त्रियों को (सर्पान्) सांपों, (पुण्यजनान) पुण्यात्मा लोगों और (पितृन्) पालक, वृद्ध पुरुषों को (दृष्टान्) देखे, परिचित, और (अदृष्टान्) बिना देखे, अपरिचित लोगों को भी मैं (इष्णामि) इस प्रकार से प्रेरित करूं (यथा) जिस प्रकार (अमूम्) उस शत्रुभूत, अपने से दूरस्थ (सेनाम्) सेना को (हनन्) विनाश करें ।

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥१६॥

भा०—(इमे) ये (मृत्यु-पाशाः) शत्रुगण के मृत्यु करा देने वाले पाश, फांसे (उप्ताः) लगा दिये गये हैं । (यान् आक्रम्य) जिनको लांघ कर हे शत्रुगण तू (न मुच्यसे) कभी छूट कर नहीं जा सकता । (इदं कूटम्) यह कूट अर्थात् शत्रु के फांसने के लिये लगाये हुए फन्दे या कूट अर्थात् पीड़ा देने के निमित्त लगाये हुए जाल (सहस्रशः) हज़ारों की संख्या में (अमुष्याः सेनायाः) शत्रु की उस सेना को (हन्तु) विनाश करे ।

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

भा०—(अग्निना) शत्रुओं के तापकारी राजा द्वारा (अयम्) यह (सहस्रहः) सहस्रों शत्रुओं का नाश करने हारा (घर्मः) अति प्रदीप्त, प्रचण्ड (होमः) यज्ञ, युद्धरूप (समिद्धः) प्रज्वलित किया है । हे

१६–(प्र०) 'मृत्युपाशा यमायुक्ता' इति पैप्प० सं० ।
१७–(द्वि०) 'होमः सहस्रशः' (च०) 'सेनां सहस्रशः' इति पैप्प० सं० ।
१. 'पृश्नि बाहुः'–पृश्निः संस्पृष्टो भासां, ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासा इति वा, संस्पृष्टाज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च ।' [नि० २ । ४ । २]

भव ! राजन् ! हे पृश्निबाहो ! (भवः) सामर्थ्य युक्त, सत्ताधारी राजा (पृश्निबाहुः) तेजस्वी बाहुवाला, वीरबाहु, सेनापति और (शर्वः) शत्रुघाती योद्धा तुम तीनों (अमूम् सेनाम्) उस शत्रु सेना को (हतम्) मारो।

मृत्योरापमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनामुमूं हतम् ॥ १८ ॥

भा०—शत्रु लोग (मृत्योः) मृत्यु के (आपम्) ज्वाला या आंच को (आपद्यन्ताम्) प्राप्त हों। वे (क्षुधम्) भूख, (सेदिम्) विषाद, शिथिलता, (वधंम्) अपघात या बन्धन और (भयम्) भय को (अपद्यन्ताम्) प्राप्त हों। हे इन्द्र ! और हे (शर्व) शर्व ! शत्रुघाती योद्धा ! (इन्द्रः च) और इन्द्र राजा और शर्व तुम दोनों ही (अक्षुजालाभ्याम्) फन्दों और जालों से (अमूम्) उस (सेनाम्) सेना को (हतम्) मारो।

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

भा०—हे (अमित्राः) शत्रु लोगो ! तुम (पराजिताः) पराजित हो गये, हार गये। अब (प्र त्रसत) खूब भय करो। अब तुम लोग (नुत्ताः) पछाड़ दिये जाकर (ब्रह्मणा) हमारे ब्रह्मबल से या वेदविद्या के बल से या ब्रह्मास्त्र से (धावत) भाग जाओ। (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) वेद वाणी के परिपालक विद्वानों के आश्चर्यजनक विद्या विज्ञान के चमत्कारों से पछाड़े हुए (अमीषां) इन शत्रुओं में से (कःचन) कोई भी बचने न पावे।

१८–'मृत्योराधमापद्यन्ताम्' इति क्वचित् पाठः, पैप्प० सं० च।
१. त्रस गतिदीप्ति- असनेषु अघ इत्येके (भ्वादिः), (तृ०) इन्द्रस्याक्षमालाभ्यं शर्व सेनाममूंहतम्' इति पैप्प० सं०।
१९–'शर्वसेनाममूंहतम्' इति पैप्प० सं०।

अव॑ पद्यन्तामेषामायु॑धानि॒ मा श॑कन् प्रति॒धामिषु॑म् ।
अथै॑षां ब॒हु बिभ्य॑तामिष॑वो घ्नन्तु॒ मर्म॑णि ॥ २० ॥

भा०—(एषाम्) इन शत्रुओं के (आयुधानि) हथियार (अव-पद्यन्ताम्) नीचे हो जायँ । और (इषुम्) वाण को (प्रतिधाम्) प्रति-कूल रूप से धारण (मा शकन्) न कर सकें, न रोक सकें (अथ) और (बहु बिभ्यताम्) खूब डरते हुए (एषाम्) इनके (मर्मणि) मर्म स्थान में (इषवः) वाण (घ्नन्तु) खूब छेदें ।

सं क्रो॑शतामेना॒न् द्यावा॑पृथि॒वी सम॒न्तरि॑क्षं स॒ह दे॒वता॑भिः ।
मा ज्ञा॒तारं॒ मा प्र॑ति॒ष्ठां वि॑दन्त मि॒थो वि॑घ्ना॒ना उप॑ यन्तु मृ॒त्युम् ॥२१॥

(तृ० च०) अथर्व० ६ । ३२ । ३ ॥ तृ० च० ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों (एनान्) इनकी (सं क्रोशताम्) निन्दा करें और (देवताभिः) देवता और श्रेष्ठ पुरुषों तथा उत्तम दिव्य पदार्थों सहित (अन्तरिक्षं सम्) अन्तरिक्ष और वायु भी इनकी निन्दा करें अर्थात् भूमि, आकाश और वायु, जल, मेघ आदि सभी पदार्थ इनके अनुकूल न होकर प्रतिकूल हों । उनको इन से सुख प्राप्त न हो । ये (ज्ञातारम्) किसी विद्वान् ज्ञानी पुरुष को (मा-विदन्त) प्राप्त न करें और (प्रतिष्ठां मा विदन्त) प्रतिष्ठा प्राप्त न करें । बल्कि (मिथः) परस्पर (विघ्नाना) एक दूसरे का नाश करते हुए (मृत्युम् उप यन्तु) मृत्यु को प्राप्त हों ।

दिश॒श्चत॑स्रोऽश्वत॒र्यो॑ दे॒वर॑थस्य पु॒रोडाशा॑ः श॒फा अ॒न्तरि॑क्षमु॒द्धिः ।
द्यावा॑पृथि॒वी पक्ष॑सी ऋ॒तवो॒ऽभीश॑वोऽन्तर्दे॒शाः किं॑क॒रा वाक् परि॑-रथ्यम् ॥ २२ ॥

२१-(प्र०) 'समेनान् क्रोशतां द्यावापृथिवी उभे' इति पैप्प० सं० ।

भा०—वह परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर जब इस महान् विश्वरूप त्रिपुर या त्रिलोक का विजय करता है तब अलंकार रूप से (चतस्रः) चारों (दिशः) दिशाएं (देवरथस्य) देव उस परमेश्वर के महान् रथ, रमण स्थान ब्रह्माण्डरूप रथ की (अश्वतर्यः) अति अधिक व्यास, चार घोड़ियों के समान हैं, (पुरोडाशाः) यज्ञ में चरु द्रव्य या पुरोडाश (शफाः) घोड़ों के खुर हैं। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष यह वातावरण (उद्धिः) रथ के ऊपर का मुख्य शरीर भाग है । (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (पक्षसी) उसके दोनों पासे हैं। (ऋतवः) ऋतुएं (अभीशवः) रासें हैं (अन्तर्देशाः) बीच के प्रदेश या लोक (किंकराः) रथ के पीछे खड़े होने वाले चाकर हैं और (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) रथ के ऊपर का पर्दा है।

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् ।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

भा०—(संवत्सरः) संवत्सर अर्थात् वर्ष (रथः) रथ है । (परिवत्सरः) परिवत्सर (रथोपस्थः) रथ का उपस्थ अर्थात् रथी के बैठने का स्थान है। (विराट् ईषा) विराट् शक्ति उस रथ की 'ईषा' अर्थात् वह दण्ड है जिसके आगे घोड़े जुड़े होते हैं। और (अग्निःरथमुखम्) अग्नि रथ का मुख अर्थात् जिस में घोड़े जुड़ते हैं वह भाग है। (इन्द्रः सव्यष्ठाः) इन्द्र सूर्य रथ में बैठने वाला साथी है और (चन्द्रमाः सारथिः) चन्द्र सारथी है। इस प्रकार का रथ बनाकर स्वयं कालरूप भगवान् समस्त त्रैलोक्य को विजय कर रहे हैं। हे पुरुषो ! तुम भी इस महान संवत्सर मय देवरथ का अनुकरण करके रथ बनाओ और विजय करो।

२२—'शफान्तरिक्षं मुद्धिः' (च०) 'अभीशवो वाक् परिरथ्यम्' इति पैप्प० सं० ।

२३—(प्र०) 'अहोरात्रे चक्रे मासारात् संवत्सरोऽधिष्ठानं विराडीषाग्नी रथमुखम्' इति पैप्प० सं० ।

सूर्योपासक सूर्य का रथ, विष्णु के उपासक विष्णु के जगन्नाथ के रथ और शैव शिव के त्रिपुरदहन के समय के रथ का इसी प्रकार वर्णन करते हैं। वहां कल्पना भेद से वर्णनों में यत्किञ्चित् भेद है। पुराणों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। देखो हमारा बनाया पुराणमत-पर्यालोचन [पृ० २७९—८२]

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥ (२१)

भा०—हे राजन्! (इतः जय) इधर जय प्राप्त कर, (इतः विजय) इधर विजय प्राप्त कर, (संजय) अच्छी प्रकार विजय प्राप्त कर, (जय) विजयी हो, (स्वाहा) लोक में तुम्हें सुकीर्त्ति, सुख्याति प्राप्त हो। (इमे) ये हमारे योद्धागण (जयन्तु) जय प्राप्त करें, (अमी परा जयन्तु) ये शत्रु लोग पराजित हों। (एभ्यः) इन योद्धाओं को उत्तम कीर्त्ति प्राप्त हो, (अमीभ्यः) उन शत्रुओं की (दुर् आहा) अपकीर्त्ति हो। (अमून्) उन शत्रुओं को (नीललोहितेन) नीले और लाल रंग की वर्दी पहनने वाले योद्धा के बल से (अभि अवतनोमि) उनका मुकाबला करके उन को अपने नीचे दबा दूँ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे ऋचश्च द्वापञ्चाशत् ।]

[९] सर्वोत्पादक, सर्वाश्रय परम शक्ति 'विराट्'।

अथर्वा कश्यपः सर्वे वा ऋषयो ऋषयः। विराट् देवता। ब्रह्मोद्यम्। १, ६, ७, १०, १३, १५, २२, २४, २६ त्रिष्टुभः, २ पंक्तिः, ३ आस्तारपंक्तिः, ४, ५, २३, २५, अनुष्टुभौ, ८, ११, १२, २२ जगत्यौ, ९ भुरिक्, १४ चतुष्पदा जगती षड्-विंशर्चं सूक्तम् ॥

कुतस्तौ जातौ कंतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कंतमस्याः पृथिव्याः
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वां पृच्छामि कतरेण दुग्धा॥१॥

भा०—[प्रश्न] (तौ) वे दोनों जीव और ब्रह्म कुतः (जातौ) कहां से प्रादुर्भाव हुए प्रकट हुए, ? (सः) वह (कतमः) कौनसा सर्वश्रेष्ठ (अर्धः) परम सम्पन्नतम पद या स्वरूप है ? (कस्माद्लोकात्) किस लोक से, (कतमस्याः पृथिव्याः) कौनसी पृथिवी से वे दोनों प्रकट हुए ? [उत्तर] (विराजः) विराड् नाना रूपों से प्रकट होने वाली प्रकृति रूप (सलिलात्) 'सलिल' सर्वव्यापक पदार्थ से (वत्सौ) दोनों बच्चों के समान (उत् ऐताम्) उदय हुए, प्रकट हुए। [प्रश्न] (तौ) उन दोनों के विषय में हे ब्रह्मज्ञा-निन्! मैं (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ कि वह विराड् गौ (कतरेण) उन दोनों बछड़ों में से किससे (दुग्धा) दुही जाती है।

तौ=पं० ग्रीफिथ के मत से सूर्य और विद्युत्। इसका रहस्य आगे स्वयं स्पष्ट होगा।

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (सलिलम्) पूर्वोक्त प्रकृतिमय 'सलिल' को (अक्रन्दयत्) विक्षुब्ध करता है। और (त्रिभुजम्) तीन प्रकार से भोग करने योग्य सत्व, रजः, तमः रूप (योनी) मिश्रण, अमिश्रण या संयोग विभाग आदि परिणाम (कृत्वा) करके (शयानः) सब में अप्रकटरूप से या अव्यक्त रूप से व्यापक है। (सः) उसी ही (कामदुघः) समस्त काम अर्थात् संकल्पों को पूर्ण करने द्वारा (विराजः) विराट् प्रकृति का (वत्सः)[१] व्यापक, आच्छादक परम शक्तिमान् (पराचैः)

[६] १–(द्वि०) 'कतरस्याः पृथिव्याः' इति पैप्प० सं०।
२–'योऽक्रन्दद्' इति पैप्प० सं०।

दूर २ तक (तन्वः) नाना विस्तृत लोकों को इस (गुहा) महान् सबको आवरण करने हारे आकाश में (चक्रे) बनाता है ।

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥३॥

भा०—(यानि) जो (बृहन्ति) विशाल, (त्रीणि) तीन गुण सत्व, रजस और तमस् हैं (येषाम्) जिनकी अपेक्षा से (चतुर्थम्) चौथा (वाचम्) वाणी वेदमयी वाक् को (वियुनक्ति) प्रकट करता है । (विपश्चित्) कर्म और ज्ञानों का संचयी, विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (तपसा) अपने तप से (एनत्) उसको (ब्रह्म विद्यात्) 'ब्रह्म' जाने । (यस्मिन्) जिसमें (एकम्) एकमात्र वही (युज्यते) समाधि द्वारा साक्षात् किया जाता है (यस्मिन् एकम्) जिसके विषय में 'एक' अद्वितीय, ऐसा ही समाधि में साक्षात् ज्ञान होता है या जिसको 'एक अद्वितीय' कहना उचित है 'तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति माण्डूक्योप० ।

बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

भा०—(पञ्च[1] सामानि[2]) 'पञ्च अर्थात् परिणाम स्वरूप, 'विस्तृत' या व्यक्त रूप पञ्च भूत् (षष्ठात् [3]) उस षष्ठ अर्थात् सर्वव्यापक, उनमें लीन (बृहतः) बृहत् उस महान् तत्व में से (परि) पृथक् (अधि निर्मिता) बने और (बृहत्) वह 'बृहत्' महान् तत्व (बृहत्याः)

१. 'क्रादिक्लादि वैकल्ये' (भ्वादिः)

३–(प्र०) यानि चत्वारि 'बृहन्ति' इति पैप्प० सं० ।

४–(प्र०) 'सामानि षष्ठः' इति पैप्प० सं० ।

१. 'डुपचष् पाके' (भ्वादिः) पचि विस्तारवचने (चुरादिः) पचि व्यक्ति करणे (भ्वादिः) २. समी परिणामे (दिवादिः), ३. 'षस् स्वप्ने' (अदादिः)

उस 'बृहती' प्रकृति से (निर्मितम्) बना या प्रकट हुआ । [प्रश्न] अब प्रश्न यह है कि (बृहती) वह 'बृहती' प्रकृति (कुतः अधि निर्मिता) कहाँ से बन गयी, प्रकट हुई ।

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

भा०—(बृहती) वह 'बृहती' स्थूल प्रकृति (मात्रायाः परि) 'मात्रा', परम सूक्ष्म प्रकृति से प्रकट हुई और वह (मात्रा) 'मात्रा', परम सूक्ष्म प्रकृति (मातुः अधि निर्मिता) माता, सर्वज्ञ, सर्व विधाता ब्रह्म से (निर्मिता) प्रकट हुई । (माया) वह परम ज्ञानमयी विधात्री शक्ति कहाँ से आयी ? (माया ह मायायाः जज्ञे) वह 'माया' विधात्री निश्चय से 'माया' अर्थात् धात्री शक्ति से ही प्रादुर्भूत हुई । अर्थात् वह स्वयम्भू है । और (मायायाः) 'माया' उस विधात्री शक्ति के (परि) वश में (मातली) 'मातली' 'इन्द्र' 'जीव' है ।

यद्वेव मिमीते तस्मात् मात्रा [श० ३।९।४।८]

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

भा०—(वैश्वानरस्य) वैश्वानर सर्वव्यापक ईश्वर की (प्रतिमा) प्रतिमान अर्थात् परिमाण, लम्बाई चौड़ाई इतनी बड़ी है जितनी (उपरि द्यौः) ऊपर यह 'द्यौ' द्यौलोक या महान् आकाश है । और (अग्निः) दीप्तिमान् सूर्य के समान परमेश्वर (रोदसी यावत्) द्यौ और पृथिवी भर में (वि बबाधे[1]) व्यापक है । (ततः) उस (अमुतः) दूरतम, विप्रकृष्ट

५–(तृ०) 'मायाहि जज्ञे' इति पैप्प० सं० ।

६–'सतःषष्ठादमित्रो' इति पैप्प० सं० ।

१. बाधृ विलोडने (भ्वादिः)

(षष्ठात्) पूर्वोक्त पष्ठ अर्थात् सर्वव्यापक निगूढ़ शक्ति से (स्तोमाः) स्तोम प्राणधारी जीव (आ यन्ति) आते हैं और (इतः) यहाँ से (अह्नः) परम व्यापक शक्ति के (पष्ठम् अभि) पष्ठ, सर्वव्यापी निगूढ़, परम रूप के प्रति (उत् यन्ति) पुनः चले जाते हैं उसी में लीन होकर मुक्त हो जाते हैं।

सप्त स्तोमाः श० ९।५।२।८। त्रिवृत्, पञ्चदशः, सप्तदशः एकविंश एते वै स्तोमानां वीर्यवत्तमाः। श० ८।४।२।२। प्राणा वै स्तोमाः। श० ८।४।१।३। स्तोमाः वै परमाः स्वर्गा लोकाः। ऐ० ४।१८॥ सात स्तोम हैं। त्रिवृत, १५वाँ, १७वाँ, और २१वाँ यही स्तोमों में अधिक बलशाली हैं। प्राण स्तोम हैं। सुखमय लोक स्तोम हैं। तं पञ्चदशं स्तोमं ओजो बलमित्याहुः। प्राणो वै त्रिवृदात्मा पञ्चदशः। तां० १९।११।३। चतुर्दश हि एवैतस्यां करूकराणि भवन्ति वीर्यम् पञ्चदशम्। गो० पू० ५।३॥ प्रजापतिः सप्तदशः। गो० उ० २।१३।५। सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्चत्वार्यंगानि आत्मा पञ्चदशो ग्रीवाः षोडश शिरः सप्तदशम्। श० ६।२।२।९॥ तद्वै लोमेति द्वे अक्षरे, त्वग् इति द्वे, असृग् इति द्वे, मेद इति द्वे, मज्जेति द्वे, मांसमिति द्वे, स्नावेति द्वे, अस्थीति द्वे, ताः उ शकलाः। अथ य एतदन्तरेण प्राणः सञ्चरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः। श०, १०।४।१।१७॥ सप्तदश एष स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै प्रजात्यै। तां० १२।६।१३॥ एकविंशोऽयं पुरुषो दशहस्ता अंगुलयो दश पाद्या आत्मा एकविंशः। ऐ० ३।१९॥ तं (एकविंशस्तोमम्) देवतल्प इत्याहुः। तां० १०।१।१२॥ 'पञ्चदश स्तोम' ओज और बल है, प्राण त्रिवृत् है, आत्मा का नाम 'पञ्चदश' है, इस मेरुयष्टि या रीढ़ में १५ करूक मोहरे होते हैं, उनका धारक बल 'पञ्चदश' है। प्रजापति 'सप्तदश' है। दश प्राण, चार अंग ग्रीवा, सिर और १७ वां 'सप्तदश आत्मा है। लोम, त्वचा, रुधिर मेदस मज्जा, मांस, स्नायु, हड्डी इन में दो दो कला हैं इनसे १७ वां, 'सप्तदश' आत्मा है। वही १७ वां स्तोम प्रतिष्ठा और प्रजोत्पत्तिका निमित्त है। 'एकविंश स्तोम भी यह पुरुष है, वही देव इन्द्रियों का तल्प=सेज है अर्थात् उस में दश प्राण सोते हैं।

'षष्ठम् अहः'—देवायतनं वै षष्ठमहः। कौ० २३।५॥ प्रजापत्यं वै षष्ठमहः। कौ० २३।८॥ पुरुषो वै षष्ठमहः। अन्नं षष्ठमहः। कौ० २३।४।७॥ 'षष्ठ अहः' देवों का, प्राणों का, विद्वानों का, मुक्त जीवों का आयतन अर्थात् आश्रय स्थान है, वह प्रजापति का रूप है, वह पुरुष, परम पुरुष है, वह सबका अन्त, परम चरम धाम है अर्थात् प्रलयकाल में वही शेष है। इति दिक्।

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥७॥

भा०— हे (कश्यप) कश्यप, पश्यक ! सर्वद्रष्टः आत्मन् ! (षट् इमे ऋषयः) छः ये ऋषि हम (त्वा) तुझ से (पृच्छामः) प्रश्न करते हैं, क्योंकि (त्वम्) तू (युक्तम्) समाधि में स्थित योगी को और (योग्यं च) समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य ब्रह्म को (युयुक्षे) परस्पर मिलाता है, उनका संग और साक्षात् कराता है। (विराजम्) 'विराड्' को (ब्रह्मणः) ब्रह्म, इस बृहत् जगत् का (पितरम्) पिता (आहुः) बतलाते हैं। (ताम्) उस विराड् शक्ति को (यतिधाः) वह जितने प्रकार की है। (नः) हम (सखिभ्यः) मित्रों को (विधेहि) विशेष रूप से उपदेश कर।

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥८॥

भा०—विराट् के स्वरूपों का उपदेश करते हैं। (यां प्रच्युताम्) जिसके प्रच्युत नष्ट होने पर (यज्ञाः) यज्ञ अर्थात् लोक भी (प्रच्यवन्ते) विनष्ट हो जाते हैं और (उपतिष्ठमानाम्) स्थिर होने पर (उपतिष्ठन्ते) यज्ञ स्थिर हो जाते हैं, या व्यवस्थित रहते हैं। (यस्याः) जिसके (प्रसवे) विशेष, उत्कृष्ट रूप से लोकोत्पादन रूप (व्रते) कार्य में

७–(प्र) 'पृच्छामि' इति पैप्प० सं०।

(यक्षम्) वह उपासनीय देव (एजति) चेष्टा करता है । हे (ऋषयः) ऋषिगण ! (सा विराट्) वह 'विराट्' (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमनि) व्योम, विशेष रूप से सब जगत् की रक्षा करने के कार्य या पद पर विराजमान है ।

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

भा०—'विराट' (अप्राण्) विना प्राण की है । तो भी (प्राणतीनाम्) प्राण लेने वाली चेतना शक्तियों के (प्राणेन) प्राण जीवन शक्ति के साथ (एति) रहती है । वह (विराट) विराट् स्वयं अप्रकाशमान, जड़ होकर (पश्चात्) पीछे (स्वराजम्) 'स्वराट्' स्वयंप्रकाश ब्रह्म के (अभिएति) पास आती है । उसका संग करती है, उसके साथ मिल कर इस प्रकार (विश्वम्) सर्वव्यापक ब्रह्म को (मृशन्तीम्) सम्पर्क, सन्धि या स्पर्श करती हुई, (अभिरूपाम्) सब प्रकार से नाना रूपों को धारण करती हुई, अभिव्यक्त रूप से प्रकट हुई उस 'विराट्' को (त्वे) कुछ विद्वान् सूक्ष्मदर्शी लोग (पश्यन्ति) तत्व रूप से साक्षात् करते हैं और (त्वे) कुछ अज्ञानी लोग (एनाम्) इसको (न पश्यन्ति) नहीं देखते ।

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥ (२२)

भा०—(कः) कौन (विराजः) उस विराट् प्रकृति का (मिथुनत्वम्) परम पुरुष के साथ हुए मैथुन, एकभाव या जगत् की उत्पत्ति के कार्य को (प्र वेद) भली प्रकार जानता है ? कोई नहीं । (ऋतून्) ऋतुओं को अर्थात् गर्भधारण समर्थ या विशेष रूप से जगत् सृष्टि के

तीन शक्तियां—१ परस्पर प्रेम, २ अन्न, ३ राजशक्ति । अथवा आत्मिक शक्ति अधिभौतिक और अधिदैविक शक्ति । आत्मिक शक्ति से सब जीवों पर प्रेम उत्पन्न होता है, आधिभौतिक शक्ति से प्राकृतिक अन्न और पशु आदि बल ऊर्ज बढ़ता है, आधिदैविक शक्तियों से विशाल विशाल राष्ट्रों की रक्षा होती है ।

अ॒ग्नीषोमा॑वदधु॒र्या तु॒रीयासी॑द् य॒ज्ञस्य॑ प॒क्षावृष॑यः क॒ल्पय॑न्तः । गा॒य॒त्रीं त्रि॒ष्टुभं॒ जग॑तीमनु॒ष्टुभं॑ बृ॒हद॒र्की यज॑मानाय॒ स्व॒१॑रा॒-भर॑न्तीम् ॥ १४ ॥

भा०—(अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम दोनों को (यज्ञस्य) यज्ञ के (पक्षौ) दो पक्ष (कल्पयन्तः) बनाते हुए (ऋषयः) ऋषि गण (गायत्रीम्) गायत्री (त्रिष्टुभं) त्रिष्टुभ् (जगतीम्) जगती (अनुष्टुभम्) अनुष्टुभ् (यजमानाय) यज्ञ करने हारे यजमान आत्मा को (स्वः) परम सुख मोक्षप्रद (आभरन्तीम्) प्राप्त कराती हुई (बृहदर्कीम्) महती स्तुति के योग्य उस ब्रह्म या ब्रह्मशक्ति को (अदधुः) धारण करते हैं (या) जो (तुरीया) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे शिवरूप (आसीत्) है ।

१३–(द्वि०) 'त्रयो घर्मासो अनुरेतस' (च०) 'तत्रमेका' इति मै० सं० । 'त्रयो घर्मासो अनुज्योतिषा' (च०) 'तत्रमेका' इति (तृ०) 'प्रजामेका रक्षति' इति तै० सं० ।

१४–'अग्नीषोमावदधात्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । (च०) 'चतुष्टोमोऽभवद्या' इति तै० सं० । 'चतुष्टोमामदधात्' इति मै० सं० । 'तुरीया यज्ञस्य' तै० सं०, मै० सं०। 'यज्ञस्य पक्षौ ऋषयो भवन्ति' इति मै० सं० । (तृ०) 'जगतीं विराजं' इति मै० सं० । (च०) 'बृहदर्कं युञ्जानाः स्वराभरन्निदम्' इति तै० सं० । तत्र 'अर्कं युजाना स्वराभरन्निदम्' इति मै० सं० । 'बृहदर्कीयेज' इति पैप्प० सं० ।

गायत्री—'गयांस्तत्रे' प्राणों की रक्षा करने वाली 'त्रिष्टुभ्' तीनों लोकों से स्तुति करने योग्य, त्रिभुवनधारिणी शक्ति । 'जगती' निरन्तर गतिशील ज्ञानमयी । 'अनुष्टुप' सदा स्तुत्य, ये सब विशेष उस 'तुरीया' ब्रह्मशक्ति के रूपान्तर हैं । 'बृहदर्की' बृहत् अर्कवाली, ब्रह्मतेजोरूपा । इसी को 'तुरीयपद' अमात्र चतुर्थपाद शिव, परम शक्ति आदि नाम से कहते हैं । व्याख्यान देखो 'माण्डूक्योपनिषत्' में तुरीयपद का वर्णन ।

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥१५॥

भा०—प्रहेलिका । (पञ्च व्युष्टीः अनु) पाँच व्युष्टियों के साथ (पञ्च दोहाः) पाँच दोह हैं और (पञ्च नाम्नीम् गाम् अनु) पाँच नाम वाली गौ के अनुसार (ऋतवः पञ्च) पाँच ऋतु हैं । (पञ्चदशेन) पन्द्रहवें ने (पञ्च दिशः क्लृप्ताः) पाँच दिशों को वश किया । (ताः) और ये सब (एकमूर्ध्नीः) एक ही शिर वाली (एकम्) एक (लोकम् अभि) लोक के चारों ओर आश्रय लिये हैं ।

'पञ्च व्युष्टीः'=पाँच प्राण हैं उनके साथ पाँच प्रकार के दोह अर्थात् ग्राह्य विषय हैं । इसी प्रकार आधिदैविक में पाँच प्रकृति के विशेष विकार पञ्च-भूत हैं । उनके साथ उनके पाँच दोह अर्थात् तन्मात्राएँ उनमें विद्यमान गन्ध आदि विशेष धर्म हैं । 'पञ्चनाम्नी गौ' अध्यात्म में चिति शक्ति या जिसमें पाँच ऋतु, गतिमान् पाँच प्राण हैं । शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच दिशा हैं उन पर अधिकार उस पञ्चदश=आत्मा का है । प्राणो वै त्रि वृदात्मा पञ्चदशः । तां० १९ । ११ । ३ ॥ वे पाँचों दिश्=ज्ञानेन्द्रियें (एकमूर्ध्नीः) एक ही मूर्धास्थान में लगी हैं । अर्थात् उनका एक ही मूल [एक मूल-धनी=एक मूलधारिणी=एक-मूर्ध्नी] आत्मा या मुख्य प्राण है । वे सब एक ही लोक=

१५–(च०) 'समान मूर्ध्नीरभि' मै० सं०, तै० सं०, पा० गृ० सू० ।

आत्मा में आश्रित हैं। आधिदैविक पक्ष में पाँच प्रकृति के विकार पञ्च-भूत पाँच 'व्युष्टि' हैं उनके पाँच दोह पाँच तन्मात्राएं या गन्धादि पाँच गुण हैं। वे पाँचों के नाम को धारण करनेवाली गौ आदित्य या पृथ्वी के आश्रय ये पाँच ऋतु वसन्तादि प्रवृद्ध हैं। पाँच दिशा प्राची आदि हैं। उनको 'पञ्चदश'=तेजस्वरूप सूर्य वश में किये हुए हैं। वे दिशाएं (एक मूर्ध्नीः) एक ही आकाश रूप मूल में बद्ध होकर एक मात्र लोक=आलोक-कारी परब्रह्म में आश्रित हैं। तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। (कठ० उ०)

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति ।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥१८॥

भा०—(ऋतस्य) उस 'ऋत' सत्य सामर्थ्यवान्, परमेश्वर के सामर्थ्य से (प्रथमजाः) सबसे प्रथम उत्पन्न, व्यक्त हुए (षट्) छः (भूता) 'भूत' सत् पदार्थ (जाताः) उत्पन्न हुए और (षट् उ) वे छहों भी (सामानि) अपनी शक्तियों सहित मिश्रित होकर, संयुक्त होकर, परस्पर एक दूसरे के सहायक होकर (षडहम्) समस्त ब्रह्माण्ड और पुरुष देह को (वहन्ति) धारण करते हैं। (षड्योगम्) छः प्राणों के साथ योग करनेहारे (सीरम् अनु) सीर=शरीर के साथ (साम-साम) प्राण ही सहायक है इसी कारण (द्यावापृथिवीः षट् आहुः) द्यौ और पृथिवी को छः प्रकार की कहा जाता है और (ऊर्वीः) य विशाल पृथ्वी भी (षट्) छः प्रकार की कही जाती है।

'सेरं ह्येतद्यत् सीरम्। इरामेवाऽस्मिन्नेतद् धाति। श० ७। २। २॥ इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः। तै० २। ४। ८। ७॥

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः ।

भा०—(षट्) छः (मासाः) मासों को (शीतान् आहुः) शीत कहते हैं। और (षट् उ मासान्) छः ही मासों को उष्ण कहते हैं। हे

विद्वान् पुरुषो ! (ऋतुम्) उस ऋतु को (नः ब्रूहि) हमें बतलाओ (यतमः) जो इन ऋतुओं से (अतिरिक्तः) अतिरिक्त, अर्थात् बड़ा है । इति पूर्वार्धः ।

सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥१७॥

भा०—(सप्त सुपर्णाः) सात सुपर्ण अर्थात् पक्षियों के समान, शोभन ज्ञान प्राप्त करने में कुशल (कवयः) क्रान्तदर्शी इस देह के शिरोभाग में (निषेदुः) विराजते हैं । (सप्त छन्दांसि अनु) सात छन्दों=प्राणों के साथ (सप्तदीक्षाः) सात दीक्षाएँ=नियत कर्म या ज्ञानसाधन के सामर्थ्य भी हैं । इति उत्तरार्धः ।

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥१८॥

भा०—(सप्त होमाः) सात होम (सप्त ह समिधः) सात समिधाएँ, (सप्त मधूनि) सात मधु, (सप्त ह ऋतवः) सात ऋतु या (सप्त आज्यानि) सात आज्य (भूतम्) सत् पदार्थ आत्मा को (परि आयन्) प्राप्त हैं । (ताः) उनको ही (सप्त गृध्राः) सात गृध्र अर्थात् विषयों की आकांक्षा करने वाले इन्द्रियगण के नाम से (वयम्) हम (शुश्रुम) सुनते हैं ।

होम, मधु, समिध, ऋतु, आज्य और गृध्र ये सब सात शीर्षण्य प्राणों के नाम भेद हैं ।

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि ।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥१९॥

१७—(प्र०) शीतान्षड्' इति क्वचित् पाठः ।

१८—(प्र० द्वि०) 'समिधोऽनु सप्त', 'ऋतवोऽनु सप्त' (तृ० च०) सप्त ज्यायो पुरुहूत आयं सप्त होता ऋतुदत्र जेताः सप्तगृध्रा इति शुश्रावाहम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सप्तच्छन्दांसि) सात छन्दः=प्राण तो ये शिरोभाग में विराजमान हैं। (उत्तराणि) इन से भी उत्कृष्ट कोटि के (चतुः) और चार हैं। और वे (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरे में (अधि आ अर्पितानि) अर्पित हैं, एक दूसरे में आश्रित हैं। अब प्रश्न यह है कि (स्तोमाः) स्तोम अर्थात् छन्दः या प्राणगण (तेषु) उन उत्कृष्ट चार अन्तःकरण-चतुष्टयों में (कथं प्रति तिष्ठन्ति) किस प्रकार प्रतिष्ठित या आश्रित हैं और (तानि) वे उत्कृष्ट कोटि के चारों (स्तोमेषु) स्तोम या प्राणों में (कथम्) किस प्रकार (आ अर्पितानि) आश्रय लिये हुए हैं ?

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते ।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः ॥ २० ॥ (२३)

भा०—(गायत्री) गायत्री नामक प्राणशक्ति (त्रिवृत्) त्रिवृत नाम अन्न को (कथं व्याप) किस प्रकार व्याप्त करता है । और (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् नामक प्राणशक्ति (पञ्चदशेन) पञ्चदश नाम आत्मा के साथ (कथम्) किस प्रकार (कल्पते) देह व्यापार करने में समर्थ होता है ? (जगती) जगती नामक चितिशक्ति या प्राणशक्ति (त्रयस्त्रिंशेन कथम्) त्रयस्त्रिंश नाम परम आत्मा के साथ किस प्रकार जगत् को चला रही है ? और (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् नामक शक्ति और (एकं विंशः) एकविंश नाम आत्मा के साथ किस प्रकार देह व्यापार करने में समर्थ है ।

त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश आदि की व्याख्या देखो इसी सूक्त की ऋचा ६ में । गायत्री आदि नामों की व्याख्या इसी सूक्त की ऋचा १४ में देखो ।

त्रयस्त्रिंशः स्तोमानामधिपतिः । ता० ६ । २ । ७ ॥ ज्योतिः त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम् । ता० १३ । ७ । २ ॥ सत् त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम् । ता० १५ । १२ । २ ॥ अन्तो वै त्रयस्त्रिंश स्तोमानाम् । ता० ३ । ३ । २ ॥ तम् उ नाक इत्याहुः । ता० १० । १ । १८ ॥ देवता एव त्रयस्त्रिंशस्यायत-

नम् । ता० १० । १ । ६ ॥ सब स्तोमों=प्राणों का अधिष्ठाता, वही ज्योति है, वही सत् और वही सबका चरम सुख है जिस में सब प्राण लीन होते हैं । ये अन्य शरीर के घटक देव उसके आश्रय स्थान हैं ।

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥ २१ ॥

भा०— (ऋतस्य) ऋत अर्थात् आदि सत् पदार्थ के (प्रथमजाः) प्रथम प्रादुर्भूत (अष्ट) आठ (भूता जाता) भूत अर्थात् भाव पदार्थ उत्पन्न हुए । हे (इन्द्र) इन्द्र आत्मन् ! (ये) जो (अष्ट) आठों (दैव्याः) देव गणों के या देव, परम पुरुष के उत्पत्ति स्थिति प्रलयरूप यज्ञ के (ऋत्विजः) 'ऋत्विग्' हैं वे यथाकाल परस्पर मिलते और सर्ग रचते हैं । उन से ही (अदितिः) अविनाशिनी प्रकृति 'अदिति' भी (अष्टयोनिः) अष्ट-योनि, आठ स्वरूपों वाली और (अष्ट-पुत्रा) मानो आठ पुत्रों वाली है । वह (अष्टमीं रात्रीम्) अष्टमी रात्रि अर्थात् संसार की व्यक्त दशा को (हव्यम्) हव्य अर्थात् संसार रूप में (अभि एति) प्राप्त करती है ।

अष्टरात्रेण वै देवाः सर्वमाप्नुवन् । तां० २२।१।१६॥ प्रजापत्यमेतदहः यदष्टका । रात्रिर्व्युष्टिः । श० १३।२।१।६॥ 'अष्टरात्र' से देवगण ईश्वरीयशक्ति से युक्त प्राकृत विकार, सर्व अर्थात् संसार में व्यापक हैं । अष्टका यह प्रजापति सम्बन्धी दिन है अर्थात् परमेश्वर के सर्वव्यापक शक्ति का प्रतिनिधि है । सर्वव्यापक शक्तियों के परस्पर संयोग से जो संसार की व्यक्त होने की विशेष दशा है वही 'अष्टमी रात्रि' कहाती है । उसी दशा में वह 'अदिति' हव्य-समस्त संसार को अपने में धारण करती है । "सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम् । श० १०।६।५।५॥ सब संसार को अपने

२१–'अष्टौ धामानि प्रथमजा ऋतस्याष्टेन्द्रवर्तिजो' इति पैप्प० सं० ।

में लीन करती है अतः 'अदिति' कहाती है। शिव की आठ मूर्तियों का यही आधार है। प्रजापति की आठ मूर्तियां शतपथ में-१ आपः, फेन, सिकता, शर्करा, अश्मा, अपः, हिरण्य और स्वयं प्रजापति आठवीं। यह अक्षर का आठ रूपों से क्षरण है। रुद्र के आठ नाम-रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान और नवम कुमार है इन के प्राकृतिक नाम क्रम से अग्नि, आपः, ओषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा, आदित्य हैं। और अग्नि का त्रिवृद्भाव देखो शत० ६।१।२।१८॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् २२॥

भा०—(इत्थम्) इस प्रकार (श्रेयः) परम 'श्रेय' कल्याण रूप परमपद को (मन्यमाना) ज्ञान करती हुई, मैं 'विराट्' रूप में (इदम्) इस चराचर जगत् को (आगमम्) प्राप्त हूं। और (अहम्) मैं (शेवा) अति कल्याणमयी होकर (युष्माकम्) तुम प्राणियों के (सख्ये) सख्य प्रेमभाव, सहयोग में (अस्मि) प्राप्त हूं। (वः) तुम्हारा (समानजन्मा) तुम्हारे साथ ही उत्पन्न होने वाला (क्रतुः) सर्वकर्त्ता प्रभु भी (वः) तुम्हारा (शिवः) कल्याणकारी है। (सः) वह (वः) तुम्हारे (सर्वाः) समस्त क्रियाओं और चेष्टाओं को (प्रजानन्) जानता हुआ, (संचरति) विचरता है या व्यापक है।

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्याउनोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥ २३ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) इन्द्र ऐश्वर्यवान् उस परमात्मा के (अष्ट) आठ

२२-(प्र०) 'मन्थमानेदमागं'। (तृ०) 'क्रतुरस्ति नः शिवः सनः' इति पैप्प० सं०।

२३-'यमस्यर्षीणां' इतिक्वचित् पाठः।

रूप और (यमस्य) संयम में रहने वाले जीव के (षट्) छः मन सहित छः इन्द्रियें अथवा (यमस्य षट्) यम नियामक कालरूप संवत्सर की छः ऋतुएं और (ऋषीणाम्) विषयों के द्रष्टा इन्द्रियों के (सप्तधा) सात प्रकार से गति करने वाले (सप्त) सात प्राण (अपः) समस्त कर्मों, ज्ञानों को, (मनुष्यान्) मनुष्यों और (ओषधीः) ओषधियों (तान्) उन सबको भी (पञ्च) पांच भूत ही (अनुसेचिरे)[1] रच रहे हैं, रूपवान् और सत्तावान् बना रहे हैं।

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ असुरानुत ऋषीन् ॥२४॥

भा०—(गृष्टिः) प्रथम प्रसूता गौ जिस प्रकार मधुर दुग्ध अपने केवल प्रथम वत्स के लिये ही देती है उसी प्रकार यह 'विराट्' भी (केवली)[1] केवल मात्र परमपदभागी मुक्त (इन्द्राय) जीव के लिये ही (प्रथमम्) सब से प्रथम २ (दुहाना) दुही जाकर (वशं) अति कमनीय (पीयूषम्) पान करने योग्य अमृत को (दुदुहे) प्रदान करती है। और वही इस प्रकार (चतुर्धा) चार प्रकार से (देवान्) देव, (मनुष्यान्) मनुष्य, (असुरान्) असुर, (उत) और (ऋषीन्) ऋषि इन (चतुरः) चारों को (अतर्पयत्) तृप्त करती है।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। सां० सू०। किस प्रकार प्रकृति स्वयं मोक्ष का कारण है और वह सब के भोग का भी कारण है। इस की व्याख्या सांख्यदर्शन से जाननी चाहिये।

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

---

१. षच समवाये (भ्वादिः)।

२४–(च०) 'अथर्वान्' इति पैप्प० सं०।

१. चतुर्थ्यर्थे प्रथमा।

भा०—प्रश्न यह है कि (कः नु गौः) वह महान् 'गौः' सब का चलाने वाला, ब्रह्माण्ड या जगत्‌रूप गाड़े का खैंचने वाला बैल कौन है ? और इस समस्त चराचर का (ऋषिः) द्रष्टा, उसका निरीक्षक, (एकः) एकमात्र सर्वाध्यक्ष (कः) कौन है ? (किम् उ धाम) इस सब को धारण करने वाला सर्वाश्रय क्या है ? (आशिषः) सब पदार्थों को शासन करने वाली, सब को नियम में रखने वाली शक्तियां (काः) कौनसी हैं ? (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) एकमात्र वरण करने और पूजने योग्य (एक ऋतुः) एक मात्र ऋतु के समान संवत्सर रूप काल (यक्षम्) सब पदार्थों को परस्पर संगति कराने और उनको व्यवस्थित करने वाला (सः) वह (नु) भी (कतमः) कौनसा है ?

एको॒ गौरेक॑ ऋ॒षिरेकं॒ धामै॑क॒धाशिषः॑ ।
य॒क्षं पृ॑थि॒व्यामे॑क॒वृदे॑क॒र्तुर्नाति॑ रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

भा०—उत्तर यह है कि–(एकः गौः) वह एकमात्र परमात्मा ही (गौः) इस चराचर को चलाने वाला महा वृषभ है । और वही (एकः) एकमात्र (ऋषिः) सर्वाध्यक्ष है । वही (एकं धाम) एकमात्र सब के धारण करने वाला 'बल' है और सब का आश्रय है । (एकधा आशिषः) वे सब नियामक शक्तियां भी एक ही रूप की ब्रह्ममयी हैं (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) एकमात्र वरणीय, सब से श्रेष्ठ (एक ऋतुः) एक ऋतु के समान या एकमात्र सब का प्रेरक प्राणरूप (यक्षम्) सब को परस्पर संगत और व्यवस्थित करने वाला बल भी वही एक है (न अतिरिच्यते) उससे बढ़ कर दूसरा नियामक भी कोई नहीं है ।

२५–(द्वि०) 'किमु साम' इति पैप्प० सं० ।

[१० (१)] 'विराड्' के ६ स्वरूप गार्हपत्य, आह्वनीय, दक्षिणाग्नि, सभा समिति और आमन्त्रण।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता। १ त्रिपदार्ची पंक्तिः। २,७ याजुष्यौ जगत्यः। ३,६ साम्न्यनुष्टुभौ। ५ आर्ची अनुष्टुप्। ७,१३ विराट् गायत्र्यौ। ११ साम्नी बृहती। त्रयोदशर्चं पर्यायसूक्तम्॥

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति॥ १॥

भा०—(इदम्) यह जगत् (अग्रे) पहले, अपने पूर्व रूप में (विराट्) विराट् ही (आसीत्) था। (तस्याः) उसके (जातायाः) प्रादुर्भाव अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त होते हुए (सर्वम्) सब चराचर (अबिभेत्) भयभीत हुआ, शंकित हुआ कि (इयम्) यह विराट् ही (इदम्) इस जगत्रूप को (भविष्यति) धारण करेगी अर्थात् वही जगत् रूप में प्रकट होगी।

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्॥ २॥

भा०—(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर उठी और (सा) वह (गार्हपत्ये) गार्हपत्य में (नि अक्रामत्) नीचे आगयी।

'प्रजापतिर्हि गार्हपत्यः' कौ० २७।७॥ अयं वै भूलको गार्हपत्यः। श० ७।१।१।६॥ जाया गार्हपत्यः। ऐ० ८।२४॥ कर्मेति गार्हपत्यः। जै० ३।४।२६।२५॥ अपगो वै गार्हपत्यः। कौ० २।१॥ अन्नं वै गार्हपत्यः कौ०। २।१॥ वह विराट् उत्क्रमण करके अर्थात् विशालरूप में प्रकट होकर भी प्रजापति के वश में रही, अथवा इस भूलोक, स्त्री, अन्न, कर्म आदि के स्वल्प परिमित रूप में भी प्रकट हुई।

[१० (१)] १—विराड् वा इदमग्रेऽजायत तस्या जाताया बिभेदेक सर्वम्। यमेवेदं भविष्यति न वयम् इति।

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है । वह (गृहमेधी) गृह मेधी=गृहस्थ (गृहपति) गृह अर्थात् जाया का पति= पालक होता है ।

सोदक्रामत् साहवनीये न्य/क्रामत् ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह जब (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी, विशालरूप में प्रकट हुई तब (सा आहवनीये) वह अहवनीय या द्यौरूप में (नि अक्रमत्) उतर आई अर्थात् प्रकट हुई ।

द्यौराहवनीयः । श० ८।६।३।११॥ इन्द्रोऽग्राहवनीयः । श० २।७।१। ३८॥ यजमान आहवनीयः । पुरुषस्य मुखमेव आहवनीयः कौ० । १७।७॥ यज्ञस्य शिर आहवनीयः । श० ६।५।२।१॥ प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यः । श० २।२।२।१८॥ द्यौ, इन्द्र, जीव, यजमान, पुरुष, पुरुष का मुख, यज्ञ का मुख, प्राण ये आहवनीय के रूप हैं ।

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार 'विराट्' के स्वरूपों का (वेद) ज्ञान कर लेता है वह (देवानां प्रियः) देवों का प्रिय (भवति) हो जाता है और (अस्य) उसके (देवहूतिं) दिव्य पदार्थों और विद्वानों की हूति पुकार या आमन्त्रण को (देवाः) देवगण (यन्ति) प्राप्त होते हैं ।

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्य/क्रामत् ॥६॥

यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥७॥

भा०—(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर को उठी अर्थात् प्रकट हुई और (दक्षिणाग्नौ नि अक्रामत्) दक्षिणाग्नि रूप में उतर आयी । (य एवं वेद) जो पुरुष इस रहस्य को जानता है वह (यज्ञर्तः)

यज्ञ में पूजनीय (वासतेयः) वसति=गृह में बसने योग्य उत्तम अतिथि (भवति) होता है । वह (दक्षिणीयः) दक्षिणा प्राप्त करने योग्य, कुशल (भवति) हो जाता है ।

सोदक्रामत् सा सभायां न्य/क्रामत् ॥ ८ ॥

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और (सा सभायां नि अक्रामत्) वह विराट् पुनः सभा के रूप में (नि अक्रामत्) उतर आयी, प्रकट हुई । (य एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जानता है वह (सभ्यः) सभा में पूजा योग्य (भवति) हो जाता है और विद्वान्गण (अस्य सभां यन्ति) इसकी सभा में आते हैं ।

सोदक्रामत् सा समितौ न्यं/क्रामत् ॥ १० ॥

यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और (सा समितौ नि अक्रामत्) वह समिति, सर्व साधारण विशाल सभा के रूप में आ उतरी, प्रकट हुई । (य एवं वेद सामित्यो भवति) जो विराट् के इस प्रकार के स्वरूपों को जान लेता है वह समिति या जनसमाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। (अस्य समितिं यन्ति) लोग उसकी समिति या संगति को प्राप्त होते हैं ।

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥

यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥ (२५)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और फिर (सा आमन्त्रणे नि अक्रामत्) वह 'आमन्त्रण', परस्पर प्रेम और सम्मानपूर्वक बुलाने के रूप में आ उतरी, प्रकट हुई । (यः एवं वेद आमन्त्रणीयः भवति । अस्य आमन्त्रणं यन्ति) जो विराट् के इस प्रकार के रूप को जान लेता है वह अन्यों द्वारा सन्मानपूर्वक आमन्त्रण पाता है और उस के आमन्त्रण को दूसरे स्वीकार करते हैं ।

[२] विराट के ४ रूप ऊर्ग्, स्वधा, सूनृता, इरावती, उसका ४ स्तनोंवाली गौ का स्वरूप ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १ त्रिपदा अनुष्टुप् । २ उष्णिग्गर्भा चतुष्पदा उपरिष्टाद् विराड् बृहती । ३ एकपदा याजुषी गायत्री । ४ एकपदा साम्नी पंक्तिः । ५ विराड् गायत्री । ६ आर्ची अनुष्टुप् । ८ आसुरी गायत्री । ९ साम्नी अनुष्टुप् । १० साम्नी बृहती । ७ साम्नी पंक्तिः । दशर्चं सूक्तम् ॥

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥ १ ॥

भा०—(सा) वह विराट् (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी, प्रकट हुई (सा) वह (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में, वायुमण्डल में, (चतुर्धा) चार प्रकार से (विक्रान्ता) विभक्त होकर (अतिष्ठत्) विराजमान है।

तां देवमनुष्या/ अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभय उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥

भा०—(ताम्) उसके विषय में (देव-मनुष्याः) देवगण विद्वान् जन, (अब्रुवन्) बोले कि (इयम् एव) वह विराट् ही (तत् वेद) उस परम तत्व को जानती है (यत्) जिस के आधार पर हम (उप जीवेम) आजीविका करते, एवं प्राण धारण करते हैं। (इमाम् उपह्वयामहे इति) बस हम इसी को बुलावें।

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥

भा०—(ताम्) उस विराड् को उन्होंने (उपाह्वयन्त) बुलाया।

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥ ४ ॥

भा०—(ऊर्जे) हे ऊर्जे ! अन्नमयि ! (आ इहि) आ। हे (स्वधे) स्वधे, अन्नमयि शरीर धारण करने में समर्थ (आ इहि) आ। हे (सूनृते) सूनृते ! उत्तम शब्दमयी वाणी ! (आ इहि) आ। हे (इरावति) इरावति ! अन्नवति ! (आ इहि) आ।

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥ ५ ॥

भा०—(तस्याः) उस अन्नमयी 'विराट् रूप गौ का (इन्द्रः वत्सः आसीत्) इन्द्र वत्स=बछड़े के समान है और (गायत्री अभिधानी) गायत्री बांधने की रस्सी है. (अभ्रम् ऊधः) और मेघ दूध के भरे ऊधस के समान है।

बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ॥६॥

भा०—उस विराड् रूप गौ के (बृहत् च) बृहत् और रथन्तर (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य (द्वौ द्वौ स्तनौ) दो २ स्तन (आस्ताम्) थे।

ओषधीरेव रथंतरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ॥ ७ ॥

भा०—(देवाः) देवगण (रथन्तरेण) 'रथन्तर' नामक स्तन से (ओषधीः अदुहन्) ओषधियों को दुहते हैं प्राप्त करते हैं। और (बृहता) 'बृहत्' नामक स्तन से (व्यचः) 'व्यचस्' अन्तरिक्षको दुहते उसका रस प्राप्त करते हैं।

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

भा०—और (वामदेव्येन) वामदेव्य नामक स्तन से (अपः) अप जलों को दुहा और (यज्ञायज्ञियेन) 'यज्ञायज्ञिय' नामक स्तन से (यज्ञम्) यज्ञ को दुहा, प्राप्त किया।

ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥
अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥ (२६)

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार विराड् के गूढ़ रहस्य को जानता है (अस्मै) उसके लिये (रथन्तरं ओषधीः एव दुहे) 'रथन्तर' नाम स्तन ओषधियों को ही प्रदान और पूर्ण करता है, (बृहत् व्यचः) 'बृहत्' नाम स्तन 'व्यचस्' को प्रदान और पूर्ण करता है, (वामदेव्यं अपः) वामदेव्य स्तन अपः=जलों को प्रदान और पूर्ण करता है। और

(यज्ञायज्ञियं) 'यज्ञायज्ञिय' नाम का स्तन यज्ञ को प्रदान करता और पूर्ण करता है । संक्षेप से देवों और मनुष्यों के उपजीवक विराड् के अन्तरिक्ष में चार रूप हैं । ऊर्ज्, स्वधा, सूनता, इरावती । उनका वत्स इन्द्र, रस्सी गायत्री, स्तनमण्डल मेघ है । उस विराड् रूप गौ के ४ स्तन हैं बृहत्, रथन्तर यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य, उनसे चार प्रकार का दूध प्राप्त किया ओषधि, व्यचस्, अपः और यज्ञ । विराड् शक्ति के या द्यौ=आदित्य के अन्तरिक्ष में चार रूप ऊर्ज=अन्न, स्वधा=प्राण और अन्न, सूनृता, उत्तम वाणि, वाक् विद्युद्गर्जना और इरावती, जलों या अन्नों से पूर्ण पृथिवी । वत्स इन्द्र=वायु या स्वतः जीव है । गायत्री पृथिवी, अपने साथ उसे बाँधे है । मेघ उसके स्तन मण्डल है मेघों के ४ स्तन हैं १. बृहत्=द्यौः उससे व्यचः=अन्न उत्पन्न है । जैसा कालिदास ने लिखा है "दुरोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्" (रघु०) । २. दूसरा स्तन रथन्तर है । रसतमं ह वै रथन्तरम् इत्याचक्षते परोक्षम् । श० ९।१।२।३॥ इयं वै पृथिवी रथन्तरम् । ऐ० ८ । १ ॥ रथन्तर यह पृथिवी है । इससे नाना ओषधियाँ उत्पन्न हुईं । (३) तीसरा स्तन 'यज्ञायज्ञिय' है । पशवोऽन्नाद्यं यज्ञायज्ञीयं । तां० १५।९।१२॥ पशु और अन्नादि खानेवाले जन्तु 'यज्ञायज्ञिय' हैं । उनसे 'यज्ञ' उत्पन्न हुआ । (४) वामदेव्य चौथा स्तन अन्तरिक्ष है । अन्तरिक्षं वै वामदेव्यम् । तां० १५ । १२ । ५ ॥ उससे अपः जलों की वर्षा हुई ।

[३] विराड् के ४ रूप, वनस्पति, पितृ, देव और मनुष्यों के बीच में क्रम से रस, वेतन, तेज और अन्न ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १ चतुष्पदा विराड् अनुष्टुप् । २ आर्ची त्रिष्टुप् । ३,५,७ चतुष्पदः प्राजापत्याः पंक्तयः । ४,६,८ आर्च्योबृहत्यः ।

सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् उठी, प्रकट हुई । (सा वनस्पतीन् आगच्छत्) वह वनस्पति वृक्ष लताओं के समीप आगयी । (ताम्) उसको (वनस्पतयः) वृक्ष आदि वनस्पतियों ने (अघ्नत) भोग किया । (सा) वह (संवत्सरे) एक वर्ष भर (सम् अभवत्) उनके साथ संयुक्त रही ।

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

भा०— (तस्मात्) इसी कारण से (वनस्पतीनां) वनस्पतियों में वर्ष भर में (वृक्णम् अपि) काटा हुआ भी (रोहति) पुनः अपनी नयी शाखाएं उत्पन्न=पैदा करता है । (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है (अस्य यः भ्रातृव्यः) उसका जो शत्रु है वह भी (वृश्चते) कट जाता है ।

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोघ्नत सा मासि समभवत् ॥३॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् उठी । (सा पितॄन् अगच्छत्) वह 'पितृ' लोगों के पास आई । (तां पितरः अघ्नत) उस के साथ पितृ लोग रहे । (सा मासि सम् अभवत्) वह मास भर उनके साथ लगी रही ॥ ३ ॥ (तस्मात्) इस लिये (पितृभ्यः) पितृ लोगों को (मासि) एक मास पर (उपमास्यम्) मासिक वृत्ति या वेतन (ददति) देते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को (जानाति) जान लेता है वह (पितृयाणं पन्थाम्) पितृयाण मार्ग को (प्रजानाति) भली प्रकार जान लेता है ।

[३] २. 'संवत्सरे वनस्पतीनां' इति पैप्प० सं० ।

प्रजा के शासक और घर के बूढ़े व्यवस्थापक लोग 'पितृ' शब्द से कहे जाते हैं। उन को प्रति मास वेतन और मासिक व्यय देना चाहिये। वही उनकी 'स्वधा' अर्थात् शरीर के धारणोपयोगी भेंट है। और यही उनका पितृत्व है कि वे पिता के समान आप शरीर पोषण मात्र लेकर प्रजा को पिता के समान पालते हैं।

सोदंक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत सार्धमासे समंभवत् ॥ ५ ॥
तस्माद् देवेभ्योर्धमासे वषंद् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेदं ॥ ६ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी, (सा देवान् आगच्छत्) वह देव विद्वानों के पास प्राप्त हुई। (तां देवाः अघ्नत) उसको देवगण प्राप्त हुए। (सा अर्धमासे सम् अभवत्) वह आधे मास भर उनके संग रही। (तस्मात्) इसलिये (देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति) देवगण विद्वान् लोगों को आधे मास पर प्रति पक्ष, पर्व के दिन 'वषट्' दान रूप से अन्न आदि दिया जाता है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह (देवयानं पन्थां प्र जानाति) देवयान मार्ग को भली प्रकार जान लेता है।

सोदंक्रामत् सा मंनुष्याँ३ नागच्छत् तां मंनुष्या अघ्नत सा सद्यः समंभवत् ॥ ७ ॥

४–,तस्मात् मासि पितृभ्यः','दधतस्स्वधावान् पितृषु भवति पितृयाणं०' इति पैप्प० सं०।

५–'तस्मादर्धमासे देवेभ्यो जुहोति जुहोति अग्निहोत्रं प्रदेवयानं०' इति पैप्प० सं०।

तस्मान्मनुष्ये/भ्य उभयद्युरुपं हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ (२७)

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह ऊपर उठी । (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्यों के पास आयी । (तां मनुष्याः अघ्नत) मनुष्य उसके संग रहे । (सा सद्यः सम् अभवत्) वह एक ही दिन उनके संग रही । (तस्मात्) इसलिये (मनुष्येभ्यः उभयद्युः उपहरन्ति)[1] मनुष्यों के लिये हर दूसरे दिन अन्न आदि देते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है (अस्य गृहे उपहरन्ति) उसके घर में लोग आवश्यक पदार्थ ले आते हैं अर्थात् अन्य साधारण मनुष्यों में दैनिक वेतन का नियम है ।

[४] विराट् गौ से माया, स्वधा, कृषि, सस्य, ब्रह्म और तप का दोहन।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १, ५ साम्न्यांजगत्यौ । २,६, १० साम्नां बृहत्यौ । ३,४,८ आर्च्यनुष्टुभः । ६,१३ चतुष्पादुउष्णिहौ । ७ आसुरी गायत्री । ११ प्राजापत्यानुष्टुप् । १२, १६ आर्चीत्रिष्टुभौ । १४, १५ विराड्गायत्र्यौ ।

षोडशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥

तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥ २ ॥

तां द्विमूर्धार्त्व्यो/धोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥४॥

८—'तस्माद् अहरहर्मनुष्याणां मुप॰' इति पैप्प॰ सं॰ ।

१. 'उपाहरन्ति भोजनमिति शेषः' इति ह्विटनिः ।

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी । (सा असुरान्) वह असुरों के समीप (आगच्छत्) आयी ॥१॥ (ताम्) उस को (असुराः) असुर लोगों ने (उपाह्वयन्त) बुलाया—हे (माये) माये ! (एहि इति) आ ॥ २ ॥ (तस्याः) उसका (प्राह्रादिः) प्रह्लाद से उत्पन्न (विरोचनः) विरोचन (वत्सः) वत्स (आसीत्) था । और (अयः पात्रं) लोहे का पात्र (पात्रम्) पात्र था । (ताम्) उस माया को (द्विमूर्धा) दो शिरों वाले, बुद्धिमान् (आर्त्व्यः) ऋतु से उत्पन्न ने (अधोक्) दुहा ॥३॥ (ताम्) उस माया रूप विराट् के आश्रय (असुराः उपजीवन्ति) असुर लोग अपना जीवन निर्वाह करते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के तत्व को जानते हैं वह (उपजीवनीयो भवति) औरों के आजीविका निर्वाह कराने में समर्थ होता है ।

असितो धान्वो राजा इत्याह तस्यासुरा विशः । त इमे आसत । इति कुसीदिन उपसमेता भवन्ति । तान् उपदिशति माया वेदः सो यम् इति । श० १३।४।३।११॥ असुर, शिल्पीगण प्राह्रादि अर्थात् प्रभूत शब्द करने वाली विरोचन, विशेष दीप्तियुक्त विद्युत् । 'अयः' धातुमय, पदार्थ, द्विमूर्धा-दो मूल धारण करने वाला, आर्त्व्यः-गतिक्रियाशास्त्र, का विद्वान्, कला कौशलवित्, एन्जीनियर ।

सोद॑क्रामत् सा पि॒तॄनाग॑च्छ॒त् तां पि॒तर॒ उपा॑ह्वयन्त॒ स्वध॒ एहीति॑ ॥५॥
तस्या॑ य॒मो राजा॑ व॒त्स आसी॑द् रजतपा॒त्रं पात्र॑म् ॥ ६ ॥
ताम॑न्त॑को मार्त्य॒वो॒धो॑क् तां स्व॒धाम॒ेवाधो॑क् ॥ ७ ॥
तां स्व॒धां पि॒तर॒ उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥८॥

भा०— (सा) वह विराट (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी (सा पितॄन् आगच्छत्) वह पितृलोगों के पास आयी । (तां पितर उपाह्वयन्त स्वधे एहि इति) 'पितृ' लोगों ने उसे 'स्वधे आओ' इस प्रकार आदर-पूर्वक अपने समीप बुलाया । (तस्याः यमः राजः वत्सः आसीत्) उस

का राष्ट्रनियामक राजा ही 'वत्स' था और (रजतपात्रं पात्रम्) रजत चाँदी और सोना के पदार्थ ही पात्र था। (ताम्) उस विराट् रूप गौ को मृत्यु के अधिष्ठाता अन्तक ने (अधोक्) दुहा। (तां स्वधां एव अधोक्) उस से 'स्वधा' को ही प्राप्त किया। (तां स्वधां पितर उप जीवन्ति) उस स्वधा पर पितृगण अपनी आजीविका करते हैं। (यः एवं वेद उपजीवनीयो भवति) जो इस प्रकार जानता है वह प्रजाओं की जीविका का आधार हो जाता है।

'यमः—राजा'=राष्ट्रनियामक राजा। पितरः=शालक, राष्ट्र के रक्षक वृद्धजन, 'स्वधा' अपने शरीर पोषणयोग्य वेतन, या कर। रजतपात्र=सोने आदि के सिक्के। 'मार्त्यवः' अन्तकः। अर्थात् मृत्युदण्डकारी अन्तिम शासक राजा। 'यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः। त इम आसते। इति स्थविराः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति यजूंषि वेद इति' श० १३। ४। ३। ६॥

सोदक्रामत् सा मनुष्याँ३ नागच्छत् तां मनुष्याँ३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति॥ ६॥

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्॥ १०॥

तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्॥११॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्याँ३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १२॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी, (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्यों के पास आई। (तां मनुष्याः उपाह्वयन्त इरावति एहि इति) उसको मनुष्यों ने हे इरावति! आओ इस प्रकार आदर पूर्वक बुलाया। (तस्याः) उस विराट् का (मनुः वैवस्वतः वत्सः आसीत्) वैवस्वत मनु वत्स था और (पृथिवी पात्रम्) पृथिवी पात्र

था। (ताम्) उस विराट् रूप गौ को (पृथी वैन्यः अधोक) पृथी वैन्य ने दोहन किया। (तां कृषिं च सस्यं च अधोक्) उससे कृषि और धान्य प्राप्त किये। (ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति) वे मनुष्य कृषि और सस्य पर ही प्राण धारण करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह (कृष्टराधिः) कृषि द्वारा ही बहुत धन धान्य सम्पन्न और (उपजीवनीयः भवति) मनुष्यों को जीविका देने में समर्थ होता है

विराट्=इरावती पृथिवी। वैवस्वतो मनुः। विविध प्रकार से प्रजाओं को बसाने हारा मनीषी पुरुष। (वैन्यः पृथीः) नाना काम्य पदार्थों का स्वामी, महान् राजा,।

सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥

तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाधोक् ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (२८)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा सप्तऋषीन् आगच्छत्) वह सात ऋषियों के पास आयी। (तां सप्तऋषयः उपह्वयन्त ब्रह्मण्वति एहि इति) उन सात ऋषियों ने ब्रह्मण्वति आओ इस प्रकार आदरपूर्वक बुलाया। (तस्याः सोमः राजा वत्सः आसीत्) उसका सोम राजा वत्स था। (छन्दः पात्रम्) छन्दस् पात्र था। (तां बृहस्पतिः आंगिरसः अधोक्) उसको आंगिरस बृहस्पति ने दोहन किया। (तां ब्रह्म च तपः च अधोक्) उसने ब्रह्मज्ञान, वेद और तपश्चर्या का दोहन किया। (तत्) उस (ब्रह्म च तपः च) ब्रह्म ज्ञान और तप के आधार पर (सप्त ऋषयः उपजीवन्ति) सात ऋषिगण प्राण धारण करते हैं। (यः एवं

वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह (ब्रह्मवर्चस्वी उपजीवनीयः भवति) ब्रह्मवर्चस्वी और अन्यों को जीविका देने में समर्थ होता है । विराट्= ब्रह्मण्वती से ब्रह्मज्ञानमयी होकर ऋषियों को प्राप्त हुई उस का सोम राजा-ज्ञानपिपासु वत्स के समान है । वेदवक्ता ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति उसका दोहन करता है । ब्रह्म ज्ञान वेद और तप उसका दोहन का सार है । ऋषि उसी पर जीते हैं दोहन का पात्र 'छन्द' वेद है ।

[५] विराड् रूप गौ से ऊर्जा, पुण्य गन्ध, तिरोधा और विष का दोहन ।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराट् देवता । १,१३ चतुष्पादे साम्नां जगत्यौ। १०,१४ साम्नां बृहत्यौ । १ साम्नी उष्णिक् । ४ १६ आर्च्यौऽनुष्टुभौ । ६ उष्णिक् । ८ आर्ची त्रिष्टुप्। २ साम्नी उष्णिक् । ७, ११ विराड्गायत्र्यौ। ५ चतुष्पदा प्राजापत्या जगती। ६ साम्नां बृहती त्रिष्टुप्। १५ साम्नी अनुष्टुप् । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

सोदंक्रामुत् सा देवानागंच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥१॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥
तां देवः संविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तामूर्जां देवा उपं जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेदं ॥ ४ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् उठी, (सा देवान् आगच्छत्) वह देवों के पास आगयी, (तां देवाः) उसको देवों ने (ऊर्जे एहि इति उप अह्वयन्त) ऊर्जे ! आओ इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः इन्द्रः वत्स असीत्) उसका इन्द्र=विद्युत् वत्स था । और (चमसः पात्रम्) चमस पात्र था । (तां देवाः सविता अधोक्) उसको देव सविता ने दुहा। (ताम् ऊर्जाम् एव अधोक्) उससे ऊर्ज तेजोमय वीर्य ही प्राप्त किया । (ताम्

ऊर्जम् देवाः उपजीवन्ति) उस 'ऊर्ज' तेजोमय वीर्य पदार्थ पर देवगण जीवन धारण करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार का रहस्य जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) देवों को भी जीवन देने में समर्थ होता है। देव प्राण हैं, इन्द्र आत्मा है शिरोभाग चमस पात्र है। सविता मुख्य प्राण ने विराट् अन्न में से ऊर्ज बल का दोहन किया। देव, प्राण उसी ऊर्ज, वीर्य से अनुप्राणित है। महाब्रह्माण्ड में दिव्य पदार्थ अग्नि आदि देव हैं, इन्द्र विद्युत वत्स है। आकाश चमस पात्र है। उस ब्रह्ममयी विराट् शक्ति से सूर्य ने तेज प्राप्त किया उससे ही समस्त पदार्थ अनुप्राणित हैं।

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥
तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी (सा गन्धर्वाप्सरसः) वह गन्धर्व और अप्सराओं के पास (आगच्छत्) आयी। (ताम्) उसको (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सरा गण ने (पुण्यगन्धे एहि इति उपाह्वयन्त) 'हे पुण्यगन्धे ! आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः) उसका (सौर्यवर्चसः) सूर्य के समान कान्तिमान (चित्ररथः) चित्ररथ (वत्स आसीत्) वत्स था। (पुष्करपर्णं) 'पुष्कर पर्ण' (पात्रम्) पात्र था। (ताम्) उसको (सौर्यवर्चसः वसुरुचिः) सूर्य के तेज से तेजस्वी वसुरुचि ने (अधोक्) दोहन किया (ताम् पुण्यमेव गन्धम् अधोक्) उससे पुण्य गन्ध को ही प्राप्त किया।

(तं पुण्यं गन्धम्) उस पुण्य गन्ध से (गन्धर्वाप्सरसः उपजीवन्ति) गन्धर्व और अप्सरा गण जीवन धारण कर रहे हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार रहस्य को जानता है वह (पुण्यगन्धिः उपजीवनीयभवति) स्वयं पुण्यगन्धवाला और उनको जीवन देने में समर्थ हो जाता है।

वरुण आदित्यो राजा इत्याह। तस्य गन्धर्वा विशः त इम आसते। इति युवानः शोभनाः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति आथर्वणो वेदः। श० १३।४।३।७ "सोमो वैष्णवो राजेत्याह। तस्याप्सरसो विशः।' त इम आसते। इति युवतयः शोभनाः उपसमेता भवन्ति। ता उप दिशति आंगिरसो वेदः। श० १३।४।३।८॥ अर्थात् देश के युवक पुरुष ही 'गन्धर्व' हैं और नवयुवतियां 'अप्सरा' कहाती हैं। सूर्यवर्चस् तेजस्वी चित्ररथ यह शरीर है। प्राणों का तृप्त करनेहारे आत्मा ने उस पुण्य गन्धवं को दोहन किया। वह युवा युवतियों में ही विद्यमान होता है जिससे दाम्पत्य आकर्षण होता है।

सोदक्रामत् से तरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति॥ ९॥

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्॥ १०॥

तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक्॥ ११॥

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १२॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी। (सा इतर जनान्) वह 'इतर जनों' के पास आयी। (ताम् इतरजनाः तिरोधे एहि इति उपाह्वयन्त) उसको इतरजनों ने 'हे तिरोधे। आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः कुबेरः वैश्रवणः वत्सः आसीत्) उसका कुबेर वैश्रवण वत्स था। (आमपात्रं पात्रम्) आमपात्र पात्र था।

(तां रजतनाभिः कौवेरकः अधोक्) उसको 'कौवेरक रजतनाभि' ने दुहा (तां तिरोधाम् एव अधोक्) उससे 'तिरोधा'=छिपाने की कला को ही प्राप्त किया। (तां तिरोधां इतरजनाः उपजीवन्ति) उस 'तिरोधा' से इतरजन जीवन धारण करते हैं। (यः एवं वेद तिरोधत्ते सर्वम् पाप्मानम्) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह सब पापों को दूर कर देता है। (उपजीवनीयो भवति) और जनों को जीवन धारण कराने में समर्थ होता है।

"कुवेरो वैश्रवणो राजा इत्याह। तस्य रक्षांसि विशः। तानि इमान्यासते। इति सेलगाः पापकृतः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति देवजनविद्या वेदः।" श० १३।४।३। १०॥ आर्यजनों से जो इतर अनार्य हैं वे इतरजन हैं। जो चोरी डकैती आदि का जीवन विताते हैं। वे स्वर्णरजत से ही बंधे रहते हैं। उस पर ही उनका मन रहता है। वे हरेक वस्तु को छिपा लेने की विद्या में निपुण होते हैं। उनका राजा कुवेर है जो पृथ्वी में गड़े ख़ज़ानों का मालिक समझा जाता है। जो इस रहस्य विद्या को जानता है वह सब पाप कार्यों को छिपा देता है। और लोग उसके बल पर भी वृत्ति करते हैं।

सोदंक्रामत् सा सर्पानागंच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषंवत्येहीति ॥ १३ ॥
तस्यांस्तक्षको वैशालेयो वृत्स आसीदलावुपात्रं पात्रंम् ॥ १४ ॥
तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥
तद् विषं सर्पा उपं जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेदं ॥ १६ ॥ (२८)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा सर्पान् आगच्छत्) वह सर्पों के पास आई। (तां सर्पाः विषवति एहि इति उपाह्वयन्त) सर्पों ने उसे 'हे विषवति आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः) उसका (तक्षकः वैशालेयः वत्स आसीत्) 'वैशालेय तक्षक'

वत्स था। (अलाबुपात्रम् पात्रम्) अलाबु पात्र पात्र था । (तां धृत-राष्ट्रः ऐरावतः अधोक्) उसको धृतराष्ट्र ऐरावत ने दोहन किया। ताम् विषम् एव, अधोक्) उससे विष ही प्राप्त किया (तत् विषम् सर्पाः उप-जीवन्ति) उस विष के आधार पर सर्प प्राण धारण करते हैं। (यः एवं वेद उपजीवनीयो भवति) जो इस रहस्य को जानता है वह भी दूसरों को जीवन देने में समर्थ-योग्य होता है।

"काद्रवेयो राजा इत्याह। तस्य सर्पाः विशः। त इम आसते। इति सर्पाश्च सर्वविदश्चोपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति सर्पविद्या वेदः। श०. १३।४।३।९॥ उसी विराट् का एक रूप विष है जिसको महा नाग प्राप्त करते हैं जो कटुतुम्बी आदि वनस्पतियों या सर्प की विष की थैलियों में प्राप्त होता है। चमकीले शरीर वाले सांप उस विष को प्राप्त करते हैं, सर्प उस पर जीते हैं।

[६] विषनिवारण की साधना।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता। १ विराड् गायत्री। २ साम्नी त्रिष्टुप्। ३ प्राजापत्या अनुष्टुप्। ४ आर्ची उष्णिक् अनुक्तपदा द्विपदा। चतुर्ऋचं पर्यायसूक्तम् ॥

तद् यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात् ॥ १ ॥
न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात् ॥२॥
यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥
विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥४॥ (३०)

भा०—(तत्) इसलिये (एवं विदुषे) इस प्रकार के पूर्व सूक्त में कहे विषदोहन विद्या के रहस्य को जानने वाले (यस्मै) जिस विद्वान् के प्रति सर्प आदि जन्तु (अलाबुना) अपनी विष की थैली में से विष

(अभिषिञ्चेत्) फेंके तो वह विद्वान् (प्रत्याहन्यात्) उसका प्रतिकार करने में समर्थ होता है और यदि (न च प्रत्याहन्यात्) वह उसको मारना न चाहे तो (मनसा) मानस बल, संकल्प बल से ही (त्वा प्रति आहन्मि) 'तेरा प्रतिघात करता हूँ' (इति) ऐसी प्रबल भावना से ही वह (प्रति आहन्यात्) उसके हानिकारक प्रभाव का निराकरण करे। (यत्) जब (प्रति आहन्ति) वह प्रतिघात करता है (तत्) तब वह (विषम् एव प्रति आहन्ति) विष का ही प्रतिघात किया करता है, विष के घातक प्रभाव को ही नष्ट किया करता है। (य एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है (विषम् एव अस्य अप्रियम् भ्रातृव्यम् अनु विषिच्यते) विष ही उसके अप्रिय शत्रु पर जा पड़ता है।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्च त्रिणवतिस्तथा च षड्विंशर्चमेकमर्थसूक्तम्, षड्भिः पर्यायैर्युक्तं सप्तषष्ट्यर्चं सूक्तम्]

अष्टमं काण्डं समाप्तम्

[अष्टमे सूक्तदशकं सप्तोनत्रिशतं ऋचः ।]

वेदखङ्कचन्द्राब्दफाल्गुणासितपञ्चमी-
भृगावथर्वणः काण्डमष्टमं पूर्त्तिमागमत् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्येऽष्टमं काण्डं समाप्तम्।

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदसंहिता

अथ नवमं काण्डम् ।

[१] मधुकशा ब्रह्म-शक्ति का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । मधुकशा, अश्विनौ च देवताः । मधुसूक्तम् । १, ४, ५ त्रिष्टुभः । २ त्रिष्टुब्गर्भापंक्तिः । ३ पराऽनुष्टुप् । ६ यवमध्या अतिशाक्वरगर्भा महाबृहती । ७ यवमध्यो अति जागतगर्भा महाबृहती । ८ बृहतीगर्भा संस्तारपंक्तिः । १० परा-उष्णिक् पंक्तिः । ११, १३, १५, १६, १८, १९ अनुष्टुभः । १४ पुर उष्णिक् । १७ उपरिष्टाद् बृहती । २० भुरिग् विस्तारपंक्तिः । २१ एकावसाना द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् । २२ त्रिपदा ब्राह्मी पुर उष्णिक् । २३ द्विपदा आर्ची पंक्तिः । २४ त्र्यवसाना षट्पदा अष्टिः । ९ पराबृहती प्रस्तारपंक्तिः ॥

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात् समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे ।
तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः ॥१॥

भा०—(दिवः) द्यौः, आकाश से, (पृथिव्याः) पृथिवी से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (समुद्रात्) समुद्र से (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वात से (हि) भी निश्चयपूर्वक (मधुकशा) अमृतमय, परम रसमयी सर्वोपरि शासक, व्यापक ब्रह्मशक्ति (जज्ञे) प्रकट होती

[१] १-(प्र०) 'दिवस्पृथिव्यान्तर' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

है। (अमृतं वसानाम्) अमृत जीवन शक्ति, परम आनन्द धारण करने वाली (ताम्) उस परम शक्ति की (चायित्वा) उपासना करके (सर्वाः प्रजाः) समस्त प्रजाएँ, समस्त जीव (हृद्भिः) हृदयों में (प्रतिनन्दन्ति) आनन्द अनुभव करते हैं।

महत् पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।
यत ऐति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥

भा०—(अस्याः) इस मधुकशा का (वयः) आनन्दमय, रस (महत्) बड़ा भारी, अनन्त, असीम और (विश्वरूपम्) समस्त रूपों में प्रादुर्भूत है। हे मधुकशे! (त्वा) तुझे (समुद्रस्य) समुद्र अर्थात् सब आनन्द रसों के प्रदान करनेहारे परम रससागर ब्रह्म का (रेतः) परम रेतस् वीर्य या परम तेज (आहुः) कहा करते हैं। (यतः) जहाँ से या जिस से (मधुकशा) वह मधुमयी, शासक प्रभु-शक्ति (रराणा) सब सुखों को प्रदान करने और सबको रमाने, एवं स्वयं सर्वत्र रमनेवाली, परम रमणीय शक्ति (एति) आती है, प्रकट होती है (तत्) वह (प्राणः) प्राण, सर्वोत्कृष्ट चेतन (तत्) वही (निविष्टम्) गूढ़ (अमृतम्) अमृत ब्रह्म है। अथवा (तत् अमृतम्) उसी में अमृत और (तत् प्राणः) उसी में प्राण (निविष्टम्) आश्रित है। इसका प्रकरण देखो प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १।७८॥ तथा श्वेताश्वतर उप० १।९॥

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याः) इस मधुकशा के (चरितम्) कर्म को (बहुधा)

२–(प्र०) 'महत् विश्वरूपं पयः', 'समुद्रस्यात त्वा', 'तदमृतं दिविष्टम्' इति पैप्प० सं०।

३–(प्र०) 'चरितं पृथिव्याः' (च०) 'उग्रा अनपति' इति पैप्प० सं०।

बहुत प्रकार से (पृथक्) भिन्न २ दृष्टियों से (मीमांसमानाः) विवेचना करते हुए (नरः) मनुष्य, विद्वान् जन (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं । (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वात-वायु से (मधुकशा हि) जो मधुकशा (जज्ञे) प्रादुर्भूत हुई वही (मरुताम्) मरुतों, प्राणों की (उग्रा) बड़ी प्रबल, भीषण (नप्तिः) बन्धन ग्रन्थि है ।

अग्नि=जीव या जाठर अग्नि, वात=वायु और प्राण वायु । इनके अलौकिक सम्बन्धों से शरीर में प्राणों के मेल से ये शरीर और, अग्नि और वायु के प्रबल सम्बन्ध से इस ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की वायुओं (मरुतों) या गैसों के अद्भुत मेल होकर यह संसार बना है ।

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान् भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । १०१ । १५ ॥

भा०—(आदित्यानाम्) आदित्यों, सूर्यों की (माता) रचना करनेहारी, (वसूनाम्) वसुओं या वास करनेहारे जीवों की (दुहिता) समस्त कामनापूर्ण करनेहारी, (प्रजानाम् प्राणः) प्रजाओं, शरीरधारियों का प्राण, जीवनशक्ति, (अमृतस्य नाभिः) अमृत, मोक्ष पद का नाभि आश्रय-स्थान, (हिरण्यवर्णा) समस्त हिरण्य=सूर्यादि प्रकाशमान पिण्डों को आवरण करने, घेरने, उनमें व्यापक रहनेवाली (घृताची) तेजःसम्पन्न (मधुकशा) मधुकशा है । वही (मर्त्येषु) मरणधर्मा जीवों में स्वयं (महान्) बड़ा भारी (भर्गः) चैतन्यमय तेजरूप होकर (चरति) व्याप्त है ।

४–(च०) 'महान्गर्भश्चरति' इति क्वचित् पाठः । (प्र०) 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानां ममृतस्य नाभिः' इति ऋग्वेदे गोदेवताका ऋक् ।

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥५॥

भा०—(देवाः) दिव्य पदार्थ अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि देव शब्द से कहे गये पदार्थ ही (मधोः) सर्वप्रेरक ज्ञान की (कशाम्) शासन, प्रभुशक्ति को (अजनयन्त) प्रकट करते हैं। (तस्याः) उसका (गर्भः) गर्भ (विश्वरूपः) यह हिरण्यगर्भ हुआ। (माता) माता जिस प्रकार (जातम्) उत्पन्न बालक को पालन करती है उसी प्रकार वह मधुकशा परम प्रभु की शक्ति भी (माता) सर्व जगत् का निर्माण करनेहारी होकर (तम्) उस (जातम्) प्रकट हुए हिरण्यगर्भ नामक (तरुणम्) अति तीव्र प्रकाशमान पिण्ड को (पिपर्त्ति) पालन करती है। (सः जातः) वह उत्पन्न होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (विचष्टे) प्रकाशित करती है।

कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः । ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन् मदेत ॥ ६ ॥

भा०—(तं कः प्रवेद) उसको कौन भली प्रकार जान सकता है? (क उ तं चिकेत) और कौन उसकी विवेचना कर सकता है? (यः) जो (अस्याः) इस मधुकशा के (हृदः) हृदय में (सोम-धानः) सोम से भरा हुआ, सोम अर्थात् संसार का प्रेरक, समस्त जीवनशक्ति से पूर्ण (अक्षितः) अक्षय, अविनाशी, अमित (कलशः) सोम रस से भरे कलशे के समान ज्ञान और शक्ति का भण्डार विद्यमान है (अस्मिन्) इस अक्षय भण्डार में जो (सुमेधाः) उत्तम मेधा बुद्धि से सम्पन्न (ब्रह्मा) ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी है (सः) वही (मदेत) परम आनन्द प्राप्त कर सकता है।

५—(च०) 'भुवनाभिवस्ते' इति पैप्प० सं० ।

६—(द्वि०) 'सोमधानो अक्षतः' इति पैप्प० सं० ।

स तौ प्र वे॑द॒ स उ॒ तौ चि॑केत॒ याव॑स्याः स्तनौ॑ स॒हस्र॑धारा॒वक्षि॑तौ।
ऊर्जं॑ दुहा॒ते अन॑पस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

भा०—(यौ) जो (अस्याः) इस मधुकशा के (सहस्रधारौ) सहस्रधारा वाले, सहस्रों लोकों के धारण, पालन, पोषण में समर्थ (अक्षितौ) अक्षय (स्तनौ) दो स्तन हैं (तौ) उन दोनों को (सः) वह ब्रह्मवेत्ता (प्र वेद) भली प्रकार से जानता है और (सः उ) वह ही (तौ) उन दोनों को (चिकेत) विवेक से निश्चय पूर्वक प्राप्त करता है। वे दोनों (अनपस्फुरन्तौ) निष्प्रकम्प, निश्चल भाव से विद्यमान, अविनाशी होकर (ऊर्जम्) अन्न और बलकारक रस या शक्ति को (दुहाते) प्रदान करते हैं।

हि॒ङ्क॒रिक्र॑ती बृह॒ती व॑यो॒धा उ॒च्चैर्घो॑षा॒भ्येति॒ या व्र॒तम्।
त्रीन् घ॒र्मान॒भि वा॑वशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते॒ पयो॑भिः ॥ ८ ॥

भा०—(या) जो मधुकशा ब्रह्मशक्ति (बृहती) विशाल बृहत् शक्ति (वयोधाः) समस्त प्राणों और अन्नों को और लोकों को धारण करनेहारी या सबको अन्न देनेहारी (उच्चैर्घोषा) उच्च घोष करती हुई (हिङ् करिक्रती) साम गान करती हुई (व्रतम्) व्रत, ज्ञान और कर्म निष्ठ अभ्यासी को (अभि एति) साक्षात् होती है। वह (त्रीन्) तीनों (घर्मान्) घर्मों, ज्योतियों के (अभि वावशाना) निरन्तर वश करनेहारी होकर (मायुम्) ज्ञानी के प्रति (मिमाति) अपना घोष करती और (पयोभिः) पुष्टिकारी रसों एवं ज्ञान-धाराओं से (पयते) उसे तृप्त करती है।

यामापी॑नामुप॒सीद॒न्त्याप॑: शाक्व॒रा वृ॑ष॒भा ये स्व॒राज॑ः।
ते व॑र्षन्ति॒ ते व॑र्षयन्ति त॒द्विदे॒ काम॒मूर्ज॒माप॑: ॥ ९ ॥

७–(द्वि०) 'सहस्रधारावक्षितौ' इति पैप्प० सं०।

भा०—(आपः) जल जिस प्रकार महानदी में आकर मिल जाते हैं उसी प्रकार (शाक्वराः) शक्तिशाली (स्वराजः) स्वयं आत्मज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान (ये वृषभाः) जो नाना ज्ञानधाराओं को वर्षण करते हैं वे (आपः) परमपद को प्राप्त हुए आप्त पुरुष (याम्) जिस (आपीनाम्) सर्वतोमुख, रसपान करानेहारी एवं महाशक्ति को (उप-सीदन्ति) उपासना करते हैं। वे (आपः) आप्त जन, पारदृश्वा ऋषिगण (वर्षन्ति) स्वयं ज्ञान जल की वर्षा करते और (ते आपः) वे आप्त लोग (तद्विदे) उस परमपद को लाभ करनेवाले के लिए (कामम्) यथेच्छ, यथा संकल्पित (ऊर्जम्) बल और परम ब्रह्मरस को (वर्षयन्ति) बरसवाते हैं, प्राप्त कराते हैं, प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥ (१)

भा०—हे (प्रजापते) प्रजापते परमात्मन् ! (ते वाक्) तेरी वाणी (स्तनयित्नुः) मेघ की गर्जना के समान गम्भीर, पिपासितों के हृदय में शान्तिप्रद और प्रजाजन को आश्वासन देनेवाली है। हे परमात्मन् ! तू ही (वृषा) वर्षणशील मेघ के समान समस्त सुखों को वर्षानेहारा (भूम्याम् अधि) भूमि पर (शुष्मम्) अपने महान् बल को जल और विद्युत् के रूप में (क्षिपसि) नीचे फेंकता है। और वह (मधुकशा) मधुर रससे भरी मधुलता जिस प्रकार (अग्नेः वातात्) अग्नि=विद्युत् और वात=वायु से मेघ जल प्राप्त करके उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस हृदयभूमि में हे प्रभो ! आप अपना ज्ञान-बल और प्रेरणाबल फेंकते हो और (अग्नेः वातात्) तेरा ज्ञानमय स्वरूप और प्राणमय बल के ध्यान और प्राणायाम के अभ्यास से वह (मधुकशा) ब्रह्मरस से भरी आनन्द मधुवल्ली (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है। वह ही (मरुताम्) प्राणों की उग्रा अति बलशालिनी (नप्तिः) बांधनेवाली आश्रय है। वही परम चेतना है।

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः ।

एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ ११ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (प्रातःसवने) प्रातः सवन के काल में (सोमः) सोम, सूर्य (अश्विनोः) दो अश्वी, दिन और रात्रि के बीच के लिये (प्रियः) प्रिय होता है (एवा) उसी प्रकार हे (अश्विनौ) हे अश्वियो ! दिन और रात के समान मेरे शरीर में व्यापक प्राण और अपान ! (मे आत्मनि) मेरे देह और आत्मा में (वर्चः) ब्रह्मतेज (ध्रियताम्) स्थिर रहे । अथवा (सोमः) बालक जिस प्रकार (प्रातःसवने) प्रभात के समान बाल्यकाल में (अश्विनोः) माँ बाप को (प्रियः भवति) प्यारा लगता है उसी प्रकार हे (अश्विनौ) माँ बाप के समान गुरो ! और परमात्मन् ! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में तेज, प्रकाश स्थिर रहे और मैं तुम्हारा प्रिय बना रहूँ ।

यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।

एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १२ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (द्वितीये सवने) द्वितीय मध्याह्न सवन के काल में (सोमः) सोमलता (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि देवों को (प्रियः भवति) प्रिय होता है (एवा) उसी प्रकार हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में तेज स्थिर रहे । अथवा, (यथा द्वितीय सवने इन्द्राग्न्योः सोमः प्रियो-भवति) जिस प्रकार द्वितीय अवस्था में सोम अर्थात् विद्वान् शिष्य इन्द्र= आचार्य और अग्नि=परम ज्ञानोपदेष्टा ब्रह्मगुरु को प्रिय लगता है उसी प्रकार हे इन्द्र और अग्ने ! आपकी कृपा से मेरे आत्मा में तेज और ब्रह्म-वर्चस् सदा स्थिर रहे ।

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।

एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (तृतीये सवने) तीसरे सवन काल में (सोमः) सोम (ऋभूणां प्रियः भवति) ऋभु देवों अर्थात् विद्वानों का प्रिय होता है अथवा जिस प्रकार सोम, शान्त विद्वान् शिष्य सत्य से प्रकाशित तेजस्वी पुरुषों को प्रिय लगता है (एवा) उसी प्रकार हे (ऋभवः) ऋभु सत्य या ब्रह्म-ज्ञान से प्रकाशमान योगी विद्वान् पुरुषो ! आप लोगों की कृपा से (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में ब्रह्मतेज सदा विराजमान हो ।

मधुं जनिषीय मधुं वंशिषीय ।
पयंस्वानग्न आगंमं तं मा सं सृंज वर्चसा ॥ १४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! मैं (मधु जनिषीय) मधु 'मधुर वचन' मधुर ज्ञान और मधुर कर्मफल को उत्पन्न करूँ और (मधु) मधु के समान मधुर ज्ञानमय ब्रह्मरस की ही याचना, प्रार्थना करूँ । हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! अथवा आचार्य ! मैं तेरे पास (पयस्वान्) दुग्धाहार का व्रत करके शिष्य के समान (आगमम्) आया हूं । (तं मां) इस आप के शिष्य बनने की इच्छा वाले मुझ को (वर्चसा संसृज) ब्रह्म-वर्चस् से युक्त कर । ब्रह्मचर्य का पालन करा । अथवा आचार्य से शिष्य कहता है (मधु जनिषीय) मैं मधु, ब्रह्मविद्या का लाभ करूं (मधु वंशिषीय) भौंरे के समान विद्वानों के पास जा २ कर मधुर ज्ञानरस का संग्रह करूँ अथवा भिक्षा से प्राप्त अन्न को ग्रहण करूँ । अर्थात् मधु करी वृत्ति से जीवन निर्वाह करूँ और दुग्धाहार व्रत करके तेरे पास ब्रह्मचर्य की दीक्षा लूं, तू मुझे ब्रह्मवर्चस्वी बना ।

'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः ।

१४–(प्र०) 'मधुजनिषि मद्यु [धु] मम्विकीयः [?]' (तृ०) 'अग्नागमम्' इति पैप्प० सं० ।

सं मा॑ अग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ वि॒द्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥१५॥

अथर्व० ७ । ८९ । २ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० । का० ७ । ८९ । २] पृष्ठ ।

यथा मधु॑ मधु॒कृतः॑ सं॒भर॑न्ति॒ मधा॒वधि॑ ।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॑ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम् ॥ १६ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मधौ) मधु मास, वसन्त काल में (मधुकृतः) मधुमक्षिकाएं, भौंरे (मधु) मधुरस को (अधि संभरन्ति) संग्रह करते हैं हे (अश्विनौ) आचार्य और परमात्मन् ! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में ब्रह्मतेज संगृहीत हो ।

यथा॑ म॒क्षा इ॒दं मधु॑ न्य॒ञ्जन्ति॒ मधा॒वधि॑ ।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॒स्तेजो॒ बल॒मोज॑श्च ध्रियताम् ॥१७॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मक्षाः) मधुमक्षिएं (मधौ अधि) मधुमास या वसन्त काल में (इदम्) इस (मधु) मधुरस को (नि-अञ्जन्ति) संग्रह करते हैं हे (अश्विनौ) आचार्य और परमात्मन् ! (एवा) उसी प्रकार (मे) मेरा (वर्चः ओजः बलम् ध्रियताम्) ब्रह्मवर्चस्, तेज, ओज और बल भी संगृहीत हों ।

यद् गि॒रिषु॒ पर्व॑तेषु॒ गोष्वश्वे॑षु॒ यन्मधु॑ ।
सुरा॑यां सि॒च्यमा॑नायां॒ यत् तत्र॒ मधु॒ तन्मयि॑ ॥ १८ ॥

१६–(द्वि०) 'एवा मेश्विना', 'बलमोजश्च ध्रियताम्' इति पैप्प० सं० ।

१७–'यथा मक्षा मयुन्त्युजम् दाक्षिणमाधि [?] एवा मेश्विना वर्चो ध्रियताम्' इति पैप्प० सं० ।

१८–(प्र०) 'यदि गिरिष्यविपां चित्विषि' [?] इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यद्) जो मधुर रस, आनन्दप्रद, मधुर शीतल जल, मन्द सुगन्ध पवन, सुन्दर मनोहारी दृश्य एवं रोगहर जीवनप्रद ओषधियों का रस (गिरिषु) बड़े २ पर्वतों में और (पर्वतेषु) चट्टानों में है और (यत् मधु) जो मधु, उत्तम मधुर रस दूध, घी आदि (गोषु) गौओं में और जो तीव्र वेग और विजयलक्ष्मी आदि (अश्वेषु) अश्वों में है और (सुरायाम्) सुरा, अन्न के सारभूत रस के शरीर में (सिच्यमानायां) व्यापने पर होता है (तत्र) वहां (यत् मधु) जो मधु या मधुर आनन्द या जीवनी शक्ति प्राप्त होती है (तत्) वह (मयि) मुझ में भी प्राप्त हो ।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ १९ ॥

अथर्व० का० ६ । ६९ । २ ॥

भा०—(शुभः पती) प्रकाश, ज्ञान के स्वामी, परिपालक (अश्विनौ) माता पिता और गुरु और परमेश्वर दोनों, (मा) मुझे (सारघेण मधुना) सरघा अर्थात् मधुमक्षिका के संगृहीत मधु के समान मधुर अथवा सार, ज्ञान के निचोड़, परम तत्त्व को अपने भीतर धरने वाले मधु ब्रह्मज्ञान से (अंक्तम्) युक्त करें । (यथा) जिससे मैं (जनान् अनु) मनुष्यों के प्रति (वर्चस्वतीम्) ज्ञान और बल से युक्त ओजस्विनी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) बोला करूँ । देखो व्याख्या [का० ६।६९।२] ।

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति ॥ २० ॥

१९–(तृ०) 'यथा भर्गस्वतीं' इति अथर्व० [का० ६ । ६९ । २ ॥]
२०–(द्वि०) 'भूम्यां दिवः' इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) 'मधोः कशयोः पृथिवीं मनश्चितं दातारं पशव उपजीवन्ति । सर्वेतेन वो शेषमूर्जं बिभर्त्ति ।' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (प्रजापते) समस्त जीवलोक के पालक ! प्रजापते ! (स्तनयित्नुः) मेघ के गर्जन के समान गंभीर प्राणियों में जीवन संचार करने वाली (ते) तेरा (वाक्) वाणी है । तू (वृषा) समस्त सुखों का वर्षक (दिवि) द्यौलोक और (भूम्यां) भूमि में भी अपना (शुष्मम्)[1] जल रूप वीर्य या बल को (क्षिपति) फेंकता है । (ताम्) उस वाणी के आधार पर (सर्वे) समस्त (पशवः) तत्त्वार्थ द्रष्टा देव गण उसी प्रकार जीते हैं जैसे मेघ की गर्जना सहित पृथ्वी पर बरसे जल के आधार पर भूमि पर के नाना पशु जीते हैं । (तेन) इससे (सा) वह मेघमयी वाणी (इषम्) जिस प्रकार अन्न और (ऊर्जम्) बलकारी अन्नरस को (पिपर्त्ति) पूर्ण करती है उसी प्रकार यह वेदवाणी (इषम्) मन की सत्कर्म में प्रेरणा और (ऊर्जम्) बलकारक तेज या सामर्थ्य को पूर्ण करती है ।

पृथिवी दण्डो॒३॑न्तरि॑क्षं॒ गर्भो॒ द्यौः कशा॑ वि॒द्युत् प्र॑क॒शो हि॑र॒ण्ययो॒ बिन्दुः॑ ॥ २१ ॥

भा०—प्रजापति का (दण्डः) दण्ड, दमन करने का बल (पृथिवी) पृथिवी है । सब प्राणी इसी पर अपने कर्म करते और कर्मफल भोगते और व्यवस्थित रहते हैं । (अन्तरिक्षम् गर्भः) अन्तरिक्ष गर्भ है, इस के भीतर समस्त लोक लिपटे हुए हैं । (द्यौः कशा) द्यौः—सूर्य सब में प्रकाश करने और उनको अपने शासन में चलाने वाला पशुओं को हांकने वाले हण्टर के समान प्रेरक बल है । और (विद्युत्) बिजली की शक्ति भी (प्रकशः) एक उत्तम प्रकार की चाबुक या प्रेरक बल है (हिरण्ययः बिन्दुः) तेज से बने हुए तैजस् सूर्य 'नेबुला' आदि पदार्थ उस प्रजापति के वीर्य के बिन्दु के समान है जिनसे ब्रह्माण्ड में लक्षों सृष्टियां उत्पन्न होरही हैं ।

१. 'वांजम्' इति पीट० लाचि० ।

योवै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति ।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥२२॥

भा०—(यः वै) जो पुरुष (कशायाः) समस्त जगत् को अपने शासन में रखने वाली 'कशा' ब्रह्मशक्ति के (सप्त) सात (मधूनि) मधु अर्थात् जीवों को अपनी ओर आकर्षित करनेहारे सप्त पदार्थों को (वेद) जान लेता है वह (मधुमान्) स्वयं मधुमान्, मधु के समान मधुर, मनोहर, चित्ताकर्षक हो जाता है। और शासनकारिणी 'कशा' के सात 'मधु' ये हैं। (१) (ब्राह्मणः च) ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष, (२) (राजा च) राजा, (३) (धेनुः च) गौ, (४) (अनड्वान् च) बैल, (५) (व्रीहिः च) और धान्य, (६) (यवः च) और जौ ये छः और (७) (सप्तमं) सातवां (मधु) मधु स्वयं है। ये सातों पदार्थ अपने समान गुण के समस्त पदार्थों के प्रतिनिधि हैं।

मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति ।
मधुमतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ २३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह (मधुमान् भवति) मधुमान्, मधुमय, मधुर प्रकृति का हो जाता है। (अस्य) उस पुरुष का (आहार्यम्) भोजन भी (मधुमत्) मधुर पदार्थों से युक्त (भवति) होता है। वह (मधुमतः) मधु के समान आनन्दप्रद, सुखमय (लोकान्) लोकों पर (जयति) वश कर लेता है, उन में यथेच्छ निवास करता है।

यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति ।

२१–'प्रकशा मधो कशाचि घृताचीं' इति पैप्प० सं० ।

२२–(प्र० द्वि०) 'यो वै मधुकशायाः सप्त मधूनि वेद सप्त मधुमतीम् मधुमतो लोकान् जयति' इति पैप्प० सं० ।

तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥ २४ ॥ (२)

भा०—(यत्) जब (वीध्रे) आकाश या अन्तरिक्ष में (स्तनयति) मेघ गर्जता है (तत्) तब (प्रजापतिः) एक रूप में प्रजापालक परमेश्वर ही (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (प्रादुर्भवति) साक्षात् प्रकट होता है। प्रजापालक प्रभु की शक्ति का वही एक प्रकट रूप है। (तस्मात्) इसलिये हे पुरुष ! उस समय (प्राचीनोपवीतः) जिस प्रकार गुरु के समक्ष शिष्य ज्ञानोपदेश ग्रहण करने के लिये दायें कन्धे पर यज्ञोपवीत पहन कर सावधान होकर विनय से उसके सामने खड़ा होता और सावधान होकर गुरु से ज्ञानोपदेश प्राप्त करने की प्रार्थना करता है उसी प्रकार तू भी सावधान होकर दक्षिण स्कन्ध पर यज्ञोपवीत धारण करके खड़े होने वाले शिष्य के समान (तिष्ठे) खड़ा हो और (इति) इस प्रकार प्रार्थना कर—हे (प्रजापते) प्रजा के पालक प्रभो ! (मा) मुझे (अनुबुध्यस्व) ध्यान में रक्खो, मुझ पर अनुग्रह करो। अपने पुत्रसमान मुझे भुला मत देना। (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जान लेता है (एनम्) उस पर (प्रजाः अनु) प्रजाएं सदा अनुग्रह करतीं और (प्रजापतिः अनु बुध्यते) प्रजापति उस पर कृपा बनाये रहता है।

] प्रजापति परमेश्वर और राजा 'काम' का वर्णन।

अथर्वाऋषिः । कामो देवता । १,४,६,९,१०,१३,१९,२४ त्रिष्टुभः । ५ अति

२४—(च० प०) 'प्रजापते अनु मा बुध्यस्व इति, अनु एनं' ह्विटनिकामितः पाठः । (प्र०) 'तत् प्रजापतिरेव' (प०) अन्वेनं प्रजा अनु प्रजा बुध्यन्ते इति पैप्प० सं० ।

जगती। ८ आर्चीपंक्तिः। ११,२०,२३ भुरिजः। १२ अनुष्टुप्। ७,१४,१५, १७, १८, २१, २२ इति जगत्यः। १६ चतुष्पदा शक्करीगर्भा पराजगती।

पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण ॥ १ ॥

भा०—मैं (सपत्नहनम्) शत्रुओं के नाशक (ऋषभम्) सर्वश्रेष्ठ (कामम्) काम संकल्पमय अथवा कमनीय, अति मनोहर प्रजापति राजा या ईश्वर को (आज्येन) आजि-युद्ध के योग्य या प्रेमरस रूप (हविषा) सामग्री से (शिक्षामि) पुरस्कृत करता हूं। तू (मम) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) ऊंचे पद से नीचे (पादय) करदे। हे काम ! (त्वम्) तू (महता) बड़े भारी (वीर्येण) बल से (अभिस्तुतः) कीर्ति प्राप्त कर चुका है, अर्थात् बल के कारण तेरी सब कीर्ति गाते हैं।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥२॥

भा०—(यत्) जो पदार्थ (मे) मेरे (मनसः) मन को (न प्रियम्) प्रिय नहीं लगता और (यत् चक्षुषः न प्रियम्) जो चक्षु को भी प्रिय नहीं लगता और (यत्) जो (मे) मुझे (बभस्ति) खाता है, काटता है या मेरा तिरस्कार करता, या मेरे प्रति कठोर शब्दों से बोलता, या क्रोध करता है और (न अभिनन्दति) मुझे देख कर प्रसन्न नहीं होता और

२-(द्वि०) 'यस्माद् बीभत्से यच्च नाभिनन्दे' इति पैप्प० सं०। कामितः पाठः। भस भर्त्सनदीप्त्योः (जुहोत्यादिः)। भर्त्सनं परुषभाषणम्, दीप्तिः द्युतिः क्रोधाभिव्यंजनम्। (द्वि०) यन्मे हृदये नाभिनन्दन्ति (च०) कामं जुष्टं हात्तुदंभिदेयम् [?]

(दुष्वप्न्यं) कष्ट से सोने, बुरे स्वप्नों या बेचैनी का कारण होता है (तत्) उस सब को (सपत्ने) में अपने शत्रु के लिये (प्रति मुञ्चामि) रहने दूं। और (अहम्) मैं (कामम्) काम, कमनीय, प्रभु की (स्तुत्वा) स्तुति करके अपने संकल्प को दृढ़ करके (उत् भिदेयम्) शत्रु को बाण या शस्त्र द्वारा भेद दूं। अथवा (कामं स्तुत्वा उद्भिदेयं) अपने संकल्प-मय देव, आत्मा की स्तुति करके मैं ऊपर उठूं।

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम् ।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥३॥

भा०—हे (काम) काम ! प्रजापते ! देव ! (दुःष्वप्न्यं) बुरे दुःख-पूर्वक स्वप्न, या शयन की दशा और (दुरितं च) दुष्ट भाव इनको और हे काम (अप्रजस्ताम्) प्रजाहीनता, (अस्वगताम्) सम्पत्तिरहितता या निर्धनता और (अवर्त्तिम्) बेरोजगारी या अरक्षा इन सब को हे (उग्र) बलशालिन् ! (ईशानः) सब का ईश्वर स्वामी तू (तस्मिन्) उस पर (प्रति मुञ्च) डाल (यः) जो (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अंहूरणा) दुःख और विपत्तियां खड़ी कर देने को (चिकित्सात्) सोचा करता है।

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः ।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (काम) कान्तिमान् ! कमनीय ! (अग्ने) हे अग्ने ! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं उनको (नुदस्व) परे कर, (प्रणु-दस्व) और परे हटा, हे (काम) कान्तिमय ! वे (अवर्तिम्) बेरोज-गारी या विनाश को (यन्तु) प्राप्त हों और (अधमा तमांसि) नीचे गहरे अन्धकारों में (नुत्तानां) ढकेले हुए उन शत्रुओं के (वास्तूनि) घरों को हे (अग्ने) राजन् ! (त्वम्) तू (निर्दह) जला डाल।

३–(च०) 'योऽस्मभ्यम्' इति पैप्प० सं० ।

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥

भा०—हे (काम) कान्तिमन् ! राजन् ! (धेनुः) रसों का पान कराने हारी (ते) तेरी (दुहिता) सब अभिलाषाओं को पूर्ण करने हारी (उच्यते) कहाती है (याम्) जिसको (कवयः) क्रान्तदर्शी लोग (विराजम् वाचम्) 'विराड्' 'वाक्' (आहुः) कहते हैं । (तया) उस 'विराड् वाणी' द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं को (परि वृङ्धि) विनाश कर, दूर कर । और (एनान्) इन (मम) मेरे शत्रुओं को (प्राणः) प्राण (पशवः) पशु लोग और (जीवनम्) जीवन भी (परि वृणक्तु) छोड़ दें ।

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन ।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥ ६ ॥

भा०—(कामस्य) कान्तिमान्, (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान्, (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ, सब के वरण करने योग्य (विष्णोः) प्रजा में व्यापक, प्रजा के हृदयों में व्यापक, उनके प्रिय (सवितुः) सबके प्रेरक (राज्ञः) राजा के (बलेन) बल से और (सवेन) प्रेरणा या आज्ञा से और (अग्ने) अग्नि अर्थात् शत्रुतापक राजा के (होत्रेण) अपने भीतर भस्म कर देने वाले बल से (सपत्नान्) शत्रुओं को मैं (धीरः) धीर होकर (नावम्) नाव को (शम्बी इव) नाव के चलाने वाले कैवट के समान (प्र णुदे) परे हटा दूं ।

अध्यक्षो वाजी मम कामं उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥७॥

६–१. 'शम्ब संबन्धने' (चुरादिः) । शम्बयति संबध्नाति मत्स्यादिकम् अनेनेति शम्बः जालरश्म्यादिः, तद्वान् शम्बी कैवर्तः ।

भा०—वह (उग्रः कामः) भयंकर, कान्तिमय राजा (वाजी) बलवान् (मम अध्यक्षः) मेरा अध्यक्ष, साक्षी है। वह (मह्यम्) मुझे (असपत्नम् कृणोतु) शत्रु रहित करे। (विश्वे देवाः) समस्त देव गण, विद्वान् पुरुष (मम नाथं भवन्तु) मेरी प्रतिष्ठा के कारण हों और (सर्वे देवाः) सब विद्वान् जन (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) यज्ञ, राष्ट्रशासन-व्यवस्था या आमन्त्रण में (आयन्तु) आवें।

इ॒दमाज्यं॑ घृ॒तव॑ज्जुषा॒णाः काम॑ज्येष्ठा इ॒ह मा॑दयध्वम्।
कृ॒ण्वन्तो॒ मह्य॑मसप॒त्नमे॒व ॥ ८ ॥

भा०—हे (कामज्येष्ठाः) कान्तिमान राजा के समान ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुषो! (इह) इस राज्य में आप लोग भी (घृतवत्) अतिदीप्ति-युक्त (आज्यम्) आजि संग्राम के योग्य अस्त्र शस्त्रों को (जुषाणाः) धारण करते हुए (मह्यम्) मुझ राष्ट्रनिवासी जन को (असपत्नम्) शत्रु रहित (कृण्वन्तः) करते हुए (मादयध्वम्) प्रसन्नता पूर्वक रहो।

इन्द्रा॑ग्नी॒ काम॑ स॒रथं॒ हि भू॒त्वा नी॒चैः स॒पत्ना॒न् मम॑ पादयाथः।
तेषां॑ प॒न्नाना॑मध॒मा तमां॒स्यग्ने॒ वास्तू॒न्यनु॒निर्द॑ह॒ त्वम् ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने! राजन् और सेनापते हे दोनो! हे (काम) कान्तियुक्त उज्वल वेष और पद वाले! (सरथम्) रथ सहित (भूत्वा) होकर अर्थात् रथ पर चढ़ कर (मम) मुझ राष्ट्र वासी के (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) नीचे (पादयाथः) गिरा दो। और हे (अग्ने) अग्रनेता और परन्तप! (पन्नानाम्) उन परा

७—(च०) 'मे मम्' इति पैप्प० सं०।

८—(प्र०) घृतमित् (तृ०) 'कृण्वन्तु' इति पैप्प० सं०। विराड् नाम गायत्रीति ह्विटनिः।

९—'पादयथ' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

जित हुए, हाथ में आए या विपद् में फंसे शत्रुओं के (अधमा तमांसि) निकृष्ट या गहरे गर्भ में बने अति भयंकर अन्धेरे से भरे (वास्तूनि) घरों को (अनु निर्दह) जला डाल । शत्रुओं का नाश किया जाय और उनको पकड़ कर दण्ड दें और उनके छिपने के गहरे अंधेरे स्थानों को जला डाला जाय या नष्ट कर दिया जाय ।

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ १० ॥ (३

भा०—हे (काम) सर्वाभिमत ! सर्वसम्मत राजन् ! (ये मम सपत्नाः) जो मेरे शत्रु हैं राजन् उनको (अन्धा तमांसि) गहरे अन्धकारों में (अव पादय) डाल दे । (सर्वे) वे सब (निरिन्द्रियाः) इन्द्रियों आँख, नाक, कान हाथ लिंग, पाद आदि अंगों से रहित और (अरसाः) भोग्य विषयों से वञ्चित, निर्बल होकर (सन्तु) रहें । (ते) वे (कतमत् चन) एक भी (अहः) दिन (मा जीविषुः) जीवित न रहें ।

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ ११ ॥

भा०—(मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न, मेरे द्रव्य पर अपना अधिकार जमानेवाले शत्रुगण हैं उनको (कामः) हमारा अभिलषित राजा या प्रबल संकल्प (अवधीत्) मार डाले । वही (मह्यम्) मेरे (एधतुम्) बढ़ने के लिये (उरुं लोकम्) बड़ा भारी लोक, स्थान (अकरत्) कर दे । (मह्यम्) मेरे आगे (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) उप-दिशाएँ भी (नमन्ताम्) झुक जायँ और (षड् उर्वीः) छहों बड़ी

१०–(द्वि०) 'सपत्नान्धा तमांसि' (तृ०) 'निरिन्द्रियारसाः' 'यथानु जीवेः त्कतमच्चनैषाम्' इति पैप्प० सं० ।

दिशाएँ मेरे लिए (घृतम्) प्रकाशवान्, पुष्टिकारक पदार्थ (आवहन्तु) प्राप्त कराएँ।

तें अ॒ध॒राञ्चः॒ प्र प्ल॑वन्तां छि॒न्ना नौरि॑व॒ बन्ध॑नात्।
न सा॑यकप्रणुत्ता॒नां पुन॑रस्ति नि॒वर्त॑नम् ॥ १२ ॥
अथर्व० ३ । ६ । ७ ॥

भा०—(बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) कटी हुई (नौः इव) नाव जिस प्रकार नदी के प्रवाह में बह जाती है उसी प्रकार (ते) वे शत्रुगण (अधराञ्चः) नीचे ही नीचे (प्र प्लवन्ताम्) बहते चले जायँ। ठीक भी है कि (सायकप्रणुत्तानाम्) बाणों की मार से पीठ फेर कर भागे हुए शत्रुओं का (पुनः) फिर युद्ध-क्षेत्र में (निवर्त्तनम्) लौट कर आना (न अस्ति) नहीं होता।

अ॒ग्निर्यव॒ इन्द्रो॒ यव॒: सोमो॒ यव॑: ।
य॒व॒याव्ा॑नो दे॒वा याव॑यन्त्वेनम् ॥ १३ ॥

भा०—(अग्निः) हमारा अग्रणी (यवः) शत्रुओं को मार कर भगा देने से 'यव' कहाता है। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा भी इसी कारण से (यवः) 'यव' है (सोमः) सोम राजा भी (यवः) इसी प्रकार 'यव' है (यवयावानः)[1] मार कर भगा देने में समर्थ होकर शत्रु पर चढ़ाई करनेवाले अथवा राष्ट्र के चलानेहारे या वीर सेना के नेता (देवाः) विजयीषु सेनापतिगण (एनम्) इस शत्रु को (यावयन्तु)[1] पराजित करें।

१३—'यवयन्त्यमुममुष्यायणममुष्यपुत्रं जीवलोकं मृतलोकं कतामून्' । इति पैप्प० सं० ।

१. यवयावानः । यौति पृथक् करोति दूरीकरोति इति यवः स इव

राष्ट्रं वै यवः । तै० ३।९।७।२॥ सेनान्यं वा एतद्दोषधीनां यद् यवाः ऐ० ८ । १६ ॥ विड् वै यवः । राष्ट्र, प्रजा को सेनाएं और प्रजाएं सभी 'यव' कहाती हैं। उनके चलानेहारे 'यवयावानः' राष्ट्र के नेता, सेना के नेता और प्रजा के नेता अथवा मन्त्र के कथनानुसार अग्नि, इन्द्र, सोम ये स्वयं 'यव' हैं इनके समान इनके साथ या युद्धयात्रा करनेवाले वीरगण 'यवयावा' कहाते हैं ।

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम् ।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान् ॥ १४॥

भा०—शत्रु (प्रणुत्तः) पराजित होकर (असर्ववीरः) सब वीरों या सब वीर-भटों से रहित होकर (चरतु) विचरे । वह (मित्राणाम्) मित्र राजाओं के (द्वेष्यः) द्वेष का पात्र हो और वह (स्वानाम्) उसके अपने सम्बन्धियों के भी (परिवर्ग्यः) छोड़ने योग्य हो । (वः सपत्नान्) हे प्रजावर्गो ! तुम्हारे शत्रुओं को (विद्युतः) विशेष दीप्तियुक्त बिजली के समान तीव्र प्रहारकारी वाले अस्त्र (उत) भी (अवस्यन्ति) विनाश करें और (वः) तुम्हारा (उग्रः देवः) बलवान् शासकारी राजा उनको (प्र मृणत्) कुचल डाले ।

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान् ।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥ १५ ॥

भा०—(च्युता च) अपने स्थान से च्युत हुई हुई, चल चुकी हुई, और (अच्युता च) या अपने स्थान से न चली हुई, स्थिर, दोनों प्रकार

यान्तीति यवयावानः। शत्रुनिराकरणसमर्थाः सन्तः शत्रुनभिलक्ष्य यात्राकारिणः ।

१४–(प्र०) 'प्रणुत्तो मित्राणां द्वेष्याः' इति पैप्प० सं० ।

की (विद्युत्) विद्युत (बृहती) बड़ी भारी शक्ति है । वही (सर्वान्) सब (स्तनयित्नून् च) गर्जना करने वाले मेघों को (बिभर्ति) धारण करती है अर्थात् वही मेघों को गरजाती है । उसका प्रयोग शत्रुओं के विनाश के लिये किया जाय और साथ ही (उद्यन्) ऊपर उठता हुआ (आदित्यः) सूर्य जिस प्रकार (द्रविणेन) तीव्र गतिशाल (तेजसा) तेज से अन्धकारों को नाश करता है उसी प्रकार उदय को प्राप्त होता हुआ अपने प्रखर तेज से (सहस्वान्) शत्रुओं के पराजय करने में समर्थ राजा भी (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) नीचे (नुदतां) करे ।

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं/कृतम् ।
तेन सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम पर्यैनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ १६ ॥

भा०—हे (काम) कान्तिमय राजन् ! (ते) तेरा (यत्) जो (त्रिवरूथम्) तीनों प्रकार के कष्टों से बचाने वाला (उद्भु) सब से उत्तम शक्तिसम्पन्न, (ब्रह्म) बड़ा या ज्ञानमय (विततम्) विस्तृत (अनतिव्याध्यम्) अमोघ (वर्म) रक्षासाधन, कवच (कृतम्) बना है (तेन) उससे (ये मम) जो मेरे शत्रु हैं उन (सपत्नान्) शत्रुओं को (परिवृङ्धि) विनाश कर और (एनान्) उन को (प्राणः) प्राण (पशवः) पशु और (जीवनम्) जीवन (परिवृणक्तु) छोड़ दें ।

येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय ।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १७ ॥

भा०—(येन) जिस बल से (देवाः) देव विद्वान् गण, विजिगीषु (असुरान्) असुरों, दुष्टों को या अपने दुर्दमनीय प्राणों को (प्राणुदन्त)

१७–(द्वि०) 'तमोऽपबाधे' (च०) 'प्रणुदस्व सर्वान्' इति पैप्प० सं० ॥

अपने वश करते हैं और (येन) जिस सामर्थ्य से (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर या राजा (दस्यून्) विनाशकारी, दुष्ट पुरुषों या डाकुओं को (अधमं तमः) नीचतम, गहरे अन्धकारमय, अज्ञानमय दशा में (निनाय) डाल देता है, हे (काम) राजन् ! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं (तेन) उस बल से (तान्) उनको (अस्मात् लोकात्) इस लोक या, स्थान से (दूरम्) दूर (प्रणुदस्व) हटा दे ।

यथा॑ देवा असु॑रान् प्राणु॑दन्त यथेन्द्रो॑ दस्यू॑नधमं तमो॑ बबाधे ।
तथा त्वं का॑म मम ये स॒पत्ना॒स्तान॒स्माल्लो॒कात् प्र णु॑दस्व दू॒रम् ॥ १८ ॥

भा०—(यथा देवाः असुरान् प्राणुदन्त) जिस प्रकार देव, विद्वान लोग असुरों, अज्ञानियों को पराजित करते हैं और (यथा इन्द्रः दस्यून्-अधमं तमः बबाधे) जिस प्रकार इन्द्र दस्युओं को नीचे गहरे अन्धकार में डालता है (मम ये सपत्नाः) मेरे जो शत्रु हैं, हे (काम ! तान् अस्मात् लोकात् दूरं प्रणुदस्व) काम ! राजन् ! उनको इस लोक से दूर कर ।

कामो॑ जज्ञे प्रथ॒मो नैनं॑ दे॒वा आ॑पुः पि॒तरो॒ न मर्त्याः॑ ।
तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न् वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत् कृ॑णोमि ॥ १९ ॥

भा०—(कामः) काम, कान्तिमान, सबका अभिलषणीय अथवा वह महान् संकल्पमय ईश्वर (प्रथमः) सब से प्रथम (जज्ञे) प्रकट होता है और (एनम्) उसके समान पद को (देवाः) देवगण विद्वान् पुरुष या सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ (पितरः) पालक मां बाप या ऋतुएं और (मर्त्याः) मनुष्य आदि प्राणि भी (न आपुः) नहीं प्राप्त होते

१८–(द्वि०) 'तमोपबाधे' (च०) 'प्रणुदस्व दूरम्' इति पैप्प० सं० ।
१९–'कामो जज्ञे प्रथमो नान्यत् पुरो नैनं देवासः पितरो नोत मर्त्याः । इति पैप्प० सं० ।

(ततः) इसी कारण हे (काम) काम ! महान् ! (त्वम् ज्यायान् असि) तू सब से श्रेष्ठ (विश्वहा) सर्वव्यापक और (महान्) सब से बड़ा है । (तस्मै ते) उस तुझे मैं (नमः इत्) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं ।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः ।
ततस्त्वम्० ॥ २० ॥ (४)

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमी (वरिम्णा) अपने विस्तार से (यावती) जितनी बड़ी हैं । और (आपः) जल या संसार के आदि मूल प्रकृति के सूक्ष्म, व्यापक परमाणु (यावत्) जितने विस्तार में (सिष्यदुः) फैले हैं और (अग्निः) तेजोमय पदार्थ अग्नि जितनी दूर तक फैली है हे (काम) कान्तिमान् तेजोमय ! परमेश्वर ! (ततः त्वम् ज्यायान् असि) तू उससे भी बड़ा है । तू (विश्वहा महान् असि) सर्वव्यापक, महान् है । (तस्मै इत् नमः कृणोमि) उस तुझे ही मैं नमस्कार करता हूं ।

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः ।
ततस्त्वम्० ॥ २१ ॥

भा०—(दिशः) दिशाएं (प्रदिशः) उपदिशाएं (यावतीः) जितनी भी दूर तक फैल सकती हैं और (दिवः) द्यौः—आकाश-मण्डल को (अभिचक्षणाः) दिखलाने वाली (दिशः) दिशाएं (यावतीः) जितनी दूर तक भी फैली हैं हे (काम) कान्तिमय ! परमात्मन् ! (ततः त्वम् ज्यायान् विश्वहा महान् असि) तू उससे भी अधिक बड़ा, व्यापक और महान् है । (तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि) उस तुझ महान् को मैं नमस्कार करता हूं ।

२०—(द्वि०) 'सस्यदुः' इति क्वचित् पाठः ।

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः।
ततस्त्वम्० ॥ २२ ॥

भा०—(भृङ्गाः) भौंरे या मधुमक्खियां, (जत्वः) चिमगादड़ (कुरूरवः) चीलें (यावतीः) जितनी हैं और (वघाः) टीडी आदि जन्तु और (वृक्षसर्प्यः) वृक्ष पर सरकने वाले कीट (यावतीः) जितने (बभूवुः) हो रहते हैं हे (काम) काममय ! परमेश्वर ! (ततः त्वम् ज्यायान्) उनसे भी तू अधिक है। अर्थात् जिस काममय संकल्प से उक्त नाना प्रकार के लक्षों प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि हो रही है तेरा सामर्थ्य उससे कहीं बढ़ा चढ़ा है। तू (विश्वहा महान्) सर्वव्यापक और महान् है (तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि) उस परम कान्तिमय प्रभु को मैं नमस्कार करता हूं।

ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो।
ततस्त्वम्० ॥ २३ ॥

भा०—हे (काम) संकल्पमय, कान्तिमय प्रभो ! हे (मन्यो) ज्ञानमय ! (निमिषतः) निमेष करने वाले जीव से भी (ज्यायान्) बहुत बड़ा है। अर्थात् जितनी इच्छाशक्ति का कौशल निमेष करने में मनुष्य आदि जन्तु का है उससे भी अधिक कौशल तेरा है। और (तिष्ठतो ज्यायान्) समान-भाव से स्थिरता से खड़े रहने वाले वृक्ष पर्वतादि से भी स्थिरता के सामर्थ्य में तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है। (समुद्रात् ज्यायान् असि) जलों के वर्षाने वाले मेघ और धारण करने वाले महान् समुद्र से भी सामर्थ्य में तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है। (ततः त्वम्) इत्यादि पूर्ववत्।

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २४ ॥

भा०—(वातः चन) वायु भी (कामं न आप्नोति) 'काम' उस महा संकल्पमय, महान् तेजस्वी परम पुरुष को नहीं व्याप सकता या उस के पद तक नहीं पहुँच सकता । और (न अग्निः) न अग्नि और (सूर्यः) न सूर्य (उत् न चन्द्रमाः) और न चन्द्रमा ही उसको व्याप या उसके पद तक पहुँच सकता है । इसलिये (ततः त्वम् ज्यायान् असि) हे काम ! परमेश्वर ! तू उनसे भी बड़ा है इत्यादि पूर्ववत् ।

यास्ते॑ शि॒वास्त॒न्वः᳡ काम भ॒द्रा याभिः॑ स॒त्यं भव॑ति॒ यद् वृ॑णी॒षे ।
ताभि॒ष्ट्वम॒स्माँ अ॑भि॒संवि॑शस्वा॒न्यत्र॑ पा॒पीरप॑ वेशया॒ धियः॑ ॥२५॥(५)

भा०—हे (काम) काम, प्रभो ! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः) कल्याणकारी (भद्राः) सुखकारी (तन्वः) शक्तियां हैं और (याभिः) जिनसे (सत्यम्) प्रकट रूप से, अभिव्यक्त यह जगत् (भवति) सत्ता को प्राप्त करता है, उत्पन्न होता है (यत्) जिस जगत् को तू स्वयं (वृणीषे) रक्षा करता है । (ताभिः) उनसे (त्वम्) तू (अस्मान्) हमको (अभि संविशस्व) प्राप्त हो और (पापीः) पापमय, दुःख प्रद (धियः) कर्मों और शक्तियों को (अन्यत्र) हम से (अप वेशय) दूर रख ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, ऋचश्चैकोनपञ्चाशत्]

२४—नावापचूचन काममापुर्नाहोरात्राणि निहतानि यन्ति न वै पुण्यजाश्चन काममापुर्न गन्धर्वाप्सरसो न सर्पाः ।

२५—(द्वि०) 'वृणीते' (तृ०) 'अस्मान् उपसंविश' (च०) 'पापीरभिवेशया' इति पैप्प० सं० ।

[३] शाला, महाभवन का निर्माण और प्रतिष्ठा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । शाला देवता । १,५,८,१४,१६,१८,२०,२२,२४ अनुष्टुभः । ६ पथ्यापङ्क्तिः । ७ परा उष्णिक् । १५ त्र्यवसाना पञ्चपदातिशक्वरी । १७ प्रस्तारपंक्तिः । २१ आस्तार पंक्तिः । २५, ३१ त्रिपादौ प्रजापत्ये बृहत्यौ । २६ साम्नी त्रिष्टुप् । २७,२८,२९ प्रतिष्ठा नाम गायत्र्यः । २५,३१ एकावसानाः । एकत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥

भा०—हम (उपमिताम्) सुन्दर रूप से बनी हुई, (प्रतिमिताम्) प्रत्येक अंग में नापी हुई, (परिमिताम्) चारों ओर से पर्याप्त प्रमाण वाली शाला को बनावें । और (विश्ववारायाः) सब ओर से सुरक्षित था आवृत (शालायाः) शाला के चारों ओर (नद्धानि) बंधे बन्धनों को (नि चृतामसि) खोल दें । भवन बन चुकने पर उसके चारों ओर लपेटी घास फूस की चटाइयाँ तथा शिल्पियों के बल्ले आदि खोलने का वर्णन करते हैं ।

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥

भा०—हे (विश्ववारे) समस्त वरणीय उत्तम पदार्थों से सम्पन्न शाले ! (यत्) जो (ते) तेरे (नद्धं) बंधन और (यः) जो (पाशः ग्रन्थिः च) पाश और गांठ बनाया गया है (बृहस्पतिः) बृहस्पति वेद का विद्वान् (इव) जिस प्रकार (वाचा) अपनी वाणी से (बलम्)

[३] १–उपमितः प्रमितोऽथो परिमितश्च यश्शालाया विश्ववाराया ते नद्धान् विचृतामसि इति पैप्प० सं० ।

२–'बृहस्पतिं वहंबलम्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'विस्रंशयामि' इति क्वचित् ।

शब्द को या प्राण को सुमबद्ध करता है उसी प्रकार (अहम्) मैं (वाचा) वेदमन्त्र द्वारा (वरुम्) शाला के आवरण को (विस्रंसयामि) पृथक् खोल दूं।

आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान्।
परूंषि विद्वांञ्छस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि ॥ ३ ॥

भा०—शिल्पी (ते) तेरी (ग्रन्थीन्) गांठों को (आ ययाम) बांधता है और (सं बबर्ह) तुझे ऊंचा करता है और (दृढान् चकार) तेरे सब भागों को दृढ़ करता है। (विद्वान्) जानकार (शस्ता इव) काटने वाला जिस प्रकार (परूंषि) पोरू २ को काटा करता है उसी प्रकार हम पोरू २ पर लगी गांठों को (वि चृतामसि) खोलें।

वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च।
पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्ववारे) समस्त पुरुषों के वरण करने योग्य अथवा समस्त वरणीय धनों से युक्त ! (ते) तेरे ऊपर (वंशानाम्) बांसों और (नहनानां) बन्धनों और (प्राणहस्य) ऊपर से बन्धे (तृणस्य च) घास फूस के और (पक्षाणां) पक्षों या पासों पर लगे (नद्धानि) बन्धनों को (वि चृतामसि) खोल दें।

संदंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च।
इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि ॥ ५ ॥

भा०—(मानस्य) मापने के (पत्न्या) पालन करने वाली

४-(च०) 'बद्धान् वि' इति पैप्प० सं०।
५-(प्र०, द्वि०) 'पलिदानां परिष्वञ्चनदस्य च' (तृ०) 'सर्वामानस्य पत्निं ते' इति पैप्प० सं०।

शाला में लगे (संदंशानाम्) कैंची के आकार के जुड़ी लकड़ियों के और (पलदानां) घास फूस के (परिष्वञ्जल्यस्य च) चारों ओर सटे हुए बन्धन के (नद्धानि) बंधनों को (इदम्) इस प्रकार से (वि चृतामसि) खोल दें।

यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम्।

प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव॥६॥

भा०—हे (मानस्य पत्नि) मान, मापन के पालन करनेहारी शाले! (यानि) जो (ते) तेरे (अन्तः) भीतर (शिक्यानि) छींके (रण्याय) मनोहर सजावट के लिये (ते) तेरे में (आबेधुः) बांधे गये हों (तानि) वे सब (प्र चृतामसि) अच्छी प्रकार बांधे। तू (शिवा) कल्याणकारिणी (मानस्य पत्नी) हमारे मान पालन करने हारी सद्-गृहिणी के समान (नः तन्वे) हमारे शरीर के लिये (उद्-हिता) अति हितकारी (भव) हो।

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले॥७॥

भा०—हे (देवि शाले) दिव्य गुणों से युक्त प्रकाश और जल वायु से सुन्दर! शाले! तू (हविर्धानम्) हवि अन्न के रखने का स्थान हो, (अग्निशालम्) तुझ में अग्नि के लिये पृथक् गृह, यज्ञशाला और पाकशाला हो। (पत्नीनां सदनम्) घर की स्त्रियों के लिये पृथक् गृह हो (सदः) अतिथियों से मिलने के लिये स्थान व बैठक पृथक् हो। (देवानां सदः) और तू स्वयं विद्वान् पुरुषों के और बड़े अधिकारियों के (सदः) गृह स्वरूप भी हो।

६—'यानि तेऽन्तश्चिक्यानि आबेधोऽन्त्यायकं' (च०) 'सर्वा मानस्य पत्न्या' इति पैप्प० स०।

अक्षुमोपुशं वितृतं सहस्राक्षं विंषूवति ।
अवंनद्धमुभिहिंतुं ब्रह्मंणा वि चृंतामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे (विषूवति) उच्च शिखर वाली शाले ! तेरा (ओपशम्) स्त्री के शिर पर लगने वाले सुन्दर आभूषण के समान (अक्षुम्) जालस्वरूप (वितत) विस्तृत (सहस्राक्षम्) हज़ारों अक्षों छिद्रों से युक्त है । वह (ब्रह्मणा) ज्ञानपूर्वक (अभिहितम्) बांधा गया और (अवनद्धम्) कसा है उसको हम (वि चृतामसि) विशेष रूप से खोलते हैं ।

यस्त्वां शाले प्रतिगृह्णाति येन चासिं मिता त्वम् ।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवंतां जरदंष्टी ॥ ९ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! गृह ! भवन ! (यः) जो पुरुष (त्वा) तुझे (प्रतिगृह्णाति) स्वीकार करता है, अपनाता है और (येन) जिसने (त्वम्) तुझे (मिता असि) बनाया है हे (मानस्य पत्नि) सम्मान के पालन करने हारी ! (उभौ तौ) वे दोनों (जरदष्टी) बुढ़ापे के काल तक (जीवताम्) जीवन निर्वाह करें ।

अमुत्रैनमा गंच्छताद् दृढा नुद्धा परिष्कृता ।
यस्यांस्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुंष्परुः ॥ १० ॥ (६)

भा०—हे शाले ! (यस्याः) जिस तेरे चारों ओर लगे बन्धन के (अङ्गम् अङ्गम्) अंग २ और (परुः परुः) पोरु २ तक को अब हम (वि चृतामसि) विशेष रूप से जुदा कर रहे हैं (अमुत्र) भविष्य काल में तू वही (दृढ) खूब मजबूत (नद्धा) सुबद्ध (परिष्कृता) सुन्दर सुसज्जित होकर (एनम्) इस स्वामी को (आगच्छात्) प्राप्त हो ।

८—(प्र०) 'यद्मांपिश,' अपिनद्धमपि हितं' इति पैप्प० सं० ।

९—(प्र०) 'यश्चिचा[श्चत्वा] प्रति' इति पैप्प० सं० ।

१०—(द्वि०) 'त्रिधानद्धा', (तृ०) 'तस्यास्त' इति पैप्प० सं० ।

यस्त्वा॑ शाले निमि॒माय॑ संज॒भार॒ वन॒स्पती॑न्।
प्र॒जायै॑ चक्रे त्वा शाले परमे॒ष्ठी प्र॒जाप॑तिः ॥ ११ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (यः) जो शिल्पी (त्वा) तुझे (निमिमाय) बनाता है और तेरे बनाने के लिये (वनस्पतीन्) वृक्षों को (संजभार) काटता है वह भी (परमेष्ठी) परमेष्ठी, परम पद पर स्थित (प्रजापति) प्रजा के स्वामी के समान होकर ही (त्वा) तुझे (प्रजायै) अपनी प्रजा के लिये ही (चक्रे) बनवाता है।

नम॒स्तस्मै॒ नमो॑ दा॒त्रे शाला॑पतये च कृण्मः।
नमो॒ऽग्नये॑ प्र॒चर॑ते॒ पुरु॑षाय च ते॒ नमः॑ ॥ १२ ॥

भा०—हम (दात्रे तस्मै नमः कृण्मः) शाला को पत्थर ईंट काट काट कर गढ़ने वाले शिल्पी को नमस्कार करते हैं (शालापतये च नमः कृण्मः) और शाला के स्वामी को भी हम नमस्कार, उचित आदर करते हैं। और (अग्नये प्रचरते नमः) अग्नि लेकर उससे संस्कार करने हारे विद्वान् को भी हम नमस्कार करते हैं। और (ते पुरुषाय नमः) तुझ पुरुष को भी नमस्कार है।

गोभ्यो॒ अश्वे॑भ्यो॒ नमो॒ यच्छाला॑यां वि॒जाय॑ते।
वि॒जाव॑ति॒ प्रजा॑वति॒ वि ते॒ पाशां॑श्चृतामसि ॥ १३ ॥

भा०—(गोभ्यः) गौओं और (अश्वेभ्यः) घोड़ों के लिये और (यत्) जो भी (शालायां विजायते) शाला या गृह में विविध प्रकार के पदार्थ हैं (नमः) उनको नमस्कार हो, उनका सदुपयोग लिया जाय। हे (विजावति) विशेष पदार्थों को उत्पन्न करने वाली ! हे (प्रजा-

११-(प्र०) 'यस्त्वा पूर्वे निमि' इति पैप्प० सं०।
१२-(द्वि०) 'च कृण्मसि' इति पैप्प० सं०।

वति) प्रजा पुत्रादि से सम्पन्न शाले ! (ते पाशान्) तेरे पाशों को हम (विचृतामसि) नाना प्रकार से खोलते हैं ।

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १४ ॥

भा०—हे शाले ! तू (पशुभिः सह) पशुओं सहित (पुरुषान्) पुरुषों को और (अग्निम्) यज्ञाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीयाग्नि इन अग्नियों को गार्हपत्य अथवा (अग्निम्) पुरुषों के अग्रणी को भी (अन्तः छादयसि) अपने भीतर विश्राम देता है । हे (विजावति प्रजावति) विविध पदार्थों के उत्पादक और प्रजासम्पन्न शाले (ते पाशान् वि चृतामसि) तेरे पाशों के बन्धनों को खोलें ।

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् ।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः ।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ १५ ॥

भा०—(द्यां च पृथिवीं च) द्यौः आकाश और (पृथिवीं च) पृथिवी के बीच में (यत्) जो (व्यचः) विशेष विस्तृत अवकाश है (तेन) उससे (ते) तेरे लिये हे ब्रह्मन् ! (इमाम्) इस (शालाम्) शाला को (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार करता हूं । और (यत्) जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष का भाग या भीतरी खोखला भाग (रजसः) घर का (विमानम्) विशेष परिमाण है (तत्) उसको (अहम्) मैं (शेवधिभ्यः) सुखप्रद पदार्थों और कक्षाओं के लिये या विशेष सम्पत्तियों के लिये (उदरं कृण्वे) पर्याप्तरूप में अच्छे लम्बे चौड़े बनाऊं (तेन) उस निमित्त से (तस्मै) उस गृहपति के लिये (शालाम्) शाला को (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार करता हूं ।

१५–(द्वि०) 'प्रतिगृह्णामि तेमान्' इति पैप्प० सं० ।

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥१६॥

भा०—हे (शाले) शाले! गृह! तू (ऊर्जस्वती) आरोग्य पराक्रम से युक्त एवं धन धान्य से सम्पन्न (पयस्वती) दुग्ध, रस, जल आदि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मिता) माप २ कर (निमिता) बनाई गयी है तू (विश्वान्नम्) सब प्रकार के अन्नों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) स्वीकार करते हुए स्वामी को (मा हिंसीः) विनाश न कर।

तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥

भा०—(तृणैः) तृण, घास फूस से (आवृता) ढकी हुई और (पलदान्) पलद, फूस के बने टाटियों या चटाइयों को (वसाना) ओढ़े हुए, (रात्री इव) रात्रि के समान (जगतः निवेशनी) जगत् को अपने भीतर सुख से वास देने हारी (पृथिव्या) पृथिवी पर (मिता) मापकर बनाई गई (पद्वती) स्थूल पैरों वाली (हस्तिनी इव) हथिनी के समान (पद्वती) स्थूल स्तम्भों से युक्त होकर (तिष्ठसि) खड़ी है।

इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन्।
वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥

भा०—हे शाले! (ते) तेरे ऊपर लगे (इटस्य) चटाई, घास को (अपिनद्धम्) बँधे हुए पूलों को (अप ऊर्णुवन्) खोलता हुआ मैं (वि चृतामि) उसको खोलता हूं। और (वरुणेन) अन्धकार से (सम् उब्जितां) ढकी हुई को (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रः) सूर्य (वि उब्जतु) विशेष रूपसे प्रकाशित करे।

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।

इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥ १६ ॥

भा०—(ब्रह्मणा) ज्ञानपूर्वक (निमितां) बनाई गई, और (कविभिः) बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा (मिताम्) नापी और (निमितां) बनाई गई (शालाम्) शाला को (इन्द्राग्नी) इन्द्र, वायु और अग्नि दोनों (अमृतौ) अमृत जीवन की वृद्धि करने वाले पदार्थ (सोम्यम्) सुखकारी (सदः) गृह (रक्षताम्) बनाये रक्खें।

देह रूप शाला का वर्णन।

कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः।

तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥ २० ॥ (७)

भा०—(कुलाये अधि कुलायम्) घोंसले पर घोसला अथवा (कोशे कोशः समुब्जितः) कोश पर कोश आवरण करता है (तत्र मर्त्तः विजायते) वहां प्राणधारी जीव का मरणधर्मा शरीर नाना प्रकार से प्रकट होता है (यस्मात् विश्वम् प्रजायते) जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते है।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।

अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥२१॥

भा०—(मानस्य पत्नीम्) मान, मातृत्व सामर्थ्य का पालन करने वाली पत्नी स्त्री के (गर्भः) गर्भ रूप (अग्निः इव) जीव जिस प्रकार सोता है उसी प्रकार मैं (अग्निः) गृहपति (अष्टापक्षां दशपक्षां शालां आशये) आठ कोठरियों और दश कोठरियों वाली शाला के बीच

१६–(द्वि०) 'निर्मितां' (च०) 'सोम्यं' इति क्वचित् (प्र०) चतुस्रक्तिः परिचक्रां कविभिर्निर्मितां मिताम्। विश्वानाविभ्रती शालाममृतौ सोम्यं सदः। इति पैप्प० सं०।

२०–(तृ०) 'तत्र मर्त्यो वि'-इति पैप्प० सं०।

में रहूं। (या) जो शाला (द्विपक्षा) दो-कोठरियों वाली, (चतुष्पक्षा) चार कोठों वाली और (या) जो (षट्पक्षा) छः कोठरियों वाली भी (निमीयते) बनाई जाती है।

पक्ष=कक्षागृह । द्विपक्षा=जिसमें दो कमरे हों। अष्टापक्षा=आठ कमरों वाली। दशपक्षा=दश कमरों वाली।

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम्।
अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (प्रतीचीं) अपने समक्ष खड़ी हुई (अहिंसतीम्) किसी प्रकार का कष्ट न देती हुई, सुखकारिणी (त्वा) तेरे प्रति (प्रतीचीनः) प्रतीचीन, तेरे अभिमुख होकर (प्रैमि) आता हूं। और (अत्र) इसके भीतर (अग्निः) आग और (आपः) जल ही (ऋतस्य) जीवन के (प्रथमा) उत्तम (द्वाः) द्वार हैं। अथवा (अन्तः) भीतर (अग्निः) ज्ञानवान् विद्वान् और (आपः) आप्त पुरुष रहें। वे ही (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (द्वाः) द्वार हैं।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ २३ ॥

भा०—मैं (इमाः) इन (यक्ष्मनाशनीः) रोगजनक जन्तुओं के नाश करने वाली (आपः) जलों को (अयक्ष्माम्) रोग रहित शाला में (प्र भरामि) लाता हूं। और (अग्निना) अग्नि और (अमृतेन) जल के (सह) साथ अपने (गृहान्) गृह के बन्धुओं के पास (उप प्र सीदामि) आता हूं।

२१—पक्ष परिग्रहे (पचाद्यच्) पक्षः कोष्ठः।

२२—(च०) 'प्रथमो भा' इति पैप्प० स०।

२३—(प्र०) 'आप० प्रहराम्य' (तृ०) 'गृहानामि' इति पैप्प० सं०।

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ २४ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (नः) हमारे लगाये (पाशम्) बंधन को (मा प्रति मुचः) धारण मत कर, अब न रख । हे शाले ! (गुरुः भारः) तेरा भार बहुत अधिक है । तू (लघुः भव) हलकी होजा । हे शाले ! हमारी इच्छा है कि (त्वाम्) तुझको (वधूम् इव) वधू, नव विवाहित कन्या के समान (त्वा) सुसज्जित तुझे (यत्र कामं) जहां इच्छा हो (भरामसि) ले जायँ ।

इस मन्त्र में एक स्थान से स्थानान्तर में ले जाने लायक गृह का वर्णन वेद ने किया है ।

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२५॥
दक्षिणाया दिशः० ॥ २६ ॥ प्रतीच्या दिशः० ॥ २७ ॥
उदीच्या दिशः० ॥२८॥ ध्रुवाया दिशः० ॥२९॥ ऊर्ध्वाया दिशः०॥३०॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ ३१ ॥(८.

भा०—शाला के भीतर प्रवेश करके गृहपति प्रत्येक दिशा से परमात्मा की और देवों की अर्चना किया करे । (शालायाः) शाला के (प्राच्याः दिशः) प्राची, पूर्वाभिमुख दिशा से (महिम्ने नमः) उस महा महिम परमात्मा के शुभ गुणानुवाद करें और (स्वाह्येभ्यः) उत्तम रीति से स्तुति अर्चा करने योग्य (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों का भी हम गुणानुवाद और आदर सत्कार करें । इसी प्रकार (दक्षिणायाः)

२५–३१–'स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः प्राच्याः दिशः शालाया नमो महिम्ने' इत्यादि २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ इत्यादिष्वप्येष एव क्रमः । इति पैप्प० सं० ।

दक्षिण, (प्रतीच्याः) पश्चिम, (उदीच्याः) उत्तर, (ध्रुवायाः) ध्रुवा अर्थात् नीचे की ओर (ऊर्ध्वायाः) ऊपर की (दिशः) दिशाओं से भी हम परमात्मा को नमस्कार और पूज्य विद्वान् पुरुषों की पूजा सत्कार करें। इसी प्रकार (दिशः दिशः) शाला के सब दिशाओं से (नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा) परमेश्वर और पूजनीय विद्वानों की पूजा हो।

[४] ऋषभ के दृष्टान्त से परमात्मा का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः। ऋषभो देवता। १–५,७,६,२२ त्रिष्टुभः। ८ भुरिक्। ६, १०,२४ जगत्यौ। ११–१७,१६,२०,२३ अनुष्टुभः। १२ उपरिष्टाद् बृहती। २१. आस्तारपंक्तिः। चतुर्विंशर्चं सूक्तम्॥

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान्॥१॥

भा०—(साहस्रः) सहस्रों शिरों, बाहुओं, पादों, चक्षुओं एवम् अनन्त सामर्थ्यों से युक्त (त्वेषः) कान्तिमान्, (ऋषभः) सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक (पयस्वान्) आनन्द रस से परिपूर्ण, वीर्यवान्, परमात्मा (विश्वा रूपाणि) समस्त कान्तिमान लोकों को अपने (वक्षणासु) कोखों में या वहन करने में समर्थ शक्तियों में (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (बार्हस्पत्यः) स्वयं बृहत्, महान् लोकों के स्वामी होकर, (उस्रियः) सब के भीतर स्वयं बसने वाला एवम् सबको अपने में वास देने वाला होकर (दात्रे) दानशील, आत्मसमर्पण करने हारे (यजमानाय) यजमान, आत्मा, पुरुष को (भद्रम्) सुखकारी, कल्याणमय लोक या देह को (शिक्षन्) प्रदान करता हुआ (तन्तुम्) इस विस्तृत जगत् मय तन्तु को (आतान्) फैलाता है।

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी ।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥२॥

भा०—(यः) जो (अग्रे) पूर्वकाल में (अपां) जगत् के कारण-भूत आपः=सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं पर भी (प्रतिमा) 'प्रतिमान' मापने और उन में भी व्यापने वाला (बभूव) रहा और (सर्वस्मै प्रभूः) सब संसार का उत्पादक और अधिष्ठाता (देवी पृथिवी इव) देवी पृथिवी के समान सबका आश्रय था और है । और जो (वत्सानाम्) प्रकृति के आगे उत्पन्न होने वाले पञ्चभूत आदि विकृति रूपों के या प्राणियों के आवास हेतु लोकों या मुक्त जीवों का (पिता) जनक और पालक और (अघ्न्यानाम् पतिः) न मारने योग्य गौओं के पति महा वृषभ के समान (अघ्न्यानां पतिः) कभी नाश न होने वाले पञ्चभूतों के सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी पालक है वह परमात्मा (नः) हमें (साहस्रे पोषे) सहस्रों प्रकार के पोषण कार्यों में (अपि कृणोतु) समर्थ करे अर्थात् जिस प्रकार वह सहस्रों विश्वों को पुष्ट करता और पालता है उसी प्रकार वह हमें भी समर्थ करे ।

'वत्सानां पिता, अघ्न्यानां पतिः' इत्यादि विशेषणों से साधारण सांड भी उपमान रूप से ज्ञात होता है ।

पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति ।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

भा०—(ऋषभः) वह सब संसार को चलाने वाला, सर्वश्रेष्ठ (पुमान्) पुमान् पुरुष, पूर्ण ज्ञानी अथवा समस्त पदार्थों में व्यापक या सब को बढ़ाने वाला या स्वयं सब से महान् (अन्तर्वान्) अतएव

२—१. वत्सा वै देव्या अध्वर्यवः । श० १ । ८ । १ । २७ ॥
३—(द्वि०) 'वसोष्कबन्ध'-इति क्वचित् पाठः ।

समस्त विश्वों को अपने भीतर धारण करने वाला, (स्थविरः) नित्य कूटस्थ, सदा स्थिर, अविनाशी होकर (वसोः) वसु, वसने वाले इस अखिल जगत् के (कबन्धम्) शरीर भाग को अथवा ज्ञानमय, सुखमय, शक्तिमय बन्धन सामर्थ्य को (बिभर्ति) स्वयं धारण करता है (तम्) उस (हुतम्) व्यापक परमात्मा को (जातवेदाः) प्रज्ञावान् (अग्निः) अग्रणी, योगी, ज्ञानी, विद्वान् (देवयानैः) देव विद्वानों से जाने योग्य (पथिभिः) मोक्ष मार्गों से (इन्द्राय) इस जीव को (वहतु) ले जाये।

बैल के पक्ष में पं० ह्विटनी और ग्रीफिथ आदि ने इस मन्त्र का निम्नलिखित अर्थ किया है 'नर, गाभिन, बड़ा, दुग्ध वाला, भलाई के धड़ को बैल धारण करता है, जातवेदा अग्नि इन्द्र के लिये बलि किये उस बैल को देवों से चले गये रास्तों से ले जाय।' पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त के प्रारम्भ में विनियोग लिखा है कि 'ब्राह्मण बैल को मार कर भिन्न २ देवताओं के लिये होम दे।' यह अर्थ इस कारण असंगत है कि बैल के ऊपर 'पयस्वान्, वसोः कबन्धम्' अन्तर्वान् और देवयानैः पथिभिर्वहतु' आदि विशेषण उसमें संगत नहीं हैं।

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम्।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः ॥४॥

भा०—(वत्सानां पिता) समस्त लोकों, मुक्तात्माओं या जगत् के घटक पञ्चभूतों का (पिता) पिता, पालक (अघ्न्यानां पतिः) अविनाशी शक्तियों का स्वामी (अथो) और (महतां) बड़े २ (गर्गराणाम्) वेद या ब्रह्मज्ञान के गुरु गणों का भी (पिता) पालक है। (वत्सः) बच्चा, (जरायु) जेर (प्रतिधुक्) नवीन दुहा हुआ

४—(द्वि०) 'उतायं पितर' आमिक्षमस्तु घृतमस्य योनिः' इति (च०) 'अमिक्षा मस्तु घृतमस्य रेतः' इति तै० सं०।

या प्रतिदिन का दुहा हुआ (पीयूषम्) दूध, (आमिक्षा) जमा हुआ दही या फटा दूध और (घृतम्) घी (तत् उ) यह सब जैसे इस प्रत्यक्ष (अस्य) इस सांड के ही (रेतः) वीर्य का परिणाम है उसी प्रकार (वत्सः) वायु या अग्नि या अहंकार, (जरायुः) हिरण्यगर्भ, (आमिक्षा) ब्रह्माण्ड (प्रतिधुक् पीयूषम्) प्रतिकल्प, प्रतिसर्ग में दोहन करने योग्य पीयूष, पयस, रस प्राण या परम सूक्ष्म जगत् का मूलकारण भूत परमाणु रूप 'अपः' और (घृतम्) अन्तरिक्ष या तेजस्तत्व, (तत् उ) वह सब कुछ उस महान् परमेश्वर का (रेतः) वीर्य है ।

'वत्सः'—अयमेव वत्सः योऽयं (वायुः) पवते । श० १२।४।१।१२॥ अग्निर्ह वै ब्रह्मणो वत्सः । जै० २।२।१३।१॥ मन एव वत्सः । श० ११।३।१।१॥ 'जरायु'—शणा जरायु । श० ६।६।२।१५॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा तस्माद्यज्ञात्तस्य यन्नेदिष्टमुल्बमासीत् ते शणाः स्तस्मात्ते पूतयो भवन्ति । श० ३।२।१।११॥ 'पीयूष', पयः पीयूषं । यजु० ॥ रसो वै पयः श० ४।४।४।८॥ आपोहि पयः । कौ० ५।४॥ सौर्यं पयः । तै०३।९।१७।४॥ जागतमयनं भवति । तां० १३।४।१०॥ वायव्यं पयो भवति । श०२।६।३।६॥ 'आमिक्षा'—आण्डस्य वा एतद्रूपं यदामिक्षा । तै० १।६।२।४॥ 'घृतम्', एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम् । तै० १।१।९।६॥ उल्बं घृतम् । श० ६।६।२।१५॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम् । श० ७।५।१।३॥

वायु 'वत्स' है, ब्रह्म का 'वत्स' अग्नि है । अध्यात्म में मन आत्मा का वत्स है । अथवा प्रकृति का विकृत रूप अहंकार वत्स है । 'जरायु और शणा' वह पदार्थ है जिस में यज्ञमय प्रभु स्वयं हिरण्यगर्भ या विराड् रूप से प्रथम प्रजापति रूप में प्रकट हुआ । 'पीयूष' व 'रस' 'आपः' या सौर्य रस हैं जिनसे अनेक लोकों की रचना हुई है । वह जगत् का मूलकारण है । वह वायुरूप है । 'आमिक्षा' हिरण्यगर्भ के घटक पदार्थ का नाम है । 'घृत' अग्नि का प्रिय तेज है, या हिरण्यगर्भ का

आवरण है। यह अन्तरिक्ष का रूप है। इस प्रकार प्राचीन परिभाषाओं का स्पष्टीकरण जानना चाहिये।

देवानां भाग उपनाह एषो॒॑ऽपां रस॒ ओष॑धीनां घृ॒तस्य॑ ।
सोम॑स्य भ॒क्षम॑वृणीत श॒क्रो बृ॒हन्नद्रि॑रभव॒द् यच्छरी॑रम् ॥ ५ ॥

भा०—(एषः) यह पूर्वोक्त ऋषभ नाम से कहा गया ईश्वर ही (देवानाम्) समस्त देवों का (भागः) भजन करने योग्य, आश्रय स्थान और (उपनाहः) अति समीपतम होकर उनको परस्पर बांधकर वश करने वाले, उनमें पिरोये सूत्र के समान है। और वही (अपां रसः) सूक्ष्म 'आपः' रूप परम प्रकृति के परमाणुओं का सूक्ष्म रस उनके भीतर उनको भी धारण करनेहारा शक्तिरूप होकर उनमें भी व्यापक है। और वही (ओषधीनां रसः) ओषधियों, दिव्य शक्तियों अथवा अन्नमय रेतस् पदार्थ के धारण करने वाले सूर्यों और (घृतस्य रसः) स्वतः तेजस् द्रव्य के परमरूप का भी स्वयं धारण करनेहारा 'रस' रूप है। वही (शक्रः) सर्व शक्तिमान् होकर (सोमस्य) उत्पन्न इस जगत् के या जीव संसार के (भक्षम्) प्राण को (अवृणीत) वश किये हुए है। और (यत्) जो स्वयं (शरीरम्) सबका आश्रय होकर (बृहत्) सबसे महान् (अद्रिः) अखण्ड, सबको अपने में ग्रस लेने वाला, संहारकारी (अभवत्) होता है।

(१) 'अपां रसः'—'स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतद् आह' अर्थात् [स्वधा=रसः] इति श० ५।४।३।७॥ (२) 'ओषधयः'—जगत्यः ओषधयः। श० १।२।२।२॥ ओषधयो वै देवानां पत्न्यः। श० ६।५।४।४॥

५–(प्र०) 'देवानामिव उपनाह आसीत्' अपां गर्भ ओषधीषु न्यक्तः। सोमस्यद्रप्सं मवृणीत पूषा बृहन्नद्रिरभवत् यत्तदेषाम्' इति तै०सं०। तत्र (द्वि०) 'अपां पतिर्वृषभ ओषधीनाम्' (च०) 'यत्तदासीत्' इति विशेषो। मै० सं०।

प्रजापतिस्तां आहुतिं अग्नौ व्यौक्षत् ओषं धयेति । ततः ओषधयः समभवन् तस्मादोषधयो नाम । श० २।२।४।५॥ (३) 'सोमः'—स्वा वै मे एषा [मूर्त्तिः] इति तस्मात् सोमो नाम । श० ३।९।४।२२॥ (४) 'भक्षम्'—प्राणो वै भक्षः । श० ४।२।१।२९॥ (५) 'शरीरम्'—अथ यत् सर्वमस्मिन्नश्रयन्त तस्माद् उ शरीरम् । श० ६।१।१।४॥

(१) रस का अर्थ स्वधा है अर्थात् स्वयं धारण करने हारा । (२) देव, दिव्य पदार्थों की शक्तियां ओषधि कहाती हैं, जिनमें परमात्मा ने अग्नि पदार्थ स्थापित किया है वे सूर्य आदि पदार्थ जगतो, सौरमण्डल आदि 'ओषधि' शब्द से कहे जाते हैं । (३) प्रजापति का अपना व्यक्त शरीर जगत् सोम है । (४) भक्ष प्राण का नाम है । (५) वह इस समस्त जगत् का आश्रय है अतः परमात्मा 'शरीर' कहाता है ।

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम् ।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्यस्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः ॥ ६ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! तू (सोमेन) संसार को उत्पन्न करने वाले सामर्थ्य जीवनरस, वीर्य एवं अमृत से (पूर्णम्) पूर्ण (कलशम्)[१] कलश के समान ब्रह्माण्ड अथवा गतिशील जगत् को (बिभर्षि) धारण और पोषण करता है । तू (रूपाणाम्) नाना रोचमान, तेजस्वी पदार्थों को और नाना जीव जन्तुओं के लक्षों रूपों को (त्वष्टा) बनाने वाला और (पशूनाम्) समस्त जीवों का (जनिता) उत्पादक है । (ते) तेरी (इह) इस लोक में (याः) जितनी (प्रजन्वः) प्रजाएं हैं अथवा उत्पादक शक्तियां हैं वे (शिवाः) कल्याणकारिणी (सन्तु) हों, और हे (स्वधिते) स्वयं

६—'सोमस्य पूर्णं' इति पैप्प० सं० ॥
१. कलगतौ इत्यस्मात् 'अशच्' ।

समस्त जगत् को धारण करनेहारे ! और (याः अमूः) जो वे दूरस्थ तेरी उत्पादक शक्तियां हैं उनको भी (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (नि यच्छ) नियम में चला । पशुओं का पालन, उत्पादन, प्रजावर्धन आदि शक्तियां इस लोक के मनुष्य के समीप और वश में भी हो सकती हैं । वे सब कल्याणकारिणी हैं, परन्तु उसके वश से बाहर, सृष्टियों का उत्पन्न होना, ऋतुओं का परिवर्त्तन, धूमकेतुओं का उदय, ग्रहों का संचालन, विद्युतों का प्रपात आदि दैवी शक्तियों को प्रभु नियम में रक्खे । वे उपद्रवकारी न हों ।

इस मन्त्र का योरोप के पण्डितों का किया अर्थ बड़ा हास्यास्पद है ।

आज्यं॑ बिभर्ति घृ॒तम॑स्य॒ रेतः॑ साहस्रः पोष॒स्तमु॑ य॒ज्ञमा॑हुः ।
इन्द्र॑स्य रू॒पमृ॑ष॒भो वसा॑नः॒ सो अ॒स्मान् दे॑वाः शि॒व ऐ॑तु द॒त्तः ॥७॥

भा०—(अस्य) इस साक्षात् परमेश्वर का (घृतम्) अति देदीप्यमान (रेतः) उत्पादक वीर्य (आज्यं) आज्य=समस्त देवशब्द वाच्य दिव्य पदार्थों को या प्राणों को (बिभर्त्ति) धारण करता है और उनको पुष्ट करता है । वह स्वयं (साहस्रः पोषः) सहस्रों, अनन्त लोकों का सहस्रों प्रकार से पोषक है । (तम् उ) उस परमात्मा को ही (यज्ञम्) 'यज्ञ' प्रजापति, परम पुरुष महान् आत्मा (आहुः) बतलाते हैं । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! वह (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ, सर्वद्रष्टा, प्रभु (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (रूपम्) पद को (वसानः) धारण करता हुआ (दत्तः) सब पदार्थों का देनेहारा (शिवः) कल्याणमय (अस्मान्) हमें (आ एतु) साक्षात् प्राप्त हो ।

(१) 'आज्यम्' एषा हि विश्वेषां देवानां तनूः यदाज्यम् । तै० ३।३।४।६॥ प्राणो वा आज्यम् । तै० ३।८।१५।२॥ दत्त—इति कर्त्तरि क्तः ।

७—(द्वि०) 'सहस्रपोष', (च०) 'अस्मा देवाः शिवैतु' इति पैप्प० ।

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत् ।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥ ८ ॥

भा०—(ये) जो (धीरासः) ध्यान योगी, (कवयः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (मनीषिणः) मननशील, विद्वान् ऋषि हैं वे (बृहस्पतिम्) बृहत् बड़े २ लोकों के स्वामी प्रभु को (एतम्) इस रूप से (संभृतम्) कल्पना किया गया या बलसम्पन्न हुआ (आहुः) उपदेश करते हैं कि इस वृषभ के रूप में (ओजः) बल वीर्य तो (इन्द्रस्य) इन्द्र का बना है (बाहू) बाहुएं (वरुणस्य) वरुण की, (असौ) कन्धे (अश्विनोः) अश्विदेव अर्थात् दिन रात्रि के बने हैं (ककुत्) कोहान का भाग (मरुताम्) मरुद्गण प्राणों और वायुओं का बना है ।

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ ९ ॥

भा०—हे ऋषभ ! परमेश्वर ! तू (पयस्वान्) आनन्दमय, पोषक, अन्न-रस या वीर्य से सम्पन्न होकर (दैवीः) दिव्य गुणवाली (विशः) प्रजाओं को (आतनोषि) बढ़ाता है । विद्वान् लोग (त्वां) तुझको (इन्द्रम् आहुः) इन्द्र, परमेश्वर कहते हैं और (त्वाम्) तुझको (सरस्वान्) 'सरस्वान्' अपार रससागर कहते हैं । (यः) जो (ब्राह्मणः) ब्राह्मण वेद का विद्वान् (ऋषभम्) 'ऋषभ रूप' परमेश्वर के ज्ञान रहस्य को (आजुहोति) प्रदान करता है (सः) वह (सहस्रम्) हजारों (एक मुखाः) एक परमेश्वर के ही मुख्य विषय को प्रतिपादन करने वाली वेद-वाणियों का (ददाति) उपदेश करता है । अर्थात् उस परमात्मा के ज्ञान प्रदान करने के प्रसंग में वह सहस्रों ऋचाओं का व्याख्यान कर देता है ।

गौणवृत्ति से—जो वेदज्ञ विद्वान् के वश होकर एक सांड को धर्मार्थ छोड़ देता है वह मानो सहस्रों गौएं प्रदान करता है । परमात्मा परक यह

'ऋषभ' शब्द है इसके अनुकरण में वृषभोत्सर्ग का वैदिक कर्मकाण्ड खुलता है। जो सम्बन्ध ईश्वर रूप वृषभ का वेदवाणियों से है वही सम्बन्ध सांड का गौओं से है। जैसा उपनिषदों में कहा है—

यश्छन्दसां वृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्

संबभूव। समे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। तै० उप० १।४॥

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥१०॥६

भा०—हे परमेश्वर! (ते वयः) तेरे जीवनमय सामर्थ्य को (बृहस्पतिः) बड़े २ लोकों का पालक (सविता) सूर्य (दधौ) धारण करता है। (ते) तेरा (आत्मा) देह (त्वष्टुः वायोः परि आभृतः) सब के उत्पादक, एवं जीवनप्रद वायु के द्वारा व्याप्त है। (अन्तरिक्षे) इस महान् अन्तरिक्ष आकाश में (त्वा) तुझसे (मनसा) अपने मानस संकल्प द्वारा (जुहोमि) अर्पित करता हूं, कल्पित करता हूं कि (द्यावापृथिवी) ये द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि (उभे) दोनों (ते) तेरे लिये (बर्हिः) व्याप्त होने के लिये हैं, तेरे आसन रूप हैं।

ऋषभ परमेश्वर के अंगों का वर्णन।

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत्।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया॥ ११॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (देवेषु) देव अर्थात् प्राणों में (इन्द्र इव) आत्मा के (गोषु) वेदवाणियों (विवावदत्) नाना प्रकार के ज्ञानोपदेश करता हुआ (एति) स्वयं विराजमान है (तस्य) उस महान् (वृष-

१०-(प्र०) 'सविता ते मनोदधौ' इति पैप्प० सं०।

११-'य ऐन्द्रीव' इति पैप्प० सं०।

भस्य) ऋषभ, परमेश्वर के (अंगानि) अंगों का (ब्रह्मा) चतुर्वेद वक्ता पुरुष (भद्रया) कल्याणमयी वेदवाणी द्वारा (सं स्तौतु) उत्तम रीति से वर्णन करे ।

पा॒र्श्वे आ॑स्ता॒मनु॑मत्या॒ भग॑स्यास्तामनू॒वृजौ॑ ।
अ॒ष्ठी॒वन्ता॑वब्रवीन्मि॒त्रो ममै॒तौ केव॑ला॒विति॑ ॥ १२ ॥

भा०—उस महान् परमेश्वर के (पार्श्वे) दोनों पार्श्व, पासे (अनुमत्याः) अनुमति, द्यौ के कल्पित (आस्ताम्) हैं । और (अनुवृजौ) पसुलियों के दोनों भाग (भगस्य) भग, सूर्य के हैं (मित्रः) मित्र=वायु (अब्रवीत्) कहता है कि (अष्टीवन्तौ) अस्थि के बने दोनों घुटने (एतौ) ये दोनों (केवलौ मम) मेरे बने हुए या कल्पित हैं ।

भ॒सदा॑सीदादि॒त्याना॒ श्रोणी॑ आस्तां॒ बृह॒स्पतेः॑ ।
पुच्छं॒ वात॑स्य दे॒वस्य॒ तेन॑ धूनो॒त्योष॑धीः ॥ १३ ॥

भा०— (भसत्) प्रजनन भाग (आदित्यानाम्) आदित्य, १२ मासों का कल्पित किया गया है और (श्रोणी) कटि के दोनों भाग (बृहस्पतेः) बृहस्पति अग्नि के (आस्तां) कल्पित किये हैं । (पुच्छं वातस्य देवस्य) पुच्छ भाग वात, वायु देव का कल्पित है । (तेन) उससे वह (ओषधीः) ओषधि अर्थात् अग्निमय समस्त लोकों को (धूनोति) निरन्तर चला रहा है ।

गुदा॑ आसन्त्सिनीवा॒ल्याः सू॒र्याया॒स्त्वच॑मब्रुवन् ।
उ॒त्थातु॑रब्रुवन् प॒द ऋ॑ष॒भं यदक॑ल्पयन् ॥ १४ ॥

१२–(प्र०) 'पार्श्वास्ता' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'अष्ठीवन्ताऽब्रवी' इति ह्विनरिकाभिमतः पाठः ।

१३–(द्वि०) 'श्रोण्यास्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

१४–(प्र०) 'गुदा सन्' (च०) 'यदो यृद्वषभं व्यकल्पन्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सिनीवाल्याः) सिनीवाली अर्थात् रात्रि के (गुदाः आसन्) गुदा भाग कल्पित हैं, (त्वचम् सूर्यायाः अब्रुवन्) विद्वान् लोग सूर्या उषा को उसकी त्वचा बतलाते हैं। (यत्) जब विद्वान् लोगों ने परमेश्वर के स्वरूप की (ऋषभम्) ऋषभ रूप से (अकल्पयत्) कल्पना की तब (उत्थातुः) उत्थाता अर्थात् प्राण को (पदः) उसके पद (अब्रुवन्) बतलाया।

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः।
देवाः संगत्य यत् सर्व ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥

भा०—वह परमात्मा (जामिशंसस्य) सब जगत् को उत्पन्न करने वाली माता कहने वाले भक्त के लिये वह (क्रोड आसीत्) माता की गोद ही है। और मानो वह स्वयं (सोमस्य) सोम, आनन्द रस का (कलशः) पूर्ण कलश (धृतः) माना गया है। (देवाः) विद्वान् लोग (यत्) भी (सर्वे) सब (संगत्य) नाना प्रकार से संगति लगाकर (ऋषभं) उस महान् परमेश्वर को (वि अकल्पयन्) विविध प्रकार से कल्पना कर लेते हैं। अथवा (सर्वे देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ ही (संगत्य) परस्पर मिलकर स्वयं (ऋषभम्) उस महान् पुरुष को वि अकल्पयन्) विविध रूपों से कल्पित कर रहे हैं अर्थात् वे ही उसके अंग प्रत्यंग बना रहे हैं।

'जामिशंस' जाम् अपत्यं जायते अस्याम् इति जामिर्माता। जामि इति शंसति स 'जामिशंसः', मातृपदेन भाषमाणो जनः।

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान्।
ऊवध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् जन (कुष्ठिकाः) प्रजापति की कुष्ठियों,

१६–(च०) 'शवर्त्तेभ्यो, शशवर्त्तेभ्यो, शवर्त्तेभ्यो', इत्यादयः क्वचित् पाठः। शिवरभ्यो इति पैप्प० सं०।

सुमों को (सरनायै.) सरमा कुत्तों की जाति रूप से. कल्पना करते हैं, (शफान्) और वृषभ, प्रजापति के खुर भागों को (कूर्मेभ्यः) कछुआ रूप से (अदधुः) कल्पना करते हैं, (श्ववर्त्तेभ्यः) एक दो दिन जीने वाली (कीटेभ्यः) समस्त कोमल कीटों को (अस्य) उसका (ऊवध्यम्) अपक्क भोजन (अधारयन्) कल्पित किया ।

'श्ववर्त्तेभ्यः कीटेभ्यः' 'श्व-वर्त्त' अर्थात् कलतक विद्यमान, एक दिन तक जीने वाले क्षुद्र प्राणी ।

शृङ्गाभ्यां रक्षं ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७ ॥

भा०—(यः) जो (गवां पतिः) गौ=वेदवाणियों और पृथ्वी आदि लोकों का (अघ्न्यः पतिः) अविनाशी, स्वामी, परमात्मा है वह (शृङ्गाभ्यां) सींगों के समान तीक्ष्ण व्यक्त, अव्यक्त दोनों प्रकार के साधनों से (रक्षः) पीड़कों को (ऋषति) मारता है और (चक्षुषा) अपने सूर्य समान दिव्य तेजोमय चक्षुके निमेष उन्मेष से ही (अवर्तिम्) असत्, अविद्यमान अभाव पदार्थ को (हन्ति) विनाश करता और सत् पदार्थों को उत्पन्न करता है । वह (कर्णाभ्यां) कानों से सदा (भद्रम्) कल्याणकारी वचनों को (शृणोति) सुन लेता है ।

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥१८॥

भा०—(यः) जो पुरुष (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म के जानने वाले विद्वान् को साक्षी रख कर (ऋषभम्) महान् परमेश्वर का (आजुहोति) यज्ञ करता है (सः) वह मानो (शतयाजम् यजते) सैकड़ों यज्ञ करता है

१७-(प्र०) शृङ्गाभ्यारक्षरिषद् रार्तीं इति पैप्प० सं० ।
१८-'जिन्वन्निस्वे' इति पैप्प० सं० ।

(एनम्) उसको (अग्नयः) अग्नियें संतापकारी पदार्थ (न दुन्वन्ति) दुःख नहीं देते । (तम्) उसको (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और दिव्य पदार्थ अग्नि, जल आदि (जिन्वन्ति) तृप्त या प्रसन्न करते हैं ।

ऋषभ दान करने का उपदेश ।

ब्राह्मणेभ्य॑ ऋष॒भं द॒त्त्वा वरी॑यः कृणु॒ते मनः॑ ।
पुष्टिं॒ सो अ॒घ्न्या॒नां स्वे गो॒ष्ठेऽव॑ पश्यते ॥ १९ ॥

भा०—यजमान पुरुष (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म को जानने हारे विद्वान् पुरुषों को उस प्रजापति के प्रतिनिधि भूत इस गोपति (ऋषभम्) वृषभ का (दत्वा) दान देकर भी अपने (मनः) चित्त को (वरीयः) विशाल (कृणुते) कर लेता है । और (सः) वही (स्वे गोष्ठे) अपने गोशाला में (अघ्न्यानां) गौवों को (पुष्टिं) वृद्धि ही (अव पश्यते) पाता है ।

गावः॑ सन्तु प्र॒जाः स॒न्त्वथो॑ अस्तु त॒नू ब॒लम् ।
तत् सर्व॒मनु॑ मन्यन्तां दे॒वा ऋ॑षभ॒दायि॑ने ॥ २० ॥

भा०—(गावः सन्तु) हमारे पास गौवें हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजा, सन्तानें हों, (अथो) और (तनू बलम् अस्तु) शरीर में बल हो । (देवाः) विद्वान् हितकारी लोग (ऋषभदायिने) महा वृषभ का दान करने वाले के लिये (तत् सर्वम्) गौ, प्रजा और बल सब को प्राप्त करने के लिये (अनु-मन्यन्ताम्) अनुमति दें, उनको प्राप्त करने का आशीर्वाद दें और उसके उपाय दर्शावें ।

अ॒यं पिपा॑न इन्द्र॒ इद् र॒यिं द॑धातु चेत॒नीम् ।

१९–(प्र०) 'ब्राह्मणाय वृषभ' (च०) 'गोष्ठे विपश्यतु' इति पैप्प० सं० ।
२०–(तृ०) 'सर्वं तदनु' इति पैप्प० सं० ।

अयं धेनुं सुदुघां नित्यंवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥ २१ ॥

भा०—(अयम्) यह (पिपानः) अति विशाल काय महावृषभ (इन्द्र इव) साक्षात् इन्द्र ही है । वह हमें (चेतनीम्) चेतना-सम्पन्न, जीती जागती (रयिम्) सम्पत्ति पशुधन और अन्न धन और चेतना और प्राणसम्पत्ति का (दधातु) प्रदान करे । (अयम्) वह (नित्यवत्साम्) नित्य मनो रूप वत्स सहित (सुदुघाम्) उत्तम आनन्द रस देने वाले, सुख से दोहने योग्य (धेनुं) चिति शक्ति रूप गौ को और (वशम्) वशी, जितेन्द्रिय (विपश्चितम्) मेधावी पुरुष को पूर्ण करे ।

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् ।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥ २२ ॥

भा०—वह महावृषभ रूप महान् परमात्मा (ऐन्द्रः) साक्षात् स्वयं इन्द्र ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (शुष्मः) शक्तिमान् (विश्वरूपः) समस्त जगत् में व्यापक (नभसः) महान् आकाश के (वयोधाः) गतिशील आकाशी तारों, सूर्यों को धारण करने वाला (पिशङ्गरूपः) अग्नि के समान तेजोमय, परम भास्वरस्वरूप (अस्मभ्यम्) हमें (आयुः) आयु (दधत्) प्रदान करे और (प्रजां च) प्रजा (रायश्च) नाना सम्पत्तियां और (पोषैः) पुष्टिकारक पदार्थों सहित (नः) हमें (अभि सचताम्) प्राप्त हो । सांड के पक्ष में—पीला बैल (इन्द्रः) इन्द्र ईश्वर के नाम पर (शुष्मः) बलवान् हमें प्राप्त हो । वह हमें प्रजा धन पुष्टि-कारक अन्न आदि प्रदान करे ।

उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः ।

२१–(प्र० द्वि०) 'अयं पिपाना इन्द्रियं गयं बिभर्ति तेजनी ।' (च०) विपश्यतं परोदिवः' इति पैप्प० सं० ।

उप ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम् ॥ २३ ॥

ऋ० ६ । २८ । ८ ॥

भा०—जिस प्रकार पशुशाला में गोपाल चाहता है कि सांड गोशाला में आकर गौओं को गर्भित करे उसी प्रकार हे (उपपर्चन) अति समीप हम से अनन्यभाव से सम्पृक्त सदा के संगी परमात्मन् ! (इह) इस अन्तःकरण में (उप) तुम सदा निवास करते हो (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) गौ इन्द्रियों के स्थिति स्थान, देह या अन्तःकरण में (नः) हमें सदा (उप पृञ्च) प्राप्त हो । (ऋषभस्य) उस व्यापक महा वृषभ और इस वृषभ सांड का (यत्) जो भी (रेतः) तेज या वीर्य उत्पादन सामर्थ्य है हे (इन्द्र) परमेश्वर (उप) साक्षात् वह (तव वीर्यम्) तेरा ही बल है ।

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि वः सचध्वम् २४॥१०

भा०—इस उपरोक्त पवित्र भावना से प्रजा के हित के लिये वृषभ का उत्सर्ग हो । और (एतम्) इस (युवानम्) जवान, हट्टे कट्टे सांड को (प्रति दध्मः) प्रत्येक के हित के लिये रखते हैं । (अत्र) इस लोक में हे गौओ ! (वशान् अनु) तुम अपनी इच्छाओं के अनुसार (तेन) उस सांड के साथ (क्रीडन्तीः) क्रीड़ा करती हुई (चरत) विचरो, विहार करो । हे (सुभागाः) सौभाग्य युक्त गौओ ! आप (जनुषा) पुत्रोत्पादन या सन्तानोत्पादन के कार्य से (नः) हमें (मा विहासिष्ट)

२३-(द्वि०) 'गोष्ठो ऽस्वनः' इति ह्विटनिकामितः पाठः॥ "उवेदमुपपर्चन मासु गोषूपपृच्यताम् । उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये" इति ऋ० ।

२४-(प्र०) एतं युवानं परिवोददामि (द्वि०) 'चरत प्रियेण', (तृ०) 'मानोहास' । (च०) 'रायः पोषेण समिषामदेम' इति तै० सं० ।

त्याग कभी मत करो और इन बच्चों को जनो और हमारी सम्पत्ति बढ़ाओ । और (रायः च) बहुत से धन धान्य हमें (पोषैः) पुष्टिकारक दूध, घी, अन्न आदि पदार्थों सहित (नः सचन्ताम्) हमें प्राप्त हों ।

इस सूक्त में वेद ने सांड की महिमा के साथ ईश्वर की महिमा का वर्णन किया और उसके समान उसका प्रतिनिधि सांड को बतला कर महावृषके उत्सर्ग करके पशु धन धान्य आदि प्राप्त करने का उपदेश किया है।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, ऋचश्च पञ्च पञ्चाशत्]

[५] अज के दृष्टान्त से पञ्चौदन आत्मा का वर्णन ।

भृगुर्ऋषिः । अजः पञ्चौदनो देवता । १, २, ५, ६, १२, १३, १५, १६, २५, त्रिष्टुभः, ३ चतुष्पात् पुरोऽति शक्वरी जगती, ४, १० जगत्यौ, १४, १७, २७, ३०, अनुष्टुभः, ३० ककुम्मती, २३ पुर उष्णिक्, १९ त्रिपाद् अनुष्टुप्, १८, ३७ त्रिपाद विराड् गायत्री, २४ पञ्चपदाऽनुष्टुबुष्णिग्गर्भो-परिष्टाद्बार्हता विराड् जगती २०-२२, २६ पञ्चपदाउष्णिग् गर्भोपरिष्टाद्बार्हता भुरिजः, ३१ सप्तपदा अष्टिः, ३३-३५ दशपदाः प्रकृतयः, ३६ दशपदा प्रकृतिः, ३८ एकावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्, अष्टात्रिंशदर्चं सूक्तम् ॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! (आनय) इस जीवात्मा को वश करके सन्मार्ग पर ले चल । (एतम् आरभस्व) इस व्रत, वानप्रस्थ को आरम्भ कर । तेरा आत्मा (सुकृताम्) पुण्य करने हारे महा पुरुषों के (लोकम् अपि)

[५] १-(तृ०) बहुधा विपश्यन्' इति पैप्प० सं० ।

लोक को भी (प्रजानन्) उत्कृष्ट, ज्ञान सम्पन्न होकर (गच्छतु) प्राप्त हो। और वह आत्मा (बहुधा) बहुत तरह के (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अज्ञानों को, शोक, मोह, लोभ, काम, क्रोध आदि को (तीर्त्वा) पार करके (अजः) स्वयं अपने को अजन्मा, नित्य जान कर (तृतीयम्) तृतीय, तीर्णतम, इन सब विघ्न बाधाओं से बहुत परे स्थित (नाकम्) सुखमय मोक्षधाम में भी (आक्रमताम्) जाय।

'उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।' क० उप० १ । १२ ॥ 'महान्ति तमांसि'—बड़े भारी अन्धकारमय मृत्यु के पास, जैसे—स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके।' कठ० उप १ । १८ ॥

'नाकम्'—स्वर्गो वै लोको नाकः। श० ६।३।३।१४॥ तम् (त्रय-स्त्रिंशं स्तोमं) उ नाकमित्याहुः। नहि प्रजापतिः कस्मैचन अकम्। तां० १०।१।१८॥ नहि तत्र जग्मुषे कस्मै च न अकं भवति। तां० २१।८।४॥नाकः स्वर्ग लोक है। वह ही ३३ वां देव प्रजापति स्वयं है। प्रजापति किसी के दुःख का कारण नहीं है। उस 'नाक' प्रजापति प्रभु के पास जाने वाले किसी को दुःख नहीं होता। 'तमांसि'—मृत्युर्वै तमः। श० ५।३।२।२॥ 'पाप्मा-वै तमः' श० १२।९।२।८॥ पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त का विनियोग पञ्चौदन सव में बकरे को बलि करने, मारने उसको मार कर स्वर्ग पहुँचाने के निमित्त किया है।

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् युज्ञे यजमानाय सूरिम्।
ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ २ ॥

भा०—(अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (त्वाम्) तुझ (सूरिम्) पाप आदि दोषों को तप से नष्ट कर देने वाले विद्वान् तपस्वी (भागम्)

२—(प्र०) 'इन्द्राय भागं शमिता कृणोत्वं यज्ञ यज्ञपतिश्चसूरिः। (च०) अरिष्टा वीरा यजमानश्च सर्वे। इति पैप्प० सं०।

ईश्वर का सेवन करने वाले पुरुष को (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील (यजमानाय) समस्त यज्ञसम्पादन करने वाले के लिये (परि नयामि) प्रस्तुत करता हूं। हे तपोनिष्ठ आत्मन् ! (नः) हमें (ये) जो (द्विषन्ति) द्वेष भी करते हों तू (तान्) उन को भी (अनु रभस्व) अनुकूल होकर, तू उन्हें प्राप्त कर, उनके भी समीप जा। जिससे (यजमानस्य) सब को संगति कराने वाले परमेश्वर के (वीराः) पुत्र सभी (अनागसः) पाप रहित, निरपराध हों।

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥३॥

भा०—हे पुरुष ! (पदः) चरणों को (प्र अव नेनिग्धि) भली प्रकार धो डाल अर्थात् (यत् दुश्चरितं चचार) जो तूने दुष्ट आचरण किया है उसे धो डाल। फिर (शुद्धैः) शुद्ध निर्मल (शफैः) आचरणों से (अजः) अजन्मा, आत्मा (प्रजानन्) ज्ञानवान् होकर (आक्रमताम्) आगे बढ़े। और फिर (बहुधा) बहुत से (तमांसि) पापों और मृत्यु के शोक आदि अन्धकारों को (तीर्त्वा) पार करके (विपश्यन्) विशेष रूप से ब्रह्म का दर्शन करता हुआ विवेकी होकर (अजः) अज, आत्मा (तृतीयम्) शोक मोह आदि से पार स्थित (नाकम्) आनन्दमय परम मोक्ष पद को (आक्रमताम्) प्राप्त हो।

अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व१सिना माभि मंस्थाः।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम् ॥४॥

भा०—हे (वि-शस्तः) विशेष रूप से ब्रह्म के उपदेश करने हारे

३—(तृ०, च०) 'ते ज्योतिष्मन्तः सुकृतामलोकमीप्सन् तृतीये नाकेऽधि-विक्रमस्व' इति पैप्प० सं०।

४—(च०) 'सुकृतां मध्ये अधि विश्रयेमम्' इति पैप्प० सं०।

गुरो ! पुरुष ! अथवा अपने कर्म बन्धनों को काटने में उद्यत ! (एताम्) इस (त्वचम्) आत्मा को ढकने वाली आवरण रूप तामस अविद्यारूप त्वचा को (श्यामेन) ज्ञानमय (असिना) सत् प्रकाश से (यथा-परु) यथाशक्ति (अनुच्छ्य) काट डाल । इतने पर भी स्वयं निष्पाप निर्बन्ध, मुक्त होकर लोकलोकान्तरों में स्वतन्त्र होकर विचरने का अधिकारी होने या उच्च पद प्राप्ति के लिये (मा अभि मंस्थाः) अभिमान मत कर । और (मा अभिद्रुहः) किसी से द्रोह या द्वेष मत कर । प्रत्युत (एनम्) इस आत्मा के (परुषः) प्रत्येक अंग को प्रत्येक पर्व या शक्ति के भाग को (कल्पय) साधननिष्ठ एवं समर्थ, शक्तिमान् बना । और तब (एनम्) इसको (तृतीये) सब दुःखों से पार स्थित (नाके) परम सुखमय पद में (अधि विश्रय) स्थापित कर ।

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम् ।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥५॥

भा०—(अग्नौ) जिस प्रकार अग्नि पर (कुम्भीम्) देगची रख कर उसे तपाया जाता है उस प्रकार मैं ज्ञान का पिपासु और मुमुक्षु (ऋचा) ज्ञान की अग्नि द्वारा अपने आप को (अग्नौ) ज्ञानाग्निमय परमात्मा या गुरु के ऊपर रख उस को (अधि श्रयामि) परिपाक करता हूं । हे गुरो ! परम ब्रह्मन् ! (उदकम्) जिस प्रकार तपी हांडी में जल डाला जाता है उसी प्रकार मुझ परितप्त, तपस्वी जिज्ञासु में ज्ञानरूप या 'उत्-अक' उत्तमगति या परम सुख प्राप्ति के उपायभूत ब्रह्मोपदेश को (आसिञ्च) प्रदान कर मुझ में प्रवाहित कर । गुरु इस प्रकार जिज्ञासु के तप से प्रसन्न होकर योग्य पात्र जान कर प्रेम से ब्रह्मचारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय, शान्तचित्त के प्रति उपदेश करे । हे प्रिय तपस्विन् !

५-(प्र०) भूम्यां भूमिम् आध धारया आसिञ्चोदकमाभिधेह्येनं इति पैप्प० सं० ।

(एनम्) उस पूर्वोक्त आत्मा का (अवधेहि) सावधान होकर जानकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।" "तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" इत्यादि उप० । इस प्रकार जब एक गुरु से ज्ञान प्राप्त करे तब 'तीर्थात् तीर्थान्तरं व्रजेत्' इस न्याय से क्रम से बहुत से ब्रह्म-ज्ञानियों से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे। उनसे कहे—हे (शमितारः) शम दमादि गुणों से सम्पन्न गुरुजनो ! (अग्निना) उस ज्ञानमय ब्रह्म से या प्रकाश स्वरूप ब्रह्मज्ञान से (पर्याधत्त) मुझे युक्त करो, मुझ में ब्रह्माग्नि का स्थापन करो । इस प्रकार (शृतः) तपस्या में परिपक्व होकर तपस्वी पुरुष (यत्र) जहां (सुकृताम्) उत्तम ब्रह्मज्ञानी, कृतकृत्य तपस्वी महात्माओं का (लोकः) निवास हो वहां ही (गच्छतु) जावे और उनसे ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे ।

उत्क्रा॑मातः॒ परि॑ चेदत॑प्तस्त॒प्ताच्च॒रोरधि॒ नाकं॑ तृ॒तीय॑म् ।
अ॒ग्नेर॒ग्निरधि॒ सं ब॑भूविथ॒ ज्योति॑ष्मन्तम॒भि लो॒कं ज॑यै॒तम् ॥६॥

भा०—हे मुमुक्षो ! इस प्रकार ज्ञानवान् होकर (अतः परि च इन्) इस लोक से (उत् क्राम) उत्तम लोक को प्राप्त हो । यदि तैने (अतप्तः) पर्याप्त तप न कर लिया हो तो (तप्तात् चरोः) जिस प्रकार तपे हांडी से जल तप्त होकर ऊपर वाष्पमय होकर उठता है उसी प्रकार तू भी (तप्तात् चरोः) तपस्या के आचरण से (तृतीयं) उस परम, सब दुःखों के पार (नाकम्) सुखमय मुक्तिधाम को प्राप्त हो । तू (अग्नेः अधि) ज्ञानवान, प्रकाशस्वरूप परम गुरु ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त करके स्वयं (अग्निः) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप (सं बभूविथ) हो जा । और (एतम्) उस (ज्योतिष्मन्तम्) ज्योतिर्मय लोक को (अभिजय) साक्षात् प्राप्त कर ।

६—'परिचेद तप्तास्त पृश्च्च' इति ह्विटनिसम्मतः पाठः । 'अतप्ताः' इति पाठः ह्विटनि प्राप्तदर्शेषु प्रायिकः । (च०) 'ज्योतिष्मो च सुकृतां यत्र लोकः' इति पैप्प० सं० ।

अज के स्वरूप का वर्णन

अजो अग्निर॒जमु॒ ज्योति॑राहुर॒जं जीव॑ता ब्र॒ह्मणे॒ देय॑माहुः ।
अ॒जस्तमां॒स्यप॑ हन्ति दू॒रम॒स्मिँल्लो॒के श्र॒द्दधा॑नेन द॒त्तः ॥ ७ ॥

भा०—(अजः अग्निः) 'अज' आत्मा स्वयं अग्नि, प्रकाशस्वरूप है। (अजम् उ ज्योतिः आहुः) अज, अजन्मा आत्मा को ब्रह्मज्ञानी लोग 'ज्योति' के नाम से पुकारते हैं। (जीवता) प्राणधारी विद्वान् को अपने जीवन काल में (ब्रह्मणे) उस परब्रह्म के भेंट (अजम्) इस अजन्मा आत्मा को ही (देयम्) समर्पण करने योग्य उपहार (आहुः) विद्वान् लोग बतलाते हैं। (अस्मिन् लोके) इस लोक में (श्रद्धधानेन) श्रद्धा करने हारे, सत्य धारण में समर्थ जिज्ञासु द्वारा (दत्तः) समर्पित किया हुआ (अजः) यह आत्मा ही (तमांसि) सब अज्ञान अन्धकारों को (दूरम्) दूर (अप हन्ति) मार भगाता है।

पञ्चौ॑दनः पञ्च॒धा वि क्र॑मतामा॒क्रंस्यमा॑न॒स्त्रीणि॒ ज्योतीं॑षि ।
ई॒जा॒नानां॑ सु॒कृतां॒ प्रेहि॒ मध्यं॑ तृ॒तीये॒ नाके॒ अधि॒ वि श्र॑यस्व ॥८॥

भा०—(पञ्चौदनः) यह पुरुष पांच ओदनों, पांच वीर्यों, पांच प्राणों से युक्त होकर (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों ज्योतियों को (आक्रंस्यमानः) प्राप्त करने की अभिलाषा वाला मुमुक्षु (पञ्चधा) पांचों प्राणों से (वि क्रमताम्) उद्योग करे। हे साधक मुमुक्षो ! तू (ईजानानां) प्राणाग्नि होत्र के यज्ञ करने हारे, ईश्वर संगति के साधक (सुकृताम्) उत्तम पुण्यात्मा, सुचरित्र, निष्ठ, कृतकृत्य विद्वानों के (मध्यम्) बीच में (प्रेहि) जा, उन में निवास कर और तब उन से ज्ञान प्राप्त करके (तृतीये नाके) तीर्णतम, परले पार के परमोक्ष धाम में (अधि वि श्रयस्व) प्राप्त होजा।

७–(प्र०) 'अजमेवाग्निम्', 'ब्रह्मणे जीवता' इति पैप्प० सं०।

'पञ्चौदनः'—यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ कठ उप० ६।१०॥

ये पांच इन्द्रियों के पञ्च ज्ञानसामर्थ्य ओदन हैं। ये भोग्य होने से खाद्य पदार्थ के तुल्य हैं । उनको तपस्या से परिपक्व करले जिनसे ये विषयों में न भागें । वे पांचों जब मन के साथ निगृहीत हों और बुद्धि भी विपरीत मार्ग में न जाए वही परम गति की प्राप्ति है ।

'त्रीणि ज्योतींषि'—तीन ज्योतियां, अग्नि, विद्युत् और सूर्य तथा अध्यात्म में आत्मा इन्द्रिय और मन । उपनिषत् की परिभाषा में, प्राण अपान और व्यान ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनम् विश्वेदेवा उपासते। क०५ ३॥ 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' । प्रश्न०उप०। 'पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' इत्यादि उपनिषद् वाक्य पञ्चौदन और तीन ज्योतियों की व्याख्या करते हैं।

अजा रो॑ह सु॒कृतां॒ यत्र॑ लो॒कः श॑र॒भो न च॒त्तोऽति॑ दु॒र्गाण्ये॒षः ।
पञ्चौ॑दनो ब्र॒ह्मणे॑ दी॒यमा॑नः॒ स दा॒तारं॒ तृप्त्या॑ तर्पयाति ॥ ९ ॥

भा०—हे (अज) अजन्मा आत्मन् ! तू यह जन्म मरण वाला देह नहीं । तू अमृत और अजन्मा आत्मा है । अतः हे अज ! (यत्र) जहाँ (सुकृताम्) पुण्यात्मा, जीवन्मुक्त लोगों का (लोकः) निवास है तू उस उत्तम लोक को (आरोह) पहुँच जा। (एषः) यह आत्मा (शरभः न) व्याघ्र के समान (चत्तः) अति आह्लादित होकर (दुर्गाणि) दुःख से जाने योग्य दुर्गम भववन्धनों को (अति) पार कर जाता है। (पञ्चौ-

---

७–(च०) 'ज्योतिष्मन्तमभिलोकं जयासम' इति पैप्प० सं० ।
९–(प्र०) 'अजा क्रमस्व' । (द्वि०) 'शलभो' । (च०) 'धातारं' इति पैप्प० सं० ।

दनः) पूर्वोक्त पांचों प्राणों सहित यह आत्मा जब (ब्रह्मणे) ब्रह्म के निमित्त (दीयमानः) समर्पित कर दिया जाता है (सः) वह समर्पित आत्मा ही (दातारम्) अपने समर्पक पुरुष को (तृप्त्या तर्पयाति) परम आनन्द से पूर्ण काम कर देता है ।

संप्राप्यैनं ऋषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः । मुण्डक २।५॥ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥ गीता० १८।५८॥

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका॥१०(११)

भा०—वह (अजः) अज, परमात्मा (ददिवांसम्) अपने को आत्म-समर्पण करने हारे मुमुक्षु को (त्रिनाके) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से रहित, (त्रिदिवे) तीनों ज्योतियों से पूर्ण, (त्रिपृष्ठे) तीनों प्रकार के रस, आनन्द से सम्पन्न (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमय परम पद के पीठ पर (दधाति) ले जाता है । ठीक भी है ! (ब्रह्मणे दीयमानः पञ्चौदनः) ब्रह्म में समर्पित किया पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञान सामर्थ्यों से युक्त आत्मा (विश्वरूपा) 'विश्वरूपा' सब प्रकार के रस देने हारी. (धेनुः) गाय है । आः ! तू आत्मा के भीतर आनन्द धारा के बहाने वाली अमृत रस के पिलाने वाली, तू सच मुच (एका) एकमात्र (कामदुघा असि) साक्षात् समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु है ।

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ११ ॥

भा०—हे (पितरः) जीवन के पालक पितृगण ! प्राणो ! (एतत्)

१०-(द्वि०) 'सुकृतां लोके ददि' (च०) 'विश्वरूपा कामदुघास्येका इति पैप्प० सं० ।

यह अज रूप (वः) तुम्हारा (तृतीयम्) परम जो पुरुष (ब्रह्मणे) परम ब्रह्म को अपना (पञ्चौदनम्) पूर्वोक्त पांच ओदन रूप पांचों इन्द्रियों और उनके विषयों सहित अपने (अजम्) अजन्मा आत्मा को (ददाति) समर्पित कर देता है ऐसा (श्रद्धधानेन) श्रद्धा सम्पन्न मुमुक्षु द्वारा (दत्तः) समर्पित वह आत्मा (अजः) अजन्मा चेतन (अस्मिन् लोके) इस लोक में ही, इस जीवन काल में ही (तमांसि) समस्त पापों को, मृत्यु के बन्धनों को (दूरम् अपहन्ति) दूर कर देता है ।

अहंकारम् बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ गीता० १८।५३॥

गीता का ब्रह्म में आत्मसमर्पण का सिद्धान्त अथर्ववेद के इसी सूक्त पर आश्रित है ।

ई॒जा॒नानां॑ सु॒कृतां॑ लो॒कमीप्स॒न् पञ्चौ॑दनं ब्र॒ह्मणे॒ऽजं द॑दाति ।
स व्या॒प्तिम॒भि लो॒कं ज॑यै॒तं शि॒वो॒३॒॑ऽस्मभ्यं॒ प्रति॑गृहीतो अस्तु॥१२॥

भा० - जो पुरुष (ईजानानाम्) अध्यात्म यज्ञशील (सुकृताम्) शुभ कर्मकारी पुण्यात्माओं के (लोकम् ईप्सन्) लोक को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ अपने (पञ्चौदनं अजम्) पञ्चौदन अज आत्मा को (ब्रह्मणे) ब्रह्म परमात्मा में (ददाति) समर्पित कर देता है (सः) वह (एनम्) इस (लोकम्) लोक को (व्याप्तिम्) व्याप्त करके (अभिजय) साक्षात् करले । वह (प्रतिगृहीतः) ब्रह्मद्वारा स्वीकृत होकर ब्रह्म भाव को प्राप्त होकर भी (अस्मभ्यम्) हम जैसे सामान्य लोगों के लिये (शिवः अस्तु) कल्याणकारी हो जाता है ।

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ गीता १८।५५॥

१२-(प्र०) 'अज्योतिष्मन्तं सुकृतां लोकमी०' (तृ० च०) स व्योपोनेनो अभिलोक जयास्मै शिवोऽस्मभ्य प्रतिगृह्यतेऽधि' इति पैप्प० सं० ।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् ।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥ १३ ॥

भा०—(अजः) अज, आत्मा (विप्रः) मेधावी, पूर्णकाम (सहसः) उस बलशाली परमात्मा से (विपश्चित्) समस्त ज्ञान और कर्मों का संग्रह करने हारा होकर (अग्नेः) उस प्रकाशस्वरूप (विप्रस्य) परम मेधावी परमात्मा के (शोकात्) प्रकाश से (अजनिष्ट) प्रकाशित होता है । इसलिये इस पद को प्राप्त होने के लिये हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग अपनी आत्मा की उन्नति के लिये (इष्टम्) यज्ञ, याग (पूर्तम्) प्रजा के पालनार्थ परोपकार के कार्यों (अभिपूर्तम्) आत्माके पालनार्थ सत्य भाषणादि कार्य और (वषट् कृतम्) स्वाहाकार आदि यज्ञों को (ऋतुशः) ठीक २ ऋतुओं के अनुसार (कल्पयन्तु) किया करो । इससे प्रजा में सुख शान्ति होकर ध्यान, तप आदि करने का उत्तम अवसर प्राप्त होगा ।

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥ १४ ॥

भा०—ब्रह्मज्ञानी अपने उपदेश करनेवाले गुरुको (अमा उतम्) अपने घर में बिना हुआ (वस्त्रः) वस्त्र (दधातु) देवे और (हिरण्यम् अपि) सुवर्ण भी (दक्षिणाम्) दक्षिणा के रूप में दे । अर्थात् ब्रह्मज्ञानी अपने आप से प्राप्त किया आच्छादन यह शरीर और हिरण्य रूप आत्मा दोनों को गुरु-दक्षिणा रूप में परमात्मा के अर्पण करदे । (तथा) उस प्रकार से (ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो दिव्य और इस पृथिवी के लोक हैं उन (लोकान्) समस्त लोकों को (सम् आप्नोति) प्राप्त हो जाता है ।

१३–(द्वि०) इष्टं गूर्तमभिगूर्तम्' इति लड्विग्कामेतः पाठः । (द्वि०) 'सहसोवयोधा', (तृ०) 'पूर्तमिष्टमभि' इति पैप्प० स० ।

एतास्त्वाजोपं यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥

भा०—हे (अज) अजन्मा, आत्मन् ! (एताः) ये (सोम्याः) सोम परमात्मा की (देवीः) कमनीय, (घृतपृष्ठाः) प्रकाशस्वरूप (मधुश्चुतः) मधु, आनन्द रस को बहाने वाली (धाराः) धारण शक्तियां या आनन्दरस की धाराएं (त्वा उपयन्तु) तुझे प्राप्त हों । वह परमात्मा (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमय परमधाम में विराजमान (सप्तरश्मौ) सात इन्द्रियों से युक्त या सर्पणशील व्यापक रश्मियों, आकर्षण शक्तियों से युक्त सूर्य के भी (अधि) ऊपर अधिष्ठातास्वरूप होकर (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और महान् आकाश को (स्तभान) थाम रहा है ।

अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् ।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेपम् ॥ १६ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (अजः असि) तू अजन्मा है । हे (अज) अजन्मन् ! आत्मन् ! तू (स्वर्गः असि) स्वयं स्वर्ग अर्थात् स्वः=परम तेजोमय परमात्मपद तक प्राप्त होने में समर्थ है । (त्वया) तेरी साधना से (अङ्गिरसः) ज्ञानी पुरुष (लोकम्) परम 'लोक' नाम से विख्यात परमेश्वर का (प्राजानन्) ज्ञान करते हैं । (तम्) उस परम (लोकम्) सब के साक्षी, सर्वद्रष्टा, सब के प्राप्त करने योग्य परमात्मा को मैं मुमुक्षु जन (पुण्यम्) पुण्य, परम पवित्र पद ही (प्र ज्ञेपम्) जानता हूं ।

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम् ।

१५–(प्र०) एतास्त्वा दधाराच्छ्रमयन्ति विश्वतः सोम्यं, (तृ० च०) स्तभान पृथिवीं दिव सदस्व नाके तिष्ठस्यधि सप्तरश्मौ' । इति पैप्प० सं० ।

१६–(तृ०) 'तं लोकमनुप्रज्ञेष्म' इति पैप्प० सं० । तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना । इति यजु० २० । २५ तृ० च० ॥

तेनेमं यज्ञं नो वह स्व/र्देवेषु गन्तवे ॥१७॥ यजु० ३१ । ५५॥

भा०—हे परमात्मन् ! (येन) जिस बल और सामर्थ्य से तू (सहस्रम्) इस समस्त संसार को (वहसि) धारण करता और हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप गुरो ! परमात्मन् ! (येन) जिस बल से तू (सर्व वेदसम् वहसि) समस्त ज्ञान को धारण करता है (तेन) उस बल से (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ रूप आत्मा को (देवेषु) ज्ञानवान् मुक्त पुरुषों के बीच (स्वः) प्रकाशमय मोक्ष धाम (गन्तवे) प्राप्त करने के लिये (वह) लेजा ।

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः ।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥ १८ ॥

भा०—(पञ्चौदनः) पञ्च प्राणों के सामर्थ्यों से सम्पन्न (पक्वः) परिपक्व ज्ञानी (अजः) अज, अजन्मा आत्मा, अपने ज्ञानबल से (निर्ऋतिम्) अविद्या को (बाधमानः) नाश करता हुआ (स्वर्गे लोके) परम सुखमय लोक परमेश्वर में अपने को (दधाति) रखता है । हम (तेन) अज, आत्मा के सामर्थ्य से (सूर्यवतः) प्रकाशमय परब्रह्म से युक्त (लोकान्) लोकों को (जयेम) प्राप्त हों ।

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य ।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥१९॥

भा०—(यम्) जिस अज आत्मा को परमेश्वर ने (ब्राह्मणे)

१७–(प्र०) 'येन वहसि सहस्रं' (तृ०) 'यज्ञं नो नय' इति यजु० । (च०) 'देवयानो य उत्तमः' इति तै० सं० । (प्र०) "येन वा सहस्रं' इति पैप्प० सं० ।

१९–१. प्रुष, प्लुष स्नेहनसेचनपूरणेषु (क्र्यादिः) अथवा प्रुष प्लुषं दाहे (भ्वादिः) ।

ब्रह्मवेद के विद्वान् ब्रह्मज्ञानी में (निदधे) रक्खा है और (यं च) जिस आत्मा को उस प्रभु ने (विक्षु निदधे) सर्व साधारण प्रजाओं या प्राणधारियों में रक्खा है। और (अजस्य) उस अजन्मा आत्मा के (ओदनानाम्) ओदन रूप प्राणों के (याः) जो (विप्रुषः[1]) विशेष स्नेहन, सेचन या पूरण करने वाले सामर्थ्य या शक्तियां या विविध प्रकार की दीप्तियां हैं हे (अग्ने) परमात्मन्! (सर्वं तत्) उस सब को (सुकृतस्य लोके) पुण्य के उस परम मोक्षलोक में और (पथीनाम्) समस्त पन्थाओं, मार्गों या प्राणशक्तियों के (संगमने) एकत्र प्राप्ति से (नः) हमें (जानीतात्) प्राप्त करने की अनुमति देना। अर्थात् मोक्षधाम में भी ये सब सामर्थ्य हमारे पास रहें, जिससे मोक्ष के परम सुख का हम स्वतन्त्रता से रस ले सकें।

अज परमात्मा के विराट रूप का वर्णन

अजो वा इदमग्रे व्य॑क्रमत तस्योर॑ इयम॑भवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरि॑क्षं मध्यं॑ दिशः॑ पार्श्वे॑ समु॒द्रौ कुक्षी ॥ २० ॥ (२)

भा०—(अजः वा) निश्चय से अज अनादि अजन्मा परमात्मा ने (इदम्) इस संसार को (अग्रे) सब से प्रथम (व्यक्रमत) नाना प्रकार से रचा था और उस में स्वयं व्याप्त हो गया था। इसलिये संसार के भिन्न २ भागों की इस रूप से कल्पना की जाती है जैसे (तस्य) उस अजन्मा परमात्मा का (उरः) वक्षःस्थल (इयम्) वह पृथिवी (अभवत्) है। (द्यौः पृष्ठम्) द्यौः पीठ है। (अन्तरिक्षम् मध्यम्) अन्तरिक्ष मध्यभाग है। (दिशः पार्श्वे) दिशाएं पार्श्व भाग हैं। (समुद्रौ कुक्षी) समुद्र दोनों, जलसमुद्र और आकाश ये उसकी कोखें हैं।

२०,२१– 'अजः पञ्चौदनो व्यक्रामत, तस्योर इयमभवदुदरमन्तरिक्षम्। द्यौस्ते पृष्ठं दिशः पार्श्वे। दिशश्चातिदिशश्च शृङ्गे सत्यं च ऋतं च चक्षुषी विश्वरूपं श्रद्धा' इत्यादि पैप्प० सं०।

सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ २१ ॥

भा०—(सत्यं च ऋतं च चक्षुषी) सत्य, व्यक्त जगत् और ऋत, अव्यक्त ये दोनों उसकी चक्षुएं हैं। (विश्वं सत्यम्) यह विश्व सत्य अर्थात् उसका प्रकट देह है, (श्रद्धा प्राणः) श्रद्धा सत्य का धारण-बल प्राण है। (विराट् शिरः) विराट् शिरोभाग है। (यत्) और जो यह (पञ्चौदनः) पांच ओदनों वाला, पांच भूतों का पति, पांचों को प्रलय-काल में अपने भीतर भात के समान खा जाने वाला महान् (अजः) अजन्मा परमात्मा है (एष एव) वह ही (अपरिमितः) परिमाणरहित, अनन्त (यज्ञः) यज्ञ अर्थात् महान् आत्मा है। पूर्व मन्त्र और इस मन्त्र से विराट् रूप परमेश्वर में विश्व की स्थिति, छोटे रूप में पुरुष शरीर में विराट् की स्थिति और यज्ञमय प्रजापति तीनों का वर्णन समान पदों से कर दिया गया है।

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्द्धे ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा, शक्ति रूप ज्योति से युक्त (पञ्चौदनम्) पूर्वोक्त पञ्चौदन (अजम्) आत्मा का जो अपने शिष्यों को या जिज्ञासुओं को उपदेश करता या ब्रह्म को समर्पित कर कर देता है वह (अपरिमितं यज्ञम्) अपरिमित अनन्त यज्ञमय परमात्मा को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (अपरिमितम् लोकम्) अपरिमित, अनन्त (लोकम्) लोक को (अवरुन्धे) वश करता है या अपरिमित प्रकाशमय परब्रह्म को ही प्राप्त होता है। इस के प्रतिनिधि लोक में कर्मकाण्ड में अज-बकरे को भी दान किया जाता है। उसी परमात्मा के स्वरूप को प्रत्येक प्राणी में स्मरण करके और उस में पञ्चौदन आत्मा को चेतन रूप से विद्य-मान जान कर समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करे।

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥

भा०—प्रत्येक प्राणी में उसी चेतन अज आत्मा को जान कर बुद्धिमान पुरुष (अस्य) इस प्राणी के (अस्थीनि) हड्डियों को (न भिन्द्यात्) न तोड़े, (मज्ज्ञः) मज्जाओं को भी (न निः धयेत्) न पीसे, प्रत्युत (सर्वम् एनं समादाय) उस सबको लेकर (इदम् इदम्) प्रत्येक प्राणि में उस आत्मा को साक्षात् रूप में (प्रवेशयेत्) व्याप्त जाने, वा उसको व्याप्त देखे, उसकी कल्पना करे ।

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥२४॥

भा०—(इदम् इदम्) 'यह, यह' प्रत्येक प्राणी (एव) ही (अस्य) इस आत्मा का (रूपम्) अभिव्यक्त प्रकट रूप (भवति) है । विद्वान् पुरुष (तेन) उस परम आत्मा से (एनम्) इस प्राणी को (सं गमयति) तुलना करके विचार करता है । (यः) जो पुरुष (दक्षिणाज्योतिषम्, पञ्चौदनं अजं ददाति) जो क्रियाशक्ति रूप चेतना से सम्पन्न पञ्च प्राणमय, अज, चेतन आत्मा को उस परमात्मा के भेट समर्पित कर देता है तब वह परमात्मा उसको (इषम्) अन्न, (महः) तेज और (ऊर्जम्) बल को (दुहे) भरपूर देता है ।

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २५ ॥

भा०—(यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो पुरुष

२३–(तृ०) 'सर्वाणि समादाय' इति पैप्प० सं० ।

२४–(तृ० च०) स्वधामूर्जं मचितं महोऽस्मै दुहे । य एवं विदुषेऽजं पञ्चौदनं ददाति ॥ इति पैप्प० सं० ।

दक्षिणाज्योतिःस्वरूप. पञ्चौदन अज को प्रदान कर देता है (अस्मै) उस पुरुष को (पञ्च रुक्मा) पांचों रुचिकर, सुवर्ण रूप पाँचों प्रकार के भोग्य पदार्थ, (पञ्च नवानि वस्त्रा) पांचों नये वस्त्र अर्थात् पाँचों कोश और (अस्मै) उस के लिये (पञ्च धेनवः) पांचों ज्ञानेन्द्रिय रूप धेनुएँ (काम-दुघाः) यथेष्ट फल देने वाली कामधेनु के समान (भवन्ति) हो जाती हैं ।

पञ्च॑ रुक्मा ज्योति॑रस्मै भवन्ति वर्म॑ वासां॑सि तन्वे॒ भवन्ति ।
स्वर्गं लो॒कम॑श्नुते॒ यो॒३॑जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥२६॥

भा०—(यः दक्षिणा ज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणा ज्योतिष्, पञ्चौदन अज आत्मा का प्रदान करता है वह (स्वर्गं लोकं अश्नुते) स्वर्गलोक, परम मोक्षधाम का आनन्द प्राप्त करता है (अस्मै) उसको (पञ्च रुक्मा ज्योतिः) पांचों रोचमान इन्द्रियां (ज्योतिः) प्रकाशमय हो जाते हैं और (पञ्चवासांसि) और पांचों आच्छादक कोश उस के (वर्म) कवच (भवन्ति) हो जाते हैं ।

या पूर्वं॒ पतिं॑ वि॒त्त्वाथान्यं॒ वि॒न्दते॒ प॑रम् ।
पञ्चौ॑दनं च॒ ताव॒जं दद्रा॑तो॒ न वि यो॑षतः ॥ २७ ॥

भा०—(या) जो स्त्री (पूर्वं पतिं वित्वा) पूर्व पति को प्राप्त हो कर भी (अथ) बाद में पूर्व पति के वियोग होने पर (अपरम्) दूसरे (अन्य) उससे भिन्न पुरुष को (विन्दते) प्राप्त कर लेती है (च) और वे दोनों (पञ्चौदनम्) पांचों ओदन, पांचों भोग्य पदार्थ युक्त अपने (अजम्) अजन्मा, आत्मा को (ददातः) एक दूसरे को सौंप देते हैं तो वे (न वि योषतः) दोनों कभी वियुक्त नहीं होते ।

स॒मानलो॑को भवति पु॒नर्भु॒वाप॑रः॒ पतिः॑ ।

२७–(तृ०) 'तावजं पवतः' इति पैप्प० सं० ।

योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (दक्षिणा ज्योतिषं पञ्चौदनम् अजं ददाति) दक्षिणाज्योतिष, पञ्चौदन अज को (ददाति) परस्पर समर्पित कर देता है वह (अपरः पतिः) दूसरा पति भी (पुनर्भुवा) पुनः विवाह करने हारी, द्वितीय पति को वरण करने वाली स्त्री के साथ (समानलोकः भवति) समान लोक, एक समान आत्मा होकर रहता है।

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

भा०—(अनुपूर्व-वत्साम्) प्रति वर्ष क्रम से बछड़ा देने वाली, (धेनुम्) गाय, (अनड्वाहम्) शकट खेंचने में समर्थ बैल, (उपबर्हणम्) एक बड़ा तकिया, (वासः) वस्त्र और (हिरण्यम्) सुवर्ण का (दत्त्वा) दान देकर (ते) वे लोग (उत्तमाम्) उत्कृष्ट (दिवम्) प्रकाशमय मोक्ष पद को (यन्ति) प्राप्त होते हैं। धेनु आदि शब्द यहां सांकेतिक हैं जैसे धेनु—वाणी। उस का वत्स मन है। क्रम से मनोयोग सहित उच्चारण की गई वाणी अनुपूर्ववत्सा धेनु है। प्राण=अनड्वान् या बैल है। उपबर्हण=अन्न है। वासः=शरीर है, हिरण्य=आत्मा है।

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥ ३० ॥ (१३)

भा०—(आत्मानम्) आत्मा, अपने आपको, (पितरम्) पिता को, (पुत्रम्) पुत्र को, (पौत्रम्) पौत्र को, (पितामहं) पितामह को, (जायां) जाया को और (जनित्रीं मातरम्) उत्पन्न करने हारी माता को और (ये प्रियाः) जो मेरे प्रिय इष्ट बन्धु हैं (तान्) उन सब को मैं (उपह्वये) अपने पास बुलाऊँ और उनको उपदेश करूं।

२८—(तृ० च०) 'योऽजं च पञ्चौदनं च ददत्' इति पैप्प० सं०।

पञ्चौदन अज का रूपान्तर

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मनां ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३१ ॥

भा०—(यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो दक्षिणा ज्योतिष वाले, पञ्च ओदन वाले अज आत्मा को समर्पित करता है और (यः वै) जो निश्चय से (नैदाघं नाम ऋतुम्) निदाघ-ग्रीष्म नामक ऋतु के समान उस परमात्मा को जानता है और जानता है कि (यद् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चौदन अज है । एष वै (नैदाघः नाम ऋतुः) वह निदाघ नाम ऋतु ही है । अर्थात् जिस प्रकार ग्रीष्म काल का सूर्य सब को संतप्त करता है दक्षिण दिशा में सूर्य की ज्योति प्रखर हो जाती है और पांचों भूत संतप्त हो जाते हैं उसी प्रकार वह अज आत्मा भी दक्षिण दिशा में गये सूर्य के समान प्रखर तेज वाला पांचों इन्द्रियों का वशयिता और पांचों प्रजाजनों पर वशी हो जाता है । इस तत्व को जानने वाला पुरुष (आत्मना भवति) स्वयं उस प्रकार सामर्थ्यवान् हो जाता है और (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निर्दहति) अपने अप्रिय शत्रु की लक्ष्मी को सर्वथा जला डालता है ।

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद । कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य
श्रियमा दत्ते । एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः० । ० । ० ॥ ३२ ॥

भा० —इसी प्रकार (यः) जो पुरुष (कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद) 'कुर्वत्' करनेहारा-इस प्रकार क्रियाशील नाम ऋतु=प्राण को जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (कुर्वतीं कुर्वतीम्) करनेहारी या क्रियाशील प्रत्येक (श्रियम्) श्री-लक्ष्मी को (आदत्ते) स्वयं हर लेता है (यद् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चौदन अज, पञ्चभूतों से

पुक्तः अजन्मा आत्मा है (एष एव कुर्वन् अजः) वही 'कुर्वन्' नामक ऋतु क्रियाशील तत्व, कर्ता है । उसी की साधना करनी चाहिये । शेष पूर्ववत् ।

यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद । संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै संयन्नाम० । ० । ० ॥ ३३ ॥

भा०—(यः वै: संयन्तं नाम ऋतुं वेद) जो पुरुष 'संयत्' नामक ऋतु अर्थात् प्राणदल को जानता है (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) वह अपने अप्रिय शत्रु की (संयतींसंयतीम् एव) संयमनकारिणी दमन करने में समर्थ (श्रियम् आ दत्ते) लक्ष्मी को हर लेता है ।(एष वै संयत् नाम ऋतुः यद् अजः पञ्चौदनतः) जो पञ्चौदन अज आत्मा है वही यह 'संयत् नाम ऋतु है' अर्थात् यह आत्मा ही संयमन करने वाली शक्ति है । उसकी तत्व साधना करने वाला पुरुष अपने शत्रु की संयमन शक्ति पर वश कर लेता है । (निरेवाप्रियस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद । पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै पिन्वन्नाम० । ० । ० ॥ ३४ ॥

भा०—(यः वै पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद) जो 'पिन्वत्' नाम ऋतु को जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (पिन्वतीं पिन्वतीं श्रियम् एव) संतृप्त करनेहारी प्रत्येक लक्ष्मी को (आदत्ते) हर लेता है । (एष वै पिन्वत् नाम यद् अजः पञ्चौदनः) जो पूर्व पञ्चौदन नामक अज आत्मा बतलाया गया है वह ही यह 'पिन्वत्' नामक है । यह सबको संतृप्त करने में समर्थ 'ऋतु' अर्थात् शक्ति है । (निः एव अप्रियस्य०) इत्यादि पूर्ववत्)

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद । उद्यतींमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वा उद्यन्नाम० । ० । ० ॥ ३५ ॥

भा०—(यः वै) जो पुरुष (उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद) 'उद्यत्' नाम

ऋतु को जानता है (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु की (उद्यतीम् उद्यतीम् श्रियम् एव आदत्ते) प्रत्येक उद्यम करने और उन्नति करने वाली लक्ष्मी को हर लेता है। (एष वा उद्यत् नाम ऋतुः यत् पञ्चौदनः अजः) यह जो पञ्चौदन नामक अज आत्मा है वह ही यह 'उद्यत्' नाम ऋतु है अर्थात् वही उन्नत करनेवाली शक्ति है। (निरे वास्य० इत्यादि) पूर्ववत्।

यो वा अ॒भि॒भुवं॒ नामर्तुं वेद॑ । अ॒भि॒भव॑न्तीमभिभवन्तीमे॒वा-प्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते । ए॒ष वा अ॒भि॒भूर्ना॒मर्तु॒र्यद॒जः पञ्चौ॑दनः । निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑ । यो॒३॒॑जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥ ३६ ॥

भा०—(यः वै अभिभुवं नाम ऋतुं वेद) जो पुरुष 'अभिभू' नामक ऋतु अर्थात् आत्मा की शक्ति को जान लेता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य अभिभवन्तीम्-अभिभवन्तीम् एव श्रियम् आदत्ते) अपने अप्रिय शत्रु की परास्त करनेवाली प्रत्येक लक्ष्मी को हर लेता है। (यत् अजः पञ्चौदनः एषः वा अभिभूः नाम ऋतुः) जो पञ्चौदन अजन्मा आत्मा है वही 'अभिभू', परास्त करनेवाली परम शक्ति है (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निर्दहति आत्मना भवति। यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो पुरुष उस 'दक्षिणाज्योतिष' क्रियाशक्ति से चमकने वाले पञ्चप्राणों से युक्त उस अज आत्मा को परब्रह्म में अर्पण करता है वह अपने अप्रिय शत्रु की लक्ष्मी को ही सर्वथा भस्म कर देता है।

अ॒जं च॒ पच॑त॒ पञ्च॑ चौद॒नान् । सर्वा॑ दिशः॒ संम॑नसः स॒ध्रीचीः॒ सान्त॑र्देशाः॒ प्रति॑ गृह्णन्तु त॒ ए॒तम् ॥ ३७ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (अजं च) इस लिये आप लोग उस अजन्मा नित्य आत्मा को (पचत) परिपक्व करो। और (पञ्च)

पांचों (ओदनान्) प्राणों को भी तपस्या द्वारा परिपक्व करो । हे पुरुष ! (ते) तेरे (एतम्) इस आत्मा को (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं, (सान्तर्देशाः) बीच के देशों अर्थात् उपदिशाओं सहित (सध्रीचीः) एक साथ सहमत होकर (संमनसः) एक समान चित्त होकर (प्रति गृह्णन्तु) स्वीकार करें । अर्थात् सब दिशाओं, उपदिशाओं के निवासी लोग उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसको अपनावें, उसका प्रभाव मानें और वश में रहें ।

तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि॥३८(१४)॥

भा०—हे पुरुष (ताः) वे सब दिशाएं और उपदिशाएं, उनकी निवासी प्रजाएं (ते रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें । (तव) तेरी आज्ञा पालन करें । (तुभ्यम्) तेरे लिये हितकारी हों । (एतम्) और इस आत्मा को पुष्ट करें । मैं ब्रह्मज्ञानी होकर (ताभ्यः) उन समस्त प्रजाओं के लिये (इमम्) इस (आज्यम्) अन्न, आत्मा के श्रेयस्कर (हविः) अन्न और ज्ञान का (जुहोमि) प्रदान करता हूं ।

[६ (१)] अतिथि-यज्ञ और-देवयज्ञ की तुलना ।

'यो विद्यात्' इति षट्पर्यायाः । एकं सूक्तम् । ब्रह्मा ऋषिः । अतिथिरुत विद्या देवता । तत्र प्रथमे पर्याये १ नागी नाम त्रिपाद् गायत्री, २ त्रिपदा आर्षी गायत्री, ३,७ साम्न्यौ त्रिष्टुभौ, ४ आसुरीगायत्री, ६ त्रिपदा साम्नां जगती, याजुषी त्रिष्टुप्, १० साम्नां भुरिग् बृहती, ११, १४-१६ साम्यनुष्टुभः, १२ विराड् गायत्री, १३ साम्नी निचृत् पङ्क्तिः, १७ त्रिपदा विराड् भुरिक् गायत्री । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्॥१॥

[६ (१)]—'यो वा एक ब्रह्मानुष्ठा विद्यात् सधमहद्रतं' इति पैप्प० सं० ।

सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑नि॒ यजु॒र्हृद॑यमु॒च्यते॑ परि॒स्तर॑ण॒मिद्ध॒विः ॥२॥

भा०—साक्षात् ब्रह्म यज्ञस्वरूप है। (सम्भाराः) यज्ञोपयोगी पदार्थों का समुदाय (यस्य) जिस के (परुंषि) पोरु २ हैं। (ऋचः) ज्ञानमय वेदमन्त्र (यस्य अनूक्यम्) जिसके पीठ के मोहरे हैं। (सामानि) सामगायन (यस्य लोमानि) जिस के लोम हैं और (यजुः हृदयम् उच्यते) और यजुर्वेद के प्रतिपादित कर्म जिसके हृदय हैं (हविः इत्) हवि अर्थात् अन्न जिस का परिस्तरण=बिछौना है (यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (ब्रह्म) उस ब्रह्म को (विद्यात्) जान लेता है वह विद्वान् पूजा करने के योग्य है।

अतिथि यज्ञकी देवयज्ञ से तुलना

यद् वा अति॑थिपति॒रति॑थीन् प्रति॒पश्य॑ति दे॒वयज॑नं॒ प्रेक्ष॑ते ॥३॥

भा०—(यद् वा) और जब (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालक, गृहपति (अतिथीन्) अतिथियों की (प्रतिपश्यति) प्रतीक्षा करता है तब वह (देवयजनं प्रेक्षते) एक प्रकार से देवयज्ञ करने का ही संकल्प करता है।

यद॑भि॒वद॑ति दी॒क्षामु॒पैति॒ यदु॑द॒कं याच॑त्य॒पः प्र ण॑यति ॥ ४ ॥

भा०—वह गृहपति (यद् अभिवदति) जब अतिथियों को अभिवादन, नमस्कार करता है, मानो तब वह अतिथि यज्ञमें (दीक्षाम् उपैति) दीक्षा प्राप्त करता है। और (यत्) जब (उदकं याचति) जल के पात्र लाकर अतिथि को अर्घ्य पाद्य आचमनीय आदि प्रदान करता है तब मानो वह देवयज्ञ में (अपः प्रणयति) जलों को प्रोक्षण करता है।

२—'छन्दांसि यस्य लोमानि परिस्तरणमिद् हविः यजुर्हृदयमुच्यते' इति पैप्प० सं०।

३—'यद् अतिथिपतिः प्रेप्यते' इति पैप्प० सं०।

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥

भा०—(याः एव यज्ञे आपः) जो जल यज्ञ में (प्रणीयन्ते) प्रोक्षण कार्य में प्रयुक्त होते हैं (ता एव ताः) वे ही जल हैं जो अतिथि यज्ञ में अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय आदि के लिये प्रयुक्त होते है।

यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥६॥

भा०—(यत्) जो (तर्पणम् आहरन्ति) अतिथि को तृप्त करने के लिये मधुपर्क और उत्तम भोजन पदार्थ लाया जाता है मानो वह (यः एव) यज्ञ में वही पदार्थ है जो कि (अग्नीषोमीयः पशुः) अग्निषोमीय पशु को (बध्यते) यूप में बांधा जाता है (स एव सः) वह अन्न ही उस के स्थान में है।

यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥७॥

भा०—और (यत्) जो अतिथि के लिये (आवसथान्) निवास के निमित्त उचित गृह आदि को (कल्पयन्ति) बनाते हैं उसको आदर से नियत घरों में रखते हैं (तत्) वह एक प्रकार से यज्ञ में (सदोहविर्धानानि कल्पयन्ति) सदस्=प्राचीनवंश गृह और हविर्धान नामक शकट और पात्र की रचना करते हैं।

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥

यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे ॥९॥

भा०—(यत् उपस्तृणन्ति) जो अतिथि के लिये चारपाई या टाट बिछाया जाता है (तत्) वह मानो यज्ञ में (बर्हिः एव) बर्हि या कुशाओं के बिछाने के समान ही है। और (यत्) जो (उपरिशयनं आहरन्ति)

६—'यत् स्नातमाहरन्ति पुरोडाश एवतेत' इत्यधिकः पाठः पैप्प० सं०।

८—'यत्परिस्तृणन्ति' इति० पैप्प० सं०।

अतिथि के लिये चारपाई या टाट के ऊपर गद्दा (आहरन्ति) ला कर बिछाते हैं (तेन) उस कार्य से मानो (स्वर्गम् लोकम् एव अव रुन्धे) वे यज्ञ में स्वर्ग=सुखप्रद इष्ट=इष्टलोक को ही प्राप्त करते हैं ।

यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधयं एव ते ॥ १० ॥
यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥

भा०—(यत्) जो (कशिपु-उपबर्हणम् आहरन्ति) अतिथि के लिये चादरें और सिरहाना लाकर बिछाते हैं (ते परिधयः एव) वे यज्ञ में ' परिधि ' नामक कुशाओं के समान हैं । और (यत्) जो (अञ्जनाभ्यञ्जनम् आहरन्ति) आंखों के लिये अंजन और शरीर के लिये तेल उबटना आदि लाते हैं (तत्) वह यज्ञ में (आज्यम् एव) घृत के ही समान आवश्यक पदार्थ है ।

यत् पुरा परिवेपात् खादमाहरन्ति पुरोडाशाविव तौ ॥ १२ ॥
यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्धयन्ति ॥ १३ ॥

भा०—(यत्) जो गृहस्थ के लोगों के लिये (परिवेशात्) भोजन परोसने के (पुरा) पूर्व ही अतिथि के लिये (खादम्) खाने योग्य भोजन (आहरन्ति) लाते हैं वे यज्ञ में (पुरोडाशौ एव तौ) दोनों पुरोडाशों के समान ही है । और (यद् अशनकृतम्) जो अतिथि के लिये विशेष भोजन बनाने में चतुर पुरुष को (ह्वयन्ति) विशेष रूप से बुलाते हैं (तत्) वह एक प्रकार से यज्ञ में (हविष्कृतम् एव) हवि अर्थात यज्ञ में चरु को तय्यार करने हारे पुरुष को ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं ।

१०–'कशिपूपबर्हणानि आहरन्ति परिधे एव ते' इति पैप्प० सं० । अत्रैव यत्पर्शेन [यदुपरिशयन] माचरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमवरुन्धे' इति चाधिकः पाठः इति पैप्प० सं० ।

११–'यदभ्यञ्जन'–इति पैप्प० सं० ।

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंऽशव एव ते ॥ १४ ॥
यान्युंलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥

भा०—(ये) जो अतिथि यज्ञ के अवसर पर (व्रीहयः यवाः) धान और जौ (निरुप्यन्ते) बखेरे जाते हैं (अंशव एव ते) वे यज्ञ में सोमलता के खण्डों के समान हैं । और (यानि) जो अतिथि के भोजनादि तैयार करने के लिये (उलूखल-मुसलानि) ओखली और मूसल धान कूटने के लिये काम में लाये जाते हैं (ग्रावाणः एव ते) वे यज्ञ में सोम कूटने के उपयोगी पत्थरों के समान हैं ।

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥
स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो/
वायव्या/नि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥ (१५)

भा०—(शूर्पं पवित्रम्) अतिथि के अन्न साफ करने के लिये जो छाज काम में लाया जाता है वह यज्ञ में 'पवित्र' अर्थात् सोम छानने के लिये 'दशापवित्र' नामक वस्त्र खण्ड के समान जानना चाहिये । (तुषाः ऋजीषाः) छाज से फटकते हुए जो अन्न के तुष अलग हो जाते हैं वह यज्ञ में सोम को छानने के बाद प्राप्त फोक के समान हैं । (अभिषवणीः आपः) अतिथि के भोजन बनाने के लिये जो जल प्रयुक्त होते हैं वह यज्ञ में सोम रस में मिलाने योग्य 'वसतीवरी !' नामक जलधाराओं के समान हैं । (स्रुक् दर्विः) अतिथि का भोजन बनाने के लिये जो कड़छी

१४—'अंशव एव ते न्युप्यन्ते' इति पैप्प० सं० ।
१५—'उलूखलमुसल ग्रावाणः' इति पैप्प० सं० ।
१६—'तुषारजीषः' इति पैप्प० ।
१७—'द्रोणकलशः कुम्भीमेव कृष्णाजिनं वायव्यानि पात्राणि अभिषवणी रपः' इति पैप्प० सं० ।

प्रयुक्त होती है वह यज्ञ में 'स्रुक्' या घृतचमस् के समान है। (आयवनम् नेक्षणम्) भोजन तैयार करते समय जो दाल आदि चलाने का कार्य किया जाता है वह यज्ञ में सोम रस को वार २ मिलाने के समान है। (कुम्भ्यः द्रोणकलशाः) खाना पकाने के लिये जो देगची आदि पात्र हैं वे यज्ञ में सोम रस रखने के लिये द्रोणकलशों के समान हैं। (पात्राणि वायव्यानि) अतिथि को खिलाने के लिये जो थाली कटोरी आदि पात्र हैं वे यज्ञ में सोम पान करने के निमित्त 'वायव्य' पात्रों के समान हैं। और अतिथि के लिये (इयम् एव कृष्णाजिनम्) जो बैठने उठने के लिये यह भूमि है वह यज्ञ में कृष्ण मृगछाला के समान है।

(२) अतिथि-यज्ञ की देव-यज्ञ से तुलना।

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिर्विद्या वा देवता। विराड् पुरस्ताद् बृहती। २, १२ साम्नी त्रिष्टुभौ। ३ आसुरी अनुष्टुभ्। ४ साम्नी उष्णिक्। ५ साम्नी बृहती। ११ साम्नी बृहती भुरिक्। ६ आर्ची अनुष्टुप्। ७ त्रिपात् स्वराड् अनुष्टुप्। ९ साम्नी अनुष्टुप्। १० आर्ची त्रिष्टुप्। १३ आर्ची पंक्तिः। त्रयोदशर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम्।

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया३इदा३मिति ॥ १ ॥

भा०—(यद्) जिस समय (अतिथिपतिः) अतिथि का पालक गृहमेधी पुरुष (आहार्याणि) अतिथि को दान देने और भोजनार्थ उपस्थित करने योग्य पदार्थों पर (प्रेक्षते) दृष्टि करता है और पूछता है, प्रार्थना करता है कि (इदम् भूयः) यह और अधिक है या (इदम्)

१–'अतिथिपतिः कृणुते यदाहार्याणि अवेक्षते०' इति पैप्प० सं०।

यह (इति) इत्यादि तो (एतत्) इस प्रकार वह गृहमेधी उस विद्वान् अतिथि को यज्ञ में दीक्षित यजमान ब्राह्मण के समान (कुरुते) बना लेता है ।

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥२॥
उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

भा०—और (यद्) जब गृहमेधी (आह) कहता है, प्रार्थना करता है कि भगवन् ! (भूयः उद्हर) इस आहार योग्य पदार्थ में से आप और अधिक ले लीजिये तो (तेन) उस से (प्राणम् एव) अपने प्राण या जीवन शक्ति आयु को (वर्षीयांसम्) और अधिक चिरस्थायी करता है । और जब वह (उपहरति) अन्न आदि पदार्थ उसके समीप लाता है तो वह मानो यज्ञ की अन्नमय हवियें उसके समीप (आसादयति) लाता है ।

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः॥६॥

भा०—(तेषाम् आसन्नानाम्) गृहस्थ के स्त्री पुत्र भाई आदि गृह के सम्बन्धियों के समीप ही बैठे रहते हुए (अतिथिः) जब अतिथि, विद्वान् उस भोजन को (आत्मन् जुहोति) खालेता है मानो अपने में उसकी आहुति दे लेता है । उस समय वह (हस्तेन स्रुचा) हाथ रूपी स्रुवा

२—''यदाह भूयोद्धर ते प्रजां चैव पशूंश्च वर्धयते—[?] प्राणं कृणुते । यत् सम्पृच्छति काममेव तेनावरुन्धे । कामोह पृष्टो यजति । यद् उदकमुपासिञ्चत्यप एव तेनावरुन्धे ।'' इति पैप्प० सं० ।

४—'आत्मनि जुहोति' इति पैप्प० सं० ।

५—'शुल्कारेण वषट्कारे यस्तु चाहस्तेन' इति पैप्प० सं० ।

से, (प्राणे यूपे) प्राणरूप यूप स्तम्भ के समक्ष, (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) खाते के समय 'स्रुक्' २ इस प्रकार के शब्द मानो 'स्वाहा' शब्द के साथ अपनी जाठर अग्नि में अन्न रूप हवि की आहुति करता है। (यत् अतिथयः) ये जो अतिथि हैं चाहे (प्रियाः च) प्रिय मित्र हों और चाहे (अप्रियाः च) अप्रिय, प्रिय न हों तो भी वे (ऋत्विजः) उन यज्ञकर्ता ऋत्विजों के समान हैं जो यजमान को (स्वर्गं लोकं गमयन्ति) स्वर्ग प्राप्त कराते हैं।

स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

भा०—(य एवं विद्वान्) जो इस प्रकार का तत्व जान लेता है (सः) वह (द्विषन्) किसी के प्रति द्वेष करता हुआ (न अश्नीयात्) भोजन न करे। और (द्विषतः) द्वेष करते हुए पुरुष का (अन्नम् न अश्नीयात्) अन्न भी स्वयं न खावे। (न मीमांसितस्य) शंका के पात्र या सन्देहपात्र पुरुष का भी अन्न न खावे और (न मीमांसमानस्य) हम पर शंका कर रहा हो उसका अन्न भी न खावे। अर्थात् जिसके मित्र भाव में सन्देह हो या जो उस पर सन्देह करता हो दोनों एक दूसरे का अन्न न खावें।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥

भा०—(एषः सर्वः वा) वह सब लोग (जग्धपाप्मा) अपना पाप नष्ट कर लेते हैं (यस्य) जिसके (अन्नम्) अन्न को अतिथि लोग

७–'य एवं विद्यात्' इति क्वचित् पाठः। तस्मान् नद्विषन्नद्यान्न द्विषतोऽन्नमद्यान्न मीमांसितस्य इति पैप्प० सं०।

८–९–'सर्वो उपशो जग्धपाप्मानं यस्यान्नमश्नाति' इति पैप्प० सं०।

(अश्नन्ति) खा लेते हैं। और (एषः वा सर्वः अजग्धपाप्मा) उन सब के पाप नहीं नष्ट होते (यस्य अन्नं न अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि लोग स्वीकार नहीं करते।

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो वितताध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥
प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥ ११ ॥
प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति ॥ १२ ॥

भा०—(यः उपहरति) जो अतिथियों की सेवा करता है और उनका सत्कार करता है (एषः वा) उसके (युक्तग्रावा) सोम रसों के निकालने वाले पत्थरों से (सर्वदा) सदा सोम रस निकलता है, (आर्द्रपवित्रः) और उसके सोम रस नित्य 'दशा पवित्र' नामक वस्त्र पर छनता है (वितताध्वरः) उसका यज्ञ नित्य चला करता है और (आहृतयज्ञक्रतुः) वह सदा यज्ञ कर्म का फल प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(यः उपहरति) जो अतिथियों को अर्घ्य पाद्य आदि से सत्कार करता है (एतस्य) उस का सदा (प्रजापत्यः यज्ञः विततः) प्राजापत्य यज्ञ जारी रहता है ॥ ११ ॥

(यः उपहरति) जो अतिथि को अर्घ, अन्न आदि भेंट करता है (एषः) वह (प्रजापतेः विक्रमान् अनु) प्रजापति के महान् कार्यों का (विक्रमते) अनुकरण करता है ॥ १२ ॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥ (१६)

१०–'सर्वदा वा एष सुतसोमे' इति पैप्प० सं०।

१३–साहवनीयो गोऽन्नकरणस्य [अन्नकरणः तः] दक्षिणाग्निर्यो वेश्मनि०' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यः अतिथीनाम्) जो अतिथियों का शरीर है (सः) वह (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि के समान है। (यः) और जो गृहस्थ स्वयं (वेश्मनि) घर में विद्यमान है (सः गार्हपत्यः) वह गार्हपत्य अग्नि के समान है। और (यस्मिन्) जिस अग्नि में गृहमेधी लोग (पचन्ति) अतिथि के लिये अन्न आदि पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि के तुल्य है।

४ अर्थ मन्त्र में 'अतिथिरात्मन् जुहोति' इस मन्त्रलिंग से अतिथि का शरीर स्वयं आहवनीयाग्नि के तुल्य है।

(३) अतिथि यज्ञ न करने से हानियें।

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिर्विद्यावा देवता, १–६,९ त्रिपादः पिपीलकमध्या गायत्र्यः, ७. साम्नी बृहती, ८ पिपिलिकामध्या उष्णिक्। नवर्चं पर्यायसूक्तम्॥

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोतिथेरश्नाति॥१॥

भा०—(यः) जो पुरुष (अतिथेः पूर्वः अश्नाति) अतिथि के पहले भोजन कर लेता है (एषः) वह (गृहाणां) अपने गृह के सम्बन्धियों के और (इष्टं च वा) अपने यज्ञों और (पूर्तं च) प्रजा के हितकारी कूप तड़ाग आदि अन्य कार्यों को भी (अश्नाति) स्वयं खा जाता है अर्थात् विनाश कर देता है।

पयश्च वा एष रसं च० ॥२॥ ऊर्जां च वा एष स्फातिं च० ॥३॥ प्रजां च वा एष पशूंश्च० ॥४॥ कीर्तिं च वा एष यशश्च० ॥ ५ ॥ श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोतिथेरश्नाति ॥६॥

(३) १–'चाश्नति यः' इति पैप्प० सं०।

२–'ऊर्जांच वा एष पयश्च' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यः अतिथेः पूर्वं अश्नाति) जो पुरुष अतिथि के भोजन करने के पहले ही स्वयं खा लेता है (एषः) वह (गृहाणाम्) अपने घर वालों के हिस्से के (पयः च, रसं च०) दुग्ध आदि पदार्थ और रसवान् स्वादु पदार्थों को भी स्वयं पी खा लेता है ॥ २ ॥ (एषः वा ऊर्जां च स्फातिं च गृहाणाम्०) वह अपने घर वालों के अन्न सम्पत्ति और समृद्धि को भी स्वयं खा जाता है ॥ ३ ॥ (प्रजां च वा एषः पशून् च०) वह अपने घर वालों की, प्रजाओं और पशुओं को भी आप ही खा जाता है ॥४॥ (कीर्तिम् च एषः यशः च०) अपने घरवालों की कीर्ति यश तक को खा जाता है ॥५॥ (श्रियं च वा एषः संविदं च०) वह अपने घर वालों की लक्ष्मी और सौहार्द भाव को भी खा जाता है, नष्ट कर देता है ॥ ६ ॥

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥

भा०—(एषः वा अतिथिः) यह अतिथि ही निश्चय से (यत् श्रोत्रियः) श्रोत्रिय-वेद के विद्वान् ब्राह्मण के समान पूजनीय है (तस्मात्) इसलिये (पूर्वः) अतिथि से पहले (न अश्नीयात्) कभी भोजन न करे ।

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥

भा०—(यज्ञस्य सात्मत्वाय) यज्ञ के सम्पूर्ण सफल करने और (यज्ञस्य अविच्छेदाय) यज्ञ को विच्छेद, विनाश न होने देने के लिये (अतिथौ अशितावति) अतिथि के भोजन कर चुकने पर (अश्नीयात्) गृहस्थ स्वयं भोजन करे । (तत् व्रतम्) यही व्रत कर ले, यही धर्माचरण है ।

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥ (१७)

८—'अशितावत्यश्नीयात् तद् व्रतम् यज्ञस्याविच्छेदाय यज्ञस्य गुप्तये, यज्ञस्य सात्मत्वाय' । इति पैप्प० सं० ।

भा०—(एतत् वा उ) वही सब पदार्थ (स्वादीयः) बहुत स्वादिष्ट होता है (यत् अधिगवम्) जो गौ से प्राप्त होता है । (क्षीरं वा) दूध या (मांसं वा) अन्य मनोमोहक दूध से उत्पन्न घी, मलाई, रबड़ी, खोवा, खीर आदि पदार्थ । (तत् एव) उसी पदार्थ को गृहस्थ (न अश्नीयात्) स्वयं न खाये, प्रत्युत अपने अतिथि को खिलावे ।

(४) अतिथियज्ञ का महान् फल ।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्तो । १,३,५,७ प्रजापत्या अनुष्टुभः, ९ भुरिक्, २,४,६, ८ त्रिपदा गायत्र्यः, १० चतुष्पाद् प्रस्तारपंक्तिः । दशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥

यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥२॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार अतिथि सत्कार के व्रत को जानता हुआ (क्षीरम् उपसिच्य) दूध को पात्र में डाल कर (उपहरति) अतिथि को तृप्त करने के लिये ले जाता है तो (यावत्) जितना (सुसमृद्धेन) उत्तम रीति से सम्पादित (अग्निष्टोमेन) अग्निष्टोम यज्ञ से (इष्ट्वा) यज्ञ करके (अव रुन्धे) फल प्राप्त करता है (तावत्) उतना (अनेन) इस अतिथि यज्ञ से (अवरुन्धे) प्राप्त कर लेता है ।

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥

यावदतिरात्रेणेष्ट्वा० ॥ ४ ॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार के अतिथि सत्कार के व्रत को जानता हुआ गृहस्थ (सर्पिः उपसिच्य) घृत आदि पुष्टिकारक

(४) १,२–'यत् क्षीरमुपसिच्य यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सपृष्ठेन' इति पैप्प० सं० । ३,४–'यत्सर्पिरुप०', 'यावदान्हेन समृद्धेन' इति पैप्प० सं० ।

पदार्थों को पात्र में रख अतिथि के लिये लाता है (यावत् अतिरात्रेण इष्ट्वा०) तो उत्तम रीति से सम्पादित, 'अतिरात्र' नामक यज्ञ को करके जितना फल प्राप्त करते हैं उतना फल वह गृहस्थ इस अतिथि यज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत् सत्रसद्येनेष्ट्वा० ॥ ६ ॥

भा०—(यः एवं विद्वान् मधु उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ को ज्ञान कर मधु आदि मधुर पदार्थ पात्र में रख कर अतिथि को तृप्त करता है (यावत् सत्रसद्येन इष्ट्वा०) जितना फल उत्तम रीति से सम्पादित 'सत्रसद्य' नाम के यज्ञ को करके प्राप्त करते हैं उतना फल वह अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥८॥

भा०—(यः एवं विद्वान् मांसम् उपसिच्य उपहरति, यावद् सुसमृद्धेन द्वादशाहेन इष्ट्वा अवरुन्धे सः तावद् एनेन अवरुन्धे) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ के महत्व को जानता हुआ पुरुष और मनको रुचि देने वाले घी, मलाई, फल आदि पदार्थों को अतिथि के भेट करता है तो जितना फल उत्तम रीति से सम्पादित द्वादशाह यज्ञ से प्राप्त करते है उतना फल वह इस अतिथियज्ञ से प्राप्त करता है।

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति
य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥ (१८)

१–'यावत् रात्रेण समृद्धेन' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः एवं विद्वान् उदकम् उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ के महत्व को जानता हुआ पुरुष अतिथि के निमित केवल जल को भी ले आता है वह (प्रजानां) प्रजाओं के (प्रजननाय) उत्तम रीति से उत्पादन करने में समर्थ होता है। (प्रतिष्ठां गच्छति) प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है और (प्रजानां प्रियः भवति) अपनी प्रजाओं का प्यारा होता है। (यः एवं विद्वान् उदकम् उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार जानता हुआ जल भी अतिथि को प्रदान करता है वही यह फल प्राप्त करता है, फिर औरों का तो कहना क्या ?

(५) अतिथि यज्ञ की सामगान से तुलना।

ऋषि देवता च पूर्वोक्ते। १ साम्नी उष्णिक्, २ पुर उष्णिक्, ३ साम्नी भुरिग् बृहती, ४,६, ६ साम्न्यनुष्टुभः, ५ त्रिपदा निचृद् विषमागायत्री, ७ त्रिपदा विराड् विषमा गायत्री, ८ त्रिपाद् विराड् अनुष्टुप्। दशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मा॑ उ॒षा हिङ्कृ॑णोति सवि॒ता प्र स्तौ॑ति ॥ १ ॥

बृह॒स्पति॑रू॒र्जयोद्गा॑यति॒ त्वष्टा॑ पुष्ट्या॒ प्रति॑ हरति॒ विश्वे॑ दे॒वा नि॒धन॑म् ॥ २ ॥

नि॒धनं॒ भूत्याः॑ प्र॒जायाः॑ पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ और देवयज्ञ के रहस्य को जानता है (तस्मै) उसके लिये (उषाः हिङ् कृणोति) उषा 'हिं' कार करती है, (सविता प्रस्तौति) सविता-सूर्य प्रस्ताव करता है, (बृहस्पतिः) बृहस्पति अर्थात् प्राण (ऊर्जया) ऊर्जा=बलकारिणी शक्ति से

१०—'गच्छतिसर्वमायुरेति। पुन राजरसः प्रमीयते य एवं विद्वान०' इति पैप्प० सं०।

(५)२—'मध्यान्दिनोद्गाय' इति पैप्प० सं०।

(उद् गायति) गान करता है । (त्वष्टा) त्वष्टा—सब जन्तुओं का उत्पादक परमेश्वर (पुष्टया) अपने पोषक बल से (प्रति हरति) उसके लिये 'प्रतिहार' करता है, (विश्वे देवाः निधनम्) विश्वे देव, समस्त विद्वान् गण उसके लिए 'निधन' करते हैं। वह स्वयं (भूत्याः) भूति, सम्पत्ति, सत्ता का (प्रजायाः) प्रजा का और (पशूनाम्) पशुओं का (निधनम् भवति) निधन अर्थात् परम आश्रय हो जाता है।

हिंकार, प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहार और निधन ये सामगान के पाँच अंग है। अतिथियज्ञ के कर्त्ता पुरुष के यश का उषा, सविता, बृहस्पति त्वष्टा और विश्वेदेव ये अपनी शक्तियों से गान करते हैं। अर्थात् उषा देवी उसके यश को प्रकाशित करती है, सविता सूर्य, उसके यश को उज्ज्वल करता है, बृहस्पति, प्राण अपने बल से उसका गान करता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी उसके अन्न के बल से उसका गुण गाता है, (त्वष्टा) प्रजोत्पादक प्रभु अपने पोषणकारी बल से 'निधन' अर्थात् उसे निःशेष सम्पत्तियों का पात्र बनाते हैं। इस प्रकार वह सम्पत्ति, सत्ता, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है।

तस्मा॑ उ॒द्यन्त्सूर्यो॒ हिङ्कृ॑णोति संग॒वः प्र स्तौ॑ति ॥ ४ ॥

म॒ध्यन्दि॑न॒ उद्गा॑यत्यपरा॒ह्णः प्रति॑ हर॒त्यस्तं॒यन्नि॒धन॑म् । नि॒धनं॑० ॥५

भा०—(उद् यत् सूर्यः तस्मै हिंकृणोति) उदय होता हुआ सूर्य उसके यशोगान करने के लिये 'हिंकार' करता है (संगवः प्रस्तौति) 'संगव' काल का सूर्य जब पर्याप्त ऊपर आ जाता है वह उसके लिए 'प्रस्ताव' करता है (मध्यन्दिनः उद्गायति) मध्यन्दिन का सूर्य उद्गान करता है, (अपराह्णः प्रतिहरति) अपराह्ण काल का सूर्य उसके लिये 'प्रतिहार' करता है और (अस्तं यन् निधनम्) अस्त जाता हुआ सूर्य 'निधन' करता है। अर्थात् सूर्य दिन की पाँच अवस्थाओं में उसके यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसको सब पदार्थ प्राप्त कराता और

उसे समस्त पदार्थों से सम्पन्न करता है और इस प्रकार वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है ।

तस्मा॑ अ॒भ्रो भव॑न् हिङ्कृ॑णोति स्त॒नय॒न् प्र स्तौ॑ति ॥ ६ ॥

वि॒द्योत॑मानः प्रति॑ हरति॒ वर्ष॑न्नु॒द्गा॑यत्यु॒द्गृ॒ह्ण॒न् नि॒धन॑म् ।
नि॒धन॑० ॥ ७ ॥

भा०—जो अतिथि यज्ञ का रहस्य जानता है उसका यशोगान मेघ भी करता है । अर्थात् (तस्मै) उसके यशोगान करने के लिये सामगान के पांच अंगों में से क्रम से (भवन् अभ्रः हिंकृणोति) उत्पन्न होता हुआ मेघ 'हिंकार' करता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जता हुआ मेघ 'प्रस्ताव' करता है, (विद्योतमानः) बिजुली चमकाता हुआ मेघ 'प्रतिहार' करता है (वर्षन् उद् गायति) वर्षण करता हुआ मेघ 'उद्गान' करता है और (उद् गृह्णन् निधनम्) पुनः जल को ऊपर ग्रहण करता हुआ मेघ 'निधन' को करता है । और इस प्रकार वह पुरुष (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है ।

अति॑थीन् प्रति॑ पश्यति॒ हिङ्कृ॑णोत्य॒भि वद॑ति॒ प्र स्तौ॑त्युद॒कं याच॑त्यु॒द्गा॑यति ॥ ८ ॥

उप॑ हरति॒ प्रति॑ हर॒त्युच्छि॑ष्टं नि॒धन॑म् ॥ ९ ॥

नि॒धन॑ं भूत्याः॑ प्र॒जायाः॑ प॒शूनां॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥१०॥ (१६)

भा०—वह स्वयं भी एक प्रकार से अतिथियज्ञ करता हुआ साम गान करता है क्योंकि जब वह (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियों का दर्शन करता है मानो (हिंकृणोति) साम गान के हिंकार को करता है,

---

७–'वियोतमानः प्रस्तौति स्तनयन्नुद्गायति अपराह्ण प्रतिहरति अस्तं-यन्निधनम्,' इति पैप्प० सं० ।

(अभिवदति प्रस्तौति) जब वह अभिवादन करता है तो वह मानो प्रस्ताव करता है, (उदकं याचति) जब जल लेकर स्वीकार करने की प्रार्थना करता है तब मानो (उद्गायति) 'उद्गान' करता है, (उपहरति प्रतिहरति) जब खाद्य पदार्थ उसके समक्ष रखता है मानो वह 'प्रतिहार' करता है (उच्छिष्टं निधनम्) और जो उसके भोजन कर चुकने पर शेष अन्न बचता है वह 'निधन' है । उसका उपभोग करता हुआ गृहमेधी (यः एवं वेद) जो इस अतिथियज्ञ को सामगान के तुल्य जानता है वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजाओं और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है ।

(६) अतिथि यज्ञ की यज्ञ-काण्ड से तुलना ।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । १ आसुरी गायत्री, २ साम्नी अनुष्टुप् । ३,५ त्रिपदे आर्चीपंक्ती । ४ प्राजापत्यागायत्री, ६-११ आर्च्यो बृहत्यः, १२ एकपदा आसुरी जगती, १३ याजुषी त्रिष्टुप्, १४ आसुरी उष्णिक् । चतुर्दशर्चं पर्याय सूक्तम् ॥

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥

यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥

यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥ ३ ॥ तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥

१,२-'आश्रावयति' इत्यन्तः पाठ० पैप्प० सं० ।

३-यत् परिवेष्टारा वमतां प्रेभिम्यन्ते चमसा' इति पैप्पः सं० ।

४-'तेषां वै' इति पैप्प० सं० । यत् प्रातरुपहरति प्रातः सवनमेव तत्, यद् यवोपहरति माध्यं दिनमेव तत्सवनम् । यत्सायमुपहरति तृतीय मेव तद्यदातिथिपतिरवभृथं मेव तत् प्राह्वयन्ति । इति पैप्प० सं० ।

भा०—अतिथियों का सत्कार करने वाला पुरुष (यत्) जब (क्षत्तारं ह्वयति) अपने कोठारी को बुलाता है वह मानो (तत्) उस समय अध्वर्यु कर्म में (आ-श्रावयति) आ श्रवण कराता है। (यत् प्रति-शृणोति) और जब कोठारी उसको आज्ञा को स्वीकार करता है तब मानो वह (प्रति आ श्रावयति) आध्वर्यव काण्ड का प्रत्याश्रवण करता है। और (यत्) जब (परिवेष्टारः) रसोई परसने वाले लोग (पात्रहस्ताः) हाथ में भोजन के पात्र लिये (पूर्वे च अपरे च) अगले और पिछले (प्रपद्यन्ते) आ पहुँचते है (चमसाध्वर्यवः एव ते) वे मानो चमसा लेकर यज्ञ करने वाले चमसाध्वर्यव लोग ही हैं। (तेषाम्) उन में से (कश्चन) कोई भी ऐसा (न) नहीं होता जो (अहोता) आहुति न देता हो। वे अतिथि को भोजन परसते हुए मानो हवि की आहुति दे रहे होते हैं।

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥

यत् सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥

भा०—(यद् वै) और जब (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालक, गृहस्थ (अतिथीन्) अतिथियों को (परिविष्य) भोजन परोस कर उनको पूर्णतया तृप्त करके (गृहान् उप उद् आ एति) पुनः अपने गृहों को या अपने गृह के सम्बन्धियों के पास आता है मानो (तत्) तब यज्ञ कर चुकने बाद (अवभृथम् एव उप अव आ एति) अवभृथ स्नान ही कर लेता है। अर्थात् अतिथियों को तृप्त करके पुनः अपने गृह में आना उसके यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान के समान है ॥ ५ ॥ और

५–'अवभृथमुपावैति' इति पैप्प० सं०।

(यत्) जब वह (सभागयति) उनको कुछ धन द्रव्य भेट करता है तो मानो (दक्षिणाः सभागयति) वह यज्ञ में पुरोहितों को दक्षिणा प्रदान करता है । और (यत्) जब (अनुतिष्ठते) उनके विदाई के लिये कुछ दूर तक उनके साथ आता है (तत्) तब (उद् अवस्यति एव) यज्ञ का उदवसान करता है । यज्ञ के उद्-अवसान में यजमान विधिपूर्वक यज्ञ स्थान से अपने घर लौट आता है ।

स उप॑हूतः पृथि॒व्यां भ॑क्षयत्युप॑हूत॒स्तस्मि॑न् यत् पृ॑थि॒व्यां वि॒श्वरूपम् ॥ ७ ॥

भा०—(सः) वह विद्वान् अतिथि (पृथिव्यां उपहूतः) इस पृथिवी में निमन्त्रित किया जाता है । (तस्मिन्) उसके आश्रय पर ही वह अतिथिपूजक गृहस्थ भी (उपहूतः) निमन्त्रित होकर (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (यत्) जो (विश्वरूपम्) नाना प्रकार के पदार्थ हैं उन का (भक्षयति) भोग करता है ।

स उप॑हूतो॒ऽन्तरि॑क्षे भक्षयत्युप॑हूत॒स्तस्मि॑न् यद॒न्तरि॑क्षे वि॒श्वरू॑पम् ॥ ८ ॥

भा०—(सः उपहूतः अन्तरिक्षे) यदि अन्तरिक्ष लोक में से उस अतिथि को आदर पूर्वक निमन्त्रण दिया गया है तो (तस्मिन्) उसके बल पर वह गृहस्थी भी (उपहूतः) अन्यों द्वारा सादर आमन्त्रित होकर (अन्तरिक्षे यत् विश्वरूपम्) अन्तरिक्ष में जो नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उनका (भक्षयति) भोग करता है ।

स उप॑हूतो दि॒वि भ॑क्षयत्युप॑हूत॒स्तस्मि॑न् यद् दि॒वि वि॒श्वरू॑पम् ॥ ९ ॥

७—पृथिव्यां, तत् पृथिव्यामाभाति स्वर्गो लोको भवति य एवं वेद । इति पैप्प० सं० ।

८—अन्तरिक्षे पतन्त्यन्तरिक्षआभाति स्वर्गो० इत्यादि पूर्ववत् इति पैप्प०सं० ।

९—दिवि तपति दिवि आभाति स्वर्गो० इत्यादि पूर्ववत् इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सः अपहूतः दिवि) वह अतिथि यदि द्यौलोक में से सादर निमन्त्रित किया जाय तो वह गृहस्थ (तस्मिन्) उस अतिथि के बल पर (यद् दिवि विश्वरूपम्) जो द्यौलोक में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सब को वह (भक्षयति) भोग करता है।

स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् १०

भा०—यदि (देवेषु) देवों, विद्वानों में से (सः) वह अतिथि (उपहूतः) सादर निमन्त्रित किया जाता है तो (तस्मिन्) उसके बल पर (यद् देवेषु विश्वरूपम्) जो देवों में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सबको वह गृहस्थ (भक्षयति) उपभोग करता है।

स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यल्लोकेषु विश्वरूपम् ११

भा०—(सः) वह अतिथि यदि (लोकेषु) अन्य साधारण लोगों में से (उपहूतः) सादर निमन्त्रित है तो (तस्मिन्) उस के बल पर वह गृहस्थ भी (लोकेषु यत् विश्वरूपम्) सर्व साधारण लोगों में जो नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उन सब को (उपहूतः) स्वयं निमन्त्रित होकर (भक्षयति) भोग करता है।

स उपहूतः उपहूतः ॥ १२ ॥

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥

भा०—(सः) वह अतिथि सादर निमन्त्रित होता है इसलिये (उपहूतः) उस गृहस्थी को भी सादर निमन्त्रित किया जाता है ॥१२॥ वह (इमं लोकम् आप्नोति) इस लोक को भी सादर प्राप्त होता है और (अमुम् प्राप्नोति) दूसरे लोक में भी आदर पूर्वक जाता है।

१०–'देवेषु पतति देवेषु भाति स्वर्गो०' इति पूर्ववत् इति पैप्प० सं०।

११–'लोकेषु पतति [तपति] लोकेषु भाति स्वर्गो०' इति पूर्ववत्। इति पैप्प० सं०।

ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ १४ ॥ (२०)

भा०—(य एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है वह (ज्योतिष्मतः) ज्योतिर्मय, प्रकाशवान्, ज्ञानवान् (लोकान्) लोकों, जनों को (जयति) विजय करता है, उन पर वश करता है, उनमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तद्वयं ऋचश्चैकादशाधिकं शतम्]

[७] विराड् गौ का देवमय स्वरूप ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौर्देवता । १. आर्ची उष्णिक्, ३,५, अनुष्टुभौ, ४,१४,१५, १६ साम्न्यौ बृहत्यः, ६,८ आसुर्योगायत्र्यौ । ७ त्रिपदा पिपीलिकमध्या निचृद्गायत्री । ६, १३ साम्न्यो गायत्री । १० पुर उष्णिक् । ११,१२,१७,२५, साम्न्युष्णिहः । १८,२२, एकपदे आसुरीजगत्यौ । १६ आसुरी पंक्तिः । २० याजुषी जगती । २१ आसुरी अनुष्टुप् । २३ आसुरी बृहती २४ भुरिग् बृहती । २६ साम्नी त्रिष्टुप् । इह अनुक्तपादा द्विपदा । षड्विंशर्चं एकं पर्यायसूक्तम् ॥

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥

भा०—(प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृङ्गे) विराड् गौ के दोनों सींग प्रजापति और परमेष्ठी हैं । (इन्द्रः शिरः) इन्द्र शिर है । (अग्निः ललाटं) अग्नि ललाट है (यमः कृकाटम्) कृकाट, गले की घंटी यम है ।

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २ ॥

१–'ललाटमित्यन्तः पाठः पैप्प० सं० ।

२–मस्तिष्कः सत्यं चक्षुर्ऋतं श्रोत्रे प्राणापानौ ना मिवते द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरा अग्निरस्याम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(सोमः राजा) सोम राजा उसका (मस्तिष्कः) उसका मस्तिष्क है। (द्यौः उत्तरहनुः) द्यौलोक उसका ऊपर का जबड़ा है। (पृथिवी अधरहनुः) पृथिवी उसका नीचे का जबड़ा है।

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः॥३॥

भा०—(विद्युत्) विद्युत् उसकी (जिह्वा) जीभ है (मरुतदन्ताः) मरुत् अर्थात् प्राण गण और नाना प्रकार की वायुएं (दन्ताः) उसके दांत हैं (रेवतीः ग्रीवाः) रेवती नक्षत्र उसकी ग्रीवा-गर्दन है (कृत्तिकाः स्कन्धाः) कृत्तिकाएँ उसके कन्धे हैं। (घर्मः) प्रकाशमान सूर्य या ग्रीष्म, उसका (वहः) 'वह' ककुद् के पास का स्थान है।

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः॥ ४ ॥

भा०—(विश्वं वायुः) विश्व समस्त संसार वायु अर्थात् प्राण है, (स्वर्गः लोकः) स्वर्ग लोक है, (कृष्णद्रम्) कृष्णद्र अर्थात् मेघ उसका [कण्ठ[1]] है, (विधरणी निवेष्यः) विधरणी, लोकों को पृथक् २ स्थापित करनेवाली शक्ति उसका निवेष्य अर्थात् बैठने के कूल्हे या सीमा है।

श्येनः क्रोडो॒ऽन्तरिक्षं पाजस्यं॑ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः॥५

भा०—(श्येनः क्रोडः) श्येनयाग उसको क्रोड भाग है (अन्तरिक्षम् पाजस्यम्) अन्तरिक्ष उसका पाजस्य अर्थात् पेट है (बृहस्पतिः ककुत्) बृहस्पति उसका ककुद् या कोहान भाग है, (बृहतीः कीकसाः) बड़ी दिशाएँ उसके गले के मोहरे हैं।

देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः॥ ६ ॥

भा०—(देवानां पत्नीः) देवों, विद्वानों की स्त्रियां (पृष्टयः) पृष्टि

३—'दन्ता' पवमानः प्राणः इति पैप्प० सं०। 'ग्रीवाकृति' इति क्वचित् पाठः।

४—विश्वं वायुः कण्ठः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रव्यद्रिणी [विधरणी] विवक्षः। इति पैप्प० सं०।

अर्थात् पीठ के मोहरे हैं (उपसदः पर्शवः) उपसद् इष्टियाँ उसकी पर्शु= पसुलियां हैं ।

मि॒त्रश्च॒ वरु॑णश्चां॒सौ त्वष्टा॑ चार्य॒मा च॑ दो॒षणी॑ म॒हादे॒वो बा॒हू ॥७॥

भा०—(मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण (अंसौ) दोनों अंस, बाहुओं के ऊपर के भाग हैं (त्वष्टा च अर्यमा च) त्वष्टा और अर्यमा (दोषणी) दो बाहुओं के ऊपर के भाग हैं । (महादेवः बाहू) महादेव बाहु भाग या अगली टाँगों का निचला भाग है ।

इ॒न्द्राणी भ॒सद् वा॒युः पुच्छं॑ पव॑मानो॒ वालाः॑ ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्राणी) इन्द्राणी, इन्द्र विद्युत् की शक्ति (भसत्) गुह्य भाग है, (वायुः पुच्छं) वायु पुच्छ भाग है । (पवमानः बालः) बहता हुआ वायु उसके बाल हैं ।

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॒ श्रोणी॒ बल॑मू॒रू ॥ ९ ॥

भा०—(ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी) ब्रह्म, ब्राह्मण और क्षत्र, क्षत्रिय दोनों श्रोणी, चूतर कूल्हे भाग हैं (बलम् ऊरू) बल सेना ऊरू जांघें हैं ।

धा॒ता च॑ सवि॒ता चा॑ष्ठीव॒न्तौ जङ्घा॑ गन्ध॒र्वा अ॑प्स॒रसः॒ कुष्ठि॑का॒ अदि॑तिः श॒फाः ॥ १० ॥

भा०—(धाता च सविता च) धाता और सविता दोनों (अष्ठीवन्तौ) उस महावृषभ के टखने हैं (गन्धर्वाः जंघाः) गन्धर्व पुरुष जंघाएं हैं (अप्सरसः कुष्ठिकाः) अप्सराएं, स्त्रियां कुष्टिएँ, खुरों के ऊपर पीछे की ओर लगी अंगुलियें हैं । (अदितिः शफाः) अदितिपृथ्वी शफ, खुर हैं ।

चेतो॒ हृद॑यं॒ यकृ॒न्मे॒धा व्र॒तं पु॑री॒तत् ॥ ११ ॥

१०—'गन्धर्वाप्सरसः' इति पैप्प० सं० ।

११—'यकृन्मेधा तरिमा चित्तम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(चेतः हृदयम्) समस्त चेतना उसका हृदय है (मेधा-यकृत्) मेधा बुद्धि उसका यकृत् कलेजा भाग है (व्रतम्) व्रत उस के (पुरीतत्) आंतें हैं ।

क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥

भा०—(क्षुत् कुक्षिः) भूख उसकी कोख है (इरा वनिष्ठुः) इरा=अन्न या जल उसकी वनिष्ठु गुदा या बड़ी आंत है । (पर्वताः) पर्वत मेघ (प्लाशयः) प्लाशियें छोटी आंतें हैं ।

क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥

भा०—(क्रोधः वृक्कौ) क्रोध उसके वृक्क अर्थात् गुर्दे हैं । (मन्युः आण्डौ) मन्यु अण्डकोश हैं । (प्रजा शेपः) प्रजाएं उसका लिंग भाग है ।

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥ १४ ॥

भा०—(नदी सूत्री) नदी उसकी सूत्री जन्म देने वाली नाडि सूत्री है । और (वर्षस्य पतयः स्तनाः) वर्षा के पालक मेघ उसके स्तन हैं । और (स्तनयित्नुः ऊधः) गर्जनशील मेघ ऊधस्, दूधके भरे थान हैं ।

विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥ १५ ॥

भा०—(विश्वव्यचाः) सर्वव्यापक आकाश उसका (चर्म) चमड़ा है (ओषधयः लोमानि) ओषधियां उसके लोम हैं, (नक्षत्राणि रूपम्) नक्षत्र उसके रूप अर्थात् उसके देह पर चितकबरे चिह्न हैं ।

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥

१२–'पर्वताः प्राशः' इति पैप्प० सं० ।

१३–'समुद्रो वस्तिस्तनयित्नुरूधः वर्षस्य पतयः स्तनाः' इति पैप्प० सं० ।

१५–'ओषधयो रोमाणि अभ्रं पीवो मज्जानिधनम्' इति पैप्प० सं० ।

१६–'मनुष्यान्त्राण्यत्रा उदरम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(देवजनाः) देव जन (गुदाः) गुदा हैं। (मनुष्याः आन्त्राणि) सामान्य मनुष्य उसके आंतें हैं (अत्रा उदरम्) अन्य भोजन करने वाले प्राणिगण उसके उदर भाग हैं।

रक्षांसि लोहितमितरजना ऊवध्यम् ॥ १७ ॥

भा०—(रक्षांसि) राक्षस लोग (लोहितम्) उसके लोहित, रक्त भाग हैं (इतरजनाः ऊवध्यम्) इतरजन तिर्यग् योनियां ऊवध्य, अनपचा अन्न हैं।

अभ्रं पीवो मज्जा निधनम् ॥ १८ ॥

भा०—(अभ्रं पीवः) मेघ उसके पीवस्=मेद के बराबर है। (निधनं मज्जा) समस्त धन सम्पत्ति उसकी मज्जा भाग है।

अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥ १९ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि उसका (आसीनः) बैठने का रूप है और (अश्विना) दोनों अश्वी, दिन, रात उसका (उत्थितः) खड़ा होने का रूप हैं।

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥ २० ॥

भा०—(प्राङ् तिष्ठन्) प्राची दिशा में विराजमान वह स्वयं (इन्द्रः) इन्द्र है। (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशा में विराजमान वह (यमः) यम है।

प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥ २१ ॥

भा०—(प्रत्यङ् तिष्ठन् धाता) प्रतीची अर्थात् पश्चिम में विराजमान वह धाता स्वरूप है। (उदङ् तिष्ठन् सविता) उत्तर दिशा में विराजमान वह सविता स्वरूप है।

१७–'उवध्य' इति पैप्प० सं०।

१८–'भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद' इत्यधिकः पाठः, पैप्प० सं०।

तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥

भा०—(तृणानि प्राप्तः) वही ईश्वरीय शक्ति (तृणानि प्राप्तः) तृण, वनस्पतियों में प्राप्त होकर (सोमो राजा) सोम राजा है ।

मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥

भा०—(ईक्षमाणः मित्रः) जब वह समस्त प्राणियों पर कृपा दृष्टि से देखता है तब वह सबका मित्र है। (आवृत्तः आनन्दः) जब उन को व्याप लेता है तो वही आनन्द रूप हो जाता है ।

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ॥२४॥

भा०—(युज्यमानः) समाधि द्वारा ध्यान किये जाने के अवसर पर वह (वैश्वदेवः) विश्वदेवों के समष्टिरूप है । (युक्तः प्रजापतिः) समाधि प्राप्त कर लेने पर वह प्रजापति हो जाता है । (विमुक्तः) वही सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त रूप में (सर्वम्) सर्व रूप है ।

एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥ २५ ॥

भा०—(एतत् वै विश्वरूपम्) यह ही विश्वरूप परमात्मा का विराट् रूप है वही (सर्वरूपम्) सर्वरूप, (गो रूपम्) गौ या वृषभ का रूप है जिसका इस प्रकार वर्णन किया जाता है ।

उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥२६॥ (२१)

भा०—(यः एवं वेद) इस प्रकार जो प्रजापति के विराट् रूप को वृषभ रूप में यथार्थ रूप से जान लेता है (एनम्) उसको (विश्व

२२–'तृणान् प्राप्तः सोमोराजा' इति पैप्प० सं० ।

२३–'अनृतानन्द ईक्षमाणो मित्रा वरुणो' इति पैप्प० सं० ।

२४–'युज्यमानो वैश्वानरो' इति पैप्प० सं० ।

२५–'एतद्वैवोरूपम्' इति पैप्प० सं० ।

रूपाः) विश्व रूप (सर्वरूपाः) सर्वरूप (पशवः) पशु (उप-तिष्ठन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् उसको समस्त प्राणियों में विश्व और सर्व का उक्तरूप प्रत्यक्ष दीखने लगता है।

इसकी तुलना ११वें काण्ड के ३रे सूक्त के द्वितीय पर्याय से और नवम के ४र्थ सूक्त मन्त्र ६–१६ तक कहे साहस्र ऋषभ के साथ भी मिलान करो।

[८] शरीर के रोगों का निवारण।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणं देवता। १,११,१३,१४,१६,२० अनुष्टुभः। १२ अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती चतुष्पादुष्णिक्। १५ विराड् अनुष्टुप्। २१ विराट् पथ्या बृहती। २२ पथ्यापंक्तिः। द्वाविंशर्चं सूक्तम्॥

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ १॥

भा०—(शीर्षक्तिम्) शिर में व्यापक (शीर्षामय) शिरो रोग, (कर्णशूल) कान का दर्द, (विलोहितम्) जिसमें विकृत रुधिर बहे (ते) तेरे (सर्वं) सारे (शीर्षण्यं रोगम्) सिर के रोग को (बहिः) बाहर (निर्मन्त्रयामहे) विशेष रूप से सर्वथा स्तम्भित करते हैं, रोकते हैं, उसका उपाय करते हैं।

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्। सर्वं०॥२॥

१–(प्र०) 'शीर्षक्तं', 'कर्णशूलं तृतीयकम्' इति पैप्प० सं०।

१. मन स्तम्भे (चुरादिः) इत्यतः सार्वधातुकः ष्ट्रन्। मन्त्रः स्तम्भक उपायः।

२–'कङ्कूषेभ्यः', 'शुक्तिवल्शं विलोहितम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(ते कर्णाभ्यां) तेरे कानों से, और तेरे (कंकूषेभ्यः) कंकूष=कर्ण के भीतरी भागों में से (विसल्पकम्) नाना प्रकार से रेंगने वाली, चीस चलाने वाली (कर्णशूलम्) कान की पीड़ा को और (सर्वं ते शीर्षण्यं रोगं निर्मन्त्रयामहे) समस्त सिर के रोग को हम उपाय से रोक दें और दूर करें।

यस्य॑ हे॒तोः प्र॒च्यव॑ते॒ यक्ष्मः॑ कर्ण॒त आ॒स्य॒तः। सर्वं० ॥ ३॥

भा०—(यस्य हेतोः) जिस हेतु अर्थात् कारण से (कर्णतः) कान से और (आस्यतः) मुख से (यक्ष्मः) रोगकारी, पीड़ाजनक मुवाद (प्रच्यवते) वहता है (सर्वं० इत्यादि) उस समस्त शिर के रोग को हम उपाय से रोकें और दूर करें।

यः कृ॒णोति॑ प्र॒मोत॑म॒न्धं कृ॒णोति॒ पूरु॑षम्। सर्वं० ॥ ४॥

भा०—जो कान का रोग (पुरुषम्) पुरुष को (प्रमोतम् कृणोति) खूब बांधदे अर्थात् पुरुष के शिर की इन्द्रियां कान आदि की शक्तियों को जो पीड़ा शिथिल करदे उसको गूंगा, बहरा करदे और जो (अन्धम् कृणोति) पीड़ा उसको अन्धा करदे ऐसे (सर्वं० इत्यादि) समस्त शिर के रोग को हम उपाय से रोकें और दूर करें।

अ॒ङ्ग॒भे॒दम॑ङ्गज्व॒रं वि॒श्वाङ्ग्यं॑/ वि॒स॒ल्प॑कम्।
सर्वं॑ शीर्ष॒ण्यं॑/ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्निर्म॑न्त्रयामहे ॥ ५॥

भा०—(अङ्गभेदम्) शरीर के अंगों को तोड़ डालने वाले, (अंग

३—'यक्ष्मोनासतास्यत' इति पैप्प० सं०।
४—'प्रमोहितमिति कश्चिन् मुग्धोहरिवर्णीयः।
प्रमोत–मूञ्बन्धने क्र्यादिः, मुङ्बन्धने (भ्वादिः) इतःक्तः। प्रबद्ध-सर्वेन्द्रिय व्यापारमित्यर्थः। मूकबधिरमिति यावत्।
५—'शीर्षरोगमङ्गरोगं विश्वाङ्गीनं विशल्यकम्' इति पैप्प० सं०।

ज्वरम्) शरीर के अंगों में ज्वर, संताप उत्पन्न करने वाले (विश्वाङ्ग्यम्) समस्त शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने वाले (विसल्पकम्) विशेष रूप से तीव्र वेदना से फैलने वाले (सर्व० इत्यादि) समस्त प्रकार के शिर के रोग को हम बाहर करदें।

यस्य॑ भी॒मः प्र॑ती॒का॒श उ॑द्वे॒पय॑ति॒ पूरु॑षम्।
त॒क्मानं॑ वि॒श्वशा॑रदं ब॒हि० ॥ ६ ॥

भा०—(यस्य) जिसका (भीमः) भयानक (प्रतीकाशः) स्वरूप ही (पुरुषम्) पुरुष को (उद्वेपयति) कपा देता है ऐसे (तक्मानम्) दुःखदायी (विश्वशारदम्) सब वर्षों और ऋतुओं में होने वाले ज्वर को हम शरीर से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर ही रोकदें। उस शरीर में प्रवेश न करने दें।

य ऊ॒रू अ॑नु॒सर्प॑त्यथो॒ एति॑ ग॒वीनि॑के।
यक्ष्मं॑ ते अ॒न्तर॒ङ्गेभ्यो॑ ब॒हि० ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो रोग (ऊरू) जंघाओं की ओर (अनुसर्पति) बढ़ता है (अथो) और (गवीनिके एति) मूत्राशय के समीप 'गवीनि' नामक नाड़ियों में पहुँच जाता है उस (यक्ष्मम्) रोग को (ते) तेरे (अन्तरङ्गेभ्यः) भीतर अंगों से (बहिः) बाहर (निर्मन्त्रयामहे) निकाल दें।

यदि॒ कामा॑दपका॒माद्धृद॑या॒ज्जाय॑ते॒ परि॑।
हृ॒दो ब॒लास॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हि० ॥ ८ ॥

भा०—(यदि) यदि (बलासम्) शरीर के बल का नाशक, कफ-रोग (कामात्) हमारे इच्छाकृत कार्य से या (अकामात्) विना

६–(द्वि०) 'पौरुषम्'। (तृ० च०) 'तक्मानं चीतं रूरं च तं त्वे निर्मन्त्र०' इति पैप्प० सं०।

७–(तृ०) 'बलासं ते' इति पैप्प० सं०।

कामना के बाह्य जल वायु के विकार से या (हृदयात् परि) हृदय के समीप (जायते) उत्पन्न हो जाय तो उसे (हृदः) हृदय के साथ सम्बन्ध रखने वाले (अंगेभ्यः) सब अंग, छाती, फेफड़े और हृदय के विभागों से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर निकाल दें।

हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्।
यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥

भा०—(ते अंगेभ्यः) तेरे अंगों से (हरिमाणम्) हरिमा, पीलिया रोग को और (उदरात् अन्तः) पेट के भीतर (अप्वाम्) उदर रोग को और (आत्मनः) शरीर के (अन्तः) भीतर से (यक्ष्मोधाम्) यक्ष्मा रोग के अंशों को रखने वाले रोग को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर निकालदें।

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१०॥ (२२)

भा०—(बलासः) शरीर के बल का नाशक, कफ (आसः भवतु) बाहर फेंक दिया जाय और (आमयत्) रोगकारी पदार्थ (मूत्रं भवतु) मूत्र रूप होकर बाहर आजावे (सर्वेषां यक्ष्माणां) समस्त रोगों के (विषम्) विष को (अहम्) मैं (त्वत्) तेरे शरीर से (निर् अवोचम्) निर्मूल करदूं।

बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्। यक्ष्माणां० ॥ ११ ॥

भा०—(तव उदरात्) तेरे पेट से (काहाबाहम्) 'काहाबाह' अर्थात् कड़ कड़ाने वाला रोग (बिलं बहिः) भीतर से बाहर (निर्द्रवतु) द्रवीभूत होकर सर्वथा निकल जाय। और इस प्रकार (सर्वेषां यक्ष्माणाम्)

९-(तृ०) 'यक्ष्म ते सर्वमङ्गेभ्यो बहि०' इति पैप्प० सं०।
११-'काहावलं त्वन्दरा [?]' इति पैप्प० सं०।

सब रोगों के (विषं अहं त्वत् निर् अवोचम्) विष को तेरे शरीर से बाहर कर दूं ।

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि ।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥

भा०—(ते उदरात्) तेरे पेट से, (क्लोम्नः) 'क्लोम' कलेजे से, (नाभ्याः) नाभी से, (हृदयात् अधि) और हृदय से भी (सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्) समस्त प्रकार के रोगों के विष को (अहं त्वत् निर अवोचम्) मैं तेरे शरीर से बाहर करदूं ।

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः ।

अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥

भा०—(याः) जो (अर्पणीः) तीव्र पीड़ाजनक रोगमात्राएं (सीमानम्) सीमा, सिर के ऊपरी भाग, खोपड़ी को (विरुजन्ति) नाना प्रकार से पीड़ित करती हैं और (मूर्धानम् प्रति) शिर के प्रति दौड़ती हैं वे (अनामयाः) रोग शून्य होकर (अहिंसन्तीः) रोगी को बिना कष्ट दिये ही (बहिः बिलम्) शरीर के छिद्रों से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवीभूत होकर निकल जावें ।

या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिं० ॥ १४ ॥

भा०—और (याः) जो पीड़ाकारी रोगांश (हृदयम् उप ऋषन्ति) हृदय की ओर तीव्र वेदना सहित चढ़ी चली जाती हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) गले के मोहरे को बांध या जकड़ लेती हैं वे भी (अहिंसन्तीः अनामयाः बहिर्बिलम् निर्द्रवन्तु) रोग रहित होकर बिना कष्ट दिये ही शरीर के छिद्रों से बाहर हो जायँ ।

१२–(प्र०) 'परिक्लोम्नो' इति पैप्प० सं० ।

याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिं० ॥ १५ ॥

भा०—और (याः) जो पीड़ाएं (पार्श्वे उप ऋषन्ति) पासें या दोनों कोखों में तीव्र वेदना करती हैं और (पृष्टीः) पीठ के मोहरों तक (अनुनिक्षन्ति) पहुँच जाती हैं वे भी (अनामयाः अहिंसन्तीः) रोग रहित और कष्ट रहित होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिं० ॥ १६ ॥

भा०—(याः) जो रोगमात्राएं (तिरश्चीः उप ऋषन्ति) तिरछी वेदना उत्पन्न करतीं और (ते वक्षणासु) तेरी पसलियों में चली जाती हैं वे भी (अहिंसन्तीः अना०) रोग रहित तुझे कष्टकारी न होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिं० ॥ १७ ॥

भा०—(याः) जो पीड़ाजनक रोगमात्राएं (गुदाः अनुसर्पन्ति) गुदाओं में पहुँच जाती हैं (आन्त्राणि मोहयन्ति च) आन्तों में फैल जाती हैं वे भी (अहिंसन्तीः०) विना कष्ट दिये रोग रहित होकर शरीर से बाहर हो जांय ।

या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥

भा०—(याः) जो रोग मात्राएँ (मज्ज्ञः निर्धयन्ति) मज्जाओं को सर्वथा चूस जायँ, सुखा डालें, उन में भी संताप उत्पन्न करदें । और

१४-१५-'उपदिशन्ति' इति पैप्प० सं० ।

१६-(द्वि०) 'वक्षणाभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

१७-'यापयन्ति च' इति पैप्प० सं० । 'राथ'मते—'आन्त्राण्यामयन्ति' । अथवा यापयन्ति शकृद्भेद हेतवो भवन्ति इत्यर्थः ।

१८-'मज्ज्ञोऽनुसर्पन्ति' इति पैप्प० सं० ।

(परूंषि विसृजन्ति च) पोरू २, जोड़ २ में तीव्र वेदना, फूटन पैदा करदें वे भी (अहिंसन्तीः) विना कष्ट दिये रोग रहित होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

ये अङ्गा॑नि म॒दय॑न्ति॒ यक्ष्मा॑सो रोप॒णास्तव॑ ।
यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ १९ ॥

भा०—(ये) जो (यक्ष्मासः) रोगजनक पदार्थ (तव) तुझे (रोपणाः) मूर्छा उत्पन्न करें और (अंगानि) अंगों में (मदयन्ति) कंप-कंपी पैदा करें उन (सर्वेषां) सब (विषम्) विषको (अहं त्वत् निर अवोचम्) मैं तेरे शरीर से बाहर करदूं ।

वि॒स॒ल्पस्य॑ विद्र॒धस्य॑ वातीका॒रस्य॑ वाल॒जेः ।
यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ २० ॥

भा०—(विसल्पस्य) नाना प्रकार से फैलने वाले पीड़ाकारी रोग, (विद्रधस्य) गिल्टियों की सूजन और (वातीकारस्य) बाय की पीड़ा (वा अलजेः) और आंख के भीतर दाने या रोहें फूलने आदि (सर्वेषां यक्ष्माणाम्) समस्त रोगों के (विषम्) विष को (अहं त्वत् निर् अवोचम्) मैं तेरे शरीर से निकाल दूं ।

पादा॑भ्यां ते॒ जानु॑भ्यां॒ श्रोणि॑भ्यां॒ परि॒ भंस॑सः ।
अनू॑कादर्ष॒णीरु॒ष्णिहा॑भ्यः शी॒र्ष्णो रोग॑मनीनशम् ॥२१॥

१९–(द्वि०) 'यक्ष्मासो रोपणा सह' इति पैप्प० सं० । 'येऽङ्गानि' इति क्वचित् ।

२०–'विशल्यस्य','वातीकालस्य' इति पैप्प० सं० ।

२१–(प्र०द्वि०) पादाभ्यां गुल्फाभ्यां जंघाभ्यां जानुभ्यामूरुभ्यां श्रोणिभ्यां' (तृ०) 'आनूक्या दर्षणी रुष्णिहाभ्यो ग्रीवाभ्यः स्कन्धेभ्यः शीर्ष्णो०' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ते पादाभ्यां) तेरे चरणों से, (जानुभ्यां) गोड़ों से, (श्रोणिभ्याम्) कूल्हों से, (परि भंससः) जघन भाग से, (अनूकाद्) रीढ़ से, (उष्णिहाभ्यः) गर्दन की नाड़ियों से और (शीर्ष्णः) शिर से (अर्पणोः) तीव्र वेदनाओं को और उनके उत्पादक (रोगम्) रोग को (अनीनशम्) नाश करता हूं ।

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः
॥ २२ ॥ (८३)

भा०—(ते) हे रोगी ! तेरे (शीर्ष्णः) सिर के (कपालानि) कपाल भाग और (हृदयस्य च) हृदय की (यः) जो (विधुः) विशेष प्रकार की पीड़ा थी वह (सम्) अब शान्त हो गयी है । हे (आदित्य) सब रोगों के हरने हारे सूर्य ! तू (उद्यन्) उगता हुआ ही अपनी (रश्मिभिः) किरणों से (शीर्ष्णः) शिर के रोग को (अनीनशः) नाश करता है और (अंगभेदम्) शरीर के अंगों को तोड़ने वाली तीव्र वेदना को भी (अशीशमः) शान्त कर देता है ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत् ।]

[९] विश्वस्रष्टा परमेश्वर का निरूपण ।

ब्रह्मा ऋषिः । आदित्यो देवता । अध्यात्मकं वामीयं सूक्तम् । १,११,१३,१५,१७, १९,२२ त्रिष्टुभः, १४,१६,१८ जगत्यः । द्वाविंशर्चं सूक्तम् ॥

२२–(द्वि०) 'यो विद्रुः' इति क्वचित् पैप्प० सं० । (तृ०) उद्यन् सूर्या-दित्याङ्गानि रोमनखानि सर्वाणि सदनानि निशात् । इति पैप्प० सं० ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥
ऋ० १ । १६४ । १ ॥

भा०—(अस्य) इस (वामस्य) सेवन करने योग्य, सुन्दर, वरणीय, (पलितस्य) समस्त जगत् के पालक (होतुः) स्वयं अपने में उसको लेलेने वाले, प्रलयकारी, (तस्य) उस महान् परमेश्वर का (भ्राता) भ्राता, भरण पोषण समर्थ स्वरूप (मध्यमः) सब सृष्टि के भी भीतर वर्त्तमान, (अश्नः) सर्वव्यापक (अस्ति) है। और (अस्य) इस परमेश्वर का (तृतीयः) सब से उत्कृष्ट, तीर्णतम (भ्राता) सर्वधारक स्वरूप (घृतपृष्ठः) अत्यन्त प्रदीप्त, तेजोमय है (अत्र) उस परम रूप में ही मैं क्रान्तदर्शी योगी (सप्तपुत्रम्) सर्पशील 'पुम्' अर्थात् जीवों और लोकों के त्राण करने वाले (विश्पतिं) सब प्रजाओं के पालक परमेश्वर को (अपश्यम्) साक्षात् करता हूं।

अध्यात्म में—(अस्य पलितस्य होतुः वामस्य तस्य मध्यमः भ्राता अश्नः अस्ति) इस सर्वव्यापक, परम पुराण, परम वरणीय आत्मा का मध्यम भ्राता 'अश्न' कर्म फल भोक्ता जीव है। (अस्य तृतीयः भ्राता घृतपृष्ठः) इसका तीसरा भाई 'घृतपृष्ठ' जलमय, आपोमय प्रकृति तत्व है (अत्र) वहां ही मैं (सप्तपुत्रम् विश्पतिं अपश्यम्) सर्पणशील लोकों के प्रजापति को साक्षात् करता हूं।

आदित्यपक्ष में—इस सुन्दर पुण्य, सर्वादाता, सूर्य का मध्यमः भ्राता (अश्नः) सर्वव्यापक वायु है। उसका तृतीय भ्राता 'घृतपृष्ठ' जल को पीठ पर लिये यह भूलोक है यहां 'सप्तपुत्रम्' सात मरुद्गणों से युक्त सप्त रश्मियों से युक्त या सात ग्रहों या लोकों से युक्त (विश्पतिम्) प्रजापति के समान सूर्य को देखता हूं।

[६]१–ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य दीर्घतमाऋषिः ।

भौतिक पक्ष में—इस प्रशंसनीय वृद्ध ज्ञानी के भरण पोषण में समर्थ मध्यम, पृथिवी आदि लोकों में प्रसिद्ध (अश्नः) सब पदार्थों को भस्म कर खा जाने वाला अग्नि विद्यमान है, उसका तीसरा भ्राता मानो (घृतपृष्ठः) जल को पीठ पर लिये विद्युतरूप अग्नि है। और स्वयं (सप्तपुत्रं विश्पतिं) सात प्रकार के तत्वों से उत्पन्न प्रजा के पालक सूर्य को देखता हूं। [महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य के अनुसार]

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
ऋ० १ । १६४ । २ ॥ अथर्व० १३ । ३ । १८ ॥

भा०—(एकचक्रं रथम्) जिस प्रकार संवत्सर रूप एक चक्र रथ को (सप्त) सर्पंग स्वभाव के, सात ऋतु गण (युञ्जन्ति) इस में जुतते हैं तो भी (एकः) एक ही (अश्वः) व्यापक (सप्तनामा) सातों के नामों को धारण करने वाला या स्वयं सर्पणशील ऋतुओं को न माने अर्थात् उनको परिणत करने वाला स्वयं उस काल चक्र को (वहति) धारण करता है। और वह (चक्रम्) चक्र (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला है, (अजरम्) कभी नाश न होने वाला नित्य और (अनर्वम्) कभी शिथिल नहीं होता। (यत्र) जिसमें (इमा) ये (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक (तस्थुः) स्थित हैं। उसी प्रकार अध्यात्म में इस (एकचक्रं रथम्) एक चक्र अर्थात् कर्त्ता से युक्त रथ रूप रमणसाधन देह को (सप्त) सर्पणशील या सात शीर्षण्य अथवा इन्द्रिय और मन (युञ्जन्ति) वहन करते हैं। और वही (एकः) एक मात्र (अश्वः) अश्व अर्थात् कर्मफल भोक्ता, स्वयं (सप्तनामा) समस्त सर्पणशील प्राणों का नमन, दमन करने हारा होकर उनको (वहति) धारण करता है। वह (चक्रम्) कर्ता स्वरूप, आत्मा स्वतः (त्रिनाभि) प्रकृति के तीनों गुणों में बँधा

२—'मजरमनर्वं येनेमा' इति तै० आ० ।

हुआ स्वयं (अजरम्) अजर, अविनाशी, (अनर्वम्) स्वयं 'अर्वा' अर्थात् कारण न होकर कर्त्तारूप है। (यत्र) जिसमें (विश्वा) समस्त (भुवनानि) सत् कर्म और ज्ञान (तस्थुः) आश्रित हैं। जिस प्रकार देह में आत्मा उसी प्रकार इस विराट् विश्वमय देह में परमात्मा व्यापक है। यह विश्व एकचक्र रथ है। इसका एक ही कर्त्ता है, इसको नाना सर्पणशील सौर मण्डल एवं पञ्चभूत उठा रहे हैं। एक अश्व व्यापक प्रभु सबको वश करके उनको उठाये हुए है। वह चक्र भूत, भविष्यत् वर्त्तमान या सत्व, रजस, तमस इन तीन में बंधा है। वह अजर, अनादि (अनर्वम्) अविनाशी, अशिथिल है। जिसमें समस्त भुवन लोक स्थिर हैं।

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा ॥३॥
ऋ० १ । १६४ । ३ ॥

भा०—(इमम्) इस (सप्तचक्रम्) सर्पणशील, विषयों तक व्याप्ति करने वाले कर्त्ता, इन्द्रियों से युक्त (रथम्) रमणसाधन, भोगायतन देह में (ये) जो (सप्त) सात, या सर्पणशील प्राण (तस्थुः) स्थित हैं वे भी (अश्वाः) विषयों का भोग करते हैं, या समस्त देह में व्यापक भी हैं। वे उस रथ को (वहन्ति) धारण करते हैं। (सप्त) वे सातों (स्वसारः) स्व अर्थात् आत्मा के बल पर सरण करने वाले (अभि सं नवन्त) देह को भली प्रकार वश करते हैं (यत्र) जहां (गवाम्) गौ इन्द्रियों के सप्त, सात (नामा) स्वरूप (निहिता) रखे हैं।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः, समिधः सप्त सप्त, सप्त। इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशयाः निहिता सप्त ॥मु० उप० २।१।८॥

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥४॥
ऋ० १ । १६४ । ४ ॥

३–(तृ०) 'स नवन्ते' (च०) 'सप्तनाम' इति ऋ० ।

भा०—[प्रश्न १] (प्रथमम्) सब से प्रथम (जायमानम्) प्रादुर्भूत, प्रकट होते हुए इस महान् हिरण्यगर्भ को (कः ददर्श) कौन देखता है। [प्र० २] (यद्) और (अनस्था) हड्डी अर्थात् शरीर से रहित आत्मा (अस्थन्वन्तम्) इस अस्थि वाले अर्थात् कठोर शरीर और रूपवान् जगत् को कौन (बिभर्त्ति) धारण करता है [प्र० ३] (भूम्याः) भूमि,-पृथिवी और पृथिवी का यह शरीर और (असुः) वायु का अंश प्राण और (असृक्) जल का अंश रुधिर इन तीनों से बना देह और इस शरीर में रहने वाला (आत्मा) आत्मा, चेतन ये भी (क्व स्वित्) कहां, किस पर आश्रित हैं। [प्र० ४] (कः) कौन पुरुष (एतत्) इस रहस्यमय प्रश्न को सबसे प्रथम (प्रष्टुम्) पूछने के लिये (विद्वांसम्) किसी विद्वान् के पास (उप गात्) पहुँचा होगा। इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। (१) जब सब से प्रथम २ प्रकृति के अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप उत्पन्न हुआ तब उसको देखने वाला साक्षी कौन था। (२) शरीर को किस अशरीरी ने धारण किया। (३) शरीर प्राण रुधिर आदि संघात का आत्मा कहां स्थित है। (४) सबसे प्रथम किसने इस प्रश्न को किसी विद्वान् से पूछा।

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५॥

ऋ० १ । १६४ । ७ ॥

भा०—(अंग) हे विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो (ईम्) भी (अस्य) इस (वेः) गतिशील हंसरूप (वामस्य) सब से सुन्दर, सब से वरणीय और सेवनीय आत्मा के (निहितम् इह) इस देह के भीतर छुपे हुए (पदम्) ज्ञातव्य स्वरूप को (वेद) जानता है वह (इह ब्रवीतु) हमें बतलावे। और जिस प्रकार सूर्य की किरणें उसी आदित्य

५-(तृ०) 'शीर्ष्णो क्षीरं' इति पैप्प० सं०।

का रूप धारण करके अपनी पद् भाग से जल पी जाती हैं उसी प्रकार उस आत्मा का भी क्या स्वरूप है जिसकी (गावः) विषयों के प्रति गमन करने वाली इन्द्रियां (अस्य) इस आत्मा के (वव्रिम्) स्वरूप को (वसानाः) धारण करती हुई अर्थात् चेतना के संग से स्वयं चेतन होती हुई (शीर्ष्णः) शिरो भाग से (क्षीरम्) दूध के समान मधुर ज्ञानरूप रस (दुहुते) पूर्ण करतीं, प्रदान करती हैं और (पदा) अपने चेतना सामर्थ्य रूप पद या गति से मानो चरण से (उदकम्) जल के समान ग्राह्य विषयों के आनन्दरस का (अपुः) पान करती हैं। यह एक पहेली के समान है कि—'उस सुन्दर पक्षी का स्वरूप बतलाओ जिसकी गौएं पैरों से रस पीएं और सिर से रस बरसावें।' इसके उत्तर दो हैं। एक 'सूर्य' दूसरा 'आत्मा'। सूर्य की किरणें चरणों से भूमि पर से जल पान करती हैं और आकाश रूप सिर से मेघ रूप में बरसाती हैं। दूसरा आत्मा। देह में लगी इन्द्रियां बाह्य विषयों का रस पान करती हैं और शिरोभाग में आनन्द या ज्ञान-रस उत्पन्न करती हैं।

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥

ऋ० १ । १६४ । ५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (पाकः) परिपक्व होने योग्य, अपक्व ज्ञानवाला, अल्प ज्ञानी मैं (मनसा) अपने मन, संकल्प विकल्पवान् अन्तःकरण से (अविजानन्) विशेष ज्ञान को करने में असमर्थ होकर (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं कि (देवानाम्) प्रकाश करने वाले सूर्यादि पदार्थ, ज्ञानों को दिखलाने वाले इन्द्रिय आदि गण के (एना) ये नाना प्रकार के (पदानि) ज्ञातव्य स्वरूप (निहिताः) भीतर छिपे हैं। वे कहां आश्रित हैं और किस प्रकार हैं। और (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् ऋषिगण (बष्कये) सत्यस्वरूप (वत्से) सर्वाच्छादक, सर्वव्यापक

या स्तुत्य प्रभु के (अधि) आश्रय पर (ओतवा उ) जगत् को बुनने के लिये या उस में अपने आपको ओत प्रोत करने के लिये (सप्त तन्तून्) सात प्राणमय तन्तुओं को (वि) नाना प्रकार से (तत्निरे) तानते हैं। हे विद्वान् पुरुषो ! बतलाओ वह किस प्रकार करते हैं। यह भी एक समस्या या पहेली है कि— देवों के पद कहां रक्खे हैं। और 'बप्कय वत्स' एक वर्ष के बछड़े पर विद्वानों ने विनने के लिये ही सात सूत ताने तो कैसे ?' । इस अध्यात्म समस्या या पहेली का उत्तर है कि आत्मा में देवों के 'पद' अर्थात् स्वरूप छिपे हैं। इस 'बप्कय वत्स' सत्य स्वरूप जगत् के आच्छादक प्रभु में विद्वानों ने जगत् रूप पट को वयन करने के लिये सात प्राकृतिक विकार पञ्चभूत, महान् और अहंकार इनको तान दिया और अपने को उसमें ओत प्रोत करने के लिये सात प्राणों को वश कर उसमें लगा दिया और अपने आत्मा के सात शीर्षण्य प्राणों को उस में तान दिया।

अचिकित्वांश्चिकितुर्षश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥७॥

ऋ० १ । १६४ । ६ ॥

भा०—(अचिकित्वान् चित्) ज्ञानरहित, (न विद्वान्) इस गूढ़ रहस्य को न जानता हुआ मैं शिष्य (अत्र) इस विषय में (चिकितुषः) पूर्ण रीति से ज्ञानसम्पन्न (विद्मनः) विद्वान् (कवीन्) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञ ऋषियों से (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं कि (यः) जो (इमाः) इन (षट्) छः (रजांसि) तीन भूमियों तीन द्यौः ये छः, अथवा पांच इन्द्रिय छठा मन, ये छः, संवत्सर की छः या ऋतुएँ या सत्य लोक को छोड़ कर शेष भू आदि छः लोकों को (तस्तम्भ) थामे हुए हैं उस

७–'विद्मने न विद्वान्' इति ऋ० ।

(अजस्य) अजन्मा आत्मा के (रूपे) निरूपण में (किम् अपि) कोई भी (एकम् स्वित्) एक तत्व है या नाना शक्तियां इस जगत् को चला रही हैं। इसका निर्णय करो ।

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥

ऋ० १ । १६४ । ८ ॥

भा०—(माता) बच्चे की मां जिस प्रकार बालक उत्पन्न करने के पूर्व बालक के (पितरम्) पिता के समीप आती और (मनसा सं जग्मे) एकत्रित होकर उसका संग करती है और वह (गर्भरसा निविद्धा) गर्भजनक वीर्य से सम्पन्न होकर प्रजा उत्पन्न करती है उसी प्रकार (माता) जगत् का निर्माण करने हारी मूलकारण प्रकृति (पितरम्) जगत् के पिता या पालक परमात्मा को (ऋते) उसके सत्यमय सामर्थ्य में आश्रय पाकर (आ बभाज) प्राप्त करती है। और (अग्रे) जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व (धीती) क्रिया शक्ति से और (मनसा) परमेश्वर की ज्ञानशक्ति से (सा) वह प्रकृति (हि) भी (सं जग्मे) उस के साथ संगत हुई, मिली और गर्भ धारण किया। और (सा) वह प्रकृति (बीभत्सुः) उस के साथ बन्धने की इच्छा करती हुई अर्थात् सुसंगत होकर (गर्भ-रसा) उसके गर्भधारक रस, तेज से (निविद्धा) अच्छी प्रकार सम्पन्न होकर इस संसार को उत्पन्न करती है। (नमस्वन्तः) ज्ञानवान् पुरुष (इत्) ही (उपवाकम्) इस प्रकार के वचन तत्वज्ञान को (ईयुः) प्राप्त होते हैं। आदित्य पक्ष में—माता पृथिवी पिता सूर्य को प्राप्त होती है, उससे संगत होकर वह उससे वर्षित जल को अपने भीतर लेती है। और प्राणी जन अन्न प्राप्त करके नाना प्रकार की वाणियां उच्चारण करते हैं।

८—'ऋता बभाज' इति पैप्प० सं० ।

युक्ता मातासींद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं/ त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥
ऋ० १ । १६४ । ९ ॥

भा०—(माता) सर्व जगत् को निर्माण करनेवाली प्रकृति (दक्षिणायाः) क्रिया या बल से सम्पन्न, बलवती शक्ति के (धुरि) मूल केन्द्र परमेश्वर में (युक्ता) जुड़ी हुई (आसीत्) थी । (वृजनीषु) जलों, 'आपः' या सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं के (अन्तः) भीतर वह परब्रह्म की सर्गकारिणी शक्ति (गर्भः) परस्पर ग्रहण करने, एक दूसरे को पकड़ लेने या परस्पराकर्षण करनेवाले बल रूप में (अतिष्ठत्) विद्यमान् थी । (वत्सः अनु गाम्) जिस प्रकार गौ को देखकर बछड़ा (अमीमेत्) हम्भारता है उसी प्रकार (वत्सः) वत्सरूप जीव (गाम्) सर्वव्यापक उस परमात्मा (अनु) को देख कर (अमीमेत्) उत्सुक हो कर उसको पुकारता है और (त्रिषु योजनेषु) तीनों लोकों में (विश्वरूप्यम्) समस्त विश्व को रूप देने वाले, ब्रह्माण्ड के कर्त्ता विश्वरूप परमात्मा का (अपश्यत्) दर्शन करता है ।

आदित्य के पक्ष में—माता पृथिवी दक्षिणा द्यौ या आदित्य शक्ति के (धुरि) केन्द्र आकर्षणशक्ति से बँधी है (वृजनीषु) उस आदित्य की रश्मियों में जल गर्भित हो जाते हैं । (वत्सः) मेघ पृथिवी के प्रति बरसने के पूर्व ध्वनि करता है और लोग तीन योजनों में सूर्य का पृथिवी से योग, मेघ वायु से योग, पुनः वृष्टि जल का पृथ्वी से योग, इन तीन योजनाओं में 'विश्वरूप' नाना रूप, उत्पन्न सृष्टि को देखते हैं ।

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥
१० ॥ (२४) ऋ० १ । १६४ १ ॥

९—(द्वि०) 'वृजनेष्वन्तः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(एकः) एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (तिस्रः) तीन (मातृः) जगत् के निर्माणकारिणी शक्तियों और (त्रीन् पितॄन्) पिताओं के समान तीन पालकों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः) उनसे भी ऊपर (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान है। इसीलिये ये तीनों (ईम्) कभी (न अव ग्लापयन्त) शक्तिहीन, विपादयुक्त, निर्बल नहीं हो पाते। (अमुष्य दिवः पृष्ठे) इस द्यौः आदित्य या प्रकाशस्वरूप परमात्मा के (पृष्ठे) स्वरूप के विषय में (विश्व वदः) विश्व के तत्व को जानने-वाले विद्वान् (अविश्वविन्नाम्) सबके न समझने योग्य अत्यन्त गूढ़ (वाचम्) वाणी का (मन्त्रयन्ते) विचार करते हैं।

'तिस्रः मातृः'=तीन माताएं=सूर्य, मेघ, पृथिवी। 'त्रीन् पितॄन्' तीन पिता=तीन लोक या अग्नि, वायु, सूर्य।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न छिद्यते सनाभिः ॥११॥

ऋ० १ । १६४ । १३ ॥

भा०—(पञ्चारे) पाँच तत्व रूप अरों वाले (परिवर्त्तमाने) घूमते हुए (यस्मिन्) जिस (चक्रे) चक्र में (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक लोकान्तर (आतस्थुः) स्थिर हैं (भूरि-भारः) बहुत भार वाला (अक्षः) जिस प्रकार साधारण गाड़ी का अक्ष, धुरा गर्म हो जाता है उस प्रकार (तस्य) उसका (अक्षः) धुरा अर्थात् वहन समर्थ व्यापक विभु, प्रभु (न तप्यते) कभी तप्त नहीं होता, कभी पीड़ित नहीं होता। और जिस प्रकार गाड़ी का धुरा चलते २ पुराना होकर घिस जाता है और टूट फूट जाता है उसी प्रकार वह (सनात्) अति पुरातन, सनातन शक्ति (एव)

१०–(द्वि०) ग्लापयन्ति (च०) 'विश्वाविदां वाचमविश्वमिन्वाम्' इति ऋ० । (द्वि०) 'ग्लापयन्ति' (च०) 'विश्वविदां' इति पैप्प० सं०।

ही (सनाभिः) समान रूप से समस्त विश्व की 'नाभि' अर्थात् सबको अपने में बांधने वाला केन्द्र होकर भी (न च्छिद्यते) कभी नहीं टूटता फूटता, कभी विच्छिन्न नहीं होता, कभी पृथक् नहीं होता ।

आदित्यकृत, काल के पक्ष में—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, वत्सर आदि पाँच वर्षों के रूप पाँच अरों से युक्त काल चक्र या पाँच ऋतु रूप अरों से बना संवत्सर कालचक्र बराबर घूमता है उसमें समस्त लोक स्थिर हैं उसका अक्ष कभी नहीं तपता और वह कभी छिन्न भी नहीं होता ।

अध्यात्म में—पाँच प्राण रूप पाँच अरों से बना चक्र=कर्त्तारूप आत्मा, उसमें समस्त भुवन=प्राण इन्द्रिय आदि आश्रित हैं उसका अक्ष= दर्शनशक्ति या अध्यक्षता कभी पीड़ित नहीं होती अर्थात् वह आत्मा नित्य अविनाशी सब प्राणों को समान रूप में बाँधे रह कर भी कभी उच्छिन्न नहीं होता ।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥

ऋ० १ । १६४ । १२ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक, प्रकाशमय परमेश्वर के (परे अर्धे) परम स्वरूप के निरूपण के विषय में विद्वान् ऋषि लोग (पुरीषिणम्) ब्रह्माण्ड रूप पुर में विराजमान परम पुरुष को (पञ्चपादम्) पञ्चपाद और (द्वादशाकृतिम्) १२ आकृति वाला (पितरम्) पिता (आहुः) कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य की पाँच ऋतु उसके पाँच पाद या चरण हैं और १२ आकृतियाँ, १२ मास हैं। उसी प्रकार अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, और

११—(द्वि०) 'तस्मिन्नातस्थुः' इति पैप्प० सं० । (च०) 'नशीर्यते सनाभिः' इति ऋ० ।

१२—(तृ०) ' उपरि विचक्षणं ' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

आनन्द ये ब्रह्म के पाँच पाद हैं। पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा, महत् और अहंकार इनमें विद्यमान ईश्वरीय शक्ति की १२ आकृतियाँ हैं। शरीर में अध्यात्म उक्त पाँच चरण हैं या पञ्चप्राण पञ्चपाद है और १२ प्राण १२ आकृतियाँ हैं। (अथ) और (उपरे) सबके रमण योग्य (विचक्षणे) सबके साक्षी द्रष्टा परम ब्रह्म के विषय में (इमे) और ये (अन्ये) दूसरे विद्वान् (सप्त चक्रे) सात चक्रमय, सप्तशीर्षण्य प्राणों से बने (षडरे) छः, पाँच इन्द्रिय और छठा मन इन अरों से युक्त चक्र में उस (पुरीषिणम्) पुरुष को (अर्पितम्) अर्पित, स्थित, विराजमान (आहुः) बतलाते हैं।

आदित्य पक्ष में—पञ्चपादः=पाँच ऋतु। द्वादश आकृति=१२ मास। पुरीषी=वृष्टि के उदक से सम्पन्न सूर्य। सप्त चक्र=सात आदित्य रश्मी, यद्वा अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त्त इनके पुनः आवर्त्तन करनेवाले चक्रों से षड् अर=षट् ऋतु लगे हैं। उस संवत्सर में सूर्य को ही व्यापक मानते हैं। विशेष देखो प्रश्नोपनिषद् [प्रश्न १ । ११ ।]

द्वा॒द॑शारं॒ न॒हि तज्जरा॑य॒ वर्व॑र्ति च॒क्रं परि॒ द्याम॒तस्य॑ ।
आ पु॒त्रा अ॑ग्ने मिथु॒नासो॒ अत्र॑ स॒प्त श॒तानि॑ विंश॒तिश्च॑ तस्थुः ॥१३॥

ऋ० १ । १६४ । ११ ॥

भा०—हे (अग्ने) सूर्य ! परमात्मन् ! तेरा यह (द्वादशारम्) १२ अरों से युक्त (ऋतस्य) सत्य, व्यक्त ब्रह्माण्ड का (चक्रम्) चक्र (द्याम् परि) द्यौलोक आकाश से (वर्वर्त्ति) घूम रहा है (तत्) वह कभी (नहि जराय) जीर्ण नष्ट नहीं होता। (अत्र) इस में (पुत्राः) मनुष्यों को दुःखों से त्राण करने वाले (सप्त शतानि विंशतिश्च) सात-सौ बीस [७२०] (मिथुनासः) जोड़े, दिन और रात (तस्थुः) स्थिर हैं।

इस चक्र को कोई काल-चक्र और संवत्सर चक्र कोई विष्णु-चक्र इत्यादि नाना रूप से कल्पना करते हैं। अध्यात्म में द्वादश अर=१२

प्राण हैं। संवत्सर के रात दिनों की संख्या ७२० हैं। ३६० रात्रि और ३६० दिन।

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥
ऋ० १ । १६४ । १४ ॥

भा०—(सनेमि) नेमि अर्थात् चक्रधारा सहित, नमनशक्ति से युक्त सबको वश करने वाला यह (अजरम्) अविनाशी (चक्रम्) चक्र, कालशक्ति, ब्रह्मचक्र (विवावृते) नाना रूप से चल रहा है। उसको (उत्तनायाम्) इस उत्तान जगती में (दश) दश भाग (युक्ताः) जुत कर (वहन्ति) उठा रहे हैं। (सूर्यस्य) सूर्य, सब के प्रकाशक परमेश्वर की (चक्षुः) चक्षु अर्थात् साक्षात् ज्ञानशक्ति, दर्शन शक्ति जो संसार को उत्पन्न करती है वह (रजसा) रजो गुण से (आवृतम्) युक्त होकर (एति) गति करती है, समस्त संसार को चलाती है। जिस राजस शक्ति में (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन और लोक (आ तस्थुः) स्थिर होते हैं।

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥ १५ ॥

भा०—(मे) मेरी जो (स्त्रियः) प्रकृति के परमाणुओं में घनीभाव उत्पन्न करने वाली (सतीः) प्रबल शक्तियां हैं (तान् उ) उनको ही विद्वान् लोग (पुंसः आहुः) 'पुं' शक्ति या प्रबल पुरुष रूप से (आहुः) कहा जाता है। उनको (अक्षण्वान्) चक्षुष्मान् विद्वान् (पश्यत्) साक्षात् करता है। (अन्धः) अन्धा मूर्ख पुरुष उन को (न विचेनत्) नहीं जान पाता। (यः) जो (पुत्रः) पुत्र बालक

१४-(द्वि०) 'युक्ता व्रजन्ति' (च०) 'यस्मिन्नार्पिता भुवनान्यार्पिता' इति पैप्प० सं० । 'यस्मिन्नार्पिता' इति ऋ० ।

होकर भी (कविः) क्रान्तदर्शी है (सः) वह (ईम्) इस रहस्य को (आ चिकेत) जानता है, (यः) और जो (ताः) उन शक्तियों को (विजानात्) विशेष रूप से जान लेता है (सः) वह (पितुः पिता असत्) पिता का भी पिता हो जाता है । अथवा—(स्त्रियः सतीः तान् उ मे पुंसः आहुः) जो स्त्रियां है मेरे उत्पन्न किये उन स्त्री प्राणियों को भी विद्वान् पुरुष 'जीवात्मा' या 'पुरुष' नाम से पुकारते हैं । आदित्य पक्ष में—सूक्ष्म आदित्य की रश्मियें जलों को गर्भ में धारण करने से स्त्रियां हैं, तो भी वृष्टि के जल सेचन में समर्थ होने और पृथिवी जल सेचन के बाद अन्नो-त्पादन में समर्थ होने से उनको भी पुमान् कहा जाता है । शेष पूर्ववत् ।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥१६॥
ऋ० १ । १६४ । १५ ॥

भा०—(साकंजानां) एक ही साथ उत्पन्न हुए प्राणों में से (सप्तथम्) सातवें को (एकजम्) एकज अर्थात् एक रूप से उत्पन्न हुआ (आहुः) बतलाते हैं । (यमाः) दो दो जोड़े रूप से विद्यमान (ऋषयः) प्राण (षट्) छः हैं और वे (देवजा इति) देव अर्थात् आत्मा से उत्पन्न हुए बतलाये जाते हैं । (तेषाम्) उन के (धामशः) धारण सामर्थ्य या ग्रहण शक्ति के अनुसार ही (इष्टानि) इनकी इच्छाएं या चेष्टाएं या कार्य (विहितानि) बनाये हैं । वे (स्थात्रे) स्थिर, नित्य, आत्मा के हित के लिये ही (रूपशः) भिन्न २ रूपों में (विकृतानि) विकार को प्राप्त होकर (रेजन्ते) प्रकट होते हैं । अर्थात् कान, नाक, आंख, ये छहों दो-दो के जोड़े हैं । इनमें सातवां मुख का प्राण जोड़ा नहीं, वह एक ही है । वह 'एकज' है । इनमें उक्त छहों ऋषि ज्ञानद्रष्टा हैं ये 'देवज' कहाते हैं । उन सब के अपने ग्राह्य विषय नियत

१५-(प्र०) 'ता उ' (तृ०) 'इमाः' (च०) 'सवितुःपि'-इति तै० आ० ।

हैं और आत्मा के निमित्त ये गति कर रहे हैं। आदित्य पक्ष में—साम ऋतुएँ हैं। जिनमें सातवीं ऋतु एक मलमास से उत्पन्न होने से वह एकज है। शेष ऋतु दो दो मासों से बनते हैं वे यम हैं। वे सूर्य से उत्पन्न होती हैं इसलिये 'देवज' है। उनके अपने २ सामर्थ्य से अपना इष्ट परिणाम होता हैं। वे 'स्थाता' सूर्य के कारण नाना रूपों में प्रकट होते हैं।

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे
अस्मिन्॥ १७॥ ऋ० १। १६४। १६॥

भा०—(एना गौः) वह ज्ञानमार्ग ब्रह्मशक्ति या प्रजापति की मेघमयी (परेण) पर, परम ब्रह्म लोक से नीचे और (एना अवरेण) इस नीचे के लोक से ऊपर भी (पदा) ज्ञान द्वारा (वत्सं) जगत् को (बिभ्रती) पुष्ट करती हुई (उद् अस्थात्) ऊपर उठती है। (सा) वह (कद्रीची) न जाने कहां से आती और कहां को जाती है और वह (कं स्वित्) किस (अर्धम्) परम श्रेष्ठ प्रभु के पास (परागात्) पुनः लौट जाती है। न जाने वह (कं स्वित् सूते) वह कहां इस सन्तान को उत्पन्न करती है। (नहि यूथे अस्मिन्) वह स्वयं इस यूथ अर्थात् विकृतिगण में नहीं है। वह ब्रह्मशक्ति इस लोक के ऊपर और उस लोक से नीचे समस्त संसार को पालती है। और फिर उसी में लीन होजाती है। इतने जीव कहां से उत्पन्न करती है इसका ज्ञान नहीं है। पर वह प्राकृतिक विकार रूप महत् आदि पदार्थों से अवश्य भिन्न है।

आदित्यपक्ष में—उषा वह गौ जो अपने चरण के समीप सूर्य रूप वत्स को धारण करती है वह कहां से आती कहां जाती है। और कहां अपने सूर्य बालक को प्रसव करती है। पूर्व प्रकाशित तारायूथ में वह उसको नहीं प्रसव करती।

१७–(च०) 'यूथे अन्तः' इति ऋ०। (तृ०) 'पराकात्' इति कठ० सं०।

अध्यात्म में—(परेण अवः) पर आत्मतत्व से नीचे और (एना अवरेण परः) इस अधोवर्त्ती इन्द्रियगण से ऊपर (पदा) ज्ञानशक्ति से (वत्सम्) अपने वत्स रूप मन को (बिभ्रती गौः उदस्थात्) पुष्ट करती हुई (गौः) चेतना शक्ति प्रकट होती है। (सा कद्रीची) वह कहाँ से आती है (कं स्विद् अर्धं परागात्) किस उत्तम, समृद्ध आत्मा में पुनः लौट जाती है। इस मन को वह कहाँ उत्पन्न करती है जिससे यह वत्स मन इस इन्द्रिय गण में परिगणित नहीं होता।

अ॒वः परे॑ण पि॒तरं॒ यो अ॑स्य॒ वेदा॒वः परे॑ण प॒र ए॒नाव॑रेण।
क॒वी॒यमा॑नः क इ॒ह प्र वो॑चद् दे॒वं मनः॒ कुतो॒ अधि॒ प्रजा॑तम्॥ १८॥

भा०—(परेण अवः) परम परमेश्वर से उतर कर विराजमान (अस्य) इस पूर्वोक्त मन के (पितरम्) पालक आत्मा को और (परेण अवः एना अवरेण परः) पर आत्मा से नीचे और इस इन्द्रियगण से उत्कृष्ट इस मन के विषय में (यः वेद) जो जानता है वह (कवीयमानः) स्वयं अपने को क्रान्तदर्शी विद्वान् मेधावी के समान बता कर (कः) कोई दुर्लभ ही (इह) इस जगत् में (प्रवोचत्) बतला सकता है कि (देवम्) क्रीड़ाशील या ज्ञान को संकल्प विकल्प द्वारा दर्शाने वाला (मनः) मन अन्तःकरण (कुतः अधि प्रजातम्) कहाँ से प्रकट हुआ है?

ये अ॒र्वाञ्च॒स्ताँ उ॒ परा॑च आहु॒र्ये परा॑ञ्च॒स्ताँ उ॑ अ॒र्वाच॑ आहुः।
इन्द्र॑श्च॒ या च॒क्रथुः॑ सोम॒ तानि॑ धु॒रा न यु॒क्ता रज॑सो वहन्ति॥१६॥

भा०—(ये) जो जीवगण (अर्वाञ्चः) इस लोक में शरीरधारी हैं उनको ही (पराचः) परम ब्रह्म से दूर हटा हुआ (आहुः) कहते हैं। और ये

१८–(प्र० द्वि०) 'यो अस्यानुवेद पर एनावरेण' इति ऋ०, पैप्प० सं०।
१६–(च०) 'धुरा नियुक्ता' इति पैप्प० सं०।

(पराञ्चः) यहाँ से इस लोक के योग से (पराञ्चः) परे चले गये हैं (तान्) उनको ही (अर्वाचः) परम पद के समीप (आहुः) कहा जाता है। (इन्द्रश्च सोम) हे इन्द्र और सोम ! जीव और प्रभुन् ! (या चक्रथुः) जिन कर्मों को आप दोनों करते हो (तानि) वे कर्म ही (धुरा युक्ता न) धुरे में जुड़े घोड़ों के समान (रजसः) इन जीवों को लोक लोकान्तरों में (वहन्ति) ले जाते हैं।

आदित्य पक्ष में—जो ग्रह अर्वाग् हैं उनको ज्योतिषी पराक् दूरस्थ कहते हैं, गति के वश से जो समीप होते हैं वे ही दूर हो जाते हैं। इन्द्र और सोम गति के वश से जो समीप होते हैं वे ही दूर हो जाते हैं। इन्द्र और सोम सूर्य और चन्द्र जिन चक्रों को लगाते हैं वे ही इस जीव लोक को वहन करते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥

भा०—(सयुजा) एकत्र रहने वाले (सखाया) एक दूसरे के मित्र (सुपर्णा) उत्तम ज्ञान, पालन और सामर्थ्य से युक्त, दोनों ईश्वर और जीव दो पक्षियों के समान हैं। वे दोनों (समानं वृक्षम्) एक ही संसार रूप वृक्ष को (परि षस्वजाते) चिपटे रहते हैं अर्थात् उस पर आश्रय लेते हैं। (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) दूसरा पक्षी जीव (स्वादु) आनन्ददायक (पिप्पलम्) पिप्पल, कर्मफल को (अत्ति) भोग करता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) भोग न करता हुआ भी (अभि चाकशीति) केवल देखा करता है। अर्थात् दूसरा साक्षी रूप से विराजता है। किन्हीं के मत में ये दो पक्षी जीव और मन हैं। जो समान भाव से उच्छेद करने योग्य देह रूप वृक्ष में आश्रित हैं। असङ्ग आत्मा साक्षी है

२०—(प्र०) 'सुयुजा' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'पिप्पलं' इति क्वचित्।

और मन भोग करता है । यह रूपक छत्रि न्याय से दोनों पक्षों में संगत है । देखो श्वेताश्वतर, मुण्डक और कठ उपनिषदें ।

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ २१ ॥

ऋ० १ । १६४ । २२ ।

भा०—(यस्मिन्) जिस (वृक्षे) ब्रह्ममय वृक्ष पर (मध्वदः) मधु अर्थात् आत्म ज्ञानरस का उपभोग करने हारे (सुपर्णाः) शुभ ज्ञान-सम्पन्न ब्रह्मज्ञ (निविशन्ते) आश्रय लेते हैं और (विश्वे) संसार में (अधि सुवते च) पुनः आते हैं । अर्थात् पुनः मुक्ति से लौट आते हैं (तस्य) उस ब्रह्ममय वृक्ष का (यत्) जो (स्वादु) परम सुखकारी (अग्रे) सर्व-श्रेष्ठ (पिप्पलं) फल (आहुः) बतलाते हैं (यः) जो पुरुष (पितरम्) भवतारक, सकल दुःखवारक, परिपालक उस परम पालक प्रभु को (न वेद) नहीं जानता, नहीं उपासना करता (तत्) वह परम स्वादु फल उसको (न नशत्) नहीं प्राप्त होता ।

अध्यात्म में—जिस आत्मा रूप वृक्ष पर मधुर धुर फल के भोग करने वाले पक्षियों के समान प्राण या इन्द्रियगण स्वाप काल में लीन हो जाते हैं और पुनः जागरण काल में उत्पन्न हो जाते हैं जिसका वह परम स्वादिष्ट फल है, जो उस पालक आत्मा को नहीं जानते या नहीं उपासना करते उनको वह फल प्राप्त नहीं होता । इसी प्रकार आदित्य पक्ष में—सुपर्ण=किरणें सूर्य रूप वृक्ष में मधु अर्थात् जल ग्रहण करने वाली उसमें लीन होतीं और उषाकाल में पुनः प्रकट होती हैं, उसका पालक आरोग्य-प्रद फल है । जो सूर्य की उपासना या सेवन नहीं करते उनको वह फल नहीं मिलता ।

२१–(तृ०) 'तस्यः इदाहुः' इति ऋ० ।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश
॥ २२ ॥ (२५) ऋ० १ । १६४ । २१ ॥

भा०—(यत्र) जिस ब्रह्म में (सुपर्णाः) उत्तम ब्रह्मज्ञानी, मुक्त पुरुष (अनिमेषम्) निरन्तर एक क्षणक भर सूक्ष्म काल के व्यवच्छेद के भी विना (अमृतस्य) उस अविनाशी नित्य अमृतरस के (भक्षम्) उपभोग को (विदथा) अपने ज्ञान सामर्थ्य से (अभिस्वरन्ति) प्राप्त कर के प्रगान करते हैं, नाना वाणियों द्वारा प्रकट करते हैं । (एना) वह (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य गोपाः) भुवनों का परिपालक परमात्मा (धीरः) धीर सबका धारणकर्त्ता, सर्वज्ञ (मा) मुझ (पाकं) अपक्व या अल्प पक्व, और भी पाक होने योग्य ज्ञानी मुमुक्षु को (अत्र) इस सुखमय पद या इस संसार में (आ विवेश) प्रवेश करता है ।

आदित्य पक्ष में—जिस आदित्य में सुपर्ण=रश्मियें अमृत जल को प्राप्त करके प्रतप्त होती हैं वह समस्त भुवनों का स्वामी मुझे सुख प्रदान करे । अध्यात्म पक्ष में सुपर्णाः=इन्द्रियगण ।

[१०] आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौः, विराड् आत्मा च देवताः । १, ७, १४, १७, १८ जगत्यः । २१ पञ्चपदा शक्करी । २३, २४ चतुष्पदा पुरस्कृतिर्भुरिक् अतिजगती । २, २६ भुरिजौ । ३,६,८,१३,१५, १६,१९,२०,२२,२५,२७,२८ त्रिष्टुभः ।
अष्टाविंशर्चं सूक्तम् ॥

२२–(प्र०) 'अमृतस्य भागम्' (तृ०) 'इतो विश्वस्य' इति ऋ० ।
(तृ०) 'यो नो विश्वस्य' इति पैप्प० सं० ।

यद् गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं॒ त्रैष्टु॑भं॒ वा त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत ।
यद्वा जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः ॥१॥
ऋ० १ । १६४ । २४ ॥

भा०—(यद्) जो (१) (गायत्रे) 'गायत्र' में (गायत्रं अधि आहितम्) गायत्र स्थित है (वा) और (२) (त्रैष्टुभात्) त्रैष्टुभ से (त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभ की (निर् अतक्षत्) रचना की, कल्पना की । (यद्वा) और (३) जो (जगत्याम्) जगती में (जगत्) जगत् (आहितम्) स्थिर है (तत्) उस रहस्य को (ये विदुः) जो विद्वान् लोग जानते हैं (ते) वे (अमृतत्वम् आनशुः)| अमृतत्व, मोक्ष पदका भोग करते हैं ।

(१) 'इमे वे लोका गायत्रम्' । तां० १६।११।११॥ गायत्रोऽयं भूलोकः। कौ० ८। ९॥ गायत्रेऽस्मिन् लोके गायत्रोऽयमग्निरध्यूढः। कौ० १४।२ ॥ प्राणो गायत्री प्रजननम् । ता० १६।४।५॥ प्राणः गायत्रम् । जै० उ० १।३७।७॥ अग्निर्वै गायत्री। श० १६ । १।१।१५ ॥ गायत्रो ब्राह्मणः ऐ० । १।२८॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसी गायत्रम् । कौ० १७।२।९॥ वीर्यं गायत्री । ता० ७।३।१३॥ गायत्रम् हि शिरः । श० ८।६।२।६॥ अष्टाक्षरा गायत्री । ऐ० २।१७॥ चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। श० ३।५।१।१०॥ गायत्री प्राचीदिक्। श० २।३ १।१२॥ गायत्री वसूनां पत्नी । गो०उ० २।९॥ वसवो गायत्रीं समभरन् । जै०उ० १।१८।४॥ गायत्रं वै रथन्तरम्। ता० ५।१।१५॥ गायत्रः सप्तदशः स्तोमः । तां० ५।१।१५॥ गायत्रो यज्ञः । गो० पू० ४ । २४ ॥ गायत्रं वै प्रातःसवनम् । गो०उ० ३।१६॥ गायत्रो वै पुरुषः ॥ तै० ३।२१।१॥

गायत्री और गायत्र शब्द से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, भूलोक, प्राण, अग्नि, ब्राह्मण, ब्रह्मवर्चस् तेज, वीर्य, शिर, मुख, अष्टाक्षर छन्द, प्राची दिशा, वसुपत्नी, रथन्तर, सप्तदशस्तोम, यज्ञ, प्रातःसवन, और पुरुष इतने पदार्थ लिये जाते हैं । अर्थात् गायत्र में गायत्र आश्रित है,

[१०] १–(द्वि०) 'त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं' इति ऋ० ।

इस लोक में अग्नि आश्रित है या भूलोक अग्नि पर आश्रित है या ब्राह्मण में ब्रह्मतेज है, पत्नी पुरुष पर आश्रित है, प्रातः सवन यज्ञ में आश्रित है, रथन्तर साम गायत्री छन्द पर आश्रित है, प्राण आत्मा में आश्रित है, यह जीव आत्मा परमात्मा में आश्रित है।

(२) त्रैष्टुभम्— त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोमम् इवेत्यौपमिकम्। दे० ३।१६॥ वज्रः त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभ इन्द्रः। कौ० ३।३॥ त्रैष्टुभो वज्रः। गो०३। १।१८॥ ऐन्द्रं हि त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्। ऐ० ६। ११॥ एते वै छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च। ता० २०।१६।८॥ बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप्। कौ० ७।२॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्। ऐ० १।५।२८॥ उरः त्रिष्टुप्। श० ८।६। २।७॥ त्रिष्टुप् छन्दो वै राजन्यः। तै० १।२८॥ क्षत्रं वै त्रिष्टुप् कौ० ७।१०॥ या राका सा त्रिष्टुप्। ऐ० ३।४७॥ त्रैष्टुभो हि वायुः। श० ८।७।३।१२॥ त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षलोके त्रैष्टुभो वायुरध्यूढः। कौ० १७।३॥ यजुषां वायुर्देवतं तदेव ज्योतिस्त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षं स्थानम्। गो० पू० १।२९॥ अपानस्त्रिष्टुप्। तां० ७।३।८॥ यः एवायं प्रजननः प्राण एष त्रिष्टुप्। श० १९।३। १।१॥ त्रैष्टुभं चक्षुः। ता० २०।१६।५॥ आत्मा वै त्रिष्टुप्। श० ६।४।२।६॥ त्रैष्टुभः पञ्चदश स्तोमः। तां०५।२।१४॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी। गो।०उ०२।९॥ एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्। कौ० ३।२॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्। श० ८।५।१।११॥ त्रिष्टुप् इयं पृथ्वीः।२।१।२०॥ त्रिष्टुप् असौ द्यौः। श० १।७।२।१५॥ 'त्रिष्टुप्' और 'त्रैष्टुभ्' शब्द से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः, वज्र, इन्द्र, माध्यन्दिन सवन, ओज, इन्द्रिय, क्षात्रबल, क्षत्रिय, राका, वायु, अपान, प्रजनन। प्राण, चक्षु, उरःस्थल, आत्मा, पञ्चदश स्तोम रुद्रों की पत्नी ११ अक्षरों का या ४४ अक्षरों का छन्द इतने पदार्थ लिये जाते हैं। 'त्रैष्टुभ की से त्रैष्टुभ रचना की' अर्थात् अन्तरिक्ष से वायु प्रकट हुआ, उरस्थल से बल उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय में बाहुबल है, इन्द्र में वज्र आश्रित है, आत्मा में इन्द्रिय हैं, प्रज-

नन या अपान भी मध्यभाग में आश्रित है और ये भी आत्मा में स्थित हैं, रुद्रों को पत्नी शक्ति रुद्रों में आश्रित है। और जीव आत्मा उस परम लोक में आश्रित है।

(३) सर्वं वा इदमात्मा जगत्। श० ४। ५। ९। ८॥ इयं पृथिवी जगती। अस्यां हि इदं सर्वं जगत्। श० १। ८। २। ११॥ या सिनीवाली सा जगती। ऐ० ३। ४७॥ जागतो वै वैश्यः। ऐ० १।२८॥ ता वा एता जगत्यो यद् द्वादशाक्षराणि पदानि। जगती प्रतीची दिक्। श० ८।३।१।१२॥ जगत्यादित्यानां पत्नी। गो० ३।२।९॥ साम्नां आदित्यं दैवतं तदेवज्योतिर्जागतं छन्दो द्यौः स्थानम्। गो० पू० १।२९॥ श्रोणी जगत्यः। श० ८।६।२।८॥ अवाङ् प्राणः ऋष जगती। जागतं श्रोत्रम् ता० २०। १६। ५॥ जागतं वै तृतीयसवनम्। ऐ० ६। २। १२॥ जागता वै ग्रावाणः। कौ० २९। १॥ जगत्येव यशः।

वैदिक परिभाषा में 'जगती', 'जागत' शब्दों से समस्त संसार, आत्मा, पृथिवी, सिनीवाली, ब्रह्म, पशु, वैश्य, द्वादशाक्षर छन्द, प्रतीची दिशा, आदित्यों की पत्नी, द्यौः स्थान, अवाक् प्राण, श्रोत्र, तृतीय सवन, ग्रावा और यश, ये पदार्थ लिये जाते हैं। 'जगती में जगत् आश्रित है' अर्थात् समस्त जगत् उसके चलाने वाले परमात्मा में आश्रित है, आदित्य द्यौलोक में स्थित हैं, अवाक् प्राण अर्थात् नाभि से नीचे का प्राण, श्रोणी या कूल्हों में स्थित है, पशुगण वैश्यों में या वैश्यवर्ण पशु समृद्धि में स्थित है, आदित्य ब्रह्मचारी तृतीय सवन में स्थित है, ४८ वर्ष की ब्रह्मचर्य शक्ति आदित्य ब्रह्मचारियों में स्थित है। श्रोत्र श्रवण या श्रुतिविद्या का श्रवण पठन, मनन विद्वानों में स्थित है। इत्यादि।

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम्।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒क्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॑ ॥ २ ॥

भा०—(१) (गायत्रेण) गायत्र से (अर्कम्) अर्क को (प्रति मिमीते)

प्रतिमान करता है, मापता है, ज्ञान करता है, परिमित करता है, प्राप्त करता है। (२) और (अर्केण साम) अर्क से साम को परिमित करता या मापता या ज्ञान करता है। (३) (त्रैष्टुभेन वाकम्) त्रैष्टुभ से 'वाक' को और (४) (वाकेन वाकम्) वाक से वाक को प्रतिमान या मापन करता वा ज्ञान करता है। और (५) (द्विपदा) दो पद के और (चतुष्पदा अक्षरेण) चारपद के अक्षरों से (सप्त वाणीः प्रति मिमीते) सात प्रकार की वाणियों को मापता है।

(१) 'गायत्रेण अर्कम्'—गायत्रं पुरस्तादुक्तम्। अर्कः—अन्नं वै देवाः अर्क इति वदन्ति ता० १५।३।२३॥ आदित्यो वा अर्कः। श० १०।६।२।६॥ अर्कश्चक्षुः तदसौ सूर्यः। अग्निरर्कः। श० २।५।१।४॥ स एषोऽग्निरर्को यत्पुरुषः। श० १०.३।४।५॥ प्राणो वा अर्कः। वेत्थार्कमिति। पुरुषं हैव तदुवाच। वेत्थार्कपर्णे इति कर्णौ हैव तदुवाच। वेत्थार्कपुष्पे इत्यक्षिणी हैव तदुवाच। वेत्थार्ककोश्याविति नासिके हैव तदुवाच। वेत्थार्कसमुद्गकावित्योष्ठौ हैव तदुवाच। वेत्थार्कधाना दन्तान्हैव तदुवाच। वेत्थार्काष्ठीलाविति जिह्वां हैव तदुवाच। वेत्थार्कमूलम् इत्यन्नं हैव तदुवाच। श० १० ३।४।५॥ अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति। रसमस्य पुष्पम्। तां० १५।३।२३॥

वैदिक परिभाषा में अर्क शब्द से अन्न, आदित्य, चक्षु, अग्नि, जीव, परमपुरुष, प्राण और पुरुष या जीवात्मा कहे जाते हैं। गायत्र से अर्क को पाता है, ज्ञान करता है, या मापता है अर्थात्) पृथ्वी से अन्न प्राप्त करता है, प्राण से आत्मा का ज्ञान करते हैं, आत्मा से परमात्मा का ज्ञान करते हैं इत्यादि योग्य योजनाएँ करनी चाहियें।

(२) 'अर्केण साम'—अर्कः पुरस्तादुक्तः। साम—स प्रजापतिः हैवं षोडशधा आत्मानं विकृत्य सार्धं समैत्। तद् यत्सार्धं समैत् तत् साम्नः सामत्वम्। जै० उ० १।४८।७॥ एष आदित्यः सर्वैर्लोकैः समः, तस्मादेष एव साम। जै० उ० १।१२।५॥ एतं पुरुषं छन्दोगा उपासते। एतस्मिन्

हि इदं सर्वं समानम् । श० १०।५।२।१०॥ तद् यत् सा च अमश्च तत् साम अभवत् । जै० उ० १।५३।५॥ यद्वै तत्सा च अमश्च समवदताम् तत्साम्नः सामत्वं । गो० उ० ३।२०॥ सैव नाम ऋक् अमो नाम सा । गो० उ० ३।२०॥ प्राणो वाव अमः वाक् सा तत्साम । जै० उ० ४।२३।३॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि भूतानि सम्यञ्चि । श० १४।८।१४।३॥ तद् यदेतत्सर्वं वाचमेवाभिसमापति तस्माद्वागेव साम । जै० उ० १।४०।६॥ स्वर्गो लोकः सामवेदः । प० १ ५॥ साम वै देवानामन्नम् । तां० ६।४।१३॥ साम्राज्यं वै साम । श० १२।८।३।२३॥ क्षत्रं साम । १२।८।३।२३॥ संवत्सर एव साम । जै० उ० १।३५।१॥ बन्धुनत्साम । गो० उ० ३।६।७॥ साम हि सत्याशीः । तां० ११।१०।१०॥ तयोः सदसतोः यत् सत् तत् साम तन् मनः, स प्राणः । जै० उ० १।५३।२॥ धर्मः इन्द्रो राजा । तस्य देवा विशः । सामानि वेदः । श० १३।४।३।१४॥

वैदिक परिभाषा में साम शब्द से षोडशकल प्रजापति, सर्व लोकमय आदित्य=परमेश्वर, सर्वोपास्य पुरुष, ऋग्वेद और सामवेद, प्राण वाक्, प्राण, स्वर्ग=मोक्षपद, देवों का अन्न=ज्ञान, क्षत्रबल, साम्राज्य, सत्, मनः प्राण, विद्वानों का ब्रह्म ज्ञानमय उपासना काण्ड=सामवेद, इतने अभिप्राय लिये जाते हैं ।

'अर्क से साम' का प्रतिमान, ज्ञान, मापन और प्राप्त किया जाता है अर्थात् अन्न से प्राण और मन प्राप्त किया जाता है, आदित्य से क्षात्रबल की उपमा है, आदित्य से ब्रह्म की उपमा है । अग्नि=जीव या आत्मा से षोडशकला प्रजापति का परिज्ञान किया जाता है, प्राण से वाणी उत्पन्न होती है आत्मा से परमपद या परमात्मा प्राप्त होता है । ऋग्वेद से सामवेद का गान उत्पन्न होता है । इत्यादि नाना सत्य योजना करनी चाहिये ।

(३) 'त्रैष्टुभेन वाकम्' त्रैष्टुभः प्रागुक्तः । वाकम्—वाग् वै गीः । श० ७।२।२।५॥ वाग् वै धेनुः । गो०पू०२।२१॥ वाक् सरस्वती । श० ७।५।१॥

३१॥ वाग् वै सरस्वती पावीरवी। ऐ० ३।३७॥ अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदग्नेः सारस्वतं रूपम् । ऐ० ३।३॥ सा वाक् ऊर्ध्वा उदातनोद् यदपां धारा संतता। ता० २०।१४।२॥ वाग् वै मनः समुद्रस्य चक्षुः। ता० ६।४।७॥ यदाहुः किं सहस्रम् । इति इमे लोकाः इमे वेदाः अथो वाग् इति ब्रूयात् । ऐ० ६।१५॥ वाग् वै सिनीवाली । श० ६।५।१।९॥ वाग् वै सार्पराज्ञी । कौ०२७।४॥ वाग् वै धिषणा । श० ६।५।४।५॥ वाग् वै राष्ट्री । ऐ० १।१९॥ वाग् इति पृथिवी । जै० उ० ४।२२।११॥ वाग् इति अन्तरिक्षम् । जै० उ० ४।२२।११॥ वाग् वै विराट् । श० ३।५।१।३४॥ वाग वै विश्वकर्मा ऋषिः ।ाचा हि इदं सर्वं कृतम् । श० ८।१।२।९॥ महिषी हि वाक् । श० ६।५।३।४॥ वाग् ऋक् । जै० उ० ४।२३।४॥ वाघ् हि शस्त्रम् । ऐ० ३।४४॥ वाग् वा इन्द्रः, या वाक् सा अग्निः । गो० उ० ४।११॥ वाग् हि अग्नेः स्वो महिमा । श० १।४।२।१७॥ प्रजापतिर्हि वाक् । तै० १।३।४।५॥ वाग् वै वायुः । तै० १।८।८।१॥ तस्याः वाचः प्राणः स्वरसः । जै० उ० १। १।७॥ मनसः एषा कुल्या यद् वाक् । जै० उ० १।५८।३॥ अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्। श०१।४।४।७॥ मनो ह पूर्वं वाचः यद्धि मनसा अभिगच्छति तद्वाचा वदति । ता० ११।१।३॥ वाग् यज्ञः । श० १।५।२।७॥ वज्र एव वाक् । ऐ० २।२१॥ वाग् इति स्त्री । जै० उ० ४। २२।११॥ वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते । ऐ० ४।१॥ इत्यादि ।

वैदिक परिभाषा के अनुसार वाक् शब्द से वाणी, धेनु, मेघ, गर्जना, विद्युत्, वेद, सिनीवाली, पृथिवी, बुद्धि, राष्ट्रशक्ति, अन्तरिक्ष, विराट् विश्वकर्मा=परमात्मा, रानी, ऋग्वेद, अग्नि, प्रजापति=परमेश्वर, वायु. यज्ञ; वज्र, स्त्री इत्यादि पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। त्रैष्टुभ से वाक् को प्राप्त किया जाता, परिमित किया तथा ज्ञान किया जाता या मापा जाता है। अर्थात् अन्तरिक्ष से वायु परिमित है, प्राण से वाणी उत्पन्न होती है, मन के भावों को वाणी परिमित करती हैं, वायु से वाक् या शब्द उत्पन्न होता

है, राजा से राष्ट्रशक्ति परिमित है, राष्ट्रशक्ति से पृथिवी शासित है, द्यौ से पृथिवी परिमित है, इत्यादि योजनाएं स्पष्ट हैं ।

(४) 'वाकेन वाकम्'—वाक् इति प्रागुक्तम् । 'वाणी से वाणी' या वाक् से वाक् परिमित है अर्थात् वाक् से ये समस्त वेद प्राप्त हैं, परिमित हैं या वाणी द्वारा प्रजापति जाना जाता है । वाणी से यज्ञ होता है । वाणी से राष्ट्रशक्ति संचालित है वाणी से लोकवेद सीमित, परिज्ञात एवं वर्णित हैं इत्यादि योजनाएं स्पष्ट हैं ।

(५) (द्विपदा चतुष्पदा अक्षरेण सप्तवाणीः मिमते) द्विपाद्, चतुष्पाद् अक्षरों से सातों वाणियों को मापा जाता है अर्थात् अक्षरों की गणना से दो दो चरणों और चार २ चरणों से सात मुख्य छन्द की रचना होती है । गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती, ये सात छन्द हैं । इसी प्रकार सात प्रतिछन्द, सात विच्छन्द गिने जाते हैं । जिनका संक्षिप्त विवरण साम की भूमिका में स्पष्ट है । अथवा—द्विपदाः (ऋचः) पुरुषो द्विपदाः । तै० ३।९।१२।३॥ द्विपदा अयं पुरुषः । श० २।३।४।६३॥ चतुष्पदाः पशवः । गो० उ० १।४॥ चतुष्पाद् वा ब्रह्म । छान्दो० उपनि० । कतमत्तदक्षरमिति यत्क्षरन्नाक्षीयतेति । इन्द्रः । विराजो वा एतद् रूपं यदक्षरम् । तां० ८।६।१४॥ अक्षयं वा नामैतत् तदक्षरं परोक्षम् । अर्थात् द्विपद् पुरुष और चतुष्पाद् ब्रह्म जो अक्षर अविनाशी है उनसे समस्त सातों वाणियों, सातों छन्दों का ज्ञान किया जाता है । या वे सातों छन्द आत्मा परमात्मा के वाचक हैं । जैसा गायत्र, त्रैष्टुभ, जगती आदि की विवेचना में दर्शाया है ।

जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद् रथंतरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥३॥
ऋ० १ । १६४ । २५ ॥

भा०—(१) परमात्मा ने (दिवि) द्यौलोक आकाश में (जगता) 'जगत्'

गतिशक्ति से (सिन्धुम्) सिन्धु गतिशील पदार्थों को (अस्कभायत्) थाम रक्खा है। (२) (रथन्तरे) रथन्तर में (सूर्यम्) 'सूर्य' का (परि अपश्यत्) दर्शन किया है। (३) (गायत्रस्य) गायत्र की (तिस्रः समिधः) तीन समिधा तीन प्रकाशमान अग्नि (आहुः) बतलाते हैं। (४) वह परमात्मा (ततः) उन सबसे भी अधिक (मह्ना महित्वा) बड़े भारी सामर्थ्य से (परिरिचे) सबसे अधिक महान् है।

(१) 'जगता'=जगत् निरन्तर गति से, 'सिन्धु'=गतिशील पदार्थों को थाम रखा है। अथवा। तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः। जै०उ० १।२९।९॥ प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः। श० ८।५। २४ ॥ जगत् अर्थात् अन्य आदित्यों की शक्ति से सब के बन्धक सिन्धु आदित्य को आकाश लोक में थामा है।

(२) रथन्तरं=रसतमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्। श० ९। १। २। ३६ ॥ अयं पृथिवी लोको रथन्तरम्। ए० ८। १ ॥ वाग् रथन्तरम्। तां० ७।६।१७॥ ब्रह्म वै रथन्तरम्। ऐ० ७। १। १२ ॥ अपानो रथन्तरम्। तां० ७।६।१४॥ प्रजननं वै रथन्तरम्। तां० ७।७।१६॥ रथन्तरे इति निमित्त सप्तमी।

योगी साधक रसतम परमब्रह्मपद में उस सूर्य=परम ज्योतिर्मय का दर्शन करता है या पृथ्वी के निमित्त सूर्य को बना देखता है।

(३) गायत्रस्य तिस्रः समिध आहुः। समस्त संसार को तीन प्रकाशमान अग्नि हैं। अग्नि, विद्युत् और सूर्य।

(४) परन्तु वह परमात्मा अपने महान् सामर्थ्य से उनसे भी बड़ा है। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठ० उप०।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥४॥

ऋ० १। १६४। २६ ॥ अथर्व० ७। ७३। ७ ॥

भा०—व्याख्या देखो [का० ७ । ७३ । ७]

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ५ ॥

ऋ० १ । १६४ । २७ ॥ अथर्व० ७ । ७३ । ८ ॥

भा०—व्याख्या देखो [का० ७ । ७३ । ८]

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ६ ॥

ऋ० १ । १६४ । २८ ॥

भा०—(गौः) जिस प्रकार गौ (मिषन्तं वत्सं अभि) उत्सुकता के कारण छटपटाते या अनिमेष वृत्ति से देखते हुए बछड़े के प्रति (अमीमेत्) हंभारती है और जिस प्रकार (मातवा उ) बछड़ा भी माता के लिये अपने (मूर्धानम्) शिर को (हिङ् अकृणोत्) हिंकार के शब्द से उत्सुकता से हिलाता और हंभारता है उसी प्रकार यह प्रजापति की परम वाणी मेघमयी (सृक्वाणं) अपने सर्जन करने वाले (घर्म) अति तेजस्वी सूर्य के प्रति (वावशाना) अति कामना युक्त होकर शब्द करती या गर्जती हुई (मायुम्) घनघोर शब्द (मिमाति) करती है और स्वयं (पयोभिः) अपने जल वर्षणों द्वारा (पयते) रसों का पान कराती है । अध्यात्म में—गौः=सर्वव्यापक ब्रह्मशक्ति (मिषन्तं वत्सं) अति उत्कण्ठित जीव के प्रति अपना (अमीमेद्) ज्ञान प्रदान करती या अनाहत नाद उत्पन्न करती है । और वह जीव आत्मा भी अपने (मातवा) माता के समान प्रेमी परमात्मा के लिये अपने शिरोभाग द्वारा (हिङ् कृणोति) उत्सुकता प्रकट करता है । वह ब्रह्ममयी ऋतम्भरा अपने (घर्मं सृक्वाणं वावशाना) तेजोमय स्रष्टा के प्रति कामना करती हुई (मायुं मिमाति) शब्द या परमज्ञान

६–(प्र०) 'अनुवत्सं' इति ऋ० । 'अपवत्सं' इति पैप्प० सं० ।

उत्पन्न करती और (पयोभिः पयते) आनन्दमय अमृतों से तृप्त करती है।

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥७॥
ऋ० १। १६४। २९॥

भा०—(अयम्) यह मेघ जो ध्वनि करता है (सः) वही परमात्मा प्रजापति (शिङ्क्ते) ध्वनि करता है। (येन) जिससे (अभी-वृता) घिरी हुई (गौः) मध्यम लोक की वाणी (मायुम्) मायु=शब्द को (मिमाति) करती है और वह (ध्वंसनौ) मेघ में (अधिश्रिता) आश्रय किये रहती है। (सा) वह (चित्तिभिः) नाना क्रियाओं से (मर्त्यान्) मनुष्यों को (हि) निश्चय से (नि चकार) उपकार करती है। और (विद्युत् भवन्ती) वह विद्युत् रूप में प्रकट होती हुई (वव्रिम्) रूप को (प्रति औहत) प्राप्त होती है।

ब्रह्मपक्ष में—(अयं सः शिङ्क्ते) यह वही परमात्मा वेदमय ज्ञान का उपदेश करता है (येन गौः अभीवृता) जिसने समस्त ज्ञानमय वाणी को अपने में धारण किया है। वही (मायुं मिमाति) ज्ञानमय वेद वाणी की रचना करता है। यह वेदवाणी (ध्वंसनौ अधिश्रिता) समस्त संसार के ध्वंस प्रलय के करनेहारे परमात्मा में प्रलयकाल में, भी आश्रित रहती है। (सा) वह वेद वाणी ही (चित्तिभिः) नाना प्रज्ञानों और कर्मों के उपदेशों से (मर्त्यान् नि चकार) सब मरणधर्मा प्राणियों को सब कार्यों के करने में समर्थ करती है। और वही (विद्युत् भवन्ती) विशेष रूप से पदार्थों को द्योतन-प्रकाशन करने में समर्थ होकर (वव्रिम्) प्रत्येक रूप पदार्थ को या ज्ञान को (प्रत्यौहत) धारण करती है।

शास्त्रयोनित्वात्। वेदान्तसूत्र। १। ३॥ न सोऽस्तिप्रत्ययो लोके यः शब्दाधिमाद् ऋते॥

७–(तृ०) 'चकार मर्त्यं' इति ऋ०, पैप्प० सं०।

परमात्मा वेद का परम कारण है । और कोई ऐसा ज्ञान नहीं जो शब्द ज्ञान के विना हो ।

अनच्छ॑ये तुरगा॑तु जी॒वमेज॑द् ध्रु॒वं मध्य॒ आ प॒स्त्या॑नाम् ।
जी॒वो मृ॒तस्य॑ चरति स्व॒धाभि॒रम॑र्त्यो॒ मर्त्ये॑ना॒ सयो॑निः ॥ ८ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३० ॥

भा०—(पस्त्यानाम्) समस्त गृहों, लोकों और प्रजाओं के (मध्ये) बीच में वह महान् परमेश्वर प्रभु (ध्रुवम्) नित्य, कूटस्थ होकर (एजत्) सबको चलाता हुआ (जीवम्) चेतनस्वरूप (तुरगातु) अति तीव्र गति से सर्वत्र व्यापक (अनत्) प्राणशक्ति का संचार करता हुआ (शये) सर्वत्र प्रशान्त रूप में, अव्यक्तरूप में व्यापक है । और (जीवः) वह जीवात्मा (अमृतस्य) उसी परम अमृत, मोक्षस्वरूप परमेश्वर के दिये (स्वधाभिः) निज कर्मफलों से (चरति) नाना योनियों में फल भोगता हुआ विचरता है । वह जीवात्मा भी (अमर्त्येन) अपने अमरणधर्मा स्वरूप से रह कर भी (मर्त्येन) इस मरणशील अनित्य देह के (सयोनिः) साथ रहने के कारण जन्म लेकर रहता है । इसलिये शरीर के धर्म आत्मा के साथ कहे जाते हैं ।

वि॒धुं द॑द्रा॒णं सलि॑लस्य पृ॒ष्ठे युवा॑नं॒ सन्तं॑ पलि॒तो ज॑गार ।
दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॑ महि॒त्वाद्या म॒मार॒ स ह्यः समा॑न ॥९॥

ऋ० १० । ५५ । ५ ॥ साम० प्र० ४ । ४ । २ ॥

भा०—(सलिलस्य) सर्वव्यापक परमात्मा के (पृष्ठे) आश्रय पर (दद्राणम्) गति करते हुए (विधुम्) धौंकनी के समान प्राण धारण

८–(प्र०) 'अनच्छये' इति राथकामितः पाठः ।

९–(प्र०) 'ददाणं समने बहूनां' इति ऋ०, साम,० तै० आ० । 'विधु दुद्राणा' इति पैप्प० सं० ।

करनेहारे (युवानम्) युवा, बलशाली (सन्तम्) अपने समीप प्राप्त जीव को (पलितः) सर्वव्यापक, परमपद में प्राप्त मोक्षरूप प्रभु (जगार) अपने भीतर ले लेता है, लीन, मग्न कर लेता है। हे जीव ! वहाँ उस (देवस्य) प्रकाशस्वरूप प्रभु परमात्मा के (काव्यम्) परम ज्ञानमय कौशल को (पश्य) देख, (महित्वा) जिसके महान् सामर्थ्य से (ह्यः) कल (सम्-आनः) जो भली प्रकार जीवन धारण किये हुए होता है वह (अद्य) आज (ममार) प्राण त्याग देता है। जो महान् सामर्थ्यवान् जीव परमात्मा तक पहुँचता है, परमात्मा उसे अपनी शरण में रख लेता है और उस परमात्मा के अद्भुत व्यवस्थामय कौशल को देखो जो कल जीता है वह उसी की महिमा से आज प्राण त्याग रहा है। और प्राण आदि बन्धनों से मुक्त होकर वह परमात्मा की शरण में जाता है।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश॥१०॥(२६)

ऋ० १ । १६४ । ३२ ॥

भा०—(यः) जो (ईम्) इस जगत् को (चकार) बनाता है (सः) वह जीव (अस्य) इस परमेश्वर के विषय में (न वेद) नहीं जानता। और (यः) जो परमेश्वर (ईं ददर्श) इस समस्त संसार को देखता है, उस पर अध्यक्ष है वह भी (तस्मात्) उस जीव से (हिरुग् इत् नु) छिपा ही हुआ है। (सः) वह परमात्मा (मातुः) निर्माण करनेवाली प्रकृति के (योनौ) परम रूप या आश्रय में (परिवीतः) प्रविष्ट हुआ (बहु प्रजाः) नाना लोकों को उत्पन्न करता हुआ (निर्ऋतिः) ऋति=चेतना से रहित इस जड़ प्रकृति के भीतर (आविवेश) व्याप्त होकर रहता है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

स सुध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ११ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३१ ॥ १० । १७७ । ३ ॥ यजु० ३७ । १७ ॥

भा०—मैं योगी (गोपाम्) समस्त ज्ञानवाणी या गतिशील जगत् के पालक परमेश्वर को (आ पथिभिः च) समीप के लोकों और (परा पथिभिः च) दूर के लोकों में भी (चरन्तम्) व्यापक (अनिपद्यमानम्) कभी भी न नाश होने वाले, अविनश्वर, नित्य रूप में (अपश्यम्) साक्षात् करता हूं। (सः) वह परमेश्वर (सध्रीचीः) एक साथ विराजमान् और (वि-षूचीः) नाना प्रकार से एक दूसरे के विपरीत नाना शक्तियों को भी (वसानः) स्वयं धारण करता हुआ (भुवनेषु) समस्त लोकों के (अन्तः) भीतर (आ वरीवर्त्ति) समस्त चेष्टाओं और गतियों को उत्पन्न कर रहा है।

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३३ ॥

भा०—(द्यौः) प्रकाशस्वरूप सूर्य के समान परमेश्वर ही (नः पिता) हमारा पालक पिता है। और (जनिता) वही हमारा उत्पादक है। वही (नाभिः) हम सब का उत्पत्ति स्थान, मूल कारण है। वही (इयम् पृथिवी) अति विस्तृत पृथिवी के समान विशाल होकर (नः) हमारी (माता) माता के समान है। वही (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है। वही परमेश्वर (उत्तानयोः) ऊपर को विस्तृत, उत्तान रूप से विराजमान (चम्वोः) व्यापनशील, द्यौ, पृथिवी दोनों का (योनिः) परम आश्रय स्थान है। (पिता) सबका पालक परमेश्वर (अत्र) इस संसार में (दुहितुः) समस्त पदार्थों को पूर्ण करने और उत्पन्न करनेहारी पृथिवी

१२–(प्र०) 'धौर्मे' (द्वि०) 'बन्धुर्मे' इति ऋ० ।

और द्यौः दोनों के भीतर (गर्भम्) नाना पदार्थों के उत्पादन और ग्रहण करने के सामर्थ्य को (आधात्) धारण कराता है, प्रदान करता है ।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥१३॥
ऋ० १ । १६४ । ३४ ॥

भा०—हे विद्वन् गुरो ! (त्वा) तुझसे मैं जिज्ञासु (पृथिव्याः) इस विस्तृत पृथिवी या जगत् का (परम् अन्तम्) परम अन्त, सबसे परला अन्त, अवस्था के विषय में (पृच्छामि) पूछता हूं । और (वृष्णः) सब पदार्थों के मेघ के समान वर्षण करनेहारे, परम बलशाली (अश्वस्य) सर्वव्यापक, परमेश्वर के (रेतः) सर्वोत्पादक वीर्य, सामर्थ्य के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं । और (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य) संसार के (नाभिम्) नाभि, केन्द्र, परम बन्धन स्थान, उत्पत्तिस्थान, मूलकारण के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं । और (वाचः) वेदज्ञान या वाणी के (परमं व्योम) परम आश्रय स्थान के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूं ।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥१४॥
ऋ० १ । १६४ । ३५ ॥ यजु० २३ । ६१ । ६२ ॥

भा०—(इयं) यह (वेदि) ज्ञानमय और सब को प्राप्त करनेवाली या सत्ता स्वरूप प्रभु शक्ति, परमेश्वरी शक्ति (पृथिव्याः परः अन्तः) पृथिवी, इस जगत् का परम आश्रय है । (अयम्) यह (सोमः) सब का प्रेरक सूर्य (वृष्णः अश्वस्य रेतः) जिस प्रकार वर्षणशील अश्व=

१३–(द्वि०, तृ०) 'पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः । पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वरेतः ।' इति ऋ०, यजु० । पैप्प० सं० ऋग्वेदवत् पाठः (तृ०) 'पृच्छामि त्वा' इति विशेषः । 'पृच्छामः' इति ला० श्रौ० सू० ।

मेघ का परम उत्पादक है उसी प्रकार वह सूर्य इस बलवान् सर्व वर्षक (अश्वस्य) सर्वव्यापक परमेश्वर का (रेतः) उत्पादक सामर्थ्य, तेज है । (अयं यज्ञः) यह यज्ञमय परमात्मा (विश्वस्य भुवनस्य नाभिः) समस्त भुवन की नाभि, केन्द्र या आश्रय है । (अयं ब्रह्मा) ब्रह्म के समान वह परम महान् परमात्मा ही (वाचः) वेदवाणियों का (परमम्) परम (व्योम) रक्षा स्थान या आश्रय है ।

न वि जानामि यदि॑वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥१५॥
ऋ० १ । १६४ । ३७ ॥

भा०—मैं जीव (यद् इव इदम् अस्मि) जिस पदार्थ के समान यह जो कुछ भी, शरीरादि संघात रूप हूँ (न विजानामि) इस बात को भी विशेष रूप से नहीं जानता । अर्थात् मैं आत्मा के स्वरूप बतलाने के लिये किसी अन्य पदार्थ को उसके लिये दृष्टान्त के रूप में नहीं रख सकता और न शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के संघात के तत्व को बतला सकता हूँ और जब मैं अपने पर विचार करता हूँ तब देखता हूँ कि मैं स्वयं (निण्यः) भीतर छुपा हुआ और (संनद्धः) बन्धनों से बँधा हुआ हूँ और (मनसा) मनस् अर्थात् संकल्प विकल्प शक्ति से (चरामि) कर्म फल भोगता और जीवनयापन करता हूं । और (यदा) जब (ऋतस्य) सत्य ज्ञानमय वेद के (प्रथमजाः) प्रथम २ उत्पन्न, ज्ञान (मा अगन्) मुझे प्राप्त होते हैं (आत् इत्) तभी मैं (अस्याः) इस (वाचः) परम ब्रह्ममय, वेदवाणी के (भागम्) प्राप्त करने योग्य सार का (अश्नुवे) ज्ञान प्राप्त करता हूँ ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥ १६ ॥ ऋ० १ । १६४ । ३८ ॥

भा०—(अमर्त्यः) अमरणधर्मा नित्य आत्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा अनित्य देह के साथ (सयोनिः) एकत्र होकर (स्वधया) स्वयं धारण किये हुए अपने कर्म बन्धन या कर्मफल से (गृभीतः) बद्ध होकर (अपाङ्) नीचे के लोकों और (प्राङ्) उत्कृष्ट लोकों में (एति) जाता है। (तौ) वे दोनों नित्य और अनित्य देह और आत्मा (विषूचीना) नाना प्रकार के गति करनेहारे (वियन्ता) विशेष रूप से बद्ध होकर रहा करते हैं। इनमें से (अन्यम्) एक को तो (निचिक्युः) लोग साक्षात् जान लेते हैं और (अन्यम्) दूसरे आत्मा के स्वरूप को (न निचिक्युः) नहीं जान पाते हैं।

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥१७॥

ऋ० १। १६४। ३०॥

भा०—(सप्तार्ध-गर्भाः) सात या सर्पण स्वभाव, गतिशील, अर्ध-गर्भ अर्थात् परम उत्कृष्ट परमेश्वर की शक्ति को अपने भीतर धारण किये हुए प्रकृति के विकारभूत अहंकार, महत् और पञ्चतन्मात्राएँ, (भुवनस्य) इस समस्त संसार के (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (रेतः) उत्पादक वीर्य के स्वरूप हैं जो उस (विधर्मणि) विशेष रूप से धारण करने में समर्थ परमेश्वर में ही (प्रदिशा) उसके उत्कृष्ट शासन से (तिष्ठन्ति) विराजते हैं। (ते) वे (विपश्चितः) सब कर्मों और ज्ञानों के स्वामी परमेश्वर के (धीतिभिः) धारणा शक्तियों से सम्पन्न होकर और उसी के (मनसा) मानस संकल्पबल से या स्तम्भन सामर्थ्य से (परिभुवः) सर्वत्र फैल कर (विश्वतः) सब प्रकार से और सब रूपों में (परि भवन्ति) परिणित हो जाते हैं। अध्यात्म में—सप्तार्ध-गर्भाः=सात प्राण, (विष्णोः

१६–(प्र०) 'अप्राङ् प्राङेति' इति कठ० सं०।

विपश्चितः) व्यापक ज्ञानी आत्मा के कर्म और मन सामर्थ्य से नाना रूपों को धारण करते और कार्य करते हैं ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥ १८ ॥ ऋ० १ । १६४ । ३९ ॥

भा०—(ऋचः) ऋग्=ऋग्वेद आदि चारों वेदों की ऋचाओं के प्रतिपाद्य विषय अथवा अर्चनीय, परम पूजनीय ईश्वर के (यस्मिन्) जिस (परमे) परम (व्योमन्) विशेष रक्षा स्थान में (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण एवं दिव्य पदार्थ, सूर्य, चन्द्र आदि (निषेदुः) आश्रय लेते हैं । (यः) जो पुरुष (तत् न वेद) उसका ज्ञान नहीं करता (ऋचा) ऋग् मन्त्रों से (किम् करिष्यति) क्या फल प्राप्त करेगा और (ये इत् तत् विदुः) जो विद्वान् उस परम तत्व को जान लेते हैं (ते) वे (अमी) ये लोग मोक्ष में (आसते) स्थान प्राप्त करते हैं ।

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १९ ॥

भा०—जिस प्रकार (ऋचः) ऋचा के (पदं मात्रया) एक चरण को ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्रा से कल्पित करते हैं उसी प्रकार (ऋचः) परम अर्चनीय, अथवा ऋचाओं के परम प्रतिपाद्य विषय या, परम पूजनीय ब्रह्म की (मात्रया) मात्रा अर्थात् जगत् के निर्माण करनेहारी शक्ति से उसके (पदम्) परम स्वरूप की (कल्पयन्तः) कल्पना करते हुए विद्वान् पुरुष (अर्धर्चेन) उसके तेजोमय समृद्ध ज्ञानमय स्वरूप से इस (एजत्) गतिशील (विश्वम्) विश्व को (चक्लृपुः) बना हुआ मानते

१८–(च०) 'त इमे' इति ऋ० ।
१९–(तृ०) 'पारेरूपं विचष्टे' इति पैप्प० सं० ।

हैं। वस्तुतः (त्रिपात्) तीन चरणों वाला, तीन रूपों वाला ब्रह्म ही (पुरुरूपं) नाना रूप धारण करके (वितस्थे) विविध रूप से स्थित है (तेन) उसी के सामर्थ्य से (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएँ, दिशाओं के लोक (जीवन्ति) प्राण धारण करते हैं ।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥२०॥(२७)
ऋ० १ । १३४ । ४० ॥ अथर्व० ७ । ७३ । ११ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० [७ । ७३ । ११]

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः
समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥ ऋ० १ । १३४ । ४१ ॥

भा०—(गौः इत्) वह पूर्वोक्त गौ, व्यापक ब्रह्मशक्ति ही (सलिलानि) जगत् के कारणस्वरूप प्रकृति के सूक्ष्म, आपःस्वरूप परमाणुओं को (तक्षति) विपरिणत करके सृष्टि की रचना करती है । वह (एक-पदी) एक ब्रह्म रूप से जानने योग्य होने से 'एकपदी' है। वह (द्विपदी) चर और अचर रूप से या प्रकृति-पुरुष भेद वर्त्तमान रहने के कारण द्विपदी कहाती है। (चतुष्पदी) चारों दिशाओं में व्यापक होने से अर्थात् चार भूतों में परिणत होने से 'चतुष्पदी' कहाती है। (अष्टापदी) अवान्तर दिशाओं में व्याप्त होने से अथवा वह ब्रह्म की शक्ति प्रकृति के आठ भेदों से आठ रूपों में अभिव्यक्त होने के कारण 'अष्टापदी' कहाती है। (नवपदी) वही उक्त आठों में पुरुष या जीवात्मा की गणना से 'नवपदी' कहाती है। वही (सहस्राक्षरा) सहस्र या बलमयी, शक्तिमयी 'अक्षरा', अविना-

२१–(प्र०) 'गौरीर्मिमाय' (च०) 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' इति ऋ० । पञ्चमः पादः ऋ० १।१६४।४२॥ इत्यस्याः प्रथमः पादः ।

शिनी ब्रह्म शक्ति सहस्रों रूपों में या सहस्र=विश्व के रूपों में प्रादुर्भाव होनेवाली (भुवनस्य) इस समस्त भुवन=ब्रह्माण्ड की (पङ्क्तिः) पकाने या परिपक्व करनेवाली है अर्थात् उसको अपरिपक्व अव्याकृत दशा से परिपक्व अर्थात् व्याकृत दशा में लानेवाली है।

'एकपदी'—'अजः एकपात्' । वेद । जैसे गीता में लिखा है—

'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्' ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥ १७ ॥ [गीता० अ० १३]

'द्विपदी'—प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि । [गी० अ० १३।१९]

'चतुष्पदी'—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । [गीता० १३ । १]

'अष्टापदी'—भूमिरापोऽनलोवायुः ख मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्नाप्रकृतिरष्टधा । [गी० अ० ७ । ४ ॥]

'नवपदी'—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धिमे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ [गी० ३।७।५॥]

'सहस्राक्षरा—'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।　　[गी० अ० ७ । ६]

(तस्याः) उसी ब्रह्मशक्ति से (समुद्राः) समुद्र, अक्षय भण्डार प्रकृति के अक्षयकोष (अपि) भी (विक्षरन्ति) नाना प्रकार से बह रहे हैं। पाँचों भूत पाँच अक्षय कोष हैं।

एवं सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् । इति मनुः १२ । १ । ४ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् । [गी० अ० १० ॥]

वाक् पक्ष में—वह सदा ब्रह्ममयी वाणी; घट आदि पदार्थों को प्रकाशित करती हुई, अव्याकृत 'ओम्' रूप एकपदा, सुप्, तिङ् भेद से द्विपदा, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात भेद से 'चतुष्पदा'; सात विभक्ति और सम्बोधन भेद से 'अष्टापदी' अव्यय भेद से नवपदी, अथवा

नाभि सहित कण्ठ तालु आदि भेद से नवपदी और फिर भी नाना रूप होकर परम व्योम हृदय देश या मूलाधार में सहस्राक्षरा होकर विराजती है, इति दिक् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
ते आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ २२॥

ऋ० १।१६४।४७॥ अथर्व० का० ६।२२।१॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० का० ६ । २२ । १ ।] (नियानम्) अपने परम आश्रय स्थान (कृष्णम्) कर्षण, आकर्षणशील या सर्व भव-दुःखों के विलेखन या विच्छेदन करनेहारे उस ब्रह्म को (सुपर्णाः) उत्तम ज्ञानसम्पन्न, मुक्त जीव आत्मा (हरयः) रश्मियों के समान प्रदीप्त तेजः-सम्पन्न (अपः वसानाः) कर्म और ज्ञानों से सम्पन्न होकर (दिवम्) प्रकाशमय परम मोक्षपद को (उत्पतन्ति) जाते हैं । (ते) वे पुनः अपना मोक्षानन्द भोग कर (ऋतस्य सनदात्) उस सत्यज्ञान के आश्रय स्थान परमात्मा के पास से (आववृत्रन्) पुनः लौट कर आते हैं और (घृतेन इत्) प्रकाशमय ज्ञान से सूर्य में निकली किरणें जिस प्रकार मेघ जल से पृथिवी को सींचती हैं उसी प्रकार (पृथिवीं व्यूदुः) पृथिवीवासी जनों को तृप्त करते हैं । अर्थात् ज्ञान का प्रकाश करते हैं ।

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥ २३ ॥

ऋ० १।१५२।३॥

भा०—(पद्वतीनां प्रथमा) पूर्वोक्त एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी आदि ब्रह्मशक्तियों में से सबसे प्रथम विद्यमान, अव्याकृत ब्रह्मशक्ति (अपाद्) 'अपात्' अविज्ञेय रूप, अमात्र है । वही परम 'तुरीय पद' कहाती है । हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, प्राण और अपान ! (वां कः) तुम दोनों में

से कौन (तत्) उस 'अपात्' वाणी के स्वरूप को (चिकेत) जानता है। (अस्याः) इसके (गर्भः) गर्भ, अर्थात् गर्भ में स्थित तेजोमय स्वरूप ज्ञान या इसका धारण करनेहारा ब्रह्म ईश्वर (भारम्) समस्त विश्व के भार को या भरणपोषण के सामर्थ्य को (आभरति चित्) निश्चय से धारण करता है। और वही परमेश्वर (ऋतम्) सत्य ज्ञान और अनन्त बल या जगत् को (पिपर्त्ति) पूर्ण रूप से धारण या पालन करता है और (अनृतम्) असत्य, अज्ञान अन्धकार को नाश करता है।

(तृ०) 'आचित् । अस्याः । ऋतम् ।' इति अथर्वगतमन्त्रस्य पदच्छेदः । 'आचित् । अस्य । ऋतम् ।' इति ऋग्वेदीयः पदच्छेदः ।

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः । विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

भा०—(विराट्) विराट् (वाक्) वाणी है। (विराड् पृथिवी) विराट् पृथिवी है। (विराट् अन्तरिक्षम्) विराट् अन्तरिक्ष है। (विराट् प्रजापतिः) विराट् प्रजापति है। (विराट् मृत्युः) विराट् मृत्यु है, वही विराट् (साध्यानाम्) समस्त साध्य अर्थात् वश करने योग्य अथवा संसार के पदार्थों के रचने के लिये विशेष नियम में लाने योग्य प्राकृत विकारों तथा साधनासम्पन्न मुमुक्षु जीवों का (अधिराजः) अधीश्वर (बभूव) है। (तस्य वशे) उसके वश में (भूतम्) भूत, उत्पन्न संसार और (भव्यम्) भविष्यत् कालिक संसार भी है। वह (भूतं भव्यम्) भूतकाल और भविष्यत्काल को (मे वशे कृणोतु) मेरे वश में करे। अर्थात् विराट् शब्द से वाक्, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति, मृत्यु इनका भी ग्रहण है और इन नामों से भी विराट् परमेश्वर का

२३–(च०) 'अस्य ऋतं', 'नितारीन्' इति ऋ० । 'चिदाद् ऋतस्य' इति पैप्प० सं० ।

ही ग्रहण है। इन आठ रूपों को लेकर वाक् और ईश्वरी शक्ति 'अष्टापदा' कही गयी है।

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥२५॥
ऋ० १ । १६४ । ४३ ॥

भा०—मैं तत्वदर्शी ऋषि (विषूवता) नाना प्रकार से उत्पत्ति क्रिया से युक्त (एना अवरेण) इस प्रत्यक्ष कार्यरूप जगत् से (परः) परे मैं (शकमयम्) शक्तिमय (धूमम्) इस संसार को गति देने वाले परमेश्वर को कारण रूपसे (आरात्) साक्षात् (अपश्यम्) देख रहा हूं। (वीराः) वीर्यवान्, ब्रह्मचारी विद्वान् लोग उसी (उक्षाणम्) समस्त जगत् को धारण करने में समर्थ (पृश्निम्) आदित्य स्वरूप, तेजोमय समस्त आनन्द-रसों को धारण करने वाले आनन्दघन को (अपचन्त) योग अभ्यास द्वारा परिपक्व करते हैं। (तानि) वे (धर्माणि) धारण करने योग्य यम, नियम आदि के तपोमय आचार (प्रथमानि) सबसे श्रेष्ठ (आसन्) हैं जिनके अभ्यास से उस परम शक्ति का साक्षात् होता है।

त्रयः केशिनं ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६॥

भा०—(त्रयः) तीन (केशिनः) केशी, तेजस्वी पदार्थ (ऋतुथा) ऋतु काल के अनुसार (वि चक्षते) दिखाई देते हैं या इस विश्व को देखते हैं उसपर अपनी दृष्टि रखते हैं। (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (संवत्सरे) वर्ष भर (वपते) ओषधि आदि वनस्पतियों के बीज वपन करता है। (अन्यः) दूसरा विश्व को (अभिचष्टे) प्रकाशित करता है, देखता है, रक्षा करता है। और (एकस्य) एक की (ध्राजिः) संहारकारी प्रबलगति (ददृशे) देखी जाती है, (रूपं न) उसका रूप नहीं दिखाई देता।

२६–(तृ०) 'विश्वमेको' इति ऋ०।

सृष्टि, स्थिति, संहारकारी ईश्वर तीनों शक्तियां यहां तेन केशी हैं वे यथाकाल अपना कार्य करती हैं एक शक्ति समस्त जीवों, वनस्पतियों या लोकों को उत्पन्न करती, दूसरी पालन करती और तीसरी संहार करती है। भौतिक पक्षमें अग्नि, आदित्य और वायु अथवा मेघ, आदित्य और वायु हैं।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥२७॥
ऋ० १। १६४। ४५॥

भा०—(वाक्) वाणी के (चत्वारि पदानि) चार ज्ञातव्य रूप (परिमितानि) जाने गये हैं। (तानि) उनको (ये मनीषिणः) मनीषी, संकल्प विकल्प चतुर, मननशील (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण लोग (विदुः) जानते हैं। (त्रीणि) तीन रूप तो (गुहा) गुहा में, गूढ़ परमात्मा की शक्ति में (निहिता) गुप्तरूप से रक्खे हैं। वे (न इङ्गयन्ति) अपना रूप प्रकट नहीं करते। और (वाचः) वाणी के (तुरीयम्) चौथे रूप को (मनुष्याः वदन्ति) मनुष्य स्पष्ट बोलते हैं।

'चत्वारि पदानि=' कई विद्वानों के मत से 'भूः, भुवः, स्वः, ओ३म्' ये चार पद हैं। दूसरे वैयाकरण लोगों के मत से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, ये चार पद हैं। याज्ञिकों के मत में मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और लौकिक भाषा, ये चार पद हैं। निरुक्तवादियों के मतमें—ऋग्, यजुः, साम और लौकिक भाषा ये चार पद हैं। ऐतिहासिकों के मत में सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र जन्तुओं की और मनुष्यों की वाणी, ये चार पद हैं। अध्यात्मवादियों के मत से पशुओं में, वाद्य यन्त्रों में, मृगों में और मानव देह में फैली वाणियां चार पद हैं, मान्त्रिक लोगों के मत में—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार पद हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार तीनों लोकों में वाणी के तीन रूप हैं। पृथिवी में अग्निरूप, अन्तरिक्ष में वायु रूप, द्यौ में आदित्यरूप, उससे अतिरिक्त चतुर्थ व्याकृता वाणी ब्राह्मणों में है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥२८॥(८)

भा०—उस परमेश्वरी शक्ति को (इन्द्रं मित्रं, वरुणम्, अग्निम्, आहुः) इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि नाम से पुकारते हैं । (अथो) और (सः) वही (गरुत्मान्) ज्ञान से सम्पन्न (सुपर्णः) उत्तम पालक होने से 'सुपर्ण' और (गरुत्मान्) ज्ञानमय होने से 'गरुत्मान्' भी कहा जाता है । उसीको (अग्निम्) प्रकाशमान होने से 'अग्नि' (यमं मातरिश्वानम् आहुः) नियन्ता होने से यम और अन्तरिक्ष में या प्रकृति में व्यापक-प्रेरक होने से 'मातरिश्वा' भी कहते हैं (एकं सद्) उस एक सत् सत्य-रूप परमात्मा को (विप्राः) विद्वान् मेधावी लोग (बहुधा) बहुत नामों से (वदन्त) कह लेते हैं ।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ इति मनु० १२।१२३॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ इति मनु० १२।११९॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयं ऋचश्च पञ्चाशत्]

नवमं काण्डं समाप्तम्

सू[illegible]नि दश, षष्ठस्य षट् पर्यायाः प्रकीर्त्तिताः।
[illegible] नवमे काण्डे त्रयोदश शतत्रयम् ॥

वेदवे[illegible]न्द्राब्दे फाल्गुने सितपक्षके
[illegible]नवमं काण्डं गतमथर्वणः ॥

[illegible]आलंकार[illegible]स[illegible]र्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्
ऽथर्व[illegible] ब्रह्म[illegible]कभाष्ये नवमं काण्ड समाप्तम् ॥

Barcode : 99999990076553
Title - Atharv Veda Sanhita Bhag 3
Author - Sharma, Sri Pt. Jaydev
Language - hindi
Pages - 730
Publication Year - 1930
Barcode EAN.UCC-13
9 999999 007655

GOVT. COLLEGE, LIBRARY
KOTA (Raj.)

रक्षोहणं वलग-हनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुः यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि । यजु० अ० ५ । २३ ॥

राक्षसों के नाश करने और घातक प्रयोगों के नाश करने वाली राजनीति का मैं उपदेश करता हूं कि—'मेरा पुत्र, या मित्र, बराबर वाला, या कम, बन्धु या अबन्धु, सहोदर या दूर के रिश्ते का कोई पुरुष भी वलग नामक घातक प्रयोग भूमि में गाड़ दे तो मैं उसको भूमि खनकर निकाल बाहर करूं। इस प्रकार (कृत्याम् उत् किरामि) कृत्या अर्थात् घातक प्रयोग को भी उखाड़ फेंकूं।

इस यजुष् की व्याख्या करते हुए शतपथ ने लिखा है कि—

देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततो असुराः एषु लोकेषु कृत्यां वलगान् निचख्नुः, उत एवं चिद् देवान् अभिभवेमेति । तद्वै देवा अस्पृण्वत । त एनैः कृत्यां वलगान् उद् अखनन् । यदा वै कृत्यामुत्खनन्त्यथ साऽलसा मोघा भवति । तथो एवैष एतद् यत् यस्मा अत्र कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्यः कृत्यां वलगान् निखनति तान् एव एतदुत्किरति । तस्माद् उपरवान् खनति ।

अर्थ—देव और असुर दोनों ही प्रजापति के सन्तान थे । वे परस्पर लड़ते थे । तब असुरों ने इन लोकों में 'कृत्या' और 'वलग' इनको गाड़ दिया । कि इन से देवों को पराजित करेंगे । देवों को यह पता चल गया । देवों ने इन २ उपायों से कृत्या और वलग दोनों को उखाड़ डाला । जब कृत्या को लोग उखाड़ देते हैं तो वह (अलसा) मन्द पड़ जाती है और (मोघा) व्यर्थ हो जाती है । इसी प्रकार यह भी होता है कि कोई शत्रु द्वेष करके जिस किसी के लिये कृत्या और वलगों को गाड़ देता है उनको खोद डालता है । इसी से उपरवों को खोदता है ।

शतपथ के उद्धरण ने स्पष्ट कर दिया है कि ये 'वलग' गुप्त बारूद या विस्फोटक पदार्थ के गोले हैं जो बड़े वेग से फूट कर प्राणों का नाश करते हैं और उनको खोद देने पर फिर उनका कुछ बल नहीं रह जाता है । वे

क्षुप्त हो जाते हैं। वे ' उपरव ' कहाते हैं क्योंकि जब ये फूटते हैं आवाज़ करके फूटते हैं। इसके अतिरिक्त इसी के साथ यजुर्वेद में ' बृहद्दवा ' शब्द का भी प्रयोग किया है।

'बृहद् असि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाच वद' । यजु० ५ । २२ ॥

यह उपमा से यहां सेनापति के वर्णन में आया है। कदाचित् तोप या महती शक्ति बृहद्रवा' कही जाती है। और मगन गोले 'उपरव' कहाते हों। वेद ने 'बृहद्रव' शब्द का प्रयोग किया है ब्राह्मणकार ने 'उपरव' शब्द का भी परिचय दिया है।

इन मगन गोलों को गाड़ने का भी विशेष प्रकार पूर्व विद्वानों को ज्ञात था वे उनको व्यूहाकार में खोद कर गाड़ते थे। शत० ३ । ५ । ४ । ६ । ७ ॥

कुछ कृत्याएं ऐसी होती थी जिनका प्रतीकार ओषधि द्वारा दूर किया जाता था। ये अवश्य रोगों को फैलाने की क्रियाएं होंगी। क्योंकि उनसे ही अनायास राष्ट्र में और सेनाओं में रोगादि फैल कर नर संहार होते थे। उनका प्रतीकार रोगनाशक तीव्र ओषधियों से किया जाता होगा। इसी प्रकार विषैली गैसों का प्रयोग और विष से लिपे पदार्थों का प्रयोग भी कृत्या कहाता था। खेतों में, गोओं में और पुरुषों में भी हत्याकारी प्रयोग करके अन्न, दूध और पुरुषों के व्यवहार और सम्पर्क से नाना पीड़ाएं उत्पन्न करते थे। उनका प्रतीकार भी ओषधियें ही थी।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
या क्षेत्रे चक्रुर्या गोषु या वा ते पुरुषेषु ॥ अथर्व० १० । ४ ॥

हे राजन्! तेरे खेत में गौओं में और पुरुषों में जिस २ घातक क्रिया का प्रयोग किया है उन सब कृत्याओं को मैं इस विशेष २ ओषधि से निर्बल करूं और दूर करूं।

कृत्या विशेष यन्त्रकला के रूप में भी तैयार की जाती थी जिसके सब कल पुर्जे विशेष शिल्पी द्वारा तैयार किये जाते थे। जैसा लिखा है —

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येव ऋभुर्धिया ।

जिसने तेरे पौरुषों को ऐसे जोड़ा है जैसे शिल्पी अपनी अक़ल से रथके कलपुर्ज़े जोड़ता है । यहां पुर्जों के लिये 'परूंषि' शब्द आया है । उसकी रचना को शिल्पी अर्थात् 'ऋभु' लोग बड़ी बुद्धिमत्ता से बनाते हैं ।

वह कृत्या छूटते समय या प्रतिप्रयोग करते समय भी घोर शब्द करती थी ।

अपक्राम नानदती विनद्धा गर्दभी इव ॥ १० । १३ ॥

खुली गधी के समान घोर नाद करती हुई तू दूर चली जा ।

वह कृत्या तोप के समान पहियों पर चलती और चलते समय बड़े बड़े पदार्थों को तोड़ती फोड़ती सेना के समान नाना रूप वाली, और कठोर शब्द करती थी ।

तेनाभि याहि भञ्जती अनस्वती वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १० । १५ ॥

इसीसे यह भी ज्ञात होता है कि सेना या 'वाहिनी' भी कृत्या कहाती है । उस सेना को नाश करने का उपाय उत्तम तलवारों को बतलाया गया है।

स्वायसाः असयः सन्तु नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहि इतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि । १० । २० ॥

कृत्या के प्रयोग से निरपराध जीवों का भी बहुत नाश होता है ।

'अनागो हत्या वै भीमा कृत्ये० ।' १० । २० ॥

इस कारण यह जहां भी हो वहां से उसको दूर करना चाहिये । राजा को चाहिये कि अपने पालक बल से सदा इस हिंसा प्रयोग को न्यून मात्रा में ही रहने दे, बढ़ने न दे ।

यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वा उत्थापयामसि ॥ १० । २९ ॥

पर्णाल्लघीयसी भव ॥ १० । २९ ॥

(२) अभिचार कर्म

अभिचार कर्म के विषय में हमने अपना पूर्ण मन्तव्य द्वितीय खण्ड की भूमिका (पृ० १४–१५) में पर्याप्त रूप से खोलकर दर्शा दिया है। इसी प्रकार का० २ से ६ तक विनियोगकारों ने जिन २ सूक्तों का विनियोग अभिचार में दर्शाया था उनकी संक्षिप्त आलोचना की थी। इस प्रसङ्ग में हम इस खण्ड में आये उन सूक्तों की भी विवेचना करेंगे जिन्हें विनियोगकारों ने अभिचार करने के लिये लिखा है। काण्ड १० के सू० ५ 'इन्द्रस्यौज स्थ ०' इत्यादि पर सायण भाष्य नहीं है। केवल पण्डित शङ्कर पाण्डुरंग ने इस सूक्त की उत्थानिका में निम्न लिखित प्रक्रिया लिखी है जिनका हम पूर्ण रीति से उल्लेख करते हैं।

अभिचारकर्मैतत्। शत्रुनाशनसमर्थमिदम् उदके प्रवेश्य तदुदके यत्र क्व यत्रापि वा शत्रुम् अभिलक्ष्य तत् प्रक्षिपति। तदेवम्। आपः सम्बोध्य यस्मात् यूय इन्द्रस्यौजा भवथ इन्द्रस्य सह आदि भवथ तस्माद् इन्द्रबलैर्युष्मान् युक्ता करोमि इत्याह। अनन्तरम् इन्द्रस्य भाग अर्थात् अंशा भवथ सोमस्य भाग: स्थ वरुणस्य मित्रावरुणयोर्भाग: स्थ यमस्य भाग स्थ पितॄणां सवितुश्च भागस्थेत्याह। अनन्तर योऽपां त्रैलोक्यस्य सर्वजनानां भाग पूजनीयो युष्मासु अर्थात् पूर्वोक्तासु अप्सु भवति यश्च तादृश ऊर्मि यश्च तादृशो वत्स अर्थात् अपान्नपात् नाम वैद्युतोऽग्नि यश्च तादृशोऽपि वृषभो महांश्च कश्चित् पशु, यश्च अपां मध्ये उत्पन्न इति वेदप्रसिद्धो हिरण्यगर्भ इति आद्यो देव: यश्च अप्सु वर्तमानो नाना वर्णोऽश्मवतीको मेघ ये च अपां मध्य वर्तमाना अग्नयस्तान् सर्वान् प्रत्येक शत्रु प्रति क्षिपामि। स शत्रुमह हन्याम्। तमनेन मन्त्रेण अनेन कर्मणा अनेन वज्रेण विदारयामीत्याह। अनन्तर स्वकृतान् अध्ययनादनृतवचनपापाद् ब्रह्मण याचते। अनन्तर शत्रोरुपरि उदवज्र प्रक्षेप्तु प्रक्रामति यश्च प्रक्रामति स्वक्रम सम्बोध्य तम् आह त्व विष्णो क्रमोऽसि अर्थात् येन क्रमेण विष्णुस्त्रीन् लोकानाक्रमत तादृशो बलवान् असि। त्वय पृथिव्या च संशितोऽग्नि तेजस्वि असि। तेन त्वया अत्र पृथिव्या सकाशान्निर्णुदयामि तथैव त्वमन्तरिक्षसंशितोऽसि द्यौसंशितोऽसि दिक्संशितोऽसि आशासंशितोऽसि ऋक्संशितोऽसि यज्ञसंशितोऽसि ओषधीसंशितोऽसि अप्सुसंशितोऽसि

कृपिसंसितोऽसि भागसंसितोऽसि तस्मात्ततः अभिमानिप्रदेशात् तं शत्रुं निर्णाशयानि इति। एतदुक्तं जितमस्माकम् जिताः शत्रुसेनाः इत्यादि। अनन्तरं दक्षिणां दिशं सरति किञ्चन् स्तवा तामभिमुखो भवति इत्यर्थः। तथैव इतरा दिशश्च, सप्तर्षिनाम नक्षत्रं, आहस्मांश्च अभिमुखो भवति प्रत्येकं च तेभ्यः सकाशाद् द्रविणं याचते। यंच शत्रुम् अन्विष्यामि तं हनामि इय समित् ते हेति भूत्वा भक्षतु इत्यादि। अनन्तर बृहस्पतिमन्नं याचते। तथैव अग्नि वर्चः प्रजाम् आयुश्च याचते। अग्निं यातुधानभेदनं याचते। पूर्वोक्तानि उदकानि तान्येव चतुर्मुष्टि वज्रं कल्पयित्वा शत्रुशिरश्छेदाय प्रक्षिपति सच शरीरांगानि भिनत्तु देवाश्च तत्सर्वं मेऽनुजानन्तु। इत्याशास्ते।

अर्थ—यह अभिचार कर्म है। शत्रु को नाश करने में समर्थ बल जल में डाल कर, जल को वज्र मान कर शत्रु को लक्ष्य करके फेंकता है। वह इस प्रकार कि—सबसे पहले जलों को सम्बोधन करके कि 'हे आपः! तुम क्योंकि इन्द्र के ओज, सहः आदि हो इसलिये तुमको इन्द्र के बलों से युक्त करता हूं।' ऐसा कहता है। इसके पश्चात्—'तुम इन्द्र के भाग (अर्थात् अंश) हो, सोम के भाग हो वरुण के अंश हो, मित्रावरुण दोनों के भाग हो, यम के भाग हो पितर और सविता के भाग हो' ऐसा कहता है। इसके पश्चात् 'तीनों लोकों के समस्त जल (अर्थात् अपः) का जो पूजनीय भाग तुम पूर्वोक्त जलों में है और जो वैसा ऊर्मि (तरङ्ग) है, और जो वत्स अर्थात् 'अपांनपात्' नामक विद्युत् सम्बन्धी अग्नि है और जो वैसा 'वृषभ' अर्थात् बड़ा बलवान् कोई पशु है और जो जलों के बीच में पैदा हुआ है, वह वेदों में प्रसिद्ध 'हिरण्यगर्भ' नाम बड़ा बलवान् सबसे पहला 'देव' और जो जलों में वर्तमान नाना रङ्ग के पत्थर के समान मेघ है और जो जलों के बीच में विद्यमान अग्नियें हैं उन सबको एक २ कर शत्रु पर फेंकता हूं। उस शत्रु को मैं मारता हूं। उसको इस मन्त्र से, इस उदवज्र [जल के बने वज्र] से फाड़ता हूं" ऐसा कहता है। उसके बाद अपने किये तीन वर्ष के असत्य भाषण के पाप से रक्षा की याचना करता है। उसके बाद शत्रु के ऊपर

उद्वज्र (जलवज्र) फेंकने लगता है। जब फेंकने लगता है तब अपने 'क्रम' (=फेंकने के कार्य) को सम्बोधन करके उसे कहता है कि-'तू विष्णु का क्रम है अर्थात् जिस क्रम से विष्णु तीनों लोकों को आक्रमण करता है तू वैसा बलवान् है। तू स्वयं पृथ्वी से तीखा किया गया शस्त्र है। उस तुझ (शस्त्र) से पृथिवी से मैं शत्रु को खदेड़ता हूं। इसी प्रकार 'तू-अन्तरिक्ष से तीखा किया गया है, द्यौ से तीखा किया गया है, दिशा से तीखा किया गया है, 'आशा' से तीखा किया गया है, ऋचा से तीखा किया गया है, यज्ञ से तीखा किया गया है, ओषधियों से तीखा किया गया है, जलों से तीखा किया गया है, कृषि से तीखा किया गया है, प्राणों से तीखा किया है इसलिये उस २ (द्यौ, दिशा, आशा आदि) के प्रदेश से उस शत्रु को निकालता हूं।" इतना कहकर कहता है कि—"हमने जीत लिया, शत्रुकी सेना हमने जीत ली।" उसके बाद दक्षिण दिशा की ओर चलता है और कुछ बढ़कर उधर को मुंह करके खड़ा हो जाता है। उसी प्रकार अन्य दिशाओं में भी जाता है सप्तर्षि नाम के नक्षत्र, और ब्राह्मणों के भी अभिमुख जाकर खड़ा होता है और उनमें हरेक से धन मांगता है। और कहता है-'जिस शत्रु को पाऊं उसको मारूं, यह कार्य उस शत्रु को शस्त्र होकर लावे।" फिर उसके बाद 'भुवस्पति' से अन्न की याचना करता है और अग्नि से वर्चस्, प्रजा और आयु मांगता है अग्नि से ही यातुधानों को भेदने की प्रार्थना करता है। और अन्त में पूर्व कहे जो जल हैं उनको ही 'चतुर्भृष्टि' (चौकोना) वज्र बना कर शत्रु के सिर काटने के लिये फेंकता है और आशा करता है कि वह शत्रु के अंगों को भेदे और देवगण मेरे उस सब काम की आज्ञा दें।

जलों के वज्र बनाने के इस प्रयोग के अतिरिक्त पण्डित शङ्कर पाण्डुरंग ने साम्प्रदायिकों के भी उद्वज्र विधान का उल्लेख किया है वह इस प्रकार है—

'इन्द्रस्यौजः०' इस सूक्त के १-६ मन्त्रों की पूर्व अर्ध ऋचाओं से कांसी के कलश को धोता है। 'जिष्णवे०' इत्यादि उत्तरार्ध भागों से उस कांसी के कलश को जल के समीप रखता है। 'इदम् अहं यो मा प्राच्या-दिश०:' इत्यादि कल्पोक्त मन्त्रों से जल के बीच कलश को रखता है। फिर 'इदम् अहम्०' इत्यादि कल्पोक्त सूक्त से कलश के मुख को जल में डुबाता है। पुनः 'इदमहम्०' इस कल्पोक्त सूक्त से जल भरे कलश को मण्डप में स्थापित करता है। यह अभिचार में 'जलाहरण' विधि कहाती है। इसके बाद वज्रप्रहरण विधि है। 'अग्नेर्भागः'० इन (७-१४) आठ मन्त्रों से जल के दो भाग करता है। आधा जल कलसे में रहने देता है और आधा दूसरे पात्र में कर देता है। उस पात्र को आग में तपाता है, कलश को दूसरे पुरुष के हाथ में देता है। इसके बाद दक्षिणाभिमुख बैठ कर पात्र को आगे रख कर 'वातस्य रंहितस्य' इत्यादि कल्प में कहे मन्त्र से जल लेकर 'शम् अग्नये' इस कल्पोक्त सूक्त से सब प्राणियों को अभय देता है। फिर 'यो वः आप अपाम्०' इस (१५) ऋचा से वज्र फेंकता है। इसी प्रकार फिर 'वातस्य रंहितस्य०' से जल लेकर 'यो वः आपो अपामूर्मिः०' इस (१६) मन्त्र से वज्र फेंकता है। इस प्रकार (१७ से २१ तक) ५ मन्त्रों से भी वज्र फेंकता है। 'एतान् अध-राचः पराचः०' इस कल्पोक्त मन्त्र से पात्र का जल भूमि में डालता है। इसी प्रकार 'यं वयं०' इस (४२) और 'अपामस्मै०' इस (५०) मन्त्र से वज्र फेंकता है। (२५ से ३६ तक) इन १२ मन्त्रों से शत्रु की तरफ क्रमण करता है। 'यदर्वाचीनम्०' (२२) इस मन्त्र से वह आचमन करता है जो असत्य भाषण के पाप से छूटना चाहता है। 'समुद्रं वः प्रहि-णोमि०' इस (२३) मन्त्र से जलपात्र पत्नी को दे देता है। सूर्यस्यावृतम्० इत्यादि (३७-४१) पांच मन्त्रों से प्रदक्षिणा करता है।

यह 'उदवज्र विधान' कहाता है। अर्थात् इससे जलको वज्र बनाकर शत्रु पर फेंकने का विधान बतलाया गया है। पंडित शंकर पाण्डुरंग के

खेदानुसार जल में विशेष बल डालकर उसको मन्त्रों से फेंकना उदवज्र है और कौशिक ने एक पूरा कर्मकाण्ड दिखा कर उदवज्र का उल्लेख किया है। दोनों के वज्रप्रक्षेप में तो भेद नहीं प्रत्युत मन्त्रों के विनियोग में भेद है। उदक-हरण, उदक संग्रहण के मन्त्र विशेष हैं। इन सबको पढ़कर कौशिकोक्त प्रकरण का रहस्य बहुत गूढ़ प्रतीत होता है। जलकी अञ्जलियां फेंकने रूप अभिचार या जादू चलाना मात्र कौशिक का अभिप्राय नहीं प्रतीत होता है। पं० शंकर पाण्डुरंगने 'शत्रुनाशन समर्थमस्त्रम् उदके प्रक्षेप्य उदके वज्रत्व कल्पयित्वा' यह कल्पना अपनी ही की है। कौशिकप्रोक्त सूत्रों में यह भाव कहीं नहीं टपकता। प्रत्युत ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड जिस प्रकार विशेष विज्ञान की प्रतिनिधिवाद से व्याख्या करते हैं और उनकी सूत्रकार या कल्पकार केवल क्रियाविधि दर्शाते हैं उसी प्रकार कौशिक ने ब्राह्मणप्रोक्त व्याख्या रूप कर्मकाण्ड की सूत्रों में प्रक्रिया मात्र दर्शाई है। जिसका हम निम्नलिखित तात्पर्य समझते हैं—'कलश' राष्ट्र का प्रतिनिधि है। जल प्रजाओं का प्रतिनिधि है। कारण कलश में जल लेने का तात्पर्य उनको राज्यकी रक्षा में लेना है। उनके दो भाग करने का तात्पर्य शत्रु पर आक्रमण करने के लिये उत्तम प्रजा के पुरुषों का चुनना है, शेष नीचे के जल सहित कलशों का दूसरे पुरुष को सौंपने का तात्पर्य उनको युद्धोपयोगी न समझ कर छोड़ देना है। पात्र के जलको तपाना उनमें तप, विद्या, वीर्य तेज का प्रदान कर उनको उग्र बनाना है। प्राणियों को अभय देनेका तात्पर्य समस्त प्रजाओं को अपने तीव्र सेना बल से निःशंक और भयरहित करना है। चारों दिशाओं में वज्र फेंकने का तात्पर्य दिग्विजय या शत्रु का सब दिशाओं में विजय है। शत्रु की तरफ जाना उसका अभियान है या प्रयाण है। इसीसे राजा के अधीन सेना पुरुषों का और अधिकारी पुरुषों का नीति आदि के वश होकर किये अन्याय्याचरण का प्रायश्चित है और शेष जलपात्र का पत्नी को देने का तात्पर्य शेष सेना को गन्तृपालक शक्ति के हाथ में देना है सूर्यावृत्त प्रदक्षिणा का तात्पर्य सूर्य के समान राजा का प्रजापालनव्रत दर्शाना है।

विनियोग द्वारा दर्शाये मन्त्रों में उनके कर्त्तव्यों का वर्णन है। जिनका स्पष्टार्थ भाष्य में कर दिया गया है। जिस प्रकार बड़ा भारी, विजय कामना से युक्त बलवान् पुरुष चतुर्दिगन्तों को अपने सेना बल से विजय कर के सम्राट् पद को प्राप्त करता है, स्वयं 'इन्द्र' कहाता है उसी प्रकार योगी भी अपनी अध्यात्म साधनाओं से और आत्मा की प्राणादि शक्तियों से व्युत्थानों पर वश कर के आत्मा का साक्षात् करता और परम पद को प्राप्त करता है, वही उसका 'स्वाराज्य' 'साम्राज्य' प्राप्ति कहाता है। इन मन्त्रों की अध्यात्म योजना पर विचार करने से ब्रह्मपदप्राप्ति की साधना के रहस्य भी इस सूक्त से विदित होते हैं। उस पक्ष में 'आपः', प्राण हैं। 'कलश' देह है। उनके आधे नाभि से ऊपर के प्राणों को तपस्या से साधना करते हैं पुन चित्त वृत्ति के जितने भी द्वार हैं सभी में स्थित कामादि व्युत्थान वृत्तियों का शत्रु सेना के समान विजय किया जाता है। और फिर सूर्य के समान तेजस्वी होकर पूर्ण विजय लाभ किया जाता है।

(३) वरण मणि और खादिरफालमणि।

द्वितीय खण्ड की भूमिका (पृ० १—६) में अथर्ववेद के कल्पोक्त मणि और मन्त्रोक्त मणि शब्द की विवेचना हमने पर्याप्त रूप से की है। पाठक हमारे अभिप्राय को वहां ही अवगत करें।

दशम काण्ड के 'अरातीयो भ्रातृव्यस्य०' इत्यादि सू० ६ को सर्व-कामना सिद्धि के लिये 'खदिरफालमणि' बांधने में लगाया है। इस सूक्त के 'घृतमिच्मं०' (३५) मन्त्र से खादिर वृक्ष का काष्ठ ले कर 'तमिमं०' इस (२६) मन्त्र से घृत में डुबाकर 'ब्रह्मणा०' इस (३०) मन्त्र से बांधने को लिखा है। इसी को 'फालमणि' भी कहा है।

परन्तु मन्त्रों में फालमणि के जिन गुणों का वर्णन किया गया है उन से वह काष्ठखण्डमात्र प्रतीत नहीं होता। जैसे—

१. अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा॥ २॥

द्वेषकारी अप्रिय शत्रु का शिर मैं पराक्रम से काट दूं।

२ श्रद्धा यज्ञ महो दधन् गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥

वह मणि श्रद्धा, यज्ञ और तेज को धारण करे। वह घर में अतिथि होकर रहे।

३. सः नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेय श्रेयः चिकित्सतु ॥ ५ ॥

पिता के समान पुत्रों का कल्याण ही कल्याण करे।

४ तेन त्वं द्विषो जहि ॥ ६ ॥

उसके बल से तू शत्रुओं का नाश कर।

५ ०सोऽस्मै बलम् इद् दुहे ॥ ७ ॥ ०सोऽस्मै वर्च इद् दुहे ॥ ८ ॥ ०सोऽस्मै भूतिम् इद् दुहे ॥ ९ ॥ ०श्रियमिद् दुहे ॥१०॥ ०वाजिन दुहे ॥११॥ ०महो दुहे ॥१२॥ ०सूनृता दुहे ॥१३॥ ०अमृतमिद् दुहे ॥१४॥ सत्यमिद् दुहे ॥१५॥ ०जितिमिद् दुहे ॥१६॥

वह बल, तेज भूति, श्री, वीर्य, महत्ता, सत्यवाणी, और अमृत और सत्य और विजय को प्रदान करे। ये गुण काष्ठमणि में असम्भव हैं। इन इन कार्यों के लिये उत्तम शिरोमणि पुरुषों को राष्ट्र में वेतन और मान से बांध लेना ही वेद मन्त्र का सुसंगत अर्थ है।

इस मणि के बल पर शत्रुओं का गिराना (म० १९) डाकू लोगों के गढ़ तोड़ना, (२०), शत्रुओं को मारना (२१), राष्ट्रबल को बढ़ाना (२६), आदि गुणों का वर्णन भी श्रेष्ठ शिरोमणि, नायक पुरुषों में ही घटता है।

इसको फालमणि क्यों कहा इसका उत्तर वेद स्वयं देता है।

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।

एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं विरोहतु ॥ ३ ॥

जिस प्रकार हल की फाली से खेत जोत लेने पर उसमें पड़ा बीज खूब फलता है, उसी प्रकार इस शिरोमणि द्वारा राष्ट्र के उत्तम रीति से तैयार हो जाने पर राष्ट्र में मुझ राजा की प्रजा, पशु और सब प्रकार के अन्न खूब बढ़ें।

(४) वरणमणि

उक्त फालमणि के समान ही वरणमणि क बांधने में 'अयं' मे वरणो मणि०: इत्यादि का० १०। सू० ३॥ का विनियोग लिखा गया है। इस सम्बंध में भी हमें कुछ विशेष कहना उचित नहीं जान पड़ता। इतने से ही पाठक जान कि लें इस सूक्त में वरणमणि के दिये विशेषण वरणा वृक्ष के काष्ठ-खण्ड में न घट कर वीर नेता पुरुष में ही घटते हैं। जैसे—

> १—अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
> तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥

वरणमणि शत्रुओं का नाशक, बलवान् पुरुष अर्थात् 'वृषा' है। उसके बल पर हे राजन्! तू शत्रुओं का नाश कर, दुष्टों को कुचल डाल।

> २—अवारयन्त वरणेन देवाः अभ्याचारम् असुराणां श्वः श्वः ॥ २ ॥

'वरण' के बल से विद्वान् लोग दुष्ट असुरों के अत्याचार को बराबर दूर करते हैं।

> स ते शत्रून् अधरान् पादयाति पूर्वः तान्। दम्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥ ३ ॥

वह तेरे शत्रुओं को नीचे गिरावे और सब से प्रथम वह उनको मारे जो राजा को प्रेम न करके द्वेष करते हैं।

वरण के स्पष्टीकरण के लिये स्वयं वेद लिखता है—

> अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ॥ ११ ॥

यह मेरा 'वरण' छाती पर बाहू के समान क्षत्रिय, राजा, साक्षात् विजयी है और बड़े वृक्ष के समान सबका आश्रयप्रद वनस्पति है।

म म राष्ट्रं न देन च वमन् अजरत्व मे दधत ॥ ११ ॥

यह मेरे राष्ट्र, बात्मबल पशु और पराक्रम को धारण करता है। उस 'वरण' नामक सेनानायक या बलवान् राजा में दोनों ही गुण हैं अग्नि का और वायु का। वायु जिस प्रकार वृक्षों को तोड़ता फोड़ता जाता है इसी प्रकार आक्रमण करके शत्रु राष्ट्रों को तोड़ता फोड़ता है।

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि ॥ १३ ॥

इसी प्रकार अग्नि और वायु मिलकर प्रचण्ड होकर जिस प्रकार वृक्षों को जला डालते हैं उसी प्रकार वह शत्रुओं को भून डाले, जला डाले, दग्ध डाले।

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्साती वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि ॥ १४ ॥

प्रबल वायु से जिस प्रकार टूट २ कर वृक्ष गिर पड़ते हैं उसी प्रकार वह शत्रुओं को उखाड़ कर नीचे गिरा दे।

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः ।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्रक्षिणीहि न्यर्पय ॥

इसी प्रकार वह सूर्य के समान तेजस्वी होकर राष्ट्र को तेजस्वी और यशस्वी करे।

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥

इस वरण नामक सेनानायक के कारण राजा को चन्द्र, सूर्य, पृथिवी कन्या सजा रथ, सोमपायी विद्वान्, मधुपर्क, अग्निहोत्र, यजमान यज्ञ, प्रजापति, परमेष्ठी, और देवगणों में स्थित यश, वीर्य, पवित्रता, आदर प्रतिष्ठा, और उच्च पद आदि प्राप्त होते हैं (१७-२५)।

वरणमणि ही राष्ट्र के नाशक और पशुओं के घातक लोगों को प्राण दण्ड देता है।

> तांस्त्वं प्रच्छिन्धि पुरा दिष्टात् पुरायुषः ।
> य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥

इस प्रकार समस्त राष्ट्र के कष्टों का वारण करने वाला ही 'वरण' मणि कहाता है। और वह राष्ट्र के भिन्न २ प्रकार के कष्टों को भिन्न २ प्रकार से वारण करता है। वेद ने तो लक्षणमात्र दिखा दिया है। राजा भिन्न कार्यों के लिये ऐसे अधिकारी व संस्थायें भी नियुक्त कर सकता है। 'वरण' का शब्दार्थ स्वयं वेद खोलता है।

> 'वरणो वारयाता ॥ ५ ॥

वारण करने वाला ही होने से 'वरण' वह है।

> अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात् ।
> अयं त्वां सर्वस्मात् पापात् वरणो वारयिष्यते ॥ ४ ॥
> स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगःसृतिं यदि धावादजुष्टं ।
> परिक्षवात् शकुनेः पापवादादयं वरणो वारयिष्यते ॥
> यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
> ततो नो वारयिष्यते ॥

कृत्या या घातक प्रयोगों को, पुरुषों द्वारा किये जाने वाले भयजनक वध से, सब प्रकार के अत्याचार से 'वरण' वारण करता है। सोते पर विपत्ति आवे, यदि जंगली पशु आ पड़े। शक्तिशाली पुरुष डाकू आदि आक्रमण करें, निन्दा फैलावें। मां, बाप, भाई, बन्धु अत्याचार करें तो सब विपत्तियों को दूर करना 'वरण' का काम है। इसको हम 'मैजिस्ट्रेट' या 'कमिश्नर' के पद से तुलना कर सकते हैं जिसके अधीन राष्ट्र के बहुत से महकमे हों। ऐसी दशा में एक ही व्यक्ति बहुत से कर्त्तव्यों का उत्तरदाता हो जाता है।

वरण शब्द के समान ही 'वरुण' शब्द को भी समझना चाहिये। धात्वर्थ दोनों में समान है। वरुण के कर्त्तव्यों में यह राजा के सब कर्त्तव्य सम्मिलित हो जाते हैं। पाठक स्वयं मूल मन्त्रों के भाष्य में स्थान स्थान पर देखेंगे।

(५) पुरुषमेध।

'केन पार्ष्णी आभृते' इत्यादि का० १०। सूक्त २। को पं० शङ्कर पाण्डु रंग के लेखानुसार यज्ञलम्पट साम्प्रदायिकों ने पुरुष मेध में विनियुक्त किया है। जैसे—पुरुषमेध में पुरुष को निहला धुलाकर बलि दिये जाने योग्य पुरुषरूप पशु को 'केन पार्ष्णी०' इस सूक्त से अनुमन्त्रण किया जाता है। वैतान सूक्त में इस सूक्त के साथ २ पुरुषसूक्त (अथर्व० १६। ६) का भी वाचना लिखा है। शान्तिकल्प में शनैश्चर ग्रह के निमित्त होम के लिये उक्त दोनों सूक्तों का विनियोग किया है। परन्तु इन मत के विपरीत स्वयं पाण्डुरंग महाशय इस सूक्त में पुरुष अर्थात् मनुष्य (शरीर) का माहात्म्य बतलाते हैं।

पं० शंकर पाण्डु रंग के मत से ही पूर्वोक्त पुरुषमेधवादी और शनैश्चर ग्रह होमवादी पाखण्ड पक्षों का खण्डन हो जाता है। वास्तव में यह अथर्ववेदान्तर्गत 'केन' उपनिषत् कहें तो बड़ा ही सुसंगत है।

इस सूक्त में प्रथम २० मन्त्रों में पुरुष (आत्मा) के शरीरों की अद्भुत रचना देखकर उसके कर्त्ता के विषय में अद्भुत प्रश्न किये हैं। इसका रचयिता केवल 'ब्रह्म' को बतलाया है (२०)। (२२, २४) में संसार की विशाल शक्तियों के कर्त्ता के विषय में प्रश्न किये हैं। (२४, २५) में उनका कर्त्ता भी ब्रह्म को ही बतलाया है। फिर मनुष्य के शिर की अद्भुत रचना पर (२६) में प्रश्न किया है। (२७) में समस्त दिव्य शक्तियों का उसको खज़ाना बतलाकर उसी में प्राण, मन और अन्न का स्थान बतलाया है।

आत्मारूप पुरुष की नाना सृष्टियां दर्शाकर 'पुरुष' की व्युत्पत्ति बतलाई है। शिर को ही 'ब्रह्मपुरी' कहा है (२६)। उसी को 'अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्यापुरी' कहा गया है (३१)। उसमें तीन अरों वाले ज्योतिर्मय हिरण्यय कोष और उसमें आत्मा की स्थिति का वर्णन है (३२)। उसी को हरिणी, यशस्विनी, हिरण्ययी, अपराजिता पुरी कहा गया है (३३)।

ऐसी ब्रह्मोपनिषद् विद्या के दिखलाने वाले सूक्त को पुरुषबलि पर लगाना बड़ी मूढ़ता है। यह ऐसा ही समझना चाहिये जैसे दयालु ईश्वर का नाम लेकर कोई पशुहिंसा करे। मांसलोलुप कसाई लोग ऐसा ही करते हैं। फलतः, इस सूक्त में पुरुष हिंसा का कहीं भी गन्ध नहीं। ब्राह्मण-कारों ने कर्मकाण्ड में जहां कहीं पुरुषमेध का उल्लेख किया भी है वह केवल प्रतिनिधिवाद से व्याख्या करने योग्य पदार्थ की व्याख्या करने के लिये ही, नकि देवता के प्रीत्यर्थ। यजुर्वेद गत पुरुषमेध का प्रकरण हम यजुर्वेद की भूमिका में ही दर्शावेंगे। अब हम वशाशमन के प्रकरण पर विचार करते हैं।

(६) शतौदना और वशा।

वशाशमन के विषय में कुछ संक्षेप से हमने द्वितीय खण्ड की भूमिका (पृ० २३, २४) में लिखा है। उस खण्ड में कुछ विशेष सूक्तों का समावेश न होने से हमने वहां उल्लेख नहीं किया इस खण्ड में काण्ड १० का सू० ९ वां, १० वां एवं का० १२। सू० ४। ये तीन सूक्त वशा के विषय के हैं। इनका क्रमशः आलोचन करना उचित है।

'अघायतामपिनह्या मुखानि०' इत्यादि (अथर्व० का० १०। सू० ९) की उत्थानिका में श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने लिखा है कि—

" अघायतामिति सूक्तं आहुत्यर्थं गोवधे विनियुज्यते। सा च वन्ध्या गौः शतौदना इत्युच्यते। तस्याः वधेन तस्याः मांसाहुत्या च यद् यजनं। तद् अग्निष्टोमादपि अतिरा-त्रादपि च श्रेष्ठम्। इत्यादिरूपा प्रशंसा। यैव हन्यते तां प्रति हन्तृभ्यो मा भैषीस्त्वं देवी

मवित्र्यसि देवा स्वर्गे देवा गोस्म्यत्सीरयादि प्रो माहनम् । यश्चहन्ति यो वा पचति यो वा जुहोति स उत्तम स्वर्ग गच्छति इत्यादिना गोभिवचनेन प्रशंसा च क्रियते गोमेधस्य ''॥

अर्थ—'अघायताम्०' इत्यादि सूक्त का आहुति के लिये किये गये गोवध में विनियोग किया जाता है। वह बांझ गौ 'शतौदना' कहाती है। उसके वध करने से और उसके मांस की आहुति देने से जो यज्ञ किया जाता है वह अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञों से भी श्रेष्ठ है। इत्यादि प्रशंसा इस सूक्त में की गयी है। इसी प्रकार जो बांझ गाय मारी जाती है उस को मारने वालों को यह प्रोत्साहन दिया गया है कि—'हे गाय तू मरने से मत डर तेरी स्वर्ग में देवगण रखवाली करते हैं, इत्यादि। जो तुझे मारता है जो पकाता या जो होमता है वह उत्तम स्वर्ग को जाता है इत्यादि, गौ के वर्णन से ही गोमेध की प्रशंसा है।

इसी के साथ उक्त पण्डित ने साम्प्रदायिकों के विधान का उल्लेख नीचे लिखे प्रकार से किया है।

'अघायताम्०' इस अर्थ सूक्त से 'शतौदन सव' में तय्यार की हवि का स्पर्श सपात्र और दानवाचन और दान करे। अर्थात् 'अघायताम्०' (१) इस मन्त्र से गौ का मुख बांधे। मन्त्र (२) को गिरते पशु पर पढ़े। इसी से इसके चर्म को फैला दें। उसके शरीर से सौ अंश काटकर भात की ढेरियों पर रखे। प्रथम पर आमिक्षा और दसवें पर सात सात पूरियां रखे। १९ वें पर दो पुरोडाश, आगे सुवर्ण रखे। 'आपो देवी०' (२७) इस मन्त्र से जल के पात्र रखे। 'वाल्हास्ते०' (३) इस मन्त्र से अग्नि की प्रदक्षिणा करके बैठे। अगमार्जन और आचमन करे। हाथ में जल लेकर अमुक भात के अवदानों में से पूर्व के आधे से दो खण्ड लेकर ऊपर जल टपका कर आहुति दे। 'सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणानार्षेयेषु निदध्म ओदन त्वा' इससे खावे। 'अग्नेष्ट्वा आस्येन प्राश्नामि०' इत्यादि सूत्रोक्त मन्त्र से पढ़े। 'योऽग्निर्मेधा नाम०' इस सूत्रोक्त मन्त्र से दाता की स्तुति करे।

अब आलोचना कीजिये कि साम्प्रदायिकों के अनुसार तो उनकी विधि में समस्त सूक्त के केवल ४ मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं। शेष नहीं, और कल्पकार ने अपने ही मन्त्र अपनी कार्यसिद्धि के लिये गढ़ लिये हैं। विनियोग ऐसा असंगत है कि देखकर हंसी आती है। मन्त्र कहता है कि—

'अघायताम् अपिनह्या मुखानि'। म० १॥

पापाचारियों के मुखों को बांध। परन्तु यहां गाय पशु का मुख बांध लिया जाता है। मन्त्र कहता है—

'सपत्नेषु वज्रमर्पय एतम्'॥ १॥

शत्रुओं पर वज्र प्रहार कर। पर यहां निरपराध गाय पर वज्र चलाया जाता है। मन्त्र कहता है कि—

'इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी'॥ १॥

इन्द्र ने यजमान को सर्वश्रेष्ठ शत्रु, के नाश करने वाली 'शतौदना' दी। परन्तु यहां वशा गौ पर ही सब आफत आ टूटती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्र के अभिप्राय को शतांश भी न समझ कर यह विनियोग मांस-लोलुप, पापी पुरुषों ने स्वार्थसिद्धि के लिये बनाया है और भात-मांस के चटोरे लोगों ने अपने २ मन्त्र गढ़कर उनको कल्प ग्रन्थों में मिला दिया है और दानृवाचन अर्थात् उनको गोमांससहित भात खिलाने वाले यजमान की प्रशंसा के पुल भी लिख दिये गये हैं।

गोवध–मीमांसा

अब शंकर पाण्डुरंग के निजी लेख की परीक्षा करते हैं। आपके लेख से (१) 'अघायताम्०' इस सूक्त का विनियोग आहुत्यर्थ गोवध में है। इसका कोई प्रमाण उक्त पण्डित ने नहीं दिखाया। इसी प्रकार वन्ध्या गौ 'शतौदना' कहाती है यह लेख भी प्रमाण युक्त नहीं है। फिर गौ के मरने पर उसके रक्षक देव लोक में हैं, उसका मारण, पाचन, आहुति स्वर्ग देना इत्यादि ये सब भी निराधार ढकोसला हो जाता है। सायणकृत इस सूक्त

का भाष्य उपलब्ध नहीं है। इसका निर्णय हमें वेद के मूल मन्त्र और उसके प्रकरणोचित अर्थों पर ही करना होगा। प्रथम मन्त्र के विनियोग की आलोचना हम कर चुके हैं। रहा 'शतौदना' शब्द। वन्ध्या गौ ही शतौदना क्यों कहाती है। इसमें वेदमन्त्रोक्त प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। इस समस्त सूक्त में 'गौ' का नाम ही नहीं है। इसी प्रकार एक भी मन्त्र में शतौदना के मारने का विधान नहीं है। 'शमितार:', 'पक्तार:' ये दो प्रयोग ७ वें मन्त्र में हैं। ९ वें मन्त्र में दान देने की प्रशंसा की है। १३ से २५ मन्त्रों तक शतौदना के भिन्न २ अंगों की सम्पदा का वर्णन किया है कि वे दाता को आमिक्षा, क्षीर, सर्पि और मधु प्रदान करें।

शतौदना का रहस्य

यह सब रहस्यमय सूक्त है। इसका रहस्य ओदनशब्द में छिपा है। 'शतौदना'—का अर्थ है शतवीर्या, या शत प्रजापति युक्त पृथिवी। क्योंकि—'प्रजापतिर्वा ओदन'। श० १३। ३। ६। ७॥ जिस पृथिवी में सैकड़ों प्रजा पालक राजा हैं वह भूमि ही 'शतौदना' है। रेतो वा ओदनः। श० १३। १। १। ४॥ वीर्य को ओदन कहा है। पृथिवी में सैकड़ों सामर्थ्य होने से वह 'शतौदना' है। इसी प्रकार ब्रह्मशक्ति और अध्यात्म में विभूतिमती आत्मशक्ति 'शतौदना' है। पृथिवी पर शान्ति का विस्तार करने वाले और उस पर श्रम करके फल प्राप्त करने वाले विद्वान् शक्तिशाली पुरुष उसके 'शमिता' और 'पक्ता' हैं। वे ही उस शतौदना की रक्षा करते हैं। जैसा वेद स्वयं कहता है—

> ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः।
> ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने॥ ७॥

हे देवि शतौदने! तेरे जो पक्ता और शमिता लोग हैं वे सब तेरी रक्षा करेंगे। इसके अनुसार पं० शंकर पाण्डुरंग का यह कथन कि गौ के मारे जाने पर देवलोग स्वर्ग में रक्षा करेंगे, निराधार कथन है। मंत्र २९ में—

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥ २५ ॥

हे देवि ! तेरे पुरोडाश और आज्य से सिंची दोनों बगलें हों । उन दोनों पक्षों से तू 'पक्ता' को द्यौ (प्रकाशमय) लोक को ले जा ।

इस शब्दार्थ को लेकर भी हम पाण्डुरंग कल्पित गौ की हिंसा को नहीं पा सकते । क्योंकि जिस को हम चाहते हैं कि वह हमें आकाश में ले उड़े, वह मरने पर तो पृथिवी पर एक कदम भी नहीं लेजा सकती ! फिर यह सब अन्धविश्वास पूर्वक ढकोंसला नहीं तो क्या है ?

'पुरोडाश' का अर्थ

इस मन्त्र में पड़े 'पुरोडाश' शब्द को ही नहीं समझा गया । फिर शतौदना के पक्षों को समझने में भूल की गयी है । द्यौ और पृथिवी दोनों 'पुरोडाश' हैं । द्यौ और पृथिवी दोनों मिलकर जो महान् कूर्म बनता है वही 'पुरोडाश' है । उसके द्यौ और पृथिवी दोनों क्रोड़ अर्थात् बगलें ही दो पक्ष हैं । वे दोनों उस महती पृथिवी के परिपाक करने वाले और श्रम से फल प्राप्त करने वालों को वह द्यौलोक या सुखप्रद लोक को या विजय को प्राप्त कराते हैं । राष्ट्र पक्ष में—विड् उत्तरः पुरोडाशः । श० ४ । २ । ४ । २२ । क्षत्रिय और वैश्य ये दोनों 'पुरुडाश' हैं । ये दोनों ही पृथिवी के क्रोड़ हैं । जो राजा पृथिवी का परिपाक करता है, उसे अपने तेज से पकाता है उसको वह राष्ट्रभूमि विजय और सुख प्रदान करती है । उसी प्रकार आत्मशक्ति और ब्रह्मशक्ति की साधना करने वाला अपने तप से उसको परिपाक करता है । वह उसको 'दिव्' अर्थात् प्रकाशमय, मोक्षलोक या ब्रह्म को प्राप्त कराती है ।

इसके अङ्गों से आमिक्षा, क्षीर, सर्पि और मधु के प्राप्त होने की प्रार्थना की है । उसके परम गूढ़ आशय समझने के लिये हम पाठकों से (अथर्व० १० । ११) अगले सूक्त के स्वाध्याय करने का आग्रह करेंगे और साथ

ही आठवें काण्ड के सू० ६ और १० में कही विराट् गौ के वर्णन को फिर सूक्ष्म विचार पूर्वक पढ़ने का आग्रह करेंगे ।

यहां का ही निम्नलिखित मन्त्र इस आशय को स्पष्ट कर देता है ।

तेनजी इन्द्राय दुदुहे गृष्टिर्वशा पीयूषं प्रथमं दुहाना ।

अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्यां ३ असुरान् उत ऋषीन् ॥ ८ । ९ । २४ ॥

देव, मनुष्य, असुर और ऋषि इन चारों को ४ रसों से तृप्त करने वाली 'गृष्टि' सर्व श्रेष्ठ रस पीयूष का प्रदान वह केवल 'इन्द्र,' राजा या योगी आत्मा को प्रदान करती है ।

इस (काण्ड १० । सू० । १०) के १८ मन्त्र में लिखा है ।

इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना । इसी की व्याख्या है—

इयमेव सा प्रथमा व्यौच्छद् आस्वितरासु चरति प्रविष्टा महान्तो अस्या महिमानः ।

अथर्व० ८ । ९ । ११ ॥

हमने जो तीन स्वरूप शतौदना को देखे हैं वह भी स्पष्ट हैं ।

अग्नेरेषा जिन्वति अन्यैका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् अथर्व० ८ । ९ । १३ ॥

गोमेध का स्वरूप

गोमेध यज्ञ को गोसव भी कहा है । ताण्ड्य ब्राह्मण ने स्पष्ट ही कह दिया है—

अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः । तां० १९ । १३ ॥ गोसव तो स्वाराज्य यज्ञ है । स्वराज्य साधना ही 'गोसव' या 'गोमेध' है । यहां यह कहना भी असंगत न होगा कि ब्रह्मवेदियों के लिये आत्मसाधना और परमपदलाभ को ही 'स्वराज्य' शब्द से कहा गया है । इसलिये अध्यात्म में आत्मशक्ति और परम ब्रह्मशक्ति को ही 'शतौदना' कहना उचित है । ब्रह्मवेद या अथर्ववेद का भी मुख्य विषय तो ब्रह्मनिरूपण है और शेष तो प्रतिदृष्टान्त मात्र से कहा जाता है । इस प्रकार हम गोवध का इस सूक्त में लेश भी नहीं पाते हैं ।

सूक्त में और भी बहुत से रहस्य स्थल हैं जिनको हमने यथास्थान भाष्य में ही सप्रमाण खोल दिया है पाठक उसी स्थान पर देखें। यहां तो स्थाली-पुलाक न्याय से दर्शा दिया गया है।

(७) वशागमन

अथर्ववेद के कुछ सूक्त 'वशा' विषयक हैं। जिनको साम्प्रदायिक एवं पं० शंकर पाण्डुरंग और अन्य योरोपीयन विद्वान् भी वशा नाम वन्ध्या गौ के बलि करने में प्रयुक्त मानते हैं। इस स्थल पर हम इन समस्त सूक्तों की विवेचना कर देना चाहते हैं और इस भ्रम को मिटा देना चाहते हैं कि वेदों में 'वशा' नाम वन्ध्या गौ के बलि जैसे भ्रष्ट कार्य का विधान है।

अथर्ववेद का 'समिद्धो अग्नि०' इत्यादि काण्ड० ५। सूक्त १२॥ वशा विषयक हैं। उसकी प्रस्तावना में श्री शंकर पाण्डु रंग ने लिखा है कि—

वशाशमन कर्म मे 'वपा' [चर्बी] के चार खण्ड करके 'समिद्धो अग्न०' इस सूक्त मे एक खण्ड का होम करता है। 'ऊर्ध्वा अस्य०' इत्यादि (अथर्व० ५। २७) सूक्त मे उस चर्बी के दूसरे खण्ड की आहुति देता है। उक्त दोनों सूक्तों को मिला कर तीसरे खण्ड की और 'अनुमतये स्वाहा' इस मन्त्र से चौथे खण्ड की आहुति देता है।

इस के बाद 'नमस्ते जायमानायै० इत्यादि काण्ड १०। सूक्त १०। की प्रस्ताविका में उक्त पण्डित लिखते हैं कि इस सूक्त मे पूर्व सूक्त में कही वशा केवल मेध्य (होमयोग्य) मांस वाली ही नहीं होती, बल्कि वह काट दी जाने पर कोई बड़ी भारी देवी होने पर देवों के बीच में सर्वदेवमय हो जाती है। इत्यादि प्रशंसा और माहात्म्य कहा है।

परन्तु साम्प्रदायिकों के मत मे 'नमस्ते जायमानायै'० इत्यादि और 'ददामि इत्येव'० इत्यादि (१२।४।) इन दोनों सूक्तों से 'वशा' नाम गौ का दान किया जाता है। और 'भूमिस्त्वा'० इत्यादि मन्त्र से अर्पण करता है।

'वशा' शब्द पर विचार

इन सूक्तों के ऊपर विचार करने के पूर्व हम 'वशा' शब्द पर विचार करते हैं। का० १२। सू०। ४ की प्रस्तावना में स्वयं शंकर पाण्डुरंग लिखते हैं—

वशा गौः या गर्भं न गृह्णाति इति दारिलः (कौ० ५१८) वशा वन्ध्या गौरिति भाष्य.। (ऋ० २। ७। ५) वशा स्वभाववन्ध्या गौरिति स एव। (ऋ० १०।११।१४)

'कौशिक सूत्र के भाष्यकार दारिल और वेदों के भाष्यकार सायण दोनों के मत से वशा का 'शब्दार्थ वन्ध्या गौ' है। परन्तु इन भाष्यकारों और कल्पकारों के कहने मात्र से किसी वेद के शब्द का तब तक कोई अर्थ निश्चय नहीं किया जा सकता, जबतक वेद के बतलाये उस वस्तु के लक्षण उसमें न घटते हों।

स्वयं वेद कहता है (अथर्व० का० १०। सू० १० ॥

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशामापो गुपिता इमाः।
वशा सहस्रधारा ब्रह्मणा अच्छा वदामसि ॥ ४ ॥

जिससे आकाश, पृथिवी और समस्त जल, समुद्र मेघ आदि सुरक्षित हैं वह सहस्रधारा (धारण पोषण करने में समर्थ) शक्ति है इसका हम (ब्रह्मणा) वेद द्वारा साक्षात् वर्णन करते हैं।

पं० शंकर पाण्डुरंग, दारिल और सायण तो वशा से वन्ध्या गौ लेते हैं। परन्तु वेद में आकाश और पृथ्वी की वशकारिणी शक्ति 'वशा' है। इसके अतिरिक्त वन्ध्या गौ के दूध नहीं होता फिर दोहना उसका असम्भव है। परन्तु यहां वेद कहता है।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

उसके दोहने के लिये सैकड़ों कांसेके पात्र चाहिये। सैकड़ों उसकी पीठ पर उसके रक्षक विराजमान हैं। जो देव उसके आश्रय पर जीरहे हैं वे उसको एक ही प्रकार का जानते हैं।

अब उसका स्वरूप भी देखिये। वेद कहता है।

> यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।
> वशा पर्जन्यपत्नी देवान् अप्येति ब्रह्मणा॥ ६॥

यज्ञ उसके चरण हैं इरा=अन्न उसका दूध है। स्वधा जल उसके प्राण हैं। उसपर बड़े २ लोक हैं। वह 'वशा' पर्जन्य की पत्नी है: वह ब्रह्म= अन्न के रूपसे देवों को प्राप्त होती है।

उसके तीन रूप हैं—

> अपः त्वंधुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे।
> तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम्॥ ८॥

तू जल दोहती है उर्वरा भूमि होकर राष्ट्र को दोहती है, अन्न को दोहती है। और गौ के रूपमें दूध दोहती है।

वन्ध्या वशा के पुत्रों को भी देखिये।

> वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव।

वशा राजा की माता है। हे अन्न! वशा तेरी माता है।

अब और अधिक मन्त्रों का उल्लेख न करके हमने पाठकों के लिये यह समझ लेना अत्यन्त सुगम कर दिया है कि वह 'वशा' पृथिवी है जहां अन्न उत्पन्न होता है, जो राजा की माता है। वह राजा को उत्पन्न करती है और अन्नको भी पैदा करती है। पृथ्वी सभी स्थानों से हिरण्य, मणि-मुक्ता, वायु, जल, तथा अन्यान्य कोटि कोटि जीवों को पालने के लिये सब कुछ पैदा कर रही है। परन्तु उजड़ी पृथ्वी किसी को कुछ नहीं देती। विद्वान लोग उसपर अपने ज्ञान से और श्रम से सब कुछ उत्पन्न करते

हैं। इसी से वह वन्ध्या होकर भी बहुत पैदा करती है। वन्ध्या गौ भी 'वशा' कहाती है यह उपमालंकार भी कदाचित् मन्त्र २३। में आये 'असूत' पद से निकाला गया है। परन्तु उसी मन्त्र में 'वशा समुद्र' यह देख लेते तो उनको वन्ध्या होने का भ्रम न होता।

इस वशा का दूसरा रूप परमेश्वर की महती शक्ति है। वही परमेश्वर का ज्ञान उत्पन्न कराती है। मानो अपने में से उसी महान् राजा परमेश्वर को प्रकट करती है। इस प्रकार हम पाठकों को केवल वशा की समस्या सरल करने की दिशा मात्र दर्शाते हैं। शेष इन सूक्तों के मन्त्रों में जितने भी विवादास्पद विषय हैं वे हमने अपने भाष्य में प्रमाण सहित स्पष्ट कर दिये हैं।

कौशिक सूत्रों में भी वेद का एक मन्त्र भी इस वशा के मारने के लिये नहीं लिखा गया है। जो सूक्त वपाहोम में लगाये गये हैं उनमें भी वपा-होमका कहीं वर्णन तक नहीं है। तब पाठक समझ सकते हैं कि विनियोगकारों ने और गृह्यसूत्रों में से भी कइयों ने गौ आदि को मार कर होम आदि करने में वेदमन्त्रों के साथ कितनी धान्दलेबाजी कर रक्खी है।

पांचवें काण्ड के १२ वें सूक्त में विद्वानों द्वारा आत्मा और ईश्वर के गुणों का वर्णन है। सूक्त २७ में ब्रह्मोपासना का उपदेश और परमेश्वरी शक्ति का वर्णन है। का० १० । सू० ९ में शतौदना नाम प्रजापति की शक्ति का वर्णन है। का० १०। सू० १० में 'वशा' नामराष्ट्रप्रजावशकारिणी राजशक्ति और ब्रह्माण्ड को वश करने वाली भुवनेश्वरी परमेश्वरी शक्ति का वर्णन है। और उसी शक्ति का वर्णन और दान, ज्ञान कराने की आज्ञा और उसके सदुपयोग और दुरुपयोग के लाभ, हानियों का वर्णन का० १२। ४ सूक्त में किया गया है। विस्तार से पाठकगण प्रस्तुत भाष्य में देखें।

गोमेध और शूलगव पर विचार

जिन भ्रान्तिमान् विद्वानों का यह विश्वास है। कि प्राचीनकाल में गोमेध यज्ञ होता ही था और उसमें गौ आदि का मारा जाना अवश्य होता था, उनको

अपनी भ्रान्ति का निवारण गोभिल गृह्यसूत्र में लिखे गोयज्ञ से अवश्य कर लेना चाहिये। यदि उनके चित्त में दुराग्रह नहीं है तो उनको गोभिलगृह्य सूत्र प्रोक्त गोयज्ञ पढ़जाना चाहिये। उसमें सिवाय 'गो-पालन' के दूसरा कोई भ्रष्ट विधान नहीं है। पारस्करने तो शूलगव का सब हिंसामय प्रकरण लिखकर भी लिख दिया है।

एतेनैव गोयज्ञो व्याख्यातः ॥ १५ ॥ पायसेनानर्थलुप्तः ॥ १६ ॥

अर्थात् शूलगव से ही गोयज्ञ भी कह दिया। परन्तु अनर्थ को छोड़कर शेष सब आहुतियां भी 'पायस' [=खीर, दूध] से हों। स्वयं सूत्रकार पारस्कर पूर्वोक्त, शूलगव को 'अनर्थ' शब्द से कहते हैं और गोलव में उसका विधान नहीं चाहते। यदि शूलगव को देख लें तो ही पाठकों को तोष हो सकता है। कि वृषभ का वधरूप यह अनर्थ भी रातको नगर से बहुत बाहर होता था। कोई इस काम को नगर के भीतर नहीं कर सकता था। मांस भी घर पर छुपा कर बाहर ही से काटकर और पकाकर लाया जाता था। घर के भीतर वह घृणित काम मांस का काटना, पकाना आदि नहीं हो सकता था। इससे प्रतीत होता है कि मांसलोलुप यजमानों ने या अर्थलोलुप पुरोहितों ने गोवध के सर्वथा प्रतिकूल राज्यशासन में भी अपने यजमानों से टका सीधा करने की गर्ज़ से उनका मनचाहा करने गृह्यसूत्रों में 'शूलगव' आदि लिख दिया है। उसकी विधि ऐसी बना दी है कि मांसलोलुप यजमान चोरी से छिप २ कर ये काम कर लें और राष्ट्र के गोवध आदि सम्बन्धी ग्राम और नगर के क़ानून भी उन पर न लग सकें।

मानव गृह्यसूत्र में लिख दिया है—'नाशृतं ग्राममाहरेत्। २५। ४॥' अर्थात् बिना पका मांस ग्राम में न लावे।

(८) स्कम्भ

जो योरोपीयन् विद्वान् वेदों को जंगली, असभ्य, अशिक्षित, वनचर लोगों के निरर्थक गीत समझते हैं उनको अपने बड़े २ दिमाग़ स्कम्भ सूक्त

पर लगाने चाहिये। उनको अपने मस्तिष्कों का अन्दाजा मालूम हो जायगा। उनको स्वयं अनुभव होगा कि वे भूल में थे। उच्चतम दर्शन यदि कहीं विद्यमान है तो वह वेद में है और समस्त उपनिषद् और आरण्यक, ब्रह्मविद्या का सर्व श्रेष्ठ, और सब से उच्च विकास वेद में है। जिसमें से व्यास का वेदान्तदर्शन और उपनिषद्, ब्राह्मणों की यज्ञ, उपासना निकली हैं।

यह कहना कि वेद में नाना देवताओं की कल्पना है वे एक परम सर्व व्यापक महान् शक्ति से अनभिज्ञ हैं उनको अपना शङ्कासमाधान स्कम्भ सूक्त से करना चाहिये। का० १०। सू० ७ वां और ८ वां ये दोनों सूक्त 'स्कम्भ-सूक्त' कहाते हैं। वेद्ने स्पष्ट शब्दों में स्कम्भ का स्वरूप बतलाया है

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवाः०। अथर्व० ४। ७। ३८॥

संसार के बीच में सब से बड़ा पूजनीय तप और तेज में अन्तरिक्ष के भी ऊपर शासक है। उसमें समस्त 'देव' जो कोई भी दिव्य शक्तियां हैं सब आश्रय ले रही हैं। कैसे ?

० वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ४। ७। ३८॥

जैसे वृक्ष का तना बीच में हो और उसके चारों ओर शाखाएं उसका आश्रय ले रही हों। वेदकी उपमा ने ही समस्त देवों के उस परमदेव से जुड़े सम्बन्ध को दिखा दिया। जैसे वृक्ष के तने से शाखाएं उत्पन्न होती हैं ऐसे ही समस्त संसार की शक्तियें उसी देव से उत्पन्न होती हैं और जैसे काण्ड पर लगे २ ही शाखाएं वृक्ष के पत्तों, टहनियों और उपशाखाओं को सम्भालती हैं उसी प्रकार बड़ी २ शक्तियां अपने से उत्पन्न कार्य शक्तियों को को सम्भालती हैं और संसार के पदार्थों को धारण कर रही हैं और वे भी महान् परमदेव पर आश्रित हैं। शाखाएं जैसे बिना तने के गिर पड़ें और सूख जाय उसी प्रकार उस परमदेव के आश्रय के बिना ये समस्त भौतिक शक्तियां भी नष्ट हो जाय।

यह है वेदोक्त परम ब्रह्म या परम देव का दर्शन जिसको देखकर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जा सकता। एक उपमा में उस परमब्रह्म का स्वरूप वर्णन कर दिया है। उपनिषद् उसको पर ब्रह्म कहती है परन्तु वेदने उसको सर्वाधार, सबको उठाने वाला कन्धा (स्कम्भ) होने से एवं समस्त ब्रह्मारडरूप विशाल 'भुवन'=भवन का महान् स्तम्भ [थम्भा] या 'स्कम्भ' [खम्भा] नाम से पुकारा है।

स्कम्भ और नृसिंह

स्कभि प्रतिबन्धे (भ्वादिः) धातु या 'स्कम्भु' धातु से 'स्कम्भ' शब्द बना है। उसी अर्थ के 'स्तभि' या 'स्तम्भु' धातु से स्तम्भ शब्द बना है। इस 'स्कम्भ' शब्द के द्वारा वेद में सर्वाधार परमेश्वर का निरूपण होने से पुराणकारों की खम्भे में से 'नृसिंह' के निकलने की कल्पना हुई है। पुराणकार ने स्तम्भ में से प्रकट होते हुए 'नृसिंह' में विराट् परमेश्वर का सर्व देवमय जगत् व्यापक स्वरूप ही प्रल्हाद को दिखलाया है। जैसे मत्स्यपुराण (अ० १६२ । ६-११) में लिखा है—

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितश्च याः ॥ ६ ॥
सर्वं त्रिभुवनं राजन् लोकधर्माश्च शाश्वताः।
दृश्यन्ते नारसिंहेऽस्मिन् तथेदमखिलं जगत् ॥ ११ ॥

इसी की प्रति छाया लेकर वेदान्तविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ चित्सुखी के प्रणेता श्री चित्सुखाचार्य ने लिखा है—

स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो।
यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविधान्मतः ॥
प्राह्लादाभिहितार्थितत्क्षणमिलद् दृष्टप्रमाणं हरिः।
सोऽव्याद् वः० ......इत्यादि० ॥

स्तम्भ [=स्कम्भ] के बीच में व्यापक सत्ता के रूप में निगद (वेद) द्वारा जिस परमेश्वर का वैभव वर्णन किया है। सिंह, नारायण रूप से

जिसको विश्वात्मा रूप से बतलाया है और जो प्रह्लाद ने उसी तरह साक्षात् किया है वह भी परमेश्वर तुम्हारी रक्षा करे।

हमारे इस सबको दर्शाने का यही प्रयोजन है कि पुराणकारों की विस्तृत कल्पना और दार्शनिक आचार्यों की अर्वाचीन कालिक भक्ति पूर्ण-कल्पना भी वेद के स्कम्भ सूक्त की छाया मात्र है। इसके अतिरिक्त यज्ञों में यूप कल्पना, और अर्भीनक स्तम्भ रूप इष्ट देव का गाड़ना और शिव लिंग की स्तम्भ रूप से कल्पना आदि भी इसी स्कम्भ का रूपान्तर है। इससे वेद प्रतिपादित स्कम्भ का सर्व व्यापक महत्व पड़ता है। समस्त उपासनाओं का मूल होने से वेद उसको प्रथम ही 'महद यक्ष' कहता है। वह 'यक्ष है, उपास्य है, सगति करने योग्य और सबको शक्ति का देनेवाला है। वह सर्वाधार, सर्वाश्रय है। वेद कहता है—

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्।

स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ३५ ॥

वह, आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष छहों दिशाओं को धारण करता है, समस्त भुवन में व्यापक है।

स्कम्भ और वैश्वानर

छान्दोग्य में केकय देश के राजा अश्वपति ने वैश्वानर के विराट रूप का उपदेश किया है—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा संदेहो बहुलो 'बस्तिरेव रयि' पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥

इस स्वरूपका मूल स्कम्भ के वर्णन में वेदने किया है—

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥

जो पण्डितंमन्य योरोपीयन विद्वान्, अपनी सभ्यता के गर्व में अन्ध होकर मूर्खता से उपनिषदों और दर्शनों के सिद्धान्तों को वेदों से अधिक विकसित और नवीन तम उन्नति (Latest development) मानते हैं उनको आंखे खोलकर अपना हृदय शीतल कर लेना चाहिये और वेद के आगे शिर झुकाना चाहिये ।

स्कम्भ, अज, स्वराज्य

परम ब्रह्म को 'स्वाराज्य' पद से स्मरण करना भी वेद ही बतलाता है। जिसका प्रयोग उत्तरोत्तर ब्रह्मज्ञानियों ने किया है ।

यद् अजः प्रथमः संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय ॥ १० । ३१ ॥

स्कम्भ और इन्द्र

इन्द्र, परमेश्वर 'स्कम्भ' से भिन्न नहीं प्रत्युत एक ही है। वेद कहता है—

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥
इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

अज =अजन्मा) परमेश्वर का नाम है। वह सबका आदि मूल है। वेद कहता है—

यः अजः प्रथमः संबभूव । म० ३१ ॥

देवमय स्कम्भ

३३ देवता उस स्कम्भ परमेश्वर के अंग हैं—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।

प्रकृति के भीतर विद्यमान समस्त शक्ति जिसमें समस्त प्राकृतिक विकार उत्पन्न होते हैं यह उसका एक अंग है जिसके लिये पुरुष सूक्त में कहा है— पादोऽस्येहा भवत् पुनः । इस परमपुरुष का एक पाद इस विश्व में है ।

स्कम्भ, सत् और असत्

स्कम्भ प्रकरण में वेद कहता है ।

बृहन्तो नाम ते देवा, ये ऽसतः परिजज्ञिरे एक तद् अंग स्कम्भस्य ॥ २४ ॥

उस त्रिगुण प्रकृति में युक्त परमात्मा की शक्ति को विद्वान् 'असत्' कहते हैं ।

असदाहुः परोजनाः ॥ २५ ॥

यह 'असत्' शब्द ही शंकर के वेदान्त का परम मूल है । इसीको सांख्य-वादी सत् मानते हैं । वे कहता है—

उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ॥ २१ ॥

वे उसको 'शाखा' नाम से पुकारते थे ।

असत् शाखा प्रतिष्ठन्तीं परम् इव जना विदुः ।
उतो सन् मन्यन्ते वरे ये ते शाखामुपासते ॥

गूढ प्रश्न और प्रहेलिकाएं

स्कम्भ का स्वरूप निरूपण करते हुए वेदने कुछ प्रश्न ऐसे उठाये हैं जिनका उत्तर वैज्ञानिक लोग अभी तक नहीं दे पाये हैं । जैसे—

१—कस्मिन् अंगे तपो अस्य अधितिष्ठति । ७ । १ ॥

सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर के किस अंग में "तप" बैठा है ? अर्थात् वह शक्ति जो समस्त सूर्यादि लोकों को तपा रही है वह 'तप.' है वह शक्ति परमेश्वरी महान् शक्ति का कौनसा अंग या कौनसा अंश है ? इसी प्रकार,

२—' कस्मिन् अंगे ऋतम् अस्य अधि आहितम् ' ॥ १ ॥

इसके किस अंग में 'ऋत' जगत् का प्रवर्तक बल या ज्ञान कौशल रहता है । अर्थात् वह अलौकिक रचनाकौशल जो कि कोटि २ ब्रह्माण्ड

को चला रहा है, जिस रचनाज्ञानकौशल से इस जगत् को बनाया है, वह इस परमेश्वरी शक्ति का कौनसा अंश है ? इसी प्रकार—

२—कस्माद् अंगाद् दीप्यते अग्निः कस्माद् अङ्गात् पवते मातरिश्वा ।
कस्माद् अङ्गाद् विमिमीतेऽधि चन्द्रमा महःस्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

अग्नि (=तेजस्तत्व) इसके किस अंग (=अंश) से प्रदीप्त है ? वायु को इस परमेश्वरी शक्ति के किस अंग से गति मिल रही है ? चन्द्र आदि आल्हादक पदार्थ उसके किस अंश से हैं ? इसी प्रकार (मन्त्र ४) भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, और ऊपर का वह आकाश जिसमें नक्षत्र विद्यमान हैं परमेश्वर के किस अंश में स्थिर है ?

इन सबका उत्तर यह है कि ये सब उस अनन्त शक्तिमान् के आश्रय पर चल रहे हैं पर उसकी शक्ति को मापा नहीं जा सकता, उसका आपेक्षिक मान नहीं कहा जा सकता ।

४—सूर्य चल रहा है, वायु बहती है (म० ४) मास, पक्ष वर्षऋतु आदि बराबर आते हैं, भुगतते हैं, गुजर जाते हैं, (म० ५) दिन रात आते जाते हैं, नदी, बह रही है । परन्तु ये क्यों चल रहे हैं' कहां जाना चाहते हैं । अर्थात् यदि ये जड़ हैं तो इन सबका जाना बिना उद्देश्य के है । परन्तु नहीं । ये जरूर कहीं किसी की इच्छा से चल रहे हैं तो, वे कहां जाना चाहते हैं ? इन सब का अन्तिम लक्ष्य जहां ये पहुंचना चाहते हैं जिसकी इच्छा से ये चल रहे हैं वह 'स्कम्भ' है । वेद कहता है ।

यस्मिन् स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान् सर्वान् अधारयत् ॥ ७ ॥

प्रजा के पालक परमेश्वर ने इन सबको अपने वश करके समस्त लोकों को धारण किया है । उसी स्कम्भ का उपदेश करो ।

५—परमात्मा ने समस्त संसार को बनाया । जैसा म० प्रोक्टर (Proctor) विद्वान् ने अपने यूनिवर्स नामक पुस्तक में कोटि २ ब्रह्माण्डों का विज्ञान-सिद्ध परिचय दिया है । उस आकाश का वे स्वयं गणनातीत विस्तार स्वीकार

करते हैं। यह ब्रह्माण्ड दूसरे ब्रह्माण्ड से इतना दूर है कि उस ब्रह्माण्ड के सूर्यों का प्रकाश ही यहां गणनातीत वर्षों में आवे। तब फिर इस अनन्त आकाश में विस्तृत अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के बनाने में वह सर्वाधार महान् परमेश्वरी शक्तिपुञ्ज कितना उसके भीतर है और कितना विश्व के अतिरिक्त बचा है, बतलाओ ?

६—भूत भविष्य आदि कालों में उसका कितना अंश है। उसका एक अंश यदि सहस्रों विश्व होकर प्रकट हुआ है तो वहां भी वह कितना है, बताओ ? (७। ९)

७—जिस स्कम्भ के आश्रय अनेक लोक और भुवनकोश हैं उसमें कितना अंश जगत् रूप में प्रकट 'सत्' और कितना अप्रकट 'असत्' है, बतलाओ ? (७। १०)

इतने प्रश्न वेद ने सुझाए परन्तु इनका एक का भी उत्तर वैज्ञानिकों के पास पूरी तौर से नहीं है। वैज्ञानिकों के समस्त माप आनुमानिक, लगभग और सैकड़ों बार अशुद्ध प्रमाणित होने वाले हैं।

स्कम्भ के वर्णन में वेद ने स्थूल शब्दों में बहुतसी पहेलियां या कूट समस्याएं भी कही हैं जिनको अध्यात्मवेदी ज्ञानी विचार पूर्वक ही जान सकते हैं। जैसे—

१-यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्यः प्रजापतिः। ७। ४१॥

सोने का बना बेंत पानी में खड़ा है। उसे जो जाने वह गुह्यप्रजापति है।

२—दो स्त्रियां खूंटी लगा कर दौड़ २ कर जाल बुनती हैं। एक ताना लगाती है, एक बाना, पर वे पूरा बुन नहीं पातीं, वे अन्त तक नहीं पहुंचती हैं। ७ ४२।

३—वे दोनों तो नाचती सी हैं। उनमें कौन बड़ी, कौन छोटी, नहीं मालूम ? परंतु जालको तो एक पुरुष ही बुनता और वही उकेलता है। म० ४३।

४—एक चक्र में १२ पुट्टियां हैं, तीन नाभि हैं, ३६० कीलें चल, अचल रूप से लगी है बतलाओ ? (८ । ४ ।)

५—छः जोड़े हैं और एक स्वयं उत्पन्न है उस एक में ही सब समा जाते हैं (८ । ५) वे कौन से छः जोड़े और कौनसा एक है बताओ ?

६—हजारों अरों का एक चक्र है। उसके आधे में विश्व है। बाकी आधा कहां है (८ । ७) बताओ ?

७—एक तिरछे मुंह का लोटा है; उसके ऊपर पेंदा है। उसमें विश्व रखा है। उसके किनारे २ सात ऋषि हैं, वे उसके रखवारे हैं ? (८ । ९)

८—एक ऋचा है, वह आगे पीछे और सब ओर से जुड़ती है। वह यज्ञ को प्रारम्भ करती है। कौनसी है ? (८ । १० ॥)

९—एक देव है, वही बाप और वही बेटा ? वही सब से बड़ा, वही सब से छोटा है, बताओ कौन ? (८ । २८)

१०-एक (अवि) भेड़ है, जिसके कारण सब हरे हरे हैं। कौन ? (८ । २८)

११-एक सूत जिसमें सब जीव पिराये हुए हैं। कौन ? (८ । ३८)

१२-नौ द्वार और तीन सूतों से लिपटे कमल में जानदार भूत है। कौन ? (८ । ४३ ।) इत्यादि।

अनेक इसी प्रकार की नाना पहेलियां हैं जिनको रूढ़ि शब्दों से कूट रूप में रखा गया है। विचार से ही विद्वान उन सबको प्राप्त करता है। उपनिषद् में इनमें से बहुतसी समस्याओं को सरल करने का यत्न किया है जिनका स्पष्टीकरण प्रस्तुत भाष्य में स्पष्ट रूप से पाइयेगा।

(६) ब्रह्मौदन

अथर्ववेद के ११ काण्ड के १-६ सूक्तों में ब्रह्मौदन का प्रकरण है। जिनमें से प्रथम ३७ ऋचाएं हैं। साम्प्रदायिकों के अनुसार 'अग्ने जायस्व०'

इस (१) मन्त्र से अग्नि मथा जाता है। धूम निकल आने पर 'कृणुत-धूमं०' (२) पढ़े। अग्नि निकल आने पर ४ थं मन्त्र पढ़े। (५) मन्त्र से ब्रह्मौदनपाक के निमित्त प्राप्त धान राशि के तीन भाग कर उनमें एक देवताओं के निमित्त, एक पितरों के और एक ब्राह्मणों के लिये रखे। मन्त्र (६) से देवों के भाग को एक घड़े में भर दे। मन्त्र (७) से धान ऊखल में डाले। (७, १०) से ऊखल मूसल को गोचर्म पर रखे और धान पानी को मूसल देकर कुटवावे : ११ तथा 'वर्षवृद्धं०' (१२ । ४ । १६) से सूप ले। 'ऊर्ध्वं प्रजा' (६) तथा 'विश्वव्यचा'० (१२ । ३ । १७) से सूप पर कुटे धान डाले और 'परापुनीहि०' (११ १२) इससे फटके। 'परेहि नारि०' (१३) से किसी स्त्री को पानी लेने के लिये भेजे। (१४) से पत्नी को बुलावे वह पनिहारी से जल लेवे। (१५) से जल का घड़ा भूमि पर धरे। फिर चर्म पर धरे। (२१) से बने भात की हांडी को खोल लें। और फिर (१२ । ३ । ३५) से हांडी को चलाय ले। (२४) तथा (१२ । ३ । ३६) से स्रुवा को वेदि में रखे। (२५) से चार अथर्ववेदी ब्राह्मणों को बैठावें। (२६) से उनको बुलावे। (२७) से उनके हाथ धोने का जल ले आवे। (२८) से भात पर सुवर्ण रखे। और भात को कुछ उथल पुथल ले। (२६) से आग में तुष जलावे। (३०) से भात की ढेरी में गढ़ा करे। (३१) से तथा (१२ । ३ । ४५) से उसमें घी डाले। ३६ से तथा (४ । १५ । ५) से घृताहुति दे।

'भवाशर्वौ०' (का० ११ । २) सूक्त ३१ ऋचाओं का है। आज्य, समित्, पुरोडाश, शष्कुली आदि १३ पदार्थों में से किसी एक की भी इन ३१ मन्त्रों से आहुति दे। इसी के साथ (६ । १०७) (६ । १२८) इन दो सूक्तों से भी आहुति दे।

तस्यौदनस्य, (११ । ३) सूक्त से 'बृहस्पति सव' में हवि का स्पर्श, उपघात, दानुदायन आदि कर्म करने लिखे हैं।

(११।४,) सूक्त में भोक्तव्यता का विवेचन किया गया है। (११।५) में ओदन का स्वरूप बतलाया है। (११।६) में प्राण सूक्त है। (११।७) ब्रह्मचारी सूक्त है। (११।८) अंहोमोचन सूक्त है। (११।९) उच्छिष्ट सूक्त है। साम्प्रदायिकों के कथनानुसार प्रथम तीन सूक्तों में कहे ब्रह्मौदन के हुत शेष का ही माहात्म्य कहा गया है।

साम्प्रदायिकों ने (११।३) सूक्त को ब्रह्मौदन सव में न लगाकर 'बृहस्पति सव' में प्रयुक्त किया है। परन्तु वेद 'तस्यौदनस्य०' इस सूक्त द्वारा पूर्वोक्त 'ओदन' का ही वर्णन करता है। (११।४), (११।५) इनका सम्बन्ध भी ओदन से ही है।६, ७ और ८ ये सूक्त प्राण और ब्रह्मचारी और अंहोमोचन विषयक होकर ९ वां 'ओदन-शेष' का उच्छिष्ट सूक्त है। इस परम्परा से विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्राण सूक्त भी ओदन का स्वरूप बतलाता है। ब्रह्मचारी सूक्त उस ब्रह्मरूप 'ओदन' के भोक्ता का स्वरूप बतलाता है। अंहोमोचन सूक्त ब्रह्मभोग का फल बतलाता है। और उच्छिष्ट पुनः उसी ब्रह्मौदन के माहात्म्य को दर्शाता है। रही समस्या 'ब्रह्मौदन' की। वह क्या पदार्थ है और उसका भोक्ता कौन है? कैसे उसका भोग किया जाय? उसके अवशेष 'उच्छिष्ट' का क्या स्वरूप है? उस ओदन को किस प्रकार परिपाक किया जाय इत्यादि सभी रहस्य की बातें हैं। गृहस्थ ब्रह्मौदन का पाक किस प्रकार करे? राष्ट्र में ब्रह्मौदन किस प्रकार पकाया जावे? महान् ब्रह्माण्ड में 'ओदन' अर्थात् प्रजापति के परम उत्कृष्ट तेज का परिपाक किस प्रकार होता है? इन सब प्रश्नों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत भाष्य में किया गया है। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'ब्रह्मौदन' प्रजापति का स्वरूप है। राष्ट्र में पृथिवी, गृह में गृहिणी और ब्रह्माण्ड में अखण्ड परमेश्वरी शक्ति, शरीर में चिति इन सबका एक नाम वेद में 'अदिति' है। गृहस्थ में पति, देह में आत्मा, राष्ट्र में राजा, ब्रह्माण्ड में परमेश्वर 'अग्नि' है। २ से ६ तक के मन्त्र प्रत्यक्ष रूप से राजा का वर्णन कर रहे हैं। यही वस्तुतः ब्रह्मभोग्य स्वरूप 'ओदन' का वर्णन है।

अगले मन्त्रों में भी ग्रावा, घर्म, नारी वेदि आदि शब्द श्लेषकमूल उपमा को दर्शाते हैं। जिनको हम पुन २ यहां लिखकर लेख नहीं बढ़ाना चाहते। पाठकों से आग्रह करेंगे कि ब्रह्मौदन प्रजापति का स्वरूप प्रस्तुत भाष्य में ही साक्षात् करेंगे।

इस महान् ओदन के परिपाक का आलंकारिक वर्णन तो स्वयं वेद ने तृतीय सूक्त में कर दिया है।

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ३ । ११ ॥

इस महान् ब्रह्मौदन के राधने की हांडी यह पृथिवी है और द्यौ हंडिया पर ढकन का वर्णन है।

उस ओदन का विशाल रूप देखिये—

यस्मिन् समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयो वरपरं श्रिताः ।
यस्य देवा अकल्पन्त उच्छिष्टे षडशीतयः ।
तं त्वा ओदनं पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥

मैं तो उस ओदन (भात) को पूछता हूं जिसकी महिमा बड़ी है जिसमें समुद्र द्यौ, और भूमि तो उरे परे स्थित हैं जिसके उच्छिष्ट रूप में ४८० दिव्य शक्तियां विद्यमान हैं।

इसी ओदन के विषय में ब्रह्मवादियों का कथनोपकथन वर्णित है। जिसका विस्तार ११। ३। २६ से लेकर ११। ३ (२) की समाप्ति तक दर्शाया है। इसी प्रकार के वर्णन की प्रतिच्छाया छान्दोग्य उपनिषद् के अश्वपति प्रोक्त वैश्वानर प्रकरण में प्राप्त होगी। विद्वान् जन इसकी तुलना करके स्वयं वेदान्त के इस गूढ़ प्रकरण के महत्त्व को अनुभव करेंगे। ग्रन्थ विस्तार के भय से हम यहां नहीं लिखते।

११। २ (३) में उसी महान् ओदन से समस्त संसार की उत्पत्ति का वर्णन किया है। ११। ४। सू० में समस्त वैकारिक सर्ग और जीवसर्ग

के परमाश्रय, परमचेतन्य, समष्टि प्राण रूप परमेश्वरी शक्ति का वर्णन बड़ा ही विस्मयजनक है। इसका स्पष्टीकरण अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् (प्र० १,२) में संक्षेप से दर्शाया है।

इस शरीर में ब्रह्मौदन का पाक करके भोग करने वाला वीर्य पालक अखण्ड ब्रह्मचारी ही है। इसका वर्णन विराट् ब्रह्मचारी का वर्णन करते हुए ११।५ (७) सूक्त में दर्शाया है। इसमें परमेश्वर का भी ब्रह्मचारी स्वरूप दर्शाया है। इस प्रकार परब्रह्म का विशाल रूप जान कर उसके बनाये पवित्र जगत् में मलिन चित्त वालों को अपना पाप का मैल कैसे धो डालना चाहिये इसका वर्णन (११ । ६) में किया है।

आत्मा के शुद्ध हो जाने पर सर्वोच्च अनुशासन योग्य उच्छिष्ट (=उत् शिष्ट) परम वेद्य, परमेश्वर का उपदेश किया गया है। संगति का दिग्दर्शन हमने यथाशक्ति किया है। जिसका सम्पूर्ण रीति से दर्शन प्रस्तुत भाष्य में देखिये।

(१०) मन्यु

अद्भुतसृष्टि के रचना के मूल कारण की खोज में वैज्ञानिक कोई मूल कारण नहीं बतला सके कि क्यों नाना जीव सृष्टि हुई। जीव के शरीर में नाना प्रकार की धातुएं, मानसविकार, तथा नाना तृष्णाएं कहां से पैदा हुई? ये सभी अध्यात्म, आधिदैविक, समस्याओं के उत्तर वेदने मन्यु सूक्त में सरलता से दिये हैं।

डार्विन ने विकासवाद को मुख्य रखने की चेष्टा की है परन्तु जब पूछा जाता है कि विकास क्यों हुआ? तो उत्तर कुछ नहीं। दबी जबान से जब दृष्टान्त देते हैं तो प्राणियों की नाना इच्छाओं को ही विकास के कारण रूप से कह देते हैं। दृष्टान्त के तौर पर जैसे ह्वेल मछली पहले कोई वन-चर जन्तु रहा होगा। वह जलप्लव काल में निराश होकर जल में ही अपना बसर करने की चेष्टा करने को बाधित हुआ। शनैः २ उसके पशु के अंग

लुप्त हो गये और जलोपयोगी अंग उत्पन्न हो गये। फलतः पीढ़ी दर पीढ़ी उसको लाखों वर्ष के जलोचित सुख पूर्वक निवास की इच्छा ने उसके अंगों को विकृत किया। वेद इस इच्छा को ' सकल्प के गृह से प्राप्त जाया ' के नाम से कहता है जो ' मन्यु ' मननशील आत्मा से सगत होकर नाना वैचित्र्य उत्पन्न करती है। उस मन्यु और सकल्प की पुत्री ' जाया ' के सगति के कारण तप और कर्म थे। ब्रह्माण्ड की विशाल विचित्र रचनाओं का प्रधान कारण महान् 'मन्यु' था, जिसको 'ब्रह्म' कहते हैं। फिर इसी सकल्प से भूमि के पृष्ठ पर उत्पन्न स्थावर जगम और मैथुनी सृष्टि का रहस्य खोला गया है। (१०-२४) पाठक प्रस्तुत भाष्य में विस्तार से देखें।

राष्ट्र प्रजापति के प्रजा के पालन में महान् मन्यु रूप राजा के विकट रूप का वर्णन अर्थात् युद्ध आदि का वर्णन शेष ९, १० दो सूक्तों में किया है।

(११) पृथिवी सूक्त

मातृ भूमि के प्रति प्रेम की आदर्श शिक्षा वेद ने काण्ड १२। सू० १ में पृथिवी सूक्त द्वारा प्रदान की है। पहले ही मन्त्र में राजाओं का गर्व तोड़ दिया है कि पृथ्वी के पालक वे नहीं हैं परन्तु सत्य ऋत, उग्र तप, दीक्षा, ब्रह्म और यज्ञ (परस्पर संघ) ये पृथ्वी को धारण करते हैं। यदि ये न हों तो पृथ्वी नष्ट हो जाय।

वेद कहता है —

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥ १ ॥

इस मन्त्र में बृहद् ऋत ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है। वेद सिखाता है कि पृथिवी माता है और हम उसके पुत्र हैं। उसका अन्न आदि पुष्टिप्रद पदार्थ हमारे लिये दूध है। उसके लिये ऐश्वर्यवान् होकर राजा पृथिवी को शत्रु रहित करे और उसका भोग करे।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

इन्द्रो यांचक्रे आत्मने अनमित्रां शचीपतिः ॥ १० ॥

समस्त पृथ्वी सर्व भौमशासन को राजा पृथिवी का पुत्र होकर करे न कि पशु होकर । इसके लिये वेद कहता है सब प्रजा को मिलाकर—

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं याः स्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।

तासु नो धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥ १२ ॥

ऐसी माता पृथिवी पर हम पुत्र किस पिता के आधार पर जीएं, वेद कहता है—पर्जन्य=मेघ हमारा पिता है ।

पर्जन्यः पिताः स नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

एक भूमि माता के पुत्र सब मिलकर कर प्रेम से वार्त्तालाप करें ।

ता नः प्रजाः संदुह्रतां समग्राः । वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

पृथिवी को कामदुघा धेनु कहने की शिक्षा वेद देता है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहाम् ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

विविध प्राणियों और विविध भाषाओं को बोलने वाले जनों को अपने में ऐसे रखती है जैसे वह उनका घर है । वह हमें स्थिर धेनु=गाय के समान बिना छटपटाहटके ऐश्वर्य की सहस्रों धाराएं प्रदान करे ।

हीरा रत्न, मुक्ता आदि समस्त ऐश्वर्य पृथ्वी से प्राप्त होते हैं ।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ॥ ४४ ॥

पृथ्वी पर आने जाने और गाड़ियों, भारी गाड़ों के जाने के मार्ग बना कर, मार्गों पर हम अपना वश रखें, और मार्गों को चोर डाकुओं से रहित कर दें ।

ये ते पन्थानो बहवो जनायनाः रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।

यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं ।

यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

हे पृथिवि ! मात ! तू मुझे सुख, कल्याणकारिणी लक्ष्मी से सुप्रति-ष्ठित कर।

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।

इत्यादि नाना सद्भावों को विचारने की दिशा वेद सिखाता है। फिर और देशभक्ति कैसी चाहिये। वेद स्वयं देश भक्त होने का उपदेश करता है भूमि के अन्यान्य गौरवों को भी प्रस्तुत भाष्य में देखिये।

(१२) क्रव्याद् अग्नि

'नडमारोह०' इत्यादि (का० १२। सू० २) सूक्त क्रव्याद् अग्नि सम्बन्धी है। इस सूक्त में ५५ मन्त्र हैं। इस सूक्त के सम्बन्ध में हमारा सभी अनुवाद कर्त्ताओं से प्राय अर्थ भेद है। इस पर सायण का भाष्य उप लब्ध नहीं है। इस के मन्त्र भी बहुत से बड़े ही अस्पष्ट हैं उदाहरण के रूप में प्रथम मन्त्र ही लेना पर्याप्त है।

नडम् आरोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥

अर्थ—हे क्रव्याद् ! तू 'नड' पर चढ़, तेरा यहां लोक नहीं। यह 'सीस' तेरा भाग है। तू आ। जो 'यक्ष्म' गौओं और जो यक्ष्म पुरुषों में है उस के साथ तू दूर चलाजा।

सूक्त का विनियोग

यहां 'क्रव्याद्' क्या पदार्थ यही विवादास्पद है। श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त की उपोद्घातिका में लिखा है कि—

"यह सूक्त 'क्रव्याद्' नामक अग्नि के विषय का है। तीन अग्नि होते हैं आमाद्, क्रव्याद्, और इव्याद्। जो 'आम' अर्थात् अपक्व को खाता है वह लौकिक अग्नि 'आमाद्' है जिससे मनुष्य भोजन पकाकर खाते हैं। (शतपथ १। २। १। ४) क्रव्य अर्थात् शवदाह के अवसर पर जो

मांस को खाता है वह 'क्रव्यात्' घोर स्वरूप चिता की अग्नि है, वह विन्द्य है। शतपथ में ही लिखा है कि—'येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यात्।' जिससे पुरुष को जलाते हैं वह 'क्रव्यात्' है। 'हव्य' अर्थात् पक्व देव यज्ञ में आहुति किये अन्न को जो खाता है अथवा जो उस अन्नको देवों को पहुंचाता है, वह प्रज्वलित अग्नि 'हव्यवाट्' है जो यज्ञ के योग्य है। 'आमाद्' और 'क्रव्यात्' दोनों यज्ञ के योग्य नहीं होते। यहां घोर स्वरूप अग्नि को लक्ष्य करके सूक्त प्रारम्भ होता है। केवल 'क्रव्यात्' शवदाह में मांस ही नहीं खाता, बल्कि घोर होने से यक्ष्मा आदि बहुत से रोगों को और नाना प्रकार की मृत्यु को भी ले आता है। उसी प्रकार वह बहुतसी आपत्तियों को भी पैदा करता है। उन २ आपत्तियों, उन २ रोगों और उस २ मृत्यु को सूक्तकार प्रार्थना से ही दूर करता है। और 'क्रव्यात्' का जो घोर घोर रूप है उससे वह 'क्रव्यात्' शत्रु को मारे, ऐसी प्रार्थना करता है। सब पापों को 'क्रव्यात्' दूर करे, यह इच्छा करता है। क्रव्याद् को शान्त करने की इच्छा करता हुआ कौशिक सूत्र में कहे विधान से कर्म करता है, तो वे सब नाश को प्राप्त हों ऐसा कहता है।"

साम्प्रदायिकों ने इस सूक्त का विनियोग 'क्रव्यात्' के शमन में किया है।

कौशिक के अनुसार इस सूक्त के 'नडमारोह' (१) 'समिन्धते०' (११) 'इषीकां०' (५४) 'प्रत्यञ्चमर्कं०' (५५) इन चार मन्त्रों से क्रव्यात् अग्नि पर लकड़ी रखता है। इसी प्रकार क्रव्यात् अग्नि को इस सूक्त के १-४, ४२, ४३, ४५, ४६ इन आठ मन्त्रों से पानी से बुझाते हैं। 'यत्त्वा०' (५) इस मन्त्र से क्रव्यात् अग्नि को घर से पृथक् करते हैं। मन्त्र ४, ७, ८, से माष की पीठी के अंश दिये जाते हैं। (७, ८, ९, १०) से अग्नि को दूर ले जाते हैं (१२, १७, ४०) से उसको जल से धोता है। (२२, २७) इन दो से क्रव्यात् अग्नि के चरणों के चिन्हों को मिटाता है। अर्थात् मृत्यु के 'पदयोपन' करता है। (२३) से गृह के द्वारपर शिला रखकर उसपर पैर रखता है। (२४, २१, ३२, ४४, ४६)

इनको भी क्रव्याद् से छूटने के लिये प्रयोग करता है। (२५, २६) से नदी आदि पार करना है। (२८) में एक बछड़ी को मुर्दे के पास लाते हैं। (३१) में हरे घास स्त्रियों के हाथ में देते हैं। (३३) से हृदयस्पर्श करते हैं। (४२) में भाड़ से आग लाते हैं। (४७) में बलि के लिये बैल को पकड़ते हैं।

'क्रव्याद्' की विवेचना

फलतः यह समस्त सूक्त साम्प्रदायिकों के अनुसार शव को जलाने वाले अग्नि पर ही लगा दिया गया है। अनुवादकों ने भी इस विनियोग को लक्ष्य में रखकर अर्थ करने का यत्न किया है। अब प्रथम मन्त्र पर विचार कीजिये कि उनका ऐसा करना कहांतक सुसंगत है।

मन्त्र को अग्नि पर काठ रखने या पानी से अग्नि को बुझाने पर लगाया है। परन्तु उसको नड़पर चढ़ाना, 'सीसा' को उसका भाग कहना, गौ और आदमियों में से यक्ष्मा को दूर करना, आदि का क्रव्याद् से क्या सम्बन्ध है। कुछ ज्ञात नहीं होता। हमारी मति में कच्चा मांस खाने वाले अग्नि के अतिरिक्त व्याघ्र आदि हिंसक और दुष्ट जंगली पशु भी लेने उचित हैं। उनको नड़ (स्थाणपर) चढ़ाना, सूली देना या बाण से मारना, सीसे या गोली का शिकार करना, पुरुषों और पशुओं पर रोग के समान आक्रमण करने वालों के साथ उनको मार भगाना, कैसा सुसंगत अर्थ वेद मन्त्र का प्रकट होता है। पाठक प्रस्तुभाष्य में देखें। वेद ने इस सूक्त में जीवों के कच्चे मांस पर आहार करने वाले सभी को 'क्रव्याद्' शब्द से कहा है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं रहता जब हम निम्नलिखित स्थलों पर विचार करते हैं। जैसे—

निर् इतो मृत्युं निर् ऋतिं निर् अरातिम् अजामसि।
यो नो द्वेष्टि तम् अद्धि अग्ने ! अक्रव्याद् यम् उ द्विष्मः तम् उ ते प्र सुवामसि ॥३॥

मृत्यु, पीड़ा और शत्रु और जो अक्रव्याद् न होकर भी द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं उन सबको हम दूर करें। इसी प्रकार—

यदि अग्निः क्रव्यात् यदि वा व्याघ्रः इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्रहिणोमि दूरं० ॥

इस मन्त्र से उड़द की पीठी के गुलगुले शवाग्नि को दिये जाते हैं। क्या खूब! 'माषाज्य' का यही तात्पर्य लगाया है। अज्ञान से 'क्रव्यात्' अग्नि या शवाग्नि को भी देवता या भूत प्रेत सा जान कर व्यवहार किया है। वेद मन्त्र तो 'माषाज्य' करके क्रव्यात् अग्नि, व्याघ्र, तक को दूर भगा देने की आज्ञा देता है। तो क्या व्याघ्र भी उड़द के पकौड़े खायेगा? स्पष्टार्थ यह है कि व्याघ्र को 'माषाज्य' करने का तात्पर्य है उसके लिये मारने योग्य शस्त्र का प्रयोग करके उसे दूर भगा देना।

आज्यन्–आज्येन वै देवा सर्वान् कामान् आजयन् कौ० १४। १॥ वज्रो वा आज्यम्॥ श० १। ३। २। १७॥ मष हिंसार्थः। भ्वादिः। माषः हिंसा।

इस स्थलपर 'अग्नि' का अर्थ भी अग्नि के समान तापकारी, दुःखदायी पुरुष या पशु ही लिया जाना उचित है। वह यदि 'अन्योकाः' दूसरी जगह से कहीं अपनी बस्ती में आवुगे तो उसे मारकर निकाल दे। यही वेद का सरल अर्थ है। यदि उसे मनुष्य जान दया करके मारना न चाहें तो पकड़ लें और उसके लिये वेद कहता है—'न ग-छन्त्वग्नेऽध्यक्षीन्।' वह प्रजाओं पर अधिकारी रूप से विराजमान विद्वान् नेता पदाधिकारियों के आगे लाया जाय। वहां जो निर्णय हो किया जाय।

इसी प्रकार समस्त सूक्त में प्रति मन्त्र इसी प्रकार की समस्याएं आ उपस्थित होती हैं, जिनको केवल रूढि शब्दार्थ लेने पर मन्त्र का कोई तात्पर्य नहीं खुलता। और केवल शवाग्नि पर लगाने से सब कर्मकाण्ड व्यर्थ' अबुद्धिपूर्वक, और असंगत प्रतीत होता है। परन्तु 'क्रव्यात्' से मांस-खोर जन्तु अर्थ लेने पर वह सब सरल होजाता है। पाठकों से हम आग्रह करेंगे कि वे इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र को स्वयं समझ कर पाठ करें और फिर प्रस्तुत भाष्य में दर्शाये अर्थों पर विचार करें तो उनको सब सूक्त

का अर्थ स्पष्ट हो जावेगा। यहां केवल दिशा मात्र दिखाकर अन्य विषयों पर प्रकाश डालते हैं।

(१३) स्वर्गौदन

साम्प्रदायिक लोग 'स्वर्गौदन' को भी पूर्वोक्त ब्रह्मौदन के समान ही देवता प्रीत्यर्थ 'भात' ही जानते हैं। मन्त्र को तो आहुति आदि के निमित्त मात्र जानते हैं। का० १२ सू० ३ को स्वर्गौदन विषयक बतलाते हैं। पर विस्मय यह है कि समस्त सूक्त में 'स्वर्गौदन' शब्द कहीं एकत्र नहीं आया 'ओदन' और 'स्वर्ग' दोनों शब्द पृथक २ अवश्य आये हैं। परन्तु स्वर्गौदन शब्द अवश्य साम्प्रदायिक कर्मकारों का गढ़ा हुआ है। भले ही श्रद्धालु यजमान विशेष रीति से पकाये भात की आहुति देकर एक कल्पित लोक को स्वर्ग जान कर कर्मकाण्ड में लिप्त रहें, परन्तु वेद के मन्त्रों में स्वर्ग और ओदन दोनों ही पृथक २ हैं। और उनका अद्भुत स्वरूप बतलाया गया है जिसका हम इस प्रसङ्ग में विवेचन करना आवश्यक समझते हैं।

ओदन शब्द पर विचार

'वेद' ओदन के विषय में कहता है—

> यं वा पिता पचति यं च माता। रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः।
> स ओदनः शतधारः स्वर्गः० ॥ ५ ॥

यह ओदन है कि जिसको पिता पकाता है और माता भी पकाती है। क्योंकि जिससे वे दोनों पाप और परस्पर में की गयी प्रतिज्ञा के भङ्गदोष से बचे रहें। वह 'शतधार ओदन' है। वही सुगपद है। माता और पिता जब कुमार कुमारी होते हैं तब ब्रह्मचर्य पूर्वक वीर्य को परिपक्व करते हैं। क्योंकि यदि कुमार अपना व्रत खण्डित करता है तो वह दुराचारी कहाता है, और यदि कुमारी अपना कन्यात्व नष्ट करती है तो वह भी निन्दा का पात्र होती है। इस पाप कलंक से बचने के लिये वे वीर्य का परिपाक ही करते हैं।

जब वे दोनों परिपक्व वीर्य हो जाते हैं तब पति-पत्नी होकर एक दूसरे के साथ वाग्-बद्ध हो जाते हैं तब भी गृहस्थ में रहकर पुरुष परस्त्री से और स्त्री परपुरुष से व्यभिचार न करके दोनों अपने वीर्य रक्षा के व्रत का पालन करते हैं। मैथुन करके भी परस्पर के उत्पन्न पुत्र को भी अपना वीर्य जानकर ही उसका पालन करते हैं। वे पतिव्रत और पत्नीव्रत दोनों वाणी के 'शमल' से बचने के लिये सचाई से निभाते हैं। सद् गृहस्थ का पालन, एवं उसमें वीर्य की रक्षा ही शतधार ओदन है। उसके आधार पर सैकड़ों जीवों की पालना होती है गृहस्थ के पालक पति-पत्नी का भी १०० वर्ष तक जीवन रहता है। वही गृहस्थ स्वर्ग है।

स्वर्ग का स्वरूप और साधन।

इसी स्वर्ग के विषय में वेद पुनः कहता है

ये यज्वनामभिजिता स्वर्गाः। तेषाम् ज्योतिष्मान मधुमान् यो अग्रे।

तस्मिन् पुत्रैर्जरसि संश्रयेथाम्।

हे स्त्री पुरुषो! यज्ञ शील पुरुष जिन सुखमय लोकों का विजय करते हैं, उनमें से सब से अधिक उज्ज्वल और आनन्दमय जो स्वर्ग है, उसमें रहकर ही तुम पुत्रों सहित अपने बुढ़ापे में भी आनन्द से विश्राम पाओ। अर्थात् पूर्णायु होकर देह त्यागो।

इस प्रकार वीर्य रक्षापूर्वक गृहस्थ का स्वर्ग या सुखधाम बतला कर वेदने इस सूक्त में स्त्री पुरुषों के परस्पर गृहस्थ को सुखमय, साक्षात् स्वर्ग बनाने के साधनों का उपदेश किया है। जिनमें से कुछ एक ..न संक्षेप से नीचे देते हैं—

१—तावद् वां चक्षुस्तति वीर्याणि तावत् तेजस्तातिधा वाजिनानि।

अग्निः शरीरं सचते यदैधो अधा पक्वान् मिथुना संभवाथ॥ २॥

हे स्त्री पुरुषो! चाहे तुम दोनों कितने ही वीर्य और तेज और बल वाले हो, तो भी जब काठ को आग के समान कामाग्नि सताने तब परिपक्व वीर्य से परस्पर मिलो।

२–पृथ्वी परिविशय न् प्रयेथाम् यद् यद् रेतो अधि वां सम्भूत ॥ ३ ॥

जब २ तुम दोनों का वीर्य पुत्र रूप से गर्भ में स्थित होजाय तब २ पवित्र आचरणों और संस्कारों से उसका पालन पोषण करो।

३–यह वा पक परिविष्टम् अग्नौ तन्व तुमय दम्पती नमयेथाम्।

जब तुम दोनों का परिपक्व वीर्य योषा रूप अग्नि के गर्भ में स्थिर रूप से प्रवेश कर जाय तब उसकी रक्षा के लिये दोनों पति पत्नी एक दूसरे का आश्रय लें। यह गृहस्थ की प्राची अर्थात् उत्कृष्ट दिशा है।

४–सत्याय तपस देवताभ्यो निधिं शेवधिं परिदद्म एनम्।

सत्य, तप, और विद्वानों के हाथ इस खजाने को सौंपें।

'मा नो द्यूते अवगात्'। यह धन जूआ चोरी में न लगे।

'मा समित्याम्'। यह गोष्ठी, मेलों में न लगे।

'मास्म अन्यस्मा उत्सृजत पुरा मत्' ॥ ४६ ॥ और मुझ गृहपति के होते हुए किसी दूसरे शत्रु को मत दे डाल।

५–समान तन्तुमभिसंवसानौ तस्मिन् सर्वं शमलं सादयाथ ॥ ५२ ॥

प्रजारूप समान तन्तु को प्राप्त करके उसके निमित्त पति पत्नी अपने सब प्रकार के पापों को त्याग दें।

ये तो स्थालीपुलाक न्याय से वीर्यरूप ओदन के परिपाक और गृहस्थ रूप स्वर्ग के कुछ वैदिक आदर्शों का वर्णन किया है वेदने सूक्त भर में नाना उपदेश मणियों का वर्णन किया है। पाठक प्रस्तुत भाष्य में ही देखें यहां समस्त विषय सप्रमाण दर्शाया गया है।

(१४) रोहित

समस्त त्रयोदश काण्ड 'रोहित' विषयक है। इसमें मुख्य रूप से परमेश्वर का वर्णन है। गौण रूपसे राजा का और और अध्यात्म में योगी

विभूतिमान् आत्मा का भी वर्णन है। कुछ स्थलों पर राजा और परमेश्वर दोनों का पृथक् २ भी वर्णन है। अध्यात्म में वहां परमेश्वर और जीव दोनों का ग्रहण है। सूक्त का प्रतिपाद्य विषय स्वयं प्रस्तुत भाष्य में उचित रूप से वर्णन कर दिया गया है। यहां पाठकों का ध्यान 'रोहित' परमेश्वर और आत्मा के वर्णन वैचित्र्य पर आकर्षण करना चाहता हूं।

परमात्मा के विषय में, जैसे—

१—'रोहितो विश्वमिदं जजान' रोहित ने समस्त विश्व को उत्पन्न किया।

२—वह समस्त देवों के नामों को धारण करता है—

> स धाता स विधर्त्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्।
> सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः।

धाता, विधर्त्ता, वायु, नभ, अग्नि, सूर्य, महायम सब वही है।

३—दशों दिशाओं के निवासी लोक उसी पर ऐसे आश्रित हैं, मानो एक शिर में दश प्राणी जुड़े हों।

तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश। १३। ४ (१) ६॥

४—समस्त दिव्य शक्तियां उसके साथ ऐसी टंगी हैं जैसे मानो छत में छींका टंगा हो।

> तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः।

५—वह इस संसार में व्याप्त है वह स्वयं समर्थ शक्ति रूप है और एक ही है।

> तमिदं निगतं सहः। स एष एकवृदेक एव॥ १२॥

६—समस्त दिव्यशक्तियां उसमें एक होकर रहती हैं।

> सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।

अद्वितीयता बतलाते हुए वेद कहता है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते । तमिदं निगतं सहः । स एष एकवृद् । एक एव ।

दूसरा नहीं, तीसरा नहीं, चौथा नहीं, पाचवां नहीं, छठा नहीं, सातवां नहीं, आठवां नहीं, नवां नहीं, न दशवां कहा जाता है। वह तो शक्तिमान् स्वयं पूर्ण, समर्थ, एक ही है।

कारण से कार्य उत्पन्न होता है। परन्तु कार्य से कारण की मूलसत्ता प्रकट होती है। इसी प्रकार वेद ने विश्व के बड़े २ पदार्थों को परमेश्वर से उत्पन्न और उनसे परमेश्वर की सत्ता को प्रकट होते वर्णन किया है।

स वा अन्तरिक्षाद् अजायत । तस्माद् अन्तरिक्षम् अजायत । १३ । ४ । ५ । ३१ ॥
स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ३२ ॥ इत्यादि ।

उस परमेश्वर से दिन, रात अन्तरिक्ष, वायु, दिशाएं, भूमि, अग्नि, जल, ऋचाएं, यज्ञ आदि उत्पन्न होते हैं और वे सब भी अपने पैदा करने वाले को प्रकट करते हैं।

(५, ६) दोनों पर्यायों में वेद ने परमेश्वर के और भी बहुत से नामों का परिचय दिया है। जैसे—

विभू, प्रभू, अम्भ, महः, श्रम, सहः, अरुणं, रजतं, रजः, उरु, पृथु, सुभू, भव, प्रथः, वर, व्यचस्, भवद्वसु, संयद्वसु, आयद्वसु, आदि। इन नामों का उपनिषदों, में स्थान २ पर वर्णन आता है।

राजा प्यार विभूतिमान् आत्मा रूप से रोहित का वर्णन यजुर्वेद में आया है जिसका स्पष्टीकरण यजुर्भाष्य में करेंगे।

(१५) व्रात्य

१५ वां काण्ड व्रात्य विषयक है। पं० शंकरपाण्डुरंग के कथनानुसार

" व्रात्यो नाम उपनयनादिसंस्कारहीन. पुरुषः । सोऽर्थात यज्ञादिवेदविहित. क्रियाः कर्तुं नाधिकारी । न स व्यवहारयोग्यश्चेत्यादि कल्पः मनसिकृत्य आत्योऽपि-

कारी व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो देवप्रियो व्रात्यो ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वर्चसो मूलं किं बहुना व्रात्यो देवाधिदेव एवेति प्रतिपाद्यते । यत्र व्रात्यो गच्छति विश्वं जगत् विश्वे च देवास्तत्र तमुपगच्छन्ति तस्मिन्स्थिते तिष्ठन्ति तस्मिंश्चलति चलन्ति यदा स गच्छति राजवत् स गच्छति इत्यादि । न पुनरेतत् सर्वव्रात्यपरं प्रतिपादनम् । अपि तु कञ्चिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसामान्यं कर्मपरै ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनम् इति मन्तव्यम् ॥

अर्थ—व्रात्य नामक उपनयन आदि संस्कार हीन पुरुष होता है। अर्थात् वह वेदविहित यज्ञ आदि क्रिया करने का अधिकारी नहीं होता और वह व्यवहारयोग्य भी नहीं होता। इत्यादि जनों के मत को चित्त में रख कर व्रात्य अधिकारी है, व्रात्य महानुभाव है, व्रात्य देवताओं का प्यारा है, व्रात्य ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के तेज का मूल है। क्या बहुत कहें। व्रात्य देवों का भी देव है ऐसा प्रतिपादन किया जाता है। जहां व्रात्य जाता है समस्त जगत् और समस्त देव वहां उसके समीप आते हैं। उसके खड़े रहने पर खड़े होते हैं उसके चलने पर चलते हैं। जब वह जाता है तो राजा के समान जाता है। इत्यादि। यह सब व्रात्यों के विषय में नहीं लिखा गया है। परन्तु किसी बहुत अधिक विद्वान्, बड़े भारी अधिकारी, पुण्यशील, सब के लिये सम्मान योग्य, उस व्रात्य को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है, जिसके प्रति कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने द्वेष ठान रखा हो।

पं० पाण्डुरंग का इस प्रकार लिखना हमें बड़ा भ्रमजनक प्रतीत होता है। उपनयन आदि संस्कारों से हीन, यज्ञादिहीन, अनधिकारी पतित पुरुष को वेद प्रशंसाओं से बढ़ावे, यह कब सम्भव है? फिर उक्त पण्डित का यह कथन है कि किसी बहुत बड़े विद्वान्, महाधिकारी, पुण्यशील जिसके प्रति कर्मकाण्डियों को द्वेष रहा हो, ऐसे व्रात्य को लक्ष्य में रखकर यह वेद का १५ वां काण्ड कहा गया है। इसमें सब व्रात्यों का वर्णन नहीं, यह और भी असंगत है। क्योंकि जब वह पुण्यशील है तो हीन, पतित, व्रात्य वह कहां रहा? फलतः उक्त पण्डित का ऐसा कथन वैदिक 'व्रात्य' शब्द के न सम-

करने के कारण ही हुआ है। कदाचित् अज्ञ पण्डित के चित्त में यह भ्रान्ति भी होगी कि जन्म से व्रात्य होकर यथोचित बड़ा विद्वान् बन गया होगा और वेद ने उसी की स्तुति कर दी होगी। ऐसी कपोलकल्पना कभी मानी नहीं जा सकती।

इसी व्रात्य के विषय में योरोपीयन विद्वानों ने भी अपने विचार दौड़ाए हैं। उनके विचारों की आलोचना करना भी विषय की स्पष्टता के लिये बड़ा चित्तरंजक है।

पण्डित ग्रीफिथ अपने अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवाद (१५ का०) के प्रारम्भ में ही चरणटिप्पणी में लिखते हैं कि—

"इस अपूर्व रहस्यमय काण्ड का प्रयोजन व्रात्य को आदर्श बनाना और बहुत बड़ी चढ़ी प्रशंसा करना मात्र है, और उपाध्याय औफ्रेक्ट का यह मत है कि 'जो व्रात्य विशेष प्रायश्चित्त करने के बाद उपनीत हो जाता था और ब्राह्मण आर्यों में प्रवेश पाजाता था उसके विषय में यह प्रशंसा लिखी गयी है। आगे पं० ग्रीफिथ 'व्रात्य' शब्द पर टिप्पणी लिखते हैं कि 'व्रात्य' शब्द 'व्रात' से बना है। 'व्रात्य' का अर्थ है आर्यों से बहिष्कृत दल का सर्दार। वह बिलकुल ब्राह्मणों के शासन से मुक्त, आर्यों से ब्राह्मणों के मार्ग पर न चलने वाला है", इत्यादि। ऐसा ही मन्तव्य पं० वेबर का भी है।

वैदिक व्रात्य के विषय में ऐसी असंगत वेद विरुद्ध मति उठने का एक मात्र कारण हमें मनुस्मृति (अ० १० । २०) प्रतीत होता है।

> द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।
> तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

अर्थ—द्विजाति लोग अपने ही वर्ण की स्त्रियों में जिन पुत्रों को उत्पन्न करें, यदि उनके उपनयनादि व्रत न हों तो उन गुरुमन्त्र से भ्रष्ट पुरुषों को 'व्रात्य' नाम से पुकारें।

इसी प्रकार ताण्ड्यमहा ब्राह्मण में 'व्रात्यस्तोम' का वर्णन है। जिनके पाठ से व्रात्य भी शुद्ध, संस्कृत करके पुनः यज्ञादि के अधिकारी होते थे। वहां व्रात्यों के विषय में लिखा है—

' हीना वा एते '। हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति। नहि ब्रह्मचर्यं चरन्ति, न कृषिं, न वाणिज्यां। षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति।

जो लोग 'व्रात्या' को लेकर प्रवास करते हैं वे न ब्रह्मचर्य का पालन करते, न खेती वाड़ी और न व्यापार करते हैं। शोडषस्तोम उनको पवित्र कर सकता है।

इस ब्राह्मण भाग पर सायणाचार्य का भाष्य है।

व्रात्यां व्रात्यतां आचारहीनतां प्राप्य प्रवसन्तः प्रवासं कुर्वन्तः।

व्रात्या को लेकर प्रवास करने का तात्पर्य, सायण के मत से, व्रात्यता अर्थात् आचार हीनता को लेकर प्रवास करना है। अन्यत्र भी—

व्रात्यां व्रात्यां विहिताकरणप्रतिषिद्धनिषेवणरूपान् प्राप्य प्रवसन्ति।

व्रात्यता अर्थात् विहित कर्म का न करना और निषिद्ध कर्म का आचरण करने रूप गिरावट को पाकर प्रवास करते हैं।

हमें इन ही सब लेखों के आधारों पर श्री पं० शंकरपाण्डुरंग तथा ग्रीफ़िथ आदि का लेख प्रतीत होता है। परन्तु हमें यह कहते ज़रा भी संकोच नहीं कि वैदिक 'व्रात्य' का यह अभिप्राय नहीं है।

जिस प्रकार ' देवानां-प्रियः ', ' प्रियदर्शी ' आदि शब्द बौद्ध काल में बड़े आदर के थे, परन्तु पौराणिक काल में इन शब्दों को द्वेष से प्रेरित हो कर ' मूर्ख ' वाचक बना दिया गया है। ' बुद्ध ' शब्द पहले ज्ञानवान् पुरुष के लिये प्रयोग होता था, परन्तु उसी का अपभ्रंश ' बुत् ' अब केवल ' पत्थर की मूर्ति ' का वाचक हो गया है। इसी प्रकार इन अन्य बहुत

से प्राचीन शब्दों को अर्वाचीन काल में विपरीत अर्थों में प्रयुक्त होता पाते हैं। ठीक इसी प्रकार वेद के बहुत से पवित्र शब्दों को अगले ब्राह्मण काल और पौराणिक स्मृति काल में विकृतार्थ हुआ पाते हैं।

पौराणिक उच्छृङ्खल कल्पनाकारों ने वैदिक काल के इन्द्र आदि देवों की हां क्या २ दुर्दशा की है सो शोचनीय है। फिर अपने साम्प्रदायिक देवों के भी आचार चरित्र की कैसी दुर्दशा की है। इसके पश्चात् पीढ़ी परम्परा से चलते आये किसी विशेष नाम को धारण करने वाले सम्प्रदाय या जन समूह का यदि आचार चरित्र भ्रष्ट हो गया तो उनके साथ उनके पूर्वजों का नाम निन्दित हो गया, ऐसा प्रतीत होता है। 'व्रात्य' शब्द की भी ऐसी दुर्दशा हुई प्रतीत होती है। परन्तु वेद में एक स्थान पर भी 'व्रात्य' शब्द को दूषित अर्थों में प्रयुक्त हुआ हम नहीं पाते। अब हम व्रात्य शब्द की उत्पत्ति पर विचार करते हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण (अ० १७) में लिखा है—

देवा वै स्वर्गं लोकमायन्। तेषां दैवा अहीयन्त व्रात्यां प्रवसन्तः। त आगच्छन् यतो देवाः स्वर्गं लोकमायन्। ते न तं स्तोमं न छन्दोऽविन्दन् येन तानाप्स्यन्। ते देवा मरुतोऽब्रुवन् एतेभ्यः तं स्तोमं तच्छन्दः प्रयच्छत येन अस्मान् आप्स्यन् इति। तेभ्य एत षोडशं स्तोमं प्रायच्छन् परोक्षमनुष्टुभं ततो वै ते तानाप्नुवन् ॥ १॥

अर्थ—देवगण स्वर्ग लोक को पहुंचे। उनके जो सन्तति आदि थे वे 'व्रात्या का प्रवास करते हुए' गिर गये। वहां आये जहां देवगण स्वर्ग को प्राप्त हुए थे। वे न उस स्तोम को पाये और न उस छन्द को पाये जिससे वे उन देवों को पा लेते। उस देव मरुद्गण ने उन लोगों को उस छन्द और उस स्तोम का उपदेश किया। जिससे वे उनको प्राप्त हुए। उनको देवोंने षोडश स्तोम प्रदान किया। वे उस द्वारा देवों को प्राप्त हुए।

हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति। नहि ब्रह्मचर्यं चरन्ति, न कृषिं, न वाणिज्याम् ॥ २ ॥

वे 'हीन' कहाते हैं जो गिर जाते हैं और व्रात्या का प्रवास करते हैं। वे न ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, न खेती, और न व्यापार करते हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण के ये दोनों उद्धरण 'व्रात्य' शब्द की उत्पत्ति को बतलाते हैं। व्रात्य वह हैं जो (व्रात्यां प्रवसन्ति) व्रात्या का प्रवास करते हैं। 'व्रात्या का प्रवास' करना अर्थात् व्रत पालन के लिये अपने गृह को छोड़ परदेश में चले जाना 'व्रात्या का प्रवास' करना कहा जाता प्रतीत होता है। उपनिषत् में 'व्रात्या प्रवास' व्रत्या, व्राज्या, प्रव्रिज्या शब्दों में परिवर्तित हो गया प्रतीत होता है।

यदहरेव विरजेत् व्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा। उप०।

अथवा 'व्रात्य' का अर्थ समूह है। टोली बनाकर लोग विदेश यात्रा के लिये निकलते होंगे। उनके साथ छोटे बड़े सभी चलते होंगे, यह यात्रा उसी प्रकार की प्रतीत होती है जैसी महाभारत में स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डव कौरवों की वर्णन की गई है। उस अवसर पर बड़े लोग तो व्रतचर्या द्वारा देह छोड़ कर सुख धाम में पहुंच जाते थे और शेष अनुभव और तप-साधना से भ्रष्ट होकर अपने पूर्व के विद्वान् तपस्वी पुरुषों के सम्मान पद, प्रतिष्ठा को प्राप्त न कर सके, इसलिये वे पथभ्रष्ट होगये और पतित कहे जाने लगे। योग्य शिक्षा न पाने से 'व्रात्या' में प्रवासार्थ निकल कर भी उनका नाम 'व्रात्य' रूढ़ि रूप से पड़ गया। परन्तु पूर्व का वैदिक शब्द 'व्रात्य' अवश्य उस विद्वान व्रातपति के लिये प्रयुक्त होता था जो अपने अनुभव, आयु और योगाभ्यास द्वारा आत्मसाधना करता हुआ 'संघ' को साथ लिये हुए प्रवासार्थ लोक भ्रमण किया करता होगा। हमारी सम्मति में उसको 'व्रातपति' कहा जाता था। अथर्ववेद (७। ७२। २) में उसी को 'व्राजपति' शब्द से भी कहा गया प्रतीत होता है।

परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपाः न व्राजपतिं चरन्तम्।

हे इन्द्र ! तेरे चारों ओर अपने आत्मिक विभूतियों सहित तेरे मित्र उपासक एम विराजते हैं (कुलपा चरन्त व्राजपतिं न) जैसे विचरण करते हुए व्राजपति के चारों ओर पुत्र और शिष्य विराजते हैं ।

व्राजपति, व्रातपति, व्रात्या प्रवासा, व्रात्य इन शब्दों के अर्थों पर विचार करने से ही एक भीतरी सम्बन्ध ज्ञात होता है । व्राजपति का विचरण और 'व्रात्या का प्रवास' ये दोनों वाक्य रचनाएं भी कोई बहुत विभिन्न प्रतीत नहीं होतीं । शिष्यों के लिये ' कुलपा ' शब्द का प्रयोग है । यह शब्द पुत्र, पुत्री के लिये भी प्रयुक्त होता रहा है । क्योंकि वे कुल के पालक होते हैं । और गुरुओं के कुलों के पालक शिष्य होने से वे भी ' कुलपा ' कहलाने योग्य हैं । उन्हीं के अनुकरणों में हम अब भी साधु संन्यासी गणों के अखाड़ों को या जमातों को घूमता हुआ पाते हैं । उनके बड़े २ महन्त 'व्राज पति' कहाने योग्य हैं । उनके या उनके साथियों के आचार भ्रष्ट होने से उन के नाम साधु, महन्त, आदि भी अब बदनाम हो रहे हैं । परन्तु उन ही के आचारवान् होने पर उनकी मान, प्रतिष्ठा होनी स्वाभाविक है । वैदिक काल के व्रातपति, व्रात्य आदि शब्दों का भी कुत्सित अर्थ इसी प्रकार बिगड़ा प्रतीत होता है ।

व्रातपति या व्रात्य के लिये एक शब्द ' गृहपति ' भी ताण्ड्य महा ब्राह्मण में प्रयुक्त हुआ है । जैसे—

द्युतानो मारुतस्तेषां गृहपतिरासीत् । त एतेन स्तोमेनायजन्त ते सर्वे आर्ध्नुवन् । ऋद्धेतत् साम भवति ऋध्या एव । ताण्ड्य० । १७ । १ । ९ ॥

मरुतों, देवगणों के बीच में ' द्युतान ' नामक उनका गृहपति था वह इस षोडश स्तोम से उपासना करता था । इससे वे सभी समृद्ध होगये । यह षोडश स्तोम ऋद्धि प्राप्त करने के लिये है । अभी हीन्द्र गिर्वण०, वार्ण्वया० सुन्वन्ति हरी० इत्यादि तीन ऋचाओं से द्यौतान साम की उत्पत्ति है जिसका ऋषि द्रष्टा 'द्युतान' है । सामवेद उत्तरा० प्र० ६ । १४ । १ । २३ ॥

इस उद्धरण में उक्त व्रात्या-प्रवासी देवों का गृहपति अर्थात् कुलपति आचार्य या मुख्यपद का नेता बुनान था यही प्रतीत होता है। और वह वेद मन्त्रों से प्राप्त सामगान करके समस्त कुल भर को सम्पन्न करता था इसमें व्रात्य देवों के प्रति कोई भी घृणाजनक भाव का प्रयोग कहीं भी दृष्टि गोचर नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त ताण्ड्य महाब्राह्मण के बीच में हमें कई प्रकार के अन्य भी व्रात्यों का परिचय प्राप्त होता है। जैसे—

त्रयस्त्रिंशता त्रयस्त्रिंशता गृहपतिर्मभि समायन्ति।
त्रयस्त्रिंशद्धि देवा आर्ध्नुवन् ऋध्या एव॥

तेंतीस, तेंतीस करके वे देव गृहपति के पास आते हैं। वे तेंतीसों देवगण षोडश स्तोम से समृद्धि को प्राप्त हुए।

ताण्ड्य ब्राह्मण (१७ । २ । ३) में ऐसे लोगों के लिये भी प्रायश्चित्त लिखा है जो नृशंस, निन्दित रह कर 'व्रात्या का प्रवास' करते हैं। जैसे—

अथैष षड्षोडशी। ये नृशंसा निन्दिताः सन्तो व्रात्यां प्रवसेयुः त एतेन यजेरन्।

लुच्चे, लबाड़ होकर भी जो लोग संन्यास ले लें या किसी उत्तम कुल में साधना करने के लिये आजावें तो वे भी उस कुल के लिये हानिकारक हैं। यदि वे पुरुष अच्छा होना चाहें तो ताण्ड्य ब्राह्मण के लेखानुसार वे लुच्चे लोग भी प्रायश्चित्त करके उत्तम हो जा सकते हैं।

इसी प्रकार द्विषोडशस्तोम उनके लिये है जो "कनिष्ठाः सन्तो व्रात्यां प्रवसन्ति (ता० ब्रा० १७ । ३ । १) उमर में छोटे होकर व्रात्या का प्रवास करें। अर्थात् कच्ची उमर में ही सन्यास ले लें।

वे भी प्रायः गिरजाते हैं जो कच्ची उमर में 'व्रात्या का प्रवास' अर्थात् सन्यास आश्रम में प्रवेश करते हैं।

एक प्रायश्चित्त उनके लिये है जो 'शमनीचामेढ्र' हैं। अर्थात् जो बुढ़ापे पर इन्द्रियों के सर्वथा शिथिल होजाने पर 'व्रात्या का प्रवास' करते हैं। वे सर्वथा अंग शिथिल हो जाने पर बूढ़े तोते जैसे कुछ पढ़ नहीं सकते, प्रत्युत

अपनी बुरी आदत भी नहीं छोड़ते। इस प्रकार जो वृद्धावस्था में कुलपति के यहां दाखिल हों वे भी पतितसावित्री कहलाते हैं। वे भी कुल में दोषकारी ही सिद्ध होते हैं, इसलिये वे निन्दित हैं। उनको भी प्रायश्चित्त करना उचित है। ऐसों में से भी एक बड़ा विद्वान् कुलपति समश्रवा का पुत्र 'कुषीतक' गृहपति था। वेदाध्यायी जानते हैं, कि कौषीतकी ब्राह्मण और कौषीतकी आरण्यक और कौषीतकी उपनिषद् इसी सम्प्रदाय के ग्रन्थ हैं। इस कुलपति की कौषीतकी शाखा प्रसिद्ध है। इन सब उद्धरणों को देखकर व्रात्य, व्रातपति, ग्रामपति, कुलपति, गृहपति, आदि के समानार्थ होने का निश्चय होता है और वेद प्रतिपाद्य 'व्रात्य प्रजापति' के हम बहुत समीप पहुंच जाते हैं। परन्तु वेद की भीतरी साक्षी देने के पूर्व हम चाहते हैं कि अपने कथन में प्राचीन विद्वानों को ही खड़ा करें।

अथर्ववेदीय चूलिकोपनिषद् में व्रात्य सूक्त को औपनिषदिक ब्रह्म विद्या के निरूपण का सूक्त माना गया है।

> ब्रह्मचारी च व्रात्यश्च स्कम्भोऽथ पलितस्तथा।
> अनड्वान् रोहितोच्छिष्टः पठ्यते बहुविस्तरः॥
> शिवोऽभवश्च रुद्रश्च ईश्वरः पुरुषस्तथा।
> कालः प्राणश्च भगवान् आत्मा पुरुष एव च॥
> प्रजापतिर्विराट् चैव पार्थिवं सलिलमेव च।
> स्तूयते मन्त्रसंयुक्तैरथर्वविहितैर्विभुः॥

अर्थ—ब्रह्मचारी सूक्त (का० ११ । ५), व्रात्य सूक्त (का० १५), स्कम्भ सूक्त (का० १० । ७ । ८), पलित सूक्त (का० ९ । ९, १०), अनड्वान सूक्त का० ४ । ११), ऋषभ सूक्त (का० ९ । २, ४), रोहितसूक्त (का० १३) उच्छिष्ट सूक्त (का० ११ ७), शिव, भव, रुद्र सूक्त (११ । २), ईश्वर पुरुष (का० ११ । ६), काल [म], प्राण (१० । ८), आत्मा (११ । ४), भगवान् (३ । १६), प्रजापति विराट् (८ । ९, १०), पार्थिव

सूक्त (१०।२), सलिल सूक्त (८।६) अथर्ववेद के ये समस्त सूक्त परमेश्वर का ही वर्णन करते हैं।

इसी प्रकार यजुर्वेदीय मन्त्रिकोपनिषद् जो चूलिकोपनिषत् का प्रति रूप है उक्त श्लोकों को ही पाठभेद से स्मरण करता है।

फलतः व्रात्य सूक्त वेदान्तविषयक ब्रह्म प्रजापति का ही वर्णन करता है। इसी को लक्ष्य में रखकर योरोपीयन पण्डित ब्लूमफील्ड ने ठीक लिखा है कि—"There can be no doubt that the theme is in reality brahma" वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्रात्य सूक्तों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब धर्म सूत्र ने अतिथि की शुश्रूषा करने के लिये व्रात्यसूक्त का ही उल्लेख किया है। पूज्य गुरु, आचार्य, स्नातक तपस्वी राजा आदि सभी को सामान्य 'व्रात्य' शब्द से ही संबोधन करने का आदेश है। यदि व्रात्य शब्द पूर्व काल में ही 'पतित' का पर्याय होता तो आपस्तम्ब धर्म सूत्रों में ऐसा विधान सर्वथा न आता।

इस सूक्त में नीललोहित, महादेव, ईशान आदि शब्द देखकर पं० ब्लूमफील्ड ने अनुमान किया कि इस सूक्त पर शैव सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव है। परन्तु हमें खेद है कि प्रजापति, ब्रह्म, तप, सत्य आदि विशेषण देखकर किसी अन्य सम्प्रदाय की छाप क्यों न अनुभव की?

व्रात्य का स्वरूप

व्रात्य सूक्त में प्रथम उपास्य देव व्रात्य के पवित्र नाम कीर्तन किये गये हैं (१५।१ (१)), (१ (२)) में व्रात्य का अलंकार से विराट् ज्ञानमय, देवमय, कालमय, दिङ्मय, रूप प्रकट किया है। जिसका अनुकरण प्रायः शैव सम्प्रदाय ने सेनानायक का सा रूप कल्पित करके जगन्नाथ के रथ की कल्पना की और त्रिपुरविजय का वर्णन किया है।

१५।१ (३) में व्रात्य के वेदमय सिंहासन का वर्णन है। १५।१ (४) में व्रात्य के सर्वदिशाव्यापी संवत्सरमय राज्य का वर्णन है। और

(१५ । १ (५) में भी उपदिशाओं में आधिदैविक शासन का वर्णन किया है। (६) में दिग्विजय का स्वरूप दिखाया गया है। (७) में महती विभूति दर्शाई है। (८) में राजन्यरूप और। (९) में उसका सभापति, सेनापति और गृहपति का स्वरूप दर्शाया है। (१०) में उसके ब्राह्मत्व और क्षात्र धर्म का विस्तार दर्शाया है। (११ १३) में उसका आतिथ्य और (१४) में उसका प्रसाद से विशाल भोग रूप दर्शाया है। (१५, १६, १७) में उसके प्राण, अपान और व्यान का विशद् वर्णन है (१८) में व्रात्य के आंख, कान, नाक, शिर, का वर्णन है। यह व्रात्य का कल्पित स्वरूप प्रजापति के सभी अन्य विराट रूपों के समान ही है। संक्षेप से इससे दिग्दर्शन करा दिया है। पाठक वर्ग प्रस्तुत भाष्य में ध्यानपूर्वक स्वाध्याय करके हृदय को तुष्ट करें।

(१६) विवाह सूक्त

चौदहवां समस्त काण्ड विवाहपरक है। पं० शंकर पाण्डुरंग के कथनानुसार—

'सूक्त के आरम्भ में सूर्या नाम की सूर्यरूपा सवितृपुत्री देवी कन्या विवाहस्य कथा वर्णिता।'

सूक्त के प्रारम्भ में सूर्या नाम कोई सूर्य के रूप वाली सविता की कन्या देवी है। वेद में उसकी कथा कही गयी है। अर्थात् उक्त पण्डित के कथनानुसार यह एक कहानी ही रही। सविता कोई देव है, उसकी कोई कन्या है। उसके बाद उक्त पंडित ने विवाह के कृत्य में मन्त्रों का विनियोग नीचे लिखे प्रकार से दर्शाया है।

'कुमारी का विवाह पिता के घर में होता है। १-१६ और २३, २४ इन १८ मन्त्रों से आज्य होम किया जाता है। फिर कुमारी को खिचड़ी खिलाई जाती है (१ । २१) से किसी पुरुष के हाथ सकोरा देकर घर के पास भेजता है। (१ । ३१) से ब्राह्मण को भेजता है। (१ । ३४) से कुमारी की रक्षा के लिये एक पालक पुरुष को भेजता है। पानी लेने के लिए

जाता है। (१ । ३७) से जलमें एक ढेला फेंकता है। (१ । ३८) से स्नान होता है। (१ । ३८) से जलका कलसा भरता है। कलश पनिहारे को देता है। फिर एक वृक्ष की शाखा पर घड़ा रखा जाता है। उस जल से विवाह में जहां २ जल का काम पड़े लिया जाता है। उसके बाद (१ ।१७) से घृत होम होता है। (१।४२) से कन्या के केश खोले जाते हैं। (१।४२) से घर के ईशान कोण में कन्या को बैठाकर गरम जलसे स्नान कराया जाता है। (१ । ३९) और (१ । ४३) से शीतल जल से निहलाया जाता है। फिर एक कपड़े से अंग पोंछा जाता है। (२ । ६६ । ६७) कन्या भृत्य को तौलिया देती है। उस कपड़े को तुम्बर के दण्ड से लेकर गोफ में रख देता है। वह नवीन वस्त्र कन्या को पहनाता है। कन्या को 'वाधूय' वस्त्र यज्ञो-पवीत के समान पहना देता है। (२ । ६२) से केशों में कंघा करता है। (१ । ४२), (२ । ७०) से एक योक्त्र नामक रस्सी को कटि में पहनाता है। जेठ की मधुमणि (मुलहटी की लकड़ी) को लाल डोरे से अनामिका अंगुली में बांधता है। कन्यादान के बाद उपाध्याय कन्या को हाथ से पकड़ कर कौतुकगृह से निकलता है। (१ । २०) से शाखा में 'युग' (जूआ) लगाता है। दायें से उसे एक आदमी पकड़ता है। (१ ।४०,४१) से कन्या के ललाट पर सुवर्ण बांधते हैं। उसपर जूए के छेद में से जल चु-आते हैं। (१ । ४७) से कुमारी को शिला पर चढ़ाते हैं। (२ । ६३) से लाजा होम होता है। (१।४८,४२) से वर कन्या का पाणिग्रहण करता है। (१ । ३९) से वर कन्या को लेकर अग्नि की तीन प्रदक्षिणा करता है। सात रेखाएं खेंचता है। उनमें वधू को चलाता है। उसके बाद (१ । ३१) और (१ । ६०) से कन्या को सेजपर बैठाता है। सेजपर बैठ जाने पर वरका कोई मित्र कन्या के पैर धोता है। (१ । १७ ।४८) वर कुमारी के कमर में बंधी रस्सी को खोलता है उस रस्सी के दोनों छोरों से पकड़कर नौकर लोग जोर लगाते हैं जो खेंचलेते हैं वे बलवान् समझे जाते हैं। (२।४३-४८) पलाश पत्र से वधू, वर के सिर पर ओषधियां फेंकती है। (१ । ४९,

६०, ६२), से वर कन्या को सेज से उठाता है। यहां विवाह विधि समाप्त हो जाती है।

अब उसके बाद 'उद्वाह' होता है। उद्वाह में वर के घर वधू को लेजाया जाता है। (१ । ६१). (२ । ३०) से वधू वर दोनों को रथ पर चढ़ाते हैं (२ । ८), (१ । ६४) से कर्त्ता आगे २ चलता है। (२ । ११) (१ । ३४) से दायें पैर से रास्ता चलना है। उसी दिन यदि और कोई स्त्री का भी विवाह हुआ हो तो वधू के वस्त्र में से एक सूत निकाल कर चौरास्ते पर रख कर उस पर दाया पैर रख कर कर्त्ता खड़ा हो जाता है। यह प्रायश्चित्त है। दोनों विवाहितों की शुभ चाहता हुआ (२ । ४६) का जप करे। दोनों के बीच में ब्राह्मण गुज़र जाय। (२ । ४७) से रथ निकलता है (२ । ६) से मार्ग में तीर्थ आजाने पर मट्टी का ढेला धर कर तब उसमे उतर जाता है। (२ । ६) को बड़े २ वृक्ष देख कर जपता है। (२ । २८) को वधू को देखने के लिये कुदृष्टि वाली स्त्रियें आवें ता उन के प्रति जपता है (२।७) को दो नदियों का सगम देख कर जपता है। (२ । ७) को ही ओषधि, नदी, खेत, बन देखकर भी जपता है। (२ । ७३) को श्मशान देखकर जपता है।

मार्ग में वधू सो जाय तो (२ । ७५) से उसको जगाता है। वर के पिता का घर समीप आजाने पर (२ ।१२) मन्त्र जपता है। घर आजाने पर जलों के छींटे देकर बैलों को (२ । १६) से खोलता है। निर्ऋति को दूर करने के लिये (२ । १७) से पत्नीशाला में जल छिड़कता है। घर के दक्षिण दिशा में (१ ।४७) से गोबर की पिंडी पर पत्थर को रखता है उसके ऊपर पलास के तीन पात में से बीचका पत्ता लेकर रखता है और उसके ऊपर घी और घी पर चार दूब के कोंपल रखकर उसपर (१ । ४७) से वधू को खड़ा करता है। उसपर पैर रखाकर (२ । ६१) (१ । २१) (१ । ६३) (१ । ६४) इनसे वधू को वर के गृह में प्रवेश कराता है। इसके साथ पूर्णपात्र, कुम्भ, फल, अक्षत, सहित भी जाता है।

वहां पुनः अग्नि जलाकर वधू का हाथ पकड़कर वर (२ । १७, १८) से परिणय अर्थात् प्रदक्षिणा कराता है (२ । २०) (२ । ४६) से अग्नि, सरस्वती, पितृ, सूर्या, देव मित्र वरुण इनको नमस्कार करती हुई कन्या के साथ पढ़ता है । (२ । २२) से कोई मृग चर्म लाता है । उसे बिछाकर उसपर पाल डालकर (२ । २३) से वधू को बिठलाता है । (२ । २४) वधू को बिठलाकर किसी ब्राह्मण के उत्तम बालक को उसकी गोद में बैठाता है । (२ २५) से बच्चे को फल, लड्डु आदि देकर उठाता है । (२ । १-५), (२ । ४५) इनसे वर वधू क्रम से आहुति देते हैं । और एक जलपात्र में आहुति शेष को चुआते जाते हैं । उस जलपात्र को (२ । ४५) वर वधू के अञ्जलि में रखता है । (२ । १-५) से जलों को गिराकर स्थालीपाक के पास ले जाते हैं । वहां एक स्थान पर अपने आदमियों सहित पति मिष्टान्न खाता है । उसी सूक्त से पति घृत से मिले जवों की अञ्जलि भर २ कर आहुति करे । इति उद्वाहः ।

इसके आगे चतुर्थिका कर्म है । 'सप्त मर्यादा०' इस मन्त्र से वर विवाहाग्नि में धान्य की आहुति देता है । 'अघ्यौ नौ०' इस मन्त्र से वर वधू दोनों एक दूसरे की आंख में अंजन करते हैं । 'महीम् ऊ पु०' इस मन्त्र से वर वधू दोनों को आचार्य पलङ्ग पर भेजता है । (२ । ३१) से वर वधू को सेजपर चढ़ाता है और (२ । २३) से बैठाता है । और (२ । ३२) से सुलाता है । उन दोनों को आचार्य एक चादर से ढक देता है । (२।३७) से दोनों को एक दूसरे के सम्मुख कर देता है । 'इह इमौ'० (२ । ६४) इस मन्त्र से वर वधू दोनों को तीन बार प्रेरित करता है । (२ । ७१, ७२) दोनों परस्पर संग करते हैं । 'प्रज जनानं' इस मन्त्र से वर 'प्रजनन' अंगका स्पर्श करता है (२।४३) से वधू को वर खाट से उठाता है । (१।४५ ५३,५५) से आचार्य दोनों को नवीन वस्त्र पहनाता है । पुनः (१।५५,५६) से वर वधू के मस्तकपर दूब रखता है । बिना मन्त्र के धन, जो रखता है । कुशा से केशों को संवारता है । सन के सूत से केशों को बांधता है । इन समस्त कार्य

से वर होम करता है। (१ । ३१) से यह मेरा, और यह तेरा इस प्रकार धन का विभाग करता है। (१ । २९-३०) आचार्य वर से स्वयं वाधूय वस्त्र लेते हुए जपता है। (२ । ४१, ३२) से स्वीकार कर लेता है। (२ । ४८) से उसको वृक्षपर लटका देता है। (२ । ४९) से उसको लेकर चल देता है। (२ । ५०) से उस वस्त्र से वृक्षको ढक देता है। (२ । ४४) से सब स्नान करते हैं। (२ । ५१) उस वाधूय वस्त्र को स्वय पहन लेता है। (२ । ४४) को जपकर आचार्य अपने घर आजाता है। पति गृह को आती हुई स्त्री 'येयं सं 'जीव रश्मिर (१ । ४६) इसमें और 'यद् इमे केशिन ०' इत्यादि ४ मन्त्रों से आहुति देते हैं। यह चतुर्थी कर्म है।

अथर्व वेद के विवाह सूक्त की साम्प्रदायिक पद्धति का हमने संक्षेप से उल्लेख कर दिया है। विशेष जानकारी के लिये अन्य २ शाखा वाले गृह्य सूत्रों में लिखी पद्धतियों से इसकी तुलना की जा सकती है। वर्तमान प्रचलित पद्धतियों से भी इसका भेद सहज ही में सुविज्ञात होता है। थोड़ा सोच विचारने से उक्त पद्धति के अभिप्राय भी समझ में आते हैं। उस कर्मकाण्ड में विस्तार से जाना हमारा यहां प्रयोजन नहीं। हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि पद्धति को देखें और प्रस्तुत भाष्य में किये मन्त्र के अर्थों पर विचार करें तो पद्धति के कर्म काण्डों का रहस्य आप से आप खुलता है। सूक्त की कुछ एक विशेष बातों का हम रहस्य यहां उद्घाटन करते हैं।

वैदिक विवाह की कुछ विशेषताएं

१—गृहस्थ प्रकरण को प्रारम्भ करके वेद साक्षात् प्रजापति का रहस्य खोलते हैं। 'सत्येन उत्तभिता भूमिः।' सत्य ने भूमि को उठा रखा है अथवा सत्यवान्, वीर्यवान् तेजस्वी, बलवान्, धीर्यवान् पुरुष ही भूमि स्वरूप स्त्री का भार उठाता है, नपुंसक नहीं। परस्पर का सत्य व्यवहार ही गृहस्थ रूप भार को उठाता है। कैसे ? जैसे—

सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।

जैसे सूर्य आकाशस्थ पिण्डों को थामे है, वह उनको प्रकाशित करता है इसी प्रकार उत्पादक, प्रेरक तेजस्वी पुरुष (द्यौः) पुत्रादि के देने वाली, क्रीड़ा, या रमणप्रदा स्त्री के हृदय को भी प्रकाशित करता है। 'आदित्याः ऋतेन तिष्ठन्ति' आदित्य ब्रह्मचारी लोग अपने ऋत, सत्य ज्ञान के बल पर स्वयं अपने आश्रय खड़े हो सकते हैं। इसीलिये आश्रय की आकांक्षा वाली स्त्रियें उनका आश्रय खोजती हैं। 'दिवि सोमः अधिश्रितः' जिस प्रकार चन्द्र सूर्य के आश्रित है उसी प्रकार वीर्य भी तेजस्वी पुरुष में रहता है। (१। २-५) मन्त्रों में सोम रूप वीर्य और वीर्यवान् पुरुष का वर्णन किया है।

शरीर में वीर्य की सत्ता को कितने अच्छे दृष्टान्त से दर्शाया है।

यत् त्वा सोम प्र पिबन्ति तत आप्यायसे पुनः।

हे वीर्य जब तेरा भोग कर लेते हैं तो तू फिर बढ़ जाता है। अर्थात् गृहस्थ कार्यों में वीर्य के व्यय हो जाने पर शरीर में अन्नादि ओषधियों के सेवन से पुरुष फिर वीर्यवान् हो जाता है। और वह फिर ऐसे पूर्ण हो जाता है जैसे चन्द्र एक बार घटकर भी फिर पूर्ण हो जाता है।

'वायुः सोमस्य रक्षिता' प्राण ही वीर्य का रक्षक है।

चन्द्र के द्वादश राशिभोग से जिस प्रकार मास उत्पन्न होकर १२ मासों के क्रम से वर्ष का भोग होता है उसी प्रकार द्वादश प्राणों में वीर्य का भोग होकर पुरुषरूप प्रजापति पूर्ण होता है।

२-मन्त्र (१। ६) में स्वयं वरा कन्या का स्वरूप दिखाया है।

यद् अयात् सूर्या पतिम् चित्तिरा उपबर्हणम्।
चक्षुरा अभ्यञ्जनम् द्यौर्भूमिः कोश आसीत॥

जब 'सूर्या' पति को प्राप्त होती है तब (चित्तिः) चित्त का संकल्प सिरहाना होता है। चक्षुः अर्थात् उसमें उत्पन्न प्रेमराग ही गात्रलेप है। ज़मीन और आसमान दो ख़ज़ाने हैं।

इस मन्त्र में 'सूर्या' उस स्वयंवरा कन्या के लिये वैदिक महत्वपूर्ण शब्द है, जो सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ है और अपने प्रति प्रेमी के

हृदय को उज्ज्वल करे अपने पति के साथ रहकर सूर्य की प्रभा के समान उसके लिये शोभा जनक हो। इसी प्रकार वह वर स्वयं 'सूर्य' है।

इस कन्या के लिये—'रैभी आसीद् अनुदेयी'।

रैभी नाम ऋचा या उपदेशमयी धारणा उसका दहेज हो। 'नाराशंसी न्योचनी' उत्तम पुरुषों की चरित्रकथा उसकी आदर्शी हो। 'सूर्याया भद्रम् इद् वास' कल्याणी चरित्र ही उसका आच्छादक वस्त्र है। सच्चरित्रता ही उसका पर्दा है। और लोग जब उसकी सच्चरित्रता का वर्णन करें, बस वह उसी गाथया पति परिष्कृता पुण्यचरित्र की गाथा से सुभूषित होकर पति के घर आती है।

३—इस सम्बन्ध में वेद कुछ और भी परिभाषाएं प्रकट करता है। जैसे (११८)

सोमो वधूयुर् अभवत्। वधू की कामना करने वाला पुरुष 'सोम' है। और 'अश्विना स्तामुभा वरा' स्त्री पुरुषों के जोड़े सब मिलकर आये हुए बराती 'अश्विनौ' होते हैं। और

यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सूर्यां सविताददात्।

जो पति का मन ही मन गुणती हुई कन्या को दान देता है वह कन्या का पिता 'सविता' कहाता है। इसी प्रकार वेद बड़ी ही चतुरता से विवाह योग्य वरवधुओं के विषय में वास्तविकता का वर्णन करता है। परन्तु हमारे रूढि 'देववादियों' ने इस सब रहस्य को ओट करके कुछ अजब ही 'सूर्या साम' के विवाह की कहानी सी बनाली है। यदि हम वेद के देवतावाचक शब्दों का रूढिमान कर यहां अर्थ करने लगें तो बड़े ही हास्यजनक अर्थ निकल ने लगते हैं। जैसे—

(मन्त्र ९) में सोम वधू की कामना करने लगा। और बराती हो गये अश्विनी कुमार। सविता ने सूर्या को दान किया।

(मन्त्र २०) में—भग देवता वधू का हाथ पकड़ कर लिये जाय। और अश्विनी कुमार दोनों रथ पर चढ़ा ले जाय।

(मन्त्र २१) में—सविता वधू का हाथ पकड़ता है, भग भी हाथ पकड़ता है। क्या सोम की वधू के सब पाणिग्रहण करने वाले सविता

जिसने कन्या को दान दिया था, वह भी हाथ पकड़ने वाला हो गया। और भग देवता भी तीसरे हाथ पकड़ने वाले हुए।

फलतः हमारा कहने का यहां यही तात्पर्य है कि देवता वाचक रूढ़िनामों से इस प्रकरण के वेदमन्त्रों का अर्थ लगाना बड़ी भारी भूल होगी। हमें उनका आख्यातज अर्थ ही लेकर इस विवाह प्रकरण को सर्वथा क्रियात्मक रूप से सुसंगत करना होगा।

नव पतिपत्नी को वेद के उपदेश

इस प्रकरण में वेद नये गृहस्थ को बनाने वाले पति पत्नी या वर वधू को बहुत से बहुमूल्य उपदेश देता है, जिनको देखकर वेद के आदर्शों का पता लगता है। जो लघुदर्शी अपनी तुच्छ चक्षुओं से महाभारत में आई, ऋषियों के चरित्रों पर कलंक लगाने वाली, श्वेतकेतु आदि की कथा को पढ़कर वैदिक काल में विवाहबन्धन की सत्ता तक को स्वीकार नहीं करना चाहते, उनको इस सूक्त का मनन करना चाहिये। जरा उन उपदेशों और आदर्श कार्यों पर भी दृष्टिपात कीजिये।

१—वेद कहता है 'मनो अस्याः अनः आसीत्।' वधू का चित्त ही पति तक पहुंचने का रथ है। 'द्यौः आसीद् उत च्छदिः।' मनके भाव प्रकाश करने वाली वाणी ही मनो-रथ का 'छदि', छत अर्थात् आचरण है। अर्थात् स्त्री अपने मानसिक भावों को अपने प्रियतम के प्रति वाणी द्वारा प्रकट करे। तब क्या हो ? 'शुक्रौ अनड्वाहौ आस्ताम्।' दोनों के परिपुष्ट वीर्य ही उस 'मनो-रथ' में जुड़े बैलों के समान उद्देश्य तक पहुंचाने वाले हों। अर्थात् दोनों परिपुष्ट वीर्य होकर गृहस्थ कार्य में सफल हों।

२—यत्पात् शुभस्पती वरेय सूर्याम् उप।

कन्या के वरण के अवसर पर वे दोनों शुभ सकंल्पों को चित्त में रखकर समीप आते हैं। प्रत्येक चाहता है कि (वरेयम्,) मैं स्वयं वरण करूं तब—हे वर वधू !

'विश्वे देवा अनु तद् वाम् जानन्।'

समस्त देव, विद्वान्गण तुमको अनुमति दें कि तुम दोनों विवाह करो। तब क्या होगा ?

पुरा पुत्र पितरम् नहीत

तब हृष्ट पुष्ट पुत्र सन्तान पिता को प्राप्त होगा।

३—जब कन्या का दान किया जाता है तो बहुतों का विचार है कि यह गाय, भैंस, बकरी आदि पशु या रुपया, पैसा, भूमि, मकान आदि के समान ही कन्याओं का दान किया जाता है। वर्तमान में कुछ विद्वान् स्त्रियों की स्वतन्त्रता को विचार में रखकर इस 'कन्यादान' के भाव को बहुत गर्हणीय समझते हैं। ठीक है ! पशु, धन आदि के समान कन्याओं को दान करना बहुत ही नीच, घृणित और अत्याचार पूर्णकार्य है। मैत्रायणी संहिता (४ । ६ । ४) का उद्धरण देकर यास्कने भी लिख दिया है कि—

तस्मात् पुमान् दायादो अदायादा स्त्रीति विज्ञायते। तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम् इति च। स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा, विद्यन्ते न पुंस.। पुंसोऽपि इत्येके शौनःशेपे दर्शनात्॥

अर्थ—पुमान् ही दायभागी होता है स्त्री को दायभाग नहीं मिलता। इसलिये कन्या उत्पन्न हो तो उसको फेंक देते हैं, पुत्र को नहीं फेंकते। स्त्रियों के दान, विक्रय और त्याग सुना जाता है। पुरुषों का नहीं। और पुरुषों का भी सुना जाता है, जैसे शुनःशेपोपाख्यान में, इत्यादि।

परन्तु यास्क के इस उद्धरण से खूब समझ लेना चाहिये कि यास्क बहुत ही पतितकाल की उन बातों को लिख रहा है जो घटित होती थीं, न कि ये वेद के वचन हैं। यह तो पतित लोगों के ही कामों को साधारणतः बतलाता है। मैत्रायणी आदि संहिता काल्रूप में महाभारत से भी अर्वाचीन काल की हैं। उनमें यदि ऐसा उल्लेख हो तो कोई यह वेदों पर लाञ्छन नहीं प्रत्युत यह भी पतितकाल का द्योतक है। वेद प्रतिपादित 'कन्यादान' रुपये पैसे के दान के समान नहीं है। वेद स्वयं कहता है—

एषा ते कुल्पा राजन् ताम् उ ते परिदद्मसि ॥ अथर्व० १ । १४ । ४ ॥

हे वर ! यह कन्या है, मैं उसको तुझे देता हूं। पर क्यों देता हूं? इस लिये कि 'ज्योक् पितृषु आसाता' वह तेरे माता पिताओं के बीच में चिर-काल तक रहे। पर इस दान का क्या स्वरूप है?

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाम् अमुतः करम्।

यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगा सति ॥

मैं कन्या का पिता (इतः) इस पितृ कुल से सर्वथा मुक्त करता हूं। (न अमुतः) उस पति कुल से नहीं। साथ ही (अमुतः सुबद्धाम् करम्) उसको उस पति से खूब दृढ़ता से बद्ध कर देता हूं! क्यों? जिससे हे (मीढ्वः इन्द्र !) वीर्यसेचन में समर्थ स्वामिन्! पते! यह कन्या उत्तम पुत्र और सौभाग्य से युक्त हो। फलतः, यहाँ तो केवल सन्तानलाभ के लिये कन्या के साथ अपना सम्बन्ध मात्र परित्याग करने ही को 'दान' शब्द से कहा है। ऐसा दान या सम्बन्धत्याग तो स्वयंवरा, पतिंवरा कन्या के ही अभिप्राय को पूर्ण करता है और उसको आज्ञा देता है कि वह अन्य समस्त प्रेम सम्बन्धों को शिथिल कर अपना समस्त प्रेम अपने पति के निमित्त समर्पण करदे।

४—स्त्री अपना आत्मसमर्पण करके भी गृहस्थ में स्वामिनी और अधिकार वाली होकर रहे। वह सदा विदुषी होकर ज्ञानोपदेश का कार्य भी करे, वेद उसे अधिकार देता है—

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः वशिनी त्वं विदथम् आवदासि ॥ २० ॥

पति के गृह को प्राप्त होकर गृह की स्वामिनी हो। तू स्वयं जितेन्द्रिय होकर ज्ञान का उपदेश कर।

५—विवाह सम्बन्ध आजीवन है, और उसको इच्छानुसार जब कभी भी तोड़ा नहीं जा सकता। वेद कहता है—

इहैव स्तं मा वियौष्ट विश्वम् आयुर्व्यश्नुतम्।

तुम दोनों स्त्री पुरुष यहां ही रहो, कभी वियुक्त न होवो, समस्त आयु का भोग करो। और

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ।

पुत्र, पौत्र, नाती आदि सहित प्रसन्न रह कर, अच्छा सा घर बनाकर रहो।

६—सूर्य चन्द्र के समान स्त्री पुरुषों के कर्त्तव्यों पर वेद ने क्या ही अच्छा लिखा है ।

विश्वा अन्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नव ॥

एक पुरुष तो सूर्य के समान समस्त घर के कार्यों को देखता है, दूसरा चन्द्र के समान ऋतु कालों को भुगतता हुआ प्रति बार नवीन हो जाता है ।

७—स्त्री का रजो धर्म के अवसर पर भोग नहीं करना चाहिये । यह अवसर भोग के लिये बहुत ही हानिकर है ।

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।

सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥ २८ ॥

पुत्र प्रसव करने में समर्थ ' सूर्या ' अर्थात् नवयुवति के नाना रूपों, लक्षणों को देखो । गर्भाशय का कटना, फटना और चिरना होता है । ऐसे समय ' ब्रह्मा ' विद्वान् ज्ञानी ही उसको संस्कार से शुद्ध करता है ।

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे ॥ २९ ॥

उस दशा में स्त्री का शरीर तृषारोग का जनक, उष्णता के रोग का जनक, देह पर चिरमराहट या फुन्सी पैदा करने वाला, घृणित वस्तु, विषयुक्त होता है । उस समय स्त्री शरीर भोग के योग्य नहीं होता ।

८—आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।

पत्युरनुव्रता भूत्वा सन्नह्यस्वामृताय कम् ॥

उत्तम चित्त, प्रजा और सौभाग्य और ऐश्वर्य की आकांक्षा करती हुई तू पति के अनुकूल रह कर अमृत=प्रजा प्राप्त करने के लिये तैयार रह ।

९—त्वं सम्राज्ञी एधि पत्युरस्तं परेत्य ॥ ४३ ॥

सम्राज्ञी एधि श्वशुरेषु सम्राज्ञी उत देवृषु ॥

ननान्दुः सम्राज्ञी एधि सम्राज्ञी उत श्वश्र्वाः ॥ ४४ ॥

हे नववधु ! तू पति के घर में जाकर उत्तम गुणों से प्रकाशमान 'सम्राज्ञी' अर्थात् महारानी होकर रह ।

१०—विदाई के समय प्रायः नव वधुएं बहुत रोती हैं । उनके आश्वासन के लिये वेद आज्ञा देता है कि—

जीवं रुदन्ति विनयन्ति अध्वरम् ।

जब लोग अपने प्रेमी जीव के लिये रोते हैं तो वे यज्ञ को व्यर्थ कर देते हैं ।

दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।

नेता लोग तो भविष्य के लम्बे दाम्पत्य के सम्बन्ध को विचारते हैं और माता पिताओं के लिये इस सुखप्रद विवाह कार्य को रचते हैं जिससे पति को भी अपनी स्त्री के आलिङ्गन का सुख प्राप्त होता है ।

११—शिलारोहण का उद्देश्य विवाह में बड़ा पवित्र है । वेद भी आज्ञा देता है—

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्याः उपस्थे ।
तमातिष्ठानुमाद्या सुवर्चाः ॥ ४७ ॥

प्रजा के हित के लिये सुखकारी शिला को पृथिवी के ऊपर रखता हूं । तू उस पर खड़ी हो और तेजस्विनी बलवती होकर [पर्वत पर सूर्यप्रभा समान] प्रदीप्त हो

१२—वेद की दृष्टि में पति पत्नी दोनों मालिक मालिकिन हैं ।

'पत्नी त्वमसि धर्मणा अहं गृहपतिस्तव' ॥ १ । ५१ ॥

तू धर्म [कर्त्तव्य] से घर की 'पत्नी' स्वामिनी है और मैं तेरा गृहपति हूं ।

१३—*स्त्री को पति सदा पालन पोषण करे ।*

'ममेयमस्तु पोष्या ।' यह स्त्री मेरे पोषण योग्य है ।

१४—स्त्री पुरुष वधु के केशों को उसके पति के चित्त हरने के लिये सजाया करें ।

तेनेमामश्विना नारीं पत्ये संशोभयामसि ।

१५—हम दोनों पति पत्नी एक दूसरे से चोरी २ न खावें ।

' न स्तेयम् अद्मि मनसोदमुच्ये ' ।

१६—स्त्री के लिये पति इस लोक यात्रा को सुखप्रद, सुगम करे ।

इह लोके सुगमन पन्था कृणोमि तुभ्य सहपत्न्यै वधु ॥ १ । ५८ ॥

१७—कन्याओं का घात मत करो ।

मा हिंसिष्ट कुमार्य स्थूण देवकृते पथि ।

ईश्वर या राजा के बनाये धर्म मार्ग पर चलते हुए कुमारी कन्या को हे स्त्री पुरुषो ! मत मारो ।

१८—स्त्री पृथिवी के समान है । उसमें बीज का वपन करो ।

आत्मन्वती उर्वरा नारी इयम् आ अगन् । तस्या नरो वपत बीजम् अस्याम् २ । १४ ॥

मनु ने भी लिखा है—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूत· स्मृत· पुमान् ।

क्षेत्रबीजसमायोगात सम्भव सर्वदेहिनाम् । मनु० ९ । ३३ ॥

२०—स्त्री श्रेष्ठ वीर्यवान् पुरुष के वीर्य को धारण करके प्रजा को पैदा करे ।

सा व· प्रजा जनयद वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धम् ऋषभस्य रेत । २ । १४ ॥

२१—जब स्त्री अग्निहोत्र करे तो बाद में वेद का पाठ करे और बड़ों को नमस्कार करे ।

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्नि वधूरियम् ।

अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ २ ।|२० ॥

२२—उत्तम विदुषी स्त्री सूर्य के पहले प्रभा के समान, अपने पति के पहले जागे ।

इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषस· प्रतिजागरासि । २ । ३१ ॥

२३—ऋतुकाल में ही स्त्री पुरुष संग करें ।

' स पितरौ ऋत्विये सृजेथाम् । ' २ । ३७ ॥

२४—माता पिता के वीर्य से उत्पन्न पुत्र रूप में ही माता पिता स्वयं पैदा होते हैं।

माता पिता च रेतसाभवाथः । २ । ३७ ॥

२५—पति पत्नी सम्बन्ध से बंधे स्त्री पुरुष परस्पर संग किस प्रकार करें और परस्पर किस प्रकार प्रेम व्यवहार करें इसके लिये प्रभुवाक्य वेद आदेश करता है।

'आरोह ऊरुम्।' हे पुरुष स्त्री को अपनी जंघा पर बैठा।

'उप धत्स्व हस्त।' अपने बाहू को उसका सिरहाना बना।

'परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।' अपनी स्त्री को शुभ चित्त से प्रेम-पूर्वक आलिङ्गन कर।

'प्रजां कृण्वाथाम् इह मोदमानौ'। यहीं एक दूसरे को हर्षित करते हुए प्रजा को उत्पन्न करो। (२ । ३९)

यहां प्रश्न हो सकता है कि वेद स्त्री पुरुषों के इस रहस्य-व्यवहार की स्पष्ट आज्ञा क्यों देता है? उत्तर स्पष्ट है। दम्पती को यह विशेष अधिकार है। इससे परस्त्री और परपुरुषों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता। वे अवश्य दण्डनीय हैं यदि वे मर्यादा तोड़ें। दूसरे, एक छोटे से पौदे के उपयोग तक के लिये आयुर्वेद की आवश्यकता है, जब अन्न के पैदा के लिये कृषि विद्या है तो कोई कारण नहीं कि दम्पति के लिये उस मानव कृषि की विद्या का उपदेश न हो जिससे मानव देह रूप वृक्ष पैदा होते हैं। जैसे वेद में कृषि विद्या है वैसे ही यह मानव सृष्टि विद्या का उपदेश है। इसका विस्तार कामशास्त्र और गर्भशास्त्र एवं अन्यान्य अंगविद्या और स्मृतियों से प्राप्त करना चाहिये।

२६—स्त्रियां अपने केशों को कंघे से ठीक करें।

कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः ।
अप अस्याः केश्यं मलमपशीर्षण्यं लिखात् । २ । ६८ ॥

कृत्रिम बना सौ दांतोंवाला कण्टक (कंघा) स्त्री के केशों और सिर के मल को दूर करे।

२७—ऋग्वेद और सामवेद के समान दोनों मिलकर परस्पर मिलें और प्रजा पैदा करें (२।७१)।

इत्यादि और भी बहुत से उपदेश गृहस्थ पुरुषों को विवाह प्रकरण के १४ वें काण्ड में किये हैं जिनको पाठक गण प्रस्तुत भाष्य में देखें। यहां तो केवल दिग्दर्शन कराया गया है।

(१७) महानग्नी

'महानग्नी' पद का प्रयोग अथर्व वेद में १४ वें काण्ड के प्रथम सूक्त के ३६ वें श्लोक में हुआ है। भाष्य करते समय हम स्वयं इस शब्द के प्रयोग और अर्थों में संदेह अनुभव करते थे। बाद में अधिक विचार और स्वाध्याय से हमारा विचार कुछ परिवर्तित हुआ है। अतः भूमिका में हम इस सम्बन्ध में अपना वक्तव्य प्रकट करते हैं।

येन महानग्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।
येनाऽक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३६ ॥

हे स्त्री पुरुषो! (येन) जिस तेज से (महानग्न्याः जघनम्) महानग्नी का जघन युक्त है, (येन वा सुरा) जिस तेज से सुरा और जिससे (अक्षाः अभ्यषिच्यन्त) अक्ष अभिषिक्त हैं, उस तेज से इस कन्या को सुशोभित करो।

प्रस्तुत भाष्य में 'महानग्नी' का अर्थ हमने महावेश्या किया है। जिस अभिप्राय से हम ने यह अर्थ किया है हम ने वहां ही स्पष्ट कर दिया है। अन्य अनुवादकों ने भी यही अर्थ किया है, परन्तु लोक में नग्निका शब्द पर व कई मत भेद हैं। जैसे कइयों के मत में जो कन्या बहुत बालिका हो और नंगे शरीर घूमते न लजावे वह 'नग्निका' है। कोई पूर्व वर्ण का लोप हुआ मानकर 'अनग्निका' मानते हैं अर्थात् जिसको अग्नि अर्थात् रजोधर्म न हुआ है। मानव गृह्यसूत्र में १।७।८॥ विवाहोचित कन्या का स्वरूप दर्शाया है कि—

' समानवर्गामसमानप्रवरां यवयसीं नग्निकां श्रेष्ठां (उपयच्छते) ।

समान वर्ण की, असमान प्रवर वाली 'नग्निका', श्रेष्ठ कन्या को विवाहे। इस ' नग्निका ' शब्द के ऊपर श्री अष्टावक्रकृत टीका में लिखा है।

'नग्नैव नग्निका । नग्निकामप्राप्तस्त्रीभावाम् । अप्राप्तयौवनस्तामुपयच्छेत । तथा श्रेष्ठां लावण्ययुक्तां स्त्रीलक्षणोपेताम् इत्यर्थः । नान्यत् लावण्यात् श्रेष्ठत्वं कन्यायां विद्यते । अथवा नग्निकां श्रेष्ठाम् । विवस्त्रा सती श्रेष्ठा या भवेत् तामुपयच्छेत । यस्मात् कुरूपापि वस्त्राद्यलंकारकृता मनोहारिणी भवति । तस्याद्विवस्त्रा सती न सर्वा शोभते । किं तर्हि काचिदेव लक्षणवती······।"

अर्थ—नंगी कन्या 'नग्निका' है। अर्थात् जिसको स्त्रीभाव प्राप्त न हुआ हो। श्रेष्ठा अर्थात् लावण्ययुक्त स्त्री लक्षणों से युक्त। लावण्य से दूसरी श्रेष्ठता कोई वस्तु नहीं। अथवा 'नग्निका श्रेष्ठा' अर्थात् बिना वस्त्रों के जो श्रेष्ठ हो। क्योंकि कुरूप भी वस्त्रादि पहन कर अच्छी जंचने लगती है, वस्त्र रहित होकर फिर कोई ही शोभा देती है।

इस व्याख्यान से ' नग्निका ' और श्रेष्ठा इन दो के विरुद्ध अर्थों का समाधान होता है।

इसी अर्थ को हम स्वीकार कर प्रस्तुत मन्त्र पर आते हैं।

(येन महानग्न्याः जघनम्) जिस तेज या सौन्दर्य से ऐसी सुन्दरी स्त्री, जो बिना वस्त्र के देखने से ही सब उत्तम स्त्री लक्षणों से युक्त है, उसके तेज= सौन्दर्य से इस कन्या को सुशोभित करो। इस अर्थ से 'नग्नी' शब्द वेश्या परक न रहा। दूसरे, कन्या में कुछ निर्लज्जता का स्वरूप न आकर उत्तम श्रेष्ठ लक्षणों का समावेश होता है। और गृह्यसूत्र में भी बालविवाह का पक्ष सिद्ध नहीं होता।

उपसंहार

इस प्रकार हमने इस खण्ड में आये १० से १७ तक आठ काण्डों के मुख्य २ विशेष विवादास्पद विषयों की आलोचना करके वेदोपदिष्ट

पदार्थों का स्थालीपुलाक न्याय से दिग्दर्शन करा दिया। और जिन विषय को इस खण्ड में नहीं ले सके उनके विषय में प्रस्तुत खण्ड में ही बहुत कुछ भाष्य में ही दे दिया है। वाचक प्रस्तुत भाष्य का उचित उपयोग लेंगे।

प्रतिपत्तियों की विस्तृत आलोचना और वेद के परम रहस्यों का विस्तार से प्रतिपादन करने के लिये तो बड़े भारी ग्रन्थ की आवश्यकता है। इस स्वल्प स्थान में उस विस्तार को करना असम्भव है। समाप्ति पर मैं विद्वान् महानुभावों से सप्रेम अनुनय करता हूं कि मेरे श्रम में लक्षों त्रुटियां सम्भव हैं, सैकड़ों अवसरों पर विचार अपरिपक्व होने सम्भव हैं। ईश्वर का अनन्त ज्ञान 'वेद' कहां और अल्पबुद्धि हम कहां? तब भी मैं विद्वानों से प्रार्थना करता हूं कि वे जिन त्रुटियों को भी दर्शावेंगे, मैं उनके इस उपकार के लिये कृतज्ञ रहूंगा। यदि मेरे जीवन काल में इस ग्रन्थ का पुनः संस्करण हुआ तो उनको यथाप्रमाण सुधार कर आपके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर सकूंगा। और इस वेदाध्ययनरूप तप और वेद चिन्तनरूप ज्ञानयज्ञ में सफल हो सकूंगा। अन्त में भट्ट कुमारिल के शब्दों में सविनय निवेदन है।

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

अजमेर, केसर गंज,
श्रावण, शुक्ल प्रतिपत्,
१९८६ वैक्रमाब्द ।

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा,
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ।

भूमिका विषय सूची

संख्या	पृष्ठ
१. कृत्या	१
२. अभिचार कर्म	६
३. खादिर फालमणि	११
४. वरणमणि	१३
५. पुरुषमेध	१६
६. शतौदना और वशा	१७
गोवध मीमांसा	१६
शतौदना का रहस्य	२०
पुरोडाश का अर्थ	२१
गोमेध का स्वरूप	२२
७. वशाशमन	२३
वशा शब्द पर विचार	२४
गोयज्ञ और शूलगव	२६
८. स्कम्भ	२७
६. स्कम्भ और नृसिंह	२६
स्कम्भ और वैश्वानर	३०
स्कम्भ, अज, स्वराज्य	३१
देवमय स्कम्भ	३१
स्कम्भ, सत् और असत्	३२
गूढ़ प्रश्न और प्रहेलिकाएं	३२

संख्या	पृष्ठ
९. ब्रह्मौदन	३५
१०. मृत्यु	३६
११ पृथिवी सूक्त	४०
१२. क्रव्यात् अग्नि	४२
क्रव्यात् सूक्त का विनियोग	४२
क्रव्यात् की विवेचना	४४
१३. स्वर्गौदन	४६
ओदन शब्द पर विचार	४६
स्वर्ग का स्वरूप और साधन	४७
१४. रोहित	४८
१५. व्रात्य	५०
पं० पाण्डुरंग की विवेचना	५१
पाश्चात्य पण्डितों के मत	५२
सायण का मत	५३
व्रात्या प्रवाम ?	५४
व्रातपति, व्रात्य, गृहपति	५६
व्रात्य, ब्रह्म	५८
व्रात्य का स्वरूप	५६
१६ विवाह सूक्त	६०
साम्प्रदायिक पद्धति	६०—६४
वैदिक विवाह की कुछ विशेषताएं	६४
नव पति पत्नियों को वेद का उपदेश	६७
१७. महानाम्नी	

विषय सूची

सूक्त संख्या | पृष्ठ

दशमं काण्डम्

१. बाधक प्रयोगों का दमन — १
पापपरिशोधन — ५
सेनारूप कृत्या — ७
२. पुरुष देह की रचना और कर्त्ता पर विचार — १४
३. वीर राजा और सेनापति का वर्णन — २८
४. सर्पविज्ञान और चिकित्सा — ३८
५. विजिगीषु राजा के प्रति प्रजा के कर्तव्य — ५०
कैदी राजा के साथ वर्ताव — ६७
६. शिरोमणि पुरुषों का वर्णन — ६९
७. ज्येष्ठब्रह्म या स्कम्भ का स्वरूपवर्णन — ८४
८. ज्येष्ठब्रह्म का वर्णन — १०४
९. शतौदना नाम प्रजापति की शक्ति का वर्णन — १२६
१०. वशा रूप महती शक्ति का वर्णन — १३८
वशा का स्वरूप — १३९
वशा के देह का अलंकारमय वर्णन — १४५

एकादशं काण्डम्

१. ब्रह्मौदन रूप से प्रजापति के स्वरूपों का वर्णन — १५३
२. रुद्र ईश्वर के भव और शर्व रूपों का वर्णन — १७९
३. विराट् प्रजापति का बार्हस्पत्य ओदन रूप से वर्णन — १९६

सूक्तसंख्या	पृष्ठ
ब्रह्मौदन के उपभोग का प्रकार	२०१
ब्रह्म विद्वान की निन्दा का बुरा परिणाम	२११
४. प्राणरूप परमेश्वर का वर्णन	२१२
५. ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य	२२५
६. पाप से मुक्त होने का उपाय	२३८
७ सर्वोपरि विराजमान उच्छिष्ट ब्रह्म का वर्णन	२४७
८ मन्युरूप परमेश्वर का वर्णन	२५६
९. महासेनासञ्चालन और युद्ध	२७४
१० शत्रुसेना का विजय	२८४

द्वादशं काण्डम्

१. पृथिवी सूक्त	२६६
२. क्रव्याद् अग्नि का वर्णन, दुष्टों का दमन और राजा के कर्त्तव्य	३२७
३. स्वर्गौदन की साधना या गृहस्थ धर्म का उपदेश	३६०
४. वशा शक्ति का वर्णन	३६६
पूर्वोक्त वशा का स्पष्टीकरण	४११
५. ब्रह्मगवी का वर्णन	४१६

त्रयोदशं काण्डम्

१. रोहितरूप से परमात्मा और राजा का वर्णन	४३६
रोहित का महान् यज्ञ	४६२
२. रोहित परमेश्वर और ज्ञानी	४६८
३. रोहित, आत्मा, ज्ञानवान्, राजा और परमात्मा का वर्णन	४९३
४. (१) रोहित परमेश्वर का वर्णन	५०६
(२) अद्वितीय परमेश्वर का वर्णन	५०९
(३,४) परमेश्वर का वर्णन	५१०-१८

सूक्तसंख्या पृष्ठ

चतुर्दश काण्डम्

१. गृहाश्रम प्रवेश और विवाह प्रकरण ५१६
२. पतिपत्नी के कर्त्तव्यों का वर्णन ५५०

पञ्चदश काण्डम्

१. (१,२) व्रात्य प्रजापति का वर्णन ५८५
(३) व्रात्य के सिंहासन का वर्णन ५९४
(४,५) व्रात्य प्रजापति का एकतन्त्र ५९६
(६) व्रात्य प्रजापति का प्रस्थान ६०३
(७) व्रात्य की समुद्र विभूति ६०७
(८) व्रात्य राजा ६०९
(९) व्रात्य सभापति, समितिपति, सेनापति और गृहपति ६०९
(१०) व्रात्य का आदर, ब्राह्मबल और क्षात्रबल का आश्रय ६१०
(११) व्रातपति आचार्य का आतिथ्य और अतिथियज्ञ ६१२
(१२) अतिथियज्ञ ६१५
(१३) अतिथियज्ञ का फल ६१८
(१४) व्रात्य अन्नाद के नानारूप और नाना ऐश्वर्य भोग ६२०
(१५) व्रात्य के सात प्राणों का निरूपण ६२५
(१६) व्रात्य के सात अपानों का निरूपण ६२६
(१७) व्रात्य प्रजापति के सात व्यान ६२८
(१८) व्रात्य के अन्य अङ्ग प्रत्यङ्ग ६३०

षोडशं काण्डम्

१. (१) पापशोधन ६३२
(२) शक्ति उपार्जन ६३५
(३) ऐश्वर्य उपार्जन ६३६

सूक्त संख्या पृष्ठ

(४) रक्षा, शक्ति और सुख की प्रार्थना ६३८
(५) दुःस्वप्न और मृत्यु से बचने के उपाय ६४०
(६) अन्तिम विजय, शान्ति और शत्रु दमन ६४१
(७) शत्रुदमन
(८,९) विजय के उपरान्त शत्रुदमन

सप्तदशं काण्डम्

१ अभ्युदय की प्रार्थना ६५२

ॐ ओ३म् ॐ

अथर्ववेदसंहिता

अथ दशमं काण्डम्

[१] घातक प्रयोगों का दमन ।

प्रत्यंगिरसो ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १ महाबृहती, २ विराण्नामगायत्री, ९ पथ्यापंक्तिः, १२ पंक्तिः, १३ उरोबृहती, १५ विराड् जगती, १७ प्रस्तारपंक्तिः, २० विराट्, १६, १८ त्रिष्टुभौ, १९ चतुष्पदा जगती, २२ एकावसाना द्विपदा-आर्ची उष्णिक्, २३ त्रिपदा भुरिग् विषमगायत्री, २४ प्रस्तारपंक्तिः, २८ त्रिपदा गायत्री, २९ ज्योतिष्मती जगती, ३२ द्व्यनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती, ३-११, १४, २२, २१, २५-२७, ३०, ३१ अनुष्टुभः । द्वात्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

यां कुल्पयन्ति वहुतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तंकृतां चिकित्सवः ।
सारादेत्वपं नुदाम एनाम् ॥ १ ॥

भा०—(चिकित्सवः) उत्तम शिल्पी लोग दूसरों की हिंसा करने और पीड़ा देने के लिये (याम्) जिस ' कृत्या ' हिंसाकारिणी कूट मूर्त्ति को (हस्त-कृतां) हस्त=साधनों से बनी (विश्व-रूपां) सब प्रकार से सुन्दर (वहतौ) विवाह काल में (वधूम् इव) सजी सजाई नववधू के समान अति मनोहर (कल्पयन्ति) बना देते हैं (सा) वह (आरात् एतु) दूर हो । हम (एनाम्) उसको (अप नुदामः) दूर करते हैं । कोई ऐसी माया या छल नीति जो ऊपर से तो सुन्दर चित्ताकर्षक हो और भीतर से हानिकारक हो, हम उसको दूर करें ।

---

[१] १-१. हस्तो हन्तेः (निरु०)

शीर्षण्वतीं नुस्वतीं कुर्णिनीं कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥

भा०—(कृत्याकृता) विनाशकारिणी मूर्ति बनाने हारे पुरुष से (संभृता) बनाई गई (विश्व-रूपा) नाना प्रकार की (शीर्षण्वती) सिरवाली, (नस्वती) नाकवाली, (कर्णिनी) कान वाली मूर्ति के समान सुन्दर भी हो (सा) वह (आरात् एतु) दूर हो । (एनाम्) उसको हम (अप नुदामः) दूर करें ।

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता ।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥

भा०—(पत्या) पति से (नुत्ता) दुत्कारी हुई (जाया इव) स्त्री जिस प्रकार अपने उत्पन्न करने वाले मा बाप के पास आ जाती है उसी प्रकार (शूद्र-कृता) शूद्रों से की, (स्त्रीकृता) स्त्रियों से की गई, (राज-कृता) राजा से की गई या (ब्रह्मभिः कृता) ब्राह्मणों से की गई 'कृत्या' हिंसाजनक दुष्ट क्रिया (बन्धु) बन्धन के रूप में या अपने बन्धु रूप (कर्तारं) कर्त्ता को (ऋच्छतु) प्राप्त हो । अर्थात् चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय शूद्र या स्त्री कोई भी प्रजापीड़न का कोई काम करे उसको ही उसके फल-बन्धन आदि दण्ड हों ।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥

अथर्व० ४ । १८ । ५ ॥

भा०—(यां) जिसको (क्षेत्रे चक्रुः) लोग खेतों पर प्रयोग करते हैं, (यां) जिसको (गोषु) गौ आदि प्राणियों पर (यां वा ते पुरुषेषु) और

२–(द्वि०) 'प्रवक्रः प्रदिष्णमिव अश्व्यगार नमूच्छतु' इति पैप्प० सं० ।
३–(च०) 'बन्धुम् ऋच्छतु' इति पैप्प० सं० ।

जिसको वे पुरुषों पर प्रयोग करते हैं ऐसी (सर्वाः कृत्याः) सब पीड़ाजनक घातक क्रियाओं को (अहम्) मैं (अनया) इस (ओषध्या) संतापकारी दण्डरूप ओषधि=उपाय से (अदूदुपम्) नष्ट करता हूं। [व्याख्या देखो अथर्व० ४ । १८ । ८]

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते।
प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥

भा०—(अघ-कृते) पापाचरण, अत्याचार करने वाले को (अघम् अस्तु) उसी प्रकार का कष्ट हो। (शपथीयते शपथः) गाली देने वाले को उसी प्रकार के कटु वचनों से पीड़ा प्राप्त हो। हम (प्रत्यक्) लौटा कर (प्रति प्रहिण्मः) उसी के किये को उसी पर फेंकते हैं (यथा) जिससे (कृत्याकृतं हनत्) उसका किया हिंसा का काम उसके करने वाले को ही पीड़ित करे।

प्रतीचीन आङ्गिरसोध्यक्षो नः पुरोहितः।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥

भा०—(आङ्गिरसः) आङ्गिरस वेद का जानने वाला विद्वान् (प्रतीचीनः) हिंसाकारी के विपरीत कार्य करने और उसके किये दुष्ट घातक प्रयोगों के प्रतीकार करने में समर्थ होता है। वही (नः) हमारा (अध्यक्षः) अध्यक्ष और (पुरोहितः) सब कार्यों का साक्षी, यज्ञ के पुरोहित के समान कार्य कराने हारा हो। वह (कृत्याः) सब दुष्ट प्रयोगों को (प्रतीचीः) विपरीत रूप से (आकृत्य) पीड़ा देकर (अमून्) उन २ (कृत्याकृतः) घातक प्रयोगों के करने वालों को (जहि) विनाश करे।

५-(प्र०) 'कृत्याः सन्तु कृत्याकृते' (तृ०) 'प्रत्यक् प्रति प्रवर्तय दक्षराय तम्ब्रच्छतु' इति पैप्प० सं०।

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम् ।
तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥

भा०—हे (कृत्ये) घातक प्रयोग ! (यः) जिस पुरुष ने (त्वा) तुझको (उवाच) कहा है कि (परा इहि) 'परे जा अमुक को मार' तू (तं) उस (प्रतिकूलम्) हमारे प्रतिकूल, हमारे विरोध में (उदाय्य) उठने वाले उस शत्रु के पास ही (अभि निवर्तस्व) लौट जा । (अस्मान् अनागसः) हम निरपराधों को (मा इच्छः) मत चाह ।

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥

भा०—(ऋभुः) विद्वान् शिल्पी (रथस्य इव) जिस प्रकार रथ के जोड़ २ मिला कर (धिया) अपनी बुद्धि और शिल्प कारीगरी से जोड़ देता है उसी प्रकार (यः) जो (ते परूंषि) तेरे पोरू २ को (सं-दधौ) जोड़ता है तू (तं गच्छ) उसी को प्राप्त हो (तत्र ते अयनम्) वहां ही तेरा निवास-स्थान है । (अयं जनः) यह जन अर्थात् हम लोग (ते अज्ञातः) तेरा जाने हुए भी नहीं हैं ।

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥९॥

भा०—(ये) जो (विद्वला) जानकार (अभिचारिणः) अभिचारी, दूसरों पर घातक प्रयोग करने वाले लोग (त्वा) हे कृत्ये ! तुझको (कृत्वा)

७—(द्वि०) 'उदाय्यम्', 'उदाय्यम्', 'उदायम्' 'उदार्यम्' इत्यपि पाठाः क्वचित् क्वचित् । 'उदाय्यमिति हि नित्यामिनः ।

८—' रथस्येव ऋभुर्धिया ' इत्यपि क्वचित् पाठः ।

९—(तृ०) 'विध इदं' (च०) 'प्रतिसर' इति पैप्प० सं० ।

करके भी (आ लेभिरे) पुनः प्राप्त कर लेते हैं । (इदं) यह (कृत्या-दूषणं) पर-घातकप्रयोगों के विनाश करने का (शंभु) अति शान्तिदायक उपाय है और यही (पुनःसरं) बार-२-जाने आने का (प्रति-वर्त्म) प्रतिकार का मार्ग भी है । (तेन) उसी से (त्वा) तुझ कृत्या को (स्नपयामः) शुद्ध करते हैं, परखते हैं, तेरा निर्णय करते हैं ।

पाप परिशोधन ।

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम ।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोपं तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)

भा०—(यद्) जब हम (दुर्भगाम्) बुरे लक्षणों वाली, (प्रस्नपितां) नहाई हुई या (मृतवत्साम्) मरे पुत्र या बच्छे वाली गौ के (उप ईयिम) समीप प्राप्त हों तब इसके कष्ट को देखकर (मत् सर्वं पापम्) मेरा समस्त पाप (अप एतु) मुझ से दूर हो और (द्रविणम्) द्रविण, धन, बल और ज्ञान (मा उप तिष्ठतु) मुझे प्राप्त हो ।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥११॥

भा०—हे पुरुष (यत्) यदि (पितृभ्यः) अपने पूज्य आचार्य गुरुओं के प्रति (ददतः) दान करते हुए या (यज्ञे वा) यज्ञ देवयज्ञ के अवसर में जो (ते नाम) तेरा नाम बुरे भाव से (जगृहुः) लें तो (इमा) ये (ओषधीः) ओषधियां या तापकारी प्रायश्चित्त क्रिया (संदेश्यात्) संदेश या बुरे तानों से प्राप्त (सर्वस्मात् पापात्) सब प्रकार के पापजनक प्रभाव से (त्वा) तुझको (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥१२॥

१०-(प्र०) 'पृश्निकां' [?] इति पैप्प० सं० ।

भा०—(वीरुध) नाना प्रकार से पाप से रोकने वाली प्रायश्चित्त क्रियाएं या ज्ञान-वल्लियां, या ओषधियों के समान कष्टनिवारण करने हारी होकर (त्वा) तुझको (देव एनसात्) विद्वानों के प्रति किये पापाचरण से, (पित्र्यात) अपने पालक माता पिता गुरुओं के प्रति किये अपराध से और (नाम ग्राहात्) किसी के प्रति भी बुरे नाम करने या बुरी तरह से पुकारने के अपराध से और (संदेश्यात्) संदेश किसी के प्रति किये गये तानों से उत्पन्न अपराध से और (अभि नि-कृतात्) किसी के प्रति अत्याचार या अपमान या दुत्कार देने से उत्पन्न पाप से (त्वा) तुझे (ब्रह्मणा वीर्येण) ब्रह्मज्ञान रूप बल से (ऋषिभिः) वेदमन्त्रों द्वारा प्राप्त (ऋषीणां पयसा) ऋषियों के तृप्तिकारक उपदेशों से (मुञ्चन्तु) मुझे छुड़ावें ।

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।

एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु का तेज झकोरा (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) धूलि को और (अन्तरिक्षात् च अभ्रम्) अन्तरिक्ष से मेघ को (च्यावयति) उड़ा ले जाता है (एवा) इसी प्रकार (सर्वम्) सब प्रकार के (दुर्भूतम्) दुर्भाव (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्मज्ञान या वेद-ज्ञान से ताड़ित होकर (अप अयति) दूर भाग जाता है ।

अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव ।

कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥

भा०—हे कृत्ये ! दूसरों से उत्पन्न किये दुर्भावने ! दुष्ट पीड़ाजनक क्रिये ! तू (वीर्यावता) वीर्यवान् (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान रूप कोड़े से (नुत्ता) खेदी जाकर (विनद्धा गर्दभी इव) विना बन्धन के खुली घोड़ी के समान (नानदती) बराबर ऊंचा स्वर करती हुई गर्जती हुई चिंघारती हुई (इतः) यहां से (कर्तॄन्) अपने उत्पन्न करने वालों के पास ही (नक्षस्व) भाग जा ।

सेनारूप कृत्या ।

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः ।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥१५॥

भा०—कृत्या रूप से सेना का वर्णन करते हैं । हे (कृत्ये) हिंसाकारिणि ! कृत्ये ! सेने ! (अयं पन्थाः) यह मार्ग है । (इति) इस प्रकार इस मार्ग से (त्वा नयामः) हम तुझे ले चलते हैं । (अभि-प्रहितां) यदि तुझे दूसरों ने हमारे विरुद्ध भेजा है तो (त्वां) तुझे (प्रति प्र हिण्मः) हम उलटे पांव फिर लौटा देते हैं । (तेन) उसी मार्ग से तू (अनस्वती) रथों, शकटों से युक्त (वाहिनी) वाहन=अश्व, हाथियों से युक्त, (इव) सेना के समान (विश्वरूपा) नाना रूपों को धारण करने वाली, नाना व्यूहवती, (कुरूटिनी) कुत्सित, कठोर शब्द या प्रतिघात करने वाली होकर (भञ्जती) शत्रु के बलों को या दुर्गों को तोड़ती हुई (अभि याहि) चढ़ाई कर ।

पराक् ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।
परेणेहि नवतिं नाव्या३ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥१६

भा०—हे कृत्ये ! (ते ज्योतिः पराक्) तेरे लिये परे प्रकाश है । (अर्वाक्) और इधर (ते) तेरे लिये (अपथम्) कोई मार्ग नहीं है । (अस्मत् अन्यत्र) हमसे अतिरिक्त (अयना) अपने जाने के मार्ग (कृणुष्व) कर । (नाव्याः) नाव से पार करने योग्य (दुर्गाः) दुर्गम (नवतिं) नव्वे (स्रोत्याः) नदियों को (अति) पार करके (परेण इहि) दूर चली जा । (मा क्षणिष्ठाः) तू मत मार या (मा क्षणिष्ठाः) देर मत कर (परा-इहि) दूर भाग जा ।

१५–(प्र०) 'अयं पन्था अपि नयामित्वा कृत्ये प्रहितां प्रति०' (तृ० च०) 'याहि तुञ्जत्यनस्वतीव' इति पैप्प० सं० ।

१६–'मा क्षमिष्ठाः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'घनिष्ठाः', 'नाव्याति' इति पैप्प० सं० ।

वात इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम्।
कर्तॄन् निवृत्येत कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥

भा०—हे (कृत्ये) कृत्ये 'हिंसाशील सेने' (वात इव) वायु का झकोरा जिस प्रकार (वृक्षान्) वृक्षों को तोड़ता फोड़ता गिरा देता है उस प्रकार तू भी (कर्तॄन्) हिंसक पुरुषों को (नि मृणीहि) निर्मूल कर डाल और (नि पादय) उखाड़ डाल। (एषां) उनके (गाम् अश्वम् पुरुषम्) गौ, घोड़े और पुरुषों को भी (मा उच्छिष) जीता मत छोड़। (इतः) यहां से (निवृत्य) लौट कर उनको (अप्रजास्त्वाय) प्रजाहीन हो जाने की (बोधय) चेतावनी दे।

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् १८

भा०—(याम्) जिस (कृत्याम्) घातक प्रयोग को (ते) तेरे (बर्हिषि) धान्य, पशु या प्रजा में और (याम्) जिसको (श्मशाने) मसान में और (क्षेत्रे) खेत में (निचख्नुः) गाड़ देते हैं या जिस (वलगं) किसी गुप्त प्रयोग को प्रजा, मसान या खेत में गाड़ दिया है, गुप्तरूप से स्थापित कर दिया है और या (धीरतराः) अधिक बुद्धिमान् लोग (अनागसम्) निरपराध (पाकम्) पवित्र (त्वा) तुझ (सन्तं) सज्जन को भी (गार्हपत्ये) गार्हपत्य (अग्नौ) अग्नि में (अभिचेरुः) तेरे विरुद्ध अतिचार या घातक प्रयोग करते हैं।

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम्।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् १९

१७–(प्र०) 'वातेव' इति पैप्प० सं०।

१८–'यां ते चक्रुर्बर्हिषि' (द्वि०) 'कृत्यां क्षेत्रे' (च०) 'धीरतरा भागसम्' तमितो नाशयामसि। इति पैप्प० सं०।

१९–(प्र०) 'उपाहृतम्' (च०) 'तत्राभेन' इति पैप्प० सं०।

भा०—(उपाहृतम्) उपहाररूप में दिये गये (अनु-बुद्धं) अनुकूल रूप में जाने गये (निखातम्) गाड़े हुए, पुराने (वैरम्) वैरभाव को (त्सारि) कुटिल और (कर्त्रम्) घातक (अनु अविदाम) पाते हैं। (तत्) वह (यत आ-भृतम्) जहां से उठा हो वहां ही (एतु) चला जाय और (तत्र) वहां (अश्व इव) व्यापक अग्नि के समान (वर्त्तताम्) रहे और (कृत्या-कृतः) परघातक सेनाओं और प्रयोगों को करने वालों की (प्रजाम्) प्रजा को ही (हन्तु) विनाश करे।

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥ (२)

भा०—(स्वायसः) उत्तम लोहे कि बनी (असयः) तलवारें (नः गृहे सन्ति) हमारे घर में हैं। हे (कृत्ये) अज्ञात घातक सेने! (ते) तेरे (परूंषि) पोरू २ को (विद्म) हम जानते हैं कि (यतिधा) वे कितने हैं। (उत्तिष्ठ एव) उठ, (इतः) यहां से (परा इहि) परे जा! हे (अज्ञाते) बिना जानी हुई कृत्ये! सेने! (इह किम् इच्छसि) यहां तू क्या चाहती है?

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥ २१ ॥

भा०—हे (कृत्ये) कृत्ये! (ते) तेरे (ग्रीवाः) गर्दनें, गर्दन के मोहरों को और (पादौ) पावों को (अपि) भी (कर्त्स्यामि) काट डालूंगा। (निर्द्रव) नहीं तो यहां से निकल भाग। वे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, राजा और सेनापति (अस्मान्) हमारी (रक्षताम्) रक्षा करें (यौ) जो दोनों (प्रजानां) प्रजाओं के लिये (प्रजावती) प्रजावाली माता के समान हैं।

२१-(च०) 'प्रजानां प्रजापती' इति द्विवनिकाभिमतः पाठः। 'इन्द्राग्नी एनां रक्षतां यौ प्रजानां प्रजापती इति पैप्प० सं०।

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥ २२ ॥

भा०—(सोमः) सोम सब को शुभ कामों में प्रेरणा करने वाला, एवं शान्त सौम्य गुणों से युक्त (राजा) राजा, प्रजा के हृदय को प्रसन्न रखने वाला ही (अधिपा) प्रजा का पालक और (मृडिता च) सुखी करने हारा होता है । (नः) हमें (भूतस्य) समस्त संसार के या प्राणियों के (पतयः) पालक लोग (मृडयन्तु) सुखी करें ।

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते । दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥२३॥

भा०—(भवाशर्वौ) भव और शर्व दोनों (पापकृते) पापाचरण करने वाले (कृत्याकृते) दूसरे पर घातक प्रयोग करने वाले (दुष्कृते) दुष्ट या दुःखदायी काम करने वाले पर (देवहेतिम्) दिव्य आयुधरूप (विद्युतम्) बिजुली के अस्त्र को (अस्यताम्) फेंकें ।

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सेतो॒ऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥

भा०—(यदि) यदि (कृत्या-कृता) पर-घात प्रयोग करने वाले पुरुष द्वारा (संभृता) परिपुष्ट हुई (विश्वरूपा) नाना प्रकार की कृत्या या हिंसा का कार्य (द्विपदी) दो चरण वाली (चतुष्पदी) चार चरण वाली, (एयथ) हम पर आवे तो (सा) वह (इतः) यहां से (अष्टापदी भूत्वा) आठ चरण वाली होकर हे (दुच्छुने) दुःखदायिनि कृत्ये ! (पुनः) तू फिर (परा इहि) दूर चली जा ।

अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि ।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५ ॥

२२-(द्वि०) 'अनन्य न पतयो' इति पैप्प० सं० ।
२३-(प्र०) 'पाप कृन्वते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अभ्यक्ता) सब प्रकार से चन्दनादि लेप से सुन्दर (अक्ता) तैल आदि से मर्दित, (सु-अरंकृता) उत्तम रीति से आभूषणों से सुसज्जित होकर भी वेश्या के समान (सर्वं) सब प्रकार के (दुरितम्) दुष्टाचारों और दुर्व्यसनों को अपने भीतर तू (भरन्ती) धारण करती है । तू ऊपर से सुन्दर और भीतर से कुत्सित है । तू (परा इहि) दूर जा । हे कृत्ये ! (दुहिता स्वम् पितरम् इव) जिस प्रकार कन्या अपने पिता को ही समझती है और उसी के आश्रय रहती उसी का व्यय कराती है उसी प्रकार तू (कर्त्तारं जानीहि) अपने उत्पादक को जान, उसी के पास रह ।

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

भा०—हे (कृत्ये) कृत्ये सेने ! (परा इहि) परे चली जा । (मा तिष्ठ) कहीं मत ठहर । (विद्धस्य पदं इव) बाण से घायल शिकार के पैरों के निशान देखकर जिस प्रकार शिकार खोज लिया जाता है उसी प्रकार तू शत्रु के (पदं नय) पैर खोज २ कर उस तक पहुंच जा । (मृगः सः) वह शत्रु मृग है । (त्वं मृगयुः) तू शिकारी है । वह शत्रु (त्वा) तुझे (निकर्त्तुम् न अर्हसि) दबा नहीं सकता ।

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥

भा०—युद्ध दो ही प्रकार से हो सकता है (उत) या तो (पूर्वासिनं) पहले ही 'आसन' वृत्ति से बैठे हुए पुरुष पर (अपरः) दूसरा (प्रति आदाय) उसके प्रतिकूल उस पर चढ़ाई करके (इष्वा) बाण द्वारा उसे (हन्ति)

२७-(तृ०) ' उतो पूर्वस्य ' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) ' प्रत्यादाय ' इति पैप० सं० ।

मारता है। और (उत) या (पूर्वस्य निघ्नतः) पहला पुरुष जब मारता हो तब (अपरः) दूसरा (प्रति नि हन्ति) उसके बदले उसको मारता है। सन्धि विग्रह, यान आसन संश्रय, द्वैधीभाव इन छः अंगों में आसन चतुर्थ है। अपने राज्य में जमे रहना 'आसन' कहाता है।

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यतः एयथ।
यस्त्वा चुकार तं प्रति ॥ २८ ॥

भा०—(एतत् हि) यह (मे) मेरा (वचः) वचन (शृणु) सुन (अथ इहि) और वहां जा (यतः, एयथ) जहां से तू आई है। (यः त्वा चकार) जो तुमको पैदा करता है (तं प्रति) तू उसी के प्रति जा। अर्थात् जो सेना का प्रयोग करे उसके प्रति सेना को चढ़ाई के लिये भेज दे।

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥२९॥

भा०—हे (कृत्ये) सेने! (अनागो हत्या) निरपराध पुरुषों का घात करना (भीमा) बड़ा उग्र और भयानक परिणाम लाने वाला है। अतः (नः) हमारे (गाम् अश्वं पुरुषं मा वधीः) गौ, घोड़े और पुरुषों को मत मार। (यत्र यत्र) जहां २ तू (निहिता असि) रक्खी गई है। अर्थात् तैने जहां २ अपने डेरे डाले हैं (ततः) वहां २ से (त्वा उत्थापयामसि) तुझे उठा दें। तू (पर्णात्) पत्ते से भी अधिक (लघीयसी) हलकी (भव) हो जा।

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥

भा०—हे सैनिक पुरुषो! यदि तुम लोग (जालेन) जालों में (अभिहिता इव) बंधे हुओं के समान (तमसा) अन्धकार से या मृत्यु से

२८–(च०) 'स दुनः' इति पथ्य० स०।

(आवृताः स्थ) घिर जाओ तो (सर्वाः) सब (कृत्याः) घातप्रतिघात करने वाली सेनाओं को (इतः) यहां से (संलुप्य) मिटा कर हम (पुनः) फिर (कर्त्रे) उनके कर्त्ता संचालक के संहार के लिये ही उनको (इतः) यहां से (प्र हिण्मसि) उसके प्रति प्रयोग करें।

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम्।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥

भा०—हे (कृत्ये) घातकारिणि सेने ! तू (कृत्याकृतः) सेना के घातक प्रयोग करने वाले, (वलगिनः) गुप्त मन्त्रणा करने वाले, (प्रजाम् अभि-निः-कारिणः) प्रजा के ऊपर आक्रमण करने वाले लोगों को (मृणीहि) विनाश कर और (अमून्) उन (कृत्या-कृतः) घातिनी सेना के प्रयोजक लोगों को (मा उच्छिषः) जीता न छोड़। प्रत्युत (जहि) मार डाल।

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसंश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ३२

भा०—(यथा सूर्यः) जिस प्रकार सूर्य (तमसः परिमुच्यते) अन्धकार से आप से आप मुक्त हो जाता है (रात्रिम्) वह रात्रि को और (उषसः च केतून्) उषा के पूर्व ज्ञापक चिह्नों को भी क्रमशः (जहाति) त्याग देता है और उदय को प्राप्त हो जाता है (एव) इसी प्रकार (अहम्) मैं (कृत्या-कृता) मेरे प्रति घातक सेना के प्रयोक्ता शत्रु से (कृतम्) प्रयोग किये (दुर्भूतम्) दुष्ट (कर्त्रं) घातक प्रयोगों को (जहामि) त्याग दूं, विनाश कर दूं और उनसे पार हो जाऊं और (हस्ती रजः इव) हाथी जिस प्रकार धूल को उड़ा देता है उसी प्रकार मैं (दुरितम्) शत्रु के दुष्ट प्रयोग या दुराचार को भी (जहामि) छोड़ दूं, त्याग दूं, उड़ा दूं।

३२–(प्र०) 'सूर्यस्तमसोमुच्यते परि' (द्वि०) 'केतुम्' इति पैप्प० सं०।

[२] पुरुष देह की रचना और उसके कर्त्ता पर विचार।

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। पार्ष्णी सूक्तम्। ब्रह्मप्रकाशिसूक्तम्। १-४, ७, ८, त्रिष्टुभः, ६, ११ जगत्यौ, २८ भुरिग्बृहती, ५, ९, १०, १२-२७, २९-३३ अनुष्टुभः, ३१, ३२ इति साक्षात्परब्रह्मप्रकाशिन्यावृचौ। त्रयस्त्रिंशदृचं सूक्तम्॥

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥१॥

भा०—(पूरुषस्य) पुरुष, मनुष्य या प्राणी के देह के (पार्ष्णी) दोनों एड़ियां (केन) किसने (आभृते) बनाई हैं ? और (मांसं) मांस (केन) किसने (संभृतं) देह में लाकर लगाया ? (गुल्फौ केन) गुल्फ=टखने किसने लगाये ? (पेशनीः) पोरुओं वाली नाना अवयवों से युक्त (अङ्गुलीः केन) ये अंगुलियां किसने जोड़ दीं ? (खानि) शरीर के ये नाक, कान, मुंह आदि इन्द्रियों के छिद्र (केन) किसने बनाये ? (उत्-श्लङ्खौ) सिर के ऊपर के दोनों कपाल (केन) किसने बनाये ? और (मध्यतः) बीच में (प्रतिष्ठाम्) बैठने के लिये चूतड़ भाग (कः) किसने बनाया ?

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत॥२॥

---

[२] १-(च०) 'उच्छ्लङ्खौ', 'उच्छङ्खौ' इति च क्वचित् पाठः। पदपाठेऽपि उत् श्लङ्खौ, उत् शङ्खौ इत्येव। (प्र०) 'पार्ष्ण्याभृते पौरुषस्य' (तृ०) 'पेशिनीः' इति पैप्प० सं०।
२-(द्वि०) 'पौरुषस्य' (द्वि०) 'निर्ऋत्या न्यदधुः' (च०) 'सन्धि अवचाना' इति पैप्प० सं०।

भा०—(कस्मात् नु) किस कारण से (पुरुषस्य) पुरुष के (अधरौ) नीचे के (गुल्फौ) दोनों टखने और (उत्तरौ) ऊपर के (अष्ठीवन्तौ) घुटने (अकृण्वन्) बनाये गये हैं ? और क्यों (जंघे) दोनों जांघें (निर्ऋत्य) अलग २ करके (नि अदधुः) रखी गई हैं ? और (जानुनोः) दोनों गोडों के (सन्धी) जोड़ों को (क्वचित्) कहां जोड़ा गया है (तत्) इस सब रहस्य को (क उ) कौन (चिकेत) जानता है ?

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३॥

भा०—(चतुष्टयं) पूर्वोक्त दोनों जांघें और दोनों गोडे इन चारों को (संहितान्तम्) इनके सिरे खूब अच्छी प्रकार मिला २ कर (युज्यते) जोड़े गये हैं और (जानुभ्याम्) टांगों के (ऊर्ध्वम्) ऊपर (कबन्धम्) कबन्ध= धड़ भाग (शिथिरम्) शिथिल रूप से रख दिया गया है। (श्रोणी) दो कूल्हे और (यत् ऊरू) ये दोनों जंघाएं (तत्) इनको (क उ जजान) किसने बनाया ? (याभ्याम्) जिनके कारण (कुसिन्धम्) यह कुत्सित, दुर्गन्ध मल मूत्र बहाने वाला या विचित्र रूप से बन्धा हुआ, अथवा परस्पर संसक्त अथवा छोटी नाड़ियों से पूर्ण शरीर (सु-दृढम्) खूब मज़बूत (बभूव) हो गया है ।

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥४॥

भा०—(कति देवाः) इस शरीर में देव जीवन ज्योति के प्रकाशक तत्व कितने हैं । (कतमे ते) उनमें से वे कौनसे २ हैं (ये) जो

३–(प्र०) 'संहतन्त' (च०) 'सुदृढे बभूव' इति पैप्प० सं० ।
४–(द्वि०) 'पौरुषस्य' (तृ०) 'निरध्यौ कः कपोलौ' इति पैप्प० सं० । 'कफोडौ', 'कफौजौ' इत्यादयोऽपि नानाः पाठाः क्वचित् क्वचित् ।

(पूरुषस्य) पुरुष देह के (उरः) छाती और (ग्रीवाः) गर्दन के मोहरों को (चिक्युः) बना रहे हैं ? और (स्तनौ) स्तनों को (कति) कितने तत्व (वि अदधुः) विशेष रूप से धारण कर रहे हैं ? और (कः) कौनसा तत्व (कफोडौ) दोनों हमुलियों या कपोल=गालों को धारण करता है । और (स्कन्धान् कति) कन्धों को कितने तत्व धारण कर रहे हैं । और (पृष्टीः) पसुलियों या पीठ के मोहरों को (कति) कितने तत्व (अचिन्वन्) बनाये हुए हैं ।

को अस्य बाहू सम॑भरद् वीर्यं॑ करवादिति॑ ।
अंसौ॒ को अस्य॒ तद् दे॒वः कुसि॑न्धे॒ अध्या द॑धौ ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस पुरुष के (बाहू) बाहुओं को (कः) कौनसा देव (समभरत्) पुष्ट करता है कि (इति वीर्यं करवात्) वह वीर्य बल का काम उत्पन्न करे । (अस्य) इसके (अंसौ) भुजाओं के ऊपर के भागों को (कः) कौन बनाता है और (तद्) उनको (कः देवः) कौन देव (कुसिन्धे) शरीर में (अध्यधौ) स्थापित करता है ।

कः स॒प्त खानि॒ वि त॑तर्द शी॒र्षणि॒ कर्णा॑वि॒मौ नासि॑के॒ चक्ष॑णी॒ मुख॑म् ।
येषां॑ पुरु॒त्रा वि॑ज॒यस्य॑ म॒ह्मनि॒ चतु॑ष्पादो द्वि॒पदो॒ यन्ति॒ याम॑म् ॥६॥

भा०—(कः) कौन देव (शीर्षणि) शिर भाग में (सप्त खानि) सात इन्द्रियों के छिद्रों को (वि ततर्द) विशेष रूप से गढ़ कर बनाता है ? और कौन (इमौ कर्णौ) इन दो कानों, (नासिके) इन दो नाक के छिद्रों और (चक्षणी) इन दो आंखों और (मुखं) इस मुख को किसने बनाया

५–(द्वि०) 'वीर्यं कृणवानिति' (च०) 'क सिन्धावध्यादधि' इति पैप्प० सं० ।

६–(द्वि०) 'चक्षणि नासिके मुखम्' (तृ०) 'विजयस्य मद्मनि' इति पैप्प० सं० । 'यामन्' इति क्वचित् पाठः ।

(येषां) जिनके (विजयस्य महानि) विजय की महिमा=महान् सामर्थ्य में (पुरुत्रा) बहुतसे (चतुष्पदः) चौपाये और (द्विपदः) पक्षिगण और दोपाये मनुष्य भी (यामम्) अपना जीवन-मार्ग (यन्ति) तय करते हैं ।

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

भा०—जो देव (हन्वोः) दोनों जबाड़ों के बीच में (जिह्वाम्) जीभ को (अदधात्) रखता है । (अधा) और वहां ही वह (पुरूचीम्) सर्व-व्यापक, (महीम्) बड़ी भारी (वाचम्) वाक्-शक्ति को (अधि शिश्राय) स्थापित करता है । (सः) वह (भुवनेषु) लोकों के (अन्तः) भीतर व्यापक (अपः वसानः) समस्त जीवों, प्राणियों, कर्मों, ज्ञानों और मूल-कारण रूप प्रकृति के परिमाणुओं में भी व्यापक है । (क उ) कौन (तत्) उसको (चिकेत) जानता है ?

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

भा०—(यतमः) जो देव (अस्य) इस पुरुष-देह के (मस्तिष्कम्) मस्तिष्क को, (ललाटम्) ललाट, माथे को और (यः) जो (प्रथमः) सबसे प्रथम विद्यमान इस पुरुष के (ककाटिकाम्) गले की घेंटी और (कपालम्) कपाल, खोपड़ी को और (पूरुषस्य) पुरुष-देह के (हन्वोः) दोनों जबाड़ों के बीच की (चित्यम्) रचना को (चित्वा) बनाकर (दिवः) प्रकाशस्वरूप द्यौः या मोक्षपद में (रुरोह) व्याप्त हुआ है (सः) वह (देवः) देव (कतमः) कौनसा है ।

७–(तृ०, च०) ' स आवरीवर्ति महिना व्योमन् अपसानः कस्तिचित् प्रवेद ' इति पैप्प० सं० ।

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः ॥ ९ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! विचार करो कि (उग्रः) बलवान् होकर (पूरुषः) यह पुरुष (बहुला) बहुत प्रकार के (प्रिया अप्रियाणि) प्रिय, चित्त को भले लगने वाले और अप्रिय, चित्त को बुरे लगने वाले भावों को, (स्वप्नम्) निद्रा (संबाध तन्द्र्यः) पीड़ा और थकान (आनन्दान्) आनन्दों और (नन्दान् च) हर्षों को (कस्मात्) किस हेतु से या कहां से (वहति) प्राप्त करता है ।

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥ (४)

भा०—(पुरुषे) पुरुष में (आर्तिः) पीड़ा, दुःख, मानसिक व्यथा, (अवर्तिः) बेचैनी या बेरोजगारी (निर्ऋतिः) पाप की प्रवृत्ति और (अमतिः) अज्ञान ये (कुतः) कहां से आये या किस कारण से उत्पन्न होते हैं । और (राद्धिः) कार्य-सिद्धि (समृद्धिः) संपत्ति, (अव्यृद्धिः) विशेष संपत्ति का अभाव अथवा दरिद्रता सदाचार का अभाव, (मतिः) विशेष ज्ञान और (उदितयः) ऊपर उठने की प्रवृत्तियां (कुतः) कहां से और किस कारण से उत्पन्न होती हैं ।

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

भा०—(अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष देह में (आपः) ऐसे द्रवों, रसों को (कः) किसने (वि अदधात्) रचा है जो (विषूवृतः) नाना प्रकार से-

९—(द्वि०) 'संबाधतन्द्र्यः' (च०) 'पौरुषः' इति पैप्प० सं० ।
१०—(द्वि०) 'कुतोऽधिपुरुषे' (तृ०) 'समृद्धिर्वृद्धिः' इति पैप्प० सं० ।
११—(प्र०) 'कोऽस्मिन्नापो दधात्' (तृ०) 'तीव्रारुणा' इति पैप्प० सं० ।

देह में घूमते हैं (पुरु-वृतः) समस्त अंगों में घूमते और (सिन्धु-सृत्याय जाताः) नाड़िओं में गति करने के योग्य होगये है । और ये नाड़ियें इस शरीर में (तीव्राः) तीव्र गति करने वाली (अरुणाः) लाल (लोहिनी) सुर्ख और (ताम्रधूम्रा) लाल नीले रंग की होकर (ऊर्ध्वाः) इधर (अवाचीः) नीचे और (तिरश्चीः) तिरछी जाती हैं ।

को अस्मिन् रूपमंदधात् को मह्मानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥

भा०—(अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष-देह में (कः) कौन (रूपम्) रूप को धारण करता है, (मह्मानं) महत्त्व या महिमा और (नाम च) नाम को (कः) कौन उत्पन्न करता है (अस्मिन्) इस पुरुष में (गातुं कः) गातु=गति चेष्टा को कौन स्थापित करता है (केतुं कः) आत्मा के ज्ञापक चिह्न या ज्ञान या ज्ञान सामर्थ्य को कौन देता है और (चरित्राणि कः) नाना प्रकार के सत् और असत् चरित्रों, इन्द्रियों के व्यापारों और प्रवृत्तियों को कौन स्थापित करता है ।

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥

भा०—(अस्मिन् पूरुषे) इस पुरुष-देह में (प्राणम्) प्राण को, जीवन शक्ति को (कः आवयत्) कौन संचारित करता है, जिस प्रकार जुलाहा कपड़े के तन्तुओं को बुन देता है उस प्रकार इस देह के ताने में प्राण रूप बरनी कौन बुन देता है । (अपानम् व्यानम् उ कः) अपान और व्यान को कौन संचारित कर देता है । (कः देवः) कौन देव (अस्मिन्) इस पुरुष-देह में (समानम्) समान नामक प्राण भेद को (अधि शिश्राय) स्थापित करता है ।

१२-(च०) 'पौरुषे' इति पैप्प० सं० ।

१३-(प्र०) 'प्राणमभान्' (च०) 'पौरुषे' इति पैप्प० सं० ।

को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥

भा०—वह (एकः) एक (कः) कौनसा (देवः) प्रकाशक देव है जो (अस्मिन्) इस (पुरुषे) पुरुष देह में (यज्ञम्) यज्ञरूप आत्मा को (अधि अदधात्) अधिष्ठाता रूप से स्थापित करता है ? (अस्मिन्) इसमें (सत्यम्) सत्य को (कः) कौन रखता है ? (अनृतं कः) अनृत झूठ को कौन रखता है ? (मृत्युः) मृत्यु, मौत देह का आत्मा से छूट जाना (कुतः) किस कारण से होता है ? और आत्मा (अमृतम् कुतः) अमृत किस कारण से और किस प्रकार से है ।

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥

भा०—(अस्मै) इस पुरुष को (वासः) पहनने के वस्त्र देह रूप चोला (कः परि अदधात्) कौन पहराता है ? (अस्य) इसकी (आयुः) आयुष्काल को (कः अकल्पयत्) कौन नियत करता है ? (अस्मै) इस को (बलम्) बल=शारीरिक शक्ति (कः प्र अयच्छत्) कौन प्रदान करता है ? (अस्य) इस शरीर के (जवम्) वेग या क्रिया सामर्थ्य को (कः अकल्पयत्) कौन रचता है ।

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥

१४–(द्वि० तृ०) 'एकोऽधि पौरुषे । को अनृतं को मृत्युम् को अमृतं दधौ' इति पैप्प० सं० ।

१५–(प्र०) 'को वाससा पर्यदधात्' (च०) 'कोऽस्या' इति पैप्प० सं० ।

१६–(प्र०) ' केना पोऽन्व ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(आपः) ये जल (केन) किस के सामर्थ्य से (अनु अतनुत) सर्वत्र फैले हैं (केन) किसने (रुचे) प्रकाश के लिये (अहः) सूर्य को (अकरोत्) बनाया । (केन) किसने (उषसम्) उषा काल को (अनु-ऐन्ध) पुरुष के अनुकूल प्रकाशित किया और (केन) किसने (सायं-भवम्) सायंकाल को बनाया ।

को अस्मिन् रेतो न्य/दधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतों दधौ ॥ १७ ॥

भा०—(अस्मिन्) इस पुरुष-देह में (रेतः) वीर्य को (कः न्यदधात्) कौन स्थापित करता है कि (तन्तुः, आ तायताम् इति) जिससे इस पुरुष का प्रजातन्तु और फैले ? (अस्मिन्) इस पुरुष में (मेधां) मेधा बुद्धि को (कः) कौन (अधि औहत्) धारण करता है ? (बाणं कः) कौन इसमें वाणी या वाक्-शक्ति को धारण करता और (नृतः कः) नृत्य या हाथ पैर आदि को अपने इच्छानुरूप चेष्टाओं को कौन धारण करता है ?

केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥

भा०—पुरुष ने (इमाम् भूमिम्) इस भूमि को (केन) किस (मह्ना) सामर्थ्य से (और्णोत्) आच्छादित किया है । (केन) किस सामर्थ्य से (दिवम्) द्यौलोक को (परि अभवत्) व्याप रखा है । (पर्वतान्) पर्वतों को (केन) किस (मह्ना) महत्व, सामर्थ्य से धारण किया है और (केन) किस सामर्थ्य से (पूरुषः) पुरुष (कर्माणि) कर्मों को करता है ।

१७–'कोऽस्मिन् रेतोदधात्' (द्वि०) 'तायतामितः' (च०) 'को बाणं को अनृतं दधौ' इति पैप्प० सं० ।

केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन् निहितं मनः ॥ १९ ॥

भा०—पुरुष (केन) किस प्रकार से (पर्जन्यम्) मेघको (अनु एति) अपने जीवन के कार्यों में अनुगत करता या प्राप्त करता है और (विचक्षणम्) नाना प्रकार से देखने योग्य (सोम) अन्न या अन्न को (केन) किस प्रकार से (अन्वेति) प्राप्त करता है (केन यज्ञं च श्रद्धां च) यज्ञ और श्रद्धा को किस प्रकार प्राप्त करता है ? और (अस्मिन्) इस पुरुष में (केन) किसने (मनः) मननशील चित्त को स्थापित किया है ।

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम् ।
केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥ २० ॥ (४)

भा०—(श्रोत्रियम्) वेद के विद्वान् श्रोत्रिय पुरुष को (केन) किस रीति से किस प्रयोजन से पुरुष (आप्नोति) प्राप्त करता है और (इमम्) इस (परमेष्ठिनम्) परम मोक्ष-स्थान पर विराजमान परमेश्वर को (केन) किस प्रकार, किस मार्ग से प्राप्त करता है। पुरुष (इमम्) इस (अग्निम्) जीवरूप अग्नि को (केन) किससे ज्ञान करता है और (संवत्सरं) संवत्सर रूप कालमय प्रजापति का (केन) किस प्रकार से (ममे) ज्ञान करता है या उसको मापता है ।

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

१९—'केन पर्जन्यमाप्नोति' इति पैप्प० सं० ।

२०—(तृ०) 'पुरुषः' इति पैप्प० सं० ।

२१—(तृ० च०) 'ब्रह्मयज्ञञ्च श्रद्धा ब्रह्मास्मिन् च हितं मनः' इति पैप्प० सं०

भा०—(पूरुषः) पुरुष (ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान के लिये (श्रोत्रियम् आमोति) श्रुति=वेदज्ञानी ब्रह्म के विद्वान् ब्राह्मण के पास जाता है। और (ब्रह्म) ब्रह्म-ज्ञान से वह (परमेष्ठिनम्) परमपद में स्थित ब्रह्म को प्राप्त होता है। (ब्रह्म) ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और वेदाभ्यास से (इमम् अग्निम्) इस अग्नि को, इस जीवात्मा को भी प्राप्त करता, साक्षात् करता है (ब्रह्म संवत्सरं ममे) और ब्रह्म से ही उस कालमय संवत्सर का ज्ञान करता है।

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
केने॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ केन॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥

भा०—(देवान्) देवों, विद्वानों और परमात्मा के रचे दिव्य पदार्थों को (केन) किस सामर्थ्य से (अनु क्षियति) अपने वश करता है, उनको अपने अनुकूल करता है? (दैवजनीः विशः) देव=परमात्मा से उत्पादित पशु पक्षी कीटपतङ्ग आदि प्रजाओं को (केन) किस सामर्थ्य से (अनु-क्षियति) अपने अनुकूल बना कर उनके साथ रहता है? अथवा (देवान्) प्राणों को और (दैवजनीः विशः) प्राण से उत्पन्न उप-प्राणों के साथ यह पुरुष=आत्मा (केन) किस सामर्थ्य से (अनुक्षियति) एक ही देह में रहता है? (केन अन्यत्) किससे विरहित होकर (इदम्) यह (नक्ष-त्रन्) नक्षत्र वीर्य हीन है, और (केन सत्) किसके साथ विद्यमान रह कर यह (क्षत्रम्) क्षत्र=बलस्वरूप चेतन (उच्यते) कहा जाता है।

ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ ब्रह्म॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥

भा०—(ब्रह्म देवान् अनुक्षियति) ब्रह्मशक्ति से यह पुरुष (देवान्) विद्वानों के बीच में या इन्द्रियों और वाणी के बीच में आत्मा (अनुक्षि-

२२–' केन देवीरजनयद् विशः ' इति पैप्प० सं०।

यति) निवास करता है । (ब्रह्म) ब्रह्मशक्ति स ही (देवजनी) ईश्वर से उत्पादित चर, अचर प्रजाओं में या उप प्राणों में भी यह पुरुष, आत्मा निवास करता है (ब्रह्म अन्यत्) ब्रह्मशक्ति से अतिरिक्त (इदम् , यह सब (नक्षत्रम्) 'नक्षत्र'=निवास है और (ब्रह्म सत्) ब्रह्म-शक्ति से युक्त ही यह सब (क्षत्रम् उच्यते) क्षत्र=बलयुक्त चेतन कहा जाता है ।

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २४ ॥

भा०—(इयं भूमि) यह भूमि (केन) किसने (विहिता) विशेष रूप से स्थिर की, धारण की या बनाई है ? और (केन) किसने (उत्तरा द्यौः) ऊपर का यह आकाश (हिता) धारण किया, थामा या बनाया ? और (इदम्) यह (ऊर्ध्वं तिर्यक् च) ऊपर का और तिरछा (व्यच) व्यापक (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वातावरण (हितम्) धारण किया, थामा या बनाया है ।

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २५ ॥

भा०—(ब्रह्मणा) उस महान् ब्रह्मशक्ति ने (भूमि विहिता) यह भूमि बनाई और विशेष रूप से धारण और स्थिर की । (ब्रह्म) उस महान् शक्ति ब्रह्म ने (उत्तरा द्यौः) ऊपर का आकाश भी (हिता) बनाया और स्थिर किया है । (इद) यह (ऊर्ध्वं तिर्यक् च व्यच , अन्तरिक्षम्) ऊपर का और तिरछा फैला हुआ अन्तरिक्ष, वातावरण भी उसी (ब्रह्म हितम्) महान् शक्ति ब्रह्म ने धारण किया, बनाया और स्थिर किया है ।

२४—' केनेद भूमिर्विहिता ' इति पैप्प० स० ।

२५ (प्र० द्वि०) ' ब्रह्मणा भूमिर्विहिता, ब्रह्मद्युरुत्तरा दधी ' इति पैप्प० सं० ।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रेरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

भा०—(अथर्वा) अथर्वा=प्रजापति परमात्मा (अस्य) इस पुरुष के (मूर्धानम्) सिर को और (हृदयं च) हृदय को (संसीव्य) सीकर (यत) जब (मस्तिष्कात्) मस्तिष्क से (ऊर्ध्वः) ऊपर और (शीर्षतः) शिर के भी ऊपर होकर (पवमानः) प्राणस्वरूप होकर स्वयं समस्त देहों को (प्रेरयत्) गति दे रहा है । अर्थात् वह परमात्मा ही सब देहों में चेतना को यन्त्रों में कारीगर के समान चला रहा है । किसी का नियम सूत्र उसके हाथ से परे नहीं, वह सब के मस्तिष्क और सिरों के ऊपर अध्यक्षरूप से विद्यमान है ।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

भा०—(वा) अथवा (अथर्वणः) अथर्वा प्रजापति का बनाया हुआ (तत्) वह (शिरः) शिर ही (देव-कोशः) देव-कोश, देव=इन्द्रियों का मूल आवरण या निवासस्थान (सम्-उब्जितः) बना हुआ है । (तत्) उस (शिरः) शिर को (प्राणः) प्राण (अभिरक्षति) चारों ओर से रक्षा करता है । और (अन्नम् अथो मनः) अन्न और मन भी उसकी रक्षा करते हैं ।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ्नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३.[1]
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

भा०—(पुरुषः) पुरुष (नु) क्या (ऊर्ध्वः) ऊपर ऊंचे खड़े हुए रूप में या मनुष्य से उच्च योनि में, (सृष्टः) उत्पन्न किया गया था या (तिर्यङ् नु) वह तिरछे या तिर्यग्-योनि में (सृष्टः) उत्पन्न किया गया

२६–(च०) 'पवमानोऽधिशीर्षतः' इति पैप्प० सं० ।
२७–(तृ०) 'प्राणोऽभिरक्षति शीर्ष' इति पैप्प० सं० ।
२८–१. 'विचार्यमाणानामिति टेः प्लुतः' ।

या (सर्वा दिश) सब दिशाओं में (पुरुष) पुरुष (आ बभूव) प्रकट हुआ था ? अर्थात् ऊर्ध्व=इस मनुष्यलोक से ऊपर वाई और इमसे उच्च योनि म प्रथम पुरुष उत्पन्न हुआ था कि जिसमे ये सब मनुष्य पीछे उत्पन्न हुए या वह पुरुष प्रथम तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुआ था और या सभी दिशाओं म अर्थात् सभी योनियों मे वह पुरुष आत्मा प्रकट हुआ यह वितर्क उठा करता है ? अथवा—वह पुरुष (ऊर्ध्वा) ऊपर ही द्यौलोक में प्रकट हुआ था, तिर्यङ्=अन्तरिक्ष लोक में प्रकट हुआ था सभी दिशाओं में उसकी सत्ता रही यह सदा वितर्क उठता है। इसकी विवेचना उचित रीति से करनी चाहिये।

(य) जो विद्वान् (ब्रह्मण) ब्रह्म की (पुर) उस पुर् को जिसके भीतर रहने से वह आत्मा (पुरुष) पुरुष (उच्यते) कहा जाता है— जानता है वही इस तर्क का समाधान कर सकता है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षु प्राणं प्रजां ददु ॥ २९ ॥

भा०—(य) जो (वै) निश्चय से (ब्रह्मण) ब्रह्म की (अमृतेन) अमृत=परमानन्द रस से या अनन्त जीवन से (आवृता) घिरी, परिपूर्ण (ताम्) उस (पुरीम्) पुरी को (वेद) जान लेता है (तस्मै) उसको (ब्रह्म च) वह परमात्मा रूप महान् शक्ति और (ब्राह्माश्च, उस ब्रह्मरूप महान् शक्ति के उपासक या उसके उत्पन्न किये लोक ही (चक्षु) देखने के लिये इन्द्रियां (प्राणम्) जीवन और (प्रजाम्) सन्तान को (ददु) प्रदान करते हैं।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसं पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्या पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

२९–(द्वि०) 'आवृता पुरीम्' (च०) 'आयु कीर्ति प्रजां ददु' इति तै० आ०। 'आयु प्राण' इति पैप्प० सं०।

३०–(द्वि०) 'जरस पुर' (च०) 'यस्मात् पुरुष उच्यते' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यः) जो (ब्रह्मणः पुरं वेद) ब्रह्म की उस पुरी को जानता है (यस्याः) जिसका अध्यक्ष साक्षात् (पुरुष उच्यते) पुरुष कहा जाता है। (तम्) उसको (चक्षुः) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियगण (न जहाति) नहीं छोड़ते (न प्राणः) और न प्राण ही (जरसः पुरा) बुढ़ापे के पूर्व त्यागता है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥

भा०—(अष्टा-चक्रा) आठ चक्रों और (नव-द्वारा) नवद्वारों से युक्त (देवानाम्) देव-इन्द्रिय-गणों की (अयोध्या) किसी से युद्ध द्वारा विजय न किये जाने वाली (पूः) पुरी है। (तस्यां) उसमें (हिरण्ययः) तेजःस्वरूप (कोशः) प्राणों का एकमात्र आश्रय उनका परम निधि (स्वर्गः) सुखस्वरूप (ज्योतिषा) परम तेज से (आवृतः) ढका हुआ है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥

भा० - (तस्मिन्) उस (हिरण्यये) तेजोमय (त्रि-अरे) तीन अरों वाले और (त्रि-प्रतिष्ठिते) तीन चरणों या आश्रयों पर स्थित (कोशे) परम निधानरूप कोश में (यत् यक्षम्) जो परम पूजनीय तत्व (आत्मन्-वत्) आत्मस्वरूप है (तत् वै) उसका ही निश्चय से (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (विदुः) ज्ञान किया करते हैं। ...र सूर्य में

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। ...(एषा)
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥ उस (मे) ...चक्षु) प्रदान

31 -' हिरण्मयः स्वर्गः कोशो ' इति तै० आ०।
32 -(द्वि०) 'त्रिदिवे' (तृ०) 'तस्मिन् यदन्तरात्म
33 -(तृ०) ' हिरण्ययी ' इति तै० आ०, पैप्प० 'तस्यां [हर] यो च प्रजापतिः ' इति पैप्प० सं०।

भा०—(प्र भ्राजमानाम्) अतिशय तेज से प्रकाशमान (हरिणीम्) अति मनोहारिणी (यशसा) यशो रूप तेज से (सं परीवृताम्) चारों तरफ से घिरी हुई (हिरण्ययीम्) अति तेजस्विनी (अपराजिताम्) किसी से भी न जीती गई उस ब्रह्मपुरी में (ब्रह्मा) ब्रह्म का उपासक ज्ञानी पुरुष (विवेश) प्रवेश करता है ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, पञ्चषष्टिश्च ऋचः]

[२] वीर राजा और सेनापति का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । वरणो, वनस्पतिश्चन्द्रमाश्च देवताः । १, २, ६ भुरिक् त्रिष्टुभः, ८ पथ्यापङ्क्ति, ११, १६ भुरिजौ । १३, १४ पथ्यापङ्क्ती, १४-१७ २४ पञ्चपदा ... , १, ४, ५, ७, ९, १०, १२, १३, १५ अनुष्टुभ । पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥

भा०—(अयम्) यह (वरणः) सब से वरण करने या मुख्य रूप ... योग्य श्रेष्ठतम हम में से राज्यतिलक द्वारा अभिषेक करने
शक्ति के उपा...
... शत्रु का वारण करने हारा पुरुष ही (मणिः) शिरोमणि
इन्द्रियों (प्राण...
... नेता होता है । वह स्वयं (वृषा) सब सुखों का वर्षक,
न वै तं द...
... उठाने योग्य वृषभ के समान राज्य भार को उठानेमें समर्थ,
पुरं यो ब्रह्म...
... के तुल्य सुखों का वर्षक (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का
२९-(द्वि०) हे ! (तेन) ऐसे पुरुष के बल पर (त्वं) तू (शत्रून्)
सं० आ० ।
३०-(द्वि०) 'ज्यम पुं त्र पैप० म० ।

शत्रुओं को (रभस्व) विनाश कर या पकड़ और (दुरस्यतः) दुष्ट कामना करने वालों को (प्र मृणीहि) विनाश कर।

प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात्।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः ॥ २ ॥

भा०—हे राजन्! (एनान्) इन शत्रुओं को (प्र शृणीहि) मार (प्र मृणा) विनाश कर, (रभस्व) पकड़ ले। वही शत्रुओं का निवारण करने में समर्थ सेनापति (पुरस्तात्) आगे ही आगे (पुरः एता) अपनी सेना के आगे प्रमुख रूप से चलने वाला (अस्तु) हो। (देवाः) देव, विद्वान् लोग (वरणेन) शत्रु के वारण करने में समर्थ पुरुष से ही (असुराणाम्) असुरों के (श्वः श्वः) निरन्तर होने वाले, नये से नये (अभ्याचारम्) आक्रमण को (अवारयन्त) वारण कर देते हैं।

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः।
स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥३॥

भा०—(अयम्) यह (वरणः) शत्रुओं का निवारण करने वाला (मणिः) नर-शिरोमणि पुरुष ही (विश्व-भेषजः) समस्त दुःखों को शान्त करने हारे औषध के समान है, वह (सहस्राक्षः) चर या गुप्त दूतों और राजसभा के सभासदों की आंखों और शास्त्र-चक्षुओं द्वारा मय सूर्य में आंखों से युक्त होकर साक्षात् सहस्राक्ष इन्द्र के समान है। (हरितः) मनोहर आश्रय वृक्ष के समान श्यामल या सूर्य के समान सुन्दर (मे) शान्तिप्रद है और वही (हिरण्ययः) बड़ा धन-ऐश्वर्यसम्पन्न[illegible]) प्रदान वह (ते) तेरे (शत्रून्) शत्रुओं को (अधरान्) नीचे[illegible] देता है। हे वरण! शत्रुनिवारक! तू (पूर्वः) सब[illegible] [त्व] भो

३–(द्वि०) ' हिरण्मयः ' (तृ०) ' यस्ते

(तान्) उनको (दभ्नुहि) विनाश कर डाल (ये) जो (त्वा) तुझे (द्विषन्ति) द्वेष करते हैं।

अयं ते कृत्यां वितंतां पौरुषेयादयं भयात्।
अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ४ ॥

भा०—(अयं वरण) यह शत्रु निवारण करने में समर्थ शूर-वीर सेनापति (विततान्) विस्तृत, दूर तक फैली (कृत्याम्) घातक सेना को भी (वारयिष्यते) परे हटा देने में समर्थ है। और (अयम्) यह सेनापति (पौरुषेयात् भयात्) पुरुषों से होने वाले भय से बचाने में समर्थ है। और (अयं त्वा सर्वस्मात् पापात्) यह तुझ पर होने वाले सब प्रकार के अत्याचार से तुझ को (वारयिष्यते) बचाने में समर्थ है।

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥

अथर्व० ६ । ८५ । १ ॥

भा०—(अयं) यह (वरण) शत्रु को वारण करने में समर्थ पुरुष (देव) दिव्य गुणवान्, कान्तिमान्, तेजस्वी, राजा साक्षात् (वनस्पति:) समान आश्रय है। अर्थात् जिस प्रकार घना वृक्ष अपने शरण शक्ति के उसको छाया देता और उसको सूर्य के ताप से बचाता और फल इन्द्रियों (शाखा) है ऐसे ही वह भी अपने आश्रितों को शत्रु के तीव्र प्रहारों न वै तं अपने उत्तम ऐश्वर्यों से आश्रितों को पुष्ट करता है। (य: पुरं यो ब्रह्मीनर (यक्ष्म:) पूजा सत्कार के योग्य महान् आत्मा है। (देवा:) देव विद्वान् लोग (तम् उ) उसका श्रेष्ठ

२९–(द्वि०)

सं० आ० । १ 'पौरुषेयमव वधम् । अय ते सर्वं पापानम्' इति

३०–(द्वि०) 'यक्ष्म' ...

रूप में वरण करते और राज्यसिंहासन पर अभिषेक करते हैं या उसकी शरण लेते उसको आश्रय वृक्ष के समान घेरे रहते हैं।

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम्।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन्! (यदि) यदि (सुप्त्वा) सोकर तू (पापम्) पाप युक्त, अत्याचार और अन्यायपूर्ण अपने पर होने वाले भयङ्कर वध आदि के (स्वप्नं) स्वप्नमय दृश्य को (पश्यासि) देखे और (यति) यदि (मृगः) कोई वनैला जन्तु (अजुष्टाम्) अप्रिय, अनभिलषित (सृतिम्) मार्ग में (धावात्) आ धमके। और (परिक्षवात्[1]) निन्दाजनक लोकवाद से, और (शकुनेः) प्रबल (पापवादात्) पापमय निन्दावाद से (वरणः) शत्रु से वारण करने में समर्थ (मणिः) यह शिरोमणि राजा (वारयिष्यते) प्रजा की और तेरी रक्षा करेगा। राजा का रक्षकवर्ग राजा को सुख से सोने देते हैं, उसकी रक्षा में राजा रात को शत्रु के भय के अत्याचार मय स्वप्न नहीं देखता और प्रजा भी निश्चिन्त सोती है। उसकी रक्षा में वन के पशु नहीं सताते, व्यर्थ लोकापवाद नहीं उठते, प्रत्युत रक्षा के प्रबन्ध से उसका यश होता है और प्रबल पापमय निन्दा भी नहीं उठती।

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात्।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ७ ॥

भा०—(अरात्याः) सुख न देने वाली, शत्रु की (निर्ऋत्याः) भयंकर मर्यादा सेना के (अभिचारात्) आक्रमण से और उसके (भयात्) प्रदान

६-(प्र०) 'सुप्त्वा यति' (द्वि०) 'मृगश्रुतं यति'। 'परिक्षवा' (च०) 'वारयति' इति पैप्प०। [ ] भी

१. क्षु शब्दे अस्मादिः। परिक्षिनः परिवादः।

७-(च०) 'त्वं वरणो वारय' इति पैप्प०

(ओजीयसः) बड़े प्रबल (मृत्योः) मृत्यु के भय और (वधात्) प्राण-नाश, शस्त्रवध से भी (वरणः) वह 'वरण' नाम रक्षकवर्ग राजा प्रजा को (वारयिष्यते) आपत्तियों से बचा लेने में समर्थ होता है।

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम्।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥ ८ ॥

भा०—(यत् एनः) जो पाप (मे माता) मेरी माता और (यत् एनः) जो पाप मेरा पिता और (यत् च) जो पाप (मे) मेरे (भ्रातरः) भाई लोग और (यत् एनः) जो पाप मेरे (स्वाः) अपने बन्धु जन और (वयम्) हम (चकृम) करते हैं (ततः) उन सब पापों से (अयम्) यह (वनस्पतिः) बड़े वृक्ष के समान शरण योग्य प्रजापालक (देवः) देव, राजा (वारयिष्यते) रक्षा करेगा। राजा प्रजा के भीतरी सम्बन्धों में होने वाले अत्याचारों से भी प्रजा की रक्षा राजा ही करे।

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥

भा०—(मे) मेरे (स बन्धव) बन्धुजनों के साथ षड्यन्त्र रचने वाले (भ्रातृव्याः) शत्रु लोग (वरणेन) इस रक्षक वर्ग से (प्रव्य-थित) होकर जो (असूर्तं) प्रकाशहीन (रजः) राजस-भाव= शक्ति के उप... (अपि अगुः) प्राप्त होते हैं (ते) वे (अधमं) अधम (तमः) इन्द्रियों (प्राप्त) (यन्तु) प्राप्त हों।

न वै तं द... रायुष्मान्त्सर्वपूरुषः।
पुरं यो ब्रह्म... णि परि पातु दिशोदिशः ॥ १० ॥ (७)

२९-(द्वि०) च० अ० । 'स्मान्नो' (प्र०) 'इद देववृहस्पतिः' इति पैप्प० सं० ।
३०-(द्वि०) 'तमः...' पैप्प० सं० ।

भा०—(अहम्) मैं (अरिष्टः) अहिंसित, सुरक्षित और (अरिष्ट-गुः) सुरक्षित पशुओं या इन्द्रियों सहित रहूं और (सर्व-पूरुषः) मैं अपने समस्त पुरुषों नौकर चाकरों सहित (आयुष्मान्) दीर्घायु रहूं । (तं मा) उस मुझको (अयं वरणः मणिः) यह वरण, रक्षकवर्ग शिरोमणि (दिशः दिशः) समस्त दिशाओं में (परि पातु) रक्षा करे ।

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥ ११ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (दस्यून्) आत्मज्ञान का नाश करने वाले (असुरान्) प्राणों में रमणकारी विषय भोगों को (इव) जिस प्रकार पीड़ित करता है उसी प्रकार (अयं वरणः) यह विद्वानों से वरने और शत्रुओं को वारण करने में समर्थ (देवः) प्रकाशमान्, कान्तिमान् (वनस्पतिः) आश्रय-वृक्ष के समान सब का पालक (राजा) राजा मेरे (उरसि) छाती या हृदय में विराजे । (सः) वह (मे) मेरे (शत्रून्) शत्रुओं को (वि बाधताम्) विशेष रूप से या विविध उपायों से [illegible] करे, दमन करे ।

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान् छतशारदः । [illegible]
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् [illegible]

भा०—(इमम्) इस (वरणम्) शत्रु वारण [illegible] (पुष्टा) मैं भृति द्वारा पोषण करूं और (आयुष्मान् शत-[illegible] च) पुरुष (मे) की आयु वाला होऊं । (सः) वह (मे) मेरे ([illegible]) [illegible] को, क्षत्र-बल को (पशून्) पशुओं को ([illegible] प्रभाव को (मे दधत्) मेरे में धारण करा [illegible]

११—(प्र०) 'वक्षोरसि' इति पं० [illegible]

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् ।
वरुणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वात) प्रबल वायु (वनस्पतीन्) वन के पालक रूप बड़े २ (वृक्षान्) वृक्षों को (ओजसा) अपने बल से (भनक्ति) तोड़ डालता है (एवा) उसी प्रकार (मे) मेरे (पूर्वान्) पूर्व के उत्पन्न (उत) और (अपरान्) बाद के (जातान्) उत्पन्न (सपत्नान्) शत्रुओं को (भङ्ग्धि) तोड़ डाल, नाश कर । हे राजन् ! (वरुण) ऐसा शत्रु वारण-समर्थ पुरुष (त्वा) तेरी (अभि रक्षतु) रक्षा करे ।

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान्० ॥ १४ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वातेन) प्रबल वायु से (प्रक्षीणाः) उखाड़े और (नि अर्पिताः) नीचे गिराये वृक्ष भूमि पर लोट जाते हैं (एवा) उसी प्रकार (त्वं) तू ' वरण ' (मे सपत्नान् प्रक्षिणीहि) मेरे शत्रुओं का विनाश कर और (नि अर्पय) नीचे गिरा (पूर्वान् जातान्० इत्यादि) पूर्ववत् ।

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः ।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥ १६ ॥

भा०—(ये) जो लोग (एनम्) इस राजा के (पशुषु) पशुओं पर (दिप्सन्ति) घात लगाये हैं और (ये च) जो (अस्य) इस राजा के (राष्ट्र-दिप्सवः) राष्ट्र, जनपद पर घात लगाये हैं उनको मारकर हड़प लेना चाहते हैं हे (वरण) शत्रुवारक ! (तान्) उनको (त्वं) तू (दिष्टात् पुरा) निर्दिष्ट, भाग्य में लिखे समय से पूर्व या (आयुषः) उन की पूर्ण आयु होने के पूर्व ही (प्रच्छिन्धि) विनाश कर ।

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु,
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ १७ ॥

करे । (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (सम् उक्षतु) पूर्ण करे । अर्थात् शत्रुवारक पुरुषों के बल पर मैं सूर्य के समान कान्तिमान्, समृद्धिमान्, यशस्वी, तेजस्वी राजा हो जाऊं ।

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि । एवा म० ॥ १८ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में और (नृ चक्षसि) समस्त मनुष्यों के देखने वाले या सब के दर्शनीय (आदित्ये च) आदित्य में (यशः) यश कीर्त्ति है । (एवा मे वरणो मणि०) इत्यादि । इसी प्रकार शत्रु वारक शिरोमणि पुरुष भी मुझे कीर्त्ति और भूति प्रदान करे, वह मुझे तेज और यश से युक्त अर्थात् तेजस्वी और यशस्वी करे ।

यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि । एवा० ॥ १९ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पृथिव्याम्) पृथिवी में और (अस्मिन् जातवेदसि) इस जातवेदा अग्नि में (यशः) यश=कीर्त्ति है (एवा मे वरणो मणि० इत्यादि) पूर्ववत् ।

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे । एवा० ॥ २० ॥ (८)

भा०—(यथा) जिस प्रकार का (कन्यायाम्) शुद्धचरित्रा कन्या में और (यथा) जिस प्रकार का (अस्मिन्) इस (संभृते) युद्ध के लिये युद्ध-सामग्री से सुसज्जित (रथे) रथ में (यशः) यश है (एवा मे वरण० इत्यादि) पूर्ववत् ।

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः । एवा० ॥ २१ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार का (सोमपीथे) सोमपान करने में (यशः) यश है और (यथा) जिस प्रकार का (मधुपर्के) मधुपर्क प्राप्त करने में (यशः) यश है (एवा मे वरण० इत्यादि) पूर्ववत् ।

१८–(प०) ' समनक्तु माम् ' इति पैप्प० स० ।

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः । एवा० ॥ २२ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार का (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र में (यशः) यश है और (यथा) जिस प्रकार का (वषट्कारे) यज्ञ के करने में (यशः) यश है (एवा मे वरणः० इत्यादि , पूर्ववत् ।

यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम् । एवा० ॥ २३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार का (यजमाने) यजमान, यज्ञ करने वाले पुरुष में और (यथा) जिस प्रकार का यश (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (आ-हितम्) रक्खा है । (एवा मे वरणः० इत्यादि) पूर्ववत् ।

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि । एवा० ॥ २४ ॥

भा०—(यथा प्रजापतौ यशः) जैसा प्रजापति में यश है और (यथा) जैसा (अस्मिन् परमेष्ठिनि) इस परमेष्ठी, ब्रह्मा या सर्वोच्च पद पर स्थित परमेश्वर और राजा होने में यश है । (एवा मे वरणः०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ २५ ॥ (६)

भा०—(यथा) जिस प्रकार (देवेषु) देव दिव्य पदार्थ, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश आदि ईश्वर के बनाये पदार्थों में (अमृतम्) जीवन-प्रद सामर्थ्य और उनमें रहने वाला नित्य विशेष गुण और विद्वानों में परम ब्रह्मज्ञान रहता है और (यथा) जिस प्रकार (एषु) इन 'देव' विद्वान्, ब्रह्मज्ञ पुरुषों में (सत्यम्) सत्य (आ-हितम्) स्थिर है । (एवा मे वरणः मणिः० इत्यादि) उस प्रकार का यश कीर्त्ति और सम्पत्ति यह शत्रुवारक पुरुष मुझे प्राप्त करावे । और वह मुझे तेजस्वी और यशस्वी करे ।

२४-'यथास्मिन् जातवेदसि' इति पैप्प० सं० ।

[४] सर्प विज्ञान और चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । गरुत्मान् तक्षको देवता । २ त्रिपदा यवमध्या गायत्री, ३, ४ पथ्या बृहत्यौ, ८ उष्णिग्गर्भा परा त्रिष्टुप्, १२ भुरिक् गायत्री, १६ त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री, २१ ककुम्मती, २३ त्रिष्टुप्, २६ बृहती गर्भा ककुम्मती भुरिक् त्रिष्टुप्, १, ५–७, ९, ११, १३–१५, १७–२०, २२, २४, २५ अनुष्टुभः । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत् ।
अहीनामपमा रथं स्थाणुमारदथार्षत् ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) इन्द्र-आत्मा का (प्रथमः) सब से उत्कृष्ट (रथः) रथ-रस या वीर्य है और (देवानाम्) देवों विद्वानों या देवों=शरीरगत इन्द्रियों का (रथः) रथ-रस या वीर्य (अपरः) उससे उतर कर दूसरे नम्बर पर है । (वरुणस्य) वरुण=प्राण, व्यान अग्नि का (रथः) रस या वीर्य, (तृतीयः) तीसरे दर्जे का (इत्) है । (अहीनाम्) सर्पों या मेघों का (रथः) रस या वीर्य (अपमा=अवमाः) सब से नीचे है जो (स्थाणुम्) वनस्पतियों में या शरीर में (आरत्) प्राप्त होता है (अथ अर्षत्) और जो तीव्र वेदना उत्पन्न करता या फैल जाता है (अथ रिपत्) और या जो प्राणघात करता है ।

'रथः' रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा । निरु० ९ । २ । ११ ॥ तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते । गो० पू० २ । २१ ॥ वज्रो वै रथः । तै० १ । ३ । ६ । १ ॥ 'रथ' का अर्थ गमन साधन, स्थिरता का साधन–बल, रमण साधन=

[४] १ (द्वि०) 'अहीनामुपमा रथः' इति पैप्प० सं० । (च०) 'अथारिषत्' इति ह्विटनिकामित. पाठः । अथारषत्, अथारिषत् इति च क्वचित् पाठः ।

ऐश्वर्य, व्यसन और और रस है। रस को ही रथ कहा जाता है। वज्र=वीर्य, रथ है। इन्द=आत्मा का सबसे अधिक बल है, उससे उतर कर देवों, ज्ञानेन्द्रियों का, उससे उतर कर प्राण, अपान, व्यान या अग्नि का और सब से कम अहि=सर्पों को। अधिक बलवान् अपने से कम बल वाले को दबा लेता है इस सिद्धान्त से सर्पों के रस=विष को दूर करने या उस पर विजय पाने के लिये उससे अधिक रस वाले पदार्थ का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त रस वनस्पतियों में विद्यमान है। सर्प का सब से निकृष्ट श्रेणी का विष भी शरीर में प्रवेश करता और फैल जाता है।

दुर्भः शोचिस्तुरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः।
रथस्य बन्धुरम् ॥ २ ॥

भा०—विष के बांधने वाले पदार्थों का वर्णन करते हैं। (दर्भः) दाभ, कुशा नाम घास, (शोचिः) जलता चमकता हुआ आग का अंगारा, (तरूणकम्) तरूणक या कन्तृण (अश्वस्य वारः) 'अश्व' विशेष सरपत या कनेर के बाल या जल और (परुषस्य वारः) परुष नाम के सरपत के बाल या जल ये पदार्थ (रथस्य) रथ रस या सर्पों के विष के (बन्धुरम्) बांधने वाले पदार्थ हैं। ग्रीफिथ के मत में—सांप जिन घास, सरकण्डों में रहता है वही उसके रथ हैं। उनमें दर्भ सांपों की चमक है, उसके नये फूल सांपों के रथ के घोड़ों के बाल हैं और सरपत के बाल उनके रथ की बैठक है। यह असंगत बातें हैं।

दर्भ=कुश। शोचिः=अग्निः, सूर्य का ताप। 'अश्वस्य वारः'=अश्व के बाल, ये घोड़े के बाल नहीं प्रत्युत यह एक 'काश' या सरपत की जाति है जिस को राजनिघण्टु में 'अश्वाल' शब्द से कहा गया है। 'अन्योऽग्निशिखा गुण्टा अश्वालो नीरजः शरः।' यह पानी में बहुत फैलता है, जिसकी चटाइयां भी बनती हैं। उसके पत्ते विशेष रूप से दाह-तृष्णा को शान्त करते हैं। अथवा—'अश्वस्य वार' करवीरकों का भी वाचक होना

सम्भव है। आयुर्वेद मे उसे 'अश्वमार' 'हयमार' आदि कहा जाता है, वेद में उसे 'अश्व-वार' कहा गया है। वह तीव्र विषघ्न पदार्थ है। 'परुषस्य वारः'—परुष नामक छोटी दाभ की जाति है, इसको राजनिघण्टु 'खर' नाम से पुकारता है। यह पित्तोल्वण, दाह, विष आदि का नाशक है। अथवा परुष=पोरओं वाला नड, नल है जो 'नलः स्यादधिको वीर्यं शस्यते रसकर्मणि" औरों से अधिक वीर्यवाला और रस-कर्म या विषचिकित्सा में अधिक उपयोगी है या फालसा='परूषक', तरूणक=तरणक या तरण=कत्तृण नामक ओषधि। यह "भूतग्रहविषघ्नं च व्रणवलविरोपणम्" भूतग्रह और विषका नाशक व्रण घतादि की रोपक ओषधि है। इन पदार्थों का प्रयोग आयुर्वेद, डाक्टरी विद्या से जानना चाहिये।

अवं श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (श्वेत) श्वेत करवीर अश्वखुरक नाम ओषधे! (वाः) जल जिस प्रकार (उदप्लुतम्) जलमें उतराती हुई (दारु) लकड़ी को (अरसम्) निर्बल और नीरस करके विनष्ट कर देता है उसी प्रकार (पूर्वेण) पूर्व के और (अपरेण च) अपर के (पदा) पाद, फूल और मूल से (अहीनां) सांपों के (उग्रम्) तीव्र (विषम्) विष को (अरसम्) निर्बल करके (अव जहि) विनाश कर।

अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत्।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥

भा०—(अरं घुषः) तूम्बा, (निमज्य) जल में डूब कर (पुनः उन्मज्य) फिर ऊपर उठकर (अब्रवीत्) बतलाता है कि मेरे प्रभाव से (उदप्लुतं दारु)

३—(च०) 'वारिदुग्रम्' इति पैप्प० सं०।
४—(प्र०) 'उदन्धोज्योन्मज्य पुनः' इति पैप्प० सं०।

पानी में डूबे हुए लकड़ी के टुकड़े को (वाः इव, जिस प्रकार जल (अरसम्) निर्बल कर देता है उसी प्रकार (अहीनाम्) सांपों का (उग्रम्) उग्र, भयानक, तीव्र (विषम्) विष भी (अरसम्) रसहीन, निर्बल हो जाता है। कटु तुम्बी='कटुकालाम्बुनी' कहाती है । वह वमनकारिणी विषघ्नी है। उसका एक नाम 'इक्ष्वाकु' भी है। वेद में उसे 'अरं-घुषा' अति शब्द करने वाली 'वीणा की तुम्बी' कहा है।

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम्।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः ॥ ५ ॥

भा०—(पैद्वः) 'पैद्व' नामक द्रव्य (कसर्णीलं) कसर्णील नामक सर्प को विनाश करता है। (पैद्वः) वही 'पैद्व' नामक द्रव्य (श्वित्रम्) श्वित्र=श्वेत सर्प (उत) और (असितम्) काले सर्प को भी विनाश करता है। (पैद्वः) पैद्व नामक द्रव्य (रथर्व्योः) रथर्वी नामक सांप जाति और (पृदाक्वाः) पृदाकू नामक सांप की जाति के (शिरः) शिर को भी (बिभेद) तोड़ डालता है। 'पैद्वः'=अश्व=करवीर या गिरिकर्णिक या अश्व-घुरक या अश्वगन्धा नामक ओषधि लेना उचित है? केशव के मत से पैद्व नामक एक जन्तु है जो 'तालिणी' कहाता है। जो पीले रंग का या चितकनेदार होता है। उसके भय से सर्प नहीं आता। 'कसर्णील' अति विषैली सर्प जाति होती है। 'श्वित्र', 'असित', 'रथर्वी' और 'पृदाकू' ये सभी सर्पों की भिन्न २ जातियों के नाम हैं।

पैद्व प्रेहि प्रथमोनु त्वा वयमेमसि।
अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥ ६ ॥

भा०—हे (पैद्व) पैद्व=अश्व नामक ओषधे! (प्रथमः) प्रथम तू (प्र-इहि) आगे २ चल और (त्वा अनु) तेरे पीछे (वयम्) हम (एमसि)

५-(प्र०) 'कसर्णीलं', (तृ०) 'रथर्व्याः' इति पैप्प० सं०।

चलें (येन) जिस मार्ग से (वयम्) हम (एमसि) चलें उस (पथः) मार्ग से (अहीन्) सांपों को (वि अस्यतात्) दूर भगा दे ।

इदं पैद्वो अंजायतेदमस्य परायणम् ।
इमान्यर्वत' पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥

भा०—(इदम्) यह (पैद्वः) अश्व नामक ओषध ही (अजायत) ऐसा उत्तम पदार्थ सिद्ध हुआ है । (इयम्) यह ही (अस्य) इसका (परायणम्) परम ओषध है, (वाजिनीवत') बलवती शक्ति से युक्त (अहिघ्न्यः) सर्पनाशक (अर्वत.) 'अर्वन्=अश्व' नामक ओषध के (इमानि) ये (पदा) विशेष जानने योग्य लक्षण हैं ।

संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत् ।
अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥ ८ ॥

अस्या पूर्वार्धं अथर्व० ६ । ५६ । १ ॥ तृ० च० ॥

भा०—सांप का मुख (सन्यतम्) बांधा जाय तो ऐसे कि (न विष्परत्) फिर खुल न सके । और यदि उसका मुख (व्यात्त) खुल गया हो तो फिर (न सं यमत्) बन्द न हो । तो (अस्मिन् क्षेत्रे) इस उपाय से (द्वौ) दोनों (अही) साप जातियां (स्त्री च पुमान् च) मादा और नर (तौ उभौ) वे दोनों ही (अरसा) निर्विष हो जाती हैं । सांप का जब मुँह खुले तो उसका मुँह बन्द न होने दिया जाय और यदि बन्द कर लिया तो खुलने न दिया जाय इस रीति से सांप को पकड़ना चाहिये । ऐसे पकड़ने से सांप अपने विषैले दांतों का प्रयोग नहीं कर सकता । और वह निर्विष होकर निर्बल हो जाता है ।

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके ।
घनेनं हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥ ९ ॥

अस्या उत्तरार्धं ऋ० १ । १९१ ॥ परि० उत्तरार्धेन समः ॥

९–(द्वि०) 'ये अन्ति तेच' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ये) जो सांप (अन्ति) समीप हों और (ये च दूरके) जो दूर हों वे भी (अहयः) सांप (इह) इस उपाय से (असारः) निर्बल, बलरहित, लाचार हो जाते हैं कि (घनेन) किसी कठोर ताड़ने योग्य हतौड़े से (वृश्चिकम्) विच्छू को (हन्मि) मारूं और (आगतम्) समीप आये (अहिम्) सांप को (दण्डेन हन्मि) दण्ड से मारूं । अर्थात् दण्ड से सांप और हतौड़े से विच्छू का मारने के उपाय से सभी पास और दूर के सांप लाचार हैं ।

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च ।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥ १० ॥ (१०)

भा०—(अघाश्वस्य) 'अघाश्व' नामक सर्प और (स्वजस्य च) स्वज नामक सर्प (उभयोः) दोनों का (इदम् भेषजम्) यह भेषज है (इन्द्रः) 'इन्द्र' नामक ओषधि (मे) मेरे (अघायन्तम्) ऊपर आक्रमण करने वाले सर्प को उसी प्रकार विनाश करती है जिस प्रकार (पैद्वः पूर्वोक्त अश्व या श्वेत नामक ओषध (अहिम् अरन्धयत्) अहि को नाश करता है । 'इन्द्र' नामक ओषध अश्मन्तक है जो गुण में—

'विदाह-तृष्णाविषमज्वरापहो विषार्त्ति विच्छर्दिहरश्च भूतजित्' ।

दाह, पियास, विषमज्वर, विषपीड़ा, वमन आदि विकारों का नाश करती है और 'इन्द्रक' कहाती है । अथवा 'इन्द्रायुध' अश्व का दूसरा नाम है । यही कदाचित् अश्वान्तक भी कहाता है । करवीर ही का दूसरा नाम अश्वान्तक है । महावीर शतकुन्द आदि भी इसके नाम हैं ।

'अघाश्व' और 'स्वज' दो प्रकार के सर्प हैं प्रथम 'अघाश्व' जो घोड़े के समान ऊपर उछल कर आक्रमण करे, 'स्वज' जो शरीर के साथ लिपट चिपट कर काटे ।

१०–(द्वि०) 'उभयोः वृश्चिकस्य च' इति पैप्प० सं० ।

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः ।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥ ११ ॥

भा०—(वयम्) हम (स्थिरस्य) स्थिर (स्थिरधाम्नः) स्थिरवीर्य वाले (पैद्वस्य) पैद्व=अश्व नामक ओषधि के बल से विष को हम (मन्महे) स्तम्भित करते हैं । उसी के बल पर (इमे) ये (पृदाकवः) पृदाकु नामक महासर्प (पश्चा) पीछे हट कर (प्रदीध्यत) विशेष रूप से, चिन्तामग्न से होकर (आसते) खड़े रह जाते हैं ।

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा ।
जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥ १२ ॥

भा०—(वज्रिणा) वज्र=वीर्य बल वाले (इन्द्रेण) इन्द्र नामक पूर्वोक्त औषध से (हता) मरे हुए सर्प (नष्टासवः) प्राण रहित और (नष्टविषाः) विष रहित हो जाते हैं । (इन्द्र जघान) जब इन्द्र औषध उनको मारता है तब उनको (वयम् जघ्निम) हम ही मारते हैं ।

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ।
दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥ १३ ॥

भा०—(तिरश्चिराजयः) तिरछी धारियों वाले सर्प (हता) मार दिये गये और (पृदाकवः) 'पृदाकु' नामक मूषक भक्षक सर्प भी (निपिष्टासः) सर्वथा पीस डाले जा सकते हैं । (दर्विम्) 'दर्वी' कड़छे के आकार के फण वाले नाग को (करिक्रतम्) और करिक्रत्='कर्दैत' नामक काले साप को और (श्वित्रम्) श्वेत 'श्वित्र' नामक साप को और (असित) असित, काल नामक सर्प को भी हे पुरुष ! (दर्भेषु) उपरोक्त दाभ या

११–(च०) 'दीध्यनामते' इति पैप्प० स० ।
१३–(तृ०) 'दर्वि करिकत' इति पैप्प० स० ।

कुशाओं के बल पर (जहि) मार । अथवा (दर्भेषु) सर्पनाशक पदार्थों के बल पर इनका नाश करो ।

कैरातिका कुमारिका सुका खनति भेषजम् ।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥ १४ ॥

भा० —(सका) वह (कैरातिका ; किरात=गिरिवासी वर्ग की (कुमारिका) कुमारी (हिरण्ययीभिः) लोह की बनी (अभ्रिभिः) कुदालियों से या खुरपियों से (गिरीणाम्) पर्वतों के (सानुषु) शिखरों पर (भेषजम्) ओषधि रूपसे (खनति) खोदती है । अथवा—वह 'किरात' वर्ग की (कुमारिका) कुमारी=वन्ध्यकर्कोटकी नामक जड़ी पर्वतों के शिखरों पर लोहे की बनी कुदालियों से (खनति) खोदी जाती है ।

'कुमारिका'—वन्ध्यकर्कोटकी देवी मनोज्ञा च कुमारिका ।
विज्ञेया नागदमनी सर्व भूतप्रमार्द्दिनी ॥
स्थावरादि विषघ्नी च शस्यते सारस्रापने । [रा० नि०]

किराताः—गिरिषु अतन्ति इति किराताः । छान्दसं गत्वं पररूपं दीर्घएकादेशश्चेति ॥

अर्थात्—वनवासी, गिरि पर्वतों के वासिनी कन्याएं लोह की कुदालियों से पर्वतों पर से ओषधि खन कर लाया करें । अथवा किरात-वर्ग' की कुमारी या वन्ध्यकर्कोट की नामक ओषधि खोद कर लानी चाहिये ।

आयमंगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥ १५ ॥

भा०—(अयम्) यह (युवा) बलवान् (अपराजितः) अपराजित नामक औषध (पृश्नि-हा) पृश्नि, चितकबरे कौड़िया सांप का नाशक और (भिषक्) विष रोग को दूर करने हारा है । (सः च) वह (स्वजस्य) स्वज नामक सर्प (वृश्चिकस्य च) और वृश्चिक, बिच्छू (उभयोः) दोनों का (जम्भनः) नाशक है ।

'अपराजिता' शब्द से निघण्टु में अश्वखुरक, बलामोटा, विष्णु-क्रान्ता, और शुभ्रागी या शेफालिका या शंखपुष्पी नामक ओषधि ली जाती है। इनमें—अश्वखुरक=गिरिकर्णिका, कटभी, श्वेत आदि नाम से कहाती है। वह चक्षुष्य, विष-शोधन है। शेफालिका, गिरिसिन्धुक या श्वेत सुरसा कहाती है वह भी विषघ्न है।

बलामोटा—विजया नागदमनी, निःशेषविषनाशिनी।
विषमोहप्रशमनी महायोगेश्वरीति च॥

विष्णुक्रान्ता भी विषघ्न है।

इन्द्रो मेहिंमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च।
वातापर्जन्योभा ॥ १६ ॥

भा०—(इन्द्र) इन्द्र-नामक ओषधि या विद्युत् (मित्र च) मित्र, सूर्य और (वरुणः च) वरुण, जल, (वातापर्जन्या) वात, प्रचण्ड-वायु और (पर्जन्य) मेघ (उभा) ये दोनों भी (अहिम् अरन्धयत्) सर्प को (मे) मेरे लिये वश करते हैं।

इन्द्रो मेहिंमरन्धयत् पृदाकुं च पृदाक्वम्।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥ १७ ॥

भा०—(पृदाकुम्) पृदाकु नामक नर सर्प को, (पृदाक्वम्) पृदाकु नाम मादा सांपिन को, (स्वजम्) स्वज, (तिरश्चिराजिम्) तिरछी धारियों वाले सर्प और (कसर्णीलम्) कसर्णील और (दशोनसिम्) दशोनसि नामक सांप को भी (इन्द्र.) इन्द्र नामक ओषधि (मे अरन्धयत्) मेरे वश कर देती है।

१६–'इन्द्रो मेहीनजम्भयद्' इति पैप्प० सं०।

१७–'ऐंद्रो मेहीन् अजम्भयत्' (च०) 'कुशर्णील नशोनसिम्' इति पैप्प० सं०।

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव ।
तेषांमु तृह्यमाणानां कः स्वित् तेषामसद् रसः ॥ १८ ॥

भा०—हे (अहे) अहे ! हे सर्प ! (तव) तेरे (प्रथमं) सब से प्रथम (जनितारं) उत्पादक को (इन्द्रः) इन्द्र नामक ओषधि (जघान) विनाश करे । (तेषां) उन (तृह्यमाणानाम्) विनाश किये जाते हुओं में से (तेषाम्) उन कुछ एक का ही (कः स्वित्) क्या कुछ (रसः) रस या विष (असत्) उत्पन्न होना सम्भव है ।

सं हि शीर्षाण्यग्रंभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् ।
सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्य/निजमहेर्विषम् ॥ १६ ॥

भा०—मैं सर्पों को वश करने में चतुर पुरुष सांपों के (शीर्षाणि) सिरों को (अग्रभम्) पकड़ लूं और (इव) जिस प्रकार (पौञ्जिष्ठः) पौञ्जिष्ठ, कैवट (सिन्धोः) नदी के (कर्वरं) अतिविस्तब्ध (मध्यं) मध्य भाग को (परेत्य) पहुंच जाता है उसी प्रकार मैं भी (सिन्धोः-मध्यम्) सिन्धु=नदी के बीच में (परेत्य) जा कर (अहेः) सांप के (विषम्) विष को (वि-अनिजम्) विशेषरीति से धो डालूं ।

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः ।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥ २० ॥ (११)

भा०—(सर्वेषाम् अहीनाम्) सब प्रकार के सांपों के (विषम्) विष को (सिन्धवः) नदियां (परा वहन्तु) दूर बहा ले जाती हैं । और इस प्रकार (तिरश्चिराजयः) तिरछी रेखाओं वाले सांप (हताः) विनष्ट हों, (पृदाकवः) मूषकखोर सांप भी (निपिष्टासः) सर्वथा पीस डाले जांय ।

१८—' तेषां वसु ' इति पैप्प० सं० ।
१६—(द्वि०) ' पौञ्जिष्ठिव ' इति पैप्प० सं० ।

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया ।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ २१ ॥

भा०—(अहम्) मैं (ओषधीनाम्) ओषधियों को (उर्वरीः, इव) धान्यों के समान (साधुया) भली प्रकार (वृणे) चुनता हूं । और (अर्वती इव) 'अर्वती' ओषधि के समान उत्तम गुण वाली ओषधियों को (नयामि) प्राप्त करता हूं जिनसे हे (अहे) सांप (ते) तेरा (विषम्) विष (निः, एतु) शरीर से दूर हो ।

यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् ।
कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥ २२ ॥

भा०—(यत्) जो (विषम्) विष (अग्नौ) अग्नि में है (पृथिव्यां) पृथिवी में और (ओषधीषु) ओषधियों में है और जो (कान्दाविषं) कन्दों में और (कनक्नकं) धतूरे आदि मादक पदार्थों में है । हे सर्प ! उनके द्वारा (ते विषम्) तेरा विष (निर् एतु, एतु) सर्वथा दूर हो ।

ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युतं आबभूवुः ।
येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम ॥२३॥

भा०—(ये) जो सांप (अग्निजाः) अग्नि से उत्पन्न होने वाले, (ओषधिजाः) ओषधि से उत्पन्न होने वाले और (अहीनां) सांपों में से (ये) जो (अप्सुजाः) जलों में उत्पन्न और जो (विद्युतः) बिजुली से (आ-बभूवुः) उत्पन्न अर्थात् प्रकट होते हैं और (येषां) जिनके (जातानि) अपत्य या नाना प्रकार की जातियें (बहुधा) बहुत प्रकार की (महान्ति)

२२–(तृ०) 'कान्दाविषं करिक्नन्द' इति पैप्प० सं० ।

२३–'ये अब्रजा विद्युता बभूवुः', 'तेषां जातानि बहुधा बहूनि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम' इति पैप्प० सं० ।

और बड़ी २ होती हैं (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) सांपों को हम (नमसा) वश करने के उपाय द्वारा (विधेम) अपने कार्यों में लावें।

तौदी नामांसि कन्या घृताची नाम वा असि ।
अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥ २४ ॥

भा०—(तौदी नाम) तौदी नाम की (कन्या घृताची नाम वा) कन्या और 'घृताची' नामक की (असि) तू औषध है। (ते) तेरे (अधः पदेन) नीचे के मूल से (ते) तेरा (पदम्) मूल (आददे) लेता हूं वह (विष-दूषणम्) विष का नाशक है।

तौदी कन्या या तो कौड़ी वाचक है या घृतकुमारी या वन्ध्यकर्कोटकी नागदमन कहाती है।

अङ्गादङ्गात् प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय ।
अधा विषस्य यत् तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥ २५ ॥

भा०—(अङ्गात् अङ्गात्) अंग २ से (प्र च्यावय) विष को चुआ डाल। (हृदयं) हृदय को विष से (परि वर्जय) छुड़ा दे, बचा। (अध) और तब (विषस्य) विष का (यत् तेजः) जो तेज है (तत्) वह (ते) तेरे शरीर से (अवाचीनम्) नीचे (एतु) उतर आवे।

यदि शरीर में जहर फैल जाय तो उसके वेग को कम करने के लिये स्थान २ पर से घात करके रुधिर बहा दे। इस प्रकार विष का वेग कम हो जाता है और उतर जाता है।

२४–'अधस्पदेन ते पदोऽाददे' इति पैप्प० सं०।

२५–'हृदयोपरि' इति पैप्प० सं०।

आरे अ॑भूद् वि॒षम॑रौद् वि॒षे वि॒षम॑प्रा॒गपि॑ ।
अ॒ग्निर्वि॒षमहे॒र्निर॑धा॒त् सोमो॒ निर॑णयीत् ।
दं॒ष्टार॒मन्व॑गाद् वि॒षमहि॑रमृत ॥ २६ ॥ (१२)

भा०—संक्षेप मे इतने उपाय विष को दूर करने के हैं (विषम्) विष (आरे) दूर (अभूद्) हो इसके लिये (विषम् अरौत्) प्रथम विष को दृढ़ बन्धन द्वारा रोक दिया जाय । दूसरा (विषे विषम् अप्राक् अपि) विष में उसका विरोधी विष या उसका सजातीय विष मिला दिया जाय । तीसरा (अग्नि.) आग (अहेः विषम्) सांप के विष को (निर् अधात्) सर्वथा बाहर कर दे । 'चौथा' (सोम.) सोम या शान्तिकारक औषध (निर् अनयीत्) विष को दूर कर दे । और पांचवां वही (विषम्) विष (दंष्टारम्) काटने वाले सांप को ही (अनु अगात्) प्राप्त हो कि जिससे (अहिः अमृत) वह सांप स्वयं मर जाय । सर्प के विष का सर्प के काटे पर पुन., औषधिरूप से प्रभावकारी होने के विषय में (अथर्व० १ । १३ । १४) पर विशेष विवरण देखने योग्य है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्चैकाष्टचत्वारात्]

[५] विजिगीषु राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य ।

१–२४ सिन्धुद्वीप ऋषि. । २६–३६ कौशिक ऋषि । ३७–४० ब्रह्मा ऋषि । ४२–५० विहव्यः प्रजापतिर्देवता । १–१४, २२–२४ आपश्चन्द्रमाश्च देवताः ।

२६—'आरे मूद्विषम् अरौत्वि विषमप्राग् अपि । अग्निरहेर्निरधाग् विषं सोमोऽनृणै द्विषम् अहिरमृतः ।' इति पैप्प० स० ।

१५—२१ मन्त्रोक्ताः देवताः । २६—३६ विष्णुक्रमे प्रतिमन्त्रोक्ता वा देवताः । ३७—५० प्रतिमन्त्रोक्ताः देवताः । १—५ त्रिपदाः पुरोऽभिकृतयः ककुम्मतीगर्भाः पंक्तयः, ६ चतुष्पदा जगतीगर्भा जगती, ७-१०, १२, १३ त्र्यवसानाः पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहत्यः, ११, १४ पथ्या बृहती, १५-१८, २१ चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुब्गर्भा अतिधृतयः, १९, २० कृती, २४ त्रिपदा विराड् गायत्री, २२, २३ अनुष्टुब्गर्भा, २६-३५ त्र्यवसानाः षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्योऽतिशक्वर्यश्च, ३६ पञ्चपदा अतिशाक्वर-अतिजागतगर्भा जगतिः, ३७ विराट् पुरस्ताद् बृहती, पुरोष्णिक्, ३९, ४१ आर्षी गायत्री, ४० विराट विषमा गायत्री, ४२, ४३, ४५-४८ अनुष्टुभः, ४४ त्रिपाद् गायत्री गर्भा अनुष्टुप्, ५० अनुष्टुप् । पञ्चाशदर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य
बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि ॥ १ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (ओजः स्थ) ओज, प्रभाव हो । आप लोग (इन्द्रस्य) राजा के (सहः स्थ) सहः=शत्रु को दबाने में समर्थ बल हो । (इन्द्रस्य बलं स्थ) हे प्रजाजनो ! आप लोग इन्द्र के बल हो । (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) आप लोग इन्द्र के वीर्य हो । (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) आप लोग इन्द्र के धन हो । मैं पुरोहित (वः) आप प्रजाजनों को (जिष्णवे) विजयशील (योगाय) उद्योगी विजिगीषु राजा के निमित्त (ब्रह्मयोगैः) वेद के विज्ञानमय उपायों के साथ (युनज्मि) जोड़ता हूं । अर्थात् आपको वेद विज्ञानों की शिक्षा देता हूं । अथवा (ब्रह्मयोगैः) आप लोगों को विद्वान् ब्राह्मणों के उपदिष्ट उपायों से युक्त करता हूं ।

[५] १—'इन्द्रस्य बलं स्थ, इन्द्रस्य नृम्णं स्थ इन्द्रस्य शुष्मं स्थ, इन्द्रस्य वीर्यं स्थ । जिष्णवे योगाय इन्द्रयोगैर्वो युनज्मि' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ २ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि) आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शत्रु के दबाने वाले बल हो इन्द्र के वीर्य हो, इन्द्र के धन हो, मैं आप लोगों को (जिष्णवे योगाय) विजिगीषु राजा के लिये (क्षत्रयोगैः) क्षात्र=क्षत्रियोचित साधनों से (युनज्मि) युक्त करता हूं।

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ ३ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (इन्द्रस्य ओजः स्थ०) आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शत्रु को दबाने वाले सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। मैं आप लोगों को (जिष्णवे योगाय) विजयशील उद्योगी राजा के लिये (इन्द्रयोगैः) इन्द्र=राजा के उचित, अथवा परम ऐश्वर्यवान् पुरुषों के उचित साधनों से (युनज्मि) युक्त करता हूं।

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥ ४ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग (इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि) ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। मैं राज पुरोहित आप लोगों को (जिष्णवे योगाय) विजयशील उद्योगी राजा के निमित्त (सोम-योगैः) सोम आदि ओषधियों के साधनों अथवा शान्ति-दायक, सुखदायक साधनों से (युनज्मि) युक्त करता हूं।

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ॥ ५ ॥

भा०—(इन्द्रस्य ओजः स्थ०) हे प्रजाजनो ! आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। मैं राजपुरो-

३—' अन्नयोगैः ' इति पैप्प० सं० ।

४—' ब्रह्मयोगैः ' इति पैप्प० सं० ।

५—' अद्भ्यो योगैः ' इति पैप्प० सं० ।

हित, आप लोगों को (जिष्णवे योगाय) विजयशील उद्योगी राजा के निमित्त (अप्सुयोगैः) प्रजा के उचित समस्त साधनों से (वः युनज्मि) आप लोगों को युक्त करता हूं ।

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ । जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता मे आप स्थ ॥ ६ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग (इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि०) ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। (जिष्णवे योगाय) विजयशील उद्योगी राजा के लिये (विश्वानि) समस्त प्रकार के (भूतानि) प्राणीगण (मा उप तिष्ठन्तु) मेरे पास आवें, हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! आप लोग (मे) मेरे द्वारा (युक्ताः) उचित २ कार्यों में नियुक्त (स्थ) रहो ।

अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ७ ॥

भा०—हे आप्त प्रजाजनो ! आप लोग (अग्नेः) अग्नि के समान शत्रु को संतापकारी राजा के (भागः स्थ) भाग, अंश या सेवन करने योग्य प्रजा हो । हे (देवीः) दिव्य गुण वाले (आपः) आप्तजनो ! (अपां) कर्मों और बुद्धियों के (शुक्रम्) प्रकाशमान् वीर्य या सामर्थ्य को और (वर्चः) तेज को (अस्मासु) हम लोगों में (धत्त) धारण कराओ। मैं राजा का प्रतिनिधि (प्रजापतेः) प्रजा के स्वामी परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि व्यवस्थापक राजा के (धाम्ना) तेज या धारण सामर्थ्य या बल से आप लोगों को (अस्मै लोकाय) इस देशवासी लोक के लिये (सादये) प्रतिष्ठित करता हूं, उच्च पद प्रदान करता हूं ।

७–' स्थापो ' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्र॑स्य भाग स्थं । ० । ० ॥ ८ ॥
सोम॑स्य भाग स्थं । ० । ० ॥ ९ ॥
वरु॑णस्य भाग स्थं । ० । ० ॥ १० ॥ (१३)
मित्रावरु॑णयोर्भाग स्थं । ० । ० ॥ ११ ॥
यमस्य॑ भाग स्थ । ० । ० ॥ १२ ॥
पितृणां भाग स्थं । ० । ० ॥ १३ ॥

देवस्यं सवितुर्भाग स्थं । अपां शुक्रमांपो देवीर्वर्चो अस्मासुं धत्त । प्रजाप॑तेर्वो धाम्नास्मै लोकायं सादये ॥ १४ ॥

भा०—हे आप्त प्रजाजनो ! आप लोग (इन्द्रस्य भाग स्थ० । ० इत्यादि) इन्द्र ऐश्वर्यशील राजा के अंश हो । आप लोग (सोमस्य) सर्व-प्रेरक, सर्वोत्पादक सोम, राजा के (भाग. स्थ० । ० । इत्यादि) भाग हो । हे आप्त प्रजाजनो ! आप (वरुणस्य भागः स्थ०) वरुण–सर्व दुःख-निवारक, प्रजा के रक्षक राजा के अंश हो (मित्रावरुणयोः भागः स्थः) मित्र सब को मृत्यु से बचाने वाले और सब आपत्तियों से बचाने वाले राजपद के भाग हो । आप (यमस्य भाग॰ स्थ) यम सर्व नियन्ता राजा के भाग हो । आप (पितृणाम्) राष्ट्र के परिपालक शासक जनों के (भागः स्थ) भाग हो और आप (सवितु) सब के प्रेरक और उत्पादक (देवस्य) देव राजा के (भाग स्थ) भाग हो (देवी. आपः) हे दिव्य-गुण वाले आप्त पुरुषो ! आप (अपाम्) उत्तम विज्ञान युक्त कर्मों और विज्ञानों के (शुक्रं वर्चः) उज्ज्वल तेज को (अस्मासु) हम प्रजा लोगों में (धत्त) धारण करो, कराओ । मैं राजप्रतिनिधि (वः) आप लोगों को (प्रजापतेः

८–१३–' बृहस्पतेर्भागस्थ० इत्यादि, प्रजापतेर्भागस्थ० ' इत्यादि सूत्रद्वय-मधिकम् , पैप्प० सं० ।

१४–(द्वि०) ' शुक्र देवीरापो अस्मासु धत्तन ' इति पैप्प० सं० ।

धाम्ना) प्रजा के पालक राजा के अधिकार से (अस्मै लोकाय) इस राष्ट्र-वासी लोक=प्रजा के लिये (सादये) प्रतिष्ठित करता हूं, उच्चपद प्रदान करता हूं।

अर्थात् प्रजाओं को राजशासन के प्रत्येक विभाग का अंश समझाया जाय ? आप्त विद्वान् लोग प्रजाओं में नाना विज्ञान और हितकारी कार्य प्रवृत्त करावें। इसी निमित्त उनको प्रजाओं में राजा के द्वारा उच्चपद प्रदान किये जावें और सब प्रकार के साधन उपस्थित किये जावें। जिससे राजा बलवान्, सामर्थ्यवान् हो और राष्ट्र विजयी और यशस्वी हो।

यो वं आपोपां भागो॒ऽप्स्व॒न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ दे॒वय॒जन॑: ।
इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्यव॑निक्षि ।
तेन॒ तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीया॒नेन॒ ब्रह्म॑णा॒नेन॒ कर्म॑णा॒नया॑ मे॒न्या ॥ १५ ॥

भा०—हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! (यः) जो (वः, अपां) तुम प्रजाजनों का (भागः) अंश रूप, राजा (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान् (यजुष्यः) अन्न आदि से सत्कार करने योग्य (देवयजनः) देव विद्वानों का उपासक या नियोजक है। (इदं) यह राष्ट्र (तम् अति सृजामि) उसको सौंपते हैं। (तं) उसका (मा अभि अवनिक्षि) अपमान मत करो। (तेन) उसके बल पर (तम् अभि अति सृजामः) उस पर चढ़ाई करते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) और जिसको हम द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा) इस ब्रह्म, वेदज्ञान से (अनेन कर्मणा) इस कर्म से और (अनेन मेन्या) इस प्रबल आयुधवाले मन्युरूप बल या सेनारूप बल से (तं वधेय) उसको मारें और (तं स्तृषीय) उसका विनाश करें।

यो व आपोपामूर्मिरप्स्व० । ० । ० । ० ॥ १६ ॥

यो वं आपोपां वृत्सोऽप्स्व॒न्तः ० । ० । ० । ० ॥ १७ ॥
यो वं आपोपां वृषभोऽप्स्व॒न्तः ० । ० । ० । ० ॥ १८ ॥
यो वं आपोपां हिरण्यगर्भोऽप्स्व॒न्तः ० । ० । ० । ० ॥ १९ ॥
यो व आपोपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽप्स्व॒न्तः ० । ० । ० । ० ॥२०॥ (१४)

भा०—हे (आपः) प्रजाजनो ! (यः) जो (वः) आप लोगों के (अपाम्) कर्मों और विज्ञानों की (ऊर्मिः) जलों के तरंग के समान बलवती उन्नतिकारिणी शक्ति (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान है । और हे (आपः) प्रजाजनो (वः अपां) तुम प्रजाओं का जो (वृषभः) मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षक, बलवान् पुरुष जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान है और हे (आपः) प्रजा के आप्त पुरुषो ! (वः अपां) आप प्रजाजन के बीच (हिरण्यगर्भः) सुवर्ण आदि को धारण करने वाले धनाढ्य लोग (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान हैं । और हे (आपः) आप्तजनो ! (वः, अपाम्) आप प्रजाओं का (अश्मा) भोक्ता (दिव्यः) दिव्य गुणवान् (पृश्निः) सूर्य के समान समस्त रसों का आदान करनेवाला और (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर (यजुष्यः) यज्ञ आदि से पूजनीय (देवयजनः) विद्वानों का उपासक राजा विद्यमान है (इदम्) यह (तम्) उस पुरुष को (अति सृजामि) सौंपते हैं या उसको सबसे ऊपर राजा बना कर स्थापित करता हूं । (तं) उसको (मा) कभी मत (अभि अव निक्षि) निरादर करो । (तेन) उस राजा के बल से हम (तम् अभि अति सृजामः) उस पर चढ़ाई करते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम से द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा) इस वेदज्ञान से और (अनेन कर्मणा) इस यज्ञ-कर्म से और (अनेन मेन्या) इस शस्त्रमय सेना बल से (तं वधेयम्) उसको मारूं और (तं स्तृणीय) उसका नाश करूं ।

ये वं आपोपामग्नयोऽप्स्वन्तर्यजुष्या/देवयजनाः ।
इदं तानति सृजामि तान् माभ्यवनिक्षि ।
तैस्तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ २१ ॥

भा०—हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! (वः अपाम्) तुम प्रजाजनों में से (ये) जो (अग्नयः) ज्ञानवान्, शत्रुसंतापक पुरुष (अप्सु अन्तः) प्रजाजनों के ही बीच में विद्यमान (यजुष्याः) अन्नादि से सत्कार करने योग्य और (देवयजनाः) स्वयं विद्वानों के उपासक हैं (इदम्) यह राष्ट्र (तान् अति सृजामि) उनके हाथों सौंपता हूं (तान्) उनका (मा अभि अवनिक्षि) अनादर न करो । (तैः) उन्हीं के बल पर (तम् अभि अतिसृजामः) उस पर चढ़ाई करें (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम से द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा, अनेन कर्मणा, अनया मेन्या) इस ब्रह्म ज्ञान से, इस कर्म से और इस आयुध युक्त दण्ड बल से (तं वधेयं) उसको मारूं और (तं स्तृषीय) उसका विनाश करूं ।

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥ २२ ॥

उत्तरार्धम् अथर्व० ७ । ६ । १ ॥

भा०—(त्रैहायणाद् अर्वाचीनं) तीन वर्ष से उरे २ अब तक (यत् किं च) जो कुछ हम ने (अनृतं ऊदिम) असत्य भाषण किया (आपः) आप्त पुरुष (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (दुरितात्) दुष्ट (अंहसः) पाप से (मा पान्तु) मुझे बचावें ।

२२—'ऐहायनाद्' इति पैप्प० सं० ।

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।
अरिष्टाः सर्ववीरायसो मा च नः किं चुनाममत् ॥ २३ ॥

भा०—हे आप्त पुरुषो ! जिस प्रकार जलों का परम आश्रय स्थान समुद्र है, वे वह कर वहां पहुंचते हैं उसी प्रकार मैं (वः) आप लोगों को (समुद्रं) समुद्र के समान सब रसों, रत्नों का आश्रय परम ब्रह्म के प्रति (प्रहिणोमि) प्रेरित करता हूं । आप लोग (स्वां योनिम्) उस ही अपने परम आश्रय को (अपीतन) प्राप्त हों, उसमें मग्न रहो । आप लोग (सर्व-हायसः) समस्त आयु के पूर्ण सौ वर्षों तक (अरिष्टाः) विना दुःख के सकुशल रहो । (नः) हमें (किंचन) कोई भी वस्तु (मा आममत्) रोग उत्पन्न न करे ।

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुःष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥
अथर्व० १४ । १ । १ । ११ ॥

भा०—(आपः) जिस प्रकार स्वच्छ जल मल को दूर कर देता है उसी प्रकार (आपः) आप्त पुरुष (अरिप्राः) स्वयं निष्पाप होकर (अस्मत्) हमारे (रिप्रम्) पाप और हृदय के मल को (अप वहन्तु) दूर करें । और वे (सुप्रतीकाः) उत्तम रूप वाले स्वच्छ हृदय, सौम्यस्वभाव (अस्मद्) हमारे (दुरितम्) दुष्टाचरण रूप (एनः) पाप को (प्र वहन्तु) बहा दें दूर करें । और वे (मलम्) हृदय के मल के समान अन्तःकरण पर संस्काररूप से जमे (दुःष्वप्न्यम्) दुःखदायी, बुरे स्वप्नों के कारण-स्वरूप कुसंस्कार को भी (प्र वहन्तु) दूर करें ।

२३–' स्वां योनिमभिगच्छत ' इति ला० श्रौ० सू० । ' अपिगच्छत ' इति आ० श्रौ० सू० ।

राजा का स्वरूप और राजा और प्रजा के कर्त्तव्य ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः ।
पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः) सर्व-व्यापक और सर्व-रक्षक परमेश्वर के तू (क्रमः) चरण-चिह्न पर चलने हारा है । अर्थात् उसके समान ही तू प्रजा का पालक है । तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक और (पृथिवी-संशितः) इस पृथिवी में सुतीक्ष्ण और (अग्नितेजाः) अग्नि के तेज से तेजस्वी है । राजा इस प्रकार अभिपूजित होकर अपना कर्त्तव्य समझे कि (अहं) मैं (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर वश करने के लिये (वि क्रमे) विशेष रूप से पराक्रम करूं । जिससे हम सब लोग (तम्) उस पुरुष को (पृथिव्याः) इस पृथिवी से (निर्भजामः) निकाल दें (यः) जो (अस्मान् द्वेष्टि) हम से द्वेष करता है और इसी कारण (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम द्वेष करते हैं (सः) वह पुरुष तो (मा जीवीत्) न जीवे और (तम्) उसको (प्राणः जहातु) प्राण भी स्वयं त्याग दे ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः ।
अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो० । ० ॥२६॥

भा०—हे राजन् ! तू (विष्णोः क्रमः, असि) विष्णु का चरण है अर्थात् परमेश्वर के समान ही प्रजापालक के अधिकार पर विराजमान है । तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (अन्तरिक्ष-संशितः) अन्तरिक्ष में प्रखर तेज से तीक्ष्णस्वभाव और (वायु-तेजाः) वायु के तेज से तेजस्वी, पराक्रमी है । इस प्रकार की प्रतिष्ठा के अनन्तर राजा संकल्प करे कि (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम् अनु) अन्तरिक्ष पर (वि क्रमे) विशेष पराक्रम करूं । उसकी

प्रजा विचार करे कि (य ,अस्मान् द्वेष्टि०) जो हम से द्वेष करे (अन्तरिक्षात् निर्भजाम०) उसको अन्तरिक्ष से निकाल दें (स मा जीवीत्०) वह न जीवे, प्राण उसको छोड़ दे ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः ।
दिवमनु वि क्रमेहं दिवस्तं० । ० ॥ २७ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (विष्णोः) विष्णु का (क्रमः) पद है उसके समान प्रजापालक है । तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (द्यौ-संशितः) द्यौः, आकाश से सुतीक्ष्ण होकर (सूर्य-तेजाः) सूर्य के समान तेज से तेजस्वी है । इस प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त कर राजा विचार करे कि (अहम्) मैं (दिवम् अनु) द्यौ पर भी (वि क्रमे) पराक्रम करूं । उसके प्रजागण सदा यही संकल्प करें कि (य. अस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें (दिवस्तं निर्भजाम) द्यौलोक के सुखों से उसे वञ्चित करें । (स. मा जीवीत् , प्राण तं जहातु) वह न जीवे और प्राण उसको त्याग दे ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः ।
दिशोनु वि क्रमेहं दिग्भ्यस्तं० । ० ॥ २८ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (विष्णोः क्रमः, असि) विष्णु परमेश्वर का क्रम= पद है अर्थात् उसके समान प्रजापालन के कार्य पर नियुक्त है । तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक और (दिक् संशितः) दिशाओं में (मनः-तेजाः) मन के तेज से तेजस्वी है । इस पद को प्राप्त करके राजा संकल्प करे कि (अहम्) मैं (दिशः, अनु वि क्रमे) दिशाओं में भी विक्रम करूं । (दिग्भ्यः तं निर्भजामहे०) दिशाओं से उसको निकाल दें जो हम से द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें (स. मा जीवेत्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

---

१. २७–' द्यौः संशितः ' इति क्वचित् पाठः ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः ।
आशा अनु वि क्रमेहमाशाभ्यस्तं० । ० ॥ २६ ॥

भा०—(विष्णोः क्रमः असि) हे राजन् ! तू विष्णु, पालक परमेश्वर के पद पर प्रजापालक के कार्य पर नियुक्त है । तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (आशा-संशितः) आशाओं में तीक्ष्णस्वभाव और (वाततेजाः) प्रचण्ड वायु के तेज से तेजस्वी है । इस पद पर नियुक्त राजा संकल्प करे कि (अहम्) मैं (आशाः अनु वि क्रमे) आशाओं में स्वयं पराक्रम करूं (आशाभ्यः तं ०) इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः ।
ऋचोनु वि क्रमेहमृग्भ्यस्तं ० । ० ॥ ३० ॥ (१५)

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः, असि) तू प्रजापालक परमेश्वर के पद पर है । तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (ऋक्-संशितः) ऋग्=विज्ञान में प्रखर ज्ञानवान् (सामतेजाः) साम के तेज से तेजस्वी है । इस प्रकार राजा प्रतिष्ठित होकर संकल्प करे कि (अहं ऋचः, अनु वि क्रमे) मैं ऋग् , मन्त्रों-विज्ञानों में विक्रम करूं और (ऋग्भ्यः तं निर्भजा०) इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः ।
यज्ञमनु वि क्रमेहं यज्ञात् तं ० । ० ॥ ३१ ॥

भा०—हे राजन् तू (विष्णोः क्रमः, असि) प्रजापालक परमेश्वर के पद पर है तू (सपत्नहा) शत्रु का नाशक है तू (यज्ञ-संशितः) यज्ञ से तीक्ष्ण शक्ति-सम्पन्न है (ब्रह्म-तेजाः) वेदमन्त्रों के तेजों से तेजस्वी है । इस पद पर प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि (अहं यज्ञम् अनुविक्रमे) मैं यज्ञ में विक्रम करूं (यज्ञात् तं) इत्यादि पूर्ववत् ।

३०–' सपत्नहा ऋक् ' इति पैप्प० ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः ।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं ० । ० ॥ ३२ ॥

भा०—हे राजन् (विष्णोः क्रमः, असि) तू विष्णु प्रजापालक के क्रम अर्थात् पद पर नियुक्त है । तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (ओषधी-संशितः) ओषधियों में तेजस्वी है (सोम-तेजाः) सोम के तेज से तेजस्वी है । इस पद पर प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि (अहं ओषधीः अनु विक्रमे) मैं ओषधियों पर पराक्रम करूं । (ओषधीभ्यः स०) इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः ।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं ० । ० ॥ ३३ ॥

भा० - हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः, असि) तू प्रजापालक प्रभु के पद पर नियुक्त है । तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (अप्सु संशितः) जलों या प्रजाओं में सुतीक्ष्ण है (वरुणतेजाः) वरुण, स्वयंवृत राजा के तेज से तेजस्वी है । इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि (अहम् अपः, अनु विक्रमे) मैं जलों या प्रजा पर भी अपना पराक्रम करूं । (अद्भ्यः तम्०) जलों, प्रजाओं से इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः ।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं ० । ० ॥ ३४ ॥

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः असि) तू प्रजापालक के पद पर है । तू (सपत्नहा) शत्रुनाशक है । तू (कृषिसंशितः) कृषि के कार्यों में सुतीक्ष्ण, बलशाली है (अन्नतेजाः) अन्न ही तेरा तेज है । इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे (अहं कृषिम् अनु वि क्रमे) मैं कृषि-कर्म के लिये उद्योग, पराक्रम करूं । प्रजाएं संकल्प करें कि (कृष्याः तं०) हम कृषि से इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः ।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ ३५ ॥

भा०—हे राजन् ! (विष्णोः क्रमः, असि) तू प्रजापालक के पद पर नियुक्त है । तू (सपत्न-हा) शत्रु का नाश (प्राण-संशितः) प्राणों में सुतीक्ष्ण (पुरुष-तेजाः) पुरुष आत्मा के तेज से तेजस्वी है । इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि (प्राणम् अनु अहम् वि क्रमे) मैं प्राण को वश करने का पराक्रम करूं । प्रजा संकल्प करे कि (प्राणात् तं०) प्राण से उसको० । इत्यादि पूर्ववत् ।

राजा को विष्णु के पद पर प्रतिष्ठित किया है । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशा, आशा, ऋक्, यज्ञ, ओषधि, अपः, कृषि और प्राण, इन ११ पदार्थों से उसको सम्पन्न करके क्रम से उसमें अग्नि, वायु, सूर्य, मन, वात, साम, ब्रह्म, सोम, वरुण, अन्न और पुरुष इनके तेज से तेजस्वी किया जाता है । राजा प्रतिष्ठित होकर उक्त ग्यारहों तेजों से तेजस्वी होकर, उक्त ग्यारह पदार्थों पर वश करता है । और प्रजाएं अपने शत्रुओं को उक्त ग्यारहों पदार्थों से वञ्चित करने में समर्थ होती हैं । स्मृतियों ने समस्त देवों की मात्राओं को एकत्र कर राजा को बनाने और 'विष्णु' अवतार मानने या 'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' का सिद्धान्त प्रकट किया है वह वेद के इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित है ।

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ ३ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥७॥ (मनु० अ० ६)

इसी प्रकार मनुने इन देवों के साथ राजा की तुलना की है। देखो मनु० अ० ६, श्लोक ३००—३११।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः
प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३६ ॥

भा०—समस्त प्रजाएं अपने राजा के साथ सहोद्योगी होकर जब विजय प्राप्त करें तो निश्चय करें कि (जितम्) जो विजय किया गया है वह (अस्माकम्) हम सबका है। (उद्भिन्नम्) जो उत्तम फल प्राप्त हुआ है वह भी हम समस्त प्रजाओं का है। राजा अपना कर्त्तव्य समझे कि मैं (विश्वाः) समस्त (अरातीः) शत्रुभूत (पृतनाः) समस्त सेनाओं को (अभि अस्थाम्) उन पर चढ़ाई करके विजय करता हूं। पुरोहित उस विजय के पश्चात् विजेता राजा का अभिषेक करे कि (अहम्) मैं (इदम्) यह (आमुष्यायणस्य) अमुक के गोत्र के (अमुष्याः पुत्रस्य) अमुक माता के पुत्र को (वर्चः) वर्चस, (तेजः) तेज (प्राणम् आयुः) प्राण और आयु को (नि वेष्टयामि) बांधता हूँ और (इदम्) इस प्रकार (एनम्) उस शत्रु को (अधराञ्चम्) नीचे (पादयामि) गिराता हूं।

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३७ ॥

भा०—मैं राजा (सूर्यस्य आवृतम् अनु) सूर्य के मार्ग या व्रत पर ही (आवर्ते) आचरण करूं। सूर्य के समान तेजस्वी होकर उसके समान शासन करूं और (दक्षिणाम् अनु आवृतम्) और सूर्य जिस प्रकार दक्षिण दिशा में तीक्ष्ण होता है उसी प्रकार मैं राजा भी दक्ष=बल-शाली होकर असह्य तेज से युक्त हो जाऊं। (सा) वह सूर्य के समान आचरण शैली (मे) मुझे (द्रविणं यच्छतु) द्रव्य सम्पत्ति प्रदान करे

और (सा) वही वृत्ति (मे) मुझे (ब्राह्मण-वर्चसम्) ब्राह्म तेज, ब्राह्मणों का तेज, विद्वानों का बल भी प्रदान करे।

सूर्य का व्रत मनुस्मृति में—

अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥

आठ मासों तक जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से जल लेता है उसी प्रकार राजा नित्य अपने राष्ट्र से कर संग्रह करे। यह 'अर्कव्रत' है।

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते ।
ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३८ ॥

भा०—(ज्योतिष्मतीः) ज्योति से सम्पन्न (दिशः) दिशाओं की तरफ़ (अभि आवर्ते) जाता हूं। (ता मे द्रविणं यच्छन्तु) वे मुझे द्रव्य प्रदान करें (ता मे ब्राह्मण-वर्चसम्) वे मुझे ब्राह्मणों, विद्वानों का तेज प्रदान करें।

सप्तऋषीनभ्यावर्ते ।
ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३९ ॥

भा०—(सप्त ऋषीन् अभि आवर्ते । ते मे द्रविणं० इत्यादि) सातों ऋषियों के समीप जाता हूं। वे मुझे द्रव्य विभूति और ब्राह्मणों का तेज प्रदान करें।

ब्रह्माभ्यावर्ते । तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४०॥ (१६)

भा०—(ब्रह्म अभि आवर्ते) ब्रह्म, वेदज्ञान के प्रति मैं आता हूं तदनुकूल आचरण करता हूं। (तत् मे द्रविणं यच्छतु, तत् मे ब्राह्मण वर्चसम्) वह मुझे द्रविण दे और वह मुझे विद्वान् ब्राह्मणों का तेज प्रदान करें।

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४१॥

भा०—(ब्राह्मणान् अभि आवेत) ब्राह्मणों की शरण जाता हूं। (ते मे दक्षिणां यच्छन्तु) वे मुझे दक्षिणा प्रदान करें (ते मे ब्राह्मणं वर्चसन्) वे मुझे विद्वान् ब्राह्मणों का तेज भी प्रदान करें।

यं व॒यं मृ॒गया॑महे॒ तं व॒धैः स्तृ॑णवामहै ।
व्यात्ते॑ परमे॒ष्ठिनो॒ ब्रह्म॒णापी॑पदाम॒ तम् ॥ ४२ ॥

भा०—(यं) जिस शत्रु का (वयं) हम लोग (मृगयामहे) पीछा करें। उसको (वधैः) हथियारों से (स्तृणवामहै) विनाश करें। (परमेष्ठिनः) परम स्थान में विराजमान प्रजापति राजा के (व्यात्ते) विशेष रूप से खुले मुख में, उसके अधिकार में (ब्रह्मणा) वेद के निर्णय के अनुसार (तम्) उसको (आ अपीपदाम) हम कैद में डाल दें। राजा के अधीन लोग जिस अपराधी को ढूंढ कर लावें, धर्मशास्त्र के अनुसार निर्णय करके उसको अपराध के अनुसार कारागार में रखें।

वै॒श्वा॒न॒रस्य॒ दंष्ट्रा॑भ्यां हे॒तिस्तं सम॑धाद॒भि ।
इ॒यं तं प्सा॒त्वाहु॑तिः स॒मिद् दे॒वी सही॑यसी ॥ ४३ ॥

भा०—(हेतिः) आयुध-वज्र आदि शस्त्र (तम्) उस दण्ड के योग्य पुरुष को (वैश्वानरस्य) समस्त प्रजा के हितकारी अग्नि के समान तेजस्वी राजा की दाढ़ों [कानूनी और पुलिस सम्बन्धी पकड़ों] से (सम् अभि धात्) भली प्रकार पकड़ ले। जिस प्रकार (आहुतिः) अग्नि में आहुति डाली जाती है उसी प्रकार अपराधी को राजा के हाथ पकड़ा देना भी राजा रूप अग्नि में आहुति देना है। (तम्) उस अपराधी को (प्सात्वा) खाकर, निगल कर, वश करके (समित्) राजा जलते काष्ठ के समान अति तेजस्वी होकर (देवी) प्रकाशमान (सहीयसी) और अधिक बलवान् हो जाता है।

१, ४३–' स्वमग्न्य दंष्ट्राभ्यां ' इति पैप्प० सं०।

कैदी के साथ व्यवहार ।

राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि ।
सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥ ४४ ॥

भा०—हे कारागार ! तू (वरुणस्य) पापों के निवारक (राज्ञः) राजा का (बन्धः) बन्धन स्थान है । (सः) वह तू (अमुष्यायणम्) जो अमुक गोत्र के, अमुक पुरुष के पोते (अमुष्याः पुत्रम्) और अमुक माता के पुत्र (अमुम्) अमुक कैदी को (अन्ने प्राणे) खाने भर के अन्न, जीवन धारण मात्र पर (बधान) बांध ले । कारागार विभाग राजा के अधीन रहे और वह राजा के कैदी को जीवन और अन्न मात्र पर बन्धन में रखे। उसे ठीक प्रकार से जीने दे और खाने को दे ।

यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु ।
तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥ ४५ ॥

भा०—हे (भुवः पते) पृथिवी के स्वामी ! (यत्) जो (ते अन्नम्) तेरा अन्न (पृथिवीम् अनु आ क्षियति) पृथिवी पर है, हे (भुवस्पते प्रजापते) प्रजा के पालक ! पृथिवी के रक्षक ! राजन् ! (त्वं) तू (तस्य) उस अन्न को (नः) हमें (सं-प्रयच्छ) प्रदान कर ।

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ ४६ ॥
सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ ४७ ॥

अथर्व० कां० ७ । ८९ । १, २ ॥

भा०—इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० [कां० ७ । ८९ । १, २] ।

परपीड़ाकारी पुरुष को दण्ड-विधान ।

यदंग्ने अद्य मिथुना शपांतो यद्वाचस्तृष्टं जनयंन्त रेभाः ।
मन्योर्मनंसः शरुव्या॒ जायंते या तयां विध्य हृदंये यातुधानान् ॥४८॥
परां शृणीहि तपंसा यातुधानान् परांग्ने रक्षो हरंसा शृणीहि ।
परार्चिषा मूरंदेवां छृणीहि परांसुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥४९॥

अथर्व० का० ८ । ३ । १२, १३ ॥

भा०—इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० [कां० ८ । ३ । १२, १३] ।

अपामंस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान् ।
सो अस्याङ्गांनि प्र शृंणातु सर्वा तन्मे देवा अनुं जानन्तु विश्वे ॥ ५० ॥ (१७)

भा०—मैं (विद्वान्) ज्ञानी, इसके अपराध को जानता हुआ (अस्मै) इसके लिये (अपाम्) आप्तजनों के बनाये (चतुर्भृष्टिम्) चारों ओर से संतापकारक (वज्रम्) पाप से निवारक दण्ड को इसके (शीर्ष भिद्याय , शिर तोड़ने के लिये (प्र हरामि) प्रहार करता हूं । (सः) वह वज्र (अस्य) इस अपराधी के (अङ्गानि) अंगों को (प्र शृणातु) अच्छी प्रकार नाश करे । (तत्) मेरे इस कार्य की (विश्वे-देवाः) सब विद्वान् पुरुष (अनु-जानन्तु) अनुज्ञा दें । राजा इस प्रकार अपराधियों के दण्ड की विद्वान् पुरुषों से अनुमति लेकर दण्ड प्रदान किया करे ।

४८–४९–क्वचित्तु ' यदग्ने इति द्वे ' इत्येव प्रतीकमुपलभ्यते ।

[६] शिरोमणि पुरुषों का वर्णन ।

बृहस्पतिर्ऋषिः । फालमणिरुत वनस्पतिर्देवता । १, ४, २१ गायत्र्याः, ३ आप्या, ५ षट्पदा जगती, ६ सप्तपदा विराट् शक्वरी, ७—९ त्र्यवसाना अष्टपदा अष्टयः, १० नवपदा धृतिः, ११, २३—२७ पथ्यापंक्तिः, १२—१७ त्र्यवसाना षट्पदाः शक्वर्यः, २० पथ्यापंक्तिः, ३१ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ३५ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती, २, १८, १९, २२, २२, २८—३०, ३२—३४ अनुष्टुभः । पञ्चत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः ।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥ १ ॥

भा०—(अरातीयोः) अदानशील, कर न देने वाले (दुर्हार्दः) दुष्ट चित्त वाले (द्विषतः) द्वेष करने हारे (भ्रातृव्यस्य) शत्रु के (शिरः) शिर को (ओजसा) प्रभाव और बल से (अपि वृश्चामि) काट लूं ।

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति ।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

भा०—(फालात्[1]) शत्रुनाशन, शत्रुओं को तितर-बितर कर देने के कार्य से (जातः) सामर्थ्यवान् होकर (अयं) यह (मणिः) शिरोमणि सेनापति (मह्यम्) मुझ राजा के लिये (वर्म) कवच या रक्षा का साधन (करिष्यति) करेगा । और वह (मन्थेन) शत्रु का मथन कर डालने वाले बल से (पूर्णः) पूर्ण बलवान् होकर और (रसेन) रस या रथ और (वर्चसा) बल तेज से सम्पन्न होकर (मा) मुझ राजा के पास (आ अगमत्) आवे ।

---

[६] २-(तृ०) ' कृमेन मन्थेन ' इति पैप्प० सं० ।

१. फल निष्पत्तौ विशरणे, इति भ्वादिः ।

यत् त्वा शिक्वः परावधीत् तक्षा हस्तेन वास्यां ।
आपस्त्वा तस्माज्जीवला पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥ ३ ॥

भा०—हे राजन् ! (यत्) जिस प्रकार (शिक्वः) चतुर (तक्षा) शिल्पी (वास्या) अपनी बसोली से लकड़ी को छीलता है उसी प्रकार (त्वा) तुझे (यत्) जब (शिक्वः) चतुर शत्रु (हस्तेन) अपने हनन साधन शस्त्र से (परावधीत्) खूब घायल कर डाले तो भी (जीवला आपः) जिस प्रकार जीवन देने वाले जल अधमरे को पुनः जिला देते हैं, उसी प्रकार (जीवला) जीव=प्राण पुनः प्राप्त कराने वाले (शुचयः) शुद्ध चित्त वाले निष्कपट (आपः) आप्तजन (शुचिम्) शुद्ध चित्त निष्कपट (त्वा) तुझको (तस्मात्) उस आघात की पीड़ा से (पुनन्तु) शुद्ध करें, शुद्ध पवित्र करें। मणिपक्ष में—हे मणे ! तुझको क्योंकि बढ़ई ने अपने हाथ से घड़ा था। अतः तुझको जीवनप्रद जल पवित्र करें।

हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्।
गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥

भा०—(अयं) यह (मणिः) शिरोमणि पुरुष (हिरण्यस्रक्) सुवर्णमाला धारण करने वाला, ऐश्वर्यवान् होकर भी (श्रद्धां) ईश्वर और धर्म-कार्य में श्रद्धा-सत्य धारणावाली बुद्धि, (यज्ञं) यज्ञ और (महः) तेज को (दधत्) धारण करे और (नः) हमारे (गृहे) घर में (अतिथिः) अतिथि होकर (वसतु) निवास करे।

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे ।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयःश्रेयश्चिकित्सतु
भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥ ५ ॥

३—(द्वि०) 'वास्या' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'यत्ते शिक्व' (तृ० च०) 'आपस्मान् सर्वं जीवला शुन्धन्तु शुचयः शुचिम्' इति आप० श्रौ० सू० ।

भा०—(तस्मै) उस शिरोमणि रूप अतिथि के लिये (घृतम्) घी, (सुराम्) जल, (मधु) मधु, शहद (अन्नम् अन्नम्) और प्रत्येक प्रकार का अन्न (क्षदामहे) खिलाते हैं। (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को (पिता इव) जिस प्रकार पिता (श्रेयः श्रेयः) परम कल्याण का ही उपदेश करता है उसी प्रकार (नः) वह भी (नः) हमारे (पिता) पिता के समान पूजनीय होकर हमें (श्रेयः श्रेयः) सब प्रकार के कल्याणमय कर्त्तव्य का ही (चिकित्सतु) ज्ञान करावे और वह (मणिः) शिरोमणि (भूयः भूयः) बार २ (श्वः श्वः) प्रत्येक दिन (देवेभ्यः) विद्वानों से शिक्षा (एत्य) प्राप्त कर हमें उपदेश दिया करे।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तम॒ग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्व-
स्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ९ ॥

भा०—(फालं) शत्रु-सेना के तोड़ने फोड़ने वाले (घृतश्चुतम्) घृत वीर्य और बल पराक्रम को दर्शाने वाले (खदिरम्) शत्रु के विनाशक (मणिम्) शिरोमणि मुख्य (उग्रम्) बलवान् तीक्ष्णस्वभाव (यम्) जिस पुरुष को ओजसे) उसके बल पराक्रम के कारण (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक ज्ञानी, मन्त्री (अबध्नात्) राजा के साथ बांधता है अर्थात् उसके कार्य के लिये प्रतिज्ञाबद्ध या नियुक्त करता है (तम्) उसको (अग्निः) शत्रुतापक, अग्निस्वभाव राजा ही (प्रति-अमुञ्चत्) धारण करता है। तभी (सः) वह शिरोमणि पुरुष (अस्मै) इस राजा के लिये (भूयः भूयः) बहुत २ प्रकार के और बार २ (आज्यं दुहे) वीर्य और पराक्रम के कार्य पूर्ण करता है। और हे राजन्! तेन) उसके बल से ही (श्वः श्वः) भावी काल में बराबर (त्वं) तू (द्विषतः) अपने शत्रुओं को (जहि) विनाश कर।

वेदज्ञ मन्त्री मुख्य २ बलवान् व्यक्तियों को प्रतिज्ञाबद्ध और वेतनबद्ध

करके रखे । राजा उनको धारण करे । वह उसके नाना पराक्रम के कार्य साधे । उनके बल पर शत्रुओं का नाश करे ।

'अबध्नात्'—बन्ध धातु का प्रयोग वेतन पर नियुक्त करने अर्थ में प्रयुक्त है जैसे 'बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।' भाषा में 'बांध लेना' कहाता है ।

'प्रत्यमुञ्चत्'—पहनने या धारण करने अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे— 'तमग्रीव प्रत्यमुञ्चत्' कदाचित् उन वीर शिरोमणियों को फली या शूली के आकार का कोई चिह्न भी धारण कराया जाता हो जिसके कारण मणि शब्द से मणिवान् का ग्रहण किया गया है ।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं० । तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् ।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ ७ ॥

भा०—(यम् फाल घृतश्चुतं=खदिर उग्र मणिं बृहस्पति ओजसे अबध्नात्) शत्रु सेना के तोड़ने फोड़ने वाले बल पराक्रम के कर्त्ता, शत्रु के विनाशक, तीक्ष्णस्वभाव, बलवान् शिरोमणि पुरुष को (बृहस्पति) वेदज्ञ विद्वान्, महामात्य राजा के कार्य में बांधता है (तम् इन्द्र ओजसे वीर्याय कम् प्रति अमुञ्चत) उसको इन्द्र ऐश्वर्यशील राजा अपने तेज और वीर्य की वृद्धि के लिये ही धारण करता है । (स अस्मै भूयो भूय बलम् इद् दुहे) वह उस राजा के लिये बराबर बल को ही बढ़ाता है । (तेन अ अ त्वं द्विषत जहि) उसके बल से तू हे राजन् ! भविष्य में अपने शत्रुओं को मारने में समर्थ हो ।

यमब० । तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे ।
सो अस्मै चक्ष इद् दुहे भूयो० ॥ ८ ॥

८—(प०) 'प्रत्यमुञ्चत द्रविणायरमायरम् । सो अस्मै मदित' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यम् अवध्नात्० इत्यादि) पूर्ववत्। (तं सोमः) उस शिरो-मणि पुरुष को सोम स्वरूप सबका प्रेरक राजा (महे) अपने बड़े महत्त्व-पूर्ण कार्य (श्रोत्राय) कान के लिये अर्थात् राष्ट्र की सब शिकायतों को सुनने के लिये और (महे चक्षसे) चक्षु अर्थात् राष्ट्र के निरीक्षण के महत्व-पूर्ण कार्य के लिये (प्रति अमुञ्चत) धारण करता है। (सः अस्मै वर्च इद् दुहे) वह राजा के वर्चः=तेज को बढ़ाता है। (भूयो भूयः श्वः श्वः तेन द्विषतो जहि) हे राजन् उसके बल पर तू भविष्य में अपने द्वेषकारी लोगों के मारने में समर्थ हो। उत्तम शिरोमणि पुरुषों को राजा वेतन पर राष्ट्र की प्रजाओं के परस्पर के विवादों को श्रवण करने और व्यवस्था के निरीक्षण के लिये नियुक्त करे। इससे राजा का ही तेज बढ़ता है, शत्रु नष्ट होते हैं।

यमब॑०। तं सूर्यः॒ प्रत्य॑मुञ्चत॒ तेने॒मा अ॑जयद् दिशः॑।
सो अ॑स्मै॒ भूति॒मिद् दु॑हे भूयो॑० ॥ ९ ॥

भा०—(यम् अवध्नात्० इत्यादि) पूर्ववत्। (तं) उस शिरोमणि पुरुष को (सूर्यः) सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी राजा (प्रत्यमुञ्चत्) स्वयं धारण करता है (तेन इमा दिशः अजयत्) उसके बल पर इन समस्त दिशाओं पर जय प्राप्त करता है। (सः) वह शिरोमणि पुरुष (भूतिम् इत्) भूति, राज्य और राष्ट्र की सम्पत्ति को ही (भूयः भूयः दुहे) बराबर अधिकाधिक बढ़ाया करता है। (तेन श्वः श्वः द्विषतः जहि) हे राजन्! उसके बल पर ही तू भविष्य में सदा द्वेष करने हारे शत्रुओं को मारने में समर्थ हो। अर्थात् राजा देशान्तर विजय के कार्य के लिये भी उत्तम उत्तम पुरुषों को वेतन पर नियुक्त करे। वे उसकी राष्ट्र सम्पति को बढ़ावें और उनके बल पर राजा शत्रुओं को दण्ड दे।

यमब॑ध्नाद् बृह॒स्पति॑र्म॒णिं फा॒लं घृ॑त॒श्चुत॑मु॒ग्रं ख॑दि॒रमोज॑से।
तं बि॑भ्रच्च॒न्द्रमा॑ म॒णिमसु॑राणां॒ पुरो॑जयद् दान॒वानां॒ हि॑र॒ण्ययीः॑।

सो अस्मै त्रिषुभिद् दुहे भूया० ॥ १० ॥ (१८)

भा०— यम् अबध्नात्० इत्यादि। पूर्ववत्। (तं मणिम्) उस श्रेष्ठ नररत्न को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (चन्द्रमा) प्रजा को सुखी करने हारा राजा (असुराणां) असुरों और (दानवानाम्[1]) प्रजा के पीड़ाकारी दानवों के (हिरण्ययी) लोह की या सुवर्ण आदि धन सम्पत्ति से भरी हुई (पुरः) नगरियों को (अजयत्) विजय करता है। (सः) वह नररत्न (अस्मै भूयो भूयः त्रियम् इत् दुहे) इस राजा के धन ऐश्वर्य को ही अधिकाधिक बढ़ाता है। (तेन श्व श्व द्विषत जहि) उसके बल पर भविष्य में भी राजा अपने शत्रुओं को विनाश करने में समर्थ होता है।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूया० ॥ ११ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) वेदज्ञ विद्वान् बृहस्पति के समान राष्ट्र का महामन्त्री (यम्) जिस (मणिम्) पुरुष-रत्न को (आशवे) अति शीघ्रकारी (वाताय) प्रचण्ड वात के समान तीव्र वेग के कार्य सम्पादन करने के लिये (अबध्नात्) कार्य पर वेतन द्वारा नियुक्त करता है (सः) वह अस्मै) राजा के लिये (भूयो भूयः) अधिकाधिक (वाजिनम्) वेगवान् अश्व आदि यानों और रथों को (दुहे) तैय्यार कर देता है। (तेन श्व श्व द्विषत जहि) हे राजन्! ऐसे नररत्न के बल पर तू भविष्य में बराबर शत्रुओं का नाश कर।

राजा वेगवान् रथों के उत्पन्न करने हारे शिल्पवेत्ता विद्वानों को नियुक्त करे। वे राज्य में सहस्रों वेगवान् रथों को उत्पन्न करें।

१०–' सो अस्मै तेन ' इति पैप्प० सं०।

। १ दाप लवने भ्वादि.।

यमर्वं० । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनांभि रक्षतः ।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयों० ॥ १२ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) वेदज्ञ बृहस्पति पद पर स्थित महामात्य (आशवे वाताय) आशुगामी प्रचण्डवान् जिस प्रकार मेघ को समुद्र से लाकर पृथिवी पर वर्षा देता है उसी प्रकार अपने प्रबल यन्त्रों से जल-धाराओं और नदियों नहरों को बनाने के कार्य के लिये (यम् मणिम्) जिस नर-रत्न को (अबध्नात्) राष्ट्र के कार्य में नियुक्त करता है । (तेन) उस नर-रत्न के बल से (अश्विनौ) राष्ट्र के नर नारी लोग (इमां कृषिम्) इस अन्न की खेती को (अभि रक्षतः) रक्षा करते हैं । (सः) वही नर-रत्न (भिषग्भ्याम्) दोनों प्रकार के ओषधि-चिकित्सक और शल्य-चिकित्सक के लिये (भूयोभूयः) अधिकाधिक (महः) महत्वपूर्ण पदार्थ (दुहे) उत्पन्न करता है । हे राजन् (तेन श्वः श्वः) उससे भविष्य में तू (द्विषतः जहि) शत्रुओं का विनाश कर ।

यमर्वं० । तं बिभ्रंत् सविता मणिं तेनेदमंजयत् स्वः ।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयों० ॥ १३ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) पूर्ववत् । (तं मणिं) उस नर-रत्न को (सविता बिभ्रत्) सविता धारण करके सूर्य के समान तेजस्वी राजा (तेन) उसके बल से (इदम्) इस (स्वः) आकाश लोक को (अजयत्) विजय कर लेता है । (सः) वह (अस्मै) इस राजा के लिये (सूनृताम्) शुभ सत्यवाणी या कीर्त्ति को (भूयो भूयः दुहे) अधिकाधिक उत्पन्न करता है । हे राजन् ! (तेन श्वः श्वः द्विषतो जहि) उसके बल से भविष्य में शत्रुओं के विजय में समर्थ हो ।

प्रचण्ड वेगवान् यानों के कर्त्ता शिल्पज्ञ के द्वारा आकाशचारी विमानों से राजा विशाल आकाश पर वश करे और उस बल से यश कीर्त्ति प्राप्त करके शत्रुओं को वश करे ।

यमर्ब० । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः ।
स आभ्योमृतमिद् दुहे भूयों० ॥ १४ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) पूर्ववत् । (तं मणिं आपः बिभ्रतीः) इस नर-रत्न को अपने भीतर धारण करने हारी 'आपः' आप्त प्रजाएं जल धाराओं के समान (सदा) निरन्तर (अक्षिताः) बिना विनाश के निरन्तर (धावन्ति) चला करती हैं । (सः) वह नर-रत्न (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (भूयो भूयः) अधिकाधिक (अमृतम् इत् दुहे) अमृत या दीर्घायु या अमर जीवन को पूर्ण करता है । (तेन त्वं द्विषतः श्वः श्वः जहि) इत्यादि पूर्ववत् ।

यमर्ब० । तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ।
सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयों० ॥ १५ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) पूर्ववत् । (तं मणिम्) उस शिरोमणि (शम्भुवम्) सुखकारी नर-रत्न को (वरुणः राजा) राजा वरुण (प्रत्यमुञ्चत्) मणि के समान धारण करता है । (सः, अस्मै) वह इस राजा को प्रतिनिधि होकर (सत्यम् इत् दुहे) सत्य, न्याय को ही (भूयो भूयः) अधिकाधिक बढ़ाता है (तेन द्विषतः श्व श्वः जहि० इत्यादि) पूर्ववत् ।

यमर्ब० । तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान् युधाजयन् ।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयों० ॥ १६ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) पूर्ववत् । (तं मणिम्) उस नर-रत्न पुरुष को (बिभ्रतः) अपने बीच धारण करते हुए (देवाः) विद्वान् पुरुष (युधा) अपने युद्ध करने के सामर्थ्य से (सर्वान् लोकान्) समस्त लोकों को (अजयन्) विजय कर लेते हैं । (सः) वह नरमणि ही (एभ्यः) उन देव विद्वान् पुरुषों के लिये (भूयः भूयः) अधिकाधिक

(जितिम् इत् दुहे) विजयों को करता है । 'तेन श्वः श्वः०' इत्यादि पूर्ववत् ।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम् ।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १७ ॥

(यम् अबध्नाद्० इत्यादि) पूर्ववत् । (शम्भुवम्) कल्याण और सुख के उत्पादक (तम् इमं मणिम्) इस नर-रत्न को (देवताः) दिव्य शक्तियों और दिव्य पदार्थ स्वयं (प्रत्यमुञ्चन्त) धारण करते हैं । (सः) वह नर-रत्न (आभ्यः) उन दिव्य पदार्थों के द्वारा (विश्वम् इद्) समस्त संसार के सारे पदार्थ को (भूयो भूयः) अधिकाधिक (दुहे) प्राप्त करता है । (तेन श्वः श्वः त्वं० इत्यादि) पूर्ववत् ।

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत ।
संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ १८ ॥

भा०—(ऋतवः) ऋतुगण (तम्) उसको (अबध्नत) अपने में बांधते हैं, धारण करते हैं, (आर्तवाः तम् अबध्नत) 'आर्त्तव' उसको बांधते, धारण करते हैं । (तं) उस नर-रत्न को (संवत्सरः) संवत्सर भी बांधकर (सर्वं भूतं) समस्त प्राणिसमूह को (वि रक्षति) विविध प्रकार से पालन करता है । अर्थात् ऋतु, ऋतु के भाग और संवत्सर=वर्ष जिस प्रकार सूर्य को धारण करते हैं और प्रजा का पालन करते हैं उसी प्रकार प्रजाएं, अधिकारी-गण और राजा भी ऐसे नर-रत्नों को स्वयं अपने राष्ट्र में नियुक्त करके नाना प्रकार से प्राणियों का पालन करता है ।

(१) 'ऋतवः'—याः षड्विभूतयः ऋतवस्ते । जै० उ० १ । २१ । १ ॥ तद् यानि २ भूतानि ऋतवस्ते । श० ६ । १ । ३ । ८ ॥ अग्नयो वा

१७–(च०) 'प्रत्यमुञ्चन्त' इति क्वचित्कः पाठः ।

ऋतवः । श० ६ । ७ । १ । १६ ॥ ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य । ऐ० १ । १३ ॥ ऋतवः पितरः । कौ० ५ । ७ ॥ ऋतवो होत्राशसिनः । कौ० २८ । ८ ॥ ऋतवो वा होत्राः । गो० पू० ४ । ३ ॥ सदस्या ऋतवोऽभवन् । तै० ३ । १२ । ६ ४ ॥ ऋतवो वै विश्वेदेवाः । श० ७ । १ । १ । ४३ ॥

(२) 'ऋतव्याः '—ऋतव एव यद् ऋतव्याः । श० ८ । ७ । १ । १ ॥ क्षत्रं वा ऋतव्याः विश इमा इतरा इष्टकाः । श० ८ । ७ । १ । २ ॥ इमे वै लोका ऋतव्याः । श० ८ । ७ । १ । १२ ॥

(३) 'संवत्सरः '—य स भूतानां पतिः संवत्सरः सः । श० ६ । १ । ३ । ८ ॥ संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः । श० १० । २ । ६ । १ ॥ संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः । श० १ । ५ । १ । १६ ॥ संवत्सरो वै सोमो राजा । श० ५ । ४३ । ७ ॥ सुमेकः संवत्सरः स्वेको ह वै नामैतद् यत् सुमेक इति । श० १ । ७ । २ । २६ ॥ संवत्सरो वै समस्त सहस्रवान् स्तोकवान् पुष्टिमान् । ऐ० २ । ४१ ॥

(१) छः विभूतियें, समस्त प्राणी विद्वान् पुरुष राजा के राजभाई अर्थात् राजशासन के सहयोगी अधिकारी गण, वृद्ध पितागण, यज्ञिक विद्वान् सदस्य गण 'ऋतु' कहाते है। (२) क्षत्रिय सैनिकगण 'ऋतव्य' हैं या समस्त राष्ट्रवासी लोग ही ऋतव्य हैं। (३) प्राणियों का पालक, प्रजापति, समस्त लोगों का हितकारी, प्रजापालक राजा सब में उत्तम एकाधिपति, बलवान्, पुष्टिमान् पुरुष 'संवत्सर' है। अध्यात्म क्षेत्र में ऋतु, ऋतव्य-प्राण, संवत्सर पुरुष शरीर और मध्य=आत्मा।

अन्तर्देशा अभवन्त प्रदिशस्तमवन्त ।
प्रजापतिसृष्टो ब्राह्मणीप्रेतो मे नरा अहं ॥ १६ ॥

भा०—(अन्त देशा) अन्तराल दिशाएं और (प्रदिश) मुख्य चार दिशाएं भी (तम्) उस नर रत्न को सूर्य के समान (अभवन्त)

गले में मणि के बने हार के समान धारण करती हैं। (प्रजापति सृष्टः) प्रजापालक परमेश्वर का उत्पन्न किया हुआ वह (मणिः) नर-शिरोमणि पुरुष (मे) मेरे से (द्विषतः) द्वेष करने हारे शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (अकः) कर देता है।

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत ।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २० ॥ (१९)

भा०—(अथर्वाणः, अथर्व निश्चल स्थिरमति, पुरुष और (आथर्वणाः) अथर्व वेद के विद्वान् गण उस नर-रत्न को अपने गले में हार के समान (अबध्नत) धारण करते हैं। (तैः) उनसे (मेदिनः) परिपुष्ट (अङ्गिरसः) विज्ञानवान पुरुष (दस्यूनां) प्रजा के विनाशक दुष्ट डाकू लोगों के (पुरः) गढ़ों को (बिभिदुः) तोड़ डालते हैं। हे राजन् (तेन) उससे (त्वं) तू (द्विषतः) अपने शत्रुओं को (जहि) विनाश कर।

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत् ।
तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥

भा०—(तं) उसको (धाता) धारण करने और उत्पन्न करने वाला विधाता प्रभु स्वयं (प्रत्यमुञ्चत) धारण करता है। (सः) वह (भूतम्) इस चराचर को (वि अकल्पयत्) नाना प्रकार से उत्पन्न करता या नाना प्रकार से विभक्त करता है। (तेन) उस नरश्रेष्ठ पुरुष के बल पर हे राजन्! तू (द्विषतः जहि) शत्रुओं का नाश कर।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥

२१–' सुभूतान्यकल्पयत् ' इति पैप्प० सं०।
२२–' असुरक्षितिम् ' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरों के विनाशकारी पुरुष को (बृहस्पतिः) वेदज्ञ महामात्य (देवेभ्यः) देव विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों के लिये (अबध्नात्) राष्ट्र में नियुक्त करता है (मा) मुझ राजा के पास (रसेन) अपने बल और (वर्चसा) तेज के (सह) साथ (सः, अयं मणिः) वह यह नर-शिरोमणि या सर्व बाधा-निवारक रूप में (आअगमत्) प्राप्त हो ।

यमबं० । स मायं मणिरागमत् सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥ २३ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) असुरों के विनाशक जिस पुरुष को वेदज्ञ महामात्य श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करता है (सः अयं) वह यह (मणिः) नररत्न (गोभि अजाविभिः सह) गौओं, बकरियों और भेड़ों के साथ और (प्रजया सह) प्रजा के साथ या (आगमत्) मुझ राजा को प्राप्त हो ।

यमबं० । स मायं मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) असुरों के विनाशक जिस पुरुष को वेदज्ञ विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे (स. अय मणि) वह नरश्रेष्ठ पुरुष (व्रीहियवाभ्यां) धान्य और जौ आदि अन्नों और (महसा भूत्या सह) बड़ी भारी धन सम्पत्ति के साथ (मा) मुझ राजा को (आअगमत्) प्राप्त हो ।

यमबं० । स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥ २५ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) असुरों के विनाशक जिस पुरुष को वेदज्ञ विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे (सः अयं मणि)

वह नरश्रेष्ठ (मधोः घृतस्य धारया) मधुर पदार्थों और घृत की धारा और (कीलालेन) अमृत या जल या परम अन्न रस के साथ (मा) मुझ राजा को (आ-अगमत्) प्राप्त हो ।

यमब॑ध्नात्० । स मा॒यं म॒णिरा॑ग॑मदू॒र्जया॒ पय॑सा स॒ह द्रवि॑णेन श्रि॒या स॒ह ॥ २६ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) असुरों के नाशक जिस पुरुष को वेदज्ञ विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे (सः अयं मणिः) वह यह नरश्रेष्ठ (ऊर्जया पयसा सह) अन्न की बलकारी सारवान् शक्ति और पुष्टिकारक दूध और जल के साथ और (द्रविणेन) धन सम्पत्ति और (श्रिया सह) लक्ष्मी के साथ (मा आ-अगमत्) मुझ राजा को प्राप्त हो ।

यमब॑ध्नात्० । स मा॒यं म॒णिरा॑ग॑मत् तेज॑सा॒ त्विष्या॑ स॒ह यश॑सा की॒र्त्या॑ स॒ह ॥ २७ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्०) पूर्ववत् । (सः अयं मणिः) वह नर यह श्रेष्ठ (तेजसा) तेज, (त्विषा) कान्ति, (यशसा कीर्त्या) यश और कीर्त्ति के (सह) साथ (मा आ-अगमत्) मुझ राजा को प्राप्त हो ।

यमब॑ध्ना॒द् बृह॒स्पति॑र्दे॒वेभ्यो॒ असु॑रक्षि॒तिम् ।
स मा॒यं म॒णिरा॑ग॑मत् सर्वा॑भि॒र्भूति॑भिः स॒ह ॥ २८ ॥

भा०—(यम् अबध्नात्० इत्यादि) पूर्ववत् । (सः अयं मणिः) वह यह नरश्रेष्ठ (सर्वाभिः भूतिभिः सह) समस्त कल्याण सम्पदाओं के साथ (मा आ-अगमत्) मुझ राजा को प्राप्त हो ।

तमि॒मं दे॒वता॑ म॒णिं म॒ह्यं द॑दतु पु॒ष्टये॑ ।
अ॒भि॒भुं क्ष॑त्र॒वर्ध॑नं सपत्न॒दम्भ॑नं म॒णिम् ॥ २९ ॥

२८–' ओजसा तेजसा सह ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अभिभुम्) सबको अपने सामर्थ्य से दबाने वाले (क्षत्र-वर्धनम्) क्षत्र-बल को बढ़ाने वाले (सपत्न-दम्भनम्) शत्रुओं के विनाशक, स्तम्भनशील, सर्वाधार (तम् इमम् मणिम्) उस नरश्रेष्ठ पुरुष को (देवता.) समस्त देवगण (पुष्ट्यै) राज्य की पुष्टि के लिये (मह्यम्) मुझे (ददतु) प्रदान करें ।

ब्रह्म॑णा तेज॑सा स॒ह प्रति॑ मुञ्चामि मे शि॒वम् ।
अ॒स॒प॒त्नः स॑पत्न॒हा स॒पत्ना॒न् मेध॑राँ अकः ॥ ३० ॥ (२०)

भा०—मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदमय या ब्राह्मणों के ज्ञानमय (तेजसा) तेज के साथ (शिवम्) उस कल्याणमय नरश्रेष्ठ को (प्रति-मुञ्चामि) धारण करूं । वह (सपत्नहा) शत्रुनाशक (असपत्न.) शत्रुरहित, अजातशत्रु, नरश्रेष्ठ (सपत्नान्) शत्रुओं को (मे अधरान्) मेरे नीचे (अक) करे ।

उत्त॑रं द्वि॒ष॒तो माम॒यं म॒णिः कृ॑णोतु देव॒जाः ।
यस्य॑ लो॒का इ॒मे त्र॒यः पयो॑ दु॒ग्धमु॒पास॑ते ।
स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मू॒र्ध॒तः ॥ ३१ ॥

भा०—(अयं) यह (मणि·) नर-रत्न, शत्रुस्तम्भक पुरुष (देवजा·) देव विद्वानों द्वारा सामर्थ्यवान् एवं अधिकार सत्ता को प्राप्त होकर (माम्) मुझे (द्विषतः) शत्रुओं के (उत्तरम्) ऊपर, उनसे ऊंचा (कृणोतु) करे और (यस्य) जिसके (दुग्धम्) उत्पन्न किये या दुहे गये प्राप्त किये हुए ऐश्वर्य को (इमे) ये (त्रयः) तीनों (लोकाः) लोक, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीनों श्रेणियों के प्राणी (उपासते) भोग करते हैं । (सः) वह (अयम् मणि.) यह नरोत्तम परम पुरुष (श्रैष्ठ्याय) सबसे श्रेष्ठ होने के कारण (मूर्धतः माम् अधिरोहतु) मेरे भी शिरोभाग पर पूज्य होकर रहे ।

३१–(प०) 'स त्वायमभिरक्षतु' इति पैप्प० सं० ।

यह मन्त्र सूक्त में आये 'मणि' शब्द के वाच्यार्थ का स्वरूप दर्शाता है।

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३२ ॥

भा०—(यं) जिस नरश्रेष्ठ पुरुष के आश्रय पर (पितरः) गुरु, माता, पिता, आचार्य आदि पिता के समान पालक पूजनीय पुरुष और (मनुष्याः) मननशील जीव (सर्वदा) सब कालों में (उप-जीवन्ति) अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं (सः मणिः) वह शिरोमणि पुरुष (श्रैष्ठ्याय माम् मूर्धतः आधिरोहतु) सर्वश्रेष्ठ होने के कारण मेरे भी शिरोभाग पर अर्थात् मुझ से भी ऊंचे पद पर रहे।

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।
एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ॥ ३३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (उर्वरायाम्) उर्वरा, उत्कृष्ट भूमि में (फालेन) हल की फाली से (कृष्टे) हल चला लेने पर बोया हुआ (बीजम्) बीज (रोहति) खूब अच्छी प्रकार उगता है और फलता है (एवा) उसी प्रकार (मयि) मुझ में (प्रजा पशवः अन्नं वि रोहतु) प्रजाएं, पशु और अन्न विशेष प्रकार से उत्पन्न हों और समृद्ध हों। ' फाल मणि ' का रहस्यार्थ इस मन्त्र में स्पष्ट कर दिया है।

यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।
तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

भा०—हे (यज्ञवर्धन) यज्ञ राष्ट्र की व्यवस्था-संगति को निरन्तर बढ़ाने हारे (मणे) शिरोमणे ! (त्वां) तुझ (शिवम्) शिव, कल्याणकारी को (यस्मै) जिसको (प्रति अमुचम्) मैं धारण करता हूं। हे (शतदक्षिण मणे) सैकड़ों शक्तियों से सम्पन्न शिरोमणे ! (तं) उस राजा को (श्रैष्ठ्याय) सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कराने के लिये (जिन्वतात्) समर्थ हो।

एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः ।
तस्मिन् विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे
जातवेदसि ब्रह्मणा ॥ ३५ ॥ (२१)

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! शत्रुतापकारिन् राजन् ! (समाहितम् इध्मम् जुषाण) जिस प्रकार आग में रखे काष्ठ को प्राप्त करके अग्नि घृत चरु के होमों द्वारा दीप्त हो जाती है उसी प्रकार (एतं) इस (समाहितम्) भली प्रकार तुझ में स्थापित (इध्मम्) दीप्तियुक्त राज्यपद को (जुषाण) प्राप्त करता हुआ (होमैः) बलि, राष्ट्र कर रूप द्रव्यादानों से (प्रति हर्य) समृद्ध हो । (ब्रह्मणा) वेद के विद्वान् ब्राह्मणवर्ग या ब्रह्म बल से (तस्मिन्) उस (जात-वेदसि) जातवेदा, ऐश्वर्यवान् राजा के (समिद्धे) अति प्रदीप्त होजाने पर हम राष्ट्रवासी जन (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (सुमतिम्) उत्तम ज्ञान (प्रजाम्) उत्तम सन्तान और (चक्षुः) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों और (पशून्) गौ, अश्व आदि पशुओं को (विदेम) प्राप्त करें ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् , पञ्चाशीतिश्च ऋचः]

[७] ज्येष्ठ ब्रह्म या स्कम्भ का स्वरूप वर्णन ।

अथर्वा क्षुद्र ऋषिः । मन्त्रोक्तः स्कम्भः अध्यात्मं वा देवता । स्कम्भ सूक्तम् ॥
१ विराड् जगती, २, ८ भुरिजौ, ७, १३ परोष्णिक्, ११, १५, २०, २२, ३७ ३९ उपरिष्टात् ज्योतिर्जगत्यः, १०, १४, १६, १८ उपरिष्टाद्बृहत्यः, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, २१ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, २३, ३० ३७, ४० अनुष्टुभः, ३१ मध्येज्योतिर्जगती, ३२, ३४, ३६ उपरिष्टाद् विराड् बृहत्यः, ३३ परा विराड् अनुष्टुप्, ३५ चतुष्पदा जगती, १८, ३–६, ९, १२, १९, ४०,

४२–४३ त्रिष्टुभः, ४१ आर्षी त्रिपाद् गायत्री, ४४ द्विपदा वा पञ्चपदा निचृत् पदपंक्तिः । चतुश्चत्वारिंशदृचं सूक्तम् ॥

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥१॥

भा०—(अस्य) इसके (कस्मिन् अंगे) किस अंग में (तपः) 'तप' (अधि तिष्ठति) विराजता है ? (अस्य) और इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (ऋतम् अधि आ-हितम्) 'ऋत' धरा है ? (अस्य) इसके किस भाग में (व्रतं तिष्ठति) व्रत बैठा है और किस अङ्ग में (श्रद्धा) श्रद्धा स्थित है ? और (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (सत्यम् प्रतिष्ठितम्) सत्य प्रतिष्ठित है ?

कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

भा०—(अस्य) इस स्कम्भ के (कस्मात् अंगात्) किस अङ्ग से (अग्निः) अग्नि (दीप्यते) प्रकाशित होता है ? (मातरिश्वा) मातरिश्वा, वायु (कस्मात् अंगात्) किस अङ्ग से (पवते) बहता है ? (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (महः स्कम्भस्य) महान् स्कम्भ=ज्येष्ठ ब्रह्म, सर्वाश्रय परम आत्मा के (अङ्गम्) स्वरूप को (मिमानः) प्रकट करता हुआ (कस्मात् अंगात्) किस अङ्ग से (अधि वि मिमीते) प्रकट होता है ?

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥

[७] १–(प्र०) 'तपोऽस्य' इति पैप्प० सं० ।

२–(च०) 'स्कम्भस्य महद् मिमानो' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अस्य) इसके (कस्मिन् अंगे) किस अङ्ग में (भूमिः) भूमि (तिष्ठति) विराजती है ? (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (तिष्ठति) विराजमान है ? (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (निहिता द्यौः तिष्ठति) धारी द्यौः विराजती है ? और (दिवः उत्तरम्) द्यौलोक से भी परे का भाग उस 'स्कम्भ' के (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग के (तिष्ठति) स्थित है ?

क्व॑ प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अ॒ग्निः क्व॑ प्रेप्सन् पवते मात॒रिश्वा॑ ।
यत्र॒ प्रेप्स॑न्तीरभि॒यन्त्या॒वृतः॑ स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ ४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! बतला ? (ऊर्ध्वः अग्निः) ऊपर विराजमान वह महान् अग्नि, सूर्य (क्व प्रेप्सन्) किस में अपनी अभिलाषा बांधे, या कहां जाना चाहता हुआ (दीप्यते) प्रकाशित हो रहा है ? और (मातरिश्वा) वायु (क्व प्रेप्सन्) कहां पहुंचने की अभिलाषा से (पवते) निरन्तर बहता है ? (आवृतः) ये सब मार्ग (क्व प्रेप्सन्तीः) कहां पहुंचना चाहते हुए (अभि यन्ति) चले चले जा रहे हैं ? हे विद्वन् ! तू (तं) उस (स्कम्भम्) सर्व जगत् के आश्रयभूत, स्तम्भ या 'स्कम्भ' का (ब्रूहि) उपदेश कर (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा पदार्थ है ?

क्वा॑र्धमा॒साः क्व॑ यन्ति॒ मासाः॑ संवत्स॒रेण॑ स॒ह सं॑विदा॒नाः ।
यत्र॒ यन्त्यृ॒तवो॒ यत्रा॑र्त॒वाः स्क॒म्भं तं० ॥ ५ ॥

भा०—(अर्ध-मासाः) आधे मास, पक्ष और (मासाः) मास (सं-वत्सरेण) संवत्सर के (सह) साथ (संविदानाः) सहमति या संगलाभ करके (क्व यन्ति) कहां जा रहे हैं ? ये (ऋतवः) ऋतु और (आर्तवाः) ऋतु के भाग (यत्र यन्ति) जहां जाते हैं, हे विद्वन् ! (तं) उस सर्वाश्रय (स्कम्भम्) स्कम्भ का (ब्रूहि) उपदेश कर (सः कतमः स्वित् एव) वह कौन सा पदार्थ है ?

क्वं प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं० ॥ ६ ॥

भा०—(विरूपे) विपरीत रूप वाले, काले और गोरे रंग के, तमः और प्रकाशस्वरूप (युवती) मानो दो नर-नारी के समान परस्पर मन्त्रणा करते हुए (अहोरात्रे) दिन और रात (क्व प्रेप्सन्ती) कहां पहुंचने की अभिलाषा करके (द्रवतः) जारहे हैं ? (आपः) ये जलधाराएं, नदियें (यत्र) जहां भी (प्रेप्सन्तीः) पहुंचने की अभिलाषा करती हुई (अभि यन्ति) चली जा रही हैं हे विद्वन् ! (तं स्कम्भम्) जगत् के उस परम आश्रयभूत 'स्कम्भ'=खम्भे का (ब्रूहि) उपदेश कर (कतमः स्विद् एव सः) वह कौनसा सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है ?

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

भा०—(प्रजापतिः) समस्त प्रजाओं के पालक परमेश्वर ने (यस्मिन्) जिस परम आश्रय पर (सर्वान् लोकान्) समस्त लोकों को (स्तब्ध्वा) थाम कर (अधारयत्) धारण किया है हे विद्वन् ! (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस 'स्कम्भ' महान् जगत्-स्तम्भ का उपदेश कर। (कतमः स्विद् एव सः) वह कौनसा पदार्थ है ?

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ॥८॥

भा०—हे विद्वन् ! (प्रजापतिः) प्रजाओं के पालक परमात्मा प्रजापति ने (यत्) जो (परमम्) परम, सबसे उत्कृष्ट, सात्विक या द्यौलोक, (यत् च अवमम्) सबसे निकृष्ट तामस या भूलोक और (यच्च मध्यमम्) जो मध्यम राजस या बीच का अन्तरिक्ष लोक (विश्वरूपं) विश्वरूप, समस्त

७-'यस्मिन् स्तब्ध्वा' इति पैप्पलाद पाठः।

ब्रह्माण्ड (ससृजे) बनाया है (तत्र) उसमें (स्कम्भः) वह परम आश्रय स्तम्भ रूप 'स्कम्भ', ज्येष्ठ ब्रह्म (कियता) कितने अंश से (प्र विवेश) प्रविष्ट है और (यत्) जो भाग (न प्रविशत्) उसमें प्रविष्ट नहीं है (तत्) वह (कियत् बभूव) कितना शेष है ?

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥९॥

भा०—वह 'स्कम्भ' (भूतम्) भूतकाल में (कियता) कितने अंश से (प्रविवेश) प्रविष्ट है ? और (भविष्यत्) भविष्यत् काल में (अस्य) इस स्कम्भ रूप ज्येष्ठ ब्रह्म का (कियत्) कितना अंश (अनु आ-शये) व्याप्त है। और (एकम् अङ्गम्) एक ही अंग को (यद्) यदि (सहस्रधा) सहस्रों रूपों में (अकृणोत्) प्रकट किया है तो (तत्र) वहां (स्कम्भः) स्कम्भ, सर्वाश्रय ज्येष्ठ ब्रह्म (कियता) कितने अंश से (प्र विवेश) प्रविष्ट है।

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असंच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१०॥(२२)

भा०—(यत्र) जिसके आश्रय पर (लोकान् च) समस्त लोकों और (कोशान् च) समस्त हिरण्यगर्भ आदि भुवनों को (आपः) समस्त विश्व के मूल, कारणरूप, प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु और (जनाः) विद्वान् जन (ब्रह्म) ब्रह्म, सबसे महान् वेदज्ञान को भी आश्रित जानते हैं। और (यत्र) जहां (असत् च) असत्, अव्याकृत जगत् और (अन्तः) जिसके भीतर (सत् च) सत्, व्याकृत जगत् भी विद्यमान है (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस स्कम्भ, सर्वाश्रय, ज्येष्ठ ब्रह्म का उपदेश कर। (सः कतमः स्विद् एव) वह इन समस्त पदार्थों में कौनसा है ? अथवा (यत्र) जहां (असत् च) असत् अव्याकृत प्रकृति विद्यमान है और (अन्तः) भीतर जो (सत् च) स्वयं सत् स्वरूप है (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस जगदाधार, परमेश्वर स्कम्भ के रूप को बतला ?

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ ११ ॥

भा०—(यत्र) जिसके आश्रय पर (तपः) तप, पराक्रम करके (उत्तरम्) उत्कृष्ट (व्रतम्) व्रत, आचरण को (धारयति) धारण करता है और (यत्र च) जहां (ऋतम्) ऋत परम सत्य (श्रद्धा च) और श्रद्धा, (आपः) आपः, समस्त जीवगण या प्रकृति का सूक्ष्म परमाणु या आप्त परम-पद में प्राप्त मुक्त जीव और (ब्रह्म) अव्यक्त प्रकृति या समस्त विश्व या वेद का परम ज्ञान (सम्-आहिता) एक ही संग आश्रित हैं (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस परम जगदाधारभूत स्कम्भ का उपदेश कर । (कतमः स्विद् एव सः) वह कौनसा परम पूजनीय ईश्वर है ?

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं० ॥ १२ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः) भूमि (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष और (द्यौः) द्यौ लोक (अधि आहिता) स्थित हैं । (यत्र) जिसमें (अग्निः चन्द्रमाः) अग्नि, चन्द्रमा (सूर्यः) सूर्य और (वातः) वायु (आ अर्पिताः) सब प्रकार से आश्रित होकर (तिष्ठन्ति) खड़े हैं (तं स्कम्भम्) उस स्कम्भ का (ब्रूहि) उपदेश कर । (कतमः स्विन् एव सः) वह भला कौनसा है ?

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । स्कम्भं तं० ॥ १३ ॥

भा०—(यस्य अङ्गे) जिसके अङ्ग में (सर्वे) सब के सब (त्रयःत्रिंशत्) तेतीस (देवाः) देवगण (सम्-आहिताः) भली प्रकार स्थित हैं (तं

११-(द्वि०) 'पराक्रम्य व्रतं', (तृ०) 'ऋतं च यत्र' (च०) श्रद्धा च यत्र चापः' इति पैप्प० सं० ।

स्कम्भं ब्रूहि कतम. स्विद् एव स) उस स्कम्भ का उपदेश कर वह कौनसा है ?

" कतमे ते ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्या-स्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ २ ॥ कतमे वसव इति, अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव. । एतेषु हीदं सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥ कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मा एकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति । तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः इति ॥ ४ ॥ कतम आदित्या इति । द्वादश वै मासा संवत्सरस्यैत आदित्याः । एते हि इदं सर्वमाददाना यन्ति । यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मात् आदित्या इति " (बृहदा० उप० ३ । ९ । २–५) बृहदारण्यक उपनिषत् में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ ' वसु ' हैं, पुरुष शरीर में दश प्राण और आत्मा ये ग्यारह ' रुद्र ', वर्ष के १२ मास आदित्य और अशनि और पशु या और यज्ञ, स्तनयित्नु या इन्द्र और प्रजापति ये ३३ देवता गिनाये हैं ।

यत्र॒ ऋष॑यः प्रथम॒जा ऋचः॒ साम॒ यजु॑र्म॒ही ।
ए॒क॒र्षिर्यस्मि॒न्नार्पि॑तः स्क॒म्भं तं० ॥ १४ ॥

भा०—(यत्र) जिसमें (प्रथमजा.) सबसे प्रथम उत्पन्न ऋषि, अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा और उनके हृदय में प्रकाशित (ऋचः साम यजुः मही) ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद और महती ब्रह्मविद्या ब्रह्मवेद=अथर्व आश्रित हैं और (यस्मिन्) जिसके स्वरूप में (एक ऋषिः) वह एकमात्र परम ऋषि सर्व संसार का द्रष्टा परमेश्वर स्वयं (अर्पितः) विराजमान है, (तं स्कम्भं) उस स्कम्भ का उपदेश कर ? (कतम. स्वित् एव सः) वह कौनसा पदार्थ है ?

१४–(प्र०) ' यत्र ऋषयो भूतकृतः ' इति पैप्प० स० ।

इस मन्त्र में सूक्त की ग्रन्थि खोल दी है ।

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्य: पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ १५ ॥

भा०—(अमृतं च) अमृत, अमर जीवन और (मृत्युः च) मृत्यु दोनों (यत्र पुरुषे) जिस परम पुरुष में (अधि समाहिते) आश्रित हैं और (समुद्रः) समुद्र, महान् आकाश (यस्य) जिसके महान् ब्रह्माण्डमय शरीर में (पुरुषे नाड्य इव सम् आहिताः) पुरुष के शरीर में रुधिरभरी नाड़ियों के समान स्थित है (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस स्कम्भ का उपदेश करो ? (कतमः स्वित् एव सः) वह कौनसा है ?

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥

भा०—और (यस्य) जिसके विराट् रूप में (प्रदिशः) मुख्य दिशाएं (प्रथमाः नाड्यः) मुख्य नाड़ियों के समान (तिष्ठन्ति) विराजती हैं (यत्र) जिसमें (यज्ञः) यह विश्वरूप महान् यज्ञ (पराक्रान्तः) बड़ी उत्कृष्टता से सम्पादित होता है (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस स्कम्भ का उपदेश कर । (कतमः स्वित् एव सः) बतला वह कौनसा है ?

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥

१५–(द्वि०) 'पुरुषश्च समाहितः' इति पैप्प० सं० ।

१६–(द्वि०) 'प्रथमाः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'प्रत्यमाः' इति सायणः । 'प्रत्यमाः' इति लाक्षणिकं रूपम् प्रत्यमाः प्रभीता इत्यर्थः ।

१७–(प०) 'ते स्कम्भमर[नु]सं विदुः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ये) जो विद्वान् योगी जन (पुरुषे) इस पुरुष=शक्ति रूप में विद्यमान (ब्रह्म) उस महान् ब्रह्म का (विदुः) साक्षात् ज्ञान करते हैं (ते) वे ही (परमेष्ठिनम्) पर पद में स्थित ब्रह्म का भी (विदुः) साक्षात्कार करते हैं और (यः) जो ब्रह्मवेत्ता (परमेष्ठिनम्) उस परमधाम में स्थित परम पुरुष का (वेद) साक्षात् ज्ञान कर लेता है (यः च) और जो (प्रजापतिम्) इस समस्त चर, अचर प्रजा के पालक का (वेद) साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर लेता है और (ये) जो ब्रह्मवेदी गण (ज्येष्ठम्) परम ज्येष्ठ सबसे उत्कृष्ट (ब्राह्मणं) ब्रह्म के पुरुषमय विराट्‌रूप को (विदुः) साक्षात् प्राप्त करते हैं (ते) वे ही (स्कम्भम्) उस परम जगदाधार स्कम्भ का (अनु संविदुः) भली प्रकार ज्ञान लाभ करते हैं।

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥

भा०—(वैश्वानरः) वैश्वानर, सूर्य (यस्य) जिसका (शिरः) शिर है, (अङ्गिरसः) अंगिरस=उसके विराट् देह में रस या सारभूत तेजोमय सहस्रों नक्षत्रमय सूर्य (चक्षुः) चक्षुरूप (अभवन्) हैं। और (यातवः) गतिमान समस्त लोक (यस्य) जिसके (अङ्गानि) अङ्ग हैं (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस स्कम्भ का उपदेश करो। (कतमः स्वित् एव सः) वह कौनसा पदार्थ है ?

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं० ॥ १९ ॥ १९ ॥

भा०—(यस्य) जिसका (मुखम्) मुख, मुख्य या मुख स्थानीय (ब्रह्म) 'ब्रह्म' वेद को (आहुः) बतलाते हैं और (मधुकशाम्) मधुकशा अमृतवल्ली

१९–(तृ०) 'विराज यस्योधाहुः' इति पैप्प० सं० ।

को (जिह्वाम् आहुः) उस स्कम्भ की जिह्वा बतलाते हैं (उत) और (विराजम्) 'विराट्' रूप को (यस्य) जिसका (ऊधः) ऊधस् अर्थात् आनन्द रस का 'थान' कहते हैं। हे विद्वन्! (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस स्कम्भ का उपदेश कर। (कतमः स्विद् एव सः) वह सब देवों में से कौनसा देव है ?

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २० ॥ (२३)

भा०—(यस्मात्) जिस 'स्कम्भ' से (यजुः) यजुर्वेद (अप अकषन्) प्रकट हुआ। (सामानि) साम (यस्य लोमानि) जिसके लोम हैं और (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्व और आङ्गिरस वेद (मुखम्) जिस 'स्कम्भ' का मुख हैं। (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस स्कम्भ को मुझे बतला कि (कतमः स्विद् एव सः) वह सब देवों में से कौनसा देव है ?

असच्छाखां प्र तिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेवरे ये ते शाखामुपासते ॥ २१ ॥

भा०—(जनाः) लोग (प्रतिष्ठन्ती) प्रकट रूप से प्रयत्न होने वाली (शाखाम्) अव्याकृत 'शाखा' समस्त आकाश में व्यापक सृष्टि को ही (परमम् इव) परम असत् के समान (विदुः) जानते हैं। (उतो) और (ये) जो (अवरे) दूसरे लोग (शाखाम् उपासते) उस परम ब्रह्म में लीन शक्ति की उपासना करते हैं (ते) वे उसको (सत् मन्यन्ते) 'सत्' ही मानते हैं। अथवा पदपाठ के अनुसार, (प्रतिष्ठन्तीम् असत्-शाखाम्) प्रकट रूप में विराजमान 'असत्'=प्रकृति मूलक इस सृष्टि को ही (जनाः परमम् इव विदुः) लोग परम तत्व के समान जानते हैं। (उतो) और

२०—'यस्मादृचोऽपा', (तृ०) 'छन्दांसि यस्य' इति पैप्प० सं०।

(ये) जो उस (शाखाम् उप आसते) शाखा=शक्ति की उपासना करते हैं उस पर विचार करते हैं (ते अवरे) वे दूसरे लोग उसको 'सत्' सत् रूप से जानते हैं ।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

भा०—(यत्र) जिसके (आदित्याः च, रुद्राः च, वसवः च) बारह आदित्य, मास, ११ रुद्र—दश प्राण और ११ वां आत्मा और आठ वसु-गण (सम् आहिताः) एकत्र स्थित हैं और (यत्र च) जहां (भूत भव्यं च) भूत और भविष्यत् जगत् और (सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः) समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस स्कम्भ को बतलाओ कि (कतमः स्विद् एव स) वह कौनसा है ?

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ।

भा०—(यस्य) जिसके (निधिम्) परम भण्डार की (त्रयस्त्रिंशत्) तेंतीस (देवाः) देवगण (सर्वदा रक्षन्ति) सदा रक्षा करते हैं तो हे (देवाः) देवगणो ! (यं) जिसकी तुम (अभि रक्षथ) सब प्रकार से रक्षा करते हो (तं निधिम्) उस खजाने को (अद्य) आज, अब (कः वेद) कौन जानता है ? कोई विरला ही जानता है ।

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥ २४ ॥

भा०—(यत्र) जिसके आश्रय पर (देवाः) समस्त देवगण हैं उस (ज्येष्ठं ब्रह्म) ज्येष्ठ, सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म को (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता ऋषि

२४–(द्वि०) 'यो वै तद् ब्रह्मणो वेद स वै ब्रह्मविदो विदुः' इति पैप्प० सं० ।

(उपासते) उपासना करते हैं । (यः) जो (वै) भी (तान्) उन ब्रह्मवेदियों का (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष साक्षात् (विद्यात्) लाभ करे (सः वेदिता) वह भी ज्ञानी (ब्रह्मा) ब्रह्मवेत्ता (स्यात्) हो जाय ।

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

भा०—(ते) वे (देवाः) देव (बृहन्तः) 'बृहत्' नामक हैं (ये) जो (असतः) 'असत्' से (परि जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं । (स्कम्भस्य) स्कम्भ का (तत्) वह (एकम् अङ्गम्) एक अङ्ग है जिसको (जनाः) लोग (परः) इस व्याकृत जगत् से परे (असत्) 'असत्' रूप से (आहुः) बतलाते हैं ।

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

भा०—(यत्र) जिस रूप में (स्कम्भः) 'स्कम्भ' ने (प्र-जनयन्) सृष्टि उत्पन्न करते हुए (पुराणं वि अवर्तयत्) 'पुराण' नाम हिरण्यगर्भ को बनाया । (तत्) वह भी (स्कम्भस्य) 'स्कम्भ' जगदाधार परमेश्वर का (एकं अङ्गम्) एक अङ्ग=रूप है जिसको विद्वान् लोग (पुराणम्) 'पुराण' नाम से (अनु संविदुः) जानते हैं ।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

२५–(द्वि०) 'पुरा जज्ञिरे' इति लड्विग्कामितः पाठः । 'परं जज्ञिरे' मूरकामितः पाठः । 'पुरो जज्ञिरे' इति पैप्प० सं० ।

२६–(च०) 'पुराणमरसं विदुः' इति पैप्प० सं० ।

२७–(द्वि०) 'गात्राणि भेजिरे' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यस्य अङ्गे) जिसके शरीर में (त्रयस्त्रिंशत् देवाः) तेंतीस देव (गात्रा विभेजिरे) अवयव के समान बंटे हुए हैं। (एके ब्रह्मविदः) कोई ब्रह्मवेत्ता (तान्) उन (त्रयस्त्रिंशत् देवान्) तेंतीस देवों को ही (विदुः) ज्ञान प्राप्त करते हैं।

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥

भा०—(जनाः) लोग (हिरण्यगर्भम्) हिरण्यगर्भ को ही (परमम्) परम (अनति-उद्य विदुः) ऐसा तत्व जानते हैं कि जिसके परे और कोई पदार्थ न बतलाया जा सके। परन्तु (तत् हिरण्य) उस 'हिरण्य' तेजोमय वीर्य को (अग्रे) उसके भी पूर्व (लोके अन्तरा) इस लोक के बीच में (स्कम्भः) उस जगदाधार 'स्कम्भ' ने ही (प्रासिञ्चत्) प्रकृति में सिञ्चन किया था।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

भा०—(स्कम्भे लोकाः) स्कम्भ में समस्त लोक, (स्कम्भे तपः) 'स्कम्भ' में तप, और (स्कम्भे ऋतम् अधि आहितम्) स्कम्भ में 'ऋत' परम ज्ञान प्रतिष्ठित है। हे (स्कम्भ) 'स्कम्भ' जगदाधार ! मैं द्रष्टा (त्वा) तुझको (प्रत्यक्षं वेद) साक्षात् करूं कि (इन्द्रे सर्वं समाहितम्) उस परम् ऐश्वर्यवान् परमेश्वर में समस्त जगत् अच्छी प्रकार स्थित है।

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥ (२४)

२९–(च०) 'स्कम्भं त्वा' इति क्वचित्कः पाठः ।
३०–(च०) 'इन्द्र त्वा' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

भा०—(इन्द्रे लोकाः) 'इन्द्र' परमेश्वर में समस्त लोक स्थित हैं (इन्द्रे तपः) उस 'इन्द्र' परमेश्वर में 'तप' स्थित है। (इन्द्रे ऋतम् अधि आहितम्) इन्द्र परमेश्वर में समस्त परम ज्ञान स्थित है। मैं (त्वा इन्द्रं प्रत्यक्षं वेद) तुझ जगदाधार परमेश्वर को ही 'इन्द्र' परमैश्वर्यवान् साक्षात् जानूं। (स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्) उस जगत् के आधारभूत 'स्कम्भ' में समस्त संसार विराजमान है।

नाम॒ नाम्ना॑ जोहवीति पु॒रा सूर्या॑त् पु॒रोषसः॑ ।
यद॒जः प्र॑थ॒मं सं॑ब॒भूव॒ स ह॒ तत् स्व॒राज्य॑मिया॒य यस्मा॒न्नान्यत्
पर॒मस्ति॑ भू॒तम् ॥ ३१ ॥

भा०—(नाम नाम्ना जोहवीति) मनुष्य एक नाम या पद की व्याख्या करने के लिये दूसरे नाम या पद से उसको पुकारता है या (नाम) उस नमस्कार योग्य परमेश्वर को (नाम्ना) किसी भी पद से पुकार लेता है। वह परमतत्त्व तो (पुरा सूर्यात्) इस सूर्य से भी पहले और (उषसः पुराः) सूर्य के पूर्व उषा होता है और वह उषा से भी पूर्व विद्यमान है। (यत्) जब (प्रथमं) सब से प्रथम (सः) वह (अजः) अजन्मा, परम आत्मा ही (सं बभूव) एकमात्र था (तत्) उस समय (सः) निश्चय से वही (स्वराज्यम् इयाय) स्वयं प्रकाशमान रूप को प्राप्त था। (यस्मात्) जिससे (अन्यत्) दूसरा (परम् भूतम्) कोई 'भूत'=उत्पन्न होने वाला पदार्थ, पर=इस जगत् को अतिक्रमण करने वाला उससे पूर्व विद्यमान (न अस्ति) नहीं है। इस मन्त्र में ह्विटनी का 'अज' का अर्थ 'बकरा' करना बड़ा हास्यास्पद है।

यस्य॒ भूमिः॑ प्र॒मान्तरि॑क्षमु॒तोदर॑म् ।
दिवं॒ यश्च॒क्रे मू॒र्धानं॒ तस्मै॑ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नमः॑ ॥ ३२ ॥

३१–(प्र०) 'जोहवीमि' (च०) 'स्वराज्यं जगाम' इति पैप्प० सं०।

इस रूपक को छान्दोग्य [अ० ५. खं० १०-१८] उपनिषद् में स्पष्ट किया है—तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादा उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन, आस्यमाहवनीयः । इत्यादि ।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥ ३५

भा०—वह (स्कम्भः) स्कम्भ (इमे) इन (उभे) दोनों (द्यावा-पृथिवी) द्यौ और पृथिवी को (दाधार) धारण किये हुए है । (स्कम्भः) वही जगदाधार स्तम्भ रूप ' स्कम्भ ' (उरु) विशाल इस (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (दाधार) धारण किये हुए है । (स्कम्भः) स्कम्भ ही (उर्वीः) विशाल इन (प्रदिशः) दिशाओं को (दाधार) धारण करता है । वस्तुतः (इदं विश्वम्) यह समस्त चराचर (भुवनम्) लोक (स्कम्भे आविवेश) स्कम्भ के ही भीतर घुसा हुआ है । अथवा—(स्कम्भः, इदं विश्वं भुवनम् आविवेश) वह जगदाधार ही समस्त विश्व में प्रविष्ट है । ' तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ' छां० उप० ।

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥

भा०—(यः) जो (श्रमात्) श्रम, प्रयत्नस्वरूप (तपसः) तप से (जातः) प्रादुर्भूत या प्रकट होकर (सर्वान् लोकान्) समस्त लोकों में (सम् आनशे) पूर्णरूप से व्याप्त है । और (यः) जो (सोमम्)

३५–‘ स्कम्भे । इदम् ’ इति पदपाठः । पूर्वपाठमन्ये ‘ स्कम्भः ’ इति सर्वो-पलब्धेष्वनुर्वेऽपि ‘ स्कम्भः ’ इत्येव साधुः ।

सोम जीव या समस्त जगत् को या सर्व प्रेरक शक्ति का या ज्ञान या आनन्द का ही (कवलम्) 'केवल' अपना स्वरूप (चक्रे) बनाता है या जो ज्ञानी पुरुष को ही मुक्त करता है । (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) इस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है ।

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥ ३७ ॥

भा०—(वातः) वायु (कथं न) क्यों नहीं (ईलयति) चैन पाता ? (मनः) मन (कथं न रमते) क्यों नहीं एक ही वस्तु में रमता ? यह क्यों चञ्चल है ? (सत्यम्) उस सत्यस्वरूप को ही (प्रेप्सन्ती) प्राप्त होने के लिये उत्सुक होकर क्या (आपः) जल भी (कदाचन) कभी (न ईलयन्ति) विश्राम नहीं पाते ?

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

भा०—(भुवनस्य मध्ये) इस समस्त संसार के बीच में (महद् यक्षम्) वह बड़ा भारी पूजनीय या समस्त शक्तियों का एकमात्र संगम-स्थान है जो (तपसि क्रान्तं) तप-तेज में व्यापक और (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल अन्तरिक्ष के भी पृष्ठ पर उसके भी ऊपर शासक रूप से विद्यमान है । (ये उ के च) जो कोई भी (देवाः) प्रकाशमान तेजस्वी देव दिव्य पदार्थ हैं वे (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्ष के तने के (परितः शाखाः, इव) चारों ओर शाखाओं के समान (तस्मिन्) उस परम शक्तियों के एकमात्र संगम-स्थान 'यक्ष' में ही (श्रयन्ते) आश्रय ले रहे हैं । इसी के लिये अन्यत्र वेद में—'यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः' ।

३७–(च०) 'प्रेप्सन्ती र्यन्ति' इति पैप्प० सं० ।

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ३९ ॥

भा०—(यस्मै) जिसके निमित्त (हस्ताभ्यां पादाभ्याम्) हाथों और पैरों से (वाचा, श्रोत्रेण, चक्षुषा) वाणी, कानों और आंखों से (देवाः) देवगण दिव्य पदार्थ या विद्वान्-गण (बलिम् प्रयच्छन्ति) बलि–उपहार, या आदरभाव प्रदान करते हैं । और जो (विमिते) नाना प्रकार से बने हुए इस परिमित संसार में (अमितम्) असीम, अपरिमित, अनन्त है । (तं स्कम्भं ब्रूहि) उस जगदाधारभूत स्कम्भ को बतला । (कतमः स्विद् एव सः) वह है कौनसा पदार्थ ?

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ ४० ॥

भा०—(तस्य) उस परमेश्वर की शक्ति से (तमः) समस्त अन्धकार (अप-हतम्) विनष्ट हो जाता है । (सः) वह समस्त (पाप्मना) पापों से (वि-आवृत्तः) पृथक् रहता है । (यानि) जो (त्रीणि) तीनों (ज्योतींषि) ज्योतियां हैं (सर्वाणि) वे सब भी (तस्मिन्) उसी (प्रजापतौ) प्रजापति में ही विराजमान हैं ।

यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद ।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥

भा०—(सलिले वेतसम्) जल में जिस प्रकार 'वेतस' या बेत का पौदा जल के आश्रय पर जीवन धारण करता है इसी प्रकार (हिरण्ययम्) 'हिरण्य'=तेजोमय ईश्वरीय वीर्य से उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ या संसार को इस

४१–' गुह्य प्र- ' इति क्वचित् पाठः ।

(सलिले) परम कारण या परम महान् के बीच में (निषत्तम्) विराजमान हुआ जानता है (स वै) वही (गुह्यः) समस्त गुहा हिरण्यगर्भ में गुप्त (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी है ।

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम् ।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥४२॥

भा०—(एके) जिस प्रकार कोई दो (युवती) युवती स्त्रियां (विरूपे) एक दूसरे से भिन्न २ रूप वाली गोरी और काली (अभि आक्रामम्) बार २ आ आ, जा जा कर (षड् मयूखम्) ६ खूंटी वाले (तन्त्रम्) जाल को (वयतः) बुनती हैं । उनमें से (अन्या) एक (तन्तून्) सूतों को (प्रतिरते) फैलाती है । और (अन्या) दूसरी (धत्ते) गांठती है । वे दोनों (न अप वृञ्जाते) कभी विश्राम नहीं लेती, काम नहीं त्याग करतीं और तो भी वे दोनों (न अन्तं गमतः) कार्य की समाप्ति तक नहीं पहुंच पातीं । इसी प्रकार (एके) उषा और रात्रि (युवती) एक दूसरे से मिले रहने या काल का विभाग करने वाली (विरूपे) तम और प्रकाश-मय विरुद्ध रूप वाली (अभ्याक्रामम्) बार २ आ आ और जा जा कर (षड्-मयूखम् तन्त्रम्) छः मयूख, छः दिशाओं वाले या छः ऋतुओं वाले या छः किरणों वाले तन्त्र=विश्वरूप जाल को (वयतः) बुनती हैं । उनमें से (अन्या) एक उषा (तन्तून्) सूर्य की किरणरूप तन्तुओं को (प्रतिरते) फैलाती है और (अन्या) दूसरी रात्रि (धत्ते) उन सब किरणों को अपने भीतर लुप्त कर लेती है । (न अप वृञ्जाते) वे दोनों कभी विश्राम नहीं लेतीं और (न गमातः अन्तम्) न कार्य के अन्त तक ही पहुंचती हैं ।

४२–'द्वे स्वसारौ वयतस्तन्त्रमेतत् सनातनं विततं षण्मयूखम् । अवान्यांस्तन्तून् किरतो धत्तो अन्यान्नाप वृज्याते० ' इति तै० ब्रा० ।

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतुरा पुरस्तात् ।
पुमानेनद् वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद् वि जभाराधि नाके ॥ ४३ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १३० । २ । इति पूर्वार्धेन समः ॥

भा०—(परिनृत्यन्त्योः) मानो नाचती हुई सी (तयोः) उन दोनों उषा और रात्रि में से (न वि जानामि) मैं यह नहीं निर्णय कर सकता कि (यतरा परस्तात्) पहले कौन उत्पन्न हुई । वस्तुतः (एनत्) इस समस्त विश्व को (पुमान्) वह परम पुरुष बुनता है और (पुमान्) वह पुरुष ही (एनत्) इसको (उद् गृणत्ति) उकेल डालता है, संहार करता है । और (पुमान्) वह परम पुरुष ही (एनत्) इस विश्व को (नाके) परम सुखमय आश्रय में अथवा आकाश में (अधि वि जभार) नाना प्रकार से चला रहा है ।

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥ (२५)

(वृ० च०) ऋ० १० । १३२ । २ वृ० च० ॥

भा०—(इमे) ये (मयूखाः) मयूख, किरणें ही (दिवम्) द्यौः-लोक को या सूर्य को (तस्तभुः) थामे हुए हैं । (सामानि) वायु, आदित्य, मेघ आदि पदार्थ और वाग्, मन, श्रोत्र आदि प्राण ये पदार्थ ही (वातवे) इस लोक को बुनने के लिये (तसराणि) तन्तु जालों को (चक्रुः) बनाये हुए हैं ।

नृसिंह के स्तम्भ से निकलने आदि की कथा का यह 'स्कम्भ सूक्त' मूल है ।

४३–' पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वितत्ने अधिनाके अस्मिन् ' इति ऋ० ।

४४–' इमे मयूखाः उपसेदुरुसदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ' इति ऋ० ।

[८] ज्येष्ठ ब्रह्म का वर्णन ।

कुत्स ऋषिः । आत्मा देवता । १ उपरिष्टाद् बृहती, २ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, ५ भुरिग् अनुष्टुप्, ७ पराबृहती, १० अनुष्टुब्गर्भा बृहती, ११ जगती, १२ पुरोबृहती त्रिष्टुब्गर्भा आर्षी पङ्क्तिः, १५ भुरिग् बृहती, २१, २२, २५, २९, ६, १४, १९, ३१–३३, ३७, ३८, ४१, ४३ अनुष्टुभः, २३ पुरउष्णिक्, २६ द्व्युष्णिग्गर्भा अनुष्टुप्, २७ भुरिग् बृहती, ३० भुरिक्, ३९ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, ४२ विराड् गायत्री, ३, ४, ८, ९, १३, १६, १८, २०, २४, २८, २९, ३४, ३५, ३६, ४०, ४४ त्रिष्टुभः । चतुश्चत्वारिंशदृचं सूक्तम् ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (भूतं च) भूतकाल और (भव्यं च) भविष्यत् काल और (यः च सर्वम्) जो समस्त जगत् पर (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता होकर वश करता है और (यस्य च) जिसका (केवलम्) केवल, अपना स्वरूप (स्वः) सुखमय, आनन्द और प्रकाशमय स्वरूप है (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म के लिये नमस्कार है ।

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत् ॥ २ ॥

भा०—(स्कम्भेन) उस जगदाधार 'स्कम्भ' द्वारा के (वि-स्तभिते) थामे हुए (इमे द्यौः च भूमिः च) ये दोनों द्यौः और भूमि आकाश और पृथ्वी (तिष्ठतः) स्थिर हैं । (इदं सर्वं आत्मन्वत्) यह समस्त चेतन प्राणि संसार जिनमें आत्मा यह भोक्ता रूप से विद्यमान है (यत्) जो (प्राणत्) प्राण लेता (यत् निमिषत् च) और जो आंखें झपकता है (सर्वम्) सब (स्कम्भे) उस जगदाधार परमेश्वर स्कम्भ में आश्रित है ।

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्य१न्या अर्कमभितोऽविशन्त ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ६० । १४ ॥

भा०—(तिस्रः प्रजाः) तीन सात्विक, राजस और तामस प्रजाएं, (अति-आयम्) अति अधिक आवागमन को (आयन्) प्राप्त होती हैं और इनके अतिरिक्त (अन्याः) अन्य, दूसरी त्रिगुण अतीत, बन्धन मुक्त प्रजाएं (अर्कम् अभितः) अर्चना करने योग्य, परम पूजनीय परमेश्वर के पास (नि अविशन्त) आश्रय लेती हैं । वह परमात्मा (बृहत्) महान् (रजसः) समस्त लोकों को (विमानः) विशेष रूप से निर्माण करता हुआ (तस्थौ) सर्वत्र विराजमान है और वही (हरितः) सूर्य के समान अति प्रकाशवान् (हरिणीः) समस्त तेजस्वी, प्रकाशमान् पदार्थों या समस्त दिशा में (आ विवेश) आविष्ट है, व्यापक है ।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ ४ ॥

ऋ० १ । १६४ । ४८ ॥

भा०—(द्वादश प्रधयः) बारह प्रधियां या पुट्ठियां हैं, (एकं चक्रम्) एक चक्र है, (त्रीणि नभ्यानि) तीन नाभियां हैं (तत्) उस आत्मा के स्वरूप को (कः उ चिकेत) कौन जानता है । (तत्र) वहां

[८] ३–ऋग्वेदेऽस्याः जमदग्निर्भार्गव ऋषिः । पवमानो देवता । (प्र०) 'अत्या-यमीयु-' (द्वि०) 'अभितो विविश्रे' (तृ० च०) 'तस्थौ भुवने-ष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश' (प्र०) 'तिस्रो न प्राजान्या' (तृ०) 'रजसो विमानं' (द्वि०) 'न्यर्कं' इति पैप्प० सं० ।

४–'तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः' इति ऋ० । अस्या ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः । संवत्सरात्मा कालो देवता ।

अथवा—पांच इन्द्रियें और छठा मन ये छः यम हैं । आत्मा एकज स्वयंभू एक है । उसमें वे पांचों सम्बद्ध हैं । अथवा—द्वादश प्राण छः यम= जोड़े हैं वे एक आत्मा में सम्बद्ध हैं ।

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम् ।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

भा०—(गुहा) गुहा में, ब्रह्माण्ड में और इस शरीर में (जरन्= चरन्) व्यापक (महत्) वह महान् (पदम्) ज्ञातव्य, वेद्य (नाम) पदार्थ है जो (आविः) साक्षात् (सन्निहितम्) अति समीप में भीतर स्थित है । (तत्र) उस आत्मा में (इदं सर्वम्) यह सब (एजत् प्राणत्) गतिशील प्राण लेने वाला देह, इन्द्रिय, चित्त आदि और ब्रह्माण्ड में समस्त सूर्य चन्द्र नक्षत्र वायु आदि सब (प्रतिष्ठितम्) आश्रित है ।

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद् बभूव ॥ ७ ॥
अथर्व० ११ । ४ । २२ ॥

भा०—(पुरः प्र) पूर्व से उग कर, (पश्चा नि) पश्चिम में अस्त होने वाला (एकचक्रम्) एक ज्योतिश्चक्र से युक्त (एकनेमि) संवत्सर रूप एक धार वाला सूर्य (वर्तत) जिस प्रकार घूमता है उसी प्रकार यह आत्मा (पुरः प्र) आगे २ विज्ञान रूप में बराबर उदित होता और (पश्चा नि) पीछे भूतकाल में निमीलित सा होता हुआ (एक-नेमि) एकस्वरूप (एक चक्रम्) एकमात्र कर्ता होकर (सहस्राक्षरम्) सहस्रों अक्षर=अक्षय शक्तियों से सम्पन्न होकर (वर्तते) सदा विद्यमान रहता है । कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता । और जैसे सूर्य (अर्धेन) आधे से (विश्वं भुवनं

७-(प्र०) ' अष्टाचक्रं वर्तत ' (च०) ' दस्न्यार्धं वनमः संकेतुः ' इति अथर्व० [११ । ४ । २२] ।

जो इसमें 'पर' अति सूक्ष्मतत्त्व है वह बहुत समीप है और जो 'अवर' स्थूल तत्त्व है वह बहुत दूर है।

'पञ्चवाही' का स्वरूप श्वेताश्वतर उपनिषत् में दर्शाया है कि—

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलम्।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥

इसकी शङ्कराचार्य कृत व्याख्या दर्शनीय है।

तिर्यग्बिलश्चमुस ऊर्ध्वबुध्नुस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सुप्त साकं ये अस्य गोपा महुतो बभूवुः॥ ९॥

भा०—एक (तिर्यग्-बिलः) तिरछे मुख और (ऊर्ध्व-बुध्नः) ऊपर को पैंदे वाला (चमसः) चमस है। (तस्मिन्) उसमें (विश्वरूपं) 'विश्वरूप' नाना रूप (यशः) मूर्तिमान् बल (निहितम्) रखा है। (तत्) वहां, उस शक्तिमान् आत्मा में (सप्त ऋषयः) सात ऋषि द्रष्टा, सात शीर्ष गत प्राण (साकम्) एकत्र होकर (आसत) विराजते हैं। (ये) जो (अस्य महतः) इस महान् आत्मा के (गोपाः) रक्षक या द्वारपाल के समान उसको आवरण किये हुए या घेरे हुए (बभूवुः) हैं।

शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक भाग में—"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं प्राणा वै यशो विश्वरूपं तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे। प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह।" यह 'शिर' वह 'चमस' या पात्र है जिसका बिल-मुख पासे पर तिरछे खुला है और पेंदा, कपाल ऊपर है। उसमें यशोरूप प्राण रखे हैं। उस पात्र के किनारे २ सात ऋषि, सात प्राण, दो कान-गोतम

९–(प्र०) 'अर्वाग्बिलश्च' (तृ० च०) 'तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' इति [शत० १४। ५। २४]।

और भरद्वाज, दो चक्षु विश्वामित्र और जमदग्नि, दो नासिका-वसिष्ठ और कश्यप और मुख अत्रि, ये सात ऋषि विराजते हैं जो इसके 'गोपा' पहरेदार के समान उसको घेरे हैं। देखो बृहदारण्यक उप० [अ० २ । २ । ३ । ४] इस आर्ष व्याख्या को कुछ अनात्मज्ञ योरोपीयन असंगत कहते हैं यह उनका घोर अज्ञान है।

या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥१०॥ (२६)

भा०—(ऋचा सा कतमा) ऋचाओं में से वह कौनसी ऋक् अर्चनीय पूजनीय स्तुत्य शक्ति है (या) जो (पुरस्तात्) आगे भी (प्रयुज्यते) जुड़ी रहती है और (या च पश्चात्) जो पीछे से भी जुड़ी रहती है और (या च विश्वतः युज्यते) जो सब प्रकार से जुड़ी रहती है और (या च सर्वतः) जो सब ओर से जुड़ी रहती है। और (यया) जिससे (यज्ञः) यज्ञ, विश्वरूप ब्रह्माण्ड (प्राङ्) पूर्वाभिमुख होकर (तायते) विस्तृत किया जाता है। वह ऋचा देखो, गोपथ ब्रा० १।१।२२॥ 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्०' इत्यादि। अर्थात्, वह स्तुत्य शक्ति ब्रह्मशक्ति है।

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥ ११ ॥

भा०—(यद् एजति) वह जो कुछ कांपता है, (पतति) चलता है, (यत् च तिष्ठति) और जो खड़ा है (प्राणत् अप्राणत्) प्राण लेता हुआ या न प्राण लेता हुआ (यत् निमिषत् भुवत् च) और झंपकता या नष्ट होता हुआ और उत्पन्न होता हुआ, उस सब को (तत्) वह परब्रह्म ही (विश्वरूपम्) सर्वरूप होकर (दाधार) धारण कर रहा है, वही (पृथिवीं दाधार)

१०-(च०) 'तना सा ऋचाम्' इति बहुत्र। (प्र० द्वि०) 'यो ह पश्चात्' 'यो ह सर्वत' इति पैप्प० सं०।

पृथिवी को धारण करता है (तत् संभूय) वह समस्त एकत्र होकर (एकम् एव भवति) 'एक' ही है । उससे भिन्न कोई पदार्थ अलग नहीं रह जाता । 'यन्मध्ये पतितः स्तद्ग्रहणेन गृह्यते' जो पदार्थ जिसके बीच में है उसीके ग्रहण से वह भी लिया जाता है । यही तात्स्थ्योपाधि है । जिसके अनुसार 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का व्याख्यान महर्षि दयानन्द ने किया है ।

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

भा०—(अनन्तम्) अनन्त सीमारहित परम कारण और (अन्तवत् च) अन्त वाला, सीमा युक्त कार्य ये दोनों ही (सम् अन्ते) एक दूसरे की सीमा हैं । वस्तुतः देखें तो (अनन्तम्) अनन्त अन्तरहित, कारण पदार्थ है जो (पुरुत्रा) नाना रूपों में (विततम्) प्रकट रूप से फैला है, परन्तु 'अनन्त'=कारण और 'अन्तवत्' कार्य (ते) उन दोनों को (नाकपालः) मोक्षमय धाम का पालक वह प्रभु परमात्मा ही जो (अस्य) इस विश्व के (भूतम्) अतीत उत्पन्न हुए और (भव्यम्) उत्पन्न होने वाले भविष्यत् को (विद्वान्) जानता है वह दोनों को (विचिन्वन्) विवेक करता हुआ (ते) उन दोनों को (चरति) वश कर रहा है या अपने भीतर ले रहा है ।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ १३ ॥
पूर्वार्धः यजु० ३१ । १९ पूर्वार्धेन सम ॥

१२-(द्वि०) 'समन्ते' (तृ०) 'चरति विचिन्वन' (च०) 'भूत यदि भव्यमस्य' इति पैप्प० सं० ।

१३-(द्वि०) 'अजायमानः' इति यजु० । बहुधा प्रजायते, (तृ० च०) 'अर्धेनः परि बभूव विश्व मेतस्यार्धं [illegible]' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(गर्भे अन्तः) गर्भ के भीतर जिस प्रकार आत्मा (अदृश्यमान) बिना दीख हुए (चरति) विचरता है और (बहुधा वि जायते) बहुत प्रकार से नाना योनियों में नाना शरीर धारण कर उत्पन्न होता है उसी प्रकार (प्रजापतिः) प्रजा का पालक वह प्रभु (गर्भे अन्तः) इस हिरण्यगर्भ के भीतर (चरति) व्यापक है। और (अदृश्यमानः) स्वयं दृष्टिगोचर न होता हुआ भी (बहुधा) सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि रूपों में (विजायते) विविध शक्तियों के रूप में प्रकट होता है। वह (अर्धेन) आधे, जड़ या प्रकृतिमय भाग से (विश्वं भुवनं जजान) समस्त कार्य जगत् को प्रकट करता है और (यत्) जो (अस्य) इसका (अर्धः) शेष अर्ध-भाग या परम समृद्ध रूप है (सः) वह (केतुः) ज्ञानमय पुरुष (कतमः) कौनसा है? पता नहीं। अथवा (सः केतुः कतमः) वह ज्ञानमय पुरुष 'क-तम'=अतिशय सुख स्वरूप है।

ऊर्ध्वं भरन्तमुद॒कं कु॒म्भेने॑वोदहा॒र्यम् ।
पश्य॑न्ति॒ सर्वे॒ चक्षु॑षा॒ न सर्वे॒ मन॑सा विदुः ॥ १४ ॥

भा०—(कुम्भेन इव) घड़े के द्वारा जिस प्रकार (ऊर्ध्वम्) सिर के ऊपर (उदकम्) पानी को (भरन्तम्) उठाये हुए (उदहार्यम्) कहार या धीवर को सब कोई देखते हैं उसी प्रकार (ऊर्ध्वम्) ऊपर आकाश में (कुम्भेन) मेघ के द्वारा (उदकं भरन्तम्) जल को धारण करते हुए उस प्रभु को या पर्जन्य रूप प्रजापति को (सर्वे) सभी लोग (चक्षुषा) आंखों से (पश्यन्ति) देखते हैं। परन्तु (मनसा) मन से या ज्ञान साधन से (न विदुः) उसका साक्षात् ज्ञान नहीं करते हैं। प्रभु के कार्यों को देखते हुए उसके कारण शक्ति को नहीं देखते हैं।

दू॒रे पू॒र्णेन॑ वसति दू॒र ऊ॒नेन॑ हीयते ।
म॒हद् य॒क्षं भुव॑नस्य॒ मध्ये॒ तस्मै॑ ब॒लिं रा॑ष्ट्र॒भृतो॑ भरन्ति ॥ १५ ॥

भा०—वह पर ब्रह्म (दूरे) दूर रह कर भी (पूर्णेन) पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ (वसति) रहता है, उसमें सर्व व्यापक होकर रहता है और (दूरे) दूर रह कर ही (ऊनेन) अल्प परिमाण वाले इस जगत् से (हीयते) बचा रहता है, अर्थात् परिमित नहीं होता । वह (महद् यक्षम्) बड़ा भारी पूजनीय देव (भुवनस्य) इस कार्य जगत् के बीच में व्यापक है । (तस्मै) उसके लिये (राष्ट्र-भृतः) दीप्तिमान् पिण्डों को धारण करने वाले बड़े सूर्यादिक भी सम्राट् को सामन्त राष्ट्रपतियों के समान (बलिं भरन्ति) बलि या कर, उपहार, और भेंट पूजा प्रदान करते हैं ।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ १६ ॥

भा०—(यतः) जिससे (सूर्यः) सूर्य (उद् एति) उदय अर्थात् उत्पन्न होता और (यत्र च) जहां (अस्तं गच्छति) अस्त अर्थात् पुनः प्रलय काल में लीन हो जाता है (तद् एव) उसको ही मैं (ज्येष्ठम्) सब से श्रेष्ठ ब्रह्म (मन्ये) मानता हूं । (तद् उ) उसको (किंचन न अत्येति) कोई पार नहीं कर सकता । इस मन्त्र में सूर्य का ' उदय ' ' अस्त ' दोनों शब्द उत्पन्न होने और प्रलय होने अर्थ में प्रयुक्त हैं । इसका रहस्य छान्दोग्य उपनिषद् में ' संवर्ग ' प्रकरण में देखिये ।

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥

१६–' यतश्चोदेति सूर्यः अस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाः सर्वे अर्पिताः तदु नात्येति कश्चन ' इति कठो० ।

१७–' ये अर्वाङ् उत वा पुराणे ' (च०) 'तृतीयं च हंसम्' इति पैप्प० सं० ।

=

भा०—(ये) जो विद्वान् (अर्वाङ्) अर्वाक् कालिक, (मध्ये) मध्यकाल में वर्तमान (उत वा) और या (पुराणम्) पुराण अति सनातन (वेद विद्वांसम्) वेदमय ज्ञान को जानने वाले पुरुष के विषय में (अभितः) सर्वत्र (वदन्ति) वर्णन किया करते हैं (ते) वे विद्वान् (सर्वे) सब (आदित्यम् एव) समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर ले लेने वाले उस महान् पुरुष को ही लक्ष्य करके (परिवदन्ति) वर्णन करते हैं और (द्वितीयम्) उससे दूसरे दर्जे पर (अग्निम्) ज्ञान से युक्त मुक्त जीव और तीसरे पद पर (त्रिवृतम् हंसम्) हंस, शरीर में गमनागमन करने वाले त्रिगुण प्रकृति के बन्धन में बंधे, अहङ्कारवान् जीव के विषय में वर्णन किया करते हैं।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥१८॥
अथर्व० १३ । २ । ३८ ॥ १३ । ३ । १४ ॥

भा०—(हरेः) आदित्य के समान तेजस्वी (हंसस्य) महान् आत्मा के (स्वर्गम्) स्वर्ग, सुखमय लोक में जाते हुए (अस्य) इसके (सहस्राह्ण्यम्) सहस्रों दिनों=वर्षों की यात्रा तक (पक्षौ) पक्ष (वियतौ) फैले रहते हैं। (सः) वह (सर्वान्) समस्त (देवान्) विद्वानों, मुक्त जीवों और आकाश के तेजस्वी पदार्थों को अपने (उरसि) विशाल वक्षःस्थल पर (उपदद्य) लेकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (संपश्यन्) देखता हुआ (याति) जाता है।

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥

भा०—वह महान् ब्रह्ममय तेजोमण्डल (सत्येन) सत्य के प्रकाश से (ऊर्ध्वः) सब से ऊपर विराजमान होकर (तपति) तपता है। और

(ब्रह्मणा) ब्रह्म ज्ञान से (अर्वाङ्) नीचे इस कार्य जगत् को (वि पश्यति) नाना प्रकार से देखता है या प्रकाशित करता है। और (प्राणेन) प्राण रूप वायु से (तिर्यङ्) तिरछे रूप में (प्राणति) प्राण लेता है और समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करता है। वही यह है (यस्मिन्) जिसमें (ज्येष्ठम्) सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म (अधि श्रितम्) स्वरूप से स्थित है।

यो वै ते विद्यादुरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ २० ॥ (२७)

भा०—(यः वै) जो पुरुष (ते अरणी) उन दो अरणियों को विद्यात् जानता है (याभ्यां) जिनसे (वसुम्) वह सर्व ब्रह्माण्ड में बसने और सब जीवों को बसाने हारा ब्रह्म रूप वसु और इसी प्रकार देह का वासी आत्मा (निर्मथ्यते) मथ कर प्रकाशित कर लिया जाता है (सः) वही (विद्वान्) विद्वान् पुरुष (ज्येष्ठं) ज्येष्ठ ब्रह्म को जानता है। (सः) वही (महत्) बड़े (ब्राह्मणम्) ब्रह्म के स्वरूप को (विद्यात्) जान लेता है।

श्वेताश्वतर उप० में अ० १। १४ ॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन् निगूढवत् ॥

अपने देह को अरणि बना कर और प्रणव 'ओ३म्' को उत्तर अरणि बनावे और ध्यान के मंथन दण्ड से बारबार रगड़े तो परम गूढ़ आत्मा के भी दर्शन होते हैं।

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्व१राभरत्।
चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥ २१ ॥

भा०—सृष्टि के पूर्व में (सः) वह परम पुरुष (अपात्) 'अ' पात्, अविज्ञेय रूप, 'अमात्र' स्वरूप (सम् अभवत्) रहा। और (अग्रे)

२१–(द्वि०) 'सोऽग्र आयुराभरत्' इति पैप्प० सं०।

सृष्टि के उत्पन्न होने के पूर्व वही (स्व) सुखमय प्रकाशमय मोक्ष धाम को (आभरत्) धारण करता था। वह पुनः (चतुष्पात्) 'चतुष्पात्' होकर (भाग्य) सब संसार का भोक्ता होकर (सर्वम्) समस्त संसार को (भोजनम्) अपना भोजन बना कर (आ अदत्त) अपने भीतर खींच रहा है।

'अत्ता चराचरग्रहणात्'। वेदान्त सूत्रम्।

प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् और आयतनवान् ये ब्रह्म के चार पाद हैं प्रत्येक पाद की चार २ कलाएं हैं। प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची ये प्रकाशवान् पाद की चार कला हैं, पृथिवी अन्तरिक्ष, द्यौः, समुद्र ये अनन्तवान् पाद की चार कलाएं हैं अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, ये ज्योतिष्मान् पाद की चार कलाएं हैं प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये आयतनवान् पाद की चार कलाएं हैं। इस प्रकार चतुष्कल, चार चरणों से समस्त संसार को उस ब्रह्म ने अपना भोजन बना लिया है। यह संसार उसका भोग्य है अतः वह महान् आत्मा 'भोग्य' कहाता है। भोग्यम् अस्यास्तीति 'भोग्य' सर्व भोक्ता इत्यर्थः। अर्शआदित्वाद् अच्।

भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्॥ २२॥

भा०—वह पुरुष भी (भोग्य) समस्त संसार को अपना भोग्य बनाने वाला होकर (अभवत्) सबका प्रभु होकर विराजता है। वह ही (बहु) बहुत सा (अन्न) अन्न खाने का पदार्थ जीवों को भी (अदद्) प्रदान करता है (यः) जो (उत्तरावन्तं) सब से उत्कृष्ट पद को प्राप्त (सनातनम्) सनातन (देवम्) देव को (उपासाते) उपासना करता है।

२२–(प्र०) 'भाग्यो' इति पाठः सामान्यः।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥

भा०—(एनम्) उस परम पुरुष को (सनातनम्) सनातन पुरुष (आहुः) कहा करते हैं । परन्तु (उत अद्य) वह तो आज भी (पुनः नवः) फिर भी नया का नया ही है । जैसे (अहोरात्रे प्रजायेते) दिन, रात बराबर नये २ उत्पन्न होते रहते हैं तो भी (अन्यः अन्यस्य) एक दूसरे के (रूपयोः) रूपों में समान होते हैं ।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एत द्वैतत् । का० उप० २ । ४ । १३ ॥

शतं सहस्रमयुतं न्य/र्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम् ।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४॥

भा०—(अस्मिन्) इस परम पुरुष में (शतम्) सैकड़ों (सहस्रम्) हजारों, (अयुतम्) दस हजार, (न्यर्बुदम्) नबों और (असंख्येयम्) असंख्य, गणनातीत (स्वम्) धन ऐश्वर्य (निविष्टम्) रखे हैं । (अस्य) इसके (अभिपश्यतः एव) देखने मात्र से ही समस्त लोक उसके (तत्) उस ऐश्वर्य को (घ्नन्ति) प्राप्त करते हैं । (तस्मात्) इसलिये (एषः देवः) यह महान्, सर्व प्रकाशक, परम देव (एतत्) इस संसार को (रोचते) प्रदीप्त करता है ।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २५ ॥

भा०—(एकम्) एक वस्तु जो (बालात्) बाल=केश से भी (अणीयस्कम्) अत्यन्त सूक्ष्म (उत एकम्) और वह भी एक ही तो वह (न इव दृश्यते) नहीं के समान दीखती है । तो फिर (ततः) जो उससे भी सूक्ष्म वस्तु

२५ (प्र०) 'बालादेकम दृश्यते' (तृ०) 'ततः परि' इति पैप्प० सं० ।

के (परिष्वजीयसी) भीतर व्यापक अति सूक्ष्मतम (देवता) देव की जो सत्ता है (सा) वह (मम) मेरे (प्रिया) हृदय को तृप्त करती एवं प्रिय लगती है । मैं उसका उपासक हूं । जैसे श्वेताश्वतर उप० [५ । ९] में—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ ५ । ९ ॥
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ५ । ८ ॥
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ॥
क० उप० [२ । ६ । ९]
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ क०, २ । ६ । १२ ॥

एक बाल को सौ हिस्सों में बांटा जाय वह सौवां भाग जीव का परिमाण जानो । वह सूई के नोक के समान है । वह बुद्धि या आत्मा के ज्ञान गुण से देख लिया जा सकता है । इसी प्रकार सूक्ष्म परम आत्मा को भी समझो । उसका रूप दिखाई नहीं देता । उसे चक्षु से कोई भी नहीं देखता न वाणी से कहा जा सकता है, न मन से सोचा जा सकता है । केवल 'है' ऐसा कहने के अतिरिक्त और कुछ भी उसका जाना नहीं जा सकता । ह्विट्नी ने इस मन्त्र में 'बाल' का अर्थ बच्चा किया है, सो उसकी बालबुद्धि पर हंसी आती है ।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥

भा०—(इयं) यह (कल्याणी) कल्याणमयी चितिशक्ति, (अजरा) कभी जीर्ण न होने वाली, अविनाशिनी, (मर्त्यस्य) मरणशील जीव के

२६-(द्वि०) 'तस्मै कृता' इति पैप्प० सं० । 'यस्मै कृता सा शये सः' इति ह्विट्नि-कल्पितः पाठः ।

(गृहे) देह में भी (अमृता) अमृत, नित्य है । (यस्मै) जिस देह के रखने के लिये (कृता) उसे उसमें रखा जाता है (सः शये) वह तो मुर्दा होकर लेट जाता है और (यः) जो अन्न (चकार) उसे देह में धारण करता है (सः) वह भी जीर्ण हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है । बस वह चिति शक्ति, आत्मा, स्वयं अविनाशी है ।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ २७ ॥

श्वेता० उप० ४ । ३ ॥

भा०—(त्वं स्त्री) हे आत्मन् । तू स्त्री है, (त्वं पुमान् असि) तू पुरुष है । (त्वं कुमारः) तू कुमार है, (उत वा) और (कुमारी) तू कुमारी है । (त्वं जीर्णः) तू ही बूढ़ा होकर (दण्डेन वंचसि) दण्ड हाथ में लेकर चलता है । (त्वं) तू ही (जातः) शरीर धारीरूप में उत्पन्न होकर (विश्वतोमुखः) नाना प्रकार का (भवसि) हो जाता है ।

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥२८॥

भा०—(उत) और वह आत्मा ही (एषां पिता) इन बालकों का पिता है (उतवा) अथवा वही (एषां पुत्रः) इन पिता माताओं का पुत्र है । (एषां ज्येष्ठः) वह भाइयों में से ज्येष्ठ भाई (उत वा, और (कनिष्ठः) वही कनिष्ठ, सबसे छोटा है । तो भी वह आत्मा क्या है ? वस्तुतः (ह) निश्चय से (एकः देवः) एक

२७–(द्वि०) ' त्वं कुमारी उत वा कुमारः ' इति पैप्प० सं० ।

२८–'उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः उतैषां पुत्र उत वा पितैषाम् ।' (च०) 'पूर्वो ह जातः स उ' इति जै० उ० ब्रा० । (प्र० द्वि०) ' उतेव ज्येष्ठोऽसि उत वा कनिष्ठोऽसि उतेमा पितैषाः', (च०) 'पूर्वो जातः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अविः वै नाम देवता) वह 'अवि' सर्वरक्षक देवता है जो (ऋतेन परीवृता आस्ते) 'ऋत' परम सत्य से व्याप्त है । (तस्याः रूपेण) उसके रोचक रूप से ही (इमे वृक्षाः) ये वृक्ष (हरिताः) हरे भरे हैं और (हरित-स्रजः) हरी पत्रमालाओं से ढके हैं ।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ३२ ॥

भा०—पुरुष (अन्ति सन्तम्) समीप विद्यमान उस परम देव को (न जहाति) कभी दूर नहीं कर सकता, कभी नहीं त्याग सकता, कभी उससे अलग नहीं हो सकता । और वह (अन्ति सन्तम्) समीप विद्यमान उस आत्मा को (न पश्यति) देखता भी नहीं है । (देवस्य काव्यं पश्य) उस परम देव, क्रान्तप्रज्ञ, मेधावी, परम पुरुष के काव्य=इस अलौकिक कार्य जगत् को देख जो (न ममार) न कभी मरता और (न जीर्यति) न बूढ़ा होता है ।

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥

भा०—(अपूर्वेण) जिसके पूर्व में कोई न था उस सबके आदि भूत परमेश्वर से (इषिताः) प्रेरित (वाचः) वेदवाणियां (यथायथम्) सत्य सत्य ही (वदन्ति) तत्व का वर्णन करती हैं । वे (वदन्तीः) यथार्थ तत्व का वर्णन करती हुई (यत्र गच्छन्ति) जहां जाती और विश्राम लेती हैं अर्थात् पहुंचती हैं (तत्) उस परम वक्तव्य (महत्) महत् पदार्थ को ऋषि लोग (ब्राह्मणं आहुः) ब्राह्मण या 'ब्रह्म' कहते हैं ।

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः ।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ॥ ३४ ॥

भा०—(यत्र) जिसमें (देवाः च) देव और (मनुष्याः च) मनुष्य सब (नाभौ अराः इव) नाभि या धुरा में अरों के समान (श्रिताः)

आश्रित है । हे विद्वन् ! (त्वा) तुझ से मैं (अपां पुष्पं पृच्छामि) अप समस्त जगत् के मूल प्रकृति के परिमाणुओं के अथवा समस्त कर्मों और ज्ञानों के 'पुष्प' अर्थात् पुष्ट करके जगत् रूप में व्यक्त करने वाले प्रकाशक या जगत् रूप कार्य फल के मूलभूत पुष्प=परम कारण ब्रह्म को पूछता हूं (यत्र) जिसमें (तत्) वह जगत् रूप फल (मायया) माया प्रकृति के सूक्ष्म रूप में (हितम्) विद्यमान रहता है ।

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः ।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन् ॥ ३५ ॥
जै० उ० ब्रा० १ । ३४ ॥

भा०—(येभिः) जिनसे (इषितः) प्रेरित होकर (वातः) वायु (प्रवाति) बहता है और (ये) जो (सध्रीचीः) एक साथ मिली हुई (पञ्च दिशः) पांचों दिशाओं को (ददन्ते) विभक्त कर लेते हैं या धारण करते हैं । और (ये) जो (देवाः) देव, गण, प्रकाश युक्त तेजस्वी पदार्थ (आहुतिम्) आहुति, या आहूति, प्रजा की पुकारों या प्रार्थना, अभिलाषा को (अति अमन्यन्त) नहीं जानते हैं अर्थात् जड़ हैं । (ते) वे (अपां) कर्मों के (नेतारः) प्रणेता (कतमे आसन्) कौन हैं ?

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव ।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥ ३६ ॥
जै० उ० ब्रा० ॥

भा०—(एषाम् एकः) इनमें से एक अग्नि नामक देव (इमाम् पृथिवीं वस्ते) इस पृथिवी में व्यापक है । (एकः) दूसरा वायु (अन्तरिक्षं परि बभूव) अन्तरिक्ष में व्यापक है । (एषाम्) इनमें से एक सूर्य (दिवं ददते) द्यौ को धारण करता है । (यः) जो समस्त प्रजाओं को (विधर्ता) विविध प्रकार से धारण करता है । और (एके) कुछ चन्द्रमा नक्षत्र आदि देव (विश्वाः आशाः) समस्त दिशाओं को (प्रति रक्षन्ति) पालते हैं ।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिसमें (इमाः) ये समस्त (प्रजाः) प्रजाएं (ओताः) ओत प्रोत पिरोई हुई हैं (यः) जो विद्वान् पुरुष उस (विततम्) विस्तृत (सूत्रम्) सूत्रको (विद्यात्) जानता है और (यः) जो (सूत्रस्य सूत्रम्) उस सूत्र के सूत्र को भी जानता है अर्थात् जो 'सूत्र' उत्पादक के उत्पादन सामर्थ्य को जानता है (स महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह बड़े भारी ब्रह्म के रूप को जानता है ।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥

भा०—(अहम्) मैं (विततम्) उस व्यापक (सूत्रम्) सूत्रको (वेद) जानता हूं (यस्मिन्) जिसमें (इमाः प्रजाः ओताः) ये प्रजाएं पिरोई हुई हैं । (अहं) मैं (सूत्रस्य सूत्रम्) सूत्र के भी सूत्र को (वेद) जानता हूं, (यद्) जो (महत् ब्राह्मणम्) बड़ा ब्रह्म का स्वरूप है ।

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः ।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥ ३९ ॥

भा०—(यद्) जब (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्यौः और पृथिवी, जमीन और आकाश दोनों के बीच (प्रदहन्) जाज्वल्यमान (विश्वदाव्यः) समस्त संसार को जलाने हारा (अग्निः) अग्नि देव (ऐत्) व्याप जाता है (यत्र) जब कि (परस्तात्) दूर तक दिशाएं (एक-पत्नीः) उस एक महान् अग्नि की पत्नियों के समान समस्त दिशाएं (अतिष्ठन्) खड़ी रहती हैं (तदानीम्) तब प्रलय काल में (मातरिश्वा) वायु (क इव आसीत्) कहां रहता है ?

अप्स्वा॑सीन्मात॒रिश्वा॒ प्रवि॑ष्टः॒ प्रवि॑ष्टा दे॒वाः स॑लि॒लान्या॑सन् ।
बृ॒हन् ह॑ त॒स्थौ रज॑सो वि॒मानः॒ पव॑मानो ह॒रित॒ आ वि॑वेश ॥४०॥

भा०—(मातरिश्वा) वायु उस समय (अप्सु प्रविष्टः) अप् = प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में (प्रविष्टः) प्रविष्ट रहता है और (देवाः) अन्य देव, भी (सलिलानि प्रविष्टाः आसन्) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । उस समय वह (बृहन्) महान् (पवमान) सब का संचालक परमेश्वर (रजसः) लोकों को (विमानः) रचना करता हुआ (तस्थौ) विद्यमान रहता है और वह (हरितः आविवेश) समस्त आवरणमान दिशाओं में भी व्यापक रहता है ।

उत्त॒रेणे॑व गाय॒त्रीम॒मृतेऽधि॒ वि च॑क्रमे ।
साम्ना॒ ये साम॑ सं॒विदुर॒जस्तद्द॑दृशे॒ क्व॑ ॥ ४१ ॥

भा०—(गायत्रीम् उत्तरेण) साधक पुरुष गय = प्राणों की रक्षा करने वाली चितिशक्ति को पार करके उससे ऊपर विराजमान (अमृते अधि वि चक्रमे) अमृत आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करते हैं । (ये) जो योगी लोग (साम्ना) साम से, अपने आत्मा से (साम) 'साम' उस परब्रह्म को (संविदुः) जान लेते हैं अर्थात् आत्मा से परमात्मा को एक करके जान लेते हैं वे ही जानते हैं कि (तद्) उस समय (अजः) अजन्मा, आत्मा (क्व ददृशे) कहां या किस दशा में साक्षात् होता है ।

स प्रजापति देव पोडशधाऽऽत्मानं विकृत्य सार्धं समैत् । तद् यत् सार्धं समैत् तत्साम्नः सामत्वम् ॥ जै० उ० । १ । ४८ । ७ ॥

नि॒वेश॑नः सं॒गम॑नो॒ वसू॑नां दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॑र्मा ।
इन्द्रो॒ न त॑स्थौ सम॒रे धना॑नाम् ॥ ४२ ॥

यजु० १२ । ६६ ॥ ऋ० १० । १३९ । ३ ॥

४२–' रायो बुध्न संगमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः । देव इव सविता

भा०—वह (देवः) प्रकाशमान, सब का द्रष्टा, (सविता इव) सविता सर्वप्रेरक, सर्व प्रकाशक सूर्य के समान (सत्य-धर्मा) सत्य के बल से समस्त संसार का धारण करने हारा (निवेशनः) समस्त जगत् का आश्रय और (संगमनः) समस्त देवों, पञ्चभूतों का सङ्गमस्थान है। वह (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यवान् (धनानाम्) समस्त ऐश्वर्यों के निमित्त होने वाले (समरे) संग्राम में (इन्द्र इव तस्थौ) परमैश्वर्यवान् राजा के समान विराजता है।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥

भा०—(नवद्वारम्) नव द्वार वाला (पुण्डरीकम्[1]) पुण्डरीक, कमल के समान पुण्य कर्म आचरण करने का साधन यह शरीर (त्रिभिः) तीन (गुणैः) गुणों से (आवृतम्) घिरा है। (तस्मिन्) उसमें (यत्) जो (आत्मन्वत्) आत्म सम्पन्न (यक्षम्) सब प्राणों का संगमस्थान आत्मा है (एतत् वै) उसको ही (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मज्ञानी पुरुष (विदुः) साक्षात् करते हैं।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ४४ ॥ (२६)

सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्' इति ऋ० । तत्र विधातपुत्रो यज्ञभूतो ऋषिः । सविता देवता । तत्र (प्र०) 'निवेशनः संगमनो' (च०) 'समरे पथीनाम्' इति यजु० ।

१. पर्दीनाह्यस्यैति उणादौ 'पुण्डरीक' शब्दो निपात्यते । पुण्ये शुभकर्म आचरति इति पुण्डरीकं श्वेताम्भोजं, सितपत्रं, भेषजं, व्याघ्रोऽग्निर्वा इति दयानन्दः ।

भा०—वह (स्वयम्भूः) स्वयं अपनी शक्ति, सत्ता से सामर्थ्यवान् (अकामः) काम संकल्पों से रहित (धीरः) धारणावान्, ज्ञानवान्, ध्यानवान् (अमृतः) अमृतस्वरूप, अविनाशी, (रसेन) आनन्द रस से (तृप्तः) तृप्त है। (कुतश्चन न ऊनः) वह किसी प्रकार भी और कहीं से भी न्यून नहीं है। वह सर्वत्र पूर्ण है। (तम्) उस (धीरम् अजरम्) धीर, अजर, अमर (युवानम्) नित्य तरुण (आत्मानं) आत्मा को (एव) ही (विद्वान्) जानने वाला पुरुष (मृत्योः) मौत से (न बिभाय) नहीं डरता।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्चाष्टाशीतिः ।]

---

[१] 'शतौदना' नाम प्रजापति की शक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता शतौदना देवता। १ त्रिष्टुप्, २-११, १३-२४ अनुष्टुभः, १२ पथ्यापंक्तिः, २५ द्व्युष्णिग्गर्भा अनुष्टुप्, २६ पञ्चपदा बृहत्यनुष्टुप् उष्णिग्गर्भा जगती, २७ पञ्चपदा अतिजागतानुष्टुब्गर्भा शक्वरी। सप्तविंशत्यृचं सूक्तम्॥

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्।
इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! राजन्! प्रभो! (अघायताम्) पापाचारी लोगों के (मुखानि) मुखों को या मुख्य पुरुषों को (अपि नह्य) बांध डाल। और (सपत्नेषु) तेरे राष्ट्र पर अपना स्वामित्व जमाने वाले शत्रुओं पर

---

[१] १–(च०) 'यजमानायगातुः' इति पैप्प० सं०।

(एतम् वज्रम्) यह वज्र तलवार को (अर्पय) चला । इस प्रकार की (इन्द्रेण) इन्द्र परमेश्वर से या राजा से (दत्ता) प्रदान की हुई (प्रथमा) सब से प्रथम (शतौदना) सैकड़ों वीर्य वाली (भ्रातृव्यघ्नी) शत्रुओं की नाशक शक्ति (यजमानस्य) यज्ञ—राष्ट्रमय व्यवस्था करने वाले के लिये (गातुः) सन्मार्ग है ।

' शतौदना '—प्रजापति र्वा ओदनः । श० १३ । ३ । ६ । ७ ॥ तै० ३ । ८ । २ । ३ ॥ रेतो वा ओदनः । श० १३ । १ । १ । ४ ॥ जिस शक्ति में सैकड़ों प्रजापालक पुरुष विद्यमान हों वह साम्राज्य शक्ति ' शतौदना ' है । जो सब राष्ट्र को सुसंगठित करता है वह यजमान है । यह पृथ्वी वह शतौदना गौ है । अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः तां० १६ । १३ । १ ॥ स्वराज्य प्राप्त करने को विशाल यज्ञ गोसव या गोमेध है । इस तत्व को न जान कर गोमेध में गौ को मारने आदि का उल्लेख करने वालों का अज्ञान प्रकट होता है ।

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते ।
एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ॥ २ ॥

भा०—पृथ्वी का गौ स्वरूप वर्णन करते हैं । हे पृथ्वीरूप गौ ! (ते) तेरे ऊपर (वेदिः) बनी यह वेदि=(चर्म भवतु) चर्म है । और (बर्हिः) कुशा आदि ओषधियां और पशु और प्रजाएं (यानि लोमानि) ये जो सब लोम रूप हैं । (एषा रशना) यह ' रशना ' रस्सी जो पशु के गले में बांधी जाती है वैसी ही यह रशना रस्सी राजा की राज-व्यवस्था है जो (त्वा अग्रभीद्) जो तुझे ग्रहण करती है, स्वीकार करती है, बांधती है । (एषः ग्रावा) यह विद्वान् वाग्मी पुरुष या क्षत्रिय राजा (त्वा अधि) तेरे ऊपर (नृत्यतु) आनन्द प्रसन्न हो ।

(१) (वेदिः) यदनेन विष्णुना इमां सर्वां पृथिवीं समविन्दत

तस्माद् वेदिर्नाम । श० १ । २ । ५ । ७ ॥ पृथिवी वेदिः । पै० ५ । १ ॥ यज्ञ द्वारा पृथिवी को प्राप्त किया इसलिये पृथिवी वेदि कहाती है ।

(२) बर्हि —पशवो वै बर्हिः । ऐ० २ । ४ ॥ प्रजावै बर्हिः । कौ० ५ । ७ ॥ ओषधयो बर्हिः । ए० ५ । २८ ॥ क्षत्रं प्रस्तरः, विश इतरं बर्हिः । श० १ । ३ । ४ । १० ॥ प्रजा और पशु 'बर्हि' हैं ।

(३) रशनाः=रज्जु । वरुण्या वा एषा यद् रज्जुः । श० ३ । २ । ४ । १८ ॥ राजा की व्यवस्था रज्जु है ।

(४) ग्रावा=प्रस्तर । विड् वै ग्रावाणः । श० ३ । ६ । १ ॥ यज्ञो वै ग्रावा । श० ११ । ५ । ६ । ७ ॥ विशो ग्रावाणः । श० ३ । ६ । ३ । ३ ॥ विद्वांसो हि ग्रावाणः । श० ३ । ६ । ३ । ४० ॥ क्षत्रं प्रस्तरः, विश इतरं बर्हिः । श० १ । ३ । ४ । १० ॥ प्रजाएं और विद्वान् 'ग्रावा' कहाता है । प्रस्तर और 'ग्रावा' क्षत्र राजा, राज-शस्त्र, के वाचक हैं । जैसे शिला से कूट पीस कर अन्न खाने योग्य हो जाता है इसी प्रकार राजा की व्यवस्था में बंध कर प्रजा भोग्य हो जाती है ।

वालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं मार्ष्ट्वघ्न्ये ।
शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥ २ ॥

भा०—(प्रोक्षणीः) प्रोक्षणियां (ते वालाः सन्तु) तेरे पूंछ के बाल के समान हैं । हे (अघ्न्ये) गौ के समान न मारने योग्य पृथिवि ! (ते जिह्वा) तेरी जिह्वा अग्नि या विद्वान् रूप (सं मार्ष्टु) संमार्जन, परिशोधन करती है इस प्रकार (त्वं) तू (यज्ञिया) यज्ञ की हितकारिणी (शुद्धा) शुद्ध (भूत्वा) होकर हे शतौदने ! शतवीर्ये ! तू (दिवं) द्यौः आकाशमार्ग में (प्रेहि) गमन करती है । या (दिवं प्रेहि) स्वर्ग सुख धाम रूप को प्राप्त होती है ।

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते ।
प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो इस (शतौदनां) शतौदना, शतवीर्यवती, पृथिवी को (पचति) यथा समय परिपाक करता है वह (कामप्रेण) अपने समस्त संकल्पों को पूर्ण करने वाले फल से (कल्पते) सम्पन्न हो जाता है। और (अस्य) उस राजा के (ऋत्विजः) यथाऋतु यज्ञ-सम्पादन करने वाले अन्य विद्वान् पुरुष भी (प्रीताः) सुप्रसन्न, तृप्त होकर (सर्वे) सब (यथायथम्) ठीक ठीक (यन्ति) फल प्राप्त करते हैं।

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः ।
अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ५ ॥

भा०—(सः) वह (स्वर्गम्) स्वर्ग, सुखमय राज्य पर (आरोहति) चढ़ता है, अभिषिक्त होता है (यत्र) जहां (अदः) वह (दिवः) तेजोमय लोक के (त्रिदिवम्) तीनों तेजों से सम्पन्न लोक है। (यः) जो (शतौदनाम्) पूर्वोक्त शतौदना शतवीर्यों से युक्त पृथिवी को (अपूप-नाभिम्) अपूप अर्थात् अक्षीण राजशक्ति को नाभि या केन्द्र में स्थापित करके (ददाति) राष्ट्रवासियों को प्रदान करता है।

अपूपनाभिः—इन्द्रियम् अपूपः । ऐ० २ । २४ ॥ इन्द्रस्य वीर्यम् इन्द्रियम् । तन्नाभिः सन्नहनं बलं यस्याः सा अपूपनाभिः । जिस पृथिवी को राजा का वीर्य सुबद्ध, सुव्यवस्थित करता है वह अपूपनाभि शतौदना पृथिवी है। जो राजा ऐसे सुव्यवस्थित राष्ट्र को बना देता है वह अपने राष्ट्र में तीनों लोकों का सुख प्राप्त करता है।

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ।
हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ६ ॥

५–(तृ०) 'हिरण्यनाभिं कृत्वा' इति पैप्प० सं० ।

६–(द्वि०) 'येषां [तु] देवाः समासते' (तृ०) 'अपूपनाभिं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(य) जो (शतौदनाम्) शतवीर्य वाली पृथिवी को (हिरण्य-ज्योतिषम्) सुवर्णमय सम्पत्ति से युक्त (कृत्वा) करके (ददाति) प्रदान करता है (सः) वह (ये दिव्याः) जो दिव्य और (ये च पार्थिवाः) जो पार्थिव, पृथिवी पर विद्यमान सुन्दर लोक-स्थान हैं (सः तान्) वह उन (लोकान्) लोकों को भी (सम्-आप्नोति) प्राप्त कर लेता है ।

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥ ७ ॥

भा०—हे (देवि) देवि ! पृथिवि ! (ते) तेरे (ये) जो (शमि-तारः) कल्याण करने वाले और (पक्तारः) तुझे परिपक्व करने वाले (च) और (ये) जो (ते) तेरे (जनाः) ऊपर रहने वाले नाना प्रकार के प्रजाजन हैं (ते) वे (त्वा) तेरी (सर्वे) सब (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे । (एभ्यः) इनसे हे (शतौदने) शतवीर्ये पृथिवि ! (मा भैषीः) भय मत कर ।

अग्निश्च अपापश्चोभौ देवानां शमितारौ । तै० ३ । ६ । ६ । ४ ॥ मृत्यु-स्तदभवद् धाता शमितोग्रो विशांपतिः । तै० ३ । १२ । ६ । ६ ॥ अर्थात् राजा, प्रजापालक लोग पृथ्वी के शमिता हैं जो उसको विभाग करके प्रजा को बांटते और उसमें खेती करते हैं ।

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा ।
आदित्याः पश्चाद् गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥ ८ ॥

भा०—हे पृथ्वी ! (त्वा) तुझको (वसवः) वसु लोग (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा से, (मरुतः त्वा उत्तरतः) मरुत्=वैश्यगण तुझे उत्तर दिशा से और (आदित्याः) आदित्य=ज्ञानी पुरुष तुझे (पश्चात्) पीछे से (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे । (सा) वह तू (अग्निष्टोमम् अति द्रव) अग्नि-ष्टोम नामक यज्ञ को पार कर जा ।

'अग्निष्टोमः'—स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमः । तं यदस्तुवंस्तस्मादग्नि-स्तोमः । ऐ० ३ । ४३ ॥ यो ह वा एष सूर्यः तपति एषोऽग्निष्टोमः एष साह्नः । गो० उ० ४ । १० ॥ अग्निष्टोमो वै संवत्सरः । ऐ० ४ । १५ ॥ अग्निष्टोमेन वै देवा इमं (भू) लोकमभ्यजयन् । तां० ६ । २ । ६ ॥ प्रतिष्ठा वा अग्नि-ष्टोमः । श० ३ । ३ । ३२ ॥

अग्नि अर्थात् शत्रु संतापक राजा स्वयं अग्निष्टोम है । उसी की उसमें स्तुति होती है । अथवा सूर्य पृथ्वी को तपाता है यह अग्निष्टोम का स्वरूप है । संवत्सर अग्निष्टोम है । अग्निष्टोम से इस भूलोक का विजय किया जाता है । इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करना अग्निष्टोम है ।

देवाः पितरो मनुष्या/गन्धर्वाप्सरसंश्च ये ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥ ६ ॥

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् जन (पितरः) पितर, पितृ लोग, पालक, देश के वृद्ध लोग (मनुष्याः) मननशील प्रजाएं (गन्धर्वाः) युवक लोग (ये च) और जो (अप्सरसः च , अप्सराएं, स्त्रियें हैं (ते सर्वे) वे सब (त्वाम्) तुझ को (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे । (सा) वह तू (अतिरात्रम्) अतिरात्र नामक यज्ञ को (अति द्रव) पार कर जा ।

'अतिरात्रः'—भूतं पूर्वो अतिरात्रो भविष्यदुत्तरः, पृथिवी पूर्वोऽतिरात्रो द्यौरुत्तरः । अग्निः पूर्वोऽतिरात्रः, आदित्य उत्तरः । प्राणः पूर्वोऽतिरात्रः, उदान उत्तरः । तां० १० । ४ । १ ॥ चक्षुषी अतिरात्रौ । तां० १६ । ७ । २ ॥ प्रतिष्ठा वा अतिरात्रः । श० ५ । ५ । ३ । ५ ॥ भूत और भविष्यत्, पृथिवी और द्यौः, अग्नि और सूर्य, प्राण और उदान ये दो २ जोड़े अतिरात्र हैं । जैसे देह में आंखें हैं उसी प्रकार राष्ट्र के निरीक्षक लोग अतिरात्र के रूप हैं । राज्य की प्रतिष्ठा अतिरात्र है ।

६—(प्र० द्वि०) 'गन्धर्वाप्सरसो देवा म्हाङ्गिरसस्त्वा' इति पैप्प० सं० ।

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान् मरुतो दिशः ।
लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम् ॥ १० ॥ (३०)

भा०—(यः) जो (शतौदनाम्) शतवीर्या भूमि को (ददाति) प्रदान करता है वह (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (दिवम्) द्यौ (भूमिम्) भूमि और (आदित्यान्) आदित्य (मरुतः) मरुत् वायुओं और (दिशः सर्वान् लोकान्) दिशाओं और समस्त लोकों को (आप्नोति) प्राप्त होता है।

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान् गमिष्यति ।
पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ११ ॥

भा०—हे पृथिवि! तू (घृतम्) घृत आदि पदार्थों का देने वाली गौ के समान अन्न और पुष्टिकारक जल को सर्वत्र अपने समस्त प्रदेशों में नदी और झरना द्वारा (प्रोक्षन्ती) सींचती हुई (सुभगा) उत्तम ऐश्वर्य रत्नादि पदार्थ से युक्त होकर (देवी) समस्त पदार्थों के देनेहारी होकर (देवान्) देव विद्वान् दानियों को (गमिष्यति) प्राप्त होगी। हे (अघ्न्ये) अहिंसा करने योग्य पृथिवि! गौ के समान पृथिवि! तू (पक्तारम्) अपने परिपाक करने वाले तुझे बहु गुणसम्पन्न करने वाले सूर्य के समान राजा को (मा हिंसीः) तू मत मार। प्रत्युत स्वयं हे (शतौदने) सैकड़ों वीर्य अन्नादि पदार्थों को धारण करनेहारी तू (दिवम्) सूर्य के प्रति या स्वर्ग के समान सुखकारी लोक बन जाने के प्रति (प्रेहि) गमन कर अर्थात् सूर्य के समान राजा को प्राप्त होकर धन धान्य सम्पन्न होकर स्वर्ग भूमि के समान हो जा।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि ।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १२ ॥

११–(द्वि०) 'सुभगा त्वम् देवी' इति पैप्प० सं०।

१२–(तृ०) 'धुक्ष्व' इति सायणाभिमतः पाठः।

भा०—(ये) जो (देवाः) दान देने वाले और ज्ञानप्रकाशक और सब तत्त्वों के यथार्थ द्रष्टा और सूर्यादि (दिविषदः) द्यौलोक में विराजमान हैं और (ये अन्तरिक्षसदः च) जो अन्तरिक्ष में वायु आदि पदार्थ और वायुविद्या के ज्ञाता विराजमान हैं और (ये च) जो (भूम्याम्) जल-समुद्रादि पदार्थ और नाना विद्वान्गण भूमि पर विराजते हैं (तेभ्यः) उनके लिये (त्वं) तू (सर्वदा) सब कालों में (क्षीरम्) दूध (सर्पिः) घृत आदि पौष्टिक पदार्थ और (मधु) अन्न मधु आदि मधुर पदार्थ (धुक्ष्व) गौ के समान उत्पन्न कर ।

यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १३ ॥

भा०—हे देवि ! (यत्) जो (ते) तेरा (शिरः) शिर है (यत् ते मुखम्) जो तेरा मुख है, (यौ कर्णौ) जो तेरे दो कान हैं और (ये च ते हनू) जो तेरे जबाड़े हैं वे सब (दात्रे) दानशील पुरुष को (आमिक्षाम्) आमिक्षा=दही (क्षीरं सर्पिः अथो मधु) दूध घी और मधु आदि मधुर पदार्थ (दुह्रताम्) प्रदान करें, उत्पन्न करें ।

यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी । आमिक्षां० ॥१४॥
यत् ते क्लोमा यद्धृदयं पुरीतत् सहकण्ठिका । आमिक्षां० ॥१५॥
यत् ते यकृद् ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः । आमिक्षां० ॥१६॥
यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते । आमिक्षां० ॥१७॥

---

१३ (प्र०) 'ये च ते शृङ्गे', (द्वि०) 'यौ च ते अक्षी' इति पैप्प० सं० ।
१४—'यत् ते मुखं यत् ते शिरो ये कर्णा ये च ते हनू' इति पैप्प० सं० ।
१५—'नन्ये क्लोमा' इति ह्विट्निकामितः पाठः ।
१६ (द्वि०) 'यान्त्राणि' इति पैप्प० सं० ।

यत् ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम् । आमिक्षां० ॥१८॥
यौ त बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत् । आमिक्षां० ॥१९॥
यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः । आमिक्षां० ॥२०॥(२१)
यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत् । आमिक्षां० ॥२१॥
यत् ते पुच्छं ये ते वाला यदूधो ये च ते स्तनाः । आमिक्षां० ॥२२॥
यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः । आमिक्षां० ॥२३॥

भा०—(१४) (ते यौ आष्ठौ) तेरे जो ओष्ठ हैं (ये नासिके) जो नासिकाएं हैं (ये शृङ्गे) जो दो सींग हैं और (ये च ते अक्षिणी) जो तेरी आंखें हैं, (१५) (यत् ते क्लोमा) जो तेरा फेफड़ा है, (यत् हृदयम्) जो हृदय है (सहकण्ठिका) और जो कण्ठ सहित (पुरीतत्) मलाशय की बड़ी आंत है (१६) (यत् ते यकृत्) जो तेरा कलेजा है, (ये मतस्ने) जो गुर्दे हैं, (यद् आन्त्रम्) जो आंतें हैं, (या च ते गुदाः) जो तेरी गुदा भाग की आंत है (१७) (ये ते प्लाशिः) जो तेरी तिल्ली है (य- वनिष्ठुः) जो तेरा गुदा भाग है (यौ कुक्षी) जो दो कोख हैं (यत् च चर्म ते) और जो तेरा चर्म है, (१८) (यत् ते मज्जा) जो तेरी मज्जा है, (यत् अस्थि) जो हड्डी है, (यत् मांसम्) जो मांस है, (यत् च लोहितम्) और जो तेरा रुधिर है, (१९) (यौ ते बाहू) जो तेरी दोनों भुजाएं हैं (ये दोषणी) जो दो बाजुएं हैं (यौ अंसौ) जो दो कन्धे हैं, (या च ते

१८ 'या स्कन्धीति' इति पैप्प० सं० ।

१९–'यौ त बाहू यौ ते अंसौ इहन या च' इति पैप्प० सं० ।

२३–'ऋच्छरा' इति क्वचित् । 'कुष्ठका' इति पैप्प० सं० । 'ऋच्छरा' इति प्राकृत रूपमिति ह्विट्नी: । 'ऋक्षरा' इत्यस्य लिपिदोषः प्रमाद इति वा क्वचित् ।

ककुत्) जो तेरा कुहान है. (२०) (याः ते ग्रीवाः) जो तेरे गर्दन के मोहरे हैं, (ये स्कन्धाः) जो तेरे कन्धे हैं (याः पृष्टीः) जो पीठ के मोहरे हैं. (याः च पर्शवः) और जो पसुलियां हैं, (२१) (यौ ते ऊरू) जो तेरी पीछे की दो जंघाएं हैं, (अष्टीवन्तौ) जो दो घुटने हैं (ये श्रोणी) जो दो कूल्हे और (या च ते भसत्) जो तेरा गुह्यांग, मूत्र मार्ग है, (२२) (यत् ते पुच्छम्) जो तेरी पूंछ है, (ये ते बालाः) जो तेरे बाल हैं, (यद् ऊधः) जो तेरा थान है (ये च ते स्तनाः) और जो तेरे स्तन हैं, (२३) (या ते जंघाः) जो तेरी जांघें हैं, (या कुष्ठिकाः) जो तेरी खुट्टियां और (ऋच्छराः) कलाई के भाग हैं और (ये च ते शफाः) जो तेरे खुर हैं, ये सब तेरे अङ्ग हे गो-रूप वसुंधरे ! (दात्रे) दान करने हारे पुरुष को (आमिक्षां क्षीरं सर्पिः अथो मधु दुहूताम्) (१४-२३) दूध, दही, घी और मधु आदि पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करें । पृथ्वी के इन अंगों की कल्पना गौरूप से की है राष्ट्रमय पुरुष के भिन्न २ अंगों के समान ही इनकी कल्पना करनी चाहिये । कुछ अंगों का वर्णन अगले सूक्त में स्पष्ट होगा ।

यत् ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये ।
आमिक्षां दुहतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ २४ ॥

भा०—हे (शतौदने) शतवीर्य गौ ! हे (अघ्न्ये) अहिंसनीय जीव ! (यत् ते चर्म) जो तेरा चर्म है और (यानि लोमानि) और जो लोम हैं वे (दात्रे) दानशील कल्याणवान् पुरुष को (आमिक्षां क्षीरं सर्पिः, अथो मधु दुहूताम्) दधि, दूध, घी, मधु आदि दें ।

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥ २५ ॥

भा०—हे गौ ! पृथ्वि ! (आज्येन) घृत या तेज से (अभि-घारितौ) मिले हुए (पुरोडाशौ) दो पुरोडाश या आकाश और पृथिवी दोनों ही (ते क्रोडौ)

तेरे दोनों पार्श्वों के समान (स्ताम्) हैं । हे (देवि) देवी ज्ञानशील गौ ! तू उन दोनों का (पक्षौ) पक्ष (कृत्वा) बना कर (पचारम्) अपने पकाने हारे राजा को (दिवं वह) प्रकाशमय स्वर्ग में ले जा ।

'पुरोडाशौ'—स कूर्मस्तेनास्पृष्ट पुरोडाशो वा एभ्यो मनुष्येभ्यस्त त्पुरोऽशयत् । स एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत् । य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत् तस्मात् पुरोदाशः पुरोदाशो वै नाम एतत् यत् पुरोडाश इति । श० १ । ६ । २ । ५ ॥ पुरो वा एतान् देवा अक्रत । ऐ० २ । २३ ॥ विट् उत्तर पुरोडाशः । श० ४ । २ । ५ । २२ ॥ 'द्यावापृथिव्यौ हि कूर्मः' श० ।

आकाश और पृथिवी, राजा और प्रजा ये दोनों मिल कर कूर्माकार हो जाते हैं ये दोनों दो पुरोडाश हैं इनके नाना रम्य पदार्थों से यह मनुष्य आंखों को भला मालूम हुआ इसलिये ये दोनों पुरोदाश या पुरोडाश कहे जाते हैं । वे दोनों आज्य=सूर्य से प्रकाशित हैं वे पृथ्वी रूप गौ के दो पार्श्व हैं । उनके ऊपर वह राजा को धारण करती और स्वर्ग का सा आनन्द प्रदान करती है ।

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः ।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २६ ॥

भा०—(यः च तण्डुलः कणः) जो तण्डुल या चावलों का कण (उलूखले) ओखली में और (मुसले) मुसल में है और (यः च चर्मणि यो वा शूर्पे) और जो दाने नीचे बिछे चर्म में और जो शूर्प या छाज में हैं । (यं वा) और जिसको (वातः) प्रबल वेगवान् (मातरिश्वा) वायु (पवमानः) तुषों को कण से अलग करता हुआ (ममाथ) एक तरफ गिरा देता है (होता अग्निः) स्वीकार करने वाला अग्नि (तत्) उस कण को (सुहुतं कृणोतु) सुहुत, उत्तम आहुति रूप में स्वीकार (कृणोतु) करे ।

पृथ्वी क्षेत्र भूमि आदि के परिपक्व हो जाने पर खेतों से धान काट कर उखल मूसल से कूट कर, उन्हें वायु, छाज द्वारा साफ करके उनसे यज्ञ करे और पुनः उनका भोजन करे यह वेद का उपदेश है।

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि। यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २७ ॥ (३२)

भा०—मैं यज्ञशील पुरुष (ब्रह्मणां हस्तेषु) ब्राह्मण, वेद के विद्वानों के हाथों में (देवीः) दिव्य गुण वाली (मधुमतीः) मधुर रसवाली (घृतश्चुतः) घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थ और तेज को उत्पन्न करने वाली (अपः) जल रूप प्रजाओं को (प्र पृथक् सादयामि) पृथक् २ सौंपता हूं (यत्कामः) जिस अभिलाषा से (इदम्) यह (अहम्) मैं (वः) आप लोगों का (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूं। अर्थात् प्रजाओं में आप लोगों को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करता हूं (तत्) वह मेरी अभिलाषा (सर्वं सम्पद्यताम्) सब पूरी हो। और (वयम्) हम सब (रयीणां) धन सम्पत्तियों के स्वामी हों। जल हाथ में लेकर दान करने की शैली का यही मूल है। राजा विद्वान् ब्राह्मणों को पृथक् २ प्रदेशों में मान आदरपूर्वक पवित्र जलों द्वारा अभिषिक्त कर उनको अधिकारी रूप से प्रतिष्ठित करें। और सब धन धान्य सम्पत्ति से युक्त हों। इस प्रकार विद्वानों के हाथ में राज्य के भागों को देना ही वेदसम्मत दान है। ऐसे विद्वानों के हाथ में भूमि के सौंपने से वह समस्त रत्नों, अन्नों, पशु और घी-दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थों को प्रसव करती है।

इस सूक्त से गौ मार कर होम करने आदि का जो अर्थ निकालते हैं वे भूल में हैं। समस्त सूक्त में कहीं मारने आदि का सम्बन्ध नहीं है।

२७–'इमा आपः मधु' (सु०) 'यत्कामेदं' इति पैप्प० सं०।

यदि मारने आदि का प्रयत्न होता तो उससे तो रुधिर, चर्बी मांस आदि प्राप्त होता, घी दूध दही और मधु पदार्थ कभी प्राप्त न होते ।

[१०] वशा रूप महती शक्ति का वर्णन ।

कश्यप ऋषिः । मन्त्रोक्ता वशा देवता । १, ककुम्मती अनुष्टुप् । ५, पञ्चपदाति जागतानुष्टुप् स्कन्धोग्रीवी बृहती, ६, ८, १०, विराट्, २३ बृहती, २४ उपरिष्टाद् बृहती, २६ आस्तारपङ्क्तिः, २७ शङ्कुमती, २९ त्रिपदाविराड्गायत्री, ३१ उष्णिग्गर्भा, ३२ विराट्पथ्या बृहती, २-४, ७, ९, ११-२२, २५, २८, ३०, ३३, ३४, अनुष्टुभः । चतुस्त्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नमः ।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः ॥ १ ॥

भा०—हे (अघ्न्ये) न हिंसा करने योग्य गौ! पृथ्वी! (ते जायमानायै नमः) उत्पन्न या प्रकट होती हुई तुझे नमस्कार है । (जातायाः उत ते नमः) उत्पन्न हुई तुझ को नमस्कार है । (ते बालेभ्यः शफेभ्यः) तेरे बालों और शफों के लिये भी (नमः) हमारा आदर है ।

दान करते समय गौ को नमस्कार करना उसके पैरों और पूंछ को नमस्कार करने के आचार का यही मूल है ।

यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः ।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (सप्त प्रवत) सात उपरिचर प्राणों और लोकों को (विद्यात्) जानता है और जो (सप्त परावतः) सात अधस्तन प्राणों, लोकों को जानता है और (यः) जो (यज्ञस्य शिरः विद्यात्) यज्ञ के

[१०] २—'सप्तेद परावतः' इति पैप्प० सं० ।

शिरो भाग को जानता है (सः वशां प्रति गृह्णीयात्) वह इस वशा को दान रूप से स्वीकार करे।

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः ।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥ ३ ॥

भा०—(अहम्) मैं (सप्त प्रवतः वेद) सात 'प्रवत' उपरितन प्राणों और लोकों को जानता हूं और (सप्त परावतः वेद) सातों 'परावत' अधस्तन प्राणों और लोकों को भी जानता हूं। और (अहम्) मैं (यज्ञस्य शिरः वेद) यज्ञ के शिरोभाग को भी जानता हूं । और (अस्याम्) इस वशा पर (विचक्षणम्) विशेष रूप से द्रष्टा (सोमम्) सोम, राजा को भी (वेद) जानता हूं ।

वशा का स्वरूप

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः ।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥ ४ ॥

भा०—(यया) जिसने (द्यौः) द्यौलोक को और (यया पृथिवी) जिसने पृथिवी को और (यया इमाः, आपः) जिसने इन समस्त जलों को (गुपिताः) अपने भीतर सुरक्षित रक्खा हुआ है (ताम्) उस (सहस्रधाराम्) सहस्रों धाराओं वाली, सहस्रों को धारण पोषण करने में समर्थ पदार्थों के प्रवाहों से युक्त उस (वशाम्) अति कमनीय, सब जगत् को वश करने वाली 'वशा' को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा हम (अच्छा वदामसि) भली प्रकार वर्णन करते हैं ।

इयं वै वशा पृश्निः । श० १ । ८ । ३ । १५ ॥ इयं वै पृथिवी वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलिचान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निः । श० ५ । १ । ३ । ३ ॥

द्यौ और पृथिवी दोनों ही 'वशा' हैं । इनमें नाना प्रकार के अन्न, रस प्रतिष्ठित हैं ।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः ।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

भा०—(अस्याः अधिपृष्ठे) इसके पीछे पीछे (शतं कंसाः) सैकड़ों कंस=कांसे के बर्तन इसको दोहने के लिये चाहियें (शतं दोग्धारः) सैकड़ों इसके दोहने वाले हैं, (शतं गोप्तारः) इसके सैकड़ों रक्षक हैं। (ये देवाः) जो देव, विद्वान् पुरुष (तस्यां प्राणन्ति) इसके आधार पर प्राण धारण करते हैं (ते) वे उसको (एकधा) एक रूप से (वशां) वशा रूप से (विदुः) जानते हैं ।

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका ।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

भा०—यह 'वशा' (यज्ञ-पदी) यज्ञस्वरूप या यज्ञरूप चरणों वाली (स्वधा-प्राणा) स्वधा अन्नरूप प्राण वाली (महीलुका) मही, पृथ्वी आदि लोकों को प्रजारूप से धारण करने वाली है (पर्जन्य-पत्नी) मेघरूप प्रजापति की पत्नीस्वरूप यह पृथिवी (वशा) वशा (ब्रह्मणा) ब्रह्म=अन्न के साथ समृद्ध होकर (देवान्) देवों, विद्वानों के पास (अप्येति) प्राप्त होती है ।

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा ।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ ७ ॥

भा०—गत सूक्त में वशा के नाना अंगों का वर्णन किया था उनका दिग्दर्शन कराते हैं। हे (वशे) वशे ! (त्वा) तेरे में (अग्निः) अग्नि (अनु प्राविशत्) तेरे अनुकूल होकर प्रविष्ट है। (त्वा अनु सोमः) तेरे अनुकूल ही सोम=राजा या सूर्य, तुझ में प्रविष्ट है। हे (भद्रे) कल्याण और सुखकारिणी ! (पर्जन्य) मेघ, प्रजाओं का नेता राजा या रसों का

६–' यज्ञपदिरक्षीरान् स्वधा प्राणा मही लुकाः ' इति पैप्प० सं० ।

प्रदाता मेघ स्वयं (ऊधः) दूध का भरा 'थान' है और (विद्युतः) बिजुलियां (ते स्तनाः) तेरे स्तन हैं।

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे ।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥

भा०—हे (वशे) वशे ! (त्वं) तू (अपः) जलों को या दुग्धों को (धुक्षे) प्रदान करती है। तू (प्रथमा) सबसे मुख्य, प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (उर्वरा) अन्न और प्रजा के उत्पन्न करने में समर्थ (अपरा) सर्वोत्कृष्ट इस प्रत्यक्ष गाय से दूसरी है। और (वशे) हे वशे ! (त्वम्) तू (अन्नं क्षीरं धुक्षे) अन्न प्रदान करती है और क्षीर, दूध प्रदान करती है। अथवा—अन्न रूप दूध प्रदान करती है और (तृतीयम्) तीसरा या सबसे श्रेष्ठ (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (धुक्षे) राष्ट्रोपयोगी प्रजा, धन ऐश्वर्य को भी तू ही प्रदान करती है।

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि ।
इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद् वशे ॥ ९ ॥

भा०—हे (वशे) वशे ! हे (ऋतावरि) ऋत सत्य का और अन्न और जल धारण करने वाली (यद्) जब तू (आदित्यैः) द्वादश आदित्य अर्थात् १२ मासों से (हूयमाना) स्तुति प्राप्त करती हुई (उपातिष्ठः) विराजमान होती है तब (इन्द्रः) सूर्य या मेघ (त्वा) तुझ को (सहस्रं पात्रान्) हज़ारों पात्र हज़ारों कलसे भर २ कर (सोमम्) सोम—जल (अपाययत्) पान कराता है। अर्थात् द्वादश मास इस पृथ्वी पर यज्ञ करते हैं और मेघ अन्न जल धारा बरसाता है मानो सहस्रों पात्रों में सोम-रस भर कर पिलाता है।

यदनूचीन्द्रमैरात् त्वं ऋषभोऽह्वयत् ।
तस्मात् ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोऽहरद् वशे ॥१०॥ (३३)

भा०—हे (वशे) वशे ! (यत्) जब तू (अनूची) उसके अनुकूल होकर (इन्द्रम्) इन्द्र-मेघ के समान राजा के पास (ऐः) प्राप्त होती है। (आत्) और उसके पश्चात् (त्वा) तुझे (ऋषभः) तेज से दीप्तिमान् सूर्य और उसके समान राजा (त्वा अह्वयत्) तुझे अपने प्रति बुलाता है, तुझे अपने अभिमुख करता है। (तस्मात्) उस समय (वृत्रहा) मेघ रूप शत्रु का विनाशक सूर्य (क्रुद्ध) अति तेजस्वी होकर (ते) तेरा (पयः) काख्य, जल रूप (क्षीरम्) दूध (अहरत्) अपनी रश्मियों से हर लेता है।

यत् ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद् वशे।
इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥

भा०—हे वशे ! (यत्) जब (क्रुद्धः) अति क्रुद्ध, तेजस्वी (धन-पतिः) धनों, ऐश्वर्यों, तेजों का पालक राजा के समान सूर्य (ते क्षीरम्) तेरे क्षीर=दुग्ध को (आहरत्) ले लेता है (इदं तत्) यह वही तेरा दूध है जिसको (अद्य) सदा (नाकः) सूर्य (त्रिषु पात्रेषु) तीनों लोकों और उत्तम अधम मध्यम तीनों प्रकार के प्रजाजनों में (रक्षति) रखता है।

इन्द्र और सूर्य के समान राजा का आचरण मनुस्मृति में—

अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ९ । ३०५ ॥

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेत् स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ९ । ३०४ ॥

आठ मास सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी से जल खींचता है उसी प्रकार राजा राष्ट्र में कर ले, यह 'सूर्यव्रत' है। जिस प्रकार इन्द्र=सूर्य मेघ

११—'पतिः क्षीरं देहि मध्दो' इति पैप्प० सं०।

रूप होकर चार मास तक जल वर्षाता है उसी प्रकार प्रजा पर धन धान्य की वर्षा करे यह 'इन्द्रव्रत' है ।

त्रिषु पात्रेषु तं सोम॒मा दे॒व्य॑हरद् व॒शा ।
अथ॑र्वा यत्र॒ दीक्षि॑तो ब॒र्हिष्यास्त॑ हिर॒ण्यये॑ ॥ १२ ॥

भा०—(यत्र) जहां (दीक्षितः) दीक्षित, क्रियाकुशल (अथर्वा) अथर्ववेद का विद्वान्, दण्डनीतिकुशल विद्वान् प्रजापति के समान राष्ट्र-पति के आसन पर विराजता है वहां (वशा) वशा–वशीकृत वह पृथिवी, (तम्) उस (सोमम्) सोम रूप रस को, अन्न को और राजा को (देवी) देवी पृथिवी (त्रिषु पात्रेषु) तीनों पात्रों में उत्तम अधम और मध्यम तीनों प्रकार के प्रजाजनों और तीनों लोकों में (आ अहरत्) प्रदान करती है ।

सं हि सोमे॒नाग॑त॒ सम॒ सर्वे॑ण प॒द्वता॑ ।
व॒शा स॑मु॒द्रमध्य॑ष्ठाद् ग॑न्ध॒र्वैः क॒लिभिः॒ स॒ह ॥ १३ ॥

भा०—जब वह (वशा) वशा, पृथ्वी (सोमेन) सोम राजा से (सम् अगत) संयुत हुई तब ही वह (सर्वेण) समस्त (पद्वता) चरणों वाले प्राणियों से (सम् उ) संगत हुई । वह वशा पृथ्वी (गन्धर्वैः कलिभिः सह) गन्ध को लेने वाले सदा गतिशील वायुओं सहित जिस प्रकार (समुद्रम् अधि अष्ठात्) समुद्र पर स्थित है उसी प्रकार वह मानो (कलिभिः) कला-विद्, शिल्पी, (गन्धर्वैः) विद्वान् रक्षक पुरुषों सहित (समुद्रम्) समुद्र के समान रत्नों के आश्रय रूप राजा के आधार पर ही (अधि अस्थात्) स्थिर होती है ।

सं हि वाते॒नाग॑त॒ सम॒ सर्वैः॑ पत॒त्रिभिः॑ ।
व॒शा स॑मु॒द्रे प्रानृ॑त्य॒दृचः॒ सामा॑नि॒ बिभ्र॑ती ॥ १४ ॥

भा०—(स वातेन सम् आगत हि) वह वशा जब वात=वायु से युक्त होती है तब (सर्वैः पतत्रिभिः सम् उ) समस्त पक्षियों से भी युक्त होती है। वह वशा (ऋचः) ऋग्वेद और (सामानि) सामवेद को (बिभ्रती) धारण करती हुई (समुद्रे प्रानृत्यत्) समुद्र में प्रसन्न होकर नाचती सी है। अर्थात् जब वात या वायु के समान सर्व जीवनाधार राजा से युक्त होती है तब पक्षियों के समान प्रजाजन भी उसके ऊपर रहते हैं। और समुद्र के समान समस्त रत्नों के आश्रय गम्भीर राजा के आश्रय पर ही (ऋचः सामानि) ऋग्वेद के परम विज्ञानों और सामवेद के उपदिष्ट आध्यात्म ज्ञानों को भी धारण करती हुई प्रसन्न होती दिखाई देती है।

सं हि सूर्येणागत सम् उ सर्वेण चक्षुषा।
वशा संमुद्रमत्यख्यद् भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥ १५ ॥

भा०—जब वह वशा (सूर्येण) सूर्य के साथ (सम् आगत) संयुक्त होती है (सर्वेण चक्षुषा) समस्त चक्षुओं के साथ (सम् उ) भी संयुक्त होती है। वह (वशा) वशा (भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती) कल्याणकारी सुखकारी तेजों को धारण करती हुई (समुद्रम् अति अख्यत) उस समुद्र के समान सब रत्नों के आकर रूप राजा की ही कीर्त्ति को बखानती है।

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि।
अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद् वशे त्वा ॥ १६ ॥

भा०—हे (ऋतावरि) ऋत-सत्य, अन्न, जल को धारण करने हारी पृथिवि ! (यत्) जब तू (हिरण्येन) सुवर्ण के समान बहुमूल्य सम्पत्ति से (अभीवृता) आवृत होकर (अतिष्ठ) रहती है तब हे वशे ! (त्वा अधि) तेरे पर (समुद्र) वह समुद्र=राजा ही (अश्वः) सब सम्पत्ति का भोक्ता

१५-(तृ०) 'अत्यख्यद्', 'अत्यद्रवत्' इति क्वचित् पाठौ।

राजा होकर (अस्कन्दन्) शत्रुओं पर आक्रमण करता और विजय करता है।

तद् भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा ।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १७ ॥

भा०—(यत्र) जहां (दीक्षितः) दीक्षा ग्रहण करके (अथर्वा) स्थिर, प्रजापति, राजा (हिरण्यये) सुवर्ण के (बर्हिषि) राष्ट्रपति के आसन पर (आस्त) बैठता है (तद्) उस समय (भद्राः) भद्र पुरुष (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते (अथो) और (वशा) यह पृथ्वी उस समय (स्वधा देष्ट्री) अन्न को देने वाली होती है।

वशा माता राजन्य/स्य वशा माता स्वधे तव ।
वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत ॥ १८ ॥

भा०—(वशा) यह वशा पृथ्वी (राजन्यस्य माता) राजाओं की माता है। हे (स्वधे) स्वधे! अन्न! (तव माता वशा) तेरी माता यह वशा पृथ्वी है। (वशायाः आयुधम् जज्ञे) 'वशा' पृथ्वी से शस्त्र उत्पन्न होते हैं (ततः चित्तम् अजायत) और वशा से ही 'चित्त'=ज्ञान या परस्परमेल उत्पन्न होता है।

वशा के देह का अलंकारमय वर्णन

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि ।
ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ॥ १९ ॥

१८–' वशाया जज्ञ आयुधम् ' इति ह्विटनिकामितः । ' जज्ञ ' इति तु बहुत्रापि [illegible] यथा च अथर्व० ४ । २४ । ६ ॥ [illegible] (प्र०) ' दः [illegible] । '[illegible]' [illegible] ।

भा०—(ब्रह्मणः ककुदात् अधि) ब्रह्म=ब्राह्मण-वेदज्ञ विद्वान् पुरुषों के (ककुदात्) सर्वोत्कृष्ट, सर्वश्रेष्ठ पुरुष से या ब्राह्मबल के सर्वश्रेष्ठ भाग से (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्वगामी (बिन्दुः) वीर्यस्वरूप तेज (उत् अचरत्) ऊपर उठता है। हे वशे ! (तत्र त्वं) उसमे तू (जज्ञिषे) उत्पन्न होती है। (ततः) उससे (होता अजायत) उससे (होता) सबका आदान करने वाला पुरुष प्रकट होता है।

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे।
पाजस्या/ज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव ॥ २० ॥ (३४)

भा०—हे वशे ! (ते आस्नः) तेरे मुख से (गाथा अभवन्) गाथाएं, ऋचाएं उत्पन्न होती हैं। (उष्णिहाभ्यः बलम्) गर्दन की धमनियों से बल उत्पन्न होता है। (पाजस्यात् यज्ञः जज्ञे) पाजस्य, उदर के मध्यभाग से यज्ञ उत्पन्न होता है (तव स्तनेभ्यः) तेरे स्तनों से रश्मियां उत्पन्न होती हैं।

ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव।
आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः ॥ २१ ॥

भा०—हे (वशे) वशे ! (तव) तेरी (ईर्माभ्याम्) बाहुओं से (सक्थिभ्यां च) और तेरी अगली टांगों से (अयनम्) सूर्य के दक्षिण और उत्तर अयन (जातम्) होते हैं (आन्त्रेभ्यः) आंतों से (अत्राः) नाना खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। और (उदरात्) उदर=पेट से (वीरुधः) लताएं ओषधियां उत्पन्न होती हैं।

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे।
ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत् स हि नेत्रमवेत् तव ॥ २२ ॥

२०—'गाथा भान्तु' इति पैप्प० सं०

२१—'अयुर्माभ्या' (?) 'यत्रा जज्ञिरे' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे वशे ! पृथ्वी (यत्) जब तू (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ वरणीय राजा के (उदरम्) पेट में, उसके शासन में (अनु प्राविशथाः) प्रविष्ट होती है (ततः) उसके बाद (ब्रह्मा) वेद और ब्रह्म के जानने वाला विद्वान् (त्वा) तुझे (उत् अह्वयत्) ऊंचे स्वर से बुलाता, उपदेश करता है । (सः हि) निश्चय, वही (तव) तुझे (नेत्रं) सन्मार्ग पर लेजाना (अवेत्) जानता है ।

सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः ।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥२३॥

भा०—(असूस्वः) कभी प्रसव न करनेहारी इस वशा के (जायमानात्) उत्पन्न होते हुए (गर्भात्) गर्भ से (सर्वे) सब (अवेपन्त) कांप जाते हैं (ताम्) उसको उस समय लोग (आहुः) कहते हैं कि (वशा ससूव इति) वशा उत्पन्न कर रही है, सू रही है । अर्थात् समस्त राष्ट्र को अपने हाथ में लेलेने वाला राजा, सम्राट् ही ' गर्भ ' है जब पृथ्वी पर वह उत्पन्न होता है तो सब कांपते हैं। वशा उस राजन्य की माता है । वह राजन्य या राजा को उत्पन्न करती है । (सः) वह राजा (ब्रह्मभिः) ब्राह्मणों से (क्लृप्तः) सामर्थ्यवान् होकर ही (अस्याः) इस वशारूप पृथ्वी का (बन्धुः) बन्धु है, वह उसको नियम व्यवस्था में बांधने में समर्थ होता है ।

अराजक लोक हो जाने पर और्वानल की उत्पत्ति जो पुराणों में कही गयी है उसका मूल मन्त्र यह है । जब कहीं ज्वालामुखी उत्पन्न होता है तब जैसा भूकम्प होता है उसी प्रकार महान् राजा के उदय पर भी सबके हृदयों में उसके दिग्विजय से कम्प उत्पन्न होता है । अग्नि, अनल, और पृथ्वीस्थानीय देवता की संगति वशा रूप पृथ्वी में राजा की उत्पत्ति से लगानी चाहिये ।

२३–(तृ० च०) ' ब्रह्मा वत्स उत बन्धुरस्याः ' इति पैप्प० सं० ।

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद् वशी ।
तरांसि यज्ञा अभवन् तरसां चक्षुरभवद् वशा ॥ २४ ॥

भा०—(यः) जो (अस्याः) इस वशा का (एक इत्) एकमात्र (वशी) वश करनेहारा राजा होता है वही (एकः) अकेला (युधः) योद्धाओं को (संसृजति) तैयार करता है। (तरांसि) अविद्या अन्धकारों में से पार करने वाले यथार्थ बलवान् पुरुष ही (यज्ञाः अभवन्) यज्ञ, प्रजापति हैं। और (तरसां) उन विज्ञान या कष्टों से पार होने के उपायों को दिखाने वाले पुरुषों की (वशा) यह वशा पृथ्वी ही (चक्षुः अभवत्) चक्षु है। स्तोमो वै तरः तां० ११ । ४ । २ ॥

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत् ।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥

भा०—(वशा) वशा यह पृथ्वी (यज्ञम्) यज्ञमय प्रजापति को (प्रति अगृह्णात्) स्वयं स्वीकार करती है। (वशा सूर्यम् अधारयत्) सूर्य और उसके समान प्रतापी तेजस्वी राजा को अपने ऊपर धारण करती है। वीरभोग्या वसुन्धरा। (ओदनः) सर्वोच्च आसन पर बैठने वाला प्रजापति राजा ही (वशायाम्) इस पृथ्वी के (अन्तः) भीतर, गर्भ में (ब्रह्मणा) ब्रह्म, ब्राह्मण-बल के सहित (अविशत्) प्रविष्ट होता है। २३ ऋचा में जो वशा का गर्भ बतलाया है उसको यह मन्त्र स्पष्ट करता है।

परमेष्ठी वा एष यदोदनः। तै० १ । ७ । १० । ६॥ प्रजापतिर्वा ओदनः। श० १३ । ३ । ६ । ७ ॥ रेतो वा ओदनः। श० १३ । १ । १ । ४ ॥

सर्वोच्च आसन पर विराजमान, प्रजापालक राजा का नाम 'ओदन' है।

२५–(द्वि०) 'वशा यज्ञमधारयत्' इति पैप्प० सं०।

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः ॥ २६ ॥

भा०—विद्वान् लोग (वशाम् एव) वशा को ही (अमृतम् आहुः) 'अमृत' कहते हैं और (वशाम्) वशा को ही (मृत्युम्) मृत्यु रूप से (उपासते) उपासना करते हैं । (इदं सर्वम्) यह सब कुछ (वशा अभवत्) वशा ही है (देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः) जो देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषिगण हैं । अर्थात् पृथ्वी अमर जीवनमय है वही सबके मृत्युस्थली है सब प्राणी यहीं रहते हैं वही सब 'वशा' ही है । अर्थात् पृथ्वी से ही पृथ्वी के निवासी भी लिये जाते हैं ।

य एवं विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ।
तथा हि यज्ञः सर्वपाद् दुहे दात्रेनपस्फुरन् ॥ २७ ॥

भा०—(यः एवं विद्यात्) जो इस प्रकार का तत्त्व जान लेता है (सः) वह (वशां प्रतिगृह्णीयात्) वशा पृथ्वी को स्वीकार करने में समर्थ है । (तथा दात्रे) इसी प्रकार के जाननेहारे दाता के लिये (यज्ञः) यज्ञमय राष्ट्र (सर्वपात्) सर्व चरणों से सम्पन्न होकर (अनपस्फुरन्) बिना व्याकुल हुए ही (दुहे) सब फल प्रदान करता है ।

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥ २८ ॥

भा०—(वरुणस्य) वरुण, सर्वश्रेष्ठ राजा के (आसनि) मुख के (अन्तः) भीतर (तिस्रः) तीन जिह्वाएं, ज्वालाएं (दीद्यति) चमका करती हैं । (तासाम्) उनके (मध्ये) बीच में (या) जो (राजति) सब से अधिक उज्वल होकर चमकती है (सा) वह (वशा) 'वशा'

२६–'वशामेवामृतम्' इति पैप्प० सं० ।
२७ (च०) 'दुहः प्रति' इति क्वचित् ।

वशकारिणी शक्ति है (दुष्प्रतिग्रहा) उसका प्रतिग्रह करना, स्वीकार करना और वश करना बड़ा कठिन कार्य है।

चतुर्धा रेतो अभवद् वशायाः ।
आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥ २९ ॥

भा०—(वशायाः) उस 'वशा' पृथ्वी का (रेतः) उत्पादक वीर्य, (चतुर्धा) चार प्रकार से विभक्त (अभवत्) होता है। (तुरीयम् आपः) एक चतुर्थांश 'आप' जल (तुरीयं अमृतम्) एक चौथाई भाग अमृत=अन्न (तुरीय यज्ञ) एक चौथाई भाग 'यज्ञ' और (तुरीय पशवः) एक चौथाई भाग 'पशु' हैं।

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः ।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥ ३० ॥

भा०—(वशा द्यौः) वशा यह सूर्य है, (वशा पृथिवी) वशा पृथिवी है। (प्रजापति) प्रजा का पालक (विष्णुः) परमात्मा स्वयं (वशा) वशा है। (वशायाः) वशा के (दुग्धम्) दूध को (साध्या) साधन सम्पन्न (ये वसवः च) जो प्राणी हैं वे ही (अपिबन्) प्राप्त करते और पान करते हैं।

वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये ।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥ ३१ ॥

भा०—(ये साध्याः) जो साधनसम्पन्न, साधनावान् (वसवः) वास करनेहारे प्राणी हैं वे (वशायाः) इस उक्त वशा का (दुग्धम्) उत्पादित जल, अन्न, यज्ञ, पशु आदि से उत्पादित भोग्य पदार्थ को (पीत्वा) पान कर, भोग करके, (ते) वे (ब्रध्नस्य) सूर्य के (विष्टपि) विशेष

३१—'इमे ब्रध्नस्य' इति पैप्प० सं०।

प्रकाश में (अस्याः) इसके (पयः) पुष्टिकारक पदार्थों का (उपासते) लाभ करते हैं ।

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते ।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥ ३२ ॥

भा०—(एके) एक विद्वान्गण (एनाम्) इस वशा से (सोमम्) सोम समान रोग दूर ओषधियों को या राजा को ही (दुह्रे) उत्पन्न करते और उसको प्राप्त करते हैं और (एके) दूसरे लोग (घृतम्) उसके पुष्टि-कारक अन्न को (उपासते) उपभोग करते हैं । (एवं विदुषे) इस प्रकार के तत्व को जानने वाले विद्वान् के हाथों (ये) जो (वशां) इस पृथ्वी को (ददुः) सौंपते हैं (ते) वे (दिवः त्रिदिवं गताः) परम द्यौलोक में स्थित सर्वोत्तम लोक को प्राप्त होते हैं ।

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते ।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्मायो तपः ॥ ३३ ॥

भा०—(ब्राह्मणेभ्यः वशां दत्वा) ब्रह्म, वेद के जानने वाले विद्वान् पुरुषों को उक्त 'वशा' का दान करके दाता (सर्वान् लोकान् सम् अश्नुते) समस्त लोकों का सुख से भोग करता है । (अस्याम्) इस 'वशा' पर (ऋतम्) ऋत, सत्यज्ञान (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान और (तपः) तप (आर्पितम्) आश्रित है ।

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या/उत ।
वशेदं सर्वमभवद् यावत् सूर्यो विपश्यति ॥ ३४ ॥ (३५)

भा०—(देवाः) देव, विद्वान्गण (वशाम्) वशा के आधार पर (उप जीवन्ति) जीवन धारण करते हैं । (उत वशाम् मनुष्याः) और मनुष्य

३२–(द्वि०) ' यः । एवं ' इति पदपाठश्चिन्त्यः ।

३३–' वशां दत्वा ब्राह्मणेभ्यः ' इति पैप्प० सं० ।

भी इस वशा, पृथ्वी के आधार पर जीते हैं। (यावत् सूर्य विपश्यति) जितने भी लोक को सूर्य प्रकाशित करता है (इदं सर्वं वशा अभवत्) यह सब 'वशा' ही है।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् , ऋचश्चैकषष्टिः ।]

इति दशमं काण्डं समाप्तम् ।

[दशमे दश सूक्तानि ऋच. सार्धशतत्रयम्]

बाण-वस्वङ्क-चन्द्राब्दे चैत्र शुक्ले द्वितीयके ।
भृगौ काण्डं च दशमं पूर्तिमापदथर्वणः ॥

॥ ओ३म् ॥

अथैकादशं काण्डम्

[१] ब्रह्मौदन रूप से प्रजापति के स्वरूपों का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्मौदनो देवता । १ अनुष्टुब्गर्भा भुरिक् पंक्तिः, २, ५ बृहतीगर्भा विराट्, ३ चतुष्पदा शाक्वरगर्भा जगती, ४, १५, १६ भुरिक्, ६ उष्णिक्, ८ विराड्गायत्री, ९ शाक्वरातिजागतगर्भा जगती, १० विराट् पुरोऽतिजगती विराड् जगती, ११ अतिजगती, १७, २१, २४, २६, २८ विराड्जगत्यः, १८ अति-जागतगर्भापरातिजागताविराडतिजगती, २० अतिजागतगर्भापरा शाक्वराचतुष्पदा-भुरिक् जगती, २९, ३१ भुरिक्, २७ अतिजागतगर्भा जगती, २५ चतुष्पात् ककुम्मत्युष्णिक्, ३६ पुरोविराड्, ३७ विराट् जगती, ७, १२, १४, १९, २२, २३, ३०—३४ त्रिष्टुभः । सप्तत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! प्रकाशमान! परमेश्वर, सबसे आगे विद्यमान! तू (जायस्व) सृष्टि को उत्पन्न करता है। (अदितिः) अखण्डित प्रकृति जो समस्त सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि पांचों भूतों, वसु रुद्र आदित्य आदि को उत्पन्न करने वाली है वह (पुत्रकामा) पुत्र की कामना करने वाली स्त्री के समान स्वयं (पुत्र-कामा) पुरुष के नाना रूप जीवों को उत्पन्न करने की अभिलाषा करती हुई (नाथिता[१]) ऐश्वर्यसम्पन्न होकर, ईश्वर की शक्ति और उसके बल वीर्य से युक्त होकर (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्ममय, ब्रह्म की

---

[१] १—१. नाधृ नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु । इति धातुः ।

'पुं-त्र'=पुरुषों की रक्षा करे ऐसे पुरुष की कामना करती हुई (ब्रह्मौदनं पचति) ब्रह्मशक्ति से युक्त प्रजापति—राजा को परिपक्व कर रही है (भूतकृतः सप्त ऋषयः) प्राणियों को उत्पन्न करने और उन पर अनुग्रह करने हारे सात मरीचि, अत्रि आदि ऋषि लोग (प्रजया सह) प्रजा के साथ (इह-त्वा) इस भूतल पर तुझे (मन्थन्तु) मथन करें।

कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून्॥२॥

ऋ० ३। २९। ९॥

भा०—हे (वृषणः) वर्षण करने हारे, समस्त कामना के पूरक वीर्यवान् (सखायः) मित्रगणो ! आप लोग (धूमम्) शत्रु को कंपाने वाले इस वीर्यवान् पुरुष को (कृणुत) सम्पन्न करो, बढ़ाओ, उत्पन्न करो। यह (अद्रोघाविता) न द्रोह करने वालों की रक्षा करने हारा है। इसकी (वाचम् अच्छ) वाणी के प्रति तुम ध्यान दो। अथवा (वाचमच्छ अद्रोघाविता) इसकी वाणी के या आज्ञा के प्रति द्रोह न करने वाले मित्रजनों की यह रक्षा करता है। (अयम्) यह (अग्निः) शत्रुतापक स्वभाव वाला अग्नि के समान तेजस्वी (सुवीरः) उत्तम वीर (पृतनाषाट्) समस्त शत्रु सेनाओं को दबाने हारा है। (येन) जिसके बल से (देवाः) देवगण (दस्यून् असहन्त) विनाशकारी दुष्टों को पराजित करते हैं।

अग्नेजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नियच्छ॥३॥

२–(प्र०) 'कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्रेधन्त इतन वाजमच्छ' (च०) 'देवासो' इति ऋ०। ऋग्वेदे विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। 'देवा असहन्त शत्रून्' इति पैप्प० सं०।

३–(द्वि०) 'पक्तवे' (तृ०) 'सप्तर्षयो', 'अजनयन्नस्मै……नियच्छतात्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (महते वीर्याय) बड़े भारी वीर्य सामर्थ्य के लिये (प्र जनिष्ठा.) उत्पन्न हो । हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ विद्वान् या ऐश्वर्यवान् जातवेद ! तू (महौदनाय पक्वे) महाशक्ति, विज्ञान द्वारा प्रजापति पद को परिपक्व या दृढ़ करने के लिये (प्र जनिष्ठाः) उत्पन्न हो । (ते भूतकृतः सप्त ऋषयः) वे प्राणियों की सृष्टि करने, उनको व्यवस्थित करने वाले, सात ऋषि जन (त्वा अजीजनन्) तुझको उत्पन्न करते हैं । (अस्यै) इस पृथ्वी के लिये तू (सर्ववीरं रयिम्) सब प्रकार के वीर-जनों से युक्त रयि सामर्थ्य, यश और बल को (नि यच्छ) नियमित कर, व्यवस्थित कर ।

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः ।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! अग्ने ! जिस प्रकार (समिधा) काष्ठ से अग्नि (समिद्धः) खूब प्रज्वलित हो जाता है उसी प्रकार तू (सम्-इधा) समग्र तेज से (समिद्धः) अति प्रदीप्त होकर (सम् इध्यस्व) प्रकाशित हो । तू (विद्वान्) ज्ञानी, विद्यावान् होकर (इह) इस राष्ट्र में (यज्ञियान्) यज्ञ, राष्ट्रयज्ञ के योग्य (देवान्) उत्तम देव, विद्वान् और सुसभ्य शासकों को (आ वक्षः) धारण कर, स्थापित कर । हे (जात-वेदः) विद्वन् ! ऐश्वर्यवन् राजन् ! (तेभ्यः) उन उत्तम शासकों के लिये मैं राष्ट्रवासी (हविः) अन्न आदि पदार्थ (श्रपयम्) पकाता हूं । (इमम्) इस राजा को (उत्तमम्) उत्तम उत्कृष्ट (नाकम्) सुखमय राज्य को (अधिरोहय) चढ़ा ।

४–(द्वि०) 'विश्वा देवान्' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'समिद्धः स' इति सायणाभिमतः पाठः ।

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् ।
अंशाञ्जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥५॥

भा०—(यः) जो (पुरा) पहले ही (त्रेधा भागः) तीन प्रकार के भाग (निहितः) बना कर रखे गये हैं एक (देवानाम्) देव, राज-शासकों के लिये दूसरा (पितॄणाम्) प्रजा के पालक आचार्य और वानप्रस्थी, माता पिता पितामह आदि का और तीसरा (मर्त्यानाम्) साधारण अन्य मनुष्यों का, अतिथियों का और गृह-वासियों का, हे देव, पितर और मर्त्यजनो ! (अहम्) मैं गृह-स्वामी या परमात्मा (वः) आप लोगों के (तान्) उन भागों को (वि भजामि) विशेष रूप से पृथक् २ कर देता हूं । आप लोग अपने २ (अंशान्) अंशों को (जानीध्वम्) पृथक् २ जान लें । (यः) जो (देवानाम्) देवों शासकों का भाग है (सः) वह (इमाम्) इस पृथ्वी को (पारयाति) पालन करता है ।

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् ।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥ ६ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! तू (सहस्वान्) शत्रु के दबाने वाले 'सहः' बल से सम्पन्न होकर (अभिभूः इत् अभि असि) सब प्रकार से शत्रु को दबाने में समर्थ हो जाता है । (अतः) तू (द्विषतः) द्वेष करने हारे (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचः) नीचे (नि उब्ज) दबा । (इयम्) यह (मात्रा) विशेष परिमाण (मीयमाना) मापा जाता हुआ और (मिता च) परिमित होकर (ते) तेरे (सजातान्) साथ उन्नति को प्राप्त हुए अन्य राजाओं को (बलिहृतः) कर देने वाला (कृणोतु) करे । अथवा (इयम्) यह राजशाला या नगर की कोट (मात्रा) निर्माण

५–(प्र०) 'निहितो जातवेदः' (द्वि०) 'पितॄणामुत मर्त्यानां' (च०) 'सेमं पार-' इति पैप्प० सं० ।

करने हार शिल्पी द्वारा मापी गयी और तैयार होकर तेरे साथ उन्नत लोगों को करप्रद करे ।

साकं संजातैः पयसा सहैध्युदु॑ब्जैनां महते वीर्याय ।
ऊर्ध्वो नाक॒स्याधि॑ रोह वि॒ष्टपं॑ स्व॒र्गो लो॒क इति॒ यं वद॑न्ति ॥ ७ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (पयसा) अपने वीर्य, क्षात्र बल से (सजातैः) अपने साथ उत्पन्न, उन्नत पदको प्राप्त मित्र राजा और बन्धु और सहोत्थायी लोगों के (साकम्) साथ (एधि) प्रबल बना रह । और (महते वीर्याय) अपने बड़े भारी बलको बढ़ा लेने के लिये (एनाम्) इस पृथ्वी को, राष्ट्र को या प्रजा को (उद् उब्ज) उन्नत कर । (नाकस्य विष्टपम्) सुखमय राज्य के विशेष तेजस्वी उस आसन या राजसिंहासन पर (ऊर्ध्वः) तू स्वयं उच्च होकर (अधिरोह) चढ़ (यम्) जिसको (स्वर्गो लोकः) लोग स्वर्गलोक तक भी (वदन्ति) कह देते हैं । अर्द्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः इति कालिदासः । पयो हि रेतः । ६ । ५ । ११ । ५६ ॥ अग्निः तां गां सं बभूव । तस्यां रेत प्रासिञ्चत् । तत्पयोऽभवत् । श० २ । २ । ४ । १५ ॥ क्षत्रं वै पयः । श० १२ । ७ । ३ । ८ । ८ ॥ समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं च उभयं हि अग्निरेतसं । श० ३ । २ । ४ । ८ ॥ अर्थात् राजा का वीर्य, क्षात्रबल 'पयः' कहाता है ।

इयं मही प्रति॑ गृह्णातु॒ चर्म॑ पृथि॒वी दे॒वी सु॑मन॒स्यमा॑ना ।
अथ॑ गच्छेम सु॒कृत॑स्य लो॒कम् ॥ ८ ॥

भा०—(इयं मही) यह विशाल, पूजनीय (पृथिवी) पृथिवी (देवी) अन्नादि देनेहारी (सुमनस्यमाना) शुभ संकल्पवान्, सौम्य चित्त वाली होकर (चर्म प्रतिगृह्णातु) चर्म, चरण, सेना आदि के सम्मान को स्वीकार

७–' साकं सुजाते. ' इति, (तृ०) ' विष्टा. ' इति पैप्प० सं० ।
८–(द्वि०) ' पृथिव्यै ' (तृ०) ' सुकृतामुलोकम् ' इति पैप्प० सं० ।

करे। (अथ) और उसके बाद हम राष्ट्र वासीजन (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य के लोक को (गच्छेम) प्राप्त हों।

अथवा—गृहस्थपक्ष में यह पृथ्वी शुभ चित्त होकर हमारे बिछाये चर्म को स्वीकार करे। हम पुण्य लोक को प्राप्त हों, जिस प्रकार चर्म बिछा कर अन्न ऊखल में कूटते हैं और उसी प्रकार सेना की व्यवस्था फैला कर फिर राजा कर आदि प्राप्त करे।

'चर्म=' चरतेर्मनिन्नौणादिकः। चरति येन स चर्म इति दयानन्दः।

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु। अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥ ६ ॥

भा०—हे ऋत्विक् (चर्मणि) चर्म पर (सयुजा) सदा साथ रहने वाले (एतौ ग्रावाणौ) इन दोनों 'ग्रावा' ऊखल और मुसल को (युङ्ग्धि) जोड़ और (अंशून्) अन्न के कणों को (यजमानाय) यज्ञ करनेहारे गृहपति के लिये (साधु) उत्तम प्रकार से (निः भिन्धि) कूट।

राजपक्ष में—हे पुरोहित ! अमात्य ! तू (एतौ ग्रावाणौ) इन दोनों (स-युजौ) सदा साथ रहने वाले क्षत्रिय और वैश्य प्रजा अथवा राजा और प्रजा दोनों को (युङ्ग्धि) परस्पर मिला। और (यजमानाय) राष्ट्रपति के लिये (अंशून्) तेजोमय, पुष्टिकारक अन्नादि पदार्थों को (निर्भिन्धि) बल से प्राप्त कर। विशो वै ग्रावाणः। श० ३। ७। १। वज्रो वै ग्रावा। श० ११। ५। १। ७॥ क्षत्रं वै प्रस्तरः। श० १। ३। ४। १।

हे पत्नि ! (अवघ्नती) मूसल का प्रहार करती हुई तू (यः) जो (इमाम्) इस प्रजा को (पृतन्यवः) सेना लेकर विनाश करना चाहते हैं उनको (निजहि) सर्वथा विनाश कर। इसी प्रकार हे सेने ! तू प्रहार करती हुई स्वयं प्रजा के विनाशक लोगों का विनाश कर। हे राजन् ! तू गृहपति

के समान और हे पृथ्वी ! तू पत्नी के समान (ऊर्ध्वं) अपने ऊपर (प्रजाम् उद्भरन्ती) प्रजा को धारण पोषण करती हुई (उदूह) उन्नत कर ।

गृहा॒ण॒ ग्रावा॑णौ स॒कृतौ॑ वीर॒ हस्त॒ आ ते॑ दे॒वा य॒ज्ञिया॑ य॒ज्ञमगुः॑ ।
त्रयो॒ वरा॒ यत॒मास्त्वं वृ॑णी॒षे तास्ते॒ समृ॑द्धीरि॒ह रा॑धयामि ॥१०॥ (१)

भा०—हे वीर ! राजन् ! गृहपते ! (सकृतौ) एक स्थान पर रखे हुए (ग्रावाणौ) ऊखल और मूसल दोनों को (हस्ते) हाथ में (गृहाण) पकड़ । अर्थात् क्षत्रियों और प्रजाओं दोनों को अपने वश में रख । (यज्ञियाः) यज्ञ करने या राष्ट्र पालन में समर्थ (देवाः) विद्वान् देव तुल्य शासक लोग (ते यज्ञम् अगुः) तेरे यज्ञ में प्राप्त हों । (यतमान्) जिन २ वरण करने योग्य श्रेष्ठ पुरुषों को (त्वं) तू (वृणीषे) वरण करता है वे (त्रय वराः) तीन वर, श्रेष्ठ पुरुष हैं । (ताः) उन नाना प्रकार की (समृद्धीः) सम्पत्तियों को (ते) तेरे लिये मैं (राधयामि) प्राप्त कराता हूं ।

इ॒यं ते॒ धीति॑रि॒दमु॑ ते ज॒नित्रं॑ गृ॒ह्णातु॒ त्वामदि॑तिः॒ शूर॑पुत्रा ।
परा॑ पुनीहि॒ य इ॒मां पृ॑त॒न्यवो॒ऽस्यै र॒यिं सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छ ॥ ११ ॥

भा०—हे राजन् ! (इयम्) यह प्रजा (ते) तेरी (धीतिः) माता के दुग्ध पान करने के समान है । (इदम् उ ते) यह ही तेरा (जनित्रम्) उत्पन्न होने का स्थान है (त्वाम्) तुझको (शूरपुत्रा) तेरे समान शूरवीर पुत्र से युक्त होकर यह (अदितिः) पृथिवी (त्वाम्) तुझे (गृह्णातु) स्वीकार करे । (ये) जो लोग (इमां) इस पृथ्वी या पृथ्वी पर वासिनी प्रजा को (पृतन्यवः) सेना संग्रामों द्वारा कष्ट देना चाहते हैं उनको (परा पुनीहि) दूर कर डाल । (अस्यै) इसको (सर्ववीरम्) समस्त वीर पुरुष रूप (रयिं) धन को (नियच्छ) नियम में बांध या इसे प्रदान कर । राजा को प्रजा

१०–' ग्रावाणौ सयुजौ ', ' हस्ता ' इति पैप्प० सं० ।
११–(च०) ' नियच्छान् ' इति पैप्प० सं० ।

स्वीकार करे यही उसका पृथ्वी माता से उत्पन्न होना उसका दुग्ध पान करने के समान है। वह उसके शत्रुओं को धुन डाले और सब प्रजावासी वीरों से सेना बल बढ़ावे।

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (यूयं) आप लोग (द्रुवये) धनैश्वर्य और स्थिर (उपश्वसे) जीवनयात्रा के लिये (सीदत) बैठो । हे (यज्ञियासः) पूजनीय पुरुषो ! आप लोग (तुषैः) तुष के समान तुच्छ लोगों से (वि विच्यध्वम्) पृथक् होकर रहो । हम उत्तम पुरुष (श्रिया) लक्ष्मी और धन की सत्ता में (समानान्) समान कोटि के लोगों में से (सर्वान्) सब से (अति स्याम) अधिक श्रेष्ठ हों। और मैं राजा (द्विषतः) अपने से द्वेष करने वाले पुरुषों को (अधः पदम्) नीचे के स्थान में (आ पादयामि) गिरा दूं । राजा अपनी प्रजाओं को स्थिर आजीविका दे, उत्तम लोगों को नीच लोगों से अलग रहने का उपदेश करे, जिससे प्रजा के लोग धनादि में समानों से भी गुणों में श्रेष्ठ बनें, और शत्रुओं को नीचे गिरावे ।

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वां गोष्ठोध्यरुक्षद् भराय ।
तासां गृह्णिताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥

भा०—पनिहारी के दृष्टान्त से राजसभा के कार्यों का उपदेश करते हैं । हे (नारि) नर—नेताओं की बनी सभे ! (परा इहि) तू दूर तक

१२–(प्र०) 'ध्रुवये' इति सायणाभिमतः, बहुत्र च पाठः ।
१३–(तृ०) 'यज्ञियासन्', (च०) 'विभज्य, धीरीतरा जहीत' इति पैप्प० सं० ।

जा, दूर तक देख। और फिर अपने केन्द्र स्थान में आजा। (त्वा) तेरे ऊपर (अपां) आप, ज्ञान, कर्म या आप्त पुरुषों का (गोष्ठः[1]) समूह (भराय) तुझे पुष्ट करने के लिये (त्वा अधि अरुक्षत्) तेरे ऊपर विराजमान है। (तासां) उन आपः-कर्मों प्रजाओं में से (यतमाः) जो २ (यज्ञियाः) पूजनीय, श्रेष्ठ प्रजाएं (असन्) हों उनको हे सभे! तू (गृह्णीतात्) ग्रहण कर और (धीरी) बुद्धिमती तू उनको (विभाज्य) अच्छों से पृथक् करके (इतराः) औरों को (अहीनात्) त्याग दे।

पनिहारी के पक्ष में—हे नारि (परेहि) जा और फिर शीघ्र आ। (अपां गोष्ठं त्वा भराय अधि अरुक्षत्) जलों का भरा घट तेरे सिर पर रखा है। जो उत्तम जल हों उनको ले ले और नीचे जो मलिन जल हों उनको तू बुद्धिमती त्याग दे।

एमा अंगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥१४॥

भा०—पत्नी और अन्य स्त्रियों के प्रति दृष्टान्त से राजसभा के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं। (इमाः योषितः) ये स्त्रियां (शुम्भमाना, आ अगुः) शोभित होकर वस्त्र अलंकारादि से सज कर आती हैं। (हे नारि उत्तिष्ठ तवसं रभस्व) हे नारि! पत्नी! तू बलवान् पुरुष को अपना पतिस्वरूप प्राप्त कर। (पत्या सुपत्नी) उत्तम पति के द्वारा ही स्त्री सुपत्नी अर्थात् उत्तम पत्नी कहाती है। और (प्रजया प्रजावती) उत्तम प्रजा सन्तान से स्त्री प्रजावती कहाती है। (यज्ञः त्वा अगन्) यज्ञ अर्थात् सत् पुरुष का लाभ तुझे प्राप्त हुआ है (कुम्भं प्रति गृभाय) जल से भरे कुम्भ को ग्रहण कर और उसकी पूजा सत्कार कर।

---

१ 'गोष्ठः' छान्दस गत्वम्। 'कायाः,' गाठान्तरं।

१४—तवः। मरभस्वेति सायणाभिमतः पदच्छेदः। 'तवस। रभस्व' इति पदपाठः।

राजसभा पक्ष में—(इमाः योषितः) ये प्रजाएं (शुम्भमानाः) सुशोभित होकर (आ अगुः) प्राप्त होती हैं। हे (नारि) नेतृजनों की सभे! (तवसम्) बलवान् राजा को अपना पति स्वामी रूप (रभस्व) प्राप्त कर। तू (पत्या) अपने पति रूप राजा से (सुपत्नी) उत्तम पत्नी के समान उसके राष्ट्र को उत्तम रूप से पालन करने हारी है और राष्ट्र की (प्रजया) प्रजा से ही (प्रजावती) प्रजावती है। (यज्ञः त्वा आ अगन्) यज्ञरूप प्रजापति तुझे प्राप्त हुआ है। (कुम्भं प्रति गृभाय) कुम्भ रूप राष्ट्र को स्वयं स्वीकार कर। राष्ट्रं द्रोणकलशः। तां० ६। ६। १॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु १५

भा०—हे (अपः) जल के समान स्वच्छ आप्त प्रजाओ! (यः) जो (वः ऊर्जः भागः) तुम्हारा ऊर्ज-बल और अन्न का नियत भाग (निहितः) निश्चित किया गया है वह ही निश्चित है। हे सभे! (ऋषिप्रशिष्टा) ऋषि तत्त्व-ज्ञानी, वेदार्थद्रष्टा विद्वानों से शासित होकर तू (पुनः) उन (अपः) प्रजाओं को (आ भर) प्राप्त कर, पालन कर। (अयम्) यह (यज्ञः) राष्ट्र या प्रजापति के समान राजा (गातुवित्) सब मार्गों का जानने वाला, (नाथवित्) ऐश्वर्य का प्राप्त करने वाला (प्रजावित्) प्रजा को प्राप्त करने वाला और (पशुवित्) पशुओं को प्राप्त करने वाला और (वः) तुम्हारे लिये वीरों को प्राप्त करने वाला (अस्तु) हो।

गृहपतिपक्ष में—हे जलो! तुम्हारा सारवान् भाग इस कलश में रखा है। हे नारि! तू ऋषि से अनुशासित होकर जलों को भर। यह यज्ञ अर्थात् उत्तम मार्ग, ऐश्वर्य, प्रजा, पशु और वीर पुत्र को प्राप्त कराने वाला है।

१५-(प्र०) 'निहतः', '-प्रशिष्टाना हरेताः' इति (तृ०) 'नाथ-वित् गातुवित्' इति पैप्प० सं०।

अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
आर्षेया दैवा अभिसङ्गत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥१६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ' अग्नि के समान तेजस्वी राजन् ' (यज्ञिय. चरु) यज्ञसम्बन्धी चरु, भात जिस प्रकार अग्नि पर पकाने के लिये रख दिया जाता है उसी प्रकार यह ' यज्ञिय, चरु ' राष्ट्र सम्बन्धी वीर्य, तेज, या राष्ट्ररूप कलश (शुचि) शुद्ध (तपिष्ठ) दुष्टों को ताप देने वाला, (त्वा अधि अरुक्षत्) तुझे प्राप्त हुआ है। (एनम्) इसे अपने (तपसा) तेज से (तप) तपा और उज्ज्वल कर। (आर्षेया) ऋषियों से, विद्वानों से उत्पन्न (दैवाः) ऋषि और विद्वान् पुरुष ही स्वयं (तपिष्ठा) तपस्वी होकर (इमम्) इस (भागम्) राष्ट्र के भाग को (ऋतुभिः) ऋतु ज्ञानी सभा के सदस्यों द्वारा (तपन्तु) तपावें और उज्ज्वल करें, परिपक्व करें।

ऋतव. – सदस्या ऋतवोऽभवन् । तै० ३ । १२ । ७ । ४ ॥ ऋतवः पितरः । कौ० ५ । ७ ॥ ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य । ऐ० १ । १३ ॥ ऋतवो वै देवा. । श० ७ । २ । ४ । २६ ॥ सदस्य, पितर, देव, राजा के राजवंशी भ्राता लोग ' ऋतु ' शब्द से कहे जाते हैं । ' ओदन चरु । ' श० ४ । ४ । २ । १ ॥ रेतो वा ओदन. । श० १३ । १ । १ । ४ ॥

शुद्धा पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥१७॥

१६-(तृ०) ' देवाभिसगत्य ' इति पैप्प० स० ।

१७ (द्वि०) ' प्रजा बहुलाम् ' इति बहुत्र । ' पक्वौदनस्य ' इति सायणाभिमत पाठः । (तृ०) ' ददत्प्रजाम् ' (च०) ' सुकृतामेति ' इति पैप्प० स० । 'अदु प्रजा बहुलाश्च पशून् न पक्वौदनस्य' इति रोकृहैइटनिसम्मत पाठः ।

भा०—(इमाः) ये (शुद्धाः) शुद्ध, मल रहित निष्पाप (यज्ञियाः) यज्ञ के योग्य, पवित्र (योषितः) स्त्रियां और उनके समान अनिन्दित और (आपः) आप, जलों के समान स्वच्छ हृदय वाली (शुभ्राः) सुन्दर गुण, अलंकार और वस्त्रों से सजी प्रजाएं (चरुम्) इस चरु रूप राष्ट्र में (अव-सर्पन्तु) आवें। और (नः) हमें (प्रजाम्) उत्तम सन्तान (बहुलान् पशून्) बहुतसे पशुओं को (अदुः) प्रदान करें । ऐसे (ओदनस्य पक्ता) भात रूप राष्ट्र के क्षात्र बल के परिपाक करने वाला राजा (सुकृताम्) पुण्य आचारवान् पुरुषों के (लोकम्) उत्तम लोक को (एतु) प्राप्त हो ।

प्रति दृष्टान्त में यज्ञ के निमित्त पकाये भात में शुद्ध जलों को डाले और ओदन तैयार करे । वह पुष्टिकारक, प्रजाप्रद होता है ।

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥ १८ ॥

भा०—(इमे) ये (यज्ञियाः) राष्ट्ररूप यज्ञ के योग्य (तण्डुलाः) तण्डुल, पके भात के समान स्वच्छ, परिपक्व, राष्ट्र के निवासी, शिक्षित सैनिक युवक (सोमस्य) सब के प्रवर्त्तक राजा के (अंशवः) भाग हैं । ये (ब्रह्मणा) ब्राह्म बल, वेदज्ञान से (शुद्धाः) पवित्र और (घृतेन) घृत, तेज, ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज से (पूताः) पवित्र हैं । हे (अपः) जल के समान स्वच्छ प्रजाओ ! तुम (प्र विशत) राष्ट्र में प्रवेश करो । (वः) तुमको (चरुः) यह ओदन का भाण्डरूप राष्ट्र (प्रति गृह्णातु) स्वीकार करे । तुम सब (इमम्) इसको (पक्त्वा) पका कर, परिपक्व, कार्यदक्ष करके (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकम् एत) लोक को प्राप्त होओ ।

---

१८ (च०) 'सुकृतामेतु', इति क्वचित् । (प्र०) 'शुद्धा उत्पूताः' (तृ०) 'आप प्रविशत' इति पैप्प० सं० ।

प्रतिदृष्टान्त में—ब्रह्म अर्थात् वेद मन्त्र से शुद्ध और घृत से पवित्र ये यज्ञ के योग्य तण्डुल सोम के ही भाग हैं । हे जलो! उनमें प्रविष्ट होओ और भात को पका कर पुण्य-लोकों को प्राप्त होओ ।

' तण्डुला '—वसूनां वा एतद् रूपं यत्तण्डुला' । तै० ३ । ८ । ४ । ३ ॥ वसु, राष्ट्र के वासी ' तण्डुल ' हैं । तण्डति, ताडयति इति तण्डुल., इति दयानन्द. । दुष्टों के ताड़न करने हारा ' तण्डुल ' है । वृञ ज्ञुटि तनिताडिभ्यश्च उलच तण्डश्च [उणा० ४ । ६] राजा को घेरने या पहियों को धारण करने वाले, शत्रुओं को लूटने वाले, धनुष् को तानने और दुष्टों को ताड़ना करने वाले पुरुष ' तण्डुल ' कहाते हैं ।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ १६ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (उरु·) सब से बड़ा होकर (महता महिम्ना) बड़े भारी ऐश्वर्य से (प्रथस्व) बढ़ । तू (सुकृतस्य लोके) पुण्य के लोक में (सहस्रपृष्ठः) सहस्रों पीठों से युक्त, सहस्रों में बलवान्, सहस्रवीर्य है अर्थात् जैसे एक पीठवाला एक बोझ उठाने में समर्थ है वैसे तू हज़ारों प्रकार के कार्य भार उठाने में समर्थ मानों हज़ारों पीठों वाला होकर विद्यमान है । (पितामहाः) पितामह, दादा लोग, (पितर.) पिता लोग (प्रजाः) सन्तान और (उपजाः) सन्तानों की भी सन्तान हों और (अहम्) मैं (पक्ता) सब का परिपाक करने वाला स्वयं (पञ्चदशः) पन्द्रहवां अर्थात् वीर क्षत्रिय पन्द्रहवें स्तोम का भागी होकर (अस्मि) रहूं ।

' पञ्चदशः '—क्षत्रं पञ्चदश । ऐ० ८ । ४ ॥ तस्माद् राजन्यस्य पञ्चदशः स्तोम· । राज्य के १५ विभागों के ऊपर १५ वां राजा है ।

१६–(च०) ' पाता ' इति ब्लूम०, ' पक्ता ' इति सायण. ।

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडता-
न्मह्यमेव ॥ २० ॥ (२)

भा०—(सहस्रपृष्ठः) सहस्रों पृष्ठों वाला या सहस्रों का पोषक (शतधारः) सैकड़ों धारों वाला, शतवीर्य (अक्षितः) अविनाशी, अक्षय (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्म के बल से संयुक्त, प्रजापति अर्थात् क्षत्र बल ही (स्वर्गः) सुखमय (देवयानः) देवताओं का मार्ग है । (ते) तेरे वश में मैं (अमून् आ दधामि) उन शत्रु लोगों को रखता हूं । (एनान्) उनको (प्रजया) प्रजासहित (बलिहराय) कर देने के लिये (रेषय) पीड़ित कर, दण्डित कर । (मह्यम्) मुझ को (एव) ही (मृडतात्) सुखी कर ।

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥२१॥

भा०—हे राजन् ! हे गृहपते ! (वेदिम् उदेहि) इस पृथ्वी या पत्नी पर उदय को प्राप्त हो । और (एनां प्रजया वर्धय) इसको उत्तम प्रजा से बढ़ा । (रक्षः नुदस्व) राक्षस लोगों को दूर कर । (एनां प्रतरं धेहि) इस पृथ्वी को और इस पत्नी को अपनी नाव समझ। यही तुझको शत्रुओं के बीच और भवसागर में तरावेगी । (श्रिया समानान्) लक्ष्मी, सम्पत्ति में समान पद, सत्ता वाले अन्य (सर्वान्) सब लोगों से मैं (अति स्याम्) बढ़ जाऊं । और (द्विषतः) द्वेष करने वालों को (अधः आ पादयामि) नीचे गिराऊं ।

२०–(तृ०) 'रेशयैनान्' इति सायणः । (प्र०) 'अक्षतो' इति पैप्प० सं० ।

२१–(द्वि०) 'प्रतिरंधेह्येनम्', (तृ०) 'पत्या समानान्', (च०) 'पादेन' इति पैप्प० सं० ।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥२२॥

भा०—गृहस्थ पक्ष में—(एनाम्) इस पत्नी के पास (पशुभिः सह) पशुओं की सम्पदाओं के साथ (अभि आवार्त्तस्व) प्राप्त हो अर्थात् पशुओं के पालन सहित गृहस्थ को पाल । गृहस्थ में गाय भैंस खूब हों । और (देवताभिः) दिव्यगुण, देवस्वभाव वाले विद्वान् पुरुषों के सहित (एनाम्) इस पत्नी को (प्रत्यङ्) साक्षात् (एधि) प्राप्त हो । इसके साथ २ विद्वानों का सत्संग कर । (त्वा शपथः) तुझे दूसरे की की निन्दाएं (मा प्रापत्) प्राप्त न हों और (अभिचारः मा प्रापत्) दूसरे के आक्रमण भी तुझ पर न हों । तू (स्वे क्षेत्रे) अपने क्षेत्ररूप पत्नी ही में (अनमीवा) रोग रहित सुखी होकर (विराज) विराजमान रह ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! (पशुभिः सह एनाम् अभ्यावर्तस्व) पशु सम्पत्ति सहित इस पृथ्वी को पालन कर । (देवताभिः सह एनां प्रत्यङ् एधि) विद्वान् , देवतुल्य पुरुषों सहित इसको स्वतः प्राप्त हो । (शपथः मा, अभिचारः त्वा मा प्रापत्) लोक निन्दाएं और शत्रु के गुप्त आक्रमण तुझ तक न पहुंच पावें । तू (स्वे क्षेत्रे अनमीवाः विराज) अपने राष्ट्र के अहाते में नीरोग और बिना क्लेश के विराजमान रह ।

प्राचीन साहित्य में पृथ्वी को भी राजा की पत्नी के समान जानने के व्यापक भाव के यही मूल मन्त्र हैं । इसी आधार पर विवाह काल में पत्नी को प्राप्त करने के लिये भी वर को राजा के साज करने पड़ते हैं । और

२२–' महैनाम् प्रत्यङेनाम् ' इति सायणाभिमतः पाठः ।
(प्र०) ' अनयामहैनाम् ', (तृ० च०) स्वर्गं लोकमभिसंनिहीना-मादित्यो देव परमे व्योम [?] इति पैप्प० स० ।

पत्नी क्षेत्र है, पर क्षेत्र में भोग करने से रोग और कलह, लोक, निन्दा बढ़ती है । इत्यादि बात भी वेद ने स्पष्ट कर दी है ।

ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे ।
अंसध्रीं शुद्धामुपधेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥ २३ ॥

भा०—(ऋतेन तष्टा) ऋत सत्य ज्ञान से या वेद की व्यवस्था से बनायी गई और (मनसा) मन सत्य संकल्प से (हिता) स्थापित (ब्रह्मौदनस्य) ब्रह्मौदन ब्रह्मवीर्य से युक्त क्षात्र-बल के लिये (एषा) यह (अग्रे) सब से प्रथम में (वेदिः) वेदि, पृथ्वी (विहिता) बनायी गयी है । हे नारि ! पत्नि ! (शुद्धाम्) शुद्ध मँजी हुई (अंसध्रीम्) थाली को (उपधेहि) रख और (देवानाम्) देवों विद्वान् पुरुषों के लिये बना (तत्र ओदनं सादय) उसमें ओदन=भात रख ।

राजपक्ष में—हे नारि राजसभे ! (शुद्धाम्) शुद्ध, पवित्र निश्छल (अंसध्रीम्=अंशध्रीम्) सब के अंशों को धारण करने वाली व्यवस्था को (उपधेहि) बना, स्थापित कर (तत्र) उस पर, (देवानाम् ओदनम्) देवताओं, समस्त राष्ट्रवासी विद्वान् पुरुषों के (ओदनम्) वीर्य स्वरूप राजा को (सादय) स्थापन कर ।

अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु ॥ २४ ॥

२३–(तृ०) 'अंसध्रीम्' इति सायणाभिमतः पाठः (च०) 'दैवानाम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'देवानाम्' इत्यपि क्वचित् । (प्र०) 'मनसो हि तेषं', (द्वि०) 'निहिता' (तृ०) 'अस्मा अिदम्' अथवा 'अस्मिदम्' [?] इति पैप्प० सं० ।

२४–(प्र०) 'हस्तं,' 'द्वितीय' इति सायणाभिमतः पाठः । (द्वि०) 'सप्तर्षयः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(भूतकृत.) प्राणियों की रचना या व्यवस्था करने वाले प्रजापति रूप (सप्तऋषय) सातों ऋषियों ने (अदिते.) अदिति, अदीना देवमाता स्वरूप स्त्री के (हस्ताम्) हस्त स्वरूप (एताम्) इसको (याम्) जिसको (द्वितीया स्रुचम्) यज्ञ ' स्रुक् ' के अतिरिक्त दूसरी स्रुक् आहुति देने की क्षमता (अकृण्वन्) बनाया है। (सा) वह (दर्विः) दर्वि—कड़छी रूप स्त्री (ओदनस्य) भात के (गात्राणि विदुषी) समस्त अंगों को जानने हारी होकर (एनम्) इसको (वेद्याम् अधि चिनोतु) वेदी में उत्तम रीति से स्थापित करे।

राजपक्ष में—(भूतकृतः सप्तऋषय.) प्राणियों के उत्पादक या व्यवस्थापक सात ऋषियों ने (अदिते हस्ताम्) अदिति पृथ्वी के हस्त रूप, हनन साधन, सेना रूप (याम्) जिस (एताम्) इसको (द्वितीयां स्रुचम् अकृण्वन्) दूसरी आहुति का ' स्रुचा ' ही बनाया है। (सा दर्वि·) वह शत्रुओं को विदारण करने में समर्थ (ओदनस्य गात्राणि विदुषी) क्षात्र-बल या राजा के समस्त अंगों को जानने वाली (एनम्) इस राजा को (वेद्याम् अधि) इस पृथ्वी पर (अधि चिनोतु) स्थापित कर दे।

योषा हि स्रुक् । शत० १ । ४ । ४ । ९ ॥ बाहुर्वै स्रुचौ । श० ७ । ४ । १ । ३६ ॥ विश्वाची वेदि । घृताची स्रुक् । श० १ । २ । २ । १७ ॥

अर्थात्—गृहपत्नी का हाथ भी यज्ञ के स्रुचा के समान पवित्र है। यह स्वयं दर्वी रूप होकर ओदन को जिस प्रकार वेदी में रखती है उसी प्रकार सेना पृथ्वी के हस्तरूप युद्धयज्ञ की स्रुचा है। वह भी राजा के क्षात्र बल के सब अंगों को जानती हुई पृथ्वी पर क्षात्र-बल को प्रतिष्ठित करती है।

शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु देवा निः सृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥२५॥

भा०—भात के पक्ष में—(त्वा) तुझ (शृतम्) पके हुए (हव्यम्) हविरूप अन्न को (देवाः) देव, विद्वान् गण (उप सीदन्तु) प्राप्त हों। तू (अग्नेः निः सृप्य) अग्नि से निकल कर (पुनः, एनान् प्रसीद) फिर इन देवगण को प्रसन्न कर । तू (सोमेन) सोम रूप घी, दूध आदि से (पूतः) पवित्र होकर (ब्रह्मणां जठरे सीद) ब्राह्मणों, विद्वानों के पेट में प्रविष्ट हो । (ते आर्षेयाः) वे ऋषि तुल्य, ऋषि सन्तान विद्वान् (प्राशितारः) खाने वाले (मा रिषन्) कभी पीड़ित न हों ।

राजपक्ष में—(हव्यम्) पूजनीय (शृतम्) परिपक्क (त्वा) हे राजन् तुझको (देवाः) देव तुल्य, विद्वान्गण (उप सीदन्तु) प्राप्त हों तू (अग्नेः) अग्नि तुल्य आचार्य के समीप से या उसके सदृश तेज से (निः सृप्य) निकल कर (पुनः) फिर (एनान्) इनको (प्रसीद) प्रसन्न कर, तू (सोमेन पूतः) सोम रूप राष्ट्र से पवित्र होकर (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानी वेद के विद्वानों के (जठरे) गर्भ में, उनकी रक्षा में (सीद) रह । (ते) वे (आर्षेयाः) ऋषियों के सन्तान तेरा (प्राशितारः) भोग करने वाले, तेरी शक्ति का लाभ उठाने वाले (मा रिषन्) कभी दुष्टों से पीड़ित न हों ।

ब्रह्मौदन के प्रति दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्यों का उपदेश किया गया है ।

सोमं राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवां जोहवीमि ॥२६॥

२५-(प्र०) 'श्रुतं त्वा हविः' (द्वि०) 'अनुसृत्याग्ने पुनरेनं प्रसृप्य:' (तृ० च०) ब्राह्मणा आर्षेया' 'मार्षन्' इति पैप्प० सं० ।

२६-(द्वि०) 'एभ्यो ब्राह्मणाः', (तृ०) 'ऋषीणामृषयस्तपसोधिजाता' (च०) 'ब्रह्मौदने' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (सोम राजन्) सौम्यगुण युक्त राजन् ! (त्वा) तेरे समीप (यतमे सुब्राह्मणाः) जितने उत्तम ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मण, विद्वान् (उपसीदन्) आवें और बैठें (एभ्यः) उनके (सज्ञानम् आ वप) सम् ज्ञान को तू स्वयं प्राप्त कर। सदा संकल्प कर कि (ऋषीन्) ऋषियों को (आर्षेयान्) ऋषियों के सन्तानों और शिष्यों को जो (तपसः) तप ब्रह्म विद्या के सम्बन्ध से (जातान्) विद्वान् रूप में उत्पन्न हुए हैं उनको मैं (सुहवा) उत्तम यज्ञ सम्पादन करने द्वारा (ब्रह्मौदने) ब्रह्मौदन यज्ञ में (जोहवीमि) बुलाऊं। अर्थात् (सुहवा) उत्तम राजा अपने राष्ट्र में उन विद्वानों को बुलावे।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥२७॥

अथर्व० ६।१२२।५॥ १०।९।२७॥

भा०—(इमाः) ये (यज्ञियाः) यज्ञ के कर्म में विराजने योग्य (शुद्धाः पूताः) शुद्ध पवित्र (योषितः) स्त्रियां हैं इनको (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ब्राह्मणों के (हस्तेषु) हाथों में (पृथक् प्र सादयामि) पृथक् २ प्रदान करता हूं। (अहम्) मैं गृहपति (यत्कामः) जिस अभिलाषा से (वः) आप विद्वान् पुरुषों को (इदम्) इस प्रकार (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता, पूरा प्रतिष्ठा करता हूं (इदं) उस मनोरथ को (सः) वह (मरुत्वान्) देवों का स्वामी मरुत् सब के जीवनाधार प्राणों का स्वामी (इन्द्रः) परमेश्वर (मे ददात्) मुझे प्रदान करे।

२७-(च०) 'स ददातु तन्मे' इति अथर्व० ६।१२२।५॥ (प्र०) 'असो दर्वीमृतदेनुनो' (च०) 'तन्मे सर्वं संपद्यताम् वयं स्याम् पतयो रयीणाम्' इति अथर्व० १०।९।२७॥ (प्र०) 'इयमापो मधुमती घृतदुघा ब्रह्मणा' (तृ०) 'यत्कामेद' इति पैप्प० सं०।

राजपक्ष में—(इमा यज्ञियाः शुद्धाः पूताः योषितः) ये राष्ट्र यज्ञ में विराजने योग्य शुद्ध पवित्र प्रजाएं हैं । इनको विद्वान् ब्राह्मणों के हाथ सौंपता हूं । (यत्काम०) जिस कामना से हे विद्वान् पुरुषो ! मैं आपको अधिकार पदों पर स्थापित करता हूं, वह परमेश्वर मुझे मेरे मनोरथ पूर्ण करे । इस मन्त्र की व्याख्या देखो [अथर्व० ६ । १२२ । ५ ॥]

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ २८ ॥

भा०—(इदं हिरण्यम्) यह मनोहर सुवर्ण (अमृतं ज्योतिः) अमृत स्वरूप तेज (क्षेत्रात्) मेरे राष्ट्र रूप क्षेत्र से पक्वम्) सुपक्व रूप में (मे) मुझे प्राप्त हुआ है । (एषा) यह पृथ्वी (मे कामदुघा) मेरे समस्त कामनाओं, अभिलाषाओं को पूर्ण करने हारी है । (इदं धनम्) यह धन मैं (ब्राह्मणेषु निदधे) ब्राह्मणों में रखता हूं उनको प्रदान करता हूं । और (पितृषु) पितृजनों में (यः स्वर्गः पन्थाः) जो सुख को प्राप्त कराने वाला मार्ग है उसको (कृण्वे) मैं भी पालन करता हूं ।

गृहस्थपक्ष में—(क्षेत्रात् पक्वं) खेत में पके धान के समान मेरे क्षेत्र स्त्री से परिपक्व गर्भ रूप में प्राप्त (इदम्) यह (हिरण्यम्) सुवर्ण के समान सुन्दर, (अमृतम्) अमृत -अन्न के समान मधुर, अमर, चेतन, (ज्योतिः) पुत्र रूप तेज (मे) मुझे प्राप्त हुआ है । (एषा मे कामदुघा) यह स्त्री मेरी समस्त अभिलाषाओं को पूरा करती है । (इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे) इस धन को ब्राह्मणों को प्रदान करता हूं । (पितृषु यः स्वर्गः पन्थाः कृण्वे) मेरे परिपालक गुरु, पिता, पितामह आदि के अधीन जो मेरा सुख प्राप्त कराने वाला मार्ग, सन्मार्ग, धर्माचरण है उसको मैं पालन करता हूं ।

२८–(प्र०) 'हिरण्मयं' (च०) 'स्वर्ग्यः' इति पैप्प० सं० ।

अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम् ।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥ २९ ॥

भा०—हे पुरुष ! (तुषान्) तुषों को, तुषों के समान तुच्छ दुष्टों को (जातवेदसि अग्नौ) जातवेदा अग्नि में (आ वप) डाल दे, भस्म कर दे। और (कम्बूकान्[1]) छिलकों को (दूरम्) दूर (अप मृड्ढि) मार भगा। (एतं) इस शेष अन्न को (गृहराजस्य) घर के राजा का (भागं शुश्रुम) भाग सुनते हैं। (अथो) और तुष आदि को (निर्ऋतेः) पाप का या मृत्यु का (भागधेयम् विद्म) भाग जानते हैं।

जिस प्रकार छिलकों और तुषों को दूर करके जला दिया जाता है उसी प्रकार दुष्टों को दूर कर दिया जाय। शेष अन्न को जिस प्रकार गृहस्वामी रख लेता है उसी प्रकार राजा उनकी रक्षा करे। तुष को पापभागी समझ कर दण्ड दे।

श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।
येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमं नाकं परमं व्योम ॥३०॥ (३)

भा०—(श्राम्यतः) श्रम से, तप साधना करने हारे (पचतः) ज्ञान और आचार का परिपाक करने वाले और (सुन्वतः) ज्ञान का शिष्यों को सम्पादन कराते हुए विद्वानों को हे राजन् (त्वं विद्धि) तू भली प्रकार जान। हे ईश्वर (स्वर्गं पन्थाम् एनम् अधिरोहय) स्वर्ग, सुखकारी मार्ग पर उस को चढ़ा। (येन) जिससे (परम्) परम श्रेष्ठ (वय) आयु १०० वर्ष

२९–(द्वि०) ' अप मृड्ढयेनाम् ' ।

१. फलीकरणान् इति सायण ।

३०–(द्वि०) ' रोहयैनान् ' इति सायणाभिमतः पाठः । ' स्वर्गं लोकमधिरोहयैनम् ' इति पै० सं० ।

के जीवन को (आपद्य) प्राप्त होकर (उत्तमम्) सब से उत्कृष्ट (यत्) जो (नाकम्) सुखमय, दुःख से रहित (परमम्) परम (व्योम) रक्षास्थान, मोक्षधाम है उसको (रोहात्) प्राप्त हो ।

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान् ।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥३१॥

भा०—हे अध्वर्यो ! (बभ्रेः) प्रजा का धारण पोषण करने हारे इस (एतत् मुखम्) मुख या मुख्यस्वरूप राजा को (विमृड्ढि) साफ़ कर व उज्ज्वल और शुद्ध कर । और तू (प्रविद्वान्) प्रकृष्ट, अति अधिक विद्वान् होकर (आज्याय) आज्य क्षात्रबल के भोग के लिये इस (लोकम्) लोक को (कृणुहि) कर दे । और (घृतेन) तेज से (सर्वा गात्रा) समस्त अंगों को (विमृड्ढि) विशेष रूप से परिष्कृत कर । मैं (पितृषु) प्रजा के पालक माता, पिता, गुरु, आचार्य, राजा, राजशासक आदि लोगों के आधार पर आश्रित (यः स्वर्गः पन्थाः) जो सुखकारी मार्ग को प्राप्त करने का उपाय या मार्ग है मैं (पन्थां कृण्वे) उस मार्ग को सरल करूं ।

प्रतिदृष्टान्त में—हे अध्वर्यो ! बभ्रि=पोषक ओदन के मुख को साफ़ कर व आज्य=घी के लिये स्थान कर, उसके सब अंगों को शुद्ध कर ।

बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्यो ब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥३२॥

भा०—हे (बभ्रे) प्रजा के धारण और पोषण कर्ता राजन् ! (यतमे) जो २ श्रेष्ठ (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी लोग (त्वा) तेरे समीप (उपसीदान्) आकर बैठें, तेरी शरण लें । (एभ्यः) इनके लिये (समदम् रक्षः) दुःखदायी

३१-(द्वि०) 'कृणुहि विद्वान' इति सायणाभिमतः पाठः । 'प्रजानन्' इति पैप्प० सं० ।

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥३३॥

भा०—हे (ओदन) परमेष्ठिन्, राजन् ! (आर्षेयेषु) ऋषियों के सन्तानों और शिष्यों के बीच (त्वा) तुझे (निदधे) मैं स्थापित करता हूं। (न[1]) और (अनार्षेयाणाम् अपि) ऋषि गोत्र और प्रवरों से रहित साधारण अविद्वान् लोगों का भी (अत्र) इस राज्य में (अस्ति) भाग है। (मे) मुझ राष्ट्र का (गोप्ता) रक्षक (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी राजा है। और (मरुतः च) वायु के समान प्रबल शीघ्रगामी, तीव्रप्रहारी सैनिक और (विश्वे च देवाः) समस्त देव, विद्वान्-गण (पक्वम्) पक्व, परिपक्व राजा को (रक्षन्तु) रक्षा करें।

यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ ३४ ॥

भा०—(यज्ञं दुहानम्) यज्ञ को पूर्ण करने वाले (सदम् इत्) सदैव (प्रपीनं) समृद्ध, बड़े चढ़े, (रयीणाम् सदनम्) सब ऐश्वर्यों के आश्रय स्थान, (धेनुम्) महावृषभ के समान विशाल (त्वा) तुझ (पुमांसम्) पुंगव, पुरुष को प्राप्त होकर हम प्रजावासी लोग (पोषैः) पुष्टिकारक अन्न आदि पदार्थों के साथ २ (प्रजामृतत्वम्) अपनी सन्तति द्वारा सदा अमृतत्व=वंश की अमरता, (उत) और (दीर्घम् आयुः) दीर्घ जीवन और (रायश्च) सुवर्णादि धन को (उप सदेम) प्राप्त हों।

प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्य अमृतम् । इति तै० ब्रा० १। ५। ५। ६ ॥ प्रजा रूप में उत्पन्न होना ही मनुष्य का अमृत रहना है।

---

१. उत नकारः । यथा—' होतायक्षोतो न जीयं ' यजु० २८। ५।

३४–(च०) रायश्च पोषमुप ' इति पैप्प० सं०।

वृ॒ष॒भो॑ऽसि स्व॒र्ग ऋषी॑नार्षे॒यान् ग॑च्छ ।
सु॒कृ॒तां लो॒के सी॑द॒ तत्र॑ नौ संस्कृ॒तम् ॥ ३५ ॥

भा०—हे राजन् ! (वृषभः असि) तू समस्त सुखों को राष्ट्र पर वर्षा करने वाला है । तू ही सुख और आनन्द देने वाला होने से (स्वर्गः असि) ' स्वर्ग ' है । तू (ऋषीन्) मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों और (आर्षेयान्) उनके सन्तानों एवं शिष्य प्रशिष्यों को भी (गच्छ) प्राप्त हो । तू (सुकृतां लोके) पुण्य, शुभ आचारी, पुण्यात्मा लोगों के लोक में (सीद) विराजमान हो । (तत्र) वहां ही (नौ) प्रजा और राजा दोनों को (संस्कृतम्) समान रूप से पुण्य-फल प्राप्त हो ।

स॒मा॒चि॑नु॒ष्वानु॑सं॒प्रया॒ह्यग्ने॑ प॒थः क॑ल्पय दे॒व॒यानान् ।
ए॒तैः सु॑कृ॒तैरनु॑ गच्छेम य॒ज्ञं नाके॒ तिष्ठ॑न्त॒मधि॑ स॒प्तर॑श्मौ ॥ ३६ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (सम् आ चिनुष्व) सब राष्ट्र के वासियों को या सैनिक वर्गों को संगठित, सुव्यवस्थित कर । (अनु-संप्रयाहि) और फिर जिन पर आक्रमण करना हो उन पर आक्रमण कर । (देवयानान् पथः कल्पय) देवों, विद्वानों और शासकों के लिये चलने योग्य मार्गों उनके कर्त्तव्यों का निर्माण कर । (एतैः) इन (सुकृतैः) उत्तम कार्यों से (सप्तरश्मौ नाके तिष्ठन्तम्) सप्तरश्मि, सात ज्योतियों से युक्त नाक=स्वर्गमय स्थान में विराजमान (यज्ञम्) यज्ञरूप प्रजापति या राष्ट्रपति को हम (अनु गच्छेम) अनुगमन करें । अथवा सप्तरश्मि सात प्राणों से युक्त आनन्दमय स्थान

३५—(प्र०) ' ऋषभोऽसि ' (तृ०) ' लोक ' इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) ' सुकृतां लोके सीदतं तन्नः संस्कृतम् ' इति मै० सं०, तै० सं० ।
३६—(प्र०) ' समानुष्व ' (तृ०) ' येभिः सुकृतैरनु प्रैष [प] स यज्ञे० ' इति पैप्प० सं० ।

मूर्धा में विराजमान (यज्ञम्) आत्मा को जिस प्रकार योगी प्राप्त होते हैं उसी प्रकार सात विद्वान् अमात्यों से युक्त राजा को हम प्राप्त हों ।

येन॑ दे॒वा ज्योति॑षा॒ द्यामु॒दाय॑न् ब्रह्मौद॒नं प॒क्त्वा सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒कम् ।
तेन॑ गेष्म सु॒कृ॒तस्य॑ लो॒कं स्व॑रा॒रोह॑न्तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मम् ॥ २७ ॥ (४)

भा०—(येन ज्योतिषा) जिस परम ज्योति से (देवाः) तत्त्व के द्रष्टा लोग और जिस ज्योति से (ब्रह्मौदनं) ब्रह्मरूप परम ओदन रसमय ज्ञान को (पक्त्वा) परिपाक करके (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य कर्मों के फल स्वरूप (द्याम्) द्यौः या प्रकाशमय लोक को (उत् आयन्) प्राप्त होते हैं (तेन) उसी परम ज्योति से हम भी (स्वः आरोहन्तः) 'स्वः' परम तेजोमय (उत्तमम्) उत्कृष्टतर (नाकम्) सुखमय लोक को (अभि आरोहन्तः) चढ़ते हुए (सुकृतस्य लोकं) सुकृत, पुण्य कर्मों से प्राप्त होने योग्य लोक को (गेष्म) प्राप्त हों ।

यह सूक्त 'ब्रह्मरूप ओदन' अर्थात् ब्रह्म ज्ञान को परिपक्व करके मोक्ष प्राप्त करने पर कभी लगता है जिसको विस्तार भय से नहीं दर्शाया है ।

—:o:—

[२] रुद्र ईश्वर के भव और शर्व रूपों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रो देवता । १ परातिजागता विराड् जगती, २ अनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती, ३ चतुष्पात्स्वराडुष्णिक्, ४, ५, ७ अनुष्टुभः, ६ आर्षी गायत्री, ८ महाबृहती, ९ आर्षी, १० पुरः कृतिस्त्रिपदा विराट्, ११ पञ्चपदा विराड् जगतीगर्भा

२७–(तृ०) 'तेन गेष्म' इति सायणाभिमतः पाठः । (प्र० द्वि०) 'तं त्वा पचामि ज्योतिषां ज्योतिष्मन्त समस्तोडेषि सुकृतामु लोके' इति पैप्प० सं० ।

शक्वरी, १२ भुरिक्, १३, १५, १६ अनुष्टुभौ, १४, १७—१९, २६, २७ विराड् गायत्र्यः, २० भुरिग्गायत्री, २१ अनुष्टुप्, २२ विषमपादलक्ष्मा त्रिपदा महाबृहती, २०, २८ आर्षी, २५ पञ्चपदा अतिशक्वरी, ३० चतुष्पादुष्णिक्, ३१ त्र्यवसाना विपरीतपादलक्ष्मा षट्पदा जगती, ३, १६, २३, २८ इति त्रिष्टुभः।

एकत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥

भा०—(भवाशर्वौ) हे भव ! और हे शर्व ! हे सर्वोत्पादक और हे सर्वसंहारक ! आप दोनों (मृडतम्) हमें सुखी करो। (मा अभियातम्) हम पर चढ़ाई मत करो। आप दोनों (भूतपती) समस्त प्राणियों के पालक और (पशुपती) समस्त पशुओं, जीवों और मुमुक्षुओं के पालक हो। (वाम् नमः) तुम दोनों को हमारा नमस्कार है। (प्रतिहिताम्) धनुष् में रखी हुई और (आयताम्) डोरी में तानी हुई बाण को (मा विस्राष्टं) हम पर मत छोड़ो। (नः द्विपदः मा) हमारे दो पाये भृत्य आदि मनुष्यों को मत मारो और (चतुष्पदः मा) हमारे चौपायों को मत मारो।

सर्वोत्पादक होने से ईश्वर भव है। सर्वसंहारक होने से वही शर्व है। राजपक्ष में प्रजा की उत्पत्ति और वृद्धि करने और सामर्थ्यवान् होने से राजा भव और दुष्टों का पीड़क होने से वही रूपान्तर में या उसका सेनापति शर्व है। हम यहां ईश्वर पक्ष का अर्थ लिखेंगे।

[२] १—१ मा अभियातम् इत्यत्र माधवीन प्रतिपत्तये 'वाम्' इत्यस्यार्थे चो-मसया व्याख्यानम्। तदुत्तरार्थे चिन्त्यम्।

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः । मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥ २ ॥

भा०—हे (पशुपते) समस्त जीवों के स्वामिन्! (शरीराणि) हमारे शरीरों को (शुने) कुत्ते और (क्रोष्ट्रे) गीदड़ों के लिये (अलिक्लवेभ्यः गृध्रेभ्यः) अलिक्लव=भयंकर शब्दकारी गीधों के लिये अथवा निर्भय गीधों के लिये और जो (कृष्णाः) काटने वाले या काले (अविष्यवः) हिंसक जन्तु हैं उनके लिये (मा कर्तम्) मत बनाओ। और हे पशुपते! हे जीवों के स्वामिन्! (ते मक्षिकाः) तेरी बनाई मक्खियां और अन्य (ते) तेरे बनाये (वयांसि) हिंसक पक्षी भी हमको अपने (विघसे) भोजन के निमित्त (मा विदन्त) न प्राप्त कर सकें। ईश्वर हमें ऐसा बल और उपाय दे कि उसके बनाये हिंसक जीव हमें न काटें, न खायें।

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः ।
नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥

भा०—हे (भव) सर्वोत्पादक भव! ईश्वर! (क्रन्दाय) सबको आह्लादित करने और सब को रुलाने वाले और (प्राणाय) प्राण के समान सबके प्राणस्वरूप, सब को जीवन देनेहारे (ते) तुझको और (याः च) जो (ते) तेरी (रोपयः) मोहनकारिणी मिथ्याज्ञानमय अन्धकारिणी शक्तियां हैं उनको (नमः) नमस्कार है। हे रुद्र! सबको रुलाने हारे और दुःखों के विनाशक! हे अमर्त्य! अविनाशिन्! अमरेश्वर! (ते) तुझ

२–(द्वि०) 'अलिक्लवेभ्यः' इति सायणाभिमतः पाठः। 'अलिक्लवेभ्यः' इति पैप्प० सं०।

३–'सहस्राक्षायामर्त्यः' इति सायणाभिमतः पाठः।

(सहस्राक्षाय) सहस्रों आंखों वाले, सर्वद्रष्टा को (नमः कृण्मः) हम नमस्कार करते हैं ।

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत ।
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (ते) तुझे (पुरस्तात्) आगे से (उत्तरात्) ऊपर से (अधरात्) नीचे से (उत) भी (नमः कृण्मः) नमस्कार करते हैं । (अभीवर्गात्) सब तरफ से घेरने वाले अन्तरिक्ष और (दिवः परि) द्यौलोक से भी परे विद्यमान (अन्तरिक्षाय) अन्तर्यामी, सर्वव्यापक तुझको (नमः) नमस्कार है ।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

गीता ११ । ४० ॥

आगे, पीछे और सब ओर से तुझे नमस्कार है । सर्वव्यापक होने से तेरा नाम 'सर्व' है । तेरा अनन्त वीर्य और पराक्रम है ।

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव ।
त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥

भा०—हे पशुपते ! जीवों के स्वामिन् ! परमात्मन् ! (ते मुखाय नमः) तेरे मुख को नमस्कार है । हे (भव) सर्वोत्पादक ईश्वर ! (ते यानि चक्षूंषि) तेरी जो चक्षुएं हैं उनको भी नमस्कार है । (ते त्वचे नमः) तेरी त्वचा को नमस्कार है । (ते) तेरे (संदृशे) सम्यग्दर्शन रूप (प्रतीचीनाय) प्रत्यक् आत्मस्वरूप (रूपाय) रूप, कान्ति, तेज के लिये (नमः) नमस्कार है ।

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वायां आस्याय ते ।
दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥

६—' अङ्गेभ्योदराय जिह्वायास्याय ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे परमेश्वर ! (ते अङ्गेभ्यः) तेरे अंगों को (नमः) नमस्कार है। (उदराय) तेरे उदर भाग को नमस्कार है। (ते जिह्वायै नमः) तेरी जीभ को नमस्कार है। (ते आस्याय) तेरे आस्य=मुखको नमस्कार है (ते दद्भ्यः नमः) तेरे दांतों को नमस्कार है। (ते गन्धाय नमः) तेरे गन्ध को नमस्कार है।

५, ६ मन्त्रों में मुख, चक्षु, त्वचा, रूप, उदर, जिह्वा, आस्य, दांत, गन्ध आदि नाम आने से ईश्वर का कोई शरीर नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत वहां आलंकारिक रूप लेना उचित है जो पूर्व कई स्थानों पर दर्शा चुके हैं जैसे [अथर्व का० ६ । सू० ७]। मुख जैसे गीता में—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

आंखें जैसे—रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
रूप जैसे—नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम् ।
नेत्र जैसे—अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

गन्ध और रूप जैसे—पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च-(अ० ७ । ९) तेजश्चास्मि विभावसौ।

दांत और जीभ जैसे—दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि (११ । २५) लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः । आख्याहि मे-को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ॥ ११ । ३० । ३ ॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना ।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

७-(तृ०) 'अध्वघातिना' इति का० सं० । 'अन्धकघातिना' इति ह्वि० लाघमिणानुमितः पाठः । 'समरामहि', 'अध्वघातिना' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(नीलशिखण्डेन) नील केश या कलगी वाले (वाजिना) वेगवान् (अस्त्रा) बाण आदि फेंकने वाले एक योद्धा के समान भयंकर (सहस्राक्षेण) हज़ारों आखों वाले (अर्धकघातिना) इस समृद्ध संसार-बन्धन को सहसा मार डालने वाले, अति भयंकर (रुद्रेण) रुद्र से हम (मा) कभी न (सम् अरामहि) जा लगें ।

'सहस्राक्ष' जैसे—'रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं (११ । २३)
'अस्त्रा'—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' (११ । ३३)
'नील शिखण्ड'—'स्थाने हृषीकेश' (११ । ३६)
'रुद्र'—को भवानुग्ररूपः (११ । ३१)
'वाजिन्'—'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्' ।

'अर्धकघातिन्'—कालोऽस्मिलोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्त ।

स नो॑ भ॒वः परि॑ वृणक्तु वि॒श्वत॒ आप॑ इवा॒ग्निः परि॑ वृणक्तु नो भ॒वः । मा नो॒ऽभि मां॑स्त॒ नमो॑ अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

भा०—(सः भव) वह सर्व संसार का उत्पादक परमेश्वर (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परिवृणक्तु) रक्षा करे, हमें अपने संहारकारी कोप से बचाए रक्खे । जैसे (आपः अग्निः इव) अग्नि भड़क कर भी जलों या जलाशय को विना जलाये छोड़ जाता है उसी प्रकार (नः भवः परिवृणक्तु) वह सर्व प्रभु अपने संहार से हमें छोड़ दे । समस्त जीवलोक के संहार होते हुए भी हम चिरायु होकर रहें । (नः) हमें (अभि मास्त) मत संहार करे (अस्मै नमः अस्तु) उसको हमारा नमस्कार हो ।

८–(द्वि०) 'आपेवाग्नि परि' (तृ०) 'मनो मनि' इति पैप्प० सं० । 'मन्न' इति सायणाभिमत. पाठः ।

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते ।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ ९ ॥

भा०—हे (पशुपते) जीव संसार के स्वामिन्! (भवाय) संसार के उत्पत्ति स्थान रूप आपको (चतुः) चारबार (अष्टकृत्वः[2] दशकृत्वः) आठबार और दशबार (नमः) नमस्कार हो । (तव इमे पञ्च पशवः विभक्ताः) तेरे ही विभाग किये हुए ये पांच जीव हैं । (१) (गावः) गौएं (२) (अश्वाः) घोड़े (३) (पुरुषाः) पुरुष और (अजावयः) (४) बकरी (५) और भेड़े ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते । गी० ११ । ३९ ॥

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम् ।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥ १० ॥ (५)

भा०—हे (उग्र) सर्वशक्तिमन् ! (चतस्रः प्रदिशः तव) चारों दिशाएं तेरी हैं । (द्यौः तव) यह द्यौ तेरी है । (पृथिवी तव) यह पृथ्वी तेरी है । (इदम् उरु अन्तरिक्षम्) यह विशाल अन्तरिक्ष भी (तव) तेरा ही है । (इदं सर्वम्) यह सब (आत्मन्वत्) चेतन आत्मा से युक्त (यत्) जो (पृथिवीम् अनु प्राणत्) पृथिवी पर जीवन धारण कर रहा है यह सब (तव) तेरा ही है ।

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः ।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥

९ (च०) 'गावोऽश्वाः पुरुषाजावयः' इति पैप्प० सं० ।
२ 'दश । कृत्वः' इति पदच्छेदो ह्विटनिसम्मितः ।
१० (प्र० द्वि०) 'तव द्यौः तवेदमुरो' (च०) 'तवेदमधिभूम्याम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (मृड) सबको सुखी करने हारे ! हे (पशुपते) जीवों के स्वामिन् ! (अयम्) यह (तव) तेरा (उरुः कोशः) महान् कोश-भुवन कोश (वसुधानः) धन को रखने के ख़ज़ाने के समान है। अथवा (वसुधानः) जिसमें समस्त जीव संसार को अपने भीतर बसानेहारे ये सूर्य पृथिवी आदि 'वसु' लोक भी 'धाना' कण के समान हैं। (यस्मिन्) जिसमें (इमा) ये (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन लोक (अन्तः) भीतर प्रविष्ट हैं। (नमः ते) तुझे नमस्कार हो। (श्वानः) सियार, (अभिभाः) गीदड़ियां (श्वानः) और कुत्ते (परः) हम से परे रहें। और (अघरुदः) पापों के कारण रोने चीखने वाली (विकेश्यः) बाल खिला २ कर भयकर रूप में विचरने वाली दुष्ट स्त्रियां भी (परः) हम से दूर रहें।

'उरुः कोशो वसुधानः'- त्वमेव परम वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्॥ गी० ॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशी३तः ॥ १२ ॥

भा०—हे (शिखण्डिन्) हे शिखण्ड धारण करने वाले, पर-संहारक सेनापति के समान परमात्मन्! तू (सहस्रघ्नि) सहस्रों के नाशक और (शतवधं) सैकड़ों के मारने वाले (हिरण्ययं) सुवर्ण के समान कान्तिमान (हरितम्) तेजस्वी, सर्वसंहारक (धनुः बिभर्षि) धनुष् को धारण करता है। (रुद्रस्य) सब पापियों को रुलाने वाले उस परमात्मा का (इषुः) प्रेरित यह बाण ही (चरति) सर्वत्र चलता है जिसको (देवहेतिः) जो देव परमात्मा का आयुध है। (इतः) यहां (यतमस्यां) जिस (दिशि) दिशा में भी वह उसका बाण है (तस्यै) उसको नमस्कार है। 'शिखण्डि' शब्द से ही 'केशव' और 'किरीटि' की कल्पना की गई है।

१२-(द्वि०) 'सहस्राघ्न्य' इति क्वचित्।

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति ।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥ १३ ॥

भा०— सेनापति योद्धा के समान काल रूप परमेश्वर का वर्णन पूर्व किया गया है । यहां पुनः उसीको खोलते हैं । जिस प्रकार प्रबल सेनापति के चढ़ आने पर निर्बल शत्रु छिप जाता है और पुनः अपने प्रबल आक्रामक को पीछे से दबोचना चाहता है, उसको प्रबल सेनानायक उसके चरण-चिह्नों को देख २ कर खोज लेता है, और जैसे शिकारी घायल जानवर के चरण-चिह्न और खून के निशान देख कर खोज कर मारता है उसी प्रकार, हे (रुद्र) दुष्टों को रुलाने वाले (यः अभियातः) जो आक्रान्त होकर (निलयते) छिप जाता है और (त्वां निचिकीर्षति) तुझे नीचे दिखाना चाहता है तू (तम्) उसके (पश्चात्) पीछे २ पुनः (विद्धस्य पदनीः इव) घायल जानवर की चरण-पंक्तियों के समान तू उसको (अनु प्रयुङ्क्षे) खोजता है और उसे दण्ड देता है । पापी को परमात्मा कभी दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ता। उसी प्रकार राजा को भी अपने शत्रु को न छोड़ना चाहिये प्रत्युत उसको खोज लगा कर दण्ड देना चाहिये ।

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय ।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १४ ॥

भा०—परमात्मा के दो स्वरूप हैं एक भव जो सर्वत्र जीवों को उत्पन्न करता है दूसरा शर्व जो उनको नाना प्रकार से संहार करता है वे ही दोनों (भवारुद्रौ) भव और रुद्र (सयुजा) सदा एक दूसरे के साथ संयुक्त और (संविदानौ) एक दूसरे के साथ मानो सलाह करके रहते हैं । (उभौ) वे दोनों (उग्रौ) बलवान् (वीर्याय चरतः) अपने वीर्य से सर्वत्र व्यापक हैं। (इतः

१३-(द्वि०) 'स्यानुप नि०' इति पैप्प० सं० ।

१४—'यतोभूमिमन्तरिक्षं स्वर्दीस्ताभ्यां नमो भवशर्वाय कृण्व ।' इति पैप्प० सं० ।

यतमस्यां दिशि) यहां से जिस दिशा में भी वे दोनों विद्यमान हों (ताभ्यां) हम उन दोनों को (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार करते हैं ।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ १५ ॥

अथर्व० ११ । ४ । ७ ॥

भा०—(आयते ते नमः अस्तु) हमारी ओर आते हुए, साक्षात् होते हुए तुझको नमस्कार है । (परायते नमः अस्तु) परे जाते हुए हम से बिछुड़ते हुए तुझे नमस्कार है । हे रुद्र ! (तिष्ठते ते नमः) खड़े हुए तुमको नमस्कार है । (आसीनाय उत ते नमः) और बैठे हुए तुझे नमस्कार है । ईश्वर के नमस्कार के साथ ही साथ पूजनीय विद्वान् गुरु आचार्य माता पिता और राजा आदि को भी इसी प्रकार नमस्कार करना चाहिये । जब आवें तब जब जावें तब बैठे हों या खड़े हों तब भी पूजनीयों को नमस्कार करना चाहिये यही वेद ने शिक्षा दी है ।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥ १६ ॥

भा०—(सायं नमः) परमात्मा को सायंकाल नमस्कार हो । (प्रातः नमः) प्रातःकाल नमस्कार हो । (रात्र्या नमः) रात्रिकाल में नमस्कार हो । (दिवा नमः) दिन को नमस्कार हो । (भवाय च शर्वाय च) भव, सर्व उत्पादक और सर्वसंहारक ईश्वर के (उभाभ्याम्) दोनों स्वरूपों को (नमः अकरम्) मैं नमस्कार करता हूं ।

सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् ।
मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥ १७ ॥

१५-(तृ०) 'नमस्ते भाग तिष्ठत' इति अथर्व० ११ । ४ । ७ ॥
पैप्प० सं० ।

भा०—मैं साक्षाद् द्रष्टा (पुरस्तात्) अपने समक्ष (सहस्राक्षम् रुद्रम्) सहस्रों आंखों से सम्पन्न अति भयंकर दुष्टों को रुलाने हारे काल रूप (विपश्चितम्) समस्त कार्यों और ज्ञानों को जानने हारे (बहुधा अस्यन्तम्) प्रभु को नाना प्रकार से अपने वाण प्रहार करते हुए (अतिपश्यम्) अति क्रान्तदर्शिनी दृष्टि से देख रहा हूं। (जिह्वया ईयमानं) अपनी काल जिह्वा से सर्वत्र व्यापक उसको हम (मा उपाराम) प्राप्त न हों। हम उस काल के ग्रास न हों।

' सहस्राक्षम् '— सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। यजु०।

' जिह्वया ईयमानम् '—पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्। (गी० ११ । १७) पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् । ११ । २० ॥ लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः । तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ११ । ३० ॥

श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम्।
पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥ १८ ॥

भा०—(श्यावाश्वं) श्याव अर्थात् दिन और रात्रिरूप दो अश्वों वाले (कृष्णम्) आकर्षणशील (असितं, बन्धन रहित (मृणन्तम्) इस संसार को मटिया-मेट करने वाले (भीमम्) अति भयानक और (केशिनः) केश रूप किरणों से युक्त सूर्य के भी (रथम्) रथ, रमणीय गोले को (पादयन्तम्) उदयास्त करते और चलाते हुए उस परमात्मा को हम (पूर्वे) पूर्ण होकर ही (प्रति-इमः) प्राप्त करते एवं साक्षात् करते हैं। (अस्मै नमः अस्तु) उसको हमारा नमस्कार हो।

---

(१८) 'श्यावास्वं' (द्वि०) 'भीमो', 'पादयन्तं' इति पैप्प० सं० ।

मा नो॒ऽभि स्रा॑ म॒त्य॑ᳯ दे॒वहे॑तिं॒ मा नः॑ क्रुधः पशुपते॒ नम॑स्ते ।
अ॒न्यत्रा॒स्मद् दि॒व्यां शाखां॒ वि धू॑नु ॥ १९ ॥

भा०—हे (पशुपते) समस्त प्राणियों के पालक ! (मत्य) स्तम्भन करने वाले (देवहेतिं) दिव्य शस्त्र को (नः) हम पर (मा अभि स्राः) मत चला । (नः) हम पर (मा क्रुधः) क्रोध मत कर । (नमः ते) तुझे नमस्कार है । (दिव्याम्) दिव्य तेजस्विनी, विजयशालिनी अथवा घन-घोर गर्जना करने वाली या मर्दनकारिणी (शाखाम्, आकाशचारिणी शक्तिमती विद्युल्लता को (अस्मत् अन्यत्र) हम से परे (वि धूनु) चला ।

' दिव्या ' दिवु परिकूजने, दिवु मर्दने (इति चुरादिः), दिवुक्रीडावि-जिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (दिवादिः) । शाखा—खे शेते इति शाखा । शक्नोतेर्वा शाखा । [नि० ६ । ६ । ४]

मा नो॑ हिंसी॒रधि॑ नो ब्रूहि॒ परि॑ णो वृङ्ग्धि॒ मा क्रु॑धः ।
मा त्वया॒ सम॑रामहि ॥ २० ॥ (६)

भा०—(नः) हमें (मा हिंसीः) विनाश मत कर । (नः अधिब्रूहि) हमें शिक्षित कर । (नः परि वृङ्ग्धि) हमारी सब ओर से रक्षा कर । (मा क्रुधः) हम पर कोप मत कर । (त्वया) तुझ से हम (मा सम् अरामहि) युद्ध न करें, तेरे विपरीत न जावें ।

मा नो॒ गोषु॒ पुरु॑षेषु॒ मा गृ॑धो नो अजा॒विषु॑ ।
अ॒न्यत्रो॑ग्र॒ वि व॑र्तय॒ पिया॑रूणां प्र॒जां ज॑हि ॥ २१ ॥

१९–(प्र०) ' मर्त्यं ' इति सायणाभिमतः पाठः । ' मत्य देवहितिम् ' इति पैप्प० सं० ।

२०–(प्र०) ' -रधिब्रूहि ' (च०) ' -रामसि ' इति पैप्प० सं० ।

२१–' मानोभेषु गोषु ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (उग्र) शक्तिमन् ! (नः) हमारे (गोषु) गौत्रों (पुरुषेषु) पुरुषों और (अजाविषु) बकरी और भेड़ों पर (मा गृधः) लालच मत कर । तू (अन्यत्र) दूसरे स्थान पर (विवर्तय) लौट जा । (पियारूणां प्रजां जहि) हिंसकों की प्रजा को विनाश कर ।

यस्य तुक्मा कासिका हेतिरेकुमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति ।
अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥ २२ ॥

भा०—रुद्र के हथियारों का वर्णन करते हैं । (यस्य) जिस रुद्र के (तक्मा) कष्टदायी ज्वर और (कासिका) खांसी (हेतिः) हथियार हैं । वे (वृषणः) बलवान् (अश्वस्य) घोड़े के (क्रन्द इव) हिन-हिनाने के समान (एकम् एति) किसी भी पुरुष पर आक्रमण करते हैं । (अभिपूर्वम्) पूर्व कर्मों के अनुसार उसको (निर्णयते) दण्ड निर्धारण करने वाले (अस्मै नमः अस्तु) उस रुद्र को नमस्कार है ।

यो३ऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् ।
तस्मै नमो दुशभिः शक्वरीभिः ॥ २३ ॥

भा०—(यः) जो रुद्र ! (अयज्वनः) यज्ञ न करने हारे (देवपीयून्) देवों, सत्पुरुषों के घातक पुरुषों को (प्रमृणन्) नाश करता हुआ (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विष्टभितः) स्थिर होकर (तिष्ठति) खड़ा है (तस्मै) उसको (दशभिः शक्वरीभिः) दसों शक्तियों सहित (नमः) नमस्कार है । अथवा—(तस्मै दशभिः शक्वरीभिः नमः) उसको हमारा दसों अंगुलियां जोड़ कर नमस्कार है ।

२२–(द्वि०) ‘ एकाश्वस्य ’ इति पैप्प० सं० ।

२३–(प्र०) ‘यस्तिष्ठति विष्भृतो अन्तरिक्षे यज्वनः प्र०’ इति पैप्प० सं० ।

तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
तव यक्षं पशुपते अप्स्व१न्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥२४॥

भा०—हे रुद्र ! (तुभ्यम्-तव) तेरे ही ये (आरण्याः) जंगल के (पशवः) पशु (मृगाः) हरिण, सिंह, हाथी आदि (वने हिताः) जंगल में रखे हैं। और (हंसाः) हंस आदि (सुपर्णाः) सुन्दर परों वाले और (शकुनाः) अति शक्तिशाली (वयांसि) गृद्ध आदि पक्षी ये सब भी तेरे ही हैं। हे (पशुपते) समस्त जीवों के स्वामिन् ! (तव यक्षम्) तेरी ही पूज्यतम आत्मा (अप्सु अन्तः) जलों या प्रजाओं के भीतर है। (तुभ्यं वृधे) तेरी महिमा को बढ़ाने के लिये (दिव्याः आपः क्षरन्ति) ये दिव्य-आकाशस्थ जल मेघ से वर्षा रूप में बरसते हैं।

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि।
न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् परि पश्यसि भूमिं
पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन् समुद्रे ॥ २५ ॥

भा०—हे पशुपते ! (शिंशुमाराः) घड़ियाल, (अजगराः) अजगर, (पुरीकया =पुरीचया =पुरीपया) बड़े २ विशाल कछुए की कठोर त्वचा वाले जानवर, (जषा =झषा.) महामत्स्य, (मत्स्याः) साधारण मच्छ, और (रजसा) ' रजस ' नाम के प्राणी ये सब तेरे वश हैं। (येभ्यः) जिन पर तू अपना काल रूप जाल (अस्यसि) फेंका करता है। (न ते

२४–(द्वि०) ' तुभ्य वयांसि शकुनाः पतत्रिणः ' ' आपो वृधे ' इति पैप्प० सं० ।

२५–(प्र०) ' शिंशुमाराजगरा पुरीकया जषा मत्स्याः ' इति पैप्प० सं० । (प्र०) ' पुलीकया ' इति सायणाभिमतः पाठः । 'जषाः', ' झषाः ' इति च क्वचित्। (च०) 'सर्वान् परि' इति सायणाभिमतः, क्वचित्।

दूरम्) तुझ से कोई दूर नहीं । हे भव ! (न ते परिष्ठाः) और तुझे कोई छोड़कर, या परे भी नहीं रहता । तू (सद्यः सर्वान् परि पश्यसि) सदा ही सब को देखता रहता है । (पूर्वस्मात्) और पूर्व समुद्र से (उत्तरस्मिन् समुद्रे) उत्तर समुद्र तक (भूमिम्) समस्त भूमि को (हंसि) व्याप्त रहता है । अथवा—(सद्यः सर्वान् भूमिं पश्यसि) क्षण भर में समस्त भूमि-जगत् को देख लेता है और पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक व्याप जाता है ।

' सर्वाम् परिपश्यसि ' इति पाठभेदः ।

मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना ।
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम् ॥ २६ ॥

भा०—हे रुद्र ! (नः तक्मना मा सं स्राः) हमें ज्वर के समान कष्टदायी रोग से पीड़ित मत कर । (विषेण मा) विष से भी हमें पीड़ित मत कर (अस्मद् अन्यत्र एताम् विद्युतं पातय) हम से अन्य स्थान पर इस बिजुली को डाल ।

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्व१न्तरिक्षम् ।
तस्मै नमो यतमस्यां दिशी३तः ॥ २७ ॥

भा०—(भवः) सर्वोत्पादक परमात्मा (दिवः ईशे) द्यौलोक को वश करता है और वही सर्वोत्पादक (भवः) भव (पृथिव्याः ईशे) पृथिवी पर भी वश कर रहा है । और वही सर्वस्रष्टा (भवः) परमेश्वर (उरु अन्तरिक्षम् आ पप्रे) विशाल अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुए है । (इतः यतमस्यां दिशि) इधर से वह जिस दिशा में भी है (तस्मै नमः) उसको नमस्कार है ।

२७-(तृ०) ' तस्यै ' इति बहुत्र । ' तस्य वा पापाद् इन्दुना कानेष्ट ' इति पैप्प० सं० ।

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥२८॥

भा०—हे (राजन्) राजमान, प्रकाशमान ! हे (भव) सर्वस्रष्टः ! हे (मृड) सर्व लोकसुखकारक ! आप (यजमानाय) यजमान, यज्ञ करने हारे गृहस्थ के (पशूनाम्) पशुओं के (पशुपतिः) पशु पालक (बभूथ) हो । (यः) जो पुरुष (श्रत् दधाति) इस बात को सत्य जानता है कि (देवाः सन्ति इति) देवगण, दिव्य पदार्थ तेजस्वी पदार्थ शक्तिशाली होते हैं (अस्य) उसके (द्विपदे चतुष्पदे मृड) मनुष्यों और पशुओं सब को सुखी कर ।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः ।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः ॥२९॥

ऋ० १ । ११४ । ७ ॥ यजु० १६ । १५ ॥

भा०—हे रुद्र ! (नः महान्तं मा हिंसीः) हमारे महान्, वृद्ध पुरुष को मत मार, पीड़ा मत दे । (नः अर्भकं मा) हमारे बच्चे को भी पीड़ा मत दे । (नः वहन्तम् मा) हमारे कुटुम्ब का भार उठाने वाले को पीड़ा मत दे । (उत नः वक्ष्यतः मा) हमारे भविष्यत् में भार अपने ऊपर लेने हारे नवयुवकों को भी पीड़ा मत दे । (नः पितरं मातरं च मा हिंसीः) हमारे पिता और माता को भी मत मार । हे रुद्र ! (नः स्वां तन्वं मा रीरिषः) हमारी अपनी देह को भी विनाश न कर, पीड़ित न कर ।

रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः ।
इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥३०॥

२९–(द्वि०) 'मा नो वहन्तमुत मा न उक्षितम्' (तृ०) 'मा नो वधीः' 'पितरं मोत मातरं' इति ऋ०, यजु० ।

३०–(द्वि०) 'असंसूक्तगिरभ्यः' इति पैप्प० लाघगिल्लामिति पाठः ।

भा०—(रुद्रस) रुद्र के (ऐलबकारेभ्यः) भेड़ के समान शब्द करने वाले और (असंसूक्त-गिलेभ्यः) भली प्रकार न उच्चारण करने योग्य विकृत शब्दों को उच्चारण करने वाले (महास्येभ्यः) बड़े मुख वाले (श्वभ्यः) कुत्तों को भी (इदं नमः अकरम्) यह (नमः) अन्न हम प्रदान करते हैं। 'ऐलबकार' ऐलवानि प्रेरणयुक्तानि कर्माणि कुर्वन्ति ऐलबकाराः कर्मकराः प्रथमगणाः इति सायणः। ऐलबकाराः='ऐड-स्वकारा' इति शकन्ध्वादित्वात् साधुः।

'असंसूक्त-गिलाः' अ-सं-सूक्त-गिलाः। 'असंसूक्तगिराः' समीचीनं शोभनं सूक्तं वेदमन्त्रादि, सद्भाषितं वा न गिरन्ति भाषन्ते इति असंसूक्तगिराः। "संसूक्तेन गिलन्ति भक्षयन्ति इति ह्निटनिः।

नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः।
नमो नमस्कृताभ्यो नमः सम्भुञ्जतीभ्यः।
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः ॥ ३१ ॥ (७)

भा०—हे (देव) देव राजन्! (ते सेनाभ्यः नमः) तेरी सेनाओं को नमस्कार है। (ते घोषिणीभ्यः नमः) तेरी घोष=शब्दकारिणी सेनाओं को नमस्कार है। (ते केशिनीभ्यः) तेरी केशों वाली सेनाओं को नमस्कार है। (नमस्कृताभ्यः) अन्न आदि से सत्कृत सेनाओं को भी (नमः) नमस्कार है (सम्-भुञ्जतीभ्यः नमः) अच्छी प्रकार अन्न का भोग करती एवं राष्ट्र का पालन करती हुई सेनाओं को भी नमस्कार है।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तमेकम्, ऋचश्चैकत्रिंशत्।]

३१-(४०) 'अभयं च न' इति सायणाभिमतः पाठः।

[३ (१)] विराट् प्रजापति का बार्हस्पत्य ओदन रूप से वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । बार्हस्पत्यौदनो देवता । १, १४ आसुरीगायत्र्यौ, २ त्रिपदासमविषमा गायत्री, ३, ६, १० आसुरीपङ्क्तयः, ४, ८ साम्न्यनुष्टुभौ, ५, १३, १५ साम्न्युष्णिहः, ७, १९–२२ अनुष्टुभः, ९, १७, १८ अनुष्टुभः, ११ भुरिक् आर्ची-अनुष्टुप्, १२ याजुषीजगती, १६, २३ आसुरीबृहत्यौ, २४ त्रिपदा प्राजापत्याबृहती, २६ आर्ची उष्णिक्, २७, २८ साम्नीबृहती, २९ भुरिक्, ३० याजुषी त्रिष्टुप्, ३१ अल्पशः पङ्क्तिश्च याजुषी । एकत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥१॥ द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥ चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥ दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥ ४ ॥ अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥ कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥ श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥ ७ ॥ त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥ खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९ ॥ आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥ १० ॥

भा०—(१) विराड्रूप ओदन के अंगों की यज्ञमय कल्पना का प्रकार दर्शाते हैं । (तस्य) उस (ओदनस्य) परमेष्ठी प्रजापति रूप विराट् का (बृहस्पतिः शिरः) बृहस्पति शिर है, (ब्रह्ममुखम्) ब्रह्म–ब्रह्मज्ञान या वेद उसका ज्ञानप्रवक्ता मुख है । (२) (द्यावा पृथिवी श्रोत्रे) द्यौ और पृथिवी अर्थात् समस्त दिशाएं उसके कान हैं । (सूर्याचन्द्रमसौ अक्षिणी) सूर्य और चन्द्रमा उसकी दो आंखें हैं । (सप्त ऋषयः) सात ऋषि उसके प्राण अपान आदि शरीर गत वायु हैं । (३) (चक्षुः मुसलं काम उलूखलम्)

[३] ६–' कब्रु ', ' शिरोऽभ्रम ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

९–' स्फावसौ ' सायणाभिमतः ।

यज्ञ रूप प्रजापति के अंगों में विद्यमान मुसल आंख है और उलूखल या ओखली 'काम' संकल्प है। (४) (दितिः) खण्डन-कारिणी विभाग शक्ति (शूर्पम्) शूप या छाज है। (शूर्पग्राही) उस शूप को लेने वाली 'अदिति' अर्थात् 'पृथ्वी' है (वातः अप-अविनक्) वायु पूर्वोक्त ब्रह्मौदन के चावलों के तुषों से पृथक् करने वाला है (५) (अश्वाः कणाः) अश्व कण हैं। (गावः तण्डुलाः) गौएं अर्थात् तण्डुल निखरे चावल हैं। (मशकाः तुषाः) मशक आदि क्षुद्र जन्तु तुष हैं। (६) (कब्रु फलीकरणाः) कब्रु ये नाना रंग वाले द्रव्य उसके ऊपर के छिलके हैं। (शरः अभ्रम्) ऊपर की पीपड़ी मेघ हैं (७) (श्यामम् अयः अस्य मांसानि) श्याम=काला लोहा इसके मांस हैं और (लोहितम् अयः अस्य लोहितम्) लाल लोहे, ताम्बा आदि धातु इसके रुधिर हैं। (८) (त्रपु=भस्म) टीन, सीसा आदि इसका 'भस्म' है। (हरितम् वर्णः) पीला सुवर्ण आदि धातु इसका (वर्णः) उत्तम वर्ण है। (पुष्करम् गन्धः) इसका गन्ध द्रव्य है। (९) (खलः पात्रम्) खल=खलिहान इसका पात्र है। (स्फ्यौ अंसौ) 'स्फ्य' नाम शकट के स्थान उसके कंधे हैं। (ईषे अनूक्ये) 'ईषा' नामक शकट के दो दण्ड उसके अनूक हंसली की हड्डी के समान हैं। (१०) (आन्त्राणि जत्रवः गुदाः वरत्राः) शकट में बैल जोड़ने की रस्सियां आंतें हैं और 'वरत्र' बैल को शकट में जोड़ने की चमड़े की पट्टियां गुदाएं हैं।

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ११ ॥
सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥ १२ ॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥

भा०—(११) (राध्यमानस्य ओदनस्य) रांधे जाने वाले ओदनरूप प्रजापति के लिये (इयम् एव पृथिवी) यह पृथिवी ही (कुम्भी भवति) बड़ी भारी डेगची है। और (द्यौः अपिधानम्) द्यौलोक ऊपर का ढक्कन

है। (१२) (सीता पर्शव) हल कृषि आदि उसकी पसुलियां हैं (सिकता) वालुएं रगिस्तान आदि प्रदेश उसके पेट में पड़े मल के समान हैं। (१३) (ऋतम्) सत्य ज्ञान या समस्त जल उसका (हस्तावनेजनम्) हाथ धोने का जल है और (कुल्या उपसेचनम्) बड़ी नदियें सब उसके सेचन का जल है।

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥
ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३ऽभीन्धे ॥ १८ ॥
ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥

भा०—(१४) (ऋचा कुम्भी अधिहिता) ऋग्वेद द्वारा पूर्वोक्त डेगची, आग पर रक्खी गई और (आर्त्विज्येन प्रेषिता) यजुर्वेद द्वारा आग से गरम की। (१५) (ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद अथर्ववेद से (परिगृहीता) धारण की गई और (साम्ना पर्यूढा) सामवेद से परिवाहित है। (१६) (बृहत् आयवनं) 'बृहत्' 'आयवन' जल चावलों को मिलाने वाला दण्ड के समान है। (रथन्तरं दर्विः) 'रथन्तर' 'दर्वि' या कड़छी के समान है। (१७) प्रेम 'ओदन' के (पक्तारः) पकाने वाले (ऋतवः) ऋतुगण हैं। (आर्तवाः समिन्धते) ऋतु सम्बन्धी व काल के अंश अथवा उनमें उत्पन्न वायुएं ओदन के पाककारी अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। (१८) (पञ्चबिलं चरुम् उखम्) पांच मुख वाले उस ओदन में भेद 'चरु' रूप 'उख' अर्थात् डेगची को (घर्मः अभि इन्धे) घर्म या घाम सूर्य और भी प्रदीप्त करता है। (१९) एस (ओदनेन) 'ओदन' से (यज्ञवचः) यज्ञों के फलस्वरूप कहे गये अथवा (यज्ञवचः) यज्ञकर्त्ता को प्राप्त होने योग्य

१९–' यज्ञवचः सर्वे ' इति पप० सं० ।

(सर्वे लोकाः) समस्त लोक (सम आप्याः) भली प्रकार प्राप्त हो जाते हैं। 'यन्नवचः' इसके स्थान में पैप्पलाद संहिता का 'यन्नवतः' पाठ अधिक शुद्ध और उचित जान पड़ता है।

यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥

यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥

तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥

भा०—(२०) (यस्मिन्) जिस ओदन में (समुद्रः द्यौः भूमिः) समुद्र, द्यौ और भूमि (त्रयः) तीनों (अवरपरं श्रिताः) एक दूसरे के ऊपर नीचे और उरे परे आश्रित हैं। (२१) (यस्य उच्छिष्टे) जिसके उत्-शिष्ट=स्थूल जगत् के बनने से बचे अतिरिक्त अंश में (षड् अशीतयः देवाः) छः गुणा अस्सी=४८० [चारसौ अस्सी] देव, दिव्यगुण पदार्थ (अकल्पन्त) सामर्थ्यवान् विद्यमान हैं। (२२) (तम् ओदनं त्वा पृच्छामि) हे विद्वन् गुरो ! मैं तुझ से उस 'ओदन' के विषय में प्रश्न करता हूं (यः अस्य महिमा महान्) और उसकी जो बड़ी भारी महिमा है वह भी बतला।

सः य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥

नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥२४॥

भा०—(२३-२४) (यः) जो (ओदनस्य महिमानं विद्यात्) 'ओदन' रूप प्रजापति की महिमा को जान ले (सः) वह (अल्प इति न ब्रूयात्) 'थोड़ा' ऐसा न कहे। (अनुपसेचन इति न) बिना उपसेचन या व्यंजन द्रव्य के है ऐसा भी न कहे। (इदम्, न) साक्षात् यह दो इस प्रकार निर्देश करके कभी न कहे। (किंच इति न) और कुछ थोड़ा सा और दो ऐसा भी न कहे। अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्रवक्ता के पास जाकर सन्तोष से ग्रहण करे।

यावद् दाताभिमनस्येत तन्नातिं वदेत् ॥ २५ ॥

भा०—(दाता) ब्रह्मौदन' प्रदान करने वाला (यावत् अभिमनस्येत) गिनने का सङ्कल्प करे या परख दे (तत् न अतिवदेत्) उससे अधिक न कहे ।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ प्रत्यञ्चा३मिति ॥२६॥
त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति ॥ २७ ॥

भा०—(२६) (ब्रह्मवादिन वदन्ति) ब्रह्म का विचार करने वाले ब्रह्मज्ञानी लोग इस प्रकार परस्पर प्रश्न करते हैं, हे पुरुष ! (पराञ्चम् ओदन प्राशी ३) क्या तू अपने से पराङ्मुख, अपनी आंखों से अदृश्य 'ओदन' का भोग करता है या (प्रत्यञ्च३म् इति) अभिमुख, साक्षात् प्रत्यक्ष ओदन का भोग करता है । (२७) (त्वम् ओदन प्राशी ३) तू स्वय 'ओदन' का भोग करता है या (त्वाम् ओदन ३ इति) तुझको वह 'ओदन' भोगता है ?

पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २८ ॥
प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २९ ॥

भा०—(२८) (एनं च पराञ्च प्राशी)हे पुरुष ! यदि तू इस 'ओदन' को (पराञ्च) अपने से पराङ्मुख, परोक्ष में रख कर भोग करता है । तो विद्वान् (एनम् आह) इस भोक्ता के प्रति कहता है कि (त्वा प्राणा हास्यन्ति) तुझे प्राण छोड़ देंगे । (२९) (प्रत्यञ्च च एन प्राशी) और यदि उसको अपने अभिमुख साक्षात् रूप में भोग करता है तो (एनम् आह) तो विद्वान् उस भोक्ता के प्रति कहा करता है कि (अपाना त्वा हास्यन्ति इति) तुझ साक्षात् ओदन के भोक्ता को अपान परित्याग कर देंगे ।

नैवाहमोदनं न मामोदनः ॥ ३० ॥
ओदन एवौदनं प्राशीत् ॥ ३१ ॥ (८)

भा०—(३०) (नैव अहम् ओदनम्, न माम् ओदनः) और यदि कहे न मैं ओदन का भोग करता हूं और न ओदन मुझे भोग करता है। (३१) तो तत्त्व यह है कि (ओदनः एव ओदनं प्राशीत्) ओदन ही ओदन को भोग करता है। अर्थात् आत्मारूप देहस्थ प्रजापति ही विराट् प्रजापति का आनन्द प्राप्त करता है।

भोक्तृभोक्तव्यप्रपञ्चात्मक ओदन इति सायणः।

(२) ब्रह्मौदन के उपभोग का प्रकार।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्तो ब्रह्मौदनो देवता। ३२, ३८, ४१ एतासां (प्र०), ३२—३९ एतासां (स०) साम्नीत्रिष्टुभः, ३२, ३५, ४२ आसां (द्वि०) ३२—४९ आसां (तृ०) ३३, ३४, ४४—४८ आसां (पं०) एकपदा आसुरी गायत्री, ३२, ४१, ४३, ४७ आसां (च०) दैवीजगती, ३८, ४४, ४६ (द्वि०) ३२, ३५—४३, ४६ आसां (पं०) आसुरी अनुष्टुभः, ३२—४९ आसां (पं०) साम्न्यनुष्टुभः, ३३—४९ आसां (प्र०) आर्च्य अनुष्टुभः, ३७ (प्र०) साम्नी पंक्तिः, ३३, ३६, ४०, ४७, ४८ आसां (द्वि०) आसुरीजगती, ३४, ३७, ४१, ४३, ४५ आसां (द्वि०) आसुरी पंक्तयः, ३४ (च०) आसुरी त्रिष्टुप्, ४५, ४६, ४८ आसां (च०) याजुष्योगायत्र्यः, ३६, ४०, ३७ आसां (च०) दैवीपंक्तयः, ३८, ३९ एतयोः (च०) प्राजापत्यागायत्र्यौ, ३९ (द्वि०) आसुरी उष्णिक्, ४२, ४५, ४९ आसां (च०) दैवी त्रिष्टुभः, ४१ (द्वि०) एकापदा भुरिक् साम्नीबृहती। अष्टादशर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम्॥

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
बृहस्पतिना शीर्ष्णा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३२॥

भा०—विद्वान् पुरुष को उपदेश करे कि हे पुरुष ! (येन च) जिस (शीर्ष्णा) शिर से (पूर्वे ऋषयः एतं प्राश्नन्) पूर्व मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग इसका उपभोग करते रहे (तम् च अन्येन) उससे दूसरे (शीर्ष्णा) शिर से यदि (प्राशीः) तू भोग करता है तो (ते प्रजा) तेरी सन्तति (ज्येष्ठतः मरिष्यति) ज्येष्ठ क्रम से मरेगी, प्रथम ज्येष्ठ फिर उससे छोटा फिर उससे छोटा इस प्रकार तेरी सन्तान मर जायगी। (इति एनम् आह) इस प्रकार ब्रह्मौदन का तत्वज्ञानी विद्वान् दूसरे पुरुषों को उपदेश करे। तो फिर (अहम्) मैं (तं) उस ओदन को (न अर्वाञ्चं न पराञ्चं) न नीचे के न पराङ्मुख अर्थात् परली तरफ के ओर (न प्रत्यञ्चम्) न अपनी तरफ को उपभोग करूं, खाऊं। प्रत्युत (बृहस्पतिना शीर्ष्णा) बृहस्पति रूप शिर से इस ओदन का भोग करूं। (तेन एनं प्राशिषम्) उस शिर से ही इसको मैं भोगूं और (तेन एनम् अजीगमम्) उसी शिर से उसको अन्यों का प्राप्त कराऊं। (एष वा ओदनः) यह ओदन सर्वाङ्ग समस्त अङ्गों में व्याप्त है (सर्वपरुः) सब पोरुओं में व्याप्त है (सर्वतनुः) समस्त शरीर में व्याप्त है। (य एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह स्वयं भी (सर्वाङ्ग सर्वपरुः सर्वतनुः सम्भवति) सर्वाङ्ग पूर्ण सब पोरुओं वाला सब शरीर में हृष्ट पुष्ट होता है।

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा०। द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्।
ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा०। ०॥ २३॥

भा०—(एनम् आह) विद्वान् पुरुष सामान्य पुरुष को जो 'ब्रह्मौदन' की उपासना करना चाहता है कहे कि (याभ्यां चैतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिन किरणों से पूर्व ऋषियों ने इस 'ओदन' का भोग किया (ततः च

१. यत्सर्वश।

अन्याभ्याम् श्रोत्राभ्यां एनं प्राशीः) यदि उनसे दूसरे श्रोत्र, कानों से तू उपभोग करेगा तो (बधिरः भविष्यसि) तू बहरा हो जायगा । (तं वा अहं० इत्यादि) तो फिर मैं उस ओदन को न नीचे के को, न परली तरफ़ के को, न अपनी तरफ़ के को उपभोग करूं। प्रत्युत (द्यावा पृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्) द्यौः और पृथिवी इन दोनों श्रोत्रों से उसका उपभोग करूं, (ताभ्याम् एनं प्राशिषम्) उन दोनों से उसका उपभोग करूं (ताभ्याम् एनम् अजीगमम्) उन दोनों के द्वारा उसको अन्यों को प्राप्त कराऊं। (एष वा ओदनः सर्वाङ्ग सर्वपरुः० इत्यादि) यह ओदन सब अंगों, सब पोरुओं समस्त शरीर में व्याप्त है । जो यह तत्व जान लेता है वह सर्वाङ्ग पूर्ण सब पोरुओं से युक्त और पूर्ण शरीर में हृष्ट पुष्ट रहता है ।

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा० । सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम् ।
ताभ्यामेनं० । ० । ० ॥ ३४ ॥

भा०—(याभ्याम् च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्, ततः अन्याभ्याम् च एनं अक्षीभ्याम् प्राशीः, अन्धः भविष्यसि इति एनम् आह) विद्वान् पुरुष जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिन आंखों से पूर्व के ऋषियों ने इसका उपभोग किया उनसे अतिरिक्त दूसरी आंखों से हे पुरुष यदि तू उपभोग करेगा तो तू अन्धा हो जायगा । (अहं तं वा न अर्वाञ्चं० इत्यादि) पूर्ववत् । (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् अक्षीभ्याम् ताभ्याम् एनं प्राशिषम् ताभ्यामेनम् अजीगमम्) सूर्य और चन्द्रमा इन दो आंखों से उस ओदन का उपभोग करूं और उन दोनों से उसको अन्यों को पहुंचाऊं। (एष वा० इत्यादि पूर्ववत)

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । ब्रह्मणा मुखेन ।
तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३५ ॥

भा०—(एनम् आह । येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् ततः च एनम् अन्येन मुखेन प्राशीः , मुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति) गुरु विद्वान् जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिस मुख से इस ओदन को पूर्व काल के ऋषि भोग करते थे उससे अतिरिक्त मुख से यदि तू भोग करेगा तो तेरी प्रजा मुख से मरेगी । (तं वा०) इत्यादि पूर्ववत् । (ब्रह्मणा मुखेन । तेन एनं प्राशिषं तेन एनम् अजीगमम्) ब्रह्म रूप मुख से उस ओदन को भोग करूं और उससे ही उसको अन्यों को प्राप्त कराऊं । (एष वा०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । अग्नेर्जिह्वया ।
तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा० । ० ॥ ३६ ॥

भा०—(एनम् आह । एनं यया पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् । ततः अन्यया एनं जिह्वया प्राशीः जिह्वा ते मरिष्यति इति एनम् आह) गुरु विद्वान् जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिस जिह्वा से इस ओदन को पूर्व काल के ऋषियों ने भोग किया उसके अतिरिक्त जिह्वा से यदि तू भोग करेगा तो तेरी जिह्वा मरेगी । (तं वा०) इत्यादि पूर्ववत् । (अग्नेर्जिह्वया । तया एनं प्राशिषम् तया एनम् अजीगमम्) अग्नि की जिह्वा से इस ओदन का भोग करूं उससे ही इस ओदन को अन्यों को प्राप्त कराऊं । (एषः वा इत्यादि) पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह । तं वा० । ऋतुभिर्दन्तैः ।
तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम् । एष वा० । ० ॥ ३७ ॥

भा०—(एनम् आह । यैः च एनं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् , ततः च एनम् अन्यैः दन्तैः प्राशीः । दन्ता ते शत्स्यन्ति इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिन दांतों से पूर्व ऋषियों ने उस ओदन को भोग किया यदि तू उनसे

अतिरिक्त दूसरे दांतों से भोग करता है तो तेरे दांत झड़ जायेंगे। (तं वा० इत्यादि) पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने इसका भोग (ऋतुभिर्दन्तैः) ऋतु रूप दाँतों से भोग किया है। (तैः एनं प्राशिषम्) उनसे ही मैं भोग करूं और (तैः एनम् अजीगमम्) और उन ही से अन्यों को भी प्राप्त कराऊं। (एष वा० इत्यादि पूर्ववत्)

नमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्येश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
प्राणापानास्त्वां हास्यन्तीत्येनमाह। तं वा०।
सप्तर्षिभिः प्राणापानैः। तैरेनं०। ०। ०॥ ३८॥

भा०—(एनम् आह यैः च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्, ततः च एनम् अन्यैः प्राणापानैः प्राशीः प्राणापानाः त्वा हास्यन्ति इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि जिन प्राणों और अपानों से पूर्व ऋषियों ने इसका *भोग किया यदि तू उनसे अतिरिक्त दूसरे प्राणों और अपानों से भोग करता* है तो प्राण और अपान तुझ को छोड़ देंगे। (तं वा०) इत्यादि पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने (सप्तर्षिभिः प्राणापानैः) सप्त ऋषि, सात शीर्षगत प्राणों रूप प्राणों और अपानों द्वारा उनका भोग किया है। (तैः एनं प्राशिषम्) उनसे ही मैं भोग करूं (तैः एनम् अजीगमम्) उनसे ही उसको अन्यों को प्राप्त कराया है। (एष वा०) इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
राजयक्ष्मस्त्वां हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। अन्तरिक्षेण व्यचसा।
तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा०। ०॥ ३९॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है (येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिस 'व्यचस्' अन्तराकाश भाग से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया (ततः च एनम् अन्येन व्यचसा प्राशीः) यदि तू उससे अतिरिक्त दूसरे अन्तराकाश भाग से भोग करेगा तो (राज

यक्ष्मा त्वा हनिष्यती इति) राजयक्ष्मा तुझे मार देगा । (त वा० इत्यादि) पूर्ववत् । पूर्व ऋषियों ने अन्तरिक्ष रूप ' व्यचस् ' अन्तराकाश से भोग किया । मैं भी (तेन एन प्राशिष) उससे ही भोग करता हूं दूसरों को भी (तेन एनम् अजीगमम्) उससे ही इसको प्राप्त कराता हूं । (एष वा०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । दिवा पृष्ठेन । तेनैन० । ० । ० ॥ ४० ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (येन च एतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्) जिस पृष्ठ भाग से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया (ततः च एनम् अन्येन पृष्ठेन प्राशीः) यदि तू उसके सिवाय दूसरे पीठ से भोग करेगा तो (विद्युत् त्वा हनिष्यति इति) बिजुली तुझे मार जायगी । (त वा०) इत्यादि पूर्ववत् । पूर्व ऋषियों ने इसका (दिवा पृष्ठेन) द्यौ रूप पीठ से भोग किया । (तेन एन प्राशिष० इत्यादि) पूर्ववत् । (एष वा०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह । तं वा० । पृथिव्योरसा । तेनैन० । ० । ० ॥ ४१ ॥

भा०—(एनम् आह, येन चैत०, ततः च एनम् अन्येन उरसा प्राशीः, कृष्या न रात्स्यसि इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि जिस उरस्थल से पूर्व ऋषियों ने उसका भोग किया । यदि तू उसके सिवाय दूसरे वक्षस्थल से भोग करेगा तो कृषि=खेती के यश से समृद्ध न होगा । (त वा०) इत्यादि पूर्ववत् । ऋषियों ने (पृथिव्या उरसा) पृथिवी रूप उरःस्थल से इस ओदन का भोग किया है । (तेन एन० इत्यादि) पूर्ववत् । (एष वा०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । सत्येनोदरेण ।
तेनैनं० । ० । ० ॥ ४२ ॥

भा०—(पुनर् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (येन चैतं०) जिस उदर भाग से ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया है । (ततः च पुनर् अन्येन उदरेण प्राशीः) यदि तू उसके सिवाय दूसरे उदर भाग से भोग करेगा तो (उदरदारः त्वा हनिष्यति इति) उदरदार=अतिसार नामक रोग तुझे मार देगा । (तं वा० इत्यादि) पूर्ववत् । ऋषियों ने (सत्येन उदरेण) सत्य रूप उदर से इसका भोग किया था । (तेन एनं प्रा० इत्यादि) पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अप्सु मरिष्यसीत्येनमाह । तं वा० । समुद्रेण वस्तिना ।
तेनैनं० । ० । ० ॥ ४३ ॥

भा०—(पुनर् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है (येन च एतं) जिस वस्ति भाग से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया (ततः च पुनर् अन्येन वस्तिना प्राशीः) यदि उसके अतिरिक्त दूसरे वस्ति से भोग करेगा तो तू (अप्सु मरिष्यसि) जलों में मरेगा । (तं वा०) इत्यादि पूर्ववत् । (समुद्रेण वस्तिना) ऋषियों ने उसका समुद्र रूप वस्ति से उपभोग किया था (तेन एनं०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह । तं वा० । मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् ।
ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा० । ० ॥ ४४ ॥

भा०—(पुनर् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है (याभ्यां च एतं०) जिन ऊरु=जांघों से पूर्व ऋषियों ने इसका भोग किया (ततः

च एनं अन्याभ्या ऊरुभ्यां प्राशीः) यदि उनके अतिरिक्त जंघाओं से तू भोग करेगा तो (ते ऊरू मरिष्यतः इति) तेरी जांघें मारी जाएंगी। (त वा०) इत्यादि पूर्ववत्। (मित्रावरुणयोः ऊरुभ्याम्) मित्र और वरुण की घनी जांघों से पूर्व ऋषियों ने भोग किया था। (ताभ्याम् एनं प्राशिषं ताभ्याम् एनम् अजीगमम्) उन दोनों से मैं उसका भोग करूं और उन दोनों से अन्यों को प्राप्त कराऊं। (एष वा०) इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
स्रामो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा०। त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम्।
ताभ्यामेनं०। ०। ०॥ ४५॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है (याभ्यां च एतं०) जिन जानुओं से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया है (एनं ततः च अन्याभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् प्राशीः) यदि उस ओदन को तू उनसे दूसरे जानुओं से भोग करेगा तो (स्रामः भविष्यति इति) लंगड़ा हो जायगा। (तं वा०) इत्यादि पूर्ववत्। (त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्याम्) पूर्व ऋषियों ने त्वष्टा के बने जानुओं से ओदन का भोग किया था। (ताभ्यामेनं० इत्यादि) पूर्ववत्। (एष वा० इत्यादि) पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह। तं वा०। अश्विनोः पादाभ्याम्।
ताभ्यामेनं०। ०। ०॥ ४६॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है—(याभ्यां चैतं०) जिन पैरों से पूर्व ऋषियों ने ओदन का भोग किया (ततः च एनम् अन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीः) यदि उनके सिवाय दूसरे पैरों से तू भोग करेगा तो (बहुचारी भविष्यसि इति) बहुचारी होगा। तुझे पैरों से बहुत चलना पड़ेगा। (तं वा० इत्यादि) पूर्ववत्। (अश्विनोः पादाभ्याम्) पूर्व ऋषियों

ने ऋषियों के बने चरणों से उस ओदन का भोग किया था (ताभ्याम् एनं०) इत्यादि पूर्ववत् (एष वा० इत्यादि) पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । सवितुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामेनं० । ० । ० ॥ ४७ ॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (याभ्यां चैतं०) जिन पंजों से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया था यदि तू (ततः च एनम् अन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीः) उनसे अतिरिक्त दूसरे पंजों से भोग करेगा तो (सर्पः त्वा हनिष्यति इति) सांप तुझे मार देगा । (तं वा० इत्यादि) पूर्ववत् । (सवितुः प्रपदाभ्याम्) पूर्व ऋषियों ने सविता के बने पंजों से ओदन का भोग किया था (ताभ्याम् एनम्० एषः वा०) इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह । तं वा० । ऋतस्य हस्ताभ्याम् । ताभ्यामेनं० । ० । ० ॥ ४८ ॥

भा० —(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (याभ्याम् च एनं०) जिन हाथों से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया था (ततः च एनम् अन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीः) यदि तू उनसे दूसरे हाथों से भोग करेगा तो तू (ब्राह्मणं हनिष्यसि) ब्राह्मण का घात करेगा । ब्रह्म-हत्या का भागी होगा । (तं वा० इत्यादि) पूर्ववत् (ऋतस्य हस्ताभ्याम्) ऋत=सत्य परम तप के हाथों से ऋषियों ने उसका भोग किया (ताभ्याम् एनं एषः वा० इत्यादि) पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह ।

तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
सत्येन प्रतिष्ठया । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४६॥ (६)

भा०—(एतम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि (यथा च एत पूर्वे ऋषय. प्राश्नन्) जिस प्रकार के 'प्रतिष्ठा' भाग से पूर्व ऋषियों ने इसका भोग किया (तत च एनम् अन्यया प्रतिष्ठया प्राशीः) यदि तू उससे दूसरी प्रतिष्ठा भाग से इस ओदन को भोग करेगा तो तू (अप्रतिष्ठा-न' अनायतन. मरिष्यसि इति) विना घर के और विना आश्रय के मरेगा। (तं वा अहं० इत्यादि) पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने (सत्ये प्रतिष्ठाय) सत्य पर आश्रित होकर उस ओदन का भोग किया था । (तया एनं०) उसी प्रतिष्ठा से मैं उस ओदन का भोग करता हूं और (तया एनम् अजीगमम् एष वा० इत्यादि) पूर्ववत्।

संक्षेप में—मनुष्य यदि चाहे कि मैं अपनी स्वल्प शक्ति से ही परमेश्वर के रचे समस्त ऐश्वर्यों का भोग करलूं तो यह उसकी शक्ति से बाहर है। वह अपने जिस २ अंग से भी भोगने की चेष्टा करेगा वह ही उसका शीघ्र जीर्ण हो जायगा और विपत्तिग्रस्त हो जायगा। इसलिए उसको ब्रह्म का महान् ऐश्वर्य महान् शक्तियों के द्वारा ही भोगना चाहिये। उसके विराट् रूप का बृहस्पति शिर है, द्यौ पृथिवी दो कान है, सूर्य और चन्द्रमा दो आँखें हैं, ब्रह्म अर्थात् वेद उसका मुख है, अग्नि या विद्युत् उसकी जिह्वा है, ऋतु दांत हैं, सप्तऋषि साल प्राण हैं, अन्तरिक्ष फुप्फुस हैं, द्यौः पृष्ठ है, पृथिवी छाती है, सत्य उदर है समुद्र वस्तिस्थान है मित्रावरुण उसकी जांघें हैं, त्वष्टा उसकी जानु या गोडे हैं, अश्वि, दोनों दिन रात पाद हैं, सविता उसके

४६—'सत्ये प्रतिष्ठया' इति क्वचित्।

पंजे हैं, ऋत हाथ हैं, सत्य प्रतिष्ठा है । इनके द्वारा परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करना चाहिये ।

इसकी तुलना छान्दोग्य उपनिषद् में आये केकय देश के राजा अश्वपति द्वारा बतलाये वैश्वानर प्रकरण से करनी चाहिये ।

(३) ब्रह्मज्ञ विद्वान् की निन्दा का बुरा परिणाम ।

अथर्वा ऋषिः । ओदनो देवता । ५० आसुरी अनुष्टुप, ५१ आर्ची उष्णिक्, ५२ त्रिपदा भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्, ५३ आसुरीबृहती, ५४ द्विपदाभुरिक् साम्नी बृहती, ५५ साम्नी उष्णिक्, ५६ प्राजापत्या बृहती । सप्तर्चं तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

एतद् वै ब्रध्नस्य॑ विष्टपं॒ यदो॑द॒नः ॥ ५० ॥

ब्रध्नलो॑को भवति ब्रध्नस्य॑ विष्टपि॑ श्रयते॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ५१ ॥

भा०—(५०) (यत् ओदनः) जो पूर्व सूक्तों में 'ओदन' कहा गया है (एतत् वै) वह (ब्रध्नस्य विष्टपम्) सकल संसार को अपने भीतर बांधने वाला विष्टप=लोक, सबका आश्रय, विशेष रूप से तपनेहारा परम तेज है । (५१) (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जान लेता है वह (ब्रध्नस्य) उस सबको बांधने वाले परम बन्धुरूप सूर्य के समान (विष्टपि) परम तेजोमय लोक में (श्रयते) आश्रय पाता है । (ब्रध्नलोकः भवति) और स्वयं भी इसी प्रकार अन्यों को अपने आश्रय में बांधने वाला आश्रयभूत 'लोक' सा मा हो जाता है ।

एतस्माद् वा ओ॑द॒नात् त्रय॑स्त्रिंशतं लो॒कान् निर॑मिमीत प्र॒जाप॑तिः ५२

तेषां प्रज्ञाना॑य य॒ज्ञम॑सृजत ॥ ५३ ॥

भा०—(एतस्मात् वा ओदनात्) इस 'ओदन' से (त्रयः त्रिंशतं लोकान्) ३३ लोकों=देवों को (प्रजापतिः) प्रजापति ने (निः अमिमीत) बनाया है (तेषां प्रज्ञानाय) उनके उत्तम रीति से ज्ञान करने के लिये

(यज्ञम् असृजत) प्रजापति ने यज्ञ को रचा । अर्थात् यज्ञ की रचना के ज्ञान से ही जगत् की रचना का भी ज्ञान हो जायगा ।

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥ ५५ ॥

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥ ५६ ॥ (१०

भा०—(यः) जो (एवं) पूर्वोक्त प्रकार के (विदुषः) ब्रह्मरूप ओदन के रहस्य जानने वाले विद्वान् का (उपद्रष्टा) दोषदर्शी, निन्दक (भवति) होता है (सः) वह अपने ही (प्राणं) प्राण-बल का (रुणद्धि) विच्छेद करता है । अर्थात् अपने प्राण-बल का अन्त कर लेता है । (न च) और न केवल (प्राणं रुणद्धि) प्राण-बल का अन्त कर लेता है बल्कि (सर्वज्यानिम् जीयते) उसका सर्वनाश हो जाता है । (न च) और न केवल (सर्वज्यानिं जीयते) सर्वनाश हो जाता है बल्कि (एनं) उसको (जरसः पुरा) बुढ़ापे के पहले ही (प्राणः जहाति) प्राण छोड़ देता है ।

---

[४] प्राणरूप परमेश्वर का वर्णन ।

भार्गवो वैदर्भिर्ऋषिः । प्राणो देवता । १ शङ्कुमती, ८ पथ्यापङ्क्तिः, १४ निचृत्, १५ भुरिक्, २० अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्, २१ मध्येज्योतिर्जगती, २२ त्रिष्टुप्, २६ बृहतीगर्भा, २-७-९ १३ १६ १९-२३-२५ अनुष्टुभः । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

भा०—(प्राणाय) समस्त प्राणियों के प्राणस्वरूप परमेश्वर को (नमः) नमस्कार है (यस्य) जिसके (वशे) वश में (इदं सर्वम्) यह सर्व=समस्त संसार है । (यः) जो (भूतः) महान्, सत्तावान्, स्वयम्भू

(सर्वस्य ईश्वरः) सबका ईश्वर है और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्) जिस पर समस्त संसार आश्रित है ।

नम॑स्ते प्राण॒ क्रन्दा॑य॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑ ।

नम॑स्ते प्राण वि॒द्युते॒ नम॑स्ते प्राण॒ वर्ष॑ते ॥ २ ॥

भा०—हे (प्राण) समस्त संसार के प्राणस्वरूप परमेश्वर ! (क्रन्दाय ते नमः) सबको आह्लादित करनेहारे, परम आनंदस्वरूप तुझको नमस्कार है । (स्तनयित्नवे ते नमः) समस्त संसार पर मेघ के समान सुखों, अन्नों, जलों और जीवनों की वर्षा करनेहारे पर्जन्यरूप तुझ प्रजापति को नमस्कार है । हे (प्राण) प्राण ! (ते विद्युते नमः) विद्युत् के समान प्रखर कान्ति से चमकने वाले प्रकाशस्वरूप तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! (वर्षते ते नमः) आनंदधाराओं को वर्षण करते हुए तुझे नमस्कार है ।

यदा त्वमथ वर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।

आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति ॥ प्रश्नोप० २ । १० ॥

हे प्राण जब तू बरसता है तब ये समस्त तेरी प्रजाएं आनन्द प्रसन्न होती हैं कि खूब अन्न होगा ।

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः ।

प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥

भा०—हे (प्राण) समस्त संसार के प्राणस्वरूप ! (यत्) जब (स्तनयित्नुना) स्तनयित्नु अर्थात् मेघ द्वारा (ओषधीः अभिक्रन्दति) ओषधियों के प्रति गर्जते हो । (तदा) तब वे ओषधियां (प्र वीयन्ते) विशेष रूप से प्रजनन का कार्य करती हैं अर्थात् नर, मादा, वनस्पतियां परस्पर के

[४] २-(तृ०) ' नमस्तेऽस्तु विद्युते ' इति पैप्प० सं० ।

३-' प्र वीयन्ते गर्भं ' (च०) ' विजायते ' इति पैप्प० सं० ।

कुसुम परागों द्वारा सगर्भा करती हैं और फिर (गर्भान् दधते) गर्भ धारण करती हैं। (अथ) और बाद में (बह्वीः) नानाविधि होकर (वि जायन्ते) विविध प्रकारों से उत्पन्न होती हैं। मेघ का गर्जन, वर्षण और उस द्वारा ओषधियों का परस्पर प्रजनन, गर्भ ग्रहण और उत्पन्न होना यह प्राणमय प्रजापति परमेश्वर की शक्ति का एक रूप है।

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दुत्योषधीः।
सर्वं तुदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

ऋ० ५। ८३। १। उत्तरार्धेनोत्तरार्धः सम० ॥

भा०—और हे (प्राण) सब के प्राणप्रद प्राणेश्वर प्रभो ! (ऋतौ आगते) ऋतु, मौसम आजाने पर (यत्) जब (ओषधीः अभिक्रन्दति) ओषधियों और प्रजाओं के प्रति आप मेघ रूप में गर्जते हो (तदा सर्वं) तब समस्त संसार (यत् किं च) जो कुछ भी (अधि भूम्याम्) इस भूमि में है (प्र मोदते) प्रमुदित हो जाता है, आनंद प्रसन्न हो जाता है।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

भा०—(यदा) जब (प्राणः) प्राणस्वरूप, सबका प्राणप्रद मेघ रूप होकर प्रजापति (वर्षेण) वर्षा द्वारा (महीम् पृथिवीम्) विशाल पृथ्वी पर (अभि अवर्षीत्) बरसता है (तत्) तब (पशवः प्र मोदन्ते) पशु प्रसन्न होते हैं कि (नः) हमारे लिये (महः वै भविष्यति) बड़ा भारी जीवनाधार अन्न उत्पन्न होगा।

४-(द्वि०) 'अतीव वि चि मोदते ' इति ऋ०।

५-(प्र० द्वि०) 'यदा प्राणोऽभ्यक्रन्दी वर्षेणस्तनयित्नुना' इति पैप्प० सं०।

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

भा०—(अभिवृष्टाः ओषधयः) वर्षा के जल से सिंची हुई ओषधियां (प्राणेन सम् अवादिरन्) प्राणरूप प्रजापति के साथ सम्वाद करती हैं कि हे प्रजापते ! (नः) हमें तू (वै) निश्चय से (आयुः प्रातीतरः) जीवन प्रदान करता है। (नः सर्वाः) हम सबको तू (सुरभीः अकः) सुरभि, सुगन्धित अथवा सुरभि, कामधेनु के समान फल, रस आदि उत्पन्न करने में समर्थ बना देता है।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

अथर्व० ११ । २ । १५ ॥

भा०—हे प्राण ! (आयते) आते हुए (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो। (परायते) जाते समय तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार हो। हे प्राण (तिष्ठते ते नमः) स्थिर होते हुए तुझे नमस्कार है। (आसीनाय उत ते नमः) बैठे हुए तुझे नमस्कार है। समस्त पदार्थों और जीवों में ये क्रियाएं उसी प्राण के बल पर हैं अतः उनकी वे २ दशायें 'प्राण' की ही हैं। उन २ दशाओं में वर्त्तमान 'प्राण' का हम आदर करते हैं।

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥

६–(द्वि०) 'समवासिरन्', (तृ०) 'नः प्रातीतरत्' इति पैप्प० सं०।
७–'तेऽस्तु', 'नमोऽस्तु' इति पैप्प० सं०।
८–(द्वि०) 'नमोऽस्त्व' (तृ०) 'अर्वाचीनाय ते नमः पराचीनाय' इति पैप्प० सं०।

भा० हे (प्राण प्राणते ते नमः) प्राण ! प्राण क्रिया करते, श्वास लेते हुए तुझे नमस्कार है । (अपानते नमः अस्तु) श्वास छोड़ते हुए तुझे नमस्कार है । (पराचीनाय ते नमः) पराङ्मुख देह से बाहर जाते हुए तुझे नमस्कार है । और (प्रतीचीनाय) अपनी तरफ़ आते हुए, देह के भीतर वर्त्तमान (ते नमः) तुझे नमस्कार है । (सर्वस्मै ते) सर्व संसार के प्राणियों और समस्त चेतन चराचर पदार्थों के स्वरूप में विद्यमान तुझको (इदं नमः) हमारा यह नमस्कार, आदरभाव है ।

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी ।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ९ ॥

भा०—हे प्राण ! (या ते प्रिया तनूः) जो तेरी प्रिय तनु=शरीर या स्वरूप है और हे प्राण (यो) जो (ते) तेरी (प्रेयसी) सब से अति प्यारी प्रियतम आत्मरूप (तनूः) 'तनु' है (अथो यद् तव भेषजं) और जो तेरा समस्त रोग, कष्टों को दूर करने और आत्मा को शान्ति देने हारा अमृतमय स्वरूप है (तस्य नः जीवसे धेहि) उसको हमारे जीवन के लिये प्रदान कर ।

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥ १० ॥ (११)

भा०—(पिता प्रियम् पुत्रम् इव) पिता जिस प्रकार प्रिय पुत्र के प्रति उत्पादक, जीवनप्रद, पालक पोषक है उसी प्रकार (प्राणः प्रजाः अनु वस्ते) प्राणस्वरूप परमेश्वर समस्त प्रजाओं के प्रति उनका उत्पादक, जीवनप्रद, पालक और पोषक है । वह (प्राणः) प्राण (यत् च प्राणति

९-(द्वि०) 'तनूर्या ते' इति सायणाभिमतः पाठः । 'यो । इति' इति पदपाठः । 'या । उ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

१०-(प्र०) 'प्रजाः' (च०) 'यच्च प्राणति यच्च न' इति पैप० सं० ।

येत् च न) जो प्राण लेता है और जो प्राण नहीं भी लेता है (सर्वस्य ईश्वरः) उस सबका ईश्वर अर्थात् स्वामी है । यह सब उसी का ऐश्वर्य या विभूति है । वह उसका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, संहर्त्ता है ।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥ ११ ॥

भा०—(प्राणः मृत्युः) प्राण ही मृत्यु अर्थात् शरीर के आत्मा से वियुक्त होने का कारण है । (प्राणः तक्मा) जीवन में ज्वर आदि होने का मूलकारण भी वही प्राण है । (देवाः) समस्त देवगण पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि लोक और वाग्, चक्षु आदि इन्द्रिय गण और विद्वान् पुरुष सब (प्राणम् उपासते) प्राण की ही उपासना करते हैं । (प्राणः ह) निश्चय से सर्वप्राणेश्वर प्राण ही (सत्यवादिनम्) सत्यवादी पुरुष को (उत्तमे लोके आ दधत्) उत्तम लोक में स्थापित करता है ।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते ।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ १२ ॥

भा०—(प्राणः विराट्) प्राण ही 'विराट्', हिरण्यगर्भ रूप है (प्राणः देष्ट्री) प्राण ही सबका उपदेष्टा ज्ञानप्रद, सर्वप्रेरक है (सर्वे) समस्त विद्वान् (प्राणम्) प्राण की ही उपासना करते हैं । (प्राणः ह सूर्यः) वह प्राण ही 'सूर्य' शब्द से कहा जाता है (चन्द्रमाः) वही 'चन्द्रमा' शब्द से कहा जाता है । (प्राणम् प्रजापतिम् आहुः) उस सब के प्राणेश्वर प्राण को ही 'प्रजापति' नाम से विद्वान् पुकारते हैं ।

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥ १३ ॥

११–(प्र०) 'प्राणो मृत्युः प्राणोऽमृतम्' इति पैप्प० सं० ।

१२–(द्वि०) 'प्राणः सर्वम्', (तृ०) 'प्राणोऽग्निश्चन्द्रमाः सूर्य' इति पैप्प० सं० ।

१३–(तृ०) 'यवेन प्राण' इति क्वचित् ।

भा०—(प्राणापानौ व्रीहियवौ) प्राण और अपान इन दोनों के वेद के शब्दों में 'व्रीहि' और 'यव' नाम से कहा जाता है। (प्राण अनड्वान् उच्यते) वह पूर्वोक्त सर्व जीवनप्रद प्राण 'अनड्वान्' शब्द से कहा जाता है। (यवे ह प्राण आहित) 'यव' में प्राण स्थित है। और (अपान व्रीहि उच्यते) अपान 'व्रीहि' कहाता है। और 'यव' शब्द से कहने योग्य वह शक्ति जो संसार में पञ्चभूतों को परस्पर मिलाता है वह प्राण है और जो पुष्ट करता है वह व्रीहि अपान है। और शरीर में भी प्राण यव है और अपान व्रीहि है।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ १४ ॥

भा०—(गर्भे अन्तरा) गर्भ और विराट्, हिरण्यगर्भ दोनों में (पुरुष) पुरुष आत्मा (अपानति प्राणति) श्वास छोड़ता और श्वास लेता है। अर्थात् वही प्राण और अपान दोनों वायुओं का व्यापार करता है। हे (प्राण) प्राण ! (यदा त्वं जिन्वसि) जब तू उस गर्भस्थ बालक को परितृप्त और परिपुष्ट कर देता है (अथ) तब (स पुनः) वह फिर (जायते) बालक रूप में उत्पन्न होता है। हिरण्यगर्भ में वह महान् पुरुष प्राण डालता है और तब इसमें नाना लोक उत्पन्न होते हैं।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

भा०—सर्व प्राणस्वरूप उस (प्राणम् मातरिश्वानम् आहुः) प्राण को ही 'मातरिश्वा' नाम से विद्वान् पुकारते हैं। (वातः ह प्राण उच्यते)

१४–(द्वि० तृ० च०) 'गर्भे अन्तः। यदा त्वं प्राणजीव सदम्ब वायसं स्वंतू' इति पैप्प० सं०।

१५–(च०) 'समाहिता' इति पैप्प० सं०।

यह ' प्राण ' ' वात ' या वायु शब्द से कहा जाता है । (प्राणे ह भूतं भव्यं च) भूत और भविष्यत् दोनों प्राण में प्रतिष्ठित हैं । (प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्) प्राण में सर्व संसार आश्रित है ।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥ १६ ॥

भा०—(आथर्वणीः आङ्गिरसीः) आथर्वणी, आङ्गिरसी (दैवीः मनुष्यजाः) दैवी और मानुषी (उत) भी (ओषधयः) ओषधियां (प्रजायन्ते) तब उत्पन्न होती हैं (यदा) जब हे (प्राण) प्राण (त्वं जिन्वसि) तू उनको तृप्त करता है ।

इस मन्त्र में—' आथर्वणी ', ' आङ्गिरसी ', 'दैवी' और 'मनुष्यजा' इन चार प्रकार की ओषधियों का वर्णन है । सायण के मत में अथर्व ऋषि की बनाई ओषधियां, आथर्वणी अङ्गिरा ऋषियों द्वारा रची ओषधियां आङ्गिरसी और देवों द्वारा रची दैवी और मनुष्यों से उत्पन्न मनुष्यजा हैं । वैदिक ओषधि शास्त्र में ये चार विभाग उनके विशेष २ उपचारों के कारण प्रतीत होते हैं ।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
ओषधयः प्र जायन्तेथो याः काश्च वीरुधः ॥ १७ ॥

भा०—(यदा) जब (प्राणः) प्राण (वर्षेण) वर्षा के रूप में (महीम् पृथिवीम्) इस विशाल पृथ्वी पर (अभि अवर्षीत्) बरसता है (अथो) तब भी (ओषधयः) ओषधियां और (याः च काः च) जो कोई

१६-(द्वि०) ' मनुष्यजाश्च य ' (तृ०) ' सर्वाः प्रमोदन्त्योषधी ' इति पैप्प० सं० ।

१७-(तृ०) ' प्रमोदन्ते ' इति पैप्प० सं० ।

भी (वीरुधः) नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाली लताएं हैं वे सब (प्र जायन्ते) खूब पैदा होती हैं।

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥ १८ ॥

भा०—हे (प्राण) प्राण 'परमेश्वर' (यः ते इदं वेद) जो तेरे इस तत्व का साक्षात् ज्ञान लेता है और (यस्मिन् च) जिस परम रूप में, ज्ञान रूप में (प्रतिष्ठितः असि) तू प्रतिष्ठित होकर रहता है (तस्मै) उसको (सर्वे) सब (अमुष्मिन् उत्तमे लोके) उस परम उत्तम लोक में भी (बलिं हरान्ति) बलि, पूजोपहारादि द्रव्य (हरान्) उपस्थित करते हैं। उसका आदर सत्कार करते हैं।

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥ १९ ॥

भा०—हे (प्राण) प्राण! (यथा) जिस प्रकार (तुभ्य) तुम्हारे लिये (इमाः सर्वाः प्रजाः) ये समस्त प्रजाएं (बलिहृतः) बलि अन्नरूप भेंट करती हैं और तुम्हारी उपासना करती हैं (एवा) उसी प्रकार (यः त्वा) जो तेरे विषयक ज्ञान को (सुश्रवः) उत्तम श्रवण धारणशक्ति युक्त होकर (शृणवत्) सुनता है (तस्मै बलिं हरान्) समस्त प्राणी उसके लिये भी बलि भेंट पूजा की सामग्री उपस्थित करते, उसका आदर करते हैं।

तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।
प्रश्न० उ० २। ७॥

१८–(प्र०) 'इदं प्राण इ०' इति पैप्प० सं०।
१९–(च०) 'यस्त्वा शृणवत् सुश्रुवः' इति पैप्प० सं०। 'सुश्रुवः' इति सायणाभिमतः पाठः।

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः ।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥ (१२)

भा०—(देवतासु) समस्त दिव्य पदार्थों में, पञ्चभूत पृथिवी, अप् तेज=वायु आकाश आदि में वह 'प्राण' ही (गर्भः) ग्रहणशक्ति, धारणशक्ति होकर (अन्तः चरति) उनके भीतर व्यापक होकर समस्त क्रिया करता है। (सः) वही (आभूतः) सर्वव्यापक होकर (भूतः) उत्पन्न जगत् रूप में प्रकट होकर (पुनः जायते) फिर सृष्टिरूप में उत्पन्न होता है। वह (भूतः) सत्तावान्, नित्य प्राण वर्त्तमान (भव्यं भविष्यत्) 'भव्य' आगे उत्पन्न होने योग्य, भविष्यत् रूप में अपनी (शचीभिः) शक्तियों द्वारा इस प्रकार (प्र विवेश) प्रविष्ट रहता है जिस प्रकार (पिता पुत्रम्) पिता अपने सूक्ष्म अवयवों और संस्कारों से युक्त बीज द्वारा पुत्र में प्रविष्ट रहता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदुङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदा चन ॥ २१ ॥

भा०—(हंसः) वह परम पुरुष प्राण (सलिलात्) जिस प्रकार हंस नाम जलजीव एक पैर उठा कर भी दूसरा पैर पानी में ही स्थिर रखता है उसी प्रकार इस (सलिलात्) महान् संसार से (उच्चरन्) ऊपर मोक्षरूप में असङ्ग रह कर भी (एकं पादं) अपना एक पाद=चरण (न उत्खिदति) नहीं उठाता। इसी से यह संसार चलता है। (अङ्ग) हे जिज्ञासो ! (यत्) यदि (सः) वह परमेश्वर (तम् उत् खिदेत्) उस चरण को भी ऊपर उठाले तब (नैव अद्य न श्वः स्यात्) तो न आज और न कल हुआ

२०–(तृ०) 'स भूतो भूतं भविष्यत्' इति सायणाभिमतः पाठः।
२१–'हंस उत्पतन्। इमं सततमुत्खिदे अर्च्च वा चनः स्योन रात्री नाह स्यादन्यः प्रभा तु किं चन[?]' इति पैप्प० सं०।

करे अर्थात् (न रात्री न अहः स्यात्) न रात और न दिन हुआ करे क्योंकि कभी (न व्युच्छेत्) उषाकाल हो न हो । क्योंकि उसका सर्व प्रवर्त्तक चरण, चालक शक्ति समाप्त में उड़ जाने से समस्त संसार जड़ हो जाय और न चले । न सूर्य चले न फिर उदित हो ।

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ २२ ॥

अथर्व० १० । ८ । ७ । १३ ॥

भा०—(अष्टाचक्रम्) आठ चक्रों और (एकनेमि) एक नेमि अर्थात् चक्रधारा से युक्त है, (सहस्राक्षरम्) उसमें सहस्रों अक्ष अर्थात् धुरे हैं । (प्र पुरः नि पश्चा) वह आगे जाता और पीछे को भी लौट आता है । वह प्राण-रूप प्रजापति (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) अर्ध भाग से समस्त विश्व को उत्पन्न करता है । और (यद् अस्य अर्धम्) इसका जो अर्ध है (सः केतुः) वह ज्ञानमय (कतमः) कौनसा है ?

शरीर का प्राण उस महाप्राण का एक प्रतिदृष्टान्त है । इस शरीर में त्वचा रुधिर आदि सात और ओज आठवीं धातु आठ 'चक्र' हैं, ये शरीर को बनाती हैं, उन पर 'प्राण' ही 'एक नेमि' अर्थात् हाल चढ़ा है । मन के संकल्प विकल्प रूप सहस्रों उसमें अक्ष हैं । वह प्राण बाहर और भीतर जाता है । आधे से इस शरीर को थामता और आधे से वह स्वयं आत्म-रूप है । अर्थात् एकांश से कर्ता और एकांश से भोक्ता है । इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में पृथिव्यादि पञ्चभूत काल दिशा और मन अथवा प्रकृति, महत् और अहंकार ये आठ संसार के प्रवर्त्तक 'चक्र' हैं । उन पर एक 'नेमि' उनका वशयिता 'प्राण' परमेश्वर है । वह (प्र पुरो नि पश्चा) इस संसार को आगे ढकेलता और पीछे प्रलय में ले जाता है । उसका अर्ध=विभूति-

२२–' एकचक्रं वर्तत एकनेमि ' इति अथर्व० १० । ८ । ७ ॥

मन् अंश समस्त विश्व को उत्पन्न करता है और दूसरा 'अर्ध' विभूतिमान् स्वरूप ज्ञानमय है जो 'कतमः' अज्ञेय है। न जाने कौनसा और कैसा है? अथवा 'कतमः' अतिशय सुख स्वरूप, 'परमानन्द' है।

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥

भा०—(यः) जो (अस्य) इस (चेष्टतः विश्वस्य) विश्व, समस्त इस क्रियाशील विश्व के (विश्वजन्मनः) नाना प्रकार की उत्पत्ति पर (ईशे) सामर्थ्यवान् है, अथवा नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाले इस क्रियाशील विश्व पर वश कर रहा है और (अन्येषु) अन्य प्राणियों में भी (क्षिप्र-धन्वने) अति शीघ्रता से गति दे रहा है। हे (प्राण) हे महान् चैतन्य ! महा प्रभो (तस्मै ते नमः अस्तु) उस तेरे लिये हम नमस्कार करते हैं।

'क्षिप्रधन्वने' शब्द से भव शर्वसूक्त अथर्व० ११ । २ । ७ में आये 'अस्त्रा' शब्द पर प्रकाश पड़ता है। 'क्षिप्रं गच्छते, व्याप्नुवते' इति सायणः।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ २४ ॥

भा०—(यः) जो (अस्य सर्वजन्मनः) सब प्रकारों से उत्पन्न होने वाले (चेष्टतः सर्वस्य) और क्रियाशील 'सर्व'-समस्त संसार के ऊपर (ईशे) वश किये हुए है (सः) वह जगदीश्वर (प्राणः) प्राण-सबके प्राणों का प्राण, (अतन्द्रः) आलस्य और निद्रा रहित (धीरः) प्रज्ञावान् (ब्रह्मणा) अपने ब्रह्म=बलरूप शक्ति से (मा अनु तिष्ठतु) मुझे प्राप्त हो। अथवा—(ब्रह्मणा) ब्रह्म ज्ञान के रूप में प्राप्त हो।

२४—'मानोगामभितिष्ठतु' इति पैप्प० सं० ।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते ।

न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥

भा०—हे प्राण ! तू (ऊर्ध्वः) सब के ऊपर विराजमान शासक होकर (सुप्तेषु) सब के सो जाने पर भी (जागार) जागता रहता है । (ननु) साधारण लोग तो (तिर्यङ्) तिरछा होकर (नि पद्यते) नीचे निद्रा में गिर पड़ता है पर तब भी तू नहीं सोता । (सुप्तेषु) सोते हुए प्राणियों में भी (अस्य) इस प्राण के (सुप्तम्) सो जाने के विषय की बात को (कश्चन) किसी ने भी (न) नहीं (अनु शुश्राव) सुना । सब सो जाते हैं पर प्राण नहीं सोता । इसी प्रकार सब के प्रलय-काल में सब जाने पर भी वह महाप्राण प्रभु जागता है ।

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।

अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥ २६ ॥ (१३)

भा०—हे (प्राण) प्राण ! (मत्) मुझ से (मा परि आवृत) दूर पराङ्मुख मत हो । तू (मद् अन्य) मुझ आत्मा से पृथक् (न भविष्यसि) नहीं हो सकता । हे (प्राण) प्राण (अपां) समस्त कार्यों और विज्ञानों को (गर्भम् इव) ग्रहण करने हारे, परम सामर्थ्यवान् के समान (त्वा) तुझ को ही (जीवसे) जीवन धारण के लिये (मयि) अपने में मैं (बध्नामि) बांधता हूं ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम्, ऋचश्चाष्टाविंशच्च ।]

२५–(प्र०) ' जागार ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

[५ (७)] ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्मचारी देवता । १ पुरोतिजागतविराड् गर्भा, २ पञ्चपदा बृहतीगर्भा विराट् शक्वरी, ६ शाक्वरगर्भा चतुष्पदाजगती, ७ विराड्गर्भा, ८ पुरोतिजागताविराड् जगती, ९ बार्हतगर्भा, १० भुरिक्, ११ जगती, १२ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराड् अतिजगती, १३ जगती, १५ पुरस्ताज्ज्योतिः, १४, १६–२२ अनुष्टुप्, २३ पुरो बार्हतातिजागतगर्भा, २५ आर्ची उष्णिग्, २६ मध्ये ज्योतिरुष्णिग्गर्भा । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदंसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं१ तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्म, वेद के अध्ययन में दृढ़ ब्रह्मचर्य का पालन करनेहारा, ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) द्यौः और पृथिवी, माता और पिता दोनों का (इष्णन्) अनुकरण करता हुआ या दोनों को प्रेम करता हुआ या दोनों का प्रेमपात्र होता हुआ (चरति) पृथ्वी पर विचरण करता है । (तस्मिन्) उसमें (देवाः) समस्त देव, विद्वान् और राजा लोग (संमनसः) एक चित्त (भवन्ति) हो जाते हैं । (सः) वह (पृथिवीं दिवं च दाधार) पृथिवी और द्यौः=सूर्य, माता और पिता, विद्या और गुरु दोनों का धारण करता है । (सः) वह (आचार्यं) अपने आचार्य को (तपसा) तप से (पिपर्त्ति) पालन और पूर्ण करता है । अर्थात् वह आचार्य की त्रुटियों को भी पूर्ण करता है ।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥

[५] १–(द्वि०) 'यस्मिन् देवाः' (तृ०) 'पृथिवीमुतद्याम्' (च०) 'साचार्यं' इति पैप्प० सं० ।

२–'पितरो मनुष्या देवजना गन्धर्वा अनुसंयन्ति सर्वे । त्रयस्त्रिंशतम् त्रिशतम् शतसहस्रान् सर्वान् स देवांस्तपसा बिभर्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को देखकर (पितरः) पितृ लोग (देवजनाः) दान-शील पुण्यात्मा लोग और (देवाः) तत्त्व-दर्शी विद्वान् राज॰ लोग भी (पृथक्) अलग (सर्वे) सब (अनु संयन्ति) उसके पीछे चलते है, उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। (गन्धर्वाः) गन्धर्व, सामान्य पुरुष (एनम् अनु आयन्) उसके पीछे चलते हैं, उसका अनुकरण करते और आज्ञा पालन करते हैं। (षट्सहस्राः त्रिशताः त्रय त्रिंशत्) ६३३३ प्रकार के अथवा ३३ और ३०३ और ६००० देव हैं (स-सर्वान् देवान्) वह उन समस्त देवों को (तपसा पिपर्ति) अपने तप से पालन करता है अर्थात् ब्रह्मचर्य के बल से सबको धारण करता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥३॥

भा०—(उपनयमानः आचार्यः) उपनयन संस्कार करता हुआ आचार्य (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (अन्तः गर्भम्) अपने भीतर, गर्भ को माता के समान (कृणुते) धारण करता है (तं) उसको (तिस्रः रात्रीः) तीन रातों तक अर्थात् तीन दिन अपने (उदरे बिभर्ति) माता के समान अपने में धारण करता है। (तम्) उसको (जातम्) ब्रह्मचारी बनने हुए को (द्रष्टुम्) देखने के लिये (देवाः) धन और विद्या के दानशील, दूसरों को विद्या का दर्शन करानेहारे विद्वान् लोग भी (अभि-संयन्ति) चारों ओर से आते हैं। स हि विद्यातस्तं जनयति । तच्छ्रेष्ठं जन्म जनयतः । शरीरमेव मातापितरौ इति (आप० ध० १ । १ । १६–१)

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥

४–(द्वि०) 'मेखली' (च०) 'बिभर्ति' इति पैप्प० सं०।

भा०—(इयं पृथिवी) यह पृथिवी (समित्) ब्रह्मचारी की प्रथम समिधा है । (द्यौः द्वितीया) यह द्यौ दूसरी समिधा है । (उत अन्तरिक्षं) और अन्तरिक्ष तीसरी समित् है । इन तीनों को ब्रह्मचारी (समिधा) अपने अग्नि में आहुति की गयी समिधा अर्थात् आचार्य रूप अग्नि से प्रज्वलित अपने ज्ञानवान् आत्मा से (पृणाति) पालन करता और पूर्ण करता है । (ब्रह्मचारी) ब्रह्म ज्ञान में दीक्षित ब्रह्मचारी (समिधा) समित् आधान द्वारा और (मेखलया) मेखला से (श्रमेण) श्रम से और (तपसा) तप से (लोकान्) समस्त लोकों, मनुष्यों का (पिपर्त्ति) पालन करता है ।

समिद्-आधान में—ब्रह्मचारी नियम से आचार्य की अग्नि में तीन समिधा या पलाशकाष्ठ मन्त्र पाठपूर्वक आहुति करता है । उसका तात्पर्य यह होता है कि (यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे एवमहम् आयुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे ।) जिस प्रकार अग्नि काष्ठ से प्रज्वलित होकर तेज से चमकती है उसी प्रकार मैं भी आचार्य के समीप रह कर दीर्घ आयु, ज्ञानमय बुद्धि तेज, प्रजा, पशु और ब्रह्मचर्य से चमकूं । वह तीन समिधों को अग्नि में रखता है अर्थात् तीनों लोकों में विद्यमान अग्नियों के समान स्वयं तेजस्वी होने का दृढ़ संकल्प करता है । भूलोक में अग्नि, मध्यम लोक में विद्युत् और द्यौ लोक में सूर्य ये तीन अग्नियें हैं, उनके समान तेजस्वी होकर वह तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ होता है अर्थात् जिस प्रकार तीनों लोक जगत् के प्राणियों की रक्षा करते हैं उनके समान वह भी रक्षा करने में समर्थ होता है ।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥५॥

५-(द्वि०) 'तपसोऽधितिष्ठत' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ब्रह्मणः) ब्रह्म, जगत् के आदिकारण परमेश्वर से (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ब्रह्म की शक्ति से विचरण करने वाला सूर्य (पूर्वः जातः) सब से प्रथम उत्पन्न हुआ। वह (घर्मं वसानः) तेजोमय रूप धारण करता हुआ (तपसा उद् अतिष्ठत्) तप से ऊपर उठा और उस ब्रह्मचारी से (ब्राह्मणम्) ब्रह्म का अपना स्वरूप (ज्येष्ठम्) सब से उत्कृष्ट (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान और (अमृतेन साकम्) उस अमृत, दीर्घ जीवन के साथ २ (सर्वे च देवाः) समस्त दिव्य बलों को धारण करने वाले देव प्राणगण और विद्वान् (जातम्) उत्पन्न हुए।

ब्रह्मचार्ये॑ति स॒मिधा॒ समि॑द्धः॒ कार्ष्णं॒ वसा॑नो दीक्षि॒तो दी॒र्घश्म॑श्रुः।
स स॒द्य ए॑ति॒ पूर्व॑स्मा॒दुत्त॑रं समु॒द्रं लो॒कान्त्सं॒गृभ्य॒ मुहु॑रा॒चरि॑क्रत्॥६॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) प्रज्वलित काष्ठ के समान देदीप्यमान तेज से (समिद्धः) भली प्रकार तेजस्वी होकर (कार्ष्णं वसानः) कृष्ण मृग का चर्म धारण करता हुआ (दीक्षितः) व्रत में दीक्षित होकर (दीर्घश्मश्रुः) दाढ़ी, मोंछ के लम्बे केशों को रखे हुए (एति) जब गुरु गृह से आता है तब (सः) वह (सद्य) शीघ्र ही (पूर्वस्मात् समुद्रात् उत्तरं समुद्रम्) जिस प्रकार तेजस्वी सूर्य पूर्व के समुद्र या आकाशभाग को पार करता हुआ उत्तर समुद्र में या आगे के आकाश भाग में प्रवेश करता है उसी प्रकार वह भी पूर्व समुद्र अर्थात् ब्रह्मचर्य को पार कर (उत्तरं समुद्रम्) उसके उपरान्त पालन करने योग्य गृहस्थ आश्रम में (एति) प्रवेश करता है। और वहां (लोकान् संगृभ्य) अपने साथ के लोगों को अपने साथ मिला कर (मुहुः) बराबर (आचरिक्रत्) अपने वश करता है।

६–(द्वि०) 'कार्ष्णं' (तृ०) 'समेत् पूर्वात्' (च०) 'सद्य' इति पैप्प० सं०।

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ही (ब्रह्म) ब्राह्मण वर्ण को, (अपः) आप्त पुरुषों को, (लोकम्) इस भूलोक को, (प्रजापतिम्) प्रजा के पालक (परमेष्ठिनम्) परम सर्वोच्चस्थान पर स्थित सम्राट् को और (विराजम्) विराट् को भी (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ और (अमृतस्य योनौ) अमृत, मोक्ष के परम स्थान में (गर्भः भूत्वा) सर्वग्रहण समर्थ होकर ऐश्वर्य और बल में (इन्द्रः ह) साक्षात् इन्द्र होकर (असुरान्) असुरों का (ततर्ह) विनाश करता है । प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् और इन्द्र ये उत्तरोत्तर विभूतिमान् पद हैं जिनको ब्रह्मचारी ही प्राप्त हो सकता है और वही असुरों का संहार करता है ।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥

भा०—(आचार्यः) जिस प्रकार सब का परम आचार्य परमेश्वर (इमे) इन दोनों (उर्वी) विशाल, (गम्भीरे) गम्भीर, (नभसी) सब को अपने भीतर बांधने वाले (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्यौलोक को (ततक्ष) बनाता है उसी प्रकार ब्रह्मचारी का आचार्य ही माता और पिता को, प्रजा और राजा को भी विशाल गम्भीर और यशस्वी बना देता है । (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तपसा) अपने तप से (ते) उन दोनों की

७-(च०) 'असुरां स्ततर्ह' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'भूत्वा अमृतस्य' इति न क्वचित् ।

८-(तृ० च०) 'सो ब्रह्मचारी तपसाभिरक्षति सर्वे देवाः स्वसादं गच्छन्ति', (द्वि०) 'उभे उर्वी' इति पैप्प० सं० ।

(रक्षति) रक्षा करता है । (तस्मिन्) ऐसे ब्रह्मचारी में (देवाः) समस्त देव, विद्वान्‌गण (समनसः भवन्ति) एकचित्त होकर रहते हैं ।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

भा०—(प्रथमः) सब से प्रथम (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (इमां पृथिवीं भूमिम्) इस विशाल पृथिवी को (भिक्षाम्) भिक्षा स्वरूप से ग्रहण करता है । और (दिवं च) और द्यौलोक को भी भिक्षा रूप में ग्रहण करता है। और (ते) उन दोनों को (समिधौ कृत्वा) समिधा बनाकर (उपास्ते) उपासना करता है, अग्नि और आचार्य की उपासना करता है । (तयोः) उन दोनों में ही (विश्वा भुवनानि आर्पिता) समस्त भुवन, प्राणि, आश्रित हैं ।

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥ (१४)

भा० –(अन्यः) एक (अर्वाक्) यहां, समीप ही और (अन्यः) दूसरा (दिवः पृष्ठात् परः) द्यौलोक से भी परे (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण, ब्रह्मशक्ति से सम्पन्न पुरुषों के (निधी) दो ख़ज़ाने (गुहा निहितौ) गुहा में स्थित हैं । (तौ) उन दोनों की (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तपसा) अपने तपो बल से (रक्षति) रक्षा करता है । (विद्वान्) विद्या सम्पन्न वह ब्रह्मचारी होकर (तत्) उस (केवलम्) केवल मोक्ष रूप परम (ब्रह्म) ब्रह्म को (कृणुते) प्राप्त करता है ।

९–(द्वि०) ' भिक्षा जभार ' (तृ०) ' ते ब्रह्म कृत्वा समिधा उपास्ते ' इति पैप्प० सं० ।

१०–(तृ०) ' तौ ब्रह्मचारी तपसाभिरक्षति ' (प्र०) ' परान्यो ' इति पैप्प० सं० ।

निधि=अज्ञाने—एक तो यह ब्रह्मकोश है वेद का विज्ञान, दूसरा स्वयं ब्रह्मपद। ये दोनों उसके गुरु या आचार्य के हृदय के भीतर विराजमान हैं। वह तप से दोनों को धारण करता है और ब्रह्मज्ञान के बल पर, केवल, परम-पद प्राप्त करता है। 'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः' मनु० ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥

भा०—(इतः पृथिव्याः) इस पृथिवी के भी (अर्वाक्) नीचे (अन्यः) एक और्वानल नामक अग्नि है और (अन्यः) दूसरा (पृथिव्याः) इस पृथिवी का पार्थिव अग्नि है, ये दोनों (अग्नी) अग्नियें (इमे नभसी अन्तः) इन दोनों लोकों के बीच में (सम् एतः) परस्पर संगत होते हैं। (तयोः) उन दोनों में (अति दृढाः) अत्यन्त दृढ (रश्मयः) रश्मियें, किरण (श्रयन्ते) आश्रित हैं। (तान्) उनको ब्रह्मचारी (तपसा) अपने तपोबल से (आ तिष्ठति) प्राप्त होता है।

पृथ्वी के भीतर और्वानल जो भूकम्पादि का कारण है और पृथ्वी पर अग्नि जो वनों को जला डालता है दोनों के समान तेज और सामर्थ्य को ब्रह्मचारी अपने तप से प्राप्त करता है। अर्थात् वह तपोबल से और्वानल के समान कम्पकारी और अग्नि के समान भीषण दाहकारी हो जाता है।

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार ।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १२ ॥

११–(प्र०) 'अर्वागन्यो दिवः पृष्ठादितोऽन्यः पृथिव्याः' (द्वि०) 'रश्मयोधिदृढा' इति पैप्प० सं०, सायणाभिमतश्च ।

१२–(प्र०) 'अभिक्रन्दन्निस्तनयन्नरिंगो' इति पैप्प० सं० । 'अरुणः श्यनिङ्गो' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(अभिक्रन्दन्) सबको आह्लादित करता हुआ (स्तनयन्) गर्जना करता हुआ (शितिङ्गः) श्यामवर्ण, (अरुणः) जलपूर्ण, मेघ (बृहत्-शेपः) बड़े भारी वीर्य रूप जल को (भूमौ अनु जभार) पृथ्वी पर ला बरसाता है । और (सानौ) पर्वतों पर और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (रेत सिञ्चति) जल सेचन करता है । (चतस्रः प्रदिशः तेन जीवन्ति) उससे चारों दिशाओं के प्राणी जीवन धारण करते हैं । वह मेघ स्वयं (ब्रह्म-चारी) ब्रह्मचारी है, ब्रह्मचारी के समान ऊर्ध्वरेता है । उस ब्रह्म की शक्ति मेघ के समान ही ब्रह्मचारी भी (अभिक्रन्दन् स्तनयन्) सब को प्रसन्न करता हुआ, गर्जता हुआ (अरुणः) सूर्य के समान तेजस्वी (शितिङ्गः= श्वितिङ्गः) प्रदीप्ताङ्ग या पृथिवी पर निर्भय होकर विचरने वाला (बृहत्शेपः भूमौ अनु जभार) भूमि पर बड़ा भारी वीर्य धारण किये रहता है । वह (सानौ) पर्वत के शिखर के समान महान् उच्च कार्य में या (पृथिव्यां) पृथिवी के समान उपकार के विशाल भूमि में अपना (रेतः सिञ्चति) वीर्य और सामर्थ्य लगाता है । (तेन जीवन्ति प्रदिशः चतस्रः) उससे चारों दिशाओं के प्राणी प्राण धारण करते और सुखी होते हैं ।

अ॒ग्नौ सूर्ये॑ च॒न्द्रम॑सि मात॒रिश्व॑न् ब्रह्मचा॒र्य॒प्सु स॒मिध॒मा द॑धाति ।
तासा॑म॒र्चीषि॒ पृथ॑ग॒भ्रे च॑रन्ति॒ तासा॒माज्यं॒ पुरु॑षो व॒र्षमापः॑ ॥१३॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् अप्सु) अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में वायु में और जलों में (समिधम्) अपने देदीप्यमान तेज को (आ दधाति) धारण करता है । (तासाम्) अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु और जल इनके (अर्चीषि) अपने २ तेज (पृथक्) अलग २ (अभ्रे) आकाश में (चरन्ति) दृष्टिगोचर होते हैं । (तासाम्) उनके ही सामर्थ्य से (आज्यम्) दूध, घी, अन्न आदि पदार्थ

१३–(च०) ' आज्य पुरीषम् वर्षमाप. ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

उत्पन्न होते हैं और (पुरुषः) पुरुष आदि जीव उत्पन्न होते हैं (वर्षम्) काल पर वर्षा होती और (आपः) यथेष्ट कूप तड़ागादि जल की सुविधा होती है ।

जिस प्रकार परमेश्वर अपने तेज को अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल आदि में डालता है और उससे नाना सृष्टि के पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष भी अपना सामर्थ्य इन तेजस्वी पदार्थों पर प्रयोग करे तो उनके प्रयोग से देश में अन्न, दुग्ध, पशु पुरुष और वर्षा जल आदि का सब सुख उत्पन्न हो । अर्थात् इन सब तत्वों को उत्पादक फलप्रद बनाने के लिये तपस्वी ब्रह्मचारी की आवश्यकता है ।

आचार्यो/ मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व१राभृतम् ॥ १४ ॥

भा०—(आचार्यः) आचार्य, (मृत्युः) मृत्यु, (वरुणः) वरुण, (सोमः) सोम, (ओषधयः) ओषधियें और (पयः) जल, (जीमूताः) मेघ ये सब पदार्थ (सत्वानः) बल सम्पन्न हैं । (तैः) इन्होंने ही (इदं स्वः) यह तेजोमय स्वः ब्रह्माण्ड लोक (आभृतम्) धारण किया है ।

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो/ भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

भा०—(वरुणः) वरुण, सर्वश्रेष्ठ पुरुष (आचार्यः भूत्वा) आचार्य होकर (केवलम्) स्वयं (घृतम्) अति दीप्त ज्ञानमय (अमा) अपरिमित

१४–(प्र०) 'पर्जन्यो' (तृ०) 'जीमूतासन्' (च०) 'स्वराभरन्' इति पैप्प० सं० ।

१५–'अमान् इदं कृणुते' इति पैप्प० सं० । (च०) 'स्वान् मित्रो' इति सायणाभिमतः ।

तेज को (कृणुते) साधता है । इसलिये वह (यत् यत् ऐच्छत्) वह जो २ पदार्थ गुरुदक्षिणा रूप से चाहता है (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (मित्रः) आचार्य का मित्र होकर (आत्मनः स्वात्) अपने धन आदि पदार्थों को (प्रजापतौ) प्रजापति, गुरु में ही (प्रायच्छत्) अर्पण करता है ।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥ १६ ॥

भा०—(आचार्यः ब्रह्मचारी) आचार्य स्वयं प्रथम ब्रह्मचारी होता है । (ब्रह्मचारी प्रजापतिः) ब्रह्मचारी पुरुष ही बाद में प्रजापति, प्रजा का पालक उत्तम गृहाश्रमी होता है । (प्रजापतिः) प्रजा का पालक गृहस्वामी ही (वि राजति) नाना प्रकार से शोभा पाता है । (वशी) वशी पुरुष ही (विराट् इन्द्रः अभवत्) विराट्, नाना प्रकार से शोभा देने वाला साक्षात् इन्द्र, आचार्य हो जाता है, अथवा विराट् ही सर्ववशकारी इन्द्र है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥

भा०—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य रूप तप से (राजा राष्ट्रम्) राजा राष्ट्र को (वि रक्षति) नाना प्रकार से रक्षा करता है । (आचार्यः) आचार्य भी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के बल से (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (इच्छते) अपने अधीन व्रत पालन कराना चाहता है ।

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ १८ ॥

१७-(द्वि०) ' वि रक्षते ' (च०) ' इच्छति ' इति पैप्प० सं० ।

१८-(च०) ' घासं जिगीर्षति ' इति बहुत्र । ' जिहीर्षति ' इति पैप्प० सं० । ' जिगीषति ' इति हिट्निकामितः । ' जिगीर्षति ' इति सायणा-भिमत. ।

भा०—(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के पालन से (कन्या) कन्या (युवानं पतिम् विन्दते) युवा पति को प्राप्त करती है। और (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य रूप इन्द्रिय संयम द्वारा ही (अनड्वान्, अश्वः) गाड़ी का भार उठाने वाले बैल और घोड़ा (घासं जिगीर्षति) घास खाने में समर्थ होता है। 'अनड्वान् पतिं विन्दते' इति सायणाभिमतोऽन्वयश्चिन्त्यः।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥

भा०—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपोबल से (देवाः मृत्युम् अप अघ्नत) देव, विद्वान् पुरुष मृत्यु को भी विनाश कर देते हैं, मृत्युंजय हो जाते हैं। (इन्द्रः ह) निश्चय से इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के बल पर (देवेभ्यः) विद्वान् प्रजा-वासियों को अपने राष्ट्र में (स्वः आभरत्) स्वर्ग के समान सुख प्राप्त कराता है। अथवा—(इन्द्रो ह देवेभ्यः स्वः आभरत्) इन्द्र आत्मा अपने इन्द्रिय गण प्राणों को भी मोक्षमय सुख प्राप्त कराता है। अथवा—इन्द्र, परमेश्वर देव, विद्वानों के अपने ब्रह्मचर्य के बल से (स्वः आभरत्) मोक्ष प्राप्त कराता है। अथवा-इन्द्रः सूर्य ब्रह्मचर्य के बल से दिव्य पदार्थों को प्रकाश देता है।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥ (१५)

भा०—(ओषधयः) ओषधियें, (भूतभव्यम्) भूत काल और भविष्यत् काल, (अहोरात्रे) दिन और रात्रि, (संवत्सरः सहः ऋतुभिः) ऋतुओं सहित वर्ष (ते) वे सब (ब्रह्मचारिणः जाताः) ब्रह्मचारी सूर्य के तप से उत्पन्न हुए हैं।

१९–(द्वि०) 'मृत्युमाघ्नत' (च०) 'अमृतं स्वराभरत' इति पैप्प० सं०।
२०–(प्र०) 'भूतभव्य' (च०) 'ब्रह्मचारिणा' इति पैप्प० सं०।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

भा०—(पार्थिवाः) पृथिवी के और (दिव्याः) द्यौलोक के समस्त लोक (पशवः) पशु जो (आरण्याः) जंगली और (ग्राम्याश्च ये) जो गांव के हैं और (अपक्षाः) बिना पंख के प्राणी और (ये पक्षिणः च) जो पंख वाले भी हैं (ते ब्रह्मचारिणः जाताः) वे ब्रह्मचारी के ही तप से या वीर्य से उत्पन्न होते हैं।

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥

भा०—(सर्वे) सब (प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मा की सन्तानें जो (आत्मसु) अपने देहों में (प्राणान् बिभ्रति) प्राणों को धारण करते हैं (तान् सर्वान्) उन सबको (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी में (आभृतं) सुरक्षित (ब्रह्म) वीर्य ही (रक्षति) रक्षा करता है। अब्रह्मचारी की सन्तानें प्राण धारण नहीं करतीं, प्रत्युत मर जाती हैं।

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥२३॥

भा०—(देवानाम् एतत् परिषूतम्) देवों को भी यह ब्रह्म रूप वीर्य सब प्रकार से प्रेरणा करने वाला, उनका संचालक (अनभ्यारूढम्) किसी के भी

२१-(च०) 'ब्रह्मचारिणा' इति पैप्प० सं० ।
२२-(द्वि०) 'बिभ्रते' (तृ०) 'सर्वांस्तान्' इति पैप्प० सं० । 'बिभ्रत' इति ह्विटनिकामितः ।
२३-(प्र०) 'देवानामेतत् पुरुहूतम्' (तृ० च०) 'तस्मिन् सर्वे पशवस्तत्र यज्ञास्तस्मिन्नन्नं सह देवताभिः' इति पैप्प० सं० ।

वश न होकर सर्वोपरि विराजमान (रोचमानम्) अति प्रकाशमान होकर (चरति) व्याप्त है । (तस्मात्) उससे (ब्राह्मणम्) ब्रह्म से उत्पन्न (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म वेदज्ञान और (अमृतेन साकम्) अमृत मोक्ष के साथ (सर्वे देवाः च) समस्त देवगण दिव्य सूर्यादिलोक और विद्वान् गण भी (जातम्) उत्पन्न हुए ।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजंद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥२४॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी पुरुष (भ्राजद् ब्रह्म बिभर्ति) अति प्रकाशमान ब्रह्म अर्थात् वीर्य और वेद को धारण करता है । (तस्मिन्) उसमें ही (विश्वेदेवाः) समस्त देवगण, इन्द्रिय (अधि सम् ओताः) समाये हुए हैं । वह (प्राणापानौ) प्राण और अपान को और फिर (व्यानं वाचं मनः हृदयं ब्रह्म मेधाम्) व्यान, वाणी, मन, हृदय, ब्रह्म और मेधा बुद्धि को (जनयन्) स्वयं अपने भीतर उत्पन्न कर के धारण करता है ।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥

भा०—हे ब्रह्मचारिन् ! (अस्मासु) हम प्रजाओं में आप (चक्षुः श्रोत्रं यशः) चक्षु, श्रोत्र, यश और (अन्नं रेतः लोहितम् उदरं) अन्न, वीर्य, रक्त और उत्तम जाठर अग्नि से युक्त पेट को भी (धेहि) धारण कराओ ।

तानि कल्पंद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥ (१६)

२४-(द्वि०) 'अस्मिन् देवाः' (च०) 'चक्षुः श्रोत्रं जनयन् ब्रह्ममेधाम्' इति पैप्प० सं० ।

२५-'वाचं श्रेष्ठां यशोऽस्मासु' इति पैप्प० सं० ।

२६-'तानि कल्पन्' इति ह्विट्निकामितः पाठः ।

भा०—(तानि) पूर्वोक्त प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र ब्रह्म, मेधा, यश, अन्न, वीर्य आदि समस्त धातुओं को (कल्पन्) धारण करता हुआ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समुद्रे) समुद्र के समान ज्ञान और सामर्थ्य में गम्भीर परमेश्वर के आधार पर (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल के समान सर्व जीवनाधार परमेश्वर के आनन्द रस के (पृष्ठे) पृष्ठ पर समुद्र के जल के ऊपर तपते हुए सूर्य के समान (तपः तप्यमान) तप करता हुआ (अतिष्ठत्) विराजता है। (स) वह (स्नात) विद्या और व्रत में स्नात, निष्णात होकर (बभ्रु) ज्ञान धारण में समर्थ प्रकाशमान (पिङ्गल) तेजस्वी हो कर (बहु रोचते) अत्यन्त अधिक शोभा देता है।

[६ (८)] पाप से मुक्त होने का उपाय।

शन्तातिर्ऋषिः । चन्द्रमा उत मन्त्रोक्ता देवता । २३ बृहतीगर्भा अनुष्टुप् , १–१७, १९–२२ अनुष्टुभ , १८ पथ्यापङ्क्तिः । त्रयोविंशर्चं सूक्तम् ॥

अ॒ग्निं ब्रू॑मो॒ वन॒स्पती॒नोष॑धीरु॒त वी॒रुधः॑ ।
इन्द्रं॒ बृह॒स्पतिं॒ सूर्यं॒ ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—(अग्निम्) ज्ञानवान् तेजस्वी, पवित्र, परमेश्वर (वनस्पतीन्) वनस्पतियों, (ओषधीः वीरुधः) ओषधिरूप लताओं, (इन्द्रम्) ज्ञानैश्वर्यवान् आचार्य और (बृहस्पतिं) वेदवाणी के पालक और (सूर्यम्) सर्वप्रेरक, उत्पादक सूर्य के समान ज्ञानी प्रभु के (ब्रूमः[1]) गुणों का वर्णन करें कि जिससे (ते) वे सब (नः अंहसः) हमें पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें अर्थात् उनके निष्पाप गुण चिन्तन से हमारे हृदय स्वच्छ हों।

---

[६] १–१. 'ब्रूमः' यद्वा स्तवक याचामहे इति सायणः ।

भूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् ।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो० ॥ २ ॥

भा०—(राजानम्) सब के राजा, प्रकाशमान (वरुणम्) सर्वश्रेष्ठ, (विष्णुम्) सर्वव्यापक, (मित्रम्) सब के स्नेही मृत्यु से भी त्राणकारी (अथो भगम्) और ऐश्वर्यवान् (अंशम्) सर्वान्तर्यामी (विवस्वन्तम्) सब लोकों को बसाने हारे, सब के हृदयों में नानारूपों से बसने वाले परमात्मा का या इन गुणों के धारण करने वाले महात्माओं का हम (ब्रूमः) वर्णन करें कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें अपने गुणों के प्रभाव से पाप से मुक्त करें ।

ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम् ।
त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो० ॥ ३ ॥

भा०—(देवं सवितारम्) सर्वदाता, सर्वप्रेरक (धातारं पूषणम्) सर्व-धारक, सर्वपोषक (त्वष्टारम्) सर्वजगदुत्पादक (अग्रियं) सब के आदि मूलकारण प्रभु परमेश्वर का (ब्रूमः) वर्णन करें कि (ते नः अंहसः मुञ्च-न्तु) वे परमात्मा के समस्त गुण हमें पाप से बचावें ।

गन्धर्वाप्सुरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् ।
अर्यमा नाम यो देवस्ते नो० ॥ ४ ॥

भा०—(गन्धर्वाप्सरसः) सच्चरित्र नवयुवक पुरुष और सती स्त्रियां (अश्विनौ) अश्विगण, माता और पिता (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्म वेद के पालक, विद्वान् आचार्य और (अर्यमा) सर्वश्रेष्ठ, न्यायकारी (यः देवः) जो सब देवों का देव राजा है (ते) वे (नः) हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पापों से मुक्त करें ।

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा ।
विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो० ॥ ५ ॥

५–(द्वि०) 'चन्द्रमसा उभा' (तृ०) 'आदित्यान् सर्वान्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अहोरात्रे) दिन और रात (सूर्याचन्द्रमसौ उभौ) दोनों सूर्य और चन्द्रमा (विश्वान् आदित्यान्) समस्त आदित्यों, १२ मासों का (इदम् ब्रूमः) इस प्रकार से हम वर्णन करें, कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें अपने सत्य प्रभाव से पाप से मुक्त करें।

वातं ब्रूमः पुर्जन्यमुन्तरिक्षमथो दिशः ।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

भा०—(वातं पर्जन्यम् अन्तरिक्षम्, अथो दिशः आशाः च सर्वाः ब्रूमः) वायु, पर्जन्य=मेघ, अन्तरिक्ष और दिशाएं इन समस्त ईश्वर की शक्तियों का हम (ब्रूमः) वर्णन करें कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे अपने प्रभावों से हमें पाप से मुक्त करें।

मुञ्चन्तु मा शपथ्या/दहोरात्रे अथो उषाः ।
सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥

भा०—(शपथ्यात्) शपथ-पर-निन्दा या दूसरे के विषय में कठोर दुःखदायी वचनों के कहने से उत्पन्न होने वाले पाप से (अहोरात्रे) दिन और रात (अथो उषाः) और उषा (मा मुञ्चन्तु) मुझे मुक्त करें। (सोमः देवः) सोम देव (यम् चन्द्रमा आहुः) जिसको विद्वान् चन्द्रमा कहते हैं वह भी (मा मुञ्चतु) मुझे पाप से मुक्त करे। अर्थात् दिन रात्रि और उषा काल और चन्द्र को पवित्र और शान्तिकारक मनन करके हम अपने चित्त को परनिन्दा और क्रोध से बचावें।

पार्थिवा दिव्याः पुशव आरण्या उत ये मृगाः ।
शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥

७-(द्वि०) 'अथो मृगाः' (तृ०) 'आदित्यो' इति पैप्प० सं०।
८-(प्र०) 'ये ग्राम्याः सप्तपशवः' इति पैप्प० सं०।

भा०—(पार्थिवाः) पृथिवी के पर्वत नदी आदि उत्तम पदार्थ और (दिव्याः) द्यौः, आकाश के सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ आदि दिव्य पदार्थ (आरण्याः पशवः) अरण्य के रहने वाले सिंह, हाथी आदि पशु (उत) और (ये मृगाः) जो मृग नाना पशु और (शकुन्तान् पक्षिणः) शक्तिशाली पक्षिगण हैं (ब्रूमः) हम उनका वर्णन करें। (ते) वे सब अपने २ उत्तम गुणों के प्रभाव से (नः) हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पाप की प्रवृत्तियों से दूर करें।

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥

भा०—(भवाशर्वौ) भव और शर्व (रुद्रं) रुद्र और (यः पशुपतिः च) जो पशुपति हैं उन ईश्वर के विशेष गुणों से युक्त स्वरूपों की (ब्रूमः) हम स्तुति करें। और (याः एषां इषूः संविद्मः) और जो इनके इषु, प्रेरक शक्तियां या बाण हैं जिन से जीव प्रेरित होते हैं या जिनकी कामना करके प्रयत्न करते हैं हम उनको भी जानें। (ताः नः सदा शिवाः सन्तु) वे हमारे लिये सदा सुखकारी हों।

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥ (१७)

भा०—(दिवं) सूर्य (नक्षत्राणि) नक्षत्र (यक्षाणि) पूज्य स्थान, (पर्वतान्) पर्वत, (समुद्राः) समुद्र, (नद्यः) नदियें (वेशन्ताः) जलाशय आदि के (ब्रूमः) नाना उत्तम गुण वर्णन करते हैं। (ते नः) वे हमें (अंहसः) पाप प्रवृत्तियों और भावों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

९—(प्र०) 'उग्रः पशु' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'संविद्मः' इति सायणाभिमतः पाठः।

१०—(द्वि०) 'गौनं' इति पैप्प० सं०। 'समुद्रान् नद्यो वेशन्तान्' इति मै० सं०।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो० ॥ ११ ॥

भा०—हम (सप्तर्षीन्) सात ऋषियों को, (देवीः अप.) दिव्य जलों और विचारों के और (प्रजापतिम् ब्रूम.) प्रजा पालक परमेश्वर और आत्मा के उत्तम गुणों का वर्णन करते हैं। हम लोग (यमश्रेष्ठान्) यम नियम के पालक ब्रह्मचारियों में भी श्रेष्ठ (पितॄन्) पालक, अपने पूर्वजों और आचार्यों के (ब्रूम) गुण वर्णन एवं पुण्य कथा करते हैं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप भावों से मुक्त करें।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ।
पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो० ॥ १२ ॥

पूर्वार्धं अथ० १० । ९ । १२ ॥

भा०—(ये देवाः) जो देव, विद्वान्गण (दिविषदाः) द्यौलोक में सूर्य आदि रूप से स्थित हैं (ये अन्तरिक्षसदश्च) और जो वायु, मेघ आदि अन्तरिक्ष, मध्य आकाश में विराजमान हैं और (ये) जो (शक्र) शक्तिमान दिव्य पदार्थ और शक्तिमान, राजर्षि, ब्रह्मर्षि लोग और शक्तिशाली, महापुरुष (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (श्रिताः) विराजमान हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप के भावों से मुक्त करें।

आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः ।
अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो० ॥ १३ ॥

भा०—(आदित्या रुद्रा वसवः) आदित्य के समान ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी, (रुद्राः) रुद्र, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, (वसवः) वसु २४ वर्ष के ब्रह्मचारी, अथवा—आदित्य १२ मास, रुद्र ११ प्राण और आत्मा, वसु, पृथिवी आदि लोक, (दिवि) जो द्यौ लोक में स्थित या सात्विक स्थिति

१३–' वसवो देवा देवा अथर्वाणः ' इति पैप्प० सं० ।

में विराजमान (देवाः) देवगण, (अथर्वाणः) जगत् के रक्षक विद्वान् गण, (अङ्गिरसः) ज्ञानी, (मनीषिणः) मनस्वी, विचारक लोग हैं (ते) वे सब (नः) हमें (अंहसः) पाप के भावों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा ।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो० ॥ १४ ॥

भा०—हम (यज्ञं) यज्ञ, (यजमानं) यजमान, (सामानि) साम-वेद के पवित्र गायनों (भेषजा) अथर्व-वेद के रोगहारी उपायों और (यजूंषि) यजुर्वेद के कर्म-काण्डों और (होत्रा) आहुति या होम आदि कार्यों का (ब्रूमः) वर्णन करते हैं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पापों से मुक्त करें ।

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः ।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो० ॥ १५ ॥

भा०—(वीरुधाम्) लताओं के (पञ्च) पांच (राज्यानि) राज्यों या श्रेणियों का हम (ब्रूमः) वर्णन करते हैं । (सोमश्रेष्ठानि) जिनमें सबसे श्रेष्ठ सोम है और शेष चार (दर्भः भङ्गः यवः सहः) दर्भ, भङ्ग=पत्ता, यव और सहस्=सहमान ओषधि हैं । अथवा—(वीरुधां) नाना प्रकार से शत्रुओं को रोकने वालों के पांच राज्यों का वर्णन करते हैं जिनमें (सोमश्रेष्ठानि) सोम अर्थात् राजा ही सर्वश्रेष्ठ है । और शेष चार (दर्भः) शत्रुघाती, (भङ्गः) शत्रु के नगर तोड़ने वाले, (यवः) परे हटाने वाले और (सहः) उनको दबाने वाले पुरुष विराजमान होते हैं । अथवा—लताओं के (पञ्च राज्यानि) राजा-वैद्य द्वारा प्रयुक्त पत्र, काण्ड, पुष्प, फल और मूल पांच अंगों का वर्णन करते हैं उन में सोम श्रेष्ठ है, दर्भ, भङ्ग, यव और सहस् ये ओषधियां उससे उतर कर हैं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप से मुक्त करें ।

१५–(द्वि०) ' सूमसि ' (तृ०) ' भद्गो दर्भो '

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो० ॥ १६ ॥

भा०—(अरायान्) धन सम्पत्ति से रहित दरिद्रों, (रक्षसान्) दुष्ट पुरुषों, (सर्पान्) सांपों, (पुण्यजनान्) प्रजापीड़क मायावी लोगों और (पितॄन्) उनसे बचाने वाले पालकों का (ब्रूमः) हम नाना प्रकार से वर्णन करते हैं और (एकशतं मृत्यून् ब्रूम) एक सौ एक या सौ प्रकार की मृत्युओं, देह से प्राणों के छूटने के प्रकारों का वर्णन करते हैं । (ते) वे सब (नः) हमें (अंहसः) पाप कर्म से (मुञ्चन्तु) छुड़ा देवें ।

ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो० ॥ १७ ॥

भा०—(ऋतून्) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुपतियों, (आर्तवान्) ऋतु पर होने वाले विशेष वृक्ष आदि पदार्थों और घटनाओं और उन (हायनान्) हायनों, अयन के परिवर्तन कालों का, (समाः) समान दिन रात्रि वाले कालों का और समाओं और (संवत्सरान्) संवत्सरों का (ब्रूमः) वर्णन करते हैं (ते नः) वे हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पाप से मुक्त करें ।

'हायन, समा, संवत्सर'—ये वर्ष के ही पर्याय हैं । परन्तु इन शब्दों का प्रयोग चान्द्र, सौर और प्रायः सावन भेद से किया जाता है । अतः उन तीनों का एक साथ ग्रहण किया गया है ।

'ऋतुपति'—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त, शिशिर इनके क्रम से वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभु और मरुद् गण ऋतुपति हैं ।

एत देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत ।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो० ॥ १८ ॥

---

१८ (द्वि०) 'उदेतन' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (देवाः) देव गण, राजाओ और विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (दक्षिणतः एत) दक्षिण दिशा से आओ, (पश्चात् विश्वे देवाः) हे शक्तिशाली समस्त राजाओ ! और विद्वान् पुरुषो ! (उत्तरात्) उत्तर दिशा से भी आप लोग (पुरस्तात्) हम लोगों के समक्ष (समेत्य) आकर उपस्थित होओ । और अपने आदर्श जीवनों से (ते) वे सब (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पाप कर्म से मुक्त करें ।

विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः ।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो० ॥ १९ ॥

भा०—(विश्वान्) समस्त (सत्यसंधान्) सत्य प्रतिज्ञा करने वाले (ऋतावृधः) और सत्य की वृद्धि करने वाले (देवान्) देव, विद्वान् अधिकारी पुरुषों से (इदं ब्रूमः) हम यह प्रार्थना करते हैं कि वे (विश्वाभिः पत्नीभिः) अपनी समस्त पत्नियों या पालक शक्तियों सहित (नः) हम प्रजाओं को (अंहसः मुञ्चन्तु) पाप से छुड़ावें ।

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः ।
सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो० ॥ २० ॥

भा०—(सर्वान् सत्यसंधान् ऋतावृधः देवान् इदं ब्रूमः) समस्त सत्यप्रतिज्ञ, सत्यव्यवहार आचरण को बढ़ाने वाले प्रजाके भीतर रहनेवाले विद्वानों से भी हम ये प्रार्थना करते हैं कि ते सर्वाभिः पत्नीभिः नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे अपनी समस्त धर्मपत्नियों या पालक शक्तियों सहित हमें पाप कर्म से मुक्त करें ।

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी ।
भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २१ ॥

भा०—(भूतं) सत्तावान्, सामर्थ्यवान् पुरुष (भूतपतिम्) सामर्थ्यवान् पुरुषों के स्वामी (उत) और (यः) जो (भूतानां वशी) भूत

२१–(द्वि०) 'यः पतिः' (तृ०) 'भूतानि सर्वा भूतः' इति पैप्प० सं० ।

समस्त प्राणियों का वश करनेहारा है उनकी (ब्रूमः) हम स्तुति करते हैं। (सर्वा भूतानि संगत्य) समस्त प्राणी मिल कर (ते) वे (नः अंहस मुञ्चन्तु) हमें पाप कर्म से बचावें। सत्तावाले शक्तिशाली पुरुष और समस्त प्रजा के जन संगठन करके प्रजा को ऐसी व्यवस्था करें कि प्रजावासी पापाचरण न करें।

या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः।
संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥ २२ ॥

भा०—(याः) जो (देवीः) दिव्यगुणयुक्त, प्रकाशयुक्त (पञ्च) पांच (प्रदिश) मुख्य दिशाओं के समान गुरु आदि पाच शिक्षक हैं और (ये देवा.) जो देव स्वभाव के (द्वादश ऋतवः) बारह ऋतु के मधु माधव आदि मास हैं और (ये) जो (संवत्सरस्य दंष्ट्राः) संवत्सर की दाढ़ों के समान दिन और रात में आने वाले जीवन के भयोत्पादक अवसर हैं (ते) वे (नः) हमें (सदा) सदा (शिवाः सन्तु) कल्याणकारी हों।

यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम्।
तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ॥ २३ ॥ (१८)

भा०—(मातलिः) मातलि, ज्ञान का संग्रह करने वाला, जीव (यत्) जिस (भेषजम्) सर्व भव रोग निवारक (रथक्रीतम्) रथ-देवरूप रथ या विषयों के इन्द्रियरश्मों के परित्याग के बदले में प्राप्त (अमृतम्) अपने अमृत स्वरूप को (वेद) साक्षात् जान लेता है (तत्) उस अमृत-स्वरूप आत्मा को (इन्द्रः) परमेश्वर (अप्सु प्रावेशयत्) आप्त प्रजाओं में या प्रज्ञावान् पुरुषों में प्रविष्ट कराता है। (आपः) समस्त आप्त पुरुष (तत् भेषजम् दत्त) उस परम औषधरूप आत्मज्ञान को हमें प्रदान करें।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम्, ऋचश्चैकोनाशीतिः ।]

[७] सर्वोपरि विराजमान उच्छिष्ट ब्रह्म का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । अध्यात्म उच्छिष्टो देवता । ६ पुरोष्णिग् बार्हतपरा, २१ स्वराड्, २२ विराट् पथ्याबृहती, ११ पथ्यापंक्तिः, १-५, ७-१०, २०, २२-२७ अनुष्टुभः । सप्तविंशर्चं सूक्तम् ॥

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ १ ॥

भा०—पूर्वोक्त ब्रह्मौदन का ही दूसरा नाम 'उच्छिष्ट' है । (उच्छिष्टे) समस्त जगत् के प्रलय हो जाने के अनन्तर जो शेष रह जाता है अथवा 'नेति' 'नेति' इस भावना से समस्त प्रपञ्चों का निषेध कर देने पर जो सबसे अतिरिक्त 'सत्' शेष रह जाता है वह 'पर-ब्रह्म' 'उच्छिष्ट' है । उसमें (नाम रूपं च) नाम अर्थात् शब्द से कहे जाने योग्य और 'रूप' चक्षु से देखे जाने योग्य दोनों प्रकार का जगत् (आहितम्) स्थिर है । (उच्छिष्टे लोक आहितः) यह 'लोक' सर्वद्रष्टा आत्मा अथवा यह सूर्यादि समस्त लोक उस उच्छिष्ट में स्थित हैं । (उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च) उस 'उच्छिष्ट' में इन्द्र अर्थात् वायु और अग्नि स्थित हैं और (विश्वम्) यह समस्त विश्व उसके (अन्तः) भीतर (सम् आहितम्) भली प्रकार विराजमान है ।

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् ।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥ २ ॥

भा०—(उच्छिष्टे द्यावापृथिवी) उस पूर्वोक्त 'उच्छिष्ट' नाम परब्रह्म में, आकाश और पृथिवी और (विश्वं भूतं समाहितम्) समस्त उत्पन्न कार्य-

[७] १–' नाम रूपाणि ' इति पैप्प० सं० ।
२–(च०) ' वातमाहित ' इति पैप्प० सं० ।

जगत् भी स्थित है । (आप समुद्रः उच्छिष्टे) जल और समुद्र उसी 'उच्छिष्ट' में हैं और (वातः चन्द्रमा आहित) उसी 'उच्छिष्ट' में चन्द्रमा और वायु भी स्थित हैं ।

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः ।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥ ३ ॥

भा०—(उच्छिष्टे) 'उच्छिष्ट' नाम सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपरि विराजमान, उस परब्रह्म में (सत्) 'सत्' या सत्ता के अन्तर्गत समस्त भाव रूप जगत् और (असत्) अभाव रूप या अव्यक्त रूप प्रकृति (उभौ) ये दोनों और (मृत्यु) मृत्यु जो सब प्राणियों को जीवित दशा में शरीर रहित करता है (वाज) अन्न और बल (प्रजापतिः) प्रजा का पालक मेघ सब उसी में विद्यमान हैं । (उच्छिष्टे) उस सर्वोत्कृष्ट पर ब्रह्म में (लौक्याः) समस्त लोकों में विद्यमान प्रजाएं (व्रः च) सबका आवरण करने वाला यह महान् आकाश (द्रः च) और सबका 'द्र' अर्थात् द्रावक या गति देने वाला काल भी (उच्छिष्टे आयत्ताः) उसी उत्कृष्ट पर ब्रह्म में बंधे हैं । इसी प्रकार (मयि) मुझ आत्मा में विद्यमान (श्री) जो चेतनास्वरूप शोभा है वह भी उसी की है ।

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश ।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥ ४ ॥

भा०—(दृढः) सब से अधिक बलवान्, सब से बड़ा (दृंहस्थिरः) बल से सर्वत्र स्थिर यह लोक, (न्यः) उसके भीतर गति देने वाला (ब्रह्म) ब्रह्म वेद और (विश्वसृजः) समस्त संसार के बनाने वाले (दश) दशों प्राण और पंचभूत आदि तत्व, स्थूल और सूक्ष्म तत्व और समस्त

३–(च०) 'वृश्च द्रश्च इर्श्यापि [?]' इति पैप्प० सं० ।
४–'दृढ. । स्थिरः' इति बहुत्र पदपाठः ।

(देवताः) देव, सूर्यादि लोक (नाभिम् सर्वतः चक्रम् इव) नाभि के चारों ओर चक्र के समान (उच्छिष्टे श्रिताः) उस 'उच्छिष्ट' में ही आश्रित हैं।

'एष' का स्वरूप छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है।

ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥ ५ ॥

भा०—(ऋक्) ऋग्वेद, (साम) सामवेद, (यजुः) यजुर्वेद ये, (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में ही विराजमान हैं। इसी प्रकार (साम्नः) साम सम्बन्धी, (उद्गीथः) उद्गीथ, उद्गाता से गाया गया सामभाग, (प्रस्तुतम्) प्रस्तोता से स्तुति किया गया सामभाग और (स्तुतम्) स्तवन द्वारा उपस्थित साम भाग, (हिङ्कारः) 'हिं' रूप से साम के प्रारम्भ में उद्गाता आदि द्वारा किया गया सामभाग, (स्वरः) स्वर, क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अति मन्द्र आदि सात स्वर अथवा अ, आ, इ, ई इत्यादि स्वर (मेडिः च) और 'मेडि' ऋचा के अक्षरों को परस्पर मिलाने वाला 'स्तोम' या साम सम्बन्धी वाक् ये सब (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में आश्रित हैं। (तत् मयि) वह परम सूक्ष्म उच्छिष्ट शुक्र आत्मा में समृद्ध हो।

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥ ६ ॥

भा०—(मातरि) माता के (अन्तर्गर्भः इव) भीतर के गर्भ में जिस प्रकार बालक के अंग पुष्ट होते हैं और बनते हैं उसी प्रकार (उच्छिष्टे)

५-(द्वि०) 'उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतं' (च०) 'साम्नो मेडिः' इति पैप्प० सं०।

'उच्छिष्ट' में (ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि सम्बन्धी सामवेद के भाग (पावमानम्) पवमान सम्बन्धी सामवेद के भाग (महानाम्नी) महानाम्नी नाम ऋचाएं (महाव्रतम्) साम का 'महाव्रत' नामक प्रकरण ये सब (यज्ञस्य अङ्गानि) यज्ञ के अंग हैं ये सब उसी परमात्मा के भीतर उत्पन्न होते और पुष्ट होते हैं।

ऐन्द्रकाण्ड, आग्नेयकाण्ड, पावमानकाण्ड और महानाम्नी आर्चिक महाव्रत नामक उत्तरार्चिक ये सामवेद के भाग हैं। वे सब 'उच्छिष्ट' नामक सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के भीतर हैं। ये सब उसी की महिमा का वर्णन करते हैं।

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ ७ ॥

भा०—(राजसूयं) राजसूय यज्ञ, (वाजपेयं) वाजपेय यज्ञ, (अग्नि-ष्टोमः) अग्निष्टोम यज्ञ और (तत् अध्वरः) वह नाना प्रकार के हिंसा-रहित ज्ञानमय यज्ञ और (अर्काश्वमेधौ) विराट् रूप से उपासना करने योग्य चिति याग और अश्वमेध यज्ञ और (मदिन्तमः) सब से अधिक आनन्दप्रद (जीवबर्हिः) जीव की शक्तियों को बढ़ाने वाला ब्रह्मोपासना-मय उपनिषत् भाग सब (उच्छिष्टे) उस उत्कृष्टतम परब्रह्म में संगत होता है। ये सब यज्ञ और उपासना और साधनाएं उस परमेश्वर का ही वर्णन करती हैं।

आग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह ।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ८ ॥

---

७ (द्वि०) 'तनोऽध्वरः' इति पैप्प० सं० ।

८-'उत्सन्न यज्ञाः' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(अग्न्याधेयम्) अग्नि आधान करने योग्य यज्ञ कर्म (अथो) और (दीक्षा) दीक्षा, (कामप्रः) सर्व कामना के पूर्ण करने वाले काम्य कर्म (छन्दसा सह) 'छन्दस्' गायत्री आदि अथवा अथर्व-वेद सहित (उत्सन्नाः यज्ञाः) वे ब्रह्म-यज्ञ जिनसे जीव मुक्त होकर उत्तम लोक, मोक्ष में निर्बन्ध होकर गति करते हैं अथवा वे यज्ञकर्म या प्रजापति के रूप जो काल क्रम से लुप्त हो जाते हैं और (सत्राणि) सोम याग आदिक बृहद् याग नामक सत्र ये सब (उच्छिष्टे अधि समाहिताः) 'उच्छिष्ट' उस सर्वोत्कृष्ट परम मोक्षमय ब्रह्म में ही (समाहिताः) आश्रित हैं ।

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः ।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ९ ॥

भा०—(अग्निहोत्रं च) अग्निहोत्र (श्रद्धा च) और श्रद्धा और (वषट्कारः) वषट्कार, स्वाहाकार (व्रतं, तपः) व्रत और तप (दक्षिणा इष्टं पूर्तं च) दक्षिणा यज्ञ और कूप तालाब बनवाने आदि सब परोपकार के पुण्य कार्य (उच्छिष्टे अधि समाहिताः) उत्कृष्टतम, सर्वोपरि प्रतिपाद्य परब्रह्म में ही आश्रित हैं । वह ईश्वर न हो तो ये सब भी न हों ।

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः ।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥ (१६)

भा०—(एकरात्रः द्विरात्रः) एक दिन में समाप्त होने योग्य और दो दिन में समाप्त होने योग्य, सोमयाग विशेष और (सद्यः क्रीः, प्रक्रीः) सद्यस्क्री और प्रक्री नामक विशेष प्रकार के सोम याग (उक्थ्यः) अग्निष्टोम के बाद के स्तुति मन्त्रों के उच्चारण रूप 'उक्थ्य' ये सब (उच्छिष्टे) उत्कृष्टतम परम परमेश्वर में (ओतम्) गुंथे हुए हैं और उसी में (निहितम्)

९—(च०) 'उच्छिष्टेऽधिश्रिताः' इति पैप्प० सं० ।
१०—(च०) 'यज्ञस्याणूनि विद्यया' इति पैप्प० सं० ।

आश्रित हैं । और (यज्ञस्य) यज्ञ के (अणूनि) छोटे २ भाग भी (विद्यया) अपने ज्ञान तत्व के रूप से उसी ' उच्छिष्ट ' परमात्मा में आश्रित हैं । अर्थात् समस्त प्रकार के सोमयाग सत्र यज्ञ के छोटे भाग भी उसी परमात्मा का वर्णन करते हैं ।

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥११॥

भा०—(चतूरात्र पञ्चरात्र, षड्रात्रः) चार दिनों, पांच दिनों और छः दिनों में होने वाले नाना प्रकार के सोमयाग और इसी प्रकार (उभयः सह) इनके साथ इनके द्विगुणित अष्टरात्र, दशरात्र, द्वादशरात्र (सप्तरात्रः) सप्तरात्र और चतुर्दशरात्र नामक सोमयाग और (षोडशी) ' षोडश ' नाम स्तोत्र वाला षोडशी-याग (ये यज्ञाः) ये जो भी यज्ञ (अमृते हिता) अमर आत्मा या मोक्ष धाम में आश्रित हैं (सर्वे) वे सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) ' उच्छिष्ट ' सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से उत्पन्न होते हैं ।

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥ १२ ॥

भा०—(प्रतीहारः निधनं) साम गान के भाग ' प्रतीहार ' और ' निधनं ' (विश्वजित् च अभिजित् च यः) और जो विश्वजित् याग और अभिजित् याग हैं और (साह्नातिरात्रौ) साह्न और अतिरात्र नामक याग और (द्वादशाहः) द्वादशाह नामक याग भी (उच्छिष्टे) उस उत्कृष्ट परमात्मा में ही आश्रित हैं । वे भी उसी के स्वरूप का वर्णन करते हैं । (तत्) वह प्रभु (मयि) मुझ में, मेरे आत्मा में सम्पन्न हो, मेरी शक्ति और श्री की वृद्धि करे ।

११–(च०) ' यज्ञमृते ' इति पैप्प० सं० ।

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥ १३ ॥

भा०—(सूनृता) उत्तम शुभ, सत्य वाणी (संनतिः) उत्तम भक्ति भाव अथवा उत्तम फल की प्राप्ति (क्षेमः) कल्याणमय वृद्धि, (स्वधा) अन्न, (ऊर्जा) बलकारी विशेष शक्ति (अमृतम्) परम आनन्द रूप अमृत और (सहः) बल और (सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः) सब आत्मा में साक्षात् अनुभव होने वाली अभिलाषाएं जो (कामेन) काम्य फल से अथवा पूर्ण काम या पूर्वोक्त कामसूक्त में प्रतिपादित सर्वकाम परमात्मा के दर्शन से तृप्त हो जाते हैं वे सब (उच्छिष्टे) उस परमोत्कृष्ट परमात्मा में आश्रित हैं ।

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः ।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ १४ ॥

भा०—(नव भूमीः) नव भूमियां (समुद्राः) समस्त समुद्र और (दिवः) सब आकाश के भाग भी (उच्छिष्टे अधि श्रिताः) उस उत्कृष्ट परमात्मा में आश्रित हैं । (उच्छिष्टे) उस परमात्मा के आश्रय में (सूर्यः आभाति) सूर्य प्रकाशमान हो रहा है । (अहोरात्रे अपि) दिन रात भी उसी पर आश्रित हैं । (तत् मयि) वह परमात्मा मुझ में, मेरे अन्तरात्मा में प्रकाशित हो ।

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥

१३–(च०) 'तृप्यन्ति' इति पैप्प० सं० । 'क्षेम स्वधो' इति क्वचित् ।

१४–(प्र०) 'भूम्यां समुद्रस्योच्छिष्टे' (च०) 'रात्रे च तन्मयि' इति पैप्प० सं० ।

१५–'यज्ञाश्चिद् श्रिताः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(उपहव्य) ‘ उपहव्य ’ नामक सोमयाग और (विषूवन्तं) विषुवान नामक अर्थात् ‘ गवामयन ’ नामक संवत्सर के छः २ मासों के दोनों पूर्व और उत्तर पक्षों के बीच में ‘ *एक विंशस्तोम* ’ *नामक सोम-*याग और (ये च) और भी जो (यज्ञा) यज्ञ, उस परमात्मा के उपासना के नाना प्रकार हैं जो (गुहा हिता) विद्वानों के हृदय में और ब्रह्माण्ड की रचना कौशल में अज्ञात रूप से वर्त्तमान हैं उन सबको (विश्वस्य भर्त्ता) विश्व का भरण पोषण करने वाला (जनितुः पिता) उत्पादक कारण का पालक, परम कारण परमपिता (उच्छिष्ट) सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर (बिभर्त्ति) स्वयं धारण करता है ।

यज्ञ में—‘ उपहव्य ’ और ‘ विषुवन् ’ आदि विशेष भाग हैं जो कालात्मक संवत्सर प्रजापति के यज्ञ प्रजापति के शरीर में विशेष भागों के उपलक्षक हैं ।

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥

भा०—वह (उच्छिष्ट) सब से उत्कृष्ट, दृश्य जगत् से भी परे विद्यमान परमात्मा (जनितुः) समस्त उत्पादक प्राणियों और लोकों का भी (पिता) स्वयं पालक है । और (असोः) प्राण शक्ति का स्वयं (पौत्रः) पुत्र का भी पुत्र, मानो स्वयं व्यक्त देहों में प्रकट होने वाला है, और स्वयं इस महान् विराड् देह का निर्माता होने से (पितामहः) उस का पितामह है । (सः) वह (विश्वस्य ईशानः) समस्त संसार का स्वामी, (वृषा) समस्त सुखों और जीवनों की वर्षा करने हारा होकर (भूम्याम्) इस भूमि पर (अतिघ्न्यः) सबको अतिक्रमण करके सब से ऊंचा होकर (क्षियति) विराजमान है ।

१६–‘ पौत्रश्च ’ इति पैप्प० सं० ।

'असु' का पुत्र 'देह' देह या मन उसमें ज्योति रूप से प्रकट होने से उसका वह 'पौत्र' है। और जीव के उत्पादकों का उत्पादक होने से 'पितामह' है।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥

भा०—(ऋतं) ऋत, (सत्यं) सत्य, (तपः) तप, (राष्ट्रं) राष्ट्र, (धर्मः च) धर्म और (कर्म च) कर्म, (भूतं भविष्यत्) भूत और भविष्यत् (वीर्यं) वीर्य, (लक्ष्मीः) लक्ष्मी और (बलं) बल ये सब ऐश्वर्य उस (बले) बलशाली (उच्छिष्टे) सर्वोत्कृष्ट परमात्मा में विद्यमान हैं।

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥

भा०—(समृद्धिः) समस्त सम्पत्तियां, (ओजः) तेज, वीर्य (आकूतिः) संकल्प (क्षत्रं) क्षात्रबल (राष्ट्रं) राष्ट्र, (षड् उर्व्यः) छहों महान् पदार्थ द्यौः, पृथिवी, दिन, रात्रि, आपः, ओषधि, ये छहों (संवत्सरः) वर्ष (इडा) अन्न, (प्रैषाः) मन्त्र या मानस संकल्प, (ग्रहाः) यज्ञ के देवताओं के नाम पर दिये सोमांश अथवा इन्द्रियगण (हविः) चरु पुरोडाश आदि अथवा अन्न ये सब (अधि उच्छिष्टे) उसी ईश्वर में आश्रित, उसीके बल पर और उसीके द्वारा उत्पन्न और प्राप्त हैं।

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥

भा०—(चतुर्होतारः) चतुर्होतृ नामक अनुवाक, (आप्रियः) पशुयाग सम्बन्धी प्रयोगों की याज्या मन्त्र, (चातुर्मास्यानि) चातुर्मास्य में

१७ (प्र०) 'श्रमो दीक्षा' इति पैप्प० सं०।

किये जाने योग्य वैश्वदेव, वरुणप्रघास साकमेध, शुनासिरीय आदि पर्व और (निविद्) स्तुति करने योग्य इष्ट देव के विशेष गुण प्रदर्शक वेद की ऋचाएं (यज्ञा) यज्ञ (होत्रा) होता आदि सात ऋत्विक् (पशुबन्धाः) पशु बन्ध द्वारा किये जाने वाले सोम याग के अगभूत यज्ञ और (तदिष्टयः) उनके बीच की अङ्ग रूप इष्टियें ये सब (उच्छिष्टे) उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म में आश्रित हैं, उन सबका तात्पर्य परब्रह्मपरक है । उनकी सदा ब्रह्म विषयक व्याख्या करनी चाहिये ।

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।

उच्छिष्टे घोषिणीराप स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥ (२०)

भा०—(अर्धमासा च) अर्धमास=पक्ष (मासाः च) मास, (ऋतुभिः सह आर्तवाः) ऋतुओं सहित ऋतुओं में उत्पन्न नाना पदार्थ (घोषिणीः आपः) घोषणा या गर्जना करने वाली जलधाराएं (स्तनयित्नुः) गर्जने हारा मेघ या बिजुली और (मही) बड़ी भारी यह पृथिवी और (श्रुतिः) परम ज्ञानमय वेद वाणी अथवा (मही श्रुतिः) बड़ी पूजनीय श्रुति, वेद वाणी ये सब (उच्छिष्टे) उत्कृष्ट परब्रह्म में ही आश्रित हैं । ये सब उसी की शक्ति के चमत्कार हैं ।

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।

अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥

भा०—(शर्कराः) बजरी, पथरीली बालू, (सिकताः) बालू (अश्मानः) पत्थर, (ओषधयः) ओषधियां (वीरुधः) लताएं (तृणा) घास, (अभ्राणि) मेघ, (विद्युतः) बिजुलियां, (वर्षम्) वर्षा ये सब

२०–(च०) 'शुचिर्मही' इति सायणाभिमतः ।

२१–(प्र०) 'सिकताश्मान' इति पैप्प० सं० ।

(उच्छिष्टे) उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में (संश्रिता[1]) भली प्रकार आश्रय लेकर (श्रिता[1]) अपनी सत्ता बनाये हुए हैं, टिके हुए हैं ।

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः ।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥

भा०—(राद्धिः) फल की सिद्धि या आराधना, (प्राप्तिः) परम फल की प्राप्ति, (समाप्तिः) सर्व कर्म की समाप्ति, (व्याप्तिः) नाना मनोरथानुरूप फलों को प्राप्त करना, (महः) तेज और आनन्द उत्सव करना, (एधतुः) वृद्धि, (अत्याप्तिः) आशा से अधिक फल पाना, (भूतिः) नाना समृद्धि, ये सब (उच्छिष्टे) उत्कृष्टतम परमेश्वर में (आहिता) स्थित होकर (निहिता) सुरक्षित हैं और इसीलिये (हिता) जीव लोक के हित कर भी हैं। अथवा (हिता निहिता) समस्त हितकारी पदार्थ भी उसी परमेश्वर में आश्रित हैं ।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

भा०—(यत् च) जो भी प्राणि वर्ग (प्राणेन प्राणति) प्राण द्वारा प्राण लेता है । (यत् च चक्षुषा पश्यति) और जो भी आंख से देखता है और (सर्वे) समस्त (दिविश्रितः) आकाश में आश्रित सूर्य, चन्द्र आदि (देवाः) प्रकाशमान पदार्थ या (दिविश्रिताः देवाः) प्रकाशमय मोक्षपद में आश्रित विद्वान् लोग सभी (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं ।

---

१. नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् । इति नपुंसकं शेषः ।

२२–(च०) 'हिताः' इति सायणाभिमतः ।

ऋचः॒ सामा॑नि॒ छन्दां॑सि पुरा॒णं यजु॑षा स॒ह ।
उच्छि॒ष्टाज्ज॑ज्ञिरे० ॥ २४ ॥

भा०—(ऋच) ऋग्वेद के मन्त्र, (सामानि) सामवेद और उसके सहस्रों सामगान के भेद, (छन्दांसि) गायत्री आदि छन्द अथवा अथर्व के मन्त्र (यजुषा सह पुराणं) यजुर्वेद, कर्मप्रवर्त्तक मन्त्रों के साथ २ सृष्टि उत्पत्ति प्रलय आदि के वर्णन करने हारे मन्त्र और ब्राह्मण भाग और (सर्वे देवा दिविश्रित.) आकाशस्थ सूर्यादि समस्त दिव्य लोक (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) 'उच्छिष्ट' उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं ।

प्रा॒णा॒पा॒नौ चक्षुः॒ श्रोत्र॒मक्षि॑तिश्च॒ क्षिति॑श्च॒ या ।
उच्छि॒ष्टा० ॥ २५ ॥

पूर्वार्धं अथर्व० ११ । ८ । ४ (प्र० द्वि०) २६ (प्र० द्वि०) ॥

भा०—(प्राणापानौ) प्राण और अपान (चक्षु.) यह आंख, दर्शन-शक्ति (श्रोत्रम्) कान, श्रवणशक्ति (क्षितिः च) क्षिति यह पृथिवी अथवा पदार्थों का क्षीण होना अथवा नाशवान् देहादि पदार्थ और (अक्षितिः) पृथिवी से अतिरिक्त वायु अग्नि आकाश जल आत्मा और मन आदि अथवा अविनश्वर पदार्थ आत्मा, आकाश, काल आदि अथवा पदार्थों का नित्य भाव और (दिविश्रितः सर्वे देवाः) द्यौलोक में और गगनचारी सूर्यादि प्रकाशमान लोक, सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उस सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से उत्पन्न होते हैं ।

आ॒न॒न्दा मोदाः॑ प्र॒मुदो॑ऽभीमो॒दमुद॑श्च॒ ये ।
उच्छि॒ष्टा० ॥ २६ ॥

२४-(प्र०) 'ऋग् यजुः सामानि' इति पैप्प० सं० ।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥ (२१)

भा०—(२६) (आनन्दाः) सब प्रकार के आनन्द (मोदाः) सब प्रकार के विनोद और हर्ष (प्रमुदः) विशेष हर्ष (अभीमोदमुदः) साक्षात् प्राप्य सुखों से उत्पन्न होने वाले आनन्द और (२७) (देवाः) विद्वान् गण देव लोग (पितरः) पालक लोग, माता, पिता, पितामह, गुरु आदि (मनुष्याः) मनुष्य (गन्धर्वाप्सरसः च ये) और जो गन्धर्व, युवा पुरुष अप्सराएं युवतियें हैं (सर्वे देवा दिविश्रितः दिवि) समस्त आकाश में वर्त्तमान प्रकाशमान सूर्यादि पदार्थ सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उस सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं ।

[८] मन्यु रूप परमेश्वर का वर्णन ।

कौरुपथिर्ऋषिः । अध्यात्मं मन्युर्देवता । १–३२, ३४ अनुष्टुभः, ३३ पथ्यापंक्तिः ।
चतुस्त्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि ।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जब (मन्युः) मननशील, ज्ञानसम्पन्न आत्मा ने (संकल्पस्य गृहात्) संकल्प के घर से (जायाम्) अपनी स्त्री रूप बुद्धि को विवाह किया तब (के जन्याः) कन्या पक्ष के कौन घराती और (के वराः) कौन बराती (आसन्) थे । और (क उ) कौनसा (ज्येष्ठवरः अभवत्) सब से श्रेष्ठ वर रहा । इसी प्रकार परमात्मा के पक्ष में जब (मन्युः) ज्ञानमय परमेश्वर (संकल्पस्य गृहात् अधि) संकल्प के

[८] १–' कासं ' इति पैप्प० सं० ।

महण नाम ये से अपनी (जायाम्) संसार को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को (अवहत्) धारण करता है तब सृष्टि के आदि में जब कुछ नहीं था तब भी (के जन्याः आसन्) प्रकृति के साथ २ और कौन २ से सृष्टि उत्पत्ति में विशेष कारण थे और (के वराः आसन्) कौन २ से 'वर' अर्थात् वरण करने योग्य प्रवर्त्तक कारण थे और उनमें से (क उ ज्येष्ठवरः अभवत्) सबसे अधिक श्रेष्ठ प्रवर्त्तक कारण कौनसा था।

इस प्रकार विवाह का रूपक देकर वेद सृष्टि की उत्पत्ति और आत्मा के देह की उत्पत्ति का वर्णन करता है। ईश्वर ने सकल्प की घनी धारणा शक्ति से प्रकृति को धारण किया और सृष्टि उत्पन्न की। आत्मा ने भी अपने संकल्प से अपनी बुद्धि को ग्रहण कर अपनी दैहिक सृष्टि उत्पन्न की।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महृत्यर्णवे।
त आसञ्जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ २ ॥

भा०—(महति अर्णवे अन्तः) उस प्रकृति के परमाणुओं से बने बड़े भारी अव्यक्त कारण रूप समुद्र में या इस महान् आकाश के बीच (तपः च एव कर्म च आस्ताम्) तप और कर्म ये दो ही थे। (ते आसन् जन्याः) वे घराती थे और (ते वराः) वे ही बराती थे। अर्थात् वे ही जन्य सृष्टि के उत्पादक मूलकारण और वे ही 'वर' अर्थात् प्रवर्त्तक कारण थे। उनमें से (ब्रह्म) ब्रह्म, परम आत्मा ही (ज्येष्ठवरः अभवत्) ज्येष्ठ वर सर्वश्रेष्ठ प्रवर्त्तक था।

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। (तै० आ० ८। ६॥)

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे सर्वमिदं सलिलं प्रकेतमासीत् ॥ ऋ० ॥

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥ ३ ॥

भा०—(देवेभ्यः) देव, अग्नि आदि से भी पूर्व (दश देवाः) दश देव (साकम् अजायन्त) एक साथ प्रादुर्भूत हुए । (यः वै) जो पुरुष भी (तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) उनको साक्षात् ज्ञान कर लेता है (स वा अद्य) वह पुरुष ही (महद् वदेत्) उस 'महत्' ब्रह्म का उपदेश कर सकता है।

' दश देवाः '—' ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि ' इति सायणः । ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय । अथवा वेद स्वयं अगले मन्त्र में कहेगा । ' देवेभ्यः पुरा देवाः ' देवों से पूर्व उत्पन्न देव प्राण अपान आदि हैं । इनकी उत्पत्ति का प्रकरण ऐतरेयोपनिषत् १म. २यें खण्ड में देखो ।

तमभ्यतपत् । तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत । यथाण्डम् । मुखाद् वाग्, वाचोऽग्निः । नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः । इत्यादि ।

अर्थात्—अग्नि वायु आदि के पूर्व वाक्, प्राण आदि का प्रादुर्भाव हुआ ।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥ ४ ॥

पूर्वार्धः ११ । ७ । २५ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(प्राणापानौ) प्राण और अपान (चक्षुः श्रोत्रम्) आंख और कान (अक्षितिः च क्षितिः च या) अक्षिति, अविनाशिनी ज्ञान शक्ति और ' क्षिति ' क्षयशील क्रिया शक्ति और (व्यानोदानौ) व्यान और उदान (वाक् मनः) वाणी और मन (ते वा) उन्होंने भी (आकूतिम्) आकूति नाम बुद्धिरूप ' जाया ' को (आवहन्) धारण किया ।

अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः ।
इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ५ ॥

भा०—सृष्टि के प्रारम्भ में जब कि (ऋतवः अथो धाता बृहस्पतिः) ऋतुएं, धाता और बृहस्पति सूर्य और वायु (इन्द्राग्नी अश्विना) इन्द्र=सूर्य

और अग्नि और दिन और रात्रि य सब भी (अजाता आसन्) अभी प्रकट नहीं हुए थे उत्पन्न नहीं हुए थे तब (ते) वे (क ज्येष्ठम् उपआसत) अपने से भी महान् किस ज्येष्ठ प्रभु की उपासना करते थे ? अर्थात् उस समय वे कहां विलीन थे ?

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ६ ॥

भा०—(महति अर्णव अन्त) उस महान् अर्णव अर्थात् समुद्र रूप परमेश्वर में (तप च एव) केवल तप और (कर्म च) कर्म अर्थात् क्रिया (आस्ताम्) ये दो ही पदार्थ विद्यमान थे। और (तप ह) वह तप भी (कर्मण जज्ञे) कर्म अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हुआ था। (तत्) उस कर्म को ही (ते) वे पूर्वोक्त ऋतु आदि अनुत्पन्न पदार्थ अपनी उत्पत्ति के पूर्व में (ज्येष्ठम् उपासते) अपने में सर्वश्रेष्ठ मान कर उस परम शक्तिमान् की उपासना करते थे, उसके आश्रित थे, उसी में लीन थे।

येत आसीद् भूमि पूर्वा यामद्धातय इद् विदु ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥ ७ ॥

भा०—(या) जो (इत) इस प्रत्यक्ष जगत् से (पूर्वा भूमि) पूर्व की भूमि अर्थात् सृष्टि की पूर्व भाविनी, कारणरूप दशा (आसीत्) थी (याम्) जिसको (अद्धातय) सत्य का साक्षात् ज्ञान करने वाले तत्व ज्ञानी वैज्ञानिक लोग ही (विदु) जानते हैं। (य वै) जो (तां नामथा विद्यात्) उस कारण रूप पूर्व दशा को ठीक २ रूप में, जिस २ प्रकार

५, ६–(च०) 'उपासते' इति सायणाभिमत ।

७–'ये ता भूमि. पूर्वासीत्' (तृ०, च०) 'यस्तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्' इति पैप्प० सं० ।

से यह रही उस २ प्रकार से जानता है (सः) वही पुरुष (पुराणवित्) पुराण अर्थात् सृष्टि के पूर्व के पदार्थों के यथार्थ ज्ञान का जानने हारा विद्वान् (मन्येत) कहा जाता है ।

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत ।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्रः कुतः अजायत) इन्द्र किससे उत्पन्न हुआ । इसका पूर्व रूप क्या था ? (सोमः कुतः) सोम किससे उत्पन्न हुआ ? (अग्निः कुतः अजायत) अग्नि किससे पैदा हुआ । (त्वष्टा कुतः) त्वष्टा किससे (सम् अभवत्) उत्पन्न हुआ । (धाता कुतः अजायत) और 'धाता' किससे उत्पन्न हुआ ।

इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत ।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥ ९ ॥

भा०—(इन्द्रात् इन्द्रः) इन्द्र से इन्द्र उत्पन्न हुआ, (सोमात् सोमः) सोम से सोम उत्पन्न हुआ, (अग्नेः अग्निः अजायत) अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुआ, (त्वष्टा ह त्वष्टुः जज्ञे) त्वष्टा से त्वष्टा उत्पन्न हुआ, (धातुः धाता अजायत) धाता से धाता उत्पन्न हुआ । अर्थात् इन्द्रादि देवों का पूर्व रूप भी इन्द्र आदि ही थे अर्थात् उनका उत्पादक मूलकारण भी इन्द्र आदि शक्ति सम्पन्न था इसलिये उससे वे उत्पन्न हुए ।

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥ (२२)

८–(च०) 'धाता समभवत् कुतः' इति पैप्प० सं० ।
९–(च०) 'धाता धातुः' इति पैप्प० सं० ।
१०–'देवेभ्यः पुरः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(ये दश देवाः) जो दश देव, प्राण आदि (देवेभ्यः पुरा जाता आसन्) अग्नि आदि से भी पूर्व उत्पन्न हुए थे (पुत्रेभ्यः लोकं दत्वा) अपने अनन्तर उत्पन्न अग्नि आदि को यह उत्पन्न लोक देकर स्वयं (ते) वे (कस्मिन् लोके आसते) फिर किस लोक या आश्रय में विराजते हैं। अर्थात् प्राण आदि से उत्पन्न होकर अग्नि आदि ने जब इस जगत् को व्याप लिया। तब प्राण आदि किस आश्रय पर रहने लगे या किस स्वरूप में विद्यमान रहे।

यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत्।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥ ११ ॥

भा० —(यदा) जब (केशान्) केशों, (अस्थि) हड्डियों, (स्नाव) स्नायुओं, (मांसम्) मांस और (मज्जानम् आभरत) मज्जा को एक देह में एकत्र किया। और फिर इस (शरीरम्) शरीर को (पादवत् कृत्वा) चरण आदि अंगों सहित बना कर फिर वह आत्मा (कं लोकम्) किस लोक या स्थान में (प्राविशत्) प्रविष्ट हो गया, कहां जाकर रहने लगा।

परमात्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति करते हुए महान् जगत्मय शरीर बनाया और शरीर के इस उत्पत्ति काल में आत्मा के कर्म और तप से मातृगर्भ में आत्मा ने अपना शरीर संचित किया और पुनः सम्पूर्ण अंग होकर स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ।

कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत्।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥ १२ ॥

११–(द्वि०) 'समभरत' इति सायणाभिमतः।

१२–(प्र०) 'स्नाव.' इति बहुत्र। (च०) 'कुत्राभरत्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(कः) प्रजापति ने (केशान् कुतः) केशों को कहां से (आभरत्) अर्थात् किस मूल उपादान से बना कर रक्खा ? (स्नाव कुतः) स्नायुओं को किस पदार्थ से बनाया और (अस्थीनि कुतः आभरत्) हड्डियों को किस उपादान से बनाया। इसके बाद फिर (अंगा) अन्य अंगों को, (पर्वा) पोरुओं को और (मांसम्) मांस को (कुत आभरत्) किस उपादान से बना कर इस शरीर में ला कर रक्खा है ? अथवा—दो प्रश्न हैं। १. किसने ये सब केश आदि पदार्थ बनाये ? २. उसने बनाये तो किस पदार्थ से ?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥

भा०—(ते देवाः) वे देव' दिव्य गुण वाले सूक्ष्म तत्व (संसिचः) 'संसिच्' नाम के हैं (ये) जो (संभारान्) शरीर-रचना के योग्य समस्त पदार्थों को (सम् अभरन्) एकत्र करते हैं। (देवाः) वे दिव्य सूक्ष्म तेजोमय पदार्थ ही (सर्वं मर्त्यम्) समस्त इस मरण धर्मा शरीर को (संसिच्य) भली प्रकार सेचन करके पुनः (पुरुषम् आविशन्) इस देहमय युक्त आत्मा में प्रविष्ट होकर ही रहते हैं।

ऊरू पादा॑वष्ठीवन्तौ॒ शिरो॒ हस्ता॒वथो॒ मुख॑म्।
पृष्टीर्बर्जह्ये॒/पार्श्वे॒ कस्तत् सम॑दधा॒दृषिः॑ ॥ १४ ॥

भा०—(कः ऋषिः) वह कौन सर्वद्रष्टा विवेकी है जो (ऊरू) जांघों को, (अष्टीवन्तौ पादौ) जानुओं वाले चरणों को, (शिरः हस्तौ) सिर और हाथों को (अथो मुखम्) और मुख को (पृष्टीः) पीठ के

१३-(समो नाम ', (द्वि०) ' सर्वं सम्' इति पैप्प० स० ।
१४-' पृष्टीर्बर्जह्ये ' इति पैप्प० स० ।

मोहरों और (वर्जह्ये) हंसली की हड्डियों और (पार्श्वे) छाती की पसुलियों के दोनों भागों आदि (तत्) इस सब ढांचे को (सम् अदधात्) भली प्रकार परस्पर जोड़ता है ?

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः ।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् सन्धा समदधान्मही ॥ १५ ॥

भा०—(सधा) समस्त अंगों को जोड़ने वाली शक्ति का नाम 'सधा' है । (मही) वह बड़ी भारी 'सधा' शक्ति है । जिसने (शिरः हस्तौ मुखम् जिह्वा ग्रीवाश्च अथो कीकसा.) शिर, दो हाथ, मुख, जीभ, गर्दन के मोहरे और कीकस=पीठ के मोहरे (तत् सर्वं) इन सब शरीर के अंगों को (त्वचा प्रावृत्य) त्वचा, चमड़े से मढ़ कर (सम् अदधात्) एकत्र जोड़ कर रक्खा है । वह (मही संधा) बड़ी भारी 'संधा' नाम की ईश्वरी शक्ति है ।

यत् तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत् ।
येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥ १६ ॥

भा०—(यत् तत्) जब वह (महत्) महत्, बड़ा (शरीरम्) शरीर, ब्रह्माण्ड रूप शरीर (संधया संहितं) 'संधा' नामक पूर्वोक्त शक्ति से जुड़ गया तब (इदम्) यह (येन) जिस कारण से (अद्य) सदा (रोचते) कान्ति-मान रूप चमकता है सो (अस्मिन्) इस शरीर में (कः) कौन (वर्णम् आ अभरत्) वर्ण या कान्ति ला देता है, कान्ति कौन उत्पन्न करता है ?

१५–(प्र०) 'अथो बाहू' (तृ०) 'तत् सर्वं' इति पैप्प० सं० ।

१६–(प्र०) 'शरीरमशयत्' (द्वि०) 'संहित मपि' (तृ०) 'को-ऽस्मिन्' इति पैप्प० सं० ।

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती ।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥ १७ ॥

भा०—(सर्वे देवाः) समस्त देवगण प्राणादि ने (उप अशिक्षन्=उपासिक्षन्) उसमें अपना वीर्य आधान किया, प्रार्थना की (तत्) उसको (सती) सत् स्वरूपा (वधूः) शरीर को वहन करने वाली चेतना ने (अजानात्) जान लिया, धारण किया । (या) जो (वशस्य) सबके वशयिता आत्मा की (जाया) स्त्री के समान सर्वोत्पादिका (ईशा) ईश्वरी, वशकारिणी, सामर्थ्यवती शक्ति है (सा) वह (अस्मिन्) इस देह और विराट् देह में (वर्णम्) वर्ण कान्ति या तेज को (आभरत्) प्राप्त कराती है ।

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥

भा०—(त्वष्टुः) शिल्पियों का भी (यः) जो (उत्तरः) उनसे बढ़ कर (पिता) उत्कृष्ट पिता, परमेश्वर स्वयं (त्वष्टा) सब जीवों का बनाने वाला महाशिल्पी (यदा) जब (व्यतृणत्) उस महान् विराड् देह में और इस देह में भी प्राणों के नाना छिद्र कर देता है तब (देवाः) प्राण आदि देवगण (मर्त्यं पुरुषम्) मर्त्य पुरुष-देह को (गृहं कृत्वा) अपना घर बना कर उसमें (आविशन्) प्रवेश करते हैं । (देखो ऐतरेय उप०)

स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः ।
जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥ १९ ॥

भा०—प्राण, अपान आदि देव जब उस शरीर में प्रवेश कर चुकते हैं तब (शरीरम्) शरीर में (स्वप्न) स्वप्न, निद्रा (तन्द्रीः) आलस्य

१७–(प्र०) 'उपासिक्षन्' (तृ०) 'विपस्य' इति पैप्प० सं० ।
१९–'तन्द्रीनि०' (तृ०) 'खालित्यं' इति सायणाभिमतः ।

(निर्ऋतिः) पाप प्रवृत्ति (पाप्मानः) और नाना पाप के भाव और (देवता) देव भाव सात्त्विक गुण (जरा) वृद्धावस्था (खालित्य) गंजापन (पालित्य) केश पकना आदि विकार भी (अनु प्राविशन्) प्रविष्ट हो जाते हैं ।

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत् ।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २० ॥ (२३)

भा०—इसी प्राणादि के प्रवेश के बाद ही (स्तेयं) चोरी का भाव, (दुष्कृतं) दुराचार की प्रवृत्ति (वृजिनं) पाप कर्म और (सत्यं यज्ञः यशः बृहत्) सत्य यज्ञ और बड़ा यश और (बलं च क्षत्रम् ओजः च) बल क्षत्र वीर्य और तेज भी (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट होते हैं ।

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः ।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २१ ॥

भा०—(भूतिः च) भूति, समस्त समृद्धि (वा) या (अभूतिः च) असमृद्धि, दरिद्रताएं (रातयः) दान के भाव और (याः च अरातयः) और जो कंजूसी या कृपणता के भाव हैं (क्षुधः च) भूखें, (सर्वाः तृष्णाः च) और सब प्रकार की पियासें, सब (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं ।

निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च ।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् ॥ २२ ॥

---

२० (द्वि०) 'यश महः' इति पैप्प० सं० ।

२१—'वाऽभूतिश्च' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(निन्द्राः च वा अनिन्द्राः च) समस्त निन्द्राओं और अनिन्द्राओं के भाव (यत् च हन्त इति, न इति च) और जो 'हां' या 'न' इस प्रकार के इच्छा और अनिच्छा के भाव हैं (श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च) धर्मकार्यों में श्रद्धा, दक्षिणा, उनके लिये पुरस्कार देने के विचार और उनके प्रति अश्रद्धा ये भी (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट होते हैं।

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्य॑म् ।
शरी॑रं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥ २३ ॥

भा०—(विद्याः च) समस्त विद्याएं (वा) और (अविद्याः च) समस्त अविद्याएं अर्थात् कर्म जाल और (यत् च) जो कुछ भी (उपदेश्यम्) उपदेश करने योग्य है और (ऋचः) ऋग्वेद (साम अथो यजुः) सामवेद और यजुर्वेद और (ब्रह्म) ब्रह्म वेद, अथर्व-वेद ये सब (शरीरं प्राविशन्) इस पुरुष शरीर में प्रविष्ट हुए ।

आनन्दा मोदाः प्रमुदो॑ऽभीमोदमुद॑श्च ये ।
हसो॑ नरिष्टा नृत्तानि शरी॑रमनु प्राविशन् ॥ २४ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० ११ । ९ । २६ ॥

भा०—(आनन्दाः) समस्त आनन्द (मोदाः) समस्त हर्ष (प्रमुदः) समस्त विनोद और (अभीमोदमुदः च ये) जो भी साक्षात् सुखों से उत्पन्न होने वाली खुशियां हैं वे और (हसः) सब हंसियें, (नरिष्टा) स्वच्छन्द

२३–' शरीरं सर्वे प्राविशन् ' इति पैप्प० सं० ।

२४–' आनन्दा नन्दा प्रमदो ' इति पैप्प० सं० । (तृ०) ' नरिष्टा ' इति सायणाभिमतः ।

चेष्टाएं (भत्तानि) नृत्य विलास ये सभी (शरीरम् अनु प्राविशन्) इस पुरुष शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं ।

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये ।
शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥ २५ ॥

भा०—(आलापा च) समस्त परस्पर के वार्त्तालाप (प्रलापा च) समस्त व्यर्थ बकवाद और (अभिलापलप च ये) जो प्रत्यक्ष में दूसरे की बातें सुनकर प्रत्युत्तर में या दशा देखी जो बातें कही जाती हैं और (आयुज) समस्त आयोजनाएं (प्रयुज) समस्त प्रयोग, और प्रयोजन और (युज) समस्त योजनाएं विधान या परस्पर मेल-जोल या योग क्रियाएं ये (सर्वे) सब (शरीर प्राविशन्) शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं ।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥ २६ ॥

पूर्वं पादद्वयम् अथर्व० ११ । ८ । ४ ॥

भा०—(प्राणापानौ) प्राण और अपान (चक्षु श्रोत्रम्) चक्षु और श्रोत्र (अक्षिति च क्षिति च या) और शरीर का क्षय होना और स्थिर रहना (व्यानोदानौ) व्यान और उदान (वाङ्मन) वाणी और मन (ते) वे सब (शरीरेण) शरीर के साथ २ (ईयन्ते) कार्य करते हैं ।

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च या ।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥ २७ ॥

भा०—(आशिष च) समस्त आशीर्वाद, अभिलषित फलों की आशाएं और (प्रशिष च) समस्त प्रशासन, अपने से छोटे और निम्न

२५–(च०) 'आयुजा' इति पैप्प० सं० ।

पुरुषों के प्रति आज्ञाएं (संशिषः) समान पुरुषों के प्रति अनुज्ञाएं और सम्मति और (याः विशिषश्च) अन्य नाना प्रकार की जो विशेष रूप से कही गई आज्ञाएं या मनोरथ हैं (चित्तानि) समस्त चित्त, विचार और (सर्वे संकल्पाः) समस्त संकल्प विकल्प (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीर के भीतर प्रविष्ट होते हैं ।

आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः ।
गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् ॥ २८ ॥

भा०—(आस्तेयीः[1] च) 'अस्ति' हृदय या मुख में विद्यमान रुधिर या थूक और (वास्तेयीः च) 'वस्ति' मूत्राशय में जमा होने वाले मूत्र के जल (त्वरणाः) शरीर में वेग से चलने वाले अथवा प्रवाह से बहने वाले और (याः कृपणाः च) जो मन्दगति अथवा तुच्छ स्वरूप से विद्यमान, (गुह्याः) गुह्य, गुप्त रूप से अंगों में विद्यमान, (शुक्राः) शुक्र, वीर्य रूप में विद्यमान, (स्थूलाः) स्थूल, अन्न रूप में पान करने योग्य समस्त प्रकार के (अपः) जल (ताः) वे सब (बीभत्सौ) इस सुबद्ध शरीर में, सुघटित शरीर में (असादयन्) रखे हुए हैं ।

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥

भा०—(अष्ट आपः) आठों प्रकार के रस, 'आस्तेयी' आदि (तत्) उस शरीर में (अस्थि समिधं कृत्वा) हड्डियों को समिधा बनाकर (असा-

२८–(प्र०) 'आस्तेयीश्च वस्तेयीश्च' इति सायणाभिमतः । 'आस्तेयीश्च वस्तेयीश्च' इति ह्विटनिकामितः ।

१. अस्तिवस्तिभ्यामाद्यिक्स्तिः प्रत्ययः, अस्तिः वस्तिः । ततो दृतिकुक्षि कलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् इति ढेनिर्कोऽयम् । आस्तेयीः वास्तेयीः ।

इयन्) प्राप्त होते हैं । और (रेत. आज्यं कृत्वा) इस शरीर में रेतस्=वीर्य को ' आज्य ' घृत बनाकर (देवा) प्राण आदि देव (पुरुषम् आविशन्) इस पुरुष देह में प्रविष्ट हो गये । वे इस पुरुष देह रूप वेदी में प्रविष्ट होकर जरामर्य ' प्राणाग्निहोत्र ' करते हैं । जिसकी व्याख्या अथर्व-वेदीय ' प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् ' में देखिये ।

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।

शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥

भा०—(या आप) जो ' आप ' और (याः च देवता) जो अन्य देवता प्राणादि (या विराट्) जो विराट् आत्मा की विशेष शक्ति (ब्रह्मणा सह) ब्रह्म के साथ है वह ब्रह्म=अन्न रूप होकर (शरीरं प्राविशत्) शरीर मे प्रविष्ट होता है । (शरीरे अधि प्रजापति) उसी शरीर में प्रजापति अर्थात् इन्द्र, आत्मा अधिष्ठाता रूप से विद्यमान रहता है ।

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।

अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥

भा०—(सूर्य पुरुषस्य चक्षु. वि भेजे) सूर्य उस पुरुष का चक्षुः स्वरूप होकर उसका अंग बन गया । (वात प्राणं वि भेजे) और वायु प्राण होकर उसका एक अंग हो गया । इस प्रकार सभी देवगण उस (पुरुषस्य आत्मानं वि भेजिरे) पुरुष के देह को बांट कर बैठ गये । (अथ) उसके बाद (अस्य) इसके (इतरम् आत्मानम्) दूसरे शेष देह को (देवा) देवगण ने (अग्नये) अग्नि, जाठराग्नि के अधीन (प्रायच्छन्) सौंप दिया ।

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

३१-(तृ०) ' तथास्येतर ' इति पैप्प० सं० ।

३२ (च०) ' शरीरेऽधि समाहिताः ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(तस्मात्) इसी कारण (वै) ही (विद्वान्) अध्यात्म तत्त्व का ज्ञानी पुरुष (पुरुषम्) इस पुरुष को (इदं ब्रह्म इति मन्यते) साक्षात् ब्रह्म करके जानता है । क्योंकि (सर्वाः हि देवताः) समस्त देवगण, समस्त, दिव्य शक्तियां, पृथिवी आदि तत्त्व (अस्मिन्) इस पुरुष देह में उसी प्रकार (आसते) आ विराजे हैं (गावः गोष्ठे इव) जिस प्रकार बाड़े में गौवें आ बैठती हैं ।

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।

अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥ ३३ ॥

भा०—(प्रथमेन प्रमारेण) प्रथम प्राण के छूट जाने पर पुरुष या सूक्ष्म लिङ्गशरीरवान् आत्मा (त्रेधा) तीन प्रकारों से (विष्वङ् वि गच्छति) नाना योनियों में जाता है । (अदः) उस उत्तम लोक को (एकेन) एक प्रकार के उत्तम कर्म से (गच्छति) प्राप्त होता है । (अदः एकेन) उस नरक, तिर्यक् लोक को भी एक विशेष प्रकार के पाप कर्म से (गच्छति) प्राप्त होता है और (इह) इस मनुष्य लोक में (एकेन) एक विशेष प्रकार के कर्म से (निषेवते) अपने कर्म फल भोगता है ।

'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।' छान्दोग्य उप० । अथवा देवयान, पितृयाण और 'जायस्वम्रियस्व' ये तीन गतियां बतलाई हैं । देखो [छान्दोग्य उप० ५ । १०]

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् ।

तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥ ३४ ॥ (२४)

भा०—(अप्सु स्तीमासु वृद्धासु) उन बढ़े हुए, आर्द्र अर्थात् गीला कर देने या सदा तरो ताज़ा रखने वाले (अप्सु) जलों के (अन्तरा) भीतर यह

३३—' विष्वङ्निगच्छति ' इति सायणाभिमतः ।

(शरीरम् श्रितम्) शरीर स्थित है । अर्थात् जलों पर शरीरों का सदा प्रकार जीवन स्थिर है । (तस्मिन् अधि अन्तरा शव) उसके भीतर बलस्वरूप आत्मा अधिष्ठाता रूप से रहता है । (तस्मात्) उसी कारण से (शव अधि उच्यते) वह महान् आत्मा भी 'शव' सर्व बलस्वरूप कहा जाता है ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम्, ऋचः ।]

[६] महासेना सञ्चालन और युद्ध ।

काङ्कायन ऋषिः । मन्त्रोक्ता अर्बुदिर्देवता । १ मनयस्य विराट् शक्वरी त्र्यवसाना, ३ परोष्णिक्, ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परा त्रिष्टुप् पञ्चपदातिजगती, ६, ११, १४, २३, २६ पथ्यापंक्तिः, १५, २२, २४, २५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी, १६ त्र्यवसाना पञ्चपदा विराडुपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १७ विराड् गायत्री, २, ५–८, १०, १२, १३, १७ २१ अनुष्टुभः । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च ।
असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥

भा०—हे (अर्बुदे) मेघ के समान शत्रुओं पर अस्त्रों के वर्षण करने वाले, शत्रु के विनाशक और सच्चों पुरुषों से बनी हुई सेना के अध्यक्ष ! तेरी (ये बाहवः) जो शत्रुओं को रोकने वाली बाहुएं (याः इषवः) जो बाण, (धन्वनां वीर्याणि च) और जो धनुर्धारियों के बल हैं उनको और (असीन्) तलवारों, (परशून्) फरसों, (आयुधं) नाना हथियारों को (यद् हृदि चित्ताकूतं च) और हृदय में जो चित्त के सकल्प हैं (तत् सर्वम्) उस सब को (त्वं) तू (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं को (दृशे) दिखलाने के लिए (उदारान्

च) विशाल २ यन्त्र या महास्त्र (कुरु) तय्यार कर और (प्र दर्शय) दिखला।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ २ ॥

भा०—हे (मित्राः) मित्र राष्ट्र के नृपतियो ! और हे (देवजनाः) विद्वान् राजा लोगो ! (यूयम्) तुम सब लोग (उत्तिष्ठत) उठ खड़े होओ, (सं नह्यध्वम्) एक साथ बंध जाओ. संगठित हो जाओ, तैयार हो जाओ। हे (अर्बुदे) हे लक्षों सेनाओं के पति ! (या नः मित्राणि) जो हमारे मित्र लोग हैं (वः) और जो तुम्हारे मित्र लोग हैं, वे सब (संदृष्टाः) भली प्रकार दृष्टिगोचर रहते हुए भी (गुप्ताः सन्तु) खूब सुरक्षित हो कर रहें।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम्।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ ३ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) अर्बुदे ! लक्षदण्डपते ! और हे न्यर्बुदे ! दश लक्षसेनापते ! तुम दोनों (उत्तिष्ठतम्) उठो ! (आदानसंदानाभ्याम्) आदान और संदान, धर और पकड़ द्वारा (आरभेथाम्) अपना कार्य शुरु करो, शत्रुओं को पकड़ो। और इस प्रकार (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनाः) सेनाओं को (अभि धत्तम्) बांध लो।

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥ ४ ॥

भा०—(अर्बुदिः नाम यः देवः) जो देव 'अर्बुदि' नाम वाला है वह मेघ के समान शत्रु पर शरों की वर्षा करता है और दूसरा (न्यर्बुदिः ईशानः च)

३—'सेनाम्' इति क्वचित्।

जो न्यर्बुदि है वह 'ईशान' अर्थात् विद्युत् के समान तीव्र प्रहार करने वाला है। (याभ्याम्) जिन दोनों ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और (इयं मही पृथिवी च) यह विशाल पृथिवी भी (आवृतम्) घेर रक्खी है। (इन्द्रमेदिन्यौ) इन्द्र अर्थात् राजा के सही (ताभ्याम्) उन दोनों के साथ (अहम्) मैं (जितम्) विजय से प्राप्त किये देश को (सेनया) सेना के बल से (अन्वेमि) वश करता हूं।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
भुञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥ ५ ॥

भा०—हे (देवजन अर्बुदे) देवजन ! विजिगीषो ! अर्बुदे सेनानायक ! (त्वं) तू (सेनया सह) सेना के साथ (उत्तिष्ठ) उठ। (अमित्राणां सेनाम्) शत्रुओं की सेना को (भञ्जन्) तोड़ता फोड़ता हुआ (भोगेभिः परिवारय) सांप जिस प्रकार अपने फणों से घेर लेता है उस प्रकार तू अपने सेना व्यूहों से उनको घेर ले।

सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन्।
तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥ ६ ॥

भा०—हे (न्यर्बुद) महा सेनापते ! तू अपने (उदाराणाम्) विशाल, ऊपर उठने वाले या ऊपर से प्रहार करने वाले महायन्त्रों में से (सप्त) सात प्रकार के (जातान्) उत्पन्नों को (समीक्षयन्) दिखाता हुआ (आज्ये हुते) अग्नि में घी पड़ चुकने पर जैसे अग्नि प्रचण्ड हो जाती है उसी प्रकार युद्ध की अग्नि के प्रचण्ड हो जाने पर (तेभिः सर्वैः) उन सब महास्त्रों सहित (सेनया) अपनी सेना से (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो।

अपनी सेना की आगे की दिशा में शत्रु है, उस दिशा को छोड़ शेष सातों दिशाओं में सात महास्त्रों की योजना करे और युद्ध छिड़ जाने पर सेना सहित महास्त्रों से लड़े।

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ ७ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनानायक ! सांप जिस प्रकार थोड़ा सा दांत लगा कर ही पुरुष को मार देता है उसी प्रकार (तव) तेरे (रदिते) थोड़ासा भी प्रहार करके शरीर के क्षत-विक्षत करने पर, (हते पुरुषे) पुरुष के मर जाने पर उसकी स्त्री (प्रतिघ्नाना) अपनी छाती पीटती हुई, (अश्रुमुखी) आंसुओं से मुँह धोती हुई (कृधुकर्णी) खुले कानों को लिये (विकेशी) अपने बाल खोले (क्रोशतु) रोए, चिल्लाए ।

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती ।
पतिं भ्रातरमात्स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥ ८ ॥

भा०—हे (अर्बुदे तव रदिते) अर्बुदे सेनानायक ! सांप के समान तेरे डस लेने पर शत्रु स्त्री (करूकरं संकर्षन्ती) अपने हाथ पैर की हड्डियों को मचकाती हुई या अपने कर्म कर भृत्यों को साथ लिए हुए (मनसा पुत्रम् इच्छन्ती) अपने मन से पुत्र को चाहती हुई, (पतिं भ्रातरम्) पति भाई और (आत् स्वान्) अपने अन्य बन्धुओं को भी चाहती हुई अर्थात् उनके नाम ले २ कर उनको याद करती हुई (क्रोशतु) विलाप करे ।

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव॥९॥

भा०—हे (अर्बुदे तव रदिते) अर्बुदे ! महा नाग के समान तेरे डस लेने पर (अलिक्लवाः) भयानक बड़े २ पक्षी, (जाष्कमदाः) जाष्कमद बाज़ आदि शिकारी जानवर, (गृध्राः) गीध, (श्येनाः) उकाब आदि (पतत्रिणः) बड़े २ पंखों वाले पक्षी और (ध्वांक्षाः) कौवे और (शकु-

९—'अलिक्लवा याः दृमराः' इति सायणाभिमतः ।

नयः) शक्तिशाली पक्षी (अमित्रेषु) शत्रुओं के मांसों पर (तृप्यन्तु) तृप्त हों । और तू (समीक्षयन्) अपना बल दिखलाता रह ।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः ।
पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥ १० ॥ (२४)

भा०—हे (अर्बुदे) महा तीक्ष्ण सेनानायक ! नाग के समान (तव रदिते) तेरे डस लेने पर (अथो, और (सर्वम्) सब प्रकार के (श्वापदम्) कुत्ते के समान पञ्जों वाले शेर, चीते, बघेरे आदि जंगली जानवर (मक्षिकाः) मक्खियां और (क्रिमि) कीड़े मकौड़े भी (तव रदिते) तेरे डस लेने पर (पौरुषेये कुणपे अधि) मानुष मुर्दार पर (तृप्यतु) अपना पेट भरकर तृप्त हों ।

आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ ११ ॥

भा०—हे (अर्बुदे तव रदिते) प्रबल सेनानायक ! महानाग के समान तेरे डस लेने पर और (समीक्षयन्) जब तू भय प्रदर्शन कराता हो तब (अमित्रेषु) शत्रुओं में (निवाशाः घोषाः) चीखें और कोलाहल के शब्द (संयन्तु) होने लग जायं । हे अर्बुदे ! हे न्यर्बुदे ! सेनापते ! ये तुम दोनों (प्राणापानान्) प्राणों और अपानों को (आगृह्णीतं) पकड़ लो और (सं बृहतम्) उनके शरीरों से निकाल लो ।

उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज ।
उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥ १२ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) सेनापते ! महानाग के समान भयानक तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (उद्वेपय) कंपा दे । वे (सं विजन्ताम्) भय से मैदान छोड़

११–(प्र०) 'बृहतम्' इति सायणाभिमतः ।
१२–'उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैः' इति सायणाभिमतः ।

कर भाग जायें । उनको (भिया संसृज) भय से युक्त कर । उनके भीतर भय बैठ जाय । और (अमित्रान्) शत्रुओं को (उरुग्राहैः) बड़ी पकड़ वाले (बाह्वङ्कैः) बाहु के समान रूप वाले शस्त्रों से (विध्य) ताड़न कर।

'उरुग्राहैर्बाहुवंकैः' इति सायणाभिमतः पाठः। अर्थात् जंघाओं को पकड़ने या जकड़ने वाले और बाहुओं को बांधने वाले प्रयोगों से शत्रुओं को मार।

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥ १३ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनापते ! महानाग के समान महाभयंकर (तव रदिते) तेरे काट लेने पर (एषां बाहवः) इनकी बाहवें (मुह्यन्तु) जकड़ जावें (यद् हृदि) जो हृदय में (चित्ताकूतं च) चेतना और संकल्प विकल्प हैं वे भी मूढ़ हो जांय (एषाम्) इनका (किंचन) कुछ भी (मा उत् शेषि) न बचा रहे ।

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ १४ ॥

भा०—हे (अर्बुदे तव रदिते) भयकारिन् अर्बुदे ! सेनापते ! महानाग के समान तेरे डस लेने पर (हते पुरुषे) शत्रु के मरे मुर्दे पर (उरः) छाती को (प्रतिघ्नानाः) पीटती हुई और (पटूरौ आघ्नानाः) जंघाओं को दुहत्थड़ मार २ कर रोती हुई (अघारिणीः) अपने सम्बन्धी पुरुषों के वियोग से दुःखी होकर (विकेश्यः) बाल बिखारती हुई (रुदत्यः) रोती पीटती हुई शत्रु स्त्रियां विलाप करें ।

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे ।
अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ॥
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ १५ ॥

१४-(द्वि०) 'पटौरा' इति क्वचित् ।

भा०—हे (अर्बुदे) सेनापते ! महानाग के समान भयंकर तू (अमित्रेभ्यः दृशे) शत्रुओं को दिखाने के लिये (रूपका.) केवल रूप-वाली, (श्वन्वती.) कुत्तों को साथ लिये, (अप्सरस.) स्त्रियां अथवा (श्वन्वतीः रूपका. अप्सरस) कुत्ते और गीदड़ के रूप वाली जन्तु सेनाओं को (कुरु) तैयार कर और (दु. निहितैषिणीम्) बुरी, गन्दी २ वस्तुओं को चाहने वाली (अन्त. पात्रे) पात्र के भीतर (रेरिहतीम्) चाटने वाली (रिशाम्) मरखनी गाय या स्त्री को (कुरु) दर्शा। (सर्वाः ता') इन सब चमत्कारकारी मायाओं और (उदारान् च) नाना प्रकार के महायन्त्रों द्वारा किये जाने योग्य उत्पातों को भी (प्रदर्शय) दिखला। जिससे भय करके शत्रु भाग जावें।

खड्डूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम्।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥ १६ ॥
चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्।
स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥ १७ ॥

भा०—(खड्डूरे) आकाश में दूर तक (चंकमाम्) जाने वाली (खर्वि-काम्) खर्व रूप वाली, छोटी सी (खर्ववासिनीम्=खर्ववाशिनीम्) विकृत शब्द करने वाली माया को भी दर्शा। (ये) जो (उदारा') ऊपर चमत्कारकारी पदार्थ (अन्तर्हिताः) भीतर छिपे हुए हों और (ये) जो (गन्धर्वाप्सरसश्च) वे गन्धर्व और अप्सराएं, नवयुवक और रूपवती स्त्रियें और (सर्पा' इतरजना' रक्षांसि) नाग, इतरजन, नीच भयंकर लोग और राक्षस, क्रूर लोग इन सब को समय २ पर दर्शा। और माया से ही (चतुर्दंष्ट्रान्) चार २ दाढ़ों वाले, (श्यावदतः) काले २ दांतों वाले, (कुम्भमुष्कान्) घड़े के समान बड़े २ अण्डकोशों वाले, (असृङ्मुखान्) मुंह में लहू लिये हुए नाना

भयंकर ऐसे रूपों को दिखा (ये) जो (स्वभ्यसाः) स्वयं भयंकर और (उद्भ्यसाः) दूसरों में भय उत्पन्न करने में समर्थ हों ।

उद् वेपय त्वमर्बुदे मित्राणाममूः सिचः ।
जयांश्च जिष्णुश्चा मित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥ १८ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) अर्बुदे ! (त्वम्) तू (अमित्राणां) शत्रुओं की (अमूः) उन दूर खड़ी (सिचः) सेना पंक्तियों को (उद्वेपय) कपा दे । और इस प्रकार स्वयं (जिष्णुः) विजय करने हारा विजिगीषु राजा (अमित्रान्) शत्रुओं को (जयान्) विजय करे और (इन्द्रमेदिनौ) इन्द्र के मित्र अर्बुदि और न्यर्बुदि दोनों सेनापति भी (जयताम्) विजय करें ।

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रान्यर्बुदे ।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥ १९ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) न्यर्बुदे ! (अमित्रः) शत्रु (प्रब्लीनः) चारों तरफ़ से घेरा जाय, (मृदितः) कुचला जाय, (हतः शयाम्) और मारा जाकर भूमि पर लेट जाय । सेना के साथ (अग्निजिह्वाः) आग की जिह्वाएं, लपटें, (धूमशिखाः) धूएं की चोटियां उड़ाती हुई (जयन्तीः यन्तु) विजय करती हुई आगे बढ़ें ।

'अग्निजिह्वा धूमशिखा' ये यन्त्रों द्वारा उत्पादित अग्नियें हैं ।

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥ २० ॥ (२९)

भा०—हे (अर्बुद) सेनापते ! (तया) उस सेना के बल से (प्रणुत्तानां) पराजित हुए (अमित्राणां) शत्रुओं में से (वरंवरं) बड़े २,

१८–' अनुः मुनः ' इति सायणाभिमतः ।
१९–' प्रब्लीनो ' इति सायणाभिमतः ।

श्रेष्ठ २ पुरुष का (शचीपति) शक्तिशाली, (इन्द्र हन्तु) सेनापति मरवा डाले। (अमीषाम्) उन शत्रुओं में से (क चन) कोई भी (मा मोचि) बच न पावे।

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु ।
शौष्कास्यमनु वर्ततामभित्रान् मोत मित्रिणः ॥ २१ ॥

भा०—(हृदयानि) शत्रुओं के हृदय (उत्कसन्तु) उखड़ जाय। (ऊर्ध्वः प्राणः उद् ईषतु) ऊपरी प्राण शरीर को छोड़ कर निकल जाय। (अमित्रान्) शत्रुओं को (शौष्कास्यम् अनु वर्तताम्) गला सूख २ कर रह जाने का कष्ट हो। परन्तु यह कष्ट (मित्रिणः) मित्रों को (मा उत) कभी न हो।

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ २२ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनापते ! (ये च धीराः) जो धीर शूरवीर या बुद्धिमान हैं, (ये च अधीराः) और जो अधीर, भीरु या मूर्ख हैं, (पराञ्चः) भागने वाले और (ये बधिराः च) जो बहरे हैं (तमसा) अन्धकार से जो (तूपराः) बे सींग के, भोले भाले (अथो) और जो (बस्ताभिवासिनः) भेड़ बकरों के समान बलबलाते हैं, (तान् सर्वान्) उन सबको (त्वम् अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) शत्रुओं को दिखाने के लिये तय्यार कर। और (उदारान् च प्रदर्शय) बड़े २ नाशक प्रयोग दिखला।

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम्।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥२३॥

२२-(च०) 'बस्ताभिवासिनः' इति सायणाभिमतः।

भा०—(अर्बुदिः) अर्बुदि और (त्रिसन्धिः च) तीन सन्धियों वाले, त्रिसंधिनामक बाण महास्त्रवाला सेनापति (नः अमित्रान् विविध्यतम्) हमारे शत्रुओं पर ऐसा प्रहार करे कि जिससे हे (वृत्रहन्) घेर लेने वाले शत्रुओं के नाशक ! हे (शचीपते) शक्तिपते ! सेनापते ! (एषां अमित्राणाम्) इन शत्रुओं को हम (सहस्रशः) हज़ारों की संख्या में (हनाम) मारें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥२४॥

भा०—(वनस्पतीन् वानस्पत्यान्) वनस्पतियों, वृक्षों और वृक्ष के बने नाना प्रकार के हथियारों को, (ओषधीः उत वीरुधः) ओषधियों और लताओं को (गन्धर्वाप्सरसः) नव युवकों, स्त्रियों, (सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्) सांपों को या गुप्तचरों, देवों, शासक, राजाओं, (पुण्यजनान्) पुण्यात्मा पुरुष और पालक पितृ लोग (तान् सर्वान्) उन सब को हे (अर्बुदे) सेनापते (त्वम् अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) तू अपने शत्रुओं को दिखलाने के लिये कर और (उदारां च प्रदर्शय) बड़े २ संहारकारी उपायों को भी दिखला।

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥२५॥

भा०—हे (अर्बुदे) अर्बुदे ! सेनानायक ! (वः) तुम्हारे (अमित्रेषु) शत्रुओं में भी (मरुतः) वायुओं के समान वेगवान् भट (आदित्यः) सूर्य के समान प्रतापी पुरुष, (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मज्ञानी, (ईशां चक्रुः) उन पर शासन करते हैं। (इन्द्रः च अग्निः च धाता मित्रः प्रजापतिः) तुम्हारे

शत्रुओं में इन्द्र राजा, अग्नि के समान शत्रुतापकारी धाता, सर्वपालक सब के मित्र और प्रजापति के समान प्रजापालक पुरुष (ईशां चक्रुः) उनका शासन करते हैं (वः अमित्रेषु ऋषयः ईशां चक्रुः) तुम्हारे शत्रुओं पर भी ऋषि अर्थात् मन्त्र द्रष्टा विद्वान् लोग वश करते हैं। (तव दर्शेते) तेरे आक्रमण करने पर भी उनको (समीक्षयन्) भली प्रकार देखता हुआ तू शत्रु का नाश कर।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥ २६ ॥ (२७)

भा०—हे (मित्राः) मित्र राजाओ! और हे (देवजनाः) देवजनो! विद्वान् योद्धा जनो! (यूयम्) तुम सब उक्त शत्रुपक्ष के (तेषां सर्वेषाम्) उन सब बड़े २ ऐश्वर्यशील पुरुषों पर भी (ईशानाः) अपना प्रभुत्व जमाते हुए (उत्तिष्ठत) उठ खड़े होओ, (सं नह्यध्वं) कमर कस के लड़ाई के लिये तैयार हो जाओ। (इमं संग्रामम्) इस संग्राम को (संजित्य) भली प्रकार जीत कर (यथालोकम्) अपने २ स्थान पर (वि तिष्ठध्वम्) स्थिर रहो।

[१०] शत्रुसेना का विजय।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। मन्त्रोक्तन्त्रिषन्धिर्देवता। १ विराट् पथ्याबृहती, २ त्र्यवसाना षट्-पदा त्रिष्टुग्गर्भा तिजगती, ३ विराड् आस्तार पङ्क्तिः, ४ विराट् त्रिष्टुप्, पुरो विराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १२ पञ्चपदा पथ्यापङ्क्तिः, १३ षट्पदा जगती, १६ त्र्यवसाना षट्पदा ककुम्मती अनुष्टुप् त्रिष्टुब्गर्भा शक्वरी, १७ पथ्यापङ्क्तिः, २१ त्रिपदा गायत्री, २२ विराट् पुरस्ताद् बृहती, २५ ककुप्, २६ प्रस्तारपङ्क्तिः, ६-११, १४, १५, १८-२०, २३, २४, २७ अनुष्टुभः। सप्तविंशत्यृचं सूक्तम्॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ १ ॥

भा०—हे (उदाराः) ऊपर से शत्रुओं पर शस्त्रों की वर्षा करने हारे वीर योद्धाओ ! आप लोग (केतुभिः सह) अपने २ चिह्नों से युक्त झण्डों सहित (उत्तिष्ठत) उठ खड़े हो और (सं नह्यध्वम्) युद्ध के लिये कमर कस कर तैयार हो जाओ । हे (सर्पाः) सर्पो ! सर्प के समान विषैले शस्त्रों का प्रयोग करने हारे क्रूर या शत्रु के छिद्रों में प्रवेश करने वाले पुरुषो ! हे (इतरजनाः) इतर लोगो, अन्यों से विशिष्ट पुरुषो ! हे (रक्षांसि) रक्षाकारी लोगो ! तुम सब लोग (अमित्रान् अनु धावत) शत्रुओं पर चढ़ाई करो ।

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ २ ॥

भा०—हे (त्रिसन्धे) त्रिसन्धि नामक सेनापते ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल २ झण्डों सहित (ईशां) ऐश्वर्यसम्पन्न, शक्तिशाली (वः) तुम लोगों के (राज्यम्)[1] राज्य को, सामर्थ्य को (वेद) मैं जानता हूं । (अन्तरिक्षे दिवि पृथिव्यां च) अन्तरिक्ष, द्यौलोक और पृथिवी में भी (ये मानवाः) जो मानव लोग हैं और (दुर्णामानः) जो दुष्टनाम वाले, दुष्ट-स्वभाव वाले पुरुष हैं, वे सब (ते त्रिसन्धेः) तुझ 'त्रिसन्धि' नामक महास्त्रधारी पुरुष के (चेतसि) चित्त या इच्छा में (उपासताम्) रहें । तेरे अनुकूल चलें ।

---

[१०] २-१. 'वेद । राज्यम् ।' इति पदपाठः शं० पा० ॥ 'वेद-राज्यं' इति एकपदं च क्वचित् । 'वेद, राज्यम्' इति सायणः । (पं०) 'त्रिसंधेते' त्रिसंधये, 'त्रिसंधेस्ते' इत्यादि नानापाठाः ।

अयामुखा सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ ३ ॥

भा०— (वज्रेण) वज्र के समान तीक्ष्ण शत्रुनिवारक (त्रिषन्धिना) त्रिसन्धि नामक बाण या अस्त्र के साथ (अयोमुखाः) लोह के समान कठोर मुख वाले (सूचीमुखाः) सुई के समान तीक्ष्ण चोंच वाले, और (अथो) (विकङ्कतीमुखाः) कंघी के समान मुख वाले (क्रव्यादः) कच्चा मांस खाने वाले (वातरंहसः) वायु के समान वेगवान् बाण (अमित्रान्) शत्रुओं को (आ सजन्तु) जा २ कर लगें ।

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु ।
त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥ ४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वन् ! अग्ने ! सेनापते ! हे (आदित्य) सूर्य के समान शत्रुओं का तेज अपने भीतर लेने हारे ! तू (बहु कुणपं) बहुतसी लोथों को (अन्तः धेहि) युद्ध के भीतर गिरा । (त्रिषन्धेः) त्रिषन्धि वज्र या महास्त्र चलाने वाले की (इयं सेना) यह सेना (मे वशे) मेरे वश में (सुहिता अस्तु) उत्तम रीति से व्यवस्थित होकर रहे ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥ ५ ॥

भा०—हे (देवजनाः) देवजन विजिगीषु पुरुषो ! (अर्बुदे) हे और हे अर्बुद ! सेनापते ! (त्वं सेनया सह) तू सेना के साथ उत्तिष्ठ) उठ । (वः) तुम लोगों की (अयं बलिः) यह विशेष बलि, आहुति, युद्ध रूप अग्नि में डाली

३–(प्र०) 'हलीमुखा,' 'सूचीमुखा' इति क्वचित् ।

५–(द्वि० तृ०) 'अयबलिर्व आहुतिस्त्रिषन्धे राहुतिप्रिया' इति सायणाभिमतः ।

जाती है। (त्रिसन्धेः) त्रिसन्धि महास्त्र के (आहुतिः) इस प्रकार की आहुति अति प्रिय होती है।

शितिपदी सं द्यंतु शरव्ये३यं चतुष्पदी ।

कृत्येमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥ ६ ॥

भा०—(शितिपदी) श्वेत चरणवाली (इयम्) यह (शरव्या) शर=बाणों की पंक्ति अर्थात् बाणधारियों की फौज (चतुष्पदी) चार पदों वाली चतुरंगिणी सेना होकर (सं द्यतु) शत्रु का नाश करे। हे (कृत्ये) हिंसाकारिणि सेने! तू (त्रिसन्धेः) त्रिसन्धिनामक अस्त्रधारी की सेना के साथ (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के नाश के लिये (भव) हो।

धूमाक्षी सं पंततु कृधुकर्णी चं क्रोशतु ।

त्रिषंन्धेः सेनंया जिते अंरुणाः सन्तु केतवः ॥ ७ ॥

भा०—शत्रु की सेना (धूमाक्षी) धूएं से पीड़ित चक्षु होकर (संपततु) भाग जाय और वह (कृधुकर्णी च) छोटे कान करके, अर्थात् कान दबा कर (क्रोशतु) चीखे। (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि नाम महास्त्र के बल पर (सेनया) सेना द्वारा (जिते) शत्रु के जीत लेने पर (अरुणाः) लाल (केतवः) झण्डे (सन्तु) खड़े किये जायें।

अवांयन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरंन्ति ।

श्वापंदो मक्षिकाः सं रंभन्तामामादो गृध्राः कुणंपे रदन्ताम् ॥८॥

भा०—(ये) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष और (दिवि) और भी ऊंचे आकाश में (चरन्ति) विचरते हैं वे (वयांसि) पक्षी भी (अव अयन्ताम्) नीचे आ उतरें। (श्वापदः) कुत्ते के पञ्जों वाले मांसाहारी पशु

६–' शितिपदी से द्यतु ' इति सायणाभिमतः ।

७–(तृ०) ' त्रिषंधे सेनया ' इति पठितुम् ।

और (मक्षिका) कथा मांस खाने वाले (गृध्रा) गीध (कुणपे) मुर्दों पर (रदन्ताम्) अपने नखों और चोंचों से प्रहार करें, उनको काट फाड़ें ।

यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥९॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते वेद के विद्वान् ! (याम् संधाम्) जिस सधा, प्रतिज्ञा को (इन्द्रेण ब्रह्मणा च) इन्द्र राजा, और ब्रह्म के ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण के साथ (सम् अधत्थाः) तू सधि कर लेता है (तया) इस (इन्द्रसंधया) राजा के साथ की हुई सन्धि या प्रतिज्ञा के अनुसार (अहम्) मैं (सर्वान् देवान्) सब कारप्रद राजाओं को (इह हुवे) यहां बुलाता हूं और आज्ञा देता हूं कि (इत जयत) इस २ दिशा में विजय करो और (अमुत) अमुक २ दिशाओं में विजय मत करो ।

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः ।
असुरक्षयणं वधं त्रिषंधिं दिव्याश्रयन् ॥ १० ॥ (२८)

भा०—(आङ्गिरस) अंगिरस वेद का वेत्ता (बृहस्पति) बृहस्पति विद्वान् और (ब्रह्मसंशिता ऋषय) ब्रह्म अर्थात् वेद के स्वाध्याय में तीक्ष्ण, तपस्वी, ज्ञाननिष्ठ मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषिगण (असुरक्षयणं) असुरोंके विनाशकारी (त्रिषन्धिम्) त्रिषन्धि नामक (वधम्) हथियार, महास्त्र को (दिवि आश्रयन्) द्यौलोक में स्थापित करते हैं ।

'त्रिषन्धि' नाम का अस्त्र सूर्य की किरणों से या विद्युत् से सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है ।

९—'समधत्था' इति क्वचित्, सायणाभिमतश्च ।

१०—'बृहस्पतिराङ्गिरस इति ह्विटनिकामितः । 'ब्रह्मसंशिता' इति क्वचित् ।

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥ ११ ॥

भा०—(येन) जिस ' त्रिसन्धि ' नामक महास्त्र से (असौ आदित्यः गुप्तः) यह आदित्य भी सुरक्षित है । और (इन्द्रः च) इन्द्र और आदित्य दोनों जिस त्रिसन्धि के तेज से अपने २ स्थान पर (तिष्ठतः) स्थिर हैं । उस (त्रिषन्धिम्) त्रिसन्धि नामक वज्र आयुध को (ओजसे च बलाय च) तेज और बल पराक्रम के कार्य करने के लिये (देवाः अभजन्त) देव, विद्वान् लोग भी उसे अपनाते हैं ।

सर्वांल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया ।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥ १२ ॥

भा०—(आङ्गिरसः बृहस्पतिः) अङ्गिरसवेद, अथर्ववेद का विद्वान् वेदवित् ज्ञानी (यम् वज्रं) जिस महाविद्युत् को (असुरक्षयणम्) असुरों के नाशकारी (वधम्) हथियार के रूप से (असिञ्चत) निर्माण करता है (अनया आहुत्या) इस महान् वज्र की आहुति से (देवाः सर्वान् लोकान् अजयन्) देवगण विद्वान् लोग समस्त लोकों को विजय करते हैं ।

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हन्म्योजसा ॥ १३ ॥

भा०—(आङ्गिरसः बृहस्पतिः) अङ्गिरस वेद का विद्वान् (यम्) जिस (असुरक्षयणं वधं वज्रम् असिञ्चत) असुरों के नाशकारी हथियार के रूप में वज्र, महाविद्युत् को बनाता है (तेन) उससे (अहम्) मैं (अमूम्)

११–(प्र०) ' येनासु ' इति क्वचित् ।

१३–' अमूः सेनाः ' इति सायणाभिमतः ।

उस दूर देश में स्थित (सेनाम्) सेना को भी (नि लिम्पामि) विनाश करूं। हे (बृहस्पते) वेदज्ञ विद्वान् ! मैं उसके (ओजसा) तेज और पराक्रम से (अमित्रान्) शत्रुओं को (हन्मि) विनाश करूं।

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट्कृतम् ।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥ १४ ॥

भा०—(ये देवाः) जो देव, विद्वान्गण, राजगण (वषट्कृतम्) यज्ञ के पवित्र अन्न भाग को (अश्नन्ति) खाते हैं वे (सर्वे) सब (अति आयन्ति) शत्रुओं को अतिक्रमण करके हमारे पास आते हैं ! हे देवगण ! राजा गण (इमां आहुतिम् जुषध्वम्) हमारी इस आहुति को सेवन करो, (इतः जयत) इधर से विजय करो (मा अमुत) उस शत्रुपक्ष की तरफ से मत लड़ो।

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ।
संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥ १५ ॥

भा०—हे (देवाः) देवगण, राजगण ! (सर्वे अति आयन्तु) आप सब लोग शत्रु का पक्ष त्याग कर हमारी ओर आ जाओ। (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि नाम अस्त्र को (आहुतिः प्रिया) यज्ञ की आहुति ही प्रिय है। (यया) जिस संधा=प्रतिज्ञा से (असुरा जिताः) असुरों का विजय किया जाता है उस (महतीं संधाम्) बड़ी भारी संधा=परस्पर की प्रतिज्ञा को (रक्षत) सुरक्षित रखो।

वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु ।
इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शंकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥१६॥

१५-(प्र०) 'अत्यायन्ति' इति सायणाभिमतः । (च०) 'नाशयति' इति क्वचित् ।

भा०—(वायुः) वायु से बना अस्त्र, उससे साधित अस्त्र (अमित्राणाम् इष्वग्राणि) शत्रुओं के बाणों के अग्र-भागों को (आ अञ्चतु) जाकर लगे, जिससे वे लक्ष्य से डिग जांय। (इन्द्रः) इन्द्र विद्युत् से साधित अस्त्र (एषां बाहून्) उन शत्रुओं की बाहुओं को (प्रति भनक्तु) तोड़ डाले। जिससे वे (इषुम्) बाण को (प्रतिधाम्) हम पर फेंकने के लिये धनुषों में लगा भी (मा शकन्) न सकें। (आदित्यः) आदित्य या सूर्य से साधित अस्त्र (एषां अस्त्रम्) इन शत्रुओं के अस्त्र को (विनाशयतु) विनाश करदे और (चन्द्रमाः) चन्द्रमा नामक साधित अस्त्र (अगतस्य) हमारे तक न पहुंचे हुए शत्रु के (पन्थाम्) मार्ग को (युताम्) भ्रष्ट करदे; उनको पथ-भ्रष्ट करदे ।

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥१७॥

अथर्व० ५ । ८ । ६ ॥

भा०—(यदि) यदि शत्रु लोग (देवपुराः) देव, वायु आदि तत्वों के विज्ञाताओं से परिपालित होकर (प्रेयुः) हम पर आ चढ़ें और (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) वेद के विज्ञान के अनुसार ही अपने रक्षा के साधन करते हैं और (यदि) यदि (तनूपानं) अपने शरीर की रक्षा को और (परिपाणं) सब प्रकार की रक्षा को (कृण्वानाः) करते हुए (उपोचिरे) हम तक पहुंचते हैं तो हे राजन्! (तत् सर्वं) उस सब को भी तू (अरसं कृधि) निर्बल कर दे ।

क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् ।
त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥

भा०—हे (त्रिषन्धे) त्रिसन्धे! (मृत्युना च पुरोहितम्) मृत्यु से आगे से घेर कर शत्रु को (क्रव्यादा) मांस-खोर पशुओं से (अनुवर्तयन्)

पीछे से घेर कर (सेनया अहि) सेना से शत्रु पर चढ़ाई कर (अमित्रान्) शत्रुओं तक (प्र पद्यस्व) पहुंच और (जय) उनको जीत ।

त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परि वारय ।

पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

भा०—हे (त्रिषन्धे) त्रिसन्धे ! (त्वम्) तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (तमसा) अन्धकार से (परिवारय) घेर ले (पृषद् आज्य-प्रणुत्तानाम्) महान् पराक्रम से पराजित (अमीषाम्) उन शत्रुओं में (कश्चन मा मोचि) कोई छूट कर भागने न पावे ।

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः ।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥ (२६)

भा०—(शितिपदी) श्वेत पद, रजत्व वाली अर्थात् विद्युत् शक्ति (अमित्राणां) शत्रु के (अमूः) उन दूर स्थित (सिचः) सेना की पंक्तियों की तरफ़ (संपततु) वेग से जाय । हे (न्यर्बुदे) न्यर्बुदे ! (अद्य) शीघ्र ही (अमूः अमित्राणां सेना) उन शत्रुओं की सेनाएं (मुह्यन्तु) विमूढ़ हो जाय ।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् ।

अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) न्यर्बुदे ! (अमित्राः) शत्रु लोग जब (मूढाः) मोह को प्राप्त हो जायं, चेतना रहित हो जाय तब (एषाम्) इनके (वरं-वरम्) श्रेष्ठ २ सेनापतियों को (जहि) मार डाल । और उनको (अनया सेनया) इस सेना से (जहि) विनाश कर ।

२०—'अमूः शुचः' इति सायणाभिमतः, इत्रिच ।

२१—'मूढा अमित्रान् न्यर्बुदे' इति सायणाभिमतः ।

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि ।
ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥ २२ ॥

भा०—(यः च अमित्रः कवची) जो शत्रु कवच पहने है (यः च) और जो (अकवचः) कवच नहीं पहने है और (यः च अज्मनि) जो रथ पर सवार है, वह भी (ज्यापाशैः) डोरियों के फांसों और (कवचपाशैः) कवच के फांसों से और (अज्मना) रथ-पाश से ही (अभिहतः) ताड़ित होकर या बंध कर (शयाम्) धरती पर लेट जाय ।

बिना कवचवालों के लिये ज्यापाश, कवचवालों के लिये कवच पाश और रथियों के लिये रथ पाश या अज्म-पाश का प्रयोग करे ।

ये वर्मिणो ये वर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥ २३ ॥

भा०—(ये वर्मिणः) जो वर्म=कवच पहने हैं और (ये अवर्माणः) जो कवच नहीं पहने हैं और (ये च अमित्राः) जो शत्रु लोग (वर्मिणः) कवच धारण किये हुये हैं (तान् सर्वान्) उन सब (हतान्) मरे हुओं को हे (अर्बुदे) अर्बुदे ! (भूम्याम्) पृथिवी पर (श्वानः) सियार, कुत्ते (अदन्तु) खावें ।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः ।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥ २४ ॥

भा०—(ये रथिनः) जो रथों पर सवार हैं (ये अरथाः) और जो रथ पर सवार नहीं हैं, (असादाः) जो घोड़ों पर सवार नहीं हैं, ये च (सादिनः) और जो घोड़ों पर सवार हैं (तान्) उन (सर्वान्) सब (हतान्) मरे हुओं को (गृध्राः) गीध (श्येनाः) सेन, बाज और (पतत्रिणः) अन्यान्य चील, कौवे आदि पक्षी (अदन्तु) खावें ।

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम् ।
विविद्धा ककजाकृता ॥ २५ ॥

भा०—(वधानाम् समरे) हथियारों की लड़ाई में (अमित्री सेना) शत्रु-सेना (सहस्रकुणपा) हज़ारों लाशों वाली होकर और (विविद्धा) नाना प्रकार से ताड़ित हो होकर (ककजाकृता)[1] दुर्दशा से पीड़ित, बे हाल होकर (शेताम्) पृथ्वी पर बिछ जाय ।

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम् ।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥ २६ ॥

भा०—(य) जो (अमित्र) शत्रु (इमाम्) इस (नः) हमारी (प्रतीचीम्) शत्रु के अभिमुख वेग से जाती (आहुतिम्) आहुति युद्धा-हुति के विरुद्ध (युयुत्सति) लड़ना चाहता है हमारी आज्ञा का विघात करना चाहता है, वह (सुपर्णैः) अति वेगवान् बाणों से (मर्माविधम्) मर्म अर्थात् शरीर के कोमल मर्मस्थानों पर मारा जाकर (रोरुवतम्) रोते, कराहते (दुश्चितम्) दुःख में पड़े, बदहवास (मृदितम्) कुटे पिटे, (शयानम्) भूमि पर पड़े शत्रु को (अदन्तु) कुत्ते, सियार, कौए और चील खावें ।

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् ।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ २७ ॥ (३०)

२५–१ ककजाकृता, कुत्सितजनना विरूपजनना इति सायणः । ककजा इत्येति हिनस्ति । कक गर्वे चापल्ये तृष्णायां च । कक. दिरामा कृता-तया पीडिता हिंसिता इति क्षेमकरणः । 'सहस्रकुणपा सेनाया' इति सायणाभिमत ।

२६–'सुपर्णा अदन्तु' इति ह्विटनिकामित ।

भा०—(यां) जिस आहुति को (देवाः) देव-विद्वान् लोग ज्ञानदण्ड पुरुष (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं और (यस्याः) जिसका (विराधनम्) विनाश, चूक या विपरीतगमन (नास्ति) नहीं होता (तया) उससे और (त्रिषन्धिना वज्रेण) 'त्रिसन्धि' नाम वज्र से (वृत्रहा) शत्रुनाशक (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (हन्तु) अपने शत्रु का नाश करे।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम्, ऋचः अष्टपञ्चाशत्]

इति एकादशं काण्डं समाप्तम्।

पञ्चानुवाकाः सूक्तानि पञ्चैकादशके तथा।
ऋचश्च तत्राधीयन्ते त्रयोदशशतत्रयम्॥

बाण-वस्वङ्क-चन्द्राब्दे वैशाखे चासिते गुरौ।
चतुर्दश्यां पूर्तिमगादेकादशमथर्वणः॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये एकादशं काण्डं समाप्तम्।

॥ ओ३म् ॥

अथ द्वादशं काण्डम्

[१] पृथिवी सूक्त ।

अथर्वा ऋषिः । भूमिर्देवता । १ त्रिष्टुप्, २ भुरिक्, ४-६, १० त्र्यवसाना षट्पदा जगत्यः, ७ प्रस्तार पंक्तिः, ८, ११ त्र्यवसाने षट्पदे विराडष्टी, ९, परानुष्टुप्, १२ त्र्यवसाने शक्वर्यौ । ६, १५ पञ्चपदा शक्वरी, १४ महाबृहती, १६, २१ एकावसाने साम्नीत्रिष्टुभौ, १८ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी, १९ पुरोबृहती, २२ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् अतिजगती, २३ पञ्चपदा विराड् जगती, २४ पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा जगती, २५ सप्तपदा उष्णिग् अनुष्टुब्गर्भा शक्वरी, २६-२८ अनुष्टुभः, ३० विराड् गायत्री ३२ पुरस्ताज्ज्योतिः, ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५३, ५४, ५६, ५९, ६३, अनुष्टुभः, ३४ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुप् बृहतीगर्भातिजगती, ३६ विपरीतपादलक्ष्मा पंक्तिः, ३७ पंचपदा त्र्यवसाना शक्वरी ३८ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ४१ सप्तपदा ककुम्मती शक्वरी, ४२ स्वराडनुष्टुप्, ४३ विराड् आस्तार पंक्तिः ४४, ४५, ४९ जगत्यः, षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भा परा शक्वरी ४७ षट्पदा विराड् अनुष्टुब्गर्भापरातिशक्वरी ४८ पुरोऽनुष्टुप्, ५० अनुष्टुप्, ५१ त्र्यवसाना षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती शक्वरी, ५२ पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती, ५३ पुरोबृहती अनुष्टुप् ५७, ५८ पुरस्ताद्बृहत्यौ, ६१ पुरोबार्हता, ६२ पराविराट्, १, ३, १३, १७, २०, २९, ३१, ४६, ५५, ६०, त्रिष्टुभः । त्रिषष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

१-(सं०) 'भूतस्य भुवनस्य' इति मै० सं० ।

भा०—(बृहत् सत्यं) महान् सत्य, (उग्रं ऋतम्) उग्र बलवान्, भयकारी, 'ऋत'=परम सत्यव्यवस्था, (दीक्षा) कार्य करने का दृढ़ संकल्प, शिक्षा, (तपः) तप, तपस्या (ब्रह्म) ब्रह्म=वेद और अन्न और (यज्ञः) यज्ञ, प्रजापति ये पदार्थ (पृथिवीं धारयन्ति) पृथिवी, समस्त संसार को धारण करते हैं। (सा:) वह पृथिवी (नः) हमारे (भूतस्य) भूत, गुज़रे हुए कामों और (भव्यस्य) आगे होने वाले भविष्यत् के कार्यों की (पत्नी) स्वामिनी, पालक है। वह (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमारे लिये (उरुं लोकं) विशाल स्थान (कृणोतु) प्रदान करे। जिसमें हम खूब रहें और फलें फूलें।

परमात्मा का दिया ज्ञान 'बृहत्सत्य' है और उसकी बनाई व्यवस्थाएं 'उग्र ऋत' हैं। दृढ़ संकल्प दीक्षा है, तपोबल, महाज्ञान और यज्ञ आदि परोपकार के कार्य प्रजापति और अन्न इन से पृथिवी स्थित है, उनके आधार पर प्राणी जीते हैं।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥

भा०—(मानवानाम्) मनुष्यों, मनुष्यों की बस्तियों के (मध्यतः) बीच में (असंबाधम्) बिना एक दूसरे के पीड़ा दिये ही अर्थात् वे आबाद पड़ी हुई (यस्याः) जिस भूमि के (उद्वतः) ऊंचे और (प्रवतः) लम्बे चौड़े या नीचे बहुत से भाग हैं और (बहु) बहुत सा भाग (समम्) समान भी है। (या पृथिवी) जो पृथिवी (नानावीर्या) नाना प्रकार के वीर्यों वाली (ओषधीः) ओषधियों को (बिभर्त्ति) धारण करती, अपने

२-(प्र०) 'असंबाधं मध्यतः' इति बहुत्र। 'बध्यतो मानवेषु' इति पैप्प० सं०। 'असंबाधाया मध्यतो मानवेभ्यो' (द्वि०) 'समं महत्' (तृ०) 'नानारूपाः बिभ्रती' इति मैं० सं०।

हमें पालती पोषती है, वह (नः प्रथताम्) हमारे लिये विशाल रूप में प्राप्त हो, हमारी भूमि सम्पत्ति खूब बढ़े और (नः राध्यताम्) हमें खूब अन्न, फल आदि सम्पत्ति प्राप्त करावे ।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

भा०—(यस्यां) जिस भूमि पर (समुद्र) समुद्र (उत) और (सिन्धुः) बहने वाले नद नाले और समुद्र और नाना प्रकार के (आपः) जल हैं और (यस्याम्) जिस पर (अन्नम्) अन्न, (कृष्टयः) और नाना खेतियां या नाना मनुष्य (संबभूवुः) उत्पन्न होते हैं। (यस्याम्) जिस पर (इदम्) यह (प्राणत्, एजत्) जीता जागता, चलता फिरता संसार (जिन्वति) अन्न जल खा पीकर तृप्त होता और प्राण धारण करता है। (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (पूर्वपेये) पूर्व पुरुषों से प्राप्त करने योग्य उत्तम पद पर (दधातु) स्थापित करे अथवा हमें (पूर्वपेये) प्रथम पान करने योग्य उत्तम जल दुग्ध और ओषधि रस प्रदान करे।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

भा०—(यस्याः पृथिव्याः) जिस पृथिवी के चारों ओर (चतस्रः) चार (प्रदिशः) विशाल दिशाएं दूर तक फैली हैं। (यस्याम्) जिस पर

३–(च०) 'पूर्वपेयम्' इति मै० सं० । (द्वि०) 'यस्यां देवा अमृतमन्वविन्दन्' इति पैप० सं० ।

४–(प्र०) 'यस्या पृथिव्यां' (द्वि०) 'गृष्टयः' (तृ० च०) 'बहुधा प्राणिनि नागनो भूमिर्गोष्वश्वेषु पिन्वे कृणोतु' इति पैप० सं० । (च०) 'गोष्वप्यन्वे' इति क्वचित् ।

(कृष्टयः) मनुष्य लोग कृषि द्वारा (अन्नं संबभूवुः) अन्न उत्पन्न करते हैं अथवा (यस्यां अन्नम्) जिस पर अन्न और नाना (कृष्टयः) खेतियां (सं बभूवुः) उत्पन्न होती हैं । (या) जो (प्राणत् एजत्) प्राण लेने हारे, जीते जागते और चलते फिरते चराचर संसार का (बहुधा) बहुतसे प्रकारों से (बिभर्त्ति) पालन पोषण करती है, (सा) वह हमारी (भूमिः) भूमि (नः) हमें (गोषु) गउओं और (अन्ने अपि) अन्नादि सम्पत्ति में (दधातु) धारण करे । हमें बहुतसे पशु और बहुतसा अन्न दे ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस भूमि पर (पूर्वे) पूर्व काल के (पूर्वजनाः) श्रेष्ठ पुरुष (विचक्रिरे) नाना प्रकार के विक्रम के कार्य किया करते हैं। और (यस्याम्) जिस पर (देवाः) दिव्य शक्तिसम्पन्न विद्वान् दयाशील पराक्रमी पुरुष (असुरान्) शक्तिशाली प्रजापीडक असुरों का (अभि अवर्तयन्) दमन करते हैं और जो पृथिवी (गवाम् अश्वानाम् वयसः च) गौओं घोड़ों और पक्षियों का (वि-स्था) विशेष रूप से या विविध रूप से रहने का स्थान है, वह (पृथिवी) भूमि (नः) हमें (भगं वर्चः) सौभाग्य और तेजः सम्पत्ति को (दधातु) प्रदान करे ।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

५–(प्र०) 'विचक्रिरे,' (द्वि०) 'अभ्यवर्तयन्', (तृ०) 'वयसश्च [?] इति पैप्प० सं० ।

६–(प्र० द्वि०) 'पुरुधुर्धिरण्यवर्णा जगतः प्रतिष्ठा' इति (च०) 'द्रविणे' इति मै० सं० ।

भा०—(विश्वंभरा) समस्त विश्व को भरण पोषण करने वाली यह पृथिवी ही (वसुधानी) समस्त द्रव्यों को धारण करने वाली, सब बहुमूल्य धन सम्पत्तियों का खजाना है । वह सब की (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा, मान और यश को बढ़ाने वाली, (हिरण्य-वक्षा.) सुवर्ण आदि धातुओं को अपनी कोख में धारण करने वाली और (जगत.) समस्त संसार को अपने ऊपर (निवेशनी) बसाती है । वह (भूमिः) सबको उत्पन्न करने वाली भूमि (वैश्वानरम्) समस्त प्राणियों को और उनके हितकारी (अग्निम्) अग्नि और उसके समान तापकारी राजा को (बिभ्रती) धारण करती हुई (इन्द्र ऋषभा) इन्द्र अर्थात् राजाको सर्वश्रेष्ठ रूपसे अपने ऊपर शासक रूपसे धारण करती हुई या (इन्द्र-ऋषभा) इन्द्र अर्थात् सूर्य रूप महावृषभ के समक्ष स्वयं गौ के समान उसके तेज से अपने में नाना चर अचर सृष्टि को उत्पन्न करने हारी यह पृथिवी (न.) हमें (द्रविणे) धन ऐश्वर्य में (दधातु) स्थापित कर और सम्पन्न करे ।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

भा०—(यां) जिस (भूमिम्) धन, अन्नादि के उत्पन्न करने वाली जननी (पृथिवीम्) पृथिवी को (अस्वप्नाः देवाः) स्वाप=निद्रा आलस्य रहित, सदा जागने वाले, सचेत, देव=राजा लोग (अप्रमादम्) विना प्रमाद के (विश्वदानीम्) सदा, समस्त कालों में (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (सा) वह (नः) हमें (प्रियं मधु) प्रिय मधु के समान मधुर, मनोहर अन्न आदि पदार्थ (दुहाम्) उत्पन्न करे (अथो) और (वर्चसा उक्षतु) हमें वर्चस्, तेज और बल से पुष्ट करे।

७-(द्वि०) 'मधु घृतम्' इति मै० सं० ।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्यो/मन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

भा०—(या) जो पृथिवी (अग्रे) सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व (अर्णवे अधि) महान् समुद्र के भीतर (सलिलम् आसीत्) सलिल-जल ही जलस्वरूप थी और (याम्) जिसको (मनीषिणः) बुद्धिमान्, मनन-शील पुरुष (मायाभिः) अपनी नाना बुद्धियों से (अनु अचरन्) भोग रहे हैं। (यस्याः) जिसका (पृथिव्याः) पृथिवी का (हृदयम्) हृदय, परम गतिकारक प्रेरक बल (अमृतम्) अमृतस्वरूप, सदा अमर सूर्य (परमे व्योमन्) परम आकाश में (सत्येन) सत्य, बल रूप तेज से (आवृतम्) ढका है। (सा भूमिः) वह भूमि (नः उत्तमे राष्ट्रे) हमारे उत्तम राष्ट्र में (त्विषि) तेज और (बलम्) बल (दधातु) धारण करावे।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस पृथिवी पर (आपः) आप्तजनों के समान पवित्र जल भी (परिचराः) लोक सेवा में लगे परिचारकों के समान या सर्वत्र भ्रमण-शील संन्यासी परिव्राजकों के समान सर्वत्र जाने वाले, (समानीः) सर्वत्र समान भाव से रहने वाले, एक समान (अहोरात्रे) दिन रात (अप्रमादम्) प्रमाद शून्य होकर (क्षरन्ति) बहते हैं। (सा भूमिः) वह भूमि सबकी उत्पादक जननी (भूरिधारा) बहुतसी जल-धाराओं से युक्त (नः) हमें (पयः दुहाम्) पुष्टिकारक जल और अन्न आदि पदार्थ अधिक मात्रा में उत्पन्न करे (अथो) और (वर्चसा उक्षतु) तेज और धन से हमें सींचे, तेजस्वी बनावे।

याम॒श्विना॒वमि॑मातां॒ विष्णु॒र्यस्यां॑ विचक्र॒मे ।
इन्द्रो॒ यां च॒क्र आ॒त्मने॑नमि॒त्रां शची॒पति॑: ।
सा नो॒ भूमि॒र्वि सृ॑जतां मा॒ता पु॒त्राय॑ मे॒ पय॑: ॥ १० ॥ (१)

भा०—(याम्) जिसको (अश्विनौ) अश्विगण, दिन और रात्रि, सूर्य और चन्द्र दोनों मानो (अमिमातां) मापा करते हैं । और (विष्णु) व्यापक परमात्मा (यस्यां) जिसमें (विचक्रमे) नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करता है । और (शचीपतिः) शची अर्थात् शक्ति और सेना का स्वामी (इन्द्रः) ऐश्वर्य वाला राजा (यां) जिसको (आत्मने) अपने लिये (अनमित्रां) शत्रु से रहित (चक्रे) करता है (सा भूमि॰) वह सबकी जननी भूमि, (माता) माता जिस प्रकार पुत्र के लिये स्वयं प्रेम से दूध पिलाती है उसी प्रकार (मे पुत्राय) मुझ पुत्र के लिये अपना (पय) जल, अन्न रस आदि नाना पुष्टिकारक पदार्थ (वि सृजताम्) प्रदान करे ।

गि॒रय॑स्ते॒ पर्व॑ता हि॒मव॒न्तोर॑ण्यं ते पृथिवि स्यो॒नम॑स्तु ।
ब॒भ्रुं कृ॒ष्णां रोहि॑णीं वि॒श्वरू॑पां ध्रु॒वां भूमिं॑ पृथि॒वीमिन्द्र॑गुप्ताम् ।
अजी॒तोह॑तो॒ अक्ष॒तोध्य॑ष्ठां पृथि॒वीम॒हम् ॥ ११ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! भूमे ! (ते) तेरे (गिरयः) पहाड़ और (हिमवन्तः पर्वताः) हिमों से ढके हुए बड़े २ पर्वत और (ते) तेरा (अरण्यम्) जंगल (स्योनम् अस्तु) सुखकारी हो । (अहम्) मैं

१०—(द्वि०) 'चक्रात्मनेनमित्रान् च्छची' (च०) 'न पय' इति पैप्प० सं० ।

११—(द्वि०) 'स्योनमस्तुनः' (तृ०) 'लाहिनी' (प०) 'अधिष्ठाम्' इति पैप्प० सं० ।

स्वयं (अजीतः) किसी से पराजित न होकर, (अहतः) किसी से भी न मारा जाकर, (अक्षतः) किसी से भी जख्मी न होकर, स्वस्थ रह कर (बभ्रुम्) सदा सब को भरण पोषण करने वाली (कृष्णाम्) किसानों से जोती गयी, (रोहिणीम्) नाना अन्न वनस्पतियों से सम्पन्न, (विश्वरूपाम्) नाना प्रकार के समस्त प्राणियों से सम्पन्न, (इन्द्रगुप्ताम्) राजा से सुरक्षित अथवा इन्द्र, मेघ से सुरक्षित, (ध्रुवाम्) स्थिर (भूमिम्) सर्वोत्पादक (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अधि-अष्ठाम्) अधिष्ठाता होकर शासन करूं, उस पर सुख से रहूं।

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (यत् ते मध्यम्) जो तेरा मध्य भाग है और (यत् च नभ्यम्) जो तेरा नाभि भाग है और (याः ऊर्जः) जो अन्न आदि बलकारक पदार्थ (ते तन्वः) तेरे शरीर से (संबभूवुः) उत्पन्न होते हैं (नः) हमें (तासु धेहि) उन में प्रतिष्ठित कर । (नः) हमें (अभिपवस्व) पवित्र कर । तू (भूमिः) सब की उत्पादक होने के कारण मेरी (माता) माता है । और (अहम्) मैं (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवी का पुत्र हूं । (पर्जन्यः) समस्त रसों का प्रदान करने वाला 'पर्जन्य' मेघ (पिता) सब का पालक 'पिता' है (सः उ) वह ही (नः) हमें (पिपर्तु) पालन करे ।

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

१२–' यच्चनाया ' इति पैप्प० सं० ।

१३–(द्वि०) ' विश्वकर्मन ', (च०) ' शुक्राहुत्या ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यस्याम्) जिस (भूम्यां) भूमि पर (विश्वकर्माणः) विश्वकर्मा, शिल्पी लोग (वेदिं परिगृह्णन्ति) वेदि बनाते हैं और वे ही विद्वान् शिल्पी लोग (यस्याः) जिस पर (यज्ञं तन्वते) उपकारकारी यज्ञ रचते हैं। और (यस्याम् पृथिव्याम्) जिस पृथ्वी पर (आहुत्या) आहुति के (पुरस्तात्) पूर्व ही (ऊर्ध्वाः) ऊंचे २ (शुक्राः) शुक्र, तेजोमय, दीप्तिमान् (स्वरवः) स्वरु यज्ञस्तूप रचे जाते हैं (सा भूमिः) वह भूमि (वर्धमाना) स्वयं बढ़ती हुई (नः वर्धयत्) हमें बढ़ावे।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (नः) हम मे (यः) जो (द्वेषत्) द्वेष करता है, प्रेम से बर्ताव नहीं करता है और (यः पृतन्यात्) जो हम पर सेना से चढ़ाई करता है और (यः) जो हमें (मनसा) अपने मन से या विचारों से और (वधेन) हथियारों से (अभिदासत्) हमारा नाश करता है, हे (भूमे) भूमे (पूर्वकृत्वरि) पूर्व से ही शत्रुओं के नाश करने योग्य बनाई हुई भूमि तू (तम्) उस पुरुष को (नः) हमारे लिये (रन्धय) विनाश कर, हमारे वशीभूत कर।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (त्वत् जाताः) तुझ से उत्पन्न हुए (मर्त्याः) मरनेहारे प्राणी (त्वयि चरन्ति) तुझ पर ही विचरते हैं।

१४-(तृ०) 'पूर्वकृत्वने' (द्वि०) योऽभिमन्यातिन्द्रमाधनेन [?] इति पैप्प० सं०।

१५-(तृ०) 'द्विपदश्चतुष्पदः' इति पैप्प० सं०।

(त्वं) तू ही (द्विपदः चतुष्पदः) दो पाये और चौपायों को (बिभर्षि) पालती पोषती है । हे पृथिवि ! (इमे पञ्च मानवाः) ये पांचों प्रकार के मानव, मनुष्य लोग भी (तव) तेरे ही हैं (येभ्यः) जिनके लिये (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य अपनी (रश्मिभिः) किरणों से (अमृतं ज्योतिः) सदा अमृतमय, अविनाशी, अक्षय ज्योति=प्रकाश को (आतनोति) फैलाता है ।

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समुग्रा ।
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

भा०—(ताः) वे (समग्राः) समस्त (प्रजाः) प्रजाएं (नः) हमें (सं दुह्रताम्) सब प्रकार से पूर्ण करें, अपने २ परिश्रमों और शिल्पों द्वारा बढ़ावें । हे पृथिवि ! तू (मह्यम्) मुझे (वाचः मधु) वाणी की मधुरता (धेहि) प्रदान कर । अथवा (ताः प्रजाः) वे प्रजाएं (नः समग्राः वाचः सं दुह्रताम्) हम से समस्त उत्तम वाणियें परस्पर कहें (पृथिवि मह्यं मधु देहि) और हे पृथिवि ! मुझे तू मधु=अन्न प्रदान कर ।

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

भा०—(विश्वस्वं) हमारी सर्वस्व या समस्त धनों को धारण और उत्पन्न करने वाली (ओषधीनां मातरम्) ओषधियों को उत्पन्न करने वाली, उनकी माता, (ध्रुवाम्) स्थिर (धर्मणा धृताम्) परस्पर के सत्य और धर्म, प्रेम और परोपकार द्वारा परिपालित, (शिवाम्) कल्याणकारिणी, (स्योनाम्)

१६–' तेनः ' इति हिटनिकामितः ।

सुखकारिणी, (भूमिम्) सब के उत्पन्न करने हारी (पृथिवीम्) पृथिवी में हम (विश्वहा) सदा और सब प्रदेशों में सब प्रकारों से (अनुचरेम) विचरण करें।

म॒हत् स॒धस्थं॑ मह॒ती ब॑भूविथ म॒हान् वेग॑ ए॒जथु॑र्वे॒पथु॑ष्टे।
म॒हांस्त्वेन्द्रो॑ रक्ष॒त्यप्र॑मादम्। सा नो॑ भूमे॒ प्र रो॑चय
हिर॑ण्यस्येव सं॒दृशि॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ १८ ॥

भा०—हे पृथिवि ! (महत् सधस्थम्) एकत्र होने के लिये तू एक बड़ा भारी भवन है। तू (महती बभूविथ) तू बहुत ही बड़ी है। (ते महान् वेगः) तेरा वेग भी बहुत बड़ा है। (ते एजथुः महान्) तेरा कम्पन भी बड़ा भारी होता है (ते वेपथुः महान्) तेरा संचलन भी बहुत बड़ा है। (महान् इन्द्रः) बड़ा भारी राजाधिराज, ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्वा) तेरी (अप्रमादम्) बिना प्रमाद के (रक्षति) रक्षा करता है। हे (भूमे) सर्वोत्पादक पृथिवि ! (सा) वह तू (नः) हमारे लिये (हिरण्यस्य संदृशि) सुवर्ण के रूप में (प्ररोचय) भली प्रतीत हो अर्थात् हमें तू सोने की सी बनी प्रतीत हो। (नः) हमसे (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) द्वेष न करे।

अ॒ग्निर्भूम्या॒मोष॑धीष्व॒ग्निमापो॑ बिभ्रत्य॒ग्निरश्म॑सु।
अ॒ग्निर॒न्तः पुरु॑षेषु गोष्वश्वे॑ष्व॒ग्नयः॑ ॥ १९ ॥

भा०—(अग्निः भूम्याम्) अग्नि भूमि के ऊपर अधिष्ठाता रूप से विद्यमान है। (ओषधीषु) ओषधियों में (आपः) जल (अग्निम्) अग्नि को (बिभ्रति) धारण करते हैं। (अग्निः अश्मसु) अग्नि पत्थरों के भीतर भी विद्यमान है। (पुरुषेषु अन्तः अग्निः) पुरुषों के भीतर अग्नि है। (गोषु अश्वेषु अग्नयः) नाना रूप की अग्नि गौओं और घोड़ों तक में विद्य-

१८-(तृ०) 'रक्षत्रि वीर्येण'

मान है। अर्थात् भूमि की अग्नि ही भूमि से उत्पन्न सब पदार्थों में भी जीवन रूप में विद्यमान है।

अ॒ग्निर्दि॒व आ त॑पत्य॒ग्नेर्दे॒वस्यो॒र्व॑१॒॑न्तरि॑क्षम्।
अ॒ग्निं मर्ता॑स इन्धते हव्य॒वाहं॑ घृत॒प्रिय॑म् ॥ २० ॥ (२)

भा०—(दिवः) द्यौ, आकाश से भी (अग्निः) अग्नि-रूप सूर्य (आतपति) तपता है। (अग्नेः देवस्य) देव, प्रकाशमान अग्नि के वश में ही (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष है (मर्त्तासः) मर्त्य, मनुष्य भी (हव्यवाहम्) हव्य चरु को सर्वत्र दिव्य पदार्थों तक पहुंचा देने वाले और (घृतप्रियम्) घृत आदि ज्वलनशील पदार्थों के प्रिय (अग्निम्) अग्नि को ही यज्ञों में (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं।

अ॒ग्निवा॑साः पृथि॒व्य॑सित॒ज्ञूस्त्विषी॑मन्तं॒ संशि॑तं मा कृणोतु ॥२१॥

भा०—उक्त मन्त्र का अभिप्राय यह है कि (अग्निवासाः) अग्नि से बाहर भीतर और सर्वत्र आच्छादित (पृथिवी) पृथिवी (असितज्ञूः) इस बन्धनरहित, व्यापक परमेश्वर रूप अग्नि को जतलाने वाली है। वह (मा) मुझको (त्विषीमन्तम्) दीप्तिमान् (संशितम्) अति तीक्ष्ण तेजस्वी (कृणोतु) करे।

'प्राचीदिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिता'।

भूम्यां॑ दे॒वेभ्यो॑ ददति य॒ज्ञं ह॒व्यमरं॑कृतम्।
भूम्यां॑ मनु॒ष्या॑ जीवन्ति स्व॒धया॒न्नेन॒ मर्त्याः॑।
सा नो॒ भूमिः॑ प्रा॒णमायु॑र्दधातु ज॒रद॑ष्टिं मा पृथि॒वी कृ॑णोतु ॥२२॥

२०–' त्रिआतपति ' इति पैप्प० सं०।
२१–(द्वि०) ' त्विषीमन्त ' इति पैप्प० सं०।
२२–' जुहोति यज्ञं ' इति पैप्प० सं०।

भा०—और भी भूमि का माहात्म्य यह है कि मनुष्य (भूम्याम्) भूमि पर (अरंकृतम्) सुन्दर सुशोभित (हव्यम्) हव्य, चरु और (यज्ञं) पूजा आदि सत्कार (देवेभ्य) देव, दिव्य पदार्थों और प्रकाशमान, देव सदृश विद्वानों को ददति) प्रदान करते हैं । और सब (मर्त्या) मरणधर्मा (मनुष्या) मनुष्य लोग (भूम्याम्) भूमि पर ही (स्वधया) स्वधारूप (अन्नेन) अन्न से (मर्त्या.) मरणधर्मा (जीवन्ति) प्राण धारण करते हैं । (सा) वह (भूमि.) भूमि (न·) हमें (प्राणम् आयु) प्राण और आयु (दधातु) प्रदान करे । (मा) मुझे (पृथिवी) पृथिवी (जरदष्टिं) वृद्धावस्था तक दीर्घजीवी (कृणोतु) करे ।

यस्ते गन्ध पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमाप. ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (ते) तुझ में (य) जो (गन्ध.) (संबभूव) सर्वत्र विशेष गुणरूप से विद्यमान है (यम्) जिसको प्रत्यक्षरूप से (ओषधयः) ओषधियां और (यम्) जिसको (आप) नाना प्रकार के जल और द्रव भी बिभ्रति) धारण करते हैं (यम्) जिसको (गन्धर्वा·) पुरुष और (अप्सरस च) स्त्रियें (भेजिरे) सेवन करती हैं (तेन) उस गन्ध से (मा) मुझ को (सुरभिन्) सुगन्धित (कृणु) कर और (न.) हमें (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) द्वेष न करे ।

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २४ ॥

२३–(तृ०) भेजिरे यन्तेगानध्मईति (च०) तेनास्मानसुरभिः कृणु ।
इति पैप्प० सं० ।

२४–' तेनास्मान सुरभि, कृणु ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध (पुष्करम्) नील कमल में (आविवेश) प्रविष्ट है, (यं) जिस (गन्धम्) गन्ध को (सूर्यायाः विवाहे) सूर्या अर्थात् वर चाहनी कन्या के विवाह में या प्रातः उषा के प्राप्त होने के अवसर पर (अमर्त्याः) अमरण-धर्मा, विद्वान् पुरुष या वायु आदि दिव्य पदार्थ भी (अग्रे) सबसे पूर्व (संजभ्रुः) धारण करते हैं, हे (पृथिवि) पृथिवि ! (तेन) उससे (मा) मुझे भी (सुरभिम्) सुगन्धित (कृणु) कर और (नः) हम से (कश्चन) कोई (मा द्विक्षत) द्वेष न करे।

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

भा०—हे (भूमे) सबके उत्पत्ति स्थान ! पृथिवि ! (ते यः गन्धः) तेरा जो गन्ध (पुरुषेषु स्त्रीषु) पुरुषों और स्त्रियों में विद्यमान है। और (पुंसु भगः रुचिः) जो तेरा गन्ध पुरुषों में, नरों में सौभाग्यमय कान्ति रूप से विद्यमान है। (यः अश्वेषु) जो अश्वों में, (वीरेषु) वीर्यवान् पुरुषों में (यः) जो (मृगेषु) मृगों में (उत) और जो (हस्तिषु) हाथियों में है। (यद् वर्चः) जो वर्चस, कान्तिमय भाग (कन्यायाम्) कन्या कुमारी में विद्यमान है (तेन) उस गन्ध और कान्ति से (अस्मान् अपि) हमें भी (सं सृज) युक्त कर। (नः कश्चन मा द्विक्षत) हमसे कोई द्वेष न करे।

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

२५–'पुंसुभगो रुचिर्योकृषु ! योगोऽश्वेषु योमृगेषूत हस्तिषु यद् भूमेऽस्संश्चन' इति पैप्प० सं० ।

२६–(प्र० द्वि०) 'पास्वर्ण भूमिस्तृता धृता' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(शिला) शिला आदि पदार्थ यह (भूमिः) भूमि ही है । (अश्मा पांसुः) पत्थर और धूलि यह भी (सा भूमि) वह भूमि ही है । ये सब पदार्थ उस भूमि ने (संधृता) भली प्रकार धारण किये हैं इसीसे (धृता) वे यहां स्थिरता से पड़े हैं । (तस्यै) उस (हिरण्य-वक्षसे पृथिव्यै) सुवर्णादि धातुओं को अपने गर्भ धारण में करने वाली पृथिवी को (नमः अकरम्) हम नमस्कार करते हैं । उसे प्रेम और आदर की दृष्टि से देखते हैं । शिला, पत्थरों और धूलि तक में स्वर्ण है और वह भी पृथ्वी ही है अतः पृथ्वी की समस्त छाती स्वर्ण-मय है । उस सबको हम आदर और प्रेम और विज्ञान की दृष्टि से देखें ।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि ॥ २७ ॥

भा०—(यस्याम्) जिसमें (वृक्षाः) वृक्ष और (वानस्पत्याः) नाना प्रकार के वनस्पति (विश्वहा) सहस्रों प्रकार से सदा (ध्रुवाः तिष्ठन्ति) स्थिर, नित्य रूप से विराजते हैं उस (विश्वधायसं पृथिवीम्) समस्त पदार्थों और समस्त जगत् को धारण करने हारी (धृताम्) स्थिर पृथिवी की (अच्छा वदामसि) हम स्तुति करते हैं ।

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥

भा०—हम लोग (उदीराणाः) चलते हुए (उत आसीनाः) और बैठे हुए, (तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः) खड़े हुए और चलते फिरते (दक्षिण

२७-(च०) 'भूम्यैहिरण्यवक्षसि धृतमच्छा' इति पैप्प० सं० ।

२८-(प्र०) 'विमर्वाय' (द्वि०) 'वावृधानः' (तृ०) 'पुष्टिम्' (च०) 'भौमे' इति पैप्प० सं० ।

सव्याभ्यां पद्भ्यां) दायें और वायें पैरों में (भूम्याम्) भूमि पर (मा व्यथिष्महि) कभी पीड़ा अनुभव न करें, पैरों में कभी ठोकर आदि न खावें।

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥

भा०—मैं (विमृग्वरीम्) नाना प्रकार से पवित्र करने वाली (क्षमाम्) सब कुछ सहन करने वाली, (ब्रह्मणा वावृधानाम्) ब्रह्म अर्थात् वेद ज्ञान, उस के जानने वाले ब्राह्मणों और विद्वानों, ब्रह्म=अन्न से (वावृधानां) निरन्तर बढ़ने हारी (भूमिम्) सर्वोत्पादक, सर्वाश्रय (पृथिवीम्) पृथिवी की (आवदामि) सर्वत्र स्तुति करता हूं । (ऊर्जम्) बलकारी, (पुष्टम्) पुष्टि-कारी (अन्नभागम्) अन्न के अंश को और (घृतम्) घृत, घी दूध आदि पदार्थों को (बिभ्रतीम्) धारण करने वाली (त्वा) तुझ पर हे (भूमे) भूमे ! (अभि निषीदेम) हम सर्वत्र निवास करें ।

शुद्धा न आपस्तन्वे/क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥ (३)

भा०—(नः तन्वे) हमारे शरीर के लिये (शुद्धाः आपः क्षरन्तु) शुद्ध जल बहें । (यः) जो (नः) हमारा (सेदुः) कष्ट है (तं) उसको (अप्रिये) अपने प्रिय न लगने वाले पर (नि दध्मः) डालें । हे (पृथिवि) पृथिवि ! (मा) मैं अपने आपको (पवित्रेण) पवित्र, शुद्ध आचरण से (उत्पुनामि) पवित्र करूं ।

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

३०—' शुद्धा मा आपः ' इति पैप्प० सं ।

३१—' दश भूम्यधराग् दश पश्चा, ' ' शिवास्ता ' इति मै० सं० । (द्वि०) ' मोभेऽघ ' (च०) ' शुश्रियाणे ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (भूमे) पृथिवि ! (याः) जो तेरे (प्रदिशः) प्रदेश (प्राचीः) प्राची, पूर्व दिशा में विद्यमान हैं (याः उदीचीः) जो प्रदेश उत्तर दिशा में, (याः ते अधरात्) जो प्रदेश तेरे नीचे हैं और (याः च पश्चात्) जो प्रदेश पीछे हैं (ताः) वे सब प्रदेश (चरते मह्यं) विचरण करनेहारे मुझे (स्योनाः भवन्तु) सुखकारी हों। मैं (भुवने) इस लोक में (शिश्रियाणः) समस्त पदार्थों का सेवन करता हुआ भी (मा निपप्तम्) कभी नीचे न गिरूं।

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तराद॑धरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥

भा०—हे (भूमे) भूमे ! तू (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से, (पुरस्तात्) आगे से भी (मा मा नुदिष्ठाः) मत प्रहार कर। (उत्तरात्) ऊपर से और (अधरात्) नीचे से भी (मा) प्रहार मत कर। (नः) हमारे लिये तू (स्वस्ति भव) कल्याणकारी हो। हमें (परिपन्थिनः) बटमार, डाकू और चोर लोग (मा विदन्) न पकड़ पावें। (वरीयः वधम् यावय) बड़े हत्याकारी हथियारों को भी तू दूर करे।

यावत् तेभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

भा०—हे (भूमे) पृथिवि ! (मेदिना) मित्रभूत (सूर्येण) सूर्य की सहायता से (ते) तुझे (यावत्) जितना भी, जहां तक भी (अभि विपश्यामि) साक्षात् देखूं (तावत्) उतना, वहां तक भी (मे चक्षुः) मेरी

३२–'मामापश्चा,' (तृ०) 'भूमे मे भूः' इति पैप्प० सं०।

३३–(द्वि०) 'भौमे,' इति पैप्प० सं०।

आंखें (उत्तराम्-उत्तराम् समाम्) ज्यों २ वर्ष गुज़रते जांय, त्यों २ (मा मेष्ट) कभी विनष्ट न हों । मैं तेरे दृश्य बराबर देखता रहूं और मेरी चक्षु की शक्ति बढ़े ।

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

भा०—हे भूमे ! (यत्) जब मैं (शयानः) सोता हुआ (दक्षिणं सव्यम् अभि, सव्यं दक्षिणम् अभि) दायें से बायें ओर बायें से दायें (पार्श्वम्) पासे को (परि आवर्ते) करवट लूं और (यत्) जब हम (त्वा) तुझको अपने नीचे किये हुये (उत्तानाः) स्वयं उत्तान हुए (पृष्टीभिः) पीठ के मोहरों के बल पर, हे (सर्वस्य प्रतिशीवरि) सबको अपने ऊपर सुलाने वाली माता के समान जननी ! (नः) हमें तू (मा हिंसीः) कभी मत मार ।

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

भा०—हे (भूमे) समस्त पदार्थों की उत्पत्ति स्थान रूप भूमे ! (ते) तुझ से जो ओषधि आदि पदार्थ मैं (विखनामि) नाना प्रकार से खोद लूं (तत् अपि) वह भी (क्षिप्रम्) शीघ्र ही (रोहतु) पुनः उग आवे । हे (विमृग्वरि) विशेष रूप से शुद्ध पवित्र करनेहारी ! मैं (ते) तेरे (मर्म) मर्म स्थानों को और (हृदयम्) हृदय को (मा अर्पिपम्) कभी

३४–(द्वि०) 'सव्यमपि' (च०) 'पृष्ठा यद् प्रशयेमहे' (द्वि०) 'नौमि' (पं०) 'नौमे' इति पैप्प० सं० ।

३५–(प्र०) 'नौमि' (द्वि०) 'ओषं तदपि' (च०) 'हृदयमर्पिम्' इति पैप्प० सं० ।

पीड़ित और विनाश न करूं। ओषधि आदि खोदते समय सदा ध्यान रक्खे कि पृथ्वी के मर्म अर्थात् जिनमें पृथ्वी के ओषधि पोषक अंश हों और हृदय जिनमें उनके रसप्रद अंश हों उनको नष्ट न करे। नहीं तो भूमि अनुपजाऊ और ऊसर हो जाती है।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

भा०—हे (भूमे) भूमे ! (ते) तेरे निमित्त या तेरे द्वारा ही यह (ग्रीष्म) ग्रीष्म ऋतु (वर्षाणि) वर्षाएं, (शरद् हेमन्त शिशिर वसन्त) शरत्, हेमन्त शिशिर और वसन्त (ऋतव विहिता) ये ऋतुएं परमात्मा ने बनाई हैं। इसी प्रकार (ते हायनी) तेरे द्वारा या तेरे निमित्त वर्ष और (अहोरात्र) दिन और रात बने हैं। वे सब (नः दुहाताम्) हमें अभिलषित सुख, और सुखकारी पदार्थ अन्न फल आदि प्रदान करें, और हमें पूर्ण करें।

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः ।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

भा०—(सर्पं) पेट के बल पर सरकने वाले कुटिल सांप से जिस प्रकार सब भय खाते हैं उसी प्रकार (या सर्पं अप विजमाना) जो सर्प के समान कुटिल पुरुष से भय खाती हुई (विमृग्वरी) शुद्ध पवित्र करनेहारी

३६–'हायना अहो' इति ह्विट्निकामितः । 'हायनाहोरात्र' इति पैप्प० सं० ।
३७–(प्र०) 'या आप सर्प' इति क्वचित् 'सूक्तामित' । (प्र०) 'या आप सर्पं पतनाना विमृग्वरी,' 'अग्नयोत' (तृ०) 'ददति' इति पैप्प० सं० ।

पृथिवी है। (यस्याम्) जिसमें (अग्नयः) वे अग्नियें, ज्ञानज्योति से चमकने वाले, तेजस्वी विद्वान् (ये अप्सु अन्तः) जो जलों के भीतर रहने वाले औवानलों के समान (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर विद्यमान हैं। वह पृथ्वी (देवपीयून् दस्यून्) देव, विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों के नाशक दस्यु, चोर डाकू पुरुषों को (परा ददती) दूर करती, उनका परित्याग करती हुई (इन्द्रं) सूर्य के समान ऐश्वर्य-शील राजा को अपना पति रूप से वरण करती है और (वृत्रम्) मेघ के समान केवल माया से आवरण करने वाले दुष्ट पुरुष को अपना पति नहीं करती। वह अपने आपको (शक्राय) शक्ति-शाली (वृष्णे) वीर्यवान् (वृषभाय) नाना प्रकार से वीर्य सेचन में समर्थ, बैल के निमित्त गाय जैसे अपने को समर्पित करती है इसी प्रकार समस्त वर्षा जलों के वर्षक सूर्य या मेघ एवं प्रजा के प्रति सुखों के वर्षक राजा के लिये अपने को (दध्रे) धारण करती है, अपने को उसके प्रति सौंप देती है।

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस पृथिवी पर यज्ञ में (सदोहविर्धाने) 'सद' नामक मण्डप और 'हविर्धान' नाम सोम शकट या सोमपात्र बनाये जाते हैं और (यस्यां) जिसमें (यूपः निमीयते) यज्ञ का स्तम्भ 'यूप' गाड़ा जाता है और (यस्याम्) जिसमें (यजुर्विदः) यजुर्वेद के यज्ञ वेत्ता (ब्रह्माणः) ब्रह्मवेत्ता, वेदज्ञानी विद्वान् (ऋग्भिः) ऋचाओं से और (साम्ना) साम वेद से (अर्चन्ति) इष्टदेव की स्तुति करते हैं। और (यस्याम्) जिस पृथ्वी पर (ऋत्विजः) ऋतु-अनुकूल यज्ञ करनेहारे

३८–(पं०) युज्यन्तेस्या ऋत्विजः [?] इति पैप्प० सं०।

ऋत्विग् लोग (इन्द्राय) इन्द्र, राजा, यजमान एवं आत्मा को (सोमम् पातवे) सोम पान कराने के लिये (युज्यन्ते) एकत्र होते और समाहित होकर आध्यात्म यज्ञ करते हैं। 'युज्यन्ते' इसमें यज्ञ की अध्यात्म व्याख्या पर भी प्रकाश पड़ता है।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्त्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

भा०—(यस्यां) जिस भूमि पर (पूर्वे) पूर्व कल्पों के (भूतकृतः) प्राणियों के उत्पादक अथवा भूत—समस्त तत्वों के साक्षात् कार करने वाले (सप्त) सात (वेधसः) विधाता, सर्वोत्पादक (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण (यज्ञेन) यज्ञ (सत्त्रेण) सत्र और (तपसा) तप के साथ सम्पन्न होकर (गाः उदानृचुः) वेद-वाणियों को उच्चारण करते रहे। 'Sang out the Kine' or 'Sang forth the cows' 'गायों का गान करते रहे थे' ह्विटनिकृत और ग्रीफिथकृत अर्थ उपहास योग्य हैं।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥ (४)

भा०—(यत्) जिस (धनम्) धन की हम (कामयामहे) कामना करें (सा) वह पूज्य, सर्वोत्पादक (भूमिः) भूमि (नः) हमें (आदिशतु) प्रदान करे। (भगः) ऐश्वर्यवान्, परमात्मा हमें (अनुप्रयुङ्क्ताम्) सदा सहायता करे और (इन्द्रः पुरोगवः एतु) इन्द्र, परमेश्वर ही हमारे सब कार्यों में अग्रगामी होकर रहे। अथवा, (भगः अनुप्रयुङ्क्ताम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष हमारी सहायता करे, और (इन्द्रः पुरोगवः एतु) इन्द्र राजा हमारे सब कार्यों में अग्रसर हो।

३९–(द्वि०) 'उदानृचुः' इति पैप्प० सं०।

४०–(च०) 'इन्द्रो यातु' इति पैप्प० सं०।

यस्यां गार्यन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यै॑लवाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सुपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

भा०—(यस्यां) जिस (भूम्यां) भूमि पर (मर्त्याः) मरण-धर्मा मनुष्य (व्यैलवाः) नाना प्रकार के शब्द करते हुए (गायन्ति) गाते (नृत्यन्ति) नाचते और (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और (यस्यां) जिस पर (आक्रन्दः) अति शब्द-कारी (दुन्दुभिः वदति) नगादा बजता है । (सा भूमिः) वह भूमि (नः सपत्नान्) हमारे शत्रुओं को (प्र णुद-ताम्) परे करे और (मा पृथिवी) मुझ को पृथिवी (असपत्नं) शत्रु रहित (कृणोतु) करे ।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस पर (अन्नं) अन्न, खाने योग्य पदार्थ (व्रीहि-यवौ) धान्य और जौ जाति के अन्न नाना प्रकार से उत्पन्न होते हैं । और (यस्याः) जिससे (इमाः) ये (पञ्च) पांच प्रकार के (कृष्टयः) मनुष्य, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और पांचवें निषाद=जंगली लोग उत्पन्न होते हैं । उस (पर्जन्यपत्न्यै) 'पर्जन्य,' प्रजाओं के नेता, राजा और प्रजाओं का जल रस देने वाले मेघ की दोनों पत्नी और (वर्षमेदसे) वर्षा के जल से परिपूर्ण इस (भूम्यै) भूमि को (नमः अस्तु) सदा हमारा नमस्कार हो । अथवा मेघ की पत्नी स्वरूप भूमि जिसमें वर्षा का जल खूब पड़े उसमें (नमः अस्तु) अन्न भी खूब हो ।

४१–(द्वि०) [illegible] (तृ०) 'युध्यन्तेऽस्यां' (पं०, ष०) सा नो भूमिः [illegible] । [illegible] कृणोतु इति पैप्प० सं० ।

४२–(द्वि०) 'यस्याः पञ्च कृष्टयः' (च०) 'वर्षमेदसे' इति पैप्प० सं० ।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्यां विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

भा०—(यस्याः) जिसकी पीठ पर (देवकृता:) देव-शिल्पी या राजाओं के बनवाए (पुरः) बड़े नगर और कोट खड़े हैं । और (यस्याः क्षेत्रे) जिसके खेत में लोग (विकुर्वते) परस्पर एक दूसरे से बिगड़ कर नाना युद्ध करते हैं । (विश्वगर्भाम्) समस्त विश्व को अपने गर्भ में धारण करने वाली इस (पृथिवीम्) पृथ्वी को (नः) हमारे लिये (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमात्मा और (आशाम् आशाम्) प्रत्येक दिशा में (रण्याम्) रमण करने योग्य, सुन्दर विहार योग्य (कृणोतु) बनावे ।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

भा०—(गुहा) भीतरी गुहाओं में, छिपी खानों के भीतर (बहुधा) नाना बहुत प्रकार के (निधिम्) बहुमूल्य पदार्थों के खजाने को (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) पृथिवी (मे) मुझे (मणिं) मणि वैदूर्य, वैक्रान्त आदि और (हिरण्यम्) सुवर्ण आदि बहु मूल्य धातु रूप (वसु) धन को (ददातु) प्रदान करे । वह (वसुदा) धनों को देने वाली (देवी) देवी-पृथिवी (वसूनि) नाना प्रकार के धन ऐश्वर्यों को (रासमाना) प्रदान करती हुई (सुमनस्यमाना) शुभ चित्त होकर (नः) हमें (दधातु) पुष्ट करे ।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

४४–(द्वि०) 'दधातु नः' इति पैप० सं० ।

४५–(प्र०) 'जनं यं बिभर्ति बहुधाविवाचम्' 'अविस्फुरन्ती' इति पैप० सं० ।

भा०—(विवाचसम्) विविध वाणियें या विविध भाषाएं बोलने वाले (नानाधर्माणम्) नाना धर्म के पालक (जनम्) जन, जन्तु समूह को (यथौकसम्) उनके देश या निवासस्थान के अनुसार उनको (बहुधा) बहुत से भिन्न २ प्रकारों से (बिभ्रती) पालन करती हुई (पृथिवी) पृथिवी (धेनुः इव) गौ के समान (ध्रुवा) स्थिर, निश्चल (अनपस्फुरन्ती) बिना छट-पटाहट किये, सुख से (मे) मुझे (द्रविणस्य) धन ऐश्वर्य की (सहस्रं) हजारों (धाराः) धाराएं (दुहाम्) दुहे, प्रदान करे ।

यस्ते॑ स॒र्पो वृश्चि॑कस्तृ॒ष्टद॑ंश्मा हेम॒न्तज॑ब्धो भृम॒लो गुहा॒ शये॑ ।
क्रिमि॒र्जिन्व॑त् पृथिवि॒ यद्य॒देज॑ति प्रा॒वृषि॒ तन्नः॒ सर्प॒न्मोप॑ सृप॒द्
यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४६ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (यः) जो (ते) तेरा (वृश्चिकः) बिच्छू (सर्पः) सांप जाति के जीव (तृष्टदंश्मा) तीखे काटने वाले, और जो (हेमन्तजब्धः) हेमन्त काल के शीत से पीड़ित होकर (भृमलः) भौंरे जाति के जीव (गुहा शये) गुहा, भीतर छिपी खोहों में सोया करते हैं और (क्रिमिः) कृमि, कीड़े मकोड़े आदि (यत् यत्) जो जो भी (प्रावृषि) वर्षा काल में (जिन्वत्) पुनः वर्षा जल से तृप्त या प्राणित होकर (एजति) चलते हैं (तत् सर्पत्) वे सब रेंगते हुए (नः मा उपसृपत्) हम तक न रेंग आवें । (यत् शिवं) जो मङ्गल, सुखकारी पदार्थ हों (तेन) उससे (नः) हमें (मृड) सुखी कर ।

ये ते॒ पन्था॑नो ब॒हवो॑ जना॒यना॒ रथ॑स्य॒ वर्त्मान॑सश्च॒ यात॑वे ।
यैः सं॒चर॑न्त्यु॒भये॑ भद्रपा॒पास्तं पन्था॑नं जयेमानमि॒त्रम॑तस्क॒रं
यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४७ ॥

४६–(प्र०) 'भृमलः' (द्वि०) 'हेमन्तजब्धो भमलो क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवी प्रावृषि यदेजति' इति पैप्प० सं० ।

४७–'पन्थानो बहुधा' (तृ०) 'येभिश्चर-' (च०) 'पन्थां जयेन' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पृथिवि ! (ये) जो (ते) तेरे (बहवः) बहुत सारे (जनायनाः) मनुष्यों के जाने के (पन्थानः) रास्ते हैं और (रथस्य) रथों के और (अनसः च यातवे) गाड़ों के जाने के लिये (वर्त्म) रास्ते हैं (यैः) जिनसे (भद्रपापाः) भले और बुरे (उभये) दोनों प्रकार के लोग (संचरन्ति) बराबर चला करते हैं (तं पन्थानं) उस मार्ग को हम लोग (जयेम) विजय करें जिससे वह (अनमित्रं) शत्रु रहित और (अतस्करम्) तस्कर चोर डाकू रहित हो जाय। हे पृथिवि (यत् शिवम्) जो मङ्गल, कल्याणकारी पदार्थ हो (तेन नः मृड) उससे हमें सुखी कर।

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥

भा०—(मल्वं) मल बुरे या कृपण या मूर्ख पुरुष को (बिभ्रती) पालती पोसती हुई और (गुरुभृत्) भारी उपदेशप्रद आचार्यों को भी धारण करनेहारी अथवा (मल्वं) तुच्छ को जैसे (बिभ्रती) धारण करती है उसी प्रकार (गुरुभृत्) भारी पदार्थ पर्वत आदि को भी उठाती हुई वह (पृथिवी) पृथिवी (भद्रपापस्य निधनं) भले और बुरे सबको निधन=देह को या मृत मुर्दे को (तितिक्षुः) सहन करती है। वही (वराहेण संविदाना) मानो वराह, महाशूकर से मन्त्रणा करती हुई (मृगाय सूकराय) जंगली जानवर सूअर के लिये भी (वि जिहीते) अपने को विशेष रूप से उसके लिये त्याग देती है। अर्थात् जो पृथ्वी भले बुरे मूर्ख पण्डित सबको धारती है, वह अपने ऊपर पशु सूअर आदि पशुओं को भी स्वच्छन्द विचरने देती है।

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

४८–(प्र०) 'मर्वं बिभ्रती गुरुभि' [?] इति पैप्प० सं०।

४९–(च०) 'ऋक्षीकाम्' इति क्वचित्। 'ऋक्षीकामुप' इति क्वचित्। 'रक्षीका रक्षो अपबाधमत्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे पृथिवि ! (ते ये आरण्याः पशवः) तेरे जो जंगली पशु और (वने हिताः) वन में पालित पोषित (मृगाः) मृग, हाथी आदि और (पुरुषादः) पुरुष अर्थात् मनुष्यों को भी खा जाने वाले (सिंहाः) सिंह (व्याघ्राः) बाघ आदि (चरन्ति) विचरते हैं उनको और (उलम्) सियार, (वृकम्) भेड़िये (दुच्छुनाम्) दुःखदायी (ऋक्षीकां) ऋक्ष जाति और अन्य (रक्षः) कष्टदायी राक्षस स्वभाव के जन्तुओं को (इतः) यहां से (अस्मत्) और हम से (अप बाधय) दूर रख।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ ५० ॥ (५)

भा०—(ये) जो (गन्धर्वाः) गन्धर्व, गन्ध के पीछे चलने वाले, विलासी लोग और (अप्सरसः) विलासिनी स्त्रियां और (ये च) जो (अरायाः) निर्धन, (किमीदिनः) निकम्मे या दूसरों के जान माल को तुच्छ समझने वाले हैं (तान्) उनको और (पिशाचान्) मांसभक्षी लोगों और (रक्षांसि) राक्षस वृत्त वाले (सर्वान्) सब लोगों को हे (भूमे) भूमे ! (अस्मद् यवय) हम से दूर कर।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

भा०—(याम्) जिस पृथिवी पर (द्विपादः) दो पैर वाले, मनुष्य, (पक्षिणः) पक्षी, (हंसाः) हंस आदि (सुपर्णाः) सुन्दर पंखों से युक्त

५०—(प्र०) 'गन्धर्वाऽप्स' इति पैप्प० सं०।

५१—'यस्यां वातयते मातरिश्वा रजांसि' इति (पं०) वातस्यानु भान्त्यर्चिः इति पैप्प० सं०।

(शकुनाः) शक्तिशाली गरुड़ आदि (वयांसि) पक्षी (संपतन्ति) उड़ते हैं और (यस्यां) जिसमें (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में बड़े वेग से चलने वाला (वातः) प्रचण्ड वायु (रजांसि कृण्वन्) धूलियां उड़ाता हुआ, आकाश में धूलि के गुब्बार उड़ाता हुआ और (वृक्षान्) बड़े २ वृक्षों को (च्यावयन्) गिराता हुआ (ईयते) चलता है और जहां (वातस्य प्रवाम्) प्रचण्ड वायु के प्रबल वेग और (उपवाम् अनु) निरन्तर बहने के साथ २ (अर्चिः) आग की ज्वाला या लू भी (वाति) बहा करती है ।

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥

भा०—(यस्याम्) जिस (भूम्याम् अधि) भूमिपर (कृष्णं अरुणं च) काला और लाल (अहोरात्रे) दिन और रात दोनों (संहिते) परस्पर मिले हुए, सदा एक दूसरे के पीछे लगे हुए, सुसम्बद्ध (विहिते) रहते हैं । (सा पृथिवी) वह विशाल पृथिवी (भूमिः) सबकी उत्पादक, जननी (वर्षेण वृता) वर्षा के जल से ढकी हुई (भद्रया) कल्याण और सुखकारिणी लक्ष्मी से (आवृता) सम्पन्न या घिरी हुई (प्रिये) प्रिय, मनोहर (धामनिधामनि) प्रत्येक देश में (नः दधातु) हमें सब प्रकार से धारण पोषण करे ।

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥ ५३ ॥

५२-(प्र०) 'गृह्नता च नह्नेऽहोरात्रे' (तृ०) 'वर्षावृता' (च०) 'धाम्निधाम्नि' इति पैप्प० सं० ।

५३-(प्र०) 'मेद' (च०) 'ददुः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(द्यौः च) यह द्यौः, आकाश, (पृथिवी च) पृथिवी और (अन्तरिक्षम् च) अन्तरिक्ष (इदं व्यचः) ये तीनों विशाल विस्तृत प्रदेश (मे) मेरे ही फलने फूलने और समृद्ध होने के लिये हैं । (अग्निः), अग्नि, (सूर्यः) सूर्य, (आपः) जल और (विश्वे देवाः) जगत् की समस्त दिव्य-शक्तियाँ मुझे उक्त तीनों विशाल प्रदेशों को वश करने के लिये (मेधाम्) बुद्धि (सं दद्धुः) प्रदान करें ।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

भा०—(अहम्) मैं ही (भूम्याम्) भूमि पर (सहमानः) सब पदार्थों को वश करने वाला (उत्तरः नाम) इन सब तिर्यग् पशुओं से ऊंचा, सबको नमाने में समर्थ (अस्मि) हूं । (अभीषाट् अस्मि) मैं चारों ओर विजय करने वाला हूं । और मैं (विश्वाषाड्) सर्व विजयी (आशाम्-आशाम्) प्रत्येक अपने मनोरथ और या प्रत्येक दिशा को (वि-ससहिः) विशेष रूप से विजय कर उसको अपने वश करूं ।

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

भा०—हे (देवि) देवि ! पृथिवि ! (यत्) जब तूने (अदः) यह इस प्रकार का अवर्णनीय (महित्वम्) अपना विशाल स्वरूप (वि असर्पः) विविध प्रकार से विस्तृत किया तब (पुरस्तात्) सबसे पूर्व (देवैः) देव, विद्वान् लोगों ने तुझको (प्रथमाना) फैलती हुई विस्तृत पृथिवी (उक्ता) कहा । (त्वा) तुझमें (सुभूतम्) उत्तम २ उत्पन्न होने हारे उत्तम पदार्थ

५५–(प्र०) 'दसो' (द्वि०) 'दिः कृता', 'महित्वा' (तृ०) ' आ त्वान भूता वि ' इति पैप्प० सं० ।

(आ अविशत्) सब ओर से प्रविष्ट हैं, (तदानीम्) उसी समय भू (चतस्र प्रदिश) चारों महा दिशाओं में वर्तमान प्रदेशों को भी (अकल्पयथा) सुन्दर २ रूप में रचती है ।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

पूर्वार्धं यजु० ३ । ४५ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे पृथिवि ! (ये ग्रामा) जो ग्राम हैं, (यद् अरण्यम्) जो जंगल हैं (अधि भूम्याम् याः सभा) और भूमि पर जो सभाएं और (ये संग्रामा समितय) जो संग्राम, युद्धस्थान और समितियें हैं (तेषु) उनमें हम (ते चारु वदेम) तेरा उत्तम यशोगान करें ।

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

भा०—(अश्व इव) अश्व जिस प्रकार (रज दुधुवे) अपने शरीर को कंपाकर धूल को झाड़ फेंकता है उसी प्रकार (य) जो लोग (पृथिवीम्) पृथिवी पर (आक्षियन्) आकर बसे (यात् अजायत) जब से उत्पन्न हुई तब से अब तक (तान् जनान्) उन सब मनुष्यों को इस पृथिवी ने (दुधुवे) झाड़ फेंका है (यह पृथिवी सदा (मन्द्रा) सुखमय और औरों को प्रसन्न करनेहारी (अग्रत्वरी) आगे आगे शीघ्रता से चलने वाली (भुवनस्य गोपा) समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थों की रक्षा करनेहारी (वनस्पतीनाम् ओषधीनाम्) वनस्पतियों और ओषधियों को (गृभि) अपने भीतर ग्रहण धारण करने वाली है ।

५६–' ये ग्राम्या आरण्यास्तेभ्योनि, ' (?) ' तेभ्यस्त्वं देवि पृथिविमृ० सुन्दर ' इति पैप्प० सं० ।

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥

भा०—(यद्) जब (वदामि) बोलूं (तत्) तब वह (मधुमत्) मधु से भरा हुआ, मधुर, अमृतमय, सारवान् (वदामि) बोलूं (यद् ईक्षे) जब देखूं (तत्) तब (मा) मुझे लोग (वनन्ति) प्रेम से देखें, मेरा आदर करें । मैं स्वयं (त्विषीमान्) कान्तिमान्, तेजस्वी और (जूतिमान्) वेगवान्, पराक्रमशाली, उत्साही (अस्मि) रहूं । और (दोधतः) मेरे प्रति क्रोध करनेहारे (अन्यान्) अन्य शत्रुओं को मैं (अव हन्मि) नीचे गिरा मारूं ।

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥

भा०—(शन्ति-वा) कल्याण और शान्तिसम्पन्न, (सुरभिः) उत्तम गन्ध से युक्त, (स्योना) सुखकारिणी, (कीलालोध्नी) अमृतमय रस को गाय की तरह से अपने थानों में बराबर धारण करने वाली, (पयस्वती) क्षीर, अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों से सम्पन्न (भूमिः) भूमि, सर्वव्यापक (पृथिवी) पृथिवी (पयसा सह) अपने समस्त पुष्टिकारक पदार्थों सहित (मे) मुझे (अधि ब्रवीतु) आशीर्वाद करे ।

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं१ पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥६०॥

५८-(द्वि०) 'तद्वनन्तु मा' इति पैप्प० सं० । 'वनन्ति,' 'वर्णन्ति' इति क्वचित् पाठः । (च०) 'दोधत' इति पैप्प० सं० ।
५९-(प्र०) 'सन्ति वा' (तृ०) 'भूमिर्नोऽधि' इति पैप्प० सं० ।
६०-(द्वि०) 'यस्यामासन्नुमयोऽप्स्वन्तः' (तृ० च०) 'गुहादेवा विरभोरभवन् मातृमद्भिः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(अन्तः अर्णवे) अर्णव महान् समुद्र के भीतर और (रजसि प्रविष्टाम्) रजस, धूलि या मट्टी में या अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुई, उससे बनी या उसमें स्थित (याम्) जिस पृथिवी को (विश्वकर्मा) समस्त जगत् को बनाने वाला परमेश्वर सृष्टि के निमित्त (एच्छत्) अपने सृष्टि उत्पन्न करने के लिये उपयुक्त जानकर उसे सृष्टि के लिये चुनता है। वह भूमि (गुहा) गुहा, इस महान् आकाश में वस्तुतः (भुजिष्यम्) भोग करने योग्य अन्नादि से सुसज्जित (पात्रम्) थाली के समान (निहितम्) रक्खी है (यत्) जो (मातृमद्भ्यः) पृथिवी को अपनी माता के समान मानने वाली उसके पुत्रों के लिये (भोगे) उन पदार्थों के भोग के अवसर पर (आवि. अभवत्) साक्षात् रूप से प्रकट होती है।

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

भा०—हे पृथिवि ! (त्वम्) तू (जनानाम्) मनुष्यों और प्राणियों के (आवपनी) सब ओर बीज वपन करने और उनको उत्पन्न करने के लिये क्षेत्र के समान है। तू (अदितिः) अपरापीड़ित, अक्षय, (पप्रथाना) बड़ी भारी, विशाल (कामदुघा) प्राणियों की समस्त कामनाओं को पूरने वाली है। (ऋतस्य) उस वर्त्तमान संसार के भी (प्रथमजाः) पूर्व विद्यमान (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर (यत् ते ऊनम्) जो तेरे में कमी आ जाती है (ते तत्) तेरी उस कमी को भी (आ पूरयति) सब प्रकार से पूर्ण कर देता है।

'आवपनी'—मह्लोप प्रकरण में 'भूमिरावपनं महत्' भूमि बीज बोने का बड़ा खेत है।

६१–(द्वि०) 'कामदुघा विश्वरूपा' (तृ० च०) 'प्रजापतिः प्रजाभिः सुविदानाम्' इति पैप्प० सं०।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (अस्मभ्यम्) हमारी (प्रसूताः) उत्पन्न सन्तान (ते उपस्थाः) तेरे ऊपर, तेरी गोद में रह कर सदा (अनमीवाः) रोग रहित, (अयक्ष्माः) तपेदिक् आदि से रहित सुखी, हृष्ट पुष्ट होकर (सन्तु) रहें । (नः आयुः) हमारी आयु (दीर्घम्) बड़ी लम्बी है ऐसे (प्रतिबुध्यमानाः) समझते हुए (वयं) हम (तुभ्यम्) तेरी रक्षा के लिये (बलिहृतः स्याम) भेट पूजा या कर देने वाले रहें ।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मां धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

भा०—हे (भूमे) भूमे ! (मातः) हे मातः ! (मा) मुझे (भद्रया) कल्याण और सुखकारिणी लक्ष्मी से (सुप्रतिष्ठितम् धेहि) उत्तम रीति से प्रतिष्ठित कर । हे (कवे) क्रान्तदर्शिनि ! अन्तर्यामिनि ! देवि ! तू (दिवा) द्यौलोक या प्रकाशमान सूर्य से । संविदाना , सुसंगत होकर (मां) मुझे (श्रियां) श्री, लक्ष्मी और (भूत्याम्) धन सम्पत्ति, विभूति में (धेहि) स्थापित कर ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्रै॒कं सूक्तं, ऋचश्च त्रिषष्टिः]

---

[२] क्रव्याद् अग्नि का वर्णन, दुष्टों का दमन और राजा के कर्त्तव्य ।

भृगुर्ऋषिः । अग्निरुत मन्त्रोक्ता देवताः, २१–३३ मृत्युर्देवता । २, ५, १२, २०, ३४–३६, ३८-४१, ४३, ५१, ५४ अनुष्टुभः [१६ ककुम्मती पराबृहती अनुष्टुप्, १८ निचृद् अनुष्टुप्, ४० पुरस्तात् ककुम्मती], ३ आस्तारपंक्तिः, ६ भुरिग् आर्षी पंक्तिः, ७, ४५ जगती, ८, ४८, ४९ भुरिग्, अनुष्टुभां विपरीत

पादलक्ष्मा पङ्क्तिः, ३७ पुरस्ताद् बृहती, ४२ त्रिपदा एकावसाना आर्ची गायत्री, ४४ एकावसाना द्विपदा आर्ची बृहती, ४६ एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्, ४७ पञ्चपदा बार्हतवैराजगर्भा जगती, ५० उपरिष्टाद् विराड् बृहती, ५२ पुरस्ताद् विराड्बृहती, ५५ बृहतीगर्भा विराट्, १, ४, १०, ११, २१, ३३, ५३, त्रिष्टुभः ।

पञ्चपञ्चाशदृचं सूक्तम् ॥

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥ १ ॥

भा०—हे क्रव्याद्=कच्चा मांस खाने वाले अग्ने ! अग्नि के समान संतापकारी जन्तु ! तू (नडम् आरोह) नड पर या नड के समान तीखे शर पर चढ़ अर्थात् तू बाण का शिकार हो । (अत्र) इस जीव लोक में (ते) तेरे (लोकः न) रहने की जगह नहीं है । (इदं सीसम्) यह सीसा, सीसे की बनी घातक गोली आदि (ते) तेरा (भागधेयम्) भाग्य है । (एहि) तू आ, तुझे मारूं । (यः) जो (गोषु) गौओं पर (यक्ष्मः) पीड़ाकारी और (पुरुषेषु) पुरुषों पर (यक्ष्मः) रोग के समान आक्रमण करने वाला, पीड़ाकारी है (तेन) उसके (साकम्) साथ ही (त्वम्) तू भी (अधराङ्) नीचे गिर कर (परा इहि) दूर भाग जा ।

इस प्रकार कच्चा मांस खाने वाले गौओं और पुरुषों पर आक्रमण करने वाले शेर आदि हिंसक और दुष्ट जन्तुओं को बाण या सीसे की गोली से मारना चाहिये ।

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च ।
यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥ २ ॥

---

[२] १-(प्र०) ' नेह ' इति पैप्प० सं० ।
२-(तृ० च०) 'मृत्यूश्च सर्वांस्तेनेतो यक्ष्मांश्च निरजामसि' इति पैप्प० सं० ।
(प्र० द्वि०) ' दुःशंसानुशंसाभ्यां घनेनानु घनेन च ' इति मै० सं० ।

भा०—(अघशंस-दुःशंसाभ्यां) पाप या हत्याकारी और दुष्ट कार्य करने वालों के (करेण) साक्षात् कर्त्ता, उनके आदमी और (अनुकरेण च) उसके पीछे लगे, उसके सहायक लोगों के सहित (सर्वं च यक्ष्मम्) उनके द्वारा उत्पन्न समस्त प्रजापीड़न के कारणों को और (तेन) पूर्व मन्त्र में उक्त उपाय से दूर करें और उसी उपाय से (मृत्युं च) प्रजा के मृत्यु को भी (इतः) अपने राष्ट्र से (निर् अजामसि) हम निकाल दें।

'अघशंस' वे लोग हैं जो दूसरों की हत्या करने के लिये लोगों को प्रेरणा करते हैं। 'दुःशंस' वे हैं जो दूसरों को बुरे २ नीच, दुःखदायी काम करने की उत्तेजना दें। जो उनको सहायता देते हैं वे उनके कर हाथ और 'अनुकर' या 'नौकर' हैं। इनके सहित प्रजा में से राजपुरुष लोग रोग और अन्य 'यक्ष्म' अर्थात् राष्ट्र के बीच में लगे प्रजापीड़क रोगों और 'मृत्यु' भय को भी दूर करें।

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निरर्रातिमजामसि ।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद् यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवा-
मसि ॥ ३ ॥

भा०—(इतः) इस राष्ट्र से (मृत्युम्) मृत्यु भय को (निर् अजामसि) हम सर्वथा दूर करदें। और (ऋतिम् निर्) प्रजा की पीड़ा और भय को भी सर्वथा दूर करें, (अरातिम्) प्रजा के शत्रु, जो प्रजा को सुख चैन नहीं लेने देते, उनको भी हम (निर् अजामसि, सर्वथा राष्ट्र से दूर करें। अथवा (निर्ऋतिम्) विनाशकारी रोग और पापप्रवृत्ति और (अरातिम् निर् अजा-मसि) अराति, शत्रु को भी दूर करें। हे (अक्रव्यात् अग्ने) मनुष्यों का कच्चा मांस खाने वाली चिता=अग्नि के समान नर संहार करने वाले पुरुष से

३-(तृ० च०) 'तमध्यग्ने क्रव्यादम् यद्वस्तंते प्रसुवामः' इति पैप्प० सं०।

अतिरिक्त आहवनीय यज्ञाग्नि और गृह्य अग्नि के समान पवित्र कार्यों के करने और लोगों के घर बसाने वाले अग्ने ! राजन् ! (यः नः) जो हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है तू (तम्) उसको (अद्धि) खाजा, तू उसका नाश कर। और (यम् उ) जिसको भी (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं, (तम् उ) उसको भी (ते) तेरे आगे (प्रसुवाम.) लाकर खड़ा करदें। तू उसका यथोचित अपराध जांच कर दण्ड दें।

यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोप्यग्नीन् ॥४॥

भा०—(यदि) यदि (क्रव्याद् अग्निः) कच्चा मांस खाने वाला, अग्नि के समान पीड़ाकारी जन (यदि वा व्याघ्रः) और यदि हिंसकपशु बाघ या बाघ के समान हिंसक और चोर डाकू पुरुष (अन्य-ओकाः) बिना घरबार का, जगली या आवारागर्द (इमं गोष्ठम्) इस गोशाला या प्रजा-निवेश में (प्रविवेश) आघुसे तो (तम्) उसको (माषाज्यं कृत्वा) (माषाज्यं) मारने योग्य शस्त्र (कृत्वा) तैयार करके (दूरं प्रहिणोमि) हम दूर निकाल जावें। (सः) वह (अप्सुषदः) प्रजाओं में अधिकारी रूप से विराजमान शासक (अग्नीन्) अग्नि के समान, अपराधी को दण्डित करने वालों के समक्ष (अपि) भी (गच्छतु) जावे। और, अपना दण्ड पावे।

'माष आज्यम्'—'मष' हिंसार्थः (भ्वादि) माषः=हिंसा, आज्यं—आजि साधनं आज्यं। युद्ध के साधन शस्त्र का नाम 'आज्य' है अतः 'माष-आज्य'=हिंसाकारी शस्त्र।

तेजो वा आज्यम्। तै० १२।१०।१८॥ वज्रो हि आज्यम् श० १।३।२।१७॥ आज्येन वै देवा सर्वान् कामान् अजयन्। कौ० १४।

४-(द्वि०) 'अन्योका. प्रविवेश,' (तृ०) 'तमाषा' इति मै० सं०।

१॥ यदाज्यैः देवा जयन्त आयन् तदाज्यानामाज्यत्वम्। ऐ० २। ३६॥ यदाजिमायन् तदाज्यानामाज्यत्वम्। (आज्यानि शास्त्राणि, स्तोत्राणि) तां० ७।२।१॥

यत् त्वा॑ क्रुद्धाः प्र॑चक्रुर्मन्युना पुरु॑षे मृते।
सुकल्प॑मग्ने तत् त्वया पुन॒स्त्वोद्दी॑पयामसि ॥ ५॥

भा०—(पुरुषे मृते) मनुष्य के मर जाने पर हे क्रव्यात् अग्ने, मांसाहारी, हिंसक जीव (यत्) यदि (क्रुद्धाः) क्रोध में आये पुरुषों ने (मन्युना) क्रोध से (त्वा प्रचक्रुः) तुझे बहुत बनाया है, तुझे मारा है (तत्) तो भी हे (अग्ने) अग्नि के समान सन्तापकारी जन! (त्वया) तुझे (तत्) वह (सुकल्पम्) सुख से सहना चाहिये। हम तो (त्वा) तुझे (पुनः) फिर भी (उत्-दीपयामसि) उत्तेजित करते हैं, और भी दण्ड देते हैं।

जब पुरुष मर जाता है उस समय जिस प्रकार शवाग्नि को लोग प्रचण्डता से जलाते हैं उसी प्रकार पुनः उस हिंसा कारी पुरुष को खूब उद्दीप्त करना चाहिये।

पुन॑स्त्वादि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः पुन॑र्ब्र॒ह्मा वसु॑नीतिरग्ने।
पुन॑स्त्वा॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॒राधा॑द् दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥६॥

पूर्वार्धः यजु० १२। ४४ प्र० द्वि०॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान दुष्टों के सन्तापकारक राजन्! (आदित्याः) आदित्य, सूर्य के समान तेजस्वी लोग, (रुद्राः) रुद्र, नैष्ठिक विद्वान्,

५-(प्र०) 'यत् त्वा क्रुध्वा' (द्वि०) 'पुरुषे मिते' (तृ०) 'अग्ने न त्वया' इति पैप्प० सं०।

६-'वसवः समिन्धताम् पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथयज्ञैः' इति यजु०॥

(वसवः) वसु नामक ब्रह्मचारी गण अथवा (आदित्याः) दुष्टों को पकड़ कर लाने वाले शासक, (रुद्राः) दुष्टों को दण्ड करके रुलाने वाले, दण्ड-कारी शासक और (वसवः) राष्ट्र के वासी प्रजागण और (वसुनीतिः) वसु अर्थात् प्रजाओं का नेता (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का विद्वान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा (त्वा) तुझे (पुनः) फिर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ बरस तक के लम्बे जीवन के लिये (आधात्) पुनः स्थापित करता है।

इसी प्रकार पुरुष के मर जाने पर यह जीव भी 'अग्नि' है। उसको आदित्य=१२ मास, रुद्र=प्राण वसु=प्राण, समस्त जीवों का प्रणेता परमात्मा प्रजापति पुनः तुझको दूसरा जन्म सौ वर्ष की आयु भोगने के लिये प्रदान करें।

यो अ॒ग्निः क्र॒व्यात् प्र॑वि॒वेश॑ नो गृ॒हमि॒मं पश्य॒न्नित॑रं जा॒तवे॑दसम्।
तं ह॑रामि पितृय॒ज्ञाय॑ दू॒रं स घ॒र्ममि॑न्धां पर॒मे स॒धस्थे॑ ॥ ७ ॥

ऋ० १० । १६ । १० ॥

भा०—(यः) जो (क्रव्यात् अग्निः) कच्चा मांस खाने वाला अग्नि के समान प्रजापीड़क जीव, डाकू या व्याघ्र आदि (इतरम्) अपने से विपरीत, दूसरे (जातवेदसम्) सब विद्वान् अग्नि के समान ही दुष्टों के सन्तापकारी राजा को (पश्यन्) देखता हुआ भी (नः गृहं प्रविवेश) हमारे घर में घुस जाय तो (तम्) उसको (पितृयज्ञाय) राष्ट्र के पालक शासकों के 'यज्ञ' उनके कर्तव्य पालन के निमित्त (दूरं हरामि) दूर खींच ले जाऊं जिससे (सः) वह (परमे सधस्थे) परम स्थान, राजकीय स्थान में (घर्मम् इन्धाम्) सन्ताप प्राप्त करे।

अग्नियों के पक्ष में—गृह में, गृह्याग्नि और आहवनीयाग्नि के होते हुए जो 'क्रव्यात्'—शवाग्नि अर्थात् मृत्यु घर में आ जाय तो उसके 'पितृयज्ञ'=

७-(प्र०) 'वो गृह' (च०) 'सर्ममिन्वात्' इति ऋ०।

शवदाह के निमित्त श्मशान में ले जाय। यह वहां परम दूर श्मशान स्थान में नरमेध यज्ञ करे। अर्थात् प्रतिनिधिवाद से इतर जातवेदा=नये नवयुवक गृहपति को देख कर यदि मृत्यु बूढ़े पर आ जाय तो उसको दूर श्मशान में लेजा कर अग्नि में भस्म कर दे। शव वहां ही तप करे।

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥८॥

ऋ० १०। १६। ९॥ यजु० ३५। १९॥

भा०—(क्रव्यादम् अग्निम्) क्रव्य, अर्थात् नर मांस खाने वाले अग्नि=मृत्यु को (दूरं प्रहिणोमि) दूर करता हूं। (रिप्रवाहः) पाप को वहन करने वाला, पापी या यमयातना को अनुभव करने वाला पुरुष (यमराज्ञः) सब के नियन्ता राजा या परमात्मा के पास (गच्छतु) जाय। (इह) यहां (अयम्) यह (इतरः) दूसरा निष्पाप, नीरोग (जातवेदाः) विद्वान् गृहपति (देवः) दानशील, पुत्रों को धन वस्त्रादि देने में समर्थ और (प्रजानन्) प्रकृष्ट ज्ञानवान् होकर (देवेभ्यः) विद्वान् अतिथियों को (हव्यम्) हव्य=अन्न आदि (वहतु) प्रदान करे।

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम्।
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥९॥

भा०—मैं (इषितः) दृढ़ इच्छा शक्ति से सम्पन्न पुरुष (जनान्) मनुष्यों को (वज्रेण) प्राण हरण करने वाले तलवार के समान कठोर

८—(द्वि०) 'यमराज्ञः' इति ऋ०। तत्र दमनो यामायन ऋषिः। अग्निर्देवता।

९—(प्र०) 'इषितः' (च०) 'लोकं परमोवाद्' इति पैप्प० सं०। 'तृंहन्तं' सायणाभिमतः।

क्रव्याद अग्नि मृत्यु, पितृयान मार्गों में ही रहे । देवयान मार्गों में न आवे । और मृत्यु बूढ़ों पर ही अपना घात करे, छोटी उमर वालों पर न आवे ।

समिन्धते संकसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति ॥ ११ ॥

भा०—(शुचयः) शुद्ध चित्त वाले (पावकाः) अन्यों को भी पाप से शुद्ध करने वाले, (शुद्धाः भवन्तः) स्वयं शुद्ध रहते हुए, विद्वान् लोग (स्वस्तये) संसार के कल्याण के लिये (संकसुकम्) उत्तम शासक को अग्नि के समान् (सम् इन्धते) खूब प्रदीप्त करते हैं । उसमें पड़ कर अपराधी अपने (रिप्रम्) पाप कर्म को (जहाति) छोड़ देता है और (एनः अति एति) अपने दुष्ट पाप से ऊपर उठ जाता है । और (समिद्धः) खूब प्रदीप्त (अग्निः) अग्नि के समान दुष्टों का संतापकारक राजा स्वयं (सु-पुना) उत्तम रीति से पवित्र करने वाला ही पापी को भी (पुनाति) पवित्र कर देता है । प्रेतपक्ष में-(शुचयः पावकाः) शुद्ध आहवनीय आदि पवित्र (पावकाः) अग्नियें ही स्वयं शुद्ध होते हुए 'संकसुक' क्रव्याद अग्नि को कल्याण के लिये करते हैं । इसमें शव के डाल देने से भी मृत आत्मा का संस्कार होता है, वह पाप छोड़ देता है और ऊंचा हो जाता है । यह नरमेध की पवित्र अग्नि एवं उसके समान पवित्र सुपुना=परमात्मा ही उसको पवित्र करता है ।

देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत् ।
मुच्यमानो निरेणसोमोगस्माँ अशस्त्याः ॥ १२ ॥

भा०—(संकसुकः) अच्छा प्रकार प्रदीप्त या शासन करने हारा राजा के समान परमात्मा (देवः) प्रकाशमान, (अग्निः) ज्ञानस्वरूप, अग्नि

११-(तृ०) 'रिप्रमत्येनेति' (प्र०) पादः 'संकुसिरः' इति पैप्प० सं० ।
१२-' संकुसुकेनो ' इति आप० । (न०) तार्पन् इति क्वचित् ।

से) वे चारों तेजस्वी पुरुष (सवेदसः) समान ज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर (यक्ष्मम्) प्रजा के पीड़क यक्ष्मा आदि रोगों को (दूरात् दूरम्) दूर से दूर ही (अनीनशन्) नाश करें ।

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु ।

क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥ १५ ॥

भा०—(यः) जो (नः) हमारे (अश्वेषु) घोड़ों में (वीरेषु) पुत्रों और वीर सैनिकों में और (यः नः) जो हमारे (गोषु अजाविषु) गौओं और बकरियों और भेड़ों में (जनयोपनः) जन्तुओं का नाशक (अग्निः) अग्नि के समान तापकारी जन्तु या रोग है उस (क्रव्यादम्) क्रव्याद्, कच्चा मांस खाने वाले को सदा हम (निर् नुदामसि) दूर करें ।

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।

निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥ १६ ॥

भा०—हे क्रव्याद्, कच्चा मांस खाने वाले ! तू (यः) जो (अग्निः) अग्नि के समान तापकारी होकर (जीवितयोपनः) जीवन का नाशकारी है, उस तुझ (क्रव्याद्) जीवों के कच्चा मांस खाने वाले (त्वा) तुझको (अन्येभ्यः[1] पुरुषेभ्यः) अन्य दूसरे, शत्रु पुरुषों और (गोभ्यः

१५–'यो नोऽश्वेषु', (द्वि०) 'यो गोषु योऽजाविषु' इति पैप्प० सं० ।

१६–(प्र० द्वि०) 'अज्ञाता पुरुषेभ्य' इति पैप्प० सं० । 'अन्येभ्यः' इति ह्विटनिकामितः ।

१. 'अन्येभ्यः अस्मदीयेभ्यः अर्केभ्यः' इति ह्विटनिः । अत्र मानवगृह्यसूत्रोक्तो विनियोगः कन्यार्थिनामर्थे द्रष्टव्यः । मानव । गृ० सू० २ । १ । ११ । तत्र 'सुमित्रा न आप ओषधयः' इत्यादि मन्त्रो विनियुज्यते । तदभिप्रायमेवेष स्यादिति ।

२२

सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत्।
अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥ १६ ॥

भा०—(सीसे) सीसे में (यत्) जिस प्रकार चांदी आदि धातु का मल रह जाता है और धातु निखर आती है उसी प्रकार अपने आत्मा को उस ब्रह्ममय अग्नि में (मृड्ढ्वं) तपाओ और शुद्ध करो, मल छूट जायगा और आत्मा शुद्ध हो जायगा। (नडे मृड्ढ्वम्) जिस प्रकार नड़ों या सरकण्डों की बनाई चालनी में से जल निकालने से मल ऊपर अटक जाता है उसी प्रकार उस परमेश्वर की बनी छाननी में से गुज़ार कर अपने को शुद्ध करो। (संकसुके) सर्वनाशक (अग्नौ च मृड्ढ्वम्) सर्व भस्मकारी अग्नि में मल फेंकने से सब जल जाता है और स्थान शुद्ध हो जाता है या सर्व प्रकाशक राजा के हाथ में अपराधी को देने से उसके अपराध दूर हो जाते हैं या 'संकसुके' क्रव्याद् अग्नि में शवको डालने से जैसे मलिन भाग जल जाता है और शुद्ध अस्थि रह जाती है या तत्व तत्वों में मिल जाते हैं उसी प्रकार सर्व प्रकाशक परमात्मा में अपने आपको शुद्ध करो। (अथो) और जिस प्रकार (रामायाम्) काले रंग की (अव्यां) भेड़ में क्रव्याद्=मांसभर्दी जन्तु को प्रलोभित कर मनुष्य स्वयं बच जाता है और जिस प्रकार शिर की पीड़ा होने पर (शीर्षक्तिम् उपबर्हणे) शिर को सिरहाने पर आराम से रख देने पर रोगी शिरोरोग से मुक्त होकर सुख से सोता है उसी प्रकार तुम (अव्यां रामायाम्) सर्व रक्षणकारिणी, परम दिव्या, सब की रक्षा करनेहारी उस परमात्मा शक्ति पर अपने को अर्पित करो और सब के (उपबर्हणे) बढ़ानेहारे उस ब्रह्म में आश्रय लेकर अपने सब कष्टों को वहीं धर कर सुखी हो जाओ।

इस मन्त्र में केवल उपमेयों के संग्रह करके वाचक शब्द और उपमेय को लोप करके उपमा का प्रयोग किया है। और सब उपमेय पद भी

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते एष इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

ऋ० १० । १८ । १ ॥ यजु० ३५ । ७ ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो ! (देवयानात्) देवयान अर्थात् मुमुक्षुओं के ब्रह्मज्ञानमार्ग से (इतरः) अतिरिक्त (यः ते) जो तेरा (एषः) यह 'पितृयाण' का मार्ग है उस (परं पन्थां) दूसरे मार्ग को (अनु-परा इहि) दूर से ही चला जा । (चक्षुष्मते) आंख वाले और (शृण्वते ते) सुनने हारे तुझे (ब्रवीमि) कहता हूं कि (इमे) ये सब (वीराः) वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, बलवान् पुरुष (बहवः भवन्तु) बहुत से होजांय ।

अध्यात्म साधना से जाने वाले वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, दीर्घायु होवें, मृत्यु उनको न सतावे ।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २२ ॥

ऋ० १० । १८ । ३ ॥

भा०—(इमे जीवाः) ये समस्त जीव (मृतैः) मरने के साधनों से या मरने वाले प्राणियों से या मृत्यु के कारणों से (आ ववृत्रन्) विविध रूप से घिरे हुए हैं, (नः) हम मुमुक्षु मार्ग से जानेहारों को (अद्य) अब, (भद्रा) अति कल्याणकारिणी (देवहूतिः) देव-अध्यात्म

२१–ऋग्वेदे संकुसुको यामायन ऋषिः । मृत्युर्देवता । (द्वि०) 'यस्ते स्व इतरो' (च०) 'मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्' इति ऋ० । अथर्व । (द्वि०) 'यस्ते अन्य' इति यजु० ।

२२–(च०) 'द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः' इति ऋ० । (प्र०) 'आर-वर्तिन्' इति तै० आ० ।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥२४॥
ऋ० १० । १८ । ६ ॥

भा०—हे मनुष्यो! आप लोग (जरसम्) जरा, वृद्धावस्था को (वृणानाः) दूर करते हुए (आयुः) दीर्घ जीवन (आरोहत) प्राप्त करें। और (अनुपूर्वम्) पहले के समान नियमपूर्वक (यतमानाः) यत्न करते हुए (यति) संयम या ब्रह्मचर्य के जीवन में (स्थ) रहो। (त्वष्टा) तुम्हारा उत्पादक परमात्मा (सजोषाः) आप लोगों के साथ प्रेम का व्यवहार करनेहारा (सुजनिमा) उत्तम रूप से उत्पन्न होने वाले सुजात (तान् वः) उन आप साधनासम्पन्न पुरुषों को (जीवनाय) जीवन के लिये (सर्वम्) समस्त पूर्ण (आयुः) जीवन (नयतु) प्राप्त करावे।

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥२५॥
ऋ० १० । १८ । ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अहानि) दिन (अनुपूर्वम्) एक दूसरे के बाद, क्रम से बराबर (भवन्ति) हुआ करते हैं और (यथा) जिस प्रकार (ऋतवः) ऋतुएं (ऋतुभिः साकम्) ऋतुओं के साथ, एक दूसरे के पीछे बराबर जुड़ी जुड़ी (यन्ति) आया और जाया करती हैं। और (यथा) जिस प्रकार (पूर्वम्) अपने से पहले को (अपरः) आगे आनेवाला दूसरा

२४–(द्वि०) 'यतिष्ठ' (तृ० च०) 'इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः' इति ऋ०। 'जरसं गृणानाः', (तृ०) 'तानवस्त्वा सुजनिमा सुरत्नाः' (च०) 'कल्पतु जीवनाय' इति हि० आ०।

२५–(द्वि०) 'यन्ति साधु' इति ऋ०।

नवयुवक सन्तान (न जहाति) नहीं त्यागता प्रत्युत उसके साथ जुड़ा रहता है। (एवा) इसी प्रकार हे (धातः) सब के धारक पोषक परमेश्वर! आप (एषाम्) इन जीवों के (आयूंषि) जीवनों की (कल्पय) व्यवस्था करते हो।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२६॥

ऋ० १० । ५३ । ८ ॥ यजु० ३५ । १० ॥

भा०—(अश्मन्वती) पत्थरों और शिलाओं से भरी नदी जिस प्रकार बड़े वेग से (रीयते) जाती है उसी प्रकार यह जीवन की या संसार की नदी बह रही है। इसलिये हे पुरुषो! (सं रभध्वम्) सब मिल कर अपने कार्य उत्तमता से प्रारम्भ करो। (वीरयध्वम्) वीर के समान पराक्रमशील होकर कार्य करो, इस गम्भीर नदी को (प्र तरत) उत्तम रीति से तैरने का यत्न करो। (ये) जो (दुरेवाः असन्) दुष्ट कामना और आचारों वाले नीच पुरुष हैं उनको (अत्र जहीत) यहीं त्याग दो। और हम (अनमीवान्) रोग और दुःखों से रहित (वाजान्) उत्तम सुखमय लोकों या अन्नों को (उत् तरेम) प्राप्त हों।

'वाजो वै स्वर्गो लोकः' । तां० १८ । ७ । १२ ॥ गो० उ० ५ । ८ ॥

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२७॥

ऋ० १० । ५३ । ८ ॥

२६-(तृ०) 'अत्रा ज्हाम ये असन्नशेवाः', 'शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्' इति ऋ०। 'अत्रा जहीमो शिवा ये असन्' इति यजुः०।
(प्र०) 'अश्मन्वती रेवतीः' इति तै० आ०।

भा०—हे (सखायः) मित्रो! (इयम्) यह संसार रूप साक्षात् (अश्मन्वती) पत्थरों और शिलाओं से भरी (नदी) नदी (स्यन्दते) बह रही है। (उत्तिष्ठत) उठो और (प्र तरत) अच्छी प्रकार तैरो और पार करो। (ये) जो (अशिवाः) अमङ्गलकारी, बुरे लोग (असन्) हैं उनको (अत्र) यहां ही (जहीत) छोड़ दो। (शिवान्) शिव, मङ्गलकारी (वाजान्=वाजान्) सुखमय लोकों को (उत्तरेम) प्राप्त हों। पूर्व मन्त्र के साथ तुलना करो।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥ २८ ॥

पूर्वार्धः—अथर्व ६ । ६२ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे पुरुषो! आप लोग (शुचयः) मनसा, वाचा कर्मणा शुद्ध चित्त, (पावकाः) अग्नि के समान परम पवित्र, तपस्वी और (शुद्धाः) शुद्ध, मलरहित (भवन्तः) होते हुए (वर्चसे) ब्रह्मवर्चस्=तेज के प्राप्त करने के लिये (वैश्वदेवीम्) विश्वे-देव अर्थात् प्रजापति परमात्मा की ज्ञान-कथा और उपासना (आरभध्वम्) किया करो। और हम सब (सर्ववीराः) समस्त सामर्थ्यवान् प्राणों से सम्पन्न और पुत्रों से और वीरों से और वीर्यवान् पुरुषों से युक्त होकर, या स्वयं सब वीर्यवान् होकर (दुरिता पदानि) दुःख से पार करने योग्य दुर्गम स्थानों और अवसरों को (अतिक्रामन्तः) पार करते हुए (शतं हिमाः मदेम) सौ वर्षों तक आनन्द से जीवन व्यतीत करें।

२८—'वैश्वानरीम्' इति अथर्व० ६ । ६२ । ३ ॥ (प्र०) 'वैश्वदेवीं सूनृतां आरभध्वम्' इति पैप्प० सं०। वैश्वदेवीं नामनिति सेनेन प्रेषितम्। 'वैश्वदेवीम्' इत्यत्र कौशिकसूत्रानुसारं गृह्यसूत्रानुसारं च वैश्वदेवी वल्कारीमाणं सुपणस्यन च वेदविरुद्धम्॥

यद्विश्वेदेवा सम् अयजन्त, तद्वैश्वदेवस्य विश्वदेवत्वम् । तै० १ । ४ । १० । ५ ॥ प्रजापति वैश्वदेवम् । कौ० ५ । १ ॥ समस्त विद्वानों का मिलकर देवोपासना करना या 'वैश्वदेव' कार्य है । प्रजापति 'वैश्वदेव' कहाता है ।

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोवरान् परेभिः ।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन ॥ २९ ॥

भा०—(ऋषयः) तत्वदर्शी, मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग (उदीचीनैः) ऊर्ध्व, परमह्म तक जाने वाले (वायुमद्भिः) ऊपर के वायु के बने अन्तरिक्ष मार्गों के समान वायु से बने प्राणमय (परेभिः) परम, उत्कृष्ट अति दूर पद तक पहुंचने वाले (पथिभिः) मार्गों, साधनों से (अवरान्) नीचे के तुच्छ जीवन मार्गों का, जीवन के कष्टों को (अतिक्रामन्तः) पार करते हुए (परेताः) परम पद तक पहुंचे हुए (पदयोपनेन) पदों या देहों के योपन अर्थात् विलोपन द्वारा या मृत्यु के आने के कारणों को दूर करके (मृत्युम्) मृत्यु को (त्रिः सप्तकृत्वः) २१ बार (प्रति औहन्) पराजित करते हैं ।

'आत्मा वै पदम्' । कौ० २३ । ६ ॥ पद्यते अनेनेति पदम् निमित्तम् । इसी मन्त्र के आधार पर गृह्यसूत्रोक्त मृत्यु के 'पदलोपन' की विधि रची गई है । नलवैतसशाखया वा पदानि लोपयन्तो' । मानव गृ० सू० २ । १२ ॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेथ जीवासो विदथमा वदेम ॥३०॥ (६)

पूर्वार्धः ऋ० १० । १८ । २ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(मृत्योः) मृत्यु के (पदं) पद, आने के कारणों को (योपयन्तः) मिटाते हुए (पुनः) हम ही (आयुः) आयु, जीवन को

२९–'अवक्रामन्तो दुरितान् परेहि' इति पैप्प० सं० ।

३०–(द्वि० च०) आप्यायमाना प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः । इति ऋ० ।

(द्राघीयः) अति दीर्घ और (प्रतरं) सब कष्टों से पार तराने योग्य (दधानाः) बनाते हुए (आसीनाः) व्रत, उपवास, यम, नियम आदि में स्थिर होकर बैठते हुए (मृत्युं) मृत्यु अर्थात् देह के आत्मा से छूटजाने की घटना को (नुदत) दूर भगा दो। (अथ) और हे (जीवासः) जीवो (सधस्थे) एक ही स्थान पर एकत्र होकर हम सब लोग (विदथम्) ज्ञान-कथा या ज्ञान-यज्ञ की (आ वदेम) चर्चा करें, एक दूसरे को ज्ञान का उपदेश करें।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ३१ ॥

अथर्व० १। ३। ३७॥ ऋ० १०। १८। ७॥

भा०—(इमाः) ये (नारीः) नारियें (अविधवाः) कभी विधवाएं न हों, बल्कि (सुपत्नीः) उत्तम गृहपत्नियें रहकर नित्य (आञ्जनेन) आंजन अर्थात् शरीर पर मलने योग्य (घृतेन) घृत से (संस्पृशन्ताम्) अपने शरीरों को लगावें। और (अनमीवाः) निरोग रहें। (अनश्रवः) कभी आंसू न बहाया करें। (सुरत्नाः) सुन्दर रत्न भूषण धारण करें और (जनयः) पुत्रोत्पादन में समर्थ वधू होकर (अग्रे) सबसे प्रथम (योनिम्) घर में-पलङ्ग पर और या एकत्र होने को सभा आदि स्थानों पर (आरोहन्तु) ऊँचे, आदर योग्य स्थान पर आदरपूर्वक विराजें। इसी प्रकार की ऋचा

३१–(द्वि०) 'संविशन्तु' इति ऋ०। 'मृशन्ताम्', (तृ०) 'अनमीवाः सुरत्नाः' इति तै० आ०।
'इमाः वीरा अविधवाः सुपत्न्या नराञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना स्योनाद् योनेरधितल्पं रुहेयुः [रहेयुः] ॥'
इति पैप्प० सं०, अधिका ऋक् ! 'इमे जीवा अविधवाः सुजामयः' इत्यादि पुत्र विषयिणी अर्धर्चिकाप्येतु योगदत्ता।

पुरुषों के लिये भी पैप्पलाद शाखा में और कौशिक सूत्रों में भी ऊहना की गया है ।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥३२॥

भा०—(अहम्) मैं (एतौ) इन स्त्री और पुरुष दोनों को (हविषा) हव्यचरु से और अन्न से (वि-आकरोमि) विविध रूप से पुष्ट करता हूं। और (तौ) उन दोनों को (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद ज्ञान से (अहं) मैं (वि कल्पयामि) नाना प्रकार से समर्थ करता हूं। और (पितृभ्यः) परिपालक, बूढ़े लोगों के लिये (अजराम्) अजर, अविनाशी (स्वधाम्) स्वय धारण करने योग्य अन्न को (कृणोमि) प्रदान करता हूं। और (इमान्) इन समस्त जीवों को (दीर्घेण) दीर्घ, लम्बे (आयुषा) जीवन से (सं सृजामि) युक्त करता हूं।

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तराविवेशामृतो मर्त्येषु ।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥३३॥

भा०—हे (पितरः) आत्मा की शक्तियों के पालक एवं ज्ञानपालक पुरुषो ! (नः) हमारा (यः) जो (अग्निः) अग्नि, ज्ञानमय, प्रकाशमय, परम आत्मा (अमृतः) अमर, मृत्युरहित, (मर्त्येषु) मनुष्यों में, मनुष्यों

३२–(तृ० च०) 'सुधा पितृभ्योऽमृतं दुहाना' इति पैप्प० सं० ।

३३–(द्वि०) 'अमृतस्य मर्त्येषु' (तृ०) 'मय्य तं प्रतिगृ०' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'अमर्त्यो मर्त्यां आविवेश', (तृ० च०) 'तमात्मन् परिगृह्णीमहे वयं मासौ अस्मान् अवहाय परागात्' इति तै० सं० । 'तमात्मन् परिगृह्णीमसीह नेदेषोऽस्मान् अवहाय परादत्' इति मै० सं० ।

के (हत्सु) हृदयों में (अन्तः) भीतर (आ विवेश) प्रविष्ट है (तं) उस (देवम्) प्रकाशमान, उपास्य, परम आत्मदेव को (अहम्) मैं ज्ञानी साधक पुरुष (मयि) अपने भीतर (परिगृह्णामि) धारण करूं । (सः) वह (अस्मान्) हमारे से (मा द्विषत) कभी द्वेष न करे और (तम्) उससे (मा वयम्) हम भी कभी द्वेष, विराग न करें, प्रत्युत परमात्मा हम से प्रेम करे और हम उस से प्रेम करें । इस मन्त्र से पुत्रादि पिताओं का हृदय स्पर्श करते हैं ।

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥ ३४ ॥

भा०—(गार्हपत्यात्) 'गार्हपत्य' अग्नि से (उपावृत्य) हटकर (दक्षिणा) दक्षिण दिशा में (क्रव्यादा प्रेत) क्रव्यात् शवाग्नि के प्रति आओ । और (पितृभ्यः) तुम्हारे बूढ़े या मृत पिता पितामह आदि को जो (प्रियम्) प्रिय, अभिलषित कार्य हो वह और जो (आत्मने) तुम्हारे अपने आत्मा को (प्रियम्) अच्छा प्रतीत हो वह और जो (ब्रह्मभ्यः) वेद के विद्वान् ब्राह्मण लोगों को (प्रियम्) अभिलषित कार्य हो वह (कृणुत) करो । अर्थात् पितादि के मरजाने पर 'गार्हपत्य' अग्नि से पृथक् होकर शवाग्नि को ग्राम या निवास से दक्षिण दिशा में चिता में आधान करो और बाद में अपने वृद्धों की अपनी और विद्वान् ब्राह्मणों की अभिलाषा के अनुकूल कार्य करो ।

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या ।
अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ ३५ ॥

३४-(प्र० द्वि०) 'अपावर्त्याग्निं गार्हपत्यं क्रव्यादान्वेतु दक्षिणा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यः) जो (क्रव्याद्) शव को खाने वाला (अग्निः) अग्नि (अ निर्-आहितः) गार्हपत्य अग्नि से पृथक् न किया जाय तो वह (ज्येष्ठस्य) जेठे (पुत्रस्य) पुत्र का (द्विभाग धनम्) दो भाग, दुगुना धन (आदाय) लेकर (अमत्यां) अमत्, उपद्रव और विनाश से (प्र क्षिणाति) विनाश कर देता है। अर्थात् पिता आदि का और्ध्वदैहिक कार्य भी घर के सामान्य धन में से किया जाय, नहीं तो बाद में परस्पर भाई भाई फूटकर लोग परस्पर उपद्रव से नष्ट हो जाते हैं।

यत् कृषते यद् वंनुते यच्च वस्नेन विन्दते।
सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥ ३६ ॥

भा०—(क्रव्यात् चेत्) यदि क्रव्यात्=शवभक्षक अग्नि (अ-निर्-आहितः) पृथक् आधान न किया जाय तो (यत् कृषते) मनुष्य जो खेत आदि से उत्पन्न करता है (यत् वनुते) और जो पितृधन में से हिस्सा प्राप्त करता है और (यत् च) जो कुछ (वस्नेन[1]) व्यापार से, द्रव्यों के मूल्य प्राप्ति से (विन्दते) प्राप्त करता है (मर्त्यस्य) मनुष्य का (तत् सर्वम्) वह सब कुछ (नास्ति) नहीं सा हो जाता है, व्यर्थ जाता है। अर्थात् शवाग्नि को सदा गार्हपत्य अग्नि से पृथग् आधान करना ही चाहिये। और मुर्दों का यथोचित दाह करना चाहिये। क्रव्यात् अग्नि, मृत पुरुष के आत्मा के समान है।

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥ ३७ ॥

३६–' वस्नेन ' इति क्वचित्।

१. वसति येन सः वस्नः, मूल्य वेतन वेति दयानन्द उणादौ।

३७–(प्र०) ' ये अग्नयो ' (तृ०) ' कृषिं गा धनम् ' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यं) जिसके पीछे (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाला शवाग्नि, शोक रूप में (अनुवर्त्तते) बाघ के समान लग जाता है वह पुरुष (अयज्ञियः) यज्ञ के अयोग्य और (हतवर्चाः) निस्तेज (भवति) हो जाता है (एनेन) इसके हाथ से (हविः) यज्ञ का हवि (न अत्तवे) खाने योग्य नहीं रहता। वह (कृष्याः) खेती बाड़ी, (गोः) गौ आदि पशुओं और (धनात्) धन सम्पत्ति से भी (छिनत्ति) वञ्चित हो जाता है, उनको वह खो बैठता है। फलतः मृतकों का दाह भली प्रकार करके पुनः शुद्ध होकर घर में प्रवेश करना चाहिये।

मुहुर्गृध्यैः प्र वंदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्यं।
क्रव्याद् यान॒ग्निर॑न्तिकाद॑नुविद्वान् वितावंति ॥ ३८ ॥

भा०—(यान्) जिनके (अन्तिकात्) समीप शव को खाने वाला (अग्निः) अग्नि रहता है, वह पुरुष (गृध्यैः) अपने अभिलाषा के पात्र, अपने प्रिय मृतों से मानो (मुहुः) बार २ (प्रवदति) बात चीत करता और वह (मर्त्यः) मनुष्य (आर्तिम्) पीड़ा को (नि इत्य) प्राप्त होकर (अनु विद्वान्) पीछे से भी वेदना या दुःख को प्राप्त होकर (वितावति) विविध प्रकार से कष्ट पाता है।

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥ ३९ ॥

भा०—(यत्) जब (स्त्रियाः) स्त्री का (पति) पति, गृहपति (म्रियते) मर जाय तब (गृहाः) घर के जन स्त्री आदि (ग्राह्या) जकड़ने वाले संक्रामक मोहमय रोग, पीड़ा या ममता से (संसृज्यन्ते) युक्त हो जाते हैं। इसलिये

३८–(च०) 'विभावेति' इति लुडविग्राभिमतः। बहुत्रापि प्रत्यन्तर्दर्शन तर्ह्येतेनेति न। क्रव्यादग्निरनुविद्वान् विभावति [?]' इति पैप्प० सं०।
३९–(द्वि०) 'यत्स्त्रियाः म्रियते' इति पैप्प० सं०।

(ब्रह्मा एव) ऐसा ब्राह्मण (विद्वान्) ज्ञानी (एष्यः) आवश्यक है (यः) जो (क्रव्यादम्) उस शोकमय शवाग्नि का (निर् आदधत्) पृथक् आधान करने में समर्थ हो। वह गार्हपत्य से पृथक् क्रव्याद् अग्नि को आधान करे, अर्थात् गृहस्थ अग्नि से जिस प्रकार 'क्रव्याद्' को अलग करके दूर छोड़ आया जाता है उसी प्रकार माया में जकड़े मृत शरीर को भी सब से पृथक् करके ज्ञानपूर्वक यथाविधि चिता में जला देवे और सबको उससे नाता तोड़ कर पुनः पूर्ववत् निःशोक होकर रहने का उपदेश करे। नहीं तो ममता-वश उठे संकल्पों से स्त्रियों के मस्तिष्क पर भयंकर रोग बाधाएं और पागलपन आदि विकार उत्पन्न होते हैं जिन्हें चुड़ैल आदि कहा जाता है। वह वस्तुतः मानस विकारमात्र हैं। वह पति आदि के मरने पर प्रायः (गृहाः) स्त्रियों को ही अधिक होता है।

यद् रि॒प्रं शम॑लं च॒कृम यच्च॑ दुष्कृ॒तम्।

आपो॑ मा॒ तस्मा॑च्छुम्भन्त्व॒ग्नेः संक॑सुकाच्च॒ यत् ॥४०॥ (१०)

भा०—शव दाह कर चुकने के बाद शुद्ध हो जाय। अर्थात् (यत्) जो (रिप्रम्) पाप (शमलम्) मलिन और (यत् च) जो (दुष्कृतम्) बुरे काम भी हम (चकृम) करते हैं (आपः) जलों के समान पवित्र आप्त पुरुष (मा) मुझे, हमें (तस्मात्) उस पापादि बुरे संकल्पों से और (संकसुकात् अग्नेः च) संकसुक, शव भक्षी अग्नि से भी (शुम्भन्तु) पवित्र करें।

ता अ॑धरा॒दुदी॑ची॒राव॑वृत्रन् प्रजान॒तीः प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑।

पर्व॑तस्य वृष॒भस्याधि॑ पृ॒ष्ठे नवा॑श्चरन्ति स॒रितः॑ पुरा॒णीः ॥ ४१ ॥

४०–'यद्दुरितम्', (द्वि०) 'शुम्भन्तु' (च०) 'अग्नि संकुसिरा-च्च यः' इति पैप्प० सं०।

४१–(प्र०) '-ताधरात्' (द्वि०) 'वृषभस्य' इति पैप्प० सं०।

भा०—(ताः) वे पूर्वोक्त आप्त जनों की श्रेणियां, स्वच्छ जल-धाराओं के समान (अधरान्) नीचे से (उदीचीः) ऊपर की तरफ़ जाती हुई (प्रजानतीः) उत्कृष्ट ज्ञान सम्पन्न होकर (देवयानैः पथिभिः) विद्वानों से गमन करने योग्य मोक्ष मार्ग के (पथिभिः) मार्गों और साधनों से (आ अवनृत्रन्) वृत्ति, आचरण करती हैं । (पर्वतस्य अधि पृष्ठे सरितः) पर्वत के पीठ पर जैसे सदा नयी जल-धाराएं अति प्राचीन काल से बहा करती हैं उसी प्रकार (वृषभस्य) सर्वश्रेष्ठ समस्त सुखों के वर्षा करने हारे परमेश्वर के (अधि पृष्ठे) आश्रय में (पुराणीः नवाः चरन्ति) अति पुरातन काल के और नये भी आप्तजन विचरते हैं ।

अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥ ४२ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! तू (अक्रव्याद्) क्रव्यात्, मांसाहारी व्याघ्र या हिंसक जन के समान नहीं होकर भी (क्रव्यादं) मांसभक्षी जनों को (निः नुद) परे कर । और (देवयजनम्) देवों की उपासना करने वाले सत्पुरुष को (वह) हमें प्राप्त करा । अथवा—हे परमात्मन् ! (क्रव्यादं निः नुद) देह के मांस को खाने वाले मृत्यु को दूर कर और (देवयजनं वह) देव, परमेश्वर की संगति प्राप्त कराने वाले आत्मस्वरूप को प्राप्त करा ।

इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात् ।
व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥ ४३ ॥

भा०—(इमम्) इस पुरुष में (क्रव्याद्) कच्चा मांस खाने वाला आत्मा या स्वभाव (आविवेश) प्रविष्ट होजाय या (अयम्) यह पुरुष स्वयं (क्रव्यादम्) मांसभक्षी राक्षस के (अनु अगात्) अनुकरण में उनका संगी होजाय तो उन दोनों को (व्याघ्रौ कृत्वा) व्याघ्र, भेड़िया, शेर

४३–(प्र०) 'प्रविवेशा' (तृ०) 'नानानं' इति पैप्प० सं० ।

के समान जान कर अथवा दोनों व्याघ्र स्वभाव के पुरुषों को (कृत्वा) मार कर (नानान) दोनों का पृथक् २ करके (तम्) उसको (शिवात्परम्) शिव=मंगल से अतिरिक्त अमंगल स्थान पर (हरामि) ले जाऊं । जिसमें बाद में मांस खाने का स्वभाव आ जाय या संग दोष से जो मांस खाने लग जाय उन दोनों को हम जुदा करके कठिन कारागार में डाल दें या दण्ड दें ।

अथवा—(क्रव्यात्) मांसभक्षक शवाग्नि या मृत्यु जिसमें प्रविष्ट हो जाय या जो 'क्रव्याद्' मृत्यु के पीछे स्वयं चला जाय दोनों को व्याघ्र के समान जान कर पृथक् २ अमंगल स्थान, श्मशान पर भेज दें ।

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणाम् ।
अग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

भा०—(गार्हपत्य अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (देवानाम्) देवों के छिपने का स्थान या रक्षास्थान और (मनुष्याणाम्) मनुष्यों का (परिधिः) रक्षा स्थान या नगर के कोट के समान है । यह (उभयान्) देव और मनुष्य दोनों के (अन्तरा) बीच में (श्रितः) विराजमान है ।

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ ४५ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् या परमेश्वर ! (त्वम्) तू (जीवानाम्) जीवों को (आयुः) दीर्घ जीवन (प्रतिर) प्रदान कर । और (ये मृताः) जो लोग मर जाय वे (अपि) भी (पितृणाम् लोकम्) परि

४४–(तृ०) 'उभयान्तरा' इति पैप्प० सं० ।
४५–(प्र०) 'जीवानामग्ने प्रतर दीर्घमायुः' (तृ० च०) 'गार्हपत्य-सुषा श्रेय श्रयसि दधत्' इति पैप्प० सं० ।

पालक वायु चन्द्र, सूर्य आदि तत्वों में या वृद्ध पितृजनों के लोक=यश या पद को (गच्छन्तु) प्राप्त हों । तू (सु-गार्हपत्यः) उत्तम गार्हपत्य नामक अग्नि या राजा (अरातिम्) शत्रु को (वितपन्) विविध प्रकार से संतप्त करता हुआ (उषाम्-उषाम्) प्रति दिन (अस्मै) इस पुरुष को (श्रेयसीम्) सर्वोत्तम लक्ष्मी को (धेहि) प्रदान कर । एष वै गार्हपत्यो यमो राजा । श० २ । ३ । २ । २ ॥

सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥४६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान दुष्टों को संताप देने हारे राजन् ! तू (सर्वान् सपत्नान्) समस्त शत्रुओं को (सहमानः) पराजित करता हुआ (एषाम्) इनके (रयिम्) धन को और (ऊर्जम्) अन्न आदि पुष्टिकारी पदार्थों को (अस्मासु) हमें (धेहि) प्रदान कर ।

इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥ ४७ ॥

भा०—(इमम्) इस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील (वह्निम्) राज्य-कार्य के भार को उठाने में समर्थ, नरपुङ्गव, (पप्रिम्) सब के पालक राजा को (अनु आ-रभध्वम्) उसके अनुकूल होकर, उसके समीप जाकर सब प्रकार से उसे प्राप्त करो उसे अपनाओ । (सः) वह राजा (वः) हमें (अवद्यात्) गर्हणीय, निन्दनीय (दुरितात्) दुष्ट, दुःखदायी, पापाचरण से (निर् वक्षत्) पृथक् रखे । हे प्रजाजनो ! (तेन) उस राजा के बल से (शरुम्) हिंसक पुरुष को (अप हत) मारो । और (तेन) उसी के बल पर (रुद्रस्य) प्रजा को रुलाने वाले, उग्र घोर डाकू के (अस्ताम्) फेंके हुए शस्त्र अस्त्र से (परि पात) प्रजा की सब प्रकार से रक्षा करो । अथवा राजा के प्रबन्ध से ही रुद्र की फेंकी शक्ति वज्र=विद्युत् आदि दैवी विपत्ति से भी प्रजा की रक्षा करो ।

४७-(द्वि०) 'स नो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात्' इति तैत्ति० सं० ।

अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात्।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥ ४८ ॥

भा०—(अनड्वाहम्) अनस्=शकट को जिस प्रकार बैल उठाता है राष्ट्र रूप शकट को उठाने वाले राजा और ब्रह्माण्ड रूप शकट को ले चलने वाले सर्व प्रवर्तक परमेश्वर स्वरूप (प्लवम्) जहाज को आप लोग (अनु-आरभध्वम्) प्राप्त करो। (सः) वह (वः) आप सबको (अवद्यात्) निन्दनीय (दुरितात्) बुरे कामों से (निर् वक्षत्) मुक्त करे। हे सज्जनो ! (सवितुः) सब के उत्पादक और प्रेरक परमेश्वर और उत्तम राजा की बनायी (एताम्) इस (नावम्[1]) नाव के समान, सब को भवसागर और दुःखसागर से पार उतारने वाली और सब को अपने बीच में सुरक्षा से रखने वाली राजव्यवस्था रूप नाव में (आरोहत) चढ़ो, उसमें शरण लो। और (षड्भिः) छहों (उर्वीभिः) उर्वी, विशाल शक्तियों से हम (अमतिम्) अज्ञान और कुमति को (तरेम) पार करें।

' षड् ऊर्मयः '=छः बड़ी शक्तियां, पांच ज्ञान इन्द्रिय और छठा मन, ये आत्मा की छः बड़ी शक्तियां हैं जिनसे वह सारी अमति-अविद्या को तरता और ज्ञान प्राप्त करता है।

अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥४९॥

भा०—हे (तल्प) सबके प्रतिष्ठापक ! पलङ्ग के समान सबको सुख से अपने में विश्राम देने हारे परमेश्वर एवं राजन् ! तू (अहोरात्रे) दिन और रात (बिभ्रत्) हमें धारण पोषण करता हुआ (क्षेम्यः) सबको कुशल मङ्गल करने हारा (सुवीरः) उत्तम वीर्यवान्, उत्तम वीर पुरुषों

१. नुदर्तेर्निपधः उणादिः । प्रेरयतीति नौः इति दयानन्दः।

मे युक्त (प्रतरणः) नौका के समान सबको पार तारने वाला (तिष्ठन्) स्थिर रूप से विराजमान होकर भी (अनु एषि) सबके अनुकूल होकर प्राप्त है । तू (सुमनसः) शुभ चित्त वाले (अनातुरान्) काम क्रोधादि से अनातुर, शान्त, तृष्णारहित, स्वस्थ पुरुषों को अपने में (बिभ्रत्) धारण करता हुआ भी हे (तल्प) पलङ्ग के समान सबको विश्राम देने हारे ! (ज्योक् एव) चिर-काल से और चिर-काल तक (नः) हमें (पुरुष-गन्धिः[1]) पुरुषों को उनके पाप कर्मों का दण्ड देने वाला 'जनार्दन' होकर (एधि) विराजमान है ।

४८, ४६ दोनों मन्त्रों में जनार्दन का मत्स्यावतार और मनु के वेद-मयी नौका की कल्पना का मूलमात्र प्राप्त होता है ।

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा ।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥ ५० ॥ (११)

भा०—जो लोग (सर्वदा) सदा काल (पापम्) पापमय (जीवन्ति) जीवन विताते हैं (ते) वे (देवेभ्यः) देव, विद्वान्, सद्गुणी साधु पुरुषों से सदा के लिये (आ वृश्चन्ते) कट जाते हैं, अलग हो जाते हैं. उनको सज्जनों का संग प्राप्त नहीं होता । (अश्व इव नडम्) जिस प्रकार सूखे नड को घोड़ा पैरों से रौंद २ कर तोड़ फोड़ देता है उसी प्रकार (यान् अन्तिकात्) जिनके समीप (क्रव्यात् अग्निः) कच्चा मांस खाने वाला (अग्निः) अग्नि के समान सन्ताप-कारी निर्दय स्वभाव होता है वह उनके (नडम्) नड=नर या मानुष स्वभाव या मनुष्यता को (अनु वपते) निरन्तर नाश कर देता है ।

१. 'गन्ध अर्दने' चुरादिः । पुरुषान् गन्धयतीति पुरुषगन्धिः जनार्दनः

५०-(प्र०) 'ते देवेषु आ प्रश्चन्ते' इति पैप्प० सं० ।

के (गह्वरं) गहरे भाग को (सचस्व) चला जा। इसका अभिप्राय यह है, मांसाहारी जीव भेड़िया आदि काली भेड़ खाता है, सीसे के गोली से मारा जाता और माष की दाल के समान दल दिया जाता यही उसका भाग्य है।

शव को श्मशान में ले जाते समय लोहे का टुकड़ा पात्र में रखने और उड़द की दाल घटिया को देने और अनुस्तरणी पशु को बलि करने आदि का गृह्योक्त कर्म का आधार यही मन्त्र है।

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥ ५४ ॥

भा०—(जरतीम्) जीर्ण हुई (इषीकाम्) सींक को (तिल्पिञ्जं) तिल के डंठल को और (दण्डनं) दण्डन=बांस और (नडम्) नड, नरकुल इनको (इष्ट्वा) यज्ञ अर्थात् इनके समान जीर्ण देह को अग्नि में आहुति करके (इन्द्रः) इन्द्र, ज्ञानैश्वर्यवान् पुरुष (तम्) उस अपने आत्मा को (इध्मम्) ईंधन बना कर या प्रदीप्त करके (यमस्य) सर्व-नियन्ता परमेश्वर के (अग्निम्) ज्ञानमय अग्नि के समान स्वरूप को (निर्-आदधौ) अपने भीतर धारण करे।

सींक, तिलपिञ्ज और दण्डन=बांस और नल ये चारों पदार्थ जीर्ण हो जाने पर जला दिये जाते हैं और फिर ऋतु पर नये उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यह पुरुष भी अपने जीर्ण देह को अग्नि में जला दे और स्वयं ईश्वर के तेजोमय स्वरूप को धारण करे उसका ध्यान चिंतन करे।

प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान् पन्थां वि ह्या/विवेश।
परामीषामसून् दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥५५॥ (१२)

५४–(तृ०) 'तानिन्द्रेध्मं' इति पैप्प० सं०।
५५–(द्वि०) 'वि आस्कर' इति पैप्प० सं०।

भा०—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यग्, प्रत्येक के हृदय में प्रकाशमान (अर्कं) सूर्य के समान प्रकाशमान परमेश्वर को (प्रति अर्पयित्वा) स्वयं अपने आपको सौंप कर (प्रविद्वान्) अति उत्कृष्ट ज्ञानी मैं (पन्थाम्) उस परम, मोक्ष मार्ग में (हि) निश्चय से (वि आविवेश) चला जाऊं। और (अमीषाम्) उन मोक्ष-गत मुक्तात्माओं के (असून्) सूक्ष्म प्राणों को (परा दिदेश) पुनः ले लेता हूं। और (इमान्) इन जीवों को (दीर्घेण आयुषा) दीर्घ जीवन से भी मैं (संसृजामि) युक्त करूं।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकमेवसूक्तम्, ऋचश्च पञ्चपञ्चाशत्]

[३] स्वर्गौदन की साधना या गृहस्थ धर्म का उपदेश।

यम ऋषि०। मन्त्रोक्त, स्वर्गौदनोऽग्निर्देवता। १, ४२, ४३, ४७ भुरिजः, ८, १२, २१, २२, २४ जगत्यः १३ [?] त्रिष्टुप्, १७ स्वराट्, आर्षी पङ्क्तिः, ३४ विराड्गर्भा पङ्क्तिः, ३९ अनुष्टुब्गर्भा पङ्क्तिः, ४४ पराबृहती, ५५-६० त्र्यवसाना सप्तपदाऽतिजागतशाकरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः [५५, ५७-६० कृतयः, ५६ विराट् कृतिः]। षष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

पुमा॑न् पुंसोऽधि॑ तिष्ठ॒ चर्मे॒हि तत्र॑ ह्वयस्व यत॒मा प्रि॒या ते॑।
याव॑न्ता॒वग्रे॑ प्रथ॒मं स॑मे॒यथु॒स्तद् वां॒ वयो॑ यम॒राज्ये॑ समा॒नम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष! तू (पुमान्) पुमान्, पुरुष या वीर्यवान् मर्द हो कर (पुंसः) अन्य पुरुषों पर (अधितिष्ठ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान हो। तू (चर्म) चर्म=आसन पर (इहि) आ, विराज। (तत्र) उसी

[३] १-(प्र०) 'पुंसो अधि, त्विष् चर्म तत्' इति पैप्प० सं०।

आसन पर (यतमा) सब स्त्रियों में से ते) तुझे जो सब से अधिक (प्रिया) प्रिय स्त्री है उसको (ह्वयस्व) बुलाकर पत्नी स्वरूप में बिठला। हे पति पत्नी ! (अग्रे) सब से प्रथम (यावन्तौ) जितनी शक्ति और सामर्थ्य से युक्त होकर तुम दोनों (प्रथमम्) प्रथम (सम् ईयथुः) परस्पर संगत होओगे (तत्) वह सब कुछ (वाम्) तुम दोनों का (वयः) जीवन सामर्थ्य (यमराज्ये) सर्व नियन्ता परमेश्वर के या गार्हपत्य, गृहस्थ के राज्य=गृहस्थाश्रम में (समानम्) समान रहे।

पुरुष, बलवान् , जवान होकर ऊंचे आसन पर बैठ कर अपने साथ अपने हृदय की प्रियतमा को बैठा कर अपनी पत्नी बनावे। और वे दोनों जितने भी सम्पत्तिमान हों गृहस्थ जीवन में उनका वह सब कुछ समान ही रहे।

तावद्वां चक्षुस्तति वीर्याणि तावत् तेजस्ततिधा वाजिनानि।
अग्निः शरीरं सचते यदैधोधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥ २॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! पति और पत्नी ! (वाम्) तुम दोनों को (तावत्) उतने अधिक सामर्थ्य वाली (चक्षुः) प्रेम से युक्त आंख है, और (तति वीर्याणि) तुम दोनों के उतने अधिक वीर्य, सामर्थ्य हैं कि कहा नहीं जा सकता। और इसी प्रकार तुम दोनों का (तावत् तेजः) उतना अधिक तेज है और (ततिधा) उतने नाना प्रकार के (वाजिनानि) बलयुक्त कार्य हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। परन्तु याद रखो। कि (यदा) जब (अग्निः) कामरूप अग्नि या वीर्यरूप या ब्रह्मचर्यरूप तप (एधः) काष्ठ को अग्नि के समान (शरीरम्) शरीर को (सचते) प्राप्त करता और प्रदीप्त करता और कान्तिमान करे। (अधा)

२-(द्वि०) 'अग्निः शरीरं सचलेऽथ' इति पैप्प० सं०।

तब (पक्वाः) परिपक्व वीर्य या परिपक्व शरीर के बल से (मिथुना) तुम दोनों पति पत्नी (संभवाथः) परस्पर मैथुन करके पुत्रोत्पत्ति करो ।

प्रजननं वा अग्निः । तै० १ । ३ । १ । ५ ॥ तपो वा अग्निः । श० ३ । ४ । ३ । २ ॥ अग्निर्वै कामः देवानामीश्वरः । कौ० १६ । २ ॥ अग्निः प्रजानां प्रजनयिता । तै० १ । ७ । २ । ३ ॥ अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता । श० ३ । ४ । ३ । ४ ॥ अग्निर्वै रेतोधा ३ । ७ । ३ । ७ ॥ वीर्यं वा अग्निः । गो० उ० ६ । ७ ॥ प्रजनन, तप, काम, वीर्य आदि अग्नि शब्द से कहे जाते हैं । उसके शरीर में ब्रह्मचर्य द्वारा पर्याप्त रूप में संचित होजाने पर स्त्री पुरुष मैथुन करके सन्तान उत्पन्न करें ।

' मैथुन ' करने को वेद ' सम्-भवति ' धातु से प्रकट करता है । क्यों कि उस समय दोनों समान वीर्य होकर अपनी सृष्टि उत्पन्न करते हैं । और मैथुन द्वारा वे दोनों अपने ही समान सन्तान उत्पन्न करते हैं ।

सम॒स्मिँल्लो॒के समु॑ देव॒याने॒ सं स्मा॑ समे॒तं य॑म॒राज्ये॑षु ।
पू॒तौ प॒वित्रै॒रुप॒ तद्ध्व॑येथां॒ यद्य॒द् रेतो॒ अधि॑ वां सं॑ब॒भूव॑ ॥३॥

भा०—हे पति पत्नी ! तुम दोनों (अस्मिन् लोके) इस लोक में (सम-एतम्) सदा एक साथ समान भाव से रहो । (देवयाने) देव परमेश्वर की उपासना या मोक्ष मार्ग की साधना में भी (सम् उ) सदा दोनों एकत्र ही रहो । और (सम् स्म) सदा साथ रहते हुए (यमराज्येषु) यम, नियन्ता राजा के समस्त राज्य के कार्यों में अथवा (यमराज्येषु) यम, गार्हपत्य के समस्त कार्यों में, गृहस्थ के समस्त कार्यों में या यमराज, परमात्मा के समस्त उपासना आदि कार्यों में (सम् एतम्) तुम दोनों समान भाव से एकत्र होकर रहो । और (यद् यद्) जब जब भी (वां) तुम दोनों का (रेतः) वीर्य (अधि-संबभूव) गर्भ में एकत्र होकर पुत्र रूप में स्थिर हो जाय तब २ (पवित्रैः) पवित्र आचरणों और पवित्र कार्यों में

(पूतौ) तुम दोनों शुद्ध पवित्र होकर (तत्) गर्भ में स्थित उस वीर्यांश को (उपह्वयेथाम्) शुभ संस्कारों में पुष्ट करो, उस पर उत्तम २ संस्कार डालो। अथवा—(यद् यद्) जब २ (वां रेतः अधिसंबभूव) तुम्हारा वीर्य पुत्र रूप में उत्पन्न हो (तत्) तब (पवित्रैः पूतौ) पवित्र यज्ञों और स्नान आदि उपचारों से पवित्र होकर (उपह्वयेथाम्) सबको अपने पास नामकरणादि में सम्मिलित होने के लिये बुलाओ।

आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य।
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री ॥ ४ ॥

भा०—हे (पुत्रासः) युवक पुत्रो ! तुम भी (आपः) अपने समीप प्राप्त अपनी पत्नियों के साथ (अभि सं विशध्वम्) गृहस्थ धर्म का पालन करो, उनमें पुत्रादि उत्पन्न करो। हे (जीवधन्याः) जीवन के श्रेष्ठ धन से सम्पन्न पुरुषो ! आप लोग (इमम्) इस (जीवं) पुत्र को (समेत्य) प्राप्त होकर (तासाम्) अपनी गृहपत्नियों के या वीर्यरक्षा रूप उस (अमृतम्) अमृत-मय परम गृहस्थ सुख को (भजध्वम्) प्राप्त करो (यम्) जिस (ओदनम्) ओदन के समान पुष्टिकारक वीर्य को (वाम्) तुम दोनों को (जनित्री) माता (पचति) ब्रह्मचर्य पालनादि द्वारा पकाती या परिपक्व करती रही है। मा बाप जिस प्रकार भोजन बनाकर तुम को खिलाते रहे और ब्रह्मचर्यादि से तुम दोनों को पुष्ट करते रहे उसी प्रकार अब वर-वधू के मां बापों ने तुम दोनों को एक दूसरे को सौंपा है तुम परस्पर के जीवन से पुत्रादि लाभ करके अमृतमय जीवन सुखभोग करो।

'आपः'—अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किं च तस्मादापोऽभवत् तदपामाप्त्वं। आप्नोति वै सर्वान् कामान् यान् कामयते। गो० पू० १।२॥

४–(च०) 'पचति वो जनित्री' (द्वि०) 'मन्द्रास्तमेता' इति पैप्प० सं०।

देनो हि पाप । श० १ । १ । १ । ३ । ७ ॥ ऐनो वा पाप । ऐ० ११ । ३ ॥
अग्निना वा पाप मुच्यते । श० ६ । ८ । २ । ३ ॥

यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा ॥ ५ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (यं) जिस 'ओदन'=वीर्य को (वां पिता) तुम दोनों के पिता और (माता च) माताएं भी (रिप्रात्) पितृ-ऋण में अर्थात् रहने रूप पाप से और (वाचः) वाणी के (शमलात् च) पाप से (निर्मुक्त्यै) सर्वथा मुक्त होने के लिये (पचति) पकाती है परि-पक्व करती है (सः) वह ओदन, वीर्य, ब्रह्मचर्य आदि का परिपालन ही (शतधारः स्वर्गः) शतवर्ष की आयु को धारण करने वाला स्वर्ग, अति सुखकारी आनन्द प्राप्त करने का उपाय है। वह (महित्वा) अपने महिमा से (उभे नभसी) दोनों लोकों को, द्यौ और पृथ्वी को या आत्मा को बांधने वाले इहलोक और परलोक या वर्तमान जीवन और सन्तानों का जीवन (उभे) दोनों को (व्याप) व्याप्त करता है। मां बाप स्वयं भी ब्रह्मचर्य का पालन करें पुत्र पुत्रियों को भी पालन करावें इसमें इहलोक, परलोक, वर्तमान जीवन और सन्तानों के जीवन भी सुखमय होते हैं। वही सौ वर्ष की आयु देने वाला परम साधन है।

उभे नभसी उभयांश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः।
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रये-थाम् ॥ ६ ॥

भा०—(उभे नभसी) दोनों लोक द्यौ और पृथिवी और (उभ-यान् च लोकान्) और दोनों प्रकार के लोक (ये) जो (यज्वनाम्) यज्ञ-

५-(प्र०) 'य वः पिता' इति पैप्प० सं०।

शील पुरुषों द्वारा (अभिजिताः) प्राप्त करने योग्य (स्वर्गाः) सुखमय लोक हैं (तेषाम्) उनमें से (यः) जो लोक (मधुमान्) मधु के समान आनन्दरस से पूर्ण और (ज्योतिष्मान्) प्रकाशमय, ज्ञानमय लोक है, हे पुरुषो ! (तस्मिन्) उस (अग्रे) सर्वश्रेष्ठ लोक में (पुत्रैः) अपने पुत्रों सहित जरसि) अपने ढलते जीवन में (सं श्रयथाम्) अच्छी प्रकार से रहो ।

प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पुक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती सं श्रयेथाम् ॥७॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! आप लोग (प्राचीम् प्राचीम्) पूर्व दिशा के समान सूर्य के द्वारा प्रकाशमान (प्रदिशम्) प्रदेश या लोक को ही (आरभेथाम्) प्राप्त करो । (एतं लोकं) इस श्रेष्ठ लोक को (श्रद्दधानाः) सत्य को धारण करने वाले लोग ही (सचन्ते) प्राप्त होते हैं । हे (दम्पती) स्त्री-पुरुषो, पति पत्नी लोगो ! (यत्) जो (वां) तुम दोनों का (पक्वम्) पका, परिपक्व वीर्य (अग्नौ) अग्नि अर्थात् प्रजनन कार्य में (परिविष्टम्) पड़ गया है, गर्भ में स्थिर हो गया है (तस्य) उसकी (गुप्तये) रक्षा के लिये तुम दोनों (सम् श्रयेथाम्) एक दूसरे पर आश्रित होकर रहो ।

प्रजननं वा अग्निः । तै० १ । २ । १ । ४ ॥ यज्ञाग्नि में पक्व चरु का डालना भी प्रतिनिधिवाद से अग्नि में आहुति और स्त्री में वीर्याधान का प्रतिनिधि है । योषा वाव गौतमाग्निः । तस्या उपस्थ एव समित् । यदुपमन्त्रयते स धूमः । यदन्तः करोति त अङ्गाराः । अभिनन्दाः विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेर्गर्भः सम्पद्यते । छा० उप० ५ । ८ ॥ स्त्री स्वयं अग्नि है । कामांग काष्ठ हैं, स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम धूम है,

७–(तृ० च०) 'निमाथ गात् यद् वां पुक्वमस्तु निर्वां यवः' विमुक्तानेत्वान- वद् इति पैप्प० सं० ।

भोग ज्वाला है सुख विस्फुलिङ्ग हैं, उस अग्नि में विद्वान् लोग वीर्य की आहुति देते हैं वह गर्भ रूप से उत्पन्न होते हैं। इसी के लिये वेद अग्नि में 'पक्व की आहुति' अर्थात् परिपक्व वीर्य की आहुति देने की आज्ञा देता है उसकी रक्षा का उपदेश करता है।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्।
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥ ८ ॥

भा०—हे पति और पत्नि ! तुम दोनों (दक्षिणां दिशम्) दक्षिण दिशा अर्थात् पूर्व पितरों की दिशा, गृहस्थ धर्म को (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकार से आचरण करते हुए (एतत् पात्रम् अभि) इस पात्र=परस्पर के पालन करने रूप गृहस्थ धर्म के प्रति ही (पर्यावर्तेथाम्) चले आया करो। (तस्मिन्) उस परस्पर पालन करने हारे धर्म में विद्यमान (वां) तुम दोनों में से (यमः) जो यम, परम ब्रह्मचारी है वह (पितृभिः) उत्तम ज्ञान लाभ करता हुआ (पक्वाय) परिपक्व वीर्य होने के कारण (बहुलं शर्म) बहुत अधिक सुख (नियच्छात्) प्राप्त कराने में समर्थ है। अथवा (पितृभिः संविदानः) लोक के पालक अग्नि वायु जलादि शक्तियों के साथ वर्त्तमान या पूज्य लोगों के साथ सहमति करता हुआ (यमः) सर्व नियन्ता परमेश्वर या पितृलोक या गृहस्थ आश्रम (तस्मिन् वां पक्वाय शर्म नियच्छात्) अर्थात् उस गृहस्थ धर्म में वर्तमान तुम दोनों में से परिपक्व वीर्य वाले ब्रह्मचारी को अधिक सुख प्रदान करता है। अथवा (पक्वाय=पक्वस्य बहुलं शर्म नियच्छात्) परिपक्व वीर्य का बहुत अधिक सुख प्रदान करता है।

८—(द्वि०) 'तस्मिन् का', 'तस्मिन् वयद्', 'तस्मिन् यरान्', 'तस्मिन् वाम यम्' इत्यादि बहुधा पाठभेदः।

अर्थात् गृहस्थ का सब से अधिक सुख परिपक्व वीर्य वाले स्त्री पुरुषों को ही सब से अधिक प्राप्त होता है।

एषा वै दक्षिणा दिक् पितृणाम्। श० १।२।५।१७॥ पितरो नमस्याः। श० १।५।२।३॥ यान् अग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः। श० २।६।१।७॥ ये वा अयज्वानो ते गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः। श०।२।६।१।७॥ ये वै यज्वानः ते पितरो बर्हिषदः। तै० १।८।७।६॥ नमस्कार करने योग्य लोग 'पितर' हैं। जिनको स्वयं अग्नि भोजन का आस्वाद देती है, वे और वे जो गृहस्थ होकर भी यज्ञ नहीं करते होते वे अग्निष्वात्त पितर हैं और यज्ञशील गृहस्थी लोग 'बर्हिषद्' पितर हैं।

प्रतीचीं दिशामियमिद् वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः॥६॥

भा०—(इयम् प्रतीची) यह प्रतीची, पश्चिम दिशा (इत्) ही (दिशाम्) समस्त दिशाओं में (वरम्) अच्छी है (यस्यां) जिसमें (सोमः) सोम, सर्वोत्पादक परमेश्वर या राजा या उत्पादक शुक्र ही (अधिपा) पालक अधिष्ठाता और (मृडिता च) सब को सुख देने वाला है। (तस्याम्) उस दिशा में (श्रयेथाम्) तुम दोनों स्त्री पुरुष आश्रय प्राप्त करो और (सुकृतः) शुभ कर्मों का (सचेथाम्) पालन करो। (अधा) और यहां ही (पक्वात्) पक्व वीर्य से, पक्व वीर्य होकर (मिथुना सं भवाथः) परस्पर जोड़ा होकर सन्तान पैदा करो।

मनुष्याणां वा एषा दिक् यत् प्रतीची। ष० ३।१॥ प्रतीची दिक्, सोमो देवता। तै० ३।११।५।२॥

६–(च०) 'अधा पक्वेन सह सं भवेम' इति पैप्प० सं०।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ।
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥१०॥(१३)

भा०—(उत्तरम् राष्ट्रम्) उत्तर राष्ट्र अर्थात् उत्कृष्ट राष्ट्र ही (प्रजया) उत्तम रीति से उत्पन्न होने वाली 'प्र जा' से ही वह (उत्तरावत्) 'उत्तरावत्', उत्तम सम्पत्तिमान् है जिसको (उदीची दिशाम्) दिशाओं में उदीची=उत्तर दिशा अपने दृष्टान्त से (नः) हमारे लिये (अग्रम्) श्रेष्ठ (कृण्वन्) बनाती है अर्थात् बतलाती है । उत्तम प्रजा किस प्रकार की होती है ? सो बतलाते हैं कि (पुरुष) यह देहवासी पुरुष (पाङ्क्तं छन्दः) पञ्चाक्षरों से युक्त पंक्ति छन्द के समान पांच स्वतन्त्र प्राणों से युक्त (बभूव) रहता है । इसलिये हम लोग (विश्वैः) सब के सब (विश्वाङ्गैः) समस्त अङ्गों (सह) सहित (सं भवेम) प्रजारूप से उत्पन्न हों । अर्थात् विकृताङ्ग पुत्रों को न उत्पन्न करके सर्वाङ्ग सुन्दर पुत्रों को उत्पन्न करना यह उत्तम प्रजा प्राप्त करना और उत्तम राष्ट्र बनाना है । इसका उपदेश हमें उत्तर दिशा करती है ।

ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पुक्वम् ॥११॥

भा०—(ध्रुवा) ध्रुवा दिशा, (इयं) यह (विराट्) अन्न से पूर्ण विविध प्रकार से शोभा देने वाली विराट् पृथिवी है । (अस्मै) इसको हमारा (नमः अस्तु) नमस्कार हो । और यह (पुत्रेभ्यः शिवा) पुत्रों के लिये कल्याणकारिणी (उत) और (मह्यम्) मेरे लिये भी कल्याण और सुख के देने वाली (अस्तु) हो । (अदिते) अखण्डिते ! स्थिर ! (विश्ववारे) समस्त संसार से वरण करने और उनको दुःखों से बचाने वाली (देवि) देवि ! अन्नादि के प्रदान करनेहारी (सा) वह तू (नः) हमारे (इर्य इव)

१०–(तृ०) 'पंक्तिश्छन्दः' इति पैप्प० सं० ।

अन्न के स्वामी के समान (गोपा) पालन करने हारी होकर (पक्वम्) हमारे पक्व=परिपक्व वीर्य एवं उससे उत्पन्न प्रजा को (अभिरक्ष) सब प्रकार से सुरक्षित कर।

पितेव॑ पु॒त्रान॒भि सं स्व॑जस्व नः शि॒वा नो॒ वाता॑ इ॒ह वा॑न्तु॒ भूमौ॑।
यमो॑द॒नं पच॑तो दे॒वते॑ इ॒ह तं न॒स्तप॑ उ॒त स॒त्यं च॑ वेत्तु ॥ १२ ॥

भा०—(पिता पुत्रान् इव) जिस प्रकार पिता पुत्रों को आलिंगन करता है और प्रेम करता है उसी प्रकार हे पृथिवि ! या हे परमेश्वर ! तू (नः) हम मनुष्यों को (सं स्वजस्व) भली प्रकार आलिंगन कर, प्रेम कर। (इह भूमौ) इस भूलोक में (नः) हमारे लिये (वाता) वायुएं सदा (शिवाः) कल्याण और सुख देने हारी होकर (वान्तु) बहें। (देवते) देवस्वभाव के स्त्री और पुरुष (इह) यहां (यम् ओदनं) जिस ओदन भात के समान पुष्टिकारक वीर्य को (पचतः) परिपक्व करते, परिपुष्ट करते और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं (तम्) उसको (नः) हमारा (तपः) तप और (सत्यं च) सत्य आचरण भी (वेत्तु) जाने।

यद्य॑त् कृ॒ष्णः श॑कु॒न एह ग॒त्वा त्सर॑न् विष॑क्तं॒ बिल॑ आ॒ससाद॑।
यद्वा॑ दा॒स्या॒र्द्रह॑स्ता सम॒ङ्क्त उ॒लूख॑लं॒ शुम्भ॑तापः ॥ १३ ॥

भा०—(यत् यत्) जब जब (कृष्णः) काला, मलिन कर्म (शकुन) शक्तिशाली पुरुष, चोर आदि या काला पक्षी काक आदि मलिन जन्तु (इह) यहां, हमारे घर में (आ गत्वा) आकर (त्सरन्) कुटिल चालें चलता

१२-(द्वि०) 'वान्तु शग्मा' (च०) 'सत्यं च विद्वान्' इति पैप्प० सं०।

१३-(प्र०) 'शकुनेद' (तृ०) 'आसीदा दग्गदे', (च०) शुम्भ-तापः' इति पैप्प० सं०।

हुआ (विपर्क) पृथक् एकान्त में छुपे २ (बिले) खोह या घर में (आससाद) आस्नाय, अथवा (विपर्क स्सरन् बिले आससाद) नाना प्रकार का अन्न चुराकर अपनी बिल में चला जाय तो और (यद् वा) यदि (आर्द्रहस्ता) गीले हाथों वाली (दासी) दासी, नौकरानी व चयकारिणी शक्ति (ऊलूखलं मुसलं) ऊखल और मुसल को या क्षत्रिय राजा को (सम् अङ्क्र) हाथ लगाकर गीला कर दे, उसको भ्रष्ट कर दे तो हे (आप) जलो ! या आप्त पुरुषो ! तुम उन सब को (शुम्भत) शुद्ध करो ।

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः ।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दंपती पौत्रमघं नि गाताम् ॥१४॥

भा०—(अयं) यह (ग्रावा) मूसल, ऊखल (पृथुबुध्न) विशाल आधार वाला (वयोधाः) अन्नों का धारण करने वाला (पवित्रैः) पवित्र करने हारे उपायों से स्वयं (पूतः) पवित्र होकर (रक्षः) अन्न के ऊपर के रक्षा करने वाले आवरण छिलकों को (अपहन्तु) कूट २ कर पृथक् कर दे । हे ऊखल ! तू (चर्म आ रोह) तू चर्म पर विराज और (महि शर्म यच्छ) बड़ा भारी सुख प्रदान कर । (दम्पती) स्त्री पुरुष (पौत्रम् अघम्) अपने पुत्रों के हत्या आदि पाप को (मा नि गाताम्) प्राप्त न हों ।

राजा के पक्ष में—(अयं ग्रावा) यह राजा (पृथुबुध्नः) विशाल आधार से युक्त (वयोधा) बल और आयु को धारण करने वाला, (पवित्रैः पूतः) शुद्धाचरणों से स्वयं पवित्र होकर (रक्षः अप हन्तु) राक्षसों का नाश करे । हे राजन् (चर्म आ रोह) आसन पर विराज । (महि शर्म यच्छ) बड़ा सुख प्रजा को दे । कि (दम्पती पौत्रं अघं मा निगाताम्) पति, पत्नी पुत्र सम्बन्धी हत्या को न करें या पुत्र के किये हत्यादि पाप के

१४–(च०) 'निगाथाम्' इति पैप० स० । 'माहं पौत्रमघं नि याम्' आ० गृ० सू० । 'यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात्' इति पा० गृ० सू० ।

पात्र न हों, वे पुत्रों के हाथों से न मारे जांय। अर्थात् राजा गृहस्थों का प्रबन्ध करे कि मा बाप सन्तानों को और सन्तानें अपने मा बाप पर अत्याचार न करें।

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः।
स उच्छ्रयाति प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥१५॥

भा०—(वनस्पतिः) महान् वृक्ष के समान सबको अपनी छत्र-छाया में रखने वाला चक्रवर्ती राजा (सह देवैः) विद्वान् पुरुषों और अन्य शासकों सहित (रक्षः पिशाचान्) राक्षसों और पिशाचों को (अपबाधमानः) मार कर दूर भगाता हुआ (नः आगन्) हमें प्राप्त हो। (सः) वह (उत् श्रयाति) सबसे ऊंचा होकर सब के शिर पर विराजे और (वाचं) वाणी को (प्र वदाति) कहे सब को आज्ञा करे या सब को शिक्षा प्रदान करे। (तेन) उसके बल से हम (सर्वान् लोकान्) समस्त लोकों को (अभि जयेम) अपने वश करें उन पर विजयी हों।

सप्त मेधान् पशवः पर्यगृह्णन् य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श।
त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम् ॥१६॥

भा०—(पशवः) पशु, समस्त जीव (सप्त मेधान्) सात अन्नों को (परि अगृह्णन्) भोजन के रूप में प्राप्त करते हैं। और (त्रय-स्त्रिंशत्) तेतीस (देवताः) देव गण (तान्) उन जीवों या अन्नों के साथ (सचन्ते) समवाय या देह रूप से संघ बनाते हैं। (एषां) इन देवताओं में से

१५-(तृ०) 'सोच्छ्रयाति', (च०) 'अभिसर्वान्' इति पैप्प० सं०।
१६-(तृ०) 'तान् सचन्ते' इति क्वचित्। (द्वि०) 'मेधानुयश्चकर्ष' (च०) 'नेषि' इति पैप्प सं०।

(यः) जो (ज्योतिष्मान्) सबसे अधिक प्रकाशमान्, स्वतः प्रकाश (उत) और (यः चकर्श) जो सबसे सूक्ष्म है (सः) वह प्रजापति परमात्मा (नः) हमें (स्वर्गम् लोकम्) सुखमय लोक को (अभि नेष) प्राप्त करावे। सप्त अन्नों का रहस्य देखो बृहदारण्यक उप० [१ । ५]

अन्नं मेध । मेधावेत्यन्नायैस्येतत् । श० ७ । ५ । ३२ ॥ अन्न, हुत, प्रहुत, पय, मनः, वाक्, प्राण, ये सात मेध या अन्न हैं, इनको प्रजापति ने मेधा अपनी ज्ञान शक्ति से उत्पन्न किया।

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सुह पुत्रैः स्याम।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ १७ ॥

भा०—हे परमात्मन्! आप (नः) हमें (स्वर्ग लोकम्) सदा सुखकारी लोक में ही (अभि नयासि) साक्षात् प्राप्त कराते हो। हम सदा (जायया) पुत्र उत्पन्न करने-हारी स्त्री और उससे उत्पन्न (पुत्रैः) पुत्रों के साथ (स्याम) रहें। जिसका भी मैं (हस्तं गृह्णामि) हाथ पकड़ूं, वही स्त्री (मा अनु एतु) मेरे पीछे २ मेरी धर्मपत्नी होकर चले। (निर्ऋतिः) पाप-वासना (मा) मुझे (मा तारीत्) कष्ट न दे। और (मा उ अरातिः) शत्रु या अदान-शील कृपण लोग या लोभ वृत्ति भी मुझे न सतावे।

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥१८॥

भा०—(ग्राहिम्) अन्न को पकड़ लेने वाली, शोक रूप पिशाची को और (तान्) उस (पाप्मानम्) पाप प्रवृत्ति को भी (अति अयाम) हम

१७–(च०) 'नो पतिः' इति पैप्प० सं०।
१८–(च०) 'विशरीर्देवयन्तम्' इति पैप्प० सं०।

पार कर जांय । हे राजन् ! तू (तमः व्यस्य) हमारे हृदय के शोक रूप अन्धकार को दूर करके (वल्गु) अति मनोहर वचन (प्र वदासि) कह, उत्तम शिक्षा दे । हे (वानस्पत्य) ! वनस्पति—वृक्ष के विकार लकड़ी के बने मूसल के समान राजकीय तेज के अंश से सम्पन्न दण्डकारी राजदण्ड ! (त्वम्) तू (उद्यतः) उठ कर (मा जिहिंसीः) हमें मत मार और जिस प्रकार मूसल आघात करता हुआ भी तुषों को दूर करता और (तण्डुलं मा) चावल को नहीं तोड़ता है उसी प्रकार हे राजदण्ड ! तू भी (देवयन्तं) देव के समान उत्तम आचरण करने-हारे पुरुष को (मा विशारीः) विशेष रूप से दण्डित मत कर ।

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु ॥ १६ ॥

भा०—हे राजन् ! यदि तू (विश्वव्यचाः) सर्व संसार में फैला हुआ सर्व जगत्-प्रसिद्ध और (घृतपृष्ठः) सूर्य के समान अति तेजस्वी (भविष्यन्) होना चाहता है तो (सयोनिः) अपने योनि उत्पत्ति-स्थान, प्रजा सहित (एतम्) इस स्वर्गमय (लोकम्) लोक को (उप याहि) प्राप्त हो और (वर्षवृद्धम्) वर्षा काल में बढ़े हुए सींकों से बने (शूर्पं) सूप के समान (वर्षवृद्धं) वर्षों में बूढ़े अनुभवी पुरुष को (उप यच्छ) अपने हाथ में ले और जिस प्रकार छाज (तुषं पलावान्) तुष और तिनकों को फटक २ कर अलग २ कर देता है उसी प्रकार तू भी अनुभवी न्यायशील पुरुष के द्वारा तुच्छ हिंसक दुष्ट पुरुषों को अपने राष्ट्र रूप अन्न में से (विनक्तु) फटक कर निकाल डाल ।

१६–(च०) 'पलावानपतद्' इति क्वचित् । (द्वि०) 'उपयाहि विद्वान्' इति पैप्प० सं० ।

अयां लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यान्तरिक्षम् ।
अंशून् गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥२०॥(१४)

भा०—(ब्राह्मणेन) ब्राह्मण, ब्रह्म, वेद के विद्वान् (अयः लोकाः) तीनों लोकों का (संमिताः) भली प्रकार ज्ञान कर लेता है कि (द्यौः एव असौ) वह द्यौ है, (पृथिवी, अन्तरिक्षम्) वह पृथिवी है और वह अन्तरिक्ष है । हे स्त्री, पुरुषो ! *जिस प्रकार तुम लोग (अंशून्)* श्वेत २ अन्न के शुद्ध दानों को (गृहीत्वा) ले २ कर (अनु आरभेथाम्) बराबर फटकते रहते हो और वे अन्न (अप्यायन्ताम्) बहुत बढ़ जाते हैं और फिर वे (शूर्पं) छाज पर (आयन्तु) आ जाते हैं । ठीक उसी प्रकार तुम प्रजा और *राजा दोनों मिल कर उक्त तीनों लोकों के (अंशून्) व्यापक गुणों को* लेकर कार्य आरम्भ करो । इस प्रकार समस्त लोक फलें फूलें और (शूर्पं पुनः आयन्तु) छाज के समान सत् असत् भले बुरे के विवेक करने वाले पुरुष के पास प्राप्त हों ।

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या ।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥२१॥

भा०—(पशूनां) पशुओं या जीवों के (पृथक्) पृथक् २, जुदा २ (बहुधा) बहुत प्रकार के (रूपाणि) रूप, नमूने हैं । तो भी हे राजन् ! हे आत्मन् ! (त्वम्) तू (समृद्ध्या) अपनी सम्पत्ति से सब के प्रति (एक रूपः भवसि) एक रूप रहता है । (एताम्) इस (ताम्) उस (लोहिनीम्) लाल, या राजस (त्वचम्) आवरण को (नुदस्व) परे करदे । और स्वयं (ग्रावा) शुद्ध ज्ञानी होकर (मलगः वस्त्र इव) जैसे धोबी कपड़ों

२०–(तृ०) गृभीत्वा अन्वा ' इति बहुत्र । ' रभेथाम् ' इति पैप्प० सं० ।
(द्वि०) ' पृथिव्यामन्त- ' इति पैप्प० सं० ।
२१–(द्वि०) 'भवति', (च०) ' शुन्भाति मल्गेव ' इति पैप्प० सं० ।

को धो डालता है उसी प्रकार तू भी अपने को (शुम्भाति) शुद्ध पवित्र कर और सुशोभित कर।

पृथिवीं त्वां पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा।
यद्यंद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि॥२२

भा०—हे पृथिवि ! (त्वा) तुझ (पृथिवीम्) पृथिवी को (पृथिव्याम्) पृथिवी में ही (आवेशयामि) स्थापित करता हूं। (एषा) यह (ते) तेरी (विकृता तनूः) बिगड़ी हुई देह भी (समानीः तनूः) पूर्व के समान ही है और इस में (यत् यत्) जो २ कुछ (द्युत्तम्) जुत गया है या (अर्पणेन) हल चलाने से (लिखितम्) खुद गया है (तेन) उससे (मा सुस्रोः) अपना सारभाग नष्ट मत कर (तत्) उसको भी मैं (ब्रह्मणा) अन्न द्वारा (वपामि) बो देता हूं। अर्थात् खुदे, जुते स्थान पर मैं बीज बो देता हूं।

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता॥ २३॥

भा०—हे पृथिवि ! तू (जनित्री सूनुम् इव) माता जिस प्रकार पुत्र को प्यार से अपने गोद में ले लेती है उसी प्रकार तू मुझे (प्रति हर्यासि) प्रेम करती है (त्वा) तुझ (पृथिवीम्) पृथिवी को (पृथिव्या) पृथिवी से ही (संदधामि) जोड़ देता हूं तू (उखा) हांडी या उखा रूप में या (कुम्भी) कुम्भी, घड़े, मटके आदि के रूप में होकर भी (वेद्याम्) वेदी में (मा व्यथिष्ठाः) खेद को मत प्राप्त हो। यहां तू (यज्ञायुधैः) यज्ञ के उपकरणों द्वारा (आज्येन) घृत से (अतिषक्ता) युक्त होकर रहती है।

२२–(प्र०) 'भूम्यां भूमिमपि धारयामि' (तृ०) 'लिखितमर्पणं न' (च०) 'मा सुस्रोरदाद्' इति पैप्प० सं०।

२३–(तृ०) 'कुम्भीर्वेद्यां संनहन्ताम्' इति पैप्प० सं०।

स्वर्गमय राज्य की सिद्धि के लिये पृथिवी या राष्ट्र को स्वर्गौदन से उपमा देने के लिये उखा और कुम्भी के रूप में पृथ्वी का वर्णन किया है अर्थात् जैसे हंडे में अन्न तैयार होता है उसी प्रकार पृथ्वी में अन्न तैयार होता है, इत्यादि।

अ॒ग्निः पच॑न् रक्षतु त्वा पु॒रस्ता॒दिन्द्रो॑ रक्षतु दक्षिण॒तो म॒रुत्वा॑न्।
वरु॑णस्त्वा दृंहाद्ध॒रुणे॑ प्र॒तीच्या॑ उत्त॒रात् त्वा॒ सोमः॒ सं द॑दातै ॥२४॥

भा०—हे उखे ! पृथिवि ! (पचन्) परिपक्क करता हुआ (अग्निः) अग्नि (पुरस्तात्) आगे से (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे। और (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुत्=देवों, प्राणों और विद्वान्-गणों से नाना दिव्य शक्तियों से सम्पन्न इन्द्र (दक्षिणतः) दक्षिण—दायें से तेरी (रक्षतु) रक्षा करे। (प्रतीच्याः) प्रतीची, पश्चिम दिशा के (धरुणे) धारण करने वाले आधार स्थान में (त्वा) तुझे (वरुणः) वरुण (दृंहात्) दृढ़ करे, सुरक्षित रखे। और (उत्तरात्) उत्तर की ओर से बाईं तरफ़ से (सोमः) सोम (त्वा) तुझे (सं ददातै=सं दधातै) भली प्रकार सुरक्षित रखे।

उखा=हंडिया को जिस प्रकार चूल्हे पर चढ़ाते हैं आगे से अग्नि होती है शेष तीनों तरफ़ टेक लगती है जिससे हंडिया सुरक्षित रहे। उसी प्रकार राष्ट्र की रक्षा के लिये राजा को चारों दिशाओं अर्थात् चारों प्रकारों से रक्षा के लिये उद्यत रहना चाहिये। जैसे सुरक्षित रूप में हंडिया परिपक्क अन्न देती है उसी प्रकार भूमि नाना प्रकार के अन्नादि सम्पत्तियां प्रसव करती है। ब्रह्मचर्य और वीर्यरक्षा के प्रकरण में अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम चारों आचार्य के नाम हैं।

पू॒ताः प॒वित्रैः॑ पवन्ते अ॒भ्राद् दिवं॑ च यन्ति पृथि॒वीं च॑ लो॒कान्।
ता जी॑व॒ला जी॒वध॑न्याः॒ प्रति॑ष्ठाः॒ पात्र॒ आसि॑क्ताः॒ पर्य॒ग्निरि॑न्धाम् ॥२५॥

२४–(द्वि०) 'दृंहात्' (तृ०) 'सोमस्त्वा' इति पैप्प० स०।
२५–(द्वि०) 'पृथिवीं च धर्मणा' (तृ०) 'जीवधन्यास्समेताः पात्रासिक्ताः' इति पैप्प० स०।

भा०—जिस प्रकार (अभ्राद्) मेघ से आते हुए जल (पवित्रैः) पवित्र करने वाले वायुओं द्वारा (पूताः) पवित्र होकर (दिवं च यन्ति) द्यौलोक में भी ऊपर उठ जाते हैं और (पृथिवीं च) पृथिवी लोक पर भी आते हैं और (ताः) वे जल या 'आपः' (जीवलाः) पृथ्वी पर जीवन को प्राप्त कराने वाले (जीवधन्याः) जीवों के लिये 'धन' होने योग्य (प्रतिष्ठाः) प्राणों की प्रतिष्ठा स्वरूप हैं । और जिस प्रकार वे (पात्रे आसिक्ताः) पात्र हांडी आदि में डाले जाते हैं और उनको (अग्निः) अग्नि (परि इन्धाम्) चारों ओर से तप्त करती है उसी प्रकार (ताः) वे आप्त जन (पवित्रैः पूताः) पवित्र आचरणों से पवित्र होकर (अभ्रात्) अभ्र, गति-शील, सर्वव्यापक परमात्मा से, मेघ से जलों के समान (यन्ते) आते हैं और (दिवं च पृथिवीम् च लोकान् च यन्ति) वे द्यौ-लोक, पृथिवी लोक और सूर्य आदि नाना लोकों को प्राप्त होते हैं । (ताः) वे आप्त जन (जीवलाः) अति दीर्घ जीवन धारण करने वाले (जीवधन्याः) जीवों में स्वयं धन्य अति श्रेष्ठ (पात्रे आसिक्ताः) पात्र में रखे जलों के समान (पात्रे आसिक्ताः) उचित स्थान में नियुक्त होकर (प्रतिष्ठाः) उत्तम रूप से, प्रतिष्ठा के पात्र होते हैं । उनको (अग्निः) ज्ञानमय, प्रकाशक परमेश्वर (परि इन्धाम्) सब प्रकार से ज्ञान प्रदान करके प्रकाशित करता है ।

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम् ।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ॥२६॥

भा०—(ताः) वे (आपः) आप्त जन (दिवः) द्यौलोक या प्रकाशमान उस परमेश्वर के पास से, मेघ से आने वाले स्वच्छ जलों के समान (पृथिवीम्) पृथिवी लोक पर (आ यन्ति) आते हैं (भूम्याः) भूमि पर

२६–(द्वि०) 'शुम्भन्ति' इति पैप्प० सं० ।

(सचन्ते) एकत्र होते हैं (अधि अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में भी (सचन्ते) प्राप्त होते हैं (ता शुद्धा सती) वे सदा शुद्ध रहने के कारण से (उ) ही (शुम्भन्त एव) शोभा को प्राप्त होते हैं। (ता) वे (नः) हमें (स्वर्गं लोकम्) स्वर्ग लोक सुखमय लोक को (अभि नयन्तु) प्राप्त करावें।

उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः।
ता ओदनं दंपतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः ॥२७॥

भा०—(उत एव) और वे ही (प्रभ्वीः) उत्कृष्ट सामर्थ्य युक्त (उत) और (संमितासः) उत्तम ज्ञानवान्, (उत शुक्राः) और दीप्तिमान् (शुचयः) शुद्ध, पवित्र काम, क्रोध लोभ, मोह, छल, द्रोह आदि से रहित और (अमृतासः च) पवित्र जलों के समान, अमृत, अमृतमय ज्ञान से युक्त, दीर्घायु एवं ब्रह्मज्ञानी होते हैं। (ताः) वे (प्रशिष्टाः) अति अधिक शिष्ट, सुसभ्य, सुशिक्षित (सुनाथाः) उत्तम ऐश्वर्यवान्, एवं तपस्या युक्त तपस्वी (आपः) शुद्ध जलों के समान स्वच्छ हृदय वाले आप्त जन (शिक्षन्तीः) उत्तम शिक्षाएं, विद्याएं और उपदेश आदि प्रदान करते हुए (दम्पतीभ्यां) गृहस्थ के स्त्री पुरुषों के (ओदनं) बलवीर्य को जलों के समान ही (पचत) परिपक्व करें। उन को दृढ़ सदाचारी बनावें।

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥२८॥

भा०—(संख्याता) संख्या में परिमित (स्तोकाः) जल बिन्दु जिस प्रकार पृथिवी पर आते हैं उसी प्रकार (संख्याताः) उत्तम ज्ञान से युक्त (स्तोकाः[1]) सुप्रसन्न, आसन्न (पृथिवीं सचन्ते) पृथिवी पर आते

२७-' प्रशिष्टाः ' इति पैप्प० सं०।

१. ष्टुच प्रसादे। भ्वादिः।

हैं । या उन्न महान् परमात्म शक्ति की उपासना करते हैं । वे स्वयं (प्राणापानैः संमिताः) इस दुनियां के प्राण और अपानों की उपमा प्राप्त होते हैं, अर्थात् वे सबके प्राण और अपान के समान जीवन के आधार होते ह और वे (ओषधीभिः संमिताः) सबके भव रोगों और मानस दुःखों के हरने हारे होने के कारण ओषधियों के समान माने जाते हैं । वे (असंख्याताः) संख्या से भी न गिने जाने योग्य, असंख्य (सुवर्णाः) उत्तम वर्ण, कान्ति, आचार और शिल्पों से युक्त होकर (शुचयः) धर्म, अर्थ और काम तीनों में शुचि, निर्लोभ, निष्कपट, तृष्णारहित, निष्काम होकर (ओप्यमानाः) प्रजा के कार्यों में लगाये जाते हुए भी (सर्वं) सब प्रकार के (शुचित्वम्) शुद्ध, निर्दोष, निष्कपट व्यवहार को (व्यापुः) विशेष रूप से करते हैं । इसीलिये वे ' आप्त ' कहाते हैं ।

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥ २६ ॥

भा०—ये प्रजाएं (तप्ताः) क्रुद्ध होकर प्रतप्त हांडी के जलों के समान (उद्योधन्ति) खौल २ कर परस्पर युद्ध करते हैं (अभिवल्गन्ति) उनके समान बुद बुदाकर एक दूसरे के प्रति ललकारते हैं, (फेनम् अस्यन्ति) खौलते हुए जल जिस प्रकार झाग ऊपर फेंकते हैं उसी प्रकार वे एक दूसरे पर ' फेन ' वज्र, तलवार एवं तोप आदि बड़े २ हननकारी अस्त्रों को फेंकते हैं । और जल जिस प्रकार (बहुलान्) बहुत से 'बिन्दून् अस्यन्ति) बिन्दुओं को उड़ाते हैं उसी प्रकार वे भी बहुत से 'बिन्दु' गोली, छर्रे आदि छोड़ते हैं । परन्तु हे (आपः) 'आपः' आप्त प्रजाजनो ! (योषा) जिस प्रकार स्त्री (पतिम् दृष्ट्वा) पति को देखकर (ऋत्वियाय) ऋतुधर्म, मैथुन के

२९–' ऋत्वियायैतै ' इति सायणाभिमतः । ' ऋत्विया वै स्तनन्तु ' इति पैप्प० सं० ।

लिये (सम् भवति) उसके साथ मिलकर तन्मय रहती है और जिस प्रकार (आप· तण्डुलैः) जल खौलकर भी चावलों के साथ मिल भात के रूप में एक हो जाते हैं उसी प्रकार आप लोग भी (तण्डुलैः) अपने मारने, ताड़ने, घेरने और तानने वालों के साथ भी समयानुसार कार्यवश अपने प्रेम के बल से (सम् भवत) सन्धि करके एक होकर रहो ।

'फेनम्'—स्फायी वृद्धौ इत्यतः उणादि प्रत्ययान्तः फेन इति निपात्यते। फेनः परिशुद्धा शक्तिः। 'तण्डुला:'—वसूनां वा एतद् रूपं यत् तण्डुला.। तै० ३ । ८ । १४ । ३ ॥ 'तिन्दुर्', मिदि भिदि अवयवे । श्वादिः । एतस्मात् उणादिकः प्रत्ययः ।

उत्थापय सीर्दतो बुध्न एनानुद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम् ।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥३०॥(१५)

भा०—हे राजन् ! (एनान्) इन (बुध्ने) नीचे हांडी के तले पर (सीदतः) ताप से तप्त हुए, तले लगे चावलों के समान नीचे भूतल पर या नीचे शोचनीय दशा में पड़े इन लोगों को (उत्थापय) ऊपर उठा । और जिस प्रकार तले में लगे चावलों को जल डालकर कड़छी से गीला करके ऊपर उठा दिया जाता है उसी प्रकार हे राजन् (अद्भिः) जलों से और आप्त पुरुषों से ये नीचे गिरे लोग भी (आत्मानम्) अपने आत्मा को (अभि संस्पृशन्ताम्) साक्षात् शीतल करें और उठें । और (यत्) जिस प्रकार (एतत्) इस (उदकम्) जल को (पात्रैः) चमस आदि पात्रों से (अमासि) माप लेता हूं और उन पात्रों से ही (तण्डुलाः मिता) तण्डुल भात के चावल भी (मिताः) जान लिये जाते हैं उसी प्रकार (यदि) मानो (इमाः) ये (प्रदिश·) नाना दिशाएं या नाना दिशाओं में रहने वाले (तण्डुला:=वसवः) जीव भी (पात्रैः) पालन करने वाले शासकों द्वारा (मिताः) जान लिये, एवं वश कर लिये जाते हैं ।

प्र य॑च्छ पर्शुं त्वरया हरौपमहिंसन्त ओष॑धीर्दान्तु पर्वन् ।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥३१॥

भा०—शान्ति और सुख से युक्त राज्य सम्पादन करने के लिये ओषधियों के दृष्टान्त से दूसरा उपाय उपदेश करते हैं। हे राजन् (पर्शुम्) परशु-फरसा (प्र यच्छ) मज़बूती से पकड़ और (त्वरय) शीघ्रता कर, काल को व्यर्थ मत गवां। (ओपम् हर) शीघ्र ले आ। लोग जिस प्रकार (ओषधीः) ओषधियों को (अहिंसन्तः) उनका मूल नाश न करते हुए (पर्वन्) जोड़ पर से काट लेते हैं उसी प्रकार तेरे वीर भी (ओषधीः) प्रजा को सन्ताप देने वालों के मूलों की रक्षा करते हुए या प्रजा को (अहिंसन्त) नाश न करते हुए उनको ही (पर्वन्) पोरु २ पर मर्म को (दान्तु) काटें जिसका परिणाम यह होगा कि (यासाम्) जिन प्रजाओं के ओषधियों के समान ही (राज्यं परि) राज्य के ऊपर (सोमः) सोमलता के समान वीर्यवान् या सोम, चन्द्र के समान, आल्हादकारी, प्रजा रंजन में दक्ष राजा (परि बभूव) राज्य करता है वे (वीरुधः) लताओं के समान नाना प्रकार की व्यवस्थाओं से रुद्ध या व्यवस्थित प्रजाएं (नः) हमारे प्रति (अमन्युता) मन्यु=क्रोध से रहित (भवन्तु) हों।

नवं ब॒र्हिरो॑दनाय॑ स्तृणीत प्रि॒यं हृ॒दश्चक्षु॑षो व॒ल्ग्व॑स्तु ।
तस्मि॑न् दे॒वाः स॒ह दै॒वीर्वि॑शन्त्वि॒मं प्राश्न॑न्त्वृ॒तुभि॒र्निषद्य॑ ॥३२॥

भा०—हे भद्र पुरुषो ! (नवं) नये (बर्हिः) दाभ को (ओदनाय) भात की हांडी रखने के लिये (स्तृणीत) बिछा दो। और (नवं बर्हिः) इस नवीन प्रजा या नये विजित देश को (ओदनाय) वीर्य

३१–'परशुम्' इति क्वचित्। (प्र०) 'त्वयादान्त्वर्हिसन्' (तृ०) 'सोमेयासां' इति पैप्प० सं०।

प्राप्त किये परमेष्ठी रूप राजा के लिये (स्तृणीत) फैला दो, देश पर फैल कर वश करने दो । और यह राजा और राष्ट्र (हृदः) प्रजा के हृदय को (प्रियं) प्रिय और (चक्षुष.) आंख को (वल्गु) सुन्दर, मनोहर (अस्तु) लगे । (तस्मिन्) और जिस प्रकार भात खाने के लिये आसन रूप में बिछाये कुशा के आसन पर विद्वान् लोग बैठ कर भोजन करते हैं उसी प्रकार (तस्मिन्) उस राष्ट्र में (देवा·) देव गण राजा और विद्वान् लोग (दैवीः सह) अपनी देव रूप रानियों या दिव्य-गुण युक्त प्रजाओं के साथ (विशन्तु) प्रवेश करें । और (निषद्य) उत्तम रीति से स्थिर होकर (इमम्) इस भात के समान ही (इमम्) इस राष्ट्र का भी (ऋतुभिः) ऋतुओं के अनुसार अथवा राजसभा के सदस्यों के साथ (प्र अश्नन्तु) उत्तम रीति से भोग करें ।

' बर्हिः '—प्रजा वै बर्हिः । कौ० ५ । ७ ॥ क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बर्हिः । श० १ । ३ । ४ । १० ॥ अयं वै लोको बर्हिः । श० १ । ४ । १२४ ॥

वन॑स्पते स्ती॒र्णमा सी॑द ब॒र्हिर॑ग्निष्टो॒मैः संमि॑तो दे॒वता॑भिः ।
त्वष्ट्रे॑व रू॒पं सुकृ॑तं॒ स्वधि॑त्यैना ए॒हाः परि॒ पात्रे॑ ददृश्राम् ॥ ३३॥

भा०—हे (वनस्पते) महावृक्ष के समान सबको अपनी छाया में आश्रय देने हारे राजन् ! तू (स्तीर्णम् बर्हिः आसीद) इस आसन के समान विस्तृत बर्हि=रूप प्रजाओं पर (आसीद) विराजमान हो । और (अग्निष्टोमैः) अग्निष्टोम नामक अग्नि राजा के सद्गुणों के बतलाने वाले वेद के सूक्तों और (देवताभिः) देव, विद्वानों के द्वारा (संमितः) उत्तम रीति से पूजित हो । जिस प्रकार (त्वष्टा इव) उत्तम शिल्पी अपनी

३३-(द्वि०) ' स्वधितैना ' इति क्वचित् । ' स्वधि-येनाशा, परिपात्रेदह-श्यान् ' इति पैप्प० स० ।

(स्वधित्या) स्वधिति वसौले से लकड़ी को गढ़ कर उसका (रूपं सुकृतम्) उत्तम रूप बना देता है उसी प्रकार इस राजा रूप वनस्पति का भी (त्वष्टा) परमात्मा ने अपने (स्व-धित्या) स्व=ऐश्वर्य के धारण सामर्थ्य से उसका (रूपं सुकृतम्) रूप, कान्ति तेज उत्तम बनाया है। (एना) इसके साथ (एहाः) सहोद्योग करने वाले (पात्रे) इस सहोद्योगी शासक अपने पालन करने वाले इस राजा में ही आश्रित होकर उसके (परि ददृश्राम्) चारों ओर विराजते दिखाई देते हैं।

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्य/श्नवातै।
उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥ ३४ ॥

भा०—(निधिपाः) निधि—पृथ्वीरूप राष्ट्र या धन का पालन करने वाला राजा (षष्ट्यां शरत्सु) साठवें वर्ष तक (पक्वेन) अपने परिपक्व सामर्थ्य से (स्वः) स्वर्ग के समान सुखकारी राज्य को (अश्नवातै) भोग करने की (अभि इच्छात्) इच्छा करे। अर्थात्-राजा अपनी आयु के ६० वर्ष तक पृथ्वी को वश कर उसका भोग करे। और (एनम्) इसका आश्रय लेकर (पितरः पुत्राः च) उसके वृद्ध मा, बाप और आचार्य लोग और छोटे पुत्र लोग (उपजीवन्) अपना जीवन व्यतीत करें। (एतम्) इसको (अग्ने) अग्नि के समान शत्रु के सन्तापकारी अग्नि स्वभाव राजा के (अन्तम्) परम, सबसे अन्तिम पद प्राप्त करने के पश्चात् (स्वर्गम्) स्वर्ग के समान सुखमय राज्य को (गमय) प्राप्त करा।

'निधिपाः'—पृथिवी देव निधिः। श० ६। ४। २। ३॥ तत्पाति इति निधिपाः पृथ्वीपालः।

३४-(प्र०) 'षष्ट्याम्' इति क्वचित्। 'षष्ट्यां शरत्स्वः परिधामदत्तम्' (तृ०) 'उपैनं पुत्रान् पितरश्चजीवान्' (च०) 'इमं स्वर्गं' इति पैप्प० सं०।

धर्ता ध्रियस्व धुरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु ।
तं त्वा दंपती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ॥३५

भा०—हे राजन् ! (धर्ता) तू समस्त पृथ्वी या राष्ट्र का धारण करनेहारा होकर (पृथिव्याः) पृथिवी के (धरुणे) धारण करने के कार्य में या प्रतिष्ठित पदपर (ध्रियस्व) स्थापित किया जाय । (अच्युतं) अपने कर्त्तव्यपथ से कभी च्युत न होने वाले (त्वा) तुझको भी (देवताः) विद्वान् राजसभा के सदस्यगण (च्यावयन्तु) तुझे अपने पद से च्युत करने में समर्थ हैं । (तं) ऐसे प्रमादशून्य राजसभा के अधीन (त्वा) तुझको (जीवपुत्रौ) अपने जीवित पुत्रों सहित (जीवन्तौ) स्वयं जीते हुए (दम्पती) गृहस्थ स्त्री पुरुष पतिपत्निभाव से बद्ध होकर (अग्नि-धानात् परि) अपने गृह में अग्नि आधान करने अर्थात् ईश्वरोपासना या देवपूजा से उतर कर अन्य लौकिक सब कार्यों से ऊपर तुझे (उद् वासयातः) उत्कृष्टपद पर स्थापित करें ।

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान् ।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अध्युद्धरैनम् ॥३६ ॥

भा०—हे राजन् ! (सर्वान् समागाः) सब मनुष्यों को तू प्राप्त हो और अपने उत्तम गुणों से (लोकान्) समस्त मनुष्यों को (अभिजित्य) वश करके (यावन्तः कामाः) उनकी जितनी अभिलाषाएं हैं (तान् सम्-अतीतृपः) उन सब को सन्तुष्ट कर, पुनः भात की हांडी में 'आयवन'

३५-(द्वि०) 'पृथिव्या च्युत देवता' (तृ०) 'जीवपुत्रावुद्वासयातः' इति पैप्प० सं० ।

३६-(प्र०) 'समायानभिचित्वय' (द्वि०) 'कामान समितौ पुरस्तात्' इति पैप्प० सं० । (च०) 'अभ्युद्धरेनम्' इति क्वचित् ।

नामक घी आदि मिलाने का चमस और 'दर्वि' कड़छी घुमाते हैं और फिर एक बड़े थाल में उस भात को निकाल लिया जाता है उसी प्रकार (आदवनम्) शत्रु और राष्ट्र के हानिकारक पुरुषों के नाश करने वाला पोलीस बल और सेनाबल या दण्डबल और (दर्विः) दुष्टों के गढ़ों का विदारण करने वाला सेनाबल ये दोनों (वि गाहेयाम्) सर्वत्र विचरण करें । और हे राजन् ! (एनम्) इस राष्ट्र के भार को (एकस्मिन् पात्रे) एक पालन करने में समर्थ योग्य 'महामात्र' या 'महापात्र' नामक पुरुष पर (अधि उद्धर) उत्तम रूप से स्थापित कर । राजा अपना सब कार्य महामात्र के ऊपर रखदे ।

उपं स्तृणीहि प्रथयं पुरस्तांद् घृतेनु पात्रमुभि घांरयैतत् ।
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कृणोत ॥ २७ ॥

भा०—हे कर्त्तः ! तू ओदन को (उपस्तृणीहि) घृत से आच्छादित कर । (पुरस्तात् प्रथय) आगे को फैला और (घृतेन) घृत से (एतत् पात्रम् अभि घारय) इस पात्र को भर । राजपक्ष में—हे राजन् ! तू अपने वीर्य या सामर्थ्य को (उप स्तृणीहि) तेज से सम्पन्न कर । (पुरस्तात् प्रथय) आगे को विस्तृत कर । (पात्रम्) पालन करनेहारे महामात्य को या पालन करने योग्य राष्ट्र को (घृतेन) अपने समान प्रदीप्त तेज से (अभि-घारय) युक्त कर । (स्तनस्युम्) दूधपान करने के इच्छुक (तरुणं) बछड़े को देख कर (वाश्रा उस्रा इव) शब्द करती, रंभाती हुई 'उस्रा'=दुधार गाय जिस प्रकार (अभि-हिंकृणोति) प्रेम से 'हुम् हुम्' करती है उसी प्रकार (इमं) इस ओदन रूप वीर्य सम्पन्न परम पद में स्थित प्रजापति रूप राजा को देखकर हे (देवासः) देव, राजाजनो, शासको ! आप लोग (अभिहिंकृणोत) अपने प्रसन्नतासूचक शब्द करो ।

२७-(द्वि०) 'दक्षिर्वाजाये पचति स्यन्दिरः' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।
(तृ०) 'सनेयाम्' इति पदपाठः ।

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः ।
तस्मिञ्छ्रयाते महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान् ॥२८॥

भा०—हे राजन् ! तू (एतम्) इस (लोकम्) लोक को (अकरः) स्वयं उत्तम रूप से बनाता है और (उप अस्तरीः) साथ उसको फैलाता है । यह लोक (असमः स्वर्गः) जिसके समान दूसरा कोई नहीं ऐसा स्वर्ग, सुखमय स्थान (उरु प्रथताम्) खूब बढ़े, और फैले विस्तृत हो । (तस्मिन्) उस लोक में (सुपर्णः) उत्तम पालन और ज्ञान साधनों से सम्पन्न (महिषः) महान् शक्तिशाली राजा स्वयं (श्रयाते) विद्यमान है । (एनं) इस लोक, राष्ट्र को (देवाः) विद्वान् ऐश्वर्यवान् लोग (देवताभ्यः) स्वयं देवता के समान पुरुषों के हाथ (प्र यच्छान्) सौंप देते हैं । परमात्मा के पक्ष में स्पष्ट है ।

यद्यज्जाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः ।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥२९॥

भा०—हे पुरुष ! (जाया) स्त्री, पत्नी (त्वत्) तुझ पति से (परः परः) दूर दूर रह कर भी (यत् यत्) जो जो वस्तु या जिस २ बलवीर्य को (पचति) पकाती है, वीर्य को परिपक्व करती है और हे (जाये) स्त्री ! पत्नि ! (त्वत् तिरः) तुझ से आच्छन्न होकर तेरे परोक्ष में (पतिः) पति जो कुछ (पचति) पकाता है वीर्य का परिपक्व करता है । (तत्) उसको (सं सृजेथाम्) तुम दोनों मिलकर पुत्रोत्पादन के कार्य में व्यय करो । हे स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (सह) एक साथ मिल कर ही (एकं लोकम्) एक लोक (सम्पादयन्तौ) बनाते हुये रहते हैं अतः (तत्) वह विवक्षु

२८–(च०) 'प्रयच्छात्' 'प्रयच्छन्' इति च क्वचित् । (प्र०) 'अपाम्स्तारीरकरा' (तृ०) 'तस्मिञ्छ्रयाते महिषः सुपर्णो' इति पैप्प० सं० ।

वीर्य या भोग्य पदार्थ भी (वां) तुम दोनों का (सह अस्तु) एक साथ ही हो ।

सह नाववतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः ।
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ॥४०॥(१६)

भा०—सब घर परिवार के मिल कर एकत्र होकर भोजन करें। (यावन्तः) जितने भी (अस्याः) इस हमारी धर्मपत्नी से (अस्मत्) हमारे वीर्य से उत्पन्न (पुत्राः) पुत्र (पृथिवीं सचन्ते) पृथिवी को प्राप्त होते हैं और (ये) जो (परि सं बभूवुः) इधर उधर चारों ओर फैल कर बस गये हैं या जो अपने योग्य जोड़े मिला कर और भी सन्तान उत्पन्न कर लेते हैं (तान् सर्वान्) उन सबको ये पूर्व के मां बाप, पति पत्नी (पात्रे) अपने पालन करनेहारे एक पात्र, गृह या भोजन के पात्र में (उप ह्वयेथाम्) अपने समीप बुला लें । और (शिशवः) समस्त शिशु, बालक उन मां बाप को अपनी (नाभिं) एक सूत्र में बांधने वाला या एक नाभि उत्पत्ति स्थान (जानानाः) जानते हुए (सम् आयान्) एक स्थान पर एकत्र हुआ करें ।

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः ।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥४१॥

भा०—(याः) जो (मधुना) मधुर आनन्द से (प्रपीनाः) खूब बढ़ी हुई, आनन्द प्रमोद से भरी, (घृतेन मिश्राः) घृत=पुष्टिकारक घी दूध आदि स्नेहवान् पदार्थों से युक्त (अमृतस्य नाभयः) अमृत, परमा-

41—' मधुना प्रपीनाः ', (द्वि०) अमृतस्य नाभयः ' इति पैप्प० सं० ।

जन्म या शत वर्ष के दीर्घ जीवन को उत्पन्न करने वाली (वसोः) 'वसु', देह में वास करने वाले आत्मा की (धाराः) धाराएं, धारणा शक्तियां एवं जीवन की सुख की धाराएं हैं (ताः) उनको (स्वर्गः) स्वर्गमय लोक (अत्र रुन्धे) अपने भीतर सुरक्षित रखता है। ऐसे स्वर्ग को (निधिपाः) वीर्य रूप निधि—अक्षय सुखों के ख़ज़ाने की रक्षा करने वाला ब्रह्मचारी गृहस्थ या इस पृथ्वी का पालक राजा स्वयं (षष्ट्यां शरत्सु) साठ वर्ष की अवस्था में (अभि इच्छात्) प्राप्त करता है।

निधिं निधिपा अभ्ये/नमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये ।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥४२॥

भा०—(निधिपाः) निधि—पृथ्वी के राज्य को पालन करने वाला राजा (एनं) उस साम्राज्य रूप (निधिम्) पृथ्वी के ख़ज़ाने को (अभि इच्छात्) स्वयं प्राप्त करे। और (ये) जो (अन्ये) दूसरे (अनीश्वराः) ऐश्वर्य से हीन निर्बल पुरुष हैं वे (अभितः) उस राजा के चारों ओर उस के आश्रित होकर (सन्तु) रहें। (अस्माभिः) हम लोग स्वयं (स्वर्गः) इस स्वर्ग को (दत्तः) उस राजा को प्रदान करते और (निहितः) स्वयं बनाते हैं। वह राजा (त्रिभिः काण्डैः) तीन प्रकार की व्यवस्थाओं से (त्रीन् स्वर्गान्) तीनों सुखमय लोकों के (आरुक्षत्) ऊपर चढ़े, उन सब पर वश करे, शासन करे।

बालक, युवक और वृद्ध इन तीनों के लिये तीन प्रकार की व्यवस्थाएं हों। अथवा तीन काण्ड तीन वेद हैं। अथवा उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन अथवा त्रियर्गों की तीन व्यवस्थाएं। धर्म, अर्थ, काम इनकी साधना की तीन व्यवस्थाएं। इसी प्रकार उनके तीन क्षेत्र तीन स्वर्ग हैं। आध्यात्मिक, गृहस्थ और राष्ट्र ये तीन स्वर्ग हैं। राजा सब का शासन अपने हाथ में रक्खे।

अग्नी रक्षस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पास्त ।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥४३॥

भा०—(यत्) जो (विदेवं) देव-विद्वानों और देव स्वभाव के उत्तम पुरुषों के और देव, राजा के अर्थात् राजनियम के विपरीत आचरण करने वाला (रक्षः) राक्षस, दुष्ट पुरुष जीव और रोग है उसको (अग्निः) अग्नि के समान तापकारी राजा (तपतु) सन्तप्त करे, पीड़ित करे, दण्ड दे। (इह) इस राष्ट्र में (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाला और (पिशाचः) मांसभक्षी पुरुष (मा प्र पास्त) कभी जलपान भी प्राप्त न कर पावे। (एनम्) उसको हम (नुदामः) परे भगा दें। (अस्मत्) हम अपने से (अप रुध्मः) परे ही रोक दें, पास न आने दें। (आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी और (अंगिरसः) शरीर के विज्ञानवेत्ता अथवा अन्य विविध विज्ञानों के वेत्ता लोग (एनम्) उसको (सचन्ताम्) पकड़ें।

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि ।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम् ॥ ४४ ॥

भा०—(आदित्येभ्यः) आदित्यों, आदित्य के समान तेजस्वी पुरुषों और (आङ्गिरोभ्यः) ज्ञानी पुरुषों के लिये (इदम्) यह (घृतेन) घृत से, (मिश्रम्) युक्त (मधु) मधु जिस प्रकार अतिथि विद्वानों को मधुपर्क दिया जाता है उसी प्रकार मैं भी (घृतेन मिश्रं मधु) घृत=तेज से युक्त ज्ञान (प्रति वेदयामि) प्रदान करता हूं। उसी प्रकार हे स्त्री पुरुषो ! गृहस्थ के पति पत्नियो ! तुम दोनों भी (शुद्धहस्तौ) शुद्ध हाथों से (ब्राह्मणस्य) ब्रह्म=वेद के जानने वाले विद्वान् ब्राह्मण के पूर्वोक्त मधुपर्क में करने योग्य आदर सत्कार को, अथवा, उसको बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये (अनिहत्य)

४३–'अप रुध्मो' इति ह्विटनिः। (च०) 'आदित्या नो वदन्ति–' इति पैप्प० सं०।

बिना विवाद किये (सुकृतौ) उत्तम आचारवान् हुए हुए (एतं स्वर्गम्) इस पूर्वोक्त (स्वर्गम्) सुखमय लोक या स्थान को (अभि इतम्) प्राप्त करो।

इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत् समङ्ग्ध्येष भागो आङ्गिरसो नो अत्र ॥४८॥

भा०—मैं राजा (इदम्) इस (उत्तमम्) उत्तम (काण्डम्) काण्ड=आश्रय भूत शाखा या स्तम्भ वेद को (प्रापम्) प्राप्त करता हूं। (यस्मात्) जिस (लोकात्) लोक=आलोक, प्रकाश से (परमेष्ठी) परम स्थान पर स्थित स्वयं प्रजापति परमात्मा (सम् आप) समस्त संसार को अपने वश करता है। हे पुरुष! तू (घृतवत् सर्पिः) घृत से युक्त 'सर्पि'=मधु को (सम् अङ्ग्धि) मिश्रित कर (अत्र) यहां इस स्थान और अवसर पर (नः) हमारा (एषः) यह (आङ्गिरसः भागः) आङ्गिरस, विद्वान् ज्ञानी पुरुष का (एषः भागः) यह भाग है।

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम्।
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥४९॥

भा०—हम राष्ट्रवासी लोग (निधिम्) पृथ्वी और पृथ्वी से प्राप्त अन्य नाना द्रव्य रूप (शेवधिम्) खजानों को (सत्याय) सत्य और (तपसे) तप के कारण (देवताभ्यः) देव सदृश ज्ञानवान्, उत्तम दान-शील पुरुषों के हाथों सौंपते हैं। वे इस बात के ज़िम्मेदार हैं कि यह सब खजाना कोष (द्यूते) खेल तमाशे और जूए के शौक या व्यसन में (मा अवगात्) न निकल जाय, न बरबाद हो जाय। (मा समित्याम्) आपस के मेलों और गोष्ठों में भी यह राष्ट्र का धन नष्ट न हो। और

४८—'इदं काण्डमुत्तमं प्रापमस्य' इति पैप्प० सं०।

४९—(द्वि०) 'परिदद्म' इति पैप्प० सं०।

(पुरा मत्) मेरे सामने, मेरे होते होते हे विद्वान् ' निधिपाः ', खजाने के रक्षक भद्रपुरुषो ! (अन्यस्मा) और किसी मेरे शत्रु के हाथों इस खजाने को (मा उत्-सृजत) मत दे डालना ।

राष्ट्र और राष्ट्र का धन त्यागी, तपस्वी, सच्चे पुरुषों के हाथ में रहना चाहिये कि राजा और प्रजावासी लोग उसको जूए, खेलों, तमाशों और मेलों और गोठों में बरबाद न करें और न बेईमानी से शत्रु को ही दें ।

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया ।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥ ४७ ॥

भा०—(अहम्) मैं पुरुष के समान राजा (पचामि) अपने बल और वीर्य को खूब परिपक्व करूं, क्योंकि (मम इत्) मेरे ही (करुणे) क्रिया, और उत्साह से पूर्ण प्रयत्न और (कर्मन्) कर्म, कार्य व्यवहार के (अधि) ऊपर (जाया) स्त्री, उसके समान पृथ्वी का आश्रय है । वीर्य के परिपक्व होने पर ही जिस प्रकार (कौमारः) कुमार, नवयुवक (पुत्रः) पुत्र उत्पन्न होता है उसी प्रकार (लोकः) यह लोक राजा के पुत्र के समान (अजनिष्ट) पृथ्वी पर खूब हृष्ट पुष्ट रूप से उत्पन्न होता है । हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (उत्तरावत्) उत्कृष्ट कर्मों से युक्त (वयः) अपना जीवन (अनु आरभेथाम्) पुत्रलाभ कर लेने के उपरान्त भी बराबर बनाये रक्खो।

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ॥ ४८ ॥

४७–(प्र०) ' अहं पचाम्युत् ददामि, ' (तृ०) ' पुत्राः ' इति पैप्प० सं० ।

४८–(द्वि०) ' समनान ', ' संननमान ', ' सननमान ' ' संममनान ' इति बहुधा पाठाः । तत्र ' सम्–अममानः ' इतिह्विट् पाठः । ' सनम् अमानः ' इत्यपि पदच्छेदः सम्भवः । ' सम-मान ' इति वा न विरुद्धः ।

भा०—(अत्र) यहां इस कार्य में (न किल्बिषम्) कोई पाप नहीं और (न आधारः) और कोई आधार भी नहीं अर्थात् कोई विशेष बाधक कारण भी नहीं है कि (यत्) जब राजा (मित्रैः समम्) अपने मित्रों सहित (मानः न एति) मान रहित होकर नहीं आता प्रत्युत बड़े भारी मान सहित आता है। अथवा—(यत् मित्रैः सम् अममानः न एति) यह कोई पाप=आशंका या रुकावट नहीं कि राजा अपने मित्रों की सहायता से युक्त होकर नहीं रहता। अथवा—(यत् मित्रैः सम-मानः न एति) जब मित्रों के समान मान वाला होकर नहीं आता प्रत्युत उनसे अधिक मान वान् होकर प्रकट होता है। प्रत्युत इसका कारण यह है कि (नः) हम प्रजाओं का तो यह राजा ही (अनूनं पात्रम्) अनून पात्र अर्थात् पालन करने में समर्थ एवं शक्तिशाली है कि जिसमें कोई त्रुटि नहीं है इसलिये यह अन्यों की सहायता की अपेक्षा नहीं करता। (पक्वः) परिपक्व भात जिस प्रकार (पक्तारम् आविशति) पकाने वाले के भीतर ही प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार (पक्वः) परिपक्व वीर्यवान् भी (पक्तारं) उसको पकाने, दृढ़ करने वाले पुरुषों के पास ही (आविशति) प्रविष्ट हो कर रहता है। इसी प्रकार परिपक्व ब्रह्मचर्यादि बल भी अपने परिपाक करने वाले के भीतर ही रहता है।

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति।
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥ ५९ ॥

भा०—हे पुरुषो! हम लोग (प्रियाणाम्) अपने प्रिय बन्धु, मित्र और माता, पिता, गुरु आदि को (प्रियम्) प्रिय लगने वाले कार्य ही (कृणवाम) करें। और (यतमे) जो कोई लोग (द्विषन्ति) द्वेष करते हैं या परस्पर प्रेम नहीं करते (ते) वे (तमः यन्तु) सदा अन्धकार में पड़ें। (धेनुः अनड्वान्) दुधार गाय और गाड़ी खैंचने में समर्थ मजबूत बैल और (आयत् एव) आते हुए (वयः-वयः) नाना प्रकार अन्न और दीर्घ जीवन ही (पौरुषेयम्

मृत्युम्) पुरुषों द्वारा या उस पर आने वाले मृत्यु को (अपनुदन्तु) दूर करने में समर्थ हों।

समग्नयों विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून्।
यावन्तो देवा दिव्या३तपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव ॥५०॥(१७)

भा०—(अग्नयः) अग्नि के समान ज्ञान से प्रकाशमान विद्वान् पुरुष (अन्यः अन्यम्) एक दूसरे को (संविदुः) भली प्रकार जानें, उनमें से (यः) जो कोई (ओषधीः सचते) ओषधियों को एकत्र करता अर्थात् वैद्य का कार्य करता है और (यः च) जो कोई (सिन्धून्) सिन्धुओं, नदियों, समुद्रों को (सचते) प्राप्त करता है, उन पर व्यापार आदि करता या उनके तटपर तपस्या करता है वे भी एक दूसरे को भली प्रकार जानें (यावन्तः) जितने भी (देवाः) प्रकाशमान सूर्य (दिवि) आकाश में (आतपन्ति) प्रकाशित होते हैं उनके समान ही जो विद्वान् ज्ञान में प्रकाशित होते हैं उनको और (पचतः) अपने वीर्य, सामर्थ्य को परिपक्व करने हारे तपस्वी ब्रह्मचारी का (हिरण्यं ज्योतिः) सुवर्ण के समान उज्वल तेज (बभूव) हो जाता है। इसी प्रकार (अग्नयः) राजा लोग भी परस्पर एक दूसरे को जाना करें उनमें एक (ओषधीः) प्रजाओं को संगठित करते और दूसरे (सिन्धून्) वेगवान् सैनिकों को संग्रह करते हैं। सूर्यों के समान जो राष्ट्र विद्वान् सामर्थ्य को परिपक्व करते हैं उसके पास सुवर्ण आदि वैभव बहुत हो जाता है।

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥ ५१ ॥

५०–(द्वि०) 'सिन्धुम्', (च०) 'दपतु[तो]बभूव' इति पैप्प० सं०।
५१–(प्र० द्वि०) 'संबभूव अनग्नास्सर्वे' (तृ०) 'धापयेत' इति पैप्प० सं०।

भा०—वस्त्र पहनने का उपदेश करते हैं—(त्वचाम्) समस्त त्वचाओं में से (एषा) यह बिना लोम की त्वचा (पुरुषं संबभूव) इस मनुष्य पर ही लगी है। (ये अन्ये पशवः) और जो पशु हैं (सर्वे) वे सब (अनग्नाः) नंगे न रह कर बालों से ढके हैं। इसलिये हे स्त्री पुरुषो ! गृहस्थ लोगो ! तुम भी (आत्मानम्) अपने को (क्षत्रेण) अपने देह को क्षति होने से बचाने वाले वस्त्र से, बल और वीर्य से (परिधापयाथः) ढक लो। (ओदनस्य मुखम्) ओदन रूप वीर्य के (मुखम्) मुख्यस्वरूप (वासः) वस्त्र को तुम दोनों स्त्री पुरुष (अमा उतम्) मिलकर बुनलो। इसी प्रकार अपने को प्रजा के लोग क्षत्र—अर्थात् क्षात्रबल से अपनी रक्षा करें। ओदन रूप प्रजापति का 'मुख'=मुख्य स्वरूप पद (वास) उत्तम वस्त्र ही (अमाउतम्) परस्पर मिलकर बना लिया करो। अर्थात क्षत्रबल को परस्पर तन्तुओं के समान मिलकर ही उत्पन्न करलो।

अक्षेषु वृक्षा यत् समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः ॥५२॥

भा०—(अक्षेषु) द्यूत क्रीड़ा के अवसरों पर (यत् अनृतं वदाः) जो झूठ बोलते हो, (समित्याम्) समिति, सभा में (यत् अनृतं) जो असत्य बोलते हो और (यत् वा अनृतम्) जो असत्य (वित्तकाम्या) धन की चाह में (वदा) बोलते हो, हे स्त्री पुरुषो ! (समानं तन्तुम्) एक समान (तन्तु) वस्त्र के समान राज्य तन्त्र को (संवसानौ) पहने या धारण करते हुए तुम (सर्वम् शमलम्) समस्त पाप (तस्मिन् सादयाथः) उसमें ही लगाते हो। अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र पहन कर जब कोई भी मैला करता है तो वह मैल जैसे वस्त्र पर आ लगती है उसी प्रकार एक ही तन्तु=तन्त्र या राज्य

५२–(प्र०) 'वदमि,' (द्वि०) 'यद्वाक्ये अनृत' (तृ०) 'तन्तु उद स व'। इति पैप्प० सं०।

शासन में रहते हुए लोग जो भी असत्य व्यवहार से खेलें, सभाओं और धन के व्यापारों में बोलते हैं वह सब पाप उस राष्ट्र के आच्छादक वस्त्र रूप 'छत्र'=राज्य शासन पर ही आ लगते हैं। यह राजा का दोष है कि प्रजा परस्पर असत्य बोलती चोरी करती और पाप करती है।

वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि ।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥ ५३ ॥

भा०—हे राजन् वस्त्र से ही तू (वर्षं वनुष्व) वर्षा पर विजय प्राप्त कर अर्थात् छत्र बनाले। (अपि) और (देवान् गच्छ) देवों, विद्वानों और राजाओं के पास सुन्दर वस्त्र पहन कर जा। (धूमम्) धूम जिस प्रकार अग्नि के ऊपर उठा करता है इसी प्रकार (त्वचः) वस्त्रों को झण्डे के रूप में (परि उत्पातयासि) ऊपर उड़ा, फरफरा। तू (विश्वव्यचाः) सर्वत्र प्रसिद्ध होकर (घृतपृष्ठः) तेजस्वी (भविष्यन्) होने की इच्छा करता हुआ (सयोनिः) अपने उद्भवस्थान इस राष्ट्र के प्रजाजनों सहित (एतम्) इस उत्तम (लोकम्) लोक, राष्ट्र को (उपयाहि) प्राप्त कर।

तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम् ।
अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ॥ ५४ ॥

भा०—(स्वर्गः) सुखमय लोक, मोक्ष में जाने वाला पुरुष (तन्वं) अपनी देह को (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि चक्रे) विकृत करता है, उसको नाना प्रकार से बदल लेता है। (यथा) जब वह (आत्मन्) अपने आत्मा में उसको (अन्य वर्णाम्) अपने से भिन्न वर्ण को देखता है। तब अपनी वास्तविक (रुशताम्) दीप्तिमती, ज्योतिष्मती प्रज्ञा को (पुनानः) और अधिक पवित्र करता

५३-(द्वि०) 'देवांस्त्वचो', (तृ० च०) 'विश्वव्यचा विश्वकर्मा स्वर्गः सयोनिर्लोकमुपयातीमम्।' इति पैप्प० सं०।

हुआ (कृष्णाम्) अपनी काली, पापमयी तामसी वृत्ति को (अप अजैत्) दूर ही नष्ट कर देता है। और मैं परमात्मा हे जीव! (ते) तेरी (या) जो (लोहिनी) लाल रंग की राजसी वृत्ति है (ताम्) उसको (अग्नौ) अग्नि अपने ज्ञानमय तेज में (जुहोमि) स्वाहा करता हूं।

राजपक्ष में—(यथा आत्मन् अन्यवर्णाम् विदे) जब अपने में राजा अपने पद से विपरीत पोशाक को देखता है तब (स्वर्गः) वह उत्तम राष्ट्र को प्राप्त करने वाला राजा (बहुधा तन्वं विचक्र) बहुत प्रकार से अपने तनु=वस्त्र भूषा को विविध प्रकार से बनाता है। (रुशतीं पुनान कृष्णाम् अपाजित्) उजली पोशाक को पहन कर मैली को दूर फेंक देता है। (या लोहिनी ताम् अग्नौ जुहोमि) जो लोहिनी, लाल पोशाक है उसको मैं पुरोहित अग्नि में आहुति देता हूं अर्थात् लाल पोशाक अग्नि रूप राजा को प्रदान करता हूं।

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥

भा०—हे परमात्मन् और हे राजन्! (प्राच्यै) प्राची=प्रकृष्ट, अति उत्तम, ज्ञान प्राप्त कराने वाले (दिशे) समस्त पदार्थों को और कर्मों का उपदेश करने वाले प्राची दिशा के समान प्रकाश से युक्त (त्वा) तुझे (अग्नयेऽधिपतये) अग्नि के समान दुष्ट शत्रु के सन्तापकारी, अधिपति स्व रूप तुझे (असिताय रक्षित्रे) स्वयं बन्धन रहित, रक्षा करनेहारे तुझे और (आदित्याय) आदित्य, सूर्य के समान चारों दिशाओं में प्रखर किरणों क

५५-(प्र०) 'प्राच्यै दिशे' (तृ०) 'परिदद्म' (च०) 'दधात्वथ' इति पैप्प० सं०।

समान (इषुमते) अपने तीक्ष्ण बाणों से चतुर्दिगन्त विजयी एवं समस्त लोगों को (इषुमते) प्रेरणा करने वाले बल को धारण करने वाले तुझे (एतम्) हम इस राष्ट्र और इस देह का (परिदद्मः) प्रदान करते हैं, सौंपते हैं। (नः) हमारे (तम्) इस धरोहर को तबतक (गोपायत) आप लोग रक्षा करो (आ अस्माकम् एतोः) भगवन्! जब तक हम आपके पास न पहुंच जांय। राजन् जब तक हम स्वयं इसको प्राप्त न कर लें, जब तक हम इसे स्वयं सम्भाल न सकें। (अत्र) इस लोक में (नः) हमारे (दिष्टम्) निश्चित प्रारब्ध जीवन को तू (जरसे) वृद्ध अवस्था तक (निनेषत्) नियम से पहुंचा। (जरा) बुढ़ापा, वृद्ध अवस्था ही (नः) हमें (मृत्यवे) मृत्यु को (परिददातु) सौंप दे। (अथ) और उसके पश्चात् हम (पक्वेन सह) परिपक्व महाज्ञान के साथ (सम् भवेम) पुनः अगले जीवन में उत्पन्न हों। अथवा (अथ पक्वेन) और परिपक्व वीर्य से (सह) हम स्त्री पुरुष मिल कर (सं भवेम) सन्तान उत्पन्न करें।

मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न होने अर्थात् पुनर्जन्म होने का वेद ने यहां स्पष्ट उपदेश किया है।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते। एतं० । ० ॥ ५६ ॥

भा०—(दक्षिणायै त्वा दिशे) दक्षिण दिशा के समान बल-शाली, (इन्द्राय अधिपतये) इन्द्र ऐश्वर्यवान् स्वामी (तिरश्चिराजये रक्षित्रे) तिर्यग् जन्तुओं के नाना पंक्तियों से सुशोभित, पशुपतिस्वरूप, सर्व-रक्षक और (यमाय इषुमते) यम-सर्व नियामक मृत्यु के समान सर्व प्रेरक या बाणधारी तुझको (एतं परिदद्मः०) हम यह राष्ट्र या देह सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते। एतं० । ० ॥ ५७ ॥

भा०—(प्रतीच्यै त्वा दिशे) पश्चिम दिशा के समान सबको अपने में अस्त करने वाले (वरुणाय अधिपतये) सबसे श्रेष्ठ, सब पापियों और पापों के निवारक वरुणरूप अधिपति (पृदाकवे रक्षित्रे) पृत्=सेनाओं को अपनी आज्ञा में चलाने वाले रक्षक और (अन्नाय इषुमते) अन्न, भोजन और प्राण के समान सबको प्रेरक तुझको (एतं परिदद्म० इत्यादि) हम यह राष्ट्र और हे भगवन् ! यह देह सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै। एत० । ० ॥ ५८ ॥

भा०—(उदीच्यै दिशे) उत्तर दिशा के समान, उन्नत विशाल, (*सोमाय अधिपतये*) *शान्तिदायक सोम-चन्द्र और सोम=सोमलता के* समान शान्तिदायक स्वामी (स्वजाय रक्षित्रे) स्वतः उत्पन्न, स्वयंभू, स्वयं अपने अमित सामर्थ्य से बने, सबके रक्षक (अशन्यै इषुमत्यै) अशनि विद्युत् के समान इषु सर्व प्रेरक बल से सम्पन्न तुझको (एतं त परिदद्म०) हम यह राष्ट्र और हे भगवन् ! यह देह सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधी-भ्य इषुमतीभ्यः । एत० । ० ॥ ५६ ॥

भा०—(ध्रुवायै त्वा दिशे) ध्रुवा पृथ्वी और उसकी तरफ़ की सदा ध्रुव स्थिर रहने वाली दिशा के समान अचल (विष्णवे अधिपतये) सर्व व्यापक अधिपति (कल्माषग्रीवाय रक्षित्रे) हरे, लाल, नीले श्वेत आदि नाना वर्णों के ओषधि वृक्ष वनस्पतियों की नाना मालाओं को मानो अपने गले में धारण करने वाले, उनके परिपोषक, रक्षक और (ओषधीभ्यः इषु

५९–' रक्षित्र वीरुद्भ्य ' इति पैप्प० सं० ।

मतीभ्यः) ओषधियां जिस प्रकार रोगों और रोग-जन्तुओं को अपने वीर्य से दूर करती हैं उस प्रकार सब बाधाओं को दूर करने हारे तुझको (एतं नः परिदद्मः० इत्यादि) हम अपना यह देह या राष्ट्र सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥६०॥ (१८)

भा०—(ऊर्ध्वायै त्वा दिशे) ऊर्ध्व दिशा के समान अति उन्नत (बृहस्पतये अधिपतये) बृहत्=महान् लोकों के स्वामी अधिपति (श्वित्राय रक्षित्रे) श्वित्र—अति श्वेत, परिशुद्ध स्वरूप, सर्व-पापरहित, रक्षक और (वर्षाय इषुमते) वर्षण के समान समस्त कामनाओं के पूरक और सबके प्रेरक तुझको (एतं तं परिदद्मः०) हम यह देह या राष्ट्र सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम्, षष्टिश्च ऋचः]

[४] 'वशा' शक्ति का वर्णन।

कश्यप ऋषिः। मन्त्रोक्ता वशा देवता। वशा सूक्तम्। १-६, ८-१९, २१-३१, ३३-४१, ४३-५३ अनुष्टुभः, ७ भुरिक्, २० विराट्, ३२ उष्णिग्, बृहती-गर्भा, ४२ बृहतीगर्भा। त्रिपञ्चाशदृचं सूक्तम्॥

ददामीत्येव ब्रूयादनु चैनामभुत्सत।
वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत् प्रजावदपत्यवत् ॥ १ ॥

भा०—(वशाम्) 'वशा' को (याचद्भ्यः) मांगने-हारे (ब्रह्मभ्यः) ब्राह्मणों, ब्रह्म के ज्ञान से सम्पन्न विद्वानों को (ददामि इति एव)

देता हूं ऐसा ही (ब्रूयात्) कहे। और वे (अनु च) उसके बाद (एनाम्) इस वशा को (अभुत्सत) पहिचान लें, उसका ज्ञान कर लें। 'वशा' का स्वरूप देखो "वशासूक्त" अथर्व० का० १०। सू० १०। मं० १—३४॥

प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोपं दस्यति।
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्संति॥ २॥

भा०—(यः) जो पुरुष (याचद्भ्यः) मांगने वाले ऋषियों के पुत्रों और शिष्यों को (देवानां) देवों के योग्य (गाम्) गौ को (न दित्सति) नहीं प्रदान करना चाहता (सः प्रजया) वह अपनी प्रजा को (वि-क्रीणीते) बेच खाता है और (पशुभिः च उप दस्यति) और पशुओं से रहित होकर विनष्ट हो जाता है। अर्थात् उसकी पशु और प्रजा भी नष्ट हो जाती हैं।

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणयां काटमर्दति।
बुण्डया दह्यन्ते गृहाः काणयां दीयते स्वम्॥ ३॥

भा०—(कूटया) कूट=मिथ्या रूप वाली, बिना सींग की 'वशा' से पुरुष के (सं शीर्यन्ते) सब घर और घरबार के लोग चकनाचूर हो जाते हैं। (श्लोणया) लंगड़ी लूली, टूटी फूटी, बिना धारणा की अधकचरी से वह देनेवाला स्वयं (काटम्) गढ़े में (अर्दति) गिराता है। (बण्डया) कटी फटी, अंगहीन वाणी से (गृहाः दह्यन्ते) घर जल जाते हैं (काणया) चक्षुहीन 'गौ' अर्थात् निरुक्त व्याकरणादि व्याख्या के बिना वेदवाणी के उपदेश देने से उसका (स्वम् दीयते) अपना ही धन नष्ट हो जाता है।

[४] ३—१. 'काणया। आ। दीयते' इति क्विट्निकामितः पदपाठः। 'काणया जीयते' इति पैप्प० सं०।

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम्।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे ॥ ४ ॥

भा०—इस वशा के (शक्नः) मल के (अधिष्ठानात्) स्थान, गुदा से (विलोहितः) विलोहित नाम का ज्वर (गोपतिम् विन्दति) गौ के स्वामी को पकड़ लेता है। (तथा) और उसी प्रकार (वशायाः) 'वशा' के (संविद्यम्) साथ रहने वाले को भी 'विलोहित' नामक ज्वर पकड़ लेता है (हि) क्योंकि हे वशे! तू (दुरदभ्ना) दुःख, कठिनता से भी कभी प्राण न छोड़ने हारी अर्थात् 'दुराधार्षा' (उच्यसे) कही जाती है।

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति।
अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति ॥ ५ ॥

भा०—(अस्याः) इस वशा के (पदोः अधिष्ठानात्) पैरों के स्थान से (विक्लिन्दुः नाम) विक्लिन्दु, 'छाजन' नामक रोग (विन्दति) गौ के स्वामी को हो जाता है। और वह गाय (याः) जिन अन्य गौओं को (मुखेन) मुख से (उप जिघ्रति) सूंघ लेती है वे सब (अनामनात्) बिना जाने ही, अकस्मात् (संशीर्यन्ते) विनाश को प्राप्त हो जाती हैं।

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (अस्याः) इस वशा के (कर्णौ) दोनों कानों को (आस्कुनोति) पीड़ित करता है (सः) वह (देवेषु) देवों, विद्वानों के

४–(च०) 'दुरदभ्ना', 'दुरदभा' इति च संहिते। 'एवं विदं दुरित आणुच्यसे' इति पैप्प० सं०।

५–(प्र०) 'पदोरस्याधिष्ठा द्विकुर्न्न हिगान' इति पैप्प० सं०।

६–(प्र०) 'योऽस्या कर्णावास्कुनोति' (तृ०) 'लक्ष्मीः पुर्वीत' इति पैप्प० सं०।

२६

ऊपर (आवृश्चते) प्रहार करता है । और जो वशा के कानों पर गर्म सलाख या चाकू कैंची से उसका कान काट कर या दागकर (मन्यते) केवल यह समझता है (इति) कि (लक्ष्म कुर्वे) मैं केवल उस गायको पहचानने के लिये चिह्नमात्र करता हूं तो वह भी (स्वम्) अपने धनको (कनीयः कृणुते) स्वल्प कर लेता है, कम कर लेता है ।

यद॑स्याः॒ कस्मै॑ चि॒द् भोगा॑य॒ बाला॒न् कश्चि॑त् प्रकृ॒न्तति॑ ।
तत॑: किशो॒रा म्रि॑यन्ते व॒त्सांश्च॑ घातु॒को वृक॑: ॥ ७ ॥

भा०—और (यद्) यदि (कश्चित्) कोई आदमी (कस्मैचित् भोगाय) किसी अपने भोग सिद्धि के लिये (अस्याः बालान्) इस वशा के बालों को (प्रकृन्तति) काट लेता है (ततः) तो फिर उसके (किशोराः) कच्ची उमर के बालक (म्रियन्ते) मारे जाते हैं और (वृकः) भेड़िया जिस प्रकार बछड़ों को मार डालता है उसी प्रकार (वृकः) जीवन का नाशक मृत्यु या चोर डाकू उसके (वत्सान् च) बच्चों को (घातुकः) मार डाला करता है ।

यद॑स्या॒ गोप॑तौ स॒त्या लोम॒ ध्वाङ्क्षो अजी॑हिडत् ।
तत॑: कुमा॒रा म्रि॑यन्ते॒ यक्ष्मो॑ विन्दत्यना॒मनात् ॥ ८ ॥

भा०—और (यद्) यदि (अस्याः) इसके (गोपतौ) गोपालक स्वामी के अधीन (सत्याः) रहते हुए (ध्वाङ्क्षः) कौवा (लोम) उसके लोमों को (अजीहिडत्) नोच लेता है (ततः) तो भी इस गोपति के (कुमाराः) कुमार बालक (म्रियन्ते) मर जाते हैं और उसको स्वयं (अनामनात्) बिना जाने ही, अकस्मात् (यक्ष्मः विन्दति) राजयक्ष्मा रोग पकड़ लेता है ।

७-(द्वि०) 'बालान्' इति पैप० सं० ।

यद॑स्याः पल्पूल॑नं॒ शकृ॑द् द्रा॒सी स॒मस्य॑ति ।
ततो॑पंरूपं जायते तस्मा॒दव्ये॑ष्य॒देन॑सः ॥ ९ ॥

भा०—(यद्) यदि (अस्याः) इस 'वशा' के (पल्पूलनं) मूत्र और (शकृद्) गोबर को (दासी) दासी, नौकरानी (सम् अस्यति) एकत्र मिलादे या इधर उधर फेंक दे (ततः) तो (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (अ-वि एष्यत्) न छूट कर (अपरूपं जायते) गौ का स्वामी भ्रष्ट रूप का हो जाता है।

जाय॑माना॒भि जा॑यते दे॒वान्त्सब्रा॑ह्मणान् व॒शा ।
तस्मा॑द् ब्र॒ह्मभ्यो॒ देये॑षा तदा॑हुः स्वस्य॒ गोप॑नम् ॥ १० ॥ (१६)

भा०—(वशा) 'वशा' (जायमाना) उत्पन्न होती हुई ही (स-ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों सहित (देवान्) देवों को लक्ष्य करके (अभि जायते) उत्पन्न होती है (तस्मात्) इसलिये (एषा) वह (ब्रह्मभ्यः देया) ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मणों को दान कर देनी चाहिये (तत्) उसके दान कर देने को ही (स्वस्य गोपनम्[2]) अपने धन की रक्षा करना (आहुः) कहते हैं।

य ए॑नां व॒निमा॒यन्ति॒ तेषां॑ देव॒कृता॑ व॒शा ।
ब्र॒ह्म॒ज्येयं॒ तद॑ब्रुव॒न् य ए॑नां॒ निप्रि॒याय॑ते ॥ ११ ॥

भा०—(ये) जो ब्राह्मण लोग (एनां वनिम्) इसको मांगने के लिये (आयन्ति) गऊ के स्वामी के पास आते हैं (वशा) वह वशा

९-(तृ०) 'ततोपिरूपं' इति पैप्प० सं० । (प्र०) 'पल्पूलनं पल्पूलनं' इति च मैक्षिते ।

२. 'गो-पनम्' पदच्छेदः क्वचित् ।

११-(च०) 'नु प्रियायते' इति पैप्प० सं० ।

(तेषाम्) उनके लिये ही (देवकृता) ईश्वर ने बनाई है । (य) जो गऊ का स्वामी (एना) उसको (निप्रियायते) अपना ही प्रिय धन बना कर रख लेता है (तत्) उसके ऐसे कर्म को विद्वान् लोग (ब्रह्मज्येयम् अब्रुवन्) ब्राह्मणों के प्रति अत्याचार ही बतलाते हैं ।

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे ॥ १२ ॥

भा०—(य) जो गऊ का स्वामी (याचद्भ्य) याचना करने हारे (आर्षेयेभ्य) ऋषियों के पुत्रों और शिष्यों के निमित्त (देवानां गां) देवों विद्वानों की इस गौ को (न दित्सति) प्रदान करना नहीं चाहता (स देवेषु) वह देवताओं पर (आवृश्चते) आघात करता है और (ब्राह्मणानां च मन्यवे) ब्राह्मणों के कोप का पात्र होता है ।

यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः ।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥ १३ ॥

भा०—(य) जो (अस्य) इस गौ के स्वामी का (वशाभोग) उस 'वशा' द्वारा कोई भोग या निज स्वार्थ प्रयोजन सिद्ध होता है तो उसके लिये (स) वह (अन्याम् इच्छेत्) और दूसरी गौ को प्राप्त करे क्योंकि 'वशा' (अदत्ता) यदि दान न की जाय तो (पुरुष) उस पुरुष को या गऊ के मालिक को (हिंस्ते) मार देती है (च) और उसको भी मार देती है जो (याचिता) मांगी गई 'वशा' को भी (न दित्सति) नहीं देना चाहता है ।

१२ (प्र० द्वि०) 'य एना यो याचमानेभ्य आर्षेयेभ्यो निरुच्छति' इति पैप्प० सं० ।
१३—(प्र० द्वि० तृ०) यस्या अस्याद् वशा भोगाऽन्यामिच्छतु वर्हिप । 'हिमानिधनस्वगायतिम्' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'पूरुषम्' इति ह्विटनिकामित ।

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा ।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते ॥ १४ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (ब्राह्मणानां) ब्राह्मणों का (शेवधिः) कोई खज़ाना (निहितः) धरोहर रखा है, उस प्रकार गौ के स्वामी के पास वह 'वशा' उनकी धरोहर है । (यस्मिन् कस्मिन् च) और वह जिस किसी विरले पुरुष के पास भी (जायते) पैदा हो जाती है (ताम्) उसको (एतत्) इस कारण से ही (अच्छ आ यन्ति) लेने के लिये आ जाते हैं ।

स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि ।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् ॥ १५ ॥

भा०—(यद्) यदि (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोग (वशाम् अभि) वशा को लेने के लिये आते हैं तो (एतत्) यह तो वे (स्वम्) अपना ही धन (अच्छ आयन्ति) प्राप्त करने के लिये आते हैं । (अस्याः) इस वशा को (निरोधनम्) अपने यहां ही रोक रखना एक प्रकार से ऐसा है कि (यथा) जिस प्रकार (एनान्) इन ब्राह्मणों को (अन्यस्मिन्) अन्य उनके अपने धन से अतिरिक्त दूसरे पदार्थ के लिये (जिनीयात्) टाल दें या निषेध कर दें ।

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती ।
वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥ १६ ॥

भा०—(आ त्रैहायनात्) तीन वर्ष तक तो वह 'वशा' (अविज्ञातगदा सती) अपने बांझ-पन के रोग के बिना जनाये (चरेत् एव) स्वामी के पास विचरती ही है । हे नारद, विद्वन् ! (वशाम् च) जब वह

१५-(च०) 'एवा स्याधिरोधनम्' इति पैप्प० सं० ।

वशा को (विद्यात्) जान ले (तर्हि) तब गौ के स्वामी को चाहिये कि वह (ब्राह्मणाः एष्याः) दान देने के लिये ब्राह्मणों को खोज ले ।

य एनामवंशामाह देवानां निहितं निधिम् ।

उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥ १७ ॥

भा०—(यः) जो (देवानां) देवों के (निहितम्) धरोहर रक्खे (निधिम्) खज़ाने रूप (एनाम्) इस 'वशा' को (अवशाम् आह) 'अवशा' कहता है (तस्मै) उसे (भवाशर्वौ) भव और शर्व (उभौ) दोनों (परिक्रम्य) घेर कर (इषुम्) उस पर बाण (अस्यतः) फेंकते हैं ।

यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत ।

उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥ १८ ॥

भा०—(यः) जो गौ का स्वामी (अस्याः) उसके (ऊधः) ऊधस, थान को (अथो उत) और (अस्या स्तनान्) इसके स्तनों को भी (न वेद) नहीं जानता (चेत्) यदि वह (दातुम्) दान करने में (अशकत्) समर्थ है तो वह (उभयेन एव) थान और स्तन दोनों से (अस्मै) अपने स्वामी को (दुहे) दुग्ध प्रदान करती है ।

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति ।

नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्वा चिकीर्षति ॥ १९ ॥

भा०—वह 'वशा' (एनं) उस स्वामी के पास (दुरदभ्ना) कठिनता से वश में आने वाली होकर (आ शये) रहती है जो (याचितां च) इसको मांगे जाने पर भी (न दित्सति) नहीं देना चाहता ।

१९–(प्र०) 'दुरितवीनपाशये' [?] (तृ० च०) 'कामः समृध्यते यमः' इति पैप्प० सं० ।

(अस्मै) उसकी (कामाः) कामनाएं और मनोरथ (न समृद्ध्यन्ते) सम्पन्न, सफल नहीं होते (याम्) जिस वशा को (अदत्त्वा) दान न करके (चिकीर्षति) उसको अपने यहां पाले रखना चाहता है।

देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः ॥ २० ॥ (२०)

भा०—(देवाः) देवगण (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (मुखम्) अपना मुख, प्रमुख अगुआ (कृत्वा) बना कर (वशाम्) वशा को (अयाचन्) याचना करते हैं। (अददत्) वशा का दान न करता हुआ (मानुषः) मनुष्य (तेषाम् सर्वेषाम्) उन सबके (हेडम्) क्रोध और अनादर का (नि एति) पात्र होता है।

हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योददद् वशाम्।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥ २१ ॥

भा०—(देवानां निहितं भागं) देवों के धरोहर रखे भाग को (चेत् मर्त्यः) यदि मनुष्य (नि प्रियायते) अपने काम में लाता है या दबा लेता तो वह (ब्राह्मणेभ्यः) ब्राह्मणों को (वशाम्) उस वशा का (अददत्) दान न करके ही (पशूनाम्) पशुओं के भी (हेडं निएति) क्रोध को प्राप्त करता है।

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥ २२ ॥

भा०—(यद्) यदि (गो पतिम्) गोपति के पास (शतम्) सौ ब्राह्मण जाकर (वशाम्) वशा की (याचेयुः) याचना करते हैं (अथ)

२०–(प्र०) 'वशो या चन्ति' इति पैप्प० सं०।
२१–(च०) 'ऋतारो नु प्रियायते' इति पैप्प० सं०।

तब (एनाम्) इस वशा को लक्ष्य करके (देवा) देवगण (अब्रुवन्) स्वयं बतलावें, निर्णय करें कि (एवं विदुषे) इस २ प्रकार के विद्वान् को ही (वशा) यह 'वशा' प्राप्त हो।

य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम्।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥ २३ ॥

भा०—जो स्वामी (एवं विदुषे) इस प्रकार के उत्तम विद्वान् को वशा का (अदत्त्वा) दान न करके (अन्येभ्यः) औरों को (वशाम्) वशा का (ददद्) दान कर देता है तो (तस्मा अधिष्ठाने) उसके स्थान में (सहदेवता) उसके साथ की ओर की देवता (पृथिवी) पृथिवी भी (तस्मै दुर्गा) उसके लिये दुःखप्रद हो जाती है।

देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत।
तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत ॥ २४ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस पुरुष के पास (अग्रे) प्रथम यह वशा (अजायत) उत्पन्न हुई (देवा) देवों ने उससे ही (वशाम् अयाचन्) 'वशा' को मांगा। (नारदः विद्यात्) नारद पुरुषों का हितकारी विद्वान् तो यही जाने कि उसने (ताम् एताम्) उस वशा को (देवैः सह) देवों के साथ ही (उद् आजत) हांक कर कर दिया था।

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम्।
ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥ २५ ॥

भा०—जो पुरुष (एनाम्) इस वशा को (ब्राह्मणैः च) ब्राह्मणों के (याचिताम्) मांग लेने पर भी (नि प्रियायते) अपना धन बनाये रखता

२३–(द्वि०) 'अन्येभ्यो ददद्' इति पैप्प० सं०।
२४–(तृ०) 'विद्वान्' इति ह्विटनिकामितः।
२५–(द्वि०) 'पौरुषम्', (च०) 'नु प्रियायते' इति पैप्प० सं०।

भूतिम् च) आयु और धन सम्पत्ति को (हीडिता) क्रोधित हुए (देवा) देवगण विद्वान् पुरुष (वृश्चन्ति) नाश कर डालते हैं ।

चशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति ॥ २९ ॥

भा०—(वशा) वशा (बहुधा) नाना प्रकार से (चरन्ती) चलती हुई भी (देवानां निहित निधिः) देवों की धरोहर, खज़ाना ही है । (यदा) जब वह वशा (स्थाम) अपने रहने के स्थान को (जिघांसति) मारती तोड़ती, फोड़ती है तभी वह (रूपाणि) नाना रूपों को, स्वभावों को (आविः कृणुष्व) प्रकट करती है ।

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याञ्च्याय कृणुते मनः ॥३०॥ (२१)

भा०—(यदा) जब (स्थाम) अपने रहने के स्थान को (जघांसति) सींगों और लातों से तोड़ती फोड़ती है और (आत्मनम्) अपने स्वरूप को (आविः कृणुते) प्रकट कर देती है (अथो ह) तभी निश्चय से वह (ब्रह्मभ्य याञ्च्याय) ब्राह्मणों द्वारा की गई याचना के लिये (मनः कृणुते) अपना चित्त करती है, विचारती है ।

मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥

भा०—जब वह अपने (मनसा) मन से (संकल्पयाति) संकल्प कर लेता है (तत्) तब वह (देवान् अपि गच्छति) देवों, विद्वानों को भी प्राप्त हो जाती है । (ततः) उसके बाद (ब्रह्माणः) ब्राह्मण लोग (वशाम्) उस वशा को (याचितुम्) मांगने के लिये भी (उप प्रयन्ति) आ जाते हैं ।

२९–(च०) 'जिगांसति' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'यदा' इति पैप्प० सं० ।
३०–(तृ०) 'अथोह' इति पैप्प० सं० ।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ ३२ ॥

भा०—(स्वधाकारेण) स्वधा रूप अन्न प्रदान करने से (पितृभ्यः) पितृ लोगों के (यज्ञेन) यज्ञ से देवताओं के (दानेन) दान कर देने से (राजन्यः) राजा (वशायाः मातुः) 'वशा रूप माता के (हेडं न गच्छति) क्रोध का पात्र नहीं होता।

पूर्वोक्त वशा का स्पष्टीकरण।

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः ।
तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥ ३३ ॥

भा०—(वशा) 'वशा' (राजन्यस्य) राजा की (माता) माता अर्थात् उसे बनाने और उत्पन्न करने वाली है। (तथा) उसी प्रकार (अग्रशः संभूतम्) पहले भी था कि (यद्) यदि वह 'वशा' (ब्रह्मभ्यः, विद्वान् ब्राह्मणों को (प्रदीयते) प्रदान कर दी जाय तो इसको भी विद्वान् लोग (तस्याः) उस वशा का (अनर्पणम्) अनर्पण, अप्रदान ही (आहुः) कहते हैं।

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये ।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत् ॥ ३४ ॥

भा०— (यथा) जिस प्रकार (स्रुचः) स्रुवा में (अग्नये) अग्नि के निमित्त (प्रगृहीतम्) लिये हुए (आज्यम्) घृत को (आलुम्पेत्) अग्नि में न डालकर वापिस ले ले इस प्रकार वह (अग्नये आवृश्चते) अग्नि के प्रति अपराध करता है उसी प्रकार (ब्रह्मभ्यः) विद्वान् ब्रह्मज्ञानियों को

३३–(तृ०) 'तस्याद्' इति पैप्प० सं०।
३४–(प्र०) 'यथाज्यं प्रतिगमाद' (च०) 'अग्नये वृश्चतेव' इति पैप्प० सं०।

(वशाम्) वशा का (अददत्) दान न करता हुआ (ब्रह्मभ्यः आ वृश्चते) ब्रह्मज्ञानियों के प्रति अपराध करता है ।

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेस्मा उप तिष्ठति ।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रदुदुषे दुहे ॥ ३५ ॥

भा०—(पुरोडाशवत्सा) 'पुरोडाश' को बछड़ा बना कर (सुदुघा) उत्तम रीति से बहुत फल देने वाली 'वशा' (लोके) लोक में (अस्मै) इस राजा के लिये (उपतिष्ठति) आ उपस्थित होती है (सा वशा) वह 'वशा' (अस्मै प्रददुषे) इसे अपने दान करने वाले को (सर्वान् कामान् दुहे) समस्त कामना करने योग्य फलों को उत्पन्न करती और सब मनोरथ पूर्ण करती है ।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रदुदुषे दुहे ।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥ ३६ ॥

भा० (यम-राज्ये) यम नियन्ता राजा के राज्य में (वशा) 'वशा' (प्रदुदुषे) अपने को उत्तम पात्र में प्रदान करने हारे के लिये (सर्वान् कामान्) समस्त मनोऽभिलषित फलों को (दुहे) उत्पन्न करती है । (अथ) और (याचिताम्) याचना करने पर भी मांगी गई उस वशा को (निरुन्धानस्य) याचक के प्रति दान न देकर, रोक रखने वाले के लिये (नारकं लोकम्) विद्वान् पुरुष 'नारक'=निकृष्ट—नीच पुरुषों से पूर्ण लोक ही उसके योग्य (आहुः) बतलाते हैं ।

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा ।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥ ३७ ॥

३५-(द्वि०) 'लोकेऽस्यापे' (तृ०) 'सहस्मै सर्वान् कामान मंह' इति पैप्प० सं० ।

३६-(तृ०) 'तथाहु' इति पैप्प० सं० । १. 'नारकम् ।' इति पदपाठ ।

भा०—(प्रवीयमाना) नाना सन्तति उत्पन्न करने का कर्म करती हुई, सांढ से लगती हुई अर्थात् उत्पादक वीर्यवान् पुरुष, परमेश्वर की संगिनी होकर (वशा) 'वशा' (गोपतये) गोपति, स्वामी राजा के प्रति (क्रुद्धा चरति) बड़ी क्रुद्ध होकर विचरती है कि (मा) मुझ को (वेहतम्) गर्भघातिनी, वन्ध्या (मन्यमानः) मानता हुआ पुरुष (मृत्योः) मृत्यु के (पाशेषु) पाशों में (बध्यताम्) बांधा जाय ।

यो वेहतं मन्यमानोमा च पचते वशाम् ।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥ ३८ ॥

भा०—(यः) जो (वशाम्) वशा को (वेहतं मन्यमानः) गर्भोपघातिनी गाय मानता हुआ (अमा च) अपने घर पर ही (वशाम्) वशा को (पचते) पका देता है (अस्य पुत्रान् पौत्रान् च अपि) उसके बेटों और पोतों तक को भी (बृहस्पतिः) बृहती वेद वाणी का पालक बृहस्पति परमेश्वर और विद्वान् ब्रह्मज्ञानी वेदज्ञ (याचयते) भीख मंगवाता है ।

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि ।
अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे ॥ ३९ ॥

भा०—(गोषु) गौओं में (गौः अपि) सामान्य गौ होकर भी (चरन्ती) विचरती हुई (एषा) यह वशा (महत् तपति) बड़ी पीड़ा अनुभव करती है (अथो) और (अददुषे) प्रदान न करने हारे (गोपतये) अपने पालक गोपति राजा को वह (विषं दुहे) विष दुहा करती है ।

३८–' अमाच ', (तृ० च०) ' वाल्यस्यपुत्रान पौत्राश्चातयते बृह-' इति पैप्प० सं० ।

३९–(तृ०) ' तस्तोगोप ' इति पैप्प० सं० ।

प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ।
अथो वशायास्तत् प्रियं यद् देवत्रा हविः स्यात् ॥४०॥ (२२)

भा०—(यद्) यदि (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मणों को वशा (प्रदीयते) प्रदान करदी जाती है तो (पशूनां) पशुओं का भी (प्रियम्) भला ही (भवति) होता है (अथो) और (वशायाः) वशा को भी (तत् प्रियम्) यह प्रिय लगता है (यद्) कि वह (देवत्रा) देवों के (हविः) दान योग्य पदार्थ (स्यात्) हो जाय ।

या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्यं ।
तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः ॥ ४१ ॥

भा०—(देवाः) देवों ने (यज्ञाद्) यज्ञ से (उद् एत्य) ऊपर आकर (याः वशाः) जिन 'वशाओं' को (उद् अकल्पयन्) उन्नत स्वीकार किया (तासाम्) उनमें से भी (भीमाम्) भीमा, भयानक, भय-प्रद, उग्र (विलिप्त्यं) 'विलिप्ति' को (नारदः) नारद, विद्वान् पुरुष (उद् आकुरुत) और भी उत्कृष्ट मानता है ।

तां देवा अमीमांसन्त वशेया३मवशेति ।
तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति ॥ ४२ ॥

भा०—(तां) उस 'भीमा विलिप्ति' के विषय में (देवा अमीमांसन्त) देवगण भी मीमांसा, विवेचन करते हैं कि (वशा इयम्) वह 'वशा' है या (अवशा इति) 'अवशा' वशा से भिन्न, 'वशा' की सी है । (नारदः) नारद, विद्वान् (ताम्) उस भीमा विलिप्ति के विषय में कहता है कि (एषा) यह तो (वशानाम् वशतमा) वशा में भी सब से उत्तम वशा='वशतमा' है ।

४१–(तृ०) 'विलिप्तिम्' इति पैप्प० सं० ।
४२–'वशेया ३ मवशा ३ इति' हैन्मेनकामितः पाठः । (प्र०) 'देवा भीमां' (द्वि०) 'वशेय नन्वशेति' (च०) 'वशतमा' इति पैप्प० सं० ।

कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थं मनुष्यजाः ।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः ॥४३॥

भा०—हे (नारद) नारद ! (कति नु वशा) भला बतलाओ कितनी ऐसी 'वशा' हैं (याः) जिनको (त्वं) तू (वेत्थ) जानता है कि वे (मनुष्यजाः) मनुष्य-मननशील पुरुष से उत्पन्न हैं। (ताः) उनको (त्वा विद्वांसम्) तुम विद्वान् से (पृच्छामि) पूछता हूं और बतला उनमें से (कस्याः) किसका (अब्राह्मणः) अब्राह्मण, ब्राह्मण से अतिरिक्त लोग (न अश्नीयात्) भोग न करे ।

विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥ ४४ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! (विलिप्तयः) 'विलिप्ति' और (या च) जो 'सूतवशा' वशा को उत्पन्न करने वाली और (वशा) वशा, (तस्याः) इन तीनों का वह (अब्राह्मण) ब्राह्मण, से अतिरिक्त पुरुष (न अश्नीयात्) भोग न करे (यः) जो (भूत्याम्) सम्पत्ति, समृद्धि की (आशंसेत) आशा करे, चाहे ।

नमस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वशा ।
कतमासां भीमतमा यामदत्त्वा पराभवेत् ॥ ४५ ॥

भा०—हे (नारद) नारद ! (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो । और (अनुष्ठु) तत्काल ही (विदुषे) वशा को जान लेने वाले विद्वान् को (वशा) 'वशा' प्राप्त होनी चाहिये । अच्छा अब यह कहो कि (आसाम्)

४३-(तृ०) 'कतिनामां भीमतमा' इति पैप्प० सं० ।
४४-(प्र०) 'विल्प्तिया', (तृ०) 'तासाम् ना' इति पैप्प० सं० ।
४५-(प्र०) 'तेस्तु' (द्वि०) 'वशान्' इति पैप्प० सं० ।

इन उपरोक्त विलिसि, सूतवशा और वशा इन तीनों में से (कतमा) कौनसी (भीमतमा) सब से अधिक भयप्रद है (याम्) जिस को (अदत्वा) बिना दिये स्वामी (पराभवेत्) पराभव या अपमान या कष्ट और दरिद्रता को प्राप्त हो जा सकता है ।

विलिप्ती या बृहस्पतेथो सूतवंशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसत भूत्याम् ॥ ४६ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! (या) जो विलिप्ती और (सूतवशा वशा) सूतवशा और वशा है इत्यादि व्याख्या देखो [मन्त्र सं० ४३]

त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा ।
ता प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोनाव्रस्कः प्रजापतौ ॥ ४७ ॥

भा०—(त्रीणि) तीन (वै) ही (वशाजातानि) वशा के प्रकार या प्रभेद हैं (विलिप्ती) 'विलिप्ती' (सूतवशा) 'सूतवशा' और (वशा) 'वशा' । (ता.) उन तीनों को (य) जो (ब्रह्मभ्य) ब्राह्मणों को (प्रयच्छेत्) प्रदान करता है (स.) वह (प्रजापतौ) प्रजापति के प्रति (अनाव्रस्क.) कोई अपराध नहीं करता ।

एतद् वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः ।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे ॥ ४८ ॥

भा०—(अददुष गृहे) दान न करनेहारे के घर में (या भीमा) जो बड़ी भयानक है ऐसी (वशां चेत एन याचेयुः) वशा को उस स्वामी के पास जाकर यदि ब्राह्मणगण याचना करते हैं तो (याचित.) मांगने पर स्वामी (इति मन्वीत) ऐसा ही जाने और कहे हे (ब्राह्मणा) ब्राह्मणो ! (एतत् व हवि) यह तुमारे 'हवि' अर्थात् दान देने योग्य पदार्थ है ।

४६–' विलुप्ति बृहस्पतये याचम्सूत ' (तृ०) ' तासाम् ' इति पैप्प० सं० ।
४७–(द्वि०) ' विलुप्ती० ' इति पैप्प० सं० ।

दे॒वा व॒शां पर्य॑वद॒न् न नो॑ऽदा॒दिति॒ हीडि॑ताः ।
ए॒ताभि॑र्ऋ॒ग्भिर्भे॒दं तस्मा॒द् वै स परा॑भवत् ॥ ४९ ॥

भा०—(नः) हमें स्वामी (न अदात्) इस वशा को प्रदान नहीं करता (इति) इस कारण से (हीडिताः) क्रुद्ध हुए (देवाः) देवगण (एताभिः) इन (ऋग्भिः) ऋचाओं से (भेदम्) भेद को (परि-अवदन्) मन्त्रणा करते हैं (तस्मात्) इसलिये (वै) निश्चय से (सः) वह अदाता स्वामी (पराभवत्) पराजय को प्राप्त होता है ।

उ॒तैनां॑ भे॒दो नाद॑दाद् व॒शामिन्द्रे॑ण याचि॒तः ।
तस्मा॒त् तं दे॒वा आग॒सोऽवृ॑श्चन्नहमुत्त॒रे ॥ ५० ॥

भा०—(उत) और (एनाम्) इस (वशां) वेशा को लक्ष्य करके (इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (याचितः भेदः) याचना किया गया 'भेद' भी (वशाम्) वशा को (न अददात्) न प्रदान करे (तस्मात्) इस कारण (तं) उस अदाता पुरुष को (आगसः) अपराध के कारण (अहमुत्तरे) युद्ध में (अवृश्चन्) मार काट डालते हैं ।

ये व॒शाया॒ अदा॑नाय॒ वद॑न्ति परिरा॒पिणः॑ ।
इन्द्र॑स्य म॒न्यवे॑ जा॒ल्मा आ वृ॑श्चन्ते॒ अचि॑त्त्या ॥ ५१ ॥

भा०—(ये) जो (परिरापिणः) बकवादी, बुरी सलाह देने वाले लोग (वशायाः) वशा को (अदानाय) दान न करने के लिये (वदन्ति) कहा करते हैं वे (जाल्माः) दुष्ट पुरुष (अचित्या) अपने अज्ञान या

४९-(प्र०) 'वशामुपवदन' (द्वि०) 'सनो राज्ञ हेडितः,' (तृ०) 'भेदस्य' इति पैप्प० सं० ।

५०-'उतैनाम्' इति क्वचित्, पैप्प० सं० ।

५१-'वशाया-दाना' इति पैप्प० सं० ।

दुष्चित्तता के कारण (इन्द्रस्य मन्यवे) इन्द्र के मन्यु के द्वारा (आ वृश्चन्ते) विनष्ट हो जाते हैं ।

ये गोप॑तिं प॒राणी॒याथा॒हुर्मा द॑दा॒ इति॑ ।
इन्द्र॑स्या॒स्ता ते हे॒तिं परि॑ यन्त्य॒चित्त्या ॥ ५२ ॥

भा०—(ये) जो लोग (गोपतिम्) गौ के स्वामी को (परा नीय) दूर एकान्त में लेजा कर (अथ) बाद में (आहुः) उससे कहते हैं कि तू (मा ददाः इति) वशा को दान मत कर (ते) वे (अचित्त्या) अपनी मूर्खता से ही (इन्द्रस्य) इन्द्र के (अस्ताः हेतिम्) फेंके हुए बाण के (परि-यन्ति) शिकार हो जाते हैं ।

यदि॑ हु॒तां यद्यहु॑ताम॒मा च॒ पच॑ते व॒शाम् ।
दे॒वान्त्सब्रा॑ह्मणानृ॒त्वा जि॒ह्मो लो॒कान्निर्ऋ॑च्छति ॥ ५३ ॥ (२३)

भा०—(यदि हुताम्) यदि दान दी हो, (यदि अहुताम्) दान न दी हो तो भी यदि गोपति (वशाम् अमा च पचते) 'वशा' को अपने ही घर में पकाता है, वह (सब्राह्मणान्) ब्राह्मण सहित (देवान्) देवों के प्रति (ऋत्वा) अपराध करके (जिह्मः) कुटिलाचारी होकर (लोकात्) इस लोक से (निर्ऋच्छति) कष्ट पाकर निकलता है ।

पूर्वोक्त सूक्त का शब्दार्थ वाक्यरचनानुसार कर दिया है । इस सूक्त की संगति अथर्ववेद के १० काण्ड के १० सूक्त के साथ लगाने से इस सूक्त का भावार्थ स्पष्ट हो जाता है । वहां भी तीन वशाओं का वर्णन है । "वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः । " इसी प्रकार यहां भी विलिप्ति, सूतवशा और वशा इन तीन वशाओं का वर्णन है । इस सूक्त में

५२–(च०) 'यन्त्यचेतसः' इति पैप्प० सं० ।
५३–(तृ०) 'स ब्राह्मणान्नृत्वा' इति क्वचित् ।

क्रम से नारद=विद्वान्, जीव । बृहस्पति=परमात्मा । विशेष विचार भूमिका भाग में करेंगे ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम्, ऋचश्च त्रयःपञ्चाशत् ।]

[५ (१)] ब्रह्मगवी का वर्णन ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । सप्त पर्यायसूक्तानि । ब्रह्मगवी देवता । तत्र प्रथमः पर्यायः । १, ६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, २ भुरिक् साम्नी अनुष्टुप्, ३ चतुष्पदा स्वराड् उष्णिक्, ४ आसुरी अनुष्टुप्, ५ साम्नी पंक्तिः । षडृचं प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता ॥ १ ॥

भा०—ब्रह्मगवी=ब्रह्म=ब्राह्मण की शक्तिमयी ब्रह्मवाणी (श्रमेण) श्रम और (तपसा) तप से (सृष्टा) बनी या उत्पन्न होती है । (ब्रह्मणा) ब्रह्म-वेद और ब्रह्म=ब्रह्मज्ञान के प्राप्त करने वाले तपस्वी पुरुष द्वारा (वित्ता) जानी और प्राप्त की जाती है (ऋते श्रिता) ऋत=परम सत्य-मय परमात्मा में आश्रित रहती है ।

ब्रह्मगवी का स्वरूप देखो [अथर्व० का० ५ । सू० १८, १९ ॥]

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २ ॥

भा०—वह ब्रह्म-वाणी (सत्येन आवृता) सत्य के बल से सुरक्षित होती है । (श्रिया) श्री, शोभा और कान्ति से (प्रावृता) ढकी होती और (यशसा परीवृता) वीर्य और तेज और सत् ख्याति से घिरी होती है ।

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ३ ॥

भा० - वह (स्वधया) स्वधा-अमृत शक्ति से (परिहिता) सुरक्षित, (श्रद्धया परि ऊढा) श्रद्धा से दृढ़ (दीक्षया गुप्ता) दीक्षा=दृढ संकल्प और यत्न से सुरक्षित (यज्ञे) यज्ञरूप परमेश्वर या प्रजापालक राजा पर आश्रित है । (लोक. निधनम्) यह लोक उसका आश्रय है ।

ब्रह्मं पद्वायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४ ॥

भा०—(ब्रह्म) ब्रह्म, वेद उसके (पद-वायम्) पद=स्वरूप को दर्शाने वाला, है और (ब्राह्मणः) ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञ, वेदज्ञ उसका (अधिपतिः) स्वामी है ।

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ५ ॥
अपं क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ॥ ६ ॥ (२४)

भा०—(ताम्) उस ब्रह्मगवी को (आ ददानस्य) लेनेहारे (ब्राह्मणम्) और ब्राह्मण को (जिनतः) बलात्कार करने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय की (सूनृता) शुभ सत्य वाणी, (वीर्यम्) वीर्य, बल और (पुण्या लक्ष्मीः) पुण्य, पवित्र निष्पाप लक्ष्मी (अपक्रामति) उसे छोड़ कर भाग जाती है ।

(२)

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥७॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ ८ ॥ आयुश्च रूपं च नामं च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ९ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥ तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति

१.-'आयुश्च श्रोत्रं च' इति पैप्प० सं० ।

ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ११ ॥ (५५)

भा०—(ब्राह्मणं जिनतः) ब्राह्मण पर बलात्कार करने हारे और उससे (ब्रह्मगवीम् आददानस्य) ब्रह्मगवी, ब्रह्म=वेदवाणी को बलात् छीनने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (ओजः च तेजः च) ओज, प्रभाव और तेज, (सहः च बलम् च) 'सहः' दूसरे को पराजित करने का सामर्थ्य और बल, सेनाबल (वाक् च इन्द्रियम् च) वाणी और इन्द्रियें, (श्रीः च धर्मः च) लक्ष्मी और धर्म, (ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्रह्मबल, ब्राह्मणगण, क्षात्रबल उसके सहायक क्षत्रिय, (राष्ट्रं च विशः च) उसका राष्ट्र और उसके अधीन वैश्य प्रजाएं (त्विषिः च यशः च) उसकी त्विट् कान्ति दीप्ति और यश, ख्याति (वर्चः च द्रविणम् च) वर्चस्, वीर्य और धन (आयुः च रूपं च) आयु और रूप (नाम च कीर्त्तिः च) नाम और कीर्त्ति, (प्राणः च अपानः च) प्राण और अपान, (चक्षुः च श्रोत्रं च) चक्षु, दर्शनशक्ति और श्रोत्र, श्रवणशक्ति । (पयः च रसः च) दूध और जल (अन्नं च, अन्नाद्यं च) अन्न और अन्न के भोग करने का सामर्थ्य (ऋतं च सत्यं च) ऋत और सत्य (इष्टं च पूर्तं च) इष्ट, पूर्त, यज्ञ याग और कूपतड़ागादि धर्म के सब कार्य और (प्रजा च पशवः च) प्रजाएं और पशु (तानि सर्वाणि) वे सब (अपक्रामन्ति) उसको छोड़ कर चले जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं ।

(२)

ऋचैकैका च पूर्वोक्ते । १२ विराड्विषमा गायत्री, १३ आसुरी अनुष्टुप्, १४, २६ साम्नी उष्णिक्, १५ गायत्री, १६, १७, १९, २० प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १८ याजुषी जगती, २१, २५ साम्नी अनुष्टुप्, २२ साम्नी बृहती, २३ याजुषी-त्रिष्टुप्, २४ आसुरीगायत्री, २७ आर्ची उष्णिक् । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

११–'अपक्रामन्ति क्षत्रियस्य' इति पैप्प० सं० ।

मैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात् कृत्या कूल्बजमावृता ॥१२॥

भा०—(सा एषा) वह यह (ब्रह्मगवी) 'ब्रह्मगवी' (ब्रह्मज्यस्य[1]) ब्रह्मद्वेषी के लिये (अघविषा) ऐसी तीव्र विष से युक्त है जो किसी उपाय से नाश नहीं हो सकता। वह (साक्षात् कृत्या) ब्रह्मद्वेषी के लिये साक्षात् प्रत्यक्ष में हिंसा का घातक प्रयोग ही है जो (कूल्बजम्=कु-उल्ब जम्) कुत्सित जनसमुदाय से उत्पन्न पुरुष पर (आवृता) आश्रित है अथवा (कूल्बजं-मावृता) वह घातक प्रयोग है घास फूस में लिपटा है। उल्ब '=उन्मति समवैति इति उल्व । कुत्सित उल्व कूल्व' तस्माज्जातः कूल्वज' । कुत्सित समुदायोद्भतजेतृपुरुष' । तमावृता तमावृत्य तिष्ठतीत्यर्थः ।

सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥ १३ ॥
सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥ १४ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी के लिये (अस्याम्) इसमें (सर्वाणि) सब प्रकार के (घोराणि) घोर, भयानक कर्म और (सर्वे च मृत्यवः) सब प्रकार के मृत्युभय विद्यमान होते हैं। (अस्याम्) इसमें (सर्वाणि क्रूराणि) सब प्रकार के क्रूरकर्म और (सर्वे पुरुषवधाः) समस्त प्रकार पुरुषों को मारने वाले हथियार अथवा सब प्रकार के पुरुषों के मारने के उपाय सम्मिलित हैं।

सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्या/दीयमाना मृत्योः पड्वीश आ द्यति ॥ १५ ॥

भा०—(सा ब्रह्मगवी) वह ब्रह्मगवी (आदीयमाना) पकड़ी जाकर (ब्रह्मज्यं) ब्राह्मण वेद और वेदज्ञों के विनाशक (देवपीयुं) देवों, विद्वान्

१२–' कूल्वा जमावृता ' इति पैप्प० सं० ।

१. ब्रह्मज्यस्येति (२७) अनुगच्छतीति मन्त्रादपकृष्यते ।

१५–'-गव्या ददीय-' इति क्वचित् ।

पुरुषों के हिंसक पुरुषों को (मृत्योः) मौत के (पड्वीशे) फन्दे में या फांसे में (आधनि) फांस कर खण्ड २ कर डालती है।

मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा ॥ १६ ॥

भा०—(सा) वह 'ब्रह्मगवी' ब्रह्मघ्न के लिये (शतवधा) सैकड़ों प्रकार से वध करने वाली या सैकड़ों हथियारों से युक्त (मेनिः) वज्र हो है और (सा) वह (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती पुरुष को (क्षितिः हि) निश्चय से क्षय करने हारी है।

तस्माद् वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता ॥ १७ ॥

भा०—(तस्मात्) इसलिये (वै) निश्चय से (विजानता) इस रहस्य को विशेष रूप से जानने वाले पुरुष द्वारा (ब्राह्मणानां गौः) ब्राह्मणों की 'गौ' (दुराधर्षा) कठिनता से धर्षण की जाती है। अर्थात् उपरोक्त बात को जानकर मनुष्य ब्राह्मण की गौ को भूल कर भी पीड़ा नहीं देता।

वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता ॥ १८ ॥

भा०—ब्रह्मघ्न के लिये ब्रह्मगवी ही (धावन्ती) दौड़ती हुई दीखती है (वज्रः) वज्र तलवार होकर या (वैश्वानरः उद्वीता) अग्नि, विद्युत् रूप होकर ऊपर उठती या धधकती है।

हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवो३ऽपेक्षमाणा ॥ १९ ॥

भा०—(हेतिः शफान् उत्खिदन्ती) अपने खुर ऊपर उठा २ कर मारती हुई, बाण या अस्त्र होकर जाती है और वह (महादेवः अपेक्षमाणा) दूर २ तक देखती हुई मानो साक्षात् महादेव के समान हो जाती है।

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥

२०–'वाश्यमाना' इति क्वचित्।

भा०—(क्षुरपविः) छुरे के धार के समान तीक्ष्ण होकर (ईक्षमाणा) सबको देखती है । (वाश्यमाना) घोर शब्द करती हुई (अभिस्फूर्जति) भारी गर्जना करती है ।

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥

भा०—ब्रह्मघाती के लिये वह (मृत्युः) मृत्यु रूप होकर (हिंकृण्वती) मानो बंभारती है । (उग्रः देवः) उग्र देव, काल हुंकार मानो (पुच्छं पर्यस्यन्ती) पूंछ फटकार रही होती है ।

सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥

भा०—ब्रह्मघाती के लिये (सर्वज्यानिः) वह सब प्राणियों का नाश करनेहारी होकर वह (कर्णौ) कानों को (वरीवर्जयन्ती) फटकार रही होती है । (राजयक्ष्मः) राजयक्ष्मा का भयंकर रोग बन कर मानो वह (मेहन्ती) मूत्र कर रही होती है ।

मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥

भा०—(मेनिः) वज्र या विद्युत् रूप होकर (दुह्यमाना) मानो ब्राह्मण से दुही जाती है । और वह (दुग्धा) पूरी तरह से दुही जाकर वह (शीर्षक्तिः) सिर की तीव्र पीड़ा रूप हो जाती है ।

सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥

भा०—(उपतिष्ठन्ती) समीप आती हुई वह (सेदिः) बल वीर्य का नाश करनेहारी होती है । जब ब्रह्मघाती द्वारा (परामृष्टा) कठोर स्पर्श प्राप्त करती है तो (मिथोयोधः) वह परस्पर युद्ध करने हारे सिपाही के समान भयंकर हो जाती है ।

शरव्याऽमुखे॑ऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥

२१–' त्युरयो ' इति क्वचित् ।

भा०—ब्रह्मघ्न द्वारा (मुखे) मुख के (अपिनह्यमाने) बांधे जाने पर (शरव्या) तीक्ष्ण बाण के समान प्रहार करने हारी होती है। (हन्यमाना) जब वह इसे मारता है तो वह (ऋतिः) भारी पीड़ा होकर प्रकट होती है।

अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥

भा०—ब्रह्मघ्न द्वारा (निपतन्ती) नीचे गिरती हुई वह ब्रह्मगवी (अघविषा) विना प्रतीकार के विष से पूर्ण होती है। (निपतिता) नीचे गिरी हुई वह साक्षात् (तमः) अन्धकार, मृत्यु के समान हो जाती है।

अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥२७॥ (२८)

भा०—(ब्रह्मज्यस्य) 'ब्रह्म'=ब्राह्मण और ब्रह्म-वेद की हानि करने वाले ब्रह्मद्वेषी पुरुष के (अनुगच्छन्ती) पीछे २ चलती हुई (ब्रह्मगवी) 'ब्रह्मगवी' उसके (प्राणान् उप दासयति) प्राणों का नाश करा डालती है।

(४)

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्त । २८ आसुरी गायत्री, २९, ३७ आसुरी अनुष्टुभौ, ३० साम्नी अनुष्टुप्, ३१ याजुषी त्रिष्टुप्, ३२ साम्नी गायत्री, ३३, ३४ साम्नी बृहत्यौ, ३५ भुरिक् साम्नी अनुष्टुप, ३६ साम्न्युष्णिक्, ३८ प्रतिष्ठा गायत्री ।
एकादशर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥

भा०—(विकृत्यमाना) विविध रूपों से अंग २ काटी जाती हुई ब्रह्मद्वेषियों के लिये साक्षात् (वैरम्) वैर, आपस का कलह बनकर प्रकट होती है। (विभाज्यमाना) अंग २ काटकर आपस में बंटली जाती हुई ब्रह्मगवी (पौत्राद्यम्[1]) पुत्र, पौत्र आदि को खाजाने वाली हो जाती है।

२८—'पौत्रायम्' इति संहिताः ।

१. 'पौत्र-आद्यम्' इति पदपाठः । 'पौत्र अद्यम्' हिन्द्नसम्मतिः ।

देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥ २९ ॥

भा०—जब ब्रह्मद्वेषी लोग उस ब्रह्मगवी को (ह्रियमाणा) हरण कर रहे होते हैं तब वह (देवहेतिः) देव विद्वानों के अस्त्र के समान उसका नाश करती है। (हृता) जब वे उसका हरण कर चुकते हैं तब वह (व्यृद्धिः) उनके सम्पत्ति के नाश का कारण होती है।

पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३० ॥

भा०—(अधिधीयमाना) ब्रह्मद्वेषी पुरुष द्वारा अधिकार में रखी हुई ब्रह्मगवी उसके लिये तो (पाप्मा) पाप के समान है, जो उसे भविष्यत् में कष्ट का कारण होगी। (अवधीयमाना) उससे तिरस्कार को प्राप्त होती हुई ब्रह्मगवी (पारुष्यम्) उसके ऊपर कठोर दण्ड के रूप में उसको आर्थिक, शारीरिक और वाचिक कठोर दण्ड का कारण होती है।

विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ३१ ॥

भा०—(प्रयस्यन्ती) ब्रह्मगवी, ब्रह्मद्वेषी के द्वारा कष्ट उठाती हुई उसके लिये (विषम्) विष के समान प्राणनाशक है। (प्रयस्ता) अति कठिन कष्ट पाई हुई, सताई हुई वह (तक्मा) ज्वर के समान उसके जीवन को दुःखमय बना देनेहारी होती है।

अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्वा ॥ ३२ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा ब्रह्मगवी (पच्यमाना) हांडी आदि में मांस अथवा भोजनादि के समान पकाई गई उसके लिये (अघम्) भयंकर पाप के समान अनिवार अपराध है। और (पक्वा) पकी हुई वह (दुष्वप्न्यम्) बुरे भयकारी स्वप्न के समान रात्रि में भी उसे सुख से नींद न लेने देनेहारी, त्रासकारिणी होती है।

३१–' प्र (स्यन्ती ' इति क्वचित्।

मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ३३ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा ब्रह्मगवी (पर्याक्रियमाणा) कड़छी से लोटी-पोटी जाती हुई उसके (मूलबर्हणी) मूल के नाश करने वाली और (पर्याकृता) खूब कड़छी से लोटी-पोटी गई वही उसके लिये (क्षितिः) विनाशरूप है।

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥ ३४ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा पकाई गई ब्रह्मगवी स्वयं (गन्धेन) उठते हुए मांस के गन्ध से वह (असंज्ञा) उसको निःश्चेतन और बेहोश करने वाली होती है। (उद्ध्रियमाणा) कड़छे से ऊपर निकाली जाती हुई उसके लिये (शुक्) शोकरूप है। (उद्धृता) ऊपर निकाली हुई ही (आशी-विषः) दाढ़ों में ज़हर धारने वाले काल, सर्प के समान उसके लिये प्राणहर है।

अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥ ३५ ॥

भा०—(उपह्रियमाणा) बलि के लिये लाई गई या पकाई जाने पर परोसी जाती हुई या भेंट दी जाती हुई ब्रह्मगवी ब्रह्मद्वेषी के लिये (अभूति) अभूति अर्थात् समस्त सम्पत्ति के विनाश कर, विपत्ति को लाने वाली है और (उपहृता) लाई गई या परोसी गई या भेंट दी गई 'ब्रह्मगवी' (पराभूतिः) उसको 'पराजय' करने वाली है।

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥ ३६ ॥

भा०—(पिश्यमाना) जब वह एक २ अंग करके काटी जा रही होती है या दांतों से चबाई जा रही होती है तब वह साक्षात् (क्रुद्धः शर्वः) क्रुद्ध शर्व, प्रलयकारी रुद्र के समान है। (पिशिता) जब वह अंग २ करके काटी जा चुकी या चबाई गई है तब वह (शिमिदा) उसके समस्त सुखों का नाशक भारी महामारी के समान है।

अर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥ ३७ ॥

भा०—'ब्रह्मगवी' (अश्यमाना) खाई या निगली जाती हुई (अर्तिः) ब्रह्मद्वेषी के लिये उसकी सत्ता मिटाने वाली है। और (अशिता) खाई गई ही वह (निर्ऋतिः) पाप देवता या मृत्यु के समान भयंकर है।

अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥ ३८ ॥ (२७)

भा०—(अशिता) खाई गई 'ब्रह्मगवी' (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण-ब्रह्मज्ञ विद्वान् के नाशकारी पुरुष को (अस्मात् च अमुष्मात् च) इस और उस ऐहिक और पारमार्थिक लोक से (छिनत्ति) उखाड़ फेंकती है।

(५)

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । ३९ साम्नी पंक्ति, ४० याजुषी अनुष्टुप्, ४१, ४६ भुरिक् साम्नी अनुष्टुप, ४२ आसुरी बृहती, ४३ साम्नी बृहती, ४४ पिपीलिका-मध्याऽनुष्टुप्, ४५ आर्ची बृहती। अष्टर्चं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३९ ॥

भा०—(तस्याः) उस ब्रह्मगवी का (आहननं) मारना (कृत्या) घातकारि गुप्त प्रयोग के समान है। (आशसनम्) उसका खण्ड २ करना (मेनिः) घोर वज्र के समान है (ऊबध्यम्) उसके भीतर का अन्नादि (वलगः) गुप्त हत्या प्रयोग के समान है।

अस्वगता परिह्णुता ॥ ४० ॥

भा०—(परिह्णुता) छुपा ली गई या अपने अधिकार से च्युत करदी गई 'ब्रह्मगवी' (अस्वगता) अपने गृह और धन संपत्ति से हाथ धो लेना है।

३८-'लोकाच्छि' इति क्वचित्।

३९-'वलगाहन' इति पम्प० स०।

अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥ ४१ ॥

भा०—(ब्रह्मगवी) 'ब्रह्मगवी' (ब्रह्मज्यं) ब्रह्म पुरुष में (क्रव्याद्) क्रव्य=कच्चा मांस खाने वाली, श्मशानाग्नि (भूत्वा) के समान घातक होकर (प्रविशति) प्रविष्ट होती है ।

सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४२ ॥

भा०—(अस्य) इस ब्रह्मद्वेषी के (सर्वा अङ्गा) समस्त अंगों और (पर्वा) पोरुओं और (मूलानि) मूलों को भी (वृश्चति) काट देती है ।

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ४३ ॥

भा०—(अस्य) उस ब्रह्मद्वेषी के (पितृबन्धु) मां बाप और उनके बन्धुओं को (छिनत्ति) विनाश कर डालती है । और (मातृबन्धु) माता और उसके सम्बन्ध के बन्धुओं को भी (पराभावयति) उससे जुदा करके विनाश कर देती है ।

विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥

भा०—(ब्रह्मगवी) 'ब्रह्मगवी' (क्षत्रियेण) क्षत्रिय अर्थात् राजबल द्वारा (अपुनः दीयमाना) यदि फिर भी लौटाई न जाय तो वह (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मद्वेषी के (सर्वान् विवाहान्) समस्त विवाह सम्बन्धों और (ज्ञातीन्) समस्त जातिबन्धुओं को भी (क्षापयति) विनाश कर डालती है ।

अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥४५॥
य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥ (२८)

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (विदुषः) विद्वान् (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गाम्) 'गौ' को (क्षत्रियः) क्षत्रिय (आदत्ते) ले लेता है, वह ब्रह्मगवी (एनम्) उस को (अवास्तुम्) मकान रहित,

(अस्वगम्) घरबाररहित और (अप्रजसम्) प्रजारहित (करोति) कर डालती है। और वह (अपरापरणः भवति) दूसरे किसी अपने पालन करने वाले सहायक से भी रहित हो, निस्सहाय हो जाता है और (क्षीयते) नाश को प्राप्त हो जाता, उजड़ जाता है।

(६)

ऋषिर्देवते च पूर्वोक्ते । ४७, ४९, ५१-५३, ५७-५९, ६१ प्राजापत्यानुष्टुभः, ४८ आर्षी अनुष्टुप्, ५० साम्नी बृहती, ५४, ५५ प्राजापत्या उष्णिक्, ५६ आसुरी गायत्री, ६० गायत्री । पञ्चदशर्चं षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥

भा०—(तस्य) पूर्वोक्त ब्राह्मण को दुःख देने वाले दुष्ट पुरुष के (आ हनने) मारे जाने पर (गृध्राः) गीध (क्षिप्रं वै) बहुत शीघ्र ही (ऐलबम् कुर्वते) बड़ा कोलाहल करते हैं।

क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीः
आघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम् ॥ ४८ ॥

भा०—(क्षिप्रं वै) और शीघ्र ही (तस्य आदहनं परि) उस की जलती चिता के चारों ओर (केशिनीः) लम्बे २ बालों वाली औरतें, बाल खोल २ कर उसके मरने का विलाप करती हुई (पाणिना) हाथों से (उरसि) छातियों पर (आघ्नानाः) दुहत्थड़ मार कर रोती चीखती हुई (पापम्) पापसूचक, या घोर (ऐलबम्) आर्तनाद (कुर्वाणाः) करती हुई (परिनृत्यन्ति) विकट नाच करती हैं।

क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥

४७—'कुर्वतैलबम्' इति पैप्प० सं०।
४८—'ऐलबम्' इति पैप्प० सं०।
४९—'वास्तुषु गगान कुर्वतेऽस्वगान्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(तस्य वास्तुषु) उसके महलों में (क्षिप्रं वै) शीघ्र ही (वृकाः) चोर उचक्के और सियार भेड़िये (ऐलवम् कुर्वते) चीख पुकार, मचाया करते हैं ।

क्षिप्रं वै तस्य॑ पृच्छन्ति॒ यत् तदासी॑३दि॒दं नु ता॑३दि॒ति॑ ॥५०॥

भा०—(क्षिप्रं वै) और शीघ्र ही लोग (तस्य) उसके बारे में (पृच्छन्ति) आश्चर्य से ऐसे पूछा करते हैं (यत्) कि (तद् आसीत्) ओह! इसका तो वह अवर्णनीय वैभव था (इदं नु ता३त् इति) बस वह सब यही खण्डहर होकर ढेर हुआ पड़ा है ।

छि॒न्ध्या च्छि॑न्धि॒ प्र च्छि॒न्ध्यपि॑ क्षापय॒ क्षाप॑य ॥ ५१ ॥

आ॒ददा॑नमाङ्गिरसि ब्रह्म॒ज्यमु॒प॑ दासय ॥५२ ॥

भा०—हे (आङ्गिरसि) अङ्गिरस=ब्राह्मण विद्वान् की शक्ति रूपे ! दुष्ट पुरुष को (छिन्धि) काट डाल, (आच्छिन्धि) सब ओर से काट डाल, (प्रच्छिन्धि) अच्छी प्रकार काट डाल । (क्षापय क्षापय) उजाड़ डाल, उजाड़ डाल । (आददानम् उपदासय) ब्रह्मगवी के लेने और नाश करने हारे को विनाश कर डाल ।

वै॒श्व॒दे॒वी ह्यु॑१॒च्यसे॑ कृ॒त्या कूल्व॑ज॒मावृ॑ता ॥ ५३ ॥

भा०—हे आङ्गिरसि ! ब्रह्मगवि ! तू (वैश्वदेवी हि) निश्चय से वैश्व देवी ' प्रजापति ' की परम शक्ति (उच्यसे) कहाती है तू (कूल्वजम्) कुत्सित जनसमुदाय से उत्पन्न सेना के आश्रय पर या तृणों के ढेर में (आवृता) गुप्त रूप से छिपी (कृत्या) कृत्या, हिंसा की गुप्त चाल के समान अनर्थकारिणी है ।

५०—' क्षिप्रमासीदिति ' ह्विटनिकामितः पाठः ।

५२—' आदध्यान् ' इति पैप्प० सं० ।

५३—' कूल्यानाम: ' इति पैप्प० सं० ।

ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ५४ ॥

भा०—हे अङ्गिरसि ! तू (ओषन्ती) दहन और सन्ताप करती हुई और (सम् ओषन्ती) खूब जलाती हुई (ब्रह्मणः वज्रः) ब्रह्म, ब्राह्मण की वज्र=तलवार के समान है।

क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ५५ ॥

भा०—हे अङ्गिरसि ! ब्रह्मगवि ! तू (क्षुरपविः) छुरे के तीक्ष्ण धार वाली होकर ब्रह्मद्वेषी के लिये (मृत्युः भूत्वा) मृत्यु होकर (त्वम्) तू (धाव) दौड़, चढ़ाई कर।

आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥ ५६ ॥

भा०—हे ब्रह्मगवि ! तू (जिनताम्) हत्याकारियों के (वर्चः) तेज, (इष्टम्) यज्ञ याग के फल और (पूर्तम्) अन्य कूप, तड़ाग धर्मशाला आदि परोपकार के कार्यों के फल और (आशिषः) अन्य उनकी समस्त शुभ आशाओं और कामनाओं को तू (आदत्से) स्वयं लेकर विनाश कर डालती है।

आदाय जीतं जीताय लोकेऽमुष्मिन् प्र यच्छसि ॥ ५७ ॥

भा०—(जीतं) हिंसाकारी पुरुष को (आदाय) पकड़ कर तू (अमुष्मिन् लोके) मृत्यु के बाद के दूसरे परलोक में भी (जीताय) उससे हिंसा किये गये, उससे पीड़ित पुरुष के हाथों (प्रयच्छसि) सौंप देती है।

अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ ५८ ॥

भा०—हे (अघ्न्ये) कभी न मारने योग्य और किसी से भी न मारने योग्य ! ब्रह्मगवि ! (ब्राह्मणस्य अभिशस्त्या) ब्राह्मण के विरुद्ध होने

५५—'विभावसुः' इति पैप्प० सं०।

५८—'अभिशस्त्या' इति ह्विटनिकामित.।

वाले द्रोह में तू उसकी (पद्वीः) पदवी, प्रतिष्ठा, मार्गदर्शक (भव) बन कर रह ।

मेनिः शरव्या/भवाघादघविषा भव ॥ ५९ ॥

भा०—हे ब्रह्मगवि ! तू (मेनिः) वज्ररूप, (शरव्या) बाणरूप (भव) हो । तू (अघात्) सब अत्याचारों को खाजाने वाली और स्वयं (अघविषा) पापी के लिये अप्रतीकार्य विष रूप (भव) हो ।

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥६०॥

भा०—(अघ्न्ये) हे अघ्न्ये ! ब्रह्मगवि ! तू (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती, (कृतागसः) अपराधकारी (देवपीयोः) देव, विद्वानों के हिंसक (अराधसः) अनुदार, दुष्ट पुरुष के (शिरः) शिर को (प्र जहि) कुचल डाल ।

त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥ (२६)

भा०—(त्वया) हे ब्रह्मगवि ! तुझ द्वारा (प्रमूर्णं) खूब मारे गये, (मृदितम्) चकनाचूर किये गये (दुश्चितम्) उस दुष्ट बुद्धि वाले कुबुद्धि पुरुष को (अग्निः दहतु) अग्नि, सन्तापकारक राजा जला दे ।

(७)

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । ६२–६४, ६६, ६८–७०, प्राजापत्यानुष्टुभः, ६५ गायत्री, ६७ प्राजापत्या गायत्री, ७१ आसुरी पंक्तिः, ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ७३ आसुरी उष्णिक् । द्वादशर्चं सप्तमं सूक्तम् ॥

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ ६२ ॥

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह ॥ ६३ ॥

६१–' तया प्रमूर्णो मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितान् ' इति पैप्प० सं० ।

६३–' मूलात् ' इति क्वचित् ।

भा०—हे (देवि अघ्न्ये) दिव्य स्वभाव वाली देवि अघ्न्ये ! कभी न मारे जाने योग्य ब्रह्मगवी आप (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्म, ब्राह्मण की हानि करने हारे पुरुष को (वृश्च प्र वृश्च) काट और अच्छी तरह से काट और (सं वृश्च) खूब अच्छी तरह से काट । (दह, प्र दह, सं दह) जला, अच्छी तरह से जला और खूब अच्छी तरह से जला डाल । उसको तो (आमूलाद्) जड़ तक (अनु सं दह) फूंक डाल ।

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥ ६४ ॥
एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६५ ॥
वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥
प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥

भा०—हे (देवि अघ्न्ये) देवि अघ्न्ये ! ब्रह्मगवि ! (यथा) जिस तरह से हो वह (यमसदनात्) यमराज परमेश्वर के दण्डस्थान से (परावतः) परले (पापलोकान्) पाप के फलस्वरूप घोर लोकों को (अयात्) चला जावे (एवा) इस प्रकार तू (कृतागसः) पापकारी (देवपीयोः) देव, विद्वानों के शत्रु (अराधसः) अनुदार, घोर दुष्ट (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती पुरुष के (शिरः) शिर और (स्कन्धान्) कन्धों को (शतपर्वणा) सौ पर्व वाले (क्षुरभृष्टिना) छुरे के धार से सम्पन्न (तीक्ष्णेन) तीखे, तेज (वज्रेण) वज्र से (प्र जहि) काट डाल ।

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥ ६८ ॥
मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ ६९ ॥
अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ ७० ॥
सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥ ७१ ॥

भा०—(अस्य) उसके (लोमानि सं छिन्धि) लोम = बाल काट डाल । (अस्य त्वचम्) उसकी त्वचा, चमड़े को (वेष्टय) उधेड़ डाल, उधेड़ डाल । (अस्य मांसानि) इसके मांस के लोथड़ों को काट डाल । (अस

स्नावानि) उसके स्नायुओं, नसों को (सं वृह) कचर डाल । (अस्य अस्थीनि) उसकी हड्डियों को (पीडय) तोड़ डाल । (अस्य मज्जानम्) उसके मज्जा, चर्बी को (निर्जहि) सर्वथा नाश कर डाल । (अस्य) उस के (सर्वा पर्वाणि) सब पोरू पोरू और (अङ्गा) अङ्ग २ (वि श्रथय) बिलकुल जुदा २ कर डाल ।

अग्निरेनं क्रव्यात् पृथिव्या नुदतामुदोषतु
वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः ॥ ७२ ॥
सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु ॥ ७३ ॥ (३०)

भा०—(एनं) इसको (क्रव्यात् अग्निः) क्रव्य, कच्चा मांस खाने वाला श्मशान अग्नि (पृथिव्याः नुदताम्) पृथिवी से निकाल बाहर करे, और (उत् ओषतु) जला डाले और (वायुः) वायु (महतः वरिम्णः) इस बड़े भारी (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से भी परे करे । (सूर्यः) सूर्य (एनं) उसको (दिवः) द्यौलोक से भी (प्र नुदताम्) परे निकाल दे और (नि ओषतु) नीचे २ जलावे, उसे संतप्त करे ।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[नवर्चं सूक्तम्, ऋचः त्रिसप्ततिः ।]

इति द्वादशं काण्डं समाप्तम् ।

द्वादशे पञ्च सूक्तानि पर्यायाः सप्त पञ्चमे ।
पञ्चानुवाकाश्च ऋचश्चतुरूर्ध्वशतत्रयम् ॥

वेदवस्वङ्कचन्द्राब्दे ज्येष्ठे कृष्णे दले गुरौ ।
पञ्चम्यां द्वादशं काण्डं विराममगमत् क्रमात् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थ-विरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते-
ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये द्वादशं काण्डं समाप्तम् ।

॥ ओ३म् ॥

अथ त्रयोदशं काण्डम्

[१] 'रोहित' रूप से परमात्मा और राजा का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः। रोहित आदित्यो देवता। अध्यात्मं सूक्तम्। ३ मरुत्०, २८, ३१ अग्नि०, ३१ बहुदेवता। ३-५, ९, १२ जगत्यः, १५ अतिजागतगर्भा जगती, ८ भुरिक्, १६, १७ पञ्चपदा ककुम्मती जगती, १३ अति शाक्वरगर्भातिजगती, १४ त्रिपदा पुर० परशाक्वरा विपरीतपादलक्ष्मा पङ्क्ति०, १८, १९ ककुम्मत्यतिजगत्यौ, १८ पर शाक्वरा भुरिक्, १९ परातिजगती, २१ आर्षी निचृद् गायत्री, २२, २३, २७ प्रकृता विराट् परोष्णिक्, २८-३०, ५५ ककुम्मती बृहतीगर्भा, ५७ ककुम्मती, ३१ पञ्चपदा ककुम्मती शाक्वरगर्भा जगती, ३५ उपरिष्टाद् बृहती, ३६ निचृन्महाबृहती, ३७ परशाक्वरा विराड् अतिजगती, ४२ विराड् जगती, ४३ विराड् महाबृहती, ४४ परोष्णिक्, ५९, ६० गायत्र्यौ, १, २, ६, ७, १०, ११, २०, २४, २५, ३२-३४, ३८-४१, ४२-५४, ५६, ५८ त्रिष्टुभः। षष्ट्यृचं सूक्तम्॥

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु॥१॥

भा०—हे (वाजिन्) बलपते, वीर्यवन् राजन्! (उद् एहि) तू ऊपर उठ, उदय को प्राप्त हो। (य) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के

---

[१] १–(द्वि०) 'आविश' (च०) 'स नो राष्ट्रेषु सुधितान् दधातु' इति तै० ब्रा०। (तृ०) 'विश्वरूपं जजान' (च०) 'बिभर्तु' इति पैप्प० सं०।

योन्द में विद्यमान है वह तू (सूनृतावत्) उत्तम शुभ वाणी और व्यवस्था से युक्त (इदं) इस (राष्ट्रं) राष्ट्र में (प्रविश) प्रवेश कर और (यः) जो (रोहितः) अति प्रदीप्त, लाल रंग के उज्ज्वल पोषक में सजा हुआ सूर्य के समान (इदं) इस (विश्वम्) समस्त राष्ट्र को (जजान) उत्पन्न करता या निर्माण करता है (सः) वह बड़ा व्यवस्थापक (राष्ट्राय) राष्ट्र के लिये (सुभृतम्) उत्तमता से भरण पालन करने में समर्थ (त्वा) तुझे (बिभर्तु) पालन पोषण करे ।

'वाजिन्'—वीर्यं वै वाजाः । श० ३ । ३ । ४ । ७ ॥ वाजो वै स्वर्गो लोकः । ता० १८ । ७ । १२ ॥ अन्नं वाजः । श० ५ । १ । ४ । ३ ॥ अग्निर्वायुः सूर्यः ते वै वाजिनः । तै० १ । ६ । ३ । ६ ॥ आदित्यो वाजी । तै० १ । ३ । ६ । ४ ॥ इन्द्रो वै वाजी । ऐ० ३ । १८ ॥

अध्यात्म में—हे (वाजिन्) इन्द्र आत्मन् ! (उत् एहि) ऊपर उठ, अभ्युदय को प्राप्त हो । (सूनृतावत्) शुभ ज्ञानमय (राष्ट्रम्) राजमान, प्रकाशस्वरूप (इदम्) इस प्रत्यक्ष गम्य अपने लिंग देह या स्वरूप में (प्रविश) प्रवेश कर । (यः) जो (रोहितः) समस्त संसार का बीज वपन करने और उत्पन्न करने वाला, 'रोहित' रजो भाव से युक्त उत्पादक परमात्मा (अप्सु अन्तः) मूल प्रकृति के परमाणुओं में से (इदं विश्वं जजान) इस समस्त संसार को उत्पन्न करता है (सः) वह (राष्ट्राय सुभृतम्) राजमान, प्रकाशस्वरूप अपने लिंग देह या तेजोरूप को उत्तम रीति से धारण करने वाले (त्वा) तुझे (बिभर्तु) पालन करे ।

'राष्ट्रम्'—श्रीर्वै राष्ट्रम् । श० ६ । ७ । ३ । ७ ॥ क्षत्रं हि राष्ट्रम् । ऐ० ७ । २२ ॥ राष्ट्राणि वै विशः । ऐ० ८ । २६ ॥ राष्ट्रं सप्तदशः स्तोमः । तै० १ । १ । ८ । ५ ॥ प्रजापतिर्वै सप्तदशः स्तोमः । गो० उ० २ । १३ ॥ सूर्यपदे-सप्तदशो वै प्रजापतिः संवत्सरः । ऐ० १ । १ ॥ पिट् सप्तदशः । ता०

१८। १०। ६ ॥ सप्तदशो वै पुरुषः दशप्राणाश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चदशो ग्रीवा. षोडश शिरः सप्तदशम्। श० ६। २। २। ६॥

उदाजु आ गन् यो अप्स्वन्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर (वाजः) वीर्य या बलरूप होकर (उद् आगन्) ऊपर उठ जाता है, अभ्युदय को प्राप्त है वह हे क्षत्रिय ! वीर्यवन् राजन् ! तू (विशः) उन वैश्य प्रजाओं के ऊपर (आरोह) आरूढ़ होकर शासन कर। (याः) जो प्रजाएं (त्वद्-योनयः) तेरी योनि, आश्रय होकर तुझे उत्पन्न करनेहारी हैं। तू (सोमं) सर्वप्रेरक सत्त्व या राष्ट्र या ऐश्वर्य को (दधानः) धारण करता हुआ (इह) इस राष्ट्र में (अपः) उत्तम जलों, (ओषधीः) ओषधियों, (गाः) गौओं, (चतुष्पदः) चौपायों और (द्विपदः) मनुष्यों को भी (आवेशय) लाकर बसा।

अध्यात्म में—हे आत्मन् ! तू (वाजः) वीर्यस्वरूप होकर प्राप्त हो। जो (अप्सु अन्तः) कर्मशील इन्द्रियों के भीतर विराजमान, तू (विशः) इन अन्तर्निविष्ट प्राणियों से भी ऊपर (आरोह) अधिष्ठातारूप से प्रजाओं में राजा के समान रह। (याः त्वद्योनयः) जो ये सब तेरे आश्रय हैं। तू (सोमं दधानः) वीर्य को धारण करता हुआ ओषधियों गौ आदि पशुओं और मनुष्यों को भी यहां चेतनरूप से बसा। ये सब चर अचर जगत् उस आत्मा का कौशल है।

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥३॥

तृतीयं अथर्व० ५। २१। ११ प्र० द्वि०।

२-(द्वि०) 'विशारोह' (तृ०) 'दधानाप ओषधी-' (च०) 'द्विपादिह-' इति पैप्प० सं०।

३-(तृ०) 'आशृणोदभियाव' सुदा'-इति नै० भा०।

भा०—हे (उग्राः मरुतः) बलवान् उग्र रूप मरुत् गणो ! वायु के समान तीव्र वेगवान् एवं शत्रु के मृत्युकारक, भारी मार मारने वाले सैनिको ! (यूयम्) आप लोग (पृश्निमातरः) पृश्नि, पृथिवी को अपनी माता स्वीकार करते हुए (इन्द्रेण युजा) अपने साथ इन्द्र, राजा के सहित, (शत्रून् प्र मृणीत) शत्रुओं का विनाश करो । (वः) तुम्हारा (रोहित) लाल पोषाक पहने, एवं सबसे ऊपर आरूढ़ सूर्य के समान तेजस्वी राजा (वः) आप लोगों के विषय में (आशृणवत्) सुने कि आप लोग (सु दानवः) उत्तम कल्याण, दानशील (त्रि-सप्तासः) इक्कीसों प्रकार के (मरुतः) मरुद्गण (स्वादुसंमुदः) उत्तम २ भोगों में आनन्द लाभ कर रहे हो ।

अध्यात्म में—(मरुतः) हे प्राणगण या मुक्त जीवगण ! आप (पृश्निमातरः) पृश्नि, परमात्मा रूप माता से उत्पन्न हो, इन्द्र रूप आत्मा के साथ उसके वीर्य से काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करो । वह सर्वोपरि विराजमान रोहित परमात्मा आपको कल्याण-दानकारी (त्रि-सप्तासः) तीर्णतम मोक्ष प्रदेश में सर्पण करने हारे एवं (स्वादुसंमुदः) परमानन्द रस में आमोद करने हारे तुमको (आ शृणवत्) जाने ।

रुहो॑ रुरोह॒ रोहि॑त॒ आ रु॑रोह॒ गर्भो॒ जनी॑नां ज॒नुषा॑मु॒पस्थ॑म् ।
ताभिः॒ संर॑ब्धम॒न्ववि॑न्द॒न् षडु॒र्वीर्गा॒तुं प्र॒पश्य॑न्नि॒ह रा॒ष्ट्रमाहाः॑ ॥४॥

भा०—(रोहितः) सूर्य जिस प्रकार (रुहः रुरोह) उच्च २ स्थानों को क्रम से चढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार उदय को प्राप्त होता हुआ राजा भी (रुहः आरुरोह) उच्च २ स्थानों और अधिकारों को प्राप्त करता है । (गर्भः) गर्भ जिस प्रकार (जनुषाम्) प्राणियों के (जनीनां)

४-(प्र०) 'रोहं, रोह' (द्वि०) 'प्रजानिवृद्धिरस्तु' (तृ०) 'ताभिः समृद्धो अविदत्' इति ह्रि० गा० ।

माताओं के (उपस्थम्) गोद भाग में (आ रुरोह) क्रम से रोपित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार (गर्भः) राज्य शक्ति को अपने हाथ में ग्रहण करने में समर्थ राजा (जनुषाम्) प्राणियों या प्रजाजनों के बीच (उपस्थम्) उत्तम स्थान को (आ रुरोह) चढ़ कर प्राप्त करता है। (ताभिः) उन प्रजाओं के प्रयत्नों से (संरब्धम्) बनाये गये राष्ट्र को (अनु अविन्दत्) उनके अनुकूलता में ही प्राप्त करता हुआ (षड् उर्वीः) छहों विशाल दिशाओं में (गातुम्) अपने गमन मार्ग को (प्रपश्यन्) देखता हुआ (राष्ट्रम् आ अहाः) समस्त राष्ट्र को अपने वश में कर लेता है। रोहण प्रकार देखो यजु० [अ० १० । १०-१४]

अध्यात्म पक्ष में—(रोहितः रुह' रुरोह) रोहित, सर्वोत्पादक परमात्मा आरोहणशील सब जीवों के ऊपर विराजमान है। (जनीनाम् गर्भः इव) माताओं गर्भ के समान (जनुषाम् उपस्थम् आरुरोह) वह समस्त प्राणियों के भीतर विराजमान है। (ताभिः संरब्धम् अनु अविन्दत् षड् उर्वीः) उन समस्त प्राणियों द्वारा जाना जाकर ही यह समस्त छहों दिशाओं में व्यापक दिखाई देता है। यह (गातुं प्रपश्यन् इह राष्ट्रम् आ अहाः) ज्ञान सर्वस्व का दर्शन कराता हुआ इस जगत् में राष्ट्र, अपने तेज को प्रदान करता है। या इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

आ ते॑ राष्ट्रमि॒ह रोहि॑तोहार्षी॒द् व्या॑स्थ॒न्मृधो॒ अभ॑यं ते अभूत्।
तस्मै॑ ते द्यावापृथि॒वी रे॒वती॑भिः॒ कामं॑ दुहाथामि॒ह शक्व॑रीभिः ॥५॥

भा०—हे प्रजाजन ! (ते राष्ट्रम्) तेरे राष्ट्र को (रोहितः इह अहार्षीत्) रोहित सर्वोपरि आरूढ़, तेजस्वी राजा इस पृथ्वी पर स्वीकार

५-(च०) 'दुहाताम्' इति च क्वचित्। 'अहार्षीःराष्ट्रमिह रोहितो मृधो व्यस्थदभय नो अस्तु। अस्मभ्य द्यावापृथिवी शक्वरीभीराष्ट्र दुहाथामिह रेवतीभिः' इति पैं० सं०।

करता है। वह (मृधः) शत्रुओं को (वि आस्थत्) नाना प्रकार से नाश करता है। तब (ते अभयम् अभूत्) तेरे लिये अभय होजाता है (तस्मै ते) उस तेरे लिये (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी अपनी (रेवतीभिः) धनादि सम्पन्न (शक्तीभिः) अति शक्तिशाली शक्तियों या प्रजाओं के साथ (इह) इस राष्ट्र में (कामम्) यथेच्छ (दुहाथाम्) मनोरथों को पूर्ण करें।

रोहि॑तो॒ द्यावा॑पृथि॒वी ज॑जान॒ तत्र॒ तन्तुं॑ परमे॒ष्ठी त॑तान।
तत्र॑ शिश्रि॒येऽज॒ एक॑पा॒दोऽदृं॑हद्॒ द्यावा॑पृथि॒वी बले॑न ॥ ६ ॥

भा०—(रोहितः) सब के उत्पादक परमात्मा ने (द्यावा पृथिवी) द्यौ, आकाश और पृथिवी को (जजान) उत्पन्न किया है। (तत्र) वहां उन दोनों में (परमेष्ठी) प्रजापति परमात्मा ने (तन्तुम्) विस्तारशील प्रजा या प्रकृति को या वायुरूप सूत्र को (ततान) फैलाया, उत्पन्न किया। (तत्र) उस पर (अजः) अजन्मा (एकपादः) एक मात्र सर्वाश्रय, स्वरूपप्रतिष्ठ, परमात्मा ही स्वयं (शिश्रिये) उसमें आश्रय रूप से वर्तमान रहा, उसने (बलेन) अपने विक्षोभकारी बल से (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ता से स्थापित कर दिया। अपने २ स्थान पर नियत कर दिया।

रोहि॑तो॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑दृंहत्॒ तेन॒ स्व॑ स्तभि॒तं तेन॒ नाकः॑।
तेना॒न्तरि॑क्षं॒ विमि॑ता॒ रजां॑सि॒ तेन॑ दे॒वा अ॒मृत॒मन्व॑विन्दन् ॥ ७ ॥

भा०—(रोहितः) उस सर्वोत्पादक, सर्वोपरिविराजमान, परमेश्वर ने (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ता से स्थिर किया। (तेन) उसने ही (स्वः) यह स्वर्गलोक, तेजोमय प्रकाशमान पिण्ड और

६-(तृ०) 'एकपादो' इति पम्प० सं०। (तृ०) 'तस्मिन शि-' इति मै० सं०।
७-(तृ० च०) 'सोऽन्तरिक्षे रजसो विमानस्तेन देवास्स्वरन्वविन्दन्' इति सं० भा०।

(तेन नाकः) उसने ही समस्त 'नाक', सुखमय लोक (स्तभितम्) थाम रखे हैं । और उसी ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष यह वायुमय स्थान और (रजांसि) ये समस्त तारे आदि लोक (विमिता) नाना प्रकार के बनाये हैं (तेन) उसके अनुग्रह से (देवाः) दिव्यलोक सूर्य, चन्द्र, अग्नि वायु आदि पदार्थ और आत्मदर्शन करनेहारे विद्वान् लोग भी (अमृतम्) अमृत अविनाशी ब्रह्मपद को (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं ।

वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च ।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन ॥८॥

भा०—हे राजन् ! वह (रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (प्ररुहः) उत्कृष्ट प्रदेशों (रुहः च) और उनके उत्पन्न करने के सामर्थ्यों को (सम् आकुर्वाणः) एकत्र करता हुआ (विश्वरूपम्) इस समस्त विश्व के स्वरूप को (वि अमृशत्) नाना प्रकार से बनाता है । और (महता) बड़ी भारी (महिम्ना) सामर्थ्य से (दिवं) द्यौलोक के भी ऊपर सूर्य के समान (रूढ्वा) अधिष्ठाता रूप से आरूढ़ होकर (ते) तेरे राष्ट्र, इस देदीप्यमान जगत् को (पयसा) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ या अपने वीर्य और (घृतेन) तेज से (सम् अनक्तु) भली प्रकार प्रकाशित करे ।

इसी प्रकार राजा भी अपने राष्ट्र में (प्ररुहः रुहः च सम् आकुर्वाणः) नाना प्रकार के ऊँचे नीचे पदों को बनाकर समस्त राष्ट्र के कार्य पर विचार करता है । और अपनी शक्ति से उच्चपद प्राप्त करके अपने तेज और स्नेह से राष्ट्र को समृद्ध और सम्पन्न करता है ।

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ॥९॥

८-(प्र०) 'विराजं रोहितो विश्वरूपः समाकुर्वाणः' (द्वि०) 'दिव रूढ्वाय' (तृ०) 'विशो राष्ट्रं सुनक्तु पयसा घृतेन'

भा०—हे परमात्मन्! (याः) जो (ते) तेरे (रुहः) उत्पादक शक्तियां बल (प्ररुहः) विशेष वस्त्र और (आरुहः) सर्वत्र वृत्तियां हैं (याभिः) जिनसे तू (दिवम् अन्तरिक्षम्) द्यौः और अन्तरिक्ष लोकों को (आपृणासि) पूर रहा है (तासां) उन महाशक्तियों के (ब्रह्मणा) महान् (पयसा) बल से स्वयं (वावृधानः) सब से बड़ा होकर (रोहितस्य) तेरे सामर्थ्य से उत्पन्न जीव के (राष्ट्रे) चराचर जगत् में तू सदा (जागृहि) जागृत, सावधान रह। उनके कृतकर्मों के फलों की व्यवस्था कर।

राजपक्ष में—हे राजन्! जो तू प्रजाओं को नाना प्रकार की करके उनसे ऊंचे नीचे सब स्थानों को पूर देता है। तू उन प्रजाओं के ब्राह्मण बल से स्वयं बढ़कर अपने राष्ट्र में सावधान होकर रह।

यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः॥ १०॥ (१)

भा०—हे परमात्मन्! (याः) जो (ते) तेरी (विशः) तेरे में प्रविष्ट प्रजाएं, (तपसः) तप, सत्य ज्ञान से (सं बभूवुः) विशेष रूप से सामर्थ्य-वान् या उत्पन्न हैं और वे (वत्सं) सब में निवास करने हारे तुझ और (गायत्रीम्) प्राणों का त्राण करनेहारी तेरी ही शक्ति के (अनु) पीछे २ (ताः) वे प्रजाएं (इह) इस लोक में (अगुः) गमन करती हैं (ताः) वे (शिवेन मनसा) शुभ चित्त से (त्वा) तुझ में ही (विशन्तु) प्रवेश कर जांय। और तू समस्त विश्व का (सम्-माता) एक मात्र बनाने

१०–(प्र०) 'तपसा' (द्वि०) 'गायत्रं वत्समनुतास्त आगुः' (तृ०) 'मनसा स्त्वेन' (च०) 'पुत्रो अभ्येतु' इति तै० ब्रा०। 'वत्सोऽभ्येतु' इति पैप्प० सं०।

द्वारा (वत्सम्) सब में बसने हारा, अन्तर्यामी (रोहितः) सर्वोत्पादक एवं तेजस्वी रूप से उनके (अभि एतु) साक्षात् हो ।

राजपक्ष में—हे राजन् ! (या ते विशः) जो तेरी प्रजाएं (तपसः सम्बभूवुः) तप से सम्पन्न हो और (गायत्रीम् अनु) गायत्री मन्त्र के विचार द्वारा (वत्सं) हृदय में बसे परमात्मा का साक्षात् करते हैं अथवा (गायत्रीम् अनु वत्सं ता इह अगुः) गायत्री पृथिवी के साथ २ उसके वत्सरूप राजा या प्रजाजन को भी प्रेम से प्राप्त हैं । (ताः) वे तेरे प्रति (मनसा शिवेन त्वा विशन्तु) शुभ चित्त से तेरे पास आवें और तू (रोहितः) सर्वोपरि आरूढ (संमाता वत्सः) बछड़ा जिस प्रकार माता के पास जाता है उस प्रकार तुझको राजा बनाने वाले वे हैं उनके प्रति तू भी (वत्सः) उनके पोष्य बालक के समान (अभ्येतु) उनको प्राप्त हो ।

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः ।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥११॥

भा०—(रोहितः) 'रोहित' सर्वोत्पादक, तेजोमय, एवं सब को ऊपर ले जाने वाला परमात्मा (ऊर्ध्वः) सबसे ऊपर विराजमान (नाके) सुखमय मोक्ष में (अधि अस्थात्) विद्यमान है । वह (युवा) सदा युवा, समस्त सूक्ष्म भूतों को परस्पर मिलाने वाला (कविः) क्रान्त-दर्शी, मेधावी (विश्वा) समस्त प्रकार के (रूपाणि) रोचमान पदार्थों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (अग्निः) ज्ञान, प्रकाशस्वरूप अग्नि के समान (तिग्मेन) तीक्ष्ण (ज्योतिषा) ज्योति से (विभाति) विविध रूपों से प्रकाशमान होता है । और वही (तृतीये) अति अधिक तीर्णतम, सबसे ऊपर के (रजसि) लोक में भी (प्रियाणि) अति मनोहर पदार्थों को (चक्रे) उत्पन्न करता है ।

११–(तृ०) 'विभासि' इति पैप्प० सं० ।

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः ।
मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥

भा०—(जात-वेदाः) समस्त पदार्थों को जानने हारा, वेदों का उत्पादक, वह परमेश्वर अग्नि के समान प्रकाशमान, (वृषभः) मेघ के समान समस्त काम्य सुखों का वर्षण करने वाला, (सहस्रशृङ्गः) सूर्य के समान सहस्रों शृङ्गरूप किरणों से युक्त, (घृताहुतः) घृत की आहुति से प्रदीप्त अग्नि के समान प्रकाशमान, तेजों को अपने भीतर धारण करने-हारा, (सोमपृष्ठः) जल को जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से खेंचता है उसी प्रकार आनन्द को अपने भीतर धारण करने वाला, (सुवीरः) उत्तम वीर्य-वान् (नाथितः) सर्वैश्वर्य-वान् परमेश्वर (मा) मुझको (मा हासीत्) परित्याग न करे। और हे परमात्मन्! (त्वा) तुझको (इत्) भी (न जहानि) मैं कभी न छोड़ूं। और तू (मे) मुझे (गोपोषं) गौ आदि पशुओं की सम्पत्ति और (वीरपोषं च) वीर पुत्रों और वीर पुरुषों की बल सम्पत्ति (धेहि) प्रदान कर।

इसी प्रकार राजा सहस्रों शक्तियों से युक्त विद्वान् तेजस्वी, वीर, राज-पदारूढ मुझ प्रजाजन को नाश न करे मैं उसका त्याग करके अनाथ न होऊं, और वह हमें समृद्ध करे।

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमानाः स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु ॥ १३ ॥

१२–(द्वि०) 'सोमपृष्ठो घृतवान्त्सु प्रतीकः', (तृ० च०) मानो हासी-न्मेनेत् त्वा जहाम गोपोषं नो वीरपोषं च यच्छ। इति तै० ब्रा०। (द्वि०) 'घृताहुतिः सोमः' इति पैप्प० सं०।
१३–(च०) 'रोहयति' इति पैप्प० सं०।

भा०—(रोहित) रोहित सर्वोत्पादक परमात्मा (यज्ञस्य) यज्ञ का (जनिता) उत्पादक और (मुखम् च) मुख अर्थात् उसको प्रारम्भ करने हारा है। (तम) सर्वोत्पादक परमात्मा को मैं (वाचा) वाणी से और (श्रोत्रेण) कानों से और (मनसा) मन, चित्त से (जुहोमि) अपने भीतर धारण करता हू उसकी उपासना करता हूं। (देवाः) दिव्य प्रकाश और ज्ञान से युक्त विद्वान् पुरुष (सुमनस्यमानाः) शुभ, शुद्ध संकल्प, उत्तम मन होकर (तम् रोहितम्) उस सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्पादक परमात्मा के ही शरण मे (यन्ति) प्राप्त होते हैं (सः) वह (रोहैः) नाना जन्मों द्वारा या (मा) मुझे (साम्इत्यैः) अपने साथ मिला लेने के लिये (रोहयतु) उन्नत पद पर चढ़ावे। इसी प्रकार राजा राष्ट्र यज्ञ का प्रमुख है उसे हम स्वीकार करें। वह हमें समिति, सभा के सदस्य पद को प्रदान करे। हमें प्रतिनिधि आदि होने का अधिकार दे।

रोहि॑तो य॒ज्ञं व्य॑दधाद् वि॒श्वक॑र्मणे॒ तस्मा॒त् तेजां॒स्युप॑ मे॒मान्याग॑ुः।
वो॒चेयं॑ ते॒ नाभिं॒ भुव॑न॒स्याधि॑ म॒ज्मनि॑ ॥ १४ ॥

भा०—(रोहितः) रोहित, सर्वोत्पादक परमात्मा (विश्वकर्मणे) इस विश्व को रचने के लिये (यज्ञम्) यज्ञ, समस्त पञ्चभूतों के संसर्ग के कार्यों को (वि अदधात्) नाना प्रकार से करता है। (तस्मात्) उस परमेश्वर से ही (मा) मुझे (इमानि तेजांसि) ये समस्त तेज, तेजस्वी पदार्थ और मानसिक तेजोमय ज्ञान (उप आ अगुः) प्राप्त होते हैं। हे परमात्मन्! मैं (भुवनस्य) समस्त उत्पन्न संसार के (मज्मनि अधि) प्रवर्तक बल के भी ऊपर अधिष्ठाता रूप से (ते) तेरे ही (नाभिम्) समस्त संसार को व्यवस्था में बांधने वाले महान् सामर्थ्य को (वोचेयम्) बतलाता हूं।

१४-(प्र०) 'विश्वाद्' इति पैप्प० सं०।

आ त्वा॑ रुरोह बृह॒त्यु॒त प॒ङ्क्तिरा क॒कुब् वर्च॑सा जातवेदः ।
आ त्वा॑ रुरोहोष्णिहाक्ष॒रो व॑षट्का॒र आ त्वा॑ रुरोह॒ रोहि॑तो॒ रेत॑सा स॒ह ॥ १५ ॥

भा०—हे (जातवेदः) जातवेदः, ज्ञानप्रज्ञ! सर्वज्ञ ज्ञानमय परमेश्वर! (बृहती) बृहती, महान् लोकों का पालन करनेहारी शक्ति ३६ अक्षर की बृहती छन्द, गौ अश्वादि पशु सम्पत्ति, श्री, मन, प्राण, आत्मा ये सब (त्वा आरुरोह) तुझ पर आश्रित हैं। (उत) और (पंक्तिः) पंक्तिछन्द, ऊर्ध्वा दिशा, अन्न, प्रतिष्ठा आदि और (ककुप्) ककुप्छन्द, यह पुरुष और समस्त दिशाएं भी (वर्चसा) तेरे तेज की अधिकता के कारण (त्वा आरुरोह) तेरे ही आश्रय हैं। (उष्णिहाक्षरः) अट्ठाईस अक्षरों वाले उष्णिक् छन्द के अक्षर, आयु, ग्रीवा, चक्षु, वर्करी और वेदों की सम्पत्ति आदि (त्वा) तुझ पर (आरुरोह) आश्रित हैं। (वषट्कारः) समस्त वाणी, ६ हों ऋतुओं का संचालक सूर्य, वाणी और प्राणापान, वज्र, ओज और बल, वायु विद्युत्, मेघ और उसका गर्जन आदि सभी (त्वा आरुरोह) तेरे ही आश्रय पर होता है। और (रोहितः) रोहित सबका आश्रय, सर्वोत्पादक (रेतसा सह) सब के बीजमय उत्पादक सामर्थ्य से युक्त सूर्य भी तेरे पर ही आश्रित है।

अ॒यं व॑स्ते॒ गर्भं॑ पृथि॒व्या दिवं॑ वस्ते॒ऽयम॒न्तरि॑क्षम् ।
अ॒यं ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपि॒ स्व॑र्लो॒कान् व्या॑नशे ॥ १६ ॥

भा०—(अयम्) यह परमात्मा (पृथिव्याः) पृथिवी के (गर्भं) भीतरी भाग को भी (वस्ते) आच्छादित करता, उसमें भी व्यापक है (दिवं वस्ते) द्यौलोक को भी आच्छादित करता उसमें भी व्यापक है और

(अन्तरिक्षम् वस्ते) अन्तरिक्ष लोक को भी आच्छादित करता अर्थात् उसमें भी व्यापक है । (अथ) वह (ब्रध्नस्य) सूर्य के (विष्टपि) विशेष परितप्त भाग में भी व्यापक है वह (स्वः लोकान्) स्व, आकाश के समस्त लोकों में (वि आनशे) नाना प्रकार से व्यापक है ।

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्य॒ग्निरायुषा वर्चसा दधातु ॥ १७ ॥

भा०—हे (वाचस्पते) वाणी के स्वामी परमेश्वर ! (नः) हमारे लिये (पृथिवी) यह पृथिवी (स्योना) सुखकारिणी हो । और हमारे लिये (योनिः स्योना) हमारा निवासस्थान सुखकारी हो । (नः) हमारे (तल्पा) सोने के बिस्तरे भी (सुशेवा) सुखपूर्वक सेवन करने योग्य हों । (नः) हमारा (प्राणः) प्राण (इह एव) यहां ही, इस देह में ही (नः सख्ये अस्तु) हमारे साथ मित्रभाव में रहे । अथवा—(प्राणः) सबका प्राणस्वरूप परमेश्वर (इह एव) इस लोक में हमारे साथ (सख्ये अस्तु) मित्र भाव में रहे । हे (परमेष्ठिन्) परमेष्ठिन् ! प्रजापते ! (तं त्वा) उस तुझको (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानी पुरुष (आयुषा) अपने दीर्घ आयु और (वर्चसा) तेज और बल से (दधातु) अपने में धारण करे ।

वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित आयुषा वर्चसा दधातु ॥ १८ ॥

१७–(प्र०) 'परमेष्ठि पर्यह वर्चसा परिदधामि' इति पैप्प० स० ।
१८–(प्र०) 'योनौ' इति क्वचित् । 'येन,' इति ह्विटनिकामितः ।

भा०—हे (वाचस्पते) वाचस्पते! परमात्मन्! (ये) जो (पञ्च) हमारे शरीरों का परिपाक करने हारे या पांच (ऋतवः) ऋतुएं, वर्ष में ऋतुओं के समान शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियें (नौ) हमारे (वैश्वकर्मणाः) समस्त कर्मों और क्रियाओं को करने हारे होकर (ये) जो (परि संबभूवुः) उत्पन्न होते हैं वे पांचों इन्द्रियें और (प्राणः) प्राण (इह एव) इस देह में ही (नः सख्ये अस्तु) हमारे साथ मित्रभाव में रहें। हे (परमेष्ठिन्) परमेष्ठिन्! प्रजापते! सर्वोत्पादक! (तं त्वा) उस तुमको (रोहितः) रोहित, उच्च-गति को प्राप्त ज्ञानी पुरुष सूर्य के समान (आयुषा वर्चसा) आयु और तेज से (दधातु) धारण करे।

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वां परमेष्ठिन् पर्य्रहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ १६ ॥

भा०—हे (वाचः पते) परमेश्वर! राजन्! (मनः च) हमारे मनमें (सौमनसम्) शुभ संकल्प और (नः गोष्ठे गाः) हमारी गो-शालाओं में गौवें और (योनिषु प्रजाः) स्त्रियों और गृहों में प्रजाएं और (इह एव) इस देह में भी (नः सख्ये प्राणः) हमारे मित्र-भाव में हमारा प्राण (अस्तु) रहे। हे (परमेष्ठिन्) प्रजापते! (अहम्) मैं (तं त्वा) उस तुझको (वर्चसा आयुषा) अपने तेज और दीर्घ जीवन से अपने में (दधामि) धारण करता हूं।

परि त्वा धात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् ॥ २० ॥ (२)

१६–(च०) 'पर्यहं वर्चसा दधातु' इति पैप्प० सं०।
२०–(प्र० द्वि०) 'देवोसि' इति पैप्प० सं०।

भा०—(सविता देव.) सबका उत्पादक और प्रेरक प्रकाशमान, सर्वप्रद, परमेश्वर (त्वा) तेरी (परि पातु) सब ओर से रक्षा करे। (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष (वर्चसा त्वा परिपातु) अपने तेज से तेरी रक्षा करे। (मित्रावरुणौ त्वा अभि) मित्र और वरुण, स्नेहीजन और शत्रु वारक सेनापति तेरी दोनों ओर से रक्षा करें। और तू पुरुष राजा के समान (सर्वाः) समस्त (अराती) शत्रु सेनाओं को (अवक्रामन्) अपने नीचे पददलित करता हुआ (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (सूनृतावत्) उत्तम, ऋत= ज्ञान और सत्यव्यवहार और सद्-व्यवस्था से युक्त (अकरः) बना।

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित।
शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥

ऋ० ८ । ६ । २८ ॥

भा०—हे (रोहित) रोहित, उच्च पदारूढ ! तेजस्विन् ! लाल पोशाक में सुसज्जित राजन् ! (यम् त्वा) जिस तुझको (रथे) रथ में लगी (पृषती) चित्र विचित्र वर्ण की (प्रष्टि.) घोड़ी (वहति) ले जाती है और सूर्य जिस प्रकार (अपः रिणन्) मेघ के जलों को परे हटाता हुआ सुन्दर किरणों से फैलता है उसी प्रकार तू (अप.) समस्त प्रजाओं को (रिणन्) परे हटाता हुआ (शुभा) अति सुन्दर रूप से (यासि) राष्ट्र में गमन करता है।

अध्यात्म में—हे (रोहित) उत्पन्न जीव या उच्च गति प्राप्त जीव ! (रथे य त्वा पृषती प्रष्टिः वहति) रथ=रमण साधन इस देह में रसों का स्पर्श करने वाली व्यापक चिति शक्ति तुझे ऊर्ध्व मार्ग में ले जाती है तब (अप. रिणन्) समस्त कर्मों, कर्म-बन्धनों को पार करके (शुभा यासि) शुभ मार्ग, कल्याण मार्ग, मोक्ष में गमन करता है।

२१–(प्र०) 'यदेषां पृषती' (तृ०) 'यान्ति शुभ्रा रिणन्नपः' इति ऋ०।
तत्र पुनर्वत्सः काण्व ऋषिः। मरुतो देवता.।

अनुमता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः ।
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥२२॥

भा०—(रोहिणी) उन्नतिशील प्रकृति या प्रजा (रोहितस्य) उन्नतिशील या सर्वोत्पादक परमेश्वर या राजा के (अनुमता) आज्ञा के अनुकूल चलने हारी हो । वह ईश्वर या राजा स्वयं (सूरिः) विद्वान् है तो उसकी शक्ति (सुवर्णा) उत्तम वर्ण वाली, शुभ कर्मों से युक्त और ईश्वर या राजा (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी है तो प्रकृति प्रजा भी (बृहती) सदा वृद्धिशील या महान् है । उससे हम (विश्वरूपाम्) नाना प्रकार के (वाजान्) बल, सामर्थ्यों और धनों को (जयेम) प्राप्त करें और (तया) उसके बल पर ही (विश्वाः) समस्त (पृतनाः) संसार की प्रजाओं या शत्रु सेनाओं का (अभि ष्याम) विजय करें । अर्थात् प्रकृति के वशीकार से समस्त शत्रुओं पर विजय करें ।

इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति ।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥२३॥

भा०—(रोहितस्य) रोहित, परमेश्वर का (इदं सदः) यही विश्व, निवासस्थान, आश्रय है कि यह (रोहिणी) उसकी परम शक्ति या प्रकृति और उसका (असौ) यह (पन्थाः) मार्ग है (येन) जिस मार्ग से (पृषती) चित्र वर्णा व्यापक प्रकृति (याति) गति करती है । (तां) उसको (गन्धर्वाः) वेद वाणी के धारण करने वाले (कश्यपाः) प्रकाश के पालक, ज्ञानी लोग (उन्नयन्ति) ज्ञान करते हैं, धारण करते हैं और (ताम्) उसका (कवयः) क्रान्त-दर्शी विद्वान् लोग (अप्रमादम्) प्रमाद रहित होकर (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं । राजा के पक्ष में स्पष्ट है ।

२२-(द्वि०) 'सूरिः सुवर्णा' इति पैप्प० सं० ।

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् ।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥ २४ ॥

भा०—(सूर्यस्य) जिस प्रकार सूर्य के (हरयः) शीघ्रगामी किरण (केतुमन्तः) ज्ञान कराने वाले प्रकाश से युक्त होकर (अमृताः) अमृत स्वरूप होकर (सदा) नित्य (रथम्) सूर्य के पिण्ड को (सुखं वहन्ति) सुखपूर्वक धारण करते हैं और जिस प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा के (केतुमन्तः हरयः रथं सुखं वहन्ति) झण्डों से सुशोभित घोड़े रथ को सुखपूर्वक ढोते हैं, उसी प्रकार उस सबके प्रकाशक (सूर्यस्य) सूर्यरूप परमात्मा के (केतुमन्तः हरयः) ज्ञान साधनों से युक्त 'हरि' अज्ञान-हारी जीव (अमृताः) सदा अमर रह कर (सुखं रथं वहन्ति) सुखपूर्वक अपना देह धारण करते हैं । और (भ्राजमानः) प्रकाशमान (रोहितः) रोहित सर्वोत्पादक (देवः) देव परमेश्वर (दिवं) सूर्य जिस प्रकार द्यौलोक में प्रवेश करता है उसी प्रकार वह स्वयं (घृतपावा) प्रकाश और ज्ञान का पालक होकर (पृषतीम् आ विवेश) उस चित्रवर्ण, प्रकृति के भीतर प्रवेश करता है । उसमें अपनी शक्ति आधान करता है । राजा के पक्ष में पृषती, समृद्ध प्रजा है । शेष स्पष्ट है ।

यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव ।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते ॥ २५ ॥

भा०—(यः) जो (रोहितः) रोहित, सर्वोत्पादक (वृषभः) सबसे बलशाली, सब कामनाओं का वर्षक (तिग्मशृङ्गः) सूर्य के समान तीक्ष्ण किरणों से युक्त अथवा पापियों को तीखे साधनों से पीड़ित करने वाला, (अग्निम् परि) अग्नि से भी ऊपर और (सूर्यम् परि) सूर्य के भी ऊपर

२५-(प्र०) 'अथ रोहितो' इति पैप्प० सं० ।

(बभूव) विद्यमान है और (यः) जो (पृथिवीम्) पृथिवी को और (दिवम् च) द्यौलोक को भी (वि स्तभ्नाति) नाना प्रकारों से थामे हुए है (तस्मात्) उस परमेश्वर से ही (देवाः) समस्त देवगण, पांचों भूत, तन्मात्राएं आदि (सृष्टीः) नाना सृष्टियों को (अधि सृजन्ते) उत्पन्न करते हैं । उसी प्रकार राजा सर्व-श्रेष्ठ, तीक्ष्ण बलवाला, सूर्य के समान तेजस्वी होकर सर्व प्राणियों के ऊपर विराजता है ।

रोहि॑तो॒ दिव॒मारु॑ह॒न्मह॒तः पर्य॑र्ण॒वात् ।
सर्वा॑ रुरोह॒ रोहि॑तो॒ रुहः॑ ॥ २६ ॥

भा०—(महतः) बड़े भारी (अर्णवात्) समुद्र से (परि) ऊपर जिस प्रकार सूर्य ऊपर उठता है उसी प्रकार (रोहितः) प्रकाशवान् जीवन्मुक्त आत्मा (अर्णवात् परि दिवम्) भवसागर से ऊपर द्यौ या मोक्ष स्थान को (आरुहत्) प्राप्त करता है और वह (रोहितः) अति तेजस्वी होकर (सर्वाः रुहः) सब उच्च भूमियों और प्रतिष्ठाओं और लोकों को (रुरोह) प्राप्त करता है । उसी प्रकार राजा, प्रजा और सेना सागर से ऊपर उठकर सब सम्पत्तियों को प्राप्त करता है ।

वि मि॑मीष्व॒ पय॑स्वतीं घृ॒ताचीं॑ दे॒वानां॑ धे॒नुरन॑पस्पृगे॒षा ।
इन्द्रः॒ सोमं॑ पिबतु॒ क्षेमो॑ अस्त्व॒ग्निः प्र स्तौ॑तु॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ २७ ॥

भा०—हे ज्ञानवन् ! (पयस्वतीम्) दूध वाली, (घृताचीम्) घृत से पूर्ण जिस प्रकार गाय को आदर की दृष्टि से देखा जाता है उसी प्रकार तू (पयस्वतीम्) पयः=ज्ञान से पूर्ण (घृताचीम्) तेज से युक्त ऋतम्भरा विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा को (वि मिमीष्व) विशेष रूप से ज्ञान कर,

२७–(द्वि०) 'स्पृगेषा', इति पैप्प० सं० । 'विमिमे त्वा पयस्वतीं देवानां धेनु सुदुघामनपस्फुरन्तीम् । ' 'इन्द्रः सोमम् पिबतु क्षेमोऽस्तु नः' इति आप० श्रौ० सू० ।

प्राप्त कर । (एषा) यह (देवानाम्) देवों, विद्वानों और इन्द्रियों को (अनपस्पृक्) सदा साथ रहने वाली, एवं अक्षय अथवा सुशील (धेनुः) रस पान कराने वाली कामधेनु के समान है । (इन्द्रः) ऐश्वर्य, विभूति सम्पन्न आत्मा (सोमं पिबतु) सोम पान करे । (क्षेमः अस्तु) कल्याण हो, (अग्निः) ज्ञानी प्रकाशमान योगी पुरुष उस दशा में (प्र स्तौतु) उत्तम रीति से प्रभु की स्तुति करे और इस प्रकार तू (मृधः) चित्त के भीतरी शत्रुओं को (वि नुदस्व) विविध उपायों से दूर कर ।

समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः ।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥ २८ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी ब्रह्ममय अग्नि इस आत्म में अब (सम्-इद्धः) खूब अच्छी प्रकार प्रदीप्त हो गया है और वह (घृत-वृद्धः) घृत से बढ़ी हुई और (घृताहुतः) घृत की आहुति से प्रदीप्त अग्नि के समान (सम् इधानः) सदा अच्छी प्रकार जलता ही रहे, वही (अभी-षाट्) सर्वत्र सब पदार्थों को विजय करने वाला, (विश्वाषाड्) समस्त विश्व का विजय करने द्वारा परमेश्वर भी विजयी राजा के समान (सपत्नान्) शत्रुओं को (ये मम) जो मेरे प्रति द्वेष बुद्धि रखते हैं उनको (हन्तु) मारे, नाश करे ।

हन्त्वेनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति ।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥

भा०—अग्नि के स्वभाव का तेजस्वी पुरुष (एनान्) इन शत्रुओं को (हन्तु) मारे और (यः) जो (अरिः) शत्रु (नः) हमें (पृतन्यति) सेना लेकर हमारा विनाश करता है उसको वह पूर्वोक्त अग्नि (प्र दहतु) अच्छी प्रकार भस्म करे । (क्रव्यादा) क्रव्य=कच्चा मांस खाने वाले

२९–'दहत्वभिर्यो' इति पैप्प० सं० ।

(अग्निना) अग्नि के समान अति क्रूर स्वभाव के पुरुष द्वारा (वयं) हम (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र दहामसि) जला दिया करें, भस्म कर दिया करें, उनका मूलोच्छेद कर दें।

अवाचीनानवं जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान्।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥ ३० ॥ (३)

भा०—हे (इन्द्र) राजन् और हे आत्मन्! तू (वज्रेण) वज्र, ज्ञानरूप वज्र से (बाहुमान्) बाहुवाला, शत्रुओं के बाधन करने में समर्थ साधनसम्पन्न होकर (अवाचीनान्) अपने नीचे दबे हुए अन्तः शत्रु कामादि वर्ग को (अव जहि) और भी नीचे पटक कर विनाश कर। (अधा) और (मामकान्) 'अहम्' अर्थात् आत्मा के या मेरे (सपत्नान्) समान अधिकार का दावा करने वाले शत्रुओं को (अग्नेः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर हृदय के सम्राट् के (तेजोभिः) तेजों के बल से (आदिषि) अपने वश करता हूं। राजा और ईश्वर दोनों पक्षों में स्पष्ट है।

अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! ज्ञानमय प्रभो! तू (सपत्नान् अधरान् पादय) हमारे शत्रुओं को नीचे गिरादे। और (अस्मत् सजातम्) हमारे समान बलवाले (उत्-पिपानम्) और हमसे ऊंचे होते हुए को हे (बृहस्पते) महान् लोकों के स्वामिन्! बृहस्पते! राजन्! (व्यथय) पीड़ित कर। हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और हे अग्ने! (मित्रावरुणौ) हे मित्र और वरुण वे शत्रु लोग (अ-प्रति-मन्यूयमानाः) हमारे प्रति क्रोध रहित या निष्फल क्रोध वाले होकर (अधरे पद्यन्ताम्) नीचे गिरें।

३०–(च०) 'तेजोभिरादधे' इति पैप्प० सं०।

३१–'उत्पिपानं' इति पैप्प० सं०।

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं१ सं स्पृशस्व ॥ ३४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! तू (दिवं च रोह) द्यौलोक, प्रकाशमय स्थान, मोक्ष को प्राप्त हो। (पृथिवीम् च रोह) साधन सम्पन्न होकर इस पृथिवी लोक को प्राप्त कर, अपने वश कर। (राष्ट्रं च रोह) राष्ट्र को प्राप्त कर। (द्रविणम् च रोह) द्रविण, धन सम्पत्ति को भी प्राप्त कर। (प्रजाम् च रोह) प्रजा को प्राप्त कर। (अमृतम् च रोह) अमृत=शत वर्ष के दीर्घ जीवन या अन्न को प्राप्त कर और जीवन की समाप्ति पर अपने (तन्वं) स्वरूप, देह या आत्मा को (रोहितेन) सर्वोत्पादक या प्रकाशमान परमात्मा के साथ (संस्पृशस्व) अच्छी प्रकार जोड़ दे। राजा के पक्ष में-अमृत=अन्न। रोहित=राजोचित वेशभूषा, वैभव।

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥ ३५ ॥

भा०—(ये देवाः) जो देव, विद्वान् लोग (राष्ट्रभृतः) राष्ट्र या तेज को धारण करने वाले हैं और (अभितः सूर्यम्) सूर्य के चारों ओर ग्रहों के समान सर्वप्रेरक राजा के चारों ओर (यन्ति) गति करते हैं हे पुरुष ! (तैः) उनसे (संविदानः) उत्तम मत मन्त्रणा करता हुआ (रोहितः) उच्च पदारूढ राजा (सुमनस्यमानः) शुभ चित्त, शुभ संकल्प होकर (ते) तेरे (राष्ट्रं) राष्ट्र का (दधातु) पोषण करे।

उत् त्वा युज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम् ॥ ३६ ॥

३५–'वहन्त्वध्वगतो हरयः' (तृ०) 'रोचसे अर्णवम्' इति पैप्प० सं०।

३६–(द्वि०) 'वहन्ति [illegible]' (तृ०) '[illegible] सातिः' इति पैप्प० सं०।

भा० —हे रोहित ! परमेश्वर ! (त्वा) तुझे (ब्रह्मपूताः) ब्रह्म वेद मन्त्रों से पवित्र (यज्ञाः) यज्ञ (वहन्ति) धारण करते हैं, तेरा गौरव दर्शाते हैं। (हरयः) हरण करने वाले घोड़े, जिस प्रकार मार्ग में रथ को ढोले जाते हैं, या सूर्यकिरणें जिस प्रकार आकाश में सूर्य को वहन करती हैं उसी प्रकार (अध्वगताः हरयः) मोक्ष मार्ग पर विचरण करने वाले=हरि मुक्त जीवगण (त्वा वहन्ति) तुझे अपने हृदय में धारण करते हैं। जीवात्मन् ! तू (समुद्रम् तिर) समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाले, समस्त आनन्दों के सागर परमात्मा को प्राप्त करके (अर्णवम् अति) अन्तरिक्ष को पार करके सूर्य के समान, तू भी इस संसार सागर को पार करके (रोचसे) अति प्रकाशित होता है। राजा के पक्ष में—हरयः=विद्वान् या अश्व। यज्ञ=राष्ट्र।

रोहि॑ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी अधि॑ श्रि॒ते व॑सु॒जिति॑ गो॒जिति॑ संध॒नाजि॑ति। स॒हस्रं॒ यस्य॒ जनि॑मानि स॒प्त च॑ वो॒चेयं॑ ते॒ नाभिं॒ भुव॑न॒स्याधि॑ म॒ज्मनि॑ ॥ ३७ ॥

भा०—(वसुजिति) समस्त प्राणियों और उनके बसने के लोकों को अपने वश करने हारे, (गोजिति) इन्द्रियों, प्राणों, समस्त सूर्य लोकों को अपने वश करने वाले और (संधनाजिति) समस्त उत्तम धन=विभूति और ऐश्वर्यों को वश करने वाले (रोहिते) सर्वोत्पादक 'रोहित' परमेश्वर में (द्यावापृथिवी अधिश्रिते) द्यौ और पृथिवी लोक आश्रित हैं। (यस्य) जिसके (जनिमानि) स्वरूप (सहस्रं) सहस्र, अति बलशील या सहस्रों लोकों से युक्त समस्त विश्व और (सप्त च) सात प्राण हैं। मैं तो (भुवनस्य) समस्त कार्यसंसार के (अधि मज्मनि) अधिष्ठानरूप बल पर (ते नाभिम्) तेरे ही केन्द्रस्थ, मुख्य बल को (वोचेयम्) कहता हूं। राजा के पक्ष में—द्यावापृथिवी—नरनारी और राजा प्रजा।

यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम् ।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥३८॥

भा०—(यशाः) हे ईश्वर ! हे राजन् ! यशस्वी होकर तू (प्र दिशः दिशः च) मुख्य दिशाओं और उप-दिशाओं में भी (यासि) प्रयाण करता है । (पशूनाम्) पशुओं (उत) और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के बीच में भी तू ही (यशाः) सबसे अधिक यशस्वी है । (अदित्याः) अदिति या अखण्ड (पृथिव्याः) पृथिवी के (उपस्थे) गोद में मैं भी (यशाः) यशस्वी होकर (सविता इव) सूर्य के समान (चारुः) प्रकाशमान, उत्तम (भूयासम्) होकर रहूं ।

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि ।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३९ ॥

भा०—(अमुत्र सन्) हे प्रभो ! आप दूर रहकर (इह वेत्थ) यहां को जान लेते हो और (इतः सन्) यहां रह कर भी (तानि) उन २ दूर के कार्यों को (पश्यन्ति) देखते हो । (दिवि सूर्यम्) द्यौलोक में सूर्य के समान प्रकाशमान एवं (विपश्चितम्) समस्त कार्मों को जानने वाले मेधावी, आपको (रोचनम्) प्रकाशमान रूप में (इतः) इस लोक को तत्त्वदर्शी (पश्यन्ति) साक्षात् दर्शन करते हैं ।

देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे ।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥ (४)

३८–(प्र०) दिशोनु (च०) 'अस्मिन् सविनेव' इति पैप्प० सं० ।

३९–(तृ०) 'यतः पश्यन्ति' इति पैप्प० सं० ।

४०–(द्वि०) 'मर्त्येष्वन्तश्चरस्यर्णवे' इति पैप्प० सं० । 'देवानर्चयसि' इति क्षुद्रकाण्डकामितः ।

भा०—हे प्रभो ! तू (देव) प्रकाशमान एवं सब जगत् का विजाश होकर (देवान्) समस्त दिव्य पदार्थों को (मर्चयसि) चला रहा है और स्वयं (अर्णवे) इस महान् आकाश को भी (चरसि) व्याप्त है। विद्वान् क्रान्तदर्शी लोग (समानम् अग्निम्) उसके समान तेज स्वरूप अग्नि को ही यज्ञों में (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं और (परे कवयः) दूसरे क्रान्तदर्शी लोग (तम्) उसी का (विदु) साक्षात् ज्ञान करते हैं। राजा के पक्ष मे—देव राजा। देवान् शासकों को। अर्णवे राष्ट्र मे। अग्नि–अग्रणी नेता।

अव परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन्॥४१

अथर्व० ९।१०।१७॥

भा०—(गौ वत्सम्) गौ जिस प्रकार अपने (पदा) चरण से (वत्स बिभ्रती) वत्स' बछड़े को धारण करती हुई उसको अपना रसपान कराती है उसी प्रकार (परेण अव) परम पद मोक्ष से या दूरसे दूर लोक से (अव) समीप से समीपतम स्थान तक और (एना अवरेण पर) इस समीपतम स्थान से अतिदूर प्रदेश तक व्यापक (वत्स) बसनेहारे संसार या जीव लोक को (पदा) अपने ज्ञान या व्यापक सामर्थ्य से (बिभ्रती) धारण करती हुई (गौ) वह परमेश्वरी शक्तिरूप कामधेनु (उद् अस्थात्) खड़ी है। (सा) वह परम शक्ति (कद्रीची) किस प्रकार की है ? (क स्विद् अर्धम्) किस महान् समृद्ध परम पुरुष में (परा अगात्) आश्रित है ? और (क स्वित्) वह कहां, किस आश्रय पर (सूते) सृष्टि उत्पन्न करती है (नहि अस्मिन् यूथे) वह 'गौ' परमेश्वरी शक्तिरूप कामधेनु इस सामान्य गोयूथ अर्थात् विकाररूप महदादि में से नहीं है।

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी बभूवुषी।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति॥४२॥

अथर्व० ९।१०।२१॥ ऋ० १।१६४।४१॥

भा०—वह (एकपदी) एक चरण वाली, एक रूप, एकपाद्, एक मात्र है और वह (द्विपदी) दो पदों वाली है अर्थात् चेतन और अचेतन, सत्, त्यत्, निरुक्त अनिरुक्त, सत् असत् या व्यक्त अव्यक्त ये दो स्वरूप उसके दो पद हैं। (सा चतुष्पदी) वह चार पद, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष वाली अथवा चतुष्पाद् ब्रह्मरूप है। वही (अष्टापदी) आठ पदों वाली चार वर्ण, चार आश्रमों से सम्पन्न अथवा भूमि, आपः, आदि आठ प्रकृतियों से युक्त है, और (सा) वह (नवपदी) नव प्राणरूप, नव-पदों से युक्त (बभूवुषी) रहती हुई (भुवनस्य) समस्त संसार के लिये (सहस्राक्षरा) हज़ारों अक्षय शक्तियों को देने वाली है। वही (भुवनस्य).भुवन, सृष्टि की (पंक्तिः) परिपाक क्रिया करनेहारी है। (तस्याः अधि) उससे ही ये (समुद्राः) बड़े २ रससागर समुद्र भी (विक्षरन्ति) बह रहे हैं।

आरोहन् द्यामृमृतः प्राव मे वचः।
उत् त्वा युज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥४३॥

भा०—हे परमात्मन्! तू (द्याम्) द्यौः प्रकाशमय मोक्षलोक को (आरोहन्) प्राप्त करता हुआ (अमृतः) सदा अमृत स्वरूप तू (मे वचः) मेरी प्रार्थना रूपवाणी को (प्र अव) उत्तम रीति से पूर्ण कर। (त्वा) तुझ को (ब्रह्मपूताः) वेद मन्त्रों से पवित्र (यज्ञाः) समस्त यज्ञ (उद् वहन्ति) उत्कृष्ट रूप से धारण करते हैं। अथवा (ब्रह्मपूताः यज्ञाः) ब्रह्म-ध्यान से पवित्र यज्ञ अर्थात् आत्मागण तुझे (वहन्ति) प्राप्त करते हैं और (अध्वगतः) मोक्ष मार्ग में जाने वाले (हरयः) मुक्त जीव भी (त्वा वहन्ति) तुझ प्राप्त करते हैं।

वेद तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि।
यत् ते सुधस्थं परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

४३–' ब्रह्मपूता वहन्ति पूतं पिरन्नान् ' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (अमर्त्य) मरण धर्म से रहित, कभी न मरनेहारे आत्मन् ! (तत्) उस (ते) अपने, तेरे स्वरूप को (वेद) तू जान (यत्) जिससे (ते) तेरा (दिवि) तेजोमय मोक्षलोक में (आक्रमणम्) गमन हो। और उसको भी जान (यत्) जो (ते) तेरे (सधस्थम्) सदा साथ रहने वाला परम आत्मा (परमे व्योमन् वि-ओमन्) परम विविध रक्षा करनेहारे मोक्ष में विद्यमान है।

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥ ४५ ॥

भा०—वह महान् (सूर्यः) 'सूर्य' परमेश्वर (द्याम्) द्यौलोक को, वही (सूर्यः पृथिवीम्) सूर्य पृथ्वी को और वही (सूर्यः आपः) सूर्य समस्त 'आप' प्रकृति के मूल सूक्ष्म परमाणुओं को भी (अति पश्यति) सूक्ष्मरूप से उनमें व्याप्त होकर उनको देख रहा है। (भूतस्य) इस उत्पन्न जगत् का (एकः) एकमात्र (चक्षुः) द्रष्टा और दर्शक भी वही (सूर्यः) सूर्य परमेश्वर है वह (महीम् दिवम्) विशाल द्यौलोक में अथवा पृथ्वी और द्यौलोक में (आ रुरोह) व्याप्त है।

रोहित का महान् यज्ञ।

उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत।
तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

भा०—(उर्वीः) विशाल बड़ी २ दिशाएं (परिधयः) पृथ्वीरूप वेदि के परकोट (आसन्) हैं और वे (भूमिः) भूमि (वेदिः) वेदि (अकल्पत) बन गई। (तत्र) उस भूमिरूप वेदि में (एतौ) इन दो प्रकार के (अग्नी) अग्नियों को (रोहितः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (आधत्त) स्थापित करता है, उनमें से एक (हिमम्) हिम और दूसरा (घ्रंसम्) घ्रंस, सर्दी और गर्मी।

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।
वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥

भा०—परमेश्वर (हिमं घ्रंसं च आधाय) हिम=शीतकाल और घ्रंस=ग्रीष्मकाल इन दोनों का आधान करके और (पर्वतान् यूपान्) पर्वतों को 'यूप' नामक स्तम्भरूप (कृत्वा) रचकर (वर्षाज्यौ अग्नी) इन दोनों अग्नियों में वर्षारूप घृत को प्राप्त करके (स्वर्विदः) स्वः=प्रकाश और परितापक सूर्य को प्राप्त करनेहारे (रोहितस्य) सर्वोत्पादक प्रजापति के (ईजाते) यज्ञ का सम्पादन करते हैं ।

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥

भा०—(स्वर्विदः) प्रकाश और तापदायक सूर्य को अपने वश करनेहारे (रोहितस्य) सर्वोत्पादक, तेजस्वी प्रजापति के (ब्रह्मणा) ब्रह्म-वेद के ज्ञान के अनुसार अथवा उसकी महान् शक्ति से (अग्निः) यह महान् अग्नि सूर्य (सम्-इध्यते) प्रदीप्त होता है । (तस्मात्) उससे ही (घ्रंसः) यह ग्रीष्म और (तस्माद्) उससे ही (हिमः) शीत और (तस्मात्) उससे ही (यज्ञः) यह महान् संवत्सररूप यज्ञ (अजायत) उत्पन्न हुआ करता है ।

ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥

भा०—(ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद से (वावृधानौ) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए पूर्वोक्त 'हिम' और 'घ्रंस' (ब्रह्मवृद्धौ) ब्रह्म, वेद ज्ञान से परिपुष्ट

४७–' अग्नीजाते ' इति पैप्प० सं० ।
४८–(द्वि०) ' समाहितः ' इति पैप्प० सं० ।
४९–' ब्रह्मणाग्निः संविदानो ब्रह्मवृद्धो ब्रह्माहुतः ' इति पैप्प० सं० ।

और (ब्रह्माहुतौ) ब्रह्म, वेदज्ञ विद्वान् द्वारा आहुति दिये गये (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त अग्नियों के समान (स्वर्विदं रोहितस्य) स्व = प्रकाश स्वरूप आत्मा को प्राप्त करने वाले (रोहितस्य) मोक्षपद पर आरूढ आदित्य समान योगी के भी योग यज्ञ को (ईजाते) सम्पादन करते हैं।

सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५० ॥ (५)

भा०—हिम और ग्रम इन दोनों में (अन्य.) एक (सत्ये) सत्य, ज्ञान, न्याय व्यवस्था में (सम् आहित) अति सावधान होकर विराजता है और (अन्य) दूसरा 'वरुण (अप्सु) प्रजाओं में दुष्टों का तापकारी होने से अग्नि के समान (सम् इध्यते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त होता है। वे दोनों ही (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म वेद और वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा प्रदीप्त अग्नि के समान तेजस्वी होकर (स्वर्विदः) स्वर्ग के समान सुखप्रद आत्मा या राष्ट्र को लाभ करने वाले (रोहितस्य) सर्वोत्पादक उज्ज्वल रक्तवर्ण तेज को धारण करने वाले योगी और राजा के योग और राष्ट्र यज्ञ को (ईजाते) सम्पादन करते हैं।

अध्यात्म में—प्राण और अपान इनमें से एक सत्य ज्ञान प्राप्त करता दूसरा कर्मेन्द्रियों में युक्त रहता है। वे दोनों इस देह में ब्रह्म सुख तक पहुंचने वाले योगी के लिये ब्रह्माग्नि से दीप्त होकर यज्ञ सम्पादन करते हैं।

यं वातः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥

भा०—(यं) जिस मित्र को (वातः) प्राण वायु (परि शुम्भति) अलङ्कृत करता है और (यं) जिस अपान को (इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः)

५०–(द्वि०) 'समाहितः सत्ये अप्सु समाहितः' इति पैप्प० सं०।

५१–(द्वि०) 'यमिन्द्रो' इति पैप्प० सं०।

ब्रह्म-वेद, अन्न और प्राण का पालक इन्द्र साक्षात् जीवात्मा सुशोभित करता है वे दोनों हिम और 'ग्रंस' (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म, वेद द्वारा प्रज्वलित अग्नियों के समान स्वयं प्रदीप्त होकर (स्वर्विदः) स्वः प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होने वाले (रोहितस्य) मोक्षपद में आरूढ़ योगी के देह में (इंजाते) यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम्।
ग्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥५२॥

भा०—(भूमिम्) भूमि को (वेदिम्) वेदि (कल्पयित्वा) बनाकर और (दिवम्) द्यौलोक को (दक्षिणाम्) 'दक्षिणा' वेदि (कृत्वा) करके और (ग्रंसम्) 'ग्रंस' को (तदग्निम्) दक्षिणवेदि में अग्नि (कृत्वा) बनाकर (रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (वर्षेण आज्येन) वर्षारूप 'आज्य' या घृत से (विश्वम्) समस्त विश्व को (आत्मन्वद्) अपनी चेतना शक्ति से युक्त (चकार) करता है।

वर्षमाज्यं ग्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत।
तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

भा०—इस महान् यज्ञ में (वर्षम् आज्यम्) वर्षा 'आज्य' या घृत और वीर्य के समान है। (अग्निः ग्रंसः) ग्रंस=ग्रीष्म का सूर्य ही अग्नि के समान है (वेदिः भूमि अकल्पयत्) और भूमि को वेदि बनाया गया है। (तत्र) और उस विश्वमय विराट् यज्ञ में (एतान् पर्वतान्) इन पर्वतों को (अग्निः) अग्निरूप परमेश्वर (गीर्भिः) अपनी उद्गिरण करने वाली शक्तियों से (ऊर्ध्वान्) ऊर्ध्व, ऊँचे स्थलों को (अकल्पयत्) बनाता है। पृथ्वी की भीतरी अग्नि ज्वालामुखी रूप से फूट २ कर भूतल को निरस करती है। पृथ्वी के स्तर टूट २ कर पर्वत और गाहें बनती हैं।

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत् ।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ५४ ॥

भा०—(गीर्भिः) अपनी उच्चारण करने वाली शक्तियों से (ऊर्ध्वान्) उच्च प्रदेशों को (कल्पयित्वा) रचकर (रोहित) सर्वोत्पादक परमात्मा (भूमिम्) भूमि के प्रति (अब्रवीत्) कहता है कि (यद् भूतं) जो उत्पन्न हुए और (यत् च भाव्यम्) जो उत्पन्न होने योग्य पदार्थ हैं (इदं सर्वम्) यह सब (त्वयि) तुझ में ही (जायताम्) उत्पन्न हों ।

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत ।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणा-भृतम् ॥ ५५ ॥

भा०—(स यज्ञः) वह महान् यज्ञ (प्रथमः) सब से प्रथम, सब से श्रेष्ठ (भूतः) महान् संसार रूप से उत्पन्न और (भव्यः) और निरन्तर होने वाला (अजायत) सम्पन्न हुआ । (तस्माद्) उस महान् यज्ञ से (इदं सर्वं जज्ञे) यह समस्त संसार उत्पन्न हुआ (यत् किं च) जो कुछ भी (इदं विरोचते) यह नाना प्रकार से शोभा दे रहा है और (रोहितेन) जिसको रोहित सर्वोत्पादक (ऋषिणा) और सूर्य के समान तेजस्वी ऋषि, सर्व क्रान्तद्रष्टा, अन्तर्यामी परमेश्वर (आभृतम्) धारण कर रहा है ।

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५६ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (गां च) गौ को, वाणी को, या पृथ्वी को (पदा) चरण से (स्फुरति) ठुकराता, उसका अपमान करता है

५४-(च०) ' भव्यम् ' इति पैप्प० सं० ।
५५-' जज्ञेदम् ' इति पैप्प० सं० ।

और (सूर्यम् च) सूर्य के (प्रत्यङ्) सामने (मेहति) मूत्र करता है ऐसे (ते तस्य) तुझ पुरुष के (मूलं) मूल को मैं (वृश्चामि) विनाश करता हूं जिससे (परम्) उसके बाद (छायाम्) इस प्रकार की अपमानजनक, क्रिया (न करवः) तू न कर पावे।

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५७ ॥

भा०—हे पुरुष ! (यः) जो तू (मां) मुझ गुरु को (अभिच्छायम्) अपनी छाया मुझ पर फेंकता हुआ (अत्येषि) मेरा अतिक्रमण करे और (मां अग्निं च अन्तरा) और यदि मुझ शिष्य और अग्नि और, तद्रूप आचार्य के बीच में से गुज़रे (तस्य ते) ऐसे तेरे (मूलम्) मूल को (वृश्चामि) काट डालूं जिससे तू (अपरम्) फिर ऐसा (छायाम्) अपमानजनक क्रिया (न करवः) न करे।

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति।
दुःष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥

भा०—हे (देव) परमेश्वर, राजन्, गुरो ! हे (सूर्य) सूर्य, सूर्य के समान प्रकाशक ! (यः) जो (अद्य) आज (त्वां च मां च अन्तरा) तेरे और मेरे बीच में (आयति) आ जाय (तस्मिन्) उसमें (दुःष्वप्न्यं) बुरे स्वप्न देने वाले (शमलम्) पाप वासना और (दुरितानि च) दुष्ट संकल्पों को (मृज्महे) लगा दें।

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तस्थुर्नो अरातयः ॥ ५९ ॥ ऋ० १० । ५७ । १ ॥

५८—'तस्मिन् दुःष्वप्न्यं सर्वं' इति दन्त्य० सं०।

भा०—हम लोग (पथः) सत् मार्ग से (मा प्र गाम) कभी विच-लित न हों। हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (सोमिनः) सोम-वाले परमानन्दरूप (यज्ञात्) यज्ञ, परमेश्वर की उपासना से (वयम् मा) हम कभी च्युत न हों। और (अन्तः) भीतर (नः अरातयः) हमारे काम क्रोध आदि शत्रु लोग हम पर (मा स्थुः) कभी आक्रमण और वश न करें।

यो युज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वातंतः ।
तमाहुतमशीमहि ॥ ६० ॥ (६)

ऋ० १० । ५७ । २ ॥

भा०—(यः) जो (यज्ञस्य) इस पूर्वोक्त महान् विश्वमय यज्ञ का (प्रसाधनः) संचालन करने हारा (तन्तुः) तन्तु के समान सबको बांधने हारा होकर (देवेषु) समस्त प्राणों और समस्त लोकों और दिव्य पदार्थों में (आततः) फैला हुआ है (तम्) उस (आहुतम्) अति आदर योग्य, पूजनीय आनन्दमय प्रभु को हम (अशीमहि) संचय करें, उसका दिव्य का भोग करें। या उसी आनन्द-रस को अपनी आत्मा में आहुति करके उसका भोग करें।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तमेकं, षष्टिश्च ऋचः ।]

[२] रोहित, परमेश्वर और ज्ञानी ।

ब्रह्मा ऋषिः । अध्यात्मं रोहितादित्यो देवता । १, १२-१५, ३९-४१ अनुष्टुभः, ३, ८, ४३ जगत्यः, १० आस्तारपंक्तिः, ११ बृहतीगर्भा, १६, २४ आर्षी

५९, ६०—ऋग्वेदे बन्धुः श्रुतबन्धुः विप्रबन्धुश्च गौपायना ऋषयः, विश्वे देवा देवताः ।

गायत्री, २५ ककुम्मती आस्तार पंक्तिः, २६ पुरोद्व्यति जागता भुरिक् जगती, २७ विराड् जगती, २९ बार्हतगर्भाऽनुष्टुप्, ३० पञ्चपदा उष्णिग्गर्भाऽति जगती, ३४ आर्षी पंक्तिः, ३७ पञ्चपदा विराड्गर्भा जगती, ४४, ४५ जगत्यौ [४४ चतुष्पदा पुरः शाक्करा भुरिक्, ४५ अति जागतगर्भा] । षट्चत्वारिंशदृचं सूक्तम् ॥

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥ १ ॥

भा०—(मीढुषः) समस्त संसार के जीवन-सेचन करने हारे (महिव्रतस्य) महान् कर्म, जगत् के सर्जन, पालन, संहार आदि कार्यों के करने वाले (आदित्यस्य) सूर्य के समान सबको अपने वश में कर लेने वाले (नृचक्षसः) सर्व मनुष्यों के कर्म, कर्म फलों के द्रष्टा (अस्य) इस परमात्मा के (शुक्राः) शुद्ध कान्ति सम्पन्न (भ्राजन्तः) सर्वत्र प्रकाशक, दीप्तिमान (केतवः) ज्ञापक किरणों के समान प्रज्ञान युक्त चिह्न (उद् ईरते) उदित होते और साक्षात् होते हैं ।

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे ।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥२॥

भा०—(दिशाम्) दिशाओं को जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से प्रकाशित करता है उसी प्रकार (अर्चिषा) अपनी ज्ञानज्योति से (प्रज्ञानां) योगियों की ऋतम्भरा प्रज्ञाओं को (स्वरयन्तम्) प्रकाशित करते हुए, (सुपक्षम्) शोभन रीति से सबके आश्रय-दाता और (अर्णवे) महान् विस्तृत आकाश में जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से व्याप्त होता और गति करता है उसी प्रकार (अर्णवे) अर्णव, ज्ञान-सागर रूप में (आशुम्)

[२] २–' दिशां प्रज्ञानं ' इति पैप्पलादसंहिताभिमतः । 'प्रज्ञानं स्वरयन्तो अर्चि-' (ऋ०) ' दिशाभाति ' इति पप्प० सं० ।

सर्वव्यापक एवं (पतयन्तम्) योगियों को ज्ञान कराते हुए (भुवनस्य) समस्त संसार के (गोपाम्) परिपालक (सूर्यम्) उस सूर्य की (स्तवाम) हम स्तुति करते हैं (यः) जो (रश्मिभिः) किरणों के समान व्यापक और सब जगत् के वश करने वाली शक्तियों से (सर्वा दिशः) समस्त दिशाओं को (आभाति) प्रकाशित करता है।

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे॥ ३॥

भा०—हे परमात्मन्! (यत्) जो तू (प्राङ्) पूर्व दिशा में और (प्रत्यङ्) पश्चिम दिशा में (स्वधया) अपनी धारणा शक्ति से (शीभम्) अति-शीघ्रता से (यासि) सूर्य के समान गति करता या व्यापता है और (मायया) अपनी 'माया' दिव्य ज्ञानशक्ति से (नानारूपे) नाना प्रकार के (अहनी) दिन और रात (कर्षि) बनाता है (तत्) यही हे (आदित्य) सबके आदानकारक परमात्मन्! (महि) तेरा महान् कार्य है। और (तत्) वह तेरी अचिन्त्य (महि) महान् (श्रवः) कीर्ति है (यत्) कि (एकः) तू अकेला ही (विश्वं भूम) समस्त संसार के ऊपर (परिजायसे) सूर्य के समान प्रकाशक और जीवनप्रद रूप में सामर्थ्य वान् होकर विराजता है।

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः।
स्रुताद् यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम्॥ ४॥

भा०—(बह्वीः) नाना संख्या वाली या बड़ी बड़ी (सप्त) सात दिशाएं जिस प्रकार सूर्य को धारण करती हैं उसी प्रकार सात (हरितः) हरण करने वाली प्राण वृत्तियां (यं वहन्ति) जिस आत्मा को वहन या

४–(प्र० च०) 'स्रुतादिं मत्रिर्दिवमन्यनाय तं त्वा पश्येम परियन्तिमाजिम्' इति पैप० सं०।

धारण करती हैं और (यम्) जिसको (अत्रिः) सर्वव्यापक सर्व जगत् को अपने में लीन करने-हारा (स्रुतात्) प्रस्रवण-शील गतिशील संसार से (दिवम्) द्यौलोक, मोक्ष में (उत् निनाय) ले जाता है (तं) उस (त्वा) तुझे (विपश्चितम्) ज्ञान, कर्म के संचय करने-हारे (तरणिम्) संसार को पार करने वाले, मुक्त (भ्राजमानम्) अति देदीप्यमान तेजस्वी आत्मा को विद्वान् लोग अपना (आजिम्) प्राप्त करने योग्य चरम-सीमा स्वरूप परब्रह्म के प्रति (परियान्तम्) गमन करते हुए (पश्यन्ति) साक्षात् दर्शन करते हैं ।

मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम् ।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥

भा०—हे आत्मन् सूर्य ! (आजिन्) चरम सीमा, मोक्ष पद तक (परियान्तम्) पहुंचते हुए (त्वा) तुझको (मा दभन्) हिंसक काम क्रोध आदि मानस शत्रु तुझे न मारें । तू (दुर्गान्) कठिन २ दुर्गम स्थानों और अवसरों, प्रलोभनों को भी (शीभम्) अतिशीघ्र (अतियाहि) पार कर । (स्वस्ति) तेरा मोक्ष मार्ग में सदा कल्याण हो । तू (यद्) जब (अहोरात्रे वि मिमानः) दिन रात्रि को नाना प्रकार से बनाता, बिताता हुआ है (सूर्य) सूर्य समान तेजस्विन् योगिन् ! (दिवं) द्यौलोक के समान प्रकाशमान और (पृथिवीम् च) पृथिवी लोक के समान सर्वाश्रय परमात्मा के पास (एषि) पहुंचता है ।

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥

५-(प्र०) 'पर्यन्तन्', (द्वि०) 'सुगेन दुर्गम्' इति पैप्प० सं० ।

६-(प्र०) 'चरतुरथाति' (द्वि०) 'पर्याति' (च०) 'यमारोह सुखतास्वपभम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे सूर्य ! सूर्य के समान देदीप्यमान आत्मन् ! (ते रथाय स्वस्ति) तेरे रमणकारी उस स्वरूप के लिये 'स्वस्ति' है अर्थात् वह बहुत उत्तम है । (येन) जिससे (उभौ अन्तौ) दोनों सीमाओं को (सद्यः) शीघ्र ही (परियासि) प्राप्त होता है । और (ते) तेरे (यम्) जिस स्वरूप को (वहिष्ठ.) वहन करने-हारी (हरितः) अति शीघ्रगामिनी, रश्मियों के समान चित्त-वृत्तियां या प्राण-वृत्तियां या (शतम्) सौ, सैंकड़ों (अश्वा) व्यापन शील किरणें और (वह्वी.) बड़ी विशाल (सप्त) सात दिशाएं जिस प्रकार सूर्य को धारण करती हैं उसी प्रकार उस आत्मा को (शतम् अश्वा.) सौ व्यापनशील हृदयगत नाड़ियां और (सप्त वह्वी.) सात मुख्य प्राण जिसको (वहन्ति) धारण करते हैं ।

'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका'। इति उप० । 'सप्तास्या रेवतीरेवदूष' इति ऋ० ।

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥७॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य ! सूर्य समान तेजस्विन् आत्मन् ! तू (सुखम्) सु=उत्तम ख=ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय के मार्गों से युक्त, (अंशुमन्तं) अंशु=रासों के समान उत्तम सुसंबद्ध मनोरश्मियों से सम्पन्न, (स्योनं) सुखकारी (सुवह्निम्) सुख से एक लोक से लोकान्तर में वहन करने वाले (वाजिनम्) वाज अर्थात् बल से सम्पन्न (रथम्) उस रथ रूप भौतिक और अभौतिक सूक्ष्म रथ पर (अधितिष्ठ) विराजमान हो । (ते यम्) तेरे जिस रथ को (वहिष्ठा) वहन करने में समर्थ (हरितः) गति-शील प्राण (अश्वा. शतम्) व्यापक, शत नाड़ियां (यदि वा) अथवा (बह्वी. सप्त) अति बलवती सात प्राण वृत्तियां (वहन्ति) धारण करती हैं ।

७-(द्वि०) 'स्योनोऽस्य वह्निम्' इति पैप्प० सं० ।

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥८॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य, सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा (सप्त) सात (हिरण्यत्वचसः) सुवर्ण के समान तेजोमय आवरण वाली (बृहतीः) बड़ी, विशाल कार्य करने में समर्थ सात (हरितः) हरण-शील प्राण-शक्तियों को (यातवे) अपनी जीवन यात्रा के लिये (रथे) अपने रमण साधन देह में घोड़ों को रथों के समान (अयुक्त) जोड़ता है और वही (रजसः परस्तात्) सब लोकों के परे विद्यमान सूर्य के समान (शुक्रः) अति शुचि, दीप्तिमान् होकर (रजसः परस्तात्) रजो गुण से परे (अमोचि) मुक्त हो जाता है और वही (तमः) तमः=अन्धकार के समान तमोगुण को (विधूय) दूर करके (दिवम्) द्यौलोक या प्रकाशस्वरूप मोक्षमय धाम परमेश्वर को (आरुहत्) प्राप्त होता है ।

उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

भा०—(देवः) प्रकाशमान आत्मा सूर्य के समान (बृहता केतुना) बड़े भारी प्रज्ञान से (उत् आगन्) ऊपर आता है, उदित होता है और वह (तमोभिः) अन्धकारों और तामस आवरणों से (अपावृक्) सर्वथा मुक्त होकर (ज्योतिः) परम ज्योति, परमेश्वरीय प्रकाश को (अश्रैत्) धारण करता है । वह प्रकाशवान् आत्मा (अदितेः) उस महान् अखण्ड परमेश्वरी शक्ति का (पुत्रः) पुत्र होकर उसके अनुग्रह से अनुगृहीत होकर

८-(प्र०) 'सप्त सूर्यः' (तृ०) 'शुक्रः' (द्वि०) 'अयुक्त' इति पैप्प० सं० ।

९-(तृ०) 'सुपर्णः स्वविरो' (च०) 'आदित्याः पुत्रं नाथकामम्-यामसीता' इति पैप्प० सं० ।

(दिव्य) दिव्य शक्ति से युक्त (सुपर्ण) उत्तम प्रज्ञान से सम्पन्न होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को सूर्य के समान (वि पश्यत्) विविध प्रकार से प्रकाशित करता है ।

उद्यन् रश्मीना तनुष विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वाल्लोकान् परिभूर्भ्राजमान ॥१०(७)

भा०—हे आदित्य आत्मन् ! तू (उद्यन्) उदित होता हुआ सूर्य के समान ही (रश्मीन्) रश्मियों का (आ तनुषे) चारों ओर फेंकता है और (विश्वा रूपाणि) समस्त रूपों=प्राणियों को (पुष्यसि) पुष्ट करता है और (क्रतुना) ज्ञान और कर्म सामर्थ्य से (भ्राजमान) अति प्रकाश होकर (सर्वान् लोकान् परिभूः) समस्त लोकों में व्यापक वा गतिमान सूर्य के समान कामचारी होकर (उभा समुद्रौ) दोनों समुद्रों, इह और अमुक दोनों लोकों को (विभासि) प्रकाशित करता है । आदित्यो ह वै बाह्य प्राण उदयति । एष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । इत्यादि प्रश्न० उप० ३ । ८ ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥ ११ ॥

अथर्व० ७ । ८१ । १ ॥ १४ । १ । २३ ॥

भा०—(एतौ) ये दोनों (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (शिशू) दो बालकों के समान परमात्मा और आत्मा दोनों (मायया) माया—अलौकिक बुद्धि से (अर्णवं परियात) समुद्र तक पहुंचते हैं उन दोनों में से (अन्य) एक (विश्वा) समस्त (भुवन) लोकों को साक्षीरूप से (विचष्टे) देखता है (अन्य) दूसरे को (हैरण्यैः) हिरण्य अभिरमणीय

---

१० (द्वि०) 'अना सर्वा विददयसि' इति पैप्प० सं० ।

११–(च०) 'ऋतूनन्यो विदधज्जायसे नवः' इति अथर्व० ७ । ८ । १ । १ ॥

इन्द्रिय आदि गम्य, भोग्य विषयों द्वारा (हरितः) हरणशील प्राणगण (वहन्ति) धारण करते हैं ।

दिवि त्वात्त्रिरधारयुत् सूर्या मासाय कर्तवे ।

स एषि सुधृतस्तपुन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥ १२ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य आत्मन् ! (अत्रिः) सर्वव्यापक एवं प्रलयकाल में सबको अपने भीतर ले लेने वाला परमात्मा (त्वां) तुझ को (दिवि) द्यौ-लोक में सूर्य के समान (मासाय[1]) मास=उत्तमकर्म या तपस्या के (कर्त्तवे) करने के लिये (दिवि) प्रकाशमान मोक्षलोक में (अधारयत) स्थापित करता है । (सः) वह (एषः) यह सूर्य के समान (विश्वा भूता) (सुधृतः) उत्तम रीति से धृत, स्थिर होकर (तपन्) तेज से परितप्त होकर समस्त प्राणियों के प्रति (अवचाकशत्) प्रकाशित होता है, उनको ज्ञान प्रदान करता है ।

उभावन्तौ समर्षसि वृत्सः संमातराविव ।

नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥ १३ ॥

भा०—(वत्सः) बच्चा जिस प्रकार (मातरौ इव) माता पिता दोनों के प्रति (सम्) समान भाव से प्रेम में आकर्षित होकर जाता है उसी प्रकार हे मुमुक्षो आत्मन् ! तू (उभौ अन्तौ सम् अर्षसि) दोनों अन्त=चरम आत्मा और परमात्मा दोनों के प्रामुख्य स्वरूपों को प्राप्त होता है । (ननु) निश्चय से (एतत्) इस परम ध्येयस्वरूप को (पुरा) पूर्व-काल के (अमी देवाः) वे पारंगत विद्वान् पुरुष (ब्रह्म विदुः) ब्रह्मरूप से साक्षात् करते और जानते हैं ।

यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिषासति सूर्यः ।

अध्वास्य विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः ॥ १४ ॥

१. मसी परिमाणे दिवादिः ।

भा०—(सूर्य) सूर्य के समान तेज से युक्त आत्मा (तत्) उस परमरस को (सिषासति) प्राप्त करना चाहता है (यत्) जो (समुद्रम् अनुश्रितम्) समुद्र के समान आनन्दरस के सागर परमेश्वर में विद्यमान है। (अस्य) इस तक पहुंचने के लिये (य) जो (पूर्वः) पूर्व, जो पहले चला आया है और (य अपर च) जो 'अपर' आगे भी चलना है वह समस्त (अध्वा) मार्ग (महान् विततः) बड़ा भारी उसका समस्त विस्तृत है। अर्थात् ब्रह्म का मार्ग महान् है जिसका आगा और पीछा दोनों विशाल हैं पूर्णब्रह्म का मार्ग अनन्त है।

तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नापं चिकित्सति।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते ॥ १५ ॥

भा०—वह योगी सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा भी (जूतिभिः) अपने ही मानस ज्योतियों या ज्ञान के अति वेगों से (तम्) उस सुदूर वर्ती परब्रह्म मार्ग को (सम् आप्नोति) प्राप्त कर लेता है (ततः) तब वह (न अपचिकित्सति) उसे त्याग कर फिर कुमार्ग या संशय या भ्रम में नहीं जाता। (तेन) इसी कारण लोग (देवानां) विद्वान् लोगों के निमित्त (अमृतस्य) अन्न के (भक्षं) भोग को (न अवरुन्धते) नहीं रोकते।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

अथर्व० २०। ४७। १३ ॥ ऋ० १। ५०। १। यजु० ७। ४१ ॥

भा०—(केतवः) ज्ञान वान् पुरुष (त्यं जातवेदसम्) उस परम सर्वज्ञ परमेश्वर 'जातवेदा' का (उद् वहन्ति) उत्तम लोक में प्राप्त करते

१५–(द्वि०) 'जिगमति' (च०) 'तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते' इति पैप्प० सं०।

१६ (प्र०) ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य प्रस्कण्व काण्व ऋषि। सूर्यो देवता।

हैं और (विश्वाय सूर्यम्) समस्त संसार के प्रेरक सूर्य परमात्मा को (दृशे) साक्षात् दर्शन करने का यत्न करते हैं ।

अप॒ त्ये ता॒यवो॑ यथा॒ नक्ष॑त्रा यन्त्य॒क्तुभिः॑ ।
सूरा॑य वि॒श्वच॑क्षसे ॥ १७ ॥

ऋ० १ । ५० । २ ॥ अथर्व० २० । ४७ । १४ ॥

भा०—(विश्वचक्षसे) समस्त विश्व को देखने वाले या समस्त विश्व को अपने प्रकाश से प्रदीप्त करने वाले (सूराय) सूर्य के तीव्र प्रकाश के कारण (यथा) जिस प्रकार (अक्तुभिः) अपने दीप्तियों या अन्धकारमय रात्रियों सहित (अपयन्ति) विलुप्त हो जाते हैं उसी प्रकार (विश्वचक्षसे सूराय) सर्वद्रष्टा सूर्य के समान योगी के प्रबल प्रभाव से (त्ये) वे नाना प्रकार के (तायवः) चोर स्वभाव, अज्ञान अन्धकार के गहरे पर्दे में छिप कर विषय वासना रूप से आत्मा को छलने, लुभाने वाले भोग और छलनाकारी लोग भी (अपयन्ति) भाग जाते हैं ।

अदृ॑श्रन्नस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒ अनु॑ ।
भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा ॥ १८ ॥

ऋ० १ । ५० । ३ ॥ यजु० ८ । ४० ॥ अथर्व० २० । ४७ । १५ ॥

भा०—(अस्य) इस परमात्मा के (केतवः) ज्ञान कराने-हारे विद्वान् पुरुष भी (रश्मयः) सूर्य की किरणों के समान (जनान् अनु) सर्व साधारण-जनों के हित के लिये उनमें (वि अदृश्रन्) नाना प्रकार से दिखाई देते हैं । वे तो इस लोक में साक्षात् (यथा) जिस प्रकार (भ्राजन्तः) चम-चमाते प्रकाशमान (अग्नयः) अग्नि हों उस प्रकार तपस्वी, तेजस्वी होकर रहते हैं ।

१८-(प्र०) 'अदृश्रन्' इति ऋ० ।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥

ऋ० १ । ५० । ४ ॥

भा०—हे (रोचन) प्रकाशस्वरूप, सर्व प्रकाशक आत्मन्! परमात्मन्! तू (तरणिः) सबको तराने हारा (विश्वदर्शत) सूर्य के समान सबको दर्शाने वाला, एवं सब संसार के लिये परम दर्शनीय है। और हे (सूर्य) सर्वोत्पादक सूर्य! तू ही (ज्योतिः कृत् असि) समस्त सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि ज्योतियों के रचने हारा है। तू सचमुच (विश्वम् आभासि) समस्त विश्व को प्रकाशित करता और सर्वत्र स्वयं प्रकाशित होता है।

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। उप०।

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।
प्रत्यङ् विश्वं स्व॑र्दृशे ॥ २० ॥ (८)

ऋ० १ । ५० । ५ ॥

भा०—हे आत्मन्! तू (देवानां) देवों, इन्द्रियों या प्राणों की बनी (विशः) प्रजा और (मानुषीः विशः) मनुष्य प्रजाओं के भी (प्रत्यङ्) साक्षात् होकर (उद् एषि) उदित होता है। (स्वः) समस्त सुखमय लोक को (दृशे) साक्षात् दर्शन कराने के लिये (विश्वम्) समस्त विश्व के भी (प्रत्यङ्) प्रति तुम अपना साक्षात् दर्शन देते हो।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥

ऋ० १ । ५०

१९-(तृ०) 'रोचनम्' इति ऋ०।

२०-(द्वि०) 'मानुषान्' इति ऋ०।

भा०—हे (पावक) परमपावन परमात्मन्! हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे वरण करने योग्य! (येन चक्षसा) जिस दया की दृष्टि से (भुरण्यन्तम्) प्रजा के भरण पोषण करने वाले पुरुष को और (जनान् अनु) मनुष्यों को (त्वं) तू (पश्यसि) देखता है उसी से हमें भी देख।

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥ ऋ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) प्रेरक, उत्पादक आत्मन्! जिस प्रकार सूर्य (अक्तुभिः) अपने दीप्तियों से (अहः मिमानः) दिन को मापता हुआ आकाश में उदित होता है उसी प्रकार तू भी (अक्तुभिः) अपने ज्योतिर्मय ज्ञान साधन इन्द्रियों से (पृथु रजः) महान्, विस्तृत लोकों को (मिमानः) ज्ञान करता हुआ और (जन्मानि) नाना जन्मों को (पश्यन्) देखता हुआ (द्याम्) उस प्रकाशमान ब्रह्ममय लोक को (वि एषि) विशेष रूप से प्राप्त होता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २३ ॥ ऋ० १ । ५० । ८ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्विन् आत्मन्! (शोचिष्केशम्) दीप्ति के आवरण या स्वरूप से युक्त (विचक्षणम्) विशेष रूप से ज्ञान दर्शन करने हारे विज्ञान वान् आत्मा रूप (त्वा) तुझको हे (देव) दर्शन-वान् आत्मन्! (सप्त हरितः) सात हरण-शील, वेगवान् प्राण (वहन्ति) धारण करते हैं।

२२–'उद् यामेषि' इति साम०। 'रजस्पृथ्वहामि' इति ऋ०।
२३–(तृ०) 'विचक्षण' इति ऋ०। 'पुरन्दिप' इति मै० सं०।

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्य॑ः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥ ऋ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—(सूरः) सूर्य के समान सर्व प्रेरक ज्ञान-वान् आत्मा (रथस्य) रमण साधन इस देहरूप 'रथ' के (नप्त्यः) साथ सम्बद्ध (सप्त) सात (शुन्ध्युवः) अति वेग युक्त, शुद्ध प्राणों को (अयुक्त) अपने अधीन योग मार्ग में नियुक्त या समाहित करता है, और (ताभिः) उन प्राणों से ही (स्वयुक्तिभिः) अपने योग के आठों उपायों से (याति) परम पद तक प्राप्त करता है।

रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव ॥२५॥

भा०—(रोहितः) रोहित, तेजस्वी सूर्य के समान आत्मा (तपसा) तप से (तपस्वी) तपस्वी होकर (दिवम्) प्रकाशमान परमेश्वर या मोक्ष को (आरुहत्) प्राप्त होता है। वही पुनः (योनिम् एति) योनि या इस लोक या जन्म स्थान, मनुष्य आदि योनि को प्राप्त होता है। (सः उ पुनः जायते) वह ही पुनः २, बार २ उत्पन्न होता है (सः) वह ही (देवानाम्) प्राह्य विषयों में क्रीडा करने वाले प्राणों का (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) होता है।

परमात्मा पक्ष में—रोहित, सर्वोत्पादक, परमेश्वर अपने तप से तपस्वी है। वह (योनिम्) योनि प्रकृति को प्राप्त होकर जगत् का प्रादुर्भाव करता है और समस्त अग्नि 'वायु' आदि देवों का स्वामी हो रहता है।

२४-(द्वि०) 'नप्त्र्यः' इति साम० ।
२५-(प्र०) 'दिवमाक्रमीत्' इति पैप्प० सं० ।

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥२६॥

ऋ० १० । ८१ । ३ ॥ यजु० १७ । १९ ॥

भा०—(यः) जो परमात्मा (विश्वचर्षणिः) समस्त जगत् का द्रष्टा, सब ओर चक्षु से सम्पन्न (उत) और (विश्वतोमुखः) सब ओर को मुखों वाला है। (यः विश्वतः पाणिः) जिसके सर्वत्र हाथ हैं और जो (विश्वतस्पृथः) सर्वत्र व्याप्त है वह (एकः देवः) एक मात्र सब का द्रष्टा सब का प्रकाशक उपास्य-देव विश्व के प्राणियों पर दया करके (द्यावा-पृथिवी) द्यौ और पृथिवी इन दोनों में विद्यमान समस्त चराचर संसार को (पतत्रैः) कारकों द्वारा (संजनयन्) भली प्रकार उत्पन्न करता हुआ (बाहुभ्याम्) अपनी बाहुओं से, अपने हाथों से मानो सब को (सं भरति) भली प्रकार भरण पोषण करता है।

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं समासते ॥२७॥

पूर्वार्धः १० । ११७ । ८ (प्र० द्वि०) अथर्व १३ । ३ । २५ ।

भा०—(एकपाद्) 'एकपात्' एक चरण वाला (द्विपदः भूयः वि चक्रमे) दो चरण वाले से अधिक गति करता है। और (द्विपात्) 'द्विपात्' दो चरण वाला (त्रिपादम्) 'त्रिपात्' या तीन चरण वाले को (पश्चात्) पीछे से आकर भी (अभि एति) पकड़ लेता है। (द्विपात् ह)

२६–(प्र०) 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्' (तृ०) 'सं बाहुभ्यां धमति' (च०) 'द्यावाभूमी' इति ऋ०। 'यो विश्वचर्षणि'रिति मै० सं०। (तृ०) 'नमति' इति तै० सं०। 'धमत्' इति मै० सं०।

'द्विपात्' दो चरण वाला (षट्पद: भूयः विचक्रमे) 'षट्पद' से भी अधिक वेग से चलता है और (ते) ये सब (एकपद) 'एकपात्' एक चरण वाले के (तन्वं)' 'तनु' शरीर के आश्रय पर ही (सम् आसते) विराजते हैं।

वायुरेकपात् तस्य आकाशं पादः। गो० पू० २। ८॥ आदित्यद्विपात् तस्येमे लोकाः पादाः। गो० पू० २। ८॥ चन्द्रमा द्विपात् तस्य पूर्वपक्षापरपक्षौ पादौ। गो० पू० २। ८॥ द्विपाद्वा अयं पुरुषः। श० २। ३। ४। ३३॥ अग्निः षट्पादस्तस्य पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौ एव ओषधिवनस्पतय इमानि भूतानि पादाः। गो० पू० २। ९॥ अर्थात् वायु चन्द्र से भी शीघ्र गामी है और चन्द्र सूर्य को राशि संक्रमण में पीछे से आ पकड़ता है। और यह द्विपात् पुरुष समस्त अग्नि को अपने वश करता है ये सब 'एकपात्' परमात्मा या 'वायु' सब प्राणों के प्राण पर आश्रित हैं।

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि॥२८॥

भा०—हे (आदित्य) आदित्य! आदित्य के समान तेजस्वी आत्मन्! सूर्य जिस प्रकार (विश्वा रजांसि सहमान.) समस्त लोकों और धूलि-पटलों को अपने तेज से दूर करता हुआ (केतुमान्) रश्मियों से युक्त होकर (प्रवत.) दूर से ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार तू भी (विश्वा रजांसि) समस्त प्रकार के रजों, विकारों को (सहमान.) अपने तपोबल से दूर करता हुआ (उद्यन्) उनसे ऊपर उठता हुआ (केतुमान्) ज्ञानवान् होकर (प्रवत.) दूर से (विभासि) प्रकाशित होता, प्रसिद्ध होता है। और जिस प्रकार (अतन्द्र) बिना अस्त हुए सूर्य दिशाओं में गति करता है तो (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप दिन और रात्रि के प्रगट करता है उसी प्रकार

२८–(द्वि०) 'दिवि रूप कृणुषे रोचमानः' इति पैप्प० सं०

आदित्य योगी भी (अतन्द्रः) तन्द्रा रहित, आलस्य रहित होकर (यास्यन्) मोक्ष-मार्ग में गति करने की इच्छा करता हुआ (यदा) जब (हरितः) अपने हरणशील प्राणों को (आस्थात्) वश करता है तब (रोचमानः) अति प्रकाशमान होता हुआ (द्वे रूपे) दो रूपों को (कृणुते) प्रकट करता है। दो रूप=सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, निर्बीज और सबीज।

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥ २९ ॥

ऋ० ८। १०१। ११॥ यजु० ३३। ३९॥ अथर्व० २०। ५८। ३॥

भा०—(बट्) सत्य निश्चय से हे (सूर्य) सूर्य के तेजस्विन् आत्मन्! तू (महान् असि) महान् है। हे (आदित्य) आदित्य समान आत्मन्! (बट्) सचमुच (महान् असि) तू महान् है (महतः ते) तुझ महान् की (महान् महिमा) बड़ी महिमा है। (त्वम्) तू हे (आदित्य) सूर्य के समान प्रकाशक परमेश्वर! तू (महान् असि) 'महान्' सब से बड़ा है।

रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः। उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित् ॥ ३० ॥ (६)

भा०—हे (पतङ्ग) ज्ञान-ऐश्वर्य को प्राप्त आत्मन्! तू सूर्य के समान (दिवि) द्यौ आकाश में या ज्ञानमय मोक्षपद में (रोचसे) प्रकाशित होता है। (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में सूर्य के समान तू अन्तः-करण में प्रकाशित होता है, (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (रोचसे)

२९–(तृ० च०) 'महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि' इति ऋ०, यजु०। 'महिना पनिष्टम अद्धा देव महाँ असि' इति साम०।

३०–'स्वर्जित्' इति ह्विट० सं०।

प्रकाशित होता है (अप्सु अन्तः) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं और प्रजाओं के भीतर भी तू (रोचसे) शोभा देता है । और तू (रुचा) अपनी रुचिर कान्ति से (उभौ समुद्रौ) दोनों समुद्रों को सूर्य के समान ही दोनों लोकों को (व्यापिथ) व्याप्त होता है और हे (देव) देव ! प्रकाशमय ! तू ही (देवः) उपास्यदेव (महिषः) सब से महान् और (स्वर्जित्) स्व, ज्ञान और प्रकाशमय लोकों को अपने वश करनेहारा है ।

अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः ।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥ ३१ ॥

भा०—(पतङ्गः) योग सिद्ध ऐश्वर्य विभूति को प्राप्त होनेहारा सूर्य के समान योगी आत्मा (अर्वाङ्) नीचे या समीप, उरे या आगे (परस्तात्) दूर, परे और (व्यध्वे) विशेष मार्ग के बीच में भी (प्रयतः) उत्तम रीति से प्राणायाम, यम, नियम आदि अष्टाङ्गों में जितेन्द्रिय होकर (आशुः) कार्य करने में शीघ्रकारी प्रबल, वेगवान् (विपश्चित्) ज्ञानसम्पन्न मेधावी होकर (पतयन्) विभूति और ऐश्वर्यवान् होता हुआ या महान् मार्ग में जाता हुआ (विष्णुः) अपने ही अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर विष्णुस्वरूप, ध्यानी (विचित्तः) विशेष रूप से ज्ञानवान्, सम्यग्दर्शी होकर (शवसा) अपने बल, सामर्थ्य से (अधितिष्ठन्) मन पर वश करता हुआ (केतुना) अपने ज्ञान तेज से (विश्वम् एजत्) समस्त गतिमान् जगत् को (प्र सहते) अपने वश करता है ।

चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥ ३२ ॥

३१–(प्र०) 'अर्वाङ्' इति पं०प० स० ।

३२–(द्वि०) 'रोदसी' इति पं०प० स० ।

भा०—(चित्रः) समस्त संसार के संचय करने हारा (चिकित्वान्) ज्ञानी (महिषः) महान् (सुपर्णः) उत्तम पालन शक्ति से युक्त (रोदसी) द्यौ पृथिवी और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (रोचयत्) प्रकाशित करता है (सूर्यं) सूर्य को (परिवसाने) आश्रय करके रहने वाले (अहोरात्रे) दिन और रात भी (अस्य) इस परमेश्वर के (विश्वा वीर्याणि) समस्त वीर्यों को (प्र तिरतः) बतलाते हैं, बढ़ाते हैं।

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं१ शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः ।
ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात् प्रदिशः कल्पमानः ॥ ३३ ॥

भा०—(तिग्मः) अति तीक्ष्ण (विभ्राजन्) विशेष रूप से देदीप्यमान (तन्वं शिशानः) अपने आपको तपस्या से अति तीक्ष्ण करता हुआ (अरंगमासः प्रवतः) अत्यन्त गति करने वाले (प्रवतः) प्राणों से (रराणः) शीघ्रता से रमण करता हुआ (ज्योतिष्मान्) ब्रह्ममय ज्योति से युक्त होकर (पक्षी) आत्म-परिग्रह या दमन-शक्ति से युक्त होकर (महिषः) महान् आत्मा (वयोधाः) बल और प्राण को धारण करने में समर्थ होकर (विश्वाः) समस्त (प्रदिशः) दिशाओं को सूर्य के समान स्वयं समस्त ज्ञान साधन इन्द्रियों को (कल्पमानः) विरचता एवं सामर्थ्यवान् करता हुआ (आस्थात्) स्थिर रूप से विराजमान रहता है।

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥३४॥
ऋ० १२ । १०७ । १३ ॥

भा०—(देवानां) देव, क्रीडाशील, विषयग्राही इन्द्रियों का (केतुः) ज्ञान प्रदान करने वाला (चित्रम्) विचित्र या सम्पूजित (अनीकम्)

३३–'तन्वः शिशानोऽरङ्गमासु प्रवतोरराणः' इति पैप्प० सं० ।

बलस्वरूप (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी, ज्ञान ज्योति और योग तेज से सम्पन्न, विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा से सम्पन्न योगी (सूर्य) सूर्य समान अति-तेजस्वी होकर (उद्यन्) उदित होता है जिस प्रकार सूर्य (शुक्रैः) अपने तेजों या किरणों से (तमांसि दिवा करोति) अन्धकारों को दिन के प्रकाशों में बदल देता है उसी प्रकार वह योगी भी समस्त (तमांसि) तामस कार्यों को भी अपने (शुक्रैः) ज्ञानमय प्रकाशों से (दिवा करोति) दिन के समान श्वेत करता है अर्थात् कृष्ण-कर्मों को शुक्लकर्मों में बदल देता है। तब वह स्वयं (शुक्रः) शुक्र, दीप्तिमान् तेजस्वी, शुक्लकर्मा योगी होकर (विश्वा दुरितानि) समस्त पापकर्मों को (तारिषत्) तर जाता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवत् ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् ॥ गी० ५ । १६ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ गी० १३ । ३३ ॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ गी० ४ । ३६ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३५॥

यजु० ६।४२॥१३।४६॥ अथर्व० २०।१०७।१४ ॥ ऋ० १।११५।१॥

भा०—(देवानाम्) विद्वानों के लिये (चित्रम्) अति अद्भुत, (अनीकम्) बल, (मित्रस्य) मित्र, सबको स्नेह करने वाले (वरुणस्य) सर्व (अग्नेः) ज्ञानी पुरुष को (चक्षुः) सब पदार्थों को दर्शाने वाली आंख वही परमात्मा (जगत्) जंगम और (तस्थुषः) स्थावर का भी (आत्मा) आत्मा, अन्तर्यामी परमात्मा (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को भी (आप्राद्) पूर्ण, व्याप्त कर रहा है।

३५–(तृ०) 'आप्राद्यावा' इति ऋ० ।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ गी० १३ । २२ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ १३ । २७ ॥

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥

भा०—(उच्चा पतन्तम्) ऊँचे पद, मोक्ष को जाते हुए (अरुणम्) ज्योतिर्मय (सुपर्णं) उत्तम ज्ञान सम्पन्न (दिवः मध्ये) द्यौलोक के बीच में सूर्य के समान (भ्राजमानम्) अति देदीप्यमान (तरणिम्) सर्व दुःख-तारक (सवितारम्) सर्व प्रेरक, सर्वोत्पादक (त्वाम्) तुझको (अजस्रम्) अविनाशी, नित्य (ज्योतिः) ज्योति के रूप में (पश्याम) हम साक्षात् करें (यत्) जिसको (अत्रिः) सबको अपने भीतर लीलने वाला मुख्य प्राण (अविन्दत्) धारण करता है ।

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उपयामि भीतः ।
स नः सूर्य प्रतिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥ ३७ ॥

भा०—(दिवस्पृष्ठे) द्यौलोक, आकाश के उपरि देश में (धावमानं) गति करते हुए सूर्य के समान देदीप्यमान, उस मोक्षमय तेजोमय लोक में गति करते हुए (सुपर्णम्) उत्तम ज्ञान और पालना से युक्त, (अदित्याः पुत्रम्) अदिति के पुत्र आदित्य योगी अथवा अखण्ड ब्रह्म के उपासक आत्मा को स्वयं (नाथकामः) ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ (भीतः) मृत्यु से भयभीत होकर (उपयामि) उसकी शरण जाता हूँ । हे (सूर्य) सूर्य ! तत्समान तेजस्विन् आत्मन् ! (सः) वह तू

३६–(तृ०) 'पश्येम त्वा' इति पैप्प० सं० ।

(नः) हमें (दीर्घम् आयु) दीर्घ आयु (प्रतिर) प्रदान कर हम (ते सुमतौ) तेरी उत्तम बुद्धि या ज्ञानोपदेश के अधीन (स्याम) रहें और (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों ।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पतंतः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ ३८ ॥

अथर्व० १० । ८ । १८ ॥ १३ । ३ । १४ ॥

भा०—(सहस्र-अह्न्यम्) हजारों दिनों या युगों में बीतने योग्य (स्वर्गम्) विस्तृत आकाश भाग में (पतत) जाते हुए सूर्य के समान (हरेः) अति पीतवर्ण एवं गतिशील, परम आत्मा के (पक्षौ) दोनों पक्ष, दोनों मार्ग, रात दिन (वियतौ) विशेष रूप से नियम बद्ध हैं । (सः) वह (सर्वान् देवान्) समस्त देवों, प्राणों को (उरसि) अपने छाती पर, अपने हृदय में (उपदद्य) धारण करके (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (सं पश्यन्) देखता हुआ (याति) विचरण करता है ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिंयुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ गी० ८ । १७ । १८ ॥

रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥ ३९ ॥

३८–(तृ०) 'स विश्वान् देवान्' इति पैप्प० सं० ।

३९–(प्र०) 'रोहितो लोको भवत्' (च०) 'रोहितो ज्योतिरुच्यते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(रोहितः) रोहित, सर्वोत्पादक, तेजस्वी वह परम आत्मा ही (कालः) कालस्वरूप (अभवत्) है। (अग्रे) सृष्टि के पूर्व में (रोहितः) वही सर्वोत्पादक परमेश्वर (प्रजापतिः) प्रजापति, प्रजा का पालक था। (रोहितः यज्ञानाम् मुखम्) 'रोहित' ही यज्ञों का मुख था और उसी (रोहितः) रोहित ने (स्वः आभरत्) समस्त स्वर्ग या आनन्दधाम को भरपूर कर रखा है।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतो मुखः।
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥ गी० १० । ३३ ॥

रोहितो लोको अभवद् रोहितोत्यतपद् दिवम्।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु संचरत् ॥ ४० ॥ (१०)

भा०—(रोहितः) रोहित ही (लोकः अभवत्) यह दृश्यमान जगत् समस्त पदार्थों का दर्शक लोक है अर्थात् यह उसी की शक्ति का विकास है। (रोहितः) वह सर्वोत्पादक ही (दिवम्) सूर्य का (अति अतपत्) अति तीव्रता से तपाता है। (रोहितः) 'रोहित' ही सूर्य के समान (रश्मिभिः) अपनी शक्तिमय रश्मियों से (भूमिम् समुद्रम् अनु) भूमि और समुद्र पर भी (अनु संचरत्) विचरता है, नाना प्रकार से प्रकट होता है।

सर्वा दिशः समचरद् रोहितोधिपतिर्दिवः।
दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ ४१ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक, सूर्य का भी स्वामी (रोहितः) रोहित परमेश्वर (सर्वाः दिशः सम् अचरत्) समस्त दिशाओं में व्यापक है क्योंकि

४०–(प्र०) 'रोहितो भूतो भवा' (तृ०) 'भूम्यन्' इति पैप्प० सं०।
४१–(प्र०) 'संचरति' (द्वि०) 'गो अपि' (तृ०) 'भूम्यं', (च०) 'सलोकान् वि' इति पैप्प० सं०।

(दिवम्) आकाश (समुद्रम्) समुद्र (आत् भूमिम्) और भूमि को भी व्यापक कर यही (सर्वम्) समस्त (भूतम्) उत्पन्न प्राणिसंसार की वह (वि रक्षति) विविध प्रकार से रक्षा करता है ।

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥ ४२ ॥

भा०—(शुक्रः) अति तेजस्वी, सूर्य जिस प्रकार (बृहती) आकाश के महान् प्रदेशरूप दिशाओं के ऊपर (आरोहन्) चढ़कर (रोचमानः) अति कान्तिमान् होकर भी (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप दिन और रात्रि को प्रकट करता है उसी प्रकार (शुक्र) शुक्र, तेजस्वी शुक्ल योगी, आत्मा (बृहती.) प्राणों या अन्य आत्माओं पर (आरोहन्) आरूढ़ होकर उनपर वश करता हुआ (अतन्द्र) आलस्य रहित होकर निद्रावृत्ति पर भी वश करके (रोचमान.) अति तेजस्वी होकर (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात को प्रकट करता है । वह (चित्रः) अद्भुतरूप (चिकित्वान्) ज्ञानी (महिषः) आत्मा (वातम् आयाः) वात=प्राण के बल पर गति करता हुआ (यावतः) जितने भी लोक हैं उन सब (लोकान् अभि) लोकों में (विभाति) विशेषरूप से प्रकाशित होता है । वहां विचरता है । प्राणाः वै बृहत्यः । ऐ० ३ । १४ ॥ आत्मा वै बृहती । कां० ७ । ८ ॥

४२-(तृ०) 'वातमापः' इति ह्विटनिः कामितः । 'वातमायः' इति क्वचित्कामितः पदपाठः । 'आरोहन् शुक्रो बृहतीरतन्द्रो अमर्त्या कृणुते वीर्याणि' द्वि० च० । 'सुपर्णो महिष वातरंह या सर्वांल्लोकानभि०' इति पैप्प० सं० ।

अभ्य॒न्यदे॑ति॒ पर्य॒न्यद॑स्यते॒ऽहोरा॒त्राभ्यां॑ महि॒षः कल्प॑मानः ।
सूर्यं॑ व॒यं रजा॑सि क्षि॒यन्तं॑ गातु॒विदं॑ हवामहे॒ नाध॑मानाः ॥ ४३ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (अन्यत् अभि एति) दिन रात दोनों में से जब एक 'दिन' भाग पर आरूढ़ होता है और (अन्यत् परि अस्यते) तब दूसरे रात्रि भाग को सदा परे हटाता है और इस प्रकार वह (महिषः) महान् सूर्य (अहोरात्राभ्याम्) दिन रात दोनों से (कल्पमानः) सामर्थ्यवान् होता है, उसी प्रकार शक्तिशाली परमेश्वर दिन और रात्रि के समान उदय अस्त होने वाले जगत् के सर्ग प्रलय दोनों स्थितियों में से जब एक पर आरूढ़ होता है तो दूसरे को दूर करता है । इस प्रकार (वयम्) हम (नाधमानाः) उपासना करते हुए उपासक लोग (रजांसि) रजोगुण में (क्षियन्तम्) निवास करते हुए (सूर्यम्) सब के प्रेरक, प्रकाशक (गातुविदम्) समस्त ज्ञान और यज्ञ या संसार के अपने भीतर ले लेनेहारे परमेश्वर की (हवामहे) स्तुति करते हैं ।

पृ॒थि॒वि॒प्रो म॑हि॒षो नाध॑मानस्य गा॒तुरद॑ब्धचक्षुः॒ परि॒ विश्वं॑ ब॒भूव॑ ।
विश्वं॑ सं॒पश्य॑न्त्सुवि॒दत्रो॒ यज॑त्र इ॒दं शृ॑णोतु॒ यद॒हं ब्रवी॑मि ॥ ४४ ॥

भा०—(महिषः) वह महान् परमात्मा (पृथिवीप्रः) समस्त पृथिवी को नाना भोग्य-पदार्थों से पूर्ण करने वाला (नाधमानस्य गातुः) याचना प्रार्थना करने वाले अपने स्तुतिकर्त्ता उपासक के लिये जाने योग्य मार्ग के समान और (अदब्धचक्षुः) अविनाशी, सर्वद्रष्टा चक्षु के समान (विश्वं परि बभूव) इस विश्व में व्यापक है । वह परमेश्वर (विश्वं सम्पश्यन्)

४३–(प्र०) 'एतिसस्तेयं वानवनहोरात्राभ्यां-' (च०) 'नाधमानाः' इति पैप्प० सं० ।
४४–(प्र०) 'नाधमानस्य' (द्वि०) 'अद्भुतचक्षुः परिविश्वभूव' (च०) 'शिवाय नस्तन्वा नर्म पचाद्' इति पैप्प० सं० ।

विश्व को भली प्रकार देखता हुआ (सुविदत्रः) उत्तम ज्ञान और कल्याण दानशील और (यजत्र.) उपासना करने योग्य है वह (यत्) जो कुछ (अहम्) मैं (ब्रवीमि) कहूं (इदं) उसको (शृणोतु) सुने।

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि द्यामन्तरिक्षम्।
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥

भा०—(अस्य) इस परमात्मा की (महिमा) महिमा, बड़ा भारी सामर्थ्य (पृथिवीम् परि समुद्रम् परि) पृथिवी और समुद्र दोनों पर व्याप्त है। वह (ज्योतिषा) ज्योति, परम तेज से (द्याम् परि अन्तरिक्षम् परि) द्यौ और अन्तरिक्ष दोनों में व्यापक है। (सर्वम् सम्पश्यन्०) इत्यादि पूर्ववत्।

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥४६॥(११)

ऋ० ५।१।१॥ यजु० १५।२४॥ साम० १।७३॥

भा०—(जनानाम्) मनुष्यों की (समिधा) काष्ठ से प्रज्वलित अग्निहोत्र की अग्नि प्रात काल के अवसर (अबोधि) जागती है, (धेनुम् इव) और जिस प्रकार बच्चा दूध पिलाने वाली गाय के प्रति चला जाता है उसी प्रकार वह अग्नि प्रबुद्ध होकर मानो (आयतीम्) प्राप्त होती हुई उषा के पास पहुंचती है। (यह्वा.) जिस प्रकार शिशु पक्षी (उज्जिहाना) उड़ते २ (वयाम् प्र) शाखा पर चले जाते हैं उसी प्रकार सूर्य के (भानव) किरण (अच्छ) भली प्रकार (नाकम् प्र सिस्रते) नाक आकाश तक पहुंचते हैं।

४५–(द्वि० तृ०) 'अज्ञागशरथा सह सत्रमाना उपान्दिवु प्रस्राद् कनिष्ठम्' इति पैप्प० सं०।

४६–(च०) 'समृते' इति पैप्प० सं०। 'सस्रते' इति साम०।

अध्यात्म में—(जनानां समिधा अग्निः अबोधि) जब विद्वान् जनों का अग्नि अग्निरूप आत्मा उत्तम सम्यक् ज्ञान से प्रबुद्ध होता है । तब (धेनुम् प्रति इव) जिस प्रकार बछड़ा गाय के प्रति जाता है उसी प्रकार उनका आत्मा (आयतीम् उषासम् प्रति) प्राप्त होती हुई विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा की तरफ बढ़ता है । (यह्वा इव वयाम्) जिस प्रकार पक्षीगण शाखा पर जाते हैं उसी प्रकार (भानवः) कान्तिमान्, मुक्त योगी (नाकम् प्रसिस्रते) सुखमय परमात्मा की ओर गति करते और उसीका अवलम्ब लेते हैं ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम् , षट्चत्वारिंशदृचः ।]

[३] रोहित, आत्मा ज्ञानवान् राजा और परमात्मा का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । अध्यात्मम् । रोहित आदित्य देवता । १ चतुरवसानाष्टपदा आकृतिः, २—४ त्र्यवसाना षट्पदा [२, ३ अष्टिः, २ भुरिक् , ४ अति शाक्वरगर्भा धृतिः], ५—७ चतुरवसाना सप्तपदा [५, ६ शाक्वरातिशाक्वरगर्भा प्रकृतिः ७ अनुष्टुप् गर्भाति धृतिः], ८ त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टिः, ९—१९ चतुरवसाना [९—१२, १५, १७ सप्तपदा भुरिग् अतिधृतिः, १५ निचृत् , १७ कृतिः, १३, १४, १६, १८ अष्टपदा, १३, १४ विकृतिः, १६, १८, १९ आकृतिः, १९ भुरिक्], २०, २२ त्र्यवसाना अष्टपदा अत्यष्टिः, २१, २३—२५ चतुरवसाना अष्टपदा [२४ सप्तपदा-कृतिः, २१ आकृतिः, २३, २५ विकृतिः] । पञ्चविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ।
यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति ।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ १ ॥

भा०—(यः) जो (इमे) इन दोनों (द्यावापृथिवी) द्यौ, आकाश और पृथिवी को (जजान) उत्पन्न करता है और (यः) जो (भुवनानि) समस्त लोकों को अपना (द्रापिम्) वस्त्र या चोला बनाकर उनमें (वस्ते) निवास करता है । अथवा (यः द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते) जो जो अपने आपको समस्त लोकों का आवरण वस्त्र बनाकर समस्त भुवनों को आच्छादित करता है । (यस्मिन्) जिसमें ये (षट्) छः (उर्वीः) विशाल (प्रदिशः) दिशाएं (क्षियन्ति) निवास करती हैं (याः, अनु) जिनमें (पतङ्गः) नित्य गतिशील सूर्य उस परमात्मा की शक्ति से अनुप्राणित होकर (विचाकशीति) विशेषरूप से प्रकाशित होता है । (यः) जो पुरुष (एवं विद्वांसं) इस प्रकार विद्वान् (ब्राह्मणं) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का जिनाति विनाश करता है (एतद्) यह (आगः) अपराध (तस्य) उस (क्रुद्धस्य देवस्य) क्रुद्ध देव परमेश्वर के प्रति ही है । हे (रोहित) रोहित, लोहित, तेजस्विन्, राजन्! तू (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती को (उद्वेपय) कम्पा दे, (क्षिणीहि) नाश करदे और उस पर (पाशान् प्रति मुञ्च) पाश डाल कर बांध ले ।

यस्माद् वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति ।
तस्य देवस्य । ० । ० ॥ २ ॥

भा०—(यस्मात्) जिस परमेश्वर के बल से (वाताः) वायुएं (ऋतुथा) ऋतुओं के अनुकूल (पवन्ते) बहा करती हैं और (यस्मात्) जिस मूल से या जिसके आश्रय पर (समुद्राः) समुद्र, नदियों के प्रवाह (अधि विक्षरन्ति) विविध दिशाओं में प्रवाहित होते हैं । (तस्य देवस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा ।
तस्य० ॥ ३ ॥

भा०—जो (यः) परमेश्वर (मारयति) सबको मारता है (प्राणयति) और प्राण देता, जिलाता है और (यस्मात्) जिस आदिकारण से (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने वाले लोक और प्राणि भूत (प्राणन्ति) प्राण धारण करते हैं (तस्य०) उस० इत्यादि पूर्ववत्।

यः प्राणेन द्यावांपृथिवी तर्पयंत्यपानेनं समुद्रस्यं जुठरं यः पिपर्ति। तस्यं० ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (प्राणेन) प्राण शक्ति से (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को और देह में मस्तक से चरण तक को (तर्पयति) तृप्त करता और (यः) जो (अपानेन) 'अपान' शक्ति से (समुद्रस्य) समुद्र के (जठरं) भीतरी भाग को एवं देह में मल मूत्रादि त्यागने वाले द्वारों के जठर या मध्य भाग को (पिपर्ति) पालन पोषण करता है (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सुह पुङ्क्त्या श्रितः। यः परस्य प्राणं परमस्य तेजं आद्दे। तस्यं० ॥ ५ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस सर्वाश्रय परमात्मा में (विराट्) विराट् पृथिवी, (परमेष्ठी) परमेष्ठी, आपः, (प्रजापतिः) प्रजापति, वायु (अग्नि) अग्नि (वैश्वानरः) समस्त प्राणियों में व्यापक आकाश और आत्मा (सह पङ्क्त्या) अपने पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों सहित (श्रितः) आश्रित है। और (यः) जो (परस्य) पर दूसरे भुवन के (प्राणम्) प्राण और (परमस्य) परम सर्वोच्च सूर्य के भी (तेजः) तेज को (आदद्दे) स्वयं धारण करता है (तस्य०) उस० इत्यादि पूर्ववत्।

इयं पृथिवी विराट्। गो० उ० ६। २॥ आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति। श० ८। २। ३। १३॥ स आपोऽभवत्। परमाद्वा एतस्थानाद् वर्षति यद् दिवस्तत्परमेष्ठी नाम। श० ११। १। ६। १६॥

एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद् वायुः । कौ० १९ । २ ॥ स एष वायुः प्रजापतिः ऐन्द्रमेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्येत् । श० ८ । ३ । ४ । १५ ॥ एष वै बहुलो वैश्वानरो यदाकाशः । श० १० । ६ ॥ १ । ६ ॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य-त्रयोऽक्षराः । यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत । तस्य० ॥ ६ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस में (षट् उर्वीः) छहों विशाल दिशाएं और (चतस्रः) चार (आपः) आप = आप्त प्रजाएं और (यज्ञस्य) यज्ञ देवोपासन के निदर्शक (त्रयः) तीन (अक्षराः) अक्षरविनाशी वेद (श्रिताः) आश्रय लिये हुए हैं । और (यः) जो (रोदसी अन्तरा) आकाश और भूमि के बीच में (क्रुद्धः) अति रोषयुक्त, दुष्टों के प्रति सदा कोपकारी होकर (चक्षुषा) अपने प्रकाशमान सूर्य रूप चक्षु से मानो निरन्तर (ऐक्षत) देखा करता है (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः ।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः । तस्य० ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो स्वयं परमेश्वर (अन्नादः) समस्त विश्व को अपना अन्न बना कर खा जाता है और स्वयं (अन्नपतिः बभूव) अन्नमय समस्त लोकों का पति=स्वामी है (उत) और (यः) जो (ब्रह्मणः पतिः) ब्रह्म-वेद का स्वामी है । (भूतः भविष्यद्) जो स्वयं भूत और भविष्यत् रूप होकर (भुवनस्य) इस भुवन, उत्पन्न होने हारे वर्त्तमान जगत् का भी (यः पतिः) जो स्वामी है । (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् । एष वै सर्वेषां भूतानाम् आत्मा । गो० उ० १ । २ । ३ ॥

७–'भूतो भविष्यत्' इति ह्विटनिकामितः ।

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।
तस्य० ॥ ८ ॥

भा०—(अहोरात्रैः) दिन और रातों से (विमितम्) विशेष रूप से परिमित (त्रिंशद्-अङ्गं) तीस अङ्ग अर्थात् अवयवों से बने (त्रयोदशं मासम्) १३ वें मास को भी (यः) जो पूरी तरह से (निर्मिमीते) बना देता है वह व्यवस्थापक परमेश्वर है । (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य । तस्य० ॥ ९ ॥

भा०—(सुपर्णाः) शोभन रीति से गमन करने हारे पक्षियों के समान सात्विक ज्ञान से युक्त (हरयः) अति उज्वल रूप, अज्ञाननाशक मुक्तात्मा जन, सूर्य-किरणों के समान (अपः वसानाः) ज्ञान रूप जलों को धारण करते हुए (कृष्णम्) सूर्य के समान आकर्षणकारी (नियानम्) सबके परम गन्तव्य, परमेश्वर और (दिवम्) प्रकाशमय मोक्ष लोक की तरफ (उत्पतन्ति) ऊर्ध्व गति करते हैं । और पुनः मोक्ष काल के उपरान्त (ऋतस्य) परम आत्म-ज्ञान के (सदनात्) आश्रय से (आ ववृत्रन्) पुनः इस लोक में लौट आते हैं । (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु ।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम् । तस्य० ॥ १० ॥ (१२)

भा०—हे (कश्यप) सर्वद्रष्टा पश्यक ! परमेश्वर (यत्) जो (ते) तेरा (चन्द्रम्) सर्व आह्लादकारी (रोचनावत्) दीप्तियुक्त (पुष्कलम्) पुष्टिकारी, बलप्रद, अतिअधिक (संहितम्) एकत्र संचित (चित्रभानु) विविध कान्तिमय, दीप्तिमय, प्रकाशस्वरूप रूप है (यस्मिन्) जिसमें

१०–(द्वि०) 'पुष्कलम्' इति क्वचित् ।

(सूर्यः) सूर्य के समान देदीप्यमान, तेजस्वी (सप्त) सात भुवन और प्राण भी (साकम्) एक साथ ही (अर्पिताः) आश्रित हैं। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

बृहदे॑नमनु॑ वस्ते पुरस्ता॑द् रथंतरं प्रति॑ गृह्णाति पश्चात्।
ज्योति॑र्वसा॑ने सद॒मप्र॑मादम्। तस्यं० ॥ ११ ॥

भा०—(एनम् पुरस्तात्) इसको आगे से (बृहत्) 'बृहत्' महान्, द्यौः आकाश (अनुवस्ते) आच्छादित करता है और (पश्चात्) पीछे से (रथन्तरम्) रथन्तर=पृथिवी (प्रतिगृह्णाति) सम्भाले रहती है। दोनों (ज्योतिः) उस ज्योतिःस्वरूप रोहित परमात्मा को (वसाने) वस्त्र के समान धारण या आच्छादित करते हुए (अप्रमादम्) विना प्रमाद के, सुदृढ, जगमग (सदम्) मकान के समान बने हैं। (तस्य० इत्यादि) पूर्ववत्।

'द्यौर्वै बृहत्'। श० ९। १। २। ३७॥ रथन्तरं हि इयं पृथिवी। श० १। ७। २। १७॥ अध्यात्म में—प्राणो बृहत्। तां० ७। ६। १४। १७॥ मनो वै बृहत्। ष० ४। २८॥ वाग् वै रथन्तरम्। तां० ७। ६। १७॥ अपानो रथन्तरम्। तां० ७। ६। १४। १७॥ यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ एवं वै बृहत् प्रजापतेः। तां० ७। ६। ६॥

बृहद॒न्यतः॑ प॒क्ष आसी॑द् रथंत॒रम॒न्यतः॒ सब॑ले स॒ध्रीची॑।
यद् रोहि॑त॒मज॑नयन्त दे॒वाः। तस्यं० ॥ १२ ॥

भा०—उस 'रोहित' आत्मा का (अन्यतः पक्षः) एक तरफ़ का पक्ष, बाजू (बृहत्) यह 'बृहत्' द्यौ या प्राण (आसीत्) है और (अन्यतः) दूसरी ओर का पक्ष (रथन्तरम्) 'रथन्तर' पृथिवी और अपान है। ये दोनों (सबले) बल से युक्त और (सध्रीची) सदा साथ रहने वाले हैं। (यद्) जब (रोहितम्) आत्मा को (देवाः) देवगण, पञ्च-

भूत आदि और उनके बने सूक्ष्म इन्द्रियगण और राजा को प्रजा के विद्वान्गण, (अजनयन्त) प्रकट रूप से उत्पन्न करते हैं ।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । तस्यं० ॥ १३ ॥

भा०—(सः) वह सर्वश्रेष्ठ 'वरुणः' सबके वरण करने योग्य, सब का वारक परमेश्वर ही (सायम्) सायङ्काल, अन्धेरा आजाने के अवसर पर (अग्निः भवति) अग्नि के समान प्रकाशक होता है । (सः) वह (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर पर (उद्यन्) उदित होते हुए सूर्य के समान सब का (मित्रः) परम स्नेही, सर्वोपकारक (भवति) होता है । (सविता) सूर्य जिस प्रकार (अन्तरिक्षेण याति) अन्तरिक्ष से गमन करता है उसी प्रकार वह भी (सविता) सब का प्रेरक होकर (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष भाग, भीतरी अन्तःकरण द्वारा वह सर्वत्र व्यापक रहता है । वही (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यवान् (भूत्वा) होकर (दिवम् मध्यतः) आकाश के बीच सूर्य के समान (तपति) प्रतप्त होता है । (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ।
तस्यं० ॥ १४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० १० । ८ । १८ ॥ और १३ । २ । ३८ ॥ में ।

अयं स देवो अप्स्वन्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः ।
य इदं विश्वं भुवनं जजान । तस्यं० ॥ १५ ॥

१५–' पुरुशाकः ' इति ह्विटनिकामितः ।

भा०—(यः) जो (इदम्) इस (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) संसार, लोक को (जजान) उत्पन्न करता है (अयं स देवः) वह देव यह है जो (अप्सु अन्तः) समस्त प्रजाओं, लोकों और प्रकृति के मूल परमाणुओं के भीतर व्यापक और (सहस्रमूलः) सहस्रों पदार्थों या समस्त जगत् का मूल आधार या मूल कारण (पुरुशाकः) महान् शक्तिशाली और (अत्रिः) इसको प्रलयकाल में स्वयं लीलने वाला है । जन्माद्यस्य यतः ॥ वेदान्त सूत्र १ । १ । २ ॥ (तस्मै०) इत्यादि पूर्ववत् ।

शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ।
तस्मै० ॥ १६ ॥

भा०—(दिवि) आकाश में (वर्चसा) तेज से (भ्राजमानम्) देदीप्यमान (देवम्) उस सर्वप्रकाशक (शुक्रम्) शुद्ध ज्योतिर्मय, परमेश्वर को (रघुष्यदः) अति तीव्र, वेगवान् (हरयः) किरणों के समान गतिशील लोक या मुमुक्षुजन (वहन्ति) अपने में धारण करते या प्राप्त करते हैं । और (यस्य) जिसके बनाये (ऊर्ध्वाः) ऊपर विद्यमान (तन्वः) पिण्ड, ज्योतिर्मय सहस्रों लोक (दिवं तपन्ति) आकाश को प्रकाशित करते हैं और जो (अर्वाङ्) नीचे के प्रदेश में भी (सुवर्णैः) उत्तम वर्ण के (पटरैः=पटलैः) तेजोमय सूर्यों से (विभाति) विविध प्रकार से शोभा देता है । (तस्मै० इत्यादि) पूर्ववत् ।

येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति । तस्मै० ॥ १७ ॥

भा०—(येन) जिस के बल से प्रेरित होकर (हरितः) हरणशील वेगवती शक्तियां (आदित्यान्) सूर्यों को (सं वहन्ति) निरन्तर चला रही

हैं, (येन यज्ञेन) जिस यज्ञरूप सब के उपास्य-देव के संग से (बहवः) बहुत से मुक्त जीव (प्रजानन्तः) उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न होकर (यान्ति) मोक्षधाम को प्राप्त होते हैं । (यद्) जो (एकम्) एकमात्र (ज्योतिः) ज्योति होकर स्वयं (बहुधा) नानारूपों से (वि भाति) प्रकाशित होता है (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।
तस्य० ॥ १८ ॥ अथर्व० ९ । ६ । २ ॥ ऋ० १ । १६४ । २ ॥

भा०—(सप्त) सात शीर्षगत प्राण (एकचक्रम् रथम्) एक कर्त्ता से युक्त रथ को (युञ्जन्ति) उसमें जुतकर वहन करते हैं । और (एकः) एक (अश्वः) उन सब का भोक्ता (सप्तनामा) सातों का नाम धारण करके उनको (वहति) धारण करता है । (त्रिनाभि चक्रम्) तीन सत्व, रजः, तमः इनमें बंधा हुआ, तीन नाभियों से युक्त चक्र=कर्त्ता वह आत्मा (अजरम्) कभी न जीर्ण होने वाला (अनर्वम्) बिना घोड़े के चलनेहारे चक्र के समान स्वयं भी (अनर्वम्) दूसरे किसी अन्य प्रेरक की सहायता न लेता हुआ स्वयं चेतन विद्यमान है (यत्र) जिसमें (इमा) ये (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक और इन्द्रिय आदिगण (तस्थुः) स्थिर हैं । (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् । अथवा—(एकचक्रम् रथम्) एक मात्रकर्त्ता और रमण करने योग्य आत्मा में (सप्त युञ्जन्ति) सात चक्षु आदि प्राण (युञ्जन्ति) जब योग देते हैं, संयुक्त हो या समाहित होकर रहते हैं तब वह (एकः अश्वः सप्तनामा वहति) एक ही भोक्ता सातों का नाम धारण करके स्वयं उनको धारण करता है । " श्रोत्रस्य श्रोत्रमुत मनसो मनो वाचो ह वाचमुत प्राणस्य प्राणः " इति केनोपनिषद् व्याख्या देखो अथर्व० ९ । ६ । २ ॥

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम् ।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ।
तस्यं० ॥ १९ ॥

भा०—(देवाना पिता) देवों, समस्त दिव्यगुण धारण करने वाले महदादि का (पिता) पालक और (मतीनां) मननशील समस्त चेतन प्राणियों या स्तुतियों, वेदवाणियों, स्तम्भनकारी शक्तियों का (जनिता) उत्पादक, उनको प्रादुर्भाव करने वाला (उग्रः) अति भयंकर, महान् बलशाली (वह्नि) सबको वहन करनेहारा परमात्मा (अष्टधा युक्तः) आठ रूपों से विविध प्रकार से संयुक्त होकर समस्त ससार को (वहति) धारण कर रहा है। (ऋतस्य) सत्यमय यज्ञ के (तन्तुं) सूत्र को अपने (मनसा) मन -शक्ति, संकल्प से ही (मिमान) निर्माण करता हुआ (मातरिश्वा) मातृ=सबकी धारक प्रकृति में भी व्यापक परमेश्वर (सर्वाः दिशः पवते) समस्त दिशाओं में व्याप्त है ।

अष्टधा युक्त.—भूमिरापोऽनलो वायु. खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गी० । अ० ७ । ४ ॥

'जनिता मतीनाम्'—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेपराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ गी० ७ । ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥

सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतंस्य गर्भे ।
तस्यं० ॥ २० ॥

भा०—(सम्यञ्चं) सर्वव्यापक उस (तन्तुम्) विस्तृत, परम सूक्ष्म सूत्र के (अनु) आश्रय पर ही (सर्वा. प्रदिशः) समस्त दिशाएं आश्रित हैं। वे उसी (गायत्र्याम् अन्तः) समस्त जीव संसार के प्राणों के रक्षा करनेहारी

शक्ति के भीतर और (अमृतस्य गर्भे) अमृत, परम मोक्षमय देव के (गर्भे) गर्भ में विद्यमान हैं।

'जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।' माघः ॥

तिस्रो॒ निम्रु॑च॒स्तिस्रो॒ व्युष्टो॑ ह ति॒स्रस्त्रीणि॒ रजां॑सि दि॒वो॑ अङ्ग ति॒स्रः ।
वि॒द्मा ते॑ अग्ने त्रे॒धा ज॒नित्रं॑ त्रे॒धा दे॒वानां॒ जनि॑मानि वि॒द्म ।
तस्यं० ॥ २१ ॥

भा०—(तिस्रः) तीन (निम्रुचः) अस्त काल हैं। (तिस्रः) तीन (व्युषः) उषाकाल हैं। (त्रीणि रजांसि) तीन रजस् हैं। (अङ्ग) हे जिज्ञासो (तिस्रः दिवः) तीन द्यौ=आकाश हैं। हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (ते) तेरे (त्रेधा) तीन प्रकार के (जनित्रम्) प्रकट होने के स्वरूप को हम (विद्म) जानें। और इसी प्रकार (देवानाम्) समस्त देवों के (त्रेधा जनिमानि) तीन २ प्रकार के प्रादुर्भाव होने के रूपों को भी (विद्म) जानें। (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

'रजांसि'—इमे वै लोकाः रजांसि। श० ६। ३। १। १८॥ द्यौर्वै तृतीयं रजः। श० ६। ७। ४। ५॥ तिस्रः दिवः, अग्निर्विद्युत् सूर्यः। अहर्व्युष्टिः। तै० ३। ८। १६। ४॥ रात्रिर्व्युष्टिः। श० १३। २। १। ६॥ अध्यात्म, अधिदैविक, अधिभौतिकभेदेन तिस्रो व्युषाः, तिस्रो निम्रुचः।

वि य औ॑र्णोत् पृथि॒वीं जाय॑मान॒ आ स॑मु॒द्रमद॑धाद॒न्तरि॑क्षे ।
तस्यं० ॥ २२ ॥

भा०—(यः) जो (जायमानः) सृष्टिरूप में अपनी शक्ति को प्रकट करता हुआ (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि और्णोत्) विविध आवरणों से आच्छादित करता है। वह इस पृथिवी के (आ) चारों ओर (समुद्रम्) समुद्र को (अदधात्) स्थापित करता है। समुद्र सहित पृथिवी को

(अन्तरिक्षे अदधात्) अन्तरिक्ष में स्थापित करता है (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितोऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि ।
किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवाः ।
तस्य० ॥ २३ ॥

भा०—(केतुभिः) अपने ज्ञापक किरणों से (हितः) धारित (अर्कः) सूर्य के समान (समिद्धः) अतिदीप्त तेजोमय (अर्कः) सब के अर्चना-योग्य होकर हे (अग्ने) ज्ञानमय ! प्रकाशस्वरूप ! तू अपने (केतुभिः) प्रज्ञापक, ज्ञान करानेहारे (क्रतुभिः) कर्मों से (दिवि) महान् आकाश में (उद् अरोचथाः) सर्वोपरि चमकता है ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः । तस्य० ॥ २४ ॥

भा०—प्रथम तीन चरणों की व्याख्या देखो, अथर्व० ४ । २ । १ ॥ (तस्य० इत्यादि) पूर्ववत् ।

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तिमुपतिष्ठमानः ।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ २५ ॥
ऋ० १० । ११७ । ८ ॥

भा०—प्रथम दो चरणों की व्याख्या देखो अथर्व० १३ । २ । २७ (प्र० द्वि०) ॥ और (चतुष्पाद्) चार पैर वाला (द्विपदाम्) दो पैर वालों के (अभिस्वरे) शासन में (पंक्तिम्) पांच की पंक्ति को (सम्पश्यन्) देखता हुआ और (उपतिष्ठमानः) उसकी सेवा में उपस्थित होकर (चक्रे)

कार्य करता है। अध्यात्ममें—चतुष्पाद् अन्तःकरणचतुष्टय 'द्विपद्' मनुष्यों के कर्म-ज्ञानमय आत्म के शासन में रहकर पांचों ज्ञानेन्द्रियों को वश करता है। अथवा चतुष्पात् ब्रह्म, स्वयं मनुष्यों के अभिस्वरे=प्रकाशमय हृदय में (पंक्तिम्) कर्मों के परिणतफल को देखता हुआ स्वयं उसको प्राप्त होता है. (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्यां वत्सो जायत।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ २६ ॥ (१४)

भा०—(कृष्णायाः पुत्रः) कृष्णा रात्रि के (पुत्रः) पुत्र (अर्जुनः) श्वेत. दिन होता है और जैसे (रात्र्याः) रात्रि का (वत्सः) आच्छादक पुत्र दिन या सूर्य (अजायत) उत्पन्न होता है। (सः) वह (द्याम्) आकाश में (अधिरोहति) ऊपर चढ़ता है। वैसे (रोहितः) रोहित, लोहित, ज्ञानवान्, दीप्तिमान्, शुक्र जीव (रुहः रुरोह) समस्त उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। इसी प्रकार राजा भी लाल वस्त्रों को धारण करता हुआ (कृष्णायाः) पृथ्वी का पुत्र होकर (रुहः) समस्त उच्च पदों को प्राप्त करता है।

रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असावादित्यो वत्सः। श० १ । २ । ३ । ३० ॥ अर्जुनो ह वै नाम इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम। श० ५ । ४ । ३ । ७ ॥

अध्यात्ममें—सबको आकर्षण करने वाली परमशक्ति परमेश्वरी का पुत्र ही 'अर्जुन' यह जीव है। वह 'द्यौ' मोक्षपद को प्राप्त होता है वह (रुहो रुरोह) समस्त लोकों को प्राप्त होता है।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम्, षड्विंशतिर्ऋचः।]

[४ (१)] रोहित, परमेश्वर का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । अध्यात्मं रोहितादित्यो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । पर्यायसूक्ता । मन्त्रोक्ता देवता । १-११ प्राजापत्यानुष्टुभ, १२ विराड्गायत्री, १३ आसुरी उष्णिक् । त्रयोदशर्चं प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ॥ १ ॥

भा०—(सः) वह (सविता) सूर्य के समान ज्योतिष्मान् (स्वः) परम सुखमय मोक्षलोक में (एति) व्याप्त है (दिवः पृष्ठे) द्यौ, आकाश के उच्चतम भाग में सूर्य के समान वह प्रकाशमय मोक्षधाम में (अवचाकशत्) प्रकाशित है ।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ २ ॥

भा०—सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों से (नभः) अन्तरिक्ष भाग जिस प्रकार (आभृतम्) पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार परम आत्मा के प्रकाश ज्योतियों से (नभः) अप्रकाशमान समस्त जड़ जगत् (आभृतम्) पूर्णरूप जगमगाता है । और (महेन्द्रः) वह महान्, इन्द्र ऐश्वर्यवान् (आवृतः एति) प्रकाश से आवृत विभूतिमान् होकर समस्त लोकों से आवृत है ।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् । ० ॥ ३ ॥

भा०—(सः धाता) वह सब का पालक पोषक, (सः विधर्ता) वह सब को विशेषरूप से धारण करने वाला या विविध प्रकारों से धारण करने वाला है । (सः वायुः) वह सर्वव्यापक, सबका प्रेरक, सूत्रात्मा, प्राणों का प्राण 'वायु' है । वही (नभः) सब को एक सूत्र में बांधने वाला 'नभ' है । वही (उच्छ्रितम्) सब से अधिक ऊंचा है । (महेन्द्रः एति आवृतः) वही सब लोकों मे विराट् महैश्वर्यवान्, महाराज होकर प्रकट होता है ।

सो॑ऽर्य॒मा स वरु॑णः स रु॒द्रः स म॑हादे॒वः । ० ॥ ४ ॥

भा०—(सः) वह (अर्यमा) सर्वश्रेष्ठ, स्वामी, समस्त गतिमान् पदार्थों का नियन्ता, न्यायकारी ' अर्यमा ' है (स वरुणः) वह सर्वश्रेष्ठ, सर्ववरणीय, सबका वारक 'वरुण' है । (सः रुद्रः) वह स्वयं सब के कष्टों पर आंसू बहाने वाला, कल्याणमय, दुष्टों को रुलाने वाला, सर्वोपदेशक सर्वव्यापक ' रुद्र ' है । (सः महादेवः) वह महान् उपास्यदेव, देवों का भी देव है ।

सो अग्निः स उ सूर्यः स उं एव मंहायमः । ० ॥ ५ ॥

भा०—(सः अग्निः) वह सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, सबों का अग्रणी तेजोमय ज्ञानवान् 'अग्नि' है । (सः उ सूर्यः) वह ही सूर्य, सबका, प्रेरक उत्पादक, प्रकाशक है । (स उ एव महायमः) वह ही महान् नियन्ता ' महायम ' है ।

तं वृत्सा उप॑ तिष्ठन्त्येकंशीर्षाणो युता दश॑ । ० ॥ ६ ॥

भा०—(तम्) उस आत्मा के समीप (वत्साः) दश पुत्र जिस प्रकार (एकशीर्षाणः) एक अपने शिरो भाग पर स्थित मुख्य गृहपति या पिता के अधीन रहते हैं उसी प्रकार (दश वत्साः) दश वत्स वास करने हारे प्राण (एकशीर्षाणः) एक शिरो भाग में विद्यमान होकर (उप तिष्ठन्ति) उसके अधीन होकर रहते हैं । परमात्मपक्ष में—वायु, आदित्य, दिशा, ओषधि, वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु, आपः आदि दशों प्राणों के मूल-पदार्थ लेने या दश दिशाएं दश वत्स हैं ।

पश्चात् प्राञ्च आ तंन्वन्ति यदुदेति वि भासति । ० ॥ ७ ॥

भा०—वे दशों प्राण (पश्चात्) पीछे से (प्राञ्चः) आगे को (आ तन्वन्ति) फैलते हैं, भीतर से बाहर को आते हैं (यद्) जब वह आदित्य-सम प्राणात्मा (उद् एति) उदित होता है और तब वह (वि भासति) विविधरूपों में प्रकाशित होता है ।

तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः ॥ ८ ॥

भा०—(तस्य) उस आत्मा का (एष) यह (मारुत गणः) मरुत् सम्बन्धी गण है । (स) वह प्राणगण और देवगण (शिक्याकृत एति) माना इस मूर्धा में और उस महान् परमात्मा में ऐसे प्रतीत होता है जैसे एक छिक्के में धरा हो ।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ ९ ॥

भा०—व्याख्या देखो इसी सूक्त की २य ऋचा ।

तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥ १० ॥

भा०—(तस्य) उस आत्मा के (इमे) ये साक्षात् (नव कोशाः) नव कोश हैं । वे ही (नवधा) नव प्रकार के (विष्टम्भाः) विविधरूप से उसके स्तम्भन करने वाले, रोकने वाले, बन्धनरूप में (हिताः) स्थित हैं ।

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥

भा०—(स) वह (यत् च प्राणति) जो प्राण लेता है (यत् च न) और जो प्राण नहीं लेता उन (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं को (विपश्यति) विशेषरूप से देखता है । या समस्त प्रजाओं के हित के लिये उन पर निरीक्षण करता है । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' । उप० ।

'प्रजाभ्य ' द्वितीयार्थे चतुर्थी । हितार्थे इति ह्विटनि ।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥

भा०—(तम्) उसको ही (इदं) यह समस्त (सहः) शक्ति (निगतम्) पूर्णरूप से प्राप्त है । (स एष एकः) वह यह एक ही है । (एकवृत्) एकमात्र स्वयं समर्थ और (एक एव) ऐश्वर्य में एक, अद्वितीय ही है ।

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥ (१२)

भा०—(एते देवाः) ये समस्त देव, दिव्य पदार्थ और देव, विद्वान्गण (अस्मिन्) उस परमेश्वर में ही (एकवृतः भवन्ति) एकत्र हो, उसमें आश्रित होकर रहते हैं।

(२) अद्वितीय परमेश्वर का वर्णन।

१४ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्, १५ आसुरी पंक्तिः, १६, १९ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १७, १८ आसुरी गायत्री। अष्टर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥१४॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥

भा०—वही परमेश्वर (कीर्तिः च) कीर्ति और (यशः च) यश, वीर्य और (अम्भः च) 'अम्भ' व्यापक सृष्टि का आदि मूलकारण जल और (नभः च) नभस्=महान् आकाश या बल (ब्राह्मणवर्चसम् च) ब्रह्म-तेज, ब्रह्मवर्चस् (अन्नं च) अन्न और (अन्नाद्यं च) अन्नादि पदार्थों का भोग सामर्थ्य ये सब उस पुरुष को प्राप्त होते हैं। (यः एतं देवं) जो विद्वान् उस उपास्यदेव परमेश्वर को (एकवृतम् वेद) एक रूप से सदा वर्तमान, अखण्ड, एक रसरूप में जानता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। ० ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। ० ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। ० ॥ १८ ॥

भा०—वह परमेश्वर (न द्वितीयः) न दूसरा है, (न तृतीयः) न तीसरा, (चतुर्थः न अपि उच्यते) और चौथा भी नहीं कहा जाता। (न पञ्चमः) न पांचवां है (न षष्ठः) न छठा, (न सप्तमः) सातवां भी नहीं (उच्यते) कहा जाता। (न अष्टमः) न आठवां है, (न नवमः) न नवां और (दशमः

अपि न उच्यते) दशवां भी नहीं कहा जाता। प्रत्युत वह सब से 'प्रथम' सर्वश्रेष्ठ सब से अद्वितीय और सब से मुख्य है।

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न । ० ॥ १९ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव । ० ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति । ० ॥ २१ ॥ (१६)

भा०—(यत् च प्राणति) जो वस्तु प्राण लेता है और (यत् च न) जो प्राण नहीं भी लेता (सर्वस्मै) उस सब चराचर पदार्थ को (स वि पश्यति) वह विशेषरूप से देखता है। (तम् इद नि-गतम्) उसमें यह समस्त जगत् आश्रित है। (स सहः) वह परमात्मा शक्तिस्वरूप सबका सञ्चालक प्रवर्तक है। (एष एक) वह एक ही है। (एकवृत्) वह एक-रस, अखण्ड चेतनस्वरूप है। और वह (एक एव) एक ही अद्वितीय है। (सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति) उस सर्व शक्तिमान् परमात्मा में समस्त वस्तु आदि लोक (एकवृत.) एकमात्र आश्रय में विद्यमान, उसी में लीन होकर रहता है।

(३) परमेश्वर का वर्णन ।

२१ भुरिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप्, २२ आर्ची गायत्री, २५ एकपदा आसुरी गायत्री, २६ आर्ची अनुष्टुप्, २७, २८ प्राजापत्याऽनुष्टुप । सप्तर्चं तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ २२ ॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥ २३ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ २४ ॥

भा०—(यः एतं देवम्) जो इस देव को (एकवृतं वेद) एकमात्र, अखण्ड, एकरस, चेतनरूप से वर्तमान जान लेता है उसको (ब्रह्म च)

साक्षात् ब्रह्म-वेद, (तपः च) तप, (कीर्तिः च) कीर्ति, (यशः च) यश, (अम्भः चः) व्यापकशक्ति, (नभः च) बल, प्रबन्धकशक्ति, (ब्राह्मण-वर्चसम्) ब्राह्मणों का ब्रह्मतेज (अन्नं च) अन्न और (अन्नाद्यं च) अन्न आदि का भोग सामर्थ्य, इसी प्रकार (भूतं च) भूतकाल (भव्यं च) भव्य, भविष्यत् (श्रद्धा च) सत्य धारणा (रुचिः) रुचि, कान्ति, यथेष्ट अभिलाषा, (स्वर्गः च) सुखमय लोक (स्वधा च) और 'अमृत' मोक्षपद भी प्राप्त होता है।

स एव मृत्युः सो॒३॒॑मृतं॒ सो॒३॒॑भ्वं॑ १ स रक्षः॑ ॥ २५ ॥
स रुद्रो व॑सुवनि॑र्वसु॒देये॑ नमोवा॒के व॑षट्का॒रोऽनु॒ संहि॑तः ॥२६॥

भा०—(सः एव मृत्युः) वह परमात्मा ही (मृत्युः) सब प्राणियों के प्राणों को देह से जुदा करने वाला 'मृत्युः' है। (सः अमृतम्) वही परमेश्वर 'अमृत' प्राणप्रद है। (सः अभ्वम्) वह 'अभ्व' कभी न पैदा होने वाला या महान् स्तुति योग्य है। (सः रक्षः) वही सब का रक्षक है। (सः रुद्रः) वह 'रुद्र' है। (सः वसुवनिः) वह समस्त वास करने हारे जीवों और लोकों का एकमात्र भजन करने और आजीविका देने वाला है। साक्षात् 'अग्नि' रूप है, और वही (वसुदेये) यज्ञ में देय=दान करने योग्य आहुति में (नमोवाके) और 'नमः' वचन पूर्वक करने योग्य ईश्वरप्रार्थना स्तुति आदि ब्रह्मयज्ञ में भी (वषट्कारः) नमः और 'स्वाहा' और वषट् वौषट् आदि स्वरूप होकर (अनुसंहितः) निरन्तर स्मरण किया जाता है।

'वसुः'—यज्ञो वै वसुः। श० १। ७। १। ६। १४॥ स एषोऽग्निरत्र वसुः। श० ६। ३। २। १॥ इन्द्रो वसुधेयः। श० १। ८। १। १६॥ अग्निर्वै वसुवनिः। श० १। ८। २। १६॥ यज्ञो वै नमः। श० ७। ४। १। ३०॥ यज्ञं नमः। श० ६। ३। १। १८॥ वाग् वै रेतः

रेत एव एतत् सिञ्चति । पद् इति ऋतवो वै पद् । तद्तुषु एतद् रेत सिञ्चति यदेव वषट्कार । श० १ । ७ । २ । २१ ॥

तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥ २७ ॥

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ २८ ॥ (१७)

भा०—(तस्य) उसके (प्रशिषम्) शासन को (सर्वे) सब (यातव) गतिमान सूर्य ग्रह आदि पिण्ड और समस्त जगम प्राणी भी (उप आसते) मानते हैं । (तस्य वशे) उसके वश में (चन्द्रमसा सह) चन्द्रमा सहित (अमू) ये (सर्वा) समस्त (नक्षत्रा) नक्षत्रगण भी हैं ।

(४) परमेश्वर का वर्णन ।

२९, ३३, ३९, ४०, ४१ आसुरीगायत्र्य , ३०, ३२, ३५, ३६, ४२ प्राजापत्याऽनुष्टुभः, ३१ विराड गायत्री ३४ ३७, ३८ साम्न्युष्णिह , ४२ साम्नी-बृहती, ४३ आर्षी गायत्री, ४४ साम्न्यनुष्टुप् । सप्तदर्श चतुर्थ पर्यायसूक्तम् ॥

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥

भा०—(स वै) वह सूर्य जिस प्रकार (अह्न अजायत) दिन में उत्पन्न होता है और (तस्माद्) उस सूर्य से (अह) दिन (अजायत) उत्पन्न होता है उसी प्रकार इस प्रपञ्च संसार के रूप से ब्रह्म का सत्ता प्रकट होती है और वास्तव में उस परमेश्वर से यह जगत् अपनी सत्ता को प्रकट करता है । अर्थात् उस से उत्पन्न होता है ।

स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ॥ ३० ॥

भा०—(स वा) वह सूर्य जिस प्रकार (रात्र्या अजायत) रात्रि के उत्तर काल में उदित होकर रात्रि से उत्पन्न होता प्रतीत है और सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि के आजाने से (तस्माद् रात्रि अजायत) उस सूर्य से रात्रि होती प्रतीत होती है उसी प्रकार वह परमेश्वर उस महा प्रलय

की घोर रात्रि से ही जाना जाता है, वस्तुतः उस परमेश्वर से ही वह प्रलय काल की रात्रि भी उत्पन्न होती है।

स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥ ३१ ॥

भा०—(सः वा अन्तरिक्षाद् अजायत) वह सूर्य जिस प्रकार अन्तरिक्ष के होते हुए बाद में वह भी अन्तरिक्ष से होता प्रतीत होता है और (तस्माद्) उस सूर्य की सत्ता को देख कर अन्तरिक्ष की सत्ता प्रतीत होती है। उसी प्रकार अन्तरिक्ष से परमेश्वर की सत्ता है और वस्तुतः उस परमेश्वर से ही अन्तरिक्ष उत्पन्न होता है।

स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ३२ ॥

भा०—(वै) इसी प्रकार (सः) वह परमेश्वरी शक्ति (वायोः) वायु से (अजायत) प्रादुर्भूत या प्रकट होती है। और (वायुः) यह वायु (तस्मात् अजायत) उस परमेश्वर से उत्पन्न होता है।

स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥ ३३ ॥

भा०—(वै) निश्चय से (दिवः) द्यौलोक, महान् आकाश से (सः अजायत) वह प्रकट होता है (तस्माद्) उससे (द्यौः अधि अजायत) द्यौ, वह महान् आकाश उत्पन्न होता है।

स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त ॥ ३४ ॥

भा०—(सः वै दिग्भ्यः अजायत) उस परमेश्वर का सत्व दिशाओं में प्रकट होता है और (तस्मात्) उस परमेश्वर से (दिशः अजायन्त) दिशाएं उत्पन्न होती हैं।

स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥ ३५ ॥

भा०—उसी प्रकार (सः वै भूमेः अजायत) वह भूमि से प्रकट होता है, (तस्माद् भूमिः अजायत) और उससे यह भूमि उत्पन्न होती है।

स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥ ३६ ॥

भा०—(सः वा अग्नेः अजायत) जिस प्रकार सूर्य अग्नि तत्व से उत्पन्न होता है और (तस्माद् अग्निः अजायत) उस सूर्य से अग्नि उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह परमेश्वर अग्नि की महान् शक्ति से स्वयं प्रकट होता और अग्नि उसी से उत्पन्न होता है।

स वा अद्भ्यो॒ऽजायत॒ तस्मा॒दापो॑ऽजायन्त ॥ ३७ ॥

भा०—(सः वा अद्भ्यः अजायत) वह सूर्य जिस प्रकार जलों से उत्पन्न होता है और (तस्माद् आपः अजायन्त) सूर्य से वे जल वर्षाधारा रूप से उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार वह परमेश्वर (अद्भ्यः अजायत) जलों से प्रकट होता है और वे जल उस परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं।

स वा ऋ॒ग्भ्यो॒ऽजायत॒ तस्मा॒दृचो॑ऽजायन्त ॥ ३८ ॥

भा०—(सः वा) वह परमेश्वर (ऋग्भ्यः अजायत) ऋचाओं से प्रकट होता है और वे (ऋचः) ऋचाएं (तस्मात् अजायन्त) उससे ही उत्पन्न होती हैं।

स वै य॒ज्ञाद॑जायत॒ तस्मा॑द् य॒ज्ञो॒ऽजायत ॥ ३९ ॥

भा०—(सः वै यज्ञाद् अजायत) वह यज्ञ से प्रकट होता है और उससे यज्ञ उत्पन्न होता है।

स य॒ज्ञस्तस्य॑ य॒ज्ञः स य॒ज्ञस्य॒ शिर॑स्कृतम् ॥ ४० ॥

भा०—(सः यज्ञः) वह परमेश्वर स्वयं यज्ञस्वरूप, साक्षात् प्रजापति है। (तस्य) उसका स्वरूप ही (यज्ञः) यज्ञ है। (सः) वह परमेश्वर 'ओ३म्' रूप से (यज्ञस्य) यज्ञ का (शिरः कृतम्) शिरोभाग बना हुआ है। तस्य पूर्वाक्षरा ऋग् (ओ३म्) तपसोऽग्रे प्रादुर्बभूव। .... एवं च यज्ञस्य पुरस्ताद् युज्यते एषा पश्चात् सर्वेः एतया यज्ञस्तायते। इति गोपथ० १। २२॥

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ॥ ४१ ॥

भा०—(सः स्तनयति) वही परमेश्वर मेघ होकर गर्जता है (स वि-द्योतते) वह विद्युतरूप से चमकता है । (सः उ) और वह ही (अश्मानम् अस्यति) ऊपर से ओला बरसाता है ।

पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ ४२ ॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः ॥४३॥
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ ४४ ॥
उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ ४५ ॥

भा०—(पापाय वा पुरुषाय) पापी पुरुष के सुख के लिये (भद्राय वा पुरुषाय) भद्र, कल्याणकारी सज्जन पुरुष के लिये, (असुराय वा) या केवल प्राणादि में रमण करने वाले भोगी विलासी पुरुष या बलवान् पुरुष के लिये तू (यद् वा) जो कुछ भी (ओषधीः) अन्नादि ओषधियों को (कृणोषि) उत्पन्न करता है (यद् वा वर्षासि) और जो भी तू वर्षाता है और (यद् वा) जो भी तू (जन्यम्) उत्पन्न होने वाले प्राणियों की (अवीवृधः) वृद्धि करता है, हे (मघवन्) सर्वैश्वर्य के स्वामी परमेश्वर ! (तावान्) उतना सब (ते महिमा) तेरा ही महान् ऐश्वर्य है, तेरी ही महिमा है । (उपो) और ये सब भी (ते) तेरे ही (शतम् तन्वः) सैकड़ों स्वरूप हैं । (उपो) ये सब भी (ते) तेरे ही (बध्वे=बद्धे) कोटि संख्या-त्मक देह में (बद्धानि) करोड़ों सूर्य बंधे हैं । (यदि वा) या यों कहें कि स्वयं (नि-अर्बुदम्) 'खर्बों' संख्या में तू ही (असि) है ।

(५) परमेश्वर का वर्णन ।

४६ आसुरी गायत्री, ४७ दशपदा गायत्री, ४८ साम्नी उष्णिक्, ४९ निचृत् साम्नी बृहती, ५० प्राजापत्यानुष्टुप्, ५१ विराट् गायत्री । षट्ऋचात्मकं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

४५—'बध्वे बद्धानि', 'बध्रे बद्धानि', 'बद्धे बद्धानि' इत्यादि बहवः पाठाः ।

भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥

भा०—(इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (नमुराद् भूयान्) नमुर अर्थात् मृत्यु के न होने अर्थात् अमर रहने से भी अधिक ऐश्वर्यवान् है और हे इन्द्र ! परमेश्वर तू (मृत्युभ्य) सब मौतों से भी (भूयान्) बड़ा और अधिक शक्तिशाली है ।

भूयानराज्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर तू (अराल्याः भूयान्) अराति=दरिद्रता या कृपणता से भी अधिक बलशाली अधिक ऐश्वर्यवान् है । (शच्याः पतिः त्वम् असि) समस्त शक्ति का स्वामी तू स्वयं है । (विभूः प्रभूः इति) 'विभू' नाना सामर्थ्यों से सम्पन्न और 'प्रभू' उत्तम सामर्थ्यवान् इन नामों से (वयम्) हम (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं ।

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ४८ ॥

भा०—हे (पश्यत) दर्शनीय, अथवा सर्वद्रष्टः ! पश्यन ! परमात्मन् ! (ते नम अस्तु) तुझे हमारा नमस्कार हो । हे (पश्यत) सर्वद्रष्टः ! (मा पश्य) मुझे अपने उपासक को दया कर देखिये ।

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४९ ॥

भा०—और दया करके आप मुझे (अन्नाद्येन) अन्न आदि के भोग सामर्थ्य, (यशसा) वीर्य, (तेजसा) तेज और (ब्राह्मणवर्चसा) ब्राह्मण, वेद के विद्वानों के बल से बढ़ाइये ।

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् । ० । ० ॥ ५० ॥

५०–५४–(१ ० । ० ॥) उभयोर्ह्रि०कोः स्थाने 'नमस्ते अस्तु' इति 'अन्नाद्येन' इ च मन्त्रद्वय वैदिकैः परिपठ्यते ।

भा०—हे परमात्मन् ! (वयम्) हम (त्वा) आपकी (अम्भः) 'अम्भः' सर्वव्यापक शान्त जल के समान सर्वप्राणप्रद, (अमः) ज्ञान-स्वरूप (महः) महान् तेजस्वरूप, परमपूजनीय (सहः) 'सहः' सर्ववश यिता (इति) इन गुणों से (उपास्महे) उपसना करते हैं।

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।०॥५१॥(१६)

भा०—हे परमात्मन् ! (वयम्) हम (अम्भः) जल के समान सब प्राणों के उत्पादक (अरुणम्) प्रकाशस्वरूप (रजतम्) चित्त के अनु-रञ्जक, आनन्दस्वरूप, (रजः) समस्त लोकों और ऐश्वर्य विभूतियों से सम्पन्न, (सहः) सब के वश करनेहारे, परम बलस्वरूप (इति) इन गुणों और रूपों से (त्वा उपास्महे) तेरी उपसना करते हैं।

(६)

५२, ५३ प्राजापत्यानुष्टुभौ, ५४ आर्षी गायत्री, शेषास्त्रिष्टुभः । पञ्चर्चं षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् । ० । ० ॥ ५२ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (वयम्) हम लोग (उरुः) 'उरु' सर्वशक्ति-मान्, महान् (पृथुः) अति विस्तृत, सर्वव्यापक 'पृथुः' (सुभूः) उत्तम शक्तिरूप में समस्त पदार्थों में वर्तमान 'सुभू' (भुवः) अन्तरिक्ष के समान व्यापक या सर्वत्र का उत्पादक ' भुवः ' इत्यादि गुणों और रूपों से (त्वा उपास्महे) हम तेरी उपासना करते हैं।

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् । ० । ० ॥ ५३ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (वयम्) हम (त्वा) तुझ को (प्रथः) सब से अधिक विस्तृत, ' प्रथः ', (वरः) सब से वरणीय, सर्वश्रेष्ट ' वर ', (व्यचः) सबसे महान् , सब में व्यापक ' व्यचः ', (लोकः) सबका द्रष्टा, 'लोकः' इन नामों गुणों और रूपोंसे (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

भवंद्वसुरिदद्वंसुः संयद्वंसुरायद्वंसुरिति त्वोपास्महे वयम् ।०।०॥५४॥

भा०—हे परमेश्वर ! (वयम्) हम (त्वा) आपको (भवद्वसुः) समस्त उत्पन्न होने हारे चर अचर पदार्थों में बसने हारे सर्वान्तर्यामी 'भवद्-वसु' (इदद्वसुः) परम ऐश्वर्यवान् सूर्यादि पदार्थों में भी वास करने हारे, 'इदद् वसु' (संयद्-वसुः) समस्त ऐश्वर्य को एकत्र एक काल में धारण करने वाले 'संयद्-वसु' और (आयद् वसुः) समस्त लोकों को वश करने हारे, केन्द्रस्थ महा सूर्यों के भी भीतर शक्ति रूप में बसने वाले 'आयद्-वसु' (इति) इन नामों, गुणों और रूपों से भी (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्यं मा पश्यत ॥ ५५ ॥
यशंसा तेजंसा ब्राह्मणवर्चसेनं ॥ ५६ ॥ (२०)

ऋचौ ४८, ४९ ॥

भा०—व्याख्या देखो पञ्चम पर्याय सूक्त के ४८, ४९ मन्त्र ॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र षट्पर्यायैरुक्तम् एकं सूक्तम्, ऋचश्च षट्पञ्चाशत्]

इति त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ।

चतुर्भिरनुवाकैश्च सूक्तैश्चापि चतुर्मितैः ।
अष्टाशीतिशतेनर्भिः पूर्यतेऽसौ त्रयोदश ॥

वाणवस्वङ्कचन्द्राब्दाषाढकृष्णाष्टमीतिथौ ।
शशाङ्केऽथर्ववेदस्य काण्डं त्रयोदशमपूर्यत ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते-ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये त्रयोदश काण्ड समाप्तम् ।

५५–'भवद्वसुर्यद्वसु' इति ह्विटनिकामित.

॥ ओ३म् ॥

अथ चतुर्दशं काण्डम्

[१] गृहाश्रम प्रवेश और विवाह-प्रकरण ।

सावित्री सूर्या ऋषिका । आत्मा देवता । [१-५ सोमस्तुतिः], ६ विवाहः, २३ सोमार्कौ, २४ चन्द्रमाः, २५ विवाहमन्त्राशिषः, २५, २७ वधूवासःसंस्पर्शमोचनौ, १-१३, १६-१८, २२, २६-२८, ३०, ३४, ३५, ४१-४४, ५१, ५२, ५५, ५८, ५९, ६१-६४ अनुष्टुभः, १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः, १५ आस्तारपंक्तिः, १९, २०, २३, २४, ३१-३३, ३७, ३९, ४०, ४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, [५८, ५९, ६१] त्रिष्टुभः, (२३, ३१, ४५ बृहतीगर्भाः), २१, ४६, ५४, ६४ जगत्यः, (५४, ६४ भुरिक् त्रिष्टुभौ), २९, ३५ पुरस्ताद्बृहत्यौ, ३४ प्रस्तारपंक्तिः, ३८ पुरोबृहती त्रिपदा परोष्णिक्, [४८ पथ्यापंक्तिः], ६० पराऽनुष्टुप् । चतुःषष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

स॒त्येनोत्त॑भिता॒ भूमि॒ः सूर्ये॒णोत्त॑भिता॒ द्यौः ।
ऋ॒तेना॑दि॒त्यास्ति॑ष्ठन्ति दि॒वि सोमो॒ अधि॑ श्रि॒तः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ८५ । १ ॥

भा०—(सत्येन) सत्यने या सत्य=सत्त्ववान्, सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष ने (भूमिः) भूमि को (उत् तभिता) उठा रक्खा है । (सूर्येण) सूर्य ने (द्यौः उत्तभिताः) द्यौः, आकाश, आकाशस्थ पिण्डों को (उत् तभिता) उठा रक्खा है । (ऋतेन) 'ऋत'=तप के बल से (आदित्याः) आदित्य, ऋतुगण (तिष्ठन्ति) स्थिर रहते हैं । (दिवि) प्रकाशमान सूर्य

---

[१] १-(प्र०) 'सत्येनोत-' इति पैप्प० सं० ।

के आश्रय पर (सोमः) सोम, चन्द्र (आश्रितः) आश्रित है । (दिवि सोम अधिश्रितः) प्रकाशमान सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष में सोम=वीर्य आश्रित है ।

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

ऋ० १० । ८५ । २ ॥

भा०—(आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारीगण (सोमेन) वीर्य के बल से (बलिनः) बलवान् रहते हैं । (सोमेन) सोम, वीर्य के बल पर ही (पृथिवी) यह पृथिवी, भूमिरूप स्त्री भी (मही) पूज्य, बड़ी शक्तिशालिनी है । (अथो) और (एषाम्) इन (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (उपस्थे) समीप, बीच में (सोमः) चन्द्र के समान (नक्षत्राणाम्) अपने स्थान से च्युत न होने वाले दृढ़ तपस्वियों के बीच भी (सोमः) वीर्य ही (आहितः) स्थित होता है ।

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥ ३ ॥

ऋ० । १० । ८५ । ३ ॥

भा०—(पपिवान्) सोमपान करने वाला पुरुष (सोमं) उसको ही सोम (मन्यते) समझ लेता है (यत्) जिसे लोग (ओषधिम्) ओषधि रूप में (सं पिंषन्ति) पीस्रा करते हैं । परन्तु (यम्) जिस वेदज्ञान को (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता, वेदज्ञ पुरुष (सोमम्) सोम रूप से (विदुः) जानते हैं (तस्य) उसको (पार्थिवः) पृथिवीवासी पुरुष या राजा भी (न अश्नाति) भोग नहीं करता । 'वेदानां दुह्यं भृग्वङ्गिरसः सोमपानं

३-(च०) 'नाश्नाति कश्चन' इति ऋ० । (द्वि०) 'पिंषन्ति' इति क्वचित् । 'पिशन्ति' इति पैप्प० सं० ।

मन्यते । सोमात्मको ह्ययं वेदः । तदप्येतद् ऋचोक्तं सोमं मन्यते पपिवान्० ।' इति गो० ब्रा० पू० २ । ६ ॥

यत् त्वा सोम प्र पिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ४ ॥
ऋ० १० । ८५ । ५ ॥

भा०—(यत्) जब (त्वा) तुझे हे (सोम) सोम ! (प्रपिबन्ति) लोग भरपूर होकर पी लेते या भोग लेते हैं (ततः) तिस पर भी तू (पुनः) फिर (आप्यायसे) बढ़कर समृद्ध हो जाता है । (वायुः) वायु, प्राण वायु (सोमस्य) सोम=वीर्य का (रक्षिता) रक्षक है । जैसे (समानां) वर्षों का (मासः) मास ही (आकृतिः) बनाने वाला होता है । अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा क्षीण हो होकर पुनः बढ़कर पूरा हो जाता है उसी प्रकार क्रम से पूरा वर्ष भी व्यतीत हो जाता है । इसी प्रकार शरीर में वीर्य का व्यय होकर भी पुनः संचय हो जाता है । और इसी प्रकार मासों से पुनः २ वर्ष व्यतीत होते जाते हैं ।

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ५ ॥
ऋ० १० । ८५ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) सोम ! वीर्यवान् पुरुष या वीर्य ! तू (आच्छद्विधानैः) चारों तरफ़ के प्रकोट, आवरणों की रचनाओं से (गुपितः) राजा के समान सुरक्षित है और (बार्हतैः) बड़े २ शक्तिशाली पुरुषों द्वारा (रक्षितः) रक्षा किया गया है । (ग्राव्णाम्) उपदेश लोगों के उपदेशों और व्याख्यानों को (इत्) ही (शृण्वन्) सुनता हुआ (तिष्ठसि) तू विराजमान है । (पार्थिवः) राजा भी (ते) तेरा (न अश्नाति) भोग नहीं करता । पुमान् वै सोमः स्त्री सुराः । तै० १ । ३ । ३ । ३॥

४–(प्र०) ' यत् त्वा देव ' इति ऋ० ।

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ ६ ॥
ऋ० १० । ८५ । ७ ॥

भा०—(यद्) जब (सूर्या) सूर्य की कान्ति के समान चित्तको प्रेरणा करने वाली स्वयंवरा नवयुवति कन्या (पतिम्) पति को (अयात्) प्राप्त होती है उस समय (चित्ति) चित्त का सकल्प ही (उपबर्हणम्) सेज पर सिर टेकने के लिये लगे सिरहाने के समान सुखदायी (आ.) होता है । और (चक्षु.) चक्षु—चक्षु से उत्पन्न प्रेम का राग ही (अभि अन्जनम्) गात्र के ऊपर लगाने के लिये सुगन्ध तैलादि के समान शान्तिदायक (आ) होता है (द्यौ· भूमिः) आकाश और भूमि (कोश। आसीत्) ये दोनों कोश=खजाने बनजाते हैं ।

अधिदैवत में—सूर्या, उषा जब अपने पति के पास आती है तब ' चित्ति ' संकल्प उसका सिरहाना, चक्षु उसका गात्रलेप, पृथ्वी और आकाश उसके खजाने हैं ।

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता ॥ ७ ॥
ऋ० १० । ८५ । ६ ॥

भा०—(सूर्यायाः) सूर्या, कन्या की (रैभी) रैभी नामक ऋचा (अनुदेयी) विदाई के समय का दहेज हो । और (नाराशंसी) नाराशंसी इतिहास कथा (न्योचनी) गृह प्रवेश के समय पहनने योग्य ओढ़नी या आभूषण (आसीत्) हो और (सूर्याया·) सूर्या के समान कान्तिमती कन्या का (वासः) वस्त्र हो (भद्रम् इत) अति कल्याणकारी सुखकारी और सुन्दर ही हो, इस प्रकार वह (गाथया परिष्कृता) गाथा, श्लोक, मन्त्रपाठ आदि से सुशोभित होकर तब वधू पति के घर (एति) आवे ।

७–' परिष्कृतान् ' इति पैप्प० सं० ।

स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ८५ । ८ ॥

भा०—जब (स्तोमाः) वेद के स्तुतिपाठ, (प्रतिधयः) उस कन्या के 'प्रतिधि' प्रतिपालक हों । और (सूर्यायाः) कन्या की (छन्दः) अभिलाषा (कुरीरम्) करने योग्य, अपने पति से मिलने की परम अभिलाषा - मैथुन' (ओपशः) और उसके समीप शयन या सहवास की हो । इसके बाद (अश्विना) रात दिन के समान सदा परस्पर साथ रहने वाले वे दोनों (वरा) एक दूसरे को वरण करने वाले हों । और उसके इस कार्य में (अग्निः) अग्नि और उसके समान ज्ञान प्रकाश से युक्त आचार्य ही (पुरोगवः) उसका पुरोहित या साक्षी (आसीत्) हो । यहां महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि में विवाह संस्कार के योग्य काल का निर्णय देखने योग्य है ।

" जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ २६-२७ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उसमें विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये । " इति दयानन्द संस्कारविधि १४ संस्क० पृ० १४२-४३ ॥

कुरीरम्—क्रियते तत् कुरीरः—मैथुनं वा । इति दयानन्द उणादिभाष्ये । उणा० ४ । ३३ ॥ ओपशः—आङ् उपपूर्वात् शेतेरसुन् । ओपशः सहशयनम् ।

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात् ॥ ९ ॥

८—(प्र०) 'परिधयः' इति पैप्प० सं० ।
९—(च०) 'ददात्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—जब (सोमः) सोम, वीर्यवान् पुरुष (वधूयुः) वधू की कामना से युक्त (अभवत्) होवे। तब (अश्विनौ) स्त्री पुरुष (उभौ) दोनों (वरा) परस्पर एक दूसरे का वरण करने वाले (आस्ताम्) होवें। और (यत्) जब दोनों की अभिलाषा पूरी तरह से हो तब (पत्ये) पति को (शसन्तीम्) अभिलाषा करने वाली (सूर्याम्) कन्या को (सविता) उसका उत्पादक पिता (मनसा) अपने मन, संकल्प द्वारा (अददात्) दान करे, पति के हाथ सौंप दे।

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या पतिम्॥ १० ॥

भा०—(यत्) जब (सूर्या) कन्या (पतिम्) पति के पास (अयात्) जावे तब (अस्याः) इस कन्या का पति के पास जाने के लिये (अनः अनः आसीत्) मन अर्थात् चित्त या संकल्प ही रथ हो। (उत) और (द्यौः) द्यौः, आकाश या वाग् वाणी ही उस पूर्वोक्त संकल्पमय मनोरथ की (च्छदिः) ऊपर की छत के समान् आवरण (आसीत्) हो। (अनड्वाही) उस मनोरथरूप रथ को ढोने वाले बैलों के स्थान पर (शुक्रौ) दोनों स्त्री पुरुष के शुक्र और रज हों। अथवा ब्रह्मचर्य से सञ्चित वीर्य ही उस मनोरथ के पूर्ण करने वाला हो जिससे अगला गृहस्थ सम्पन्न हो। या दोनों स्वयं ही (शुक्रौ) शुद्ध चित्त, कान्तिमान् होकर उस गृहस्थ रथ के उठाने वाले हों।

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम्।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः॥ ११ ॥

ऋ० १० । ८५ । ११ ॥

१०–(च०) 'सूर्या गृहम्' इति ऋ०।

११–(च०) 'श्रोत्र ते' (द्वि०) 'सामनाविताः' इति ऋ०। 'अ-हितौ' इति कैम्प० सं०।

भा०—(ऋक्सामाभ्याम्) ऋग्वेद और सामवेद दोनों से (अभिहितौ) बँधे हुए (ते) तेरे मनोरथ रथ के (गावौ) पूर्वोक्त दोनों बैल सामनौ) समान चित्त होकर (एताम्) चलें । हे कन्ये ! (ते श्रोत्रे) दोनों कान (ते) तेरे मनोरथ रथ के (चक्रे) दो चक्र (आस्ताम्) रहें । (दिवि) द्यौ या वाणी में तेरे उस मनोरथ रथ का (चराचरः) समस्त चराचर संसार (पन्थाः) मार्ग है ।

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥

ऋ० १० । ८५ । १२ ॥

भा०—हे कन्ये ! (ते यात्याः) तेरे अपने पति के गृह जाते हुए (चक्रे शुची) शुद्ध कान्तिमान् पूर्वोक्त दो चक्र हों और (अक्षे) अक्ष=धुरेरूप से (व्यानः) व्यान वायु जो हृदय की नाड़ियों में विविध प्रकार से गति करता है वह (आहतः) लगा हो । (पतिम् प्रयती) अपने पती के पास जाती हुई (सूर्या) सूर्य की उषा के समान शुद्ध कान्ति से युक्त कन्या (मनःमयम्) मनोमय, संकल्प से बने मानस-रथ पर (आरोहत्) चढ़े ।

सूर्यायां वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥ १३ ॥

ऋ० १० । ८५ । १३ ॥

भा०—(सविता) उत्पादक पिता (यम्) जिस दहेज को (अवासृजत्) प्रदान करता है वही (सूर्यायाः) सूर्या=कन्या का (वहतुः) दहेज (प्र अगात्) आगे जाय । (मघासु[1]) मघा नक्षत्रों के योग में (गावः)

१३-(तृ०) 'अघासु' (च०) 'अर्जुन्योः पर्युह्यते' इति ऋ० ।

१. मघाः नक्षत्राणि सिंहराशौ । फल्गुन्यश्चापि तत्रैव । अर्जुनी फल्गुनी च पर्यायौ ।

सूर्य की किरणें भी (हन्यन्ते) मारी जाती हैं, मन्द हो जाती हैं और इसी कारण (फल्गुनीषु) फल्गुनी नक्षत्रों के योग में (व्युह्यते) विवाह किया जाता है ।

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १४ ॥

ऋ० १० । ८५ । १४ म० द्वि०, १५ तृ० च० ॥

भा०—हे (अश्विनौ) दिन रात्रि के समान सदा एक दूसरे के पीछे चलने हारे विवाहित वा बधुओ ! (सूर्यायाः) सूर्या-उषा के समान कान्तिमती कन्या के (वहतुं) दहेज को लेकर जब (त्रिचक्रेण) तीन चक्रों वाले रथ पर सवार होकर (यद्) जब (पृच्छमानौ) अपना मार्ग पूछते हुए (अयातं) जावें तो (वाम्) हे स्त्री पुरुषो ! तुम्हारा (एकं चक्रं क आसीत्) एक चक्र कहां होता है और (देष्ट्राय) उपदेष्टा के ज्ञानोपदेश के श्रवण करने के लिये तुम दोनों (क तस्थथुः) किस स्थान पर खड़े हुआ करते हो ।

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
विश्वे देवा अनु तद् वामजानन् पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥१५॥

ऋ० १० । ८५ । १५ म० द्वि० १४ तृ० च० ॥

भा०—हे (शुभस्पती) शोभा के मालिको ! वरवधुओ ! तुम दोनों जब (उपसूर्याम्) सूर्या=कन्या के (वरेयम्) वरण कार्य के अवसर पर, विवाह संस्कार के अवसर पर (यत्) जब तुम दोनों (अयातम्) आते

१५-(च०) ' पुत्रः पितराववृणीत पूषा ' इति ऋ० । ' पितरावृणीत ' इति पैप्प० सं० । ' माता च पिता च पितरौ ', ' पितरम् ' इति छान्दसमेकवचनम् । पैप्पलाद गत. ' पिता-पितरौ ' इति तस्यैव व्याख्यानम् ।

हो (तत्) तत्र (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वान् पुरुष (वाम्) तुम दोनों वर वधू के विषय में (अजानन्) भली प्रकार जान लें और तुम दोनों के विवाह कर लेने की अनुमति दें । और तब (पूषा पुत्रः) हृष्ट पुष्ट पुत्र अपने (पितरम्) उत्पादक माता पिता को (अवृणीत) प्राप्त करे ।

अर्थात् योग्य वयस् पर विवाह होने पर दोनों के हृष्ट पुष्ट पुत्र उत्पन्न होते हैं । वे दोनों हृष्ट पुष्ट पुत्र के मां बाप बनते हैं ।

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद् विदुः ॥ १६ ॥
ऋ० १० । ८५ । १६ ॥

भा०—हे (सूर्ये) सूर्ये ! सौभाग्यवति कन्ये ! (ते) तेरे मनरूप रथ के (द्वे चक्रे) श्रोत्र या कान रूप दोनों चक्रों को (ब्रह्माणः) ब्रह्म के जानने वाले वेदज्ञ विद्वान् (ऋतुथा) ऋतुकाल के अवसर पर (विदुः) भली प्रकार जानते हैं । (अथ) और (एकचक्रम्) एक चक्र (यत्) जो (गुहा) गुहा में, हृदय के भीतर छिपा है (तत्) उसको भी (अद्धातय इत्) विद्वान् लोग ही (विदुः) जानते हैं । कन्या की अभिलाषा वर-प्राप्ति की होती है, वह अपने कानों से योग्य वरों की कथा श्रवण करती है और चित्त से योग्य वर को गुनती है । दोनों कान और चित्त ये तीन चक्र हैं जिनसे वह मनोरथ रूप रथ पर चढ़कर पति को प्राप्त करती है ।

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥ १७ ॥
ऋ० ७ । ५९ । १२ ॥

१७—'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्' (च०) 'मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्' इति ऋ० । (प्र०) तत्र 'सुगन्धिं पतिवेदनम्' (च०) 'इतो मुक्षीय मामुतः' इति यजु० । (च०) 'मुञ्चामि नामुतः' इति मन्त्र० ब्रा० ।

भा०—हम कन्या पक्ष के लोग (अर्यमणम्) सर्वश्रेष्ठ न्यायकारी, (पतिवेदनम्) पति को प्राप्त करानेहारे, (सुबन्धुम्) उत्तम बन्धुस्वरूप परमेश्वर की (यजामहे) पूजा करते हैं। (उर्वारुकम्) खरबूजा जिस प्रकार अपनी बेल से टूटकर आपसे आप अलग हो जाता है उसी प्रकार मैं कार्यकर्त्ता (इतः) इस पितृगृह से (प्रमुञ्चामि) इस कन्या को पृथक् करता हूं (अमुतः) उस पतिबन्धन से (न) कभी पृथक् न करूं। बल्कि उसके साथ जोड़ता हूं।

प्रेतो मुंञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतंस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १८ ॥

ऋ० १० । ८५ । २५ ॥

भा०—मैं कन्या का पिता (इतः) इस पितृकुल से (प्रमुञ्चामि) सर्वथा इस कन्या को पृथक् करता हूं। (अमुतः) दूसरे इस के पति सम्बन्ध से इसको (न प्रमुञ्चामि) कभी अलग न करूं। प्रत्युत (अमुतः) अमुक इस दूर के पति के साथ इसको (सुबद्धाम्) खूब अच्छी प्रकार प्रतिबद्ध (करम्) कर देता हूं। (यथा) जिससे हे (इन्द्र, इन्द्र! परमेश्वर (इयम्) यह (सुभगा) उत्तम सौभाग्यवाली कन्या (मीढ्वः) वीर्य सेचन में समर्थ पति के साथ रहकर (सुपुत्रा) उत्तम पुत्र वाली (असति) हो।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ॥१९॥

ऋ० १० । ८५ । २४ प्र० द्वि० ॥

१८-(प्र०) 'प्रेतो मुञ्चात मामुतः' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'मुञ्चाति' (द्वि०) 'करत' इति आप० मन्त्रपाठः।

१९-(द्वि०) 'सुशेवः' इति ऋ०। (च०) 'अरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि' इति ऋ०।

भा०—हे कन्ये ! (त्वा) तुझको मैं पति, (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ, तेरे रक्षक परमेश्वर या वरुण प्रजापति पिता के (पाशात्) उस बन्धन से (प्र मुञ्चामि) छुड़ाता हूं (येन) जिस बन्धन से (त्वा) तुझे (सुशेवा) उत्तम रीति से सेवा करने योग्य (सविता) तेरे पिता ने (अबध्नात्) बांधा था । हे कन्ये ! (ऋतस्य योनौ) परम सत्य ज्ञान और यज्ञ के स्थान और (सुकृतस्य) पुण्य और सत्याचरण के (लोके) लोक, गृहस्थाश्रम में (सहसंभलायै[1]) पति के साथ सदा सुमधुर भाषण करने वाली, मञ्जुभाषिणी या संमल सहित (ते) तुझको (स्योनम्) सुख (अस्तु) प्राप्त हो ।

भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥२०॥(२)

भा०—हे कन्ये ! पुत्रि ! (त्वा) तुझको (भगः) ऐश्वर्यवान् सौभाग्यशील वर (इतः) इस पितृगृह से (हस्तगृह्य) हाथ से पकड़ कर, पाणिग्रहण करके (नयतु) ले जावे । (अश्विना) अश्व पर आरूढ़ वर और उसका भाई दोनों (त्वा) तुझको (रथेन) रथ पर बैठकर (प्र वहताम्) ले जायें । हे कन्ये ! तू गृहपत्नी होकर (गृहान् गच्छ) घर को जा । (यथा) जिससे (त्वं) तू (गृहपत्नी) गृहस्वामिनी (असः) हो (वशिनी) सबको वश करनेहारी, सब के हृदयहारिणी (त्वं) तू (विदथम्) ज्ञान से भरे वचन (आवदासि) कहा कर ।

---

१. मल, भल, परिभाषणहिंसादानेषु (भ्वादिः) । इमाम् विष्यामि वरुणस्य पाशं यमबध्नात् सविता सुकेतः । धातुश्च योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं मे सह पत्या करोमि । इति तै० सं० । (च०) 'सहपत्नी नयू' इति हिर० मं० ।

२०-(प्र०) 'पूषा त्वेतो' इति ऋ० ।

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यताम् अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ २१ ॥

भा०—हे पुत्रि! (ते) तेरी (प्रजायै) प्रजा, सन्तान के लिये (प्रियम्) प्रिय, उत्तम २, मनोहारी, तुझे प्रिय लगने वाले पदार्थ (सम् ऋध्यताम्) अच्छी प्रकार अधिक मात्रा में प्राप्त हों । (अस्मिन् गृहे) इस घर में (गार्हपत्याय) गार्हपत्य, गृहपति के कार्य, गार्हपत्य अग्नि की सेवा और गृहस्थकार्य के लिये (जागृहि) तू सदा जाग, सावधान रह । और (एना पत्या) इस पति के संग (तन्वं) अपने शरीर को (सं स्पृशस्व) स्पर्श करा, आलिङ्गन कर । (अथ) और उसके बाद (जिर्विः) शरीर में वृद्ध और अधिक उमर की बूढ़ी होकर या सत्योपदेष्ट्री माता होकर (विदथम्) ज्ञानोपदेश (आ वदासि) किया कर ।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २२ ॥

भा०—हे वरवधू ! तुम दोनों (इह एव) इस गृहस्थ आश्रम में (स्तं) रहो । (मा वियौष्टम्) कभी वियुक्त न हुआ करो । (पुत्रैः) पुत्रों (नप्तृभिः) नातियों से (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (मोदमानौ) आनन्द प्रसन्न रहते हुए (सु अस्तकौ) उत्तम गृह से सम्पन्न होकर (विश्वम् आयुः) अपनी पूर्ण आयु का (वि अश्नुतम्) विशेष रूप से या विविध प्रकार से भोग करो ।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ २३ ॥

२१–(प्र०) 'प्रजाया' (तृ० च०) 'सुम्नापाप्त्नीविदथमावदाद:' 'जीवी' इति आप० ।

२२–(च०) 'स्वे गृहे' (द्वि०) 'इहैमाद्' इति ऋ० ।

भा०—सूर्य चन्द्र और आत्मा, परमात्मा पक्ष में पूर्व अथर्व० ७ । ८१ । १ ॥ और १३ । २ । ११ ॥ में कह आये हैं । यहां पतिपत्नि के सम्बन्ध में कहते हैं । (एतौ) ये दोनों (शिशू) एकत्र शयन करने हारे पति पत्नी (पूर्वापरम्) एक दूसरे के आगे और पीछे, पतिपत्नीभाव से (मायया) माया, परस्पर के प्रेम लीला से (चरतः) विचरण करते हैं और (क्रीडन्तौ) नाना प्रकार से क्रीडा विहार करते हुए (अर्णवम्) संसार-सागर के पार (परि यातः) जाते हैं । उन दोनों में (अन्यः) एक (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (विचष्ट) विविध रूप से देखता है । और (अन्यः) दूसरा चन्द्रमा के समान स्त्री (ऋतून् विदधत्) ऋतुओं, ऋतु कालों को धारण करती हुई (नवः) सदा नवीन शरीर वाली, सुन्दर रूप (जायते) होजाती है ।

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२४॥

भा०—हे सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष ! तू (अह्नाम्) दिनों का (केतुः) प्रज्ञापक, ज्ञाता होकर (जायमानः) पुत्र रूप से उत्पन्न होता हुआ (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के प्रारम्भ में सूर्य के समान (नवः नवः भवसि) नये २ रूप में प्रकट होता है । और तू हे गृहस्थ ! नित्य (देवेभ्यः) विद्वानों अतिथि आदि देव के समान पूज्य पुरुषों के लिये (भागं) अन्न आदि सेवन योग्य पदार्थ (विदधासि) विविध प्रकार से प्रदान करता है और (आयन्) सबको प्राप्त होकर हे (चन्द्रमः) चन्द्र के समान आह्लादकारिन् च पत्नि ! तू सबको (दीर्घम् आयुः) दीर्घ जीवन (प्रतिरसे) प्रदान करती है ।

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् ।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ।
तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः । ऐ० ७ । १३ ॥

परा देहि शामुल्यं/ ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु ।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥ २५ ॥

भा०—हे नवविवाहित पुरुष ! तू (शामुल्यम्) शमन करने योग्य मानस दुर्भाव या मलिनता को (परा देहि) दूर करदे । और (ब्रह्मभ्य) विद्वान् ब्राह्मणों को (वसु) धन का (वि भज) विविध रूपों में दान कर । (एषा जाया) यह जाया, स्त्री साक्षात् (पद्वती) चरणों वाली (कृत्या) सेना के समान हिंसाकारिणी (भूत्वा) होकर (पतिम्) पति के गृह में (विशते) प्रवेश करती है । विद्वानों को गृह पर बुलाकर उनके ज्ञानोपदेशों द्वारा चित्त के मलिन भावों को दूर करे । नहीं तो गृहों में नववधू ही कलह का कारण हो जाती है ।

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २६ ॥

भा०—हे नवविवाहित ! जब इस नवविवाहिता वधू का हृदय (नीललोहितम्) नीला, लाल या शबल, तामस और राजस भावों से युक्त, मलिन (भवति) हो जाता है तब उसकी (कृत्या आसक्तिः) हिंसा के कार्य में आदर या भोगप्रवृत्ति (वि अज्यते) स्पष्ट हो जाती है । तब (अस्या ज्ञातयः) उस कन्या के बन्धु बान्धव भी (एधन्ते) बढ़ते हैं और (पतिः) पति (बन्धेषु) बन्धनों में (बध्यते) बंधता है ।

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद् वध्वो३ वासंसः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ २७ ॥

२५-(तृ०) 'भूत्वी' इति ऋ० । (प्र०) 'परादेहि शाबल्यं' इति आप० ।
२६-(प्र०) ' नीललोहिते भवत ' इति आप० ।
२७-(प्र०) ' अश्रीरा ' (च०) ' स्वादङ्गमभिधित्सते ' इति ऋ० ।
(प्र०) ' अश्रीरातनू, ' (च०) ' वाससा ' इति च बहुत्र ।

भा०—(यद्) यदि (वध्वः) वधू के (वाससः) वस्त्र से (पतिः) पति (स्वम् अङ्गम्) अपना शरीर (अभि ऊर्णुते) आच्छादित करे तो (अमुया) इस (पापया) पाप या बुरी रीति से (रुशती) सुन्दर शोभा युक्त (तनूः) शरीर भी (अश्लीला) गन्दा, मलिन, शोभा रहित (भवति) हो जाता है। पति कभी अपनी स्त्री के उतरे हुए कपड़े न पहना करे।

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥ २८ ॥

भा०—(सूर्यायाः) पुत्र प्रसव करने में समर्थ युवति के (रूपाणि) रूपों को (पश्य) देख। उस में रजस्वला होने के समय अङ्गों का (आशसनम्) कटना (विशसनम्) फटना और (अधि विकर्त्तनम्) चिरना आदि होता है। (तानि) उन सब दोषों और मलिनता के कार्यों को (ब्रह्मा उत) ब्रह्मा, विधाता परमेश्वर या ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ही (शुम्भति) संस्कार द्वारा उसको शुद्ध करता है।

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे।
सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥

भा०—उस दशा में (एतत्) स्त्री का शरीर (तृष्टम्) तृषा, उष्णता का रोग उत्पन्न करता है (कटुकम्) कटु, देह पर चिरमराहट की फुन्सियां आदि विषम कष्ट उत्पन्न करता है (अपाष्ठवद्) घृणित वस्तु के समान और (विषवत्) विष से युक्त होता है। उस समय (एतत्) स्त्री का शरीर (अत्तवे न) भोग करने योग्य नहीं होता। (यः) जो (ब्रह्मा) ब्रह्मवेत्ता विद्वान् इस प्रकार (सूर्याम्) सन्तानोत्पन्न करने में समर्थ कन्या के लक्षण (वेद) जानता है या जो सूर्या कन्या को पति के हाथ प्राप्त करादे

२८–(च०) 'ब्रह्मानु शुम्भति' इति क०।

२९–'कटुकमेतत्' (तृ०) 'विषात्' इति

वह ब्रह्मा या जो सूर्या सूक्त को जानता हो (स. इत्) उसको ही (वाधूयम्) वाधूय=वधू के विवाह के अवसर के वस्त्र लेने (अर्हति) उचित हैं।

स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति ॥ ३० ॥ (३)

भा०—(सः इत्) वह ब्रह्मवेत्ता ही (तत्) उस (सुमङ्गलम्) शुभ, मङ्गलसूचक (वासः) वस्त्र को (स्योनम्) सुखपूर्वक (हरति) ले लेता है (यः) जो (प्रायश्चित्तिम्) प्रायश्चित्तीय विधि को (अध्येति) पढ़ता है (येन) जिससे (जाया) पत्नी (न रिष्यति) पति के प्रति हानि कारक नहीं होती।

प्रायश्चित्त विधान, गर्भाधान संस्कार में ओ३म् 'अग्ने प्रायश्चित्ते०' इत्यादि २० मन्त्र हैं। ' चरितव्रतः सूर्याविदे वधूवस्त्रं दद्यात् ' इति आश्व० गृ० सू० । १ । ८ । १३ ॥ गर्भाधान के पूर्व तीन रात्रि, १२ रात्रि या एक वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत करके बाद में वधू के वस्त्र सूर्याविद् ब्राह्मण को दान करे।

युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥ ३१ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (युवं) तुम दोनों (ऋतोद्येषु) अपने सत्य भाषण के व्यवहारों में सदा (ऋतं वदन्तौ) सत्य का भाषण करते हुए (समृद्धं) खूब समृद्ध, धन सम्पन्न (भगम्) ऐश्वर्य को (सं भरतम्) भली प्रकार प्राप्त करो। हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्म, वेद के परिपालक विद्वन् ! (अस्यै) इस कन्या के (पतिम्) पति के प्रति (रोचय) रुचि उत्पन्न करा, ऐसा उपदेश कर जिससे वह अपने पति को अधिक स्नेह से चाहे। और (संभलः) उत्तम मधुर भाषण करने वाला विद्वान् (एताम्) इस (वाचम्) स्नेह भरी वाणी को (चारु) भली प्रकार (वदतु) कहे।

३१–(द्वि०) ' मृतोद्येन ' (च०) ' सुमलो ' इति पैप्प० सं०।

इहेदसाथ न पुरो गमाथेमं गावः प्रजयां वर्धयाथ ।
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥३२॥

भा०—हे (गावः) गौवो या गमन करने योग्य स्त्रियो ! तुम (इह इत्) यहां ही पतिगृह में (असाथ) रहो । तुम (परः) दूर देश में (न गमाथ) मत जाओ । (इमं) इस अपने पालक को (प्रजया) उत्तम सन्तान से (वर्धयाथ) बढ़ाओ । हे (उस्रियाः) गौवो, या उत्तम आचार वाली स्त्रियो ! आप लोग (शुभं यतीः) सुन्दरता से इधर उधर विचरती हुई (सोमवर्चसः) सोम, चन्द्र के समान कान्ति वाली, श्वेत और लाल वर्ण की या सौम्य होकर रहो । (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् श्रेष्ठ पुरुष (वः) तुम्हारे (मनांसि) चित्तों को (इह क्रन्) यहां ही लगाये रखें ।

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम् ।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥३३॥

भा०—हे (गावः) गौओ ! या गमन योग्य स्त्रियो, भूमियो ! (इमं) इस नवगृहस्थ को (प्रजया) प्रजा से (सं विशाथ) प्राप्त होओ । (अयम्) यह गृहस्थ (देवानाम्) देवों, पूज्य विद्वानों और अतिथियों के (भागम्) भाग को (न मिनाति) नहीं मारता, लोप नहीं करता । (वः) तुमको (पोषा) पुष्ट करने वाला पोषक और (सर्वे च) समस्त (मरुतः) वैश्यगण या विद्वान् पुरुष (अस्मै) इस गृहपति के निमित्त तुम्हें देते हैं । और (वः धाता) तुम्हारा पालक और (सविता) उत्पादक पिता और परमेश्वर भी तुमको (अस्मै सुवाति) इसके हाथों सुपुर्द देता है ।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥ ३४ ॥

३३-(प्र०) ' सं विशध्वम् ' इति पैप्प० सं० ।

३४-' सन्तु पन्थाः ' इति ऋ० ।

भा०—(येभिः) जिन मार्गों से (नः सखायः) हमारे मित्रगण (वरेयम्) कन्या वरण के उत्सव के लिये (यन्ति) जावें वे (पन्थानः) मार्ग (अनृक्षराः) कांटों से रहित और (ऋजवः) सरल, सूधे (सन्तु) हों। (भगेन) ऐश्वर्यसम्पन्न धनाढ्य पुरुषों और (अर्यम्णा) अर्यमा, श्रेष्ठ राजा के (सम् सम्) साथ मिलकर (धाता) विधाता, मार्ग बनाने वाला शिल्पी उन मार्गों को (वर्चसा) प्रकाश से (स सृजतु) अच्छी प्रकार युक्त करे। या (धाता) परमात्मा हमें धनाढ्य पुरुषों और (अर्यम्णा) न्यायकारी राजा सहित (सं सृजतु) युक्त करे।

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम्।
यद् गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम्॥ ३५॥

भा०—(यत् च) और जो (वर्चः) तेज या बल, चित्ताकर्षण बल (अक्षेषु) अक्षों, पासों में या प्रेमियों की आखों में है, (यत् च) और जो बल (सुरायाम्) चित्त को हरने वाली स्त्री या (सुरायाम्) सुरा पात्र में (आहितम्) भरा है और (यद् वर्चः गोषु) जो तेज, धन, समृद्धि और पुष्टिकारक घी दूध आदि सुस्वादु पदार्थों या गौओं में विद्यमान है (तेन) उन सब तीनों प्रकार के तेजों से हे (अश्विना) स्त्री पुरुषो, तुम सब (इमाम्) इस सौभाग्यवती नववधू को (अवतम्) सुशोभित करो।

येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।
येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम्॥ ३६॥

भा०—(येन) जिस (वर्चसा) तेज या चित्ताकर्षक मनोहरता से (महानघ्न्याः) बड़ी नदी=महावेश्या का (जघनम्) भोगस्थान युक्त है और (येन वा) जिस चित्ताकर्षक गुण से (सुरा) सुरा, मद्य या स्त्री परिपूर्ण

३६–'महानघ्न्याः' इति सर्वत्र प्रायिकः पाठः। 'महानग्न्याः' इति ह्विटनिग्रीफिथादयः।

है और (येन) जिस चित्ताकर्षक गुण से (अक्षाः) जूए के पासे या इन्द्रियें (अभिअसिच्यन्त) भरे पूरे रहते हैं (तेन) उस (वर्चसा) चित्ताकर्षक गुणमय तेज से (इमां) इस स्त्री को हे (अश्विनौ) स्त्री पुरुषो या कन्या या वर के माता पिताओ तुम भी (अवतम्) सुशोभित करो।

साधारण लोग जिस चित्ताकर्षण से वेश्या, मद्य और जूओं में झुकते हैं वह सब प्रलोभक चित्ताकर्षक गुण उस नववधू में प्राप्त हों जिससे नव-विवाहित अपनी स्त्री को त्याग कर अन्य व्यसनों में मनोयोग न दे।

यो अ॑नि॒ध्मो दी॒दय॑द॒प्स्व॒1॑न्तर्यं विप्रा॑स॒ ईळ॑ते अध्व॒रेषु॑।
अपां नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑वान् ॥ ३७ ॥

भा०—(यः) जो अग्नि परमेश्वर (अनिध्मः) बिना इंधन के जलों में विद्यमान् विद्युत् के समान समस्त प्रजाओं में (दीदयत्) प्रकाशित होता है, (यं) जिसकी (अध्वरेषु) यज्ञों में (विप्रासः) विद्वान् मेधावी पुरुष (ईडते) उपासना करते हैं। वह (अपां नपात्) प्रजाओं का परिपालक, प्रभु, परमेश्वर (मधुमतीः) मधु=जीवन और ज्ञान=आनन्दरस से परिपूर्ण (अपः) प्रजाएं, सत्कर्म और सद् बुद्धियां (दाः) प्रदान करे। (याभिः) जिनसे (वीर्यावान्) वीर्यवान् पुरुष (वावृधे) बढ़ता है।

इ॒दम॒हं रुश॑न्तं ग्रा॒भं त॑नू॒दूषि॒मपो॑हामि।
यो भ॒द्रो रो॑च॒नस्तमुद॑चामि ॥ ३८ ॥

भा०—(इदम्) यह (अहम्) मैं (रुशन्तं) नाश करने वाले, (तनुदूषिम्) शरीर के दूषित करने वाले और (ग्राभं) शरीर को जकड़ने वाले रोग को (अप ऊहामि) शरीर से दूर करता हूं। और (यः) जो

३७–(च०) 'वीर्याय' इति ऋ०।
३८–'तनूदूषिनधिनुदामि' (तृ० च०) 'यः शिवो भद्रो रोचनस्तेनत्वा-मपिनुदामि' इति पैप्प० सं०।

(भद्रः) सुखकारी (रोचनः) सुन्दर वर्ण है (तम्) उसको (उद् अचामि) ऊपर छिड़कता हूं ।

वर वधू के उबटन आदि से शरीर के मल को दूर करें और उत्तम शरीर वर्ण करने के पदार्थों का उपयोग करें ।

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥३९॥

भा०—(ब्राह्मणाः) ब्रह्म, वेद के जानने हारे विद्वान् पुरुष (अस्यै) इस कन्या को (स्नपनीः) नहलाने के योग्य (अपः) जलों को (आ हरन्तु) लावें और वे ही (अवीरघ्नीः) वीर्य और सन्तान को नाश न करने वाले (अपः) जलों और उत्तम उपदेशों और कर्मों को (उद् अजन्तु) प्राप्त करावें । कन्या स्नानादि करके (अर्यम्णः) अर्यमा, परमेश्वर या राजा के प्रतिनिधि (अग्निम्) अग्नि की (परि एतु) प्रदक्षिणा करे और (पूषन्) पूषा-वर और (श्वशुरः) कन्या का भावी ससुर और (देवरः च) देवर, पति का छोटा भाई दोनों और अन्य सम्बन्धी (प्रतीक्षन्त) उसकी प्रतीक्षा करें, उसे देखा करें ।

बोधायन गृह्यसूत्रे—अथैनां प्रदक्षिणमग्निं पर्याणयति अर्यम्णो अग्निं परियन्तु क्षिप्रं प्रतीक्षन्तां श्वशुरो देवराश्च । इति ॥

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म ।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्व ॥४०॥ (४)

३९–(द्वि०) 'उदयन्तु' इति ह्विटनिः । अस्यै ब्राह्मणा स्नपन हरन्तु अवीरघ्नीरुदचन्त्वापः ।

१. 'पूषन् सुपां सुलुक्' इति विभक्तिलोपः । अर्यम्णोऽग्निं परियन्तुक्षिप्रम् प्रतीक्षन्तां श्वश्रुवो देवराश्चेति आपस्त० मन्त्रपाठ । (तृ०) 'पर्येतु ओपम्' इति ह्विटनिकामितः ।

भा०—हे नववधु ! (ते) तुझे (हिरण्यं शम्) यह सुवर्णादि का आभरण सुखकारी हो। (आपः शम् उ सन्तु) जल भी तुझे सुखकारक हों। (मेथिः) परस्पर का संग-लाभ भी तुझे सुखकारक हो। और (युगस्य) तुम युगल हुए जोड़े का (तर्म) परस्पर का आघात प्रतिघात भी (शम्) सुखकारी हो। (ते) तुझे हे वधु ! (शतपवित्राः) सैकड़ों प्रकार से पवित्र करने वाले (आपः) जल और स्वच्छ जलों के समान पवित्र आप्तजन तुझे (शम् भवन्तु) कल्याणकारी हों। और तू (शम् उ) सुखपूर्वक हो। अपने (पत्या) पति के शरीर के साथ अपने (तन्वं) शरीर का (संस्पृशस्व) स्पर्श कर। पूर्व काल में विवाह में काष्ठस्तम्भ (मेथि) गाड़ा जाता था, उसके साथ भी स्त्री को बांधते थे और बैलों के जूए का स्पर्श भी कराते थे। वे रूढ़ियां केवल कर्मकाण्ड की थीं, जिनमें काष्ट-स्तम्भ पुरुष का और जुआ सुसंगत स्त्री पुरुष का प्रतिनिधि है।

खे रथस्य खेनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्म करनेहारे परमात्मन् ! हे शत-प्रज्ञ आचार्य ! तू (रथस्य) रथ अर्थात् रमण करने योग्य शरीर के (खे) छिद्र इन्द्रियों में और (अनसः) प्राणमय जीवन के (खे) अवकाश भाग, जीवन काल में और (युगस्य) परस्पर मिलकर जोड़ा बने युगल पति पत्नि के (खे) गृह में, हे इन्द्र परमेश्वर (अपालाम्) अपाला=अपला युवती स्त्री को (त्रिः पूत्वा) मन, वाणी और कर्म, तीनों प्रकार से पवित्र करके (सूर्यत्वचम्) सूर्य के समान कान्ति वाली (अकृणोः) कर देता है।

४१–(द्वि०) 'पूत्वी' इति ऋ०।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥

भा०—(सौमनसम्) उत्तम चित्त, (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, (सौभाग्यम्) उत्तम सौभाग्य और (रयिम्) धन समृद्धि की (आशासाना) आशा करती हुई हे वधु ! तू (पत्युः) अपने पति के (अनुव्रता) अनुकूल वर्त्तनेहारी (भूत्वा) होकर (अमृताय) अमृत, पूर्ण १०० वर्ष की आयु प्राप्त करने अथवा सुख, प्राण, अमृत या प्रजा लाभ के लिये (सं नह्यस्व) अपने को कटिबद्ध कर, तैयार हो।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥ ४३ ॥

भा०—(नदीनां) नदियों के बीच में (यथा) जिस प्रकार (सिन्धुः) समुद्र सब से बड़ा होने के कारण (साम्राज्यं सुषुवे) उन पर शासन करता है उसी प्रकार (वृषा) वीर्यसेचन में समर्थ युवक पति हे स्त्रि ! तेरे लिये (साम्राज्यम् सुषुवे) साम्राज्य बनाता है। उसका वह स्वयं महाराजा है। (एवा) उसी प्रकार (त्वम्) तू (पत्युः अस्तम्) पति के घर (परेत्य) पहुंच कर (साम्राज्ञी) महारानी (एधि) बन कर रह।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥ ४४ ॥

भा०—हे वधु ! तू (श्वशुरेषु) श्वशुरों में (सम्राज्ञी एधि) महारानी होकर रह। (उत देवृषु सम्राज्ञी) और देवरों के बीच में भी महा-

४२-(द्वि० च०) 'अचेवदुरथोबल्म् । इन्द्राण्यनुव्रता भवतोऽमृतायकम् ॥' इति पैप्प० सं० ।

४३-'सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव । ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु' इति ऋ० ।

राणी बनकर रह । (ननान्दुः सम्राज्ञी) ननद के समक्ष भी तू महारानी के समान आदरयुक्त होकर रह । (उत श्वश्र्वाः सम्राज्ञी) और सास की दृष्टि में भी महाराणी बनकर रह ।

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितो ददन्त ।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥ ४५ ॥

भा०—हे (आयुष्मति) दीर्घ आयु वाली श्रीमति ! वरानने ! (याः) जिन साड़ियों को (देवीः) घर की उत्तम देवियों ने स्वयं (अकृन्तन्) काता, (अवयन्) स्वयं बुना, (याः च) और जिनको (तत्निरे) ताना और (याः) जिनके (अभितः अन्तान्) दोनों तरफ़ के अंचरों को (ददन्त) गांठ देकर बनाया (ताः) वे साड़ियाँ (त्वा) तुझको (जरसे) वृद्धावस्था तक (सं व्ययन्तु) आच्छादित करें । हे आयुष्मति ! (इदं) यह (वासः) वस्त्र (परिधत्स्व) पहन ले ।

जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥४६॥
ऋ० १० । ४० । १० ॥

भा०—(जीवं रुदन्ति) विदाई के अवसर पर लोग अपने प्रेमी जीव के लिये रोया करते हैं । इसी कारण से (अध्वरं) पवित्र यज्ञ कर्म को

४५-(प्र०) 'या अतन्वत' (द्वि०) 'याश्च देवीस्तन्तून मितोऽततन्थ' इति पा० गृ० सू० । 'देव्योऽन्तान्' (तृ०) 'तास्त्वा देवीर्जरसा संव्ययन्तु' पा० गृ० सू०, मै० मा० । गृह्यसूत्रेषु 'अभितोऽततन्थ' इति स पाठः । 'अभितोऽदन्त' इत्यनुकूलपाठः । 'अभितस्ततन्थे'ति सन्ध्यनुसारः पाठः ।

४६-(प्र०) 'विनयन्ते अध्वरं' (द्वि०) 'दीर्घायुः' (तृ०) 'समी-रिरे जनयः' इति ऋ० ।

(वि नयन्ति) स्पर्श कर देते हैं। (नरः) नेता लोग (दीर्घाम्) उसके दीर्घकाल के लिये लोग (प्रमितिम्) भविष्य के फांसे को (दीध्यु:) विचारा करते हैं। वास्तव में (ये) लोग (पितृभ्यः) माता पिताओं के लिये (इदम्) इस विवाहरूप (वामम्) सुन्दर कार्य को (सम् ईरिरे) रचते हैं वे (पतिभ्य) पतियों के लिये (जनये) अपनी स्त्री के (परिष्वजे) आलिंगन का (मय.) सुख भी उत्पन्न करते हैं। ऐसे अवसर पर अपने सम्बन्धियों की विदाई के लिये नहीं रोना चाहिये।

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥४७॥

भा०—हे वधु ! (देव्याः) देवी (पृथिव्या) पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (ते) तेरी (प्रजायै) उत्तम प्रजा के लिये (स्योनं) सुखकारक (ध्रुवम्) स्थिर (अश्मानं) शिलाखण्ड को (धारयामि) स्थापित करता हूं। (तम् आतिष्ठ) उस शिला पर पैर रखकर खड़ी होजा। (अनुमाद्याः) तू प्रसन्न हो। (सुवर्चा) उत्तम तेज वाली हो। (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर (ते आयु.) तेरी आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे।

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥४८॥

भा०—हे वधु ! (येन) जिस प्रयोजन से (अग्नि.) अग्नि, राजा (अस्याः) इस (भूम्याः) भूमि, पृथिवी का (दक्षिणं हस्तम्) दायां हाथ (जग्राह) स्वयं ग्रहण करता है (तेन) उसी प्रयोजन से मैं पति (ते) तेरे (दक्षिणं हस्तं) दायें हाथ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं। हे वधु!

४७-(प्र०) 'ध्रुव स्योनं' (तृ०) 'तमारोहानुमाद्यासुवीर.' (द्वि०) 'पृथिव्याम्, त्वायुः' इति पैप्प० सं०।

(मा व्यथिष्ठाः) तू दुःखित मत हो । (मया सह) मेरे साथ (प्रजया) प्रजा और (धनेन च) धन से समृद्ध हो ।

देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु ।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥ ४९ ॥

भा०—हे वधु ! (देवः) देव, वीर्यदान करने में समर्थ (सविता) प्रजा का उत्पादक युवक वर (ते हस्तं) तेरे हाथ को (गृह्णातु) ग्रहण करे । और (सोमः) उत्पादक, (राजा) देदीप्यमान कान्तिमान् तेजस्वी पुरुष तुझे (सुप्रजसम् कृणोतु) उत्तम प्रजा से युक्त करे । (जातवेदाः) विद्वान्, प्रज्ञावान्, (अग्निः) ज्ञानप्रकाशक अग्नि=आचार्य (पत्ये) पति के लिये (पत्नीं) पत्नी को (सुभगाम्) सुभगा, सौभाग्यवती और (जरदष्टिम्) वृद्धावस्था तक जीवन निर्वाह करने में समर्थ (कृणोतु) करे ।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥५०॥ (५)

ऋ० १० । ८५ । ३६ ॥

भा०—हे वधु ! मैं वर (ते हस्तम्) तेरे हाथको (सौभगत्वाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । (यथा) जिससे तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था तक जीवित (असः) रह । (भगः) ऐश्वर्यवान्, (अर्यमा) न्यायकारी, (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर और तुम्हारे पिता और (पुरंधिः) समस्त पुर=पूर्ण जगत् को धारण करने वाला परमेश्वर या (पुरन्धिः) ये स्त्रियें और (देवाः) ये देव, विद्वान्गण (त्वा) तुझको (गार्हपत्याय) गृहपति, गृहस्थ के कार्य के लिये (मह्यम् अदुः) मुझे सौंपते हैं ।

५०–(प्र०) ' गृभ्णामि ' इति ऋ० । ' सुप्रजास्त्वाय ' इति आपस्त० ।

भग॑स्ते॒ हस्त॑मग्रहीत् सवि॒ता हस्त॑मग्रहीत् ।
पत्नी॒ त्वम॑सि॒ धर्म॑णा॒हं गृ॒हप॑ति॒स्तव॑ ॥ ५१ ॥

भा०—हे वधु ! (ते हस्तम्) तेरे हाथ को (भगः) ऐश्वर्यसम्पन्न युवा (अग्रहीत्) ग्रहण करता है । (सविता) प्रजा के उत्पादन करने में समर्थ पुरुष (हस्तम्) तेरे हाथको (अग्रहीत्) ग्रहण करता है । (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी (पत्नी) गृहपत्नी है । और (अहम्) मैं (धर्मणा) धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति, गृहस्वामी हूं ।

ममे॒यम॑स्तु॒ पोष्या॒ मह्यं॑ त्वादा॒द् बृह॒स्पतिः॑ ।
मया॒ पत्या॑ प्रजावति॒ सं जी॑व श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ५२ ॥

भा०—(मम) मेरी (इयम्) यह वधू (पोष्या) पोषण करने योग्य (अस्तु) हो । हे वधू ! (त्वा) तुझको (बृहस्पतिः) वेद के विद्वान् आचार्य और समस्त संसार के स्वामी परमेश्वरने (मह्यम्) मेरे हाथ (अदात्) सौंपा है । हे (प्रजावति) उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ भामिनी प्रजावति ! तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष तक (सं जीव) भली प्रकार जीवन धारण कर ।

त्वष्टा॒ वासो॒ व्य॑दधाच्छु॒भे कं बृह॒स्पतेः॑ प्र॒शिषा॑ कवी॒नाम् ।
तेने॒मां नारीं॑ सवि॒ता भग॑श्च सू॒र्यामि॑व॒ परि॑ धत्तां प्र॒जया॑ ॥ ५३ ॥

ऋ० १० । ८५ । खिलेषु ।

५१-(प्र०) 'धाता ते' (द्वि०) 'सविता मे' (तृ० च०) 'अग्निर्हस्तं०, अर्यमा ते हस्त०' इति पैप्प० सं० ।

५२-(तृ०) 'प्रजावती' इति क्वचित् । (प्र०) 'ध्रुवैधि पोष्ये मयि' इति ऋ० खिलेषु ।

५३-(तृ०) 'नार्यं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(बृहस्पतेः) महान् ब्रह्माण्ड और वेद के परिपालक परमेश्वर और आचार्य और अन्य (कवीनाम्) क्रान्तदर्शी, दीर्घदर्शी विद्वानों की (प्रशिषा) आज्ञा से (त्वष्टा) शिल्पी ने (शुभे) शोभा के लिये ही (वासः) वस्त्र और निवासगृह भी (व्यदधात् कम्) बनाये हैं (तेन) इसलिये (सविता) सर्वोत्पादक और (भगः च) ऐश्वर्यवान् प्रभु (इमां नारीम्) इस स्त्री को (सूर्याम् इव) अपनी जगद्-उत्पादनकारिणी शक्ति के समान ही (प्रजया) प्रजा से (परिधत्ताम्) युक्त करे।

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, मेघ और अग्नि, विद्युत् (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (मातरिश्वा) आकाश में व्यापक वायु (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण, प्राण और अपान (भगः) ऐश्वर्यशील, सूर्य, (उभा अश्विना) दोनों अश्विगण, दिन और रात्रि अथवा नर नारी (बृहस्पतिः) वेदों का स्वामी परमेश्वर (मरुतः) विद्वान् प्रजाएं (ब्रह्म) वेद ज्ञान (सोमः) उत्पादक यह सोम नामक पति ये सब (इमाम् नारीम्) इस स्त्री को (प्रजया वर्धयन्तु) प्रजा से बढ़ाते रहें।

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत्।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर ने (प्रथमः) प्रथम ही (सूर्यायाः) पुत्र प्रसव करने में समर्थ स्त्री-जाति के (शीर्षे) शिरपर (केशान्) केशों को (अकल्पयत्) बनाया है। (तेन) उस कारण ही

५४–(च०) 'नार्यं' इति पैप्प० सं०।
५५–(प्र०) 'प्रथमः' इत्यपि क्वचित्, इति ह्विटनिकामितम्।

हे (अश्विना) स्त्री पुरुषो ! (इमाम् नारीम्) इस स्त्री को (पत्ये) पति के चित्ताकर्षण के लिये हम (सशोभयामसि) भली प्रकार सुशोभित करें।

इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ॥५६॥

भा०—(इदम् तत् रूपम्) यह वह बाह्य सुन्दर रूप है (यत्) जिसको (योषा) नवयुवती प्रायः (अवस्त) धारण किया ही करती है। परन्तु मैं (मनसा) सच्चे मनसे (चरन्तीम्) सत् आचरण करती हुई (जायाम्) अपनी पत्नी को (जिज्ञासे) ठीक २ प्रकार से जान लेना चाहता हूं। मैं (नवग्वैः) नवीन सुन्दर गति वाले या नवागत (सखिभिः) मित्रों सहित (ताम्) उसका (अनु अर्तिष्ये) अनुगमन करूंगा। उसके पीछे २ जाऊंगा। (इमान् पाशान्) इन प्रेम के पाशों को (कः) कौन (विद्वान्) जानता हुआ ज्ञानी पुरुष (वि चचर्त) काट सकता है।

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥५७॥

भा०—(अहम्) मैं (अस्याः) इसके (रूपम्) रूपको (पश्यन्) देख कर और मैं (मयि) अपने में (अस्याः) इसके (मनसः) चित्तके (कुलायम्) विश्रामार्थ बने घोंसले के समान आश्रयस्थान (वेदत् इत्) जानता हुआ ही (विष्यामि) इसके सम्बन्ध में विविध प्रकार से विचार करता हूं कि मैं (स्तेयम्) कभी चुराकर (न अद्मि) न खाऊं। मैं (स्वयं) अपने आप (वरुणस्य) वरुण-राजा के समान श्रेष्ठ पुरुष के (पाशान्) पाशों को, व्यवस्था बन्धनों को (श्रथ्नानः) अपने ऊपर बांधता

५६-(तृ०) 'अनुवर्तिष्ये' इत्यस्य क्वाचित्क संहितापाठः। 'अन्वर्तिष्ये' सन्धिश्छान्दसः।

५७-(च०) 'पाशम्' इति पैप्प० सं०।

हुआ (मनसा उद् अमुच्ये) अपने चित्त से उसे मुक्त करता हूं, स्वतन्त्र करता हूं। अथवा—(वरुणस्य पाशान् स्वयं अश्नानः) वरुण परमेश्वर के बनाये दुष्टों को दण्ड देने वाले पाशों को शिथिल करता हुआ अपने को चौर्य आदि पापों से (उद् अमुच्ये) मुक्त करता हूं।

प्र त्वां मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥ ५८ ॥

भा०—हे (वधु) प्रियतमे वधु ! (त्वा) तुझको (वरुणस्य) परमात्मा या उत्पादक प्रभु के उस (पाशात्) पाश से (प्र मुञ्चामि) भली प्रकार मुक्त करूं (येन) जिससे (सुशेवाः) उत्तम सेवा करने योग्य सुखप्रदाता (सविता) उत्पादक प्रभु या पिता (त्वा अबध्नात्) तुझे पितृ-ऋण रूप बंधन से बांधता है। (उरुम् लोकम्) इस विशाल लोक को और (अत्र) इस लोक में विस्तृत (पन्थाम्) जीवन-मार्ग को मैं (सहपत्न्यै) सहधर्मचारिणी (तुभ्यम्) तुझ अपनी स्वामिनी के लिये (सुगम्) सुगम, सुख से जाने योग्य (कृणोमि) करता हूं।

उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥ ५९ ॥

भा०—हे वीर पुरुषो ! (उद् यच्छध्वम्) अपने शस्त्रों को उठाओ। और (रक्षः) राक्षस, दुष्ट पुरुष को (अप हनाथ) मार भगाओ। (इमाम् नारीम्) इस नारी को (सुकृते) पुण्य कार्य या पुण्य पुरुष के हाथ (दधात) प्रदान करो। (विपश्चित्) ज्ञानवान् बुद्धिमान् (धाता) विधाता, पिता (अस्यै) इसके योग्य (पतिम्) पति को (विवेद) जाने, प्राप्त करे। (भगः) ऐश्वर्यवान् (राजा) चित्तको अनुरंजन करने में समर्थ

५८–' इमां विष्यामि वरुणस्य पाशं येन त्वा ' (तृ०) 'सुगमिमं' (च०) ' सहपत्नी वधूः ' इति पैप्प० सं०।

(प्रजानन्) ज्ञानी पुरुष (पुरः एतु) कन्या का पाणिग्रहण करने के लिये आगे आवे ।

भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि ।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ ६० ॥

भा०—(भगः) ऐश्वर्यवान् पुरुष इस पलंग के (चतुरः पादान्) चारों पैरों को (ततक्ष) गढ़ता या गढ़वाता है और (भगः) ऐश्वर्यवान् पुरुष ही (चत्वारि) चार (उष्पलानि—उपपदानि) पायों पर लगने वाले दृयढों को (ततक्ष) बनवाता है । (त्वष्टा) शिल्पी पुरुष (मध्यतः अनु) बीच के (वर्ध्रान्) रस्सियों को (पिपेश) सुन्दर २ बनाता है । (सा) वह नववधू (सुमङ्गली) शुभ मङ्गल वस्त्र धारण करती हुई (नः) हमारे सौभाग्य के लिये (अस्तु) हो ।

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥ ६१ ॥
ऋ० १० । ८५ । २० ॥

भा०—हे (सूर्ये) सावित्रि ! सूर्ये ! कन्ये ! (सुकिंशुकम्) उत्तम उत्तम बनावटी मोर आदि पक्षियों की आकृति से सुसज्जित, (विश्वरूपं) नाना प्रकार के, (हिरण्यवर्णम्) सुवर्ण के रंग के सुनहरे, (सुवृतम्) सुंदर बने हुए (सुचक्रम्) उत्तम चक्रों से युक्त (वहतुम्) रथ पर (आरोह) चढ़ । और (पतिभ्यः) पतियों और देवरों के लिये (त्वम्) तू (वहतुम्)

६०—(द्वि०) 'चत्वार्युष्पदानि' (च०) 'मध्यतो वध्राम्' इति पैप्प० सं० । 'उष्पलानि' इति ह्विटनिकामितः ।

६१—(प्र०) 'सुकिंशुक शल्मलीम्' (च०) 'पतये वहतुं कृणुष्व' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सुवर्णवर्णं सुकृत', 'अमृतस्य नाभिम्' इति मै० ब्रा० । (तृ०) 'सुकृतस्य लोके' इति पैप्प० सं० ।

इस रथको (अमृतस्य लोकं) अमृत के लोक के समान (स्योनम्) सुख-कारी बना ।

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते ।
इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥ ६२ ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! परमेश्वर ! हे (बृहस्पते) बृहस्पते, विश्व-पते ! हे इन्द्र ! हे (सवितः) जगत् उत्पादक परमेश्वर (अस्मभ्यम्) हमारे लिये इस वधू को (अभ्रातृघ्नीम्) भ्राता का नाश न करने वाली (अप-शुघ्नीम्) पशुओं का नाश न करने वाली और (अपतिघ्नीम्) पति का नाश न करने वाली (पुत्रिणीम्) पुत्र संतान वाली बना कर (अस्मभ्यं वह) हमें प्राप्त करा ।

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि ।
शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥ ६३ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुष ! (कुमार्यम्) कुमारी कन्या को (देवकृते) देव, परमेश्वर के बनाये (स्थूणे) इस स्थिर (पथि) संसार-मार्ग में (मा हिंसिष्टम्) मत मारो । हम लोग (देव्याः शालायाः) दिव्यगुण से युक्त शाला के (द्वारम्) द्वार को और (वधूपथम्) नववधू के मार्ग को भी (स्योनम् कृण्मः) सदा सुखकारी शान्तिमय बनाया करें ।

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥ ६४ ॥ (६)

भा०—(अपरम्) पश्चात् भी (ब्रह्म) वेदविहित कर्म (युज्यताम्) हुआ करे । (पूर्वम् ब्रह्म) पहले भी ब्रह्म=वैदिक कर्म या वेदपाठ हो

६२–(द्वि०) 'अपतिघ्नीं' (तृ० च०) 'इन्द्रापुत्रिणीं लक्ष्मन्तं शानस्यै सवितः सुव' इति आपस्त० ।

(अन्ततः ब्रह्म) अन्त में भी ब्रह्म=वेदपाठ हो (मध्यतः ब्रह्म, सर्वतः ब्रह्म) बीच में और सब समय में वेदपाठ हो। (अनाव्याधाम्) पीड़ा, हिंसा आदि कष्टों से रहित (देवपुराम्) विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की नगरी को (प्रपद्य) प्राप्त होकर (पतिलोके) पतिलोक में (शिवा) शुभ कल्याणकारिणी और (स्योना) सबको सुखकारिणी होकर (विराज) पतिगृह में मानपूर्वक निवास कर।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम्, चतुःषष्टिश्च ऋचः ।]

[२] पति पत्नी के कर्त्तव्यों का वर्णन ।

सावित्री सूर्या ऋषिका । सूर्या स्वयमात्मतया देवता । [१० यक्ष्मनाशन, ११ दम्पत्योः परिपन्थिनाशन], ५, ६, १२, ३१, ३७, ३९, ४० जगत्यः, [३७, ३९ भुरिक् त्रिष्टुभौ], ९ व्यवसाना षट्पदा विराड् अत्यष्टिः, १३, १४, १७–१९, [३५, ३६, ३८], ४१ ४२, ४९, ६१, ७०, ७४, ७५ त्रिष्टुभः, १५, ५१ भुरिजौ, २० पुरस्ताद् बृहती, २३, २४, २५, ३२ पुरोबृहती, २६ त्रिपदा विराड् नामगायत्री, ३३ विराड् आस्तारपङ्क्तिः, ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्, ४३ त्रिष्टुब्गर्भा पङ्क्तिः, ४४ प्रस्तारपङ्क्तिः, ४७ पथ्याबृहती, ४८ सतः पङ्क्तिः, ५० उपरिष्टाद् बृहती निचृत्, ५२ विराट् परोष्णिक्, ५९, ६०, ६२ पथ्यापङ्क्तिः, ६८ पुरोष्णिक्, ६९ त्र्यवसाना षट्पदा, अतिशक्वरी, ७१ बृहती, १–४, ७–११, १६, २१, २२, २७–३०, ३४, ४५, ४६, ५३–५८, ६३–६७, ७२, ७३ अनुष्टुभः । पञ्चसप्तत्यृचं सूक्तम् ॥

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ १ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३८ ॥

[२] १–(तु०) 'पुनः' इति ऋ०, पैप्प० म० ।

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् परमेश्वर ! और आचार्य (तुभ्यम् अग्रे) तेरे समक्ष हम युवक लोग (वहतुना सह) दहेज और रथ के सहित (सूर्याम्) वरणीय सवित्री कन्या को (परि अवहन्) परिणय करते हैं। (सः) वह तू (नः पतिभ्यः) हम पतियों को (प्रजया सह) प्रजा सहित (जायाम्) स्त्री, पत्नी को (दाः) प्रदान कर।

'सूर्याम्' 'जायाम्', 'पतिभ्यः' इत्याद्येकवचन बहुवचनं जात्याख्यायाम्।

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३९ ॥

भा०—(पुनः) कन्या के पिता के देने के उपरान्त भी (पत्नीम्) पत्नी को (अग्निः) ज्ञानी पुरोहित और परमेश्वर (आयुषा वर्चसा सह) आयु और तेजः सहित (अदाद्) कन्या को प्रदान करता है। (अस्याः) इसका (यः पतिः) जो पति है वह (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला होकर (शतं शरदः) सौ वरसों तक (जीवाति) जीवे।

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४० ॥

भा०—(प्रथमम्) पहले (जाया) स्त्री (सोमस्य) सोम की होती है। हे जाये ! (ते) तेरा (अपरः) दूसरा (पतिः) पति (गन्धर्वः) गन्धर्व है। और (ते) तेरा (तृतीयः पतिः) तीसरा पति (अग्निः) अग्नि है। और (मनुष्यजाः) मनुष्यों से उत्पन्न पति (तुरीय) चौथे नम्बर पर है।

३—(प्र० द्वि०) 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः' इति ऋ० । तत्रैव ऋ० (च०) 'तुरीयोऽहं मनुष्यजाः' इति पा० तृ० ऋ० ।

महर्षि दयानन्द के मत में—स्त्री का प्रथम पति 'सोम', दूसरा नियोगज 'गन्धर्व', तीसरा नियोगज 'अग्नि' और शेष सब चौथे से लेकर ११ वें तक नियुक्तपति 'मनुष्य' नाम से कहाते हैं [सत्यार्थ समु० ४]

याज्ञवल्क्यस्तु—सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वम् मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥

तत्र मिताक्षरा—परिणयनात् पूर्वं सोमगन्धर्ववह्नयः स्त्रीर्भुक्त्वा तासां शौच-मधुरवचनसर्वमेध्यत्वानि दत्तवन्तः । तस्मात्स्त्रियः स्पर्शा लिङ्गनादिषु मेध्याः शुद्धाः स्मृताः ।

वसिष्ठस्मृतिश्च—पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः ।
गच्छन्ति मानुषान् पश्चात् नैता दुष्यन्ति धर्मतः ॥
तासां सोमो ददच्छौचं गन्धर्वः शिक्षितां गिरम् ।
अग्निश्च सर्वभक्षत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥
(२० । ५, ६ ।)

आठ वर्ष तक सोम भोगता है, रजोदर्शन के पूर्व तक गन्धर्व और रजोदर्शन में अग्नि भोगता है । फलतः स्त्री शरीर में जल, वायु, अग्नि तीनों तत्त्वों के विशेष योग को सोम, गन्धर्व और अग्नि देवों का भोग कहा है । नियोग पक्ष में—महर्षि दयानन्द का अभिप्राय भी स्पष्ट है ।

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददुग्नये ।
रयिं च पुत्रांश्चादादुग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥ ४ ॥
ऋ० १० । ८५ । ४१ ॥

भा०—(सोमः) सोम कन्या को (गन्धर्वाय ददद्) गन्धर्व के हाथ प्रदान करता है । (गन्धर्वः) गन्धर्व (अग्नये ददद्) उसे अग्नि के हाथ

४—' सोमोऽददाद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽग्नये ददात् । रयिं च मह्यं पुत्रांश्चाग्निर्ददादथो इमाम् ' इति मै० ब्रा० ।

प्रदान करता है (अग्निः) अग्नि (रयिम्) वीर्य या रज और पुत्रों को (ददद्) प्रदान करता हुआ (इमाम्) इस कन्या को (अथो) तदनन्तर (मह्यम् अदात्) मुझ पति को प्रदान करता है ।

आ वामगन्त्सु मतिर्वाजिनीवसू न्य/श्विना हृत्सु कामा अरंसत ।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि ॥५॥

ऋ० १० । ४० । १२ ॥

भा०—(सुमतिः) उत्तम मति (वाम्) तुम दोनों स्त्री पुरुषों को (आ अगन्) प्राप्त हो । हे (अश्विनौ) पति पत्नी, स्त्री पुरुष ! आप दोनों (वाजिनीवसू) वाजिनी—वीर्यशक्ति को धन के समान सञ्चय कर वीर्यवान् होकर (शुभःपती) शोभा, अपनी शरीर की सुन्दरता की रक्षा करते हुए, (गोपा) अपनी इन्द्रियों की रक्षा करते हुए (मिथुना) परस्पर संयुक्त, जोड़ा होकर गृहस्थ के मैथुन धर्म से (अभूतम्) रहो । और हम सब लोग (अर्यम्णः) श्रेष्ठ राजा और परमेश्वर के (प्रियाः) प्रिय होकर (दुर्यान्) गृहों के सुखों का (अशीमहि) भोग करें ।

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्य/म् ।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥६॥

ऋ० १० । ४० । १३ ॥

भा०—(सा) वह स्त्री (शिवेन) सुखी, कल्याण से पूर्ण (मनसा) चित्त में (मन्दसाना) स्तुति और गुणानुवाद करती हुई (वचस्यम्) प्रशंसनीय (सर्ववीरं) समस्त पुत्रों से युक्त (रयिम्) बल और धन को (धेहि)

५—' अरंसत ' इति ऋ० ।

६—(प्र० द्वि०) ' ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आधत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे ' (तृ०) 'कृतं तीर्थं' (च०) 'पथेष्ठाम्' इति ऋ० । तत्रैव (द्वि०) ' दशवीरं ' इति आपस्त० ।

धारण करा । हे (शुम्भवती) नगर की शोभा युक्त पदार्थों के स्वामी स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (तीर्थं सुगम्) सुख से विहार करने योग्य जलाशय और (सुप्रपाणम्) सुख से जलपान करने योग्य घाट बनवाओ और (पथिष्ठाम्) मार्ग में खड़े (स्थाणुम्) वृक्षों को लगवाओ और (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि या दुःख के अनुभव को, शरीर के, दुःख की दशा को (हतम्) दूर करो ।

या ओषधयो या नद्यो३ यानि क्षेत्राणि या वना ।
तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥ ७ ॥

भा०—(या ओषधय) जितनी ओषधियां हैं, (याः नद्यः) जो नदियां हैं, (यानि क्षेत्राणि) जितने क्षेत्र हैं, (या वनानि) जितने वन हैं (ताः) वे सब हे वधु ! (पत्ये) पति के हित के लिये (प्रजावतीं त्वाम्) प्रजा से युक्त गर्भिणी तुझको (रक्षसः) विघ्नकारी, गर्भोपघातक दुष्ट पुरुष और बाधक कारण से (रक्षन्तु) रक्षा करें ।

एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम् ।
यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥ ८ ॥

भा०—हम लोग (इमं पन्थाम्) इस मार्ग को (आरुक्षाम्) प्राप्त करें, उसपर चलें जो (सुगम) सुख से चलने योग्य और (स्वस्तिवाहनम्) जिसपर सुख से रथ, घोड़े और हाथी आदि चल सकें । (यस्मिन्) जिस में (वीरः) वीर्यवान् पुरुष, राजा (न रिष्यति) कभी क्लेश नहीं पाता प्रत्युत (अन्येषां) औरों के (वसु) धन आदि सम्पत्ति और आवास योग्य गृह आदि पर भी (विन्दते) अधिकार प्राप्त करता है ।

७–'यानि धन्वानि ये वनाः' (च०) 'प्रजेषुम्भत्वहस' इति आपस्त० ।
८–(प्र० द्वि०) 'सुगं पन्थानमारुक्षामरिष्ट स्वस्ति- ' इति आपस्त० ।

इदं सु मे नरः शृणुत ययाशिषा दंपती वाममंश्नुतः ।
ये गंन्धर्वा अंप्सुरसंश्च देवीरेषु वांनस्पत्येषु येधि तस्थुः ।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥ ९ ॥

भा०—हे (नरः) नेता पुरुषो ! (मे) मेरा (इदम्) यह प्रार्थना वचन (सु शृणुत) भली प्रकार सुनो। (यया) जिस (आशिषा) आशीर्वाद या आशा से (दम्पती) स्त्री पुरुष, वर वधू (वामम्) रमणीय, धनका सुखपूर्वक (अश्नुतः) भोग करते हैं। (ये) जो (गन्धर्वाः) पृथ्वी या वाणी के धारण करनेहारे पुरुष और (देवीः अप्सरसश्च) उत्तम ज्ञानपूर्ण देवी, स्त्रियां (एषु) इन (वानस्पत्येषु) वनस्पतियों से पूर्ण जंगलों में (अधितस्थुः) अधिकारी रूप से रहते हैं अथवा—(गन्धर्वाः अप्सरसः च) पुरुष और स्त्रियां जो (वानस्पत्येषु अधितस्थुः) वृक्ष और लता के समान परस्पर मिलकर घर बना कर रहते हैं। (ते) वे (अस्यै) इस (वध्वै) नव वधू के लिये (स्योनाः भवन्तु) सुखकारी हों वे (उह्यमानम्) उठाकर ले जाये जाते हुए, गुजरते हुए (वहतुम्) दहेज या रथ को (मा हिंसिषुः) विनाश न करें, न लूटें पाटें।

ये वध्व/श्चन्द्रं वंहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनुं ।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥ १० ॥ (७)

ऋ० । १० । ८५ । ३१ ॥

भा०—(ये) जो (यक्ष्माः) पूजा करने योग्य, आदर सत्कार के योग्य अतिथि लोग (जनान् अनु) सर्वसाधारण मनुष्यों के साथ २ (वध्वः) नववधू के (चन्द्रम्) आह्लादकारी (वहतुम्) रथ या दहेज को

९–(च०) 'एषु वृक्षेषु वानस्पत्येष्वासते' (तृ०) 'शिवास्ते', (च०) 'उह्यमानम्' इति आप०।

१०–(द्वि०) 'जनादनु' इति ऋ०।

देखने के लिये (यन्ति) आवें (तान्) उनको (यज्ञियाः देवाः) यज्ञ, विवाह कृत्य के काम वाले विद्वान् ब्राह्मण या रक्षक लोग (पुनः) फिर (नयन्तु) आदर सत्कार से उसी स्थान पर पहुंचा दें (यतः आगताः) जहां से वे पधारे हों ।

यज्ञ='जन्य'=विवाह की बारात । 'यज्ञिया देवाः'=बारात के रक्षक लोग ।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ११ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३२ ॥

भा०—(ये) जो (परिपन्थिनः) मार्ग के चोर, लुटेरे लोग (आसीदन्ति) समीप आपहुंचें वे (दम्पती) पति पत्नी वरवधू को (मा विदन्) जान भी न पावें । (दम्पती) वर वधू दोनों (सुगेन) उत्तम मार्ग से (दुर्गम्) दुर्गम वन पर्वत के प्रदेश को (अति इताम्) पार कर जाय । और (अरातयः) शत्रु लोग (अप द्रान्तु) दूर भाग जाय ।

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु ॥ १२ ॥

भा०—मैं (वहतुम्) वधू के रथ और दहेज को (गृहैः) घरों या घरके पुरुषों को (अघोरेण) अघोर=सौम्य और (मित्रियेण) मित्रता या स्नेह से भरे (चक्षुषा) चक्षु से (सं काशयामि) दिखलाऊं । (यत्) जो (विश्वरूपम्) नाना प्रकार के आभूषणादि पदार्थ (पर्याणद्धम्) चारों तरफ सुसम्बद्ध रूप में बंधा या पड़ा है उसको (सविता) सर्वोत्पादक

११–(द्वि०) 'सुगेभिः' इति ऋ० ।

१२–(च०) 'कृणोतु तत्' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'चक्षुषा मैत्रेण'

(तृ०) 'यदस्याम्' इति क्वाचित्क० ।

परमेश्वर (पतिभ्यः) पति और उसके भाई देवरों के लिये (स्योनं) सुख-कारी (कृणोतु) करे ।

शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

भा०—(नारी) नारी, स्त्री (शिवा) कल्याणकारिणी होकर (इयम्) इस (अस्ताम्) गृह को (आगन्) आवे (धाता) धारण पोषणकर्त्ता परमेश्वर (अस्यै) इस वधू के लिये (इमं लोकम्) इस लोक को (दिदेश) नियत करता है । (अर्यमा) न्यायकारी परमेश्वर या राजा (भगः) ऐश्वर्य-वान् धनाढ्य पुरुष और (उभा) दोनों (अश्विना) स्त्री पुरुष लोग और (प्रजापतिः) प्रजा का पालक, स्वामी परमेश्वर (ताम्) उस वधू को (प्रजया) उत्तम प्रजा से (वर्धयन्तु) बढ़ावें, बढ़ने दे ।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥१४॥

भा०—(आत्मन्वती) सुदृढ़ शरीर वाली (उर्वरा) पुत्रोत्पादन करने में अति उत्तम, भूमिस्वरूप (इयम्) यह (नारी) स्त्री (आगन्) तुम्हें प्राप्त हो । हे (नरः) पुरुषो ! तुम लोग (अस्याम्) इस प्रकार की सुदृढ़ शरीर वाली, उर्वरा, सन्तानोत्पादन में समर्थ, उत्तम उपजाऊ भूमि में (बीजम्) बीज (वपत) बोओ । (सा) वह (वः) तुम्हारे लिये ही (ऋषभस्य) वीर्यवान् श्रेष्ठ पुरुष के (दुग्धम्) पूर्ण निषिक्त (रेतः) वीर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई (वक्षणाभ्यः) वक्षणा, कोखों से (प्रजां) प्रजा को (जनयत्) उत्पन्न करे ।

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ मनु० ६ । ३३ ॥

नारी क्षेत्र है, पुरुष बीज है। क्षेत्र और बीज के योग से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है। कुरान में—" तुम्हारी बीवियां तुम्हारी खेतियां हैं "। (२। २२३)

प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत्॥ १५॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वति! स्त्री! तू (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो। तू (विराड् असि) साक्षात् विराड् विशेष रूप से शोभा देने वाली द्यौलोक या पृथिवी के समान है। और हे पुरुष! (इह) इस स्त्री के प्रति तू भी (विष्णुः इव) विष्णु, व्यापक सूर्य के समान है। हे (सिनीवालि) सिनीवालि, स्त्री! (प्रजायताम्) सुख से तेरी सन्तान उत्पन्न हो और तू (भगस्य) ऐश्वर्यवान् पति के (सुमतौ) शुभ मति या आज्ञा में (असत्) रह।

योषा वै सिनीवाली। श० ६। ५। १। १०॥ योषा वै सरस्वती वृषा पूषा। श० २। ५। १। ११॥ 'प्रजायताम्' 'असत्' इति वचनव्यत्ययः।

उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
माऽदुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमारताम्॥ १६॥

ऋ० ३। ३३। १३॥

भा०—हे (शम्याः आपः) शान्त गुणों से युक्त, शम साधन से सम्पन्न, शान्तिकारक आप्त पुरुषो! (वः) आप लोगों का (ऊर्मिः) ऊपर उठने का उत्साह (उत् हन्तु) ऊपर को बढ़े। आप लोग (योक्त्राणि) निन्दित कार्यों को (मुञ्चत) छोड़ दो या छुड़ाओ। हे स्त्री पुरुष!

१६-(च०) 'व्येनाघ्न्यौशुनमारताम्' इति ऋ०। ऋग्वेदे विश्वामित्र ऋषिर्नद्यो देवता।

तुम दोनों (अदुष्कृतौ) दुष्ट कर्मों से रहित (वि-एनसौ) पाप से रहित निष्पाप रहते हुए (अघ्न्यौ) कभी भी मारने या दण्ड देने योग्य न होकर (अशुनम्) असुख, दुःखदायी क्लेश को (मा आ अरताम्) कभी प्राप्त न होओ।

अघो॑रचक्षुरप॑तिघ्नी स्यो॒ना श॒ग्मा सु॒शेवा॑ सु॒यमा॑ गृ॒हेभ्यः॑ ।
वी॒र॒सूर्दे॒वृका॑मा॒ सं त्वयै॑धिषीमहि सुमन॒स्यमा॑ना ॥ १७ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४४ ॥

भा०—हे नववधु ! तू (गृहेभ्यः) हमारे गृहवासियों के लिये (अघोर-चक्षुः) घोर=क्रूर चक्षु से रहित, सौम्य दृष्टि से सम्पन्न (अपतिघ्नी) पति को नाश न करनेहारी, पति के प्रति प्रेमयुक्त (स्योना) सुखदायिनी (सुशेवा) उत्तम सेवा करनेहारी, (सुयमा) उत्तम रूप से नियम व्यवस्था में रहने और गृह को उत्तम नियम व्यवस्था में रखनेहारी (वीरसूः) वीर बालकों को उत्पन्न करने वाली (देवृकामा) पति से उतर कर देवर को सन्तान निमित्त चाहने वाली (सुमनस्यमाना) उत्तम चित्त वाली हो। (त्वया) तुझ से हम लोग (सम् एधिषीमहि) अच्छी प्रकार प्रजा, धन और सुख से सम्पन्न हों।

अदे॑वृघ्न्यप॑तिघ्नीहैधि॑ शि॒वा प॒शुभ्यः॑ सु॒यमा॑ सु॒वर्चाः॑ ।
प्र॒जाव॑ती वी॒र॒सूर्दे॒वृका॑मा स्यो॒नेमम॒ग्निं गार्ह॑पत्यं सपर्य ॥ १८ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४४ ॥

१७, १८–(च०) 'स्योनान्त्वेधिषीमहि सुमनस्यमानाः' इति पैप्प० सं० । 'अघोरचक्षुरपतिघ्नि एधि शिवापशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूर्देवृकामा स्योना शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे' इति ऋ० । (तृ०) 'देवृकामा, देवकामा' इत्युभयथा पाठौ । गृह्यसूत्रेषु अन्ये-दयतः पाठः प्रायिकः ।

भा०—हे नववधु ! तू (अदेवृघ्नी अपतिघ्नी) देवर और पति को विनाश न करनेहारी होकर (इह एधि) इस घर में आ। और (पशुभ्यः) पशुओं के (सुयमा) उत्तम रीति से दमन करने वाली (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्विनी और (शिवा) सुखकारिणी (प्रजावती) प्रजा से युक्त, (वीरसूः) वीर बालकों को प्रसव करनेवाली (देवृकामा) पति से सन्तान के अभाव में देवर की कामना करने वाली होकर (गार्हपत्यम्) गृहपति स्वरूप (अग्निम्) अपने गृहस्थ के नेता पति को (सपर्य) गार्हपत्याग्नि देव के समान ही पूजा कर।

'देवृकामा'—देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ मनु० ९। ५९॥
यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ मनु० ९। ६९॥

पाणिग्राह पति की सन्तान के नाश हो जाने पर नियोग विधि से देवर, तदभाव में सपिण्ड पुरुष से स्त्री सन्तान प्राप्त करे। वाणी से प्रतिज्ञा मन्त्रों द्वारा पति को वर लेने पर भी नियोग विधि से ही देवर उस कन्या को स्वीकार करे।

उत् तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात्।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः॥ १९॥

भा०—हे अलक्ष्मि ! (उत् तिष्ठ) तू उठ खड़ी हो। बतला (किम् इच्छन्ती) क्या चाहती हुई तू (इदम् आगाः) इस घर में आयी है। (अहम्)

१९–(द्वि०) 'आजगन्थ' इति क्वचित्। (प्र०) 'उत्तिष्ठथातः किम्, आगाह त्वे', 'अयुत्वे' इति पैप्प० सं०। 'त्वा। ईडे' इति क्लिन्तसम्मतः पदच्छेदः।

में (अभिभूः) सामर्थ्यवान् पुरुष (स्वात् गृहात्) अपने घर से (त्वा) तुझे (ईडे) बाहर करता हूं। हे (निर्ऋते) पापरूप (या) जो तू (शून्यैषी) गृह को सूना करना चाहती हुई, घरको उजाड़ कर देने की इच्छा करती हुई (आजगन्थः) आई है, तो हे (अराते) आदानशील ! अरमण-स्वभावे ! अलक्ष्मि (उत्-तिष्ठ) उठ, तू (प्र पत) परे भाग। (इह मा रंस्थाः) यहां मौज मत कर, यहां मत रह। नववधूरूप गृहलक्ष्मी को प्राप्त करके घरमें से अलक्ष्मी को दूर करना उचित है।

यदा गार्हपत्यमसंपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ २० ॥ (८)

भा०—(यदा) जब (इयम् वधूः) यह नववधू (गार्हपत्यम्) गार्हपत्य (अग्निम्) अग्नि को (असपर्यैत्) सेवा करती है (अधा) तब ही हे (नारि) स्त्री ! तू (सरस्वत्यै) सरस्वती, वेदवाणी का पाठ कर और (पितृभ्यः च) और घर के वृद्ध पालक पिता आदि को भी (नमः कुरु) नमस्कार किया कर अर्थात् नववधू अग्निहोत्र के पश्चात् ही वेद का स्वाध्याय और वृद्धों को नमस्कार किया करे।

शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ २१ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० १४ । २ । १५ । तृ० च० ॥

भा०—हे पुरुष वर ! (अस्यै) इस (नार्यै) स्त्री के लिये (शर्म) सुखदायक और (वर्म) कष्ट के निवारक (एतत्) यह सब पदार्थ (उपस्तरे) बिस्तर पर ओढ़ने बिछाने के लिये (आ हर) ले आ, उपस्थित कर। हे (सिनीवालि) स्त्रीजनो ! यह वधू (प्र जायताम्) उत्तम रीति से

२१-(द्वि०) 'नार्या उपस्तिरे' इति ह्विटनिकामितः।

पुत्र उत्पन्न करे और (भगस्य) ऐश्वर्यशील पति के (सुमतौ) उत्तम मति के अधीन (असत्) रहे ।

य बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन ।
तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥ २२ ॥

भा०—(यम्) जिस (बल्बजम्) बल्बज नामक घास को (न्यस्यथ) नीचे बिछाती हैं । (अथ) और उसके ऊपर (चर्म च) चर्म भी (उप स्तृणीथन) बिछा देती हो (तद्) उस पर (या कन्या) जो कन्या (पतिम्) पति को (विन्दते) वरती है वह (सुप्रजा) उत्तम प्रजा वाली होकर (आ रोहतु) चढ़ विराजे ।

उप स्तृणीहि बल्बजमधि चर्मणि रोहिते ।
तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥ २३ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू प्रथम (बल्बजम्) नर्म घास के आसन को (रोहिते चर्मणि अधि) रोहित नाम मृग के लाल चर्म पर (उपस्तृणीहि) बिछा दे (तत्र) उस पर (सुप्रजा) उत्तम सन्तान से युक्त पत्नी बैठकर (इमम् अग्निम्) इस गार्हपत्य अग्नि और परमेश्वर की (सपर्यतु) उपासना और अग्निहोत्र करे ।

आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥२४॥

भा०—हे सुभगे ! (चर्म आरोह) रोहित, मृगचर्म पर चढ़ । उस पर बैठ और (अग्निम् आसीद) परमेश्वर की उपासना कर । (एष देव) यह उपास्यदेव प्रकाशस्वरूप (सर्वा) समस्त (रक्षांसि) विघ्नकारियों को (हन्ति) विनाश करता है । (इह) इस गृह में (अस्मै पत्ये) इस पति

२३-(च०) 'सपर्यत' इति क्वचित् ।

के लिये (प्रजां जनय) प्रजा उत्पन्न कर । (ते एषः पुत्रः) यह तेरा पुत्र (सुज्येष्ठ्यः) उत्तम श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न (भवतु) हो ।

वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः ।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान् ॥ २५ ॥

भा०—जिस प्रकार (अस्याः) इस (मातुः) माता पृथ्वी के (उपस्थात्) गोद से (नानारूपाः) नाना प्रकार के (जायमानाः) उत्पन्न होनेहारे (पशवः) जीव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस वधू रूप माता के गर्भ से भी नाना सन्ततियां उत्पन्न होकर (वि तिष्ठन्ताम्) नाना जीवन-पथों पर प्रस्थान करें । हे नववधु ! तू (सुमङ्गली) शुभ मङ्गलयुक्त होकर (इमम्) इस (अग्निम्) गार्हपत्य अग्नि, तत्प्रतिनिधिरूप पति एवं परमेश्वर को (उप सीद) उपासना कर, सेवा कर और (सम्पत्नी) उत्तम गृहपत्नी होकर (इह) इस गृह में (देवान्) देवों, विद्वान् अतिथियों को (प्रति भूष) सेवा कर ।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ २६ ॥

भा०—(सुमङ्गली) उत्तम मङ्गलमय चिह्नों से युक्त और (गृहाणां प्रतरणी) गृह के जनों को दुःख से पार लगाने वाली (पत्ये) पति की (सुशेवा) उत्तम रूप से सेवा करनेहारी (श्वशुराय) श्वशुर को (शम्भूः) (श्वश्र्वै) सास को (स्योना) सुखी करने-कल्याण और सुख देने वाली हारी होकर (इमान्) इन (गृहान्) गृहजनों के बीच में (प्रविश) प्रवेश कर ।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ २७ ॥

भा०—हे नववधु ! (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरों के लिये (स्योना भव) सुखकारिणी हो (पत्ये गृहेभ्यः) पति के अन्य गृहजनों के लिये (स्योना) सुखकारिणी हो (अस्यै) इस (सर्वस्यै) समस्त (विशे) प्रजा के लिये (स्योना भव) सुखकारिणी हो । और (एषां) इन सब के (पुष्टाय) पुष्टि समृद्धि के लिये (भव) हो ।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥ २८ ॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।
वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ २९ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३३ ॥

भा०—हे सद्गृहस्थो ! (इयम्) यह (सुमङ्गली) शुभ मङ्गलमयी (वधूः) नववधू है । (सम् एत) आओ, पधारो । (इमां पश्यत) इसको देखो । और (अस्यै) इसको (सौभाग्यम्) उत्तम सौभाग्य का आशीर्वाद (दत्त्वा) प्रदान करके (विपरेतन) आप अपने २ घरों को पधारें । (याः) जो (युवतयः) जवान स्त्रियां (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाली हैं वे (दौर्भाग्यैः) दौर्भाग्यों सहित (विपरेतन) लौट जावें । और (याः च) जो (इह) इस स्थान पर (जरतीः अपि) वृद्ध स्त्रियां भी हैं वे (अस्यै) इसको (नु) ही (वर्चः) तेज (सं दत्त) प्रदान करें । (अथ) और अनन्तर (अस्तं) अपने २ घर को (विपरेतन) लौट जावें ।

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् ।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥ ३० ॥ (६)

२८–(तृ० च०) 'सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विपरेतन' इति ऋ० । 'सौभाग्यम् । अस्यै । दत्त्वाय । अथ । अस्तम् । विपरा । इतन' इति पदपाठः । इत्यत्र पाठो युक्ततरः । 'दौर्भाग्यैः' परेतन' इति ह्विट्नि० स० ।

भा०—(सावित्री) प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ (सूर्या) सूर्य के समान कान्तिमती, कन्या (बृहते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य के लिये (कम्) ही (रुक्मप्रस्तरणम्) सुनहले बिछौने से सजे (विश्वा रूपाणि) नाना सुन्दर रूपों के (बिभ्रतम्) धारण करने वाले (वह्यं) रथ पर (आरोहत्) सवार हो ।

आ रो॑ह॒ तल्पं॑ सुमन॒स्यमा॑ने॒ह प्र॒जां ज॑नय॒ पत्ये॑ अ॒स्मै ।
इ॒न्द्रा॒णीव॑ सु॒बुधा॒ बुध्य॑माना॒ ज्योति॑रग्रा उ॒षसः॒ प्रति॑ जागरासि ॥३१॥

भा०—हे नववधू ! तू (सुमनस्यमाना) शुभ चित्तवाली होकर (तल्पम्) सेज पर (आरोह) चढ़ । (अस्मै पत्ये) इस पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर । तू (इन्द्राणी इव) इन्द्र परमेश्वर की परम शक्ति या इन्द्र राजा की स्त्री महाराणी के समान (सुबुधाः) उत्तम ज्ञान सम्पन्न होकर (ज्योतिरग्रा) नक्षत्र=ताराओं वाली (उषसः) उषाओं में ही (बुध्यमाना) सचेत होकर (प्रति) प्रतिदिन (जागरसि) जागा कर । प्रातः सूर्य उगने से पूर्व नक्षत्रों के होते २ प्रथम पत्नी को जागना चाहिये ।

दे॒वा अग्रे॒ न्य॑पद्यन्त॒ पत्नीः॒ सम॑स्पृशन्त त॒न्व॑स्त॒नूभिः॑ ।
सू॒र्येव॑ नारि वि॒श्वरू॑पा महि॒त्वा प्र॒जाव॑ती॒ पत्या॒ सं भ॑वे॒ह ॥ ३२ ॥

भा०—(अग्रे) पूर्वकाल में (देवाः) देवगण, विद्वान् लोग भी (पत्नीः) अपनी पत्नियों के साथ (नि अपद्यन्त) एक सेज पर सोते हैं और (तन्वः) अपने शरीर को (तनूभिः) अपनी स्त्रियों के शरीर के साथ (सम् अस्पृशन्त) स्पर्श कराते, आलिंगन करते हैं । हे (नारि) स्त्रि—तू (सूर्या इव)

३१-(तृ०) 'इन्द्राणीव सुबुधा बुध्य-' (च०) 'प्रति जागरः' इति पैप्प० सं० ।
३२-(प्र०) 'देवाग्रे' इति पैप्प० सं० ।

सूर्य परमेश्वर की उत्पादक शक्ति के समान ही (महित्वा) अपने बड़े ऐश्वर्य से (विश्वरूपा) विश्वरूप हो, नाना सामर्थ्यवती होकर (प्रजावती) प्रजा से सम्पन्न होकर (इह) इस लोक में (पत्या) पति के साथ (सं भव) मिलकर सन्तान उत्पन्न कर ।

उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।
जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥३३॥
ऋ० १० । ८५ । २२ प्र० द्वि० तृ० च० ॥

भा०—हे (विश्वावसो) समस्त प्रकार के धनों के स्वामिन् ! वर पुरुष ! (इतः) तू यहां से (उत्तिष्ठ) उठ (त्वा) तेरी (नमसा) नमस्कार द्वारा (इडामहे) हम पूजा करते हैं । (पितृसदम्) पिता के घर में रहने वाली (न्यक्ताम्) अति सुशोभित सुस्नाता, अञ्जनादि से सुशोभित (जामिम्) कन्या या वधू को तू (इच्छ) प्राप्त कर, उसकी कामना कर । (सः) वह (ते) तेरा (भागः) भाग है (जनुषा) उत्पत्ति कर्म से (तस्य) उस को (विद्धि) प्राप्त कर ।

जामि· भगिनी इति यद्वत् । जनयन्ति अस्याम् इति निर्वचनात् जामिः कन्या पत्नी वा । इस मन्त्र से विवाहविधि के उत्तर पितृगृह में ही चतुर्थी कर्म में वर वधू को एकान्त तल्पारोहण की आज्ञा दी जाती है ।

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥३४॥
पूर्वार्धः अथर्व० ७ । १०९ । ३ प्र० द्वि० ॥

३३-(प्र०) 'उदीर्षातो विश्वा' (तृ०) 'अन्यामिच्छ', 'व्यक्ताम्' इति ऋ० । 'उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीडे' इति पैप्प० सं० । 'पितृषद विवोमिति' इति आपस्त० ।

३४-(प्र०) 'याप्सरस स' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(हविर्धानम् सूर्यम् च अन्तरा) हविर्धान अर्थात् पृथ्वी और सूर्य के बीच में (अप्सरसः) स्त्रियां (सधमादम्) एक ही साथ आनन्द उत्सव में मिलकर (मदन्ति) प्रसन्न होकर हर्ष प्रकट करें । हे गन्धर्व ! पुरुष (ताः ते जनित्रम्) वे तेरी जाया हैं (ताः अभि परा इहि) तू उनके समक्ष जा । हे गन्धर्व ! युवा पुरुष ! (ऋतुना) कन्या के ऋतुकाल के अवसर पर ही (नमः ते कृणोमि) तेरा आदर सत्कार करता हूं ।

गन्धर्व-ऋतुना इत्येकं पदम् पदपाठे । गन्धर्व ऋतुनेति पदद्वयम् इति ग्रीफ़िथः ।

नमो॑ गन्ध॒र्वस्य॒ नम॑से॒ नमो॒ भामा॑य॒ चक्षु॑षे च कृण्मः ।
विश्वा॑वसो॒ ब्रह्म॑णा ते॒ नमो॒ऽभि जा॒या अ॑प्स॒रसः॒ परे॑हि ॥ ३५ ॥

भा०—(गन्धर्वस्य) गन्धर्व, युवा पुरुष के (नमसे) बल वीर्य के लिये (नमः कृण्मः) हम आदर भाव प्रकट करें । और (भामाय) उसके अति दीप्तिमान् क्रोधपूर्ण (चक्षुषे) दृष्टि के लिये भी (नमः कृण्मः) हम नमस्कार करते हैं । हे (विश्वावसो) नाना धनों के स्वामिन् ! (ते) तेरा हम (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदमन्त्र द्वारा (नमः) पूजा करते हैं । तू (जायाः) अपनी जाया, स्त्री रूप (अप्सरसः) स्त्रियों के (अभि) पास (परेहि) जा । 'विश्वावसो, जायाः, अप्सरसः' इत्यादिषु एकवचनबहुवचनेन जात्याख्यायाम् बोध्ये ।

राया व॒यं सु॒मन॑सः स्या॒मोदि॒तो ग॑न्ध॒र्वमावी॑वृताम ।
अग॑न्त्स दे॒वः प॑र॒मं स॒धस्थ॒मग॑न्म॒ यत्र॑ प्रति॒रन्त॒ आयुः॑ ॥ ३६ ॥

३५–(प्र०) 'गन्धर्वस्य मनसे' इति ह्विटनिकामितः । 'गन्धर्वस्य नमसो नमो भामाय' (तृ०) 'विश्वावसो नमो ब्रह्मणा ते कृणोमि' इति पैप्प० सं० ।
३६–(च०) 'अगन्म वयम्' इति पैप्प० सं० । 'यत्र । प्रतिरन्तः । आयुः' इति काश्मीरवैदिकाभिमतः पदपाठः ।

भा०—(वयम्) हम लोग (राया) धन-सम्पन्न होकर भी (सुमनसः) एक दूसरे के प्रति शुभ चित्त वाले निष्कलह होकर प्रेम से (स्याम) रहें। और (इतः) यहां से (उत्) ऊर्ध्व स्थान पर (गार्हपत्यम्) पुरुष का (अवावृताम) हम प्राप्त करें। (सः देवः) वह देव (परमम् सधस्थम्) परम उच्च समान स्थान गृहाश्रम में (अगन्) प्राप्त होता है (यत्र) जहां हम भी (आयुः) दीर्घ जीवन (प्रतिरन्तः) प्राप्त करते हुए (अगन्म) उस स्थान पर जावें।

सं पि॒तरा॒वृत्वि॑ये सृजेथां मा॒ता पि॒ता च॒ रेत॑सो भवाथः ।
मर्य॑ इव॒ योषा॒मधि॑ रोहयै॒नां प्र॒जां कृ॑ण्वा॒थामि॒ह पु॑ष्यतं र॒यिम् ॥ ३७ ॥

भा०—हे (पितरौ) माता और पिताओ ! (ऋत्विये[1]) ऋतुकाल के अवसर पर तुम परस्पर (संसृजेथाम्) संगत हुआ करो, परस्पर मिला करो। (माता च पिता च) तुम माता पिता ही (रेतसः) अपने वीर्य से पुत्र रूप में (भवाथः) उत्पन्न हुआ करते हो। हे पुरुष ! (एनाम् योषाम्) इस अपनी पत्नी को (मर्यः इव) मर्द के समान (अधि रोहय) अपने सेज पर चढ़ा। हे स्त्री पुरुषो ! (इह) इस लोक में (प्रजाम् कृण्वाथाम्) प्रजा को उत्पन्न करो और (रयिम् पुष्यतम्) वीर्य को पुष्ट किये रहो।

तां पू॑षञ्छि॒वत॑मा॒मेर॑यस्व॒ यस्यां॒ बीजं॑ मनु॒ष्या॒३ वप॑न्ति ।
या न॑ ऊ॒रू उ॑श॒ती वि॒श्रया॑ति॒ यस्या॑मु॒शन्तः॑ प्र॒हरा॑म॒ शेपः॑ ॥ ३८ ॥
ऋ० १० । ८५ । ३७ ॥

३७-(प्र०) 'पितरा वृत्वये' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'अधिरोहय शेप एना'मिति लैन्मनकामितः स्वपाठः।

१ 'ऋत्विये' इति पदपाठः। तत्र पितरौ इत्यस्य विशेषणं 'ऋत्विये' इति स्त्रीलिंगप्रयोगश्चिन्त्यः।

३८-(तृ०) 'विश्रयाते' (च०) 'प्रहराम शेपम्' इति ऋ०, पैप्प० सं०। 'तां न विश्रयाते प्रहरम शेपम्' इति हि० गृ०

भा०—हे पूषन्! पोषक पते! तू (ताम्) उस परम प्रियतमा (शिवतमाम्) अति कल्याणकारिणी उस स्त्री को (प्रेरयस्व) प्राप्त कर, (यस्याम्) जिसमें (मनुष्याः) मनुष्य, मननशील पुरुष (बीजम्) अपना बीज (वपन्ति) बोते हैं। (या) जो स्त्री (उशती) कामना करती हुई (नः) हमारे लिये (ऊरू) अपनी दोनों जंघाएं (विश्रयाति) खोलकर धर दे और (यस्याम्) जिसमें हम (उशन्तः) कामना करते हुए (शेपः) प्रजनन अंग को (प्रहरेम) प्रवेश करावें।

आ रो॑हो॒रुमुप॑ धत्स्व॒ हस्तं॒ परि॑ ष्वजस्व जा॒यां सु॑मन॒स्यमा॑नः।
प्र॒जां कृ॑ण्वा॒थामि॒ह मोद॑मानौ दी॒र्घं वा॒मायुः॑ सवि॒ता कृ॑णोतु ॥३९॥

भा०—हे पुरुष! (ऊरुम्) अपनी पत्नी को प्रेम से अपनी जंघा पर (आरोह=आरोहय) चढ़ा ले। (हस्तम्) अपने हाथ को या बाहू को (उपधत्स्व) उसके सिरहाने के समान लगा दे। और (सुमनस्यमानः) शुभ चित्त वाला होकर (जायाम्) अपनी स्त्री को (परिष्वजस्व) आलिंगन कर। हे स्त्री पुरुषो! (इह) गृहस्थ में (मोदमानौ) परस्पर प्रसन्न रहते हुए, आनन्दविनोद करते हुए तुम दोनों (प्रजाम्) उत्तम सन्तानोत्पत्ति (कृण्वाथाम्) करो। (सविता) सब संसार का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (वां) तुम दोनों की (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (कृणोतु) करे।

आ वां॑ प्र॒जां ज॑नयतु प्र॒जाप॑तिरहोरा॒त्राभ्यां॒ सम॑नक्त्वर्य॒मा।
अदु॑र्मङ्ग॒ली पति॑लोक॒मा वि॑शे॒मं शं नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥४०॥ (१०) ऋ० १०।८५।४३॥

ऋ० । 'सा नः पूषा शिवतमेरय सा न ऊरू उशती विहर । यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै' पा० गृ० सू० ।

३९—'आरोहोरुमुपबर्हस्व बाहुम्' इति आप० मं० । (तृ०) 'रोहमाणौ' (च०) 'दीर्घं वामायुः स-' इति पैप्प० सं० ।

४०—(प्र०) 'आ नः प्रजां' (द्वि०) 'आजरसाय सम-' (तृ०) 'अदुर्मङ्गलीः प-' (च०) 'शंनो अस्तु' इति ऋ० ।

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का स्वामी, परिपालक परमेश्वर (वा) तुम दोनों की (प्रजाम्) प्रजा को (जनयतु) उत्पन्न करे (अर्यमा) न्यायकारी प्रभु तुमको (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात (सम् अनक्तु) एक दूसरे के साथ सदा परस्पर मिलाये रखे। हे वधू ! तू (अदुर्मङ्गली) दुःखदायी स्वरूप की न होकर (इमं) इस (पतिलोकम्) पतिगृह में (आविश) प्रविष्ट हो और (नः) हमारे (द्विपदे) दो पैर के मनुष्यों और (चतुष्पदे) पशुओं के लिये (शं शं भव) सदा कल्याणकारिणी, शान्तिदायिनी हो।

देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥४१॥

भा०—(देवैः) देव, दानशील वर कन्या के निमित्त देने वाले और (मनुना) मनु=प्रजापति, वर कन्या के पिता द्वारा (दत्तम्) प्रदान किये (वाधूयम् वासः) वधू के वरण करनेहारे वर का वस्त्र (वध्वः च वस्त्रम्) वधू के विवाहकाल के वस्त्र (एतत्) इस सबको (साकम्) एक साथ ही (यः) जो पति (चिकितुषे ब्रह्मणे) विद्वान् ब्राह्मण को (ददाति) प्रदान करता है (सः इत्) वह ही (तल्पानि=तल्प्यानि) तल्प अर्थात् सेज के ऊपर होने वाले (रक्षांसि) विघ्नों या बाधक कारणों को (हन्ति) नाश कर देता है। १४। १। २९ ॥ मन्त्र में 'वाधूयवस्त्र' के दान का वर्णन पूर्व आ चुका है। फल यहां दर्शाते हैं।

यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम् ॥ ४२ ॥

४१–(च०) 'तल्यानि' इति ह्विटनिकामितः। 'तल्प्यानि' इति पैप्प० सं०। (द्वि०) 'वाधूयं वध्वो वासोन्या' इति पैप्प० सं०।

४२–(प्र० द्वि०) 'यो नोददिते ब्रह्मभाग वधूयोर्वासो वध्वश्च वस्त्रम्' (च०) 'भत्ताम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (बृहस्पते !) बृहस्पते, बड़े २ लोकों के पालक और (इन्द्रः च) ऐश्वर्यशील परमेश्वर ! तुम दोनों (वधूयोः) वधू की कामना करने हारे वर का (वाधूयम्) कन्या को वरण करने के समय का (वासः) वस्त्र और उसी समय का (वध्वः च वस्त्रम्) वधू का वस्त्र इन दोनों के बने (यम्) जिस (ब्रह्मभागम्) ब्राह्मण के भाग को तुम दोनों आप (मे) मुझ ब्राह्मण को (दत्तः) प्रदान करते हो यह एक प्रकार से (युवम्) तुम दोनों (अनुमन्यमानौ) परस्पर अनुमति करते हुए ही (ब्रह्मणे) ब्राह्मण को (दत्तम्) प्रदान करते हो ।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ ४३ ॥

भा०—(स्योनात्) सुखकारी (योनेः) सेज या शयनस्थान में (अधि बुध्यमानौ) जागकर उठते हुए (हसामुदौ) परस्पर हंसी, विनोद युक्त होकर और (महसा) तेज और बल से (मोदमानौ) परस्पर आनन्द-विनोद करते हुए (सुगू) उत्तम इन्द्रियों या गौओं से सम्पन्न और (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रों से युक्त और (सुगृहौ) उत्तम गृह से सम्पन्न होकर (जीवौ) दोनों जीव-वर वधू, सुख से जीवन बीताते हुए (विभातीः) विविधरूप से प्रकाशमान (उषसः) उषाओं, दिनों को (तराथः) व्यतीत करें ।

नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः ।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥ ४४ ॥

भा०—मैं गृह का स्वामी (नवं वसानः) नये वस्त्र पहन कर (सुरभिः) सुगन्धित पदार्थों से युक्त (सुवासाः) उत्तम वस्त्रों से सुशोभित होकर (जीवः) सुख में जीवन धारण करता हुआ (विभातीः उषसः)

४३–(तृ० च०) 'सुगौ सुपुत्रौ सुगृहौ तराती जीवा उषसो विभातीः' इति पैप्प० सं० । 'तराथः' इति क्वचित् ।

विशेषरूप से प्रकाश वाली उषाओं में नित्य प्रतिदिन (उद् अगाम्) उठा करूं। और (पतत्री) पक्षी (आण्डात् इव) अण्ड से निकल कर जिस प्रकार बाहर आ जाता है और अण्ड से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार मैं (विश्वस्मात् एनस) समस्त पाप से (परि अमुक्षि) ऊपर होकर उससे मुक्त हो जाऊं।

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४५ ॥

अथर्व० ७ । ११२ । १ ॥

भा०—(शुम्भनी) सुहावने, मनभावने शुभचिन्तक (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी के समान रक्षक और आश्रयभूत माता पिता (अन्तिसुम्ने) समीप रहकर सदा सुख देने हारे (महिव्रते) बड़े २ कार्य करने वाले हैं। (सप्त) सातों प्रकार की (देवी) ज्ञान दर्शन कराने वाली (आपः) जलधाराओं के समान स्वच्छ ज्ञानधाराएं (सुस्रुवु) बहा करें। (ता) वे सब (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।
ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥ ४६ ॥

ऋ० १० । ८५ । १७ ॥

भा०—(सूर्यायै) संसार को उत्पन्न करनेहारी जगदम्बा शक्ति को, (देवेभ्यः) अग्नि, जल, सूर्य आदि देवों, (मित्राय) सब के स्नेही और (वरुणाय) सब के वरणीय श्रेष्ठ परमेश्वर के लिये और (ये) जो (भूतस्य) विश्व के (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञान करानेहारे गुरु (तेभ्यः) उन सब को (इदम् नमः) यह नमस्कार (अकरम्) करता हूं।

४५–(द्वि०) 'अन्ति सुम्ने' (तृ०) 'आप सप्त सस्रुवीः' इति पैप्प० सं०।
४६–(च०) 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' इति ऋ०। 'तेभ्योइमकरं नमः' इति पैप्प० सं०।

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ ४७ ॥
ऋ० ८ । १ । १२ ॥

भा०—(यः) जो मघवा परमेश्वर (ऋते) विना (अभिश्रिषः) चिपकने के पदार्थों, गोंद, सरेस आदि के और विना जोड़ने के पदार्थ कील आदि के (चित्) भी और (जत्रुभ्यः) गर्दन की हंसुली की हड्डियों में (आतृदः) छेद किये विना ही (संधिम्) संधियों को (संधाता) जोड़ता है और (विह्रुतं) कुल अंगों को भी (पुनः) फिर (निष्कर्त्ता) ठीक कर देता है वह (पुरुवसुः) इन्द्रियों में बसनेहारे आत्मा के समान समस्त लोकों में बसनेहारा परमात्मा ही (मघवा) परमेश्वर है ।

अपास्मत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत् ।
निर्दहनी या पृषातक्यस्मिन् तां स्थाणावध्या सजामि ॥ ४८ ॥

भा०—(नीलम्) नीला (पिशङ्गम्) पीला (उत) और (यत्) जो (लोहितम्) लाल रंग का (तमः) पाप या मलिन पदार्थ है वह (अस्मत्) हम से (अप उच्छतु) दूर हो । (या) जो (निर्दहनी) जलानेहारी (पृषातकी) स्पर्श से ही दुःख देने वाली, रोगादि पीड़ा या अविद्या (अस्मिन्) इस वरवधू के दिये वस्त्र में या संसार में (तां) उसको (स्थाणौ) स्थाणु, वृक्ष में या परब्रह्म में (अधि आसजामि) लगा दूं । अर्थात् वस्त्रगत सब दुष्प्रभावों को वृक्ष के प्रभाव से और अविद्या के दुष्प्रभावों को ब्रह्म के आश्रय से दूर करूं ।

४७–ऋग्वेदे मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वावृषी । इन्द्रो देवता । (च०) 'पुरूवसुरिष्कर्ता विह्रुतं पुनः' इति ऋ० । (प्र०) 'यद्रते' (द्वि०) 'जत्रुभ्यः' (तृ०) 'पुरोवसुः' इति तै० आ० । (द्वि०) 'आरिदः' इति पैप्प० सं० ।

यावती कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः ।
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधिसादयामि ॥४९॥

भा०—(यावतीः) जितने (कृत्याः) हिंसाकारी प्रयोग और हानिकारक क्रियाएं (उपवासने) वरवधू के वस्त्र में हैं और (यावन्तः) जितने (राज्ञः) राजा (वरुणस्य) वरुण परमात्मा के (पाशाः) पाश हैं। और (याः) जितनी (व्यृद्धयः) दरिद्रताएं और (याः) जो (असमृद्धयः) दुरवस्थाएं (अस्मिन्) इस वस्त्र में या संसार में हैं (ताः) उनको (स्थाणौ) वृक्ष में या वृक्ष के समान दृढ़स्थ परमात्मा के आश्रय में (अधि सादयामि) छोड़ता हूं।

या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः ।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम ॥ ५० ॥ (११)

भा०—(या) जो (मे) मेरी (प्रियतमा) अति प्रिय (तनूः) देह है (सा) वह मेरी देह (वाससः) इस वस्त्र से (बिभाय) भय खाती है। इसलिये हे (वनस्पते) वृक्ष (अग्रे) पहले (तस्य) उस वस्त्र का (त्वं) तू (नीविम् कृणुष्व) अपने देह में बांध ले। जिससे (वयम्) हम (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों।

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः ।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात् ॥ ५१ ॥

भा०—(ये अन्ताः) जो वस्त्र के जो कालर हैं, (यावतीः सिचः) और जितनी किनारियां हैं (ये ओतवः) जो ताने और (ये च तन्तवः) जो ताने के

४९-(प्र०) 'कृत्या उपवाचाने' (च०) 'अस्मिन् ता स्थाणावुन्मुञ्चामि सत्वम्' इति पैप्प० सं०।

५१-'वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुपस्पृशात्' इति पैप्प० सं०।

भूत हैं (यत् वासः) और जो वस्त्र (पत्नीभिः) गृहदेवियों ने (उतम्) बुना है (तत्) वह (वः) हमें (स्योनं) सुखपूर्वक (उपस्पृशात्) शरीर को छुए। यहां 'वासो यत् पत्नीभृतम्' यह पैप्पलादपाठ सुसंगतः है। कपड़ा जो पत्नी ने धारण किया है।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः ।
अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥ ५२ ॥

भा० —(उशतीः) पति की कामना करती हुई (इमाः) ये (कन्यलाः) कन्याएं (पितृलोकात्) पिता के घर से (पतिं यतीः) पति के पास जाती हुई (दीक्षाम्) व्रतदीक्षा, दृढ़ व्रत को (अव असृक्षत) धारण करती हैं। (स्वाहा) यही सब से उत्तम शिक्षा है या यही एक यज्ञाहुति या यश का कार्य है।

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।
वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५३ ॥

भा०—(बृहस्पति) बृहस्पति परमेश्वर की (अवसृष्टाम्[1]) रची हुई दीक्षा को (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान्गण (अधारयन्) धारण करते हैं। अतः दीक्षा के कारण ही (यत् वर्चः) जो तेज, वीर्य, ज्ञान और आदरभाव (गोषु) गौओं या वेदवाणियों में (प्रविष्टम्) विद्यमान है (इमाम्) इस कन्या को (तेन) उसी तेज, वीर्य और आदरभाव से (सं सृजामसि) युक्त करते हैं।

बृहस्पतिना० । तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेनं० ॥ ५४ ॥
बृहस्पतिना० । भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनं० ॥ ५५ ॥
बृहस्पतिना० । यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेनं० ॥ ५६ ॥

५३–'दीक्षामसृक्षतम्' इति पूर्वमन्त्राद्दीक्षापदस्यानुवृत्तिः ।

बृहस्पतिना० । पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेन० ॥ ५७ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।
रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५८ ॥

भा०—(बृहस्पति ना० इत्यादि) सर्वं पूर्ववत् । (गोषु) गौओं में (यत् तेजः प्रविष्टं) जो तेज प्रविष्ट है, (यत् भगः) जो ऐश्वर्य है, (यद् यशः) जो यश है, (यत् पयः) जो पुष्टिकारक दुग्ध है (यः रसः) जो रस, आनन्द है (तेन) उन सब पदार्थों से हम (इमां सं सृजामसि) इस कन्या को भी संयुक्त करते हैं ।

यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तो३घम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥ ५९ ॥

भा०—हे गृहस्थ पुरुष ! (यद्) जब (इमे) ये (केशिनः) लम्बे केशों वाले, केश खोलकर (जनाः) पुरुष (ते) तेरे (गृहे) घर में (रोदेन) अपने रोने चिल्लाने से (अघम्) पाप या बुरे दृश्य या विघ्न (कृण्वन्तः) करते हुए (सम् अनर्तिषु) बहुत नाच कूद करें अपने हाथ फेंकें, बिलखें तो (तस्माद्) उस (एनसः) बुरे कार्य या पाप से (त्वा) तुझे (अग्निः) ज्ञानी पुरुष (सविता च) उत्पादक परमेश्वर (प्रमुञ्चताम्) सदा भली प्रकार बचावें ।

यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्य१घम् ।
अग्निष्ट्वा० ॥ ६० ॥ (१२)

५९-(प्र०) 'यदमी' (द्वि०) 'कृण्वतीर' इति पैप्प० सं० ।
६०-(प्र०) 'यदस्यै दुहिता तव विकेश्यरुदत्' । 'बाहुरोपेण कृण्वत्यघम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यदि) यदि (इयम्) यह (तव) तेरी (दुहिता) सब कामों को पूर्ण करने हारी स्त्री या दूर देश में विवाह के निमित्त दी गयी कन्या (विकेशी) बाल खोल २ कर (गृहे) घर भर में (रोदेन) अपने रोने से (अघम्) बुरा, दुःखदायी दृश्य (कृण्वती) उपस्थित करती हुई (अरुदत्) रोवे तो (अग्निः त्वा० इत्यादि) अग्नि=आचार्य और सविता= परमेश्वर या तुम्हारे पिता तुम्हें इस बुरे दृश्य से मुक्त करें ।

यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम् ।
अग्निष्ट्वा० ॥ ६१ ॥

भा०—(यत्) यदि (जामयः) बहनें या कन्याएं, (यद् युवतयः) यदि युवती स्त्रियां (रोदेन अघम् कृण्वतीः सम् अनर्तिषुः) अपने रोने चिल्लाने के सहित उत्पात मचाती हुई हाथ पैर फेंकें तो (अग्निः त्वा० इत्यादि) इस बुरे कार्य से आचार्य और पिता तुम्हें मुक्त करें ।

यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥ ६२ ॥

भा०—हे गृहपते ! (यत्) जो (प्रजायाम्) तेरी प्रजा में (यद् वा पशुषु गृहेषु) और जो तेरे पशुओं और गृहों में (अघकृद्भिः) उपद्रव-कारियों से (कृतम्) किया गया (अघम्) उपद्रव (निष्ठितम्) उठ खड़ा हो (अग्निः त्वा० इत्यादि) ज्ञानी आचार्य और सविता पिता और परमेश्वर उस पापरूप उपद्रव से मुक्त करे ।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका ।
दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ६३ ॥

६३—' पूल्यानि, पूल्यानीत्यनेन संदिह्यते वर्णाकृतिसाम्यात् ।' (च०) ' पथन्तां पितरो मम ' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) ' गुल्फानि ' इत्या-

भा०—(इयं नारी) यह स्त्री (पूल्यानि) फुल्लियों या खीलों को (आवपन्तिका) अग्नि में आहुति करती हुई (उपब्रूते) परमात्मा से प्रार्थना करती है कि (मे पतिः) मेरा पति (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला (अस्तु) हो। और वह (शरदः शतम्) सौ बरस तक (जीवाति) जीवे।

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दंपती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्य᳡श्नुताम् ॥ ६४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (इमौ) इन दोनों (चक्रवाका इव) चकवा चकवी के समान परस्पर प्रेम से बंधे (दम्पती) पति पत्नीभाव से मिले हुए जोड़े को (सं नुद) प्रेरणा कर कि (एनौ) वे दोनों (सु-अस्तकौ) उत्तम घर में रहते हुए (प्रजया) अपनी प्रजा सहित (विश्वम् आयुः) समस्त आयु का (वि अश्नुताम्) नाना प्रकार से भोग करें।

यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्।
विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि ॥ ६५ ॥

भा०—(यत्) जो (आसन्द्याम्) आसन्दी, या खाट या पलङ्ग पर (यद्) जो (उपधाने) सिरहाने और (यद् वा) जो (उपवासने) वस्त्रों पर और (विवाहे) विवाह के समय (यां कृत्याम्) जिस घातक विषम प्रयोग को करते हैं (तां) उसको हम (आस्नाने) स्नान कराने वाले द्वारा ही (नि दध्मसि) दूर करते हैं। चौकी, गद्दा, बिछौना, वस्त्र पहनाना आदि सब कार्यों की जिम्मेदारी नाई पर रखनी चाहिये।

पूल्या० । ' कुल्यानि ' इति क्वचित् । ' लाजान् आवपन्तिका ' (च०) ' एधन्तां ज्ञातयो मम ' इति पा० गृ० सू० । ' इह वर्षाणि जीवतु ' इत्यपि पाभे० मै० ब्रा० ।

६४–(द्वि०) ' प्रजावन्तौ स्वस्तकौ दीर्घमा० ' इति पैप्प० सं० ।

६५–' आसन्द्या उप- ' इति पैप्प० सं० ।

यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्।
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम्॥ ६६॥

भा०—(यद्) जो (विवाहे) विवाह के अवसर पर और (यत् च) जो कुछ (वहतौ) दहेज में या रथ में (दुःकृतम्) बुरा, विघ्नकारी कार्य और (यत् शमलम्) जो शमल, घृणित, मलिन कार्य किया हो (वयम्) हम (तत् दुरितम्) उस बुरे कार्य को (सम्भलस्य) मधुर भाषी वरके प्रशंसक पुरुष के (कम्बले) कम्बल में (मृज्महे) शुद्ध करें। अर्थात् जो पुरुष कन्या के पिता के समक्ष वर के गुण वर्णन करता है उसका उसके कार्य के प्रति-फल में कम्बल दिया जाता है। वही विवाह के अवसर पर होने वाले विघ्न और त्रुटिका जिम्मेवार है। जैसे भृत्य के कार्य की त्रुटिको उसके वेतन में से पूर्ण करते हैं उसी प्रकार विवाह कार्य की त्रुटिको सम्भल के वेतन रूप कम्बल में से पूर्ण कर लेना चाहिये।

संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम्।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६७॥

भा०—(सम्भले) वर के प्रशंसक 'संभल' नामक पुरुष पर (मलं) विवाह के अवसर पर होने वाले दोष को अथवा दोष की उत्तर-दायिता को (सादयित्वा) डाल कर और (वयम् दुरितम्) हुई त्रुटिको (कम्बले) कम्बल पर डाल कर हम (यज्ञियाः) विवाह यज्ञ में आये बाराती लोग (शुद्धाः) शुद्ध, निर्दोष (अभूम) रहें। वह 'सम्भल' ही (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को उस अवसर (प्र तारिषत्) सुरक्षित रखता है। वही बरातियों के सुखपूर्वक रहने आदि का उत्तरदायी होता है।

६६–(तृ०) 'संभरस्य' इति पैप्प० सं०।
६७–(च०) 'तारिषन्' इति पैप्प० सं०।

कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः ।
अपास्या केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥ ६८ ॥

भा०—बालों को वधू कंघी से सवारा करे । (यः एषः) जो यह (शतदन्) सैकड़ों दांतों वाला (कृत्रिमः) कृत्रिम (कण्टक) कण्टक अर्थात् कंघा है वह (अस्याः) इस वधू के (शीर्षण्यम्) सिर के और (केश्यम्) केशों के (मलम्) मलको (अप अप लिखात्) बाहर निकाल कर दूर करे।

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि ।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् ।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥६६ ॥

भा०—(वयम्) हम लोग (अस्याः) इस वधू के (अङ्गात् अङ्गात्) एक एक अङ्ग से (यक्ष्मम्) रोगांश को (अप निदध्मसि) दूर करें। (तत्) वह मल (पृथिवीम् मा प्रापत्) पृथिवी को न प्राप्त हो, (मा उत देवान्) देवों, विद्वानों एवं दिव्य पदार्थों को भी प्राप्त न हो (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष और (दिवम्) द्यौ को भी (मा प्रापत्) प्राप्त न हो। हे अग्ने (एतत् मलम्) यह मल (अपः मा प्रापत्) जलों में भी न जाय। (यमं मा प्रापत्) यम ब्रह्मचारी और व्यवस्थापक और (सर्वान् च पितॄन्) समस्त प्रजा के पालकों को भी (मा प्रापत्) प्राप्त न हो। प्रत्युत तुझ में ही भस्म हो जाय। वेद के सिद्धान्त से मल को अग्नि में ही जलाना चाहिये। गृह्यसूत्रों में कन्या के सर्वाङ्ग दोषों को शमन करती हुई आहुतियां देते हैं।

६८–(प्र०) ' कृत्रिम. कंकतः ' (तृ०) ' अपास्याः केश्यम् ' इति पैप्प० सं० । ' कङ्कत ' इति च क्वचित् ।

६९–(प्र० द्वि०) ' योऽयमस्यामुप यक्ष्म निपत्त नः ' इति पैप्प० सं० ।

सं त्वा॑ नह्यामि॒ पय॑सा पृथि॒व्याः सं त्वा॑ नह्यामि॒ पय॒सौष॑धीनाम् ।
सं त्वा॑ नह्यामि प्र॒जया॒ धने॑न॒ सा संन॑द्धा सनुहि॒ वाज॒मेमम् ॥७०॥ (१३)

भा०—हे वधू ! (त्वा) तुझको मैं (पृथिव्याः पयसा) पृथिवी के पुष्टिकारक पदार्थ, अन्न से (सं नह्यामि) भली प्रकार बांधता हूं । और (ओषधीनाम् पयसा) ओषधियों के पुष्टिकारक रस से (त्वा सं नह्यामि) तुझे भली प्रकारक बांधता हूं । (त्वा) तुझे (प्रजया) प्रजा और (धनेन) धन के बल से (सं नह्यामि) बांधता हूं । (सा) वह तू (सं नद्धा) खूब उत्तम रीति से मेरे संग बद्ध होकर (इमम्) इस (वाजम्) वीर्य को (सनुहि) धारण कर उत्पन्न कर । विवाह की उत्तर विधि में ' अन्नपाशेन मणिना ' इत्यादि तीन मन्त्रों से भात वरवधू क्रम से खाते हैं उससे परस्पर एक दूसरे को बांधते हैं ।

अमो॒ऽहम॑स्मि॒ सा त्वं सामा॒हम॒स्म्यृक्त्वं द्यौर॒हं पृ॑थि॒वी त्वम् ।
तावि॒ह सं भ॑वाव प्र॒जामा ज॑नयावहै ॥ ७१ ॥

भा०—पति पत्नी का जोड़ा कैसा है ? हे वधु ! (अहम्) मैं पति (अमः अस्मि) 'अम' यह मुख्य प्राण हूं और (सा त्वम्) तू वह 'वाक्'

७०—' सं त्वा नह्यामि पयसा घृतेन सं त्वा नह्याम्यप ओषधीभिः ।
सं त्वा नह्यामि प्रजयाहमद्य सा दीक्षिता सनवो वाजमस्मे ॥' इति तै० सं० ।

७१—(प्र०) ' अमूहमस्मि ' इति तै० ब्रा० । ' सा त्वमस्यमोऽहमस्मि ' इति पा० गृ० सू० । (च०) ' तावेह सं भवावहै ' ऐ० ब्रा० । ' तावेहि संभवाव सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वेत्तवै ' इति तै० ब्रा० । ' संभवावहै ', ' दधावहै ', ' वित्तवै ' इति मन्त्र० । ' तावेहि विवहावहै प्रजां प्रजनयावहै ' इति आ० गृ० सू० । ' तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै, पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः ' इति पा० गृ० सू० ।

है। (अहं साम) मैं सामवेद या गायन हूं और (त्वम् ऋक्) तू ऋग्वेद की ऋचा या गानपद है। (अहं द्यौः) मैं द्यौ, महान् आकाश हूं (त्वम् पृथिवी) तू पृथिवी है। (तौ) वे दोनों हम (सम् भवाव) एकत्र हों, मिलें और (प्रजाम्) प्रजा को (आ जनयावहै) उत्पन्न करें।

जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः।
अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ ७२ ॥

ऋ० ७। ९६। ४॥

भा०—(अग्रवः) अविवाहित पुरुष (नौ) हम दोनों के समान हों (जनियन्ति) प्रथम स्त्री की इच्छा करते हैं। और (सुदानवः) उत्तम दानशील, वीर्यदान में समर्थ या धनाढ्य पुरुष (पुत्रियन्ति) पुत्रों की कामना करते हैं। हम दोनों (अरिष्टासू) प्राणों को सुरक्षित रूप से रखते हुए (बृहते) बड़े भारी (वाजसातये) बलवीर्य के लाभ के लिये (सचेवहि) परस्पर मिलकर रहें।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥ ७३ ॥

भा०—(ये) जो (पितरः) गुरु, माता, पिता, वृद्ध पालकजन (वधूदर्शाः) वधू को देखने के निमित्त से (इमं) इस (वहतुम्) विवाह

७२–'नौ ऽग्रवः' इति ह्विटनिकामितः। 'जनीयन्तोन्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः' इति ऋ०। तत्र वसिष्ठ ऋषिः। सरस्वान् देवता।

७३–(तृ०) 'सम्पत्न्यै' इति क्वचित्।

७४–'पूर्वा। आगन' इति पदच्छेदः। 'पूर्वा। आ-अगत' इति ह्विटनिकामितः।

में (आगमन्) पधारे हैं (ते) वे (पत्न्यै) मेरी पत्नी (अस्यै वध्वै) इस वधू को (प्रजावत्) प्रजा सहित (शर्म) सुख प्राप्त करने के आशीर्वाद (सं यच्छन्तु) प्रदान करें ।

येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा ।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥ ७४ ॥

भा०—(या) जो (इदं) यह कुलपद्ध (रशनायमाना) रस्सी के समान, या शृंखला के समान एक के बाद दूसरी वंश परम्परा (पूर्वा) हम से पूर्व (आ अगन्) आती चली आ रही है वह (अस्यै) इस वधू को (प्रजाम्) प्रजा और (द्रविणं च) धन (दत्त्वा) देकर (ताम्) उसको (अगतस्य) भविष्यत् के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनु वहन्तु) ले जांय । और (इयं) यह (विराड्) विशेषरूप से शोभा या आनन्द देने वाली पत्नी (सुप्रजा) उत्तम प्रजा युक्त होकर (अति अजैषीत्) सब से आगे बढ़ जाय ।

एषाऽस्य पुरुषस्य पत्नी विराट् । श० १४ । ६ । ११ । ३ ॥ विराट् विरमणाद् विराजनाद्वा । दै० य० ३ । १२ ॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वायं शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥७५॥(१४)

भा०—हे वधु ! तू (सुबुधा) उत्तम ज्ञान युक्त, पूर्व सुख से शीघ्र जागने वाली होकर (बुध्यमाना) प्रातः सचेत जागृत रहकर (शतशारदाय) सौ बरस के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (प्र बुध्यस्व) खूब अच्छी प्रकार जागृत रह, सचेत रह । (गृहान् गच्छ) तू घर में ऐसे जा,

---

७५-(तृ०) 'गृहान् प्रेहि सुमनस्यमाना' (च०) 'वायुः सवि-' इति पैप्प० सं० ।

प्रवेश कर (यथा) जिस प्रकार (गृहपत्नी असः) तू गृह स्वामिनी हो। (सविता) सर्वोत्पादक परमात्मा (ते आयुः दीर्घम् कृणोतु) तेरी आयु को लम्बा करे।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकं सूक्तम्, ऋचश्च पञ्चसप्ततिः।]

इति चतुर्दशं काण्डं समाप्तम्।

अनुवाकयुगं सूक्तयुगं चैव चतुर्दशे।
एकोनचत्वारिंशत्स्याच्छतं तत्र ऋचां गणः॥

वाणवस्वङ्कचन्द्राब्देऽषाढशुक्लस्य पञ्चमी।
भृगौ चतुर्दशं काण्डमाथर्वणमुपारमत्॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते-ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये चतुर्दशं काण्डं समाप्तम्।

❀ ओ३म् ❀

अथ पञ्चदशं काण्डम्

[१ (१)] व्रात्य प्रजापति का वर्णन ।

अध्यात्मकम् । मन्त्रोक्ताः उत व्रात्यो देवता । तत्र अष्टादश पर्यायाः । १ साम्नीपंक्तिः, २ द्विपदा साम्नी बृहती, ३ एकपदा यजुर्बाह्मी अनुष्टुप्, ४ एकपदा विराड् गायत्री, ५ साम्नी अनुष्टुप्, ६ प्राजापत्या बृहती, ७ आसुरीपंक्तिः, ८ त्रिपदा अनुष्टुप् । अष्टर्चं प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

व्रात्यं आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥ १ ॥

भा०—(व्रात्यः) 'व्रात्य' वैकारिक अहंकार आदि प्राकृतिकगण का स्वामी, या सब देह से आवृत जीवों का स्वामी, या स्वामीरूप से वरण करने हारे जीवों या अधीन प्रजाओं का हितकारी राजा के समान प्रभु, या सब व्रतों का एकमात्र उपास्य, व्रात्य परमेश्वर (ईयमानः) गति करता (आसीत्) रहता है । (सः) वही अपने को (प्रजापतिम्) प्रजा के पालक प्रजापति, मेघ, पर्जन्य और आत्मा के रूप में (सम् ऐरयत्) प्रेरित करता है, प्रकट करता है ।

व्रियन्ते देहेन इति व्रताः, तेषां समूहाः व्राताः, जीवसमूहाः । तेषां पतिर्व्रात्यः परमेश्वरः । वृण्वते इति व्रताः, तेभ्यो हितः व्रात्यः । व्रतेषु भवो वा व्रात्यः ।

---

[१] १–'व्रात्यो वा इदमग्र आसीत्' इति पैप्प० सं० ।

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् ॥ २ ॥

भा०—(स प्रजापतिः) वह प्रजापति (आत्मन्) अपने आत्मा में ही (सुवर्णम्) सुवर्ण=तेजोमयरूप को स्वयं (अपश्यत्) देखता है। (तत्) वह ही (प्र अजनयत्) पुनः संसार को उत्पन्न करता है।

तदेकमभवत् तल्ललाममभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत ॥३॥

भा०—(तत्) वह (एकम् अभवत्) एक है, (तत् ललामम् अभवत्) वह ललाम=सब से सुन्दर, एवं सबका योनि, स्थान, सबके उत्पादक बीजों को धारण करनेहारा (अभवत्) रहा। (तत्) वह (महत् अभवत्) सब से महान् रहा। (तत् ज्येष्ठम् अभवत्) वही 'ज्येष्ठ' था, (तद् ब्रह्म अभवत्) वह ब्रह्म था। (तत् तपः अभवत्) वह तप था। (तत् सत्यम् अभवत्) वह सत्य था। (तेन) उस परमेश्वर के सामर्थ्य से यह (प्र अजायत) सुन्दर संसार ऐसे सुन्दर रूप में उत्पन्न हुआ और होता है।

सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् ॥ ४ ॥

भा०—(सः अवर्धत) वह और भी बढ़ा। (स महान् अभवत्) वह 'महान्' हुआ। इसीलिये (सः) वह (महादेवः अभवत्) 'महादेव' है।

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥

भा०—(सः) वह (ईशाम्) ऐश्वर्यशील, जगत् को वश करने वाले (देवानाम्) देवों, अग्नि, वायु, जल, आदि महान् शक्तियों पर भी (परि-ऐत्) शासक है। अतः (सः ईशानः अभवत्) वह 'ईशान' है।

२–'आत्मनः सुवर्णमपश्यत्' इति पैप्प० सं०।

४, ५–'महादेवोऽभवत् स ईशानोऽभवत्' इति पैप्प० सं०।

स एकव्रात्यो॑ऽभव॒त् स धनु॒राद॑त्त॒ तदे॒वेन्द्र॑धनुः ॥ ६ ॥

भा०—(सः) वह (एक व्रात्यः) एक मात्र व्रात्य है, वह एक मात्र समस्त व्रतों का आश्रय, सब 'व्रात' जीवगणों, देवगणों, भूतगणों का स्वामी उनमें एक व्यापक सत्-रूप है। (सः) वह (धनुः) धनुष् को (आदत्त) ग्रहण करता है। (तद् एव) वह ही (इन्द्र धनुः) इन्द्र का धनुष् है। अर्थात् वह परमेश्वर धनुः अर्थात् समस्त संसार के प्रेरक बल को अपने वश करता है और वही प्रेरक बल 'इन्द्र-धनुष्' है। जिसका प्रति रूप, मेघरूप प्रजापति का 'इन्द्र-धनुष' है।

नील॑मस्यो॒दरं॒ लोहि॑तं पृ॒ष्ठम् ॥ ७ ॥

भा०—(अस्य) उस धनुष् का (उदरम् नीलम्) उदर अर्थात् भीतर का भाग नीला और (पृष्ठम् लोहितम्) पीठ का, बाहरी भाग लोहित=लाल है।

नीले॑नै॒वाप्रि॑यं॒ भ्रातृ॑व्यं॒ प्रोर्णो॑ति॒ लोहि॑तेन द्वि॒षन्तं॑ विध्य॒तीति॑ ब्रह्मवा॒दिनो॑ वदन्ति ॥ ८ ॥

भा०—(ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मवादी, ब्रह्म के उपदेष्टा (इति) इस प्रकार (वदन्ति) उपदेश करते हैं कि वह परमेश्वर अपने धनुष के (नीलेन एव) नीले भाग से ही (अप्रियम्) अप्रिय (भ्रातृव्यम्) शत्रु को (प्र ऊर्णोति) आच्छादित करता, बांधता है और (लोहितेन) लोहित=लाल भाग से (द्विषन्तं) द्वेष करने हारे को (विध्यति) बेंधता है। ईश्वर के सत्व, रजः तमोमय त्रिगुणात्मक धनुष् के तामस भाग से अप्रिय, मूढ़ पुरुष को आवृत करता और क्रोधात्मक द्वेषी को राजस गुण से पीड़ित करता है।

(२) व्रात्य प्रजापति का वर्णन ।

१-४ (प्र०), १ प०, ४ प० साम्नीअनुष्टुप्, १, ३, ४ (द्वि०) साम्नी

६-' स देवानामेक व्रात्यः '...... तदिन्द्रधनुरभवत् ' इति पैप्प० सं० ।

त्रिष्टुप् , १ दै० द्विपदा आर्षी पङ्क्ति , १ ३, ४ (च०) द्विपदा ब्राह्मी गायत्री, १-४ (प०) द्विपदा आर्षी जगती २ (प०) साम्नी पङ्क्ति ३ (प०) आसुरी गायत्री, १-४ (स०) पदपङ्क्ति, १-४ (अ०) त्रिपदा प्राजापत्या त्रिष्टुप , २ (द्वि०) एकपदा उष्णिक , २ (तृ०) द्विपदा आर्षी भुरिक् त्रिष्टुप्, २ (च०) आर्षी पराऽनुष्टुप ३ (तृ०) द्विपदा विराडार्षी पङ्क्ति , ४ (तृ०) निचृदार्षी पङ्क्ति । अष्टाविंशत्यृच द्वितीय पर्यायसूक्तम् ॥

स उद॑तिष्ठ॒त् स प्राचीं दिश॒मनु॒ व्य/चलत् ॥ १ ॥ तं बृ॒हच्च॑ रथ
न्त॒रं चा॑दि॒त्याश्च॒ विश्वे॑ च दे॒वा अ॑नु॒व्य/चलन् ॥ २ ॥ बृ॒ह॒ते च॒ वै
स र॑थन्त॒राय॑ चादि॒त्येभ्य॑श्च॒ विश्वे॑भ्यश्च दे॒वेभ्य॒ आ वृ॑श्चते॒ य ए॒वं
वि॒द्वांसं॒ व्रात्य॑मुप॒वद॑ति ॥ ३ ॥ बृ॒ह॒तश्च॒ वै स र॑थन्त॒रस्य॑ चादि॒
त्याना॑ च॒ विश्वे॑षां च दे॒वानां॑ प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ तस्य॒ प्राच्यां॑
दि॒शि ॥४॥ श्र॒द्धा पुं॒श्चली॑ मि॒त्रो मा॑ग॒धो वि॒ज्ञानं॒ वासो॒ऽह॑रु॒ष्णीषं॒
रात्री॒ केशा॒ हरि॑तौ प्र॒व॒र्तौ क॑ल्म॒लिर्म॒णिः ॥५॥ भू॒तं च॑ भवि॒ष्यच्च॑
परिष्क॒न्दौ मनो॑ विप॒थम् ॥ ६ ॥ मा॒त॒रिश्वा॑ च॒ पव॑मानश्च विप
थवा॒हौ वातः॒ सार॑थी रे॒ष्मा प्र॑तो॒दः ॥ ७ ॥ की॒र्तिश्च॒ यश॑श्च पुरः
स॒रावैनं॑ की॒र्तिर्ग॑च्छ॒त्या यशो॑ गच्छति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ८ ॥

भा०— स) वह व्रात्य (उद् अतिष्ठत्) उठा । (स) वह (प्राचीं दिशाम) प्राची दिशा को (अनुव्यचलत्) चला ॥ १ ॥ (तम् अनु) उसके पीछे २ (बृहत् च रथन्तरम् च) बृहत् और रथन्तर (आदित्याः च विश्वे च देवाः) आदित्य और विश्वेदेव (अनुव्यचलन्) चले ॥ २ ॥ (य एवं विद्वांसम्) जो पुरुष इस प्रकार के विद्वान् व्रात्य की

४—' प्रियं धा भवति य एवं वेद ' इति ह्विटनिकामितः ।

(उपवदति) निन्दा करता है वह (बृहते च वै रथन्तराय) बृहत् और रथन्तर, (आदित्येभ्यः च विश्वेभ्यः देवेभ्यः च) आदित्य और विश्वे देवों के प्रति (आ वृश्चते) अपराध करता है ॥ ३ ॥

उस व्रात्य का स्वरूप क्या है ? (तस्य) उसके (प्राच्यां दिशि) प्राची दिशा में (श्रद्धा पुंश्चली) श्रद्धा नारी के समान है, (मित्रः मागधः) मित्र सूर्य उसका मागध, स्तुतिपाठक के समान है, (विज्ञानं वासः) विज्ञान उसका वस्त्र के समान है। (अहः उष्णीषम्) अहः=दिन उसकी पगड़ी के समान है । (रात्री केशाः) रात्री उसके केश हैं। (हरितौ) दोनों पीत वर्ण के उज्ज्वल सूर्य और चन्द्र (प्रवर्त्तौ) दो कुण्डल हैं। (कल्मलिः) तारे उसके (मणिः) देह पर मणियें हैं। (भूतं च भविष्यत् च) भूत और भविष्यत् उसके (परिस्कन्दौ) आगे पीछे चलने वाले दो पैदल सिपाही हैं । (मनः) मन उसका (विपथम्) नाना मार्गों में चलने वाला युद्ध का रथ है ॥ ६ ॥ (मातरिश्वा च पवमानश्च)मातरिश्वा और पवमान दोनों (विपथवाहौ) उसके युद्धरथ के घोड़े हैं। (वातः सारथिः) वात, सारथि है। (रेष्मा प्रतोदः) बवण्डर उसका हण्टर है ॥ ७ ॥ (कीर्त्तिः च) कीर्त्ति और (यशः च) यश उसके (पुरःसरौ) आगे चलने वाले हरकारे हैं। (यः एवं वेद) जो प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप का साक्षात् कर लेता है (एनं) उसको (कीर्त्तिः गच्छति) कीर्त्ति प्राप्त होती है और (यशः आ गच्छति) यश प्राप्त होता है। महादेव के त्रिपुर विजयी रथ के पौराणिक अलंकार की इससे तुलना करनी चाहिये।

स उद॑तिष्ठत् स दक्षि॑णां दिश॒मनु॒ व्य॒चलत् ॥९॥ तं य॑ज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं च य॒ज्ञश्च॒ यज॑मानश्च प॒शव॒श्चानु॒व्य॒चलन् ॥ १० ॥ य॒ज्ञाय॒ज्ञिया॑य च वै स वा॑मदे॒व्याय॑ च य॒ज्ञाय॑ च यज॑मानाय च प॒शुभ्य॒श्चा वृ॑श्चते य ए॒वं वि॒द्वांसं॒ व्रात्य॑मुप॒वद॑ति ॥ ११ ॥ य॒ज्ञा-

यज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥ १२ ॥ उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं० ०मणिः ॥ १३ ॥ अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो० १० ॥ १४ ॥

भा०—प्रजापति व्रात्य का द्वितीय स्वरूप । (सः उद् अतिष्ठत्) वह प्रजापति व्रात्य उठ खड़ा हुआ । (सः दक्षिणाम् दिशम् अनुव्यचलत्) वह दक्षिण दिशा की ओर चला ॥ ९ ॥ (तम् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च, यज्ञः च, यजमानः च पशवः च अनुव्यचलन्) उसके पीछे यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशु भी चले ॥ १० ॥ (यः एवं विद्वांसं व्रात्यम् उपवदति) जो ऐसे विद्वान् व्रात्य की निन्दा करता है (यज्ञायज्ञियाय, च, वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च, यजमानाय च पशुभ्यः च आवृश्चते) वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान, और पशुओं के प्रति अपराधी होता है । और (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति का स्वरूप जान लेता है वह (यज्ञायज्ञियस्य च वै सः वामदेव्यस्य च, यज्ञस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति) यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान, और पशुओं का भी प्रिय आश्रय हो जाता है । (दक्षिणायाम् दिशि तस्य) दक्षिण दिशा में उसकी (पुंश्चली उषाः) उषा, पुंश्चली, नारी के समान है । (मन्त्रः मागधः) वेद मन्त्र समूह उसके स्तुति पाठक के समान, (विज्ञानं वासः) विज्ञान उसके वस्त्र के समान, (अहः उष्णीषम् रात्री केशाः हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिः मणिः) दिन पगड़ी, रात्रि केश, सूर्य चन्द्र दोनों कुण्डल और तारे गले में पड़ी मणियां हैं । ९ ॥ १३ ॥ (अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम्) अमावस्या और पौर्णमासी दोनों हरकारे हैं । मन उसका रथ है । (मातरिश्वा च० इत्यादि) पूर्ववत् ऋचा सं० ७८ की व्याख्या देखो ॥ १४ ॥

स उर्दतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्य/चलत् ॥ १५ ॥ तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥१६॥ वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ आ वृंश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ १७ ॥ वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं० मणिः ॥१९॥ अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो० । ० ॥ २० ॥

भा०—व्रात्य का तृतीय स्वरूप । (स उद् अतिष्ठत्० ॥ १५ ॥) वह व्रात्य उठा । वह प्रतीची अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर चला । (तं वैरूपं च, वैराजं च, आपः च वरुणः च राजा अनुव्यचलन् ॥ १६ ॥) उसके पीछे पीछे वैरूप, वैराज, आपः, और राजा वरुण चले । (वैरूपाय च० इत्यादि ॥ १७ ॥) जो ऐसे विद्वान् की निन्दा करता है वह वैरूप, वैराज, आपः और राजा वरुण का अपमान करता है । (वैरूपस्य० ''प्रियं धाम भवति) और जो उसको जान लेता है वह वैरूप, वैराज, आपः और राजा वरुण का प्रिय आश्रय हो जाता है ।

(तस्यां प्रतीच्याम् दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्चली, हसः मागधः विज्ञानं वासः इत्यादि) ॥ १९ ॥ (अहः च रात्री च परिष्कन्दौ मनः विपथम्० । ० ॥ २० ॥ इत्यादि पूर्ववत्) उसकी पश्चिम दिशा में इरा=अन्न पुंश्चली हस=आनन्द प्रमोद, उसका मागध=स्तुतिपाठक, विज्ञान वस्त्र, दिन पगड़ी रात्रि केश हैं, इत्यादि पूर्ववत् (ऋचा सं० ५) और रात्रि दो हरकारे मन रथ है, इत्यादि पूर्ववत् ऋचा (सं० ६) ॥ २० ॥

स उर्दतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्य/चलत् ॥ २१ ॥ तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्य/चलन् ॥ २२ ॥ श्यैताय

व्रात्य प्रजापति के चारों दिशाओं के प्रस्थान के चार रूप ।

दिशा	प्राची १	दक्षिणा २	प्रतीची ३	उदीची ४
अनुगन्तारः	बृहत्, रथन्तरम्, आदित्याः विश्वेदेवाः	यज्ञायज्ञियं, वामदेव्यं, यजमानः, पशवः	वैरूपं, वैराजं आपः, वरुणो, राजा	श्यैतं, नौधसं, सप्तर्षयः, सोमो राजा
पुंश्चली	श्रद्धा	उषा	इरा	विद्युत्
मागधः	मित्रः	मन्त्रः	हसः	स्तनयित्नुः
वासः	विज्ञानं	विज्ञानं	विज्ञानं	विज्ञानं
उष्णीषः	अहः	अहः	अहः	अहः
केशाः	रात्रिः	रात्रिः	रात्रिः	रात्रिः
प्रवर्त्तौ	हरितौ	हरितौ	हरितौ	हरितौ
मणिः	कल्मलिः	कल्मलिः	कल्मलिः	कल्मलिः
परिष्कन्दौ	भूतं, भविष्यत्	अमावस्या, पौर्ण०	अहः, रात्री	श्रुतं, विश्रुतं
विपथम्	मनः	मनः	मनः	मनः
विपथवाहौ	मातरिश्वा, पवमानः	मातरिश्वा, पवमानः	मातरिश्वा, पवमानः	मातरिश्वा, पवमानः
सारथिः	वातः	वातः	वातः	वातः
प्रतोदः	रेष्मा	रेष्मा	रेष्मा	रेष्मा

१—बृहत्=ऐश्वर्यं, दीर्घम् द्यौः, स्वर्गः, प्राणः, क्षत्रं, मनः अतः । रथन्तरम्=पृथिवी, वाक्, ब्रह्मवर्चसम्, ऋग्वेदः, अपानः, देवरथः, अन्नम्, अग्निः, प्रजननं । रथन्तरं परोक्षं वैरूपम् ।

(३) व्रात्य के सिंहासन का वर्णन ।

१ पिपीलिका मध्या गायत्री, २ साम्नी उष्णिक्, ३ याजुषी जगती, ४ द्विपदा आर्ची उष्णिक्, ५ आर्ची बृहती, ६ आसुरी अनुष्टुप्, ७ साम्नी गायत्री, ८ आसुरी पंक्तिः, ९ आसुरी जगती, १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ११ विराड् गायत्री। एकादशर्चं तृतीयं पर्याय सूक्तम् ॥

स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥ १ ॥

भा०—(सः) वह (संवत्सरम्) वर्ष भर तक (ऊर्ध्वः अतिष्ठत्) खड़ा ही रहा । (तं देवाः अब्रुवन्) उसको देवों ने कहा । (व्रात्य किं नु तिष्ठसि इति) हे व्रात्य प्रजापते ! तू क्यों खड़ा है ।

सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥

भा०—(सः अब्रवीत्) वह बोला (मे) मेरे लिये (आसन्दीं सं भरन्तु इति) आसन्दी, बैठने की चौकी या पीढ़ा या आसन ले आओ ।

तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ ३ ॥

भा०—(तस्मै व्रात्याय) उस व्रात्य के लिये (आसन्दीम् सम् अभरन्) चौकी ले आये ।

२—यज्ञायज्ञिय=अग्निः प्रजापतिः । वामदेव्य, शिरः, आत्मा, शान्ति- भेषज, प्रजनन, प्राजापत्य, प्राणः पशवः, यजमानलोक, अमृतलोकः, स्वर्गः अन्तरिक्षम् । स्वर्गो लोकः ।

३—वैरूप=वाग्, पशवः, दिश । वैराज=प्रजापति । आप=प्रजाः, वरुणो राजा पुत्रो राजा शासकः । बृहद्वैराजम् । बृहद् ... परोक्ष वैरूपम् ॥

४—श्यैतं ब्राह्म=ब्रह्मवर्चसः । नौधसम्-ब्रह्मवर्चसम् । सप्तर्षयः सप्त प्राणाः । सोमः राजा ब्रह्मचारी । बृहद् वै परोक्षं नौधसम् । रथन्तरं परोक्षं श्यैतम् ।

तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥४॥

भा०—चौकी का स्वरूप क्या था ? (तस्याः ग्रीष्मः च वसन्तः च द्वौ पादौ आस्ताम्) उस ' आसन्दी ' के दो पाये ग्रीष्म और वसन्त रहे । और (शरत् च वर्षाः च द्वौ) शरत् और वर्षा ये दो पाये और थे ।

बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये/ ॥ ५ ॥

भा०—(बृहतः च) ' बृहत् ' (रथन्तरम् च) और ' रथन्तर ' ये दोनों (अनूच्ये आस्ताम्) दायें बायें की लकड़ी थे, और (यज्ञायज्ञियम्) यज्ञायज्ञिय और (वामदेव्यं च) ' वामदेव्य ' ये दोनों (तिरश्च्ये) तिरछे, सिर-पांयते की लकड़ी थे ।

ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥

भा०—उस पीढ़े के (प्राञ्चः तन्तवः) लम्बे, तन्तु या निवार के पलेट (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र थे और (तीर्यञ्चः) तिरछे तन्तु या पलेट (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र थे ।

वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥ ७ ॥

भा०—(वेदः) वेद ज्ञानमय (आस्तरणम्) उसका बिछौना और (ब्रह्म उपबर्हणम्) ब्रह्म=ब्रह्मविद्या उसका सिरहाना था ।

सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥

भा०—(साम आसादः) 'साम' उस पीढ़े पर बैठने का स्थान था । (उद्गीथः उपश्रयः) उद्गीथ उसमें ढासने के 'हत्थे' लगे थे ।

तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥

५-' तिरश्चे ' इति क्वचित् ।

भा०—(ताम्) उस (आसन्दीम्) चौकी, पीढ़ी पर (व्रात्यः आरोहत्) प्रजापति व्रात्य चढ़ा।

तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः ।
प्रहाय्याः विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥

भा०—(तस्य) उसके (परिष्कन्दाः) चारों ओर खड़े होने वाले सहायक सिपाही (देवजनाः) दिव्य शक्तियां, या देवजन, विद्वान्गण थे। (संकल्पाः) सङ्कल्प ही (प्रहाय्याः) दूत या गुप्तचर थे। और (विश्वानि भूतानि) समस्त प्राणी (उपसदः) समीप बैठने वाले उपजीवी, भृत्य, दरबारी थे।

विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥ ११ ॥

भा०— यः एवं वेद) जो इस प्रकार जान लेता है या जो (एवं) व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है (अस्य) उसके समीप (विश्वानि एव भूतानि) समस्त प्राणी (उपसदः भवन्ति) निर्भय होकर उसकी शरण में रहते हैं।

(४) व्रात्य प्रजापति का राजतन्त्र।

१, ५, ६ (द्वि०) दैवी जगती, २, ३, ४ (प्र०) प्राजापत्या गायत्र्यः, १ (द्वि०), ३ (द्वि०) आर्च्यनुष्टुभौ १ (तृ०), ४ (तृ०) द्विपदा प्राजापत्या जगती, २ (द्वि०) प्राजापत्या पङ्क्तिः, २ (तृ०) आर्ची जगती, ३ (तृ०) भौमार्ची त्रिष्टुप्, ४ (द्वि०) साम्नी त्रिष्टुप्, ५ (द्वि०) प्राजापत्या बृहती, ५ (तृ०), ६ (तृ०) द्विपदा आर्ची पङ्क्तिः, ६ (द्वि०) आर्ची उष्णिक्। अष्टादशर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मै प्राच्या दिशः ॥ १ ॥ वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथन्तरं चानुष्ठातारौ ॥ २ ॥ वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च रथन्तरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ३ ॥

१०—'प्रहाय्यो वि-' इति क्वचित्।

भा०—(प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा में (तस्मै) उस व्रात्य के (वासन्तौ मासौ) वसन्त ऋतु के दोनों मासों को (गोप्तारौ अकुर्वन्) देवों ने रक्षक कल्पित किया। (बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर दोनों को (अनुष्ठातारौ) अनुष्ठाता, कर्मकर भृत्य या सेवक कल्पित किया। (यः एवं वेद) जो पुरुष व्रात्य प्रजापति के इस स्वरूप का भली प्रकार साक्षात् कर लेता है (एनं) उसको (वासन्तौ मासौ) वसन्त के दोनों मास (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं। (बृहत् च) बृहत् और (रथन्तरं च) रथन्तर दोनों (अनु तिष्ठतः) उसकी सेवा करते हैं।

तस्मै॑ दक्षि॒णाया॑ दि॒शः ॥ ४ ॥ ग्रैष्मौ॒ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वकु॑र्वन् यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑ ॥ ५ ॥ ग्रैष्मा॑वेनं॒ मासौ॑ दक्षि॒णाया॑ दि॒शो गो॑पायतो यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ६ ॥

भा०—(तस्मै) उस व्रात्य के (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा में (ग्रैष्मौ मासौ) ग्रीष्म के दोनों मासों को (गोप्तारौ अकुर्वन्) गोप्ता, अङ्गरक्षक कल्पित किया (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च अनुष्ठातारौ) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य इन दोनों को भृत्य कल्पित किया (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् जान लेता है (एनं) उस को (ग्रैष्मौ मासौ) ग्रीष्म के दोनों मास (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं और (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य दोनों उसकी (अनु तिष्ठतः) आज्ञा पालन करते हैं।

तस्मै॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शः ॥ ७ ॥ वार्षि॑कौ॒ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वकु॑र्वन् वैरू॒पं च॑ वैरा॒जं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑ ॥ ८ ॥ वार्षि॑कावेनं॒ मासौ॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शो गो॑पायतो वैरू॒पं च॑ वैरा॒जं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ९ ॥

भा०—(तस्मै प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा से उसके लिये (वार्षिकौ मासौ) वर्षा के दो मासों को (गोप्तारौ अकुर्वन्) रक्षक कल्पित करते हैं। और (वैरूपं च वैराजं च अनुष्ठातारौ) वैरूप और वैराज को अनुष्ठाता, आज्ञा पालक भृत्य कल्पित किया है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् जान लेता है (एनं) उसको (प्रतीच्या दिशः) प्रतीची=पश्चिम दिशा से पिछली तरफ से (वार्षिकौ मासौ गोपायतः) वर्षा काल के दोनों मास रक्षा करते हैं (वैरूपं च वैराजं च) वैरूप और वैराज ये दोनों (अनु तिष्ठतः) भृत्य के समान उस की आज्ञानुकूल कार्य करते हैं।

तस्मा उदीच्या दिशः ॥ १० ॥ शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्त्स्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ॥ ११ ॥ शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(उदीच्या दिशः) उत्तर दिशा से (तस्मै) उस व्रात्य प्रजापति के लिये (शारदौ मासौ) शरद् ऋतु के दोनों मासों को (गोप्तारौ) रक्षक (अकुर्वन्) बनाया। (श्यैतं च नौधसं च अनुष्ठातारौ) श्यैत और नौधस दोनों को उसके आज्ञा पालक भृत्य कल्पित किया। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् करता है (एनं) उसको (शारदौ मासौ) शरद ऋतु के दोनों मास (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं। (श्यैतं च नौधसं च) श्यैत और नौधस दोनों (अनु तिष्ठतः) उसकी सेवा करते हैं।

तस्मै ध्रुवाया दिशः ॥ १३ ॥ हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ॥ १४ ॥ हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १५ ॥

भा०—(ध्रुवायाः दिशः) ध्रुवा=नीचे की दिशा से (तस्मै) उसके लिये (हैमनौ मासौ) हेमन्त ऋतु के दोनों मासों को (गोप्तारौ अकुर्वन्)

रक्षक कल्पित किया । (भूमिं च अग्निम् च अनुष्ठातारौ) भूमि और अग्नि को उसके भृत्य कल्पित किया । (यः एवं वेद) जो व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् कर लेता है (एनम्) उसको (हैमनौ मासौ) हेमन्त ऋतु के दोनों मास (ध्रुवायाः दिशः) 'ध्रुवा' दिशा, अर्थात् भूमि की ओर से, नीचे से (गोपायतः) रक्षा करते हैं और (भूमिः च) भूमि और (अग्निः च) अग्नि (अनु तिष्ठतः) उसके भृत्य के समान काम करते हैं ।

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥ १६ ॥ शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥ १७ ॥ शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥

भा०—(ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (तस्मै) उसके लिये (शैशिरौ मासौ) शिशिर ऋतु के दोनों मासों को (गोप्तारौ) रक्षक (अकुर्वन्) कल्पित किया । और (दिवं च आदित्यं च) द्यौ=आकाश और सूर्य को (अनुष्ठातारौ) कर्मकर भृत्य कल्पित किया । १७ ॥ (यः एवं वेद) जो व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है (एनं) उसकी (शैशिरौ मासौ) शिशिर काल के दोनों मास (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (गोपायतः) रक्षा करते हैं और (द्यौः च आदित्यः च) आकाश और सूर्य (अनु तिष्ठतः) उसका भृत्य के समान काम करते हैं ॥ १८ ॥

(५) व्रात्य प्रजापति का राज्यतन्त्र ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्तो रुद्रो देवता । १ प्र० त्रिपदा समविषमा गायत्री, १ द्वि० त्रिपदा भुरिक् आर्ची त्रिष्टुप्, १–७ तृ० द्विपदा प्राजापत्यानुष्टुप्, २ प्र० त्रिपदा स्वराट् प्राजापत्या पंक्तिः, २–४ द्वि०, ६ त्रिपदा ब्राह्मी गायत्री, ३, ४, ६ प्र० त्रिपदा ककुभः, ५, ७ प्र० भुरिग्विषमागायत्र्यौ, ५ द्वि० निचृद् ब्राह्मी गायत्री, ७ द्वि० विराट् । षोडशर्चं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मै प्राच्यां दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥ भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥ नास्य पशून् समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(तस्मै) उस व्रात्य प्रजापति के लिये (प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) प्राची दिशा के भीतरी देश से (इष्वासम्) धनुर्धारी (भवम्) भव को (अनुष्ठातारम्) उसका कर्मचारी (अकुर्वन्) बनाया ॥ १ ॥ (यः एवम्) जो इसके इस रहस्य को (वेद) जानता है (एनम्) उसको (इष्वासः) धनुर्धर, (भवः) भव (प्राच्या दिशः अन्तः देशात्) प्राची दिशा के अन्तः देश से (अनुष्ठाता) उसका कर्मकर होकर (अनुतिष्ठति) उसकी आज्ञानुसार कार्य करता है। (न शर्व०) न शर्व, (न भव) न भव और (न ईशानः) न ईशान ही (एनं) उसको विनाश करता है और वे भव, शर्व, और ईशान (न अस्य पशून्) न इसके पशुओं को (न समानान्) और न इसके समान, बन्धुओं को ही (हिनस्ति) विनाश करता है।

तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥ शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं० ॥ ५ ॥

भा०—(दक्षिणायाः दिश अन्तः देशात्) दक्षिण दिशा के भीतरी भाग से देव विद्वानगण (तस्मै) उसके लिये (शर्वम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) शर्व धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित करते हैं। (यः एवं वेद शर्वः एनम् इष्वासः दक्षिणाया दिशः अन्तः देशात् अनुष्ठाता अनुतिष्ठति न एनं० (नास्य पशून्० इत्यादि पूर्ववत्) जो व्रात्य के इस प्रकार

के स्वरूप को जानता है शर्व धनुर्धर होकर दक्षिण दिशा के भीतरी देश से उसका भृत्य होकर उसके आज्ञानुसार कर्म करता है। और भव, शर्व और ईशान भी न उसको नाश करते हैं और न उसके मित्रों का नाश करते हैं।

तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥ पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनु० ॥ ७ ॥

भा०—(प्रतीच्याः दिशः अन्तः देशात्) पश्चिम दिशा के भीतरी देश से (तस्मै) उस व्रात्य प्रजापति के लिये (इष्वासम् पशुपतिम्) बाण फेंकने वाले धनुर्धर पशुपति को (अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) चाकर कल्पित करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के प्रजापति व्रात्य के स्वरूप को जानता है (पशुपतिः इष्वासः) पशुपति धनुर्धर (एनम्) उसको (प्रतीच्याः दिशः अन्तर्देशात्) पश्चिम दिशा के भीतरी प्रदेश से (अनुष्ठाता अनुतिष्ठति) भृत्य उसकी सेवा करता है (नैनं०) इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥ उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनु० ॥ ९ ॥

(तस्मै उदीच्याः दिशः इत्यादि) उत्तर दिशा से धनुर्धर उग्रदेव को उसका भृत्य कल्पित करते हैं। (य एवं वेद इत्यादि०) जो इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् करता है (उग्रः देवः इष्वासः एनं उदीच्या० इत्यादि) उग्र देव, धनुर्धर उसको उत्तर दिशा के भीतरी देश से सेवा करता है। इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥ रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनु० ॥ ११ ॥

भा०—(ध्रुवायाः दिशः अन्तर्देशात्) ध्रुवा=नीचे की दिशा के भीतरी देश से (तस्मै) उसके लिये (रुद्रम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) रुद्र धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित किया। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् करता है (एनं रुद्रः इष्वासः) उसको रुद्र धनुर्धर (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुवा दिशा के (अन्तः देशात् अनुष्ठाता अनुतिष्ठति नास्य पशवः० इत्यादि) भीतरी प्रदेश से उसकी सेवा करता है इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारम-कुर्वन् ॥ १२ ॥ महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशा-दनु० ॥ १३ ॥

भा०—(ऊर्ध्वायाः दिशः अन्तः देशात् तस्मै महादेवम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) ऊपर की दिशा के भीतरी देश से उसके लिये 'महादेव' धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित किया (यः एवं वेद महादेवः इष्वासः एनम्०) जो व्रात्य के ऐसे स्वरूप को साक्षात् जान लेता है ऊर्ध्व दिशा के भीतरी देश से महादेव धनुर्धर उसका कर्म कर होकर आज्ञा पालन करता है। (नास्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १४ ॥ ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ १५ ॥ नास्य पशून् न समा-नान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

भा०—(सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः तस्मै ईशानम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन्) समस्त भीतरी देशों से उसके लिये ईशान धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित करते हैं। (ईशानः एनम् इष्वासः सर्वेभ्यः अन्तः देशेभ्यः) समस्त अन्तर्देशों से ईशान धनुर्धर (अनुष्ठाता अनु तिष्ठति) भृत्य उसकी

आज्ञा पालन करता है (नैनं शर्व० इत्यादि) पूर्ववत् । (नास्य पशून्० इत्यादि) पूर्ववत् ।

(६) व्रात्य प्रजापति का प्रस्थान ।

१ प्र०, २ प्र० आसुरी पंक्तिः, ३–६, ९ प्र० आसुरी बृहती, ८ प्र० परोष्णिक्, १ द्वि०, ६ द्वि० आर्ची पंक्तिः, ७ प्र० आर्ची उष्णिक्, २ द्वि०, ४ द्वि० साम्नी त्रिष्टुप्, ३ द्वि० साम्नी पंक्तिः, ५ द्वि०, ८ द्वि० आर्षी त्रिष्टुप्, ७ द्वि० साम्नी अनुष्टुप्, ९ द्वि० आर्ची अनुष्टुप् १ तृ० आर्षी पंक्तिः, २ तृ०, ४ तृ० निचृद् बृहती, ३ तृ० प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ५ तृ०, ६ तृ० विराट् जगती, ७ तृ० आर्ची बृहती, ९ तृ० विराड् बृहती । षड्विंशत्यृचं षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

स ध्रुवां दिशमनु व्य/चलत् ॥ १ ॥ तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्य/चलन् ॥ २ ॥ भूमेश्च वै सोऽग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(सः ध्रुवाम् दिशम् अनुव्यचलत्) वह ध्रुवा=भूमि की ओर की दिशा को चला । (तम्) उसके साथ २ (भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतयः च वानस्पत्याः च वीरुधः च अनु वि अचलन्) भूमि अग्नि, ओषधियां, वनस्पतियें बड़े वृक्ष और उनसे बनने वाले नाना पदार्थ या उसकी जाति की लताएं भी इसके पीछे चलीं । (यः एवं वेद) जो व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है (सः भूमेः च, अग्नेः च, ओषधीनाम् च, वनस्पतीनां च, वानस्पत्यानां च, वीरुधाम् च प्रियम् धाम भवति) वह भूमि का, अग्नि का, ओषधियों का वनस्पतियों का, वनस्पति के बने विकारों का और उन लताओं का प्रिय आश्रय हो जाता है ।

स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥ ४ ॥ तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥ ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

भा०—(स ऊर्ध्वां दिशम् अनु वि अचलत्) वह ऊर्ध्वा, ऊपर की दिशा को चला। (ऋतं च, सत्यं च, सूर्यः च चन्द्रः च नक्षत्राणि च, तम् अनु वि अचलन्) ऋत, सत्य, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र उसके साथ उसके पीछे २ चले। (य एवं वेद ऋतस्य च, सत्यस्य च, सूर्यस्य च, चन्द्रस्य च, नक्षत्राणाम् च प्रियं धाम भवति) जो व्रात्य प्रजापति का इस प्रकार का रहस्य साक्षात् करता है वह ऋत, सत्य, सूर्य चन्द्र और नक्षत्रों का प्रिय आश्रय हो जाता है।

स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥ ७ ॥ तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥ ८ ॥ ऋचां च स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

भा०—(स उत्तमाम् दिशम् अनु वि अचलत्) वह व्रात्य प्रजापति उत्तमा=सब से अधिक ऊंचा दिशा की ओर चला (तम्) उसके पीछे पीछे (ऋचः च, सामानि च यजूंषि च, ब्रह्म च अनु वि अचलन्) ऋग्वेद के मन्त्र, साम गायन मन्त्र, यजुर्मन्त्र और ब्रह्मवेद, अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्र चले। (य एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है (ऋचां स, साम्नां च, यजुषां च ब्रह्मणः च, प्रियं धाम भवति) वह ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों का प्रिय आश्रय होजाता है।

स बृहतीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १० ॥ तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥ इतिहासस्य च वै स

पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सः) वह (बृहतीं दिशम् अनुव्यचलत्) 'बृहती' दिशा को चला । (११) (तम् इतिहासः च, पुराणं च, गाथाः च, नाराशंसीः च अनु वि-अचलन्) उसके पीछे २ इतिहास, पुराण, गाथाएं और नाराशंसियें भी चलीं । (१२) (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है (सः वै इतिहासस्य च, पुराणस्य च, गाथानां च, नाराशंसीनां च, प्रियं धाम भवति) वह निश्चय ही इतिहास पुराण, अर्थात् सृष्टि विषयक पुरातन ऐतिह्य, गाथा और नाराशंसियों का भी प्रिय आश्रय हो जाता है ।

स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥ १३ ॥ तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १४ ॥ आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥ १५ ॥

भा०—(सः परमान् दिशम् अनु वि-अचलत्) वह परम दिशा में चला । (तम् आहवनीयः च, गार्हपत्यः च, दक्षिणाग्निः च, यज्ञः च, यजमानः च पशवः च अनुव्यचलन्) उसके पीछे २ आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशु भी चले । (य एवं वेद सः वै आहवनीयस्य० प्रियं धाम भवति) जो व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के तत्व के जान लेता है वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान, और पशुओं को भी प्रिय आश्रय हो जाता है ।

सोऽनादिष्टां दिशमनु व्यचलत् ॥१६॥ तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्यचलन् ॥१७॥ ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥

भा०—स वह व्रात्य प्रजापति (अनादिष्टां दिशम् अनुव्यचलत्) 'अनादिष्टा' दिशा को चला। (तम् ऋतव च आर्तवा च, लोका च, लौक्या च, मासा च, अहोरात्रे च अनुवि अचलन्) उसके पीछे ऋतु, ऋतुओं के अनुकूल वायु आदि, लोक, लोक में विद्यमान नाना प्राणी, मास, अर्धमास, दिनरात ये सब चले। (य एवं वेद स वै ऋतूनां च० अहोरात्रयो च प्रिय धाम भवति) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है वह ऋतु, ऋतुओं के होने वाले विशेष पदार्थों, लोकों में स्थित पदार्थों और प्राणियों, मासों अर्धमासों दिनों और रातों का प्रिय आश्रय हो जाता है।

सोऽनावृत्तां दिशमनु व्य/चलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥ १६ ॥ त दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्य चलन् ॥ २० ॥ दितश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२१॥

भा०—(स) वह (अनावृत्तां दिशम् अनुव्यचलत्) 'अनावृत्ता' जिधर से लौटकर फिर न आया जाय उस दिशा को चला। (तत) तब वह व्रात्य प्रजापति अपने को (न आवर्त्स्यन्) कभी न लौटने वाला ही (अमन्यत) मानने लगा। (त) उसके पीछे (दिति च अदिति च) दिति और अदिति (इडा च इन्द्राणी च) इडा और इन्द्राणी भी (अनु व्य चलन्) चले। (य एवं वेद) जो प्रजापति के इस स्वरूप को साक्षात् करता है (स) वह (दिते च, अदितेः च, इडाया च, इन्द्राण्या च) दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी का (प्रिय धाम भवति) प्रिय आश्रय हो जाता है।

स दिशोऽनु व्यचलत् तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवा सर्वाश्च देवता ॥ २२ ॥ विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २३ ॥

१६—'सोऽमनात् या दिशम्' इति ह्विटनिकामित पाठ ।

भा०—(सः दिशः अनु व्यचलत्) वह समस्त दिशाओं में चला। (तं विराट् अनुव्यचलत्) उसके पीछे विराट् चला और (सर्वे च देवाः सर्वाः च देवताः) और सब देव और सब देवता भी उसके पीछे चले। (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जान लेता है (सः) वह (विराजः च सर्वेषां च देवतानां, सर्वासां च देवतानां) विराट् का, सब देवों और सब देवताओं का (प्रियं धाम भवति) प्रिय आश्रय हो जाता है।

स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥ २४ ॥ तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्य/चलन् ॥ २५ ॥ प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥२६॥

भा०—(सः) वह (सर्वान् अन्तर्देशान् अनु व्यचलत्) समस्त भीतरी दिशों में चला। (तम् प्रजापतिः च, परमेष्ठी च, पिता च, पितामहः च अनुव्यचलन्) उसके पीछे प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह भी चले। (यः एवं वेद) जो मनुष्य प्रजापति के इस प्रकार स्वरूप को साक्षात् करता है (सः वै) वह निश्चय से (प्रजापतेः च परमेष्ठिनः च, पितामहस्य च प्रियं धाम भवति) प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह का प्रिय आश्रय हो जाता है।

---

(७) व्रात्य की समुद्र विभूति।

१ त्रिपदानिचृद् गायत्री, २ एकपदा विराड् बृहती, ३ विराड् उष्णिक्, ४ एकपदा गायत्री, ५ पंक्तिः। पञ्चर्चं सूक्तम्।

स मंहिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अंगच्छत् स संमुद्रो भवत् ॥१॥

भा०—(सः) वह प्रजापति, व्रतपति, समस्त कर्मों और शक्तियों का आश्रय 'व्रात्य' (महिमा) महान्, अनन्त परिमाण वाला (सद्रुः) वेगशील (भूत्वा) होकर (पृथिव्याः अन्तम्) पृथिवी के सब ओर (अगच्छत्) व्याप्त हो गया। (सः समुद्रः अभवत्) वही समुद्र हो गया।

(८) व्रात्य राजा ।

१ साम्नी उष्णिक्, २ प्राजापत्यानुष्टुप्, ३ आर्ची पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

सो॑ऽरज्यत॒ ततो॑ राज॒न्यो॒ऽजायत ॥ १ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य प्रजापति (अरज्यत) सबका प्रेमपात्र हो रहा । (ततः) उसके बाद, उसी कारण से वह (राजन्यः अजायत) राजन्य अर्थात् राजा हुआ ।

स वि॒शः सब॑न्धू॒नन्न॑म॒न्नाद्य॑म॒भ्युद॑तिष्ठत् ॥ २ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य प्रजापति (सबन्धून् विशः) अपने बन्धुओं सहित समस्त प्रजाओं के और (अन्नम् अन्नाद्यम्) अन्न और अन्न के समान समस्त भोग्य पदार्थों या भोग सामग्रियों के (अभि-उत्-अतिष्ठत्) प्रति उठा । सबका अधिष्ठाता स्वामी हो गया ।

वि॒शां च॒ वै स सब॑न्धूनां॒ चान्न॑स्य॒ चा॒न्नाद्य॑स्य च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है (सः) वह (विशाम् सबन्धूनां) समस्त बन्धुओं सहित समस्त प्रजाओं का (अन्नस्य च अन्नाद्यस्य च) अन्न और अन्न से उत्पन्न अन्य खाद्य पदार्थों का (प्रियं धाम भवति) प्रिय आश्रय हो जाता है ।

(९) व्रात्य, सभापति, समितिपति, सेनापति और गृहपति ।

१ आसुरी, २ आर्ची गायत्री, आर्ची पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

स वि॒शोऽनु॒ व्य॑चलत् ॥ १ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य प्रजापति (विशः अनुव्यचलत्) प्रजाओं की ओर आया ।

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥

भा०—(तम्) उसके पीछे २ (सभा च समिति च, सेना च, सुरा च अनुव्यचलन्) सभा, समिति, और सेना और सुरा अर्थात् द्वी भी चले।

सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(य एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य के राजन्य स्वरूप को जानता है (स) वह (सभायाः च वै स समितेः च, सुरायाः च, प्रियं धाम भवति) सभा, समिति, सेना और सुरा अर्थात् द्वी का प्रिय आश्रय हो जाता है।

---

(१०) व्रात्य का आदर, ब्राह्मबल और क्षात्रबल का आश्रय।

१ दिग्सामन्नी बृहती, २ त्रिपदा आर्ची पंक्ति, ३ द्विपदा प्राजापत्या पंक्ति, ४ त्रिपदा वर्धमाना गायत्री, ५ त्रिपदा साम्नी बृहती, ६, ८, १० द्विपदा आसुरी गायत्री ७, ९ साम्नी उष्णिक् ११ आसुरी बृहती। एकादशर्चं सूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥

भा०—(तत्) तो (यस्य राज्ञः) जिस राजा के (गृहान्) घरों पर (एवं विद्वान्) इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् करने वाला (व्रात्यः) व्रात्य प्रजापति (अतिथिः) अतिथि होकर (आगच्छेत्) आवे वह (एनम्) इस विद्वान् 'व्रातपति' लोकपति प्रजापति, आचार्य को (आत्मनः) अपने लिये (श्रेयांसम्) अति अधिक कल्याणकारी अतिश्रेष्ठ मान कर (मानयेत्) उसका आदर करे (तथा) वैसा करने से वह (क्षत्राय) क्षत्र अर्थात् क्षात्रबल या राज्य का (न आ वृश्चते)

अपराध नहीं करता (तथा) इसी प्रकार वह (राष्ट्राय न आ वृश्चते) अपने राष्ट्र का भी अपराध नहीं करता। विद्वान् अतिथि की सेवा कर के राजा अपने क्षात्र तेज, बल और राज्य और राष्ट्र को हानि नहीं पहुंचाता।

अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥३॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्र विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ॥४॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥ ५ ॥

भा०—(अतः) उस विद्वान् प्रजापति रूप आचार्य से ही (ब्रह्म च) ब्रह्म-वेद और वेदज्ञ ब्राह्मण और (क्षत्रं च) क्षात्रबल और वीर्यवान् क्षत्रिय (उत् अतिष्ठताम्) उत्पन्न होते हैं। (ते अब्रूताम्) वे दोनों कहते हैं। (कम् प्रविशाव) हम दोनों ब्रह्मबल और क्षात्रबल कहां प्रविष्ट होकर रहें। (अतः) इस पूज्य से उत्पन्न (ब्रह्म) ब्रह्मबल, ब्रह्मज्ञान, वेद और ब्राह्मण लोग (बृहस्पतिम् एव प्रविशतु) बृहस्पति परमेश्वर या महान् वेदज्ञ का आश्रय लें और (क्षत्रम्) क्षात्रबल, वीर्य (इन्द्रं प्रविशतु) ऐश्वर्यवान् राजा का आश्रय लें। (तथा वा इति) ब्रह्म और क्षत्र दोनों को 'तथाऽस्तु' कह कर स्वीकार करता है। (अतः वै) निश्चय से उस पूज्य आचार्य प्रजापति से उत्पन्न (ब्रह्म) ब्रह्मबल (बृहस्पतिम् एव) बृहस्पति आचार्य में (प्र अविशत्) प्रविष्ट है। और (क्षत्रम् इन्द्रं प्र अविशत्) क्षात्रबल राजा के अधीन होता है।

इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥ ६ ॥

अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥

भा०—(इयम् वा उ पृथिवी बृहस्पतिः) यह पृथिवी ही बृहस्पति है और (द्यौः एव इन्द्रः) यह द्यौ इन्द्र है। अर्थात् बृहस्पति पृथिवी के समान सर्वाश्रय है (अयं वा उ अग्निः ब्रह्म) यह ब्रह्म ही अग्नि है और

(असौ आदित्य क्षत्रम्) यह आदित्य ' क्षत्र ' है । अर्थात् ब्रह्म अग्नि के समान प्रकाशमान है और क्षत्रबल सूर्य के समान तेजस्वी है ।

एनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥

यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥

भा०—(यः) जो (पृथिवीम् बृहस्पतिम्) पृथिवी को बृहस्पति और (अग्निम् ब्रह्म) अग्नि को ब्रह्म (वेद) जान लेता है (एनं) उसको (ब्रह्म आगच्छति) ब्रह्मबल प्राप्त होता है (ब्रह्मवर्चसी भवति) वह ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है ।

एनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥

य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

भा०—(यः) जो (आदित्यम् क्षत्रम्) आदित्य को क्षत्र=वीर्य और (दिवम् इन्द्रम् वेद) द्यौ लोक को इन्द्र जानता है अर्थात् जो आदित्य के समान क्षात्रबल को द्यौ लोक के समान इन्द्र राजा को जानता है (एनम्) उसको (इन्द्रियम्) इन्द्र का ऐश्वर्य (आगच्छति) प्राप्त होता है और वह (इन्द्रियवान् भवति) इन्द्रिय=इन्द्र के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है ।

(११) व्रात्यपति आचार्य का आतिथ्य और अतिथियज्ञ

१ दैवी पंक्तिः, २ द्विपदा पूर्वा त्रिष्टुप् अतिशक्वरी, ३,-६, ८, १०, त्रिपदा आर्ची बृहती (१० भुरिक्) ७, ९, द्विपदा प्राजापत्या बृहती ११ द्विपदा आर्ची, अनुष्टुप् । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

(११) १—२—' आदित्याग्नि चन्तिथिरभ्यागच्छेत् । स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति । व्रात्य उदकमिति व्रात्य तर्पयन्त्विति । पुरा प्रियोनस्त

भा०—(तद्) तो (यस्य) जिस गृहस्थ पुरुष के (गृहान्) घर पर (एवं विद्वान्) इस प्रकार के प्रजापति स्वरूप को जाननेहारा (व्रात्यः) व्रात पति. शिष्यगणों का आचार्य (अतिथिः) अतिथि होकर (आगच्छेत्) आवे तब—

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥

भा०—गृहपति (स्वयम्) अपने आप (एनम्) इसके समीप (अभि उत्-एत्य) उसके सन्मुख, उठकर, आकर (ब्रूयात्) आदर सत्कार पूर्वक कहे. हे (व्रात्य) 'व्रात्य' व्रतपते ! प्रजापते ! (क्व अवात्सीः) आप कहां रहते हैं। हे (व्रात्य) व्रात्य, प्रजापते ! (उदकम्) यह आपके लिये जल है। हे (व्रात्य) व्रात्य प्रजापते ! (तर्पयन्तु) ये मेरे गृह के जन आपको भोजन से तृप्त करें। (व्रात्य) हे व्रात्य ! प्रजापते ! (यथा) जिस प्रकार भी (ते) आपको (प्रियम्) प्रिय हो (तथा अस्तु) वैसा ही हो। हे (व्रात्य) व्रात्य ! (यथा ते वशः) जैसी आपकी इच्छा हो (तथा अस्तु) वैसा ही हो। हे (व्रात्य) व्रात्य प्रजापते ! (यथा ते निकामः) जिस प्रकार आपकी अभिलाषा हो (तथा अस्तु इति) वैसा ही हो अर्थात् वैसा ही किया जाय आप वैसा ही करने की आज्ञा दीजिये।

यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे ॥३॥

भा०—(यद्) जो (एनम्) अतिथि के प्रति (आह) गृहपति कहता है कि (व्रात्य क्व अवात्सीः इति) हे प्रजापते व्रात्य ! व्रतपते ! आप

तोमादुपयन्तु जनाः । व्रात्य यथा ते मनस्तथास्त्विति । व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ' इति आप० ४० सू० ।

कहां रहते हैं (तेन) इस प्रकार के प्रश्न से (देवयानान् पथः एव अवरुन्धे) देवयान मार्गों को अपने वश करता है ।

यदे॑नमाह॒ व्रात्योद॒कमित्य॒प ए॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥ ४ ॥

भा०—(यद्) जब (एनम् आह) अतिथि को गृहपति कहता है कि (व्रात्य उदकम् इति) हे व्रातपते ! यह जल है (अपः एव तेन अवरुन्धे) इससे वह समस्त ' अपः ', आप्तजनों, आप्तव्य ज्ञानों और कर्मों, बुद्धियों, प्रजाओं को अपने अधीन करता है ।

यदे॑नमाह॒ व्रात्य॑ त॒र्पय॒न्त्विति॑ प्रा॒णमे॒व तेन॒ वर्षी॑यांसं कुरुते ॥५॥

भा०—(यद् एनम् आह) जब इस अतिथि को कहा जाता है (तर्पयन्तु इति) कि मेरे गृहजन आपको भोजन से तृप्त करें (इति) इस प्रकार (तेन) भोजन से तृप्त करने के कार्य से वह (प्राणम् एव) अपने प्राण, जीवन को (वर्षीयांसम् कुरुते) चिर वर्षों तक रहने वाला कर लेता है अर्थात् अपने जीवन को ही दीर्घ करता है ।

यदे॑नमाह॒ व्रात्य॒ यथा॑ ते प्रि॒यं तथा॒स्त्विति॑ प्रि॒यमे॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥६॥

भा०—(यद् एनम् आह) जब इस अतिथि को कहा जाता है कि (यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति) जैसा आपको प्रिय हो वैसा ही हो (तेन प्रियम् एव अवरुन्धे) इससे वह गृहपति अपने प्रिय लगने वाले पदार्थों पर ही वश करता है ।

ऐनं॑ प्रि॒यं ग॑च्छति प्रि॒यः प्रि॒यस्य॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ७ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार के तत्व को जानता है (एनं प्रिय आ गच्छति) उसको समस्त प्रिय पदार्थ प्राप्त होजाते हैं । (प्रियः प्रियस्य भवति) अपने प्रिय लगने वाले जन को स्वयं भी वह प्रिय हो जाता है ।

यदे॑नमाह॒ व्रात्य॒ यथा॑ ते॒ वश॒स्तथा॒स्त्विति॒ वश॑मे॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥८॥

भा०—(यद् एनम् आह) जो अतिथि को कहता है कि (व्रात्य यथा ते वशः) हे व्रात्य जैसी आपकी कामना है (तथा अस्तु इति) वैसा ही हो (तेन वशम् एव अवरुन्धे) इससे कामनायोग्य सब पदार्थों को वह अपने वश करता है।

ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस तत्व को इस प्रकार साक्षात् कर लेता है (वशः) समस्त अभिलाषा योग्य पदार्थ (एनं आ गच्छति) उसको प्राप्त होते हैं। और वह (वशिनां वशी भवति) वशी लोगों से भी सब से बढ़ कर वशी, सब काम्य पदार्थों का स्वामी हो जाता है।

यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनाव रुन्धे ॥ १० ॥ ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

भा०—(यद् एनम् आह) जो अतिथि को कहा जाता है कि हे (व्रात्य यथा ते निकामः) व्रात्य ! जो आपकी कामना है (तथा अस्तु) वैसा ही हो, वैसी आज्ञा कीजिये (इति तेन निकामम् एव अवरुन्धे) उससे वह अपने ही कामना योग्य सब पदार्थों को प्राप्त करता है। (यः एवं वेद) जो इस तत्व को जानता है (एनं निकामः आ गच्छति) उसको उसका कामनायोग्य पदार्थ प्राप्त होता है और (निकामस्य निकामे भवति) जिसको वह चाहता है वह भी उसके इच्छा के अधीन हो जाता है।

(१२) अतिथि यज्ञ।

१ त्रिपदा गायत्री, २ प्राजापत्या बृहती, ३, ४ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप्, [४ साम्नी], ५, ६, ९, १० आसुरी गायत्री, ८ विराड् गायत्री, ७, ११ त्रिपदे प्राजापत्ये त्रिष्टुभौ। एकादशर्चं द्वादशं पर्यायसूक्तम् ॥

११–'निकामो' इति ह्विटनिकामितः।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेग्निहोत्रेतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्याति सृज होष्यामीति ॥ २ ॥

भा०—(तत्) तो (यस्य गृहान्) जिसके घर पर (एवं विद्वान् व्रात्य) इस प्रकार ज्ञानवान् 'व्रात्य', आचार्य, प्रजापति (उद्धृतेषु अग्निषु) अग्नियों के उद्धृत होने पर, अर्थात् गार्हपत्याग्नि से उठा कर आहवनीय में आधान किये जाने पर और (अग्निहोत्रे अधिश्रिते) अग्निहोत्र के प्रारम्भ हो जाने पर (आगच्छेत्) आवे तब गृहपति (स्वयम् एनम् अधि-उद्-एत्य) स्वयम् उसके लिये आदर पूर्वक उठ कर, उसके समीप आकर (ब्रूयात्) कहे (व्रात्य अतिसृज) हे व्रात्य, प्रजापते ! आज्ञा दो (होष्यामि इति) मैं अग्निहोत्र करूंगा ।

स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात् ॥ ३ ॥

भा०—(स च अतिसृजेत्) और यदि वह आज्ञा दे तो (जुहुयात्) हवन करे । (नच अतिसृजेत् न जुहुयात्) न आज्ञा करे तो न होम करे ।

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥

प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (एवं) इस प्रकार से (विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः) विद्वान् व्रात्य से आज्ञा पाकर (जुहोति) अग्निहोत्र करता है (सः) वह (पितृयाणं पन्थाम्) पितृयाण मार्ग को (प्रजानाति) भली प्रकार जान लेता है और (देवयानं प्र) देवयान मार्ग के तत्व को भी जान लेता है ।

१–३–' यस्योद्धृतेष्वद्धृतेष्वग्निष्वतिथिरभ्यागच्छेत्स्वयमेनमभ्युत्थेत्य ब्रूयात् व्रात्यातिसृज होष्यामि इत्यति सृष्टेन होतव्यम् । अनतिसृष्टश्चेज्जुहोति दोष आम्नायात् ' इत्यापस्तम्ब धर्म सूत्रे ।

न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥ ६ ॥ पर्यस्यास्मिल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (एवं) इस प्रकार (विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः जुहोति) विद्वान् प्रजापति से आज्ञा प्राप्त करके अग्निहोत्र करता है वह (न देवेषु आ वृश्चते) देवताओं, विद्वानों के प्रति कोई अपराध नहीं करता। (अस्मिन् लोके) इस लोक में (अस्य) इसका (आयतनम्) आयतन आश्रय या प्रतिष्ठा (परिशिष्यते) उसके बाद भी बनी रहती है।

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ८ ॥ न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥ ९ ॥ आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥१०॥ नास्यास्मिल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ११ ॥

भा०—(अथ) और (यः) जो (एवं विदुषा व्रात्येन) इस प्रकार के व्रात्य से (अनतिसृष्टः) विना आज्ञा प्राप्त किये ही (जुहोति) अग्निहोत्र करता है वह (न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम्) न पितृयाण के मार्ग के तत्व को जानता है और न देवयान के मार्ग को ही जानता है। वह (देवेषु आ वृश्चते) देवों, विद्वानों के प्रति भी अपराध करता है, उनको अप्रसन्न करता है। (अस्य अहुतम् भवति) उसके विना आज्ञा के हवन किया हुआ भी न हवन किये के समान है। वह निष्फल हो जाता है। और (यः) जो (एवं विदुषा व्रात्येन) इस प्रकार के विद्वान से (अनतिसृष्टः) विना आज्ञा प्राप्त किये (जुहोति) आहुति करता है (अस्य अस्मिन् लोके आयतनं न शिष्यते) उसका इस लोक में आयतन, प्रतिष्ठा भी शेष नहीं रहती।

(१३) अतिथि यज्ञ का फल ।

२ प्र० साम्नी उष्णिक्, १ द्वि० ३ द्वि० प्राजापत्यानुष्टुप्, २-४ (प्र०) आसुरी गायत्री, २ द्वि०, ४ द्वि० साम्नी बृहती, ५ प्र० त्रिपदा निचृद् गायत्री, ५ द्वि० द्विपदा विराड् गायत्री, ६ प्राजापत्या पङ्क्तिः, ७ आसुरी जगती, ८ सत: पङ्क्तिः, ९ अक्षरपङ्क्तिः । चतुर्दशर्चं त्रयोदशं पर्यायसूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ १ ॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥

भा०—(तद्) तो (यस्य गृहे) जिसके घर में (एवम् विद्वान् व्रात्यः) इस प्रकार का विद्वान व्रात्य प्रजापति (एकाम् रात्रिम्) एक रात्रि भर (अतिथिः) अतिथि होकर (वसति) रह जाता है (तेन) उससे वह गृहपति (ये पृथिव्यां पुण्याः लोकाः) जो पृथिवी पर पुण्य लोक हैं (तान् अव रुन्धे) उनको प्राप्त करता है, अपने वश करता है ।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥३॥
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥

भा०—(तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिम् वसति) तो जिसके घर पर इस प्रकार का विद्वान् व्रात्य अतिथि होकर दूसरी रात्रिभर भी रह जाता है (ये अन्तरिक्षे पुण्या लोकाः तान् तेन अव रुन्धे) तो वह गृहपति अन्तरिक्ष में जो पुण्य लोक हैं (तान् अव-रुन्धे) उनको अपने वश करता है ।

१-५-' एकरात्रं चेदतिथिं वासयेत् पार्थिवान् लोकान् अभिजयति द्वितीय यान्तरिक्ष्यां स्तृतीयया दिव्यांश्चतुर्थ्यापरावतो लोकानपरिमिताभिरपरिमिताल्लोकानभिजयतीति विज्ञायते ' इति आपस्तम्बधर्मसूत्रे ।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसंति ॥५॥
ये दिवि पुण्यां लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥

भा०—(तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः तृतीयां रात्रिम् अतिथिः वसति ये दिवि पुण्याः लोकाः तान् तेन अवरुन्धे) तो जिस घर में ऐसा विद्वान् व्रात्य तीसरी रात रह जाता है तो जो द्यौ लोक में पुण्य लोक हैं वह गृहपति उन पर भी वश करता है ।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसंति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्यां लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥

भा०—(तद् यस्य० चतुर्थीं रात्रिम्० वसति ये पुण्यानां पुण्या लोकाः०) जिसके घर पर इस प्रकार का विद्वान् व्रात्य अतिथि होकर रहता है वह जो पुण्य लोकों में से भी उत्तम पुण्य लोक हैं उनको अपने वश करता है ।

तद् यस्यैवं विद्वान व्रात्योपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसंति ॥९॥
य एवापरिमिताः पुण्यां लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥

भा०—(तत् यस्य० अपरिमिताः रात्रीः अतिथिः गृहे वसति ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः०) जिसके घर पर इस प्रकार विद्वान् व्रात्य प्रजापति अपरिमित, अनेक रात्रियें निवास करता है तो वह गृहपति जो अपरिमित, असंख्य पुण्य लोक हैं उनको भी अपने वश कर लेता है ।

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥११॥
कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ १२ ॥

भा०—(अथ) और (यस्य) जिसके (गृहान्) घर पर (अव्रात्यः) व्रात्य न होता हुआ भी (व्रात्यब्रुवः) अपने को व्रात्य बतलाता हुआ केवल (नामबिभ्रती[1]) नामभर धारण करने वाला (अतिथिः) अतिथि

१. 'नामबिभ्रत' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'नाम-बिभ्रती' इत्यत्र द्वादि- यालीकारागमुपसंख्यानमिति सोऽस्कारोऽयमपन्दरः ।

(आगच्छेद्) आ जाय तो फिर (कर्षेत् एनम्[२]) क्या उसका अनादर करे ? (न च एनं कर्षेत्) ना । उसका भी अनादर न करे । परन्तु—

अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥१३॥ तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

भा०—(अस्यै देवतायै) इस देवता के निमित्त (उदकं याचामि) जल स्वीकार करने की प्रार्थना करता हूं । (इमां देवतां वासये) इस देवता को मैं अपने घर में निवास देता हूं । (इमाम् इमाम् देवता परिवेवेष्मि) इस देवता को मैं भोजन आदि परोसता हूं (इति) इस प्रकार भावना से ही (एनं) उसके भी (परिवेविष्यात्) सेवा शुश्रूषा करे और भोजनादि दे । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार का तत्व जानता है (तस्याम् एव देवतायाम्) उसही देवता के निमित्त (अस्य) इस गृहस्थ का (तत् हुतम्) वह त्याग उसे प्राप्त (भवति) हो जाता है ।

---

(१४) व्रात्य अन्नाद के नानारूप और नाना ऐश्वर्य भोग ।

१ प्र० त्रिपदाऽनुष्टुप् , १–१२ द्वि० द्विपदा आसुरी गायत्री, [६–९ द्वि० भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप्], २ प्र०, ५ प्र० परोष्णिक् , ३ प्र० अनुष्टुप् , ४ प्र० प्रस्तार पंक्तिः, ६ प्र० स्वराड् गायत्री, ७ प्र० ८ प्र० आर्ची पंक्तिः, १० प्र० भुरिङ् नागी गायत्री, ११ प्र० प्राजापत्या त्रिष्टुप् । चतुर्विंशत्यृचं चतुर्दश पर्यायसूक्तम् ॥

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्यचलन्मनो-ऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥ मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

---

२. ' कर्षेदेनम् ' इति पूर्व प्रथाभिप्रायेण पाठः ।

भा०—(सः) वह व्रात्य प्रजापति (यत्) जब (प्राचीं दिशम्) प्राची दिशा की ओर (अनुवि-अचलत्) चला तो वह (मनः) मनको (अन्नादं) अन्न का भोक्ता (कृत्वा) बनाकर (मारुतम् शर्धः भूत्वा) मारुत, मरुत् सम्बन्धी बल स्वरूप होकर (अनुवि-अचलत्) चला। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार का तत्व साक्षात् कर लेता है वह (मनसा) मनोरूप (अन्नादेन) अन्न के भोक्तृ सामर्थ्य से (अन्नम्) अन्न पृथिवी के अन्नादि पदार्थ को (अत्ति) भोग करता है।

स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्य/चलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥ बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य प्रजापति (यद्) जब (दक्षिणाम् दिशम्) दक्षिणा (दक्ष=बलकी) दिशा की ओर (अनुव्यचलत्) चला तो (बलम् अन्नादं कृत्वा) बलको अन्नाद, भोक्ता बना कर (इन्द्रः भूत्वा अनुव्यचलत्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान्, सम्राट होकर चला। (यः एवं वेद बलेन अन्नादेन अन्नम् अत्ति) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है वह बल रूप अन्न का भोक्ता होकर भोग करता है।

स यत् प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्य/चलद॒पो/न्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥ अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य प्रजापति (यत्) जब (प्रतीचीम् दिशम्) प्रतीची अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर (अनुव्यचलत्) चला। वह स्वयं (वरुणः राजा भूत्वा) सबके वरण करने योग्य, राजा होकर (अपः) समस्त आप्त प्रजाओं को (अन्नादीः) अन्न=राष्ट्र के भोग्य पदार्थों का भोक्ता (कृत्वा) बनाकर (अनुव्यचलत्) चला। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को जानता है वह (अद्भिः अन्नादीभिः अन्नम् अत्ति)

स्वयं भी अन्न आदि की भोक्ता प्राप्त प्रजाओं द्वारा स्वयं (अन्नम् अत्ति) अन्न का भोग करता है ।

स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्य/चलत् सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥ ७ ॥ आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

भा०—(स) वह (यद्) जब (उदीचीम् दिशम् अनुव्यचलत्) उदीची दिशा को चला तो वह (सोमः राजा भूत्वा) सोम राजा होकर (आहुतिम् अन्नादीम् कृत्वा सप्तर्षिभिः हुतः) आहुति को पृथिवी के समस्त भोग्य पदार्थों का भोक्ता बनाकर स्वयं सप्तर्षियों द्वारा प्रदीप्त होकर (अनुव्य चलत्) चला। (आहुत्या अन्नाद्या) आहुति रूप अन्न की भोक्तृ शक्ति से वह (अन्नम् अत्ति) अन्न का भोग करता है (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस स्वरूप का साक्षात् करता है ।

स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्य/चलद् विराजं- मन्नादीं कृत्वा ॥ ९ ॥ विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥

भा०—(सः) वह व्रात्य प्रजापति (यद्) जब (ध्रुवाम् दिशम् अनु वि अचलत्) ध्रुवा दिशा की ओर चला (विष्णुः भूत्वा विराजम् अन्नादीम् कृत्वा) स्वयं विष्णु होकर विराट् पृथ्वी को ही अन्न का भोक्ता बना कर (अनु वि-अचलत्) चला । (य एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को जानता है वह (विराजा अन्नाद्या अन्नम् अत्ति) 'विराट्' रूप अन्न की भोक्त्री से अन्न का भोग करता है ।

स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्य/चलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥ ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सः) वह प्रजापति व्रात्य (यत्) जब (पशून् अनुव्यचलत्) पशुओं की ओर चला तब (रुद्रः भूत्वा ओषधीः अन्नादीः कृत्वा अनुव्य-

चलत्) वह स्वयं ' रुद्र ' होकर और ओषधियों को अन्न की भोक्त्री बनाकर (अनुव्यचलत्) चला । (यः एवं वेद) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानलेता है वह (ओषधीभिः अन्नादीभिः अन्नम् अत्ति) ओषधिस्वरूप अन्न की भोक्त्रीयों से अन्न का भोग करता है ।

स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्य/चलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥१३॥ स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥१४॥

भा०—(सः) वह (यत्) जब (पितॄन्) पितृ=पालकों के प्रति (अनुव्यचलत्) चला तो वह स्वयं (यमः राजा भूत्वा) यम राजा होकर (स्वधाकारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत्) स्वधाकार को अन्नभोक्ता बनाकर चला । (यः एवं वेद) जो व्रात्य के प्रजापति के इस स्वरूप को जान लेता है वह (स्वधाकारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति) स्वधाकार रूप अन्नाद से अन्न का भोग करता है ।

स यन्मनुष्या३ननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्य/चलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १५ ॥ स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

भा०—(सः यत् मनुष्यान् अनुव्यचलत्) वह व्रात्य प्रजापति जब मनुष्यों के प्रति चला तो (अग्निः भूत्वा स्वाहाकारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत्) वह स्वयं अग्नि होकर स्वाहाकार को अन्नाद बना कर चला । (स्वाहाकारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति यः एवं वेद) स्वाहाकार रूप अन्नाद से ही वह अन्न भोग करता है जो व्रात्य के इस स्वरूप को जानता है ।

स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्य/चलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥१७॥ वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥१८॥

भा०—(सः यद् ऊर्ध्वां दिशम् अनुव्यचलत्) वह जब ऊर्ध्वदिशा को चला तब वह स्वयं (बृहस्पतिः भूत्वा वषट्कारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत्) बृहस्पति होकर वषट्कार को अन्नाद बना कर चला । (यः एवं वेद)

जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है (वषट्कारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति) वषट्कार रूप अन्नाद से स्वयं अन्न का भोग करता है ।

स यद् देवाननुव्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥ १९ ॥
मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥

भा०—(सः यद् देवान् अनुव्यचलत्) वह जब देवों की ओर चला तब वह (ईशानः भूत्वा मन्युम् अन्नाद कृत्वा) स्वयं ' ईशान ' हो कर और मन्यु को ' अन्नाद ' बना कर (अनुव्यचलत्) चला । (य. एवं वेद) जो प्रजापति के इस स्वरूप को जानता है वह (मन्युना अन्नादेन) मन्यु रूप अन्नाद से (अन्नम् अत्ति) अन्न का भोग करता है ।

स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा ॥ २१ ॥ प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥

भा०—(सः यत् प्रजाः अनुव्यचलत् प्रजापतिः भूत्वा प्राणम् अन्नादं कृत्वा अनु वि-अचलत्) वह जब प्रजाओं की ओर चला तब वह स्वयं प्रजापति होकर प्राण को अन्नाद बना कर चला । (य. एवं वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है (प्राणेन अन्नादेन) प्राण रूप अन्नाद से (अन्नम् अत्ति) अन्न का भोग करता है ।

स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥२३॥ ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥२४॥

भा०—(सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु वि-अचलत्) वह जो सब ' अन्तर्देश ' अर्थात् उपदिशाओं बीच के समस्त देशों में चला तो (परमेष्ठी भूत्वा ब्रह्म अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत्) स्वयं परमेष्ठी होकर ब्रह्म को अन्नाद बनाकर चला । (ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नम् अत्ति य एवं वेद) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को जानता है वह ' ब्रह्म ' रूप अन्नाद से अन्न का भोग करता है ।

(१५) व्रात्य के सात प्राणों का निरूपण ।

१ दैवी पंक्तिः, २ आसुरी बृहती, ३, ४, ७, ८ प्राजापत्यानुष्टुप्, [४, ७, ८ भुरिक्], ५, ६ द्विपदा साम्नी बृहती, ९ विराड् गायत्री । नवर्चं पञ्चदशं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥ सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥

भा०—(तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति के (सप्त प्राणाः) सात प्राण, (सप्त अपानाः) सात अपान और (सप्त व्यानाः) सात व्यान हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥३॥

भा०—(अस्य यः प्रथमः प्राणः) जो इस जीव को प्रथम मुख्य 'प्राण' (ऊर्ध्वः नाम) 'ऊर्ध्व' नामक है (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति के (अयं सः अग्निः) वह प्रथम प्राण यह 'अग्नि' है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥४॥

भा०—(यः अस्य द्वितीयः प्राणः) जो इसका द्वितीय प्राण (प्रौढः नाम) 'प्रौढ' नाम का है (तस्य व्रात्यस्य असौ सः आदित्यः) उस प्रजापति व्रात्य का वह प्रौढ प्राण वह आदित्य है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य तृतीयः प्राणो३ऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥५॥

भा०—(यः अस्य तृतीयः प्राणः अभ्यूढः नाम) इस जीव का जो तीसरा प्राण 'अभ्यूढ' नाम का है (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का (असौ सः चन्द्रमाः) वह 'अभ्यूढ' प्राण यह चन्द्रमा है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥६॥

भा०—(यः अस्य चतुर्थः प्राणः विभूः नाम अयं सः पवमानः) जो इस जीव का चौथा प्राण 'विभू' नाम का है वह (तस्य व्रात्यस्य) उस प्रजापति व्रात्य का यह 'पवमान' 'वायु' है ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य पञ्च॒मः प्रा॒णो योनि॒र्नाम॒ ता इ॒मा आपः॑ ॥७॥

भा०—(यः) जो अस्य इस जीव का (पञ्चमः प्राणः) पांचवां प्राण (योनिः नाम) योनि नामक है (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का (ताः इमाः आपः) वह योनि नामक प्राण ही ये आप=जल हैं।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य ष॒ष्ठः प्रा॒णः प्रि॒यो नाम॒ त इ॒मे प॒शवः॑ ॥८॥

भा०—(यः अस्य षष्ठः प्राणः) जो इस का छठा प्राण (प्रियः नाम) प्रिय नामक है (तस्य व्रात्यस्य ते इमे पशवः) उस व्रात्य के 'प्रिय' नाम प्राण वे ये पशु हैं।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य स॒प्तमः॑ प्रा॒णोऽप॑रिमितो॒ नाम॒ ता इ॒माः प्र॒जाः ॥ ९ ॥

भा०—(यः अस्य सप्तमः प्राणः अपरिमितः नाम) जो इस जीव का सातवां प्राण अपरिमित नामक है (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का भी सातवां अपरिमित नामक प्राण (ताः इमाः प्रजाः) वे ये प्रजाएं हैं।

(१६) व्रात्य के सात अपानों का निरूपण।

१-३ साम्न्युष्णिहौ, २, ४, ५ प्राजापत्योष्णिह, ६ याजुषीत्रिष्टुप, ७ आसुरी गायत्री। सप्तर्चं षोडशं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प्रथ॒मो॑ऽपा॒नः सा पौ॑र्णमा॒सी ॥ १ ॥

भा०—(यः अस्य प्रथमः अपानः) जो इस जीव का प्रथम अपान है वैसा ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का प्रथम अपान (सा पौर्णमासी) वह पौर्णमासी है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य द्वि॒तीयो॑ऽपा॒नः सा॒ष्टका ॥ २ ॥

भा०—(यः अस्य द्वितीयः अपानः) जो इस जीव का द्वितीय अपान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का द्वितीय अपान (सा अष्टका) वह अष्टका है ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य तृ॒तीयो॑ऽपानः सामा॑वास्या ॥३॥

भा०—(यः अस्य तृतीयः अपानः) जो इस जीव का तीसरा अपान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का तीसरा अपान (सा अमावास्या) वह अमावास्या है ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य च॒तु॒र्थो॑ऽपानः सा श्र॒द्धा ॥ ४ ॥

भा०—(यः अस्य चतुर्थः अपानः) जो इस जीव का चतुर्थ अपान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का चतुर्थ अपान (सा श्रद्धा) वह श्रद्धा है ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प॒ञ्च॒मो॑ऽपानः सा दी॒क्षा ॥५॥

भा०—(यः अस्य पञ्चमः अपानः) जो इस जीव का पांचवा अपान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का पांचवा अपान (सा दीक्षा) वह दीक्षा है ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य ष॒ष्ठो॑ऽपानः स य॒ज्ञः ॥ ६ ॥

भा०—(यः अस्य षष्ठः अपानः) जो इस जीव का छठा अपान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का षष्ठ अपान (सः यज्ञः) वह यज्ञ है ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य स॒प्त॒मो॑ऽपान॒स्ता इ॒मा दक्षि॑णाः ॥७॥

भा०—(यः अस्य सप्तमः अपानः) जो इस जीव का सातवां अपान है (तस्य व्रात्यस्य ता इमाः दक्षिणाः) उसी प्रकार उस व्रात्य प्रजापति का सातवां अपान ये दक्षिणाएं हैं ।

(१७) व्रात्य प्रजापति के सात व्यान ।

१, ५ प्राजापत्योष्णिहौ, २, आसुर्यनुष्टुभौ, ३, याजुषी पंक्तिः, ४ साम्न्युष्णिक्, ६ याजुषीत्रिष्टुप्, ८ त्रिपदा प्रतिष्ठार्ची पंक्ति, ९ द्विपदा साम्नीत्रिष्टुप्, १० साम्न्य-नुष्टुप् । दशर्चं सप्तदशं सूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य प्रथमो व्यान सेयं भूमिः ॥१॥

भा०—(यः अस्य प्रथमः व्यानः) जो इस जीव का प्रथम व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का प्रथम व्यान (सा इयं भूमि) वह यह भूमि है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥२॥

भा०—(यः अस्य द्वितीयः व्यानः) जो इस जीव का दूसरा व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का दूसरा व्यान (तद् अन्तरिक्षम्) वह अन्तरिक्ष है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥ ३ ॥

भा०—(यः अस्य तृतीयः व्यानः) जो इस जीव का तृतीय व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य सा द्यौः) उस व्रात्य प्रजापति का तृतीय व्यान 'द्यौ' आकाश है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥४॥

भा०—(यः अस्य चतुर्थः व्यानः) जो इस जीव का चतुर्थ व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य तानि नक्षत्राणि) उस व्रात्य प्रजापति का चतुर्थ व्यान वे नक्षत्र हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः ॥ ५ ॥

भा०—(यः अस्य पञ्चमः व्यानः) जो इस जीव का पांचवां व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य ते ऋतवः) उस व्रात्य का पांचवां व्यान वे ऋतुएं हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठो व्यानस्त आर्तवाः ॥ ६ ॥

भा०—(यः अस्य षष्ठः व्यानः) जो इस जीव का छठा व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य का छठा व्यान (ते आर्तवाः) वे ऋतु सम्बन्धी नाना पदार्थ हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः ॥ ७ ॥

भा०—(यः अस्य सप्तमः व्यानः) जो इस जीव का सातवां व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य सः संवत्सरः) उस व्रात्य का सातवां व्यान वह संवत्सर है ।

तस्य व्रात्यस्य । समानमर्थं परि यन्ति देवाः संवत्सरं वा एतदृतवोऽनु परियन्ति व्रात्यं च ॥ ८ ॥

भा०—(संवत्सरं वा अनु) जिस प्रकार संवत्सर के आश्रय में (ऋतवः) ऋतुगण (परि यन्ति) रहते हैं उसी प्रकार (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति के विषय में भी जानना चाहिये कि (देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ (समानम् अर्थम् व्रात्यं च परि यन्ति) अपने समान स्तुति योग्य पदार्थ और व्रात्य प्रजापति के आश्रय होकर रहते हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव तत्पौर्णमासीं च ॥ ९ ॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (देवाः आदित्यम्) देव=किरणें सूर्य में प्रवेश करती हैं और जिस प्रकार (अमावास्याम्) अमावास्या में सब चन्द्र कलाएं लुप्त हो जाती हैं या सूर्य और चन्द्र एक साथ रहते हैं और (पौर्णमासीम् च) जिस प्रकार पौर्णमासी में समस्त चन्द्र कलाएं एकत्र हो जाती हैं (तत्) उसी प्रकार वे समस्त देवगण मुमुक्षु ज्ञानी लोग (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति के (आदित्यम्) आदित्य के समान प्रकाशमान स्वरूप में (अभि सं विशन्ति) प्रवेश करते हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव ॥ १० ॥

भा०—(तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति का (तत्) वह अचिन्त्य, परम स्वरूप (एकम्) एक है । वही (एषाम्) इन देवों का (अमृतत्वम्) अमृत, मोक्ष स्वरूप है (इति) इस प्रकार उन जीवों और देवों का उसमें लीन हो जाना भी (आहुतिः एव) आहुति ही है । यही उनका परम ब्रह्म में महान् आत्मसमर्पण है ।

(१८) व्रात्य के अन्य अङ्ग प्रत्यङ्ग ।

१ दैवी पङ्क्तिः, २, ३ आर्ची बृहत्यौ, ४ आर्ची अनुष्टुप्, ५ साम्न्युष्णिक् । पञ्चर्चं अष्टादशं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥ यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥ २ ॥

भा०—(यद् अस्य दक्षिणम् अक्षि) जिस प्रकार इस जीव की दाहिनी आंख है उसी प्रकार (तस्य व्रात्यस्य) उस व्रात्य प्रजापति की दाहिनी आंख (सः आदित्यः) वह आदित्य है । (यद् अस्य सव्यम् अक्षि) जो इस जीव की बायीं आंख है उसी प्रकार उस व्रात्य की बायीं आंख (सः चन्द्रमा) वह चन्द्रमा है ।

यो॑ऽस्य दक्षिणः कर्णो॒ऽयं सो अ॒ग्निर्यो॑ऽस्य स॒व्यः कर्णो॒ऽयं स पव॑मानः ॥ ३ ॥

भा०—(यः अस्य दक्षिणः कर्णः) जो जीव का यह दायां कान है उसी प्रकार इस व्रात्य प्रजापति का दायां कान (अयं सः अग्निः) यह वह अग्नि है । (यः अस्य सव्यः कर्णः) जो इस जीव का बायां कान है वैसे ही उस व्रात्य का बायां कान (सः पवमानः) वह पवमान=वायु है ।

अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ॥ ४ ॥

भा०—उस व्रात्य के (नासिके अहोरात्रे) दिन और रात दोनों नासिकाओं के समान हैं । (दितिः च अदितिः च) दितिः=द्यौ अदिति

पृथ्वी ये दोनों (शीर्षकपाले) शिर के दोनों कपाल हैं । (संवत्सरः शिरः) और संवत्सर शिर है ।

अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो राज्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य एक दिन में चलकर पूर्व दिशा से पश्चिम में अस्त हो जाता है उसी प्रकार वह (व्रात्यः) व्रात्य प्रजापति (अह्ना) अपने अगम्य स्वरूप से प्रत्यग् आत्मा में अदृश्य होकर रहता है । और जिस प्रकार (राज्या) एक रात्रि काल के पश्चात् सूर्य (प्राङ्) प्राची दिशा में आजाता है उसी प्रकार (राज्या) रमणकारिणी शक्ति से वह सबके (प्राङ्) सन्मुख आजाता है । ऐसे (व्रात्याय) सब व्रतों कर्मों, के स्वामी प्रजापति को (नमः) हम सदा नमस्कार करते हैं ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश पर्यायाः । अवसानर्चोऽष्टोत्तरशतम् ।]

इति पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकद्वयं पञ्चदशेऽष्टादशसूक्तकम् ।
ऋचस्तत्रैवगण्यन्ते विंशतिश्च शतद्वयम् ॥

बाणाब्ध्यंकचन्द्राब्दे श्रावणे च सिते शनौ ।
पञ्चम्यां पञ्चदशकं काण्डमाथर्वणं गतम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते-ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ।

॥ ओ३म् ॥

अथ षोडशं काण्डम्

[१ (१)] पापशोधन ।

प्रजापतिर्देवता । १, ३ साम्नी बृहत्यौ, २, १० याजुषीत्रिष्टुभौ, ४ आसुरी गायत्री, ५, ८ साम्नीपङ्क्त्यौ, (५ द्विपदा) ६ साम्नी अनुष्टुप्, ७ निचृद्विराड् गायत्री, ९ आसुरी पङ्क्तिः, ११ साम्नीउष्णिक्, १२, १३, आर्च्यनुष्टुभौ त्रयोदशर्चं प्रथम पर्यायसूक्तम् ॥

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥

भा०(अपां) जलों का (वृषभः) वर्षण करने वाला सूर्य (अतिसृष्टः) अच्छे प्रकार से रचा गया है । इसी प्रकार (दिव्याः) और भी दिव्य अग्नि में, द्यौ लोक में प्रकाशमान सहस्रों सूर्य और विद्युत् आदि (अतिसृष्टाः) रचे गये हैं ।

रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥ २ ॥
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥३॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥

भा०—(रुजन्) देह को तोड़ने वाला (परि रुजन्) सब प्रकार से देह को फोड़ता हुआ, पीड़ित करता हुआ (मृणन् प्रमृणन्) मारता हुआ, काटता हुआ रोग भी अग्नि है । वह (म्रोकः) अति संतापकारी, (मनोहा) मन का नाशक, चेतना का नाशक, (खनः) शरीर के रस धातुओं को

---

[१] ३—' निर्दाहम्' इति पैप्प० सं० ।

खोद डालने वाला, (निर्दाहः) अति अधिक दाहकारी, जलन उत्पन्न करने वाला, (आत्मदूषिः) अपने चित्त में विकार उत्पन्न करने वाला और (तनूदूषिः) शरीर में दोष उत्पन्न करने वाला ये सब प्रकार के भी संताप ही हैं । (तम्) इस उक्त प्रकार सब संतापक पदार्थों को (इदम्) यह इस रीति से (अति सृजामि) अपने से दूर करता हूं कि मैं (तम्) उस संतापकारी पदार्थ को (मा) कभी न (अभि अवनिक्षि) प्राप्त करूं । मैं उस में डूब न जाऊं ।

तेन तमभ्यतिसृजामो यो॒३ऽस्मान् द्वेष्टि यं व॒यं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भा०—(तेन) उस पूर्वोक्त संतापदायक पदार्थ से (तम् अभि) उस पुरुष के प्रति (अति सृजामः) उसका प्रयोग करें (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमें द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) और जिससे हम द्वेष करते हैं ।

अ॒पाम॑ग्र॑मसि समु॒द्रं वो॒ऽभ्यव॑सृजामि ॥ ६ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (अपाम् अग्रम् असि) जलों का अग्र, उनसे प्रथम उत्पन्न, उनका उपादान कारण है । हे अग्नियो ! रोगकारक संतापक पदार्थो ! (वः) तुमको मैं (समुद्रम्) समुद्र के प्रति (अभि अव सृजामि) बहा देता हूं ।

यो॒३ऽप्स्व॑१ग्निरति॒ तं सृ॑जामि म्रो॒कं ख॒निं त॑नू॒दूषि॑म् ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (अप्सु) जलों में (अग्निः) अग्नि के समान संतापक पदार्थ है (तं) उसको (अतिसृजामि) दूर करता हूं । और (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच में विद्यमान (म्रोकं) चोर, (खनिं) सेंध खोदने और (तनू दूषिम्) शरीर के नाश करने वाले संतापक पुरुष को भी (अति सृजामि) दूर करता हूं ।

यो व॑ आपो॒ऽग्निरा॑वि॒वेश॒ स ए॒ष यद् वो॑ घो॒रं तदे॒तत् ॥ ८ ॥

भा०—(आप अग्नि) जलों के भीतर जिस प्रकार अग्नि प्रविष्ट होकर उसे भी तप्त करता और उसको भाप बनाकर नष्ट कर देता है उसी प्रकार (यः) जो संतापकारी पुरुष (वः) तुम लोगों में (आविवेश) आ घुसे । (सः एष.) यह वह है अर्थात् वह उसी जलों में प्रविष्ट अग्नि के समान है । (यत्) जो पदार्थ भी (व) तुमारे लिये (घोरं) अति घोर कष्टदायी है (तत् एतत्) वही वह अग्नि है ।

इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (वः) आप लोगों में से (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुरुष का ही (इन्द्रियेण) राजा के ऐश्वर्य, मान प्रतिष्ठा से (अभि षिञ्चन्) अभिषेक किया जाय ।

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥

भा०—(आप) स्वच्छ जल जिस प्रकार मल रहित होते हैं उसी प्रकार आप्त पुरुष भी (अरिप्राः) मल और पाप से रहित होते हैं । वे (अस्मत्) हम से भी (रिप्रम्) पाप और मल (अप) दूर करें ।

प्रास्मदेनों वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥

भा०—वे आप्त पुरुष जलों के समान ही (अस्मत्) हम से (एनः) पाप मल को (प्र वहन्तु) दूर बहा दें और (दुष्वप्न्यं) बुरे स्वप्नों के कारण को भी (प्र वहन्तु) दूर करें ।

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥१२॥
अथर्व० १० । ५ । २४ ॥

भा०—हे (आपः) जलों के समान स्वच्छ हृदय के आप्त पुरुषो ! आप लोग (मा) मुझे (शिवेन चक्षुषा) कल्याणकारी चक्षु से (पश्यत) देखो । और (शिवया तन्वा) कल्याणकारी शरीर से (मे त्वचम्) मेरी त्वचा को (उप स्पृशत) स्पर्श करो ।

शिवानुग्नीनंप्सुषदों हवामहे मयि क्षत्रं वर्चो आ धत्त देवीः ॥१३॥

भा०—हम लोग (शिवान्) कल्याणकारी (अप्सुषदः) आप्त प्रजाओं के ऊपर शासक रूप में विराजमान (शिवान्) कल्याणकारी (अग्नीन्) अग्नि के समान विद्वान्, प्रकाशमान् और अग्रणी नेताओं को हम लोग (हवामहे) आदर सत्कार से बुलाते हैं। हे (देवीः) दिव्य गुण वाली प्रजागणो! आप लोग (क्षत्रं) क्षात्र धर्मयुक्त बल और (वर्चः) तेज (आ धत्त) धारण करो।

(२) शक्ति उपार्जन।

वागृषिर्देवता। १ आसुरी अनुष्टुप्, २ आसुरी उष्णिक्, ३ साम्नी उष्णिक्, ४ त्रिपदा साम्नी बृहती, ५ आर्ची अनुष्टुप्, ६ निचृद् विराड् गायत्री द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

निर्दुरर्मण्य/ ऊर्जा मधुमती वाक् ॥ १ ॥

भा०—(दुरर्मण्यः निः) दुष्ट भोजन और दुष्ट प्रवृत्ति दूर हो। क्योंकि (ऊर्जा) ऊर्ग् उत्तम रसवान् अन्न से (वाक्) वाणी भी (मधुमती) मधु से सिक्त, ज्ञान से युक्त, मधुर होती है।

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥ २ ॥

भा०—हे प्रजाजनो, आप्त पुरुषो! आप लोग (मधुमतीः स्थ) मधु अर्थात् ज्ञान से सम्पन्न हो, मैं भी (मधुमतीम्) मधुर, ज्ञान से पूर्ण (वाचम्) वाणी (उदेयम्) बोलूं।

उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः ॥ ३ ॥

भा०—(मे गोपाः उपहूतः) अपने रक्षक परमात्मा को आदर पूर्वक स्मरण किया जाय। और (उपहूतः गोपीथः) गो=वाणी का पान और पालन करनेहारे ईश्वर को आदर से बुलाया जाय।

१—'दुरशान्य' इति ग्रीफिथ ह्विटनिसम्मतः।

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥

भा०—(कर्णौ) दोनों कान (सुश्रुतौ) उत्तम सुनने वाले हों, (कर्णौ भद्रश्रुतौ) दोनों कान भद्र, सुखकारी कल्याणजनक शब्द का श्रवण करें। (भद्रश्लोकम्) भद्र, सुखकारी कल्याणजनक स्तुति को मैं (श्रूयासम्) सुना करूं।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ ५ ॥

भा०—(सुश्रुतिः च) उत्तम श्रवण शक्ति और (उपश्रुतिः च) सूक्ष्म श्रवण शक्ति दोनों (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) कभी न छोड़ें। और (सौपर्णं चक्षुः) मेरी आंख गरुड़ या बाज़ के समान हो और (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश (अजस्रम्) निरन्तर रहे। ये कभी मुझ से दूर न हों।

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप (ऋषीणां) मन्त्रद्रष्टा विद्वानों के (प्रस्तरः असि) सर्वत्र विस्तार करने हारे हैं उस (दैवाय) देव स्वरूप (प्रस्तराय) समस्त जगत् के विस्तार करने हारे परमेश्वर को (नमः अस्तु) नमस्कार है।

(३) ऐश्वर्य उपार्जन ।

ब्रह्मा ऋषिः । आदित्यो देवता । १ आसुरी गायत्री, २, ३ आर्च्यनुष्टुभौ, ४ प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ५ साम्नी उष्णिक्, ६ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप् । षड्ऋचं तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

भा०—(रयीणाम्) समस्त रयि, ऐश्वर्यो और बलों का मैं (अहम्) (मूर्धा) शिरोमणि अधिष्ठाता, उनका बांधने वाला स्वामी बनूं। और

(समानानाम्) अपने समान बल ऐश्वर्य वालों में भी सब का (मूर्धा) शिरोमणि मैं ही (भूयासम्) हो जाऊं ।

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥

भा०—(रुजः=रुचः च) नाना प्रकार की कान्तियां और तेज या रुजः शत्रुओं का हिंसाकारी बल और (वेनः च) प्रकाश ये दोनों (मा मा हासिष्टां) मुझे कभी न छोड़ें । (मूर्धा च) शिर और (विधर्मा च) नाना प्रकार का धारक बल भी (मा मा हासिष्टाम्) मुझे कभी परित्याग न करें ।

उखश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥

भा०—(उखः) भोजन पकाने की हांडी और (चमसः च) चमचा दोनों (मा मा हासिष्टां) मुझे परित्याग न करें । (धर्ता च धरुणः च) धारणकर्त्ता और धरुण=आश्रय ये दोनों भी (मा मा हासिष्टाम्) मुझे त्याग न करें ।

विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥ ४ ॥

भा०—(विमोकः च) जलधाराएं बरसाने वाला मेघ और (आर्द्र-पविः च) जलप्रद बादल की वाणी, गर्जनशील विद्युत् (मा मा हासिष्टाम्) मुझे परित्याग न करें । (आर्द्रदानुः) जलों को देने वाले मेघ को ला देने वाला और (मातरिश्वा च) अन्तरिक्षगामी वायु भी (मा मा हासिष्टाम्) मुझे न छोड़ें । एष [वायुः] आर्द्रं ददाति इति आर्द्रदानुः । श० ६ । ५ । २ । ६ ॥

३–'हांसिष्टां' इति क्वचित् पाठभिन्नयः । 'उखश्च' इति पैट० काइ० ।

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति, वाणी का पालक (मे) मेरा (आत्मा) आत्मा (नृमणाः नाम) समस्त मनुष्यों या प्राणों के भीतर मनन करने वाला और (हृद्यः) हृदय में विराजमान रहता है।

असन्तापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ ६ ॥

भा०—(मे हृदयम्) मेरा हृदय (असंतापम्) संताप रहित हो। मेरी (गव्यूतिः) गो-वाणी की गति या इन्द्रियों की पहुंच (उर्वी) विशाल हो। और मैं (विधर्मणा) विशेष धारण सामर्थ्य से (समुद्रः अस्मि) समुद्र के समान रहूं।

(४) रक्षा, शक्ति और सुख की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। आदित्यो देवता। १, ३ साम्न्यनुष्टुभौ, २ साम्न्युष्णिक्, ४ त्रिपदा-ऽनुष्टुप्, ५ आसुरीगायत्री, ६ आर्च्युष्णिक्, ७ त्रिपदाविराड्गर्भाऽनुष्टुप्। सप्तर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

भा०—(अहम्) मैं (रयीणाम् नाभिः) समस्त ऐश्वर्यों की नाभि बन्धन स्थान, केन्द्र हो जाऊं। (समानानाम् नाभिः भूयासम्) अपने समान के पुरुषों में भी मैं सबको बांधनेहारा, केन्द्र होकर रहूं।

स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥ २ ॥

भा०—हे आत्मन् तू (सु आसत्) उत्तम आसन वाला और (सु ऊषा) प्रभात के समान उत्तम प्रकाशवान्, पापों का दहन करने वाला है वह ही (मर्त्येषु) मरण धर्मा मनुष्यों में (अमृतः) अमृत, नित्य है।

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥

भा०—(माम्) मुझको (प्राणः मा हासीत्) प्राण त्याग न करे । (अपानः उ) अपान भी (मा अवहाय परा गात्) मुझे छोड़ कर परे न जाय ।

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्ये/भ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥

भा—(सूर्यः) सूर्य (मा) मुझे (अह्नः पातु) दिन से रक्षा करे । (अग्निः पृथिव्याः पातु) अग्नि पृथिवी से मेरी रक्षा करे । (वायु अन्तरिक्षात्) वायु अन्तरिक्ष से आने वाले उपद्रवों से मेरी रक्षा करे । (यमः-मनुष्येभ्यः) नियन्ता राजा मुझे मनुष्यों से रक्षा करे । (सरस्वती) ज्ञान और वाणी मुझे (पार्थिवेभ्यः) पृथिवी के स्वामी लोगों से सुरक्षित रक्खे ।

प्राणापानौ मा मां हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥

भा—(प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों (मा मा हासिष्टम्) मुझे त्याग न करें । मैं (जने) लोगों के बीच रहता हुआ (मा प्रमेषि) कभी न मरूं ।

स्वस्त्य१द्योषसो दोषसश्च सर्वं आपः सर्वगणो अशीय ॥ ६ ॥

भा—हे (आपः) प्रजाओ ! आप्त पुरुषो ! (अद्य स्वस्ति) आज, नित्य कल्याण हो (उषसः दोषसः च) दिनों और रातों का मैं (सर्वः) सर्वाङ्ग पूर्ण होकर और (सर्वगणः) अपने समस्त भृत्य और बन्धुजनों सहित (अशीय) सुख भोग करूं ।

शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

७–' स्थेषु ' इति क्वचित् ।

भा०—हे आप्त पुरुषो ! आप लोग (शक्री स्थ) शक्ति से सम्पन्न होओ । (पशव) पशु लोग (मा उपस्थधु) मेरे पास आवें । (मित्रा वरुणौ) मित्र और वरुण (मे) मुझे (प्राणापानौ) प्राण और अपान, बल प्रदान करें । (अग्नि: मे दक्षं दधातु) अग्नि, जाठर अग्नि मुझे बल प्रदान करे ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्त पर्याय , द्वादशाधिकशतमवसानर्चं ।]

(५) दु:स्वप्न और मृत्यु से बचने के उपाय ।

यम ऋषि । दु:स्वप्ननाशनो देवता । १–६ (प्र०) विराड्गायत्री (५ प्र० भुरिक्, ६ प्र० स्वराट्) १ प्र० ६ नि० प्राजापत्या गायत्री, तृ०, ६ तृ० द्विपदासाम्नी बृहती । दशर्चं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ १ ॥ अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ २ ॥ तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ ३ ॥ अथर्व० ७ । ४६ । २ ॥

भा०—हे (स्वप्न) स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्म) हम तेरे उत्पत्ति स्थान को जानते हैं तू (ग्राह्याः) ग्राही अंगों को शिथिल करने वाली शक्ति का (पुत्र असि=) पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है । तू (यमस्य करणः) यम बांध लेने वाले का करण, साधन है । तू (अन्तक असि) अन्तक है सब चेतना वृत्तियों का अन्त करने वाला है । तू (मृत्यु असि) मृत्यु है । हे (स्वप्न) स्वप्न ! (तं त्वा) उस तुझको हम (तथा) इस प्रकार (सं विद्म) भली प्रकार से जानते हैं । (सः सः) वह तू हमें (दुःस्वप्न्यात्) (पाहि) दुःस्वप्न, स्वप्न की अवस्था या मृत्यु से बचा ।

विद्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॒ निर्ऋ॑त्याः पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः । ० । ० ॥४॥
विद्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्र॒मभू॑त्याः पु॒त्रो॑ऽसि० । ० । ० ॥ ५ ॥ विद्म ते॑
स्वप्न ज॒नित्रं॒ निर्भू॑त्याः पु॒त्रो॑ऽसि० । ० । ॥ ६ ॥ विद्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॒
परा॑भूत्याः पु॒त्रो॑ऽसि० । ० । ० ॥ ७ ॥ विद्म ते॑ स्वप्न ज॒नित्रं॑ देव-
जा॒मी॒नां॑ पु॒त्रो॑ऽसि य॒मस्य॒ कर॑णः ॥ ८ ॥ अन्त॑कोऽसि मृ॒त्युर॑सि
॥९॥ तं त्वा॑ स्वप्न॒ तथा॒ सं वि॑द्म॒ स नः॑ स्वप्न दु॒ष्वप्न्या॑त् पाहि ॥१०॥
अथर्व० ६ । ४६ । २ ॥

भा०—हे स्वप्न ! (विद्म ते जनित्रं) [४-८] हम तेरी उत्पत्ति का कारण जानते हैं । तू (निर्ऋत्याः पुत्रः असि) निर्ऋति, पापप्रवृत्ति का पुत्र है । तू (अभूत्याः पुत्रः असि) 'अभूति', चेतना या ऐश्वर्य की सत्ता के अभाव का पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है । (निर्भूत्याः पुत्रः असि) 'निर्भूति', चेतनाकी बाह्य सत्ता या अपमान से उत्पन्न होता है । (परा-भूत्याः पुत्रः असि) चेतनाकी सत्ता से दूर की स्थिति या अपमान से उत्पन्न होता है । (देवजामीनां पुत्रः असि) देव=इन्द्रियगत प्राणों के भीतर विद्यमान जामि=दोषों से उत्पन्न होता है । (अन्तकः असि तं त्वा स्वप्न० इत्यादि) पूर्ववत् ऋचा २, ३ के समान ।

(६) अन्तिम विजय, शान्ति, शत्रुशमन ।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशन उषा च देवता, १-४ प्राजापत्यानुष्टुभः, साम्नीपङ्क्तिः, ६ निचृद् आर्ची बृहती, ७ द्विपदा साम्नी बृहती, ८ आसुरी जगती, ९ आसुरी, १० आर्ची एकादशर्चं षष्ठं पर्याय सूक्तम् ॥ उष्णिक्, ११ त्रिपदा यवमध्या गायत्री आर्च्यनुष्टुप् ।

अजै॑ष्मा॒द्यास॑नामा॒द्याभू॒मानाग॑सो व॒यम् ॥ १ ॥

भा०—(अद्य) आज (अजैष्म) हमने अपनी दुर्वृत्तियों पर विजय कर लिया है। (अद्य असनाम) आज हमने प्राप्तव्य पदार्थ को भी प्राप्त कर लिया है। (वयम्) हम अब (अनागसः) निष्पाप (अभूम) हो गये हैं।

उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥ २ ॥

ऋ० ८। ४७। १८ पू० च०॥

भा०—हे (उष)उषाकाल ! हम (यस्मात्) जिस (दुः स्वप्न्यात्) दुःस्वप्न, बुरे स्वप्न होने से (अभैष्म) भय करते हैं (तत् अप उच्छतु) वह दूर हो जाय।

द्विषते तत् परा वह शपते तत् परा वह ॥ ३ ॥

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥ ४ ॥

भा०—(द्विषते) जो हम से द्वेष करे उसके लिये (तत्) उस दुस्वप्न को (परा वह) परे लेजा। और (शपते) जो हमें बुरा भला कहे उसके लिये (तत् परावह) उस दुस्वप्न को लेजा।

उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्युषसा संविदाना ॥ ५ ॥ उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदान॰ ॥६॥ तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वा॰ ॥७॥

भा०—(देवी) प्रकाश वाली (उषा) उषा, (वाचा) वाक् वेदवाणी से (संविदाना) संगत हो, और (वाग् देवी) ज्ञान के प्रकाश से युक्तवाणी (उषसा) पापदाहक उषा से (सं विदाना) संग लाभ करती हो। (उषस्पतिः) उषा का पालक सूर्य (वाचः पतिना) वाणी के स्वामी विद्वान्, या परमेश्वर के साथ (संविदानः) संगति लाभ करे और (वाचः पतिः) वाणी का स्वामी विद्वान् (उषः पतिना सं विदान)

५-(तृ०) 'अथ' इति ह्विटनिकामितः।

उषा के स्वामी सूर्य के साथ संगति लाभ करता हो। अर्थात् उषा के समान वाणी और वाणी के समान उषा है। वाक्पति परमेश्वर के समान सूर्य और सूर्य के समान परमेश्वर प्रकाशस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है। (ते) वे सब (अमुष्मै) शत्रु को (अरायान्) धन, ऐश्वर्यों से रहित (दुर्णाम्नः) बुरे नाम वाले (सदान्वाः) सदा कष्टकारी विपत्तियां (परावहन्तु) प्राप्त करावें।

कुम्भीकां दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥ जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥ अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥ तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

भा०—वाणी उषा और उनके पालक लोग (कुम्भीकाः) कुम्भीक, घड़े के समान पेट बढ़ा देने वाली जलोदर आदि, (दूषिकाः) शरीर में विषका दोष उत्पन्न करने वाली और (पीयकान्) प्राण हिंसा करने वाली व्याधियों और रोगों को और (जाग्रद्-दुष्वप्न्यम्) जागते समय के दुस्वप्न होने और (स्वप्नेदुष्वप्न्यम्) सोते समय में दुस्वप्न होने, और (वरान् अनागमिष्यतः) भविष्यत् में कभी न आने वाले उत्तम ऐश्वर्य, अर्थात् उत्तम ऐश्वर्यों के भविष्यत् में न आने के कष्टों को (अवित्तेः संकल्पान्) द्रव्य लाभ न होने या दरिद्रता से उठे नाना संकल्प और (अमुच्याः) कभी न छूटने वाले (द्रुहः) परस्पर के कलहों के (पाशान्) पाशों को हे (अग्ने) अग्ने, शत्रुभयदायक ! राजन् ! प्रभो ! (देवाः) विद्वान् लोग (तत्) उन सब कष्टदायी बातों को (अमुष्मै) उस शत्रु के पास (परावहन्तु) पहुंचावें। (यथा) जिससे वह शत्रुजन (वध्रिः) निर्वीर्य, बधिया (विथुरः साधुः न) तकलीफ़ में पड़े भले आदमी के समान (असत्) हो जाय।

(७) शत्रुदमन ।

यमऋषि । ८ मन्त्रोक्तनानादेवता । १ पंक्ति । २ साम्न्यनुष्टुप् ३ आसुरी, उष्णिक, ४ प्राजापत्या गायत्री ५ आर्च्युष्णिक् ६, ९, ११ साम्नीबृहत्यः, ७ याजुषी गायत्री ८ प्राजापत्या बृहती, १० साम्नी गायत्री, १२ भुरिक् प्राजापत्या नुष्टुप्, १३ आसुरी त्रिष्टुप् त्रयोदशर्चं सप्तमं पर्यायसूक्तम् ॥

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥

भा०—(तेन) मैं उस, नाना शस्त्र से (एनं) उस शत्रु को (विध्यामि) ताड़ना करूं (अभूत्या एनं विध्यामि) ऐश्वर्य के अभाव से उसको पीड़ित करूं (निर्भूत्या एनं विध्यामि) पराभव और तिरस्कार से उसको पीड़ित करूं, (ग्राह्या एनं विध्यामि) नाना प्रकार की जकड़ से उसको पीड़ित करूं । (तमसा एनं विध्यामि) तम अन्धकार और मृत्यु से पीड़ित करूं । अर्थात् शत्रु को शस्त्रास्त्र से पीड़ित करो, ऐश्वर्य उसके पास न जाने दो, उसकी धन सम्पत्ति छीन लो पराजित और तिरस्कार करो, पकड़ कर कैद करलो और अन्धेरे से भरे कैदखाने में उसे डालदो)

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥

भा०—(एनं) इस शत्रु को (देवानाम्) देवों के, अग्नि सूर्य, वायु आदि दिव्य पदार्थों के या विद्वानों के (घोरैः) अति भयानक (क्रूरैः) क्रूर, कष्टदायी (प्रैषैः) अस्त्रों द्वारा (अभिप्रेष्यामि) उखाड़ फेंकूं ।

वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥

भा०—(एनं) इस शत्रु को (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः) वैश्वानर नामक अस्त्र, महान् अग्नि या परमात्मा की दाढ़ों में (अपि दधामि) धर दूं ।

एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह दाह (एव अनेव) इस प्रकार से या अन्य प्रकार से भी शत्रु को (अव गरत्) निगल जाय ।

योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥५॥

भा०—(यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है (तम्) उसको (आत्मा) उसका अपना आत्मा (द्वेष्टु) द्वेष करे और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह भी अपने ही साथ द्वेष करे । शत्रु के राज्य में भेद नीति का प्रयोग करना चाहिये ।

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥ ६ ॥

भा०—(द्विषन्तम्) द्वेष करने वाले को (दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात् निः, निः, निः भजाम) द्यौ लोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष तीनों लोकों से निकाल बाहर करें ।

सुयामंश्चाक्षुप ॥ ७ ॥ इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥

भा०—हे (सुयामन्) उत्तम रीति से नियम व्यवस्था करने हारे राजन् ! हे चाक्षुप ! अपराधियों के अपराधों को भली प्रकार देखनेहारे ! (अहम्) मैं आथर्वण पुरोहित, न्यायाधीश. (इदम्) यह इस प्रकार से (आमुष्यायणे) अमुक गोत्र के (अमुष्याः पुत्रे) अमुक स्त्री के पुत्र पर (दुःस्वप्न्यं) दुःखप्रद मृत्यु दण्ड का (मृजे) प्रयोग करता हूं ।

यददोअदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥

यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥

९—'अभ्यगच्छम्', इति क्वचित्०मि० ।

भा०—(यत्) जो (अद अद) अमुक अमुक अपराध (अभि अगच्छन्) मैं इस अपराधी का देखता हूं। (यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम्) जो इस रात में और जो गयी पूर्व की रात्रि में और (यत् जाग्रत्) जो जागते हुए (यत् सुप्त) या सोते हुए (यत् दिवा, यत् नक्तम्) जो दिन को और और रात्रि को और (यत्) जो (अह अह) प्रतिदिन (अभि गच्छामि) इसका अपराध पाता हूं (तस्मात्) इस कारण से (एनम्) इस अपराधी को (अवदये) दण्डित करता हूं।

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

भा०—हे दण्डकर्त्त ! (तं जहि) उस अपराधी को दण्ड दे। (तेन मन्दस्व) उस अपराधी, दण्डनीय पुरुष से तू क्रीड़ा कर, उसका नाक कान काट कर खेला कर। और (तस्य) अमुक अपराधी पुरुष की (पृष्टी अपि शृणीहि) पसलियों को भी तोड़ डाल। (स) वह अमुक अपराधी (मा जीवीत्) न जीवे। और (तं प्राणः जहातु) उस अपराधी को प्राण त्याग दें।

---

(८) विजयोत्तर शत्रुदमन।

१–२७ (प्र०) एकपदा यजुर्ब्राह्म्यनुष्टुभ, १–२७ (द्वि०) त्रिपदा गायत्र्य, १ तृ० प्राजापत्या गायत्री, १–२७ (च०) त्रिपदा प्राजापत्याह्त्रिष्टुभ, २–४, ९, १७, १९, २४ आसुरीजगत्य, ५, ७, ८, १०, ११, १३, १८ (तृ०) आसुरीत्रिष्टुभ, ६, १२, १४, १६, २०, २३, २६ आसुरीपङ्क्तय, २५, २६ (तृ०) आसुरीबृहत्यौ, सप्तविंशत्यृचमष्टमं पर्यायसूक्तम् ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा

अस्माकम् ॥ १ ॥ तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥ स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥ तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥४॥

भा०—(अस्माकम् जितम्) हमारा विजय है । (अस्माकम् उद्भिन्नम्) हमारा ही यह फल उत्पन्न हुआ है । (ऋतम् अस्माकम्) यह अन्न और राष्ट्र हमारा है । (तेजः अस्माकम्) यह तेज, क्षात्रबल हमारा है । (ब्रह्म अस्माकम्) यह समस्त वेद और वेद के विद्वान्, ब्राह्मण हमारे हैं (स्वः अस्माकम्) यह समस्त सुखकारक पदार्थ और आकाश भाग भी हमारा है (यज्ञः अस्माकम्) यह यज्ञ, परस्पर सत्संग और दान और राष्ट्र आदि के समस्त कार्य हमारे अधीन हैं। (पशवः अस्माकम्) ये समस्त पशु हमारे हैं । (प्रजाः अस्माकम्) ये समस्त प्रजाएं हमारी हैं और (वीराः अस्माकम्) ये सब वीर सैनिक भी हमारे हैं । (तस्मात् अमुम् निर्-भजामः) इसलिये उस शत्रु को हम इस राष्ट्र से निकालते हैं (आमुष्यायणम् अमुष्याः पुत्रम् यः असौ) अमुक वंश के, अमुक स्त्री के पुत्र और वह जो हमारा शत्रु है उसको हम राष्ट्र से निकालते, बेदखल करते हैं । (सः) वह (ग्राह्याः) अपराधी लोगों को पकड़ लेने वाली शक्ति के (पाशात्) पाश, दण्ड धारा से (मा मोचि) न छूटने पावे । (तस्य) उसका (इदं वर्चः) यह बल (तेजः) वीर्य (प्राणम् आयुः) प्राण आयु सब को (नि वेष्टयामि) बांध लेता हूं, काबू कर लेता हूं । (इदम्) यह अब मैं (एनम्) उसको (अधराञ्चं पादयामि) नीचे गिराता हूं ।

जितम् ० । ० । स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ५ ॥ जितम् ० । ० । सोऽभूत्या पाशान्मा मोचि । ० ॥ ६ ॥ जितम् ० । ० । स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ७ ॥ जितम् ० । ० । स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ८ ॥ जितम् ० । ० । स देवजामीनां

पाशान्मा मोचि । ० ॥ जितम् ० । ० । स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि । ० ॥ १० ॥ जितम् ० । ० । स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ० ॥ ११ ॥ जितम् ० । ० । स ऋषीणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १२ ॥ जितम् ० । ० । स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १३ ॥ जितम् ० । ० । सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १४ ॥ जितम् ० । ० । स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १५ ॥ जितम् ० । ० । सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १६ ॥ जितम् ० । ० । स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १७ ॥ जितम् ० । ० । स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १८ ॥ जितम् ० । ० । स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १९ ॥ जितम् ० । ० । स ऋतूनां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २० ॥ जितम् ० । ० । स आर्तवानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २१ ॥ जितम् ० । ० । स मासानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २२ ॥ जितम् ० । ० । सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २३ ॥ जितम् ० । ० । सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २४ ॥ जितम् ० । ० । सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २५ ॥ जितम् ० । ० । स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २६ ॥ जितम् ० । ० । स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २७ ॥ जितम् ० । ० । स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २८ ॥ जितम् ० । ० । स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि । ० ॥ २९ ॥

भा०—(जितम्० इत्यादि) सर्वत्र पूर्ववत्। (सः निर्ऋत्याः पाशात्) वह शत्रु निर्ऋति, कठोर दण्ड व्यवस्था के पाश से (मा मोचि) न छूट

पावे । (सः) वह (अभूत्याः) ऐश्वर्य के अभाव, (निर्भूत्याः) सम्पत्ति के छिनने, (पराभूत्याः) ऐश्वर्य के हाथ से निकल जाने या तिरस्कार के (पाशात् मा मोचि) पाश से न छूट जाय ॥ ५-८ ॥ (सः) वह (देव जामीनाम्) देव विद्वानों की सहज शक्तियों, (बृहस्पतेः) बृहस्पति, (प्रजा-पतेः) प्रजापति, (ऋषीणाम्) ऋषियों, (आर्षेयाणाम्) ऋषि सन्तानों (अंगिरसाम्) विशेष आंगिरस वेद के विद्वानों और (आंगिरसानां) उनके शिष्यों, (अथर्वणाम्) अथर्व वेद के ज्ञाताओं और (आथर्वणानाम्) अथर्वाओं के शिष्यों के (पाशात् मा मोचि) पाश से न छूट पावे ॥९-१७॥ (सः) वह (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों, प्रजापालकों, (वानस्पत्यानाम्) उनके अधीन अन्य शासकों, (ऋतूनां) ऋतुओं, (आर्तवानाम्) ऋतुओं में होने वाले पदार्थों, (मासानाम्) मासों (अर्धमासानां) अर्धमासों, पक्षों, (अहोरात्रयोः) दिन और रात्रि के (पाशात् मामोचि) पाशसे न छूट पावे ॥ १८-२५ ॥ (सः) वह (संयतोः अन्होः) गुजरते हुए दो दिनों के, (द्यावापृथिव्योः) द्यौ और पृथिवी के, (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि के, (मित्रावरुणयोः) मित्र और वरुण के और (राज्ञः वरुणस्य) राजा वरुण के (पाशात् मा मोचि) पाशसे मुक्त न हो ।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ ३० ॥ तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ ३१ ॥ स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥ ३२ ॥ तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३३ ॥

भा०—(जितम्० इत्यादि) पूर्ववत् । (तस्मादमुम्० इत्यादि) पूर्ववत् (सः मृत्योः) वह मृत्यु के (पड्वीशात्) चरण में पड़ने वाले (पाशात्) पाश से (मा मोचि) छूटने न पावे । (तस्य इदं वर्च० इत्यादि) पूर्ववत् मन्त्र १-४ ॥

(६) ऐश्वर्य प्राप्ति ।

चत्वारि वै वचनानि । १ प्रजापतिः, २ मन्त्रोक्ता देवता च, ३, ४ आसुरी गायत्री, १ आसुरी अनुष्टुप , २ आर्च्युष्णिक्, ३ साम्नी पंक्तिः, ४ परोष्णिक् । चतुर्ऋचं नवमं पर्यायसूक्तम् ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥१॥

अथर्व० १० । ५ । ३६ प्र० द्वि० ॥

भा०—(अस्माकम् जितम्) यह जीता हुआ राष्ट्र हमारा है । (अस्माकम् उद्भिन्नम्) यह राष्ट्र की उपज हमारी है । मैं (विश्वाः) समस्त (पृतनाः) सेनाओं और (अरातीः) शत्रु सेनाओं को (अभि-अस्थाम्) अपने वश करता हूं ।

तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

भा०—(अग्नि तत् आह) अग्नि इस बात का उपदेश करता है, (सोम उ तत् आह) सोम भी इसी का उपदेश करता है । (पूषा) पुष्टिकारक भागधुक् नामक अध्यक्ष (मा) मुझ को (सुकृतस्य लोके) सुकृत अर्थात् पुण्य के लोक में (धात्) स्थापित करे ।

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥

भा०—हम (स्वः) सुखमय राष्ट्र को (अगन्म) प्राप्त हों, (सूर्यस्य ज्योतिषा सम् अगन्म) सूर्य के तेज से युक्त हों, (स्वः अगन्म) हम सुखमय लोक को प्राप्त करें ।

वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

१—' अभ्यस्थाम् ' इति मै० स० ।

२—' न आधात् ' इति मै० स० ।

भा०—अति अधिक ऐश्वर्यवान् होने के लिये (यज्ञः वसुमान्) यज्ञ, प्रजापति स्वयं वसु ऐश्वर्य से युक्त है । उसकी कृपासे मैं स्वयं (वसु) ऐश्वर्य को (वंसिषीय) प्राप्त करूं । मैं (वसुमान् भूयासम्) धनैश्वर्य सम्पन्न होऊं । (मयि) मेरे में हे परमात्मन्! (वसु धेहि) ऐश्वर्य प्रदान कर ।

यह समस्त विजयसूक्त अध्यात्म में अन्तः शत्रुओं के वशीकरण पर भी लगते हैं । समस्त विजय करके हम (स्वः) मोक्ष सुख का लाभ करें ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र पञ्च पर्यायाः । एकसप्ततिरवसानर्चः ।]

इति षोडशं काण्डं समाप्तम् ।

षोडशे नव पर्यायाः अनुवाकद्वयं तथा ।
शतं तिस्रोऽवसानर्चां गणयन्तथर्ववेदिभिः ॥

बाणवस्वङ्कसोमाब्दे श्रावणे च सिते शनौ ।
एकादश्यां गतं काण्डं ब्रह्मणः षोडशं शुभम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते-ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये षोडशं काण्डं समाप्तम् ।

❀ ओ३म् ❀

अथ सप्तदशं काण्डम्

[१] अभ्युदय का प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । आदित्यो देवता । १ जगती, १-८ त्र्यवसानाः, २-५ अतिजगत्यः, ६, ७, १९ अत्यष्टयः, ८, ११, १६ अतिधृतयः, ९ पञ्चपदा शक्वरी, १०, १३, १६, १८, १९, २४ त्र्यवसानाः, १० अष्टपदा धृतिः, १२ कृतिः, १३ प्रकृतिः, १४, १५ पञ्चपदे शक्वर्यौ, १७ पञ्चपदा विराडतिशक्वरी, १८ भुरिगष्टिः, २४ विराडत्यष्टिः, १, ५ द्विपदाः, ६, ८, ११, १३, १६, १८, १९, २४ एकपदाः, २० ककुप्, २१ उपरिष्टाद् बृहती, २२ अनुष्टुप्, २३ निचृद् बृहती (२२, २३ याजुषौ द्विपदे) २५, २६ अनुष्टुभौ, २७, ३०, जगत्यौ, २८, २९ त्रिष्टुभौ ।
त्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥ १ ॥ विषासहिं० । ० । ० ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥ २ ॥ विषासहिं० । ० । ० ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥ ३ ॥ विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं

---

[१] १—(सा०) 'विषासहम्', (तै० आ०) विषासहिं, स्वर्जितं अभिजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् । " ईड्यं नाम भूया इन्द्रमायुष्मान् प्रियो भूयासम् ।" ' ह्व देवानां प्रियो भूयासम् ' इति च पप० सं० ।

स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥ ५ ॥

भा०—मैं (वि-सासहिम्) विशेष रूपसे शत्रुओं का दमन करने वाले, (सहमानं) दमन करते हुए, (सासहानं) पुनः २ दमन करने हारे, (सहमानं) दमनशील, (सहोजितम्) अपने बलसे शत्रु को जय करने वाले, (स्वर्जितम्) सुखमय राष्ट्र का विजय करने वाले, (गोजितम्) गौआदि पशुओं को विजय करने वाले, (सं-धनाजितम्) समस्त धन ऐश्वर्य को विजय करने वाले, (ईड्यम्) स्तुति योग्य (इन्द्रं नाम) इन्द्र उस ऐश्वर्यवान् सब के राजा परमेश्वर का (ह्वे) स्मरण करता हूं । और मैं स्वयम् (आयुष्मान्) दीर्घ आयुवाला (भूयासम्) होऊं ॥ १ ॥ (विषासहिम्०) इत्यादि सर्वत्र पूर्ववत्. (देवानां प्रियः भूयासम्) देवों, विद्वानों, अधिकारियों का मैं प्रिय होऊं ॥ २ ॥ (प्रजानाम् प्रियः भूयासम्) प्रजाओं का प्रिय होजाऊं ॥ ३ ॥ (पशूनां प्रियः भूयासम्) पशुओं का प्रिय होजाऊं ॥ ४ ॥ (प्रियः समानानां भूयासम्) अपने समान पुरुषों का प्रिय होजाऊं ॥ ५ ॥

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधम् । तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ६ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य, सर्वप्रेरक प्राणात्मन् परमेश्वर ! (उत् इहि-उत् इहि) तू उदय हो, उदय हो ! (वर्चसा) अपने तेज से (मां) मेरी

६–(म०) 'स्वधायां नो धेहि' इति पैप्प० सं० । 'अमृतत्वम्' इति सायणाभिमतः । 'उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह । [illegible] मोऽहं द्विषते रधम्' इति ऋ० सं० ।

तरफ को (उत् इहि) उदय हो, मेरे सामने प्रकट हो । (द्विषत् च) द्वेष करने हारा (मह्यं) मेरे (रध्यतु) वश हो । और (अहम् च) मैं (द्विषते) शत्रु के (मा रधम्) वश न हो हूं । हे (विष्णो) विष्णो ! सर्वव्यापक प्रभो ! (तव इत्) तेरे ही (बहुधा वीर्याणि) बहुत प्रकार के वीर्य, बलसाध्य कार्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं । (त्वं) तू (नः) हमें (विश्वरूपैः) समस्त प्रकार के (पशुभिः) पशुओं से (पृणीहि) पूर्ण कर । तू (सुधायाम्) अपनी उत्तम भरण पोषण करने वाली अमृतरूप शक्ति में और (परमे व्योमन्) परम रक्षाकारी स्थान में (मा धेहि) मुझे स्थापित कर ।

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवे० । ० ॥ ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) हृदयाकाश के परमसूर्य, प्रेरकप्रभो ! (उद् इहि उत् इहि वर्चसा अभि उत् इहि) उदय होवो, उदय होवो मेरे समक्ष उदय होवो, दर्शन दो । भगवन् ! (या च पश्यामि) जिन लोगों को मैं देखूं और (यान् च न) जिनको मैं न भी देखूं (तेषु) उनमें भी आप (मा) मुझको (सुमतिम्) सुमति, शुभ, उत्तम बुद्धि और चित्त वाला (कृधि) करो (तव इत्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्व १ न्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र । हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवे०।०॥८॥

भा०—हे सूर्य ! आत्मन् ! हे राजन् ! जैसे (सलिले) सलिल, जल में या गमन करने के मार्ग में (ये) जो (पाशिन) गति रोकने वाले, पाश हाथ में

७–(च०) 'मे' इति द्विटनिकामितः ।

८–(द्वि०) 'पाशिनम्' (तृ०) 'आरुह एतान्' इति पैप्प० सं० ।

लिये जानेवाले पुरुष ही वैसे हों जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीचमें (उपतिष्ठन्ति) आ उपस्थित होते हैं वे (त्वा, तुझे (मा दभन्) पीड़ित न करें। तू (अशस्तिम्) निन्दा को (हित्वा) त्याग कर (एताम्) उस (दिवम् आरुहः) द्यौलोक, मोक्षपद को प्राप्त हो। (सः) वह तू (नः) हमें (मृड) सुखीकर। (ते) तेरी (सुमतौ) शुभमति में हम (स्याम) रहें। (तवेद्०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं नं इन्द्र महते सौभंगायाद्ब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिः तवे०।०॥९॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) तू (नः) हमें (महते सौभगाय) बड़े सौभाग्य—उत्तम ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये अपने (अदब्धेभिः) कभी विनाश न होनें वाले (अक्तुभिः) प्रकाशों से (परि पाहि) सब ओर से रक्षा कर। (तव इन्०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं नं इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव। आरोहंस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमंपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवे०।०॥ १० ॥ (१)

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! साक्षात् द्रष्टा आत्मन् ! (त्वं) तू (नः) हमारे लिये (शिवाभिः) कल्याणकारी (ऊतिभिः) रक्षा करने वाली शक्तियों से (शंतमः भव) अति अधिक कल्याणकारी हो। हे आत्मन् ! तू (त्रिदिवं) अति तीर्णतम, परम लोक को (आरोहन्) चढ़ता हुआ (दिवः) तेजोमय परमेश्वर की (गृणानः) स्तुति करता हुआ (सोमपीतये) शान्तिदायक ब्रह्मानन्दरस, मोक्षानन्द का पान करने के लिये और (स्वस्तये) अपने पर कल्याण के लिये (प्रियधामा) समस्त संसार के धारक, परम धाम का प्रिय होकर रह।

९—' अक्तुभिः परि ' इति पैप्प० सं०।
१०—' इन्द्रो अद्रिः दि '-इति पैप्प० सं०।

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र । त्वमिन्द्रेम सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवे० ।०॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! विभूति सम्पन्न आत्मन् ! (त्वम्) तू (विश्वजित् असि) विश्व, समस्त संसार का विजेता है । हे (इन्द्र) इन्द्र ! साक्षात् द्रष्टमाण ! आत्मन् ! शक्तिमन् तू (त्वं सर्ववित्) तू सर्वज्ञ और (पुरुहूत असि) बहुत ऋषि मुनियों द्वारा स्तुति योग्य है । हे (इन्द्र) इन्द्र ! आत्मन् ! (त्वं) तू (इमं) इस (सुहवं) उत्तम ज्ञान से युक्त (स्तोमम्) स्तुति मन्त्र को (आ ईरयस्व) उच्चारण कर । (स) वह परम आत्मा (नः) हमें (मृड) सुखी कर । हे परमात्मन् ! (ते सुमतौ स्याम) तेरी शुभ मतिमें हम रहें । (तव इत्) इत्यादि पूर्ववत् ।

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे । अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंछर्म यच्छ तवे० । ० ॥ १२ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (दिवि) द्यौ लोक प्रकाशमय मोक्षलोक में और (पृथिव्याम्) पृथिवी लोक भी (उत) भी तू (अदब्ध असि) अहिंसित, अविनाशी, नित्य अमृत (असि) है । (अन्तरिक्षे) इस अन्तरिक्षमें भी ये जीवगण (ते महिमानम्) तेरे महान् ऐश्वर्य को (न आपुः) प्राप्त नहीं कर सकते । तू (अदब्धेन) अहिंसित नित्य अविनाशी (ब्रह्मणा) ब्रह्म के और वेदज्ञों के बल से (वावृधान) बराबर बढ़ता हुआ (सन्) रहकर (दिवि) उस द्यौ लोक, मोक्ष में (नः)

११-(प्र०) 'विश्ववित्' (च०) शिवाभिस्तनूभिरभि नः सचस्व' इति पैप्प० सं० ।

१२-(प्र०) 'दिवस्' इति पैप्प० सं० ।

हमें (त्वं) तू (शर्म यच्छ) सुख, शरण प्रदान कर। (तव इद्०) इत्यादि पूर्ववत्।

या त॑ इन्द्र तुनूर॒प्सु या पृ॑थि॒व्यां यान्तर॒ग्नौ या त॑ इन्द्र पव॑माने स्व॒र्विदि॑। ययेन्द्र तुन्वा॒३॑न्तरि॑क्षं व्या॒पिथ त॒या न॑ इन्द्र तुन्वा॒३॑ शर्म॑ यच्छ॒ तवे॑० । ० ॥ १३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर! (ते) तेरी या जो (तनूः) निर्माणकारिणी, सर्जन शक्ति (अप्सु) जलों में, (या पृथिव्याम्) जो पृथिवी में, (या अग्नौ अन्तः) जो अग्नि के भीतर और हे (इन्द्र) परमेश्वर! (या) जो रचना शक्ति (ते) तेरी (स्वर्विदि) स्वः=परम उच्च आकाश तक पहुंचे हुए (पवमाने) आदित्य में है। और हे (इन्द्र) परमेश्वर (यया तन्वा) जिस विस्तृत सर्जनकारिणी वायु शक्ति से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (व्यापिथ) व्याप्त करते हो। हे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर! (तया तन्वा) उस सर्जन शक्ति से (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छ) प्रदान कर। शिवकी अष्टमूर्त्ति, गीताप्रोक्त अष्टधा प्रकृति अथवा 'पुर्यष्टक' का मूल यही मन्त्र है।

त्वामि॑न्द्र॒ ब्रह्म॑णा व॒र्धय॑न्तः स॒त्रं नि षे॑दु॒र्ऋष॑यो॒ नाध॑मानास्तवे॑०।०॥१४

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर! (त्वाम्) तुझको (ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद से (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए सर्वत्र तेरी महिमा को गाते हुए, (नाधमानाः) प्रार्थना उपासना करते हुए (ऋषयः) ऋषि लोग (सत्रम्) अनन्त ज्ञान यज्ञ में (निषेदुः) विराजते हैं। (तव इन्द्र०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं तृ॒तं त्वं पर्ये॑ष्युत्सं॑ स॒हस्र॑धारं वि॒दथं॑ स्व॒र्विदं॒ तवे॑० । ० ॥१५॥

भा०—हे इन्द्र परमात्मन्! (त्वं) तू (तृतं) अति विस्तीर्ण महान् आकाश में (परि-एषि) व्यापक है। (त्वं) तू (सहस्रधारम्) सहस्र=अनन्त संसार को धारण पोषण करनेहारे (विदथम्) ज्ञान से परिपूर्ण (स्वर्विदम्)

१५—'विदथं' इति सायणाभिमतः।

स्वः, परम सुख, मोक्षानन्द के लाभ करानेहारे (उस्रं) उस परम स्रोत को भी (परि एषि) व्यापे हुए है । (तव इत०) इत्यादि पूर्ववत् ।

त्वं र॑क्षसे प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वं शो॒चिषा॒ नभ॑सी॒ वि भा॑सि । त्वमि॒मा विश्वा॒ भुव॒नानु॑ तिष्ठस ऋ॒तस्य॒ पन्था॒मन्वे॑षि वि॒द्वांस्तवे० ।० ॥१६॥

भा०—हे परमात्मन् ! (त्वं) तू (चतस्रः) चारों (प्रदिश) दिशाओं, उनमें निवास करने वाले लोकों की (रक्षसे) रक्षा करता है । और (त्व) तू (शोचिषा) अपने तेज, दीप्ति से (नभसी) नीचे और ऊपर के दोनों आकाशों के बीच के समस्त लोकों को भी (वि भासि) विविध रूपों में प्रकाशित करता है । (त्वम्) तू (इमा) इन (विश्वा भुवना) समस्त उत्पन्न होने वाले लोकों का (अनुतिष्ठसे) अनुष्ठान करता है, बनाता है और उनके समस्त कार्यों का संचालन, सम्पादन करता है । तू ही (विद्वान्) सब कुछ जानता हुआ (ऋतस्य) त्रिकाल, परम सत्य के (पन्थाम्) मार्ग का (अन्वेषि) अनुसरण करता है । (तव इत०) इत्यादि पूर्ववत् ।

प॒ञ्चभिः॒ परा॒ङ् तप॒स्येक॒याऽर्वाङश॑स्तिमेषि सु॒दिने॒ बाध॑मान॒स्तवे० । ० ॥ १७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (पञ्चभिः) पाचों से भी (पराङ्) परे, बाहर की ओर (तपसि) तप रहा है और तू (एकया) एक शक्ति से (अर्वाङ्) उरे की ओर (तपसि) तप करता है । तू (सुदिने) उत्तम दिन=प्रकाशमय अवसर में (अशस्तिम्) निन्दनीय अविद्या को (बाधमानः) बाधता हुआ (एषि) हमें प्राप्त होता है । तवेद्० इत्यादि पूर्ववत् ।

ब्रह्म पक्ष में पांच भूत और एक परम प्रकृति ।

अध्यात्म में—पांच बहिर्मुख प्राण और एक भीतरी चिति शक्ति ।

१७-(प्र०) 'मसभि. पराङ्' इति पैप्प० सं० ।

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद० । ० ॥ १८ ॥

भा०—हे परम आत्मन्! (त्वम् इन्द्रः) तू 'इन्द्र' है। (त्वं महेन्द्रः) तू 'महेन्द्र' है। (त्वं लोकः) तू 'लोक'=प्रकाशस्वरूप सबका द्रष्टा है। (त्वं-प्रजापतिः) तू 'प्रजापति' समस्त प्रजाओं का पालक है। हे परमेश्वर! (यज्ञः) यज्ञ उपासना और देव पूजा के समस्त कार्य (तुभ्यम्) तेरे लिये (वितायते) विविध प्रकार से रचे जाते हैं। (जुह्वतः) आहुति देनेहारे, (तुभ्यम् जुह्वति) तेरे लिये आहुति देते हैं। (तव इत्०) इत्यादि पूर्ववत्।

असंति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्। भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १९ ॥

भा०—(सत्) सत् रूप से प्रतीत होने वाला यह व्यक्त संसार (असति[1]) 'असत्', अव्यक्त में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है, आश्रित है। अथवा (असति) 'असत्' अविद्यमान, क्षणभंगुर इस प्राकृतिक जगत् में (सत्) निरन्तर एक रस रहने वाला, सदाविद्यमान 'सत्' ही (प्रतिष्ठितम्) सबमें प्रतिष्ठित है, वह सर्वोच्च अधिष्ठातृ रूप पद पर स्थित है। (सति) 'सत्' सदा विद्यमान, सत्य विनाशी परमेश्वर पर (भूतम् प्रतिष्ठितम्) यह उत्पन्न संसार आश्रित है। (भूतम्) यह उत्पन्न हुआ संसार, 'भूत' (भव्ये) आगे होने वाले

१८–(द्वि०) त्वं विष्णुस्त्वं प्रजा०, (तृ०) 'तुभ्यं यज्ञो वितायते' इति पैप्प० सं०।

१९–'भव्याहितम्' इति पैप्प० सं०।

१. 'असत्' शब्देन निरस्तसमस्तोपाधि [illegible] । न [illegible] ... [illegible] । [illegible] इति सायणः

भविष्य पर (आहितम्) आश्रित है। और (भव्यम्) अर्थात् 'भव्य' भविष्यत् जो होगा वह (भूते) भूत, गुजरे हुए काल पर (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है।। (विष्णो ! तव इत् बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक परमात्मन्! तेरे ही बहुत प्रकार के वीर्य, सामर्थ्य हैं। (त्वं विश्वरूपैः पशुभिः पूर्णाहि) तू हमें सब प्रकार के पशुओं से पूर्ण कर। (सुधायां परमे व्योमन् मा धेहि) उत्तम रूपसे धारण करने योग्य, सर्वोत्तम, अमृतस्वरूप परम रक्षास्थान, मोक्ष में मुझे रख। अथवा— असत्, प्रधान, प्रकृति में, 'सत्' व्यक्त, महत्तत्व आश्रित है। उस 'सत्' में 'भूत', पांचों तत्व आश्रित हैं। वह पांचों भूत ही 'भव्य' अर्थात् उत्पन्न होने वाले कार्य जगत् में प्रतिष्ठित हैं। और यह सर्व कार्य जगत् 'भूत' अपने कारणभूत सूक्ष्म पञ्च भूतों में आश्रित है। *ये सब भी परमेश्वर के ही नाना आश्चर्यकारी कार्य हैं।*

शुक्रो॑ऽसि भ्राजो॑ऽसि । स यथा त्वं भ्राज॑ता भ्राजोस्ये॒वाहं भ्राज॑ता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥ (२)

भा०—हे परमेश्वर ! तू (शुक्रः असि) 'शुक्र' कान्तिमय, तेजोमय, एवं सब संसार का बीजरूप है। (भ्राजः असि) हे परमेश्वर तू 'भ्राज' अति देदीप्यमान, सबका परिपाक करनेहारा है। (सः त्वं) वह तू (यथा) जिस प्रकार से (भ्राजता) अपने प्रखर प्रताप से, या जगत् के समस्त पदार्थों के परिपाक करने के सामर्थ्य से (भ्राजः असि) तू 'भ्राज' सबका परिपाक करनेहारा है (एवं) उसी प्रकार मैं (भ्राजता) प्रखर प्रताप से (भ्राज्यासम्) देदीप्यमान होऊं।

रुचि॑रसि रो॒चो॑ऽसि । स यथा त्वं रुच्या रो॒चोस्ये॒वाहं प॒शुभि॑श्च ब्राह्मणवर्च॒सेन॑ च रुचिषीय ॥ २१ ॥

२१–' रुचिरसि रुचोऽसि स यथा त्वं रुच्या रोचस्व एवमहं रुच्या रोचिषीय' इति म० सं० ।

भा०—(रुचिः असि) हे ईश्वर तू 'रुचि', कान्ति है । तू (रोचः असि) 'रोचस्' है । तू कान्तिमान्, अतिमनोहर है । (स त्वं) वह तू (यथा) जिस प्रकार (रुच्या) अपनी कान्तिसे (रोचः असि) रोचस् रुचिकर, मनोहर है (एवा अहम्) उसी प्रकार मैं (पशुभिः च) पशुओं से और (ब्राह्मणवर्चसेन च) ब्रह्मतेज से (रुचिषीय) चमकूं, कान्तिमान् बनूं ।

उद्यते नम॑ उदा॒यते॒ नम॒ उदि॑ताय॒ नमः॑ । वि॒राजे॒ नमः॑ स्व॒राजे॒ नमः॑ स॒म्राजे॒ नमः॑ ॥ २२ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (उद्यते नमः) सूर्य के समान हृदय में कोमल प्रकाश से उदित होते हुए तुझे नमस्कार है । (उत् आयते नमः) ऊपर आने वाले तुझे नमस्कार है । (उदिताय नमः) उदित हुए तुझको नमस्कार है । (विराजे नमः) विविध रूप से प्रकाशमान 'विराट्' रूप तुझको नमस्कार है । (स्वराजे नमः) स्वयं प्रकाशमान 'स्वराट्' रूप तुझको नमस्कार है । (साम्राजे नमः) समान भाव से सर्वत्र प्रकाशमान तुझ 'सम्राट्' को नमस्कार है ।

अ॒स्तं॒यते॒ नमो॑ऽस्तमे॒ष्यते॒ नमो॑ऽस्तमिताय॒ नमः॑ ।
वि॒राजे॒ नमः॑ स्व॒राजे॒ नमः॑ स॒म्राजे॒ नमः॑ ॥ २३ ॥

भा०—(अस्तं यते नमः) अस्त होते हुए को नमस्कार है, (अस्तम् एष्यते नमः) अस्त होजाना चाहते को नमस्कार है, (अस्तम् इताय नमः) अस्त हुए हुए को नमस्कार है । (विराजे नमः, स्वराजे नमः, सम्राजे नमः) इति पूर्ववत् । यह प्रलयकालिक परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन है । सूर्य का उदय आदि प्राणके जागने के समान है और अस्त होजाना आदि शयन के समान है । उसी प्रकार ईश्वरी शक्ति के विषयय में भी मनु कहते हैः—

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ म० १ ॥

२२–' रोचिषीय ' इति पैप्प० सं० ।

इसका स्पष्टीकरण छान्दोग्य उपनिषद् में । देखो 'प्राण-सूर्य' का वर्णन ।

उद॑गाद॒यमा॑दि॒त्यो विश्वे॑न॒ तप॑सा स॒ह । स॒पत्ना॒न् मह्यं॑ र॒न्धय॒न् मा चा॒हं द्वि॑प॒ते र॑धं॒ तवेद् वि॑ष्णो बहु॒धा वी॒र्याणि । त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः सु॒धायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन् ॥ २४ ॥

ऋ० १ । ५० । १३ ॥

भा०—(अयम्) यह साक्षात् (आदित्यः) सूर्य (विश्वेन) समस्त (तपसा सह) तप के साथ (उत् अगात्) उदित होता है । वह (मह्यं) मेरे लिये (सपत्नान्) शत्रुओं को (रन्धयन्) मेरे वश करे और (अहम्) मैं (द्विषते) शत्रु के (मा रधम्) वश न होऊं । (तवेद् विष्णो०) इत्यादि पूर्ववत् ।

आदि॑त्य ना॒वमारु॑क्षः श॒तारि॑त्रां स्व॒स्तये॑ । अह॒र्मात्य॑पीपरो॒ रात्रिं॑ स॒त्राति॑ पारय ॥ २५ ॥

भा०—हे (आदित्य) सबको अपने वश में कर लेने वाले प्रकाशमान सूर्य ! तू (स्वस्तये) समस्त कल्याण के लिये (शतारित्राम्) सैकड़ों प्राणियों को त्राण करने में समर्थ (नावम्[1]) समस्त संसार को प्रेरणा, और संचालन करने में समर्थ शक्ति को (आ रुक्ष) सर्वत्र व्याप्त, अधिष्ठित हो । तू (मा) मुझको (अहः) दिन के समय या सृष्टि काल के (अति अपीपरः) पार पहुंचा और (सत्रा) साथ ही (रात्रिम् अति पारय) रात्रिकाल या प्रलयकाल के भी पार कर । अथवा (हे आदित्य नावमारुक्षः[2]) हे आदित्य ! मैं नाव के समान तेरा आश्रय लेता हूं । तू मुझे दिन रात के कष्टों से पार कर ।

२४-(द्वि०) 'महमामह' (तृ०) 'सपत्नम्' (च०) 'माच', इति ऋ० ।

२५-'समरुक्ष' (च०) 'द्विषतो' (द्वि०) 'महमा' इति क्वचित् ।

१. नौ, ग्लानुदिभ्यां डौ नुदति प्रेरयति इति नौ इति दयानन्दः उ० ।

सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सुत्राति पारय ॥ २६ ॥

भा०—हे (सूर्य) सब जगत् के प्रेरक सूर्य परमात्मन् ! (स्वस्तये) कल्याण के लिये तू (शतारित्राम्) सैकड़ों कष्टों से त्राण करने वाली, (नावम्) जगत् की प्रेरक शक्ति को (आरुक्षः) व्यापता है, उस पर अधिष्ठित है। (रात्रिं मा अति अपीपरः) इत्यादि पूर्ववत्।

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ २७ ॥

भा०—(अहम्) मैं (प्रजापतेः) प्रजापालक परमेश्वर के (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदज्ञानरूप (वर्मणा) कवच से (आवृतः) आवृत, सुरक्षित और (कश्यपस्य) सर्वद्रष्टा, कश्यप सूर्य के (ज्योतिषा) तेज और (वर्चसा) प्रकाश से युक्त होकर (जरदष्टिः) वृद्धावस्था तक भोक्ता, दीर्घायु, (कृतवीर्यः) वीर्यवान् (विहायाः) विविध ज्ञान से सम्पन्न (सहस्रायुः) सहस्रों वर्षों का जीवन प्राप्त कर (सुकृतः) पुण्यकर्मा होकर (चरेयम्) विचरूं।

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥ २८ ॥

भा०—(अहम्) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदज्ञान रूप (वर्मणा) कवच से (परिवृतः) सुरक्षित और (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च परीवृतः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर के या सूर्य के समान तेज और कान्ति से युक्त होऊं (याः दैव्याः) जो दैवी और (मानुषीः) मनुष्य सम्बन्धी (इषवः) बाण (वधाय) मेरे विनाश के लिये (अवसृष्टाः) छोड़े गये हों वे (मा मा प्रापन्) मुझे प्राप्त न हों, मुझतक न पहुंचें।

२६—'नावमारिथम्' 'रात्र्यपिपरः' इति पैप्प० सं०।

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम् ।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेहं सलिलेन वाचः ॥२९॥

भा०—(अहम्) मैं (ऋतेन) सत्यज्ञान, (सर्वैः ऋतुभिः) समस्त ऋतु, सत्यज्ञान धारण करने वाले विद्वानों और (भूतेन) भूत और (भव्येन च) भविष्यत् से (गुप्तः) सुरक्षित रहूं। (पाप्मा मा मा प्रापत्) पाप मुझतक न पहुंचे। (मृत्युः मा उत) और मृत्यु भी मुझ प्राप्त न हो। (अहम्) मैं (वाचः सलिलेन) वाणी के बल से जल से भरी खाई से नगर के समान (अन्तः दधे) अपनी रक्षा करूं।

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् ।
व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥३०॥(३)

भा०—(अग्निः) अग्नि, अग्रणी, या अग्नि के समान प्रकाशक ज्ञानवान् परमेश्वर (मा) मुझे (विश्वतः परिपातु) सब ओर से रक्षा करे। और (सूर्यः) सूर्य (उद्यन्) उदित होता हुआ (मृत्युपाशान्) मृत्यु के पाशों को (नुदताम्) परे करे। (व्युच्छन्तीः उषसः) प्रकाशित होती हुई उषाएं और (ध्रुवाः पर्वताः) स्थिर पर्वत और (सहस्रं प्राणाः) अपरिमित प्राण (मयि आयतन्ताम्) मेरे में क्रियाएं, चेष्टाएं उत्पन्न करें।

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम् ।

[एकोनुवाकः सूक्तञ्च त्रिंशत् सप्तदशे ऋचः ।]

वाणवस्वङ्कसोमाब्दे श्रावणे प्रथमेऽसिते ।
द्वितीयस्यां भृगौ सप्तदशं काण्डं गतं शुभम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये षोडशं काण्डं समाप्तम् ।

---

३० (प्र०) 'गोप परि' (च०) 'मयि ते रमन्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

Barcode : 99999990076573
Title - Atharvavedsamhita Khand-4
Author - Sharma, Sri Pt. Jaydev
Language - hindi
Pages - 833
Publication Year - 1930
Barcode EAN.UCC-13
9 999999 007657

DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE

* ओ३म् *

अथर्ववेदसंहिता

CHECKED 2 MAY 1959

भाषा-भाष्य

(चतुर्थ खण्ड)

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्यसाहित्यमण्डल, अजमेर.

196…

मुद्रक—

श्री दुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

Checked

प्रथमावृत्ति २०००	सं० १९८७ वि०	मूल्य ४) रुपये

आर्य्य-साहित्यमण्डल, अजमेर के
लिये सर्वाधिकार सुरक्षित.

श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अध्यक्ष के प्रबन्ध से
श्रीदुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, धानमण्डी,
अजमेर में मुद्रित.

॥ ओ३म् ॥

चतुर्थखण्ड की भूमिका।

इस खण्ड में १८, १९, २० काण्ड सम्मिलित हैं। गत काण्डों में विशेष २ संदिग्ध प्रकरणों पर हमने पूर्व खण्डों की भूमिका में प्रकाश डाला है। इस खण्ड में भी कुछ विषय बड़े महत्व के हैं जिनको स्पष्ट करना आवश्यक है।

(१) पूर्व दोनों खण्डों की भूमिका में 'मणि' शब्द का विवेचन तथा नाना मणि विषयक सूक्तों का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। इस खण्ड में १९ वें काण्ड के २८-३६ सूक्त तक के ९ सूक्तों में औदुम्बर, दर्भ, जंगिड़ और शतवार मणि का वर्णन आया है। भाष्य में इन सबका रहस्य स्पष्ट कर दिया है। इनके सम्बन्ध में विशेष लिखना व्यर्थ है। पाठकगण हमारे अभिप्राय को पूर्व खण्डों की भूमिका में ही पुनः पढ़ने का कष्ट करें और शेष सब संगति प्रस्तुत भाष्य में उपलब्ध हो जावेगी।

१८ वें काण्ड में बहुत से विषय विचारणीय हैं जैसे (१) यमयमी संवाद (२) पितृगण (३) पिण्डदान (४) प्रेतदाह (५) सतीदाह (६) छागवध (७) कुछ और्ध्वदैहिक क्रियाएं।

(१) यमयमी संवाद।

ऋग्वेद (१० । १० । १-१४) में १४ और अथर्ववेद (१८ । १ । १-१६) १६ ऋचाएं यमयमी संवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। आज,ग्रे

सायण के कथनानुसार—यमयमी दोनों भाई बहन हैं। इन १६ मन्त्रों में विवस्वान् के पुत्र पुत्री यम और यमी दोनों का संभोग के निमित्त संवाद वर्णित है। भगिनी के साथ भोग करना अत्यन्त अनुचित होने से यम ने नाना युक्तियों से उसका प्रत्याख्यान कर दिया इस अभिप्राय को चित्त में रखकर सायण ने सम्पूर्ण सूक्त की योजना की है और इस संवाद को बड़ा ही अश्लील कर दिया है। बहिन भाई में किसी भगिनी का भाई से भोग की इच्छा प्रकट करना और उसका भाई के स्वीकार न करने पर कटाक्ष और आक्षेप करना यह वेद के समान धर्म ग्रन्थ में शोभा नहीं देता।

'यस्य वाक्यं स ऋषिः' इस न्याय से इन १६ मन्त्रों के ऋषि भी यम यमी स्वीकार किये जाते हैं। यदि यम यमी दोनों आलंकारिक रूप से कोई जड़ पदार्थ हैं तो उनको ऋषि मानना असंगत है। जब ऋषि हैं तो उनको आलंकारिक या काल्पनिक पात्र मानना अनुचित है।

हमें कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि हम यम और यमी को भाई बहन स्वीकार करें। क्योंकि (१) समस्त सूक्त में कहीं भी यम और यमी को भाई बहिन स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत यह पुत्राभिलाषी स्त्री पुरुष का ही परस्पर संवाद है। १म मन्त्र में सखा को वरण करने की इच्छुक कुमारी वर वर्णिनी कन्या के विचारों को बड़ी उत्तम रीति से रक्खा गया है। वह एक सखा चाहती है। संसारसागर में वह अकेली न रहकर सखा से ही पितृ ऋण के उतारने के निमित्त सन्तान लाभ की इच्छा करती है। २य मन्त्र में उसकी बात का अनुमोदन है। तीसरे मन्त्र में विवाहित पति पत्नी पुत्र प्राप्त न होने पर एक सन्तान के प्रति उत्सुक जान पड़ते हैं। चौथे मन्त्र में सन्तान से निराश दम्पति में पुरुष का वचन प्रतीत होता है। ५.६.७ इन मन्त्रों में सन्तान से निराश दम्पती के भावों को उत्तम रीति से दर्शाया है। ८वें में वरवर्णिनी कन्या के विवाह के पूर्व के विचारों का स्मरण है। ९वें में निराश पति का स्त्री को नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने की सम्मति

है। १० वें में पत्नी की कुछ अनिच्छा है। ११ वें में पति की स्त्री को पुनः आज्ञा है। १२ वें में स्त्री की स्वाभाविक लज्जावश पुनः अनिच्छा है। १३, १४ में पुत्रोत्पादन में असमर्थ एवं महाभारत के राजा पाण्डु के समान रोगादि पीड़ित पति की पुनः आज्ञा है। ऐसा व्यक्ति अपनी स्त्री को भी भगिनी के समान जान अपने शरीर के दोषों से स्त्री के शरीर का नाश नहीं करना चाहिये इस भाव से पत्नी को पृथक् रहने का आदेश करता है। १५ वें में पत्नी का कदाग्रहपूर्वक पति के हृदय की बात जानने के लिये यत्नमात्र है। १६ वें में और भी स्पष्ट रूप से पति ने पुत्र लाभ के लिये आवश्यक कर्त्तव्य का आदेश किया है।

स्त्री पुरुष का स्वयंवर और विवाह एवं गृहस्थ आदि के सामान्य कर्त्तव्यों का वर्णन तो १४ वें काण्ड में ही कर दिया है। इस काण्ड में तो पुत्रार्थी अपुत्र स्त्री पुरुषों के लिये ही आपद्-धर्म रूप नियोग का वर्णन किया है।

ऐसा ही महर्षि दयानन्द ने भी स्वीकार किया है। साधारण रीति से नियोग के नाना लाभों का वर्णन महर्षि दयानन्द के बनाये सत्यार्थ-प्रकाश (४र्थ समु०) में कर दिया है। उनका यहां लिखना पिष्टपेषण है। यहां इतना लिखना ही पर्याप्त है कि—१ नियोग विधान से स्त्रियों के दायभाग के अधिकार की रक्षा होती है। पति के मृत्यु होजाने पर उसकी जायदाद (चर और अचर) का अधिकार स्त्री को होता है। यदि वह दूसरे पुरुष से पुनः विवाह करे तो वह अपने पहले पति की जायदाद को दूसरे पति के अर्पण कर देगी। परन्तु उस स्त्री के देवर और जेठ आदि संबन्धी उसे ऐसा नहीं करने देंगे। क्योंकि वह जायदाद उनके बाप दादों की सम्मिलित है। विशेषतया भूमि, मकान और पशु संपत्ति में ऐसा ही होता है। ऐसी दशा में या तो स्त्री विधवा ही रहे या जायदाद हक छोड़े। यदि जायदाद को छोड़ती है तो अन्य पुरुष के साथ विवाह करने पर स्त्री को जो हक

अपने पूर्व पति के सर्वस्व पर प्राप्त है वह नष्ट होता है। और वह हक जो देवर और जेठ आदि को प्राप्त नहीं था वह उनको मिलता है। यदि दाय भाग को नहीं छोड़ती तो जेठ और देवरादि में अन्य कुल का व्यक्ति उन के भाई के हक पर अधिकार जमाता है इससे शामिलात जायदाद में नया पति कलह का कारण होता है और स्त्री को फिर भी अपने पूर्वपति के जायदाद का हक नहीं रहता। क्योंकि वह हक दूसरे पति ने छीन लिया। (२) दूसरे जो इस नये पति से सन्तान होगी उससे पूर्वपति का वंश नहीं चलता और परस्पर वंश चलाने की प्रतिज्ञा भी खण्डित होती है। ऐसी दशा में स्त्री को अपने मृत पति की जायदाद पर हक भी बना रहे, पुत्र-लाभ भी हो और पूर्व पति का वंश भी चले इन सब सुविधाओं के लिये ऐसे विधान की आवश्यकता है जो स्त्री को पुत्र लाभ करने का अधिकार प्रदान करे और स्त्री को उसके दायभाग के अधिकार से भी च्युत न करें।

(२) इस विधान का नाम 'नियोग' है। यह विवाह नहीं। इसीलिये पद्धतिकारों ने कोई पृथक् पद्धति नियोग के लिये नहीं रक्खी। नियोग का अर्थ 'आज्ञा' है। पत्नी पर जिसका मुख्य अधिकार है उसकी आज्ञा से ही वह स्त्री अपने पाणिग्राही अर्थात् संस्कार द्वारा विवाहित पति के लिये पुत्र उत्पन्न कर सकती है। ऐसे वंश कर सन्तान के लाभ के लिये १म पति ही अपने जीवित काल में अपनी असमर्थता की दशा में नियोग की आज्ञा दे सकता है। उसके अभाव में जो भी उस स्त्री का अभिभावक या संरक्षक हो। मनु आदि धर्मशास्त्रों ने इस नियोग को जहां तक होसका उस कुल में सीमित किया है अर्थात् वह स्त्री देवर से या और किसी अपने पति के सपिण्ड से पुत्र लाभ करे। ऐसा करने से दायभाग और पुत्र आदि अन्य कुल में न जाकर पति का वंश चलता है। इतिहास में ऐसे दृष्टान्त बहुत हैं। जैसे पाण्डु के असमर्थ रहने पर कुन्ती और माद्री दोनों रानियों को नियोग द्वारा सन्तान लाभ हुआ और उनके पुत्रों को वंशागत राज्य भी प्राप्त हुआ। इसी प्रकार विचित्र वीर्य और चित्राङ्गद

दोनों के मरने पर उनकी वधुओं में व्यासदेव द्वारा सन्तान का लाभ होकर वंश चला। और वह पौरव वंश ही कहाया। इसी प्रकार के पुत्र क्षेत्रज पुत्र कहाते हैं।

जहां जायदाद के अधिकारों के प्रश्न न हों और केवल स्त्रियों को पेट का ही प्रश्न है। वहां श्रमी (शूद्र) लोगों में 'नियोग' का विशेष प्रयोजन नहीं है। ऐसी दशा में स्त्रियों का पुनः विवाह ही उत्तम है। यही महर्षि का सिद्धान्त है। यहां ऐसा नियम नहीं कि पति के मर जाने पर स्त्री नियोग करे ही। प्रत्युत यदि सन्तान न हो और सन्तान की इच्छा हो तो नियोग विधान ऐच्छिक है। इसी प्रकार पुनर्विवाह के लिये भी समझना चाहिये। इतिदिक्।

(२) पितृगण।

'पिता' बहुत प्रचलित शब्द है। पालन करने वाला, पिता, कहाता है। विद्या सम्बन्ध से आचार्य भी 'पिता' कहाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पिता' और 'पितर' शब्दों का प्रयोग नीचे लिखे प्रकारों से आया है।

(१) यमो वैवस्वतो राजा इत्याह तस्य पितरो विशः। त इम आसत इति स्थविरा उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति यजूंषि वेदः। शत० १३।४।३।६॥

वैवस्वत राजा यम की प्रजाएं 'पितरः' हैं ये स्थविर, वृद्धजन हैं उनका वेद यजुर्वेद है।

(२) क्षत्रं वै यमो विशः पितरः। श० ७।१।१।४॥

क्षत्रिय 'यम' है और प्रजाएं ही 'पितर' हैं।

(३) मर्त्याः पितरः'। श० २।१।३।४॥ मरने हारे मनुष्य ही 'पितर' हैं।

(४) गृहाणां हि पितर ईशते। श० २।६।१।४०। घरों के स्वामी 'पितर' हैं।

(५) देवाः वा एते पितरः । गो० ३ । १ । २४ ॥ देव गण, तेजस्वी व्यवहार कुशल दानशील पुरुष 'पितर' हैं ।

(६) त्रयाः वै पितरः । सोमवन्तः, बर्हिषदः, अग्निष्वात्ताः । श० ५।५।५।२८
तीन प्रकार के पितर हैं सोमवान् बर्हिषद् और अग्निष्वात्त ।

(७) यान् अग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः । श० २।६।१।७ ॥
जिनको अग्नि ही जलाता हुआ स्वाद देता है वे पितर अग्निष्वात्त हैं ।

(८) ये वै अयज्वानो गृहमेधिनः । ते पितरो अग्निष्वात्ताः । तै० १।६।७।६॥
जो गृहस्थ यज्ञशील नहीं हैं वे अग्निष्वात्त कहाते हैं ।

(९) अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः । श० २।६।१।७॥
जो दान और पाक यज्ञ से लोक का जय करते हैं वे पितर बर्हिषद् हैं ।

(१०) ये वै यज्वानः ते पितरो बर्हिषदः । तै० ब्रा० १ । ६ । ८ । ६ ॥
जो यज्ञशील हैं वे बर्हिषद् पितर हैं ।

(११) तद ये सोमेनेजानाः ते पितरः सोमवन्तः । श० २ । ६ । १ । ७
जो सोम से यज्ञ करते हैं वे सोमवान् पितर हैं ।

(१२) ओषधिलोको वै पितरः । श० १३ । ८ । १ । २ ॥ ओषधियां पितर हैं ।

(१३) षड् वा ऋतवः पितरः । श० २ । ४ । ३ । छहों ऋतु पितर हैं ।

इस प्रकार 'पितर' शब्द बड़ा व्यापक शब्द है । पालन करने वाले गुणों को देखकर ओषधि आदि जड़ पदार्थों को भी 'पितर' कहा गया है । इसी प्रकार प्राणो वै पिता । ए० २ । ३८ । एष वै पिता य एष तपति । श० १४। १ । ७ । १५ ॥ प्राण और सूर्य भी पिता हैं । परन्तु इन स्थलों पर भी कहीं मृत जीवों को पितर शब्द से नहीं कहा गया है ।

अब वेद मन्त्रों में आये पितरों पर विचार करते हैं—वेद में जहां भी 'पितरौ' ऐसा द्विवचन प्रयोग होगा वहां वह माता पिता के लिये प्रयुक्त हुआ है इसमें सन्देह नहीं है। मन्त्र (१८ । १ । ४२) में सरस्वती के उपासक पितरों का वर्णन है। सरस्वती शब्द परमात्मा, वेद वाणी और स्त्री तीनों का वाचक है। इससे ईश्वरोपासक मुमुक्षुजन, वेदज्ञ विद्वान् और गृहस्थजन 'पितर' कहाते हैं। क्योंकि सरस्वती स्त्री वेदवाणी और विद्वत्सभा का भी वाचक है। मन्त्र (१८ । १ । ४४) में अवर पर, मध्यम, ये तीन प्रकार के पितर बतलाये हैं। उनके सोम्य, अवृक, ऋतज्ञ, ये तीन विशेषण हैं। सोम्य का अर्थ सोम अर्थात् ऐश्वर्य ज्ञान और बल सम्पन्न हों। अवृक अर्थात् जो भेड़िये के समान कुटिल क्रूर चोर स्वभाव के न हों। ऋतज्ञ अर्थात् सत्य व्यवहार और वेदव्यवस्था, विधि विधान के जानकार हों। वे ही हव-यज्ञों और संग्रामों में रक्षक होते हैं। (१८ । १ । ४५) में 'सुविदत्र' उत्तम ज्ञानवान् पुरुषों को 'पितर' कहा गया है 'बर्हिषद्' वे हैं जो स्वधा के साथ अन्न का भाग ग्रहण करते हैं। 'स्वधा' का अर्थ है जल, अन्न तथा अमृत। या 'स्व' अर्थात् अपने शरीर के धारण करने वाले वेतन आदि को भी 'स्वधा' कहा जाता है। अपने शरीर और मानपद को धारण करने के सामर्थ्य को भी 'स्वधा' कहा जाता है। बर्हि का अर्थ यह लोक, शासकजन और विद्वान्जन प्रजा और कुश आसन हैं। उनपर विराजने योग्य आदरणीय पुरुष पितर हैं। प्रजापर शासन करने वाले जन पितर हैं, जो वेतन और अन्न लेकर वृत्ति करते हैं।

सू० १ न के मन्त्र ४६ में पृथिवी लोक पर शासन करने वाले उन अधिकारियों को पितर कहा गया है जो विभक्त प्रजाओं पर शासन करते हैं। मन्त्र ४७ में देवों, विद्वानों के सहायक पितर हैं जो प्रजाओं की संग्रामों में रक्षा करते हैं। ४८ में अजेय इन्द्र का वर्णन है और ४९ में समस्त जनों के आश्रय रूप राजा वैवस्वत यम के आदर करने का आदेश है। इस स्थान पर स्पष्ट 'यम' स्वयं राजा है। वह विविध ऐश्वर्यों का और दसवेंद्वारी

प्रजाओं का स्वामी होने से 'वैवस्वत' है और नियन्ता, शासक होने से 'यम' है। सबका आश्रय, परमात्मा भी 'यम, राजा आदि नाम से कहा जाता है। मन्त्र ५१ में शान्ति और दुःख निवारण करने वाले 'बर्हिषद्' पितरों के आदर करने का उपदेश है। मन्त्र ५२ में गोड़ों को संकोच कर भोजन स्वीकार करने वाले जीवित पितरों का वर्णन है जिनसे साधारण दोषों पर दण्ड न देने के लिये प्रार्थना है। समस्त सूक्त में जहां 'यम' शब्द से परमेश्वर का ग्रहण है वहां ही पक्षान्तर में राजा परक अर्थ भी आपसे आप निकलता है। प्रस्तुत भाष्य में इस गौण अर्थ की कुछ उपेक्षा करदी है। मन्त्र ५८, ६१ में ज्ञानवान् पितरों का वर्णन है जिनके शुभ विचारों में रहने का आदेश है। वास्तविक पितर ये विद्वान् ही हैं इनको ही द्वितीय सूक्त में 'यम' के सहयोग में पढ़ा गया है। उनको ही मन्त्र २। २ में नमस्कार किया गया है। द्वितीय सूक्त में समस्त विद्वान् पुरुषों का वर्णन तथा जिज्ञासुओं को उनके पास से विद्या ग्रहण करने का आदेश किया गया है। इस सूक्त में 'यम' क्यों मृत्यु वाचक नहीं और 'पितरः' शब्द क्यों मृतपितरों को ग्रहण नहीं करता है इसका हेतु क्रम से पूर्ण सूक्त का पठन करने से स्पष्ट पता लग जाता है। इसी सूक्त में दुष्ट पुरुषों का नियम (२। २८) में शव के प्रति कर्त्तव्य, (२। २७) में वृद्धों के दीर्घ जीवन की प्राप्ति, नदी के समान सेनाओं का विजय, (२। ३७) में परम परमेश्वर (२। ३२) में दाम्पत्य भाव स्त्री पुरुषों के मिलने का दार्शनिक तत्व, (२। ३३) में अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध जीवों की व्यवस्था, आचार्य और शिष्य के पक्ष में प्रकरण की योजना, (२, १६, ३७) में दीर्घ जीवन, (२८) में ईश्वर की मर्यादाएं और उत्तम सामाजिक व्यवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

सूक्त तीसरे में भी जहां २ पितरों का वर्णन है वहां मृत पितरों का कहीं भी वर्णन प्रतीत नहीं होता। इसकी स्पष्टता भाष्य पाठ करने पर ही विदित होजाती है।

(३) प्रेतदाह और और्ध्वदैहिक कर्म-पद्धति ।

इस प्रसङ्ग में हम संक्षेप से १८ वें काण्ड के आधार पर प्राचीन सूत्रकारों की बनाई कर्मकाण्ड-पद्धति की आलोचना करना आवश्यक समझते हैं। इस पद्धति से वर्तमान की प्रचलित पद्धतियों की तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस पद्धति में सभी पदार्थ ग्राह्य एवं उपयोगी हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। और न उनके सभी अभिप्रायों और संकेतों को ही अभीतक हमने स्पष्ट जाना है तो भी अगले विचारक उनमें से कदाचित् कोई चमत्कार या विशेष तत्वपूर्ण सौन्दर्य प्राप्त कर सकें, केवल इस आशा से उनका उल्लेख करना उचित समझते हैं।

देहपात होजाने पर शरीर जीवरहित शव होजाता है प्राचीन कल्पसूत्रकार ऋषियों ने १८वें काण्ड के मन्त्रों को उस शव की श्मशान-क्रिया और और्ध्वदैहिक क्रियाओं में नीचे लिखे प्रकार से विनियुक्त किया है।

(१) चिता—जिस स्थान पर शव को दहन करना होता है उक्त काण्ड के सूक्त (२।२७) से उस स्थान को साफ करना और कम्पील वृक्ष की शाखा से वहां जल छिड़कना। (१ । ४४) से उस स्थान पर चिता को माप कर चिह्न लगाना। (२।३७-४६) दहन स्थान को मापना। (१।४४) से चिता खोदना। (४ । ५५) से सलाखों या ईंटों से दहन स्थान को कूट कर सम करना। (३ । ४६), (३ । ५४—३५) और (२।५०) से सलाखों या ईंटों को चुनना (१ । ४६-४८, ५१), (३ । ४५, ४६) और (४ । ६८) से चिता के गढ़े में दाभ बिछाना। (१ । ५२) से उस पर तिल छिड़कना।

(२) शव—(२ । १६-२१) से मरणासन्न के शरीर को नीचे कुशाओं पर धरना। (२ । १-३), (३ । ८) से प्रेत को उठाना। (२ । ५७) से शव को कफन से ढकना। (३ । ६) से शव के शरीर को हिलाना डुलाना। (२ ४८-४६), (१ । ५४) से शव को उठाकर गाड़ी, शकट या अर्थी पर रखना। (४ । ४६) से शव-वाहक शकट के

बैलों को देखना, पुचकारना। (२ । ५६) से गाड़ी में बैलों का जोड़ना। (२ । ११–१८) इन आठ मन्त्रों को मार्ग में शव शरीर को लेजाते हुए पढ़ना। (३ । ४४—४५) से दाभ बिछाना। (२ । १६–२१) से श्मशान में पहुँच कर शव को नीचे उतार कर दाभ पर धरना। (३ । २१–२४) को शव के समीप लोगों का आकर पढ़ना। (३ । ५५) से जलने की चिता को जल से छिड़कना। (३ । ४१ -४२), (४ । ८८), (३ । ४७–४८), (२ । ३४–३५) से चिता में काष्ठों का चयन करना। इसी प्रकार (४।४१), (३ । ४१, ४७, ४८) से भी काष्ठ चयन करना और शव को उठाकर चिता में धरना। (२ । ५३–५४), (४ । ५, ६) से आहिताग्नि के यज्ञ पात्रों को शव के ऊपर यथास्थान रखना। (४ । ११–१५) से चिता पर रक्खे शव के समीप बन्धुओं का (४ । ११–१५) पाठ करना।

(३) चरु—(४ । १६–२४) से ६ प्रकार के चरुओं का दाभों पर स्थापन। (४ । ५३, ५४) चरुपात्रों का पलाश पत्रों से ढक कर रखना। (४ । ५६) शव के हाथ में सुवर्णका देना। अग्निदान, शव के हाथों का पोछना। (२ । ५८, ६०) से क्रम से ब्राह्मण और क्षत्रिय शव के हाथ से वेदयष्टि और धनुष् को पुत्र द्वारा ग्रहण करना। (२ । ५८) से स्नात छिद्र युक्त गोघृत के पात्र से प्रेतमुख को ढकना। (३ । १) से चिता में प्रेत की स्त्री का लेटाना। (३ । २) से स्त्री को उसके पुत्र द्वारा हाथ पकड़ कर उठाना। (३ । ३–४) अनुस्तरणी गौ का अभिमन्त्रण और शव की परिक्रमा करना। (२ । २२) (२ । ८, ९) से बकरे को चिता के इतने समीप बांधना कि वह आग के साथ जल जाय। (२ । ११–१३) से गौ पशु के दोनों वृक्कभागों को प्रेत के हाथों पर रखना। (४ । ३१) से वस्त्र को लेकर प्रेत का मुख ढकना।

(४) चितादहन—(१ । ५६–५७) से अग्नि जलाना। (३ । ७१) से अग्नि को बढ़ाना। (२ । २७) से घृताहुति देना। अग्नि दान के पश्चात्

(२ । ३१, ४३), (३ । २४–३७), (४ । ४५—८) से घृत से युक्त का सारस्वत होम और (३ । ४०) से जलते हुए शव के पास प्रार्थना करना। (२ । ४९, ५०) जलते हुए शरीर पर आज्य होम करना (२ । ३६), (१ । ५८—६४) से प्रेत के शरीर पर घृत होम करना। (१ । ४–७) से अग्निदान के पश्चात् गोत्र वालों को आग को बढ़ाना और अधिक तीव्र करना। (१ । ४–१८) से शरीर के जलते समय बन्धुओं का चिता के समीप आकर प्रार्थना करना। अथर्ववेद के समस्त काण्ड के ७, ६, ११, १५ इत्यादि विषम संख्या वाले ब्राह्मणों से पाठ कराना अथवा घृताहुति होम करना। (३ । १७) से शव-दहन के दिन घड़ा तोड़ना।

(५) दहन के बाद—(३ । ५६), (४ । ६६) से स्नान करना। (२ । ३८) से स्नानोत्तर नदी पार करना।

(६) अस्थि-चयन—(४ । ५२) से अस्थियों का संचय करना। (३ । ५), (३ । ६०) से नाना ओषधियों से मिले जलों से अस्थियों का धोना। (४ । ३६) से हड्डियों को सहस्र वार पात्र से अभिषेक। (२ । १६) से अस्थि के खण्डों को देखकर मन्त्र पाठ करना। (३ । ६७) (४ । ३३, ३६, ३४, ४३) से अस्थियों पर तिल और धानी छिड़कना। (३ । ११–१८) से इन आठ मन्त्रों से हड्डियों को एक कलश में रखकर गाड़ने के लिये ले जाना। (१ । ५२) से अस्थियों को तिपाई चौकी पर रखना, पूर्ववत् अभिमन्त्रण, अभिलक्षण और वन्दन करना। (४ । ५१८०) से अस्थियों को गढ़े में रखना। (३ । ७२) से अस्थियों के समीप घी, मधु रखना।

(७) पिण्डदान—(३ । १०–११) से आचमन करना। (३ । १२) से हाथ धोना। (२–१८, २६, ७२) से पिण्डों पर घृत सेचन करना। (४ । ६८) पिण्डों के लिये कुशा बिछाना। (४ । ७०—८८) पिण्डदान। (४ । ६१) से पिण्डोत्थान के बाद परिषेक। (४ । ६२), (२ । १६) से पितृविसर्जन।

(८) विशेष—(१।१९।१) से दो जलती लकड़ी लेना। उनमें से एक को (२।२८) से परे फेंकना। या (४।३८) से एक को धूल में फेंक देना। दूसरे को धूलि में गाड़ देना। (४।७०-८८) और (३।६८) को स्वस्ति के लिये सायं प्रातः पाठ करना।

(९) दक्षिणा—(४।४०) से दक्षिणारूप में गौ देना।

(४) पद्धति-समीक्षा।

पद्धति का सामान्य रूप से यह दिग्दर्शनमात्र है। जिसमें से प्रायः अधिकांश अभी तक प्रयोग में आता है। परन्तु मन्त्र-पाठ में प्रायः भेद है। शव को कन्धों पर न लेजाकर गाड़ी पर लेजाना अच्छा है। बंगाल में अभी चारपाई पर डालकर लेजाते हैं। मुसलमानों में भी चारपाई पर लेजाते हैं। अर्थी या रथी या विमान आदि की कल्पना अर्वाचीन प्रतीत होती है। प्राचीन रीति शकट और शयन या चारपाई पर लेजाने की प्रतीत होती है। गाड़ी पर ईसाइयों का शव को लेजाना आर्ष-प्रयोग का अनुकरण है। इसका प्रचार होना उत्तम है। लेजाते समय गृह्यसूत्रों में यम-गाथा के गान का विधान है। इस पद्धति में भी (२।११-१८) इन आठ ऋचाओं को पढ़ना चाहिये। वे 'हरिणी ऋचा' कहाती हैं, क्योंकि इन से मुर्दे को लेजाया जाता है। चितानापन, चयन आदि बहुतसे काम विना मन्त्र के कर लिये जाते हैं। अच्छा हो कि उनको भी मन्त्र सहित किया जाय। इससे वेद की रक्षा होगी।

कुछ विधियें अभिप्राय सहित हैं। जैसे दो में से एक जलती लकड़ी को फेंकना, धूल में डाल देना। इससे स्त्री पुरुष के जोड़े में से एक का मृत्यु से बुझ कर मट्टी में मिल जाना सूचित होता है। घड़े का तोड़ना शरीर के नष्ट होजाने का सूचक है।

अज-बन्धन और उसका जलाना आत्मा के शरीर के जलने का सूचक है। अनुस्तरणी गौ उसकी स्त्री की प्रतिनिधि है। यह विधि कदाचित् सती दाह की विधि चल जाने के बाद मूर्खता और स्वार्थ से उसके विकल्प में पूर्ति

के लिये शुरू हुई प्रतीत होती है। वह अर्वाचीन प्रतीत होती है। जिन वेद-मन्त्रोंको इस कर्ममें विनियुक्त किया गया है उनका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार स्त्री के जलाये जाने को भी समझना चाहिये। प्रस्तुत भाष्यमें से संदेह निवारण कर लेना चाहिये। हमारा विचार है कि चाहे कौशिकादि कल्पोक्त कर्मकाण्ड विधि कितनी ही प्राचीन क्यों न हो,तो भी एकदेशी ही है क्योंकि इससे भिन्न २ विधियां भी अन्य गृह्यसूत्रों में देखी जाती हैं। इसलिये इन पद्धतियों में हमें उपादेय अंश ले लेना चाहिये और त्याज्य अंश की उपेक्षा कर देनी चाहिये। मन्त्र अपने भीतर विनियोग होने के लिये विशेष हेतु नहीं रखता। मन्त्र तो केवल अर्थ का स्मारक है। उनमें मानव-जीवन के कर्त्तव्यों का ही अधिकतर निर्देश है। जिनका स्मरण मृत्यु के अवसरपर कराना उचित है जिससे मनुष्य अपने जीवनपर उत्तम विचार करे और कर्त्तव्य को न भूले।

(५) सतीदाह और अनुस्तरणी।

पद्धति ने (३।१) मन्त्र का विनियोग मृत पति की स्त्री को पति के चिता में बैठने का दे रक्खा है। इससे संदेह होता है कि क्या वेद-मन्त्र सतीदाह की आज्ञा देता है। सायण ने विनियोग लिखा है कि—"आद्यया चितौ भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत्।" प्रथम ऋचा से चिता में भार्या को मृत पुरुष के साथ लेटा दे। मन्त्रपाठ इस प्रकार है—

> इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
> धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

"यह नारी पतिलोक का वरण करती हुई, पुराण धर्म का पालन करती हुई, तुझ मृत पुरुष के पास आती है तू उसको यहां प्रजा और धन प्रदान कर।" इस वाक्य-रचना से स्त्री को जला देने का अर्थ कैसे निकाला जाता है यह आश्चर्यजनक है। सायणाचार्य ने 'पतिलोक' का अर्थ लिया है याग, दान, होमादि से प्राप्त स्वर्गादि फल। 'निपद्यते' का अर्थ 'नितरां

गच्छति' कह कर भी 'अनुसरणार्थं प्राप्नोति इत्यर्थः ।' यह अपनी तरफ़ से मिला दिया है । 'पुराणं धर्मं' से स्मृति पुराणादि प्रसिद्ध अनुमरण लिया है । 'इह' शब्द से इस भूलोक और जन्मान्तर और लोकान्तर भी ले लिये हैं । अर्थात् वह मृत–पति उस स्त्री को इस लोक में भी पुत्र, धनादि दे और जन्मान्तर में भी पुत्रादि दे । इसमें हेतु सायण देते हैं कि—'अनुमरण' के प्रभाव से जन्मान्तर में भी वही उस स्त्री का पति होता है ।

इस तरह का वेदार्थ युक्तिविरुद्ध है । क्योंकि—(१) यदि पति के आचार और कर्म उसको नीच योनि में लेजाने वाले हुए और स्त्री पुण्याचार से अन्य लोक को पाई तो दोनों का सहयोग असम्भव है । (२) पत्नी के अनुमरण से वह ही उसका पति होगा यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि इससे स्त्री के किये को पति भोगे, यह "अकृताभ्यागम दोष" आता है ।

इसलिये स्पष्ट तो विनियोग ऐसा प्रतीत होता है कि शोकातुर स्त्री उस समय चिता के पास आती थी और शोक प्रकट करती या अन्तिम दर्शन करती थी । उस समय वह पति के मर जाने पर पति के सर्वस्व की उत्तराधिकारिणी बनती थी । पुराने आचार के अनुसार धर्माचरण पूर्वक रहती हुई मृत–पुरुष के प्रजा और ऐश्वर्य की स्वामिनी बनती थी । इसको पद्धति रूप में कर दिया जाता था । यही बात (२ । ३) मन्त्र में स्पष्ट होती है । जिसको सायण या पूर्व के पद्धतिकार ने अनुस्तरणी गौ को लाने में विनियोग कर दिया है । वह भी मन्त्र के आशय के विपरीत अनर्थकारी पद्धति चलाई है । इन मन्त्रों का सरल स्पष्टार्थ प्रस्तुत भाष्य में देखें ।

पिण्डदानादि का कार्य भी केवल कल्पनामात्र है । इसमें शरीर के अन्न द्वारा पोषण होने और एक शरीर से सन्तानों के शरीर की उत्पत्ति एवं पुत्रों के द्वारा अपने वृद्ध माता पिताओं के प्रति कर्त्तव्यों का निर्देश है । पिण्डदान में उसका अभिनयमात्र कर लिया जाता है । जो पीछे से कल्पित प्रतीत होता है । वेद में साक्षात् उसका कोई वर्णन नहीं है, इसलिये मान्य भी

नहीं है । इससे गतात्मा का भी कोई उपकार नहीं है । इस सारे विधान में १८वें काण्ड के वेद-मन्त्रों द्वारा परमेश्वर से प्रार्थना करना गतात्मा को शान्ति देता है । इसी से बन्धु बान्धवों को भी धैर्य प्राप्त होता है ।

(६) कुन्तापसूक्त ।

२०वें काण्ड के १२७वें सूक्त से लेकर १३६वें सूक्त तक सामान्यतः कुन्तापसूक्त कहाते हैं । इनको छोड़कर शेष सब सूक्त न्यूनाधिक पाठभेद से ऋग्वेद में भी पठित हैं और कुन्तापसूक्तों का पाठ भी ऋग्वेद के परिशिष्ट में पढ़ा गया है । उनके सम्बन्ध में हम इतना कहना उचित समझते हैं कि कुन्तापसूक्तों का पाठ जो श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने स्वीकार किया है, जो बम्बई के निर्णयसागर में छपा है उससे अर्थ स्फुट नहीं होता । इसके अतिरिक्त ऋग्वेद 'परिशिष्ट' गत पाठ भी उससे बड़ा भिन्न है । श्री राथ, श्री ह्विटनी और श्री सेवकलाल के छपाये अथर्ववेद के भीतर कुन्तापसूक्तों का पाठ बहुत अधिक शुद्ध और स्फुटार्थ है उसी को हमने स्वीकार किया है । पं० क्षेमकरणजी ने अपना भाष्य शंकर पाण्डुरंगसम्मत मूल पाठ को लेकर किया है । विद्वान् पाठक स्वयं तुलना करेंगे ।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार कुन्ताप सूक्तों में केवल ३० ऋचाओं का समावेश है । जिसमें ६ नाराशंसी, ३ रैभी, ४ पारीक्षित, ४ कारव्य, ६ दिशांक्लृप्ति, ६ जनकल्प और ४ इन्द्रगाथा हैं । ये ही 'कुन्ताप' सूक्त कहाते हैं इसके अनन्तर ७० पद ऐतशप्रलाप कहे जाते हैं जिनको योग विभाग द्वारा ७६ पद बना कर (सू० १२६-३२) अथर्ववेदी पढ़ते हैं । इसके अनन्तर ६ प्रवह्लिकाएं [१३३], ६ आजिज्ञासेन्याएं [१३४], ३ प्रतिराधा, १ अतिवाद, २ देवनीथ नामक ऋचा हैं, बाद में ३ भूतेच्छद्, इसके अनन्तर १६ आहनस्या ऋचाएं हैं इन सबको अथर्ववेदी साहचर्य से कुन्तापसूक्तों के नाम से ही व्यवहृत कर लेते हैं ।

(७) ऐतश-प्रलाप ।

इन कुन्ताप सूक्तों में ऐतशप्रलाप के विषय में ऐतरेय ब्राह्मणकार महीदास ने लिखा है कि—

ऐतशो ह मुनिरग्नेरायुर्ददर्श। यज्ञस्यायातयाममिति हैक आहुः सोऽब्रवीत् पुत्रान्, पुत्रका अग्नेरायुरदर्शं तदभिलपिष्यामि यत्किं च वदामि तन्मे मा परिगातेति स प्रत्यपद्यतैता अश्वा आप्लवन्ते प्रतीपं प्रातिसत्वनमिति तस्याभ्यग्निरैतशायनः एत्याऽकालेऽभिहाय मुखमप्यगृह्णाद् अदृपन्नः पितेति ॥ तं होवाचापेह्यलसोऽभूर्यो मे वाचमवधीः। शतायुं गामकरिष्यं सहस्रायुं पुरुषम्। पापिष्ठां ते प्रजां करिष्यामि यो मे इत्थमसचथाः इति । तस्मादाहुरभ्यग्नय ऐतशायना और्वाणां पापिष्ठाः ।

अर्थ—"ऐतश मुनि ने अग्नि की आयु का साक्षात् किया। कोई इस मन्त्र काण्ड को यज्ञ का 'अयातयाम' कहते हैं। ऐतशमुनि ने पुत्रों को कहा— हे पुत्रो ! मैंने अग्नि की आयु का साक्षात् दर्शन किया है। वह मैं कहूंगा। मैं जो कुछ भी कहूं उसको बुरा मत कहना। उसने कहना प्रारम्भ किया 'एता अश्वा आप्लवन्ते' इत्यादि (सू० १२६-१३२)। एतश के अभ्यग्नि नामक पुत्र ने बीच ही में उठकर पिता का मुख पकड़ लिया। कहा कि— हमारा पिता पागल होगया है। इसपर पिताने कहा—पुत्र ! दूर हो, तू मेरे वचन समझने में मन्द है ? इसी से मेरी वाणी को तूने बीच ही में नाश किया है। मैं 'गौ' को १०० वरस और मनुष्य को १००० वर्ष की आयु वाला कर सकता हूं, परन्तु तूने मुझे बीच में इस प्रकार टोका है इसलिये तेरी सन्तान को बहुत पापयुक्त, पतित ठहराता हूं। इसीसे और्व कुल में एतशायन सबसे अधिक पतित कहे जाते हैं।"

इस कथा की सत्यता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह कहना कि ये वचन ऐतश मुनि के स्वयं गढ़े हुए हैं ऐसा नहीं माना जा

सकता। सायण ने अपने भाष्य में 'अलसो भूयां मे-वाचमवधीः' इसका व्याख्यान करते हुए लिखा है—'अहमुन्मत्त इति तव बुद्धिर्नत्वहमुन्मत्तः किन्तु मन्त्रकाण्डमीदृशम्।' हे पुत्र तू समझता है कि मैं उन्मत्त होगया हूं, परन्तु नहीं। मैं उन्मत्त नहीं। मन्त्रकाण्ड ही ऐसा है? इससे प्रतीत होता है कि ऐतश मुनि तो द्रष्टामात्र हैं। मन्त्र तो पूर्व से ही विद्यमान थे। इस मन्त्र काण्ड के पूर्व 'एता अश्वाः' ये पद होने से ही कदाचित् उस सूक्त के द्रष्टा ऋषि का नाम भी 'ऐतश' है।

(८) आहनस्या ऋचाएं।

सूक्त १२६ की १६ ऋचाएं 'आहनस्या' कहाती हैं। इनके सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—आहनस्याद्वै रेतः सिच्यते। रेतसः प्रजाः प्रजायन्ते। (ऐत० ब्रा० १, ३०।१०) इस पर सायण का भाष्य है—"आहननं स्त्रीपुरुषयोः परस्परसंयोगः। तद्वत् प्रजोत्पत्तिहेतुत्वात् ऋचो-प्याहनस्याः। आहनस्यं मिथुनमित्युक्तं।"

अर्थात्—आहनस्य से वीर्य सेचन किया जाता है। वीर्य से प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। स्त्री पुरुषों का परस्पर संयोग 'आहनन' कहाता है। उसी प्रकार प्रजोत्पत्ति के कारण होने से ये ऋचाएं 'आहनस्या' हैं।

इस आधार पर विचार करने से यह सूक्त प्रजोत्पत्ति के गूढ़ रहस्यों का भी वर्णन करता है। परन्तु हमने प्रस्तुत भाष्य में प्रजोत्पत्ति पक्ष पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। हमने कई कारणों से राष्ट्र-पक्ष में ही इसकी व्याख्या की है। इन सूक्तों के विषय में योरोपियन पण्डितों ने बड़ी ओछी कल्पनाएं की हैं। उनको ये सूक्त अश्लील प्रतीत होते हैं। जैसे पं० ब्लूम-फील्ड ने इन सूक्तों के विषय में कुत्सित, शमल, अनृत आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह प्रभाव उनके चित्त पर पतित कालों के बने कर्म-काण्डों से उत्पन्न हुआ है। हमारा विचार उनसे भिन्न है। जिस प्रकार गर्भ विज्ञान, काम-विज्ञान और प्रजनन-विज्ञान के शास्त्रीय भाग को

विशुद्ध दृष्टि वाले विशुद्ध रूप से देखते हैं और पतित प्रवृत्ति वाले उन ही ग्रन्थों से अपने दुर्भाव तृष्णा की पूर्ति भी करते हैं उसी प्रकार इन सूक्तों का भी दुरुपयोग किया गया है। इन सूक्तों और इसी प्रकार वेदों के अन्तर्गत अन्य भी कतिपय सूक्तों के विशुद्ध ज्ञानप्रदर्शक भाष्य होने की बड़ी आवश्यकता है। उक्त सभी सूक्तों की मूलसंहिता के पाठ पर भी विद्वानों को श्रम करना चाहिये। हमने यथामति संहिता का शुद्ध पाठ रखने का यत्न किया है परन्तु तो भी चित्त को सन्तोष नहीं हुआ है। इसी प्रकार भाष्य में भी बहुतसे अस्पष्ट और सन्देह युक्त स्थल हैं जिन पर और अधिक विचार अपेक्षित है।

(६) समाधान।

पूर्व प्रकाशित तीन खण्डों के भाष्यों पर कुछ एक महानुभावों ने कुछ आक्षेप उपस्थित किये हैं। हम उनका समाधान वाचकों को संक्षेप में देना उचित समझते हैं। जैसे—

(१) अ०-[का०४। सू०३४] में विष्टारी ओदन का वर्णन है। २य मन्त्र के भाष्य पर कुछ एक को यह आपत्ति है कि "मुक्त पुरुषों के सुख प्राप्ति के साधन सामर्थ्य दग्ध क्यों नहीं होते? और उनको मुक्ति में बहुत से भोग्य-लोक कैसे प्राप्त होते हैं?

समाधान—उन महानुभावों के लिये मैंने उसी स्थल पर छान्दोग्य उपनिषद् का उद्धरण देकर अपना अभिप्राय स्पष्ट किया है। शेष रहा मुक्तों के पास इन्द्रियों के सामर्थ्य सूक्ष्मरूप से रहते हैं या नहीं? इसका उत्तर यही है कि लिङ्ग शरीर में सभी सामर्थ्य रहते हैं। और उनसे वे मुक्त जीव यथेच्छ सुखों को प्राप्त भी करते हैं। यही उपनिषदों का सिद्धान्त है। देखो छान्दोग्य अ० ८। १। ६ तथा ८। २। १-१०॥

य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताश्च सत्यान् कामाँस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

भोग्यलोकों का निदर्शन देखिये—छान्दोग्य उप० अ० ८ । २ । १–१०॥ स यदि पितृलोककामो भवति० । स यदि मातृलोककामो भवति० । स यदि गीतवादितलोककामो भवति० । अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते । यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ।

इसमें संदेह नहीं कि ये भोग्यलोक मुक्तात्मा के संकल्प बल से ही उत्पन्न होते और संकल्प द्वारा ही भोग्य हैं। कर्मफल रूप से भोग्य नहीं हैं। इसी तत्व को भगवान् बादरायण ने वेदान्तदर्शन अ० ३ । पा० १ और २ में भी दर्शाया है। पाठक उसका अध्ययन करें। इसी प्रकार मुक्तात्मा को स्वरूप 'पर ज्योति' की प्राप्ति है। उस दशा में भी लिखा है—

"एवमेवैष संप्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्यैति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा।"

यहां भी ये सब रमण योग्य पदार्थ संकल्पसिद्ध ही हैं।

कइयों को संदेह है कि यहां 'स्वर्ग' शब्द मुक्ति का वाचक नहीं है। यह उनका भ्रम है। सुख प्राप्त कराने वाला लोक ही स्वर्ग है। मुक्ति में सुख होने से ब्रह्मलोक 'स्वर्ग' नाम से कहा गया है। इसी को 'सत्य' लोक भी कहा है जिसकी व्याख्या करते हुए छान्दोग्य उप० में लिखा है—

अथ य एष संप्रसादोऽस्मात शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि 'सतीयम्' इति तद् यत् सत्तदमृतमथ यत् 'ती' तन्मर्त्यम्। अथ यत् 'यं' तेन उभे यच्छति। यदनेन उभे यच्छति तस्माद् 'यम्'। अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति।

इसी प्रकार और भी अधिक प्रमाण संग्रह किये जा सकते हैं। विस्तार-भय से नहीं लिखते। विद्वान् इतने से ही सन्तोष करेंगे। इति दिक् ॥

(२) आ०—'पुनर्दाय ब्रह्मजायां०' [का०१।सू०१६ १४] इसके भाष्य पर यह आक्षेप है कि स्त्री को पुनः दान करते समय उसके पुत्रादि सन्ततियों या सम्पत्ति का पूर्व पतियों में विभाग कैसा! इससे एक स्त्री के बहु पतित्वादि दोष आते हैं।

समाधान-कन्या का पुनर्दान का विधान स्मृतिकारों की दृष्टि में अपूर्व नहीं है। पूर्व मन्त्र के भाष्य में कात्यायन का उद्धरण देखने योग्य है। सम्पन्न और पुत्रवती कन्याओं के पुनः दान के अवसर पर धन और सन्तति के लिये विवाद होना सम्भव हो सकता है। जैसे बृहस्पति की स्त्री तारा को पुनः बृहस्पति के हाथ देते समय पुत्र बुध के लिये चन्द्र ने विवाद किया और देवसभा ने उसका निर्णय किया। वह चन्द्र के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण चन्द्र का पुत्र कहाया। परन्तु क्षेत्र रूप से स्त्री प्रायश्चित्त के बाद निर्दोष की जाकर बृहस्पति के हाथ पुनः दी गई। यद्यपि यह कथा पौराणिक एवं कल्पित है। तथापि ऐसी घटनाएं सम्भव हैं? स्मृतियों (मनु ९ ७६) में प्रोषित पति स्त्री को ३, ६, ८, १२ वर्षों की प्रतीक्षा के बाद अन्य पुरुष के वरण की आज्ञा है। यदि भाग्यवश उसका पूर्व पति पुनः आजाय और स्त्री पर अपना अधिकार करे तो वहां भी उसका निर्णय पृथ्वी के समान ही होगा। जिस प्रकार भूमि के नये स्वामी के हाथ में देने से पूर्व उसके विषय में उठने वाले पूर्व स्वामियों के विवादों को दूर करना एवं उस भूमि में उत्पन्न अन्नादि सम्पत्ति का विभाग करना आवश्यक है उसी प्रकार पुनः नये हाथों में स्त्री को देते समय पूर्व स्वीकृत पुरुषों के स्त्री से उत्पन्न पुत्रों एवं स्त्री के पास विद्यमान चर अचर सम्पत्तियों का विभाग करना एवं प्रायश्चित्त द्वारा शोधन करना आवश्यक है। [देखो याज्ञ० ३। ४५ पर मिताक्षरा]

अन्य पक्ष में: इस मन्त्र की योजना नीचे लिखे रूप से जाननी चाहिये।

पुनर्वै दत्ता० (म० १०)—(देवाः पुनः अददुः) वेदवाणी को विद्वान् गण शिष्यों को पुनः प्रदान करते हैं (मनुष्याः पुनः अददुः) मननशील पुरुष भी ज्ञानवाणी को पुनः प्रदान करते हैं (राजानः सत्यं गृह्णानाः) राजागण भी सत्य तत्व को ग्रहण करते हुए (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न करने वाली वेदवाणी का (पुनः ददुः) पुनः२ प्रदान करें। पृथिवी पक्ष में—(देवाः मनुष्याः) विद्वान् मननशील और (राजानः) तेजस्वी राजा सभी (सत्यं गृह्णानाः) सत्य धर्म को स्वीकार करते हुए (ब्रह्मजायाम्) धनैश्वर्य को उत्पन्न करने वाली भूमि को (पुनः ददुः) पुनः अपने अगले अधिकारियों के हाथ सौंपे।

'पुनर्दाय०' म० ११)—ब्रह्मजायां पुनः दाय) वेदवाणी का पुनः २ प्रदान करके (देवैः) विद्वान् पुरुष (निष्किल्बिषम् कृत्वा) दोष रहित करके शुद्ध रूप में (पृथिव्या ऊर्जं भक्त्वा) पृथिवी के समान विशाल वेदवाणी के अन्नरस के समान बलवीर्य युक्त ज्ञान का सेवन करके (उरुगायम् उपासते) परमेश्वर की उपासना करते हैं।

पृथिवी पक्ष में—(ब्रह्मजायां) धनैश्वर्य की उत्पादक पृथिवी को पुनः प्रदान करके (देवैः) दिव्य पदार्थ, वायु सूर्यादि द्वारा (पृथिव्याः ऊर्जं) पृथिवी से उत्पन्न अन्न रस को (निष्किल्बिषं कृत्वा) दोष रहित करके शुद्ध करके (भक्त्वा) पृथिवी के समान विशाल वेदवाणी के अन्न रस

के समान बलवीर्य युक्त ज्ञान का सेवन करके (उरु गायम् उपासते) वेदवक्ता या महान् आज्ञापक राजा के आश्रय लेते हैं।

अन्य विद्वान् जन भी वेद के संदिग्ध स्थलों पर यदि प्रकाश डालें तो उनके विचारों का हम अवश्य स्वागत करेंगे।

(३) आ०—(का० १२। सू०२। मं०५३।पृष्ठ२५६) एक यह आक्षेप है कि-मांसाहारी जीव काली भेड़ खाता है। क्या श्वेत भेड़ नहीं खाता।

समाधान—सीसे की गोली आदि से मारने के लिये मांसाहारी जीव को लुभाने के निमित्त भेड़ बकरी आदि काला पशु ही बांधा जाता है, श्वेत नहीं। चांदनी रात में श्वेत पशु नहीं दीखता, फिर निशाना कैसे लगेगा। इसलिये गोली से मारने और उसको नष्ट करदेने के लिये तो काला पशु ही चाहिये।

(४) आ०—आगे जो गृह्योक्त विधान का आधार इस मन्त्र को बतलाया है उससे क्या अभिप्राय है?

समा०—वह केवल अपने प्रदर्शित भाष्य से गृह्योक्त अभिप्राय की तुलना करने के लिये लिखा है कि वह कितने अज्ञान की बात है।

स्थानाभाव से विशेष नहीं लिखते। जो इसी प्रकार की अन्यान्य शङ्काएं हैं उनका समाधान विज्ञ पाठक स्वयं कर लेंगे।

(१०) उपसंहार

अभी और भी अथर्ववेद के नाना विषय हैं जिन पर विस्तार से लिखने से ही उनका पूर्ण भाव स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु प्रस्तुत खण्डों में स्थानाभाव से हम नहीं कर सके।

वेद पर किये गये आक्षेपों की विस्तृत आलोचना और उसके गूढ़ रहस्यों को विस्तार से प्रतिपादन करने के लिये बड़े विशाल ग्रन्थ की अपेक्षा है। जिसका लिखा जाना कदाचित् भविष्य काल के गर्भ में है।

अन्त में मैं विद्वान् महानुभावों से सप्रेम, सानुनय निवेदन करता हूँ कि मेरे इस श्रम में नितरां लाखों त्रुटियां होनी सम्भव हैं। अनेक स्थलों पर मेरे विचार अपरिपक्व होने सम्भव हैं। सर्व पक्षों में प्रकाश करने वाली ईश्वरीय अगाध वेदवाणी के परम तत्व को सर्वाङ्ग रूप से प्रकट करने में मानव तुच्छ बुद्धि का क्या सामर्थ्य? तो भी इतना ही निवेदन है कि विद्वज्जन मेरे इस प्रयास में विचार और भाषा सम्बन्धी और सिद्धान्त और प्रमाण सम्बन्धी जिन त्रुटियों को भी दर्शावेंगे या वेद मन्त्रों पर जो भी स्वतन्त्र विचार प्रकट करेंगे मैं उनके उस उपकार के लिये कृतज्ञ होऊंगा। यदि मेरे जीवन काल में इस ग्रन्थ का पुनः संस्करण हुआ तो उनको यथा-प्रमाण सुधार कर विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर सकूंगा। और इस वेदाध्ययनरूप तप और वेदचिन्तनरूप ज्ञान यज्ञ में सफल हो सकूंगा।

गुण ग्रहण करने में हंसस्वभाव को दर्शाने वाले महानुभाव गुण ग्रहण करने में तत्परता दिखावेंगे ही। यही सदा आशा है। और जो इस से विपरीत केवल दोष-दर्शन करके व्यर्थ के निन्दा और कलह के प्रवाह को बढ़ाने की चेष्टा करते हैं उनके प्रति हमारा यही निवेदन है कि—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि, तान् प्रति नैष यत्नः॥

अन्त में:—भट्ट कुमारिल के शब्दों में—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

अजमेर, केसरगंज,
चैत्र शुक्ला चतुर्दशी,
१९८७ विक्रमाब्द

विद्वानों का अनुचर—
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ

विषयसूची ।

भूमिका ।

प्रकरण	विषय	पृष्ठाङ्क
(१)	यमयमी संवाद	१
(२)	पितृगण	५
(३)	प्रेतदाह और और्ध्वदैहिक कर्म पद्धति	८
(४)	पद्धति समीक्षा	१२
(५)	सर्वदाह और अनुस्तरणी	१३
(६)	कुन्तापसूक्त	१५
(७)	पुनश्च प्रलाप	१६
(८)	आहनस्या अवार्द्ध	१७
(९)	आक्षेप समाधान	१८
(१०)	उपसंहार	२२

सूक्तसंख्या

अष्टादशं काण्डम् ।

सूक्त	विषय	पृष्ठाङ्क
१.	सन्तान के निमित्त पति-पत्नी का परस्पर व्यवहार	१
	परमेश्वर और वेदवाणी	१०
	सरस्वती रूप से परमेश्वर की स्तुति	२२
	पितृगण का वर्णन	२४
२.	पुरुष को सदाचारमय जीवन का उपदेश	३२
	आचार्य और शिष्य का कर्त्तव्य	३५
३.	स्त्री पुरुषों के धर्म	४६
	मृतपति स्त्री का अधिकार	६०
	पति के मरने पर पुत्र और स्त्री के लिये आज्ञा	६०
	परिव्राजक पुरुष का स्वरूप	६२
	अधिकारियों की पदों पर नियुक्ति	८५

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
	राजा और प्रजा का परस्पर व्यवहार	७७
	स्त्रियों के कर्त्तव्य	८८
४.	देवयान और पितृयाण	६७

एकोनविंशं काण्डम् ।

१	यज्ञ के रूप से राष्ट्र की वृद्धि का उपदेश	१३६
२	शान्तिदायक जलों का वर्णन	१४०
३	जातवेदा अग्नि और परमेश्वर का वर्णन	१४३
४	वाणी और आकृति का वर्णन	१४५
५	उपास्य देव	१४८
६	महान् पुरुष का वर्णन	१४६
७	नक्षत्रों का वर्णन	१६१, १६३
६-१२	सुख शान्ति की प्रार्थना	१६६, १७४, १८१
१३	इन्द्र, राजा और सेनापति का वर्णन	१८६
१४	द्वेषरहित होकर अभय की प्राप्ति	१६२
१५	अभय की प्रार्थना	१६३
१६	अभय और रक्षा की प्रार्थना	१६६
१७—२०	रक्षा की प्रार्थना	१६७, २००, २०३, २०६
२१	छन्दों का वर्णन	२०८
२२, २३	अथर्व सूक्तों का संग्रह	२०६, २१३
२५	अश्व, वेगवान् यन्त्र या मृत्यु का वर्णन	२१६
२६	वीर्यरक्षा और आत्मज्ञान	२१६
२७	जीवनरक्षा	२२२
२८	शत्रुनाशक सेनापति दर्भमणि का वर्णन	२३०
२६, ३०	शत्रु का उच्छेदन	२३३, २३४
३१	उदुम्बरमणि के रूप में अन्नाध्यक्ष पुष्टपति का वर्णन	२३७
३२	शत्रु दमनकारी दर्भ नामक सेनापति	२४३

सूक्तसंख्या विषय	पृष्ठाङ्क
३२ दुर्भ, अग्नि नामक अनिषिक्त राजा	२२८
३३, ३४ जांगिड़ नामक रक्षक का वर्णन	२२१, २२६
३६ शतवार नामक वीर सेनापति का वर्णन	२३०
३७ वीर्य, बल की प्राप्ति	२३३
३८ राजयक्ष्मा नाशक गुग्गुलु ओषधि	२३६
३९ कुष्ठ नामक ओषधि	२३७
४० निर्दोष मेधावी, ज्ञानी होने की प्रार्थना	२३७
४१ लोकोपकारी महापुरुषों का कर्त्तव्य	२३५
४२ ईश्वरोपासना	२३६
४३ ईश्वर से परमपद की प्रार्थना	२०६
४४ तारक आञ्जन का वर्णन	२८१
४५ रक्षक और विद्वान् आञ्जन	२८६
४६ अस्तृत नाम वीर पुरुष की नियुक्ति	२९१
४७, ४८ रात्रिरूप ब्रह्मशक्ति और राष्ट्रशक्ति	२९६, ३०१
४९ रात्रि, परमशक्ति का वर्णन	३०६
५० रात्रि रूप राजशक्ति से दुष्ट दमन करने की प्रार्थना	३१६
५१ आत्म-भावना	३१९
५२ 'काम' परमेश्वर	३२०
५३ 'काल' परमेश्वर	३२३
५४ कालरूप परमशक्ति	३२९
५५ परमेश्वर की प्रातः सायं उपासना	३३२
५६ विद्वान् को अप्रमाद का उपदेश	३३६
५७ आलस्य प्रमाद को दूर करने का उपाय	३४०
५८ दीर्घ और सुखी जीवन का उपाय	३४४
५९ विद्वानों की सेवा और अनुसरण की आज्ञा	३४८
६० शरीर के अंगों में शक्तियों की याचना	३४९

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
६१	सुख, शक्ति की प्रार्थना	३५१
६२	सर्वप्रिय होने की प्रार्थना	३५१
६३	ज्ञान और आयु आदि सम्पदाओं की याचना	३५२
६४	आचार्य और परमेश्वर से ज्ञान और दीर्घायु की प्राप्ति	३५२
६५	उच्चपद प्राप्ति के साधन का उपदेश	३५४
६६	दुष्टदमन और प्रजापालन	३५५
६७	दीर्घजीवन की प्रार्थना	३५६
६८	वेदज्ञान प्राप्ति का उपदेश	३५७
६९, ७०	पूर्णायु प्राप्ति का उपदेश	३५८, ३५९
७१	वेद माता की स्तुति, आयु आदि की प्राप्ति	३५९
७२	परमात्मा का वर्णन	३६०

विंशं काण्डम् ।

१—१२	राजा, परमेश्वर और परमेश्वर की उपासना	३६२, ३६६
१३	राजा के राज्य की व्यवस्था	३६७
१४	राजा का वर्णन	३६९
१५	विद्युत् राजा और परमेश्वर	३०१
१६	परमेश्वर की उपासना और वेदवाणियों का प्रकाशित होना	३०६
१७, १८	परमेश्वरोपासना स्तुति	४११, ४२२
१९	परमेश्वर और राजा की शरण प्राप्ति	४२४
२०	परमेश्वर से प्रार्थना और सेनापति राजा का कर्त्तव्य	४२६
२१	परमेश्वर और राजा	४२८
२२-२५	राजा के कर्त्तव्य	४३४, ४३७
२६	राजा और ईश्वर का वर्णन	४४७
२७, २८	राजा के कर्त्तव्य	४४८, ४६०

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
३२	परमेश्वर की स्तुति	४६०
३३	राजा और परमेश्वर का वर्णन	४६२
३४	इन्द्र, परमेश्वर राजा और आत्मा का वर्णन	४६४
३५	परमेश्वर का वर्णन	४७७
३६	ईश्वर स्तुति	४८६
३७	राजा के कर्त्तव्य और परमात्मा के गुण	४९१
३८	ईश्वरस्तुति, प्रार्थना	४९६
३९	ईश्वर और राजा	४९९
४०	आत्मा और राजा	५०१
४१	आत्मा	५०२
४२	ईश्वर, राजा और आत्मा	५०५
४३	परमेश्वर से अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य की याचना	५०६
४४	सम्राट्	५०७
४५	आत्मा, परमात्मा	५०८
४६	आत्मा और राजा	५०९
४७	ईश्वर	५१०
४८-५०	ईश्वरोपासना	५१५, ५१७, ५२०
५१	ईश्वरोपासना, आत्मदर्शन	५२१
५२	ईश्वरस्तुति	५२२
५३	ईश्वरदर्शन	५२४
५४	ईश्वरगुणगान	५२६
५५	ईश्वर से ऐश्वर्य की याचना	५२७
५६	दानशील ईश्वर	५२९
५७-५९	ईश्वरस्तुति	५३२—५३६
६०	ईश्वर और राजा का वर्णन	५३७

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
६१	पूर्णानन्द परमेश्वर की स्तुति	५४०
६२	ईश्वर का स्तवन	५४२
६३-७३	राजा और ईश्वर	५४४, ५५४
७४	राष्ट्ररक्षक राजा के कर्तव्य	५५४
७५	राजा और आत्मा का अभ्युदय	५६७
७६	आत्मा और राजा	५६६
७७	परमेश्वर, आचार्य, राजा	६०७
७८	राजा और परमेश्वर	६१२
७९–८२	परमेश्वर	६१४—१६
८३	राजा	६१७
८४, ८५	परमेश्वर	६१८
८६	आत्मा	६२१
८७	राजा, आत्मा	६२२
८८	परमेश्वर, सेनापति, राजा	६२७
८९	राजा, परमेश्वर	६३०
९०	राष्ट्रपालक, ईश्वर, विद्वान्	६३६
९१	विद्वान्, राजा, ईश्वर	६३८
९२	ईश्वरस्तुति	६४७
९३	ईश्वरस्तुति	६५५
९४, ९६	राजा, आत्मा और परमेश्वर	६५७—६७३
९७-९८	राजा	६७४—६७५
९९	राजा, सेनापति	६७६
१००	बलवान् राजा और आत्मा	६७७
१०१	विद्वान् राजा	६७९
१०२	परमेश्वर, राजा	६८०

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
१०३	परमेश्वर, विद्वान्, राजा	६८१
१०४	राजा, परमेश्वर	६८३
१०५	राजा, सेनापति	६८५
१०६	परमेश्वर	६८७
१०७	परमेश्वर	६८८
१०८	राजा, परमेश्वर	६९१
१०९	राजा, आत्मा, परमात्मा	६९३
११०	परमात्मा, आत्मा	६९४
१११	आत्मा	६९५
११२	आत्मा और राजा	६९६
११३	राजा, सूर्य और परमेश्वर	६९८
११४	राजा और आत्मा	६९९
११५	राजा, परमेश्वर	७००
११६	आत्मा, परमेश्वर, राजा	७०१
११७	राजा, आत्मा	७०२
११८	राजा	७०४
११९	ईश्वर	७०५
१२०-२१	राजा, परमेश्वर	७०६
१२२	ऐश्वर्यवान् राष्ट्र, गृहस्थ और राजा	७०८
१२३	सूर्य और राजा	७०९
१२४	परमेश्वर, राजा और आत्मा	७११
१२५	राजा	७१२
१२६	जीव, प्रकृति, परमेश्वर	७१५
१२७-१३६	कुन्तापसूक्तानि	७२१-७८६
१२७ (१)	स्तुति योग्य पुरुष का वर्णन	७२१

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क
१२७ (२)	विद्वान् पुरुष का कर्तव्य	७३१
(३)	उत्तम राजा का स्वरूप परिचित्	७३२
(४)	राजा को विद्वान् का आदेश और समृद्ध प्रजाएं	७३५
१२८ (५)	दिशाओं के नाम भेद से पुरुषों के प्रकार भेद	७३६
(६)	योग्य और अयोग्य पुरुषों का वर्णन	७३८
(७)	वीर राजा का कर्तव्य	७४२
१२९	वीर सेना और गृहस्थ में स्त्री का वर्णन	७४४
१३०	भूमि और स्त्री	७४६
१३१, १३२	राजशक्ति का वर्णन	७५२, ७५७
	ऐतश प्रलापों की अध्यात्म व्याख्या	७६१
१३३	ब्रह्म, प्रकृति विषयक ६ पहेलियां	७६६
१३४	जीव, ब्रह्म, प्रकृति (आजिज्ञासेन्योः)	७६९
१३५	,, (प्रतिराध्यः)	७७१
	,, (पद् प्रवादाः)	७७२
	,, (प्रतिराधानां प्रवादाः)	७७४
	,, (एकोतिवादः)	७७५
	दक्षिणा और विद्वानों का सत्कार (देवनीथाख्यः पदसमूहः)	७७६
	,, (भूतेच्छदः)	७७८
१३६	राजा और राजसभा के कर्तव्य (आहनस्या ऋचः)	७७९
१३७	राजपद	७८६
१३८	परमेश्वर और राजा	७९२
१३९	माता, पिता, विद्वान्	७९३
१४०, ४१	सत्यपालक दो अधिकारी	७९५, ७९
१४२	वेदवाणी	७९९
१४३	विद्वानों के कर्तव्य	८०२
	समाप्त	८०६

अथर्ववेदसंहिता

अथाष्टादशं काण्डम् ।

[१] सन्तान के निमित्त पति-पत्नी का परस्पर व्यवहार ।

अथर्वा ऋषिः । यमो मन्त्रोक्ता वा देवताः । ४१,४२ सरस्वती । ४०, रुद्रः । ४०-४६,५१,५२ पितरः । ८,१५ आर्षीपंक्ती । १४,४९,५० भुरिजः । १८,२०, २१,२३ जगत्यः । ३७, ३८ परोष्णिक् । ५६, ५७, ६१ अनुष्टुभः । ५९ पुरो बृहती शेषास्त्रिष्टुभ् । एकाशीत्यृचं सूक्तम् ॥

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

ऋ० १० । १० । १ ॥

भा०—सन्तान का उद्देश्य । मैं स्त्री (सख्या) सखिभाव से प्रेरित हो कर (सखायं चित्) अपने आदर योग्य सखा के समान पति को (आ ववृत्याम् उ) ही स्वयं वरण कर चुकी हूं । और (पुरू) और महान् (अर्णवम् चित्) सागर के समान विस्तृत, काम्य जीवन को (तिरः) पार (जगन्वान्) जाने हारा (वेधाः) बुद्धिमान् पुरुष (अधि क्षमि) इस दुनियां में पृथ्वी के ऊपर या अपनी भूमिरूप जाया में (प्रतरम्) पुत्र

[१] १. (प्र०) 'आत्वा सखायः सख्या ववृत्युः' (द्वि०) 'अर्णवान् जगम्याः' (च०) 'अस्मिन् क्षये प्रतरं दीद्यानः ।' इति साम० ।

को ही भवसागर को तैरने के साधन (दीध्यानः) विचारता हुआ (पितुः) कन्या के पिता के (नपातम्) नाती या अपने पिता के (नपातम्) वंश को न गिरने देने हारे वंशकर्ता सन्तान को (अधि क्षमि) गर्भ धारण में समर्थ पत्नी में (आ दधीत)) आधान करे।

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥२॥

ऋ० १० । १० । २ ॥

भा०—हे पत्नि! (ते सखा) तेरा मित्रभाव से युक्त यह पति (एतत्) इस (सख्यम्) सख्य, मित्रता के भाव को (न वष्टि) क्या नहीं निभाना चाहता? अर्थात् चाहता ही है (यत्) कि (सलक्ष्मा) समान सुख, शोभा और सौभाग्य से युक्त स्त्री (विषुरूपा) प्रजा आदि द्वारा बहुरूप (भवाति) हो जाय। क्योंकि (महः) बड़े (असुरस्य) बलवान् पुरुष के (वीराः) वीर्यवान् पुत्र ही (दिवः) द्यौलोक और (उर्विया) पृथिवी के (धर्तारः) धारण करने वाले (परि ख्यन्) देखे जाते हैं।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥३॥

ऋ० १० । १० । ३ ॥

भा०—हे पते! (ते) वे (अमृतासः) अमृत, मोक्ष में प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष (घ) भी (एतत्) यह (उशन्ति) कामना करते हैं कि (एकस्य मर्त्यस्य) प्रत्येक मनुष्य का (त्यजसं चित्) उत्तम पुत्र उत्पन्न हो। (ते मनः) तेरा मन (अस्मे मनसि) मेरे चित्त में ही (निधायि)

२—'सलक्ष्या' इति क्वचित्।

चक्ता है। तू (जन्युः) पुत्र जनन में समर्थ वीर्यसेक्ता (पतिः) मेरा पति होने के कारण तू ही (तन्वम्) मेरे शरीर में (आ विविश्याः) प्रविष्ट हो। मेरे साथ संग कर और पुत्र लाभ कर।

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥४॥
ऋ० १०। १०। ४॥

भा०—सन्तान यौवन काल में न प्राप्त होने पर पति कहता है—कि (कत् ह) वह क्या शेष है (यत्) जो हमने (पुरा) पूर्व, यौवन काल में (न चकृम) नहीं किया अर्थात् सन्तान प्राप्ति के लिये सभी कुछ किया। (नूनम्) निश्चय से (ऋतम् वदन्तः) सत्य का भाषण करने वाले, सत्यवादी होकर हम क्या (अनृतम् रपेम) असत्य बोलें? जब (गन्धर्वः) गन्धर्व अर्थात् पुरुष भी (अप्सु) जलीय परमाणुओं का बना हो और (योषा च अप्या) स्त्री भी जलमयी हो अर्थात् स्त्री और पुरुष अग्नि और जल के स्वभाव के न होकर दोनों जल स्वभाव के, एक ही प्रकृति के हों तो (सा) वही जलीय प्रकृति (नौ) हम दोनोंको (नाभिः) उत्पत्ति कारण है। (तत्) वही (नौ) हम दोनों में (परमं जामि) बड़ा दोष है जो सन्तान उत्पन्न होने में बाधक है।

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥५॥
ऋ० १०। १०। ५॥

भा०—पत्नी निराश होकर कहती है। (नु) क्या (जनिता) उत्पादक परमेश्वर (नौ) हम दोनों को (गर्भे) गर्भ में ही (दम्पती कः) एक दूसरे का पति पत्नी बना देता है? वह परमात्मा (त्वष्टा) समस्त

४—(द्वि०) 'ऋता' (च०) 'सानौ' इति ऋ०।

प्रकार के प्राणियों का रचयिता (सविता) सब का उत्पादक (विश्वरूपः) अखिल विश्व अर्थात् जीवों का बनाने वाला है। क्या (अस्य) उस परमात्मा के (व्रतानि) बताये कर्म-व्यवस्थाओं को (नकिः प्रमिनन्ति) कोई भी नहीं तोड़ सकते ? क्या (नौ) हम दोनों (अस्य) इस रहस्य के विषय में (वेद) जान सकते हैं ? या (पृथ्वी उत द्यौः) पृथिवी और आकाश या माता और पिता दोनों ही (अस्य) उसके विषय में (वेद) जानते हैं।

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥६॥

ऋ० १ । ८४ । १६ ॥

भा०—(अद्य) नित्य (ऋतस्य) इस गतिशील संसार और देह के (धुरि) भारवहन करने में समर्थ धुरे में (कः) कौन (शिमीवतः) क्रियाशक्ति से युक्त (भामिनः) तेजस्वी (दुर्हृणायून्) दुष्ट क्रोध या मृत्यु से युक्त प्रतापी (गाः) इन्द्रियों, प्राणों और सूर्य आदि को घोड़ों या बैलों के समान (युङ्क्ते) नियुक्त करता है या योग द्वारा वश करता है। ये (आसन् इषून्) मुख में गति करने वाले, (हृत्सु असः) हृदयों में विद्यमान् (मयोभून्) सुख के उत्पादक हैं। (यः) जो (एषाम्) इनके (भृत्याम्) भरण पोषण की क्रिया को (ऋणधत्) बढ़ाता है (सः जीवात्) वह दीर्घ काल तक जीता है।

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु व्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ७ ॥

ऋ० १० । १० । ६ ॥

भा०—(अस्य) इस संसार के (प्रथमस्य अह्नः) प्रथम दिन के

६–(तृ०) 'आसन्नेषामप्सुवाहः' इति साम०।
७–'वीच्याः नॄन्' इति सायणाभिमतः पदपाठः।

विषय में (कः वेद) कौन जानता है ? (इम्) इस जगत् को बनते हुए भी (कः ददर्श) किसने देखा । (इह) इस विषय में (कः प्रवोचत्) कौन कह सकता है ? (मित्रस्य) सब के स्नेही (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा (धाम) तेज, धारण सामर्थ्य भी (बृहत्) बड़ा भारी है । (नृन्) सब मनुष्यों का (वीच्य) विवेक करके, हे (आहनः) हृदय पर चोट पहुंचाने या हृदय में प्रवेश करनेहारी प्रियतमे ! तुम (कत् उ) क्या (ब्रवः) कह सकते हो ।

यमस्य॑ मा य॒म्यं१॒ काम॒ आग॑न्त्समा॒ने योनौ॑ सह॒शेय्या॑य ।
जा॒येव॒ पत्ये॑ त॒न्वं॑ रिरिच्यां॒ वि चि॑द् वृहेव॒ रथ्ये॑व च॒क्रा ॥ ८ ॥
ऋ० १० । १० । ७ ॥

भा०—पति पत्नी आपस में विवाह के पूर्व काल के विषय में कहते हैं । पत्नी कहती है-(समाने योनौ) एक समान, पतिपत्नी भाव के योग्य (योनौ) स्थान में (सहशेय्याय) एक साथ शयन करने केलिये (मा यम्यम्) मुझ यमी ब्रह्मचारिणी को (यमस्य) यम ब्रह्मचारी के लिये (कामः) काम अर्थात् अभिलाषा (आगन्) हुई । और यह भी अभिलाषा हुई कि (पत्युः जाया इव) जिस प्रकार स्त्री अपने पति के लिये अपना शरीर अर्पण करती है उसी प्रकार मैं कौमार ब्रह्मचारिणी अपने (तन्वम्) शरीर को अपने अभिलषित ब्रह्मचारी कुमार के हाथों (रिरिच्याम्) सौंप दूं । और (रथ्या चक्रा इव) रथ में लगे दो चक्रों के समान हम दोनों एक गृहस्थ रथ में जुड़कर (वि वृहेव[१] चित्) एक दूसरे का भार उठालें, विवाह करें ।

न ति॑ष्ठन्ति॒ न नि मि॑षन्त्ये॒ते दे॒वानां॒ स्पश॑ इ॒ह ये चर॑न्ति ।
अ॒न्येन॑ मदाहनो याहि॒ तूयं॒ तेन॒ वि वृ॑ह॒ रथ्ये॑व च॒क्रा ॥ ९ ॥
ऋ० १० । १० । ८ ॥

८-१. 'सहतेंसकवाव' इति सायणः ।

भा०—(इह) इस संसार में (ये) जो (देवानाम्) देवों, विद्वान् राजाओं के (स्पशः) सिपाही (चरन्ति) विचरते हैं वे (न तिष्ठन्ति) न कभी विश्राम लेते हैं और (न निमिषन्ति) न कभी झंपकते हैं। वे सदा सचेत रहते हैं। अतः उनके उत्तम राष्ट्र में और निरीक्षण में हे पुत्राभिलाषिणि! हे (आहनः) कटाक्ष से आघात करने वाली ! या हृदयंगमे प्रियतमे ! (मत्) मुझ पुत्रोत्पादन में असमर्थ मुझ पति से अतिरिक्त (अन्येन) अन्य के साथ (तूयं) शीघ्र (याहि) संग कर (तेन) उसके साथ ही (रथ्या चक्रा इव) रथ में लगे चक्रों के समान (वि वृह) परस्पर गृहस्थ-भार को उठा, संग कर।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि॥१०॥(१)

ऋ० १० । १० । ९ ॥

भा०—वह परमात्मा (रात्रीभिः) बहुत सी रातों और (अहभिः) बहुत से दिन गुजर जाने पर स्वयं ही (अस्मै) इस पुरुष को (दशस्येत्) उसका मनोरथ पुत्र आदि दे दिया करता है। इसलिये सम्भव है कि (सूर्यस्य) सर्वप्रेरक उस परमेश्वर की (चक्षुः) दयामय दृष्टि, हम निरपत्य पति पत्नी पर (मुहुः) फिर भी (उत् मिमीयात्) पड़े। और हम (दिवा) प्रकाशमान सूर्य के और (पृथिव्या) पृथिवी के समान परस्पर (मिथुना) जोड़े बने हुए हम (सबन्धू) समान रूप से बन्धु होते हुए (यमीः) मैं पुनः संयमी, यमी अर्थात् व्रतनिष्ठ होकर (यमस्य) व्रतनिष्ठ तुम पति के साथ (अजामि) दोषरहितरूप से (विवृहात्) संग करूं। चिरकाल तक यदि अपत्य उत्पन्न न हो तो स्त्री का विचार

९–१. (प्र०) 'निमिषन्त्येते' इति ऋ० ।

१०–(च०) 'विभृयात्' इति ऋ० । 'उन्मिमील्यात्' इति ह्विटनिकामितः ।
'आमिमीयात्' इति तै० ब्रा० ।

होता है कि कुछ वर्षों में ईश्वर की कृपा दृष्टि से पुनः पुत्रलाभ हो। या सूर्य-पृथिवी के समान दोनों पति पत्नी परस्पर एकत्र रहकर भी ब्रह्मचारी और व्रती रह कर तप करें तो पुनः पुत्रोत्पन्न कर सकें।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ११ ॥

ऋ० १०।१०।१० ॥

भा०—(ता) वे (उत्तरा) इमसे आगे आने वाले (युगानि) पति पत्नियों और वर-वधुओं के जोड़े (घ) भी निश्चय से (आगच्छान्) आने सम्भव हैं (यत्र) जिनमें से (.जामयः) सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ, कन्यायें या पुत्र-वधुएं भी (अजामि) दोष रहित सन्तान उत्पन्न (कृणवन्) करेंगी। इसलिये हे (सुभगे) उत्तम भाग्यशालिनि स्त्रि! तू (वृषभाय) वीर्य सेचन में समर्थ, वीर्यवान् पुरुष के लिये (बाहुम्) अपनी बाहु को (उप बर्बृहि) सिरहाने के समान लगा, उसको सुखी कर और (मत्) मुझ सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ पुरुष से (अन्यत्) दूसरे पुरुष को (पतिम्) अपना पति, मेरी आज्ञा से (इच्छस्व) चाह।

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥

ऋ० १०।१०।११ ॥

भा०—इस प्रकार नियोग अर्थात् आज्ञा पूर्वक अपने से अन्य पति कर लेने की आज्ञा देते हुए पुत्र उत्पादन में असमर्थ पति के प्रति स्त्री लज्जावश पुनः अपने पति को कहती है। हे प्रियतम! (किम्) क्या (भ्राता असत्) आप भाई हैं (यत्) कि जिससे आप (अनाथम्) नाथ के समान नहीं (भवाति) आचरण करते? और (किम् उ) क्या मैं भी (स्वसा)

आपकी भगिनी हूं कि परस्पर स्वयं पुत्र उत्पन्न करने में हमें (निर्ऋतिः) पाप (निगच्छात्) लगे ! यद्यपि मैं आपकी वर्त्तमान में पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थता, नपुंसकता एवं कुष्ठ आदि व्याधि के विषय में जानती हूं तो भी मैं (काममूता) आप के प्रति अति अभिलाषा से आविष्ट होकर (एतत् बहु) यह सब, बहुत कुछ (रपामि) कह रही हूं। मेरी इच्छा यही है कि (तन्वा) अपने देह से (मे तन्वम्) इस मेरे शरीर को (सं पिपृग्धि) भली प्रकार आलिंगन करो।

न ते॒ ना॒थं य॒म्यत्रा॒हम॑स्मि॒ न ते॑ त॒नूं त॒न्वा॒३॑ सं प॑पृच्याम् ।
अ॒न्येन॒ मत् प्र॒मुदः॑ कल्पयस्व॒ न ते॒ भ्राता॑ सुभगे वष्ट्येतत् ॥१३॥

ऋ० १० । १० । १२ ॥

भा०—हे (यमि) यमि ! जितेन्द्रिये प्रियतमे ! अपनी अभिलाषा के पूर्ण न होने पर भी पति गृह में संयम से रहने वाली स्त्रि ! (ते नाथम्) तेरे पुत्र लाभ रूप, आशारूप प्रयोजन को (अहम्) मैं (न अस्मि) पूर्ण करने में समर्थ नहीं हूँ। और इसी कारण (ते तनूम्) तेरे शरीर के साथ अपनी (तन्वः) शरीर का (न सं पपृच्याम्) सम्पर्क नहीं कराता हूं। अतएव (मत् अन्येन) मेरे से दूसरे पुरुष के साथ अपने (प्रमुदः) हृदय के काम्य हर्षों को (कल्पयस्व) प्राप्त कर। हे (सुभगे) सौभाग्यवति! तेरे आक्षेप के अनुसार यह असमर्थ पति (ते भ्राता) तेरा भ्राता ही सही। वह (एतत्) यह शरीर सम्पर्क आदि कार्य को (न वष्टि) नहीं चाहता।

न वा उ॑ ते त॒नूं त॒न्वा॒३॑ सं प॑पृच्यां पा॒पमा॑हु॒र्यः स्वसा॑रं नि॒गच्छा॑त् ।
अ॒सं॒य॒दे॒तन्मन॑सो हृ॒दो मे॒ भ्राता॒ स्वसुः॒ शय॑ने॒ यच्छ॒यी॑य ॥ १४ ॥

ऋ० १० । १० । १२ प्र० द्वि० ॥

भा०—जब असमर्थ पति अपनी स्त्री को अपनी बहन के समान समझ

१४–'ते तन्वा तन्वं सम्' इति ऋ० ।

लेता है। तब वह इसी बुद्धि से कहता है—हे प्रियतमे ! (ते तनूम्) तेरे शरीर को (तन्वा) अपने शरीर से (न वा उ सम् पपृच्याम्) अब एक इस पूर्व कथित वितर्क के कारण से भी नहीं सम्पर्क कराऊँगा, क्योंकि विद्वान् लोग इसको (पापम् आहुः) पाप कहते हैं कि (यः) जो वह (स्वसारम्) अपने बहन का (निगच्छात्) भोग करे। क्योंकि (यत्) यदि मैं (भ्राता) तेरे भाई सा होकर (स्वसुः) अपनी बहिन के (शयने) सेज पर (शयीय) सो जाऊं तो (मे) मेरे (हृदः) हृदय और (मनसः) चित्त का (एतत्) यह (असंयत्) संयम का भंग है। अर्थात् संयम या तपस्या के कारण जो पति पत्नी में भाई बहिन की भावना हो तो भी स्त्री पुनः नियोग करे। "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस पराशर के विधान में 'प्रव्रजिते' इस का यही मन्त्र मूल है।

ब॒तो ब॑तासि यम॒ नैव ते॒ मनो॒ हृद॑यं चाविदाम ।
अ॒न्या किल॒ त्वां क॒क्ष्ये॑व यु॒क्तं परि॑ ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम् ॥१५॥
ऋ० १० । १० । १३ ॥

भा०—हे (यम) यम ! नियमवान् पुरुष ! (बत) खेद है कि तू (बतः असि) तू निर्बल है। (ते मनः) तेरे मन और (हृदयम् च) हृदय को (न अविदाम) हम नहीं समझ पाये। (किल) क्या (त्वां) तुझ को (कक्ष्या इव युक्तम्) बगल की रस्सी जिस प्रकार जुते हुए घोड़े के संग चिपटी रहती है उसी प्रकार या (वृक्षम्) वृक्ष को (लिबुजा इव) लता जिस प्रकार आलिंगन करती है उस प्रकार (अन्या) कोई दूसरी स्त्री (त्वाम्) तुझको (परिष्वजाते) आलिंगन करती है जिससे तू मेरे से इस प्रकार अपना मन बटोरता है।

अ॒न्यमू॒ षु य॑म्य॒न्य उ॒ त्वां परि॑ ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम् ।
तस्य॑ वा॒ त्वं मन॑ इ॒च्छा स वा॒ तवाधा॑ कृणुष्व सं॒विदं॒ सुभ॑द्राम्
॥ १६ ॥   ऋ० १० । १० । १४ ॥

भा०—हे (यमि) यमि ! दृढव्रते (अन्यम् उ सु) तू अन्य पुरुषों को ही भली प्रकार आलिंगन कर और (त्वाम्) तुझको (अन्यः उ) दूसरा पुरुष ही (लिबुजा वृक्षम् इव) वृक्ष को लता के समान (परि स्वजाते) आलिंगन करे। (वा) अथवा (त्वम्) तू ही (तस्य मनः इच्छा) उसके चित्त की अभिलाषा कर और (सः वा तव) वह तेरे चित्त को चाहे। (अधा) और तू (सुभद्राम्) खूब कल्याणकारी (संविदम्) परस्पर सहमति (कृणुष्व) करले।

बहुत से विद्वान् यम यमी को भाई बहिन मान कर उनका संवाद कराते हैं। महर्षि दयानन्द ने इसको पुत्रोत्पादन में असमर्थ पति और समर्थ पत्नी के बीच का सम्वाद स्वीकार किया है। वही अधिक युक्ति युक्त प्रतीत होता है। उसी को यहां दर्शाया है।

परमेश्वर और वेदवाणी।

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ १७ ॥

भा०—(त्रीणि) तीनों (छन्दांसि) छन्दः, वेद अर्थात् ऋक्, साम और यजुः, तीनों को (पुरुरूपम्) नाना प्रकार से विश्व में प्रकट होने वाले (विश्वचक्षणम्) विश्व के द्रष्टा (दर्शतम्) अति दर्शनीय परमेश्वर को लक्ष्य करके ही (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष (वि येतिरे) व्याख्या करते हैं, योजना करते हैं। तीनों वेद परमेश्वर पर किस प्रकार लगते हैं उसमें दृष्टान्त कहते हैं। जिस प्रकार (आपः) जल, (वाताः) नाना वायुएं और (ओषधयः) ओषधियें (तानि) वे सब (एकस्मिन्) एक ही (भुवने) भूलोक पर (अर्पितानि) आश्रित हैं, उसी प्रकार उस परमेश्वर के स्वरूप वर्णन में ही ऋग्वेद, सामगान और याजुषकर्म तीनों आश्रित हैं।

१५-(च०) 'स्वजाते' इति ऋ०।

१६-(प्र०) 'अन्यामू षु त्वं यम्य न्य उ त्वां'।(द्वि०) 'स्वजाते' इति ऋ०।

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ
ऋतून् ॥ १८ ॥　　ऋ० १०।११।१॥

भा०—(वृषा) वर्षण करने में समर्थ, (यह्वः) महान् परमेश्वर (अदाभ्यः) नित्य अविनाशी (अदितेः) अखण्ड (दिवः) द्यौलोक से (वृष्णे) बलवान् वर्षण करने में समर्थ सूर्य के (दोहसा) दोहन करने के सामर्थ्य से (दुदुहे) दोहन करता है, रस वर्षण करता है। (सः) वह (वरुणः) वरुण-सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (यथा) जिस प्रकार से (विश्वम्) समस्त संसार को (धिया) ध्यान और धारण सामर्थ्य से (वेद) ठीक २ जानता है। उसी प्रकार (सः) वह (यज्ञियः) महान् यज्ञकर्त्ता (यज्ञियान्) यज्ञ, विश्वमय यज्ञ के करनेहारे! (ऋतून्) ऋतुओं को (यजति) परस्पर संयुक्त करता है।

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि
वोचति ॥ १९ ॥　　ऋ० १०।११।२॥

भा०—(गन्धर्वी) गौ, वाणी को धारण करने वाली (अप्या च) और अप्=कर्म और ज्ञान को देने में हितकर या प्रजा की हितकर (योषणा) अप्या=जलमयी स्त्री के समान सेवन करने योग्य (नदस्य) अति समृद्ध ऐश्वर्यवान्, या स्तुत्य परमेश्वर के (नादे) ऐश्वर्य या महिमा के स्तवन में लगा कर इस प्राकृतिक अपार संसार में (नः) हमारे (मन) मनन सामर्थ्य की (परि पातु) सब प्रकार से रक्षा करे। वही (अदितिः) अखण्ड परमेश्वर की अखण्ड, नित्य वेद वाणी हमारे मन

१८–(च०) 'यजतु' इति ऋ०।
१९–(द्वि०) 'पातु मे' इति ऋ०।

को (इष्टस्य मध्ये) इष्ट, अभिलषित, हितकारी, सुखकर कार्य में (नि धातु) स्थापित करे । (नः) हम में से (प्रथमः) सब से श्रेष्ठ और (ज्येष्ठः) बड़ा, पूजनीय महान् परमेश्वर ही सब का (भ्राता) भरण पोषण करने हारा है । सब से प्रथम वही हमें (वि वोचति) नाना प्रकार से उपदेश करता है ।

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्ववती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥२०॥
(२) ऋ० १० । ११ । ३ ॥

भा०—(सा उ) वह वेदवाणी ही (चित् नु) निश्चय से (भद्रा) कल्याणकारिणी, सुखजनक, (क्षुमती) मन्त्रमय शब्द से युक्त (यशस्वती) वीर्यवाली (उषा) सर्व जगत् की प्रकाशक, उषा के समान सब पदार्थों को प्रकाश करने हारी (मनवे) मननशील पुरुष के लिये (स्ववती) अत्यन्त सुख और प्रकाशवती, ज्ञान देने हारी होकर (उवास) प्रकट होती है (यत्) क्योंकि विद्वान् पुरुष (उशताम्) नाना प्रकार की कामना करने वालों में से (ईम्) इस वेदवाणी की ही (उशन्तम्) कामना करने वाले (क्रतुम्) क्रियाशील (अग्निम्) ज्ञानवान्, (होतारम्) दूसरे को भी ज्ञान प्रदान करने हारे विद्वान् को (विदथाय) वेदवाणी के ज्ञान के लिये (जीजनन्) उत्पन्न करते हैं ।

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे ।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत ॥२१॥
ऋ० १० । ११ । ४ ॥

भा०—(अध) और (त्यम्) उस (द्रप्सम्) रस रूप से

२१–(द्वि०) 'इषितः' इति ऋ० ।

आस्वादन करने योग्य (विभ्वम्) सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् (विच-क्षणम्) विद्वान्, विविध रूप संसार के द्रष्टा उस परमेश्वर को (इषिरः) कामनावान्, दृढ़ इच्छावान् (श्येनः) ज्ञानवान् (विः) हंस रूप सुपर्ण, पारगामी आत्मा (आभरत्) प्राप्त होता है । और (यदी) जब (आर्याः) आर्य, श्रेष्ठ या गतिशील (विशः) प्रजाएं या तत्व के भीतर प्रवेश करने वाले जन या प्राणगण (दस्मम्) उस दर्शनीय (होतारम्) दानशील (अग्निम्) अग्निस्वरूप ज्ञानवान् गुरु, स्वयं-प्रकाश परमेश्वर या आत्मा को (वृणते) वरण करते हैं (अथ) तब (धीः) ध्यान वृत्ति या ज्ञान, विवेक बुद्धि (अजायत) उत्पन्न होती है ।

सदा॑सि र॒ण्वो यव॑सेव॒ पुष्य॑ते॒ होत्रा॑भिरग्ने॒ मनु॑षः स्वध्व॒रः ।
विप्र॑स्य वा॒ यच्छ॑शमा॒न उ॒क्थ्यो॒३॒॑ वाजं॑ सस॒वाँ उ॑प॒यासि॒ भूरि॑भिः
॥ २२ ॥   ऋ० १० । ११ । ५ ॥

भा०—(यवसा इव) जिस प्रकार घास भूसा आदि खाकर उससे पशु (पुष्यते) अपने पोषण करने वाले स्वामी के लिये दर्शनीय एवं आनन्द-जनक होता है उसी प्रकार हे (अग्ने) अग्ने ! प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू (सु अध्वरः) उत्तम, अविनाशी, अमृत, यज्ञरूप होकर (मनुषः) मनुष्य की (होत्राभिः) स्तुतियों के द्वारा (सदा) सर्वदा (रण्वः) रमणीय, आनन्दजनक (असि) बना रहता है ।

उदी॑रय पि॒तरा॑ जा॒र आ भग॒मिय॑क्षति हर्य॒तो हृ॒त्त इ॑ष्यति ।
विव॑क्ति॒ वह्निः॑ स्वप॒स्यते॑ म॒खस्त॑वि॒ष्यते॒ असु॑रो॒ वेप॑ते म॒ती ॥ २३ ॥
                                                    ऋ० १० । ११ । ६ ॥

भा०—(जारः) जार—रात्रि का विनाश करने वाला आदित्य (आ) जिस प्रकार (भगम्) अपने सेवन करने योग्य प्रकाश को

२२–(तृ०) 'उक्थ्यम्' इति ऋ० ।

सर्वत्र फैलाता है उसी प्रकार हे मनुष्य ! तू भी अपने (भगम्) ऐश्वर्य को (पितरौ) अपने माता पिता के प्रति (उत्-ईरय) प्रेरित कर, उनको प्रदान कर । जो पुरुष (इयक्षति) यज्ञ या पूजा करना चाहता है वह उनके प्रति (हर्यतः) परम अभिलाषावान् होकर पूजनीय इष्टदेव को (हृत्तः) अपने हृदय से (इष्यति) चाहा करता है । उसी अवसर पर (वह्निः) ज्ञान का वहन करने वाला, अग्नि के समान ज्ञानी परमेश्वर स्वयं (विवक्ति) नाना प्रकार के उपदेश करता है । और सायं (मखः) वह पूजनीय (सु-अपस्यते) शुभ कर्म में प्रेरित करता है और वह स्वयं (असुरः) प्राणों का प्रदाता (तविष्यते) बढ़ाता है और (मती) अपने स्तम्भन बल से (वेपते) दुष्टों को कंपाता है । या (मती=मत्या वेपते) अपने मति अर्थात् ज्ञान संकल्प से ही समस्त संसार को प्रेरित करता है ।

यस्ते॑ अग्ने सुम॒तिं मर्तो॒ अख्य॒त् सह॑सः सूनो अति॒ स प्र शृ॑ण्वे ।
इषं॒ दधा॑नो॒ वह॑मानो॒ अश्वै॒रा स द्यु॒माँ अम॑वान् भूषति॒ द्यून् ॥२४॥

ऋ० १० । ११ । ७ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (यः) जो (मर्त्तः) मरणधर्मा पुरुष (ते) तेरे (सुमतिम्) ज्ञान का (अख्यत्) दूसरों को उपदेश करता है, हे (सहसः सूनो) बल के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! (सः) वह (अति) बहुत अधिक (प्र शृण्वे) सुना जाता है, प्रख्यात हो जाता है । वह पुरुष (इषम्) अन्न को (दधानः) धारण करता और (अश्वैः वहमानः) घोड़ों की सवारी करता है (सः) वह (द्युमान्) तेजस्वी और (अमवान्) बलवान् होकर (द्यून्) बहुत दिनों तक (भूषति) बना रहता है ।

अ॒धी नो॑ अग्न॒ सद॑ने स॒धस्थे॑ यु॒क्ष्वा रथ॑म॒मृत॑स्य द्रवि॒त्नुम् ।

२४–(प्र०) 'अक्षत्' इति ऋ० ।

आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ २५ ॥

ऋ० १० । ११ । ६ ॥

भा०—हे (अग्ने) आत्मन्! तू (नः) हमारी प्रार्थना को (श्रुधि) श्रवण कर। (सधस्थे) एकत्र होकर बैठने के योग्य (सदने) आश्रयस्थान में अपने (अमृतस्य) अमृत के (द्रविन्नुम्) प्रवहणशील, बहाने वाले तीव्र (रथम्-रसन्) रस रूप आत्मानन्द को या अमृत आत्मा के रथ अर्थात् रमणीय रूप को (युङ्क्ष्व) युक्त कर। योग समाधि द्वारा प्राप्त कर। (देवपुत्रे) ज्ञानवान् पुरुष की रक्षा करने वाले या देव इन्द्रियों को पुत्र के समान पालने वाले (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के समान विस्तृत प्राण और अपान को (वह) धारण कर और तू (देवानाम्) देव अर्थात् इन्द्रिय गणों में से (माकिः अप भूः) कभी दूर न हो प्रत्युत (इह) उनके बीच में ही सदा सुखी (स्याः) बना रह। अर्थात् अपने सब उत्तम प्राण सामर्थ्यों सहित बना रह।

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र।
रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात्
॥ २६ ॥　　ऋ० १० । ११ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! हे (यजत्र) यजनीय, उपास्य ! (देवेषु) देवों, प्राणों में (यजतान्) उपासनीय, देवपूजा के योग्य (यत्) जब (एषा) यह प्रत्यक्ष (देवी) तेजोमयी ज्योतिष्मती (सम्-इतिः) परस्पर एकत्र स्थिति, एकाग्रता (भवाति) हो जाती है और (यत्) जब हे (स्वधावः) स्वतः अपनी धारण शक्ति से सम्पन्न, सर्व शक्तिमन्! तू हमें (रत्ना) नाना रमणीय योग्य पदार्थ (विभजासि) नाना प्रकार से विभाग करता है तब (अत्र) इस लोक में (वसुमन्तम्) अति ऐश्वर्य युक्त (भागम्) सेवनीय अंश (नः) हमें (वीतात्) प्रदान कर।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० ७ । ८२ । ४ ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान॥२८॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० ७ । ८२० । ५ ॥

द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा ।
देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन्॥२९॥
ऋ० १० । १२ । १ ॥

भा०—(द्यावा ह क्षामा) द्यौ और पृथिवी, पिता माता (प्रथमे) सबसे प्रथम (सत्यवाचा) सत्यवाणी युक्त (ऋतेन) सत्य ज्ञानमय वेद से (अभिश्रावे) प्रकट (भवतः) होते हैं । (यत्) जब (देवः) परमेश्वर (मर्त्तान्) मनुष्यों को (यजथाय) उपासना या अपने प्रति संगति लाभ करने के लिये (कृण्वन्) प्रेरित करता है तब वह (स्वम्) अपने आप को (असुम्) सबके प्रेरक प्राणरूप से (यन्) व्याप्त होकर (होता) सबको अपने भीतर ग्रहण करके (प्रत्यङ्) गुप्त रूप से (सीदत्) विराजता है ।

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥ ३० ॥ (३) ऋ० १० । १२ । २ ॥

भा०—(देवः) परमेश्वर (देवान्) समस्त देवों, दिव्यगुण के पदार्थों के (परिभूः) ऊपर अधिष्ठाता रूप से विराजमान है । हे पर-

२९—ऋग्वेदे हविर्धान आङ्गिर्ऋषिः । 'अभिश्रावे' इति क्वचित् ।

मेश्वर ! आप (चिकित्वान्) सर्वज्ञ (प्रथमः) सब से पूर्व विद्यमान् रह कर (नः) हमें (ऋतेन) सत्यज्ञान से अपने (हव्यम्) स्तुति करने योग्य स्वरूप को (वह) प्राप्त करा। आप अग्नि के समान (सम् इधा) अति अधिक दीप्ति से (धूमकेतुः) समस्त बन्धनों को तोड़नेवाले ज्ञान से सम्पन्न (भा-ऋजीकः) कान्ति से कान्तिमान्, अति भास्वर (मन्द्रः) आनन्दघन, (होता) समस्त जगत के दाता और ग्रहीता (नित्यः) नित्य, अविनाशी (वाचा) वाणी अर्थात् वेद वाणी द्वारा (यजीयान्) सबसे अधिक उपासना करने योग्य हैं।

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम्
॥ ३१ ॥　　ऋ० १० । १२ । ४ ॥

भा०—हे (द्यावाभूमी) द्यौ और भूमि पिता और माता ! हे (घृतस्नू) घृत=प्रकाश से आत्मा को स्नान करानेवाले, हे (रोदसी) प्राणों पर वश करने हारे, प्राण और अपान के समान दोनों (मे शृणुतम्) मेरी स्तुति श्रवण करो। मैं (अपः वर्धाय) ज्ञान और कर्म की वृद्धि के लिये (अर्चामि) आप दोनों की स्तुति, उपासना करता हूँ। (अह) और (यद्) जब (देवाः) देव, इन्द्रियगण (असुनीतिम्) प्राण की शक्ति को (आयन्) प्राप्त होते हैं तब (अत्र) इस लोक में (पितरौ) आप दोनों पालक होकर (नः) हमें (मध्वा) मधुर आनन्द रस से (शिशीताम्) आह्लादित करते हैं।

स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥ ३२ ॥
ऋ० १० । १२ । ३ ॥

३१–'अहा यत् यद द्यावो दुर्नीतिमयन्' इति ऋ०।

भा०—(यदि) जब (देवस्य) प्रकाशमान (गोः) सूर्य से उत्पन्न (सु आवृक्) उत्तम रीति से सबके मन को लुभानेवाले (अमृतम्) अमृतमय प्राण शक्ति को (अतः) इस लोक से (जातासः) उत्पन्न जीव (उर्वीम्) इस पृथ्वी पर (धारयन्ते) धारण करते हैं। और (यत्) जब (एनी) प्रकाशमयी द्यौ ही (दिव्यम्) दिव्य (घृतम्) सरणशील (वाः) जल को (दुहे) दोहती है (तत्) उसको ही (ते) वे (विश्वे-देवाः) समस्त देवगण (अनु यजुः) उसी की संगति लाभ करते और उसी के (अनु गुः) पीछे २ चलते हैं।

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ ३३ ॥ ऋ० १० । १२ । ५ ॥

भा०—(राजा) राजा के समान सर्वोपरि विराजमान परमेश्वर (नः) हमें (किंस्वित्) क्योंकर (जगृहे) पकड़ता है? वह क्यों देहबन्धनों में डालता है? (अस्य) उसके बनाये (व्रतम्) किस व्रत अर्थात् नियम व्यवस्था को (कत्) कब (अति चक्रम) हम अतिक्रमण करते हैं। इस बात को (कः वि वेद) भलीभांति कौन जानता है? (देवान्) देव=विषयों में रमण क्रीड़ा करते हुए जीवों को (जुहुराणः) कुछ कुटिलता करता हुआ उनको उनके अपराधों का दण्ड देता हुआ भी उनका (मित्रः चित् हि स्म) वह निश्चय से मित्र ही है। वह (श्लोकः) सबका स्तुति योग्य ईश्वर (याताम् अपि वा) क्या यहाँ से देह छोड़ कर परलोक में जानेवालों का (वाजः न अस्ति) एकमात्र बल और आश्रय नहीं है?

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३४ ॥
ऋ० १० । १२ । ६ ॥

भा०—(अत्र) इस संसार में (अमृतस्य) अमृत आत्मा का

(नाम) नाम अर्थात् स्वरूप (दुर्मन्तु) समझ लेना बड़ा कठिन है। वह बड़ी मुश्किल से समझ में आता है। अर्थात् आत्मा का तत्व दुर्विज्ञेय है। (यत्) क्योंकि (सलक्ष्मा) समान लक्षणों वाली जीव जाति या प्रकृति ही इस संसार में (विषुरूपा) नाना रूप की (भवाति) हो जाती है। और फिर (यमस्य) यम अर्थात् सर्वनियन्ता परमेश्वर के स्वरूप को जो विद्वान् (सुमन्तु) सुखसे जानने योग्य, सुगम (मनवते) मान लेता है हे (ऋष्व) महान् दर्शनीय! हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर! (तम्) उस तत्वदर्शी को (अप्रयुच्छन्) विना प्रमाद के (पाहि) रक्षा कर।

यस्मि॑न् दे॒वा वि॒दथे॑ मा॒दय॑न्ते वि॒वस्व॑तः॒ सद॑ने धा॒रय॑न्ते ।
सूर्ये॒ ज्योति॒रद॑धुर्मा॒स्य१॒॑क्तून् परि॑ द्योत॒निं च॑रतो॒ अज॑स्रा ॥२५॥

ऋ० १० । १२ । ७ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस (विदथे) प्राप्त करने योग्य या ज्ञानस्वरूप परमेश्वर में (देवाः) ज्ञानी पुरुष (मादयन्ते) हर्ष और आनन्द प्राप्त करते हैं। और वे जिसके आश्रय पर रह कर (विवस्वतः) विवस्वान्, नाना प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त परमेश्वर के (सदने) सदन या शरण में (धारयन्ते) अपने आप को स्थित करते हैं। उस (सूर्ये) सबके प्रेरक सूर्य के सूर्य समान प्रकाशक परमेश्वर में ही (ज्योतिः अदधुः) परम प्रकाश की कल्पना करते हैं। उसी (मासि) सबके निर्माण कर्त्ता प्रभु में (अक्तून्) चन्द्र में रात्रियों के समान समस्त व्यक्त होने वाले पदार्थों को (अदधुः) आश्रित मानते हैं और (द्योतनिम् परि) जिस प्रकाशवान् के आश्रय पर (अजस्रा) निरन्तर गतिशील सूर्य और चन्द्र दोनों भी (चरतः) अपने अपने मार्ग में गति कर रहे हैं।

यस्मि॑न् दे॒वा मन्म॑नि सं॒चर॑न्त्यपी॒च्ये॒३॒॑ न व॒यम॑स्य वि॒द्म ।
मि॒त्रो नो॒ अत्रादि॑ति॒रना॑गान्त्स॒वि॒ता दे॒वो वरु॑णाय वोचत् ॥२६॥

ऋ० १० । १२ । ८ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस (मन्मनि) मनन योग्य (अपीच्ये) सबके लय होने के स्थान या परम दर्शनीये या परम गुप्त, गूढ़तम परमेश्वर में (देवाः) ज्ञानी, विद्वान् पुरुष (संचरन्ति) विचरते हैं (अस्य) उसके विषय में (वयम्) हम स्थूल बुद्धि के पुरुष (न विद्म) नहीं जानते, हम उस तक नहीं पहुँचते। (अत्र) इस संसार में (आनागान्) अपराध रहित (नः) हमारा (मित्रः) मित्र (अदितिः) अखण्डनीय, अविनश्वर (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (देवः) परमेश्वर, देव ही (वरुणाय) उसको वरण करनेहारे भक्त या साधक के प्रति (वोचत्) ज्ञान का उपदेश करता है।

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे ॥३७॥ साम० १।३६०॥ ऋ० ८।२४।१॥

भा०—हे (सखायः) मित्रगण ! हम लोग (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् (वज्रिणे) परम शक्तिमान्, परमेश्वर की उपासना के लिये (ब्रह्म) महान्, वेद ज्ञान की (आशिषामहे) कामना करते हैं। और उसी (नृतमाय) सर्व नरश्रेष्ठ, सबके सर्वोत्तम नायक, (धृष्णवे) सबके धर्षण करने वाले, शक्तिमान् की (उ) ही (सु स्तुषे) उत्तम रीति से स्तुति करता हूँ।

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा।
मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ ३८ ॥ ऋ० ८ । २४ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! तू (वृत्रहत्येन) आवरणकारी, ज्ञान के विघ्नरूप 'वृत्र' के नाश कर देने में समर्थ (शवसा) बल से (श्रुतः असि) सर्वत्र प्रसिद्ध है। तू ही (मघोनः) परमैश्वर्यवाले समस्त धनाढ्य

३७–(प्र०) 'शिषामहि' (तृ०) 'ऊषु वः' इति ऋ०।

३८–'शृतः' इति क्वचित्। 'वृत्रहत्येव' इति सायणाभिमतः।

पुरुषों को (सर्वैः) वर्तों से, ऐश्वर्यों से तू, हे (शूर) शूर वीर्यवन्! (अति) अतिक्रमण करके (ददासि) समस्त जीवों को जीवन, अन्न और धन प्रदान करता है।

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम्
॥ ३९ ॥ ऋ० १० । ३१ । ९ ॥

भा०—हे परमात्मन्! (स्तेगः न) गर्जन करता हुआ मेघ या सूर्य या तीव्रगामी वेग से जानेवाला हरिण जिस प्रकार (पृथिवीम्) बड़ी भारी (क्षाम्) पृथिवी को पार करता हुआ चला जाता है, इसी प्रकार तू भी इस (पृथिवीम् क्षाम्) विशाल जीवों के निवास योग्य संसार पदवी को (अति एषि) लांघ कर बैठा है। चाहे (इह) इस (भूमौ) भू-लोक में (नः) हमारे लिये (मही वाताः) बड़े २ प्रचण्ड वायु चलें। (नः) तो भी हमारा (वरुणः) वरुण, सर्वश्रेष्ठ और सब दुःखों का वारक (मित्रः) सर्वस्नेही परमेश्वर (युज्यमानः) समाधि द्वारा साक्षात् होकर (वने अग्निः न) वन में दहकनेवाले अग्नि के समान (शोकम्) अपने परम तेज को (वि असृष्ट) नाना प्रकार से रचता है, प्रकट करता है। अर्थात् प्रचण्ड वायु के झकोरों में भी उस परमेश्वर के जलाये हुए ज्ञान-दीपक कभी नहीं बुझते। स्तेगः=बहुत सम्भवत हरिण। अंग्रेजी में stag [स्टैग] इसी का अपभ्रंश हो।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम्
॥ ४० ॥ (४) ऋ० २ । ३३ । ११ ॥

३९—(प्र०) 'पृति पृथ्वीम्', 'मिह न वातो विहवाति भूम' (तृ०) 'मित्रो यत्र', 'अर्यमाणोऽग्नि' इति ऋ० ।

भा०—हे पुरुष ! तू (श्रुतम्) वेद में उपदेश द्वारा श्रवण करने योग्य, (गर्त्तसदम्) गर्त्त, अर्थात् हृदयरूप गुहा में विराजमान (जनानां राजानम्) उत्पन्न होने वाले प्राणियों के राजा, स्वामी, (भीमम्) भयानक, दण्डकर्त्ता (उपहत्नुम्) सब को दुष्ट कर्मों के दण्ड देनेवाले (उग्रम्) अति बलवान् उस परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति इस प्रकार कर। 'हे (रुद्र) सब पापियों को रुलाने हारे ! तू (स्तवानः) स्वयं स्तुति योग्य (जरित्रे) स्तुति करने हारे ज्ञानी पुरुष को (मृड) सुखी कर। (ते) तेरी (सेन्यम्) सेनायें (अस्मत् अन्यम्) हमसे दूसरे अर्थात् शत्रु का (नि वपन्तु) विनाश करें।

सरस्वती रूप से परमेश्वर की स्तुति।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥
ऋ० १० । १७ । ७ ॥ अथर्व० १८ । ४ । ४५ ॥

भा०—(देवयन्तः) देव परमेश्वर की उपासना और कामना करते हुए विद्वान् पुरुष (सरस्वतीम्) सरस्वती रूप परमेश्वरी वाणी का (हवन्ते) पाठ करते हैं। और (अध्वरे) यज्ञ के (तायमाने) होते हुए याज्ञिक पुरुष भी उसी (सरस्वतीम्) सरस्वती, वेदवाणी और प्रभु के रसवान् स्वरूप को स्मरण करते हैं। (सुकृतः) उत्तम पुण्याचरण करने वाले पुरुष भी (सरस्वतीम्) सरस्वती की (हवन्ते) उपासना करते हैं। वह, (सरस्वती) आनन्दमयी प्रभु शक्ति (दाशुषे) आत्मसमर्पण करनेवाले

४०–(प्र० द्वि०) 'सद युवानं मृगं न भीम' (च०) 'अन्य ते अस्मान्नि वपन्तु सेनाः' इति ऋ०।

४१–(तृ०) 'अह्वयन्त' इति ऋ०। ४१, ४२ एषामृग्वेदे देवश्रवायामायन ऋषिः।

को (वार्यम्) अपने वरण करने योग्य स्वरूप या परम ऐश्वर्य का (दात्) प्रदान करती है।

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥४२॥

ऋ० १०।१७।६ प्र० द्वि० ८ तृ० च० ॥ अथर्व० १८।४।४६॥

भा०—(पितरः) पालक पिता पितामह और देश के अधिकारी लोग भी (यज्ञम्) यज्ञ के (दक्षिणा) दक्षिण दिशा में (अभि नक्षमाणाः) विराजमान होकर (सरस्वतीम्) सरस्वती, वेद वाणी को या गृहस्थी माता पिता स्त्री को (हवन्ते) स्वीकार करते हैं। हे पुरुषो आप लोग (अस्मिन्) (बर्हिषि) इस महान् यज्ञ में (आसद्य) बैठ कर (मादयध्वम्) हर्ष और आनन्द प्राप्त करो। हे सरस्वती! तू (अस्मे) हमें (अनमीवाः इषः) रोग रहित अन्नों का (आ धेहि) प्रदान कर।

योषा वै सरस्वती वृषा पूषा। शं० २।५।१।११॥ वाग्वै सरस्वती। ऐ० ३।२॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥४३॥

ऋ० १०।१७।८ प्र० द्वि०, ६ तृ० च० ॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वति, रसकी भरी नदिया के समान या हे स्त्रि! (या) जो तू (उक्थैः) सबसे कहने योग्य, प्रशंसनीय आत्मा के या गृहपति स्वरूप (स्वधाभिः) स्व=आत्मा को धारण करने वाले (पितृभिः) शरीर के पालक प्राणों के, या गृह के पालक बुजुर्गों के साथ (मदन्ती) हर्षित करती हुई या तृप्ति करती हुई (अत्र) इस शरीर या गृह में

४२—'सरस्वतीं याम् पि—' (तृ०) 'मादयस्व' इति ऋ०।

४३—(च०) 'यजमानेषु' (प्र० द्वि०) 'ययाथ स्वधाभिः' इति ऋ०।

(इडः) अन्न के (सहस्रार्घम्) सहस्र गुणा मूल्य के (भागं) अंश को और (रायः पोषम्) धनकी वृद्धि को (यजमानाय) यजमान आत्मा के निमित्त (धेहि) प्रदान कर ।

पितृगण का वर्णन ।

उदी॑रता॒मव॑र॒ उत् परा॑स॒ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑ ।
असुं॒ य ई॒युर॑वृ॒का ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ४४ ॥

ऋ० १० । १५ । १ ॥ यजु० १६ । ४६ ॥

भा०—(अवरे) अवर, हम से छोटे पुत्र, पौत्रादि (सोम्यासः) ज्ञान रूप सोम का पान करने वाले शिष्य, विद्यार्थी जन (उत् ईरताम्) उन्नति की तरफ चलें, ऊंचे उठें । (परासः) पर, हमसे बड़े सौम्य स्वभाव, सुशील, ज्ञानवृद्ध आचार्य गण भी (उत् ईरताम्) ऊंचे पद को प्राप्त करें । (मध्यमासः सोम्यासः पितरः) मध्यम बीच के, ज्ञान वान्, पालकजन भी (उत् ईरताम्) उन्नति को प्राप्त करें । (ये) जो (असुम्) प्राण को (ईयुः) प्राप्त हैं अर्थात् जो भी प्राण धारण करते है (ते) वे (अवृकाः) भेड़िये के समान क्रूर और चौर्य, पाखण्ड वृत्ति न होकर (ऋतज्ञाः) सत्य वेद के जानने हारे होकर (पितरः) हमारे पालक रूप से (हवेषु) संग्रामों में भी (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें ।

आहं पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ॑ अवित्सि॒ नपा॑तं च वि॒क्रम॑णं च॒ विष्णोः॑ ।
ब॒र्हि॒षदो॒ ये स्व॒धया॑ सु॒तस्य॒ भज॑न्त पि॒त्वस्त इ॒हाग॑मिष्ठाः ॥४५॥

ऋ० १० । १५ । ३ ॥

भा०—(अहम्) मैं (सुविदत्रान्) उत्तम ज्ञानी (पितॄन्) गुरुओं, पालक आचार्यों, कुलपतियों को (आ अवित्सि) प्राप्त करूं और

४४—ऋग्वेदे शङ्खोयामायन ऋषिः । पितरो देवताः ।

४५—(तृ०) 'स्वधयाये' इति मै० सं० ।

उसी प्रकार (नपातम्) वंश को चलाने वाले तन्तु को न गिरने देने वाले, पुत्र आदि को भी प्राप्त करूं। और (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (विक्रमणम्) नाना प्रकार के सृष्टि-कार्य का भली प्रकार जानूं। और (ये) जो (बर्हिषदः) बर्हि-महान् ब्रह्म में निष्ठ होकर (स्वधया) आत्मा की धारणा शक्ति से (सुतस्य) निष्पादित (पित्वः) अन्न के समान स्वयं उत्पादित उत्तम कर्म के श्रेष्ठ फल का (भजन्ते) भोग करते हैं (ते) वे (इह) यहां, इस लोक में (आगमिष्ठाः) आवें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥ ४६ ॥
ऋ० १० । १५ । २ ॥ यजु० १९ । ६८ ॥

भा०—(अद्य) अब, आज, इस काल में (ये पूर्वासः) जो पूर्व के और (ये अपरासः) जो पीछे के (ईयुः) इस लोक में आये हैं उन सभी (पितृभ्यः) प्रजापालकों का (इदम् नमः) हम इस प्रकार आदर करें। और उनका भी आदर करें (ये) जो (पार्थिवे रजसि) पृथिवी सम्बन्धी रजस् अर्थात् लोक में (आ निषत्ताः) अच्छी प्रकार प्रतिष्ठा पूर्वक विराजते हैं और (ये वा) जो (नूनम्) निश्चय से (सुवृजनासु) उत्तम रीति से वर्गी कृत, विभक्त (दिक्षु) दिशाओं-देशों या देश वासी प्रजाओं में (आ निषत्ताः) अच्छी प्रकार राजा आदि पदों पर अवस्थित हैं।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥
ऋ० १० । १४ । ३ ॥

४६—(द्वि०) 'अपरासः' । (च०) 'विक्षु' इति ऋ० । (द्वि०) 'यपरासः परेयुः' (च०) 'सुवृजिनासु विक्षु' इति पैप्प० सं० । 'विक्षु', 'वृक्षु', 'दिविक्षु' इत्यपि पाठाः क्वचित् ।

४७—(द्वि०) 'स्वाहान्ये स्वधयान्येमदन्ति' इति ऋ०, तै०सं०, मै०सं० ।

भा०—(मातली) ज्ञानों को प्राप्त करने वाला (कव्यैः) उत्तम उपदेशकर्त्ता, अध्यापक एवं शिक्षकों विद्वानों से (यमः) नियामक, व्यवस्थापक नेता (अंगिरोभिः) विद्वान्, पदाधिकारियों द्वारा और (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक विद्वान् (ऋक्वभिः) पूजनीय वेदज्ञों द्वारा (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त होता है । (यान् च) जिनको (देवाः) देव, राजागण (वावृधुः) बढ़ाते हैं उन्नति का पद देते हैं और (ये च) जो (देवान्) देवों, विद्वानों और राजा को बढ़ाते है (ते) वे राष्ट्र और देश के पालक जन (हवेषु) युद्धों में (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ।

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन संहत आहवेषु ॥ ४८ ॥

ऋ० ६ । ४७ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह सोम आनन्दरस (किल) निश्चय से (स्वादुः) स्वादु है । (उत अयम् मधुमान्) और यह मधुर भी है । (उत अयम् तीव्रः) और यह तीव्र, अति तीक्ष्ण भी है । (किल अयम् रसवान्) अति आनन्दरस से पूर्ण है । (उतो नु) और क्या कहें ! बड़ी भारी बात तो यह है कि (अस्य) इसके (पपिवांसम्) पान करने हारे या पालन करने हारे (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् इन्द्र आत्मा को (कश्चन) कोई भी (आहवेषु) युद्धों में (न सहते) पराजित नहीं करता ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ ४९ ॥

ऋ० १० । १४ । १ ॥

४८—ऋग्वेदे गर्ग ऋषिः ।

४९—(प्र०) 'महीरनु' (च०) 'हविषा दुवस्य' इति ऋ० । 'दुवस्यत' (प्र०) 'परेयुवांसं' (द्वि०) 'अनपस्पशानम्' तै० आ० । (प्र०)

भा०—हे मनुष्यो ! (महीः प्रवतः) बड़े दूर २ के देशों तक में (परियावांसम्) पहुंचे हुए, व्यापक (इति) और इसी प्रकार (बहुभ्यः) बहुतों को (पन्थाम्) मार्ग का (अनुपस्पशानम्) उपदेश करने हारे (जनानाम्) सब जनों के (संगमनम्) एक मात्र उत्तम शरण, (वैवस्वतम्) विशेष ऐश्वर्यवान् (यमम् राजानम्) सर्वनियामक, सर्व में विराजमान, सब के राजा, प्रभु, परमात्मा को (हविषा) ज्ञान या स्मरण द्वारा (सपर्यत) उपासना करो ।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उं ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः
॥ ५० ॥ (५)　　ऋ० १० । १४ । २ ॥

भा०—(यमः) सर्वनियन्ता, यम, परमेश्वर ही (नः) हमारे अगले (गातुम्) गमन करने के मार्ग को (प्रथमः) सब से पहले (विवेद) विशेष रूप से, खूब अच्छी प्रकार जानता है । (एषा) यह (गव्यूतिः) मार्ग (न अपभर्तवा उ) परे भी किया नहीं जा सकता । (यत्र) जहां (नः) हमारे (पूर्वे पितरः) पूर्व पिता, पितामह आदि पुरुषा लोग (परेताः) मर कर गये हैं, और (एना) इन २ (स्वाः) अपने (पथ्याः) हितकारी प्राप्तव्य मार्गों या लोकों को प्राप्त होकर (जज्ञानाः) उत्पन्न हुआ करते हैं उनको भी वह परमेश्वर भली प्रकार जानता है ।

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।

'महीरति' इति शं० पा० । 'महीरनु' सायणाभिमतः । ऋग्वेदे यम-ऋषिः । यमो देवताः ।

५०–(तृ०) 'परेयुः' इति ऋ० । (च०) 'येना जज्ञानाः' इति सायणाभिमतः ।

त आ गुतावंसा शंतमेनाधा नुः शं योरंरुपो दंधात ॥ ५१ ॥

ऋ० १० । १५ । ४ ॥ यजु० १९ । ५५ ॥

भा०—रक्षक पालक पुरुषों का आदर स्वीकार करने का उपदेश करते हैं । हे (बर्हिषदः) बर्हि कुशा के आसनों या ब्रह्म या यज्ञ में उच्च आसनों पर बैठने वाले ! हे (पितरः) पालक पिता तुल्य पूज्य पुरुषो ! आप लोगों के लिये (इमा) ये नाना प्रकार के (हव्या) अन्नों को हम (चकृम) तैयार करते हैं । (जुषध्वम्) आप इनका प्रेम से उपभोग करें । (ते) वे आप लोग (शंतमेन) अति कल्याण और सुखकारी (अवसा) अपने रक्षा प्रबन्ध सहित (शं) शान्ति और (योः) निर्भयता या अभय (दधात) स्थापन करो

आच्या जानुं दक्षिणतो निषद्येदं नो हुविर्भि गृणन्तु विश्वें ।
मा हिंसिष्ट पितरः केनं चिन्नो यद् व आगः पुरुषता करांम॥५२॥

ऋ० १० । १५ । ६ ॥ यजु० १९ । ६२ ॥

भा०—हे पालक पितृ लोगो ! आप लोग (जानु आ अच्य) गोड़ों को कुछ सिकोड़ कर (दक्षिणतः) हमारे दायें ओर (निषद्य) बैठ कर (नः इदं हविः) हमारा यह अन्न (विश्वे) आप सब लोग (अभि-गृह्णन्तु)[1] खावें, स्वीकार करें । और हे (पितरः) पालक वृद्ध पुरुषो ! (वः) आप लोगों के प्रति हम लोग (यत्) जो (आगः) अपराध (पुरुषता) मनुष्य होने होने के कारण (कराम) करें ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (नः) हमें (मा हिंसिष्ट) पीड़ित न

५१–(च०) 'अधा' इति ऋ०, यजु० । 'अथास्मभ्य' तै० सं० । 'दधातन' इति मै० सं० ।

५२–(द्वि०) 'इमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे'

१. विकरण व्यत्ययः ।

करें। देश के रक्षक लोग प्रजा से अन्न रूप कर लें, परन्तु उनको मनुष्यता के कारण होनेवाले साधारण त्रुटियों पर पीड़ित न करें।

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णोति॒ तेने॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति।
य॒मस्य॑ मा॒ता प॑र्यु॒ह्यमा॑ना म॒हो जा॒या विव॑स्वतो ननाश ॥ ५३ ॥

ऋ० १० । १७ । १ ॥

भा०—(त्वष्टा) समस्त जगत् का स्रष्टा, (दुहित्रे) समस्त लोकों को पूर्ण करने वाली या कामधेनु के समान ईश्वर के लोक सर्जन की इच्छा को पूर्ण करनेवाली प्रकृति से (वहतुम्) इस महान् ब्रह्माण्ड रूप भार को जिसको वह स्वयं उठाये है (कृणोति) बनाता है। (तेन) उसी कारण (इदम्) यह (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) लोक (सम् एति) बना हुआ है। (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर की (माता) जगन्निर्मात्री प्रकृति (परि-उह्यमाना) सब प्रकार से धारण की गई वह (महः जाया) बड़ी भारी उत्पादक शक्ति (विवस्वतः) विविध रूपों में बने लोकों के स्वामी उस प्रभु की शक्ति से ही (ननाश) विकार को प्राप्त होती है, अर्थात् अप्रकट से प्रकट और सूक्ष्मरूप से स्थूल में आती है।

प्रेहि॒ प्रेहि॑ प॒थिभिः॑ पू॒र्याणै॒र्येना॑ ते॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॒ परे॑ताः।
उ॒भा राजा॑नौ स्व॒धया॒ मद॑न्तौ य॒मं प॑श्यासि॒ वरु॑णं च दे॒वम् ॥ ५४ ॥

ऋ० १० । १४ । ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (पूर्याणैः) पुर को जाने वाले मार्गों के समान पूर्ण ब्रह्म तक पहुंचा देनेवाले उन (पथिभिः) मार्गों से (प्र-इहि, प्र-

५३–'कृणोति इतीदं' इति ऋ० ।
५४–'पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रानः पूर्व पितरः परेयुः।' (तृ०) 'राजाना', 'मदन्ता' इति ऋ० ।

इहि) नित्य आगे बढ़ (येन) जिनसे (ते) तेरे (पूर्वे पितरः) पूर्व के गोत्रपरिपालक, पूर्व पुरुषा (परेताः) चल गये हैं। तू (उभौ) दोनों (राजानौ) प्रकाशमान (स्व-धया मदन्तौ) अपनी धारण शक्ति अमृतमयी चेतना से आनन्द करते हुए (यमम्) सर्वनियामक यमस्वरूप और (वरुणम्) वरण करने योग्य सबसे श्रेष्ठ परमात्मा (देवम्) देव को भी (पश्यति) देख सकता है।

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ५५ ॥

ऋ० १० १४ ९ ॥ यजु० १२ । ४५ ॥

भा०—(अतः) इस लोक से हे जीव ! तुम (अप इत) दूर जाते हो। (वि इत) नाना दिशाओं में जाते हो,(वि सर्पत च) और विविध प्रकारों से जीवन यात्रा करते हो। (पितरः) पालक, पूर्व पुरुषा लोगों ने (अस्मै) इस अपने उत्तराधिकारी के लिये ही (एतम् लोकम्) यह लोक भोगने के लिये (अक्रन्) बनाया है। (यमः) सर्वनियन्ता परमेश्वर (अहोभिः) दिनों (अद्भिः) जलों और (अक्तुभिः) रात्रियों से (वि-अक्तम्) विशेष रूप से कान्तियुक्त (अवसान्) इस भूलोक को (अस्मै) इन जीवों के निवास के लिये (ददाति) देता है।

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! हम (त्वा) तेरी (उशन्तः) कामना करते हुए, तुझे चाहते हुए (इधीमहि) तुझे ही प्रदीप्त करते हैं, हृदय में तुझे चेताते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए (सम् इधी मही)—

५५–(च०) 'ददात्ववसा'–तै० आ०। (द्वि०) 'यत्रस्य पुराणा येत्र नूतनाः'।
५६–(प्र०) 'निधीमह्य–' इति ऋ० । हवामहे, मै० सं० ।

तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करते हैं। हे (उशन्) कान्तिमय, हे सर्वकाम! तू ही (उशतः) नाना कामना करते हुए (पितॄन्) सर्वपालक, पिता पितामह आदि को (हविषे अत्तवे) अपने प्राप्त कर्म फल के भोग करने के लिये (आ वह) अन्य लोक को प्राप्त करा, पहुँचा।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥

भा०—हे परमेश्वर! हम स्वयं (द्युमन्तः) तेजस्वी होकर (त्वा इधीमहि) तुझे प्रज्वलित करें। हम (द्युमन्तः) तेजस्वी होकर (सम्-इधीमहि) भली प्रकार प्रज्वलित, हृदय में प्रबोधित करते हैं, तेरी ज्योति जगाते हैं। तू (द्युमान्) स्वयं तेजस्वी (पितॄन् द्युमतः) तेजस्वी पूर्व पुरुषों को (हविषे अत्तवे) हवि अर्थात् स्वयंप्राप्त कर्मफल के भोग के लिये (आ वह) प्राप्त करा।

अङ्गिरसो नः पितरो नवंग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५८ ॥
ऋ० १० । १४ । ६ ॥ यजु० १९ । ५० ॥

भा०—(नः) हमारे (पितरः) पालक पूज्य, पुरुष (अंगिरसः) जलते अंगारों के समान तेजस्वी (नवग्वाः) सदा नवीन, हृदय ग्राहिणी स्तुतियों से पूर्ण वाणियों को बोलने हारे, (अथर्वाणः) अहिंसक, प्रजापति (भृगवः) पापों को भून डालने वाले और (सोम्यासः) सोम रस, ज्ञान और ब्रह्मानन्द का रस पान करनेवाले, सौम्य स्वभाव वाले हों। (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) श्रेष्ठ यज्ञ अर्थात् परमेश्वरोपासकों की (सुमतौ) शुभ मति में और उनकी (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम सुप्रसन्न चित्तता में (वयम्) हम सदा (स्याम) रहें।

५७—(प्र०) 'हवामहे' इति सायणः।

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ ५९ ॥
ऋ० १० । १४ । ५ ॥

भा०—(यज्ञियैः) यज्ञ के उपासक ! (अंगिरोभिः) सूर्य के ब्रह्मज्ञानी, तेजस्वी पुरुष के साथ, हे (यम) नियन्ता वैज्ञानिक, राजन् ! (इह) इस लोक में (आगहि) तू आ, प्रकट हो । और (वैरूपैः) नाना रूपों से (इह) इस लोक में (मादयस्व) तू ही समस्त प्राणियों के सुख का कारण है । मैं उपासक (बर्हिषि) यज्ञ में या महान् ब्रह्म में या कुशासन पर (आ निषद्य) बैठकर उस (विवस्वन्तम्) नाना वसु-लोकों के स्वामी परमेश्वर को (हुवे) पुकारता हूं, उसका स्मरण करता हूं जो (ते) तेरा भी (पिता) पालक पिता है ।

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषो मादयस्व
॥ ६० ॥ ऋ० १० । १४ । ४ ॥

भा०—हे (यम) यम ! राजन् ! (अंगिरोभिः) आंगिरस वेद के ज्ञाता (पितृभिः) राष्ट्र के पालक, पिता के समान पूजनीय पुरुषों के साथ (सं विदानः) राष्ट्र-व्यवस्था की मन्त्रणा करता हुआ तू (प्रस्तरम्) उत्तम बिछे हुए आसन पर (हि) ही (आरोह) आरूढ़ हो । (कविशस्ताः) क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा उपदेश किये गये (मन्त्राः) नीति उपदेश (त्वा) तुझ को (आवहन्तु) आगे के उचित मार्ग पर ले जांय । हे (राजन्) राजन् ! (एना) इन

५९–(च०) 'अस्मिन् यज्ञे आ' (प्र०) 'अंगिरोभिरागहि यज्ञियेभिः' इति ऋ० ।

६०–'अतिसीद', 'हविषः' इति० ऋ० ।

विद्वान् पुरुषों को (हविषः) उत्तम अन्न और आदर से प्रदत्त पुरस्कारों से (मादयस्व) प्रसन्न रख ।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥६१॥ (६) साम० १।९२॥

भा०—(यथा पथा) जिस तरह के मार्ग से (अङ्गिरसः) ज्ञानी पुरुष (भूर्जयः) इस भूलोक को या भूः अर्थात् जन्म ग्रहण करने रूप भव-बन्धन को विजय करके (द्याम्) प्रकाशस्वरूप द्यौः या मोक्ष में (प्र-ययुः) प्रयाण करते हैं इसी प्रकार के मार्ग से जो लोग (दिवः) प्रकाशमान तेजोमय (पृष्ठानि) लोकों को (आरुहन्) जाते हैं (एते) वे (इतः) इस लोक से ही (उत्-आरुहन्) ऊपर जाते हैं ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र एकं सूक्तं ऋचश्चैकषष्टिः]

[२] पुरुष को सदाचारमय जीवन का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । यमो मन्त्रोक्ताश्च बहवो देवताः । ४, ३४ अग्निः, ५ जातवेदाः, २९ पितरः । १,३,६,१४,१८,२०,२२,२३,२५,३०,३६,४६,४८,५०,५२, ५६ अनुष्टुभः, ४,७,९,१३ जगत्यः, ५,२६,३९,५७ भुरिजः,। १९ त्रिपदार्ची गायत्री । २४ त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री । ३७ विराड् जगती । ३८, ४४,आर्षीगायत्र्यः (४०,४२,४४ भुरिजः) ४५ ककुम्मती अनुष्टुप् । शेषाः त्रिष्टुभः । षष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥ ऋ० १०।१४।१३॥

६१—(च०) 'उद्-द्याम्' इति साम० ।

[२] १—(प्र०) 'सोमं सुनुत' (द्वि०) 'जुहुता' इति ऋ० । (तृ०) 'गच्छतु'

भा०—(यमाय) यम, नियम व्यवस्था के करने हारे, राजा प्रभु के निमित्त (सोमः) सोम रस (पवते) छाना जाता है। (यमाय हविः क्रियते) यम-राजा के लिये ही हवि अर्थात् अन्न उत्पन्न किया जाता है। (यज्ञः) यज्ञ, राष्ट्र (अग्निदूतः) ज्ञानवान् पुरुषों को अपना दूत प्रतिनिधि बन कर और (अरंकृतः) सुभूषित, सुशोभित होकर (यमं ह गच्छति) नियामक राजा की शरण में आता है।

परमात्मा के पक्ष में—सर्वनियन्ता परमेश्वर की आज्ञा के निमित्त ही (सोमः-पवते) सोम, प्रेरक सूर्य गति करता है। उस नियन्ता के लिये ही (हविः) यज्ञ हवि तैयार की जाती है। अग्नि से प्रज्वलित यज्ञ भी परमेश्वर के निमित्त ही रचा जाता है।

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्टत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ २ ॥
ऋ० १० । १४ । १५ ॥

भा०—(यमाय) उस सर्वनियन्ता परमेश्वर के लिये ही (मधुमत् तमम्) अति मधुर वचन का (जुहोत) एक दूसरे के प्रति प्रदान करो। (च प्र तिष्ठत) एक दूसरे के देशों को प्रस्थान करो (पूर्वजेभ्यः) पूर्व उत्पन्न (ऋषिभ्यः) ऋषियों और (पूर्वेभ्यः) अपने पूर्व काल के (पथिकृद्भ्यः) मार्गविधाताओं, मार्गद्रष्टाओं को (इदम्) इस प्रकार से (नमः) आदर किया करो।

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥ ऋ० १०।१४।१४॥

इति तै० आ०। (च०) 'अलंकृतः' इति सायणाभिमतः।
२-(द्वि०) 'राज्ञे हव्यं जुहोतन' इति ऋ०।
३-(द्वि०) 'जुहोता प्र च तिष्ठता' (प्र०) 'घृतवद् हविः' इति ऋ०

भा०—हे पुरुषो ! (यमाय) सर्वनियन्ता (राज्ञे) राजा के समान सब के राजा प्रभु परमेश्वर के लिये (घृतवत्) घृत से युक्त (पयः) पुष्टिकारक दुग्ध और (हविः) अन्न आदि (जुहोतन) अग्नि और उसके समान विद्वान् तेजस्वी ब्राह्मण को प्रदान करो। (सः) वह सर्वनियन्ता परमेश्वर (नः) हमें और हमारे (जीवेषु) जीवों में (दीर्घम् आयुः) दीर्घ जीवन को (आ यमेत्) प्रदान करे और वह (जीवसे) जीवन के लिये हमें (प्र यमेत्) सब पदार्थ प्रदान करे।

आचार्य और शिष्य का कर्त्तव्य

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितॄँरुप ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १६ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! आचार्य ! (एनम्) इस शिष्य को (मा वि दहः) मत जला। (मा अभि शूशुचः) संतप्त मत कर (अस्य त्वचम्) इसकी त्वचा को (मा चिक्षिपः) मत काट फाट, और (शरीरम्) इसके शरीर को भी (मा चिक्षिपः) मत विनाश कर। हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ ! विद्वन् ! (यदा) जब इसको (शृतम्) परिपक्व, पूर्ण ज्ञानवान् (करसि) करदे (अथ) तब (ईम् एनम्) उस शिष्य का (पितॄन् उप) माता पिताओं के समीप (प्रहिणुतात्) भेज।

(तृ०) 'स नो देवेष्वायमद्।'

४–(तृ०) 'यदो शृतं कृणवो' (प्र०) 'मा विशोचः' (च०) 'पितृभ्यः' इति ऋ०। (च०) 'अथेमेमं' इति क्वचित्। (प्र०) 'करवः' इति तै० आ०।

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥५॥

ऋ० १० । १६ । २ ॥

भा०—हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ! विद्वन् आचार्य! (यदा) जब आप शिष्य को (शृतम्) ज्ञान में परिपक्व (कृणवः) कर देते हो (अथ) और (इम् एतम्) इसको (पितृभ्यः परिदत्तात्) इसके माता पिता और वृद्धजनों को सौंप देते हो और (यदो) जब वह (एताम्) इस प्रकार के (असु-नीतिम्) असत् आचार में (गच्छाति) चला जाय (अथ) तभी वह (देवानां) विद्वान् शासकों के (वशनीः) वश में जाने योग्य (भवाति) हो जाय। अथवा—(यदो असु-नीतिम् एताम् गच्छाति) जब तक प्राणों के अपहार को प्राप्त हो अर्थात् मरणकाल को प्राप्त हो तब भी वह (देवानां वशनीः भवाति) अपने देव-इन्द्रियों को वश में करने वाला ही रहे। अर्थात् गृहस्थ में भी पुरुष अपने मृत्यु पर्यन्त जितेन्द्रिय होकर ही रहे।

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १४ । १६ ॥

भा०—(एकम् इत् बृहत्) वह एक ही सब से महान् ब्रह्म तत्व (त्रिकद्रुकेभिः) तीन 'कद्रुक', गुणों से (षट् उर्वीः) छहों महान् दिशाओं में (पवते) व्याप्त हो रहा है। (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् और गायत्री आदि (छन्दांसि) छन्द (सर्वा) सब (ता) वे (यमे) उस नियन्ता परमेश्वर में (आ-अर्पिता) गतार्थ हैं।

५–१ 'शृतं यदा करसि' इति ऋ० ।
६–(प्र०) 'पतति' (च०) 'आहिता' इति ऋ० ।

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥७॥
ऋ० १० । १६ । ३ ॥

भा०—हे पुरुष (चक्षुषा) अपने चक्षु द्वारा (सूर्यम्) सूर्य के प्रकाश को (गच्छ) प्राप्त कर, आंख मे तेज का ग्रहण कर । (आत्मना) अपने शरीर मे (वातम्) प्राण वायु को ग्रहण कर । (धर्मभिः) शरीर के धारक वर्णों द्वारा (दिवम्) द्यौः-आकाश और (पृथिवीम् च) पृथिवी को भी (गच्छ) प्राप्त कर, अपने वश कर । (अपः वा गच्छ) तू जलों को भी प्राप्त कर । और (यदि) जो कुछ (तत्र) उन (ओषधीषु) ओषधियों में भी (ते) तेरे लिये (हितम्) हितकर पदार्थ विद्यमान है तो उसको भी प्राप्त कर । फलतः तू (शरीरैः) अपने प्राप्त शरीरों मे (प्रति तिष्ठाः) लोकों में प्रतिष्ठित होकर रह ।

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥८॥

भा०—हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ परमात्मन्, आचार्य ! (अजः भागः) अज, अजन्मा जीवात्मा ही शरीर में दुःख सुख का सेवन करता है । अतः तू उसे ही (तपसः) तप, ज्ञान, स्वाध्याय और प्रवचन और तपस्या द्वारा (तपस्व) सन्तप्त कर, उसको तपोमय आचरण करा । (तम्) उस आत्मा को ही (ते शोचिः) तेरी ज्ञान रूप ज्वाला या प्रकाश (तपतु) तप्त करे (तम्) उसको (ते अर्चिः) तेरी दीप्ति प्रकाशित करे । हे ईश्वर ! (ते) तेरे (याः) जो (शिवाः) कल्याणकारी (तन्वः) रचित पदार्थ या देह हैं (ताभिः) उनसे (एनम्) इस जीव को

७-(प्र०) 'चक्षुर्गच्छतु', 'आत्मा' (द्वि०) 'द्यां', 'धर्मणा' इति ऋ० । 'सूर्यं ते' तै० आ० ।

(सुकृताम्) पुण्यकर्त्ताओं के (लोकम् वह) लोक को प्राप्त करा। सायणादि ने इस मन्त्र में मृतशव के लिये बकरे या अनुस्तरणी नाम गौ को मार कर होमने परक अर्थ किया है जो असंगत है।

यास्ते॑ शोच॒यो रंह॑यो जातवेदो॒ याभि॑रापृ॒णासि॒ दिव॑म॒न्तरि॑क्षम्।
अ॒जं यन्त॒मनु॒ ताः सम॑ृण्वता॒मथेत॑राभिः शि॒वत॑माभिः शृ॒तं कृ॑धि॥९॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमेश्वर! (ते) तेरी (याः) जो (शोचयः) ज्वालाएं और (रंहयः) वेगवती शक्तियां हैं और (याभिः) जिनसे (दिवम्) द्यौः और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (आपृणासि) सर्वत्र व्याप रहा है, पूर रहा है। (ताः) वे सब (अनुयन्तम्) उनके अनुकूल रहने वाले (अजम्) इस आत्मा को (सम् ऋण्वताम्) भली प्रकार सुख रूप से प्राप्त हों। (अथ) और (इतराभिः) उनसे दूसरी, प्रतिकूल, कष्टमय प्रतीत होने वाली परन्तु (शिवतमाभिः) अति कल्याणकारिणी शक्तियों से उस आत्मा को बराबर (शृतं कृधि) परिपक्व, सहनशील, तपस्वी बना।

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धावा॑न्।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ यातु॒ शेषः॒ सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ सु॒वर्चाः॥१०॥(७)

ऋ० १० । १६ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् आचार्य! (यः) जो (स्वधावान्) स्व अर्थात् आत्मा या शरीर को धारण पोषण करने वाले वीर्य से युक्त होकर (ते) तेरे समीप (आहुतः) अपने को सर्वार्पण करके (चरति) ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करे तू उसके (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पिता, माता

९–(च०) 'शिवं कृधि' इति व्हिटनिसम्मतः, बहुत्र च।
१०–(तृ०) 'वेतु' (द्वि०) 'स्वधाभिः', (च०) 'तन्वा जातवेदः' इति ऋ०। तत्रैव 'उपयातु शेषम्' इति तै० आ०।

भा०—हे (यम) सर्वनियन्तः! (ते) तेरे (यौ) जो दो (चतुरक्षौ) चारों तरफ आंख फेंकने वाले, सावधान (रक्षितारौ) रक्षा करने हारे (पथिषदी) मार्ग में विराजने वाले (नृचक्षसौ) सब मनुष्यों को देखने वाले, (श्वानौ) सदा गतिशील रात्रि और दिन हैं। हे (राजन्) राजन्, सर्वोपरि विराजमान! (ताभ्यां) उन दोनों से (एनम्) इस पुरुष को (परि धेहि) सब तरफ से रक्षा कर। और (अस्मै) इस पुरुष को (स्वस्ति) सुखपूर्वक और (अनमीवं च) नीरोग (धेहि) रख।

उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ १३॥

भा०—(उरूणसौ=उरुनासौ) महान् शब्द करने हारे (असुतृपौ) सब प्राणियों के प्राणों से तृप्त होने वाले या सब प्राणियों को प्राणों से तृप्त करने वाले (उदुम्बलौ=उरुबलौ) अति बलवान् (यमस्य) नियन्ता परमेश्वर के (दूतौ) दो दूत, प्राणियों के ताप देने वाले रात और दिन (जनान् अनुचरतः) प्राणियों के सदा साथ २ चला करते हैं। (तौ) वे दोनों (अस्मभ्यम्) हमें (सूर्याय) सब के प्रेरक परमात्मा के (दृशे) दर्शन के लिये (पुनः) बार २ (अद्य इह) यहां, इस लोक में (भद्रम्) कल्याणकारी, सुखप्रद (असुम्) प्राण, जीवन (दाताम्) प्रदान करें।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥१४॥

भा०—(एकेभ्यः) किन्हीं विद्वानों के लिये (सोमः पवते) सोम=

१२–(द्वि०) 'पथिरक्षी नृचक्षसौ' (तृ०) 'ताभ्यामेनं परिदेहि राजन्' (च०) 'स्वस्ति चा'।

सोममय ब्रह्मरस बहता है। (एके घृतम् उपासते) और कोई विद्वान् 'घृत=आदित्य या यजुर्वेद प्रतिपादित तेजोमय ब्रह्म की उपासना करते हैं। (येभ्यः) जिनके लिये (मधु) मधु=अथर्व प्रोक्त ब्रह्मज्ञान (प्रधावति) प्रवाहित होता है। हे पुरुष ! तू (तान् चित्) उन पूज्य पुरुषों के पास (अपि गच्छतात्) सत्सङ्ग लाभ किया कर और ज्ञान प्राप्त कर।

यत्सामानि सोम एभ्यः पवते...यद् यजूंषि घृतस्य कुल्याः। यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्याः ॥ इति तै० आ० २ । १० । ३ ॥

ये चित् पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १५ ॥

भा०—हे (यम) यम नियम और ब्रह्मचर्य में निष्ठ ब्रह्मचारिन् ! (ये) जो (पूर्व चित्) पूर्व के या परिपूर्ण ज्ञाननिष्ठ (ऋतसाताः) तप और स्वाध्याय में संलग्न, (ऋतजाताः) ऋत=सत्य ज्ञान में उत्पन्न, प्रसिद्ध (ऋतावृधः) सत्य, ब्रह्मज्ञान को बढ़ाने, उपदेश करके उसकी वृद्धि करने वाले ऋषि लोग हैं उन (तपस्वतः) तपश्चर्या से युक्त, तपस्वी, (ऋषीन्) तत्त्वदर्शी (तपोजान्) तपोनिष्ठ महर्षियों को (अपि गच्छतात्) प्राप्त हो और उनसे ज्ञान प्राप्त कर।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्व᳡र्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ये) जो (तपसा) तप से (अनाधृष्याः) असह्य अजेय तेजवाले हैं और (ये) जो (तपसा) तप के बल से (स्वः) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हैं और (ये) जो (महः) महान् (तपः) तप (चक्रिरे) करते हैं (तान् चित् एव अपि) उन पूज्य पुरुषों के पास भी तू (गच्छतात्) जा।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

भा०—और हे पुरुष ! (ये) जो (शूरासः) शूरवीर पुरुष (प्रधनेषु) युद्ध के अवसरों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और (ये) जो (तनूत्यजः) अपने देहों को भी त्याग देने में समर्थ हैं (ये च) और जो (सहस्र-दक्षिणाः) सहस्रों धन सम्पत्ति दक्षिणा रूप में दान करने में समर्थ हैं (तान् चित् एव अपि गच्छतात्) तू उनको भी प्राप्त कर। उनका भी सत्संग कर और शिक्षा ले।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १८ ॥

भा०—(सहस्रणीथाः) सहस्रों अपरिमित ज्ञान-चक्षुओं वाले (कवयः) परम प्रज्ञा से सम्पन्न विद्वान् लोग ये (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर को, उसके ज्ञान भण्डार को (गोपायन्ति) रक्षा करते हैं, उसका अध्ययन करते हैं। हे (यम) ब्रह्मचर्यपालक 'यम'! नियम में निष्ठ पुरुष! ऐसे (तपस्वतः) तपस्वी (तपोजान्) तप में निष्ठ (ऋषीन् अपि गच्छतात्) ऋषियों को भी प्राप्त हो और उनसे ज्ञान लाभ कर।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! (अस्मै) इस पुरुष के लिये तू (स्योना) सुखकारिणी (अनृक्षरा) कांटों से रहित (निवेशनी) बसने योग्य (भव) हो और अस्मै (सप्रथाः) अति विस्तृत होकर (शर्म यच्छ) सुखमय शरण प्रदान कर।

असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥२०॥ (८)

१८—नीयते सनीथः नयनं वा। नयतेरौणादिकः क्थन्। उणा० १।२।

भा०—हे पुरुष ! तू (पृथिव्याः) पृथिवी के (असंबाधे) पीड़ा और भय से रहित (उरौ लोके) बड़े विशाल लोक में (निधीयस्व) निवास कर । तू (जीवन्) जीता रह कर अपने जीवन काल में (याः) जो भी (स्वधाः) अपने धारण, पालन, पोषण और रक्षा के उपाय (चकृषे) करे (ताः) वे सब (ते) तुझे (मधुश्चुतः) आनन्द-रस बहाने वाले हों । वे तेरे लिये परिणाम में दुःखकर न हों ।

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि ।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः॥२१॥

भा०—हे पुरुष! (मनसा) मन से (ते मनः) तेरे चित्त को (ह्वयामि) बुलाता हूं । तू (इमान् गृहान्) इन गृह के सम्बन्धियों को (जुजुषाणः) निरन्तर प्रेम करता हुआ (उप एहि) प्राप्त हो, उनके पास आ । और (पितृभिः) अपने बुजुर्ग, माता पिताओं से (संगच्छस्व) आकर सत्-संग लाभ कर. उनके दर्शन कर । (यमेन) सर्वनियन्ता राजा या प्रभु से भी (संगच्छस्व) भेंट कर । (त्वा) तेरे लिये (स्योनाः) सुखकारी (शग्माः) शान्तिदायक (वाताः) वायु (उपवान्तु) बहा करें ।

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः ।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥ २२ ॥

भा०—हे पुरुष ! (उदवाहाः) जल उठाने वाले और (उदप्रुतः) जलों से पूर्ण (मरुतः) वायुएं, अथवा—(उदवाहा उदप्रुताः) जल को वाहन बनाने और जल के मार्ग से गति करने वाले (मरुतः) वैश्यगण (त्वा उद् वहन्तु) तुझे ऊपर प्रतिष्ठा-पद पर उठावें । और (अजेन वर्षेण) निरन्तर गति करने वाले, निरन्तर आने वाले धारा-वर्षण से (शीतम्) सर्वत्र शीत=ठण्डक (कृण्वन्तः) करते हुए मेघयुक्त वायुएं (बाल् इति उक्षन्तु) 'बाल' इस प्रकार के शब्द के साथ भूमि पर जल बरसावें ।

उदंह्वमायुरायुंषे क्रत्वे दक्षांय जीवसें ।

स्वान् गंच्छतु ते मनो अधां पितॄँरुपं द्रव ॥ २३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (आयुषे) दीर्घजीवन, (क्रत्वे) कर्म, (दक्षाय) बल और (जीवसे) आरोग्य जीवन के लिये (आयुः) प्राप्त करने का (उत्-अह्वम्) उपदेश करता हूं । (ते मनः) तेरा चित्त (स्वान्) अपने बन्धुजनों के प्रति (गच्छतु) जावे (अधा) और तू स्वयं भी (पितॄन्) माता पिता आदि वृद्ध पूज्य पुरुषों के पास जा और उनसे विद्या और अनुभव प्राप्त कर ।

मा ते मनो मासोर्माङ्गांनां मा रसंस्य ते ।

मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मनः) तेरा मन (मा हास्त) तुझे न छोड़े । (असोः) प्राण का (किंचन मा) कुछ भी अंश तुझे न छोड़े । (ते अङ्गानां किञ्चन मा) तेरे अंगों का भी कुछ अंश तुझे न छोड़े । (इह ते तन्वः किंचन मा हास्त) यहां तेरे शरीर का कोई भाग भी तुझसे न छूटे ।

मा त्वां वृक्षः सं बांधिष्ट मा देवी पृंथिवी मही ।

लोकं पितृषु वित्त्वैधंस्व यमराजसु ॥ २५ ॥

भा०—(वृक्षः) वृक्ष जाति (त्वा) तुझको (मा सबाधिष्ट) पीड़ा न दे । (मही पृथिवी देवी) बड़ी यह पृथ्वी देवी भी (मा) तुझे पीड़ा न पहुंचावे । तू (यमराजसु) यम-नियन्ता परमेश्वर को ही एकमात्र अपना राजा मानने वाले या नियामक राजा को राजा मानने वाले (पितृषु) पालक, देशरक्षकों में (लोकं वित्वा) स्थान पाकर तू (एधस्व) वृद्धि को प्राप्त हो ।

यत् ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु ॥२६॥

भा०—अंग भङ्ग आदि विपत्ति और रोग आदि पर क्या करें। हे पुरुष ! (ते) तेरा (यत्) जो (अङ्गम्) अंग, शरीर का कोई भाग (पराचैः) दूर (अति-हितम्) चला गया है, कष्ट पा गया है (वा) या (अपानः) अपान (प्राणः) और प्राण (ते) तेरा (परा इतः) दूर हो गया है (तत्) तब (सनीडाः) एकही आश्रयस्थान में रहने वाले (पितरः) परिपालक वृद्ध लोग (संगत्य) मिलकर एकत्र होकर (घासात्) अपने भोग्य अन्न पदार्थों में से तेरे लिये पर्याप्त (घासम्) भोग्य अन्न पदार्थ (पुनः) पुनः (आ वेशयन्तु) प्रदान करें। यदि कोई पुरुष किसी अंग से रहित लंगड़ा लूला हो जाय या प्राण अपान बिगड़ कर बीमार हो जाय तो उसके आस पास के बड़े लोग मिलकर उसकी सहायता करें और अन्न वस्त्र ओषधि आदि अपने अंश में से जुटा देवें।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥२७॥

भा०—मृत्यु होने पर क्या करें सो बतलाते हैं—(जीवाः) जीवित लोग (इमम्) इस प्राणापान रहित मृत पुरुष को (गृहेभ्यः) घरों से निकाल कर (अप अरुधन्) बाहर रक्खें। हे गृह के जीवित पुरुषो! (तम्) उस मृत शव को (इतः ग्रामात्) इस ग्राम से (परि निर्वहत) परे दूर ले जाओ। (मृत्युः) मृत्यु (यमस्य) सर्व नियन्ता परमेश्वर का (दूतः आसीत्) दूत, संतापकारी साधन है। वह (प्रचेताः) उत्तम ज्ञानवान् और ज्ञानप्रद, उपदेश देने और शिक्षा प्राप्त करने का भी साधन

२६–१. आङ् पूर्वका विश धातुर्दानेऽर्थे वर्तते 'पुष्ट वसु आवेशयन्ती' अथर्व० ७ । ७९ । ३ ॥ इत्यादि प्रयोगदर्शनात् ।

भा०—(नः) हमारे (स्वाः पितरः) अपने सम्बन्ध के पालक पिता, पितामह, माता, मातामही आदि वृद्धजन (स्योनम्) हमारे लिये सुख, आनन्द के कार्य (कृण्वन्तः) करते हुए (आयुः) जीवन को (प्र तिरन्तः) बढ़ाते हुए, दीर्घजीवन भोगते हुए (इह) इस लोक में (सं विशन्तु) सुखपूर्वक रहें, विराजें। हम (तेभ्यः) उनके लिये (हविषा) अन्न से (नक्षमाणाः) उनकी सेवा करते हुए (पुरूचीः) बहुत (शरदः) वर्षों तक (ज्योक्) खूब (जीवन्तः) जीते हुए (शकेम) शक्तिमान बने रहें।

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम्।
तेना जनस्यासो भर्ता योत्रासदजीवनः ॥ ३० ॥ (६)

भा०—हे परम पूजनीय पुरुष ! (ते) तुझे (याम्) जिस (धेनुम्) गौ और (यम् उ) जिस (क्षीरे ओदनम्) दूध में पके भात 'खीर' पकान्न को मैं (निपृणामि) प्रदान करता हूँ उससे तू (जनस्य) उन जनों का (यः) जो लोग (अत्र) इस लोक में (अजीवनः) जीवन, आजीविका रहित, बे रोज़गार असमर्थ लंगड़े, लूले, अपाहिज और बालक वृद्ध आदि (असत्) हों (भर्ता असः) पालन पोषण कर।

अश्वावतीं प्र तर या सुशेवार्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद्विदत भागधेयम् ॥३१

भा०—हे पुरुष ! तू (अश्वावतीम्=अश्मावतीम्) प्रस्तरों से पूर्ण, तीव्र, उस नदी का (प्र तर) भली प्रकार पार कर (या) जो (सुशेवा) सुख से सेवन करने योग्य और सुख देनेहारी है। अथवा—हे पुरुष ! तू (अश्वावतीं प्र तर या सुशेवा) जो सुख देनेवाली घोड़ों से युक्त शत्रु की सेना भी है उसको पार कर। (वा) और तू (नवीयः) नया अदृष्ट-

३१-(प्र०) 'अश्मन्वतीं प्रतरया सुशेवान्' इति ह्विट्नि-अनुमितः।

पूर्व (ऋक्षाकम्) भल्लुओं से पूर्ण (प्रतरम्) अच्छी प्रकार पार करने योग्य वन को भी पार कर । अथवा-अध्यात्म में (अश्वावतीम्) अश्व-कर्मेन्द्रियों से युक्त इस कर्ममयी जीवन नदी को पार कर और (नवीयः) अति नवीन (प्रतरम्) उत्कृष्ट पथ में ले जाने वाले (ऋक्षाकम्) ऋक्ष=ज्ञानेन्द्रिय गण को भी (प्र तर) पारकर, वश कर, सुख से जीवन विता । हे पुरुष ! (त्वा) तुझे (यः) जो (जघान) मारे (सः) वह (वध्यः) मारने योग्य, वध करने और दण्ड करने योग्य हो । (सः) वह (अन्यत्) और अधिक (भागधेयम्) भोग, जीवनभाग्य को (मा विदत) न प्राप्त करे । प्रत्येक पुरुष अपना जीवन पूर्ण भोगे, जो किसी का प्राण ले वह स्वयं जीवन का भोग न कर सके ।

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥ ३२ ॥

भा०—(यमः) सर्वनियन्ता यम, परमेश्वर (परः) सबसे ऊंचा है । और (विवस्वान्) नाना प्रकार के वस्तु, लोकों का स्वामी यह सूर्य भी उससे (अवरः) नीचे, उससे कम शक्ति वाला है । (मे) मेरा (अध्वरः) न नष्ट होना या जीवन बना रहना भी (यमे) उस सर्व नियन्ता परमेश्वर पर ही (अधि निविष्टः) आश्रित है । (विवस्वान्) विविध लोकों का स्वामी सूर्य भी (भुवः) जीवों के उत्पत्तिस्थान रूप नाना लोकों को वह (अनु आततान) उस ईश्वर की आज्ञा के वशवर्त्ती रह कर वश करता है ।

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीद् जहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ३३ ॥

ऋ० १० । १७ । २ ॥

३३-(प्र०) 'अमृतान्' इति सायणाभिमतः । 'कृत्वा', 'अदधुः' इति ऋ० । ऋग्वेदे देवश्रवा यामायन ऋषिः ।

भा०—देव, दिव्य पदार्थों ने, जगत् के विधायक पञ्चभूतों में (मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा जीवों से उस (अमृताम्) कभी न मरने वाली अमर चेतनाशक्ति को (अप=अगूहन्) छिपा लिया और उसको (सवर्णाम्) समान वर्ण, कान्ति और तेज से युक्त चेतनाशक्ति को उन्होंने (विवस्वते) विविध लोकों और जीवों के स्वामी सूर्य के लिये (अदधुः) प्रदान किया। (उत) और (यत्) जो (तत्) अमृत रूप बल था वही (अश्विनौ) इन व्यापक द्यौ और पृथिवी को (अभरत्) पालन पोषण करता है। और (सरण्यूः) सर्वत्र व्यापक वही चिति शक्ति ही (द्वौ मिथुनौ) दोनों जोड़ों (मिथुनौ) जो परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं और दम्पति भाव से रहते हैं उन नर मादा, स्त्री पुरुषों को भी (अजहात्) अपने भीतर से बाहर किया। उत्पन्न किया, प्रकट किया है। व्यष्टिरूप से स्त्री पुरुष ही समष्टिरूप से द्यौः-पृथिवी हैं।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ३४ ॥

भा०—(ये) जो (निखाताः) निकट ही, दृढरूप से गड़े हुए अपना घर जमा कर बैठे हुए हैं और (ये परोप्ताः) जो दूर अपनी सन्तान उत्पन्न करते हैं। और (ये दग्धाः) दग्ध अर्थात् अपने पाप आदि मानसिक और कायिक, वाचिक मलों को भस्म कर चुके हैं (ये च) और जो (उत्-हिताः) जो उत्कृष्ट पदों पर पहुँचे हुए हैं (तान् सर्वान्) उन सब (पितॄन्) पिता के समान पूजनीय पालकों को (हविषे अत्तवे) पवित्र अन्न भोजन करने के लिये हे (अग्ने) गृहस्थ, अग्रणी नेता पुरुष! तू (आ वह) प्राप्त कर। उनको अपने घर ला और प्रेमसे उनको भोजन करा अथवा—(ये निखाताः) जो पृथ्वी में गाड़ दिये हैं ये (परा-उप्ताः) जो दूर युद्धक्षेत्र आदि देशों में कट गये हैं (ये च उद्-हिताः) और जो ऊर्ध्व गति को प्राप्त होगये हैं (तान् सर्वान् अग्ने! आवह हविषे अत्तवे)

हे अग्ने परमेश्वर! उन सब को हविः अर्थात् कर्मफल के भोग के लिये लोकान्तर को प्राप्त करा।

ये अ॒ग्निद॑ग्धा॒ ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
त्वं तान् वे॑त्थ॒ यदि॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम्॥

भा०—(ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्नि से दग्ध, भस्म कर दिये गये हैं और (ये अनग्नि-दग्धाः) जो अग्नि से दग्ध नहीं हैं अथवा (ये अग्निदग्धाः ये अनग्निदग्धाः) जो अग्नि के समान तीव्रताप से स्वयं जाज्वल्यमान और जो अग्नि से भिन्न शीतल पदार्थों के समान तेजस्वी होकर (दिवः मध्ये) आनन्द मय मोक्ष धाम में (स्वधया) अपने कर्मों से प्राप्त शक्ति से (मादयन्ते) आनन्द लाभ करते हैं हे (जातवेदः) पूर्णप्रज्ञ, सर्वज्ञ, परमात्मन्! (यदि) यदि (तान्) उन सबको तू (वेत्थ) अपनावे तो (ते) वे (स्वधया) निजी धारणाशक्ति से (स्वधितिम्) वे स्वतः धारण शक्ति स्वरूप (यज्ञम्) उस उपास्य प्रभु को (जुषन्ताम्) प्राप्त करें, वे ब्रह्म को प्राप्त हों।

शं त॑प॒ माति॑ तपो॒ अग्ने॒ मा त॒न्वं१ तपः॑।
वने॑षु॒ शुष्मो॑ अस्तु ते पृथि॒व्याम॑स्तु॒ यद्धरः॑॥ ३६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! परमेश्वर! आचार्य! तू (शं तप) कल्याण के लिये तपा, दण्ड दे, हमें (मा अति तपः) अधिक संतप्त मत कर। (तन्वं) हमारे शरीर को (मा तपः) मत पीड़ित कर। (ते) तेरा (शुष्मः) बल (वनेषु) वनों में अग्नि के समान शिष्यों में (अस्तु) प्रकट हो और तेरा (यत् हरः) जो हरस् तेज है वह (पृथिव्याम्) समस्त पृथिवी पर (अस्तु) विद्यमान रहे।

द॒दा॑म्यस्मा अव॒सान॑मे॒तद् य ए॒ष आग॒न् मम॒ चेद॑भू॒दिह।
य॒मश्चि॑कि॒त्वान् प्रत्ये॒तदा॑ह॒ ममै॒ष रा॒य उप॑ तिष्ठतामि॒ह॥ ३७॥

भा०—मैं परमेश्वर और आचार्य (अस्मै) इस पुरुष को (एतत्) यह, ऐसा (अवसानम्) सुखमय, अवसान, शरण (ददामि) प्रदान करता हूं (यः) जो (एषः) यह पुरुष (आगन्) यहां आता है (च) और (इह) यहां, इस लोक में (मम इत् अभूत्) मेरा ही भक्त होकर रहे । इस प्रकार (चिकित्वान्) सर्वज्ञ (यमः) सर्वनियन्ता, परमेश्वर या राजा या आचार्य मानो (एतत्) उसको इस प्रकार भी (प्रति आह) कह रहा है कि (एषः) यह पुरुष (मम) मेरे दिये (राये) धन ऐश्वर्य के उपभोग के लिये ही (इह) यहां (तिष्ठात्) विराजे ।

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥

भा०—(शते शरत्सु) सौ वर्षों में हम (इमाम्) जीवन के इस (मात्राम्) परिमाण को (मिमीमहे) ऐसी उत्तमता से मापें कि (यथा) जैसे (अपरं न मासातै) और किसी वस्तु को नहीं मापते । और (पुरा नो) पहले भी किसीने वैसा न मापा हो । अर्थात् हम अपने जीवन को बहुत उत्तमता से व्यतीत करें ।

प्रेमां मात्रां० । ० ॥ ३९ ॥ अपेमां मात्रां० । ० ॥ ४० ॥ (१०)
वीमां मात्रां० । ० ॥ ४१ ॥ निरिमां मात्रां० । ० ॥ ४२ ॥ उदिमां मात्रां० । ० ॥ ४३ ॥ समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४४ ॥

भा०—(शते शरत्सु) जीवन के सौ वर्षों में हम अपने जीवन की (इमां मात्राम्) इस मात्रा, काल परिमाण को ऐसी (प्र मिमीमहे) उत्तमता से मापें, व्यतीत करें (यथा अपरं न मासातै) जैसा दूसरा न माप सके, (नो पुरा) और न पहले किसी ने वैसा जीवन पूरा किया हो ।

३९—(द्वि०) 'पदेन' इति सायणाभिमतः ।

(अप इमां मात्राम् इत्यादि) हम अपने इस जीवन की कालमात्रा इतनी सुगमता से व्यतीत करें, (इमां मात्रां वि मिमीमहे) इस जीवन-यात्रा को ऐसे विशेष रूपसे व्यतीत करें (इमा मात्रां निर मिमीमहे) इस जीवनयात्रा को ऐसी पूर्णता या निर्दोषता से व्यतीत करें। (इमां मात्रां उत् मिमीमहे) इस जीवन की काल मात्रा को ऐसी उत्तमता से व्यतीत करें, (इमां मात्रां सम् मिमीमहे) इस जीवन यात्रा को ऐसी भली प्रकार से समाप्त करें कि जैसी कोई न व्यतीत कर सके और न किसी ने हमसे पहले की हो। अर्थात् हम अपने जीवन को ऐसी उत्तम रीति से, सुगमता से, विशेष रूपसे, निःशेष या निर्दोषरूपसे, उन्नत रूप से, समान रूपसे व्यतीत करें कि आदर्श हों। लोग कहें कि 'न भूतो न भविष्यति'।

अमा॑सि॒ मात्रां॒ स्व॑रगा॒मायु॑ष्मान् भूयासम्।
यथाप॑रं॒ न मासा॑तै श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४५ ॥

भा०—मैं (मात्राम्) इस जीवन काल की मात्रा को (अमासि) पूर्ण रूपसे ऐसी उत्तमता से मापलूं, पूर्ण रूपसे व्यतीत करूं (स्वः अगाम्) सुखमय आनन्द-मय मोक्ष भी प्राप्त करूं और (आयुष्मान् भूयासम्) दीर्घायु होकर रहूँ। (यथापरं) जैसे—इत्यादि पूर्ववत्।

प्रा॒णो अ॑पा॒नो व्या॒न आयु॒श्चक्षु॑र्दृ॒शये॒ सूर्या॑य।
अप॑रिपरेण प॒था य॒मरा॑ज्ञः पि॒तॄन् ग॑च्छ ॥ ४६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) ये चक्षु आदि इन्द्रियगण सब (सूर्याय) उस सबके प्रेरक परमेश्वर रूप सूर्य के (दृशये) नित्य दर्शन करने के लिए बने रहें। हे पुरुष ! तू (यमराज्ञः) सर्वनियन्ता सब के राजा परमेश्वर के बनाये (अपरिपरेण) शत्रु से रहित अभय

और मित्र दृष्टिमय, द्वेष रहित (पथा) मार्ग से तू (पितॄन्) पूज्य पुरुषों के पीछे २ (गच्छ) गमन कर।

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥४७॥

भा०—(ये) जो (अग्रवः) अविवाहित, आजन्म ब्रह्मचारी (शशमानाः) शम का अभ्यास करते हुए, तपः साधना से युक्त होकर सब प्रकार के (द्वेषांसि) द्वेष के भावों का (हित्वा) परित्याग करके (अनपत्यवन्तः) अपनी अगली सन्तति से रहित भी रहे (ते) वे भी (द्याम् उद् इत्य) दिव, स्वर्गलोक को जाकर (नाकस्य पृष्ठे) परम सुखमय धाम में, परमेश्वर के स्वरूप में (अधि दीध्यानाः) विराजते हुए उसी का ध्यान करते हुए (लोकम्) उस दर्शनीय परमेश्वर को (अविदन्त) प्राप्त करते हैं।

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

भा०—(अवमा) सबसे नीचे की (द्यौः) भूमि (उदन्वती) जलवाली या भोगमय, तामसी है और (मध्यमा) बीच की अंगकी भूमि (पीलुमती इति) वृक्षों से हरी भरी या कर्मफल से युक्त, राजस है और (तृतीया) तीसरी सबसे उत्कृष्ट (प्रद्यौः इति) अति अधिक प्रकाश, शुद्ध ज्ञानवाली सात्विक 'प्रद्यौ' नाम से कहाती है। (यस्याम्) जिसमें (पितरः) पालक पूज्य पिता माता गुरु लोक विराजते हैं।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥४९॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिता के भी पिता हैं और (ये पितामहाः) जो पितामह, बाबा हैं (ये) जो (उरु

अन्तरिक्षम्) विशाल आकाश में (आविविशुः) प्रविष्ट हो गये हैं और (ये) जो (पृथिवीम्) इस पृथिवी (उत द्याम्) और स्वर्ग में (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः) उन सब (पितृभ्यः) पालक, पूजनीय पुरुषाओं के लिये हम (नमसा) नमस्कार या अन्न द्वारा (विधेम) सत्कार करें।

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (११)

भा०—(इदम् इत् वा उ) इस लोक में हे पुरुष ! बस यही, अन्न ही जीवन है। (न अपरम्) और कुछ दूसरा पदार्थ भोग्य नहीं। परन्तु (दिवि) द्यौलोक में (सूर्यम्) सर्वप्रेरक सूर्य के समान उस परम प्रकाश परमेश्वर को भी (पश्यसि) देख रहा है। हे (भूमे) भूमे ! या सर्वोत्पादक ईश्वर ! (यथा) जिस प्रकार (माता) माता (पुत्रम्) पुत्र को (सिचा) अपने अंचरे से ढक लेती है उसी प्रकार तू (एनं) इस जीव को (अभि ऊर्णुहि) आच्छादित कर, सुरक्षित रख।

इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोपरम्।
जाया पतिमिव वाससाभ्ये/नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥

भा०—(इदम् इद् वा उ) इस लोक में बस यही भोग है (न अपरम्) दूसरा भोग नहीं। (जरसि) और बुढ़ापे के गुजर जाने पर (इतः अपरम् अन्यम्) इससे दूसरा और भी एक जीवन है। हे (भूमे) भूमे ! (पतिम्) पति को जिस प्रकार (जाया) उसकी स्त्री (वाससा) अपने वस्त्र से ढक लेती है उसी प्रकार (एनं अभि-ऊर्णुहि) इस पुरुष को आच्छादित कर। कदाचित् ५०, ५१, इन दो मन्त्रों के आधार पर ही भूमि में दफ़न करने की विधि वेद से ही यवनों ने ली हो।

अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।

जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥५२॥

भा०—हे पुरुष ! मैं परमेश्वर (त्वा) तुझको (पृथिव्याः मातुः) माता पृथिवी के (वस्त्रेण) वस्त्र के समान निवास योग्य स्थान से ही (भद्रया) अति सुखकारी विधि से (ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं । (जीवेषु) समस्त जीवों में जो भी (भद्रम्) सुख और कल्याण है (तत्) वह सब (मयि) मेरे ही आधार पर है और (स्वधा पितृषु) स्वयं धारण करने योग्य अपने कर्मों का फल (पितृषु) तेरे परिपालक माता पिताओं में है और (सा त्वयि) वही 'स्वधा' अर्थात् स्वयं कर्म द्वारा प्राप्तव्य कर्मफल (त्वयि) हे पुरुष ! तेरे ही अधीन है ।

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम् ।
उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम् ॥५३॥

भा०—हे (अग्नीषोमा) अग्ने और हे सोम ! हे आग के समान शत्रुतापक, ज्ञानप्रकाशक और सोम, सर्वोत्पादक अग्नि और वायु ! ज्ञानी तपस्विन् और शमदमादि सम्पन्न योगिन् ! आप दोनों (पथिकृतौ) सब मार्गों को बनाने हारे हो । आप दोनों ही (देवेभ्यः) समस्त ज्ञानवान् पुरुषों के लिये (रत्नम्) रमण करने योग्य (लोकम्) लोक को (वि दधथुः) नाना प्रकार से धारण करते, विधान करते हो । (यः) जो (प्रे-

५३-(च०) 'गच्छतम्' (तृ०) ' उप प्रेष्यतं ' (च०) 'अञ्जोयानैः' इति ह्विटनिकामितः । 'अजयानैः' इति च क्वचित् । 'अञ्जयानैः' (द्वि०) अञ्जोयानैः 'अञ्जः ऽयानैः' इति पदपाठः । अन्यत्रापि 'पथो देवत्रा अञ्जसे वयानान्' इति ऋ० १० । ७३ । ७ ॥ प्राकृतेऽपि अंजसायान ऋजुमार्गापरपर्यायोद्दष्टः । तथा च सायणः 'अञ्जसा आर्जवेन यान्ति गच्छन्ति एभिरिति । 'अञ्जोयानैरिलिव' पाठः सार्वीयान् । 'दधतुः' इति क्वचित् ।

ध्यन्तं) समस्त जगत् के प्रेरणा करने हारे, (पूषणम्) समस्त जगत् के पोषक परमेश्वर को (वहाति) प्राप्त करावे, (तत्र) वहां (अञ्जोयानैः) अति वेगवान् रथों, गमन साधनों से या अञ्जः=प्रकाशमय, ज्ञानमय गमन साधनों से सम्पन्न या सरलता और सुगमता से जाने योग्य, सीधे विशाल; राज-कीय (पथिभिः) मार्गों से (गच्छतम्) वहां गमन करो ।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥५४॥

ऋ० १० । १७ । ३ ॥

भा०—हे पुरुष, जीव ! (अनष्टपशुः) जिस परमेश्वर के जीव कभी मरते नहीं वह (गोपाः) उत्तम गोपाल के समान (भुवनस्य गोपाः) समस्त संसार का रक्षक है । वह (विद्वान्) सर्वज्ञ, (पूषा) सब का पोषक (त्वा इतः) तुझको इस लोक से (प्रच्यावयतु) निकालता है और दूसरे लोक में प्रवेश कराता है । (सः) वह ही (अग्निः) अगले लोकों में ले जाने हारा पथदर्शक होकर (सुविदत्रियेभ्यः) उत्तम ज्ञान-वान् और दानशील (देवेभ्यः) सर्वद्रष्टा, सर्वप्रद (एतेभ्यः) उन २ नाना (पितृभ्यः) पूजनीय पालक पिता आचार्यों के हाथों (परिददात्) सौंपता है । ईश्वर की कृपा से उत्तम लोक और उत्तम माता, पिता, आचार्य आदि प्राप्त होते हैं ।

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥५५॥

ऋ० १० । १७ । ४ ॥

५४–(तृ०) 'ददात्', 'सुविदत्रेभ्यः' इति तै० आ० । ५४,५५ अनयो-ऋग्वेदे देवश्रवा यामायन ऋषिः । पूषा देवता ।

५५–(प्र०) 'परिपासति त्वा' (तृ०) 'ते ययुः' इति ऋ० ।

भा०—हे पुरुष ! हे जीव ! (विश्वायुः) समस्त संसार का आयु, जीवनस्वरूप (आयुः) साक्षात् जीवनस्वरूप सर्वव्यापक, परमेश्वर (त्वा) तेरी (परिपातु) सब प्रकार से रक्षा करे और (पुरस्तात्) आगे भी (प्रपथे) उत्तम मार्ग में (त्वा पूषा पातु) सर्वपोषक, परमात्मा तेरी रक्षा करे (यत्र) जिस लोक में (ते) वे विद्वान् प्रसिद्ध (सुकृतः) पुण्याचारी लोग (ईयुः) जाते हैं (तत्र) वहां (सविता देवः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (त्वा) तुझे भी (दधातु) रक्खे ।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥५६॥

भा०—जिस प्रकार मनुष्य राजा के द्वार पर या राजसभाओं में जाने के लिये अपने रथ में दो घोड़े या बैल लगाकर पहुंचता है उसी प्रकार सर्वनियन्ता परमेश्वर के घर तक पहुंचने के लिये भी प्राण और अपान रूप दो वाहनों को योगाभ्यास द्वारा जोड़ना आवश्यक है। हे जीव ! हे पुरुष ! (असुनीताय) असु प्राण द्वारा लोकान्तर में पहुंचने वाले (ते) तेरे आत्मा को (वोढवे) वहन करने के लिये (इमौ) इन दोनों प्राण और अपान को मैं (युनज्मि) एकत्र युक्त करता हूं (ताभ्याम्) उन दोनों से (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के रचे (सादनम्) आश्रयस्थान, शरण (सम्-इतीः च) सत् ज्ञानमय सत्संगों को (अवगच्छताम्) तू प्राप्त हो ।

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥५७॥

भा०—हे पुरुष ! जीव ! (यत्) जो तूने (पुरा) पहले भी, पूर्व जन्म में भी (अबिभः) धारण किया था (एतत्) वह (वासः) वस्त्र, चोला, यह देह (प्रथमं) सबसे उत्तम ही (नु त्वा आगन्) तुझे प्राप्त हुआ है । (एतत्) उसको तू (अप ऊह) दूर कर, त्याग दे । और

अपने किये (इष्टापूर्तम्) इष्ट, देव उपासना और 'आपूर्त' लोकोपकार के कार्यों के अनुसार (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर (अनुसंक्राम) अगले उस लोक में जा (यत्र) जहां (बहुधा) प्रायः (विबन्धुषु) विशेष बन्धन करने वाले लोकों में (ते) तेरा अपना मन (दत्तम्) दिया हुआ, समर्पित या लगा है ।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ गीता० ॥

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च ।
नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्खयाते ॥५८॥
ऋ० १० । १६ । ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (अग्नेः) अग्नि के समान संतापक ज्वर आदि से बचने के लिये (वर्म) कवच को (गोभिः) गौ आदि पशुओं के चर्मों या बालों से बने वस्त्रों से, वेद की वाणियों से (परिव्ययस्व) ढक ले और अपने को (मेदसा) परस्पर प्रेम और बुद्धि द्वारा और (पीवसा च) देह की पुष्टि से (सं प्र ऊर्णुष्व) अच्छी प्रकार ढकले, अपने बुद्धि और शरीर के बल से खूब सुरक्षित रख । (नेत्) नहीं तो (त्वा) तुझे (धृष्णुः) तेरे शरीर बल का नाश करने वाला रोग आदि (हरसा जर्हृषाणः) अपने हरणशील बल से तुझे हरण करने की इच्छा करता हुआ (दधृक्) अति निर्भय होकर (विधक्षत्) तुझे नाना प्रकार से संतप्त करता हुआ (परि-ईङ्खयाते) भय से कंपा देगा ।

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥५९॥

भा०—(गतासोः) मृत, प्राणों से रहित, शक्तिहीन पुरुष के (हस्तात्) हाथ से (दण्डम्) दमन करने के अधिकार को (श्रोत्रेण) कान-

मृतपति स्त्री का अधिकार

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥१॥

भा०—(पुराणम्) अपने पुराण, पूर्व के ही पातिव्रत (धर्मं) धर्म का (अनुपालयन्ती) पालन करती हुई (इयम्) यह (नारी) स्त्री (पतिलोकं) [1] पतिलोक, पति के रूप से पुरुष को (वृणाना) वरण करती हुई हे (मर्त्य) मरणधर्मा पुरुष ! (त्वा प्रेतम्) तुझ मृतपति के (उप) समीप (निपद्यते) प्राप्त होती है । (तस्यै) इस स्त्री को तू (प्रजाम्) अपनी प्रजा और (द्रविणं च) द्रविण; धन का (धेहि) प्रदान कर । अर्थात् मृत पुरुष के सन्तान और धन की स्वामिनी उसकी पत्नी हो ।

पति के मरने पर पुत्र और स्त्री के लिये आज्ञा

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥

भा०—हे (नारि) नारि ! तू (उत्-ईर्ष्व) उठ । तू (गतासुम्) प्राण रहित (एतम्) इस पुरुष के पास (उप शेषे) सो रही है । यह क्या करती है ? (अभि जीवलोकम्) जीवित प्राणिलोक को (आ इहि) प्राप्त हो । हे स्त्रि ! तू (हस्तग्राभस्य) हाथ को ग्रहण करने वाले (दधिषोः) धारण-पोषणकारी (तव पत्युः) तेरे अपने पति के लिये ही (अभि इदम्) इस (जनित्वम्) जनित्व=भार्यापन को (अभि) लक्ष्य करके (संबभूथ) नियुक्त पति से सहवास कर । अथवा—(हस्तग्राभस्य पत्युः कृते दधिषोः=दिधिषोः तव स्त्रियां इद जनित्व पुत्रोत्पादनं स्यात् अतः

[२]१—'विश्वं पुराणमनुपालयन्ती' इति तै० आ० ।

त्वं अभिसंबभूथ) पाणिग्रहण करने वाले पूर्व पति के लिये ही पुनः गर्भ धारण करना चाहने वाली तुझ स्त्री का यह पुत्रोत्पादन रूप कार्य हो । अतः तू पुनः नियुक्त पति से संगत हो सकती है ।

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥३॥

भा०—(मृतेभ्यः) मृत पुरुषों अर्थात् पूर्व पतियों के निमित्त (जीवां युवतिम्) जीवित युवति, जवान स्त्री को (नीयमानाम्) ले जाई गयी और (परिणीयमानाम्) पुनः परिणय या विवाह करती या दूर ले जाई जाती हुई को मैं गृह का व्यवस्थापक (अपश्यम्) देखूं । (यत्) जब वह (अन्धेन तमसा) अन्धेरे अन्धकार, शोक मोह से (प्रावृता) ढकी हुई (आसीत्) हो तो (एनाम्) उसको (प्राक्तः) आगे के कष्टदायी हृदय से हटाकर (अपाचीम्) दूसरी ओर (अनयम्) ले जाऊं । पतियों के मर जाने पर युवतियों का पुनः विवाह कर दिया जाय या पतिवियोग के मोह में ऐसी बिलखती को जहां तक हो सके दूर रक्खे ।

प्रजानत्य/घ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (अघ्न्ये) अघ्न्या, कभी न मारने योग्य गौ के समान तू भी कभी न मारने योग्य, नित्य पालन करने योग्य स्त्रि ! तू (जीवलोकं प्रजानती) जीवित लोगों को भली प्रकार जानती हुई और (देवानां) देव, दानशील, विद्वान् , श्रेष्ठ पुरुषों के (पन्थाम) मार्ग, शिष्टाचार को

३—(द्वि०) 'जीवमृतेभ्यः' (प्र० द्वि०) अपश्यं युवतिं आचरन्तीम् मृताय जीवां परिणीयमानाम् । (तृ०च०) अन्धेन या तमसा प्रावृतासि प्राचीनवाचीमवयन्नरिष्ट्यै इति तै० आ० ।

(व्रतं संचरन्ती) पालन करती हुई यदि तू अपने इन्द्रियों को वश न कर सके तो (अयम्) यह प्रत्यक्ष में स्थित नियुक्त पति (ते) तेरे लिये (गोपतिः) गोपति के समान स्वयं जितेन्द्रिय पुरुष है। (तं जुषस्व) उसको प्रेम से सेवन कर। और (एनम्) इसको ही (स्वर्गं लोकम् अधिरोहय) स्वर्गलोक, सुखमय लोक को प्राप्त करा।

परिपालक पुरुष का स्वरूप

उप द्यामुपं वेतसमवत्तरो नदीनाम्। अग्ने पित्तमपामसि ॥ ५ ॥

यजु० १७। ६ ऋ० द्वि० ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी! ज्ञानमय परमेश्वर! तू (अपाम्) जलों के समान स्वच्छ आप्त पुरुषों को (पित्तम्) पवित्र करने या पालन करने हारा (असि) है। तू (नदीनाम्) नदियों के (उप) समीप, उनके जलों में उतराने वाली (द्याम् उप) द्यौ-शैवाल के समान व्यवस्था जाल फैला कर और (वेतसम् उप) वेत के समान तट पर अपने मूल फैला कर (नदीनां) नदियों के समान अति समृद्ध या स्तुतिशील प्रजाओं के भीतर रहता हुआ भी उनकी (अवत्तरः) बड़ी भारी रक्षा करनेहारा है।

इसका विनियोग अनर्थक है याज्ञिक विनियोग और कौशिक के विनियोग में बड़ा अन्तर है।

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
क्याम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्यल्कशा ॥ ६ ॥ ऋ० १०।१६।१३॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुसंतापक और अग्रणी ज्ञानमय राजन्! परमेश्वर! (त्वम्) तू (यम्) जिसको (सम् अदहः) आग के समान मृत्यु आदि दुःख से जलाता है, पीड़ित भी करता है,

५—(प्र० द्वि०) अवतर उपसंसहेऽवत्तर नदीभ्या, इति यजु० ।

दण्डित भी करता है, (तम् उ) उसको ही (पुनः) फिर (निर्वापय) जल के समान इतना शान्त कर कि (अत्र) यहां (क्याम्बूः) जिस प्रकार अधिक जल पड़ने पर काई (रोहतु) उग आती है और (व्यल्कशा) शाखावाली (शाण्डदूर्वा) बड़ी दूब पैदा हो जाती है उसी प्रकार जिस स्थान या प्रदेश या आत्मा में तैंने यह कठोर दमन किया हो वहां भी ऐसी शान्ति स्थापन करता है कि नाना शाखाओं वाली (शाण्डदूर्वा) संघ बना कर रहने वाले प्राण और 'क्याम्बू' ज्ञान जल के धारक चितिशक्ति की वृद्धि होती है । क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा । ऐ० ८ । ८॥ प्राणो दूर्वेष्टका ॥ श० ७।४ । २२०॥ पशवो वै दूर्वेष्टका ॥ श० ७ । ४ । २ । १० । १० ॥

राजा के पक्ष में भी स्पष्ट है। राजा को प्रायः चिताग्नि से उपमा दी जाती है। जैसे चिताग्नि पहले जलाती है और शव जल चुकने पर फिर वहां से उसे बुझा दिया जाता है उसी प्रकार राजा प्रथम कोप करके पुनः शान्त हो जाता है जैसे महाभारत में—

पाण्ड्यः, स्वधामिवाप्य ज्वलतः पितृप्रियः ।
ततः प्रशान्तः सलिलप्रवाहतः ॥ (महा० ८।२०।५०॥)

इदं त एकं पुर ऊं त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व ।
संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे ॥ ७ ॥
ऋ० १० । ५६ । १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (इदम्) यह (एक) एक ज्योति है । (परः) वह दूर (उ) भी (ते) तेरे लिये (एकम्) एक परमेश्वर की ब्रह्म ज्योति या आदित्य ज्योति है । तू यहां (तृतीयेन ज्योतिषा) तीसरी या प्राणों से भी उत्कृष्ट आत्माख्य ज्योति से (सं विशस्व) ऊंचे पद पर प्रवेश कर । (संवेशने) इस उच्च पद प्राप्ति में भी (तन्वा)

७—(द्वि०) 'तन्वैः' (च०) 'परमे जनित्रे' इति ऋ०। 'प्रियं' इति तै०आ० ।

अपने शरीर से (चारुः) कर्मफल भोगने में अति समर्थ, शोभनरूप और उस (परमे) परम उत्कृष्ट (सधस्थे) उत्तम स्थान में भी (देवानां) विद्वानों का (प्रियः एधि) प्रिय होकर रह ।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्र॒वौकः॑ कृणुष्व सलि॒ले स॒धस्थे॑ ।
तत्र॒ त्वं पि॒तृभिः॑ संवि॒दानः॒ सं सोमे॑न॒ मद॑स्व॒ सं स्व॒धाभिः॑ ॥ ८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (उत्-तिष्ठ) उठ । (प्र इहि) आगे बढ़ । (प्र द्रव) शीघ्रता से आगे बढ़ । (सलिले) जल के समान शान्त एवं सबके समान रूप से लीन होने योग्य परम शरण (कृणुष्व) बना । (तत्र) उसमें हे (त्वं) तू अपने (पितृभिः) पूज्य पालक, गुरु माता पिता आदि के साथ (सं विदानः) भली प्रकार सत्संग और ज्ञान लाभ करता हुआ (सोमेन) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर के साथ (स्वधाभिः) अपने कर्मों से प्राप्त इष्ट फलों का (मदस्व) आनन्द लाभ कर, तृप्त हो ।

प्र च्य॑वस्व त॒न्वं१॒ सं भ॑रस्व॒ मा ते॒ गात्रा॒ वि हा॑यि॒ मो शरी॑रम् ।
मनो॒ निवि॑ष्टमनु॒ संवि॑शस्व॒ यत्र॒ भूमे॑र्जु॒षसे॒ तत्र॒ गच्छ ॥ ९ ॥

भा०—हे जीव आत्मन् ! पुरुष ! तू (तन्वम्) अपना शरीर (प्रच्यवस्व) उत्तम रूप से छोड़ और उसको (संभरस्व) फिर भली प्रकार से प्राप्त कर, उसे बना ले । (ते) तेरे (गात्रा) अंग (मा विहायि) छूट न जायँ । (मो शरीरम्) शरीर भी तेरा न छूटे । जहां तेरा (मनः) मन (निविष्टम्) लगा है वहां ही (अनु संविशस्व) अपनी इच्छानुकूल शरीर में प्रविष्ट हो । (भूमेः) भूमिलोक के (यत्र) जिस भाग में (जुषसे) प्रेम लगा हो (तत्र) तू वहां (गच्छ) चला जा ।

८-(च०) 'मदस्व परमे व्योमन्' इति तै० आ० ।

९-उत्तिष्ठातः तनुवं सम्भरस्व मेह गात्रमवहा मा शरीरम् । (च०) यत्र-भूम्यै वृणतेतन गच्छ' इति तै० आ० । 'भूमे र्जु'-इति क्वचित् ।

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥१०॥ (१३)

भा०—(सोम्यासः) सोम, ब्रह्मानन्द रस का पान करानेहारे (पितरः) गुरु आदि वृद्धजन (मां) मुझको (वर्चसा) ब्रह्मवर्चस् से (अञ्जन्तु) युक्त करें। और (देवाः) देव, विद्वान्, विद्याप्रदाता जन मुझे (मधुना) मधुर ज्ञानमय (घृतेन) प्रकाश से (अञ्जन्तु) प्रकाशित करें। (चक्षुषे) साक्षात् दर्शन करने के लिये (प्रतरं) बहुत उत्कृष्ट रीति से अथवा पितृ-ऋण से तारने वाले पुत्र रूप (मा) मुझको (तारयन्तः) संसार-यात्रा के पार पहुंचाते हुए वे वृद्धजन (जरद्-अष्टिम्) वृद्धावस्था तक पहुंचने वाले (मा) मुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें।

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन् ।
रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥११॥

भा०—(अग्निः) ज्ञान से प्रकाशित, अग्नि के समान तेजस्वी आचार्य (माम्) मुझको (वर्चसा) तेज से (सम् अनक्तु) खूब प्रकाशित करे। (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर (मे आसन्) मेरे मुख में (मेधाम्) पवित्र बुद्धिपूर्वक वाणी को (नि अनक्तु) प्रकाशित करे। (विश्वेदेवाः) सब देवगण, इन्द्रियगण, प्राण और विद्वान्गण (मे) मेरे (रयिम्) बल को (नियच्छन्तु) पूर्ण रीति से संयम करें, वीर्य बल की रक्षा करें। और (आपः) जलों के समान स्वच्छ हृदय वाले आप्तजन (पवनैः) पवित्र करने वाले अपने उपदेशों से (मा पुनन्तु) मुझे पवित्र करें।

मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।

१०—(द्वि०) 'अजन्तु' इति क्वचित् ।

वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥१२॥

ऋ० १० । १४ । १ ॥ (तृ० च०) १८ । १ । ४६ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र मरण से रक्षा करने वाला और (वरुण) विघ्नों का विनाशक, सबसे वरण करने योग्य, मित्र और वरुण, माता पिता, दिन और रात (माम्) मुझे (परि अधाताम्) सब प्रकार से धारण पोषण करें। (आदित्याः) सूर्य के समान तेजस्वी (स्वरवः) उत्तम ज्ञान के उपदेष्टा गुरु लोग (मा) मुझे (वर्धयन्तु) ज्ञानोपदेश से बढ़ावें। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा और परमेश्वर (मा) मुझे (हस्तयोः) मेरे हाथों में (वर्चः) बल (नि अनक्तु) दे। (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर और प्रेरक सूर्य (मा) मुझे (जरदष्टिम्) भोजन को नित्य पचा लेने में समर्थ, एवं दीर्घायु (कृणोतु) करे।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥१३॥

ऋ० १० । १४ । १ ॥ अथर्व० १८ । १ । ४६ ॥

भा०—(यः) जो मनुष्य (मर्त्यानां) मरणधर्मा मनुष्यों में से (प्रथमः) सबसे प्रथम (ममार) अपने प्राण त्यागता है और (यः) जो (एतम् लोकम्) इस परलोक को (प्रथमः) सबसे पहले (प्र इयाय) प्राप्त होता है इस समस्त (जनानां) उत्पन्न होने वाले जनों के (संगमनम्) एकमात्र गमन करने योग्य, आश्रय स्थान (वैवस्वतम्) विशेष रूप से सबके आच्छादक, सर्वरक्षक, (यमं राजानम्) सबके राजा, सर्वनियामक 'यम' महापुरुष की (हविषा) स्तुति द्वारा आदर से (सपर्यत) पूजा करो, उसका आदर सत्कार करो। अथवा—जो पुरुष सबमें पहले मरा या जो सबसे पहले परलोक गया तबसे लेकर समस्त

१२–(प्र०) 'अधाधाम्' इति पैप्प० सं०।

प्राणियों के शरण और सर्वनियन्ता राजा परमेश्वर की आप लोग स्तुति द्वारा उपासना करो । अथवा—(यः मर्त्यानां=मर्त्यान् प्रथमः सन् ममार= मारयति) जो सर्वश्रेष्ठ होकर प्रभु मरणधर्मा प्राणियों के प्राण त्याग कराता है और (यः प्रथमः) जो सर्वश्रेष्ठ होकर (एतम् लोकम् प्र इयाय) इस लोक में प्राणि को भेजता है। उस सर्वव्यापक सर्वनियामक प्रभु की उपासना करो ।

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ १४ ॥

भा०—हे (पितरः) पितृजनो, पूज्य वृद्ध पुरुषो ! (अयम्) यह (वः) आप लोगों का (यज्ञः) यज्ञमय आत्मा या दान (मधुना) मधु के समान मधुर ज्ञान से (सम्-अक्तः) भली प्रकार से प्रकाशित है आप (परा यात) दूर २ देश तक जाओ और (आयात च) दूर २ देशों से आओ भी । और (अस्मभ्यम्) हम लोगों को (द्रविणा) नाना प्रकार के ज्ञान और धनों को (दत्त उ) प्रदान करो और (इह) इस लोक में (भद्रम्) कल्याणकारी और सुखकारी (सर्ववीरम्) सब पुत्रों और वीरों सहित (रयिम्) ऐश्वर्य को (च) भी (दधात) धारण कराओ ।

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥ १५ ॥

भा०—(कण्वः) कण्व[1], ज्ञान का उपदेश करने वाला (कक्षीवान्)[2] प्राणरश्मियों को अपने वश करनेहारा, कक्षीवान्, (पुरुमीढः)[3] अति अधिक पुत्रों और धनों से युक्त, पुरुमीढ, अतिदानी (अगस्त्यः)[4]

[१५]—१. कणतेः शब्दार्थकात् क्वन् । २. 'कक्ष सेवते' इति यास्कः (नि० २।२)
३. पुरूणि मीढानि अपत्यानि धनानि वा यस्य इति सायणः ।
४. अगात् वृक्षात् अस्यति इति अगस्तिः, इति दयानन्द उणादि० ।

अगस्त्य, अग-वृक्ष पर्वतादि को भी बलपूर्वक उखाड़ देने में समर्थ, भौतिक बलों से सम्पन्न, (श्यावाश्वः) श्यावाश्व, ज्ञानशील इन्द्रियों से सम्पन्न, (सोभरी) उत्तम रीति से पुष्ट करने वाला, सोभरी (अर्चनानाः)[५] 'अर्चनानस्' पूजनीय उत्तम अनस् शकट आदि का रचयिता, (विश्वामित्रः) सबका मित्र विश्वामित्र, (जमदग्निः)[६] जमदग्नि, अग्नि को नित्य प्रज्वलित रखने वाला, तेजस्वी (अत्रिः)[७] 'अत्रि' त्रिविध तापों से मुक्त, (कश्यपः)[८] ज्ञान का पालक, ज्ञान का पानकर्त्ता या जगत् को सूक्ष्म रीति से देखने वाला पश्यक, सर्वद्रष्टा (वामदेवः)[९] देव परमेश्वर का उपासक, ये समस्त ज्ञानद्रष्टा समर्थ पुरुष (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

अथवा—कण्व आदि द्वादश नाम द्वादश प्राणों के समझने चाहियें। द्वादश प्राण के संग रहने से लक्षणावृत्ति से वह आत्मा भी इन १२ नामों से पुकारा जाता है और आत्मा की उन द्वादश शक्तियों के साधक भी कण्व आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

विश्वा॑मित्र॒ जम॑दग्ने॒ वसि॑ष्ठ॒ भर॑द्वाज॒ गोत॑म॒ वाम॑देव।
शर्दि॑र्नो॒ अत्रि॑रग्रभी॒न्नमो॑भिः॒ सुसं॑शासः॒ पित॑रो मृ॒डता॑ नः ॥१६॥

भा०—हे (विश्वामित्र) विश्वामित्र, सबके मित्र ! हे (जमदग्ने) प्रज्वलित अग्नि वाले या अग्नि के समान दीप्तियुक्त ! हे (वसिष्ठ)[१] बसनेहारों में सबसे मुख्य ! हे (भरद्-वाज)[२] अन्न को भरनेहारे ! हे

५. 'अर्चनीयमनः शकटं यस्येति सायणः। ६. जमति र्ज्वलतिकर्मा। 'जमिताग्निः इति यास्कः। ७. तस्मादत्रिर्नत्रय इति यास्कः (नि० ३। १७॥) ८. 'कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यति सौक्ष्म्यात्' (तै० आ० १। ८। ८) ९. वामः वननीयो देवः द्योतको बोधो यस्य सः' इति सायणः।

१६—'सुशंसासः' इति ह्विटनिकामितःसायणाभिमतश्च।

(वामदेव) ईश्वरोपासक ! आप लोग और (शर्दिः)[3] शरण देनेवाला बलवान् (अग्निः) त्रिविध तापों से मुक्त ये सब (नः) हमें (अग्रभीत्) ग्रहण करें, स्वीकार करें, अपनावें । ये सभी (सु संशासः) उत्तम रीति से शासन करनेहारे (पितरः) सबके पालक, पूज्य वृद्धजन आप लोग(नमोभिः) अन्न और दुष्टों के नमाने वाले बलयुक्त साधनों से (नः) हमें (मृडत) सुखी करो । इस मन्त्र में ७ ऋषि सात मुख्य प्राणों के नाम हैं और उन शक्तियों के साधक पुरुष और व्यष्टिरूप से जीव आत्मा और समष्टिरूप से परमेश्वर के भी वे नाम हैं ।

कुस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥

भा०—(कस्ये) ज्ञानयोग्य, सर्वोपरि शासक, परम वेद्य, ब्रह्म के आश्रय पर विद्वान् लोग अपने आत्मा को (मृजानाः) शुद्ध करते हुए साधक जन वे (प्रतरम्) अति उत्तम, (नवीयः) नवीन (आयुः) जीवन को (दधानाः) धारण करते हुए (रिप्रम्) पाप और चित्त के मल को (अतियन्ति) दूर करते हैं । (प्रजया धनेन) प्रजा और धन से (आप्यायमानाः) खूब बढ़ते हुए, सम्पन्न और समृद्ध होते हुए हम लोग (अध) भी उसी प्रकार (गृहेषु) घरों में (सुरभयः) पुण्य कार्य करके कीर्तिमान् और सुगन्धित या उत्तम धन लाभयुक्त एवं सदाचारी होकर (स्याम) रहें ।

---

१. 'वसुमत्तमः' इति सायणः । २. भरणाद् भरद्वाजः इति यास्कः । ३. शर्दिःछर्दिः । गृहनामैतत् । यद्वा शर्दतिर्बलकर्मा ।

१७–'कस्ये' इति 'कंस्ये' इति शब्दापभ्रंशः इति ग्रीफिथह्विट्न्यादयः । 'कांकस' इत्यस्य पूर्ववर्णलोपे कस्ये श्मशाने इति सायणः । कस-गतिशासनयो इत्यतो यगिति क्षेमकरणः । बाहुलको यदिति वयम् ।

अञ्जते व्य/ञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्य/ञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते॥१८॥

भा०—परमेश्वर के उपासक पुरुष (अञ्जते) प्रथम अपने नेत्रों को ज्ञानरूप अंजन से आंजते हैं, ब्रह्म को साक्षात् करते हैं । (वि-अञ्जते) फिर विशेष रूप से उसका साक्षात् करते हैं और फिर (सम् अञ्जते) निरन्तर भली प्रकार उसका साक्षात् करते हैं । और फिर (क्रतुं रिहन्ति) क्रतु=कर्त्ता आत्मा के स्वरूप को भी प्राप्त करते हैं, ब्रह्मानन्द ज्ञानरस का आस्वाद करते हैं । और उसको (मधुना) मधु=अमृत ब्रह्मरस से (अभि अञ्जते) साक्षात् रूप से प्रकाशित करते हैं । (सिन्धोः) स्यन्दनशील, या महासागर के समान सबके आश्रयभूत परमेश्वर के (उच्छ्वासे) दिये उच्चतम प्राण के आधार पर (पतयन्तम्) गति करते हुए (उक्षणम्) धर्ममेघरूप आनन्द जल की वर्षा करने वाले (पशुम्) ब्रह्मद्रष्टा आत्मा को (हिरण्यपावाः) अपने आत्मा को पवित्र करने वाले साधक योगीजन ही (आसु) इन भीतरी नाड़ियों में (गृह्णते) उसका साक्षात् करते हैं ।

यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयंशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥१९॥

भा०—हे (पितरः) पालक जनो ! वृद्ध पुरुषो ! माता पिता गुरुजनो ! (वः) आप लोगों का (यद्) जो (मुद्रम्) हर्षजनक या मुदास्वरूप और (सोम्यं च) सौम्य, सोम, शिष्यों के देने योग्य ज्ञान या सोम, ब्रह्मानन्द परमेश्वर से प्राप्त भजन रस है (तेनो) उसके सहित आप लोग (स्वयशसः) स्वयं यशस्वी और वीर्यवान् होकर (सचध्वम्) हमें प्राप्त होओ और उसी से (हि) निश्चय से (भूत) आप सामर्थ्य-

१८–(च०) 'गृम्णते' इति ऋ० । 'पशुमप्सु' इति साय० ।

वान् बने रहो। (ते) वे नाना प्रकार के आप लोग (अर्वाणः) उत्तम मार्ग से गति करने वाले (कवयः) क्रान्त प्रज्ञावान्, मेधावी (सुविदत्राः) उत्तम दानशील या उत्तम ज्ञानसम्पन्न आप लोग (विदथे) ज्ञानमय यज्ञ में (हूयमानाः) बुलाये जाकर (आ शृणोत) हमारे वचनों को सुनो।

ये अत्रयो अङ्गिरसो नवंग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम्
॥ २० ॥ (१४)

भा०—(ये) जो (अत्रयः) अत्रि अर्थात् त्रिविध तापों से रहित (अंगिरसः) अंगारों के समान तेज से चमकने वाले, वर्चस्वी (नवग्वाः) नव-नवीन या नयी नयी वाणी, उत्तम ज्ञानोपदेशों को प्राप्त करने या प्राप्त कराने वाले अथवा नवों प्राणों के वश करने वाले, (इष्टावन्तः) यज्ञ करनेहारे (रातिषाचः) दान देने, पवित्र दान ग्रहण करने हारे और सबको (दधानाः) धारण पोषण करने वाले हैं (ये उ स्थ) और जो आप में (दक्षिणावन्तः) दक्षिणा वाले, दानशील, क्रियाकुशल (सुकृतः) पुण्य-कर्मा (स्थ) हैं वे सब आप एकत्र विराज कर (अस्मिन् बर्हिषि) इस आसन या यज्ञ में (मादयध्वम्) प्रसन्न रहो।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्
॥ २१ ॥ ऋ० ६। २। १६ ॥ यजु० १६। ६६ ॥

भा०—(अध) और (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे (परासः) अतिश्रेष्ठ (प्रत्नासः) पुरातन (पितरः) गुरुजन (ऋतम्) सत्य ज्ञान

१६—(द्वि०) 'भूतन्' इति सायणः। (तृ०) 'अर्वाञ्चः' इति ह्विटनि-कामितः।

२१—(द्वि०) 'आशुषाणाः' (तृ०) 'दीधितम्' इति क्वचित्।

को (आ शशानाः) प्राप्त करते हुए (शुचि इव) शुद्ध प्रकाश को (अयन्) प्राप्त होते हैं और (दीध्यतः) स्वयं प्रकाशमान होकर (उक्थ-शासः) उक्थ=ब्रह्म या वेद मन्त्रों का अनुशासन करते हुए (क्षाम) अन्धकार को (भिन्दन्तः) नाश करते हुए (अरुणीः) अरुण, तेजमय कान्तिमय, ज्ञानधाराओं को या वेदवाणियों को भी (अपव्रन्) प्रकट या-प्रकाशित करते रहे हैं उसी प्रकार हम भी किया करें।

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥२२॥
ऋ० ४ । २ । १७ ॥

भा०—(सुकर्माणः) उत्तम कर्म करनेवाले सदाचारी, परोपकारी, (सुरुचः) शुद्ध, सुन्दर कान्ति या रुचिवाले, उत्तम प्रवृत्ति वाले (देवयन्तः) देवोपासना करनेवाले, ईश्वरभक्त पुरुष स्वयं (देवाः) देव, विद्वान् होकर भी अपने (जनिमा) जन्म को या उत्पन्न देह को (अयः न) लोहार जिस प्रकार लोहे को आग में तपा २ कर शुद्ध करता है उसी प्रकार (धमन्तः) बराबर तपस्या द्वारा तप्त करते हुए और (अग्निं) अपने ज्ञानमय आत्मा को अग्नि के समान (शुचन्तः) प्रदीप्त करते हुए और (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (वावृधन्तः) स्तुतियों द्वारा महिमा बढ़ाते हुए (उर्वीम्) विशाल (गव्याम्) गो, वाणी के प्रकाश करने के लिये (नः) हमारी (परिषदम्) परिषद् (अक्रन्) बनावें।

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः।
मर्तानांश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥
ऋ० ४ । २ । १८ ॥

२२–'देवयन्तोऽयो' इति ऋ० । (च०) 'उर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन्' इति ऋ० ।

भा०—(उग्रः) उग्र, बलवान् गोपाल जिस प्रकार (क्षुमति) अन्न वाले स्थान पर (पश्वः) पशु के यूथों को (आ-अख्यत्) देखता है उसी प्रकार (उग्रः) उग्र सदा उद्यत दण्ड परमेश्वर भी उग्र होकर (देवानां जनिमा) अग्नि आदि देवों, विद्वानों और प्राणों के (जनिम) उत्पत्ति पर (अख्यत्) देखता है, उस पर सदा दृष्टि रखता है, उसी की रक्षा करता है। (मर्त्तासः चित्) मरणधर्मा पुरुष तो केवल (उर्वशीः) स्त्रियों का (अकृप्रन्) भोग करते हैं। परन्तु (अर्यः) वह सबका स्वामी परमेश्वर ही (उपरस्य) गर्भाशय में वपन किये हुए गर्भस्थ (आयोः) मनुष्य के (वृधे चित्) बढ़ाने के लिये समर्थ होता है।

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥२४॥

भा०—हे परमेश्वर! हम (ते) तेरे लिये (अकर्म) नित्य कर्म करें। और तभी (सु अपसः) उत्तम कर्म और ज्ञान वाले होवें। (विभातीः) प्रकाशवान (उषसः) उषाएं (ऋतम्) हमारे यज्ञ या ज्ञान के कर्म में (अवस्रन्) नित्य आया करें। (देवाः) देवगण, विद्वान् जन (यद् अवन्ति) जिसकी रक्षा करते हैं। (तद् विश्वम्) वह विश्व (भद्रम्) अति सुखकारी हो। हम (सुवीराः) उत्तम वीर, वीर्यवान् होकर (विदथे) ज्ञानमय यज्ञ में (बृहत्) उस महान् परमेश्वर की खूब (वदेम) स्तुति करें, उसके गुणों का वर्णन करें।

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२५॥

२३–(द्वि०) 'देवानामहं जनि ' (तृ०) 'मर्त्तानां' इति ह्विटनिकामितः ।
ऋग्वेदे २१–२३ इत्यासां वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता ।

२४–(द्वि०) 'अवस्रन्नुष–' इति सायणाभिमतः ।

२५–(द्वि०) 'बाहुच्युताम्' इति वेबरकामितः पाठः ।

भा०—(मरुत्वान्) प्राणों और वायुओं या प्रजाओं का स्वामी (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् आत्मा, परमात्मा और राजा (मा) मुझे (प्राच्याः) प्राची (दिशः) दिशा की ओर से (पातु) रक्षा करे (उपरि) ऊपर से (द्याम् इव) द्यौलोक को जिस प्रकार पृथिवी रक्षा करती है उसी प्रकार (बाहुच्युता) हमारे बाहुबल से च्युत=सुरक्षित, बाहुओं के अधीन आई हुई या बाहुओं द्वारा विजय की हुई (पृथिवी) पृथिवी, भूमि लोक या उसमें रहनेवाली प्रजा (उपरि द्याम् इव) अपने ऊपर विद्यमान आकाश या सूर्य के समान आच्छादक या प्रकाशक या रक्षक राजा की रक्षा करती है। ये) जो (देवानाम्) देव-राजा और राजा के नियत अधिकारियों में से (इह) इस राष्ट्र में (हुतभागाः स्थ) आप लोग अपने भाग, वेतन या अंश को प्राप्त करने वाले हैं वे (लोककृतः) लोक, प्रजाओं के व्यवस्थाकर्त्ता और (पथिकृतः) मार्ग दर्शाने वाले या कानून बनाने वाले हैं, हम (यजामहे) उनकी पूजा, सत्कार करें।

अयं वै पृथिवीलोको मित्रः असौ द्युलोको वरुणः। वरुणो राजा। श० । १२ । ८ । २ । १२॥ एष वा वैश्वानरो यद् द्यौः। श० । ७० । ६ । १ । ९ ॥ असौ द्यौः पिता। ऐ० ३ । ८ । ९ । १ ॥ ऐन्द्री द्यौः। तां० १५ । ७ । ८ ॥

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहु० । ० ॥ २६ ॥

भा०—(धाता) सबका पालक पोषक और धारण करने वाला परमेश्वर (मा) मुझको (निर्ऋत्या) घोर, बलवती और तीव्र तेजस्विनी विद्युत् शक्ति से (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण की दिशा से आने वाले उपद्रवों से अर्थात् मृत्यु के उपद्रवों से उसी प्रकार (पातु) बचावे। जिस प्रकार (बाहुच्युता पृथिवी उपरि द्याम् इव) अपने बाहुबल से सुरक्षित

१. दिवेर्वा द्योतनार्थस्य, ददातेर्वा दानार्थस्य दयतेर्वा पालनार्थस्य।

२. च्युङ् गतौ। भ्वादिः। च्यु हसनसहनयोः। चुरादिः।

पृथिवी अपने ऊपर के रक्षक राजा की रक्षा करती है (लोककृतः० इत्यादि) पूर्ववत् ।

अदि॑तिर्मादि॒त्यैः प्र॒तीच्या॑ दि॒शः पा॑तु बाहु॰ । ० ॥ २७ ॥

भा०—(अदितिः) अखण्डित, शासनवाला, नित्य, परमेश्वर (अदित्यैः) अपने उत्पन्न किये सूर्य आदि पदार्थों से (मा) मुझे (प्रतीच्या दिशः) प्रतीची दिशा से (पातु) रक्षा करे । (बाहुच्युता० इत्यादि) पूर्ववत् ।

सोमो॑ मा॒ विश्वै॑र्दे॒वैरुदी॑च्या दि॒शः पा॑तु बाहु॰ । ० ॥ २८ ॥

भा०—(सोमः) सर्वोत्पादक और सर्वप्रेरक प्रभु (मा) मुझे (विश्वैः देवैः) समस्त देव, जीवन दान करने वाले, दिव्य गुण वाले पदार्थों से (उदीच्याः दिशः) उदीची दिशा की ओर से (पातु) रक्षा करे (बाहुच्युता० इत्यादि) पूर्ववत् ।

ध॒र्ता ह॑ त्वा ध॒रुणो॑ धारयाता ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं स॑वि॒ता द्यामि॒वोपरि॑ । लो॒क॒कृतः॑ ० ॥ २९ ॥

भा०—(धर्ता) सब विश्व को धारण करने वाला (धरुणः) आश्रय-स्तम्भ के समान, सब विश्व का आधारभूत (त्वा) तुझे (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व, ऊँचे स्थानों में भी (धारयातै) उसी प्रकार धारण करता, पालन पोषण करता है जिस प्रकार (सविता) सर्वप्रेरक सूर्य (उपरि) ऊपर (भानुम्) प्रकाशमान (द्याम् इव) द्यौ लोक को धारण करता है । (लोककृतः) इत्यादि पूर्ववत् ।

अधिकारियों की पदों पर नियुक्ति ।

प्राच्यां॑ त्वा दि॒शि पु॒रा सं॒वृतः॑ स्व॒धाया॒मा द॑धामि बाहु॰ । ० ॥ ३० ॥ (१५)

भा०—हे पुरुषो ! (प्राच्यां दिशि) प्राची दिशा में (पुरा) पालन

करने वाली पुरी या नगरी के चारों ओर लगी परिखा द्वारा (संवृतः) भली प्रकार आवृत, सुरक्षित होकर मैं राजा (त्वा) तुझ को (स्वधायाम्) स्वयं धारण करने योग्य, अन्न आदि के वेतन या पृथिवी आदि पुरस्कार पर (आदधामि) स्थापित करता हूं। (बाहुच्युता इत्यादि) पूर्ववत्। अथवा मैं राजा (त्वा पुरा संवृतः १) तुझ को 'पुर्' नागरी से संवरण या गुप्त करके (स्वधायाम् आ दधामि) तुझे तेरे पद पर स्थापित करता हूं।

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा० । ० ॥ ३१ ॥ प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा० । ० ॥ ३२ ॥ उदीच्यां त्वा दिशि पुरा० । ० ॥३३॥ ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा० । ० ॥ ३४ ॥ ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा ५) तुझको; (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशा में, (प्रतीच्यां दिशि) प्रतीची दिशा में (उदीच्यां दिशि) उदीची दिशा में (ध्रुवायां दिशि) ध्रुवा नीचेकी दिशा में (ऊर्ध्वायां दिशि) और ऊर्ध्व-ऊपर की दिशा में (पुरा संवृतः) पुर की-नगरकोट से सुरक्षित रहता हुआ मैं राजा तुझ पुरुष को (स्वधायाम् आ दधामि) स्वयं धारण ग्रहण करने योग्य अन्न वेतन या भूमि पर अधिकारी रूप से नियत करता हूं (बाहुच्युता लोककृतः ० इत्यादि पूर्ववत्)

धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि ॥ ३६ ॥
उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

भा०—हे राजन् ! प्रभो ! (धर्त्ता असि) प्रजाओं का धारण करने हारा, (धरुणः असि) सबका आश्रय या सबको अपने में धारण करने योग्य, सर्वतः उपास्य है। और (वंसगः) वृषभ के समान सुन्दर

मनोहर गति से चलने वाला नरपुंगव, नरश्रेष्ठ है। (इड्पूः असि) मेघ के समान जल द्वारा प्रजा का पालन करने वाला और (मधुपूः असि) अन्न द्वारा प्रजा का पालन करने वाला और (वातपूः असि) वायु द्वारा प्रजा का पालक है अथवा जल, मधु, अन्न और वायु इनको पवित्र करने वाला है।

राजा और प्रजा का परस्पर व्यवहार।

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम्।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने॥३८॥

ऋ० तु० च० ऋ० १० । १३ । २ प्र० द्वि० तु० ॥

भा०—(यत्) जब तुम दोनों राजगण और प्रजागण माता और पिता, अन्न का धारण करने वाले आप दोनों (यमे) सुव्यवस्थित युगलरूप से (यतमाने) परस्पर के पालन में यत्न करते हुए (ऐतम्) आते हो तब तुम दोनों (माम्) मुझको (इतः च) समीप के देश से और (अमुतः च) दूर के देश से भी (अवतान्) रक्षा करो। पृथ्वी समीप से और आकाश दूर के देश से रक्षा करे। (देवयन्तः) देव, चमकने वाले और शक्ति देने वाले पदार्थों को अपने वश करने वाले विद्वान् (मानुषाः) विचारशील लोग (वां) तुम दोनों का (भरन्) भली प्रकार पालन पोषण करें। आप दोनों (स्वं लोकम्) अपने २ स्थान, पद और प्रतिष्ठा को (विदाने) प्राप्त करते हुए (आसीदताम्) विराजमान रहो। द्यौर्हविर्धानम् । तै० २ । १ । ५ । १ ॥ द्यावा पृथिवी वै देवानां हविर्धाने आस्ताम् । ऐ० १ । २९ ॥

स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः।

१. स्वार्थे तसिः । संहृत्य इत्यर्थः ।

३८-४१ पर्यन्तानामृचां ऋग्वेदे विवस्वानादित्य ऋषिः हविर्धाने देवते ।

वि श्लोकं एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥३९॥

(तृ० च०) ऋ० १० । १३ । २ ॥ प्र० द्वि० तृ० ॥

भा०—हे अन्नों को धारण करने हारे राजागण और प्रजागण ! आप दोनों (नः) हमारे (इन्दवे) परम ऐश्वर्यवान् राजा के लिये (सु आसस्थे) सुखपूर्वक अपने २ आसन पर उपविष्ट (भवतम्) हो जाओ। (वां) तुम दोनों को मैं (नमोभिः) नमन करने वाले, वश करने वाले उत्तम नियमों से (पूर्व्यं ब्रह्म) पूर्ण या पुरातन ब्रह्म वेद का उपदेश (युजे) करता हूं। (सूरिः) सूर्य जिस प्रकार (पथ्या) उचित मार्ग के अनुसार आता है उसी प्रकार (श्लोकः) समस्त पदार्थों का दर्शन कराने वाला यह ज्ञानमय वेद भी (वि एति) विविध मार्गों में गति करता है। हे (अमृतासः) अमृत, अमर, दीर्घायु पुरुषो ! आप (विश्वे) सब लोग (एतत्) इस वेद ज्ञान का (शृण्वन्तु) श्रवण करें।

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद्व्रतेन ।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ ४० ॥

ऋ० १० । १३ । ४ ॥

भा०—(रुपः) बीज से उत्पन्न होने वाला जीव (त्रीणि पदानि) तीन पदों, ज्ञानमय वेद त्रयी को (अनु, प्ररोहत्) क्रम से चढ़ जाता है। (अनु एतत्) और उसके पश्चात् (व्रतेन) व्रत पूर्वक (चतुष्पदीम्) चार पदों वाली चतुर्वेदमय वेद वाणी को प्राप्त होता है, तब (अक्षरेण) अक्षर अविनाशी 'ओंकार' रूप से (अर्कम्) अर्चना, उपासना करने योग्य

३९–(तृ०) 'सूरेः' इति ऋ० ।

४०–'पञ्चपदानि', 'अन्वरोहम्' (द्वि०) 'अन्वेमि' (तृ०) 'प्रतिमिमे' (च०) 'सम्पुनामि' इति ऋ० ।

परमेश्वर का (प्रति मिमीते) प्रत्येक गुण से या प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान् शक्ति सहित ज्ञान करता है। और तब (ऋतस्य) ऋत-सत्य ज्ञान या समस्त संसार या यज्ञ के (नाभौ) एकमात्र आश्रयरूप परमेश्वर में ही मग्न होकर (अभि) उसको साक्षात् करके अपने को (सं पुनाति) भली प्रकार पवित्र कर लेता है।

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच ॥ ४१ ॥
ऋ० १० । १३ । ४ ॥

भा० (देवेभ्यः) देवों के लिये (कम्) किस प्रकार के या कौन से (मृत्युम्) मृत्यु को परमेश्वर ने (अवृणीत) दूर किया है? (प्रजायै) प्रजा से (किम्) किस प्रकार के (अमृतम्) अमृत को (न अवृणीत) नहीं दूर किया। अर्थात् देवों की कैसी मृत्यु दूर की है और प्रजा को किस प्रकार का अमृत प्रदान किया है? (बृहस्पतिः) महान् लोकों का पालक (ऋषिः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर (यज्ञम्) ऐसे प्रजातन्तु रूप यज्ञ को (अतनुत) विस्तारित करता है और (यमः) वह सर्वनियन्ता परमेश्वर जीव के (प्रियाम्) प्रिय शरीर को (आरिरेच) मृत्यु रूप अग्नि से हर लेता है अथवा (यमः) ब्रह्मचारी योषाग्नि में अपने (प्रियाम् तन्वं आरिरेच) सन्तति को गर्भाधान द्वारा वपन करता है। ईश्वर ने विद्वानों की मृत्यु को इसी प्रकार दूर किया है कि प्रजाओं को ही परमात्मा ने सन्तति रूप से अमर कर दिया है। यह परमात्मा का महान् यज्ञ है कि वह जीव के देह को नष्ट करता है और उसकी मृत्यु रूप अग्नि में आहुति देता है और नये २ जीवों को उत्पन्न करता है।

४१-(द्वि०) 'कममृतं' (तृ०) 'बृहस्पतिर्यज्ञमकृण्वत ऋषिम्' (च०) 'प्रारिरेचीत्' इति ऋ० ।

त्वम॑ग्न ईळि॒तो जा॑तवेदो॒ऽवा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वा ।
प्रादा॑: पि॒तृभ्य॑: स्व॒धया॒ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑ ॥४२॥
ऋ० १० । १५ । १२ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त उत्पन्न पदार्थों को जानने हारे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक ! सब के अग्रणी ! (ईडितः) स्तुतिपात्र (त्वम्) तू (हव्यानि) अन्नों को (सुरभीणि) अति सुगन्धित, एवं पुष्टिकारक (कृत्वा) करके (अवाट्) प्रदान करता है । और (पितृभ्यः) प्रजा के पालन करने वाले गृहस्थ मा बाप को (प्रादाः) प्रदान करता है । (ते) वे (स्वधया) अपनी धारण और पालन करने की शक्ति से या स्वधा, अपने देहको पालन करने वाले पर्याप्त अन्न के रूप में (हव्यानि) उन नाना प्रकार के हव्य रूप अन्नों को (अक्षन्) प्राप्त करते, उनका उपयोग करते हैं । हे (देव) सब को देने वाले देव राजन् ! प्रभो ! (त्वं) तूही सब (प्रयता हवींषि) प्रदान किये हवियों अन्न। को (अद्धि) स्वीकार कर लेता है ।

आसी॑नासो अरु॒णीना॑मु॒पस्थे॑ र॒यिं ध॑त्त दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य ।
पु॒त्रेभ्य॑: पितर॒स्तस्य॒ वस्व॒: प्र य॑च्छत॒ त इ॒होर्जं॑ दधात ॥ ४३ ॥
यजु० १९ । ६३ ॥ ऋ० १० । १५ । ७ ॥

भा०—हे (पितरः) राष्ट्र के पालक माता पिता गुरुजन एवं वृद्ध पुरुषो ! आप लोग (अरुणीनाम्) अरुण, लाल वर्णवाली माताओं या गौओं या पृथिवियों के (उपस्थे) समीप, उनके आश्रय में (आसीनाः) रहते हुए (दाशुषे) आपको अन्न आदि प्रेम से देने वाले (मर्त्याय) मरण-धर्मा पुरुष को (रयिं धत्त) धन प्रदान करो । और (पितरः) पिता लोग जिस प्रकार (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को धनादि प्रदान करते हैं इसी प्रकार आप लोग भी (वस्वः) वसु-धन (प्रयच्छत) प्रदान करो । (ते)

४२–ऋग्वेदे ४२-४४ आसामृचां शंखो यामायन ऋषिः । पितरो देवताः ।

वे नाना विभागों के अध्यक्ष, प्रजापालक अधिकारी पुरुषो ! आप लोग (इह) इस राष्ट्र में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक, बलकारक अन्न (दधात) प्रदान करो ।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४ ॥
यजु० १६ । ५६ ॥ ऋ० १० । १५ । ११ ॥

भा०—(अग्नि-स्वात्ताः) जिन गृहस्थ पुरुषों ने सोमपान नहीं किया वे 'अग्निष्वात्त' हैं अथवा जिन्होंने अग्नि, विद्युत आदि का विज्ञान प्राप्त किया है या अग्नि के समान तापदायक तेजों से सम्पन्न हैं वे आप (पितरः) प्रजा के पालक गण, (इह) इस यज्ञ में (आ गच्छत) आवें । हे (सुप्रणीतयः) भली प्रकार सब अनुष्ठान करने हारे और उत्तम फल प्राप्त करने में उत्तम नीति, साधना का उपदेश करने हारे विद्वान् लोगो ! आप (सदः सदः) प्रत्येक सभा गृह में (सदत) प्राप्त होओ । और (बर्हिषि) बर्हि, यज्ञ में (प्रयतानि) प्रदान किये (हवींषि) अन्न आदि पदार्थों को (अत्तो) प्राप्त करो, खाओ और (नः) हमें (सर्ववीरम्) सब प्रकार वीर पुरुषों से युक्त (रयिम्) धन सम्पत्ति का (दधात) प्रदान करो । ये वा अयज्वानो गृहमेधिनस्तेऽग्निष्वात्तास्ते पितरोऽग्निष्वात्ताः, इति तै० ब्रा १ । ६ । ९ । ६ ॥

उपहूताः नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ४५ ॥
ऋ० १० । १५ । ५ ॥ यजु० १६ । ५१ ॥

४४–(तृ०) 'अत्ता' (च०) 'अथा रयिं सर्ववीरं दधातन ।' इति ऋ० । अत्ता, (च०) 'दधातन' इति सायणाभिमतश्च ।
४५–(प्र०) 'उपहूताः पितरः' इति ऋ०, यजु० ।

भा०—(नः) हमारे (सोम्यासः) सोमपान करने वाले, पर ब्रह्मोपासक, एवं विद्वान् या राजा के हितकारी (पितरः) पालक जन (बर्हिष्येषु) यज्ञ सम्बन्धी (प्रियेषु) प्रिय (निधिषु) रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थों द्वारा (उपहूताः) आदर सत्कार पूर्वक अर्चित किये जायें। (ते) वे (आगमन्तु) आवें (ते) वे (इह) इस यज्ञ या राष्ट्र या लोक में (श्रुवन्तु) हमारी प्रार्थनाओं को सुनें और (अस्मान्) हमें वे (अधि ब्रुवन्तु) उपदेश करें, आज्ञा दें और (अस्मान् अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः सं रराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ४६ ॥

ऋ० १० । १५ । ८ ॥ यजु० १ । ५१ ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पिता और (ये) जो (पितामहाः) बाबा हैं जो (वसिष्ठाः) वसु, बसने वाले बस्ती के निवासियों में सब से श्रेष्ठ, प्रतिष्ठित होकर (सोमपीथं) सोमपान या राष्ट्र के पालन कार्य को (अनु जहिरे) क्रम से एक दूसरे के बाद करते हैं। (तेभिः) उनके साथ (संरराणः) अच्छी प्रकार रमण करता हुआ, आनन्द प्रसन्न होकर (यमः) प्रजाओं का नियन्ता राजा (हवींषि उशन्) हविः श्रेष्ठ अन्नों को या योग्य पदार्थों को चाहता हुआ (उशद्भिः) नाना योग्य पदार्थों को स्वयं भी चाहने वाले प्रजारक्षक अधिकारियों के साथ (प्रतिकामम्) अपने इच्छानुसार इन (हवींषि) प्रजा से प्राप्त अन्न आदि भोग्य पदार्थों को (अत्तु) भोग करे।

४६–(४६) 'येनः पूर्वे पितरः सोम्यासः' इति ऋ०। (द्वि०) 'अनू-हिरे' इति यजु०। 'अनुजहिरे', 'अनूजहिरे', 'अनूजहिरे'. 'अनु-जहिरे' इति नानापाठः।

ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविद स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥४७॥

ऋ० १० । १५ । ९ प्र० द्वि० तृ० च० ॥

भा०—(ये) जो (देवत्रा) देव विद्वान् परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (जेहमानाः) निरन्तर यत्नशील होते हुए (होत्राविदः) 'होत्र' त्यागपूर्वक दिये अन्नों को प्राप्त करने वाले (अर्कैः) स्तुति के वचनों से (स्तोमतष्टासः) स्तुतियों को बनाने वाले (तातृपुः) ईश्वर के रसके लिए पिपासा अनुभव करते हैं। इन (सत्यैः) सच्चे (घर्मसद्भिः) तेजःसम्पन्न या यज्ञ में बैठने वाले (ऋषिभिः कविभिः) मन्त्रद्रष्टा ऋषियों, क्रान्तदर्शी, विद्वान् (देववन्दैः) (सहस्रं) हज़ारों ईश्वर के उपासकों के साथ हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् या आचार्य ! (आ याहि) आप आवें।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिर्र्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥४८॥

ऋ० १० । १५ । १० प्र० द्वि० तृ० ६ च० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! आचार्य ! परमेश्वर ! (ये) जो (सत्यासः) सत्यवादी, सत्यकर्म (हविः अदः) पवित्र अन्न को खानेवाले (हविष्पाः) पवित्र अन्न का पान करने वाले अथवा (हविरदः, हविष्पाः) हवि अर्थात् वेतन का भोग करने वाले और हवि अर्थात् आज्ञा का पालन करने वाले होकर (तुरेण) शत्रुनाशक या वेगवान् (देवैः) सामन्त राजाओं के साथ (सरथम्) उनके समान रथ पर सवार होकर चलते हैं उन

४७–(च०) 'कव्यैः पितृभिः' इति ऋ० । (प्र०) 'तातृपुः' इति तै० आ० । (द्वि०) 'होत्रावृधः'

४८–(द्वि०) 'सरथं दधानाः' (च०) 'पूर्वैः पितृभिः' इति ऋ० ।

(सुविदत्रेभिः) उत्तम ज्ञानी पुरुषों और (परैः) उत्कृष्ट, ज्ञानवृद्ध और (पूर्वैः) अपने कला और कौशल और ज्ञान में पूर्ण (घर्मसद्भिः) सूर्य के प्रखर घाम के समान तापकारी तेज मे विराजमान (ऋषिभिः) ऋषि, ज्ञानद्रष्टा पुरुषों के साथ (आयाहि) हमें प्राप्त हो ।

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ॥४९

ऋ० १० । १८ । १ ॥

भा०—हे राजन्! (एताम्) इस (उरु-व्यचसम्) विशाल विस्तार वाली (सुशेवाम्) सुखप्रद (पृथिवीम्) अति महान्, विस्तृत, (मातरम्) सब की माता, उत्पन्न करने वाली (भूमिः) सर्वाधार भूमि को (उपसर्प) तू प्राप्त हो (दक्षिणावतः) दक्षिणा या शक्ति से सम्पन्न अर्थ सम्पत्ति या कार्य को अधिक बलपूर्वक करने की शक्तियों से सम्पन्न पुरुष के लिए यह (पृथिवी) पृथिवी भी (ऊर्णम्रदाः) कठिन न होकर उनके समान अति कोमल है (एषा) वह (प्रपथे) सब मार्ग में (पुरस्तात्) तेरे आगे से (त्वा) तुझको (पातु) पालन करे ।

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपसर्पणा ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)

ऋ० १० । १८ । ११ ॥ तृ० च० अथर्व० १८ । २ । ५० तृ० च० ॥

भा०—हे (पृथिवि) भूमि! तू (उत्-श्वञ्चस्व) उन्नति को प्राप्त हो । ऊपर उठ । (मा नि बाधथाः) अपने ऊपर के निवासी प्रजा और राजा को पीड़ित मत कर । (अस्मै) इस उत्तम राजा के लिये (सू-

४९-(तृ०) 'ऊर्णम्रदाः युवतिर्द' (च०) 'पातु निर्ऋतेरुपस्थात्' इति ऋ० ।
५०-(द्वि०) 'सूपवञ्चना' इति ऋ० । (प्र०) 'उच्छ्वञ्चस्व', 'विबाधिताः सूपवञ्चना' (च०) 'भूमिवृणु' इति तै० आ० ।

उपायना) उत्तम रीति से प्राप्त करने योग्य एवं उत्तम उपहार के समान और (सु-उपसर्पणा) उत्तम रीति से उपसर्पण करने वाली उसके शरण में आनेवाली होकर (भव) रह । हे (भूमे) सर्वाश्रय भूमे ! (माता पुत्रं यथा) जिस प्रकार माता पुत्र को प्रेम से अपना दूध पिलाती है उसी प्रकार तू (एनम्) इस राजा को (सिच) सुखप्रद अन्नों से पूर्ण कर और (अभि ऊर्णुहि) सब प्रकार आच्छादित कर, सुरक्षित कर । यहां पृथिवी से पृथिवी और उसमें निवास करने वाली प्रजा दोनों का ग्रहण करना चाहिये ।

उत्कुञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥५१॥

ऋ० १० । १८ । १२ ॥

भा०—(उत्कुञ्चमाना) ऊपर उठे शरीर वाली, खूब पुलकित शरीर अर्थात् खूब ओषधि और कृषि आदि से सम्पन्न (पृथिवी) पृथिवी (सु तिष्ठतु) उत्तम रीति से विराजमान रहे । (सहस्रम्) हज़ारों लोग (मितः=मियः) परस्पर मिलकर (उप) पास (श्रयन्ताम्) इस पर अपना बसेरा करें । (ते) वे (गृहासः) गृह (घृतश्चुतः) घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों को देने वाले (स्योनाः) सुखकारक और (अस्मै) इस स्वामी के लिये (विश्वाहा) सब प्रकार से (अत्र) इस लोक में (शरणाः) शरणप्रद (सन्तु) हों ।

उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥५२॥

ऋ० १० । १८ । १३ ॥

५१–(तृ०) 'घृतश्चुतो भवन्तु' इति ऋ० ।
५२–(तृ० च०) 'धारयन्तु तेऽत्र' (च०) 'मिनोतु' इति ऋ० । (प्र०)

भा०—हे राजन् ! (ते पृथिवीम्) तेरे निमित्त पृथिवी को (उत् स्तभ्नामि) उन्नत करता हूं, और हे राजन् (त्वत् परि) तेरे इर्दगिर्द, तेरे आश्रय पर, तेरी रक्षा में (इमं लोगम्) इस लोकसमाज को (निदधत्) बसाता हुआ (अहम्) मैं (मा रिषम्) पीड़ित न होऊं । (पितरः) राष्ट्र के पालक लोग (एताम्) इस (स्थूणाम्) आश्रयभूत, राज्य के भार को उठाने वाली धुरा को (धारयन्ति) स्वयं धारण करते हैं। हे पुरुष ! (तत्र) उस कार्य में (यमः=मयः) नियामक, नियन्ता, शक्तियों को नियामक, व्यवस्थापक या शिल्पी (ते) तेरे लिये (सादना) आश्रयस्थान, गृहों, इमारतों को (कृणोतु) बनावे ।

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥५३॥

ऋ० १० । १६ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! सेनापते ! तू (इमम्) इस (चमसम्) पृथ्वी के भोग्य पदार्थों के भोग करने वाले राजा के प्रति (मा वि जिह्वरः) कुटिलता का वर्त्ताव मत कर । यह (देवानां प्रियः) देव, समस्त विद्वानों और राजाओं का (उत) और (सोम्यानाम्) सोम, ज्ञान से सम्पन्न विद्वानों का (प्रियः) प्यारा है । (अयम्) यह (यः) जो (देवपानः) देवों, विद्वानों का रक्षक (चमसः) स्वयं भी नाना भोग्य पदार्थों का भोक्ता है । (तस्मिन्) उसके आश्रय पर रहने वाले (अमृताः) अमृतरूप, मृत्युरहित दीर्घायु (देवाः) देवगण, विद्वान् पुरुष (मादयन्ताम्) हर्षित और आनन्दित हों । यज्ञ चमस में भी शब्दसाम्य से श्लेष पूर्वक इसकी योजना स्पष्ट है ।

'तभ्नोमि' इति तै० आ० । (द्वि०) 'लोकं' (तृ०) 'धारयन्तु तेऽत्र' इति ऋ० सायणाभिमतश्च ।

५३-(तृ०) 'एष' (च०) 'मादयन्ते' इति ऋ० ।

अथर्वा पूर्णं चमुसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते ।

तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भुक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥५४॥

भा०—(अथर्वा) सब का कल्याण करने हारा पुरोहित, अथर्वा, (यम्) जिस (पूर्णम्) पूर्ण (चमसम्) चमस पात्र को (वाजिनीवते) सेना मे बल से युक्त (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् सेनापति के लिये (अबिभः) स्वयं धारण करता है (तस्मिन्) उसके आश्रय पर ही (सुकृतस्य) उत्तम कार्यो, पुण्यमय कार्यों के (भक्षं) भोग्य फलको (कृणोति) उत्पन्न करता है। (तस्मिन्) और उसके आश्रय पर ही (इन्दुः) पात्र में सोमके समान ज्ञान रससे सम्पन्न विद्वान् गण भी (विश्वदानीम्) नित्यकाल (पवते) उन्नति को प्राप्त करता है ।

यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सुर्प उत वा श्वापदः ।

अग्निष्टद् विश्वादगुदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥५५॥

ऋ० १० । १६ । ६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे शरीर में (यत्) यदि (कृष्णः शकुनः) काला पक्षी, काक आदि (पिपीलः) कीड़ी आदि जन्तु (सर्पः) सांप, (उत श्वापदः) और कुत्ता, वृक आदि हिंसक जन्तु (आ तुतोद) घाव कादे तो (तत्) उसको (विश्वात्) सब पदार्थों का भक्षक (अग्निः) अग्नि (अगदं कृणोतु) रोग रहित करे । और (यः) जो (सोमः) सोम ओषधि या शान्तिदायक पुरुष भी जो (ब्राह्मणान्) ब्रह्मके विद्वान् पुरुषों में (आविवेश) विद्यमान है वह वैद्य भी तुझ को (अगदं कृणोतु) रोग रहित करे ।

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः ।

५५-(तृ०) 'विश्वादहदं' इति तै० आ० ।

आपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥ ५६ ॥

प्र० दि० अथर्व० ३ । २४ । १ प्र० दि ॥ ऋ० १० । १७ । १४ ॥

भा०—(ओषधयः) सब ओषधियां (पयस्वतीः) पुष्टिप्रद रस वाली हों और (मामकं पयः) मेरा प्राप्त किया सारभूत पदार्थ, वचन भी (पयस्वत्) पुष्टिकारक रस वाला हो और (यत्) जो (अपां) जलों के (पयसः) सारभूत पदार्थ का भी (पयः) पुष्टिप्रद रस है (तेन सह) इससे परमात्मा (मा) मुझे (शुम्भतु) सुशोभित करे।

स्त्रियों के कर्त्तव्य

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥५७॥

ऋ० १० । १८ । ७ ॥ अथर्व० १२ । २ । ३ ॥

भा०—(इमाः) ये (अविधवाः) सधवायें (नारीः) नारियें (सुपत्नीः) उत्तम गृहस्वामिनी हैं। वे (सर्पिषा) घृत से मिले (आञ्जनेन) अंजन, लेपन द्रव्य से (संस्पृशन्ताम्) अपनी देह आंजें उस पर मलें। और वे (अनश्रवः) बिना आंसू के सुप्रसन्न, (अनमीवाः) रोगरहित, स्वस्थ शरीर रहती हुईं (जनयः) स्त्रियां (सुरत्ना) सुन्दर रमणीय रूपवाली या उत्तम रत्नों को धारण करती हुईं (अग्रे) प्रथम (योनिम्) निवासगृह या प्रतिष्ठा के पद या सेज को (आरोहन्तु) प्राप्त करें।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।

५६–(च०) 'शुम्भत' इति क्वचित् । (द्वि०) 'मामकं वचः' (तृ०) 'अपां पयस्वदित् पयः' (च०) 'शुन्धत' इति ऋ० । (द्वि०) पयस्व द्वीरुधां पयः' (च०) 'तेन मामिन्द्र संसृज' इति तै० ब्रा० ।

हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥

ऋ० १० । १४ । ८ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (पितृभिः) पालन करने वाले वृद्ध महानुभावों से (संगच्छस्व) सत्संग किया कर । (यमेन) इन्द्रियों का संयम करने वाले ब्रह्मचारी पुरुष से (सम्) संगति लाभ कर । (परमे व्योमन्) उस परम, रक्षास्थान, सब के शरण परमेश्वर का आश्रय लेकर (इष्टापूर्तेन सम्) इष्ट, यज्ञ आदि देव उपासना के कार्यों और 'आपूर्त' लोकोपकार के कार्यों के साथ (सं) अपने को संगत कर । और (अवद्यं हित्वा) निन्दा योग्य आचरण को छोड़ कर तू (पुनः) फिर (अस्तम्) अपने घर को आ । और (सुवर्चाः) उत्तम तेज से सम्पन्न होकर (तन्वा) देह से (सं गच्छताम्) सदा संयुक्त रहे । अर्थात् जबतक शरीर रहे तबतक शरीर में तेज भी बना रहे ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥५९॥

ऋ० १० । १५ । १४ ॥ यजु० १९ । ६० ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पिता लोग और (पितामहाः) उनके भी पिता पितामह लोग हैं और (ये) जो भी (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (आविविशुः) प्रविष्ट हैं अर्थात् देह छोड़ कर जो मोक्ष में आश्रय करते हैं (असुनीतिः) प्राणों को बाद में वायु में प्राप्त करानेवाला सर्व प्राणप्रद (स्वराड्) स्वयं प्रकाशमान परमेश्वर (यथावशम्) उनके अपने वश=

५८—(तृ०) 'हित्वाय' (च०) 'गच्छस्व' इति ऋ० । (द्वि०) 'सं त्वमाभिः समिष्टा' इति तै० आ० ।

५९—'तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेता यथावशं तन्वं कल्पयस्व' इति ऋ० ।

कामना या प्रबल इच्छाके अनुसार (अद्य) आज तक (तेभ्यः) उनके (तन्वः) शरीरों को (कल्पयाति) बनाता है।

शं ते॑ नीहा॒रो भ॑वतु॒ शं ते॑ प्रु॒ष्वाव॑ शीयताम् ।
शीति॑के॒ शीति॑कावति॒ ह्लादि॑के॒ ह्लादि॑कावति ।
म॒ण्डू॒क्य॑१॒प्सु शं भु॑व इ॒मं स्व॒१॒ग्निं शं॑मय ॥ ६० ॥ (१८)

तु०–प० ऋ० १० । १६ । १४ ॥ प्र० द्वि० तै० आ० ६ । ४ । १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (नीहारः) नीहार, कोहरा (शं) सुखकारक (भवतु) हो। (प्रुष्वा) जलबिन्दु के फुहार भी (ते) तेरे लिये (शम्) सुखकारी रूप से (अव शीयताम्) भूमि पर आवें। हे (शीतिके) शीत गुण वाली लते ! हे (शीतिकावति) शीतगुण वाली लता से युक्त भूमे और (ह्लादिके) आह्लाद, चित्त में हर्ष उत्पन्न करने वाली लते ! और हे (ह्लादिकावति) हर्ष उत्पन्न करने वाली ओषधियों से युक्त भूमे ! तू (मण्डूकी) मण्डूकी या मेंढकी के समान जल में डूबी रहकर तू सदा (शंभुवः) कल्याणकारी हो और (इमम् अग्निम्) इस जीव रूप अग्नि को (सु शमय) भली प्रकार शान्त कर।

वि॒वस्वा॑न् नो॒ अभ॑यं कृणोतु॒ यः सु॒त्रामा॑ जी॒रदा॑नुः सु॒दानुः॑ ।
इ॒हेमे वी॒रा ब॒हवो॑ भवन्तु॒ गोम॒दश्व॑व॒न्मय्य॑स्तु पु॒ष्टम् ॥ ६१ ॥

भा०—(यः) जो (सुत्रामा) उत्तम रीति से प्रजाके पालन में समर्थ (जीरदानुः) सब को प्राण और अन्न देने में समर्थ और (सुदानुः) उत्तम कल्याणमय दान करने हारा है वह (विवस्वान्) विशेष वसु, धनैश्वर्य सम्पन्न, महापुरुष राजा या प्रभु (नः) हम प्रजाओं

६०–'मण्डूक्याप्सु संगमः' (च०) 'इमं स्वग्निं हर्षय' इति ऋ० । 'शंमय' इति सायणाभिमतः । (च० , 'ह्लादुके ह्लादुकावति' (प्र०) 'नीहारो वर्षतु', 'शुमुप्रुष्वा' इति तै० आ० ।

के लिये (अभयम्) अभय (कृणोति) करे । (इह) इस राष्ट्र में (इमे) ये (वहवः) नाना प्रकार के वहुतसे (वीरा) वीर पुरुष (भवन्तु) रहें । और (मयि) मेरे पास (गोमत्) गौओं और (अश्ववत्) घोड़ों का जंगम धन वहुत (पुष्टम्) पुष्टिकारी या अति-पुष्ट (अस्तु) हो ।

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वे/षामसवो यमं गुः ॥६२॥

भा०—(विवस्वान्) विविध ऐश्वर्यों से युक्त राजा या परमेश्वर (नः) हमें (अमृतत्वे) अमृत=दीर्घजीवन के मार्ग में (दधातु) वनाये रक्खे । (मृत्युः) मृत्यु, प्राणों के देह से छुटने की घटना (परा एतु) दूर चली जाय । (अमृतम्) अमृत, दीर्घ सैकड़ों वर्षों का जीवन (नः) हमें (एतु) प्राप्त हो । वह प्रभु (इमान् पुरुषान्) इन राष्ट्रवासी पुरुषों को (आ जरिम्णः) वृद्धावस्था तक, शरीर के स्वयं जीर्ण होजाने के काल तक (रक्षतु) रक्षा करे । (एषाम्) इनके (असवः) पाप (यमम्) यम, प्राकृतिक नियमवन्धन करने वाले नियम, मृत्यु के वश (मो सुगुः) न हों । अर्थात् प्राणों का वश करना हमारे हाथ में हो, न कि नैसर्गिक वन्धन में हमारे प्राण फंसे रहें ।

यो दध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितॄणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥६३॥

भा०—(यः) जो (मह्ना) महान् सामर्थ्य से (न) मानो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष आकाश में समस्त लोकों को (दध्रे) धारण करता है और जो (पितॄणां) पालन करने वाले समस्त पालकों में

६२—(द्वि०) 'अमृतं म आगात्' (प्र०) 'विवस्वतो नो' इति मै० ब्रा० ।
६३—'अन्तरिक्षेण' इति क्वचित् सायणाभिमतश्च ।

से (कविः) सब से अधिक प्रज्ञावान्, कवि और (मतीनाम्) मननशील पुरुषों में से (प्रमतिः) सबसे उत्कृष्ट मननशील है। हे (विश्वमित्राः) समस्त प्राणियों को स्नेह करने वाले सज्जन पुरुषो ! आप लोग (तम् अर्चत) उसकी अर्चना करो, उसके गुणानुवाद करो । (नः) हम सबका (यमः) नियन्ता यम वही है, जो हमें (जीवसे) जीवन भर (प्रतरम्) बड़ी ही उत्तम रीति से (धात्) पालन पोषण करता है।

आ रोहत दिर्वमुत्तमामृषयो मा विभीतन ।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥६४

भा०—हे (ऋषयः) ऋषियो, वेद के मन्त्रों का साक्षात् करने हारे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (उत्तमाम्) सबसे उत्तम (दिवम्) प्रकाशमय तेजोमय भूमि को या सूर्य के समान प्रकाशमान द्यौ=मोक्ष पदवी को (आरोहत) प्राप्त करो । हे (सोमपाः) सोम रस, ब्रह्मानन्द रस का पान करने हारे योगिजनो ! और हे (सोमपायिनः) अन्यों को उस सर्वप्रेरक, सर्व जगत् के उत्पादक परमेश्वर के आनन्द रसको पान कराने हारे पुरुषो ! (वः) आप लोगों के लिये (इदम्) यह इस प्रकार का (हविः) ज्ञानमय अन्न, (क्रियते) तैयार किया जाता है। जिससे हम भी (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्ट (ज्योतिः) ज्योति, परम प्रकाश परमेश्वर को (अगन्म) प्राप्त हों ।

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥

ऋ० १० । ८ । १ ॥ साम० १ । ७१ ॥

भा०—(अग्निः) ज्ञानमय सूर्य के समान, सर्वप्रकाशक, सबका

६५–(प्र०) 'यात्यग्निः' इति ऋ० साम० । (तृ०) 'अन्तानुपमाद्' इति ऋ० । 'अन्तादुपमाम्' इति तै० आ० । अन्तामिति क्वचित् ।

अग्रणी, परमेश्वर (बृहता केतुना) बड़े भारी ज्ञान से (प्र भाति) प्रकाशित है। (रोदसी) और आकाश और पृथिवी भरको वह (वृषभः) सब सुखों का वर्षक मेघ के समान प्रजापति (आ रोरवीति) अपनी गर्जना से प्रतिध्वनित करता है। वह (दिवः) द्यौः, महान् आकाश के (अन्तात्) परले सिरे से (उप-मान्) मेरे तक या आकाश के परले से परले सिरे तक के (उपमान्) जगत् के निर्माण करने वाली व्यापक शक्ति को (उत् आनट्) व्याप रहा है। वही (महिषः) महान् शक्तिमान्, सर्वव्यापक (अपाम्) समस्त 'आपः' मूल प्रकृति के परमाणुओं, लोकों और प्रजाओं के (उपस्थे) भीतर भी (ववर्ध) व्यापक है।

नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ ६६ ॥

ऋ० १० । १२३ । ६ ॥ साम० १ । ३२० ॥

भा०—हे आत्मन् ! (यत्) जब (हृदा वेनन्तः) हृदय से कामना करते हुए, विद्वान् मेधावी ऋषि लोग (नाके) परम आनन्द-मय मोक्षधाम में (उपपतन्तः) गमन करते हुए (त्वा) तेरा (अभि अचक्षत) साक्षात् दर्शन करते हैं तब वे तुझको (हिरण्यपक्षम्) अतिरमणीय, तेजोमय स्वरूप को ग्रहण करने वाला (वरुणस्य) सर्व-श्रेष्ठ, सबके लिये वरणीय परमेश्वर का (दूतम्) दूत और (यमस्य) सर्वनियन्ता के (योनौ) परमधाम में विद्यमान और (शकुनम्) अति शक्तिमान् (भुरण्युम्) सबके भरण पोषण करने वाले तेरा ही साक्षात् करते हैं।

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।

६६–'भुरण्यम्' इति क्वचित् । ऋग्वेदेऽस्यावेन ऋषिर्वेनो देवता ।

शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥६७॥

ऋ० ७ । ३२ । २६ ॥ साम० १ । १५६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र, परमेश्वर! (यथा) जिस प्रकार (पिता) पालक पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को धनैश्वर्य और ज्ञान प्रदान करता है उसी प्रकार तू (नः) हमें (क्रतुम्) कर्म, कर्मफल और ज्ञान (आभर) प्राप्त करा। हे पुरुहूत! समस्त मनुष्यों से पुकारे गये (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दो। (अस्मिन्) इस (यामनि) व्यवस्थित संसार में (जीवाः) हम जीवित रह कर (ज्योतिः अशीमहि) परम ज्योति का भोग करें।

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन्।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥

अथर्व० १८ । ४ । २५ ॥

भा०—हे पुरुष! (ते) वे नाना (देवाः) देव, दिव्य पदार्थ, पञ्चभूत, सूर्य, चन्द्र, मेघ आदि नैसर्गिक शक्तिमान् पदार्थ या स्वयं प्राणगण (यान्) जिन (कुम्भान्) रस को गुप्तरूप से धारण करने हारे कलशों के समान रसपात्रों को (अपूप-अपिहितान्) अपूप=इन्द्रिय और तद् ग्राह्य विषयों से आच्छादित रूप से (अधारयन्) धारण करते हैं (ते ते) वे वे, नाना प्रकार के रसपूर्ण कलश (स्वधावन्तः) स्व=आत्मा के अपने धारण सामर्थ्य या शक्ति से युक्त (मधुमन्तः) मधु के समान मधुर आनन्द से युक्त और (घृतश्चुतः) घृत के समान पुष्टिकर और तेज को प्रदान करने वाले (सन्तु) हों।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥६६॥

अथर्व० १८ । ४ । २६ ॥ १८ । ४ । ४३ ॥

अग्नि के समान ही भस्म कर डाल, जिनसे फिर कर्मबीज अंकुरित न हो। और (एनम्) इस पुरुष को (सुकृताम्) पुण्यकारी पुरुषों के (लोके) लोक में ही (धेहि) रख। लौकिक रीति से शवदहन इसी मन्त्र के आधार पर है।

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यै/तु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

भा०—(ये ते) वे जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष लोग (परागताः) हमसे परे चले गये हैं, बिछुड़ गये हैं और (ये) जो अपने दूसरे (पितरश्च) पालक पिता के समान पूजनीय पुरुष विद्यमान भी हैं (तेभ्यः) उन सबके लिये (घृतस्य कुल्या) घृत के समान पुष्टिकारक अन्न और आनन्द रस को नहर (शतधारा) सैकड़ों धारा होकर (व्युन्दती) नाना प्रकार से आर्द्र करती हुई (एतु) प्राप्त हो।

एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र
॥ ७३ ॥ (१६)

भा०—हे पुरुष ! (उन्मृजानः) तू ऊर्ध्व गति करता हुआ, (एतत् वयः) इस आयु का (आ रोह) प्राप्त कर। (इह) इस लोक में (स्वाः) तेरे अपने बन्धुजन (बृहत्) बहुत अच्छी प्रकार (दीदयन्ते) प्रकाशित हो रहे हैं। तू उनके (मध्यतः) बीच में से (अभि प्रेहि) उनके सामने ही प्रयाण कर। (पितॄणां लोकं) पालक पिता पितामह आदि के उस लोक को (मा अप हास्याः) परित्याग मत कर (यः) जो (अत्र) इस लोक में (प्रथमः) सबसे प्रथम, सर्व श्रेष्ठ है।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[४] देवयान और पितृयाण ।

अथर्वा ऋषिः । यमः, मन्त्रोक्ताः बहवश्च देवताः (८१ पितरो देवताः ८८ अग्निः, ८९ चन्द्रमाः) १,४,७,१४,३६,६०, भुरिजः, २,५,११,२९,५०, ५१,५८ जगत्यः । ३ पञ्चपदा भुरिगतिजगती, ६,९,१३, पञ्चपदा शक्वरी (९ भुरिक्, १३ त्र्यवसाना), ८ पञ्चपदा बृहती, (२६ विराट्) २७ याजुषी गायत्री [२५], ३१,३२,३८,४१,४२,५५-५७,५९,६१ अनुष्टुप् (५६ ककुम्मती । ३६,६२,६३ आस्तारपंक्तिः (३९ पुरोविराड्, ६२ भुरिक्, ६३ स्वराड्), ६७ द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् , ६८,७१ आसुरी अनुष्टुप्, ७२, ७४,७९ आसुरीपंक्तिः, ७५ आसुरीगायत्री, ७६ आसुरीउष्णिक्, ७७ दैवी जगती, ७८ आसुरीत्रिष्टुप्, ८० आसुरी जगती, ८१ प्राजापत्यानुष्टुप्, ८२ साम्नी बृहती, ८३, ८४ साम्नीत्रिष्टुभौ, ८५ आसुरी बृहती, (६७-६८,७१-(८६ एकावसाना), ८६,८७, चतुष्पदा उष्णिक् (८६ ककुम्मती, ८७ शंकुमती), ८८ त्र्यवसाना पथ्यापंक्तिः, ८९ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः, शेषा त्रिष्टुभः । एकोननवत्यृचं सूक्तम् ॥

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।
अवाड्हव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥१॥

भा०—हे (जातवेदसः) ज्ञान प्राप्त किये हुए, ब्रह्मज्ञानी विद्वानो ! आप लोग (पितृयाणैः) पिता, प्रजापति के योग्य मार्गों से (जनित्रीम्) प्रजा के उत्पन्न करने वाली उस परमेश्वरी जगदम्बा शक्ति को (आरोहत) प्राप्त करो । मैं (वः) आप लोगों को (आ रोहयामि) उस तक पहुंचाता हूं । उसका उपदेश करता हूं । हे (हव्यवाहः) हव्यों, ज्ञानों को वहन करने हारे विद्वानो ! (इषितः) कामना से प्रेरित पुरुष आत्मा (हव्या) स्तुतियों से (अयाट्) उस परमेश्वर की ही पूजा करता है । आप लग

(१०) '—व्येषिता' इति सायणाभिमत पाठः ।

(ईजानम्) देवोपासना करने हारे आत्मा को (युक्ताः) समाहित, एकाग्रचित्त होकर (सुकृतां लोके) पुण्याचरण करने वाले पुरुषों के लोक में (धत्त) रखो ।

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥ २ ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् पुरुष और राजागण भी और (ऋतवः) ऋतुएं, प्राण और होतागण, दिशाएं आदि (यज्ञम्) यज्ञ (कल्पयन्ति) करते हैं । उसमें (हविः) हवि=अन्न (पुराडाशम्) 'पुरोडाश' है और (स्रुचः) आहुति देने के चमस, स्रुवे और प्राण और ये लोक (यज्ञायुधानि) यज्ञ करने के आयुध हथियार या उपकरण के समान हैं । (तेभिः) उनसे (देवयानैः) देवों के गमन करने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (ईजानाः) यज्ञद्वारा देव उपासना करने वाले लोग (स्वर्गं लोकम्) स्वर्ग, सुखमय लोक को (यन्ति) प्राप्त होते हैं ।

ऋतवः होत्राशंसिनः । कौ० २९।८॥ ऋतवो वा होत्राः । गो० उ० ६।६॥ सदस्या ऋतवोऽभवन् । तै० ३।१२॥ दिशः । गो०उ० ६।१२॥ पञ्च हि ऋतवः । तां० १२।४।८॥ त्रयो वा । श० ३।०।७।१७॥ याः षड् विभूतयः ऋतवस्ते । जै० उ० १।२१।१॥ यानि भूतानि ऋतवस्ते । श० ६।१।३।८॥ पुरोडाशः । सः कूर्मरूपेणाच्छन्नः पुरोडाशः । स वा एभ्यः तत्पुरादशयत् । श० १।६।२।५॥ पुरो वा एतान् देवाः अक्रत । ऐ० २ । २३ ॥ आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः । कौ० १३।४।६॥ मस्तिष्को वै पुरोडाशः । ऐ० ३। २ । २ । ७ ॥ पुरोडाश शब्द से ब्रह्माण्ड, आत्मा मस्तिष्क और हवि आदि लिये जाते हैं ।

स्रुचः—इमे वै लोकाः स्रुचः । तै० ३।३।१।२॥ प्राणो वै स्रुचः । ऐ० ३।२।१।५॥ आधिदैविक, आध्यात्मिक आदि भेद से इनकी योजना कर लेनी चाहिये ।

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वाङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति ।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति
तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥

भा०—(ऋतस्य) सत्यस्वरूप यज्ञ, प्रजापति के उस (पन्थाम्) मार्ग को (साधु) भली प्रकार (अनुपश्य) साक्षात् कर (येन) जिससे (सुकृतः) उत्तम रूपसे योगादि कर्म को करने हारे (अंगिरसः) ज्ञानी पुरुष (यन्ति) जाते हैं । (तेभिः) उन (पथिभिः) मार्गों से हे पुरुष ! तू (स्वर्गम्) सुखमय उस स्वर्ग लोक को (याहि) प्राप्त हो (यत्र) जहां (आदित्याः) अदिति, अखण्ड ब्रह्मके पुत्र रूप परम योगी आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष (मधु) ब्रह्ममय, अमृत, अभय, आनन्द को (भक्षयन्ति) भोग करते हैं । हे पुरुष ! तू (तृतीये) उस तीर्णतम, सबसे उत्कृष्ट सर्वोच्च (नाके) सर्व दुःखरहित, निःश्रेयस पद में (अधि वि श्रयस्व) अपने आपको प्रतिष्ठित कर ।

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥ ४ ॥

भा०—(त्रयः) तीन (सुपर्णाः) सुपर्ण, अग्नि, सूर्य और सोम, उत्तम पालन शक्ति से युक्त (उपरस्य) उपर=उपल, मेघ के (मायू) शब्द या गर्जना कराने वाले वे (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्ग के स्थान पर (अधि विष्टपि) सूर्य में (श्रिताः) आश्रित हैं । (स्वर्गाः लोकाः) सुखमय लोक सब (अमृतेन) अमृत, जल से (विष्ठाः) व्याप्त हैं । वे (यजमानाय) यज्ञ करने वाले पुरुष के लिये (इषम् ऊर्जम्) अन्न और उत्तम रस का (दुह्राम्) प्रदान करते हैं ।

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।

३–(तृ०) 'तेभ्यः' इति क्वचित् ।

प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम् ॥५॥

भा०—विराट् यज्ञ का वर्णन करते हैं—(जुहूः) परमेश्वर के विशाल आदान करने वाली वशकारिणी शक्ति (द्याम्) द्यौः महान् आकाश जिसमें समस्त सूर्य और नक्षत्र विद्यमान हैं उसको (दाधार) धारण करती है। (उपभृत्) समस्त प्राणियों का भरण पोषण करने वाली महान् परमेश्वरी शक्ति (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, जिसमें वायु और मेघ विद्यमान हैं उसको धारण करती है। (ध्रुवा) परमात्मा की ध्रुवा, स्थिर करने वाली अचल शक्ति (प्रतिष्ठाम्) सब प्राणियों को अपने भीतर स्थित करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण करती है। (इमाम् प्रति) इस पृथिवी के प्रति (घृतपृष्ठाः) घृत= घृत के समान पुष्टिकारक पदार्थ और जल से पूर्ण तल वाले (स्वर्गाः) सुखमय लोक या प्रदेश (यजमानाय) यजमान, देवोपासक के लिये (कामं कामम्) उसकी प्रत्येक कामना को (दुहाम्) पूर्ण करते हैं।

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः
सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥

भा०—हे (ध्रुवे) ध्रुवे ! अचलशक्ते ! (विश्वभोजसम्) समस्त भोग्य पदार्थ के आश्रयभूत (पृथिवीम्) इस पृथिवी पर तू (आरोह) अधिष्ठाता होकर रह। हे (उपभृत्) समस्त प्राणियों को भरण पोषण करने वाली शक्ते ! तू (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोकमें (आक्रमस्व) आ, सदा विद्यमान रह। हे (जुहु) भूमि से जल आदि

५–(तृ०) 'प्रतिमाम्' इति प्रायः पदपाठः। 'प्रति। इमाम्' इति सायणाभिमतः। 'प्रतिमाद्' इति क्वचित् पाठः। 'प्रति। माद्' इति ह्विटनिः।

देने और दस पर बरसाने वाली शक्ति ! तू (यजमानेन साकम्) यज-मान, ईश्वर की यज्ञ द्वारा उपासना करने हारे पुरुष के साथ (द्याम्-गच्छ) द्यौलोक, सूर्य में विद्यमान रह । (वत्सेन) बछड़े के समान दिशाओं के आश्रय में रहने वाले (तुरेण) निरन्तर गतिशील वायु से (दिशः) समस्त दिशाएं (प्रपीनाः) पूरी तरह से हृष्ट पुष्ट, दुग्धपूर्ण गौओं के समान भरी पूरी हैं । बछड़े को देखकर जैसे गौएं अपना दूध प्रेम से बहाती हैं उसी प्रकार वायु के द्वारा दिशाएं भी अपना रस पृथ्वी पर बरसाती हैं । हे पुरुष ! तू (सर्वाः) इन सबको (अहृणी-यमानः) बिना किसी लज्जा और संकोच के (धुक्ष्व) दोहन कर ।

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥

भा०—जिस प्रकार (तीर्थैः) तरण करने के साधन नाव आदि से (महीः) बड़ी (प्रवतः) वेगवान् नदियां तरी जाती हैं उसी प्रकार (तीर्थैः) भवसागर से पार उतरने के साधनभूत अध्यात्म यज्ञ, तप आदि तीर्थों और तपस्वी आदि जंगम तीर्थों द्वारा (महीः प्रवतः) बड़ी २ भारी विपत्तियों को भी (तरन्ति) लोग तैर जाते हैं । (इति) इस प्रयोजन से (येन) जिस मार्ग से (सुकृतः) उत्तम कर्म करने हारे पुण्यात्मा और (यज्ञकृतः) ईश्वरोपासना करने वाले प्रदानशील पुरुष (यन्ति) गमन करते हैं (अत्र) उसी मार्ग में रहकर वे (दिशः) दिशा और (भूतानि) उत्पन्नशील प्राणी (यत्) जो २ भी (अकल्पयन्त) बनाये हैं वे (यजमानाय) परमेश्वर के उपासक यज्ञशील पुरुष के लिये (लोकम्) लोक, स्थान को (अदधुः) बनाते हैं । पुण्या-त्माओं के मार्गगामी ईश्वरोपासक को समस्त प्राणी और दिशाएं आश्रय देते हैं । यज्ञों को कच्चा तरण साधन अर्थात् निर्बल जहाज माना गया है, जैसे—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । उप० ॥

दृढ़ साधन तो ब्रह्मज्ञान के साधन ही हैं ।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ॥ कठ उ० १।१॥

अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं

गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।

महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥८॥

भा०—(अङ्गिरसाम्) ज्ञानी पुरुषों का (अयनम्) गमन या परम चरम उद्देश्यरूप आश्रय (पूर्वः अग्निः) वह पूर्व दिशा से निकलने वाले सूर्य के समान सबसे पूर्व विद्यमान, आदि मूल, सबका प्रवर्त्तक नेता परमेश्वर है । (आदित्यानाम्) आदित्य के समान सब के पालक पोषक प्रजापतियों का (अयनम्) आश्रयस्थान (गार्हपत्यः) गार्हपत्य, गृहपति के समान होकर रहनेहारा प्रजापति है । और (दक्षिणानाम्) बलवान् पुरुषों का आश्रय वह (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि अर्थात् क्रिया-शक्ति प्रदान करने वाला वही परमेश्वर है । हे पुरुष (विहितस्य) नाना प्रकार से वर्त्तमान या व्यापक (अग्नेः) उस सर्वप्रकाशक, सर्वप्रवर्त्तक परमेश्वर के (महिमानम्) महिमा, महत्व को तू (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद से (सम्-अङ्गः) भली प्रकार ज्ञानवान् (सर्वः) सब प्रकार से पूर्ण और (शग्मः) शक्तिमान् होकर (उपयाहि) प्राप्त कर, जान, उस तक पहुंच ।

पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।

दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद्

दिशोदिशो अग्ने परि पाहि घोरात् ॥ ९ ॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझको (पूर्वः अग्निः) सबसे पूर्व और सबसे पूर्ण (अग्निः) ज्ञानी, अग्रणी, प्रवर्त्तक परमेश्वर (पुरस्तात्) तेरे

आगे (शं) तेरे कल्याण और शान्ति प्रदान करने के लिये (तपतु) प्रकाशित हो। और (पश्चात्) पीछे से (गार्हपत्यः) गृहपति के समान प्रजापति परमेश्वर (तपतु) सन्तप्त हो, प्रदीप्त हो। (दक्षिणाग्निः) बलप्रदाता परमेश्वर (ते) तुझे (शर्म) सुख और (वर्म) कवच के समान रक्षक होकर (तपतु) तपे। हे (अग्ने) अग्ने! परमेश्वर! तू (उत्तरतः) उत्तर से, बहुत ऊपर से (मध्यतः) बीच से (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से और (दिशः दिशः) प्रत्येक दिशा से आने वाले (घोरात्) घोर, कष्टदायी आक्रमण से (परि पाहि) रक्षा कर।

यूयम॑ग्ने॒ शंत॑माभिस्त॒नूभि॑रीजा॒नम॒भि लो॒कं स्व॒र्गम् ।
अश्वा॑ भू॒त्वा पृ॑ष्टिवा॒हो व॑हाथ॒ यत्र॑ दे॒वैः स॑ध॒मादं॒ मद॑न्ति ॥१०॥(२०)

भा०—हे अग्ने! परमेश्वर और उसकी प्रेरित नाना शक्तियो! (यूयम्) तुम सब अपने (शतमाभिः) अत्यन्त कल्याणकारी (तनूभिः) स्वरूपों से (पृष्टिवाहः अश्वाः) पीठ पर लाद कर चलने वाले घोड़ों के समान (अश्वाः) व्यापक शक्ति (भूत्वा) होकर (ईजानम्) यज्ञ, दानशील, ईश्वर उपासक और दिव्यशक्ति, विद्युत्, जलवायु के साधक विज्ञानवान् पुरुष को (स्वर्गं लोकम् अभि) उस सुखमय लोक में (वहाथ) लेजाते हो (यत्र) जहां मुक्त आत्मा लोग (देवैः) देवों के साथ (सधमादं मदन्ति) आनन्द प्रसन्न रहते हुए उनके सुखका भोग करते हैं।

शम॑ग्ने प॒श्चात् त॑प॒ शं पु॒रस्ता॒च्छमु॑त्त॒राच्छम॑ध॒रात् त॑पैनम् ।
एक॑स्त्रे॒धा विहि॑तो जातवेदः स॒म्यगे॑नं धेहि सु॒कृता॑मु लो॒के ॥११॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! परमेश्वर! तू (पश्चात्) पीछे से (शं) कल्याणरूप होकर (तप) तप्त हो और आत्मा को तपा, परिपक्व कर, (पुरस्तात् शं तप) आगे से भी कल्याणकारी होकर तपा;

(उत्तरात् शम्) उत्तर, ऊपर से भी कल्याणकारी होकर तपा। और (एनम्) इस आत्मा को (अधरात् शं तप) नीचे से भी कल्याणकारी होकर तपा। हे (जातवेदः) सर्वज्ञ, सब पदार्थ के उत्पादक प्रभो! आप (एकः) एक हैं और तो भी (त्रेधा) तीन रूप, तीन अग्नियों के रूप में (विहितः) विशेष रूप से बतलाये जाते हो। आप (एनं) इस आत्मा को (सुकृताम्) उत्तम कर्म करने वाले पुण्यात्माओं के (लोके) लोक में (सम्यग्) भली प्रकार (धेहि) स्थापित करो।

शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः।
शृतं कृण्वन्त इह मावं चिक्षिपन् ॥ १२ ॥

भा०—(समिद्धाः) खूब प्रदीप्त (अग्नयः) ज्ञानी जन (जातवेदसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (प्राजापत्यं) प्रजापति परमेश्वर सम्बन्धी (मेध्यं) पवित्र यज्ञ कार्य को (आ रभन्ताम्) प्रारम्भ करें। आप लोग इस आत्मा को भी (शृतं कृण्वन्तः) पक्क करते हुए (इह) इस मर्त्यलोक में (मा अव चिक्षिपन्) न गिरने दें, अधःपतित न होने दें।

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम्।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः।
शृतं कृण्वन्त इह मावं चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

भा०—(स्वर्गम् लोकम् अभि) स्वर्ग-सुखमय लोक को उद्देश्य करके (ईजानम्) यज्ञ करने हारे देव-उपासक पुरुष को स्वयं (यज्ञः) ब्रह्म, यज्ञमय प्रजापति, परमात्मा (कल्पमानः) सब प्रकार से समर्थ होकर (विततः) विस्तृतरूप में या व्यापकरूप से (एति) प्राप्त होता है। (तम्) उस (सर्वहुतम्) सर्वस्व को ईश्वर के निमित्त समर्पण कर देने वाले पुरुष को (अग्नयः) प्रकाशवान् (जातवेदसः) ज्ञानी पुरुष भी (प्राजापत्यं मेध्यम्) प्रजापति स्वरूप, पूजनीय जानकर (जुषन्ताम्)

प्राप्त होते हैं। वे इसको (ऋतं कृण्वन्तः) परिपक्व तपोनिष्ठ करते हुए (इह) इस संसार में (मा अव चिक्षिपन्) कभी नीचा न गिरने दें।

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥१४

भा०—(ईजानः) यज्ञशील, देव का उपासक जन (नाकस्य पृष्ठात्) सुखमय लोक से (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के प्रति (उत्पतिष्यन्) ऊपर उठने की अभिलाषा करता हुआ (चितम्) चित्स्वरूप (अग्निम्) ज्ञानमय परमेश्वर का (आरुक्षत्) आश्रय लेता है। (तस्मै) उसके लिये ही (नभसः) आकाश के बीच (ज्योतिषीमान्) ज्योतिर्मय, सूर्य के समान अति दीप्त परमेश्वर (नभसः) प्रकाश रहित अन्धकार के बीच में (प्र भाति) प्रकाशित होता है। यही वास्तव में (स्वर्गः) सुख से गमन करने योग्य (देवयानः पन्थाः) देवयान मार्ग (सुकृते) उत्तम काम करने हारे के लिये प्राप्त होता है।

अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु ।
हुतोयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् ॥ १५ ॥

भा०—हे पुरुष (ते) तेरे यज्ञका (होता) होता, (अग्निः) अग्नि, ज्ञानवान् परमेश्वर ही है और वही (बृहस्पतिः) समस्त वेद-वाणीका स्वामी परमेश्वर (ते अध्वर्युः) तेरा अध्वर्यु अर्थात् रक्षक है। और (इन्द्रः) वही ऐश्वर्यवान्, इन्द्र, परमेश्वर (ते ब्रह्मा) तेरे यज्ञ का ब्रह्मा (ते) तेरे (दक्षिणतः) दक्षिण भाग में, दाईं ओर (अस्तु) सदा विद्यमान रहे। हे पुरुष (अयम्) यह तेरा देह (हुतः) अग्नि में आहुति कर दिया जाता है और तभी (यज्ञः संस्थितः) यह जीवनमय यज्ञ समाप्त हो जाता है। अथवा (संस्थितः) जीवन समाप्त करके मृत हुआ

(अयं) यह देह (हुतः) अग्नि में आहुति कर दिया जाता है और (यज्ञः) यज्ञ रूप आत्मा उस स्थान पर (एति) चलाजाता है (यत्र) जहां (पूर्वं हुतानाम्) पूर्व आहुति किये आत्माओं का (अयनम्) आश्रय लोक है ।

अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥ अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह ०।० ॥ १७ ॥ अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह ०।० ॥ १८ ॥ अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह ०।० ॥ १९ ॥ अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह ०।० ॥ २० ॥ (२१) अपूपवानन्नवांश्चरुरेह ०।० ॥ २१ ॥ अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह ०।० ॥ २२ ॥ अपूपवान् रसवांश्चरुरेह ०।० ॥ २३ ॥ अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥

भा०—(इह) यहां, इस लोक में (अपूपवान्) अपूप और (क्षीरवान्) क्षीर से युक्त (चरुः) भोग्य द्रव्य, अन्न, भात आदि (आ सीदतु) रक्खा जावे । (देवानां) देवों के निमित्त (ये) जो लोग (हुतभागः) उनके प्राप्त होने योग्य भोग्य अंशों को प्रदान करते (स्थ) हैं उन (लोककृतः) लोक-व्यवस्थापक पुरुषों और (पथिकृतः) मार्ग निर्माण करने वाले उपकारी पुरुषों को (यजामहे) हम उक्त पदार्थ प्रदान करें । ॥ १६ ॥ (अपूपवान् दधिवान् चरुः इह आसीदतु) इस लोक में अपूप और दधिवाला चरु अन्न द्रव्य रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥ १७ ॥ (अपूपवान् , द्रप्सवान् चरुः० इत्यादि) अपूप और रस वाला चरु यहां रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥ १८ ॥ (अपूपवान्

१६–'अपूपवान् क्षीरवांश्चचरुरेह' इति ह्विटनिकामितः ।

घृतवान्० इत्यादि) अपूप और घृत से युक्त चरु यहां रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥ १९ ॥ (अपूपवान् मांसवान् चरुः० इत्यादि) अपूपवाला और मांस=गूदेवाला चरु यहां रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥२०॥ (अपूपवान् अन्नवान् चरु० इत्यादि) अपूप और अन्न से युक्त चरु यहां रक्खा जाय, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २१ ॥ (अपूपवान् मधुमान् चरु० इत्यादि) अपूप और मधु से युक्त चरु यहां रक्खा जाय, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २२ ॥ (अपूपवान् रसवान् चरु० इत्यादि) अपूप और रसवाला चरु इत्यादि पूर्ववत् ॥ २३ ॥ (अपूपवान् अपवान् चरु० इत्यादि) अपूप और अपः से युक्त चरु यहां रक्खा जाय इत्यादि पूर्ववत् ॥ २४ ॥

क्षीर, दधि, द्रप्स, घृत, मांस, अन्न, मधु, रस, आपः, इन नौ पदार्थों का और अपूप और चरु का विवरण निम्नलिखित जानना चाहिये ।

(१) क्षीरं, पयः । यत् पयस्तद्देवः । गो० उ० २ । ६ ॥ अग्निः तां गां सम्बभूव तस्यां गवि रेतः प्रासिञ्चत् तत् पयोऽभवत् । श० २ । २ । ४ । १५॥ क्षत्रं वै पयः । श० १२ । ७ । ३ । ८॥ प्राणः पयः । श० ५ । ५ । ४ । १५ ॥ अपामेव ओषधीनां रसो यत्पयः । कौ० २ । १ ॥ पयो वा ओषधयः । ऐ० ३ । ७। १५॥ सोमः पयः । श० १२ । ७ । ३ । १३॥

(२) दधि—इन्द्रो यदब्रवीत् धिनोति मेति तस्माद् दधि । श० १ । ६ । ४ । ८ ॥ ऐन्द्रं वै दधि । श० ७ । ४ । १ । ४२ । इन्द्रियं वै दधि । तै० २ । १ । ५ । ६॥ दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् । श० ७ । ५ । १ । ३ ॥ ऊर्वा अन्नाद्यं दधि । तै० २ । ७ । २ । २ ॥ सोमो वै दधि । कौ० ८ । ९ ॥

(३) द्रप्सः—असौ आदित्यो वा द्रप्सः । श० ७ । ४ । १ । २०॥ स्तोको वै द्रप्सः । गो० २ । १२ ॥

(४) घृतम्—अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः । मं० २ । ६ । १५ ॥

देवव्रतं वै घृतम् । तां० १८ । २ । ९॥ रेतः सिक्तिर्वै घृतम् । कौ० १६ । ५ ॥ ठल्वं घृतम् । श० ६ । ६ । २ । १५ ॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम् श० ७ । ५ । १ । ३ ॥

(५) मांसं वै पुरीषम् । श० ८ । ६ । २ । १४ ॥ मांसं सादनं । श० ८ । १ । ४ । ५॥ एतद् ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम् । शं० ११ । ७ । १ । ३ ॥ अन्नम् उ पशोर्मांसम् । श० ७ । ५ । २ । ४२ ॥

(६) रसः—रसो वै मधु । श० ६ । ४ । ३ । २ ॥ रसो वा आपः । श० ३ । ३ । १८ ॥

(७) अन्नं—अर्को वै देवानामन्नं । श० १२ । ८ । १ । २ ॥ अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति । ता० १५ । ३ । २३॥ शान्तिर्वा अन्नम् । ऐ० ५ । २७ ॥ अन्नं प्राणमन्नमपानमाहुः अन्न मृत्युं तमु जीवातुमाहुः । अन्नं ब्रह्माणो जरसं वदन्ति अन्नमाहुः प्रजननं प्रजानाम् । तै० २ । ८ । ८ । ३॥ अन्नं पशवः । ऐ० ५ । १९॥ अन्नमु श्रीः । श० ८ । ६ । २ । १॥ अन्नमु चन्द्रमाः । तै० ३ । २ । ३४॥ अन्न वा अपां पायः श० ७ । ५ । ३ । ६१ ॥

(८) मधुः—प्राणो वै मधु । श० १४ । १ । ३ । ३० ॥ ओषधीनां वा एष परमो रसो यन्मधु । श० १ । ५ । ४। १८॥ परमं वा एदन्नाद्यं यन्मधु । तां० १३ । ११ । १७॥ महत्यै वा एतद् देवतायै रूपं यन्मधु । तै० ३ । ८ । १४ । २ ॥ मधु अमुष्य स्वर्गस्य लोकस्य रूपम् । श० ८० । ५ । १ । २ ॥ सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्च । श० २ । ७ । १ । ११ । १४ ॥

(९) अपः—अमृतं च वा आपः । कौ० १२ । १ ॥ शान्तिर्वा आपः । ऐ० ७ । २ ॥ श्रद्धा वा आपः । तै० । ६ । २ । ४ । १ ॥ आपो वै क्षीर आसन् । ता० १३ । ३ । ८ ॥ अन्नमापः । कौ० १२ । ३ । ८ ॥ वीर्यं वा आपः । श० २ । ३ । ४ । १ ॥ रेतो वा आपः । ए०

१।३॥ पशवो वा एते यदापः । रो० १ । ८॥ आपो वै सर्वे कामाः । श० १० । ५ । ४ । १५ ॥ आपो वै सर्वे देवाः । श० १० । ५ । ४ । १४ ॥ आपो वरुणस्य पत्न्य आसन् । तै० १ । १ । ३ । ८ ॥ योषा वा आपः । श० १ । १ । १ । १८ ॥

(१०) अपूपम्—इन्द्रियमपूपः । ऐ० २ । २४ ॥

(११) चरुः—ओदनो हि चरुः । श० ५ । ४ । २ । १ ॥ परमेष्ठी वा एष यदोदनः । तै० १ । ७ । १० । ६ ॥ प्रजापतिर्वा ओदनः । श० १३ । ३ । ६ । ७ ॥ रेतो वा ओदनः । श० १३ । १ । १ । ४ ॥ उक्त ब्राह्मण प्रोक्त अर्थों के अनुसार मन्त्रों का अर्थ नीचे लिखे अनुसार है ।

(अपूपवान्) इन्द्रिय शक्ति से युक्त (क्षीरवान्) वीर्य या बल से युक्त (चरुः) यह प्रजापति आत्मा (इह) इस शरीर में (आसीदतु) विराजे । (ये) जो पुरुष (देवानां) विषयों में क्रीड़ा करने और अर्थों के प्रकाश करने वाली इन्द्रियों के निमित्त (हुतभागाः) सेवन करने योग्य भोग्य अंशों का आदान प्रदान करते हैं वे (इह) इस लोक में (स्थ) सुखपूर्वक रहें । हम (लोककृतः) जो लोककृत् अर्थात् मनुष्यों को उत्पन्न करने वाले और उनके लिये (पथिकृतः) सन्मार्ग बनाने वाले हैं उनकी (यजामहे) उपासना करें या उनके प्रति दान करें ।

इसी प्रकार वह आत्मा इन्द्रिय, ध्यान धारणा शक्ति से युक्त हो । वह इन्द्रियां (दध्नवान्) और तेज से युक्त हो । (घृतवान्) वह अन्न से प्राप्त तेज या वीर्य से युक्त हो वह (मांसवान्) परमश्रेष्ठ मनोहारी उत्तम अन्नों से युक्त हो । वह (अन्नवान्) अन्नों से युक्त हो, वह (मधुवान्) आनन्द से युक्त हो, वह (रसवान्) अमृत से युक्त हो, वह (अपवान्) प्राणों से युक्त हो । इत्यादि शेष पूर्ववत् समान है ।

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।

ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ६८ ॥

भा०—(यान्) जिन (अपूप-अपिहितान्) अपूत इन्द्रिय या आत्मा की विषयग्राहक शक्तियों से ढके हुए, आवृत (कुम्भान्) रस के आश्रय स्थानों को (देवाः) ज्ञान को प्रकाशित करने वाले देवगण, पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि अथवा चक्षु आदि प्राण (अधारयन्) धारण करते हैं (ते) वे (ते) वे, सब (स्वधावन्तः) स्व, अपने आत्मा की धारणा शक्ति से युक्त (मधुमन्तः) मधुर आनन्द से युक्त और (घृतश्चुतः) तेज, प्रकाश और ज्ञान को देने वाले हों।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ६३ ॥ ६ । ४ । ४ । ३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (याः धानाः) जो खीलों या फुल्लियों के समान उजले, प्रकाशवान् दिनों को (तिलमिश्राः) तिल के समान काली अन्धकार मय रात्रियों सहित मिलाकर (स्वधावतीः) उनको 'स्वधा', अन्न से या सूर्य चन्द्र की शक्ति से युक्त करके (अनुकिरामि) तेरी जीवन स्थिति के अनुकूल विस्तृत करता हूं। (ताः) वे दिन और रात्रियां (ते) तेरे लिये (उद्भ्वीः) उत्तम फलों को उत्पन्न करने वाली (प्रभ्वीः) प्रचुर फलजनक (सन्तु) हों। और (यमः) यम, सर्वनियन्ता (राजा) सर्वोपरि विराजमान परमेश्वर (ते) तुझे (ताः) उनको (अनुमन्यताम्) अनुकूल बनावे । अथवा— (या धानाः तिलमिश्राः स्वधावतीः ते अनुकिरामि) जिन स्वयं अपने को धारण करने में समर्थ शक्ति से

२६-(तृ०) 'अभ्वीः' इति सायणाभिमतः । 'विभ्वीः' इति अथर्व० ६ । ३ । ६३ ॥

सम्पन्न 'धाना' फुल्लियों के समान उज्वल नक्षत्रों को तिल के समान प्रकाशरहित ग्रहों के साथ संसार में फैलाता हूं। वे हे पुरुष ! तेरे लिये (उद्भ्वीः प्रभ्वीः) उत्तम गतिप्रद और प्रचुर सम्पत्ति जनक हों । (यमः राजा ते अनुमन्यताम्) सर्वनियन्ता परमेश्वर तुझ पर सदा अनुग्रह करें ।

(१) धानाः—नक्षत्राणां वा एतद् रूपं यद् धानाः । तै० ३ । ८ । १४ । ५ ॥ अहोरात्राणां वा एतद् रूपं यद् धानाः । श० १२ । २ । १ । ४ ॥ पशवो वै धानाः । गो० उ० । ४ । ६ ॥

अथवा—(याः धानाः तिलमिश्राः) जो पशु तिल के समान स्वल्पशरीर वाले अपने बछड़ों और (स्वधावतीः) अन्न से सहित तेरे लिये हे पुरुष ! फैलाता हूं वे (उद्भ्वीः प्रभ्वीः) उत्तम फलजनक और प्रचुर सम्पत्तिजनक अति अधिक मात्रा में हों । (यमो, राजा) नियन्ता राजा तेरे अनुकूल बना रहे । इसी अर्थ को स्पष्ट करने वाली ऋचाएं आगे देखो ३२, ३३, ३४ ।

अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥

भा०—हे पुरुष ! नियन्ता परमेश्वर की अनुमति से तू (भूयसीम्) बहुत (अक्षितिम्) कभी क्षय न होने वाली, अक्षय सम्पत्ति को चिरकाल तक भोग कर। तै०आ० में 'एषा ते यमसादने स्वधा निधीयते गृहे अक्षिति नाम ते असौ ।' (तै आ० ६ । ७ । २ ॥) गृह में संचित अन्नही अक्षिति है ।

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥
यजु० १३ । ५१ ॥ ऋ० १० । १७ । ११ ॥

२८—(प्र०) 'प्रथमामनुद्यून्' इति ऋ० । (तृ०) 'तृतीयं योनिम्' इति तै० सं० तै० आ० ।

भा०—(द्रप्सः) आदित्य, (पृथिवीम् अनु. द्याम् अनु) पृथिवी और द्यौ=आकाश को (चस्कन्द) व्याप्त करता है अर्थात् वह (इमं योनिम् च) वह इस योनि=लोक को भी और (यः च पूर्वः) जो इस से पूर्व विद्यमान द्यौ लोक है (अनु) उसको भी अनुप्राणित करता है। (समानं योनिम्) दोनों लोकों में समानरूप से (अनु संचरन्तम्) व्याप्त होते हुए (द्रप्सम्) उस तेजःस्वरूप आदित्य के (अनु) आश्रय पर ही (सप्तहोत्राः) सात होत्र सबको अपने भीतर ले लेने वाले दिशाओं को (जुहोमि) अर्पित करता हूं।

अध्यात्म पक्ष में—(द्रप्सः) द्रवरूप भरण पोषण करने में समर्थ वीर्य (द्याम् अनु च पृथिवीम् च स्कन्द) प्रथम तेजो युक्त पुरुष और वाद में पुत्रोत्पत्ति में समर्थ पृथिवीरूप स्त्री को प्राप्त हुआ। (इमं च) इस पुरुष को (यः च पूर्वः) जो पूर्व विद्यमान था उसको प्रथम प्राप्त हुआ और वाद में (अनुयोनिम्) योनि-गर्भाशय में आया। (समानं) समानरूप से (योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं अनु) योनि में संचरण करने वाले वीर्य के आश्रय पर ही (सप्त होत्राः) सात प्राणों के रूप में मैं गृहस्थ योषाग्नि में (जुहोमि) वीर्य को आधान करता हूं। इसी प्रकार सर्व जगदुत्पादक परमेश्वरीय वीर्य की प्रकृति में आहुति का वर्णन भी इसी ऋचा से हुआ जानना चाहिये।

अग्नि में घृताहुति रूप द्रप्स प्रथम पृथ्वीपर पड़ कर अग्नि के तेज से आकाश में और अन्तरिक्ष में जाता और फैलता और सातों दिशाओं में चला जाता है। यह दृष्टान्त है। इसके दार्ष्टान्त आधिभौतिक में सूर्य पृथिवी की जीवनी शक्ति अध्यात्म में गर्भगत वीर्य के तत्व को उक्तरीति से समझना चाहिये। सायणकृत तै० आ० [६ । ६ । १] भाष्य और अथर्व भाष्य दोनों परस्पर असंगत हैं।

असौ वादित्यो द्रप्सः। स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दति। इमं च योनिम्

अनु यश्च पूर्वः इति इमं च लोकममुं चेत्येतत् । समानं योनिमनु संचरन्तम् इति । समानं ह्येष एतं योनिमनु संचरति । द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इति असौ वा आदित्यो द्रप्सः दिशः सप्त होत्राः अमुं तदादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति । श०.ब्रा० ७ । ४ । १२० ॥

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥ ऋ० १० । १०७ । ४ ॥

भा०—(शतधारं) सैकड़ों धार वाले मेघ के समान सैकड़ों के परिपोषक, (वायुम्) नित्यगतिशील, वायु के समान सर्वव्यापक (अर्कम्) सूर्य के समान तेजस्वी, एवं अर्चना करने योग्य और (स्वर्विदम्) स्वः—सुख के प्राप्त करने और कराने वाले परमानन्दमय परमेश्वर को (ते) वे (नृचक्षसः) उस परमपुरुष सर्वनेता परमेश्वर को साक्षात् करने वाले (रयिम्) सर्वैश्वर्यरूप, प्राणरूप, बलरूप ही (अभि चक्षते) साक्षात् करते हैं । और (ये) जो पुरुष (सर्वदा) सब कालों में (पृणन्ति) समस्त जीवों का पालन करते हैं और उनको (प्र यच्छन्ति च) अन्न, वस्त्र, आश्रय सुख प्रदान करते हैं (ते) वे (सप्त मातरम्) सातों प्रकार के अन्नों वाली अथवा सात निर्मातृ पदार्थों अर्थात् सप्त धातुओं वाली, (दक्षिणां) दक्षिणा रूप पृथिवी को (दुह्रते) दोहते हैं वे पृथिवी के समस्त जीवनोपयोगी उत्तम २ सार पदार्थों को प्राप्त करते हैं ।

'दक्षिणा वै यज्ञानां पुरोगवी ।' ऐ० ६ । ३५॥ अन्नं दक्षिणा । ऐ० ६।

२९–(द्वि०) 'चक्षसहाविद' । (तृ०) यच्छन्ति संगमे' (च०) 'दुह्रते' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये ।' इति यजु० ।

८

३ ॥ तै० आ० में 'इमं समुद्रं शतधारमुत्सं'......'घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने' इत्यादि में शतधार उत्स=मेघ और अदिति=गौ और पृथिवी ।

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥३०॥(२२)

यजु० १३ । ४७ ॥

भा०—(चतुर्बिलम्) चार छिद्र या टूंटी वाले (कलशम्) बड़े जलपात्र या कलशे से जिस प्रकार लोग चारों तरफ़ से टूटी खोलकर जल लेते हैं उसी प्रकार विद्वान् लोग (चतुर्बिलम्) चार बिल या छिद्रों या चार द्वारों वाले (कोशं) ज्ञान, बल और अन्नके खज़ाने स्वरूप पृथ्वी और (मधुमतीम्) अन्न आदि मधुर पदार्थों से समृद्ध (धेनुम्) समस्त प्रजाको जीवन रस का पान कराने वाली गायके समान चतुस्तनी (इडाम्) इडा नाम पृथिवी को (दुहन्ति) दोहते हैं, उससे सारवान् पदार्थों का संग्रह करते हैं । हे (अग्ने !) अग्नि के समान ज्ञानवान् ! अग्रणी नेतः ! राजन् ! तू अपने परम, सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) विशेष रक्षा में रखकर (जनेषु) समस्त जनों में (अदितिम्) अखण्डनीय, भोग किये जाने पर कभी खण्डित या विनष्ट न होने वाली, अविनश्वर, सदा ध्रुव, ऊर्जम् अन्न आदि परम रससे सबको (मदन्तीं) संतृप्त करती हुई भूमि माता को (मा हिंसीः) कभी विनाश मत कर ।

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

३०-(तृ०) 'घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने ।' इति यजु० ॥ इमं समुद्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं भुवनस्यमध्ये घृतं दुहानामदितिं जनयाग्ने । इति तै० आ० ॥

३१-(द्वि०) 'ददातु' इति क्वचित् ।

भा०—हे पुरुष ! (सविता) सबका उत्पादक (देवः) देव, परमेश्वर (ते) तुझे (भर्तवे) धारण करने, अपने को बचाने के लिये (एतत्) यह (वासः) वस्त्र या निवासस्थान, देह (ददाति) प्रदान करता है। (त्वं) तू (यमस्य) सर्वनियन्ता, यम, परमेश्वर के (राज्ये) राज्य में (वसानः) निवास करता हुआ (तार्प्यं चर[1]) आत्मा को तृप्तकर सन्तुष्ट करने हारे प्रीतियुक्त भोग्य पदार्थों का भोग कर। अथवा (त्वं यमस्य राज्ये एतत् तार्प्यं वसानः चर) तू यम=नियन्ता के राज्य में तृपा, नाम तृण के बने वस्त्र को पहन कर विचर।

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥

भा०—पूर्वोक्त २५ में कहे 'तिलमिश्रा धाना' की व्याख्या करते हैं। (धानाः) 'धाना', लोक के धारण पोषण में समर्थ होने से ही (धेनुः अभवत्) धेनु है और (अस्याः वत्सः) उसका बछड़ा (तिलः अभवत्) स्नेह युक्त होने से तिल है। २७ मन्त्र में कहे 'अक्षिति' की व्याख्या करते हैं। (यमस्य राज्ये) नियन्ता परमेश्वर के राज्य में (ताम्) उस गो माता को (अक्षिताम्) सदा अक्षीण रूप में या अक्षय सम्पदा के रूप में प्राप्त करके उसके आधार पर (उप जीवति) यह लोक अपनी जीवन वृत्ति चलाता है।

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥३३॥

भा०—हे पुरुष ! (एताः धेनवः) ये रसपान कराने हारी धेनुएं

१. तर्पणार्हं प्रीतिकरमिति सायणः ।

३२–(च०) 'जीवति' इति सायणाभिमतः ।

३३–(द्वि०) 'भवन्ति' इति सायणाभिमतः ।

गौवें (ते) तेरे लिये (कामदुघाः भवन्तु) सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामदुघा हों। ये (एनीः) गेहुंऐ रंगकी कपिल और (श्येनीः) श्वेतवर्ण की, (सरूपाः) समानरूप की, (विरूपाः) विविध रूप की रहती हुईं भी (तिलवत्साः) खीलों के साथ तिल के समान स्नेह युक्त छोटे २ बछड़ों वाली (त्वा) तुझे (अत्र) इस भूमिपर (उप तिष्ठन्तु) प्राप्त हों।

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः॥३४॥

भा०—(एनीः) गेहुंए रंग की, लाल या कपिला गौएं और (हरिणीः) हरित या नीले वर्ण की, (श्येनीः) श्वेत वर्ण की और (कृष्णाः) कृष्णा, काले रंग की (रोहिणीः) रोहिणी, लाल रंगकी गौवें जो (अस्य धानाः) इस लोक की धारण पोषण करने में समर्थ हैं वे ही (धानाः) 'धाना' शब्द से कही जाती हैं और वेही (धानाः) भरण पोषण में समर्थ (धेनवः) दुधार गौवें (ते) तुझे प्राप्त हों। और (तिलवत्साः) तिल के समान स्नेह से पूर्ण बछड़ों वाली गौवें (अस्मै) इस लोक के निमित्त (ऊर्जम्) परम पुष्टिकारक रसको (दुहानाः) प्रदान करती हुईं (विश्वाहा) सब प्रकार से (अनपस्फुरन्तीः) निर्भय, निराकुल, आपद्रहित, सुखी (सन्तु) होकर रहें।

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः॥३५॥

३४–१ तिलस्नेहने तुदादिः। तिल गतौ इति धातोरि-गुपध-लक्षणः कः।

(प्र० द्वि०) 'एणीर्धाना हरिणीरर्जुनीः सन्तुधेनवः' इति तै० आ०।

(च०) '–रन्तीः' इति क्वचित्।

३५–(द्वि०) 'सहस्रमुत्सं शतधारमेतम्' (तृ० च०) 'तस्मिन्नेवपितरं

भा०—(वैश्वानरे) समस्त मनुष्यों के हितकारी देव के निमित्त मैं (इदं हविः) इस अन्न आदि त्याग करने योग्य पदार्थ की (जुहोमि) आहुति करता हूं । यह (साहस्रं) सहस्रों फलों को देने वाला (शत-धारम्) सैकड़ों धाराओं वाला (उत्सम्), स्रोत है । (सः) वह समस्त हितकारी, परम देव (पिन्वमानः) स्वयं प्रसन्न होकर (पितरं) पालक पिता को (पितामहान् प्रपितामहान्) पितामह और प्रपितामह-आदि वृद्ध पूजनीय पुरुषों का (बिभर्ति) पालन पोषण करता है ।

सहस्रंधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥
(प्र० द्वि०) यजु० १३ । ४९ प्र० द्वि० ॥

भा०—'सहस्रधार और शतधार' उनका वर्णन करते हैं । (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल अर्थात् अन्तरिक्ष के पृष्ठ पर (वि-अच्यमानम्) विविध प्रकार से प्रकट होने वाले (सहस्रधारम्) सहस्रों धारण शक्तियों से या सहस्रों धाराओं से समृद्ध (शतधारम्) सैकड़ों का धारण पोषण करने वाले उस (अक्षितम्) अक्षय, अविनाशी, अगाध (उत्सं) जल आदि सुखकारी पदार्थों को बहाने वाले, (ऊर्जं दुहानम्) समस्त प्राणियों को सर्वोत्तम अन्नादि रस का प्रभूत मात्रा में प्रदान करने हारे (पितरः) नाना पालक जन (अनपस्फुरन्तम्) धीर, कभी भी न दुःखित होने वाले आदित्य और मेघ के समान राजा और परमेश्वर को (पितरः) प्रजापालक लोग (स्वधाभिः) स्वधा, अपनी धारणा शक्ति से और अन्नादि से (उपासते) उसकी उपासना करते हैं, उसकी अर्चना करते हैं ।

पितामहं प्रपितामहं बिभरत् पिन्वमाने' इति तै० आ० ।
३६–(प्र०) 'इमं महस्र' इति यजु० । 'इमं समुद्रं शत'–तै० सं० ।
'भुवस्य मध्ये' इति तै० सं० 'सरिरस्य मध्ये' इति यजु० ।

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् संजाता अव पश्यतेत ।
मर्त्योयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥ ३७ ॥

भा०—पुरुषकी उत्पत्ति का रहस्य खोलते हैं । (इदं) यह 'कसाम्बु', विकस्वर 'अम्बु', वीर्य ही (चयनेन) 'चयन' अर्थात् अवयवों के एकत्र संगृहीत होजाने से (चितम्) संचित होकर उत्पन्न होजाता है । हे (सजाता) समान रूपसे इसके साथ उत्पन्न हुए बन्धुजनो ! (आ इत) आओ, इसे (अव पश्यत) देखो (मर्त्यः अयम्) यह मनुष्य अपनी (अमृतत्वम्) अमृतत्व—मोक्ष या पूर्णायु को (एति) प्राप्त कर लेता है । इसलिए (तस्मै) इस जीव के लिये (यावत् सबन्धु) जितने भी बन्धु जन हैं (तस्मै गृहान् कृणुत) उसके लिए गृह आदि बनाओ । अथवा—यह (कसाम्बु) पुरुष के शासन का जल है जो चयन या संग्रह द्वारा एकत्र है । हे (सजाताः) समानपद पर स्थित राजगण ! आओ और देखो । (मर्त्यः अयम् अमृतत्वम् एति) यह मर्त्य अब अमृतत्व, मानपद, राजपदको प्राप्त होता है उसके लिये समस्त बन्धुजन मकानात बनावें ।

इहैवैधि धनसानिरिहाचित्त इहक्रतुः ।
इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥

भा०—हे पुरुष ! राजन् ! तू (धनसनिः) धन ऐश्वर्य का प्रदान करने वाला, दानी बनकर (इह एव) यहां ही (एधि) रह । (इहचित्तः) इस लोक में सर्व प्रसिद्ध और (इहक्रतुः) इसलोक में प्रशस्त कर्मवान् और (वीर्यवत्तरः) अन्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक वीर्यवान्, (वयोधाः) अन्न और ऐश्वर्य को धारण करने वाला, (अपराहतः) शत्रु से अपराजित रहता हुआ ही (इह एधि) इस संसार में रह ।

३७—(प्र०) 'चितम्' इति बहुत्र । (द्वि०) 'पश्यत । आ । इत ।' इति पदपाठः ।

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥३९॥

भा०— (इमाः आपः) ये अन्न के समान स्वच्छ आचरणवाली (देवीः) दिव्य उपदेश प्रदान करने वाली (आपः) आप्त प्रजाएं (पुत्रं पौत्रम्) पुत्रों और पौत्रोंको भी (अभितर्पयन्तीः) सब प्रकार से तृप्त करती हुई और स्वयं (मधुमतीः) मधुर अन्न से समृद्ध होकर (पितृभ्यः) अपने पालक पितरों को (स्वधाम्) स्वयं धारण करने योग्य या स्व=शरीर का धारण पोषण करने में समर्थ अन्न और (अमृतम्) जल को (दुहानाः) प्रदान करते हुए (उभयान्) पुत्र, पौत्र और पालक पितृजनों को (तर्पयन्तु) सदा तृप्त, प्रसन्न किया करें ।

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् ।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान्
॥ ४० ॥ (२३)

भा०—हे (आपः) प्रजाओ ! या आप्तजनो ! आपलोग (पितॄन् उप) पालक कर्त्ता रक्षकों और गुरु जनों के समीप (अग्निम्) अग्नि, अपने अग्रणी नेता पुरुष को (प्र हिणुत) भेजा करो । और (पितरः) पालक पितृजन (मे यज्ञम्) मेरे, मुझ राजा के यज्ञ या परस्पर मिल जुलकर संचालन करने योग्य राष्ट्र या यज्ञमय श्रेष्ठ कर्म में (जुषन्ताम्) प्रेम पूर्वक योग दें । (ये) जो लोग (आसीनाम्) बैठी हुई (ऊर्जम्) बलकारिणी सेना शक्तिको (सचन्ते) सेवन करते हैं या उपयोग करते हैं (ते) वे वीर जन (नः) हमें (सर्ववीरम्) समस्त वीरों से युक्त (रयिम्) रयि, धनैश्वर्य (नि यच्छान्) प्रदान करें ।

४०–आपो देवीः प्रहिणुताग्निमेतं यज्ञं पितरो नो जुषन्ताम् । मासीमामूर्जमुत ये भजन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छन्तु । इति हि० गृ०सू० ।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।

स वेद निहितान् निधीन् पितृन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥

भा०—लोग (घृतप्रियम्) घृत के प्रिय अग्नि के समान तेजोमय पदार्थों को धारण करने वाला तेजस्वी (हव्यवाहम्) हव्य, चरु आदि के समान समस्त स्तुतियों और ज्ञानों को वहन करने वाले (अमर्त्यम्) मरण धर्म रहित, अविनाशी परमात्मा को यज्ञ के अग्नि के समान (समिन्धते) अपनी हृदय वेदि में प्रदीप्त करते हैं। वह परमेश्वर ही (निहितान्) गुप्तरूपसे रखे (निधीन्) खजानों को समस्त ऋद्धि सिद्धि आदि ऐश्वर्यों को भी (वेद) जानता है और वही (परावतः गतान्) दूर गये (पितृन्) हमारे पूज्य पुरुषों को वेद जानता है।

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।

ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ४२ ॥

(तृ० च०) अथर्व० १८ । ३ । ६८ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरुष ! मैं परमेश्वर (यं) जिस (मन्थम्) मथे हुए दहि को (यम् ओदनम्) और जिस भात को और (यत् मांसम्) जिस मन चाहे परम अन्नादि पदार्थ को (ते) तेरे लिये (निपृणामि) प्रदान करता हूं (ते) वे समस्त पदार्थ (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) अपने शरीरों को पुष्टि देने वाले, (मधुमन्तः) मधुर रसवाले और (घृतश्चुतः) घृत के समान तेज, वीर्य के देने वाले (सन्तु) हों।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।

तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानुमन्यताम् ॥ ४३ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ६९ ॥

भा०—व्याख्या देखो इस सूक्त का मन्त्र [२६] और १८।३।६९॥ मा।

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥४४॥

भा०—हे पुरुष ! (इदं) यह मानुष देह ही वह (नियानम्) रथ है जो (पूर्वम्, अपरम्) पहले रहा और बाद में भी विद्यमान् है। (येन) जिसके द्वारा (ते) तेरे (पूर्वे पितरः) पहले पालक, पिता, पितामह आदि (परा-इताः) अपना जीवन बिताकर इस लोक से चल बसे । (अस्य) इस देह में लगे ये (अभिशाचः) सब प्रकार से शक्तिमान् और (पुरोगवाः) आगे लगे बैलों के समान आगे २ जानेवाले इन्द्रिय रूप प्राण हैं (ते) वे (त्वा) तुझ को (सुकृताम्) पुण्याचारवान् पुरुषों के (लोकम्) लोकको (वहन्ति) लेजावें ।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

भा०—(देवयन्तः) देव, उपास्य परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा वाले विद्वान् पुरुष (सरस्वतीम्) परमेश्वर को रस से परिपूर्ण नदी के समान (हवन्ते) स्तुति करते हैं । और (अध्वरे) हिंसारहित, यज्ञ के (तायमाने) किये जाते हुए यज्ञकर्त्ता, उपासक जन भी (सरस्वतीम् हवन्ते) परमेश्वर को सरस्वती रूप से स्मरण करते हैं । (सुकृतः) पुण्य कर्म करने हारे पुरुष भी (सरस्वतीम् हवन्ते) सरस्वती का स्मरण करते हैं । (सरस्वती) वह आनन्द रसमयी ब्रह्मवेदमयी, प्रभु देवता (दाशुषे) दानशील, आत्मसमर्पक भक्त को (वार्यम्) वरण करने योग्य श्रेष्ठ धन का (दातु) प्रदान करती है ।

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥४६॥

४४-(तृ०) 'अभिशाचः' इति सायणाभिमतो ह्विटनिकाम्मतश्च ।

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० १८ । १ । ४२ । ४३ ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥४८॥
(प्र०) अथर्व० १२ । ३ । २२ ॥

भा०—हे स्त्रि ! पृथिवी ! (पृथिवीम्) के समान व्रतपालन में स्थिर रहने वाली (त्वाम्) तुझको (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (आवेशयामि) बसाता हूं । (धाता) सर्वपोषक (देवः) देव सब पदार्थों का प्रदाता परमेश्वर (नः) हमें (आयुः) दीर्घजीवन (प्र तिराति) प्रदान करे । हे प्रजागण ! (परापरैता) दूर दूर तक के देशों में जाने वाला व्यापारी (वः) तुम में से (वसुविद्) नाना वसु धनों को प्राप्त करने में समर्थ (अस्तु) हो । (अध) और (मृताः) जो पुरुष मर जायं वे पुनः (पितृषु) पुत्रों के पालक गृहस्थ मां बापों के घरों में पुत्र रूपसे पुनः (सं भवन्तु) उत्पन्न हों ।

आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः ।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विह भोजनौ मम ॥४६॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों जब (आ प्रच्यवेथाम्) धर्मयुक्त मार्ग से स्खलित होजाया करो (तत्) तभी (अभिभाः) सर्वतः प्रकाशमान, विद्वान् पुरुष (अत्र) इस विषय में (वाम्) आप दोनों के (यत्) जब २ जैसा (ऊचुः) उपदेश करें तब २ वैसे ही (तत्) उस स्खलित पाप कम को (अप मृजेथाम्) शुद्ध कर, दूर कर दिया करो

४८–(तृ०) 'परापरेताः' (च०) 'अथामृताः' इति च सायणाभिमतः।
४६–(तृ०) 'वशीयः' इति सायणाभिमतः ।

उसका प्रायश्चित्त कर लिया करो । हे (अघ्न्यौ) अविनाशी आत्माओ ! (अस्मात्) इस प्रकार के स्खलित पाप से तुम सदा (आ इतम्) पुनः लौट कर सत् पथ पर आजाओ । (तत्) तुमारा यह कर्म ही (वशीयः) तुमारे सब पाप प्रवृत्तियों पर वश करने में प्रशस्त है। और (मम दातुः) सब पदार्थ प्रदान करने वाले मुझ पुत्र के (पितृषु) पालक गृहस्थों के बीच (इह) इस लोक में तुम दोनों ही (भोजनौ) परिपालक होकर (एतम्) आओ ।

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपराणयादिमान्
॥ ५० ॥ (२४)

भा०—(इयम् दक्षिणा) यह दक्षिणा, दक्ष=बल या शक्ति से पूर्ण दक्षिणारूपसे प्राप्त गौ (भद्रतः) कल्याणमय पुरुष से (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त हो । क्योंकि (अनेन) इस उत्तम यजमान से (दत्ता) प्रदान की हुई यह गौ (वयोधाः) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों की दात्री, (सुदुघाः) उत्तम २ पदार्थों को भी प्रदान करती है । और (यौवने) यौवन काल में और (जरा) बुढ़ापे के कालमें भी वर्तमान जवान और बूढ़े सभी (जीवान्) जीवों को (उपपृञ्चती) प्राप्त होती, उनसे प्रेम करती हुई (इमान्) इन समस्त जीवों को (पितृभ्यः) उनके पालकों के लिये (उप-सं-पराणयात्) पर्याप्त दीर्घ जीवन तक की यात्रा करा देती है, अर्थात् देरतक पालती रहती है ।

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदा रोह पुरुषमेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥५१॥

५१–(प्र०) 'भरेम' (द्वि०) 'देवेभ्यो जीवन्त उत्तरं भरेम' (तृ० च०) 'तत्त्वमारोहासो मेध्यो भव यमेन त्वं यम्या संविदानः' इति तै०आ०।

भा०—(पितृभ्यः) पालन करने हारे पिता पितामह आदि के लिये मैं (इदम्) यह (बर्हिः) कुश आदि का बना आसन (प्र भरामि) नित्य लाऊं और बिछाऊं। और (देवेभ्यः) देव, विद्याप्रदाता, गुरुजनों के लिये (जीवन्) स्वयं जीवित रहता हुआ (उत्तरम्) अपने मांबाप से भी ऊंचा आसन (स्तृणामि) बिछाऊं। हे (पुरुष) पुरुष ! तू (मेध्यः) मेध्य, पवित्र, (भवन्) होकर (तत्) उस आसनपर (आ रोह) चढ़, विराजमान हो। (पितरः) पालक पिता आदि गुरुजन (परा इतम्) दूर या उत्कृष्ट स्थान पर प्राप्त हुए या परलोक में गये हुए भी (त्वाम्) तुझको (प्रति जानन्तु) स्मरण करें। अर्थात् पुरुष ऊंचे पदों को पवित्र होकर प्राप्त करे कि जिससे उसके गुरुजन उसको अपने से दूर देश में रहते या मृत को भी प्रेम से स्मरण किया करें।

एदं ब॒र्हिर॑सदो॒ मेध्यो॑ऽभूः॒ प्रति॑ त्वा जानन्तु पि॒तरः॒ परे॑तम्।
य॒था॒प॒रु त॒न्वं१॒ सं भ॑रस्व॒ गात्रा॑णि ते॒ ब्रह्म॑णा कल्पयामि ॥५२॥

भा०—हे पुरुष ! तू (इदं) इस (बर्हिः) कुशा के बने आसन पर (आ असदः) बैठ। और (मेध्यः अभूः) तू पवित्र, यज्ञयोग्य हो। (पितरः) तेरे पालक पिता माता आदि जन (परेतम्) लोकान्तर या देशान्तर में दूर चले जाने पर भी (त्वा) तुझे (प्रतिजानन्तु) स्मरण करें। तू (यथा परु) प्रत्येक पर्व २ या शरीर के प्रत्येक जोड़ की बिना उपेक्षा किये अपने (तन्वं) शरीर को (सं भरस्व) अच्छा प्रकार पुष्ट कर। मैं विद्वान् पुरुष या अमृत जीवन शक्ति (ते गात्राणि) तेरे समस्त गात्रों को (ब्रह्मणा) ब्रह्म, बल, वीर्य, सामर्थ्य से (कल्पयामि) युक्त करता हूं। यदमृतं तद् ब्रह्म। गो० ५।३।४॥

(द्वि०) 'जीवन् देवेभ्यः' इति सायणाभिमतः।
५२-(तृ०) 'यथा पुरु' इति सायणाभिमतः।

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥

भा०—प्रजा के रक्षक राजा का स्वरूप बतलाते हैं। (चरूणाम्) जिस प्रकार भात जो देगचों में पकते हैं उनको सुरक्षित रखने के लिये (पर्णम् अपिधानम्) पत्ते का ढक्कन धर दिया जाता है इसी प्रकार (चरूणाम्) संचरण करने वाले प्रजाओं, जीवों को (अपिधानम्) ढककर धरने वाला पुरुष (पर्णः) उनको पालन और पूरण करने वाला पुरुष ही उनका रक्षक है। वह ही (ऊर्जः) राष्ट्रका बल और प्राणरूप, (सहः) शत्रुओं को पराजय करता (ओजः) देह में कान्ति, वर्णकारी ओज के समान राष्ट्र में तेजः स्वरूप होकर (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त होता है। वह (शतशारदाय) सौ बरस तक के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के प्राप्त करने के लिये (जीवेभ्यः) समस्त राष्ट्र के मनुष्य प्रजाओं का (आयुः) जीवन (विदधत्) प्रदान करता है। उत्तम सुरक्षक राजा के राज्य में प्रजाएं दीर्घायु होती हैं।

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥५४॥

(तृ० च०) अथर्व० १८ । २ । ६३ तृ० च० ॥

भा०—(ऊर्जः) अन्न, या बल और प्राण देनेवाले पदार्थ का (यः) जो (भागः) षष्ठ भाग (इमम्) इस राजा को (जजान) उत्पन्न करता है उससे ही वह (अश्मा अन्नानाम्) अन्नों को पीस डालने वाले चक्की के पाट के समान (अश्मा अन्नानाम्) प्रजाओं को दलन करने में समर्थ वीर्यवान् होकर (आधिपत्यम्) अधिपति पद को (जगाम) प्राप्त हो जाता है। हे (विश्वमित्राः) समस्त प्रजाओं के स्नेहपात्र, प्रतिष्ठित

५३–१. ऊर्ज बलप्राणनयोरेतस्माण्ण्यन्तात्पचाद्यच् । ऊर्जः ।

पुरुषो! आप लोग (हविर्भिः) उत्तम स्तुतियों और अन्नों द्वारा (तम् अर्चत) उसकी अर्चा या पूजा सत्कार करो। (सः) वह (नः) हमारा, हमारे राष्ट्र का (यमः) नियन्ता यम, राजा है, वह हमें (प्रतरं) खूब लम्बे (जीवसे) जीवन के लिये (धात्) शक्ति प्रदान करे।

यथा॑ य॒माय॑ ह॒र्म्यमव॑पन् पञ्च॑ मान॒वाः ।
ए॒वा व॑पामि ह॒र्म्यं यथा॑ मे भू॒रयोस॑त ॥ ५५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पञ्च मानवाः) पांच प्रकार के मनुष्य (यमाय) सर्व नियन्ता राजा के लिये (हर्म्यम्) हर्म्य, राजमहल (अवपन्) खड़ा कर देते हैं (एवा) उसी प्रकार मैं (हर्म्यम्) बड़ा महल अपने लिये भी (वपामि) खड़ा करूं (यथा) जिससे (मे) मेरे अधीन (भूरयः) बहुत से मिलने जुलने वाले मित्र, भृत्य आदि (असत) रहें। सायण के अनुसार इस मन्त्र में समाधें या कबरें बनाने परक अर्थ निकलता है।

इ॒दं हिर॑ण्यं बिभृहि॒ यत् ते॑ पि॒ताबि॑भः पु॒रा ।
स्व॒र्गं य॒तः पि॒तुर्हस्तं॒ निर्मृ॑ड्ढि दक्षि॒णम् ॥ ५६ ॥

भा०—हे पुरुष! (यतः) जिस सुवर्ण के आभूषण को (ते पिता) तेरे पिता ने (पुरा) पहले (अबिभः) धारण किया, तू (इदं) उसी इस (हिरण्यम्) सुवर्ण के बने आभूषण को (बिभृहि) धारण कर। (स्वर्गं) स्वर्गमय लोक में (यतः) प्रयाण करते हुए (पितुः) पिता के (दक्षिणम् हस्तम्) दायें हाथ को (निर्मृड्ढि) स्वच्छ कर। अर्थात्—उसके दायें हाथ का कर्तव्य अपने ऊपर ले।

५५–(प्र० तृ०) 'हार्म्यं' (तृ०) 'एवं' (च०) 'यथासां जीवलोके भूरयोसत' इति तै० आ०। (च०) 'असतः' इति क्वचित्।

५६–(च०) 'शतधारा' अथर्व०।

ये चं जीवा ये चं मृता ये जाता ये चं यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्यं कुल्यै/तु मधुंधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ७२ तृ० च० ।

भा०—(ये च) जो भी (जीवाः) जीवित पुरुष हैं, और (ये च मृताः) जो मर गये हैं और (ये जाताः) जो उत्पन्न हुए, नवजात शिशु हैं, और (ये च) जो (यज्ञियाः) यज्ञ, आत्मा और पर ब्रह्म की उपासना में लगे हैं अथवा (यज्ञियाः=जज्ञियाः) जो उत्पन्न होते हैं (तेभ्यः) उन सब के लिये (घृतस्य कुल्या) घृत और अन्यान्य पुष्टिकारक पदार्थों की धारा और (मधुधारा) मधुर, मधु और आनन्द की धारा (वि-उन्दती) हृदय को आर्द्र करती हुई (एतु) प्राप्त हो ।

अध्यात्म ऊर्ध्वगति का वर्णन करते हैं ।

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कुलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया
॥ ५८ ॥ ऋ० ९ । ८६ । १९ ॥

भा०—(मतीनाम्) मनन करने योग्य ज्ञानों का (वृषा) वर्षण करने वाला (विचक्षणः) विविध प्रकार से ज्ञानों का द्रष्टा (अह्नाम्) दिनों का (सूरः) प्रेरक, उत्पादक (दिवः) प्रकाश और (उषसाम्) उषाओं के (प्रतरीता) प्रवर्त्तक सूर्य के समान (विचक्षणः) विविध

५७–१. 'जज्ञि' उत्पत्तिं यान्ति इति 'जज्ञियाः' इति सायणः । 'जज्ञियाः' इति सायणाभिमतः । (द्वि०) 'जन्त्या' इति तै० आ० ।
५८–(द्वि०) 'सोमो अह्नः प्रतरीतोषसो दिवः' (तृ०) 'क्राणा', 'अचीवचत्' (च०) 'हार्दि', 'मनीषिभिः' इति ऋ० । 'हार्दिम् विशन् मनी'-इति सायणाभिमतः ।

रूप से दर्शनीय (सिन्धूनाम्) निरन्तर विषयों में बहनेवाले इन्द्रियों का (प्राणः) जीवित, चेतन करने वाला मुख्य प्राण रूप आत्मा (कलशान्) कलश या घट रूप इन देहों को (अचिक्रदत्) प्राप्त होता और उनको भी सजीव करता है और (इन्द्रस्य) इन्द्र आत्मा के (हार्दिम्) हृदय में (मनीषया) मनकी प्रेरणा शक्ति द्वारा (आविशत्) प्रविष्ट होता है ।

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षञ्छुक्र आततः ।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥

ऋ० ६ । २ । ६ ॥ साम० १ । ८३ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे परम पुरुष ! (ते) तेरा (धूमः) धूमके समान नीला (त्वेषः) प्रकाश (ऊर्णोतु) सर्वत्र फैले । और (दिवि) प्रकाश स्वरूप मोक्ष में तू (शुक्रः) शुक्र, निष्पाप, कान्तिमान् होकर (आततः) व्याप्त हो । (त्वं) तू (द्युता) कान्ति से (सूरः न) सूर्य के समान प्रकाशवान् होकर (कृपा) अपने सामर्थ्य से हे (पावक) पवित्र करने हारे, आत्ममलशोधक अग्निस्वरूप आत्मन् ! (रोचसे) प्रकाशित हो ।

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥

ऋ० ९ । ८६ । १६ ।

भा०—जीव ईश्वर के मोक्षमें मिलाप का वर्णन करते हैं । (इन्दुः) चन्द्र के समान आल्हादक गुणों से युक्त तथा पर प्रकाश से प्रकाशित होने वाला

५९–(प्र०) 'धूम ऋण्वति' इति ऋ० ।
६०–(प्र०) 'प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतम्' (द्वि०) संगिरं' (तृ०) 'युवतिभिः', 'अर्षति' (च०) 'शतयाम्ना' इति ऋ० ।

जीव मोक्षमें (इन्द्रस्य) उस महान् ऐश्वर्यवान्, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर के (निष्कृतिम्) उस परम मोक्ष धामको जिसमें और कोई कार्य करना शेष न रह जाय (प्र एति) प्राप्त होता है। तब (सखा सख्युः न) जिस प्रकार मित्र अपने परममित्र के स्थान को प्राप्त करता है और बराबर (संगिरः) उत्तम मित्रतायुक्त प्रेमोक्तियों को (प्रमि-नाति) कहता है उसी प्रकार वह जीव भी उस परमेश्वर के धाम को पहुंच कर उसके संग (सं-गिरः) उत्तम स्तुति वाणियों को (प्रमिनाति) उच्चारण करता है, उसकी बहुत २ स्तुतियां करता है। और फिर (मर्यः) हे परमेश्वर ! जिस प्रकार पुरुष, मर्द (योषाः इव) नाना स्त्रियों को भी स्वयं भोग लेता है उसी प्रकार प्रेम युक्त होकर तू एक होकर नाना जीवों का अपने अनन्त सामर्थ्य से सबको उसी आनन्दमय रूप में (शतयामना पथा,) सैकड़ों पुरुषों से चलने योग्य मार्गद्वारा तू (सोमः) सर्व प्रेरक होकर (कलशे) हृदय कलश में (सम् अर्षसे) सबको एक साथ ही प्राप्त होता है, साक्षात् होकर आनन्दित करता है। इसी एक पुरुष के नाना स्त्री भोगने के दृष्टान्त से पद्मपुराण, भागवत आदि में कृष्ण गोपी आदि के रमण को प्रधानता देने का साम्प्रदायिकों ने यत्न किया है।

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

ऋ० १। ८२। २ ॥ यजु० ३। ५१ ॥

भा०—(स्वभानवः) स्वयंप्रकाश, ज्ञानी (विप्राः) मेधावी पुरुष जब उस परम ब्रह्मके साक्षात्कार से प्राप्त सोम रस को (अक्षन्) आस्वादन करते हैं तब वे (अमीमदन्त) निरन्तर तृप्त रहा करते हैं, तब ही वे अपने (प्रियान्) प्रिय शरीर के भोगों को (अधूषत) कपाकर झाड़ देते हैं वे अपने कर्म बन्धनों और हार्दिक मलों का त्यागकर अवधूत पापरहित

६१–(द्वि०) 'प्रियाः' (च०) 'विप्रा न विष्ठयामती' इति ऋ०।

भा०—(जातवेदाः) वेदों का जानने हारा जो पुरुष सूर्य के समान हमारे पास (दूतः) दूत, उत्तम संदेश पहुंचाने वाले के रूप में (प्रहितः) भेजा (अभूत्) जाता है। वह (सायं विन्द्यः) सायं प्रातः दोनों समय (नृभिः) पुरुषों द्वारा (उपवन्द्यः) सदा नमस्कार करने योग्य होता है। हे (जातवेदः) विद्वान्! तू (हवींषि) नाना अन्न (पितृभ्यः) अपने पूज्यपितरों को (प्र अदाः) प्रदान कर। (ते) वे (स्वधया) अपने प्राणशक्ति से या अपने शरीर के धारण के हेतु (हवींषि अक्षन्) उन अन्नों का भोजन करें। और हे (देव) देव! विद्वन्! तब (त्वम्) तभी (प्रयता) अति नियमित (हवींषि) अन्नों का स्वयं (अद्धि) भोगकर।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः।
अभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

भा०—(हे असौ) हे परलोकगत और परदेशगत पुरुष! (इह ते मनः) तेरा मन उस लोक में ही लगा है। (जामय इवः) भगिनियें या स्त्रियें जिस प्रकार (ककुत्सलम्) अपने कन्धे के भाग को ढके रहती हैं, हे (भूमे) भूमे! तू भी (एनम्) उसको (अभि ऊर्णुहि) सब प्रकार से ढांक, सुरक्षित रख।

क्या यवनों और ईसाइयों में दफन करने का यही मूल तो नहीं है?

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥ यजु० ५। २६ ॥

भा०—(पितृषदनाः) पूज्य पालक पुरुषों के घर, निवास के

भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत्' इति ऋ०।
६६–(द्वि०) 'ककुत्स्थलमिव' इति सायणाभिमतः।
६७–'शुन्धन्तां' इति यजु०।

जीव मोक्ष में (इन्द्रस्य) उस महान् ऐश्वर्यवान्, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर के (निष्कृतिम्) उस परम मोक्ष धामको जिसमें और कोई कार्य करना शेष न रह जाय (प्र एति) प्राप्त होता है। तब (सखा सख्युः न) जिस प्रकार मित्र अपने परममित्र के स्थान को प्राप्त करता है और बार बार (संगिरः) उत्तम मित्रतायुक्त प्रेमोक्तियों को (प्रमिनाति) कहता है उसी प्रकार वह जीव भी उस परमेश्वर के धाम को पहुंच कर उसके संग (संगिरः) उत्तम स्तुति वाणियों को (प्रमिनाति) उच्चारण करता है, उसकी बहुत २ स्तुतियां करता है। और फिर (मर्यः) हे परमेश्वर ! जिस प्रकार पुरुष, मर्द (योषाः इव) नाना स्त्रियों को भी स्वयं भग लेता है उसी प्रकार प्रेम युक्त होकर तू एक होकर नाना जीवों का अपने अनन्त सामर्थ्य मे सबको उसी आनन्दमय रूप में (शतयामना पथा,) सैकड़ों पुरुषों से चलने योग्य मार्गद्वारा तू (सोमः) सर्व प्रेरक होकर (कलशे) हृदय कलश में (सम् अर्षसे) सबको एक साथ ही प्राप्त होता है, साक्षात् होकर आनन्दित करता है। इसी एक पुरुष के नाना स्त्री भोगने के दृष्टान्त से पद्मपुराण, भागवत आदि में कृष्ण गोपी आदि के रमण को प्रधानता देने का साम्प्रदायिकों ने यत्न किया है।

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

ऋ० १ । ८२ । २ ॥ यजु० ३ । ५१ ॥

भा०—(स्वभानवः) स्वयंप्रकाश, ज्ञानी (विप्राः) मेधावी पुरुष जब उस परम ब्रह्मके साक्षात्कार से प्राप्त सोम रस को (अक्षन्) आस्वादन करते हैं तब वे (अमीमदन्त) निरन्तर तृप्त रहा करते हैं, तब ही वे अपने (प्रियान्) प्रिय शरीर के भोगों को (अधूषत) कपांकर झाड़ देते हैं वे अपने कर्म बन्धनों और हार्दिक मलों का त्यागकर अवधूत पापरहित

६१–(द्वि०) 'प्रियाः' (च०) 'विप्रा न विष्ठयामती' इति ऋ० ।

भा०—(जातवेदाः) वेदों का जानने हारा जो पुरुष सूर्य के समान हमारे पास (दूतः) दूत, उत्तम सदेश पहुंचाने वाले के रूप में (प्रहितः) भेजा (अभूत्) जाता है। वह (सायं विन्द्यः) सायं प्रातः दोनों समय (नृभिः) पुरुषों द्वारा (उपवन्द्यः) सदा नमस्कार करने योग्य होता है। हे (जातवेदः) विद्वान्! तू (हवींषि) नाना अन्न (पितृभ्यः) अपने पूज्यपितरों को (प्र अदाः) प्रदान कर। (ते) वे (स्वधया) अपने प्राणशक्ति से या अपने शरीर के धारण के हेतु (हवींषि अक्षन्) उन अन्नों का भोजन करें। और हे (देव) देव! विद्वन्! तव (त्वम्) तभी (प्रयता) अति नियमित (हवींषि) अन्नों का स्वयं (अद्धि) भोगकर।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः।
अभ्ये/नं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

भा०—(हे असौ) हे परलोकगत और परदेशगत पुरुष! (इह ते मनः) तेरा मन उस लोक में ही लगा है। (जामय इव) भगिनियें या स्त्रियें जिस प्रकार (ककुत्सलम्) अपने कन्धे के भाग को ढके रहती हैं, हे (भूमे) भूमे! तू भी (एनम्) उसको (अभि ऊर्णुहि) इस प्रकार से ढांक, सुरक्षित रख।

क्या यवनों और ईसाइयों में दफ़न करने का यही मूल तो नहीं है?

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥ यजु० ५ । २६ ॥

भा०—(पितृषदनाः) पूज्य पालक पुरुषों के घर, निवास के

भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठंनो अत्र द्रविणं यथा दधत्' इति ऋ०।

६६–(द्वि०) 'ककुत्स्थलमिव' इति सायणाभिमतः।

६७–'शुन्धन्तां' इति यजु०।

जीव मोक्षमें (इन्द्रस्य) उस महान् ऐश्वर्यवान्, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर के (निष्कृतिम्) उस परम मोक्ष धामको जिसमें और कोई कार्य करना शेष न रह जाय (प्र एति) प्राप्त होता है। तब (सखा सख्युः न) जिस प्रकार मित्र अपने परममित्र के स्थान को प्राप्त करता है और बरावर (संगिरः) उत्तम मित्रतायुक्त प्रेमोक्तियों को (प्रमिनाति) कहता है उसी प्रकार वह जीव भी उस परमेश्वर के धाम को पहुंच कर उसके संग (सं-गिरः) उत्तम स्तुति वाणियों को (प्रमिनाति) उच्चारण करता है, उसकी वहुत २ स्तुतियां करता है। और फिर (मर्यः) हे परमेश्वर ! जिस प्रकार पुरुष, मर्द (योषाः इव) नाना स्त्रियों को भी स्वयं भोग लेता है उसी प्रकार प्रेम युक्त होकर तू एक होकर नाना जीवों का अपने अनन्त सामर्थ्य से सबको उसी आनन्दमय रूप में (शतयामना पथा,) सैकड़ों पुरुषों से चलने योग्य मार्गद्वारा तू (सोमः) सर्व प्रेरक होकर (कलशे) हृदय कलश में (सम् अर्षसे) सबको एक साथ ही प्राप्त होता है, साक्षात् होकर आनन्दित करता है। इसी एक पुरुष के नाना स्त्री भोगने के दृष्टान्त से पद्मपुराण, भागवत आदि में कृष्ण गोपी आदि के रमण को प्रधानता देने का साम्प्रदायिकों ने यत्न किया है।

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव॑ प्रियाँ अधूषत ।
अस्तो॑षत स्वभानवो विप्रा यवि॑ष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

ऋ० १ । ८२ । २ ॥ यजु० ३ । ५१ ॥

भा०—(स्वभानवः) स्वयंप्रकाश, ज्ञानी (विप्राः) मेधावी पुरुष जब उस परम ब्रह्मके साक्षात्कार से प्राप्त सोम रस को (अक्षन्) आस्वादन करते हैं तब वे (अमीमदन्त) निरन्तर तृप्त रहा करते हैं, तब ही वे अपने (प्रियान्) प्रिय शरीर के भोगों को (अधूषत) कपांकर झाड़ देते हैं वे अपने कर्म बन्धनों और हार्दिक मलों का त्यागकर अवधूत पापरहित

६१—(द्वि०) 'प्रियाः' (च०) 'विप्रा न विष्ठयामती' इति ऋ० ।

भा०—(जातवेदाः) वेदों का जानने हारा जो पुरुष सूर्य के समान हमारे पास (दूतः) दूत, उत्तम सदेश पहुंचाने वाले के रूप में (प्रहितः) भेजा (अभूत्) जाता है। वह (सायं विन्द्यः) सायं प्रातः दोनों समय (नृभिः) पुरुषों द्वारा (उपवन्द्यः) सदा नमस्कार करने योग्य होता है। हे (जातवेदः) विद्वान्! तू (हवींषि) नाना अन्न (पितृभ्यः) अपने पूज्यपितरों को (प्र अदाः) प्रदान कर। (ते) वे (स्वधया) अपने प्राणशक्ति से या अपने शरीर के धारण के हेतु (हवींषि अक्षन्) उन अन्नों का भोजन करें। और हे (देव) देव! विद्वन्! तब (त्वम्) तभी (प्रयता) अति नियमित (हवींषि) अन्नों का स्वयं (अद्धि) भोगकर।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः।
अभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

भा०—(हे असौ) हे परलोकगत और परदेशगत पुरुष! (इह ते मनः) तेरा मन उस लोक में ही लगा है। (जामय इवः) भगिनियें या स्त्रियें जिस प्रकार (ककुत्सलम्) अपने कन्धे के भाग को ढके रहती हैं, हे (भूमे) भूमे! तू भी (एनम्) उसको (अभि ऊर्णुहि) सब प्रकार से ढांक, सुरक्षित रख।

क्या यवनों और ईसाइयों में दफन करने का यही मूल तो नहीं है?

शुम्भ॑न्तां लोकाः पितृषद॑नाः पितृषद॑ने त्वा लोक आ सा॑दयामि ॥ ६७ ॥ यजु० ५ । २६ ॥

भा०—(पितृषदनाः) पूज्य पालक पुरुषों के घर, निवास के

मजति मानवेभ्यः श्रेष्ठनो अत्र द्रविणं यथा दधत्' इति ऋ०।

६६–(द्वि०) 'ककुत्स्थलमिव' इति सायणाभिमतः।

६७–'शुन्धन्तां' इति यजु०।

(लोकाः) लोक (शुम्भन्ताम्) सुशोभित रहें । हे पूजनीय पुरुष ! (पितृषदने लोके) पितरों के विराजने के स्थान में (त्वा) तुमको (आसादयामि) प्राप्त करता हूं, आदर पूर्वक बिठाता हूं ।

ये॒ऽस्माकं॑ पि॒तर॒स्तेषां॑ ब॒र्हिर॑सि ॥ ६८ ॥

भा०—(ये) जो (अस्माकं) हमारे (पितरः) पूज्य पालक गुरु-जन हैं हे आसन ! तू (तेषां) उनके (बर्हिः असि) वृद्धि को प्राप्त कराने वाला, प्रतिष्ठा का आसन है ।

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥ ६९ ॥

ऋ० १ । ५४ । १५ ॥ अथर्व० ७ । ८३ । ३ ॥

भा०—हे (वरुण) सब से वरण करने योग्य परमेश्वर ! आप हमारे (उत्तम) उत्कृष्ट (पाशम्) सात्विक कर्म बन्धन को (उत्-श्रथाय) ऊपर से खोल दे । (अधमं पाशं अव श्रथाय) नीचे के पाशको नीचे ढीला-कर, सरकादे और (मध्यमं) बीच के राजस कर्मबन्धन को भी (वि श्रथाय) विशेष रूप से ढीला कर । (अथा) और हे (आदित्य) सूर्य के समान सबके वशयितः । (तव व्रते) तेरे व्रत में निष्ठ होकर (वयम्) हम (अदितये) अखण्ड, अविनाशी पदकी प्राप्ति के लिये (अनागसः) पापरहित, (स्याम) हों । व्याख्या देखो (अथर्व० ७ । ८३ । ३ ॥)

प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मुञ्च॒ सर्वा॒न् यैः स॑मा॒मे ब॒ध्यते॒ यैर्व्या॒मे ।
अथा॑ जीवेम श॒रदं॑ श॒तानि॒ त्वया॑ राजन् गुपि॒ता रक्ष॑माणाः ॥७०॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! परमात्मन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान्) उन सब (पाशान्) कर्मबन्धनों को (प्रमुञ्च) छुड़ा (यैः) जिनों से यह जीव (समामे) समान रूप से (बध्यते) बांधा जाता है और जिनों से जीव (व्यामे) विशेष रूप से भी बन्ध जाता है । हे ! (राजन्) सबके

(वः यद्) आपलोगों का जो (घोरम्) भयंकर कार्य है (तस्मै नमः) उसका भी हम आदर करते हैं। (यत् व. क्रूरं तस्मै नमः) जो आपका युद्ध आदि के अवसर पर क्रूर शत्रुहिंसा आदि कर्म है उसका भी हम आदर करते हैं । हे (पितरः पितरः) प्रजाके पालक पुरुषो ! (वः यत् शिवम् तस्मै नमः) आपलोगों का जो शिव, मङ्गल, कल्याणकारी कार्य है उसका हम आदर करते हैं । (वः यत् स्योनं तस्मै नमः) आप लोगों का जो प्रजाको सुख पहुंचाने वाला कार्य है उसका हम आदर करते हैं । हे (पितरः २) पालक पुरुषो ! (वः नमः) आपलोगों का हम आदर करते हैं और (वः स्वधा) आप लोगों के निमित्त शरीर पोषक यह अन्न प्रदान करते हैं ।

येऽत्र॑ पि॒तरः॑ पि॒तरो॒ येऽत्र॑ यू॒यं स्थ ।
यु॒ष्मांस्तेऽनु॑ यू॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्थ ॥ ८६ ॥

भा०—हे (पितरः) माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजन (अत्र) इस लोक में (ये) जो भी (पितरः) पालन करनेहारे हैं और (ये) जो (अत्र) यहां (यूयं स्थ) आप लोग हैं उनमें से जो (युष्मान् अनु ते) आप लोगों के अनुगामी है वे पूजनीय हैं। और (तेषाम्) उनमें से (यूयम्) आप लोग ही (श्रेष्ठाः भूयास्थ) श्रेष्ठ, अधिक आदर और प्रशंसा के पात्र रहें ।

य इ॒ह पि॒तरो॑ जी॒वा इ॒ह व॒यं स्मः॑ ।
अ॒स्मांस्तेऽनु॑ व॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्म ॥ ८७ ॥

भा०—(इह) इस लोक में हे (पितरः) पालक जनो ! (ये)

८६-८७—'पितरो त्र' इति ह्विटनिकामितः । 'येत्र पितरः पितरःस्थ यूयं तेषां श्रेष्ठाःस्थ' । 'य इह पितरो मनुष्या वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म' इति शा० श्रा० सू० । य एतस्मिं लोके स्थ युष्मांस्ते ऽनु ।

(लोकाः) लोक (शुम्भन्ताम्) सुशोभित रहें । हे पूजनीय पुरुष ! (पितृषदने लोके) पितरों के विराजने के स्थान में (त्वा) तुझको (आसादयामि) प्राप्त करता हूं, आदर पूर्वक बिठाता हूं ।

ये॒३॑स्माकं॑ पि॒तर॒स्तेषां॑ ब॒र्हिर॑सि ॥ ६८ ॥

भा०—(ये) जो (अस्माकं) हमारे (पितरः) पूज्य पालक गुरु-जन हैं हे आसन ! तु (तेषां) उनके (बर्हिः असि) वृद्धि को प्राप्त कराने वाला, प्रतिष्ठा का आसन है ।

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।
अधा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥ ६९ ॥
ऋ० १ । २४ । १५ ॥ अथर्व० ७ । ८३ । ३ ॥

भा०—हे (वरुण) सब से वरण करने योग्य परमेश्वर ! आप हमारे (उत्तम) उत्कृष्ट (पाशम्) सात्विक कर्म बन्धन को (उत्-श्रथाय) ऊपर से खोल दे । (अधमं पाशं अव श्रथाय) नीचे के पाशको नीचे ढीला-कर, सरकादे और (मध्यमं) बीच के राजस कर्मबन्धन को भी (वि श्रथाय) विशेष रूप से ढीला कर । (अथ) और हे (आदित्य) सूर्य के समान सबके वशयितः । (तव व्रते) तेरे व्रत में निष्ठ होकर (वयम्) हम (अदितये) अखण्ड, अविनाशी पदकी प्राप्ति के लिये (अनागसः) पापरहित, (स्याम) हों । व्याख्या देखो (अथर्व० ७ । ८३ । ३ ॥)

प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मुञ्च॒ सर्वा॒न् यैः स॑मा॒मे ब॒ध्यते॒ यैर्व्या॒मे ।
अधा॑ जीवेम श॒रदं॑ श॒तानि॒ त्वया॑ राजन् गुपि॒ता रक्ष॑माणाः ॥ ७० ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! परमात्मन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान्) इन सब (पाशान्) कर्मबन्धनों को (प्रमुञ्च) छुड़ा (यैः) जिनों से यह जीव (समामे) समान रूप से (बध्यते) बांधा जाता है और जिनों से जीव (व्यामे) विशेष रूप से भी बन्ध जाता है । हे ! (राजन्) सबके

(वः यद्) आपलोगों का जो (घोरम्) भयंकर कार्य है (तस्मै नमः) उसका भी हम आदर करते हैं। (यत् वः क्रूरं तस्मै नमः) जो आपका युद्ध आदि के अवसर पर क्रूर शत्रुहिंसा आदि कर्म है उसका भी हम आदर करते हैं। हे (पितरः पितरः) प्रजाके पालक पुरुषो ! (वः यत् शिवम् तस्मै नमः) आपलोगों का जो शिव, मङ्गल, कल्याणकारी कार्य है उसका हम आदर करते हैं। (वः यत् स्योनं तस्मै नमः) आप लोगों का जो प्रजाको सुख पहुंचाने वाला कार्य है उसका हम आदर करते हैं। हे (पितरः २) पालक पुरुषो ! (वः नमः) आपलोगों का हम आदर करते हैं और (वः स्वधा) आप लोगों के निमित्त शरीरपोषक यह अन्न प्रदान करते हैं।

येऽत्र॑ पि॒तर॑: पि॒तरो॒ येऽत्र॑ यू॒यं स्थ ।
यु॒ष्मांस्तेऽनु॑ यू॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्थ ॥ ८६ ॥

भा०—हे (पितरः) माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजन (अत्र) इस लोक में (ये) जो भी (पितरः) पालन करनेहारे हैं और (ये) जो (अत्र) यहां (यूयं स्थ) आप लोग हैं उनमें से जो (युष्मान् अनु ते) आप लोगों के अनुगामी है वे पूजनीय हैं। और (तेषाम्) उनमें से (यूयम्) आप लोग ही (श्रेष्ठाः भूयास्थ) श्रेष्ठ, अधिक आदर और प्रशंसा के पात्र रहें।

य इ॒ह पि॒तरो॑ जी॒वा इ॒ह व॒यं स्मः॑ ।
अ॒स्मांस्तेऽनु॑ व॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्म ॥ ८७ ॥

भा०—(इह) इस लोक में हे (पितरः) पालक जनो ! (ये)

८६–८७—'पितरो त्र' इति ह्विटनिकामितः। 'येत्र पितरः पितरःस्थ यूयं तेषां श्रेष्ठाःस्थ'। 'य इह पितरो मनुष्या वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म' इति शा० श्रा० सू०। य एतस्मिं लोके स्थ युष्मांस्ते ऽनु।

जो (जीवाः) जीव हैं और (इह) इस लोक में (ये वयं स्मः) जो हम लोग भी हैं। (ते) वे सब जीव (अस्मान् अनु) हम से उतर कर रहें। और (वयं) हम (तेषाम्) उन सब जीवों में (श्रेष्ठाः भूयास्म) श्रेष्ठ होकर रहें।

अर्थात् सब पालकों में से मां बाप, गुरुजन अधिक आदर योग्य हों और अन्य सब जीवों में हम श्रेष्ठ होकर रहें।

आ त्वा॑ग्न इधीमहि द्युमन्तं॑ देवाजरम् ।
यद् घ सा ते पनी॑यसी स॒मिद् दी॒दय॑ति॒ द्यवि॑ ।
इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ८८ ॥ ऋ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! हे (देव) देव ! द्योतमान ! प्रकाश स्वरूप ! (द्युमन्तम्) प्रकाशमान् (अजरम्) अविनाशी (त्वा) तेरी (इधीमहि) उपसना करें। (यत्) क्योंकि (ते) तेरी ही (सा) यह जगत् प्रसिद्ध (पनीयसी) अति प्रशंसनीय, स्तुति करने योग्य (समित्) अति देदीप्यमान सूर्यरूप शक्ति (द्यवि) द्यौलोक में (दीदयति) प्रकाशमान है। हे परमेश्वर ! तू (स्तोतृभ्यः) गुण गान करने वाले उपासकों को (इषम्) अन्न और भीतरी मानस प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त करा।

च॒न्द्रमा॑ अ॒प्स्व१॒॑न्तरा सु॑प॒र्णो धा॑वते दि॒वि ।

---

* येऽस्मिं लोके मां तेऽनु। य एतस्मिन् लोकेस्थ यूयं तेषां वसिष्ठा भूयास्त। येस्मिं लोकेऽहं तेषां वसिष्ठा भूयासम्'। इति तै० आ० 'एता अस्माकं पितरः। इमा अस्माकम्। जीवा वो जीवन्त इह सन्तः स्याम। इति मै० सं०। 'एता युष्माकं पितरः। इमा अस्माकं।' इति आ० श्रौ०। सू० ॥

८८—'आ ते अग्न' (तृ०) 'यद्ध स्यात' इति ऋ०। ऋग्वेदे वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः।

करने वाले, लाने वाले हवि=आज्ञा या उपाय से इस यज्ञ में (जुहोमि) आहुति करता हूं, अपने आपको लगाता हूं।

इ॒मं होमा॑ य॒ज्ञम॑वते॒मं सं॑स्रावणा उ॒त ।
य॒ज्ञमि॒मं व॑र्धयता गिरः संस्रा॒व्ये॑ण ह॒विषा॑ जुहोमि ॥ २ ॥

भा०—हे (होमाः) होमो ! यज्ञो ! आप (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ की, यज्ञकर्त्ता पुरुष की या यज्ञमय राष्ट्र की (अवत) रक्षा करो । (उत) और हे (संस्रावणाः) समस्त ऐश्वर्यों को भली प्रकार प्राप्त करानेहारे उपायो ! तुम भी (इमम् अवत) इस यज्ञपति और राष्ट्रपति की रक्षा-करो । (यज्ञम् इमम् इत्यादि पूर्ववत्)

रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वयः सं॒रभ्यै॑नं॒ परि॑ ष्वजे ।
य॒ज्ञमि॒मं चत॑स्रः प्र॒दिशो॑ वर्धयन्तु संस्रा॒व्ये॑ण ह॒विषा॑ जुहोमि ॥ ३ ॥

भा०—(रूपंरूपं) प्रत्येक प्रकार का रूप अर्थात् पशु और (वयोवयः) प्रत्येक प्रकार के अन्न और बल को (संरभ्य) भली प्रकार प्राप्त करके मैं (एनम्) इस राष्ट्रपति और यज्ञपति को (परिष्वजे) सब ओर से आलिंगन करता हूं, सब ओर से उसकी रक्षा करता हूं। (चतस्रः प्रदिशः) चारों मुख्य दिशाएं, अर्थात् चारों दिशाओं के वासीजन (इमम्) उसको (वर्धयन्तु) बढ़ावें । (संस्राव्येण हविषा जुहोमि) मैं, धन ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले हवि=उपाय से राष्ट्र की रक्षा करता हूं ।

[२] शान्तिदायक जलों का वर्णन ।

सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवता अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

शं त॒ आपो॑ हैमव॒तीः शमु॑ ते सन्तू॒त्स्याः॑ ।

२-'होमा यज्ञ पचते इदं' इति पैप्प० सं० ।

[२] १-(द्वि०) 'शं ते' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'शं तापः (तृ०)

जो (जीवाः) जीव हैं और (इह) इस लोक में (ये वयं स्मः) जो हम लोग भी हैं। (ते) वे सब जीव (अस्मान् अनु) हम से उतर कर रहें। और (वयं) हम (तेषाम्) उन सब जीवों में (श्रेष्ठाः भूयास्म) श्रेष्ठ होकर रहें।

अर्थात् सब पालकों में से मां बाप, गुरुजन अधिक आदर योग्य हों और अन्य सब जीवों में हम श्रेष्ठ होकर रहें।

आ त्वा॑ग्न इधीमहि द्युमन्तं॑ देवाजर॑म्।
यद् घ॒ सा ते॒ पनी॑यसी स॒मिद् दी॒दय॑ति॒ द्यवि॑।
इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ८८ ॥ ऋ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! ज्ञानवन्! हे (देव) देव! द्योतमान! प्रकाश स्वरूप! (द्युमन्तम्) प्रकाशमान् (अजरम्) अविनाशी (त्वा) तेरी (इधीमहि) उपासना करें। (यत्) क्योंकि (ते) तेरी ही (सा) यह जगत् प्रसिद्ध (पनीयसी) अति प्रशंसनीय, स्तुति करने योग्य (समित्) अति देदीप्यमान सूर्यरूप शक्ति (द्यवि) द्यौलोक में (दीदयति) प्रकाशमान है। हे परमेश्वर! तू (स्तोतृभ्यः) गुण गान करने वाले उपासकों को (इषम्) अन्न और भीतरी मानस प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त करा।

चन्द्रमा॑ अ॒प्स्व॒न्तरा सु॑प॒र्णो धा॑वते दि॒वि।

येऽस्मिन् लोके मां तेऽनु। य एतस्मिन् लोकेस्थ यूय तेषां वसिष्ठा भूयस्त। येस्मिं लोकेऽहं तेषां वसिष्ठा भूयासम्'। इति तै० ब्रा० 'एता अस्माकं पितरः। इमा अस्माकम्। जीवा वो जीवन्त इह सन्तः स्याम। इति मै० सं०। 'एता युष्माकं पितरः। इमा अस्माकं।' इति आ० श्रौ०। सू०॥

८८—'आते अग्न' (तृ०) 'यद्ध स्याते' इति ऋ०। ऋग्वेदे वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः।

करने वाले, लाने वाले हवि=आज्ञा या उपाय से इस यज्ञ में (जुहोमि) आहुति करता हूं, अपने आपको लगाता हूं।

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ २ ॥

भा०—हे (होमाः) होमो ! यज्ञो ! आप (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ की, यज्ञकर्त्ता पुरुष की या यज्ञमय राष्ट्र की (अवत) रक्षा करो। (उत) और हे (संस्रावणाः) समस्त ऐश्वर्यों को भली प्रकार प्राप्त करानेहारे उपायो ! तुम भी (इमम् अवत) इस यज्ञपति और राष्ट्रपति की रक्षा करो। (यज्ञम् इमम् इत्यादि पूर्ववत्)

रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

भा०—(रूपंरूपं) प्रत्येक प्रकार का रूप अर्थात् पशु और (वयोवयः) प्रत्येक प्रकार के अन्न और बल को (संरभ्य) भली प्रकार प्राप्त करके मैं (एनम्) इस राष्ट्रपति और यज्ञपति को (परिष्वजे) सब ओर से आलिंगन करता हूं, सब ओर से उसकी रक्षा करता हूं। (चतस्रः प्रदिशः) चारों मुख्य दिशाएं, अर्थात् चारों दिशाओं के वासीजन (इमम्) उसको (वर्धयन्तु) बढ़ावें। (संस्राव्येण हविषा जुहोमि) मैं, धन ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले हवि=उपाय से राष्ट्र की रक्षा करता हूं।

[२] शान्तिदायक जलों का वर्णन।

सिन्धुद्वीप ऋषिः। आपो देवता अनुष्टुभः। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।

२—'होमा यज्ञ पचते इदं' इति पैप्प० सं०।

[२] १—(द्वि०) 'शं ते' इति सायणाभिमतः। (प्र०) 'शं तापः (तृ०)

शं ते॑ सनिष्यदा॒ आप॒: शमु॑ ते सन्तु व॒र्ष्या/: ॥ १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते) तुझे (हैमवतीः आपः) हिमवाले पर्वतों से बहने वाली जलधाराएं (शम्) सुखप्रद, कल्याणकारी हों । (ते) तुझे (उत्स्याः) सोतों से बहनेवाली जलधाराएं भी (शम् उ सन्तु) सुखकारी हों । (सनिष्यदाः आपः) विशेष वेग से बहने वाली जलधाराएं (ते शम्) तुझे कल्याणकारी हों, (वर्ष्याः) वर्षा से प्राप्त जलधाराएं भी (ते) तुझे (शम् उ सन्तु) शान्तिदायक हों ।

शं त॒ आपो॑ धन्व॒न्या॒३: शं ते॑ सन्त्वनू॒प्या/:

शं ते॑ खनि॒त्रिमा॒ आप॒: शं या: कु॒म्भेभि॒राभृ॑ता: ॥ २ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (धन्वन्याः) धन्व, मरुदेश में होनेवाली (आपः) जल धाराएं (ते शम) तुझे शान्तिदायक हों । (अनूप्याः) अनूपदेश से उत्पन्न जलधाराएं (ते शम् सन्तु) तुझे शान्तिदायक हों । (खनित्रिमाः आपः) खोदकर प्राप्त हुए जल (ते शम्) तुझे शान्तिदायक हों । और (याः) जो (कुम्भेभिः) घड़ों में (आभृताः) रखे हैं, या घड़ों द्वारा घर में लाये हैं वे जल भी (शम्) शान्तिकारक हों ।

अ॒न॒भ्रय॒: खन॑माना॒ विप्रा॒ गम्भी॑रे अ॒पस॑: ।

भि॒षग्भ्यो॑ भि॒षक्त॑रा॒ आपो॒ अच्छा॑ वदामसि ॥ ३ ॥

भा०—(अनभ्रयः) खोदने के औज़ार, कुदाल आदि से रहित होकर (खनमानाः) तले को खोदते हुए (गम्भीरे) गंभीर, गहरे स्थान में

प्यदा पाः इति पैप्प० सं० ।

२—(प्र०) 'शं तआपो' (तृ०) —त्रिमायः इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सन्त्वनूप्याः' इति तै० ब्रा० ।

३—'गम्भीरे-अपसः' इत्येकंपदं इति सायणः । (द्वि०) गम्भीरेऽपसः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! (ते) तेरा (यः) जो (अप्सु) जलों में (महिमा) महान्, महत्वपूर्ण सामर्थ्य है और (यः) जो (वनेषु) वनों में और वनस्पतियों में जो तेरा महान् सामर्थ्य है, (यः ओषधीषु) और जो ओषधियों में और (पशुषु) पशुओं में, और (अप्सु) प्रजाओं में या अपों, नदियों, जलधारा और लोक लोकान्तरों मे तेरा महान् सामर्थ्य है हे अग्ने ! तू (सर्वाः) समस्त (तन्वः) रूपोंको (सरभस्व) उत्तम रीति से प्रकट कर। और (ताभिः) उन सहित (नः) हमें द्रविण, धन, ऐश्वर्य के प्रदाता और (अजस्रः) अविनाशी, रूपमें (एहि) प्राप्त हो।

यस्ते॑ दे॒वेषु॑ महि॒मा स्व॒र्गो या ते॑ त॒नूः पि॒तृष्वा॑वि॒वेश॑ ।
पु॒ष्टिर्या ते॑ मनु॒ष्ये॑षु पप्र॒थेऽग्ने॒ तया॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! अग्ने ! (ते) तेरा (यः महिमा) जो महान् सामर्थ्य (देवेषु) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने और विज्ञान के प्रकाश करने और देखने वाले विद्वानों में, (स्वर्गः) सुख और प्रकाश को प्राप्त कराने वाला आनन्दमय है और (या ते तनूः) जो तेरा स्वरूप (पितृषु) प्रजा के पालन करने हारे वृद्ध अनुभवी शक्तिशाली पुरुष और ऋतु आदि पदार्थों में (आविवेश) आविष्ट है, उनमें विद्यमान है और (या ते) जो तेरा (पुष्टिः) पोषक स्वरूप से (मनुष्येषु) मनुष्यों में (पप्रथे) विस्तृत है (तया) उस सर्वपोषक, ज्ञानमय, रक्षामय, पुष्टिमय स्वरूप से (अस्मासु) हम में (रयिम् धेहि) सर्व प्रकार के ऐश्वर्य और बलों का प्रदान कर।

श्रुत्क॑र्णाय क॒वये॒ वेद्या॑य वचो॑भिर्वा॒कैरुप॑ यामि रा॒तिम् ।
यतो॑ भ॒यमभ॑यं॒ तन्नो॑ अस्त्वव॑ दे॒वानां॑ यज॒ हेडो॑ अग्ने ॥ ४ ॥

३–(प्र०) 'स्वर्गः' इति क्वचित् । (द्वि०) यस्त आत्मा पशुषु प्रविष्टः (च०) तं नो अग्ने जुषमाण एहि इति तै० ब्रा० ।

शं ते॑ सनिष्यदा॒ आपः॒ शमु॑ ते सन्तु व॒र्ष्याः॑ ॥ १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते) तुझे (हैमवतीः आपः) हिमवाले पर्वतों से बहने वाली जलधाराएं (शम्) सुखप्रद, कल्याणकारी हों । (ते) तुझे (उत्स्याः) सोतों से बहनेवाली जलधाराएं भी (शम् उ सन्तु) सुखकारी हों । (सनिष्यदाः आपः) विशेष वेग से बहने वाली जलधाराएं (ते शम्) तुझे कल्याणकारी हों, (वर्ष्याः) वर्षा से प्राप्त जलधाराएं भी (ते) तुझे (शम् उ सन्तु) शान्तिदायक हों ।

शं त॒ आपो॑ धन्व॒न्या३ः॒ शं ते॑ सन्त्वनू॒प्याः॑ ।
शं ते॑ खनि॒त्रिमा॒ आपः॒ शं याः कु॒म्भेभि॒राभृ॑ताः ॥ २ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (धन्वन्याः) धन्व, मरुदेश में होनेवाली (आपः) जल धाराएं (ते शम्) तुझे शान्तिदायक हों । (अनूप्याः) अनूपदेश में उत्पन्न जलधाराएं (ते शम् सन्तु) तुझे शान्तिदायक हों । (खनित्रिमाः आपः) खोदकर प्राप्त हुए जल (ते शम्) तुझे शान्तिदायक हों और (याः) जो (कुम्भेभिः) घड़ों में (आभृताः) रखे हैं, या घड़ों द्वारा घर में लाये हैं वे जल भी (शम्) शान्तिकारक हों ।

अ॒न॒भ्रयः॒ खन॑माना॒ विप्रा॑ ग॒म्भीरे॑ अ॒पसः॑ ।
भि॒षग्भ्यो॑ भि॒षक्त॑रा॒ आपो॒ अच्छा॑ वदामसि ॥ ३ ॥

भा०—(अनभ्रयः) खोदने के औज़ार, कुदाल आदि से रहित होकर (खनमानाः) तले को खोदते हुए (गम्भीरे) गंभीर, गहरे स्थान में

ष्यदा पाः इति पैप्प० सं० ।

२–(प्र०) 'शं तापो' (तृ०) –त्रिमायः इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'सन्त्वनूप्याः' इति तै० ब्रा० ।

३–'गम्भीरे-अपसः' इत्येकेपदे इति सायणः । (द्वि०) गम्भीरेऽपसा' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! (ते) तेरा (यः) जो (अप्सु) जलों में (महिमा) महान्, महत्वपूर्ण सामर्थ्य है और (यः) जो (वनेषु) वनों में और वनस्पतियों में जो तेरा महान् सामर्थ्य है, (यः ओषधीषु) और जो ओषधियों में और (पशुषु) पशुओं में, और (अप्सु) प्रजाओं में या अपों, नदियों, जलधारा और लोक लोकान्तरों में तेरा महान् सामर्थ्य है हे अग्ने! तू (सर्वाः) समस्त (तन्वः) रूपोंको (तरस्व) उत्तम रीति से प्रकट कर। और (ताभिः) उन सहित (नः) हमें द्रविण, धन, ऐश्वर्य के प्रदाता और (अजस्रः) अविनाशी, रूपमें (एहि) प्राप्त हो।

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश ।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि ॥ ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर! अग्ने! (ते) तेरा (यः महिमा) जो महान् सामर्थ्य (देवेषु) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने और विज्ञान के प्रकाश करने और देखने वाले विद्वानों में, (स्वर्गः) सुख और प्रकाश को प्राप्त कराने वाला आनन्दमय है और (या ते तनूः) जो तेरा स्वरूप (पितृषु) प्रजा के पालन करने हारे वृद्ध अनुभवी शक्तिशाली पुरुषों और ऋतु आदि पदार्थों में (आविवेश) आविष्ट है, इनमें विद्यमान है और (या ते) जो तेरा (पुष्टिः) पोषक स्वरूप से (मनुष्येषु) मनुष्यों में (पप्रथे) विस्तृत है (तया) उस सर्वपोषक, ज्ञानमय, रक्षामय, पुष्टिमय स्वरूप से (अस्मासु) हम में (रयिम् धेहि) सर्व प्रकार के ऐश्वर्य और बलों का प्रदान कर।

श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय वचोभिर्वाकैरुप यामि रातिम् ।
यतो भयमभयं तन्नो अस्त्वव देवानां यज हेडो अग्ने ॥ ४ ॥

३– (प्र०) 'स्वर्गं' इति क्वचित् । (द्वि०) यस्त आत्मा पशुषु प्रविष्टः (च०) तं नो अग्ने जुषमाण एहि इति तै० ब्रा० ।

भा०—(श्रुत्कर्णाय) श्रवण करने हारे कान रूप, (कवये) क्रान्तदर्शी, (वेद्याय) परम रूप से ज्ञान करने योग्य, परमेश्वर से (वाकैः) नित्य पाठ करने योग्य अथवा (वाकैः=पाकैः) अच्छी प्रकार सुविचारित (वचोभिः) स्तुति वचनों और वेद मन्त्रों द्वारा (रातिम्) अभिलषित दान की (उपयामि) याचना करता हूं । और प्रार्थना करता हूं कि (यतः) जिधर से भी (भयम्) भय हो (तत्) उधर से (नः अभयम् अस्तु) हमें अभय हो। हे (अग्ने) अग्रणी, नेतः ! प्रभो ! आप (देवानां) दिव्य पदार्थों, और विद्वानों अथवा क्रीड़ाशील पुरुषों के (हेडः) क्रोध को (अवयज) दूर कर । राजा और ईश्वर के पक्षमें समान है ।

(४) वाणी और आकूति का वर्णन ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । अग्निरुत मन्त्रोक्ता देवता । १ पञ्चपदा विराड् अतिजगती, २ जगती ३,४ त्रिष्टुभौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यामाहु॑तिं प्रथ॒मामथ॑र्वा॒ या जा॒ता या ह॒व्यमकृ॑णोज्जा॒तवे॑दाः ।
तां त॑ ए॒तां प्र॑थ॒मो जो॑हवीमि॒ ताभि॑ष्टु॒प्तो व॑हतु ह॒व्यम॒ग्निर॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भा०—(अथर्वा) प्रजापति परमात्मा ने (याम्) जिस (आहुतिम्) आहुति=आहूति उपदेश रूप वेद वाणी को (प्रथमाम्) सब से प्रथम (अकृणोत्) बनाया। और (या) जो स्वयं प्रकट हुई और (या=यया) जिससे (जातवेदाः) वेदों के उत्पादक, सर्वज्ञ परमेश्वर ने

[४] १–(द्वि०) 'अथर्वा या जाताय हव्याम्...' । (स्व०) 'ताभिः स्तुतः' इति सायणाभिमतः (च०) 'तया तृप्ता' इति ह्विटनिकामितः ।

(हव्यम्) आदान करने योग्य इस समस्त संसार को (अकृणोत्) प्रकट किया (ताम्) उस (एताम्) इस को ही मैं (प्रथमः) सब से प्रथम हे पुरुष! (ते) तुझे (जोहवीमि) प्रदान करता हूं, उपदेश करता हूं (वाभिः) उन वेद वाणियों से (स्तुतः) यथार्थ रूप से वर्णन करने योग्य (अग्निः) सर्वप्रकाशक, सब से पूर्व विद्यमान, परमेश्वर (हव्यम्) समस्त संसार, को (वहतु) धारण करता है। (अग्नये) उस अग्नि परमेश्वर की हम (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रशंसा करें, हम उसकी स्तुति उपासना करते हैं।

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्
॥ २ ॥

भा०—(सुभगाम्) उत्तम ऐश्वर्य या समृद्धि से युक्त, (देवीं) सब गूढ़तत्वों को दर्शाने और प्रकाशित करने वाली, (आकूतिम्) आकूति मन की अभिप्रायज्ञापिका, वास्तविकरूप शक्ति को मैं (पुरः दधे) साक्षात् धारण करता हूं, उसको ज्ञान करता हूं। वह (चित्तस्य) चित्त, ज्ञान करने के साधन रूप अन्तःकरण की (माता) बनानेवाली स्वयं (सुहवा) उत्तम रीति से ज्ञान करने वाली (नः) हमें (अस्तु) प्राप्त हो। मैं (याम्) जिस (आशाम्) आशा या कामना को (एमि) प्राप्त करूं, वह (सा) वह (मे) मेरी (केवली) अवश्य शुद्धरूप से (अस्तु) पूर्ण हो। और (एनाम्) इस 'आकूति' नामक अन्तःकरण की विशेष, प्रबल धारणावती, साक्षात्कारशक्ति को

२—(प्र०) 'देवीं मनसः' (द्वि०) 'यज्ञस्य माता सुहवा मे अस्तु (तृ० च०) यदिच्छामि मनसा सकामो विदेयं एनद् हृदये निविष्टम्।' इति तै० ब्रा०।

(मनसि) ज्ञान या मनन करने हारे आत्मा या मन में (प्रविष्टाम्) भीतर गुप्त रूप से विद्यमान को भी मैं (विदेयम्) जान लूं, उसका साक्षात् करूं ।

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि ।
अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव ॥ ३ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहती वेदवाणी के स्वामिन् ! आप (आकूत्या) आकूति, वाक्य के तात्पर्य रूप उच्चारण करने योग्य वाणी के मर्म या प्रथम उत्पन्न, मूल बुद्धि रूप से (नः) हमें (उप आगहि) प्राप्त हो । (आकूत्या नः उप आगहि) 'आकूति' रूप से आप हमें प्राप्त हों । (अथो) और (नः) हमें (भगस्य) ज्ञानरूप ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान कर । (अथो) और (नः) हमारे लिये (सुहवः) उत्तम रीति से स्तुतियोग्य, (भव) हो ।

बृहस्पतिर्म आकूतमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम् ।
यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान् ॥ ४ ॥

भा०—(आङ्गिरसः) अंग २ में रस, प्राण के समान प्रत्येक भौतिक देह में भी समष्टि चैतन्य रूप से विद्यमान (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर (मे) मुझे, (आकूतिम्) जो बात मेरे मुख से निकले उसका प्रथम स्पष्ट तात्पर्य रूप विचार और फिर (एताम्) तदनुरूप प्रकट होने वाली (वाचम्) व्यक्त रूप से उच्चारण

३–(तृ०) 'देहि' इति सायणाभिमतः । (च०) 'सुभगो भव' इति पैप्प० सं० ।

४–'तस्य देवा देवता सम्बभूव शिशुप्रणीह' [?] इति पैप्प० सं० । (च०) 'अन्वेत्वस्मान्' इति सायणाभिमतः ।

की जाने वाली अव्यक्त वाणी को भी (प्रति जानातु) मुझे प्रदान करे। (यस्य) जिसके अधीन (देवाः) सब बल प्रदान करने और बाह्य विषयों का दर्शन, और प्रकाश करने वाले इन्द्रिय आदि प्राण गण भी (सु प्रणीताः) उत्तम रीति से प्रयोग किये जाते हैं और (देवताः) शरीर में देवता, देव=आत्मा की विशेष शक्तियां, उसके ही विशेष रूप होकर (सं बभूवुः) प्रकट होते हैं (सः) वह (कामः) महान् 'काम' समष्टिकामना या महती इच्छा रूप, संकल्परूप, 'काम' परमात्मा (अस्मान्) हमें (अनु एतु) प्राप्त हो।

(५) उपास्य देव।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उपस्तुतश्चिदर्वाक्॥ १॥

ऋ० ७। २७। ३॥

भा०—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान्, परमात्मा (जगतः) समस्त जगत् का, (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजाओं का और (अधिक्षमि) इस पृथिवी पर (यत्) जो कुछ भी (विषुरूपम्) नाना प्रकार के पदार्थ हैं उन सबका (राजा) स्वामी, राजा है। वह (ततः) उस अपने खजाने में से ही (दाशुषे) दानशील पुरुष को (वसूनि) नाना जीवनोपयोगी धन, ऐश्वर्य (ददाति) प्रदान करता है। वह ही (चित् उपस्तुतः) भक्तिपूर्वक स्तुति करने योग्य है। वह हमें (अर्वाक्) नित्य हमारे प्रति (राधः) धन ऐश्वर्य और ज्ञान (चोदत्) प्रदान करे।

५—ऋग्वेदे वसिष्ठ ऋषिः।

(६) महान पुरुष का वर्णन ।

पुरुषसूक्तम् । नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । अनुष्टुभः । षोडशर्चं सूक्तम् ।

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९० । १ ॥ यजु० ३१ । १ ॥

भा०—(सहस्रबाहुः) हजारों बाहुओं वाला, (सहस्राक्षः) हजारों आखोंवाला, (सहस्रपात्) हजारों पैरोंवाला, (पुरुषः) पुरुष, जो इस समस्त ब्रह्माण्ड रूप पुर में व्यापक है। (सः) वह (विश्वतः) सब ओर से (भूमिम्) भूमि, समस्त प्राणियों और समस्त जगत् की उत्पत्ति करने वाली भूमिके समान उत्पादिका प्रकृति को भी (वृत्वा) स्वयं वरण करके, स्वयं व्याप्त करके (दशाङ्गुलम्) और भी दश अंगुल, अर्थात् और भी दश अंग=विकार भूत पदार्थों को (अतिष्ठत्) अति क्रमण करके, व्याप्त होकर विराजता है।

(अति अतिष्ठत् दशाङ्गुलम्) सायण—(१) सात समुद्रों वाली पृथ्वी को अपनी महिमा से व्याप्त करके पहले दशाङ्गुल=हृदयाकाश में परिच्छिन्न रह कर भी सर्व व्यापक होकर विराजता है। (२) वह पुरुष (भूमिम्) भूमि जल आदि पांचों भूतों को अर्थात् पंचभूतों के बने ब्रह्माण्ड और उसके भीतर विद्यमान भूमि, जल आदि विकारों को भी जैसे घड़े आदि पदार्थों में मिट्टी व्याप्त रहती है वैसे व्याप्त करके (दशांगुलम्) दश अंगुल और भी बाहर तक फैला हुआ है (३) एक अंश से ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके दश अंशों से कार्य प्रपंच से अछूता रह कर वह स्वप्रतिष्ठ होकर विद्यमान है।

महर्षि दयानन्द—(दशांगुलम्) पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म-

[६] १-(प्र०) 'सहस्रशीर्षा' (तृ०) 'सर्वतः' इति ऋ० 'स्पृत्वा' इति यजु० ।

भूत इन दस अंगुलियों अर्थात् अंगों से युक्त दशांग जगत् को व्याप्त करके भी उससे अतिरिक्त देश में भी व्याप्त है।

(सहस्रबाहु, सहस्राक्ष, सहस्रपात्) समस्त व्यष्टि प्राणियों की बाहु, आंखें और पैर उसी की बाहु, आंखें और पैर हैं, अथवा, अनेक कार्य सम्पादन करने से उसके असंख्यात बाहु आदि हैं।

जैसे गीता में—'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् ।' 'अनादिमध्यान्तमनन्त वीर्यमनन्तबाहुम्।' 'रूपं महत्ते बहु वक्त्रनेत्रम् महाबाहो बहुबाहूरुपादम् बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालम्।' इत्यादि। गी० (११ अ०)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै र्द्यावाभूमीजनयन् देव एकः ॥ ऋ० १० । ८१। ३॥

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः ।
तथा व्य/क्रामद् विष्वङशनानशने अनु ॥ २ ॥

ऋ० १० । ९० । ४ ॥ यजु० ३१ । ४ ॥

भा०—ब्रह्माण्ड में व्याप्त परम ब्रह्म शक्ति (त्रिभिः पद्भिः) तीन पाद या अंशों से (द्याम्) द्यौ, प्रकाश रूप मोक्षको (आरोहत्) व्याप्त करता है और (अस्य) उसका (पात्) एक पाद, एक अंश (इत्) इस दृश्य जगत् में (पुनः) वार २ सृष्टि और प्रलय के रूप में (अभवत्) प्रकट होता है। (तथा) इसी प्रकार से वह (विश्वङ्) सर्वत्र, नाना रूपों में (वि अक्रामत्) व्याप्त हो रहा है। और वह (अशन-अनशने) 'अशन' भोजन करने वाले प्राणियों, और 'अनशन' भोजन न करने वाले जड़, पर्वत समुद्र आदि समस्त पदार्थों के (अनु) भीतर भी व्याप्त है। अर्थात् परमेश्वर की महान् शक्ति का एक अंश

२-(प्र०) त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः (तृ०) 'ततोविश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि' इति ऋ० यजु०। (द्वि०) पादोऽस्येहाभवत् पुनः।

समस्त संसार को उत्पन्न करता, पालता और प्रलय करता है और शेष तीन अंश मोक्षमय, परम तेजोमय, असंग रूप से हैं। यही कहने का प्रयोजन है।

अध्यात्म में—स्थावर, जंगम आदि देह में आत्मा पुरुष का एक अंश है और शेष ३ अंश असंग, स्वभावतः तेजोमय हैं।

तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ९० । ३ ॥ यजु० ३१ । ३ ॥

भा०—(अस्य) इस महान् परमेश्वर के (तावन्तः महिमानः) वे सब लोक लोकान्तर और उसमें होने वाले बड़े २ कार्य सब उसकी असंख्य 'महिमा', महान् शक्ति के प्रदर्शनमात्र हैं (पूरुषः) विशाल ब्रह्माण्डपुरी से व्यापक वह परमेश्वर, महान् आत्मा (ततो ज्यायान् च) उन सब से कहीं बड़ा है। (विश्वा भूतानि) ये समस्त भूत, चर अचर प्राणि, एवं भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पंचभूत एवं उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थ (अस्य) इस महान् पुरुष के (पादः) एक अंश हैं। (अस्य) उसके (त्रिपात्) शेष तीन अंश (दिवि) द्यौ, परम तेजोमय स्वरूप में (अमृतम्) अमृतमय, परमसुखमय, मोक्षरूप है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ९० । २ ॥ यजु० ३१ । २ ॥

भा०—(इदं सर्वं) यह सब कुछ (यत् भूतम्) जो उत्पन्न हुआ और (यत् च) जो (भाव्यम्) उत्पन्न होने वाला है और (यत्) जो

३-(प्र० द्वि०) एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः इति ऋ० यजु०।
४-(तृ० च०) उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। इति ऋ० यजु०।

(अन्येन) अन्यरूप से, ब्रह्म या चेतन रूप के अतिरिक्त जड़ प्रकृ (सह अभवत्) साथ रहता है (उत) अ जो स्वयं (अमृतत्वस्य) अमृत स्वरूप, अमृत का सत्ता का (ईश्वरः) स्वामी है वह (पुरुष एव) परम पूर्ण, सर्वव्यापक परमात्मा ही है। परमेश्वर ही जगत् का उत्पादक वही, प्रकृति के साथ अनादि रूप से वर्त्तमान, और यह परम अमृत मोक्ष का ईश्वर है। 'यद् अन्नेनाभवत् सह' इस पाठ के अनुसार वह ईश्वर ही है जो (अन्नेन सह) अन्न, समस्त जीवों के प्राणप्रद अन्नादि पदार्थों के साथ जीवनशक्ति देने वाले के रूप में विद्यमान है।

यत् पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑/कल्पयन्।
मुखं॒ किम॑स्य॒ किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ९० । ११ ॥ यजु० । १० ॥

भा०—(यत्) जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (पुरुषम्) उस महान् पूर्ण पुरुष का (वि अदधुः) विधान करते हैं, विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं उसको उन्होंने (कतिधा) भला कितने प्रकार से (वि, अकल्पयन्) विविध रूपों में कल्पित किया है विभक्त किया है? (अस्य) इसके (मुखम् किम्) मुख क्या पदार्थ है। (बाहू किम्) बाहुएं क्या हैं (ऊरू किम्) जांघें क्या पदार्थ हैं और (पादौ) उसके पैर भाग क्या (उच्येते) कहे जाते हैं?

ब्रा॒ह्म॒णो॑/स्य॒ मुख॑मासीत् बा॒हू रा॑ज॒न्यो॑भवत्।
मध्यं॒ तद॑स्य॒ यद् वैश्यः॑ प॒द्भ्यां शू॒द्रो अ॑जायत ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ९० । १२ ॥ यजु० ३१ । ११ ॥

५—(तृ०) 'मुखं' किमस्यासीत् किं' इति यजु०। 'कौबाहू' इति ऋ०। 'काबूरू' इति तै० आ० 'पादावुच्येते' इति पैप्प० सं०।
६—(द्वि०) 'राजन्य कृतः' (तृ०) 'ऊरूतदस्य' इति ऋ० यजु०।

भा०—(अस्य) इस पुरुष के बनाये महान् सृष्टिरूप समष्टि में या पुरुषरूप प्रजापति के ब्राह्मण, वेद और विद्वान् या ईश्वर के साक्षात् उपासकजन (मुखम् आसीत्) मुख हैं। वे मुखके समान ऊंचेपद पर स्थित, एवं समाज के अग्रणी और प्रमुख हैं। अर्थात् जिस प्रकार पुरुष के शरीर में मुख ऊंचा है उसी प्रकार वेदज्ञ और ब्रह्मोपासक जन समाज के शिरोमणि ज्ञान प्रद और ज्ञान के द्रष्टा हैं। (राजन्यः) राजा के पुत्रके समान पालित वीर योद्धा जन (बाहूकृतः) शरीर में विद्यमान बाहू के समान समाज के शत्रुओं के बाधक, समाज के रक्षक, और बलका कार्य करने में समर्थ बनाये गये हैं। (अस्य यद् मध्यम्) इस समाजरूप विराट् शरीर का जो मध्यभाग है वह भी शरीर में ऊरू, कटि, पेट के समान (तत् वैश्यः) वह वैश्य जन है। (पद्भ्याम्) पैरों से (शूद्र) शूद्र को (अजायत) प्रकट किया जाता है। अर्थात् शूद्रों को पैरों के समान दर्शाया जाता है।

किसी प्रजापति के शरीर के, मुख आदि अवयवों से गर्भ से बालक के समान ब्राह्मण आदि वर्णों के उत्पन्न होने का मत असम्भव होने से अप्रमाणित है। यह केवल समाज रूप प्रजापति पुरुष जिसकी हजारों आंखों और पैरों आदिका प्रथम मन्त्र में वर्णन किया है उस के ही समाजमय शरीर के अंगों का वर्णन किया गया है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ९० । १३ ॥ यजु० ३१ । १२ ॥

७–(तृ० च०) 'श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निर जायत' इति । यजु० । (द्वि०) 'चक्षुषोरधिसूर्यः' । नसो वायुश्चप्राणश्च मुखादग्निर जायत इति क० शा० ।

भा०—प्रजापति के ब्रह्माण्डमय विराट् शरीर का वर्णन करते हैं। (चन्द्रमाः) चन्द्र (मनसः) मन से (जातः) कल्पना किया गया है अर्थात् चन्द्र उस विराट् शरीर के मन या मनन सामर्थ्य या हृदय खण्ड के समान है। (चक्षोः सूर्यः अजायत) चक्षु से सूर्य बना। अर्थात् चक्षु के स्थान में सूर्य को कल्पित किया। (मुखाद् इन्द्रः च अग्निः च) मुखसे इन्द्र, अर्थात् विद्युत् और अग्नि दो को कल्पित किया गया। (प्राणाद् वायुः अजायत) और प्राण, प्राण इन्द्रिय से वायु अर्थात् प्राण के स्थान में वायु को कल्पित किया। मानो उस विराट् शरीर में चन्द्र मन था, सूर्य आंख थी, इन्द्र और अग्नि, मुख के दो जबाड़े थे, वायु रूप नासिकागत प्राण था।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ ८ ॥
ऋ० १० । ९० । ७ ॥ यजु० ३१ । १४ ॥

भा०—(नाभ्या) नाभी से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (आसीत्) कल्पित था। (शीर्ष्णः) शिरसे (द्यौः) द्यौ, ऊपर का महान् आकाश (सम् अवर्तत) कल्पित था। (पद्भ्याम् भूमिः) पैरों से भूमि और (श्रोत्रात् दिशः) कानों से दिशाएं कल्पित की गयीं। (तथा) और उसी प्रकार विद्वान् पुरुषों ने (लोकान् अकल्पयन्) अन्य लोकों को भी प्रजापति शरीर के अन्य अंगों के रूप में कल्पना की। अर्थात् अन्तरिक्ष नाभि के समान, द्यौ शिर के समान, भूमि पैरों के समान, श्रोत्र दिशाओं के समान और अन्य लोक अभ्यन्तर अंगों के समान माने।

विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ९ ॥
ऋ० १० । ९० । ५ ॥ यजु० ३१ । ५ ॥

८-(प्र०) 'तस्माद् विराड जायत' इति ऋ० । 'ततो विराड्' इति

भा०—(ततः) उस पूर्ण पुरुष, परमेश्वर से (अग्रे) सब से प्रथम (विराट्) विराट्, नाना ज्योतिर्मय पदार्थों से प्रकाशमान् ब्रह्माण्ड (सम् अभवत्) उत्पन्न हुआ। उस (विराजः) विराट्, सर्व प्रथम उत्पन्न ब्रह्माण्ड के भी (अधि) ऊपर (पुरुषः) उस पुरी में भी व्यापक परमेश्वर अधिष्ठाता रूप से विराजमान रहा। (सः) वह (जातः) इतने विविध पदार्थों में नाना कार्यों में शक्ति रूप से प्रकट होकर भी (अति अरिच्यत) अभी बहुत अधिक शेष रहा अर्थात् संसार के संचालक अंश से भी अतिरिक्त शक्ति का बहुत बड़ा अंश और शेष था। वही (पश्चात्) इस प्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भ के बाद (भूमिम्) सब जंगम स्थावर सृष्टि के आश्रय और उत्पादक भूमि को उत्पन्न करता है (अथो) और (पुरः) उन सब से पहले विद्यमान् रहता है। अथवा (अथो पुरः) और नाना शरीरों को भी रचता है।

सायण ने कुछ एक अर्थ इस प्रकार किये हैं—(१) आगे विविध प्रदीप्त वस्तुओं का आश्रय विराट् नाम पुरुष हुआ। और (विराजः अधि) उस विराट् से अन्य पुरुष हुआ। वह तृतीय पुरुष यज्ञ रूप उत्पन्न हुते ही (अति अरिच्यत) बहुत बड़ा। (भूमिम् पश्चात् अथो पुरः) वह भूमि आदि सब लोकों के पीछे के भाग में और आगे अर्थात् पीछे और आगे भी व्याप्त करके उनको लांघकर रहा। (२) अध्यात्म पक्षमें—सृष्टि के आदि में विराट्, मन नामक प्रजापति सहस्रबाहु, सहस्राक्ष पुरुष से उत्पन्न हुआ। उसके बाद (विराजः अधि) विराज् को आश्रय करके (पुरुषः) दूसरा प्रजापति समस्त भूत इन्द्रिय पुरुष समष्टि रूप हुआ। (सः जातः अति अरिच्यत) प्रकट होते ही उसने अपने आपको अनेक रूपों में बना लिया। अर्थात् भूत, इन्द्रिय आदि बनाये। (पश्चात् भूमिम् अति अरेचयत्) पीछे भूत समूह की सृष्टि के बाद भूमि को बनाया। इससे

यजु० । (द्वि०) 'पूरुषात्' (च०) 'पुरः' इति पैप्प० सं० ।

आकाश से लेकर पृथिवी तक की सृष्टि कर दी गयी। (अथो पुरः) भूमि के बाद सात धातुओं से पुरने वाले 'पुर' शरीर, देव, नर, तिर्यक् स्थावर आदि और भी बनाये। (३) अध्यात्म में ही-(अग्रे विराट् समभवत्) उस आदि पुरुष से प्रथम विराट्=ब्रह्माण्डरूप देह उत्पन्न हुआ (विराजः अधि पूरुषः) उसी विराट् देह के ऊपर उस देह का अभिमानी, कोई पुरुष हुआ। अर्थात् वेदान्तगम्य परमात्मा ही अपनी माया से ब्रह्माण्ड रूप बनाकर जीवरूप से ब्रह्माण्डाभिमानी देवता रूप जीव हुआ। (स जातः अति अरिच्यत) वह उत्पन्न होकर अतिरिक्त अर्थात् देव तिर्यङ्, नर आदि रूप हुआ। (पश्चात्) उसके पश्चात् उसने (भूमिम्) भूमि को बनाया। भूमि बनाने के बाद (पुरः) शरीर बनाये ॥ सायण के तृतीय अर्थ को ही महीधर ने अक्षरशः लिखा है।

उव्वट के मत में—पहले विराट् हुआ। विराट् से (पुरुषः) प्रधान, तेज हुआ। (सः जातः) उस ब्रह्मा सृष्टि के कर्त्ता ने उत्पन्न होकर (अति अरिच्यत) और अधिक सृष्टि की। पीछे भूमि और शरीर बनाये।

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १० ॥

ऋ० १० । ९० । ६ ॥ यजु० ३१ । ४ ॥

भा०—(यत्) जब (हविषा) हविः=स्वीकार करने योग्य, सब प्रकार से अपनाने योग्य, साक्षात् करने योग्य (पुरुषेण) ब्रह्माण्ड में व्यापक, पूर्ण पुरुष परमेश्वर से (देवाः) देव, विद्वान् गण (यज्ञम्) यज्ञ, मानस ज्ञानमय उपासना रूप या देवार्चना रूप यज्ञ (अतन्वत) करते हैं तब (अस्य) इस यज्ञ का (वसन्तः) वर्ष के प्रारम्भ काल के समान दिनका प्रारम्भ भाग (आज्यम्) यज्ञ में घी जिस प्रकार अग्नि को प्रदीप्त करता है उसी प्रकार आत्मा की शक्ति को प्रदीप्त करता है। (ग्रीष्मः) ग्रीष्म, वर्ष का ग्रीष्म काल जिस प्रकार सूर्य को प्रचण्ड करता

है इसी प्रकार दिन का मध्यान्ह काल मानस यज्ञ में आत्मा की जाठर अग्नि और ज्ञान की (इध्मः) अग्नि को काष्ठ के समान दीप्त करता है। और (शरत्) वर्ष का शरत् काल जिस प्रकार सूर्य के तेज को कुछ शीतल या सौम्य कर देता है, लोग उसके सेवन करने के उत्सुक हो जाते हैं, इसी प्रकार मानस यज्ञ करने वाले के लिये (शरत्) अर्ध, रात्रकाल अत्यन्त शान्तिमय होने से (हविः) आत्मा की समस्त शक्तियों को आत्मा में आहुति कर देने, उनको ध्यानबल से एकत्र कर आत्मा में अप्यय करा देने के लिये अति उत्तम है। इसी प्रकार जीवन का प्रारम्भ काल, बाल्यकाल वसन्त। आज्य=बल वीर्य के सम्पादन का काल है। ग्रीष्म यौवन, जीवन के लिये इन्धन के समान अधिक तेज, ज्ञान, ज्वाला, स्फूर्त्ति का काल है। शरत्, उतरता हुआ बुढ़ापा जब शरीर के बल शीर्ण हो रहे हों वह परिपाक काल ज्ञानानुभवों के भी परिपाक का काल है। संवत्सरमय यज्ञ में देव=दिव्यगुण के सूर्य, अग्नि, वायु आदि पदार्थ वसन्त को आज्य, ग्रीष्म को काष्ठ और शरत् को हवि के समान बनाकर यज्ञ कर रहे हैं।

उव्वट के मतमें—वसन्त=सत्वगुण, ग्रीष्म राजस, शरत् तमोगुण। तीनों गुणों को योगी आत्मयज्ञ में आहुति करते हैं।

तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥ ११ ॥

ऋ० १० । ९० । ७ ॥ यजु० ३१ । ९ ॥

भा०—(तम्) उस (यज्ञम्) पूजनीय यज्ञस्वरूप (अग्रशः) समस्त सृष्टि के भी पूर्व (जातम्) विद्यमान जगत् के कर्त्ता को योगिजन (प्रावृषा) वर्षा के समान आत्मरूप भूमि में ब्रह्मानन्द के वर्षण करने

११-(प्र०) 'तं यज्ञं बर्हिषि' (द्वि०) 'अग्रतः' (च०) 'साध्या ऋषय-श्च ये' इति ऋ० यजु० । 'साध्याश्च' इति पैप्प० सं० ।

वाले धर्ममेघ समाधि द्वारा (प्र औक्षन्) खूब अभिषिक्त करते हैं, आप्ला-
वित करते हैं। (देवाः) देव, ज्ञानी पुरुष, (साध्याः) योगाभ्यास आदि साधन के करने हारे और (ये च) जो (वसवः) प्राणों के वश करने वाले हैं वे (तेन) इसी यज्ञमय परम पुरुष से (अयजन्त) आत्मयज्ञ सम्पादन करते हैं।

तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥ १२ ॥

ऋ० १० । ९० । १० ॥ यजु० ३१ । ८ ॥

भा०—(अश्वाः) अश्व, घोड़े और (ये च के च) जो कोई भी (उभयादतः) ऊपर नीचे दोनों जबाड़े के दांतों वाले प्राणी हैं (तस्मात्) उस परम पुरुष से ही (अजायन्त) उत्पन्न होते हैं। और (तस्मात्) उससे ही (गावः) गौएं, दूध देने वाले वे पशु जिनके ऊपर के दांत नहीं होते वे भी उत्पन्न हुए। और (तस्मात्) उससे ही (अजावयः) बकरी और भेड़ें भी (जाताः) पैदा हुईं। अर्थात् नाना पशु भी उस ईश्वर के सामर्थ्य से ही पैदा हुए। अध्यात्म में सब पशु भी उस आत्मा के ही नाना शरीर हैं। उसी से उत्पन्न होते हैं।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १३ ॥

ऋ० १० । ९० । ९ ॥ यजु० ३१ । ७ ॥

भा०—(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय, (सर्वहुतः) सर्वस्व रूप से आहुति कर देने योग्य अथवा सर्वत्र व्यापक, समस्त संसार के प्रलय काल में अपने भीतर लेने हारे परमात्मा से (ऋचः सामानि जज्ञिरे)

१२-(द्वि०) 'ये के चो' इति ऋ० यजु०।
१३(तृ०)'छन्दांसि' ऋ० यजु०। क्वचित्त्य।

जिस प्रकार यज्ञ के प्रज्वलित होने पर ऋक् साम आदि सब उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उससे भी ऋग्वेद के मन्त्र और साम के समस्त गान उत्पन्न हुए। अथवा (सर्वहुतः) सब को अपने भीतर आहुति रूप से लेने वाले अग्नि से ज्ञानमय ऋचाएं साम और गान के प्रकार भी पैदा हुए। (तस्मात्) उससे ही (छन्दः जज्ञिरे) छन्द, अथर्व के मन्त्र उत्पन्न हुए। और (तस्मात्) उससे ही (यजुः अजायत) यजुर्वेद के मन्त्र, उनमें कहे कर्मोपदेश भी उत्पन्न हुए। अध्यात्म में आत्मयज्ञ करने पर योगसाधना के बल से उसमें ऋग्, यजु, साम, अथर्व, आदि वेदों का भी ज्ञान प्रकट होता है (उव्वट)।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ १४ ॥

ऋ० १० । ६० । ८ ॥ यजु० ३१ । ६ ॥

भा०—(तस्मात्) उस (यज्ञात्) यज्ञमय, (सर्वहुतः) सर्वव्यापक, सर्वप्रद, एवं सर्वधारक परमेश्वर प्रजापति से (पृषद्-आज्यम्) दधि, घी आदि समस्त भोज्य पदार्थ (सम्-भृतम्) प्राप्त हुआ है। वह ही (तान्) उन नाना प्रकार के (वायव्यान्) वायु के समान तीव्रगामी और (ये आरण्याः) आरण्य, जंगल के वासी, हरिण, सिंह, हस्ती आदि और (ग्राम्याः च) ग्राम के वासी गर्दभ, अश्व, गौ आदि उन सब को (चक्रे) उत्पन्न करता है।

अथवा—(सर्वहुतः पृषदाज्यम् संभृतम्) सब के जीवनदाता उस प्रजापति से ही वह 'पृ-षत्-आज्य' प्रत्येक 'पृ' शरीर में 'सत्' व्यापक आज्य=वीर्य बिन्दु (संभृतम्) प्राप्त हुआ है। उसी के द्वारा उसने समस्त पशु आदि प्राणियों की सृष्टि की।

१४–'आरण्यान्' इति तै० आ०।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

ऋ० १० । ९० । १५ ॥ यजु० ३१ । १५ ॥

भा०—(देवाः) देव, विद्वान् योगीजन (यद्) जब (यज्ञं तन्वानाः) यज्ञ, ज्ञानमय उपासना को करते हुए (पशुम्) दर्शनयोग्य, या सर्वद्रष्टा (पुरुषम्) देह और ब्रह्माण्ड में व्यापक आत्मा को (अबध्नन्) समाधि द्वारा साक्षात् करते हैं तो देखते हैं कि (अस्य) उसकी (सप्त परिधयः) सात परिधि, उसको सब ओर से बांधने वाले या घेरने वाले पदार्थ हैं और (त्रिः सप्त समिधः कृताः) तीन साते, इक्कीस पदार्थ इस यज्ञ के (सम् इधः) उत्तम रीति से प्रकाशक (कृताः) बनाये गये हैं।

सात परिधियें—गयत्री आदि सात छन्द, यज्ञ में आहवनीय की तीन परिधि, उत्तर वेदि की तीन और सातवां आदित्य । आत्मवाद में—पृथिवी, अप तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि, और शरीर योग में मांस त्वचा, मेद, अस्थि, शुक्र, शोणित, मज्जा ये सात धातुएं । २१ समिधें १२ मास, ५ ऋतुएं और आदित्य । आध्यात्म में—५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, और मन । ब्रह्माण्ड में प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, ५ महाभूत, ५ सूक्ष्मभूत, ३ गुण, ५ ज्ञानेन्द्रिय ।

मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः ।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥ १६ ॥

भा०—(पुरुषात्) व्यापक परमेश्वर से (अधि जातस्य) उत्पन्न (मूर्ध्नः) सब से ऊंचे शिरके समान सर्वोपरि विद्यमान, (बृहतः) महान्, (देवस्य) प्रकाशमान, (सोमस्य) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, बीजमय (राज्ञः) अति प्रदीप्त हिरण्यगर्भ के घटक (सप्त सप्ततीः) ४९०

चारसौ नव्वे (अंशवः) अंशु व्यापक सूक्ष्मतत्त्व (अजायन्त) उत्पन्न हुए। ब्रह्माण्ड और वीर्य के ४९० घटक सूक्ष्मतत्त्वों का विश्लेषण वैज्ञानिक करें।

[७] नक्षत्रों का वर्णन

गार्ग्य ऋषिः । नक्षत्राणि देवताः । त्रिष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि ।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ॥१॥

भा०—(चित्राणि) चित्र विचित्र नाना वर्ण के (साकम्) एक साथ (रोचनानि) दीप्तिमान् (भुवने) उत्पन्न ब्रह्माण्ड में (जवानि) वेगवान्, (सरीसृपाणि) सदा गतिशील (अहानि) कभी नष्ट न होने वाले नक्षत्रों को और (नाकम्) सुखमय द्यौलोक को (गीर्भिः) उत्तम ज्ञानवाणियों से (तुर्मिशम्) हिंसाकारी, अनिष्ट के नाशक (सुमतिम्) शुभमति को (इच्छमानः) चाहता हुआ (सपर्यामि) उनका ज्ञान करूं, उनके द्वारा उचित कार्य और तदनुसार होने वाली अन्तरिक्ष और आकाश की घटनाओं के जानने का अभ्यास करूं।

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा ।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) सूर्य ! विद्वन् ! (कृत्तिका रोहिणी च) कृत्तिका और रोहिणी दोनों नक्षत्र (सुहवं) उत्तम रीति से यज्ञ करने योग्य हों। (मृगशिरः) मृगशिरा नक्षत्र (भद्रम् अस्तु) सुखकारी हो । (आर्द्रा-शम्) आर्द्रा नक्षत्र शान्तिदायक हो । (पुनर्वसू) दोनों पुनर्वसु नक्षत्र

२-(प्र०) 'सुहवं मेकृ०' इति ह्विटनि कामितः। (द्वि०)'समार्द्रा' इति क्वचित् ।

(सूनृता) शुभ, उत्तम वाणी और ज्ञान देने वाले हों। (पुष्यःचारु) पुष्य नक्षत्र उत्तम हो। (आश्लेषा) आश्लेषा नक्षत्र (भानुः) अति दीप्ति-जनक हो और (मघा) मघा नक्षत्र (मे) मेरे लिये (अयनम्) सब सम्पत्ति प्राप्त करने वाला या सूर्य की गति का चरमस्थान हो।

पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् ॥ ३ ॥

भा०—(पूर्वाफल्गुन्यौ) पूर्वा फल्गुनी के दो नक्षत्र (पुण्यम्) पुण्य, सुखकर हों। (अत्र) इस लोक में (हस्तः) हस्त नक्षत्र और (चित्रा) चित्रा नक्षत्र (शिवा) कल्याणकारी हो। (स्वाति) स्वाति नक्षत्र (मे सुखः अस्तु) मुझे सुखकारी हो। (राधे विशाखे) हे राधा नक्षत्र और विशाखा नक्षत्र तुम दोनों भी (सुहवा) उत्तम रीति से यज्ञ करने योग्य और (अनुराधा) अनुकूल सिद्धि देने वाले होवें। (ज्येष्ठा सु-नक्षत्रम्) ज्येष्ठा उत्तम नक्षत्र हो। (मूलम् अरिष्ट) मूल नक्षत्र भी कल्याणकारी हो।

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥४॥

भा०—(पूर्वा अषाढा) पूर्वा अषाढा नक्षत्र (मे अन्नम्) मुझे अन्न (रासताम्) प्रदान करे। (उत्तरा) उत्तरा अषाढा नक्षत्र (देवी) प्रकाशवान् होकर (ऊर्जम्) उत्तम अन्न रस और बल (आवहन्तु) प्राप्त करावें। (अभिजित्) अभिजित् नामक नक्षत्र (मे पुण्यम् रासताम्)

३—'पुण्यं द्व्याफल्गुन्यौ' अथवा—'पूर्वाफल्गुन्यौ चोत्तरा', 'स्वाति' 'स्वाती वा क्वचित्। 'सुखा' 'सुखं' वा(तृ०)'राधा' अथवा 'राधो, विशाखो', 'अरिष्ट' इत्यादि हिटनिकामितानि संशोधनानि। 'सुखा' इति सायणाभिमतः।

मुझे पुण्य पवित्रता प्रदान करे । (श्रवणः श्रविष्ठाः) श्रवण और श्रविष्ठा दोनों नक्षत्र (सुपुष्टिम्) उत्तम पुष्टि प्रदान (कुर्वताम्) करें ।

आ मे॑ म॒हच्छ॒तभि॑ष॒ग् वरी॑य॒ आ मे॑ द्व॒या प्रोष्ठ॑पदा सु॒शर्म॑ ।
आ रे॒वती॑ चाश्वयु॒जौ भगं॑ म॒ आ मे॑ र॒यिं भर॑ण्य॒ आ व॑हन्तु ॥४॥

भा०—(महत् शतभिषग्) बड़ा भारी शतभिषग् नामक नक्षत्र मुझे (वरीयः) धन प्राप्त करावे । (द्वया प्रोष्ठपदा) दोनों प्रोष्ठपदा नाम के नक्षत्र (मे सुशर्म आवहताम्) मुझे उत्तम सुख प्रदान करें । (रेवती अश्वयुजौ च) रेवती और अश्वयुग् या अश्विनी के दोनों नक्षत्र (मे भगम् आ) मुझे ऐश्वर्य प्राप्त करावें । (भरण्यः) भरणी नाम के नक्षत्र (मे रयिम् आ वहन्तु) मेरे लिये ऐश्वर्य समृद्धि प्रदान करावें ।

---

[८] नक्षत्रों का वर्णन ।

गार्ग्य ऋषिः । मन्त्रोक्तानि नक्षत्राणि देवताः । ६ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । १ विराट् जगती । २, ५, ७ त्रिष्टुभः । ६ त्र्यवसाना षट्पदा अति जगती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यानि॒ नक्ष॑त्राणि दि॒व्य१॒॑न्तरि॑क्षे अ॒प्सु भू॒मौ यानि॒ नगे॑षु दि॒क्षु ।
प्र॒क॒ल्पयं॑श्च॒न्द्रमा॒ यान्येति॒ सर्वा॑णि॒ ममै॒तानि॑ शि॒वानि॑ सन्तु ॥१॥

भा०—(यानि) जो नक्षत्र (दिवि) आकाश में विद्यमान हैं (यानि) और जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष, वायुमण्डल में, (अप्सु) जलों में या समुद्रों में, (भूमौ) भूमि पर (नगेषु) पर्वतों पर और (दिक्षु)

४-(प्र०) 'रासन्तान्' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'देष्युत्तरा' इति क्वचित् । 'देव्य उत्तरा' इति सायणाभिमतः । 'ये द्युत्तरे' इति क्वचित् । 'या पुत्तरा वा' इति ह्विटनिकामितः । 'अत्रपूर्वा रासतां मे अषाढे ऊर्जं देव्युत्तरा वहन्तु' इति ह्विटनिकामितः ।

या स्त्री और (पुण्यगः च) पुण्य पवित्र मार्ग से जाने वाला पुरुष अर्थात् उत्तम स्त्री पुरुष दोनों (मेहतान्) मूत्र करें अर्थात् तेरा अपमान करें तुझे मान आदर न दें ।

सु—इत्युत्तमनाम [निघं० अ० ७ । ६]

इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते ।
सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥ ६ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के जानने हारे ब्रह्मन् ! विद्वन् ! तेरे (या इमाः) इन जिन (विषूचीः) नाना दिशाओं को (वातः) वायु प्रबल वात (ईरते) कंपा देता है (ताः) उनको हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् आचार्य या ईश्वर ! तू (सध्रीचीः) एक साथ अपने २ स्थान पर यथास्थान (कृत्वा) करके तू उनको (मह्यं) मेरे लिये (शिवतमाः कृधि) अत्यन्त कल्याणकारी बना ।

स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥७॥

भा०—हे ईश्वर ! (नः) हमारा (स्वस्ति अस्तु) कल्याण हो । (नः अभयम् अस्तु) हमें अभय हो, कहीं भी भय न रहे । (अहोरात्राभ्यां) दिन रात्रि पर (नमः) हमारा वश (अस्तु) हो ।

(९) सुख शान्ति की प्रार्थना

ब्रह्मऋषिः । शान्तिसूक्तम् । शान्तिर्देवता । १ विराड् उरो बृहती । ५ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः । ९ पञ्चपदा ककुम्मती । १२ त्र्यवसाना सप्तपदा अष्टिः । १४ चतुष्पदा संकृतिः । २, ४, ६, ८, १०, ११, १३ अनुष्टुभः । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्व१न्तरिक्षम् ।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥

भा०—(द्यौः शान्तम् अस्तु) द्यौः, आकाश शान्त, शान्तिदायक, सुखप्रद हो (पृथिवी शान्ता) पृथिवी शान्तिदायक हो । (इदम्, उरु अन्तरिक्षम्) यह विशाल अन्तरिक्ष (शान्तम्) शान्तिदायक हो । (उदन्वतीः आपः) समुद्र के जल भी (शान्ताः) शान्तिदायक हों । (नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियें (शान्ताः) शान्तिदायक हों । ये सब पदार्थ हमारे लिये सुखकारी, शान्तिदायक हों और उपद्रवकारी, कष्टप्रद न हों ।

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥

भा०—(पूर्वरूपाणि) पहले २ प्रादुर्भूत हुए उपद्रवों और रोगों के पूर्व रूप हमारे लिये (शान्तानि) शान्तिदायक हों, कष्टजनक न हों । (नः) हमारे (कृताकृतम्) किये विरुद्ध कार्य और न किये या प्रमादवश न किये हुए अवश्य कर्तव्य कार्य भी (नः) हमें (शान्तम् अस्तु) शान्तिदायक हों, अर्थात् अनर्थजनक न हों । (भूतम् भव्यम् च शान्तम्) भूत, अतीतकाल और भव्य, भविष्यत् काल दोनों भी हमें सुखप्रद हों । (नः) हमारे लिये (सर्वम् एव) सब ही (शम्) शान्तिदायी, कल्याणकारी हों ।

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥ ३ ॥

भा०—(या) जो (इयम्) यह (परमेष्ठिनी) परम, सबके पालन में समर्थ, सर्वोपरि विद्यमान, परमेश्वर में स्थित (वाग्देवी) वाणी-रूप दिव्य शक्ति (ब्रह्मसंशिता) ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस, ब्रह्मचर्य के बल से अति बलवती है, (यया एव) जिससे ही (घोरम्) अति घोर, भयानक कार्य (ससृजे) किये जा सकते हैं (तया एव) उससे ही (नः) हमें (शान्तिः) सुखप्राप्ति (अस्तु) हो ।

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् ।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ ४ ॥

भा०—(यत्) जो (इदम्) यह प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करने योग्य (ब्रह्मसंशितम्) ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मचर्य के बल से तीक्ष्ण होकर (परमेष्ठिनम्) परम स्थान में स्थित (वां मनः) हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों का मन है (येन एव) जिससे ही (घोरं ससृजे) घोर, क्रूरकर्म भी किये जा सकते हैं, (तेन एव नः शान्तिः अस्तु) उससे ही हमें शान्ति सुख प्राप्त हो ।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥

भा०—(इमानि यानि) ये जो प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त (मनः षष्ठानि) छठे मन सहित (पञ्च इन्द्रियाणि) पांच ज्ञानेन्द्रिय (ब्रह्मणा) ब्रह्मचर्य के बल से (संशितानि) अति उत्तम रूप से खूब तीक्ष्ण होकर (मे हृदि) मेरे हृदय में, आत्मा में आश्रित हैं (यैः एव घोरम् ससृजे) जिनके द्वारा घोर कार्य भी किया जाता है (तैः एव) उनसे ही (नः शान्तिः अस्तु) हमें शान्ति प्राप्त हो ।

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा ॥ ६ ॥

यजु० ३६ । ९ ॥ ऋ० १ । ९० । ॥

भा०—(नः) हमें (मित्रः) सबका स्नेही, सबको मरण से त्राण करने वाला पुरुष (शम्) शान्तिदायक हो । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, सबके

४–'मनो वा' इति ह्विटनिकामितः ।

६–प्र० च० तृ० द्वि० इति पादानां क्रमः । ऋ० यजु० । शंनो विष्णुरुरुक्रमः इति ऋ०, यजु० ।

वरण करने योग्य, एवं सब शत्रुओं का वारक पुरुष (शम्) कल्याणकारी हो । (विष्णुः) व्यापक, सर्वत्र प्रभुता से सम्पन्न या व्यवस्थापक पुरुष हमें शान्तिदायक हो । (प्रजापतिः शम्) प्रजा का पालक पुरुष भी शान्तिदायक हो । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) बृहती, वाणी का पालक विद्वान् पुरुष (अर्यमा) और दुखों का नियामक, न्यायकारी पुरुष ये सब (शम्) सदा हमें कल्याण सुख प्रदाता (भवतु) हो । अथवा ये सब विशेषण परमेश्वर के हैं । गुण भेद से सभी नाम परमात्मा के भी हैं ।

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः शं वि॒वस्वाँ॒छमन्त॑कः ।
उ॒त्पा॒ताः पार्थि॑वान्तरि॒क्षाः शं नो॑ दि॒विच॑रा ग्र॒हाः ॥ ७ ॥

ऋ० १ । ९० । ९ ॥ यजु० ३६ । ९ ॥

भा०—(मित्रः) सब का स्नेही, सबका मरण से त्राता (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, सब के वरण करने योग्य, सब दुःखों का वारक (शम् शम्) सुखकारी शान्तिदायक हो । (विवस्वान् शम्) विविध वस्तुओं, जीवों को प्राण देकर बसाने वाला या विविध ऐश्वर्यों का स्वामी पुरुष या सूर्य या परमेश्वर (शम्) शान्ति प्रदान करे । (अन्तकः) अन्त करने वाला मृत्यु भी (शम्) हमें शान्ति दे, हमारी पूर्णायु हो । (पार्थिवान्तरिक्षाः) पृथिवी और अन्तरिक्ष में होने वाले (उत्पाताः) नाना उपद्रव और (दिविचराः) द्यौ, आकाश में विचरने वाले ग्रह भी (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों ।

शं नो॒ भूमि॒र्वेप्यमा॑ना॒ शमु॒ल्का निर्ह॑तं॒ च यत् ।
शं गावो॒ लोहि॑तक्षीराः॒ शं भूमि॒रव॑ तीर्य॑तीः ॥ ८ ॥

७–(तृ०) 'पार्थिवाऽन्तरिक्षाच्छं नो' इति क्वचित् ।

८–(प्र०) 'वेपमाना' इति क्वचित् । 'उल्कानिहत' इति क्वचित् । (च०) भूमिर 'वदीर्यती' इति सायणाभिमतः ।

भा०—(वेप्यमाना भूमिः शम्) किन्हीं भी प्राकृतिक उद्वेगों से कंपाई गयी भूमि (नः)हमारे लिये (शम्) सुखकारी हो, हमें हानिकारक न हो। (उल्का शम्) आकाश से भूमिपर गिरने वाले लघुग्रह (शम्) शान्तिदायक हों। और (यत् निर्हतम्) जो भी वेग से पृथ्वीपर आकर गिरें वह भी हमें शान्तिदायक हों।(गावः) गौएं जो (लोहितक्षीराः) विपरीतकाल या रोग के कारण रुधिर के समान दूध देती हों वे भी (शम्) शान्ति दें। और (अव तीर्यतीः) अचानक फट जाने वाली (भूमिः) भूमि भी (शम्) शान्ति सुखकारी हो, हानि न पहुंचावे।

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नो॑ऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।
शं नो॒ निखा॑ता वल्गाः शमुल्का दे॑शोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥९॥

भा०—(उल्काभिहतम्) उल्का उपग्रहों से अभिहत, चुब्ध (नक्षत्रम्) नक्षत्र (नः शम् अस्तु) हमारे लिये कल्याणकारी हो। (अभिचाराः) दूसरों के हमपर गुप्त अभिचार, आक्रमण भी (नः शम्) हमारे लिये शान्त ही रहें, न उठें, न सफल हों। (कृत्याः) घातक क्रियाएं भी (शम् उ सन्तु) शान्त ही रहें। (निखाताः) धोखा देकर गिर कर मारने, या भीतर विस्फोटक द्रव्य भरकर उड़ा देने के लिये खोदे हुए स्थान सुरंग या Mines (नः) हमारे लिये शान्त, निरुपद्रव, हानिरहित रहें। (वल्गाः) अन्य कपट के हिंसा के कार्य भी हमारे लिये शान्त रहें। (उल्काः) पृथ्वीपर उल्काओं का गिरना (शम्) शान्त हो। (देशोपसर्गाः) देश में उत्पन्न होने वाले संहारक उपद्रव (नः) हमारे लिये (शं उ भवन्तु) शान्त ही रहें, उत्पन्न ही न हों।

शं नो॒ ग्रहा॑श्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च॑ राहुणा।
शं नो॑ मृत्युर्धूमके॑तुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥१०॥

९-(तृ०) 'वल्गाः' इति क्वचित्।

१०-(द्वि०) आदित्यः राहुणा इति बहुत्र।

भा०—(चान्द्रमसाः) चन्द्रमा से सम्बद्ध, चन्द्रमा से युक्त या चन्द्रमा को ग्रहण करने वाले भूमि की छाया आदि (ग्रहाः) ग्रह (नः शम्) हमें शान्ति दें । (राहुणा) प्रकाश के नाशक, आवरण से युक्त (आदित्यः च) आदित्य भी (शम्) शान्ति दे । (मृत्युः) जनों के मृत्यु का कारण (धूमकेतुः) धूमकेतु ग्रह (नः शम्) हमारे लिये शान्त, हानिरहित रहे । (तिग्मतेजसः रुद्राः) तीक्ष्ण प्रकाश वाले, प्रजा को रुलाने वाले नाना 'रुद्र' नामक केतु ग्रह अथवा प्राण अपान आदि ११ रुद्र भी (शम्) शान्त रहें, उत्पात न करें ।

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः ।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥११॥

भा०—(रुद्राः शम्) प्रजा के रुलाने वाले, 'रुद्र' रूप ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य के पालक निष्ठ पुरुष हमारे लिये शान्तिदायक हों । (वसवः) वसु नामक २४ वर्ष के ब्रह्मचारी (शं) हमारे लिये कल्याणकारी हों । (आदित्याः) आदित्य, ४८ वर्ष के बाल ब्रह्मचारी गण हमें (शम्) सुख दें । (अग्नयः) अग्नि के समान तीक्ष्ण स्वभाव के पुरुष अथवा राजागण, क्षत्रियजन और अन्य विद्वान् लोग हमें (शम्) सुख दें । (देवाः) ज्ञान प्रकाशक, ज्ञानप्रद, तेजस्वी (महर्षयः) बड़े २ मन्त्रद्रष्टा ऋषिजन (नः शम्) हमारे लिये शान्तिदायक हों, (देवाः) देव, विद्वान्‌गण और संसार के दिव्य पदार्थ (शं) शान्तिदायक हों । (बृहस्पतिः शम्) महान् लोकों का पालक परमेश्वर हमें शान्ति दे । अथवा (रुद्राः) रुद्र ११—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीव । वसु आठ—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौः, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और

११—'शं देवीः' इति ह्विटनिकामितः ।

१२ आदित्य, १२ मास (अग्नयः) अग्नियें वैतानिक आदि पांच इत्यादि सब हमें शान्ति दें।

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः ।
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु ।
विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १२ ॥

भा०—(ब्रह्म) महान्, सच्चिदानन्द परमेश्वर (प्रजापतिः) प्रजा का पालक, (धाता) सबका पोषक हिरण्यगर्भ (लोकाः) समस्त लोक, (वेदाः) ज्ञानमय समस्त वेद, ऋग्, यजुः, साम, अथर्व एवं उनके व्याख्यान, (सप्त ऋषयः) सात ऋषि सात प्रकार के मन्त्रार्थद्रष्टा, अथवा शरीरस्थ सात इन्द्रियें और (अग्नयः) पांचों अग्नियें, अग्नि, विद्युत्, सूर्य, जाठर और ब्रह्म । (तैः) इन सब ने मेरे लिये (स्वस्त्ययनम्) कल्याण का मार्ग (कृतम्) बना हो । (इन्द्रः) इन्द्र, परमेश्वर (मे) मुझे (शर्म यच्छतु) सुख प्रदान करें। (ब्रह्मा) वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा (मे) मुझे (शर्म यच्छतु) सुख प्रदान करे। (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् ज्ञानप्रद पुरुष (मे शर्म यच्छन्तु) मुझे सुख शान्ति दें। (सर्वे देवाः मे शर्म यच्छन्तु) समस्त प्रकाशक पदार्थ या राजागण मुझे शान्ति प्रदान करें।

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥ १३ ॥

भा०—(लोके) लोक में (सप्त ऋषयः) शरीरगत सातों इन्द्रियें और उन द्वारा सूक्ष्म ज्ञान के प्राप्त करने वाले विद्वान् ब्राह्मण (यानि कानिचित्) जिन किन्हीं पदार्थों को भी (शान्तानि) शान्तिदायक (विदुः)

१२-(प्र०) 'ब्रह्मा प्र' 'लोका देवाः' इति ह्विटनिकामितः ।
१३-'लोके सप्तर्षयो' इति क्वचित् ।

जायें (सर्वाणि) वे सब (मे शं भवन्तु) मेरे लिये कल्याणकारी हों। (मे शम् अस्तु) मुझे शान्ति प्राप्ति हो, (अभयम् मे अस्तु) मुझे अभय प्राप्त हो।

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्वे शान्तिभिः शमयामोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ १४ ॥ यजु० ३६ । १७ ॥

भा०—(पृथिवी, अन्तरिक्षम्, द्यौः, आपः, ओषधयः, वनस्पतयः, विश्वे देवाः, सर्वे देवाः) पृथिवी, अन्तरिक्ष=वायु, द्यौ, आकाश जल, ओषधियां, वनस्पति, बड़े वृक्ष, समस्त देव=विद्वान् लोग, सब देव=दिव्यगुणवान् पदार्थ (मे) मेरे लिये (शान्तिः) शान्ति उत्पन्न करें। (शान्तिभिः) समस्त प्रकार की शान्तियों के साथ २ (शान्तिः) मेरा शान्तिमय आत्मा भी (शान्तिः) शान्तरूप धारण करे। (ताभिः शान्तिभिः) उन शान्तियों से और अन्यान्य (सर्वे शान्तिभिः) सब प्रकार के शान्ति साधनों से (अहम्) हम लोग (शम् अयामः) शान्तिमय परम सुख को प्राप्त हों। अथवा (यत् इह घोरम्) जो पदार्थ इस लोक में (घोर) कष्टदायक, (यत् इह क्रूरम्) जो यहाँ क्रूर, हिंसाजनक, त्रासोत्पादक और (यद् इह पापम्) जो यहां पाप दूर करने योग्य आत्मा का नाशक (तत् शान्तम्) वह

१४—'शमय, मोहम्' इति पदपाठः। शमयामः। अहम् इति सायणाभिमतः। शम, । अयामः। अहम्। इत्यपि शं० पा० पदपाठः। द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिरापः......विश्वे देवा शान्तिर्ब्रह्म शान्ति सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्ति सा मा शान्तिरेधि। इति यजुः०।

शान्त हो। (तत् शिवम्) वह सब कल्याणकारी हो। (नः) हमारे लिये (सर्वम् एव) सब ही (शम् अस्तु) शान्तिदायक हो।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र नवसूक्तानि एकोनषष्टिश्चर्चः]

[१०] सुख शान्ति का वर्णन।

शान्तिकामो ब्रह्मा ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुभः। दशर्चं सूक्तम् ॥

शं नं इन्द्राग्नी भंवतामवौभिः शं न इन्द्रावरुंणा रातहंव्या।
शमिन्द्रासोमां सुविताय शं योः शं न इन्द्रांपूषणा वाजंसातौ ॥१॥

ऋ० ७। ३५ ॥ यजु० ३६। ११ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि वायु और राजा और सेनापति, प्राण, उदान (अवोभिः) रक्षा साधनों द्वारा (नः शम् भवताम्) हमें शान्तिदायक हों। (रातहव्या) अन्न आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त करके (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण, वायु और मेघ, राजा और दुष्टों का दमन करने हारा पुलिस विभाग का अध्यक्ष, प्राण और व्यान (नः शम्) हमें सुख और शान्ति दें। (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम, वायु और सूर्य राजा और न्यायाधीश, प्राण और समान (सुविताय) उत्तम सुख के लिये (शं योः) रोगों के शम, और भयों के दूर करने के लिये हों (इन्द्रापूषणा) इन्द्र और पूषा, वायु और अन्न, प्राण और अपान (वाजसातौ) बल और वीर्य के प्राप्त करने के कार्य में (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों।

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरंधिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्यं सुयमंस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अंस्तु ॥२॥

ऋ० ७। ३५। २ ॥

भा०—(भगः) भजन करने योग्य, ऐश्वर्यवान्, देव, परमेश्वर अथवा ऐश्वर्यवान् धनाढ्य लोग (नः शम्) हमें शान्ति सुख दें। (शंसः नः शम्) उत्तम उपदेश करनेहारा शास्त्रवक्ता पुरुष अथवा समस्त पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय पुरुष या परमेश्वर (नः शम् उ) हमें शान्ति सुख दें। (पुरन्धिः) पुर=राष्ट्र नगर का धारण करने वाला पुरुष (पुरंधिः) पुर देह को धारण करने वाली बुद्धि अथवा पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला पुरुष परमेश्वर, पुर=गृह को धारण करने वाला स्त्रीजन (नः शम्) हमें शान्ति सुख दें। (रायः) समस्त ऐश्वर्य (शम् उ सन्तु) हमें शान्तिदायक हों। (सुयमस्य) उत्तम नियमन, उत्तम रूप से संयमन करने वाले (सत्यस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर का या उत्तम संयम, ब्रह्मचर्य से युक्त सत्य ज्ञान का (शंसः) भजनकीर्त्तन, अथवा उपदेशक पुरुष (नः शम्) हमें शान्ति दें। (पुरुजातः अर्यमा) बहुत से प्रजाजनों में सब की सहमति से बनाया गया (अर्यमा) न्यायकारी पुरुष अथवा समस्त पदार्थों में व्यापक परमेश्वर अथवा पुरु=इन्द्रियों में सामर्थ्यवान् आत्मा (नः शम् अस्तु) हमें शान्तिदायक हो।

शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न ऊरूची भवतु स्वधाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥३॥

भा०—(धाता) पालन पोषण करनेवाला परमेश्वर, या दुग्ध आदि से पुष्ट करने वाला पिता (नः शम्) हमें शान्ति सुखदायक हो। (धर्ता नः शम्) आश्रय प्रदाता, परमेश्वर या संरक्षक हमें शान्तिदायक (अस्तु) हो। (ऊरूची) बहुत दूर २ तक फैली हुई पृथिवी, (स्वधाभिः) अन्नों द्वारा (नः शम् भवतु) हमें सुखप्रद हो। (बृहती) विशाल (रोदसी) द्यौ,

३–(द्वि०) 'उरुची' 'ऊरुची' 'उरूची' इति पाठः।

पृथिवी और अन्तरिक्ष (शम्) हमें सुख दें। (अद्रिः) पर्वत और मेघ (नः शम्) हमें सुख दे। (देवानाम्) देवों, विद्वानों की (सुहवानि) उत्तम स्तुतियें, उनके उत्तम ज्ञान और उत्तम उपदेश (नः शम् सन्तु) हमें सुखद और कल्याणकारक हों।

शं नो॑ अ॒ग्निर्ज्योति॑रनीको अस्तु॒ शं नो॑ मि॒त्रावरु॑णाव॒श्विना॒ शम्।
शं नः॑ सु॒कृतां॑ सुकृ॒तानि॑ सन्तु॒ शं न॑ इषि॒रो अ॒भि वा॑तु॒ वातः॑ ॥४॥

भा०—(ज्योतिः अनीकः) ज्योति, ज्वाला, दीप्ति के बने मुख वाला अर्थात् अपनी ज्वाला से सब पदार्थों को खाजाने या भस्म कर देने वाला (अग्निः) अग्नि और उसके समान ज्ञान ज्योति को अपने मुख में धारण करने वाला, अग्नि के समान ज्ञानप्रकाशक ब्राह्मण, ज्योति को अपने मुख में या अग्रभागमें रखने वाला मार्गदर्शक, ज्योतिर्मय दीपक को अपने मुख भाग या अग्रभाग में रखने वाला सूर्य या अग्नि के बलपर चलने वाला महायन्त्र या, ज्योतिर्मय तेज स्वी पुरुषों के अनीक सेना बल से युक्त अग्नि—अग्रणी, सेनापति (नः) हमारे लिये (शम् अस्तु) कल्याण कारक हो। (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण, परस्पर स्नेह करने वाली धन और ऋण विद्युतें और वरुण अर्थात् समान जाति को परे-वारण करदेने वाली धन और ऋण दोनों (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों। (अश्विनौ) दो अश्वि, सूर्य रूप अश्वपर सदा आरूढ़ दिन और रात, एवं देह रूप रथ और एवं इन्द्रियरूप अश्वोंपर आरूढ़ प्राण और अपान, देह में व्यापक, अथवा स्त्री पुरुष (शम्) शान्तिदायक हों। (सुकृताम्) उत्तम सुन्दर कार्य करने वाले उत्तम शिल्पियों के (सुकृतानि) बनाये उत्तम प्रशंसनीय शिल्प के कार्य और पुण्यात्माओं के किये हुए उत्तम प्रशंसनीय परोपकार के कार्य (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (सन्तु)

४–(द्वि०)'णा अश्विना' इति पैप्प० सं०।

हों । (इषिरः) निरन्तर गतिशील, सब पदार्थों का प्रेरक, (वातः) महान् वायु और देहों का प्रेरक प्राण वायु (नः) हमारे किये (शम्) कल्याणकारी, सुखकारी होकर (वातु) प्रवाहित हो ।

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥५॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि (पूर्वहूतौ) सबसे पूर्व समस्त पदार्थों को प्रदान करने में नः शम्) हमें शान्तिदायक हों । (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, मध्यमलोक, वातावरण भी (दृशये) हमारे दर्शन शक्ति को स्वतन्त्र व्यापार के लिये (शम् नः अस्तु) हमें कल्याणकारी हो । अन्तरिक्ष स्वच्छ रहे कि हम दूर २ तक देख सकें । (ओषधीः) ओषधियें (वनिनः) सेवन करने योग्य होकर (नः शं भवन्तु) हमें शान्तिदायक हों । (रजसःपतिः) लोकों का पालक सूर्य और सूर्य के समान तेजस्वी (जिष्णुः) विजयशील राजा (नः शम् अस्तु) हमें शान्तिदायक हो ।

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥

भा०—(देवः) प्रकाशमान, तेजोमय, ऐश्वर्यवान् सूर्य (वसुभिः) प्राणियों को अपने में बसाने में समर्थ पृथिवी आदि लोक, वायु पर्जन्य आदि वसु पदार्थों सहित (नः शम्) हमें शान्तिदायक (अस्तु) हो अथवा (देवः) देव=राजा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् होकर (वसुभिः) वसु विद्वान् शासकों के साथ हमें शान्तिदायक हो और इन्द्र आत्मा वसुरूप प्राणों सहित हमें शान्तिदायक हो । (वरुणः) सबके वरण करने योग्य, राजा

६– (च०) 'त्वष्टा अग्नाभिः' इति पदपाठश्चिन्त्यः ।

(आदित्येभिः) आदित्य के समान तेजस्वी पुरुषों के साथ (सुशंसः) उत्तम रीति से स्तुति करने योग्य, उत्तम गुणों से युक्त होकर बारह मासों सहित सूर्य के या पर्जन्य के समान (शन् अस्तु) हमें कल्याणकारी हों। (रुद्रः) सब दुष्टों को रुलाने वाले, दुष्ट दमनकारी पुरुष-सिंह (रुद्रेभिः) दुष्टों को रुलाने में समर्थ अन्य अधिकारियों सहित (जलाषः) सुखकारी होकर (नः शम्) हमें शान्तिदायक हो। (त्वष्टा) सर्वस्रष्टा परमेश्वर (ग्नाभिः) अपनी व्यापक दिव्य शक्तियों सहित (नः) हमारे लिये (शन्) शान्तिप्रद हो और (इह) इस लोक में हमारी सब प्रार्थनायें (शृणोतु) श्रवण करे।

अध्यात्म में आत्मा या पुरुष की तीन दशा हैं वयः क्रम से व्रत पालन में इन्द्र, वरुण और रुद्र उनके व्रत से परिपक्व हुए प्राणों के तीन नाम हैं वसुगण, आदित्यगण और रुद्रगण। त्वष्टा, कर्त्ता, आत्मा उसकी ज्ञान-शक्तियां 'ग्ना' हैं। अथवा त्वष्टा शिल्पी अपनी (ग्नाभिः) गमनशील, अति वेगवती विद्युत्, कला, यन्त्र आदि वैज्ञानिक शक्तियों सहित हमें सुख शान्ति दे। इन्द्र=राजा, वरुण जलाध्यक्ष, आदित्य, पानी सींचने के यन्त्र रुद्र, वैद्य, रुद्रगण=ओषधियां।

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः॥७॥

भा०—(सोमः) सोम, वायु और सोम ओषधि (नः शन् भवतु) हमें शान्तिदायक हो। (ब्रह्म) वेदज्ञान (न शन्) हमें शांतिदायक हो। (ग्रावाणः) उपदेशकर्त्ता गुरुजन (नः शन्) हमें शान्तिदायक हों अथवा (ग्रावाणः) प्राणगण, पशुगण, प्रजागण, पत्थर या सिलबट्टे के समान शत्रुओं को पीसने वाले शत्रुघाती सिपाहीजन या वज्र आदि शस्त्र और शस्त्रधारी पुरुष (नः शन्) हमारे लिये शांतिदायक हों। (यज्ञाः

उ शम् सन्तु) यज्ञ भी शांतिदायक हो । (स्वरूणां मितयः) स्वरु, उपदेशप्रद मंत्रों के (मितयः) ज्ञान करने वाले विद्वान्जन या (स्वरूणां) उपदेशप्रदाता पुरुषों के (मितयः) नाना ज्ञान (नः शम्) हमारे लिये शांतिदायक (भवन्तु) हों । (प्रस्वः) नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाली ओषधियां या उत्कृष्ट पुत्रोत्पादक माताएं, और गौएं और पृथिविएं (नः शम्) हमें शांति सुख दें । (वेदिः) वेदि पृथिवी और यज्ञवेदि हमको (शम् अस्तु) हमें शांति दे ।

यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः । शा० ३ । ७ । १ । ११ । वज्रो वै यूपशकलः । श० ३ । ८ । १ । ५ ॥ आदित्यो यूपः । तै० २ । १। ५ । ५ ॥ यूपात् वा राप शकलः स्वरुर्नाम । श० ३ । ७ । १ । २४ ॥ अथवा स्वृशब्दोपतापयोः । स्वरति उपादिशति उपादिश्यते इति वा स्वरुः । तेषामितयो ज्ञानानि ।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवतु प्रदिशश्चतस्रः ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥

भा०—(उरुचक्षाः) विस्तीर्ण तेज वाला, सर्व प्रत्यक्ष सर्वदर्शी (सूर्यः) सूर्य और उसके समान तेजस्वी आदित्य योगी (नः शम्) हमें शांतिदायक होकर (उत् एतु) उदय को, वृद्धि को प्राप्त हो (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) मुख्य दिशाएं (नः शंभवन्तु) हमें शांतिदायक हों । (ध्रुवयः) अचल, स्थिर खड़े (पर्वताः) पर्वत (नः शं भवन्तु) हमें शांति सुख देने हारे हों । (सिन्धवः) वेग से वहने वाले, नद महानद और (आपः) अन्य नाना जल भी (नः शम्) हमें शांतिदायक हों ।

८-(द्वि०) 'शंनश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु' इति ऋ० ।

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥९॥

भा०—(अदितिः) अखण्ड पृथिवी (व्रतेभिः) नाना कार्य व्यवहारों द्वारा (नः शम् भवतु) हमें शान्तिदायक हो । अथवा सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष और उसमें रहने वाले पांचों प्रकार के जन और समस्त प्राणि अपने व्रतों, कर्मों और व्यवहारों द्वारा हमें शान्तिदायक हों । (स्वर्काः) उत्तम गति करने वाले (मरुतः) मरुद्गण वायुएं, प्राण और वैश्यजन (नः शम् भवन्तु) हमें शान्तिदायक हों । (विष्णुः) व्यापक परमेश्वर, यज्ञ और सूर्य (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों । (पूषा) पोषक अन्न या सूर्य (नः शम् उ) हमें शान्तिदायक हो । (भवित्रम्) यह उत्पत्तिस्थान भुवन, जल या अन्तरिक्ष हमें (शं नः अस्तु) शान्तिदायक हो । (वायुः शम् उ अस्तु) वायु हमें शान्तिदायक हो ।

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः ॥१०॥

भा०—(त्रायमाणः) सबका पालन करता हुआ (सविता) सर्व प्रेरक सर्वोत्पादक (देवः) देव, प्रकाशक सूर्य (नः शम्) हमें शान्तिदायक हो । (विभातीः) विविध और विशेषरूप से प्रकाशित (उषसः) उषाएं (नः शं भवन्तु) हमें शान्तिदायक हों । (पर्जन्यः) मेघ, रसों का देने वाला (नः) हमें प्रजाओं के लिये (शं भवतु) शान्तिदायक हो । (क्षेत्रस्य पतिः) क्षेत्र का स्वामी, आत्मा और क्षेत्र, प्रधान प्रकृति का स्वामी परमेश्वर (शंभुः) समस्त सुखों का उत्पादक अग्नि, जल या स्वयं क्षेत्रपति-किसान (नः शम् अस्तु) हमारे लिये शान्तिदायक हो ।

[११] शान्ति की प्रार्थना ।

शान्तिकामा ब्रह्मा ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥१॥

ऋ० ७ । ३५ । १२ ॥

भा०—(सत्यस्य पतयः) सत्य ज्ञानके पालक, सत्य की रक्षा करने वाले, प्राड्विवाक और धर्माधिकारी, न्यायकर्त्ता, व्यवस्थापक अथवा (सत्यस्य) सत्य, वर्त्तमान जगत् के (पतयः) पति, सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि, वायु आदि (नः) हमें (शम् भवन्तु) शान्तिदायक हों । (अर्वन्तः) शीघ्रगामी अश्व (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों । (गावः) गौएं (शम् उ सन्तु) हमें शान्तिसुख दें । (सुकृतः) उत्तम २ पदार्थ बनाने वाले (सुहस्ताः) शिल्प में सिद्धहस्त (ऋभवः) विद्वान्, शिल्पीजन (नः शम्) हमें शान्तिसुखप्रद हों । (हवेषु) यज्ञों और युद्धों में (पितरः) हमारे पालक, राष्ट्र के रक्षक अधिकारी लोग (नः शम् भवन्तु) हमें शान्तिदायक हों ।

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥२॥

ऋ० ७ । ३५ । ११ ॥

भा०—(विश्वदेवाः) समस्त प्रकार की क्रीड़ा करने में चतुर, विजयीपने में कुशल, व्यवहारों में निपुण, प्रकाशमान्, समस्त आमोद प्रमोद में कुशल, (देवाः) देव, विद्वान् लोग (नः शं भवन्तु) हमें शांति सुखदायक हों; और (सरस्वती) सरस्वती, वाणी (धीभिः सह) नाना उत्तम ध्यान-

---

[११] २-(च०) 'आप्याः' इति पैप्प० सं० ।

साम्य विचारों और शुभ चिन्तनाओं, स्तुतियों प्रज्ञा और कर्मों सहित (शम् अस्तु) शान्तिदायक हो। (अभिपाचः) चारों ओर से एकत्र होकर विराजने वाले प्रतिनिधि गण (शम्) शांतिदायक हों। (राति-पाचः) दान दक्षिणा के दान और प्राप्ति के लिये एकत्र होने वाले दाता और प्रति ग्रहीता, ऐश्वर्यवान् विद्वान् पुरुष (शम्) हमें शांतिदायक हों। (दिव्याः) दिव्य आकाश से प्राप्त होने वाले पदार्थ (पार्थिवाः) पृथिवी से उत्पन्न पदार्थ और (अप्याः) जल, समुद्र, नदी आदि से उत्पन्न पदार्थ सब (नः शम्, नः शम्) हमें शांतिप्रद हों।

शं नो॑ अ॒ज एक॑पाद् दे॒वो अ॑स्तु॒ शमहि॑र्बु॒ध्न्य॑१: शं स॑मु॒द्रः।
शं नो॑ अ॒पां नपा॑त् पे॒रुर॑स्तु॒ शं नः॒ पृश्नि॑र्भवतु दे॒वगो॑पाः ॥ ३ ॥

॥ ऋ० ७। ३५। १३ ॥

भा०—(एकपात्) समस्त स्थावर जंगम, चराचर प्राणियों को अपने चित्मय या आनन्दमय एक चरण में धारण करने वाला अथवा 'एक' ब्रह्मरूप से जानने योग्य (अजः) कभी उत्पन्न न होने वाला (देवः) प्रकाशमय परमेश्वर (नः शम् अस्तु) हमें शांतिदायक हो। (अहिर्बुध्न्यः) जो कभी नाश नहीं हो, वह सर्वाधार स्वरूप, सर्वाश्रय परमेश्वर (शम्) शान्ति प्रदान करे। (सम्-उद्रः) समस्त संसार का उत्पत्ति स्थान अर्थात् जैसे समस्त नदियां समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं ऐसे ही समस्त लोकों और आत्माओं के लीन होने के परमस्थान, महासमुद्र रूप परमेश्वर (शम्) हमें शान्ति प्रदान करे। (पेरुः) समस्त दुःखों से पार उतारने हारा (अपां नपात्) जलों को न गिरने देने हारा, मेघ के समान, समस्त आपोमय प्राणों को धारण करने वाला, प्रजाओं को न गिरने देने वाला, सबको जीवनप्रद परमेश्वर (नः शम्) हमें शांति दे। (देवगोपाः) समस्त देव, सूर्य, चन्द्र,

३—सस्पृष्टो ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्चेति। निरु० २। ४। २॥ (द्वि०) 'शं नो हिर्बुध्न्यः' (च०) 'देवगोपाः' इति ऋ०।

नक्षत्र, ऋतु, दिन, मास, पक्ष, एवं पृथिव्यादि पांचभूत, १० इन्द्रिय, पञ्च प्राण आदि समस्त देवों का रक्षक एवं उन सबसे सुरक्षित (पृश्निः) समस्त रसों और ज्योतिर्मय पिण्डों का आश्रय, परमेश्वर (नः शम्) हमें शांति दे। अथवा एकपाद् अज=सूर्य, अहिर्बुध्न्य=वायु, समुद्र=पर्जन्य, अपां नपात्=अग्नि, पृश्नि=पृथिवी ये कल्याणकारी हों।

आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥४॥
ऋ० ७ । ३५ । १४ ॥

भा०—(इदम्) इस (नवीयः) नये से नये (क्रियमाणं) बनाये गये (ब्रह्म) बृहत् जगत् को (आदित्याः) १२ आदित्य, १२ मास अथवा समस्त सूर्य (रुद्राः) नाना वायुगण या अग्नियें या प्राण (वसवः) जीवों के वास कराने हारे लोक (जुषन्ताम्) सेवन करें । (दिव्याः) दिव्य (पार्थिवासः) पृथिवी के स्वामी, राजा लोग और (गोजाताः) पृथिवी पर उत्पन्न अथवा गो वाणी में उत्पन्न वाग्मी, मेधावी पुरुष (यज्ञियासः) यज्ञ में विराजमान पुरुष भी (नः) हमारे वचनों को (शृण्वन्तु) श्रवण करें । अथवा (आदित्याः) आदित्य के समान परम तेजस्वी, आदित्य ब्रह्मचारी (रुद्राः) प्राणों के साधक रुद्र ब्रह्मचारी (वसवः) वसु ब्रह्मचारी ये सब (नवीयः) नये २ ही अर्थात् नित्य नवीन (क्रियमाणम्) किये जाते हुए अनुष्ठानरूप से प्रयोग और अनुभव द्वारा सिद्ध किये जाते हुए (ब्रह्म) ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानमय तपस्या और वेदाध्ययन का (जुषन्ताम्) सेवन करें । या (नवीयः ब्रह्म) नये बने ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण वर्ग या विद्वान् वर्ग से (जुषन्ताम्) प्रेम करें । (गोजाताः) वाग्मी और (यज्ञियासः) यज्ञ में पूजनीय दिव्य (पार्थिवासः) पृथिवी पर उत्पन्न प्राणी (नः) हमारा (शृण्वन्तु) उपदेश और ज्ञान सुनें ।

४–(प्र०) जुषन्त ।

ये देवानांमृत्विजों यज्ञियांसो मनोर्यजंत्रा अमृतां ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगाय मद्य यूयं पांत स्वस्तिभिः सदां नः ॥ ५ ॥

ऋ० ७ । ३५ । १५ ॥

भा०—(ये) जो (देवानाम्) देव, विद्वान् पुरुषों में से (ऋत्विजः) ऋतुओं ऋतुओं में यज्ञ करने वाले (यज्ञियासः) यज्ञों में पूजनीय (मनोः) मनु-मननशील पुरुष के (यजत्राः) यज्ञ करने वाले (अमृताः) अमृत, अमरणधर्मा (ऋतज्ञाः) ऋत्-वेद, सत्य ज्ञान के जानने वाले हैं (ते) वे (नः) हमें (उरुगायम्[1]) विशाल ज्ञानोपदेश (अद्य) निरन्तर (रासन्ताम्) प्रदान करें । हे विद्वान् पुरुषो ! (यूयम्) आप लोग (स्वस्तिभिः) कल्याणकारक साधनों से (नः सदा पात) हमारी सदा रक्षा करें ।

तदंस्तु मित्रावरुणा तदंग्ने शं योरुस्मभ्यंमिदमंस्तु शस्तम् ।
अशी महिं गाधमुत प्रंतिष्ठां नमों दिवे बृंहते सादंनाय ॥ ६ ॥

ऋ० ५ । ४७ । ७ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र, मरण से बचाने वाले और (वरुणा) सर्व दुःखवारक सर्वश्रेष्ठ प्राण और अपान और हे (अग्ने) अग्ने, जाठर शक्ते ! अथवा हे दिन और रात्रि ! और हे अग्ने ! सूर्य ! अथवा हे मित्र और वरुण, राजा और न्यायाधीश और हे अग्ने ! अग्रणी सेनापते ! (अस्मभ्यम्) हमें (तत्) वह (तत्) वह नाना प्रकार के पदार्थ (शम्)

५–१ उरुगायम् विस्तीर्णगानमिति ग्रिफिथह्विटनी । प्रभूतां कीर्त्तिमिति सायणः । कै गै रै शब्दे अतोथम् । गास्तुतौ गाङ्गतौ इत्यस्माद थन् वा ।

६–(तृ०) 'गातुमुत' (च०) 'साधनाय' इति पैप्प० सं० । 'तिस्रो-द्यावः', 'त्रिदिव' इत्यादौ दिव् शब्दो लोकवचनः ।

शांतिदायक और (योः) रोग, विपत्तिनाशक (अस्तु) प्राप्त हों, (इदम्) यह प्राप्त पदार्थ भी (शस्तम् अस्तु) उत्तम, लाभदायक, श्रेष्ठ ही हो । हम (गाधम्) अपने अभिलषित ऐश्वर्य और (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा कीर्त्ति का (अशीमहि) लाभ करें और (बृहते) बड़े भारी (सादनाय) आश्रय प्राप्त करने के लिये (दिवं) द्यौलोक के समान विशाल पृथिवी को (नमः) हम अपने वश करें ।

[१२]

शान्तिकामो । ब्रह्मा ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ।

अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ १ ॥

(प्र० द्वि०) ऋ० १० । १७२ । ४ प्र० द्वि० ॥ (तृ० च०) ऋ० ६ । १७ । १५ तृ० च० ॥

भा०—(स्वसुः) स्वयं सरण करने वाली, आप से आप हट जाने वाली रात्रि के (तमः) अन्धकार को (उषाः) उषा—प्रभात वेला (अप वर्तयति) दूर हटा देती है । और (सुजातता) अपने उत्तम, शुभ सुख-कर उत्पत्ति से (वर्तनिम्) उत्तम मार्ग को या लोक व्यवहार को (संवर्त्तयति) भली प्रकार चला देती है । (अया) इस उषा, मार्गप्रवर्तक प्रकाशमयी प्रवृत्ति से हम (देवहितम्) देवों, दिव्य पदार्थों में विद्यमान, देवों, प्राणों के हितकारी (वाजम्) बल, शक्ति को (सनेम) प्राप्त करें । और हम (सुवीराः) उत्तम वीर्ययुक्त, प्राणों से युक्त रह कर (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) हृष्ट पुष्ट, आनन्द प्रसन्न, सदा तृप्त रहें ।

[१२] १–(द्वि०) 'सुजाततया' इति क्वचित् ॥

[१३]

भा०—अप्रतिरथ ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। एकादशर्चं सूक्तम्॥

इन्द्र॑स्य बा॒हू स्थवि॑रौ॒ वृषा॑णौ चि॒त्रा इ॒मा वृ॑ष॒भौ पा॑रयि॒ष्णू।
तौ यो॑क्षे प्रथ॒मो योग॒ आग॑ते॒ याभ्यां॑ जि॒तमसु॑राणां॒ स्व॑र्यत्॥१॥

साम० उ० ९।३।७।३॥

भा०—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यसम्पन्न राजा के समान इस आत्मा की (स्थविरौ) दृढ़, सदा स्थिर रहने वाली (वृषाणौ) सकल काम्य सुख की वर्षा कर देने वाली, अति बलवान् (चित्रा) विचित्र आश्चर्यजनक (वृषभौ) समस्त सुखों की वर्षक, बैलों के समान (पारयिष्णू) पूर्व मार्ग, जीवनयात्रा के पार पहुंचा देने वाली (बाहू) समस्त विघ्नों को दूर करने वाली दो बाहुओं के समान प्राण और अपान (तौ) उन दोनों को (योगे आगते) योग समाधि के प्राप्त हो जाने पर (प्रथमः) प्रथम अभ्यासी, साधक होकर (योक्षे) युक्त अर्थात् समाहित करूं। (याभ्याम्) जिनसे (असुराणाम्) प्राणों का (यत्) जो जितना भी (स्वः) स्वर अर्थात् प्रेरक बल है उसको (जितम्) जीता या वश किया जाता है।

आ॒शुः शिशा॑नो वृष॒भो न भी॒मो घ॑नाघ॒नः क्षोभ॑णश्चर्षणी॒नाम्।
सं॒क्रन्द॑नोऽनिमि॒ष ए॑कवी॒रः श॒तं सेना॑ अजयत् सा॒कमिन्द्रः॑॥२॥

ऋ० १०।१०३।१॥ यजु० १७।३३॥

[१३] १-(प्र० द्वि०) 'युवानावभृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ' (तृ०) 'तौ युञ्जीत प्रथमौ' (च०) 'असुराणां सहोमहत्'। (द्वि०) 'योक्ष्ये' इति ह्विटनिकामितः। 'ता योक्ष्ये' इति पैप्प० सं०। 'प्रथमौ योग' इति साम०। 'प्रथमयोगागन्ते' इति पैप्प० सं०।

२-'वृषभो न युग्मः' इति तै० सं०।

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यशील राजा (आशुः) शीघ्रगामी (शिशानः) तीक्ष्णमति, तीक्ष्णस्वभाव एवं तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से युक्त (वृषभः न) वृषभ, बड़े सांड के समान (भीमः) अति भयंकर (घनाघनः) शत्रुओं को बराबर मारने और परास्त करने वाला (चर्षणीनां क्षोभणः) मनुष्यों और प्रजाओं के विक्षुब्ध करने, कंपा देने द्वारा (संक्रन्दनः) शत्रुओं को रुलाने वाला या उनको संग्राम के लिये ललकारने वाला (अनिमिषः) कभी आंख न झपकने वाला, कभी न चूकने वाला, प्रमादरहित, अत्यन्त सावधान (एकवीरः) समस्तसेना में एकमात्र वीर, सर्वोपरि सामर्थ्यवान् होकर (शतं सेनाः) सैकड़ों सेनाओं को (साकम्) एक साथ ही (अजयत्) विजय कर लेता है।

अध्यात्म में—(आशुः) व्यापक (शिशानः) तीक्ष्णमति ज्ञान और तपसे (वृषभः न भीमः) वृषभ के समान भयानक (घनाघनः) मेघ के समान आनन्दघन (चर्षणीनां क्षोभणः) विषद्रष्ट इन्द्रियों प्राणों का प्रेरक, (संक्रन्दनः) आनन्दमय, आह्लाद रूप (अनिमिषः) कभी न बुझने वाला, नित्यचेतन (एकवीरः) समस्त प्राणों का मुख्य प्राण होकर (शतं सेनाः) सौ सेनाओं के समान, सैकड़ों चित्तवृत्तियों को एकही बार (अजयत्) विजय करता है।

सं॒क्रन्द॑नेनानिमि॒षेण॑ जि॒ष्णुना॑यो॒ध्येन॑ दुश्च्यव॒नेन॑ धृ॒ष्णुना॑।
तदिन्द्रे॑ण जयत॒ तत्स॑हध्वं॒ युधो॑ नर॒ इषु॑हस्तेन॒ वृष्णा॑ ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १०३ । २ ॥ यजु० १७ । ३४ ॥

भा०—हे (नरः) नेता पुरुषो ! आप लोग (संक्रन्दनेन) शत्रुओं को ललकारने वाले (अनिमिषेण) निमेषरहित, बेचूक, अत्यंत साव-

३–'युत्कारेण' इति ऋ० ।

धान (जिष्णुना) विजयशील (अयोध्येन) जिसको कोई युद्ध में पराजय न कर सके ऐसे अजेय बलशाली (दुश्च्यवनेन) जिसको कोई सुगमता से पदच्युत न कर सके ऐसे अविकम्प, अविचल (धृष्णुना) शत्रुओं का धर्षण करनेहारे (इषुहस्तेन) बाण को हाथ में लिये या आज्ञा करने और प्रेरणा करने के कार्य को अपने हाथ में रखने वाले (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् राजा को साथ लेकर उसके द्वारा (तत्) उस अभिलषित राष्ट्र को (जयत) विजय करो और (तत् सहध्वम्) उस शत्रु राष्ट्र का दमन करो ।

अध्यात्मविषयक विवेचन देखो सामवेद आलोक-भाष्य पृ० ८८२ ॥

स इषुहस्तैः स निषुङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १०३ । ३ ॥

भा०—(सः सः) वह (निषङ्गिभिः) कवच धारण किये (इषुहस्तैः) धनुष्बाण हाथ में लिये (वशी) राष्ट्र और अपने देहेन्द्रियों पर वश करने वाला (युधः संस्रष्टा) युद्धों का करनेहारा (गणेन) सेना के सुभटों की श्रेणियों सहित (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा होता है । वह (संसृष्टजित्) भली प्रकार परस्पर दलबद्ध सेनाओं का जीतने वाला (सोमपाः) सोमरस का पान या शत्रुका भोग करनेहारा (बाहुशर्धी) अपने बाहुबलसे शत्रुओं को पराजय करनेहारा (उग्रधन्वा) उग्र, भयंकर धनुर्धर (प्रतिहिताभिः) प्रतिपक्ष के लिये खड़ी की गई सेनाओं और फेंकी गई बाण परम्पराओं से (अस्ता) शत्रुओं को उखाड़ डालने और धुनदेने में समर्थ होता है ।

४–(च०) 'ऊर्ध्वधन्वा' तै० सं० । (द्वि०) संस्रष्टायुधुरिन्द्रोगणेषु । इति मै० सं० । (च०) 'प्रतिहिताभिरस्तु' इति साम० ।

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन् ॥५॥
ऋ० १० । १०३ । ४ ॥

भा०—(बलविज्ञायः) अपने और पराये के बल, सेनाबल को भली प्रकार जानने वाला अथवा सब द्वारा यही हमारा बल है ऐसा जाना हुआ (स्थविरः) युद्ध में स्थिर या पुराना अनुभवी (प्रवीरः) उत्कृष्ट वीर्यवान् सुवीर (सहस्वान्) बलवान् (वाजी) वीर्यवान् अन्न, बल से सम्पन्न (उग्रः) अति भयकारी (सहमानः) शत्रु को पराजित करता हुआ (अभिवीरः) साथ अपने दायें बायें वीर्यवान् नाना वीर पुरुषों को लिये हुए (अभिषत्वा) साक्षात् अधिक सत्व-बल को धारण करने वाला अथवा चारों तरफ़ अपने मोर्चे बैठाने वाला या मुकाबले पर डटने वाला, अथवा चारों ओर बलवान् पुरुषों से घिरा या बलवान् पुरुषों से भी बढ़कर बलवान् (सहोजित्) सबके बलों का विजेता ही राजा इन्द्र है । हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्य-वान् राजन् ! हे (गोविदन्) गौ पृथिवी को अपने वश करने हारे तू (रथम् आतिष्ठ) विजयी रथ पर बैठ ।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १०३ । ९ ॥ अथर्व० ६ । ९७ । ३ ॥

भा०—हे (सखायः) इन्द्र के मित्र राजागण ! (इम्) इस (उग्रम्) उग्र स्वभाव तीक्ष्ण, (इन्द्रम् वीरम् अनु) वीर इन्द्र के अनुकूल रह कर ही (हर्षध्वम्) तुम हर्ष उत्सव करो । (अनु) और

५-(तृ०) 'सहोजाः' (च०) 'गोवित्' इति साम० ऋ० । (च०) 'जैत्रायैरथमातिष्ठ कोविदन्' इति पैप्प० सं० । 'गोविदन्' इति क्वचित् ।

उसकी आज्ञा में रह कर ही (संरभध्वम्) एकत्र होकर युद्ध आदि कार्य प्रारम्भ करो। (ग्रामजितम्) शत्रु समूहों के विजेता (वज्रबाहुम्) वज्र, तलवार एवं शक्ति को अपने हाथ में वश में किये हुए (अज्म जयन्तम्) युद्ध को विजय करने वाले (ओजसा) अपने बल, पराक्रम और प्रभाव से शत्रुगण को (प्रमृणन्तम्) खूब कुचलते हुए (इन्द्रम् अनुसंरभध्वम्) इन्द्र राजा के अनुकूल वशवर्ती होकर उसके कार्य में सहयोग दो।

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्योऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥७॥

ऋ० १०। १०३। ७।

भा०—(गोत्राणि) गौ=पृथिवी को पालन करने वाले, राष्ट्रों को (सहसा) अपने बल से (अभिगाहमानः) अपने आक्रमण से पार करता हुआ (अदायः) शत्रुओं पर निर्दय (उग्रः) अति भयंकर (शतमन्युः) सैकड़ों शत्रुओं को अपने बाहुबल से स्तम्भन करने वाला (दुश्च्यवनः) बड़ी कठिनता से संग्राम से उखड़ने हारा, अविचल (पृतनाषाड्) शत्रु-सेना का पराजय करने में समर्थ (अयोध्यः) युद्ध में अजेय (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (अस्माकम्) हमारी (सेनाः) सेनाओं को (युत्सु) युद्धों में (प्रभवतु) अच्छी प्रकार सुरक्षित रक्खे।

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जञ्छत्रून् प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम् ॥ ८ ॥

ऋ० १०। १०३। ४॥

७-(द्वि०) 'अदय उग्रः' इति पदपाठः। ऋ० साम० यजु०। (तृ०) 'युत्सु' इति मे० सं०।

८-(तृ०) 'प्रभञ्जन् सेना प्रमृणो युधाजयन्', 'अविता रथानाम्' इति ऋ० यजु० साम०।

भा०— बृहस्पते) बृहती -सेना के स्वामिन् ! शत्रुगण को (अपबाधमानः) दूर करता और रोकता हुआ, उनका विनाश करता हुआ (रक्षोहा) विघ्नकारी राक्षसों का नाश करता हुआ (रथेन) रथ से (परिदीया:) चारों ओर आक्रमण कर । (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रभञ्जन्) खूब कुचलता हुआ (अमित्रान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) खूब मसलता हुआ (अस्माकं तनूनाम्) हमारे शरीरों का (अविता) रक्षक (एधि) होकर रह ।

इन्द्र॑ एषां नेता बृह॒स्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒र ए॑तु॒ सोम॑: ।
दे॒व॒से॒नाना॑मभि भ॒ञ्जती॑नां॒ जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ यन्तु॒ मध्ये॑ ॥ ९ ॥

ऋ० १०३ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा (एषां) इन वीरों का नेता हो और (बृहस्पतिः) बृहती, बड़ी भारी सेना का स्वामी सेनापति (दक्षिणा) दक्षिण हाथ में होकर चले । (यज्ञः) आज्ञा प्रदान करने वाला या समस्त सेनाओं को व्यूह में संगठित करने वाला (सोमः) सब का प्रेरक आज्ञापक पुरुष (पुरः एतु) आगे २ चले । (अभिभञ्जतीनाम्) सब ओर शत्रुओं को कुचलने वाली (जयन्तीनाम्) विजय करती हुई (देवसेनानाम्) युद्ध विजयी लोगों की सेनाओं के (मध्ये) बीच में (मरुतः) वायुओं के समान तीव्र गतिशील अथवा मारने में चतुर वीर सुभट (यन्तु) चलें ।

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ आदि॒त्यानां॑ म॒रुतां॒ शर्ध॑ उ॒ग्रम् ।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वानां॒ घोषो॑ दे॒वानां॒ जय॑ता॒मुद॑स्थात् ॥१०॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील (वृष्णः) शत्रुओं पर अस्त्रों का वर्षण करने वाले, प्रजा पर सुखों के वर्षण, एवं बलवान् (वरुणस्य) सब दुःखों के निवारक एक सर्वश्रेष्ठ होने से प्रजा द्वारा वरण किये गये

९–(प्र० 'इन्द्र आसां' (च०) 'यन्त्वग्रम्' इति ऋ० यजुः साम० ।

(राज्ञः) राजा के और (आदित्यानाम्) सूर्य के समान तेजस्वी (मरुतां) शत्रुओं के मारने वाले सुभटों के (उग्रम् शर्धम्) अति भयंकर मारकाट हो। (महामनसाम्) बड़े विचारशील (भुवनच्यवानाम्) भुवन-जगत् को पलट देने वाले (जयताम्) विजयशील (देवानाम्) विजिगीषु राजाओं के (घोषाः) घोष, हर्षपूर्वक सिंहनाद (उद् अस्थात्) उठे।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान् देवासोवता हवेषु ॥११॥

ऋ० १० । १०३ । ११ ॥ यजु० १७ । ४३ ॥

भा०—(अस्माकम् इन्द्रः) हमारा इन्द्र राजा (समृतेषु ध्वजेषु) जब युद्ध के झण्डे भी परस्पर मिल रहे हों तब भी रक्षा करे। (याः अस्माकं इषवः) जो हमारे बाण हैं (ताः जयन्तु) वे ही शत्रुओं पर विजय करें। (अस्माकं वीराः) हमारे वीरगण (उत्तरे भवन्तु) उत्कृष्ट बलशाली विजयी रहें। हे (देवासः) समस्त योद्धा और राजागण (हवेषु) युद्ध में (अस्मान्) आप लोग हमें (अवत) रक्षा करो।

[१४] द्वेष रहित होकर अभय की प्राप्ति।

अथर्वा ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ देवते। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम् ॥

इदमुच्छ्रेयोवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥१॥

११-(च) 'अस्मान् उदेवाः' इति ऋ० यजु०।

[१४] १-(प्र) 'इदमुश्रेय' इतिह्विटनिकामितः। (द्वि०) 'शिवेते' (च) 'नोऽस्तु' इति क्वचित्। इदं श्रेयोऽवसानंपरागा स्योनेमे द्यावापृथिवी अभूताम्। असनीषाः प्रदिशः सन्तु मह्यं गोमह्—स्वाहेत्यवसितंजुहोति इति कप०।

भा०—मैं (इदम्) यह इस प्रकार (उत् श्रेयः अवसानम्) सर्वोत्तम, परम कल्याणमय कार्य या मार्ग की समाप्ति तक या लक्ष्य तक या मोक्ष तक (आ अगाम्) पहुंचूं । (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और जमीन (मे) मेरे लिये (शिवे) अति कल्याणकर, सुखकारी (अभूताम्) हों । (प्रदिशः) मुख्य दिशाएं (मे) मेरे लिये (असपत्नाः) शत्रुरहित (भवन्तु) हों । हे शत्रो ! या हे पुरुष ! (त्वा) तुझसे हम (न वै द्विष्मः) द्वेष नहीं करते, इसलिये तेरे से (नः अभयं अस्तु) हमें सदा अभय रहे ।

जिसके साथ संधि करनी हो उससे भी विजय कार्य के अवसान पर द्वेष न करने का वचन देकर उससे निर्भय होना उचित है ।

[१५] अभय की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । १–४ इन्द्रः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । १ पथ्या बृहती । २–५ चतुष्पदा जगत्यः । ३ विराट् पथ्यापङ्क्तिः । ४, ६ त्रिष्टुभौ । षड्चं सूक्तम् ॥

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि ॥१॥

ऋ० ८ । ६१ । १३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजन् ! या प्रभो ! हम (यतः) जिससे (भयामहे) भय करें (ततः) उससे (नः) हमें (अभयं कृधि) अभय कर । हे (मघवन्) समस्त ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! (त्वम्) तू ही (शग्धि) ऐसा करने में समर्थ भी है । तू ही (तव ऊतिभिः) अपने रक्षाकारी उपायों, शक्तियों से (द्विषः) द्वेष करने वाले (मृधः) हिंसाकारी शत्रुओं को (वि वि जहि) विशेषरूप और विविध उपायों से विनाश कर ।

[१५] १–(द्वि०) 'तव त्वं न ऊतये' इति सायणः । 'तव तन ऊ०' इति क्वचित् ।

राजा प्रजा को अभय करे और प्रजा की रक्षा करने के नाना उपायों से रक्षा करे, शत्रु का विविध प्रकार से नाश करे। अर्थात् शत्रु का नाश करने में प्रजा की रक्षा का भाव मुख्य प्रयोजन होना चाहिये।

इन्द्रं वयमनुराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा।
मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय॥२॥

भा०—(वयम्) हम (अनुराधम्) आराधना करने योग्य, या कार्य सिद्ध करने हारे। (इन्द्रम्) इन्द्र की (हवामहे) स्तुति करते हैं। हम (द्विपदा) दो पाये, स्त्री, पुत्र भृत्य आदि और (चतुष्पदा) चार पाओं वाले पशुओं से (अनु राध्यास्म) सुखपूर्वक समृद्ध हों। (अररुषीः) अदान शील, कृपण, अनुदार (सेनाः) सेनाएं स्वामीसहित दलबद्ध श्रेणियां (नः) हम तक (मा उप गुः) न पहुंचे। हे (इन्द्र) राजन्! (विषूचीः) सब प्रकार की (द्रुहः) द्रोह करने वाली सेनाओं को (वि नाशय) विनाश कर। प्रजा अनुकूल राजा का आदर करे। जन, धन, पशुओं में समृद्ध हों; अनुदार सेनादल प्रजा का नाश न करे, द्रोहियों को राजा दण्ड दे।

इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः।
स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चात्स पुरस्तान्नो अस्तु॥३॥

भा०—(वृत्रहा इन्द्रः) घेरने वाले मेघ को विनाश करने वाले सूर्य के समान घेरने वाले शत्रु का नाशक राजा (त्राता) प्रजा का रक्षक है (उत) और वही (परस्फानः) शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करने वाला, (वरेण्यः) सब के वरण करने योग्य, सर्व श्रेष्ठ, या उत्तम मार्ग में ले जाने वाला है। (सः) वही (चरमतः) अन्त में (मध्यतः) बीच में से, (पश्चात्) पीछे से (पुरस्तात्) आगे से भी (नः रक्षिता) हमारा रक्षक (अस्तु) हो।

२-(द्वि) 'परस्परं न' इति सायणाभिमतः। 'मदस्फानः' इति ह्विटनिकामितः। 'फस्फानो [मस्फानो ?] इति पैप्प०। 'परस्फानो' इति क्वचित्।

उरु नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता ॥ ४॥

ऋ० ४ । ६७ । ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजन्! तू (नः) हमें (उरुं लोकं नेषि) उस विशाल लोक या देश में लेजा (यत्) जहां (स्वः) सुखमय प्रकाशमय (ज्योतिः) ज्योति, सूर्य का प्रकाश और (अभयम्) अभय, भय रहित और (स्वस्ति) सुख, कल्याण हो। हे राजन्! (स्थविरस्य) युद्ध में स्थिर रहने वाले (ते) तेरी (बाहू) सब विपत्तियों का बाध करने वाली बाहुओं को ही (बृहन्ता) बड़ी (शरणा) शत्रु के नाशक एवं शरण, आश्रयस्थान मानकर उनके आश्रय में (उप क्षयेम) सुख से रहें। राजा प्रजा को सुख, प्रकाश और कल्याणमय स्थिति और देश में रखे, प्रजा राजा के शत्रुनाशक बल की छाया में निर्भय होकर रहे।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥५॥

भा०—(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वातावरण, (नः) हमें (अभयं करति) अभय प्रदान करे। (इमे उभे द्यावापृथिवी) ये दोनों द्यौ, आकाश और पृथिवी (अभयं करतः) अभय करें। (पश्चाद् अभयम्) पीछे से या पश्चिम से भय न रहे। (पुरस्तात्) आगे से या पूर्व से अभय हो। (उत्तरात् अधरात्) ऊपर से और नीचे से अथवा उत्तर और दक्षिण से (नः अभयम् अस्तु) हमें अभय हो। वायु मण्डल, जमीन, आस्मान, पीछे, आगे, ऊपर, नीचे, सर्व ओर से हमें अभय रहे।

४-(तृ०) 'उग्रा त' (च०) 'क्षयेम' (द्वि०) 'स्वज्ज्यो' (इति ऋ०) 'स्वर्यज्यो' इति पैप्प० सं०।

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्यां रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म॥२॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक, आकाश से (आदित्यः) आदित्य, १२ मास (मा रक्षन्तु) मेरी रक्षा करें। (भूम्याः) भूमि से (अग्नयः) अग्नि, अग्रणी नेता लोग (रक्षन्तु) रक्षा करें। (पुरस्तात्) आगे से (मा) मुझको (इन्द्राग्नी रक्षताम्) इन्द्र और अग्नि, वायु और आग, एवं राजा और सेनापति रक्षा करें। (अश्विनौ) दिन और रात दोनों, या सूर्य चन्द्र, या अश्व, अश्वारोही जन, (अभितः) इधर उधर से (शर्म-यच्छताम्) सुख प्रदान करें। (जातवेदाः) प्रज्ञावान् पुरुष (अघ्न्या न मारने योग्य (तिरश्चीन्=तिरश्चीः) तिर्यग् योनि के जन्तुओं की (रक्षतु) रक्षा करें। (भूतकृतः) प्राणियों के हितकारी जन अथवा भूत, पञ्चभूतों के नाना प्रकार के विकारों और विज्ञानों के आविष्कर्ता लोग (मे) मेरे (सर्वतः) सब ओर से (वर्म सन्तु) रक्षाकारी कवच के समान हों।

[१७] रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवताः। १–४ जगत्यः। ५, ७, १० अतिजगत्यः, ६ भुरिक्, ९, पञ्चपदा अति शक्वरी। दशर्चं सूक्तम्॥

अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्तात् तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥१॥

भा०—(अग्निः) अग्रणी, ज्ञानवान् (पुरस्तात्) आगे से या पूर्व की दिशा से (वसुभिः) वसुओं सहित (मा पातु) मेरी रक्षा करे। मैं (तस्मिन्) उसके बलपर या उसपर (क्रमे) आगे पग बढ़ाऊं या उसे वश करूं (तस्मिन् श्रये) मैं उसी में आश्रय लूं (तां) उसीको (पुरम्) अपनी पालक दुर्गनगरी समझकर (प्रैमि) उसको प्राप्त करूं। (स मा

रक्षतु) वह मेरी रक्षा करे। (स मा गोपायतु) वह मुझे बचाये रखे। (तस्मै) उसी के हाथों (आत्मानं परिददे) मैं अपने आपको सौंपता हूं। (सु-आहा) यही मेरी उत्तम आहुति है, या त्याग है।

इन दशों मन्त्रों में परमेश्वर से रक्षा की प्रार्थना है। राष्ट्र के पक्ष में भिन्न दिशा के भिन्न २ अधिकारियों या राजा के भिन्न २ गुणों द्वारा उनसे रक्षा की प्रार्थना है। या आधिभौतिक शक्तियों को वश करें, वह वास योग्य अन्नादि पदार्थों से हमारी रक्षा करें।

वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्यां दिशः पातु तस्मिन् क्रमे०। ०॥२॥

भा०—(वायुः) सर्व व्यापक वायु, या वायु के समान तीव्र वेगवान् बलवान् पुरुष (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष या उसके समान सर्वाच्छादक पुरुष के बल से (एतस्या दिशः) इसी पूर्व दिशा से (पातु) मेरी रक्षा करे। (तस्मिन् क्रमे०) पूर्व कहे 'वायु' में मैं पैर जमाऊं, उसे वश करूं, (तस्मिन् श्रये) उसमें आश्रय पाऊं० इत्यादि पूर्ववत्।

सोमो मा रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पातु०। ०॥३॥

भा०—(सोमः) सोम (रुद्रैः) रोदनकारी प्राणों, रुद्रों सहित (दक्षिणायाः दिशः पातु,) दक्षिण दिशा, से मेरी रक्षा करे। (तस्मिन् क्रमे०) इत्यादि पूर्ववत्।

वरुणो मादित्यैरेतस्यां दिशः पातु०। ०॥ ४॥

भा०—(वरुणः) वरुण, सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (मा) मुझे (आदित्यैः) आदित्य, १२ मासों द्वारा (एतस्याः) उसी दक्षिण दिशा से रक्षा करें। शेष पूर्ववत्।

सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्यां दिशः पातु०। ०॥५॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य (मा) मुझे (प्रतीच्याः दिशः) प्रतीची, पश्चिम दिशा से (द्यावापृथिव्याम्) द्यौः और पृथिवी द्वारा (पातु) रक्षा करें। शेष पूर्ववत्।

आपो मौषधीमतीरेतस्यां दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि । ता मां रक्षन्तु ता मां गोपायन्तु ताभ्य आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—(ओषधीमतीः आपः) ओषधियों के रस से पूर्ण जल (एतस्याः दिशः पान्तु) उस प्रतीची दिशा से ही मेरी रक्षा करें। (तासु क्रमे०) उनके बलपर आगे बढ़ूं। इत्यादि पूर्ववत्।

विश्वकर्मा मा सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे०।०॥७

भा०—(विश्वकर्मा) विश्व का रचने वाला परमेश्वर (मा) मेरी (सप्तऋषिभिः) सात ऋषि, सात प्राणों द्वारा (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से (पातु) रक्षा करे । अथवा (विश्वकर्मा) शिल्पी जन सात ऋषियों, सात प्रकार के भिन्न ज्ञानवान शिल्पज्ञों से मेरी रक्षा करें। शेष पूर्ववत्।

इन्द्रो मा मरुत्वानेतस्यां दिशः पातु० । ॥८॥

भा०—(मरुत्वान् इन्द्रः) मरुत्, प्राणों से सम्पन्न इन्द्र, आत्मा (एतस्या दिशः) इसी उदीची दिशा से (मा पातु) मेरी रक्षा करे अथवा वायुओं से युक्त इन्द्र मेघ मेरी उत्तर से रक्षा करे । शेष पूर्ववत्।

प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवायां दिशः पातु०। ॥०९

भा०—(प्रजननवान्) प्रजाके उत्पन्न करने के सामर्थ्य से युक्त (प्रजापतिः) प्रजापति, परमेश्वर या प्रजा का पालक गृहस्थ (प्रतिष्ठायाः) जमकर या घर बसाकर बैठने अर्थात् प्रतिष्ठा देने वाली (ध्रुवाया दिशः) ध्रुवा, नीचे की आधार दिशा से (मा पातु) मेरी रक्षा करे । शेष पूर्ववत्।

बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वायां दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिं छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का पालक. या बृहत्=महान् लोकों का पालक (विश्वैः देवैः) समस्त दिव्य पदार्थों द्वारा (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशाओं से (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत्।

ईश्वर पक्ष में—अग्नि, वायु, सोम, वरुण, सूर्य, आपः, विश्वकर्मा इन्द्र, प्रजापति, और बृहस्पति, ये दसों नाम ईश्वर के हैं, वह वसुओं वास योग्य पृथिव्यादि लोकों से, अन्तरिक्ष से, ११ रुद्र नाम प्राणों से, आदित्यनाम १२ मासों से, द्यौ, पृथिवी, ओषधि, सप्त ऋषि मरुत्, प्राणों से मुक्त जीवकी रक्षा करें।

राजा पक्ष में—भिन्न २ विभाग की शक्ति प्राप्त करके राजा ही दश नामों को धारण करता है। अथवा उसीके अधीन सेनापति, आदि अधिकारी इन नामों से कहे जाने योग्य हैं। प्राची आदि दिशा, आगे पीछे दायें बायें, ऊपर नीचे के निदर्शक हैं। शैव आदि पाखण्ड धर्मों में भी एक ही देव के नाना गुणानुरूप नामों से नाना दिशाओं से रक्षा की प्रार्थना करने वाले कवच और स्तोत्र वेद के इस सूक्त का अनुकरण मात्र हैं।

[१८] रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवताः। १, ८ साम्न्यौ त्रिष्टुभौ, २, ६ साम्न्यनुष्टुभौ; ४, ५ सम्राड्=स्वराड। ७, ९ १०, प्राजापत्यास्त्रिष्टुभः। दशर्चं सूक्तम्॥

अ॒ग्निं ते वसु॑वन्तमृच्छन्तु। ये मा॑घा॒यवः॒ प्राच्या॑ दि॒शो॑ऽभि॒दासा॑त्॥ १॥

वा॒युं ते॒ऽन्तरि॑क्षवन्तमृच्छन्तु। ये मा॑घा॒यव॑ ए॒तस्या॑ दि॒शो॑ऽभि॒दासा॑त्॥ २॥

भा०—(ये) जो (मा) मुझ पर (अघायवः) वध का प्रयोग करने वाले दस्यु लोग (प्राच्याः दिशः) प्राची, पूर्व की दिशा से (अभिदासात्) हिंसाकारी आघात करें (ते) वे (वसुवन्तम्) वसु अर्थात् नव युवक योद्धाओं सहित (अग्निम्) अग्रणी, सेनापति को (ऋच्छन्तु) पहुंचकर विनष्ट हो जावें।

[१८] १, २—'नभिदासान्' इति क्वचित्।

और (ये अघायव मा एतस्या दिशः अभिदासात्) उसी प्रकार जो मेरे द्रोही, आक्रामक लोग उसी दिशा से आवें (अन्तरिक्षवन्तम् वायुम्) अन्तरिक्ष सहित वायु को या अन्तरिक्षको वश करने वाले वायुके समान सेनापति को प्राप्त होकर (ऋच्छन्तु) नष्ट हो जांय।

सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु। ये माघायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात् ३
वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु। ये माघायव एतस्यां दिशोऽभिदासात् ४

भा०—(ये मा अघायवः दक्षिणायाः दिश अभिदासात्) जो मेरे द्रोही दक्षिण दिशा से, या दायें से आक्रमण करें (ते) वे (रुद्रवन्तं सोमम् , रोदनकारी योद्धाओं के स्वामी सोम, उनके प्रेरक राजा को प्राप्त होकर (ऋच्छन्तु) विनाश को प्राप्त हों।

इसी प्रकार (ये मा अघायव इत्यादि) वे उसी दिशा के आक्रमक लोग (आदित्यवन्तम् वरुणम्) आदित्य के समान तेजस्वी, चमचमाते अग्निमय अस्त्रों के स्वामी, (वरुणं) शत्रुवारक, वरुण नाम सेनापति को प्राप्त होकर (ऋच्छन्तु) नष्ट हो जांय।

सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु।
ये माघायवः प्रतीच्या दिशोऽभिदासात् ॥५॥
अपन्त ओषधीमतीऋच्छन्तु।
ये माघायव एतस्यां दिशोऽभिदासात् ॥६॥

भा०—(ये मा अघायवः प्रतीच्याः दिशः अभिदासात्) जो मेरे द्रोही, शुष्कपर प्रतीची, पश्चिम दिशा से आक्रमण करें (ते) वे (द्यावापृथिवीवन्तम् सूर्यम्) आकाश और पृथिवी पर वश करने वाले सूर्य के समान, आकाश और पृथिवीके स्वामी तेजस्वी, 'सूर्य' नाम अधिकारी को ऋच्छन्तु) प्राप्त होकर नष्ट हो जांय। (ये मा अघाय० इत्यादि) और वे उसी

दिशा से आक्रमण करने वाले (ओषधिमतीः आपः प्राप्य ऋच्छन्तु) ओषधियों से समृद्ध जलों के समान सर्वरोग और कष्ट दूर करने में समर्थ पुरुषों को प्राप्त होकर नष्ट हो जांय ।

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव उदीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ७ ॥
इन्द्रं ते मरुत्वन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ८ ॥

भा०—(ये अघायवः मा उदीच्याः दिशः अभिदासात् ते) जो द्रोही मेरे ऊपर उत्तर दिशा से आक्रमण करें वे (सप्तऋषिवन्तं विश्वकर्माणं ऋच्छन्तु) सात ऋषियों से युक्त विश्वकर्मा को प्राप्त होकर नष्ट हो जांय । (ये अघायवः मा एतस्याः दिशः अभिदासात्) जो द्रोही इसी दिशा से मुझ पर आक्रमण करते हैं (ते) वे (मरुत्वन्तम् इन्द्रम् ऋच्छन्तु) मरुतों या नाना वायु, शक्तियों या वायु के समान वेगवान् सैनिकों से सम्पन्न इन्द्र सेनापति को प्राप्त होकर नष्ट हों ।

प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायवो ध्रुवाया दिशोऽभिदासात् ॥ ९ ॥
बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासात् ॥ १० ॥

भा०—(ये अघायवः मा ध्रुवायाः दिशः अभिदासात्) जो द्रोही लोग मुझपर नीचे की दिशा, पृथ्वी की ओरसे आक्रमण करें (ते) वे (प्रजननवन्तं प्रजापतिम् ऋच्छन्तु) सन्तानोत्पादन की शक्ति से युक्त प्रजा पालक गृहस्थ जन को प्राप्त होकर नाश हों । (अघायवः मा ऊर्ध्वायाः दिशः अभिदासात्) जो द्रोही लोग मुझपर ऊपर की दिशा से आक्रमण

करें वे (विश्वेदेववन्तम् बृहस्पतिम् ऋच्छन्तु) समस्त विद्वान् पुरुषों से युक्त बृहस्पति, वेदज्ञ विद्वान् के पास प्राप्त होकर नष्ट हों ।

इस सूक्तको विचारने से प्रतीत होता है कि विद्वानों की ओरसे होने वाला आक्रमण ऊर्ध्व दिशासे होनेवाला आक्रमण है । उसके निराकरण के लिये देववान् बृहस्पति उपयुक्त है । गृहस्थों की तरफ से होनेवाला आक्षेप या व्युत्क्रम, ध्रुवा दिशासे आक्रमण है उसको रोकने के लिये प्रजननवान् प्रजापति है ।ओषधिरसायन द्वारा आक्रमण पश्चिम दिशाका आक्रमण, है उसका प्रतीकार भी वही है । दूसरे अन्धकार में से होनेवाले आक्रमण भी प्रतीची या पीछे से होनेवाले आक्रमण के समान है उनका निराकरण सूर्य करे । शिल्पियों की ओर से उठा आक्रमण उत्तर दिशा से आक्रमण होने के समान है । व्यापारियों और सैनिकों की ओर से उठा द्रोह या आक्रमण दक्षिण दिशासे होने वाले आक्रमण के समान है क्योंकि वे राजा के दाहिने हाथ के समान शक्तिप्रद हैं । वैज्ञानिकों और धन अन्न आदि के स्वामियों की तरफ से उत्पन्न द्रोह पूर्व दिशा से होने वाले आक्रमण के समान है । क्योंकि सब से प्रथम वही कठिनाई है । परमेश्वर के विषय में इसे पूर्व सूक्त के समान जानो ।

[१९] रक्षा की प्रार्थना

अथर्वा ऋषिः चन्द्रमा उत मन्त्रोक्ता देवता १, ३, ९ भुरिग् बृहत्यः १० स्वराड् २, ४-८, ११, अनुष्टुब्गर्भा । शेषापंक्त्यः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १ ॥

भा०—(मित्रः) प्रजा के साथ स्नेह करने वाला राजा (पृथिव्या) पृथिवी से, पृथिवी के ऊपर बसने वाली प्रजा, या पृथिवी के समान विस्तृत

[१९] १–मित्रोऽग्निरिति सायणः ।

साम्राज्य शक्ति ने उद् अक्रामत्) ऊपर उठता है उच्च पद प्राप्त करता है। मैं (तान्) उसको (वः) तुम लोगों के लिये (पुरम्) पुर, पालक और रक्षक दुर्ग के समान (प्रणयामि) बनाता हूं। हे पुरुषो ! (ताम्) उसमें (आ विशत) आकर बसो (तां (प्र विशत) उसमें प्रवेश करो। और (सा) वह (वः) तुमको (शर्म) सुख और (वर्म च) दुःखों से बचने का साधन (यच्छतु) प्रदान करे।

वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत् तां० । ० ॥ २ ॥ सूर्यो दिवोदक्रामत् तां० । ० ॥ ३ ॥ चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ४ ॥ सोम ओषधीभिरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ५ ॥ यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ६ ॥ समुद्रो नदीभिरुदक्रामत् तां० । ० ॥७॥ ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् तां० । ० ॥ ८ ॥ इन्द्रो वीर्येणोदक्रामत् तां० । ० ॥ ९ ॥ देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां० । ० ॥ १० ॥ प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ११ ॥

भा०—(२) (वायुः) व्यापन गुणवाला वायु (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष अर्थात् अन्तरिक्षस्थ मेघ, विद्युत् आदि शक्तियों से (उत् अक्रामत्) उच्च पद को प्राप्त है, उसको भी मैं तुम्हारे लिये पालक दुर्ग के समान बनाता हूं, उसमें आश्रित होकर रहो, उसमें प्रवेश करो, वह तुमको दुःख और विपत्तियों से बचने का कवच या साधन प्रदान करे। अन्तरिक्ष और वायु मण्डल प्रजाओं की आकाश से आने वाले नाना उत्पातों से रक्षा करता है। यदि यह न हो तो उल्काएं पृथ्वी के जीवों का नाश करदें। वायु मण्डल में भारी २ उल्काएं भी रगड़ से भुर भुराकर नष्ट हो जाती हैं।

८-ब्रह्म सांगो वेद इति सायणः ।

(३) सूर्य, द्यौलोक या तेजोमय सूक्ष्मतत्व से (उत् अक्रमत्) उच्च शक्ति को प्राप्त है। उसको भी हे जीव ! तुमें एक दुर्ग के समान बनाता हूं। इत्यादि पूर्ववत्। (४) (चन्द्रमाः नक्षत्रैः उत्‌अक्रामत्) चन्द्रमा नक्षत्रों के संग से उत्तम पद को प्राप्त है। (तां वः पुरम् प्रणयामि) इत्यादि पूर्ववत्। (५) (सोमः ओषधीभिः उत् अक्रामत्) सोम लता ओषधियों के संग से उन्नत पद को प्राप्त है। हे प्रजाओं! (ताम् पुरम् वः प्रणयामि) इत्यादि पूर्ववत्। (६) (यज्ञः दक्षिणाभिः उद् अक्रामत्) यज्ञ दक्षिणाओंके संग से उन्नति को प्राप्त है। (ताम् पुरम्०) इत्यादि पूर्ववत्। (७) (समुद्रः नदीभिः उद् अक्रामत्) समुद्र नदियों के साथ उच्चगति को प्राप्त है। (ता पुरं वः०) इत्यादि पूर्ववत्। (८) (ब्रह्म ब्रह्मचारिभिः उद् अक्रामत्) ब्रह्म, वेद, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पुरुषों के योग से उन्नति को प्राप्त होता है (तां पुरम्०) इत्यादि पूर्ववत्। (९) (इन्द्रः वीर्येण उद् अक्रामत्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा वीर्य से उन्नत पद को प्राप्त है, (तां पुरं० इत्यादि) पूर्ववत्। (१०) (देवाः) देव, विद्वान जन (अमृतेन) अमृत, परमात्मा के ज्ञान या मोक्ष बल से उन्नति को प्राप्त होते हैं, (ताम्-पुरम्०) इत्यादि पूर्ववत्। (११) (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर या पिता गृहस्थ (प्रजाभिः) प्रजाओं, उत्कृष्ट सन्ततियों द्वारा (उद् अक्रामत्) उत्तम पद को प्राप्त होता है। (ताम् पुरं०) इत्यादि पूर्ववत्।

अर्थात्, अधीन, सहकारी पुरुषों के सहयोग से ही मुख्य पुरुष को उन्नति प्राप्त होती है इसलिये प्रजागण अपने मुख्य में मित्र का सा स्नेह, वायुका सा, व्यापक गुण, सूर्यका सा तेज, चन्द्रका सा मधुर प्रकाश, और आल्हादक गुण, सोमका सा उत्तेजक रस, यज्ञका सा संगठन, समुद्र की सी सर्वाश्रयता, वेदका सा ज्ञान, प्रजापति के समान उत्तम प्रजा आदि, उत्तम गुणों से युक्त पुरुषों के साथ रहकर स्वयं अन्तरिक्ष के समान अवकाश प्रदान, दिव, या आकाश के समान तेज, प्रसारक गुण, नक्षत्रों के समान

मधुर प्रकाश, ओषधियों के समान रोग नाशकता, नदियों के समान पति के सम्पत्ति की वृद्धि, ब्रह्मचारियों के समान तपस्या और ज्ञानप्रेम, वीर्य के समान पोषकता, अमृत के समान शान्तिप्रदता, प्रजाओं के समान स्नेह्य सुवर्तिता आदि गुणों को अपने में धारण करके अपनी उन्नति करें और अपने नेता पुरुष को अपने दुर्ग के समान समझकर उसके आधीन रहें और उसकी शक्ति बढ़ावें तभी वह अधीन प्रजाओं को सुख और शांति प्रदान करता और विपत्तियों से उनकी रक्षा करता है ।

[२०] रक्षा की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः । नाना देवताः १. त्रिष्टुप्, २ जगती, ३. पुरस्ताद्बृहती, ४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता संविता बृहस्पतिः ।
सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परि पातु मृत्योः ॥१॥

भा०—(यम्) जिस (पौरुषेयं) पुरुषों द्वारा किये जाने वाले (वधम्) मारने या घात प्रतिघातके साधन शस्त्र अस्त्रों को (अप नि अधुः) वे शत्रुगण दूर, गुप्त रूपमें ला रखते हैं उस (मृत्योः) मृत्यु प्राय घातक साधन से (इन्द्र-अग्नी) इन्द्र और अग्नि, विद्युत् और अग्नि, (धाता) पोषक वायु (सविता) सूर्य, (बृहस्पतिः) वाणीका स्वामी, अग्रणि या वेदज्ञ, (सोमः) ओषधियों का स्वामी, सोम, (राजा) प्रजाका स्वामी राजा, (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, दुष्टों का वारक, (अश्विना) स्त्री पुरुष, या दिन और रात, (यमः) नियन्ता, या ब्रह्मचारी, (पूषा) सबका पोषक परमेश्वर या पृथिवि (अस्मान् परि पातु) हमारी रक्षा करें ।

इन्द्र अग्नि आदि राष्ट्र के भिन्न २ पदाधिकारी भी हो सकते हैं। वे हमारी पुरुषकृत हत्या-साधनों से रक्षा करें।

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः ।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥२॥

भा०—(भुवनस्य) समस्त भुवन, संसार का (यः) जो (पतिः) पालक (प्रजापतिः) प्रजा, उत्पन्न होने वाले प्राणियों का पालक, स्वामी (मातरिश्वा) सर्वनिर्मात्री प्रकृति के मूल परमाणुओं के भीतर भी व्यापक है, वह (यानि) जिन रक्षासाधनों को (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (चकार) बनाता है और (यानि) जो रक्षासाधन (प्रदिशः दिशः च) दिशाओं और उपदिशाओं तक को (वसते) आच्छादित कर रहे हैं (तानि) वे सभी (मे) मेरे लिये (बहुलानि) बहुत प्रकार के पदार्थ (वर्माणि) वर्म, कवच के समान मेरे जीवन के रक्षक (सन्तु) हों ।

यत् ते तनूष्वनह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः ।
इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान् पातु विश्वतः ॥३॥

भा०—(यत् वर्म) जिस वर्म, रक्षाकारी साधन, कवच को (ते) वे (देवाः) दिव्य पदार्थ (द्युराजयः) प्रकाश और तेज से चमकने वाले (देहिनः) परमाणु पुञ्जों में उपचय प्राप्त करके स्थूल रूप में प्रकट होकर अपने (तनूषु) विस्तृत प्रकट स्वरूपों में (अनह्यन्त) धारण करते हैं और (यत्) जिसको (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर या आत्मा स्वयं (चक्रे) बनाता है (तत्) वह (अस्मान् विश्वतः पातु) हमें सब ओर से रक्षा करे अर्थात् दिव्य पदार्थ अग्नि जल आदि स्थूल पदार्थ भी अपनी सत्ता को स्थिर रखने के लिये जिन शक्तियों का प्रयोग करते हैं और ईश्वर या आत्मा जो बल या रक्षासाधन स्वयं बनाता है वह हमें बचावे ।

[२०] ३–(द्वि:) 'देवा आधिराज्याय योधिनः' इति ह्विटनिकामितः । 'देवाधिरो ज्योयोभेहि नः' इति कश्चित् । देव अधिराज यः पेहिनः । इति क्वचित् पदपाठः । (च०) 'पातु सर्वतः इति क्वचित् पदपाठः ।

अथवा—(द्युराजयः) प्रकाशमय ज्ञान से चमकने वाले (देहिनः) शरीरधारी (देवाः) विद्वान और योद्धा लोग पुरुष (यत् वर्म) जिस कवच को (तनूषु) शरीरों में धारण करते हैं वे कवच और (इन्द्रः) राजा (यत्) जिस (वर्म) वर्म रक्षा के साधन दुर्ग आदि को (चक्रे) बनवाता है (तत् अस्मान् विश्वतः पातु) वह हमारी सब ओर से रक्षा करे ।

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहुर्वर्म सूर्यः ।
वर्म मे विश्वे देवाः क्रन् मा मा प्रापत् प्रतीचिका ॥४॥

भा०—(द्यावा पृथिवी) आकाश और पृथिवी दोनों (मे वर्म) मेरे लिये रक्षाकारी कवच हों, (अहः) दिन (सूर्यः) सूर्य, और (विश्वेदेवाः) समस्त दिव्य पदार्थ या देव विद्वान् जन सभी (मे वर्म ३) मेरे रक्षाकारी कवच (क्रन्) बनावें । जिससे (प्रतीचिका) मेरे विरुद्ध उठने वाली शत्रु सेना (या) गुप्तक (मा प्रापत्) न पहुंच सके ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र काद्यसूक्तानि द्वात्रिंशतिश्चर्चः]

[२१] छन्दों का वर्णन

ब्रह्मा ऋषिः । छन्दो देवता । एकावसाना द्विपदा बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

गायत्र्यु१ष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै

भा०—(गायत्री,) गायत्री छन्द, (उष्णिग्) उष्णिग् छन्द, (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् छन्द, (बृहती) बृहती छन्द (पंक्तिः) पंक्ति छन्द (त्रिष्टुप्

४-(च०) 'योना' इति क्वचित् । (तृ० च०) वर्म मे ब्रह्मणस्पतिर्मानाप्र (?) एतो भवन् इत्याप० ।

[२१] १-'गायत्र्युष्णिग-' इति क्वचित् । त्रिष्टुप् जगत्ये, तौ, ०त्यै इति नानापाठाः ।

जगत्यौ) त्रिष्टुप् छन्द और जगती छन्द । इन समस्त छन्दों का ज्ञान विद्वानों को करना चाहिये । ये क्रम से २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४, ४८ अक्षरों की संख्या से हैं । इनके अनुसार ही ब्रह्म अर्थात् वेद के स्वाध्याय के लिये मनुष्य अपने जीवन में २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४ और ४८ वर्षों का ब्रह्मचर्य धारण करें । इसके अतिरिक्त मानव शक्ति की वृद्धि के लिये गायत्री=पृथिवी, ब्राह्मण, प्राण, शिर, अग्नि, प्राची, वसुओं की पालक शक्ति । उष्णिक्=आयु, चक्षु, पशु, यजमान, नासिका या ग्रीवा । अनुष्टुप्=मित्र की पालक शक्ति, वाणी, ज्येष्ठता, पादभाग, गोड़े, प्रजापति राजन्य, अश्व, आपः, सत्यानृत । बृहती=पशु, स्वाराज्य, श्री, अन्तरिक्ष, वाणी, मन, प्राण, व्यान, आत्मा, द्यौः । पंक्तिः=विष्णु की पालक शक्ति, पक्ष, अन्न, अस्थि, ४४, पुरुष, पशु, यज्ञ, श्रोत्र । त्रिष्टुप्=वज्र, इन्द्र, वीर्य, ओजः, इन्द्रिय, उरस्, राजन्य, क्षेत्र, वायु, अन्तरिक्ष, पशु, अपान, आत्मा । जगती=पृथवी, सिनीवाली, पशु, ओषधि, अश्व, वैश्य, आदित्यों की पालक शक्ति, श्रोणिभाग, वर्षाऋतु, सत्य, अनूकभाग, अपाङ् प्राण, मध्यभाग, श्रोत्र, यश ॥ अर्थात् आध्यात्म, में सप्तप्राण, आधियाज्ञिक में सप्त सोम याग, देह में सप्तधातु, राज्य में सप्त प्रकृति और त्रिभुवन में ५ सूक्ष्म भूत और महत् और अहंकार तत्व इत्यादि सात छन्दों की योजना यथोचित रीति से जाननी चाहिये ।

[२२] अथर्व सूक्तों का संग्रह

अंगिरा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवताः । १ साम्न्युष्णिक् ३, १९ प्राजापत्या गायत्री । ४, ७, ११, १७, दैव्यो जगत्यः । ५, १२, १३ दैव्यस्त्रिष्टुभः, २, ६, १४, १६, २०, दैव्यः पंक्तयः । ८-१० आसुर्यो जगत्यः । १८ आसुर्यो अनुष्टुभः, (१०-२० एकावसानाः) २ चतुष्पदा त्रिष्टुभः । एकविंशत्यृचं समासमूक्तम् ॥

आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥१॥

भा०—(आङ्गिरसानाम्) आंगिरस वेद में कहे अनुवाकों में से (आद्यैः) आदि के (पञ्चानुवाकैः) पांच अनुवाकों से (स्वाहा) उत्तम ज्ञान प्राप्त करो।

षुष्ठाय स्वाहां ॥ २ ॥ सुप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहां ॥ ३ ॥

भा०—(षष्ठाय स्वाहा) छठे अनुवाक से उत्तम शिक्षा ग्रहण करो। (सप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहा) सातवें और आठवें अनुवाकों से उत्तम ज्ञान प्राप्त करो।

नीलनखेभ्यः स्वाहां ॥ ४ ॥

भा०—(नीलनखेभ्यः स्वाहा) 'नीलनख' नामक उन सूक्तों से उत्तम ज्ञान प्राप्त करो जिनमें शस्त्रास्त्रों द्वारा दुष्ट पुरुषों के दमन करने का उपदेश किया गया है।

हरितेभ्यः स्वाहां ॥ ५ ॥

भा०—(हरितेभ्यः स्वाहा) हरितसूक्त जिनमें औषधि लता, वनस्पतियों का वर्णन है उनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करो।

क्षुद्रेभ्यः स्वाहां ॥ ६ ॥

भा०—(क्षुद्रेभ्यः स्वाहा) क्षुद्र नामक सूक्त जिनमें अति सूक्ष्म ब्रह्म का विवेचन किया है जैसे स्कम्भ सूक्त आदि, उनसे भी तुम उत्तम सुख जनक ज्ञान का लाभ करो।

पर्यायिकेभ्यः स्वाहां ॥ ७ ॥

भा०—(पर्यायिकेभ्यः स्वाहा) पर्याय सूक्तों से भी उत्तम ज्ञान करो।

प्रथमेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहां ॥ ८ ॥ द्वितीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहां ॥ ९ ॥
तृतीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहां ॥ १० ॥

भा०—(प्रथमेभ्यः, द्वितीयेभ्यः तृतीयेभ्यः शंखेभ्यः ३ स्वाहा ३) प्रथम, द्वितीय और तृतीय शंख सूक्तों का भी उत्तम ज्ञान प्राप्त करो। शंख सूक्त 'शंनोदेवी' आदि शान्तिगण में पठित सूक्त समझने चाहियें। वे तीन काण्डों में पृथक् वर्णित होने से प्रथम, द्वितीय, तृतीय नाम से कहे गये हैं।

उपोत्तमेभ्यः स्वाहा ॥११॥ उत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ १२ ॥
उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥

भा०—(उपोत्तमेभ्यः उत्तमेभ्यः उत्तरेभ्यः स्वाहा ३) उत्तमों के समीप उपोत्तम, उत्तम और उत्तर इन तीन प्रकार के सूक्तों का भी ज्ञान करना चाहिये, मोक्ष विषयक सूक्त उत्तम, साधना विषयक सूक्त उपोत्तम, और कर्मकाण्ड विषयक या यज्ञ विषयक सूक्त उत्तर प्रतीत होते हैं।

ऋषिभ्यः स्वाहा ॥१४॥ शिखिभ्यः स्वाहा ॥१५॥

भा०—(ऋषिभ्यः स्वाहा) वेदमन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के उत्तम ज्ञान को प्राप्त करो। (शिखिभ्यः स्वाहा) ब्रह्मज्ञान के प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारियों से प्राप्त ज्ञान को प्राप्त करो।

गणेभ्यः स्वाहा ॥१६॥ महागणेभ्यः स्वाहा ॥१७॥
सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥१८॥
पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा ॥१९॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥२०॥

भा०—(गणेभ्यः स्वाहा) गणों में पढ़े गये सलिल, शान्ति सूक्त आदि का उत्तम रीति से ज्ञान प्राप्त करो। (महागणेभ्यः स्वाहा) महागण, बड़े गणों में पढ़े गये पृथ्वीसूक्त आदि का भी उत्तम रीति से ज्ञान करो। (सर्वेभ्यः अंगिरोभ्यः विदगणेभ्यः स्वाहा) समस्त आंगिरसवेद के जानने हारे विद्वान् पुरुषों द्वारा देखे गये ज्ञानसूक्तों को भी उत्तम रीति से

१५–'शिपिभ्यः' इति क्वचित्।

मनन करो। 'पृथक् सूक्त' अर्थात् १८वां काण्ड और 'सहस्र सूक्त' अर्थात् पुरुष सूक्त इनका भी ज्ञान उत्तम रीति से प्राप्त करो। (ब्रह्मणे स्वाहा) समस्त ब्रह्मविषयक सूक्तों का स्वाध्याय करो।

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥२१॥

भा०—(ब्रह्मज्येष्ठा) जिन समस्त वीर्यों या बलों में ब्रह्म ही सब से अधिक प्रबल और उत्कृष्ट बल है वे (वीर्याणि) समस्त वीर्य, बल से साधने योग्य कार्य (संभृता) उत्तम रीति से धारण करने चाहियें। (ज्येष्ठम्) उस सर्व से उत्तम (ब्रह्म) ब्रह्म, उस महान् ब्रह्म शक्ति ने ही (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ में (दिवम्) द्यौ, आकाश को या सूर्य को (आततान) विस्तृत किया था, रचा था।

अथवा (ब्रह्म=ब्रह्मणि, ज्येष्ठानि वीर्याणि संभृतानि) ब्रह्म में ही समस्त वीर्य=बल एकत्र विद्यमान हैं। ब्रह्म ने ही (दिवम्) तेजोमय नक्षत्रों से युक्त आकाश या द्यौलोक अर्थात् तेजोमय सूर्यों से पूर्ण संसार और संसार के समस्त सूर्यों और नक्षत्रों को रचा। (भूतानां) समस्त उत्पन्न होने वाले प्राणियों और भुवनों में से (ब्रह्मा प्रथम उत) ब्रह्मा, वेदज्ञान या ब्रह्मज्ञान से युक्त पुरुष ही (जज्ञे) उत्पन्न हुआ। अर्थात् प्रथम आदि में जो लोग उत्पन्न हुए सबसे प्रथम ब्रह्मज्ञानी ऋषिगण ही हुए। (तेन) उससे (ब्रह्मणा) उस महान् ब्रह्म से (कः स्पर्धितुम् अर्हति) कौन मुकाबला कर सकता है। उसकी बराबरी कौन कर सकता है।

२१–(तृ०) 'प्रथमा उत इति पदपाठः क्वचित्। 'प्रथमोह' इति ह्विटनिकामितः। 'प्रथमोऽथ' इति क्वचित्। ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि... (तृ०) भूतस्य ब्रह्म प्रथमोत जज्ञे इति पैप्प० सं०।

[२३] अथर्व वेद के सूक्तों का संग्रह

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः उतचन्द्रमा देवता । १ आसुरी बृहती । २-७, २०, २३, २७ दैव्यस्त्रिष्टुभः । ८, १०, १२, १४, १६ प्राजापत्या गायत्र्यः । १७, १९, २१, २४, २५, २९ दैव्यः पंक्तयः, । १३, १८, २२, २६, २८ दैव्यो जगत्यः (१-२९ एकावसानाः) । त्रिंशदृचं द्वितीयं समासमूक्तम् ।

आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥१॥ पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा ॥२॥ षळृचेभ्यः स्वाहा ॥३॥ सप्तर्चेभ्यः स्वाहा ॥४॥ अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥५॥ नवर्चेभ्यः स्वाहा ॥६॥ दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥७॥ एकादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥८॥ द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥९॥ त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१०॥ चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥११॥ पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१२॥ षोडशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१३॥ सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१४॥ अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१५॥ एकोनविंशतिः स्वाहा ॥१६॥ विंशतिः स्वाहा ॥१७॥ महत्काण्डाय स्वाहा ॥१८॥ तृचेभ्यः स्वाहा ॥१९॥ एकर्चेभ्यः स्वाहा ॥२०॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥२१॥ एकानृचेभ्यः स्वाहा ॥२२॥ रोहितेभ्यः स्वाहा ॥२३॥ सूर्याभ्यां स्वाहा ॥२४॥ व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥२५॥ प्राजापत्याभ्यां स्वाहा ॥२६॥ विषासह्यै स्वाहा ॥२७॥ मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा ॥२८॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥२९॥

भा०—(आथर्वणानाम्) अथर्ववेद में आये सूक्तों में से (चतुर्ऋचेभ्यः) चार २ ऋचा के बने सूक्तों का स्वयं मनन करो। (पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा० इत्यादि २-१७।) इसी प्रकार ५, ६. ७, ८, ९, १०, ११, १२

२८—'मांगलिकेभ्यः स्वाहा' इति क्वचित् ।

१३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, और २० ऋचा वाले सूक्तों का भी ज्ञान करो। इसके अतिरिक्त (महत् काण्डाय स्वाहा) बड़े काण्ड का स्वाध्याय करो। (एकर्चेभ्यः स्वाहा) एक ऋचा के सूक्तों का भी स्वाध्याय करो। (क्षुद्रेभ्यः) क्षुद्र सूक्त [का० १० १०] अर्थात् स्कम्भ आदि सूक्तों का भी ज्ञान करो। (एकानृचेभ्यः) एक चरण के मन्त्र जो 'अनृच' अर्थात् पूर्ण ऋचा नहीं और जिनमें पाद की व्यवस्था नहीं है जैसे व्रात्य सूक्त उनका भी स्वाध्याय करो। (रोहितेभ्यः स्वाहा) रोहित देवता विषयक सूक्तों [१३ का०] का स्वाध्याय करो (सूर्याऽभ्यः स्वाहा) 'सूर्य' देवता के दो अनुवाकों [का० १४] का स्वाध्याय करो। (व्रात्याभ्यां स्वाहा) व्रात्य विषयक [का० १५] दो सूक्तों का स्वाध्याय करो । (प्राजापत्याभ्यां स्वाहा) प्रजापतिविषयक [का० १६] दो अनुवाकों का स्वाध्याय करो। (विषासह्यै स्वाहा) विषासहि सूक्त [१७ का०] का स्वाध्याय करो। (मंगलिकेभ्यः स्वाहा) मंगलिक, स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ [१९ का०] का भी स्वाध्याय करो। (ब्रह्मणे स्वाहा) शेष ब्रह्मवेद [२० का०] का भी स्वाध्याय करो।

ये दोनों समास सूक्त कहाते हैं। इनमें समस्त अथर्ववेद को संक्षिप्त करके उनके स्वाध्याय करने का उपदेश किया है। ज्ञान सूक्तों की आहुति स्वाध्यायमय ज्ञान यज्ञ है इसलिये 'स्वाहा' शब्द का सर्वत्र 'अध्ययन करो' ऐसा ही अर्थ किया गया है।

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥२०॥

भा०—व्याख्या देखो इसी सूक्त के मन्त्र २१ में।

[२४] राजा के सहायक रक्षक और विशेष वस्त्र।

येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन ॥१॥

भा०—(येन) जिस प्रयोजन से (सवितारम्) सर्व प्रेरक (देवम्) विजिगीषु राजा को (देवाः) युद्धविजयी अन्य राजा लोग (परि अधारयन्) चारों ओर से रक्षा करते, उसे घेरे रहते हैं (तेन) उसी प्रयोजन या उद्देश्य से (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्म, वेद के पालक स्वामी, वेदज्ञ विद्वान् जन आप लोग भी (राष्ट्राय) राष्ट्र की रक्षा के लिये (परि धत्तन) उसकी रक्षा करो और उसके चारों ओर विराजो । प्रेरक अग्रणी नेता की बल वृद्धि के लिये योद्धाओं के समान वेदज्ञ विद्वान् भी राजा की रक्षा करें और उस का साथ दें । अथवा—(येन) जिस वस्त्र या पोशाक से विजयी योद्धागण अपने अग्रणी को (परि अधारयन्) सुशोभित करते हैं (तेन) उसी से हे (ब्रह्मणस्पते) वेदज्ञ विद्वान् तथा अन्य विद्वद्गण आप लोग मिलकर भी (राष्ट्राय) राष्ट्र के लिये (इमं) इस राजा को (परिधत्तन) आच्छादित करो ।

परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन ।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् क्षत्रेऽधि जागरत् ॥२॥

भा०—(इमम् इन्द्रम्) इस राजोचित गुणैश्वर्य से सम्पन्न राजा को (आयुषे) दीर्घ आयु प्राप्त कराने और (महे क्षत्राय) बड़े भारी क्षात्र-बल को प्राप्त कराने के लिये हे विद्वान् पुरुषो ! (परिधत्तन) सब प्रकार से पुष्ट करो (यथा) जिससे (एनम्) इसको हम (जरसे) वार्धक्य काल तक (नयान्) प्राप्त करा सकें । और वह (क्षत्रे अधि) राष्ट्र को क्षति से त्राण करने वाले बल के ऊपर (ज्योक्) चिरकाल तक (अधिजागरत्) जागृत सावधान होकर रहे ।

परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन ।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् श्रोत्रेऽधि जागरत् ॥३॥

भा०—हे विद्वानों और राज्य के प्रधान पुरुषो ! (इमम् सोमम्) इस सौम्य गुण और स्वभाव वाले राष्ट्र के संचालक न्यायाधीश को (आयुषे) राष्ट्र को दीर्घ आयु प्राप्त कराने और (श्रोत्राय) प्रजा के कष्टों के श्रवण करने के लिये (परिधत्तन) रक्खो, नियत करो या परिपुष्ट करो या तदुचित आसन वेष भूषा से युक्त करो, (यथा) जिससे (एनं) इसको (जरसे) बुढ़ापे तक के लिये (नयान्) प्राप्त करावें और (ज्योक्) चिरकाल तक वह (श्रोत्रे) राष्ट्र की आवश्यकताओं, त्रुटियों और प्रजा के कष्टों के श्रवण के कार्य पर (अधि जागरत्) सदा जागृत, सचेत रहे।

परि॑ धत्त धत्त नो॒ वर्च॑सेमं ज॒रामृ॑त्युं कृणुत दी॒र्घमायुः॑ ।
बृह॒स्पतिः॒ प्राय॑च्छ॒द् वास॑ ए॒तत् सोमा॑य॒ राज्ञे॒ परि॑धात॒वा उ॑ ॥४॥

भा०—हे राष्ट्र के नेता पुरुषो ! (परिधत्त) आप लोग राष्ट्र की रक्षा करें। और (इमम्) इस राजा को भी (नः वर्चसे) हमारे ही तेज और बल, प्रभाव और आतङ्क के लिये (परिधत्त) इसको पुष्ट करो। और इसकी (आयुः) आयु को (जरामृत्युम्) बुढ़ापे के अन्त में मृत्यु प्राप्त कराने वाली और (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुत) बनाओ। (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक, विद्वान् पुरुष (एतत्) ऐसा प्रजा का बलरूप आच्छादन, रक्षा साधन (वासः) वस्त्र, (सोमाय राज्ञे) राजा सोम को (परिधातवा उ) धारण करने के लिये (प्रायच्छद्) प्रदान करता है जिससे वे सुरक्षित रह कर अपना कर्त्तव्य पूर्ण रीति से निभा सकें।

राजाओं का लम्बा लटकता चोगा या गाउन दीर्घ आयु और विशाल प्रजाबल को धारण करने वाले राजा के विशेष सामर्थ्य को सूचित करने के लिये होता है यह अभिप्राय इस मन्त्र के भावार्थ से स्पष्ट है।

जु॒रां सु ग॑च्छ॒ परि॑ धत्स्व॒ वासो॒ भवा॑ गृ॒ष्टीना॑मभिश॒स्तिपा उ॑ ।
श॒तं च॒ जीव॑ श॒रदः॑ पु॒रूची॑ रा॒यश्च॒ पोष॑मुप॒संव्य॑यस्व ॥५॥

भा०—हे राजन् ! तू (जरां) बुढ़ापे तक (सु) भली प्रकार, सुख से (गच्छ) पहुंच। (वासः) वस्त्र (परिधत्स्व) धारण कर और (गृष्टीनाम्=कृष्टीनाम्) समस्त प्रजा के पुरुषों की (अभिशस्तिपा उ भव) चारों ओर से होने वाले हिंसाकारी आक्रमणों या दुष्ट अपवादों से भी रक्षा करने में समर्थ हो। (शतम् शरदः जीव) तू सौ वरस तक प्राण धारण कर। (पुरूचीः) बहुत से सुखों से पूर्ण (रायः च) धन की (पोषम्) पुष्टि, समृद्धि को (उप सं व्ययस्व) अपने ऊपर धारण कर। अर्थात्-राजा के ऊपर प्रजा के विशाल, लम्बे चौड़े शरीर को बचाने का जो विस्तृत, विशाल कार्य है उसको सदा स्मरण दिलाने के लिये राजा को विशेष, असाधारण लम्बा चौड़ा वस्त्र पहनाया जाता है। इसी कारण उसको नाना प्रकार के धन, कोश समृद्धि रखने का भी वेद में आदेश है। यह मन्त्र की ध्वनि है।

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चारुर्वि भंजासि जीवन् ॥८॥

भा०—हे राजन् ! (इदम् वासः) तू इस वस्त्र को (परि अधिथाः) धारण कर और (वापीनाम्) अपने बीज वपन द्वारा खेतियों को बोने वाले कृषक प्रजाओं या (वापीनाम्) अपने बीजवपन द्वारा सन्तानों को उत्पन्न करने वाली प्रजाओं के (अभि-शस्तिपाः उ) ऊपर चारों ओर से होने वाले हिंसामय चोर डाकुओं के आघातों से रक्षा करने वाला होकर ही तू उनके (स्वस्तये) सुख कल्याण के लिये (अभूः) हो। और (पुरूचीः) पुरु-नाना अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले अनेक भोग्य पदार्थों से परिपूर्ण (शरदः शतम्) सौ वरसों तक (जीव) प्राण धारण कर। और (जीवन्) अपने जीते हुए ही तू (चारुः) पृथ्वी के उत्तम जीवन सुखों को यथावत् भोगता हुआ भी (वसूनि) प्रजा के जीवन और आवास के उपयोगी नाना धन सम्पत्तियों को (वि भजासि) विविध रूपों में बांटा कर।

योगेयोगे तुवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥७॥

भा०—हे (सखायः) मित्र जनो ! (योगे योगे) प्रत्येक नवीन पदार्थ के प्राप्त कर लेने के अवसर पर और (वाजे वाजे) बल के प्रत्येक कार्य या संग्राम में हम (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (तवस्तरम्) अति बलवान्, आक्रामक से अधिक शक्तिशाली (इन्द्रम्) राजा को (हवामहे) शरण के लिये बुलावें ।

अध्यात्म में—प्रत्येक योगाभ्यास काल में और प्रत्येक ज्ञान कार्य में हम परमेश्वर को स्मरण करें ।

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व ।
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ॥८॥

भा०—(हिरण्यवर्णः) हित और रमणीय वर्ण वाला, सुन्दर, कान्तिमान् अथवा हिरण्य=सुवर्ण के समान तेजस्वी अथवा सुवर्ण, ऐश्वर्य का सदा वरण करने वाले या सुवर्ण के समान सभी के द्वारा वरण करने योग्य श्रेष्ठ, (अजरः) जरा रहित, (सुवीरः) उत्तम वीर्यवान् या उत्तम वीर पुत्रों से युक्त या उत्तम वीर भटों से युक्त और स्वयं उत्तम वीर और (जरामृत्युः) बुढ़ापे के अनन्तर ही मृत्यु अर्थात् शरीर को त्याग करने वाला, अकाल मृत्यु से रहित होकर (प्रजया) प्रजा के साथ (सं विशस्व) पृथ्वी पर बस, नगर बसा कर रह । (अग्निः) ज्ञानी, परमेश्वर अथवा ज्ञानवान् पुरुषों का (तत्) यही (आह) उपदेश है । (सोमः तत् आह) सबके प्रेरक, शम दम आदि सम्पन्न योगिजन का यही आदेश है । (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक विद्वान् अथवा बृहती पृथ्वी के स्वामी-महाराज (सविता) सबके प्रेरक और उत्पादक और (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा या परमेश्वर भी (तत् आह) उसी बात का उपदेश या आज्ञा करता है ।

[२५] अश्व या वेगवान् यन्त्र या मृत्यु का वर्णन ॥

गोपथ ऋषिः । वाजी देवता । अनुष्टुप् । एकर्चम् ॥

अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मि प्रथमस्य च ।
उत्कूलमुद्वहो भवोदुह्य प्रति धावतात् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझे मैं (अश्रान्तस्य) अनथक और (प्रथमस्य च) सबसे श्रेष्ठ पुरुष के लिये (मनसा) मनन, ज्ञानपूर्वक (त्वा युनज्मि) तुझे गाड़ी में घोड़े की तरह नियुक्त करता हूं । (उत्कूलम्) अपने करारों को भी लांघकर नदी जिस प्रकार वेग से उनपर उमड़ आती है उसी प्रकार तू कार्य को (उद् वहः भव) वेग से पहुंचाने वाला हो । और (उद् उह्य) स्वामी के कार्य को या स्वामी को ही अपने ऊपर लेकर (प्रति धावतात्) उसी स्थान की तरफ़ वेग से चल पड़ । वेगवान अश्व या अग्नि, विद्युत् आदि यन्त्रमय रथ के पक्ष में भी-हे वेगवान् यन्त्र ! तू अनथक, सर्वश्रेष्ठ है इस विचार से तुझे मैं लगाता हूं तू उमड़ती नदी के समान भार को उठाकर चल और उसे उठाकर शीघ्र दौड़ ।

[२६] वीर्यरक्षा और आत्मज्ञान ॥

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्हिरण्यं च देवते । १, २ त्रिष्टुभौ । ३ अनुष्टुप् । ४ पथ्या पंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु ।
य एनद् वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति ॥१॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (हिरण्यम्) हित और रमणीय, स्वाभाविक तेज या बल (अग्नेः परि) अग्नि या नेता पुरुष से (प्रजातम्) अति उत्तम रूप में प्रकट होता है उसी प्रकार का (मर्त्येषु अधि) मरणशील प्राणियों में या प्राणियों के देहों में भी (अमृतम्) अमृत,

वीर्य या आत्मा के रूप में अविनाशी (दध्रे) धारण किया जाता है। (यः) जो पुरुष (एनद् वेद) इसको साक्षात् जान लेता है (स इत्) वह ही (एनम् अर्हति) इसको प्राप्त करने और धारण करने योग्य है और (यः) जो इस अमर आत्मा की शक्ति को स्वयं (बिभर्ति) धारण कर लेता है वही (जरामृत्युः) बुढ़ापा भोगकर शरीर को छोड़ने वाला चिरायु (भवति) होता है।

यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्वं ईषिरे।
तत् त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजात्यायुष्मान् भवति यो बिभर्ति ॥२॥

भा०—हे आत्मन्! (यत्) जो या जिस प्रकार के (हिरण्यम्) सब प्रकार से रमणीय, मनोहर, हितकारी और सुन्दर दुःखनाशक बल (सूर्येण) सूर्य के समान (सुवर्णम्) उत्तम वर्ण और कान्ति को धारण करने वाले, उत्तम रीति से वरण करने योग्य, बल या आत्मा की ज्योति को (पूर्वं) पूर्व के, उत्तम श्रेणी के (प्रजावन्तः) प्रजाओं वाले (मनवः) मनुष्य प्रजाओं के स्वामी राजा लोग (ईषिरे) चाहते हैं (तत्) उसी प्रकार के (चन्द्रम्) आल्हादजनक, सुवर्ण के समान मनोहर (त्वा) तुझ आत्मा को (यः बिभर्ति) जो धारण करता है वह (वर्चसा) तेज से (संसृजाति) युक्त हो जाता है और (आयुष्मान् भवति) दीर्घायु हो जाता है। सुवर्ण के पक्ष में स्पष्ट है।

आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥३॥

भा०—हे पुरुष! (आयुषे) आयु, (वर्चसे) तेज, (ओजसे) ओज, (च) और (बलाय च) बल के लिये (त्वा २) तुझे वह परम आत्मा रूप सुवर्ण प्राप्त है (यथा) जिसके कारण तू (जनान् अनु) जनों के

प्रति (हिरण्य-तेजसा) सुवर्ण के तेज से, चात्र तेज से या आत्मा के वास्तविक प्रकाश से (विभासासि) विशेष रूप से चमकने में समर्थ है। तू उस सुवर्ण की साधना कर और तेजस्वी बन।

यद् वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत् तं आयुष्यं/भुवत् तत् तें वर्चस्यं/भुवत्॥४॥

भा०—(यत्) जिसको (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ (राजा) राजा (वेद) स्वयं साक्षात् करता या लाभ करता है। और जिसको (बृहस्पतिः) बड़े २ लोकों का पालक (देवः) विद्वान्, देदीप्यमान पुरुष (वेद) प्राप्त करता है और (यत्) जिसको (वृत्रहा) वृत्र, मेघ का नाशक (इन्द्र) तेजस्वी सूर्य और उसी प्रकार नगररोधी शत्रुका नाशक ऐश्वर्यवान् राजा (वेद) प्राप्त करता है (तत्) वह आत्मरूप सुवर्ण (ते) तेरे लिये (आयुष्यम्) दीर्घ आयुप्रद (भुवत्) हो और (तत्) वही (ते वर्चस्यं भुवत्) तुझे तेजस्वी बनाने वाला (भुवत्) हो।

हिरण्यम्—प्रजापतेः एतस्यां रम्यायां तन्वां देवाः अरमन्त। तस्माद् हिरम्यं। हिरम्यं ह वै तत् हिरण्यमित्याचक्षते। श० ७। ४। १। ३६॥ अग्निर्ह वा आपोऽभिदध्यौ मिथुनी आभिः स्याम्। इति ताः सम्बभूव। तासु रेतः प्रासिञ्चत्। तत् हिरण्यमभवत्। श० २। १। १। ५॥ अग्निर्वा एतद् रेतो यत् हिरण्यं नाष्ट्राणां रक्षसामपहत्यै। श० १४। १। ३। २६॥ क्षत्रस्यैतद् रूपं यत् हिरण्यम्। श० १३। २। २।१७॥ आयुर्हिरण्यम्॥ श० ४। ३। ४। २४॥ अमृतं हिरण्यम्॥ श० ६। ४। ४। ५॥ प्राणो वै हिरण्यम्। श० ७। २। २। ८॥ शुक्रं हिरण्यम्। ऐ० ७। १२॥ यशो हिरण्यम्। ऐ० ७। १८॥ सत्यं हिरण्यम्। गो० उ० ३। १७॥ अर्थात्—शरीर में जिस बल पर समस्त इन्द्रिय गण और ब्रह्माण्ड में जिस बल पर समस्त पञ्चभूत और १२ मास, ऋतु आदि उत्तम रीति से विहार

करते हैं वह हिरण्य है। अग्नि-नेता पुरुष का दुष्टों का नाशक बल, तेज 'हिरण्य' है। क्षात्रबल, आयु, अमृत=मोक्ष, वीर्य, यशः, और सत्य ये सब पदार्थ (वेद में) 'हिरण्य' शब्द से कहे हैं गये। उनकी योजना भी प्रकरण वश कर लेनी चाहिये।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि सप्त । पञ्चषष्टिश्चर्चः]

[२७] जीवन रक्षा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । त्रिवृद् उत चन्द्रमा देवता । ३, ९ त्रिष्टुभौ । १० जगती । ११ आर्ची उष्णिक् । १२ साम्न्यनुष्टुप् । १३ साम्नी त्रिष्टुप् (११-१३ एकावसानाः)। शेषाः अनुष्टुभः ।

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषां त्वा पातु वाजिभिः ।
वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः ॥१॥

भा०—हे मनुष्य ! (त्वा) तुझे (ऋषभः) वीर्य सेचन में समर्थ सांड (गोभिः) गौओं द्वारा (पातु) पालन करें। (वृषा) वीर्य सेचन में समर्थ अश्व (वाजिभिः) वेगवान घोड़ों से (त्वा पातु) तेरा पालन और रक्षण करे। (वायुः) विद्वान् पुरोहित या शिल्पी (ब्रह्मणा पातु) ब्रह्म=वेदज्ञान या शिल्प से (त्वा पातु) तुझे पालन करे। अथवा (वायुः) वायु अन्तरिक्षका स्वामी या प्राण (ब्रह्मणा) अन्न द्वारा तेरा पालन करे। (इन्द्रः) इन्द्र आत्मा (इन्द्रियैः) इन्द्रियों से (त्वा पातु) तेरा पालन करे अथवा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, बलवान् पुरुष, राजा, परमेश्वर और विद्युत् प्राण और आचार्य वे सभी अपने (इन्द्रियैः) विशेष बलों या संचित पदार्थों व अनुभूत ज्ञानों से (त्वा पातु) तेरा पालन करें। (वायु-

वैनभसस्पतिः । गो० उ० ४ । ६ ॥ वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः । तै० ३ । २ । १ । ३ ॥ वायुर्वा अध्वर्युः । गो० ५-२ । २४ ॥ वायुर्वाव पुरोहितः । ऐ० ८ । २७ ॥ अयं वै वायुर्विश्वकर्मा । श० ८ । ११ । ७ ॥

सोमस्त्वा पात्वोषधीभिर्नक्षत्रैः पातु सूर्यः ।
माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वातः प्राणेन रक्षतु ॥२॥

भा०—(सोमः) सोमलता (ओषधीभिः) अपने दोषनाशक शक्तियों से (त्वा पातु) तेरी रक्षा करे अथवा (सोमः) ओषधियों का निष्कर्ष या सार पदार्थ निकालने में चतुर वैद्य पुरुष (त्वा ओषधीभिः) तुझे रोगनाशक ओषधियों से (पातु) पालन करे । (सूर्यः) सूर्य तुझे (नक्षत्रैः पातु) अपने व्यापक अथवा नक्ष=नाश से त्राण करने वाले गुणों से पालन करे । (चन्द्रः) आल्हादकारी चन्द्र (त्वा) तुझे (माद्भ्यः) अपने मासों से रक्षा करे । और (वृत्रहा वातः) आवरणकारी मेघों का नाशक, मेघों को छिन्न भिन्न करने वाला (वातः) वायु अथवा मलशोधक रोगों का नाशक प्राणवायु (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे ।

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ३

भा०—(तिस्रः दिवः) तेज को तीन प्रकार का बतलाते हैं । (तिस्रः पृथिवीः) पृथिवी को भी तीन प्रकार का बतलाते हैं । (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्ष अर्थात् वायु को भी तीन रूप का बतलाते हैं । (समुद्रान् चतुरः आहु) समुद्रों को चार प्रकार का बतलाते हैं । (स्तोमं त्रिवृतं) स्तोम लोक, प्राण, और वीर्य तीन प्रकार का है । (आपः त्रिवृतः) आपः-जल या प्रकृति सूक्ष्म परमाणुओं को भी तीन प्रकार का कहते हैं । (ताः) वे सब (त्वा) तुझको (त्रिवृता) तीन २ रूपों में परिणत होकर (त्रिवृद्भिः) तीन २ रूपों से (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें ।

१. दिवः तिस्रः-तीन द्यौः अर्थात् तेजोमय पदार्थ तीन प्रकार का है। शरीर, इन्द्रिय और अर्थभेद से। इसी प्रकार पृथिवी, वायु, आपः ये भी तीन २ प्रकार के हैं। पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश ये तीन प्रकार के स्तोम हैं। अथवा प्राण तीन प्रकार के, प्राण, अपान, उदान। मूल प्रकृति के परमाणु, सत्व, रजस्, तमस् भेद से त्रिविध हैं। समुद्र चार हैं अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत्। शरीर में आकर तेजः, अपः और पृथिवी तीनों तीन २ प्रकार के होजाते हैं। जैसे पृथिवी के तीन रूप-स्थूल रूप पुरीष, मध्यमरूप मांस, सूक्ष्म रूप मन। जल के तीन रूप-स्थूल मूत्र, मध्यम लोहित, सूक्ष्म प्राण। तेज के तीन रूप-स्थूल अस्थि, मध्यम मज्जा, सूक्ष्म वाणी। जिस प्रकार मथने से मक्खन ऊपर उठ आता है उसी प्रकार सूक्ष्मतम, मन, प्राण, वाणी और चौथी आत्मा ये चार ऊपर उठ आने से ही समुद्र कहाते हैं। वे चार प्रकार के हैं। इसी प्रकार पिण्ड रचना के अनुसार ब्रह्माण्ड में भी इन पृथिवी, अप् तेज के तीन २ रूप स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म भेद से जानने चाहियें।

(२) स्तोम-शरीर में 'वीर्य' पञ्चदश है। या त्रिवृद् आत्मा प्राण पञ्चदश अर्थात् पन्द्रहवां है। पीठ के मोहरे १४ और १५वां प्राण है। समाज में 'क्षत्र' या 'राजा' पञ्चदश स्तोम है।

'सप्तदश'-सोलह कला सतरहवां प्रजापति या प्रजनन शक्ति १७वीं कहाती है। १२ मास, पांच ऋतु इन सब का आश्रय प्रजापति 'सप्तदश' प्रजापति कहाता है। अथवा शरीर में दश प्राण, ४ अंग, १५ आत्मा, १६वीं गर्दन, १७वां सिर। समाज में वैश्य 'सप्तदश' है।

'एकविंश'=सूर्य, १२ मास, पांच ऋतु और तीन लोक इनके आश्रय 'एकविंश' सूर्य है। अथवा शूद्रवर्ण 'एकविंश' है।

त्रिवृत् प्रकरण देखो छान्दोग्य उप० ६। २। ३॥

त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान्।
त्रीन् मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान् गोप्तृन् कल्पयामि ते ॥४॥

भा०—मैं तेरे लिये (त्रीन् नाकान्) तीन सुखमय लोकों को, (त्रीन् समुद्रान्) तीन समुद्रों को, (त्रीन् ब्रध्नान्) तीन बन्धनशील, बड़े शक्तिशाली पदार्थों को, (त्रीन् वैष्टपान्) तीन विशेष रूप से तपने या तपाने वाले लोकों को, (त्रीन् मातरिश्वनः) तीन वायुओं को (त्रीन् सूर्यान्) तीन सूर्यों को, हे राजन्! हे पुरुष! (ते) तेरे (गोप्तृन्) रक्षक (कल्पयामि) बनाता हूं।

तीन नाक या तीन सुखमय स्थान, माता, पिता, आचार्य। तीन समुद्र आत्मा, परमात्मा, प्रकृति। तीन ब्रध्न, मनः, वाक्, काय। तीन विष्टप, आध्यात्मि, आधिदैविक, आधिभौतिक। तीन मातरिश्वा प्राण, अपान, उदान। तीन सूर्य अग्नि, विद्युत्, सूर्य, इन सबको हे पुरुष तेरा रक्षक बनाता हूं।

घृतेन त्वा समुक्षाम्यग्न आज्येन वर्धयन्।
अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन् ॥५॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! अग्रणी, राजन्! जिस प्रकार अग्नि को विलीन घृत से बढ़ाया जाता है और उसकी आहुति दी जाती है उसी प्रकार (आज्येन) आज्य, वीर्य या युद्धोपयोगी समस्त सामग्री और सेनाबल से तुझे (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ (त्वा) तुझको (घृतेन) क्षरणशील वेगवान् अथवा तेजस्वी बल से (सम् उक्षामि) भली प्रकार अभिषेचित करता हूं। (अग्नेः) अग्नि के समान शत्रुतापक (चन्द्रस्य) चन्द्र के और (सूर्यस्य) सूर्य के समान मनोहर और तेजस्वी तुझ राजा के (प्राणम्) प्राण को (मायिनः) मायावी पुरुष अथवा बुद्धिमान् शिल्पी लोग (मा दभन्) विनाश न करें।

मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन् ।
भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत ॥६॥

भा०—(मायिनः) मायावी पुरुष (वः) आप लोगों के (प्राणम्) प्राण को (मा दभन्) विनाश न करें । (वः अपानं मा) वे तुम्हारे अपान को नष्ट न करें । (मा हरः) तुम्हारे हरः अर्थात् बल को भी वे नाश न करें । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (विश्ववेदसः) सब प्रकार ऐश्वर्यवान् होकर (भ्राजन्तः) तेजस्वी होकर (दैव्येन) दिव्य पदार्थ, अग्नि, जल वायु आदि के वेग या वेगवान रथ से (धावत) शीघ्र गति से जाया करो ।

प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः ।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥७॥

भा०—जिस प्रकार मनुष्य (प्राणेन) अपने प्राण वायु से या फूंक से (अग्निम्) अग्नि को या आग को (संसृजति) उत्पन्न करता है, क्योंकि (वातः) यह बाह्य वायु ही (प्राणेन) शरीरगत प्राण के साथ (संहितः) सम्बद्ध रहता है, ठीक इसी प्रकार (देवाः) देव, दिव्य पदार्थ भी (विश्वतो मुखम्) सब ओर प्रकाशमान सूर्य को (प्राणेन) उत्कृष्ट महा वायु या महान् चैतन्य के बल से (अजनयन्) दीप्त रूप में प्रकट कर रहे हैं । अथवा जिस प्रकार इस देहपिण्ड में (प्राणेन अग्निम् संसृजति) मनुष्य अपने प्राण से अपनी जाठराग्नि को उत्पन्न करता है और बाह्य वायु उस प्राण से जुड़ा है, इसी प्रकार (देवाः) दिव्य पदार्थ भी (विश्वतो मुखं) सब ओर प्रकाशित सूर्य को (प्राणेन) उस महान् जीवन प्रद शक्ति से उत्पन्न करते हैं और सूर्योत्पादक बल उस महान् परमेश्वर शक्ति से जुड़ा है ।

आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः ।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥८॥

भा०—(आयुःकृताम्) आयु को दीर्घ बनाने वाले पदार्थों के (आयुषा) जीवन वृद्धि करने वाले बल से, हे पुरुष ! तू (जीव) प्राण धारण कर । हे पुरुष ! तू (आयुष्मान्) आयु से सम्पन्न, दीर्घायु होकर (जीव) जीता रह । (मा मृथाः) मर मत । (आत्मन्वताम्) आत्म शक्ति से युक्त शूरवीर पुरुषों के (प्राणेन) प्राण-बल से तू (जीव) प्राण धारण कर । (मृत्योः वशम्) मृत्यु के वश में (मा उद् अगाः) मत जा ।

देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोन्वविन्दत् पथिभिर्देवयानैः ।
आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः॥९॥

भा०—(यम्) जिस (देवानाम्) देव, दिव्य पदार्थों, इन्द्रियों, दिव्य शक्तियों के भीतर (निहितम्) गुप्त रूप से रक्खे, सुरक्षित (निधिम्) ख़ज़ाने को (इन्द्रः) इन्द्र-ऐश्वर्यवान् आत्मा (देवयानैः) देव, प्राणों द्वारा जाने योग्य (पथिभिः) मार्गों द्वारा (अनु अविन्दत) प्राप्त करता है । उस (हिरण्यम्) अति रमणीय आत्मारूप ख़ज़ाने को भी (आपः) आप्त पुरुष (त्रिवृद्भिः) तीन प्रकार के प्राणों द्वारा (जुगुपुः) रक्षा करते हैं । अथवा उस हिरण्य या तेजोमय आत्मा को भी (आपः) सूक्ष्म प्राण या प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु अपने (त्रिवृद्भिः) त्रिगुण सामर्थ्यों से रक्षा करते हैं । (ताः) वे आप्त जन या सूक्ष्म परमाणु (त्रिवृद्भिः) तीन २ गुणों से (त्रिवृता) त्रिवृत् हुए देह या प्राण से (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें । त्रिवृत् के विषय में देखो इसी सूक्त का प्रथम मन्त्र ।

त्रयस्त्रिंशद् देवतास्त्रीणि च वीर्या/णि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्वन्तः ।
अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्या/णि ॥१०॥

१–(प्र०) 'यमिन्द्रा'–इति क्वचित् । (च०) 'त्रिवृतास्त्रिवृद्भिः' । इति क्वचित् । 'निधिं देवानां विहितं यमिन्द्रो' इति लैन्मनकामितः पाठः ।

भा०—(देवताः) देवता, दिव्य शक्तियां, दिव्य पदार्थ (त्रयः त्रिंशत्) तेंतीस हैं । और (वीर्याणि च) वीर्य विशेष रूप से अनेक बल (त्रीणि) तीन हैं । वे (अप्सु अन्तः) अप, प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के भीतर भी उस (हिरण्ययम्) आत्मा को अति (प्रियायमाणाः) प्रिय बनाते हुए (अस्मिन् चन्द्रे) इस आल्हादकारी आत्मा में (यत् हिरण्ययम्) जिस 'हिरण्य' अर्थात् हित और रमणीय तेज को (जुगुपुः) सुरक्षित रखते हैं (तेन) उससे (अयं) यह आत्मा (वीर्याणि) बल, वीर्य को (कृणवत्) उत्पन्न करे ।

त्रयस्त्रिंशद् देवताः—८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य प्रजापति और वषट्कार । अथवा ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य इन्द्र और प्रजापति । कायिक, वाचिक, मानस ये तीन वीर्य हैं ।

ये देवा दिव्येकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥ ११ ॥
ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥ १२ ॥
ये देवाः पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥ १३ ॥

ऋ० १ । १३९ । ११ ॥ यजु० ७ । १९ ॥

भा०—हे (देवाः) देवगण ! दिव्य पदार्थो ! आप (दिवि) द्यौलोक में, (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ये) जो (एकादश २) ग्यारह ग्यारह (स्थ) हो (ते) वे आप (देवासः) देव, दिव्य पदार्थ (इदं) इस (हविः) हवि-अन्न को (जुषध्वम् ३) सेवन करें । (११-१३)

११–१३–ऋग्वेदे पच्छेप ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः ॥ ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ । अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ इति ऋ० । ११–(५०) 'ये देवा दिव्यादिदेव' इति सायणाभिमतः ।

यजुर्वेद (७ । १७) में महर्षि दयानन्द के लेखानुसार-द्यौ में ११ देव प्राण अपान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीव। अप्सुक्षित एकादश देव-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और मन। भूमि पर एकादश देव-पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, आदित्य, चन्द्र, नक्षत्र, अहंकार, महत्तत्व और प्रकृति।

अथवा जैसे शरीर में दश प्राण, ११वां आत्मा, भौतिक में-पञ्च स्थूल भूत, ५ सूक्ष्मभूत और महत्तत्व हैं। और जिस प्रकार शरीर में दश इन्द्रिय और मन है उसी प्रकार समाज के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीनों क्षेत्रों में विद्यमान ११, ११ देव, राजसभा के विद्वान् जन मेरे इस अन्न को स्वीकार करें।

असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥१४॥

भा०—(नः) हमारे (पुरस्तात्) आगे और (पश्चात्) पीछे से भी (असपत्नम्) शत्रुओं से रहित (अभयम्) अभय (कृतम्) बना रहे। (मा दक्षिणतः) मेरे दायें तरफ़ (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक राजा और (मा उत्तरात्) मेरे उत्तर या बायें तरफ़ (शचीपतिः) शची, शक्तिवाली सेना का स्वामी, सेनापति रहे, दोनों मेरे दोनों ओर से रक्षा करें।

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥१५॥

अथर्व० १९ । १६ । २ ॥

भा०—(आदित्याः) आदित्य, १२ मास (मा) मुझे (दिवः) आकाश की ओर से (रक्षन्तु) रक्षा करें। (भूम्याः) भूमि की ओर

से (अग्नयः) अग्नि के समान शत्रुसंतापक राजा लोग और विद्वान् लोग मेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें । (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि राजा और सेनापति (मां) मुझे (पुरस्तात्) आगे से (रक्षताम्) रक्षा करें । (अभितः) दोनों ओर से (अश्विनौ) दिन रात के समान दो अश्वारोही मुझे (शम् यच्छताम्) शान्ति प्रदान करें । (जातवेदाः) धनाढ्य पुरुष (तिरश्चीन्) तिर्यग् योनियों में गये (अघ्न्या) न मारने योग्य पालतू पशुओं की (रक्षतु) रक्षा करें (भूतकृतः) पञ्चभूतों के यन्त्र आदि द्वारा अपने वश करने वाले प्राणियों के हितकारक विद्वान् पुरुष (सर्वतः) सब प्रकार के (मे) मेरे (वर्म) शरीर के कवच के समान रक्षक हों ।

[२८] शत्रुनाशक सेनापति दर्भ मणि का वर्णन

सपत्नक्षय कामो ब्रह्मऋषिः । मन्त्रोक्ता दर्भमणिर्देवता । अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ॥

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे ।
दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः ॥१॥

भा०—हे राजन् और प्रजाजन ! मैं (ते) तेरे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन और (तेजसे) तेज और पराक्रम के कार्य के लिये (सपत्नदम्भनम्) शत्रुनाशक, (द्विषतः) शत्रु के (हृदः) हृदय को (तपनम्) तपाने वाले (दर्भम्) दुष्टों के हिंसक (मणिम्) मननशील, शिरोमणि पुरुष को (बध्नामि) बांधता हूं, नियुक्त करता हूं ।

द्विषतस्तापयन् हृदः शत्रूणां तापयन् मनः ।
दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्म इवाभीन्त्संतापयन् ॥२॥

घर्म इवाभितपन् दर्भ द्विषतो नितपन् मणे ।
हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ॥३॥

भा०—(द्विषतः) प्रेम न करने वाले पुरुष के (हृदः) हृदयों को (तापयन्) सन्तप्त करता हुआ, और (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (मनः) मन को सन्तप्त करता हुआ और (सर्वान् दुर्हार्दः) सभी दुष्ट हृदय वाले (अभीन्) भय रहित पुरुषों को भी (घर्म इव) घाम के समान (अभि तपन्) खूब प्रतप्त, प्रचण्ड होकर हे (मणे) मननशील नर, रत्न ! (द्विषतः नितपन्) बहुत से शत्रुओं को भी खूब तपाता हुआ (इन्द्र इव) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा के समान या (बलम् इन्द्र इव विरुजन्) मेघ को सूर्य के समान या प्रचण्ड वायु या विद्युत के समान नाना प्रकार से छिन्न भिन्न करता हुआ (सपत्नानां) शत्रुओं के (हृदः) हृदयों को (भिन्धि) भेद और उनके (बलम्) बल-सेना बल को तोड़ डाल ॥ २, ३॥

भिन्द्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे ।
उद्यन् त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय ॥४॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुहिंसक दर्भ ! सेनापते ! हे (मणे) मननशील शिरोमणे ! सेनापते ! तू (सपत्नानां) हमारे राष्ट्र पर अपना अधिकार करने वाले और (द्विषताम्) द्वेष करने वाले पुरुषों के (हृदयं भिन्धि) हृदय को तोड़ दे । और (उद्यन्) ऊपर उठता हुआ सूर्य जिस प्रकार (भूम्या) पृथिवी के (त्वचम् इव) घेरने वाले मेघ को नीचे बरसा देता है उसी प्रकार तू (उद्यन्) ऊपर उठता हुआ (एषाम् शिरः) इन शत्रुओं के शिर को (वि पातय) नाना प्रकार से नीचे गिरा दे ।

हे सेनापते ! तू (उद्यन् एषां शिरः भूम्याः त्वचम् इव निपातय) उदित होता हुआ इन शत्रुओं के शिर को भूमि की त्वचा या घूल या तृण के समान विविध दिशाओं में गिरा २ कर बिछादे ।

भिन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे भिन्द्धि मे पृतनायतः ।
भिन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो भिन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥५॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रु नाशकारी पुरुष ! तू (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं और (मे पृतनायतः) मेरे राष्ट्र पर सेना लेकर चढ़ने वाले शत्रुओं को (भिन्धि) तोड़दे, नाश कर। और हे (मणे) मननशील शिरोमणि पुरुष ! तू (मे) मेरे प्रति (सर्वान् दुर्हार्दः) सब प्रकार के दुष्ट हृदय वाले (द्विषतः) द्वेषकारी पुरुषों को (भिन्धि) विनाश कर।

छिन्धि दर्भ सपत्नान् मे छिन्धि मे पृतनायतः।
छिन्धि मे सर्वान् दुर्हार्दान् छिन्धि मे द्विषतो मणे ॥६॥

भा०—(मे पृतनायतः मे सपत्नान्) हे दर्भ ! शत्रुनाशक सेनापते ! तू मेरे पर सेना लेकर चढ़ने वाले और द्वेष करने वाले पुरुषों को (छिन्धि) काट डाल, उनको फाड़ डाल, उनको फोड़ फाड़ कर दो कर दे। इसी प्रकार हे (मणे) शिरोमणि पुरुष ! (सर्वान् दुर्हार्दान् द्विषतः) सब दुष्ट हृदय वाले शत्रुओं को भी (छिन्धि) काट डाल या फोड़ डाल।

वृश्च दर्भ सपत्नान् मे वृश्च मे पृतनायतः।
वृश्च मे सर्वान् दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे ॥७॥
कृन्त दर्भ सपत्नान् मे कृन्त मे पृतनायतः।
कृन्त मे सर्वान् दुर्हार्दो कृन्त मे द्विषतो मणे ॥८॥
पिंश दर्भ सपत्नान् मे पिंश मे पृतनायतः।
पिंश मे सर्वान् दुर्हार्दः पिंश मे द्विषतो मणे ॥९॥
विध्य दर्भ सपत्नान् मे विध्य मे पृतनायतः।
विध्य मे सर्वान् दुर्हार्दो विध्य मे द्विषतो मणे ॥१०॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुनाशक सेनापते ! (मे सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को और (मे पृतनायतः) मेरे ऊपर सेना से चढ़ाई करने वालों को

(वृश्च) फरसा जिस प्रकार लकड़ी को काटता है उस प्रकार काट डाल (कृन्त) कैंची जिस प्रकार कपड़े को काट डालती है उस प्रकार काट डाल। (पिंश) चक्की जिस प्रकार दानों को पीस डालती है उस प्रकार पीस डाल। (विध्य) बाण जिस प्रकार लक्ष्य को वेधता है उस प्रकार वेध डाल। इसी प्रकार (सर्वान् द्विषतः दुर्हार्दः) समस्त द्वेष करने वाले, दुष्ट हृदयों से युक्त, कुटिल पुरुषों को भी (वृश्च, कृन्त, पिंश विध्य) फरसे के समान काट, कैंची के समान कतर, चक्की के समान पीस, बाण के समान वेध अथवा फरसों से काट, कैंचियों से कतर, चक्कियों से पिसवा, बाणों से वेध।

[२९] शत्रु का उच्छेदन

सपत्नक्षयकामो ब्रह्मऋषिः। दर्भो देवता। अनुष्टुभः। नवर्चं सूक्तम्॥

निर्क्ष दर्भ सपत्नान् मे निर्क्ष मे पृतनायतः।
निर्क्ष मे सर्वान् दुर्हार्दो निर्क्ष मे द्विषतो मणे॥१॥
तृन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे तृन्द्धि मे पृतनायतः।
तृन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे॥२॥
रुन्धि दर्भ सपत्नान् मे रुन्द्धि मे पृतनायतः।
रुन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो रुन्द्धि मे द्विषतो मणे॥३॥
मृण दर्भ सपत्नान् मे मृण मे पृतनायतः।
मृण मे सर्वान् दुर्हार्दो मृण मे द्विषतो मणे॥४॥
मन्थ दर्भ सपत्नान् मे मन्थ मे पृतनायतः।
मन्थ मे सर्वान् दुर्हार्दो मन्थ मे द्विषतो मणे॥५॥
पिण्ड्ढि दर्भ सपत्नान् मे पिण्ड्ढि मे पृतनायतः।
पिण्ड्ढि मे सर्वान् दुर्हार्दः पिण्ड्ढि मे द्विषतो मणे॥६॥

ओषं दर्भ सपत्नान् मे ओषं मे पृतनायतः ।
ओषं मे सर्वान् दुर्हार्दो ओषं मे द्विषतो मणे ॥७॥

दह दर्भ सपत्नान् मे दह मे पृतनायतः ।
दह मे सर्वान् दुर्हार्दो दह मे द्विषतो मणे ॥८॥

जहि दर्भ सपत्नान् मे जहि मे पृतनायतः ।
जहि मे सर्वान् दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे ॥९॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुहिंसन करने में कुशल पुरुष ! तू (मे सपत्नान् पृतनायतः) मेरे शत्रुओं और मुझसे सेना द्वारा युद्ध करने वालों को (विद्ध) भाले के समान कोंच डाल । हे (मणे) नरमणे ! (मे द्विषतः) मेरे से द्वेष करने वालों को और (सर्वान् दुर्हार्दः) समस्त दुष्ट हृदय वालों को भी (विद्ध) कोंच डाल, छेद डाल ॥१॥ इसी प्रकार (वृन्धि) उनको तिनके की तरह तोड़ डाल ॥ २ ॥ (रुन्धि) उनको हाथी के समान पैरों तले रौंद डाल ॥ ३ ॥ (मृण) कुम्हार जिस प्रकार मट्टी को मसलता है उस प्रकार मसल डाल ॥ ४ ॥ (मन्थ) जिस प्रकार मक्खन के लिये दही को मथा जाता है उसी प्रकार मथ डाल या आटे के समान गूंध डाल ॥ ५ ॥ (पिण्ड्ढि) सिल पर चटनी के समान पीस डाल या कुम्हार के समान गीली मिट्टी की तरह मल २ कर पिण्डे बना डाल ॥६॥ (ओष) हांडी में दाल की तरह पका डाल ॥ ७ ॥ (दह) भट्टी में लकड़ी के समान जला डाल ॥ ८ ॥ (जहि) उनको नाना प्रकार से हनन कर ॥ ९ ॥

[३०] शत्रु का उच्छेदन

मरुत्कृत्यकामो ब्रह्मा ऋषिः । दर्भो देवता । अनुष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यत् ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते ।
तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नान् जहि वीर्यैः ॥१॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुनाशक सेनापते ! (यत्) जो (जरामृत्युः) उन सबको (ते) तेरे (शतं) सैकड़ों प्रकार के (वर्मसु) कवचों में सब से उत्तम (वर्म) कवच या रक्षा साधन है । वृद्धावस्था के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त कराने वाला है । (ते) उस रक्षाकारी कवच से (इमं) इस पुरुष को (वर्मिणं कृत्वा) कवचवान् सुरक्षित करके (वीर्यैः) नाना वीर्यों—सामर्थ्यों से (सपत्नान्) शत्रुओं को (जहि) नाश कर ।

शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते ।
तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ॥२॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुनाशक सेनापते ! (ते वर्माणि शतम्) तेरे सैकड़ों वर्म, रक्षा साधन हैं । (ते वर्माणि सहस्रम्) तेरे वीर्य सामर्थ्य भी सहस्रों हैं । इसीलिये (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् पुरुष (तं) उस (त्वां) तुझ वीर्यवान् पुरुष को (अस्मै) राजा की (जरसे) जरा, वृद्धावस्था तक (भर्तवे) भरण पोषण के निमित्त (अदुः) सौंपते हैं, प्रदान करते हैं ।

त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम् ।
त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि ॥३॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुहिंसक पुरुष (त्वां) तुझको (देववर्म आहुः) देव राजा और विद्वानों को वर्म रक्षक कवच के समान कहते हैं । और (त्वा) तुझे (ब्रह्मणः पतिम्) ब्रह्म वेद का या विशाल राष्ट्र का रक्षक

[३०] १–(प्र० द्वि०) 'जरामृत्युशतं ममेसु वर्म ते' इति सायणाभिमतः पाठः ।
जरामृत्यु शतं वर्म सु वर्म ते इति ह्विट्निकामितः पाठः ।

पालक कहते हैं। (त्वाम्) तुझको (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा या धन-वान् समृद्ध राष्ट्र का (वर्म आहुः) रक्षक कवच कहते हैं। क्योंकि (त्वं) तू तो (राष्ट्राणि) राष्ट्रों की (रक्षसि) रक्षा करता है।

सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः।
मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते ॥ ४ ॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुओं को नाश करने वाले पुरुष ! (द्विषतः) शत्रु के (हृदः) हृदय को (तपनम्) तपाने और (सपत्नक्षयणम्) शत्रु का क्षय करने वाले और (क्षत्रस्य वर्धनं) क्षत्रियों के क्षात्र-बल को बढ़ाने वाले तुझ (मणिम्) शिरोमणि पुरुष को हे राजन् ! (ते) तेरे (तनूपानं) शरीर की रक्षा करने वाला (कृणोमि) नियत करता हूं।

यत् समुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥५॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (समुद्रः) जलों का बरसाने वाला (पर्जन्यः) मेघ (विद्युता) विद्युत के (सह) साथ (अभि अक्रन्दत्) खूब गरजता है, उससे (ततः) उस (हिरण्मयः) हिततम और रम-णीय (बिन्दुः) जलबिन्दु उत्पन्न होता है और उससे (दर्भः) दर्भ कुश घास (अजायत) उत्पन्न होता है। उसी प्रकार (समुद्रः) प्रजाओं पर नाना उपकारों की वर्षा करने वाला, समुद्र के समान गम्भीर और (विद्युता सह पर्जन्यः) विशेष शोभा सहित पर्जन्य=प्रजा को सन्तुष्ट करने वाला राजा (अभि अक्रन्दत्) गर्जना करता है और उससे (हिरण्ययः-बिन्दुः) प्रजा के हितकारी और सबको प्रिय, एवं सुवर्ण धन ऐश्वर्य से युक्त राष्ट्र लाभ करने वाला राजा उत्पन्न होता है (ततः) और उससे (दर्भः) शत्रुनाशक पुरुष भी उत्पन्न होता है।

[३१] औदुम्बर मणि के रूप में अन्नाध्यक्ष, पुष्टपति का वर्णन।

पुष्टिकामः सविता ऋषिः । मन्त्रोक्त उदुम्बरमणिर्देवता । ५, १२ त्रिष्टुभौ । ६ विराट् प्रस्तार पंक्तिः । ११, १३ पञ्चपदे शक्वर्यौ । १४ विराड् आस्तारपंक्तिः । शेषा अनुष्टुभः । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा ।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥१॥

भा०—(औदुम्बरेण) उत्तम पुष्टि कराने वाले या पापों से ऊंचे उठाने वाले या अन्नाध्यक्ष (वेधसा) विद्वान् (मणिना) नरशिरोमणि, उत्तम पुरुष द्वारा (सविता) सर्वोत्पादक, सर्व प्रेरक राजा (पुष्टिकामाय) पुष्टि की कामना करने वाले (मे) मेरे (गोष्ठे) गोष्ठ, गोशाला में भी (सर्वेषां पशूनाम्) समस्त पशुओं की (स्फातिम्) वृद्धि (करत्) करे। राजा अपने राज्य में राष्ट्र के पशुओं की वृद्धि और पुष्टि का काम एक पशु पुष्टिवित् विद्वान् नरशिरोमणि द्वारा संचालित करे।

सोऽब्रवीत् अयं वाव स मा सर्वस्मात् पाप्मन उद् अभार्षीत् । तस्मात् उदुम्भरः । उदुम्बर इति आचाते परोक्षम् । श० ७ । ५ । १ । २२ ॥ अन्नं वा ऊर्ग उदुम्बरः । श० ३ । २ । १ । ३३ ॥

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।
औदुम्बरो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्ट्या ॥२॥

भा०—(यः) जो (अग्निः) अग्रणी नेता (गार्हपत्यः) गृहपति के पद पर नियुक्त होकर (नः) हमारे (पशूनाम्) पशुओं के (अधिपाः)

[३१] १–(द्वि०) 'वेधसे' इति ह्विटनिकामितः ।
२–(च०) 'स मा सृजतु' इति सायणाभिमतः । 'सः । मा' इति पदपाठः । 'सं मा सृजतु' इति ह्विटनिः । पैप्प० सं० ।

पालक अधिष्ठाता (असत्) है वही (औदुम्बरः) औदुम्बर अर्थात् पुष्टि-कारक, अन्न उत्पन्न करने में कुशल, (वृषा) सब सुखों का वर्षक (मणि) नरश्रेष्ठ (मा) मुझको (पुष्ट्या) धन ऐश्वर्य और पशु सम्पत्ति की वृद्धि से (सं सृजतु) युक्त करे।

करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे।
औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे ॥३॥

भा०—(धाता) सबका पोषक परमेश्वर या राजा अपने नियत किये हुए (औदुम्बरस्य) औदुम्बर अर्थात् अन्न और पुष्टि के अध्यक्ष के (तेजसा) तेज, पराक्रम से, प्रयत्न से (नः गृहे) हमारे घरों में (करीषिणीम्) लक्ष्मी समृद्धि से युक्त और (फलवतीम्) खूब उत्तम फल से युक्त (स्वधाम्) अन्न और (इराम्) जलको या स्वधा=अन्न और भूमि को प्रदान करे और (मे) मुझे (पुष्टिम्) पुष्टि, पशु समृद्धि प्रदान करे।

पुरीष्य इति वै तमाहुः यः श्रियं गच्छति।
समानं वै पुरीषं च करीषं च ॥ श० २ । १ । १ । ७ ॥

यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः।
गृह्णेऽहं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥४॥

भा०—(अहम्) मैं (औदुम्बरम् मणिम्) 'औदुम्बर' नामक श्रेष्ठ पुरुष को अपने राष्ट्र में भृति या वेतन पर नियुक्त करता हुआ ही (यत् द्विपात् च) जो दो पाये और (चतुष्पात् च) चौपाये जन्तु हैं और (यानि अन्नानि) जितने अन्न और (ये रसाः) जितने रस हैं (एषाम्) उन सबकी (भूमानम्) बहुत भारी संख्या को (गृह्णे) प्राप्त करने में समर्थ हूं।

३–(प्र०) 'करीषिणम् फलवतीम्' इति पैप्प० सं०।

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुंष्पदां द्विपदां यच्चं धान्य/म्।
पर्यः पशूनां रसमोर्षधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥५॥

भा०—(सविता) सबका प्रेरक और उत्पादक (बृहस्पतिः) बड़ों २ का स्वामी, पालक राजा या परमेश्वर (मे) मुझे (पशूनाम्) पशुओं के (पयः) दूध और (ओषधीनाम्) ओषधियों के (रसम्) रस का (नियच्छात्) प्रदान करे और (अहम्) मैं (पशूनाम्) पशुओं की और (द्विपदाम् चतुष्पदाम्) दो पाये और चौपाओं की (पुष्टिम्) पुष्टि और (यत् च धान्यम्) जो उनके खाने योग्य धान्य है वह भी मैं (परि जग्रभ) सब प्रकार से प्राप्त करूं।

अहं पशूनामंधिपा असानि मयिं पुष्टं पुंष्टपतिर्दधातु।
मह्यमौदुंम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु ॥६॥

भा०—(अहम्) मैं (पशूनाम्) पशुओं का (अधिपाः) राजा, स्वामी (असानि) होऊं। (पुष्टपतिः) पुष्ट=पोषणकारी अन्न, रस, पशु आदि का पालक पुरुष (मयि) मुझ में (पुष्टम्) पोषणकारी अन्न आदि पदार्थ (दधातु) प्रदान करे। (औदुम्बरः) वही अन्न और बलका वृद्धिकारी (मणि) सर्वश्रेष्ठ अध्यक्ष (मह्यम्) मुझे (द्रविणानि) नाना प्रकार के धन (नियच्छतु) प्रदान करे।

उप मौदुंम्बरो मणिः प्रजयां च धनेन च।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मांगन्त्सह वर्चसा ॥७॥

भा०—(इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् राजा द्वारा (जिन्वितः) वेतन आदि द्वारा सन्तुष्ट करके नियुक्त हुआ (मणिः) शिरोमणि पुरुष (वर्चसा सह) अपने तेज सहित (मा आ अगन्) मुझे प्राप्त हो, और वही (औदुम्बरः

७-(तृ०)'जिन्वतः' इति प्रायः। पंप्प० सं०।

मणिः) (अद्गाम्बत्) नामक नरश्रेष्ठ (प्रजया च धनेन च) प्रजा, उत्तम सन्तान और धनके सहित (मा उप अगन्) मेरे पास आवे।

देवो मणिः संपत्नहा धनसा धनसातये।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥८॥

भा०—पूर्वोक्त (देवः) सब पदार्थों का प्रदाता (मणिः) नर शिरोमणि पुरुष (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशकारी होकर और (धनसा) नाना प्रकार के धन ऐश्वर्यों का प्रदाता होकर (धनसातये) हमें ऐश्वर्य लाभ के लिये उपयोगी है। वह हमें (पशोः) पशु (अन्नस्य) अन्न और (गवां) गो आदि नाना पशुओं की (भूमानम्) बहुत भारी (स्फातिम्) वृद्धि को (नियच्छतु) प्रदान करे।

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे।
एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥९॥

भा०—हे (वनस्पते) वनों के पालक (यथा) जिस प्रकार (त्वं) तू (अग्रे) सबसे प्रथम स्वयं (पुष्ट्या) पोषणकारी शक्ति के साथ (जज्ञिषे) प्रकट होता है उसी प्रकार (सरस्वती) समस्त रसों का प्रदान करने वाली, पुष्टि की स्वामिनी स्त्री भी (मे) मेरे (धनस्य स्फातिम्) धन की वृद्धि (आ दधातु) करे।

१ सरस्वती पुष्टिःपुष्टि पत्नी। तै० २।५।७।४।

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम्।
सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥

८–(च०) 'स्फातिर्नि' इति क्वचित्। (द्वि०) 'धीं नानं' इति पैप्प०सं०।

९–(च०) 'मा दधाति' इति पैप्प० सं०।

१०–(द्वि०) 'धान्यवद्' इति पैप्प० सं०।

भा०—(सरस्वती) उत्तम रस प्रदान करने वाली और (सिनी वाली) अन्न प्रदान करने वाली स्त्री, गौ या पृथिवी (मे) मुझे (धनम्) धन (पयः स्फातिम्) खूब अधिक पुष्टिकारक दूध घी आदि पदार्थ, (धान्यम् च) अन्न आदि धान्य (उपवहाद्) प्राप्त करावे। और इसी प्रकार (अयम्) यह (औदुम्बरः मणिः) अन्नों का और रसों का स्वामी पुरुष मुझे धन, दूध, अन्नादि प्रदान करे।

त्वं मंणीनामंधिपा वृषांसि त्वयिं पुष्टं पुंष्टपतिर्जजान।
त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत् संहस्वारादरांतिममतिं क्षुधं च ॥११॥

भा०—हे मणे! नरशिरोमणि! (त्वं) तू (मणीनाम्) अन्य समस्त नर-रत्नों का भी (अधिपाः) पालक और (वृषा) अन्नादि पदार्थों का प्रदाता (असि) है। (पुष्टपतिः) पोषणकारी समस्त पदार्थों का स्वामी राजा (त्वयि) तेरे बलपर (पुष्टम्) समस्त पोषणकारी पदार्थों को (जजान) उत्पन्न करता है। (त्वयि) तेरे ही बलपर (इमे) ये सब (वाजाः) अन्न, (द्रविणानि) समस्त धन ऐश्वर्य उत्पन्न किये जाते हैं। इसीलिये तू (औदुम्बरः=उरुम् भरः) सबको उत्पन्न करने वाला या प्रजा को बहुत पुष्ट करने वाला अधिकारी होकर (सः त्वम्) वह तू (अरातिम्) शत्रु या कृपणता, (अमतिम्) अविवेक और (क्षुधम् च) भूख और प्यास को भी (अस्मत् आरात्) हमसे परे ही (सहस्व) दूर कर।

११—(प्र०) 'अधिपः' इति सायणाभिमतः। (द्वि०) 'पुष्टिपतिः इति पैप्प० सं० (तृ०) 'त्वय्या मे' इति सायणाभिमतः। 'अमृतं क्षुधं च' इति क्वचित्र 'क्वर्तिन्' इति कश्चित्। आरादरातिमभितिस्त्वं च इति पैप्प० सं०।

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोभि मा सिञ्च वर्चसा ।
तेजोसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि ॥१२॥

भा०—हे शिरोमणि पुरुष ! तू (ग्रामणीः असि) ग्रामका नेता है इस कारण तू (उत्थाय) उच्च पद प्राप्त करके स्वयं (ग्रामणीः) 'ग्रामणी' अर्थात् ग्राम के प्रमुख नेतृत्व के पदपर (अभिषिक्तः असि) अभिषेक किया जाता है । तुझे ग्राम के प्रमुख नेता एवं शासक की गद्दीपर बिठलाया जाता है । तू (मा) मुझ प्रजाजन या राजा को भी (वर्चसा सिञ्च) तेज से युक्त कर । तू स्वयं (तेजः असि) तेजस्वरूप है तू (मयि) मुझ में भी (तेजः अधि धारय) तेज धारण करा । तू (रयिः असि) साक्षात् 'रयि', धनैश्वर्यमय है । तू (मे) मुझे (रयिं धेहि) ऐश्वर्य प्रदान कर ।

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु ।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ।
रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥१३॥

भा०—तू (पुष्टिः असि) साक्षात् पुष्टिमय है (मा) मुझको (पुष्ट्या) पुष्टि, पोषणकारी अन्न आदि की समृद्धि से (सम् अङ्ग्धि) युक्त कर । तू स्वयं (गृहमेधी) गृहमेधी, गृह को पुष्ट करने वाला है (मा) मुझको (गृहपतिं कृणु) गृह का स्वामी बना । (त्वम्) तू (सः) वही (औदुम्बरः) बहुतों को अन्न आदि से पुष्ट करने में समर्थ है । (त्वम्) तू (अस्मासु) हममें भी बहुतों का पालन और भरण पोषण के सामर्थ्य को (धेहि) स्थापन कर और (नः) हमें (सर्ववीरं रयिम् च) समस्त वीर्यों

१२–'उक्थाया,' 'उद्ध्याया,' 'उच्छाया,' 'ग्रामणी छाया,' 'उच्छ्राय,' इति नाना पाठाः । (च०) धारयाध्यधिरयिरसि इति शं० पा० अनुमितः पाठः ।

१३–(प्र०) 'समिन्धि' इति क्वचित् । 'समधि' इति पैप्प० सं० ।

वीर पुरुषों से युक्त ऐश्वर्य (नियच्छ) प्रदान कर। (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (रायस्पोषाय) धन ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये (प्रति मुञ्चे) धारण करता हूं, अपने राष्ट्र में नियुक्त करता हूं, तुझे स्वीकार करता हूं।

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात्॥१४॥

भा०—(अयम्) यह (औदुम्बरः) बहुतों के पालन पोषण में समर्थ (मणिः) शिरोमणि पुरुष (वीरः) वीर, वीर्यवान् होकर (वीराय) वीर्यवान् राजा के उपकार के निमित्त (बध्यते) बांधा जाता है, वेतन आदि द्वारा नियुक्त किया जाता है। (सः) वह (नः) हमारी (सनिम्) धन प्राप्ति को (मधुमतीम्) आनन्द और सुखसे युक्त (कृणोतु) करे। और (नः सर्ववीरं च रयिम् नियच्छात्) हमें सब सामर्थ्यों से युक्त धन ऐश्वर्य प्रदान करे।

[३२] शत्रुदमनकारी 'दर्भ' नामक सेनापति।

सर्वकाम आयुष्कामोऽभ्य ऋषिः। मन्त्रोक्तो दर्भो देवता। ८ परस्ताद् बृहती। ९ त्रिष्टुप्। १० जगती। शेषा अनुष्टुभः। दशर्चं सूक्तम्।

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः।
दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे॥१॥

भा०—(शतकाण्डः) जिस प्रकार दाभ बहुतसे काण्ड अर्थात् पोरुओं वाला होता है उसी प्रकार (शतकाण्डः) सैकड़ों काण्ड अर्थात्

१४–'वीराय बध्यते' इति पैप्प० सं०।

[३२] १–(प्र०) 'दुश्च्यवनः' इति क्वचित्। (द्वि०) 'उत्तरः' इति सायणाभिमतः। (च०) 'तत्ते' इति क्वचित्। 'तेन' इति सायणः। 'यो ओषधि' इति पैप्प० सं०।

काम्य, अभिलाषा करने योग्य पदार्थों से सम्पन्न, अथवा सैकड़ों काण्ड अर्थात् बाणों से युक्त, (दुश्च्यवनः) संग्राम में शत्रु द्वारा न डिगाये जाने वाला, स्थायी, दुःसाध्य योद्धा, (सहस्रपर्णः) सहस्रों 'पर्ण' अर्थात् शीघ्रगामी बाणों या रथों वाला, (उत्तिरः) शत्रुओं को उखाड़ देने में समर्थ, (उग्रः) भयानक (ओषधिः) शत्रुओं के संतापकारी, पराक्रम को धारण करने वाला, (दर्भः) उनका हिंसक 'दर्भ' नामक सेनापति है हे राजन् ! (तम्) उसको (ते) तेरे (आयुषे) आयु, जीवन की रक्षा के लिये (बध्नामि) नियुक्त करता हूं। वेतनादि से उसे तेरे साथ बांधता हूं।

नास्य केशान् प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते ।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति ॥२॥

भा०—(अच्छिन्नपर्णेन) अविच्छिन्न, निरन्तर चलने वाले बाणों से युक्त, (दर्भेण) शत्रुहिंसक सेनापति द्वारा (यस्मा) जिसको (शर्म) सुख, शरण (यच्छति) प्रदान किया जाता है, (अस्य) उसके (केशान्) केशों को शत्रु लोग (न) कभी नहीं (प्र वपन्ति) काट सकते और शत्रु लोग उसके (उरसि) उसकी छाती पर भी (ताडम् न आघ्नते) प्रहार नहीं करते। अथवा, (अस्य) उसके सम्बन्धी लोग (केशान् न प्रवपन्ति) अपने बाल नहीं नोंचते और (न असिताडम् आघ्नते) न छाती पीट २ कर दुहत्थड़ मार कर रोया करते हैं। अर्थात् वे सुखी रहते हैं।

दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः ।
[३] त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे ॥३॥

२–(द्वि०) 'घ्नन्ति' (तृ०) 'यस्माच्छिन्न' इति पैप्प० सं० ।

३–(द्वि०) 'निष्ठितः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (ओषधे) शत्रुओं को संतापदायक पुरुष ! (ते) तेरा (तूलम्) तूल, मुख्य बल (दिवि) आकाश में सूर्य के समान सभा में विद्यमान है। और तू स्वयं (पृथिव्याम्) पृथिवी में (निष्ठितः, असि) दृढ़ता से स्थित है। (सहस्रकाण्डेन त्वया) सहस्रों बाणों से युक्त तेरे द्वारा हम राष्ट्र के (आयुः) आयु, जीवन को (प्र वर्धयामहे) बढ़ाते हैं।

तिस्रो दिवो अत्यतृणत् तिस्र इमाः पृथिवीरुत ।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि ॥४॥

भा०—शत्रुनाशकारी पुरुष (तिस्रः दिवः) तीनों द्यौलोक और (इमाः तिस्रः पृथिवीः) इन तीनों पृथिवियों को (अति अतृणत्) पारकर जाता है। (त्वया) तेरे बल से (अहम्) मैं राजा (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष के (जिह्वां) जीभ और (वचांसि) वचनों को (नि तृणद्मि) सर्वथा नाश करूं।

त्वमसि सहमानोहमस्मि सहस्वान् ।
उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा सपत्नान् सहिषीमहि ॥५॥

अथर्व० ३।१८।५॥ ऋ० १०।१४५।५॥

भा०—हे शिरोमणे ! (त्वम्) तू (सहमानः) शत्रुओं को निरन्तर दबाता रहता (असि) है। और (अहम्) मैं राजा भी (सहस्वान्) शत्रुओं को पराजित करने वाले बल से युक्त (अस्मि) हूं। (उभौ) हम दोनों (सहस्वन्तौ भूत्वा) बलवान् होकर (सपत्नान्) शत्रुओं को अपने सेनाओं सहित (सहिषीमहि) दबाने में समर्थ होवें।

४—(द्वि०) 'तिस्रो द्यां पृथिवीरुत', (च०) 'नितृणद्मि वचांसि च' इति पैप्प० सं०, क्वचित् च। (प्र०) 'अत्यतृणः। इति सायणाभिमतः।

५—अहमस्मि सहमाना त्वमसि सासहिः। उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै। इति। (च०) 'सहिषीवहि' इति पैप्प० सं०।

सहस्व नो अभिमातिं सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वान् दुर्हार्दः सुहार्दो मे बहून् कृधि ॥६॥

भा०—हे (मणे) शत्रुओं को स्तम्भन करने हारे पुरुष ! तू (नः) हमारे प्रति (अभिमातिम्) अभिमान करने वाले, गर्वीले शत्रु को (सहस्व) पराजित कर । और (पृतनायतः) सेना से आक्रमण करने वाले शत्रुओं को भी (सहस्व) पराजित कर । (सर्वान् दुर्हार्दः) समस्त दुष्ट चित्त वालों को भी (सहस्व) पराजित कर । (मे) मेरे (बहून्) बहुत से (सुहार्दः) उत्तम चित्त वाले मित्रों को (कृधि) उत्पन्न कर, बना ।

दर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित् ।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥७॥

भा०—(दिवि) द्युलोक, महान् आकाश में जिस प्रकार सूर्य अपनी शक्ति से समस्त ग्रहों को थामे रहता है उसी प्रकार (शश्वत् इत्) निरन्तर ही (स्तम्भेन) राष्ट्र के उत्तम भाग में स्थित होकर सबको थामने वाले (दर्भेण) शत्रु नाशक (तेन) उस पुरुष द्वारा (शश्वतः) निरन्तर रहने वाले, दीर्घजीवी (जनान्) जनों को (असनम्) प्राप्त करूं, अपने वश करूं और (सनवानि च) अपने वश किये रहूं ।

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥८॥

भा०—हे (दर्भ) शत्रुनाशन ! तू (मा) मुझको (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मणों और क्षत्रियों, (शूद्राय च अर्याय च) शूद्रों और वैश्यों

६–(प्र० द्वि०) नोऽभि० 'स्वा०' । इति पैप्प० सं० । (च०) 'वहुन्' इति क्वचित् ।

७–(च०) 'असनान्', 'असनान्त्स', 'असनात्', 'जनानसनम्' इति पाठाः ।

८–(द्वि०) 'स्वार्य चार्याय च' इति क्वचित् ।

का भी अथवा (शूद्राय च आर्याय च शूद्रों) और आर्य श्रेष्ठ पुरुषों का और (यस्मै ह) जिसको हम (कामयामहे) चाहते हैं और जो (विनश्यते) अपने विपरीत शत्रु भाव से हमें रखते हैं (सर्वस्मै च) उन सब का भी (मा) मुझे (प्रियं कृणु) प्रिय बना सबका प्रेमपात्र बनादे ।

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद् यो अस्तभ्नादुन्तरिक्षं दिवं च ।
यं बिभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोयं दुर्भो वरुणो दिवा कः ॥९॥

भा०—(यः) जो (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ स्वयं (पृथिवीम्) पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ करता है और जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को वायु के समान अपने वश करता और (दिवम् च) द्यौलोक या विद्वानों की सभा को सूर्य के समान प्रकाशित करता है (बिभ्रतम्) भरण पोषण करने वाले (यम्) जिसको अथवा (यं बिभ्रतम्) जिस भरण पोषण करने वाले पुरुष को (पाप्मा) पाप (न विवेद) नहीं न छूता (स दर्भः) वह दर्भ. शत्रु नाशक सेनापति साक्षात् (वरुणः) सब पापों का निवारक होकर (दिवा) दिन के समान प्रकाश करता है अर्थात् अन्धेर मिटाकर व्यवस्थित राज्य की स्थापना करता है ।

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वानोषधीनां प्रथमः सं बभूव ।
स नोयं दुर्भः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः॥१०॥

भा०—जो (सपत्नहा) एक ही देश पर समान रूप से अपना स्वामित्व चाहने वाले अन्य शत्रुओं का हनन करने वाला, (शतकाण्डः) सैकड़ों बाणों से युक्त, (सहस्वान्) शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ होकर (ओषधीनाम्) शत्रु और दुष्टों को सन्ताप देने में (प्रथमः) सब

९-(च०) 'वरुणोधिवाकः' इति ह्विटनिकामितः । 'वरुणोऽधिवाकः' इति राथकामितः । (तृ०) 'नानुपा'-इति ह्विटनिकामितः । 'ननु' इति क्वचित् ।

से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (सं बभूव) है, (सः) वह (अयम् दर्भः) यह 'दर्भ' नाम से विख्यात शत्रुनाशक पुरुष (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से और सब प्रकार से (परि पातु) रक्षा करे। (तेन) उसके बल से मैं (पृतन्यतः) सेना द्वारा आक्रमण करने वाले शत्रु की (पृतनाः) समस्त सेनाओं को (साक्षीय) विजय करने में समर्थ होऊं।

[३३] 'दर्भ', 'अग्नि' नामक अभिषिक्त राजा

सर्वकामो भृगुर्ऋषिः । दर्भो देवता । १ जगती । २, ५ त्रिष्टुभौ । ३ आर्षी पंक्तिः । ४ आस्तारपंक्तिः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम् ।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥ १ ॥

भा०—(सहस्रार्घः) सहस्रों के बराबर अकेला बलशाली या सहस्रों पुरुषों और राजाओं से सहस्रों प्रकार के सम्मान प्राप्त करने वाला, (शत-काण्डः) सैकड़ों बाणों या बाणधारियों का स्वामी, (पयस्वान्) समुद्र के समान गम्भीर और स्वयं 'पयः' अर्थात् पुष्टिकारक सामर्थ्य वाला (अपाम्) समुद्र के जलों के बीच में भी (अग्निः) दहकने वाले और्वानल के समान प्रजाओं के बीच में (अग्निः) अग्रणी नेता के समान और (वीरुधाम्) बढ़ते शत्रु बलों को विशेष रूप से रोकने वाले योद्धाओं का (राजसूयम्) राजारूप से प्रेरक (सः अयं) वह यह (दर्भः) शत्रुनाशक 'दर्भ' सेनापति, (देवः) सबको शान्तिदायक, देव, राजा (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परि पातु) रक्षा करे और वह (मणिः) मननशील और शत्रुस्तम्भन में समर्थ या उज्ज्वलमणि, रत्न का धारक होकर (नः) हमें (आयुषा संसृजाति) दीर्घ आयु से युक्त करे।

[३३] १-(प्र०) 'सहस्राघ्र्यः' (च०) 'देवः', 'संसृजतु' इति पैप्प० सं० ।

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान् भूमिदृंहोऽच्युतश्च्यावयिष्णुः ।
नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन् दर्भारोह महतामिन्द्रियेण ॥२॥

अथर्व ५ । २८ । १४ ॥

भा०—(घृतात्) घृत=तेज या प्रजा के प्रति स्नेह से (उल्लुप्तः) आवृत, व्याप्त (मधुमान्) मधु-अन्न आदि समृद्धि से युक्त (पयस्वान्) पुष्ट वीर्य से समर्थ, (भूमिदृंहः) भूमि, राष्ट्र को दृढ़ करने वाला, (अच्युतः) युद्धमें स्वयं अविचलित और (च्यावयिष्णुः) शत्रुओं को पदच्युत करने वाला, (सपत्नान्) शत्रुओं को (नुदन्) पीछे हटाता हुआ और उनको (अधरान् च कृण्वन्) नीचे गिराता हुआ, हे (दर्भः) शत्रुनाशक सेनापते तू (महताम्) बड़े नरपतियों, महापुरुषों के (इन्द्रियेण) बल वीर्य से (आ रोह) सबसे ऊंचे पद पर आरूढ़ हो।

त्वं भूमिमत्येष्योजसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे ।
त्वां पवित्रमृषयो भरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् ॥३॥

भा—(त्वम्) तू (भूमिम्) इस भूमि को अपने (ओजसा) ओज तेज, पराक्रम से (अति एषि) अतिक्रमण कर जाता है । और तू (अध्वरे) अहिंसामय, अजेय राष्ट्र पालनरूप यज्ञ में (चारुः) अति उत्तम होकर (वेद्याम्) वेदि, यज्ञवेदि, पृथिवी पर (सीदसि) विराजता है । (पवित्रम् त्वाम्) सबको पवित्र करने वाले तुझको (ऋषयः) साक्षात् मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषिगण (प्र भरन्त) भरण करते, तुझे पुष्ट करते या तुझे लाकर सत्यासत्य विवेक करने के लिये न्यायासन पर ला बिठलाते हैं । (त्वं) तू (दुरितानि) दुष्टाचरणों को (अस्मत्) हमसे दूर करके हमें (पुनीहि) पवित्र कर ।

२–(च०) 'महता महेन्द्रियेण' इति पैप्प० सं० ।

३–(तः) 'तेजो देवानां', (च) 'तत् ते' इति पैप्प० सं० ।

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः ।
ओजो देवानां बलमुग्रमेतत् तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये ॥ ४ ॥

भा०—(तीक्ष्णः) अति तीक्ष्ण, दूसरे के अत्याचार को सहन करने में असमर्थ (राजा) सर्वोपरि राजमान् प्रजा का अनुरञ्जक सबका स्वामी, (विषासहिः) विविध उपायों से शत्रु को पराजय करने वाला, (रक्षोहा) राष्ट्रव्यवस्था में विघ्नकारी, दुष्ट पुरुषों का नाशक, (विश्वचर्षणिः) समस्त राष्ट्र का द्रष्टा, (देवानाम्) देवों विद्वान् पुरुषों का (ओजः) पराक्रमस्वरूप और (एतत्) ये मूर्त्तिमान् (उग्रम् बलम्) उग्र भयंकर बल है (तम्) उसको हे राजन् ! और राष्ट्रवन् ! (ते) तेरे (जरसे) वृद्धावस्था तक के (स्वस्तये) कल्याण के लिये (बध्नामि) नियुक्त करता हूं ।

दर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याणि दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः ।
अतिष्ठाय वर्चसा धान्यान्त्सूर्य इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वम्) तू (दर्भेण) शत्रुनाशक सेनापति के बल से (वीर्याणि) वीर्य, पराक्रम के विजय आदि (कृणवद्) कार्य करता हुआ और (आत्मना) अपने बलसे (दर्भम्) उस शत्रुनाशक सेनापति को (बिभ्रत्) भरण पोषण करता हुआ (मा व्यथिष्ठाः) कभी दुःखित मत हो । (अध) और (वर्चसा) अपने तेज से (अन्यान्) अन्य शत्रु

५-(प्र०) 'कृणवः' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) 'वर्चसेऽन्यां', 'वर्चनेऽन्यां', 'वर्चसधन्यां', 'वर्चसधन्यां', 'वर्चसीधन्यां', 'वर्चसो-ध्यन्यां', इति नानापाठाः । 'धाहि । अन्यान् ।', 'एधि । अन्यान्' 'एधन्यान्', इति नाना पदपाठाः । 'अतिष्ठायो वर्चसेऽन्या सूर्यवाभाहि' इति पैप्प० सं० ।

राजाओं पर (अतिष्ठाय) प्रबल राजा होकर (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं को (सूर्य इव) सूर्य के समान (आ भाहि) प्रकाशित कर ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सप्तसूक्तानि अष्टाषष्टिश्च ऋचः ।]

[३४] जंगिड नामक रक्षक का वर्णन

अंगिरा ऋषिः । वनस्पतिर्लिंगोक्तो वा देवता । अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ॥

जुङ्गिडोऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः ॥१॥

भा०—हे जंगिड ! वनस्पते ! आश्रय वृक्ष के समान प्रजाके रक्षक ! तू (जंगिडः असि) जंगिड अर्थात् शत्रुओं के निगलने वाला अतएव (जंगिडः) 'तू सचमुच' जंगिड है । तू (जंगिडः) जंगिड होकर ही (रक्षिता असि) प्रजा का रक्षक है (अस्माकम्) हमारे (द्विपात्) दो पाये और (चतुष्पाद्) चौ पाये (सर्वम्) सबको (जंगिडः रक्षतु) जंगिड ही रक्षा करे ।

'जंगिड' के विषय में विशेष विवरण देखो अथर्व० का० २ । सू० ४॥

'जातानां निगरणकर्त्ता असि अतो 'जंगिड' इत्युच्यते । यद्वा जंगम्यते शत्रून् बाधितुम् इति जंगिडः ।[१] अथवा जनेर्जयतेर्वा डप्रत्यये 'ज' इति भवति । जं गिरतीति जंगिरः । कपिलकादित्वात् लत्वम् । पूर्वपदस्थस्य सुपो लुगभावश्छान्दसः । खच् प्रत्ययो वा द्रष्टव्यः । इति सायणः ॥ उत्पन्न हुए प्राणियों को निगलने वाला या शत्रुओं पर चढ़ाई करने वाला या विजयी लोगों को भी निगलने वाला वीर पुरुष 'जंगिड' कहाता है ।

---

[३४] १-गमेर्यङ्लुन्ताद्रूपसिद्धिः ।

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये ।
सर्वान् विनक्तु तेजसोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥२॥

भा०—(याः) जो (त्रिपञ्चाशीः) तिरेपन ५३ या १५० प्रकार की या सैंकड़ों (गृत्स्यः) लोभकारिणी या विषय विलास में फंसी स्त्रियें या जन श्रेणियां और (शतं) सौ प्रकार के या बहुत से (कृत्याकृतः) घातक प्रयोग करने वाले (ये) जो दुष्ट पुरुष हैं (सर्वान्) उन सबको (तेजसा) अपने तेज या पराक्रम से (जंगिडः) जंगिड नामक शत्रुनाशक सेनापति (विनक्तु) हमसे दूर करे और उनको (अरसान्) निर्बल (करत्) करे ।

'त्रिपञ्चाशीः'–सायण के मत में त्रेपन ५३ । ह्विटनि के मत में 'त्रिपञ्चाशीः' अर्थात् त्रिःपञ्चाशत् अर्थात् १५० ।

या 'त्रिपञ्चाशीः गृत्स्यः'–१५० या ५३ लोभ की चालें चलने वाली मनुष्यों की श्रेणियां हैं जो जुएखोरी का पेशा करती हों । जैसा लिखा है कि-

त्रिपञ्चाशः क्रीडति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा ।
उग्रस्य चिन्मन्यवे नानमन्ते राजाचिदेभ्यो नमइत्कृणोति ॥
ऋ० १० । ३४ । ८ ॥

इन जुवाखोरों के ५३ या १५० का समूह जूआ खेला करता है । वे उग्र पुरुष के गुस्से की भी परवाह नहीं करते । परन्तु सत्यधर्म के पालक सूर्य के समान तेजस्वी राजा इनको दण्ड से वश करता है । जूआखोरी

२–(तृ० च०) 'सर्वान् विनष्टतेजसोऽरसाञ्जङ्गिडस्करत्' । इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'जागृत्स्यस्त्रिः', 'यागृत्स्यस्त्र', 'ज्यागृत्स्यस्त्रि' । इति नानापाठाः । (तृ०) 'विनष्टि तेजसा', भनक्ति तेजसा, क्निक्त तेजसो, भिनक्ति तेजसा, भिनक्तु, विनक्, विनक्ति, इत्यादि नाना पाठाः । 'याः कृष्ठाः=त्रिपञ्चाशीरष्टां' इति पैप्प० सं० । 'सर्वान्यनक्तु तेजसः' इति पैप्प ।

तथा विषय विलास में फंसी स्त्रियां या जनश्रेणी यहां 'गृत्सी' शब्द से कही गई हैं। यजुर्वेद (१६। २५) में 'नमो गृत्सेभ्यः गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो' लिखा है। वहां गृत्स शब्दों के अर्थों में विवाद है। 'गृत्सो मेधावी' इति उव्वटः। गृत्साः विषयलम्पटाः मेधाविनो वा इति महीधरः।' उव्वट के मत में गृत्स का अर्थ मेधावी विद्वान् है। और महीधर के मत में वैकल्पिक अर्थ मेधावी और धात्वर्थ विषयलम्पट है। अथर्ववेद के इस प्रयोग से 'गृत्स, गृत्सी' विषय लम्पट और धन तृष्णालु के अर्थ में आया है। जिसका शब्दान्तर पैप्पलाद ने 'कृच्छ्राः', 'पीड़ाकारिणी' किया है। सायण ने कृत्याः का विशेषण माना है। ह्विटनी के अनुमान से यह पाठ 'याः कृत्याः त्रिपञ्चाशीः' ऐसा सम्भव है। उत्तरार्ध में-'सर्वान् विनष्टतेजसोरसां जंगिडस्करत्' यह पाठ भेद है, अर्थात् जंगिड उन सबको तेजोहीन और निर्बल करे।

अरसं कृत्रिमं नादमरसाः सप्त विस्रसः।
अपेतो जङ्गिडामतिमिषुमस्तेव शातय ॥३॥

भा०—हे (जंगिड) शत्रुनाशक! तू (कृत्रिमं) कृत्रिम साधनों द्वारा उत्पन्न किये (नादम्) शंख के विस्फोटकअस्त्रों के नादको (अरसम्) निर्बल कर देता है अथवा तू शत्रु के (कृत्रिमं नादम् अरसं) कृत्रिम नाद अर्थात् सम्पन्न या समृद्ध रूप को या परिवर्धित आडम्बर को निर्बल कर देता है। तेरे सामने (सप्त) सातों (विस्रसः) विविध दिशाओं से आने वाले शत्रु (अरसाः) निर्बल होजाते हैं। (अमतिम्) अदम्य शत्रु को भी (इतः) यहां से (अस्ता इषुम् इव) धनुर्धारी जिस प्रकार बाण को दूर फेंक देता है उसी प्रकार (अप शातय) दूर मार भगा।

३-(प्र०) 'कृत्रमनादं' इति क्वचित्। 'कृत्रिन् अनादं' इति पदच्छेदः क्वचित्। सप्त विह्रुहः इति पीट० लाक्ष० कामिलः। (प्र० द्वि०) रसं कृत्रिमं नाद अरसः' (च०) 'सातय' इति पैप्प० सं०।

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥४॥

भा०—(अयम्) यह (कृत्यादूषणः) घातक गुप्त प्रयोगों को नाश करने वाला (अथो) और (अरातिदूषणः) शत्रुओं का नाश करने वाला है। (अथो) और (जंगिडः) शत्रुओं को निगलने में समर्थ वीर राजा (सहस्वान्) शक्तिशाली होकर (नः आयूंषि) हमारे जीवनों को (प्रतारिषत्) बढ़ावे।

स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः।
विष्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज ओजसा ॥५॥

भा०—(सः) वह (जङ्गिडस्य) पूर्वोक्त शत्रुविजयी राजा का (महिमा) महान् सामर्थ्य है जो (नः) हमें (विश्वतः परिपातु) सब ओर से रक्षा करे। (येन) जिस सामर्थ्य से (विष्कन्धं) सेना के पृथक् २ निवेशों या दस्तों को और (संस्कन्धम् ओजः) शत्रु सेना के संयुक्त सेनाबल के वीर्य को भी अपने (ओजसा) वीर्य से (सासह) धर दबाता है।

त्रिष्ट्वा देवा अजनयन् निष्ठितं भूम्यामधि।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥६॥

४–(च:) 'तारिषत्' इति क्वचित्। (प्र० द्वि०) 'कृत्यादूषण वायमथोऽरा०' इति पैप्प० सं०।

५–(तृ०) 'ससहे' इति क्वचित्। 'सासहा' (च०) 'सासोजसा' इति पैप्प० सं०। 'येन सहसं–' इति सायणाभिमतः।

६–(द्वि०) 'तिष्ठन्तं' इति सायणाभिमतः। 'तृष्ट्वा' इति क्वचित्। 'निष्ट्वा' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे जंगिड ! शत्रुनाशक राजन् ! (देवाः) विद्वान् युद्धक्रीडी पुरुष (भूम्याम् अधि) भूमि पर (त्वा) तुझको (त्रिः) तीन वार (निष्ठितम्) स्थापित (अजनयन्) करते हैं । (तम् उ त्वा) उस तुझको ही (पूर्व्याः ब्रह्मणाः) पूर्व काल के, तुझ से पूर्व विद्यमान वृद्ध विद्वान् पुरुष (अङ्गिराः) 'अङ्गिरा' अङ्गार के समान प्रदीप्त या अङ्ग अर्थात् शरीर में रस के समान प्राण रूप (विदुः) जानें ।

अध्यात्म में—हे जंगिडि ! आत्मन् ! तुझको पूर्व के विद्वान् 'अंगिरा' ज्ञानवान् प्रकाशमय जानते हैं । भूमि=शरीर में स्थित तुझको देव-प्राणों ने तीन वार उत्पन्न किया । पुरुष देह से स्त्रीयोनि में आना प्रथम जन्म है, स्त्री-योनि से वाहर आना द्वितीय जन्म है । इस भौतिक शरीर से मुक्त होना तीसरा जन्म है । शक्ति, अधिकार और मान तीनों द्वारा राजा को स्थापित किया जाता है ।

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः ।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥७॥

भा०—(पूर्वाः) पूर्वकाल में या, तुझसे पूर्व उत्पन्न हुई (ओषधयः) सन्तापदायी शक्तियां और (याः नवाः) जो नयी शक्तियां भी उत्पन्न हैं वे भी (त्वा) तुझको (न तरन्ति) पार नहीं करतीं । तू स्वयं (उग्रः) उग्र, अति तीव्र और बलवान् होकर (जंगिडः) शत्रुओं की शक्तियों को निगल जाने वाला (परिपाणः) सब ओर से अपनी रक्षा करता हुआ और (सुमङ्गलः) शुभ, मङ्गलस्वरूप होकर शत्रुओं को (विबाध) विविध प्रकार से पीड़ित कर, नाश कर ।

७–(द्वि०) 'नवा' इति क्वचित् । 'नङ्गिड' इति सायणाभिमतः ।

अथोपदान भगवो जाङ्गिडामितवीर्य ।

पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥८॥

भा०—(अथ) और हे (उपदान) अपने समीप प्राणों के रक्षक ! हे (भगवः) ऐश्वर्यशील ! हे (जंगिड) शत्रु को अपने भीतर निगल जाने में समर्थ ! हे (अमित वीर्य) असीम बलशालिन् ! (उग्रा) उग्र उद्धत बलशाली होकर (पुरा) पहले ही से (ग्रसते ते) शत्रुओं को ग्रास कर जाने में समर्थ होते हुए तुझे तेरी रक्षा के लिये (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष राजा या राष्ट्र के सम्बुद्धिमान लोग अपना (वीर्यं) बल भी तुझे (उपददौ) प्रदान करता है । अर्थात् तुझे बलवान् देखकर ही राजा पदाधिकार देता है ।

पैप्पलाद पाठ—(पुरा ते उग्राय सते इन्द्रः वीर्यं उपददौ) पूर्व उग्र होते हुए तुझे इन्द्र राजा वीर्य अर्थात् अधिकार प्रदान करता है । (पुरा उग्रा ते ग्रसते इति इन्द्रः वीर्यं उपददौ) कहीं बलवान् पुरुष तुझको न ग्रस जायं इस भय से इन्द्र ने तुझे वीर्य या बल दिया । इति सायणः ।

उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।

अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ॥९॥

भा०—(उग्रः इन्द्रः) उग्र, भयंकर, बलशाली (इन्द्रः) इन्द्र राजा, हे (वनस्पत) महा वृक्ष के समान प्रजा पालक । (ते) तुझे (ओज्मानम्) बल (दधौ) प्रदान करता है । तू (सर्वान्) समस्त (अमीवाः) पीड़ा

८—'अथो इति पद । न । भगवः' इति क्वचित् पदपाठः । 'सहस्वोमितवीर्य-' इति पैप्प० सं० । (तृ० च०) 'पुरा त उग्राय सतो पेन्द्रो' इति पैप्प० सं० । अत्र 'सते । इन्द्रः' । इति पदच्छेदः । १ रेट् रक्षणे भ्वादिः ।

९(तृ०) अमीवाः सर्वा रक्षांसि चातयं जहि रक्षोभ्ये, इति पैप्प० सं० ।

कारी शत्रुओं को (चातयन्) विनाश करता हुआ, हे (ओषधे) दुष्टों के तापकारिन्! रोगनाशक ओषधि के समान ! तू भी (रक्षांसि) विघ्नकारियों को (जहि) विनाश कर, मार, दण्ड दे ।

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् ।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥१०॥

भा०—(जंगिडः) पूर्वोक्त शत्रुनाशक, वीर पुरुष (आशरीकम्) चारों ओर से राष्ट्र पर आघात करने वाले, (विशरीकम्) नाना प्रकार से पीड़ा देने वाले, (बलासम्) बलके नाशक (पृष्ट्यामयम्) पीठ में विद्यमान रोग के समान, राष्ट्र के धारण करने में समर्थ, (पृष्ट्यामयम्) पीठ की पसुलियों के से दृढ़ राज्य के मुख्य पुरुषों में विद्यमान (तक्मानम्) अति कष्टदायी, ज्वर के समान पीड़ाकारी, (विश्वशारदम्) समस्त आयु भर लगे हुए या समस्त वर्ष भर दुःखदायी, या सब प्रकार से देह को तोड़ने वाले शत्रुओं को भी (अरसान्) निर्बल (करत्) कर देता है ।

इस सूक्त में साथ ही 'जङ्गिड'[१] नामक ओषधि का वर्णन भी होगया है । जैसे—

१-जंगिड़ नाम ओषधि हमारे दोपाये चौपाये सबकी रक्षा करे ।

२, ३-प्रकार की गृत्सी या गृध्रसी नामक वात रोग और सब कृत्याकृत अर्थात् विष के उपचारों से उत्पन्न रोगों को नाश करें ।

३-जंगिड़ शिर के भीतर उठने वाले नाद और सातों धातुओं के विपरीत रूप में बहने या नष्ट होने के रोगों को दूर करे ।

४-वह वीर्यवान् ओषधि, विष आदि कूट प्रयोगों को दूर करे ।

५-वह अपने वीर्य से कंधों की फूटन को दूर करे ।

१-जंगिड़ोर्जुन वृक्षः इति दारिलः ।

६–वह 'अंगिरा' अंगों में रस के समान व्यापक या अग्नि के गुण वाला है। अतएव वात नाशक है।

७–वह सब ओषधियों से अधिक वीर्यवान् है। इसीसे सब रोगों का नाशक है। उसमें इन्द्र=सूर्य ने तेज प्रदान किया है।

१०–वह देह की व्यापक पीड़ा या स्थानिक पीड़ा, कफजन्य रोग पीठ के पसुलियों के दर्द को, ज्वर को और समस्त शरीर में शीत लगने के रोग को नाश करता है।

[३५] पूर्वोक्त जङ्गिड़ सेनापति का वर्णन ।

अंगिरा ऋषिः । जंगिडो देवता । ३ पथ्यापंक्तिः । ४ निचृत् त्रिष्टुप् । शेषा अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

इन्द्र॑स्य॒ नाम॑ गृ॒ह्णन्त॒ ऋष॑यो जङ्गि॒डं द॑दुः ।
दे॒वा यं च॒क्रुर्भे॑ष॒जमग्रे॑ विष्कन्ध॒दूष॑णम् ॥१॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् इन्द्र या राजा का नाम (गृह्णन्तः) ग्रहण करते हुए, अर्थात् उस जङ्गिड़, शत्रुनाशक पुरुष के लिये 'इन्द्र' राजा का नाम, उपाधि स्वीकार करते हुए (ऋषयः) ऋषि, तत्वदर्शी लोग प्रजा के लिये (जङ्गिडं) शत्रुनाशक उस पुरुष को ही (ददुः) प्रदान करते हैं, प्रस्तुत करते हैं। (यम्) जिसको (देवाः) देव, विद्वान् पुरुष (अग्रे) सब से आगे, सर्वप्रथम (विष्कन्धदूषणम्) शत्रु के विविध सेनाओं को नाश करने वाला (भेषजम्) उपाय (चक्रुः) बनाते हैं।

स नो॑ रक्षतु जङ्गि॒डो ध॑नपा॒लो धने॑व ।
दे॒वा यं च॒क्रुर्ब्रा॑ह्म॒णाः प॑रि॒पाण॑मराति॒हन् ॥२॥

[३५] १–(द्वि०) 'ददुः' इति क्वचित् ।
२–(द्वि०) 'धनेव' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(धनपालः) धन का पालक, राजा का धनाध्यक्ष (धना इव) जिस प्रकार धनों की रक्षा करता है ऐसे ही (जङ्गिडः) वह शत्रु नाशक पुरुष भी हमारी (रक्षतु) रक्षा करे (यं) जिसको (ब्राह्मणाः) ब्रह्म-वेद के विद्वान् पुरुष और (देवाः) दानशील राजा लोग (परिपाणम्) चारों ओर से रक्षा करने, (अरातिहम्) और शत्रुओं को नाश करने में समर्थ (चक्रुः) बनाते हैं । अर्थात् उसको रक्षा करने और शत्रुनाश करने के समस्त उपाय और अधिकार प्रदान करते हैं ।

दुर्हार्दः सं घोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम् ।
तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतीबोधेन नाशय परिपाणोऽसि जंगिडः ॥३॥

भा०—यदि मैं (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय के पुरुष के (घोरं चक्षुः) घोर (चक्षुः) चक्षु को और (पापकृत्वानम्) अपने ऊपर पाप, अत्याचार करने वाले को (सं आ अगमम्) प्राप्त हो जाऊं तो हे (सहस्रचक्षो) सहस्रचक्षो हजारों आंखों वाले ! हज़ारों गुप्तचरों की चक्षुओं से युक्त या (सहस्रचक्षो) बलवान् शत्रु को पराजित करने में समर्थ चक्षु वाले राजन् ! तू (तान्) उन दुष्ट हृदय वाले अत्याचारी पुरुषों को (प्रतिबोधेन) अपने प्रतिबोध, सावधान, खतरे या उनपर सदा सतर्क रहने की प्रवृत्ति से उनको (नाशय) विनाश कर क्योंकि तू (जंगिडः) शत्रुनाश करने वाला और सब ओर से (परिपाणः असि) रक्षा करने हारा है ।

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् परि मा वीरुद्भ्यः ।
परि मा भूतात् परि मोत भव्याद् दिशोदिशो जंगिडः पात्वस्मान् ॥४॥

३—'दुर्हार्द घोरचक्षसं' इति ह्विटनिकामितः । 'दुर्हार्दसं घोरचक्षुम्' इति पैप्प० सं० ।

(द्वि०) 'मागतम्', 'मादयन्' इति च क्वचित् ।

भा०—(जगिडः) जङ्गिड नाम राजा (मा) मुझको (दिवः परि पातु) द्यौः, सुदूर आकाश से रक्षा करे । (मा पृथिव्याः परि पातु) मुझे पृथिवी से रक्षा करे । (अन्तरिक्षात् परि पातु) अन्तरिक्ष से रक्षा करे । (वीरुद्भ्यः परि पातु) लताओं से रक्षा करे । (मा भूतात् परि पातु) मुझे अतीत से रक्षा करे । (उत मा भव्यात् परिपातु) और मुझे वह भावी काल से रक्षा करे और (अस्मान्) हम सबको (दिशोदिशः) प्रत्येक दिशा से (परि पातु) रक्षा करे ।

य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेऽन्यः ।
सर्वांस्तान् विश्वभेषजोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥५॥

भा०—(ये) जो (देवकृताः) देव, राजा या विद्वान् पुरुषों द्वारा बनाये गये या नियुक्त किये हुए (ऋष्णवः) हिंसाकारी पदार्थ या पुरुष हैं, (उतो) और (ये) जो (अन्यः) हमारा शत्रु (ववृते) है । (तान् सर्वान्) उन सबको (विश्वभेषजः) समस्त रोग पीड़ाओं का उपाय करने वाला (जंगिडः) शत्रुनिवारक पुरुष (अरसान्) निर्बल (करत्) करे ।

[३६] 'शतवार' नामक वीर सेनापति का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । शतवारो देवता । अनुष्टुभः । षड्चं सूक्तम् ॥

शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा ।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥१॥

भा०—(शतवारः) शत, सैकड़ों शत्रुओं को वारण करने में समर्थ पुरुष, (मणिः) शत्रुओं का स्तम्भन करने वाला और (दुर्णामचातनः) दुष्ट

५-'यः कृष्णावो' इति बहुत्र । 'यतो' इति क्वचित् । 'देवकृताय', 'वभूर्तन्यः,' 'वभूतेभ्यः,' इति क्वचित् पाठः ।

[३६] १-(च०) 'मणि' इति बहुत्र । 'मणिं चातनम्' इति पैप्प० सं० ।

ख्याति वाले दुर्दान्त, बदनाम जीव पुरुषों का नाशकारी, अपने (वर्च-सा सह) तेज से (आरोहन्) उन्नति को प्राप्त होकर (तेजसा) पराक्रम और तेज से (यक्ष्मान्) रोगकारी–पीड़ाकारी पुरुषों और (रक्षांसि) विघ्नकारी पुरुषों को (अनीनशत्) विनाश करे।

शृङ्गा॑भ्यां॒ रक्षो॑ नुदते॒ मूले॑न यातुधा॒न्यः॑ ।
मध्ये॑न॒ यक्ष्मं॑ बाधते॒ नैनं॑ पा॒प्माति॑ तत्रति ॥२॥

भा०—वह शतवार नाम शिरोमणि, शत्रुनाशक पुरुष (शृङ्गाभ्याम्) सींगों के समान हिंसाकारी साधनों से (रक्षः नुदते) राक्षसों दुष्ट पुरुषों को भगाता है। और (मूलेन) अपनेमूल, स्थिर स्थिति से (यातुधान्यः) प्रजा को पीड़ाकारी स्त्रियों से बचाता है। (मध्येन) अपने बीच के भाग से (यक्ष्मं) यक्ष्म, रोगजनक कारणों को (बाधते) दूर करता है और (एनम्) इसको (पाप्मा) कोई भी पाप और पापकारी पुरुष (न अति तत्रति) नहीं दबा सकता।

ये यक्ष्मा॑सो अर्भ॒का म॒हान्तो॒ ये च॑ श॒ब्दिनः॑ ।
सर्वा॑न् दुर्णाम॒हा म॒णिः श॑त॒वारो॑ अनीनशत् ॥३॥

भा०—(ये) जो (यक्ष्मासः) रोग, दुःखदायी कारण (अर्भकासः) छोटे हैं और (ये) जो (महान्तः) बड़े और (शब्दिनः) विकराल शब्द करते हैं, (सर्वान्) उन सबको (शतवारः) सैकड़ों को वारण करने में समर्थ (मणिः) शत्रुस्तम्भक (दुर्नामहा) दुष्ट नाम वाले, दुर्दान्त पुरुषों का नाशक पुरुष (अनीनशत्) नाश करे।

२–(च०) 'तरति' इति ह्विटनिकामितः ।

३–(प्र०) 'अर्भकः' इति क्वचित् । (द्वि०) 'शपथिनः' इति पैप्प० सं० ।

शतं वीरानजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत् ।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥४॥

भा०—वह (शतं वीरान्) सैकड़ों वीर पुरुषों को (अजनयत्) उत्पन्न करता है और (शतं यक्ष्मान्) सैकड़ों कष्टदायी पुरुषों को (अपावपत्) उखाड़ने में समर्थ है । वह (सर्वान्) समस्त (दुर्नाम्नः) बुरे पुरुषों को (हत्वा) मारकर (रक्षांसि) विघ्नकारी पुरुषों को (अव धूनुते) नीचे गिरा देता है, धुन डालता है ।

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः ।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्ढ्वाव रक्षांस्यक्रमीत् ॥५॥

भा०—(हिरण्यशृङ्गः) हिरण्य अर्थात् धातु के बने अति प्रदीप्त शृङ्ग अर्थात् हिंसा साधन शस्त्रों वाला, (ऋषभः) नरश्रेष्ठ (अयं) यह (शातवारः मणिः) सैकड़ों का वारण करने में समर्थ शत्रुस्तम्भक पुरुष (सर्वान्) समस्त (दुर्णाम्नः) दुर्दमनीय, दुर्दान्त पुरुषों को (तृड्ढ्वा) नाश करके (रक्षांसि) प्रजा के कार्यों में विघ्नकारी पुरुषों को भी (अव अक्रमीत्) दबाता है ।

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् ।
शतं च श्वन्वतीनां शतवारेण वारये ॥६॥

४–(प्र०) 'वीरा अजन–' 'वीरान्नं जन–' इति च क्वचित् । 'शतं वीराणि जनयच्छ–' इति पैप्प० सं० । 'वीर्याणि जनयन्', 'शतंवीरा अजनयन्' इत्युभयथा ह्विटन्यनुमितौ पाठौ ।

५–(द्वि०) 'शतवारो' इति क्वचित् । 'दुर्णाः त्रिः सर्वांस्तिड्ढ्वा अवरक्षां-स्यक्रमीत्' इति पैप्प० सं० ।

६–(तृ०) 'शतं शश्वन्वतीनां । इति शं० पा०, सायणाभिमतश्च । 'शतं च शुन्वतीनां' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(शतं) सैकड़ों (दुर्णाम्नीनाम्) दुर्दान्त और सैकड़ों (गन्धर्वाप्सरसां) कामी पुरुष और कामिनी स्त्रियों को और (शतं च) सैकड़ों (श्वन्वतीनां) कुत्तों को साथ लिये आने वाली मांसभक्षिणी स्त्रियों को या कुत्तों के स्वभाव वाली अति कामुक स्त्रियों को मैं प्रजापालक पुरुष (शतवारेण) सैकड़ों को वारण करने में समर्थ पुरुष के द्वारा ही वारण करूं।

श्वन्वती अप्सराएं—जैसे 'श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे'। अथर्व० ११।९।१५ कामी पुरुष-जैसे 'श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः'। अथर्व० ४।३७।११॥

ओषधि पक्ष में-शतवार नामक ओषधि 'शतवार' इसलिये है कि १म वह सैकड़ों रोग को वारण करने वाली और २य वह सैकड़ों कांटों वाली है। (१) वह यक्ष्मा=रोगों को और कुष्ठ को नाश करे। (२) वह कांटों से दुष्ट पुरुषों को मूल से पीड़ाओं को और मध्यभाग=काण्ड से राजयक्ष्मा को नाश करता है। (३) वह छोटे बड़े और रुलाने वाले सब रोगों को नाश करे। (४) सैकड़ों वीर्यों को उत्पन्न करती और सैकड़ों रोग को शरीर से नाश करती है। वह बुरे नाम के कुष्ट आदि त्वचा के रोगों को भी दूर करती है। (५) उसके पीले कांटे हैं। वह त्वचा के रोगों को दूर करता है। (६) सफेद कोढ़, दाद, खाज आदि दुष्ट नाम के रोग गन्धर्व और अप्सरा अर्थात् गन्ध या वायु द्वारा या जल द्वारा मनुष्य को लग जाने वाली बीमारियों को और श्वन्वती अर्थात् कुत्तों द्वारा फैल जाने वाली कोलिक, दुःसाध्य पीड़ाओं को भी वह सैकड़ों की संख्या में दूर करती है। ऐसी 'शतवार' नामक ओषधि वैद्यों को तैयार करनी चाहिये।

[३७] वीर्य, बल की प्राप्ति।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। १ त्रिष्टुप्। २ आस्तारपंक्तिः। ३ त्रिपदा महाबृहती। ४ पुरउष्णिक्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।
त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥१॥

भा०—(इदं) यह (वर्चः) तेज जो (अग्निना) अग्नि ने (दत्तम्) प्रदान किया है वह मुझे (भर्गः) तेज, (यशः) यश, (सहः) शत्रु-धर्षक बल, (ओजः) ओज, (वयः) दीर्घ आयु और (बलम्) बल रूप में (आ अगन्) प्राप्त हो। (यानि) जो (त्रयः त्रिंशत् वीर्याणि) तेंतीस वीर्य, अधिकार हैं (तानि) उन सबको वह (अग्निः) अग्नि, परमेश्वर, राजा, आचार्य और विद्युत् (मे प्रददातु) मुझे प्रदान करे।

वर्च आ धेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम् ।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥२॥

भा०—हे पूर्वोक्त अग्ने! तू (मे) मेरे (तन्वां) शरीर में (वर्चः) ब्रह्मवर्चस वीर्य. (सहः) सहनशक्ति, (ओजः) तेज, ओज, (वयः) जीवन शक्ति और (बलम्) बल, ताकत (आ धेहि) प्रदान कर। (त्वा) तुझको मैं (इन्द्रियाय) इन्द्रियों के बल के लिये (कर्मणे) कर्म या क्रिया शक्ति को प्राप्त करने और (वीर्याय) वीर्य प्राप्त करने के लिये और (शतशारदाय) सौ वर्ष के जीवन के लिये (प्रति गृह्णामि) स्वीकार करता हूं।

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ॥३॥

[३७] १–(प्र०) 'आगात्' तै० ब्रा० । 'इदं राधो' इति आश्वौ० सू० । 'यशो भर्गः सह ओजो बलं च' इति तै० ब्रा० । महि राधः सह ओजो बलं यत् । मं० स० ।

२–(प्र०) 'तन्वं' इति क्वचित् । दीर्घायुत्वाय शतशारदाय प्रतिगृह्णामि, इति तै० ब्रा० ।

भा०—हे अग्ने ! (त्वा) तुझको (ऊर्जे) अन्न से पुष्टि प्राप्त करने के लिये, (बलाय) बल की वृद्धि करने के लिये, (ओजसे) ओज, पराक्रम के लिये, (सहसे) शत्रुधर्षण के लिये, (अभिभूयाय) शत्रुओं का पराजय करने के लिये और (राष्ट्रभृत्याय) राष्ट्र के भरण पोषण के लिये और (शतशारदाय) प्रजाओं के सौ २ वर्षों तक के दीर्घ जीवन के लिये (पर्यूहामि) स्वीकार करता हूं। यहां अग्नि शब्द से राजा का ग्रहण है।

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥४॥

अथर्व० ३ । १० । १० ॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् (त्वा) तुझको (ऋतुभ्यः) ऋतुओं अर्थात् राजसभा के सदस्यों के लिये, (आर्तवेभ्यः) उनके समान अन्य प्रजाधिकारियों के लिये (माद्भ्यः) संवत्सर प्रजापति के अधीन मासों के समान आदित्य प्रजा के अधिकारियों के लिये और (संवत्सरेभ्यः) वर्ष के समान अन्य प्रजापतियों, प्रजापालक भूपतियों के लिये अर्थात् उनपर शासन करने के लिये वरण करता हूं । और (धात्रे) राष्ट्र के धारण करने वाले, (विधात्रे) कानून विधान करने वाले, (समृधे) देश को सम्पन्न करने या राज्य कार्य में शत्रुओं को वश करने वाले (भूतस्पतये) समस्त प्राणियों के पालक उस परमेश्वर या महान् राजा का (यजे) में संगति-लाभ करूं। देखो अथर्व० ५ । २ । ८ । ३१॥

प्रायः हस्तलिपियों में इस मन्त्र की प्रतीक मात्र दी है 'ऋतुभिष्ट्वे-' ट्वेका सायण ने भाष्य में ३ । १० । १० को दो हराया है । ह्विटनि ने२ ।

४–अस्याः स्थाने ह्विटनिग्रीफिथादयः अथर्व० ५ । २८ । १३ इति ऋचं पुनरावर्त्तयन्ति । तदसत् । 'ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यः' इतिस्पष्टमनुक्रमणिका वचनात् । सायणोल्लेखाच्च ।

२८ । १३ को दो हराया है । अथर्व सर्वानुक्रमणी में 'ऋतुभ्यष्ट्वार्त्तवेभ्यः' लिखा है । अतः जो मन्त्र दिया है वही ठीक है ।

[३८] राज यक्ष्मा नाशक गुल्गुलु ओषधि

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता गुल्गुलुर्देवता । १ अनुष्टुप् । २ चतुष्पदा उष्णिक् । ३ एका वसाना प्राजापत्यानुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥१॥
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते ।

भा०—(यम्) जिसके शरीर को (भेषजस्य) रोग नाशक (गुल्गुलोः) गूगल का (सुरभिः) उत्तम (गन्धः) गन्ध (अश्नुते) व्यापता है (तम्) उसको (यक्ष्मा) राजयक्ष्मा के रोग (न अरुन्धते) नहीं पीड़ा देते, नहीं घेरते । और (एनं) उसको (शपथः) दूसरे की निन्दा वचन भी (न अश्नुते) नहीं लगता है । वह सदा स्वस्थ प्रसन्न रहने से दूसरे के कहे बुरे वचनों को बुरा नहीं मानता । (तस्मात्) उससे (विश्वञ्चः) सब प्रकार के (यक्ष्माः) राजयक्ष्मा रोग (अश्वाः मृगा इव) शीघ्रगामी हरिणों के समान (ईरते) कांपते हैं, डरकर भागते हैं ।

यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ॥२॥
उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ॥३॥

---

[३८] १–'अरंधत' इति क्वचित् । 'शपथोऽश्नु०' इति क्वचित् ।

२–'गुग्गुलु', 'यद्वाप्यसि' इति क्वचित् । 'यस्माद् मृगान्नाव वेमते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यद्) जो (गुल्गुलु) गूगल (सैन्धवं) सिन्धु से उत्पन्न है अर्थात् नदी के तटों पर उत्पन्न होता है और (यद् वा अपि) और जो (समुद्रियम् असि) समुद्र के तट पर उत्पन्न होता है । (उभयोः) उन दोनों के (नाम) नाम, स्वरूप का (अस्मै) इस पुरुष के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (अग्रभम्) उपदेश करता हूं ।

[३९] कुष्ठ नामक ओषधि

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । मन्त्रोक्तः कुष्ठो देवता । २, ३ पथ्यापंक्तिः । ४ षट्पदा जगती । (२-४ त्र्यवसाना) ५ सप्तपदा शक्वरी । ६-८ अष्टयः (५-८ चतुरवसानाः) । शेषा अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ।

ऐतु॑ दे॒वस्त्राय॑माणः॒ कुष्ठो॑ हि॒मव॑त॒स्परि॑ ।
त॒क्मानं॒ सर्वं॑ नाशय॒ सर्वा॑श्च यातुधा॒न्यः॑ ॥१॥

भा०—(त्रायमाणः) रक्षा करने वाला (देवः) दिव्य गुणवान्, हर्षोत्पादक (कुष्ठः) कुष्ठ नामक वनस्पति (हिमवतः परि) हिम वाले पर्वत से (आ एतु) हमें प्राप्त होता है । हे कुष्ठ ! (सर्वम्) सब प्रकार के (तक्मानं) पीड़ादायी ज्वरों को और (सर्वाः च यातुधान्यः) सब प्रकार की पीड़ाकारिणी यातनाओं को (नाशय) नाश कर ।

त्रीणि॒ ते कुष्ठ॒ नामा॑नि नद्यमा॒रो न॒द्यारि॑षः । न॒द्यायं पुरु॑षो रिषत् ।
यस्मै॑ परि॒ब्रवी॑मि त्वा सा॒यंप्रा॑त॒रथो॒ दिवा॑ ॥२॥

---

[३९] १-'नाशयत्' इति ह्विटनिकामितः ।
२-नद्यमारो, नद्यारिषः नद्यायः इति बहुत्र पाठः । धद्ययोरविवेकः । 'नद्यारिषं' इति पूर्वत्रापि ७ । २ । ६ ॥ ७ । ७ । ६ ॥ प्रयोगदर्शनात् धः सधुः । 'अस्मै' 'दिवः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (कुष्ठ) कुष्ठ ! (ते) तेरे (त्रीणि) तीन प्रकार के (नामानि) रोगों को दमन करने के सामर्थ्य हैं। एक तो (नघमारः) पुरुष को कभी मरने नहीं देता, दूसरा (नघ-आरिषः) कभी कोई अरिष्ट या रोग नहीं होने देता। अथवा कुष्ठ के तीन नाम हैं कुष्ठ, नघमार और नघारिष, इसी कारण हे कुष्ठ ! (यस्मै) जिस पुरुष को भी (त्वा) तेरा (परि ब्रवीमि) मैं उपदेश करूं। (अथ) वह (पुरुषः) पुरुष चाहे (सायं प्रातः अथो दिवा) सायंकाल, प्रातःकाल, मध्याह्न हो, कभी भी, (नघ रिषत्) रोग पीड़ा आदि कष्ट को प्राप्त नहीं होता।

'नघसारो, नघारिषः, नघायं' यह पाठ प्रायः सर्वत्र छपी पुस्तकों में है। परन्तु 'नघारिषाम्' आदि प्रयोग (अथर्व० ८। २। ६॥ ८। ७। ६॥) देखने से शुद्ध पाठ 'नघमारो नघारिषः नघायं' यही है। शंकर, पाण्डुरंग और ह्विटनी को इस पाठ में संदेह है। परन्तु बनारस संस्कृत कालिज के पण्डित ग्रीफिथ को इस पाठ में कोई संदेह नहीं। उसको प्राप्त हस्तलिपि में 'नघमारो नघारिषः, नघायं' यही पाठ रहा प्रतीत होता है। यही पाठ पैप्पलाद का भी है।

जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता। नघायं पु० । ० ॥३॥

भा०—(ते माता) तेरी माता, तेरी रचना करने वाली शक्ति (जीवला नाम) प्राण धारण करने वाली होने से 'जीवला' कहाती है। इसी प्रकार (ते) तेरा (पिता) पिता, पालक शक्ति भी (जीवन्तः) जीवनप्रद होने से 'जीवन्त' नाम से कहाती है। (नघ अयम्० इत्यादि) पूर्ववत्।

३–'जीवलो नाम ते पिता' इति ग्रीफिथसम्मतः। 'जीवन्तः'–इत्यत्र रुहि नन्दि जीवि प्राणिभ्यः षित् आशिषि, इत्यौणादिकः प्रत्ययः। जीवति स जीवन्तः। औषधं वा। इति दया० उ० व्या०।

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । नघायं पुरुषो रिषत् । यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायं प्रातरथो दिवा ॥ ४ ॥

भा०—हे कुष्ठ नामक ओषधे ! तू (ओषधीनाम्) दोषों को नाश करने या वात, पित्त, कफ आदि को पुष्ट करने वाली ओषधियों में से (उत्तमः) सब से उत्तम (असि) है । और (जगताम्) जंगम संसार में (अनड्वान् इव) बैल जिस प्रकार हृष्ट पुष्ट एवं गाड़ी खींचने में समर्थ होता है उसी प्रकार यह ओषधि शरीर को चलाने में समर्थ है । (श्वपदाम्) नख वाले कुत्ते की जाति के प्राणियों में से (व्याघ्रः इव) जिस प्रकार व्याघ्र, सिंह बलवान् होने से सब से श्रेष्ठ है उसी प्रकार बलकारी यह ओषधि भी सब से श्रेष्ठ है । (नघ अयम्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि । त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः । स कुष्ठो विश्वभेषजः । साकं सोमेन तिष्ठति । तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ५ ॥

भा०—(सः) वह (कुष्ठः) कूठ नामक (विश्वभेषजः) समस्त रोगों को दूर करने वाली औषध (शाम्बुभ्यः=साम्बुभ्यः) साम्बु अर्थात् जल सहित नदी, समुद्र और मेघ इनसे (त्रिः) तीन प्रकार का, तीन भेदों वाला (जातः) उत्पन्न होता है । इसी प्रकार (अङ्गिरेभ्यः) अग्नियों के भेदों से भी वह (त्रिः) तीन प्रकार का होता है (आदित्येभ्यः) आदित्य अर्थात् वर्ष के मासों के भी तीन प्रकार ग्रीष्म, वर्षा और

४–'उत्तमोस्योष' इति पैप्प० सं० ।

५–'त्रिर्भृगुभ्योऽङ्गिरेभ्यः' इति ह्विट्नि-अनुमितः । 'अंगिरेभ्यः' इति क्वचित् । 'तिष्यामिविश्वोऽङ्गिरेयभ्यः' इति पैप्प० सं० । (पं०) 'तिष्ठसि' इति पैप्प० सं० ।

शीत ऐसे ऋतु भेद होने से भी वह कुष्ठ (त्रिः परि जातः) तीन प्रकार का होजाता है। और (विश्वदेवेभ्यः) समस्त अन्य देव अर्थात् जल, वायु, पृथिवी आदि भेद से भी (त्रिः जातः) वह तीन प्रकार का होजाता है। इसी कारण से (सः) वह (कुष्ठः) कुष्ठ ओषधि या (कुष्ठः) कु-ष्ठ=पृथिवी पर विद्यमान नाना प्रकार के औषध (विश्वभेषजः) सभी रोगों के औषध होजाते हैं। यह समस्त वनस्पति (सोमेन) प्रेरक, उत्तेजक रस के साकं) साथ (तिष्ठति) विद्यमान है। इनकी सहायता से हे पुरुष ! तू (सर्वं तक्मानं) सर्व कष्टदायी रोगों को और (सर्वाः च यातुधान्यः) सब प्रकार की पीड़ा प्रदान करने वाली दशाओं को भी (नाशय) विनाश कर।

कौ पृथिव्यां तिष्ठतीति कुष्ठः। पृथिवी पर स्थित समस्त वनस्पतियों के लिये भी कुष्ठ शब्द सामान्य से आयः प्रतीत होता है। जल भेद से, अग्नि भेद से, रस भेद से, सूर्य के भिन्न २ प्रकार के आतपभेद या मास भेद और ऋतु भेद से वायु, पृथिवी आदि पदार्थ भेद से उनके नाना भेद होजाते हैं। और एक २ जाति की वनस्पति के भी भिन्न २ भेद, गुणभेद प्रभाव भेद होने से वे सर्व रोग हरण करने वाली होजाती हैं।

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत० । ० ॥ ६ ॥

अथर्व० ५ । ४ । ३ ॥

भा०—(देवसदनः) दिव्य गुणों का आश्रय (अश्वत्थः) अग्नि का महान् आश्रय सूर्य (इतः) इस लोक से (तृतीयस्याम् दिवि) तीसरे द्यौ-लोक में विद्यमान है (तत्र) वहां ही (अमृतस्य) अमृत, परम जीवनप्रद रस का (चक्षणम्) स्रोत है। (ततः) उससे ही (कुष्ठः) कुष्ठ नाम

६–(च०) 'देवाः कुष्ठमवन्वत' इति पूर्वत्र पाठभेदः।

ओषधि, या समस्त पृथिवीस्थ वनस्पति (अजायत) उत्पन्न होते हैं। (स: कुष्ठ:०) इत्यादि पूर्ववत् ।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत० । ० । ॥७॥
अथर्व० ५ । ४ । ४ ॥

भा०—व्याख्या देखो का० ५ । ४ । ४ ॥ (स कुष्ठ:) इत्यादि पूर्ववत् ।

यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥८॥

भा०—(यत्र) जहां (अवप्रभ्रंशनम्) नीचे फिसलना अर्थात् हिमका पिघलना (न) नहीं होता, अथवा (यत्र नावः प्रभ्रंशनम्) जहां नौ अर्थात् सूर्य का 'प्रभ्रंशन' तेज अति न्यून होजाता है (यत्र) जहां (हिमवतः) हिमवाले पर्वत का (शिरः) शिर या शिखर भाग है। (तत्र अमृतस्य चक्षणम्) वहां अमृत का स्रोत है। (ततः) वहां (कुष्ठः) कुष्ठ (अजायत) उत्पन्न होता है। (सः कुष्ठ:० इत्यादि) पूर्ववत् ।

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः ।
यं वायसो यं मात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥९॥

८-(प्र०) 'नावः प्र-' इति क्वचित् ।

९-(प्र०) 'इक्षाकुर्य' इति सायणाभिमतः । 'इष्वाक' इत्येव प्रायः । 'इक्ष्वाकः । यं' इति प्रायः पदपाठः । कुष्ठकाम्यः' इति ह्विटनिकामितः । (द्वि०) 'यं वायसो यमात्स्यस्ते' इति प्रायः । 'यं वायसो यंमात्स्यस्ते' इति ग्रिफिथकामितो ह्विटनिकामितश्च (प्र-द्०) यं त्वा वेद पूर्वं इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठिकाश्च अहिदयादस्तो अनुसारिन्छ स्तेना, इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे (कुष्ठ) कुष्ठ ! (यं) जिस (त्वा) तुझको (पूर्वः) पूर्व का या पूर्ण (इक्ष्वाकः) 'इक्ष्वाक' नामक पक्षी बाण के समान वेग से जाने वाला (वेद) प्राप्त करता है और (वा) या (यं त्वा) जिस तुझको (काम्यः) कामना या आवश्यकता वाला पुरुष या 'काम्य' नाम पक्षी (वेद) प्राप्त करता है। (वा) और या (यं) जिस तुझको (वायसः) वायस नाम पक्षी और (यं मात्स्यः) जिसको 'मात्स्य' नामक पक्षी (वेद) जानता है। (तेन) उससे तू (विश्वभेषजः असि) सब रोगों को दूर करने वाला औषध है।

ग्रीफिथ के मत से—पूर्व, इक्ष्वाकु, काम्य, वायस और मात्स्य ये राजाओं के नाम हैं। शंकर या पाण्डुरंग सम्मत पाठ इस प्रकार है-'यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः। यं वायसो यं मात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः'।

सायण के मत से-इक्ष्वाकु नाम राजा, काम्य, कामनायुक्त (यमास्य वसः) यममुख 'वस' नामक देव। हमारे विचार में यह पाठ विकृत है। पूर्व इक्ष्वाकु, काम्य, वायस और मात्स्य ये पक्षियों के नाम प्रतीत होते हैं। वाचस्पत्य और शब्द कल्पद्रुम महाकोशों के अनुसार मात्स्यरंग 'मच्छरंग' नाम जल पक्षी है। काम्य या कामान्ध नाम श्येन का है। कामी नाम चकवा, कबूतर, चटक और सारस का वाचक है। वायस काक या कौआ है। इक्ष्वाकु-इक्ष्वाकु भी किसी तीव्रगति पक्षी का नाम प्रतीत होता है।

शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥१०॥

१०-(प्र०) 'शीर्षालोकम्, 'सदन्ति (तृ०) 'विश्वधावीर्यमधरा' इति पैप्प० सं०।

भा०—(शीर्षलोकं=शीर्षरोगम्[1]) सिरके रोग को (तृतीयकम्) तीसरे दिन आने वाले ज्वर को, (सदन्दिः) और निरन्तर चढ़े रहने वाला जो ज्वर है उस (तक्मानं) कठिन ज्वर को भी हे (विश्वधावीर्यम्) सब प्रकार के वीर्यवाले ओषधे ! तू (अधराञ्चम्) नीचे गति वाला करके (परा सुव) सर्वथा दूर कर ।

गले सड़े मांस खाने वाले गीध आदि, मलिन पदार्थ के खाने वाले काक, मत्स्य खाने वाला मछरंगा और इसी जाति के जल-जन्तु और निराक्र कीटों को खाने वाला पक्षी पारावत आदि उस कुष्ठ नाशक कुष्ठ ओषिधि का ज्ञान रखते हैं वे उसी के बलपर सब रोगकारी पदार्थ खाकर भी स्वस्थ रहते हैं । उनके द्वारा मनुष्य को कुष्ठ ओषधि का ज्ञान करना चाहिये ।

[४०] निर्दोष, मेधावी, ज्ञानी, होने की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । बृहस्पतिर्विश्वेदेवाश्च देवताः । १ परानुष्टुप् । २ त्रिष्टुप् पुरः ककुम्मती उपरिष्टाद् बृहती । ३ बृहतीगर्भा अनुष्टुप् । ४ त्रिपदा आर्षी गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यन्मे॑ छि॒द्रं मन॑सो॒ यच्च॑ वा॒चः सर॑स्वती मन्यु॒मन्तं॑ ज॒गाम॑ ।
विश्वै॒स्तद् दे॒वैः स॒ह सं॑वि॒दानः॒ सं द॑धातु॒ बृह॒स्पतिः॑ ॥१॥

यजु० । ३६ । २ ॥

१—स्त्वं कत्वं च छान्दसम् ।

[४०] (द्वि०) सरस्वती मन्युमन्त' इति बहुत्र । 'हरस्वन्तं मायुमन्तं' इति ह्विटन्य-नुमितः । सरस्वतीमन्युमतीम्' इति ह्विटनिसम्मतः । 'सरस्वती-मन्वविन्तं जगाम' इति पैप्प० सं० । (च०) 'संदधातु' इति पैप्प० सं० । यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । इति यजुः ।

भा०—(मे) मेरे (मनसः) मनका (यत्) जो (छिद्रम्) छिद्र दोष या त्रुटि और (यत्) जो (वाचः) वाणी का (छिद्रं) छिद्र, दोष हो जब कि (सरस्वती) सरस्वती वाणी (मन्युमन्तम्) क्रोधवाले पुरुष को (जगाम) प्राप्त हो (तद्) तब उस दोष को (विश्वैः देवैः सह) समस्त विद्वान् पुरुषों के साथ (संविदानः) विचार करके (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक विद्वान् पुरुष (संदधातु) उस छिद्र को या त्रुटि को पूर्ण करे। मानसिक त्रुटि की और वाणी की त्रुटि को और यदि कोई व्यक्ति क्रोध में कुछ कहता हो तो उसके दोष को विद्वान् पुरुष मिलकर विचारें और उस त्रुटि को दूर करलें।

मा न॒ आपो॑ मे॒धां मा ब्रह्म॒ प्र म॑थिष्टन ।
सु॒ष्य॒दा यू॒यं स्य॑न्दध्व॒मुप॑हूतो॒ऽहं सु॒मेधा॒ वर्च॒स्वी ॥२॥

भा०—(नः मेधाम्) हमारी मेधा, तीव्र बुद्धि को हे (आपः) आप्त-पुरुषो ! आप लोग (मा प्र मथिष्टन) विनष्ट मत होने दो । (नः) हमारा (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान, वेदाभ्यास भी (मा) मत नष्ट करो । (यूयम्) तुम (सुष्यदाः) सुख से बहते जलों के समान, सु-उत्तम ज्ञान-प्रवाह से युक्त होकर (स्यन्दध्वम्) प्रवाहित होवो, मेरे समीप आओ। अथवा पाठान्तर से (शुष्यद् । आ । यूयं । स्यन्दध्वम्) अर्थात् आप लोग मेरे सूखते हुए ब्रह्म वेदाभ्यास को पुनः (आस्यन्दध्वम्) प्रवाहित करो। (अहम्) मैं (उपहूतः) आप लोगों द्वारा स्वीकृत या अनुगृहीत होकर (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त और (वर्चस्वी) तेजस्वी होकर रहूं।

मा नो॑ मे॒धां मा नो॑ दी॒क्षां मा नो॑ हिंसिष्टं॒ यत् तपः॑ ।
शि॒वा नः॒ शं स॒न्त्वायु॑षे शि॒वा भ॑वन्तु मा॒तरः॑ ॥३॥

(द्वि०) 'मा ब्रह्म प्रमथिष्ट नः' इति च क्वचित् । 'शुष्यदा' इति च पाठः । स्यन्दध्वं०, स्यंनध्व० स्यंदध्वं, स्यंदध्वं०, इति च पाठाः ।

भा०—हे माता और पिता आप लोग ! (नः मेधाम्) हमारी मेधा बुद्धि को, (नः दीक्षाम्) हमारी दीक्षा, व्रत ग्रहण की प्रतिज्ञा को और (यत् तपः) जो तप हम कर रहे हैं उसको (मा हिंसिष्टम्) मत नष्ट करो । (नः) हमारे (शिवाः) कल्याण चाहने वाले हितैषी जन (नः) हमारे लिये (शं सन्तु) शान्तिप्रद सिद्ध हों । और (मातरः) हमारी माताएं हमारे (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिये (शिवा, भवन्तु) हमारी कल्याणचिन्तक हों ।

माता पिता और नाना हितू बन्धू जन ही प्रायः शिक्षा, दीक्षा और तपः साधन में बाधक होकर बच्चों को गुरु-गृह में शान्ति से तपस्या पूर्वक शिक्षाभ्यास नहीं करने देते । उनसे विघ्न न करने की प्रार्थना है ।

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः ।
तामस्मे रासतामिषम् ॥४॥ ऋ० १ । ४६ । ६ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्विजनो ! माता पिताओ ! (या) जो (ज्योतिष्मती) प्रकाश से युक्त उषा या प्रकाशवती प्रज्ञा (तिरः) बहुत लम्बे चौड़े, उपस्थित (तमः) अन्धकार से (नः) हमें (पीपरत्) पार करदे (ताम्) उस (इषम्) प्रेरणा करने वाली प्रज्ञा या शुभ कामना को आप दोनों हमें (रासताम्) प्रदान करें ।

[४१] लोकोपकारी महापुरुषों का कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । आपो देवताः । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥१॥

[४१] १-(च) 'अग्ने' इति ह्विटनिकामितः । भद्रं पश्यन्त उपसेदुरग्रे तपो दीक्षां ऋषयः सुवर्विदः । 'ततः क्षत्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा अभि संनमन्तु' इति तै० आ० ।

भा०—(स्वर्विदः) ज्ञान और प्रकाश को प्राप्त करने वाले (ऋषयः) ऋषि, मन्त्रद्रष्टा पुरुष (भद्रम् इच्छन्तः) संसार का कल्याण और सुख चाहते हुए (अग्रे) सब से प्रथम, (स्वयं तपः) तपस्या और (दीक्षाम्) व्रत पालन की दीक्षा लेकर (उपनिषेदुः) परमेश्वर की उपासना करते या गुरु के समीप ज्ञान का उपदेश लेते हैं। (ततः) तब उस तप और दीक्षा से (राष्ट्रम्) राष्ट्र (बलम्) बल और (ओजः च) ओज, तेज (जातम्) उत्पन्न होता है (तत्) तब (अस्मै) उसके लिये (देवाः) सब देव विद्वान् प्रतिष्ठित पुरुष भी (उप संनमन्तु) आदर करते हैं।

[४२] ईश्वरोपासना।

ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्म देवता। १ अनुष्टुप्। २ त्र्यवसाना ककुम्मती पथ्या पंक्तिः। ३ त्रिष्टुप्। ४ जगती। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोन्तर्हितं हविः॥१॥

भा०—(ब्रह्म होता) ब्रह्म स्वयं होता, संसार की आहुति स्वयं अपने भीतर लेने वाला है। (ब्रह्म यज्ञाः) ये समस्त यज्ञ ब्रह्म के ही स्वरूप, ब्रह्म की नाशक्तियों के अनुकरण हैं। (स्वरवः) जितने स्वरु अर्थात् तेजोमय सूर्य हैं सब (ब्रह्मणा) ब्रह्म, परमेश्वर रूप महान् शक्तिमान् ने (मिताः) रचे हैं। (अध्वर्युः) कभी पराजित न होने वाला, या समस्त यज्ञों का अनुष्ठाता अध्वर्यु भी (ब्रह्मणः) ब्रह्मवेद से ही (जातः) उत्पन्न होता है। (हविः) समस्त हवि, ज्ञान, चरु पुरोडाश और अन्न आदि पदार्थ (ब्रह्मणा अन्तर्हितम्) ब्रह्म की चेतन या जीवनप्रद शक्ति से व्याप्त हैं।

[४२] १–(द्वि०) 'स्वरवामिता,' 'स्वरगामिता' इति पाठभेदौ। स्वः। अवामिता इति पदच्छेदः। 'स्वरगामिता' इति सायणाभिमतः। (तृ०) अध्वर्यु-ब्रह्मणो इति क्वचित्। (च०) 'ब्रह्मण्यन्तर्हितं' इति सायणाभिमतः।

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । शमिताय स्वाहा ॥२

भा०—(स्रुचः) यज्ञ में घृत चुआने वाले स्रुचों के समान (घृतवतीः) घृत अर्थात् अन्न से सम्पन्न, पृथिवी लोक पर जीवनशक्ति की आहुति देने वाले ये प्रकाशमय सूर्य आदि लोक सब (ब्रह्म) उस महान् ब्रह्म की शक्ति हैं। (वेदिः) यह वेदी, उसके समान सकल पदार्थों को प्राप्त कराने वाली पृथिवी (ब्रह्मणा) उस महान् ब्रह्म परमेश्वर ने (उत् हिता) थाम रक्खी है। (यज्ञस्य) समस्त यज्ञ का (तत्वम्) वास्तविक स्वरूप ही (ब्रह्म) ब्रह्म है। और (ये) जो (हविष्कृतः) हवि, अन्न, ज्ञान आदि के सम्पादन करने वाले (ऋत्विजः) प्रति ऋतु में यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के समान ही प्रति ऋतु में प्रवृत्त होकर मेघ वायु आदि ऋतु-अनुकूल पदार्थ जो पृथिवी पर अन्न उत्पन्न करने हारे हैं वे सब (ब्रह्म) परमेश्वर की ही शक्तियां हैं। यह उस (शमिताय) महान् सुख, शान्ति प्रदान करने वाले परमेश्वर की ही सब (सु-आहा) सुख्याति, महान् कीर्त्ति या महिमा है।

अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राव्णे सुमतिमावृणानः ।
इममिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥३॥

२–(तृ०) 'ब्रह्मयज्ञस्य तन्तवः' इति तै० ब्रा० । (द्वि०) 'उद्धृता' इति सायणाभिमतः । 'उद्धता' इति क्वचित् । (तृ०) 'ब्रह्मयज्ञश्च सत्रं च' इति ह्विट्न्यनुमितः । (च०) 'संमिताय' इति सायणाभिमतः ।

३–(द्वि०) 'सुमतिं मा' इति बहुत्र । (प्र०) 'प्रभरेमा मनीषाम्' इति पैप्प० सं०, तै० सं० । (द्वि०) 'ओषिष्ठ दाव्ने सुमतिं गृणानः' इति तै० सं० । 'भूयिष्ठ दाव्ने सुमतिमावृणानः' इति मै० सं० । 'हव्यं-जुषस्व' इति मै० सं० । 'हव्या' इति पैप्प० सं० । (तृ०) इदमिन्द्र इति क्वचित् । (द्वि०) सुमतिं गृणानः । 'हव्या' इति सायणाभिमतः ।

भा०— मैं (सुमतिम्) शुभ, उत्तम मति, ज्ञान, मानस प्रवृत्ति को (आवृणानः) चाहता हुआ, उसकी याचना करता हुआ (आसुत्राव्णे) सबसे उत्तम रक्षक, (अंहोमुचे) सब पापों और कष्टों से छुड़ाने वाला परमात्मा के लिये (मनीषाम्) अपनी मानस इच्छा या स्तुति को (प्रभरे) भेटरूप में रखता हूं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् इन्द्र! परमेश्वर! तू (यम हव्यं) इस ज्ञानमय स्तुति को (प्रति गृभाय) स्वीकार कर। (यजमानस्य) देवोपासना करने वाले मेरी (कामाः) सब काम संकल्प कामनाएं (सत्याः) सत्य रूप से सफल (सन्तु) हों।

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः॥४॥

भा०—(अंहोमुचम्) सब पापों और कष्टों से मुक्त करने वाले, (यज्ञियानाम्) समस्त उपासनीय, पूजा करने योग्य, पूजनीय, आदरणीय माता पिता, गुरु आचार्य इत्यादियों में से भी (वृषभम्) सबसे श्रेष्ठ (अध्वराणाम्) समस्त यज्ञों में से या कभी पराजित न होने वालों में से (प्रथमम्) सबसे प्रथम, सर्वोत्तम पद पर (विराजन्तम्) विराजमान, प्रकाशस्वरूप, (अपां नपातम्) अपः अर्थात् प्रजाओं को न नाश होने देने हारे, सर्वोत्पादक परमेश्वर की (धियः) ध्यानमय स्तुतियों को (हुवे) उच्चारण करता हूं। हे (अश्विनौ) माता पिताओ! या हे स्त्री पुरुषो! तुम दोनों (इन्द्रियेण) इन्द्र, आत्मासम्बन्धी बल के साथ २ (इन्द्रि-

४—'प्र सम्राजे प्रथममध्वराणामंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां। अपांनपातमश्विनाहयन्तांमस्मिन्नरइन्द्रियं धत्तमोजः।' इति तै० सं०। (तृ०) 'हवे' इति क्वचित्। 'धियेन्द्रेण मा' इति ह्विटनिकामितः। 'अश्विनौ हुवे इन्द्रियेण न इन्द्रियं धत्तमोजः।' इति पैप्प० सं०।

चम्) इन्द्रिय अर्थात् इन्द्र, राजा ईश्वर के दिये बलको और (ओजः) तेज को भी (दत्त) धारण करो या प्रदान करो।

[४३] ईश्वर से परमपद की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्म, बहवो वा देवता । त्र्यवसानाः । ककुम्मत्यः पथ्यापंक्तयः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
अ॒ग्निर्मा॒ तत्र॑ नयत्व॒ग्निर्मे॒धां द॑धातु मे । अ॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥१॥

भा०—(यत्र) जिस पद पर (दीक्षया) दीक्षा, दृढ़ व्रत पालन की प्रतिज्ञा और (तपसा) तपस्या के (सह) साथ (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यान्ति) जाते हैं (तत्र) उसी पदपर (अग्निः) ज्ञानवान् आचार्य, सर्वप्रकाशक परमेश्वर (मा नयतु) मुझे लेजाय, वही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (मे) मुझे (मेधाम्) नाना उत्तम वाक्शक्ति और बुद्धि (दधातु) धारण करावे, प्रदान करे। (अग्नये स्वाहा) उस ज्ञानवान् परमेश्वर से मैं यह उत्तम प्रार्थना करता हूं, या उस परमेश्वर की यह उत्तम महिमा और स्तुति है।

यत्र॑० । वा॒युर्मा॒ तत्र॑ नयतु वा॒युः प्रा॒णान् द॑धातु मे । वा॒यवे॒ स्वाहा॑ ॥२॥ यत्र॑० । सूर्यो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ चक्षुः॒ सूर्यो॑ दधातु मे । सूर्या॑य॒ स्वाहा॑ ॥३॥ यत्र॑० । च॒न्द्रो मा॒ तत्र॑ नयतु॒ मन॑श्च॒न्द्रो द॑धातु मे । च॒न्द्राय॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥ यत्र॑० । सोमो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ पयः॒ सोमो॑ दधातु मे । सोमा॑य॒ स्वाहा॑ ॥५॥ यत्र॑० । इन्द्रो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ बल॒मिन्द्रो॑ दधातु मे । इन्द्रा॑य॒ स्वाहा॑ ॥६॥ यत्र॑० । आपो॑

[४३] १–'मेधः दधातु' इति क्वचित् सायणसम्मतश्च ।

मा तत्रं नयत्वमृतं मोपं तिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहां ॥ ७ ॥ यत्रं ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपंसा सुह । ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहां ॥८॥

भा०—(यत्र) जहां (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (दीक्षया तपसा सह) दीक्षा और तप के सहित (यान्ति) जाते हैं (तत्र) वहां (सूर्यः) सूर्य और सूर्य के समान प्रकाशमान परमेश्वर और आचार्य (मा नयतु) मुझे लेजाय । और वह (सूर्यः) सर्व प्रकाशक सूर्य के समान ही (मे चक्षुः) मुझे चक्षु (दधातु) प्रदान करे । (३) (चन्द्रः मा तत्र नयतु) चन्द्र के समान आह्लादकारी परमेश्वर मुझे वहां ले जाय (चन्द्रः मे मनः दधातु) चन्द्र, वह आह्लादकारी प्रभु मुझे मन, मननशक्ति प्रदान करे। (चन्द्राय स्वाहा) उस चन्द्र परम आह्लादकारी की मैं स्तुति करता हूं। उसके प्रति अपने को अर्पण करता हूं । (४) (सोमः मा तत्र नयतु) सोमलता के समान सब लोकों का प्रेरक प्रभु मुझे उस पद पर लेजावे (सोमः मे पयः दधातु, सोमाय स्वाहा) सोम, सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक प्रभु मुझे पय, पुष्टिकारक अन्न, वीर्य, तेज प्रदान करे । उस सोम की मैं उत्तम स्तुति करता हूं । (५) (इन्द्रः मा तत्र नयतु) इन्द्र ऐश्वर्यवान् वायु या विद्युत् के समान बलशाली ईश्वर मुझे उस पद पर लेजावे । (इन्द्रः मे बलं दधातु) वह इन्द्र ही मुझे बल प्रदान करे । (इन्द्राय स्वाहा) उस इन्द्र की मैं उत्तम गुणस्तुति करता हूं । (६) (आपः मा तत्र नयतु) जलों के समान स्वच्छ या सबसे आप्ततम परमेश्वर मुझे उस पद पर लेजाय और (मा अमृतम्=उपतिष्ठतु) मुझे अमृत प्राप्त हो । (अद्भ्यः स्वाहा) उन आप्तों और परमेश्वर की व्यापक शक्तियों की मैं स्तुति करता हूं । (७) (ब्रह्मा मा तत्र नयतु) मुझे उस पद पर (ब्रह्मा)

७–'नयन्त्वम्–' इति ह्विटनिकामितः ।

वेद का परम विद्वान् लेजाय और ब्रह्मा (ब्रह्म मे दधातु) ब्रह्मा, चतुर्वेदज्ञ परमेश्वर और वेदज्ञ ब्रह्म का प्रदान करे, ब्रह्मज्ञान उपदेश करे। (ब्रह्मणे स्वाहा) उस महान् ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म की मैं स्तुति करता हूं।

इस सूक्त में अग्नि, सूर्य, चन्द्र, सोम, इन्द्र, आपः और ब्रह्मा ये भौतिक रूप से जब अपनी २ शक्ति के प्रतिनिधि हैं और उन २ शक्तियों के देने में समर्थ हैं वे सब भी हमें उस ब्रह्मवेत्ता के पद पर लेजायं अर्थात् वे सब भौतिक शक्तियां हमें उस ब्रह्म के महान् अनन्त शक्ति का बोध करावें। इसके अतिरिक्त ये सब नाना लक्षणों से ईश्वर के नाम हैं। वह हमें सब शक्ति दें और मोक्षपद प्राप्त करावें। परमात्मा के उन सभी अनन्त मात्रा में विद्यमान गुणों को ये भौतिक पदार्थ तो नमूने के रूप में दर्शाते हैं। इसलिये ये परमेश्वर के नाम होकर भी सूर्यादि भौतिक पदार्थों के नाम हैं। इसी प्रकार उन २ गुणों वाले पुरुषों के भी वाचक हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, सोम आदि नाम आचार्य, राजा, विद्वान्, उपदेशक आदि के लिये आते हैं।

[४४] तारक 'आञ्जन' का वर्णन

भृगुर्ऋषिः। मन्त्रोक्तमाञ्जनं देवता। ९ वरुणो देवता। ४ चतुष्पदा शाङ्कुमती उष्णिक्। ५ त्रिपदा निचृद्विषमा। गायत्री १–३, ६–१० अनुष्टुभः। दशर्चं सूक्तम्॥

आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे।
तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम्॥१॥

भा०—हे (आञ्जन) ज्ञान के प्रकाशक! नयनों में आंजने के योग्य अंजन के बने औषध के समान चक्षुर्दोष के नाशक! तू (आयुषः)

१–'विप्रं' इति पैप्प० सं०। (च०) 'कृत०' इति कचित् ह्विटनिसम्मतश्च (द्वि०) 'उच्यते' इति कचित्।

जीवन को (प्रतरणः) दीर्घ करने वाला या जीवन को उत्कृष्ट पथपर तरा देने वाला (असि) है । तू (विप्रम्) विविधरूप से कामनाओं को पूर्ण करने वाला, (भेषजम्) सब रोगों को दूर करने में समर्थ (उच्यसे) कहा जाता है । हे (आञ्जन) ज्ञानप्रकाशक (त्वम्) तू (शंताते) हे कल्याण कारिन् शान्तिदायक, हे (आपः) आप्त स्वरूप ! तू (शम्) शान्तिदायक और (अभयम् कृतम्) भय रहित शरण, रूप बनाया गया है ।

यो हंरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसल्पकः ।

सर्वं ते यक्ष्ममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वाञ्जनम् ॥२॥

भा०—हे पुरुष ! तेरे शरीर में (यः हरिमा) जो पीलिया का रोग है और (जायान्यः) स्त्रियों से प्राप्त होने वाला तपेदिक और (विसल्पकः) विशेष रूप से फैलने वाला, (अङ्गभेदः) अंगों के फूटन की तीव्र वेदना आदि रोग है (सर्वम्) उन सब (यक्ष्मम्) रोगों को (ते अंगेभ्यः) तेरे शरीर से वह (आञ्जनम्) अञ्जन की बनी ओषधि (बहिः) बाहर (निर्हन्तु) निकाल दे । अध्यात्म में-हे पुरुष तेरे अध्यात्म शरीर में जो हरिमा, अर्थात् पीतिमा का रोग है अर्थात् पित्त के रोगों के समान सब पदार्थों को तत्व रूप में न देखकर मोहवश ममता रूप में देखने का भ्रम है । और जो (जायान्यः) स्त्री आदि से उत्पन्न काम दोष है । विविध रूप से फैला अङ्ग भेद=अर्थात् मेरे तेरे का भेद या नाना शरीर के दुःख हैं वह सब यक्ष्म यह विद्वान् तेरे अङ्गों, जीवन के भागों से बाहर कर दे ।

आञ्जनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम् ।

कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम् ॥३॥

२-(च०) 'बर्हिर्नि-' इति क्वचित् । (प्र०) 'ज्यायान् योगभेदो विसर्पकः' इति सायणाभिमतः । 'जायान्यो', 'विसल्यकः' इति पैप्प० सं० ।

३-(च०) 'रथजूतम्' । इति पैप्प० सं० ।

भा०—(पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (जातम्) उत्पन्न हुआ (आ-ञ्जनम्) यह अंजन (भद्रम्) सुखकारक है, वह मुझे (अप्रमायुकम्) मरण से रहित, (रथजूतिम्) रमण साधन रूप इस देह में जीवन ज्योति से युक्त (अनागसम्) पापों, कष्टों से रहित और (पुरुपजीवनम्) पुरुष के पूर्ण जीवन प्राप्त करने वाला (कृणोतु) करे । अध्यात्म में-वह कान्तिमान् आत्मा पृथिवी, हृदय भूमि में उत्पन्न होकर सुखकारी और पुरुष का जीवन रूप है । वह मुझे मृत्यु से रहित (रथजूतिम्) रसरूप ज्योतिर्मय, आनन्दमय (अनागसम्) निष्पाप (कृणोतु) करे ।

प्राणं प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड ।
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥४॥

भा०—हे (प्राण) समस्त जगत् के प्राण धारण कराने हारे चित्स्वरूप ! हमारे (प्राणं त्रायस्व) प्राण की रक्षा कर । हे (असो) सब दुःखों को दूर फेंकने हारे ! सबके भीतर विद्यमान प्राणरूप ! तू (असवे) हमारे असु, प्राण शक्ति को (मृड) सुखी कर अथवा (असवे) प्राणधारी पर (मृड) कृपा कर । हे (निर्ऋते) विशेष रूप से रमण करने योग्य प्रभो ! तू (नः) हमें (निर्ऋत्याः) अति दुःखदायिनी पापमयी प्रकृति के (पाशेभ्यः) पाशों से (मुञ्च) छुड़ा ।

सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम् ।
वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥५॥

भा०—हे प्रभो ! तू (सिन्धोः गर्भः) सिन्धु अर्थात् प्रस्रवण करने वाले भीतरी आत्मा में और समस्त संसार में बड़े वेग से बहने वाले रस सागर का (गर्भः) गर्भ अर्थात् ग्रहण करने वाला उसका वशयिता है । तू

४—(च०) 'मां पाशेभ्यो' इति सायणाभिमतः । (प्र०) 'प्राणः' इति बहुत्र ।

(विद्युताम्) विजुलियों का (पुष्पद्) पुष्प या सुन्दर पुञ्ज है, या 'पुष्प' पुष्टि करने वाला उनमें बल प्रदान करने वाला है। तू स्वयं (वातः) महान् वायु (प्राणः) सबका प्राण, (सूर्यः) साक्षात् प्रकाशमय सूर्य, (चक्षुः) साक्षात् सबको तत्व दर्शन कराने वाला, सबकी आंख और (दिवः पयः) समस्त प्रकाश-शक्ति का वीर्य या द्यौलोक के समस्त नक्षत्र सूर्यों का प्रकाशक तेज है।

देवाञ्जन त्रैककुदं परि मा पाहि विश्वतः।
न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥६॥

भा०—हे (देव आञ्जन) आञ्जन सर्व कान्तिमय, ज्ञानप्रकाशक देव, परमेश्वर ! आप (त्रैककुदम्) तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। (मा) मुझ को (विश्वतः) सब प्रकार से (परि पाहि) पालन करो, बचाओ (बाह्याः) बाह्य शरीर पर लगाई जाने वाली या खाई जाने वाली या भूमि के बाहर के पृष्ठ भागपर उत्पन्न होने वाली और (पर्वतीयाः) पर्वत के गर्भ से खोदकर प्राप्त की जाने वाली, या पर्वत प्रदेशों में उत्पन्न (ओषधयः) नाना रोगनाशक समस्त ओषधियां भी (त्वा न तरन्ति) तुझसे बढ़कर नहीं हैं। अञ्जन के पक्ष में—हे त्रिककुत् नामक पर्वत से उत्पन्न अंजन ! तेरे से बढ़कर अन्य सब ओषधियां नहीं हैं।

वीदं मध्यमवासृपद् रक्षोहामीवचातनः।
अमीवाः सर्वाश्चातयन् नाशयदभिभा इतः ॥७॥

६–(प्र०) 'देवाञ्जन' इति सर्वत्र, 'देवाञ्जनि त्रैककुद' इति पैप्प० सं०। (च०) 'बाह्यं पार्वत्या' इति पैप्प० सं०।

७–'वीदंमध्यमवासृपत्', 'चातनन्' (च०) नाशयदभिवाहृता' इति पैप्प० सं०।

भा०—(इदम्) इस प्रकार यह (रक्षोहा) समस्त राक्षस दुष्ट भावों का नाश करने वाला, (अमीव-चातनः) समस्त रोगों का नाशक होकर (मध्यम्) अन्तःकरण के बीच में (वि असृपत्) विशेष रूप से घुस गया है। वह (सर्वाः अमीवाः चातयन्) सब रोगों का नाश करता हुआ (इतः) यहां से, इस हृदय से (अभिभाः) मुझे सब तरफ़ से दबाने वाले विषय विकारों को (नाशयत्) दूर करे।

ब॒ह्व्रि॒दं रा॑जन् वरु॒णानृ॑तमाह॒ पूरु॑षः।
तस्मा॑त् सहस्रवीर्य मु॒ञ्च नः॒ पर्यंह॑सः ॥८॥

भा०—हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ, सर्वपापनिवारक (राजन्) हे राजन्! परमेश्वर! (पूरुषः) यह पुरुष (इदम्) इस प्रकार का तुच्छ २ (बहु-अनृतम्) बहुतसा असत्य (आह) बोला करता है, हे (सहस्रवीर्य) सहस्रों अनन्तवीर्यों बलों से युक्त सर्वशक्तिमन्! (नः) हमें (तस्मात् अंहसः) उस पाप से (परि मुञ्च) छुड़ा।

यदापो॑ अ॒घ्न्या इति॒ वरु॒णेति॒ यदू॑चि॒म।
तस्मा॑त् सहस्रवीर्य मु॒ञ्च नः॒ पर्यंह॑सः ॥९॥

भा०—(आपः) आप्त पुरुष जलों के समान स्वच्छ अन्तःकरण वाले हैं, ये (अघ्न्याः इति) कभी भी न मारने योग्य सदा आदरणीय लोग हमारे साक्षी हैं और (वरुण इति) हे वरुण सर्वश्रेष्ठ प्रभो! तू ही हमारे समस्त कार्यों का साक्षी है (इति) इस प्रकार (यद्) जब हम (यत्) जो कुछ (ऊचिम) अपना अपराध स्वीकार करें तो (तस्मात्) उस (अंहसः) अपराध से, हे (सहस्रवीर्य) सहस्रों शक्तियों वाले

८-(द्वि०) 'पुरुषः' इति पैप्प० सं०।

तू (नः) हमें (मुञ्च) मुक्त कर । इसका स्पष्टीकरण देखो अथर्व० ७ । ८३ । २ ॥

मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयंतुराञ्जन ।
तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहंतुः ॥१०॥

भा०—हे (आञ्जन) ज्ञानप्रकाशक ब्रह्मन् ! (मित्रः च) सबका मित्र न्यायाधीश ! और (वरुणः च) सबको पापों से वारण करने वाला दण्ड-कर्त्ता दोनों (त्वा अनु प्रेयतुः) तेरे ही पीछे २ गमन करते हैं । (तौ) वे दोनों (त्वा) तेरे (अनुगत्य) पीछे २ चलकर (दूरम्) बहुत दूरतक (भोगाय) सुखभोग के लिये या राष्ट्र के परिपालन के लिये (पुनः) वार २ तुझे (आ उहतुः) अपने ऊपर अधिष्ठाता रूप से वहन करते या धारण करते हैं ।

[४५] रक्षक और विद्वान् 'आञ्जन' ।

भृगुर्ऋषिः । आञ्जनं देवता । १, २ अनुष्टुभौ । ३, ५ त्रिष्टुभः । ६-१० एकावसानाः महाबृहत्यो (६ विराड् । ७-१० निचृतश्च) । दशर्चं सूक्तम् ।

ऋणादृणमिव संनयन् कृत्यां कृत्याकृतो गृहम् ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥१॥

भा०—हे (आञ्जन) ज्ञानप्रकाशक ! विद्वान् ! जिस प्रकार (ऋणात्) अपने पर किये ऋण में से (ऋणम्) पूरे ऋण को

१०-(च) 'पुनरोहतु' इति पैप्प० सं०, 'पुनः । रोहतु' इति पदपाठः । पुनः आ ऊहतु इति शं० पा० । 'पुनर्-आ-हतन्' इति ह्निटनिकामितः । 'ओहताम्' इति क्वचित् । 'पुनराहतुः' इति सायणाभिमतः ।

[४५] १-'रिणाद्रिणमिव सनयं-' 'ऋणाद्रृणमिव सनयं', संनयं, संन्नयं इति नाना पाठाः । 'संनय' इति ह्निटनिकामितः पाठः ।

उत्तमर्णों के पास ही पुनः लौटा दिया जाता है । उसी प्रकार (कृत्याकृतः) घातक गुप्त प्रयोग के करने वाले आयी (कृत्याम्) गुप्त हिंसा के प्रयोग को भी उसी के (गृहम्) घर (सं नयन्) पुनः लौटाता हुआ तू (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंख के इशारों से गुप्त मन्त्रणा करने वाले (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय के पुरुष के (पृष्टीः अपि) पीठ की पसुलियों को भी (शृण) तोड़ डाल ।

यदुस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे ।
अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम् ॥२॥

भा०—(यत्) जो (अस्मासु) हम में और (यत्) जो (गोषु) गौओं में और (यत् च) जो (नः) हमारे (गृहे) घर में (दुःष्वप्न्यम्) दुःखपूर्वक सोने आदि का कष्ट है उसको (अनामगः) बिना नाम का या अदृश्य वृत्ति से जाने वाला (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाला (अप्रियः) हमारा अप्रिय पुरुष वर्त्तमान हो वह (तम्) उस दुस्वप्न आदि के कारण रूप भय को (प्रति मुञ्चताम्) धारण करे ।

'अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः' यह मन्त्र भाग कुछ विकृत प्रतीत होता है नाना पाठभेद पादटिप्पणी में लिखे हैं । परन्तु हमारे विचार में यह पाठ होना चाहिये ।

'अनास्माकस्तद् दुर्हार्दो प्रियः प्रति मुञ्चताम् ।'[१]

२-(प्र०) 'अनामगस्त्वं च', 'अनागमस्तं तव', 'अनायगस्त्वं च', 'अनामगस्त्वां च' 'अनामगस्त्वं च' 'अनामकस्त्वच' 'अनागमस्त च' 'अनामकस्तच' इति पाठाः । 'दुर्हार्दो प्रियः', इति क्वचित । 'अनामकस्तच दुर्हार्दो० प्रियः' इति सायणाभिमतः ।

१.—अयमेव पाठो लैन्गनाभिप्रेतः ।

अर्थात् कष्ट से शयन करने आदि की तकलीफ़ को जो (अनास्माकः) हमारा सम्बन्धी न होता हुआ (दुर्हार्दः) हमारे प्रति दुष्ट हृदय वाला और (अप्रियः) शत्रु है, वही (प्रतिमुञ्चताम्) प्राप्त करे।

इस मन्त्र के शुद्ध पाठ के लिये इसको इसी काण्ड के २७ सू० मन्त्र ४, ५ से तुलना करनी चाहिये।

अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते ॥३॥

भा०—(अपाम्) प्रजाओं या आप्त पुरुषों के या कर्मों, या ज्ञानों के (ऊर्जः) बल और (ओजसः) तेज को (वावृधानम्) निरन्तर वृद्धि करने वाले (अग्नेः) अग्रणी (जातवेदसः) एवं धनसम्पन्न पुरुष से भी अधिक वीर्यवान् (जातम्) उत्पन्न, अथवा (जातवेदसः) वेद के ज्ञानैश्वर्य से सम्पन्न (अग्नेः) अग्नि-आचार्य से (जातम्) उत्पन्न (चतुर्वीरम्) चारों प्रकार के वीर्यों से युक्त (पर्वतीयं) पूर्ण करने वाले या पूर्ण ज्ञान देने वाले गुरु से प्राप्त, (यद्) जो (आञ्जनम्) ज्ञान प्रकाशक ब्रह्म ज्ञान है वह (दिशः प्रदिशः) दिशा और उपदिशाओं को (ते)-तेरे लिये (शिवाः) शिव कल्याणकारी (करत्) करे। वीर के पक्ष में प्रजाओं के बल वीर्य को बढ़ाने वाले और विद्वान् गुरु से सुशिक्षित होकर चार वीरों के बराबर बलवान् या चारों दिशाओं में वीर्यवान् (पर्वतीयम्) पालन करने वाले राजा के पद पर अधिष्ठित, जो (आञ्जनं) कान्तिमान् राजा, प्रभु है, वह तेरी समस्त दिशा उपदिशाओं को कल्याणकारी, निर्भय करदे।

३–'ऊर्जोजसो' (इ०) 'पर्वतं' इति पैप्प० सं०।

चतुर्वीरं बध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु ।
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम् ॥४॥

भा०—(चतुर्वीरं) चारों दिशाओं में वीर्यवान् या चारों प्रकार के वीर्यों, वीर पुरुषों से युक्त (आञ्जनं) कान्तिमान्, दीप्तिमान्, तेजस्वी पुरुष को हे राजन् ! (ते) तेरे हित के लिये (बध्यते) तेरे साथ नियुक्त किया जाता है, जिससे (ते) तेरे लिये (सर्वाः दिशः) समस्त दिशाएं (अभयाः) भयरहित (भवन्तु) होजावें । तू (सविता इव) सूर्य के समान तेजस्वी और (आर्यः च) सर्वश्रेष्ठ स्वामी (ध्रुवः) स्थिर होकर (तिष्ठासि) राज्यासन पर विराजमान हो और (इमाः विशः) ये समस्त प्रजाएं (ते) तेरे लिये (बलिम्) बलि अर्थात् कर (अभि हरन्तु) प्रदान करें ।

'चतुर्वीरं'-चार प्रकार के वीर या वीर्य, चतुरंग सेना अर्थात् पदाति अश्व, रथ और गज ।

आश्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम् ।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान् ॥५॥

भा०—(एकम्) एक वीर को (आ अश्व) सर्वत्र विचरने की आज्ञा दे । और (एकम्) एकको (मणिम्) सबका शिरोमणि (कृणुष्व) बना

४-(प्र०) 'बध्यताञ्जनं', 'दिशोभया-' (तृ०) 'सवितेवारि इमा' 'दिशो भियन्ते' इति पैप्प० सं० ।

५-(प्र०) 'आँश्व' इति सायणाभिमतः । 'आश्कं म-' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'स्नाह्येकेनापि वैकमेषाम्' इति च पाठः । तत्र स्नाहि । एकेन । अपि । वा । एकेषाम् इति प्रायः पदपाठः । 'शाश्विन -पविकमेषाम्' इति पैप्प० सं० । 'एकेनापिबैकमेषाम्' (च०) 'परिपान्तु' इति सायणाभिमतः ।

(एकेन) एकके बलपर (स्नाहि) अपना राज्याभिषेक कर और (एषाम्) इनमें से (एकम्) एक का (पिब) पान कर अर्थात् प्रजाजन से उपयोग कर। ये (चतुर्वीरम्) चारवीरों से युक्त वीर (अस्मान्) हमको (चतुर्भ्यः) चार प्रकार के (नैर्ऋतेभ्यः) पाप, अनाचार सम्बन्धी (ग्राह्याः) ग्राही पकड़ लेने वाली क़ैद आदि बन्धनों से (परिपातु) सुरक्षित रक्खें। अथवा पाठान्तर है—(स्नाहि एकेना पिबैकमेषां चतुर्वीरम्० इत्यादि) (अपि वा) और (एषाम्) उनमें से (एकं चतुर्वीरः) एक चार सामर्थ्यों से युक्त होकर हमें क़ैद के चार प्रकार के बन्धनों से सुरक्षित रक्खे।

अध्यात्म में—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार सामर्थ्यों से युक्त प्रभु 'आंजन' है, चारों में से धर्म से प्रसिद्धि प्राप्त करे, अर्थ से लक्ष्मी संग्रह करे, मोक्ष से स्नान करे, पवित्र हो और कामका भोग करे। और चारों सामर्थ्य प्राप्त करके ग्राही, अविद्या के चतुर्विध बन्धनों से मुक्त रहे।

अ॒ग्निर्मा॒ग्निना॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स॒
ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥६॥

भा०—(अग्निः) अग्नि, आचार्य या अग्रणी नेता या शत्रुसंतापक सेनापति या ज्ञानमय प्रभु (अग्निना) अपने अग्निस्वरूप या सामर्थ्य द्वारा (प्राणाय) प्राण, (अपानाय) अपान, (आयुषे) दीर्घ जीवन, (वर्चः) ब्रह्मवर्चस्, (ओजसे) ओज, (तेजसे) तेजस् (स्वस्तये) सुखपूर्वक जीवन और (सुभूतये) उत्तम विभूति समृद्धि के प्राप्त करने के लिये (मा अवतु) मेरी रक्षा करे। (स्वाहा) यह हमारी उत्तम प्रार्थना सफल हो।

इन्द्रो॑ मेन्द्रि॒येणा॑वतु प्रा॒णाया॑० ॥७॥ सोमो॑ मा सौ॒म्येना॑वतु० ॥८॥

६–(प्र०) 'मा अग्निना' इति पैप्प० सं०।
७–(प्र०) 'मा इन्द्रियेण' इति पैप्प० सं०।

भगो॑ मा भगे॑नावतु० ॥९॥ मरुतो॑ मा गणैर॑वन्तु प्राणाया॑पाना॑यायु॑षे वर्च॑स ओज॑से तेज॑से स्वस्तये॑ सुभूतये॑ स्वाहा॑ ॥१०॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (इन्द्रियेण) अपने ऐश्वर्य से (सोमः सौम्येन) सोम अपने सौम्यगुण से (भगः) भग, ऐश्वर्यवान् अपने (भगेन) अपने ऐश्वर्य प्राप्त करने के गुण से (मरुतः) मरुत् गण अपने (गणैः) गणों से (प्राणाय, अपानाय, आयुषे, वर्चसे, ओजसे, तेजसे, स्वस्तये सुभूतये) प्राण, अपान, आयु. वर्चस्, ओज. तेज, सुखपूर्वक जीवन और उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (मा अवतु) मेरी रक्षा करें. (स्वाहा) यह हमारी उत्तम प्रार्थना है ।

राष्ट्र में अग्नि=अग्रणी सेनापति। सोम=न्यायाधीश। भग=करसंग्राहक। मरुतः=सेना के सैनिक या प्रजागण ये सब मेरे प्राण आयु वीर्य स्वास्थ्य ऐश्वर्य के लिये रक्षा करें। ईश्वर में ये सब गुण घटित हैं। अतः वह अपने ज्ञान, शान्ति, ऐश्वर्य और नाना शक्तियों से मेरी रक्षा करे।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वादश सूक्तानि। पञ्चसप्ततिश्च ऋचः]

[४६] अस्तृत नाम वीर पुरुष की नियुक्ति ।

प्रजापतिर्ऋषिः । अस्तृतमणिर्देवता । १ पञ्चपदा मध्येज्योतिष्मती त्रिष्टुप् । २ षट्पदा भुरिक् शक्वरी । ३, ७ पञ्चपदे पथ्यापंक्ती।१ । ४ चतुष्पदा । ५ पञ्चपदा च अतिजगत्यौ । ६ पञ्चपदा उष्णिग्गर्भा विराड् जगती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

१०–'सुप्रभूतये' इति पैप्प० सं० ।

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्याय कम्।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ १ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (प्रजापतिः) प्रजा का पालक स्वामी (वीर्याय) वीर्य, वीर कर्म के लिये (प्रथमम्) सबसे प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (अस्तृतम्) शत्रु से कभी न मारे जाने वाले (त्वा) तुझको (कम्) ही (बध्नात्) बांधता है । हे राजन् ! उस वीर पुरुष को मैं (ते) तेरी (आयुषे) आयु (वर्चसे) वर्चस् (ओजसे) ओज और (बलाय) बल के लिये (बध्नामि) तेरे अधीन नियुक्त करता हूं । वह (अस्तृतः) कभी न मरने वाला, अखण्ड पुरुष (त्वा अभि रक्षतु) तेरी रक्षा करे ।

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन् पणयो यातुधानाः ।
इन्द्र इव दस्यूनव धूनुष्व पृतन्यतः सर्वाञ्छत्रून् वि षहस्वास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥२॥

भा०—हे (अस्तृत) कभी न मरने वाले, अखण्डित पुरुष ! तू (ऊर्ध्वः) सबसे ऊपर रह कर (रक्षन्) इस राजा और राष्ट्र की रक्षा करता हुआ (अप्रमादम्) बिना प्रमाद के (तिष्ठतु) रहे । (इमं त्वा) इस तुझको (यातुधानाः) पीड़ादायी, (पणयः) व्यवहार-कुशल असुर लोग (मा दभन्) विनाश न करें । और (पृतन्यतः) सेना द्वारा आक्रमण करने वाले (दस्यून्) नाशकारी डाकू लोगों को (इन्द्र इव) विद्युत्

[४६] १–(प्र०) 'अबध्नात्' इति क्वचित् । (तृ०) 'तं ते' इति क्वचित् । (प्र० द्वि०) 'बध्नातु प्रथमजन्त्वं' (च० पं०) 'वर्चसौजसे' इति पैप्प० सं० ।

२–'तिष्ठन्त', 'तिष्ठित', 'तिष्ठन्त' । इति नाना पाठाः । 'तिष्ठन्' इति ह्विट्निकामितः । 'वस्तूनम्' इति पैप्प० सं० ।

के समान या प्रबल वायु के समान, या प्रबल राजा के समान (अव धूनुष्व) धुन डाल, मार भगा। और तू (अस्तृतः) अखण्डित रह कर ही (सर्वान् शत्रून्) समस्त शत्रुओं को (वि षहस्व) खूब परास्त कर। हे राजन् (त्वा अस्तृतः अभि रक्षतु) तेरी वह अस्तृत नाम का वीर योद्धा रक्षा करे।

शतं चन प्रहरन्तो निघ्नन्तो यं न तस्तिरे।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥३॥

भा०—(शतं चन) सैकड़ों आदमी भी एक ही समय में (प्रहरन्तः) प्रहार करते हुए और (निघ्नन्तः च) मारते हुए भी उसके मुकाबले में (न तस्तिरे=तस्थिरे) सर्वथा भी न ठहर सकें। (तस्मिन्) ऐसे वीर्यवान् पुरुष में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा अपना (चक्षुः) चक्षु अर्थात् निरीक्षण और (प्राणम्) अपनी प्राणरक्षा का कार्य और (बलम्) समस्त बल, सेना समूह (परि अदत्त) सौंप देता है। हे राजन्! वह (अस्तृतः) अहिंसनीय, पुरुष (त्वा अभि रक्षतु) तेरी रक्षा करे।

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधिराजो बभूव।
पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेऽस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥४॥

भा०—हे वीर पुरुष! (इन्द्रस्य) उस इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा के (वर्मणा) रक्षाकारी कवच से (त्वा) तुझको (परि धापयामः) ढांपते हैं,

---

३-(प्र० द्वि०) 'चन' इत्येकं पदम्। 'विघ्नन्तः' इति प्रायः। विघ्नन्तो यं न' इति ह्विटनिकामितः। 'तस्थिरे' 'निरस्तिरे'। इति क्वचित्। 'तत्रिरे' इति ह्विटनिकामितः। 'तस्तरि' इति सायणाभिमतः। (तृ०) 'पर्यदन्त', 'पर्यदन्तश्च-' इति क्वचित्। 'परि यद् अन्तश्चक्षुः' इति सायणाभिमतः।

४-(प्र०) 'परिधामे' इति पैप्प० सं०।

(यः) जो (देवानाम्) देव, समस्त ज्ञानवान् विद्वानों, वीर विजयी राजाओं का भी (अधिराजः) अधिराज अर्थात् राजाधिराज (बभूव) है। (देवाः) वे समस्त विजिगीषु राजा लोग (सर्वे) (त्वा) तुझको (पुनः) फिर एक बार (प्रणयन्तु) अपना प्रमुख बनावें। हे राजन्! (अस्तृतः त्वा अभि रक्षतु) अखण्डनीय वीर पुरुष तेरी रक्षा करे।

अस्मिन् मणावेकशतं वीर्या॑णि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते।
व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान् यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृत स्त्वाभि रक्षतु ॥५॥

भा०—(अस्मिन् मणौ) इस मणि अर्थात् शिरोमणि एवं शत्रुओं को स्तम्भन करने में समर्थ पुरुष में (एकशतं वीर्याणि) एकसौ एक या सैकड़ों वीर्य, वीर कर्म करने के सामर्थ्य हैं। और (अस्मिन् अस्तृते) इस अखण्ड, वीर पुरुष में (सहस्रं प्राणाः) सहस्र प्राण हैं अर्थात् हज़ारों प्राणियों के जीवित रखने की सामर्थ्य है या हज़ारों प्राणियों के बराबर कार्य करने का बल है।

हे राजन् या वीर पुरुष! तू (व्याघ्रः) व्याघ्र के समान शूरवीर होकर (सर्वान् शत्रून्) समस्त शत्रुओं पर (अभितिष्ठ) आक्रमण कर और (यः) जो (त्वा) तुझपर (पृतन्यात्) सेना द्वारा आक्रमण करे (सः) वह ही (अधरः अस्तु) तेरे नीचे आ पड़े। ऐसे अवसर में (अस्तृतः त्वा अभि रक्षतु) 'अस्तृत' अखण्डनीय, वीर पुरुष तेरी रक्षा करे।

घृतादुल्लु॑प्तो मधु॑मान् पय॑स्वान्त्सहस्र॑प्राणः शतयो॑निर्वयोधाः।
शंभूश्च॑ मयोभूश्चोर्ज॑स्वांश्च पय॑स्वांश्चास्तृत स्त्वाभि र॑क्षतु ॥६॥

६–(प्र०) 'उद्धृतः' इति पैप्प० सं०। 'घृतादुल्लुप्तो', 'घृतादुल्लुप्तः' इति क्वचित्। 'सहस्रं प्राणः' इति क्वचित्। 'सहस्रं प्राणः' इति पैप्प० सं०।

भा०—(घृतात्) तेज से (उल्लुप्तः) मधु, ज्ञान, अन्न और शत्रुनाशक बल से सम्पन्न, (पयस्वान्) वीर्यवान्, यशस्वी, (सहस्रप्राणः) सहस्र गुण जीवन शक्ति से युक्त, (शतयोनिः) सैकड़ों अपने आश्रय-स्थानों का स्वामी, (वयोधाः) अन्न को अपने भण्डार में सञ्चित करके रखने वाला, (शं भूः च) शान्ति और कल्याण का उत्पादक, (मयो भूः च) सुख का उत्पादक, (ऊर्जस्वान् च) परम अन्नादि से सम्पन्न या बलयुक्त, (पयस्वान् च) और वीर्यवान्, पुष्टिमान् होकर (अस्तृतः) अखण्ड वीर पुरुष 'अस्तृत' (त्वा अभि रक्षतु) तेरी रक्षा करे।

यथा त्वमुत्तरोऽसो असपत्नः सपत्नहा।
सजातानामसद् वशी तथा त्वा सविता करदस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥७

भा०—(यथा) जिस प्रकार से हे राजन्! (त्वम्) तू (उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट, (असपत्नः) शत्रुरहित, (सपत्नहा) और शत्रुओं को नाश करने वाला होकर (असत्) रहे और (सजातानाम्) समान बल वीर्य वाले समस्त राजाओं को (वशी) अपने वश में करने वाला (असत्) हो (तथा) उस प्रकार से (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझे (करत्) बनावे और (अस्तृतः) वह अखण्ड वीर पुरुष (त्वा अभि रक्षतु) तेरी रक्षा करे।

'अस्तृत' अखण्डित, अहिंसित, अनाच्छादित, जिसको कोई घेर न सके इत्यादि विशेषण अध्यात्म में परब्रह्म पर लगते हैं। सामान्यतः कवच पर भी ये विशेषण किसी २ मन्त्र में जाते हैं। परन्तु किसी मणि या तावीज़ आदि जड़ पदार्थ में शत्रु नाश करने आदि के गुण होने असम्भव हैं अतः सायण, ग्रिफ़िथ, ह्विटनि आदि का तत्परक अर्थ करना असंगत है या ऐसे वीर पुरुष को जो स्वयं 'अस्तृत' कहाने योग्य है जो विशेष मान सूचक पदक आदि दिया जाय वह उपचार से या लक्षणा से 'अस्तृत' कहा

जा सकता है। 'अस्तृत' का स्वरूप देखो (अथर्व० १ । २० । ४) 'शास इत्था महान् असि मित्रसाहो अस्तृतः । न यस्य हन्यते सखा । न जीयते कदाचन ।' परमात्मा पक्ष में–'अस्तृत' जैसे (अथर्व ५ । ८ । ७) 'सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो अन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् । अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥

[४७] रात्रिरूप ब्रह्मशक्ति और राष्ट्रशक्ति ।

गोपथ ऋषिः । मन्त्रोक्ता रात्रिर्देवता । १ पथ्याबृहती । २ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती । ६ पुरस्ताद् बृहती । ७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । शेषा अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः ।
दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥१॥

यजु० ३४ । ३२ ।॥ ऋ०१० । १२७ । खिले ॥

भा०—हे (रात्रि) रात्रि ! समस्त प्राणियों को रमण कराने हारी (पार्थिवः) पृथिवी का (रजः) लोक (पितुः) सर्वपालक, पिता परमात्मा के बनाये (धामभिः) तेजों से (अप्रायि) पूर्ण है । और तू (बृहती) बड़ीभारी शक्ति वाली होकर समस्त (दिवः) द्यौलोक या आकाश में वर्त्तमान (सदांसि) समस्त लोकों में (वितिष्ठसे) विविध प्रकार से विराजमान है (त्वेषं) दीप्तिमान चन्द्र, तारागणों से सुशोभित (तमः) अन्धकार (आ वर्तते) सर्वत्र व्याप रहा है ।

समस्त प्राणियों को जीवन देने वाला समष्टि प्रकृति रात्रि है । उस पालक प्रजापति की शक्ति संसार के समस्त पृथिवी लोकों में फैली है और वह जीवोत्पादक शक्ति द्यौलोक अर्थात् तेजोमय सूर्य आदि में भी व्याप्त

[४७] १–(द्वि०) 'पितुः प्राप्य–' (तृ०) 'तिष्ठति' ।

है। जहां २ तम या जड़ पदार्थ है वहां साथ २ 'तेज' का अंश भी उसी प्रकार फैला है जैसे रात्रि के अन्धकार में तारे अर्थात् जड़ता की चादर में चेतन जीवों को छिटक रक्खा है। या महान् ब्रह्माण्ड जड़ संसार में ब्रह्म की तीव्र गति, चेतना उसके भीतर व्याप्त है।

सोमो रात्रिः । श० ३ । ४ । ४ । १५ ॥ रात्रिर्वरुणः । ऐ० ४ । १० ॥ वारुणी रात्रिः । ऐ० ४ । १० । यो राजसूयः स वरुणसवः । तै० २ । ७ । ६ । १ । राज्ञः एव राजसूयम् । श० ५ । १ । १ । १२ । स राजसूयेनेष्ट्वा राजा इति नाम अधत्त । गो० ५ । ५ । ८ । ब्रह्मणो वै रूपमहः । क्षत्रस्य रात्रिः । तै० ३ । ६ । १४ । ३ । इत्यादि प्रमाणों से प्रजा की पालक राज्यव्यवस्था का नाम भी 'रात्रि' है। उस पक्ष में हे रात्रि ! राजशक्ते ! पालक राजा के तेजों से यह पृथ्वी लोक व्याप्त है। तू महान् होकर (दिवः सदांसि) उच्च ज्ञान प्रकाश के गृहों, भवनों और विद्वानों पर शासन करती है, तेरा चमकीला प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है।

न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद् विश्वमस्यां नि विशते यदेजति। अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥२॥ ऋ० १० । १२७ । खिल ६ ॥

भा०—रात्रि का स्वरूप ! (यस्याः) जिस अनन्त प्रकृति का (पारं न ददृशे) पार दिखाई नहीं देता (अस्याम्) इसमें (यत्) जो भी लोक (एजति) गति कर रहा है वह (विश्वम्) समस्त लोक (अस्यां) इसमें ही (न यो युवत्) उससे पृथक् न रहता हुआ (निविशते) आश्रय ले रहा है। (हे) उर्वि ! पृथ्वी के समान आश्रय देने वाली ! हे (तमस्वति) तमोगुण से युक्त, हे (रात्रि) जीवों को अपने में रमण कराने वाली भोग-

२–(द्वि०) 'योयवद्', 'निविशते रेजति' इति पैप्प० सं० ।

दात्रि ! हम (अरिष्टासः) विना दुःख कष्ट प्राप्त किये (ते) तेरे (पारम्) पार अर्थात् पालन करने वाले सामर्थ्य का (अशीमहि) भोग करें। हे (भद्रे) कल्याणकारिणि ! सुखदायिनि ! (ते पारम् अशीमहि) तेरे पालन सामर्थ्य को प्राप्त करें।

ये तें रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नवं ।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो तें सप्त संप्ततिः ॥३॥

भा०—हे (रात्रि) समस्त प्रजा को रमण कराने एवं सुख प्रदान करने वाली राजशक्ते ! (ते ये) तेरे जो (नृचक्षसः) मनुष्यों को देखने वाले और (द्रष्टारः) राज्यव्यवहारों को देखने वाले (नवतिः नव) ९९ (निन्यानवे) या (अष्टा अशीतिः) अठासी [८८] (उतो) या (ते) तेरे कार्यद्रष्टा (सप्त सप्ततिः) सतहत्तर [७७] (सन्ति) हैं।

षष्टिश्च षट् चं रेवति पञ्चाशत् पञ्चं सुम्नयि ।
चत्वारंश्चत्वारिंशच्चं त्रयंस्त्रिंशच्चं वाजिनि ॥४॥
द्वौ चं ते विंशतिश्चं ते रात्र्येकांदशावमाः ।
तेभिर्नो अद्य पायुभिर्नु पांहि दुहितर्दिवः ॥५॥

भा०—हे (रेवति) धनवति ! ऐश्वर्यवती राजशक्ते ! हे (सुम्नयि) प्रजा को सुख देनेहारी ! हे (वाजिनि) अन्न और बल से सम्पन्न ! हे रात्रि ! प्रजा सुखदात्रि ! हे (दिवः दुहितः) द्यौः=आदित्य की पुत्री, उषा के समान प्रकाश करने वाली (दिवः दुहितः) प्रकाश को दोहन, पूर्ण करने या प्रदान करने वाली राजसभे ! राजशक्ते ! (ते) तेरे जो प्रजा

३-(तृ०) 'सन्त्यष्टा' इति ऋ० १०। १२७। खिले २॥
५-(द्वि०) 'रात्री एका-' इति पैप्प० सं० । (च:) 'नि पाहि' इति ह्विटनिकामितः ।

राज्य के व्यवहारों के देखने वाले संख्या में (षट् च षष्टिः श्च) छियासठ ६६ या (पञ्च पञ्चाशत्) पचपन, ५५, (चत्वारः चत्वारिंशत् च) चवालीस ४४ और या (त्रयः त्रिंशत् च) तैंतीस या (द्वौ च विंशतिः च) बाईस २२ या (अवमाः) सबसे कम (एकादश) ग्यारह विद्वान् पुरुष हैं (नः) हमें (अद्य) निरन्तर (तेभिः पायुभिः) उन पालन करने वाले देश पालक पुरुषों से (पाहि नु) हमें अवश्य पालन कर ।

अर्थात् राजसभा में ६६, ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२, या कमसे कम ११ विद्वान् हों उनके ऊपर राज्यकार्यों का देखने का भार हो । उन सभासदों का नाम 'नृचक्षा' है । इन्द्र की राजसभा में १००० ऋषि थे । इसीसे वह सहस्राक्ष कहाता था । अर्थशा० कौ० ।

'योनिरेव वरुणः' । शा० १२ । ६ । १ । १७ ॥ इस प्रमाण से गत सूक्त में शतयोनि का तात्पर्य 'शतवरुण' समझना चाहिये अर्थात् जिसके अधीन सौ प्रजा के स्वयंवृत नेता हों । वे प्रजा को संभालें इसीसे वे 'शत-धाम' कहाते हैं ।

रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत ।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत ॥६॥
माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः ।
परमेभिः पथिभिस्तेनो धावतु तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥७॥

(प्र०) ऋ० ६ । ७१ । ३ ॥ च० । यजु० ३३ । ६९॥

भा०—हे राजशक्ते ! तू हमारा ऐसा (रक्ष) पालन कर कि (नः) हम पर (अघशंसः) हत्या और पाप कार्यों की चर्चा करने वाला दुष्ट

६-(प्र०) 'माकिर्नो' इति पैप्प० सं० ।

अथो यानि च यस्माह [चयामहे] यानि चान्तः परीणहि ।
तानि ते परि दद्मसि ॥१॥

भा०—(अथो) और (यानि) जिन पदार्थों को हम [चयामहे] संग्रह करते हैं (यानि) जिन वस्तुओं को (अन्तः) भीतर (परि नहि) सब ओर से बन्द सन्दूक आदि में रखते हैं (तानि) उन सब धन, वस्त्र आदि को (ते) तेरे ही अधीन (परि दद्मसि) हम धारण करते हैं या (परि दद्मसि) तेरे अधीन, तेरी रक्षा में रखते हैं ।

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि ।
उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥ २ ॥

अथर्व० १९ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (मातः) माता के समान राष्ट्र का पालन करने वाली, (रात्रि) प्रजा को सुख देने वाली ! तू (नः) हमको (उषसे) उषा को (परिदेहि) सौंप दे । अर्थात् हम सुख से रात में सोकर स्वस्थ रूप में प्रातःकाल उठें । राजा के पक्ष में हे रात्रि राजशक्ते ! तू (नः उषसे) हमें उषा अर्थात् दुष्टों का दहन करने वाली दमनकारिणी (पोलिस) के अधीन करदे या (उषसे) ज्ञानमयी, प्रकाशमयी विद्वत्-सभा के अधीन करदे । और जिस प्रकार उषा समस्त जीवों को दिन के अधीन कर देता

[४८] १-(प्र०) 'यानि च यस्मा आह', 'यानि च यस्मा वह', 'यानि च या महे', यानि याचा महे' इति पाठभेदाः । 'यानि चयामहे' इति ह्विटनिकल्पितः पाठः । यानि । च । यस्मै । ह–' यानि । च । यस्मै । आह । इति पदपाठ भेदौ । (द्वि०) 'यानितः नः परीनाहि' इति क्वचित् । 'या न इद । अन्तः', यानि । वा । अन्तः'-इति वा पाठभेदः । ददामि इति क्वचित् । 'अधो यानि चयामहे यानि चान्तः परीणहि' इति पैप्प० सं० ।

है उसी प्रकार (उषा) वह पूर्वोक्त उषा (नः) हमें (अह्ने) न दण्ड देने योग्य, आदरणीय ब्राह्मणगण के अधीन (परिददातु) सौंप दे। और हे (विभावरि) विभावरि ! विशेष रूप से तेजस्विनि ! हे पूर्वोक्त रात्रि ! (अहः) दिन जिस प्रकार जीवों को रात्रि के अधीन कर देता है उसी प्रकार वह ब्राह्मणगण फिर (तुभ्यम्) तुझ पूर्वोक्त रात्रि अर्थात् राजशक्तियों व दुष्टों को दमन करने वाली शक्ति के अधीन सौंप दे।

यत् किं चेदं पतयति यत् किं चेदं सरीसृपम्।
यत् किं च पर्वतायासत्वं [पद्वदा सुन्वत्] तस्मात् त्वं रात्रि पाहि नः ॥३॥

भा०—(यत् किं च) जो कुछ प्राणिवर्ग (इदं) यह या इस प्रकार (पतयति) घूमा करते हैं या ऊपर से हम पर टूटते हैं और (यत् किं च इदम्) ये जो कुछ (सरीसृपम्) सरकने वाले, सांप आदि प्राणि हैं। और (यत् किञ्च) जो कुछ प्राणी (पर्वते) पर्वतों में (आ; असत्) विद्यमान हैं अथवा (पद्वत् आ सुन्वत्) पैरों वाले प्राणिवर्ग हमारे समीप विचरता है, हे (रात्रि) राजशक्ते ! (तस्मात्) उन सब प्राणियों से (त्वं) तू (नः पाहि) हमारी रक्षा कर।

तृतीय चरण में नाना पाठ उपलब्ध हैं-'पर्वतायासत्वं', 'पर्वतास त्वं' 'पर्वण्यासक्तं'। इत्यादि। पैप्पलाद में-'पद्वदासुन्वन्' है हमारी सम्मति में पाठकारूप होना चाहिये।

३-(तृ०) 'पर्वतायासत्वं' इति प्रायिकः पाठः। 'पर्वताय। सः। त्वम्' इति पदपाठो बहुत्र। 'पर्वताय। असत्वन्' इति सायणाभिमतः। 'च पर्वतासत्वं' इति शं० पा० नुमितः पाठः। 'पर्वण्यासक्तं' इति हिट्न्यनुमितः। पद्वदासुन्वत्' इति पैप्प० सं०। (प्र०) पतपति इति क्वचित्।

'यत् किंच पद्गदालुन्वन् तस्मात् त्वं रात्रि पाहि नः ।'

अर्थात् एक 'त्वं' पद अधिक है । पैप्पलाद का पाठ अधिक स्पष्टार्थ है ।

सायणसम्मत पाठ है-'यत् किंच पर्वतायासत्वं' अर्थात (यत् किंच) जो कोई (पर्वताय) पर्वत का (असत्वम्) असत्व अर्थात् दुष्ट सत्व, व्याघ्र सिंह आदि हैं ।

सा पश्चात् पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत ।
गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥४॥

भा०—(सा) वह तू (पश्चात् पाहि) पीछे से या पश्चिम दिशा से हमारी रक्षा कर । (सा) वह तू (पुरः) आगे से या पूर्व दिशा से हमारी रक्षा कर । (सा उत्तरात्) वह तू उत्तर दिशा से या बायीं ओर से या ऊपर से हमारी रक्षा कर । (उत अधरात्) और नीचे से या दायीं ओर से भी रक्षा कर । हे (विभावरि) विशेष तेज से सम्पन्न पूर्वोक्त रात्रि ! तू (नः) हमें (गोपाय) रक्षा कर (ते) तेरे हम (इह) यहां (स्तोतारः स्मसि) स्तुति करने वाले यथार्थ गुण कहने वाले हैं ।

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति
ते नः पशुषु जाग्रति ॥ ५॥

भा०—(ये) जो (रात्रिम्) रात्रि, उस सुखप्रद और दुष्टों को दण्ड देने वाली व्यवस्था को या सर्वोपरि राजमान् राष्ट्र शक्ति को (अनुतिष्ठन्ति) ठीक प्रकार से चलाते हैं और (ये) जो (भूतेषु) समस्त भूतों और प्राणियों में (जाग्रति) जागते हैं, सदा सावधान रहते हैं । और (ये) जो (सर्वान्)

५-'जाग्रतु' इति ह्विटनिदर्शितः । (द्वि०) 'येषु भूतेषु' (च० पं०) तेन स्वपन्ति जाग्रतु ते नः पशुभिर्जाग्रतु' । इति पैप्प० सं० ।

समस्त (पशून्) पशुओं की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (ते) वे सब व्यवस्थापक राज्य कार्यों को चलाने हारे पुरुष (नः आत्मसु) हमारे शरीरों पर भी उनकी रक्षा के निमित्त सावधान (जाग्रति) जागते हैं । और (ते) वे (नः) हमारे (पशुषु) पशुओं के रक्षा-कार्य में भी (जाग्रति) सावधान होकर रहते हैं । व्यापक ईश्वरीय शक्ति के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

वेद वै रात्रि ते नाम घृताची नाम वा असि ।
तां त्वां भरद्वाजो वेद सा नो वित्तेऽधि जाग्रति ॥६॥

भा०—हे (रात्रि) रात्रि! समस्त जगत् को अपने भीतर लेने वाली सर्वोपरि विद्यमान शक्ते ! (ते नाम अहं वेद) तेरा नाम मैं जानता हूं कि तू (घृताची नाम) 'घृताची' नामक (असि) है । (भरद्वाजः) भरद्वाज, अन्न और बलों को धारण करने वाला (तां त्वाम्) उस तुझको (वेद) जानता या प्राप्त करता है । (सः) वह (नः) हमारे (वित्ते) समस्त प्राप्त करने योग्य पदार्थों पर (जाग्रति[1]) जागती है, सावधान होकर रहती है । सब की रक्षा करती और यथासमय प्राप्त कराती है ।

'घृताची'—घृ क्षरणदीप्त्योः (चुरादिः) गृ घृ सेचने (भ्वादिः) एताभ्यामौणादिकः कः । जिघर्त्ति सञ्चलति दीप्यते वा तद् घृतम् । उदकं सर्पिः प्रदीप्तं वा । इति दया० । सेचयत्यनेन भूमिं पर्जन्यः । क्षरति मेघात् । दीप्तं वा स्वेन तेजसा देवतात्वात् घृतमन्नावस्थायलक्षणं जलं तदञ्चति । अञ्चतेर्गत्यर्थात् क्विनि टीपि, घृताची । इति देवराजः । घृत जल है । इससे मेघ पृथ्वी को सींचता है । या घृत तेज है अर्थात् वह परमात्मा की जलदात्री, जीवनदात्री, तेजोदात्री, मेघ, सूर्य, वायु रूप से प्राणप्रद शक्ति घृताची,

६–(द्वि०) 'वात्रि', (तृ०) 'ता त्वा', (च०) 'जागृहि' इति पैप्प० सं० ।

१.—जागर्त्तेर्लेटि अडागमो गुणाभावश्चेति सायणः ।

रात्रि है । उसके तत्व को 'भरद्वाज' अन्नोत्पादक विद्वान् जानते हैं । अध्यात्म में-मनो वै भरद्वाजऋषिः । अन्नं वाजः । यो वै मनो बिभर्त्ति सो अन्नं वाजं बिभर्त्ति । तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः । मन भरद्वाज है । अन्न वाज है । वही शरीर में रहकर समस्त प्राणों को धारण करता है । वह आत्मा के घृताची शक्ति को जानता है ।

[४९] 'रात्रि' परम शक्ति का वर्णन ।

गोपथो भरद्वाजश्च ऋषी । रात्रिर्देवता । १–५, ८ त्रिष्टुभः । ६ आस्तारपंक्तिः । ७ पथ्यापंक्तिः । १० अवसाना षट्पदा जगती । दशर्चं सूक्तम् ॥

इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य ।
अश्वक्षभा सुहवा संभृतश्रीरा पप्रौ द्यावापृथिवी महित्वा ॥१॥

भा०– जिस प्रकार (युवतिः) युवती स्त्री (सवितुः) पुत्रोत्पादन करने में समर्थ पुरुष की (इषिरा) इच्छा का विषय या अनुकूल रमण करने वाली होती है और (दमूनाः) उसी के अधीन अपने चित्त को वश करके रहती है उसी प्रकार (रात्रिः) समस्त जगत् को व्यक्त रूप प्रदान करने वाली, महती प्रकृति शक्ति (भगस्य) सबके भजन करने योग्य, सर्वैश्वर्यवान्, (सवितुः) सर्वोत्पादक, सर्व जगत् के सञ्चालक, (देवस्य) सर्व प्रकाशमान, सर्वज्ञानप्रद परमेश्वर के लिये सूर्य के लिये रात्रि के समान ही (इषिरा) अपनी इच्छा शक्ति द्वारा प्रेरित करने योग्य होती है । अर्थात् ईश्वर अपनी कामना या इच्छा से प्रकृति को जगत्-सृष्टि के लिये प्रेरित करता है । प्रकृति की अविकृत वह अवस्था अर्थात् जब जगत् अव्यक्त रूप में प्रकृति में लीन रहता है वेदोक्त 'रात्रि' है । उस दशा में विद्यमान प्रकृति में ईश्वर की प्रेरणा से सृष्टि का उत्पादक क्षोभ उत्पन्न होता है । वह स्वयं उस परमात्मा की (योषा)

[४९] १–'संभृतः श्रीरा रोद सीदेदृ' । (तृ०) 'विभ्यचा' इति ह्विटनिकामितः ।

स्त्री के समान नित्य निरन्तर संग करने वाली अर्थात् ईश्वर के सम्पर्क से उसकी शक्ति तेज या वीर्य से गर्भित होकर समस्त सृष्टि को उत्पन्न करने वाली (युवतिः) सदा जवान, सदा स्थिर रूप से संगत' और निरन्तर सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ, (दमूनाः) और स्वयं दान्तमना अर्थात् मनन या चेतना से रहित केवल परमात्मा के ही संकल्प से चलने वाली अथवा दान्त-मनाः' अर्थात् दमनकारी ईश्वर के द्वारा स्तम्भित, उसके वशी-भूत है । वही प्रकृति (अश्वक्षभा=अशु-अक्ष-भा) अति शीघ्र व्यापक शक्ति से सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ हुई। (सुहवा) उत्तम रीति से पति की आज्ञा में रहने वाली स्त्री के समान वह भी 'सुहवा' उत्तम रीति से उसके वशी भूत, (संभृत-श्रीः) समस्त शोभाओं को स्वयं धारण करने वाली, अथवा (सं हृत श्रीः) एकत्र प्राप्त हुए समस्त विकृत पदार्थों पञ्चभूतों का आश्रय स्थान, वह प्रकृति रूप ब्रह्मशक्ति अपने महित्वा) महान् सामर्थ्य से (द्यावा-पृथिवी आ पप्रौ) द्यौ और पृथिवी, समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप रही है ।

राजशक्ति के पक्ष में—वह (दमूनाः) दमनकारिणी, (देवस्य सवितुः भगस्य) सबके सञ्चालक ऐश्वर्यवान् राजा की निरन्तर बलवती इच्छा के अनुकूल प्रेरित (अशु-अक्षभा) शीघ्रकारी चतुर इन्द्रियों के समान उसके साथ जुड़े अध्यक्ष पुरुषों से शोभामान, (सुहवा) उत्तम ज्ञान से पूर्ण या (संभृतश्रीः) राष्ट्र लक्ष्मी को धारण करने वाले अपने महिमा, सामर्थ्य से (द्यावापृथिवी आपप्रौ) द्यौ और पृथिवी, राजा और प्रजा दोनों को पूर्ण करता है । अर्थात् दोनों को सम्पन्न समृद्ध करता है ।

अ॒ति विश्वा॑न्यरुहद् ग॒म्भी॒रो वर्षि॑ष्ठमरुहन्त॒ श्रवि॑ष्ठाः ।
उ॒श॒ती रात्र्यनु॒ सा भ॒द्राभि ति॑ष्ठते मि॒त्र इ॑व स्व॒धाभिः॑ ॥२॥

२–अभिविश्वान्यरुहद् गम्भीरोऽवर्षिष्ठमरहद् श्रविष्ठा ।
'उशती रात्र्यनुसानो भद्रानि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः ॥ इति ह्विटनिशोधितः पाठः ।

अथवा—(गम्भीरः) गम्भीर, सर्वव्यापक, निगूढ परम मेघ, सबका परम गन्तव्य, महान् पुरुष ही (विश्वानि. [विश्वा]) समस्त पदार्थों और लोकों के भी ऊपर (अति [अभि, अधि] असहत्) अधिष्ठातृ रूप से विराजता है। और (श्रविष्ठाः) श्रुति, ब्रह्मज्ञान या ऐश्वर्यवान्, विभूति-सम्पन्न, युक्त योगी पुरुष उस (वर्षिष्ठम्) सबसे महान्, सबके प्रति आनन्दवर्षण करने हारे परमेश्वर तक (असहन्त) पहुंचते हैं। (उशती) उसी की कामना करने वाली (सा) वह (भद्रा) अति सुखकारिणी (अनु) उसके पीछे २, उसके अनुकूल ही, उसकी वशवर्त्तिनी होकर, अपनी (स्वधाभिः) स्वधा, विश्व को धारण करने की शक्तियों सहित, कामनायुक्त स्त्री जिस प्रकार प्रियतम के पास आजाती है उसी प्रकार (मित्र इव) उसके मित्र के समान होकर (अभि तिष्ठते) उसके प्रति, उसके सन्मुख आ उपस्थित होती है।

गम्भीर राजा सबके ऊपर शासक हो, विद्वान् लोग उसके आश्रय पर रहें। वशकारिणी राजशक्ति अपने धारण सामर्थ्यों से राजा प्रजा के मित्र के समान प्रकट होती है।

अतिविश्वान्यर्हद् गम्भीरो वर्षिष्ठमर्हति श्रविष्ठा ।
उशती रात्र्यनु सा भद्रा वितिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः ॥ इति सायणाभिमतः ।
अतिविश्वान्यरुहद् गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः ।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः ॥ शं० पा० ।

'अवि', 'अर्वि', 'अभि', 'अधि'। 'अरुहन्', 'अर्हत्', 'अरुहत्', 'अरुहत्'। 'गम्भीरा', 'गम्भीरो'। 'अरुहन्तः', 'अरहत', 'अरुहन्त', 'अर्हति' 'वा अरहत'। 'श्रविष्ठाः', 'श्रविष्ठा', 'शविष्ठा'। 'उशतीरात्र्यनुसाभद्राहि'—'नुसाम-द्राहि' 'अनुसाम-' 'द्राहि', 'प्रावि', 'प्राहि' इति नाना पाठाः, इद्वर्षिष्ठ मरुहद् श्रविष्ठा। उशतीरात्र्यनुसानुभद्राद्, इति-पैप्प० सं०।

अथवा—सायण, ह्विटनी आदि के सम्मत पाठों के अनुसार (अधि विश्वा न्यरुहत् गम्भीरा) गम्भीर रूप रात्रि, सबके अभिगमनीय या अति गम्भीर राजशक्ति, राष्ट्र के समस्त पदार्थों पर गम्भीर रात्रि के समान अपना अधिकार करती है। और वह अविष्ठा [शविष्ठा] अति अधिक बल, वीर्य और यश और अन्न से समृद्ध होकर (वर्षिष्ठं द्याम् अरुहत्) सबसे उत्तम प्रकाशमय सूर्य पर जैसे रात्रि आरूढ़ होती है और जिस प्रकार स्त्री अपने उज्ज्वल पति का आश्रय लेती है उसी प्रकार यह भी तेजस्वी बल- वान राजा पर आश्रित रहती है। (उशती रात्रिः अनु या स्वधाभिः भद्रा- भिः वि तिष्ठते) कामनायुक्त स्त्री जिस प्रकार सुखदायी कल्याण प्रवृत्तियों सहित पति के समीप आती है उसी प्रकार वह राजशक्ति मुख्य राजा के पास अपनी भद्र, सुखदायी अन्न और परम शक्तियों सहित (मित्र इव) मित्र के समान प्राप्त होती है।

वर्ये वन्दे सुभगे सुजात आजगन् रात्रि सुमना इह स्याम् ।
अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥३॥

भा०—हे (वर्ये) वरण करने योग्य! हे (वन्दे) वन्दना या स्तुति करने योग्य प्रशंसनीय! हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य से सम्पन्न हे सौभा- ग्यवति! हे (सुजाते) शुभरूपे, शुभकुल में उत्पन्न महिला के समान उत्तम रूप से बनाई गई! हे (रात्रि) राजशक्ते! और ईश्वरीय शक्ते! तू, (आजगन्) आ, तू निरन्तर आती है। मैं (इह) यहां, इस लोक में (सुमनाः) उत्तम चित्तवाला, सुप्रसन्न होकर (स्याम) रहूं। तू (अस्मान्) हमको या हमारे लिये (जाता) उत्पन्न हुए (नर्याणि) मनुष्यों के उपयोगी (अथो) और (यानि) जो (गव्यानि) पशु आदि के उपयोग के अथवा मनुष्यों से उत्पादित शिल्प द्वारा उत्पन्न और पशुओं

से प्राप्त दुग्ध घृत आदि पदार्थ हैं उन सबको (पुष्ट्या) हमारी पुष्टि समृद्धि के लिये (त्रायस्व) पालन कर ।

सिंहस्य रात्र्युशती पींपस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च आ ददे ।
अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे विभाती ॥ ४ ॥

भा०—(उशती रात्री) सबको वश करने वाली रात्री अर्थात् राज-शक्ति, उत्तम पुरुषों को सुख और दुष्ट पुरुषों को दण्ड देने वाली शक्ति (सिंहस्य) सिंह के (पींपस्य [पिशस्य, पिपस्य, पीपस्य]) सबको चूर्ण कर देने वाले हाथी और (व्याघ्रस्य) व्याघ्र और (द्वीपिनः) चीते के भी (वर्चः) तेज को (आददे) ग्रहण कर लेती है ; और वही (विभाती) नाना प्रकार से प्रकाशित होने वाली, व्यापक, आशुगति करने वाले पदार्थों को (बुध्नं [ब्रध्नं] [1]) बांधने या सूर्य के मूल स्थान या केन्द्र में स्थापन और (पुरुषस्य) देहपुरी में निवास करने वाले आत्मा के (मायुम्) वाक्-शक्ति का निर्माण (कृणुषे) करती है । अथवा-(अश्वस्य बुध्नं) सूर्य की शक्ति से मेघको और (पुरुषस्य मायुम्) पुरुष की शक्ति से वाणी को उत्पन्न करती है । अथवा (अश्वस्य बुध्नं) सूर्य के लिये महान् आकाश को और पुरुष के ज्ञान के लिये 'मायु' अर्थात् वाणी और वेदवाणी को उत्पन्न करती है ।

४-(प्र०) 'पीपस्य', 'पीप्स्य', पीपस्य, इति नाना पाठाः । पिशस्य इति हिटनिसम्मतः । पिपस्य, (तृ०) 'बुध्नं', इति सायणाभिमतः । 'निपस्य' इति पैप्प० सं० । (द्वि०) 'वर्चादेवे' (च०) 'कृणुषी' 'विभातीः' इति प्रायः ।

१. 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' इत्युणादिर्नक् प्रत्ययः । ब्रध्नः बुध्नः । ब्रध्नो महान् सूर्यो वा, बुध्नो मेघोमूलमन्तरिक्षं वा । इत्युपादि द० ।

और उनके भी (पुरु रूपाणि कृणुषे) नाना रूप (कृणुषे) बनाती है रचती है। अर्थात् राजशक्ति शिक्षा का प्रबन्ध करती है और नाना प्रकार के (रूपाणि) शिल्पसाध्य पदार्थों को उत्पन्न करती है।

शिवां रात्रिमनुसूर्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु।
अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ॥५॥

भा०—हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यवति ! तू (हिमस्य) शत्रुओं को, हनन करने वाले राजा की (माता) उत्पन्न करने वाली माता के समान राजा को बनाने वाली, उसको प्रभुत्व देने वाली है। तू (नः) हमें (सुहवा) उत्तम हव=ज्ञान-उपदेश देने में समर्थ (अस्तु) हो। तु (अस्य स्तोमस्य) इस 'स्तोम', वीर पुरुषों के उत्पन्न करने के कार्य को (नि बोध) भली प्रकार जान। अर्थात् राज्यतन्त्र को चाहिये कि वह वीरों का बराबर सेना में भर्ती करने और नये २ सैनिकों को तैयार करने के कार्य को खूब आवश्यक समझे। (येन) जिसके कारण हम (विश्वासु) समस्त (दिक्षु) दिशाओं में (त्वा) तुझ (शिवाम्) कल्याणकारिणी (रात्रिम्) सर्वैश्वर्यप्रद—राष्ट्र, राज्यशक्ति को और (अनु सूर्यम्) उसके अनुकूल उसके पोषक या उसके अनुरूप रात्रि के पीछे अनुगमन करने वाले सूर्य के समान उदयशील तेजस्वी राजा के भी (वन्दे) हम गुण और यशोगान करें।

५-(प्र०) 'शिवामे रात्र्यनुसूर्यं च' इति ह्विटनिकामितः। 'शिवां रात्रि महि्न सूर्यं च' इति पैप्प० सं०। 'शिवां रात्रि महिसूर्यं च' इति बहुत्र। 'रात्रिमहि' इति सायणाभिमतः। 'शिवा रात्री मही सूर्यश्च' इति शं० पा० कामितः। (द्वि०) 'यमस्य माता०' इति पैप्प० सं०। (तृ०) 'यस्तस्तोम०' इति बहुत्र। (च०) 'वन्ये', 'वशे' इति क्वचित्।

१–'हिमस्य'–हन्तेर्हि च । औणादिर्मक् प्रत्ययः । हन्ति उष्णां दुर्गन्धिं वा तद्धिमम् । हेमन्त ऋतुस्तुषारश्चन्दनं वा इति दया० । हेमन्तो हि इमाः प्रजाः स्ववशमुपनयते । श० १ । ५ । ४ । ५ ॥ सहश्च सहस्यश्च एतौ एव हैमान्तिकौ मासौ । यद् हेमन्त इमाः प्रजाः सहसा इव स्वं वशमुपनयते इमौ हैतौ सहश्च सहस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १८ ॥ तस्य (पर्जन्यस्य) सेनजित् च सुषेणश्च सेनानिग्रामण्यौ इति हैमान्तिकौ तावृतू । श० ८ । ६ । १ । २० । हेम का अर्थ है मारने वाला, दण्ड देने वाला । हेमन्त के जिस प्रकार सहः सहस्य दो मास हैं उसी प्रकार प्रजाके वासयिता राजा के सहः=शत्रु के पराजेता और सहस्य= बलशाली दो अधिकारी हैं जिनके बल से समस्त प्रजाओं को वह वश करता है । पर्जन्य=अर्थात् मेघ के समान प्रजापति के सेनजित् और सुषेण दोनों हेमन्त ऋतु के दो मासों के समान ही सेनापति और ग्रामणी या ग्रामपति दो अधिकारी होते हैं ।

२–'स्तोमस्य'–वीर्यं वै स्तोमाः । तां श० । ५ । ४ । वीरजननं वै स्तोमः । ता० २१ । ६ । ३ ॥ राजा का बल या सेनाबल स्तोम कहाता है ।

स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे।
असाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनूषसः ॥६॥

भा०—हे (विभावरि) तेजस्विनि ! हे (रात्रि) रात्रि ! सुखदात्रि ! एवं सबसे ऊपर विराजमान राजशक्ति ! तू (राजा इव) राजा के समान ही (नः) हमारे (स्तोमस्य) सामूहिक वीर्य अर्थात् बल और वीरसमूहों को (जोषसे) अपने प्रयोग में लाती है । इसलिये (व्युच्छन्तीः उषसः अनु) नित्य निरन्तर प्रकट होने वाली उषाओं अर्थात् शत्रुदाहक सेनाओं

६–(द्वि० तृ० च०) 'जोषसि । यथा नः सर्ववीरा भ०' इति पैप्प० सं० ।

के रूप में हम लोग सदा (सर्ववीराः) सर्वत्र वीर (असाम्) होकर रहें और (सर्ववेदसः) समस्त ऐश्वर्यों से युक्त (भवाम्) हों ।

शम्यां ह नाम दधिषे मम दिप्सन्ति ये धना ।
रात्री हि तानसुतपा य [त्] स्तेनो न विद्यते यत् पुनर्न विद्यते ॥७

भा०—हे रात्रि ! राजशक्ते ! तू (शम्या ह नाम) अर्थात् 'शत्रुओं को शमन करने से 'शम्या' इस प्रकार का नाम (दधिषे) धारण करती है । इसलिये (ये) जो पुरुष (मम) मेरे (धना) धनों को (दिप्सन्ति) बलात् मुझ से छीन लेना चाहते हैं, हे (रात्रि !) सबों पर विराजमान ! एवं दुष्टों को दण्ड देनेहारी ! तू (असुतपा) शत्रुओं के प्राणों को संतप्त करने वाली होकर (इहि) प्राप्त हो (यत्) जिससे जो (स्तेनः) चोर या लुटेरा पुरुष है वह (न विद्यते) राष्ट्र में न रह जाय और (यत्) जिससे (पुनः) फिर दुबारा चोर (न विद्यते) न पैदा हों, या फिर सदा के लिये राष्ट्र में चोर न रहें ।

भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विश्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि ।
चक्षुष्मती मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्या न क्षामंमुक्थाः ॥८॥

७–(द्वि०) 'धनाः' इति बहुत्र । (तृ०) रात्रि हितानः, रात्रिहितानं, 'रात्रीह्तिानः' इत्यादि नाना पाठाः । (प्र०) 'रम्याह' इति ह्विटनिकामितः । 'पम्याह नाम तस्ये विनृच्छन्ति योजनात् ।' इति पैप्प० सं० । रात्रि । हिता । [अथवा—हि । ता ।] नः । सुता । इति ह्विटनिकामितः पदपाठः । 'अनुतपा' इति ह्विटनिकामितः । (च० प०) 'यथा स्ते–', 'यथा पु -' इति ह्विटनिकामितः ।

८–(प्र०) 'नविष्टो' इति बहुत्र । 'न विष्टो' इति क्वचित् । 'दिव्यं' इति सं० पा० । सायणाभिमतश्च । (च०) 'प्रतिस्क्षां दिव्यातक्षम्

भा०—हे (रात्रि) रात्रि ! राजशक्ते ! तू (भद्रा असि) कल्याण और सुख के देने वाली है। तू (विष्टः) परसे हुए (चमसः न) थाल के समान अन्न से भरपूर है। तू (युवतिः) सदा शक्तिशालिनी होकर (बिभ्रत्) समस्त (गोरूपम्) पृथ्वी का स्वरूप (बिभर्षि) धारण करती है। अथवा (विश्वं) समस्त (गोरूपम्) पृथ्वी पर विद्यमान प्राणियों को (बिभर्षि) धारण पोषण करती है। (उशती) कामना करने हारी, अथवा सबको वश करने हारी और (चक्षुष्मती) सब पर अपनी आंख रखने वाली होकर (मे) मेरे (वपूंषि) सम्बन्धी समस्त प्रजाओं के शरीरों को (दिव्या) दिव्य गुणवाली तेजस्विनी होकर (त्वं) तू और (क्षाम्) सबकी निवासभूत इस पृथिवी को भी (न प्रति अमुचथाः) कभी त्याग मत कर।

यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः ।
रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥९॥

भा०—(यः) जो (अद्य) आज (स्तेनः) स्तेन=चोर और डाकू (अघायुः) पाप, हत्या करने वाला, (रिपुः) शत्रु, (मर्त्यः) पुरुष

अनुस्थाः' 'अनुष्ठाः' प्रति स्थविरा तस्मा अनुस्था इति च क्वचित् । 'विश्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि' इति पैप्प० सं० । भद्रासि रात्रिस्तन-स्तनतोनुविष्टो इति पैप्प० सं० । 'म ऊर्जां' इति क्वचित् । (द्वि० तृ०) चक्षुष्मतीव युवतिर्विरूप । (च०) मर्त्यां दिव्यान्नक्षत्रदुघः इति पैप्प० सं० । 'प्रति त्वं दिव्या नक्षत्राण्यनुस्थाः' इति ह्विटनिकामितः ।

९–(द्वि० तृ०) यो ममरात्रिरुत्र गावरुत्र न संविदो लगापति इति सायणाभिमतः । (च०) 'हन्तु' इति सायणाभिमतः । युवत्तोनायुस्त-जनायुर्मर्त्यो रिपुः (च०) 'ग्रीवास्य-' इति पैप्प० सं० ।

(आयति) आता है (तस्य) उसके (प्रति इत्य) प्रति आकर या उसे पहचान कर (रात्री) दुष्टों को दण्ड देने वाली राजशक्ति उन चोर, पापी, हत्यारों और शत्रुओं की (ग्रीवाः) गर्दनों को और (शिरः) शिरों को (प्रहनत्) तोड़ दे ।

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथा शिपत् ।
यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति ।
अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥१०॥

भा०—वह राजशक्ति उस शत्रु के (पादौ प्रहनत्) दोनों पैर तोड़ डाले, (यथा) जिससे वह (न आयति) चल न सके । (हस्तौ प्रहनत्) उसके दोनों हाथ तोड़ डाले (यथा) जिससे वह फिर (न अशिपत्) हिंसा या हत्या का कार्य न कर सके । (यः) जो (मलिम्लुः) प्रजा में मारामारी करने वाला, हत्यारा, चोर, डाकू हमारे (उप आयति) समीप भी आवे (सः) वह (संपिष्टः) खूब पीसा जाकर, खूब दण्डित होकर नाश कर दिया जाय । (अपायति) ऐसा नष्ट किया जाय कि (सु अपायति) अच्छी प्रकार से नष्ट होजावे और वह (शुष्के-स्थाणौ) सूखे स्थाणु, ठूंठ पर या वृक्ष पर टांग कर या उससे बांधकर (अपायति) मारा जाय ।

'अपायति'-अन्य पण्डितों ने ' भाग जावे' आदि अर्थ किया है । सो हमारी सम्मति में यह अर्थ यहां उचित नहीं है । क्योंकि 'अपाय' शब्द नाश होने अर्थ में रूढ़ है ।

१०-(द्वि०) 'यथाशिपः' इति बहुत्र । (तृ०) 'मलिम्लुच्-' इति क्वचित् । 'यथाशिपत्' इति सायणाभिमतः । (प्र० द्वि०) प्रपादौ न यत् आहतः प्रहस्तौ न यथाशिपत् । (तृ० च०) यो मूलक मुपायति स संपिष्टो अपायति । इति पैप्प० सं० ।

('शुष्के स्थाणौ') 'सूखे स्थान में भाग जावे'। यह अर्थ ह्विटनि और सायणाभिमत है। पर हमारे विचार में—उसे सूखे वृक्ष या बल्ले से बांध कर उसको मारा जाय, यह अर्थ संगत है जैसे अगले सूक्त के १ म मन्त्र में—'स्तेनं तं द्रुपदे जहि। उस चोर को खूंटे से बांध कर मार। 'शुष्क स्थाणु' और 'द्रुपद' दोनों एक ही पदार्थ हैं।

[५०] 'रात्रि' रूप राजशक्ति से दुष्ट दमन करने की प्रार्थना।

गोपथभरद्वाजावृषी। रात्रिर्देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु।

अक्ष्यौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥१॥

भा०—(अध) और हे (रात्रि) राजशक्ते! दण्डदात्रि! तू (अहिम्) कुटिलगामी अथवा सर्वत्र हत्यारे खूनी पुरुष को (तृष्टधूमम्) प्यास लगाने वाले धूम से दण्डित कर और उसको (अशीर्षाणम्) शिर से रहित कर। उसके शिर को धड़ से अलग करदे। (वृकस्य) जंगल में घेर कर मारने वाले या दूसरों का माल चोरने वाले, या रास्ता रोकने वाले, डाकू, चोर लोगों के (अक्ष्यौ) दोनों आंखों को (निर्जह्याः) सर्वथा निकलवा डाल, उपाड़ दे। (तेन) और उसी अपराध के कारण (तं) उसको (द्रुपदे) वृक्ष के बने खूंटे के साथ बांधकर (जहि) दण्ड दे।

ये ते रात्र्यनुड्वाहस्तीक्ष्णंशृङ्गाः स्वाशवः।

तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा ॥२॥

[५०] १-(तृ०) 'अक्ष्यौ' अक्षौ, अक्षू, आक्षौ इति नाना पाठाः। (प्र०) 'अन्ध' इति बहुत्र। (प्र०) 'तिष्टधूम' (तृ० च०)—हनो वृकस्य 'निर्जह्या स्वैनं नृपते जहि'। इति पैप्प० सं०।

२-(तृ०) 'पारयत्पाति' इति बहुत्र। (द्वि०) 'स्येयाश्वासवः' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे (रात्रि) रात्रि ! दण्डदात्रि ! राजशक्ते ! (ते) तेरे (ये) जो (अनड्वाहः) शकट या राजतन्त्र के भार उठाने वाले धुरन्धर (तीक्ष्ण-शृङ्गाः) तीखे हिंसासाधन वाले, तीक्ष्ण दण्ड देने हारे, (स्वाशवः) खूब तीव्रगति वाले, अति तीव्र, बुद्धिमान हैं (तेभिः) उनसे (नः) हमें (विश्वहा) सब प्रकार के (दुर्गाणि) दुर्ग स्थानों, कठिन संकटों को भी (अद्य) सदा (अति पारय) पार करा ।

रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम् ।
गम्भीरमप्लवा इव न तरेयुररातयः ॥३॥

भा०—(रात्रिम्-रात्रिम्) प्रत्येक राजशक्ति या दण्ड देने वाली राजव्यवस्था को या उत्तम व्यवस्था को (अरिष्यन्तः) प्रयोग करते हुए हम लोग (तन्वा) अपने विस्तृत बलसे या (तन्वा) अपने शरीर से (गम्भीरम्) अति गम्भीर कार्यों के भी (तरेम) पार पहुंच जायं । और (अप्लवाः इव) वे जहाज़ के लोग जिस प्रकार (गम्भीरम्) गहरे जल को नहीं तैर पाते उसी प्रकार (अरातयः) हमारे शत्रु लोग (न तरेयुः) गम्भीर संकटों को न पार कर सकें ।

यथा शाम्याकः प्रपतन्नपवान् नानुविद्यते ।
एवा रात्रि प्र पातय यो अस्माँ अभ्यघायति ॥४॥

३–(तृ० च०) अप्लवेतुपा न तरेहुररा०-इति पैप्प० सं० ।
(च०)–'घायति' इति क्वचित ।
४–१ वर्णविपर्ययः । (प्र०) 'प्रपतनपवान्नानु', 'प्रपवान्नानु–', 'प्रपतन्नपत्रांनानु' इति नाना पाठाः । 'श्याम्याक', 'श्यामाकः' इति च क्वचित् । 'प्रपतन्नपरान्' इति ह्विटनिकामितः । (तृ०) 'एता वा' तृ० इति क्वचित् । (प्र० द्वि०) 'सान्याकाः प्रपतन्तेरि व नानु–' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(यथा) जिस प्रकार (श्याम्याकः-श्यामाकः) [?] श्यामाक या सांवा नामक धान (प्रपतन्) गिरकर (अपवान्) उड़ता २ (न अनुविद्यते) फिर उसका कुछ पता नहीं चलता कि कहां है (एवा) उसी प्रकार, हे (रात्रि) दण्डदात्रि राजशक्ते ! (यः) जो (अस्मान् अभि) हम पर पापाचार, अत्याचार, घात या बलात्कार करना चाहता है उसको भी तू (प्र पातय) ऐसा गिराकर नष्ट करदे कि पता न चले।

अपं स्तेनं वासो गोअजमुत तस्करम्।
अथो यो अर्वतः शिरोभिधाय निनीषति ॥५॥

भा०—हे राजशक्ते ! (यः) जो हमारे (वासः) वस्त्रों (उत) और (गो-अजन्) गायों, बकरियों को (निनीषति) चुरा ले जाना चाहता है उसके उस (स्तेनम्) चोर को तू (अप) हमसे दूर रख। (अथो) और (यः) जो हमारे (अर्वतः) घोड़ों के (शिरः अभिधाय) शिर बांधकर उनको (निनीषति) हर लेजाना चाहता है उस (तस्करम्) चोर को भी (अप) हमसे दूर कर। या पूरी तरह से नाश कर।

यद्द्या रात्रि सुभगे विभजन्त्ययो वसु।
य [त] देतदस्मान् भोजय यथेदन्यानानुपायति ॥६॥

५-(प्र०) 'अपस्तेनं वासो गोरजुत'-गोरज उत इति नाना पाठः। (प्र०) 'वसः' सं-इति पदपाठः क्वचित्। 'अपस्तेनमवासयो गो-' इति ह्विट्निकामितः। (च०) 'निनपति' इति क्वचित्। (द्वि०) 'वर दो' इति ह्विट्निकामितः।

६-'यथेदन्यानुपायसि', 'यथेतानुपायासि', यथेदन्यनुपायति', 'यथेदन्यानुपायति' इति नाना पाठाः। (तृ०) 'तदे-' इति ह्विट्निकामितः। 'यदे-' इति सायणाभिमतः। (तृ० च०) 'यथेद् दस्मानितानन् यथेदन्यान् उपायति' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यद्) हे (रात्रि) ऐश्वर्यवती ! राजशक्ते ! हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यवति ! तू (वसु) सुवर्ण आदि धनको (विभजन्ती) विनाश करती हुई (आ अयः) हमें प्राप्त हो । (तत्) तब (अस्मान्) हमें (एतत्) उस धन को इस प्रकार (भोजय) उपभोग करा कि (यथा) जिस प्रकार वह (इत्) किसी प्रकार (अन्यान्) हमसे अतिरिक्त, हमारे शत्रुओं को (न उपायति) प्राप्त न हो । हम अपने ऐश्वर्य को ऐसे भोग करें कि उससे हमारे शत्रुगण लाभ न उठा सकें । हमारे भोग्य पदार्थों का नशा शत्रुओं को न मिले ।

उपसे नः परि देहि सर्वान् रात्र्यनागसः ।
उपा नो अह्ने आ भंजादहस्तुभ्यं विभावरि ॥७॥

भा०—हे (रात्रि) ऐश्वर्यवति, राजशक्ते ! रात्रि ! तू (अनागसः) पाप और अपराधों से रहित (सर्वान् नः) हम सबको (उपसे) तेजस्वी शत्रु को भस्म करने वाली के अधीन (परिदेहि) कर । और वह (उपाः) शत्रुनाशक समिति (नः) हमें (अह्ने) दिन के समान उज्ज्वल, विज्ञानवान् ब्राह्मणों के अधीन (आभजात्) रखदे । और (अहः) वह दिन जिस प्रकार जगत् को रात्रि को सौंप देता है उसी प्रकार (अहः) वह अहन्तव्य ब्राह्मणवर्ग हमें पुनः, हे (विभावरि) विशेष दीप्ति ऐश्वर्यवाली (तुभ्यम्) तुझे सौंपदे ।

[५१] आत्मसाधना ।

ब्रह्मा ऋषिः । १ आत्मा । २ सविता च देवते । १ एकपदाऽनुष्टुप् । २ त्रिपदा यवमध्योष्णिक् । (१, २ एकावसाने) द्वयृचं सूक्तम् ।

अयुतोहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोयुतो मेपानो युतो मे व्यानोयुतोहं सर्वः ॥१॥

७-(द्वि०) 'भजत्' इति क्वचित् ।

भा०—(अहम्) मैं (अयुतः) तुझसे जुदा न होऊं। (मे आत्मा अयुतः) मेरी आत्मा तुझसे पृथक् न हो। (मे चक्षुः अयुतम्) मेरी आंख पृथक् न हो। (मे श्रोत्रम् अयुतम्) मेरा कान पृथक् नहीं हो। (मे प्राणः अयुतः) मेरा प्राण पृथक् न हो। (मे अपानः अयुतः) मेरा अपान भी पृथक् न हो। (मे व्यानः अयुतः) मेरा व्यान वायु भी पृथक् न हो। (अ हं सर्वः) मैं सारा (अयुतः) पृथक् न होकर पूर्ण होकर रहूं।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्

पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥२॥

भा०—(सवितुः) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर (देवस्य) देव के (प्रसवे) शासन में और (अश्विनोः) दोनों अश्विन् स्त्री पुरुषों प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बाहुओं से और (पूष्णः) सर्व पुष्टिकारक पालक पुरुष के हाथों से (प्रसूतः) मैं प्रेरित होकर (आरभे) तुझ ग्रहण करता हूं। या (आरभे) अपना कार्य प्रारम्भ करूं।

[५२] 'काम' परमेश्वर।

ब्रह्मा ऋषिः। मन्त्रोक्तः कामो देवता। त्र्यनुष्टुभः। १, २, ४ त्रिष्टुभः। चतुष्पदा उष्णिक्। ५ उपरिष्टाद् बृहती। पञ्चर्चं सूक्तम्।

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥१॥

ऋ० द्वि० १०। १२९। ४ प्र० द्वि० ॥

भा०—(अग्रे) समस्त सृष्टि के उत्पन्न होने के भी पूर्व में (तत्) वह परमेश्वर ब्रह्म ही (कामः) काम, अर्थात् सृष्टि को उत्पन्न करने की

---

[५२] १–'सयोनि' इति क्वचित्। (प्र०) 'समवर्तताधि–' इति ऋ०।

इच्छा या कामना करने हारा, स्वयं काम, समष्टि संकल्प रूप (सम् अवर्त्तत) विद्यमान था । (यत्) जिस (मनसः) ज्ञानमय उस ब्रह्म का (प्रथमम्) सबसे प्रथम, या सबसे श्रेष्ठ (रेतः) रेतस्, वीर्य, जगत्-उत्पादन-सामर्थ्य, तेजस् (आसीत्) विद्यमान था । (सः) वह (कामः) काम, कामनामय परमेश्वर अपने (बृहता) बृहत्, बड़े भारी (कामेन) काम, सृष्टि उत्पत्ति करने के संकल्प के साथ (सयोनिः) एक ही स्थान पर विराजमान रहता है । अर्थात् वह महान् संकल्प, और संकल्प करने वाला भिन्न २ न रहकर दोनों एक रूप से ही विद्यमान थे । हे परमेश्वर ! वह तू सृष्टि का उत्पादक परमेश्वर (यजमानाय) यजमान, यज्ञशील, दानशील या उपासक आत्मा, पुरुष को (रायः पोषं) ऐश्वर्य की समृद्धि (धेहि) प्रदान कर ।

त्वं का॑म सह॒साऽसि प्रति॑ष्ठितो वि॒भुर्वि॒भावा॑ सख॒ आ स॑खीय॒ते ।
त्वमु॒ग्रः पृत॑नासु सास॒हिः सह॒ ओजो॒ यज॑मानाय धेहि ॥२॥

भा०—हे (काम) काम ! महान् कामनामय कान्तिमय ! प्रभो ! (त्वं) तू इस संसार में (सहसा) अपने सर्व दमनकारी बल से (प्रतिष्ठितः) सबसे ऊपर शासकरूप से विराजमान है । तू (विभुः) सर्व व्यापक या विविध रूपों में सृष्टिकर्त्ता (विभावा) विविध पदार्थों को प्रकाशित करने वाला या विशेष कान्ति से प्रकाशमान्, (सखीयते) मित्र के अभिलाषी आत्मा के लिये (त्वम्) तू (आ) सर्वत्र (सखः) मित्र और (पृतनासु) समस्त जीवों में (उग्रः) अति बलवान् होकर (सासहिः) निरन्तर उनको वश में व्यवस्थित करने वाला (सहः) बलस्वरूप होकर विद्यमान है । तू (यजमानाय) यजमान, दानशील अपने को तेरे प्रति समर्पण

२-(द्वि०) 'सख आसुषीयते', 'सखासखीयते' इति पाठौ क्वचित् । 'सुसखासखीयते' इति ऋ० ५ । ३७ । ३ ॥ पैप्प० सं० । (च०) सहो नो धन० इति पैप्प० ।

करने वाले, अथवा तुझे देव मानकर पूजा करने वाले उपासक आत्मा को (ओजः धेहि) ओज, पराक्रम प्रदान कर ।

दूराच्चकमानायं प्रतिपाणायाक्षये ।

आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः ॥३॥

भा०—(दूरात्) दूर २ तक (चकमानाय) प्रबल कामना या संकल्प करते हुए (प्रतिपाणाय [परिपाणाय]) प्रत्येक पदार्थ पर अपना व्यापार करने में समर्थ (अक्षये) व्यापक, सर्वाधिष्ठातृरूप, या सर्वद्रष्टारूप (अस्मै) इस महान् परमेश्वर की आज्ञाओं को (कामेन) उस महान् का मनोमय संकल्प के बल से (आशाः) समस्त आशा अर्थात् दिशाएं (आ अशृण्वन्) सर्वत्र श्रवण करती हैं, उसकी आज्ञा को मानती हैं । और उसी (कामेन) कमनीय, कान्तिमय प्रभु के सामर्थ्य से वे (स्वः) सर्वत्र सुखमय लोकको (अजनयन्) बनाती हैं या (कामेन) उसके महान् संकल्प से (स्वः) दूरस्थ तेजोमय लोकों को वे दिशाएं अपने भीतर (अजनयन्) रचना करती हैं ।

कामेन मा काम आगन् हृदयाद्धृदयं परि ।

यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह ॥४॥

भा०—(कामेन) उस कामनामय, संकल्पमय परमेश्वर के द्वारा ही (मा) मुझको भी (कामः) वह काम अर्थात् परस्पर की चाह (आगन्)

३–(द्वि०) 'प्रतिपाणायः' 'प्रतिपाणाय०' इति पाठौ क्वचित् । 'प्रति-पाणाय' इति ह्विट्निः । 'प्रतिपाणाये', (तृ०) आस्मा 'शृण्वन्' (च०) 'जनयत् सह' इति पैप्प० सं० । समश्चक्रमाणाय क्षेपणाय मृत्यवे आस्मा आशा अशृण्वन् कामेनाजनयन् पुनः । इति तै० ब्रा० ॥

४–कामेन मे काम आगाद्धृदयाद्धृदयं मृत्योः । यदमीषामदः प्रियं तदैतू पमामभि: ॥

प्राप्त होती है जो (हृदयात्) एकहृदय से (हृदयं परि) दूसरे हृदय के प्रति हुआ करती है। इसी प्रकार (अमीषाम्) मेरे प्रेमी जनों से अतिरिक्त अन्योजनों का (अदः मनः) मेरे से परे गया हुआ भी मन या अभिलाषा (तत्) वह (माम्) मुझे (इह) यहां (उप आएतु) प्राप्त हो।

यत्काम कामयमाना इदं कृण्मसि ते हविः।
तन्नः सर्वं समृध्यतामथैतस्य हविषो वीहि स्वाहा। ॥५॥

भा०—हे (काम) कामनामय प्रभो! हम (यत्) जिस पदार्थ की कामना करते हुए (ते) तेरी (इदं हविः) यह स्तुति (कृण्मसि) करते हैं। (नः) हमारा (तत्सर्वम्) वह सब (समृध्यताम्) खूब सफल हो। (अथ) और (एतस्य) इस (हविषः) स्तुति को तू (वीहि) स्वीकार कर (स्वाहा) यह हमारी प्रार्थना स्वीकृत हो।

[५३] 'काल' परमेश्वर।

भृगुर्ऋषिः सर्वात्मकः कालो देवता। १-४ त्रिष्टुभः। ५ निचृत्पुरस्ताद् बृहती।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥१॥

भा०—(अश्वः) जिस प्रकार घोड़ा रथ को खेंच लेजाता है और मनुष्य उस रथ पर चढ़ते हैं ठीक उसी प्रकार (कालः) काल, वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक, महान् परमेश्वर (सप्तरश्मिः) घोड़े के लगामों के समान सात बन्धनों वाला (सहस्राक्षः) हजारों धुराओं से युक्त (भूरि-रेताः) बहुतसे अनन्त लोकोत्पादक वीर्य, सामर्थ्यों से युक्त, है। (तम्) उस पर (कवयः) क्रान्तदर्शी प्रज्ञावान् (विपश्चितः) नाना

५-'यत्। कामः।' इति पदपाठः प्रायः।

[५३] १-(च०) 'चक्राणि' इति ह्विटनिकामितः।

कर्मों और ज्ञान का संचय करने हारे या उनके जानने वाले विद्वान् (आरोहन्ति) चढ़ते हैं, उस पर आश्रय लेते हैं। (तस्य) उसके ही ये (विश्वा भुवना) समस्त भुवन, समस्त लोक, समस्त उत्पन्न प्राणी (चक्रा) उसके महान् रथ में लगे चक्रों के समान गति करते हैं। इससे समस्त लोकों की चक्र या वृत्ताकार गति और सबका चक्र या गोलाकार आकृति का भी वर्णन होगया।

'सप्तरश्मिः'—सात रश्मियां। प्राणिसंसार में शरीर की घटक सात धातुएं, सप्त रश्मियें हैं। संवत्सर में सात ऋतु हैं। शिरोभाग में सात प्राण हैं। सूर्य में रश्मियां किरणें हैं। ज्ञानमय परमेश्वर के सात छन्द हैं इनसे उसने सबको बांधकर वश किया है।

'सहस्राक्षः'—हज़ार अक्ष, जब समस्त भुवन चक्र हैं तो उस में लगे हजारों धुरे भी संगत हैं। कालात्मक शक्ति से सहस्रों अक्ष, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि अक्ष हैं। उस काल पर विद्वान् ही वश करते हैं।

अथवा—ईश्वरीय शक्ति की महत्ता दर्शाने के लिये उसको एक बड़े भारी कलाभवन में लगे एञ्जिन से उपमा देते हैं। वह (कालः) कला रूप (अश्वः) एञ्जिन के समान परमेश्वर (वहति) समस्त विश्व को चलाता है। (सप्तरश्मिः) उसमें सात रासें या पट्टे लगे हैं जिनसे और समस्त चक्र धुरा घूमते हैं। और वह (सहस्राक्षः) हजारों धुरों से युक्त है। अर्थात् सब धुराओं को सात पट्टों के जोरों पर ही चलाता है। भौतिक जगत् के सञ्चालन में पञ्चभूत, महत् और अहंकार ये सात तत्व सप्तरश्मि हैं। वह (अजरः) नित्य कभी भी जीर्ण नहीं होता। वह (भूरिरेताः) बहुत भारी बल वीर्य से सम्पन्न है। (तम् कवयः विपश्चितः आरोहन्ति) उस पर क्रान्तदर्शी विद्वान् वश करते हैं, उस पर सदा चढ़ते हैं उस तक पहुंचते हैं। उसके तत्व को यथार्थ

रूप में जानते हैं कि (तस्य विश्वा भुवनानि चक्रा) ये समस्त भुवन, लोक और प्राणि ही चक्र अर्थात् गतिशील चक्र के समान हैं जिनको वह चला रहा है।

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥२॥

भा०—(एषः कालः) वह काल (सप्त) सात या सर्पणशील (चक्रान्) चक्रों को या निरन्तर गतिशील, कर्तारूप जीवों को (वहति) प्रेरित करता है। इसी प्रकार संवत्सररूप काल निरन्तर गतिशील, चक्र के समान् पुनः २ लौट कर आने वाली सात ऋतुओं को धारण करता है। (यस्य) उसके (सप्त नाभीः) सात नाभियां हैं। उसका (अक्षः) अक्ष धुरा या व्यापन सामर्थ्य (अमृतम्) अमृत, कभी नष्ट न होने वाला है। (सः) वह सर्व संहारकारी (इमा) इन (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों-लोकों और चराचर के सत् पदार्थों को (अञ्जत्) चलाता हुआ उनमें व्याप्त रहता हुआ और उनको प्रकाशित करता हुआ (कालः) कलामय एंजिन के समान साक्षात कालरूप परमेश्वर (सः) वह (ईयते) जाना जाता है।

अध्यात्म में—वह आत्मा ज्ञानकर्त्ता होने से काल है। उसके सात नाभि हैं। स्वयं अक्ष अर्थात् सबका अध्यक्ष अमृत, चैतन्य रूप है। वह समस्त 'भुवन' प्राणों को प्रेरित करता है, ऐसा जाना जाता है।

पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥३॥

२–(तृ० च०) 'न्यञ्जन् कालः०' इति क्वचित्, पैप्प० सं० । (प्र०) 'चक्रान्' इति (द्वि०) 'नमृतेतन्वक्षः' सायणाभिमतः ।
३–(द्वि०) 'निरन्तन्' इति पैप्प० सं० हिटन्यभिमतश्च ।

भा०—(काले अधि) उस सर्वज्ञ, सर्वप्रेरक, महान् परमेश्वर के आधार पर (पूर्णः) यह संपूर्ण (कुम्भः) सबको आवरण करने वाला आकाशमय ब्रह्माण्ड (आहितः) रक्खा है यह उसी काल की शक्ति पर आश्रित है। (तं) उस सर्वाश्रय प्रभुको हम (सन्तः) सज्जन पुरुष (नु) ही (बहुधा) बहुत रूपों में (पश्यामः) देखते हैं। (सः) वह (इमा) इन (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों, लोकों और परस्पर पदार्थों में (प्रत्यङ्) व्यापक है। वह (परमे) सर्वोत्कृष्ट, सर्वोच्च (व्योमन्) व्योम, आकाश में भी विद्यमान है (तम्) उसको (कालम् आहुः) 'काल' नाम से विद्वान् लोग कहते हैं।

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः॥४॥

भा०—(सः एव) वह कालस्वरूप परमेश्वर ही (भुवनानि) समस्त लोकों को (सम् आभरत्) भली प्रकार पालन पोषण करता या उत्पन्न करता है। और (सः एव) वह ही (भुवनानि) समस्त उत्पन्न लोकों में (परि एतु) व्यापक है। वह (एषां) इन लोकों का (पिता सन्) पिता, पालक होकर (पुत्रः) पुत्र भी (अभवत्) है। अर्थात् काल सबका पालक होने से पिता कहाता है, सर्वत्र पुत्र अर्थात् जीवों का भी त्राण करने में समर्थ होने से 'पुत्र' कहाता है। अथवा इन सूर्य चन्द्र आदि की गति से दिन, मास, ऋतु, पक्ष संवत्सर आदि उत्पन्न होते हैं इस नाते वह काल ही इन लोकों का पुत्र भी है (तस्मात् वै) निश्चय ही उससे (अन्यत्) दूसरा (परम्) उत्कृष्ट (तेजः) वीर्य सामर्थ्य और तेज (न अस्ति) नहीं है।

४–(प्र० द्वि०) 'स एव सन्' इति ह्विटनिकामितः। (द्वि०) 'स एव परीयैः' इति पैप्प० सं०।

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥५॥

भा०—(कालः) काल ही (अमूं) उस (दिवम्) द्यौलोक, आकाश और उसमें विद्यमान समस्त लोकों को (अजनयत्) उत्पन्न करता है । (इमाः पृथिवीः) इन समस्त पृथिवियों, विशाल सूर्य आदि लोकों को (उत) भी (कालः) काल (अजनयत्) उत्पन्न करता है । (भूतं) भूत, उत्पन्न जगत् या अतीत, और (भव्यम् च) भव्य, आगे भविष्यत् में उत्पन्न होने वाला जगत् दोनों (काले) काल में ही विद्यमान रहते हैं । (इषितम्) और समस्त गतिमान् पदार्थ उसी काल द्वारा प्रेरित होकर (वि तिष्ठते) विविध दशाओं में स्थित हैं ।

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥६॥

भा०—(कालः) काल (भूतिम्) इस समस्त जगत् की सत्ता, उस की सृष्टि, स्थिति को या समस्त जगत की विभूति नाना विध ऐश्वर्यों को (असृजत) बनाता है । (सूर्यः) सूर्य भी (काले) काल में अर्थात् कालके अधीन होकर (तपति) तपता है (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणिगण (काले ह) निश्चय से 'काल' के ही अधीन हैं और (चक्षुः) देखने वाला इन्द्रिय चक्षु भी उस (कालः) काल के अधीन होकर (वि पश्यति) विविध पदार्थों को देखता है ।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥

५–'हविस्तिष्ठन्' इति बहुत्र । (द्वि०) 'कालेना पृथिवीरुत' इति पैप्प० सं० । (तृ०) 'कालेन' इति ह्विट्निकामितः ।

६–(प्र०) 'भूमिमसृजत' इति ह्विट्न्यभिमतः । 'भूतम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(काले) काल रूप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वप्रेरक परमेश्वर में (मनः) मन, सब मनन करने वाले अन्तःकरण सीमित हैं। (काले) उसी काल, परमेश्वर में (प्राणः) समष्टि प्राण विद्यमान हैं। (नाम) समस्त पदार्थों के समस्त नाम भी (काले) उस सर्वज्ञ परमेश्वर में ही (सम् अहितम्) भली प्रकार विद्यमान हैं। (आगतेन) अनुकूल रूपसे आये हुए (कालेन) उस काल से ही (सर्वाः इमाः) ये समस्त (प्रजाः) प्रजाएं (नन्दन्ति) समृद्ध सम्पन्न और आनन्द प्रसन्न होती हैं।

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥८॥

भा०—(काले) कालरूप, सर्वज्ञ परमेश्वर में ही (तपः) समस्त तप, वीर्य, सत्यबल विद्यमान है। (ज्येष्ठं) सबसे बड़के, सर्वोपरि बल (काले) उस काल में आश्रित है। (ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान (काले) उस काल में ही (समाहितम्) विद्यमान है। (कालः) वह काल (ह) ही (सर्वस्य ईश्वरः) सबका ईश्वर, मालिक है (यः) जो (प्रजापतेः) प्रजा के पालक राजा और (प्रजापतेः) सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि तारागणों के के प्रतिपालक हिरण्यगर्भ नाम प्रजापति का भी (पिता आसीत्) पिता रहा।

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥९॥

भा०—यह जगत् (तेन) उस परमेश्वर ने (इषितम्) चला रक्खा है। (तेन) उसके द्वारा ही (जातम्) उत्पन्न हुआ है। (तत्) और वह (तस्मिन्) उस कालरूप परमेश्वर के आश्रय पर ही (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है। (कालः ह) वह काल ही निश्चय से (ब्रह्म) बृहत्

स्वरूप होकर (परमेष्ठिनम्) परम सत्य पर आश्रित समस्त ब्रह्माण्ड को (बिभर्ति) धारण कर रहा है ।

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥१०॥

भा०—(कालः) कालरूप परमेश्वर ही (प्रजाः असृजत) समस्त प्रजाओं का सर्जन करता है । (कालः) वही काल परमेश्वर (प्रजापतिम्) प्रजा के पालक हिरण्यगर्भ को (असृजत्) उत्पन्न करता है (स्वयम्भूः) स्वयं अपनी शक्ति से विद्यमान (कश्यपः) स्वयंप्रकाश, स्वयं सबका द्रष्टा सूर्य (कालात्) काल से उत्पन्न हुआ और (तपः) तप, तपनशक्ति भी (कालात् अजायत) काल से ही उत्पन्न होती है ।

[५४] कालरूप परमशक्ति

भृगुर्ऋषिः । कालो देवता । २ त्रिपदा गायत्री । ५ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् अष्टिः । शेषा अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥१॥

भा०—(कालात्) काल, परमेश्वर से ही (आपः) आप, जल (सम् अभवन्) उत्पन्न होते हैं । (कालात् ब्रह्म) उसी काल से ब्रह्म, वेद अथवा यह बृहत् ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है उसीसे (तपः दिशः) तपः, तापकारी अग्नि, तपस्या और सत्यपालन आदि धर्माचरण और दिशाएं भी उत्पन्न हुईं । (कालेन सूर्यः उदेति) परमेश्वर के बल से सूर्य उदय होता है और वह (पुनः) फिर (काले) काल रूप परमेश्वर पर ही (निविशते) आश्रित रहता या उसी में अस्त होता है ।

[५४] १-(प्र०) 'समभवत्' इति क्वचित् । (द्वि०) 'ब्रह्मतपो' इति सायणाभिमतः ।

का॒लेन॒ वातः॑ पवते का॒लेन॑ पृथि॒वी म॒ही ।
द्यौर्म॒ही का॒ल आहि॑ता ॥२॥

भा०—(कालेन) उस काल परमेश्वर के बल से (वातः पवते) वायु बहता है (कालेन) काल के बल से (मही पृथिवी) यह बड़ी पृथ्वी (पवते) गति कर रही है। और (काले) उसी काल रूप परमेश्वर के आश्रय में (मही द्यौः आहिता) बड़ी विशाल द्यौः, नक्षत्र चक्र भी आश्रित है।

का॒लो ह॑ भू॒तं भव्यं॑ च पु॒त्रो अ॑जनय॒त् पु॒रा ।
का॒लादृचः॒ सम॑भव॒न् यजुः॑ का॒लाद॑जायत ॥३॥

भा०—(पुत्रः कालः) पूर्व सूक्त के ४र्थ मन्त्र में कहा पुत्र रूप काल (ह) निश्चय से (पुरः) सबसे प्रथम (भूतं भव्यं च अजनयत्) भूत, अतीत और भविष्यत् काल को उत्पन्न करता है। अर्थात् लोकों की गति द्वारा निर्धारित काल में से भूत और भविष्यत् दो कालों का ज्ञान उत्पन्न होता है। (कालात्) काल रूप ज्ञानमय परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र (सम् अभवन्) प्रादुर्भूत हुए और (यजुः) यजुर्वेद के मन्त्र भी (कालाद्) उस काल परमेश्वर से ही (अजायत) उत्पन्न हुए।

का॒लो य॒ज्ञं सम॑ैरयद्दे॒वेभ्यो॑ भा॒गमक्षि॑तम् ।
का॒ले ग॑न्धर्वाप्स॒रसः॑ का॒ले लो॒काः प्रति॑ष्ठिताः ॥४॥

३—'कालेह', 'कालोह' इति च क्वचित्। (द्वि०) अजनयत्पुरः, (तृ०) 'भवद् यजुः' इति क्वचित्। (प्र०) काले, (द्वि०) 'मन्त्रो जनं—' इति ह्विटनिकामितः। 'जनयत पुनः' इति ह्विटनिकामितः।

४—(प्र०) 'स ऐरयत् देवे—' इति क्वचित्। 'कालो यज्ञः समैरयत' इति पैप्प० सं०।

भा०—(कालः) काल ही (यज्ञम्) यज्ञ, आत्मा को, संवत्सर को, ब्रह्माण्ड के उस व्यवस्थित स्वरूप को (सम् ऐरयत्) प्रेरित कर रहा है जो (देवेभ्यः) देव, दिव्य शक्तियों का (अक्षितम्) अक्षय रूप से (भागम्) भाग-आश्रय है। अर्थात् जिस यज्ञ के ऊपर ही देवगण जीते हैं। (गन्धर्वाप्सरसः काले प्रतिष्ठिताः) गन्धर्व और अप्सराएं, स्त्री और पुरुष, नर मादा सभी काल के आश्रय पर विराजते हैं और (लोकाः काले प्रतिष्ठिताः) लोक भी काल में प्रतिष्ठित हैं। समस्त लोक, प्राणि कालवश जी रहे हैं।

कालेयमङ्गिरा देवोथर्वा चाधि तिष्ठतः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥५॥

भा०—(काले) उस कालरूप परमेश्वर पर (अयम्) यह (अंगिराः) प्रकाशमान (देवः) देव, सूर्य और (अथर्वा च) अथर्वा वायु (अधितिष्ठतः) आश्रित हैं। (कालः) वह सर्वज्ञ, सबका प्रेरक, परमेश्वर (ब्रह्मणा) अपने महान् सामर्थ्य से (इमं लोकं च) इस लोक को (परमं च लोकं च) और उस दूर स्थित उच्च लोक को और (पुण्यान् लोकान् च) समस्त पुण्य लोकों को, समस्त (पुण्याः विधृतीः) पुण्य मर्यादाओं को और (सर्वान् लोकान् अभिजित्य) समस्त लोकों का विजय करके वह (परमः) परम सर्वोच्च (देवः नु) देव (सः) वही (ईयते) जाना जाता है।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र नव सूक्तानि, त्रिषष्टिर्ऋचः]

५-(च०) 'विधृतीश्च' इति क्वचित्।

[५५] परमेश्वर की प्रातः सायं उपासना ।

भृगुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । २ आस्तारपंक्तिः । ५, ६ (प्र० द्वि०) त्र्यवसाना पञ्चपदा पुरस्ताज्ज्योतिष्मती । ६ (तृ० च०) ७ (प्र० द्वि०) (?) शेषाः त्रिष्टुभः ।

षडृचं सूक्तम् ॥

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥१॥

यजु० ११ । ७५ । अथर्व० ३ । १५ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् विद्वान् ! गृहपते ! राजन् ! (तिष्ठते अश्वाय इव) घुड़साल में निरन्तर खड़े रहने वाले घोड़े के लिये जिस प्रकार (घासम्) बराबर, बिना प्रमाद के, नित्य घास दिया ही जाता है उसी प्रकार (रात्रिम् रात्रिम्) प्रतिदिन (अप्रयातम्) ताजा, अनीरस (घासम्) भोग्य जल आदि पदार्थ (अस्मै) साक्षात् तेरे लिये (भरन्तः) लाते हुए हम (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी लोग (इषा) अन्न और ज्ञान से और (रायः पोषेण) धनैश्वर्य की पुष्टि द्वारा (मदन्तः) आनन्द प्रसन्न रहते हुए (मा रिषाम) कभी क्लेशित न हों । जहां 'रात्रिरात्रिमप्रयावम् भरन्तः' पाठ है वहां (अप्रयावम्) निरन्तर, बिना चूक ।

---

[५५] १–'अप्रयावम्', इति यजुः । सायणाभिमतश्च । 'अप्रयायन्' इति पैप्प० सं० । 'विश्वाहाते सदमिद् भरेमाश्वायेवोपतिष्ठते जातवेदः । इति अथर्व० ३ । १५ । ८ ॥ (प्र०) 'भरतो' इति क्वचित् । (च०) 'रिषाम' इति क्वचित् । (प्र०) 'अहरहरप्रयावं' । (च०) 'अग्नेमाते' इति यजु० । विश्वाहाते सदमिद भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः मा० गृ० सू० (प्र०) 'अप्रयामं', (द्वि०) 'घासमग्ने' इति पैप्प० सं० ।

या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥२॥

भा०—हे विद्वन् ! अग्ने ! (या) जो (ते) तेरी (वसोः) वसु, धन के (वाते) प्राप्त करने में (इषुः) इच्छा है । (सा ते एषा, वह तेरी यह पूर्ण है । (तया) उससे (नः) हमें (मृड) सुखी कर । अथवा पाठान्तर में (या ते वसोः वाचः इषुः सा ते एषा, तया नः मृड) हे विद्वन् ! तुझ वसु-विद्वान् की जो वाच्=वाणी की इषु=प्रेरणा है, वह यह है उससे हमें सुखी कर । अथवा-(या) हे ईश्वर ! जो (वसोः) सबको वास देने हारे (ते) तेरी (वातः) वायु रूप (इषुः) सब प्राणियों को चलाने हारी शक्ति है (सा) वह (ते) तेरी (एषा) यह प्रत्यक्ष दीखती है । (तया) उस शक्ति से (नः मृड) हमें सुखी कर । और हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! प्रकाशस्वरूप ! (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी या तेरे आश्रय में रहने वाले हम उपासक (इषा रायः पोषेण) अन्न और धनैश्वर्य की पुष्टि से (सम्मदन्तः) आनन्द प्रसन्न होते हुए (मा रिषाम्) कभी क्लेशित न हों ।

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥३॥

भा०—हे परमेश्वर ! हे गृहपते ! (नः गृहपतिः) हमारे गृह का पालक होकर (अग्निः) ज्ञानवान् प्रकाशवान् परमेश्वर (सायम् सायम्-) प्रत्येक सायंकाल और (प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल, अर्थात् शाम सवेरे,

२–'वातेवस्नेर्नोऽश्वसात', 'वाच इषुः सात', 'वात इषुः सात', वसोर्वसो वातऽस्सात०' इत्यादि नाना पाठाः ।

३–(द्वि०) 'वसुदानोन एधि' इति ह्विटन्यनुमितः पाठः । वसुदाः । नः इति च ह्विटनिकाभिमतः पदपाठः ।

(सौमनसस्य) उत्तम चित्त, उत्तम संकल्पवान् मन, स्थिति अर्थात् सुख, स्वस्थता का (दाता) देने वाला है । (वसोः वसोः) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य का तू (वसुदानः) प्रदाता (एधि) हो (वयम्) हम (त्वा इन्धानः) तुझे प्रज्वलित करते हुए, तेरे गुणों का प्रकाश करते हुए (तन्वं पुषेम) अपने शरीर को पुष्ट करें ।

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥४॥

भा०—(नः गृहपतिः अग्निः) हमारे गृहों का पालक अग्नि, ज्ञानवान् विद्वान् और ईश्वर (प्रातः प्रातः सायं सायम्) प्रति प्रातः सायम् (सौमनसस्य दाता) शुभ चित्त, विचार और सुख का प्रदाता है । वह (वसोः वसोः वसुदानः) प्रत्येक ऐश्वर्य का उत्तम रूप से दान करने वाला (एधि) रहे । हे अग्ने ! ईश्वर ! हम (त्वा) तुझको (इन्धानाः) प्रज्वलित करते हुए (शतं हिमाः[१]) सौ वर्षों तक (ऋधेम) समृद्ध हों, बढ़ें ।

अपश्चा दग्धान्नस्य भूयासम् ।
अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये ।
सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥५॥

भा०—हे परमेश्वर ! मैं (दग्धान्नस्य) दग्ध, जीर्ण अन्न के (अपश्चा) पीछे न (भूयासम्) रहूं । अर्थात् मैं मंदाग्नि न रहूं प्रत्युत

४-(च०) 'ख्येम' इति क्वचित् ।

१. शं तं । हिमाः इति सायणाभिमतः पदपाठः ।

५-(द्वि०) 'अन्नादयो' इति प्रायः । (प्र०) दग्ध्वान्तरकेति क्वचित् । 'अपश्चाद्दध्वानस्या । इति ह्विट्न्यनुमतः ।

मेरा अन्न सदा उत्तम रीति से जीर्ण हो। (अन्नादाय) अन्न को स्वीकार करने वाले, (अन्नपतये) अन्न के परिपालक (रुद्राय) दुष्टों को रुलाने वाले (अग्नये) ज्ञानवान् दुष्ट संतापक राजा के लिये (नमः) नमस्कार है।

हे राजन्! तू (सभ्यः) स्वयं सभा में सबसे उत्तम है । तू (मे सभां पाहि) मेरी सभा का पालन कर और जो (सभासदः) सभा में विराजने वाले (सभ्याः) सभा में साधु विद्वान् पुरुष विद्यमान हैं उनकी भी तू (पाहि) रक्षा कर।

त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्य/श्नवत् ।
अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ॥६॥

भा०—हे (पुरुहूत) बहुत से राजाओं से आदर पूर्वक निमन्त्रण करने योग्य या प्रजाओं द्वारा अपनी आपत्तियों के अवसर पर बुलाये या पुकारे जाने वाले राजन्! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन्! तू अपने (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण जीवन का (वि अश्नवत्) भोग कर । और (अहः अहः) प्रतिदिन (अश्वाय इव) अश्व के निमित्त चारे के समान, (घासम्) नाना खाद्य और उपभोग्य पदार्थ को हे (अग्ने) अग्रणी नेतः! राजन्! तुझे (तिष्ठते) सदा जागृत होकर रक्षार्थ खड़े रहते हुए (ते) तेरे लिये (बलिम् इत्) बलि या राष्ट्र करक रूप में (हरन्तः) लाते हुए तुझे सदा पुष्ट करते रहें।

६-(प्र०) 'त्वामिन्द्र' इति क्वचित। 'पुरुहूता' (तृ०) 'बणिभित्ये' 'नित्ये' बलन् इतते इत्यादि पा०। (प्र० द्वि०) 'पुरुहूय' व्यश्नुयन् इति हिटनि कामितः।

षष्ठमन्त्य प्रथम द्वितीय या रेखार्द्ध द्वयस्यपुनः पाठेन ऋचमेकां सप्तमी मन्यन्ते केचित्। तदसत। तथैव याजुकण्या मह्यं सक्त यद्दुपेयते।

इस सूक्त में राजा को अश्व से उपमा दी है। अश्व भी राष्ट्र की गमन शक्ति का प्रतिनिधि है। जैसे उत्तम अश्व सदा खड़ा रहता है उसी प्रकार राजा भी सदा खड़ा ही रहता है वही कभी सोते या प्रमादी नहीं हो तभी राष्ट्रवासी उसको बराबर कर के रूप में अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्रदान करें। यह सूक्त विद्वान्, राजा, परमेश्वर और अध्यात्म में आत्मा पर भी है।

[५६] विद्वान को अप्रमाद का उपदेश

यमऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यमस्य लोकादध्या बंभूविथ प्रमंदा मर्त्यांन् प्र युंनक्षि धीरं: ।
एकाकिनां सुरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमांनो असुरस्य योनौं ॥१

भा०—हे पुरुष ! तू (यमस्य लोकात्) यम, सब इन्द्रियों को अपने वश करने वाले (लोकात्) लोक, स्थान से (अधि आबभूविथ) सब अपने प्राणों पर अधिष्ठाता रूप से उनको वश करने में समर्थ है। तू स्वयं (धीरः) धीर, ध्यानवान् और धारण पोषण में समर्थ होकर (प्रमदा) उत्तम हर्ष से (मर्त्यान्) सब मनुष्यों को (प्र युनक्षि) उत्तम मार्ग में लगा। तू (एकाकिना) अकेला ही (विद्वान्) विद्वान् होकर (असुरस्य) केवल प्राणों में रमण करने वाले विषय विलासी पुरुष के (योनौ) आश्रय में (स्वप्नं) स्वप्न आलस्य प्रमाद को जानता हुआ स्वयं (सरथम्) अपने वेग से अपने अन्तरात्मा के आनन्द रस सहित (यासि) जीवन यापन करता है।

---

[५६] १—'मर्त्यान्' 'मर्त्यम्' इति क्वचित्। 'प्रमदा' इति सायणाभिमतः। प्रमदाः
- भिर इति सायणः ॥

अर्थात् यम नियम का पालक पुरुष अन्यों को सुप्रसन्न चित्त होकर भी सन्मार्ग में प्रेरित करे और प्रमाद को केवल प्राणपोषकों का ही जान कर स्वयं अकेला, ज्ञानवान होकर जीवन बितावे।

बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा राज्या जनितोरेके अह्नि ।
ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः ॥२॥

भा०—हे स्वप्न ! आलस्य ! (विश्वचयाः) समस्त प्रकार के रोगों को संचय करने वाला (बन्धः) और शरीर की क्रियाशक्ति को बांधने वाला कारण (अग्रे) प्रथम (त्वा) तुझको यदि (राज्याः जनितोः पुरा) रात्रि के होजाने के पूर्व ही (अपश्यत्) दिखाई दे जाता है और या (एके अह्नि) किसी एक दिन के अवसर पर दीख जाता है, (ततः) तबसे हे (स्वप्न) स्वप्न ! (भिषग्भ्यः) चिकित्सकों से भी अपने (रूपम्) स्वरूप को (अपगूहमानः) छिपाता हुआ, तू (इदम्) ऐसा (अधि आ बभूविथ) प्रबल होजाता है कि तेरी चिकित्सा करनी कठिन हो जाती है।

शरीर में रोग सञ्चय हो जाने पर आलस्य की वृद्धि हो जाती है। इससे दिन में या सायंकाल में ही निद्रा और स्वप्न होने लगते हैं। उससे वह रोग ऐसा हो जाता है कि वैद्य भी उसका स्वरूप नहीं जान पाते।

२–(च०) 'भिषग्भ्यस्त्वप–' इति बहुत्र । (प्र०) 'बन्धुस्त्वा' 'बधस्त्वा' इति क्वचित् । 'तमः स्व–', 'तव=स्व' इति क्वचित् । (द्वि०) 'विश्वचयाः' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'विश्वचयापश्यन्०' (तृ०) 'ततः । स्वप्नेनमध्याबभायथ' इति पैप्प० सं० ।

बृहद्गावासुरेभ्योधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन् ।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः ॥३॥

भा०—(बृहद्गावा) वह विशाल गति वाला या वहां २ को भी प्राप्त होने वाला, स्वप्न, आलस्य, प्रमाद (असुरेभ्यः अधि) केवल प्राणों में रमण करने वाले विलासी पुरुषों से चलकर (देवान्) ज्ञानवान्, इन्द्रियों पर विजयशील, जितेन्द्रिय पुरुषों को भी मानो (महिमानम् इच्छन्) उनपर भी महत्व, अपना या प्रभुत्व चाहता हुआ (उप अवर्तत) प्राप्त होता है। वे (त्रयस्त्रिंशासः) तैंतीसों देवता जो (स्वः आनशानाः) सुखका या प्रकाश का भी भोग करते होते हैं वे भी (तस्मै) उस (स्वप्नाय) 'स्वप्न' वृत्ति को ही (आधिपत्यं) आधिपत्य प्रभुत्व (आदधुः) प्रदान करते हैं।

अर्थात् अध्यात्म में वह निद्रा कर्मेन्द्रियों की थकावट से उत्पन्न होकर देव अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों पर भी आ जाता है। शरीर के तैंतीसों तत्व सुख को भोग करते हुए स्वप्न के वश होजाते हैं।

नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम् ।
त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥४॥

३—(प्र०) 'बृहद्ग्रावा' इति क्वचित् । 'बृहद् गवो'—इति शं० पा० अनुमितः । 'बृहंग्रावानु'—इति पैप्प० सं० । (द्वि०) उपावर्त्तस्व इति क्वचित् । 'नच्छन्' इति पैप्प० सं० । 'त्रयस्त्रिंशाः । सः । स्व—' इति क्वचित् पदपाठः ।

४—(प्र०) 'नैतां', (च०) 'वरुणेन' (द्वि०) 'यत्रान्तरेदं' इति क्वचित् । वरुणेन पैप्प० सं० । (द्वि०) 'जल्प्यास्व', (तृ०) 'त्रिते स्वप्नमदधिरा प्रतेनरा आदि—' इति पैप्प० सं० । 'देवाः' इति ह्विट्न्यनुमितः ।

भा०—(पितरः) पितृगण (उत) और (देवा) देवगण भी (एतां न विदुः) इस निद्रावृत्ति को नहीं जानते (येषां) जिनकी (जल्पिः) परस्पर वार्त्तालाप (इदम्) यह, इस आत्मा के (अन्तरा) भीतर (चरति) चला करती है। (आदित्यासः नरः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष (वरुणेन अनुशिष्टाः) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा से उपदेश प्राप्त करके (स्वप्नम्) आलस्य प्रमादयुक्त स्वप्न को (आप्त्ये त्रिते) आप्तों के हितकारी त्रित, तीनों वेदों के ज्ञाता पुरुष पर, या आप्त=आत्मा के हितकारी (त्रित) ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन सब पर वश करने वाले प्राण में (आदधुः) धारण करते हैं।

यस्य॑ क्रूरमभ॑जन्त दुष्कृ॒तोऽस्वप्ने॑न सु॒कृतः॒ पुण्य॒मायुः॑ ।
स्व॒र्मद॑सि पर॒मेण॑ ब॒न्धुना॑ त॒प्यमा॑नस्य॒ मन॒सोऽधि॑ जज्ञिषे ॥५॥

भा०—(दुष्कृतः) दुष्ट काम करने वाले पापभागी लोग (यस्य) जिस प्रमाद के (क्रूरम्) क्रूर फल को (अभजन्त) भोगते हैं और (सुकृतः) उत्तम काम करने वाले पुण्यात्मा लोग (अस्वप्नेन) अस्वप्न अर्थात् निद्रा में न सोते रहने के कारण ही (पुण्यम् आयुः अभजन्त) पुण्य आयु, दीर्घ जीवन प्राप्त करते हैं। हे स्वप्न! तू जब (तप्यमानस्य मनसः) तपस्या करने वाले के मन पर भी (अधि जज्ञिषे) अपना वश कर लेता है तब (परमेण) अपने उच्च कोटि के (बन्धुना) बन्धनकारी स्वरूप से तू (स्वः) समस्त ज्ञान या प्रकाश को भी (मदसि[1]) धुन्धला या मलिन कर देता है।

५–(प्र०) 'क्रूरमपचन्त' 'अभचन्त,' 'असन', इति च क्वचित्। 'व्यस्य क्रूरमभिजन्त दुष्कृणे स्व–' इति पैप्प० सं०।

१. 'मदसि'। मदी हर्षग्लेपनयोः (भ्वादिः)। अत्र ग्लेपनार्थः।

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद् विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते।
यशस्विनो नो यशसेह पाह्याराद् द्विषेभिरप याहि दूरम् ॥६॥

भा०—हे (स्वप्न) स्वप्न, निद्रालस्य ! (ते) तेरे (सर्वाः) सब (परिजाः) साथ २ उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों और दुष्परिणामों को हम (पुरस्तात्) पहले ही से (विद्म) जानें (यः) जो (ते) तेरा (अधिपाः) अधिष्ठाता तुझे अपने वश में रखने वाला है, उसको भी (विद्म) हम जानते हैं। (इह) इस लोक में, यहां (नः) हम (यशस्विनः) यशस्वी पुरुषों को (यशसा) यश या भोग्य, उपादेय या विनोदकारी अंश से (पाहि) पालन कर । और (द्विषेभिः) अपने अप्रीति कर, बुरे अथवा (विषेभिः) अपने बन्धनकारी अंशों सहित तू (दूरम् याहि) दूर चला जा ।

[५७] आलस्य प्रमाद को दूर करने का उपाय ।

यम ऋषिः । दुस्वप्ननाशनो देवता । १ अनुष्टुप् । ३ त्र्यवसाना चतुष्पदा त्रिष्टुप् । ४ उष्णिग् बृहतीगर्भा विराड् शक्वरी । ५ त्र्यवसाना पञ्चपदा परशाक्वरातिजगती । पञ्चर्चं सूक्तम् ।

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति ।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि ॥१॥ अथर्व० ६ । ४६ । ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (कलाम्) एक २ कला करके और (यथा शफं) जिस प्रकार एक २ चरण करके और (यथा ऋणम्) जिस प्रकार थोड़ा २ करके पूरा ऋण (संनयन्ति) चुका देते हैं (एवा) उसी प्रकार

६–(च०) द्वेपिभिः', 'द्विषोभिः','द्वेषभिः'. इति पाठः। 'द्विषोभिः' । इति सायणः । 'परिजाः' उत्पत्तिस्थानमिति पी० ल०। 'आराद् द्विषेभिः' इति पैप्प० सं० ।

[५७] १–'सर्वमाप्ये' इति सायणाभिमतः पाठः ।

(सर्वं) सब (दुष्वप्न्यम्) दुःखकारी स्वप्न या कष्ट पूर्वक शयन की पीड़ा को हम (अप्रिये) अपने अप्रिय द्वेषयुक्त पुरुष पर (सं नयामसि) उसी के निमित्त त्याग दें ।

अथवा जिस प्रकार एक २ कला करके चन्द्र नामशेष हो जाता है और जिस प्रकार एक २ पैर रखते २ मार्ग तय हो जाता है और जिस प्रकार थोड़ा २ करके ऋण चुक जाता है उसी प्रकार हम आलस्य त्याग दें। दुःखकारी आलस्य को हम थोड़ा २ करके ऋण के समान सब त्याग दें और उसे अपने शत्रुओं के लिये रहने दें। वे आलस्य में फंस कर कष्ट उठावें ।

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अंगुः सं कला अंगुः ।
समस्मासु यद्दुष्वप्न्यं निर्द्विषते दुष्वप्न्यं सुवाम ॥२॥

भा०—जैसे (राजानः) राजा लोग (सम् अगुः) युद्धकाल में एक एक करके बहुतसे एकत्र हो जाते हैं। और जैसे (ऋणानि) ऋण भी जुड़ते २ (सम् अगुः) बहुतसे एकत्र हो जाते हैं । और (कुष्ठाः) कुत्सित त्वचा के रोग भी जमा होते २ (सं अगुः) एकत्र हो जाते हैं। और जिस प्रकार चन्द्र में (कलाः) कलाएं जुड़ती २ (सम् अगुः) एकत्र हो जाती हैं। उसी प्रकार (यद्) जो (दुःस्वप्न्यम्) दुःखदायी स्वप्न निद्रा या आलस्य की मात्रा है वह भी क्रमसे (अस्मासु) हममें (सम्) एकत्र होती जाती है। हम उस (दुःस्वप्न्यम्) दुखदायी स्वप्न या आलस्य को (द्विषते) द्वेष करने वाले पुरुष के निमित्त (निः सुवाम) त्याग दें ।

२-(द्वि०) 'स कला' इति बहुत्र । (तृ०) 'यत् दुष्वप्न्यं' इति क्वचित् । 'सः ऋणानि', 'सः । कला', इति पदपाठः ।

देवानां पत्नीनां गर्भ [तो] यमस्य करयो [णो] भद्रः स्वप्न ।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्र हिंएमः ।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥३॥

भा०—हे स्वप्न ! निद्रा प्रमाद ! तू (देवनाम्) देव, विषयों में खेलने वाले इन्द्रियों की (पत्नीनाम्) पालन करने वाली शक्तियों या वृत्तियों को (गर्भ [गर्भः]) ग्रहण करने वाला, उनको बांधने वाला है। और तू (यमस्य) बन्धनकारी प्रभाव का (कर [णः]) उत्पन्न करने वाला है। हे स्वप्न ! (यः) जो तेरा स्वरूप (भद्रः) कल्याण और सुखकारी है (सः) वह तू (मम) मुझे प्राप्त हो और (यः पापः) जो पापजनक रूप है (तत्) उसको (द्विषते) शत्रु के निमित्त (प्र हिएमः) परे कर दें। हे स्वप्न ! तू (तृष्टानाम्) विषय तृष्णालुओं के लिये (कृष्ण-शकुनेः) काले शक्तिशाली घोर पापका (मुखम्) मुख अर्थात् प्रवर्त्तक (मा असि) मत हो।

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्व इव कायमश्व इव नीनाहम् । अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप ॥४॥

भा०—हे (स्वप्न) स्वप्न ! आलस्य, प्रमाद ! (तं) उस (त्वा) तुझको हम (तथा) वैसे, अर्थात् भली प्रकार (सं विद्म) जान गये हैं। इसलिये हे (स्वप्न) स्वप्न ! सुलाने वाले, प्रमादजनक (अश्वः इव) जिस प्रकार घोड़ा (कायम्) अपने शरीर को कंपाकर धूल झाड़ देता है और

३–'करयो', 'भद्रस्वप्नः', 'समन् अयः' इति क्वचित् । (पं० सं०) 'मातृष्टा', 'शकुनेमुख',-मुखन् इति क्वचित् । 'करणः, गर्भो' इति ह्विटनिकामितः ।

४–'पियारुं वपुर्म–' इति बहुत्र ।

(अश्वः इव) जिस प्रकार घोड़ा (नीनाहम्) अपने पर बंधे काठी आदि को गिरा देता है उसी प्रकार (अनास्माकम्) हमारे से भिन्न (देवपीयुम्) विद्वानों के हिंसक, उनको कष्ट देने वाले (पियारुम्) दुष्ट, हिंसक पुरुष को (वप) धुन डाल, काट डाल।

यद॒स्मासु॑ दु॒ष्वप्न्यं॒ यद् गोषु॒ यच्च॑ नो गृ॒हे।
अना॑स्माक॒स्तद् दे॑वपी॒युः पि॒यारु॑र्नि॒ष्कमि॑व॒ प्रति॑ मुञ्चताम्।
न॒वार॑त्नी॒नप॑मया अ॒स्माक॑ त॒तः परि॑।
दु॒ष्वप्न्यं॒ सर्वं॑ द्वि॒ष॒ते निर्द॑यामसि ॥५॥

भा०—(यद्) जो (अस्मासु) हम में और (यत्) जो हमारे (गोषु) गौ आदि पशुओं या इन्द्रियों में और (यत् च नः गृहे) जो हमारे घर में या देह में (दुष्वप्न्यम्) दुःखपूर्वक शयन आदि का कष्ट है (तत्) उसको (अनास्माकः) हमारे से दूसरा, हमारा शत्रु (देवपीयुः) देवों-विद्वानों का पीड़क (पियारुः) दुष्ट हिंसक पुरुष (निष्कम् इव) स्वर्ण के आभूषण के समान (प्रति मुञ्चताम्) धारण करे। हे स्वप्न ! आलस्य ! तू (अस्माकम्) हमारे (ततः परि) गृह आदि उन पदार्थों से (नवारत्नीन्) नौ हाथों परे (अपमयाः) दूर हट जा। इस प्रकार बलपूर्वक हम अपने (दुष्वप्न्यम्) दुःखदायी आलस्य, प्रमाद और दुःखपूर्वक निद्रा आदि को (द्विषते) अपने से द्वेष करने वाले पुरुष के लिये (निर्दयामसि) अपने से परे कर दें।

५–केचित् 'गृहे' इत्यन्तं चतुर्थ्यां ऋचोऽवसानमिच्छन्ति। (तृ०) 'तं पियारुर्नि' इति ह्विटनिकामितः।

[५८] दीर्घ और सुखी जीवन का उपाय

ब्रह्मा ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । उत यज्ञो देवता । १, ४, ६ त्रिष्टुभः । २ पुरोऽनुष्टुप् । ३ चतुष्पदा अतिशक्वरी । ५ भुरिक् । षड्टर्चं सूक्तम् ।

घृतस्यं जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती ।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः॥१॥

भा०—(घृतस्य) तेजस्वरूप परमेश्वर का (जूतिः) परम ज्ञानमय ज्योतिः (समनाः) ज्ञान से युक्त है । अथवा वह सबके मन, मननशील साधनों का आश्रय है । और वह (सदेवा) समस्त देवों, दिव्य पदार्थ सूर्य, अग्नि, वायु आदि के सहित उनको अपने में धारण करने वाला है और (संवत्सरम्) संवत्सर अर्थात् समस्त प्राणियों के निवास के एक-मात्र आश्रय परमेश्वर को (हविषा) समस्त ज्ञानमय प्रपञ्च से (वर्धयन्ती) बढ़ाती हुई, उसकी ही महिमा को बढ़ाती हुई सर्वत्र व्याप्त है । (नः) हमारे (श्रोत्रम्) कान, (चक्षुः) आंखें और (प्राणः) प्राण, जीवन (अच्छिन्नः अस्तु) कभी विनष्ट न हों । और हम (आयुषः) दीर्घ आयु और (वर्चसः) तेज से भी (अच्छिन्नाः) रहित न हों ।

(१) जूतिः—सर्वेषां गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् जूतिशब्देन सर्वत्र प्रसृतं ज्ञानमुच्यते अतएव ऐतरेयकाः मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्यैवेतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति । ऐ०आ० २ । ६ । १ ॥ घृतस्य जूतिरिति परमात्मनः स्वरूपविषयं ज्ञानम् । इति सायणः ।

(२) 'घृतस्य' दीप्तस्य परमतेजसः, इति सायणः ।

उपास्मान् प्राणो ह्वयतामुप वयं प्राणं हवामहे ।

---

[५८] १–(प्र०) 'समना सदैवा' इति ह्विटनिकामितः । 'समनाः' इति बहुत्र । 'समानाः' इति च । 'जूति, सममानसदेवाः' इति श० पा० ।

भा०—(प्राणः) प्राण (अस्मान्) हमें (उपह्वयताम्) धारण करे । और (वयम्) हम (प्राणम्) उस प्राण को (ह्वामहे) धारण करें ।

वर्चो जग्राह पृथिव्यन्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधर्त्ता ॥२॥

वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्वर्चो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम । यशसं गावो गोपतिमुप तिष्ठन्त्यायतीर्यशो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम ॥३॥

भा०—(पृथिवी) पृथिवी (वर्चः) तेज, अग्नि को (जग्राह) धारण करती है । (अन्तरिक्षम् वर्चः) अन्तरिक्ष तेज को धारण करता है । (सोमः) सोम, सूर्य और (बृहस्पतिः) बृहस्पति, वेदवाणी का पालक आचार्य या परमेश्वर अथवा (सोमः बृहस्पतिः) शिष्य और आचार्य दोनों भी (वर्चः विधर्त्ता) तेज को विशेष रूप से धारण करते हैं । (द्यावा-पृथिवी) द्यौ, आकाश या सूर्य और (पृथिवी) पृथिवी, भूमि या माता और पिता दोनों (वर्चसः) तेज को (संग्रहणी) उत्तम रीति से धारण किये (बभूवथुः) रहते हैं उसी प्रकार हम लोग (वर्चः गृहीत्वा) तेज धारण करके (पृथिवीम् अनु संचरेम) पृथिवी पर विचरें । (गावः) गौएं जिस प्रकार (यशसम्) यशस्वी (गोपतिम्) गो पालन करने वाले पुरुष,

२–(तृ०) 'पृथिव्यान्तरिक्षं' इति क्वचित् । (च०)-स्पतिर्धर्त्ता, स्पतिधत्ता । 'स्पतिर्धत्तात्' । 'स्पतिर्धत्तां', 'स्पतिर्विधत्तां' इत्यादि पाठाः । (द्वि०) उपह्वयं इति क्वचित् । (च०) 'विधत्ता' इति शं० पा० । विधत्ता विशेषेणधर्त्ता इति सायणाभिमतः । 'विभर्तु' इति पैप्प० सं० ।

३–(तृ०) 'यशसां' इति क्वचित् । 'यशसा' इति ह्विटनिकामितः । 'बभूवतुर्व' इति ह्विटनिकामितः ।

को (उपतिष्ठन्ति) प्राप्त होती हैं, उसके पास रहती हैं और जिस प्रकार (गावः) गौ, किरणें और इन्द्रियें (यशसम्) तेजस्वी, यशस्वी (गोपतिम्) किरणों के पालक सूर्य और इन्द्रियों के पालक जितेन्द्रिय पुरुष के पास उसके वश होकर रहती हैं उसी प्रकार (आयतीः) आती हुई गौओं, किरणों और इन्द्रियों को और (यशः) यश, तेज, वीर्य और बल, अन्न आदि को (गृहीत्वा) ग्रहण करके हम (पृथिवीम् अनुसंचरेम) पृथिवी पर विचरें ।

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥४॥
ऋ० १० । १०१ । ८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व्रजं कृणुध्वम्) गौओं के रहने के लिये बड़ी गोशाला बनाओ । (सः हि) वह ही निश्चय से (वः) तुम्हारे (नृपाणः) सब मनुष्यों का पालन करने में समर्थ है । और (बहुला) बहुतसे (पृथूनि) बड़े २ विस्तृत (वर्मा) शरीररक्षक कवच (सीव्यध्वम्) सीयो । बड़े २ कवच बनाओ । (आयसीः) लोहे की (पुरः) दृढ़ नगरियां (अधृष्टाः) जिन पर शत्रु अपना बल न जमा सकें ऐसी (कृणुध्वम्) बनाओ । (वः) तुम्हारा (चमसः) चमस पात्र, अन्न आदि का साधन (मा सुस्रोत्) मत बहे मत चूए । (तम् दृंहत) उसको खूब दृढ़ करो ।

अध्यात्म में— हे मनुष्यो (व्रजं कृणुध्वम्) शरीर आदि संघात को दृढ़ करो । (सः हि वः नृपाणः) वह ही तुम्हारे नृ= अर्थात् विषयों तक पहुंचाने वाले नेता, इन्द्रियों का पालक है । उनके लिये (बहुला पृथूनि वर्मा

४-(द्वि०) 'वर्म' इति ऋ० । (च०) 'सुस्रोचमसो' 'सुस्रोद्-' इति क्वचित् ।

सीव्यध्वम्) बहुतसे बड़े २ रक्षासाधन तैयार करो । उनको (अधृष्टा आयसीः पुरः कृणुध्वम्) पराजित न होने वाली लोहे से बनी पुरियों के समान अपने विषयों के ग्रहण में समर्थ बनाओ । (वः चमसः मा सुस्रोत्) तुम्हारा चमस अर्थात् पूर्णपात्र के समान ब्रह्मचर्य से पूर्ण देह स्रवित न हो, ब्रह्मचर्य खण्डित न हो ।

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५॥
अथर्व० २ । ३५ । ५ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० २ । ३५ । ५ ॥] (यज्ञस्य चक्षुः मुखं च प्रभृतिः) यज्ञस्वरूप आत्मा का मुख और चक्षु दोनों भरण पोषण करते हैं । (वाचा श्रोत्रेण मनसा च जुहोमि) वाणी कान और मन से भी मैं इस यज्ञ में आहुति करता हूं । (विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञम्) जगत् स्रष्टा द्वारा सम्पादित इस यज्ञ में (सुमनस्यमानाः) शुभ संकल्पों से युक्त (देवाः) देवगण, इन्द्रियें, दिव्य सामर्थ्य विद्वानों के समान ही (आयन्तु) प्राप्त हों ।

ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम् ।
इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥६॥

भा०—(देवानाम्) देव, विद्वानों में से (ये) जो विद्वान् (ऋत्विजः) ऋत्विग्, यज्ञसम्पादक पुरुष हैं और (ये च यज्ञियाः) जो यज्ञ में पूजा के योग्य हैं और (येभ्यः) जिनके लिये (भागधेयम्) विशेष अंश (हव्यम्) हव्य, हवि रूप से (क्रियते) तैयार किया जाता है वे (यावन्तः) जितने भी (तविषाः) महान् (देवाः) देवगण या विद्वान् पुरुष हैं वे

६–(द्वि०) 'कृण्वते' । 'कृणुते' इति क्वचित् । (च०) 'हविषा', 'तविषा' इति ह्विटनिकामितः ।

अपनी (पत्नीभिः सह) गृहपालिका पत्नियों सहित (इमम् यज्ञम् एत्य) इस यज्ञ में आकर (मादयन्ताम्) तृप्त हों, प्रसन्न हों।

[५२] विद्वानों की सेवा और अनुसरण करने की आज्ञा।

ब्रह्मा ऋषिः। अग्निर्देवता। १ गायत्री। २, ३ त्रिष्टुभौ। तृचं सूक्तम्।

त्वम॑ग्ने व्रतपा अ॑सि देव आ मर्त्ये॒ष्वा।
त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॥१॥ ऋ० ८।११।१॥ यजु० ४।१६॥

भा०—हे अग्ने! परमेश्वर और ज्ञानस्वरूप आचार्य! (त्वं) तू (व्रतपाः) व्रतों को पालन करने वाला (असि) है और (मर्त्येषु) मरण-धर्मा मनुष्यों में भी तू (देवः आ) प्रकाशस्वरूप देव उपास्यरूप से विख्यात है। (त्वं) तू ही (यज्ञेषु ईड्यः) यज्ञों में भी स्तुति किया जाता है।

यद् वो व॒यं प्र॑मि॒नाम॑ व्र॒तानि॑ वि॒दुषां॑ देवा॒ अवि॑दुष्टरासः।
अ॒ग्निष्टद् विश्वा॒दा पृ॑णातु वि॒द्वान्त्सोम॑स्य॒ यो ब्रा॑ह्म॒णाँ आ॑वि॒वेश॑॥२॥
(तृ० च०) ऋ० १०।२।४॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! ज्ञानदर्शी गुरुजनो! हम लोग (विदुषाम्) विद्वान् लोगों के (व्रतानि) व्रतों और शुभकर्मों को (अवि-दुष्टरासः) सर्वथा न जानने वाले, उनसे बहुत ही अनभिज्ञ हैं। (वयम्) हम लोग (वः) आप लोगों की सेवा में (यद्) जो कुछ भी (प्रमि-नाम) त्रुटि करें उसको वह (अग्निः) सर्वज्ञानी, परमेश्वर (विश्वाद्)

---

[५२] १–(द्वि०) 'देव आ' इति क्वचित्। 'देवं आ' इति क्वचित् पाठः।

२–(तृ०) 'विश्वमापृणाति' इति ऋ०। 'विश्वाद्' इति सायणः। 'विश्वा पृ०' इति पदपाठः।

सब प्रकार से (आ पृणोतु) पूर्ण करे, हमारी समस्त त्रुटियों को दूर करे। (यः) जो (सोमस्य) सोम सर्वप्रेरक ज्ञानमय परमेश्वर का (विद्वान्) जानने हारा होकर (ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों में (आविवेश) आदर पूर्वक विराजमान है।

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम्। अग्निर्विद्वान्त्स यजात् स इद्धोता सो/ध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति ॥३॥

ऋ० १० । २ । ३ ॥

भा०—हम लोग (देवानाम्) देव, विद्वान् पुरुषों के (पन्थाम् आ अगन्म) मार्ग का अनुसरण करें। और (यत्) जितना भी (अनु प्रवोढुम्) उसका अनुसरण करने में (शक्नवाम) समर्थ हो सकें (तत्) उतना ही अनुसरण करें। (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर ही (विद्वान्) सब कुछ जानता है। (सः यजात्) वह सब कुछ प्रदान करता है (सः इत् होता) वह सबको देने वाला और सबकी भक्ति को स्वीकार करने वाला है। (सः) वह (अध्वरान्) समस्त हिंसा रहित यज्ञों को और (सः) वही (ऋतून् कल्पयाति) ऋतुओं को उत्पन्न करता है। अथवा (सः) वही (अध्वरान्) अहिंसित नित्य आत्माओं को और (ऋतून्) प्राणों को (कल्पयाति) देहधारी रूप में उत्पन्न करता और उनको कार्य करने में समर्थ करता है।

[९०] शरीर के अंगों में शक्तियों की याचना।

ब्रह्मा ऋषिः। मन्त्रोक्ता वागादयो देवताः। १ पथ्या बृहती। २ ककुम्मती पुरोष्णिक्।

द्वयृचं सूक्तम् ॥

३—(तृ०) 'स इद् होता' इति सायणाभिमतः, ऋ०।

वाङ् म॑ आ॒सन्न॒सोः प्रा॒णश्च॒क्षु॑र॒क्ष्णोः श्रोत्रं॒ कर्ण॑योः ।
अप॑लिताः केशा॒ अशो॑णा द॒न्ता ब॒हु बा॒ह्वोर्बल॑म् ॥१॥

भा०—(मे आसन्) मेरे मुख में (वाक्) वाणी शक्ति रहे । (नसोः प्राणः) दोनों नासिकाओं में प्राण बराबर चलें । (अक्ष्णोः) दोनों आंखों में (चक्षुः) दर्शन शक्ति विद्यमान रहे । (कर्णयोः) दोनों कानों में (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति विद्यमान रहे । (केशाः अपलिताः) केश मेरे कभी पलित अर्थात् श्वेत न हों । (दन्ताः अशोणाः) दांत मेरे न झड़ें । (बाह्वोः) बाहुओं में मेरे (बहु बलम्) बहुत सा बल प्राप्त हो ।

ऊ॒र्वोरोजो॒ जङ्घ॑योर्ज॒वः पाद॑योः प्रति॒ष्ठा ।
अरि॑ष्टानि मे॒ सर्वा॒ [ङ्गान्या]त्मानि॑भृष्टः ॥२॥

भा०—(ऊर्वोः) गोडों में (ओजः) बल प्राप्त हो । (जंघयोः जवः) जंघाओं में वेग हो और (पादयोः) पैरों में (प्रतिष्ठा) खड़े होने की शक्ति प्राप्त हो । (मे सर्वा [ङ्गानि]) मेरे समस्त अंग (अरिष्टानि) दुःखरहित पीड़ा रहित हों । और (आत्मा) मेरा समस्त देह और आत्मा (अनिभृष्टः) नीचे न गिरने वाला, एवं संताप से रहित हो ।

[६१] सुख, शक्ति की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । विराट् पथ्या बृहती, एकर्चं सूक्तम् ।

तनूस्तन्वा/मे सहेद्रुतः सर्वमायुरशीय ।
स्योनं मे सीद पुरः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥१॥

भा०—हे परमेश्वर ! (तनूः) शरीर (मे) मेरे (तन्वा) शरीर व्यापी बल के (सह इत्) साथ ही रहे । (अतः) इस शरीर से ही मैं (सर्वम् आयुः अशीय) सम्पूर्ण आयु का भोग करूं । हे ईश्वर ! तू (मे) मेरे शरीर को (स्योनम्) सुखपूर्वक (सीद) रख। (पुरः) हे परमेश्वर सबको पूर्ण करने वाले तू (पवमानः) पवित्र करता हुआ (स्वर्गे) स्वर्ग, सुखमय लोक में मुझे (पृणस्व) पूर्ण कर ।

[६२] सर्वप्रिय होने की प्रार्थना ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप । एकर्चं सूक्तम् ।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥१॥ ऋ० १० । १२८ । खि०॥

भा०—हे परमेश्वर ! (मा) मुझको (देवेषु[1] प्रियं कृणु) विद्वान्, ज्ञानप्रद पुरुषों के बीच में प्रिय बना। (राजसु मा प्रियं कृणु) राजाओं के बीच में मुझे प्रिय बना । (सर्वस्य पश्यतः) सबके देखते हुए (उत शूद्रे उत आर्ये) चाहे वे शूद्र हों चाहे वे आर्य हों, सबके बीच में

---

[६१] १–'सहेदत्ताः', 'सहे दन्ता', इति क्वचित् ।

[६२] २–(तृ०) 'पश्यतोत', (च०) 'शूद्रमुता', (तृ०) 'प्रियं विश्वेषु गोत्रेषु' इति ऋ० । (द्वि०) 'प्रियं मा ब्रह्मणि' (तृ० च०) 'प्रियं विश्वेषु शूद्रेषु प्रियं मा कुरु 'राजसु' इति हि० गृ० सू० । 'एवं विश्येषु शूद्रेषु' इति मनुः । १. देवेषु ब्राह्मणेषु इति जिम्मरः ।

मुझे (प्रियं कृणु) सबका प्रिय बनादे। अर्थात् जो मुझे देखे उसी का मैं प्रिय होजाऊं।

[६३] ज्ञान और आयु आदि सम्पदाओं की वृद्धि की याचना।

ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्मणस्पतिर्देवता। विराड् उपरिष्टाद् बृहती। एकर्चं सूक्तम्।

उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥१॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्मन्! समस्त वेद और वेदों के विद्वानों और ब्रह्माण्ड और समस्त अन्नों के पालक प्रभो! और हे वेद के पालक विद्वान्! तू (उत् तिष्ठ) उठ, उदय हो। (देवान्) समस्त देवों, विद्वानों को (यज्ञेन) यज्ञ, देव की उपासना से (बोधय) परिचित कर, सबको उपासना का उपदेश कर। अथवा हे विद्वन् (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा, परस्पर सत्संग द्वारा (बोधय) सबको ज्ञानवान् कर। अथवा (यज्ञेन बोधय) अध्यात्म यज्ञ से प्राणों और इन्द्रियों को, ज्ञान यज्ञ से शिष्यों को, सत्संग से राजाओं को ज्ञानवान् कर उनको कर्त्तव्यों का ज्ञान करा। और (आयुः प्राणं प्रजाम् पशून् कीर्तिम् यजमानम् च) आयु, प्राण, प्रजा, पशुगण, कीर्त्ति और यजमान को भी (वर्धय) बढ़ा।

[६४] आचार्य और परमेश्वर से ज्ञान और दीर्घायु की प्राप्ति।

ब्रह्मा ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुभः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् आचार्य! (बृहते) बड़े भारी (जातवेदसे) ज्ञान से सम्पन्न, अति विद्वान् पुरुष के लिये, मैं अग्नि के लिये

[६३] १–(तृ०) 'पशु'मिति क्वचित्।

[६४] १–(प्र०) 'अग्नये समिधमा–' इति प्रायो गृह्यसूत्रेषु।

काष्ठ के समान (सम् इधम्) भली प्रकार तेरी संगति से ज्ञान द्वारा प्रज्वलित होने वाले अपने आत्मा को तेरे पास (अहार्षम्) लाया हूं। (सः) वह तू (मे) मुझे (श्रत्-धाम्) श्रद्धा अर्थात् सत्य ज्ञान धारण करने के सामर्थ्य को और (मेधाम्) पवित्र ज्ञान समझने और प्रकट करने वाली प्रतिभा शक्ति को (जातवेदाः) समस्त वेदों के जानने हारे विद्वान् पुरुष आप (प्रयच्छतु) प्रदान करें।

इध्मेनं त्वा जातवेदः सुमिधां वर्धयामसि ।
तथा त्वमुस्मान् वर्धय प्रजयां च धनेन च ॥२॥

भा०—हे (जातवेदः) ज्ञानवन् गुरो ! (इध्मेन समिधा) जिस प्रकार अच्छी प्रकार प्रदीप्त होने वाले काष्ठ से अग्नि की दीप्ति को बढ़ा दिया जाता है उसी प्रकार हम (इध्मेन) प्रदीप्त होने वाले (सम्-इधा) संगति लाभ करके ज्ञान द्वारा प्रदीप्त आत्मा से (त्वा वर्धयामसि) तुझे बढ़ाते हैं, तेरे ही गौरव की वृद्धि करते हैं। (तथा) उसी प्रकार (त्वम्) तू (अस्मान्) हमको (प्रजया) उत्तम सन्तान और (धनेन) धन से (वर्धय) बढ़ा।

यदंग्ने यानि कानि चिदा ते दारूणि दुध्मासि ।
सर्वं तदंस्तु मे शिवं तज्जुंषस्व यविष्ठ्य ॥३॥
(प्र० द्वि० च०) ऋ० । १०२ । २० ॥ यजु० ९ । ७३ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् परमेश्वर या आचार्य ! (ते) तेरे हम (यानि कानि चित्) जो कुछ भी (दारूणि) अग्नि में काष्ठों के

२–(च०) 'दीर्घमायु', 'कृणोतु मे' इति सायणाभिमतः क्वचिच्च ।
३–कानिकानि० (च०) 'ता' इति ऋ० । (तृ०) 'तदस्तु तद् घृतम्' इति प्रायः । ऋग्वेदादिषु 'यविष्ठ' इति क्वचित् ।

सन्तान अपने आदर सत्कार करने योग्य पदार्थ या आदरपूर्वक स्तुतियां (आ दध्मसि) उपस्थित करते हैं (तत्) उस सब कुछ को हे (यविष्ठ्य) शक्तिशालिन्! पूज्यतम! (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर। (तत् सर्वम्) वह सब (मे) मुझे (शिवम् अस्तु) शिव, कल्याणकारी हो।

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद् भव।
आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय ॥४॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! परमेश्वर! (ते) तेरे (एताः) ये सब (सम्-इधः) महान् तेज, दीप्तियां हैं। (त्वम्) तू ही (इद्धः) प्रदीप्त, देदीप्यमान होकर (समिद् भव) समिद्, खूब प्रज्वलित, हृदय में प्रकाशित हो। (अस्मासु आयुः धेहि) हममें दीर्घ आयु प्रदान कर और (आचार्याय अमृतत्वम्) आचार्य को अमृतता प्रदान कर। अर्थात् आचार्य चिरकाल तक हमें विद्या प्रदान करे। हम दीर्घायु होकर उसके ज्ञान को निरन्तर जीवित रक्खें।

[६५] उच्चपद प्राप्ति के साधन का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। जातवेदाः सूर्यश्च देवते। जगती। एकर्चं सूक्तम् ॥

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्।
अव तां जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमा रोह सूर्य ॥१॥

४–(द्वि०) 'त्वमिद्धं समिद्भवः', 'त्वमिद्धो–', 'त्वमिद्धो' 'त्वमिद्धसो', 'त्वमिद्धो–' 'त्वमिद्धो समिद्भव' इति नाना पाठाः। त्वम्। इद्धः। इद्धः। समित्। भव इति पदपाठः क्वचित्। 'त्वमिद्धः' इति क्वचित्। (च०) 'धेह्यमृतत्वमा–', 'धेह्यमृतं त्वमा–', इति पाठाः। 'त्वमिद्धः' इति ह्विटनिकामितः। त्वमिद्धो समिद्भव इति ह्विटनिकामितः। 'अमृतत्वमार्यै' इति ह्विटनिकामितः।

[६५] १–'विभ्यदुग्रो' इति क्वचित्।

भा०—हे (जातवेदः) प्रज्ञावान् ! ऐश्वर्यवान् ! हे (सूर्य) सूर्य ! सूर्य के समान तेजस्विन् ! तू (हरिः) अन्धकार को नाश करके (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान् होकर (अर्चिषा) अपनी ज्ञानमय दीप्ति से (दिवम् आरुहः) द्यौलोक, तेजोमय पद, मोक्ष या ईश्वर को प्राप्त हो । उस समय (ये) जो भी (दिवम्) उस तेजोमय ब्रह्मपद को (उत्पतन्तम्) प्राप्त करते हुए (त्वा) तुझको (दिप्सन्ति) विनाश करते हों, तुझे अपने उत्तम मार्ग से भ्रष्ट करना चाहते हैं तू (तान्) उनको (हरसा) अपने संहारकारी क्रोध या तेज से (अव जहि) विनष्ट कर डाल । और (अबिभ्यत्) निर्भय होकर (उग्रः) प्रचण्ड, उग्र, सदा बलवान् रहकर (अर्चिषा) अपने तेजोबल से (दिवम् आरोह) सूर्य जिस प्रकार अपने प्रचण्ड ताप सहित मध्य आकाश में चढ़ जाता है उसी प्रकार तू भी उस महान्, उच्च, परम तेजोमय ब्रह्मपद को प्राप्त हो ।

इसी प्रकार राजा को भी यही उपदेश है—तू शत्रुओं का संहारक होने से 'हरि' उत्तम पालन शक्ति से युक्त होने से 'सुपर्ण' है । वह तू अपने तेज से (दिवम् आ रोह) सूर्य के समान उच्च पद को प्राप्त हो । जो तेरा नाश करना चाहते हैं, उनको अपने (हरसा) क्रोध से विनष्ट कर । और तू स्वयं निर्भय, बलवान् होकर, अपने तेजसे द्यौलोक, उच्च पद पर आरूढ़ हो ।

[६६] दुष्टदमन और प्रजा पालन ।

ब्रह्मा ऋषिः । जातवेदः सूर्यः वज्रश्च देवताः । अतिजगती । एकर्चं सूक्तम् ।

अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति ।
तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रऋष्टिः सपत्नान् प्रमृणन् पाहि वज्रः ॥१॥

[६६] १–(च०) 'सहस्रभृष्टिः', तुष्टिः, हृष्टि, दृष्टिः, रिष्टि, सृष्टिः, इति नाना पाठाः । 'बाहि' इति बहुत्र ।

भा०—(अयोजालाः) लोहे के जाल धारण करने वाले (मायिनः) माया, विद्या के जानने वाले (असुराः) असुर, शक्तिशाली लोग (अङ्किनः) अङ्कों से युक्त होकर (अयस्मयैः) लोहे के बने (पाशैः) पाशों सहित (चरन्ति) विचरते हैं। हे (जातवेदः) जातवेदः, अग्ने! राजन्! (ते) तेरे (हरसा) तेजोमय बल से (तान् रन्धयामि) उन को वश करूं, उनको भून डालूं। और तू। सहस्र-ऋष्टिः) हज़ारों भालों वाले या 'ऋष्टि' नामक घातक शस्त्रों से सुसज्जित होकर स्वयं (वज्रः) शत्रुओं के वर्जन करने में समर्थ, विद्युत् के समान बलशाली होकर (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) विध्वंस करता हुआ (पाहि) हमारी रक्षा कर।

[६७] दीर्घ जीवन की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। सूर्यो देवता। प्राजापत्या गायत्र्यः। अष्टर्चं सूक्तम्॥

पश्येम शरदः शतम् ॥१॥ जीवेम शरदः शतम् ॥२॥ बुध्येम शरदः शतम् ॥३॥ रोहेम शरदः शतम् ॥ ४ ॥ पूषेम शरदः शतम् ॥५॥ भवेम शरदः शतम् ॥६॥ भूयेम शरदः शतम् ॥७॥ भूयसीः शरदः शतात् ॥८॥ ऋ० ८। ६६॥ यजु० ३४। २४॥

---

[६७] ३–'बुद्ध्येम', बुध्येम, बुधमे। इति नाना पाठाः।

४–'पुष्येम' इति ह्विटनिकामितः। 'प्रब्रवाम श०' 'शृणुयाम०', 'अदीनाः स्याम' 'भूयश्च०' इति यजुषि विशेषः। पश्येम, जीवेम 'नन्दाम' 'मोदाम', 'भवेम', 'शृणवाम' 'प्रब्रवाम' इति तै० सं०।

८–'भूयसीश–', भूयासी, श– इति नाना०।

भा०—हम (शरदः शतम्) सौ बरसों तक (पश्येम) देखें ॥१॥ सौ बरसों तक (जीवेम) जीवें ॥२॥ सौ बरसों तक (बुध्येम) ज्ञान प्राप्त करें ॥३॥ सौ बरसों तक (रोहेम) वृद्धि को प्राप्त हों, उन्नत हों ॥४॥ सौ बरसों तक (पूषेम) पुष्टि प्राप्त करें ॥५॥ सौ बरसों तक (भवेम) समर्थ होकर रहें ॥६॥ सौ बरसों तक (भूयेम) सत्तावान् होकर रहें॥७॥ (शरदः शतात्) सौ बरसों से (भूयसीः) बहुत अधिक वर्षों तक भी हम देखें, जीवें, समझें, बढ़ें, पुष्ट हों, समर्थ रहें और सत्तावान् बने रहें ॥८॥

[६८] वेदज्ञान-प्राप्ति का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । कर्म देवता । अनुष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

अव्यं[च]सश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया ।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥१॥

भा०—(अव्यसः[1] च) अव्यापक, अर्थात् एकदेशी और (व्यचसः च) व्यापक अर्थात् सान्त और अनन्त, परिमित और अपरिमित स्वल्प और महान् इनके (बिलम्) मर्म या सूक्ष्म भेद को मैं (मायया) बुद्धि द्वारा (विष्यामि) विवेचन करूं । और (ताभ्याम्) उन व्यापक और अव्यापक दोनों प्रकार के पदार्थों से (वेदम्[1]) वेद ज्ञान को (उद्धृत्य) दृष्टान्त प्रतिदृष्टान्त से प्राप्त करके (अथ) उसके बाद हम लोग (कर्माणि) यज्ञ कर्मों और लौकिक कर्मों का (कृण्महे) सम्पादन करें ।

[६८.] १—१. 'अव्यचसः' इति सायणः वर्णलोपश्छान्दसः । इति ह्विटनिः ।
१. कृशानुष्टिरितिग्रीफिथः । सतम्मते वेदो स्तोदात्तः । प्रामादिक ।

व्यापक शक्तियों और अव्यापक जड़ पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध को हम विवेचन करके उनका ज्ञान प्राप्त करें और उनसे बड़े २ कार्य करें।

अथवा—(अव्यचसः) अव्यापक अल्पशक्ति जीव और (व्यचसः) व्यापक परमेश्वर के (बिलम्) भेद या गूढ़रूप को मैं माया अर्थात् बुद्धि से विवेक करूं। और उन दोनों से (वेदम्) अध्यात्म और व्यापक ब्रह्म की महान शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करके हम नित्य नैमित्त कर्मों का आचरण करें।

[६९] पूर्णायु प्राप्ति का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। आपो देवताः। १ आसुरी अनुष्टुप्। २ साम्नी अनुष्टुप्। ३ आसुरी गायत्री। ४ साम्नी उष्णिक्। १-४ एकावसानाः।

चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ १॥ उपजीवा स्थोप जीव्यासं सर्व० ॥२॥ संजीवा स्थ सं जीव्यासं सर्व० ॥३॥ जीवला स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥४॥

भा०—हे (आपः) जनो! और जलों के समान आप्तजनो! आप (जीवाः स्थ) जीवन अर्थात् प्राण धारण कराने में समर्थ हो। (उप-जीवाः स्थ) जीवन को और भी अधिक बढ़ाने में समर्थ हो। मैं (उप-जीव्यासम्) और भी अधिक जीवन धारण करूं। आप (सम्-जीवाः स्थ) भली प्रकार जीवनप्रद हो। मैं (सं जीव्यासम्) उत्तम रीति से जीवन धारण करूं। (जीवलाः स्थ) तुम जीवन तत्व को प्राप्त करा देने वाले हो। मैं (जीव्यासम्) जीता रहूं और (सर्वम् आयुः जीव्यासम्) सम्पूर्ण आयु जीवित रहूं।

---

[६९] १-'स्थ' इत्येव पैप्प० सं०।

[७०] पूर्णायु प्राप्ति ।

ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रादयो देवताः । गायत्री । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्र॒ जीव॒ सूर्य॒ जीव॒ देवा॒ जीवा॑ जी॒व्यास॑म॒हम् ।
सर्व॒माgivयु॑र्जीव्यासम् ॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! या वायो ! तू (जीव) हमें जीवन धारण करा । हे (सूर्य) सूर्य सबके प्रेरक आदित्य ! और हे (देवाः) देवगण ! पृथिवी, अग्नि, विद्युत् आदि पदार्थो ! आप सब भी (जीव) मुझे जीवन प्रदान करो । (अहम्) मैं (जीव्यासम्) जीता रहूं । (सर्वम् आयुः जीव्यासम्) और सम्पूर्ण आयु भर जीवन धारण करूं ।

[७१] वेदमाता की स्तुति, आयु आदि की प्राप्ति ।

ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री देवता । अवसाना पञ्चपदी अति जगती । एकर्चं सूक्तम् ।[1]

स्तु॒ता मया॑ वर॒दा वे॑दमा॒ता प्र चो॑दयन्तां पावमा॒नी द्वि॒जाना॑म् ।
आयु॑: प्रा॒णं प्र॒जां प॒शुं की॒र्तिं द्रवि॑णं ब्रह्मवर्च॒सम् ।
मह्यं॑ द॒त्त्वा व्र॑जत ब्रह्मलो॒कम् ॥१॥

भा०—(द्विजानां पावमानी) द्विजों-ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इनको जन्म और विद्याध्ययन से पवित्र विद्वानों को पवित्र करने वाली (वरदा)

---

[७०] १–'जीवादेवा' इति प्रायः ।

[७१] १–तै० आ० परिशिष्टे—स्तुतो मयावरदा वेदमाता प्रचोदयन्ती भवने द्विजानी । वायुः पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यन्दत्वा प्रजातुं ब्रह्मलोके । (हि०) 'पावमानीम्' इति ह्विटनिकामितः । (पं०) पशून् इति क्वचित् ।

उत्तम वरण करने वाली माता या वेदमय ज्ञानों को भी उत्पन्न करने वाली परमेश्वरी शक्ति की (मया स्तुता) मैं गुणानुवाद करता हूं। समस्त विद्वान्गण भी उसीका (प्रचोदयन्ताम्) उपदेश करें। हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (मह्यम्) मुझे (आयुः) दीर्घ जीवन, (प्राणम्) प्राण शक्ति, (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, (पशुम्) उत्तम पशु (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति और (द्रविणम्) धन ऐश्वर्य (ब्रह्मवर्चसम्) और ब्रह्मवर्चस, ब्रह्मतेज इन सब का (दत्वा) उपदेश करके आप भी (ब्रह्मलोकम्) उस ब्रह्म, महान् परमेश्वर पद को (व्रजत) प्राप्त होओ।

[७२] परमात्मा का वर्णन

भृग्वंगिरा ब्रह्मा ऋषिः। परमात्मा देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्।

यस्मा॒त् कोशा॑दु॒द्भरा॑म॒ वेदं॒ तस्मि॑न्न॒न्तरव॑ दध्म एनम्।
कृ॒तमि॒ष्टं ब्रह्म॑णो वी॒र्ये॑ण॒ तेन॑ मा देवा॒स्तप॑सावते॒ह ॥१॥

भा०—(यस्मात्) जिस (कोशात्) महान् अक्षय कोश या ज्ञान के भण्डार से हम लोग (वेदम्) वेद को पेटी से ग्रन्थ के समान (उद् अभराम) उठाते हैं, निकालते हैं (तस्मिन् अन्तः) पुनः उस ही के भीतर (एनम्) उसको फिर (अवदध्मः) धर देते हैं। जिस प्रकार एक पेटी से वेद का ग्रन्थ उठाते हैं फिर पढ़ चुकने पर उसको उसी में रख देते हैं उसी प्रकार हम जिस महान् परमेश्वर से वेदमय ज्ञान प्राप्त करते हैं पुनः उस वेद को उसी से संगत करते हैं, उसी के भीतर उस ज्ञान को समाया पाते हैं (ब्रह्मणः) ब्रह्म–वेद और परमेश्वर के जिस (वीर्येण) वीर्य से (कृतम्) समस्त कर्म किये जाते और (इष्टम्) यज्ञ योग

[७२] १–(तृ०) 'ऋतमिष्टं' इति क्वचित्। 'मधीतमिष्टं' इति कौशिकसूत्रे उद्भरामि वेदं तस्मिन्नन्त वेदध्म्येनम्। इति पैप्प० सं०।

और उपासना किया जाता है (तेन तपसा) उस तप से ही हे (देवाः) देवो ! विद्वान् पुरुषो ! (इह) इस लोक में (मा) मेरी भी (अवत) रक्षा करो ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्र अष्टादश सूक्तानि पञ्चपञ्चाशदृचः]

एकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ॥

सप्तानुवाकाः एकोनविंशे सूक्तानि संख्यया ।
द्व्यधिका सप्ततिः प्रोक्ता ब्रह्मवेदविचक्षणैः ॥

बाणवस्वंकचन्द्राब्द फाल्गुनासितपक्षके ।
रवौ प्रतिपदायां चैकोनविंशं समाप्यते ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार मीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्य एकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ।

* ओ३म् *

अथ विंशं काण्डम् ॥

[१] राजा और परमेश्वर का वर्णन

क्रमशो विश्वामित्र गौतमविरूपा ऋषयः । इन्द्रमरुदग्नयो देवताः । गायत्र्यः ।

तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे ।

स पाहि मध्वो अन्धसः ॥१॥

अथर्व० २० । १।१ ॥ ऋ० ३ । ४० । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (सुते सोमे) यज्ञ में सोम के निष्पादित होने पर सोमयाग में जिस प्रकार राजा को सोमपान करने के लिये आदरपूर्वक बुलाया जाता है उसी प्रकार योगाभ्यास के अवसर पर (सोमे) परम ब्रह्मानन्द रसके (सुते) उत्पन्न होने पर (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ, समस्त आध्यात्म सुखों के वर्षण करने वाले, धर्ममेघ समाधि में प्रकट होने वाले आनन्दघन (त्वा) तुझको ही हम अभ्यासी जन (हवामहे) स्तुति करते हैं । (सः) वह तू (अन्धसः) प्राण के पालक और धारण करने वाले (मधु) परमानन्द रस का (पाहि) पान कराता है । अथवा—(सोमे सुते) उत्पन्न इस समस्त संसार में हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! हम (त्वा हवामहे) तुझे पुकारते हैं । वह तू (अन्धसः मध्वः पाहि) प्राणधारी समस्त मधु अर्थात् चेतन संसार की रक्षा कर ।

राजा के पक्ष में—(सुते सोमे) राष्ट्र के बन जाने पर हे इन्द्र ! राजन् ! (वृषभं त्वा हवामहे) तुझ महाबलवान् को हम आदर से बुलाते

हैं । वह तू (अन्धसः मध्वः) मधुर अन्न आदि योग्य पदार्थों को पालन कर ।

सर्वं वा इदं मधु यदिदं किंच । श० २।७।१।११ ॥ प्राणो वै मधु । श० १४ । १ । ३ । २० ॥ रसो वै मधु । श० ६ । ४ । ३ । २ ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥२॥ ऋ० १ । ८ । ४३ ॥

भा०—(सः जनः) वह पुरुष (सुगोपातमः) सबसे उत्तम रक्षक है (दिवः) तेजोमय, प्रकाशमान (विमहसः) विशेष तेजः—सम्पन्न, महान् सामर्थ्य वाले (यस्य) जिसके (क्षये) निवास गृह में या जिसकी शरण में रहकर, हे (मरुतः) समस्त शत्रुओं को मारने में समर्थ, वायुओं के समान तीव्र गति वाले सैनिक लोगों तुम (पाथ) राष्ट्र की रक्षा करते हो ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे (मरुतः) प्राणगण, हे वायुगण ! जिस परमेश्वर के आश्रय रहते हुए आप समस्त प्राणियों और लोकों की रक्षा करते हो वह (जनः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (सुगोपातमः) सब से उत्तम पालक है ।

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे । स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥३॥
ऋ० ८ । ४३ । ११ ॥

भा०—(उक्षान्नाय) जिसका अन्न सबको सेचन या तृप्त करने में समर्थ है और (वशान्नाय) जिसका अन्न सबको अपने वश करने में समर्थ है और (सोमपृष्ठाय) सोम, शान्ति आदि गुण वाले विद्वान् जिसके पृष्ठ रूप हैं या जिसकी पीठपर उसके प्रेरक रूप से हैं, ऐसे (वेधसे) विद्वान् मेधावी, राज्य के विधाता (अग्नये) अग्नि के समान ज्ञानवान् और शत्रु तापक राजा का हम (स्तोमैः) स्तोम अर्थात् वीर्यों, सामर्थ्यों द्वारा (विधेम)

सेवा करें। अथवा—(उक्षा) वीर्य सेचन में समर्थ युवा पुरुष और (वशा) वशकारिणी शक्ति या यह पृथ्वी ही अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थ जिसके हैं उस (सोमपृष्ठाय) ज्ञान को धारण करने वाले मेधावी अग्नि अर्थात् राजा की हम वलों द्वारा सेवा करें।

ईश्वर पक्ष में—उक्षा सूर्य और वशा पृथिवी दोनों जिसके अन्न हैं सोम ज्ञान ही जिसका स्वरूप है उस तेजोमय परमेश्वर की हम स्तुतियों द्वारा परिचर्या करें।

[२] परमेश्वर की उपासना

गृत्समदो मेधातिथिर्वा ऋषिः। मरुदिन्द्राग्निर्द्रविणोदाः देवताः। १, २ विराट् गायत्र्यौ। आर्च्युष्णिक्। ४ साम्नी त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

मरुतः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥१॥

ऋ० १।१५।२॥ २।३६।२॥

भा०—(मरुतः) मरुद्गण, समस्त प्राणगण देवजन, विद्वान् पुरुष (पोत्रात्) पोता, सोम को पवित्र करने वाले (सुस्तुभः) उत्तम रूप से स्तुति करने योग्य (स्वर्कात्) उत्तम अर्चनीय, परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋतुना) अपने प्राण के बलसे (सोमम्) उस ब्रह्मानन्दरस या प्रेरक जीवन या वीर्य, सोम को (पिबतु=पिबन्तु) पान करें, प्राप्त करें।

अग्निराग्नीध्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥२॥

[२] १—आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः। ऋ० २। ३६। २॥ मरुतः पिबत ऋतुना पोत्राद् यज्ञं पुनीतन। ऋ० १। १५। १॥

२—पतीवीहि प्रस्थिते सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि। ऋ० २। ३६। ४॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान तेजोमय विद्वान् पुरुष (अग्नीध्रात्) समस्त अग्नि विद्युत् सूर्य आदि को धारण करने वाले या समस्त अग्नियों को प्रदीप्त करने वाले या (सुस्तुभः) उत्तम स्तुति योग्य (स्वर्कात्) परम पूजनीय परमेश्वर से (ऋतुना) अपने सामर्थ्य से (सोमं पिबतु) सोम का पान करे।

इन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा ब्रा॑ह्म॒णात् सु॒ष्टुभः॑ स्व॒र्कादृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥३॥

ऋ० २। १५। ५

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान्, विभूतिमान् (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मके महान् सर्ववेदमय, ज्ञानमय, वेदमय या वेद प्रतिपादित या ब्रह्माण्डमय, शक्तिस्वरूप, (सुस्तुभः) उत्तम स्तुति करने योग्य (स्वर्कात्) परम अर्चनीय (ब्राह्मणात्) परमेश्वर से (ऋतुना) अपने प्राणबल से (सोमं पिबतु) सोम रस का पान करे।

दे॒वो द्र॑विणो॒दाः पो॒त्रात् [हो॒त्रात्] सु॒ष्टुभः॑।
स्व॒र्कादृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥४॥ ऋ० २। १५। १०॥

भा०—(द्रविणोदाः) द्रविण, ज्ञान और धनका प्रदाता (देवः) विद्वान् पुरुष (सुस्तुभः स्वर्कात्) उत्तम स्तुति योग्य परम पूजनीय, अर्चनीय (पोत्रात्) सबके परम पावन परमेश्वर से (ऋतुना) अपने ज्ञान और प्राण सामर्थ्य से (सोमं पिबतु) सोमरस का पान करे।

(१) द्यावा पृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः। श० १। ८। १। ४१। अन्तरिक्षम् अग्नीध्रम्। तै० २। १। ५। १। बाहू वा अस्य यज्ञस्य आग्नीध्रीयश्च मार्जालीयश्च। श० ३। ५। ३। ४॥

३–पिबेन्द्र स्वाहा प्रहुतं वषट्कृतं होत्रादा सोमं प्रथमोय ईशिषे ऋ० २।३६।१॥ ब्राह्मणादिन्द्रराधसः पिबासोमं ऋतूंरनु। इति ऋ० १।१५।५॥

४–होत्रात्सोमं द्रविणोद पिब ऋतुभिः। ऋ० २। ३७। १॥

(२) 'ब्रह्मणात्'–ब्राह्मणो वै सर्वाः देवताः । तै० १ । ४ । ४ । २, ४ ब्रह्मणो वा एतत् रूपं यद् ब्राह्मणः । श० । १३ । १ । ५ । ३ । ब्राह्मणो वै प्रजानामुपद्रष्टा । श० । २ । २ । ७ । ३ ॥

(३) 'द्रविणोदाः—प्राणावै देवो द्रविणोदाः । श०६ । ७ । २ । ३॥ द्रविणोदा: इति द्रविणं ह्येभ्यो ददाति । श० ६ । ३ । ३ । ३ । १३ ।

अर्थात्-(१) जिस प्रकार वायुगण सूर्य से केवल ऋतु के अनुसार सोम-जल को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार प्राणगण अपने आत्मा से अपने सामर्थ्यानुसार बल प्राप्त करें । उसी प्रकार विद्वान् गण स्तुत्य परमेश्वर से अपने ज्ञान सामर्थ्य के अनुसार सोम, ज्ञान और बल प्राप्त करें ।

(२) अग्नि जिस प्रकार सूर्य से अपना तेज ग्रहण करता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष उस परमस्तुत्य समस्त अग्नियों के आश्रय परमेश्वर से अपने बल के अनुसार सोम, ज्ञानमय प्रकाश प्राप्त करे ।

(३) महान् शक्तिमान् इन्द्र विद्युत् जिस प्रकार महान् शक्तिमय सूर्य से जैसे अपने ऋतु के अनुसार बल वीर्य प्राप्त करता है उसी प्रकार ऐश्वर्यवान् वेदज्ञ पुरुष समस्त देवतामय, सर्व शक्तिमान् परमेश्वर से अपने बल सामर्थ्यानुसार बल और ज्ञान प्राप्त करे ।

(४) अग्नि या मेघ जिस प्रकार सूर्य से अपने ऋतु के अनुसार जल धारण करता है उसी प्रकार ज्ञान और सम्पत्ति का देने वाला ज्ञानी पुरुष भी सबके देने वाले (होत्रात्) सर्वप्रद परमेश्वर से (सोमं) ज्ञानी ऐश्वर्य को प्राप्त करे ।

[३] परमेश्वर और राजा का वर्णन

इरिम्बिठिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ॥
एदं बर्हिः सदो मम ॥१॥ ऋ० ८ । १७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र परम ऐश्वर्यवन्! राजन्! (ते) तेरे लिये ही (सोमम्) सोम. राष्ट्र का हम (सुषुम) सेवन करते हैं । तू (आयाहि) हमें प्राप्त हो । तू (इमम्) इसको (पिब) पान कर । (इदम्) यह (मम) मेरा (बर्हिः) दिया आसन है । इस पर (आसदः) आ विराज । अथवा-(इदं मम सदः) यह मेरा विराजने योग्य (बर्हिः) आसन है इस पर विराजो । अथवा राजन्! (आयाहि) आ । तेरे लिये (सोमं सुषुम) सोम रूप राष्ट्र का सम्पादन, अभिषेक द्वारा प्रदान करते हैं, विजय करते हैं । इसका (पिब) पालन कर या उपयोग कर । यह (बर्हिः सदः) बड़ा भारी सभा-भवन है ।

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥ ऋ० ८ । १७ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर (त्वा) तुझको (ब्रह्मयुजौ हरी) ब्रह्म अर्थात् ज्ञान के साथ योग करने वाले राजा को जिस प्रकार वे घोड़े वहन करते हैं उसी प्रकार (केशिनौ) किरणों से युक्त (हरी) हरणशील नित्य गतिमान् (वहताम्) धारण करते हैं । हे परमेश्वर! आप (नः) हमारे समस्त (ब्रह्माणि) वेदमन्त्र, अथवा ब्रह्म विषयक स्तुतियों को अथवा ब्रह्म विषयक उपासना अनुष्ठानादिकों को (शृणु) श्रवण कर । और स्वीकार कर । राजपक्ष में-गौण वृत्ति से मन्त्र अर्थात् विचारपूर्वक युक्त दो घोड़े तेरे रथ को खैंचे । तू हमारे मन्त्रों का श्रवण कर ।

अध्यात्म में—ब्रह्म परमेश्वर या मन के साथ युक्त दो हरणशील गतिशील प्राण और अपान, हे आत्मन्! तुझे धारण करें ।

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥३॥ ऋ० ८ । १७ । ३ ॥

भा०—(वयम्) हम (सोमिनः) सोम, ज्ञान से सम्पन्न (ब्रह्माणः) ब्रह्म के ज्ञानी पुरुष (युजा) योग समाधि द्वारा (त्वा) तुझ (सोमपाम्) सोमरूप ब्रह्मानन्द रस के पान करने हारे को (सुतावन्तः) सम्पादित ब्रह्म रस से सम्पन्न होकर (हवामहे) बुलाते हैं।

राजा के पक्षमें-(सोमिनः) राष्ट्र वाले हम (ब्रह्माणः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (युजा) योग देने वाले, सहयोगी समस्त सहायक गण के सहित (त्वा सोमपाम्) तुझ राष्ट्र के पालक राजा को (सुतावन्तः) निष्पन्न समस्त उत्तम, ऐश्वर्यमय पदार्थों से सम्पन्न होकर तुझे बुलाते हैं।

[४] ईश्वर की उपासना।

हरिम्बिठि ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

आ नो याहि सुतावतोस्माकं सुष्टुतीरुपं।
पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥१॥ ऋ० ८ । १७ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर (सुतावतः) योग समाधि द्वारा अध्यात्मज्ञान का प्रसव करने वाले (नः) हमें तू (आयाहि) प्राप्त हो । (अस्माकम्) हमारी (सुस्तुतीः) उत्तम स्तुतियों को (उप) अति समीप होकर श्रवण कर, एवं स्वीकार कर । हे (सुशिप्रिन्) उत्तम ज्ञानवान् ! आप ही (अन्धसः) उस परम अमृत रस का (पिब) पान करें, हमें भी पान करावें।

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु।
गृभाय जिह्वया मधु ॥२॥ ऋ० ८ । १७ । ५॥

भा०—हे पुरुष ! (ते कुक्ष्योः) तेरी महान् कोखों में इस सोम को (आसिञ्चामि) सेचन करता हूं । वह (ते गात्रा) तेरे गात्रों

में (अनु विधावतु) व्याप्त हो जाय (जिह्वया) जिह्वा द्वारा तू उस (मधु) मधुर अमृत को (गृभाय) ग्रहण कर।

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान् तन्वे३ तव।
सोमः शमस्तु ते हृदे ॥३॥ ऋ० ८।१७।६॥

भा०—हे इन्द्र! (संसुदे) उत्तम दानशील (ते) तेरे लिये (मधुमान्) मधुर गुणयुक्त यह (सोमः) सोम (स्वादुः) उत्तम स्वादिष्ट हो और (तव तन्वे शम्) तेरे शरीर के लिये शान्तिदायक हो। और (ते हृदे) तेरे हृदय के लिये भी (शम् अस्तु) शान्तिदायक हो।

[५] ईश्वर और राजा का वर्णन।

इरिम्बिठिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥१॥ ऋग्वेद ८।१७।७॥

भा०—हे (विचर्षणे) प्रजाओं को नाना प्रकार से देखने वाले! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (जनीभिः अभि संवृतः इव) जिस प्रकार स्त्रियों से घिरा हुआ नवयुवक वर बड़ी शान से आता है उसी प्रकार (अयम्) यह (सोमः) सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक शक्ति भी (त्वा उ) तेरे पास ही (प्र सर्पतु) आती है अर्थात् वह सर्वोत्पादक शक्ति तुझे ही प्राप्त है। वह सोम कैसा है? मानो (जनीभिः अभि संवृतः) नाना सृष्टियों को उत्पन्न करने वाली शक्तियों से व्याप्त है।

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥२॥ ऋ० ८।१७।८॥

[५] आगामिसूक्तस्यादिमन्त्रमुपादाय बृहत्सर्वानुक्रमण्यामिदं सूक्तं सप्तर्चमुच्यते। आगामिचाष्टर्चमेव। सर्वत्र इदं सप्तर्चमेवोपलभ्यते आगामि च नवर्चं।

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (अन्धसः) सबको प्राण धारण करने वाले सर्वोत्पादक सामर्थ्य रूप सोम के (मदे) अत्यन्त हर्ष या उद्वेग में स्वयं (तुविग्रीवः) अनेक ग्रीवा वाला, अनेक मुख सहस्रमुख होकर (वपा-उत्-अरः) 'वपा' समस्त संसार में बीज वपन करनेहारी महान् शक्ति को उदीर्ण या जागृत करके (सुबाहुः) वीर पुरुष के समान उत्तम बाहु अर्थात् सृष्टियों के प्रतिघातक पदार्थों की बाधना करने वाला होकर वह (वृत्राणि) नाना वृत्रों, जीवन के नाशक कारणों को (जिघ्नते) विनाश करता है ।

राजा के पक्ष में—उत्तम बाहुशाली, दृढ़ गर्दन और विस्तीर्ण छाती वाला राजा सोम अर्थात् राष्ट्र के बल में आकर घेरने वाले शत्रुओं का नाश करता है ।

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।
वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । १७ । ९ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) वारण करने वाले विघ्न विघ्नों को नाश करने हारे इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! तु (ओजसा) ओज से, पराक्रम से (विश्वस्य ईशानः) समस्त विश्व को अपने वश करने और उसको संचालन करने में समर्थ होकर (त्वं पुरः प्रेहि) तू ही सबसे आगे चल । और (वृत्राणि) समस्त विघ्नों का (जहि) नाश कर ।

राजा या सेनापति—शत्रु नाशक होने से या राष्ट्र के विघ्नकारी लोगों को नाश करने हारा होने से 'वृत्रहा' है । वह अपने पराक्रम से समस्त राष्ट्र का स्वामी होकर सबसे आगे २ चले और शत्रु दलों का नाश करे ।

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि ।
यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । १७ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर (ते अंकुशः[१]) तेरा यश या विशेष लक्षण, (दीर्घः अस्तु) सब से अधिक है । (येन) क्योंकि तू (सुन्वते) ज्ञान सम्पादन करने वाले (यजमानाय) यज्ञशील, देवोपासक को (वसु प्रयच्छ) नाना प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान कर ।

'अंकुशः'—अंकते लक्षयति येन सः अंकुशः, इति दया० । उ० व्या० ।

अयं तं इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।

एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । १७ । ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् ! (ते) तेरा (अयम्) यह (निपूतः) अत्यन्त पवित्र (सोमः) सोम, सर्वोत्पादक वीर्य और तेज (बर्हिषि अधि) इस महान् आकाश में, यज्ञमें सोम के समान विद्यमान है । (ईम् एहि) इसको तू ही प्राप्त कर (अस्य द्रव) इसमें व्याप्त हो (पिब) तू ही इसका पान कर अर्थात् तू ही इसको अपने में ग्रहण कर ।

राजपक्ष में—राजा का सोम, राष्ट्र अति पवित्र, जो विशाल आधार पर स्थित है । वह उसको प्राप्त करे और उसका सार भाग स्वयं ग्रहण करे ।

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः ।

आखण्डल प्र हूयसे ॥६॥ ऋ० ८ । १७ । १२ ॥

भा०—हे (शाचिपूजन) शक्तिशाली पुरुषों से भी पूजने योग्य अथवा शक्तिशाली पूजन वाले परमेश्वर ! हे (शाचिगो) शक्तिशाली किरणों से युक्त ! अथवा शक्तिशाली गति देने के साधनों वाले ! अथवा शक्तिशाली गौ, सूर्यादि लोकों के स्वामिन् ! (अयं सुतः) यह उत्पादित समस्त संसार (ते रणाय) तेरे ही रमण करने के लिये है । इसलिये हे (आखण्डल) सर्वत्र खण्ड २ में भी व्यापक ! सर्वशक्तिमन् ! तू ही (प्र हूयसे) सबसे अधिक स्तुति किया जाता है ।

राजा के पक्ष में—हे (शचिगो) शक्ति से गमन करने वाले ! हे (शचिपूजन) शक्ति द्वारा पूजने के योग्य, प्रतिष्ठित यह तेरा निष्पन्न राष्ट्र भी तेरे रण, रमण करने के लिये है। हे (आखण्डल) शत्रुनाशक तू (प्रहूयसे) भली प्रकार आदरपूर्वक स्तुति किया जाता है।

यस्ते शृङ्गवृषो नपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः ।
न्य/स्मिन् दध्र आ मनः ॥ ७ ॥ ऋ० २ । १७ । १३ ॥

भा०—(यः) जो (ते) तेरा (शृङ्गवृषः) लोकसंहारक और साथ ही सकल सुखों का वर्षक (नपात्) अगम्य या अनाश्रय सर्वजगत् का आश्रय (प्रणपात्) अति अधिक अगम्य या शक्तिशाली, कुण्डपाय्यः[1]) दाहकारी, प्रलयाग्नि द्वारा पान करने वाले कर्म या सामर्थ्य अथवा रक्षण सामर्थ्य से सबको ग्रहण करने वाला है। तू (मनः) अपना समस्त मानस व्यापार (अस्मिन्) इसमें ही (आ नि दध्रे) लगा रहा है। ईश्वर के संकल्प मात्र से जगत् का प्रलय और सर्ग का कार्य होरहा है।

[६] राजा और परमेश्वर का वर्णन ।

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । नवर्चं सूक्तम् । गायत्र्यः ।

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे ।
स पाहि मध्वो अन्धसः ॥१॥ ऋ० ३ । ४० । १ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० २० । १ । १ ॥

इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत ।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥२॥ ऋ० ३ । ४० । २ ॥

---

[७] १. 'कुडि दाहे' (भ्वादिः) पचाद्यच्। कुडि रक्षणे (चुरादिः) कुण्डनेर्वा।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! तू (क्रतुविदम्) क्रिया, ज्ञान के प्राप्त कराने वाले अपने (सुतम्) उत्पादित, (सोमम्) उत्पादक सामर्थ्य, सोम को स्वयं (हर्य) चाह, स्वयं अपने वश कर । और (तातृपिम्) सब को तृप्त करने हारे उस सामर्थ्य को तू (पिब) पानकर और (वृषस्व) सर्वत्र सेचन कर । राजा के और मनुष्य के पक्ष में—हे ऐश्वर्यवन् ! (क्रतुविदम्) ज्ञान और क्रिया से सामर्थ्य को देने वाले, निष्पन्न (सोमम्) सोम रूप अन्न को (हर्य) प्राप्त करने की इच्छा कर । (तातृपिम्) तृप्तिकारी अन्न का (पिब) पान कर, खा और (वृषस्व) वीर्य शक्ति को प्राप्त कर ।

इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः ।
तिर स्तवान विश्पते ॥३॥ ऋ० ३ । ४० । ३ ॥

भा०—हे (स्तवान) सब के द्वारा स्तुति किये गये, प्रशंसा के भाजन ! हे (विश्पते) प्रजा के पालक प्रभो ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (नः) हमारे (धितावानम्) धन धान्य से समृद्ध अथवा हित-कारी (यज्ञम्) यज्ञ, राष्ट्र को (विश्वेभिः देवेभिः) समस्त देव विजेता पुरुषों द्वारा (प्र तिर) बढ़ा ।

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर तू समस्त दिव्य पदार्थों से हमारे जीवन-यज्ञ को दीर्घ कर ।

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते ।
क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥४॥ ऋ० ३ । ४० । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर ! हे (सत्-पते) सज्जनों के प्रति-पालक ! (इमे) ये (इन्दवः) परम ऐश्वर्यवान् ! (चन्द्रासः) चन्द्र के समान परम आह्लादजनक (सुताः) समाधि के अंगों द्वारा निष्पन्न

(सोमाः) ज्ञाननिष्ठ विद्वान् पुरुष (तव क्षयम्) तेरे ही आश्रय या तेरी ही शरण में (प्र यन्ति) आते हैं ।

राजा के पक्ष में—चन्द्र के समान आल्हादकारी ऐश्वर्यवान् (सोमाः) समस्त प्रेरक, शासक राजा लोग भी तेरी शरण, तेरे राजभवन, सभा-भवन में आते हैं । इन्द्र=आचार्य पक्ष में सोमगण, शिष्य आचार्य के गृह पर आते हैं ।

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम् ।
तव द्युक्षास इन्दवः ॥५॥ ऋ० ३ । ४० । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् प्रभो ! तू (सुतम्) उत्पादित इस (वरेण्यम्) वरणीय, परमपद में प्राप्त कराने वाले या परम वरणीय (सोमम्) सोम रूप सूर्य को (जठरे) अपने सृष्टि को उत्पन्न करने के महान् कार्य में (दधिष्वा) स्थापित करता है । (द्युक्षासः) दीप्तिमान् (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् समस्त लोक, हे परमेश्वर ! (तव) तेरे ही अधीन हैं । आचार्य पक्ष में—इस (सुतम्) विनीत आज्ञा-पालक शिष्य को अपने गर्भ में रख । ये तेजस्वी कान्तिमान् शिष्य तेरे ही हैं ।

राजा के पक्ष में इस निष्पन्न सोमरूप राष्ट्र को अपने जठर में अर्थात् अपने अधीन रख । ऐश्वर्यवान् कान्तिमान् रत्नादि धन सब तेरे ही हैं । 'जठरे'—जनेरठ च । उणा० । जनयतीति जठरम् । मध्यं वै जठरम् । श०॥

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद् यशः ॥६॥ ऋ० ३ । ४० । ६ ॥

भा०—हे (गिर्वणः) हे वाणियों द्वारा एकमात्र भजन, स्तुति करने योग्य ! (नः) हमारे प्रदान किये (सुतम्) समस्त साधनों से निष्पन्न इस आत्मा को (पाहि) पान कर, स्वीकार कर । तू (मधोः) मधु-अमृतमय परमानन्द की (धाराभिः) धाराओं से (अज्यसे) सर्वत्र प्रकाश-

मान है। हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यशः) यह समस्त तेजोमय विभूति, (त्वादातम् इत्) तेरी ही प्रदान की हुई है।

राजा के पक्ष में—हे स्तुत्य राजन् ! हमारे उत्पादित इस अन्नादि पदार्थ को स्वीकार कर या पालन कर। तू (मधोः धाराभिः अज्यसे) वीर्य या शत्रु को तपाने हारे बल की धारा=धारण शक्तियों से प्रकाशित है। यह समस्त ऐश्वर्य तेरा ही दिया हुआ है।

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता।

पीत्वी सोमस्य वावृधे ॥७॥ ऋ० ३ । ४० । ७ ॥

भा०—(वनिनः) ईश्वर के भजन करने वाले पुरुष के (अक्षिता द्युम्नानि) समस्त अक्षय धन, ऐश्वर्य और यश आदि (इन्द्रम् अभि सचन्ते) उस इन्द्र को ही प्राप्त होते हैं उसके ही भेंट जाते हैं। और वह (सोमस्य) इस सोम, समस्त संसार को (पीत्वी) पान करके (वावृधे) स्वयं बड़ा हुआ है, स्वयं सबसे महान् होकर रहता है।

राजा के पक्ष में—(वनिनः) धनाढ्यों के समस्त ऐश्वर्य उस राजा को ही प्राप्त हैं, वह राष्ट्र रूप सोम को स्वयं स्वीकार करके सबसे बढ़ा चढ़ा है।

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन्।

इमा जुषस्व नो गिरः ॥८॥

भा०—हे (वृत्रहन्) आवरणकारी अन्धकार और समस्त विघ्नों के नाशक प्रभो ! तू (नः) हमें (अर्वावतः) समीप के देश से और (परावतः च) दूर देश से भी (आगहि) प्राप्त हो। और (इमाः नः गिरः) हमारी इन वाणियों को (जुषस्व) स्वीकार कर।

राजा के पक्ष में—तू हम प्रजाजनों की प्रार्थनाओं को सुन। दूर और समीप जहां भी हो वहां से हमारी रक्षार्थ हमें प्राप्त हो।

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे ।
इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! तू (परावतम्) दूर देश और (अर्वावतं च) समीप के देश और (यत्) जब (अन्तरा च) उन दोनों के बीच के देशों में भी (हूयसे) पुकारा जाता है । तुझे जब, जहां भी, पास या दूर कहीं भी याद किया जाता है, हे प्रभो ! तू (ततः) वहां से (इतः) यहां (आगहि) हमें प्राप्त हो । ईश्वर सर्वत्र है, सर्वत्र उसका स्मरण करे और वह सर्वत्र ही प्राप्त होता है ।

राजा के पक्ष में—दूर पास और बीच के देशों में भी तुझे पुकारें तो वहां ही प्रजा के दुःख-शमनार्थ प्राप्त हो ।

[७] परमेश्वर और राजा ।

१–३ सुकक्षः । ४ विश्वामित्रः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।
अस्तारमेषि सूर्य ॥१॥ ऋ० ८ । ९३ १ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य ! सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानवान् योगिन् ! तू (श्रुतामघम्) प्रसिद्ध ऐश्वर्यवान् (वृषभम्) सब सुखों के वर्षक, सब को अपनी व्यवस्था में बांधने वाले, बड़े बैल के समान शक्तिमान् होकर समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले (नर्यापसम्) समस्त मनुष्यों और जीवात्मा के हितकारी कर्म या व्यापार करने वाले (अस्तारम्) सबके प्रेरक उस परमेश्वर को (अभि) लक्ष्य करके तू (उद् एषि घ) निश्चय से उदित होता है ।

राजा के पक्ष में—हे (सूर्य) विद्वन् ! ऐश्वर्यवन् ! नरश्रेष्ठ, सर्वहितकारी, तू (अस्तारम्) शत्रु पर शस्त्रास्त्र फेंकने में शूरवीर पुरुष को

प्राप्त होकर उदय को प्राप्त हो ! शिष्यपक्ष में—हे शिष्य सूर्य के व्रत को अनुसरण करने हारे ! तू श्रुत, वेदस्वरूप ज्ञान के धनी, ज्ञानवर्धक, हितकारी, ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानान्धकार के नाशक आचार्य को प्राप्त होकर उन्नति को प्राप्त हो।

नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा।
अहिं च वृत्रहावधीत् ॥२॥ ऋ० ८। ९३। २॥
स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद् गोमद् यवमत्।
उरुधारेव दोहते ॥३॥ ऋ० ९। ९३। ३॥

भा०—(यः) जो ज्ञान का आवरण करने हारे वृत्र, अज्ञानान्धकार का नाश करने वाला, (बाह्वोजसा) अज्ञान बाधक वीर्य से, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर सूर्य के समान (अहिम्) हृदय या आकाश पर आवरण करने वाले मेघ के समान अज्ञानावरण को (अवधीत्) विनष्ट करता है और (यः) जो (बाह्वोजसा) अपने बाहु, बाधन करने वाले वीर्य से, पराक्रम से (नव नवतिम्) ९९ (पुरः) देहों को भी (बिभेद) तोड़ डालता है, अर्थात् जो ९९ देह—बन्धनों से मुक्त करता है (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् (शिवः) कल्याणकारी, (सखा) परम मित्र, (अश्वा-वत्) समस्त व्यापक गुणों से युक्त, (गोमत्) सूर्यादि लोकों या ज्ञान से युक्त, (यवमत्) प्रकृति के परमाणुओं को संयोग विभाग करने वाली शक्ति से युक्त परमेश्वर (नः) हमें (उरुधारा इव) बहुतसी दुग्ध धारा बहाने वाली दुधार कामधेनु के समान ही आनन्द रस एवं सुखों को (दोहते) प्रदान करता है। [२.३]

राजा के पक्ष में—जो राजा आवरणकारी, नगर को घेरने वाले शत्रु का नाशक (अहिम्) चारों तरफ फैले या सर्प के समान कुटिल शत्रु का नाश करता है और जो शत्रु के ९९ दुर्गों को तोड़ चुकता है वह 'इन्द्र'

कहाने योग्य राजा हमारे लिये कल्याणकारी मित्र, अश्वों, गौओं की सम्पत्ति से समृद्ध अन्नादि योग्य पदार्थों से युक्त होकर कामधेनु के समान हमें सब प्रकार के सुख प्रदान करता है।

इसी प्रकार वह जीवात्मा जो अज्ञान का नाश करता, ९९ पुर अर्थात् ९९ वर्षों या हिता नाम नाड़ियों को पार करके, सुखी सर्वमित्र, कर्म-इन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होकर नाना धारण सामर्थ्यवान् होकर अन्यों को सुख देता है, वह 'इन्द्र' है।

इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत ।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥४॥ ऋ० ३ । ४० । २ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० २० । ६ । २ ॥

[८] परमेश्वर और राजा ।

ऋषयो भरद्वाजः कुत्सः विश्वामित्रश्च ऋषयः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः ।
तृचं सूक्तम् ।

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः ।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥१॥
ऋ० ६ । १७ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (प्रत्नथा) पूर्व के समान (एव) ही (पाहि) आप सोम का पान करें अर्थात् विश्व को धारण करते हैं। वह सोम (त्वा मन्दतु) तुझे नित्य आनन्दित करता है। तू (ब्रह्म श्रुधि) ब्रह्म अर्थात् वेदमन्त्रों का श्रवण करता है। (उत) और (गीर्भिः) स्तुति वाणियों से (वावृधस्व) वृद्धि कीर्ति को प्राप्त होता है। तू (सूर्यं आविः कृणुहि) सूर्य को प्रकट करता है। तू (इषः) अन्नों को और समस्त प्रेरक शक्तियों को भी या समस्त कामनाओं को समृद्ध या

सफल करता है । तू (शत्रून् जहि) शत्रु हमारे मनोरथों का नाश करने वालों को विनाश कर । (आ अभि तृन्धि) सूर्य जिस प्रकार किरणों को फेंकता है विद्वान् जैसे वाणियों को स्फुरित करता है, हे परमेश्वर ! इसी प्रकार आप ज्ञानरश्मियों को प्रकट करें । अथवा (शत्रून् जहि, गा अभि तृन्धि) शत्रुओं का नाश कर और उसकी गो, इन्द्रियों का नाशकर ।

राजा के पक्ष में-राजा पूर्व के समान राष्ट्र का (पाहि) पालन करे, वह उसको हर्षित करे । वह विज्ञानवान् पुरुषों की वाणियों को सुने । और उन की वाणियों से वृद्धि को प्राप्त हो । सूर्य अर्थात् विद्वान् को प्रकट करे । और शत्रुओं की इन्द्रियों का नाश करे अथवा उनकी (गाः) भूमियों को छीन ले ।

अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय ।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः ॥ २ ॥
ऋ० १ । १०४ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! (अर्वाङ् एहि) तू साक्षात् प्राप्त हो (त्वा) तुझको (सोमकामम् आहुः) विद्वान् पुरुष 'सोम-काम' कहते हैं । तू सोम अर्थात् समस्त संसार में 'काम' कामना, या संकल्प रूप से प्रेरक होकर सर्वत्र विद्यमान है । (अयं सुतः) यह तैयार किया हुआ सोम, समस्त संसार तेरे ही लिये है । (तस्य) उसका तू (मदाय) हर्ष के लिये (पिब) पान कर । (उरुव्यचाः) तू महान् आकाश के समान सर्वव्यापक है । तू अपने ही (जठरे) उत्पादक सामर्थ्य में (आ वृषस्व) इसको समस्त रसों से पूर्ण कर, सिंचन कर । और (हूयमानः) जब भी तुझे पुकारा जाय तभी (पिता इव) पिता के समान (नः) हमारी पुकार (शृणुहि) श्रवण कर ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! तुम हमारे पास आओ । तुझे राष्ट्र की कामना वाला, कहते हैं । तू इसका भोग कर । तू महान् सामर्थ्यवान्

होकर अपने ही अधिकार में इसको पुष्ट कर। और हम प्रजाओं की पुकार पिता के समान सुन।

आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।
समु प्रियाः आववृत्रन् मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् ॥३॥
ऋ० ३ । ३२ । १५ ॥

भा० —(अस्य) इस इन्द्र के लिये (कलशः) यह कलश (स्वाहा) उत्तम रीति से (आ पूर्णः) पूर्ण है। अर्थात् परमेश्वर की शक्ति से यह समस्त ब्रह्माण्ड पूर्ण है। उसमें कोई न्यूनता नहीं है। (सेक्ता) प्यालों को भरने वाला जिस प्रकार उंडेल २ कर प्याले भरा करता है उसी प्रकार वह भी (पिबध्यै) आनन्दरस पान करने के लिये (कोशं सिसिचे) इस समस्त भुवन कोष को और अध्यात्म में हृदय को ही रस अपने आनन्द से और सामर्थ्य से (सिसिचे) सिंचता है। (प्रियाः) उसके सभी प्यारे (सोमासः) सोम, उपासकजन (मदाय) हर्ष आनन्द प्राप्त करने के लिये (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु के (अभि प्रदक्षिणित्) चारों तरफ़ उसको घेरते हुए (सम् आववृत्रन्) एक साथ ही घेर कर बैठे हैं।

राजा के पक्ष में—इसका राष्ट्र रूप कलश सदा पूर्ण रहे। वह प्याले भरने वाले के समान सदा उपभोग के लिये ही अपने कोश-खजाने को भरा करे। और प्रिय सोम, विद्वान पुरुष या राजा लोग उसके दाहिनी तरफ़ से उस इन्द्र महान् सम्राट् को घेरकर बैठें।

[९] परमेश्वर और राजा।

१, २ नोधाः, ३, ४ मेधातिथिर्ऋषिः। १, २ त्रिष्टुभौ, ३, ४ प्रगाथे।
चतुर्ऋचं सूक्तम्।

तं घो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥१॥

ऋ० ८ । ७८ । १ ॥

भा०—(स्वसरेषु) दिनों के समाप्ति के अवसर पर (वत्सम् अभि) बछड़े को लक्ष्य करके (धेनवः च) जिस प्रकार गौवें हंभारती हैं उसी प्रकार हम प्रेम से बद्ध होकर (धेनवः) उसका रस पान करने हारे उपासक लोग उस (वत्सम् अभि) सबके भीतर वास करने वाले अथवा सब को उपदेश करने हारे (दस्मम्) दर्शनीय, (ऋतीषहम्) समस्त दुःखों के नाशक (वसोः अन्धसः) सबके भीतर बसने वाले व्यापक (अन्धसः) प्राण धारण करने वाले अपने उत्साह वा सामर्थ्य सोम से ही (मन्दानम्) परम आनन्द प्राप्त कराने हारे (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् प्रभु को (गीर्भिः नवामहे) हम स्तुति वाणियों से स्तुति करें ।

राजा के पक्ष में-हम दर्शनीय राष्ट्र के दुःखनाशक (अन्धसः वसोः मन्दानम्) अन्न और ऐश्वर्य से सुख को प्राप्त करते हुए इन्द्र की हम प्रशंसा करें ।

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥२॥

ऋ० ८ । ८८ । २ ॥

भा०—(द्युक्षम्) दीप्तिमान् तेजस्वी (सुदानम्) उत्तम २ पदार्थों के दाता (गिरिं न) पर्वत के समान (पुरुभोजसम्) बहुतसे भोग्य पदार्थ, कन्दमूल आदि, हिरण्य रत्नादि नाना भोग्य पदार्थों को देने हारा अथवा बहुत से प्राणियों का पालन करने हारे (तविषीभिः) महान् शक्तियों से (आवृतम्) घिरे हुए परमेश्वर से (क्षुमन्तम्) अन्न सम्पत्ति से युक्त, (वाजम्) बलवान्, (शतिनं, सहस्रिणम्) सैकड़ों और सहस्रों

ऐश्वर्य से युक्त, (गोमन्तम्) गो आदि पशुओं से समृद्ध (वाजम्) ऐश्वर्य की (मक्षु) शीघ्र या निरन्तर प्रतिक्षण (ईमहे) याचना करते हैं।

राजा के पक्ष में—तेजस्वी, उत्तम दानशील, उदार, प्रजाओं के पालक राजा से हम अन्नादि समृद्धि से युक्त ऐश्वर्य की याचना करते हैं।

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये ।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥३॥

ऋ० ८ । ३ । ९॥

भा०—हे परमेश्वर ! (पूर्वचित्तये) अपने पूर्व या पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये (त्वा) तुझ से (तद् सुवीर्यम् ब्रह्म) उस उत्तम वीर्य, बलशाली (ब्रह्म) महान् स्वरूप को (यामि) उपासना करूं। (येन) जिससे (यतिभ्यः) यम नियम के पालक, तपस्वी पुरुषों और (भृगवे) पापों के भूननेहारे, तेजस्वी ज्ञानी पुरुष को तू (हिते) हितकर (धने) परम ऐश्वर्य में स्थापित करता है और (येन) जिससे (प्रस्कण्वम्) परम मेधावी पुरुष को (आविथ) रक्षा करता है।

राजा के पक्ष में—(पूर्वचित्तये) पूर्व निर्धारित 'चिति' अर्थात् परस्पर के समझौते के अनुसार हे राजन्! मैं तुझसे उत्तम वीर्यजनक (ब्रह्म) बड़े भारी ऐश्वर्य की प्रार्थना करता हूं जिससे तू नियमों में बद्ध प्रजाओं और (भृगवे) ज्ञानवान् विद्वान् के निमित्त (हिते धने) वेतन रूप से बंधे धन में उनको सन्तुष्ट करता है और जिससे (प्रस्कण्वम्) उत्तम २ ज्ञानी पुरुषों को भी (आविथ) अपने राष्ट्र में पालन करता है।

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः ।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥४॥

ऋ० ८ । ३ । १०॥

भा०—हे परमेश्वर ! (येन) जिस महान् सामर्थ्य से तू (समुद्रम् असृजः) समुद्र को उत्पन्न करता है और (महीः अपः) उसमें महान् अनन्त जलों को पैदा करता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् प्रभो (ते) तेरा तो (तत्) वह (वृष्णि) सकल सुखों का वर्षक, सबसे अधिक (शवः) बल है । हे पुरुषो ! (अस्य) उस प्रभु की (सः महिमा) वह महिमा जो (न संनशे) कभी पार नहीं की जा सकती । (यं) जिसको (क्षोणीः) जगत् के समस्त प्राणी (अनु चक्रदे) बराबर कहा करते हैं ।

[१०] परमेश्वर की उपासना ।

मेध्यातिथि ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथे । द्वयृचं सूक्तम् ।

उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

ऋ० ८ । ३ । १५ ।

भा०—हे इन्द्र परमेश्वर ! (सत्राजितः) एक ही बार की चढ़ाई में शत्रुओं को जीत लेने वाले, (धनसाः) नाना ऐश्वर्यों के देने वाले, (अक्षितोतयः) अक्षय, रक्षा करने में समर्थ, दृढ़ रक्षक, दृढ़ रक्षा साधनों से युक्त, (वाजयन्तः) बल वीर्यशाली, परस्पर संग्राम करते हुए (रथाः इव) रथ या रथ वाले महारथी लोग जिस प्रकार (उद् ईरते) उठते हैं, और बढ़े चले जाते हैं उसी प्रकार (त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अत्यन्त मधुर (स्तोमासः) स्तुतिमय (गिरः) वाणियें (उद् ईरते) हृदय से उठती हैं ।

कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद् धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्तः आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥२॥

ऋ० ८ । ३ । १६ ॥

भा०—(कण्वा इव) जिस प्रकार मेधावी पुरुष, (भृगवः) और तेजस्वी, मलों को भून डालने वाले शुद्ध निष्पाप और जिस प्रकार (सूर्याः

इव) सूर्य के समान ज्ञान-प्रकाश से युक्त विद्वान् पुरुष (धीतम्) ध्यान द्वारा उपासित (विश्वम्) विश्व के समस्त पदार्थों को (आनशुः) यथार्थ रूप से जान लेते हैं और वे ही (स्तोमेभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (इन्द्रम्) परमेश्वर की (महयन्तः) पूजा करते हुए उसका गुणगान करते हैं, (प्रियमेधासः) मेधा बुद्धि को प्रिय मानने वाले या मनोहर बुद्धि सम्पन्न होकर (आयवः) पुरुष भी उस परमेश्वर की (अस्वरन्) स्तुति करते एवं उसका उपदेश करते हैं ।

अथवा—(प्रियमेधासः आयवः) बुद्धि, ज्ञान को प्रेम करने वाले ज्ञानी पुरुष उस परमात्मा की स्तुतियों द्वारा पूजा करते हुए स्तुति करते हैं और वे (विश्वम् इद् ध्यातम् आनशुः) ध्यान द्वारा उसके पूर्ण तत्व को (कण्वाः इव भृगवः सूर्याः इव) कण्व, भृगु और सूर्यों के समान जान लेते हैं ।

'कण्वा' कणनिमीलने, अस्मात् क्वन् प्रत्ययः । बाह्येन्द्रियों को निमी- लित करके ध्यान करने वाले ध्यानी 'कण्व' हैं ।

'भृगवः'—'भ्रस्जपाके' इत्यतः उः सम्प्रसारणं सलोपश्च । अति परिपक्व ज्ञानवान्, अर्थात् अपने सुदीर्घ अनुभव से ज्ञान को परिपक्व करने वाले ज्ञानी 'भृगु' कहाते हैं ।

'सूर्याः'—आदित्य के समान तेजस्वी, ज्ञान के भण्डार आदित्य योगी सूर्य कहाते हैं ।

[११] परमेश्वर और राजा ।

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । एकादशर्चं सूक्तम् ।

इन्द्रः पूर्भिदातिर॒द् दास॑म॒र्कैर्वि॒दद्व॑सु॒र्दय॑मानो॒ वि शत्रू॑न् ।
ब्रह्म॑जूतस्त॒न्वा॑ वावृधा॒नो भूरि॑दात्र॒ आपृ॑ण॒द् रोद॑सी उ॒भे ॥१॥

ऋ० ३ । ३४ । १ ॥

भा०—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् इन्द्र, परमेश्वर (पूर्भिद्) इस देह पुरी को तोड़नेहारा, मुक्तिप्रद, (अर्कैः) अपने अर्क, अर्थात् पूजनीय ज्ञानों से (दासम्) इस शरीर में रहने वाले जीव को (आ अतिरत्) अधिक शक्तिमान् कर देता है । और वही समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त करनेहारा (शत्रून्) शत्रुओं अर्थात् आत्मा की शक्तियों का शातन, नाश करने वाले बाधक कारणों को (ध्नमानः) मारता हुआ (ब्रह्मजूतः) ब्रह्म, महान् शक्ति से सम्पन्न (तन्वा) अपनी विस्तृत शक्ति से (वावृधानः) अत्यन्त महान् (भूरिदात्रः) बहुत बड़ा दानी, परमेश्वर (उभे रोदसी आपृणाद्) दोनों लोक, आकाश और पृथ्वी को व्याप रहा है ।

राजा के पक्ष में—(पूर्भिद्) शत्रुओं के गढ़ तोड़ने वाला (अर्कैः) अर्चनीय धनों से अपने सेवक को बढ़ाता है । शत्रुओं को नाश करता है । ब्रह्म, विद्वानों से अपने विस्तृत राष्ट्र को बढ़ाता हुआ (उभे रोदसी आपृणन्) अपने और पराये दोनों राष्ट्रों पर वश कर लेता है । अथवा राजसम्बन्धी शासक और प्रजा दोनों पर वश करता है ।

मुखस्य॑ ते तविषस्य॒ प्र जूतिमिय॑र्मि वाच॑ममृता॑य भूष॑न् ।
इन्द्र॑ क्षितीना॑मसि मानु॑षीणां वि॒शां दैवी॑नामु॒त पू॑र्व॒यावा॑ ॥२॥
ऋ० ३ । ३४ । २ ।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! तू (मानुषीणाम्) समस्त साधारण मनुष्यों (क्षितीनाम्) प्रजाओं और (दैवीनाम्) दैवी, सूर्य चन्द्रादि (विशाम्) तेरे में प्रविष्ट समस्त लोकरूप प्रजाओं में (उत) भी (पूर्वयावा) सब से प्रथम सत् रूप में प्राप्त होने योग्य (असि) रहा है और होगा । (अमृताय) अमृत, मोक्षपद के प्राप्त होने के लिये स्वयं (भूषन्) योग्य होने इच्छा करता हुआ । (मखस्य) सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, एकमात्र ज्ञेय, सर्वोपगम्य पूजनीय (तविषस्य) सर्व

शक्तिमान् एवं महान् (ते) तेरी (प्रजूतिम्) महती वेगवती शक्ति और व्यापक, (वाचम्) वेदज्ञानमयी वाणी को (इयर्मि) प्राप्त होता हूं। उसका ज्ञान करता हूं।

राजा के पक्ष में—तू समस्त साधारण और विशेष विद्वान्, दानशील प्रजाओं का (पूर्वयावा) अग्रणी है। तुझ पूजनीय, महान् बलशाली वेगवती शक्तिशाली (वाचम्) आज्ञाओं में (अमृताय भूषन्) दीर्घ जीवन के प्राप्त करने के लिये या अमृत अन्न आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये मैं पालन करूं।

'मखः'—'मख मखि गत्यर्थौ (भ्वादिः)।'तविषस्य'—तवः बलं तद्वतः।

इन्द्रो वृत्रमंवृणोच्छर्धंनीतिः प्र मायिनांममिनाद् वर्पणीतिः।
अहन् व्यं॑समुशधग् वनेष्वाविर्धेना अकृणोद् राम्याणाम् ॥३॥

ऋ० २ । १४ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (शर्धनीतिः) बल को प्राप्त करके ही (वृत्रम्) आवरणकारी अज्ञान को (अवृणोत्) दूर करता है। और वही (वर्पणीतिः) अपने रूप को प्राप्त कराने वाला होकर ही (मायिनाम्) माया वाले प्राणों के बन्धन को (प्र अमिनात्) भली प्रकार नाश करता है। (वनेषु) जंगलों में (उशधग्) अग्नि जिस प्रकार जला कर सब कुछ भस्म कर देता है, वह परमेश्वर भी (वनेषु, वनन अर्थात् भजन करने वाले परम भक्तों में (उशधग्) उनकी समस्त कामनाओं को भस्म करने वाला होकर, उनकी कर्म वासनाओं को समूल नष्ट करके (वि-अंसम् अहन्) उनके समस्त अंस अर्थात् पीड़ाजनक कष्टों को दूर करके उनको (अहन्) प्राप्त होजाता है। और तब (राम्याणाम्) इस पर ब्रह्म में रमण करने हारे उन तत्व ज्ञानियों की (धेनाः) स्तुतिमयी वाणियों को (आविः अकृणोत्) प्रकट करता है।

राजा के पक्ष में-(शर्धनीतिः) बल को प्रयोग करने वाला, राजा (वृत्रम्) राष्ट्र को घेरने वाले को छिन्न भिन्न करे। (वर्पनीतिः) नाना रूपों के शस्त्रादि संचालन में चतुर होकर अथवा स्वयं अपने आप नेता होकर (मायिनाम् प्र अमिनात्) मायावी दुष्ट पुरुषों को नाश करे। जंगलों को जिस प्रकार अग्नि भस्म कर देती है उस प्रकार वह शत्रुओं को (व्यंसम्) उनके कन्धे आदि या सेना के अंग काट २ कर उनको (अहन्) मारे और तब (राम्याणाम्) अपने में रमण करने वाली या रमण करने योग्य प्रजाओं की हर्ष भरी वाणियों को प्रकट करे।

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥ ४ ॥

ऋ० ३।३।४।४॥

भा०—(स्वर्षाः) स्वः-परम सुख का प्रदान करने वाला (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (अहानि जनयन्) अन्धकारों को दूर करने वाले ज्योतिर्मय पदार्थों वा दिनों को उत्पन्न करता हुआ (अभिष्टिः) साक्षात् कामनामय होकर या सर्वतोमुख प्रेरणा शक्ति से युक्त होकर (उशिग्भिः) सर्व वशकारी सामर्थ्यों या प्राणों से या काम्य पदार्थों या दीप्तिमान पदार्थों से (पृतनाः) समस्त प्रजाओं को (जिगाय) जीतता है, अपने वश करता है। और (मनवे) मननशील पुरुष के लिये (अन्हाम् केतुम्) तमो नाशक तेजों के ज्ञापक सूर्य को (आरोचयन्) अति दीप्त करता है। और (बृहते रणाय) उस बड़े भारी, अति रमणीय सुख, मोक्ष की प्राप्ति के लिये वह स्वयं (ज्योतिः) परम ज्योति को (अविन्दत्) प्राप्त करता है, धारण करता है।

राजा के पक्ष में-वह राजा (स्वर्षाः) उत्तम सुखों का दाता, (अभिष्टिः) सर्वत्र गतिशील होकर (अहानि जनयन्) अत्याज्य, अहन्तव्य सेनाबलों

को प्राप्त करके (उशिग्भिः) वशकारी सेनापतियों द्वारा सेनाओं को विजय करे। समस्त मनुष्यों को और समस्त सेनाओं के आज्ञापक सेनापति को सब से उन्नत करे। बड़े रमणीय राष्ट्र के लिये और महान् युद्ध के लिये (ज्योतिः) धनको प्राप्त करे।

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि ।
अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥५॥

ऋ० ३ । ३४ । ५ ॥

भा०—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (नृवत्) जिस प्रकार नेता सेनापति (पुरूणि नर्या दधानः) बहुतसे अपने सैनिक पुरुषों के योग्य हितकारी पदार्थों को धारण करता है। अथवा -(नृवत्) मनुष्य, जीव जिस प्रकार (नर्या) जीव के अपने उपयोगी (पुरूणि) इन्द्रियों को धारण करता है उसी प्रकार वह परमेश्वर (नृवत्) महान् नेता के समान या महान् पुरुष के समान (नर्या) नृ=जीवों के बसने और कर्मफल भोगने योग्य उनके हितकारी (पुरूणि) पालन सामर्थ्यों या लोकों को स्वयं (दधानः) धारण करता हुआ स्वयं (तुजः) वेगवती, प्रेरक या छेदक, भेदक (बर्हणाः) महती शक्तियों में (आ विवेश) आविष्ट है। और वह (जरित्रे) स्तुति करने हारे पुरुष की या रात्रि के जरण करने वाले सूर्य को (इमा धियः) इन नाना धारण शक्तियों को (अचेतयत्) चेतन करता है, उनको प्रयुक्त करता है। और (आसाम्) इनके (शुक्रम् वर्णम्) कान्तिमय शुद्ध स्वरूप को (प्र अतिरत्) बढ़ाता है।

राजा के पक्ष में-वह (तुजः) बलवान् शत्रु नाशक राजा के समान सब प्रजा के (नर्या) मानव सेवों या ऐश्वर्यों को धारण करता हुआ वृद्धिशील प्रजाओं में प्रविष्ट होता है। (जरित्रे) विद्वान् पुरुषों को उनके

(धियः) समस्त कर्म बतलाता है। (आसाम्) इन प्रजाओं के (शुक्रम् वर्णम्) शुद्ध निष्पाप स्वरूप को बढ़ाता है।

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥६॥
ऋ० ३।३४।६॥

भा०—(अस्य महः इन्द्रस्य) इस महान् परमेश्वर के (पुरूणि) बहुतसे (सुकृता) उत्तम रीति से रचे हुए (कर्म) कर्मों की विद्वान् लोग (पनयन्ति) स्तुति करते हैं। (वृजनेन) वर्जन करने वाले, पाप से निवृत्त करने वाले श्रेयो मार्ग से या ज्ञान से (वृजिनान्) वर्जन करने योग्य पापाचारी को (सं पिपेष) विनाश कर देता है और (अभिभूत्योजाः) सर्वत्र सृष्टि उत्पन्न करने वाले या शत्रुनाशक वीर्य सामर्थ्य से युक्त वह (मायाभिः) अपनी मायाओं से, ज्ञानशक्तियों से (दस्यून्) दुष्ट पुरुषों को भी (सं पिपेष) चूर्ण कर डालता है।

राजा के पक्ष में—लोग इस समृद्ध राजा के बहुतसे पुण्य कर्मों की स्तुति करते हैं। वह पाप निवारक बल से पापाचारी पुरुषों को और (मायाभिः) ज्ञान कौशल से युक्त अद्भुत शक्तियों से दस्युओं को (संपिपेष) नाश करता है।

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति॥७॥
ऋ० ३।३४।७॥

भा०—(सत्पतिः) सत्पुरुषों का पालक, (चर्षणिप्राः) समस्त मनुष्यों की कामनाएं पूर्ण करने में समर्थ, (इन्द्रः) इन्द्र, परमेश्वर (युधा) युद्ध द्वारा जिस प्रकार राजा धन उत्पन्न करता उसी प्रकार (युधा) अपने समस्त विश्व के प्रेरक अथवा दुष्टों को प्रहार करने वाले (मह्ना)

महान् सामर्थ्य से (देवेभ्यः) समस्त दिव्य पदार्थों, विद्वानों, सत्पुरुषों के लिये (वरिवः चकार) सर्वोत्तम ऐश्वर्य उत्पन्न करता और उनको प्रदान करता है। (विवस्वतः अस्य) विविध ऐश्वर्यों से सम्पन्न सूर्य के समान तेजस्वी, इसके (सदने) शरण में, सुखरूप आश्रय में आये हुए (विप्राः) विद्वान् ज्ञानी (कवयः) क्रान्तदर्शी पुरुष (उक्थेभिः) नाना वेदमन्त्ररूप स्तुति वचनों से (तानि) उसके उन २ नाना कर्मों का (गृणन्ति) उपदेश करते हैं।

राजा के पक्ष में—सज्जनों का पालक, प्रजा के ऐश्वर्यवर्धक राजा युद्ध द्वारा भी देवों, विजिगीषु विद्वानों के लिये बहुत धनैश्वर्य उत्पन्न करता है। उस सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष को विद्वान्जन वेद-वचनों द्वारा नाना उपदेश करते हैं।

स॒त्रा॒साहं॒ वरे॑ण्यं सहो॒दां स॑स॒वांसं॒ स्व॑र॒पश्च॑ दे॒वीः ।
स॒सान॒ यः पृ॑थि॒वीं द्यामु॒तेमामिन्द्रं॑ मद॒न्त्यनु॒ धीर॑णासः ॥८॥
ऋ० ३ । ३४ । ८ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (पृथिवीम्) पृथिवी (उत द्याम्) और द्यौ, आकाश दोनों को (ससान) उचित रीति से सम्भोग करता और धारण करता है उस (सत्रासाहम्) एक ही अपने परम सामर्थ्य से सबको सहन करने वाले (वरेण्यम्) सर्वश्रेष्ठ, सबके वरण करने योग्य, (सहोदाम्) सबको बल देने वाले, अथवा अपने बल से सब की रक्षा करने वाले (स्वः) परम तेजोमय सूर्य आदि लोक और (देवीः च अपः) दिव्य गुण वाली या तेजोमय, क्रियाओं और प्रज्ञाओं को (ससवांसम्) धारण करने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र-परमेश्वर को साक्षात् करके (धीरणासः) धीर, बुद्धिमान, ध्यानशील योगी पुरुष (अनु मदन्ति) उसके आनन्द रस के साथ स्वयं भी आनन्द अनुभव करते हैं।

राजा के पक्ष में-पृथिवी और आकाशस्थ दोनों लोकों को जो अपने वश करने में समर्थ हो ऐसे (सत्रासाहं) सेना के द्वारा शत्रु सेना के विजेता, सर्वश्रेष्ठ, बलशाली, पालक अपने बल से (देवीः अपः) युद्ध-विजयी प्रजाओं और अपने (स्वः) शत्रुतापक तेज को भोगने वाले राजा के अनुकूल होकर धीर पुरुष स्वयं सुख का भोग करते हैं ।

ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम् ।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥९॥
ऋ० ३ । ३४ । ९ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर हम जीवों को प्रथम (अत्यान्) गतिशील अश्वों के समान इन्द्रियों को (ससान) प्रदान करता है । (उत) और (सूर्यम् ससान) सूर्य, सूर्य के समान ज्ञानी पुरुष को या आत्मा को या प्रकाश को भी प्रदान करता है । वह (पुरुभोजसम् गाम्) नाना भोग्य पदार्थों से सम्पन्न गौ-गाय और पृथ्वी का भी (ससान) हमें प्रदान करता है । वह हमें (हिरण्यम्) हित और रमणीय, सुवर्ण आदि ऐश्वर्य और (भोगम्) भोग-भोग करने की शक्ति और भोग्य पदार्थ भी (ससान) प्रदान करता है और (दस्यून् हत्वा) नाशक दुष्ट पुरुषों को नाश करके (आर्यं वर्णं) श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि उत्तम कार्य करने वाले सच्चरित्र पुरुषों की (प्र अवत्) अच्छी प्रकार रक्षा करता है ।

राजा भी—अपने प्रजा को उत्तम घोड़े, उत्तम विद्वान्, भूमि, गौ, हिरण्य, नाना भोग प्रजा को देता और उत्तम श्रेष्ठ वर्ण के आर्य पुरुषों की रक्षा करता है ।

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँरसनोदन्तरिक्षम् ।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद् दमिताभिक्रतूनाम् ॥१०॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमात्मा (ओषधीः असनोत्) धान, जौ, और नाना रोगहारी ओषधियों को हमें प्रदान करता है। और वह (अहानि असनात्) हमें प्रकाश वाले दिन कार्य करने के लिये प्रदान करता है। और वह (वनस्पतीन् असनात्) बड़े २ वृक्षों, वनस्पतियों को प्रदान करता है। और वह हमें (अन्तरिक्षम् असनोत्) विहार करने के लिये अन्तरिक्ष और उसमें स्थित समस्त ऐश्वर्य प्रदान करता है वह परमेश्वर (वलम्) आत्मा को घेर लेने वाले अन्धकार को, मेघ को सूर्य के समान (विभेद) छिन्न भिन्न कर देता है और वह परमेश्वर (विवाचः) विविध वेदवाणियों को हमारे प्रति (नुनुदे) प्रेरित करता है। और वह (अभि क्रतूनाम्) कर्मों और ज्ञानों को साक्षात् करने वाले पुरुषों का (दमिता अभवत्) दमनकारी, शान्ति करने वाला है।

राजा के पक्ष में–वह प्रजाको ओषधि दे (अहानि) अत्याज्य कर्मों को उपदेश करे। वनस्पति और आकाश के भोग दे। घेरने वाले शत्रु का नाश करे। विपरीत वाणी के बोलने वाले को दूर करे और (अभिक्रतूनाम्) अपने विपरीत, अभिचार कर्म करने वाले आक्रामकों का दमन करे।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥११॥

भा०—(वाजसातौ) ज्ञान, वीर्य के प्राप्त कराने वाले (अस्मिन् भरे) इस महान् यज्ञ, ब्रह्मोपासना के अवसर में हम लोग (शुनम्) सर्वोत्कृष्ट गुणवाले, सुखप्रद (मघवानम्) सर्वैश्वर्यवान्, (नृतमम्) सब पुरुषों में उत्तम, सर्वोत्तम नायक को (ऊतये) समस्त प्रजाओं की रक्षा के लिये उनकी प्रार्थनाओं को (शृण्वन्तम्) श्रवण करने वाले अथवा सर्वत्र श्रवण किये जाने हारे, स्तुति योग्य (उग्रम्) अति बलवान्, भयंकर, (समत्सु) योग

समाधि से उत्पन्न आनन्द-लाभ के अवसरों में (वृत्राणि) आत्मा के आवरण करने वाले अज्ञानों का (घ्नन्तं) विनाश करने वाले (धनानाम्) समस्त विभूति ऐश्वर्यों को (संजितम्) विजय करने वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर की (हुवेम) हम स्तुति करें ।

राजा के पक्ष में—(नृतमं) सब पुरुषों में श्रेष्ठ, ऐश्वर्यशील, (शुनम्) अति शीघ्रकारी सेनापति को हम इस वीर्य लाभ कराने वाले (भरे) संग्राम में अपनी रक्षा के निमित्त (हुवेम) बुलावें । वह (समत्सु) संग्रामों में शत्रुओं के नाशक और धनों के विजेता को प्राप्त करें ।

[१२] परमेश्वर का वर्णन

१–६ वसिष्ठः । ७ अत्रिर्ऋषिः । त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥१॥
ऋ० ७ । २३ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (श्रवस्या) श्रुति, वेद ज्ञान से युक्त (ब्रह्माणि) वेद मन्त्रों का (उद् ऐरत ३) नित्य उच्चारण करो और हे (वसिष्ठ) व्रत में उत्तम रीति से स्थित सर्वैश्वर्यवान् पुरुष ! तू (समर्ये) एकत्र सर्व पुरुषों के बीच में (महया) उसकी ही उपासना कर । (यः) जो (विश्वानि) समस्त बलों और पदार्थों को (शवसा) अपने बल से (आ ततान) व्यापता और रच कर विस्तृत करता है और (मे) मुझ (ईवतः) उपासक के समस्त (वचांसि) स्तुति वचनों को (उपश्रोता) श्रवण करता है ।

अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि ।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान् ॥ २ ॥
ऋ० ७ । २३ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! (देवजामिः) समस्त विद्वान् देवों, दानशीलों और दिव्य शक्ति, वायु, जल, अग्नि आदि पदार्थों का (घोषः) घोष, निवास स्थान के समान ही तू (अयामि) सबको बांध रहा है। (विवाचि) विविध वाणियों से स्तुति करने योग्य (यत्) जिस तुझ में (शुरुधः) शीघ्र गतिशील प्राणों को रोकने हारे यही तपस्वी जितेन्द्रिय लोग (इरज्यन्त) बड़ी स्पर्द्धा से सेवा में लग्न हो जाते हैं। (जनेषु) इन उत्पन्न पुरुषों में से कोई भी पुरुष (स्वम् आयुः) अपने आयु को (नहि चिकिते) नहीं जानता कि कब वह मौत के मुंह में चला जाय, तो भी हे परमेश्वर ! तू (अस्मान्) हमें (तानि अंहांसि इत्) उन नाना प्रकार के पापों से भी (अति पर्षि) पार कर देता है।

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ॥३॥
ऋ० ७। २३। ३॥

भा०—मैं, साधक पुरुष (हरिभ्याम्) हरणशील, गतिमान्, लक्ष्य तक पहुंचाने वाले अश्वों के समान दोनों प्राण और अपान द्वारा अपने (गवेषण रथम्) गौ, इन्द्रियों को प्रेरण करने में समर्थ रमण करने वाले रसरूप आत्मा को (युजे) योग समाधि द्वारा समाहित करता हूं। उसी (ब्रह्माणि जुजुषाणम्) समस्त वेदमन्त्रों को स्वयं मुख्य तात्पर्य रूप से एवं समस्त महान् बलों को स्वयं ग्रहण करते हुए परमेश्वर को सभी विद्वान् पुरुष (उप अस्थुः) उपासना करते हैं। (स्यः) वही (इन्द्रः) परमेश्वर (वृत्राणि) आवरणकारी अज्ञानों को (अप्रति) सदा के लिये (जघन्वान्) विनाश कर देने हारा है और वही (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों को (विबाधिष्ट) विविध रूपों से थामे हुए है।

आपश्चित् पिप्युस्तर्यो३न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥४॥

ऋ० ७ । २३ । ४ ॥

भा०—(चित् न) जिस प्रकार (स्तर्यः) विस्तृत पृथिवियें या गौवें (आपः) जलों को प्राप्त होकर (पिप्युः) वृद्धि को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार हे (इन्द्र) इन्द्र! परमेश्वर! (गावः) वेद वाणियें (आपःचित्) प्राप्तव्य तुझको प्राप्त होती हैं। और (जरितारः) स्तुति करने वाले उपासक जन (ते) तेरे (ऋतम्) सत्य ज्ञान और स्वरूप को (नक्षन्) प्राप्त होते हैं। (वायुः न) वायु जिस प्रकार (नियुतः) समस्त वेगों को प्राप्त है उसी प्रकार तू भी (नियुतः) समस्त बलों को (याहि) प्राप्त है। (त्वं हि) तू ही निश्चय से (धीभिः) अपने धारण बलों, कर्मों और ज्ञानों से (नः) हमें (वाजान्) अन्नों और बलों को (अच्छा वि दयसे) भली प्रकार विविध रूपों में प्रदान करता है अथवा (धीभिः) ध्यान स्तुतियों से संतुष्ट होकर (नः दयसे) हमारी रक्षा करता है।

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ॥५॥

ऋ० ७ । २३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (ते मदाः) वे नाना तृप्तिकारी, हर्ष, सुखकारक आनन्दरस (शुष्मिणम्) सर्वशक्तिमान् (तुविराधसम्) बहुत ऐश्वर्यवान् (त्वा) तुझको (जरित्रे) स्तुतिकर्त्ता उपासक के संतोष के लिये (मादयन्तु) पूर्ण कर रहे हैं कि तू (देवत्रा) समस्त देवों के बीच (एकः) अकेला ही (मर्त्तान्) समस्त मरणधर्मा प्राणियों को (दयसे) रक्षा करता है। हे (शूर) सर्वशक्तिमन् ! तू ही (अस्मिन् सवने) इस संसार में (मादयस्व) सदा तृप्त रहने वाला है।

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
स नं स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥
ऋ० ७। २३। ६ ॥

भा०—(वसिष्ठासः) समस्त उपासक, ज्ञानी पुरुष (वज्रबाहुम्) ज्ञान वज्र को अपने हाथ में लिये (वृषणं) सब सुखों के वर्षक, (इन्द्रम्) परमेश्वर को हाथ में खाण्डा लिये वीर्यवान् राजा के समान जानकर (एव इद्) इस प्रकार ही (अर्कैः) नाना स्तुतियों से (अर्चन्ति) अर्चना करते हैं। (सः) वह (स्तुतः) स्तुति करने योग्य परमेश्वर (नः) हमें (वीरवत्) वीर पुत्रों से युक्त और (गोमत्) गौवों से युक्त धन और ऐश्वर्य को (धातु) प्रदान करे। हे पुरुषो ! (यूयम्) आप लोग (नः) हमें (सदा) सदा (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों और उपायों द्वारा (पात) पालन करो।

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यंदिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥७॥
ऋ० ५। ५०। ४ ॥

भा०—(ऋजीषी) समस्त अर्जन करने योग्य धन ऐश्वर्यों से सम्पन्न (वज्री) वज्रवान्, पाप और अज्ञान का वर्जन करने वाले, ज्ञान से युक्त (वृषभः) सुखों का वर्षक, (तुराषाट्) अति शीघ्रगामी, या हिंसक शत्रुओं का भी विजेता, (शुष्मी) बलवान्, (राजा) राजा के समान सबका महाराज, (वृत्रहा) आवरणकारी विघ्नों का नाशक, (सोमपावा) सोमरस के समान समस्त उत्पादक और प्रेरक बल का स्वयं धारक, (हरिभ्याम्) अपने धारण और आकर्षण बलों से (युक्त्वा) भीतर समाधि द्वारा युक्त होकर (अर्वाङ्) साक्षात् (उप यासत्) हमें प्राप्त हो और (इन्द्रः) वह इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु (मध्यन्दिने सवने) दिन के मध्य भाग दोपहर के

(सवने) काल में सूर्य के समान प्रखर कान्तिमान् होकर (मत्सत्) हमारे हृदयाकाश में भी पूर्ण प्रबल तेज से प्रकाशित हो।

[१३] राजा के राज्य की व्यवस्था।

क्रमशः वामदेवगोतमकुत्सविश्वामित्रा ऋषयः। इन्द्राबृहस्पती, मरुतः अग्निश्च देवताः। १, ३ जगत्यः। ४ त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेस्मिन् युज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोस्मे रयिं सर्ववीरुं नि यच्छतम्॥१॥

ऋ० ४। ५०। १०॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहती-वेदवाणी के पालक, एवं बड़े भारी राष्ट्र के पालक विद्वान् और राजन्! हे इन्द्र! सेनापते! आप दोनों (वृषण्वसू) धनों ऐश्वर्यों का वर्षण करने हारे, एवं बलवानों को वास देने वाले हो; आप दोनों (अस्मिन् यज्ञे) इस महान् यज्ञ, राष्ट्र के व्यवस्था के कार्य में (मन्दसानौ) अति व्यग्र रहते हुए, या उसी में अपने को परम प्रसन्न रखते हुए (सोमं पिबतम्) सोम, शासन या राज्य पद का उपभोग करो। (सु-आभुवः) उत्तम रीति से, धर्मानुकूल, सब प्रकार से होने वाले, उत्तम (इन्दवः) ऐश्वर्य (वां) तुम दोनों को (आविशन्तु) प्राप्त हों। आप दोनों (अस्मे) हम राष्ट्रवासियों को (सर्ववीरं) समस्त वीर पुरुषों सहित या सर्व सामर्थ्यों से युक्त (रयिम्) ऐश्वर्य का (नियच्छतम्) प्रदान करो।

अध्यात्म में—इन्द्र, बृहस्पति,=परमेश्वर और विद्वान् आचार्य, इन्दवः= ज्ञानरस।

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।
सीदुता बुर्हिरुरु वुः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः॥२॥

ऋ० १। ८५। ६॥

भा०—हे (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति वाले या शत्रुओं को मारने में समर्थ या विद्वान् वीर पुरुषो ! (वः) तुम लोगों को (रघुष्यदः) अति वेग वाले (सप्तयः) सर्पणशील अश्व (वहन्तु) सर्वत्र सवारी दें। और आप लोग (रघुपत्वानः) वेग से दौड़ते हुए (बाहुभिः) अपनी बाहुओं से और शत्रुओं को पीड़ा देने वाले अस्त्रों से (प्र जिगात) अच्छी प्रकार विजय करो या आगे बढ़ो। आप लोग (बर्हिः) आसनों पर, सिंहासन पर (सीदत) विराजें।(वः) आप लोगों के लिये (उरु सदः कृतम्) विशाल भवन बनाया जाय। आप लोग (मध्वःअन्धसः) मधुर अन्न आदि उपभोग्य पदार्थों से (मादयध्वम्) सदा तृप्ति लाभ करें।

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥३॥
ऋ० १ । ९४ । १ ॥

भा०—(अर्हते) पूजनीय (जातवेदसे) परमैश्वर्यवान्, वेदों के आदि उत्पत्ति स्थान परमेश्वर और विद्वान् पुरुष के लिये (रथम् इव) जिस प्रकार रथ को सजाया जाता है उसी प्रकार हम लोग (मनीषया) बुद्धि पूर्वक (इमम् स्तोमम्) इस स्तुति समूह को भी (सं महेम) भक्ति आदर पूर्वक सुसज्जित करें। (अस्य संसदि) इस विद्वान् और अग्रणी पुरुष की संसत्-राजसभा या सत्संग में (नः) हमारी (भद्रा) कल्याणमयी (प्रमतिः) उत्तम मति, मनन शक्ति हो। और हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् अग्रणी ! पुरुष या परमेश्वर ! या राजन् ! (तव सख्ये) तेरे मित्रभाव में रहते हुए (वयम्) हम लोग (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों।

ऐभिरग्ने सुरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥४॥
ऋ० ३ । ६ । ९ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी, ज्ञानवन् ! विद्वन् ! राजन् ! (एभिः) इन वीर पुरुषों सहित आप (सरथम्) अपने रथ से (वा) और (नाना रथं) नाना अन्य वीरों के नाना रथों से युक्त होकर (अर्वाङ् याहि) आगे प्रयाण कर। तेरे (अश्वाः) अश्व, अश्वारोही गण ही (विभवः) विशेष शक्तिशाली हों। तू (त्रिंशतं त्रीन् च) ३३ (देवान्) देव, विजिगीषु राजाओं को उनकी (पत्नीवतः) पालन करने हारी सेना या शक्तियों सहित या उनकी स्त्रियों सहित (अनुस्वधम्) उनके अपने भरण पोषणोचित धन अन्न आदि के अनुकूल उनको (वह) अपने साथ रख और उनको (मादयस्व) संतृप्त कर, सुखी प्रसन्न रख।

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[१४] राजा का वर्णन

सौम्नीऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ॥१॥ ऋ० ८ । २१ । १ ॥

भा०—हे (अपूर्व्य) अपूर्व्य, सदा नवीन, कभी पुराना न होने वाले नवागत अतिथि के समान सदा पूजनीय ! (वयम्) हम लोग (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले प्रजाजन (त्वाम् भरन्तः) तुझको अन्न आदि पदार्थों से भरण पोषण करते हुए ही (चित्रं) अति पूजनीय तुझ को (कच्चित् स्थूरं न) किसी स्थिर, बलवान् पुरुष के समान (वाजे) संग्राम में (हवामहे) तुझे पुकारते हैं।

उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥
ऋ० ८ । २१ । २ ॥

भा०—हे राजन् ! प्रभो ! (नः) हम में से (यः) जो (धृषद्) शत्रुओं को धर्षण करने में समर्थ और (उग्रः) अति बलवान् (युवा) सदा जवान, वीर्यवान् है (सः) वह तू है । हम लोग (त्वा) तुझको ही (कर्मन्) प्रत्येक कर्म में (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (त्वा उप) तेरे ही शरण जाते हैं । हम सब (सखायः) मित्र, परस्पर समान आख्यान या नाम रूप वाले, परस्पर के स्नेही पुरुष हे (इन्द्र) राजन् ! सेनापते ! (सानसिम्) सबको सब प्रकार के ऐश्वर्य, पदाधिकार और भूमि आदि का विभाग करने वाले (त्वाम् इव्) तुझको ही अपना (अवितारम्) रक्षक (ववृमहे) स्वीकार करते हैं ।

यो न॑ इ॒दमि॑दं पु॒रा प्र वस्य॑ आनि॒नाय॒ तमु॑ व स्तुषे ।
सखा॑य॒ इन्द्र॑मू॒तये॑ ॥३॥ ऋ० ८ । २१ । ९ ।

भा०—हे (सखायः) समान नाम, यश, कीर्त्ति वाले परस्पर स्नेही मित्रजनो ! (यः) जो (नः) हमें (इदम् इदम्) यह, यह नाना प्रकार के गौ, अश्व, सुवर्ण आदि नाना (वस्यः) अति उत्तम जीवनोपयोगी ऐश्वर्य (पुरा) सबसे पहले (प्र आनिनाय) अच्छी प्रकार प्राप्त कराता है, प्रदान करता है, (वः ऊतये) आप लोगों की रक्षा के लिये उसही (इन्द्रम्) इन्द्र राजा की मैं (स्तुषे) स्तुति करता हूं ।

हर्य॑श्वं॒ सत्प॑तिं चर्षणी॒सहं॒ स हि ष्मा॒ यो अम॑न्दत ।
आ तु नः॒ स व॑यति॒ गव्य॒मश्व्यं॑ स्तो॒तृभ्यो॑ म॒घवा॑ श॒तम् ॥४॥
ऋ० ८ । २१ । १० ॥

भा०—(हर्यश्वं) तेज अश्वों वाले (सत् पतिम्) सज्जनों के पालक (चर्षणीसहम्) सब मनुष्यों के वशकारी पुरुष के मैं गुण बतलाता हूं । (स हि स्म) वह वह है (यः अमन्दत) जो सदा हृष्ट, प्रसन्न और

सदा तृप्त रहता है, किसी के धन, स्त्री, जन पर लोभ नहीं करता और किसी पर रोष नहीं करता। (सः) वह (गव्यम् अश्व्यम्) गौ और अश्व आदि (शतम्) सैकड़ों धन (नः) हमें (स्तोतृभ्यः) स्तुति कर्त्ता लोगों को (आ वयति) प्राप्त कराता है, प्राप्त करने में सहायक होता है।

[१५] विद्युत् राजा और परमेश्वर

गोतमः ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । षड्चं सूक्तम् ।

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे ।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥१॥

भा०—मैं (मंहिष्ठाय) सबसे महान्, सबसे अधिक पूजनीय, (बृहते) सबसे बड़े, (सत्य-शुष्माय) सत्य के बल से युक्त, (तवसे) बलस्वरूप इन्द्र के (बृहद् रये) बड़े भारी वेग के सम्बन्ध में (मतिम्) ज्ञान का (प्रभरे) उपदेश करता हूं। (प्रणवे) नीचे की तरफ़ आते हुए (अपाम्) जलों के भारी बल के समान (यस्य) जिस इन्द्र का (दुर्धरम् राधः) दुर्धर, अदम्य, बल, तीव्र वेग, कार्य करने की शक्ति (विश्वायु) सब ओर को (शवसे) बल कार्य करने के लिये (अपावृतम्) प्रकट होती है।

इन्द्र, विद्युत् का वेग ऊंची पोटेंशेलिटी से नीची पोटेंशेलिटी को आते हुए इसी प्रकार बहुत अधिक होता है, जैसे ऊंचे स्थानों से नीचे स्थान को बहते हुए जलों का वेग प्रबल होता है उस विद्युत् के उस भारी वेग को वेद 'दुर्धर राधस्' कहता है। उसका प्रयोग सब प्रकार के बल कार्यों में प्रकट किया जा सकता है।

---

[१५] ऋग्वेदे सव्य आङ्गिरस ऋषिः ।

राजा के पक्ष में—उस महान्, सत्य पराक्रमी, बलशाली के बड़े वेग के कार्य के ज्ञानका उपदेश करता हूं। उसका (राधः) साधन बल भी जलप्रपात के समान अदम्य है। वह सबके बल के लिये प्रकट होता है। परमात्मा के पक्ष में भी स्पष्ट है।

अधं ते विश्वमनुं हासदिष्टय आपों निम्नेव सर्वना हविष्मतः।
यत् पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः॥२॥

भा०—पूर्वोक्त वेग को और भी स्पष्ट करते हैं। (हविष्मतः) ज्ञानवान् उपायज्ञ पुरुष के (सवना) सब कर्मों को जिस प्रकार (निम्ना आपः इव) नीचे की ओर बहने वाले जल सम्पादित करते हैं उसी प्रकार हे इन्द्र, विद्युत् ! (विश्वं) समस्त (इष्टये) इष्ट कार्य या प्रेरणा या गति प्राप्त करने के लिये (ते अनु ह असत्) तेरे ही अधीन तुझ पर निर्भर रहता है। अर्थात् वह तुझ पर निर्भर है। (यत्) क्योंकि (इन्द्रस्य) वेग से द्रवण अर्थात् तीव्रगति वाले विद्युत् का (हर्यतः वज्रः) अति कान्तिमान्, दीप्तिमय वज्र (पर्वते न) पर्वत मेघ पर तक भी (न सम् अशीत) रुकता, प्रत्युत वह (हिरण्ययः) प्रबल वेग और कान्ति से युक्त होकर (श्नथिता) सब पदार्थों को चूर्ण करने में समर्थ होता है। (हविष्मतः) उपायज्ञ पुरुष के सब गति, कर्म जिस प्रकार बहते जलों पर निर्भर हैं उसी प्रकार (इष्टये) प्रेरणा, या गति के लिये समस्त कार्य बिजुली पर भी निर्भर होते हैं। उसका वेग पर्वत पर भी रुक नहीं सकता, वह इतना अधिक होता है कि पदार्थों को तोड़ फोड़ देता है।

राजा के पक्ष में—ज्ञानी पुरुष के जैसे सब सवन, यज्ञ आदि कर्म आप्त पुरुषों के आश्रय पर होते हैं इसी प्रकार हे राजन् ! समस्त राष्ट्र अपने इष्ट प्रयोजन के लिये तुझ पर निर्भर है। इन्द्र का सर्व-चूर्णकारी

वज्र—बल पर्वत आदि की रक्षा पर भी नहीं रुकता, उसको भी तोड़ डालता है।

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे।
यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ॥३॥

भा०—हे ज्ञानी पुरुष (पनीयसे) व्यवहार में लाने योग्य (अस्मै भीमाय) इस अति भयंकर विद्युत् को (नमसा) वश करने के उपाय से (उषः न) दाहक अग्नि या तेज के समान (अध्वरे शुभ्रे सम् आभर) अहिंसाजनक, सौम्य, अति दीप्त, प्रकाश के कार्य में प्रयोग कर। (यस्य धाम) जिसका धारण सामर्थ्य या तेज (श्रवसे) शब्द श्रवण के कार्य के लिये और जिसका (नाम) उपाय से वश कर लेना (इन्द्रियम्) अति बलजनक है, (न[1]) और (हरितः अयसे) दिशाओं में फैलने के लिये (ज्योतिः अकारि) प्रकाश भी उत्पन्न किया जाता है। अर्थात् विद्युत् के प्रचण्ड शक्ति को उपाय से अग्नि के समान सौम्य प्रकाश में दूर शब्द श्रवण के कार्य में लाओ और उससे दूर तक पहुंचने वाले प्रकाश को भी उत्पन्न करो।

ईश्वर और राजा के पक्ष में—हे पुरुष! (उषो न शुभ्रे अध्वरे) उषाकाल के समान कान्तिमान्, तेजोमय अध्वर,=राष्ट्रपालन रूप कार्य में (पनीयसे भीमाय अस्मै) स्तुतियोग्य, भीम, पराक्रमी इस राजा को (नमसा आभर) अन्नादि सत्कार से पूर्ण कर। (यस्य धाम नाम इन्द्रियं श्रवसे) जिसका तेज, नमनकारी बल और राजोचित तेज सभी कीर्त्ति के लिये है। और (यस्य ज्योतिः हरितः न अयसे अकारि) जिसका प्रकाश मानो दिशाओं तक फैलने के लिये उत्पन्न होता है।

---

(३) 'उषो न शुभ्र' इत्र 'न' शब्दानार्थः अनर्थकोवेति सायणः।

१. नश्चार्थः।

इमे तं इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद् वचः॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! परम ऐश्वर्यवन्! हे (पुरुष्टुत) बहुतों से स्तुति किये गये या बहुत प्रकारों से वर्णित! हे (प्रभूवसो) अति सामर्थ्यवान् वसो! अति ऐश्वर्यवान्! या अति सामर्थ्य रूप धन वाले! (ये) जो लोग (त्वा आरभ्य चरामसि) जो तुमको आरम्भ करके, तुमको प्राप्त करके, तुमको मुखिया बनाकर विचरते हैं (ते) वे (इमे) ये (वयम्) हम (ते) तेरे ही उपासक तेरे सेवक हैं। हे (गिर्वणः) समस्त वाणियों के सेवन करने वाले! (त्वत् अन्यः) तुमसे दूसरा कोई और (गिरः नहि सघत्) हमारी वाणियों को नहीं सहन करता, कोई नहीं प्राप्त करता। तू (क्षोणीः इव) पृथिवी निवासी प्रजाओं के समान या (क्षोणीः इव) पृथिवी के समान सहिष्णु होकर ही (नः) हमारे (तद्) उन २ नाना मधुर और कटु (वचः) वचनों को (प्रति हर्य) श्रवण कर। प्रजाएं राजा का आश्रय लेकर सब कार्य करें वह प्रजा के सब बुरी भली आलोचनाओं को सहे। ईश्वर का आश्रय लेकर हम सब कार्य करें। वह सबकी सुनने में समर्थ है। वह आश्रय रूप भूमि माता के समान हमारे वचन सुने।

भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे॥५॥
ऋ० १।५७।५॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! राजन्! परमेश्वर! (तव वीर्यम्) तेरा वीर्य, सामर्थ्य (भूरि) विद्युत् के समान ही महान् है। (तव स्मसि) हम तेरे ही हैं। तू हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! (अस्य स्तोतुः) इस स्तुतिशील विद्वान् पुरुष के (कामम्) अभिलाषा को (आ पृण) पूर्ण कर। (ते वीर्यम्

अनु) तेरे ही बलपर (बृहती द्यौः) यह बड़ी भारी द्यौ, आकाश में स्थित तेजोमय सृष्टि (ममे) बनी है। और (इयं च पृथिवी) यह पृथिवी भी (ते ओजसे) तेरे ही पराक्रम के आगे (नेमे) झुकती है।

राजा, विद्युत्, ईश्वर सबके पक्ष में समान है।

त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्तिथ।
अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः सत्रा विश्वं दधिषे केवलं सहः ६

ऋ० १ । ५७ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् विद्युत् जिस प्रकार (तम् उरुम् पर्वतम्) उस महान् पर्वत या मेघ को खण्ड २ करती है उसी प्रकार तू (तम्) उस (महाम् उरुम् पर्वतम्) महान् विशाल नाना पर्वो खण्डों २ से बने शत्रु सैन्य को (वज्रेण) आयुध से (पर्वशः चकर्तिथ) खण्ड करके काट डालता है। और जिस प्रकार विद्युत् के प्रभाव से (निवृताः अपः) निकले या उत्पन्न हुए जल मेघ से नीचे आ गिरते हैं उसी प्रकार (निवृताः) सुसज्ज, (अपः) कर्मशील प्रजाओं को, सेना के पुरुषों को (सर्तवा) व्यवस्था में चलाने के लिये (अवासृजा) अपने अधीन रखता है। (सत्रा) सत्य है, कि (केवलं) केवल तू ही (विश्वं सहः) समस्त बल, समस्त शत्रु विजयशील बल को (दधिषे) धारण करता है।

यान्त्रिक विद्युत् पक्षमें—(निवृताः अपः) नियम में व्यवस्थित समस्त क्रियाओं को अपने (सर्तवे अवासृजः) अधीन चलाने के लिये प्रेरित करता है। और वह (सत्रा) एक ही साथ सब बल को स्वयं धारण करता है।

ईश्वर पक्ष में-वह ईश्वर अपने ज्ञानवज्र से (पर्वतम्) पर्वत के समान या मेघ के समान आच्छादक अज्ञान को नाश करता है। समस्त

ज्ञानों को आत्मा में प्रेरित करता है। वही सब (सहः) बल को एकमात्र धारण करता है।

[१६] परमेश्वर की उपासना और वेदवाणियों का प्रकाशित होना

अयास्य ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। त्रिष्टुभः। द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन् ॥१॥

ऋ० १०।६८।१॥

भा०—(उदप्रुतः) जलसे ऊपर उठकर एक साथ उड़ने वाले (रक्षमाणाः) अपनी जान बचाकर दौड़ते हुए (वयः न) पक्षी जिस प्रकार एक दम फड़ फड़ फड़ फड़ शब्द करते हुए उड़ते हैं और (वावदतः अभ्रियस्य घोषाः इव) निरन्तर गर्जना करते हुए मेघ समूह के घोष या गर्जना रव जिस प्रकार ध्वनि करते हैं और (गिरिभ्रजः ऊर्मयः न) पर्वत से या मेघ से झरने वाले जलधारा, नद, नाले जिस प्रकार ध्वनि करते हैं उसी प्रकार (अर्काः) अर्चना, स्तुति करने वाले वेद मन्त्र या अर्चनशील विद्वान् पुरुष, समस्त मिलकर वेद ध्वनि करते हुए (मदन्तः) अति हृष्ट होकर (बृहस्पतिम्) बृहती, वेद वाणी और महती शक्ति के पालक परमेश्वर को (अभि अनावन्) साक्षात् स्तुति करते हैं।

राजा के पक्ष में—(अर्काः) राजा के स्तुतिकर्त्ता लोग उसी प्रकार (बृहस्पतिम्) बृहत् राष्ट्र के पालक की स्तुति करते हैं।

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥२॥

ऋ० १०।६८।२॥

भा०—(आङ्गिरसः) ज्ञानी विद्वान् पुरुष, अथर्ववेद का विद्वान् (गोभिः) वाणियों द्वारा अथवा (गोभिः) पृथिवी निवासी जनों के सहित (नक्षमाणः) फैलता हुआ, राष्ट्र का विस्तार करता हुआ (भगः इव इत्) ऐश्वर्यवान् पुरुष के समान ही (अर्यमणम्) न्यायकारी राजा को (निनाय) सन्मार्ग पर चलाता है। (जने) जन-समूह या लोगों में (मित्रः न) वह विद्वान् पुरुष स्नेही मित्र के समान (दम्पती) स्त्री पुरुषों को (अनक्ति) ज्ञानोपदेश से प्रकाशित करता है। हे (बृहस्पते) वेद के विद्वान् ! तू (आजौ) संग्राम में (आशून् इव) शीघ्रगामी रथों और अश्वों और वेगवान् सैनिकों के समान समस्त राष्ट्र वासियों को (वाजय) सन्मार्ग में प्रेरित कर।

विद्वान् पुरुष धनाढ्य के समान ही राजा को लक्ष्य तक पहुंचाता है। वह स्त्री पुरुषों को ज्ञानवान् करता है। वह सबको सेनापति या सारथी समान के सबको सन्मार्ग पर लेजाता है।

अध्यात्म में-(अंगिरसः) अंग=शरीर में रहने वाला प्राण (गोभिः) अपने में व्याप्त होकर (भग इव) अन्न के समान ही (अर्यमणम्) स्वामी आत्मा को चलाता है। मित्र के समान (दम्पती) पति पत्नी रूप प्राण अपान दो, आंख दो, नाक दो, कान दो, जिह्वा और रसना दो, गुदा और लिङ्ग दो इन सब युगलोंको जीवित रखता है और सबको सारथी बनाकर घोड़ों के समान चलाता है।

साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः॥३॥

ऋ० १० । ६८ । ३ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति, वायु, जिस प्रकार (पर्वतेभ्यः) पर्वत अर्थात् मेघों से (गाः वितूर्य) गमन करने वाली जलधाराओं को नि-

काल कर उनमें (यवन् निः वपे) यव=जव अर्थात् वेग को स्थापित करता है । और (बृहस्पतिः) जिस प्रकार बृहस्पति मन या मुख्य प्राण (पर्वतेभ्यः) पर्व वाले शरीर के अंगों से (गाः) इन्द्रियों को (विदूर्य) वेग से बाहर करके उनमें (स्थिविभ्यः) स्थिर पदार्थों के ग्रहण के लिये (यवन्) ज्ञान ग्रहण करने वाले सामर्थ्य को स्थापित करता है, उसी प्रकार (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक पुरुष (गाः) गमन करने योग्य, भोगयोग्य (साधु-अर्याः) उत्तम स्वामिनी होने वाली (अतिथिनीः) अतिथि के समान पूज्यवरों को प्राप्त होने वाली (स्पार्हाः) स्पृहा या कामना के योग्य, सुन्दर, मनोहर, (सुवर्णाः) उत्तम रूपवती कन्याओं को (पर्वतेभ्यः) पालन पोषण करने हारे माता पिताओं या गृहस्थों से (विदूर्य) पृथक् करके (स्थिविभ्यः) स्थिर, स्थायी, जितेन्द्रिय पुरुषों को प्रदान कर उन द्वारा (यवन् निः वपे) उनमें बीज आधान कराता और उसी प्रकार सन्तान उत्पन्न कराता है । जिस प्रकार (गाः यवन् इव) पृथिवियों पर जौ आदि अन्न उत्पन्न किया जाता है ।

अर्थात् अगली सन्तति के लिये युवती कन्याओं को योग्य वरों के द्वारा गृहस्थ कार्य में युक्त करना भी बृहस्पति, वेद के विद्वान् पुरुष का कर्त्तव्य है ।

विद्वान् आचार्य के पक्ष में—बृहस्पति वेद का विद्वान (साध्वर्याः) साधु रीति से ज्ञान करने योग्य, (अतिथिनीः) आत्मा या परमेश्वर तक पहुंचाने वाली, सुन्दर शुभ वर्णों वाली, अनिन्द्य, पवित्र (गाः) वेदवाणियों के (पर्वतेभ्यः) पर्व वाले, ज्ञान का पालन करने में समर्थ ग्रन्थों या विद्वानों से (विदूर्य) प्राप्त करके (स्थिविभ्यः) स्थिर, व्रतपालक शिष्यों के लिये उनको (निः वपे) यथावत् बीज वपन के समान उपदेश करता है ।

राजा के पक्ष में—वेद का विद्वान् पुरोहित पर्वत के समान ऊंचे राजाओं के हाथों से (गाः) प्रजाओं को निकालकर (स्थिविभ्यः) स्थिर निवासियों के लिये उनमें (यवम् निः ऊपे) यव अर्थात् राष्ट्र शक्ति का आधान करता है । राष्ट्रं वै यवः । तै० ३ । ६ । ३ । ७ ॥

आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥४॥

ऋ० १० । ६८ । ४ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति=वायु जिस प्रकार (मधुना) जल से (आप्रुषायन्) भूमि को सींचता हुआ (ऋतस्य योनिम्) ऋत=जल के आश्रय मेघ को नीचे (अवक्षिपन्) फेंकता हुआ और (गाः) जलों को (अश्मनः) व्यापक मेघ से पृथिवी पर गिराता हुआ (भूम्याः त्वचं विभेद) भूमि की त्वचा को भेद देता है । उसी प्रकार विद्वान् (अर्कः) अर्क, सूर्य के समान प्रकाशमान, पूजनीय पुरुष (मधुना) सत्य ज्ञान से पूर्ण करता हुआ और (द्योः) आकाश से (उल्काम् इव) गिरती हुई उल्का के समान (ऋतस्य योनिम्) ऋत=यज्ञ के मूल कारण वेद को (अवक्षिपन्) शिष्य को प्रदान करता हुआ और (अश्मनः) व्यापक परमेश्वर के पास से (गाः उद्धरन्) वेद-वाणियों को प्राप्त करता हुआ (उद्ना भूम्याः त्वचम् इव) जिस प्रकार जल से भूमि की त्वचा को फोड़ कर उसको सींचा जाता है उसी प्रकार (मधुना) ज्ञान से अपने शिष्य की हृदय-भूमि के (त्वचम्) आवरण, अज्ञान को (विभेद) नाश करता है ।

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत् ।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥५॥

ऋ० १० । ६८ । ५ ॥

भा०—और जिस प्रकार (वातः) प्रचण्ड वायु (उद्नः) जल के पृष्ठ से (शीपालम् इव आजत्) सेवाल को फाड़कर दूर कर देता है। उसी प्रकार (बृहस्पतिः) महान् सूर्य आदि लोकों का पालक, बृहती वेद वाणी का स्वामी परमेश्वर (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष में से (ज्योतिषा) ज्योतिःस्वरूप सूर्य के प्रकाश से (तमः आजत्) अन्धकार को दूर करता है। और जिस प्रकार (वातः) वायु ही (वलस्य) आवरणकारी मेघ को (अनुमृश्य) छिन्न भिन्न करके (गाः आ चक्रे) सूर्य की किरणों को सर्वत्र फैलने देता है उसी प्रकार (बृहस्पतिः) महती शक्ति और वेद वाणी का पालक विद्वान् (वलस्य) आवरणकारी तामस आवरण को (अनुमृश्य) अपने ज्ञानबल से विवेक द्वारा छिन्न भिन्न करके (गाः) वेद वाणियों को (आ चक्रे) प्रकट करता है उनको फैलाता है, उनको सर्वत्र उपदेश करता है।

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिर्कैः।
दुद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाद॑दाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥६॥

भा०—(यदा) जब (पीयतः) विनाशकारी (वलस्य) आवरणकारी तमस् के (जसुं) नाशकारी प्रभाव को (अग्नि-तपोभिः) अग्नि के समान तापकारी तपश्चर्या और (अर्कैः) ज्ञानमय किरणों से (बृहस्पतिः) महती शक्ति और वेद का विद्वान् (भेद) तोड़ डालता है तब (न) जिस प्रकार (जिह्वा) जीभ (दद्भिः) दांतों द्वारा (परिविष्टम्) परोसे या, खूब चिथे, चबाये अन्न को (आदद्) अस लेती है उसी प्रकार वह विद्वान् ज्ञानी पुरुष भी अपने तेजो युक्त तपश्चर्या युक्त ज्ञानों से तामस बल को नाश करके (उस्रियाणाम्) स्वयं ऊपर प्रकट होने वाली, हृदय में उठने वाली वेद वाणियों के (निधीन्) छुपे ज्ञान भण्डारों को (आविः अकृणोत्) साक्षात् कर लेता है।

सूर्य पक्ष में—(बृहस्पतिः) सूर्य (अग्नितपोभिः अर्कैः) अग्नि के द्वारा तापक किरणों से (पीयतः वलस्य जसुं भेद) नाशकारी मेघ के वल को तोड़ता है और अपनी (उस्त्रियाणां निधीन् आविः अकृणोत्) रश्मियों के खज़ाने को प्रकट करता है । इसी प्रकार परमेश्वर (अर्कैः) वेद मन्त्रों द्वारा अज्ञान का नाश करता और वेदवाणियों के ज्ञान खज़ानों को प्रकट करता है ।

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत् ।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रिया: पर्वतस्य त्मनाजत् ॥७॥

ऋ० १० । ६८ । ७ ॥

भा०—(यत्) जब (बृहस्पतिः) वेदज्ञ विद्वान् (गुहासदने) गुप्त हृदय, गुफा रूप आश्रयस्थान में (आसां स्वरीणां) ज्ञानमय शब्द, रूप इन वेद-वाणियों के (तत्) उस परम (नाम) स्वरूप को (अमत) जान लेता है तब (शकुनस्य आण्डा इव) पक्षी के अण्डों को (भित्त्वा) फोड़कर जिस प्रकार (गर्भम्) भीतर के गर्भ में स्थित कच्चे बच्चे को पक्षिणी माता बाहर निकाल लेती है उसी प्रकार वह विद्वान् भी (पर्वतस्य) उस पूर्ण सामर्थ्य वाले परमेश्वर के भीतर (त्मना) अपने आत्मसामर्थ्य से प्रवेश करके उसके प्रकाशमय ज्ञान से पूर्ण वेदवाणियों को (उद् आजत्) प्राप्त कर लेता है ।

कुरान में कुरान की आयतों को पर्वत की गुफा (लामहफूज़) में से प्राप्त करने का जो वर्णन है वह इसी की छाया है ।

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् ।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥८॥

ऋ० १० । ६८ । ८ ॥

भा०—(दीने उदनि) थोड़े से जल में (क्षियन्तम् मत्स्यं न) निवास करने वाली मछली को जिस प्रकार लोग देख लेते हैं उसी प्रकार (बृहस्पतिः) महान् वेदज्ञ, वेदवाणी का पालक विद्वान् पुरुष भी (अश्मा) व्यापक परमात्मा से (अपिनद्धम्) ढके हुए (मधु) ज्ञानरूप मधु को (परि अपश्यत्) सब प्रकार से साक्षात् करता है। और जिस प्रकार (वृक्षात्) वृक्ष के लक्कड़ से (विकृत्य) औज़ारों से काट २ कर (चमसं न) कारीगर पात्र को (निः जभार) निकाल लेता है उसी प्रकार (बृहस्पतिः) वेदज्ञ विद्वान् (विरवेण) विशेष शब्द विज्ञान द्वारा (विकृत्य) वेदमन्त्रों की विविध व्याख्या करके (तत् मधु) उस परम ज्ञान को (निजभार) निकाल लेता है।

विद्वान् पुरुष वेदों से किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है उसका प्रकार इस मन्त्र में दर्शाया है।

सोषामविन्दत् स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥६॥

भा०—(सः) वह (उषाम्) अज्ञान के दाह कर देने वाली प्रातः प्रभा के समान दीप्ति को प्राप्त करता है। (सः स्वः) वह प्रकाशस्वरूप सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करता है। (सः) वह (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का साक्षात् करता है। वह (अर्केण) सूर्य से (तमांसि) अन्धकारों का (वि) विविध प्रकार (बबाधे) विनष्ट करता है। वह (बृहस्पतिः) वाणी का पालक विद्वान् ब्रह्मज्ञानी (गोवपुषः) वाणियों के आच्छादन करने वाले या वाणीस्वरूप (वलस्य) शब्दमय, आवरणकारी अज्ञान को नाश करके (पर्वणः मज्जानं न) हड्डी के जोड़ से जिस प्रकार मज्जा धातु को मांसाहारी निकालता है उसी प्रकार वह उसके

(पर्वशः) एक २ पर्व, खण्ड से (मत्-जानं=मत् ज्ञानम्) आत्मज्ञान को (निः जभार) प्राप्त करता है ।

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिना कृपयद् वलो गाः ।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥१०॥

भा०—(हिमा इव) हिम से या पाले से जिस प्रकार (वनानि पर्णा) वनों के पत्र (मुषिता) नष्ट होजाते हैं, उसी प्रकार (बृहस्पतिना) बृहस्पति, वाणी के तत्वज्ञ विद्वान् द्वारा (वनानि) प्राप्त करने योग्य (गाः) गौ वेदवाणियों से (पर्णा) ज्ञान (मुषिता) हर लिये जाते हैं और उस द्वारा (वलः) उन ज्ञानों का आवरणकारी 'वल' या उसका शब्द मय स्थूल रूप (अकृपयत्) उन ज्ञानों को प्राप्त करने में समर्थ होता है, उन ज्ञानों को प्रदान करता है । इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ज्ञान ग्रहण करके (अनानुकृत्यम्) अन्यों से न किये जाने योग्य ऐसे दुष्कर कर्म को (अपुनः चकार) वार २ नहीं करता, प्रत्युत एक ही वार करता है । और उसके आगे (यात्) जिसके आधार पर (सूर्यामासा) सूर्य और चन्द्रमा के समान गुरु और शिष्य (मिथः) परस्पर एकत्र होकर (उत् चरातः) ज्ञान का उपदेश करते और अभ्यास किया करते हैं । सृष्टि के आदि में एक वार वेदवाणियों का ब्रह्मज्ञानी के हृदय में प्रकाश होकर फिर गुरु परम्परा से वेदज्ञान फैलता है, इस सिद्धान्त को वेद स्वयं बत-लाता है ।

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
राऱ्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ॥११॥

भा०—लोग (श्यावं अश्वं न) जिस प्रकार श्याम अश्व को (कृशनैः) आभूषणों, कौड़ी मोती आदियों की मालाओं से सजाते हैं उसी प्रकार (पितरः) संसार की पालक शक्तियां (द्याम्) आकाश को

(नक्षत्रेभिः) नक्षत्रों से (अपिंशन्) स्थान २ पर सुसज्जित करती हैं। वे (रात्र्यां तमः अदधुः) रात्रि के अवसर पर अन्धकार को स्थापित करते हैं और (अहन् ज्योतिः) दिन के समय सूर्य को रखते हैं। (बृहस्पतिः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष (अद्रिम्) अभेद्य आवरण, अन्धकार को तोड़ता है और (गाः) ज्ञानवाणियों को (विदद्) प्राप्त करता है।

प्रजापतिः असुरान् सृष्ट्वा पितेवामन्यत । तदनुपितॄनसृजत तत्पितॄणां पितृत्वम् ॥ तै० २ । ३ । ८ । २ ॥

अथवा—(पितरः) राष्ट्र के पालक लोग (न) जिस प्रकार (श्यावं अश्वं कृशनेभिः अपिंशत्) श्याम अश्व को नाना सीप, शंख, मुक्ताओं द्वारा भिन्न २ अंगों में सजाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान के पालक लोग (नक्षत्रेभिः) नक्षत्रों से (द्याम्) विशाल आकाश को (अपिंशन्) खण्ड २ करके विभक्त कर लेते हैं। और वे (तमः) अन्धकार को (रात्र्यां अदधुः) रात्रिकाल में उसके लक्षण रूप से नियत करते हैं (ज्योतिः अहन्) प्रकाश के दिन का लक्षण बतलाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी पुरुष (अद्रिम्) अखण्ड तामस आवरण को भेद कर (गाः विदद्) ज्ञानवाणियों को प्राप्त करता है।

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति ।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो
वयो धात् ॥ १२ ॥

भा०—(यः) जो (पूर्वीः) सबसे पूर्व प्राप्त अथवा ज्ञान से पूर्ण वेदवाणियों को (अनु) यथाक्रम (आनोनवीति) साक्षात् करके उपदेश करने में समर्थ है उस (अभ्रियाय) मेघ के समान सबको ज्ञानरूप जल वितरण करने में समर्थ ज्ञानी पुरुष को (इदं नमः) यह इस प्रकार से हम

आदर सत्कार (अकर्म) करें, (सः हि) वही निश्चय से (बृहस्पतिः) वेदवाणियों का पालक होकर हमें (गोभिः) गौओं, (अश्वैः) घोड़ों, (वीरेभिः) वीर पुरुषों या वीर्यवान् पुत्रों और (नृभिः) अन्य सेवक पुरुषों या नेता पुरुषों सहित राष्ट्र में (वयः) अन्न, वीर्य, ज्ञान और कर्म (धात्) धारण करता है ।

[१७] परमेश्वरोपासना ।

१-१० कृष्ण ऋषिः । १२ वसिष्ठः । इन्द्रो देवता । १-१० जगत्यः । ११,१२ त्रिष्टुभौ । द्वादशर्चं सूक्तम् ।

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥१॥
ऋ० १० । ४३ । १ ॥

भा०—(उशतीः) कामनायुक्त (जनयः) स्त्रियें (यथा) जिस प्रकार (शुन्ध्युम्) शुद्ध, सुन्दर (मर्यं) मनुष्य को (पतिम्) पतिरूप से प्राप्त करके (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (परिष्वजन्ते) आलिङ्गन करती हैं, उसका आश्रय लेती हैं उसी प्रकार (सध्रीचीः) एक ही साथ समान अर्थ को कहने वाली, (उशतीः) कामनाओं, अभिलाषाओं वाली (स्वर्विदः) सुखमय परमात्मा को प्राप्त करने वाली (विश्वाः) समस्त (मे मतयः) मेरी ज्ञानमय वाणियें (मघवानम्) ऐश्वर्यवान् उस (इन्द्रम्) परमेश्वर की (अनूषत) स्तुति करती हैं ।

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रय ।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते ॥२॥

भा०—हे इन्द्र ! हे (पुरुहूत) समस्त प्रजाओं द्वारा पुकारे गये सबके स्तुत्य परमेश्वर ! (मे मनः) मेरा मन (त्वाद्रिग्) तेरी तरफ

जाकर फिर (न घ अप वेति) तुझसे दूर नहीं जाता । (त्वे इत्) तुझमें ही (कामम्) समस्त इच्छा मनोरथ कामनाओं और आशाओं को (शिश्रय) रख देता है । हे (दस्म) दर्शनीय ! अनुपम सुन्दर ! (अधि बर्हिषि) आसन या प्रजा के पर जिस प्रकार (राजा इव) राजा विराजता है उस प्रकार (अस्मिन् बर्हिषि) इस महान् ब्रह्माण्ड में तु (अधि निषद:) अधिष्ठाता रूप से विराजता है । (अस्मिन् सोमे) इस महान् संसार में ही या इस सोमस्वरूप आत्मा में ही (ते) तेरा (अवपानम् अस्तु) अवपान तृप्ति-कारक ज्ञानरस प्राप्त हो ।

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते ।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर मेघ के समान (अमतेः) दारिद्र्य और (क्षुधः) भूख का भी (विषूवृत्) सब प्रकार से नाश करने हारा है । (स इत्) वह ही (मघवा) धनैश्वर्य सम्पन्न (वस्वः) प्रजा को बसाने वाले (रायः) धनैश्वर्य का (ईशते) स्वामी है । (इमे सप्त) ये सात (सिन्धवः) गतिशील महान् शक्तियें, ५ भूत, महान् और अहंकार ब्रह्माण्ड में सात वायुएं, शिर में ७ प्राण (प्रवणे) निम्न स्थान में (तस्य) उस (शुष्मिणः) बलशाली (वृषभस्य) सब सुखों के वर्षक परमेश्वर की (इत्) ही (वयः) शक्ति को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं ।

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः ।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद् विदत् स्व१र्मनवे ज्योतिरार्यम् ॥४॥

ऋ० १० । ४३ । ४ ॥

भा०—(न) जिस प्रकार (सुपलाशम्) सुन्दर हरे भरे पत्तों वाले (वृक्षम्) वृक्ष पर (वयः) पक्षीगण (आसदन्) आकर बैठते हैं उसी

प्रकार (सुपलाशम्) उत्तम पालन सामर्थ्य से युक्त (इन्द्रम्) इन्द्र का (चमूषदः) सेनाओं में अच्छे २ पदों पर विराजमान (मन्दिनः) सुप्रसन्न (सोमासः) सैनिकों को प्रेरणा करने हारे नेता पुरुष (आसदन्) आश्रय लेते हैं । (एषाम्) इनका (अनीकम्) बना हुआ सेनादल (शवसा) बल वीर्य से (प्र दविद्युतत्) खूब प्रकाशित होता है । और (मनवे) मननशील पुरुष को (स्वः) सुखकारक (आर्यम् ज्योतिः) श्रेष्ठ ज्योति, प्रकाश, द्रव्य, ऐश्वर्य (विदत्) प्राप्त कराता है ।

जीव ब्रह्म पक्ष में—वृक्ष पर जिस प्रकार पक्षी विराजते हैं उसी प्रकार (इन्द्र) परमेश्वर का आश्रय लेकर (चमूषदः) ब्रह्मास्वाद में निरत (मन्दिनः) आनन्दरस से तृप्त (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले मुक्तजीव आ विराजते हैं । (एषाम् अनीकं शवसा दविद्युतत्) उनका मुख या स्वरूप शव=ज्ञान से प्रकाशित होता है । वह (मनवे) मननशील पुरुष को (आर्यम् ज्योतिः) सर्वश्रेष्ठ ज्योति का (विदत्) लाभ कराता है ।

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् ।
न तत् ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मंघवन् नोत नूतनः ॥५॥

ऋ० ४३ । १० । ५ ॥

भा०—(देवने) जूए के खेल में (श्वघ्नी) अपना धन नाश करने वाला जुआखोर पुरुष (कृतं न) जिस प्रकार 'कृत' नाम के पासे को (वि चिनोति) विशेष रूप से प्राप्त करता है उसी प्रकार (यत्) जब (मघवा) ऐश्वर्यवान् प्रभु (संवर्गम्) सबको अपने साथ मिलाये रखने वाले (सूर्यम्) सूर्य को (जयत्) अपने वश करता है (तत्) तब (ते) तेरे उस (वीर्यम्) वीर्य को, हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (न पुराणः) न कोई पुरातन (न उत नूतनः) और न कोई नवीन पुरुष ही (अन्यः) दूसरा, तेरा विपरीतगामी (अनु शकत्) जीत सकता है ।

राजा के पक्ष में—जुआरी जिस प्रकार सर्वविजयी कृत नाम के पासे को प्राप्त करता है। हे इन्द्र! राजन्! जब तू भी (संवर्गं सूर्यम्) सबको एकत्र मिलाये रखने में समर्थ, सूर्य के समान तेजस्वी सेनापति या विद्वान् पुरुष को (जयत्) प्राप्त कर लेता है तब न कोई पुराना और न कोई नया ही (ते अन्यः) तेरा शत्रु (ते तद् वीर्यं अनु शकत्) तेरे उस वीर्य पराक्रम का मुकाबला कर सकता है।

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा।
यस्याहं शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः॥६॥
ऋ० १० । ४३ । ६ ॥

भा०—(मघवा) वह परमैश्वर्यवान् राजा के समान (विशं विशं परि अशायत) प्रत्येक प्रजा को प्राप्त होता है। वह (वृषा) सब सुखों का सब रसों का वर्षक, मेघ के समान (जनानां) सब मनुष्यों की (धेनाः) स्तुतियों को (अवचाकशत्) सुनता, प्राप्त करता और उनपर दृष्टि रखता है। (यस्य सवनेषु) जिसके युद्ध के अवसरों में (शक्रः) वह शक्तिशाली परमेश्वर, सेनापति के समान (रण्यति) रमण करता है (सः) वह (तीव्रैः सोमैः) तीव्रगामी, सहायक विद्वान् के समान तीव्रज्ञान रसों से (पृतन्यतः) सेना द्वारा आक्रमण करने वाले शत्रुओं के समान भीतरी शत्रुओं को (सहते) वश कर लेता है, उनपर विजय पाता है।

आपो न सिन्धुमभि यत् समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्या इव ह्रदम्।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना॥७॥
ऋ० १० । ४३ । ७ ॥

भा०—(सिन्धुम् अभि) समुद्र के प्रति (आपः न) जिस प्रकार जलसे भरी नदियां (समक्षरन्) बहती हैं और जिस प्रकार (ह्रदम् इव) बड़े भारी ताल में (कुल्याः इव) छोटी २ जलधाराएं आकर पड़ती हैं।

इसी प्रकार (यत्) जब (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले विद्वान् मुमुक्षु जीव (इन्द्रम् अभि सम् अक्षरन्) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु परमेश्वर की शरण आते हैं तब वे (विप्राः) विद्वान् जन आनन्द से विशेष रूप से पूर्ण होकर (अस्य) इसके (सादने) शरण में जाकर उसकी ही (महः) कीर्त्ति को (वर्धन्ति) ऐसे बढ़ाते हैं जैसे (वृष्टिः) वर्षा (दिव्येन दानुना) आकाश से आये जल से (यवं न) जौ को बढ़ाया करती है।

राजा के पक्ष में—(सोमासः) विद्वान् लोग (यत् इन्द्रम् समक्षरन्) जब ऐश्वर्यवान् राजा के पास आते हैं तो वे (अस्य सादने महः वर्धन्ति) उसके शरण में आकर यश और महान् सामर्थ्य की वृद्धि करते हैं।

वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥८॥

ऋ० १०।४३।८॥

भा०—(यः) जो इन्द्र परमेश्वर (क्रुद्धः वृषा न) गुस्से में आये हुए महा वृषभ के समान अति वेगवान् होकर (रजःसु) समस्त लोकों में (आपतयत्) व्याप्त हो रहा है और उनको तीव्रगति से चला रहा है और (यः) जो (इमाः अपः) इन समस्त लोकों को या इन समस्त (अपः) प्रकृति की व्यापक शक्तियों को (अर्यपत्नीः अकृणोत्) स्वामी की पत्नियों के समान परमेश्वर स्वयं स्वामीरूप होकर उनको अपनी पालक शक्तियां बना लेता है। (सः) वह (मघवा) परमैश्वर्यवान् (सुन्वते) स्तुति करने हारे (जीरदानवे मनवे) मननशील (हविष्मते) ज्ञानवान् (जीरदानवे) जीव को (ज्योतिः) परम ज्ञानमय ज्योतिः अर्थात् अपने प्रकाशमय स्वरूप का (अविन्दत्) लाभ कराता है।

राजा के पक्ष में—(यः रजःसु क्रुद्धः वृषा न आपतयत्) जो देश देशान्तरों पर क्रुद्ध हुए बैल के समान भीषण होकर चढ़ाई करता है और (अपः अर्यपत्नीः अकृणोत्) आप्त प्रजाओं को एक स्वामी की स्त्रियों के समान

भोग्य प्रजाएं, अथवा एक ही स्वामी या प्रभु को पालने वाली विशाल राष्ट्र शक्ति में संगठित कर देता है (सः) वह (सुन्वते) अपना अभिषेक करने वाले (हविष्मते) अन्न आदि को कर रूप से देने वाले (जीरदानवे) चेतनाशील (मनवे) मानव समाज को (ज्योतिः अविन्दत्) परम ऐश्वर्य प्रदान करता है।

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्यं सुदुघा पुराणवत्।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः॥६॥
ऋ० १०।४३।९॥

भा०—(परशुः) आत्मा से पर, दूसरे, अन्य अनात्म पदार्थों को काटने में समर्थ ज्ञानरूप वज्र (ज्योतिषा सह) अपने वास्तविक आत्म-प्रकाश के साथ (उत् जायताम्) उदित हो। अर्थात् आत्मा के प्रकाश के साथ २ ज्ञान का उदय हो। और (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (सुदुघा) अच्छे प्रकार देने वाली ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा (पुराणवत्) अति प्राचीन, सबसे पुराण पुरुष परमेश्वर के समान शुद्ध होकर (सह) उसके साथ (भूयाः=भूयात्) तन्मय होकर रहे। और (अरुषः) दीप्तिमान् (शुचिः) शुद्ध आत्मा (भानुना) दीप्ति से या भासमान ज्ञान के प्रकाश से (विरोचताम्) विशेष रूप से चमके। (सत्पतिः) सत्, स्वरूप ब्रह्म-ज्ञान का पालक होकर (स्वः न) आदित्य के समान (शुक्रम्) अपने शुद्ध, दीप्तिमय स्वरूप को (शुशुचीत) और भी उज्ज्वल करे।

राजा के पक्ष में—(परशुः[1]) शत्रुओं को काटने वाला बल (ज्योतिषा सह उत् जायताम्) पराक्रम या तेज के साथ उदय हो, उठे, बढ़े। (ऋतस्य सुदुघा) सत्य व्यवहार को, यज्ञमय राष्ट्र को अच्छी प्रकार दोहने

१. परान् शृणाति इति परशुः, इति दण्डनाथ वृत्तिः। परान् स्पृशतीति परशुः इति क्षीरस्वामी। आङ्परयोःखनिशृभ्यां डिच्च, उणादिसूत्रम्।

वाली नीति (पुराणवत्) पूर्ववत् (भूयाः) स्थापित रहे। (अरुपः) कान्तिमान या रोष रहित राजा (शुचिः) शुद्ध निष्कपट होकर (भानुना) तेजसे प्रकाशित हो। और वह (सत्पतिः) सज्जनों का परिपालक होकर (स्वः न) आदित्य के समान (शुक्रम् शुशुचीत) अपने बल को और भी प्रज्वलित करे।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥१०॥

अथर्व० ७। ५०। ७॥ ऋ० १०। ४३। १०॥

भा०—हे (पुरुहूत) समस्त प्रजाओं से आदृत ! सत्कारपूर्वक बुलाये जाने योग्य ! (वयम्) हम लोग (गोभिः) गौ आदि पशुओं और उत्तम भूमियों से (अमतिम्) दरिद्रता को (तरेम) दूर करें। और (गोभिः) वेद वाणियों द्वारा (अमतिं) अज्ञान को (तरेम) पार करें। और (वयम्) हम (प्रथमाः) अति श्रेष्ठ होकर (अस्माकेन वृजनेन) अपने निज शत्रुवारक बल से पुष्ट होकर अपने (राजभिः) राजाओं सहित (धनानि जयेम) ऐश्वर्यों को विजय करें।

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥११॥

अथर्व० ७। ५१। १॥ ऋ० १०। ४३। ११॥

भा०—(बृहस्पतिः) महान् संसार का पालक, एवं बड़े राष्ट्र का पालक, वेदज्ञ विद्वान् (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से (उत् उत्तरस्मात्) उत्तर से या दायें से या ऊपर से और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) हम पर आक्रमण एवं आघात करने की इच्छा करने वाले दुष्ट पुरुष से और हे (इन्द्र) राजन् ! (पुरस्तात् उत मध्यतः) आगे और हमारे बीच में से भी हम पर आक्रमण करने वाले दुष्ट पुरुष से (नः परिपातु)

हमारी रक्षा करे। और वह (नः) हमारा (सखा) मित्र होकर हमारे (सखिभ्यः) समस्त स्नेही मित्रों या हम मित्रों को (वरिवः) धन ऐश्वर्य (कृणोतु) प्रदान करे।

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१२॥
ऋ० ७। ९७। १०॥

भा०—हे (बृहस्पते) वेदज्ञ, बृहती वेदवाणी के पालक ! और हे इन्द्र ! (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य उत पार्थिवस्य) दिव्य आकाश में विद्यमान और पृथिवी में विद्यमान (वस्वः) समस्त ऐश्वर्यों को (ईशाथे) वश कर रहे हो। आप दोनों (स्तुवते) स्तुतिशील, (कीरये) ज्ञानवान पुरुष को (रयिं धत्तं) ऐश्वर्य प्रदान करो। और हे विद्वान् पुरुषो ! आप सब (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी उपायों से (नः सदा पात) हमारी सदा रक्षा करें।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[१८] परमेश्वर की स्तुति

१-३ काण्वो मेधातिथिः आंगिरसः प्रियमेधश्च ऋषी। ४-६ वसिष्ठः। इन्द्रो देवता गायत्री। षड्टचं सूक्तम्॥

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥१॥ ऋ० ८। २। १६॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (वयम्) हम सब लोग (तदिदर्थाः) 'तत्'=उस लोक और 'इद्' इस लोक अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक प्रयोजनों की इच्छा करने वाले अथवा (तद् इत् अर्थाः) उस परम मोक्ष एवं त्रिविध ताप निवृत्ति की ही एकमात्र आकांक्षा करते हुए (त्वा-

यवः) तुझे प्राप्त होने की इच्छा करते हुए तेरे (सखायः) मित्र हम (कण्वाः) ज्ञानी पुरुष (त्वा) तेरी (उक्थेभिः) स्तुतिवचनों और वेद के सूक्तों द्वारा (जरन्ते) स्तुति करते हैं।

न घेमन्यदा पंपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ ।
तवेदु स्तोमं चिकेत ॥२॥ ऋ० ८ । २ । १७ ॥

भा०—हे (वज्रिन्) वज्रधारिन् ! पापों से निवृत्त करने वाले ज्ञान वज्र के धारक प्रभो ! (अपसः) कर्म के (नविष्टौ) प्रारम्भ में (अन्यत्) और कुछ भी मैं (न व इम् (आ पपन) स्तुति नहीं करता प्रत्युत (तव इत्) तेरी ही (स्तोमम्) स्तुति करना (चिकेत) जानता हूं ।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥३॥ ऋ० ८ । २ । १८ ॥

भा०—(देवाः) देव, दिव्यगुण और विद्वान् पुरुष (सुन्वन्तम्) काम करने हारे यत्नशील पुरुष को (इच्छन्ति) चाहते हैं वे (स्वप्नाय) सोने वाले प्रमादी पुरुष से (न स्पृहयन्ति) प्रेम नहीं करते । प्रायः (अ-तन्द्राः) आलस्य रहित पुरुष भी (प्रमादम् यन्ति) प्रमाद कर दिया करते हैं । इसलिये हे पुरुषो ! सात्विक गुणों को प्राप्त करने के लिये सदा क्रियाशील और यत्नवान् बने रहो ।

वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन् ।
विद्धी त्वस्य नो वसो ॥४॥ ऋ० ७ । ३१ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षक ! हम (त्वायवः) तेरी ही प्राप्ति की अभिलाषा करते हुए तेरी (प्र नोनुमः) निरन्तर स्तुति करते हैं । हे (वसो) समस्त संसार के बसाने वाले वसो ! (अस्य तु) हमारे इस स्तुति को भी तू (विद्धि) जानता है ।

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे।
त्वे अपि क्रतुर्मम ॥५॥ ऋ० ७ । ३१ । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र! परमेश्वर एवं राजन् ! (नः) हमें (निदे) निन्दक पुरुष के (मा रन्धीः) अधीन मतकर, उसके वश में उसके अधिकार में मत रख । (अपि) तू हमारा स्वामी ईश्वर होकर भी (अराव्णे) अदानशील कंजूस और (वक्तवे:) कठोर एवं अपशब्द भाषी पुरुष के भी (मा रन्धीः) वश में हमें मत रख । (अपि) और (मे) मेरा (क्रतुः) सब संकल्प और ज्ञान, विचार सब कुछ (त्वे) तेरे ही लिये है।

भक्तों का ब्रह्मार्पण इस मन्त्र से स्पष्ट है ।
यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥

त्वं वर्मासि सुप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् ।
त्वया प्रति ब्रुवे युजा ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । ३१ । ६ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) आवरक तामस अन्धकार और शत्रुओं के नाशक परमेश्वर एवं राजन् ! (त्वं) तू (सप्रथः) सब ओर से और सब प्रकार से विशाल और (पुरोयोध: च) और आगे बढ़कर प्रहार करने वाले योद्धा के समान हमारा (वर्म असि) कवच है । (त्वयायुजा) तुझ साथी के बल से ही मैं अपने प्रतिद्वन्द्वी लोगों के (प्रति ब्रुवे) उत्तर देने, उनका जैसे का तैसा जवाब देने या प्रतिकार करने में समर्थ होऊं।

[१९] परमेश्वर और राजा की शरणप्राप्ति ।

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च ।
इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥१॥ ऋ० ३ । ३७ । १ ॥

भा०—हे राजन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (वार्त्रहत्याय) वृत्र, नगरों को घेरने वाला शत्रुओं को हनन कर देने वाले और (पृतनासाह्याय च) संग्रामों और शत्रु सेनाओं को पराजय कर देने वाले (शवसे) बल के कारण ही हम प्रजाजन (त्वा) तेरी शरण (आवर्तयामः) आते हैं।

समस्त विद्वानों के नाश और समस्त पुरुषों को वश करने वाले बल के कारण हे परमात्मन् ! हम तेरे शरण में आते हैं।

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो।
इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥२॥ ऋ० ३ । ३७ । २ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्मों और प्रजाओं वाले ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (वाघतः) स्तुति करने हारे भक्त जन (ते मनः उत चक्षुः) तेरी शुभ चित्त और कृपामय दृष्टि के (सु अर्वाचीनं कृण्वन्तु) उत्तम रीति से अपने अभिमुख करें।

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।
इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥३॥ ऋ० ३ । ३७ । ३ ॥

भा०—हे (शतक्रतो इन्द्र) शतक्रतो ! सैकड़ों वीर्य और प्रज्ञाबलों से युक्त और हे ऐश्वर्यवन् ! (अभिमातिषाह्ये) अभिमान करने वाले शत्रुओं के विजय करने के निमित्त ही हम (विश्वाभिः गीर्भिः) समस्त वाणियों से (नामानि) तेरे अनेक नामों को (ईमहे) मनन करते हैं।

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि।
इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥४॥ ऋ० ३ । ३७ । ४ ॥

भा०—(पुरुस्तुतस्य) प्रजाओं द्वारा स्तुति किये जाने वाले (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् का (शतेन धामभिः) धारण सामर्थ्यों से (चर्षणीधृतः) समस्त मनुष्यों को धारण पोषण करने हारे प्रभु को हम (महयामः) हम पूजा करें और ऐसे राजा का हम आदर सत्कार करें।

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे ।
भरेषु वाजसातये ॥५॥ ऋ० ३ । ३७ । ५ ॥

भा०—(वृत्राय हन्तवे) शत्रु के नाश करने के लिये और (भरेषु) युद्धों में (वाजसातये) धनैश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (पुरुहूतम्) समस्त प्रजाओं से स्तुति करने योग्य, उत्तम, गुणवान् पुरुष की (उपब्रुवे) हम प्रार्थना करें कि वह ऐसा करे । विघ्नों के नाश यज्ञों में वीर्य और अन्न लाभ के लिये या पुष्टिकारी कार्यों में अन्न प्राप्त करने के लिये उस सर्व-स्तुत्य ईश्वर की मैं प्रार्थना करूं ।

वाजेषु सासुहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो ।
इन्द्र वृत्राय हन्तवे ॥६॥ ऋ० ३ । ३७ । ६ ॥

भा०—हे पूर्वोक्त शतक्रतो ! हे इन्द्र ! (वृत्राय हन्तवे) शत्रु के नाश के लिये (त्वाम्) तुझसे हम (ईमहे) प्रार्थना करते हैं । तू (वाजेषु) संग्रामों में (सासहिः भव) शत्रुओं का सदा पराजय करने में समर्थ हो ।

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च ।
इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु ॥७॥ ऋ० ३ । ३७ । ७ ॥

भा०—(द्युम्नेषु) धनों के प्राप्त करने में (पृतनाज्ये) संग्रामों में और शत्रु सेनाओं के विजय करने के कार्य में (पृत्सु तूर्षु) संग्राम में खड़ी शत्रु-सेनाओं के वध करने के उपायों में (श्रवःसु) यश के कार्यों या अन्न प्राप्त करने के कार्यों में और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! तू (अभिमातिषु) शत्रुओं पर (साक्ष्व) विजय करने में समर्थ हो ।

[२०] परमेश्वर से प्रार्थना और सेनापति और राजा के कर्त्तव्य ।

१–४ विश्वामित्रः । ५–७ गृत्समदः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् ।
इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥१॥ ऋ० ३ । ३७ । ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! या हे सेनापते ! हे (शतक्रतो) सैकड़ों बलों से युक्त ! तू (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (शुष्मिन्तमं) सब से अधिक बलशाली (जागृविम्) रक्षा के कार्य में सदा सावधान (सोमं) सब के प्रेरक शासक राजा की (पाहि) रक्षा कर ।

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ।
इन्द्र तानि त आ वृणे ॥२॥ ऋ० ३ । ३७ । ९ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों बल सामर्थ्यों वाले ! हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! (ते) तेरे (पञ्चसु जनेषु) पांचों प्रकार के जनों में, प्रजाओं में (या इन्द्रियाणि) जितने इन्द्रिय, दूत आदि रूप से चक्षु हैं या तेरे जितने कार्यकर्त्ता रूप बल, ऐश्वर्य या अधिकार हैं (तानि) उन सब (ते) तेरे अधिकारों को (आवृणे) मैं स्वीकार करता हूं आदर भाव से देखता हूं ।

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् ।
उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥३॥ ऋ० ३ । ३७ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! तू (बृहत्-श्रवः) बड़े भारी ऐश्वर्य को (अगन्) प्राप्त है । तू (दुस्तरं द्युम्नं) दुःस्तर, अपार धन का धारण कर, रख । (ते शुष्मम्) तेरे बल को हम (उत् तिरामसि) खूब बढ़ावें ।

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥४॥ ऋ० ३।३७।११॥

भा०—हे (अद्रिवः) अभेद्य शक्ति वाले ! हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! तू (नः) हमारे पास (अर्वावतः) समीप के (अथो) और (परावतः) दूर के देश से भी (आगहि) आ । हे (शक्र) शक्तिमन् ! (यः ते लोकः) तेरा जो भी स्थान हो तू (ततः उ) वहां से ही (आ गहि) आ, हमें प्राप्त हो ।

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥५॥ ऋ० २ । ४१ । १० ॥

भा०—हे (अङ्ग) विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्रः) इन्द्र राजा (महद् भयम्) बड़े भारी भय को (अभि-सदत्) मुकाबला करता है और उसको (अप चुच्यवत्) दूर करता है। (हि) क्योंकि (सः) वह (स्थिरः) स्थिर (विचर्षणिः) विश्व का या समस्त प्रजा का साक्षात् द्रष्टा अधिष्ठाता है।

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ४१ । ११ ॥

भा०—(इन्द्रः च) इन्द्र राजा और परमेश्वर ही (नः) हमें (मृळयाति) सुखी करे, हम पर कृपा करे। (नः पश्चात्) हमारे पीछे (अघं) पाप या दुःख (न नशत्) न लगे। (नः पुरः) हमारे आगे सदा (भद्रं भवाति) कल्याण और सुख सदा हो।

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥७॥ ऋ० २ । ४१ । १२ ॥

भा०—(विचर्षणिः) प्रजाओं को विविध प्रकार से देखने हारा ! और (शत्रून्) शत्रुओं का विजेता (इन्द्रः) इन्द्र राजा (सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि) समस्त दिशाओं से हमें (अभयं करत्) अभय करे।

[२१] परमेश्वर और राजा ।

सव्य आंगिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । १–९ जगत्यः । १०, ११ त्रिष्टुभौ ।
एकादशर्चं सूक्तम् ॥

न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः ।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ॥१॥
ऋ० १ । ५३ । १ ॥

भा०—हम लोग (महे) उस महान् परमेश्वर के लिये (वाचं) सुन्दर वाणी का (नि सु प्र भरामहे) नित्य पूजा के लिये प्रयोग करें। (विवस्वतः) ईश्वर की उपासना करने वाले (सदने) गृह में (इन्द्राय गिरः) परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के लिये वाणियां कही जाती हैं। (ससताम्) सोने वालों के (रत्नं) उत्तम सुन्दर धनको (इव) जिस प्रकार चोर चुरालेता है उस प्रकार वह परमेश्वर सोते हुए आलसी लोगों के (रत्नं) रमण योग्य धन को भी (नू चित् हि) बहुत शीघ्र (अविदत्) हर लेता है। और उत्तम परोपकारी पुरुषों को देता है और (द्रविणोदेषु) धनैश्वर्य के दाता पुरुषों के लिये (दुष्टुतिः) निन्दा वचन (न शस्यते) नहीं कहा जाता । राजा भी आलसी प्रमादियों का ही धन हरे, उत्तम कर्मण्य पुरुषों को प्रदान करे ।

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः ।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि॥२॥
ऋ० १ । ५३ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर ! तू (अश्वस्य दुरः) अश्वों के देने वाला (गोः दुरः) गौओं का दाता, (यवस्य) जौ आदि अन्नों का (दुरः) दाता और (वसुनः) धनऐश्वर्य का (इनः पतिः) स्वामी और शासक है। तू (शिक्षा नरः) समस्त मनुष्यों को उनका अभिमत पदार्थ देनेहारा (प्रदिवः) उत्कृष्ट व्यवहार वाला या उत्कृष्ट विजेता होकर भी (अकामकर्शनः) कभी कामना या आशा का विघातन करने वाला और (सखिभ्यः) मित्रों के लिये (सखा) सखा है। (तम्) उस तुझको हम (इदम्) इस प्रकार (गृणीमसि) स्तुति करते हैं।

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु ।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः॥३॥
ऋ० १ । ५३ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (शचीवः) प्रज्ञावन् या हे शक्तिमन् ! हे (पुरुकृत्) बहुतसे धनों जनों और लोकों के कर्त्ता ! हे (द्युमत्तम) सबसे अधिक धनशालिन् ! हमें तो (इदम्) यह सब (अभितः) सब ओर पसरा हुआ (वसु) ऐश्वर्य या बसा हुआ जगत् (तव इद्) तेरा ही (चिकेते) प्रतीत होता है । हे (अभिभूते) चारों ओर की भूति के स्वामिन् ! (अतः) इसलिये तू हमें (संगृभ्य) ऐश्वर्य संग्रह करके (आ भर) प्रदान कर । (त्वायतः) तुझको ही चाहने वाले (जरितुः) अपने स्तुति करने वाले विद्वान् पुरुष की (कामम्) आशा को (मा ऊनयीः) कम न होने दे । उसे निराश मत कर ।

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना ।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ॥४॥

ऋ० १ । ५३ । ४ ॥

भा०—(सुमनाः) उत्तम ज्ञानवान् और उत्तम चित्त वाला राजा (एभिः) इन (द्युभिः) तेजों से और (एभिः) इन (इन्दुभिः) धनादि ऐश्वर्यों से (गोभिः) गौ आदि पशुओं से और (अश्विना) अश्व वाले सैन्य से (अमतिम्) दारिद्र्य को और अदम्य शत्रु को और अज्ञान को (निरुन्धानः) रोकता हुआ रह । और हम लोग (इन्द्रेण) इस ऐश्वर्य वाला राजा और (इन्दुभिः) युद्ध में द्रुतगति से जाने वाले वीर पुरुषों के द्वारा (दस्युं दरयन्तः) दस्यु को भयभीत करते हुए परस्पर (युतद्वेषासः) सब द्वेषों से रहित होकर (इषा) अन्न, बल और ज्ञान से (सम् रभेमहि) एकत्र होकर रहें ।

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥५॥

ऋ० १ । ५३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! परमेश्वर ! हम (राया) धन से (सम् रभेमहि) युक्त हों । (इषा) अन्न और बल से (सं रभेमहि) युक्त हों । (पुरुचन्द्रैः) बहुत आल्हादक पदार्थों से युक्त, (अभिद्युभिः) सर्वत्र कान्तियुक्त, (वाजैः) बलों और ऐश्वर्यों से (सं रभेमहि) युक्त हों । (वीर-शुष्मया) वीर सैनिकों के बलवाली (गो-अग्रया) गौ आदि पशुओं को मुख्य धन रूप से या उद्देश्य रूप से रखने वाली, (अश्वावत्या) घोड़ों से युक्त, (देव्या) विजयशील (प्रमत्या) शत्रुओं का अच्छी प्रकार स्तम्भन करने में समर्थ सेना से (सं रभेमहि) युक्त हों । अथवा-(देव्या प्रमत्या) उत्कृष्ट मतिरूप देवी, सात्विक व्यवहार बुद्धि से युक्त हो जो (वीरशुष्मया) प्राणों के बल से बलवती, (गो-अग्रया) वाणी या ज्ञानेन्द्रियों को मुख्य रखने वाली और (अश्वावत्या) कर्मेन्द्रियों के बल से भी युक्त हों । अथवा-(प्रमत्या देव्या) उत्कृष्ट ज्ञानवाली देवी, विद्वानों की परिष्पत् या राजशक्ति या स्त्री से युक्त हों ।

ते त्वा मदा॑ अमदुन् तानि॒ वृष्ण्या॒ ते सोमा॑सो वृत्र॒हत्ये॑षु सत्पते ।
यत् का॒रवे॒ दश॑ वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ब॒र्हिष्म॑ते॒ नि स॒हस्रा॑णि ब॒र्हयः॑ ॥६॥

ऋ० १ । ५३ । ६ ॥

भा०— हे (सत्-पते) सज्जनों के पालक ! हे इन्द्र ! (ते मदाः) वे नाना हर्षकारी, उत्साही वीर, और (तानि वृष्ण्या) वे नाना बल और (ते सोमासः) वे नाना ऐश्वर्य, या वे नाना विद्वानगण (त्वा) तुझे (अमदन्) हर्षित उत्साहित करें । (यत्) जिससे तू (बर्हिष्मते) वृद्धिशील, राष्ट्र के स्वामी (कारवे) क्रियाशील विद्वान् राजकर्त्ता के आगे आने वाले (दश सहस्राणि वृत्राणि) दस हज़ार, हज़ारों, विघ्नों और विघ्नकारियों के सैन्यों को भी (अप्रति) विना रुकावट के (नि बर्हयः) विनाश करने में समर्थ हों ।

युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा ।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ॥७॥
ऋ० १ ५३ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! तू (धृष्णुया) शत्रु को धर्षण या पराजय करने में समर्थ (युधा) अपने प्रहार शक्ति से (युधन्) शत्रु के प्रहार साधन को (घ) ही (उप एषि) प्राप्त होता है । उसको सहता और वश करता है । और (धृष्णुया) शत्रु को विजय करने में समर्थ (पुरा) अपने गढ़ से और (ओजसा) बड़े बल, पराक्रम द्वारा (इदम्) सामने स्थित इस (पुरं) शत्रु के गढ़ को (सं हंसि) अच्छी प्रकार नाश करता है । अर्थात् नगरकोट में स्थित वीर सैनिकों द्वारा शत्रु के गढ़ में स्थित सैनिकों को मार देता है । और (परावति) दूर देश में भी (यद्) और जो हे (इन्द्र) सेनापते ! (नम्या सख्या) शत्रु को दबा देने में समर्थ और अपने समक्ष विनीत, मित्रभूत राजा द्वारा (नमुचिं नाम मायिनम्) नमुचि, कभी जीता न छोड़ने योग्य मायावी शत्रु को (निबर्हय) तू सर्वथा नाश कर देता है ।

ईश्वर पक्ष में—(युधा) अपने योग करने हारे गुण से, (युधम्) योग द्वारा प्राप्त पुरुष को तु प्राप्त होता है । अपने (पुरा) पूरण पालन करने वाले सामर्थ्य से (पुरम्) देह रूप पुर को और समस्त ब्रह्माण्ड को (ओजसा) महान् शक्ति से (संहंसि) व्यापते हो, (परावति) परम रक्षा स्थान में (नम्या सख्या) अपने विनीत मित्र जीव के साथ रहकर (मायिनम् नमुचिम्) जगत् प्रपञ्च के निर्माण करने वाली तामस प्रकृति से बद्ध (नमुचिं) कभी मुक्त न होने वाले जीव को (निबर्हय) मुक्त करते हो ।

त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत् पुरोनानुदः परिपूता ऋजिश्वना ॥८॥
ऋ० १ । ५३ । ८ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (त्वम्) तू (अतिथिग्वस्य) अतिथि, पूज्य पुरुषों के प्रति गौ, भूमि आदि प्रदान करने वाले उत्तम सज्जन पुरुष के (वर्तनी) मार्ग में बाधक होने वाले (करञ्जम्) कुत्सित स्वभाव वाले अथवा हिंसा व्यसनी, (उत) और (पर्णयम्) पर्ण अर्थात् गतिशील रथों से, प्रयाण करने वाले शत्रु को भी (तेजिष्ठया) अपनी अति तेजस्विनी शक्ति से (वधीः) विनाश कर। (त्वम्) तू (वंगृदस्य) जाने के मार्गों या मर्यादाओं के विनाशक शत्रु के (शता पुरः) सैकड़ों गढ़ों को (अभिनत्) तोड़। (ऋजिश्वना) ऋजु, सरल मार्ग से जाने वाले धर्मात्मा पुरुष द्वारा (परिषूताः) घेरे हुए (अनानुदः) कर प्रदान न करने वाले शत्रु के (शता) सैकड़ों (पुरः) गढ़ों को (अभिनत्) तोड़।

त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥९॥

भा०—हे सेनापते ! इन्द्र ! त्वम् (अबन्धुना) बन्धु और सहायक से रहित, (सुश्रवसा) उत्तम कीर्त्तिमान्, धर्मात्मा राजा के साथ (उपजग्मुषः) युद्ध में लड़ने वाले (द्विः दश) २० (जनराज्ञः) जनों या सैनिकों के राजाओं एवं (षष्टिं सहस्रा नवतिं नव) ६००९९ सैनिकों को भी (दुष्पदा) दुर्गम, असह्य (रथ्या चक्रेण) रथ योग्य चक्र से अथवा रथ के चक्र के समान बने चक्रव्यूह से (अवृणक्) वर्जन करने में समर्थ हो।

२० सेना नायकों के अधीन ६००९९ सैनिक चक्र व्यूह बनाते हैं।

त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम् ।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ॥१०॥
ऋ० १ । ५३ । १० ॥

भा०—हे इन्द्र ! (त्वम्) तू (तव ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (सुश्रवसम्) उत्तम कीर्त्ति और अन्न और ज्ञान से सम्पन्न पुरुष को

सदा (आविथ) रक्षा कर। और (तव त्रामभिः) तू अपने त्राण करने वाले सामर्थ्यों से (तूर्वयाणम्) शीघ्रकारी यानों के स्वामी अथवा शीघ्र शत्रु पर चढ़ाई करने वाले जन की भी रक्षा कर। (त्वम्) तू (अस्मै) इस (महे) बड़े भारी (यूने) युवा (राज्ञे) राजा के लिये उसके अधीन (कुत्सम्) निन्दनीय, बुरे और (अतिथिग्वम्) पूज्य पुरुषों के आदर करने हारे दोनों प्रकार के (आयुन्) पुरुषों को (अरन्धनायः) वश कर।

य उदृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥११॥
ऋ० १। ५३। ११॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (ये) जो हम (देवगोपाः) देव, तुझ राजा द्वारा परिपालित अथवा देवों, विद्वानों के समान वाणियों, इन्द्रियों और भूमियों के पालक स्वामी होकर (उदृचि) इस उत्तम भूलोक के विजय कर लेने पर (ते) तेरे (सखायः) मित्र होकर (शिवतमाः असाम) सबसे अधिक कल्याणकारी हों। हम (त्वां स्तोषाम) तेरी स्तुति करें और (त्वया) तेरे साथ हम भी (सुवीराः) उत्तम वीर लेकर (द्राघीयः) अति दीर्घ और (प्रतरम्) अति उत्कृष्ट सकल (आयुः) जीवन को (दधानाः) धारण करने वाले हों।

'उदृचि'—अयं लोक ऋग्वेदः।

॥ इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमः पर्यायः ॥

[२२] राजा के कर्त्तव्य।

१–३ त्रिशोकः काण्वः। ४–६ प्रियमेधः काण्वः। गायत्र्यः। षडृचं सूक्तम् ॥

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ४५ । २२ ॥

भा०—हे (वृषभ) बलवन् ! मेघ के समान निष्पन्न होकर प्रजा पर सुखों के वर्षक ! (अभि सुते) अभिषिक्त हुए तुझको (सुतम्) निष्पादित सोम-रस के समान यह राष्ट्र का आनन्दप्रद ऐश्वर्य मैं (सृजामि) प्रदान करता हूं । तू (तृम्प) इसका उपभोग करके तृप्त हो । और (मदम्) हर्षकारी अन्न के समान इसका (वि अश्नुहि) विविध प्रकारों से भोग कर ।

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४५ । २३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र राजन् ! (त्वा) तुझको (मूराः) मूढ लोग (अविष्यवः) अपनी रक्षा चाहने वाले, या तेरे अधीन स्वयं रक्षा चाहने का बहाना बनाने वाले (मा दभन्) विनाश न करें । और इसी प्रकार (उपहस्वानः) तेरे उपहास करने वाले भी तुझे (मा दभन्) विनाश न करें । और (ब्रह्मद्विषः) ब्रह्म, वेद के और वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मणों के द्वेषी लोग भी तुझे तेरे ऐश्वर्य का (मा वनः) भोग न करें ।

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे ।
सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ४५ । २४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (इह) इस राष्ट्र में (गोपरीणसा) गो दुग्ध से मिश्रित, सोम के समान पृथिवी के ऐश्वर्यों सहित, अन्य ऐश्वर्य से (महे राधसे) बड़े भारी धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझको प्रजा-जन (मन्दन्तु) प्रसन्न और तृप्त करें । (यथा) जिस प्रकार (गौरः) गौर नामक प्यासा मृग (सरः पिबति) तालाब पर पानी पीता है उसी प्रकार तू इस राष्ट्र के ऐश्वर्य रस का (पिब) पान कर, भोग कर ।

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे।

सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥ ऋ० ८। ५८। ४॥

भा०—हे पुरुष! तू (गिरा) अपनी वाणी से (गोपतिम् इन्द्रम्) पृथ्वी के पालक, (सत्यस्य सूनुम्) सत्य व्यवहार के उत्पादक और (सत्पतिम्) सज्जनों के पालक, (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा की ऐसी (अभि अर्च) स्तुति कर (यथा) जिस प्रकार (विदे) वह सर्वत्र जाना जाय अथवा जिस प्रकार वह स्वयं विद्यमान है।

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि।

यत्राभि संनवामहे ॥ ५ ॥ ऋ० ८। ५८। ५॥

भा०—यत्र, जिस (बर्हिषि) महान्, वृद्धिशील राष्ट्र के उच्च राजपद पर हम तेरी (अभि सं नवामहे) सब प्रकार से स्तुति करते हैं उसी पद पर (अरुषीः) लालवर्ण, तेजोमय (हरयः) किरणें जिस प्रकार सूर्य के साथ संगत हैं उसी प्रकार (अधि ससृज्रिरे) वेगवान् अश्वारोहीगण तुझसे सुसंगत हों। अथवा-(अरुषीः) विद्या से रोचमान (हरयः) विद्वान् ज्ञानी पुरुष तुझे (ससृज्रिरे) धारण करते और सर्जन करते या मुखिया बनाते हैं।

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु।

यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ६ ॥ ऋ० ८। ५८। ६॥

भा०—(गावः आशिरम्) गौवें जिस प्रकार स्वामी के लिये दूध उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार (वज्रिणे) वज्रधारी, बलवान् (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् इन्द्र राजा के लिये (गावः) भूमियें (मधु) अन्न (दुदुह्रे) उत्पन्न करती हैं। और (इन्द्राय) विभूतिमान् ज्ञानी जीव के लिये (गावः) वेदवाणियें (आशिरम्) आत्मा के आश्रय देने वाले (मधु) ज्ञानरस का दोहन करती हैं। (यत्) जिसके (सीम्) वह (उपह्वरे) समीप ही (विदत्) प्राप्त होता है।

[२३] राजा के कर्त्तव्य ।

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । नवर्चं सूक्तम् ॥

आ तू न इन्द्र मद्र्यंग्घुवानः सोमंपीतये ।
हरिभ्यां याह्यद्रिवः ॥ १ ॥ ऋ० ३ । १ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! हे (अद्रिवः) वज्रवन् ! (हुवानः) स्मरण किया हुआ, प्रजा द्वारा बुलाया गया (मद्यक्) मेरे सम्मुख होकर (नः) हमारे (सोमपीतये) राष्ट्र ऐश्वर्य के भोग के लिये (हरिभ्याम्) वेगवान् घोड़ों से, हरणशील उत्साह और पराक्रम से (आयाहि) हमें प्राप्त हों ।

सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक् ।
अयुञ्जन् प्रातरद्रयः ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (ऋत्वियः) ऋतु, विशेष काल में यज्ञ करने वाला (होता न) होता, आहुति देने वाला विद्वान् पुरुष जिस प्रकार आसन पर बैठता है उसी प्रकार तू भी (सत्तः) अपने राज्यासन पर यथावसर विराजमान हो । (बर्हिः) वेदि पर, आसन पर (आनुषक्) जिस राज्यासन या राज्य की प्रजा (तिस्तिरे) विस्तृत हो । (प्रातः) प्रातःकाल सोम-सवन के लिये जिस प्रकार (अद्रयः) पाषाण रक्खे हों उसी प्रकार (अद्रयः) न दीर्ण होने वाले वीर क्षत्रिय (अयुञ्जन्) तेरे ही सदा साथ रहें ।

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद ।
वीहि शूर पुरोलाशम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (ब्रह्मवाहः) ब्रह्म-वेद के विद्वान् ब्राह्मणों के ज्ञान-बल से वहन, धारण करने योग्य क्षत्रिय ! तेरे लिये (इमा ब्रह्म) ये वेदानुकूल नाना कर्म (क्रियन्ते) किये जाते हैं । तू (बर्हिः आ सीद) उच्च आसन

पर विराजमान हो। हे (शूर) शूरवीर ! तू (पुरोलासम्) समक्ष स्थित राष्ट्र रूप 'पुरोडाश' आदरपूर्वक पुरस्कृत ऐश्वर्य को (वीहि) उपभोग कर।

ररान्धि सवनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन्।
उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ ४ ॥

भा०—हे (गिर्वणः) समस्त वेदवाणियों द्वारा स्तुति योग्य प्रभो ! अथवा उनके सेवन करने हारे विद्वन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (वृत्रहन्) शत्रु और विघ्नों के विनाशक ! तू परमपूजनीय (नः) हमारे (एषु) इन (सवनेषु) कर्मों में और (स्तोमेषु) ज्ञानों और स्तुतियों में (ररान्धि) रमण कर।

मृतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम्।
इन्द्रं वृत्सं न मातरः ॥ ५ ॥

भा०—(मातरः) गोमाताएं (वत्सं न) जिस प्रकार अपने बछड़े को (रिहन्ति) चाटती हैं, (मतयः) मननशील पुरुष और उनकी मतियें उनकी की हुई स्तुतियें और ज्ञान-धाराएं उसी प्रकार (उरुम्) उस महान् (शवसस्पतिम्) समस्त बल के पालक स्वामी, सर्वशक्तिमान् (सोमपाम्) समस्त ऐश्वर्यमय जगत्, या परम आनन्द के पालक एक भोक्ता को (रिहन्ति) स्पर्श करती हैं, उसी को अपना लक्ष्य करती हैं, उसी का वर्णन करती हैं, उसी तक पहुंचती हैं।

राजा के पक्ष में—समस्त (मतयः) मतिशील पुरुष भी गायें बछड़ों के समान बलशाली राष्ट्रपति बलवान् राजा को ही छूते, उसी के ऐश्वर्य का भोग करते हैं।

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा मुहे।
न स्तोतारं निदे करः ॥ ६ ॥

भा०—(सः) वह तू (हि) निश्चय से (महे) बड़े भारी (अन्धसः) अन्न के और जीवनोपयोगी भोग्य पदार्थों को (तन्वा) शरीर द्वारा

(राधसे) लाभ करने के लिये (मन्दस्व) सदा तृप्त रह । तू (स्तोतारम्) यथार्थ गुणों के उपदेष्टा ज्ञान प्रवक्ता विद्वान् को (निदे) लोक-निन्दा का पात्र (न करः) कभी न बनने दे । राजा विद्वानों पर होने वाले भूख आदि पीड़ा और जन-समाज के रूढीकृत अनादर का पात्र न होने दे ।

ईश्वरपक्ष में—परमात्मा हम पर प्रसन्न हो, हमें शरीर से अन्नादि लाभ करावे । अपने स्तुतिकर्ता को निन्दा से बचावे ।

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे ।
उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! एवं राजन् ! (वयं त्वायवः) हम तुझे चाहते हुए (हविष्मन्तः) ज्ञान एवं अन्नों से समृद्ध होकर तेरी (जरामहे) स्तुति करते हैं । प्रार्थना करते हैं (उत) और हे (वसो) सब में व्यापक और सबको बसानेहारे ! (त्वम्) तू (अस्मयुः) हमें चाहने वाला है, तू हमें प्रेम कर । तू भक्तन का भक्त तिहारे ।

मारे अस्मद् वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ् याहि ।
इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ॥ ८ ॥

भा०—हे (हरिप्रिय) हरणशील, ज्ञानशील पुरुषों के प्रिय ! तू (अर्वाङ् याहि) साक्षात् दर्शन दे, हमारे सम्मुख हमें प्राप्त हो । (अरे) हे परमेश्वर प्रभो ! (अस्मद्) हमसे तू (मा विमुमुचः) कभी न छूट, कभी अपने को दूर न कर । हे (स्वधावः) स्वधा=शरीरों को धारण करने वाले समष्टिचैतन्य के स्वामिन् ! प्रभो एवं अन्न और बलके स्वामिन् ! अथवा स्वयं निरपेक्ष होकर समस्त संसार के धारण पोषण करने की शक्ति वाले अद्वितीय ! तू (इह) हमारे इस हृदय-मन्दिर में एवं राष्ट्र में राजा के समान (मन्दस्व) आनन्द युक्त हो ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तू (बर्हिष्ठाम्) वृहत् राष्ट्र में या प्रजाओं में स्थित (तम्) उस अपूर्व, (मदम्) तृप्तिकारक, सब इच्छाओं के पूर्ण करने वाले, (ग्रावभिः) ज्ञानोपदेशक विद्वानों अथवा वज्र या शस्त्रों के धारण करने वाले वीर सैनिकों या प्रजाओं द्वारा (सुतम्) उत्पादित, प्राप्त किये राष्ट्र को (आगहि) प्राप्त कर । (अस्य) इस द्वारा तू (कुवित् नु) बहुत अधिक (तृप्णवः) तृप्त होने में समर्थ है । अथवा (अस्य कुवित् नु तृप्णवः) इससे बहुत अधिक लोग तृप्त होते हैं ।

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः ।
आवृते सोमपीतये ॥ ३ ॥

भा०—(इत्थाः) सत्यस्वरूप (मम गिरः) मेरी वाणियां (इतः) इधर प्रजा की ओर से (इषिताः) प्रेरित होकर (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (सोमपीतये) ऐश्वर्य को प्राप्त करने और उपभोग करने के लिये (आवृते) उसको सब प्रकार से प्राप्त करने और रक्षा करने के निमित्त अर्थात् प्रजाएं स्वयं राजा को राष्ट्र की रक्षा और उपभोग के लिये (अच्छ अगुः) भली प्रकार प्राप्त होती हैं, निमन्त्रित करती हैं ।

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे ।
उक्थेभिः कुविदागमत् ॥ ४ ॥

भा०—(सोमस्य पीतये) सोम-राष्ट्र या अन्न आदि ऐश्वर्य के पान या पालन और उपभोग के लिये (स्तोमेभिः) स्तुति योग्य आदर-वचनों से हम (इह) यहां अपने घरों पर (हवामहे) बुलाते हैं, (उक्थेभिः) उत्तम उपदेशों से ही वह हमें (कुवित्) बहुत बार (आगमत्) प्राप्त हो ।

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान् दधिष्व शतक्रतो ।
जठरे वाजिनीवसो ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (इमे) ये नाना प्रकार के (सोमाः) ऐश्वर्य तेरे लिये (सुताः) उत्पन्न किये हैं। हे (शतक्रतो) सैकड़ों शक्तियों और प्रजाओं से युक्त ! हे (वाजिनीवसो) संग्रामकारिणी सेना को बसाने वाले ! तू उसके (जठरे) पेट में अन्न के समान उपभोग पूर्वक अपने वश में (दधिष्व) धारण कर।

विद्म हि त्वां धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे।

अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ६ ॥

भा०—हे इन्द्र राजन् ! हम (त्वा) तुझको (वाजेषु) संग्रामों में (धनं-जयम्) शत्रु के धन को जीतने हारा और (दधृषं) शत्रु को परास्त करने हारा (हि) ही (विद्म) जानते हैं। हे (कवे) क्रान्त प्रज्ञ ! दीर्घदर्शिन् ! (अधा) और (ते) तेरे लिये (सुम्नम्) सुख शान्ति की (ईमहे) प्रार्थना करते हैं। अथवा (अधा) और (ते) तेरे (सुम्नम्) सुखकारी ऐश्वर्य को हम भी (ईमहे) चाहते हैं।

इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब।

आगत्या वृषभिः सुतम् ॥ ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! नु (नः) हमारे (गवाशिरम्) गो, पृथ्वी और गौ आदि पशुओं के आश्रय पर प्राप्त होने वाले और (यवाशिरम्) यवादि अन्न और शत्रुओं के नाशक सेना बलों के आश्रय पर विद्यमान (सुतम्) ऐश्वर्यमय राष्ट्र को (वृषभिः) बलवान् पुरुषों सहित (आगत्य) आकर (पिब) उपभोग कर।

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्येः सोमं चोदामि पीतये।

एष रारन्तु ते हृदि ॥ ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! (स्वे ओक्ये) तेरे अपने ही निवास स्थान में (तुभ्य इत्) तेरे ही लिये हम (पीतये) पान करने, या उप-

भोग करने या स्वीकार करने के लिये (सोमं चोदामि) समस्त राष्ट्र को तुझे अर्पण करता हूं । (एषः) वह (ते) तेरे (हृदि) हृदय में पिये शीतल जल के समान (शरन्तु) तुझे तृप्त करे ।

त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे ।
कुशिकासो अवस्यवः ॥ ६ ॥

भा०—(सुतस्य पीतये) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने के लिये (त्वां प्रत्नम्) पुरातन, पूजनीय तुझको हम (अवस्यवः) अपनी रक्षा के इच्छुक (कुशिकासः) धनों के स्वामी, सर्दार लोग (हवामहे) बुलाते हैं ।

'कुशिकासः'—कुशिको राजा बभूव। क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वास्यात् प्रकाशयति कर्मणः । साधु विक्रोशयिताऽर्थानाम् इति वा । निरु० २ ।२५॥ वाग्मी, ऐश्वर्यवान् धनी, और तेजस्वी ज्ञानी पुरुष 'कुशिक' कहाते हैं ।

[२५] राजा का कर्त्तव्य।

१–६ गोतमो राहूगण ऋषिः । ७ अष्टको वैश्वामित्रः। १–६ जगत्यः । ७ त्रिष्टुप् षड्ऋचं सूक्तम् ॥

अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः ।
तमित् पृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः ॥ १
ऋ० १ । ८३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (तव ऊतिभिः) तेरी रक्षाओं से, तेरे प्रस्तुत किये रक्षा साधनों से (सु-प्रावीः) स्वयं भी उत्तम रीति से समस्त उत्कृष्ट पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ होकर (मर्त्यः) मनुष्य (अश्वावति) घोड़ों से युक्त संग्राम में (प्रथमः) सबसे प्रथम अग्रगण्य होजाता है, और (गोषु) गौ आदि पशुओं पर भी वह (प्रथमः) उत्कृष्ट स्वामी हो जाता है । (विचेतसः) विविध ज्ञानों से युक्त पुरुष (त्वा अभितः)

तुझे ही इस प्रकार प्राप्त होते हैं (यथा) जैसे (आपः) जलधाराएं (सिन्धुम्) समुद्र को प्राप्त होती हैं । तू (तम् इव) उस पुरुष को ही (भवीयसा वसुना) प्रभूत धनैश्वर्यसे (पृणक्ति) संयुक्त करता है जो तेरी शरण आता है ।

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः ।
प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वरा इव ॥२॥
ऋ० १ । ८३ । २ ॥

भा०—(देवीः आपः) देव अर्थात् मेघ से उत्पन्न जल जिस प्रकार नीचे प्रदेश की ओर आपसे आप बह आते हैं इसी प्रकार (होत्रियम्) सबको अपने अधीन लेने में समर्थ, एवं सबको रक्षा देने में समर्थ तुझको (देवीः आपः) दानशील, दर्शनशील आप्त प्रजाएं (उपयन्ति) प्राप्त होते हैं । और (यथा रजः) जैसे आकाश में फैली धूलि को या जिस प्रकार आकाश में सूर्य के फैले प्रकाश को लोग देखते हैं उसी प्रकार लोग तेरी (विततं अवः) विस्तृत रक्षण सामर्थ्य को भी (पश्यन्ति) देखते हैं । (देवासः) विद्वान् वीर पुरुष (देवयुम्) विद्वानों के प्यारे तुझको (प्राचैः) उत्कृष्ट पदपर (प्रणयन्ति) प्राप्त कराते हैं । (वरा इव) वर के सम्बन्धी जिस प्रकार अपने प्रिय वर को प्रीति से देखते हैं इसी प्रकार (ब्रह्मप्रियम्) वेद और वेदज्ञ विद्वानों के प्यारे तुझको (वराः) समस्त श्रेष्ठ पुरुष (जोषयन्ते) प्रेम से चाहते हैं ।

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः ।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते ॥३

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! परमेश्वर ! (यतस्रुचा) वीर्य की रक्षा करने वाले अथवा अपने प्राणों की रक्षा करने वाले, (या) जो (मिथुना) स्त्री पुरुष तेरी (सपर्यतः) पूजा सत्कार करते हैं तू (द्वयोः अधि) उन दोनें

को (उक्थ्यम्) उपदेश करने योग्य ज्ञानमय (वचः) आज्ञा-वचन (अद्धाः) प्रदान करता है । (ते व्रते) तेरे नियम व्यवस्था में (असंयत्तः) नियम से न रहने वाला, अजितेन्द्रिय पुरुष (वेति) विनाश को प्राप्त होता है । (सुन्वते यजमानाय) तेरी आज्ञा पालन करने वाले, तेरे प्रति कर-प्रदान या मनोयोग देने वाले या तेरी उपासना, पूजा करने वाले पुरुष की (भद्रा) सुखदायिनी कल्याणी (शक्तिः) शक्ति (पुष्यति) पुष्ट होती है ।

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया ।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ॥४॥

भा०—मनुष्य जिस प्रकार (शम्या) शमी वृक्ष की लकड़ी से (इद्धाग्नयः) अग्नि प्रदीप्त करते हैं उसी प्रकार (ये) जो (सुकृत्यया) अपनी उत्तम धर्मानुकूल क्रिया या आचरण द्वारा (इद्धाग्नयः) अपने अग्निहोत्र आदि की अग्नियों और नेताओं को प्रज्वलित करते हैं वे (अंगिराः) ज्ञानवान् पुरुष (प्रथमम्) सबसे उत्कृष्ट (वयः) अन्न ज्ञान और बल को (दधिरे) धारण करते हैं । वेही लोग (पणेः) व्यवहारशील लोगों के लिये (सर्वं भोजनम्) समस्त भोगों को (सम् अविन्दन्त) प्राप्त करते हैं वे (नरः) पुरुष ही (अश्वावन्तं गोमन्तं पशुम्) घोड़ों और गौओं से समृद्ध पशु धन को भी (सम् अविन्दन्त) प्राप्त करते हैं ।

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥५॥

भा०—(अथर्वा) प्रजाओं का अहिंसक, पालक, प्रजापति, राजा (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ होकर (यज्ञैः) परस्पर संगतिकारक, श्रेष्ठ उपायों से (पथः) नाना उत्तम मार्गों को (तते) विस्तृत करता है । (ततः) तब वह (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी (व्रतपाः) समस्त उत्तम

नियमों का पालक (वेनः) कान्तिमान् (आ अजनि) होजाता है। (उशनाः) वही कान्तिमान् (काव्यः) क्रान्तदर्शी ज्ञानी (गाः) गौओं के समान गोपाल के नाईं रश्मियों को सूर्य के समान, वाणियों को कवि के समान, स्त्रियों को अभिलषित युवा के समान वह (गाः) गन्तव्य या प्राप्त होने वाली प्रजाओं को (आ आजत्) उत्तम मार्ग पर चलाता है। और तभी (यमस्य) उस नियन्ता राजा के (जातम्) उत्पन्न हुए (अमृतम्) अमृत स्वरूप राष्ट्र सुख को (सचा) हम सब एक साथ ही या अन्न को (यजामहे) प्राप्त करें।

बर्हिर्वा यत् स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यस्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति॥८

भा०—(यत्) जिस राज्य में, जिस देश में (बर्हिः वा) धान्य (स्वपत्याय) उत्तम सन्तानों की पुष्टि के लिये (वृज्यते) प्रदान किया जाता है (वा) और जहां (अर्कः) अर्चना करने वाला या पूज्य विद्वान् (दिवि) प्रतिदिन, या ज्ञानप्रकाश के लिये (श्लोक) वेदवाणी का (आघोषते) पाठ या प्रचार करता है, (यत्र) और जिस स्थान पर (कारुः) क्रियावान् (उक्थ्यः) वेदों के सूक्त जानने हारा (ग्रावा) ज्ञानोपदेशक विवेकी पुरुष (वदति) धर्म का निर्णय करता है (तस्य इत्) उसके ही (अभिपित्वेषु) प्राप्त करने के प्रयत्नों में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष भी (रण्यति) सुखी होता है, या रण आदि करता है।

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः॥७॥

भा०—(वृष्णः) समस्त सुखों के वर्षक और बलवान् इन्द्र की (उग्राम्) उग्र, मदप्रदायिनी (पीतिम्) आदानशक्ति और पालन शक्ति से, हे (हर्यश्व) वेगवान् घोड़े से युक्त राजन्! तुमको (सुतस्य प्रयै)

सुसम्पन्न राष्ट्र के प्राप्त करने के लिये (प्र इयर्मि) भली प्रकार प्रेरणा करता हूं। हे (इन्द्र) इन्द्र! राजन्! तू (इह) यहां, इस राष्ट्र में (धेनाभिः) परम सुखपूर्वक पान करने योग्य या सबको रस देने वाली गौओं से, वेदवाणियों से और (विश्वाभिः धीभिः) समस्त कार्य और बुद्धियों से और (शच्या) महती शक्ति के द्वारा (गृणानः) सबको सत्योपदेश देने हारा होकर तू (मादयस्व) सबको तृप्त एवं प्रसन्न कर।

॥ इति तृतीयोऽनुवाके द्वितीयः पर्यायः ॥

[२६] राजा और ईश्वर का वर्णन

१–३ शुनःशेपः ४–६ मधुच्छन्दाः ऋषिः। इन्द्रो देवता। १६ गायत्र्यः। षडृचं सूक्तम् ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ १ ॥

भा०—(योगे योगे) प्रत्येक संग्राम में (तवस्तरम्) अति बलवान् और (वाजे वाजे) प्रत्येक बल के कार्यों में हम (सखायः) मित्र राजागण (ऊतये) रक्षा के लिये (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् महान् राजा को (हवामहे) पुकारते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—(योगे योगे) प्रत्येक योग समाधि में और (वाजे वाजे) प्रत्येक ज्ञानकर्म में हम अपनी रक्षा के लिये परमात्मा की प्रार्थना करें।

आ घा गमद् यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः।
वाजेभिरुप नो हवम् ॥ २ ॥

भा०—वह इन्द्र, राजा (यदि श्रवत्) यदि हमारी प्रार्थना सुनले तो (घ) वह निश्चय से अवश्य (सहस्रिणीभिः) सहस्रों पुरुषों को

अपने साथ लाने वाली (ऊतिभिः) रक्षाकारी सेनाओं के साथ (आगमत्) आ जाय। और (वाजेभिः) अपने समस्त वीर्यों और अन्नों सहित (नः) हमारे (हवम्) यज्ञ या संग्राम के स्थल में (उप आगमत्) प्राप्त हो।

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्।
यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥ ३॥

भा०—(प्रत्नस्य ओकसः) परम पुरातन, सदातन के स्थान भूप्रदेश पद के (नरम्) सेनानायक (तुविप्रतिम्) बहुतसे शत्रुओं के मुकाबला करने में समर्थ (यं) जिस (त्वा) तुझको (पिता) मेरा पालक पिता, आदि पूर्व पुरुष भी (हुवे) बुलाता रहा है उसी सेनापति को मैं भी (अनुहुवे) अपनी सहायता के लिये याद करता हूं।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ४॥

भा०—विद्वान् पुरुष (ब्रध्नम्) समस्त राष्ट्र को उत्तम व्यवस्था में बांधने वाला, (अरुषम्) अग्नि के समान देदीप्यमान्, (तस्थुषः) वृक्ष पर्वतादि स्थित पदार्थों के ऊपर (चरन्तम्) वायु के समान बलपूर्वक विचरण करने वाले पुरुष को राजपद पर (युञ्जन्ति) नियुक्त करते हैं। (दिवि) उसके विजयोद्योग एवं विजय कार्य या स्वर्ग के समान उत्तम राज्य में (रोचना) नक्षत्रों के समान तेजस्वी का प्रजागण (रोचन्ते) आनन्द प्रसन्नता पूर्वक निवास करते हैं।

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ५॥

भा०—विद्वान् लोग (अस्य) इसके (रथे) रमण करने योग्य राष्ट्र में रथ के समान (विपक्षसा) विविध पक्षों या मन्तव्यों को स्वी-

कार करने वाले (काम्या) कान्तिमान् तेजस्वी (हरी) उभयपक्ष के दो ऐसे प्रमुख नेता विद्वानों को (युञ्जन्ति) नियुक्त करें जो (शोणा) वेगवान्, तीव्र बुद्धिमान् (धृष्णू) पर-पक्ष को धर्षण करने में समर्थ और (नृवाहसा) अन्य विद्वान् पुरुषों को अपने पीछे चलाने में समर्थ हों । वे दोनों विवादों, विचारणीय विषयों का निर्णय करके राष्ट्र का संचालन करें । इसके अतिरिक्त युद्ध में दोनों बाजू पर दो प्रधान सेनानायकों को रथ में अश्वों के समान नियुक्त किया जाय जो दोनों बाजू के पक्षों (Wings) को संभालें ।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥ ६ ॥

भा०—हे (मर्याः) मनुष्यो ! (अकेतवे) अज्ञानी पुरुष को (केतुम् कृण्वन्) ज्ञान देता है और (अपेशसे) धनरहित पुरुष को (पेशः कृण्वन्) धन प्रदान करता है । हे इन्द्र ! (उषद्भिः) उषाकालों से प्रकाशित सूर्य के समान (उषद्भिः) दाह करने वाले शत्रुसंतापक वीर पुरुषों के साथ (सम् अजायथाः) परम शत्रु संतापक होकर प्रकट होता है ।

[२७] धनाढ्यों के प्रति राजा का कर्त्तव्य ।

गोषूक्त्यश्वसूक्तिना ऋषी । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । षड्‌चं सूक्तम् ॥

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (यथा त्वम्) तेरे समान (यत् इत्) जब जब भी (अहम्) मैं (वस्वः) ऐश्वर्य का (एक इत्) एक मात्र (ईशीय) स्वामी होऊं तब २ (गोसखा) समस्त पृथ्वी का मित्र अथवा ज्ञानवाणी का विद्वान् पुरुष ही (मे स्तोता स्यात्) मुझे उपदेश करने एवं यथार्थ प्रवचन करने वाला होवे ।

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥

भा०—(यद्) जब मैं (गोपतिः स्याम्) भूमियों और गौवों का स्वामी होजाऊं तो (अस्मै) मैं इस प्रत्यक्ष में मेरे पास आये (मनीषिणे) बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष को (शिक्षेयम्) इसकी इच्छानुसार धन दूं। और हे (शचीपते) शक्ति के स्वामिन्! (अस्मै दित्सेयम्) और इसको मैं भी धन देने की इच्छा करूं। और स्वयं धनाढ्य सम्पन्न होकर मनुष्य विद्वानों को दान करें और स्वयं भी दान देने की इच्छा करे।

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (सुन्वते यजमानाय) यज्ञ करने वाले दानशील एवं ईश्वरोपासना करने वाले पुरुष के लिये अथवा ज्ञान प्रदान करने वाले पुरुष के लिये (ते) तेरी (सूनृता) उत्तम, सत्यमयी वाणी ही (धेनुः) कामधेनु के समान (पिप्युषी) पुष्ट करनेहारी होकर (गाम् अश्वम्) नाना गौ, भूमि और अश्व आदि धन को भी (दुहे) प्रदान करती है।

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः।
यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (यत्) जो तू (स्तुतः) स्तुति किया जाकर (मघम्) ऐश्वर्य (दित्ससि) प्रदान करना चाहता है, अतः (ते) तेरे (राधसः) ऐश्वर्य का या कार्य साधन के उपाय का कोई (देवः) विद्वान् पुरुष या राजा योद्धा भी (वर्ता) बाधक (न) नहीं है और (न मर्त्यः) न कोई मनुष्य ही तेरा बाधक है।

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥५॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञ, परस्पर का संग या व्यवस्थित राष्ट्र (इन्द्रम्) इन्द्र को (अवर्धयत्) बढ़ाता है, (यद्) जब वह और (दिवि) ज्ञान-पूर्वक व्यवहार या राजसभा में (ओपशं) सब प्रकार से स्थिति (चक्राणः) करता हुआ (भूमिम्) भूमि को (वि-अवर्त्तयत्) विविध उपायों से काम में लाता है।

आधिभौतिक में—(यत्) जब (यज्ञः इन्द्रम् अवर्धयत्) यज्ञ इन्द्र की जलप्रद शक्ति की वृद्धि करता है (दिवि ओपशं) आकाश में विद्यमान मेघ को (चक्राणः) उत्पन्न करता हुआ उसको (भूमिं व्यवर्त्तयत्) भूमि पर डालता है।

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः ।
ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥६॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! (विश्वा) समस्त (धनानि) धनों को (जिग्युषः) विजय करनेहारे और (वावृधानस्य) नित्य वृद्धि-शील तेरी (ऊतिम्) रक्षा की हम (वृणीमहे) प्रार्थना, याचना करते हैं।

[२८] राजा का कर्त्तव्य ।

गोषूक्त्यश्वसूक्तिना वृषी । १, २ गायत्र्यौ । ३, ४ त्रिष्टुभौ । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

व्यान्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रः) तीव्र वायु (यत्) जब (वलम्) आकाश को घेरने वाले मेघ को (अभिनत्) छिन्न भिन्न करता है उस समय वह (रोचनम्) प्रकाशित (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भाग को (सोमस्य मदे)

सोम, सूर्य के बल से (वि अतिरत्) विस्तृत करता, बढ़ा देता है । उसी प्रकार (इन्द्रः) राजा (यद्) जब (वलम्) राष्ट्र को घेरने वाले शत्रु को (अभिनत्) तोड़ डालता है तब (सोमस्य) राष्ट्र के ऐश्वर्य के (मदे) बल से (रोचना अन्तरिक्षम्) रुचिकर, बीच में विद्यमान देश को भी (वि अतिरत्) विशेष रूप से विस्तृत कर देता है ।

उद्गा आ॑ज॒दङ्गि॑रोभ्य आ॒विष्कृ॒ण्वन् गुहा॑ स॒तीः ।
अ॒र्वाञ्चं॑ नुनुदे व॒लम् ॥ २ ॥

भा०—राजा इन्द्र (वलम्) राष्ट्र के घेरने वाले को (अर्वाञ्चं नुनुदे) नीचे गिरा देता है । (गुहाः सतीः) गुप्त स्थान में छुपी हुई (गाः आविः कृण्वन्) गौ और भूमियों को प्रकट करता हुआ (अंगिरोभ्यः) विद्वान्, तेजस्वी पुरुषों को (उत् आजत्) प्रदान करता है । परमेश्वर (वलम्) अन्तःकरण के आवरक तमस् को दूर करके (गुहा) हृदय गुहा में छुपी (गाः) ज्ञानरश्मियों या वेदवाणियों को (अंगिरोभ्यः) ज्ञानी पुरुषों के लिये (आविः कृण्वन्) प्रकट करता हुआ उनको प्रदान करता है । वायु मेघ को दूर करता है आकाश में फैली रश्मियों को प्रकट करके मनुष्यों के लिये प्रदान करता है ।

इन्द्रे॑ण रोच॒ना दि॒वो दृ॒ढानि॑ दृंहि॒तानि॑ च ।
स्थि॒राणि॒ न प॑रा॒णुदे॑ ॥३॥

भा०—(इन्द्रेण) इन्द्र परमेश्वर ने ही (दिवः) आकाश के (रोचना) कान्तिमान्, उज्वल पिण्ड, ग्रह, नक्षत्र आदि (दृढानि) दृढ रूप से (दृंहितानि) स्थिर कर दिये हैं । वे सब मानो (न पराणुदे) फिर कभी नष्ट भ्रष्ट न होने के लिये ही (स्थिराणि) स्थिर किये हुए हैं ।

राजा के पक्ष में—(दिवः रोचना) आनन्दप्रद, सुखकारी समृद्ध राष्ट्र के सभी दीप्ति युक्त नम्य स्थान राजा द्वारा (दृढानि दृंहितानि) दृढ़,

पक्के रूप से बनवाये जाते हैं। मानो उनको (न पराणुदे) न टूटने, फूटने के लिये स्थिर किया जाता है।

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।

वि ते मदा अराजिषुः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! (स्तोमः) तेरी स्तुतियों का समूह (अपाम् ऊर्मिः इव) समुद्र के तरङ्ग के समान (मदन् इव) मानो हर्ष से तरङ्गित सा होकर (अजिरायते) बड़े वेग से उमड़ा सा पड़ता है। (ते मदाः) तेरे आनन्द, प्रमोद और उत्साह के कार्य (वि अराजिषुः) विविधरूपों में विराजते दीख रहे हैं।

[२६]

ऋष्यादयः पूर्ववत् । गायत्र्यः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः ।

स्तोतॄणामुत भद्रकृत् ॥१॥ ऋ० ८ । १४ । ११

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! प्रभो ! (त्वं हि) तू निश्चय से (स्तोम-वर्धनः) प्रजा समूहों को बढ़ाने वाला, अथवा स्तुति समूहों से हृदय में वृद्धि को प्राप्त होने वाला है। और तू (उक्थवर्धनः असि) प्रशंसनीय गुणों को बढ़ाने वाला एवं उक्थ=वेद सूक्तों से जानने योग्य है। (उत) और (स्तोतॄणाम्) स्तुतिकर्त्ता एवं यथार्थ प्रवक्ता विद्वानों का (भद्रकृत्) कल्याणकारी भी है।

इन्द्रमित् केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः ।

उप यज्ञं सुराधसम् ॥२॥

भा०—(केशिना हरी) केशों वाले घोड़े (सुराधसम्) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त (यज्ञं उप) सुव्यवस्थित राष्ट्र को (सोमपेयाय) ऐश्वर्य के भोग प्राप्त कराने के लिये (इन्द्रम् इत्) इन्द्र को ही (उपवक्षतः) प्राप्त कराते हैं।

केशिना हरी—अध्यात्म में-प्राण और उदान । परमेश्वर पक्ष में सबीज, निर्बीज योग मार्ग । सोम-अध्यात्म में ब्रह्मानन्दरस । इन्द्र=जीव ।

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।

विश्वा यदजय स्पृधः ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! ऐश्वर्यवन् ! (यत्) जब (विश्वाः स्पृधः) समस्त शत्रु सेनाओं को (अजयः) विजय करो तब (नमुचेः शिरः) जीता न छोड़ने लायक या पीछा न छोड़ने वाले शत्रु के (शिरः) शिर या मुख्य या आश्रयस्थान को (अपाम् फेनेन) जलों के घनीभूत, एवं बलवान् ओघसे जैसे नमुचि अर्थात् जलों को मुक्त न होने देने वाले बांध का (शिरः) सिरा टूट जाता है उसी प्रकार उस शत्रु के (शिरः) मुख्य बल को (अपां फेनेन) प्रजाओं के समूहित संघ बल से या बढ़े हुए सेनाबल से (उद् उवर्त्तयः) उखाड़ दे । अध्यात्म में—नमुचिः पाप्मा । श० २ । ७ । ३ । ४ । अपां फेनः धियां कर्मणां च प्रवृद्धम् बलम् ।

फेनः-फेनमीनाविति उणादि निपातनम् । स्फायते वर्धते स फेनः । उणा० ३ । ३ ॥

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः ।

अव दस्यूँरधूनुथाः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! (मायाभिः) नाना निर्माण कौशलों से (उत्सिसृप्सतः) ऊपर आ चढ़ने की इच्छा करने वाले और (द्याम् आरुरुक्षतः) आकाश में चढ़ने वाले (दस्यून्) नाशकारी शत्रुओं को भी तू (मायाभिः) नाना विज्ञान कौशलों से (अव अधूनुथाः) नीचे गिरा डाल ।

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः ।

सोमपा उत्तरो भवन् ॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तू (सोमपाः) राष्ट्र का पालक (उत्तरः) शत्रु के बल से अधिक बलवान् (भवन्) होकर (अ-सुन्वाम्) कर प्रदान न करने वाली (संसदम्) संस्था को (विषूची) छिन्न भिन्न करके (वि अनाशयः) विनष्ट कर ।

[३०] राजा के कर्त्तव्य ।

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म् ।
घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिरः॑ ॥१॥

ऋ० १० । ७६ । १ ॥

भा०—(महे) बड़े भारी (विदथे) संग्राम के अवसर पर हे राजन् ! (ते हरी) तेरे हरणशील वेगवान् अश्वों की और उत्साह और पराक्रम की (प्रशंसिषम्) मैं प्रशंसा करूं । और (वनुषः) शत्रु के नाश-कारी (ते) तेरे (हर्यतं) कमनीय, सुन्दर (मदम्) आनन्द उत्सव का (प्रवन्वे) अच्छी प्रकार आनन्द लाभ करूं । (यः) जो (हरिभिः) ज्ञान-वान् पुरुषों के साथ आकर (घृतं न) मेघ जिस प्रकार तीव्र वायुओं सहित आकर जल बरसाता है उसी प्रकार जल के समान शान्तिप्रद एवं घृत के समान पुष्टिप्रद अन्न आदि (चारु) नाना सुन्दर भोग्य पदार्थ (आ सेचते) प्रदान करता है । (हरिवर्पसम्) हरिस्वरूप, सुन्दर कमनीय रूप शोभा से युक्त (त्वा) तुझे (गिरः) समस्त स्तुतियां (आ विशन्तु) प्राप्त हों ।

हरिं॒ हि योनि॑म॒भि ये स॒मस्व॑रन् हि॒न्वन्तो॒ हरी॑ दि॒व्यं यथा॒ सदः॑ ।
आ यं पृ॒णन्ति॒ हरि॑भि॒र्न धे॒नव॒ इन्द्रा॑य शू॒षं हरि॑वन्तमर्चत ॥२॥

भा०—(ये) जो विद्वान् (योनिम्) सबके आश्रयभूत (हरिम्) सबके दुःखों को हरण करने वाले या शत्रु को मार भगाने वाले, शूरवीर

को (दिव्यं सदः यथा) दिव्य आश्रय गृह के समान (हरी हिन्वन्तः) उसके अश्वों के समान उत्साह और बल को बढ़ाते हुए (सम् अस्वरन्) उसकी स्तुति करते हैं और (धेनवः) गौएं जिस प्रकार दुग्धों से अपने स्वामी को तृप्त करती हैं उसी प्रकार (यं) जिस इन्द्र को वे विद्वान् पुरुष (हरिभिः) मनोहर पदार्थों और वेगवान् सैनिकों से (आपृणन्ति) सब तरह पुष्ट और पालन करते हैं (इन्द्राय) इन्द्र राजा के उस (हरिवन्तम्) सैनिकों से युक्त (शूषम्) बलवान् शत्रुओं के शोषक बल को आप लोग भी (अर्चत) बढ़ाओ।

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः।
द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ॥३॥

भा०—(अस्य) इस इन्द्र, राजा का (यः) जो (आयसः) लोहे का बना हुआ (हरितः) नीला (वज्रः) खड्ग है (सः) वही (निकामः) सर्वथा मनोहर (हरिः) वह शत्रुओं के प्राणहर होने से 'हरि' कहे जाने योग्य है। तू भी हे इन्द्र (हरिः) शूरवीर, वेगवान् तू (गभस्त्योः) अपने हाथों में (आ) उसको लेता है। और इस राजा का (हरिमन्युसायकः) शत्रु के मद हरण करने वाला 'मन्यु' रूप बाण भी (द्युम्नी) अति तेजस्वी और (सुशिप्रः) उत्तम वेग वाला है। (इन्द्रे) इन्द्र के आश्रय ही (हरिता रूपा) शत्रु नाशक नाना पदार्थ भी (वि मिमिक्षिरे) सर्व प्रकार से बनाते हैं।

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद् वज्रो हरितो न रंह्या।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिम्भरः ॥४॥

भा०—(दिवि) आकाश में (केतुः न) ज्ञापक चिह्न, ध्वजा के समान वह (हर्यतः) सुन्दर, कान्तिमान राजा (अधि धायि) सबके ऊपर अधिष्ठाता रूप में स्थिर किया जाता है। (वज्रः) वज्र, वह खड्ग

(रंह्या) बड़े वेग से (हरितः न) सूर्य के समान (विव्यचत्) विविध दिशाओं में फैलाता है। (यः) जो (आयसः) लोहे का बना हुआ (हरि शिप्रः) इन्द्र का बल स्वरूप (अहिम्) सर्प के समान कुटिल पुरुष को (तुदद्) व्यथित करता हुआ (हरिम्भरः) हरणशील वीरपुरुष को पुष्ट करने वाला (सहस्रशोकाः) सहस्रों को संतापकारी एवं सहस्रों दीप्तियों से युक्त (अभवत्) होजाता है।

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्यमसामि राधो हरिजात हर्यतम् ॥५॥

भा०—हे (हरिकेश) रश्मि, रूप केशों से युक्त, सूर्य के समान तेजस्विन्! हे(इन्द्र) ऐश्वर्यवान्! राजन्!(पूर्वेभिः) पूर्व के (यज्वभिः) युद्ध यज्ञ के करने वाले शूरवीर एवं देवोपासक विद्वान् पुरुषों से (उपस्तुतः) स्तुति किया जाकर (त्वं त्वम्) तू ही तु (अहर्यथाः) सर्वत्र दिखाई देता है। (त्वं हर्यसि) तू सबको प्रीतिकर है। हे (हरिजात) वेगवान् वीर पुरुषों में भी सर्व प्रसिद्ध (विश्वम् उक्थम्) समस्त प्रशंसनीय (हर्यतम्) कान्तिमान् रुचिकर (असामि) सम्पूर्ण (राधः) ऐश्वर्य (तव) तेरा ही है।

ईश्वर पक्ष में—हे (हरिकेश) सूर्य के समान तेजस्विन्! पूर्व के विद्वानों से स्तुति किया जाकर तू ही तू सर्वत्र दिखाई देता है। यह समस्त ऐश्वर्य भी तेरा ही है।

[३१] राजा के कर्त्तव्य

वरुः सर्वहरिर्वैन्द्र ऋषिः। हरिस्तुतिर्देवता। जगत्यः। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

ता वज्रिणं मुन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे ॥१॥

ऋ० १० । ९६ । ६ । १० ॥

भा०—(ता) वे दोनों (हर्यता) कमनीय, कान्तियुक्त, उत्तम गुणवान् (हरी) हरणशील, अश्वों के समान नियुक्त, उत्साह और पराक्रम एवं दो प्रधान पुरुष (वज्रिणं) वज्र को धारण करने वाले (मन्दिनं) अति प्रसन्न एवं अन्यों को सन्तुष्ट रखने वाले (स्तोम्यं) स्तुतियोग्य (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (रथे) रथ के समान रमण साधन इस राष्ट्र में (मदे) आनन्द लाभ के लिये (वहतः) धारण करते हैं। (अस्मै) इस (हर्यते) कमनीय गुणों से युक्त (इन्द्राय) परमऐश्वर्य युक्त राजा को (सोमाः हरयः) सौम्य गुण वाले, उत्तम पुरुष, या अधीनस्थ माण्डलिक जन (पुरूणि) बहुत से (सवनानि) ऐश्वर्य (दधन्विरे) प्रदान करते हैं।

अध्यात्म में—हरयः प्राणाः। रथे देहे । सवनानि बलानि । हरी प्राणापानौ।

अरं कामा॑य॒ हर॑यो दधन्विरे स्थि॒राय॑ हिन्व॒न् हर॑यो॒ हरी॑ तु॒रा।
अर्व॑द्भि॒र्यो हरि॑भि॒र्जोष॒मीय॑ते॒ सो अ॑स्य॒ कामं॒ हरि॑वन्तमानशे॥२॥

ऋ० १० । ७६ । ७॥

भा०—(हरयः) वीर राजगण (कामाय) कमनीय राजा के लिये (अरं) अति अधिक, पर्याप्त (सवनानि दधन्विरे) ऐश्वर्यों को लाकर देते हैं। और (हरयः) वे वीर जन ही (स्थिराय) उस स्थिरता से विद्यमान सुदृढ़ सम्राट् के (तुरा हरी) वेगवान् अश्वों और उत्साह पराक्रम को भी (हिन्वन्) युद्ध में और भी उत्तेजित करते हैं। (यः) जो (अर्वद्भिः) अश्वों, घुड़ सवारों और (हरिभिः) वीर योद्धाओं से (जोषम्) तुष्टि को (ईयते) प्राप्त होता है। (सः) वह इन्द्र ही (अस्य) इस राष्ट्र के (हरिवन्तम्) वीर योद्धाओं से सुसज्जित, (कामम्) सुन्दर, अभिलाषा करने योग्य राजपद को (आनशे) भोग करता है।

अध्यात्म में–कामाय–जीवाय । जोपम्–परमानन्दः । हरिवन्तं कामम् प्राणयुक्तम् जीवात्मानम् । अर्वद्भिः–हरिभिः, ज्ञानवद्भिः विद्वद्भिः ।

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥३॥
ऋ० १० । ७६ । ८ ॥

भा०—(हरि श्मशारुः) पीत वर्ण की श्मश्रुओं और (हरिकेशः) दीप्तिमान केश या किरणों वाले सूर्य के समान तेजस्वी (आयसः) लोह या सुवर्ण का मानो बना हुआ, गौर कान्तनदेह अथवा परमऐश्वर्यवान्, (यः) जो (हरिपाः) वीर सैनिकों का पति होकर (तुरःपेये, वाजपेये) वेगवान साधनों से या हिंसाकारी प्रयोग, युद्ध द्वारा राष्ट्र के पालन कार्य में (अवर्धत) बड़ा शक्तिशाली होजाता है और वह (वाजिनीवसुः) बलवती सेनाओं को बसाने हारा, उनमें स्वयं बसने वाला, या सेनाओं को ही सर्वस्व मानने वाला (अर्वद्भिः) वेगवान् (हरिभिः) अश्वारोहियों या योद्धाओं द्वारा (हरी) अपने उत्साह और पराक्रम से (विश्वा दुरिता) समस्त दुर्गम विपत्तियों को (पारिषत्) पार कर जाता है ।

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः ।
प्र यत् कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः ॥४॥
ऋ० १० । ९६ । ९ ॥

भा०—(यस्य) जिसके (शिप्रे) शीघ्र गतिशील (हरिणी) दोनों बाजू की सेनाएं (वाजाय) संग्राम कार्य के लिये (स्रुवा इव) स्रवणशील दो धाराओं के समान या दो हाथों के समान या यज्ञ से स्रुवों के समान (विपेततुः) विशेष रूपसे या विविध प्रकारों से गति करती हैं और (हरिणी) वे दोनों सेनाएं (वाजाय दविध्वतः) संग्राम के लिये ही आगे बढ़ती हैं । (यत्) जब (कृते चमसे) अन्नादि से सजाए हुए पात्र या थाली में

(मदस्य) तृप्तिकारी (हर्यतः) मनोहर (अन्धसः) अन्न रस को (पीत्वा) पान करके जिस प्रकार पुरुष अपने (हरी मर्मृजत्) अपनी आंखों को स्वच्छ करता या आगे बढने वाले बाहुओं पर हाथ फेरता है और उसी प्रकार वह इन्द्र, सेनापति (मदस्य) तृप्तिकारी (हर्यतः) कान्तिमान् तेजोमय (अन्धसः) राष्ट्र को भोग कर (हरी मर्मृजत्) अपने उत्साह और पराक्रम को बलवान् करता है।

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्योरत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत्।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद् वयो दधिषे हर्यतश्चिदा॥५

भा०—(अत्यः वाजं न) जिस प्रकार अश्व संग्राम को जाता है उसी प्रकार (हरिवान्) वीर योद्धाओं से युक्त सेनापति (हर्यतस्य) कान्तिमान् राजा के और (पस्त्योः) स्त्री पुरुषों के (सद्म) आश्रय और शरण भूत राष्ट्र को (अचिक्रदत्) प्राप्त होता है। (ओजसा) पराक्रम से ही (मही धिषणा) बड़ी भारी सेना या भूमि (चित् हि) भी उसको (अहर्यत्) अपना स्वामी बनाना चाहती है। और हे पृथिवि! तू (हर्यतः चित्) उस कमनीय राजा के ही निमित्त (बृहत् वयः) बड़ी भारी अन्न आदि भोग्य सामग्री (दधिषे) प्रदान करती है।

[३२] परमेश्वर की स्तुति

बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः। हरिस्तुतिः। १ जगती। २, ३ त्रिष्टुभौ। तृचं सूक्तम्॥

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय॥ १॥

ऋ० १०। ९६। ११॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! परमेश्वर (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (रोदसी) आकाश और पृथिवी को (आ हर्यमाणः) व्यापता हुआ तू (नव्यं नव्यम्) सदा नये से नये (प्रियम्) अतिप्रियं (मन्म) मनन

करने योग्य गुण को (हर्यसि) प्रकट करता है। हे (असुर) शक्तिमान् बलवन् ! (सूर्याय) सूर्य के समान तेजस्वी (हरये) ज्ञानी पुरुष के लिये (गोः) वेदवाणी के (हर्यतं) कमनीय (पस्त्यम्) एकमात्र आश्रय ज्ञान के निधि को (आविः कृधि) प्रकट कर ।

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र ।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन् यज्ञं सधमादे दशोणिम् ॥२॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! (जनानां) जनों के बीच में से (प्रयुजः) उत्कृष्ट योग समाधि करने हारे योगीजन (हरिशिप्रम्) दुःखों के विनाशक ज्ञान से पूर्ण (हर्यन्तं) अति कमनीय (त्वा) तुझको (आवहन्तु) साक्षात् प्राप्त करें । हे प्रभो ! तू (प्रतिभृतस्य) साक्षात् भेट किये (मध्वः) मधु अमृत (यथा) के समान (हर्यन्) कामना करता हुआ (सधमादे) एक संग आनन्द लाभ करने के अवसर में (दशोणिम्) दशों इन्द्रिय या प्राणों से युक्त (यज्ञं) यज्ञ रूप आत्मा को (पिब) पानकर, स्वीकार कर अपना । अर्थात् जिस प्रकार पूज्य अतिथि प्रेम पूर्वक भेट किये मधुपर्क को खाता है उसी प्रकार वह परमेश्वर हमारे दश प्राणों से युक्त उसके समर्पित आत्मा को अपने आश्रय में लीन करे ।

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते ।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व ॥३॥

भा०—हे (हरिवः) हरणशील प्रलयकारिणी शक्तियों से सम्पन्न ! तू (पूर्वेषां सुतानाम्) पूर्व उत्पन्न किये समस्त जगतों को और पूर्व काल में ज्ञान सम्पन्न जीवात्माओं को भी (अपाः) अपनी शरण ले चुका है । अपने में प्रलीन कर चुका है । (इदं सवनं) यह इस प्रकार का (सवन) स्वीकार करना (ते केवलम्) केवल तुम्हें ही शोभा देता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (मधुमन्तं सोमम्) मधु, अमृत रस से युक्त (सोम) सोम

जीव को अमृत ब्रह्मानन्द रस वाले ब्रह्मवित् जीव को (ममद्धि) तू स्वीकार कर। (सत्रा) एक साथ ही (वृध) उस सुख के वर्धक, धर्म-मेघ रूप योगी आत्मा को (जठरे) अपने भीतर (आवृषस्व) जल के समान डाल ले।

[३३] राजा और परमेश्वर का वर्णन

अष्टको वैश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥१॥

ऋ० १० । १०४ । २ ॥

भा०—हे (हरिवः) हरणशील दुःखहारी साधनों या वीर पुरुषों से सम्पन्न ! (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! (अप्सु) प्रजाओं में (धूतस्य) प्राप्त और (नृभिः) मनुष्यों नेता पुरुषों द्वारा (सुतस्य) उत्पादित अन्न एवं राष्ट्रैश्वर्य को (इह) यहां रहकर (पिब) पानकर, भोगकर। (जठरं पृणस्व) अपने उदर को, कोष को भरले (यम्) जिस भोग्य ऐश्वर्य को (अद्रयः) मेघ के समान उदार जन (तुभ्यम् मिमिक्षुः) तुझे प्रदान करते हैं हे (उक्थवाहः) वेदाज्ञा के अनुसार ऐश्वर्यों को प्राप्त करने हारे धार्मिक राजन् ! (तेभिः) उन ऐश्वर्यों से (मदम्) अपने आनन्द तृप्ति को (वर्धस्व) बढ़ा, उनसे संतुष्ट हो।

परमात्मा पक्ष में—हे हरिवन् ! शक्तिमन् ! (नृभिः) योगिजनों से शुद्ध रूप से निष्पादित, (अप्सु धूतस्य) प्राणों के द्वारा योग साधनों से परिशोधित आत्मा को स्वीकार कर। (यम् अद्रयः मिमिक्षुः) जिसको धर्म मेघ सिद्ध साधक आनन्द रसों से सेचन करते हैं उनसे हे (उक्थवाहः) ज्ञानवन् ! तू वृद्धि को प्राप्त हो।

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥२॥

भा०—हे (हर्यश्व) वेगवान् अश्वों से युक्त, राजन्! मैं (प्रयै) उत्कृष्ट मार्ग से मनन करने के लिये (तुभ्यं वृष्णे) बलवान तेरे लिये (सुतस्य) उत्पादित सत्य ज्ञान की (उग्राम्) बलवती, (सत्याम्) सत्य पूर्ण, (पीतिम्) पान योग्य ज्ञान धारा को (प्र इयर्मि) प्राप्त कराता हूं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन्! तू (शच्या) अपनी शक्ति के कारण (विश्वाभिः) समस्त प्रकार की (धीभिः) स्तुतियों से (गृणानः) स्तुति किया जाकर (इह) यहां (धेनाभिः) तुष्टिकारी रस धाराओं या वाणियों से (मादयस्व) स्वयं तृप्त हो, अन्यों को भी तृप्त कर।

परमेश्वर पक्ष में—हे (हर्यश्व) व्याप्त शक्तियों से युक्त! (तुभ्यं वृष्णे) सब सुखों के वर्षक तेरे लिये (प्रयै) अपनी ही उत्कृष्ट गति की प्राप्ति के लिये मैं (उग्रां पीतिं प्र इयर्मि) बलवती पीति अर्थात् स्नेहपूर्ण स्वीकृति को जगाता हूं। (शच्या) महती शक्ति के कारण ही (धीभिः) समस्त धारणावती बुद्धियों द्वारा (गृणानः) स्तुति किया जाकर (विश्वाभिः धेनाभिः मादयस्व) समस्त रस धाराओं से जीवों को तृप्त कर।

ऊती शचीवस्तव वीर्येण वयो दधाना उशिजं ऋतज्ञाः ।
प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे (शचीवः) शक्तिशालिन्! (तव ऊत्या) तेरे रक्षणकारी शक्ति से और (तव वीर्येण) तेरे सर्वोत्पादक वीर्य से ही (ऋतज्ञाः) सत्य ज्ञान के ज्ञाता (उशिजः) वशी, तेरे प्रिय भक्तजन (प्रजावत्) प्रजा, पुत्र पौत्रादि से युक्त (वयः) दीर्घ जीवन को (दधानाः) धारण करते हुए (सधमाद्यासः) एक स्थान पर आनन्द लाभ करने हारे विद्वान् पुरुष (गृणन्तः) ज्ञानोपदेश करते हुए (मनुषः

दुरोणे) मनुष्य के गृह के समान इस मनुष्य देह में (तस्थुः) रहते हैं। जीवन यापन करते हैं।

अध्यात्म में—(ऋतज्ञाः) आत्मा को जानने वाले (उशिजः) प्राण गण, हे आत्मन् तेरे वीर्य से ही (वयः) जीवन को धारण करते हुए इस देह में रहते हैं।

॥ इति तृतीयेऽनुवाके तृतीयः पर्यायः ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

---

[३४] इन्द्र परमेश्वर और राजा और आत्मा का वर्णन।

गृत्समद ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । [illegible] । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः
ऋ० २ । १२ । १ ॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ और सबसे आदि में विद्यमान, (मनस्वान्) ज्ञान, मनन शक्ति से युक्त, (देवः) प्रकाश स्वरूप, सब को सब शक्तियों का दाता और सबका द्रष्टा, (जात एव) प्रकट होकर ही (क्रतुना) अपनी शक्ति से (देवान्) समस्त दिव्य शक्तियों को, सूर्यादि लोकों और विद्वान् पुरुषों को (परि अभूषत्) अपने वश कर रहा है, उनको सुशोभित और कान्तिमान कर रहा है। (नृम्णस्य) नेतृ शक्तियों से युक्त, समस्त प्राणियों में व्याप्त (मह्ना) बड़े भारी सामर्थ्य के कारण (यस्य शुष्माद्) जिसके बल से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों (अभ्यसेताम्) मानो भय से कांपती हैं। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः) वह ही (इन्द्रः) 'इन्द्र' कहाता है।

राजा के पक्ष में—(यः मनस्वान्) जो मनस्वी पुरुष उत्पन्न होते ही (क्रतुना) अपने बल से (देवान् परि अभूषत्) समस्त राजाओं को अपने वश करता है। जिस (नृम्णस्य) मनुष्यों के स्तम्भक पुरुष के (मह्ना) महान् सामर्थ्य और (शुष्मात्) शोषणकारी भयजनक बल से (रोदसी) मित्र और शत्रु दोनों अथवा राज-पुरुषवर्ग और प्रजावर्ग दोनों (अभ्यसेताम्) भय करते हैं वह 'इन्द्र' है। आत्मा के पक्ष में-मनः शक्ति से युक्त जो (क्रतुना) प्राण-बल से (देवान्) इन्द्रियों पर वश करता है। जिसके बल से (रोदसी) प्राण और अपान दोनों (अभ्यसेताम्) भय से मानो चलते हैं वह (इन्द्रः) आत्मा इन्द्र है।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥२॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (व्यथमानाम्) आकाश में वेग से गति करती हुई (पृथिवीम्) पृथिवी को भी (अदृंहत्) दृढ़ करता है। और (यः) जो (प्रकुपितान्) अग्नियों से धधके हुए (पर्वतान्) ज्वालामुखी पर्वतों को (अरम्णात्) शान्त करता है। और (यः) जो (वरीयः) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (विममे) बनाता या मापता है और (यः) जो (द्याम्) सूर्य और उसके समान प्रकाशमान नक्षत्रादि से मण्डित आकाश-भाग को भी (अस्तभ्नात्) थामता है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् परमेश्वर है।

राजा के पक्ष में—(यः) जो (व्यथमानां) शत्रुओं के भय से पीड़ित पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़, आघात सहने में समर्थ करता है और (प्रकुपितान् पर्वतान्) आग से धधकते ज्वालामुखियों के समान प्रजाओं पर आग्नेय अस्त्रों का वर्षण करने वाले शत्रुओं को भी ठण्डा कर देता है। (यः वरीयः अन्तरिक्षं विममे) जो विशाल अन्तरिक्ष को भी विमानों

द्वारा पार कर लेता है । (यः द्याम् अस्तभ्नात्) जो आकाश को भी अपने वश करता है, उसमें भी शत्रु के विमानों को नहीं आने देता, वह ऐश्वर्यवान् पुरुष सच्चा 'इन्द्र' पद योग्य राजा है ।

यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥३॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (अहिम्) अविनाशी प्रकृति तत्व को (हत्वा) व्याप्त करके (सप्त सिन्धून्) सात समष्टि महाप्राणों को अथवा महत्, अहंकार एवं ५ सूक्ष्म तन्मात्रा इनको (अरिणात्) प्रकट करता है । और (यः) जो परमेश्वर (वलस्य) आवरणकारी अज्ञान और अन्धकार को या जड़ता को (अपधाः) दूर करके (गाः उदाजत्) ऋषियों के हृदय में ज्ञान वाणियों को और संसार में सूर्य की किरणों या लोकों को (उदाजत्) चलाता है । (यः) जो (अश्मनोः) द्यौ और पृथिवी के (अन्तः) बीच में रगड़ते दो पत्थरों के बीच में चमकने वाली अग्नि के समान या अरणियों के बीच में निकलने वाली अग्नि के समान (अग्निम्) सूर्य रूप अग्नि को (जजान) उत्पन्न करता है वह (समत्सु) समस्त व्यवहारों में (संवृक्) विघ्नों को दूर करने हारा है, हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वही 'इन्द्र' परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में—(अहिम्) जो सर्प के समान कुटिलाचारी पुरुष का नाश करके (सप्त सिन्धून् अरिणात्) सातों स्रवणशील समुद्रों को वश करता है । जो (वलस्य अपधाः) आवरणकारी, घेरने वाले शत्रु को दूर करके (गाः) प्रजाओं को उन्नत करता है । (अश्मनोः अन्तः) जो परस्पर में व्याप्त स्त्री पुरुषों के बीच (अग्निम्) ज्ञानवान् पुरुष को निरीक्षक रूप से स्थापित करता है । वह (समत्सु संवृक्) युद्धों में शत्रुओं का वारक है वही 'इन्द्र' है ।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहा कः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥४॥

भा०—(येन) जिस परमेश्वर ने (इमा) ये (विश्वा) समस्त (च्यवना) गतिशील लोक (कृतानि) बनाये हैं। (यः) जो (दासंवर्णम्) उपक्षयशील, विनाशी स्वभाव के (अधरम्) स्थिर न रहने वाले जगत् को (गुहा कः) आकाश में स्थापित करता है । और (जिगीवान् श्वघ्नी इव लक्षम् आददः) विजयी जूआखोर जिस प्रकार लाखों की सम्पत्ति को प्राप्त करता है, अथवा श्वघ्नी कुत्तों से शिकार करने वाला व्याध जिस प्रकार (लक्षम्) लक्ष्य को वेधता है उसी प्रकार जो (लक्षम् आददः) समस्त दृश्यमान जगत् को अपने वश कर रहा है। और (यः) जो (पुष्टानि) समस्त पुष्टि युक्त पदार्थों को (आददः) सबको देता है । हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह 'इन्द्र' परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में–जो इन सब (च्यवना) नियमों को बनाता है । (दासं वर्णं) जो विनाशकारी हत्यारे पेशे करने वाले वर्ग को (गुहाकः) कैद में डालता है । (यः जीगीवान्) जो विजेता होकर जुएखोर के समान लाखों को प्राप्त करता और (पुष्टानि) समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है वह महान् 'राजा' है ।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥५॥

भा०—(यं) जिस (घोरम्) अद्भुत, भयानक, आश्चर्यजनक कर्म करने वाले के विषय में (पृच्छन्ति स्म) लोग प्रश्न किया करते हैं कि (कुह सः इति) वह कहां है ? (उत ईम् एनम्) और उसके विषय में (आहुः) बहुत से कहा करते हैं कि (न एषः अस्ति) वह है ही नहीं । (सः) वह (अर्यः) अज्ञानी पुरुष के (पुष्टीः) हृष्ट पुष्ट शरीरों को भी

(विजः इव:) उद्वेगजनक सिंह के समान (आ मिनाति) विनष्ट करता है। हे (जनासः) लोगो ! (अस्मै) उस ईश्वर पर (श्रद् धत्त) सत्य विश्वास करो कि वह सत् पदार्थ है। और (सः इन्द्रः) वही इन्द्र परम-ऐश्वर्यवान् परमेश्वर है।

राजा के पक्ष में—(यं घोरम्) जिस भयानक घोर संग्रामकारी के विषय में लोग भय से पूछते हैं (कुह सः ?) वह कहां है ? (उत ईम् एनम् आहुः) और बहुतसे निर्भय होकर गर्व से कह देते हैं (न एषः अस्ति) वह कुछ नहीं है। (सः विजः इव) वह भयसंचारी सिंह के समान (अर्यः) शत्रु के (पुष्टीः) समृद्धियों और पुष्ट प्रजाओं को नष्ट करता है, उसको (श्रद् धत्त) सत्य जानो, वह ही बड़ा राजा है।

यो रध्रस्य॑ चोदि॒ता यः कृ॒शस्य॒ यो ब्र॒ह्मणो॒ नाध॑मानस्य की॒रेः।
यु॒क्तग्रा॑व्णो॒ यो॑ऽवि॒ता सु॑शि॒प्रः सु॒तसो॑मस्य॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥६॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (रध्रस्य कृशस्य च चोदिता) धनाढ्य और निर्धन दोनों को ऐश्वर्य का देने वाला है। (यः) जो (नाधमानस्य) प्रार्थना करने वाले (ब्रह्मणः) ब्रह्मज्ञानी और (कीरेः) विक्षिप्त चित्त या प्रार्थी का भी दाता है। (यः) जो (सुशिप्रः) उत्तम सामर्थ्य-वान् (युक्तग्राव्णः) प्राणों को योग द्वारा लगाने और (सुतसोमस्य) ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुए पुरुष का (अविता) रक्षक है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह परमैश्वर्यवान् प्रभु है।

राजा के पक्ष में—जो अमीर गरीब सब पर (चोदिता) आज्ञा चलाता है जो विद्वान् और धनी और (कीरेः) क्रियाकुशल शिल्पी सबको (चोदिता) यथावत् चलाने हारा है (युक्तग्राव्णः) शस्त्रवान् क्षत्रिय (सुतसोमस्य) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने वाले वैश्यों का भी जो (अविता) रक्षक है, हे मनुष्यो ! वह इन्द्र राजा है।

यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒ यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॑ ज॒जान॒ यो अ॒पां ने॒ता स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर के शासन में (अश्वासः) व्यापक शक्ति वाले सूर्य और (यस्य प्रदिशि) जिसके शासन में (गावः) समस्त पृथिवी गण हैं। (यस्य) जिसके शासन में (ग्रामाः) समस्त इन्द्रियगण, जीवगण या लोक हैं (यस्य विश्वे रथासः) जिसके वश में समस्त रमण साधन देह और आत्मा हैं। (यः) जो परमेश्वर (सूर्यं) सूर्य को उत्पन्न करता है (यः उषसं जजान) जो उषा को प्रकट करता है (यः अपां नेता) जो जलों का समुद्रों का, और आप्त पुरुषों के समस्त कर्मों, बुद्धियों का भी प्रवर्त्तक है, हे (जनासः) लोगो ! (सः इन्द्रः) वह परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर है।

राजा के पक्ष में—जिसके अधिकार में घोड़े, गौवें (ग्रामः) सैनिक संघ और रथ हैं। जो (सूर्यं) विद्वान् पुरुष और (उषसम्) विदुषी स्त्री को भी प्रकट करता है (यः अपां नेता) जो आप्त पुरुषों और प्रजाओं का नायक है वह 'इन्द्र' कहाने योग्य है।

यं क्रन्द॑सी संय॒ती वि॒ह्वये॑ते॒ परेऽव॑र उ॒भया॑ अ॒मित्राः॑।
स॒मानं॑ चि॒द्रथ॑मातस्थि॒वांसा॒ नाना॑ हवेते॒ स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥८॥

भा०—(यम्) जिस परमेश्वर को (संयती) समान रूप से सु-व्यवस्थित, नियम में बद्ध (क्रन्दसी) द्यौ और पृथिवी उनके निवासी जन, पति पत्नी और गुरु शिष्य भी (विह्वयेते) विविध स्तुतियों से याद करते हैं। (परे) परमपद में प्राप्त और (अवरे) इस लोक के जन और (उभयाः अमित्राः) दोनों परस्पर स्नेह न करने वाले शत्रु लोग (यं) जिसको (विह्वयेते) विविध प्रकार से स्मरण करते हैं। और जिस परमेश्वर को (समानं चिद् रथम्) एक जैसे रथ अर्थात् देह में विराजमान प्राणी

भी (नाना हवेते) नाना प्रकार से स्मरण करते हैं, हे (जनासः) मनुष्यो! (सः इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर वही है।

राजा के पक्ष में—(क्रन्दसी) परस्पर का आह्वान करने या ललकारने वाले (संयती) युद्ध में सज्ज दो सेनाएं (यं) जिस वीर राजा को (विह्वयेते) विविध उपायों से बुलाती हैं (परे अवरे) पास के और दूर के सम्बन्धी और (उभयाः) दोनों पक्षों के परस्पर के शत्रु लोग जिसको विविध प्रकार से बुलाते हैं, (समानं चित् रथम् आ तस्थिवांसा) एक समान रथों पर सवार योद्धा लोग (नाना हवेते) नाना प्रकार से सहायता के लिये बुलाते हैं। हे मनुष्यो! (स इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् राजा 'इन्द्र' पदसे कहाने योग्य ही है।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥९॥

भा०—(यस्मात् ऋते) जिसके विना (जनासः) लोग (न विजयन्ते) कभी किसी बातपर भी विजय नहीं पाते, सफल नहीं होते (युध्यमानाः) युद्ध करते हुए लोग भी (यं अवसे हवन्ते) जिसको अपनी रक्षा के लिये बुलाते हैं (यः) जो (विश्वस्य) समस्त विश्व का (प्रतिमानम्) प्रतिमान, उसके प्रत्येक पदार्थ का निर्माण करने वाला एवं समस्त विश्व को अपने में धारण कर तद्रूप (बभूव) हो गया है (यः) जो (अच्युतच्युत्) समस्त पदार्थों को भी कालवेग से विनाश करदेने वाला है, हे (जनासः) लोगो (सः इन्द्रः) वह इन्द्र, परमेश्वर है।

राजा के पक्ष में—जिसके विना लोग विजय नहीं पाते। युद्ध करने वाले जिसको अपनी रक्षा के लिये बुलाते हैं (यः विश्वस्य) जो सब राजाओं को (प्रतिमानम्) प्रतिपक्ष होकर बराबरी करने और उनके बलों को तोल लेने में समर्थ (बभूव) हो, (यः अच्युतच्युत्) जो दृढ़तम राज्यों को उखाड़ देने में समर्थ हो, वह राजा 'इन्द्र' कहाने योग्य है।

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥१०॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (महि एनः) बड़े २ पापों, अपराधों को (शश्वतः) निरन्तर, लगातार (दधानान्) करने और (अमन्यमानान्) तिसपर भी अपने अपराधों को त्यागने के लिये स्वीकार न करने वालों को (शर्वा) अपने क्लेशदायी उपाय से (जघान) दण्डित करता है । और (शर्धते) निन्दा करने वाले पुरुष को (शृध्याम्) सहनशक्ति (न अनु ददाति) उसके अनुकूल उसकी शक्ति वृद्धि के लिये नहीं प्रदान करता। अर्थात् निन्दक, ईर्षालु तुच्छ पुरुष में दूसरे को वश करने का बल नहीं देता । (यः दस्योर्हन्ता) दूसरे का नाश करने वाले पुरुष का स्वयं नाशकारी, दण्डकर्त्ता है । हे (जनासः) मनुष्यो ! (स इन्द्रः) वह इन्द्र परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में—(महि एनो दधानान्) बड़े २ अपराधों को करने वाले दुष्ट पुरुषों को (अमन्यमानान्) और जो उसका मान न करें, उन गर्वीले लोगों का (शर्वा) अपने शस्त्र से (जघान) मारता या दण्ड देता है जो अपने निन्दाकारी को (शृध्याम् न अनुददाति) सहायता नहीं देता । (यः दस्योः हन्ता) जो दस्यु का घातक है, हे लोगो ! वह 'इन्द्र' कहाने योग्य है ।

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (पर्वतेषु) पर्वतों अर्थात् पर्व वाले मासों में या (क्षियन्तम्) विद्यमान (शम्बरम्) चन्द्र को (चत्वारिंश्याम्) ४० वें (शरदि) वर्ष में (पुनः अन्वविन्दत्) उसी स्थान पर कर देता है । अथवा (पर्वतेषु क्षियन्तं शम्बरं) मेघों में विद्यमान जल

को जिस प्रकार विद्युत् या वायु प्राप्त करता है और जिस प्रकार (चत्वारिंश्यां शरदि) ४०वें वर्ष के पश्चात् (पर्वतेषु) पालन शक्ति एवं पूर्ण ज्ञान से युक्त विद्वानों में विद्यमान या पोरुओं में विद्यमान (शम्बरम्=संवरम्) अच्छी प्रकार से गोपनीय ज्ञान-राशि वेद या ब्रह्म ज्ञानमय शब्द ब्रह्म या ब्रह्मचर्य के पूर्ण बल को पूर्ण आजन्म ब्रह्मचारी (अनु अविन्दत्) प्राप्त करता है उसी प्रकार (यः) जो (अनु अविन्दत्) सदा पूर्ण बल पराक्रम को प्राप्त किये रहता है और (यः) जो परमेश्वर (ओजायमानं) बेल पकड़ने वाले (अहिम्) सर्प के समान कुटिल (दानुम्) मर्म के काटने वाले (शयानम्) हृदय में होने वाले काम विकार को (जघान) नष्ट करता है । हे (जनासः स इन्द्रः) मनुष्यो ! वह इन्द्र है ।

राजा के पक्ष में—(पर्वतेषु) पालन करने हारे शासकों में विद्यमान (शम्बरम्) शासन योग्य बल को युवा पुरुष अपने ४०वें वर्ष में प्राप्त करता है और जो (दानुं शयानं) बल के काटने वाले गुप्त सांप के समान छुपे (ओजायमानं अहिम्) पराक्रमशील कुटिल शत्रु और काम को नाश करता है वह वीर पुंगव पुरुष 'इन्द्र' है ।

यः शम्बरं पर्यतरत् कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत् सुतस्य ।
अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत् स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (कसीभिः) अपनी ज्ञान दीप्तियों से (शम्बरम्) ज्ञान को आवरण करने वाले अज्ञान को (परि अतरत्) पार

१२–ऋग्वेदेनास्ति । यः शम्बरं पर्य तरत्कसीभिर्योऽचा कुकत्स्नापिबत्सुतस्य ।
अन्तर्गिरौ यजमानं बभ्रुं जनं यस्मिन्नामूर्छत्स जनास इन्द्रः
इति क्वचित् ।
(प्र०) 'परीयत' इति क्वचित् (द्वि०) कृकत्स्ना, कुकस्ना इति क्वचित् ।
(तृ०) 'बभ्रुं जनं' इति च क्वचित् । अस्याः पदपाठोऽपि नोपलभ्यते ।

कर जाता है । और (यः) जो (अचारुक-आस्ना) अरमणीय, कष्टदायी, कालरूप मुख से (सुतस्य) उत्पादित जगत् का (अपिबत्) पान करता है, ग्रस लेता है । (अन्तः गिरौ) पर्वत के वीच में जिस प्रकार वायु मूर्छित होजाता है उसी प्रकार पर्वत के समान अति गुरुतम (यस्मिन्) जिस परम ऐश्वर्यवान् अपने स्वरूप में वह परमेश्वर (यजमानं) ईश्वरोपासक (बहुं जनम्) बहुतसे जनों को (अमूर्च्छत्) मोहित कर लेता है । अथवा (गिरौ अन्तः) पर्वत पर विचरण करता हुआ पुरुष जिस प्रकार स्वयं ऊंचा होजाता है उसी प्रकार जिसके स्वरूप में मग्न बहुतसे उपासकों को जो (आ अमूर्छत्) उन्नत पद, मोक्ष तक प्राप्त कराता है । हे (जनासः) लोगो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् प्रभु है ।

राजा के पक्ष में—(यः) जो (कसीभिः) अपनी शासन व्यवस्थाओं से (शम्बरम्) शान्तिदायक शासन-बल को (परि अतरत्) सर्वत्र फैलाता है और (यः) जो (अचारुक-आस्ना) अमनोहर, कष्टकारी मुख सेना आदि दमन द्वारा राष्ट्र का (अपिबत्) भोग करता है । (गिरौ अन्तः) पर्वत के समान (यस्मिन्) जिसके अपने आश्रय पर वह (बहुं यजमानं जनं अमूर्च्छत्) बहुतसे दानशील करप्रद जनों को उन्नत करता है । हे (जनासः) लोगो ! (सः इन्द्रः) वह इन्द्र कहाने योग्य है ।

कसीभिः— कसि गतिशासनयोः, कस इत्येके कश इत्यन्ये । इत्यत 'ई' प्रत्यय औणादिकः । मूर्च्छामोहसमुच्छ्राययोः । भ्वादिः । अत्र समुच्छ्रायोऽर्थः ।

१२, १६, १७ ये तीन मन्त्र ऋग्वेद में नहीं हैं । उनका पदपाठ भी कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है । बृहत्सर्वानुक्रमणी में भी इस सूक्त को पञ्चदश ऋचा वाला ही माना है । कदाचित् ये तीन ऋचाएं किसी शौनक शाखा से अतिरिक्त अन्य शाखा में उपलब्ध हों ।

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥१३॥

भा०—(यः) जो परमात्मा (सप्तरश्मिः) सूर्य के समान सात रश्मियों अर्थात् सात बड़े २ नियामक बलों से सम्पन्न है। वह (तुविष्मान्) वायु के समान बड़ा बलवान्, (वृषभः) मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षण करने वाला है। वह (सप्त सिन्धून्) सात सिन्धुओं, बड़े बड़े तत्वों, सात प्राणों के समान (सर्तवे) सर्वत्र गति करने के लिये ही (अवासृजत्) बनाता है। (यः) जो (वज्रबाहुः) हाथ में वज्र लिये, संहारकारी, लकड़हारे के समान (द्याम्) आकाश की तरफ (आरोहन्तम्) पुनः बीज से अंकुरित होकर फैलने वाले वट के समान विकट रूप से फैलने वाले (रौहिणम्) संसाररूप रौहिण या बट को (अस्फुरत्) काट देता है। हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह इन्द्र, प्रभु है।

राजा के पक्ष में-राज्य के सप्त अंग, रूप सात रश्मियों से युक्त होकर वह सूर्य के समान तेजस्वी, वायु के समान बलवान्, राज्य का कर उठाने से वृषभ के समान अथवा प्रजाओं पर ऐश्वर्य वृद्धि करने वाला होने से मेघ के समान होकर अपने सातों (सिन्धून्) स्रोतों को फैलने के लिये ही उत्पन्न करता है। और जो (वज्रबाहुः) खड्ग हाथ में लेकर (द्याम् आरोहन्तम्) आकाश में फैलते हुए (रौहिणम्) वट के समान क्रम से अपनी जड़ें फैलाने वाले (रौहिणम्) वट स्वभाव के शत्रु को (अस्फुरत्) विनाश करता है। (सः इन्द्रः) हे मनुष्यो ! वह राजा इन्द्र वायु या विद्युत् के समान है।

बड़े प्रबल राजा का वायु और कुटिल गर्वी शत्रु राजा का शाल्मलि के दृष्टान्त से वर्णन देखो शान्तिपर्व अ० १५२ । १५४ ।

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्मांच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥१४॥

भा०—(द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी दोनों लोक (चित्) भी (अस्मै नमेते) इसके आगे झुकते हैं । और (अस्य शुष्मात् चित्) इसके बल से ही (पर्वताः भयन्ते) पर्वत, मेघ भी भय से कांपते हैं । (यः) जो (सोमपाः) समस्त जगत् का पालक या समस्त ऐश्वर्यों का पालक होकर (निचितः) सर्वत्र व्यापक (वज्रबाहुः) वज्र के समान सब को पापों से वर्जन करने में समर्थ बलशाली और (वज्रहस्तः) वारक बल से ही सबको दण्ड देने वाला है । हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह इन्द्र, परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में-(द्यावापृथिवी) राजा प्रजा या नरनारी जिसके आगे झुकें, (पर्वताः) पालन शक्ति से युक्त ऊंचे पर्वत के समान बड़े भूमिपाल भी जिसके बल से कांपते हैं, वह (सोमपाः) राष्ट्र का भोक्ता (वज्रहस्तः वज्रबाहुः) वज्र के समान बलवान् बाहु वाला और खड्गहस्त होकर (निचितः) सुदृढ शरीर, संचित ऐश्वर्यवान् और बलवान् हो वह राजा 'इन्द्र' है ।

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥१॥

भा०—जो परमेश्वर प्रभु ! (सुन्वन्तम्) यज्ञ करने वाले की, (अवति) रक्षा करता है । (यः पचन्तम्) जो पालन करनेहारे को, अर्थात् वीर्य, विद्या और बल को परिपक्व करने वाले की रक्षा करता है (यः) जो (ऊत्या) अपने रक्षाकारिणी शक्ति से (शंसन्तं) स्तुति करने वाले और (यः शशमानम्) जो ऊंचे गति करने वाले की रक्षा करता है । (यस्य) जिस को (ब्रह्म) ब्रह्म, वेद, ब्राह्मबल (वर्धनम्) बढ़ाता है (यस्य सोमः वर्धनम्) जिसको सोम, वीर्य, क्षात्रबल और राष्ट्र बल बढ़ाता है । (यस्य इदं राधः) जिसका यह समस्त ऐश्वर्य है । (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर और राजा है ।

जातो व्य१ख्यत् पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य ।
स्तविष्यमाणो नो यो अस्मद् व्रता देवानां स जनास इन्द्रः ॥१६॥

भा०—(जातः) उत्पन्न बालक जिस प्रकार (पित्रोः उपस्थे) माता पिता दोनों के गोद में (व्यख्यत्) नाना प्रकार से अपने भाव प्रकट करता है और (भुवः) अपने उत्पन्न करनेहारी माता और (परस्य जनितुः) दूसरे उत्पादक पिता को भी नहीं जानता इसी प्रकार परमेश्वर भी (जातः) प्रादुर्भूत होकर (पित्रोः) पालन करने वाली पृथिवी और आकाश इन दो रूपों में (वि अख्यत्) विविध रूपों में दिखाई देता है। वह (भुवः) समस्त संसार के उत्पत्ति स्थान और (जनितुः) उत्पादक रूप से (परस्य) अपने से अन्य किसी दूसरे को (न वेद) नहीं जानता अर्थात् वही पृथ्वी के समान सर्वाश्रय पिता के समान सर्वोत्पादक है। और (यः) जो (स्तविष्यमाणः) स्तुति किया जाकर (नः) हमें (अस्मद्) हमारे और (देवानां व्रता) देव, दिव्य पदार्थ, सूर्य, वायु, अग्नि, जल, आकाशादि पदार्थों और विद्वानों और शरीरस्थ इन्द्रियों के (व्रताः) नियत, निश्चित धर्मों, कर्त्तव्यों और शक्तियों को (आ) प्रकट करता है। हे (जनासः) मनुष्यो! (सः इन्द्रः) वह 'इन्द्र' है।

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद् रेजन्ते भुवनानि विश्वा ।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः ॥१७॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (सोमकामः) सोम, ब्रह्मानन्द रस की कामना करने वाले योगिजनों को अतिप्रिय, (हर्यश्वः) वेगवान्, कान्ति-

१६–(प्र०) 'जातो व्यक्तः पित्रोरुपस्थे', 'व्यख्यद्', 'व्यख्यत्', व्यक्तः, 'जातो व्यख्यत्'। (द्वि०) 'भुवन वेदजनितुः'। (तृ०) स्तविष्यमाणोऽन्योनो अस्मद्, 'स्तविष्यमाणोऽन्यो यो अस्मद्' (च०) 'व्रता-देवानां' इति नाना पाठाः ॥

मान्, व्यापक शक्तियों से सम्पन्न तेजोमय रश्मियों से युक्त सूर्य के समान (सूरिः) सबका प्रेरक है । (यस्मात्) जिससे (विश्वा भुवनानि) शक्तियें प्राप्त करके समस्त लोक चलायमान हैं । (यः शम्बरं जघान) जो आवरणकारी अज्ञान को नाश करता है और (यः च शुष्णम् जघान) जो प्राणों के शोषण करने वाले क्षुत् पिपासादि कष्टों को अन्न प्रदान करके नाश करता है और (यः) जो (एकवीरः) एकमात्र वीर्यवान्, सर्वशक्तिमान् है । हे (जनासः) मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है ।

राजा के पक्ष में—(सोमकामः) जो राष्ट्र का अभिलाषी (हर्यश्वः) वेगवान् अश्वों से युक्त है, जिसके भय से सब लोक कांपते हों, जो अधीनस्थ प्रजाओं के घेरने वाले (शम्बरं) उनकी शान्ति, सुख को नाश करने वाले और (शुष्णं) प्रजा का अत्याचारों से रक्त शोषण करने वाले का (जघान) नाश करता है (सः एकवीरः) वह एकमात्र वीर पुरुष 'इन्द्र' है ।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥१८॥

भा०—(यः) जो (दुध्रः चित्) बड़ा दुर्धर्ष अजेय होकर ही (सुन्वते पचते) दानशील और पाकशील पुरुष को (वाजम्) वीर्य और अन्न (आदर्दर्षि) प्रदान करता है (स किल) वह तू अवश्य (सत्यः असि) सत्य ही है । तेरे होने में कोई सन्देह नहीं है । (विश्वह) नित्यप्रति हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (वयं) हम लोग (ते प्रियासः) तेरे प्रिय और (सुवीरासः) उत्तम वीर्यवान् होकर (विदथम्) ज्ञान स्तुति का (आवदेम) वर्णन करें ।

[३५] परमेश्वर का वर्णन ।

नोधा गौतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । १, २, ७, ९, १४, १६ त्रिष्टुभः । शेषाः पंक्तयः । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥ १ ॥
ऋ० १। ६१। १ ॥

भा०—(तवसे) बड़े बलवान् (तुराय) शत्रुनाशक, (माहिनाय) गुणों से महान्, (ऋचीषमाय) वेदमन्त्रों में कहे स्वरूप के समान, (अध्रिगवे) बेरोक गति वाले, सर्वव्यापक, (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् इन्द्र प्रभु के लिये मैं (प्रयः न) भूखे को जिस प्रकार अन्न देते हैं उसी प्रकार (ओहम्) अति विचारणीय (स्तोमं) स्तुति प्रदान करता हूं। और (राततमा) अति प्रेम से देने योग्य (ब्रह्माणि) वेद मन्त्रोक्त स्तुति वचन भी (हर्मि) निवेदन करता हूं। अथवा (इन्द्राय) उस परमेश्वर के (ओहम्=आ-उ-अहम्) मैं (राततमा ब्रह्माणि आ-हरामि उ) अति प्रेम से देने योग्य ब्रह्म-ज्ञानों को प्रस्तुत करता हूं।

राजा के पक्ष में-(ब्रह्माणि) अन्नादि पदार्थ या बड़े अधिकार।

अस्मा इदु प्रय इव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥२॥

भा०—(अस्मै) इस (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (प्रयः इव) अन्न के समान (आंगूषं) स्तुति को (प्र यंसि) प्रदान करता हूं। और (बाधे) अपने सब पीड़ाओं को दूर करने के लिये (सुवृक्ति) सब विघ्नों के निवारक उसकी स्तुति को (भरामि) प्रस्तुत करता हूं। इस (प्रत्नाय पत्ये) अति पुरातन सनातन स्वामी के लिये ही (इत् उ) विद्वान् लोग (हृदा) हृदय से, (मनसा) मन से और (मनीषा) मनन शक्ति के द्वारा (धियः) अपनी इन्द्रियों को (मर्जयन्त) बराबर पवित्र किया करते हैं।

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्ये/न ।
मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै ॥३॥

भा०—(अस्मा इद् उ) इस इन्द्र के लिये ही (त्यम्) उस, चिर-काल से स्मरणीय (उपमम् स्वर्षाम्) सुखप्रद, आनन्ददायी, (आंगूषम्) स्तुति वचन को (आस्येन) अपने मुख से (भरामि) प्रस्तुत करूं । और (मतीनां) मनन करने हारे समस्त पुरुषों में सबसे बड़े (मंहिष्ठम्) महान्, पूजनीय परमेश्वर (सूरिम्) परम मेधावी, सूर्य के समान सर्व प्रेरक परमेश्वर को (सुवृक्तिभिः) दुःखों के निवारण करने हारी (अच्छो क्तिभिः वावृधध्यै) उसकी महिमा की वृद्धि के लिये स्तुति करता हूं ।

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय ।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ॥ ४ ॥

भा०—(तष्टा इव रथं न) जिस प्रकार शिल्पी गढ़ कर रथ को तैयार करता है उसी प्रकार (तत्सिनाय) उस परम हृदय के प्रेमी, आनन्द मय, रसमय (गिर्वाहसे) समस्त स्तुतियों के पात्र (मेधिराय) परम मेधावी या परम पवित्र (अस्म इद् उ इन्द्राय) इसही परम लक्ष्य भूत परमैश्वर्यवान् प्रभु के लिये (सुवृक्ति) उत्तम रीति से संसार दुःखों के वर्जक, (विश्वमिन्वम्) सब पदार्थों के ग्राह कराने वाले, (स्तोमम्) स्तुति समूह और (गिरः) उत्तम वेदवाणियों को (सं हिनोमि) अच्छी प्रकार प्रस्तुत करता हूं ।

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे ।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥५॥

भा०—(अस्मै इव इन्द्राय) इस परम ऐश्वर्य वाले के लिये ही (श्रवस्या) अन्न, यश, कीर्त्ति और ज्ञान की प्राप्ति के लिये जिस प्रकार

(सप्तिम्) वेगवान् अश्व को रथ में जोड़ा जाता है उसी प्रकार (इन्द्राय अर्कं) इन्द्र के लिये अर्चनाकारी मन्त्र को मैं (जुह्वा) स्तुतिशील वाणी से (सम् अञ्जे) प्रकट करता हूं । और (वीरम्) वीर शूर (दानौकसम्) दान के एकमात्र आश्रय (गूर्तश्रवसम्) प्रशस्त कीर्तिमान् (पुरां दर्माणम्) शत्रु के गढ़ों के समान भीतरी बन्धन रूप आत्मा के कोशों के तोड़ने वाले उसको (वन्दध्यै) स्तुति करने के लिये मैं भी उसी (इन्द्राय अर्कं सम् अञ्जे) प्रभु की स्तुति को प्रकट करता हूं ।

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं रणाय ।
वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥६॥

भा०—(अस्मा इद् उ) इसको प्राप्त करने के लिये ही (त्वष्टा) शिल्पी के समान रचयिता योगी (स्वपस्तमम्) उत्तम शुभ कर्मों से युक्त (स्वर्यम्) गुरु द्वारा उपदेश करने योग्य या सुख प्राप्त कराने वाले (वज्रम्) लोहार या शिल्पी जिस प्रकार (रणाय) रण के लिये तलवार को गढ़ता है उसी प्रकार वह योगी ज्ञान वज्र को (रणाय) मोक्ष सुख में रमण करने के लिये (तक्षद्) गढ़ता है, तय्यार करता है । (कियेधाः) नाना योग भूमियों को धारण करते हुए उनको अपने वश करने में समर्थ पुरुष (येन) जिस (तुजता) अज्ञान नाशक (वज्रेण) ज्ञानवज्र से (वृत्रस्य) आवरणशील अज्ञान का (चिद) भी (मर्म) मर्म, रहस्य (तुजन्) उसका नाश करते ही (विदद्) प्राप्त करता है ।

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवां चार्वन्ना ।
मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ।

भा०—(अस्य मातुः इद् उ) इस समस्त सृष्टि के कर्त्ता का ही (महः) यह महान् कर्म है, कि वह (सवनेषु) अपने महान् सवनों में, ईश्वरीय सृष्टि उत्पत्ति आदि कार्यों में (पितुं) पालन करने योग्य समस्त

संसार-रूप सोम को (चारु अन्ना) उत्तम भोज्य अन्नों के समान वह (सद्यः) निरन्तर (पपिवान्) खाता या लीलता ही रहता है। वह (विष्णुः) व्यापक (सहीयान्) सबका वशकर्त्ता (पचतं) परिपक्क कर्म वाले, या पाक करने वाले, अपने आत्मा को साधना द्वारा पकाने वाले मुमुक्षु को (मुषायत्) अचानक ले जाता है। और (अद्रिम् अस्ता) अद्रि, शासन रूप वज्र का (अस्ता) प्रक्षेता वह परमेश्वर ही (तिरः) अपने पास आये (वराहं) श्रेष्ठ ज्ञान से पूर्ण, स्तुतिशील आत्मा को (विध्यत्) विद्ध करता है, उसको अपने प्रेम में वश करता है।

अस्मा इदु ग्नाश्चिद् देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः ॥८॥

भा०—(ग्नाः चित्) गमन योग्य युवति स्त्रियां जिस प्रकार अपने पति के लिये (अर्कम् ऊवुः) सूर्य के समान तेजोमय वीर्य को प्रजारूप से धारण करती हैं उसी प्रकार (अहिहत्ये) अज्ञान के नाश के लिये (देवपत्नीः) संसार की दिव्य पालक शक्तियां, या देव-परमेश्वर की पालक शक्तियां और (ग्नाः) गमनयोग्य स्तुतिवाणियां (अस्मै इन्द्राय इत् उ) इस इन्द्र परमेश्वर के ही (अर्कम्) अर्चनीय स्वरूप को (ऊवुः) अपने भीतर धारण करती हैं। (उर्वी) विशाल (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों को वह (परि जभ्रे) सब प्रकार से व्याप्त है। और (ते) वे दोनों (अस्य महिमानं) इसके महान् सामर्थ्य को (न परि स्तः) सीमित नहीं कर सकतीं।

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्।
स्वराळिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय ॥९॥

भा०—(अस्य इत् इव) इस परमेश्वर का ही (महित्वम्) महान् सामर्थ्य (दिवः प्ररिरिचे) महान् आकाश से भी बढ़ गया है। और (पृथि-

व्याः) पृथिवी से और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से भी (परि) परे (प्र रिरिचे) गया हुआ है। (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (इन्द्रः) ऐश्वर्य-वान् (स्वरिः) उत्तम प्रबल शत्रुमान् और (अमत्रः) उत्तम योद्धा के समान चढ़ाई करने में कुशल, (विश्वगूर्तः) सबसे वन्दनीय होकर (दने) दमन करने योग्य शत्रु पर भी (रणाय) संग्राम के लिये (आववक्षे) सब पदार्थों को धारण करता है।

अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः ॥१०॥

भा०—(अस्य इत् एव) उसके ही (शवसा) बल पराक्रम से (शुषन्तं) सूखते हुए, भयभीत (वृत्रम्) अज्ञान रूप वृत्र को, वायुके बल से भिन्न भिन्न होते मेघ को जिस प्रकार बिजुली नाश करती है अथवा परा-क्रमी राजा के पराक्रम से जिस प्रकार भयभीत विघ्नकारी शत्रु को वीर राजा नाश करता है उसी प्रकार (वज्रेण) ज्ञान-वज्र से (इन्द्रः) वह स्वयं ऐश्वर्यवान् (विवृश्चत्) नाना प्रकार से नाश करता है। और जिस प्रकार इन्द्र, वायु मेघ से (अवनीः) जन्तुओं की रक्षा करने वाले (व्राणाः) रुके हुए जलों को नीचे बरसाता है और फिर (श्रवः) अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह इन्द्र भी (गाः न) सूर्य की गौओं, रश्मियों के समान (अवनीः) अपने पालन करने वाली भूमियों को (अमुञ्चत्) त्यागता या प्रदान करता है और वह (सचेताः) प्रेम युक्त होकर (दावने) दानशील पुरुष को (श्रवः) अन्न और ख्याति और ज्ञान (अभि अमुञ्चत्) सब प्रकार से देता है।

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद् वज्रेण सीमयच्छत्।
ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन् तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥११॥

भा०—(अस्य इत्) इस परमेश्वर के ही (त्वेषसा) दीप्तियुक्त प्रखर तेज से (सिन्धवः) बहने वाले जल (रन्त) नाना प्रकार की क्रीड़ाएं करते हैं। (यत्) क्योंकि वह ही उनको (वज्रेण) अपने बल से (सीम्) सब प्रकार से (परि अयच्छत्) नियम में बांधता है। वह ही (ईशानकृत्) समस्त सामर्थ्यवान्, ऐश्वर्ययुक्त सूर्य, वायु, विद्युत् आदि पदार्थों का रचयिता होकर (दाशुषे) दानशील पुरुष स्वयं (दशस्यन्) बहुत ऐश्वर्य प्रदान करता है और वह (तुर्वणिः) अति वेग से सर्वत्र व्याप्तिशील विद्युत् जिस प्रकार (तुर्वीतये) अति वेग से जाने वाले पुरुष को (गाधं कः) अपना पूर्ण वैद्युतिक ऐश्वर्य सामर्थ्य प्रदान करती है उसी प्रकार वह परमेश्वर भी (तुर्वणिः) अति शीघ्र सबको प्राप्त होने हारा होकर (तुर्वीतये) शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होने वाले साधक पुरुष को (गाधं कः) अपना ज्ञानैश्वर्य प्रदान करता है।

सामर्थ्यवान् राजा या ऐंजिनीयर पुरुष के पक्ष में—उसके प्रताप से नदियें नहर के रूपों में क्रीड़ा करती हैं। वह वज्र से, शक्ति से उनको बांधों द्वारा वश करता है। समस्त (ईशानकृत्) विद्युत्, वायु आदि शक्तियों को उत्पन्न करता है। शीघ्रगामी के लिये (गाधं कः) उसी प्रकार के उत्तम साधन, ऐश्वर्य उत्पन्न करता है।

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥१२॥

भा०—हे परमेश्वर! तू (ईशानः) सबका स्वामी (तूतुजानः) अति वेग से सर्वत्र व्याप्त सबको तीव्रगति देनेहारा और (कियेधाः) न मालूम तू कितने बल पराक्रम और ऐश्वर्य को धारण करनेहारा है। अथवा (कियेधाः) तू सर्वत्र व्याप्त होकर समस्त संसार को धारण कर रहा है। तू ही (अस्मै वृत्राय) इस सर्व आवरणकारी जगत् के मूल कारण रूप

तमोमय मेघ पर, शत्रु पर खड्ग के समान और मेघ पर बिजली के समान (वज्रम्) उसके निवारक वज्र या वीर्य या बल का (प्र भर) प्रयोग करता है । और (अर्णांसि इष्यन्) मेघ के जल बरसाने की इच्छा करता हुआ वायु जिस प्रकार (अपां चरध्यै) जलों के प्रवाह करने के लिये (तिरश्चा) तिरछे बिजुली रूप वज्र से प्रहार करता है और जिस प्रकार विजिगीषु राजा (अर्णांसि इष्यन्) धन ऐश्वर्यों की कामना करता हुआ (अपां चरध्यै) प्रजाओं के या सेनाओं के आगे बढ़ाने के लिये (तिरश्चा वज्रेण) तिरछे चलने वाले तलवार से शत्रुओं के शरीरों का (गोः पर्व न) डोम कसाई जिस प्रकार मरी गाय के पोरु २ को काटता है उसी प्रकार बोटी २ काटता है, उसी प्रकार हे परमात्मन् ! तू भी (अपां चरध्यै) आप्त जनों के ज्ञान प्राप्त कराने के लिये (अर्णांसि इष्यन्) नाना ज्ञान सुखों को प्राप्त कराना चाहता हुआ अपने (तिरश्चा) समस्त तीर्ण तम, परमपद तक पहुंचने वाले ज्ञान वज्र से ही (गोः पर्व न) मानो वेदवाणी के एक २ पोरु को (वि रद) विविध रूप से खोल देता है । दृष्टान्तों से ही राजा के पक्ष में स्पष्ट है ।

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः ।
युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून् ॥१२॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! (यद्) जब (युधे) संग्राम के लिये (आयुधानि) शस्त्र अस्त्रों को (इष्णानः) मारता हुआ और (शत्रून्) शत्रुओं को (ऋघायमाणः) मारता हुआ (निरिणाति) आगे बढ़ता है तभी (अस्य इत् तुरस्य) उस शीघ्रकारी अतिवेगवान् बलवान् विजेता के (पूर्व्याणि कर्माणि) पूर्व वीर कर्मों को (प्र ब्रूहि) कहाकर इससे वह और भी उत्तेजित होकर वीरता दिखावे क्योंकि वह ही (उक्थैः नव्यः) उत्तम वचनों द्वारा स्तुति के योग्य है ।

परमेश्वर के पक्ष में—(युधे) अपने भीतरी शत्रुओं से संग्राम करने के लिये (आयुधानि इष्णानः) उपायों को करता हुआ (शत्रून् ऋघायमाणः निरिणाति) आत्मा के बल को काटने वाले काम, क्रोध आदि को विनाश करता हुआ आगे बढ़ता है। तब इस परमेश्वर के ही पूर्व के सृष्टि रचना आदि कर्मों की स्तुति करे, क्योंकि वह ही (नव्यः उक्थैः) स्तुति-वचनों से स्तुति के योग्य है।

अस्येदु भिया गिरयश्च दृळ्हा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद् वीर्याय नोधाः ॥१४॥

भा०—(अस्य इत् भिया) इसके ही भय से (गिरयः च दृढाः) समस्त पर्वत दृढ़ होकर बैठे हैं। (अस्य जनुषः च भिया) इस सर्वोत्पादक परमेश्वर के ही बल से (द्यावा च भूमा) आकाश और भूमि दोनों लोक (तुजेते) चल रहे हैं, कांपते हैं। (वेनस्य) इसी प्रज्ञावान् मेधावी, कान्तिमान् परमेश्वर के (ओणिं) रक्षा की (उपो जोगुवानः) नाना प्रकार से प्रार्थना करता हुआ (नोधाः) स्तुतिशील पुरुष (सद्यः वीर्याय भुवत्) शीघ्र ही वीर कर्म करने के लिये समर्थ होजाता है।

अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद् वव्ने भूरेरीशानः ।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥१५॥

भा०—(एषाम्) इन समस्त लौकिक पदार्थों में से (त्यत्) वही अलौकिक, सर्वोत्तम पदार्थ (अस्मै इत्) इस परमेश्वर को (अनुदायि) समर्पित किया जाता है (यत्) जिसको वह (एकः) एकमात्र (भूरेः) बहुत भारी ऐश्वर्य का (ईशानः) स्वामी होकर (वव्ने) स्वीकार करता है, मांगता है। (इन्द्रः) वह परमेश्वर ही (सौवश्व्ये सूर्ये) उत्तम अश्वों, इन्द्रियों से युक्त (सूर्ये) सूर्य के समान तेजस्वी पद के निमित्त (पस्पृधानं) स्पर्धा करते हुए उस पद को प्राप्त करने में यत्नशील (सुष्विम्) उत्तम

यत्नशील (एतशं) आवागमनकारी जीव आत्मा को (प्र आवत्) अच्छी प्रकार रक्षा करता है।

सूर्य के पक्ष में-(इन्द्रः) वायु, सौवश्व्ये सूर्ये पस्पृधानं सुष्विन् एतशं प्रावत्) उत्तम रश्मियों से युक्त सूर्य के प्रकाश में स्पर्धा करने वाले 'एतशं' उत्तम जल वर्षी मेघ की रक्षा करता है।

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥१९॥

भा०—हे (हारियोजन) ज्ञानी पुरुषों को योग द्वारा साक्षात् करने योग्य समस्त सूर्यों को प्रेरणा करने हारे ! हे (इन्द्र) परमेश्वर ! वेगवान् पदार्थों और प्राणों को युक्त करने वाले ! आत्मन् ! (ते एव) तेरे ही लिये (गोतमासः) उत्तम वेदवाणी में निष्ठ विद्वान् पुरुष (सुवृक्ति) उत्तम हृदय हारि (ब्रह्माणि) वेद मंत्रों और ब्रह्मज्ञान के वचनों का (अक्रन्) साक्षात् करते हैं (एषु) उनमें ही तू (विश्वपेशसं धियं) नाना मनोहर स्वरूप वाली धारणावती बुद्धि को (धाः) प्रदान करता है। वह इन्द्र, (प्रातः) प्रातःकाल ही (धियावसुः) समस्त कर्मैश्वर्यवान्, परमेश्वर (मक्षू) यथा शीघ्र (आजगम्यात्) ज्ञान करने योग्य, प्रत्यक्ष एवं उपासना करने योग्य है। अथवा वही हमें नित्य प्रातः प्राप्त हो।

[३६] ईश्वर स्तुति

भरद्वाज ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। षडर्चं सूक्तम् ॥

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्॥१

भा०—जो परमेश्वर (एक इत्) एकमात्र (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के लिये (हव्यः) स्तुति करने योग्य है, (तम् इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान

परमात्मा को (आभिः गीर्भिः) इन वाणियों से (अभि अर्च) साक्षात् स्तुति करता हूं। (यः) जो (वृषभः) सब सुखों की वर्षा करने हारा और वृषभ के समान (वृष्ण्यावान्) समस्त बल वीर्यों से युक्त, (सत्यः) सत्यस्वरूप, (सत्वा) सत् पदार्थों का स्वामी, (सहस्वान्) परमशक्तिमान्, (पुरुमायः) पूर्ण ज्ञानवान्, एवं (पुरुमायः) अनेक निर्माणकारिणी शक्तियों से युक्त, एवं अनेक विध अद्भुत आश्चर्यजनक शक्तियों से युक्त (पत्यते) जाना जाता है।

तमु॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरो॒ नव॑ग्वाः स॒प्त विप्रा॑सो अ॒भि वा॒जय॑न्तः ।
न॒क्ष॒द्दा॒भं तत॑ुरिं पर्वते॒ष्ठामद्रो॑घवाचं म॒तिभि॒ः शवि॑ष्ठम् ॥२॥

भा०—(नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पालक, (नवग्वाः) नव स्तुति-वाणियों को उच्चारण करने वाले, (सप्त) सप्त, सातों प्राण जिस प्रकार आत्मा की उपासना करते हैं उसी प्रकार उनके समान परमात्मा की उपासना करने और उसके प्रति ज्ञानमार्ग से सर्पणशील, (विप्रासः) परम मेधावी, (तम उ अभि वाजयन्तः) उसी का ही साक्षात् ज्ञान लाभ करते हुए स्तुति किया करते हैं। वे (नक्षद्-दाभम्) व्याप्त दोषों और शत्रुओं के नाशक, दुःखों से तारक (पर्वतेष्ठाम्) पर्वत पर स्थिर सर्वोच्च (अद्रोघवाचम्) द्रोह रहित वाणी के या आज्ञा के देने वाले, अनुलंघनीय आज्ञा के दाता (शविष्ठम्) अतिबलशाली, शक्तिमान् उस इन्द्र को (मतिभिः) मनन योग्य स्तुतियों द्वारा मनन करते हैं।

तमी॑मह॒ इन्द्र॑मस्य रा॒यः पु॑रु॒वीर॑स्य नृ॒वतः॑ पुरु॒क्षोः ।
यो अस्कृ॑धोयुर॒जरः॒ स्व॑र्वा॒न् तमा भ॑र हरिवो माद॒यध्यै॑ ॥३॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (अस्कृधोयुः) सदा अविनाशी, अखण्ड, महान्, (अजरः) अजर, (स्वर्वान्) सुखमय लोकों का स्वामी है। हे (हरिवः) वेगवान् शक्तियों के स्वामिन् ! तू (मादयध्यै) समस्त जीवों

को तृप्त करने के लिये (तत्) वह अपूर्व ऐश्वर्य (आ भर) हमें प्राप्त करा। हम लोग (अस्य) इस (पुरु वीरस्य) बहुतसे वीर पुरुषों से युक्त, (नृवतः) मनुष्य सेवकों से युक्त, (पुरुक्षोः) बहुतसी अन्न समृद्धि से युक्त (रायः) ऐश्वर्य, राज्यादि की (तम् इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर से (ईमहे) याचना करते हैं।

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनुशुः सुम्नमिन्द्र ।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से रक्षक रूप में बुलाये जाने, नित्य स्मरण करने योग्य! हे (पुरुवसो) बहुत ऐश्वर्यों से युक्त! एवं बहुत से लोकों में बसने और बहुतों को बसाने में समर्थ! हे (खिद्वः) शत्रुओं के खेदजनक या समस्त दुःखों के विनाशक या सबको दीन विनीत करनेहारे! हे (दुध्र) दुर्धर! अजेय! (यदि) जिस प्रकार से (पुराचित्) पहले भी (जरितारः) तेरे स्तुतिकर्त्ता विद्वान् पुरुष (ते सुम्नम्) तेरे सुखकारी ऐश्वर्य को (आनशुः) प्राप्त करते थे (नः) हमें (इत् वि वोचः) उसका विशेष रूप से उपदेश कर। (असुरघ्नः) असुरों के विनाश करने वाले (ते) तेरा (कः भागः) कौनसा भाग है? और (किं वयः) तेरा उपादेय अन्न या बल क्या है?

तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः ।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ ॥५॥

भा०—(यस्य) जिस विद्वान् की (वेपी) क्रिया शक्ति से युक्त, बलवती, (वक्वरी) ज्ञानोपदेश करने वाली (गीः) वाणी (तम्) उस (वज्रहस्तं) वज्र हाथ में लिये (रथेष्ठाम् इन्द्रम्) रथ पर स्थित सेनापति के समान ज्ञानवज्र हाथ में लिये, रसमें, परमानन्द में स्थित इस ऐश्वर्यवान् आत्मा के विषय में (पृच्छन्ती) प्रश्न करती हुई, जिज्ञासा करती हुई, (तुविग्राभम्)

बहुतसे लोकों काग्रहण करने वाले, उनके वशीकर्त्ता, (तुविकूर्मिम्) बहुत से कर्मों के करनेहारे, विश्वकर्मा (रभोदाम्) बलप्रद, ज्ञानप्रद इन्द्र की (गातुम्) स्तुति करना (इषे) चाहती है वही पुरुष (तुम्रम्) उस सर्वव्यापक को (अच्छ) भली प्रकार (नक्षते) प्राप्त करता है ।

अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन ।
अच्युता चिद् वीलिता स्वोजो रुजो वि दृह्ला धृषता विरप्शिन् ॥६॥

भा०—हे (स्वतवः) स्वयं बलस्वरूप ! इन्द्र ! परमेश्वर ! (अया) इस प्रत्यक्ष (मायया) माया, प्रकृति की शक्ति से (वावृधानं) बढ़ने वाले (त्यं) उस शत्रु के समान अज्ञान आवरणको (मनोजुवा) मन से ग्राह्य (पर्वतेन) पर्ववत् या पालनकारी ज्ञानवज्र से (विरुजः) विविध प्रकार से नाश कर । और हे विरप्शिन् ! हे महान् ! (अच्युता) न च्युत होने वाली, (वीलिता) हृष्ट पुष्ट अङ्ग वाली (दृह्ला) दृढ़ सेनाओं को हे (स्वोजः) उत्तम बलशालिन् ! तू (धृषता) शत्रु को धर्षण करने वाले बल से (वि रुजः) विनाश कर ।

राजा के पक्ष में—(अया मायया वावृधानं त्यं) इस प्रकार की माया से बढ़ते हुए शत्रु को तू (मनोजुवा पर्वतेन) मनोवेग से चलने वाले वज्र से नाश कर । हे विरप्शिन् ! महान् ! धर्षणशील सामर्थ्य या वज्र से (अच्युता वीलिता विरुजः) दृढ़ सेनाबलों का भी विनाश कर ।

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत् परितंसयध्यै ।
स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि ॥७॥

भा०—(वः) आप लोग (तं) उस (शविष्ठं) अति शक्तिशाली (प्रत्नं) अति पुराण पुरुष को (प्रत्नवत्) पुरातन विद्वानों के समान ही हे मनुष्यो ! (परि तंसयध्यै) स्तुतियों से अलंकृत करने का यत्न करो । (सः) वह (सुवह्मा) उत्तम पदतक पहुंचाने में समर्थ, एवं समस्त उत्तम

पद और पदार्थों को धारण करने वाला, (इन्द्रः) महाराजा के समान महान् ऐश्वर्य युक्त परमेश्वर (अनिमानः) अनन्त बलशाली होकर (विश्वानि) समस्त (दुर्गहाणि) कठिनता से पार किये जाने योग्य, दुर्गम संकटों से (अति वक्षत्) पार कर देता है ।

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोन्तरिक्षा ।
तपा वृषन् विश्वतः शोचिषा तान् ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥८॥

भा०—हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षण करने हारे ! तू (द्रुह्वणे जनाय) द्रोहशील पुरुष के संताप के लिये (पार्थिवानि दिव्यानि अन्तरिक्षा) पृथिवी, आकाश और अन्तरिक्ष के पदार्थों को भी (आदीपय) खूब अच्छी प्रकार प्रज्वलित कर, (तान्) उन द्रोही पुरुषों को (शोचिषा) ज्वालामय तेज से (विश्वतः तप) सब ओर से संतप्त कर । (ब्रह्मद्विषे) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुषों के शत्रु के लिये (क्षाम् अपः च) पृथिवी और जलों को भी (शोचय) शप्त कर । वे उसको सुखकारी न होकर कष्टदायी हों ।

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक् ।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥९॥

भा०—हे (अजुर्य) अविनाशिन् ! नित्य ! परमेश्वर ! तू (दिव्यस्य जनस्य) ज्ञानयुक्त जन्तुओं या मनुष्यों को और (पार्थिवस्य) पृथिवी पर उत्पन्न (जगत्) जंगम प्राणी संसार का भी (राजा भुवः) राजा है । हे (त्वेषसंदृक्) उज्ज्वल तेजस्वी चक्षु वाले या स्वतः तीक्ष्ण तेजस्विन् ! हे (इन्द) इन्द्र ! राजन् ! प्रभो ! तू (दक्षिणे हस्ते) दायें हाथ, क्रियामय गतिप्रद साधन में (वज्रं धिष्व) वज्र, वीर्य को धारण कर । (विश्वाः मायाः) तू समस्त मायाओं, प्रज्ञाओं को (विदयसे) विविध प्रकार से धारण करता है । अथवा (विश्वाः मायाः) समस्त छलों को (विदयसे) विविध प्रकार से नाश करता है ।

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्ति शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥१०॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (नः) हमें (शत्रुतूर्याय) शत्रु के नाश के लिये (अमृध्राम्) अविनाशी (बृहताम्) बड़ी भारी (संयतम्) सुसंयत, एक साथ मिलकर गमन करने वाली (सु=अस्ति) उत्तम कल्याणकारिणी सम्पत्ति को (आ करः) रच, बना (यया) जिससे, हे (वज्रिन्) शक्तिधर ! तू (दासानि) दूसरों के विनाशकारी, दुष्ट (वृत्रा) विघ्नकारी शत्रु पुरुषों को (आर्याणि करः) आर्य, श्रेष्ठ स्वामिवत् बनाता है और जिससे (सुतुका नाहुषाणि करः) मनुष्य प्रजाओं को उत्तम पुत्र पौत्र सहित, फला फूला बनाता है ।

स नो नियुद्भिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गहि प्रयज्यो ।
न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मद्र्यद्रिक् ॥११॥

भा०—हे (पुरुहूत) बहुतों से कष्ट दशा में पुकारे जाने योग्य ! सर्वरक्षक ! हे (वेधः) सर्वविधातः ! हे (प्रयज्यो) उत्कृष्ट सर्वोच्च प्रभो ! तू (विश्ववाराभिः) सबसे वरण करने योग्य, सब कष्टों को वारण करने वाली, उन (नियुद्भिः) युद्धकारिणी शत्रु सेनाओं, शक्तियों से (आगहि) हमें प्राप्त हो । (याः) जिनको (अदेवः) अदानशील पुरुष कभी (न वरते) नहीं रख सकता । और (देवो न वरते) केवल इन्द्रियक्रीड़ा का व्यसनी पुरुष भी (न वरते) नहीं रखता । (आभिः) उन सहित तू (तूयम्) शीघ्र ही (मद्र्यद्रिक्) मेरी ओर कृपादृष्टि करता हुआ (आ याहि) आजा ।

[३७] राजा के कर्त्तव्य और परमात्मा के गुण ।

वसिष्ठ ऋषिः । त्रिष्टुभः । एकादशर्चं सूक्तम् । इन्द्रो देवता ॥

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः ।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥१॥

भा०—(यः) जो तू हे इन्द्र ! राजन् ! प्रभो ! (तिग्मशृङ्गः वृषभः न) तीक्ष्ण सींगों वाले बैल के समान (भीमः) अति भयंकर (एकः) अकेला ही तू (विश्वाः कृष्टीः) समस्त मनुष्यों को, (प्रच्यावयति) मार गिराता है। (यः) और जो (शश्वतः अदाशुषः) कभी भी न देने वाले कंजूस पुरुष के (गयस्य वेदः) घर का धन (सुष्वितराय) उत्तमदाता को (प्रयन्तासि) प्रदान करता है।

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा/ समर्ये ।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्य/स्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) तू (तन्वा) अपने विस्तृत बल से या स्वयं (शुश्रूषमाणः) सेवा करता हुआ (समर्ये) संग्राम में और यज्ञ में (त्यत्) समय २ पर (कुत्सम्) शत्रु नाशकारी पुरुष को (आ अवः) सब प्रकार से रक्षा करता है। (यत्) जब (अस्मै) इस (दासं) प्रजा के नाशक, (शुष्णं) प्रजा के शोषक और (कुयवं) कुत्सित संगति वाले पुरुष को (अस्मै) इस (अर्जुनेयाय) अर्जुनी अर्थात् पृथ्वी के हित-कारी पुत्र के समान प्रजा के लिये (शिक्षन्) दण्डित करता हुआ (अर-न्धयः) वश करता है।

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम् ।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम् ॥३॥

भा०—हे (धृष्णो) शत्रुओं के धर्षण करने में समर्थ ! इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् प्रभो ! तू (धृषता) अपने धर्षण सामर्थ्य या शत्रुनाशक वज्र से (विश्वाभिः ऊतिभिः) अपने समस्त रक्षाकारी सेनाओं से (सुदासं) शोभन, कल्याण दानशील, (वीतहव्यं) पवित्र अन्न के प्राप्त करने वाले पुरुष को (प्र अवः) उत्तम रीति से रक्षा करता है। और (क्षेत्रसाता) क्षेत्र के प्राप्ति के लिये ये (वृत्रहत्येषु) विघ्नकारी पुरुषों के विनाश करने के

कार्यों में (पूरुम्) प्रजा के पालक (पौरुकुत्सिम्) बहुत से शत्रु नाश करने वाले (त्रसदस्युम्) चोर डाकुओं में त्रासभय उत्पन्न करने वाले वीर पुरुषों की भी (प्र अवः) अच्छे प्रकार रक्षा करता है ।

त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि ।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु ॥४॥

भा०—हे (नृमणः) नेता पुरुषों द्वारा मनन, चिन्तन करने योग्य परम प्रभो ! हे (हर्यश्व) वेगवती महान् शक्तियों में व्यापक (देववीतौ) विजयशील पुरुषों के एकत्र संग्राम में जिस प्रकार राजा (भूरीणि) बहुत से शत्रुओं का नाश करता है उसी प्रकार तू (देववीतौ) देवों, प्राणों के एकत्र भोग के अवसर में (भूरीणि) बहुत से (वृत्राणि) विघ्नों को (हंसि) विनाश करता है । तू ही (दस्युं) प्रजा के नाशक चोर डाकू को (चुमुरिम्) प्रजा के धनको हड़प जाने वाले, (धुनिम्) प्रजा को त्रास देने वाले पुरुषों को और (दभीतये) शत्रु नाशक पुरुष के लिये उनको (सुहन्तु) अच्छे आयुध सम्पन्न होकर (नि अस्वापयः) सर्वथा सुलादे ।

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत् पुरो नवतिं च सद्यः ।
निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥५॥

भा०—हे (वज्रहस्त) ज्ञानरूप वज्र को हाथ में धारण करने हारे ! (तव) तेरे (तानि) वे (च्यौत्नानि) शत्रुओं को पद दलित करनेवाले बल हैं (यत्) जिनसे (नव नवतिं च पुरः) ९९ पुरों को नाश करने में (सद्यः) शीघ्र ही सफल होता है और (शततमा) सौवें (निवेशने) आश्रयस्थान में (अविवेषीः) प्राप्त हो जाता है और (वृत्रम्) ज्ञानके आवरण कारी (नमुचिम्) अमोच्य, अनादि वासनाबन्धों को (अहन्) विनाश करता है ।

सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे ।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम् ॥६॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (रातहव्याय) अन्नादि भोग्य पदार्थों के त्यागी (दाशुषे) दानशील, (सुदासे) कल्याणमय दातव्य पदार्थों के स्वामी पुरुष के लिये (ते) तेरे (सना) अनादि सिद्ध (ता) वे २ अनेक (भोजनानि) भोग योग्य ऐश्वर्य पदार्थ हैं। हे (पुरुशाक) बहुत शक्तिमन् ! (ते वृष्णे) तुझ बलवान् परम पुरुष के प्राप्त करने के लिये (वृषणा) बलवान् (हरी) अश्वों के समान हरणशील वेगवान् प्राण और अपान दोनों को (युनज्मि) योग द्वारा वश करता हूं। और (ब्रह्माणि) ब्रह्म विषयक समस्त ज्ञान और कर्म (वाजम्) वीर्य को (व्यन्तु) प्राप्त करें।

मा ते अस्यां सहसावन् परिष्टावघाय भूम हरिवः परादै ।
त्रायस्व नोऽवृकेभिर्वरूथैस्तव प्रियासः सूरिषु स्याम ॥७॥

भा०—हे (सहसावन्) शक्तिशालिन् ! हे (हरिवः) ज्ञानवन् ! शक्तिशाली पदार्थों के स्वामिन् ! (ते परिष्टौ) तेरी सेवा या आज्ञा पालन के कार्य में (परादै) उचित कर्त्तव्य का परित्याग करके (अघाय) अपराध के दोषी हम (मा भूम) न हों। हे इन्द्र ! तू (नः) हमारी (अवृकेभिः) भेड़ियों के समान, एवं चोर-स्वभाव से रहित, सौम्य और ईमानदार (वरूथैः) सेना बलों से (त्रायस्व) रक्षा कर और हे राजन् ! हम (सूरिषु) विद्वानों के बीच में रहते हुए (तव) तेरे (प्रियासः) प्रिय होकर (स्याम) रहें।

प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः ।
नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ॥८॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (ते अभिष्टौ) तेरी ही इच्छा की अनुकूलता में हम (ते प्रियासः सखायः) तेरे प्रिय मित्र (नरः) जन तेरे (शरणे) शरण में रहकर (मदेम) आनन्द प्रसन्न होकर रहें। तू (तुर्वशं) हिंसकों के वश करने में समर्थ, (याद्वं) प्रयत्नशील, उत्साही पुरुष को (अतिथिग्वाय) पूजनीय पुरुषों के लिये (शंस्यं) प्रशंसनीय कार्य (करिष्यन्) करने की इच्छा करता हुआ (नि नि शिशीहि) खूब तीक्ष्ण कर, उनको शत्रुओं के वध के लिये उत्तेजित कर।

सद्यश्चिन्नु ते मघवन्नभिष्टौ नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था।
ये ते हवेभिर्वि पणीँरदाशन्नस्मान् वृणीष्व युज्याय तस्मै ॥९॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (ते अभिष्टौ) तेरी इच्छा और शासन में रहते हुए (उक्थशासः) ज्ञान वाणियों का उपदेश करने वाले (नरः) नेता लोग (सद्यः चित्) सदा ही (उक्था) ज्ञानों का (शंसन्ति) उपदेश करते हैं। (ते हवेभिः) तेरे युद्धों, संग्रामों द्वारा (ये) जो विद्वान् पुरुष (पणीन्) असुरों को (अदाशन्) वध करते हैं। हे वीर पुरुष (युज्याय) योग द्वारा प्राप्तव्य, (तस्मै) उसकी प्राप्ति के लिये (अस्मान् वृणीष्व) हमें वरण करो।

एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम् ॥१०॥

भा०—हे (नृतम) नरोत्तम ! (तुभ्यम्) तेरे निमित्त (एते नरां स्तोमाः) ये स्तुति समूह या ये प्रजाओं के समूह (अस्मद्र्यञ्चः) हमारे सन्मुख (मघानि ददतः) नाना ऐश्वर्यों का प्रदान करते हैं। हे इन्द्र ! (वृत्रहत्ये) शत्रु के नाश करने में तू (तेषाम् शिवः) उनका कल्याणकारी (सखा) मित्र (भूः) हो और तू (शूरः) शूरवीर होकर (नृणाम्) प्रजाओं का (अविता च भूः) रक्षक हो।

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व ।
उप नो वाजान् मिमीहुप स्तीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ११

भा०—हे (इन्द) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! हे (शूर) शूरवीर ! (ऊती) रक्षा के लिये (स्तवमानः) हमसे स्तुति किया गया तू (ब्रह्मजूतः) ब्रह्म अर्थात् अन्नों द्वारा समृद्ध होकर (तन्वा) अपने शरीर अथवा विस्तृत शक्ति से (वावृधस्व) वृद्धि को प्राप्त कर । (नः) हमें (वाजान्) ऐश्वर्य और अन्न (उपमिमीहि) प्रदान कर, और हमें (स्तीन्) पुत्र पौत्र आदि प्रदान कर । हे देवगण ! राजपुरुषो ! (यूयं) आप लोग (सदा) सदा काल (स्वस्तिभिः) उत्तम साधनों से (नः पात) हमारी रक्षा करें ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[३८] ईश्वर स्तुति प्रार्थना।

१-३ मधुच्छन्दा ऋषिः । ४-६ इरिम्बिठिः काण्वः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । षडृचं सूक्तम् ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! (आयाहि) तू आ । (ते हि सुषुम) तेरे लिये ही हम सोमरस, ऐश्वर्यवान् राष्ट्र ऐश्वर्य को और अध्यात्म में समाधिरस को तैयार करते हैं (इमम् सोमम् पिब) इस सोम रस, 'सोम' अर्थात् राज्यपद का पानकर, भोग कर । (इदं मम बर्हिः) यह आसन के समान मेरा प्रजामय बृहत् राष्ट्र है । इस पर (आसदः) आकर विराजमान हो ।

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! इन्द्र! (त्वा) तुझको (ब्रह्मयुजा) परब्रह्म महान् शक्ति के साथ योग द्वारा युक्त होने वाले (केशिना हरी) केशों वाले घोड़ों के समान रश्मियों वाले प्राण और अपान (त्वा वहताम्) तुझे प्राप्त करें। तू (नः) हमारे (ब्रह्माणि) ब्रह्मज्ञान विषयक वेदमन्त्रों का (शृणु) श्रवण कर।

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः।
सुतावन्तो हवामहे ॥३॥ ऋ० ८।१७।१॥

भा०—(वयम् ब्रह्माणः) हम ब्रह्म-वेद और ब्रह्मतत्व के जाननेहारे विद्वान् लोग (युजा) योग अभ्यास द्वारा हे (इन्द्र) इन्द्र! आत्मन्! (सोमिनः) ब्रह्मरस रूप सोम को प्राप्त करने वाले और (सुतावन्तः) प्राप्त समाधि-रस से सम्पन्न होकर (सोमपाम्) समस्त सोमरस का पान या पालन करने वाले (त्वा) तेरी हम (हवामहे) स्तुति करते हैं।

राष्ट्रपक्ष में—हम (सोमिनः) सोम, राष्ट्र को धारण करने में समर्थ (सुतावन्तः) प्राप्त ऐश्वर्य या ज्ञान से युक्त (ब्रह्माणः) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुष अपने (युजा) सहयोग से (सोमपाम् त्वाम्) राष्ट्र के पालक तुझको (हवामहे) स्तुति करते या तुझे आज्ञा करते हैं।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥ ऋ० १।७।१॥

भा०—हे (गाथिनः) ब्रह्म-स्तुतियों का गान करनेहारे और (अर्किणः) अर्चनाशील विद्वान् पुरुषो! आप लोग (इन्द्रम् इत्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् आत्मा को ही (अर्केभिः) स्तुति वचनों से (बृहत्) महान् बतलाते हो। उसी (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् आत्मा को (वाणीः) समस्त वेदवाणियां (अनूषत) स्तुति करती हैं।

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥ ऋ० १। ७। २ ॥

भा०—(इन्द्रः इव) ऐश्वर्यवान् आत्मा ही (वचोयुजा) वाणी या वाक् शक्ति से बन्धे हुए (हर्योः) हरणशील प्राण और अपान के (सचा) साथ २ (आ संमिश्लः) खूब स्वामित्व रहकर व्याप्त है। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा ही (वज्री) ज्ञान, वैराग्य द्वारा समस्त बन्धनों को वर्जन करने के सामर्थ्य रूप वज्र से युक्त, खड्गहस्त, शत्रुदमनकारी राजा के समान (हिरण्ययः) अति अधिक रमणीय स्वरूप वाला, कान्तिमान् तेजस्वी है।

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥ ऋ० १। ७। ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (दीर्घाय) सुदीर्घ, सुदूर देश तक (चक्षसे) देखने के लिये ही (सूर्यम्) सूर्य को (दिवि आरोहयत्) द्यौ, आकाश में बहुत ऊंचे स्थापित करता है। और वही (गोभिः) अपनी किरणों से (अद्रिम्) मेघ को (वि ऐरयत्) विविध प्रकार से चलाता है।

अध्यात्म में—(इन्द्रः) ज्ञानी आत्मा, पुरुष दीर्घ दृष्टि को प्राप्त करने के लिये (सूर्यम्) सर्वप्रेरक सूर्य के समान तेजस्वी प्राण को (दिवि) मूर्धा स्थान में चढ़ा लेता है। और वही (गोभिः) प्राणों के बल से (अद्रिम्) न विदीर्ण होने वाले अविनाशी आत्मा को ही (वि ऐरयत्) विविध रूपों से चलाता है।

राजा के पक्ष में—इन्द्र राजा (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घ दर्शन, दूरदर्शिता के लिये (सूर्यं दिवि आरोहयत्) सूर्य के समान ज्ञानी, तेजस्वी पुरुष को उच्च पद पर स्थापित करता है। और (गोभिः) अपनी आज्ञाओं

(श्रा द्रिम्) अखण्ड राष्ट्र का या सेनाबल का (वि ऐरयत्) विविध रीति से संचालन करता है ।

[३६] ईश्वर और राजा ।

१ मधुच्छन्दाः २–५ इरिम्बिठिश्च ऋषी । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥ ऋ० १ । ७ । १० ॥

भा०—(वः जनेभ्यः) तुम प्रजाजनों के लिये (विश्वतः परि) सब से ऊपर विद्यमान राजा के समान सर्वहितकारी (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की हम (परि हवामहे) स्तुति करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वही (केवलः) केवल एकमात्र सुख स्वरूप (अस्माकम् अस्तु) हमारा आश्रय हो ।

व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥२॥ ऋ० ८ । १४ । ७ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र वायु (यत्) जब (वलम्) आवरणकारी मेघ को (अभिनत्) भेदता है, छिन्न भिन्न करता है और जब (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (वलम्) नगर रोंधने वाले शत्रु को छिन्न भिन्न करता है तब वह मानो (सोमस्य मदे) सोम, सर्वप्रेरक सूर्य के हर्ष में वायु (अन्तरिक्षम् वि अतिरित्) अन्तरिक्ष को व्याप लेता है । और इसी प्रकार वह राजा (सोमस्य मदे रोचना) राष्ट्र के समृद्धि के हर्ष में तृप्त होकर, अति कान्तिमान होकर (अन्तरिक्षम्) शत्रु और अपने बीच के समस्त राजागण को (वि अतिरत्) विविध उपायों से पराजित करता है ।

अध्यात्म में—(इन्द्रः यत् वलम् अभिनत्) इन्द्र, ज्ञानी आत्मा जब आवरणकारी अज्ञान रूप तम का नाश करता है तब (सोमस्य मदे रोचना)

सोम, सर्वप्रेरक ब्रह्मरस के हर्ष से अति उज्ज्वल होकर (अन्तरिक्षम्) अपने अन्तःकरण को (वि अतिरत्) विविध रूप से वश करता है।

उद् गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः ।
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥३॥ ऋ० ८ । १४ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्य सम्पन्न, परमेश्वर (अङ्गिरोभ्यः) ज्ञानवान पुरुषों के लिये (गुहा सतीः) गुहा, अन्तःकरण में विद्यमान (गाः) वेद-वाणियों को (उत् आविः कृण्वन्) ऊपर प्रकट करता हुआ ही (वलम्) अन्तःकरण को घेरने वाले अज्ञान को (अर्वाञ्चं नुनुदे) नीचे गिरा देता है। दूर कर देता है।

अध्यात्म योगी—(अङ्गिरोभ्यः गा आविः कृण्वन्) अङ्ग में, देह में रसरूप से प्रवाहित होने वाले प्राणों से (गुहा सतीः) अन्तःकरण में विद्यमान (गाः) वाणियों को या ज्ञान वृत्तियों को प्रकट करता हुआ आवरणकारी अज्ञान को नाश कर देता है। राजा (अङ्गिरोभ्यः) अंगारों के समान तीव्र दाहक वीर भटों को अपने भीतर विद्यमान आज्ञाएं देकर (वलम्) नगर रोधी शत्रु को मार गिराता है।

इन्द्रेण रोचना दिवो दृल्हानि दृंहितानि च ।
स्थिराणि न पराणुदे ॥४॥ ऋ० ८ । १४ । ९ ॥

भा०—(इन्द्रेण) परमेश्वर ने (दिवः) आकाश के (रोचना) प्रकाशमान सूर्य (दृढानि) दृढ़, अभेद्य बनाये और (दृंहितानि च) उन को दृढ़ता से स्थापित किया है। वे अपने स्थान और मार्ग से नहीं विचलित होते। वे (न पराणुदे) फिर न परे हटने के लिये ही (स्थिराणि) स्थिर किये गये हैं। इसी प्रकार अध्यात्म में—(दिवः) ज्ञानमार्ग में (रोचना) प्रकाशित सिद्धान्त ज्ञानी आत्मा स्थिर सत्यों को स्थापित करता है। और वे (न पराणुदे स्थिराणि) न त्यागने के लिये स्थिर किये जाते

हैं। राजपक्ष में—(इन्द्रेण दिवः रोचना) राजा अपने उत्तम राज्य के उच्च कोटि पर विराजमान पदाधिकारियों को दृढ़ मजबूत बनाता और स्थिर नियत करता है। (न प्रणुदे) शत्रुओं से पराजित न होने के लिये ही उनको स्थिर नियत करता है।

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।

वि ते मदा अराजिषुः ॥५॥ ऋ० ८ । १४ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! प्रभो! (स्तोमः) तेरा स्तुति समूह अथवा तेरा वीर्य, सामर्थ्य अथवा तेरा बड़ा स्वरूप (मदन्) अति हर्षित मानो (अपाम् ऊर्मिः इव) जलों के तरङ्ग के समान (अजिरायते) वेग से बराबर बढ़ा करता है। (ते मदाः) तेरे हर्ष या आनन्द तरङ्ग (वि अराजिषुः) विविध रूपों में प्रकट होते हैं।

वीर्यं वै स्तोमाः । तां० २।५।४॥ यज्ञो वै स्तोमः । श० ८।४।३।२॥

मदः—यो वा ऋचि मदो यः सामन् रसो वै सः। श० ४।३।३।१५ ॥

[४०] आत्मा और राजा ।

मधुच्छन्दा ऋषिः । मरुतो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा ।

मन्दू समानवर्चसा ॥१॥ ऋ० १ । ६ । ७ ॥

भा०—हे वीर पुरुष! (अबिभ्युषा) न डरने वाले, निर्भीक (इन्द्रेण) राजा या सेनापति इन्द्र के साथ (संजग्मानः) संगत होकर तू (सं हि दृक्षसे) बड़ा अच्छा दिखाई देता है। तुम दोनों (समान वर्चसा) एक समान तेजस्वी होकर (मन्दू) अति आनन्द देने वाले हो।

अध्यात्म में—हे जीव तू (अबिभ्युषा) अभय परमेश्वर के साथ (संजग्मानः सं हि दृक्षसे) संगत होकर बड़ा अच्छा प्रतीत होता है तुम

दोनों जीव परमेश्वर समान तेजस्वी होकर (मन्दू) अन्तःकरण को तृप्त करने वाले हों ।

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति ।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥२॥ ऋ० १ । ६ । ८ ॥

भा०—ऐश्वर्यमय राष्ट्र रूप, (सहस्वत्) अति बलशाली (मखः) यज्ञ (इन्द्रस्य काम्यैः) इन्द्र को अति प्रिय लगने वाले (अनवद्यैः) दोष रहित, अनिन्द्य, (अभिद्युभिः) तेजस्वी (गणैः) गणों सहित विराजमान (इन्द्रस्य) इन्द्र की (अर्चति) स्तुति करता है । अथवा यज्ञ इन्द्र को प्रिय लगने वाले (गणैः) ऋचा समूहों से उसकी स्तुति करता है ।

एष वै मखो य एष तपति । श० १४ । १ । ३ । ५ ॥

(सहस्वत् मखः) शत्रु को पराजय करने वाले बल से युक्त सूर्य के समान तापकारी सेनापति (अनवद्यैः अभिद्युभिः काम्यैः गणैः सह) निर्दोष, तेजस्वी, कान्तिमान् भटगणों के साथ (इन्द्रस्य अर्चति) इन्द्र का ही आदर सत्कार करता है ।

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥३॥ ऋ० १ । ६ । ४ ॥

भा०—(आत्) देह से मुक्त होजाने के पश्चात् (अह) भी (स्व-धाम् अनु) अपने शरीर धारण सामर्थ्य, (स्व-धाम्) अपनी धारित प्रवृत्ति या इच्छा के (अनु) अनुसार वे (यज्ञियं) अपने आत्मानुरूप (नाम) स्वरूप को (दधाना) धारण करते हुए (पुनः) फिर भी (गर्भत्वम्) गर्भ को (एरिरे) प्राप्त होते हैं । पुनः जन्म लेते हैं ।

[४१] आत्मा ।

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रो॑ दधी॒चो अ॒स्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुतः ।

ज॒घान॑ नव॒तीर्नव॑ ॥१॥ ऋ० १ । ८४ । १३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा (दधीचः अस्थभिः) ध्यान-शील मन या वीर्य धारण में समर्थ शरीर की (अस्थभिः) रोगादि विघ्नों को दूर फेंकने वाली शक्तियों से (अप्रतिष्कुतः) किसी से भी पराजित न होकर (नव नवतीः) ९९ (वृत्राणि) परिवर्त्तनशील वर्षों को (जघान= गच्छति) व्यतीत करता है । अर्थात् यह जीव ध्यान योग से और उत्तम शरीर के बल वीर्य की रक्षा से ९९ वर्ष व्यतीत कर १०० वर्ष का आयु व्यतीत करता है ।

अथवा—योग पक्ष में-(इन्द्रः) इन्द, आत्मा (दधीचः) ध्यान द्वारा आहृत्य प्रभु की (अस्थभिः) तमोनाशक शक्तियों द्वारा (अप्रतिष्कुतः) किसी से पराजित न होकर (नव नवतीः=९ X ९०=८१०) ८१० (वृत्राणि) ज्ञान के आवरणकारी विघ्नों का (जघान) नाश करता है ।

आत्मा की शक्ति प्राकृतिक तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार की । त्रिकाल भेद से ९ प्रकार की । प्रभाव, मन्त्र, उत्साह इन तीन शक्ति भेद से २७ प्रकार की । पुनः सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों के सम विषम भेद से ८१ प्रकार की, दश दिशा भेद से ८१० प्रकार की होजाती है । इतनी शक्तियों से आत्मा इतनी ही व्युत्थान वृत्तियों का नाश करता है ।

इ॒च्छन्नश्व॑स्य॒ यच्छिरः॒ पर्व॑ते॒ष्वप॑श्रितम् ।

तद्वि॑दच्छर्य॒णाव॑ति ॥२॥ ऋ० १ । ८४ । १४ ॥

भा०—(अश्वस्य) व्यापक आत्मा का (यत्) जो (शिरः) शिर के समान मुख्य अंश (पर्वतेषु) पर्व वाले, या पोरु वाले शरीर या मेरु दण्ड में (अपश्रितम्) अज्ञानियों की दृष्टि से बहुत दूर, अज्ञात रूप में स्थित है उसको (इच्छन्) प्राप्त करना चाहता हुआ ध्यान योगी पुरुष

(तत्) उसको (शर्यणावति) शर्यणा अर्थात् चेतना से सम्पन्न अपने हृदय मस्तक भाग में ही ध्यान योग से (विदत्) उसका प्राप्त करता है।

दधीचि की कथा का रहस्योद्भेद देखो साम० अ० । प्र० ३ । २ । ८ । अथि० सं० ७४१ । १ ॥

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥ ऋ० १ । ८४ । १५ ॥

भा०—जिस प्रकार (अत्र) इस (चन्द्रमसः गृहे) चन्द्रमा के गृह, लोक में (त्वष्टुः) उत्पादक सूर्य के (गोः) प्रकाश किरण का (अपीच्यम्) दूर गया हुआ अंश ही (नाम) विद्यमान है उसी प्रकार (चन्द्रमसः गृहे) चन्द्रमा के स्थान में अर्थात् आल्हादजनक सोम चक्र में भी (त्वष्टुः) त्वष्टा अज्ञान के नाशक आत्मा रूप सूर्य के (गोः) प्रकाशक (अपीच्यं नाम) सुगुप्त, स्वरूप प्राप्त है (इत्था) इस प्रकार (अत्र) इस विषय में विद्वान्गण (अमन्वत) जानते हैं।

गृहस्थ पक्ष में-(अत्र ह चन्द्रमसः गृहे) इस शरीर में चन्द्रमा अर्थात् आल्हादजनक के मार्ग में (त्वष्टुः गोः) संगमकारी वीर्यवान्, त्वष्टा, विधाता पुरुष का ही (अपीच्यम् नाम) वीर्य रूप से प्राप्त अंश है जो पुत्ररूप से उत्पन्न होता है। (इत्था अमन्वत) ऐसा ही विद्वान मानते हैं। इसका औपनिषादिक विवरण देखो साम० सं० १४७ ॥

अथवा योगियों के पक्ष में—(अत्र ह चन्द्रमसः गृहे) इस सोम चक्र में (गोः त्वष्टुः) व्यापक सर्वजगत् के कर्त्ता परमेश्वर के (अपीच्यं नाम) भीतर छुपे या अति सुन्दर स्वरूप को (इत्था) साक्षात् वह इस प्रकार का है ऐसा निश्चय पूर्वक (अमन्वत) ज्ञान करते हैं, साक्षात् करते हैं।

[४२] ईश्वर राजा और आत्मा ।

कुरुसुतिः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ।

इन्द्रात् परि तन्वं/ ममे ॥१॥ ऋ० ८ । ७६ । १२ ॥

भा०—(अष्टापदीम्) आठ पदों, ज्ञानस्थानों वाली और (नवस्रक्तिम्) नव प्रकार की रचना वाली, (ऋतस्पृशम्) सत्य का ज्ञान कराने वाली, (तन्वम्) विस्तृत (वाचम्) वाणी को मैं (इन्द्रात्) ज्ञानैश्वर्यवान्, इन्द्र परमगुरु और परमेश्वर से (परिममे) पूर्णतया ज्ञान करता हूं ।

अष्टौ पदानि ज्ञान स्थानानि यस्या सा अष्टापदी । वेदा उपवेदाश्चेत्यष्टौ नवस्रक्तयो रचनाः यस्याः सा । शिक्षा कल्प व्याकरण निघण्टु निरुक्त छन्दो ज्योतिषं धर्मशास्त्रं मीमांसा चेति नवस्रक्तयः ।

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम् ।

इन्द्र यद् दस्युहाभवः ॥२॥ ऋ० ८ । ७६ । ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! (यद्) जब तू (दस्युहा) दस्यु, दुष्ट पुरुषों का नाश कर रहा (अभवः) होता है तो (उभे रोदसी) दोनों लोक (क्रक्षमाणम् त्वा अनु) शत्रु का कर्षण, विनाश या उन्मूलन करते हुए तेरे अनुकूल होकर (अकृपताम्) सदा सामर्थ्यवान् बने रहते हैं ।

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ।

सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥३॥ ऋ० ८ । ७६ । १० ॥

भा०—जिस प्रकार (सुतम्) तैयार किये हुए रसको (पीत्वी) पान करके कोई वीर पुरुष (उत्तिष्ठन्) उठता हुआ (शिप्रे अवेपयः) अपने

४२–'कुरुस्तुतिः' इति क्वचित् ।

दोनों दाढ़ें तृप्त होकर हिलाता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! राजन् ! तू (चमू) अपनी और शत्रु की दो सेनाओं के बीच संग्राम द्वारा (सुतम्) प्राप्त किये हुए (सोम) ऐश्वर्यप्रद राष्ट्र या राजपद को (पीत्वी) प्राप्त करके (शिप्रे) अपने बलशाली सेनाओं को (ओजसा) अपने बल पराक्रम से उठता हुआ (अवेपयः) कंपा।

परमेश्वर या आत्मा के पक्ष में-(चमू) प्राण और अपान दोनों के बीच में (सुतम्) ध्यान योग से प्राप्त (सोमम्) ब्रह्मरस को पान करके हे इन्द्र आत्मन् (ओजसा उत् तिष्ठन्) अपने ज्ञानबल से ऊपर मुक्ति मार्ग में उठता हुआ (शिप्रे अवेपयः) बाह्य और आभ्यन्तर कर्म बन्धनों को कंपाकर झाड़ देता है।

[४३] परमेश्वर से अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य की याचना।

त्रिशोक ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम्॥

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः।
वसु स्पार्हं तदा भर॥१॥ ऋ० ८। ४५। ४०॥

भा०—हे राजन् ! तू (विश्वाद्विषः) समस्त अप्रीतिकर, द्वेष युक्त शत्रुओं को (अप भिन्धि) दूर ही से भेद डाल। उनमें भेद नीति का प्रयोग कर। उनको फोड़ डाल। और (बाधः) बाधा या पीड़ा पहुंचाने वाले (मृधः) संग्रामकारी सेनाओं को (परि जहि) सब प्रकार से विनाश कर और (स्पार्हं) अभिलाषा करने योग्य (तत् वसु) उन नाना ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा।

यद् वीलाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदा भर॥२॥ ऋ० ८। ४५। ४१॥

भा०—(यत्) जो ऐश्वर्य, बल, धैर्य और ज्ञान (वीलौ) वीर्यवान् बलवान् पुरुष में (यत् स्थिरे) और जो बल या ऐश्वर्य स्थिरता रहने वाले और

(यद्) जो ज्ञान ऐश्वर्य (पर्शाने) विवेकशील विद्वान् में (पराभृतम्) दूर २ देशों से ला ला कर संचित होता है (तत्) वह नाना प्रकार का (स्पार्ह वसु) अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य हमें (आभर) प्राप्त करा ।

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति ।

वसु स्पार्हं तदा भर ॥३॥ ऋ० ८ । ४५ । ४२ ॥

भा०—हे प्रभो ! (यस्य) जिस (ते दत्तस्य) तेरे दिये दान (विश्वमानुषः) समस्त संसार का मननशील जीव (वेदति) जानता और प्राप्त करता है (तत्) उस (स्पार्ह वसु) अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य को (आभर) हमें प्राप्त करा ।

[४४] सम्राट् ।

इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः ।

नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥१॥ ऋ० ८ । १६ । १ ॥

भा०—हे विद्वानो ! (चर्षणीनाम् सम्राजम्) समस्त मनुष्यों के सम्राट् (इन्द्र) ऐश्वर्यवान्, (नव्य) स्तुति योग्य, (नरं) सबके नेता, (नृषाहं) सब मनुष्यों को अपने बल से विजय करने वाले, (मंहिष्ठं) सबसे महान् (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (प्र स्तोत) उत्तम रीति से स्तुति करो या उसको (नृषाहं मंहिष्ठं नव्यं इन्द्र) सब मनुष्यों को पराजय करने में समर्थ, स्तुत्य, महान् नेता को (चर्षणीनां सम्राजं प्रस्तोत) सब मनुष्यों के ऊपर सम्राट् रूप से प्रस्तुत करो उसको सम्राट् बनाओ)

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या ।

अपामवो न समुद्रे ॥२॥ ऋ० ८ । १६ । २ ॥

भा०—(समुद्रे) समुद्र में (अपाम्) जलों का (अवः न) जिस प्रकार प्रवाह आता है उसी प्रकार (यस्मिन्) जिस परमेश्वर या प्रभु में

हैं। (विश्वानि) समस्त (अवस्या) कीर्तिजनक (उक्थानि) वचन (रणयन्ति) लगाते हैं, ठीक उपयुक्त होते हैं।

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम्।
महो वाजिनं सनिभ्यः ॥३॥ ऋ० ८ । १६ । ३॥

भा०—(तं) उस (ज्येष्ठराजम्) सबसे बड़े महाराज (भरे कृत्नुम्) संग्राम में शत्रुओं के नाशकारी (महः वाजिनम्) बड़े भारी बलवान्, ऐश्वर्यवान् पुरुष को (सनिभ्यः) बड़े दानों के लिये (सुस्तुत्या) उत्तम स्तुति द्वारा (आ विवासे) उसकी सेवा करता हूं। उसका गुण गान करता हूं।

[४५] आत्मा परमात्मा।

देवरातः शुनः शेप ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम् ॥

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥१॥ ऋ० १ । ३० । ४॥

भा०—(अयम् उ ते) यह साधक आत्मा तेरी ही है। (कपोतः इव) जिस प्रकार (कपोत) कपोत, कबूतर (गर्भधिम्) गर्भ धारण करने में समर्थ कपोती को (सम् अतति) समान रूप होकर प्रेम से उस तक पहुंचता और उससे संग कराता है उसी प्रकार तू हे इन्द्र! तेरी शक्ति को अपने भीतर धारण करने वाले को (सम अतसि) भली प्रकार प्राप्त हो। और तन्मय हो। (तत् चित्) उसी प्रकार (नः वचः) हमारे वचन को भी (ओहसे) तू प्राप्त हो, उसको उसी प्रकार से प्रेम पूर्वक श्रवण कर।

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते।
विभूतिरस्तु सूनृता ॥२॥ ऋ० १ । ३० । ५॥

भा०—हे (राधानां पते) ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! हे (वीर) वीर ! वर्यिवन् ! (यस्य) जिस (ते) तेरा (स्तोत्रं) स्वरूप ही स्तुति करने योग्य है उस तेरी (विभूतिः) विविध प्रकार की ऐश्वर्य सम्पदा ही (सूनृता) शुभ सत्य वाणी स्वरूप (अस्तु) हो । अर्थात् परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वैश्वर्यवान् और सत्य ज्ञानमय है इसी प्रकार आत्मा भी विभूतिमय वीर्यवान् सत्य ज्ञानमय हो ।

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो ।
समन्येषु ब्रवावहै ॥३॥ ऋ० १ । ३० । ६ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त शतक्रतो ! तू (अस्मिन् वाजे) इस संग्राम, या बलयुक्त कार्य में (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (ऊर्ध्वः) सर्वोपरि विराजमान होकर (तिष्ठ) रहे । हम दोनों गुरु शिष्य और स्त्री पुरुष और प्रजा राजा दोनों (अन्येषु) सब प्रजाजन अन्य शत्रुओं के निवारणार्थ (सं ब्रवावहै) परस्पर मिलकर एक दूसरे को उपदेश करें, कथोपकथन करें ।

[४६] आत्मा और राजा

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्त्तारं ज्योतिः समत्सु ।
सासह्वांसं युधामित्रान् ॥१॥ ऋ० ८ । १६ । १० ॥

भा०—(वस्यः) ऐश्वर्य को (अच्छ) प्राप्त करने के लिये (प्रणेतारम्) उत्तम नायक, (समत्सु) संग्रामों और एक आनन्दोत्सवों में (ज्योतिः कर्त्तारम्) ज्ञान प्रकाश और तेज के दिखाने वाले, (युधा) युद्ध द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं को (सासह्वांसम्) पराजय करने हारे पुरुष को हम (अच्छ) प्राप्त करें ।

अध्यात्म में-(वस्यः) देह में बसने वाले प्राण रूप वसुओं में सब से श्रेष्ठ 'वसीयस्' मुख्य प्राण के प्रणेता आत्मा है, जो अति समाधिरस के

अवसरों पर परम आभ्यन्तर ज्योति को उत्पन्न करता है, (युधा) विश्व भावना द्वारा राग-द्वेषादि शत्रुओं को पराजित करता है उसको (अच्छ.) साक्षात् करो। परमेश्वर—समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने वाला, समस्त ज्योतियों का उत्पादक, बाधक शत्रुओं का दलन करता है उसको प्राप्त करो।

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥२॥ ऋ० ८। १६। ११॥

भा०—(सः) वह (पप्रिः) समस्त मनोरथों को और समस्त जगत् को पूर्ण करने वाला एवं स्वयं पूर्ण, सर्वव्यापक परमेश्वर, (पुरुहूतः) प्रजाओं द्वारा याद किये जाने योग्य (नः) हमें (नावा) जैसे केवट नाव से नदी के पार कर देता है उसी प्रकार (स्वस्ति) सुखपूर्वक (विश्वा द्विषः) समस्त शत्रुओं से (अति पारयाति) पार करे।

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च।
अच्छा च नः सुम्नं नेषि ॥३॥ ऋ० ८। १६। १२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (त्वं) तू (नः) हमें (वाजेभिः) अपने पराक्रमों, वीर्यों और ऐश्वर्यों से (दशस्य) रक्षा कर। और (नः) हमें (गातुया च) उत्तम मार्ग से (सुम्नं) उत्तम धन, सुख, (अच्छ नेषि च) प्राप्त कराने के लिये ले चल, मार्ग दर्शा।

[४७] ईश्वर

१-३ सुकक्षः। ४-६, १०-१२ मधुच्छन्दाः। ७-९ इरिम्बिठिः। १३-२१ प्रस्कण्वः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। एकविंशत्यृचं सूक्तम्॥

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥ ऋ० ८। ९३। ७॥

भा०—हम लोग (वृत्राय) बड़े भारी आवरणकारी अज्ञान रूप शत्रु के (हन्तवे) नाश करने के लिये (तम् इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् इस समस्त जगत् के द्रष्टा, अथवा उस साक्षात् दर्शन देने वाले के (वाजयामसि) बल को बढ़ावें । (सः) वह (वृषा) समस्त सुखों का वर्षण करने वाला, बलवान् (वृषभः) वृषभ के समान सबका भार उठाने वाला बड़ा बलशाली (भुवत्) सर्वत्र विद्यमान है ।

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः ।
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥२॥ ऋ० ८ । ९३ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः सः) ऐश्वर्यवान्, वह साक्षात् दर्शनीय परमेश्वर ही (दामने) समस्त पदार्थों के दान देने के लिये (कृतः) बना है । (सः) वह (मदे) परमानन्द रस में (हितः) विद्यमान ही (ओजिष्ठः) सब से बड़ा शक्तिशाली, पराक्रमी है । (सः) वह (द्युम्नी) बड़ा ऐश्वर्य वाला और (सोम्यः) सोम, राष्ट्र के प्राप्त करने योग्य राजा के समान (सोम्यः) सर्वानन्द, रसमय, सबका प्रेरक और उत्पादक है ।

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः ।
ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ९ ॥

भा०—जो (गिरा) वाणी से मानो (वज्रः न) वज्र, बिजुली की कड़क के समान अति भयंकर, (संभृतः) समस्त ऐश्वर्यों और शक्तियों से सम्पन्न, (सबलः) बलवान् (अनपच्युतः) कभी पराजित न होने वाला (अस्तृतः) कभी न मारा जाने वाला नित्य अविनाशी (ऋष्वः) सब शत्रुओं का नाशक होकर (ववक्षे) जगत् और राष्ट्र के भार को धारण करता है ।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥४॥ इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो

वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥ इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥६॥ ऋ० १ । ७ । १-३ ॥

भा०—(४-७) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ३८ । ४-६ ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥ आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ ८ ॥ ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १७ । १-३ ॥

भा०(७-९) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ३ । १-२ तथा २० । ३८ । १-२ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥१०॥ युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥११॥ केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥१२॥ ऋ० १ । ६ । १-३ ॥

भा०—(१०—१२) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । २६ । ४-६ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१३॥ अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः । सूराय विश्वचक्षसे ॥१४॥ अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥१५॥ ऋ० १ । ५० । १-३ ॥

भा०—(१३—१५) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० १३ । २ । १६ -२१॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।

विश्वमा भासि रोचन ॥१६॥ ऋ० १ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक और उत्पादक प्रभो ! तू (तरणिः) सबको पार तराने वाला, (विश्वदर्शतः) विश्व का द्रष्टा, सबको दर्शनीय और (ज्योतिष्कृत् असि) सूर्य के समान ही भीतर भी प्रकाश करने हारा और समस्त सूर्यादि ज्योतियों का उत्पादक (असि) है। हे (रोचन) समस्त संसार के प्रकाशक ! प्रकाशस्वरूप ! तू (विश्वम् आभासि) समस्त विश्व को प्रकाशित करता है और सर्वत्र प्रकाशमान है।

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।

प्रत्यङ् विश्वं स्व/र्दृशे ॥ १७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (देवानां विशः) देवों, विद्वानों और दिव्य सूर्यादि नक्षत्र लोकों में विद्यमान एवं उत्तम गुणों वाली (विशः) प्रजाओं के (प्रत्यङ्) प्रति और (मानुषीः विशः प्रत्यङ्) मननशील मानुष प्रजाओं के प्रति और (विश्वं प्रत्यङ्) समस्त संसार के प्रति साक्षात् (दृशे) दर्शन देने के लिये (स्वः) सुख स्वरूप ही हो। अर्थात् विद्वान्, मननशील सर्व साधारण प्रजाओं को भी साक्षात् दीख जाते हो। (स्वः) तुम सदा सुखमय मोक्षस्वरूप ही हो।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।

त्वं वरुण पश्यसि ॥१८॥ ऋ० १ । ३० । ६ ॥

भा०—हे (पावक) परम पावन अग्नि के समान सबके शोधक (येन) जिस (चक्षसा) दयामय चक्षु से (त्वं) तू हे (वरुण) सर्वदुःखवारक ! सदा (पश्यसि) देखा करता है उसी दयादृष्टि से (जनान् भुरण्यन्तम् अनु) समस्त प्राणियों के पालक पुरुष को भी (पश्यसि) देखता है।

वि द्यामे॑षि॒ रज॑स्पृ॒थ्वह॒र्मिमा॑नो अ॒क्तुभिः॑ ।
पश्य॒ञ्जन्मा॑नि॒ सूर्य ॥१९॥ ऋ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य ! सबके प्रेरक, उत्पादक, सूर्य के समान तेजस्विन् ! सूर्य जिस प्रकार (अहः) दिनको (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (मिमानः) बनाता हुआ (द्याम) आकाश और (पृथु) विशाल (रजः) अन्तरिक्ष को (वि एषि) विविध प्रकार से व्यापता है और (जन्मानि पश्यन्) समस्त उत्पन्न होने वाले प्राणियों को देखता है या अपने ही प्रतिदिन के जन्मों को देखता है उसी प्रकार हे परमेश्वर महान् आत्मन् ! तू भी (अक्तुभिः) प्रलयकाल रूप रात्रियों से (अहः) ब्राह्म दिन, सर्ग काल को (मिमानः) मापता या परिमित करता हुआ (द्याम्) इस विशाल आकाश को और (पृथु रजः) विशाल अन्तरिक्ष को भी (वि एषि) विविध सृष्टियों से व्यापता है और (जन्मानि) उत्पन्न लोकों को और अपने ही बनाये नाना सर्गों को भी (पश्यन्) देखता है ।

स॒प्त त्वा॑ ह॒रितो॒ रथे॒ वह॑न्ति देव सूर्य ।
शो॒चिष्के॑शं विचक्षण॒म् ॥२०॥ ऋ० १ । ५० । ८ ॥

भा०—हे (देव सूर्य) सर्वद्रष्टः ! सर्वदाता ! सर्वोपास्य देव ! हे (सूर्य) सर्वप्रेरक, सर्वनियन्तः ! सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (रथे) रथ में जैसे सात घोड़े जुड़कर उसको ढो लेजाते हैं और देह में आत्मा को जिस प्रकार सात प्राण जुड़कर उसको उठाते हैं उसी प्रकार तुझे भी (सप्त हरितः) सात हरणशील व्यापक महान् तेजस्विनी शक्तियां (शोचिष्केशं) देदीप्यमान किरणों वाले (विचक्षणम्) विशेषरूप से जगत् के प्राण (त्वा) तुझको (रथे) परम आनन्दमय रथमें या रमण योग्य विश्व में (वहन्ति) वहन करते हैं, धारण करते हैं ।

अध्यात्म में—हे तेजस्विन् ! सूर्य के समान योगिन् ! (सप्त) सातों

प्राण तुझको उस (ज्योतिष्केशं विचक्षणं) परम ज्योतिर्मय साक्षात् द्रष्टा तक (रथे) परमब्रह्म रस में ले जाते हैं ।

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥२१॥ ऋ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—(सूरः) सबका प्रेरक शूरवीर सेनापति के समान परमेश्वर (रथस्य नप्त्यः) इस रथ स्वरूप, परम रमणीय, भूतों के रमण कराने वाले (नप्त्यः) ब्रह्माण्ड को कभी नष्ट न होने देने वाली, उसको बांधने वाली (शुन्ध्युवः) उसकी प्रवर्त्तक उसमें गति देने वाली, चलाने वाली (सप्त) सात शक्तियों को (अयुक्त) विश्व में प्रयुक्त करता है । और (स्वयुक्तिभिः) अपनी ही योजना रूप (ताभिः) उन शक्तियों से (याति) स्वयं सर्वत्र गति करता है, विश्व को चलाता और विश्व में व्यापता है ।

[४८] ईश्वरोपासना ।

१–३ इन्द्रः । ७–६ सार्पराज्ञी सूर्यो वा देवता । गायत्र्यः । षड्चं सूक्तम् ॥

अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः ।
अभि वत्सं न धेनवः ॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर (धेनवः) गौएं (वत्सम् अभि न) जिस प्रकार अपने प्रिय बच्छे के प्रति वेग से दौड़ती हुई आती हैं उसी प्रकार (आ चरण्यवः) सब ओर से आने वाली और समस्त दिशाओं में जाने वाली अर्थात् सब पक्षों में लगने वाली (गिरः) वेदवाणियां (सिञ्चन्तीः) ज्ञान-रस का प्रवाह बहाती हुई भी (वर्चसा) तेज से, कान्ति से मुग्ध होकर (त्वा अभि) तुझको ही प्राप्त होती हैं । अर्थात् परमेश्वर में इतना बल, पराक्रम, क्षमता है कि सब पक्षों में लगने वाली वाणियां भी परमेश्वर पर ही चरितार्थ होती हैं ।

'अभित्वा' इति द्वाभ्यां सूक्ताभ्यां खिलो इति बृहत् सर्वा० ।

ता अर्पन्ति शुभ्रियः पृञ्चन्तीर्वर्चसा प्रियः ।
जातं जात्रीर्यथा हृदा ॥२॥

भा०—(ताः) वे वेदवाणियें (वर्चसा) अपने ज्ञानरूप तेज से (प्रियः) पूर्ण अर्थ का प्रकाश करनेहारी (शुभ्रियः) पदार्थ का भासन कराने वाली, उज्ज्वल स्वरूप होकर (अर्पन्ति) उस परमेश्वर को (हृदा) अपने मर्मार्थ से ऐसे पकड़ती हैं जैसे (जात्रीः) जनने वाली माताएं (जातं) अपने पुत्र को (हृदा) अपने हृदय से (अर्पन्ति) चिपटा लेती हैं ।

वज्रापवसाध्यः कीर्तिर्म्रियमाणमावहन् ।
मह्यमायुर्घृतं पयः ॥३॥

कृष्णलाल-शोधित-संहितानुसारं ग्रीफिथसम्मतश्च संहितापाठस्तु—

उग्राय यशसो धियः कीर्तिमिन्द्रियमावहान् ।
मह्यमायुर्घृतं पयः ॥३॥

भा०—प्रथम पाठ के अनुसार (वज्रापवसाध्यः ?) (कीर्त्तिः) और कीर्त्ति (म्रियमाण) मरते हुए पुरुष को भी (आवहन्) प्राप्त कराती है । और (मह्यम्) मुझे (आयुः घृतम् पयः) दीर्घ जीवन, घृत, तेज और पुष्टिकारक अन्न (आवहन्) प्राप्त करावें ।

द्वितीय पाठ के अनुसार–(यशसः) यश, वीर्यजनक (धियः) बुद्धियां और कर्म (उग्राय) बलवान् पुरुष को (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति और (इन्द्रियम् इन्द्र का परमैश्वर्य युक्त पद (आवहान्) प्राप्त कराते हैं और (मह्यम् मुझ राष्ट्र के प्रजाजन को (आयुः घृतं पयः) दीर्घ जीवन, तेज और अन्न प्रदान करते हैं । अर्थात् वीर कर्मों से बलवान् पुरुष को कीर्त्ति और साम्राज्य प्राप्त होता है, और प्रजा को जीवन रक्षा, बल और अन्न प्राप्त होता है ।

[४८] ३–(प्र०) 'वज्रापव साध्यः' 'वज्रायवसाध्यः' इति पाठभेदौ (द्वि० 'मावहान्–', 'कीर्त्तिम्–' इति च पाठभेदौ ।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥४॥
अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥५॥
त्रिंशद् धाम विराजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् ।
प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १८९ । १-३ ॥

भा०—(४-६) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्ववेद काण्ड ६ । ३१ । १-३ ।

[४६] ईश्वरोपासना ।

यच्छक्रा वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिपासथः ।
सं देवा अमदन् वृषा ॥१॥

सेवकलालसम्मतः ग्रीफिथादिसम्मतश्च पाठस्तु—

यच्छक्रं वाच आरुहन्नन्तरिक्षं सिषासतीः ।
सं देवो अमदद्वृषा ॥१॥

भा०—प्रथम पाठ के अनुसार—(शक्राः) शक्तिशाली राजागण के समान शक्तिशाली योगीजन (यत्) जब भी (वाचम्) वेदवाणी का (आरुहन्) आश्रय लेते हैं हे ज्ञानी पुरुषो ! तब २ आप लोग (अन्तरिक्षम्) अपने भीतरी आत्मा को ही (सिपासथः) प्राप्त होते हो । तब (देवाः) प्राणगण और (वृषा) सुखों का वर्षक भीतरी बलवान् आत्मा दोनों (सम् अमदन्) एक साथ आनन्द, प्रसन्न एवं तृप्त होते हैं ।

भा०—द्वितीय पाठ के अनुसार—(अन्तरिक्षं=अन्तर्यक्षं) भीतरी उपास्य देव, हृदय में व्यापक आत्मा और हृदयस्थ परमेश्वर को हे (वाचः)

[४९] १–'यच्छक्राः', 'वाचमारुहन्तन्न–', 'सिपासथ', 'सिपासतः' इति पाठभेदाः ।

वाणियो ! जब तुम (सिषासतीः) प्राप्त करती हुई, उस पर लगती हुई, उसको लक्ष्य करती हुई (शक्रम्) उस शक्तिमान् को (आरुहन्) पहुंचती हो, उसके पद का वर्णन करती हो तब (देवः) वह साक्षाद् द्रष्टा भीतरी आत्मा या परमेश्वर (वृषा) अति बलवान्, आनन्दरस का वर्षक धर्ममेघ होकर (सन् अमदद्) खूब आनन्द, प्रसन्न एवं संतृप्त होता है।

शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि । मंहिष्ठ आ मदर्दिवि ॥२॥

सेवकलालश्रीफिथसम्मतः पाठस्तु—

शक्रं वाचा भिष्टुहि घोरं वाचाऽभिष्टुहि ।
मंहिष्ठं आमदद् दिवि ॥२॥

भा०—प्रथम पाठ के अनुसार—हे योगिन् आत्मसाधक ! तू (शक्रः) शक्तिशाली आत्मा होकर (अधृष्टाय) 'अधृष्ट', कभी भी धर्षण न किये जाने वाले अच्युत पद के प्राप्त करने के लिये (उरुवाचः) विशाल वेदवाणी के प्रवर्त्तक गुरु की या परमगुरु परमेश्वर की ही (वाचम्) वाणी को (अधृष्णुहि) धारण कर । तू (मंहिष्ठः) पूज्यतम, महान् होकर ही (दिवि) तेजोमय मोक्ष में (आ मदः) आनन्दमय होकर विराज ।

भा०—द्वितीय पाठ के अनुसार—हे साधक ! तू (वाचा) वेदवाणी से (शक्रम्) उस शक्तिमान् परमेश्वर की (अभिस्तुहि) स्तुति कर । (वाचा) वेदवाणी से (घोरं) उस महान् भयंकर उग्र या दयालु परमेश्वर की (अभि स्तुहि) स्तुति कर । (मंहिष्ठः) सबसे अधिक पूजनीय और महान् वह परमेश्वर ही (दिवि) तेजोमय मोक्ष लोक में (आ मदद्) आनन्दमय होकर विराजता है ।

शक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन् वि राजति ।
विमदन् बर्हिरासरन् ॥ ३ ॥

सेवकलालश्रीफियादिसम्मतः पाठस्तु—

शक्रं वाचाभिष्टुहि धामन् धामन् विराजति ।

विमदन् बर्हिरासदत् ॥३॥

भा०—प्रथम पाठ के अनुसार- हे योगिन् ! तू (शक्रः) शक्तिमान् होकर (वाचम् अधृष्णुहि) वेदवाणी को धारण कर । क्योंकि बलवान् पुरुष ही (धामधर्मन्) प्रत्येक तेजोमय पद पर और प्रत्येक धर्म या कर्त्तव्य में (विराजति) विविध प्रकार से शोभा पाता है । वही (विमदन्) विविध प्रकार से आनन्द प्रसन्न होकर (बर्हिः) विस्तृत ब्रह्ममय मोक्ष-धाम को (आ सरन्) प्राप्त होता है ।

भा०—द्वितीय पाठ के अनुसार-(वाचा शक्रम् अभिस्तुहि) वाणी से शक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति कर । वही परमेश्वर (धामन् धामन् विराजति) स्थान २ पर विराजता है । वही (विमदन्) विविध प्रकार से आनन्द तृप्त होकर (बर्हिः) ब्रह्माण्ड में (आ सदत्) व्याप्त है ।

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः । अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ४ ॥ द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् । क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ७७ । १, २ ॥

तत् त्वां यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये । येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ६ ॥ येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः । सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ३ । ९,१० ॥

भा०—(४-७) इन चार मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्ववेद काण्ड २० । ६ । १-४ ॥

[५०] ईश्वरोपासना ।

कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः ।
नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्व/र्गृणन्तं आनशुः ॥१॥

ऋ० ८ । ३ । १३ ॥

भा०—(अतसीनां) वेग से गति करने वाली सभी शक्तियों को (तुरः) गति देने वाले सर्वशक्तिमान् उस परमेश्वर का (नव्यः मर्त्यः) उसके बाद अभी का पैदा हुआ. नया मनुष्य (कत् गृणीत) क्या वर्णन करे ? (नु) क्या (अस्य महिमानम्) इसके बड़े भारी सामर्थ्य (इन्द्रि-यम्) और ऐश्वर्य का (गृणन्तः) स्तुति करते हुए ज्ञानी लोग (स्वः न हि आनशुः) क्या सुखमय मोक्ष का लाभ नहीं करते हैं ? करते ही हैं ।

कदु स्तुवन्तं ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्रं ओहते ।
कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः ॥२॥

ऋ० ८ । ३ । १४ ॥

भा०—(ऋतयन्तः) सत्य ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले जिज्ञासु पुरुष (कत् उ स्तुवन्तः) तेरी कब स्तुति करते हैं ? और (देवेषु) देव-विद्वानों के बीच में (कः) कोई ही (विप्रः) मेधावी (ऋषिः) मन्त्र द्रष्टा पुरुष (ओहते) उसकी तर्कना करता है ? हे (मघवन् इन्द्र) ऐश्वर्य-वन् इन्द्र परमेश्वर ! (सुन्वतः) तेरा स्मरण करनेहारे पुरुष के (हवम्) पुकार को तू (कदा) कब सुनता और (स्तुवतः) स्तुति करते हुए पुरुष के पास तू (कत् उ) कभी (आगमः) प्राप्त होजाता है ? यह सब रहस्य हम नहीं कह सकते । विद्वान् ज्ञानी लोग तुझे कब स्तुति करते हैं विद्वान् तुझे क्या कल्पना करता है ? और योगी तुझे कब स्मरण करता है और तू उसे कब प्राप्त होता है ? ये सब रहस्य गुप्त हैं ।

[५१] ईश्वरोपासना आत्मदर्शन

प्रागाथः प्रस्कण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥
ऋ० ८। ४९। १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सुराधसम्) उत्तम ऐश्वर्य सम्पन्न उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् आत्मा को तू (अभि प्रवः) सब प्रकार से वरण कर । उसी की इच्छा कर । और (यथा विदे) जिस प्रकार तू उसे जान पावे उसी प्रकार से उसकी (अभि प्र अर्च) भली प्रकार उपासना कर । (यः) जो (मघवा) ऐश्वर्यवान् (पुरुवसुः) समस्त लोकों, देहों और इन्द्रियों में वास करने वाला (जरितृभ्यः) स्तोता, विद्वान् पुरुषों को (सहस्रेण इव) मानो हज़ारों प्रकारों से (शिक्षति) दान करता है ।

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥
ऋ० ८। ४९। २ ॥

भा०—वह इन्द्र (शतानीक इव) सैकड़ों सेनाओं के स्वामी, सेना पति के समान (प्र जिगाति) सबको विजय करता, अपने वश करता है । और (धृष्णुया) अपनी धर्षणकारिणी शक्ति से (दाशुषे) दानशील पुरुष के (वृत्राणि) विघ्नों को (हन्ति) विनाश करता है । (गिरेः रसाः इव) पर्वत से जिस प्रकार जलों के स्रोत बहते हैं उसी प्रकार (पुरु-भोजसः) बहुत से भोग्य ऐश्वर्यों से समृद्ध (अस्य) इसके (दत्राणि) नाना दान प्रदत्त पदार्थ ही (पिन्विरे) प्रजाओं को तृप्त करते हैं ।

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये ।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥३॥
ऋ० ८। ५०। १ ॥

भा०—(श्रुतम्) वेद आदि ग्रन्थों द्वारा गुरुपदेश से श्रवण करने योग्य (सुराधसम्) उत्तम रीति से योगादि द्वारा आराधना करने योग्य अथवा (श्रुतम्) जगत्प्रसिद्ध एवं (सुराधसम्) उत्तम ऐश्वर्यवान् (शक्रम्) उस शक्तिमान परमेश्वर को (अभिष्टये) अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये (प्र सु अर्च) खूब अच्छी प्रकार अर्चना कर। (यः) जो (सुन्वते) योगादि द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले (स्तुवते) वेदवाणी द्वारा गुणानुवाद करने वाले को (काम्यं) अभिलाषा योग्य (वसु) ऐश्वर्य (सहस्रेण इव) हजारों प्रकार से (मंहते) प्रदान करता है।

शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः।
गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः ॥४॥
ऋ० ८। ५०। २॥

भा०—(अस्य इन्द्रस्य) इस परमेश्वर के (शतानीकाः हेतयः) सैंकड़ों मुख वाले, सैंकड़ों ओर को जाने वाले शस्त्रास्त्र (दुष्टराः) दुस्तर अजेय हैं, और (इन्द्रस्य) उस महान् ऐश्वर्यवान की महीः) बड़ी (समिषः) इच्छाएं, प्रेरक शक्तियां भी हैं (यद् ईम्) जब भी (सुताः) नाना ऐश्वर्यमय पदार्थ (अमन्दिषुः) उसको तृप्त करते हैं उसका आनन्दरस प्रवाहित करते हैं तब वह (भुज्मा गिरिः नः) नाना भोग्य पदार्थों से सम्पन्न पर्वत या मेघ के समान (मघवत्सु) ऐश्वर्यवानों को (पिन्वते) वे समस्त ऐश्वर्य पदार्थ तृप्त करते हैं।

[५२] ईश्वर स्तुति

मेध्यातिथि ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहत्यः। तृचं सूक्तम्॥

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥१॥
ऋ० ८। ३३। १॥

भा०—हे (वृत्रहन्) आवरणकारी अन्धकार के नाशक ! (पवित्रस्य) पवित्र, पावन जल और ज्ञान के (प्रस्रवणेषु) झरनों के तटों पर (स्तोतारः) तेरे स्तुति कर्ता लोग (परि आसते) विराजते हैं । और (वयं च) हम भी (सुतावन्तः) गुरु शिष्य के वादों द्वारा निर्णीत ज्ञान से सम्पन्न (आपः नः) जल जिस प्रकार (वृक्तबर्हिषः) वृद्धिशील धान्यों को अपने वेग से गिरा देते हैं उसी प्रकार (वृक्तबर्हिषः) वृद्धिशील काम राग का उच्छेद करने वाले असंग पुरुष भी (त्वा परि आस्महे) तेरे आश्रय होकर बैठते हैं ।

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कुदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥२॥
ऋ० ८ । ३३ । २ ॥

भा०—हे (वसो) सर्वव्यापक ! सब संसार के बसाने वाले ! (एके उक्थिनः) कुछ एक ज्ञानवान् (नरः) पुरुष (सुते) उत्पन्न इस संसार के आधार पर इसके सर्ग स्थिति और प्रलय के निमित्त से ही (त्वा निः स्वरन्ति) तेरी उपासना स्तुति करते हैं । (तृषाणः) पिपासा-कुल पुरुष जिस प्रकार जल के निमित्त (ओकः आगमः) जल के स्थान पर आ जाता है उसी प्रकार तू भी (वंसगः स्वब्दीइव) उत्तम जल देने वाले मेघ के समान तू भी (कदा) हमें (आगमः) प्राप्त होगा ।

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥३॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (विचर्षणे) समस्त जगत् के द्रष्टः ! हे (धृष्णो) सबको वश करनेहारे ! समस्त संसार के भार सहने हारे ! आप (कण्वेभिः) मेधावी पुरुषों द्वारा (धृषद्) धर्षण करने, शत्रुओं का पराजय करने वाले (सहस्रिणम्) सहस्रों प्रकार के (वाजम्)

ऐश्वर्य या बल का (आ दर्षि) प्रदान करते हैं । हम भी (मक्षू) निरन्तर उसी (पिशङ्गरूपम्) पीत वर्ण के (गोमन्तम्) गौ आदि पशुओं से युक्त ऐश्वर्य की (ईमहे) याचना करते हैं ।

अध्यात्म में-हम (गोमन्तं पिशङ्गरूपम् ईमहे) वाणी से युक्त अथवा गौ प्राणों से युक्त तेजोमय आत्मा को साक्षात् करना चाहते हैं ।

[५३] ईश्वर दर्शन ।

मेधातिथिः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यः । तृचं सूक्तम् ॥

कईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे ।

अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥१॥

ऋ० ८ । ३३ । ७ ॥

भा०—(सुते) समस्त उत्पन्न जगत् में (सचा) एक ही साथ या अन्य देव, दिव्य पदार्थों के साथ (ईं) इस समस्त विश्व को (पिबन्तम्) पान ग्रहण, अपने में आदान करते हुए को (कः वेद) कौन जानता है ? और कौन जानता है कि (कद् वयः दधे) वह कितना आयु या कितना जीवन सामर्थ्य धारण करता है । (अयं) यह (शिप्री) ज्ञानवान् और बलवान् होकर ही (अन्धसः) अन्न से या अमृत से (मन्दानः) सदा तृप्त और अन्यों को भी तृप्त करने में समर्थ होकर (ओजसा) अपने बल पराक्रम से सेनापति जिस प्रकार (पुरः विभिनत्ति) शत्रु दुर्गों को तोड़ डालता है उसी प्रकार अपने ज्ञान बल से (पुरः) भक्तों के देह पुरियों को नाश करता है, उनको मुक्त करता है ।

अध्यात्म में-यह नित्य आत्मा अपने ही ज्ञानबल से (पुरः विभिनत्ति) सत्व, रजस्, तमस् तीनों से बने देह बन्धनों को तोड़ता है ।

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।

नकिंष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा ॥२॥

ऋ० ८ । ३३ । ८ ॥

भा०—(मृगः वारणः न) वनैला हाथी (दाना) मद जलों के कारण (पुरुत्र) बहुतसे स्थलों पर (चरथं दधे) विचरण करता है। उसी प्रकार यह इन्द्र जीव (दाना) अपने शुभाशुभ कर्मों द्वारा (पुरुत्र चरथं दधे) बहुत से शरीरों में विचरण करता है अथवा (चरथं दधे) नाना फल भोग प्राप्त करता है। हे इन्द्र ! आत्मन् (त्वा) तुझको (नकिः) कोई भी नहीं (नियमत्) बांध सकता । (सुते आगमः) सवन किये सोम के समान योगादि साधनों से सम्पादित इस सोम रूप ब्रह्म रस के निमित्त (आगमः) तू प्राप्त हो और (ओजसा महान्) बलवीर्य से महान् होकर (चरसि) विचरण कर।

य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥३॥

ऋ० ८ । ३३ । ९ ॥

भा०—(यदि) जब भी (मघवा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (स्तोतुः हवं) स्तुति करनेहारे उपासक की पुकार को (शृणवत्) सुन लेता है तब (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् (न योषति) उससे जुदा नहीं रहता, प्रत्युत (आगमत्) उसे प्राप्त ही होजाता है। उसे मिल ही जाता है। (उग्रः) वीर सेनापति जिस प्रकार उग्र अति बलवान् (सन्) होकर (अनिस्तृतः) किसी से भी मारा न जाकर नित्य अविनाशी (स्थिरः) सदा स्थिर रहने वाला (रणाय संस्कृतः) रण के लिये सज्ज होता है उसी प्रकार जो परमेश्वर (उग्रः) सदा बलवान् (सन्) रहकर (अनिस्तृतः) नित्य अविनाशी, (स्थिरः) सदा ध्रुव, (रणाय संस्कृतः) योगिजनों के रमण के लिये सदा तत्पर रहता है। अथवा—अध्यात्म में—यह आत्मा अविनाशी, बलवान् होकर (रणाय) रमण योग्य देह के लिये, या सदा ब्रह्मरस में रमण करने के लिये (संस्कृतः) सदा संस्कारयुक्त, सदा तत्पर रहता है ।

[५४] ईश्वर गुणगान ।

रेभ ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ अति जगती, २,३ उपरिष्टाद् बृहत्यौ । तृचं सूक्तम् ॥

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥१॥
ऋ० ८ । ९७ । १० ॥

भा०—(विश्वाः पृतनाः) समस्त जन (अभि-भूतरं) शत्रुओं के पराजय करने में, शत्रु से अधिक बलवान् (क्रत्वा) कर्म और ज्ञान से (वरे) वरण योग्य कार्य में (वरिष्ठम्) सबसे अधिक श्रेष्ठ, (आमुरिम्) शत्रुओं के नाशक, (उग्रम्) बलवान्. (ओजिष्ठं) सबसे अधिक पराक्रमी (तवसं) महान्, (तरस्विनम्) अति वेगवान, (नरम्) नेता पुरुष को ही (सजूः) समान प्रेम से मिलकर (राजसे) राज्य करने के लिये (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा या स्वामी (ततक्षुः) बनाते हैं ।

अध्यात्म में-(विश्वाः पृतनाः) समस्त व्यापारशील इन्द्रियगण (क्रत्वा वरिष्ठं) बल से सबसे श्रेष्ठ (नरं) नेता को (इन्द्रम्) आत्मा रूप से अपना स्वामी (जजनुः) प्रकट करते हैं ।

परमात्मा पक्ष में—(नरं) समस्त जगत् के प्रवर्तक, सबसे महान् शक्तिशाली को (इन्द्रम्ः जजनुः) इन्द्र ईश्वर करके जानते और कहते हैं ।

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥२॥
ऋ० ८ । ९७ । ११ ॥

भा०—(यद्) जब भी (वृधे) वृद्धि के लिये (धृतव्रतः) समस्त व्रतों को धारण करने वाला (ओजसा) अपने पराक्रम से, (ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (सम्) संगत होता है तभी (रेभासः) स्तुतिकर्ता

विद्वान् लोग (सोमस्य पातये) अमृत रस का पान करने के लिये (स्वः पतिम्) समस्त सुखों के स्वामी (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को (सम् अस्वरन्) एकत्र होकर स्तुतिगान करते हैं ।

राष्ट्र पक्ष में—(यदीं) जब भी व्रत को धारण कर अपने पराक्रम और रक्षा साधनों से युक्त होकर (वृधे) अपने राष्ट्र वृद्धि के लिये राजा तैयार होता है तभी (रेभासः) विद्वान लोग (सोमस्य पीतये) राष्ट्र ऐश्वर्य को स्वीकार करने के लिये इससे एकत्र मिलकर प्रार्थना करते हैं ।

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥३॥
ऋ० ८ । ९७ । १२ ।

भा०—(विप्राः) मेधावी विद्वान लोग (अभिस्वरा=अभिस्वरन्) उपतार और ज्ञानोपदेश के साथ विद्यमान (नेमिम्) सबको अपने आगे झुकाने वाले, (मेषम्) सूर्य के समान सबमें चेतना के दाता, उस परमेश्वर को (चक्षसा) अपने ज्ञानदर्शन से ही (नमन्ति) झुकते, उसे नमस्कार करते हैं । हे मनुष्यो ! (वः) आप लोग भी (कर्णे अद्रुहः अपि) कार्य में परस्पर द्रोह न करते हुए भी (सुदीतयः) उत्तम दीप्तिमान् (तरस्विनः) वेगवान, शीघ्रकारी, अप्रमादी होकर (समृक्वभिः) वेदमन्त्रों से (सम् नमन्ति) अच्छी प्रकार उसकी स्तुति करो ।

[५५] ईश्वर से ऐश्वर्य की याचना

रेभ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यः । तृचं सूक्तम् ॥

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि ।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥१॥ ऋ० ८ । ८६ । १३ ॥

भा०—मैं (तम्) उस (मघवानम्) समस्त सम्पत्तियों से समृद्ध (सत्रा) एक ही साथ (शवांसि) समस्त बलों को (दधानम्) धारण करने हारे (अप्रतिष्कुतं) किसी से भी न पराजित, अद्वितीय शक्तिशाली, (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को (जोहवीमि) स्मरण करता हूं। वह (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (मंहिष्ठः) अति पूजनीय (यज्ञियः च) यज्ञ में सदा पूजनीय (आ ववर्त्तत्) ही सदा सर्वत्र व्याप्त है। वह (नः) हमारे (राये) ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (वज्री) वज्रवान् समस्त कष्टों का वर्जन या वारण करने में समर्थ (विश्वा सुपथा) समस्त उत्तम मार्ग हमारे लिये (कृणोतु) बनावे।

या इन्द्र भुज आभरः स्वँर्वाँ असुरेभ्यः।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥

ऋ० ८ । ८६ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् (स्वर्वान्) स्वः=आनन्दप्रद भोग्य सम्पदाओं से अथवा सुखमय आनन्द से युक्त तू (याः भुजः) जिन भोग्य सम्पदाओं को (असुरेभ्यः आभरः=आहरः) असुरों से छीन कर लाता है। अथवा-(असुरेभ्यः) प्राणवान् जन्तुओं को (आहरः) प्रदान करता है हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! उन समस्त ऐश्वर्य सम्पदाओं से (अस्य) इस अपने साक्षात् स्वरूप के (स्तोतारम् इत्) अपने स्तुतिकर्त्ता साधक को (वर्धय) बढ़ा और (ये च) जो भी (त्वे) तेरे निमित्त (वृक्तबर्हिषः) धान्य के समान काट देने योग्य देहबन्धनों को काट चुके हों उनको भी बढ़ा।

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ॥३॥

ऋ० ८ । ८६ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (यजमाने सुन्वति) यजमान, यज्ञ करनेहारे पुरुष के सवन करते हुए और (तस्मिन्) उसके (दक्षिणावति) दक्षिणा प्रदान करते समय (तं) उसको (अक्षयम्) अक्षय (भागम्) सेवन करने योग्य (गाम् अश्वम्) गौ और अश्व आदि ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान कर (यम्) जिसको (त्वम्) तू (दधिषे) धारण करता है। उस ऐश्वर्य को (पणौ) कुव्यसनी पुरुष के हाथ (मा धेहि) प्रदान मत कर।

[५६] दानशील ईश्वर

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । षड्टचं सूक्तम् ॥

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥१॥
ऋ० १ । ८१ । १ ॥

भा०—(वृत्रहा) शत्रुओं और काम क्रोधादि विघ्नकारी अन्तः शत्रुओं का नाश करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा और परमेश्वर अपने (शवसे मदाय) बल और तृप्तिकारी आनन्दरस के कारण (वावृधे) सबसे बढ़ा है। (महत्सु आजिषु) बड़े २ संग्रामों में (उत ईम् अर्भे) और छोटे २ कार्य में भी (तम्) हम उस इन्द्र, परमेश्वर और सेनापति को ही (हवामहे) याद करते हैं। (सः) वह (वाजेषु) वीर्य और बल के संग्रामादि कार्यों में (नः) हमारी (प्र अविषत्) रक्षा करता है।

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः । असि दभ्रस्य चिद्
वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥ २ ॥
ऋ० १ । ८१ । २ ॥

भा०—हे (वीर) वीर ! वीर्यवन् ! तू (सेन्यः असि) सेना, स्वामी सहित वीरगणों का हितकारी है। तू (भूरि पराददिः) बहुत बार श-

त्रुओं को पराजय देने वाला है । तू (दभ्रस्य) अति स्वल्प को (चित्) भी (वृधः असि) बढ़ाने हारा है । तू (सुन्वते यजमानाय) सवन, और उपासना करने वाले आत्मसमर्पक यजमान को (ते) तू अपना (भूरि वसु) बहुतसा धन (शिक्षसि) प्रदान करता है ।

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना । युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥३॥ ऋ० १ । ८१ । ३ ॥

भा०—(यद्) जब (आजयः) संग्राम या ब्रह्मकथाप्रसङ्ग (उदीरते) उठ खड़े होते हैं तब (धृष्णवे) सब शत्रुओं को पराजय करने हारे को ही (धना) नाना ऐश्वर्य (धीयते) प्रदान किये जाते हैं । उसके सन्मुख समस्त ऐश्वर्य धरे जाते हैं । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (मदच्युता) आनन्द, तृप्ति के साथ गति करने वाले (हरी) अश्वों को जिस प्रकार रथों में लगाता है, हे योगिन् ! तू भी (मदच्युतौ) आनन्द, हर्षप्रदर्षण करने वाले (हरी) हरणशील, वेगवान्, बलवान् प्राण और अपान दोनों को (युक्ष्व) योग विधि से वश कर । हे इन्द्र ! तू (कं हनः) किस शत्रु का घात करता है ? अथवा हे आत्मन् ! (कं हनः) तू 'क' अर्थात् सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो । (वसौ) अपने वसुस्वरूप ऐश्वर्य में (कं दधः) किस को धारण करता है अर्थात ऐश्वर्य से किसका पालन करता है ? अथवा-हे योगिन् ! (वसौ) वसु रूप आत्मा में (कं) सुखस्वरूप परमेश्वर को धारण कर और हे (इन्द्र) आत्मन् ! (वसौ) वासशील आत्म शक्ति में अथवा अपने ऐश्वर्य में तू (अस्मान् दधः) हम समस्त प्राणों या प्राणियों को धारण कर, ऐश्वर्य के आधार पर हमें पालन कर ।

मदेमदे हि नो ददिर्यूथा गवामृजुक्रतुः । सं गृभाय पुरू शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर ॥ ४ ॥
ऋ० १ । ८१ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (ऋजुक्रतुः) अति सरल, सत्य, उत्तम, अर्जन योग्य ज्ञान, बल और क्रिया से सम्पन्न होकर (नः) हमें (गवाम्) इन्द्रियों और गौ आदि पशुओं के (यूथा) समूहों को (ददिः) प्रदान करता है । तू (पुरुशता) बहुत से सैकड़ों पालक ऐश्वर्यों को (सं गृभाय) संग्रह कर । (उभया हस्त्या) दोनों हाथों से भर भर कर (वसु शिशीहि) ऐश्वर्य प्रदान कर । (रायः आ भर) हमें नाना धन सम्पदाएं प्राप्त करा ।

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे । विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेथा नोऽविता भव ॥५॥ ऋ० १ । ८१ । ८ ॥

भा०—हे (शूर) शूरवीर ! इन्द्र सर्वशक्तिमान् शत्रुनाशक ! तू (सुते) अपने इस उत्पन्न जगत् में (शवसे) अपने महान् बल और (राधसे) अपने महान् ऐश्वर्य के कारण तू (सचा) सबको एक काल में या नित्य ही (मादयस्व) आनन्द से तृप्त और हर्षित करने में समर्थ हो । (त्वा) तुझ (पुरुवसुम्) बड़े ऐश्वर्यों के स्वामी को ही हम (विद्मि) भली प्रकार जानें, प्राप्त करें । (कामान्) समस्त कामनाओं को (त्वा उपससृज्महे) तेरे ही पर छोड़ते हैं । (अथ नः) और अब हमारा तू ही (अविता भव) रक्षक हो ।

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् । अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥६॥

ऋ० १ । ८१ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! (ते) तेरे उत्पन्न किये हुए (एते) ये (जन्तवः) जन्तु या उत्पन्न पदार्थ (विश्वं वार्यम्) समस्त अभिलाषा योग्य ऐश्वर्य को पुष्ट करते हैं । हे इन्द्र ! परमेश्वर ! हे राजन् ! तू (अर्यः) सबका स्वामी होकर (जनानाम् अन्तः ख्यः हि) समस्त मनुष्यों के भीतर का भी देखता ही है । और (अदाशुषां) अदान

शील कृपणों के भी (वेदः) धनको तू (ख्यः) देखता है तू (नः तेषां वेदः आभर) उनके समस्त धनैश्वर्य हमें प्राप्त करा ।

[५७] ईश्वरस्तुति ।

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १-३ गायत्र्यः । शेषाः पूर्वोक्ताः ।
षोडशर्चं सूक्तम् ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥ ऋ० १ । ४ । १ ॥

भा०—(द्यविद्यवि) प्रतिदिन, नित्य (गोदुहे) गौ को दोहनेवाले के लिये जिस प्रकार (सुदुघाम्) उत्तम रीति से दुग्धादि रस प्रदान करने वाली गौ की (जुहूमसि) स्तुति करते हैं उसी प्रकार (ऊतये) रक्षा के लिये हम उस (सुरूपकृत्नुम्) उत्तम २ पदार्थों को रचने या रूपवान् करने वाले परमेश्वर की (जुहूमसि) स्तुति करते हैं ।

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ४ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (नः) हमारे (सवना) उपासनाओं में (उप आगहि) प्राप्त हो और हमें (सवना उपागहि) ऐश्वर्य युक्त पदार्थ प्रदान करने के लिये प्राप्त हो। तू (सोमस्य) राष्ट्र एवं जगत् के बीच में (सोमपाः समस्त ऐश्वर्य का पालक होकर उसका (पिब) पानकर, भोग कर । (रेवतः) ऐश्वर्यवान् आत्मा को (मदः) परम आनन्द प्रद होकर भी उसको (गोदाः) इन्द्रिय सामर्थ्य और उत्तम भूमि तथा पशु आदि का प्रदान करने हारा है ।

अथवा—(रेवतः) तुम्क ऐश्वर्यवान् का (मदः) परमानन्द भी (गो-दाः) वेद वाणी का ज्ञान कराता है ।

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ४ । ३ ॥

भा०—(अथा) और (ते) तेरे (अन्तमानां) अति समीप प्राप्त तुझ तक पहुंचे हुए (सुमतीनाम्) उत्तम मननशील विद्वानों के संग से (ते विद्याम) हम तेरे स्वरूप का ज्ञान करें । तू (नः) हमें (आगहि) प्राप्त हो । तू (नः) हमें (मा अति ख्यः) कभी अति क्रमण मत कर, हमें मत भूल ।

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् । इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ ४ ॥ इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आ वृणे ॥५॥ अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् । उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥ ६ ॥ अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ७॥ इन्द्रो अङ्ग महद् भयमभीषदप चुच्यवत् । स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ८ ॥ इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ९ ॥ इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ १० ॥

भा०—(४–१०) इन सात मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व २० । २० । १—७ ॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे । अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ ११ ॥ दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे । नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥ १२॥ य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः

यदिं स्तोतुर्मघवां शृणवद्धवं नेन्द्रों योषत्या गंमत् ॥ १३ ॥ व॒यं
घं त्वा सुतावंन्त आपो न वृक्तबंर्हिषः । पवित्रंस्य प्रस्रवंणेषु
वृत्रहन् परिं स्तोतारं आसते ॥ १४ ॥ स्वरंन्ति त्वा सुते नरो
वसों निरेक उक्थिनंः । कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्रं
स्वब्दीव वंसंगः ॥ १५ ॥ कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सह-
स्रिणंम् । पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमंन्तमीमहे ॥१६॥

भा०—(११-१३) इन तीन मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ५३ । १—३ ॥

(१४—१६) इन ३ मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ५२ । १—३ ॥

[५८] ईश्वरस्तुति ।

१, २ नृमेधः । ३, ४ भरद्वाजः इन्द्रः । ४ सूर्यश्च देवते । प्रगाथः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रंस्य भक्षत । वसूंनि जाते
जनंमान् ओजंसा प्रतिं भागं न दीधिम ॥१॥ ऋ० ८ । ९९ । ३ ॥

भा०—(सूर्यम् इव) जिस प्रकार किरणें या ग्रह उपग्रह सूर्य का आश्रय लेते हैं और उसी के प्रकाश का उपभोग करते हैं उसी प्रकार इन्द्र परमेश्वर का (श्रायन्तः) आश्रय लेते हुए हे मनुष्यो ! आप लोग (इन्द्रस्य इव) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही (विश्वा वसूनि इव) समस्त ऐश्वर्यों का (भक्षत) भोग करो । और हम सब लोग (जाते) उत्पन्न हुए (जनमाने) उत्पन्न होनेहारे और भविष्य में उत्पन्न होने वाले इस जगत् में भी (ओजसा) अपने पराक्रम, बल वीर्य के अनुसार (भागं न) अपने भाग अर्थात् प्राप्त किये ऐश्वर्य के अनुसार ही (प्रति-

दीधिम) प्रत्येक वस्तु धारण कर रक्खें। इसी प्रकार सूर्य के प्रकाश के समान हम सब राजा के ऐश्वर्यों का भोग करें। वर्त्तमान और भावी में अपने श्रम, बल, पराक्रम के अनुसार अपना भाग प्राप्त करें।

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः। सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥२॥ ऋ० ८।९९।४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! तू (अनर्शरातिम्) निष्पाप, सात्विकदान वाले (वसुदाम्) ऐश्वर्य के दाता परमेश्वर की (उपस्तुहि) स्तुति कर। हे मनुष्य ! (इन्द्रस्य रातयः) इन्द्र, ईश्वर के समस्त दान (भद्राः) कल्याण और सुख के जनक हैं। (सः) वह परमेश्वर (अस्य विधतः) अपनी सेवा स्तुति करने वाले इस भक्त सेवक के (कामम्) मनोरथ का (न रोषति) घात नहीं करता। परमेश्वर अपने भक्त के मनोरथ को पूर्ण करता है। और (दानाय) दान देने के लिये ही (मनः) अपने भक्त के चित्त को (चोदयन्) प्रेरित करता रहता है।

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि। महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥ ३ ॥ ऋ० ८। १०१। ११ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके उत्पादक और प्रेरक सूर्य ! परमेश्वर ! तू (बट्) सचमुच (महान् असि) महान्, सबसे बड़ा है। हे (आदित्य) आदित्य ! सबके अपने भीतर समा लेनेहारे, सबके वश करनेहारे ! (बट् महान् असि) तू सचमुच महान् है। (सतः ते) सत् स्वरूप तेरी (महः महिमा) बड़ी महिमा, बड़ा सामर्थ्य (पनस्यते) गाया जाता है। (अद्धा) निश्चय, हे (देव) सर्वद्रष्टः उपास्य देव ! तू (महान् असि) महान् है। अथवा (पनस्यते) स्तुतिशील उपासक के लिये तू ही सबसे बड़ा है।

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि। मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥४॥ ऋ० ८।१०१। १२ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक परमेश्वर, सूर्य के समान सबके जीवनाधार ! तू (श्रवसा) तेज, कीर्त्ति, बल और ज्ञान से (बट्) सत्य ही (महान् असि) सबसे बड़ा है । (सत्रा) निश्चय से हे (देव) विजिगीषो ! राजन् ! देव, देदीप्यमान ! हे द्रष्टः ! तू (महान् असि) महान्, सबसे बड़ा है । तू (मह्ना) अपने महान् सामर्थ्य से (देवानाम्) समस्त देव, दिव्य शक्तियों, अग्नि, जल, पृथिवी सूर्यादि लोकों और पदार्थों में (असुर्यः) प्राणों में रमण करने वाले जीवों का हितकारी और (पुरोहितः) सबसे पूर्व विद्यमान रहा है । तू ही (विभु) सर्वत्र व्यापक और विविध प्रकार से विद्यमान) अदाभ्यम्) अविनाशी, नित्य, ध्रुव, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप है ।

[५८] ईश्वरार्चना ।

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥
कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥२॥

भा०—(१-२) इन दो मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्ववेद कां० २० । १० । १, २ ॥

उदिन्न्वस्य रिच्यतेंशो धनं न जिग्युषः । य इन्द्रो हरिवान्न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि ॥३॥ ऋ० ७ । ३२ । १२ ॥

भा०—(जिग्युषः धनं न) विजयशील राजा का धन जिस प्रकार बराबर बढ़ा करता है उसी प्रकार (अस्य) इस परमेश्वर का भी (अंशः) व्यापक सामर्थ्य और ऐश्वर्य भी (इत् नु उद् रिच्यते) सदा

बढ़ता ही चला जाता है । क्या कोई सीमा नहीं ! (यः) जो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (हरिवान्) हरणशील इन्द्रियों पर विजय करने वाले योगी के समान समस्त शक्तियों पर, घोड़ों पर, सारथी या महारथी के समान वश करने वाला है (तं) उसको (रिपः) पाप (न दभन्ति) नहीं सताते । प्रत्युत वह परमेश्वर (सोमिनि) सोम, राष्ट्रैश्वर्यवान् राजा के समान सोम,-आत्मा के वशयिता या ब्रह्मानन्द रसपान करने वाले आत्मवान् योगी को (दक्षं दधाति) बल प्रदान करता है ।

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा । पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् ॥४॥ ऋ० ७।३२। १३॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (यज्ञियेषु) यज्ञ, परस्पर संगति से होने वाले राज्यव्यवस्था, सभा, समिति, सत्संगों में अथवा यज्ञ प्रजापति राजा के हितकारी कार्यों में और यज्ञ-परमेश्वर की उपासना के अवसरों में (अखर्वं) गर्वरहित, अति विनयपूर्वक (सुधितं) उत्तम रूप से विचारित, (सुपेशसं) सुन्दर, (मन्त्रम्) परस्पर का विचार मन्त्र और वेदमन्त्र को (दधात) धारण करो, प्रयोग करो । सभा आदि में विनय से अपने विचार कहो और धर्म कार्यों में श्रद्धा भक्ति से मन्त्रों का उच्चारण करो । (पूर्वीः चन) पूर्व से ही किये गये (प्रसितयः) उत्तम राज्य प्रबन्ध व्यवस्था या धर्म मर्यादाएं भी (तं तरन्ति) उसको कष्टों से पार करती हैं (यः) जो (कर्मणा) कर्म से (इन्द्रे) इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा और प्रभु के अधीन होकर (भुवत्) रहता है ।

[६०] ईश्वर और राजा का वर्णन

१–३ सुतकक्षः सुकक्षो वा ऋषिः । ४–६ मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्र्यः । षडृचं सूक्तम् ॥

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
एवा ते राध्यं मनः ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९२ । २८ ॥

भा०—(वीरयुः एव हि असि) हे इन्द्र ! राजन् ! प्रभो ! तू वीर पुरुषों को ही प्राप्त होने हारा, उनका हितैषी है। तू (शूरः उत स्थिरः एव असि) शूरवीर और स्थिर रहने वाला, धैर्यवान् है। (ते मनः) तेरा मन और ज्ञान भी (राध्यं एव) आराधना करने योग्य ही है।

एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः।
अधा चिदिन्द्र मे सचा ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ८१ । २९ ॥

भा०—हे (तुवीमघ) बड़े ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (विश्वेभिः धातृभिः) समस्त पालन करने वाले धाता, धारक, प्रभु स्वामी, पोषक, विधाताओं, राजाओं ने तेरे (रातिः एव) दिये दान को (धायि) धारण किया है। (अधा चित्) और इसी प्रकार हे प्रभो ! (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (मे सचा) मेरे भी साथ तू रह और धन प्रदान कर।

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते।
मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ८१ । ३० ॥

भा०—हे राजन् ! हे प्रभो ! (ब्रह्मा इव) यज्ञ में ब्रह्मा के समान और निद्रा में ब्रह्मज्ञानी के समान हे (वाजानां पते) ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! तू (तन्द्रयुः) आलस्य युक्त (मा उ सु भुवः) कभी मत हो। (गोमतः सुतस्य) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न ऐश्वर्य के द्वारा स्वयं (मत्स्व) तृप्त हो। अध्यात्म में—(गोमतः सुतस्य मत्स्व) इन्द्रियों के सामर्थ्यों सहित उनसे उत्पन्न भीतरी आनन्द और ज्ञानरस से तू तृप्त हो। परमेश्वर पक्ष में—सूर्यादि लोकों सहित उत्पन्न संसार के बीच तू (मत्स्व) स्वयं पूर्णानन्द रूप हो और औरों को भी तृप्त कर।

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ८ । ८ ॥

भा०—(पक्वा शाखा न) पकी हुई शाखा जिस प्रकार मनुष्य को फूल फल देती और बैठने वाले को भली प्रकार आश्रय देती है उसी प्रकार (अस्य) इस इन्द्र ज्ञानवान् आचार्य के समान साक्षात् आत्मा के द्रष्टा, एवं सर्व जगत् के द्रष्टा परमेश्वर की (सूनृता) शुभ सत्य ज्ञान पूर्ण वाणी और उसके समान ही (सूनृता) उत्तम अन्न से परिपूर्ण (गोमती) पशु आदि से समृद्ध (मही) यही पृथ्वी, (विरप्शी) विविध पदार्थों को देने वाली (एव) ही होती है । ज्ञानवाणी ही (दाशुषे) परमेश्वर को आत्म समर्पण करने वाले अभ्यासी के लिये (पक्वा शाखा न) परिपक्व, पुनः पुनः अभ्यस्त शाखा वेद शाखा के समान ज्ञानप्रद और (शाखा=खे शेते) आश्रय वृक्ष के समान ख अन्तराकाश में रमने वाली होती है ।

एवा हि ते विभूतय ऊतयं इन्द्र मावंते ।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥ ०ऋ १ । ८ । ९ ॥

भा०—(ते) तेरी (विभूतयः एव हि) विभूतियें, ऐश्वर्य ही निश्चय से हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! प्रभो ! (मावते) मेरे जैसे (दाशुषे) दानशील के लिये (सद्यः चित्) सदा के लिये (ऊतयः सन्ति) रक्षा रूप से होजाती हैं ।

एवा ह्यस्य काम्या स्तोमं उक्थं च शंस्यां ।
इन्द्राय सोमंपीतये ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ८ । १० ॥

भा०—(अस्य) इसके (एव) ही (स्तोमः) स्तुति समूह और (उक्थं च) वेद ज्ञान (काम्या शंस्या) मनोहर, स्तुति करने योग्य एवं उत्तम हैं । वे (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् योगी आत्मा के (सोमपीतये) सोमपान, अध्यात्म ब्रह्मरस स्वाद के लिये होते हैं । अथवा (अस्य काम्या शंस्या स्तोम उक्थं च) इस भक्त के मनोहर स्तुति-वचन और वेदमन्त्र भी निश्चय से (सोमपीतये इन्द्राय) सोम का पान करने वाले, आनन्द

रस के सागर, ऐश्वर्यवान् परमेश्वर एवं राष्ट्रपति के पद के भोक्ता ऐश्वर्यवान् राजा के लिये ही होते हैं ।

[६१] पूर्णानन्द परमेश्वर की स्तुति

गोषूक्त्यश्वसूक्तिनावृषी । इन्द्रो देवता । उष्णिहः । षडृचं सूक्तम् ॥

तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १५ । ४ ॥

भा०—हे ऐश्वर्यवन् इन्द्र ! हम लोग (ते) तेरे (तं) उस प्रसिद्ध (वृषणम्) समस्त सुखों के वर्षक (पृत्सु) मनुष्यों और संग्रामों में (सासहिम्) समस्त शत्रुओं के पराजय करने वाले, सबके वश करने में समर्थ, (हरिश्रियम्) वेगवान् महान् लोकों और वेगवती शक्तियों के आश्रयभूत, विद्वानों के सेवनीय (लोककृत्नुम्) लोकों की रचना करने वाले (मदम्) परम आनन्द रूप शक्ति का (गृणीमसि) वर्णन, स्तुति करते हैं ।

येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥२॥ ऋ० ८ । १५ । ५ ॥

भा०—(येन) जिस तृप्तिकारक सबको प्रसन्न करने वाले प्रकाश से तू (आयवे) साधारण मनुष्य और (मनवे) ज्ञानशील पुरुष को (ज्योतींषि) नाना ज्योतिर्मय सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि (विवेदिथ) प्रदान करता है उससे ही तू (मन्दानः) सदा तृप्त एवं पूर्ण आनन्दमय होकर (अस्य बर्हिषः) इस महान् ब्रह्माण्ड के बीच में आसन पर राजा के समान (विराजसि) शोभायमान होता है ।

तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥३॥ ऋ० ८ । १५ । ६ ॥

भा०—(अद्यचित्) आज तक भी (उक्थिनः) स्तुतिकर्त्ता पुरुष (पूर्वथा) पूर्व के समान ही (तत्) उस तेरे स्वरूप का (अनु स्तुवन्ति) बराबर वर्णन करते हैं। वह ही (वृषपत्नीः) वर्षणशील मेघ की शक्तियों को पालन करने वाली (अपः) जलों को जिस प्रकार सूर्य धारण करता है उसी प्रकार वृष अर्थात् बलवान् पुरुष के पालने वाली प्रजाओं को (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अपः) समस्त आप्त प्रजाओं को (जय) अपने वश कर।

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥४॥ ऋ० ८। १५। १॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (पुरुहूतं) सबसे स्तुति करने योग्य (पुरुस्तुतम्) बहुत विद्वानों से वर्णित (तम् उ) उस परमेश्वर की ही (प्र गायत) अच्छी प्रकार स्तुति करो। हे विद्वान् लोग (गीर्भिः) वेद-वाणियों द्वारा (तविषम्) महान् शक्तिशाली (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (आ विवासत) स्तुति करो, उसकी अर्चना करो।

यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी। गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥५॥ स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे। इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥६॥ ऋ० ८। १। १५। २, ३॥

भा०—(द्विबर्हसः) दो महान् शक्तियों वाले (यस्य) जिसका (बृहत् सहः) बड़ा भारी बल (वृषत्वना) अपने वर्षण सामर्थ्य से (रोदसी) द्यौ और पृथिवी (गिरीन् अज्रान्) वेगवान् मेघों और पर्वतों को (अपः स्वः) जलों समुद्र और आकाश को भी (दाधार) धारण करता है। (सः) वह तू (पुरुष्टुतः) बहुतसी प्रजाओं द्वारा स्तुति करने योग्य (एकः) अकेला ही (वृत्राणि) समस्त विघ्नों को (जिघ्नसे) विनाश करता है। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू ही (जैत्रा श्रवस्या) विजय-शील यश-कीर्त्ति जनक ऐश्वर्यों को (यन्तवे) प्रदान करने में समर्थ है।

[६२] ईश्वर का स्तवन

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिहः । षड्‌चं सूक्तम् ॥

व॒यमु॑ त्वाम॑पू॒र्व्य स्थू॒रं न कच्चि॒द् भर॑न्तोऽव॒स्यवः॑ । वाजे॑ चि॒त्रं
हवामहे ॥१॥ उप॑ त्वा॒ कर्म॑न्नू॒तये॒ स नो॒ युवो॒ग्रश्च॑क्राम॒ यो धृ॒षत् ।
त्वामिद्ध्य॑वि॒तारं॑ ववृ॒महे॒ सखा॑य इन्द्र सान॒सिम् ॥ २ ॥ यो न॑
इ॒दमि॑दं पु॒रा प्र वस्य॑ आनि॒नाय॒ तमु॑ व स्तुषे । सखा॑य॒ इन्द्र॑-
मू॒तये॑ ॥३॥ हर्य॑श्वं॒ सत्प॑तिं चर्षणी॒सहं॒ स हि ष्मा॒ यो अम॑न्दत ।
आ तु नः॒ स व॑यति॒ गव्य॒मश्व्यं॑ स्तो॒तृभ्यो॑ म॒घवा॑ श॒तम् ॥४॥

भा०—(१–४) इन चार मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्ववेद का० २० । १४ । १–४ ॥

इन्द्रा॑य॒ साम॑ गायत॒ विप्रा॑य बृह॒ते बृ॒हत् ।
ध॒र्म॒कृते॑ विप॒श्चिते॑ पन॒स्यवे॑ ॥५॥ ऋ० ८ । ९८ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (विप्राय) मेधावी, जगत् को विशेष बल और विविध पदार्थों से पूर्ण करने वाले, (बृहते) महान् (धर्मकृते) जगत् के धारण करने हारे प्रबन्ध को करने वाले, (विपश्चिते) समस्त ज्ञानों और कर्मों को जानने वाले, (पनस्यवे) स्तुति के योग्य, (इन्द्राय) परमऐश्वर्य-वान् एवं ज्ञान दृष्टि से, समाधि द्वारा साक्षात् दर्शनीय परमेश्वर के (बृहत् साम) महत्त्व सूचक 'बृहत्' नामक साम, स्तुतिगान का (गायत) गायन करो ।

त्वमि॑न्द्राभि॒भूर॑सि॒ त्वं सूर्य॑मरोचयः ।
वि॒श्वक॑र्मा वि॒श्वदे॑वो म॒हाँ अ॑सि ॥६॥ ऋ० ८ । ९८ । २ ॥

५–(प्र०) 'धर्मकृते' इति साम० ।

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! (त्वम् अभिभूः असि) तू सब संसार में व्यापक और उसका वश करने वाला है। (त्वं) तू (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयः) प्रकाशित करता है। तू (विश्वकर्मा) समस्त जगत् का रचनेहारा एवं जगत् के समस्त कार्यों का कर्त्ता और (विश्वदेवः) समस्त संसार का उपास्यदेव, सब का द्रष्टा समस्त देवों दिव्य शक्तियों एक स्वरूप और (महान् असि) महान्, सबसे बड़ा है।

विभ्राजं ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः।

देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे॥७॥ ऋ० ८। ९८। ३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! तू (ज्योतिषा) सूर्य आदि समस्त प्रकाशमान लोकों की ज्योति से (विभ्राजन्) विशेष रूप से चमकता हुआ (दिवः रोचनम्) समस्त कान्तिमान सूर्य और द्यौलोक को प्रकाशित करने वाले (स्वः) महान् आकाश अथवा (स्वः) महान् तेज को या परम धाम को (अगच्छः) प्राप्त है। (देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और दिव्य पदार्थ (ते सख्याय) तेरे समान ख्याति वाले मित्र भाव के लिये (येमिरे) यत्न करते हैं अर्थात् समस्त विद्वान् और सूर्यादि लोक भी तेरी मित्रता चाहते हैं।

तम्व॒भि प्र गा॑यत पुरुहू॒तं पु॑रुष्टु॒तम्। इन्द्रं॑ गी॒र्भिस्त॑वि॒षमा वि॑वासत॥८॥ यस्य॑ द्वि॒बर्ह॑सो बृ॒हत् सहो॑ दा॒धार॒ रोद॑सी। गि॒रीँरज्राँ॑ अ॒पः स्व॑र्वृषत्व॒ना॥९॥ स रा॑जसि पुरुष्टुतँ॒ एको॑ वृ॒त्राणि॑ जिघ्नसे। इन्द्र॒ जैत्रा॑ श्रव॒स्या॑ च॒ यन्त॑वे॥१०॥

भा०—(८—१०) इन तीन मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० २० ६२। ४। ६॥

[६३] राजा और ईश्वर

१-३ प्र० द्वि० भुवनः आप्त्यः साधनो वा भौवनः । ३ उ० च० भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ४-६ गोतमः । ७-९ पर्वतश्च ऋषिः । इन्द्रो देवता । ७ त्रिष्टुप् शिष्टा उष्णिहः । नवर्चं सूक्तम् ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति॥१॥
ऋ० १० । १५७ । १ ॥

भा०—(इन्द्रः च) इन्द्र सेनापति और (विश्वे च देवाः) समस्त देव विद्वान् गण और विजिगीषु वीर पुरुष हम सब मिलकर (इमा भुवनानि) इन समस्त लोकों को (सीषधाम कम्) अपने वश करें । (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजा (आदित्यैः सह) आदित्य १२ ही मासों या उनके समान नाना प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न राष्ट्र के १२ विभागों या आदित्य के समान तेजस्वी पुरुषों के साथ मिलकर (नः) हमारे (यज्ञम्) राष्ट्र को (नः तन्वं च) हमारे शरीर को और (नः प्रजां च) हमारी प्रजा को भी (चीक्लृपाति) समर्थ, शक्ति सम्पन्न करे ।

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्ववि॒ता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥२॥
ऋ० १० । १५७ । २ ॥

भा०—(यद) जब (देवाः) विजयी वीर पुरुष अपने (देवत्वम्) विजयी स्वभाव की रक्षा करते हुए (देवाः) सूर्य की किरणों के समान (असुरान्) दुष्ट पुरुषों को (हत्वाय) मारकर (आयन्) लौट आवें तब (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् या शत्रुओं का नाश करने वाला सेनापति राजा (सगणः) अपने सहायक सैनिकगण के साथ (आदित्यैः) सूर्य के समान तेजस्वी और (मरुद्भिः) वायु के समान तीव्रगति वाले शत्रु रूप वृक्षों

को अपने प्रबल वेग से उखाड़ देने में समर्थ वीर पुरुषों के साथ मिल कर (अस्माकं) हम प्रजाओं के (तनूनाम्) शरीरों को (अविता भूतु) रक्षक हो।

प्रत्यञ्चम॒र्कम॑नय॒ञ्छची॑भि॒रादित् स्व॒धामि॑षि॒रां पर्य॑पश्यन्।
अ॒या वाजं॑ दे॒वहि॑तं सनेम॒ मदे॑म श॒तहि॑माः सु॒वीराः॑ ॥३॥
ऋ० ६ । १७ । १५ ॥

भा०—विद्वान् लोग (प्रत्यञ्चम्) शत्रुओं पर चढ़ाई करने में समर्थ (अर्कम्) स्तुति योग्य, एवं आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष को (शचीभिः) शक्तिशाली सेनाओं के साथ (अनयन्) ले जाते हैं, उसको सेनाओं से युक्त करते हैं (आत इत्) और तदनन्तर (इषिराम्) बलवती सर्वप्रेरक (स्वधाम्) अपने राष्ट्र के ऐश्वर्य को धारण करने वाली शक्ति को (परि अपश्यन) साक्षात् करते हैं। (अया) इस बड़ी भारी राज्य की शक्ति से प्रेरित होकर हम लोग (देवहितम्) विजय चाहने वाले वीरों एवं राजा के हितकारी या अभिलाषा योग्य (वाजम्) संग्राम को या बल को (सनेम) प्राप्त करें और (सुवीराः) उत्तम वीरों और पुत्रों वाले होकर (शतं हिमाः) आयु के सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्द प्रसन्न एवं तृप्त रहें।

परमात्मा और आत्मा के पक्ष में–(अर्कं) अर्चनीय उपास्य आत्मा को आत्मज्ञानी लोग (शचीभिः) यज्ञ और कर्म सहित साक्षात् करते हैं और उस सर्व प्रेरक, स्वयं शरीर और ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली शक्ति को ही (परि अपश्यन्) सर्वत्र विद्यमान पाते हैं, उस शक्ति से ही हम (देवहितम्) विद्वानों और प्राणों के हितकारी, उनके पोषक पालक (वाजं) अन्न का हम (सनेम) भोग करें और सौ वर्षों तक पुत्रादि सहित हर्षित रहें।

य एक॒ इद् वि॒दय॑ते॒ वसु॒ मर्ता॑य दा॒शुषे॑।
ईशा॑नो॒ अप्र॑तिष्कुत॒ इन्द्रो॑ अ॒ङ्ग ॥४॥ ऋ० १ । ८४ । ७ ॥

भा०—(अङ्ग) हे विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो (एकः इत्) अकेला ही (दाशुषे मर्ताय) दानशील आत्मत्यागी पुरुष को (वसु विदयते) ऐश्वर्य विविध रूपों में प्रदान करता है, वह ही (अप्रतिष्कुतः) विपत्तियों से कभी पराजित न होने वाला अप्रतिहत सामर्थ्यवान् अथवा कभी याचक को न नकारने वाला स्वयं (ईशानः) सर्वेश्वर, सबका स्वामी (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् है ।

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥५॥ ऋ० १ । ८४ । ८ ॥

भा०—(अङ्ग) हे विद्वान् पुरुषो ! (अराधसम्) देने योग्य धनसे रहित, कृपण, अदानशील पुरुष को (इन्द्रः) वह शत्रुनाशक, ऐश्वर्यवान्, न जाने, (कदा) कब (पदा क्षुम्पम् इव) पैर से खुम्बी की तरह (स्फुरत्) ठुकरादे । और (नः गिरः) हमारी वाणियों को वह (कदा) कब (शुश्रवद्) सुनले ।

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।
उग्रं तत् पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥६॥ ऋ० १ । ८४ । ९ ॥

भा०—(अङ्ग) हे प्रजागण ! अथवा अन्तरात्मन् ! (यः चित् हि) जो भी (सुतावान्) सुत अर्थात् उत्पन्न पदार्थ या ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर (बहुभ्यः) बहुतसे जनों के हित के लिये (त्वा) तेरी (आ विवासति) सेवा करता है । (तत्) तभी वह (इन्द्रः) स्वयं शत्रुनाशक होकर (उग्रम्) भयंकर (शवः) बल को (पत्यते) प्राप्त होता है, उसका स्वामी होजाता है।

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।
येना हंसि न्य१त्रिणं तमीमहे ॥७॥ ऋ० ८ । १२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवान् शत्रुनाशक ! हे (शविष्ठ) सब से अधिक बलशालिन् ! (येन) जिस बल से तू (अत्रिणम्) प्रजा को

खा जाने वाले दुष्ट पुरुषों को (निहंसि) निग्रह करके दण्ड देता है और (यः मदः) जो सबको प्रसन्न और हर्ष देने वाला (सोमपातमः) सोम नाम राजा के पद या राष्ट्र को अच्छी प्रकार पालन करने में समर्थ होकर (चेतति) सब प्रजाओं को चेताता या ज्ञानवान् करता है (तम् ईमहे) हम उसी को चाहते और प्रार्थना करते हैं ।

जो संसार का पालन करता है और जिस बल से वह दुष्टों का नाश करता है भगवान् ईश्वर से हम वह बल मांगते हैं ।

येना दशंग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम् ।
येनां समुद्रमाविथा तमींमहे ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १२ । २ ॥

भा०—हे राजन् ! (येन) जिस बल से तू (दशग्वम्) दश गमन-शील प्राणों या इन्द्रियों से युक्त (अध्रिगुम्) अजितेन्द्रिय या ' अध्रि=गु ' अस्थिरगति वाले नाशवान् शरीर को (वेपयन्तम्) सञ्चालित करने वाले (स्वर्नरम्) सुख के नेता या सुखमय प्रकाशमय, नर, पुरुष, आत्मा को (आविथ) रक्षा करता है और (येन) जिससे (समुद्रम्) इस महान् आकाश और समुद्र उनमें विद्यमान चराचर जगत् को (आविथ) रक्षा करता है हम तो (तम् ईमहे) उसको जानें, पावें, प्राप्त करें, उसकी याचना करते हैं ।

राजा के पक्ष में—दशों दिशाओं में भाग जाने वाले अधीर शत्रुको कपाने में समर्थ (स्वर्नरम्) सुखमय राष्ट्र के नेता पुरुष और (समुद्रम्) प्रजा और विशाल सेना समूह रूप समुद्र को जिस बलसे रक्षा करता है हे राजन् ! हम उसी बल को चाहते हैं ।

येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः ।
पन्थांमृतस्य यातंवे तमींमहे ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १२ । ३ ॥

भा०—हे ईश्वर ! (येन) जिस बल से तू (सिन्धुम्) समुद्र के प्रति (महीः अपः) बहने वाली बड़ी २ जल की नदियों को और (रथान् इव) रथों को महारथी के समान अपनी आज्ञा से (ऋतस्य) सत्य नियम के या चराचर संसार के (पन्थाम् यातवे) मार्ग पर ठीक प्रकार से चलने के लिये (प्रचोदयः) प्रेरित करता है (तम् ईमहे) हम उसीको जानना चाहते हैं और याचना करते हैं।

सेनापति के पक्ष में—(सिन्धुं प्रति महीः अपः इव रथान् प्रचोदयः) समुद्र के प्रति जाने वाली महानदियों के समान रथों अर्थात् रथारूढ वीरों को (ऋतस्य पन्थाम् यातवे) संग्राम के मार्ग पर चलने की (प्रचोदयः) आज्ञा देता है (तम् ईमहे) हम उसका ज्ञान करें।

[६४] ईश्वर और राजा ।

१–३ नृमेधाः । ४–६ गोसूक्त्यश्वसूक्तिनौ । इन्द्रो देवता । उष्णिहः ॥

एन्द्र॑ नो गधि प्रि॒यः स॑त्रा॒जिद॑गो॑ह्यः ।
गि॒रिर्न वि॒श्वत॑स्पृ॒थुः पति॑र्दि॒वः ॥१॥ ऋ० ८ । ६८ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! तू (नः) हमारा (प्रियः) प्रिय (सत्राजित्) सदा विजयशील एवं एक ही साथ सबको विजय करने में समर्थ और (अगोह्यः) सबके गोचर, कभी छिप कर न रहने वाला होकर तू (नः) हमें (आगधि) प्राप्त हो। तू (गिरिः न) पर्वत के समान (विश्वतः) सब प्रकार से (पृथुः) विस्तृत महान् (दिवः पतिः) सूर्य और आकाश का भी पालक है।

राजा के पक्ष में—राजा प्रजाओं का प्रिय, सदा विजयी, (अगोह्यः) सर्व प्रत्यक्ष, पर्वत के समान विशाल और (दिवः पतिः) ज्ञानवान् पुरुषों की राजसभा का पति है।

अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।

इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥२॥ ऋ० ८ । ९८ । ५ ॥

भा०—हे (सत्य) सत्यस्वरूप ! तू (सोमपाः) सोमरूप संसार या परमैश्वर्य का पालन करने हारा होकर (उभे रोदसी) दोनों लोकों को (अभि बभूथ) वश करता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (सुन्वतः वृधः) अपने सवन करने वाले उपासक को बढ़ाने वाला और (दिवः पतिः) ज्ञानी पुरुष और द्यौ और सूर्य का भी पालक है ।

राजा के पक्ष में—हे सत्य व्यवहार के रक्षक राजन् ! तू (सोमपाः) राष्ट्र का रक्षक होकर (उभे रोदसी अभि बभूथ) राजा और प्रजा दोनों दलों के भी ऊपर है । अपना सवन या अभिषेक करने वाले या कर देने वाले प्रजागण का बढ़ाने वाला और ज्ञानवान् पुरुषों की सभा का पति है ।

त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि ।

हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥३॥ ऋ० ८ । ८९ । ६ ॥

भा०—हे इन्द्र सेनापते ! (त्वं हि) तू निश्चय से (शश्वतीनाम्) शत्रुओं की सदा से चली आयीं समस्त (पुराम्) नगरियों या गढ़ों को (दर्ता असि) तोड़ने वाला है । तू (दस्योः हन्ता) डाकूजन का नाशक और दण्ड देने वाला और (मनोः) मननशील प्रजाजन का (वृधः) बढ़ाने वाला और (दिवः पतिः) ज्ञानी पुरुषों का या तेजस्वी राजपद का पति है ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे प्रभो ! तू (शश्वतीनाम्) अनादिकाल से चली आईं इन समस्त (पुराम् दर्ता असि) देहरूप नगरियों को तोड़ने वाला देह-बन्धनों का नाशक है । (दस्योः) क्षयकारी अज्ञान का नाशक और (मनोः) ज्ञान का वर्धक और आत्म-प्रकाश का पालक है ।

प्रदु मध्वो मुदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः ।

एवा हि वीर स्तवते सुदावृधः ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । २४ । १६ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) अध्वर्यो ! अध्वर=यज्ञ के सम्पादक, उपासक ! (मध्वः) मधुर (अन्धसः) प्राण और आत्मा का (मदिन्तरम्) अति अधिक आनन्दप्रद, परम तृप्तिकारक रूप सोम रस का (आसिञ्च इत् उ) नित्य सेचन कर उसी आन्तर रस को प्रवाहित कर, (हि) क्योंकि (एवा) इस प्रकार ही (सदावृधः) नित्य वृद्धिशील, नित्य हमारी वृद्धि कराने वाला (वीरः) वीर्यवान् (स्तवते) स्तुति किया जाता है ।

राजा के पक्ष में—(मध्वः अन्धसः) मधुर भोग्य पदार्थ राष्ट्र के ऐश्वर्य का सबसे अधिक सुखकारी भाग राजा को प्रदान कर । नित्य हमारे ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाले वीर की इसी प्रकार अर्चना होती है ।

इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।

उदानंश शवसा न भन्दना ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । २४ । १७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे (हरीणां स्थातः) गतिमान लोकों के बीच में व्यापक एवं संस्थापक अथवा (हरीणाम्) आत्माओं के बीच में, या नाशवान् पदार्थों के बीच में सदा स्थिर ! (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्ण स्तुति, गुण कीर्त्ति को (शवसा) बल द्वारा (नकिः उत् आनंश) कोई भी अभी तक प्राप्त नहीं कर सका, लांघ नहीं सका । और न उस तेरी कीर्त्ति को (भन्दना न) अपने कल्याणकारक और सुखदायक व्यवहार से ही लांघ सका है ।

राजा के पक्ष में—(हरीणां मध्ये स्थातः) हे अश्वों और अश्वारोहियों के बीच में सेनापति रूप से खड़े होने वाले राजन् ! तेरी पूर्व प्राप्त कीर्ति को अभीतक भी न बल से और न उपकार से कोई लांघ सकता है तू इतना वीर और उपकारी बन ।

तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः ।
अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥६॥ ऋ० ८ । २४ । १८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोगों के (वाजानां) समस्त ऐश्वर्यों, बलों, सेनाओं और अन्नादि समृद्धियों के (पतिम्) पालक और (अप्रायुभिः) निरन्तर किये जाने वाले, कभी न टूटने वाले (यज्ञेभिः) यज्ञों उपासना के कर्मों से (वावृधेन्यम्) नित्य बढ़ने वाले, या भक्तों को बढ़ाने वाले (तम्) उस परमेश्वर को (श्रवस्यवः) यश, ज्ञान और अन्न समृद्धि के इच्छुक हम लोग (अहूमहि) स्मरण करते हैं ।

राजा के पक्ष में—(अप्रायुभिः) निरन्तर किये जाने वाले (यज्ञेभिः) राजा प्रजा के परस्पर मिलकर किये कार्यों द्वारा (वावृधेन्यम्) बढ़ने वाले राजा को हम (श्रवस्यवः) यश समृद्धि के अभिलाषी सदा (अहूमहि) आदर से स्वीकार करें ।

[६५] परमेश्वर और राजा ।

विश्वमना वैयश्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिहः । तृचं सूक्तम् ॥

एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥१॥ ऋ० ८ । २४ । १९ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्र जनो ! (आ इत् नु) आओ, (यः) जो (एक इत्) एक अद्वितीय अकेला ही (विश्वाः) समस्त (कृष्टी) आकर्षण शक्ति से बद्ध लोकों के (अभि अस्ति) ऊपर वश कर रहा है उस (स्तोम्यं) स्तुति योग्य (नरम्) सबके नेता, सबके सञ्चालक (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें ।

राजा के पक्ष में—(यः) जो (विश्वाः कृष्टीः एक इत् अभि अस्ति) समस्त मनुष्यों को अकेला ही वश करता है उस (स्तोम्यं नरं स्तवाम) स्तुति योग्य पुरुष के गुणकीर्तन करें ।

अगौरुधाय गुविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः ।
घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥२॥ ऋ० ८ । २४ । १९ ॥

भा०—हे मित्रो ! आप लोग (गविषे) गौ=स्तुति या वेदवाणियों को प्रेरणा करने वाले और (अगोरुधाय) अपने ज्ञानकिरणों को न रोक रखने वाले, उनको प्रसार करने वाले (द्युक्षाय) प्रकाशस्वरूप, उस परमेश्वर की स्तुति के लिये (घृतात् स्वादीयः) घृत, जल से भी अधिक स्वादु, अधिक स्निग्ध और (मधुनः च स्वादीयः) मधु से भी मधुर (दस्म्यं) दर्शनीय (वचः) वचन का (वोचत) उच्चारण करो ।

राजा के पक्ष में-(गविषे) गौ=आज्ञा के दाता और (अगोरुधाय) गौ भूमियों पर अपना स्वत्व न रखने वाले वा लोगों की भूमि आदि न छीनने वाले, दानशील राजा के प्रति घी से अधिक स्नेहमय और मधु से अधिक मधुर वचन का प्रयोग करो ।

यस्यामितानि वीर्या न राधः पर्येतवे ।
ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥३॥ ऋ० ८ । २४ । २० ॥

भा०—हे मित्रो ! (यस्य) जिसके (वीर्या) वीर्य, पराक्रम और बल के व्यापार भी (अमितानि) अज्ञेय एवं असंख्य, मापे नहीं जा सकते और (राधः) जिसका ऐश्वर्य भी (परिएतवे न) पार नहीं किया जा सकता और जिसकी (दक्षिणा) दानशीलता भी (ज्योतिः न) सूर्य के प्रकाश के समान (विश्वम् अभि अस्ति) समस्त विश्व से भी ऊपर, सबसे बढ़कर है, तुम उसकी स्तुति मधुर और स्नेहमय वचनों से करो ।

राजा के पक्ष में-जिसको अनन्त पराक्रम, अपार धन और सर्वोपरि दानशीलता है उसकी स्तुति करो ।

[६६]

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम्।
अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥१॥ ऋ० ८ । २४ । २२ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (व्यश्ववत्) विनीत अश्व वाले पुरुष के समान स्वयं अपने इन्द्रियों पर विजयशील जितेन्द्रिय पुरुष के समान होकर (अनूर्मिम्) भय, पीड़ा रहित, अविक्षुब्ध, गम्भीर (यमम्) सर्व नियन्ता (वाजिनम्) ज्ञान और ऐश्वर्यवान् और (दाशुषे) दानशील, आत्मत्यागी पुरुष को (अर्यः गयम्) शत्रु के धन, बल, प्राणों के (मंहमानम्) देने वाले (इन्द्रम्) शत्रुहन्ता या तमोनाशक परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति कर। अथवा-(दाशुषे) आत्मत्यागी को (अर्यः) प्रजा और (गयं) धन के (मंहमानं) देने वाले ईश्वर की स्तुति कर।

प्रजा वा अरीः। श० ३ । ६ । ४ । २१ ॥ अरिः स्वामी ।

राजा के पक्ष में-(अनूर्मिम्) पीड़ाभय, बाधा रहित, (यमम्) राष्ट्र नियन्ता, (वाजिनम्) ऐश्वर्यवान् की स्तुति कर जो (अर्यः) शत्रु के (गयं) धन को जीतकर (दाशुषे) करप्रद प्रजाको (वि) विविध रूपों में (मंहमानं) देनेहारा है।

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम्।
सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥२॥ ऋ० ८ । २४ । २३ ॥

भा०—(नूनम्) निश्चय से, हे (वैयश्व) विनीत इन्द्रियरूप अश्वों वाले ! जितेन्द्रिय पुरुष ! तू (दशमं) नवों दिशाओं से भी ऊपर दशवें और (नवम्) सदा नवीन सदा तरुण एवं स्तुति योग्य (सुविद्वांसं) उत्तम ज्ञानवान् सब कुछ जानने वाले (चरणीनाम्) चरणशील, सदाचारी साधकों के लिये (चर्कृत्यम्) सदा उपासना करने योग्य परमेश्वर और (एवं) उसी प्रकार (दशमं) दशमी अवस्था को प्राप्त ६० वर्ष से भी अधिक आयु वाले (नवम्) सदा स्तुत्य उत्तम विद्वान् (चरणीनाम्)

वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः । सुन्वान इत् सिषासति सहस्रा वाज्य वृतः। सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥१॥ ऋ० १।१३३।७॥

भा०—हे इन्द्र परमेश्वर ! (सुन्वन्) तेरा सवन या उपासना करता हुआ पुरुष ही (क्षयं) निवास योग्य उत्तम गृह और लोक को (वनोति) प्राप्त करता है । (सुन्वानः हि) तेरी उपासना करने वाला पुरुष ही (परीणसः) चारों तरफ नाक वाले अर्थात् अति सावधान या चारों ओर से लगे हुए (द्विषः) शत्रुओं को (अवयजति) नाश करता है और साथ ही (देवानाम् द्विषः) विद्वान् पुरुषों के शत्रुओं को भी (अव यजति) नीचे गिराता है । (सुन्वानः इत्) उपासना करने वाला पुरुष ही (वाजी) ज्ञानवान होकर (अवृतः) विघ्न बाधाओं से न घिरकर अकेला ही (सहस्रा) हजारों ऐश्वर्यों को (सिषासति) निरन्तर प्राप्त करता है । (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (सुन्वानाय) उपासक को (आभुवं रयिम्) सब प्रकार के सुखों को उत्पन्न करने वाले ऐश्वर्य को (ददाति) प्रदान करता है और (आभुवम्) पुनः २ आने वाले या अन्त तक रहने वाले, अक्षय (रयिम्) बल वीर्य को (ददाति) प्रदान करता है ।

राजा के पक्ष में—(सुन्वन्) राज्याभिषेक करने वाला प्रजाजन (क्षयं वनोति) निवास योग्य शरण प्राप्त करता है, अपने शत्रु और विद्वानों के शत्रुओं को दबाता है । (अवृतः) स्वयं शत्रुओं से न घिरकर वाजी) संग्रामशील या अश्वारोही होकर सहस्रों ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है । राजा ऐसे अभिषेक करने वाले प्रजाजन को अक्षय, नाना पदार्थों के उत्पादक (रयिम्) ऐश्वर्य का भी प्रदान करता है ।

'सुन्वन्, सुन्वानः', षुञ् अभिषवे । स्वादिः । अभिषवः स्नपनं, पीडनं स्नानं सुरासंधानं चेति भट्टोजी दीक्षितः ।

अथवा-(शुन्वन्) दुष्टों को दण्डित करने वाला पुरुष, गृह प्राप्त करता शत्रुओं को दबाता और अकेला ही सहस्रों ऐश्वर्य प्राप्त करता है। (इन्द्रः) परमेश्वर उसको समृद्ध ऐश्वर्य प्रदान करता है।

'परीणसः'—उपसर्गाच्च । (पा० ५ । ४ । ११९) ति नासिका या नसादेशः । परितो नासिका येषां ते परीणसः अति सावधानाः । कुक्कुरवदिष्टानिष्टवस्त्वाघ्राणपराः ।

मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सनां भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत् पुरोत जारिषुः । यद् वंश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् । अस्मासु तन्मंरुतो यच्चं दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम् ॥२॥ ऋ० १ । १३९ । ८ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणो ! वीर सुभटो ! एवं वैश्य प्रजाजनो ! (अस्मत्) हमसे (तानि) वे नाना प्रकार के (सना) सदा से हमें वंश परम्परा से प्राप्त, नित्य (वः पौंस्या) आप लोगों के पौरुष के कर्म और अधिकार (मो षु अभि भूवन्) नष्ट न हों। और (द्युम्नानि) सना-तन, नित्य या स्थिर (द्युम्नानि) यश और ऐश्वर्य (मा उत जारिषुः) कभी नष्ट न हों। और (अस्मत्) हमारे हाथों से (पुरा) पुर और नगर आदि और उनमें रहने वाले प्राणी (मा उत जारिषुः) नष्ट न हों। (वः) आप लोगों का (यत्) जो (चित्रं) अद्भुत या नाना प्रकार का और (नव्यम्) नवीन और (अमर्त्यम्) मरणधर्मा, साधारण मनुष्य को न प्राप्त होने वाला धन (घोषात्) कहाता है हे (मरुतः) वीर सुभटो ! (तत्) वह और (यत् च) जो कुछ भी (दुष्टरं) दुःखों से प्राप्त किया जाय और (यत् च दुस्तरम्) जो दुस्तर, अपार हो (तत्) वह सब (अस्मासु) हममें (दिधृत) प्रदान करो।

अध्यात्म में-हे (मरुतः) प्राणगण ! (वः) तुम्हारे (तानि सना पौंस्या मो सु अभि भूवन्) वे नाना, सदातन, नित्य आत्मसम्बन्धी बलकर्म नष्ट न हों । अर्थात् इन्द्रियों के सामर्थ्य बने रहें । (अस्मत् द्युम्नानि मोत जारिषुः) तेजोमय ज्ञान हमसे न छूटें वे भी बने रहें । (उत) और चाहे (पुरा) ये देह (अस्मत्) हमसे (जारिषुः) छूट जायं पर (यत्) जो (वः) तुम लोगों के बीच (नव्यं) सदा स्तुत्य, सदा नवीन और (अमर्त्यम्) अमर (चित्रं) चित् स्वरूप में रमण करने वाला आत्मा (घोषात्) कहा जाता है (यत् च दुस्तरम्) और जिसको अज्ञान पा नहीं सकते और (यत् च दुस्तरम्) जिस नित्य, अनन्त को अनित्य प्रलोभन पार कर नहीं सकते, जीत नहीं सकते उस ईश्वरीय बलको (अस्मासु दिधृत) हमारे में धारण कराओ ।

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः ॥३॥

ऋ० १ । १२७ । १ ॥

भा०—मैं (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर को (दास्वन्तम्) दान देने वाला, (होतारम्) सब कुछ स्वीकार करने वाला, (वसुम्) सब में बसने और सबको बसाने वाला और (सहसः) अपने बल और शक्ति के कारण (सूनुं) सबका प्रेरक, (जातवेदसं) समस्त उत्पन्न पदार्थों को जानने वाला, और (विप्रम् न) विविध विद्याओं से पूर्ण, मेधावी विद्वान के समान (जातवेदसम्) ऐश्वर्यों और वेद विद्याओं के प्रकट करने वाला (मन्ये) मानता और जानता हूं । और उसी प्रकार होता, 'दास्वान्' वसु आदि विशेषणों वाले उस पर परमेश्वर की ही स्तुति करता हूं । (यः) जो (ऊर्ध्वया) सबसे ऊपर वर्त्तमान (देवाच्या) 'देव' दिव्य पदार्थों को

प्राप्त सूर्य, वायु, विद्युत् आदि पदार्थों में प्रकट होने वाले (कृपा) सामर्थ्य से स्वयं (स्वध्वरः) उत्तम प्रजापालन रूप, हिंसा रहित, याग करने हारा (देवः) सबका द्रष्टा और सबका प्रकाशक है और जो (आजुह्वानस्य) आहुति किये गये (सर्पिषः) द्रवीभूत (घृतस्य) घी के कारण उत्पन्न (विभ्राष्टिम् अनु) अग्नि की विविध देदीप्यमान ज्वाला के समान (आ-जुह्वानस्य) अपने भीतर आहुति किये गये संसरणशील सूर्यादि (घृतस्य) तेजस्वी पदार्थों की (विभ्राष्टिम् वष्टि) नाना प्रकार के कान्ति की स्वयं कामना करता है। अर्थात् उन्हीं की चमक से स्वयं चमकता है।

इसी प्रकार राजा—शत्रुतापक होने से 'अग्नि' राज्य स्वीकार करने से 'होता', दानशील होने से 'दास्वान्', प्रजा को बसाने वाला होने से 'वसु', ऐश्वर्यवान् होने से 'जातवेदा' है। वह विजिगीषु विद्वानों के भीतर विद्यमान सर्वोच्च शक्ति से (स्वध्वरः) उत्तम राष्ट्रपालन रूप यज्ञ, करता है। घृत के तेज से देदीप्यमान अग्नि के समान स्वयं दीप्ति से चमकता है।

यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामं छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत । आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः ॥४॥ ऋ० २ । ३६ । २ ॥

भा०—मारुतो माधवश्च देवते । आषाढ़ की वायुओं के वर्णन के साथ वीर पुरुषों और अध्यात्म प्राणों का वर्णन है। हे (भरतस्य सूनवः) हे भरण पोषण करने वाले आत्मा के पुत्र के समान उसी के वीर्य सामर्थ्य से उत्पन्न प्राणगणो अथवा (भरतस्य) भरण पोषण योग्य इस चराचर जगत् के श्रेष्ठ प्राणो! आप लोग (यज्ञैः संमिश्लाः) धार्मिक पुरुषों के समान यज्ञों से युक्त होकर अर्थात् 'यज्ञ' संगति कारक आत्माओं के साथ मिलकर और (पृषतीभिः ऋष्टिभिः) पालन पूर्ण करने वाली शक्तियों सहित (यामन्) प्राप्त होने योग्य रथ रूप देह में (शुभ्रासः)

शोभा देने वाले और (अञ्जिपु) नाना विषयों के ज्ञान कराने में समर्थ इन्द्रिय शक्तियों में रहकर (प्रियाः) अति प्रिय मनोहर, एवं उत्कृष्ट रूप से प्रकट होकर और (बर्हिः) आसन के समान आश्रयरूप महान शक्ति वाले या वृद्धिशील आत्मा में (आसद्य) बैठकर (नरः) नेता या शरीर के प्रवर्तक होकर (दिवः) तेजः स्वरूप (पोत्रात्) परम पवित्र शुद्ध आत्मा में (सोमं) प्रेरक बल रूप शक्ति को (पिबत) प्राप्त करो।

योगियों के पक्ष में—(नरः) हे उत्तम पुरुषो ! हे (भरतस्य सूनवः) सबके भरण पोषण करने वाले महान परमेश्वर के पुत्रों के समान योगि जनो ! आप लोग (यज्ञैः संमिश्लाः) उपासनीय आत्मा या उपासना के उचित कर्मानुष्ठानों से युक्त होकर (पृषतीभिः ऋष्टिभिः) आत्मा को पूर्ण करने वाली शक्तियों सहित (यामन्) उस प्राप्तव्य परम परमेश्वर के आश्रय में (शुभ्रासः) सुशोभित होकर स्वतः शुभ्र शुद्ध, निष्पाप कर्मों का आचरण करते हुए (उत्) और (अञ्जिपु) ज्ञान के प्रकाश करने वाले कार्यों में अति प्रिय मनोहर होकर आपलोग (बर्हिः) उस महान ब्रह्म में स्थित होकर (दिवः) सूर्य के समान तेजस्वी (पोत्राद्) पावक, पावनकर्ता परमेश्वर से (आ) प्राप्त करके (सोमम्) ब्रह्मानन्द रस का (आ पिबत) निरन्तर मनन करो।

राजा के नियुक्त वीर शासक पुरुषों के पक्ष में–हे (दिवः नरः) ज्ञान-वाली सर्वोपरि विराजमान राजसभा के नेता पुरुषो ! आप लोग (यज्ञैः संमिश्लाः) आदर सत्कारों से युक्त, (यामन्) रथों पर (पृषतीभिः) हृष्ट पुष्ट घोड़ियों, अश्वों और (ऋष्टिभिः) हिंसाकारी हथियारों से (शु-भ्रासः) सुशोभित और (अञ्जिपु प्रियाः) आभूषणों द्वारा मनोहर होकर (बर्हिः आसद्य) आसनों पर बैठकर (पोत्रात्) पवित्र कर्त्तव्य से (सोमं आपिबत) सोम, ऐश्वर्य या राष्ट्र का भोग करो।

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु। प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि ॥ ५ ॥ ऋ० २। ३६। ४॥

भा०—हे (विप्र) विविध विद्याओं में पूर्ण ज्ञानी, मेधावी परमेश्वर! तू (देवान्) समस्त देवों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों को (आवक्षि) धारण करता है। और (यक्षि च) परस्पर संगत करता और प्रदान करता है। हे (होतः) सबके स्वीकार करने हारे! तू (त्रिषु योनिषु) तीनों लोकों में (निषद) व्याप्त है। तू (प्रति वीहि) प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हो (प्रस्थितं सोम्यं मधु) अच्छी प्रकार स्थिर जीवों के हितकारी ज्ञान को (पिब) पान करा (आग्नीध्रात्) अग्नि को धारण करने वाले सूर्यादि लोक से प्राप्त (तव भागस्य) तेरे भजन करने या प्राप्त करने योग्य तेज से तू (तृप्णुहि) समस्त संसार को तृप्त कर।

विद्वान् के पक्ष में—तू (देवान् आवक्षि) दिव्य गुणों को धारण कर। (उशन् च यक्षि) कामनायुक्त होकर फल की आकांक्षा से यज्ञ कर। हे (होतः) होता पुरुष। तू (त्रिषु योनिषु निषद) तीनों गार्हपत्य आदि अग्नियों में विराज। (प्रस्थितं) प्राप्त किये या लाये गये (सोम्यं मधु) सोममय मधुर पदार्थ की (प्रति वीहि) अभिलाषा कर। (आग्नीध्रात्) आग्नीध्रयाग से शेष प्राप्त पदार्थ का (पिब) पान कर और (तव भागस्य तृप्णुहि) अपने भाग से तृप्त हो।

राजा के पक्ष में—हे विविध ऐश्वर्यों से राष्ट्र को पूर्ण करने वाले विप्र! तू (देवान् वक्षि) विजयी पुरुषों को धारण कर (यक्षि) उनको वेतनादि दे। (त्रिषु योनिषु) सिंहासन, शासकवर्ग और प्रजावर्ग तीन पर विराज, अथवा स्वराष्ट्र परराष्ट्र और उदासीन सब पर विराज। उप-स्थित (सोम्यं मधु) राष्ट्रमय मधु, सोम्य पदार्थ या बल को प्राप्त कर

उसका भोग कर। और अपने (आग्नीध्रात्) अग्नि, तेज धारण करने वाले राजपद से प्राप्त स्वराष्ट्र से तृप्त हो।

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः।
तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत् पिब ६॥
ऋ० २। ३६। ५॥

भा०—हे राजन्! (एषः स्यः) यह सोम रूप राष्ट्र का समस्त अधिकार (ते) तेरे (तन्वः) शरीर के समान विस्तृत राज्य का (नृम्णवर्धनः) प्रजाओं के अभिलषित धन को बढ़ाने वाला होकर (सहः) बल, (ओजः) और पराक्रम स्वरूप होकर (दिवि) ज्ञानवान् पुरुषों की बनी राजसभा या ज्ञान में, आकाश में, या तेज में सूर्य के समान और (बाह्वोः) बाहुओं में बलके समान (हितः) रक्खा गया है। यह (तुभ्यम्) तेरे लिये ही (सुतः) अभिषेक द्वारा प्रदान किया है और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! (तुभ्यम्) तेरे लिये ही (आभृतः) सब प्रकार से सुरक्षित एवं सब प्रकार से तुझे प्राप्त कराया गया है। (त्वम्) तू (अस्य) इसमें से (ब्राह्मणात्) 'ब्रह्म' अर्थात् वेदोपदिष्ट भाग से (तृपत्) तृप्त, सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर उसका (आ पिब) सब प्रकार भोग कर।

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ ७॥
ऋ० २। ३७। २॥

भा०—(यम्) जिसको भी (पूर्वम्) मैं पहले, प्रथम मुख्य पद पर (आहुवे) बुलाता हूं (तम्) उसको ही मैं (इदम् हुवे) इस बात का उपदेश करता हूं कि (यः नाम) जो भी (पत्यते) ऐश्वर्यवान् होता है (सः, इत् उ) वह ही निश्चय से (हव्यः) स्तुतियोग्य और (ददिः) दानशील होता है। हे (द्रविणोदः) ऐश्वर्य के दाता! (ऋतुभिः) संवत्सर

भर में व्यापक शक्तिमान् सूर्यरूप प्रजापति जिस प्रकार (अध्वर्युभिः प्रस्थितम्) आकाश में व्याप्त किरणों से प्राप्त (सोमं) सोम, जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार तू भी (अध्वर्युभिः) राष्ट्र के पालन रूप यज्ञ के कर्त्ता विद्वान् शासकों द्वारा (प्र-स्थितं) प्रस्तुत किये (सोम्यं मधु) राष्ट्र से प्राप्त 'सोम', राजपद के योग्य मधु अर्थात् मधुर, भोग्य अन्न और ऐश्वर्य को (पोत्रात्) अपने व्यापक सामर्थ्य से या पवित्र पालन कर्म से प्राप्त कर और (सोमं पिब) राष्ट्र का भोग कर ।

[६८] परमात्मा, विद्वान्, राजा ।

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥ २ ॥

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ४ । ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो कां० २० । ६७ । मं० १-२ ॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ४ । ४ ॥

भा०—हे विद्वन् ! (यः) जो (ते सखिभ्यः) तेरे स्नेही मित्रों को (वरम्) श्रेष्ठ धन, ऐश्वर्य (आ) प्रदान करता है उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान्, ज्ञानवान् (विग्रम्) विविध विद्याओं के उपदेश करने वाले और (विपश्चितम्) ज्ञानों और कर्मों के जाननेहारे विद्वान् को (परा इहि) प्राप्त हो और उससे (पृच्छ) प्रश्न करके ज्ञान प्राप्त कर । अथवा (परा इहि) दुष्ट पुरुषों से परे रह, और विद्वान् से ज्ञान प्राप्त कर ।

विप्रविपश्चित् शब्दौ मेधाविनामसु पठितौ ॥ अथवा-वेर्नासिकायां ओ वक्तव्य इति विप्रः विनासिकः । विविधविद्याकुशल इत्यर्थः ।

परमात्मा के पक्ष में स्पष्ट है । स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । पातं० । योगसू० ।

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।

दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ४ । ५ ॥

भा०—(निदः) निन्दक पुरुष (निः आरत) दूर चले जायं और (अन्यतः चित्) अन्य स्थानों से भी (निर् आरत) परे हों । (उत) और (इन्द्रे इत्) इन्द्र परमेश्वर और आचार्य के अधीन (दुवः) सेवा भक्ति और व्रत (दधानाः) धारण करते हुए विद्वान्जन (नः) हमें (ब्रुवन्तु) उपदेश करें।

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।

स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४ । ६ ॥

भा०—हे (दस्म) शत्रुओं के नाशक अथवा हे दर्शनीयतम! प्रभो ! (अरिः उत) शत्रुगण और (कृष्टयः) साधारण मनुष्य भी (नः) हमें (सुभगान्) उत्तम ज्ञान, ऐश्वर्यवान् (वोचेयुः) कहें । हम (इन्द्रस्य) ज्ञानप्रद गुरु और शत्रुनाशक राजा के (शर्मणि) गृह में, या शरण में (स्याम इत्) सदा रहें ।

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् ।

पतयन्मन्दयत्सखम् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ४ । ७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! हे आचार्य ! (आशवे) ज्ञानोपदेश ग्रहण करने में तीव्र गति वाले शिष्य को (आशुम्) व्यापक, (यज्ञश्रियम्) आत्मा को शोभा देने वाले या यज्ञ, परमात्मा विषयक (नृमादनम्) मनुष्यों के सुखकारी (पतयत् मन्दयत्सखम्) स्वामित्व या ऐश्वर्यदायक समान मित्रों को भी प्रसन्न करने वाले ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा ।

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः ।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ४ । ८ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्म और प्रज्ञाओं से युक्त राजन् ! विद्वन् ! तू (अस्य) इस राष्ट्र के ऐश्वर्य को (पीत्वा) प्राप्त करके (वृत्राणाम्) विघ्नकारी, एवं नगररोधक शत्रुओं को (घनः) मारने में समर्थ (अभवः) होजाता है । और (वाजेषु) संग्रामों में (वाजिनम्) अन्न और बल वीर्य वाले अपने देश एवं प्रजाजन और वेगवान् अश्वारोही दल को (प्र अवः) उत्तम रीति से रक्षा कर ।

ज्ञानार्थी के पक्ष में—हे सैकड़ों ज्ञानों को प्राप्त शिष्य ! (अस्य पीत्वा) इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके तू (वृत्राणां) मन को तामस आवरणों से घेरने वाले अज्ञानों का (घनः अभवः) नाशक हो । और (वाजेषु) अन्नादि भोग्य पदार्थों में भी (वाजिनम्) वीर्यसम्पन्न आत्मा को और इन्द्रियगण को (प्र अवः) पालन कर । जितेन्द्रिय हो ।

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ।
धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥ ऋ० १ । ४ । ९ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्मों, बलों से युक्त ! इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! (धनानां सातये) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने के लिये (तं) उस जगत्प्रसिद्ध (त्वा) तुझ (वाजिनम्) बलवान् पुरुष को (वाजयामः) प्राप्त होते हैं तुझ से निवेदन करते हैं या तुझे वीर्यवान् बलवान् और अन्नादि से पुष्ट करते हैं ।

यो रायो॒३ऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥ ऋ० १ । ४ । १० ॥

भा०—(यः) जो (रायः) ऐश्वर्य का (अवनिः) पृथ्वी के समान आश्रय और रक्षा करने हारा है और (महान्) बड़ा भारी, (सुन्वतः)

उपासना करने वाले भक्त का (सुपारः) उत्तम पालक एवं (सखा) मित्र है । (तस्मै) उस (इन्द्राय गायत) ऐश्वर्यवान् प्रभु की स्तुति गान करो ।

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।
सखाय स्तोमवाहसः ॥ ११ ॥ ऋ० १ । ५ । १ ॥

भा०—हे (स्तोमवाहसः) स्तुतिसमूहों को, वेद मन्त्रों को धारण करने वाले विद्वान् पुरुषो ! अथवा हे वीर्य या पदाधिकार को धारण करने वाले वीर पुरुषो ! (सखायः) हे समान पद के मित्र जनो ! (आ एत तु) आओ और (आ निषीदत) आसनों पर बैठो । और (इन्द्रम् अभि) ऐश्वर्यवान् प्रभु को लक्ष्य करके (प्र गायत) उत्तम स्तुति गान करो उत्तम २ वचन कहो ।

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ५ । २ ॥

भा०—(सुते सोमे) सोम के निष्पन्न हो जाने पर राष्ट्र के व्यवस्थित और राजा के अभिषिक्त हो जाने पर (पुरूणाम्) बहुत सी प्रजाओं में (पुरूतमम्) सबसे श्रेष्ठ पालक और (वार्याणाम्) अभिलाषा के योग्य ऐश्वर्यों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्र) शत्रुविनाशी, इन्द्र, परमेश्वर को (सचा) एकत्र होकर स्तुति करो । उसको चुनो या प्राप्त करो । प्रस्तुत करो ।

[६९] राजा, सेनापति, परमेश्वर ।

ऋष्यादि पूर्ववत् । गायत्र्यः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥ १ ॥ ऋ० १ । ५ । ३ ॥

भा०—(सः घ) वह इन्द्र परमेश्वर ही (नः योगे) हमारे अप्राप्त पुरुषार्थ के प्राप्त करने में (आभुवत्) सहायक हो। अथवा (सः घ नः) वह ही हमारे (योग) चित्त के एकाग्र कर लेने पर समाधि दशा में (आभुवत्) प्रकट होता है (सः राये) ऐश्वर्यवृद्धि के लिये भी वही (आ भुवत्) समर्थ है। (सः पुरन्ध्याम्) वह ही बहुतसे शास्त्रों को धारण करने वाली बुद्धि में भी प्रकट होता है। (सः) वह (नः) हमें (वाजेभिः) बल, वीर्य एवं ऐश्वर्यों सहित (आगमत्) प्राप्त हो।

राजा के पक्ष में—वह राजा या सेनापति हमें अलब्ध ऐश्वर्य को प्राप्त करने धन प्राप्त करने और देश की रक्षा के कार्य में समर्थ हो और वह संग्रामों द्वारा या अन्नों सहित हमें प्राप्त हो।

यस्य॑ सं॒स्थे न वृ॒ण्वते॒ हरी॑ स॒मत्सु॒ शत्र॑वः।
तस्मा॒ इन्द्रा॑य गायत ॥ २ ॥ ऋ० १। ५। ४॥

भा०—(समत्सु) संग्रामों या आनन्द के अवसरों पर (यस्य) जिसके (संस्थे) रथ में लगे (हरी) घोड़ों को (शत्रवः) शत्रुगण भी (न वृण्वते) सहन नहीं करते (तस्मै) उस (इन्द्राय) इन्द्र की (गायत) स्तुति करो।

परमेश्वर पक्ष में—(संस्थे) जिसके भली प्रकार से हृदय में स्थित हो जाने पर (यस्य हरी) जिसके दुःखहारी प्राण और अपान शक्तियों के सामने (शत्रवः) आत्मा के बल के नाशक विषयगण (समत्सु) समाधि के रस प्राप्ति के अवसरों पर (न वृण्वते) आत्मा को नहीं घेरते। (तस्मै) उस (इन्द्राय) आत्मा और परमेश्वर के गुणों का (गायत) गान करो।

सु॒त॒पाव्ने॑ सु॒ता इ॒मे शुच॑यो यन्ति वी॒तये॑।
सोमा॑सो॒ दध्या॑शिरः ॥ ३ ॥ ऋ० १। ५। ५॥

भा०—(सुतपात्रे) उत्पन्न किये गये पदार्थों के रक्षक और पालक के लिये (इमे) ये (शुचयः) शुद्ध, कान्तिमान् (सुताः) सोम पदार्थ (वीतये) भोग और ज्ञान के लिये (यन्ति) प्राप्त होते हैं । (सोमाः) उत्तम २ भोगों के उत्पन्न करने वाले ये समस्त ऐश्वर्यवान् पदार्थ (दध्याशिरः) शरीर आदि पोषण करने और स्वयं नाश हो जाने वाले हैं । अर्थात् अपने को खोकर दूसरों को पुष्ट करने वाले हैं । अथवा धारण पोषण वाले पदार्थों को अपने में विलीन किये हुए हैं ।

परमेश्वर-पक्ष में—(इह) ये (शुचयः) निर्मल पाप रहित (सुताः) ज्ञान से अभिषिक्त योगविद्यानिष्णात परमात्मा के पुत्र के समान (सोमासः) ज्ञानी पुरुष (दध्याशिरः) ध्यानयोग से अपने जीवन और देह को शीर्ण करने में समर्थ होकर (सुत पात्रे) ज्ञान-निष्णात उपासकों को पुत्र के समान पालक परमेश्वर को (वीतये) प्राप्त करने के लिये (यन्ति) जाते हैं । मोक्षमार्ग का अनुसरण करते हैं ।

त्वं सुतस्य॑ पीतये॑ स॒द्यो वृ॒द्धो अ॑जायथाः ।
इन्द्र॒ ज्यैष्ठ्या॑य सुक्रतो ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ५ । ६ ॥

भा०—(इन्द्र त्वं) हे जीव ! हे राजन् ! तू (सुतस्य) प्राप्त राष्ट्र के (पीतये) पालन या भोग के लिये, हे (सुक्रतो) शुभ प्रज्ञा और कर्म करने हारे ! (ज्यैष्ठ्याय) संबन्ध से महान पद प्राप्त करने के लिये (सद्यः) सदा (वृद्धः) शक्तियों में महान् होकर (अजायथाः) रह ।

परमेश्वर के पक्ष में–हे परमेश्वर ! पुत्र के समान अपने उपासकों को (पीतये) अपने भीतर लीन, अपने आनन्द में मग्नकर लेने के लिये तू सदा ही (वृद्धः अजायथाः) महान् है क्योंकि (ज्येष्ठाय) तू ही सबसे ज्येष्ठ या सबसे बड़ा है ।

आ त्वा॑ विशन्त्वा॒शवः॒ सोमा॑स इन्द्र गिर्वणः ।
शं ते॑ सन्तु प्रचे॑तसे ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ५ । ७ ॥

भा०—हे (गिर्वणः) वाणियों द्वारा स्तुति करने योग्य ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! (आशवः) ये समस्त व्यापक पदार्थ और वेगवान् सूर्यादि लोक (सोमासः) और विद्याओं में व्याप्त ज्ञानी पुरुष भी (त्वा आविशन्तु) तुझ को ही प्राप्त हो जाते हैं और (ते) तुझ (प्रचेतसे) प्रकृष्ट उत्कृष्ट ज्ञानवान् के अधीन होकर ही (शं) कल्याणकारी और शक्ति-दायक (सन्तु) होते हैं । अथवा-ज्ञानी पुरुष (प्रचेतसे) सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी (ते) तुझे प्राप्त करने के लिये ही (शं) शांतिसम्पन्न, शमदमादि युक्त (सन्तु) हों ।

राजा और जीव के पक्ष में—हे स्तुतियोग्य ! समस्त (आशवः सोमासः) शीघ्रगामी तीव्र बुद्धिमान् विद्वान्गण (त्वा आविशन्तु) तेरे अधीन रहें । सर्वोत्कृष्ट ज्ञानवान् पुरुष तेरे लिये कल्याणकारी हों ।

त्वां स्तोमा॑ अवीवृधन् त्वामु॒क्था श॑तक्रतो ।
त्वां व॑र्धन्तु नो॒ गिरः॑ ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ५ । ८ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (स्तोमाः) वेदमन्त्रसमूह (त्वां अवीवृधन्) तुझे बढ़ाते हैं (उक्था) अन्य वेदमन्त्र भी हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्मों और प्रज्ञानों वाले ! (त्वां) तुझ को ही बढ़ाते हैं । तेरी ही महिमा का गान करते हैं । (नः गिरः) हमारी वाणियां भी (त्वां वर्धन्तु) तुझे ही बढ़ावें ।

राजा के पक्ष में-(स्तोमाः) समस्त राजा के अधिकार और (उक्था) आज्ञाएं भी (त्वां अवीवृधन्) तुझे बढ़ाते हैं, पुष्ट करते हैं और (नः गिरः) हम प्रजाओं की वाणियां भी (त्वां वर्धन्तु) तुझे बढ़ावें, तेरे मान प्रतिष्ठा और उत्साह को बढ़ावें ।

अक्षि॑तोतिः सनेदि॒मं वाज॒मिन्द्रः॑ सह॒स्रिण॑म् ।
यस्मि॒न् विश्वा॑नि पौंस्या॑ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ५ । ९ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस परमेश्वर में (विश्वानि) समस्त (पौंस्या) वीर्य, पराक्रम एवं पुरुष के उपयोगी पदार्थ एवं शक्तियें विद्यमान हैं । वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (अक्षितोतिः) अक्षय, अनन्त रक्षाकारिणी शक्ति वाला होकर हमें (इमं) इस (सहस्रिणम् वाजम्) हज़ारों सुखों के देने वाले ऐश्वर्य या अन्न को (सनेत्) प्रदान करे । इसी प्रकार वह राजा अक्षय पालन शक्ति से युक्त होकर सहस्रों ऐश्वर्य देने में समर्थ (वाजं सनेत्) संग्राम करे । जिसमें (विश्वानि पौंस्या) समस्त पौरुष बल हैं ।

मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः ।
ईशानो यवया वधम् ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ५ । १० ॥

भा०—हे (गिर्वणः) स्तुति योग्य हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! एवं राजन् ! (मर्त्ताः) मनुष्य (नः) हमारे (तनूनाम्) शरीरों के प्रति (मा अभिद्रुहन्) द्रोह न करें, घात प्रतिघात न करें । तू (ईशानः) सबका स्वामी होकर (वधम्) हम पर उठने वाले शस्त्र या हत्यारे पुरुष को (यवय) दूर कर ।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना
दिवि ॥९॥ युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू
नृवाहसा ॥ १० ॥ केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समु
षद्भिरजायथाः ॥ ११ ॥ आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ६ । १-४ ॥

भा०—(९-११) इन तीन मन्त्रों की व्याख्या देखो कां० २० । २६ । ४-६ ॥ और १२वें मन्त्र की व्याख्या देखो का० २० । ४० । ३ ॥

[७०] राजा परमेश्वर

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः ।
अविन्द उस्रिया अनु ॥ १ ॥ ऋ० १ । ६ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् ! सूर्य जिस प्रकार (गुहाचित्) आकाश में (वीलु चिद्) अपने बल से ही (आरुजत्नुभिः) मेघों को भङ्ग कर देने वाले (वह्निभिः) वहन करने वाले प्रबल वायुओं से मेघों को छिन्न भिन्न करके (उस्रियाः) किरणों द्वारा समस्त लोकों को (अनु अविन्दः) प्राप्त करता है । उसी प्रकार वह परमेश्वर (आरुजत्नुभिः) सब प्रकार दुःखों का नाश करने वाले (वह्निभिः) ज्ञान के नेता विद्वान् पुरुषों द्वारा या शरीर का वहन करने वाले प्राणों द्वारा (वीलु चित्) बलपूर्वक (गुहा) हृदयाकाश में (उस्रियाः) अपने ज्ञान प्रकाशों को फैलाकर (अनु अविन्दः) सबको व्याप्त करता है । अथवा (उस्रियाः) ऊर्ध्वगति, मोक्ष मार्ग में सर्पण करने वाले मुमुक्षु आत्माओं को अपने (अनु) पीछे २ उन पर अनुग्रह करके (अविन्दः) अपने पास ले लेता है ।

राजा के पक्ष में—(वीलु चित्) बल से (गुहा चित्) गुप्त दुर्गों को भी (आरुजत्नुभिः) तोड़ डालने वाले (वह्निभिः) सेना नायकों द्वारा राजा (उस्रियाः) उत्तम पदार्थों को देने वाली प्रजा और भूमियों को (अनु अविन्दः) स्वयं प्राप्त कर लेता है ।

दे॒व॒यन्तो॒ यथा॑ म॒तिमच्छा॑ वि॒दद्व॑सु॒ गिरः॑ ।

म॒हाम॑नूषत श्रु॒तम् ॥ २ ॥ ऋ० १ । ६ । ६ ॥

भा०—(देवयन्तः) उपास्य देव परमेश्वर की उपासना करनेहारे (गिरः) विद्वान् पुरुष (यथा) जिस प्रकार से (मतिम्) मनन करने योग्य, (वसुम्) सबके बसाने वाले और सबमें बसने वाले (श्रुतम्) सबसे श्रवण करने योग्य, जगत्प्रसिद्ध, (महाम्) महान् परमेश्वर को (अच्छ) साक्षात् (विदद्) जानते हैं उसी प्रकार (ते) वे उसकी (अनूषत) स्तुति किया करते हैं ।

राजा के पक्ष में—(दधयन्तः) अपने प्रमुख राजा को चाहने वाले (गिरः) विद्वान् पुरुष या शत्रुओं को निगलने वाले वीर पुरुष (यथा) जिस प्रकार (मतिम्) मननशील विद्वान् या शत्रु के स्तम्भन करने वाले (वसु) प्रजा के बसाने वाले, (श्रुतम्) जगत्—प्रसिद्ध (महाम्) महान् पुरुष को (अच्छा विदत्) साक्षात् प्राप्त करते या पाते हैं वैसे ही वे उसकी (अनूषत) स्तुति भी करते हैं, उसका आदर करते हैं ।

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा ।
मन्दू समानवर्चसा ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ६ । ७ ॥

भा०—मरुत् नामक वायु के समान तीव्र वेगवान् एवं शत्रु रूप वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकने वाला सैन्यगण ! (अविभ्युषा) भय रहित साधन या बल से युक्त होकर ही (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् राजा या सेनापति के साथ (संजग्मानः) संगति लाभ करता हुआ (सं दृक्षसे) भला प्रतीत होता है । (हि) क्योंकि दोनों (समानवर्चसा) समान तेज को धारण करने हारे होकर (मन्दू) एक दूसरे की आवश्यकता को पूरा करने वाले एवं परस्पर आनन्द और संतोषदायक होते हैं । ईश्वर पक्ष में-प्राणाभ्यासी योगी (अविभ्युषा) अभय चित्त से संगत होकर परमेश्वर के साथ अपने को मिला पाता है । वे दोनों समान तेज के आनन्दमय होकर एक दूसरे को आनन्दित करते हैं ।

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति ।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ६ । ८ ॥

भा०—(अनवद्यैः) दोषरहित, अनिन्दित, (अभिद्युभिः) तेजों से उज्ज्वल, (काम्यैः) कान्तिमान् (गणैः) समूहों से ही (मखः) संग्राम भी स्वयं (सहस्वत्) बलशाली (इन्द्रस्य) सेनापति या राजा की (अर्चति) पूजा करता, उसे मान की वृद्धि करता है ।

परमेश्वरपक्ष में- (मखः) यज्ञ, (अभिद्युभिः) उज्ज्वल, (अनवद्यैः) अनिन्दनीय, (काम्यैः) कामना योग्य (गणैः) मरुत्-गण, या विद्वान् पुरुषों द्वारा (सहस्वत् इन्द्रस्य अर्चति) शक्तिमान् परमेश्वर को पूजा करता है। अर्थात् यज्ञ में विद्वान्गण परमेश्वर की ही उपासना करते हैं।

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि।
समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ६ । ९ ॥

भा०—हे (परिज्मन्) सर्वव्यापक, सब लोकों के प्रेरक तू (अतः) इस अन्तरिक्ष में मेघ या वायु के समान (दिवः) आकाश से सूर्य के समान (वा) और (रोचनाद्) रुचिकर आदित्य से प्रकाश के समान (आगहि) हमें प्राप्त हो। (अस्मिन्) इस तुझ में ही (गिरः) समस्त वेदवाणियें (सम् ऋञ्जते) संगत होती है। अथवा-(अस्मिन्) इस साक्षात् परमेश्वर के ही निमित्त और उसी के आधार पर (गिरः) समस्त ज्ञान प्रकाशक विद्वान् पुरुष (सम् ऋञ्जते) अपनी साधना करते हैं।

राजा के पक्ष में-अन्तरिक्ष से वायु के या मेघ के समान द्यौलोक से सूर्य के समान और सूर्य से प्रकाश के समान तू (परिज्मन्) हे सर्व राष्ट्र व्यापक अथवा सर्व शत्रुओं पर शस्त्रों के क्षेपण करने हारे वीर! तू हमें (अधि आगहि) अधिकारी रूप में प्राप्त हो। ऐसे वीर पुरुष पर आश्रित होकर ही समस्त (गिरः) स्तुति-वचन और ज्ञातागण (सम् ऋञ्जते) अपना कार्य साधते हैं।

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि।
इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १ । ६ । १० ॥

भा०—हम लोग (इन्द्रम्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु से (सातिम्) समस्त धनैश्वर्यों के विभाग करने वाले से ...

याचना करते हैं। वह हमें (इतः) इस (पार्थिवात्) पृथिवी के लोक से (दिवः वा) द्यौ आकाश से या (महो वा रजसः) महान् रजस् अर्थात् अन्तरिक्ष लोक नाना ऐश्वर्य और भोग्य पदार्थों का प्रदान करे। राजा के पक्ष में स्पष्ट है।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—(गाथिनः) उद्गाता लोग, गाथा द्वारा स्तुति करने वाले (इन्द्रम् इत् अनूषत) उस इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की ही स्तुति करते हैं। (अर्किणः) अर्चना करने वाले विद्वान् पुरुष (अर्केभिः) वेदमन्त्रों से (इन्द्रम् इत् अनूषत) उस इन्द्र की ही स्तुति करते हैं और (वाणीः) यजुर्वेद की गद्यमय वाणियें भी (इन्द्रम् अनूषत) इन्द्र की ही स्तुति करती हैं।

राजा के पक्ष में–(गाथिनः) श्लोकपाठकः वन्दीजन, (अर्किणः) अर्चना करने हारे और (वाणीः) उत्तम वाणिएं सभी राजा की स्तुति करते हैं या उसके गुणों का प्रतिपादन करते हैं।

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ७ । २ ॥

भा०—(इन्द्रः इत्) इन्द्र ही (हर्योः) अपने में नित्य विद्यमान (हर्योः) हरण और आहरण अर्थात् उत्पत्ति और विनाश नामक उन दो महान् शक्तियों के साथ आ (संमिश्लः) सब प्रकार से रचा मिचा है वे दोनों शक्तियां (वचोयुजा) वचन के साथ योग करती हैं। अर्थात् वचन द्वारा संक्षेप से कही जा सकती हैं। अथवा (वचोयुजा) वेद के वचनों से युक्त है। स्वयं (इन्द्रः) वह परमेश्वर (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान कान्तिमान् और मनोहर होकर भी (वज्री) कठोर वज्र रूप शासन को धारण करता है।

ईश्वर के दोही स्वरूप हैं, वह जगत् के पदार्थों को बनाता है या संहार करता है। इन दोनों कार्यों में जगत् के पदार्थ स्वतन्त्र न रह कर परतन्त्र हैं। संहारक होने से वज्रवान् खड्गधारी रुद्र के समान है। उत्पादक होने से वह तेजस्वी और वीर्यवान् है।

राजा के पक्ष में-(वचो युजा हर्योः सचा संमिश्लः) आज्ञाकारी दो वेगवान् घोड़ों से युक्त है। वह खड्ग धर और सुवर्णवान् है अर्थात् शासन-धर और कोपवान् है।

इन्द्रो॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑स॒ आ सूर्यं॑ रोहयद् दि॒वि।
वि गोभि॒रद्रि॑मैरयत् ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ७ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (दीर्घाय चक्षसे) दूर तक देखने के लिये (दिवि) आकाश में (सूर्यम् आरोहयत्) सूर्य को स्थापित करता है। और वह सूर्य (गोभिः) किरणों से या गमनशील वायुओं से (अद्रिम्) मेघ को भी (वि ऐरयत्) विविध दिशाओं में प्रेरित करता है।

राजा या सेनापति के पक्ष में—वह (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घ दृष्टि से दूरतक के भविष्य को देखने के लिये (दिवि) विद्वानों की राजसभा के में सबसे ऊपर (सूर्यम्) आकाश में सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानप्रकाशक विद्वान् को प्रधान पदपर स्थापित करता है और वह (गोभिः) अपनी ज्ञान वाणियों से (अद्रिम्) अखण्ड शासन या अभेद्य बलको (विऐरयत्) विविध प्रकार से प्रेरित करता है। और उसका विविध रूप में उपयोग करता है।

इन्द्र॒ वाजे॑षु नोऽव स॒हस्र॑प्रधनेषु च।
उ॒ग्र उ॒ग्राभि॑रू॒तिभिः॑ ॥ १० ॥ ऋ० १ । ७ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! (सहस्र-प्रधनेषु) हज़ारों प्रकार के उत्कृष्ट धनों को प्रदान करने वाला (वाजेषु) युद्धों में

और हे (उग्रः) अतिभयकारिन् बलवन ! तू अपनी (उग्राभिः) उग्र, भयदायिनी बलवती (ऊतिभिः) रक्षाकारी साधनों से (नः) हमें (अव) बचा।

राजा के पक्ष में भी स्पष्ट है।

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे ।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ११ ॥ ऋ० १ । ७ । ५ ॥

भा०—(महाधने) बड़े धन, ऐश्वर्य के देने या व्यय करादेने वाले महासंग्राम में (वयम्) हम लोग (वृत्रेषु) विघ्नकारी शत्रुओं पर सदा वज्र प्रहार करने वाले और (युजं) हमारे सदा सहायक (इन्द्रम् हवा-महे) उस परमेश्वर को याद करते हैं। और (अर्भे) छोटे से युद्ध में भी (इन्द्रम् हवामहे) उस इन्द्र की ही स्तुति करते हैं।

परमेश्वर भक्त का सदा सहायक होने से उसका 'युज्' है और बाधक तामस आवरणों पर ज्ञान वज्र का प्रहार करके उसे काटता है इससे वह 'वज्री' है।

राजा के पक्ष में भी स्पष्ट है।

स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि ।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ७ । ६ ॥

भा०—हे (वृषन्) सुखों के वर्षण करने हारे ! हे (सत्रादावन्) समस्त अभिलाषा योग्य फलों को एक साथ देने में समर्थ अथवा समस्त प्राणियों के कर्म फलों को एक ही काल में देने में समर्थ ! तू (नः) हमारे (अमुं) परोक्ष में विद्यमान (चरुम्) भोग योग्य कर्म फल को (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (अपा वृधि) खोलदे, प्रकट कर। तू (अप्रतिष्कुतः) कभी याचक को उलटा फेरने वाला, नकारने वाला या प्रत्याख्यान करने वाला नहीं है।

अथवा—हे (सत्रादावन्) सत्य ज्ञान के देने वाले परमेश्वर तू (अमुं) उस परोक्ष में विद्यमान (चरुं) आचरणयोग्य, सत्यमय ज्ञान या मोक्ष द्वार को (अपावृधि) दूर कर। तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अप्रतिष्कुतः) कभी विचलित या विस्मृत नहीं होता।

राजा के पक्ष में-हे (सत्रादावन्) विद्यमान समस्त शत्रुओं को एक ही समय काट देने में समर्थ ! तू (अमुं चरुं) उस प्रतिकूल विचरणशील शत्रु को दूरकर। तू (अप्रतिष्कुतः) कभी युद्ध में किसी से भी विचलित या पराजित नहीं होता।

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ १३ ॥ ऋ० १ । ७ । ७ ॥

भा०—(तुञ्जे-तुञ्जे) प्रत्येक दान के प्राप्त होने के अवसर पर दाता के प्रति कहे जाने योग्य (यः) जो (उत्तरे) उत्कृष्ट, शास्त्रसंमत (स्तोमा) स्तुतिवचन हैं, वे सब उस (वज्रिणः) बलवान्-वीर्यवान् (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही हैं। (अस्य) इसके लिये (सुस्तुतिम्) और किसी उत्तम स्तुति को (न विन्धे) प्राप्त नहीं करता हूं।

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ७ । ८ ॥

भा०—(वंसगः) उत्तम गति वाला दृढांग (वृषा) हृष्टपुष्ट बैल जिस प्रकार (यूथेव) गो यूथ में शोभा देता है और (ओजसा) अपने बल से (कृष्टीः) खेतों को भी (इयर्त्ति) वाह लेता है उसी प्रकार वह परमेश्वर (वंसगः) संभजन या सेवन योग्य समस्त पदार्थों और लोकों में व्यापक होकर (वृषा) समस्त सुखों का वर्षक इस लोक समूह में शोभा पावे हैं और (कृष्टी) और आकर्षण गुण से वश इन लोकों का (ओजसा) अपने बल से (इयर्ति) चला रहा है। वही (अप्रतिष्कुतः) किसी से

विचलित न होकर, किसी के भी वश न होकर स्वयं (ईशानः) समस्त ब्रह्माण्ड का स्वामी है।

राजा के पक्ष में—गोयूथ में वृषभ के समान अपने (ओजसा) पराक्रम से (कृष्टीः) प्रजाओं को (इयर्ति) अपने वश करता है और (अप्रतिष्कुतः) किसी से पराजित न होने वाला स्वयं राष्ट्र का स्वामी होता है।

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति ।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ १५ ॥

भा०—(यः) जो (एकः) अकेला (वसूनाम्) प्रजा को अपने भीतर बसाने वाले लोकों और (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजाओं को (एकः) अकेला ही (इरज्यति) अपने वश करता है। वह ही (पञ्च-क्षितीनाम्) पांचों क्षिति, जीवों के निवास पृथिवी आदि पांचों भूतों के (इन्द्रः) ऐश्वर्य का धारण करने हारा है।

राजा के पक्ष में जो अकेला समस्त राष्ट्र वासी प्रजाओं को वश करता है और वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद इन पांचों प्रजाओं का (इन्द्रः) स्वामी है।

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥ १६ ॥

भा०—(विश्वतः जनेभ्यः) समस्त जनों के (परि) ऊपर विद्यमान उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की हम (हवामहे) स्तुति करते हैं। वह (केवलः) केवल, अद्वितीय परमेश्वर ही (अस्माकम्) हमारा और (वः) तुम्हारा सहायक है। राजा भी सबके ऊपर विद्यमान होकर अकेला ही सबका हितकारी है।

देखो अथर्व० का० २० । ३९ । १ ॥

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।

वर्षिष्ठमूतये भर ॥ १७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे राजन् ! तू (सजित्वानम्) सदा अपने समान के शत्रुओं को जयशील (सदासहम्) सदा शत्रुओं के परायज करने में समर्थ (सानसिम्) समस्त योग्य पदार्थों के देने वाले (वर्षिष्ठम्) बड़े भारी (रयिम्) ऐश्वर्य को तू (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (आ भर) प्राप्त करा, संग्रह कर ।

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै ।

त्वोतासो न्यर्वता ॥ १८ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (येन) जिस (त्वोतासः) तेरे द्वारा सुरक्षित होकर (मुष्टिहत्यया) चित्त वृत्ति को विषयों में हर ले जाने वाली या आत्मा के स्वरूप को संप्रमोष या विस्मरण करा देने वाली तामस तृष्णा को मार कर (वृत्रा) अन्तःकरण को आ घेरने वाले, योग-सुख के बाधक विघ्नों का का (नि रुणधामहै) सर्वथा निरोध करें और (अर्वता) ज्ञानबल से सभी उसको (नि रुणधामहै) निरुद्ध करें ।

राजा के पक्ष में—हम प्रजागण (त्वा ऊतासः) तेरे से सुरक्षित रह कर (मुष्टिहत्यया) मुक्कों से या शस्त्रों से प्रहार कर २ के (अर्वता) अश्व बल से शत्रुओं को (निरुणधामहै) रोकें ।

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि ।

जयेम सं युधि स्पृधः ॥ १९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वोतासः) तेरे से सुरक्षित होकर हम (घनाः) अज्ञान आवरण के नाश करने में समर्थ होकर मेघ के समान धर्ममेघ स्वरूप होकर अपने चित्त भूमि में आनन्द-रस वर्षाते हुए (वज्रं ददीमहि) ज्ञान रूप वज्र को ग्रहण करें और (युधि) देवासुर

संग्राम में (स्पृधः) चित्त पर स्पर्धा से वश करने वाले नाना विषयों, मलो-भनों को (सं जयेम) भली प्रकार विजय करें।

राजा के पक्ष में—(वज्रं घना ददीमहि) हम राजा की रक्षा में रह कर हत्याकारी वज्र, बल और खड्ग को धारण करें। और युद्ध में शत्रुओं को विजय करें।

व॒यं शूरे॑भि॒रस्तृ॑भि॒रिन्द्र॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यम्।
सा॒स॒ह्याम॑ पृतन्य॒तः ॥ २० ॥

भा०—(त्वया युजा) योग समाधि द्वारा तेरे सहायक प्राप्त होजाने पर हम (अस्तृभिः) अहिंस्य, सदा साथ में विद्यमान (शूरैः) गतिशील प्राणों के द्वारा (पृतन्यतः) गण बनकर आक्रमण करने वाले शत्रुपक्ष विषयों को (सासह्याम) वश करें।

राजा के पक्ष में—हम (अस्तृभिः) शर वर्षण करने वाले एवं अस्त्रों से युक्त अथवा अहिंसनीय, अजेय शूरवीरों के साथ तुझ सहायक को प्राप्त करके सेनाओं द्वारा चढ़ाई करने वाले शत्रुओं को विजय करें।

[७१] परमेश्वर

म॒हाँ इन्द्र॑: प॒रश्च॒ नु म॑हि॒त्वम॑स्तु व॒ज्रिणे॑।
द्यौर्न प्र॑थि॒ना शव॑: ॥ १ ॥

भा०—(प्रथिना) विस्तृत विस्तार से जिस प्रकार (द्यौः न) वह आकाश महान् है और विस्तृत प्रकाश से जिस प्रकार यह सूर्य महान् है उसी प्रकार वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् स्वामी भी (महान्) बड़ा और (परः च) सब से परे है। (वज्रिणे) उस वज्रधर परम शक्तिमान् की ही यह (महित्वम्) समस्त महिमा (अस्तु) है उसी का बड़ा भारी (शवः) बल है। राजा भी महान् और सर्वोत्कृष्ट हो।

समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ ।
विप्रासो वा धियायवः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ८ । ६ ॥

भा०—(ये) जो पुरुष (समोहे वा) संग्राम में (आशत) लगे रहते हैं और जो (नरः) लोग (तोकस्य) पुत्रादि सन्तान की (सनितौ) प्राप्ति में व्यग्र हैं और जो (विप्रासः) मेधावी, ज्ञानवान् लोग (धियायवः) सदा अपनी बड़ी धारणाशील, ज्ञानवती बुद्धि को प्राप्त करना चाहते हैं वे तीनों प्रकार के विजयार्थी, पुत्रार्थी और ज्ञानार्थी सब, हे इन्द्र ! तेरी ही स्तुति करते हैं ।

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते ।
उर्वीरापो न काकुदः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ८ । ७ ॥

भा०—जो इन्द्र, परमेश्वर (कुक्षिः) समस्त शक्तियों को अपने कोख में रखने वाला (सोमपातमः) संसार के समस्त ऐश्वर्य का सबसे बड़ा पालक होकर (समुद्र इव) समुद्र के समान अगाध भण्डार है (काकुदः) सब से श्रेष्ठ, समस्त दिशाओं में व्यापक (आपः उर्वीः न) जल जिस प्रकार भूमियों को सींचते हैं और उनको हराभरा करते हैं उसी प्रकार वह परमेश्वर समस्त प्राणियों और लोकों को अन्न जल और जीवन से सींचता है ।

अथवा वह समुद्र के समान महान् (पिन्वते) बढ़ता है (काकुदः आपः उर्वीः इव अस्ति) वह तालु में, मुख में होने वाले जलों के समान कभी सूखता नहीं । सायण ॥

अथवा–(आपः) प्राण जिस प्रकार (काकुदः) वाणी को सेचन करते हैं उसी प्रकार वह (उर्वीः पिन्वते) भूमियों को सींचता है । दया० ॥

राजा के पक्ष में—(यः) जो राजा (कुक्षिः) शत्रुओं से ऐश्वर्य आदि सार पदार्थ को सूर्य के समान चूस ले और जो (सोमपातमः) अपने राष्ट्र का सबसे उत्तम रक्षक होकर (काकुदः आपः उर्वीः न), मेघस्थ

जल जिस प्रकार भूमियों को सींचते हैं उसी प्रकार वह (समुद्रः) समुद्र के समान गम्भीर और अपार ऐश्वर्यवान् होकर (उर्वीः) अपनी विशाल प्रजाओं को (पिन्वते) सींचता और बढ़ाता है।

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही।
पुक्का शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ८ । ८ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर की (विरप्शी) विविध विद्याओं का उपदेश करने वाली वाणी (मही) बड़ी भारी, अति पूजनीय, (गोमती) नाना वेदवाणियों से युक्त. (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने वाले के लिये तो (एवा) ऐसी (सूनृता) शुभ, उत्तम, सत्य ज्ञान से पूर्ण है कि जिस प्रकार वह उसके लिये (पक्का शाखा न) पकी, फलों से लदी शाखा ही हो।

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ८ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! राजन्! (ते) तेरी (एवा) ऐसी २ अलौकिक (विभूतयः) विभूतियां और विविध ऐश्वर्य और (एवा ऊतयः) ऐसी ही तेरी पालन शक्तियें (मावते) मेरे जैसे (दाशुषे) दानशील, अधीन पुरुष के लिये (सद्यः चित्) सदा ही (सन्ति) विद्यमान हैं।

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या।
इन्द्राय सोमपीतये ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ८ । १० ॥

भा०—(एव हि) निश्चय ही (सोम पीतये) समस्त पदार्थों को स्वीकार करने वाले या जगत् रूप सोम को अपने भीतर पालन करने, या ले लेनेहारे (इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु का (स्तोमः) स्तुति और उसके गुण कहने वाले ऋग्-गण (च) भी (काम्या) कामना करने और (शंस्या) सदा मुख से उच्चारण करने और कीर्तन करने योग्य हैं।

इसी प्रकार राष्ट्र-पालक राजा के गुण और उत्तम स्तुतियां होनी चाहियें।

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ९ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्रः) ऐश्वर्यवन् ! तू (इहि) आ, प्रकट हो, साक्षात् हो । तू (विश्वेभिः) समस्त (सोमपर्वभिः) जगत् के अवयवों अथवा (सोम) अपने प्रेरक बलों के पूर्ण सामर्थ्यों से (अन्धसः) समस्त पृथिवी आदि लोकों को (मत्सि) हर्ष युक्त करता है । अथवा (अन्धसः अन्नादि समस्त जीवन धारण कराने वाले तत्व के (विश्वेभिः सोमपर्वभिः समस्त आनन्दरस से पूर्ण अवयवों से तू स्वयं (मत्सि) हर्षमय होता है तू (ओजसा) अपने बल पराक्रम से ही (महान्) बड़ा भारी (अभिष्टिः) सबको सब प्रकार से चलानेहारा है ।

राजा के पक्ष में- तू (अन्धसः) अन्न के कारण और समस्त (सोमपर्वभिः) राष्ट्र के अंगों द्वारा (मत्सि) हृष्ट हो । तू (ओजसा) पराक्रम से (महान् अभिष्टिः) बड़ा भारी शत्रुओं का विजेता है ।

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने ।
चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ९ । २ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (सुते) उत्पन्न हुए इस संसार में (एनं इस (मन्दिम्) हर्ष के आश्रय (चक्रिम्) क्रियाशील जीवात्मा को (मन्दिने) आनन्द के उत्पादक (विश्वानि) समस्त लोकों के (चक्रये जगत् के बनाने वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (आ सृजत) समर्पण करो

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिस्तोमेभिर्विश्वचर्षणे ।
सचैषु सवनेष्वा ॥ ९ ॥

भा०—हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के द्रष्टा ! परमेश्वर ! हे (सुशिप्र) उत्तम ज्ञानस्वरूप ! तू (मन्दिभिः स्तोमेभिः) हृदय को आनन्दित करने वाली, स्तुतियों से (मत्स्व) प्रसन्न हो । और (एषु सवनेषु)

इन ऐश्वर्यों में, इन यज्ञों में (सचा) लगे हुए हम लोगों को भी (आ मत्स्व) आनन्दित कर। अथवा-इन सवनों, पूजा के अवसरों में एक ही साथ समस्त स्तुतियों से तू प्रसन्न हो।

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।
अजोषा वृषभं पतिम् ॥ १० ॥

भा०—हे (इन्द्रः) परमेश्वर ! (ते) तेरे निमित्त मैं (गिरः) वेदवाणियों का (असृग्रम्) विविध प्रकार से प्रयोग और वर्णन करता हूं। स्त्रियें जिस प्रकार अपने पालक के प्रति अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं उसी प्रकार वे वेदवाणियें (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक, (पतिम्) सब के पालक (त्वाम् प्रति) तेरे ही प्रति (उद् अहासत) जाती हैं, लगती हैं, अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं।

सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र वरेण्यम् ।
असदित् ते विभु प्रभु ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्रः) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! ज्ञानघन् ! तू (अर्वाग्) साक्षात् हमारे प्रति (चित्रम्) चित्र, आश्चर्यजनक या संग्रह करने योग्य, अद्भुत (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ उस (राधः) आराध्य, अभीष्ट ज्ञान और ऐश्वर्य को (सं चोदय) प्रेरित कर। जो (ते) तेरा (विभु) व्यापक या विविध पदार्थों का उत्पादक (प्रभु) सबसे उत्कृष्ट, शक्तिशाली (असत्) है।

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः ।
तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ १२ ॥

भा०—हे (तुविद्युम्न) बहुत अधिक ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! तू (यशस्वतः) यशस्वी, (रभस्वतः) उद्योगशील, (अ-

स्मान्) हमें (राये) ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (वज्र) इस उत्तम योग्य स्थान और अवसर में (सु चोदय) उत्तम रीति से प्रेरित किया कर ।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत् ।

विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ १३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! तू (अस्मे) हमें (गोमत्) गौ आदि पशुओं से समृद्ध, (वाजवत्) ऐश्वर्य युक्त, (बृहत्) बड़ा भारी (पृथु) अति विस्तृत, (श्रवः) अन्न और यश एवं (गोमत्) ज्ञानवाणियों से युक्त (वाजवत्) वीर्य से युक्त (श्रवः) वेद ज्ञान और अन्न (सं धेहि) प्रदान कर और (अक्षितम्) अक्षय, अविनाशी (विश्वायुः) पूर्ण आयु अथवा (विश्वायुः) पूर्णायु देने वाला (अक्षितम्) अक्षय अन्न (धेहि) प्रदान कर ।

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम् ।

इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥ १४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे बाधक शत्रुओं के निवारक राजन् ! तू (अस्मे) हमें (बृहत् श्रवः) बड़ा यश, अन्न, ज्ञान, बल और (सहस्रसातमम्) सहस्रों भोगों के देने वाले (द्युम्नम्) ऐश्वर्य को (धेहि) प्रदान कर । और (ताः) वे (रथिनीः) रथों, वाहनों से युक्त (इषः) सेनाएं और (रथिनीः=रसिनीः इषः) भीतरी अन्तरस से युक्त प्रेरणाएं और उत्तम रस से युक्त अन्नादि खाद्य पदार्थ प्रदान कर ।

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम् ।

होम गन्तारमूतये ॥ १५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! हम लोग (वसोः) पृथ्वी पर और राष्ट्र में और देह में बसने वाले जीवों के (ऊतये) रक्षा के लिये (इन्द्रम् ऐश्वर्यवान् बाधक शत्रुओं के नाशक (वसुपतिम्) समस्त लोकों और

प्राणियों के पालक (ऋग्मियम्) ऋचाओं, वेद मन्त्रों द्वारा जानने योग्य और ऋचाओं, वेद मन्त्रों के कर्त्ता (गन्तारम्) सर्वज्ञ और सर्व व्यापक के (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (गृणन्तः) गुण वर्णन करते हुए हम (होम) उस का स्मरण करते हैं ।

सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः ।
इन्द्राय शूपमर्चति ॥ १८ ॥

भा०—(बृहत् अरिः इत्) बड़े से बड़ा धन का स्वामी पुरुष भी (सुते सुते) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ से (नि ओकसे) अपने गुणरूप से निवास करने वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के (शूषम् अर्चति) बल की अर्चना करता है ।

राजा के पक्ष में—(बृहत् अरिः) बड़े से बड़ा शत्रु भी (सुते सुते न्योकसे) अभिषिक्त, या प्राप्त राष्ट्र राष्ट्र में, अर्थात् राष्ट्र के प्रत्येक भाग में विद्यमान (इन्द्राय) शत्रुनाशक राजा के (शूषम्) शोषणकारी बल को (अर्चति) मानता है ।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[७२] परमेश्वर और राजा

परुच्छेप ऋषिः । अत्यष्टमः । तृचं सूक्तम् ॥

विश्वेषु हि त्वा सर्वनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक् स्वः सनिष्यवः पृथक् । तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि । इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः ॥१॥

ऋ० १ । १३१ । २ ॥

[७२]—१. तुजिपालने भ्वादिः । हिंसाबलादान निकेतनेषु-भाषार्थश्च चुरादिः ।

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हम (विश्वेषु सवनेषु) समस्त सवनों, पूजा और अर्चना के अवसरों में (हि) भी (त्वा) तुझ को (एकम्) एक (समानं) सर्वत्र समान भाव से (वृषमण्यवः) सुखों की एकत्र वर्षा करने वाले, मानने वाले और (पृथक्) अपने लिये अलग अलग (स्वः) सुख (सनिष्यवः) प्राप्त करने की इच्छा करते हुए (आयवः) सब मनुष्य अपने (पृथक्) अलग २ ही (त्वा) तेरी (तुञ्जते[1]) स्तुति करते हैं। हम लोग (त्वा) तुझको (नावं न) नाव के समान (पर्षणिम्[2]) पार लगा देने वाला या समस्त मनोरथ के पूर्ण करने वाला और (शूषस्य) उत्पन्न हुए समस्त संसार के और ऐश्वर्य के और समस्त शक्ति के (धुरि) केन्द्र में प्रवर्त्तक रूप से स्थित (धीमहि) ध्यान करते हैं। और (यज्ञैः) यज्ञों, उपासना-अनुष्ठानों द्वारा (इन्द्रं न) ऐश्वर्यवान् महाराजा के समान (चितयन्तः) जानते हुए (आयवः) मनुष्य लोग तुझे (इन्द्रम्) महान् ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को (स्तोमेभिः) स्तुतियों से (आयवः) प्राप्त होते हैं। अर्थात् परमेश्वर सर्वत्र समान रूप से ऐश्वर्य बरसाता है। सभी जन्तु उसके लिये अपनी २ पृथक् स्तुति करते हैं।

'पर्षणिम्' पारस्य संभक्तीं पूरयित्रीं वा फलस्य। इति सायणः।

'तुञ्जते'–तुजि भाषार्थः। चुरादिः। 'शूषस्य' शूष प्रसवे। भ्वादिः॥

राजा के पक्ष में—(विश्वेषु सवनेषु) समस्त अभिषेकों में हे राजन्! तुझ (एकं समानं वृषमन्यवः) एक को सर्वत्र समान रूप से श्रेष्ठ मानते हुए लोग पृथक् २ स्थानों पर अपना २ सुख चाहते हुए पृथक् २ प्रार्थना करते हैं। तुझे सागर के पार लेजाने वाली नाव के समान (पर्षणिं) पालन या रक्षा और शरण प्रद जानकर (शूषस्य धुरि) राष्ट्र रूप ऐश्वर्य

२. पार तीरकर्मसमाप्तौ, इति पारोपपदात्सनेरिन्नौणादिकः। पृषोदरादित्वात्साधुः। पिपर्त्तेरौणादिकः सन्निप्रत्ययो वा।

के या राष्ट्र संचालक बल के केन्द्र में स्थित हुआ (धीमहि) जानते, मानते हैं। तुझको (इन्द्रं न) इन्द्र प्रभु के समान जानते हुए लोग (स्तोमेभिः) स्तुतियों सहित तुझ (इन्द्रम् आयवः) ऐश्वर्यवान् को ही प्राप्त होते हैं।

वि त्वां ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः। यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि। आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥ २ ॥ ऋ० १ । १३१ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! परमेश्वर! (अवस्यवः) अपनी तृप्ति और रक्षा चाहने वाले (मिथुना) स्त्री पुरुष, या गुरु शिष्य, या राजा प्रजा मन और आत्मा, के नाना जोड़े (गव्यस्य व्रजस्य साता) गवादि पशुओं के लाभ के लिये और गौ,=वेद वाणियों से उत्पन्न व्रज ज्ञेय ज्ञान को प्राप्त करने के लिये समस्त भोग्य पदार्थों को तुझपर ही न्योछावर करके सर्वस्व त्याग और गौ=इन्द्रियों के समूह पर वश प्राप्त करने के लिये (त्वा) तुझ आचार्य की शरण में (वि ततस्रे) निवास करते हैं अर्थात् गुरुगृह में रहकर ब्रह्मचर्य का विशेष रूप से पालन करते हैं। और वे (निःसृजः) और फिर (सक्षन्ते) तेरे में रमण करते हुए वे (निःसृजः) समस्त कर्म वासना और समस्त फलाशायों मे त्यागी हो जाते हैं (यत्) और जब(स्वःयन्ता) सुखों को प्राप्त होते हुए और (गव्यन्ता) गो समूह या वाणि-समूह या इन्द्रियों को दमन करते हुए (द्वा जना) दोनों जनों को तू ही (समूहसि) अपने शरण भली प्रकार ले लेता है तब ही तू हे (इन्द्र) परमेश्वर (वृषणं) सुखों के वर्षक (सचाभुवं) परस्पर साथ मिलकर उत्पन्न होने वाले, (सचाभुवम्) अन्तरात्मा के सदा साथ अनुभव होने वाले, नित्य, सुखरूप (वज्रम्) ज्ञानरूप बन्धन को काटने में समर्थ वज्र

को, बल को, या ज्ञान को, या अपने तेज को (आविष्करिष्यद्) प्रकट करता है ।

गृहपति-पत्नी पक्ष में—(मिथुना) स्त्री और पुरुष दोनों (श्रवस्यवः) रक्षा चाहने वाले या जीवन की सुख तृप्ति चाहने वाले ज्ञानधारियों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये हे इन्द्र आचार्य ! (त्वा वि तत्स्रे) तेरे समीप गुरुगृह में आकर रहते हैं । (निः सृजः) उस समय सबकुछ त्यागकर तेरे पास आकर भी (निः सृजः) सर्वस्व त्यागी बने रहते हैं । और हे इन्द्र गुरो ! परमेश्वर ! (यत्) जब (गव्यन्ता) ज्ञान वाणियों को चाहने वाले (द्वा जना) दोनों जनों को तु (स्वः यन्ता) गार्हस्थ्य सुख को प्राप्त करने के इच्छुक उनको (समूहसि) विवाहित कर देना चाहता है तब (सचा भुवम्) उन दोनों के परस्पर सहयोग से उत्पन्न (वृषणं) प्रजानिषेक के योग्य (सचाभुवम्) सदा साथ विद्यमान रहने वाले (वज्रम्) वीर्य को भी उनमें ब्रह्मचर्य पालन द्वारा (आविः करिक्रत्) प्रकट कर ।

राजा के पक्ष में—स्त्री पुरुष अपनी रक्षा चाहने वाले होकर राजा का आश्रय लेते हैं । सुख चाहने वाले स्त्री पुरुषों को वह जब जान लेता है तब उनके ऊपर राजा प्रजा के सहयोग से उत्पन्न (वज्रं) अपने बल को प्रकट करता है ।

उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्यर्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः । यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिञ्चिकेतसि । आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः ॥ ३ ॥

ऋ० १ । १३१ । ६ ॥

भा०— योगी पुरुष (अस्याः उषसः) इस उषा का (जुषेत) सेवन करे अर्थात् योगसाधना से उत्पन्न ज्योतिष्मती प्रज्ञा का आनन्द लाभ करे । और (हविषः) स्वीकार करने और स्तुति करने योग्य (अर्कस्य)

अर्चनीय परमेश्वर का (वीमभिः) स्तुतियों द्वारा (बोधि) ज्ञान करे । वह (हवीमभिः) स्तुतियों द्वारा ही (स्वः साता) परमसुख को प्राप्त होता है हे (वज्रिन्) ज्ञानवज्र को धारण करने हारे ! और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् तू (यत्) जब (मृधः) शत्रु सेनाओं के समान मन को डुलाने वाली व्युत्थान वासनाओं को (हन्तवे) नाश करने के लिये (चिकेतसि) ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब (अस्य मे) इस मुझ (नवीयसः) नये २, दीक्षा प्राप्त (वेधसः) मेधावी, ज्ञानवान् प्रबुद्ध पुरुष के (मन्म) मनन या विचारगम्य स्तुति को (आ श्रुधि) श्रवण कर।

परमेश्वर के पक्ष में—(उतो) और वह परमेश्वर (अस्या उपसः) इस प्रभातकाल में भी (अर्कस्य जुपेत) हमारी स्तुति को स्वीकार करे। हमारे (हवीमभिः) स्तुति सहित (हविषः) श्रद्धा भाव को (बोधि) जाने। वह (हवीमभिः) स्तुति द्वारा ही (स्वः साता) सुख प्रदान करने हारा है। हे परमेश्वर हमारे शत्रु काम क्रोधादि को विनाश करने के लिये तू (चिकेतसि) हमें ज्ञान प्रदान कर।

(अस्य नवीयसः मन्म आ श्रुधि) इन नवीन स्तुतिकर्ता की स्तुति को श्रवण कर।

[७३] परमेश्वर और राजा

तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि ।
त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ॥१॥

भा०—हे (शूर) दुष्टों के नाशकारिन् ! (तुभ्यं इत्) तेरे ही लिये (इमा सवना) ये समस्त यज्ञ अनुष्ठान हैं। (तुभ्यम्) तेरे ही लिये (वर्धना) तेरी महिमा बढ़ाने वाले (विश्वा ब्रह्माणि) समस्त वेद मन्त्रों को मैं (कृणोमि) प्रकट करता हूं (त्वं) तू (नृभिः) मनुष्यों द्वारा

(हृव्यः) स्तुति करने योग्य है । तू ही (विश्वधाः असि) समस्त विश्व का धारण करने वाला है।

राजा के पक्ष में—(इमा सवना तुभ्यम् इत्) ये समस्त ऐश्वर्य तेरे ही हैं। तेरे लिये (वर्धना ब्रह्माणि) तेरी वृद्धि के लिये ये वेदमन्त्र उच्चारण करता हूं। अथवा तेरी सम्पत्ति की वृद्धि करने वाले इन (ब्रह्माणि) बड़े २ वृद्धिदायक कार्यों को करता हूं तू (नृभिः हृव्यः) नेता पुरुषों द्वारा स्तुत्य और (विश्वधाः असि) समस्त राष्ट्र को धारण पालन करने में समर्थ है।

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र ।
न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥ २ ॥

भा०—हे (दस्म) दर्शनीय परमेश्वर ! और हे शत्रुओं के नाशक ! हे राजन् ! (मन्यमानस्य ते) विचार आदर, और मान किये जाने योग्य तेरे (महिमानम्) महिमा को (नू चित् नु) क्या किसी प्रकार भी कोई (उत् अश्नुवन्ति) पारकर सकते हैं? वे तो (न वीर्यम् उत् अश्नुवन्ति) न कोई तेरे बल को पार कर सकते हैं और हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (न राधः) न कोई तेरे ऐश्वर्य को पार कर सकते हैं। अर्थात् तुझ से बढ़कर न किसी की महिमा, न किसी का बल और न किसी का ऐश्वर्य है।

प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम् ।
विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ३१ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (वः) तुम लोग (महे) उस महान् (महिवृधे) बड़े ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले अथवा बड़े २ संकटों को काट डालने वाले (प्रचेतसे) उत्कृष्ट ज्ञानवान् परमेश्वर के लिये (प्र भरध्वम्) उत्तम विचारों का मनन करो। और (सुमतिं) शुभ बुद्धि या स्तुति (प्र कृणुध्वम्) करो। हे परमेश्वर तू (चर्षणिप्राः) मनुष्यों को समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण

करने हारा होकर (विशः) मनुष्यों और प्रजाओं को (पूर्वीः) ज्ञान और बल में पूर्ण (प्र चर) कर ।

राजा के पक्ष में—हे मनुष्यो ! तुम (महि वृधे महे) बड़े २ शत्रुओं को गिराने वाले बड़े राजा के लिये (प्र भरध्वम्) भेटें लाओ । उसके प्रति (सुमतिं प्र कृणुध्वम्) उत्तम चित्त बनाये रखो । हे राजन् ! तू (चर्षणिप्राः) प्रजाओं की कामनाओं को पूर्ण करने वाला होकर (विशः) प्रजाओं को (पूर्वीः प्र चर) धन, बल आयुष्य में पूर्ण कर ।

यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः ।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः ॥४॥
ऋ० १० । २३ । ३ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर के (यम्) जिस (रथम्) रमण के साधन, आनन्दप्रद रस को (सूरिभिः) विद्वानों द्वारा (हरी) हरणशील ज्ञान और कर्म दोनों (वहतः) प्राप्त कराते हैं और (यदा) जब (हिरण्यम्) हितकारी और रमणीय, आनन्दकारी (वज्रम्) ज्ञानरूप वज्र प्रकट होता है (अथा) तब (सनश्रुतः) सदाकाल से विख्यात, वेद द्वारा कीर्त्तित, (दीर्घश्रवसः) अति अधिक कीर्त्ति वाले (वाजस्य) ज्ञान और ऐश्वर्य का (पतिः) स्वामी (मघवा) ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर उस रस में (आतिष्ठति) व्याप्त रहता है ।

अध्यात्म में—(*अस्य*) इस जीव के (*सूरिभिः*) प्रेरक प्राणों सहित (यं रथं) जिस 'रथ' या रमणीय, रस स्वरूप को (हरी) हरणशील प्राण और अपान (वहतः) प्राप्त कराते हैं और (यदा) जब वह (हिरण्यम् वज्रम्) हित और रमण योग्य वीर्य को और ज्ञान को धारण कर लेता है तब (दीर्घश्रवसः) अति अधिक ज्ञान से युक्त (वाजस्य पतिः)

ऐश्वर्य का स्वामी (समश्रुतः) सदा से स्तुति द्वारा कीर्तित (मघवा) परमेश्वर आत्मा में (आतिष्ठति) विराजता है ।

राजा के पक्ष में—(यं रथं) जिस रथ के समान सुन्दर राष्ट्र को (हरी) अश्वों के समान दो योग्य विद्वान् राजा और मन्त्री, सभापति और महामात्य (सूरिभिः) विद्वान् सभासदों के साथ मिल कर धारण करते हैं और जब (वज्रं) वज्र, बलशाली दण्ड विधान को भी (हिरण्ययम्) सुवर्ण या रजत के बने राजदण्ड के समान प्रजा के हित और सुख के लिये धरता है तब समझो कि (दीर्घश्रवसः) अति यश या अन्नादि समृद्धि वाले (वाजस्य) संग्राम या बलैश्वर्य का (पतिः) पालक (समश्रुतः) सदा से विख्यात (मघवा) ऐश्वर्यवान राजा (आतिष्ठति) राज्य पर शासन करता है ।

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या॒३ऽस्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते ।
अव॑ वेति सु॒क्षयं॑ सु॒ते मधूदिद्धू॑नोति॒ वातो॒ यथा॒ वन॑म् ॥ ५ ॥

ऋ० १० । २३ । ४ ॥

भा०—(चित् नु) जिस प्रकार (वृष्टिः) मेघ से आने वाली जल वृष्टि (हरिता) हरे वृक्षों को (अभि प्रुष्णुते) सींचती है इसी प्रकार (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् ज्ञानी पुरुष (स्वा सचान्) अपने में समवेत, अपने पर आश्रित (यूथ्या) समूहों में चलने वाले प्राणियों को (श्मश्रूणि) अपने शरीर में स्थित मोंछ के बालों के समान (अभि प्रुष्णुते) उनको साक्षात् नाना ऐश्वर्यों और स्नेहों से सेंचता है । वह ही (सुक्षयं अव वेति) उत्तम निवास या लोक को प्राप्त होता है । और (सुते) ज्ञान के उत्पन्न होजाने पर या उत्पन्न हुए इस संसार में (मधु वेति) मधुर फल भोग मधुर ब्रह्मानन्द का भोग करता है । अपने साथ लगे सांसारिक दुःख बन्धनों को वह ऐसे (उद् धूनोति) झाड़ फेंकता है (यथा) जिस प्रकार

(वातः वनम्) प्रबल वायु वन को कंपा डालता है और पतझड़ कर डालता है ।

राजा के पक्ष में-(चित् नु वृष्टिः हरिता) वृष्टि जिस प्रकार हरे वृक्षों को सींचती है उसी प्रकार वह इन्द्र राजा (स्वा यूथ्या) अपने यूथ के संघ के लोगों को भी (अभि प्रुष्णुते) ऐश्वर्य और स्नेह से बढ़ाता है । वह (सुक्षयं अव वेति) उत्तम गृह राजमहल में रहता है । (सुते) राज्याभिषेक होजाने पर वह (मधु) मधुर राष्ट्र का भोग करता है। (वातः यथा वनम्) वायु जिस प्रकार वन को वेग से तोड़ फोड़ डालता और कंपा डालता है उसी प्रकार वह भी प्रचण्ड होकर (वनम्) शत्रुओं के सेना समूह को (उद् धूनोति) कंपा डालता है ।

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥६॥

ऋ० १० । २३ । ५ ॥

भा०—(यः) जो ज्ञानवान् पुरुष या परमेश्वर, परम गुरु (वाचा) अपनी उपदेशमय वेदवाणी से (वि-वाचः) विरुद्ध, विपरीत वाणी बोलने वाले और (मृध्र-वाचः) हिंसा करने और दिल दुखाने वाली वाणी को बोलने वाले पुरुषों का और (पुरु) बहुतसे (सहस्रा) हज़ारों (अशिवा) अमंगलजनक, बुरे कर्मों का (जघान) नाश करता है और (यः) जो (पिता इव) पिता के समान (तविषीम्) बड़ी भारी शक्ति और (शवः) बल को (वावृधे) बढ़ाता है । (तत् तत् इद्) वह वह नाना प्रकार के अकथनीय (अस्य) इस परम गुरु परमेश्वर के (पौंस्यम्) बल वीर्य के कार्य का (गृणीमसि) हम वर्णन या स्तुति करें ।

राजा के पक्ष में—(यः) जो (वाचा) अपने वाणी या आज्ञामात्र से (विवाचः) विपरीत बोलने वाले (मृध्रवाचः) हिंसा या युद्ध के वा-

णियों के कहने वाले शत्रु हैं उनको और (पुरु सहस्रा अशिवा) बहुतसे हज़ारों अमंगलजनक कष्टदायी दुःखों का (जघान) नाश करता है । और जो पिता के समान प्रजा की शक्ति बढ़ाता है, उसे पुष्ट करता है । उसके उन नाना (पौंस्यम्) पराक्रम कर्म का हम वर्णन करें । अथवा (अस्य) उसको हम (तत् तत् पौंस्यं) उन २ पौरुष कर्म का (गृणीमसि) उपदेश करें या उसको नाना पौरुष कर्म करने को कहें ।

[७४] राष्ट्र रक्षक राजा के कर्त्तव्य ।

शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । पंक्तिः । सप्तर्च सूक्तम् ॥

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि । आ तू नं इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥१॥ ऋ० १।२९।१॥

भा०—हे (सत्य) सत्यस्वरूप ! अविनाशिन् ! सज्जनों के प्रति सद्व्यवहार करने हारे ! एवं सत्यवादिन् ! हे (सोमपाः) समस्त उत्पन्न संसार के रक्षक परमेश्वर ! (यत् चित् हि) जिन २ अवसरों में भी और जिन २ कार्यों में भी हम (अनाशस्ताः इव स्मसि) उत्तम, गुण सामर्थ्य-वान् एवं प्रशंसा के योग्य न हों, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ! हे (तुवीमघ) बहुत बड़े ऐश्वर्य वाले ! (नः) हमें उन २ (गोषु अश्वेषु) गौ आदि पशु और अश्व आदि सेना के साधनों में और (सहस्रेषु) हज़ारों (शुभ्रिषु) शोभाजनक धनैश्वर्यों में भी उनका प्रदान करके (आशंसय) उत्तम प्रशंसा योग्य बना ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! जिन पदार्थों में हम प्रजाजन उत्तम न हों । उन २ गौ आदि ऐश्वर्यों में हमें उत्तम बना ।

शिप्रिन् वाजानां पते शचीवस्तव दंसना । आ तू०॥२॥ ऋ० १।२९।२॥

भा०—हे (शिप्रिन्) उत्तम प्राप्य पारमार्थिक ऐहिक सुख साधनों से युक्त हे बलवन् ! हे (वाजानां पते) ऐश्वर्यों और वीर्यों के स्वामिन् !

हे (शचीवः) शक्तियों वाले ! (तव) तेरे (दंसना) दर्शनीय अलौकिक कर्म हैं । हे (इन्द्र तुवीमघ गोषु अश्वेषु सहस्रेषु शुभ्रिषु नः आशंसय) हे ऐश्वर्यवन् बहुत धनों के स्वामिन् ! तू हज़ारों ज्ञानवाणियों, भूमियों, गौओं और अश्वों, वेगवान् साधनों और शोभाकारी ऐश्वर्यों में कीर्तिमान कर ।

राजा के पक्ष में—(शिप्रिन्) बलवन् ! (शचीवः) प्रजा और सेना के स्वामिन् ! (वाजानां पते) अन्नों, संग्रामों और ऐश्वर्यों के पालक (तव दंसना) तेरे नाना दर्शनीय कर्म हैं । आ तू न० इत्यादि पूर्ववत् ।

नि ष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने । आ तू०॥३॥ऋ०१।२९।३॥

भा०—हे (इन्द्र) अविद्या निद्रादि दोषनिवारक ! तू (मिथूदृशा) विषयासक्ति से एक दूसरे को देखने वाले स्त्री पुरुषों को (निःस्वापय) सर्वथा अचेत कर दे । और वे दोनों (अबुध्यमाने) ज्ञानहीन होकर (सस्ताम्) सो जायं । अर्थात् इससे विपरीत विषयासक्ति से रहित तपस्वी व्रती पुरुषों को प्रबुद्ध कर और वे ज्ञानवान् होकर जागते रहें । (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत् ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! (मिथूदृशा) परस्पर मिथुन या स्त्री पुरुषों के जोड़े होकर दीखने वाले गृहस्थ पति पत्नियों को रात्रिकाल में सुख से सोने दे । और वे (अबुध्यमाने) अचेत होकर (सस्ताम्) सुख से सोवें और तू रात्रिकाल में उनका पहरा दे, रक्षा कर । (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ अर्थात् तेरे राज्य में सब गृहस्थ सुख से जीवन वितावें । अथवा—(मिथूदृशौ) परस्पर हिंसा की दृष्टि से देखने वाले विरोधी लोगों को (निःस्वापय) सुलादे । वे लड़कर (अबुध्यमाने सस्ताम्) अचेत होकर सोएं, मरे पड़े रहें । और परस्पर प्रेम से रहने वाले जागृत रहें और ऐश्वर्य को प्राप्त करें ।

ध्वसन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः । आ तू० ॥४॥ ऋ० १ । २९ । ४॥

भा०—(त्याः) वे (अरातयः) शत्रु-सेनाएं (ससन्तु) सो जायं और हे (शूर) शूरवीर ! (रातयः) दानशील, दाता पुरुष (बोधन्तु) ज्ञानवान् होकर सदा धर्म-कार्यों में सावधान होकर रहें (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत् ।

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया । आ तू० ॥५॥ ऋ० १ । २९ । ५॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! न्यायाधीश ! (गर्दभम्) गर्दभ के समान कठोर भाषी एवं गर्ध=तृष्णा से व्याप्त लोभी एवं विष से लोगों को मारने वाले (अमुया) अमुक २, नाना प्रकार के (पापया) पाप-पूर्ण रीति नीति से नुवन्तम्) बोलने चालने वाले, चापलूसी करने वाले, असत्य भाषी, छली पुरुष को (संमृण) अच्छी प्रकार विनष्ट कर । और (नः) हमें (शुभ्रिषु) शुभ आचरण द्वारा न्यायपूर्वक प्राप्त गौ अश्वादि धनों में प्रसिद्ध कर । (आ तू न०) इत्यादि पूर्ववत् ।

'गर्दभः'—गर्द शब्दे इत्यतोरभच् । गर्धया धनतृष्णया भातीति वा गरेण विषेण दृणाति हिनस्तीति वा ।

पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि । आ तू० ॥६॥ ऋ० १ । २९ । ६॥

भा०—(कुण्डृणाच्या) दाह करने वाली प्रवृत्ति या गति या चाल करने वाला, कुटिल (वातः) वायु जिस प्रकार (वनात् अधि) वन से (दूरं पताति) दूर ही रहे तो ठीक है उसी प्रकार (कुण्डृणाच्या) दाहकारी, दुःखदायी प्रवृत्ति वाला कुटिल पुरुष भी प्रजागण से (दूरं पताति) दूर ही दूर रहे तो अच्छा है । (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत् ।

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम् । आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । २९ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! तू (सर्वं) सब (परिक्रोशम्) निन्दा करने वाले दुष्टों को (जहि) मार, दण्ड दे और (कृ-

कदाश्वम्) हमारे ऊपर हिंसाकारी, आघात देने वाले, हिंसाकारी प्रयोग करने वाले, अथवा कृकदाश्व=कृकलास, उल्लू या गिरगट के समान धूर्त, छली कपटी पुरुषों को (जंभय) विनाश कर (आ तू न० इत्यादि) पूर्ववत्।

'कृकदाश्वम्' कृका हिंसा, तां दाशति प्रयच्छतीति कृकदाशुः, तम् ॥

[७५] राजा और आत्मा का अभ्युदय ।

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः । यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि । आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥१॥ ऋ० १ । १३१ । ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो कां० २० । ७२ । २ ॥

विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः । शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते । महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥ २ ॥

ऋ० १ । १३१ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् कर्मबन्धनों के तोड़ने हारे आत्मन् ! (पूरवः) आत्म शक्ति को पूर्ण करने वाले इन्द्रियगण (ते) तेरे (अस्य वीर्यस्य) इस वीर्य के विषय में (विदुः) जानते हैं (यत्) जिससे तू (शारदीः) शरद् अर्थात् वर्षों द्वारा मापी जाने वाली (पुरः) इन देहरूप पुरियों को (अवातिरः) ज्ञानवज्र से खण्डित करता है । और समस्त विरुद्ध बाधाओं को (सासहानः) सहन करता हुआ (शारदीः पुरः) वर्षरूप नादियों को (अवातिरः) पार कर जाता है । हे (शवसस्पते) शक्तिशालिन् ! तू (अयज्युम्) अपने से संग रहित (मर्त्यम्) मरणशील (तम्) इस देह को ही (शासः) शासन करता है और

(इमाः प्रजाः) इन नाना प्रज्ञानों और (इमाः अपः) इन नाना कर्मों को (मन्दसानः) हर्षपूर्वक करता हुआ (महीम् पृथिवीम्) बड़ी भारी पृथिवी अर्थात् ब्रह्मरूप आश्रय भूमि को (अनुष्णाः) भूल जाता है।

राजा के पक्ष में—(पूरवः) पुरवासी जन, हे (इन्द्र) राजन् ! (ते अस्य वीर्यस्य विदुः) तेरे इस सामर्थ्य को जानते हैं जिसके बलपर तू (सासहानः) शत्रुओं को पराजित करता हुआ शत्रुओं का ही (अवातिरः) नाश करता है। (शारदीः पुरः) शरत् काल में, युद्ध यात्रा काल में खड़ी की गई (पुरः) शत्रु की गढ़ियों को भी (अवातिरः) नाश करता है। हे (शवसस्पते) बल के स्वामिन् ! (अयज्युम्) तुझ से सन्धि न करने वाले, कर न देने वाले शत्रु (मर्त्यं) मनुष्य को (शासः) शासन करता, दण्ड देता है (इमाः अपः) इन जलों को जिस प्रकार सूर्य शरत्काल में स्वच्छ कर देता है इसी प्रकार (इमाः अपः) इन प्राप्त प्रजाओं को (मन्दसानः) सदा प्रसन्न करता हुआ (महीम् पृथिवीम्) बड़ी भारी पृथिवी को (अनुष्णाः) शत्रुओं के हाथों से छीन कर अपने हाथ में कर लेता है।

आदित् ते अस्य वीर्यस्य चर्किरुन्मदेषु वृषन्नुशिजो यदाविथ सखीयतो यदाविथ। चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे। तं अन्यामन्यां नद्यं सनिष्णत श्रवस्यन्तः सनिष्णत ॥ ३ ॥

ऋ० १ । १३१ । ५ ॥

भा०—आत्मा-पक्ष में-(आत् इत्) और इसके बाद (ते) वे योगिजन (अस्य वीर्यस्य) तेरे इस सामर्थ्य को (चर्किरन्) चारों तरफ फैलाते या स्तुति करते हैं (यत्) जिससे हे (वृषन्) हृदयों में आनंद-रस के वर्षक ! तू (मदेषु) आत्मा के आनन्द से तृप्त होजाने के अवसरों में उन (उशिजः) कामना युक्त, तुझे चाहने वाले अपने इच्छुकों को (आविथ) प्राप्त होता है और (यत्) जिससे तू (सखीयतः) तुझे

अपने सखा बनाने के इच्छुक पुरुषों को (आविथ) प्राप्त होता है। तू तभी (एभ्यः) उन साधकों के लिये (पृतनासु) काम्य पदार्थों से पूर्ण लोकों में (प्रवन्तवे) उत्कृष्ट पद या ऐश्वर्य के भोग्य के लिये (कारम्) क्रिया सामर्थ्य को (चकर्थ) प्रदान करता है। और (ते) वे भी (अन्याम् अन्याम्) एक से एक अगली (नद्यं) नदी या समृद्ध आत्मदशा को (सनिष्णत) प्राप्त करते हैं और (श्रवस्यन्तः) आत्म ज्ञानोपदेश की कामना करते हुए ही वे एक से एक उन्नत (नदीं) जल पूर्ण नदी, ज्ञान समृद्ध गुरु रूप सरस्वती को (सनिष्णत) प्राप्त होते हैं और ज्ञान लाभ करते हैं।

तीर्थात् तीर्थान्तरं व्रजेत् गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्।

राजा के पक्ष में—(यत्) जिस बल से हे (इन्द्र) राजन्! सेनापते! (मदेषु) संग्राम के अवसरों में (उशिजः आविथ) अपने कामनावान्. अभिलाषुक और (सखीयतः) मित्रता के इच्छुक पुरुषों का (आविथ) रक्षा करता है वे (ते अस्य वीर्यस्य चर्किरन्) तेरे इस वीर्य को सामर्थ्य को चारों ओर फैलाते हैं, विस्तृत करते हैं। तू (एभ्यः प्रवन्तवे) उन वीरों के भोग के लिये (पृतनासु) संग्रामों और सेनाओं में भी (कारं चकर्थ) यत्न करता है और (ते) वे वीरगण (अन्याम् अन्याम्) एक से एक आगे आती नदी को (सनिष्णतः) पार करते हुए जाते हैं। वे (श्रवस्यन्तः) यश के अभिलाषी (सनिष्णतः) आगे ही बढ़ते देशों को प्राप्त करते जाते हैं।

[७६] आत्मा और राजा।

वसुक्र ऐन्द्रो ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। अष्टर्चं सूक्तम्॥

वने॒ न वा॒ यो न्य॑धायि चा॒कञ्छुचि॑र्वां॒ स्तोमो॑ भुरणावजीगः।
यस्येदिन्द्रः॑ पुरु॒दिने॑षु॒ होता॑ नृ॒णां नर्यो॒ नृत॑मः क्ष॒पावा॑न्॥ १॥
ऋ० १०। २९। १॥

भा०—हे (भुरणौ) शरीर के पालन पोषण करने वाले माता पिता के समान प्राण और उदान दोनों ! (यः) जो (स्तोमः) स्तोम, वीर्य, सामर्थ्य, अथवा प्राणों का गण (वने) सबके भजन या सेवन करने योग्य या सबका भोग करने वाले आत्मा में (न्यधायि) निहित या स्थित है वह स्तोम, वीर्य या इन्द्रियगण (शुचिः) अत्यन्त विशुद्ध रूप से (चाकन) मानो तुम्हारी कामना करता हुआ सा (वां अजीगः) तुम दोनों को ही प्राप्त होता है। (यस्य) जिस बल सामर्थ्य को (इन्द्रः) इन्द्र (पुरुदिनेषु) बहुत दिन तक (होता) स्वयं धारण करता हुआ (नृणां) मनुष्यों में (नर्यः) सब से श्रेष्ठ, सबका हितकारी (नृतमः) सबसे मुख्य नायक के समान समस्त प्राणगणों का नेता है और जो (क्षपावान्) समस्त रजों विकारों के नाश करने वाली चिति शक्ति का स्वामी एवं (क्षपावान्) रात्रि के स्वामी चन्द्र के समान घोर जड़ता रूप अन्धकार रात्रि में प्रकाशवान् है। अथवा रात में भी सोते समय पहरेदार के समान मुख्य प्राण के रूप में जागता और शरीर को चेतन बनाये रखता है।

राजा के पक्ष में—हे (भुरणौ) राष्ट्र के पालक राजा और सभापति दोनों ! (यः) जो (शुचिः) शुद्ध (स्तोमः) वीर्य या अधिकार (वने वा न्यधायि) सबसे अधिक चाहने योग्य मुख्य, राजापद या राष्ट्र में स्थित है (चाकं न) मानो तुम दोनों को चाहता सा हुआ वह (वां) तुम दोनों को (अजीगः) प्राप्त हो। जिस अधिकार को (इन्द्रः पुरुदिनेषु होता) राजा बहुत दिनों तक रखता है। वह राजा (नर्यः) सब मनुष्यों का हितकर और (नृणां नृतमः) मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ और (क्षपावान्) जो सूर्य या चन्द्र के समान रात्रि या रमणकारिणी राज्य शक्ति का स्वामी है, या जो क्षपा, अर्थात् शत्रु के नाशकारिणी सेना का स्वामी है।

अथवा (स्तोमः) स्तुति करने योग्य (शुचिः) शुद्धस्वरूप (वः) जो (वने) सेवन करने योग्य इस देह में (वने न शुचिः) वन में अग्नि के समान, या अन्तरिक्ष में सूर्य के समान (चाकं न) समस्त भोगों की कामना करता हुआ (नि अधायि) रक्खा गया है वह हे (भुरणौ) देह के पालन करने हारे प्राण और उदान (वां) तुम दोनों को भी (अजीगः) प्राप्त है । तुम दोनों में भी व्यापक है । (यस्य) जिसको (होता) स्वीकार करने वाला या आह्वान करने वाला स्वयं (इन्द्रः) यह आत्मा (पुरुदिनेषु) बहुतसे दिनों तक रहा । जो स्वयं (नृणां नृतमः नर्यः) शरीर के समस्त नेता प्राणों में सर्वश्रेष्ठ और (नर्यः) सबका हितकारी (क्षपावान्) दोषों के नाशक चेतना शक्ति का स्वामी है ।

इसी प्रकार (स्तोमः) स्तुति योग्य (शुचिः) निष्कपट शुद्ध व्यवहारवान् (चाकम्) प्रजाओं को चाहने वाला विद्वान् पुरुष (वने न) वन में अग्नि के समान (वने) भोग योग्य राष्ट्र में उज्ज्वल होकर हे (भुरणौ) राष्ट्र के पालकरूप सेनापति और सभापति गणो ! वह भी (वां अजीगः) तुम दोनों पर विद्यमान है (यस्य) जिसको (नर्यः) नरों का हितकारी (नृणां नृतमः) मनुष्यों में नरश्रेष्ठ (क्षपावान्) शत्रु क्षयकारी (इन्द्रः) राजा भी स्वयं (पुरुदिनेषु) बहुत दिनोंतक (होता) आदर से स्वीकार करता है ।

प्र ते॑ अ॒स्या उ॒षसः॒ प्राप॑रस्या नृ॒तौ स्या॑म॒ नृत॑मस्य नृ॒णाम् ।
अनु॑ त्रि॒शोकः॑ श॒तमाव॑ह॒न्नॄन् कुत्से॑न॒ रथो॒ यो अस॑त् सस॒वान् ॥२

ऋ० १० । २९ । २ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (नृणाम् नृतमस्य) शरीर के उठाने वाले नेता प्राणगण के बीच सर्वोत्कृष्ट प्राणरूप (ते) तेरी (अस्याः) इस (उषसः) पापदाहक ज्योतिष्मती प्रज्ञा के और (अपरस्याः) दूसरी ब्रह्म विषयक

या अनन्तर माविनी धर्ममेघ दशा के (नूतौ) प्राप्त हो जाने पर हम (प्रस्थाम) उत्तम ज्ञानवान् हो जायं । यद् जो तू (कुत्सेन । समस्त बन्धनों को काटने वाले ज्ञानबल के साथ मिलकर स्वयं (रथः) रमणीय देह स्वरूप होकर (सत्सवान्) कर्म फलों का भोक्ता (असत्) होजाता है वह तू ही अथवा (कुत्सेन) बन्धन काटने वाला ज्ञान के बल से स्वयं (रथः) रस स्वरूप आनन्दमय होकर (सत्सवान) उस आनन्द का भोक्ता (असत्) हो जाता है । (त्रिशोकः) वाणी, मन और प्राण इन त्रिविध तेजों से युक्त होकर (शतम्) सैकड़ों (नृन्) नेता प्राणगण को अथवा नर देहों को भी योग विभूति द्वारा (अनु आवहन) अपने में रख कर धारण करता है ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् (ते नृणां नृतमस्य) समस्त मनुष्यों में श्रेष्ठ तुझ नरोत्तम के अधीन रहकर हम (अस्याः उषसः अपरस्याः नूतौ) इस प्रभात और अगली प्रभात वेला के आते २ अर्थात् बहुत शीघ्र, (प्रस्याम) उन्नत हों । तू (कुत्सेन) शत्रुओं को काट गिरा देने वाले वज्र के साथ (यः) जो स्वयं (रथः) महारथ होकर (सत्सवान् असत्) स्वयं राष्ट्र का भोक्ता हो जाता है वह तू (त्रिशोकः सन्) कोश, प्रज्ञा और उत्साह अथवा मन्त्रबल, सेनाबल और कोशबल इन तीनों प्रकार के तेजों से युक्त होकर (शतम्) सैकड़ों नेता पुरुषों को (अनु) अपने अनुकूल (आवहन्) चलाने में समर्थ है ।

कस्ते मद॑ इन्द्र रन्त्यो॑ भूद् दुरो॒ गिरो॑ अ॒भ्यु१॒॑ग्रो वि धा॑व । कद्वाहो॑ अ॒र्वागुप॑ मा मनी॒षा आ त्वा॑ शक्यामुप॒मं राधो॒ अन्नैः॑ ॥३॥

ऋ० १० । २९ । ३ ॥

भा०—अध्यात्म में—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरा (कः) यह कौनसा (रन्त्यः) अत्यन्त अधिक रमण करने योग्य (मदः) हर्ष और

आनन्द (भूत्) है । जिस का वर्णन नहीं किया जा सकता । तु (उग्रः) अति बलवान होकर हमारे (दुरः) द्वारों के समान (गिरः) उत्तम वाणियों को (अभि वि धाव) लक्ष्य करके विविध रूपों से प्राप्त हो । हे आत्मन् ! (कद्) तू कब (वाहः) प्रवाह स्वरूप महासिन्धु के समान होकर (अर्वाक्) साक्षात् होगा ? और कब (मनीषा) समस्त अर्थों को साक्षात् करने वाली परम प्रज्ञा रूप होकर तू (मा उप) मुझे प्राप्त होगा । और कब (त्वा उपमं) तेरे समीप होकर मैं (अन्नैः) भोग किये जाकर भी क्षीण न होने वाले तेरे अक्षय सुखों के सहित (राधः) परम ऐश्वर्य को (आ शक्याम्) प्राप्त करूंगा ।

राजा के पक्ष में-हे (इन्द्र) राजन ! (ते कः मदः रन्त्यः भूत्) तेरा कौनसा आनन्द सबसे अधिक चित्त रमाने वाला है । वह ही तुझे प्राप्त हो । तू (उग्रः) उग्र, अति बलवान होकर (दुरः) नगर के द्वारों और (गिरः) हमारी वाणियों से स्वागत करते हैं । (ते वाहः) तेरा रथ (कत्) कब (उप) हमारे पास आवे (मनीषा मा उप) तेरी मति मुझ प्रजाजन की तरफ हो । और मैं (त्वा) तेरे (उपमं) समीप पहुंच कर तेरी तरह (अन्नैः राधः) अन्नों सहित ऐश्वर्य को (आ शक्याम्) प्राप्त कर सकूं ।

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन् कया धिया करसे कन्न आगन् ।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

ऋ० १० । २९ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (उ) बतला तू (कत्) कब (द्युम्नम्) अपने ऐश्वर्य का प्रदान (करसे) करता है ? और हे आत्मन ! (नॄन्) मनुष्यों को और (नॄन्) शरीर के नेता प्राणगण को तू (कया धिया) किस धारणशक्ति और किस बुद्धि या किस प्रकार की क्रिया से (त्वावतः)

अपने जैसा (करसे) कर लेता है ? और बतला तू (कत्) कब (नः) हमें (आगन्) प्राप्त होता है ? तू (मित्रः) सबका स्नेही (सत्यः) स्वयं सत्यस्वरूप, समस्त सत्पदार्थों में विद्यमान, या (सः त्यः) वह तू (मित्रो न) सूर्य के समान स्वयंप्रकाश (उरुगायः) महान् स्तुति का पात्र है। (यत्) जब तेरी (मनीषाः) बुद्धियां (समस्य) समस्त प्राणों के (अन्नै) आहार या जीवन या अक्षय ऐश्वर्य के निमित्त (अमन्) होती हैं तभी तू सबके (भूत्यै) भरण पोषण के भी समर्थ होता है।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! तू (कद् उ द्युम्नम् करसे) कब ऐश्वर्य उत्पन्न करता है ? (कया धिया नॄन् स्वावतः करसे) और किस उपाय से तू नेताओं और प्रजा लोगों को अपने समान कर लेता है (कत् नः आगन्) हमें कब प्राप्त होता । है ये सब रहस्य ही हैं। तू (मित्रः न सत्यः) मित्र के समान सत्यवादी और सर्वस्नेही, न्यायकारी (उरुगायः) महान् कीर्त्ति वाला है। और (यत्) जब भी तेरी (मनीषाः) इच्छाएं (अमन्) होती हैं तभी तू (अन्नैः) अन्न द्वारा (समस्य भूत्यै) सबके भरण पोषण करने में समर्थ होता है।

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधा इव ग्मन् ।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥ ५ ॥
ऋ० १० । २९ । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! (जनिधाः इव) पत्नियों के धारण पोषण करने वाले पति लोग जिस प्रकार (कामं ग्मन्) अभिलाषा को पूर्ण करते हैं उसी प्रकार (ये) जो (अस्य) इस आत्मा के (कामं) कामना योग्य (अर्थं) पुरुषार्थ के समान ही (पारं) परमपद को (ग्मन्) प्राप्त करते हैं। और हे (तुविजात) बहुतसे देहों में प्रादुर्भूत ! (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् आत्मन् ! (ये नरः) जो लोग (अन्नैः) अन्नादि अक्षय भोगों या सुखों

को प्राप्त करते हुए उनके साथ (पूर्वीः) अभिप्राय या तत्व ज्ञान से पूर्ण (गिरः) वाणियों का (प्रति शिक्षन्ति) प्रदान करते हैं उनको तू (सूरः) सूर्य के समान सबका उत्पादक होकर (प्रेरय) उत्कृष्ट मार्ग पर चला ।

राजा के पक्ष में-(जनिधाः) पति लोग जिस प्रकार पत्नियों की अभिलाषा पूर्ण करते हैं इसी प्रकार (अस्य) इसके (अर्थम् न) अभिलषित के समान (पारं) पालन योग्य या परम, सर्वोत्कृष्ट (कामम्) काम, या संकल्प को पूर्ण करते हैं । और ये (अज्ञैः) भोग्य ऐश्वर्यों सहित (पूर्वीः गिरः प्रतिशिक्षन्ति) ज्ञानपूर्ण वाणियों का उसको उपदेश करते हैं, तू उनको (प्रेरय) उन्नति पथ पर और आगे बढ़ा ।

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन ।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन् भवन्तु पीतये मधूनि ॥ ६ ॥
ऋ० १० । २९ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! आत्मन् ! (ते) तुझ (मात्रे) प्रमाता, ज्ञानकर्त्ता के लिये तो (मज्मना) तेरे बल से और (काव्येन) तेरी क्रान्त दर्शी प्रज्ञा के यत्न से (पूर्वी द्यौः) पूर्ण द्यौ (पृथिवी) और पृथिवी ये दोनों (सुमिते) उत्तम रीति से जानी जावें । (वराय) श्रेष्ठ, वरण करने योग्य (ते) तेरे (स्वाद्मन्) सुखपूर्वक भोजन के लिये (घृतवन्तः) घृत, दूध आदि पुष्टिकारक (सुतासः) पदार्थ और (पीतये) पान करने के लिये (मधूनि) मधुर पदार्थ (भवन्तु) हों अथवा (वराय) सब से वरण करने योग्य (ते) तेरे लिये (घृतवन्तः) तेज से युक्त (स्वाद्मन्=स्वाद्मानः) अति आस्वादयुक्त (सुतासः) उत्पन्न आनन्द रस और (पीतये) पान करने के लिये (मधूनि) मधु के समान मधुर ब्रह्मरस और मधुर अनुभव और ज्ञान प्राप्त हों ।

राजा के पक्ष में-हे (इन्द्र) राजन् ! (मज्मना द्यौः) तेरी शक्ति से आकाश और (काव्येन पृथिवी) क्रान्तदर्शिता से पृथिवी (सुमिते) उत्तम रीति से मापी जायं । (वराय ते०) तेरे लिये खाने को उत्तम पदार्थ पान करने के लिये मधुर तृप्तिकर जल हों ।

आ मध्वो॑ अस्मा असिच॒न्नम॑त्र॒मिन्द्रा॑य पू॒र्णं स हि स॒त्यरा॑धाः ।
स वा॑वृधे॒ वरि॑म॒न्ना पृ॑थि॒व्या अ॒भि क्रत्वा॒ नर्यः॒ पौंस्यै॑श्च ॥ ७ ॥

ऋ० १० । २९ । ७ ॥

भा०—(अस्मै इन्द्राय) इस इन्द्र आत्मा के लिये (मध्वः) मधुर ब्रह्मानन्द रस का (पूर्णम् अमत्रम्) भरे हुए पात्र के समान आनन्दरस से पूर्ण (अमत्रम्) सदा साथ विद्यमान (पूर्णम्) पूर्णब्रह्म को (आ-असिचन्) योगी लोग आ सेचन करते हैं । ब्रह्मरस का सब प्रकार से पान कराते हैं । (हि) क्योंकि (सः) वह भी (सत्यराधाः) सत्य स्वरूप ऐश्वर्य का स्वामी है । (सः) वह (नर्यः) समस्त नरों, नेता और प्राणों में श्रेष्ठ, हितकारी (वरिमन्) विशाल सामर्थ्य से या विशाल ब्रह्म के आश्रय पर (वावृधे) बढ़ता है ।(क्रत्वा) और कर्म सामर्थ्य और प्रज्ञा के बल से और (पौंस्यैः च) पौरुष के कार्यों से (पृथिव्या आ अभि वावृधे) पृथिवी को पूर्ण करके सर्वत्र वृद्धि को प्राप्त होता है ।

राजा के पक्ष में-(सः हि सत्यराधाः) वह राजा सत्य न्याय का धनी है । इसलिये उसके लिये (मध्वः पूर्णम् अमत्रं आ असिचन्) मधुर भोग्य पदार्थों के भरे पात्र के समान इस पृथिवी को लोग पूर्ण करते हैं । वह (वरिमन्) अपने बड़े सामर्थ्य के बल पर (क्रत्वा पौंस्यैः च) अपने कर्म और प्रज्ञा बल और पौरुषों से (आ पृथिव्याः अभि वावृधे) समस्त पृथिवी पर बढ़ता और शासन करता है ।

व्यानलिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः ।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे ॥८॥

ऋ० १० । २९ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) आत्मा (स्वोजाः) उत्तम, ओजस्वी होकर (पृतनाः) समस्त मनुष्यों के भीतर (वि आनट्) विविध रूपों में व्यापक है । (पूर्वीः) पूर्ण सामर्थ्य वाली उत्कृष्ट कोटि की प्रजाएं सदा से (अस्मै सख्याय) इसके मैत्रभाव को प्राप्त करने के लिये (आयतन्ते) यत्न करती रही हैं । हे मेरे आत्मन् ! तू (पृतनासु रथं न) संग्राम के लिये सेनाओं के बीच जिस प्रकार महारथी रथ पर सवार होता है उसी प्रकार तू भी (पृतनासु) समस्त मनुष्यों के बीच (रथम् आतिष्ठ) देह में स्थित है (यम्) जिस देह को तू (भद्रया) सुखप्रद, कल्याणकारिणी (सुमत्या) शुभ या उत्तम सुप्रबद्ध मननकारिणी मन शक्ति या बुद्धि द्वारा (चोदयासे) प्रेरित करता या चलाता है ।

राजा के पक्ष में—(स्वोजाः) उत्तम पराक्रमी (इन्द्रः) राजा (पृतनाः) शत्रु सेनाओं को (व्यानट्) विविध प्रकारों से व्यापता है (पूर्वीः) वे पूर्ण सामर्थ्य वाली शत्रु सेनाएं भी (अस्मै सख्याय आ यतन्ते) इसकी मित्रता या सन्धि के लिये यत्न करती हैं । हे राजन् ! तू (पृतनासु) संग्रामों में (रथं न) रथ के समान (पृतनासु रथं) प्रजाओं में रमणीय सिंहासन या राज्यरूप रथ पर (अतिष्ठ स्म) आरूढ़ हो । और (यं) जिसको (भद्रया) भद्र कल्याणकारी (सुमत्या) शुभमति से (चोदयासे) संचालित कर ।

[७७] परमेश्वर आचार्य राजा ।

वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः ॥ १ ॥
ऋ० ४ । १६ । १ ॥

भा०—(सत्यः) सत्यस्वरूप, (ऋजीषी) ऋजु, धर्म मार्ग में सबको प्रेरणा करने वाला, (मघवान्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर और आचार्य (आ यातु) हमें प्राप्त हो। (अस्य) इसके (हरयः) गुण वर्णन करने वाले विद्वान् या शिष्यगण (नः) हमारे (उप आ द्रवन्तु) समीप आवें। (तस्मै इत्) उसके लिये ही हम (सुदक्षम्) उत्तम बलकारी (अन्धः) अन्न आदि समस्त भोग्य पदार्थों को (सुषुम) उत्पन्न करते या उसके निमित्त प्रदान करते हैं। वह ही (गृणानः) उत्तम उपदेश करता हुआ (अभिपित्वम् करते) हमें अभिमत फल प्राप्त कराता है।

राजा के पक्ष में—सत्य और न्याय प्रिय होने से वह राजा 'सत्य' है, ऐश्वर्यवान् होने से 'मघवा' है। धर्म और सदाचार मार्ग पर प्रजाओं के संचालन से 'ऋजीषी' है उसके (हरयः) घुड़सवार या संदेशहर हमें प्राप्त हों। उसके लिये हम प्रजाजन पृथ्वीपर अन्न आदि ऐश्वर्य उत्पन्न करें। वह (इह) इस राष्ट्र में (गृणानः) स्तुति किया जाकर अथवा उत्तम शिक्षा देता हुआ हमारा (अभिपित्वम् करते) साक्षात् पालन पोषण करे।

अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन् नो अद्य सवने मन्दध्यै।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्याय मन्म ॥ २ ॥
ऋ० ४ । १६ । २ ॥

भा०—हे (शूर) दुष्ट वासनाओं के दमन करने में शूरवीर के समान हे परमेश्वर ! तू (अध्वनः अन्तेन) मार्ग के समाप्त हो जाने पर जिस प्रकार रथ से घोड़ों को मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (नः) हमारे (अस्मिन्) इस (सवने) सवन, जन्म में ही (अध्वनः अन्ते) इस

जीवन मार्ग के समाप्त हो जाने पर (मन्द्ध्यै) परम मोक्ष-आनन्द को प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (अव स्य) मुक्त कर इस प्रकार (वेधाः) विद्वान् पुरुष (उशनाः इव) कामनावान् पुरुष के समान होकर ही (चिकितुषे) सर्व भव व्याधि के निवारक एवं ज्ञानप्रद (असुर्याय) प्राणों में रमण करने वाले प्राणियों के हितकारी परमेश्वर की (मन्म) मनन योग्य (उक्थम्) स्तुति (शंसति) कहता है।

क॒विर्न नि॒ण्यं वि॒दथा॑नि॒ साध॒न् वृषा॒ यत् सेकं॑ विपिपा॒नो अर्चा॑त्।
दि॒व इ॒त्था जी॑जनत्स॒प्त का॒रूनह्ना॑ चिच्चक्रुर्व॒युना॑ गृ॒णन्तः॑ ॥३॥

[३ ८] ऋ० ६। १६। ३॥

भा०—(यत्) जब (विदथानि) नाना ज्ञानों को और भीतर ज्ञान विभूतियों को (साधन्) साधता हुआ (वृषा) ज्ञानी, बलवान् एवं हृदय में आनन्द-रस का वर्षण करने हारा आत्मा (निण्यम्) गुप्त रूप से विद्यमान भीतर छुपे (सेकम्) आनन्दरस-प्रवाह को (विपिपानः) विशेष रूप से पान करता हुआ, (कविः) क्रान्तदर्शी, ज्ञानवान् होकर (अर्चात्) स्तुति करता या उस परमब्रह्म की उपासना करता है तब (दिवः) सूर्य के समान परम प्रकाशमय परमेश्वर के अनुग्रह से सप्त कारून्) सात क्रियाशील प्राणों को (इत्था, सत्य रूप से (अ जीजनत्) प्रकट करता है। और (अह्ना) दिनके समय जिस प्रकार सूर्य की सात रश्मियें समस्त पदार्थों का ज्ञान कराती हैं उसी प्रकार भीतरी ज्ञानवान् प्रबुद्ध आत्मा के वे सात मुख्य प्राण या सात ज्वाला (वयुना गृणन्तः) नाना ज्ञानों का वर्णन करते हुए (अह्ना चित्) दिनके समान प्रकाश ही प्रकाश (चक्रुः) कर देते हैं।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥

वे सात जिह्वाएं ही सात कारु अथवा शीर्षगत सात प्राण सात कारु हैं।

वे ही सात ऋषियों के समान समस्त जगत् को नाना ज्ञानों का उपदेश करते हैं।

स्व१र्यद् वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः ।

अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥४॥

भा०—वह (नृतमः) समस्त नेताओं में श्रेष्ठ नरोत्तम, परमपुरुष आत्मा (यत्) जो (अर्कैः) किरणों से (सुदृशीकम्) सुन्दर, सुचारु रूप से दर्शन करने योग्य, अति सुन्दर, सूर्य के समान देदीप्यमान (स्वः) परमसुखमय प्रकाशमय (महि ज्योतिः) उस महान् ज्योति को (चकार) प्रकट करता है (यद् वस्तोः) जिसके भीतर रहने के लिये सभी प्राणगण और योगी जन एवं जिस परमब्रह्म नाम की ज्योति में समस्त सूर्य, चन्द्र, तारे आदि (रुरुचुः) कामना करते एवं प्रकाशमान हो रहे हैं। वह ही (अभिष्टौ) अभीष्ट प्राप्ति के निमित्त (विचक्षे) विशेष ज्ञानदर्शन कराने के लिये (नृभ्यः) मनुष्यों के ऊपर छाये (अन्धा तमांसि) घोर, कष्टदायी अन्धकारों को (दुधिता) विनष्ट (चकार) करता है।

वव्रक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्युभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।

अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥५॥

भा०—(ऋजीषी) महान् संचित ऐश्वर्य वाला, समृद्ध अथवा (ऋच्-ईषी=ऋजु-ईषी) ऋगादि मन्त्रों से स्तुत्य अथवा ऋजुमार्ग पर ले चलनेहारा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर (अमितम्) अमित, अपार, पता नहीं कितना (वव्रक्ष) धारण करता है। वह (महित्वा) महान् सामर्थ्य से (रोदसी), द्यौ और पृथिवी दोनों को (आ पप्रौ) पूर्ण कर रहा है। (यः) जो वह (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभि बभूव) व्याप्त है और सबको वश कर रहा है तो भी (अस्य महिमा) इसका महान् सामर्थ्य (अतः चित् विरेचि) इससे भी अधिक बड़ा है।

विश्वा॑नि श॒क्रो नर्या॑णि वि॒द्वान॒पो रि॑रेच॒ सखि॑भि॒र्निका॑मैः ।
अश्मा॑नं चि॒द् ये बि॑भि॒दुर्वचो॑भिर्व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥६॥

भा०—मेघ जिस प्रकार वायुओं के साथ मिलकर जलों को प्रदान करता है उसी प्रकार (शक्रः) शक्तिशाली (विद्वान्) ज्ञानवान् आत्मा (निकामैः) कामना से रहित (सखिभिः) मित्रभूत चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा (विश्वानि) समस्त (नर्याणि) मनुष्यों के हितकारी (अपः) ज्ञानों और कर्मों, कर्मफलों को (रिरेच) स्वयं त्याग देता है दूसरों पर न्योछावर करता है। और (ये) जो विद्वान् योगीजन (वचोभिः) अपनी स्तुतियों द्वारा (अश्मानं) पर्वत के समान अभेद्य और मेघ के समान रस वर्षक आत्मा को (बिभिदुः) भेदते हैं वे ही (उशिजः) परमपद के आकांक्षी होकर (गोमन्तं व्रजं) इन्द्रियों के समूह को (विवव्रुः) विशेष रूप से संयम करके रोक लेने में समर्थ होते हैं। अथवा वे ही (गोमन्तं) वेदवाणियों से सम्पन्न (व्रजं) परम गन्तव्य मोक्ष पद को (वि वव्रुः) विशेषरूप से वरण करते हैं, प्राप्त करते हैं।

अ॒पो वृ॒त्रं व॑व्रि॒वांसं॒ परा॑ह॒न् प्राव॑त् ते॒ वज्रं॑ पृथि॒वी सचे॑ताः ।
प्राणा॑सि समु॒द्रिया॑ण्यैनोः॒ पति॒र्भव॒ञ्छव॑सा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

भा०—हे (धृष्णो) बाधक, अन्तःशत्रुओं के धर्षणशील, विजयी (शूर) शूरवीर ! सामर्थ्यवन् ! आत्मन् ! (ते) तेरा (वज्रं) वीर्य ज्ञान सामर्थ्य (अपः वव्रिवांसं) ज्ञानों का आवरण करने वाले (वृत्रं) मेघ के समान घेरने वाले, तामस अज्ञान को (पराहन्) मेघ को सूर्य के समान विनाश करता है। और (पृथिवी) समस्त पृथिवी या विशाल शक्ति (सचेताः) तेरे बल से चेतनवती होकर तुझे (प्र आवत्) प्राप्त होती है। (समुद्रियाणि) समुद्र के (अर्णांसि) जलों या आकाशस्थ जलों को जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से ऊपर उठाता है और विद्युत् मेघस्थ

जलों को नीचे फेंकता है उसी प्रकार तू (शवसा) अपने बल से (पतिः भवन्) सबका पालक होकर (समुद्रियाणि) समस्त पदार्थों के उत्पादक परमेश्वर सम्बन्धी (अर्णांसि) ज्ञानों और बलों को (प्र ऐनोः) उत्तम रीति से सबको प्रकट करता है ।

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते ।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥८॥

भा०—जलों के प्रकट करने के लिये वायु रूप इन्द्र जिस प्रकार (अद्रिम्) मेघों को तोड़ता है, उसी प्रकार हे (पुरुहूत) इन्द्रियों में व्याप्त आत्मन् ! समस्त प्रजाओं के पुकारे गये विश्वात्मन् ! (यत्) जब भी तू (अपः) ज्ञानों और कर्मों के प्रकट करने के लिये (अद्रिम्) अखण्ड आत्मा में आवरण को (दर्दः) विदीर्ण करता है अर्थात् उस मेघ रूप आत्मा को प्राप्त करता है तब (सरमा) व्यापक ज्ञानशक्ति (ते) तेरे (पूर्व्यम्) पूर्व एवं पूर्व के सनातन रूप को (आविः भुवत्) प्रकट करता है (सः) वह तू परमेश्वर (नः) हमें (भूरिम् वाजं) बहुतसा ऐश्वर्य बल एवं ज्ञान को (नेता) प्राप्त कराने वाला होकर (अंगिरोभिः) अंग अर्थात् देह में रसरूप से विद्यमान प्राणों द्वारा अथवा (अंगिरोभिः) ज्ञानी पुरुषों से (गृणानः) स्तुति को प्राप्त होता हुआ (गोत्रा) ज्ञानकी रश्मियों को रोकने वाले बाधक आवरणों को नाश करता हुआ (आ दर्षि) स्वयं प्रकट होता है ।

[७८] राजा और परमेश्वर ।

शंयुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

तद् वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
शं यद् गवे न शाकिने ॥ १ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २२ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (वः) आप लोग (सुते) राज्याभिषेक हो जाने पर (सचा) सब मिलकर एक साथ (सत्वने) वीर्यवान् शाकिने) शक्तिशाली (गवे न) वृषभ के समान राज्यधुरा को उठाने में समर्थ राजा के लिये (यद्) जो (शं) सुख एवं कल्याणकर हो (तद् गाय) उसका उपदेश करो।

अध्यात्म में—(गवे न शाकिने) वृषभ के समान शक्तिशाली, वीर्यवान् इन्द्र आत्मा के विषय में आप लोग (गाय) उपदेश करो जो (शं) शान्ति, सुखप्रदान करे।

न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः।
यत् सीमुप श्रवद् गिरः ॥ २ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २३ ॥

भा०—(यत् सीम्) जब भी वह हमारी (गिरः) वाणियों, स्तुतियों को (उपश्रवत्) श्रवण कर लेता है तभी (वसुः) जिस प्रकार वसु आदित्य अपने (गोमतः वाजस्य दानं) किरणों युक्त प्रकाश को नहीं रोकता उसी प्रकार वह (वसुः) सब प्राणियों में बसा, सबको बसाने वाला वह परमेश्वर (गोमतः) वाणियों और गऊओं से युक्त (वाजस्य) ऐश्वर्य और ज्ञान के (दानं) दान को (न घ नियमते) नहीं रोक लेता।

कुवित्संस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्।
शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २४ ॥

भा०—(दस्युहा) दस्यु अर्थात् नाशकारी लोगों का विनाशक, राजा के समान दुष्टों का विनाशक परमेश्वर (कुवित्सस्य) बहुत से भोग्य पदार्थ के भोक्ता जीव को गोमन्तम्) गौओं से युक्त व्रज के समान नाना सुखप्रद इन्द्रियों या किरणों ज्ञानवाणियों से युक्त (व्रजम्) प्राप्य परमपद को (प्र अगमत्) प्राप्त कराता है। वह ही (नः) हमें (शचीभिः) अपनी ज्ञान शक्तियों से उस परमपद के द्वार को (अप वरत्) खोल दे।

[७९] परमेश्वर ।

वसिष्ठः शक्तिर्वा ऋषिः । बृहत्यौ । द्वयृचं सूक्तम् ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा । शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ३२ । २६ ॥

भा०—व्याख्या देखो का० १८ । ३ । ६७ ॥

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३माशिवासो अव क्रमुः । त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥२॥ ऋ०७।३२।२७॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (नः) हमें (अज्ञाताः) अनजाने, (वृजनाः) वर्जन योग्य, हिंसक लोग और (दुराध्यः) दुखदायी व्याधियें, मानस चिन्ताएं और दुष्ट व्याधियों वाले, (अशिवासः) अमङ्गलकारी लोग भी (मा) न (अवक्रमुः) दबावें । हे (शूर) शूरवीर ! (त्वया) तेरे बल से (वयम्) हम (प्रवतः) प्रकर्ष को प्राप्त होकर (शश्वतीः अपः) नित्य बहने वाली नदियों के समान (शश्वती अपः) चिरकाल से लगे कर्म बन्धनों को (अति तरामसि) पार कर जांय ।

[८०] परमेश्वर ।

शंयुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । द्वयृचं सूक्तम् ॥

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः । येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥ १ ॥ ऋ० ६ । ४६ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (नः) हमें (ओजिष्ठं) सबसे अधिक पराक्रम से युक्त (ज्येष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ, (पपुरि) पालन करने वाला वह (श्रवः) अन्न (आ भर) प्राप्त करा । हे (चित्र) अद्भुत ! हे (वज्रहस्त) वज्र या बल को हाथ में धारण करने वाले ! हे (सुशिप्र)

उत्तम बल और ज्ञानवन्! तू (येन) जिससे (इमे) इन (उभे रोदसी) दोनों लोकों को (आ भाः) पूर्ण कर रहा है ।

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन् देवेषु हूमहे । विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसो मित्रान् सुषहान् कृधि ॥२॥ ऋ० ६।४६। ६ ॥

भा०—हे (राजन्) राजन्! (देवेषु) समस्त विजयशील पुरुषों में से (उग्रम्) अधिक बलवान् और (चर्षणीसहम्) समस्त लोकों को अपने बल से वश करनेहारे (त्वाम्) तुझको हम (अवसे) रक्षा के लिये (हूमहे) बुलाते हैं । तू (विश्वा) समस्त (पिब्दना) अव्यक्त शब्द करने वाले गुप्त पुरुषों को (विथुरा) व्यथित. पीड़ित (सुकृधि) कर । अथवा (विथुरा) व्यथादायी पुरुषों को (पिब्दना) अप्रकट शब्द वाला होकर शान्त कर। और हे (वसो) सबको वास देनेहारे! तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (सुसहान्) सुख से पराजय करने योग्य (कृधि) कर ।

[८१] परमेश्वर की महिमा ।

पुरुहन्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । द्वयचं सूक्तम् ॥

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः । न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ७० । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (यद्) यदि (ते) तेरे लिये (शतं द्यावः) सैकड़ों द्यौलोक आकाश और (उ ते शतं भूमीः) सैकड़ों भूमियें भी (स्युः) हों और हे (वज्रिन्) शक्तिमन्! (सहस्रं सूर्याः) हजारों सूर्य और (सहस्रं जातम्) हज़ारों उत्पन्न संसार और (सहस्रं रोदसी) हज़ारों जमीन आस्मान हों तो भी (त्वा न अनु अष्ट) तुझे व्याप नहीं सकते । तेरी बराबरी नहीं कर सकते ।

अर्थात् सैकड़ों आकाश ईश्वर की अनन्तता को नहीं व्याप सकते । सैकड़ों भूमि तेरे चित् शक्ति को जीवों द्वारा माप नहीं सकतीं । सहस्रों

सूर्य तेरे तेज की स्पर्द्धा नहीं कर सकते । सहस्रों जगत् पैदा होकर भी उसकी उत्पादक शक्ति को समाप्त नहीं कर सकते । और सैकड़ों द्यौ, पृथिवी उस पूर्ण को व्याप नहीं सकते ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाःसदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥ गीता ११ । १२ ॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः ॥
ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥
बृहदा० ॥

आ पंप्राथ महिना वृष्ण्यां वृषन् विश्वां शविष्ठ शवंसा ।
अस्माँ अंव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिंरूतिभिः ॥२॥
ऋ० ८ । ७० । ६ ॥

भा०—हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षक ! हे (शविष्ठ) सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! तू (महिना) बड़े भारी (शवसा) अपने बल से अपनी शक्ति से (विश्वा) समस्त (वृष्ण्या) बल के कार्यों को (आ पप्राथ) फैला रहा है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (गोमति व्रजे) गौ, इन्द्रियों के इस समूह में या इन्द्रियों से युक्त इस गोष्ठ रूप देह में हे (वज्रिन्) बलवन् ! (चित्राभिः) विचित्र २ आश्चर्यजनक (ऊतिभिः) रक्षा साधनों से (अस्मान् अव) हमारी रक्षा कर ।

[८२] परमेश्वर और उपासक

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यौ । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

यदिंन्द्र यावंतस्त्वमेतावंदहमीशींय । स्तोतारमिद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ७ । ३२ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर एवं राजन् ! (यावतः त्वम्) जितने ऐश्वर्य का तू हमें प्रदान करे, (तावद्) उतने धन का (अहम्) मैं

(ईशीय) स्वामी होजाऊं (यत्) जिससे मैं (स्तोतारम्) विद्वान्जन को (दिधिषेय) धारण पोषण करूं। हे (रदावसो) ऐश्वर्य के दातः ! मैं (पापत्वाय) पाप कार्य के लिये कभी (न रासीय) दान न दूं।

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥२॥
ऋ० ७ । ३२ । १९ ॥

भा०—परमेश्वर कहता है । (दिवे दिवे) दिनों दिन, प्रतिदिन, सदा (कुहचित् विदे) कहीं भी विद्यमान (महयते) उपासना करने वाले सत्पुरुष को मैं (रायः) धनों, ऐश्वर्यों को (आशिक्षयेम् इत्) प्रदान करता ही हूं। भक्त कहता है। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वद् अन्यत्) तुझ से दूसरा (नः) हमारा (आप्यम् न) बन्धु नहीं और (त्वदन्यः) तुझसे दूसरा (वस्यः) श्रेष्ठ हमारा (पिता चन न) पिता पालक भी नहीं है।

[८३] राजा ।

शंयु ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ बृहती, २ पंक्तिः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत् । छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥ १ ॥ ऋ० ६ । ४६ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (त्रिधातु) तीन धातु, धारण सामर्थ्यों से युक्त (त्रिवरूथम्) तीनों प्रकार के कष्टों को वारण करने वाला, (स्वस्तिमत्) कल्याणवान् (छर्दिः) छत या सुखों से युक्त (शरणम्) आश्रयस्थान, गृह (मघवद्भ्यः) धनाढ्य पुरुषों और (मह्यम्) मुझको भी (यच्छ) प्रदान कर और (एभ्यः) इनसे (दिद्युम्) देदीप्यमान शस्त्र या क्रोध आदि को (यवय) दूर कर। अथवा (एभ्यः) इनके (दिद्युम्) प्रदीप्त क्रोध या अस्त्र को हमसे (यवय) दूर कर।

'त्रिधातु'—तीन धातु अर्थात् तीन प्रकार से धारण करने वाला, तिमंजिला, अथवा सुवर्ण, रजत, लोह, इनसे युक्त । अध्यात्म में त्रिधातु वात, पित्त, कफ अथवा शरीर के तीन धारक बल प्राण, उदान, अपान ।

'त्रिवरूथम्' तीन तापों को वारण करने में समर्थ, शीत, आतप, वर्षा, तीन कष्ट, अथवा, मानस, वाचिक, कायिक, तीनों पीड़ाओं का वारक अथवा अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों का वारक यह देह।

ये गव्यता मनसा शत्रुमादभुरभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया ।
अध स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव ॥२॥
ऋ० ६ । ४६ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (ये) जो पुरुष (गव्यता मनसा) भूमि और गौ आदि पशु लेने की इच्छा वाले मन से (शत्रुम्) शत्रु को (आदभुः) मारने में समर्थ हैं और जो (धृष्णुया) शत्रु को धर्षण करने वाली शक्ति से (अभि प्र घ्नन्ति) मार डालते हैं ऐसे पुरुषों के होते हुए हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! हे (गिर्वणः) स्तुत्य! (इन्द्र) हे शत्रुनाशक! तू (तनूपाः) हमारे शरीरों का रक्षक होकर (नः अन्तमः) हमारा अति समीपतम मित्र एवं रक्षक होकर (भव) रह।

[८४] परमेश्वर

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥ ऋ० १ । ३ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! हे (चित्रभानो) आश्चर्यजनक दीप्तियों वाले! (इमे सुताः) ये समस्त उत्पन्न पदार्थ और ज्ञानरस से अभिषिक्त शुद्ध आत्मा (त्वायवः) तुझे प्राप्त होना चाहते हैं। तू (आ

याहि) आ. साक्षात् दर्शन दे । ये सब (अण्वीभिः) सूक्ष्म योग क्रियाओं से या ज्ञानप्रकाशों से (तना) नित्य, विभूतिमान् एवं (पूतासः) पवित्र हैं ।

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।

उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! तू (धिया इषितः) उत्तम ज्ञानवाली बुद्धि और उत्तम कर्म से प्राप्त होने योग्य और (विप्रजूतः) विद्वानों द्वारा जाना और अर्चना किया गया होकर (वाघतः) उपासक पुरुषों और (ब्रह्माणि उप) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों को या ब्रह्मवेद के वचनों को (उप आ याहि) प्राप्त हो, दर्शन दे । अर्थात् वेदोक्त गुणों सहित प्रकट हो ।

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।

सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ३ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (तूतुजानः) अति वेगवान् होकर (ब्रह्माणि उप) वेद स्तुतियों को (उप आयाहि) प्राप्त हो । हे (हरिवः) वेगवान् सूर्यादि लोक के स्वामिन् ! या ज्ञानवान् विद्वानों के प्रभो ! (सुते) उत्पन्न इस संसार में (नः) हमें (चनः) अन्न आदि भोग्य पदार्थ (दधिष्व) प्रदान कर ।

[८५]

मेधातिथिमेध्यातिथी ऋषी । इन्द्रो देवता ।

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।

इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१॥

ऋ० ८ । १ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! हे (सखायः) मित्रजनों ! (अन्यत) इन्द्र की स्तुति के अतिरिक्त (मा चित् विशंसत) और किसी की विशेष

रूप से स्तुति न करो। और (मा रिषण्यत) व्यर्थ खेद में मत पड़ो। (सुते) ज्ञान से परिष्कृत आत्मा में एवं उत्पन्न संसार में (इन्द्रम् इत्) ऐश्वर्यवान् (वृषणं) महान् समस्त सुखों के वर्षक परमेश्वर की (सचा) एकत्र मिलकर (स्तोत) स्तुति करो और (मुहुः) बार २ (उक्था च) स्तुतियां (शंसत) कहो।

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम्।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥ ऋ० ८।१।२॥

भा०—(अवक्रक्षिणम्) सबको अपने अधीन रखकर अपने प्रति आकर्षण करने वाले (वृषभम्) प्रजाओं पर समस्त सुखों के वर्षक, (अजुरं) जरा रहित, अजर, (गां न) सूर्य और महावृषभ के समान (चर्षणीसहम्) समस्त लोकों और पुरुषों को विजय करने वाले (विद्वेषणम्) विरुद्ध आचारी पुरुषों के द्वेषी, (संवनना) सज्जन पुरुषों के सेवनीय, (उभयंकरम्) निग्रह और अनुग्रह, दण्ड और कृपा दोनों के करने में समर्थ (मंहिष्ठम्) अति पूजनीय एवं अति दानशील (उभयाविनम्) शत्रु और मित्र दोनों की रक्षा करनेहारे और स्थावर, जंगम सबके रक्षक उस परमेश्वर की राजा के समान बार २ स्तुति करो।

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेहा विश्वा च वर्धनम् ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । १ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! परमेश्वर (यत् चित् हि) यद्यपि (इमे जनाः) ये समस्त लोग (त्वा) तुझे (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये ही (नाना) भिन्न २ उपायों से (हवन्ते) स्तुति करते हैं। तो भी (अस्माकं) हमारा (इदं ब्रह्म) यह वेद स्तुति वचन (ते) तेरे गुणों को (विश्वा अहा च) सदा सब दिनों (वर्धनम्) बढ़ाने वाला (भूतु) रहे।

वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥ ४ ॥ ऋ० ८।१।४॥

भा०—हे (मघवन्) परमेश्वर ! (विपश्चितः) समस्त कर्मों और ज्ञानों के ज्ञाता (अर्यः) आगे बढ़ने वाले (जनानां विपः) जनों के बीच में मेधावी, एवं विवेकवान् पुरुष (वि तर्तूर्यन्ते) विशेष रूप से पार हो जाते हैं । हे परमेश्वर ! तू (उपक्रमस्व) हमें प्राप्त हो । और (पुरुरूपम् वाजं) विविध प्रकार का रुचिकर अन्न और बल (आ भर) हमें प्राप्त करा । और (ऊतये) रक्षा के लिये (नेदिष्ठम्) अति समीप (उप क्रमस्व) समीप रह ।

[८६] आत्मा

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ १ ॥
ऋ० ३ । ३५ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्, ज्ञानवन् ! अज्ञाननाशकारिन् आत्मन् ! मैं (सधमादे) एक साथ आनन्द अनुभव करने की समाहित दशा में, जब समस्त प्राण हर्षयुक्त और प्रफुल्लित हों तब (आशू) वेगवान्. (ब्रह्म युजा) उस महान् शक्ति आत्मा के साथ युक्त होने वाले (हरी) दुःखों के विनाशक (सखाया) समान ख्याति वाले, एक दूसरे के मित्ररूप (हरी) शरीर के धारक, प्राण और अपान दोनों को (ब्रह्मणा) परम ब्रह्म के साथ (युनज्मि) योग-अभ्यास द्वारा समाहित करता हूं । हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (सुखं) सुखपूर्वक (स्थिरं) स्थिर रूप से रथम्) एक रस विद्यमान इस देह को स्थिर आसन में (अधितिष्ठन्) स्थित रहता हुआ इस पर वश करता हुआ (प्रजानन्) उत्कृष्ट ज्ञान सम्पादन

करके (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर (सोमम्) सबके प्रेरक परमेश्वर या ब्रह्मरस को (उपयाहि) प्राप्त कर।

[८७] राजा, आत्मा

वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम्।
गौराद् वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन्॥१॥
ऋ० ७।९८।१॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (अध्वर्यवः) हिंसा रहित यज्ञ एवं प्रजा पालन रूप राज्यकार्य के सम्पादन करने हारे विद्वान् पुरुषो! आप लोग (क्षितीनां वृषभाय) राष्ट्र में निवास करने वाली समस्त प्रजाओं के प्रति सुखों के वर्षण करने वाले राजा के लिये (अरुणम्) प्राप्त करने योग्य रुचिकर (दुग्धम्) दुग्ध के समान पुष्टिप्रद अथवा पृथ्वीरूप धेनु से दोहन किये गये (अंशुम्) राजोचित अंश को (जुहोतन) प्रदान करो। वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, शत्रु के नाश करने में समर्थ होकर (गौरात्) केवल वाणियों मे रमण करने वाले विद्वान् से भी अधिक (वेदीयान्) ज्ञानवान् होकर अथवा (गौरात्) जाज्वल्यमान आदित्य से भी अधिक (वेदीयान्) तेजस्वी और ऐश्वर्यवान् होकर (अव-पानं सुतसोमम्) अधीन रखकर पालन करने योग्य सुतसोम अर्थात् अभिषेक द्वारा प्राप्त सोमपद, राष्ट्रपति के पद को (इच्छन्) अभिलाषा करता हुआ (विश्वाहा) सब दिनों ही (याति) राजाओं पर यान या चढ़ाई करता है।

आत्मा के पक्ष में—हे ((अध्वर्यवः) अहिंसित जीवन यज्ञ के करने हारे योगिजनो! तुम (क्षितीनां वृषभाय) देह में निवास करने वाले प्राण गणों के बीच में समस्त जीवन रस के वर्षण करने वाले आत्मा के लिये

(अरुणम्) अति प्रकाश युक्त या गतिशील, अरुद्धगति (दुग्धम्) सार रूप से प्राप्त (अंशुम्) व्यापक प्राण की (जुहोतन) आहुति दो । वह (इन्द्रः) आत्मा (गौरात्) इन्द्रियों में रमण करने वाले पुरुष से अथवा इन्द्रियों में रमणशील प्राण से भी अधिक (वेदीयान्) बलशाली होकर (अवपानम्) भीतर ही पान करने योग्य (सुतसोमम्) प्राप्त ब्रह्मरसं को (इच्छन्) चाहता हुआ (विश्वाहा इत्) सदा ही (याति) प्राप्त है ।

यद् दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि ।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान् पाहि सोमान् ॥२॥
ऋ० ७ । ९८ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (प्रदिवि) उत्कृष्ट तेजोमय ज्ञानस्वरूप परब्रह्म में आश्रित (चारु) अति उत्तम (यत्) जिस (अन्नम्) अन्न, अक्षय रस को (दिवे दिवे) प्रतिदिन, नित्य (दधिषे) धारण करता है (अस्य) उस साक्षात् प्राप्त रस के (पीतिम् इत्) पान को ही नित्य (वक्षि) चाहता है । (हृदा उत् मनसा) हृदय और मन से (जुषाणः) चाहता हुआ और सेवन करता हुआ है (उशन्) सदा उसकी अभिलाषा करता हुआ तू (प्रस्थितान्) इन आगे रक्खे, साक्षात् प्राप्त (सोमान्) ब्रह्मानंद रसों का (पाहि) पान कर ।

राजा के पक्ष में—(प्रदिवि) उत्कृष्ट राजसभा के अधीन (यत् चारु अन्नं दधिषे) जिस उत्तम, अक्षय, भोग्य राष्ट्र को धारण करता है और (दिवेदिवे अस्य पीतम्=वृद्धिम् वक्षि) दिनोंदिन उसकी वृद्धि चाहता है । (उत हृदा उत मनसा जुषाणः उशन्) हृदय और मनसे प्रेम करता और चाहता हुआ (अस्य) इस राष्ट्र के उच्च पदों पर स्थित (सोमान्) शासक अधिकारियों और विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर ।

'पीतिम्'–ओप्यायीवृद्धौ—प्यायः पीभावः ॥

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच।
एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥३॥ऋ०७।९८।३॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (इन्द्र) राजन् ! तू (जज्ञानः) उत्पन्न होते राजा बनते ही (सहसे) अपने शत्रुपराजयकारी बल से (सोमं) राजपद एवं राष्ट्र का (पपाथ) उपभोग करता एवं पालन करता है। (ते माता) तेरी माता, तुझे राजा बनाने वाली राजसभा एवं यह पृथ्वी (ते महिमानम्) तेरे महान् सामर्थ्य को (प्र उवाच) कहती है। तू (उरु अन्तरिक्षं) विशाल अन्तरिक्ष को (आ पप्राथ) पूर्ण करता अर्थात् अन्तरिक्ष के समान प्रजाओं का रक्षक और उनपर जलादि वर्षण के समान सुखों का वर्षण करके स्वयं मानो अन्तरिक्ष पद को (आ पप्राथ) प्राप्त करता है। और (युधा) युद्ध द्वारा (देवेभ्यः) विजिगीषु सेना पुरुषों और विद्वानों के लिये वरिवः) धनैश्वर्यवान् को भी (चकर्थ, उत्पन्न करता है।

अध्यात्म के पक्ष में—(जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ) ज्ञान सम्पादन करता हुआ अपने आत्मिक बल से योगी सोम रस, ब्रह्मरस का पान करता है। हे आत्मन् ! (माता) ज्ञानी पुरुष (ते महिमानम् प्र उवाच) तेरी बड़े महान् सामर्थ्य का वर्णन करता है। (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल हृदयाकाश को तू (पप्राथ) पूर्ण करता, (देवेभ्यः वरिवः चकर्थ) और प्राणों को भी बल प्रदान करता है।

परमेश्वरपक्ष में—शक्तिरूप से प्रादुर्भूत होकर या सृष्टि को उत्पन्न करता हुआ तू अपने बल से (सोमं) इस उत्पन्न संसार को स्वयं (पपाथ) पान करता है, प्रलयकाल में लीन करता है। (माता) जननी अखण्ड प्रकृति तेरे इस महान् सामर्थ्य का वर्णन करती है। तू (उरु अन्तरिक्षं) इस विशाल आकाश को विस्तृत करता है (देवेभ्यः) सूर्यादि लोकों को (युधाः) अपने बल से (वरिवः) तू ही तेज (चकर्थ) देता है।

यद् योधया महतो मन्यमानान् साक्षाम तान् बाहुभिः शाशदानान्। यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९८ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! सेनापते ! (यद्) जब तू (महतः मन्यमानान्) बड़े अभिमान करने वालों को (योधय) हमारे से लड़ाता है तब (शाशदानान्) हमारे पक्ष वालों को काटने वाले (तान्) उन शत्रुओं का हम (बाहुभिः) अपनी बाहुओं से ही (साक्षाम) पराजित करें। (यद् वा) और जब भी (नृभिः) उत्तम नेताओं से (वृतः) परिवृत होकर तू स्वयं (अभि युध्याः) शत्रु के मुकाबले पर लड़े तब (त्वया) तेरे द्वारा हम (सौश्रवसं) उत्तम यश और सम्पत्ति प्राप्त कराने वाले (आजिम्) युद्ध का (जयेम) विजय करें ।

परमेश्वर पक्ष में—जब भी हमपर परमेश्वर बड़े शत्रुओं से युद्ध का अवसर दे हम उनको अपने बाहुबल से पराजित करें । और हे (इन्द्र) परमात्मन् ! तू (नृभिः) अपनी नेतृ शक्तियों से (अभि युध्याः) उनका नाश करता हो । तब तो हम तेरी सहायता से उत्तम यश, अन्न के देने वाले संग्राम का विजय करें ।

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । ९८ । ५ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) वीर राजा या सेनापति के मैं (प्रथमा कृतानि) पहले किये हुए श्रेष्ठ उत्तम कार्यों को (प्रवोचं) वर्णन करूं । (या) और जिन (नूतना) नवीन कर्मों को (मघवा) वह ऐश्वर्यवान् करता है उन को भी मैं (प्रवोचम्) कहूं । (यद्) जब वह (अदेवीः) अविजिगीषु, अयोद्धा, भीरु लोगों की (मायाः) छलकपट की क्रियाओं को (असहिष्ट)

विजय कर लेता है तब (सोमः) उत्तम ऐश्वर्य को देने वाला राष्ट्र (केवलः) समस्त (अस्य) उसके ही वश में (अभवत्) रहता है।

परमेश्वर के पक्ष में—परमेश्वर के पूर्व कल्पों में किये और नवीन इस कल्प में किये जगत्सर्गों के विषय में मैं वर्णन करूं। (यद्) जब वह (अदेवीः) अग्नि आदि दिव्य पदार्थों से अतिरिक्त असत् पदार्थों के द्वारा उत्पन्न (मायाः) भ्रम पूर्ण रचनाओं को अथवा (अदेवीः) प्रकाश रहित (मायाः) प्रकृति के विकृति सृष्टियों को भी (असहिष्ट) अपने वश किये रहता है तब जानो कि (सोमः केवलः) समस्त जगत् ही (अस्य) उसके वशमें (अभवत्) है।

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥६॥

ऋ० ८। ९८। ६॥

भा०—हे राजन्! (इदं) यह (अभितः) इधर उधर सर्वत्र राष्ट्र में विचारने वाला (विश्वं पशव्यम्) समस्त पशु समूह (यत्) जिसको तू (सूर्यस्य) सूर्य के (चक्षसा) प्रकाश से (पश्यसि) देखता है (इदं तव) यह तेरा ही है। (तू (गवां गोपतिः एकः) अकेले समस्त गौओं के पति, गोपाल के समान भूमियों का एकमात्र पालक है। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (प्रयतस्य) उत्कृष्ट, उत्तम नियन्ता रूप (ते) तेरे ही (वस्वः) ऐश्वर्य का हम (भक्षीमहि) भोग करें।

ईश्वरपक्ष में—(इदम्) यह (अभितः) सब ओर फैला (पशव्यं) दोपायों चौपायों का हितकारी (विश्वम्) समस्त संसार (यत्) जिसको (सूर्यस्य चक्षसा पश्यसि) सूर्य के प्रकाश से तू प्रकाश करता मानो देखता ही है वह (तव) तेरा ही है। (गवाम्) गौओं के स्वामी गोपाल के समान एकमात्र समस्त प्राणियों और भूमियों का पालक तू ही गोपति है।

(प्रयतस्य) उत्तम शासक नियन्ता एवं सर्वत्र प्रयत्न या व्यापार चेष्टा करने वाले तेरे ही (वस्वः) ऐश्वर्य का हम (भक्षीमहि) भोग करते हैं।

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥७॥
ऋ० ८। १८। ७॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते महान् राष्ट्र के स्वामिन्! एवं बृहती वेदवाणी के पालक विद्वान्! और राजन्! हे इन्द्र! ऐश्वर्यवन्! (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य) दिव्य ज्ञानरूप और (पार्थिवस्य) पृथिवी सम्बन्धी (वसु) ऐश्वर्य के (ईशाथे) दोनों स्वामी हो। आप दोनों स्तुति करने हारे विद्वान् पुरुष को (रयिम् धत्तम्) ऐश्वर्यवान् करो और (यूयम्) तुम (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों से (नः पात) हमारी रक्षा करो।

व्याख्या देखो अथर्व० का० २०। १७। १२॥

[८८] परमेश्वर सेनापति राजा

वामदेव ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। त्रिष्टुभः। षडृर्चं सूक्तम्॥

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्॥१॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी और बृहत् महान् राष्ट्र और बृहत् महान् ब्रह्माण्ड का पालक है और (त्रिपधस्थः) तीनों स्थान, तीनों लोकों में सूर्य के समान स्थित होकर (रवेण) अपने शासन उपदेश से (सहसा) बल पूर्वक (ज्मः) पृथिवी के (अन्तान्) दशों दिशाओं के दूरस्थ प्रदेशों को (वि) विविध प्रकार (तस्तम्भ) थामता है, वश करता है (प्रत्नाः ऋषयः) पूर्व के ऋषि, मन्त्रद्रष्टा (विप्राः) विविध ज्ञानों से पूर्ण मेधावी लोग (मन्द्रजिह्वम्) आनन्द जनक प्राप्ति

युक्त वचन वाले, सुप्रमद दीप्ति से युक्त उसको (दीध्यानाः) ध्यान करते हुए या धारण करते हुए (पुरः दधिरे) अपने आगे उपास्य रूप से और प्रमाण रूप साक्षी रूप या अध्यक्ष रूप से स्थापित करते हैं ।

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे ।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २ ॥
ऋ० ४ । ५० । २ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बड़े शक्ति, वाणी, राष्ट्र और ब्रह्माण्ड के पालक ! विद्वन् ! सेनापते ! राजन् ! एवं परमात्मन् ! बृहस्पते ! (धुनेतयः) शत्रुओं को कंपा देने वाली चढ़ाई करने वाले (सु प्रकेतं) उत्तम उत्कृष्ट ज्ञानवान् तुझको (मदन्तः) हर्ष देने वाले (ये) जो (नः) हम में से (अभि ततस्रे) तेरी साक्षात् स्तुति करते हैं, तेरी शोभा बढ़ाते हैं अथवा (नः अभि ततस्रे) हमारे शत्रुओं का नाश करते हैं (अस्य) उनके (पृषन्तं) नाना फलों के देने वाले, अथवा अन्तरात्मा को और अन्न से सिंचन करने वाले (सृप्रम्) अति व्यापक, विस्तृत, सर्वगामी, (अदब्धम्) अहिंसित, अविनाशी, अखण्ड, (अपूर्वम्) अपूर्व, लोकोत्तर (योनिम्) आश्रय स्थान वेद और राष्ट्र को (रक्षतात्) रक्षा कर ।

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः ।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥ ३ ॥
ऋ० ४ । ५० । ३ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! परमेश्वर ! (या) जो (परमा) सर्वोत्कृष्ट (परावत्) परम ज्ञान की रक्षा करने वाली वेदवाणी है और (अतः) उससे (आ) साक्षात् ज्ञान करनेहारे जो (ऋतस्पृशः) सत्य तत्व को पहुंचने वाले विद्वान् पुरुष (निषेदुः) विराजमान हैं (खाताः अवताः) खने हुए कूपों के समान रस से भरे हुए और (अद्रिदुग्धाः)

मेंघों या पर्वतों से प्राप्त मधुर रसको धारण करने वाले जलाशय या झरने जिस प्रकार (मध्वः) मधुर जल (श्चोतन्ति) झरते हैं उसी प्रकार वे भी (खाताः) तपस्याओं से खने गये, गम्भीर (अवताः) ज्ञान, जल के रक्षक, (अद्रिदुग्धाः) अखण्ड ब्रह्मशक्ति का दोहन करने वाले या मेघ स्वरूप अपने धर्म मेघमय अखण्ड आत्मा के रस दोहन करने वाले होकर (अभितः) सर्वत्र (मध्वः) उस परम मधुर ब्रह्मानन्द रस के (विरप्शम्) महान् राशि को (श्चोतन्ति) झरते, उपदेश करते और वर्षण करते हैं ।

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो मुहो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सुप्तास्यस्तुविजातो रवेण विसुप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥ ४ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) वह बृहती वेद वाणी का स्वामी परमेश्वर (प्रथमं जायमानः) सबसे प्रथम सृष्टि को प्रकट करता हुआ (महः ज्योतिषः) महान् तेज के (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) विविध ज्ञानों के रक्षास्थान, परब्रह्म, वेदस्वरूप में ही (सप्तास्यः) सात छन्दों रूप सात मुख वाला (तुविजातः) बहुत प्रकार से प्रकट होकर अपने (रवेण) उपदेश से (सप्तरश्मिः) सात रश्मियों वाले सूर्य के समान (तमांसि) समस्त अन्धकारों और उनके समान आत्मा को पीड़ा देने वाले अज्ञानमय दुःखों का (वि अधमत्) विविध उपायों से उनका नाशकरता है ।

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते । स्फुटम् ॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार (बृहस्पतिः) बड़ा सेनापति (सुष्टुभिः) शत्रु को स्तम्भन करने वाले (ऋक्वता) ज्ञानवान् (गणेन) सेनागण से (फलिगं वलं) शस्त्रास्त्र से युक्त घेरने वाले शत्रु को (रवेण) बड़ी

गर्जना से (रुरोज) नाश करता है उसी प्रकार (सः) वह (बृहस्पतिः) वेद वाणी का—बड़े भारी ज्ञान का पालक (सुस्तुभा) उत्तम रूप से स्तुति करने वाले (ऋक्वता) ऋग्वेद के मन्त्रों से युक्त (गणेन) विद्वद्गण से और (रवेण) वेदोपदेश के बल से (फलिगम्) फलिग अर्थात् अंग भेदन कर देने वाले शस्त्रास्त्रों सहित आचड़ने वाले (वलम्) व्यापक शत्रुगण को (रुरोज) तोड़ डालता है, पीड़ित करता है। और वह ही (कनिक्रदत्) उपदेश करता हुवा (वावशतीः) हम्भारव करने वाली (हव्यसूदः) घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों को प्रदान करने वाली (उस्रियः) गौओं के समान ज्ञानरस पूर्ण (वावशतीः) नित्य उपदेशमय शब्द करती हुई (हव्यसूदः) ग्राह्य ज्ञान को भरती हुई (उस्रियाः) वेदवाणियों को (उत् आजत्) प्रकट करता है।

ष्टुभु स्तम्भे। स्वादिः॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

भा०—(एवा) इस उक्त प्रकार के ज्ञानवान् (पित्रे) सबके पालक (विश्वदेवाय) समस्त विजिगीषु पुरुषों के आश्रय या स्वामी एवं समस्त विद्वानों के अध्यक्ष, समस्त दिव्य शक्तियों के आश्रय, (वृष्णे) अति बलवान् पुरुष को हम (यज्ञैः) सत्संगों, यज्ञानुष्ठानों द्वारा (नमसा) आदर पूर्वक नमस्कार और (हविर्भिः) अन्नों द्वारा (विधेम) सेवा करें। हे (बृहस्पते) विद्वन्! राजन्! परमेश्वर (वयम्) हम (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा वाले (वीरवन्तः) वीर पुरुषों और पुत्रों से युक्त और (रयीणां) ऐश्वर्यों के (पतयः) पति स्वामी (स्याम) हों।

[८९] राजा परमेश्वर

कृष्ण ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुभः। एकादशर्चं सूक्तम्॥

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम् ॥१॥

भा०—(प्रतरं) खूब अच्छी प्रकार वेगवान (लायम्) हृदय को लगने वाले बाण को जिस प्रकार (अस्यन्) फेंकता हुआ (अस्ता इव) बाण फेंकने वाला धनुर्धर अपने निशाने पर बाण फेंकता है और नहीं चूकता। और बाण समूहों को फेंकता ही जाता है और जिस प्रकार (भूषन् इव) सुभूषित करने वाला पुरुष रत्नों को जड़ता ही जाता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू भी (अस्मै) इस परमेश्वर को लक्ष्य करके (स्तोमम्) स्तुति समूह को (प्र भर=प्र हर) प्रस्तुत कर ईश्वर पर निछावर कर और सूक्त रत्नों से उसे अलंकृत कर। हे (विप्राः) मेधावी विद्वान पुरुषो ! (वाचा) वाणी से या अपनी प्रबल आज्ञा से जिस प्रकार योद्धा लोग (अर्यः वाचम्) शत्रु की वाणी को दबा लेते हैं उसी प्रकार तुम लोग भी (वाचा) वाणी से (अर्यः) अपने स्वामी परमेश्वर की (वाचम्) वाणी को (तरत) अभ्यास द्वारा पार करो। हे (जरितः) स्तुतिशील विद्वन् ! तू (इन्द्रम्) शत्रुओं के नाशक राजा को (सोमे) राष्ट्रपति पदपर अभिषिक्त करके विद्वान् लोग (निरमयन्ति) प्रसन्न करते हैं इसी प्रकार तू भी (सोमे) अपने सेव्य गुणवान आत्मा में (नि रमय) आल्हादित कर अथवा (इन्द्रम्) अपने आत्मा को (सोमे नि रमय) सोम, परमेश्वर में आल्हादित कर।

दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम् ।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम् ॥ २ ॥
ऋ० १० । ४२ । २ ॥

भा०—हे (जरितः) स्तुतिशील विद्वन् ! (दोहेन) दुग्धदोहन के निमित्त जिस प्रकार (गाम्) गौ को प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार आ-

न्तरिक रस प्राप्त करने के लिये भी (गाम्) ज्ञापक, या सूर्यस्वरूप आत्मा को (उपशिक्ष) प्राप्त कर । और (जारम्) अपने चिर निवास से देहों और इन्द्रियों को कालवश जीर्ण कर देने वाले (इन्द्रम्) भीतरी साक्षात् प्रत्यक्ष होने वाले, स्वयंद्रष्टा भोक्ता (सखायम्) अपने समान नाम वाले मित्र स्वरूप सखा, आत्मा को (प्र बोधय) ज्ञानवान् कर । और (वसुना पूर्णं) धन से भरे पूरे (कोशम्) खज़ाने को जिस प्रकार ऐश्वर्य को सुरक्षित करने के लिये सेवन किया जाता है उसी प्रकार (मघ देयाय) ऐश्वर्य की रक्षा के लिये (न्यृष्टम्) सबके आश्रयभूत, (शूरम्) शूरवीर इन्द्र को (आ च्यावय) नियुक्त कर ।

राजा के पक्ष में—दोहन के लिये गौ के समान उपगन्तव्य राजा का आश्रय लो, (जारम्) शत्रुओं के नाशक (इन्द्रम्) सेनापति को जागृत करो, सदा सावधान करो । खज़ाने के समान धन से पूर्ण राजा को ही ऐश्वर्य के संग्रह के लिये नियुक्त करो ।

किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥२॥

भा०—हे आत्मन् ! परमेश्वर ! (अङ्ग) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वाम्) तुझको लोग (भोजम्) सबका पालक, रक्षक (किम् आहुः) क्यों कहते हैं ? इसीलिये कि तू सबकी रक्षा करता है । मैं (त्वा) तुझको (शिशयं) अति तीक्ष्ण, बलवान् (शृणोमि) सुनता हूं । तू (मा) मुझ को भी (शिशयं) तीक्ष्ण, सूक्ष्मबुद्धियुक्त कर । जिससे (मम) मेरी (धीः) धारणावती बुद्धि (अप्नस्वती) श्रेष्ठ कर्म वाली (अस्तु) हो । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (नः) हमें, हे (शक्र) शक्तिशालिन् ! (वसुविदं भगम्) ऐश्वर्यवद, सेवनयोग्य ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा ।

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर (जनाः) लोग (मम सत्येषु) मेरा पक्ष सच्चा, मेरा पक्ष सच्चा है इस प्रकार अपने पक्ष को दृढ़ करने के कलहों में भी (त्वा वि ह्वयन्ते) तुझे विविध नामों से याद किया करते हैं । और (समीके) संग्राम में (संतस्थानाः) अच्छी प्रकार स्थिर होकर युद्ध करने वाले अथवा (संतस्थानाः) संग्राम में अपने जीवनों को समाप्त कर देने वाले भी (विह्वयन्ते) विविध प्रकारों से तुझे पुकारते हैं । पर तू (अत्र) इस लोक में (यः) जो (हविष्मान्) सत्य ज्ञानवान् है उसी को अपना (युजं) साथी बनाता है । और तू (शूरः) स्वयं शूर होकर (आसुन्वता) अपना सवन या चिन्तन करने वाले के साथ (सख्यं वष्टि) मित्रता करना चाहता है ।

इसी प्रकार हे राजन् ! लोग तुझको अपना २ पक्ष सत्य बतलाने के अवसरों पर भी कलहों में बुलाते हैं । युद्धविजयी भी तेरा नाम लेते हैं । पर जो (हविष्मान्) मन्त्रादि से समृद्धिमान् उपाय भेट देने में समर्थ है उसी को अपना साथी बनाता है और (आसुन्वता) अभिषेक करने वाले राष्ट्र के प्रति सख्य करना चाहता है ।

धनं न स्यन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान् ।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान् प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान् युवति हन्ति वृत्रम् ॥५॥

भा०—(बहुलं) बहुतसारा (स्पन्द्रं) चलनशील, जंगम, गौ आदि पशु (धनं न) धन के समान (यः) जो (प्रयस्वान्) अन्नों का स्वामी जमींदार (तीव्रान् सोमान्) तीव्र सोम अर्थात् वेगवान् 'सोम' वीर्यवान् पुरुषों को (अस्मै) इस राजा के अधीन (आसुनोति) प्रदान करता है । (तस्मै) उसके (सुतुकान् शत्रून्) अति हिंसक (स्वष्ट्रान्) उत्तम शस्त्रों

वाले शत्रुओं को भी (अह्नः प्रातः) दिन का प्रातःकाल भाग जिस प्रकार अन्धकार का नाश करता उसी प्रकार (नि युवति) दूर कर देता है। और उस के (वृत्रम्) विघ्न को भी (निहन्ति) दूर कर देता है।

अध्यात्म में—(यः प्रयस्वान्) जो प्रयासी, परिश्रमी, साधक (अस्मै) इस आत्मा को (तीव्रान् सोमान्) तीव्र, अतिहर्षकर ब्रह्मरसों से स्नान करता है, उन्हीं में निमग्न करता है उसके ही (धुनुकान्) विनाशकारी, आत्मा को निर्बल करने वाले काम क्रोधादि भीतरी शत्रुओं को वह (नि युवति) दूर करता है, (वृत्रं) आवरक अज्ञान को (निहन्ति) निर्मूल करता है। (प्रातः अह्नः) दिन के प्रातःकाल के समान अज्ञान को नाश करता है।

यस्मिन् व॒यं द॑धि॒मा शंस॒मिन्द्रे॒ यः शि॒श्राय॑ म॒घवा॒ काम॑म॒स्मे।
आ॒राच्चि॒त् सन् भ॑यताम॒स्य॒ शत्रु॒र्न्य॑स्मै द्यु॒म्ना जन्या॑ नमन्ताम् ॥६॥

भा०—(यस्मिन् इन्द्रे) जिस ऐश्वर्यवान् इन्द्र राजा या परमेश्वर के निमित्त (वयम्) हम (शंसम्) स्तुति (दधिम) धारण करते हैं और (यः) जो (मघवा) ऐश्वर्यवान् (अस्मे) हमारी (कामम्) अभिलाषा को (शिश्राय) आश्रय देता है। (अस्य शत्रुः) उसका शत्रु (आरात् चित् सन्) दूर रहता हुआ (भयताम्) भय ही करे। और (अस्मै) उसके आगे (जन्या) युद्ध सम्बन्धी (द्युम्ना) यश और ऐश्वर्य (अव नमन्ताम्) झुके प्राप्त हों।

आ॒राच्छत्रु॒मप॑ बाधस्व दू॒रमु॒ग्रो यः शम्बः॑ पुरुहूत॒ तेन॑।
अ॒स्मे धे॑हि॒ यव॑म॒द् गोम॑दिन्द्र कृ॒धी धियं॑ जरि॒त्रे वाज॑रत्नाम् ॥७॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! आत्मन्! (यः) जो तेरा (शम्बः) शान्ति का साधन, तप या शत्रुशमन करने का साधन वज्र, वीर्य है, हे (पुरुहूत) बहुतों से स्तुति किये हुए! तू (तेन) उसके बल पर (शत्रुम्)

शत्रु को (आरात् दूरम्) दूर ही दूर से (अप बाधस्व) पीड़ित कर । (अस्मै) इमें (यवमत्) अन्न और (गोमत्) पशुओं से सम्पन्न ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान कर । और (जरित्रे) विद्वान् स्तुतिकर्त्ता पुरुष को (वाजरत्नाम्) वीर्य और ज्ञान से अति रमणीय (धियं) धारणाशक्ति, बुद्धि और क्रिया शक्ति को (कृधि) उत्पन्न कर ।

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन् तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम् ।
नाहं दामानं मघवा नि यंसन् नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥८॥

भा०—(यम्) जिस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् आत्मा के (अन्तः) भीतर ही भीतर (वृषसवासः) बलवान् प्राणों द्वारा उत्पन्न, (बहुलान्तासः) प्रभूत बल और सत्यज्ञान को धारण करने वाले (तीव्राः) तीव्र अति प्रबल स्वरूप में (सोमाः) ब्रह्मानन्दरस (प्र अग्मन्) प्राप्त होते हैं । वह (मघवा) ऐश्वर्यवान् आत्मा (दामानं) उन रसों के देने वाले को क्या (नअह) कुछ भी नहीं (नियंसत्) देता ? नहीं, उसको तो वह (भूरि) बहुतसा (वामम्) सुन्दर ऐश्वर्य (नि वहति) प्रदान करता है ।

परमात्मा के पक्ष में—जिस परमेश्वर के भीतर उसके आश्रित (वृष-सवासः) बलवान् साधनों से उत्पन्न 'बहुल', अन्धकारमय मोह रात्रि का अन्त कर देने वाले (तीव्राः सोमरसाः) तीव्र, तपस्वी, ब्रह्मज्ञानी प्राप्त हैं क्या वह परमेश्वर (दामानं) आत्म समर्पण शील भक्त जीव को कुछ नहीं देता ? नहीं । वह उसको बहुत ऐश्वर्य देता है ।

राजा के पक्ष में—(वृषसवासः तीव्राः सोमाः) बलवान् पुरुषों से अभिषिक्त, तीव्र स्वभाव के राजा जिस महान् राजा के वश में हैं क्या वह महान् सम्राट् अपने समर्पण करने वाले आश्रित को कुछ नहीं देता ? नहीं, वह उसको बड़ा ऐश्वर्य देता है ।

उत ग्रहामतिदीवा जयाति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥९॥

भा०—(उत) और (अतिदीवा) अति द्यूत का व्यसनी (श्वघ्नी) जुआखोर (काले) मौके पर जिस प्रकार (कृतम् इव) 'कृत' नाम अक्ष को (विचिनोति) विशेष रूप से संग्रह कर रखता है । और (ग्रहाम्) अपने पासे पर आघात करने वाले अक्ष को जयाति जीत लेता है, उसी प्रकार (इन्द्रः) यह आत्मा भी (अतिदीवा) अति देदीप्त होकर (श्वघ्नी) कुत्ते के समान विषय तृष्णालु इन्द्रिय और मन को मारकर उनको वश करके (काले) यथावसर (कृतम्) अपने किये कर्मफल और सदाचार को (विचिनोति) विशेषरूप से संग्रह कर लेता है और (ग्रहाम्) विघ्नकारी उपद्रव को (जयाति) विजय कर लेता है । (यः) जो पुरुष (देवकामः) देवों, विद्वानों की कामना करता हुआ उनके निमित्त (धन) धन को (न रुणद्धि) नहीं रोकता (तं) उसको (इत्) ही वह (स्वधाभिः) अन्नों सहित (रायः) ऐश्वर्य (संसृजाति) प्रदान करता है ॥ का० ७।५०।६७॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥१०॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥११॥

भा०—(१०,११) इन दोनों की व्याख्या देखो का० २०।१७।१० ११॥ तथा का० ७।५०।७॥

[९०] राष्ट्रपालक, ईश्वर और विद्वान् ।

भरद्वाज ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥

भा०—(यः) जो (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी और द्यौ और ब्रह्माण्ड का पालक (अद्रिभित्) मेघों के आवरण के दूर करने वाले वायु के समान अद्रि, नदीर्ण होने वाले, दुर्भेद्य, जन्ममरण के बन्धन या अज्ञान का नाशक (ऋतावा) जल से पूर्ण (आङ्गिरसः) अंग २ में व्यापक प्राण के समान जगत् के समस्त देदीप्यमान लोकों में रस या परमबल रूप से विद्यमान (हविष्मान्) शक्तिशाली (द्विबर्हज्मा) आकाश के समान दोनों लोक पृथिवी और आकाश में शत्रु और मित्र दोनों में व्यापक अथवा ज्ञान कर्म दोनों में प्रविष्ट सूर्य के समान (प्राघर्मसत्) सर्वोत्कृष्ट तेजः स्वरूप में विद्यमान (पिता) सबके पालक मेघ के समान (वृषभः) समस्त सुखों का वर्षक (नः) हमें (रोदसी) सर्वत्र विश्व में (आरोरवीति) गर्जन करता और ज्ञान का उपदेश करता है।

जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रूंरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥२॥

भा०—(यः) जो (बृहस्पतिः) बड़े भारी राष्ट्र का पालक या जगत् का पालक, राजा या परमेश्वर या वाणी का पालक विद्वान् (ईवते) आने वाले (जनाय) मनुष्यों के लिये (देवहूतौ) यज्ञ में देवों की आहुति स्थान या प्राणायतन देह में (लोकं चकार) उत्पन्न हुए जीवों का निवासस्थान बनाता है। और (यः) जो (वृत्राणि) आवरणकारी, मोहजन्य अज्ञानों को (घ्नन्) नाश करता हुआ (पुरः) संवत्सर रूप पुरियों को या देहबन्धनों को (वि दर्दरीति) विविध उपायों से वीर सेनापति के समान तोड़ता है। वह (शत्रून्) शत्रुओं को (जयन्) विजय करता हुआ और (अमित्रान्) मित्रों से विपरीत शत्रुपक्ष के अन्य सहायकों को भी (पृत्सु) संग्रामों में (साहन्) पराजित करे।

बृह॒स्पतिः॒ सम॑जय॒द् वसू॑नि म॒हो व्र॒जान् गोम॑तो दे॒व ए॒षः ।
अ॒पः सिषा॑स॒न्त्स्व॑१॒रप्र॑तीतो॒ बृह॒स्पति॒र्हन्त्य॒मित्र॑म॒र्कैः ॥२॥

भा०—(बृहस्पतिः) बड़े भारी राष्ट्र का पालक राजा (वसूनि) ऐश्वर्यों को (सम् अजयत्) विजय करता है । और (गोमतः) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (महः व्रजान्) बड़े भारी समूहों को (एषः देवः) वह विजयी (सम् अजयत्) विजय करता है । वह स्वयं (अप्रतीतः) किसी से भी विरोध द्वारा रोका न जाकर (स्वः) सुखमय (अपः) समस्त राष्ट्र के कार्यों को (सिषासन्) विभक्त करने की इच्छा करता हुआ (अमित्रम्) प्रजा के शत्रु को (अर्कैः) अपने शासनों से (हन्ति) विनष्ट करता है ।

अध्यात्म में—(एषः देवः) विजयी, योगी, बड़ी शक्ति का पालक होकर बहुतसे ऐश्वर्यों और इन्द्रियों से युक्त देहों पर वश करता है । (स्वः अपः) सुखोत्पादक ज्ञानमयी बुद्धियों का सेवन करता हुआ (अप्रतीतः) बे रोक टोक होकर (अर्कैः) ज्ञान-किरणों से या स्तुतियों द्वारा (अमित्रम्) विरोधी द्वेष भाव या अज्ञान को नाश करता है ।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[९१] विद्वान्, राजा ईश्वर ।

अयास्य आङ्गिरस ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

इ॒मां धियं॑ स॒प्तशी॑र्ष्णीं पि॒ता न॑ ऋ॒तप्र॑जातां बृह॒तीम॑विन्दत् ।
तु॒रीयं॑ स्विज्जनयद् वि॒श्वज॑न्यो॒ऽयास्य॑ उ॒क्थमिन्द्रा॑य॒ शंस॑न् ॥१॥

ऋ० १० । ६७ । १ ॥

भा०—(नः) हमारा (पिता) पालक परमेश्वर (ऋत-प्रजाताम्) इस समस्त ऋत, संसार को उत्पन्न करने वाली और महान यज्ञ को सम्पादन करने वाली, (सप्तशीर्ष्णीम्) सात प्राण अपान आदि शिर वाली, या सात छन्दों वाली अथवा शिरोगत सात प्राण रूप शिर वाली (बृहतीम्) बड़ी भारी (इमां धियम्) इस धारण करने वाली चित् रूप शक्ति या कर्मशक्ति को (अविन्दत्) प्राप्त किये रहता है और वही परमेश्वर (विश्वजन्यः) समस्त जनों का हितकारी एवं सर्वव्यापक (तुरीयं चित्) तुरीय मोक्षपद को भी (जनयत्) उत्पन्न करता है और वही (अयास्यः) प्रयत्न रहित, निश्चेष्ट एवं निष्क्रिय या कभी न थकने वाला या मुख्य परमेश्वर (इन्द्राय) साक्षात् द्रष्टा जीव को (उक्थम्) ज्ञानोपदेश (शंसन्) करता है ।

अध्यात्म में—(नः पिता) हमारा पालक मुख्य प्राण, आत्मा, (ऋत-प्रजातां) सत्य ज्ञान को उत्पन्न करने एवं जीवन की जनक (सप्तशीर्ष्णी धियं) सात प्राणों रूप शिर वाली इस देह धारण में समर्थ (बृहतीम्) बड़ी भारी शक्ति को (अविन्दत्) प्राप्त करता है । वही (तुरीयं स्वित् जनयत्) चतुर्थ दशा जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति इनसे भी उत्कृष्ट 'अमात्र' उन्मनी दशा को उत्पन्न करता है और वही (अयास्यः) मुख्य आत्मा (इन्द्राय) इन्द्र, परमेश्वर या प्राण को (उक्थम् शंसन्) स्तुति या आज्ञा करता है ।

ऋतं शंसंन्त ऋजु दीध्यांना दिवस्पुत्रासो असुंरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधांना यज्ञस्य धामं प्रथमं मंनन्त ॥ २ ॥

भा०—(असुरस्य) 'असु' समस्त संसार के प्रेरक बल में रमण करने वाले (दिवः) तेजोमय, सूर्य के समान, तेजस्वी, परमेश्वर के (पुत्रासः) मानो पुत्र के समान उसी से उत्पन्न (वीराः) वीर्यवान् महान्

सामर्थ्यवान् विद्वान् लोग (ऋतम्) उस सत्य ज्ञान का (शंसन्तः) उप-देश करते हुए, उसी की स्तुति करते हुए (ऋजु) नित्य कल्याणमय स्वरूप का (दीध्यानाः) ध्यान करते हुए और स्वयं (विप्रम्) विविध ज्ञानों से पूर्ण (पदम्) ज्ञानगम्य, प्राप्तव्य परमपद को (दधानाः) धारण करते हुए उसका अभ्यास करते हुए (आङ्गिरसः) अग्नि के अङ्गिरों के समान तेजस्वी ज्ञानी विद्वान पुरुष (यज्ञस्य) उस सब में पूजनीय उपास्य परमेश्वर के (धाम) धारण सामर्थ्य एवं तेज को (प्रथमं) सर्व श्रेष्ठ रूप से (मनन्त) मनन करते या उसका अभ्यास करते हैं।

हुंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन् ।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदुद् गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अंगायत् ॥३॥

भा० —(बृहस्पतिः) वह बृहती महती शक्ति का पालक परमेश्वर ही (वावदद्भिः) निरन्तर आलाप करने वाले (सखिभिः) मित्रों के समान उसीसे नित्य आपण करने वाले (हंसैः) परमहंसों के साथ उन द्वारा (अश्मनमयानि) पत्थर के समान दृढ़ एवं व्यापक, तामस भोग वासनाओं के बने (नहना) आत्मा को बांधने वाले कर्म बन्धनों को (वि-अस्यन्) विविध प्रकार से तोड़ता फोड़ता है। (उत) और वह (गाः) ज्ञान वाणियों का (अभि कनिक्रदत्) साक्षात् उच्चारण करता है अथवा ज्ञान रश्मियों का साक्षात् दर्शन करता है। और वह (विद्वान्) परमपद को लाभ करने हारा ज्ञानवान् विद्वान् होकर (प्र अस्तौत्) परमे-श्वर के पद की यथार्थ स्तुति करता है। और (उत् अगायत् च) उत्तम एवं उच्चस्वर से गान करता है। अथवा—(बृहस्पतिः) बड़ी भारी आत्मशक्ति का पालक पति, ज्ञानी (सखिभिः हंसैः इव) परमहंस मित्रों के समान (वावदद्भिः) आलाप करने एवं संवाद द्वारा उपदेश करने वाले सद्गुरुओं से अपने (अश्मन्मयानि नहना) शिला से बने कठोर कारागार-बन्धनों के समान भोगमय बन्धनों को (व्यस्यन्) विशेष रूप से काटता हुआ (गाः

किरणों या ज्ञान-वाणियों को (अभि कनिक्रदत्) साक्षात् कराता है। और (विद्वान्) स्वयं ज्ञानी होकर (प्र अस्तौत् उत् अगायत् च) उसकी स्तुति करता और गान करता है।

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥४॥
ऋ० १० । ६७ । ४ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी एवं बृहती द्यौ, पृथिवियों और जगत् की सृष्टि स्थिति संहारकारिणी महती शक्तियों का स्वामी या विद्वान् पुरुष (द्वाभ्यां परः) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों से परे (अवः) नीचे भीतर (गुहा) गुहा रूप हृदय में (तिष्ठन्तीः) विद्यमान (गाः) वेदवाणियों या ज्ञान-रश्मियों को (अनृतस्य) अव्यक्त संसार या जड़ या प्रकृति के (सेतौ) बांधने वाले (तमसि) तमोगुण में (ज्योतिः) अन्धकार में प्रकाश के समान तेजःस्वरूप सत्वमय ज्ञान की (इच्छन्) कामना करता हुआ (तिस्रः) तीनों प्रकार की (उस्राः) ज्ञानमय, कर्म-मय, गानमय अर्थात् ऋग्, यजुः, साम तीनों प्रकार की वेद-विद्याओं को (उत् आ अकः) प्रकट करता है और (तिस्रः) तीनों को (वि आवः) विविध प्रकार से प्रकट करता है।

अध्यात्म में—(अवः द्वाभ्यां परः) नीचे के दो द्वारों या वाणी या मन से परे (एकया) एकमात्र केवली चितिशक्ति रूप से (गुहा तिष्ठन्तीः) हृदय गुहा में या गुप्त आत्मा में स्थित (गाः) ज्ञान-ज्योतियों को (अनृतस्य) अनृत, असत् या मिथ्याज्ञान के (सेतौ) बांधने वाले (तमसि) अन्धकार रूप तामस आवरण में (ज्योतिः इच्छन्) ज्योति, ब्रह्मज्ञान को चाहता हुआ योगी (उस्राः) ऊर्ध्व, ब्रह्माण्ड, मस्तक में प्रकट रश्मियों को (उत् आवः) प्रकट करता है और (तिस्रः) तीनों द्वारों गुदा, हृदय और ब्रह्मरन्ध्र या अधिष्ठान, मणिपूर और ब्रह्मरन्ध्र तीनों को (वि आवः) खोल लेता है।

विभिद्या पुरं शयथेमपांचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥५॥
ऋ० १० । ६७ । ५ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहती आत्मशक्ति का पालक योगी (शयथा) शयन या सुषुप्ति रूप में विद्यमान समस्त बाह्य प्राणों के भीतरी आत्मा में अप्यय या विलयन के अभ्यास द्वारा (अपाचीन्) अधोमुखी (पुरं) शत्रु के गढ़ के समान देहगत चित्-पुरी को (विभिद्य) भेदकर (उदधेः) जीवनरूप अमृत के धारण करने वाले मेघ के समान सुखवर्षक या रस-सागर के समान धर्ममेघ समाधि के बल से (त्रीणि) शेष तीन द्वारों को भी (नि अकृन्तत्) सर्वथा काट देता है। और तब (उषसम्) अज्ञान, पाप और कर्मजाल के दहन करने वाली विशोका प्रज्ञा और (गाम्) ज्ञानमयी वाणी और (अर्कम्) अर्चनीय (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी विशुद्ध आत्मस्वरूप को (स्तनयन् द्यौः इव) मेघ की गर्जना से गर्जते हुए आकाश के समान भीतरी नाद से गर्जता, स्वयं प्रकाशमय होकर (विवेद) साक्षात् करता है।

इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण ।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत् पणिमा गा अमुष्णात् ॥६॥
ऋ० १० । ६७ । ६ ॥

भा०—(इन्द्रः) योगज विभूतिमान् योगी (दुघानां) ब्रह्मरस को दोहन करने वाली प्रकाश धाराओं को (रक्षितारं) रोक रखने वाले (वलं) तामस आवरण को (करेण इव) 'कर' अर्थात् करपत्र हिंसा साधन शस्त्र से जैसे शत्रु के देह को काट डाला जाता है और जिस प्रकार किरण से अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार (रवेण) भीतरी नाद रूप रव से (विचकर्त) विनष्ट करता है और वह योगी ही पुनः (स्वेदाञ्जिभिः) स्वेदों को

प्रकट करने वाले प्राणों के आयमन रूप तपों द्वारा (आशिरम्) परमानन्द रस को (इच्छमानः) प्राप्त करना चाहता हुआ (पणिम्) देह में नाना व्यापार करने हारे प्राण को ही (आरोदयत्) दमन करता है । और तब (गाः) आत्मप्रकाश की ज्ञान-धाराओं या किरणों को (अमुष्णात्) प्राप्त करता है ।

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः ।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ६७ । ७ ॥

भा०—(सः) वह ज्ञानवान्, निष्ठ योगी (सत्येभिः) बलवान्, सत्योपदेष्टा (सखिभिः) अपने मित्र, (शुचद्भिः) दीप्तिमान् तेजस्वी (धन-सैः) ज्ञान धन के प्रदान करने वाले गुरुओं से जिस प्रकार शिष्य (गो-धायसं) ज्ञान-वाणियों को रोक रखने वाले अज्ञान को नाश करता है उसी प्रकार वह योगी भी (सत्येभिः) बलवान्, सत्ववान् (सखिभिः) मित्र के समान सदा साथ विद्यमान, अनुकूलगति वाले (शुचद्भिः) देह को शोधन करने वाले, मलदाहक (धनसैः) बल और ज्ञानप्रद प्राणों के बल से (ईम्) उस (गोधायसम्) प्रकाश के रोकने वाले अज्ञान-आवरण को (वि अदर्दः) विशेषरूप से नष्ट करता है । और (घर्म-स्वेदेभिः) पसीना बहाने वाले (वृषभिः) बलवान् या आनन्द वर्षक, (वराहैः) सु आहृत, उत्तमरूप से वशीकृत, प्रत्याहार द्वारा दमन किये गये प्रबल प्राणों द्वारा (द्रविणम्) अति द्रुतगति वाले मन को भी (वि आनट्) विशेष रूप से वश करता है ।

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः ।
बृहस्पतिर्मिथो अवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ६७ । ८ ॥

भा०—(ते) वे प्राणगण (सत्येन मनसा) सत्य ज्ञान से युक्त एवं सात्विक बल से युक्त मन से, मनके बल से प्रेरित होकर (गोपतिम्) ज्ञान वाणियों, प्रकाश-किरणों और इन्द्रियों के पति आत्मा को (इयानासः) प्राप्त होकर, उसके वश होकर (धीभिः) अपने धारण और ध्यान के सामर्थ्यों या कर्मों या क्रिया सामर्थ्यों द्वारा (गाः) उन ज्ञान-रश्मियों को (इष्णायन्तः) प्रकट और प्रेरित करते रहते हैं। और (बृहस्पतिः) वह महती आत्मशक्ति का पालक योगी (मिथः) परस्पर एक दूसरे को (अवद्यपेभिः) गर्हणीय या निन्दनीय आचरण से रक्षा करने वाले (स्वयुग्भिः) स्वतः समाहित होकर योग करने वाले विद्वानों के समान (अवद्यपेभिः) निन्दित विषय भोगों से रक्षा करते हुए (स्वयुग्भिः) स्व=आत्मा में स्वयं समाहित या स्थिर हुए प्राणगणों से (उस्रियाः) ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड में सर्पण करने वाली आनन्दरस धाराओं को (उत् असृजत) प्रकट करते हैं।

ते व॒र्धय॑न्तो म॒तिभि॑: शि॒वाभि॑: सिं॒हमि॑व॒ नान॑दतं स॒धस्थे॑ ।
बृह॒स्पति॒ वृष॑णं॒ शूर॑सातौ॒ भरे॑भरे॒ अनु॑ मदेम जि॒ष्णुम् ॥६॥
ऋ० १० । ६७ । ९ ॥

भा०—(तम्) उस (बृहस्पतिम्) बड़ी आत्मशक्ति के पति, पालक विद्वान् (सिंहम् इव) वन में सिंह के समान (सधस्थे) इन्द्रियों के संघ में (नानदतम्) भीतरी प्राणरूप से नाद करने हारे (वृषणं) बलवान्, आनन्दवर्धक, (शूरसातौ) वीर पुरुषों द्वारा प्राप्त (भरेभरे) प्रत्येक संग्राम में सेनापति के समान विजयी (बृहस्पतिम्) बड़ी सेना के पति राजा के समान, (जिष्णुम्) विषय शत्रुओं पर वश करने हारे योगी आत्मा को (भरेभरे) प्रत्येक यज्ञ में (शिवाभिः) कल्याणमय (मतिभिः) स्तुतियों से (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए हम (अनुमदेम) स्वयं भी आनन्द प्रसन्न होकर रहें।

यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म ।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥१०॥
ऋ० १० । ६७ । १० ॥

भा०—(यदा) जब बृहस्पति, महान् राष्ट्र का स्वामी या विद्वान् पुरुष (विश्वरूपम्) सब प्रकार के (वाजम्) ऐश्वर्य या ज्ञानी को (असनत्) प्राप्त कर लेता है और (द्याम्) ज्ञान की उत्तम कोटि, राजसभा और, (उत्तराणि) उत्कृष्ट (सद्म) स्थानों या पदों को (आ अरुक्षत्) प्राप्त होता है तब (वृषणम्) बलवान् (बृहस्पतिम्) बड़े राष्ट्र के पालक एवं वेद के विद्वान को (आसा) मुखसे (ज्योतिः बिभ्रतः) तेज और प्रकाश के धारण करने वाले (सन्तः) सज्जन पुरुष स्तुति द्वारा (नाना वर्धयन्तः) नाना प्रकार से उसकी वृद्धि करते हैं । उसका गुणानुवाद करते हैं ।

योगी के पक्ष में—वह जब (विश्वरूपम् वाजम्) परमेश्वरीय वाज बल, ज्ञान या विभूति को प्राप्त कर लेता है और मोक्ष और उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त कर लेता है तब उसके (आसा ज्योतिः बिभ्रतः) मुख द्वारा या उपदेश द्वारा ज्ञान ज्योति को धारण करने वाले सत्पुरुष नाना प्रकार से उसके गुणानुवाद करते हैं ।

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः ।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद् रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥११
ऋ० १० । ६७ । ११ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (वयोधै) दीर्घ आयु के धारण करने के निमित्त (सत्याम्) सत्य, यथार्थ (आशिषं) आशीर्वाद (कृणुत) प्रदान करो । आप लोग (स्वेभिः) अपने (एवैः) ज्ञानों द्वारा (कीरिं-चित्) अपने स्तुतिकर्ता, भक्त प्रेमी को सदा (अवथ) रक्षा करते हो । (विश्वाः मृधः) समस्त हिंसाजनक दुःखदायिनी विपत्तियां (पश्चा) पीछे

(अप भवन्तु) दूर हों। हे (रोदसी) स्त्री पुरुषो ! द्यौ और पृथिवी के समान परस्परोपकारक गुरु और शिष्यो ! आप दोनों (विश्वम् इन्वे) समस्त संसार को ज्ञानों प्राणों अन्नों द्वारा तृप्त करने वाले होकर (तत्) हमारे हितकर वेद के वचन को (शृणुतम्) श्रवण करो, कराओ।

इन्द्रो॑ म॒ह्ना म॑ह॒तो अ॑र्ण॒वस्य॒ वि मू॒र्धान॑मभिनदर्बु॒दस्य॑ ।
अह॒न्नहि॒मरि॑णात् स॒प्त सिन्धू॑न् दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥१२॥

ऋ० १० । ६७ । १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् या मेघ के जल को नीचे बहा देने में समर्थ प्रबल वायु या विद्युत् जिस प्रकार (महतः अर्णवस्य) बड़े भारी समुद्र के समान (अर्बुदस्य) जलद मेघ के (मूर्धानम् अभिनत्) शिर के समान मुख्य अंग, जल को (वि अभिनत्) विविध प्रकार से छिन्न भिन्न करता है और (अहिम् अहन्) मेघ को आघात करता और (सप्त)-सर्पण करने वाले, बहने वाले (सिन्धून्) जल धाराओं को (अरिणात्) बहा देता है उसी प्रकार (इन्द्रः) ज्ञानैश्वर्यवान्, अज्ञान का नाशक आचार्य विद्वान्, परमगुरु और आत्मा (महतः) बड़े भारी (अर्बुदस्य) मेघ के समान आनन्दरस वर्षण करने में समर्थ (अर्णवस्य) सागर के समान विशाल गम्भीर आत्मा के (मूर्धानम्) अधिष्ठित देह के मूर्धा भाग को, सूर्यचक्र को (अभिनत्) प्राणशक्ति द्वारा भेदन करता है (अहिम् अहन्) मान को नाश करता (सप्त सिन्धून्) सात, गतिशील शीर्षगत प्राणों को प्रेरित करता है। हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! स्त्री पुरुषो ! या गुरु शिष्यो ! आप लोग (नः) हमें (देवैः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (प्र अवतम्) अच्छी प्रकार रक्षा करो। अध्यात्म में—हे (द्यावापृथिवी) प्राण और उदान तुम दोनों (देवैः) गतिशील प्राणों द्वारा (नः) हमारी (प्र अवतम्) रक्षा करो।

[१२] ईश्वर स्तुति ।

१–१२ प्रियमेधः, १६–२१ पुरुहन्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १–३ गायत्र्यः । ८, १३, १७, २१, १९, पंक्तयः । १४–१६, १८, २० बृहत्यः । शेषा अनुष्टुभः । एकविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६९ । ४ ॥

भा०—(सत्यस्य सूनुं) सत्य के उत्पादक, प्रवर्त्तक (सत्पतिम्) सज्जनों के पालक (गोपतिम्) इन्द्रियों, भूमियों वेदवाणियों और समस्त लोकों के स्वामी (इन्द्रम्) विद्वान्, आचार्य, राजा परमेश्वर की (अभि प्र अर्च) साक्षात् पूजा, सत्कार और उपासना कर (यथा विदे) जिससे यथावत् ज्ञान प्राप्त हो ।

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।
यत्राभि संनवामहे ॥ २ ॥

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।
यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३ ॥

भा०—(१–३) तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो (अथर्व का० २० । २२ । ४—६)

उद् यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि ।
मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥४॥ ऋ० ८।६९।७॥

भा०—(यत्) जब (इन्द्रः च) मैं और विभूतिमान् परम=आत्मा हम दोनों (ब्रध्नस्य) सर्वाश्रय इस महान् परमेश्वर के मोक्षमय (विष्टपं गृहम्) विविध तपस्याओं से युक्त अथवा आविष्ट या उपविष्ट पुरुष की रक्षा करने वाले शरण को (उत् गन्वहि) प्राप्त होते हैं तब वहां (त्रिः सप्त)

इक्कीसवें, परम आदित्यस्वरूप, तेजोमय (सख्युः) सखा, मित्र, परमेश्वर के (पदे) ज्ञानमय वेद्य रूप में स्थित होकर (मध्वः) आनन्दरस का (पीत्वा) पान करके (सचेवहि) परस्पर संगत होते हैं।

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥ ५ ॥ ऋ० ८।६९।८ ॥

भा०—हे (प्रियमेधासः) यज्ञ को या पवित्र आत्मा को या मेघ अर्थात् अन्न को प्रिय रूप से प्राप्त करने वाले साधक पुरुषो ! आप लोग उस परमेश्वर की (अर्चत) अर्चना करो (प्र अर्चत) खूब उपासना करो। (अर्चत) नित्य उपासना किया करो। हे (पुत्रकाः) पुरुष, आत्मा का नरक से त्राण चाहने वाले पुत्रो ! (उत) और तुम लोग (पुरं न) दुर्ग के समान (धृष्णु) शत्रु का धर्षण करने वाले उस परमेश्वर के अखण्ड रूप की (अर्चन्तु) उपासना करो, और (अर्चत) नित्य उपासना करो।

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥ ६ ॥ ऋ०८।६९।९॥

भा०—(गर्गरः) शब्द करने वाले स्तुति वाचक के समान कण्ठ या कण्ठगत प्राण या प्रवक्ता गुरु (इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (उद्यतम्) सर्वोत्कृष्ट (ब्रह्म) वेदवचन को (अव स्वराति) बोले, उपदेश करे। (गोधा) वाणी के धारण करने वाली स्त्री एवं इन्द्रियों को धारण करने वाली मनः शक्ति उसी को (परि सनिष्वणत्) सर्वत्र वीणा के समान उपदेश करे, गुने। (पिङ्गा) मधुर ध्वनि करने वाली वाणी, उसी का सर्वत्र (परि चनिष्कदत्) उच्चारण करे।

आ यत् पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः ।
अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे ॥ ७ ॥ ऋ०८।६९।१०॥

भा०—(सुदुघाः) उत्तम रीति से दूध देने वाली और (अनपस्फुरः) न चौंकने वाली, अपीड़ित (एनाः) शुभ्र गौओं के समान या (सुदुघाः) उत्तम जल से पूर्ण (अनपस्फुरः एन्यः) निश्चल, प्रशान्त नदियों या जलधाराओं के समान (यत्) जब भीतर ब्रह्मरस की धाराएं (आ पतन्ति) प्राप्त होजाती हैं तब हे विद्वान् योगाभ्यासी पुरुषो ! तुम लोग (इन्द्राय) आत्मा के (अपस्फुरम्) स्थिर, चंचलतारहित, अविक्षुब्ध, अविच्छिन्न (सोमम्) आनन्दरस को (पातवे) पान करने के लिये (गृभायत) उस को ग्रहण करो, उसका साक्षात् करो।

अपादिन्द्रो अपादुग्निर्विश्वे देवा अमत्सत ।
वरुण इदिह क्षयत् तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव ॥८॥
ऋ० ८ । ६९ । ११ ॥

भा०—(संशिश्वरीः) गौएं (वत्सम् इव) बछड़े को देखकर जिस प्रकार हंभारती हैं उसी प्रकार (तम् अभि) उस आत्मा को लक्ष्य करके (आपः) समस्त प्राण एवं समस्त 'आप्त' या ब्रह्मपद प्राप्त विद्वान् एवं समस्त ज्ञान वाणी और कर्मपद्धतियां भी (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं। (इन्द्रः अपात्) इन्द्र जीवात्मा उसी के रस का पान करता है (अग्निः अपात्) सबके अग्रणी ज्ञानी पुरुष या मुख्य प्राण भी उसी का पान करता है। (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्-गण एवं विषयों में क्रीड़ाशील इन्द्रियगण उसी में तृप्त होते हैं । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ वरण योग्य, आत्मा या अध्यात्म में अपान भी (इह क्षयत्) इसी में स्थिर निवास करता है।

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥९॥ ऋ० ८।६९।१२॥

भा०—हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ आत्मन् ! तू (सुदेवः असि) सर्वश्रेष्ठ, देव एवं उत्तम सुख और कल्याण का देनेहारा (असि) है। (यस्य

ते) जिस तेरे (सप्त सिन्धवः) सर्पणशील महानदों के समान सातों शिरोगत प्राण (सुर्म्यम्) उत्तम धारायुक्त (सुषिराम् इव) एक धारा के समान एक स्रोत को प्राप्त होकर (काकुदम्) तालु के प्रति (अनुक्षरन्ति) प्रवाहित होते हैं । योगाभ्यासी के सातों प्राणों का रस तालु से अमृतरूप से द्रवित होता है । मानो सात धाराएं एक धार होकर बहती हैं ।

अथवा—(सुषिराम् सूर्म्यम् इव) छेदवाली ज्वलनशील बारूद की भरी नालिका के समान फूटते हैं ।

यो व्यतीँरफाणयुत् सुयुक्ताँ उप दाशुषे ।
तुक्षो नेता तदिद् वपुरुपमा यो अमुच्यत ॥ १० ॥ ऋ०८।६९।१३॥

भा०—(यः) जो योगाभ्यासी पुरुष (व्यतीन्) विविध विषयों में जाने वाले (सु युक्तान्) उत्तम रीति से सन्मार्ग में लगाये गये, इन्द्रिय रूप प्राणों को (दाशुषे उप) यज्ञशील आत्मा के निमित्त उसी को प्राप्त करने के लिये (उप अफाणयत्) उसके प्रति पहुंचाता है उनको वशकर भीतर की तरफ ही एकाग्र कर लेता है वह (तक्षः) कृच्छ्र तपस्वी (नेता) नायक के समान (यः उपमा) जो उसका साक्षात् ज्ञान कर लेता है (तत् इत्) तब ही (वपुः अमुच्यत) इस शरीर बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

अतीदु शुक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ।
भिनत् कुनीनं ओदुनं पुच्यमानं पुरो गिरा ॥ ११ ॥ ऋ०८।६९।१४॥

भा०—(इन्द्रः) वह आत्मा या योगाभ्यासी पुरुष (शक्रः) शक्तिमान्, राजा के समान (विश्वाः द्विषः) समस्त शत्रुओं को (अति) अतिक्रमण करके (अति इत्) समस्त दुःखों के पार ही (ओहते) पहुंचा देता है । और वह (कनीनः) अति कमनीय, अति सुन्दर, पुरुष, कान्तिमान्, (परः) समस्त इन्द्रियगण और मन से भी परे विद्यमान रहकर (पच्यमानम्

ओदनम्) परिपक्व होने वाले भात के समान, भोग्य ब्रह्मरूप बल को अथवा (परः पच्यमानं ओदनं) परम स्थान पर परिपक्व होते हुए तेज को (गिरा) स्तुति द्वारा या उपदेश द्वारा या ओंकार-रूप नाद द्वारा (भिनत्) भेद लेता है, उसे प्राप्त होजाता है ।

अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम् ।
स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम् ॥ १२ ॥ ऋ० ८।६९।१५॥

भा०—(पित्रे मात्रे) मा बाप के लिये (अर्भकः) बच्चा (कुमारकः न) नया कुमार जिस प्रकार नये रथ पर चढ़कर जंगल में वीरता से जाता और मृग और महिषको पकड़ कर लाता और मा बाप के हर्ष का हेतु होता है उसी प्रकार वह योगाभ्यासी भी (अर्भकः) अति सूक्ष्म शरीर होकर (नवं रथं तिष्ठन्) नये रथ, देह पर आरूढ़ होकर (सः) वह (विभुक्रतुम्) बड़े व्यापक ज्ञान और कर्म से युक्त महान् (मृगं) अति पवित्र एव सबसे खोजने योग्य (महिषं) महान् दानी परमेश्वर को (पित्रे मात्रे) पिता माता के पद पर (पक्षत्) स्वीकार कर लेता है ।

∴ पक्षपरिग्रहे । भ्वादिः ।

आ तू सुशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम् । अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम् ॥ १३ ॥ ऋ० ८।६९।१६॥

भा०—हे (सुशिप्र) उत्तम बलशालिन् ! हे (दम्पते) के समान समस्त सुखों के उत्पादक प्रकृति के स्वामिन् ! चिति शक्ति या बुद्धि के स्वामिन् ! आत्मन् ! तू (हिरण्ययम्) ...ति के समान सुवर्ण के समान तेजोमय कान्तिमान् (...), या परम रमणीय रस रूप परब्रह्म का (आतिष्ठ) आश्रय ... पर आरूढ़ हो । (अध) उसके बाद हम दोनों जीव और परम... (सहस्रपादम्) सहस्रों पादों से युक्त (अरुषं) अति तेजो... (स्वस्तिगाम्) सुखमय,

कल्याणमय सत्ता या स्थिति मोक्षपद को प्राप्त कराने वाले (अनेहसम्) पाप रहित या राजस कर्म में प्रवृत्ति रहित (शुभ्रम्) अतितेजोमय उस परमपद को (सचेवहि) प्राप्त करें।

'सहस्रपादम्' विशेषण से 'रथ' शब्द रस स्वरूप परब्रह्म का वाचक है 'सहस्राक्षः सहस्रपात्'। इसी का आगे भी वर्णन करते हैं।

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते। अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति दावने ॥ १४ ॥ ऋ० ८। ६९। १७ ॥

भा०—(अस्य) इसके (सुधितम्) उत्तम रूप से सुरक्षित (अर्थम्) प्राप्य, परम कोश, आनन्दमय धन या परम पुरुषार्थ को (एतवे) पहुंचने के लिये उपासक लोग (दावने) आत्म समर्पण के निमित्त (यत्) जब जब (आवर्तयन्ति) पुनः २ ज्ञान और कर्म का अभ्यास करते हैं तब २ ही (नमस्विनः) नमस्कार करने वाले, उपासक जन (तं घ) उस (स्वराजम्) स्वतः प्रकाशमान परमेश्वर की ही (इत्था) इस प्रकार सत्य रूप में तब २ (उप आसते) उपासना करते हैं।

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम्।
पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत ॥१५॥ ऋ०८।६९।१८

भा०—(प्रियमेधासः) पवित्र ब्रह्मज्ञान के प्रिय, (हित-प्रयसः) ज्ञान को प्राप्त कर लेने वाले (पूर्वाम् प्रयतिम् अनु) अपने पूर्व जन्म के किये उत्कृष्ट यत्न के अनुकूल (वृक्तबर्हिषः) यज्ञ में जिस प्रकार कुशादि
ये जाते हैं उसी प्रकार अध्यात्म यज्ञ के लिये प्राणों का आयमन
मान्, राज.
ते विद्वान् साधक जन (एषाम्) इन में जीव के रहने योग्य
अनय करके (
पं से सबसे (प्रत्नस्य ओकसः) पुरातन, मुख्य स्थान या
और वह (कनीनः)
ने ही (अनु आशत) निरन्तर उपभोग करते, उसमें
(परः) समस्त इन्द्रियगण अ.

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे॥१६॥ ऋ०८।७०।१

भा०—(यः) जो (चर्षणीनां राजा) मनुष्यों के बीच में राजा के समान (चर्षणीनां) दर्शनशील इन्द्रियों के बीच (राजा) स्वयं ज्ञान से प्रकाशित एवं उनका प्रकाशक है। (अध्रिगुः) स्वयं अधृत, अस्थिर, चंचल इन्द्रियों से युक्त होकर भी (रथेभिः याता) रमणकारी नाना देहों से जीवन पथ पर यात्रा करने वाला (विश्वासाम्) समस्त (पृतनानां) शत्रु सेनाओं के विनाशक सेनाओं के (तरुता) नाशक सेनापति के समान समस्त आभ्यन्तर शत्रुरूप वासनाओं का नाशक और (ज्येष्ठः) स्वयं सबसे श्रेष्ठ और (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान का नाशक है उसका मैं (गृणे) स्तुति या उपदेश करता हूं।

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्यं द्विता विधर्तरि।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः॥१७॥
ऋ० ८। ७०। २॥

भा०—हे (पुरुहन्मन्) अति अधिक पदार्थों के जाननेहारे! बहुत कष्टों के नाशक विद्वन्! (यस्य) जिसके (विधर्त्तरि) विविध उपायों से धारण करने हारे स्वरूप में (अवसे) संसार के रक्षण के लिये (द्विता) निग्रह, अनुग्रह स्वरूप दो प्रकार हैं (तं) उस (इन्द्रं) इन्द्र के (शुम्भ) गुणों को वर्णन कर। और (यस्य वज्रः) जिसका वज्र, बलस्वरूप वीर्य (हस्ताय) दुष्टों का हनन करने के लिये (दिवे सूर्यः न) आकाश में प्रकाश के लिये सूर्य के समान (महः दर्शतः) बड़ा दर्शनीय (प्रति धायि) प्रत्येक पुरुष के लिये स्थित है।

नकिष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम्। इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्ण्वोजसम्॥१८॥ ऋ०८।७०।३॥

भा०—(यः) जो (सदा वृधम्) सदा शक्ति को बढ़ाने वाले, (वि-श्वगूर्त्तम्) सर्व स्तुत्य (ऋभ्वसन्) सत्य के बलसे बढ़ने वाले महान (धृष्णवोजसम्) धर्षणशील पराक्रम वाले (अषृष्टं) कभी भी न हारे हुए, सदा जयशील (इन्द्रम्) राजा के समान ऐश्वर्यवान् आत्मा को जो (चकार) साधता है (तम्) उसके पद को (नकिः) कोई भी न (कर्म-णा नशत्) कर्म या चेष्टा से ही प्राप्त करता है और (न यज्ञैः) न यज्ञों से ही कोई उसके पदतक पहुंचना है ।

अषाळ्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन् महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामौ अनोनवुः ॥१६॥
ऋ० ८ । ७० । ४ ॥

भा०—(यस्मिन् जायमाने) जिसके प्रकट होने पर (धेनवः) दुग्ध दोहन करने वाली गौओं के समान नाना ऐश्वर्य से राष्ट्र को पूर्ण करने वाली प्रजा जिस प्रकार (अषाल्हम्) उस पराक्रमी, (उग्रम्) भयङ्कर; सदा बलवान् , (पृतनासु सासहिम्) शत्रु-सेनाओं पर विजय करने वाले राजा की स्तुति करते हैं उसी प्रकार जिस परमेश्वर या आत्मा के प्रकट हो जाने पर (महीः द्यावः) बड़े २ तेजस्वी सूर्य के समान विद्वान् गण (मही क्षामः) बड़ी पृथिवीयां, उनके निवासीजन भी (उरुज्रयः) विशाल स्तु-तियों से युक्त होकर (अनोनवुः) नित्य स्तुति करते हैं ।

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥२०॥
आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रि चित्राभिरूतिभिः ॥२१॥

भा०—(२०, २१) दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० २० । ८१ । १ ॥ ऋ० ८ । ७० । ५, ६ ॥

[९३) ईश्वर स्तुति

१–३ प्रगाथः ऋषिः । ४–८ देवजामय इन्द्रमातरः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

उत् त्वा॑ मन्दन्तु॒ स्तोमा॑: कृणु॒ष्व राधो॑ अद्रिवः ।
अव॑ ब्रह्म॒द्विषो॑ जहि ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ५३ । १ ॥

भा०—हे (अद्रिवः) अखण्ड बलवीर्यवन् ! वज्रिन् ! (त्वा) तुझ को (स्तोमाः) स्तुतिसमूह और स्तुतिकर्ता जन (उत मन्दन्तु) हर्षित करें । तू (राधः कृणुष्व) अन्न और ज्ञान, भक्ति आदि ऐश्वर्य प्रदान कर । (ब्रह्मद्विषः) ब्रह्म, वेद और वेदज्ञ विद्वानों से द्वेष करने वाले पुरुषों को (जहि) नाश कर ।

प॒दा प॒णीँर॑रा॒धसो॒ नि बा॑धस्व म॒हाँ अ॑सि ।
न॒हि त्वा॒ कश्च॒न प्रति॑ ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ५३ । २ ॥

भा०—(अराधसः) ऐश्वर्य एवं आराधना आदि से रहित (पणीन्) केवल लोक व्यवहार में चतुर लोभी पुरुष को तू (पदा) पैर से (नि बाधस्व) पीड़ित कर । तू (महान् असि) सबसे महान् है (त्वा प्रति) तेरे मुकाबले पर (नहि कः चन) कोई भी नहीं है ।

त्वमी॑शिषे सु॒ताना॒मिन्द्र॒ त्वमसु॑तानाम् ।
त्वं राजा॒ जना॑नाम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ५३ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! (सुतानाम्) अभिषिक्त और (असुतानाम्) अनभिषिक्त सभी जनों का (ईशिषे) स्वामी है । तू (जनानाम्) समस्त उत्पन्न जनों का (राजा) राजा है ।

ई॒ङ्खय॑न्तीरप॒स्युव॒ इन्द्रं॑ जा॒तमुपा॑सते ।
भे॒जा॒नासः॑ सु॒वीर्य॑म् ॥ ऋ० १० । १५३ । १ ॥

भा०—(सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य का (भेजानासः) सेवन करती हुई (अपस्युवः) तदनुकूल आचरण करती हुई स्त्रियां जिस प्रकार (ईक्षय-न्तीः) पति आदि का संग लाभ करती हुई (जातम् उपासत) उत्पन्न सुन्दर पुत्र को प्राप्त करती हैं और जिस प्रकार (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य या पुरुष को (भेजानासः) आश्रय करती हुई (अपस्युवः) तदनुकूल कार्य करना या रक्षा चाहती हुई प्रजाएं (ईक्षयन्तीः) उसी के शरण जाती हुई प्रजाएं (जातं इन्द्रम्) प्रकट हुए, प्रत्यक्ष ऐश्वर्यवान् राजा का (उपासते) आश्रय लेती हैं उसी प्रकार (सुवीर्यम् भेजानासः) उत्तम वीर्यवान् परमबलस्वरूप परमेश्वर का (भेजानासः) भजन करती हुई (अपस्युवः) ज्ञान और कर्म का लाभ चाहती हुई (ईक्षयन्तीः) इस परमेश्वर की शरण में जाती हुई (जातम्) हृदय में प्रकट हुए (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (उपासते) उपासना करती हैं।

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं वृषन् वृषेदसि ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १५३ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) तू (बलात्) बल से अग्नि के समान (सहसः) शत्रु पराजित करने हारे सैन्यबल से विजेता के समान और (ओजसः) वीर्य एवं पराक्रम से राजा के समान अथवा पुत्र के समान (अधिजातः) और भी अधिक गुणवान वीर्यवान् और परा-क्रमी रूप में प्रकट होता है। हे (वृषन्) सुखों के वर्षक ! तू (वृषा इत् असि) साक्षात् मेघ के समान आनन्द घन होकर आनन्द की वर्षा करता है।

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यन्तरिक्षमतिरः।
उद् द्याम् अस्तभ्ना ओजसा ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १५३ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (वृत्रहा) वृत्र, आवरणकारी अन्धकार के नाशक सूर्य और मेघ के छिन्न भिन्न करने वाले वायु या विद्युत्

अथवा आवरणकारी शत्रु के नाशक वीर राजा के समान (असि) है । तू (अन्तरिक्षम्) उक्त सूर्य आदि के समान अन्तरिक्ष=हृदयाकाश को (वि अतिरः) विशेष रूप से व्याप लेता है और (ओजसा) अपने पराक्रम से (द्याम्) आकाश को सूर्य के समान या राजसभा को राजा के समान समस्त (द्याम्) तेजोमय शक्ति को (अस्तभ्नाः) धारण करता है ।

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः ।
वज्रं शिशान ओजसा ॥ ७ ॥ ऋ० १० । १५३ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (बाह्वोः अर्कम्) बाहुओं से जिस प्रकार वज्र को धारण किया जाता है उसी प्रकार जो (सजोषसम्) सेवनीय गुणों से युक्त (अर्कम्) अर्चनीय स्वरूप को तू (बाह्वोः) बाहु के समान अपने ज्ञान और कर्म के द्वारा (बिभर्षि) धारण करता है और (ओजसा) अपने वीर्य पराक्रम से (वज्रं शिशानः) ज्ञानरूप वज्र को और भी तीक्ष्ण करता है ।

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा ।
स विश्वा भुव आभवः ॥ ८ ॥ ऋ० १० । १५३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (ओजसा) अपने पराक्रम से (विश्वा जातानि) समस्त उत्पन्न लोकों में (अभिभूः) व्यापक, उनका वशीकर्ता है । (सः) वह परमेश्वर ही (विश्वा भुवः) समस्त पदार्थों के उत्पादक भूमियों को भी गौओं को वृष के समान उत्पादक रूप से (आभवः) सब प्रकार से प्राप्त है ।

[९४] राजा, आत्मा और परमेश्वर ।

आंगिरसः कृष्ण ऋषिः । १-३ १०, ११ त्रिष्टुभः । ४-९ जगत्यः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान्।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन ॥ १ ॥

[१-११] ऋ० १० । ४४ । १-११ ॥

भा०—(यः) जो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा ! राजा ! (धर्मणा) अपने धारण करने वाले सामर्थ्य से (तूतुजानः) सर्वत्र व्यापक (तुविष्मान्) महान् सामर्थ्यवान् है और जो (अपारेण) अपार अनन्त (महता) बड़े भारी (वृष्ण्येन) बल से (विश्वा सहांसि) और समस्त बलों को (अति) पार करके उनको (प्रत्वक्षाणः) उत्तम रीति से गढ़ता या बनाता है वह (स्वपतिः) समस्त धनों का स्वामी (मदाय) परमानन्द प्रदान करने के लिये (आयात्) हमें साक्षात् प्राप्त हो ।

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ ।
शीभं राजन् सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि ॥ २ ॥

भा०—हे (नृपते) राजन् ! आत्मन् ! (ते रथः) तेरा रथ (सुष्ठामा) उत्तम रीति से युद्ध में स्थिर रहने वाला हो । (ते हरी सुयमा) तेरे घोड़े उत्तम रीति से नियम में रहने वाले हों (ते गभस्तौ) तेरे हाथ में (वज्रः) वज्र, खड्ग (मिम्यक्ष) वर्तमान रहे । तू (सुपथा) उत्तम मार्ग से (शीभम्) शीघ्र वेग से (अर्वाङ् याहि) सम्मुख, आगे प्रयाण कर (पपुषः) राष्ट्र के नित्य पालन करने वाले (ते) तेरे (वृष्ण्यानि) बलों को हम (वर्धाम) बढ़ावें ।

अध्यात्म में—हे आत्मन् ! तेरा देहरूप रथ सदा सुख से स्थिर रहे । तेरे प्राण उदान रूप घोड़े उत्तम रूप से नियम में रहें (गभस्तौ) हाथ में सदा ज्ञानरूप वज्र रहे । तू उत्तम मार्ग से आगे बढ़ । पालनकारी एवं आनन्दरस के पान करने वाले तेरे बलों को हम बढ़ावें ।

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम् ।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु ॥ ३ ॥

भा०—(वज्रबाहुम्) खड्ग को हाथ में लिये (उग्रम्) अति भयंकर, बलवान् (प्रत्वक्षसम्) शत्रु बलों के नाशक, (सत्यशुष्मम्) सत्य बल वाले (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक एवं नरश्रेष्ठ (नृपतिम्) समस्त मनुष्यों के पालक राजा को (उग्रासः) अति बलवान् (तविषासः) बड़े २ (सधमादः) एक साथ आनन्द लाभ करने वाले (अस्मत्रा) हम में से (इन्द्रवाहः) इन्द्र, राजा के कार्य को वहन करने या सञ्चालन करने में समर्थ योग्य पुरुष (आविहन्तु) राजा को वहन करें राजा को राज्यकार्य में संचालित करें ।

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्जस्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! (एवा) इस प्रकार से तू ही (पतिम्) अपने पालक (द्रोणसाचम्) राष्ट्र में विद्यमान (सचेतसम्) ज्ञानवान् (ऊर्जस्कम्भम्) बलों के स्तम्भन करने वाले पुरुषों या प्रजाजन को अपने (धरुणे) धारण पोषण करने वाले सामर्थ्य या शासन में (आवृषायसे) सर्वत्र पुष्ट करता है । तू (ओजः) बल, पराक्रम (कृष्व) सम्पादन कर । (त्वे) अपने में ही तू (संगृभाय) राष्ट्र के समस्त कार्यों को संग्रह कर यथा जिससे तू (केनिपानाम्) बड़े २ विद्वान् ज्ञानी पुरुषों की (वृधे) वृद्धि के लिये (इनः असः) उनका राजा बनकर रह ।

अध्यात्म में—(द्रोणसाचं) देह रूप घर में व्यापक (सचेतसम्) चेतनावान् (ऊर्जस्कम्भम्) बलके धारक (पतिम्) पालक प्राण को हे आत्मन् ! तू (धरुणे) अपने शासन में धारक प्रयत्न में (आवृषायसे) रखता है । तू (ओजः कृष्व) बल सम्पादन कर (त्वे संगृभाय) अपने

में संचित कर (यथा) जिससे (केनिपानाम्) सुखमय आत्मा के परम रस को पान करने वाले अथवा सुखमय परमब्रह्म तक पहुंचने वाले अध्यात्म ज्ञानियों को भी (इनः असः) स्वामी है।

'केनिपानाम्'—केनिप इति मेधाविनाम। केनि शब्दयोरुपपदयोः पततेः पातेर्वा डः। के आत्मनि सुखमये पर ब्रह्मणि पतन्ति गच्छन्ति पान्ति वा रसं इति केनिपाः।

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा॥५॥

भा०—(अस्मे) हमें (वसूनि) नाना ऐश्वर्य (आगमन्) प्राप्त हों। मैं (हि) तुझको ही (शंसिषं) स्तुति करता हूं। तू (सोमिनः) सोम रस से यज्ञ करने वाले ज्ञानवान् पुरुष के (भरम्) यज्ञ को तू (आयाहि) प्राप्त हो। (त्वम् ईशिषे) तू सबका स्वामी है। (सः) वह तू (अस्मिन् बर्हिषि) इस महान् यज्ञ में, इस आसन पर (आसत्सि) आ विराज। (तव पात्राणि) तेरे पालन सामर्थ्य (धर्मणा) धारण बल से ही (अनाधृष्या) शत्रुओं से विजय किये नहीं जा सकते।

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥६॥

भा०—(प्रथमाः) श्रेष्ठ (देवहूतयः) देव परमेश्वर के उपासक अथवा देव इन्द्रियों के वश करने हारे पुरुष जो (दुष्टरा) दुस्तर अपार (श्रवस्यानि) ज्ञानधनों और यशों को (अकृण्वन) प्राप्त करते हैं वे (पृथक्) सबसे अधिक (प्रायन्) उत्कृष्ट मार्ग पर गमन करते हैं। और (ये) जो (यज्ञियाम्) यज्ञ, आत्मा, परमात्मा सम्बन्धी (नावम्) संसार से पार होने के साधनरूप नौका पर (आरुहम) चढ़ने में (न शेकुः समर्थ नहीं होते (ते) वे (केपयः) कुत्सित आचरण वाले अज्ञानी

होकर (ईर्मा एव) मानों अश्व से ही (नि आविशन्त) नीचे ही नीचे डूबते जाते हैं ।

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे ।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥७॥

भा०—(एव-एव) इसी प्रकार (अपरे) दूसरे लोग (येषां) जिनके (दुर्युजः) कष्ट से योग मार्ग में एकाग्र होने वाले, अवश, दुर्दान्त (अश्वाः) अश्वों के समान अजित इन्द्रिय (आ युयुज्रे) इधर उधर के विषयों में लग जाते हैं वे (दूढ्यः सन्तु) दुष्ट बुद्धि वाले हो जाते हैं । (इत्था) इस प्रकार (ये) जो (उपरे) उत्कृष्ट मार्ग में (प्राक्) उत्तम दिशा में (दावने) सर्व दुःखनाशक और समस्त सुखदायक परमेश्वर के निमित्त (सन्ति) हो जाते हैं (यत्र) जहां (पुरूणि) बहुत से (वयुनानि) ज्ञान और बहुत से (भोजना) नाना भोग्यफल प्राप्त होते हैं, वे कृतकृत्य होते हैं ।

गिरीँरज्रान् रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत् ।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥८॥

भा०—वह परमेश्वर (रेजमानान्) निरन्तर चलने वाले (अज्रान्) गमनशील, कांपने वाले (गिरीन्) मेघों और पर्वतों को भी (अधारयत्) स्थिर करता है, धारण करता है । (द्यौः) प्रकाशमान् सूर्य के समान जो (क्रन्दत्) गर्जना करता और जो (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्षस्थ विद्युत्, मेघ, आदि नाना पदार्थों को (कोपयत्) बड़े वेग से चला रहा है । और जो (समीचीने) परस्पर संगत हुए (धिषणे) सब पदार्थों के आश्रय द्यौ और पृथिवी दोनों को भी (वि स्कभायति) विशेष रूप से थामे हुए हैं । वह (वृष्णः) आनन्द रसों के वर्षण करने वाले समस्त ज्ञानों और बलों

और लोकों को (पीत्वा) अपने भीतर विलीन करके (मदे) अति आनन्द में (उक्थानि) ज्ञान-वचनों का भी (शंसति) उपदेश करता है।

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन् बोध्याभगः ॥९॥

भा०—हे परमेश्वर ! मैं (ते) तेरे बनाये या दिये (सुकृतम्) पुण्याचरण रूप या उत्तम रीति से साधित (अंकुशं) अंकुश, प्रेरक वज्र या ज्ञान को अपने ऊपर शासक के रूप में (बिभर्मि) धारण करता हूं। (येन) जिससे हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! तू (शफारुजः) निन्दा वचनों से हृदय को पीड़ा देने वाले दुष्ट पुरुषों को भी तू (आ रुजासि) पीड़ित करता है। (ते) तेरे (अस्मिन् सवने) इस महान् ऐश्वर्य या शासन में हमारा (ओक्यम्) निवास (सु अस्तु) उत्तम रीति से हो। और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (आ भगः) सब प्रकार से सेवन करने योग्य तू (सुते इष्टौ) उपासना रूप यज्ञ के सम्पादन करने के अवसर में (बोधि) हमारे अभिप्राय और स्तुति को जान।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥११॥

भा०—(१०, ११) दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० २०। १७। १०। ११ ॥ तथा २०। ८९। १०। ११ ॥

[६५]

१ गृत्समद ऋषिः । २–४ सुदाः पैजवनः । १ अष्टिः । २–४ शक्वर्यः । इन्द्रो देवता । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशत् । स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥१॥ ऋ० २।२२।१॥

भा०—(महिषः) महान् (तुविशुष्मः) बड़ा बलवान् परमेश्वर (त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (यवाशिरम्) मिलाने और विभाग करने अर्थात् संयोग और विभाग दोनों से मिश्रित (सोमम्) इस संसार के प्रेरक बल को स्वयं (तृपत्) तृप्त, पूर्ण होकर भी (विष्णुना) अपने व्यापक बल से ऐसे (अपिबत्) पान करता है, उसे ऐसे अपने वश करता है (यथा) जिससे (सुतम्) उत्पन्न हुए संसार को वह (अवशत्) अपने वश किये रहता है । वह महान् प्रेरक बल ही उस (महाम् उरुम् ईम्) महान् विस्तीर्ण, तेज पराक्रम वाले परमेश्वर को (महि कर्म कर्तवे) बड़े २ कर्म करने के लिये (ममाद) पूर्ण समर्थ बना रहा है । (सः) वह (देवः) देव, तेजोमय (सत्यः) सत्यमय, बलस्वरूप (इन्दुः) परम ऐश्वर्य रूप होकर (सत्यम्) सत्यरूप (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् (देवम्) परम प्रकाशक, सर्वप्रद परमेश्वर को (सश्चत्) प्राप्त होता है ।

६५—इदं सूक्तं पञ्चमनुक्रमणिकायां पठ्यते । तत्र आद्यानां तिसृणां गृत्समद ऋषिः अन्त्यानां तिसृणां सुदाः पैजवन ऋषिः । उपलब्धसंहितासु चतुर्ऋचमिदं सूक्तमुपलभ्यते । अनुक्रमणिकायां 'अधत्विषीमान्'० 'साकं जातः०' इति ऋग्द्वयं (ऋ० २ । २२ । २, ३) अधिकं पठ्यते, तच्च समीचीनमेव । त्रिकद्रुकेष्विति तृचस्य सामवेदेऽपि तथैवोपलम्भात् । ऋग्द्वयस्यानुपलम्भः प्रमादात् शाखाभेदाद्वा विज्ञेयः ॥

अध्यात्म में—(महिषः) महान् (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आत्मा (तृपत्) आनन्द रस से तृप्त होकर (विष्णुना) व्यापक परमेश्वर के संग से (सुतं सोमम् अपिबत्) प्राप्त सोम, ब्रह्मानन्द रस का पान करता है। (सः) वह ब्रह्मरस (महाम् उरुम्) उस महान् विस्तृत तेजस्वी, (ईम्) इस योगी पुरुष को (महि कर्म कर्त्तवे ममाद) महान् २ कर्म करने के लिये भी समर्थ करता है। (सः देवः सत्यः इन्दुः) वह तेजस्वी सत्यस्वरूप ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (देवं सत्यम् इन्द्रं सश्चत्) प्रकाशमान ऐश्वर्यवान् आत्मा को ही प्राप्त होता है।

राजा के पक्ष में—(त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (महिषः तुविशुष्मः) सर्वश्रेष्ठ, बड़ा बलवान् राजा (विष्णुना) अपने व्यापक बल सामर्थ्य से (यवाशिरं) शत्रुनाशक सेनापतियों पर आश्रित, उन द्वारा (सुतम्) पीड़ित या ऐश्वर्यजनक (सोमम्) राष्ट्र को (अपिबत्) भोग करता है। वह राष्ट्ररूप ऐश्वर्य (महाम् उरुम्) उस महान् विस्तृत बल वाले राजा को (महि कर्म कर्त्तवे ममाद) बड़े २ कार्य करने के लिये प्रेरित करता है (सत्यः देवः इन्दुः सः) सत्य न्याय के बलवाला, करप्रद' ऐश्वर्ययुक्त वह राष्ट्र (सत्यं देवं इन्द्रं) सत्यकर्मा, न्यायी, विजयी, ऐश्वर्यवान् राजा को (सश्चत्) प्राप्त होता है।

अनुक्रमणी के अनुसार नीचे लिखे दो मन्त्र और समझने चाहियें। 'अध त्विषीमान्'० और 'साकं जातः०'॥ जिनका मूल पाठ इस प्रकार है।

१-अध॒ त्विषी॑माँ अ॒भ्योज॑सा॒ क्रिविं॑ यु॒धाभ॑व॒दा रोद॑सी अपृण॒दस्य म॒ज्मना॒ प्र वा॑वृधे। अध॑त्ता॒न्यं ज॒ठरे॒ प्रेम॑रिच्यत॒ सैनं॑ सश्चद् दे॒वो दे॒वं स॒त्यमिन्द्रं॑ स॒त्य इन्दुः॑॥ ऋ० २।२२।२॥

२-सा॒कं जा॒तः क्रतु॑ना सा॒कमोज॑सा ववक्षिथ सा॒कं वृ॒द्धो वी॒र्यैः॑ सास॒हिर्मृधो॒ विच॑र्षणिः। दाता॒ राधः॑ स्तुव॒ते काम्यं॒ वसु॒ सैनं॑ सश्चद्दे॒वो दे॒वं स॒त्यमिन्द्रं॑ स॒त्य इन्दुः॑॥ ऋ० २।२२।३॥

भा०—(१) (अध त्विषीमान् ओजसा युधा क्रिविम् अभि अभवत्) और वह कान्तिमान् इन्द्र अपने पराक्रम और प्रहारशील युद्ध द्वारा अपने सैन्य और प्रजा के नाश करने वाले शत्रु को दबाता है। और वह (रोदसी आ अपृणत्) द्यौलोक और पृथिवी लोक, राजसभा और प्रजाजन दोनों को अपने बल से पूर्ण करता है (अस्य मज्मना सः प्र वावृधे) इस राष्ट्र के बल से वह और अधिक बढ़ता है। और वह राष्ट्र के दो भाग करके (अन्यं) एक भाग को (जठरे) अपने वश में (अधत्त) करता है। और (ईम्) इस दूसरे भाग को (प्र अरिच्यत) अन्य राजाओं को प्रदान करता है। (सैनं० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

(२) हे इन्द्र ! राजन् ! तू (क्रतुना साकंजातः) कर्म और प्रज्ञा सामर्थ्य से युक्त होकर (ओजसा साकम्) बल पराक्रम के साथ और (वीर्यैः साकं वृद्धः) वीर्यों, सामर्थ्यों से वृद्धि को प्राप्त होकर (वि चर्षणिः) सब का द्रष्टा राजा, (मृधः सासहिः) संग्रामकारियों का विजेता होकर (स्तुवते काम्यं वसु राधः च दाता) स्तुति करने वालों को धन ऐश्वर्य प्रदान करता है (सत्रा० इत्यादि) पूर्ववत् ।

प्रो ष्व॑स्मै पु॒रोर॒थमिन्द्रा॑य शू॒षम॑र्चत । अ॒भीके॑ चिदु लोक॒कृत् सं॒गे स॒मत्सु॑ वृत्र॒हास्माक॑ बोधि चोदि॒ता नभ॑न्तामन्य॒केषां॑ ज्या॒का अधि॒ धन्व॑सु ॥ २ ॥ ऋ० १० । १३३ । १ ॥

भा०—(अस्मै) इस (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा को (पुरोरथम्) रथ के आगे वर्त्तमान (शूषम्) बल की (प्रो अर्चत) स्तुति करो। (अभीके) भय रहित (संगे) परस्पर के मेल मिलाप में (लोककृत्) समस्त लोकों का उपकार करने वाला, और (समत्सु वृत्रहा) संग्रामों के अवसरों में शत्रुओं का नाश करने वाला होकर (अस्माकं चोदिता) हमें न्यायपथ में लेजानेहारा, हमारा हित (बोधि) जानता है। (अन्यकेषां)

क्षुद्र अन्य शत्रुओं के (धन्वसु अधि) धनुषों पर (ज्याकाः) डोरियें (नभन्ताम्) टूट जायें।

अध्यात्म में—(पुरोरथम् इन्द्राय शूषम् अर्चतः) रसदर्शन के समक्ष इन्द्र, आत्मा के बल का वर्णन करो। वह (अभीके संगे) साक्षात् संग लाभ होने पर ही (चित्) मानो (लोक कृत्) अपने दर्शन कराता है या आश्रय प्रदान करता है। (समत्सु) परम आनन्द के अवसरों पर (वृत्रहा) आवरक अज्ञानों का नाशक है। वही (चोदिता) इन्द्रिय-गण का चालक होकर (बोधि) परम ज्ञान प्राप्त करता है। (अन्यकेषां अधि धन्वसु) अन्य क्षुद्र शत्रुओं के धनुषों की (ज्याकाः) डोरियां भी (नभन्ताम्) टूट जाती हैं अर्थात् आत्मिक बल के समक्ष शत्रुओं के हथियार निकम्मे होजाते हैं।

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे नभ० ॥३॥ ऋ० १०।१३३।२॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) तू (सिन्धून्) बहने वाले नदी नदों को (अधराचः) नीचे जाने वाला (अवासृजः) बनाता है। और (अहिम्) सूर्य जिस प्रकार मेघ को नाश करता है उसी प्रकार सूर्य के समान कुटिलाचारी पुरुष को भी (अहन्) नाश करता है। तू (अशत्रुः) शत्रुरहित (जज्ञिषे) जाना जाता है। तू ही (विश्वं वार्यम्) समस्त वरने योग्य ऐश्वर्य को (पुष्यसि) पुष्ट करता है। (तं त्वा) उस तुझ को हम (परिष्वजामहे) सब प्रकार से अपनाते हैं। (नभन्ताम्० इत्यादि) पूर्ववत्।

राजा के पक्ष में—(सिन्धून्) अतिवेग से जाने वाले सेना दलों को अपने अधीन रखकर चलाता है। शत्रु का नाश करता है। तू शत्रु रहित जाना जाता है। समस्त ऐश्वर्य की वृद्धि करता है, हम प्रजाजन तेरा आश्रय लेते हैं।

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः । अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु । नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ४ ॥ ऋ० १० । १३३ । २ ॥

भा०—(विश्वाः) समस्त (अर्यः) सम्मुख चढ़ाई करने वाले (अरातयः) अराति, करादि न देने वाले शत्रुजन (सु विनशन्त) अच्छी प्रकार नष्ट हों । (नः धियः) हमारी स्तुतियां तुझे प्राप्त हों । हे (इन्द्र) शत्रुनाशक ! (नः यः जिघांसति) हमें जो मारना चाहता है उस (शत्रवे) शत्रु को नाश करने के लिये तू (वधं अस्तासि) वधकारी शस्त्र का प्रयोग करता है । और (या) जो तेरा (रातिः) दानशील हाथ है वह (वसु ददिः) सदा ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

[९६]

१–५ पूरणो वैश्वामित्रः । ६–१० यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः । ११–१६ रक्षोहा ब्राह्मः । १७–२३ विवृहा काश्यपः । २४ प्रचेताः ॥ १–५ इन्द्रो देवता । ६–१० राजयक्ष्मघ्नम् । ११–१६ गर्भसंस्रावे प्रायश्चितम् । १७–२३ यक्ष्मघ्नम् । २४ दुःस्वप्नघ्नम् ॥ १–१० त्रिष्टुभः । ११–२४ अनुष्टुभः । चतुर्विंशत्यृचं सूक्तम् ॥

---

[९६]—इदं सूक्तं राथहिट्नीभ्यां त्रयोविंशत्यृचं पठ्यते । वैतानसूत्रे चतुर्विंशत्यृचं स्वीक्रियते । तत्र पूर्वाः पञ्च पूरणदृष्टाः । ततः पञ्च यक्ष्म नाशन-प्राजापत्यदृष्टाः । ततः षट् रक्षोहब्राह्मदृष्टाः तत षड् विवृहा काश्यप-दृष्टाः ततश्चैका प्रचेतोदृष्टा दुःस्वप्नघ्नी इति ऋग्वेदीयक्रमेण पठ्यमाना त्रयोविंशतिर्ह्विट्नीराथसम्मताः । पाण्डुरंग संहितायां 'हृदयात्ते०' ॥ १७॥ इत्येका ऋग् अधिका पठ्यते । मेहनाद्दित्यस्य स्थाने च 'सस्थिभ्यस्ते०' इति ऋक् पठ्यते । 'ऊरूभ्यां०' 'अङ्गअने०' इत्यनयोः । पाठभेदश्च दृश्यते ।

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च ।
इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन् तुभ्यमिमे सुतासः
॥ १ ॥ [१-५] ऋ० १० । १६० । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यशील ! जीवात्मन् ! तू (तीव्रस्य) तीव्र, तीक्ष्ण ज्ञानवान् (अभिवयसः) सब प्रकार योग्य कर्म-फलों से युक्त (अस्य) इस आनन्द-रस को (पाहि) पान कर, स्वीकार कर। (सर्वरथा) समस्त रमण योग्य देहों में विद्यमान (हरी) हरी हरणशील अश्वों के समान प्राण और अपान दोनों को (इह) इस ज्ञान की दशा में (वि मुञ्च) त्याग कर। हे (इन्द्र) आत्मन् (त्वा) तुझको (अन्ये यजमानासः) और दूसरे विपरीत मार्ग पर लेजाने वाले संगकारी, आसक्तिजनक विषयगण (मा निरीरमन्) सर्वथा भी प्रलोभन में न फांसलें (इमे) ये (सुतासः) समस्त उत्पन्न पदार्थ आभ्यन्तर आनन्दरस (तुभ्यम्) तेरे ही लिये हैं।

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासुस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति ।
इन्द्रेदमुद्य सर्वनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम् ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) जीवात्मन् ! ये (सुताः) उत्पन्न समस्त पदार्थ (तुभ्यम्) तेरे उपभोग के लिये ही हैं। (सोत्वासः) उत्पन्न होने वाले भावी पदार्थ भी तेरे लिये ही हैं। (श्वात्र्याः) अति शुभ्र एवं शीघ्र ही अपने अभिप्राय को बतलाने वाली, सुस्पष्ट (गिरः) वाणियां भी (त्वां आ ह्वयन्ति) तुझे ही लक्ष्य करके पुकारती हैं। हे इन्द्र आत्मन् ! (अद्य) आज (इदं) इस (सवनम्) उपासना को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ तू (विश्वस्य विद्वान्) समस्त संसार का ज्ञाता होकर (सोमम्) सोम रूप ऐश्वर्य एवं आत्मानन्द रस का (पाहि) पान कर।

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति ।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ॥३॥

भा०—(यः) जो पुरुष (उशता) कामनायुक्त, अभिलाषा वाले (मनसा) मन से (सर्वहृदा) पूर्ण हृदय से (देवकामः) उपास्यदेव की प्राप्ति की इच्छा करता हुआ (अस्मै) इसके साक्षात् के लिये (सोमम् सुनोति) ब्रह्मानन्द रस का निष्पादन करता है (इन्द्रः) आत्मा या परमात्मा (तस्य) उस पुरुष के (गाः) प्राप्त होने योग्य ज्ञानेन्द्रियों और वाणियों या शक्तियों को (न परा ददाति) विनष्ट नहीं होने देता । प्रत्युत (अस्मै) उसके लिये (प्रशस्तम् इत्) उत्तम उत्तम फल ही (कृणोति) उत्पन्न करता है ।

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान् न सुनोति सोमम् ।
निरत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (रेवान्) विभूतिमान् होकर भी (अस्मै इस आत्मा के लिये (सोमम्) ब्रह्मरस को (सुनोति) सवन करता है ब्रह्म ध्यान का अभ्यास करता है (अस्य) उसको ही (एषः) वह आत्मा (अनुस्पष्टो भवति) साक्षात् होजाता है । (मघवा) वह ऐश्वर्यवान् आत्मा (तत्) उस अभ्यासी पुरुष को (अरत्नौ) अपने हाथ में अपनी विशेष रमण करने वाले रस में (नि दधाति) स्थापित करता है । और (अनानुदिष्टः) विना प्रार्थना किये ही (ब्रह्मद्विषः) उस महान ब्रह्म से प्रेम न करने वाले मानस दुर्व्यापारों को (हन्ति) प्रसन्न हुए राजा के समान विनाश कर देता है ।

अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उ ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् आत्मन् ! (त्वा उपगन्तवा उ) तुझे प्राप्त होने के लिये ही जिस प्रकार अश्वों और गौवों या भूमियों की और अन्नों की कामना करते हुए प्रजाजन अपने राजा के पास पहुंचते हैं उसी प्रकार हम भी (अश्वायन्तः) शीघ्रगामी, बलवान् प्राणों या कर्मेन्द्रियों को चाहते हुए (गव्यन्तः) ज्ञान इन्द्रियों और ज्ञानवाणियों को चाहते हुए और (वाजयन्तः) अन्न या ऐश्वर्य, ज्ञान-समृद्धि चाहते हुए (त्वा हवामहे) तेरा स्मरण करते हैं। हम (आभूषन्तः) तेरी स्तुति करते हुए (ते) तेरी (नवायां सुमतौ) अति नवीन अथवा अति स्तुतियोग्य, उत्तम शुभ मति में रहते हुए (शुनम्) अति सुखस्वरूप (त्वा) तुझे (हुवेम) स्मरण करें।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ ६ ॥
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ८ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्
आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥ १० ॥ ऋ० १०।१६१।१-५॥

९—(प्र०) 'शतमिन्द्राग्नी स०' इति राथाभिमतः पाठः।
१०—(प्र०) 'आहार्षत्वा विदं त्वा' इति राथाभिमतः।

भा०—(६-६) इन ४ मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० ३ । ११ । १—४ ॥ मन्त्र १० की व्याख्या देखो अथर्व० ८ । १ । २० ॥

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः ।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥ ११ ॥
यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये ।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥१२॥ऋ०१०।१६२।१-२॥

भा०—(रक्षोहा अग्निः) राक्षसों और विघ्नकारी, प्रजापीड़क जीवों का नाशक अग्नि, ज्ञानवान् पुरुष राजा के समान (ब्रह्मणा संविदानः) ब्रह्मवेद और वेदज्ञ विद्वान् के साथ सहमति करके, (यः दुर्नामा) जो दुष्ट स्वभाव वाला रोग (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ, ग्रहणशील (योनिम्) योनि भाग में (अमीवा) रोगकारक होकर (आशये) बैठा है उसको (इतः) यहां से (बाधताम्) पीड़ित करके दूर करे ॥ ११ ॥ इसी प्रकार (यः ते गर्भं० इत्यादि) पूर्ववत । वह अग्निः (ब्रह्मणा सह) ब्रह्म, ज्ञान बल के साथ (तं क्रव्यादम्) उस कच्चा मांस खाने वाले दुष्ट पीड़ाकारी रोग दुष्ट पुरुष को (निः अनीनशत्) सर्वथा नष्ट करे ।

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम् ।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१३॥ ऋ०१०।१६२।३॥

भा०—हे स्त्री ! (ते) तेरे गर्भाशय में (पतयन्तम्) वीर्यरूप से निषिक्त होते हुए और (निषत्स्नुम्) गर्भाशय में जमते हुए और (सरीसृपम्) उसी में गति करते हुए और (जातम्) उत्पन्न हुए बालक को (यः ३) जो दुष्ट कीटाणु या पुरुष (हन्ति) नाश करता है और (यः) जो (जातम्) उत्पन्न हुए शिशु को (जिघांसति) मार देना चाहता है (तम्) उसको (इतः) इस राष्ट्र और देह से हम (नाशयामसि) नष्ट करदें ।

यस्त॑ ऊरू वि॒हर॑त्यन्त॒रा दम्प॑ती॒ शये॑ ।
योनिं॒ यो अ॒न्तरा॒रेळ्हि॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥१४॥ ऋ० १०।१६२।४॥

भा०—हे स्त्रि ! (यः) जो दुष्ट रोग या पुरुष (ते ऊरू) तेरे जांघों को (विहरति) पृथक् करता है उनका भोग करता है (दम्पती अन्तरा) स्त्री पुरुष, पति पत्नी दोनों के बीच तीसरा होकर (शये) तेरे साथ सोता है और (यः) जो (योनिम् अन्तः) गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसको (आरेळ्हि) विनाश करता है (तम्) उसको (इतः) यहां से (नाशयामसि) दूर भगावें ।

यस्त्वा॒ भ्राता॒ पति॑र्भू॒त्वा जा॒रो भू॒त्वा नि॒पद्य॑ते ।
प्र॒जां यस्ते॒ जिघां॑सति॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥१५॥ ऋ० १०।१६२।५॥

भा०—हे स्त्रि (यः) जो दुष्ट पुरुष (भ्राता) भाई या (पतिः) पालक पति के समान होकर या (जारः भूत्वा) जार, व्यभिचारी पुरुष होकर (त्वा निपद्यते) तुझे भोग करता है और ऐसा करके (ते यः प्रजां) तेरी जो प्रजा, सन्तति का (जिघांसति) नाश करता है (तम्) उसको (इतः) इस यहां से (नाशयामसि) मार भगावें ।

यस्त्वा॒ स्वप्ने॑न॒ तम॑सा मोहयि॒त्वा नि॒पद्य॑ते ।
प्र॒जां यस्ते॒ जिघां॑सति॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥१६॥ ऋ० १०।१६२।६॥

भा०—और हे स्त्रि ! (यः) जो (त्वा) तुझको (स्वप्नेन) निद्रा (तमसा) या अन्धकार में (मोहयित्वा) तुझे मोहित करके, लुभाकर (त्वा निपद्यते) तुझे भोग करे और इस प्रकार (ते प्रजां जिघांसति) तेरी सन्तति का नाश करना चाहे (तम् इतः नाशयामसि) उसको यहां से दूर करें ।

अ॒क्षीभ्यां॑ ते॒ नासि॑काभ्यां॒ कर्णा॑भ्यां॒ छुबु॑का॒दधि॑ ।
यक्ष्मं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ म॒स्तिष्का॑ज्जि॒ह्वाया॒ वि वृ॑हामि ते ॥ १७ ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ १८ ॥
[१७, १८] ऋ० १० । १६२ । १, २ ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ १९ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ २० ॥
ऋ० १० । १६२ । ३ ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ २१ ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ २२ ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वंञ्चं वि वृहामसि २३

भा०—(१७–२३) इन ७ मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० २ । २३ । १–७ ॥

१९—इयमृक् रायसम्मतसंहितायां नास्ति ।

२०–(द्वि०) 'वनिष्ठोर्हृदया०' (तृ०) 'यक्ष्मंमतस्नाभ्यां०' इति ऋ०

२१–'यक्ष्मं श्रोणिभ्या भासादाद् भंससो वि वृहामिते' इति ऋ०। रायाभिमतश्च ।

२२–नखाः स्थाने–मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥२२॥इति ऋ० रायाभिमतश्च ।

२३–अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥ इति ऋ०, रायाभिमतश्च ।

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ २४ ॥

भा०—हे (मनसः पते) मन को नीचे गिराने वाले ! दुष्ट विचार एवं दुःस्वप्न ! तू (अपेहि) दूर हो । (अप क्राम) परे हट । (परः चर) परे चला जा । (निर्ऋत्यै) दुष्ट पापप्रवृत्ति को भी (परः) दूर से ही (आ चक्ष्व) हवः विनष्ट कर क्योंकि (जीवतः) जीवनधारी पुरुष का (मनः) मन (बहुधा) बहुत प्रकार के विषयों में लग जाता है ।

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

[९७] राजा

कलिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यः । तृचं सूक्तम् ॥

वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥ १ ॥

[१–३] ऋ० ८ । ६६ । ७–९ ॥

भा०—(वयम्) हम लोग (ह्यः) गये दिन और (इदा) इस समय आज और कल भी, नित्य (एनम् वज्रिणम्) इस वीर्यवान् पुरुष को (इह) इस राष्ट्र में (अपीपेम) पुष्ट करें । और (अद्य) आज (तस्मै उ) उसको ही (समना) संग्राम के लिये (सुतं) ऐश्वर्य (भर) प्राप्त करा (नूनं) निश्चय से वह (श्रुते) हमारी प्रार्थना सुनने पर (आ भूषत) आजाता है ।

आत्मा के पक्ष में—हम उस आत्मा को सदा पुष्ट करें (तस्मै) उस जीव के लिये ही (समना) संग्राम में (सुतं) वीर्य को प्राप्त कराओ ।

और (श्रुते) वेदोपदेश या गुरुपदेश से उसे (नूनं) निश्चय से (आभूषत) तुम सुशोभित करो।

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।

सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥ २ ॥

भा०—(उरामथिः) भेड़ों के नाश करने वाले (वृकः चित्) भेड़िये के समान स्वभाव वाला दुष्ट पुरुष और (वारणः) हस्ति के समान बलवान् जीव भी (अस्य वयुनेषु) इसके उत्कृष्ट ज्ञान और मार्गों में (आभूषति) उसके अनुकूल हो जाता है। हे (इन्द्र) राजन् ! तू (नः) हमारे (इमं स्तोमं) इस स्तुति समूह को (जुषाणः) प्रेम से सुनता हुआ (चित्रया धिया) अपनी सबको चेताने वाली बुद्धि और कार्यशैली से (नः आगहि) हमें प्राप्त हो।

कदू न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् ।

केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा ॥ ३ ॥

भा०—(अस्य इन्द्रस्य) इस शत्रुहन्ता राजा का (कद् उनु पौंस्यम्) कौनसा शौर्य का काम (अकृतम् अस्ति) नहीं कर लिया है ? अर्थात् इसने सभी प्रकार के वीरता के कार्य कर लिये हैं। और (केन नु श्रोमतेन) किस श्रवण करने योग्य आश्चर्यजनक कार्य से (न शुश्रुवे) उसकी ख्याति नहीं सुनी जाती। वह तो (जनुषः परि) जन्म से ही (वृत्रहा) विघ्नकारी शत्रुओं का नाशक है।

[९८] राजा के कर्तव्य

शंयुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथौ । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः ।

त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४६ । १ ॥

भा०—हम (कारवः) शिल्पी, विद्वान् लोग (वाजस्य सातौ) अन्न और संग्राम के लाभ करने के लिये (त्वाम् इत् हि) तुझ को ही (हवामहे) बुलाते हैं। (नरः) नेता मनुष्य लोग भी (वृत्रेषु) शत्रुओं के आ चढ़ने पर (सत्पतिम्) सज्जनों के प्रतिपालक (त्वाम्) तुझ को ही स्मरण करते हैं और (अर्वतः) घोड़े या वेगवान् यानद्वारा जाने लायक (काष्ठासु) दिशाओं में या दूर के देशों में भी लोग (त्वां) तुझे ही पुकारते हैं।

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥ २ ॥

ऋ० ६ । ४६ । २ ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) खड्ग को हाथ में धारण करने हारे। उग्र दण्ड ! हे (अद्रिवः) अदीर्ण, अमोघ बलवाले ! हे (चित्र) समस्त राष्ट्र का संचय करने एवं चित्र युद्ध करने में कुशल ! (त्वं) तू (धृष्णुया) स्वयं शत्रुओं का धर्षण तिरस्कार और पराजय करने में समर्थ होकर (महः स्तवानः) खूब अधिक गतिशाली होकर हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (जिग्युषे) विजयशील पुरुष को (गाम्) गौ, (अश्वं) अश्व, (रथम्) रथ और (सत्रा) बड़े भारी (वाजं न) नाना अन्न और ऐश्वर्य को भी (सं किर) अच्छी प्रकार आदर से प्रदान कर।

[६६] राजा, सेनापति

मेध्यातिथिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहत्यौ, प्रगाथः। द्वृचं सूक्तम् ॥

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्। रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ३ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! (ऋभवः) सत्य ज्ञान से प्रकाशित होने वाले विद्वान्गण (रुद्राः) स्तुतिशील और (आयवः) दीर्घायु (समीचीनासः) सम्यक्दृष्टि वाले, समदर्शी, तत्वज्ञानी मनुष्यगण (पूर्वपीतये) तुझे पूर्ण रीति से ज्ञान द्वारा तेरे आनन्द को प्राप्त करने के लिये (स्तोमेभिः) स्तुति समूहों से (त्वा अभि) तुझे ही लक्ष्य करके (सम् अस्वरन्) एकत्र होकर गाते हैं और (रुद्राः) सत्योपदेष्टा लोग (पूर्व्यम् गृणन्तः) सबसे पूर्व विद्यमान एवं पूर्ण तेरा ही उपदेश करते हैं ।

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ३ । ८ ॥

भा०—(सुतस्य) प्रस्तुत किये अभिषेक द्वारा प्राप्त राज्य के (विष्णवि) व्यापक (मदे) मद या हर्षाधिक्य से ही (इन्द्रः) शत्रुनाशक सेनापति (अस्य इत्) इस राजा के ही (वृष्ण्यं) बलशाली बहुत अधिक (शवः) बल को (वावृधे) बढ़ा देता है । (अस्य) इसके (तम्) उस (महिमानम्) महिमा को ही (आयवः) मनुष्यगण (पूर्वथा) पूर्व के समान (अद्य) आजतक भी (अनुस्तुवन्ति) निरन्तर स्तुति करते हैं ।

[१००] बलवान् राजा और आत्मा

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिहः । तृचं सूक्तम् ॥

अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान् महः ससृज्महे ।
उदेव यन्त उदभिः ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९८ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! हे (गिर्वण) स्तुतियों द्वारा भजन करने योग्य ! (अधा हि) अब (त्वा) तुझ से हम (महः) बड़े (कामान्) अभिलाषायोग्य मनोरथों को (उप स

सृजन्ते) प्राप्त हों ऐसे (उद्रा इव) जैसे जलके मार्ग से (यन्तः) जाते हुए पुरुष (ऊर्मिभिः) उन जलों से ही नाना काम्य सुखों को प्राप्त करते हैं ।

अर्थात् ईश्वरभक्ति के साथ ईश्वर से और नाना सुख अनायास गौण रूप से ऐसे ही प्राप्त होते हैं जैसे जल मार्ग से जाते हुए को जलों के पान स्नानादि के समस्त सुख अनायास प्राप्त होते हैं ।

वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९८ । ८

भा०—हे (शूर) शूरवीर ! शक्तिमन् ! (यव्याभिः वाः न) नदियों से जिस प्रकार समुद्र में जल बढ़ते हैं उसी प्रकार हे (अद्रिवः) वज्रिन् अमोघ शक्तिमन् ! (दिवेदिवे) प्रतिदिन (वावृध्वांसं चित्) स्वयं सदा वृद्धिशील होते हुए भी (ब्रह्माणि) वेद के मन्त्र (त्वा) तेरी महिमा की वृद्धि करते हैं ।

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे ।
इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ९८ । ९ ॥

भा०—(इषिरस्य) अति शीघ्रगामी इन्द्र राजा के (उरुयुगे) बड़े भारी जुए वाले (रथे) रथ में जिस प्रकार (हरी) वेगवान् दो अश्वों को लोग जोड़ते हैं उसी प्रकार (इषि रस्य) इच्छा, आत्मसंकल्प में रमण करने वाले या सर्वप्रेरक आत्मा के (उरुयुगे) बड़े भारी योग बल से युक्त (उरौ) बड़े भारी (रथे) रमण योग्य रसमय स्वरूप में (वचोयुजा) वाणी के साथ ही सदा योग करने वाले (इन्द्रवाहा) इन्द्र, जीवात्मा को निरोधवृत्ति द्वारा वहन करने वाले (हरी) सदा गतिशील प्राण और अपान को (गाथया) गुण स्तुति के साथ (युञ्जन्ति) युक्त करते अर्थात् योगाभ्यास द्वारा प्राणों का आयमन करते हैं ।

[१०१] विद्वान् राजा

मेधातिथिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १ ॥ ऋ० १ । १२ । १ ॥

भा०—हम लोग (अग्निम्) ज्ञानवान्, अग्रणी, (विश्ववेदसम्) समस्त ऐश्वर्यों से युक्त, सब विद्याओं में पारंगत, (होतारं) सब सुखों और ज्ञानों के दाता (यज्ञस्य) यज्ञ राष्ट्र के (सुक्रतुम्) उत्तम रीति से करने वाले पुरुष को (दूतम्) दूत या प्रतिनिधि रूप से (वृणीमहे) नियुक्त करते हैं ।

इसी प्रकार ज्ञानी, ऐश्वर्यवान् उत्तम यज्ञकर्ता को होता, अग्रणी नायक बनाना चाहिये, यह भी स्पष्ट है ।

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् ।
हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥ २ ॥ ऋ० १ । १२ । २ ॥

भा०—हम (हवीमभिः) स्तुतियों और उत्तम उपायों से (विश्पतिम्) प्रजा के पालक राजा (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी और ज्ञानवान्, नेता (हव्यवाहम्) प्राप्तव्य उद्देश्य तक ले जाने वाले (पुरुप्रियम्) बहुतों के प्रिय, सर्वप्रिय, लोकप्रिय, पुरुष को (सदा हवन्त) सदा आदर करो, भेंट आदि उत्तम पदार्थ प्रदान करो ।

अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।
असि होता न ईड्यः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । १२ । ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! प्रकाशक ! अग्रणी, नेतः ! तू (वृक्तबर्हिषे) बड़े भारी राष्ट्र और प्रजा को प्राप्त करने हारे राजा के लिये (इह) इस सभाभवन में (देवान्) विद्वान् पुरुषों और अधीन विज-

गोप्तु पुरुषों को (आवह) प्राप्त करा। तू (नः) हमारे (ईड्यः) स्तुति योग्य, प्रशंसनीय, (होता) यज्ञ में होता के समान ही योग्य पुरुषों को योग्य पदाधिकार देने और उनको स्वीकार करने हारा है।

[१०२] परमेश्वर राजा

विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम् ॥

ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः।
समग्निरिध्यते वृषा ॥ १ ॥ ऋ० ३। २७। १३ ॥

भा०—(अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष अग्नि के समान तेजस्वी, सूर्य के समान (दर्शतः) दर्शनीय, (तमांसि) समस्त अन्धकारों को (तिरः) दूर करता हुआ (ईळेन्यः) सबके स्तुति योग्य (वृषा) समस्त सुखों का वर्षक और (नमस्यः) सबके नमस्कार करने योग्य है। वही नित्य (समिध्यते) खूब प्रज्वलित तेजस्वी किया जाता है।

राजा के पक्ष में—'वृषः' दुष्टों का प्रतिबन्धक। परमात्मा के पक्ष में-मेघ के समान आनन्दघन।

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः।
तं हविष्मन्त ईळते ॥ २ ॥ ऋ० ३। २७। १४ ॥

भा०—(वृषः) मेघ के समान आनन्दघन, समस्त संसार को नियमों में बांधने वाला (अग्निः) सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, (अश्वः) सर्वव्यापक, सर्वभोक्ता (अश्वः न देववाहनः) और अश्व जिस प्रकार विजिगीषु पुरुषों को युद्ध में ले जाता है उसी प्रकार (देव-वाहनः) विद्वानों को अपने धारण करने वाला है। (तं) उसको (हविष्मन्तः) साधनों, ज्ञानों से सम्पन्न पुरुष (ईळते) स्तुति करते हैं।

आत्मा के पक्ष में—देववाहनः=देव, इन्द्रियों और उत्तम गुणों का धारक है।

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥ ३ ॥ ऋ० ३ । २७ । १५ ॥

भा०—हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षक ! हे (अग्ने) तेजस्विन् ! (वयं वृषणः) हम लोग स्वयं बलवान् होकर (वृषणम्) बलवान् (बृहत् दीद्यतम्) बहुत अधिक सूर्य के समान प्रकाशमान (त्वा) तुझ को (सम् इधीमहि) भली प्रकार प्रदीप्त और तेजस्वी बनाते हैं। तुझे प्रज्व-लित करते हैं।

[१०३] परमेश्वर, विद्वान्, राजा।

१. सुदीतिपुरुमीढौ । २-३ भर्गं ऋषिः । अग्निर्देवता । १, २ बृहत्यौ ३, सतो-बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

अग्निमीळिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीळ्ह श्रुतं नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः ॥ १ ॥
ऋ० ८ । ७१ । १४ ॥

भा०—हे (पुरुमीळ्ह) बहुतों को ज्ञान, अन्न, ऐश्वर्यों से सेचन करने हारे विद्वन् ! तू (अवसे) रक्षा के लिये (गाथाभिः) वाणियों से (शीरशोचिषं) व्यापक प्रकाशवाले (अग्निम्) ज्ञानवान्, प्रकाशयुक्त परमात्मा की (ईळिष्व) उपासना, स्तुति कर। हे (पुरुमीळ्ह) विद्वन् ! (श्रुतम्) श्रवण करने योग्य उस (अग्निम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की (नरः) सभी पुरुष (रायः) ऐश्वर्य के लिये स्तुति करते हैं उसी (छर्दिः) सबके शरणस्वरूप (अग्निम्) परमेश्वर को (सुदीतये) उत्तम कान्ति और उत्तम दीप्ति के प्राप्त करने के लिये भी तू (गाथाभिः ईळिष्व) वाणियों से स्तुति कर।

अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ४९ । २ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! हे राजन् ! नेतः ! तू (अग्निभिः) अन्य ज्ञानवान् विद्वानों के साथ और तू अन्य नेताओं के साथ (आ-याहि) हमें प्राप्त हो । हे परमेश्वर ! तू हमें अन्य ज्ञानवान् विद्वानों सहित प्राप्त हो । (होतारं त्वा वृणीमहे) तुझे होता स्वरूप से वरण करते हैं । तुझ सर्वदाता को हम स्वीकार करते हैं, तेरी स्तुति करते हैं । (यजिष्ठ त्वाम्) यज्ञशील, सबसे अधिक दानशील, संगतिकारक तुझ को (प्रयता) उत्तम नियम में बद्ध (हविष्मती) अन्नादि से समृद्ध (बर्हिः) प्रजा या आसन (आसदे) विराजने के लिये (अनक्तु) प्राप्त हो तुझे प्रकाशित करे ।

परमात्मा के पक्ष में—(प्रयता) उत्तम नियमों में बँधी (हविष्मती) अन्नादि से युक्त (बर्हिः) बृहती द्यौ और पृथिवी (आसदे) तुझ अधिष्ठाता को अपने पर शासन करने के लिये (त्वाम् अनक्तु) तुझे प्रकाशित करे ।

अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥ ३॥ ऋ० ८।४९।२

भा०—हे (सहसः सूनो) बल के कारण राजसूय द्वारा अभिषेक करने योग्य, अथवा बलों के प्रेरक राजन् ! हे (अंगिरः) राष्ट्र के अंगों में रस या बल प्रदान करने वाले ! (अध्वरे) अहिंसित राष्ट्र में (त्वा) तुझे साक्षात् (स्रुचः) लोक (चरन्ति) प्राप्त हों । (ऊर्जः नपातम्) बल पराक्रम और अन्न को कभी नष्ट न होने देने वाले (घृतकेशम्) तेजोयुक्त किरण वाले (पूर्व्यम्) सब से अधिक पूर्ण, पालक और

सबसे पूर्व सत्कार करने योग्य (अग्निम्) तुझ अग्रणी को हम (यज्ञेषु) सुसंगत प्रजाजनों के बीच (ईमहे) याचना करते हैं ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे (सहसः सूनो) समस्त बलों के प्रेरक, (अङ्गिरः) अग्नि, सूर्य के समान तेजस्विन् ! (अध्वरे) यज्ञ में (स्रुचः) घृत से भरे चमसे (त्वा अच्छा यन्ति) तुझे लक्ष्य करके चलते हैं । हम (ऊर्जः नपातम्) अन्न को नष्ट न होने देने वाले अथवा बल के अक्षय भण्डार रूप, (घृतकेशम्) तेजःस्वरूप, केश या किरणों वाले, सूर्य के समान तेजस्वी (पूर्व्यम्) सबसे पूर्व विद्यमान तुझ (अग्निम्) ज्ञानवान् से हम (ईमहे) प्रार्थना करते हैं ।

[१०४] राजा परमेश्वर

१—२ मेध्यातिथिर्ऋषिः । ३—४ नृमेधः । इन्द्रो देवता । प्रगाथाः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इमा उं त्वा पुरूवसो गिरों वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोभि स्तोमैरनूषत ॥ १ ॥
ऋ० ८ । ३ । ३ ॥

भा०—हे (पुरूवसो) प्रचुर ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! (याः मम इमाः गिरः) जो मेरी ये वाणियां हैं वे (त्वा उ) तुझे ही (वर्धन्तु) बढ़ावें, तेरी ही महिमा गावें । (पावकवर्णाः) अग्नि के समान तेजस्वी, (शुचयः) शुद्ध पवित्र आचारवान् (विपश्चितः) ज्ञानवान्, मेधावी पुरुष (स्तोमैः) स्तुति समूहों से (त्वा अनूषत) तेरी ही स्तुति करते हैं ।

अयं सुहस्रमृषिभिः सहंस्कृतः समुद्र ईव पप्रथे ।
सुत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवों युज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ३ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (सहस्कृतः) बल के उत्पादक (समुद्र इव) समुद्र के समान विस्तृत, अक्षय भण्डार वाले, ऐश्वर्यवान् परमेश्वर और राजा

को (सहस्रन्) हजारों (ऋषिभिः) मन्त्रदर्शी ऋषिगण (पप्रथे) विस्तृत या प्रसिद्ध करते हैं । (अस्य) उसकी (सः) वह विख्यात (महिमा) महिमा और (शवः) बल (यज्ञेषु) यज्ञों, उपासनाओं में और (विप्रराज्ये) विद्वानों के प्रदीप्त हृदय में (सत्यः) सत्य है । उसकी ही (गृणे) स्तुति की जाती है ।

राजा के पक्ष में —(सहस्कृतः) शत्रु के पराजय करने योग्य बल से युक्त वह (ऋषिभिः) हजारों ऋषि, मन्त्रद्रष्टा विद्वानों द्वारा (समुद्र इव) समुद्र के समान गम्भीर, अक्षय कोशवाला (पप्रथे) प्रसिद्ध किया जाता है । (यज्ञेषु) परस्पर संगत प्रजासंघों में, संग्रामों में और (विप्रराज्ये) विद्वानों के शासन में (अस्य सत्यः महिमा) इसकी सत्य महिमाओं और (शवः) बल की (गृणे) स्तुति, प्रशंसा की जाती है ।

आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । ९० । १ ॥

भा०—(हव्यः) स्तुतियोग्य (इन्द्रः) परमेश्वर (नः) हमारी (विश्वासु) समस्त (समत्सु) आनन्द प्रसन्नता की दशाओं में (आभूषतु) प्रकट होवे । और वह (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान का नाशक (परमज्याः) प्रधान २ बाधक कारणों और बंधनों को नाश करने वाला (ऋचीषमः) समस्त स्तुतियों या वेदमन्त्रों में समान रूप से व्यापक परमेश्वर (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों को और (सवनानि) स्तुतियों को (उपभूषतु) प्राप्त करे ।

राजा के पक्ष में—वह (हव्यः) स्तुति योग्य, (विश्वासु समत्सु आ भूषतु) समस्त संग्रामों में विद्यमान हो । वह शत्रुनाशक परम प्रबल शत्रुओं का नाशक स्तुतियों का समान रूप से पात्र होकर (ब्रह्माणि) बड़े २

वीर्यवान् पदों अधिकारों को और अन्नों को और (सवनानि) अभिषेक क्रियाओं को (उप भूषतु) प्राप्त हों।

त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत्।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । १० । २ ॥

भा०—हे परमेश्वर! (त्वं) तू (राधसाम्) ऐश्वर्यों का (प्रथमः) सबसे प्रथम (दाता असि) दाता है। और तू ही (सत्यः) सत्य कर्म-वाला, सच्चा, वास्तविक (ईशानकृत् असि) हमें ऐश्वर्यवान् बनाने वाला है। (शवसः पुत्रस्य) अपने बल से समस्त पुरुषों को विविध कष्टों से रक्षा करने में समर्थ और (तुविद्युम्नस्य) बहुत धनाढ्य तेरे (युज्या) योग्य, उचित (महः) धनों को या तेरे (महः युज्या) बड़े भारी सत्संगों को (वृणीमहे) प्राप्त करें।

राजा के पक्ष में भी स्पष्ट है।

[१०५] राजा, सेनापति

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथाः । पंचर्चं सूक्तम् ॥

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ९९ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुनाशक! (त्वम्) तू (प्रतूर्तिषु) बड़े २ संग्रामों में सम्मुख आये (विश्वाः स्पृधः) समस्त स्पर्धा करने वालों के (अभि असि) मुकाबले पर आकर उनको पराजित करता है। (त्वं) तू (अशस्तिहा) निन्दाओं का नाशक और (जनिता) शत्रु के लिये निन्दाओं का स्वयं उत्पन्न करने हारा, हे (तूर्य) शत्रुहिंसक! (तरुष्यतः)

हिंसाकारी दुष्ट पुरुषों का (विश्वतूः) सब प्रकार से नाश करने वाला (असि) है। अथवा, हे इन्द्र तू (तरुष्यतः तुर्व) हिंसा करने की इच्छा वालों का नाश कर।

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥ २ ॥
ऋ० ८। ९९। ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुनाशक राजन्! (मातरा शिशुं न) माता और पिता दोनों जिस प्रकार बालक के पीछे चलते हैं उसी प्रकार (तुरयन्तम्) शत्रुओं के नाशक (ते शुष्मम्) तेरे बल के (अनु) पीछे २ (क्षोणी) शासकवर्ग और प्रजावर्ग दोनों आकाश और पृथिवी के समान वर्त्तमान बड़े और छोटे सभी (ईयतुः) चलते हैं। (यद्) जब तू (वृत्रं) विघ्नकारी का (तूर्वसि) विनाश करता है तब ही (विश्वाः स्पृधः) सब स्पर्धा करने वाले शत्रुगण (ते मन्यवे) तेरे क्रोध के आगे (श्नथयन्त) शिथिल होजाते हैं, दब जाते हैं और कोई विपरीत उद्योग नहीं करते हैं।

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम् ॥ ३ ॥
ऋ० ८। ९९। ७ ॥

भा०—हे प्रजाजनो! (अजरम्) कभी क्षीण या निर्बल न होकर विद्यमान, सदा उद्यत, (प्रहेतारम्) शत्रु को मार भगाने वाले, (अप्रहितम्) आप कभी पराधीन न हुए (आशुं) शीघ्रगामी, (जेतारम्) विजयशील, (हेतारम्) शत्रु के स्वयं नाश करने वाले (रथीतमम्) रथियों में सर्वश्रेष्ठ (अतूर्तम्) कभी नष्ट या ताड़ित न होने वाले, न पछाड़ खाने वाले अपराजित (तुग्र्यावृधम्) शत्रु नाशकारी वीर सेनाओं

के हितकर बल को बढ़ाने वाले पुरुष को (वः) आप लोग (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (इतः) नियुक्त करो ।

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥ ४ ॥
इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥ ५ ॥

भा०—[४-५] इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ६२ । १६, १७ ॥

[१०६] परमेश्वर

गोषूक्त्यश्वसूक्तिना ऋषी । इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

तव त्यदिन्द्रियं बृहत् तव शुष्ममुत क्रतुम् ।
वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । १५ । ७ ॥

भा०—(तव) तेरे (त्यत्) उस (बृहत् इन्द्रियम्) बड़े भारी ऐश्वर्य को, और (बृहत् शुष्मम्) बड़े भारी बल को, (बृहत् क्रतुम्) बड़े भारी विज्ञान को और (वरेण्यम्) सर्वश्रेष्ठ (वज्रं) शत्रुवारक और पापवारक वीर्य को (धिषणा) बुद्धि और शुभमति और तेरी स्तुति (शिशाति) अति तीक्ष्ण कर देती है । अर्थात् अधिक प्रभावोत्पादक बना देती है ।

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः ।
त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥ ऋ० ८ । १५ । ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर (द्यौः) यह महान् आकाश और तारेगण और (पृथिवी) पृथिवी (तव पौंस्यं) तेरे पौरुष बल और (श्रवः) कीर्त्ति को (वर्धति) बढ़ाते हैं । और (आपः) समस्त जल, मेघ, नदी,

समुद्र आदि और (पर्वतासः च) हिमाचल आदि पर्वत (त्वां हिन्विरे) तुझे ही बतला रहे हैं। मानो तेरी महिमा गा रहे हैं।

त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः ।
त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । १५ । ९ ॥

भा०—हे ईश्वर ! (बृहन्) बड़ा (विष्णुः) व्यापक तेजस्वी सूर्य, (क्षयः) सबका निवास स्थान पृथिवी, (मित्रः) मरण से बचाने वाला अन्न या जल और (वरुणः) सबको आवरण करने वाला मेघ आकाश, (त्वां गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं। और (मारुतं शर्धः) वायु का महान् बल भी (त्वाम् अनु मदति) तेरे ही इच्छानुकूल प्रसन्न होकर चलता है।

[१०७] परमेश्वर

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६ । ४ ॥

भा०—(समुद्राय सिन्धवः इव) समुद्र को प्राप्त होने के लिये जिस प्रकार नदियें झुकी चली जाती हैं उसी प्रकार (अस्य मन्यवे) इसके ज्ञान को प्राप्त करने के लिये या इसके 'मन्यु', संसार को स्तम्भन करने वाले महान् सामर्थ्य के आगे (विश्वा विशः) राजा के आगे प्रजाओं के समान समस्त (कृष्टयः) मनुष्य (नमन्त) आदर से स्वभावतः झुकते हैं।

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ६ । ५ ॥

भा०—(चर्म इव) जिस प्रकार चमड़े या मृगछाला को कोई जब चाहे बिछा देता और जब चाहे लपेट लेता है उसी प्रकार (इन्द्रः) ऐश्वर्य वान् परमेश्वर (यत्) जो (इमे रोदसी) पृथ्वी और आकाश दोनों लोकों

को (सम् अवर्तयत्) बनाता है। (तत्) वह (अस्य) इस परमेश्वर का (ओजः) महान् पराक्रम ही (तित्विषे) चमक रहा है, स्पष्ट प्रतीत होता है। अर्थात् पृथ्वी आकाश आदि का सुगमता से पैदा होना और बने रहना यह ईश्वरी शक्ति का विलास है।

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा।
शिरो बिभेद वृष्णिना॥३॥

भा०—(चित्) जिस प्रकार (दोधतः) जगत् को भय से कंपा देने वाले दुष्ट पुरुष के (शिरः) शिर को राजा (शतपर्वणा) सैकड़ों पोरू वाले (वज्रेण) शस्त्रों से (विभेद) तोड़ डालता है उसी प्रकार जगत् को कंपाने वाले (वृत्रस्य) सबको आवरण करने वाले समस्त अज्ञान के और प्रकृति के विकार स्वरूप महत् तत्व के (शिरः) शिर, मुख्य भाग को (वृष्णिना) बलवान् (शतपर्वणा) सैकड़ों सामर्थ्यों वाले या सैकड़ों पर्व या काल अवयवों से युक्त कालरूप (वज्रेण) वीर्य से, मेघ को सूर्य के समान (विभेद) छिन्न भिन्न कर देता है।

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः॥४॥

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु॥५॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः॥६॥

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः॥७॥

त्वया व॒यं शा॑शद्महे रणे॑षु प्र॒पश्य॑न्तो यु॒धेन्या॑नि॒ भूरि॑ ।
चोदया॑मि त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भिः॒ सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वयां॑सि ॥८॥
नि तद् द॑धि॒षेऽव॑रे॒ परे॑ च॒ यस्मि॒न्नावि॒थाव॑सा दुरो॒णे ।
आ स्था॑पयत मा॒तरं॑ जिग॒त्नुमत॑ इन्वत॒ कर्व॑राणि॒ भूरि॑ ॥९॥
स्तु॒ष्व व॑र्ष्मन् पुरु॒वर्त्मा॑नं॒ समृभ्वा॑णमि॒नत॑ममा॒प्तमा॒प्त्याना॑म् ।
आ द॑र्शति॒ शव॑सा॒ भूर्यो॑जाः॒ प्र स॑क्षति प्रति॒मानं॑ पृथि॒व्याः ॥१०॥
इ॒मा ब्रह्म॑ बृ॒हद्दि॑वः कृणव॒दिन्द्रा॑य शू॒षम॑ग्रि॒यः स्व॒र्षाः ।
म॒हो गो॒त्रस्य॑ क्षयति स्व॒राजा॒ तुर॑श्चि॒द् विश्व॑मर्णव॒त् तप॑स्वान् ॥११॥
ए॒वा म॒हान् बृ॒हद्दि॑वो॒ अथ॒र्वावो॑च॒त् स्वां त॒न्व॑मिन्द्र॑मे॒व ।
स्वसा॑रो मात॒रिभ्व॑री अरि॒प्रे हि॒न्वन्ति॑ चैने॒ शव॑सा व॒र्धय॑न्ति च ॥१२॥
चि॒त्रं दे॒वाना॑ के॒तुरनी॑कं॒ ज्योति॑ष्मान् प्र॒दिशः॒ सूर्य॑ उ॒द्यन् ।
दि॒वाक॒रोऽति॑ द्यु॒म्नैस्तमां॑सि॒ विश्वा॑तारीद् दुरि॒तानि॑ शु॒क्रः ॥१३॥
चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः । आप्रा॒द्
द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षं॒ सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ॥ १४ ॥

भा०—(८-१२) ये ५ मन्त्र देखो अथर्व० का० ५ । २ । १-५ ॥ और (१३, १४) दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० १३।२।३४,३५ ॥

सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑मानां॒ मर्यो॒ न योषा॑म॒भ्ये॑ति प॒श्चात् ।
यत्रा॒ नरो॑ देव॒यन्तो॑ यु॒गानि॑ वितन्व॒ते प्रति॑ भ॒द्राय॑ भ॒द्रम् ॥१५॥

ऋ० १ । ११५ । २ ॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य (देवीम्) प्रकाशमान (रोचमानाम्) स्वयं कान्तिमयी (उषसम्) उषा के (पश्चात्) पीछे २ (अभ्येति) चलता है ।

(यत्र) जहां (नरः) मनुष्य लोग (देवयन्तः) प्रकाशमान् दिव्य पदार्थों का अनुकरण करते हुए या उत्तम गुणों को धारण करते हुए (भद्राय) कल्याणकारी उत्तम पुरुष को (भद्रम् प्रति) कल्याणकारी सुखप्रद साथी का प्रदान करते हुए (युगानि) युगल जोड़े (वितन्वते) बनाते हैं । इधर और (न) उसी प्रकार (मर्यः) मनुष्य भी (देवीम्) उत्तम गुणों से युक्त (रोचमानाम्) चित्त को हरने वाली (योषाम्) स्त्री के (पश्चात्) पीछे (अभि एति) चलता है और परिक्रमा करता है ।

[१०८] राजा, परमेश्वर ।

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ गायत्री, २ ककुप् ३ पुर उष्णिक् । तृचं सूक्तम् ॥

त्वं न॑ इन्द्रा भ॒रँ ओजो॑ नृ॒म्णं श॑तक्रतो विचर्षणे ।
आ वी॒रं पृ॑तना॒षह॑म् ॥१॥ ऋ० ८ । ९९ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! परमेश्वर ! (त्वं) तू (नः) हमें (ओजः) वीर्य, बल, पराक्रम (आ भर) प्रदान कर । हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञावाले ! हे (विचर्षणे) विशेष रूप से सब के द्रष्टा ! तू हमें (नृम्णम्) धन और (पृतना-सहम्) शत्रुसेना को पराजित करने हारे (वीरम्) वीर पुरुष को (आ भर) प्रदान कर ।

त्वं हि नः पि॒ता व॑सो॒ त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ ।
अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे ॥ २ ॥ ऋ० १० । ८ । ९९ । ११ ॥

भा०—हे (वसो) सबको बसाने हारे ! सब में बसने हारे, व्यापक ! हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और बलों से युक्त ! क्योंकि (त्वं हि) तू ही (नः) हमारे (पिता) पिता के समान पालक, उत्पादक और (माता) माता के समान स्नेही, उत्पादक और शिक्षक (बभूविथ) है । (अधा) इसीसे (ते) तुझसे हम (सुम्नम्) सुख की (ईमहे) याचना करते हैं ।

इसी प्रकार राजा भी प्रजा का माता पिता के समान स्नेह से पालन करे, उसको ऐश्वर्य प्रदान करे ।

त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो ।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥३॥ ऋ० ८ । ९९ । १२ ॥

भा०—हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से नित्य पुकारे जाने योग्य ! हे (शतक्रतो) अनन्त प्रज्ञावाले ! हे (शुष्मिन्) बलवन् ! (वाजयन्तम्) ऐश्वर्य प्रदान करने वाले (त्वाम्) तेरी मैं (उप ब्रुवे) स्तुति करता हूं । (सः) वह तू (नः) हमें (वीर्यम्) उत्तम वीर्य, बल (रास्व) प्रदान कर ।

[१०९] राजा, आत्मा, और परमात्मा ।

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । ककुभः । तृचं सूक्तम् ॥

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥

ऋ० १ । ८४ । १० ॥

भा०—जिस प्रकार (विषूवतः) व्याप्त तेज वाले सूर्य की (गौर्यः) श्वेत किरणें (मध्वः पिबन्ति) जल का पान करती हैं । उसी प्रकार (गौर्यः) पृथ्वी पर रमण करने वाली प्रजाएं (विषूवतः) व्यापक, विस्तृत राज्य वाले राजा, 'इन्द्र' के अधीन रह कर (स्वादोः) अति मधुर (मध्वः) अन्न और ऐश्वर्य का (पिबन्ति) रस के समान पान करती, भोग करती हैं । (याः) जो प्रजाएं (वृष्णा इन्द्रेण) बलवान् परमेश्वर के साथ (सयावरीः) नित्य गमन करने वाली, (वस्वीः) धनैश्वर्य युक्त अथवा प्रजायें नित्य, सदा से बसी हुई (शोभसे) अपने अधिक ऐश्वर्य शोभा के लिये (स्वराज्यम्) अपने स्वतन्त्र राज्य शासन के अनुकूल रह कर ही (मदन्ति) सदा आनन्द प्रसन्न रहती हैं ।

अध्यात्म में—(गौर्यः) गौ, ज्ञानवाणियों में रमण करने वाली आत्मसाधक प्रजाएं (विपूवतः) व्यापक (स्वादोः मध्वः) सुस्वादु ब्रह्मरस का आस्वादन करती हैं। वे (इन्द्रेण सयावरीः) आत्मा या परमेश्वर के साथ नित्य प्राप्त होकर भी (शोभसे) अपनी विभूति के निमित्त (स्वराज्यम् अनु) अपने स्व=आत्मा के प्रकाश के अनुसार ही (मदन्ति) आनन्द लाभ करती हैं।

आत्मा को अपने सात्विक भाव के अनुसार ही ब्रह्मरस की प्राप्ति होती है। अधिक सात्विक पुरुष अधिक आनन्द उठाते हैं।

ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् २

भा०—(ताः) वे (पृश्नयः) नाना वर्णों की या हृष्ट पुष्ट (पृशनायुवः) परस्पर के स्पर्श या सम्पर्क या परस्पर प्रेम को चाहती हुई, सुसंगठित होकर (अस्य) इस राष्ट्र के लिये (सोमम्) राज्य, ऐश्वर्य को (श्रीणन्ति) परिपक्व करती हैं, उसकी रक्षा करती और उसकी वृद्धि करती हैं। (धेनवः) रसपान करानेहारी गौवों के समान (प्रियाः) अति प्रिय प्रजाएं (स्वराज्यम् अनु वस्वीः) अपने स्वायत्त राज्य के कारण अति ऐश्वर्यवती होकर ही (सायकम्) शत्रुओं के अन्त कर देने वाले (वज्रं) शत्रुनिवारक बल या शस्त्रों को भी (हिन्वन्ति) शत्रु पर प्रहार करती हैं।

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥३॥

भा०—(ताः) वे प्रजाएं (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (अस्य) इस अपने राष्ट्रपति के (सहः) शत्रु पराजयकारी बल का (नमसा) आदर से या अन्नादि पदार्थों से (सपर्यन्तिं) सत्कार करती हैं और (अस्य) इसके बने (पुरूणि) बहुतसे प्रजापालन सम्बन्धी (व्रतानि)

नियमों का (स्वराज्यम् अनु वस्वीः) स्वायत्त राज्य शासन के द्वारा ऐश्वर्य-वान् होकर (पूर्वचित्तये) अपने आप पूरी ज्ञानवान् या पूरी रीति से सचेत और उत्तरदायी होने के लिये (सश्चिरे) पालन करती हैं।

[११०] परमात्मा, आत्मा।

श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥१॥ ऋ० ८। ९२। १९ ॥

भा०—(मद्वने) हर्ष और आनन्दस्वरूप का सेवन करने वाले (इन्द्राय) साक्षात् द्रष्टा, आत्मा के (सुतम्) ऐश्वर्य को लक्ष्य करके (नः गिरः) हमारी वाणियां (परि स्तोभन्तु) स्तुतियां करती हैं। (अर्कम्) उसी अर्चना योग्य, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर की (कारवः) उत्तम विद्वान् पुरुष (अर्चन्तु) स्तुति करते हैं।

यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥२॥ ऋ० ८। ९२। २१ ॥

भा०—(यस्मिन् अधि) जिसके आश्रय पर (विश्वाः श्रियः) समस्त सेवन करने योग्य लक्ष्मियां और समस्त शोभाएं और (सप्त संसदः) सात संसद्, राजा के आश्रय सात संसद्, राष्ट्र संस्थाओं के समान परमेश्वर के आश्रय सात लोक, और आत्मा के आश्रयभूत शरीर के सात प्राण या सात धातुएं (रणन्ति) शोभा देती हैं (इन्द्रम्) आत्मा को लक्ष्य करके (सुते) परम आनन्द रस प्राप्त होने पर (हवामहे) हम स्तुति किया करते हैं।

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत।
तमिद् वर्धन्तु नो गिरः ॥३॥ ऋ० ८। ९२। २१ ॥

भा०—(त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (देवासः) दिव्य, तेजोमय महान् शक्तियां (चेतनम्) एक चेतनस्वरूप, सबके भीतर ज्ञाता रूप से विद्यमान (यज्ञम्) सबको संगत करने वाले, परस्पर मिलाए रखने वाले, परम पूजनीय, सबको शक्ति देने वाले परमेश्वर को (अत्नत) विस्तृत करते हैं। उसी के सामर्थ्य को प्रकट करते हैं। (नः गिरः) हमारी वाणियां भी (तम् इत्) उस परमेश्वर को ही (वर्धन्तु) बढ़ाती हैं उसी का यश फैलाती हैं।

आत्मा के पक्ष में-(त्रिकद्रुकेषु) ज्योति, गौः आयु अर्थात् मन इन्द्रिय-गण और जीवन इन तीन रूपों में (देवासः) प्राणगण (चेतनं यज्ञम्) चेतन आत्मा को ही (अत्नत) विस्तृत करते हैं उसके ही सामर्थ्यों का विस्तार प्रकट करते हैं अथवा (देवासः) विद्वान्‌गण सर्वत्र उसी परमेश्वर या आत्मा के सामर्थ्यों का निरूपण करते हैं (इम् इत् नः गिरः वर्धन्तु) उसी को हमारी वाणियां भी प्रकट करती हैं।

[१११] आत्मा।

पर्वत ऋषिः। सोमो देवता। उष्णिहः। तृचं सूक्तम्॥

यत् सोम॑मिन्द्र॒ विष्ण॑वि॒ यद्वा॑ घ त्रि॒त आ॒प्त्ये।
यद्वा॑ म॒रुत्सु॒ मन्द॑से॒ समिन्दु॑भिः ॥१॥ ऋ० ८। १२। १७॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! साक्षात् अपने स्वरूप का दर्शन करने हारे (यत्) जब तू (विष्णवि) व्यापक परमेश्वर के ध्यान में मग्न होकर (सोमम् मन्दसे) परम ऐश्वर्य को भरपूर प्राप्त करके आनन्दित होता है और (यद् वा घ) जब भी तू (आप्त्ये) प्राणों के परिपालक (त्रिते) सबसे उत्कृष्ट अपने ही स्वरूप में (सोमं मन्दसे) आनन्दरस या ऐश्वर्य को लाभ कर तृप्त होता है और (यद् वा) जब भी (मरुत्सु) प्राणों के

बीच में (मन्दसे) आनन्द लाभ करता है तब २ (इन्दुभिः सम् मन्द से) ऐश्वर्यों और हृदय को द्रवित करने वाले रसों से ही तृप्त होता है।

यद्वा शक्र परावति समुद्रे अधि मन्दसे।
अस्माकमित् सुते रणा समिन्दुभिः ॥२॥ ऋ० ८। १२। १७ ॥

भा०—(यद्वा) और जब भी हे (शक्र) शक्तिशालिन् आत्मन्! तू (परावति) दूर विद्यमान (समुद्रे) रसों के परम भण्डार, समस्त लोकों के उद्भवस्थान परमेश्वर रूप परम रससागर में (अधि मन्दसे) आनन्दरस का लाभ करता है तब भी (अस्माकम् इत् सुते) हमारे ही अपने सेवन किये योगादि साधनों से प्राप्त आनन्द में (इन्दुभिः सम् रण) हृदय को द्रवित करने वाले परमानन्दों से ही रमण करता है।

यद्वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते।
उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥३॥ ऋ० ८। १२। ८ ॥

भा०—हे (सत्पते) सज्जनों के प्रतिपालक ! हे सत् परमेश्वर के स्वरूप तक पहुंचने वाले आत्मन् ! (यत् वा) जब भी तू (सुन्वतः यजमानस्य) सवन क्रिया, उपासना और योगसाधना करने वाले एवं (यजमानस्य) देव पूजन करने वाले पुरुष की (वृधः) वृद्धि करता है (वा) और (यस्य उक्थे) जिस किसी के भी कहे स्तुति, वचन में (रण्यसि) आनन्द अनुभव करता है तब भी तू (इन्दुभिः सम्) हृदय को द्रवित करने वाले अपने ही आनन्द, रसों में तृप्त होता है।

[११२] आत्मा और राजा।

सुकक्ष ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिहः। तृचं सूक्तम् ॥

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य।
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥१॥ ऋ० ८। ९३। ४ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) मेघों को अपने प्रखर तेज से विनाश करने वाले सूर्य के समान अपने तेजों से आवरणकारी अज्ञान पटलों के नाशक हे (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्विन् ! सबके प्रेरक ! एवं राजन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् आत्मन् ! (यत् अद्य) जब आज के समान नित्य (सम् अभि) जिस पदार्थ को भी लक्ष्य करके तू (उत् अगाः) उदय होता है, उठता है (तत् सर्वं) वह सब भी (ते वशे) तेरे वश में हो जाता है।

यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे।
उतो तत् सत्यमित् तव ॥ २ ॥ ऋ० ८।८३।५॥

भा०—हे (सत्पते) सत् तत्व के पालक, सत्स्वरूप अविनाशिन् ! (यत् वा) और जब भी तू (प्रवृद्धः) अति शक्तिशाली होजाता है तब (न मरा) तू कभी नहीं मरता (इति) ऐसा ही (मन्यसे) जाना जाता या तू स्वयं जाना करता है। (उतो) और (तत्) वह (तव) तेरा (सत्यम् इत्) सत्य स्वरूप ही है, वही तेरा 'सत्' परमेश्वर में वर्तमान स्वरूप है।

ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे।
सर्वांस्ताँ इन्द्र गच्छसि ॥३॥ ऋ० ८।८३।५॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (ये) जो (सोमासः) आनन्दरस या ऐश्वर्य के (परावति) परम पद मोक्ष में स्थित, परमेश्वर और (अर्वावति) समीप में स्थित अपने आत्मा के भीतर (सुन्विरे) सवन किये जाते हैं, अनुभव किये जाते हैं (तान् सर्वान् गच्छसि) तू उन सब को ही प्राप्त होता है।

राजा के पक्ष में—जो ऐश्वर्य दूर और समीप के देशों में उत्पन्न होते हैं तू उन सबको प्राप्त होता है।

[११३] राजा, सूर्य और परमेश्वर।

भर्ग ऋषिः। इन्द्रो देवता। प्रगाथः। द्व्यृचं सूक्तम्॥

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्॥१॥
ऋ० ८। ६१। १॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा, (अर्वाक्) साक्षात् (नः) हमारे (इदं) इस (उभयम्) अपने अनुकूल और अपने प्रतिकूल दोनों प्रकार के (वचः) वचन को (शृणवत्) सुने। वह (सोमपीतये) सोमपान करने, राष्ट्र के पालन करने के लिये (मघवा) ऐश्वर्यवान् होकर (सत्राच्या धिया) विवेकपूर्वक सत्य मात्र के ग्रहण करने वाली बुद्धि से (शविष्ठः) अति बलवान् होकर (आ गमत्) प्राप्त हो।

ईश्वर के पक्ष में—इन्द्र परमेश्वर हमारे वैदिक और लौकिक, ऐहिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के वचन सुने, वह सदा विद्यमान धारण-शक्ति से युक्त सर्व शक्तिमान् होकर हमें आनन्दरस प्राप्त कराने के लिये प्राप्त हो।

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः॥२॥
ऋ० ८। ६१। २॥

भा०—(स्वराजं) स्वयं अपने बल और तेज से प्रकाशमान, (वृषभम्) श्रेष्ठ, (तम् हि) उस पुरुष को (धिषणे) समस्त विश्व को धारण करने वाले आकाश और पृथिवी जिस प्रकार सूर्य को (ओजसे) पराक्रम के कार्य के लिये समर्थ करती हैं उसी प्रकार (तम्) उस वीर पुरुष को (धिषणे) धारण में समर्थ नर और नारीगण अथवा राजा-प्रजावर्ग मिलकर (ओजसे) बल पराक्रम की वृद्धि के लिये (निः ततक्षतुः) अपना

राजा बनाते हैं। हे इन्द्र! राजन्! तू भी (उपमानाम्) अपने समान अन्यों के बीच में (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ होकर (निषीदसि) विराजता है। (ते मनः हि) तेरा मन भी अवश्य (सोमकामं) राष्ट्रैश्वर्य की कामना करता है।

[११४] राजा और आत्मा।

सौभरिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यौ। द्वयृचं सूक्तम्॥

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥१॥ ऋ० ८। २१। १३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! राजन्! आत्मन्! तू (जनुषा) जन्म से ही, स्वभाव से ही. (अभ्रातृव्यः) शत्रुरहित है। तू (अनाः) नेतारहित है, अर्थात् तू सबका नेता है. तेरा कोई नेता नहीं। (अनापिः) तेरा कोई बन्धु नहीं प्रत्युत तू सबका बन्धु है, तू (सनात् असि) चिरन्तन, पुराण पुरुष है, सबसे अधिक पुरातन सनातन है. तू भी (युधा इत्) युद्ध द्वारा ही (आपित्वम्) शत्रुपक्ष से बन्धुता सन्धि द्वारा मेल (इच्छसे) चाहता है। अर्थात् युद्ध करके ही शत्रु को भी अपना मित्र बना लेता है।

परमेश्वर के पक्ष में—उसका कोई न शत्रु है, न बन्धु, उसका कोई नायक नहीं. अतः (अनाः) विनायक है। वह सनातन है, (युधा) योग द्वारा ही वह आत्मा का बन्धु होना चाहता है।

नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित् पितेव हूयसे ॥२॥
ऋ० ८। २१। १४॥

भा०—हे इन्द्र! राजन्! तू (सख्याय) अपने मित्रता के लिये भी (रेवन्तं) केवल धनवान् स्वयं कोश, कंजूस को (नकिः) कभी भी

नहीं (विन्दसे) प्राप्त करता है, क्योंकि वे (सुराश्वः) सुरा, राज्यलक्ष्मी से समृद्ध, एवं सुरा, मदकारी पदार्थों के सेवन से मदमत्त होकर (ते) तेरे उत्तम जनों को (पीयन्ति) विनाश किया करते हैं। (यदा) जब तू (नदनुम्) मेघ के समान गर्जन करता है तब (सम् ऊहसि) तू भली प्रकार मेघ के समान ही समृद्धियों को भी प्राप्त कराता है और (आत् इत्) तभी प्रजाओं द्वारा (पिता इव) पालक पिता के समान (हूयसे) पुकारा जाता है।

[११५] राजा, परमेश्वर ।

वत्स ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्र्यः। तृचं सूक्तम् ॥

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभं।
अहं सूर्य इवाजनि ॥१॥ ऋ० ८।६।१०॥

भा०—(अहम् इत्) मैं ही केवल (ऋतस्य) सत्य ज्ञान, व्यक्त जगत् और राष्ट्र के व्यवस्था कानून के और (पितुः) पालक प्रभु की (मेधाम्) पवित्र सत्संगकारी बुद्धि को (परि जग्रभ) सब प्रकार से ग्रहण करता हूं, धारण करता हूं, इसलिये (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) हो जाता हूं।

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्।
येनेन्द्रः शुष्मिद् दधे ॥२॥ ऋ० ८।६।१०॥

भा०—(अहम्) मैं (प्रत्नेन) बड़े पुरातन, सनातन से चले आये, नित्य (मन्मना) वेदमय ज्ञान से (कण्ववत्) मेधावी ज्ञानी पुरुष के समान (गिरः) वाणियों को (शुम्भामि) प्रकट करता हूं। (येन) जिस से (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा (शुष्मम्) बलको (इद्) ही (दधे) धारण करता है। महा मन्त्री वेदानुकूल आज्ञाओं को प्रकाशित करे जिस से राजा का बल बढ़े।

परमेश्वर ही के पुरातन ज्ञानरूप से वाणियों को प्रकट करता है जिस से जीवों के ज्ञानबल की वृद्धि होती है ।

ये त्वामिन्द्र न तुंष्टुवुर्ऋषंयो ये च तुंष्टुवुः ।
ममेद् वर्धस्व सुष्टुंतः ॥३॥ ऋ० ८ । ६ । १२ ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वम्) तेरी (ये) जो पुरुष (तुष्टुवुः) स्तुति नहीं करते और (ये च) जो (ऋषयः) साक्षात् मन्त्रद्रष्टा या तर्कशील विद्वान् होकर (तुष्टुवुः) स्तुति भी करते हैं, तुझे उपदेश भी करते हैं उन सब में (मम इत्) मेरी स्तुति द्वारा ही (सुष्टुतः) उत्तम रीति से स्तुति या उपदेश किया जाकर तू (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त हो ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे परमेश्वर जो तेरी स्तुति नहीं करते हैं और जो म न्त्रार्थ द्रष्टा होकर तेरी स्तुति करते हैं उन सब में तू ही (सुस्तुतः) उत्तम स्तुति करने योग्य है । तू (मम इत् वर्धस्व) मेरी वृद्धि कर अथवा उनमें तू (मम सुस्तुतः सन् वर्धस्व) मेरे द्वारा उत्तम रीति से स्तुति किया जाकर वृद्धि को प्राप्त हो । अर्थात् उन सबसे अधिक मैं तेरी स्तुति करूं, तेरे यश को बढ़ाऊं ।

[११६] आत्मा, परमेश्वर, राजा ।

मेध्यातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहत्यौ । द्वयृचं सूक्तम् ॥

मा भूम निष्ट्या इवेन्द्र त्वदरंणा इव ।
वनांनि न प्रंजहितान्यद्रिवो दुरोषांसो अमन्महि ॥ १ ॥
ऋ० ८ । १ । १३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! राजन् ! हम (त्वत्) तेरी कृपा से कभी (निष्ट्याः इव) नीचों के समान संवरहित, निःसहाय और (अरणाः इव) रण या रमण के अयोग्य, अशक्त, दुःखी (मा भूम) न होजावें । और (प्रजहितानि) छोड़ दिये गये या शाख आदि से रहित, निःसहाय

(वनानि इव) वृक्षों के समान भी (मा भूम) न हों । हे (अद्रिवः) वज्रवन्, अमेघ बल से युक्त ! हम (दुरोपासः) शत्रुओं से सन्ताप दिये जाने योग्य कभी न होकर, अपने गृहों में सुख से रहते हुए सदा तेरा (अमन्महि) स्मरण करें ।

प्रामन्महि दिनाशवो॑ऽनुग्रासश्च वृत्रहन् ।
सकृत् सु ते॑ महता शूर राधसानु स्तोमं॑ मुदीमहि ॥२॥

ऋ० ८।१।१४॥

भा०—हे (वृत्रहन्) शत्रुओं के नाशक ! विघ्ननाशक ! हम (अनाशवः) संग्राम में अति शीघ्र न होकर और (अनुग्रासः च) उग्र, भयंकर भी न होकर (अमन्महि इव) ऐसा ही चाहते हैं कि (सकृत्) एक वार भी हे (शूर) शूरवीर ! (महता राधसा) तेरी बड़ी भारी आराधना से (स्तोमम्) स्तुति के साथ (अनुमदीमहि) अति आनन्द तृप्ति का लाभ करें ।

राजा के पक्ष में—हम (अनाशवः अनुग्रासश्च) जो सेना पुरुषों के समान तीव्रगामी हैं और जो उग्र बलवान् हैं । वे भी ऐसा चाहते हैं कि (ते राधसा) तेरे ऐश्वर्य से एक वार (स्तोमं अनु मदीमहि) तेरी स्तुति करके ही हम प्रसन्न हुआ करें, हमारा राजा बड़ा बलवान् है, ऐश्वर्यवान् है ।

[११७] राजा, आत्मा ।

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् । तृचं सूक्तम् ॥

पिबा सोम॑मिन्द्र मन्द॑तु त्वा यं ते॑ सुषाव॑ हर्यश्वाद्रिः ।
सोतु॑र्बाहुभ्यां सुय॑तो नार्वा ॥ १ ॥ ऋ० ७ । २२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! आत्मन् ! तू (सोमं पिब) सोम राष्ट्र के ऐश्वर्य का पान कर, भोग कर । हे (हर्यश्व) तीव्रगति वाले घोड़ों से युक्त !

(यं) जिस राष्ट्रैश्वर्य को (अद्रिः) तेरा अभेद्य वज्र, शासन (सुषाव) उत्पन्न करता है वह (त्वा) तुझे तृप्त करे, आनन्दप्रद हो। वह (सोतुः) आज्ञाकारी सर्वप्रेरक महामात्य की (बाहुभ्याम्) शत्रुओं को बाधन या पीड़ा देने वाली बाहुओं से, सेना बल से (सुयतः) उत्तम रीति से सु-व्यवस्थित सुप्रबद्ध होकर (सुयतः अर्वा न) सुसंयत अश्व के समान सन्मार्ग पर चले।

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि।
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥ ऋ० ७।२२।२ ॥

भा०—हे (हर्यश्व) वेगवान् अश्वों वाले! (यः) जो (ते) तेरा (युज्यः) परस्पर संयोग, सत्संग से प्राप्त होने वाला (चारुः) उत्तम (मदः) हर्ष या तृप्तिकर बल (अस्ति) है और (येन) जिससे तू (वृत्राणि) विघ्नकारी शत्रुओं को (हंसि) विनाश करता है हे (प्रभूवसो) अधिक ऐश्वर्यवाले! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (सः) वह (त्वाम्) तुझको (ममत्तु) आनन्द प्रसन्न रक्खे।

अध्यात्म में—(यः ते युज्यः चारुः मदः) जो तेरा योग समाधि से उत्पन्न व्यापक आनन्द है, जिससे हे (हर्यश्व) दुःखहारी प्राणों वाले जीव! तू (वृत्राणि हंसि) बाधक तामस कारणों को विनष्ट करता है। (प्रभूवसो) अधिक सामर्थ्यवान् शरीरवासिन् जीव! वह तुझे सदा आनन्दित रक्खे।

बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्।
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ३ ॥ ऋ० ७।२२।३ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान्! (यां) जिस (प्रशस्तिम्) उत्तम शासन सम्बन्धी वाणी या शिक्षा को (वसिष्ठः) सबसे श्रेष्ठ पुरोहित विद्वान् (अर्चति) तेरे लिये उपदेश करता है उसको और (इमा)

इस (मे) मेरी (वाचम्) उत्तम वाणी को भी (सुबोध) उत्तम रीति से, जान और (सधमादे) एकत्र सुख अर्थात् हर्ष अनुभव करने के स्थान सभा भवन में भी (इमा ब्रह्म) इन ब्रह्म-वेदवचनों को (जुषस्व) प्रेम से सेवन कर ।

[११८] राजा ।

१, २ भर्गो ऋषिः । ३, ४ मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः ।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ६१ ५ ॥

भा०—हे (शचीपते) शक्ति के पालक ! हे (इन्द्र) शत्रुनाशक ! तू (विश्वाभिः) समस्त (ऊतिभिः) रक्षा साधनों से (सु शग्धि) उत्तम सुखकारी पदार्थ प्रदान कर । (भगं न) ऐश्वर्यवान् के समान (यशसं) यशस्वी (त्वा) तुझ को (वसुविदम्) ऐश्वर्यों का देने वाला जानकर ही हे (शूर) शूरवीर हम (त्वा अनु चरामसि) तेरे पीछे अनुसरण करते हैं ।

पौरो अश्वस्य पुरुकृद् गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥ २ ॥

ऋ० ८ । ६१ । ६ ॥

भा०—हे (देव) दानशील देव ! तू (अश्वस्य पौरः) अश्वों को पूर्ण करने वाला और (गवाम् पुरुकृत्) गौ आदि पशु सम्पत्ति को बढ़ाने वाला और (हिरण्ययः उत्सः) सुवर्ण आदि धनैश्वर्य का अक्षय कोष (असि) है । (त्वे) तेरे दिये (दानम्) दान को (नकिः हि) कोई भी नहीं (परिमर्धिषत्) नाश कर सकता । हे राजन् (यत् यत्) जो जो

पदार्थ भी मैं (यामि) याचना करूं । तू (तत् तत्) वह (आ भर) प्राप्त करा ।

इन्द्रमिद् देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । ३ । ५ ॥

भा०—(देवतातये) देवों के लिये या दिव्यगुणों के प्राप्त करने और विद्वान् पुरुषों के उपकार के लिये (इन्द्रम् इत्) इन्द्र को ही हम (हवामहे) बुलाते हैं । (प्रयति अध्वरे) यज्ञ के प्रारम्भ में (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर का स्मरण करते हैं । (वनिनः) इन्द्र का भजन सेवन करते हुए हम (इन्द्रम्) इन्द्र को (समीके) युद्ध में (हवामहे) बुलाते हैं । और (धनस्य सातये) धन के प्राप्त करने के लिये (इन्द्रं हवामहे) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् का ही स्मरण करते हैं ।

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ॥ ४ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ही (शवः मह्ना) अपने बल के महान् सामर्थ्य से (रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों लोकों को (पप्रथत्) विस्तृत करता है । (इन्द्रः) वह ईश्वर ही (सूर्यम् अरोचयत्) सूर्य को प्रकाशित करता है । (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक (इन्द्रे) इस महान् परमेश्वर के आश्रय पर ही (येमिरे) नियम में व्यवस्थित हैं । (इन्द्रे) परमेश्वर के आश्रय पर ही (सुवानासः) समस्त जीवों को उत्पन्न करते हुए (इन्दवः) द्रव पदार्थ जल आदि, एवं प्राकृतिक तेजस्वी पदार्थ नियम से कार्य कर रहे हैं ।

[११९] ईश्वर ।

१. आयुः श्रुष्टिगुश्चर्षिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभौ । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥
ऋ० ८ । ५२ । ९ ॥

भा०—(पूर्व्यम्) सबसे पूर्व विद्यमान (मन्म) मनन करने योग्य ज्ञान को (अस्तावि) वर्णन किया जाता है । वही (ब्रह्म) महान् ज्ञान है विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्राय) परमेश्वर के निरूपण करने के लिये (वोचत) उच्चारण करो । (ऋतस्य) सत्य ज्ञान, वेद के ज्ञान से (पूर्वीः) पूर्ण (बृहतीः) वाणियों को (अनूषत) स्तुतिरूप से कहो । और (स्तोतुः) यथार्थ वचन कहने वाले पुरुष की (मेधाः) उत्तम बुद्धियां आप से आप (असृक्षत) उत्पन्न होती हैं ।

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ५२ । १० ॥

भा०—(तुरण्यवः) अति शीघ्रता से कार्य सम्पादन करने वाले अप्रमादी, (विप्रासः) बुद्धिमान्, विद्वान् पुरुष (मधुमन्तम्) ज्ञानवान्, (घृतश्चुतम्) तेज के देने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी, (अर्कम्) स्तुति करने योग्य परमेश्वर की (आनृचुः) स्तुति करते हैं । वह (अस्मे) हमारे लिये (रयिः) समस्त ऐश्वर्य (पप्रथे) विस्तृत करता है । (सुवानासः) अभिषेक करने वाले (इन्दवः) ऐश्वर्य और (वृष्ण्यं शवः) बलवान् पुरुषों का बल सब (अस्मे) हमें प्राप्त हो ।

[१२०] परमेश्वर ।

देवातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः । द्वयृचं सूक्तम् ॥

यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥ १ ॥ ऋ० ८।४।१।

भा०—(यत्) क्योंकि हे (इन्द्र) इन्द्र ! परमेश्वर ! तू (नृभिः) मनुष्यों से (प्राक्) पूर्व से, (अपाक्) पश्चिम से, (उदङ्) उत्तर से और (न्यङ्) नीचे से भी अर्थात् आगे पीछे ऊपर नीचे सब तरफ से (हूयसे) बुलाया जाता है । हे (सिम) सर्वश्रेष्ठ ! हे (प्रशर्ध) उत्कृष्ट बलशालिन् ! शत्रुनाशक ! तू (पुरु) बहुत अधिक (आनवे) प्राणधारी, विद्वान् पुरुषों और (तुर्वशे) धर्मार्थ काम, मोक्ष के अभिलाषी, कामनावान् पुरुषों के बीच में इनके भले के लिये (नृपूतः) नेता पुरुषों द्वारा अभिषिक्त, पूजित, उपासित (असि) होता है ।

यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभिः स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि ॥ २ ॥
ऋ० ८ । ४ । २ ॥

भा०—(यद् वा) और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! तू (रुमे) उपदेश और श्रुतिसम्पन्न ज्ञानी पुरुष में, (रुशमे) हिंसाकारी क्षत्रिय पुरुष में, (श्यावके) देश देशान्तर जाने वाले व्यापारी पुरुष में और (कृपे) शारीरिक शक्ति वाले, श्रमी पुरुष में, इन चारों में (सचा) समान भाव से (मादयसे) स्वयं तृप्त, आनन्दमय, एवं सबके आत्मा को आनन्दित करता है । (स्तोमवाहसः) स्तुतियों को धारण करने वाले, (कण्वासः) मेधावी विद्वान् पुरुष (ब्रह्मभिः) ब्रह्म, वेदमन्त्रों से, हे (इन्द्र) ईश्वर ! (आयच्छन्ति) तुझे स्मरण करते हैं । तू (आगहि) साक्षात् प्राप्त हो, दर्शन दे ।

[१२१]

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥ ऋ० ७ । ३२ । २२ ॥

भा०—हे (शूर) शूर, सब पदार्थों के वेग देनेहारे ईश्वर ! (अदुग्धा धेनवः इव) दोहने योग्य, दुधार गौवें, जिनको अभी दुहा न गया हो वे जिस प्रकार अपने स्वामी के प्रति स्नेह से आती हैं उसी प्रकार हम (स्वर्दृशम्) सूर्य के समान सब के द्रष्टा (अस्य जगतः) इस जगत्, जंगम संसार और (तस्थुषः) स्थावर संसार के (ईशानम्) स्वामी तुझको (अभि नोनुमः) लक्ष्य करके स्तुति करते हैं ।

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ २ ॥

ऋ० ७ । ३२ । २३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वावान्) तुझसा (अन्यः) दूसरा (न दिव्यः न पार्थिवः) न आकाश में और न पृथिवी में (न जातः न जनिष्यते) न पैदा हुआ है और न पैदा होगा । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हम (अश्वायन्तः) अश्वों की कामना करते हुए और (गव्यन्तः) गौओं की कामना करते हुए (वाजिनः) अन्न और धनों के स्वामी होकर (त्वा हवामहे) तेरी स्तुति करते हैं ।

[१२२] ऐश्वर्यवान् राष्ट्र, गृहस्थ और राजा ।

शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ १ ॥

ऋ० १ । ३० । १३ ॥

भा०—(क्षुमन्तः) अन्न धन आदि से सम्पन्न होकर (याभिः) जिन स्त्रियों और उत्तम प्रजाओं के साथ हम (मदेम) आनन्दयुक्त और प्रसन्न रहें वे (तुविवाजाः) बहुत बलवान्, ज्ञानवान् और (रेवतीः) ऐश्वर्य और सौभाग्यवती होकर (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र या गृहस्थ में,

(नः) हमारे (सधमादः) साथ आनन्द, और हर्ष तृप्ति, तुष्टि लाभ करने वाली (सन्तु) हों।

आ घ त्वावान् त्मनाप्त स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः।
ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ३० । १४ ॥

भा०—हे (धृष्णो) विपक्ष के धर्षण करने हारे ! अति प्रगल्भ ! राजन् ! (चक्र्योः) रथ के चक्रों का (अक्षं न) अक्ष जिस प्रकार अपने द्वारा चक्रों को अपने में धारण करके रथ को तो सम्भालता ही है और स्वयं भी अपने को सम्भाले रहता है इसी प्रकार तू भी अपने ऊपर स्वयं और पर राष्ट्र के चक्रों को अपने नीति बल से धारण करके भी तू (त्वावान्) अपने जैसा ही अद्वितीय होकर, (त्मना आप्तः) स्वयं अपने आत्म सामर्थ्य से स्थिर होकर (स्तोतृभ्यः) स्तोता, विद्वान् पुरुषों के लिये (इयानः) प्रार्थित होकर उनको अभिमत पदार्थ (आ ऋणोः) प्राप्त कराता है।

आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्।
ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ३० । १५ ॥

भा०—(शचीभिः अक्षं न) वहन करने वाली शक्तियों से प्रेरित होकर 'अक्ष' धुरा जिस प्रकार दूर स्थान पर स्थित पहुंचाता और अभिमत फल को प्राप्त कराता है उसी प्रकार, हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रजाओं और कर्मों में कुशल विद्वन् ! तू (जरितॄणाम्) विद्वान्, यथार्थ गुणों के प्रवक्ता पुरुषों को (दुवः) परिचर्या, सेवा को प्राप्त कर उनके (कामं) अभिलाषित इच्छा के अनुकूल पदार्थ को (आ ऋणोः) प्राप्त कराता है।

[१२३] सूर्य और राजा।

कुत्स ऋषिः। सूर्यो देवता। त्रिष्टुभौ। द्वयृचं सूक्तम् ॥

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥१॥

भा०—(सूर्यस्य) सूर्य का, यही (देवत्वम्) देवत्व, दानशीलता है और (तत् महित्वम्) वह बड़ा महान् सामर्थ्य है जो (मध्या) अन्तरिक्ष के बीच में से (विततम्) विस्तृत मेघ को भी (सं जभार) संहार कर देता है। और (यत्) जब (सधस्थात्) अपने एकत्र होने के केन्द्र से (हरितः) रस हरण करने वाले किरणों को (अयुक्त) डालता है (आत्) तभी (रात्री) रात्रि को और (वासः) दिन को भी (सिमस्मै) समस्त जगत के लिये (तनुते) फैलाता है, करता है।

राजा के पक्ष में—(सूर्यस्य तत् देवत्वम्) सूर्य के समान सर्वप्रेरक तेजस्वी राजा की वह दानशीलता और (तत् महित्वम्) वह महान् सामर्थ्य है कि (कर्तोः मध्या) कार्य के बीच में (वितते) विस्तृत शत्रुरूप विघ्न को भी (सं जभार) संहार करदे। (यत्) जब वह (सधस्थात् हरितः अयुक्त) अपने राजसभा से आज्ञा लेजाने वाले संदेशहरों को और किरणों के समान अधिकारियों को नियुक्त करता है तभी (रात्री) रात्रि के समान सुखदायी राज्यव्यवस्था और (वासः) दिन के समान आच्छादक शासन (सिमस्मै) सबके लिये समान रूप से (तनुते) कर देता है।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥२॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य (द्योः उपस्थे) आकाश के बीच में स्थित होकर भी (मित्रस्य) 'मित्र' नाम प्राण-वायु और (वरुणस्य) वरुण अर्थात् मेघ के भी (रूपं) रूप को (अभिचक्षे) साक्षात् स्पष्ट ही (कृणुते) करता है। और (अस्य) इसका (अनन्तम्) अनन्त (रुशत्)

दीप्तिमान् (पाजः) तेज या किरण (अन्यत्) और है और (कृष्णम्) आकर्षण करने वाला बल (अन्यत्) अन्य है, जिसको (हरितः) हरणशील किरणें और लोकों को धारण करने वाली दिशाएं और गतिशील लोक (सं भरन्ति) धारण करते हैं।

[१२४] परमेश्वर, राजा और आत्मा।

वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः, ३ पादनिचृत् । पदृचं सूक्तम् ।

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥ ऋ० ४ । ३१ । १ ॥

भा०—(चित्रः) पूजनीय, (सदावृधः) सदा बढ़ाने हारा, (सखा) मित्र (नः) हमें (कया ऊत्या) न जाने किस परिचर्या या विधि से (आ भुवत्) साक्षात् हो और न जाने (शचिष्ठया) अति शक्तिवाली (कया) किस प्रज्ञा के (वृता) वर्त्तन या व्यवहार से वह हमें प्राप्त हो ? अथवा, नहीं जानते वह हमारे उत्साह और ऐश्वर्य की वृद्धि करने हारा हमारा मित्र किस प्रकार के रक्षा कार्य और किस महान् शक्तिशाली कर्म द्वारा हमें प्राप्त होता है।

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥ ऋ० ४ । ३१ । २ ॥

भा०—(अन्धसः) ऐश्वर्य के (मदानां) आनन्दमद हर्षों में से (कः) कौनसा (सत्यः) सत्य, सज्जनों को हितकर हर्ष (त्वा) तुझको (मत्सत्) प्रसन्न, तृप्त कर जिससे तू (दृळ्हा) दृढ़ से दृढ़ (वसु) ऐश्वर्यों को (आरुजे) अति रोग के समान भयंकर शत्रु या पीड़ाजनक कष्टों के लिये वारदे। अथवा—(दृढा चित् वसु) दृढ से दृढ शरीर रूप निवास स्थानों को (आरुजे) तोड़ने में समर्थ हो।

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतं भवास्यूतिभिः ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (नः) हमारे (सखीनाम्) मित्र, (जरितॄणाम्) विद्वानों का तू (शतम् ऊतिभिः) सैकड़ों रक्षा साधनों से (सु अभि अविता भव) उत्तम रक्षक हो ।

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥४॥
आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥५॥
प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ६ ॥

भा०—[४-६] तीनों मन्त्रों की व्याख्या देखो का० २० । ६३ । १—३ ॥

[१२५] राजा ।

कीर्तिर्ऋषिः । इन्द्रः, ४, ५ अश्विनौ च देवते । त्रिष्टुभः, ४ अनुष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम ॥ १ ॥
ऋ० १० । १३१ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुनाशक ! हे (मघवन्) धनों के स्वामिन् ! तू (प्राचः) सन्मुख के (अमित्रान्) शत्रुओं को (अप नुदस्व) दूर कर । हे (अभिभूते) पराजय करने हारे ! तू (अपाचः) पीठ पीछे लगे शत्रुओं को (अप नुदस्व) दूर कर । (उदीचः) हमारे

ऊपर, अधिकार प्राप्त शत्रुओं को (अप) दूर कर । और (अधराचः) हमारे नीचे के भृत्य रूप से वर्त्तमान शत्रुओं को भी (अप) दूर कर (यथा) जिससे हे (शूर) शूरवीर ! हम (तव) तेरे (उरौ) बड़े भारी (शर्मन्) शरण में (मदेम) हर्ष, सुख प्राप्त करें ।

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूयं ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः ॥ २ ॥
ऋ० १० । १३१ । २ ॥

भा०—(अङ्ग) हे इन्द्र ! (यवमन्तः) जौ आदि धान्यों के पैदा करने वाले खेतिहर लोग (यथा) जिस २ प्रकार के (यवं चित्) जौ आदि धान्य को (अनुपूर्वम्) क्रम से (वियूय) जुदा कर २ के (कुवित्) बहुतसा (दान्ति) काट लेते हैं उस २ प्रकार के तू (इह इह) नाना प्रदेशों में भी (एषाम्) उन लोगों के यवादि नये धान्यों के (भोजनानि) भोजनों को (कृणुहि) कर (ये) जो (बर्हिषः) यज्ञमय प्रजापालक राजा या इस राष्ट्र के (नमोवृक्ति) नमनकारी बल या दण्ड व्यवस्था या शासन के भंग के अपराध को (न जग्मुः) नहीं करते । अथवा (बर्हिषः) उस महान् ब्रह्म परमेश्वर के (नमो वृक्तिम् न जग्मुः) नमस्या, या पूजा में विच्छेद नहीं करते ।

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु ।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १३१ । ३ ॥

भा०—(स्थूरि) एक बैल या एक घोड़े वाली गाड़ी या रथ से (ऋतुथा) ठीक२ काल में, ठीक२ अवसर पर (नहि यातम् अस्ति) नहीं पहुंचा जा सकता । (न उत) और न (संगमेषु) सज्जनों के सभा सत्संगों में (श्रवः) यश ही प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् एक घोड़े के रथ

से समयपर युद्ध में नहीं पहुंचा जा सकता और न संग्राम में विजय, यश ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये (विप्राः) मेधावी विद्वान् पुरुष (गव्यन्तः) गौओं के इच्छुक (अश्वायन्तः) अश्वों के इच्छुक (वाजयन्तः) और अन्न धनैश्वर्य के इच्छुक होकर (इन्द्रम् वृणते) ऐश्वर्यवान् बलशाली राजा और परमेश्वर को ही (सख्याय) अपने मित्र होने के लिये वरण करते हैं।

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥४॥ ऋ० १० । १३१ । ४ ॥

भा०—हे (अश्विना) व्यापक अधिकार वाले दो बड़े अधिकारी पुरुषो! (नमुचौ) कभी भी न छोड़ने योग्य (असुरे) असुर, दुष्ट पुरुषों के हनन कार्य में (सचा) सदा साथ रहकर (युवम्) तुम दोनों (शुभस्पती) शुभ कार्यों के पालक होकर (सुरामम्) राज्य लक्ष्मी के साथ वर्तमान राष्ट्र की (विपिपाना) नाना कर्मों में रक्षा करते हुए (कर्मसु) समस्त कर्मों में (इन्द्रं) मुख्य राजा की (अवतम्) रक्षा करो।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥५॥
ऋ० १० । १३१ । ५ ॥

भा०—और (यत्) जब (शचीभिः) अपनी प्रज्ञाओं और शक्तियों से (सुरामं) उत्तम रमण योग्य राष्ट्र का (व्यपिबः) नाना प्रकार से भोग करता है और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (सरस्वती) उत्तम ज्ञान से युक्त विद्वत् सभा (त्वा) तुझको (अभिष्णक्) पीड़ा रहित करती है (पितरौ पुत्रम् इव) माता और पिता जिस प्रकार पुत्र की रक्षा करते हैं उसी प्रकार (अश्विना) व्यापक विस्तृत अधिकारों से युक्त दो बड़े अधिकारी (काव्यैः) अपने उपदेशों से और (दंसनाभिः) दर्शनीय

एवं शत्रु नाशक बड़े २ कर्मों से हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन्! तुझको (अवथुः) रक्षा करते हैं।

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १३१ । ६ ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ७ ॥
ऋ० १० । १३१ । ७ ॥

भा०—[६, ७] इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० का० ७ । सू० ९१ और ९२ ॥

[१२६] जीव, प्रकृति और परमेश्वर।

वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणी च ऋषयः। इन्द्रो देवता। पंक्तिः। त्रयोविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१॥

भा०—आत्मज्ञान का वर्णन। इन्द्रियगण (सोतोः) रस ग्रहण करने के लिये (वि असृक्षत) नाना प्रकार का यत्न करते हैं। परन्तु वे (इन्द्रं देवम्) उनको शक्ति प्रदान करने वाले परमेश्वर्यवान् आत्मा के स्वरूप को (न अमंसत) नहीं जानते। (यत्र) जिन प्राणों के ऊपर (वृषाकपिः) उनमें समस्त सुखों का वर्षण करने वाला और उनमें कम्पन या स्पन्द रूप से स्फूर्त्ति उत्पन्न करने वाला होकर (पुष्टेषु) भृति वेतनादि द्वारा पुष्ट भृत्य जनों में (अर्यः) स्वामी के समान (आमदत्) बड़े हर्ष अनुभव करता है। अर्थात् (अर्यः) स्वामी जिस प्रकार (पुष्टेषु) अपने हृष्ट

पुष्ट भृत्यों और प्रजाजनों के बीच बड़ा आनन्द लाभ करता है उसी प्रकार जो (अर्यः) समस्त प्राणों में व्यापक उनमें गति देने हारा उनका स्वामी होकर (पुष्टेषु) अन्नों से परि पुष्ट अंगों में (अमदद्) बड़े आनन्द अनुभव करता है वही (मत्सखा) वास्तव में मेरा मित्र भीतरी आत्मा है। वह (विश्वस्मात्) सबसे (उत्तरः) उत्कृष्ट (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् साक्षात् सूर्य के समान तेजस्वी है। और जिस परमेश्वर के आश्रय में रहकर लोग नाना प्रकार का आध्यात्मिक आनन्द लेने का यत्न करते हैं पर वे उसको जानते नहीं हैं। जीव आत्मा जिसमें नित्य आनन्द लेता है वही मुझ उपासक का मित्र है। वह सबसे बड़ा है।

अध्यात्म में-इन्द्र आत्मा है, वृषाकपि प्राण है, ब्रह्माण्ड में इन्द्र परमेश्वर है, वृषाकपि जीव है। राष्ट्र में—राजा इन्द्र है, वृषाकपि सेनापति है।

वृषाकपि इन्द्र का पुत्र है, इन्द्राणी वृषाकपि और इन्द्र तीनों का इस सूक्त में संवाद ऐतिहासिक लोग मानते हैं। परन्तु यह अलंकार है।

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! तू जब (वृषाकपेः) सुखों के वर्षण करने और दुःख कारणों के कंपा देने वाले जीवात्मा से (परा धावसि) परे चला जाता है तब तू (अतिव्यथिः) बड़ी व्यथा, अर्थात् भीतरी चित्त के कष्ट का कारण होजाता है। (अह) और (अन्यत्र) अन्य स्थानों अर्थात् संसार के दृश्यों या व्युत्थित दशाओं में (सोमपीतये) परम आनन्द रस, सोमपान कराने के लिये अथवा सोमरूप आत्मा को स्वयं पान करने, उसको अपनी शरण में ले लेने के लिये (नो प्रविन्दसि) दूरतक भी ढूंढे नहीं मिलता, वह (इन्द्रः) परमेश्वर (विश्वस्मात्) सबसे अधिक (उत्तरः) उत्कृष्ट, ऊंचा है।

परमेश्वर का साक्षात् न करके योगी साधक उसके लिये व्याकुल हो उठता है। वह ईश्वर फिर दुनियां के भोगों में उसे नहीं मिलता। वह भोग बन्धनों में पड़े उसको परम रस नहीं देता और अपने में नहीं मिलाता। वह ईश्वर सबसे महान् है।

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः। यस्मा इरस्यसीदु न्वर्यो वा पुष्टिमद् वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ३॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (अयं) यह (वृषाकपिः) सूर्य के समान तेजस्वी, मेघ के समान अपनी आत्मभूमि में आनन्दरस का धर्म-मेघ समाधि द्वारा वर्षण करनेहारा, कपि, सूर्य के समान अति तेजस्वी आत्मा (हरितः) आदित्य के समान तेजस्वी, तेरे द्वारा हरण किया गया, तुझ में आकृष्ट एवं (मृगः) अपने को शुद्ध करने और तुझ को नित्य खोजने में लगा हुआ, (त्वा) तेरे प्रति (किम् चकार) क्या प्रिय कार्य या उपकार करता है कि (यस्मै) जिसको तू (नु) भला (अर्यः वा) स्वामी के समान (पुष्टिमत्) गवादि धन धान्य से युक्त समस्त (वसु) ऐश्वर्य, (इरस्यसि इत् उ) दिये ही चला जा रहा है? ठीक है (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह तू ऐश्वर्यवान् परमेश्वर सबसे उत्कृष्ट, सबसे बढ़कर है।

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि। श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! परमेश्वर! (यम् इमम्) जिस इस (वृषाकपिम्) सामर्थ्यवान् तेजस्वी, (प्रियम्) अपने प्रिय, जीव को तू (अभिरक्षसि) सब ओर से रक्षा करता है उस जीव को (अस्य कर्णे) इसके कर्म के निमित्त (वराहयुः) वायु को कामना करने वाला (श्वा) आशु गतिशील प्राण (नु) ही (जम्भिषत्) उसे पकड़ लेता, या बान्ध

लेता है अथवा-(वराहयुः) वायु या प्राण वायु के अभिलाषी, अथवा (वराहयुः) उत्तम कहाने योग्य पदार्थों का अभिलाषी (श्वा) कुक्कुर के समान भोग करने वाला देह इसको (जम्भिषत्) अपने बन्धन में डाल लेता है । (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वह परमेश्वर ही सबसे ऊंचा है जो कभी देह बन्धन में नहीं आता ।

जिस सामर्थ्यवान् जीव का ईश्वर रक्षक है वह जीवात्मा जब २ भी कर्म करता है तब २ प्राण से जीवित, भोगायतन देह उसको बांध लेता है । परन्तु संसार को चलाने हारे परमेश्वर पर वह देहबंधन नहीं लगता ।

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् ।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥५॥

भा०—(कपिः) विषय वेगों से कम्पित, विचलित होजाने वाला, वानर के समान अति चञ्चल स्वभाव होकर यह आत्मा (मे) मेरे (तष्टानि) बनाये गये, मुझ प्रकृति में से परमेश्वर द्वारा सृजे गये, (प्रिया) प्रिय लगते वाले, (व्यक्ता) व्यक्त, प्रकट हुए पदार्थों को वह (वि अदूदुषत्) विविध प्रकार से भोग कर लेता है (नु अस्य) इसके तो मैं, प्रकृति (शिरः) शिर, अर्थात् मुख्य स्वरूप को (राविषं) नष्ट कर देती हूं । (दुष्कृते) दुष्ट आचरण करने वाले के लिये मैं (सुगं न भुवम्) सुखकारिणी कभी नहीं होती । (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह ऐश्वर्यवान् परमेश्वर सबसे उत्तम है ।

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।
न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥६॥

भा०—(मत्) मुझसे बढ़के (स्त्री) कोई स्त्री, (सुभसत्-तरा न) उत्तम कान्तिमती, सौभाग्यवती नहीं है । और मुझसे बढ़कर कोई स्त्री (सुयाशुतरा) सुख पूर्वक पति का संग करने वाली, उसको सुखप्रद

(न भुवत्) नहीं है। (मत्) मुझसे बढ़कर (प्रतिच्यवीयसी) पति के प्रति विनय से झुकने वाली भी कोई दूसरी नहीं है। (सक्थ्युद्यमीयसी न) जिस प्रकार स्त्री पति के संगकाल में जंघा आदि उठाती है उसी प्रकार मुझसे बढ़कर कोई दूसरी सक्थि अर्थात् समवाय शक्ति से (उद्यमीयसी) ईश्वरीय तेज को नियमन करने, धारण करने वाली भी नहीं है। इस लिये (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् मुझ प्रकृति का पति परमेश्वर ही सबसे ऊंचा है।

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति। भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ७ ॥

भा०—(उवे) हे (अम्ब) व्यापक शक्तिमति ! हे (सुलाभिके) सुख का लाभ कराने हारी (अंग) अंग, हे व्यक्तरूप प्रकृते ! (भसत्) देदीप्यमान तेज (मे) मेरे हों। (सक्थि मे) यह तेरी समवाय शक्ति (मे) मेरे उपयोग में आवे। (मे शिरः) मेरा शिर, मुख्य चित्त (वि-हृष्यति इव) विविध रूपों से हर्ष को प्राप्त होता है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् परमात्मा तो सबसे ऊंचा है। जीव कहता है कि ईश्वर विश्व से ऊंचा है। प्रकृति का यह सब सौभाग्य और सक्थि अर्थात् आसक्ति अर्थात् भोग्य शक्ति या जीवों को बांधने वाली शक्ति जीवके उपयोग में ही आती है। मैं जीव ही उससे प्रसन्न होता हूं, ईश्वर भोग बन्धनों में नहीं पड़ता।

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने। किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ८ ॥

भा०—सुन्दर स्त्री जिस प्रकार उत्तम बाहु वाली, (सु अङ्गुरिः) उत्तम अंगुलियों या अंगों वाली, (पृथुष्टुः) विशाल केश पाशवाली और (पृथु जाघना) विशाल नितम्ब वाली होकर (शूर पत्नी) शूरवीर पति की स्त्री होती है। इसी प्रकार हे प्रकृति ! तू भी हे (सुबाहो) उत्तम रीति से

जीवों को बांधने या संसार के जन्म मरण में पीड़ा देने वाली (स्वङ्गुरि) हे शोभन, प्रत्येक अवयव अवयव में दीप्ति वाली ! हे (पृथुष्टावने) विस्तृत व्यापक शक्तिवाली ! हे (शूरपत्नि) सबके प्रेरणा करने वाले, जगत् के सञ्चालक परमेश्वर को अपना पति, मानने वाली उसी की आज्ञा पालन करने हारी ! नु (किं रे) क्यों, किस निमित्त (नः) हमारे (वृषाकपिम्) जीव आत्मा को (अभि अमीषि) लक्ष्य कर उसपर क्रोध करती है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) ऐश्वर्यवान् मैं परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है।

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते । उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ९ ॥

भा०—(अयं शरारुः) यह व्याघ्र के समान हिंसाकारी मृत्यु (माम्) मुझ चेतना को (अवीराम् इव) वीर राजा से रहित प्रजा के समान या वीर पुरुष पति से रहित स्त्री के समान अरक्षित सा जानकर (अभि मन्यते) मेरा विनाश करना चाहता है और मुझे डर दिखाता है। परन्तु (उत अहम्) मैं तो (वीरिणी) वीर्यवान् आत्मा रूप वीर पति वाली या वीर्यवान् प्राण रूप पुत्र वाली (इन्द्रपत्नी) इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपना पालक प्राप्त करने वाली, (मरुत्सखा) शत्रुओं को मार देने वाले वीर पुरुषों के समान प्राणों को मित्र रूप से रखने हारी हूं। (और इन्द्रः) वह परमेश्वर (विश्वस्मात् उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट है।

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति । वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १० ॥

भा०—(वा) जिस प्रकार (नारी) स्त्री (संहोत्रं) एकत्र मिल कर करने योग्य होत्र, हवन, यज्ञ में और (समनम्) संग्राम में (अव गच्छति स्म) जाया करती है और (ऋतस्य) सत्यज्ञान का (वेधाः) प्राप्त करने हारी या सत्य व्यवस्था का विधान करने हारी (वीरिणी) वीर

पुत्रवती और (इन्द्रपत्नी) ऐश्वर्यवान् पुरुष या स्वामी की स्त्री होकर (महीयते) आदर और सत्कार का पात्र होती है। उसी प्रकार (पुरा) पहले (नारी) समस्त भुवन के कार्यों की नेत्री प्रवर्त्तिका प्रकृति अथवा 'नर', सबके प्रवर्तक परमेश्वर के, स्त्री के समान सदा साथ रहने वाली उसकी महती शक्ति, (संहोत्रम्) एक साथ मिलकर एक दूसरे के ग्रहण करने वाले संगमय यज्ञ को और (समनम्) समष्टि प्राण शक्ति के धारण की क्रिया को (अव गच्छति) प्राप्त करती है। अर्थात् प्रधान शक्ति ही नाना संयोग विभाग करती तथा वही सर्वत्र प्राण सञ्चार करती है। वही (ऋतस्य) सत्यज्ञान या सत्, गतिमत् रूप से प्रकट हुए जगत् की (वेधाः) विधात्री है। वही (वीरिणी) वीर्यवती (इन्द्रपत्नी) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपना मुख्य पालक रखने वाली स्त्री के समान उसकी सहचारिणी होकर (महीयते) बड़ीभारी शक्ति के रूप में प्रकट होती है। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वह परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है।

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥११

भा०—(आसु नारिषु) इन समस्त नारियों में से मैं (इन्द्राणीम्) इन्द्र की स्त्री के समान उसके सदा साथ रहने वाली परमेश्वर की ऐश्वर्यवती प्रकृति को (सुभगाम्) सबसे अधिक उत्तम ऐश्वर्यवती सौभाग्यवती (अश्रवम्) गुरूपदेश द्वारा श्रवण करता हूं (अपरं चन) और जिस प्रकार अन्य स्त्रियों के पति बूढ़े होकर मर जाते हैं उस प्रकार (अस्याः पतिः) इसका पति (जरसा) आयु के अन्त कर देने वाले बुढ़ापे के कारण (नहि मरते) नहीं मरता। वह अजर अमर है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) इन्द्र परमेश्वर समस्त संसार से ऊंचा है।

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१२

भा०—हे (इन्द्राणि इन्द्र की परमशक्ते ! प्रकृते ! (अहम्) मैं परमेश्वर भी (सख्युः) समान आत्मा या, इन्द्र नाम को धारण करने वाले सखा अपने मित्र (वृषाकपेः) आनन्द वर्षण कारक हृदय में कम्पन या रोमञ्च उत्पन्न करने हारे उस जीव के (ऋते) विना न रारण) मैं क्रीड़ा या विनोद नहीं करता अर्थात् मैं जगत् सर्जन रूप लीला का विस्तार नहीं करता। वह वृषाकपि जीव भी कैसा है ? (यस्य जिसका (इदम्) यह (अप्यं-हविः जलों में जिस प्रकार अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में उत्पन्न या लिङ्ग शरीरों में स्थित या उनसे बना हुआ प्रियम् हविः) अति प्रिय, ग्रहण करने योग्य अन्न, चेतनादायी प्राण ही (देवेषु) गन्ध आदि ज्ञानों के प्रकाशक इन्द्रिय गण में . गच्छति) प्राप्त होता है । और (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है ।

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत् त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १३

भा०—हे (वृषाकपायि) आनन्द रस के वर्षण से हृदय को रोमाञ्चित करने हारे, साधक पुरुष की जननि ! सत्वभूमे ! प्रकृते ! हे (रेवति) ऐश्वर्यवति ! हे (सुपुत्रे) सुखपूर्वक पुरुषों का त्राण करने हारी ! हे (सुस्नुषे) सुखका प्रस्रवण कराने हारी ! आत्मा में सुख बहाने वाली! (ते इन्द्रः) तुझे ऐश्वर्य का देने वाला तेरा पति, परमेश्वर (प्रियम्) अतिप्रिय (काचित्करम्) अति सुखकारी (हविः) उपादेय अन्न रूप जगत् को और (उक्षणः) आनन्दरस, या वीर्य के वर्षण, या सेचन करने में समर्थ प्राणों को आत्मा जिसप्रकार प्राणों को और सूर्य जिस प्रकार मेघों को अपने भीतर लेलता है

इसी प्रकार वह परमेश्वर जीवनरस के वर्षक प्रसारक सूर्यों को (घस्त्) अन्न के समान अपने भीतर ग्रस जाता है अपने भीतर ले लेता है।

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१४

भा०—(मे) मेरे लिये तो (उक्षणः) वीर्य सेचन, या सुख-वर्षण में समर्थ, प्राणों को (पञ्चदश) पन्द्रह और (विंशतिम्) बीस, या इनमें प्रविष्ट आत्मा को (साकम्) एक साथ (पचन्ति) विद्वान लोग परिपक्व करते हैं, तपस्या द्वारा इनको दृढ करते हैं। (उत) और (अहम्) मैं अद्मि) उनका भोग करता हूं, इनको स्वीकार करता हूं। (पीव इत्) और मैं अति बलवान् रहता हूं। वे (मे) मेरे (उभा कुक्षी) दोनों कोखों को (पृणन्ति) पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर (विश्वस्मात्) सबसे (उत्तरः) उत्कृष्ट है।

पंचदश-दश इन्द्रियगत प्राण और प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, ये पांच मिलकर १५ हुए। इनके भीतर प्रविष्ट होकर रहने वाला आत्मा 'विंशति' है।

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१५

भा०—(न) जिस प्रकार (तिग्मशृंगः) तीव्र सींगों वाला (वृषभः) वीर्य सेचन में समर्थ सांड यूथेषु अन्तः) गौओं के रेवड़ के बीच में (रोरुवत्) बराबर गर्जना करा करता है उसी प्रकार नाना के हृदयों में रस वर्षण करने हारा परमेश्वर (तिग्मशृंग:) अन्धकारों का नाश करने वाले तीव्र प्रकाश से युक्त होकर (यूथेषु अन्तः) नाना यूथों, संमिलन करने योग्य स्थानों, हृदयों में (रोरुवत्) अपनी ध्वनि कर रहा है

'सोहं' का नाद बजाता रहता है। हे इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! परमेश्वर ! यं) जिस परम रस को (आयुः) भक्ति भावों से युक्त उपासक (ते) तेरे निमित्त या तुझ से (सुनोति) उत्पन्न करता है, प्राप्त करता है वह (मन्थः) सब दुःखों का मथन, विनाश कर देने वाला एवं हृदय को मथन कर देने वाला, अति आह्लादकारी (ते) तेरा आनन्दरस (हृदे) हृदय को (शं) शांति देने वाला होता है । (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) इन्द्र परमेश्वर सबसे उत्कृष्ट परमानन्दकारी है ।

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या॒३ कपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१६॥

भा०—(यस्य) जिसका (कपृत्) कपाल, मस्तक (सक्थ्या अन्तरा) जांघों के बीच तक देवता के प्रति मनौती के लिये, या अपने से बड़े बलवान् को देखकर उसके आगे झुकने के लिये (रम्बते=लम्बते) लटक जाता है (न सः ईशे) वह स्वामी के समान शासन करने में समर्थ नहीं होता। (सः इत् ईशे) वही शासन करता है (निषेदुषः) राज्यासन पर विराजे हुए (यस्य) जिसका (रोमशं) लोमों या मूछों वाला मुख (विजृम्भते) विविध प्रकार से या विशेष रूप से खुलता और आज्ञा देता है। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) शत्रुनाशक ऐश्वर्यवान् राजा ही सबसे उत्कृष्ट है।

अध्यात्म में—(यस्य) जिस जीवात्मा का (कपृत्) अल्प पालन सामर्थ्य या सुखग्राही चित्त (सक्थ्या अन्तरा) आसक्ति योग्य पदार्थों के बीच में ही (रम्बते, लम्बते) लटक जाता है, लुब्ध होजाता है। (न स, ईशे) वह संसार का स्वामी, ईश्वर नहीं हो सकता। (सः इत् ईशे) वही ईश्वर है (निषेदुषः) निगूढ रूप से सर्वत्र व्यापक (यस्य) जिसका बनाया (रोमशम्) लोमयुक्त मुख के समान तेजस्वी किरणों से युक्त सूर्य (विजृम्भते)

विविध दिशाओं में फैलता है। अथवा [रोमशं=रु शब्दे। रौति शब्दयति इति रोम तेन युक्तं] सर्व उपदेशकारी, प्रवचन या गुरूपदेश के समान ज्ञान विविध रूपों से प्रकाशित होता है वह (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) परमेश्वर सबसे ऊंचा है। अथवा [रोमशं=लोमशं। लूयते इति लोम तद्=श्यति नाशयति इति लोमशम्]-अन्धकारों का काटने वाला और विघ्नों और जन्ममरण के बन्धनों को काटने वाला। जिसका ज्ञानमय तेज सूर्य के समान चारों तरफ प्रखरता से विस्तृत है वह परमेश्वर सबसे ऊंचा है।

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्याःकपृद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१७

भा०—(सः) वह (न ईशे) सबका स्वामी नहीं बन सकता (यस्य) जिसका (निषेदुषः) बैठे २ (रोमशं विजृम्भते) लोमयुक्त मुख केवल जंभाई लेता है। बल्कि (सः इत् ईशे) वह ही पुरुष सामर्थ्यवान् ऐश्वर्य का स्वामी बनता है (यस्य) जिसका (कपृद्) सुख और आनन्द से पूर्ण करने वाला स्वरूप, तेज या सामर्थ्य (सक्थ्या अन्तरा) परस्पर मिले हुए आकाश और पृथिवी के बीच में (रम्बते) मध्याह्न के सूर्य के समान विद्यमान रहता है। इसी कारण (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर सबसे अधिक ऊंचा है।

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१८

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र! (अयम्) यह (वृषाकपिः) सुखों का हृदय में वर्षण करने और दुःख के कारणों को कंपा कर अपने से पृथक् कर देने में समर्थ आत्मा (परस्वन्तं) अपने भीतर बसे, 'मैं परमेश्वर से दूर हूं' ऐसे भाव को अब (हतं विदत्) विनष्ट हुआ जाने। अब वह (असिं) दुःखों के काटने वाले, तीव्र तलवार के समान ज्ञानवज्र को (सूनाम्)

परब्रह्म की तरफ प्रेरणा करने वाली तीव्र बुद्धि और (नवं चरुम्) स्तुति योग्य तप या आचरण को और (एधस्य) तीव्र तेज के (आचितम्) पूर्ण सञ्चित (अनः) जीवन, इन सबको वह (विदत्) प्राप्त करे। क्योंकि (इन्द्रः) वह ईश्वर (विश्वस्मात् उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट है।

अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १९

भा०—(अयम्) यह मैं साक्षात् (विचाकशत्) विवेक पूर्वक देखता हुआ और (दासम् आर्यम्) दास, आर्य, नाशक और पालक स्वामी दोनों का (विचिन्वन्) विवेक करता हुआ (एमि) परिज्ञान पर आता हूं। (पाकसुत्वनः) जो पुरुष अपने आत्मज्ञान का परिपाक करता है और जो नित्य आत्मज्ञान रूप रस को योग समाधि द्वारा सवन करता है, उसको (पिबामि) मैं उसी का साक्षात् कर स्वीकार करूं और (धीरम्) मैं धीर, धीमान् उसी पुरुष को (अभि अचाकशम्) साक्षात् स्वयं देखता हूं और दूसरों दर्शाता हूं कि (विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः) वह ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है।

धन्वं च यत् कृन्तत्रं च कति स्वित् ता वि योजना।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२०॥

भा०—हे (वृषाकपे) आत्मभूमि में आनन्दरस के वर्षणशील और सुख के पान करनेहारे आत्मन्! (धन्व च) निर्जल देश और (कृन्तत्रं च) दुखदायी शरीर का छेदन भेदन करने वाला कांटेदार वन (ता) वे सब कुछ (कतिस्वित्) कितने ही (योजना) योजन हैं, अर्थात् वे कितने पदार्थों का योग कराने में समर्थ हैं? यह संसार धन्व अर्थात् मरुदेश के समान है जहां मृगमरीचि का से लुब्ध होकर मनुष्य भ्रमता है। इसी प्रकार यह संसार कांटेदार झाड़ियों से भरा, कण्टकाकीर्ण कष्टप्रद वन के समान है इसमें कितने पदार्थ हैं जो पुरुष के सदा साथ योग देने वाले हैं? एक भी

नहीं। तब तब हे जीव! तू अस्तम् एहि अपने गृह के समान शरणप्रद उस परमेश्वर को प्राप्त हो जो (नेदीयसः) अति निकट विद्यमान (गृहान्) गृह अर्थात् स्त्री पुत्र कलत्रादि के समान ग्रहण करने योग्य आत्मा या आत्मा के हितकारी गुरु जनों को वि प्र एति विशेष रूप से प्राप्त हो। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः , और महान् गृहरूप शरण वही इन्द्र, परमेश्वर है जो सबसे उत्कृष्ट है।

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥२१॥

भा०—हे जीव! विद्वन्! हे (वृषाकपे) बलवान् होकर आनंदरस का पान करनेहारे मुमुक्षो! (पुनः एहि) तू फिर आ, लौट आ. संसार में न भटक कर पुनः ईश्वर रूप शरण को प्राप्त हो। हम दोनों, ईश्वर और प्रकृति मिलकर पुत्र के लिये माता पिता के समान (सुविता) तेरे लिये सुख, कल्याणजनक फल ही (कल्पयावहै) उत्पन्न करेंगे। (यः एषः) जो तू (स्वप्ननंशनः) स्वप्न, निद्रा और प्रमाद और मृत्यु को दूर करता हुआ आदित्य के समान (पथा.) सन्मार्ग से इस मोक्ष मार्ग से पुनः अस्तम् एषि) फिर गृह के समान शरणरूप परमेश्वर को प्राप्त हो।

जिस प्रकार सूर्य उदय होकर पुनः अस्त को प्राप्त होता है इसी प्रकार तेजस्वी मुमुक्षु भी मोक्ष मार्ग से अस्त अर्थात् शरण रूप ईश्वर को प्राप्त हो। जहां वह सूर्य के समान ही महान् आनन्द सागर में अस्त हो जाय, विलीन, मग्न होजाय।

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगं जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥२२

भा०—हे (वृषाकपे) बलवान् आनन्दरस पान करनेहारे! हे (इन्द्र) आत्मज्ञान के साक्षात् करने हारे मुमुक्षो! (यत्) जब (उद्

अन्च:) उदय को प्राप्त होने वाले, ऊपर उठने वाले, पुरुष (गृहम्) गृह के समान शरण, सबको अपने भीतर, शरण में ले लेने वाले परमेश्वर को प्राप्त होजाते हैं तब बतला कि (पुल्वघः) अति पापभोगी (स्यः मृगः) वह विषयों को खोजने वाला (जनयोपनः मृगः इव) मनुष्यों के विध्वंस करने वाले भूखे सिंह के समान लोलुप जीव (क अगंन् कम्) भला कहां चला जाता है ?

अर्थात् मृग, सिंह जिस प्रकार (पुलु-ऊघः–पुरु-अघः) बहुतों को मारता है और (जनयोपनः) बहुत से जन्तुओं का नाश करता है । वह जिस प्रकार पुरुष को गृह में आजाने फिर दिखाई नहीं देता. वह वन में ही रह जाता है इसी प्रकार जब मुमुक्षु ईश्वर को प्राप्त होजाता है तब (पुल्वघः) पुरु अर्थात् इन्द्रियों द्वारा नाना पाप भोग करने हारा (मृगः) विषय को खोजने वाला, (जनयोपनः) जन्म का नाश करनेहारा जीव फिर (क स्यः) वह कहां रहता है वह तो (कम्) सुखस्वरूप उस आनन्दमय को प्राप्त होजाता है जो (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) परमेश्वर सबसे ऊंचा है ।

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः

भा०—(पर्शुः ह नाम) पर्शु नाम (मानवी) मननशील पुरुष की सहचारिणी बुद्धि या विचारशक्ति जिस प्रकार (साकम्) एक साथ ही (विंशतिम्) बीस को (ससूव) उत्पन्न करती है । १० इन्द्रियों के स्थूल साधन और १० भीतरी ग्राहक सूक्ष्म साधन इन सबको मनु मननशील आत्मा की विचारशक्ति ही उत्पन्न करती है । वही सर्वत्र स्पर्श करनेहारी व्यापक होने से 'पर्शु' कहाती है । (भल) हे जीव ! (त्यस्याः) उसका (भद्रं) कल्याण (अभूत्) होता है (यस्या उदरम्) जिसके पेट को (आमयत्) जीव गर्भ-प्रसव से पीड़ित करता है । इसी प्रकार (मानवी)

मननशील परमेश्वर की वह (पर्शुः ह नाम) सदा पार्श्ववर्त्तिनी, सहचारिणी स्त्री के समान व्यापक प्रकृति है जो (विंशतिम्) २० प्रकृति विकारों को एक ही साथ उत्पन्न करती है । (त्यस्याः) उससे भी (भद्रम्) सुखकारी जगत् (अभूत्) उत्पन्न होता है (यस्या) जिसके (उदरम्) उदर, गर्भाशय के समान भीतर में (आमयत्) व्याप्त होकर वह परमेश्वर स्वयं पीड़ित करता है उसमें विक्षोभ उत्पन्न करता है । (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वही परमेश्वर समस्त संसार से उत्कृष्ट है ।

'पर्शु मानवी' को देखकर यवन या इस्लाम सम्प्रदाय ने कदाचित् आदम की पसली से हौवा बनाकर सृष्टि क्रम चलाने की कथा गढ़ी है ।

॥ अथ कुन्तापसूक्तानि ॥

[१२७ (१)] स्तुति योग्य पुरुष का वर्णन ।

तिस्रो नाराशंस्यः । अतः परं त्रिंशद् ऋच इन्द्रगाथाः ॥

इदं जना उप॑ श्रुत नराशंस स्तविष्यते ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे ॥१॥

भा०—हे (जनाः) मनुष्यो ! (इदम् उपश्रुत) आप लोग इस बात को कान लगाकर श्रवण करो कि (नराशंसः) प्रजाओं के नेता पुरुषों के गुणों का (स्तविष्यते) यहां वर्णन किया जाता है । (कौरम) पृथ्वी पर रमण, या युद्ध क्रीड़ा करनेहारे ! राजन् ! सेनापते ! हम लोग (षष्टिं सहस्रा) छः हज़ार (नवतिं च) नब्बे पुरुषों को (रुशमेषु) शत्रुओं के नाशकारी सेना के दलों में (आ दद्महे) नियुक्त करें ।

१—'कौरम' इति राथसम्मतः । 'कोरम' इति ५ चित् ।

६०१० पुरुषों द्वारा चक्रव्यूह का वर्णन पहले कर आये हैं।

नाराशंसीः शंसतिः। प्रजा वै नारः, वाक्शंसः। इति तै० ब्रा०१।६।३॥

'कौरम=कौरव' कुरुषु भवः, साधुर्वा कौरवः। कुर्वन्ति इति कुरवः। खेलाचाराः अथवा कौ पृथिव्यां रमत इति वा।

उष्ट्रा यस्य प्रवाहिणो वधूमन्तो द्विर्दश।
वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः ॥२॥

भा०—(यस्य) जिसके (प्रवाहिणः) उत्तम स्थान को प्राप्त कराने वाले (वधूमन्तः) वधू अर्थात् हिंसाशील शत्रु नाशक शक्तियों वाले (द्विः दश) बीस (उष्ट्राः) ऊंट हैं। और (यस्य) जिसके (रथस्य) रथ की (वर्ष्माः) चोटियां (दिवः) आकाश को (उपस्पृशः) छूती हुई (ईषमाणाः) चलते हुए (दिवः) आकाश को (नि जिहीडते)) नीचा दिखाती हैं।

अथवा—(यस्य) जिस राजा के (द्विः दश) बीस, (वधूमन्तः) हिंसा करने वाली शत्रु नाशक शक्तियों से युक्त (उष्ट्राः) शत्रु को दग्ध करने वाले (प्रवाहणः) आगे बढ़ने वाले या उत्तम अश्व आदि सवारियों पर चढ़ कर चलने वाले हों। और (रथस्य) रथ की (वर्ष्मा) ऊंची ध्वजाएं (ईषमाणाः) चलतीं (उपस्पृशः) गगन को छूने वाली (दिवः नि जिहीडते) आकाश या सूर्य को भी तिरस्कार करती हैं।

इस सूक्त के अध्यात्मिक अर्थ भी निकलते हैं।

एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥३॥ (१)

२—'प्रवाहिनः' इति सं० पा०। 'वधूमतो', इति क्वचित्। 'वरिम्णा' इति क्वचित्। 'जहीडते', 'जिहीषते' इति च क्वचित्।

३—(प्र०) 'इषाय' इति क्वचित्। 'ऋषये' इति रामचन्द्रः।

भा०—(एषः) वह प्रसिद्ध पुरुष (शतं निष्कान्) सौ स्वर्णमुद्राएं (दश स्रजः) दस मालाएं और (अर्वतां) घोड़ों के (त्रीणि शतानि,) तीन सौ (गोनाम्) गौवों के (दश सहस्रा) दस हजार अर्थात् ३०० घोड़े और दस सहस्र गौवें इषाय इच्छा करने वाले, जन को (मामहे) प्रदान करता है। वही व्यक्ति 'नराशंस' अर्थात् सर्व साधारण प्रजाजनों से स्तुति करने योग्य होता है।

(२) विद्वान् पुरुष का कर्त्तव्य

तिस्रोः रैभ्य ऋचः ।

वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्वे शकुनः ।
ओष्ठे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव ॥४॥

भा०—हे (रेभ) स्तुतिशील ! विद्वन् ! (वच्यस्व वच्यस्व) अच्छी प्रकार वचन बोल, उत्तम प्रवचन कर। (पक्के) पके फलवाले (वृक्षे) वृक्ष पर (शकुनः न , जिस प्रकार पक्षी प्रसन्न होकर मनोहर ध्वनि करता है उसी प्रकार (वृक्षे पक्के) काटने योग्य इस देह के पकजाने पर या परिपक्क ज्ञान होजाने पर तू वच्यस्व वच्यस्व) ईश्वर की स्तुति कर, अपने से न्यून अपरिपक्क ज्ञानवालों को प्रवचन द्वारा प्रसन्नता से उपदेश कर। और (जिह्वा) जीभ (क्षुरः) छुरे के समान और (ओष्ठे) होंठ (भुरिजोः इव) कैंची के फलकों के समान (चर्चरीति) चलें।

४— वञ्चस्व' इति क्वचित्। (द्वि०) 'वृक्षेण' इति क्वचित्। 'नष्ट' इति शं० पा०।

'इवासते' इति शं० पा०।

'वाचं श्रीणिहीपुर्नावीरस्तारन्' [१]'। इति शं० पा०।

प्र रे॒भासो॑ मनी॒षा वृषा॒ गाव॑ इवेरते।
अ॒मो॒त॒पु॒त्र॒का ए॑षाम॒मोत गा इ॑वासते ॥५॥

भा०—(रेभासः) विद्वान् जन और (मनीषाः) उनकी उत्तम मनन पूर्वक कही वाणियां (वृषाः गावः इव) सांडों और गौवों के समान (प्र ईरते) आगे बढ़ती हैं। (उत) और (अमा) घर पर (गाः इव आसते) गौओं के समान बैठती हैं, रहती हैं।

प्र रे॑भ॒ धियं॑ भरस्व गो॒विदं॑ वसु॒विद॑म्।
दे॒व॒त्रेमां वाचं॑ श्रीणी॒हीषु॒र्नावी॑रस्ता ॥६॥

भा०—हे (रेभ) स्तुतिशील विद्वन्! तू (गोविदं) उत्तम ज्ञानमय परमेश्वर को प्राप्त कराने वाली और (वसुविदम्) समस्त ब्रह्माण्ड और देह में बसने वाले परमात्मा और आत्मा को ज्ञान कराने वाली (धियम्) बुद्धि को (भरस्व) धारण कर। और (इषुः न) बाण को जिस प्रकार अस्ता) फेंकने वाला धनुर्धर फेंकता है। (देवत्रा) उपास्य देव के निमित्त ही (इमां वाचं) इस वाणी को (श्रीणि) प्रदान कर, प्रेरित कर।

'देवत्रा वाचं श्रीणीहीषुर्नावीरस्तारम्' यह पाठ शंकरपाण्डुरंग सम्मत है। उसका पद पाठ—देवत्रा। वाचं। श्रीणीहि। इषुः। न। अवीः। अस्तारम्॥

(३) उत्तम राजा का स्वरूप 'परिक्षित्'

अथ कल्पः पारिक्षित्यः।

राज्ञो॑ वि॒श्वज॑नीनस्य॒ यो दे॒वो मर्त्याँ॒ अति॑।
वै॒श्वा॒न॒रस्य॑ सुष्टु॒तिमा सु॑नो॒ता परि॒क्षितः॑ ॥७॥

भा०—(विश्वजनीनस्य) समस्त जनों के हितकारी (परिक्षितः) समस्त प्रजा की रक्षार्थ उनके चारों ओर रक्षक रूप से विद्यमान और

अपने इर्द गिर्द प्रजा को बसा लेने वाले (वैश्वानरस्य) समस्त नेताओं और प्रजाजनों के स्वामी, अग्नि के समान सबको जीवनाधार, सूर्य के समान तेजस्वी (राज्ञः) उस राजा की (सुस्तुतिम्) उत्तम स्तुति (आतुनोत) करो, अथवा-(आशृणोत) श्रवण करो। (यः) जो (देवः) दानशील एवं विजयशील होकर (मर्त्यान् अति) मनुष्यों से बढ़ जाता है।

'परीक्षित्'—अग्निर्वै परीक्षित्। अग्निर्हि इमाः प्रजा परिक्षेति अग्निं हि इमाः प्रजाः परिक्षियन्ति। ऐत, ६। ५। ६॥

परिक्षिन्नः क्षेममकरोत् तम आसनमाचरन्।
कुलायं कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥८॥

भा०—(परिक्षित्) प्रजा को अपनी रक्षा में बसाने वाला राजा (कौरव्यः) समस्त कर्म कुशल पुरुषों में श्रेष्ठ (पतिः) पालक होकर (जायया) स्त्री के समान अपनी पृथ्वी या प्रजा के साथ ही (कुलायं कृण्वन्) एक कुटुम्बसा बनाता हुआ (आसनम्) आसन, सिंहासन प्राप्त करके भी (तमः=तपः) तप का (आचरन्) आचरण करता हुआ (नः) हमारे (क्षेमम्) कल्याण (अकरोत्) करे।

अथवा—(तमः आसनम्) शत्रुओं को कष्टदायी (आसन) अपने सिंहासन या 'आसन' नामक षाड्गुण्य का प्रयोग करता हुआ प्रजा का (क्षेमम् अकरोत्) कल्याण करता है और (वदति) आज्ञा देता, शासन करता है।

कतरत् त आ हराणि दधि मन्थां परि श्रुतम्।
जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥९॥

भा०—(परिक्षितः राज्ञः) प्रजा के उत्तम रीति से बसाने हारे, उत्तम रक्षक राजा के (राष्ट्रे) राष्ट्र में (जाया) स्त्री, प्रजा (पतिम्) पति

९—(द्वि०) परिश्रुतम्' जायाः 'मन्था' इति शं० पा०।

को (वि पृच्छति) विविध प्रकार के प्रश्न पूछती है कि (दधि) दही, ऐश्वर्य, (मन्थन्) मठा.मथनबल और (परिस्रुतम्) स्रव और से प्राप्त मक्खन या घी इनमें से (ते) तेरे लिये (कतरत्) क्या पदार्थ (आहराणि) ला उपस्थित करूं ?

अभीव स्वः प्र जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम्।
जनः स भद्रमेधते राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥१०॥

भा०—(स्वः अभि इव । मानों सूर्य के धूप में हुआ । पक्वः यवः) पका जौ आदि अन्न जिस प्रकार विलम् परः) खेत की हल से बनी रेखाओं पर (प्रजिहीते) खड़ा हो उसी प्रकार (सः जनः) वह प्रजाजन भी परिक्षितः राज्ञः राष्ट्रे प्रजाओं को सब प्रकार से बसाने और उसकी रक्षा करने वाले राजा के राष्ट्र में (भद्रम्) अत्यन्त सुख (एधते) खूब अधिक मात्रा में भोग करता है। उत्तम राजा के राज्य में प्रजा खूब सम्पन्न हो जाती है।

(४) राजा को विद्वान् का आदेश और समृद्ध प्रजाएं

अथ चतस्रः कारव्याः। अनुष्टुभः॥

इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम्।
ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत् ते पृणादरिः ॥११॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (कारुम्) क्रियाशील, कर्मण्य पुरुष को (अबूबुधत्) जगाता और चेताता है कि (उत् तिष्ठ) उठ (जनन्) सबको उपदेश करता हुआ तू (वि चर) विविध देशों में विचरण कर। (मम इत्) मेरे ही (उग्रस्य) बलवान् पुरुष के अधीन रक्षा में (चर्कृधि) रह कर काम कर। (सर्वः अरिः) समस्त शत्रु भी (ते पृणात्) तेरा पालन करें।

१०–(द्वि०) 'पथो' (तृ०) 'मेधते' इति क्षे० पा०।

११–(द्वि०) जनन्' इति क्षे० पा०

इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति ॥१२॥

भा० (इह गावः) इस राज्य में हे गौवो ! (प्रजायध्वम्) तुम खूब पैदा होवो । (इह अश्वाः) इस राष्ट्र में हे घोड़ो ! तुम खूब बढो । (इह पूरुषाः) इस राज्य में हे पुरुषो ! वीर्यवान् बलवान् मर्दो ! खूब बढो ! (इह) इस देश में (सहस्रदक्षिणः) हजारों का दान देने वाला (पूषा) प्रजा का पालक पोषक पुरुष (निषीदति) विराजता है ।

नेमा इन्द्र गावो रिषन् मो आसां गोपती रिषत् ।
मासाममित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत ॥१३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! (इमाः गावः) ये गौवें (मा रिषन्) पीड़ित न हों । (आसां गोपतिः) इनका गोपति, स्वामी भी (मा रिषत्) पीड़ित न हो । हे (इन्द्र) राजन् (आसाम्) इनपर (अमित्रयुः) शत्रु रूप से वर्तने वाला, इनसे स्नेह का व्यवहार न करने वाला (मा ईशत) स्वामी न हो । (स्तेनः मा ईशत) चोर डाकू स्वभाव का पुरुष भी इनका स्वामी न हो ।

उप नो नर नोनुमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम् ।
वनादधिध्वनो गिरो न रिष्येम कदाचन ॥१४॥

भा०—(वयम्) हम सब (सूक्तेन वचसा) उत्तम रीति से कहे गये, उत्तम ज्ञान युक्त वेद के सूक्त रूप वचन से (नरम्) उस सबके नेता नरश्रेष्ठ, पुरुषोत्तम, सबके प्रवर्तक, राजा और परमेश्वर की (उप नोनुमसि) उपासना पूर्वक प्रेम से स्तुति करें । वह (नः) हमारी (अधिध्वनः) उच्च ध्वनि वाली (गिरः) वाणियों को (वनात्) सेवन करे । हम (कदाचन्) कभी (न रिष्येम) पीड़ित और दुखी न हों ।

१३—'नेगा' इति शं० पा० ।

[१२८ (५)] दिशाओं के नामभेद से पुरुषों के प्रकार भेद

अथ पञ्च कल्पतयः ॥

यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः ।
सूर्यं चामूं रिशादसं तद् [तं] देवाः प्रागकल्पयन् ॥१॥

भा०—(यः) जो (सभेयः) सभा के कार्य में कुशल,(विदथ्यः) ज्ञानपरिषत् और संग्राम में कुशल, (सुत्वा) सोम सवन करने हारा, राष्ट्र को अपने शासन में रखने हारा, (यज्वा) दानशील, यज्ञकर्त्ता (पुरुषः) पुरुष हो (तद् [तम्] अमुम्) उस (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी (रिशादसम्) हिंसक प्राणियों के नाशकारी पुरुष को ही (देवाः) विद्वान् विजयेच्छु पुरुष (प्राक्) सबसे आगे चलने हारे मुख्य पदपर (अकल्पयन्) नियुक्त करते हैं ।

यो जाम्या अप्रथयस्तद् यत् सखायं दुधूर्षति ।
ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति ॥२॥

भा०—(यः) जो पुरुष (जाम्या) अपनी बहिन से (अप्रथयत्) संग करे और (यत्) जो (सखायं) मित्र को (दुधूर्षति) मारना चाहता है। और जो (ज्येष्ठाय) अपने से बड़े भाई के लिये (अप्रचेताः) उत्तम रीति से आदर नहीं करता (तद्) उसको (अधराग्) नीचे गिरने वाला (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं । उसको समाज से च्युत कर देना चाहिये ।

यद् भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः ।
तद् विप्रो अब्रवीदुदग् गन्धर्वः काम्यं वचः ॥३॥

(१०) 'रिशादसा तं' इति सं० पा० ।

भा०—(यत्) जो (भद्रस्य) भले सज्जन (पुरुषस्य) पुरुष का (पुत्रः) पुत्र (दाधृषिः) साहसी, अपने शत्रुओं और प्रतिपक्षियों को दबाने और पराजय करने में समर्थ (भवति) होता है (तत्) उसको (विप्रः) विविध प्रकारों से प्रजा के सुखों से पूर्ण करने हारा (गन्धर्वः) वाणी को धारण करने हारा विद्वान् पुरुष (काम्यम्) प्रिय मनोहर (वचः) वचन का (अब्रवीत्) उपदेश करता है। वह (उदग्) 'उद्ग्' अर्थात् उदय को प्राप्त होने वाला होता है।

यश्चं प॒णिर॑भुजिष्ठो॒ यश्च॑ रे॒वाँ अदा॑शुरिः ।
धीरा॑णां॒ शश्व॑ताम॒हं तद॑पा॒गिति॑ शुश्रुम ॥४॥

भा०—और (यः च) जो (पणिः) व्यापारी, व्यवहारवान् होकर भी (अ-भुजिष्टः) दूसरों का पालन नहीं करता या धन का भोग नहीं करता और (यः च) और जो (रेवान्) धन सम्पन्न होकर भी (अदा-शुरिः) दूसरों को दान नहीं करता (शश्वतां) पूज्य, (धीराणाम्) बुद्धिमान् पुरुषों के बीच में (अह) निश्चय से वह (अपाग्) 'अपाग्' नीचे पद्र के पाने योग्य है (इति) ऐसा (शुश्रुम) सुनते हैं।

ये च॑ दे॒वाँ अय॑ज॒न्ताथो॒ ये च॑ परा॒ददुः॑ ।
सूर्यो॒ दिव॑मिव ग॒त्वाय॑ म॒घवा॑नो॒ वि र॑प्शन्ते ॥५॥

भा०—(ये च) और जो (देवान्) विद्वान् पुरुषों का आदर सत्कार करते हैं (अथो) और (ये च) जो (परा ददुः) दान करते हैं, (दिवम् गत्वाय सूर्य इव) आकाश को प्राप्त हुए सूर्य के समान (दिवम्) मोक्ष या परलोक को प्राप्त या दिव्यतेज या ज्ञान प्रकाश या उन्नत पद को (गत्वाय) प्राप्त होकर (मघवानः) धनवान्, ऐश्वर्यवान् पुरुष (वि-रप्शन्ते) विविध प्रकारों से शोभा को प्राप्त होते हैं।

४-(प्र०) पणिरभुजिष्ठो। शं० पा०।

(६) योग्य और अयोग्य पुरुषों का वर्णन ।

अथ षट्जनकल्पाः । अनुष्टुभः ॥

योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिरहिरण्यवान् ।
अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥६॥

भा०—(यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्म के जानने वाले विद्वान् या बड़े पुरुष का (पुत्रः) पुत्र होकर भी (अब्रह्मा) स्वयं ब्रह्म, वेद का विद्वान् नहीं है वह (अनाक्ताक्षः) विना अंजी आंख के समान उत्तम रूप से देखने और विवेक करने में समर्थ नहीं है । (अनभ्यक्तः) शरीर पर तेल आदि न लगाये हुए के समान सुन्दर और चित्ताकर्षक, या स्वस्थ भी नहीं है । वह (अमणिः) मणि भूषणादि को न पहनने वाले के समान गुणहीन रहता है । वह (अहिरण्यवान्) सुवर्णादि धारण न करने वाले के समान निर्धन और ज्ञान और गुणों का दरिद्र रहता है । (ता उ ता) ये सब (कल्पेषु) क्रिया सामर्थ्यों में (सं-मिता) समान जाने गये हैं ।

'ब्रह्मणः पुत्रः'—विद्वान का पुत्र । विद्वान् से उत्पन्न पुत्र और शिष्य दोनों होते हैं ।

> उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
> ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥
> कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
> संभूतिं तस्य तां विद्याद् यद् योनावभिजायते ॥ १४७ ॥
> आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
> उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरामरा ॥ १४८ ॥

६—'अमणिनो अहिरण्यवः' । इति शं० पा० ।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ॥ १५० ॥
मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६६ ॥
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥
वेदप्रदानात् आचार्यं पितरं परिचक्षते ।
शूद्रेण हि समस्तावद् यावद्वेदे न जायते ॥१७२॥ (मनु०अ०२)

पैदा करने वाले पिता से ब्रह्मज्ञान का देने वाला पिता बड़ा है । माता पिता पैदा कर लेते हैं सही, वह तो योनिमात्र से उत्पत्ति है परन्तु आचार्य उसको 'सावित्री' से उत्पन्न करता है, वह उसकी नित्य जाति है । ब्राह्म जन्म का देने वाला विद्वान् बालक भी बूढ़े का पिता है । अज्ञानी पुरुष बालक के समान है, ज्ञान देने वाला पिता है । उपनयन द्वितीय जन्म है । उसमें सावित्री माता और पिता आचार्य है । वेद प्रदान करने से आचार्य पिता है । वेद को बिना पढ़े पुरुष शूद्र है ।

य आक्ताक्षः स्वभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवान् ।
सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तो ता कल्पेषु संमिता ॥७॥

भा०—(यः ब्रह्मणः पुत्रः) जो ब्रह्मवेत्ता, वेदज्ञ का पुत्र वा शिष्य, (सु-ब्रह्मा) स्वयं उत्तम वेद का ज्ञाता विद्वान् होजाता है वह (आक्ताक्षः) अंजी आंख वाले के समान उत्तम रीति से शास्त्र की चक्षु से युक्त होजाता है । वह (सु-अभ्यक्तः) गात्र में तैल आदि लगाने वाले के समान,

७-'सुभ्यक्तः', 'समणिः सुहिरण्यवान्' । इति शं० पा० ।

सुन्दर और स्वस्थ रहता है। वह (सुमणिः) उत्तम मणि को धारण करने वाले के समान सुशोभित और (सुहिरण्यवान्) उत्तम सुवर्ण आदि धन के स्वामी के समान ज्ञान का धनी होता है। (ता उ ता) वे वे सब जन (कल्पेषु) कर्म के सामर्थ्यों में (सं-मिता) समान हैं।

अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रदिदिश्च यः ।
अयंभ्या कन्या कल्याणी तो ता कल्पेषु संमिता ॥८॥

भा०—(वेशन्ता) बावड़ी, तालाब (अप्रपाणा) जिसका जल पीने योग्य न हो, अथवा जिसके जल पीने आदि के लिये घाट न हो, (रेवान्) वह धनी पुरुष (यः च) जो (अप्रददिः) कभी दान नहीं करता है और वह (कन्या) जो (कल्याणी) सुख देने वाली, ऊपर से रूपादि उत्तम कल्याण, शुभ, गुण लक्षणों से युक्त होकर भी (अयम्या) मैथुन के योग्य न हो। अथवा (कन्या अकल्याणी) वह कन्या सुखकारी शुभ लक्षणों से युक्त न होकर (अयभ्या) मैथुन करने योग्य भी न हो, अर्थात् अगम्या हो। (ता उ ता) वे सब (कल्पेषु) कर्म सामर्थ्यों में (सं-मिता) समान हैं। अर्थात् पीने योग्य जल से रहित, अपेय, खारे या सड़े जल वाला सरोवर, अदानशील कंजूस और अगम्या, दुर्भगा कन्या तीनों समानरूप से निन्दनीय और त्याज्य हैं।

सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवान्त्सुप्रदादिश्च यः ।
सुयंभ्या कन्या कल्याणी तो ता कल्पेषु संमिता ॥९॥

भा०—(सुप्रपाणा च वेशन्ता) सरोवर उत्तम पान करने योग्य जल वाला, (रेवान्) धनाढ्य पुरुष (यः च) जो (सुप्रददिः) उत्तम

८–'ऽप्रतिदिश्वयः' इति सं० पा०।
९–'सुप्रतिदिश्वयः' इति सं० पा०।

सात्विक दान देने वाला और (कल्याणी कन्या) कल्याणकारी, शुभ, रूप, गुण लक्षणों से युक्त कन्या जो (सुयभ्या) सुखपूर्वक मैथुन करने योग्य अर्थात् गृहस्थ धर्मपालन करने योग्य, 'सुमना' है (ता उ ता) वे वे सब पदार्थ (कल्पेषु) कर्म सामर्थ्यों में (संमिता) समान बतलाये गये हैं अर्थात् वे तीनों उत्तम और ग्रहण करने योग्य हैं।

परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्या चायुधिंगमः।
अनाशुरश्वोऽयामी तो ता कल्पेषु संमिता ॥१०॥

भा०—(महिषी च) और वह रानी जो (परिवृक्ता) पति द्वारा छोड़दी गई है (च) और (स्वस्त्या) सुख से, कुशलपूर्वक (अयुधिंगमः) युद्ध में न जाने वाला, भीरु सैनिक, (अश्वः) वह घोड़ा, (अनाशुः) जो तेज़ न हो, (अयामी) और जो पुरुष किसी नियम में न रह सके (ता उ ता) ये सब (कल्पेषु संमिता) कर्म-सामर्थ्यों में समान हैं। ये सब कार्य के अवसर पर त्यागने योग्य हैं।

वावाता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः।
श्वाशुरश्वः सुयामी तो ता कल्पेषु संमिता ॥ ११ ॥

भा०—(महिषी च) और महिषी, रानी जो (वावाता) उत्तम पुरुष सुगन्धयुक्त हो, सुख से पतिसंग करनेहारी, उसकी प्रेमपात्र हो, और वह सैनिक जो (स्वस्त्या) सुख से, कुशलपूर्वक, वीरता से (युधिंगमः) युद्ध में गमन करे, (आशुः अश्वः) वह अश्व जो उत्तम तीव्र गति वाला हो और (सुयामी) सुख से नियम में रहने वाला संयमी पुरुष (ता उ ता) ये सब (कल्पेषु) कर्म-समार्थ्यों में (संमिता) समान हैं। ये काम के अवसर पर ग्रहणयोग्य लाभकारी, श्रेष्ठ हैं।

१०–'च दुर्धिगमः', 'अनाशुरश्वा–' इति शं० पा०।

११–'आशुरश्वश्चायामी' इति शं० पा०।

(७) वीर राजा का कर्त्तव्य ।

अथातः पञ्च इन्द्रगाथाः ।

यदिन्द्रो दाशराज्ञे[ऽ]मानुषं विगाहथाः ।
वरूथः सर्वस्मा आसीत् स ह यज्ञाय कल्पते ॥१२॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार से हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! (दाशराज्ञे) तू दशों दिशाओं के राजाओं के बीच (मानुषं) मनुष्य समूह को, अथवा (अमानुषम्) सामान्य मनुष्य से विलक्षण होकर (विगाहथाः) विचरता है । तू ही (सर्वस्मा) सबको (वरूथः) घर के समान शरण देने वाला और आपत्ति विपत्तियों और शत्रु के आक्रमणों को रोकने वाला (आसीत्) होता है (सः ह) वह ऐसा पुरुष ही (यज्ञाय) यज्ञ, प्रजापति पद के योग्य (कल्पते) होता है ।

त्वं वृषाक्षं [वृषाक्षुं] मघवन्नम्रं मर्याकरो रविम् ।
त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः ॥१३॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! हे (मर्य) नेताओं में कुशल ! (त्वं) तू (वृषा) बलवान् होकर भी (रविम्) राजस भाव में लिप्त (अक्षम्) अपने आंख को या इन्द्रियों को अथवा (वृषाक्षुं) भूमि को घेरकर व्यापने वाले वृत्र के समान प्रबल शत्रु को (नम्रम्) नम्र, विनयशील, विजित (अकरः) करता है । और (त्वं) तू (रौहिणं)

१२—'यदिन्द्रो दाश—' इति तै० ब्रा० भाष्ये सायणः । 'विरूपः', 'यदिन्द्रादो' 'यक्षाय' इति शं० पा० । 'यस्माय' इति राथः । यज्ञाय इति क्वचित् ।

१३—वृषाक्षुं, वृषाक्षुं, वृषाक्षं, वृषापाडमघ-इत्यादि नानापाठाः । नर्या, मर्या मर्यो, इत्यादयः पाठाः । व्यास्यो, वास्यो इति च पाठौ । 'वृषापाद इति राथकल्पितः ।

रोहिण, वट के समान अपने नाना दृढ़ मूलों पर स्थिर राजा को भी (वि आस्यः) विविध उपायों से उखाड़ डालता है और (वृत्रस्य) मेघ के समान फैलने और राष्ट्र के घेरने और शस्त्रास्त्रों की वर्षा करने वाले शत्रु के भी (शिरः) शिर, मुख्य सेनाभाग को (अभिनत्) तोड़ डालता है, छिन्न भिन्न कर देता है।

यः पर्व॑तान् व्यद॑धा॒ यो अ॒पो व्य॑गाहथाः।
इन्द्रो॒ यो वृ॑त्र॒हा म॒हान् तस्मा॑दिन्द्र॒ नमो॑ऽस्तु ते ॥१४॥

भा०—(यः) जो तू (पर्वतान्) पर्वतों के समान दृढ, अभेद्य शत्रुओं को भी (वि अदधाः) छिन्न भिन्न करता है और (यः) जो (अपः) जलों या नदियों के या समुद्र के समान अपार सेनाप्रवाह को भी (वि अगाहथाः) विविध रूपों से विचरता है (यः) और जो तू (इन्द्रः) शत्रुविदारक होकर (महान्) बड़ा भारी (वृत्रहा) घेरनेवाले शत्रु को नाश करने हारा है (तस्मात्) इस कारण से हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् विद्युत् के समान तीव्र, वेगवान् (ते नमः अस्तु) तुझे हमारा आदर पूर्वक नमस्कार है।

पृष्ठिं धाव॑न्तं ह॒र्योरौच्चैः॑श्रवसम॑ब्रुवन्।
स्व॒स्त्य॑श्व जैत्रा॒येन्द्र॒मा व॑ह सु॒स्रज॑म् ॥१५॥

भा०—(औच्चैःश्रवसम्) ऊंचे कानों वाले, (धावन्तं) वेग से दौड़ते हुए, (पृष्टिं) वेगवान् अश्व को (अब्रुवन्) लोग कहते हैं कि हे (अश्व) वेगवान् अश्व ! तू (जैत्राय) विजय करने के लिये (सुस्रजम्) उत्तम माला धारण करने वाले, या उत्तम सेना व्यूह की रचना करने वाले (इन्द्रम्) सेनापति वीर पुरुषों को (स्वस्ति आवह) कुशलपूर्वक लेजा, उसको सवारी दे।

१४—व्यदधाद् 'वृत्रहानमह' इति शं० पा०।

युक्त्वा श्वेता ऐतश्वैःश्रवसं हर्यौ युञ्जन्ति दक्षिणम् ।
पूर्वतमं स देवानां बिभ्रदिन्द्रं महीयते ॥१६॥

भा०—(श्वेताः) अति गतिशील, तीव्रगामी घोड़ियों को (युक्त्वा) रथ आदि में जोड़कर (हर्योः) वेगवान् दोनों तरफ के अश्वों में से (दक्षिणम्) दायें में स्थित, या अति वेगवान्, बलवान्, क्रियाशील (ऐतश्वैः श्रवसम्) ऊंचे कान के घोड़े को (युञ्जन्ति) रथ में लगाते हैं। (सः) वह उत्तम अश्व (देवानां पूर्वतमम्) सब देवों, विजिगीषु पुरुषों में सबसे श्रेष्ठ (इन्द्रम्) शत्रु नाशकारी बलवान् सेनापति को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (महीयते) पूजित होता है।

इति कुन्तापसूक्तम् ।

[१२९] वीर सेना और गृहस्थ में स्त्री का वर्णन ।

अथ ऐतशप्रलापः ॥ एतश ऋषिः । अग्नेरायुर्देवतम् ॥ अग्नेरायुर्देवत्याःपाद
यानं वा प्रजापतिरित्याकाशानन्तं दशर्चम् ॥

एता अश्वा आ प्लवन्ते ॥१॥ प्रतीपं प्रातिसुत्वनम् ॥२॥

भा०—(एताः) ये तीव्रवेग वाली (अश्वाः) अश्वाएं, घुड़सवारों की सेनाएं (प्रातिसुत्वनम्) प्रतिपक्ष में अभिषेक को प्राप्त हुए राजा के (प्रतीपम्) विरुद्ध (आ प्लवन्ते) दौड़ रही हैं।

तासामेका हरिक्निका ॥३॥ हरिक्निके किमिच्छसि ॥४॥

भा०—(तासाम्) उनमें से (एका) एक (हरिक्नि[क्नि] का) हरि=क्निका] प्राण हरण करने वाले कर्णों को छोड़ने वाली है। वह 'हरिक्निका' कहाती है ॥ ३ ॥ हे (हरिक्निके) प्राणहारी कर्णों, छुरों को छोड़ने वाली ! तू (किम् इच्छसि) क्या चाहती है ?

१६—'येत्वा श्वेता' इति शं० पा० ।

गृहस्थ पक्ष में—(एताः अश्वाः आ प्लवन्ते) ये सांसारिक सुख की इच्छा करने वाली स्त्रियें (प्रतीपं) सुन्दर (प्रातिसुत्वनम्) प्रतिसव.पुत्रोत्पादक करने में समर्थ वीर्यवान् पति को प्राप्त होती हैं। (तासाम् एका) इनमें से एक= प्रत्येक (हरिक्निका=हरिकन्यका) मनोहर कन्या है । अथवा (हरिक्लिका= हरि कलिका) हरणशील गर्भधारण समर्थ कला, कामकला से युक्त है ।

पति को प्राप्त हो जाने पर पति पूछे कि हे-(हरिक्निके) मनोहर, गर्भाधारण में समर्थ स्त्रि ! तू क्या चाहती है ?

. साधुं पुत्रं हिरण्ययम् ॥५॥ क्वाह तं परास्यः ॥६॥

भा०—सेना उत्तर देती है-(साधुं) शत्रुओं को वश करने में समर्थ (पुत्रम्) पुरुषों की रक्षा करने हारे, दुःखों से बचाने वाले (हिरण्ययम्) तेजस्वी पुरुष को चाहती हूं ॥५॥

सेनापक्ष में-(ह) निश्चय से (क) कहां तू (तम्) उसको (परा अस्यः) दूर फेंक सकती है । अथवा (अहतं क परास्यः) बलपूर्वक अघात खाये हुए बाण को तू दूर कहां फेंकती है ? ॥६॥

स्त्री के पक्ष में-स्त्री कहती है-(साधुं हिरण्ययं पुत्रम्) उत्तम, तेजस्वी पुत्र को चाहती हूं ।

पुनः पति पूछता है-हे स्त्रि ! तू निश्चय से (तं) उस बालक को (क) कहां (परास्यः) दूर करेगी, कहां छोड़ेगी ?

यत्रामूस्तिस्त्रः शिंशपाः ॥७॥

भा०—सेनापक्ष में-(यत्र) जहां (अमूः) वे दूर शत्रुसेनाएं (शिंशपाः) अति निन्दाजनक वचन कह रही हैं वहां ही मैं शस्त्रास्त्र फेंकती हूं ।

स्त्री—(यत्र) जहां (अमूः) वे दूरस्थ (शिंशपाः) शिशु बालकों के पालन करने वाले माता, पिता, आचार्य अथवा पालकों के समान पालक

तीनों (शिशपाः) वेदविद्याएं हों, या वाणी, मन और कर्म तीनों की पालक संस्थाएं हों, वहां मैं अपने बालक को छोड़ दूंगी ।

परि त्रयः ॥८॥ पृदाकवः ॥९॥ शृङ्गं धमन्त आसते ॥१०॥

भा०—सेनापक्ष में—उन सेनाओं के ऊपर (परि त्रयः) वे तीन (पृत्-आकवः) सेना संग्रामों में आज्ञा देने वाले (शृंगं धमन्तः) सींग अर्थात् नरसिंगे फूंकते हुए (आसते) बैठते हैं ।

स्त्री-पक्ष में—जहां उन संस्थाओं के ऊपर (परि त्रयः) तीन (पृदाकवः) मनुष्यों को उपदेश करने वाले विद्यमान हैं और वे (शृङ्गं) अज्ञान नाशक ज्ञान का (धमन्तः) उपदेश करते हुए (आसते) विराजते हैं ।

ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । भ्वा० ।

अयमिहागतो अर्वा ॥११॥ स इच्छका सं ज्ञायते ॥१२॥
सं ज्ञायते गोमयाद् गोगतिरिव ॥१३॥

भा०—(अयम्) यह (अर्वा) ज्ञानवान् पुरुष और अश्व के समान वेगवान् बलवान् पुरुष (इह आगतः) यहां आगया है ।

(शक्ता) जिस प्रकार घोड़ा लीद से भली प्रकार पहचाना जाता है उसी प्रकार बलवान् पुरुष भी (शक्ता) शक्ति से ही पहचाना जाता है ।

११–'नयन्मदाते अर्वाहः' इति शं० पा० । सहिच्छं,सहत्सकं' सहि छकं, सइछकं ॥

१२–छकं सवागते इति नाना पाठाः । 'सइच्छकं सवागते । इति शं०पा० ॥

१३–सधागते, सवावने, सवागते, गोमती, गोपती, गोगती इत्यादि नाना पाठाः । सवावने गोनींवां गोगतीरिति, इति शं० पा० ।

(गोमयात्) गोबर से जिस प्रकार (गोगतिः) गौ या बैल के जाने का मार्ग पता लग जाता है इसी प्रकार वह विद्वान् पुरुष भी (गोमयात्) वाणिमय ज्ञान से और शक्तिमान् पुरुष (गोमयात्) भूमिमय राष्ट्र से (सं ज्ञायते) पता लग जाता है।

पुंसां कुले किमिच्छसि ॥१४॥

भा०—हे स्त्रि ! तू (पुंसां) वीर्यवान् (कुले) पुरुषों के कुल में प्राप्त होकर (किम् इच्छसि) क्या चाहती है ?

हे सेने-तू (पुंसां) पुरुषों के (कुले) समुदाय में आकर क्या चाहती है?

पक्वौ व्रीहियवा इति ॥ १५ ॥

भा०—(पक्वौ) पके (व्रीहियवौ इति) धान और जौ चाहती हूं। गृहस्थ सदा पके धान और जौ के खेत की इच्छा करता है। व्रीहि अर्थात् वंशवृद्धि करने वाले पुरुष और पुरुष वीर्य-'व्रीहि' है और स्त्रियां युवतियां 'यव' हैं। वे दोनों परिपक्व वीर्य हों यही सबकी अभिलाषा है। सेनापक्ष में—'व्रीहि' धान्य सम्पत्ति या बृहत् राष्ट्र और 'यव' शत्रुनाशक वीर ये दोही पदार्थ सेनाओं को इष्ट हैं।

व्रीहियवा अंधा इति ॥१६॥

भा०—(व्रीहियवौ) उक्त धान्य और जौ इन दो को ही (अधाः) क्या तुम भोजन करती हो ?

अजंगर इवाविका: ॥१७॥

१४–पुमां कुस्ते निमिच्छसि इति शं० पा० ।

१५–पल्प बद्ध वयो इति शं० पा० ।

१६–'बद्धवो अवा इति' इति शं० पा० ।

१७–'अजागार केविका' इति शं० पा० ।

भा०—'अजगर इव) जिस प्रकार अजगर, महासर्प (अविकाः) छोटी२ भेड़ों को खाकर तृप्त होता है उसी प्रकार मैं सेना छोटी २ (अविकाः) राजधानियों या जागीरों, रियासतों को भी अपने भीतर कर लेती हूं ।

स्त्री के पक्ष में—अजगर जिस प्रकार भेड़ों को खाकर तृप्त होता है इसी प्रकार मैं भी (अविकाः) जीवन के रक्षा करने वाली इन अन्न की बनी चपातियों को खाकर ही तृप्त होती हूं ।

अश्वस्य वारो गोशफश्च ते ॥१८॥

भा०—हे पुरुष ! (अश्वस्य वारः) अश्व के बाल और (गो० शफः) गौ का खुर (ते) तुझे प्राप्त हों । अर्थात् चंवर और गौओं के चरण अर्थात् गो सम्पत्ति दोनों प्राप्त हों ।

हे राजन् ! तुझे (अश्वस्य वारः) अश्वारोहीगण का शत्रुवारण करने वाला बल और (गोशफः च) वाणी के संघ और भूमियों के संघ (ते) तुझे प्राप्त हों ।

श्येनपर्णी सा ॥१९॥

भा०—(श्येनपर्णी) श्येन के समान शत्रु पर वेग से आक्रमण करने वाले पुरुष के पालन सामर्थ्य से युक्त, अथवा श्येनाकार व्यूह के पक्षों को धारण करने वाली (सा) वह सेना है । अथवा-स्त्री श्येन के समान वीर एवं ज्ञानवान् पुरुष को पालक पति रूप से स्वीकार करने वाली है ।

अनामयोपजिह्विका ॥२०॥

भा०—(सा) वह स्त्री सदा (अनामया) रोगरहित, स्वस्थ और (उपजिह्विका) जिह्वा को वश करने हारी हो ।

सेना-(अनामया) रोगरहित, स्वस्थ, पीड़ा से रहित, राष्ट्र को हानि न पहुंचाने वाली और (उपजिह्विका) सेनापति की आज्ञा के वशवर्ती

१९-'श्येनीपती सा' इति शं० पा० ।

और (उपजिह्विका) दीमक के समान शनैः २ परराष्ट्र का गुप्त रूप से भोग करने वाली, सुरंग आदि के गुप्त मार्गों से जाने वाली हो।

[१३०] भूमि और स्त्री

को अ॒पांव॑हद्धि॒मा दु॒ग्धानि॑ ॥१॥

भा०—(कः) कौन (इमा) इन (दुग्धानि) गौओं के दूधों के समान दोहकर प्राप्त हुए ऐश्वर्यों को (अप अवहत्) ले जाने में समर्थ है? अथवा गृहस्थ स्वयं जिस प्रकार समस्त गौओं के दूधों को ले जाता है उसी प्रकार (कः) प्रजापति, राजा ही समस्त प्रजाओं और भूमियों से दुहे रत्न आदि ऐश्वर्यों को (अप अवहत्) ढोकर लेजाता है।

को असि॑क्न्या॒ः पयः॑ ॥२॥

भा०—(कः) कौन (असिक्न्याः) गहरे काले रंग की गौ का (पयः) दूध लेता है।

प्रजापति पक्ष में—(कः) राजा प्रजा पालक ही (असिक्न्या) उस भूमि को जिस में नहरों और कूप आदि साधनों से सेचन नहीं होता उस भूमि का भी (पयः) पुष्टि कारक अन्न (अपावहत्) प्राप्त करता है।

को अ॒र्जु॒न्या॒ः पयः॑ ॥३॥

भा—(अर्जुन्याः) अर्जुनी, श्वेत गौ का (पयः) दूध (कः) कौन ग्रहण करता है! (कः) प्रजापति राजा ही (अर्जुन्याः) श्वेत धातु रत्न आदि से पूर्ण पृथिवी और धनार्जन करने वाली प्रजा का (पयः) पुष्टिकारक, धनैश्वर्य आदि ग्रहण करता है।

कः का॒र्ष्ण्याः पयः॑ ॥४॥

---

[१३०] १–'को अर्य बहुलिमा इषूनि' इति शं०पा० । 'इषुनि, इष्णुनि इति पाठौ।

भा०—(काप्यर्याः) कृष्णा गौ का (पयः) दूध (कः) कौन ग्रहण करता है ? (कः) प्रजापति, राजा ही (काप्यर्याः) कृषि की जाने योग्य भूमि को (पयः) पुष्टिकारक अन्न आदि प्राप्त करता है ।

एतं पृच्छ कुहं पृच्छ ॥५॥

भा०—(एतं) इस विद्वान् पुरुष से (पृच्छ) प्रश्न करो । (कुहं पृच्छे) मैं कहां पूछूं ?

कुहा कं पक्कर्कं पृच्छे ॥६॥

भा०—(कुहा) कहां (कं) किस (पक्ककं) परिपक्व ज्ञान वाले पुरुष को प्राप्त कर मैं (पृच्छे) प्रश्न करूं ।

यवा नोपतिष्ठन्ति कुद्विम् ॥७॥

भा०—(यवाः) जौ आदि अन्न, खाद्य पदार्थ (कुद्विम्) पेट में (न उपतिष्ठन्ति) नहीं ठहरते ।

अकुप्यन्तः कुपायवः ॥८॥

भा०—(अकुप्यन्तः) जो कभी क्रोध नहीं करते हैं वे भी (कुपायवः) क्रोध करने लगते हैं ।

आमणिका मणिच्छदः ॥९॥

५—'कुहपृच्छ' इति शं० पा० ।

६—'पृच्छ' इति शं० पा० ।

७—'यवानो यतिस्वभिकुभिः' इति श० पा० । 'यवावो' इति क्वचित् ।

८—'कुपायकुः' । इति शं० पा०

९—'आमणत्कः' इति क्वचित् । 'आमणको' इति श० पा० । मणछ्कः मण त्सख इति क्वचित् मणत्सक इति श० पा० ।

भा०—(मणिच्छदः) मणियों से भूषित वस्त्र पहनने वाले पुरुष भी (अमाणिकाः) मणियों से रहित हो जाते हैं । अर्थात् धनाढ्य भी दरिद्र हो जाते हैं ।

देव त्वा प्रति सूर्यम् ॥१०॥ एनीहरिक्णिका हरिः ॥११॥

भा०—हे (देव) देव ! राजन् ! (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी (त्वा प्रति) तुझे ही (एनी) श्वेत (हरिक्णिका) अति शीघ्रगति वाली घोड़ी या पूर्वोक्त सेना और (हरिः) वेगवान् या वीर अश्व प्राप्त हो ।

अथवा-(हरिक्णिका एनी) मनोहर निर्दोष निर्मल कन्या और (हरिः) उत्तम अश्व तुझे प्राप्त हों ।

प्रदुद्रुवुर्मघा प्रति ॥१२॥

भा०—(मघा प्रति) दान योग्य ऐश्वर्यों को लेने के लिये (प्रति प्रदुद्रुवुः) दौड़ रहे हैं । सेना में अश्वारोही और जगत् में पुरुष सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये दौड़ रहे हैं ।

शृङ्ग उत्पन्ने ॥१३॥ मा त्वापि सखा नो विदत् ॥१४॥

भा०—(शृङ्गे) सींग नरसिंगा (उत्पन्ने) बजने पर अर्थात् युद्ध की घोषणा हो जाने पर हे राजन् (त्वा) तुझ को (नः) हमारा (सखा अपि) मित्र राजा भी (मा विदत्) प्राप्त न करे, वह तुझको न जाने कि तू कहां सुरक्षित है ।

१०—'देवत्त्वप्रतिसूर्य' इति शं० पा० ।

११—'एनश्चिपंक्ति का हविः' इति शं० पा० । 'पक्तिका' इति क्वचित् ।

१२—'प्रदुद्रवो' इति शं०पा० ।

१३—'शृङ्ग उत्पन्न' इति शं० पा० ।

१४—'मात्वाभि' 'विदन्' इति शं० पा० ।

वशायाः पुत्रमा यन्ति ॥१५॥

भा०—(वशायाः) वश करने हारी पृथ्वी या राष्ट्र के (पुत्रम्) समस्त पुरुषों को कष्टों से त्राण करने में समर्थ पुरुष की शरण (आ-यान्ति) सब प्राप्त होते हैं। वशा का पुत्र राजा है। देखो वशाप्रकरण ॥

इरां देवममदत् ॥१६॥

भा०—(इरा) पृथ्वी, ऐश्वर्य को देने वाली होकर (देवम्) विजिगीषु को उसी प्रकार प्रसन्न करती है जैसे स्त्री, अपने अभिलाषा करने वाले पति को चाहती है।

अथो अयमयामिति [अयंन्वयंन्विति] ॥१७॥

भा०—(अथो) तब सब लोग कहा करते हैं (अयम् अयम् इति) यह वह पुरुष है, यह वह पुरुष है, जो राजा, विजयी, भूमि रूप राज-लक्ष्मी का पति है।

अथो अयमिति [अथो अयंन्विति] ॥१८॥

भा०—(अयो अयम् इति) और यह वह पुरुष है।

अथोऽश्वा अस्थूरि नो भवन् ॥१९॥

भा०—(अथो) इस प्रकार (नः) हमारे (अश्वाः) अश्व, घुड़-सवार (अस्थूरि) दोष रहित, (भवन्) हों।

१५–'मायन्ती' मायति' इति क्वचित्।

१६–'इरावे दुमयं दत' इति श० पा०।

१७=’इयन्नियन्निति' इति श० पा०। 'इयमियमिति' इति राथह्विट्'।

१८–'इयन्निति' इति श० पा०।

१९–'अस्थिरो भवन्' इति श० पा०।

इयत्तिका शलाकका ॥२०॥

भा०—(इयत्तिका) इतनी बड़ी (शलाकका) शलाका, सलाई या मानदण्ड है। इसका वर्णन अगले सूक्त में है।

[१३१] राजशक्ति का वर्णन।

आमिनोति विभिद्यते ॥१॥

भा०—इतना छोटी सी शलाका या मानदण्ड है। पर वह ही (आमिनोति) सब भूमि को माप लेता है। वह (विभिद्यते) स्वयं भी नाना अंशों में बंटी होती है। इसी प्रकार राजा की शक्ति मानदण्ड के समान है। वह छोटी होकर भी समस्त पृथ्वी को मापती है। और स्वयं भी नाना खण्डों या विभागों में बंटती है।

तस्य कर्त्तं निर्भञ्जनम् ॥२॥

भा०—(तस्य) उसी दण्ड के बल से (निर्भञ्जनम्) शत्रु का आमर्दन, पराजय भी (कर्त्त) कर डालो। जिस प्रकार दण्ड से मापा जाता है। उसी प्रकार दण्ड से ही मारा भी जा सकता है उसी प्रकार राजशक्ति से भी शत्रु का नाश करो।

वरुणो याति वसुभिः ॥३॥

भा०—वह (वरुणः) शत्रुओं का वारण करनेहारा राजा और स्वयं वृत पालक (वसुभिः) बसनेवाली प्रजाओं, और वसु, विद्वानों और ऐश्वर्यों से युक्त होकर (याति) प्रयाण करता है।

२०—'उयं यकांशलोकका' इति श० पा०।

[१३१]१—'आनिनो निति भचते' इति श० पा०।

२—'तस्य अनु', 'तस्यनु', 'तस्य अत्तु', 'तस्यभतु' इति नाना पाठाः। 'तस्यलतु' इति श० पा०।

३—'वस्त्वभिः इति श० पा०।

श॒तं वा॒योर॒भीश॑वः ॥४॥

भा०—(वायोः) वायु के समान तीव्र वेग वाले अश्व को नियम में रखने के लिये जिस प्रकार लगामें होती हैं। उसी प्रकार वायु के समान उग्र वेग से जाने वाले और शत्रुरूप वृक्षों को तोड़ने फोड़ने वाले राजा के भी (शतं) सैकड़ों (अभीशवः) रोक थाम करनेहारे साधन हैं। अथवा (शतं अभि-शवः) उसके पास सैकड़ों 'शव', बल और क्रिया साधन हैं। वही 'शतक्रतु' है।

श॒तम॑श्वा हि॑र॒ण्यया॑: । श॒तं र॒था हि॑र॒ण्यया॑: ।
श॒तं कु॒थ्या हि॑र॒ण्यया॑: । श॒तं नि॒ष्का हि॑र॒ण्यया॑: ॥५॥

भा०—(शतं) सैकड़ों उस राजा के अधीन (हिरण्ययाः) सुवर्ण से मण्डित, अथवा उत्तम गति से जाने वाले (अश्वाः) अश्व, अश्वारोही हैं। (शतम् हिरण्ययाः रथाः) सैकड़ों स्वर्णादि से मण्डित, अथवा अति सुन्दर विहार योग्य (रथाः) रथ हैं (शतं कुथ्याः) सैकड़ों खजानें (हिरण्ययाः) सोने आदि रमणीय, सुन्दर रत्नों से भरे हुए हैं। (शतं निष्काः) सैकड़ों स्वर्णमुद्राएं, या आभूषण उसके (हिरण्ययाः) सुवर्ण रत्नादि के बने हैं।

अहल कुशवर्त्तक ॥६॥

भा०—(अहल) हे 'अहल' अविलेखनयोग्य ! तुझ को कोई उखाड़ नहीं सकता। तू (कुशवर्त्तक) कुश घास के समान रहता है। जैसे कुश घास जहां हल नहीं चलता वहां जम आता है। और हल चल जाने पर फिर भी बार २ आता है इसी प्रकार राज भी जड़ से नहीं उखड़ता। वह बार २ सिर उठाता है।

४—'शतेवाभःशीशवः' इति दें० पा०।

शफे न पीव ओहते ॥ ७ ॥

भा०—(शफे) घोड़े के जिस प्रकार खुर भाग में (पीवः) स्थूल मांस भाग (न) नहीं (ओहते) रहता । इसी प्रकार राजा के चरण भाग, सेवक लोगों में अधिक स्थूलता, या भोगविलास नहीं होना चाहिये । अथवा-जिस प्रकार (शफेन) खुरके बल से (पीवः) स्थूल शरीर (ओहते) धारण किया जाता है इसी प्रकार चरण स्थानीय पुरुषों या आज्ञा के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त करता है ।

आयं वनेनं तेज[द]नीं ॥८॥

भा०—(तेजनी=तेदनी) अग्नि को भड़काने वाली पूणी, (आयवने न) कोयलों को ऊपर नीचे करके जिस प्रकार अग्नि को भड़का देती है या 'कशा' जिस प्रकार आग को तीव्र कर देती है उसी प्रकार भेद छेदकर राजा सब को वश करता है ।

वनिंष्ठा नावं गृह्यते ॥९॥

भा०—जिस प्रकार खाया हुआ भोजन आंतों में अटकता नहीं प्रत्युत पच कर कुछ मल बाहर हो जाता है और शेष अंगों में मांस रुधिर आदि बनकर चला जाता है उसी प्रकार राजा के पास आया धन भी भुक्त होकर पुनः अन्यों के पास चला जाता है ।

इदं मह्यं मदूरिके ॥१०॥

भा०—हे (मदूरिके) 'मदूरिके'! सबको अति आनन्दित करनेहारी राजसभे ! तू इदं) यह राज्यैश्वर्य (मह्यम्) मुझ योग्य पुरुष को प्रदान कर ।

ते वृक्षाः सह तिष्ठन्ति ॥११॥

भा०—(ते) तेरे निमित्त वे समस्त राजागण (वृक्षाः) पृथ्वी को घेर कर, उनमें जड़ जमा कर खड़े हुए वृक्षों के समान राज्य जमा कर तिष्ठन्ति) स्थिर खड़े रहते हैं ।

पाकबलिः ॥११॥

भा०—राजा (पाकबलिः) परिपक्व वीर्य होकर ही बलवान् होता है।

शकबलिः ॥१३॥

भा०—(शकबलिः) वह शक्तिशाली पुरुष से मिल कर सामर्थ्यवान् होकर ही बलवान् होजाता है।

अश्वत्थः खदिरो धवः ॥१४॥

भा०—वह (अश्वत्थः) अश्व के समान चतुरंग सेना रूप चारों चरणों पर विराजता है। वह (खदिरः) खदिर वृक्ष के समान दृढ एवं (खदिरः) अतिस्थिर होकर विराजता है। वह (धवः) उत्तम पुष्पवान् धव नामक वृक्ष के समान सुन्दर, सुभूषित और मनोहर है।

अरदुपर्णः ॥१५॥

भा०—वह (अरदुपर्णः) अरदुपर्ण नामक वृक्ष के समान दृढ़ एवं स्थायी, अविनाशी, पालन सामर्थ्य से युक्त है।

शय हत इव ॥१६॥

भा०—वह राज्य में रहता हुआ भी ऐसा प्रसुप्त सत्ता से रहे, मानो (हतः इव) मरसा गया हो, लोग उसे भूलसा जायँ। उसकी तीक्ष्ण शक्ति से उद्विग्न होते रहें।

व्याप्तः पूरुषः ॥१७॥

भा०—वह राष्ट्र में ऐसा व्यापक होकर रहे जैसे समस्त ब्रह्माण्ड में परम पुरुष और शरीर में आत्मा व्याप्त है और उसके प्रत्येक अवयव को चेतन और क्रियावान् कर रहा है।

अदूहमित्यां पूषकम् ॥१८॥

१८–'अदूहमित्यापूषकम्' इति शं० पा०।

भा०—सभी राजा के अधीन विद्वान्गण मिलकर (पीयूषम्) परि-पुष्ट करने वाले रस को इसी प्रकार भूमि से प्राप्त करें जैसे गौ से दुग्ध दुहा जाता है और सूर्य की रश्मियां पृथ्वी से जिस प्रकार जल खींचती हैं।

अश्वस्य ऋश्च परस्वतः ॥१९॥

भा०—वह राजा (परस्वतः च) परस्वान् नामक जंगली घोड़े से भी अधि-अर्धः) अधिक बलशाली हो अथवा (परस्वतः) स्वराष्ट्र परराष्ट्र से भी अधिक ऐश्वर्यवान् और समृद्ध हो।

द्वौ च हस्तिनो दृती ॥२०॥

भा०—जिस प्रकार (हस्तिनः) एक हाथी के (द्वौ च दृती) दो विदारण करने वाले दांत होते हैं उसी प्रकार (हस्तिनः) उत्तम, प्रशस्त चतुर हाथ वाले धनुर्धर योद्धा के (द्वौ च) दोनों हाथ (दृती) शत्रु की सेनाओं को विदारण करने में समर्थ हों।

[१३२]

आदलाबुकमेककम् ॥१॥

भा०—(आत् एककम्) और वह एकमात्र (अलाबुकम्) तुम्बे के समान रहता है। अर्थात् जिस प्रकार तुम्बा एकमात्र समस्त जल के बीच में रहकर भी उसके ऊपर तैरता है इसी प्रकार अग्रणी राजा समस्त प्रजा और सेना के ऊपर विराजता है। और स्वच्छन्दता से जल प्रवाह और सेना प्रवाह के साथ जाता है।

अलाबुकं निखातकम् ॥२॥

भा०—परन्तु तुम्बा तो बहुत चंचल होता है उसके विपरीत वह (अलाबुकम्) उस तुम्बे के भी समान है जो (निखातकम्) भीतर से खनकर खोखला कर लिया गया है। जिस प्रकार भीतर से खोखला तुम्बा

जलपात्र बन कर अपने भीतर जलों का आश्रय रहता है उसी प्रकार वह अग्रणी राजा समस्त प्रजाओं का आश्रय रहता है । अथवा—

कुर्करिको निखातकः ॥३॥

भा०—वह अग्रणी पुरुष (कर्करिकः) कर्करी के फल के समान (निखानकः) भीतर से खुदा हुआ, खोखला किया होता है । वह जिस प्रकार अपने ऊपर लगे सप्त स्वर के तन्त्रियों की ध्वनि को प्रबल और मधुर करता है उसी प्रकार राजा भी सर्वाश्रय होकर सबके उत्साहों, हर्षों और इच्छाओं को द्विगुणित करता है ।

तद् वात उन्मथायति ॥४॥

भा०—(तत्) वह राजा (वातः) वायु के समान वेगवान् होकर (उन्मथायति) शत्रु दल को उथल पुथल करके नष्ट कर डालता है ।

कुलायं कृणवादिति ॥५॥

भा०—वह (कुलायं) गृह, आश्रय, बड़ा संगठन (कृणवात्) बनावे (इति) इस कारण से ।

उग्रं वनिपदाततम् ॥६॥

भा०—वह (उग्रम्) बड़े बलवान्, भयंकर और (आततम्) अति विस्तृत सैन्य को (वनिषत्) प्राप्त करता है ।

न वनिषदनाततम् ॥७॥

भा०—वह (अनाततम्) अविस्तृत, स्वल्प बल को (न वनिषत्) नहीं स्वीकार करता है ।

क एषां कर्करिं लिखत् ॥८॥

भा०—(एषां) इनके बीच में (कः) कौन (कर्करिम्) उस 'कर्करी' के समान समस्त स्वरों के उत्पादक कर्त्ता रूप विजेता, राजा को (लिखत्) लिखता है, अर्थात् कौन उसको भीतर से खोखला करता और उसे तैयार करता है ।

क एषां दुन्दुभिं हनत् ॥९॥

भा०—(एषाम्) इनके बीच में से (दुन्दुभिम्) द्वन्द्व युद्ध में शोभा पाने वाले, अथवा शत्रुनाशक इस प्रबल राजा को (कः) कौन (हनत्) मारने में समर्थ है।

यदीयं हनत् कथं हनत् ॥१०॥

भा०—(यदि) यदि (इयं, अयं) यह सेना, या सेनापति (हनत्) उसको मारे तो (कथं हनत्) उसको किस प्रकार मारता है।

देवी हनत् कुह हनत् ॥११॥

भा०—(यदि) देवी, विजयशालिनी सेना उसको मारती है तो (कुह हनत्) वह कहां मारती है ?

पर्यागारं पुनः पुनः ॥१२॥

भा०—(परि-आगारम्) जिस प्रकार मनुष्य बार २ अपने घर का ही आश्रय लेता है। वहीं लौट २ कर आता है उसी प्रकार सेना भी (आगारं परि) अपने आज्ञापक के इर्द गिर्द ही घर के समान उसका (पुनः पुनः) बार २ आश्रय लेती है।

त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि ॥१३॥

भा०—वास्तव में-(उष्ट्रस्य) दाह करने वाले, संतापकारी, प्रतापी पुरुष के (त्रीणि) तीन ही (नामानि) नाम, स्वरूप, या वश करने और नमाने या दूसरे को झुका लेने वाले बल हैं।

हिरण्य मित्येकः अब्रवीत् ॥१४॥

भा०—(हिरण्यम्) हिरण्य, सुख या ऐश्वर्य (इति) यह (एकः) एक वशकारी पदार्थ (अब्रवीत्) कहा जाता है।

द्वे वा यशः शवः ॥१५॥

भा०—(आ) और (द्वे) दो पदार्थ और हैं एक (यशः) यश और दूसरा कीर्ति या अन्न (शवः) बल ।

नीलशिखण्डो वा हनत् ॥१६॥

भा० —(वा) निश्चय से (नीलशिखण्डः) नीले तुर्रे वाला सेनापति ही (हनत्) शत्रु का विनाश करता है ।

इति ऐतशप्रलापाः ॥

ऋग्वेदपरिशिष्टान्तर्गतकुन्तापसूक्तपाठो यथोपलभ्यते तथा लिख्यते-

एता अश्वा आप्लवन्ते । प्रतीपं प्रातिसत्वनं ।'तासामेका हरिक्निका । हरिक्निके किमिच्छसि । साधुं पुत्रं हिरण्यं । क्वाहतं परास्यः । यत्रामू-स्तिस्रः शिंशपाः । परित्रयः पृदाकवः । शृंगं धमन्त आसते । अयं महां ते अवहि ॥ १० ॥ स इच्छकं स एवकं । सघावते सघागमे ।गोमीघ गोगती-हमि । पुमान्कुस्ते निमिंच्छति । वद्भ्यो इति । वद्वो अयो इति । अजकोरको-विका । अश्वस्य वालो गोशफः । केशिनीरयेनी एनी वा । अनानयोरजि-ह्विका ॥२०॥ को अंब कुलिमायुनि । को अर्जुन्या पयः को असिक्न्या पयः । एतं पृच्छ कुहं पृच्छ कुहाकं पक्वकं पृच्छ । य आयन्ति विश्वभिक्रुभिः । अकुप्यन्तः कुमायवः । आमणको मणत्सकः । देवत्तः प्रतिहूर्यः । विनष्टि पतिका हविः ॥ ३० ॥ प्रदुद्रुदो मघापति । शुंग उत्पत्त । मात्वा विमखाना विदन् । वशायाः पुत्रमायान्ति । इरावेन्दुमनंदत । इयं निर्यमीति । अथो इयं निति । अथोज्यायस्तुरो भवत् । इयं यका शलाकका । आनिप्रोति निमज्यते ॥ ४० ॥ तस्या अनु निभञ्जनम् । वरुणो याति वस्भिः । शतं वभ्रोरभीशवः । शतं कशा हिरण्ययीः । शतं रथा हिरण्ययाः । आहलकुशंवर्त्तकः । आयवने न तेजनिः । शफे न पीव ओहति । वनुप्रनोपनृत्यति इयं महानदुरिति ॥ ५० ॥ ते वृक्षाः सह तिष्ठंति । पाकवलिः शाकवलिः । अश्वत्थः खदुरो धवः । अरदुः परमः शये । हत इव पाप पूरुषः । अदोहमि

पीयूषकम् । द्वौ च हस्तनौ दती । अध्यर्थं च परस्वतः । आदलाबुकमेककम् । अलाबुकं निखातकम् ॥ ६० ॥ कर्करिको निखातकः । तद्वात उन्मथा इति । कुलायं करवाँ इति । उग्रं वलिशदाततं । नवलिशनदाततं । क एषां कर्करीं खनत् । क एषां दुन्दुभिं हनत् । यदी हनत् कथं हनत् । देवी हनत् कथं हनत् । पर्याकारं पुनः पुनः । इति सप्तति पदान्यैतश प्रलापाः ॥

अध्यात्म व्याख्या ।

अध्यात्म में आत्मा और ब्रह्माण्ड में परमेश्वर अग्रणी और ज्ञानवान् और प्रकाशस्वरूप होने से 'अग्नि' हैं अतः अब ऐतश प्रलापों की अध्यात्म परक व्याख्या की जाती है ।

१. ये भोग करने की वृत्तियें सब तरफ़ भाग रही हैं ।

२. और उनके प्रेरक आत्मा से प्रतिकूल उससे विपरीत दिशा में जा रही हैं ।

३. उनमें से एक 'हरिक्लिका' हरि, सबके हर्त्ता आत्मा की सूक्ष्म 'कण' या दीप्ति रूप में स्वर्ण ज्योति के रूप में दीपशिखा के समान 'चिति कला' है वह इच्छास्वरूप है ।

४. हे 'हरिक्लिके' आत्मा की एक कला या चितिकले तू क्या चाहती है

५. मैं सबके वश करने वाले, नरक के त्रिविध दुःखों से बचाने वाले उस तेजोमय आत्मा को चाहती हूं ।

६. (क आह तं) उसका कौन तुझे उपदेश करे ? (परा स्यः) वह तो बहुत दूर अवाङ् मनसगोचर है ।

७. वह वहां है जहां तीन 'शिंशपाः' उस परम सुख सत्ता के पालन करने वाली तीन अनादि शक्तियां विद्यमान हैं ।

८. वे तीनों बहुत दूर हैं ।

९. वे तीनों पूर्ण सामर्थ्य वाले हैं ।

१०. सब (शृङ्गं) मूल कारण को प्राप्त हुए रहते हैं ।

११. यह यहां, इस शरीर में आत्मा, गाड़ी में अश्व के समान युक्त है ।

१२. वह इस शरीर में देखने, सुनने, बोलने आदि की शक्ति विशेष से भली प्रकार जाना जा सकता है ।

१३. गौओं के समूह को देखकर जिस प्रकार गौओं के एकमात्र गति, चारा या आश्रय रूप गोपति या व्रज का अनुमान होता है उसी प्रकार इन्द्रियों को देखकर उनसे उत्पन्न (गोमय) ज्ञान से ही 'गोगति' अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के एकमात्र आश्रय का भली प्रकार ज्ञान किया जाता है ।

१४. हे आत्मन् ! (पुंसाम्) प्राणों के समूह के बीच तू यहां क्या चाहता है ?

१५. जैसे कृषिकर्म के परिश्रम के अनन्तर किसान चाहता है कि उसे खेत में पके जौ, धान मिलें उसी प्रकार मैं आत्मा भी इस शरीर में प्राणों के बीच में बैठा हुआ अपने कर्मों के परिपक्व फलस्वरूप 'व्रीहि' शक्ति के बढ़ाने वाले फल, अभ्युदय और 'यव' त्रिविध तापों का नाश करने वाले साधन, निश्चय से इन दो पदार्थों को ही चाहता हूं ।

१६. हे आत्मन् ! तू इस शरीरायतन में कर्म के परिपाक, फलस्वरूप सुख, अभ्युदय रूप 'व्रीहि' धान्य और 'यव' शरीर से आत्मा का पृथक् होना अर्थात् जन्म और मृत्यु, सुख और दुःख (अधाः) भोग करता है ।

१७. मैं चाहता हूं कि (अजगार इव) जिस प्रकार अजगर अनायास अल्पायास से ही भेड़ बकरी आदि क्षुद्र जन्तुओं का भोग करता है उसी प्रकार मैं (अजगारः) अभोक्ता होकर भी (अविकाः) नाना देहों में गमनागमन की क्रियाओं का भोग करूं ।

१८. हे आत्मन्! भोक्ता तुझ आत्मा को (वारः) नाना वरण करने योग्य काम्य पदार्थ और (गोशफः च) इन्द्रियों द्वारा प्राप्त और वाणी द्वारा कहे जाने योग्य नाना ज्ञान (ते) तुझे प्राप्त होते हैं।

१९. तुझे तो (श्येनपर्णी) ज्ञानवान् आत्मा के पालन करने वाली (सा) वह परम मोक्ष पदवी चाहिये।

२०. जो (अनामया) सब प्रकार के रोग, शोक भय, पीड़ा दुःखादि से रहित (उपजिह्विका) जो सदा जिह्वापर रक्खी रसीली धार के समान निरन्तर रस देने वाली, रसस्वरूप है।

(२)

१. इन आत्मानन्द रसों को कौन प्राप्त करता है।

२-४. असिक्नी गहरे लाल रंग की श्वेत और काली इन तीन रंगों की सत्व, रजस्, तमस्, तीन गुणों वाली प्रकृति के रसों को कौन प्राप्त करता है।

५. इस प्रश्न को इस विद्वान् से पूछ। मैं कहां प्रश्न करूं?

६. कहां, किस परिपक्व ज्ञानवान् पुरुष से मैं यह प्रश्न पूछूं?

७. 'यव' अर्थात मुक्त होने के साधन (कुत्सिम्) कुत्सित आचरण वाले पुरुष को प्राप्त नहीं होते।

८. निर्धन सदा धनकी आकांक्षा करते हैं।

९. मणि रत्नादि से युक्त धनाढ्यजन भी 'अमणिक' अर्थात् मणि आदि से रहित हो जाते हैं।

१०. हे देव (त्वा सूर्य प्रति) तुझ सबके प्रेरक तेजस्वी पुरुष को मैं प्राप्त होऊं।

११. 'एनी' वह श्वेत 'हरिक्निका' सर्व दुःखहारिणी दीप्ति तेरी है। तू 'हरि' सर्व दुःखहरण करने में समर्थ है।

१२. सभी लोग धन ऐश्वर्यों के प्रति वेग से जाते हैं ।

१३. विशेषज्ञान उत्पन्न होजाने पर,

१४. (मा त्वा अपि) मुझ आत्मा को और (त्वा) तुझ परमेश्वर को (नः सखाः) हमारा मित्र ही (विदत्) प्राप्त करे ।

१५. सर्व वशकारिणी ब्रह्मशक्ति के पुत्र अर्थात् पुरुष को त्राण करने वाले राजा के समान वीर्यवान् पुरुष की शरण में सभी आते हैं ।

१६. पृथ्वी जिस प्रकार राजा को और जल जैसे सूर्य को तृप्त करता है उसी प्रकार ज्ञान-राशि देव ज्ञानी को तृप्त करता है ।

१७. वह साक्षात् करता है कि यह वह रसधारा है । यह वह है ।

१८. और यह है, बस ।

१९ और (नः अश्वाः) हमारे भोक्ता जीवगण नष्ट नहीं हों ।

२०. यह इतनी ही शलाका प्रकृति है ।

(३)

१. जो आत्मा को पीड़ित करती है । उसी का नाश किया जाता है ।

२. उसी का छेदन करो । उसके कट जाने पर,

३. यह आत्मा स्वयं राजा के समान देह में बसाने हारे प्राणों के साथ जाता है ।

४. वायु के समान मुख्य आत्मा की सौ रश्मियां हैं ।

५. सौ तेजस्वी अश्वों के समान व्यापक सामर्थ्य हैं ।

६. रथों के समान सैकड़ों तेजस्वी रस, बल या रमण साधन हैं ।

७. सैकड़ों सुवर्ण सभा खजानों के समान रमण योग्य गुप्त ऐश्वर्य हैं ।

८. आभूषणों के समान सैकड़ों विशेष सुख हैं ।

९. बिना उखाड़े कुशा के समान हे नित्य ! वर्तमान परमात्मन् !

१०. तू एक चरण में भारी संसार को धारण करता है।

११. संसार के संचालन में तू कशा के समान है।

१२. ब्रह्माण्ड के उदरभाग में भी परिमित नहीं है।

१३. हे मण्डूरिके ! अति सुखकारिणी ! (इदं) यह साक्षात् ज्ञान मुझे प्राप्त हो।

१४. वे वृक्ष के समान स्थिर समाहित आत्मा विराजते हैं।

१५. परिपक्व ज्ञान से आत्मा बलवान् होता है।

१६. शक्ति सामर्थ्य से बलवान् आत्मा है।

१७. वह आत्मा (शये) हाथ में रक्खे पदार्थ के समान साक्षात् है। अथवा मृतपुरुष के समान प्रसुप्त, अव्यक्त रूप से विद्यमान है।

१८. वह 'अरदु' नाम वृक्ष के पत्र के समान लेप से रहित, असंग है।

१९. वह 'अश्वत्थ' सनातन व्याप्तहोकर विराजने वाला है, वह 'खदिर' सदा स्थिरता से विद्यमान नित्य है। वह 'धव' सब दुःखों और पाप मलों को नाश करने वाला शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है।

२०. वह पुरुष पूर्ण, परमेश्वर, सर्वत्र व्यापक है।

२०. उसी परम-अमृत को सब योगी प्राप्त करते हैं।

२२. वह परमस्वरूपवान् महान् समृद्ध है।

२३. (हास्तिनः) हाथी के दोनों दाँतों के समान आत्मा के दोनों ज्ञान और कर्म बन्धन काटने वाले हैं।

(४)

१. तदनन्तर एकमात्र वह आत्मा तूम्बे के समान संसार सागरपर तैरता है। उसमें नहीं डूबता।

२. वह तुम्बे के समान आत्मा प्रकृति रूप पृथ्वी में गड़ जाता है।

३. वह आत्मा ककेरी के समान गड़ जाता है।

४. उसको 'वात' प्राण हिलाता डुलाता है।

५. वह अपना उसे आश्रय बना लेता है।

६. वह उग्र अतः बलशाली व्यापक ऐश्वर्य का भोग करता है।

७. स्वत्व का भोग नहीं करता।

८. इन प्राणगणमें से उस कर्त्ताको कौन उखाड़ता है, मुक्त करता है?

९. उनमें से कौन दुन्दुभि अर्थात् भीतरी नाद को बजाता है।

१०. जो बजाता है वह कैसे बजाता है?

११. देव आत्मा की चितिशक्ति बजाती है, तो वह कहां बजाता है?

१२ वह आत्मा पुनः अपने आश्रय में आता है अर्थात् पुनः २ देह में आता है।

१३. सर्व दुःखदाहक के तीन नाम हैं।

१४. एक 'हिरण्य' अर्थात् तेजोमय आत्मा ऐसा एकनाम कहा जाता है।

१५. 'यश' वीर्य और 'शव':—'बल' या 'ज्ञान' ये दो नाम और हैं।

१६. या वह 'नीलशिखण्ड', इस आश्रय शरीर के मूर्धाभाग में स्थित ब्रह्मरन्ध्रत प्राण ही उस भीतरी नाद को बजाता है।

इस प्रकार 'एतशमुनि' दृष्ट 'प्रलाप' अर्थात् उत्कृष्ट सूक्तों की आध्यात्मिक योजना है। इस सूक्त के और भी नाना विकृत पाठ हैं। जिन से विचित्र २ अर्थों की प्रतीत होती है। वस्तुतः यह सूक्त बड़े रहस्यमय हैं इन पर और भी अधिक विचार की आवश्यकता है।

[१२३] ब्रह्म प्रकृति विषयक ६ पहेलियां।

अथ प्रवल्हिकाः षट्।

विततौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥१॥

भा०—(द्वौ) दो (किरणौ) पीस २ कर फेंकने वाले चक्की के दो पाटों के समान आकाश और पृथिवी (विततौ) अति विस्तृत हैं। (तौ) उन दोनों को (पूरुषः) पुरुष एक ही अकेला (आ पिनष्टि) निरन्तर चक्की के समान पीसता चलाता है।

हे (कुमारि) नवयौवन वाली कन्ये ! (तत्) वह ब्रह्मतत्व (तथा न) वैसा सरल नहीं (यथा) जैसा हे (कुमारि) रहस्य को न जानने वाली बालिका के समान मुग्धबुद्धे ! तू (मन्यसे) जानती है। स्त्री और पुरुष या प्रकृति जीव ये दो किरण अर्थात् कर्त्ता भोक्ता रूप से हैं इनको (पूरुषः) दोनों को परम आत्मा ही अकेला सर्ग रचकर चलाता है।

मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषादृते । न वै० ॥२॥

भा०—(ते) तेरे (मातुः) माता, रचने हारे (पुरुषात्) पुरुष से (द्वौ) दो (किरणौ) किरण, संसार के रचने वाले (ऋते) इस प्रकार व्यक्त संसार में (निवृत्तः) क्रिया करने में समर्थ होते हैं। अर्थात् भोग्य भोक्ता रूप में प्रकट होते हैं। अथवा वे दोनों (पुरुषादृते) परम पुरुष से भिन्न हैं। विधाता और ज्ञाता परमेश्वर से दोनों 'किरण' अर्थात् कारक प्रकृति और जीव प्रेरित हैं। पर वे दोनों परम पूर्ण पुरुष से (ऋते) भिन्न हैं। वह परमेश्वर न भोग्य है, न भोक्ता है।

निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे । न वै० ॥३॥

२—(द्वि०) 'नीवीतः पुरुषाध्ने' इति श० पा० । 'निवृत्तः पुरुषानृते' इति शं० पा० । निवृत्तः पुरुषादृतेः इति राथ ॥

३—'मध्यमान्' इति शं० पा० ।

भा०—हे (मध्यमे) बीच में स्थित, सर्वव्यापक रूप से वर्त्तमान ब्रह्मशक्ते ! तू कर्णकौ) क्रियाशील दोनों कारकों के वश करके (नि: आयच्छसि) ऐसे बांध देती है जैसे रश्मियों के दो छोर पकड़ कर बीच में गांठ लगादी जाती है। (न वै० इत्यादि पूर्ववत्)

उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्तेव वावं गूहसि । न वै० ॥४॥

भा०—हे पुरुष ! परमेश्वर ! जिस प्रकार (उत्तानायै शयानायै) उतान लेटी हुई स्त्री को स्वयं पुरुष भी लेट कर भोग करता है उस प्रकार तू प्रकृतिरूप स्त्री को भोग नहीं करता, प्रत्युत उसके विपरीत यह है कि प्रकृति 'उत्ताना' तेरे प्रति सर्व प्रकारसे अपना सर्वांग खोलकर स्तब्ध, निश्चल जड़ होकर विद्यमान है और 'शयाना' अर्थात् प्रसुप्त रूप में निश्चल सत्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों में अविकृत भाव से अव्यक्त रूप से पड़ी है। पर तू सर्वत्र अकेला स्तब्ध रूप से 'स्थाणु' वृक्ष के समान स्थित है तो भी (अवगूहसि) तू उसको सर्वांगों में आलिंगन करता है, व्याप रहा है उसके कण २ में रज २ में, रम रहा है। नीचे पड़ी को खड़ा पुरुष किस प्रकार धारण करता है ! ऐसे जैसे पृथ्वी पर पड़ी जूती को खड़ा पुरुष पहन लेता है। (नवै० इत्यादि) पूर्ववत्।

श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवावं गूहसि । न वै० ॥५॥

भा०—(श्लक्ष्णायाम्) स्नेह वाली, (श्लक्ष्णिकायाम्) घृतादिक के स्पर्श से अति स्निग्ध स्त्री में (श्लक्ष्णम्) अत्यन्त आसक्त पुरुष के समान (अवगूहसि) तू प्रकृति का आलिंगन करता है। कैसे ? जैसे उत्तम पति घृताक्त स्त्री को प्रेमपूर्वक आलिंगन करता है। अथवा जिस प्रकार अंजनदानी में सलाई।

४—'तिष्ठन्ती वावगूहसि' इति श० पा० ॥

अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोमवति ह्रदे ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥६॥

भा०—(श्लक्ष्णम्) पिच्छिल, अति स्नेहमय, चिक्कण पदार्थ (लोमवति ह्रदे अन्तः) लोम, केशों के समान शैवाल वाले तालाब में जिस प्रकार (अव भ्रंशत्) नीचे फिसलसा जाता है, नीचे बैठ जाता है उसी प्रकार (श्लक्ष्णम्) अति व्यापक ब्रह्म बीज भी (लोमवति) उच्छेद्य पदार्थों से युक्त, विकारमय (ह्रदे) जलाशय के समान इस सलिलमय प्रकृति तत्व में (अवभ्रंशत) नीचे उतरकर उसमें प्रविष्ट या व्याप्त होजाता है । ऐसे जैसे अंजन भरी सलाई आंखों की कोरों में । (न वै० कुमारि० इत्यादि पूर्ववत्)

५ से ६ तक ये ४ ऋचाएं पं० ग्रीफिथ ने अश्लील जानकर अनुवाद में छोड़ दी हैं ।

व्याख्या में कहे दृष्टान्तों को अगले [१३४] सूक्त में देखिये ।

[१३४] जीव, ब्रह्म, प्रकृति ।

अथ प्रआजिज्ञासेन्याः ॥

इहेत्थाप्रागपागुदगधराग् । आसन्ना उद्भिर्यथा ॥ १ ॥

भा०— इह) इस जगत् में (इत्था) इस प्रकार (प्राग्) आगे, (अपाक्) पीछे, (उदक्) ऊपर और (अधराक्) नीचे ये सब दिशाएं (उद्भिः) जलों और जीवों से (आसन्ना) व्याप्त हैं । बतलाओ कैसे ? उत्तर—ऐसे भरी हैं जैसे जलों से जलपात्र भरे हों ।

वत्साः प्रुषन्त आसते ॥ २ ॥

भा०—(वत्साः) जीवों के बसाने वाले लोक बिन्दु के समान उस अनन्त ब्रह्म में स्थित हैं । कहो कैसे ? उत्तर—ऐसे जैसे जल में घी के बिन्दु ।

स्थालीपाको वि लीयते ॥ ३ ॥

भा०—यह समस्त प्राकृतिक संसार और जीव (स्थालीपाकः) आग पर रक्खी हंडिया के समान कालाग्नि से परिपक्क होता है और (विलीयते) स्वयं विविध प्रकारों से विलीन होजाता है। बतलाओ कैसे? उत्तर—जैसे पीपल के पत्ते पीपल पर आप से आप परिपक्क होकर पीले पड़ जाते हैं और आप से आप दूर गिरते हैं। इसी प्रकार ये जीव ब्रह्म रूप अश्वत्थ पर पककर स्वयं मुक्त होजाते हैं और उसी में लीन होजाते हैं इसी प्रकार यह संसार भी प्रलयकाल में आप से आप कारण में लीन होजाता है।

सा वै स्पृष्टा लीयते ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह अविद्या तो (प्राग्० इत्यादि) सब तरफ से ज्ञानरूप ब्रह्म से स्पर्श पाकर ही विलीन होजाती है। बतलाओ कैसे? ऐसे जैसे पानी की बूंद हाथ से छूते ही उसी में लग जाती है।

ऊष्णे लोहे न लिप्सेथाः ॥ ५ ॥

भा०—(ऊष्णे) प्रतप्त, गरम (लोहे) लोहे पर (न) मत (लिप्सेथाः) लोभ करो। अर्थात् उष्ण, दाहकारी दुःखदायी (लोहे=रोहे) जन्म लाभ, संसार में जन्म लेने के निमित्त (न लिप्सेथाः) भोग आदि के लाभ की इच्छा मत करो। कैसे? जैसे गरम चमचे पर मीठा पदार्थ लगा देखकर बालक लोभ से उसपर मुंह मारते हैं उनका मुख जल जाता है इसी प्रकार भोगमय, कष्टप्रद राजस, जीवन रूप जन्म लाभ पर मत ललचाओ। दुःख पाओगे।

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्। अशिश्लिलकुं शिश्लिलाते ॥६॥

भा०—सब तरफ से (अशिश्लिलकुं) यह प्रकृति उस ब्रह्म को जो उससे चिपटना भी नहीं चाहता एवं असंग है स्वयं उससे चिपटन

चाहती है । उससे लगा चाहती है और संसार को उत्पन्न कर लेती है । बतलाओ कैसे ? जैसे चींटी वट बीज को ।

[१३५] जीव, ब्रह्म, प्रकृति ।

अथ तिस्रः प्रतिराध्यः ॥

भुगित्यभिगतः ॥१॥ शलित्यपक्रान्तः ॥२॥ फलित्यभिष्ठितः ॥३॥

भा०—१. (भुक्) यह जीवात्मा भोक्ता है (इति) इस रूप से ही वह (अभिगतः) समीप इस देह में आगया है । कहो कैसे ? उत्तर जैसे कुत्ता, रोटी दिखाने पर आ जाता है ।

२. (शल् इति) जब शरीर शीर्ण हो जाता है तब वह 'शल्' शरीरान्तरगामी आत्मा होने से आप से आप शरीर से (अपक्रान्तः) निकल भागता है । कहो कैसे? जैसे पक्षी अपने घोंसले से उड़ जाता है ।

३. (फल् इति) वह फटकर दो भागों में टूटा (इति) इस प्रकार एकाकार प्रजापति भी स्त्री पुरुष दो मूर्त्ति होकर (अभिष्ठितः) यहां स्थित हो गया । कहो कैसे ? जैसे गाय का खुर । वह फटकर स्थित हो जाता है ।

अथ प्रवल्हिकानां षट् प्रवादाः ।

दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव [जरितर्वदामो देव] ॥१॥

भा०—१ हे (दैव) देव ! विद्वन् ! (जरितः) हे जरितः स्तुतिकर्त्तः । (ओथामः=वदामः) तेरी कही प्रवृत्ति का रहस्य हम बतलाते हैं तुमने प्रथम कहा कि (विततौ किरणौ द्वौ तौ आपिनष्टि पुरुषः) दो साधन हैं उन दोनों को एक पुरुष पीसता है, कैसे -(आहननाभ्याम् दुन्दुभिम्) जैसे दो आघात करने वाले दण्डों से एक ही पुरुष दोनों नक्कारों को एक ही साथ ताड़ता है इसी प्रकार एक आत्मा शरीर में प्राण और अपान द्वारा शरीर को चलाता है । और दो शक्तियों से परमेश्वर द्यौ और पृथिवी रूप

'दुन्दुभि' द्वन्द्व या जोड़े रूप से प्रतीत होते हुए इन को सञ्चालित करता है ।

कोशबिले (२)

भा०— मातुस्ते किरणौ द्वौ०) इसका उत्तर यह है । दो साधन एक मूल में किस प्रकार रहते हैं ? उत्तर—ऐसे जैसे (कोशबिले) एक मियान में दो बिल हों ।

रज्जुनि ग्रन्थेर्दानम् (३)

भा०—(निगृह्यकर्णकौ० इत्यादि) इसका उत्तर यह है । दो कर्णाओं को किस प्रकार ब्रह्मशक्ति नियम में रखती है ? ऐसे जैसे (रज्जुनि) रस्सी में (ग्रन्थेः दानम्) गांठ देदी जाती है । दोनों छोर पकड़ कर गांठ लगा दी जाती है ।

उपानहि पादम् (४)

भा०—प्रकृति अचेतन सोती स्त्री के समान है और पुरुष चेतन खड़े पुरुष के समान है । उनका परस्पर संयोग कैसे ? (उत्तानायां० इत्यादि) का उत्तर है । (उपानहि) जूते में (पादम्) चरण को जिस प्रकार पुरुष डाल देता है और उसे पहन लेता है उसी प्रकार खड़ा पुरुष पड़ी प्रकृति को व्याप लेता है । चेतन ब्रह्म अपने एक पाद से प्रकृति में व्याप्त होकर जगत् को धार रहा है । "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ॥

उत्तरांजनीमाजन्याम् (५)

भा०—(श्लक्ष्णायां० इत्यादि) का उत्तर । स्वयं स्नेहयुक्त को कैसे व्यापता है ? जैसे (उत्तराञ्जनीं) ऊपर की आंजने की सलाई जैसे (आजन्याम्) अंजनदानी में रक्खा जाता है ।

२—'रजनि ग्रन्थेर्दानम्' इति शं० पा० ।

उत्तरांजुनीं वर्त्मन्याम् (६)

भा०—(अवश्लक्ष्णम् इव० इत्यादि) का उत्तर । लोम वाले स्थान में स्निग्ध पदार्थ किस प्रकार भीतर जाता है । ऐसे जैसे (उत्तराञ्जनीं) अञ्जने की सलाई को वर्त्मन्याम्) आंख की लोमवाली पलक की कोरों में।

हमने अपने भाष्य में भी इन दृष्टान्तों को संक्षेप से दर्शाया है, देखो प्रवल्हिका सूक्त २० । १३३ ॥

अथ आजिज्ञासेन्यानां पद प्रवादः ॥

अलाबूनि (१)

भा०—[प्रश्न] चारों तरफ से घिर कर भी उनमें विद्वान् किस प्रकार असक्त रहे ? उत्तर जैसे (अलाबूनि) जलों में तूंबे ।

पृषातकान्यनि (२)

भा०—[प्र०] समस्त लोक बिन्दुओं के समान कैसे हैं ? उत्तर-जैसे (पृषातकानि) पानी में घृत के बिन्दु हों ।

अश्वत्थपलाशम् (३)

भा०—[प्र०] जीवगण किस प्रकार परिपक्व ज्ञानवान् होकर ब्रह्म में लीन होते हैं ? उत्तर—हंडिया में चावलों के समान परिपक्व होते हैं । और (अश्वत्थपलाशम् वदामः) मुक्त होजाने में पीपल के पत्ते को हम दृष्टान्त रूप से कहते हैं । वह स्वयं पक कर टूट जाता है ।

विप्रुट् (४)

५, ६—'उत्तमां जनियाजन्यानुत्तमां जनीत् वर्त्मन्यात्' इति शं० पा० ।

१—अलाबूनि पृषात्कान्यश्वत्थपलाशं पिपीलिकावटश्वसो विद्युत्स्वा पर्णशफो 'गोशफो जरितरोथामोदेवा' इति शं० पा० ।

भा०—[प्र०] अविद्या अहज्ञान को छूते ही कैसे विलीन हो जाती है जैसे—(विप्रुट्) पानी की बून्द ।

पिपीलिका वटः (५)

भा०—[प्रश्न] एक चिपटना नहीं चाहता तो भी दूसरा उस को चिपट ही जाता है। कैसे ? उत्तर—(पिपीलिका वटः) जैसे चींटी वटबीज को ।

चमसः (६)

भा०-[प्र०] दुःखदायी (लोह=रोह) जन्म की लालसा मत करो । कैसे ? उत्तर—जैसे (चमसः) 'गरम चमचा' । उसको मुख लगाने से मुख जल जाता है । उसी प्रकार दुःखदायी जन्म की अभिलाषा मत करो ।

अथः प्रतिराधानां प्रवादाः ॥

श्वा । पर्णशदः । गोशफः । जारितरावदामो दैव ॥३॥

भा०—(१ प्रश्न) भोक्ता होकर जीव कैसे संसार में प्रविष्ट होता है? उत्तर—जैसे रोटी को देखकर (श्वा) कुत्ता आता है ।

(२ प्रश्न) शरीर से जीव किस प्रकार निकल जाता है ?, उत्तर—ऐसे जैसे (पर्णशदः=पर्णच्छदः) पंखों वाला पक्षी घोंसला छोड़ कर निकल भागता है ।

(३ प्र०) दो भागों में फट कर वह कैसे स्थित है ?, उत्तर-ऐसे जैसे (गोशफः) गौ का खुर फटकर भी पृथ्वी पर जम कर पड़ा करता है । हे (जरितः देव) विद्वन् हम इस प्रकार (ओयाम=वदामः) उक्त प्रश्नों का प्रतिवचन करते हैं ।

अथैकोऽतिवादः ॥

वीमे देवा अंक्रंसुताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर ।
सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि ॥ ४ ॥

४–'सुसत्यमिद् गवामास्यसि प्रखुदसि' इति शं० पा० ।

भा०—(इमे) ये सब (देवाः) विद्वान् पुरुष (वि अ क्रंसत) विविध मार्गों में चले जा रहे हैं। हे (अध्वर्यो) यज्ञ सम्पादन में कुशल पुरुष ! तू (क्षिप्रं) बहुत शीघ्र (प्रचर) आगे २ चल । तेरे पीछे सब चलें।

अध्यात्म में-(इमे देवाः) ये सब विषयों में क्रीड़ा करने वाले प्राण, चक्षु आदि इन्द्रियगण (वि अक्रंसत) विविध विषयों में दौड़ते हैं। हे (अध्वर्यो) अहिंसक अथवा अविनाशिन् आत्मन्! तू (क्षिप्रं प्रचर) अति शीघ्र इन सबका प्रमुख होकर चल या उत्तम भोगों का भोग कर। तू (गवाम्) समस्त इन्द्रियों का, गौवों के बाड़े के समान, (सुषदम् इम्) सुख से आश्रय लेने का स्थान (असि) है। और तू (प्रखुद् असि) सबसे उत्तम स्तुतिशील आनन्द लेनेहारा है। अथवा (प्रखुदसि) सबसे बढ़कर आनन्द लेने वाला है। तू आनन्द का अनुभव कर।

पत्नी य[व]दृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो [तरावदामो] दैव। होता विष्टीमेन [विष्टी इम् एनाम्] जरितरोथामो [रावदामो] दैव ॥ ५ ॥

भा० (पत्नी) संसार का पालन करने वाली प्रकृति (यक्ष्यमाणा) परमेश्वर से संगत होती हुई (पत्नी इव दृश्यते) पत्नी के समान दिखाई देती है। और (एनाम् विष्टः) इसके भीतर प्रविष्ट परमेश्वर इसमें बलाधान करने वाला होकर (होता) होता, उसका वशकर्त्ता है। हे (जरितः देव) स्तुतिशील विद्वन् ! हम (आवदामः) इसी प्रकार जानते हैं अन्यों को प्रवचन करते हैं। इस मन्त्र का शुद्ध पाठ संदिग्ध है। कोष्ठगत पाठ हमारा अनुमित है।

ऋग्वेदपरिशिष्टान्तर्गतः प्रवल्हिकापाठः पादटिप्पण्यां प्रदर्शितः।

ग्रीफिथ ह्विटनीराथसेवकलालमुद्रितसंहितासु प्रवल्हिकात आरभ्य 'आदित्या ह जरित' इति पर्यन्तो ग्रन्थोऽधोलिखितरूपेणोपलभ्यते।

॥१३३॥ विततौ किरणौ द्वौ तावापिनष्टि पूरुषः । दुन्दुभिमाहनाभ्याम् ।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥१॥ मातुष्टे किरणौ द्वौ
निवृत्त पुरुषाद् वनिः । कोशबिले । न वै० ॥२॥ निगृह्य कर्णकौ द्वौ
निरायच्छति मध्यमे । रज्जुनि ग्रन्थेर्दानम् । न वै० ॥३॥ उत्तानायै
शयानायै निष्टन्तनवगूहति । उपानहि पादम् । न वै० ॥ ४ ॥
श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवावगूहति । उत्तरान्जनीमान्ज-
न्यान् । न वै० ॥ ५ ॥ अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोमवति ह्रदे ।
उत्तराञ्जनीं चर्मन्यान् । न वै० ॥६॥

॥१३४॥ इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्गासत्रा उदभिर्यथा । अलाबूनि ॥१॥
इहे० । वत्साः प्रुषन्त आसते । पृषातकानि ॥२॥ इहे० । स्थाली-
पाको विलीयते । अश्वत्थपलाशम् ॥३॥ सा वै स्पृष्टा विलीयते ।
विद्युत् ॥ ४ ॥ इहे० । उष्णे लोहे न लीप्सेथाः । चमसः ॥५॥
अशिशिलक्षु शिरिलक्ते ॥ पिपीलिकावटः ।

॥१३५॥ भुगित्यभिगतः । श्वा ॥१॥ शलित्यपक्रान्तः पर्णशदः ॥ २ ॥
फलित्यभिष्ठितः । गोशफः ॥३॥
वी इमे देवाः अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर । सुसत्यमिद् गवामस्ति
प्रखुद ॥४॥.....................॥५॥

अथ देवनीथाख्यः सप्तमपदस्तृचः ।

आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् ।
तां ह जरितर्न प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन् ॥ ६ ॥

भा०—(आदित्या ह) आदित्य, प्रजा से कर आदि लेने वाले राजा और लेनदेन करने वाले वैश्यगण (जरितः-अङ्गिरोभ्यः) विद्यादि के उपदेश विद्वान् पुरुषों को (दक्षिणाम्) दक्षिणा (अनयन्) प्रदान करें। (ताम् ह) उसको या तो (जरितः) विद्वान् जन नहीं लेते और या (ताम्

उ ह) उसको वे (जरितः) विद्वान् जन (प्रति आयन्) स्वीकार कर लेते हैं । यह दो विकल्प हैं ।

तां ह जरितर्न प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्न प्रत्यगृभ्णः ।

अहानेतसं न विचेतनानि जज्ञा नेतसं न पुरोगवासः ॥ ७॥

भा०—यदि (तां) उस दक्षिणा को (जरितः) विद्वान् लोग (न प्रति अगृभ्णन्) नहीं लें तो (ताम् उ ह) उसको फिर (जरितः) विद्वान् (न प्रति अगृभ्णः) नहीं स्वीकार करें ।

हे मनुष्यो ! यह (सन्) विद्वान् प्राप्त हो तो फिर तुम (अविचेतनानि) विशेष ज्ञान से रहित (अहा) दिनों को (न इत) प्राप्त मत होवो । प्रत्युत हे (जज्ञाः) ज्ञानी पुरुषो ! (सन्) यह विद्वान् प्राप्त ही है तो फिर (अपुरोगवासः) पुरोगामी, पथदर्शकरहित होकर (न इत) मत चलो ।

यथा ह वा इदमनोऽपुरोगवं रिष्यति एवं हैव यज्ञोऽदक्षिणो रिश्यति तस्मादाहुर्दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा भवति अल्पिकापि ॥ ऐत० ब्रा० ६।५।८॥

उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्जविष्ठः ।

उतेमाशु मानं पिपर्ति ॥ ८ ॥

भा०—(उत) और यह (श्वेतः) शुद्ध वर्ण का, ज्ञानवान्, आदित्य के समान तेजस्वी विद्वान् (आशुपत्वा) शीघ्र ही मार्ग से जाने में कुशल है । (उतो) और (पद्याभिः) गमन करने की नाना क्रियाओं और मार्गों से (जविष्ठः) अतिवेग से जाने में कुशल है । (उत) और (ईम्) इसको (आशु) बहुत ही शीघ्र (मानम्) सत्कार (पिपर्त्ति) पूर्ण करता और पालन करता है ।

आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेळते इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः ।

इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत् पृथु ॥ ९ ॥

भा०—हे (अङ्गिरः) ज्ञानवन् ! (त्वा) तुझको (आदित्याः रुद्राः वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु, विद्वान्, वीरगण और सामान्य प्रजा सभी जन (ईळते) स्तुति करते हैं। तू (इदं राधः) यह धनैश्वर्य (प्रति गृभ्णीहि) स्वीकार कर। (इदं राधः) यह हमारा दिया धन (विभु) विशेष विविध सुखों का उत्पादक और विविध कार्यों से प्राप्त है। और (प्रभु) उत्तम फलजनक और उत्तम कार्यों से प्राप्त है (इदं राधः) यह धन (बृहत्) बहुत बड़ा और (पृथु) विस्तृत है।

देवा दद्त्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम्।
युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत ॥ १० ॥

भा०—(देवाः) देव, दानशील पुरुष (आ) सब तरफ़ से (वरं) वरण करने योग्य उत्तम धन (ददतु) प्रदान करें। (तत्) वह धन, हे विद्वान् पुरुषो ! (वः) तुम लोगों को (सुचेतनम्) उत्तम ज्ञान कराने वाला (अस्तु) हो। और (दिवेदिवे) प्रतिदिन, दिनों दिन (युष्मान्) तुमको (अस्तु) प्राप्त हो। और आप लोग उसको (प्रति गृभायत एव) स्वीकार ही कर लिया करो।

अथ तिस्रो भूतेच्छदः।

त्वमिन्द्र शर्म रिणा हव्यं पारावतेभ्यः।
विप्राय स्तुवते वसु निं दूरश्रवसे वह ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वम्) तू (पारावतेभ्यः) परब्रह्म में शरण प्राप्त करने वाले ब्रह्मज्ञानियों को (शर्म) सुखकर (हव्यं) अन्न और धन (रिणाः=ऋणाः) प्रदान कर और (दूरश्रवसे) दूर तक परमपद तक श्रवण करने वाले बहुश्रुत, अतिविख्यात, यशस्वी, अथवा उच्चारण से वेद पाठ करने वाले या उत्तम व्याख्याता, (स्तुवते) स्तुति

करने हारे उपदेष्टा (विप्राय) मेधावी विद्वान् को भी (वसु) धन (नि वह) प्राप्त करा, प्रदान कर।

त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते।
श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः ॥ १२ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् पुरुष ! (त्वम्) तू (छिन्नपक्षाय) कटे पंख वाले (कपोताय) कबूतर के समान (च्छिन्नपक्षाय) आश्रय से रहित, परिग्रह गृहपरिवारादि से विरहित (वञ्चते) भ्रमण करने (कपोताय) नाना प्रकार के ज्ञान से युक्त, विद्वान् अतिथि को (श्यामाकम्) सावां चावल आदि (पक्वं) पक्व अन्न और (पीलु च) आश्रय और (वा:) जल और बहुतसे पदार्थ (अस्मै) इसके आदरार्थ (अकृणोः) कर।

अरंगरो वावदीति त्रेधा बद्धो वरत्रया।
इरामह प्रशंसत्यनिरामप सेधति ॥ १३ ॥

भा०—(अरंगरः) अति उत्तम उपदेष्टा पुरुष भी (वरत्रया) उत्तम दक्षिणा रूप, वरण योग्य धनकी पालना से (वरत्रया बद्धः) मानो रस्सी से कर, अधीन होकर (वावदीति) निरन्तर उपदेश ही करता है। वह (इराम्) अन्न आदि देने वाले की (प्रशंसति) प्रशंसा करता है और (अनिराम्) न देने वाले को (अप सेधति) छोड़कर चला जाता है।

[१३६] राजा, राजसभा के कर्त्तव्य

अथ षोडश आहनस्या ऋचः।

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ १ ॥

[१३६]—स्त्रीपुरुषयोः परस्परसंयोगः आहनः तद्वत् प्रजोत्पत्तिहेतुत्वात् ऋचोऽप्याहनस्याः। इति सायण ऐ० ब्रा० भाष्ये।

भा०—(यद्) जब (अहुभेद्याः) पाप को नाश करने वाली (अरत्नाः) इस प्रजा या पृथ्वी का (कृधु) छोटा या (स्थूलम्) बड़ा भाग भी (उप अतसत्) विनष्ट होता है (अस्याः) इसके (मुष्कौ इव) चोर स्त्री पुरुष ही (गोशफे शकुलौ इव) छोटे से स्थान में फंसे मछलियों के समान (एजतः) कांपा करते हैं।

यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत् ।
विष्वञ्चावुस्या वर्धतः सिकतास्विव गर्दभौ ॥ २ ॥

भा०—(यदा) जब राजा (स्थूलेन, अधिक बड़े पससा) राज्यप्रबन्ध से (अणौ) छोटे २ अपराध पर भी (मुष्कौ) चोर स्त्री पुरुषों को (उप अवधीत्) दण्ड देता है तब (अस्याः) इसके (गर्दभौ) अति आकांक्षा वाले, (विष्वञ्चौ) सर्वत्र फैले हुए प्रजा के नरनारी (सिकतासु इव) बालुकामय देशों में अश्वों के समान (वर्धतः) बढ़ते हैं। वे खूब प्रसन्न होते हैं।

यदल्पिका स्वल्पिका कर्कन्धूकेव पद्यते ।
वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्यति ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) जब (अल्पिका) थोड़ी और (स्वल्पिका) बहुत ही छोटी प्रजा हो तो वह (कर्कन्धूका इव) झरबेरी के समान (पद्यते) समझी जाती है। तब वह शनैः२ (वासन्तिकं तेजनम् इव) वसन्त काल के सरकण्डे के समान अथवा वसन्त काल के सूर्य के समान (भसः) अपने प्रकाश, तेज और बलको (आतत्य) फैलाकर (विद्यते) रहा करती है।

यद् देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः ।
सुक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ ४ ॥

भा०—(यद्) जब (देवासः) विजयशील पुरुष (ललामगुम्) सुन्दर उत्तम वाणी से युक्त, विद्वान् (प्रविष्टीमिनम्) उत्तम प्रजा के स्वामी को (आविशुः) प्राप्त होते हैं तब (यथा) जिस प्रकार (अक्षिभुवः सत्यस्य , आंख से देखे को विशेष प्रमाण योग्य माना जाता है उसी प्रकार (नारी) मनुष्यों की बनी सभा में (सक्थ्ना) समवाय या संघ शक्ति से जो (देदिश्यते) बात निर्धारित हो जाती है वह भी प्रमाण मानने योग्य हो जाती है।

जब विद्वान् पुरुष सत्यवक्ता सभापति के अधीन सभा में विराजें तो बहुसम्मति का भी प्रमाण आंख देखे सत्य के समान करें।

म॒हा॒न॒ग्न्य॑दृप॒द्विमु॑क्तः॒ क्रन्द॑दश्वो॒ नासर॑न् ।
शक्ति॑ कनी॒ना खुद॑ मध्य॒मं सक्थ्यु॒द्यतम् ॥ ५ ॥

भा०—(महानग्नी) सर्वाङ्ग सुन्दर स्त्री के समान वह सभा भी (अदृपद्) गर्व करती है कि (विमुक्तः) छूटे हुए, स्वतन्त्र (अश्वः नः) घोड़े के समान (क्रन्दत्) भाषण करता हुआ विद्वान् भी (आसरन्) सब तरफ जा सकता है। और (कनीना) अति दीप्तिमती सभा (मध्यमम्) मध्य में स्थित (उद्यतम्) ऊपर उठे हुए (सक्थि) समवाय या संघ बल को ही (शक्ति) शक्ति रूप से (खुद) प्राप्त करता है।

म॒हा॒न॒ग्न्यु॑लू॒ख॒लम॒ति॒क्राम॒न्त्य॑ब्रवीत् ।
यथा॒ तव॑ वनस्पते॒ निघ्न॑न्ति॒ तथैव॒ति ॥ ६ ॥

भा०—(महानग्नी) सर्वाङ्ग सुन्दर स्त्री के समान महासभा (उलूखलम् अति क्रामन्ति) ओखली को दृष्टान्तरूप से प्राप्त करती हुई कहती है कि हे (वनस्पते) काष्ट के बने ओखल! (यथा) जिस प्रकार (तव) तेरे बीच में धान डालकर कूटते हैं उसी प्रकार महान् का

साथ के कहे: राजन् ! सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये सभा के बीच में हम तत्व को (पिप्पन्ति) खूब पीसते हैं, विचारते हैं। इसलिये (तथैव इति) यह भी उसी प्रकार है।

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोथाप्यभूभुवः ।
यथैव ते वनस्पते पिप्पन्ति तथैवेति ॥ ७ ॥

भा०—(महानग्नी) बड़ी राजसभा (उपब्रूते) यह बात कहती है कि हे (वनस्पते) समस्त प्रजाओं के पालक ! (अथापि) जब (भ्रष्टः) अपने न्यायमार्ग से या सत्याचरण और विवेक से तू (भ्रष्टः अभूभुवः) भ्रष्ट हो जाय तो भी ओखल में (यथैव) जिस प्रकार धान्यों को (पिप्पन्ति) पीसते कूटते हैं और दाना निकालते हैं (तथैव) उसी प्रकार (ते) तेरे उपादेय तत्व को भी हम (पिप्पन्ति) पीसते हैं तेरे किये पर पुनः२ विचार करते हैं।

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोथाप्यभूभुवः ।
यथा यवो विदह्यत्यङ्गानि मम दह्यन्ते ॥ ८ ॥

भा०—(महानग्नी) बड़ी राजसभा (उपब्रूते) कहती है कि (अथापि) जब भी तू हे राजन् ! (भ्रष्टः अभूभुवः) भ्रष्ट अर्थात् अपने सद् नीति मार्ग से च्युत हो जाता है तब तब (यथा) जिस प्रकार (यवः) वन आग से भड़क उठता है उसी प्रकार आग भी भड़कती है और तब (मम अङ्गानि) मेरे समस्त अंग भी (दह्यन्ते) जलते हैं, पीड़ा पाते हैं।

महानग्न्युप ब्रूते स्वस्त्यावेशितं पसः ।
इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पे शूर्पं भजेमहि ॥ ९ ॥

भा०—(महानग्नी) महासभा (उपब्रूते) आज्ञा प्रदान करती है कि (पसः) एकत्र होकर प्रजाजन या राष्ट्र (स्वस्ति) सुखपूर्वक

आवेशितम्) बसे । (इत्थम्) इस प्रकार (फलस्य वृक्षस्य) फले हुए या फलरूप से पके धान के कटे हुए अनाज को शोधने के लिये जिस प्रकार (शूर्पं) छाज लेलिया जाता है उसी प्रकार हम सभासद्गण भी तत्व विवेचन के कार्य में (शूर्पं) सूप को ही (भजेमहि) अनुकरण करें। उसी का सेवन करें। अथवा—(शूर्पसदृशं शूर्पं=शूरपम्) छाज के समान विवेकशील शूरपति, सेनापति का आश्रय लें वह 'वृक्ष' अर्थात् काटने योग्य शत्रु को धुन डाले।

महानग्नी कृकवाकुं शम्यया परि धावति।
अयं न विद्म यो मृगः शीर्ष्णा हरति धाणिकाम् ॥ १० ॥

भा०—(महानग्नी) बड़ी राजसभा (कृकवाकुं) कण्ठ से उत्तम वचन बोलने वाले का (शम्यया) शान्तियुक्त वाणी से (परिधावति) अनुगमन करती है। सभी कहते हैं (वयं न विद्मः) हम नहीं जानते कि (यः मृगः) कौन है जो मृग अर्थात् व्याघ्र के समान शूरवीर होकर (शीर्ष्णा) अपने सिरपर (धाणिकाम्) प्रजा के भरण पोषण के कार्य को, या भरण पोषण करने वाली राजशक्ति, या अन्नकाणिका के समान सर्व पोषक पृथ्वी को (हरति) धारण करे।

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति।
इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्योदनम् ॥ ११ ॥

भा०—(महानग्नी) बड़ी सभा (धावन्तं) वेग से आगे बढ़ते हुए (महानग्नम्) बड़े सर्वाङ्ग सुन्दर नेता के (अनु धावति) पीछे जाती है। (तत्) वह तू हे राजन्! (अस्य) इस प्रजाजन के (गाः) भूमियों और वाणियों की (रक्ष) रक्षा कर। (माम् यभ) पुरुष जिस प्रकार स्त्री से संगत होकर प्रसन्न होता है उसीप्रकार तू मुझसे युक्त होकर हे प्रजापते! राजन्! (ओदनम् अद्धि) तू वीर्य बल और प्रजापतिपद का भोग कर।

सुदेवस्त्वां महानग्नि र्वि बांधते महतः साधु खोदनंम् ।
कुशं न [कृशितं] पीवरी[रो?] नंशत् यभ मामद्ध्योदनम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (महानग्नी) महालग्ने ! (सुदेवः) उत्तम अर्थों का प्रकाशक एवं उत्तम तेजस्वी राजा (त्वा , तुझे वि बाधते) विविध प्रकार से मथता है, तुझ से दूर से मक्खन के समान सार पदार्थ प्राप्त करता है। (महतः) बड़े भारी राष्ट्र से (साधु) उत्तम (खोदनम्) सुख ऐश्वर्य प्राप्त होता है। (पीवरः) बलवान् पुरुष (कृशं नशत् , कृश दुर्बल पुरुष को नष्ट कर देता है । अथवा (कृशितं पीवरी नशत् , कृश हुए राजा को भी 'पीवरी' अति बलवती राजसभा प्राप्त हो जाती है । इसलिये हे राजन् ! (यभ माम्) जिस प्रकार दृढ स्त्री अपने कृशाङ्ग पति को प्राप्त करके भी उससे संग लाभ करती है और पति को सुख प्राप्त होती है उसी प्रकार तू भी मेरे साथ सुसंगत होकर रह और (ओदनम्) राज्यपद के अधिकार का भोगकर।

वशा दुग्धामिमाङ्गुरिं प्र सृजतं वंनं करम् ।
महान् वै भद्रो बिल्वो यभ मामद्ध्योदनम् ॥ १३ ॥

भा०—(वशा) पृथ्वी या समस्त राष्ट्र को वश करने वाली शक्ति या वशीभूत प्रजा (दुग्धा) गाय के समान दुही जाकर (बिना अंगुरिम्) बिना अंगुलि लगाये, बिना कष्ट के ही, अनायास (वंनं करम्) प्राप्त करने योग्य कर को (प्र सृजते) आगे उपस्थित करती है । (बिल्वः) कण्टक वाले बिल्व वृक्ष के समान दृढ़ शरीर वाला शस्त्रास्त्रयुक्त तेजस्वी (भद्रः) सुखकारी राजा (महान् वै) निश्चय से बड़ा है। तू हे राष्ट्रपते ! (माम् यभ) मुझ से पति के समान सुसंगत होकर रह। और (ओदनम् अद्धि) भोग्य परिपक्व अन्न के समान राज्याधिकार का भोग कर ।

विदेवस्त्वां महानंग्नि र्वि बांधते महतः साधु खोदनंम् ।
कुमारिका पिङ्गलिका कार्दं कृत्वा भस्मां प्र धांवति ॥ १४ ॥

भा०—विविध देशों को विजय करने द्वारा एवं विविध गुणों का प्रकाशक राजा, हे (महानसि) महासभे ! प्रजे ! (महतः) बड़े राष्ट्र के (साधु) उत्तम (खोदनम्) सुखकारी ऐश्वर्य को (वि बाधते) विविध उपायों से दूध से मक्खन के समान मथकर प्राप्त करता है । (पिङ्गलिका कुमारिका) सुन्दर रूपवती कुमारी कन्या के समान पिङ्गलिका) तेजस्विनी सेना (कार्यं कृत्वा) अपने आवश्यक कार्य को समाप्त करके (प्र धावति) आगे बढ़ती है, उन्नत पद को प्राप्त करती है ।

महान् वै भद्रो विल्वो महान् भद्र उदुम्बरः ।
महाँ अभितो बाधते महतः साधु खोदनम् ॥ १५ ॥

भा०—(विल्वः) शत्रु को भेदने में समर्थ (महान्) बड़ा पुरुष ही (भद्रः) प्रजा को कल्याणसुख का देन वाला होता है । इसी प्रकार (उदुम्बरः) भारी बलवान् पुरुष भी (भद्रः) प्रजा को सुखकारी है । (महान्) बड़ा पुरुष ही (महत्) बड़े राष्ट्र के (साधु) उत्तम (खोदनम्) ऐश्वर्य को (अभितः) सब प्रकार से (बाधते) लेना चाहता है और उसको भोगता है ।

यः कुमारी पिङ्गलिका कृशितं पीवरी लभेत् ।
तैलकुण्डादिवाङ्गुष्ठं रदन्तं शुद[द्ध]मद्धरेत् ॥ १६ ॥

भा०—(पिङ्गलिका) गौर वर्ण की सुन्दर कुमारी (पीवरी) स्वयं हृष्ट पुष्ट होकर भी जिस प्रकार (यं) जिस किसी (कृशितं) कृश पुरुष को भी (लभेत) प्राप्त कर लेती है उसी प्रकार बलवती राजसभा जब (कृशितं लभेत्) निर्बल राजा को भी प्राप्त करती है तब जिस प्रकार (तैलकुण्डात्) तपे तेल के कड़ाह में से (अंगुष्ठम् इव) जैसे कोई अपने अंगुली को झट से अलग कर लेता है उसी प्रकार (रदन्तम्) प्रजा को पीड़ा देने वाले उस (शुदम्=क्षुद्रम्) अल्प बल के पुरुष को (उद्धरेत्) वह उखाड़ फेंकती है ।

अथवा—(रदन्तम्) शत्रुओं के नाश करने वाले (शुदम्=शुद्धम्) उस शुद्धाचारवान् धार्मिक पुरुष को भी वह (उद् हरेत्) उन्नत-पद प्राप्त कराती है ।

॥ इति कुन्तापसूक्तानि समाप्तानि ॥

[१३७] राजपद ।

१. शिरिम्बिठिः, बुधः, २, ४. ६, ययातिः । ७—११, तिरश्चीराङ्गिरसो द्युतानो वा मारुत ऋषयः । १, लक्ष्मीनाशनी, २ वैश्वीदेवी, ३, ४-६ सोमः पवमान इन्द्रश्च देवताः । १, ३, ४–६ अनुष्टुभौ, ५–१२–अनुष्टुभः १२–१४ गायत्र्यः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः ।
हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥ १ ॥ ऋ० १०।१५५।४ ।

भा०—(यत् ह) और जब (उरः) बड़ी २ (मण्डूरधाणिकीः) लोहे की धाना, दाने, छूरे वाली तोपें (प्राचीः) आगे बढ़ी हुई (अजगन्त) चलती हैं तब (इन्द्रस्य) शत्रु के नाश करने वाले सेनापति के (सर्वे) समस्त (बुद्बुदयाशवः) जल के बुलबुले के समान नष्ट हो जाने वाले निर्बल होकर (हताः) मर जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं ।

'मण्डूर' लोहविशेष फ़ौलाद कहाता है । इसके आयुर्वेद में भस्म और धनुर्वेद में शस्त्र बनाने का विधान है । 'धाणिका'=गोली, धाना, दाना ।

कपृन्नरः कपृथमुद् दधातन चोदयत खुदत वाजसातये ।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये ॥ २ ॥
ऋ० १० । १०१ । १२ ॥

भा०—हे (नरः) नेता लोगो ! हे पुरुषो ! राजा इन्द्र (कृपत्) सुख को एवं प्रजापालक पद को पूर्ण पालन और विस्तृत करने, एवं निभाने

में समर्थ है । उसी (कपृथम्) सुख के पालक, पूर्ण और विस्तृत करने वाले को (उत् दधातन) ऊंचे पदपर स्थापित करो । उसको (वाजसातये) युद्ध करने और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (चोदयत) प्रेरित करो और (चुदत) उसको प्रसन्न एवं सुखी रक्खो । हे (सबाधः) शत्रुओं को एक साथ मिलकर विनाश करने वाले वीर पुरुषो ! आप लोग (इह) इस राष्ट्र में (सोमपीतये) सोम पद, सर्वप्रेरक राजा के परमपद या राष्ट्र के भोग के लिये (निष्टिग्र्यः पुत्रम्) गुप्त रूप से सबको वश करने का उपदेश करने वाली राजसभा के पुत्र के समान आज्ञाकारी, राष्ट्र के पुरुषों के रक्षक (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (ऊतये) राज्य की रक्षा के लिये (च्यावय) अधिकार प्रदान करो ।

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ३ ॥
ऋ० ४ । ३९ । ६ ॥

भा०—(अश्वस्य) अश्व के समान (वाजिनः) बलवान्, वेग से जाने में समर्थ, ऐश्वर्यवान् (दधिक्राव्णः) अन्यों को अपनी पीठ पर उठाकर ले चलने में समर्थ, अपनी जीवन यात्रा के साथ २ दूसरे के भरण पोषण पालन के भार को उठा लेने वाले, (जिष्णोः) विजयशील पुरुष को मैं (अकारिषम्) उच्च पदाधिकार प्रदान करता हूं । वह (नः) हमारे (मुखा) मुख्य २ अंगों और पदाधिकारियों को (सुरभि) उत्तम, कार्य करने में समर्थ, सुदृढ़, बलवान् (करत्) करे (नः) हमारे (आयूंषि) आयुओं की (प्र तारिषत्) वृद्धि करे ।

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १०१ । ४ ॥

भा०—(सुतासः) उत्पन्न किये, (मधुमत्तमाः) अत्यन्त मधुर (सोमाः) समस्त ऐश्वर्य (इन्द्राय) उस शत्रु नाशकारी राजा को ही (मन्दिनः) आनन्द देने वाले हैं। वे (पवित्रवन्तः) पवित्र करने हारे सदाचारी पुरुषों के निमित्त (अक्षरन्) पात्रों में जल के समान रहें, प्राप्त हों। हे पुरुषो ! (वः) तुम लोगों के (मदाः) समस्त हर्षदायी, तृप्तिकारी सुख-जनक पदार्थ (देवान्) उत्तम ज्ञानवान् पुरुषों को भी प्राप्त हों। वे उसको सदा देखें कि हानिकारक तो नहीं हैं।

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।

वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥५॥ ऋ० १०।१०१।५॥

भा०—(इन्दुः) यह द्रुतगति से जाने वाला, ज्ञानवान्, दयार्द्रपुरुष (इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु राजा के लिये ही सोमरस के समान (पवते) कार्य करता है। (इति) इस प्रकार (देवासः) विद्वान् पुरुष (अब्रुवन्) कहा करते हैं। (वाचस्पतिः) वाणी का पालक, वाणी का स्वामी, (मखस्यते) सब प्रकार की पूजा आदर सत्कार के योग्य है। वही (ओजसा) अपने बल पराक्रम से (विश्वस्य) समस्त विश्व का (ईशानः) ईश्वर, स्वामी है।

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।

सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ६ ॥ ऋ० १०।१०१।३॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा (दिवे-दिवे) नित्य प्रतिदिन (सखा) मित्र (रयीणां पतिः) समस्त ऐश्वर्यों का पालक (सोमः) सोम, सबका प्रेरक (वाचमीङ्खयः) वाणी, आज्ञाओं और उत्तम ज्ञानवाणियों का उपदेष्टा, विद्वान्, (सहस्रधारः) सहस्रों विद्याओं को धारण करने वाला और मेघ के समान हज़ारों ज्ञान-धाराओं की वर्षा करने वाला (समुद्रः)

समुद्र के समान ज्ञानरत्नों और आप्त विद्याओं का सागर होकर (पवते) राष्ट्र में स्थित हो और सबको प्रेरित करे।

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥७॥
ऋ० ८।२५।१३॥

भा०—(द्रप्सः) दर्पवान्, गर्वीला अथवा (द्रप्सः) कुत्सित कुटिल आचार वाला और प्रजाओं को कुनीतियों और अत्याचारों से खा जाने वाला (कृष्णः) प्रजाओं का कर्षण, पीड़न करने वाला, अत्याचारी राजा (दशभिः सहस्रैः) दशों हज़ारों सैनिकों के साथ आक्रमण करता हुआ (अंशुमतीम्) परस्पर विभाग या फूट वाली प्रजा पर (अतिष्ठत्) अधिकार कर लेता है। परन्तु (नृमणाः) समस्त मनुष्यों के मन को हरने वाला, प्रजा का अभिमत प्रिय (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (धमन्तम्) गर्जते हुए उस गर्वीले दुष्ट राजा पर (शच्या) अपनी शक्तिशाली सेना से (आवत्) चढ़ाई करे। और उसकी (स्नेहितीः) हिंसाकारी दुष्ट सेनाओं को (अप अधत्त) दूर करे, पराजित करे।

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥८॥
ऋ० ८।२५।१४॥

भा०—मैं (द्रप्सम्) कुत्सित आचरण करने और प्रजा के माल खाजाने वाले, (कृष्णम्) प्रजा के पीड़क पुरुष को (नद्यः) नदियों के समान जलवत् धन से भरी हुई, धनको पानी के समान यहाने वाली (अंशुमत्याः) परस्पर के विभाग और फूट से भरी प्रजा के (उपह्वरे) समीप (विषुणे) विषम, सब ओर फैले अति विषम व्यवहार में (चरन्तम्) विचरते हुए और (नद्यः) नदी के तट पर मेघ के समान (अवतस्थिवांसम्) गुप्त रूप से छिपकर बैठे को मैं (अपश्यम्) देखता हूं। हे

(वृषणः) वीर बलवान् पुरुषो ! आप लोग (आजौ) युद्ध में (युध्यत) युद्ध करो, जूझ जाओ । (इष्यामि) मैं यही चाहता हूं ।

अध॑ द्र॒प्सो अं॑शु॒मत्या॑ उ॒पस्थेऽधा॑रयत् त॒न्वं॑ तित्वि॒षा॒णः ।
विशो॒ अदे॑वीर॒भ्या॒३॒॑चर॑न्ती॒र्बृह॒स्पति॑ना यु॒जेन्द्रः॑ ससाहे ॥९॥
ऋ० ८ । ८५ । १५ ॥

भा०—(अध) और (द्रप्सः) कुत्सित चाल से प्रजा को खाजाने वाला पुरुष (अंशुमत्याः उपस्थे) फूट, परस्पर विभाग वाली या खाद्य पदार्थ, अन्नादि से समृद्ध प्रजा के बीच में रह कर (तित्विषाणः) अति तेजस्वी होकर अपने (तन्वं) शरीर को, अति विस्तृत राज्य को (अधारयत्) धारण किये रहता है । (बृहस्पतिना) बड़ी भारी सेना के स्वामी सेनापति अथवा वाणी, ज्ञान के स्वामी विद्वान् पुरुष को (युजा) साथ लेकर (इन्द्रः) शत्रु विनाशक राजा (अभि-आचरन्ती) सन्मुख मुकाबले पर आती हुई या प्रतिकूल आचरण करती हुई (अदेवीः विशः) उत्तम गुणों से रहित तामस प्रजाओं को (ससाहे) पराजित करता है ।

त्वं ह॒ त्यत् स॒प्तभ्यो॒ जाय॑मानोऽश॒त्रुभ्यो॑ अभवः॒ शत्रु॑रिन्द्र ।
गू॒ळ्हे द्यावा॑पृथि॒वी अन्व॑विन्दो विभु॒मद्भ्यो॒ भुव॑नेभ्यो॒ रणं॑ धाः ॥१०॥
ऋ० ८ । ८५ । १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे इन्द्र ! (त्वं) तू (जायमानः) प्रकट होता हुआ (अशत्रुभ्यः) प्रजा का शासन या विनाश न करने वाले, सत् पुरुषों के हित के लिये तू (शत्रुः अभवः) दुष्टों का नाश करने वाला हो । और (सप्तभ्यः) सातों, (विभुमद्भ्यः) प्रचुर धन, सामर्थ्य वाले (भुवनेभ्यः) लोकों, प्रजाजनों के हित के लिये (रणं धाः) संग्राम कर और (गूळ्हे) अति सुरक्षित (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी के समान राजा और प्रजा को (अनु अविन्दः) प्राप्त कर और अपने वश कर ।

त्वं ह त्यद॑प्रतिमानमोजो वज्रे॑ण वज्रिन् धृषितो ज॑घन्थ ।
त्वं शुष्ण॑स्यावा॑तिरो वध॑त्रैस्त्वं गा इ॑न्द्र शच्येद॑विन्दः ॥११॥
ऋ० ८ । ८५ । १७ ॥

भा०—हे (वज्रिन्) वज्रधारिन्, वीर्यवन्! (त्वं) तू (वज्रेण) बल से (धृषितः) शत्रुओं को धर्षण करने द्वारा होकर (त्यत्) उस अवर्णनीय (अप्रतिमानम्) अमित, असीम, (ओजः) पराक्रम को (जघन्थ) प्राप्त होता है। और (त्वं) तू (वधत्रैः) हिंसाकारी साधनों से (शुष्णस्य) प्रजा शोषक दुष्ट पुरुष को (अव अतिरः) विनाश करता है। और (त्वं) तू (शच्या इत्) शक्ति या सेना प्रज्ञा या कर्म सामर्थ्य से ही (गाः अविन्दः) भूमियों को अपने वश करता है।

तमिन्द्रं॑ वाजयामसि म॒हे वृ॒त्राय॒ हन्त॑वे ।
स वृषा॑ वृष॒भो भु॑वत् ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ७ ॥

भा०—हम (तम्) उस (इन्द्रं) शत्रु नाशकारी पुरुष को (महे वृत्राय) बड़े भारी विघ्नकारी शत्रु के (हन्तवे) नाश करने के लिये (वाजयामसि) बलवान् बनावें। (सः वृषा) वह मेघ के समान सुखैश्वर्यों का वर्षक (वृषभः) अति श्रेष्ठ (भुवद्) सामर्थ्यवान् हो।

इन्द्रः स दाम॑ने कृ॒त ओजि॑ष्ठः स मदे॑ हि॒तः ।
द्यु॒म्नी श्लोकी स सो॒म्यः ॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सः) वह (दामने) दान देने के लिये ही (कृतः) बनाया गया है। (सः) वह (मदे) तृप्त करने वाले हर्ष के हेतु राज्यैश्वर्य के निमित्त ही (ओजिष्ठः) अति पराक्रमी होकर (हितः) स्थापित किया जाता है। (सः) वह (श्लोकी) स्तुति योग्य (सोम्यः) सोम अर्थात् सर्वप्रेरक ऐश्वर्यवान् पद के योग्य है।

गि॒रा वज्रो॒ न संभृ॑तः सब॑लो अन॑पच्युतः ।
व॒वक्ष ऋ॒ष्वो अस्तृ॑तः ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ९ ॥

भा०—(गिरा) वाणी द्वारा (संभृतः) अच्छी प्रकार स्तुति किया जाकर (वज्रः न) शस्त्र के समान अति तीक्ष्ण (सबलः) बलवान् (अनपच्युतः) शत्रुओं से कभी पदच्युत न होने वाला (ऋष्वः) महान् तेजस्वी और (अस्तृतः) अहिंसित, अविनाशी होकर (ववक्ष) राष्ट्र के भार को उठाता है ।

[१३८] परमेश्वर और राजा ।

वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्र्यः । तृचं सूक्तम् ॥

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६ । १ ॥

भा०—(यः) जो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष या परमेश्वर (ओजसा महान्) बल पराक्रम में बड़ा है और (वृष्टिमान् पर्जन्य इव) वर्षण करने वाले मेघ के समान समस्त प्रजाओं पर सुख सामग्री प्रदान करता है । वह (वत्सस्य) स्तुति करने हारे या राष्ट्र में बसने वाले प्रजाजन की (स्तोमैः) स्तुति समूहों से या बसने वाली प्रजा के दिये बल, वीर्यों, अधिकारों से (वावृधे) नित्यप्रति बढ़ता है ।

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद् भरन्त वह्नयः ।
विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ६ । २ ॥

भा०—(यद्) जब (वह्नयः) राज्यकार्य को वहन करने वाले नेतागण विवाहित गृहस्थों के समान (ऋतस्य) सत्य व्यवहार का पालन करते हुए (प्रजाम्) प्रजा को (प्र भरन्त) अच्छी प्रकार भरण पोषण करते हैं तब (विप्राः) विद्वान् पुरुष (ऋतस्य) सत्य के (वाहसा) प्राप्त कराने वाले ज्ञान से युक्त होते हैं ।

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
जामि ब्रुवत आयुधम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ६ । ३ ॥

भा०—(कण्वाः) मेधावी, बुद्धिमान्, तेजस्वी पुरुष (यत्) जब (स्तोमैः) उत्तम ज्ञानयुक्त स्तुति-वचनों और पदाधिकारों से ही (यज्ञस्य) प्रजापालक, परस्पर सुसंगत राष्ट्र पालन के कार्य के (साधनम्) साधने वाले राजा को (अकृत) समर्थ कर देते हैं तब वे (आयुधम्) हथियार आदि को (जामि) अतिरिक्त, निष्प्रयोजन (ब्रुवते) कहा करते हैं।

सुव्यवस्थित राज्यशासन में चोर आदि का भय न होने से स्वयं जीवन सुरक्षित रहता है। फिर हथियार रखने की आवश्यकता नहीं है।

[१३९] माता, पिता, विद्वान्।

शशकर्ण ऋषिः। अश्विनौ देवते। १, ४ बृहत्यौ, २, ३ गायत्र्यौ, शेषाः अनुष्टुभः। ५ ककुप्। पञ्चर्चं सूक्तम्॥

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथुच्छर्दिर्युयुतं या अरातयः॥ १॥
ऋ० ८। ९। १॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो! माता पिताओ, एवं राज्य के संचालक दो मुख्य पुरुषो! शरीर में प्राण और अपान के समान, विश्व में सूर्य और चन्द्र, या दिन रात के समान व्यापक शक्ति वाले पुरुषो! (युवम्) तुम दोनों बच्चे को माता पिता के समान (वत्सस्य) स्तुतिशील, एवं राष्ट्र में बसने वाले प्रजाजन को पुत्र या प्रजा जानकर उसकी (अवसे) रक्षा करने के लिये (आगन्तम्) आओ और (अस्मै) उसको (अवृकं) चोर आदि दुष्ट पुरुष और भेड़िये आदि हिंसक जीवों से रहित (पृथु) विस्तृत, पालनकारी, (छर्दिः) शरण (यच्छतम्) प्रदान करो, और (याः अरातयः) जो शत्रु हैं उनको (युयुतम्) पृथक् करो।

यदन्तरिक्षे यद् दिवि यत् पञ्च मानुषाँ अनु।
नृम्णं तद् धत्तमश्विना॥ २॥ ऋ० ८। ९। २॥

भा०—हे (अश्विना) विद्या में व्याप्त ज्ञाननिष्ठ और कर्म निष्ठ विद्वान् पुरुषो! (यत् नृम्णं) जो धन ऐश्वर्य, मनुष्यों के अभिमत पदार्थ (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (यत् दिवि) जो द्यौ लोक में और (यत् पञ्च मानुषान् अनु) जो पांच प्रकार के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और निषाद इनके हितकारी धन हैं (तत्) उसको (धत्तम्) धारण करो और प्रदान करो।

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः।
एवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८।९।३ ॥

भा०—(ये) जो (विप्रासः) विद्वान् लोग (वाम्) तुम दोनों के (दंसांसि) कर्मों के (परिमामृशुः) विचार करते हैं (एवा इव्) उसी प्रकार तुम दोनों भी (काण्वस्य) विद्वान पुरुषों के हित का (बोधतम्) ज्ञान रखो, उनके हितपर भी विचार करो।

अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते।
अयं सोमो मधुमान् वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः॥४॥ऋ०८।९।४

भा०—(अयं) यह (वां) तुम दोनों का (घर्मः) अभिषेक (स्तोमेन) उत्तम गुण स्तुति और सत्योपदेश के साथ ही (परिषिच्यते) सम्पादन किया जाता है। (अयं) यह (मधुमान्) मधुर, सौम्य गुणों से युक्त एवं अन्नादि ऐश्वर्यों से युक्त (सोमः) राष्ट्र अथवा (मधुमान्) ज्ञानवान् सौम्य विद्वान् पुरुष है (येन) जिस के द्वारा तुम दोनों (वाजिनीवसू) संग्राम करने हारी सेना को बसाकर, सेना रूप धन से धनी होकर (वृत्रं) राष्ट्र के कार्य में विघ्न करने वाले शत्रु को (चिकेतथः) रोग के समान दूर करते हो।

यद॒प्सु यद् वन॒स्पतौ॒ यदोष॑धीषु पुरुदंससा कृतम्।
तेन॑ माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥ ऋ० ९।९।५ ॥

भा०—हे (पुरुंदससा) बहुत कर्मों में कुशल एवं पालन कर्म में सिद्धहस्त पुरुषो ! हे (अश्विना) विद्याओं में व्यापक ज्ञानवाले विद्वान् पुरुषो ! तुम दोनों (यद्) जो रस या बल (अप्सु) जलों और आप्त प्रजा जनों (यद् वनस्पतौ) जो वनस्पति अर्थात् बड़े वृक्षों एवं प्रजा पालक पुरुषों (यद् ओषधीषु) और जो तीव्र रस वाली ओषधियों और तीव्र तेजस्वी सैनिक पुरुषों में से (कृतम्) उत्पन्न करते हो (तेन) उससे (मा) मुझ राष्ट्र की और पुरुष की (अविष्टम्) रक्षा करो ।

[१४०] सत्यपालक दो अधिकारी ।

अश्विनौ देवते । शशिकर्ण ऋषिः । अनुष्टुभः । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव भिषज्यथः ।
अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥१॥
ऋ० ८ । ९ । ६ ॥

भा०—हे (नासत्यौ) कभी भी असत्य व्यवहार न करने वाले सदा सत्यपरायण ! (यत्) क्योंकि तुम दोनों अग्नि और जल (भुरण्यथः) समस्त विश्व को प्राण और अपान के समान पालन पोषण करते हो । हे (देवा) बलदाताओ ! तुम दोनों (भिषज्यथः) शरीरों की चिकित्सा करते हो इसलिये (वत्सः) स्तुतिशील विद्वान् (अयं) यह (वां) तुम दोनों को (मतिभिः) मनन करने योग्य स्तुतियों से ही केवल (न विन्धत) नहीं प्राप्त करता प्रत्युत, तुम दोनों (हविष्मन्तं) अन्न और साधन सम्पन्न पुरुष के पास स्वयं (गच्छथः) प्राप्त होते हो ।

आ नूनमश्विनोर्ऋषि स्तोमं चिकेत वामया ।
आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥ २ ॥ ऋ० ८।९।७॥

भा०—(ऋषिः) विज्ञानद्रष्टा पुरुष (नूनं) निश्चय से (वामया) सब पदार्थों को ज्ञान करने वाली, ज्ञानमयी बुद्धि से (अश्विनोः) अग्नि

और जल दोनों व्यापक तत्वों के (स्तोमं) यथार्थ गुणज्ञान को (आचिकेत) जान ले वह (अथर्वणि) हिंसा रहित जनों के पालक पुरुष में (मधुमत्तमम्) अति मधुर (घर्मम्) तेज से युक्त एवं सेचन योग्य (सोमम्) बल वीर्य को (सिञ्चात्) प्रदान करता है।

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना ।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत ॥ ३ ॥ ऋ० ८।९।८॥

भा०—हे (अश्विना) व्याप्त शक्ति वाले वा शीघ्रगतिशील तुम दोनों (नूनं) निश्चय से (रघुवर्तनिम्) शीघ्रता से जाने वाले (रथं) रथ में शरीर में प्राण अपान के समान (आतिष्ठथः) स्थित हो । (इमे) ये सब (वां स्तोमाः) तुम दोनों के यथार्थ स्तुति योग्य गुण (मम) मेरे द्वारा प्रकट किये हुए (नभः न) सूर्य के समान (चुच्युवीरत) हमें भी प्राप्त हों।

यदद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि ।
यद् वां वाणीभिरश्विनेवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ४ ॥ ऋ० ८।९।९॥

भा०—हे (नासत्यौ) सदा सत्य व्यवहारवान्! हे (अश्विनौ) विद्वान् एवं पदाधिकार पर स्थित पुरुषो ! (वां) तुम दोनों के (उक्थैः) प्रशंसनीय वचनों से हम विद्वान् पुरुष (आचुच्यवीमहि) यत्नों को बढ़ावें और (यद्) जब हम (वाणीभिः) उत्तम वाणियों से (वां आचुच्यवीमहि) तुम दोनों को ज्ञानोपदेश करें उस समय तुम दोनों (काण्वस्य) विद्वान् पुरुष को भी (बोधतम्) ज्ञान का प्रदान करो।

यद् वां कक्षीवाँ उत यद् व्यश्व ऋषिर्यद् वां दीर्घतमा जुहाव ।
पृथी यद् वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम् ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । ९ । १० ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्विगण राष्ट्र में विशेष रूप से व्यापक अधिकार वाले जनो ! (वां) तुम दोनों को (कक्षीवान्) शासन शक्ति का

स्वामी और (यत्) जो (व्यश्वः) विविध अश्वसेना का स्वामी (ऋषिः) तत्वज्ञानी और (दीर्घतमाः) खेद, शोक, प्रजापीड़ा को नाश करने वाला और (वैन्यः) विद्वानों का हितकारी स्वयं बुद्धिमान्, (पृथी) विस्तृत भूमि का रक्षक, ये पुरुष (यत् ३) जिस कारण से (वां३) तुम दोनों को (आजुहाव) बुलाते हैं स्मरण करते हैं, तुमको पदाधिकारी रूप से नियुक्त करते हैं (अतः) इसलिये (सादनेषु एव) सब गृहों में और पदाधिकारों में (चेतयेथाः) शरीर के समस्त अंगों में प्राण और उदान के समान विशेष चेतना प्रदान करो।

अध्यात्म में—देह में व्यापक ज्ञान और शासन वाला होने से आत्मा ही कक्षीवान् है। विविध कर्म फलों का भोक्ता होने से 'व्यश्व' है शोक मोह को नाश करने से 'दीर्घतमा' है, कान्तियुक्त तेजस्वी होने से 'वेन्य' और विस्तृत महती शक्ति वाला होने से 'पृथी' है। वह प्राण अपान दोनों को अपने वश करता है इसी से वे दोनों शरीर के सब अंगों को चेतना युक्त करते हैं।

[१४१] दो अधिकारी।

शशकर्ण ऋषिः। अश्विनौ देवता। पञ्चऋचं सूक्तम् ॥

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा।
वर्तिं स्तोकाय तनयाय यातम् ॥ १ ॥ ऋ० ८।९।११ ॥

भा०—हे अश्विगण! हे प्राण और अपान के समान राष्ट्र के प्राण स्वरूप दो अधिकारियो! तुम दोनों (छर्दिष्पा) गृहों की रक्षा करने वाले (उत) और (नः) हमारे (परस्पा) परम पालक, होकर आप दोनों (यातम्) प्राप्त होवो। (उत) और (जगत्पा) जगत् के पालक, जंगम प्राणियों के पालक और (नः तनूपा) हमारे शरीरों के पालक (भूतम्) होवो। (तोकाय) हमारे पुत्रों और (तनयाय) सन्तति प्रसारक

दोनों के हित के लिये भी (वर्त्तिः) हमारे गृहों तक को भी (यातम्) प्राप्त होवो ।

यदिन्द्रे॑ण स॒रथं॑ या॒थो अ॑श्विना॒ यद् वा॑ वा॒युना॒ भव॑थः॒ समो॑कसा ।
यदा॑दि॒त्येभि॑ॠ॒भुभिः॑ स॒जोष॑सा॒ यद् वा॒ विष्णो॑र्वि॒क्रम॑णेषु॒ तिष्ठ॑थः ॥२॥
ऋ० ८ । ९ । १२ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) व्यापक अधिकार वाले दो शासको ! तुम दोनों (यत्) जो कि (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् मुख्य सम्राट् के साथ (सरथम्) समान रथपर चढ़कर (याथः) जाते हो । (यद्वा) और क्योंकि (समोकसा) समान पदाधिकार वाले, (वायुना) वायु के समान तीव्र गति से आक्रमणकारी सेनापति के साथ भी (भवथः) रहते हो, और (आदित्येभिः) अदिति, अखण्ड शासन के प्रणेता १२ मासों के समान १२ मुख्य मन्त्रीगण के साथ और (ऋतुभिः) ऋतुओं एवं ज्ञानवान् ६ प्रधान राजसभा के अधिकारियों के साथ भी (सजोषसा) समान प्रेम व्यवहार वाले हो और (यद्वा) क्योंकि तुम दोनों (विष्णोः) प्रजा में व्यापक शासन वाले राजा के (विक्रमणेषु) विविध कार्यों में भी (तिष्ठथः) रहा करते हो । और—

यद॒द्याश्वि॑नाव॒हं हु॒वेय॒ वाज॑सातये ।
यत् पृ॒त्सु तु॒र्वणे॒ सह॒स्तच्छ्रेष्ठ॑म॒श्विनो॒रवः॑ ॥ ३ ॥ ऋ० ८।९।१३॥

भा०—और क्योंकि (अश्विनौ) उक्त दोनों व्यापक अधिकारवान् पुरुषों को (अहम्) मैं (वाजसातये) ऐश्वर्य के लाभ, और संग्राम के करने के लिये भी (हुवेय) बुलाता हूं । और क्योंकि उनका (सहः) शत्रु पराजय करने का सामर्थ्य (पृत्सु) संग्रामों के बीच में (तुर्वणे) शत्रु के नाश करने में समर्थ होता है, (तत) इसलिये (अश्विनोः) उन दोनों का (अवः) रक्षण सामर्थ्य भी (श्रेष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ है ।

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।
इमे सोमांसो अधि तुर्वशे यदांविमे कण्वेषु वामर्थ॥४॥ऋ०८।९।१४

भा०—हे (अश्विना) अश्विगण, व्यापक अधिकारवान् पुरुषो ! आप दोनों (नूनम् आयातम्) अवश्य प्राप्त होवो । (वां) तुम दोनों के लिये (इमा हव्यानि) ये ग्रहण करने योग्य अन्न आदि भोग्य पदार्थ (हिता) रखे हैं । (इमे) ये (सोमासः) ऐश्वर्य वाले पदार्थ जो (तुर्वशे) चारों पुरुषार्थों की कामना करने वाले और (यदौ अधि) यत्नशील प्रजाजन के अधिकार में हैं और (इमे) ये समस्त ऐश्वर्य जो (कण्वेषु) विशेष मेधावी विद्वान् पुरुषों में हैं वे सब (अथ वाम्) तुम दोनों के ही हैं ।

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम्॥५॥ऋ०८।९।१५

भा०—हे (नासत्यौ) सदा सत्य व्यवहार वाले तुम दोनों (पराके) दूर देश में और (अर्वाके) समीप देश में भी (यत्) जो (भेषजम् अस्ति) रोगादि निवारक ओषधि और उपद्रवों के निवारक उपाय हैं । हे (प्रचेतसौ) उत्कृष्ट ज्ञान वाले पुरुषो ! (तेन) उस उपाय से वैद्यों के समान (वत्साय) विद्वान् या राज्य में सुख से बसने वाले (विमदाय) विशेष हर्षवान्, या मद रहित पुरुष को (छर्दिः) शरण या सुख (यच्छतम्) प्रदान करो ।

[१४२] वेदवाणी ।

शशकर्ण ऋषिः । अश्विनौ देवते । १—४ अनुष्टुभः । ५, ६, गायत्र्यौ । षड्ऋचं सूक्तम् ।

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥　ऋ० ८ । ९ । १६ ॥

भा०—(अश्विनोः) दो अश्वियों, दिन रात्रि के बीच प्रकट (देव्या) प्रकाशयुक्त उषा के समान, एवं प्राण अपान दोनों के बीच प्रकट हुई वाणी

के समान (देव्या) बल और ज्ञान प्रदान करने वाले उपदेशक और अध्यापकों की (दिव्या वाचा) दैवी वाणी, आज्ञा या उपदेशमयी वाणी से (अहम् अभुत्सु) मैं बोध प्राप्त करूं। (देवी) वह प्रकाश-ज्ञानवाली वाणी, (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों को (मतिम्) मनन योग्य ज्ञान और (रातिम्) शिष्यों को प्रदान करने योग्य प्रवचन भी (वि आवः) विविध प्रकार से प्रकट करती है।

प्र बो॑धयोषो अ॒श्विना॒ प्र दे॑वि सूनृते महि ।
प्र य॑ज्ञहोतरानु॒षक् प्र मदा॑य॒ श्रवो॑ बृ॒हत् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९ । १७ ॥

भा०—हे (उषः) पापों को दग्ध करनेहारी उषः! हे (महि) पूजनीय! हे (सूनृते) उत्तम सत्य ज्ञान को धारण करने वाली वेदवाणि! हे (देवि) ज्ञान प्रकाश देने वाली! तू (अश्विना) स्त्री पुरुष नर नारी दोनों को (प्र बोधय) भली प्रकार उन्नति के लिये जगा दे, प्रबुद्ध कर, उनको ज्ञानवान् बना। हे (यज्ञहोतः) यज्ञ, परस्पर सुसंगत व्यवहारों के प्रवर्त्तक राजन्! तू भी (प्र) नर नारी दोनों को उत्तम ज्ञानवान् बना, चेता, (आनुषक् प्र) तू निरन्तर जगा। (मदाय) हर्ष प्राप्त करने के लिये (बृहत् श्रवः) जो बड़ा भारी यश, ज्ञान और अन्न है, उसको (प्र) प्रदान कर।

यदु॑षो॒ यासि॑ भा॒नुना॒ सं सूर्ये॑ण रोचसे ।
आ हा॒यम॒श्विनो॒ रथो॑ व॒र्तिर्या॑ति नृ॒पाय्य॑म् ॥ ३ ॥ ऋ० ८।९।१८॥

भा०—हे (उषः) पापों के नाश करने वाली! उषः! जिस प्रकार 'उषा' प्रभातवेला (भानुना याति) दीप्ति के साथ आती है और (सूर्येण रोचसे) सूर्य के साथ प्रकाशित होती है और दिन और रात्रि रूप अश्वियों का सूर्यरूप रथ समस्त पुरुषों का पालन करनेहारा होता है उसी प्रकार जब हे (उषः) पाप दग्ध करनेहारी ज्ञान वाणी! तू (भानुना) अर्थप्रकाश रूप ज्ञान के साथ (यासि) हमें प्राप्त होती है और (सूर्येण) सूर्य के

संमान ज्ञान के अगाध सागर विद्वान् के साथ उसको प्राप्त होकर (सं रोचसे) बड़ी उत्तम रूप से प्रकाशित होती है तब ही (अश्विनोः) प्राण और अपान दोनों का एवं नर नारी दोनों का (अयम् रथः) यह रमण योग्य, सुखजनक व्यवहार (नृपाय्यम्) नरों के पालन करने वाले (वर्त्तिः) देह और गृह को (याति) प्राप्त होता है ।

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊर्धभिः ।
यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ ४ ॥

भा०—(यद्) जब (आपीतासः) कुछ २ पीले २ रंग के (अंशवः) किरण, प्रकाश (ऊधभिः) थनों से (गावः न) दूधों के समान (दुहू) उत्पन्न होते हैं और (यत्) जब (देवयन्तः) देवोपासना करनेहारे उपासकजन (वाणीः) वाणियों द्वारा (अनूषत) स्तुति करते हैं तब (अश्विना) विद्या में पारंगत गुरु और ज्ञानी पुरुष हमें (प्र बोधयतम्) उत्तम रीति से प्रबुद्ध करें ।

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृपाह्याय शर्मणे ।
प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ ५ ॥

भा०—(प्रचेतसा) उत्कृष्ट ज्ञान वाले गुरु, आचार्य और अध्यापक दोनों (द्युम्नाय) यश, उत्कृष्ट धन, (शवसे) बल, (नृपाह्याय) नायकोचित, शत्रु दमनकारी बल एवं (दक्षाय) ज्ञान और कर्म सामर्थ्य के लिये (प्र बोधयतम्) हमें नित्य उत्तम शिक्षा से ज्ञानवान् करें ।

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः ।
यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ ६ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) विद्या और कर्म में पारंगत आचार्य और अध्यापक एवं विद्वान् स्त्री पुरुषो ! (यत्) क्योंकि आप दोनों (धीभिः) कर्मों

और ज्ञानों से (पितुः) पालक पिता के (योनौ) स्थान पर (निषीदथः) विराजते हो तुम दोनों पिता के तुल्य पूजनीय हो (यद्वा) और क्योंकि तुम दोनों (सुम्नेभिः) सुखकारी उपायों से भी पिता के पद पर बैठने योग्य हो इसलिये तुम दोनों (उक्थ्या) प्रशंसा के योग्य हो ।

[१४३] विद्वानों के कर्त्तव्य

पुरुमीढाजमीढावृषी । त्रिष्टुभः । ८ मधुमती । वामदेव ऋषिः । ९ मेधातिथि मेध्यातिथी ऋषी ॥

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः ।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् ॥ १ ॥

भा०—हे (अश्विना) आचार्य और गुरो ! (अद्य) आज, सदा, (वयम्) हम (वां) तुम्हारे (गोः संगतिम्) सूर्य के समान ज्ञान वाणी को प्राप्त कराने वाले, (पृथुज्रयम्) अति विस्तृत शक्ति वाले, (गिर्वाहसम्) वाणियों को धारण करने वाले, (वसूयुम्) विद्वान् ब्रह्मचारी छात्रों, अन्तेवासी वसुओं की कामना करने वाले (रथम्) सबको प्रसन्नकारी, रमणीय स्वरूप को (आ हुवेम) हम सदा प्राप्त करें (यः) जो (वन्धुरायुः) सब के आधारभूत, आश्रयप्रद, टेक के समान (सूर्याम्) विद्वानों के हित की वाणी को (वहति) धारण करता है ।

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः ।
युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत् ककुहासो रथे वाम् ॥२॥

भा०—हे (अश्विना) अश्विगण ! दोनों तुम (देवता) देवस्वरूप हो । तुम (दिवः नपाता) ज्ञानशक्ति को कभी नष्ट नहीं होने देते । और (शचीभिः) अपनी प्रज्ञाओं, बुद्धियों के कारण (श्रियं वनथः) परम शोभा को प्राप्त हो । (यत्) जब (वाम्) तुम दोनों को (ककुहासः) उत्तम

बैल और अश्व (रथं वहन्ति) रथ में लेजाया करें (युवोः) तब तुम दोनों के (वपुः) शरीरों को (पृक्षः) नाना प्रकार के अन्न आदि पुष्टि-जनक पदार्थ (अभिसचन्ते) प्राप्त होते हैं।

जब तुम रथ पर सवार होकर यात्रा करते हो तो बहुत भोग्य ऐश्वर्य तुमको प्राप्त होते हैं।

को वा॑म॒द्या क॑रते रा॒तह॑व्य ऊ॒तये॑ वा सुत॒पेया॑य वा॒र्कैः।
ऋ॒तस्य॑ वा व॒नुषे॑ पू॒र्व्याय॒ नमो॑ येमा॒नो अ॑श्विना व॑वर्तत् ॥३॥

भा०—हे (अश्विना) विद्याओं में पारंगत विद्वान् आचार्य और गुरु जनो! या विद्वान् स्त्री पुरुषो! (अद्य) आज (कः) कौन (रातहव्यः) अन्नादि का दानशील पुरुष (वाम्) तुम दोनों की (ऊतये) जीवनरक्षा के लिये (वा) और (अर्कैः) पूजा, आदर सत्कार के कर्मों द्वारा (सुतपेयाय) उत्पन्न सोमरस आदि पान योग्य पदार्थों के पान के लिये (करते) प्रबन्ध करता है? और (कः) कौन उत्साही शिष्य (ऋतस्य) सत्य ज्ञान, वेद के (पूर्व्याय) सब से पूर्व विद्यमान (वनुषे) सेवनीय ज्ञान के लिये तुम्हारे पास (नमः) नमस्कार और आज्ञा पालन के व्रत को प्राप्त होकर (ववर्त्तत्) रह रहा है।

हि॒र॒ण्यये॑न पुरुभू॒ रथे॑ने॒मं य॒ज्ञं ना॑स॒त्योप॑ यातम्।
पिबा॑थ॒ इन्मधु॑नः सो॒म्यस्य॒ दध॑थो॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ॥४॥

भा०—हे (नासत्या) कभी असत्याचरण न करने हारे विद्वान् पुरुषो! (पुरुभू) बहुत अधिक संख्या में शिष्य प्रशिष्यों द्वारा स्वयं हो जाने वाले आप दोनों (हिरण्ययेन) सुवर्ण या लोहे के बने रथ से जिस प्रकार देशान्तर जाते हैं उसी प्रकार दृढ़ रथ से (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ को (उप यातम्) प्राप्त होओ। (सोम्यस्य) सोम से युक्त (मधुनः) मधुर मधु के समान उत्तम ओषधि रस से युक्त अन्न और ज्ञान का (पिबाथः इत्)

आप दोनों स्वयं पान करो। और (विधते जनाय) परिचर्या करने वाले पुरुष को (रत्नं दधथः) रमणीय उत्तम ज्ञानरत्न का प्रदान करो।

आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्या हिरण्ययेन सुवृता रथेन ।
मा वामन्ये नि यमन् देवयन्तः सं यद् ददे नाभिः पूर्व्या वाम् ॥५॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! एक रथ में संयुक्त अश्वों के समान एकत्र एक कार्य में नियुक्त विद्वान् पुरुषो ! तुम दोनों (दिवः) आकाशमार्ग से और (पृथिव्याः) पृथिवीमार्ग से भी (सुवृता) अच्छी प्रकार चलने वाले (रथेन) रथ से (नः आयातम्) हमें प्राप्त होओ। (यत्) जब कि (पूर्व्या नाभिः) पूर्व का कोई बांधने वाला कारण (संददे) बांधता हो तो (अन्ये) दूसरे लोग (देवयन्तः) आप विद्वानों की परिचर्या करने के इच्छुक होकर भी (वाम्) तुम दोनों को (मा नियमन्) न बांधे। जब दूसरे से कोई वचन हो जाय तो वे उसको निभाने के लिये औरों से उसी समय न बंधे, प्रत्युत पूर्व स्वीकृत कार्य को यथासमय करने के लिये शीघ्र यान द्वारा समय पर पहुंचे।

नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे। नरो
यद् वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन् ॥६

भा०—हे (अश्विना) उक्त विद्वान् पुरुषो ! हे (दस्रा) दर्शनीय पुरुषो ! एवं दुःखों का नाश करने हारे आप दोनों (नः) हमारे (उभयेषु) दोनों स्त्री वर्ग और पुरुष-वर्गों में (पुरुवीरम्) बहुतसे वीर पुरुषों और पुत्रों से युक्त (बृहन्तं रयिम्) बड़े भारी ऐश्वर्य को (मिमाथाम्) उत्पन्न करो। (यत्) जब (वाम्) तुम्हारे (स्तोमम्) स्तुति समूहों को (नरः) समस्त पुरुष (आवन्) प्राप्त होते हैं तब (आजमीळ्हासः) धनाढ्य पुरुष भी (सधस्तुतिम्) तुम्हारी स्तुति उनके साथ ही (अग्मन्) करते हैं।

इहेह यद् वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना ।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक् ॥ ७ ॥

भा०—हे (समना) समान चित्त वालो ! और हे (वाजरत्ना ऐश्वर्य, बल वीर्य रूप रत्न को धारण करने वालो ! (यत्) जो उत्तम बुद्धि (इह इह) इस २ नाना कर्मों में (वां पपृक्षे) तुम दोनों को प्राप्त है (सा सुमतिः) वह उत्तम मति (अस्मे) हमें भी प्राप्त हो । (युवं) तुम दोनों ही (जरितारम्) गुण स्तवन करने वाले विद्वान् की (उरुष्यतम्) रक्षा करो । हे (नासत्या) सत्याचरण करने हारे विद्वानो ! स्त्री पुरुषो ! (कामः) अभिलाषा (युवद्रिक् श्रितः) तुम्हारे आश्रय पर स्थित है ।

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥ ८ ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियां (मधुमतीः) मधुर गुण वाली हों । और (द्यावः) सूर्य की किरणें और प्रकाशमान अग्नि सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ सुखकारी हों। (नः अन्तरिक्षम् मधुमत् भवतु) हमें अन्तरिक्ष सुखकर, उत्तम जल वायु के देने वाला हो । (नः) हमारा (क्षेत्रस्य) क्षेत्र का (पतिः) पालक, किसान वर्ग भी (मधुमान् अस्तु) मधुर अन्नादि पदार्थों से समृद्ध हो और हम (अरिष्यन्तः) किसी प्रकार की हिंसा न करते हुए (एनम् अनु) कृषक वर्ग या क्षेत्र के स्वामी के हित और आज्ञा के अनुकूल होकर (चरेम) वर्ताव करें ।

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै ॥ ९ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) विद्वान् पुरुषो ! (वां) तुम दोनों का (तत्) वह नाना प्रकार का (कृतम्) किया हुआ कार्य (पनाय्यं) स्तुति करने योग्य है । (दिवः) द्यौलोक से (वृषभः) वर्षण करने वाला सूर्य (रजसः वृषभः)

अन्तरिक्ष से वर्षा करने वाला मेघ और उसके समान (पृथिव्या वृषभः) पृथिवी लोक का भी सर्वश्रेष्ठ सुखों का वर्षक नरपति (उत) और (गविष्टौ) वाणी पृथिवी और इन्द्रियों के प्राप्ति कार्य में (सहस्रशंसाः) हजारों स्तुतिकर्ता ज्ञानप्रद विद्वान् पुरुष हैं (तान् सर्वान् इत्) उन सबको (पिबध्यै) पान करने के लिये ज्ञान-रस ग्रहण करने के लिये तुम सब लोग (उपयात) प्राप्त होवो ।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

॥ सूक्तकाण्डं नाम विंशं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ अथर्ववेदसंहिता च संपूर्णा ॥

रसवस्वङ्कचन्द्राब्दे पौषे शुक्ले बुधेऽहनि ।
चतुर्दश्यां पूर्तिमागाद्विंशंकाण्डमथर्वणः ॥

ज्ञानविज्ञानसम्पूर्णो नानाधर्मपरिष्कृतः ।
कुर्याच्छिवमधीतो नो वेदज्ञानमयः प्रभुः ॥

मानुषोऽहं स्वल्पमतिः स्वभावेन स्खलद्गतिः ।
इति ज्ञानवतां क्षन्तव्योऽनुग्राह्यस्तद् दयादृशा ॥

अज्ञानवशतश्चाहं नापराधः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मनागच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

कान्तत्वेन सह स्पर्द्धा सज्जनत्वाभिमानिनः ।
नाचरणं भीषणं साधुदूषणं यस्य भूषणम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमत्क्षेमकरणदासत्रिवेदिना
विरचितेऽथर्ववेदभाष्ये विंशं काण्डं समाप्तम् ।
समाप्तश्चाथर्ववेदभाष्यम् ॥ शिवम् ॥ ओ३म् खं ब्रह्म ॥